एक बार स्वास्थ्य बिगड़ गया
२४५८
अब ठीक और दुरुस्त है।
सुरबल्ली कषाय के लिये सैकड़ों धन्यवाद हैं। ओ० के० डी० टानिक से पूर्ण स्वास्थ्य मिलता है।
सुरबल्ली कषाय प्रत्येक उन्नतिकारी केमिस्ट के यहाँ मिल सकती है।
मेसर्स, सी० के० सेन एंड कं० लिमि०,
२६, कोलू टोला....कलकत्ता.
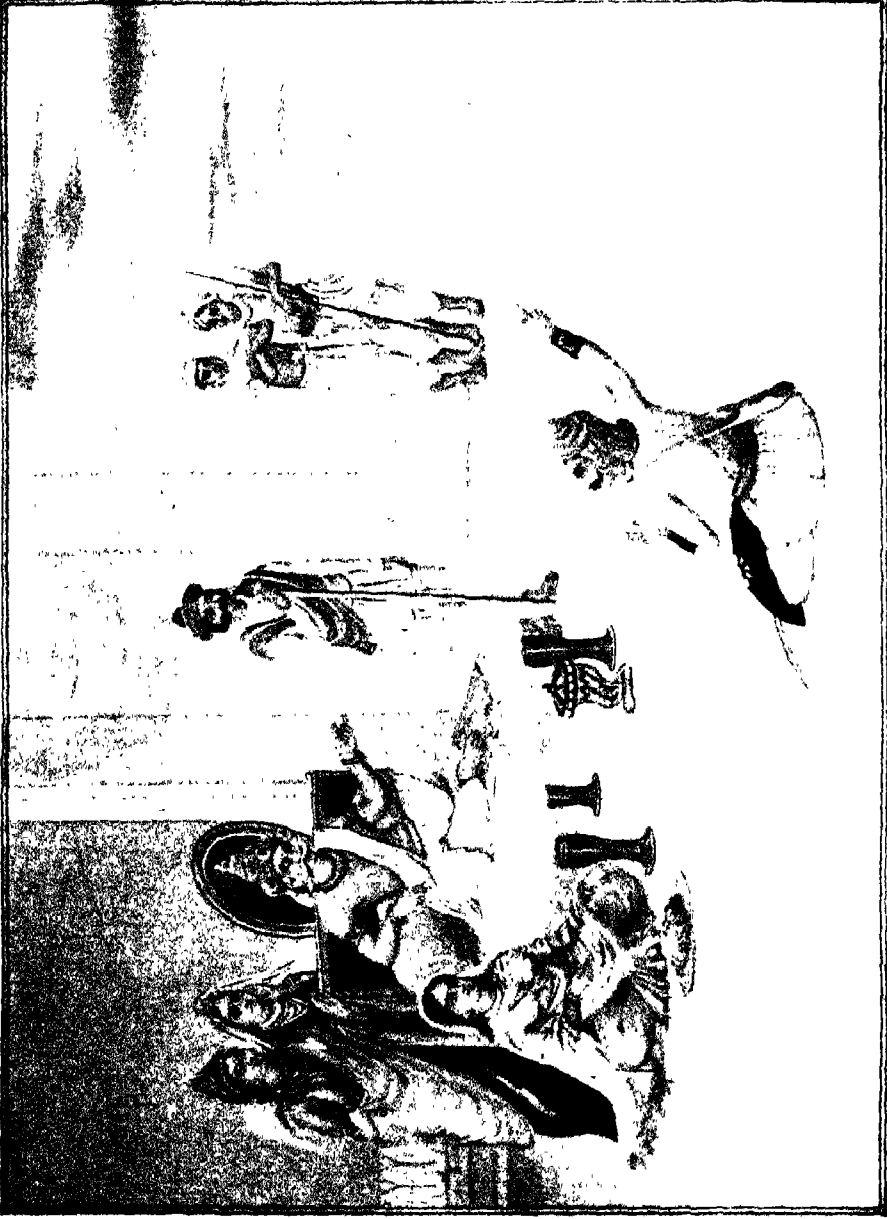
धृतराष्ट्र संजय संवाद

[चित्रकार—प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसाद वर्मा, कलकत्ता]

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ ।

वर्ष ६ | खंड २

माघ, ३०४ तुलसी-संवत् (१९८४ वि०)
फ़रवरी, सन् १९२८ ई०

संख्या १ | पूर्ण संख्या ६७

उद्धव का प्रत्यागमन

प्रेम-मद छाके पग परत कहाँ के कहाँ ,
थाके अंग नैननि निमेष सिथिलाई है ;
कहै 'रतनाकर' यों आवत चकात ऊधौ ,
मानौ सुधियाति कोऊ भावना भुलाई है ।
धारत धरा पै ना उदार अति आदर सौं ,
सारत बहोलिनि जो आँस-अधिकाई है ;
एक कर लीन्हे नवनीत जसुदा कौ दियौ ,
एक कर बंसीवर राधिका पठाई है ।

"रतनाकर"

निरुक्त

वेद-शब्द विद्-धातु से बना है। उसका अर्थ है—विद्या या ऐसी पुस्तक जिसमें जानने-योग्य बातें हों। परंतु जिन वेदों के नाम ही से यह सूचित होता है कि वे ज्ञातव्य बातों या विषयों से परिपूर्ण हैं, उन्हीं को कोई-कोई आधुनिक विद्वान् तुच्छ दृष्टि से देखते हैं। पश्चिमी देशों के कुछ पंडितों ने तो उनमें कही गई बातों की तुलना हलवाहों के गीतों या अहीरों के बिरहों से की है। यहाँ सही। परंतु अब तो वह ज़माना है, जिसमें ऐसे गीतों और गानों का भी संग्रह किया जाता है, और वह काम और भी महत्त्व का समझा जाता है। कुछ भी हो, इसमें तो पूर्वी और पश्चिमी भी विद्वानों को संदेह नहीं कि वेद संसार की सबसे पुरानी पुस्तक हैं। अतएव जब पुराने ईंट-पत्थरों और तुच्छ सीलों (मुहरों) तथा सिक्कों की क़दर की जाती है, और उन्हें प्राप्त करने के लिये विशेष धन-व्यय और अत्यधिक श्रम-सापेक्ष काम किए जाते हैं, तब यह जानने के लिये चेष्टा करना कि इन प्राचीनतम पुस्तकों में क्या लिखा, या क्या कहा गया है, व्यर्थ नहीं समझा जा सकता।

परंतु वेद भारत की बहुत पुरानी भाषा में हैं। उस भाषा के ज्ञाता इस समय बहुत ही कम हैं। भाषाओं में सदा ही परिवर्तन हुआ करता है। उनमें नए-नए शब्द सम्मिलित और पुराने त्यक्त होते रहते हैं। काल-गति से उनके कितने ही शब्द अपने पुराने अर्थ को छोड़कर नए अर्थ धारण कर लेते हैं। यह बात वर्तमान भाषाओं के विषय में भी चरितार्थ है। इस दशा में प्राचीन भाषाओं में लिखी गई पुस्तकों का आशय ठीक-ठीक वही समझ सकते हैं, जिन्होंने उन भाषाओं का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त किया है।

वेदों की भाषा समझने में, हज़ारों वर्ष पूर्व भी, पंडितों को कठिनता मालूम होने लगी थी। इस कठिनता को दूर करने के लिये उस समय के भी पंडितों ने एक प्रकार की डिक्शनरी या कोश की रचना की थी। उसका नाम उन्होंने रक्खा था—निरुक्त। इन निरुक्तकारों के नाम थे शाकपूणि, औपमन्यव आदि। परंतु कालांतर में, जब उनसे भी काम न चलने लगा, तब यास्क-नामक एक ऋषि ने एक अभिनव निरुक्त की रचना की। वही निरुक्त अब इस समय प्रचलित है। उस पर स्कंद स्वामी नाम के किसी पंडित ने विस्तृत टीका लिखी है। पर अब वह अप्राप्य-सी है। उसका केवल नाम-ही-नाम सुनने को मिलता है। हाँ, निरुक्त पर दुर्गाचार्य ने जो वृत्ति लिखी है वह अलबत्ते अब भी प्राप्य है। इसी वृत्ति का अवलंब लेकर श्रीयुत सत्यव्रत सामश्रमी ने निरुक्त का संपादन किया है। उनके इस संपादित ग्रंथ का प्रकाशन हुए बहुत समय हुआ। उसमें दुर्गाचार्य की वृत्ति भी शामिल है। सामश्रमीजी का लिखा हुआ निरुक्तालोचन नाम का एक स्वतंत्र ग्रंथ भी उपलब्ध है। उसमें उन्होंने इस विषय का बड़ा ही विशद विवेचन किया है। महामहोपाध्याय पं० शिवदत्तजी शर्मा को सामश्रमीजी की इस रचना से भी संतोष नहीं हुआ। अतएव उन्होंने पूर्वोक्त वृत्ति-समेत स्वयं भी निरुक्त का संपादन करके उसका प्रकाशन किया है। उसमें आपने यथास्थान अपनी टिप्पणियाँ देकर दुरूह और दुरधिगम्य बातों का स्पष्टीकरण कर दिया है। उनके इस प्रयत्न ने निरुक्त-जैसे कठिन

विषय के अध्ययन में पहले से अधिक सुगमता हो गई है।

अच्छा, यह निरुक्त है क्या चीज़, और उसके अध्ययन की ज़रूरत क्यों है ? सुनिए। "निर्निश्चयेन उक्तं निरुक्तम्।" अर्थात् जो बात निश्चयपूर्वक कही या बताई गई हो, उसे निरुक्त कहते हैं। मतलब यह कि वेदों में पुराने ज़माने के जिन शब्दादि का प्रयोग जिन अर्थों में हुआ है, उनका निश्चयात्मक उल्लेख निरुक्त में किया गया है। बात यह कि विना निरुक्त-ज्ञान के वेदों का ठीक-ठीक अर्थ जान लेना असाध्य नहीं, तो कष्ट-साध्य अवश्य है। इसी से उसका महत्त्व इतना अधिक है, और इसी से वह वेदों का एक अंग माना गया है, यथा—

> शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषं तथा।
> छन्दश्चेति षडङ्गानि वेदानां वैदिका विदुः।

वेदों के छः अंग हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छंद।

(१) **शिक्षा**—में वेद-मंत्रों के उच्चारण आदि की विधि है।

(२) **कल्प**—में यह बतलाया गया है कि वेदों के किस मंत्र का प्रयोग या विनियोग किस कर्म में करना चाहिए।

(३) **व्याकरण**—क्या है, सो सभी जानते हैं। उससे प्रकृति और प्रत्ययादि के योग से शब्दों की सिद्धि और उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित स्वरों की स्थिति का ज्ञान होता है।

(४) **ज्योतिष**—से मतलब ज्योतिष वेदांग से है। विना उसके ज्ञान के वैदिक यज्ञों और अनुष्ठानों का समय नहीं मालूम हो सकता।

(५) **छंद**—वेदों में प्रयुक्त गायत्री, उष्णिक् आदि छंदों की रचना का ज्ञान छन्द-शास्त्र से होता है। अब रहा (६) निरुक्त। सो उसे—*Philological Explanation of difficult Vedic words*—कहना चाहिए, वह निर्वचन-शास्त्र है। अमुक शब्द की प्रवृत्ति अमुक अर्थ में क्यों है, इसके निमित्त कारणों का विवेचन उसमें किया गया है। कहीं-कहीं पर, आवश्यकता होने पर, मंत्रों और मंत्र-खंडों का तात्पर्य भी समझाया गया है, और वेदों में द्यौः, आदित्य, वरुण आदि देवताओं के जो नाम आए हैं, उन पर भी कहीं-कहीं विस्तार-पूर्वक और कहीं-कहीं संक्षेप में विचार किया गया है। बहुत पुराने ज़माने में वैदिक शब्दों का एक कोश बनाया गया था। उसका नाम है—निघंटु। यह निरुक्त शास्त्र उसी निघंटु की व्याख्या है।

निरुक्त पाँच प्रकार है, यथा—

> वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ ;
> धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।

अर्थात् नए-नए वर्णों का आ जाना, उपस्थित वर्णों का विपर्यय हो जाना, वर्णों का विकार को प्राप्त हो जाना, वर्णों का समूल नाश हो जाना और प्रसंगोपात्त योग के अनुसार धातुओं के अर्थ का निर्देश करना—यही पाँच प्रकार का निरुक्त है। अर्थात् इन्हीं बातों का वर्णन उसमें है। परंतु यह एक स्थूल विभाग है। इसके सिवा और भी वेदार्थ-ज्ञापक विषयों का विवेचन इस शास्त्र में किया गया है।

शब्द प्रायः तीन प्रकार के माने जाते हैं—यौगिक, योगरूढ़ और रूढ़। जो शब्द—अबला, सरोज, नीरद आदि—किसी के योग के कारण उस योग के द्योतक अर्थों के देनेवाले हो गए हैं, उनके विषय में तो शास्त्रार्थ के लिये जगह कम रहती

है। नीरद-नाम बादल का क्यों है? इसलिये कि वह नीर अर्थात् जल देता है। अतएव उसका अर्थ स्पष्ट है। पर पिक-नाम कोयल का क्यों है? किसी योग का आधार तो उसे है नहीं। अतएव कोयल के अर्थ में वह रूढ़ हो गया है। लोगों ने उसे उस अर्थ का देनेवाला मान लिया है। ऐसे शब्दों के विषय में निरुक्तकार ने जो व्याख्या की है, वह बड़े काम की है। उसी की सहायता से वेदों का यथार्थ ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, निरुक्त एक प्रकार का भाष्य है। निघंटु में आए हुए वैदिक शब्दों की व्याख्या-मात्र उसमें है। पर निघंटु में सिर्फ़ १२ अध्याय हैं और निरुक्त में १४—इसी से विद्वानों का अनुमान है कि पिछले दो अध्याय बतौर परिशिष्ट के हैं, और पीछे से जोड़ दिए गए हैं।

निरुक्त तीन कांडों में विभक्त है—नैघंटुक, नैगम और दैवत। पहले में एकार्थवाची पर्याय शब्दों की व्याख्या है, दूसरे में अप्रसिद्ध वैदिक शब्दों का विवेचन है, और तीसरे में अग्नि, यम, विश्वेदेवा आदि देवपदों का वर्णन है।

इससे सूचित है कि ठीक-ठीक वेदार्थ समझने के लिये किन-किन शास्त्रों या वेदांगों की जानकारी की आवश्यकता है। औरों की तो उतनी नहीं, पर व्याकरण और निरुक्त की यथेष्ट ज्ञान-प्राप्ति की बहुत ही अधिक आवश्यकता है। उसके विना वेद-मंत्रों का यथार्थ आशय समझ में आना प्रायः असंभव है। दूसरों की की हुई टीका-टिप्पणी और अनुवाद की सहायता से भी वेदार्थ जाना जा सकता है। परंतु यह तो दूसरों की आँखों से देखना हुआ। वेदार्थ-ज्ञान में अपनी बुद्धि तभी काम दे सकती है, जब व्याकरण और निरुक्त अच्छी तरह पढ़ और समझ लिया गया हो। इस दशा में लोग वेदों के मंत्रों के हवाले दे-देकर और लंबे-चौड़े लेख लिखकर अपना पांडित्य दिखाते या सिंह-गर्जना-सी करते हुए व्याख्यान-मंच पर अपनी वेदज्ञता प्रकट करते हैं, उन सबके कथन पर समझ-बूझकर विश्वास करना चाहिए।

निरुक्त के हिंदी-अनुवाद भी दो-एक हो गए हैं, यह ख़ुशी की बात है। एक तो हरियाने के किसी विद्वान् पंडित ने किया है। उनका नाम इस समय मुझे याद नहीं। दूसरा लाहौर में पंडित राजारामजी का किया हुआ है। वह उनकी आर्ष ग्रंथावलि में निकला है और निघंटु-पाठ से भी युक्त है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

श्यामा का सद्भाव *

दोहा

मोद-मदी श्यामा चली, खेलन को वन माँझ;
पै न खिलाड़ी श्याम लौं, पहुँची ह्वै गई साँझ।

घनाक्षरी कवित्त

आनन की ओर चले आवत चकोर मोर,
दौर-दौर बार-बार बेणी झटकत हैं;
झूम-झूम चखन को चूम-चूम चंचरीक,
लटकी लटन में लिपट लटकत हैं।
चोंथ-चोंथ 'शंकर' उरोजन को राजहंस,
तोर-तोर हारन को मोती सटकत हैं;
आज इन बैरिन सों बन में बचावे कौन,
अबला अकेली मैं अनेक अटकत हैं।

नाथूरामशंकर शर्मा "शंकर"

---

* संध्या को दिवस-रात्रि का मिलान होता है, इसी कारण अकेली श्यामा से दिवाचर-निशाचर दोनों अटक पड़े हैं। रूपगर्विता का गूढ़ उदाहरण है। आशा है, 'माधुरी' के वाचक समझकर कुछ प्रसन्नता प्रकट करेंगे। —लेखक।

श्रीदेवदत्त कवि का शिवाष्टक

कुछ दिन हुए, हमारे मित्र तथा संबंधी हिंदी-संसार से परिचित श्रीयुत रायकृष्णदासजी महोदय के पास देवकवि-कृत शिवाष्टक की एक हस्त-लिखित प्रति आई थी। देवदत्त कवि के एक वंशज श्रीमान् पं० मातादीनजी दुबे ज़िला मैनपुरी के कुसमरा स्थान में रहते हैं; उन्हीं से यह शिवाष्टक तथा देवजी के कुछ वृत्तांत उक्त रायसाहब को हाथ आए थे। रायसाहब ने उस शिवाष्टक की प्रतिकृति कराकर रख ली थी। मूल प्रति संवत् १७५५ की लिखी हुई है। देवजी की अवस्था उस समय २५ वर्ष की थी।

श्रीमान् पं० मातादीनजी दुबे से, जो वृत्तांत देवजी के विषय में ज्ञात हुए, वे ये हैं—

"देवजू दुबे इटावे के दिउसरिहा कान्यकुब्ज-ब्राह्मण थे। इनके पिता विहारीलालजी इटावा से कुसमरा, ज़िला मैनपुरी में आकर रहे। देवजू का जन्म सन् १६७३ ई० में, कुसमरा में हुआ था, और सन् १७४५ ई० में, स्वर्ग-वास होना अनुमान-सिद्ध है।

छप्पै—दुबे बिहारीलाल भए निज कुल महँ दीपक;
तिनके भे कबि देव कबिन में अनुपम रोचक।
पुरषोतम के छत्रपती बाबा कृत लेखक;
भये खुसालीचंद पुत्र बुधसेनहुजी तक।
दोहा—तिनके राजाराम सुत, पितु हमरे मतिमान;
ता सुत मातादीन यह, दास रावरो जान।

हस्ताक्षर—
देवकवि-वंशात्मज मातादीन द्विवेदी,
स्थान कुसमरा, ज़िला मैनपुरी।
ता० २४ जून सन् १६२५ ई०।"

इस वृत्तांत के साथ श्रीमातादीनजी ने देवजी का एक बड़ा लंबा-चौड़ा वंश-वृक्ष भी भेजा था। वह देवजी के पिता विहारीलालजी से आरंभ हुआ है। उसके यहाँ प्रकाशित करने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। उस वृक्ष के अनुसार पं० मातादीनजी, देवजी की सातवीं पीढ़ी में होते हैं। यदि देवजी का मरण-काल सन् १७४५ ई० माना जाय, तो १८२ वर्षों में उनके पीछे की छः पीढ़ियाँ होती हैं, जिसके अनुसार एक-एक पीढ़ी तीस-तीस वर्ष की पड़ती है। इतिहासज्ञों ने एक पीढ़ी के निमित्त २० से २५ वर्ष तक का समय निर्धारित किया है, जिसके अनुसार पं० मातादीनजी तक दो अथवा एक पीढ़ी और अधिक होनी चाहिए। पर, तो भी देवजी से मातादीनजी तक सात पीढ़ियों का होना सर्वथा असंभव नहीं कहा जा सकता।

पं० मातादीनजी से इतनी बात और विदित हुई है कि देवजी का गोत्र—काश्यप, प्रवर तीन—अर्थात् काश्यप, ध्रुव तथा अत्रि, एवं वेद—साम तथा यजुः थे।

ब्रज-भाषा के कवियों में देवजी का स्थान बहुत ऊँचा है। उनके कोई-कोई भक्त तो उनको सूर, तुलसी तथा केशव से भी उत्कृष्ट बतलाते हैं, और कोई-कोई उनको तुलसी तथा सूर के पश्चात् स्थान देते हैं। इसी प्रकार कोई उनको विहारीदास से श्रेष्ठ, और कोई विहारीदास को उनसे श्रेष्ठ बतलाता है। देव कवि के तारतम्य के निर्णय की तो इस लेख में समाई नहीं है; पर इतना हम अवश्य कहेंगे कि उनकी कविता बड़ी अनूठी तथा उच्च कोटि की होती थी। उनका भाव-वैभव, शब्द-समृद्धि, रचना-चातुर्य सभी सराहनीय हैं। ग्रंथ भी उन्होंने छोटे-बड़े सब मिलाकर बहुत-से बनाए। किसी-किसी का कथन है कि उन्होंने ५२ ग्रंथ रचे, और कोई-कोई उनके रचे ६२ ग्रंथ बतलाते हैं। बीस-पचीस ग्रंथों तक का तो पता भी मिलता है। उन्होंने १६ वर्ष की अवस्था से कविता आरंभ कर दी थी, और वे ७२ वर्ष की अवस्था तक सरस्वती-सेवा करते रहे। उनके काव्य में प्रायः शब्दों की ऐसी भरमार और अभंग तथा सभंग श्लेषों की योजना मिलती है कि कभी-कभी अर्थ लगाना दुस्तर हो जाता है। देवजी के भक्तों में से यदि कोई महाशय उनके किसी बड़े ग्रंथ का एक शुद्ध तथा सटिप्पण संस्करण परिश्रम करके प्रकाशित करा दें, तो ब्रज-भाषा का भांडार एक बड़े रत्न से अलंकृत हो जाय। इस शिवाष्टक में भी शब्दों का पूर्ण आडंबर दिखाई पड़ता है। यह उनकी २५ वर्ष की अवस्था के पूर्व की कृति है, जिस अवस्था में मनुष्य को स्वभावतः ही शब्दालंकारों पर विशेष रुचि रहती है। पाठकों के अवलोकनार्थ तथा इस धारणा से कि इसका संग्रह हो जाय,

उक्त अष्टक नीचे प्रकाशित किया जाता है, और उनके कठिन शब्दों तथा वाक्यांशों का अर्थ भी अपनी समझ के अनुसार दिया जाता है।

अथ शिवाष्टकं प्रारम्यते

(१)

जोगीनाथ, जोगनाथ, जुगनाथ, नाथनाथ ,
बैजनाथ, बिस्वनाथ, कृपाकै निहारियै ;
भूमिपति-पति, पसुपति, भूतपति-पति ,
पारबति-पति मेरी कुमति निवारियै ।
महादेव, 'देवकवि', देव-देव, बामदेव ,
कामदेव-रिपु रिपु-पुंज परजारियै ;
साधन के सबै-सिद्धि-साधन-अबाधन ,
हमारे अपराधन अगाध न बिचारियै ।

भूमिपति-पति=राजों के राजा । पसुपति=पशुपति । भूतपति-पति=भूतों के अध्यक्षों के पति (हिंदू-शास्त्रों में एक-एक तत्त्व का एक-एक देवता अध्यक्ष माना जाता है)। परजारियै=प्रजारिए, जला दीजिए । साधन के सबै-सिद्धि-साधन-अबाधन=योग, यज्ञ इत्यादि साधनों की सिद्धि के सब साधनों को बाधा-रहित करनेवाले । अपराधन-(अपराधनि) यह शब्द अपराध का बहुवचन है । व्रज-भाषा में ऐसे बहुवचन वस्तुतः इकारांत अथवा उकारांत होते हैं ; पर प्रायः कवियों ने उनका अकारांत प्रयोग भी किया है । अगाध=अथाह, बहुत बड़े । यह शब्द 'अपराधन' का विशेषण है ।

(२)

भर्यौ अघ-भार, भव-अंबुधि अपार-धार ,
पैए कैसे पार, निराधार गति अब ही ;
तातैं बड़ो सोचु कहै 'देव', तबै कीबो कहा ,
राह माँह रोकि है जगाती जम जब ही ।
मूढ़ मति, गूढ़ गति, पतित सु कैसे तरै ,
पतित के तारन सुने हौ सिव सब ही ;
कृपा करि करिया पकरि कर, संकरजू ,
तरि ह्वै कै तारिहौगे तरिहौंगो तब ही ।

भर्यौ अघ-भार=[मैं तो] पापों के भार से भरा हूँ । भार लेकर तैरना बड़ा कठिन होता है । भव-अंबुधि=भव-सागर । निराधार गति=आधारहीन दशा ; अर्थात् कोई नौका अथवा तूँबे इत्यादि का सहारा नहीं है । 'जगाती' यह अरबी शब्द 'ज़क़ाती' का अपभ्रंश रूप है, इसका अर्थ यहाँ "कर लेनेवाला" है । करिया=इस शब्द का अर्थ वस्तुतः तो 'कर्णधार' अथवा डाँड़ा चलानेवाला है, पर जान पड़ता है कि देवजी ने यहाँ इसको 'पतवार' अथवा डाँड़े के अर्थ में प्रयुक्त किया है । तरि=तारनेवाला । यह शब्द प्रायः 'नौका' के अर्थ में आता है, पर यहाँ 'नाविक' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । तारिहौगे=तारोगे । तरिहौंगो=तरूँगा ।

(३)

पाप भर्यौ भारी, कूर-कर्म-अधिकारी, प्रभु-
पाय को पुजारी सु भयो हौं, साखि साखियै ;
हेमाचल-चारी, जुगनाथ, जोगकारी, बर-
चरन-सरन आयो सेव अभिलाषियै ।
बनतुबिहारी 'देव' देखत तिहारी ओर ,
देव-देव ! 'देव' कहै सेवक कै भाषियै ;
काम-कला-हारी, अभिराम-कला-धारी हर !
कलाधरधारी जू हमारी कला राखियै ।

कूर-कर्म-अधिकारी=बुरे कर्मों का फल पाने-योग्य । साखि-(साक्षि)=जो आपके स्वभाव की साक्षि वेद-पुराणों में है, अर्थात् अपनी दीनदयालुता की कानि । साखियै=साक्षि दीजिए, परिचय दीजिए । साखि साखियै=अपनी दीनदयालुता को प्रकट कीजिए । हेमाचल-(हैमाचल)=हिमालय, कैलाश । सेव=सेवा । सेव अभिलाषियै=सेवा की अभिलाषा करके ही । बनतुबिहारी=वनों में विहार करनेवाले । यह शब्द देव का विशेषण है । सेवक कै भाषियै=हमें सेवक कहकर पुकार लीजिए, अर्थात् सेवक समझ लीजिए । हमारी कला राखियै=हमारी आन-बान रखिए ।

(४)

असुर-संघार, सुर-संकट-निवार, हर ,
तिपुर-उजार, जमद्वार के कवार हैं ;
त्रिभुवन-भार थिर-जंगम सँभार करैं ,
अधम-उधार सिद्ध-साधक-अधार हैं ।
महिमा अपार, प्रेत-पुंजनि प्रतार, विष-
अमृत-अहार, सिव-सार, स-निसार हैं ;
धराधर-धरतार, धरा के उधरतार ,
जग-करतार - भरतार - हरतार हैं ।

तिपुर-उजार=त्रिपुरासुर के उजाड़नेवाले, अर्थात् नाश करनेवाले । कवार=कपाट । जम-द्वार के कवार हैं=यम के

द्वार के कपाट (बंद करनेवाले) हैं, अर्थात् लोगों को यमपुर में जाने से बचा लेते हैं। त्रिभुवन-भार थिर-जंगम सँभार करैं=तीनों लोकों में, जो स्थिर तथा जंगम का भार है, उसको सँभालते हैं। प्रेत-पुंजनि प्रतार=प्रेत-पुंजों को तारनेवाले। विष-अमृत=अमृतरूपी विष, अर्थात् विष, जो उनकी महिमा से अमृत हो गया है। सिव-सार=कल्याण के सारांश। निसार=सार-रहित, भस्म। स-निसार=भस्म के सहित, अर्थात् भस्मधारी। धराधर=शेषनाग। धराधर-धरतार=शेषनाग के धारण करनेवाले। उधरतार=उद्धारक।

(५)

तरनि-जवार नभवार नव-तरनि-जै ,
तरनि है तरनि के दुख-तम दुने हैं ;
पा परत जाके पाप-रत पावैं परपद ,
सेवैं पद संपद बिपद पद धुने हैं।
आगम-निगम-गम-अगम बृषभ-गम ,
जगमग-जोति जग-मग गुन गुने हैं ;
घर बरदाई घर-बर-दाई सबही के ,
हर बरदाई हरबर-दाई सुने हैं।

तरनि-जवार=सूर्य की गति का रास्ता। इस शब्द तथा नभ से सामानाधिकरण्य है। तरनि-जवार का अर्थ तरनि अर्थात् 'नौका' को गति देनेवाले, भवसागर में पड़ी नाव को पार लगानेवाले भी हो सकता है। नभ-बार=व्योमकेश अर्थात् शिवजी। नव-तरनि-जै=अपने तेज से नए सूर्य को भी जय करनेवाले (फीका कर देनेवाले)। दुने हैं=कुचल दिए, नाश किए। पा परत जाके=जिसके पैर पड़ने से। पाप-रत=पापी। परपद=परमपद। सेवैं पद संपद=(शिव के पाँव पड़नेवाले के) पैरों का सब संपदाएँ सेवन करती हैं। बिपद पद धुने हैं=[उसकी] विपदाएँ पैर पटकती हैं। आगम=शास्त्र। निगम=वेद। गम=पहुँच। अगम-(अगम्य)=न पहुँचने योग्य। आगम-निगम-गम-अगम=शास्त्र तथा वेदों की पहुँच से बाहर। बृष इन अक्षरों के पश्चात् का एक अक्षर कट गया है, पर, यदि इन दोनों अक्षरों का 'बृष' होना ठीक है, तो इनके पश्चात् के अक्षर का 'भ' होना संभावित है। 'बृषभ' के पश्चात् मूल-प्रति में 'मन' शब्द है। पर 'मन' शब्द के रखने से कोई सुंदर अर्थ नहीं बनता। अतः देवजी की शब्द-योजना-परिपाटी पर ध्यान देते हुए, और 'गम' की इस पाद में कई आवृत्ति देखकर, इसको भी 'गम' कर लेने से 'बृषभ-गम' पाठ हो जाता है, जिसका अर्थ बृषभ-वाहन हो सकता है, जो शिवजी के निमित्त उपयुक्त है। जगमग-जोति=जगमगाती हुई ज्योतिवाले। जग-मग=संसार के पथ में, अर्थात् संसार में। जग-मग गुन गुने हैं=संसार में जिनके (शुभ) गुन गुने गए हैं। बरदाई-(बरदा ही)=बैल-मात्र। घर बरदाई=[उनके] घर में बैल-मात्र हैं। घर-बर=घर इत्यादि। घर-बर-दाई=घर-बार देनेवाले। हर बरदाई=वरदेनेवाले शिव। हरबर-दाई=शीघ्र देनेवाले।

(६)

ईसुर, उमेस, ब्योम-केस, सी-महेस, भव-
देव, महादेव, बामदेव, 'देव' देव-बर ;
अंग-संग ब्याल, गजखाल, औ कपाल-माल ,
माथैं जटा-जाल, भूतपाल, भाल-भूति-भर।
जय जगदीस, सी गिरीस, रजनीस-तीस ,
सिव, सितिकंठ, संभु, सकर, त्रिसूलधर ;
त्रिगुन, त्रिरूप, त्रिदसाधिप, त्रिलोक-भूप ,
त्रिपुरेस, त्रिंबक, त्रिलोचन, त्रिपुर-हर।

ईसुर-(ईश्वर)। ब्योमकेस-(व्योमकेश)=यह महादेवजी का एक नाम है। सी-(श्री)। भूति=विभूति, भस्म। भाल-भूति-भर=[भक्तों के] भाल (भाग्य) में विभूति भरनेवाले, अथवा, [अपने] भाल में भस्म धारण करनेवाले। सिति-कंठ-(शिति-कंठ)=नीलकंठ। त्रिदसाधिप-(त्रिदशाधिपति)=देवतों के प्रभु। त्रिंबक-(त्र्यम्बक)=तीन आँखवाले। त्रिपुर-हर=त्रिपुरासुर के संहार करनेवाले।

(७)

भूतपति, भूत-पति-पाल, भूत-पति-हर ,
भू-तपाति-हर, रहे भूत-पति साषिकै ;
हे गरीब-परवर, पूछत न परवर ,
परबर देत परवरनि समाषिकै।
राखत न खीझै कैंर, राखतन, रीझै कछू ,
राखत-न राख-तन, राख तन राखिकै ;
लाखन-गभीर लाख-लाखन-नग-भीर-दानि ,
लाख-नग-भी रहे न लाखनग भाषिकै।

पति=लज्जा, मान, स्वत्व। भूत-पति-पाल=पंचभूतों के

बनेवाले। भूत-पति-हर=पंचभूतों के स्वत्व को भू-तपति-हर=भूमि के ताप को हरनेवाले। भूत-पात=पंचभूतों के पाँच देवता। रहे भूत-पति साखि-कै=पंचभूतों के पाँचों देवता साक्षि दे रहे हैं। परवर-(प्रवर)=वंश-कुल इत्यादि। परबरनि-(परवर्णि)=दूसरे पक्षवाला अर्थात् विमुख। समाखि-(समक्ष)=सन्मुख। परबरनि समाखिकै=विमुख को सम्मुख करके। राख-(क्षार)। राखत न खीझे करैं राख तन=खीझने पर [वे] रखते नहीं [प्रत्युत] तन को राख कर डालते हैं। राख-तन=भस्मधारी। इस 'राख-तन' शब्द के स्थान पर मूल-प्रति में 'लिखत न' पाठ है। पर देवजी की शब्द-योजना-परिपाटी पर ध्यान देने से 'राखतन' की आवृत्ति-माला के बीच में 'लिखत न' का घुस पड़ना कुछ अनमिल-सा प्रतीत होता है, और कुछ स्पष्ट अर्थ भी नहीं देता। अतः उसके स्थान पर 'राख-तन' पाठ कर दिया गया है। रीझे कछू राखत-न राख-तन=[ये] भस्मधारी (महादेवजी) रीझने पर कुछ रख नहीं छोड़ते (सब कुछ दे देते हैं)। राख तन राखि कै=[अपने] तन में राख [मात्र] रख के। लाखन-गभीर=गंभीर लक्षणोंवाले अर्थात् बड़े शुभ लक्षणोंवाले। नग-भीर-दानि=रत्नों के समूह को देनेवाले। भी=भय। लाखनग-भी रहै न=लाख-समूह भय नहीं रहता। लाखनग=लाख पहाड़ोंवाले अर्थात् पहाड़ों के राजा, गिरीश।

(८)

आठौं-तन ईस, आठौं मन को अधीस, एक,
आठौं ग्रह सेवैं, षट्-आठौं-लोक-आन हैं;
आठौं दिग्गज-देव, आठौं कुलपति पूजैं,
जपैं आठौं बसु, आठौं-श्रुति-भगवान हैं।
आठौं अंग जोगी, आठौं-अंग-प्रनिपात करें,
आठौं व्याकरण, आठौं दस गुन गान हैं;
आठौं-भुज देवी जाको आठौं कर जोरे रहैं,
आठौं जाम जाकै आठौं सिद्धिनि के दान हैं।

आठौं-तन=वेद-कथित आठों अंग, अर्थात् पंचतत्त्व, सूर्य, चंद्र और यजमान। आठौं मन=सांख्य-दर्शन में जो सृष्टि के आठ कारण बतलाए हैं। एक-आठौं=नवों। आन=आज्ञा। षट्-आठौं-लोक-आन=चौदहों भुवन में जिसकी आज्ञा शिरोधार्य है। आठौं-अंग जोगी=अष्टांग योग का साधन करनेवाले। (यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान, धारणा और समाधि—ये योग के आठ अंग कहलाते हैं)। प्रनिपात=प्रणाम। आठौं-अंग-प्रनिपात=साष्टांग प्रणाम। आठौं अंग जोगी आठौं अंग प्रनिपात करैं=अष्टांग योग का साधन करनेवाले साष्टांग प्रणाम करते हैं। आठौं-दस=अट्ठारहों पुराण। आठौं-भुज=आठ भुजावाली।

॥ इतिश्री देवदत्तविरचितं शंकरस्तोत्राष्टकं समाप्तम् ॥
॥ सं० १७५५, ज्ये० ब० ४ ॥

स्मरण रहे कि शब्दाडंबर-प्रधान कवित्तों के शब्दों के जोड़-तोड़ तथा अर्थ इदमित्थम् रूप से निर्धारित करने की चेष्टा प्रायः दुराग्रह-मात्र होती है। अतः निवेदन है कि यदि किसी विज्ञ पाठक महाशय को और कोई शब्द-विच्छेद अथवा अर्थ स्फुरित हो, तो वे उसी को यथार्थ मानें और हमको क्षमा करें।

जगन्नाथदास "रत्नाकर"

भिखारिणी का गीत

अब भिखारिणी गाती वीणा लेकर उदधि-किनारे,
उसकी लय में लय हो जाते हैं पशु-पक्षी सारे।
अति विक्षुब्ध असीम सिंधु में भी उठतीं न तरंगें;
जितनी उसके मन-मंदिर में उठतीं अमित उमंगें।
कथा न कह सकता मैं उसके और प्रकृति-चुंबन की;
है उसके प्रत्येक बात में छाप निरालेपन की।
उसकी प्रकृति सहेली है औ वह है प्रकृति-सहेली;
दोनों का संसर्ग विश्व के लिये अबूझ पहेली।
जिस क्षण आई मार लात वह इस दुनिया के सुख को;
विश्व निरखता था आँखें फैलाकर उसके मुख को।
ऐसी मोहकता थी उस कमनीय कांति की छवि में;
हमने निरखा कभी न अब तक सुंदर प्रातः रवि में।
कातर-स्वर उसकी वीणा का पहुँचा भव्य भवन में;
सोनेवाले जाग उठे सब लगे सोचने मन में।
मिथ्या है यह जगत यहाँ का मिथ्या सब अभिनय है;
हम दुखियों के लिये मृत्यु ही केवल एक निलय है।

पद्मकांत मालवीय

अद्वैतवाद

(गतांक से आगे)

यजुर्वेद के ११वें अध्याय के ६९वें मंत्र में 'आसुरी माया' शब्द आया है। इससे शायद लोग समझें कि राक्षसों के छलावे का वर्णन है। इस भ्रम को दूर करने के लिये हम मंत्र का अर्थ देते हैं—

दंꣳहस्व देवि पृथिवि स्वस्तय आसुरी माया स्वधया कृतासि। जुष्टं देवेभ्य इदमस्तु हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञे अस्मिन्।

(यजु० ११। ६९)

इस पर उव्वट का भाष्य है—

यत आसुरी माया। असुः प्राणः। रेफ उपजनः। प्राणसम्बन्धिनी माया प्रज्ञा।

अर्थात् प्राण-संबंधो प्रज्ञा या ज्ञान का नाम आसुरी माया है।

महीधर लिखते हैं—

कस्मात्त्वमिदमुच्यसे स्वधयान्नेन निमित्तेन त्वमासुरी माया प्राणसम्बन्धिनी प्रज्ञा कृतासि। असूनां प्राणानामियमासुरी। यद्वा असुरसम्बन्धिनी माया अचिन्त्यरचनारूपं चित्रं वस्तु भूत्वा यद्वत् प्रतिभाति तद्वत् त्वमपि स्तनरचनायुक्ता निष्पन्नासीत्यर्थः।

इससे विदित होता है कि यद्यपि महीधर भी उव्वट के सदृश माया का अर्थ 'प्रज्ञा' करते हैं, तथापि उनके भाष्य में 'राक्षसी माया' की भो कुछ छटा है; परन्तु इसके लिये उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। माया का प्रज्ञा अर्थ करने में, तो निरुक्त का भी प्रमाण है, और उव्वट का भी जो महीधर से पुराने भाष्यकार हैं।

'आसुरी माया' शब्द १३वें अध्याय के ४४वें मंत्र में भी आया है—

वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानाꣳ रजसः परस्तात्। महीꣳ साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने माहिꣳसीः परमे व्योमन्।

(यजुर्वेद १३। ४४)

यहाँ 'माया' के दो विशेषण हैं। एक 'मही' और दूसरी 'साहस्री', और 'अग्निदेव' से प्रार्थना की गई है कि आप इस 'महीं', 'साहस्रीं', 'असुरस्य' और 'माया' का नाश न कीजिए। स्पष्ट है कि यदि इसमें 'राक्षसी माया' का लोकवाद के समान कुछ भी लवलेश होता, तो उसकी रक्षा की प्रार्थना कभी न की जाती। इस पर उव्वट लिखते हैं—

महीं महतीं साहस्रीं सहस्रोपकारकक्षमाम्। असुरस्य असुवतः प्राणवतः प्रज्ञानवतो वा वरुणस्य मायां प्रज्ञां हे अग्ने, मा हिंसीः।

अर्थात् 'मही' नाम है 'बड़ी' का। 'साहस्री' का अर्थ है 'अनेक उपकार करनेवाली'। (यहाँ याद रखना चाहिए कि 'माया' को छल या कपटमयी माया या अविद्या नहीं माना गया; परंतु उसको 'सहस्रों उपकार करनेवाली' बताया गया है। न इसको गौड़पादाचार्य की वेदांत-संबंधी 'माया' के अर्थ में लिया गया है। क्योंकि वेदांती 'माया' से उपकार नहीं, किंतु अपकार ही होता है)। 'असुर' नाम है प्राणवाले या ज्ञानी का, और माया का अर्थ है 'प्रज्ञा' या बुद्धि।

महीधर ने भी इसी को दुहराया है, जैसे—

असुरस्य मायामसवः प्राणा विद्यन्ते यस्य सोऽसुरः मत्वर्थे रः। प्राणवतो मायां प्रज्ञां मीयते ज्ञायतेऽनया माया प्रज्ञा प्राणिनां प्रज्ञाप्रदामित्यर्थः।

यहाँ महीधर ने, यह भी दिखा दिया कि 'प्रज्ञा' को 'माया' क्यों कहते हैं। अर्थात् जिसके द्वारा 'मीयते', 'ज्ञायते' या ज्ञान प्राप्त होता है, उसका नाम है 'माया'। यहाँ 'माया' को 'प्रज्ञाप्रदा' कहा गया है। प्रज्ञाप्रदा या बुद्धि देनेवाली वस्तु कदापि अविद्या नहीं हो सकती।

तेईसवें अध्याय के ५२वें मंत्र में 'मायया' शब्द आया है—

पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि। सतत्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत्॥

(यजुर्वेद अ० २३ मं० ५२)

इसकी व्याख्या करते हुए महीधर ने—

किञ्च मायया बुद्ध्या मत् मत्तः उत्तरोऽधिकस्त्वं न भवसि। मत्तो बुद्धिमान्नासीत्यर्थः।

'माया' का अर्थ 'बुद्धि' किया है।

३० वें अध्याय के ७ वें मंत्र में—

"मायायै कर्मारꣳ"

से भो लुहार की विशेष विद्या का ग्रहण किया गया है। स्वामी दयानंद 'मायायै' का अर्थ करते हैं "प्रज्ञावृद्ध्ये" अर्थात् ज्ञान बढ़ाने के लिये।

अथर्ववेद में 'माया' शब्द २७* स्थलों पर आया है—

'माया' १ बार

कांड	सूक्त	मन्त्र
८	९	५

'मायया' १० बार—

कां०	सू०	मं०	कां०	सू०	मं०
४	३८	३	१३	२	३
६	७२	१	१३	२	११
७	८१	१	१४	१	२३
८	४	२४	१९	६६	१
१०	८	३४	२०	३६	६

'मायिनः' ३ बार—

कां०	सू०	मं०
१९	२७	५
१९	२७	६
१९	६६	१

'मायाम्' २ बार—

कां०	सू०	मं०
२	२९	६
८	१०	३

'मायाः' ४ बार—

कां०	सू०	मं०
४	२३	५
८	३	२४
२०	३६	८
२०	८७	५

'माये' १ बार—

कां०	सू०	मं०
८	१०	२२

'मायायाः' १ बार—

कां०	सू०	मं०
८	९	५

'मायाभिः' ३ बार—

कां०	सू०	मं०
१२	१	८
२०	११	६
२०	२९	४

'मायी' १ बार—

कां०	सू०	मं०
५	११	४

'मायिनाम्' १ बार—

कां०	सू०	मं०
२०	११	३

'मायिनम्' १ बार—

कां०	सू०	मं०
२०	२१	७

अब क्रमशः अर्थों पर विचार कीजिए—

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः ।
सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम् ।
(अथर्ववेद काण्ड २, सूक्त २९, मं० ६)

इस मंत्र में "हृदय" को "शिवाभिः" कल्याण-करनेवाली वस्तुओं से तृप्त करने का वर्णन है, और "सवासिनौ" अर्थात् 'साथ रहनेवाले' स्त्री-पुरुषों को 'मायाम्', 'परिधाय' अर्थात् माया को धारण करके 'मन्थं पिबतां' रस पीने का उपदेश है, इससे स्पष्ट है कि यहाँ भी 'माया' का अर्थ 'प्रज्ञा' या बुद्धि है। छलावा या अविद्या नहीं।

येन ऋषयो बलमद्योतयन् युजा येनासुराणामयुवन्त मायाः ।
येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय स नो मुञ्चत्वंहसः ।

(येन युजा) जिस सहायता करनेवाले की सहायता से (ऋषयः) ऋषियों ने (बलम्) बल को (अद्योतयन्) प्रकाशित किया और (असुराणां मायाः) प्राण-संबंधी प्रज्ञा या विद्याओं को (अयुवन्त) प्राप्त किया और (येनाग्निना) जिस व्यापार पूजनीय की सहायता से (इन्द्रः पणीन् जिगाय) राजा ने व्यापार करनेवालों पर आधिपत्य प्राप्त किया (सः) वह ईश्वर (नः) हमको भी (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) छुड़ावे।

इस मंत्र में 'अयुवन्त' क्रिया 'यु' धातु का रूप है, जिसका अर्थ है 'मिश्रणामिश्रणयोः' "अर्थात् मिलाना और पृथक् करना दोनों। 'असुरों की माया' की यजुर्वेद के मंत्रों के साथ व्याख्या की जा चुकी है।

इसी कांड का एक और मंत्र देखिए—

"याऽयैः परिनृत्यत्यादधाना कृतं ग्लहात् ।
सा नः कृतानि सीषती प्रहामाप्नोतु मायया ।
सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम् ॥ (४।३८।३)

(या) जो शक्ति (ग्लहात्) कृपा से (कृतम् आददाना) कर्मों को ग्रहण करती हुई (अयैः) सुखों के साथ (परिनृत्यति) नाचती है या प्रकाशित होती है (सा) वही शक्ति (नः कृतानि सीषती) हमारे कामों को नियम में रखती हुई (मायया) बुद्धि के साथ (प्रहाम्) अच्छी गति को (आप्नोतु) प्राप्त होवे। (सा) वही शक्ति (नः) हमारे लिये (पयस्वती) मंगलकारी होकर (एतु) आवे। (नः) हमारे (इदम् धनम्) इस धन को (मा जैषुः) कोई न जीतें।

इस मंत्र में स्पष्ट दिया हुआ है कि हमारी कृतियाँ अर्थात् कर्म माया के साथ नियमबद्ध होवें। इसलिये 'माया' का अर्थ यहाँ वही लग सकता है, जो

* इस सारिणी का आधार प्रो० प्रभुदत्तजी शास्त्री की पुस्तक 'Docterine of Maya' है। उन्होंने जो अंश छोड़ दिया है, वह पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदीजी की सूची से पूरा किया गया है।

निरुक्तकार यास्क को अभिमत है अर्थात् 'प्रज्ञा' या बुद्धि।

न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन् ;
त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय।
(अथर्व० का० ५ । सूक्त ११ । मंत्र ४)

हे (स्वधावन् वरुण) शक्तिवाले वरुण (न त्वत् अन्यः कवितरो) तुझसे अधिक कोई ज्ञानी नहीं (न मेधया धीरतरो) न ज्ञान में तुझसे कोई धीरतर है (त्वम्) तू (ता विश्वा भुवनानि) उन सब लोकों को जानता है (सः मायी जनः) वह ज्ञानी पुरुष (चित् नु) अवश्य ही (त्वत्) तुझसे (बिभाय) डरता है।

यहाँ 'कवितर' और 'मेधया' शब्दों का 'मायी' के साथ विशेष संबंध होने के कारण 'मायी' का अर्थ 'प्रज्ञावान्' अर्थात् ज्ञानी है।

यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया ;
एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं ससमकं कृणोतु।
(अथर्ववेद काण्ड ६, सूक्त ७२, मं० १)

यहाँ 'असुरस्य माया' का वही अर्थ है, जो ऊपर किया जा चुका है।

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परियातोऽर्णवम् ;
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः।
(अथ० ७ । ८१ । १)

इस मंत्र का देवता "सोमार्कौ" सूर्य और चंद्र हैं, जो (मायया) ईश्वर के ज्ञान से (यातः) चलते हैं। यही शब्द १३ । २ । ११ तथा १४ । १ । २३ में भी है। अंतिम भाग में कुछ भेद है।

आठवें कांड में यह शब्द पाँच मंत्रों में आया है, इनमें से दो दसवें सूक्त के हैं—

सोदक्रामत् साऽसुरानागच्छत्। तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति। (८ । १० । ४ । १)

तां द्विमूर्धात्वर्व्यो धोक् तां मायामेवाऽधोक् (८ । १० । ४ । ३)

पहले में असुरों के लिये कहा गया है कि उन्होंने 'माया' को बुलाया (माये एहि) हे माया तू आ।

दूसरे में (मायाम् अधोक्) माया को दुहा। यहाँ दोनों स्थानों में माया का अर्थ है ज्ञान। ज्ञान या वेद विद्या के दुहने का कथन मनुस्मृति में भी है। दुहना शब्द 'विद्या' के संबंध में संस्कृत में आता ही है। गीता में भी श्रीकृष्ण को उपनिषदों का दुहनेवाला बतलाया गया है। यहाँ माया का अर्थ छलावा करना कदापि ठीक नहीं।

९वें सूक्त का मंत्र यह है—

"बृहती परिमात्राया मातुर्मात्राधिनिर्मिता ;
माया ह जज्ञे मायाया मायाया मातली परि।"
(अथर्व० ८ । ९ । ५)

इसका साधारण अर्थ यह हुआ कि (मातुः) जगदंबा ने मात्रा से मात्रा बनाई और माया से माया बनाई अर्थात् जगत् की सामग्री से जगत् बनाया और ज्ञान से ज्ञान या वेद-संबंधी प्रज्ञा दी। वेदों के लिये अन्य स्थानों पर 'जज्ञिरे' शब्द का प्रयोग हुआ है।

इस कांड के दो मंत्र यह हैं—

"वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निरा विर्विश्वानि कृणुते महित्वा ;
प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृंगे रक्षोभ्यो विनिक्षे।
(अथ० ८ । ३ । २४)

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम् ;
विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम्।
(अथर्व० ८ । ४ । २४)

यत्र देवाश्च मनुष्याश्चारा नाभाविव श्रिताः। अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि यत्र तन्मायया हितम्॥ (अथर्व० १० । ८ । ३४)

जहाँ देव और मनुष्य पहिए की नाभि में आरा के समान लगे हुए हैं, उस (अपां पुष्पं) कर्मों के फल को पूछता हूँ, जिसमें वह (मायया) ज्ञान द्वारा (हितम्) स्थित है।

या अर्णवेऽधिसलिलमग्रआसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः। यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः। सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे। (अथर्व० १२ । १ । ८)

जो पृथिवी पहले (अधिसलिलम्) जल के सहारे थी (यां) जिसको (मनीषिणः) बुद्धिमान् लोगों ने (मायाभिः) प्रज्ञा द्वारा (अन्वचरन्) जान पाया इत्यादि।

नानारूपे अहनी कर्षि मायया (१३ । २ । ३)

अर्थात् ज्ञान से अनेक प्रकार के रात और दिन को तू बनाता है।

अग्नेश्चन्द्रस्य सूर्यस्य मा प्राणं मायिनो दभन्।
(१९ । २७ । ५)

बुद्धिमान् लोगों को चाहिए कि अग्नि, सूर्य और चंद्र की शक्ति का नाश न करें।

मा वःप्राणं मावोऽपानं मा हरो मायिनो दभन्। (१९ । २७ । ६)

अर्थात् विद्वान् लोग तुम्हारे प्राण, अपान और तेज को नष्ट न करें। अर्थात् इनकी वृद्धि में सहायक हों।

असुरा मायिनः (१९ । ६६ । १)

असुर और मायी का पहले अर्थ दिया जा चुका है।

विध्यामि मायया (१९ । ६६ । १)

ज्ञान से खोलता हूँ।

इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्द्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद् वर्पणीतिः।

(अथर्व० २० । ११ । ३)

(मायिनाम्) ज्ञानियों के (इन्द्रः) राजा ने, जो (शर्द्धनीतिः) बल-युक्त नीतिवाला और (वर्पणीतिः) ढकने की नीतिवाला है, वृत्र को (अवृणोत्) ढक लिया और (प्रअमिनाद्) दुःख दिया।

पिपेष मायाभिर्दस्यून् (अथर्व० २० । ११ । ६)

बुद्धियों द्वारा चोरों को पीस डाला।

मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्रद्यामारुरुक्षतः।

अव दस्यूं रधूनुथाः। (अथर्व० २० । २९ । ४)

(मायाभिः) बुद्धियों द्वारा (दस्यून्) चोरों को (अधूनुथाः) परास्त किया है। इत्यादि।

मायया अवृधानम् (२० । ३६ । ६)

बुद्धि से बढ़ते हुए को।

दयसे वि मायाः (२० । ३६ । ८)

बुद्धियों को देता है।

यहाँ हमने अथर्ववेद के अनेकों उदाहरण इसलिये दिए हैं कि प्रायः अथर्ववेद के विषय में, लोगों में, अनेक भ्रम फैले हुए हैं। लोगों का विचार है कि अथर्ववेद में राक्षसों, जादूगरों, स्यानों या ओझाओं, मोहन-मारण और उच्चाटन करनेवालों, तावीज़, गंडा आदि पहनानेवालों या झाड़-फूँक करनेवालों का वर्णन है। हमारा विचार इससे सर्वथा विपरीत है। हम अथर्ववेद को भी उसी प्रकार की धार्मिक पुस्तक मानते हैं, जैसे ऋग्वेद तथा अन्य वेदों को। हमारे विचार में अथर्ववेद के शब्दों के अर्थों में भी उतना ही परिवर्तन हो गया है, जितना अन्य वेदों के। 'आसुरी माया' कहने-मात्र से आजकल लोग राक्षसों के माया-जाल का ही अर्थ समझते हैं। कम-से-कम उस समय तक जब उव्वट या महीधर ने, यजुर्वेद का भाष्य रचा, लोगों में यह धारणा अवश्य थी कि वेदों में 'आसुरी माया' के यह अर्थ नहीं, और न 'असुर', न 'माया' ही, ऐसे घृणित अर्थों में प्रयुक्त होते थे। सायण के भाष्य से भी यही पता चलता है। अथर्ववेद के कई मंत्रों के अर्थ इस संबंध में विचारणीय हैं। वैदिक शब्दों के अर्थों का जब तक भरपूर अन्वेषण न होगा, उस समय तक वैदिक साहित्य-रूपी अग्नि भ्रम-रूपी राख के नीचे ही दबी पड़ी रहेगी। संभव है कि कुछ सज्जन अथर्व के हमारे किए अर्थों से संतुष्ट न हों। परंतु यहाँ हमारा प्रयोजन केवल 'माया' शब्द के अर्थों का अन्वेषण है। यदि हमारे अर्थों को न भी माना जाय, तो भी किसी प्राचीन भाष्यकार या वैदिक शब्दों के कोष से यह तो सुगमतया पता चल सकता है कि वेदों में कहीं माया शब्द उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ, जिसमें श्रीगौड़पादाचार्य या श्रीशंकराचार्य लेते हैं। वेदों के पश्चात् 'माया' शब्द छल-कपट के अर्थों में अवश्य आने लगा। परंतु इस विषय में उसकी वही गति हुई, जो अँगरेज़ी के शब्द कनिंग (Cunning) की हुई। कनिंग शब्द की जननी ऐंग्लो सैक्सन भाषा को Cunnan (क्यूनन) धातु थी; जिसका अर्थ ज्ञान प्राप्त करना है। परंतु आजकल कनिंग शब्द कपटी, मक्कार, चालाक के अर्थों में आता है। बहुधा उच्चवंशीय लोगों की भी ऐसी दुर्गति हो जाती है। राम और कृष्ण के वंशज सूर्य और चंद्रवंशीय कहलाते हुए भी बड़ी घोर दुर्दशा में हैं, फिर बेचारे 'कनिंग' शब्द का क्या कहना? माया का भी यही हाल है। उसी 'मा' धातुरूपी जननी के अनेक पुत्र अनुमान, प्रमाण, सम्मान, अभिमान आदि बड़े-बड़े उच्च पदों को प्राप्त किए हुए हैं। परंतु 'माया' शब्द को या 'असुर' शब्द को अब वह गौरव प्राप्त नहीं रहा, जो वेदों के समय में था। परंतु यदि इस गिरावट के कारण विपक्षी लोग होते, तो कुछ आश्चर्य न था। खेद तो इस बात का है कि श्रीशंकराचार्य-जैसे वेदोद्धारक ने भी इसमें दो लातें मार ही दीं; और उनके अनुयायी उसको तिरस्कृत ही समझते रहे।

कुछ लोगों ने अपने मतलब की सिद्धि के लिये 'माया' शब्द की यह व्युत्पत्ति की है "मा+या" (या) जो (मा) न हो, अर्थात् उसका नाम माया है, जो हो न; परंतु दिखाई पड़े। परंतु इस व्युत्पत्ति के लिये कोई व्याकरण, कोई कोष या कोई वैदिक ग्रंथ साक्षी नहीं है;

न कोई व्युत्पत्ति करने का नियम ही ऐसा है कि शब्दों का इस प्रकार विश्लेषण किया जा सके। ऐसा विश्लेषण तो उस बच्चे का खेल होगा, जो विश्लेषण का अर्थ वस्तु को तोड़ डालना ही समझता है। हाँ, यदि किसी काव्य-रस के प्रेमी ने शब्द-लालित्य के लालच में फँसकर ऐसी युक्ति दी हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि संस्कृत-साहित्य में इस प्रकार का भी एक युग आ चुका है, जब लोग ऐसी ऊँटपटांग युक्तियाँ या व्युत्पत्तियाँ किया करते थे।

अब थोड़ा-सा उपनिषदों पर भी दृष्टिपात करना चाहिए। यों तो उपनिषदों की संख्या सौ से भी अधिक है, परंतु श्रीशंकराचार्यजी के समय तक १० या ११ उपनिषदें ही प्रचलित थीं, और प्रायः उन्हीं को शंकर महाराज ने श्रुति के नाम से पुकारा है। इनमें से ८ उपनिषदों में 'माया' शब्द का चिन्ह भी नहीं है। बृहदारण्यक में एक बार आया है, और प्रश्न में एक बार। श्वेताश्वतर में अवश्य माया के ५ रूप मिलते हैं; परंतु श्वेताश्वतर को सभी विद्वानों ने १० उपनिषदों से बाहर और उनकी अपेक्षा नया माना है।

बृहदारण्यक का उदाहरण देते हैं—

"इदं वै तन्मधुदध्यंगाथर्वणोऽश्विभ्यामुवचा तदेतदृषिः पश्यन्नवोचद्रूपं० रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद् ब्रह्म पूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानु भूरित्यनुशासनम्।"

(बृ० २। ५। १९ या शतपथ ब्रा० १४। ५। ५। १९)

यहाँ यह वर्णन है कि परमात्मा ने सृष्टि कैसे रची? इसी संबंध में कहा है कि इंद्र मायाओं द्वारा पुरुरूप हो गया अर्थात् ईश्वर ने प्रज्ञाओं द्वारा सृष्टि को उत्पन्न किया। वस्तुतः यहाँ ऋग्वेद का एक पूरा मंत्र ज्यों-का त्यों उद्धृत कर दिया गया है—

"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय;
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश।"

(ऋग्वेद मंडल ६। ४७। १८)

प्रश्नोपनिषद् में अवश्य 'माया' का अर्थ वह नहीं है, जो वेदों में है—

"तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न एषु जिह्ममनृतं न माया चेति"

(प्रश्न० १। १६)

अर्थात् वही लोग ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं जो जिह्म (धोखा), (अनृतं) झूठ और (माया) कपट-छल से बचते हैं। परंतु यहाँ भी 'माया' शब्द का वह अर्थ नहीं है, जो शंकर स्वामी ने लिया है। दश उपनिषदों के देखने से एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि उपनिषदों के समय में भी 'माया' शब्द को वह गौरव प्राप्त न था, जो वेदांतियों के समय में हो गया; और न उसके यह अर्थ ही थे। गौड़पादाचार्य और शंकराचार्य के पश्चात् माया का इतना प्रचार हुआ कि वेदांत-संबंधी पुस्तकों में जिधर देखो 'माया' ही 'माया' दिखाई पड़ती है। श्रीमधुसूदनाचार्य की पंचदशी अद्वैतवाद के ग्रंथों में से मुख्य समझी जाती है। उसमें तो 'माया' को इतना बढ़ाया कि ईश्वर की भी माता बना दिया। वह कहते हैं—

"कूटस्थासङ्गमात्मानं जगत्त्वेन करोति सा;
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे।"

(पंचदशी, चित्रदीपप्रकरण १३३)

कूटस्थ और असंग आत्मा को जगत् बना देती है। चेतन के आभास रूप से जीव और ईश्वर को रचती है। यही नहीं, किंतु—

"मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।"

(श्लो० २३६)

अर्थात्—ईश्वर और जीव दोनों मायानामी कामधेनु के दो बछड़े हैं।

अब 'माया' जीव और ईश्वर की जननी हुई, तो श्रीरामचंद्र-जैसे पितृ-भक्त आर्यों का अनुकरण करके इनको माया की आज्ञा भी माननी चाहिए। अन्यथा पितृ-द्रोह का दोष लग जाता। इसीलिये कहा है—

"एवमानन्दविज्ञानमयौ मायाधियोर्वशौ।" (२२६)

अर्थात् आनंद और विज्ञानमय जीव तथा ईश्वर दोनों माया और बुद्धि के वश में हैं।

ऐसी जगदंबा नहीं, नहीं सर्वाम्बा माया की माता ढूँढ़ना व्यर्थ है। वह तो माताओं की मा है, उसकी मा कोई नहीं; और न उसको सिद्ध करने की ज़रूरत है। क्योंकि कहा है—

"द्रवत्वमुदके वह्नावौष्ण्यं काठिन्यमश्मनि;
मायाया दुर्घटत्वं च स्वतः सिध्यति नान्यतः।" (१३५)

अर्थात् जैसे पानी में बहना, अग्नि में गर्मी और

पत्थर में कड़ापन स्वयंसिद्ध है। इसी प्रकार 'माया' का दुर्घटत्व भी स्वयंसिद्ध ही है।

न चोदनीयं मायायां। (१३७)

और 'माया' के विषय में तर्क नहीं करना चाहिए।

वेदों को 'माया' के न तो इन अर्थों का ही पता था, और न वह उसको स्वयंसिद्ध, अतर्क्य तथा जीव और ईश्वर की माता ही समझते थे। वेदों में तो पदे-पदे यही कहा है कि ईश्वर ने समस्त सृष्टि की रचना की—

परंतु मधुसूदनाचार्य कहते हैं कि—

"मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः।"

(पंचदशी, तृप्तिदीपप्रकरण श्लोक ३)

अर्थात् श्रुति में कहा है कि माया आभास के द्वारा जीव और ईश्वर दोनों को बनाती है। यहाँ यह नहीं बताया कि कौन-सी श्रुति में कहा है। अद्वैतवादियों की श्रुतियों की शृंखला भी तो अद्भुत है। वेद से लेकर सैकड़ों उपनिषदों तक जिनमें से बहुत-सी नवीन हैं, और शंकराचार्य के पश्चात् बनी हैं, सभी श्रुतियों में गिनी जाती हैं।

प्रो० प्रभुदत्तशास्त्री ने ठीक कहा है कि—

"The *word* in its usual sense, of course, occurs for the first time in the Svetàsvatara Upanishad (IV. 10)" (the Doctrine of Maya p. 35.)

"अर्थात् माया शब्द साधारण अर्थ में (अद्वैतवादियों के अर्थ से आशय है) पहलेपहल श्वेताश्वतर उपनिषद् (४।१०) में आया है।"

"But the *idea* may be traced to the later stage of the Vedic civilization." (Ibid p. 36.)

"परंतु यह भाव वैदिक सभ्यता के पिछले समय तक मिलता है।"

इससे स्पष्ट है कि वैदिक युग तक मायावाद का पता भी न था।

हमारी अपनी धारणा यह है कि बौद्धों के माध्यमिक संप्रदाय के समय मायावाद ने ज़ोर पकड़ा, यह लोग शून्यवादी थे। गौड़पाद तथा शंकर ने, इसी वाद को कुछ थोड़ा सा उलट-पलटकर एक नया रूप दे दिया।

(असमाप्त)

गंगाप्रसाद उपाध्याय

उपालंभ

दीन दुखियों का जो सदैव है सहारा,
अब क्या हुआ तुम्हारा वह प्यारा प्रेम-भाव है;
मर्म-वेदना से भरी दीन की उसास का क्या,
नेक भी न तुम पर पड़ता प्रभाव है।
क्यों न दुखियों का दुख दूर करते हो शीघ्र,
कब से दया का हुआ तुममें अभाव है;
बदल गया क्या करुणामय! तुम्हारा वह,
कोमल सरल शांत सुखद स्वभाव है।

गोपालशरणसिंह

ईमानदार चोर

एक दिन सवेरे जब मैं दफ़्तर जाने के लिये तैयार हुआ, तो अग्नफ़ेना सामने आकर खड़ी हो गई और बातें करने लगी। यह स्त्री मेरा खाना पकाती, मेरे कपड़े धोती और घर की देख-भाल किया करती थी। मैं आश्चर्य में था; और मेरे आश्चर्य में आने का कारण था।

यह स्त्री मेरे यहाँ सात साल से काम कर रही थी, और इतनी सीधी और चुपचाप रहनेवाली स्त्री थी कि मैंने नित्य के भोजन-संबंधी साधारण बातों को छोड़कर आज तक उसके मुँह से कोई दूसरी बात सुनी न थी।

बिना किसी भूमिका के वह बोली—"मालिक, मैं आपसे एक बात करना चाहती हूँ। वह छोटी कोठरी आप किराए पर क्यों नहीं दे देते?"

"कौन छोटी कोठरी?"

"वही, रसोई-घर के पासवाली, और कौन?"

"क्यों?"

"क्यों? लोग अपना घर किराये पर उठाते नहीं क्या!"

"कौन लेगा?"

"कौन लेगा? एक किराएदार लेगा, और कौन लेगा?"

"लेकिन, भली औरत, वह कोठरी है ही कितनी बड़ी ! एक चारपाई की जगह भी उसमें नहीं है। उसमें उठने-बैठने का भी दाँव तो होना चाहिए। कौन लेगा उसे ?"

"कौन लेगा उसे ! अरे रहने के लिये खिड़की क्या कम है, सोने-भर की जगह चाहिये।"

"कौन खिड़की ?"

"कौन खिड़की ! आप तो ऐसी बातें करते हैं, जैसे कुछ जानते ही न हों। वही दहलीज़वाली खिड़की। उसी में बैठके वह अपनी सिलाई या जो कुछ चाहेगा करेगा। उसमें तो वह कुरसी लगाके बैठ सकता है। उसके पास एक कुरसी है; मेज़ भी है, सब कुछ है।"

"तो 'वह' है कौन ?"

"अरे एक भला आदमी है ; दुनियादार आदमी है। मैं उसका खाना पका दिया करूँगी, और खाने-किराए के तीन रुबुल* माँगूँगी।"

बड़ी बहस के बाद, अग्रफ़ेना से मैं इतना जान पाया कि वह एक अधेड़ आदमी है और किसी तरह उसने अग्रफ़ेना को इस बात पर राज़ी कर लिया है कि वह रसोई-घर के पास रहे, और उसी जगह खाना खाया करे।

इस स्त्री के सिर में जब कोई बात समा जाती, तो उसे मानना ही पड़ता। न मानो तो फिर चैन नहीं लेने देती थी। कोई बात उसकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ हुई, बस झट मुँह लटका लेती। न-जाने किस चिंता में पड़ जाती। और यह तार एक पखवारे या तीन हफ़्ते से कम न रहता। इस बीच में खाना भी ठीक नहीं पक रहा है ; कपड़े भी तितर-बितर हो रहे हैं ; फ़र्श पर झाड़ू नहीं लग रहा है—सारांश यह कि मेरी नाक में दम आ जाता। यह बात मैं अच्छी तरह जान बैठा था कि पहले तो इस भली औरत के दिमाग़ में कुछ अपनी उपज हो ही नहीं सकती ; लेकिन अगर कोई बात उसके सिर में समा गई, तो फिर उसे रोकना कुछ काल के लिये बेचारी की नैतिक हत्या करने के बराबर हो जाता। मैं तो अपनी शांति को भंग नहीं होने देना चाहता था ; इसलिये मैंने सहज में उसके प्रस्ताव को मान लिया।

मैंने केवल इतना कहा, "किसी की चिट्ठी-विट्ठी भी उसके पास है ? है तो जाना-बूझा आदमी ?"

"है क्यों नहीं ? भला आदमी है ? दुनिया देख-भाल चुका है। तीन रुबुल देने को कहा है।"

दूसरे ही दिन मुझे बिन-ब्याहे आदमी के छोटे से घर में उस नए किराएदार के दर्शन हुए। लेकिन उसका आना मुझे बुरा नहीं लगा। सच पूछो, तो मैं मन-ही-मन ख़ुश था। यों तो अकेले रहने की मुझे बान पड़ गई थी। न मेरे कोई साथी-संगी थे ; न मुझे घूमने-फिरने का शौक़ था। दस बरस मैं अपने इसी छोटे-से घर में बिता चुका था, और अकेले रहने में कोई कष्ट भी नहीं था। लेकिन आगे दस-पंद्रह बरस और इसी प्रकार उसी घर में, उसी अग्रफ़ेना के साथ रहने की संभावना, कोई सुखद संभावना नहीं थी। इसलिये मैंने सोचा कि नवागंतुक कोई भला आदमी हो, तो भगवान् की पूरी कृपा समझना चाहिए।

अग्रफ़ेना ने ठीक ही कहा था। मेरा किराएदार अनुभवी आदमी था। उसकी चिट्ठी से मालूम हुआ कि वह एक पुराना सैनिक है। यह बात तो मुझे उसकी सूरत देखकर ही जान लेनी चाहिए थी। पुराना सैनिक भी कहीं छिपाए छिपता है ? अस्टफ़ी इवानोविच बड़ा भला आदमी था, मेरी उसकी ख़ूब निभने लगी। सबसे भली बात तो यह थी कि वह अकसर अपने जीवन में घटित घटनाओं का वर्णन करता। इनमें बहुत-सी कहानियों से भी अधिक रोचक होतीं। मुझ ऐसे नीरस जीवनवाले के लिये यह अहोभाग्य था कि ऐसा आदमी मिल गया। एक दिन उसने मुझे एक कहानी सुनाई, इसने मेरे ऊपर बड़ा असर डाला। कथा यों चली—

मैं अपने कमरे में अकेला बैठा हुआ था। अग्रफ़ेना और अस्टफ़ी अपने-अपने कामों से बाहर गए हुए थे। अचानक मुझे भीतर के कमरे में किसी के बाहर से आने की आहट मिली। जान पड़ा कि कोई अपरिचित व्यक्ति आया है। मैंने बाहर निकलकर देखा। सचमुच एक नाटा-सा अपरिचित मनुष्य दहलीज़ में खड़ा हुआ था। पूरी ठंड पड़ रही थी, लेकिन वह कोई लबादा नहीं पहने हुए था।

"तुम क्या चाहते हो ?"

---

* रूसी सिक्का

"अलेक्ज़ैन्ड्राफ़ नाम का कोई आदमी तो यहाँ नहीं रहता ?"

"भाई, इस नाम का तो कोई आदमी यहाँ नहीं रहता। और कहीं देखो।"

"ख़ूब, अभी तो दूकानदार ने बताया कि यहाँ रहता है।" यह कहकर आगंतुक दरवाज़े की तरफ़ लौटने लगा।

"भाई, यहाँ कोई नहीं है, आगे देखो।"

दूसरे दिन हम लोग खाना खाकर बैठे थे। अस्टफ़ी इवानोविच मेरे एक पुराने कोट को उलटकर नया कर रहा था। इसी बीच में मैंने फिर किसी के आने की आहट सुनी। मैंने दरवाज़े को आधा खोला—कल ही वाला आदमी था। बड़े अविचलित भाव से उसने सामने की खूँटी पर से मेरा बड़ा रुई का गर्मकोट उतार लिया, और उसे अपनी बग़ल में दबाकर भागा। मैं हक्का-बक्का-सा देखता ही रह गया। अग्रफ़ेना भी आश्चर्य में आकर खड़ी रह गई। मेरी वस्तु की रक्षा के लिये कुछ न किया। अस्टफ़ी इवानोविच ने अलबत्ता उस आदमी का पीछा किया, लेकिन वह भी दस मिनट बाद हाँफता हुआ और ख़ाली हाथों लौट आया। चोर साफ़ ग़ायब हो गया।

मैंने कहा, "अस्टफ़ीइवानोविच, यह बात एक ही रही।"

"अरे ग़नीमत समझो कि तुम्हारा लबादा छोड़ गया, नहीं तो न-जाने कैसी बीतती। चोट्टा कहीं का!"

मैं चुप रहा, लेकिन इस घटना का न-जाने क्यों अस्टफ़ी-इवानोविच पर बड़ा प्रभाव पड़ा। रह-रहकर उसे इसी का ध्यान आता, वह अपना सीने का धंधा छोड़ देता और उसी घटना का वर्णन करता। किस तरह चोर आया, कहाँ खड़ा हुआ, कैसे बड़ा कोट उतारा, कैसे आँखों के सामने से उसे लेकर बात-की-बात में ओझल हो गया और सब लोग देखते ही रह गये—वह स्वयं उसे पकड़ न पाया। यह बातें उसने कई बार दुहराईं। अस्टफ़ी-इवानोविच ने अग्रफ़ेना को भी दुत्कारा। अंत में फिर अपने काम में लगा। लेकिन मन-ही-मन न-जाने क्या-क्या बड़बड़ाता रहा।

संध्या के समय, उसके आगे चाय का प्याला बढ़ाते हुए मैंने कहा, "अस्टफ़ीइवानोविच, इस आदमी ने तो हम सबको उल्लू बना दिया।" मेरे साथी ने, इस कहानी को इतनी बार दुहराया था कि मुझे कुतूहल हो रहा था। समय काटने के लिये मैंने यह बात छेड़ दी थी।

"उल्लू नहीं तो क्या? मेरी तो वह चीज़ थी नहीं, लेकिन उसका जाना मुझे अखर गया। रह-रहकर मुझे ग़ुस्सा आता है। मेरी समझ में तो चोर से बढ़कर हराम-ख़ोर नहीं। दूसरों की गाढ़ी-कमाई की चीज़ें बात-की-बात में उड़ा देता है।...कितनी ढिठाई है; कैसा पाजीपना है। कुछ कहते नहीं बनता। क्यों, तुम्हें अपनी चीज़ का हाथ से निकल जाना खलता नहीं।"

"अस्टफ़ीइवानोविच, तुम ठीक कहते हो। चीज़ जल-कर नष्ट हो जाय, उसका सब्र हो जाता है, चोरी गई चीज़ का सब्र नहीं होता।"

"सब्र कैसे हो!...लेकिन एक बात है, सभी तरह के चोर भी होते हैं। मुझे तो एक ईमानदार चोर का भी अनुभव हुआ है।"

"ईमानदार चोर? अस्टफ़ीइवानोविच, क्या चोर भी ईमानदार हो सकता है?"

"तुम ठीक कहते हो। चोर कैसे ईमानदार हो सकता है? ऐसे देखने में तो आते नहीं। मेरा कहने का आशय यह था कि वह आदमी ईमानदार था। हाँ, वह चोरी कर लिया करता था। उसकी बड़ी कारुणिक कहानी है।

"अस्टफ़ीइवानोविच, क्या कहानी है, कहो भी।"

अस्टफ़ीइवानोविच ने, यह कहानी कह सुनाई—

"दो बरस पुरानी बात है। उन दिनों मैं बेकार था। साल-भर से नौकरी छूट गई थी। मेरी उस बेचारे से एक शराबख़ाने में भेंट हुई। वह शराबी था, आवारा था, भिख-मंगा था। कहीं नौकर रह चुका था, लेकिन शराब की लत ने उसकी नौकरी छुड़ा दी थी। फ़ाक़ेमस्त आदमी था। भगवान् जानता है, उसकी कैसी चलती रही होगी। कभी कोट है, तो उसके नीचे क़मीज़ नदारद। जो चीज़ पाई, शराब पीने में उड़ा दी। यह तो उसकी हालत थी। लेकिन वह लड़ाका आदमी नहीं था; बड़ा शांत आदमी था। बड़ा नम्र, भलामानुस और शरीफ़ था। कभी किसी से कुछ माँगता नहीं था। ऐसा करने में उसे लज्जा मालूम पड़ती थी। लेकिन उसकी शक्ल देखकर इस बात का पता चल जाता कि वह शराब का भूखा है। कोई-न-कोई उसे शराब पिला ही देता। इसी प्रकार उससे मुझसे भी जान-पहचान हो गई। जान-पहचान क्या हो गई, सच कहना चाहिए,

तो वह मेरे पीछे लग गया।...बात एक ही है। है न?... बड़ा विचित्र आदमी था। एक छोटे कुत्ते की भाँति मेरे पीछे लगा रहने लगा। जहाँ-जहाँ मैं जाता, वह भी पीछे-पीछे पहुँचता। और यह पहली ही मुलाक़ात के बाद! पहिले दिन उसने कहा था—"आज रात मैं यहीं रह जाऊँ।" और, मैंने भी कहा "अच्छा तो है।"

"मैंने उसकी चिट्ठी देखा—उसके विरुद्ध कोई बात नहीं थी।

"अच्छा, तो दूसरे दिन की भी यही कहानी है। तीसरे दिन वह दिन-भर आकर मेरी खिड़की पर बैठा रहा, और रात भी मेरे ही यहाँ बिताई। मैंने सोचा कि यह तो मेरे पीछे पड़ गया। इसे खाना खिलाओ, रात में रहने की जगह दो। मुझ ग़रीब आदमी के मान की बात यह कैसे हो सकती थी। मेरे यहाँ आने के पहले इसी प्रकार वह एक सरकारी दफ़्तर में काम करनेवाले के यहाँ जाया करता था। दोनों एक साथ रहते, शराब उड़ाते। किसी कारण उस पुराने साथी की मौत हो गई। अब मेरे पीछे आ लगा। इस आदमी का नाम था इमलियानइलाइच। मैं बड़े सोच में पड़ा कि क्या करना चाहिए, उसे अपने यहाँ से निकालने में मुझे संकोच होता था। उस पर मुझे बड़ी तरस आती थी। ऐसा दीन और ग़ुमराह आदमी मैंने कभी नहीं देखा था। अपने मुँह से उसने कभी कुछ माँगा नहीं। बस, बैठा रहता, और तुम्हारी आँखों की तरफ़ कुत्ते की भाँति टकटकी लगाए रहता। शराब की लत आदमी को कैसा पतित बना देती है!

"मैं बराबर यही सोचा करता कि इस आदमी से कैसे कहूँ कि 'इमलियान मेरे यहाँ न आया करो। कोई दूसरा ठिकाना देखो, यहाँ तो आप ही ऐसी ग़रीबी है कि जितने दिन चल रही है, चल रही है। मैं तुम्हारा पेट कहाँ से भर सकूँगा?"

"मैं यही विचार करता कि ऐसा सुनने पर वह क्या करेगा। मैंने समझ लिया था करेगा कुछ नहीं, बैठके मेरा मुँह ताकेगा। मेरी बात समझेगा ही नहीं। और अगर समझ गया, तो चुपचाप उठेगा, अपने लाल चारख़ाने के रूमाल में बँधी हुई पोटली उठावेगा—इस रूमाल में न-जाने कितने छेद हो रहे थे, और इस पोटली में न-जाने क्या था कि सदा साथ ही लिए रहता था—और आँखों में आँसू भरकर अपने फटे कोट को झाड़कर ठीक करता हुआ चुपके से घर के बाहर हो रहेगा। वह इतना लज्जाशील आदमी था!

ऐसे आदमी को देखकर किसे तरस न आवेगा।... कौन अपने मुँह से कहेगा कि 'मेरे घर से निकल जाओ।'

"फिर मैं यह सोचता कि मैं ही यह स्थान छोड़ दूँ, तो कैसा? मैंने मन में कहा, रहो इमिलियान, अब तुम ज़्यादा दिन तक दावतें न उड़ा पाओगे। मैं ही यहाँ से चला जाता हूँ, और ऐसी जगह जाऊँगा, जहाँ तुम जान भी न पाओगे।

"दूसरे ही दिन मैंने वह स्थान छोड़ने का निश्चय कर लिया। मैं एक बुढ़िया के पास गया, और उसीके घर का एक कोना अपने रहने के लिये ठीक करके लौटा। इस घर का एक ही कोना मुझे मिल सका। यह बुढ़िया किसी अस्पताल में दाई रह चुकी थी। अब उसे पेंशिन मिलने लगी थी, और उसने अपना घर कर लिया था। मैंने सोचा, 'इमिलियान, बच्चू अब मुझे तुम न पा सकोगे।' अपना बोरिया-बिस्तर सँभालकर मैं इस नए घर में चला गया।

"यह भी सुनिए कि हुआ क्या? मैं एक दिन अपने एक मित्र के यहाँ भेंट करने चला गया था। शाम को लौटा, तो देखता क्या हूँ कि इमिलियान वहाँ भी मौजूद है। मेरे बॉक्स के ऊपर वही लाल चारख़ाने के रूमाल-वाली पोटली रक्खे हुए बैठा था। वही पुराना कोट पहने हुए था, और मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। समय काटने के लिये, उसने बुढ़िया से एक धर्म-पुस्तक माँग ली थी, और उसे उलटी पकड़कर उसमें आँखें धँसाए हुए था। आख़िर सूँघते-सूँघते यहाँ भी आ पहुँचा। मेरा जी बैठ गया। मैंने सोचा क्या करूँ। मैंने इसे पहले ही दिन क्यों निकाल बाहर नहीं कर दिया? मैंने उसका स्वागत नहीं किया।

"मैं भी वहीं बैठकर विचार में पड़ गया। मैंने सोचा, 'आख़िर इस बेचारे की वजह से मुझे तकलीफ़ ही क्या हो सकती है?' ख़ूब सोच-विचारकर मैंने यह निश्चित किया कि उस दीन की वजह से मुझे कोई कष्ट न होगा। इसे भोजन तो देना ही चाहिए। हाँ, एक टुकड़ा रोटी सवेरे खायगा। थोड़ा-सा प्याज़ ला दिया करूँगा, उसी के साथ खा लेगा, यहाँ खाना दोपहर को भी दे दिया करूँगा। संध्या के समय रोटी-प्याज़ के साथ कोई शारबे-

दार तरकारी हो गई, तो और भी अच्छा होगा। दोनों पेट-भर लेंगे। मैं आप, तो बहुत थोड़ा खाना खानेवाला आदमी हूँ, और वह शराबी ठहरा—कौन नहीं जानता कि शराबी खाना बहुत थोड़ा खाते हैं। उसे तो अपने ठर्रे से मतलब है। हम लोगों की निभ जायगी। हाँ, मेरी भी शराब की आदत पड़ी, तो मैं भी मिट जाऊँगा। लेकिन इसी के साथ ही मन में एक बात ऐसी बैठ गई कि और सभी बातों का ध्यान जाता रहा। यदि उस समय इमिलियान वहाँ से चला गया होता, तो मुझे अपना जीवन शून्य और नीरस मालूम पड़ने लगता।...मैंने मन में दृढ़ निश्चय कर लिया कि मैं उसकी इस प्रकार रक्षा करूँगा, जिस प्रकार बाप अपने बेटे की रक्षा करता है। मैं उसे मिट्टी में मिलने से बचाऊँगा—इसको शराब की लत छुड़ाऊँगा। हाँ, ज़रा वक़्त लगेगा। मैंने इमिलियान से कहा 'अच्छा, इमिलियान तुम मेरे यहाँ रह सकते हो, लेकिन एक शर्त पर—भलेमानस की तरह रहो ; जो मैं कहूँ, उसे मानो।'

"मैंने सोचा इसे किसी धंधे में लगा दें, तो यह राह पर आ जाय। लेकिन अभी नहीं। धीरे-धीरे यह काम हो सकता है। अभी इससे कुछ न बोलें। फिर देखेंगे कि क्या काम कर सकता है। तुम जानते ही हो कि हरएक काम के लिये एक विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है। मैं चुपके-चुपके इमिलियान का निरीक्षण करने लगा। थोड़े ही काल में मैंने समझ लिया कि यह ऐसा मनुष्य नहीं है, जो अब सुधर सके। मैंने उसे उपदेश देना शुरू किया। इधर-उधर की बहुत बातें समझाईं। मैंने कहा, 'इमिलियान, अब तुम्हें सँभलना चाहिए ; ठीक रास्ते पर चलना चाहिए। शराब पीना छोड़ो। अपने वस्त्रों को तो देखो। अपना पुराना कोट देखो ; चलनी हो रहा है। कैसी शक्ल बना रखी है। सब चीज़ों की इंतिहा होती है।' इमिलियान मेरी बातों को नीचा सिर किए हुए सुनता रहा। मैं क्या बताऊँ, शराब पीते-पीते उसकी अक़्ल मारी गई थी। उसके मुँह से ठिकाने की एक बात भी तो नहीं निकलती थी। पूछो आम, तो जवाब देता था इमली। मेरी बातें सुन-सुनकर केवल लंबी साँसें ले लिया करता था, मैंने उससे पूछा, 'इमिलियानइल्लाइच, आख़िर ये लंबी साँसें क्यों भर रहे हो?'

" 'कुछ भी तो नहीं, अस्टफ़ीइवानोविच कोई बात नहीं है। अस्टफ़ीइवानोविच, आज गली में दो औरतें लड़ रही थीं। एक ने दूसरी की बेरों की टोकरी गिरा दी थी।

" 'तो क्या हुआ?'

" 'दूसरी ने भी पहली की बेरें गिराकर उन्हें पैरों से मसल डाला।'

" 'तो इसकी तुम्हें कौन फ़िक्र हो रही है, इमिलियान?'

" 'अस्टफ़ीइवानोविच, कोई फ़िक्र नहीं, मैंने एक बात कही।'

" 'कुछ नहीं, मैंने एक बात कही!' 'इमिलियान, शराब पी-पीकर तुम अपनी सारी अक़्ल गँवा बैठे हो।'

" 'एक बात और हुई। गोरोवी सड़क पर किसी भले आदमी का एक नोट गिर पड़ा था। नहीं, गोरोवी सड़क पर नहीं, सैडोवी सड़क पर। एक देहाती ने उसे देखा, और कहा 'यह मेरे भाग्य का है।' इतने ही में एक दूसरा आदमी दौड़ पड़ा, और बोला 'नहीं यह मेरे भाग्य का है। मैंने इसे पहले देखा था।'

" 'तो क्या हुआ, इमिलियान।'

" 'अस्टफ़ीइवानोविच, दोनों में लड़ाई होने लगी। पुलिसवाला आ गया। उसने दोनों से वह नोट छीनकर जिसका गिरा था, उसे दे दिया और दोनों को धमकाया कि तुम्हें ले जाकर बंद कर दूँगा।'

" 'हाँ, फिर इसमें कौन-सी बात तुम्हारे मतलब की है?'

" 'नहीं कोई बात नहीं। अस्टफ़ीइवानोविच, सब लोग उन पर हँसने लगे।'

" 'उफ़! लोग हँसे, हाँ हँसे। तो इससे तुम्हें क्या मतलब। मैंने जो बातें कहीं, उन्हें भी सुना कि नहीं?'

" 'क्या कहा, अस्टफ़ीइवानोविच?'

" 'कहा यह कि किसी धंधे में लगो। अपना सत्यानाश क्यों कर रहे हो? सौ बार तुमसे कह चुका, अपने आप पर रहम करो। किसी काम में लगो।'

" 'अस्टफ़ीइवानोविच, किस काम में लगूँ? मुझसे कौन-सा काम हो सकेगा? और कौन मुझे काम देगा?'

" 'इस शराब ने ही तुम्हारी नौकरी छुटाई है। मैं जानता हूँ।'

"तुम व्लास बावर्ची को जानते हो? अस्टफ़ीइवानोविच, आज लोगों ने उसे दफ़्तर में बुलाया था।'

"'किसलिये ?'

"'यह तो मुझे नहीं मालूम ; कोई काम रहा होगा।'

"'उफ़ ! ऐसे मनुष्य के लिये क्या किया जा सकता था। मैंने कहा 'भगवान्, तू ही मालिक है, और इसका पार लगा सकता है।' लेकिन निरा बेवक़ूफ़ भी नहीं था। जब देखता कि मैं बिगड़नेवाला हूँ, चुपके-से अपना फटा कोट उठा लेता और घर के बाहर हो रहता। न-जाने कहाँ-कहाँ घूमता रहता। हाँ, रात को, नशे में चूर घर पर लौटता। शराब पीने के लिये उसे दाम कहाँ से मिल जाता, भगवान् ही जानता है। मुझसे तो वह कुछ पाता न था।

"एक दिन मैंने कहा, 'इमिलियान, तुम पछताओगे। इसका नतीजा अच्छा नहीं है। शराब पीना छोड़ दो। जो मैं कहता हूँ, मान लो। अब की बार, जो तुम नशे में घर लौटे, तो मैं भीतर घुसने न दूँगा। ज़ीने पर ही रात काटनी पड़ेगी।'

"इस फटकार के बाद इमिलियान उस दिन और दूसरे दिन घर ही पर रहा। कहीं निकला नहीं। लेकिन तीसरे दिन फिर चुपके से निकल गया। मैंने उसकी बड़ी प्रतीक्षा की, लेकिन वह लौटा नहीं। मैं यह डरा कि किसी संकट में, तो नहीं पड़ गया है। सच पूछो, तो उस बेचारे ने मेरे दिल में घर कर लिया था। मैं सोचने लगा कि 'उस बेचारे ने मेरा बिगाड़ा ही क्या था कि मैंने उसे डराकर भगा दिया। बेचारा कहाँ होगा ? भगवान् उसकी रक्षा करे।'

"रात हुई। फिर भी न आया। सवेरे उठकर मैंने बाहर ज़ीने पर आकर देखा। कहीं ज़ीने पर, तो नहीं सो गया है। देखता क्या हूँ कि सीढ़ी पर सिर रक्खे हुए ठंड के मारे सिकुड़ा पड़ा है। जान पड़ता था कि बेचारे की हड्डियों के भीतर ठंड समा गई है।

"'इमिलियान, भगवान् तुम्हारी रक्षा करें, तुम क्या करनेवाले हो। अब इसके बाद कहाँ जाओगे।'

"'अस्टफ़ीइवानोविच, उस दिन तुम—क्या कहूँ—ख़फ़ा हो गए थे। और कहते थे कि मैं घर में घुसने न दूँगा; और मुझे यहीं सोना होगा। तुम्हारे डर से मैं घर में नहीं आया। यहीं सो रहा...।'

"मैं ख़फ़ा ज़रूर हुआ था। मुझे इसका रंज भी था।

"मैंने कहा, 'इमिलियान, ज़ीने की रखवाली छोड़कर तुम कोई दूसरा काम करते, तो अच्छा था।'

"'क्यों अस्टफ़ीइवानोविच, कौन-सा काम बताते हो?'

"मैं बिगड़कर बोला, 'अरे नालायक़, सुई चलाना ही सीख ले। अपने कपड़ों को देख। अपने तन की ख़बर ले। ये कोट चिथड़े-चिथड़े हो रहा है। एक सुई लेकर इसी को गूथ डाल। जो देखता होगा, क्या कहता होगा ?'

लेकिन इसका नतीजा क्या हुआ, जानते हो ? उसने सचमुच सुई उठाई। मैंने तो हँसी में ही यह बात कही थी, लेकिन वह इतना डर गया था कि काम में लगा। उसने अपना कोट उतार लिया, और सुई में तागा डालने लगा। मैं उसे ग़ौर से देख रहा था। कहें क्या, उसकी आँखें सुर्ख़ हो रही थीं, और उसका हाथ काँप रहा था। बार-बार कोशिश करने पर भी वह सुई में डोरा न डाल सका। तागे का सिरा होंठों से गीला करके और अँगुलियों से ऐंठकर आँख दबाकर सुई के नाके में उसे पिरोने का प्रयत्न करता; लेकिन अन्त में उससे तागा पिरोया न गया। हताश होकर उसने यह काम छोड़ दिया, और मेरी ओर देखने लगा।

"मैंने कहा, 'बड़े आज्ञाकारी हो ! कोई दूसरा होता तो क्या समझता। अरे बेवक़ूफ़ मैंने, तो हँसी में कहा था। तेरी मलामत की थी। रहने भी दो, भगवान्! तुम्हारा भला करे ! चुपचाप बैठो। मुझे शर्मिंदा न करो। और आज से मेरे ज़ीने पर सोकर मेरी हँसी न कराना।'

"उसने उत्तर दिया, 'अस्टफ़ी इवानोविच' मैं क्या करूँ ? मैं ख़ूब जानता हूँ कि मैं शराबी और निकम्मा आदमी हूँ, और तुम मुझसे आजिज़ आ गए हो।...'

"इतना कहते-कहते उसके नीले होंठ काँपने लगे। उसके सफ़ेद गाल पर से गिरकर आँसू की एक बूँद उसकी ठुड्डी पर के बढ़े हुए बालों में समा गई। इसके बाद तो बेचारा इमिलियान फूट-फूटकर रोने लगा। हे ईश्वर ! मुझे तो ऐसा जान पड़ा कि मेरे दिल में कोई चाकू भोंक रहा है। मैं कब जानता था कि उसे मेरी बात इस तरह लगेगी। अंत में मैंने मन में कहा कि 'इसे अपनी ही राह जाने देना चाहिए। जब इस पर कुछ असर ही नहीं होता, तो क्या किया जाय !' क़िस्सा क्यों बढ़ाऊँ—मैंने उसे सुधारने का विचार ही छोड़ दिया।

"मेरे पास एक ज़ीन-सवारी की बिरजिस थी। बुरा हो उस बिरजिस का, लेकिन वह थी बड़ी ही अच्छी बिरजिस। नीले रंग की चारख़ाने की बिरजिस थी।

गाँव के एक भले आदमी ने मुझसे बनवाया था, लेकिन जब तैयार हुई, तो उसने लिया नहीं—कहा, तंग होती है। इसलिये मेरे पास पड़ी रह गई। लेकिन चीज़ अच्छी थी। किसी पुराने कपड़ों के दुकानदार को दे देता तो भी मुझे पाँच चाँदी के सिक्के मिल जाते। कुछ न होता, तो उसमें से दो वासकटें निकल आतीं। मेरे-ऐसे ग़रीब आदमी के लिये यही क्या थोड़ी बात थी? उन्हीं दिनों इमिलियान बड़ी तंगी में था। मेरे यहाँ कई दिन तक बराबर रहा। कहीं जाता न था। पीने के लिये उसे एक बूँद भी शराब न मिली थी। उल्लू की तरह बैठा रहता। उसे देखकर तरस आ जाती थी। मैंने मन में कहा, 'बच्चू दो ही बातें हो सकती हैं। या तो तुम्हारे पल्ले अब टके नहीं रह गए हैं, या अब अक़्ल ठिकाने आ रही है।' ख़ैर, इसके बाद ही एक छुट्टी पड़ी। मैं त्योहार मनाने के लिये एक और जगह चला गया। लौटा तो देखता हूँ कि इमिलियान वहीं पर खिड़की पर बैठा हुआ नशे में चूर झूम रहा है।

"मैंने भी कहा कि 'हज़रत, यहाँ मौज़ें उड़ा रहे हैं।' इसके बाद मुझे अपने बक्स से किसी वस्तु के निकालने की आवश्यकता हुई, देखता हूँ कि बिरजिस ग़ायब है।...इधर-उधर सभी तरफ़ देखा, लेकिन उसका कहीं भी पता नहीं। मेरे दिल को बड़ी चोट पहुँची। मैं पहले, तो घर की बुढ़िया मालकिन के पास गया। और उसे बुरा-भला कहने लगा। इमिलियान पर मेरा तनिक भी संदेह न हुआ। मुझे समझ लेना चाहिए था कि 'आख़िर यह नशे में चूर जो यहाँ बैठा है, इसने पैसे पाए कहाँ?'

"बुढ़िया कहने लगी, 'भगवान्! तेरा भला करे—भले आदमी मैं तुम्हारी बिरजिस लेकर क्या करूँगी। मैं बिरजिस पहनूँगी? उस दिन इसी तरह मेरी एक कमीज़ ग़ायब हो गई। मैंने किसी से कहा नहीं, चुप रह गई। मैं तुम्हारी बिरजिस क्या जानूँ? मुझे ऐब न लगाओ।'

"मैंने पूछा, 'आख़िर यहाँ, इस घर के भीतर आया कौन?'

"उसने कहा, 'मेरी जान में, तो कोई आया नहीं। मैं तो कहीं बाहर भी नहीं निकली। इमिलियान ही एक दफ़ा बाहर गया था, और फिर लौट आया था। बैठा तो है। उससे पूछ देखो।'

"मैं बोला, 'इमिलियान, तुमने तो मेरी ज़ीन सवारी-वाली बिरजिस कहीं नहीं रक्खी है? वही बिरजिस जो मैंने उस गाँव के मुखिया के लिये बनाई थी।'

"उसने उत्तर दिया, 'नहीं अस्टफ़ीइवानोविच, मैं भला उसे क्यों छूने लगा?'

"मेरे बदन में आग लग रही थी। ऊपर-नीचे, इधर-उधर सभी ठौर मैंने रत्ती-रत्ती देख डाला, लेकिन बिर-जिस का पता न चला। मैंने घूमकर इमिलियान की ओर देखा। मैं लाल हो रहा था। वह सिर नीचा किए हुए झूम रहा था। ठीक उसी समय उसने भी मेरी ओर देखा; और सहम गया। बोला, 'अस्टफ़ीइवानोविच, तुम सोचते होगे कि तुम्हारी ज़ीन सवारीवाली बिरजिस मैंने ही ली है, लेकिन नहीं, मैंने जो उसे छुआ भी हो!'

"'लेकिन, इमिलियान, आख़िर गई कहाँ?'

"'अस्टफ़ीइवानोविच, मैं क्या जानूँ।'

"'तो क्या अपने हो आप कहीं उड़कर चली गई?'

"'अस्टफ़ीइवानोविच, शायद ऐसा ही हुआ हो।'

"मैं चुप रह गया। लैंप जलाकर एक कोने में जा बैठा, और अपने सीने के धंधे में लगा। मैं दफ़्तर के एक नौकर की वासकट सी रहा था। लेकिन मेरे जी में आग लग रही थी। रह-रहकर मन में आता था कि सभी कपड़े-लत्ते में आग लगाकर बैठ रहूँ। इमिलियान समझ गया था कि मैं बड़े ग़ुस्से में हूँ। अपराधी मनुष्य का जी हो छोटा होता है। जिस प्रकार कि आकाश के पक्षीगण आनेवाले तूफ़ान को जान लेते हैं, इसी प्रकार अपराधी भी आनेवाली विडंबनाओं को समझ लेता है।

"इमिलियान ने मुझे बातों में लगाना चाहा। काँपते हुए स्वर में उसने कहा—'अस्टफ़ीइवानोविच, तुमने सुना है कि पोहोरिच पंसारी ने गाड़ीवाले की बीबी से ब्याह कर लिया—गाड़ीवाले को मरे हुए अभी कितने दिन हुए!'

"मैंने इमिलियान की ओर इस बुरी तरह से घूरकर देखा कि वह भी सहम गया। चुपचाप उठा और अपने बिस्तर पर जाकर पड़ रहा। और बिछौने पर पड़ा-पड़ा उसी में अपने हाथों को कुरेदने लगा। मैं सुनता था, वह अपनेआप बक रहा था। कह रहा था—'नहीं, यहाँ भी नहीं है—कहाँ चली गई।' मैं फिर भी देखता रहा कि क्या करता है। कुछ देर बाद वह घुटनों के बल

पलँग के नीचे घुस गया। मुझसे न रहा गया। मैंने कहा, 'इमिलियान, वहाँ पलँग के नीचे क्या रेंग रहे हो?'

" 'अस्टफ़्रीइवानोविच, बिरजिस ढूँढ रहा हूँ। शायद यहाँ गिर गई हो।'

"मैंने चिढ़कर कहा, 'मिहरबानी करो। तुम्हारे रेंगने से मेरी बिरजिस मिली जाती है! मुझे बहुत न तंग करो!'

" 'अस्टफ़्रीइवानोविच, कोई बात नहीं है। मुझे ढूँढ लेने दो। शायद मिल ही जाय।'

" 'हूँ! इमिलियान इधर तो देखो!'

" 'क्या है अस्टफ़्रीइवानोविच?'

" 'ठीक-ठीक बताओ। क्या तुमने उसे चुराया नहीं है? मेरे रोटी और निमक का यही बदला दिया है?"

"बात यह थी कि मैं उसकी इस हरकत से बहुत ही चिढ़ गया था।

उसने कहा, 'नहीं, अस्टफ़्रीइवानोविच।'

"इमिलियान पलंग के नीचे ही बैठा रहा। थोड़ी देर बाद बाहर निकला, मैंने उसकी ओर देखा। उसका चेहरा बिलकुल सफ़ेद हो रहा था। वह खड़ा हुआ। फिर आकर मेरे पास खिड़की ही पर बैठ गया और दस मिनट तक बैठा रहा।

"उसका मुँह डरावना हो रहा था। वह मेरे बहुत निकट आकर कहने लगा, 'नहीं, अस्टफ़्रीइवानोविच, नहीं—मैंने तु—म्हा—री बिरजिस नहीं छु—ई है...।'

"वह बिलकुल कँप रहा था। अपनी अँगुली से अपनी छाती की ओर इशारा किए हुए था। उसकी आवाज़ भी भरी हुई थी। मैं एकटक उसकी ओर ताकने लगा, और जी में डरा भी।

" मैंने कहा, भाई इमिलियान, देखो, मुझे माफ़ करो—यदि मैंने ग़लती में तुम्हारे ऊपर झूठा दोष लगाया हो, भूल जाओ। रही बिरजिस की बात, सो भाड़ में जाय बिरजिस! उसके बिना मैं मरा नहीं जाता हूँ। भगवान् ने हाथ दिए हैं। मिहनत करके पेट भरेंगे। किसी के सामने हाथ न पसारना होगा। और भगवान् चोरी करने की रोज़ी न दे!'

"इमिलियान वहीं खड़ा-खड़ा मेरी बात सुनता रहा। मैंने उसकी ओर आँखें उठाकर देखा, तो वह बैठ गया। बड़ी देर तक वहीं बैठा रहा। ज़रा भी हिला-डुला नहीं। मुझे तो थोड़ी देर बाद नींद आ गई, और मैं अपने बिछौने पर आकर लेट गया। सवेरे उठा, तो देखता हूँ कि इमिलियान वहीं धरती पर सिकुड़ा हुआ अपना चिथड़ा लबादा लपेटे हुए पड़ा है। बेचारा इतने रंज में था कि उठकर बिस्तर तक न गया। उस दिन के बाद से मुझे उससे नफ़रत-सी हो गई। मुझे कुछ दिनों तक तो ऐसा जान पड़ता था कि मानों अपने ही बेटे ने लूट लिया हो, या कोई बड़ी क्षति पहुँचाई हो। मैंने मन में कहा, धत्तेरे इमिलियान की। इमिलियान भी उस दिन से एक पखवारे तक नित्य शराब पीकर लौटता रहा। दिन-रात नशे में चूर रहा करता। सवेरे ही निकल जाता, और बहुत रात बीतने पर घर वापस आता। एक पखवारे तक वह मुझसे बोला ही नहीं। जान पड़ता था कि उसके जी में कोई बड़ा भारी रंज समा गया हो। वह अपने आपको मिटा देना चाहता था। अंत में जब फिर टका पल्ले न रहा, तो नशेबाज़ी भी छूटी। तीन दिन और तीन रात वह मेरी खिड़की ही पर बैठा रहा। इस बीच में वह एक शब्द भी नहीं बोला। एकाएक रोने लगा। कुछ नहीं, मैं बैठा हुआ था, देखता क्या हूँ कि फूट-फूटकर रो रहा है। आँसू की धारें चल रही हैं। किसी भी बड़े आदमी को—अच्छी उमरवाले आदमी को रोते-चिल्लाते देखकर किसे दुख न होगा?

"मैंने पूछा, 'इमिलियान, क्या हुआ?'

वह और भी कँपने लगा। इतने दिनों बाद मैं उससे आज बोला था।

" 'कुछ नहीं, अस्टफ़्रीइवानोविच'—सिसकते हुए वह बोला।

मुझे भी दुख हो रहा था। मैंने कहा, 'भगवान् तुम्हारा भला करे। इमिलियान रोते क्यों हो। एक चीज़ गुम हो गई, गुम हो गई। उसके पीछे इतना दुख काहे का?'

" 'कुछ नहीं, अस्टफ़्रीइवानोविच, कोई बात नहीं है। मैं किसी धंधे में लगना चाहता हूँ। कोई काम मिल जायगा?'

" 'कैसा काम चाहते हो इमिलियान?'

" 'कोई भी काम हो। शायद वैसी ही कोई नौकरी मिल जाय, जैसी कि मैं किया करता था। मैं फेडोसेइवानोविच के यहाँ गया भी था। बात यह है, अस्टफ़्रीइवानोविच कि मैं तुम्हारे ऊपर बोझ होकर नहीं रहना

चाहता। मुझे कोई नौकरी मिल जाय, तो फिर मैं तुम्हारा मुझ पर जो कुछ ख़र्च हुआ है, उसे चुका दूँ। तुम्हारा मुझ पर बड़ा अहसान है—उसका कुछ बदला दे सकूँ।'

"'रहने भी दो, इमिलियान। जो बात हो गई, हो गई। भूल जाव। जैसे हम लोग रहा करते थे, उसी तरह रहें। बीती हुई बातों की चर्चा छोड़ो।'

"'नहीं अस्टफ़ीइवानोविच, तुम चाहे जैसा ख़याल करो, मैंने—मैंने तुम्हारी बिरजिस छुई भी नहीं है—मैं सच कहता हूँ।'

"'ख़ैर, यही सही। इमिलियान, भगवान्, तुम्हारा भला करे।'

"'नहीं अस्टफ़ीइवानोविच, मैं अब तुम्हारे साथ नहीं रह सकता। कैसे रह सकता हूँ? मुझे माफ़ करना।'

"'भगवान्, तुम्हारा भला करे। क्यों इमिलियान, क्या मैं तुम्हें कुछ कह रहा हूँ? क्या मैं कहता हूँ कि मेरा घर छोड़कर चले आओ?'

"'नहीं अस्टफ़ीइवानोविच, मेरा तुम्हारे साथ रहना ठीक नहीं है। मैं चला जाऊँ, तभी अच्छा है।'

"जान पड़ता है कि उसे बड़ी चोट पहुँची थी। वह अपनी बात पर डटा रहा। मैंने उसकी ओर देखा। वह उठा, और अपने कंधे पर अपना कोट डालकर आगे बढ़ा।

"'लेकिन इमिलियान तुम जाते कहाँ हो? बात सुनो। बेवक़ूफ़ी न करो। क्या करना चाहते हो?'

"'नहीं अस्टफ़ीइवानोविच, मुझे अब रोको न। मेरा चलना ही ठीक है......मुझे चलना ही चाहिए। ....अब तुम वह नहीं रह गए।'

"'वह नहीं रहे, क्यों? मैं तो वही हूँ। कहा मानो। भटको मत।'

"'नहीं अस्टफ़ीइवानोविच, अब तुम वही नहीं रहे। जब बाहर जाने लगते हो, तो बक्स में ताला लगा देते हो। क्या मैं समझता नहीं। मेरा जी बड़ा दुखता है। मुझे जाने ही दो। मुझे माफ़ करना। मैं क्या कहूँ, मैंने तुम्हें बड़ी तकलीफ़ें दी हैं।'

"यह कहकर वह आदमी चला ही गया, मैं दिन-भर उसका आसरा देखता रहा। मैं समझता था कि वह शाम तक लौट आएगा, लेकिन नहीं—वह लौटा नहीं। दूसरे दिन भी उसका कोई पता नहीं चला। न वह तीसरे ही दिन लौटा। मैं बहुत डरा। मुझे बड़ी चिंता हुई। मुझे खाना-पीना न अच्छा लगता। न मुझे नींद आती। इसने तो मेरे होश उड़ा दिए। चौथे दिन मैं उसे ढूँढ़ने निकला। मैंने सभी ताड़ीख़ाने देखे, सभी जगह उसको ढूँढ़ा, लेकिन उसका पता न चला। मैंने कहा, 'इमिलियान, मैंने अब तुमसे हाथ धोया। तुम ज़िंदा भी हो कि नहीं।' मैं बड़े असमंजस और आश्चर्य में था। जिस समय मैं घर पर लौटा, मेरी बुरी दशा थी। मैं अपने आपको कोस रहा था। क्यों मैंने उसे चला जाने दिया। छठे दिन कोई त्योहार था। छुट्टी थी। सवेरे के समय मेरा दर्वाज़ा खुला। देखता हूँ कि मेरा इमिलियान सामने खड़ा है। उसका चेहरा नीला पड़ रहा था उसके बालों में धूल भरी हुई थी। सूखकर काँटा हो रहा था। मैं उसे देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ, लेकिन साथ-ही-साथ उसके लिये मुझे चिंता भी बड़ी हुई। उसकी बुरी हालत थी। मैं उससे प्रेमपूर्वक बातें करने लगा। उसे आश्वासन देने लगा, और उसको ध्यानपूर्वक देखने लगा।

"मैंने कहा 'इमिलियान, बहुत अच्छा हुआ कि तुम आ गए। अगर तुम न आते, तो मैं फिर आज ताड़ीख़ानों की धूल छानता। तुम भूखे तो नहीं हो?'

"'नहीं, अस्टफ़ीइवानोविच।'

"'हो क्यों नहीं? लो भाई थोड़ा-सा शोरवा कल का बच रहा है। बहुत अच्छा बना था। इसे लो और इसी के साथ थोड़ी-सी रोटी और प्याज़ भी ले लो। आओ खाओ, पेट में डाल लोगे, तो गुण ही करेगा।'

"मैंने उसे खाना खिलाया। साफ़ जान पड़ता था कि वह बड़ा भूखा है, और न-जाने कब से उसने खाना नहीं खाया है। सच पूछो, तो भूख के मारे ही वह मेरे यहाँ आया था। उस बेचारे को देखकर मेरा जी मिचल रहा था। मैंने सोचा कि ताड़ीख़ाने से दौड़कर थोड़ी-सी ताड़ी ले आऊँ, और इससे उसका सत्कार करूँ। बेचारे इमिलियान के विरुद्ध मेरे हृदय में तनिक भी क्रोध नहीं रह गया था। मैं उसके लिये थोड़ी-सी ताड़ी ले आया। कहा 'इमिलियान आज त्योहार का दिन है, थोड़ी-सी ताड़ी मेरे साथ पी लो। पिछली बातें सब भूल जाओ। इसे तो तुम पसंद करते हो न?' इमिलियान

ने बड़ी ख़ुशी से अपना हाथ बढ़ाया। ज्यों ही उसे लेने-वाला था, वह रुक गया। लेकिन फिर उसने प्याला लेकर उसे अपने होंठों तक बढ़ाया—थोड़ी-सी शराब उसकी आस्तीन पर गिर पड़ी। वह प्याला होंठों तक ले ज़रूर गया, लेकिन उसने शराब चक्खी नहीं।

"'इमिलियान, बात क्या है?'

"'कुछ नहीं, अस्टफ़ीइवानोविच, मैं—मैं ज़रा—'

"'तुम पिओगे नहीं।'

"'हाँ अस्टफ़ीइवानोविच, मैं—मैं अब पीना नहीं चाहता।'

"'क्या तुमने सदा के लिये शराब पीना छोड़ दिया, इमिलियान या केवल आज नहीं पीना चाहते?'

"उसने कुछ जवाब नहीं दिया। एक मिनट बाद मैंने देखा कि वह अपने हाथ पर अपना सिर रक्खे हुए है।

"'बात क्या है, इमिलियान? क्या बीमार हो?'

"'हाँ, यही बात है, अस्टफ़ीइवानोविच, मेरी तबियत ठीक नहीं है।'

"मैंने उसे बिस्तर पर लिटा दिया। वह सचमुच बीमार था। उसका सिर जल रहा था और उसे जूड़ी आ रही थी, मैं दिन-भर उसके पास ही बैठा रहा। रात के वक़्त उसकी हालत और भी ख़राब हो गई। तेल में प्याज़ और रोटी का चूरा डालकर मैंने उससे कहा आओ थोड़ा-सा इसे खा लो। 'यह गुणकारी होगा।' लेकिन उसने कहा—'अस्टफ़ीइवानोविच, आज मैं कुछ न खाऊँगा।'

"मैंने थोड़ी चाय बनाकर उसे पिलाई। घर की बुढ़िया मालकिन को भी जगाए रहा—लेकिन उसकी तबियत अच्छी न हुई। मैंने सोचा कि इसका हाल अच्छा नहीं है। तीसरे दिन मैं एक डॉक्टर को बुला लाया। कोस्टोप्राव नाम का एक डॉक्टर पास ही में रहा करता था। जब मैं पलटन में था, उसकी मेरी तब की जान-पहचान थी। डॉक्टर ने आकर बताया कि उसकी हालत बुरी है। उसने कहा 'मुझे बुलाया ही फ़िज़ूल। लेकिन कहो, तो एक पुड़िया दे दूँ।' मैंने उसे पुड़िया नहीं दी। जानता था कि यह सब डॉक्टरी ढंग हैं। अंत में पाँचवाँ दिन आ पहुँचा।

"वह बेचारा मेरी आँखों के सामने पड़ा मर रहा था। मैं अपनी खिड़की में बैठा काम कर रहा था। बुढ़िया चूल्हा जला रही थी, हम सभी चुप थे। मेरा हृदय उस बेचारे के लिये टूक-टूक हो रहा था। मुझे जान पड़ता था कि अपना बेटा मानों मर रहा है। मैं जानता था कि इमिलियान मेरी ओर देख रहा है। मैंने यह भी देखा था कि वह दिन-भर मुझसे कुछ कहना चाहता था, लेकिन मारे डर के कह न पाता था।

"मैंने उसको ध्यानपूर्वक देखा। बेचारे की आँखों में बड़ा दुख भरा हुआ था। वह आँखें मेरी ओर गड़ाए हुए था। जब मैं उससे आँखें मिलाता, तो वह अपनी आँखें नीची कर लेता।

"'अस्टफ़ीइवानोविच।'

"'क्या है, इमिलियान?'

"'मेरा कोट अगर किसी पुराने कपड़ों के दुकानदार के पास ले जाओ, तो इसके भला क्या दाम मिलेंगे अस्टफ़ीइवानोविच?'

"'इसके क्या दाम मिलेंगे, यह तो मैं ठीक नहीं बता सकता। शायद एक रूबुल मिल जाय।'

"सच बात तो यह थी कि अगर मैं इसे किसी के पास ले जाता, तो मुझे एक छदाम भी न मिलता। मेरी हँसी अलबत्ता उड़ाई जाती। लेकिन उस बेचारे को आश्वासन देने के लिये मैंने एक रूबुल बता दिया था।

"इमिलियान बोला, 'लेकिन अस्टफ़ीइवानोविच, मैं सोच रहा था कि इसके तीन रूबुल मिल जायँगे। आख़िर इसमें कपड़ा लगा है। और इसके लिये तीन रूबुल से कम भी क्या मिलेंगे?'

"मैं बोला, 'इमिलियान, मैं ठीक नहीं कह सकता। हाँ, अगर इसे बेचना ही हो, तो तीन रूबुल से ही मोल करना चाहिए। क्यों नहीं?'

"इमिलियान कुछ देर चुप रहा। इसके बाद मुझसे बोला—

"'अस्टफ़ीइवानोविच।'

"'क्या है इमिलियान?'

"'जब मैं मरूँ, तो मेरा कोट बेच देना। मुझे इसमें लपेटने की कोई ज़रूरत नहीं—क्या ज़रूरत रहेगी। और इसके कुछ दाम ही आ जायँगे; संभव है, कुछ काम दे जायँ।'

"यह सुनकर मेरे दिल को कितना दुःख हुआ, मैं

कह नहीं सकता ! मैंने स्पष्ट देख लिया कि उसकी मृत्यु अत्यंत निकट है। हम लोग कुछ देर चुप रहे। एक घंटा बीता। मैंने उसकी ओर फिर देखा—वह मेरी ओर टकटकी लगाए हुए था। आँखें मिलने पर उसने फिर अपनी आँखें नीची कर लीं।

"मैंने पूछा, 'इमिलियान, थोड़ा-सा पानी तो न पियोगे ?'

" 'हाँ, अस्टफ़ीइवानोविच, दे दो थोड़ा-सा। भगवान् तुम्हारा भला करे।'

"मैंने उसे पानी पिलाया।

" 'अस्टफ़ीइवानोविच, मैं तुम्हारा बड़ा उपकार मानता हूँ।'

" 'इमिलियान, कुछ और लोगे ?'

" 'नहीं, अस्टफ़ीइवानोविच, मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं—मैं —'

" 'क्या ?'

" 'मैं केवल—'

" 'क्या है इमिलियान, कहो भी ?'

" 'वह तुम्हारी ज़ीनसवारीवाली बिरजिस—अस्टफ़ी-इवानोविच—हाँ, हाँ, मैंने—ले लिया था।'

"मैंने कहा, 'बेचारे दुखी, इमिलियान। ईश्वर तुम्हें क्षमा-प्रदान करे। शांति-पूर्वक मरो।'

"*मेरा गला आप ही रुँध रहा था। मेरी आँखों से* आँसू की धार चल रही थी। मैंने एक क्षण के लिये अपना मुँह फेर लिया, जिसमें वह मेरा मुँह न देख सके।

" 'अस्टफ़ीइवानोविच —'

"इमिलियान कुछ कहना चाहता था। वह उठकर बैठने का प्रयत्न करता था। कुछ टटोल-सा रहा था। उसका चेहरा तमतमा उठा ......उसने मेरी ओर देखा। इसके बाद उसका रंग फिर सफ़ेद हो गया। सफ़ेदी बढ़ती गई। उसके प्राण छूटनेवाले थे। उसका सिर पीछे लटक गया और एक अंतिम श्वास छोड़कर उसने अपनी आत्मा परमेश्वर को सौंप दी *।"

रामचंद्र टंडन

एक भिखारी

चौपदे

चाल चल-चल करके कितनी,
मैं नहीं माल मूसता हूँ;
बिनाए क्यों कोई मुझसे,
मैं नहीं लहू चूसता हूँ। १।

फटे कपड़े मेरे होवें,
भाग मेरा होवे फूटा;
बना दो लोट-पोटकर कब,
किसी का घर मैंने लूटा। २।

दाँत मेरे निकले होवें,
पर कहाँ कभी उखड़ता हूँ;
मिले कौड़ी न, कौड़ियों को—
दाँत से नहीं पकड़ता हूँ। ३।

पेट मैं दिखलाता होऊँ,
पर न है पेट पाप-थैला;
भले ही तन मैला होवे,
नहीं है मन मेरा मैला। ४।

आँख नीची मैं रखता हूँ,
जिन्हें है सबको ऊँचा मन;
नहीं दिखलाता हूँ नीचा,
आँख ऊँची कर ऊँचा बन। ५।

आप मैं पिसता रहता हूँ,
बुरी गत बनती है मेरी;
मगर कब मेरे हाथों से,
गई जनता पीसी पेरी। ६।

ठोकरें खाता फिरता हूँ,
सिसिकती रहती हैं माखें;
लहू कब किसका करती हैं,
लहू बन-बन मेरी आँखें। ७।

बुरी सूरत होवे मेरी,
धूल से भर जाता हो तन;
कभी मन मेरा फूँफूँ कर,
बन सका नहीं साँप का फन। ८।

कलेजा मेरा छिलता है,
गत बनी आँखों के तिल की;
कहाँ मेरे मुँह से निकली,
सड़ी बुसड़े हुए दिल की। ९।

सदा मैं भूखों मरता हूँ,
पर कहाँ दिल में है कीना;
दुही मैंने किसकी पोटी,
कौर किसके मुँह का छीना। १०।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

---

* (डास्टॉवस्की की एक कहानी)।—लेखक

आपेक्षिक तत्त्व के अनुसार जड़ व विद्युत् का संपर्क *

तत्त्ववेत्ता के जाँच या विचार की वस्तु का नाम "जड़" है। दार्शनिक के जाँच या विचार की वस्तु का नाम 'आत्मा' है। परंतु 'जड़' तथा 'आत्मा' क्या वस्तुएँ हैं, इस विषय पर यदि प्रश्न उठाया जाय और इन दोनों में से एक का भी उत्तर देने की चेष्टा की जाय, तो एक क्या, दश अधिवेशनों में भी उसकी मीमांसा होने में संदेह है। अतएव युक्ति व तर्क के बहुत पीछे न पड़कर इस विषय पर हमारी जो साधारण धारणाएँ हैं, उन्हीं पर निर्भर होकर 'जड़' व विद्युत् के विषय में, मैं दो-एक बातें कहूँगा।

जड़ शब्द का अर्थ सनातन काल से 'क्षिति, अप्, तेज, मरुत् तथा व्योम' है। अरब-देश में वह इन्हीं को ख़ाक, बाद, आब, आतश कहते हैं। उनके ध्यान में यह नहीं आया था कि व्योम भी एक जड़ पदार्थ है। जब हम आधुनिक काल में पाश्चात्य भौतिज्ञों को इस बात पर तर्क करते देखते हैं कि व्योम (Ether) है या नहीं, और यदि है, तो वह जड़ पदार्थ है, या नहीं, तो हम अपने आर्य तत्त्ववेत्ताओं का उस आदि काल में ही व्योम को पंचभूत में सम्मिलित करना उनकी तत्त्व-वीरता का परिचायक कहकर स्वीकार करते हैं।

'तेज' या 'आतश' को पंचभूत में सम्मिलित करने को भी हममें से बहुतेरे प्राचीन आर्य तत्त्वज्ञानियों का भ्रम समझते हैं; परंतु उनकी धारणा संपूर्णतया निर्मूल है। भारत-इतिहास के उदय-काल में ही जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि भगवान् ने, जब इस जगत् की सृष्टि की, तो किस-किस उपादान से की। उस जगत्-कवि ने जो विश्व-काव्य की रचना की, तो उस रचना की भाषा की 'अ, इ, ई' किस आकार की बनाई। तब उस प्रश्न का उत्तर उन आदि ऋषियों का यह था कि 'क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम' इन्हीं पंचभूतों से जगत् की सृष्टि हुई है। इसी पर गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपनी रुचिर रामायण में गाया है—'छिति जल पावक गगन समीरा; पंच रचित यह अधम सरीरा।'

आज उनके ज्ञान के अधिकारी हो करके, उनकी अपेक्षा और अधिक अभिज्ञता लाभ करके जो दो-एक नूतन वस्तुएँ हमने जानी हैं, उन पर हमें गौरवान्वित होने का बहुत कम कारण है। अंततः यह सत्य है कि अनेक युग-युगांतर पश्चात् जो दो-एक बातें हमने सीखी हैं, उनमें उनके गौरव की हानि नहीं हो सकती। वह मानव-सभ्यता की शैशवावस्था थी। ज्ञान की स्पृहा से मनुष्य पूर्ण था। ज्ञान-अन्वेषण में उसे कितनी स्फूर्ति तथा आनंद था। एक शिशु, जैसे अपनी गुड़िया के वस्त्रादि को चीड़-फाड़कर, उसके हाथ-पैर तोड़-मरोड़कर, यह देखना चाहता है कि वह किस उपादान से बनी है; जैसे वह अपने पेंचदार खिलौने के एक-एक पुर्ज़े को खोल-कर देखना चाहता है कि वे कैसे संयुक्त हैं तथा वे किस प्रकार चलते हैं, ठीक इसी तरह वह आदिम-मानव-शिशु भी जिसके लिये 'खेलार छोले हरी ठाकुर रचे छेन जे जगत खानी' (खिलौने की तरह हरि परमेश्वर ने, जिस जगत् को रचा है) उसको विश्लेषण करके वह किस-किस उपादान से गढ़ा है और किस-किस प्रकार से चलता है, उसको जानने के लिये अत्यंत व्यस्त हुआ था। उस समय तक विज्ञान तथा दर्शन में पार्थक्य की सृष्टि नहीं हुई थी। तब विज्ञान-राज्य में रसायन (Chemistry) वस्तु-तत्त्व (Physics) के बीच में स्वातंत्र्य की सीमा का निर्देश नहीं हुआ था। 'क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम' से यह जगत् सजा है, यह एक ऐसे काल की सनातन मीमांसा है।

यदि हम उस काल के भाव-राज्य व अभिज्ञता में प्रवेश करने का प्रयास करें, तो यह हमें अनायास ही प्रतीत होगा कि 'क्षिति' शब्द का अर्थ 'कठिन' (Solid) के सिवा और कुछ नहीं, 'अप्' शब्द का अर्थ तरल (Liquid) तथा 'मरुत्' शब्द का अर्थ वाष्प (Gaseous) के सिवा कुछ नहीं है। हमारे प्राचीन वैयाकरणिक-जैसे हमारी भाषा की वर्णमाला को कवर्ग,

* श्रीयुक्त सत्येंद्रनाथ राय, विज्ञानाचार्य लखनऊ विश्व-विद्यालय के "आपेक्षिक तत्त्व अनुसारि जड़ एवं विद्युतेर सम्पर्क" का हिंदी-अनुवाद। —लेखक

चवर्ग, टवर्ग इत्यादि में विभक्त कर गए हैं, इसी प्रकार उन वैज्ञानिक ऋषियों ने भी उन उपादानों को जिनसे हरि परमेश्वर ने, इस जगत् को रचा है, इस समष्टि को क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम नामधारी पंचभूत की केवल श्रेणियों में विभक्त कर गए हैं। कुम्भकार जो घट निर्माण करता है, उसका उपादान जल व मृत्तिका व अग्नि हैं अर्थात् 'क्षिति, अप्, तेज'। उस घट में जब अन्न प्रस्तुत होता है, तो उसका उपादान चावल, जल, अग्नि है अर्थात् 'क्षिति, अप्, तेज'। पंचभूत का केवल यही तात्पर्य है कि पृथ्वी में प्रत्येक द्रव्य एक अथवा ततोऽधिक कठिन, तरल, तथा वाष्पीय पदार्थ के मिश्रण से तथा आवश्यकतानुसार उत्तप्त करने से प्रस्तुत होता है। क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम उपादान का नाम नहीं है, वरन् उनकी अवस्था का परिचायक है—संक्षेप में प्राचीन वस्तु-तत्त्ववीरों ने उपादानों की आधुनिक रसायन-शास्त्र के अनुसार क्रमावली न देकर उनकी वस्तु-तात्त्विक (Physical) गुण के अनुसार केवल श्रेणी-मात्र का नामकरण किया है।

आधुनिक रसायन-शास्त्र के अनुसार उनके मूल पदार्थ की क्रमावली में ९२ विशिष्ट पदार्थ हैं। प्रत्येक पदार्थ अखंड क्षुद्र परिमाणु (atom) विशिष्ट है। इन ९२ प्रकार के परिमाणुओं में यदि हम एक प्रकार के परिमाणु को लें, तो प्रत्येक परिमाणु आकार, आकृति तथा गुरुत्व में एक-सा नहीं। विज्ञानाचार्य बोर (Bohr) के मतानुसार आकार व आकृति का परिवर्तन होने से ही परिमाणुओं से आलोक निकलता है। इधर विज्ञानाचार्य एस्टन ने दिखाया है कि किसी एक मूल पदार्थ के प्रत्येक परिमाणु एक ही गुरुता के नहीं हैं, किसी एक मूल पदार्थ के परिमाणु के आकार, आकृति तथा गुरुता एक मोटी रीति से निर्दिष्ट हैं। जैसे एक गोरखपुरी ढेबुआ पैसा, तथा चेहरेदार पैसा, टकसाल से नया निकला पैसा तथा घिसा हुआ पैसा, जिसे बाज़ार में सब पैसा ही कहकर चलते हैं उसी प्रकार बोर व एस्टन के मतानुसार किसी एक मूल पदार्थ के परिमाणुओं का भी यही हाल है।

इसके अतिरिक्त इन ९२ मूल पदार्थों में एक ऐसी श्रेणी वर्तमान है, जो अतिशय क्षण-भंगुर है, वे रश्मि-विकीरक (Radio active) के नाम से विख्यात हैं, और कहा जाता है कि वे स्वतः क—रश्मि (rays), ख—रश्मि (B rays) तथा ग—रश्मि (rays) विकीर्ण करके एक निम्न-श्रेणी के परिमाणु में परिवर्तित हो जाते हैं। अब प्रश्न यह होता है, यदि एक मूल पदार्थ किसी एक दूसरे मूल पदार्थ में परिणत हो ही जाय, तो इसके पश्चात् उन दोनों ही को मूल पदार्थ-गणना करने का तात्पर्य क्या है। प्राचीन भारतवासियों ने अप् को 'अम्लजान, (Oxygen) व जलजान (Hydrogen) इन दोनों उपादानों में विश्लेषण न कर पाकर, यदि उसे मूल पदार्थ ही प्रतिपन्न किया हो, तो इस पर उनके वंशधरों को आज लज्जित होने का ऐसा कौन-सा विषय है।

तत्पश्चात् 'तेज' की बातें आती हैं। यह कहा गया है कि पूर्वजों ने जड़ वस्तुओं को एक मोटी रीति से ९२ पृथक्-पृथक् सामग्री से गठित न कहकर उनको पंच श्रेणी में विभाजित किया है। वर्तमान विज्ञान-शास्त्र में रसायन-शास्त्र तथा वस्तु-तत्त्व में प्रभेद हो उठा है। हम उपादानों की तालिका एवं उनके गणों को रसायन-शास्त्र के अंतर्गत रखते हैं, उपादानों की उष्णता, चपाव (दबाव) (Pressure) इत्यादि वस्तुतः अवस्था का परिवर्तन वस्तु-तत्त्व के अंतर्गत ही माना करते हैं। इसलिये 'कठिन', 'तरल' और 'वाष्पीय' अवस्था को हम वस्तु-तत्त्व ही के अंतर्गत पार्थक्य समझते हैं। यह सब रासायनिक पार्थक्य नहीं हैं, इसका कारण यह है कि एक ही उपादान उष्णता की पार्थक्य से ही इन तीनों अवस्थाओं में स्थिति कर सकता है। यथा एक ही पदार्थ अप्-बर्फ़ जल एवं वाष्प-रूप में वर्तमान हैं।

रसायन को छोड़कर वस्तु-तत्त्व में अब हम उपनीत होते हैं, तो उनके जिज्ञासुक विषयों में जड़ के अतिरिक्त और भी एक वस्तु पाते हैं, जिसका नाम शक्ति (Force)

भगवान् की रचना में ९२ प्रकार के अगण्य परिमाणु हैं। यही नहीं, प्रत्येक परिमाणु के ऊपर शक्ति कार्य कर रही है। विराट् पुरुष प्रत्येक परिमाणु को अपने असंख्य छोटे-छोटे हाथों में धारण किए हुए है एवं उनकी चालना कर रहा है। विज्ञान की सृष्टि व स्थिति एक अखंड अनंत प्रक्रिया है। जिन क्षण-भंगुर मूल पदार्थों की श्रेणी उल्लेख की गई है एवं जो रश्मि विकीरण करने के कारण एक मूल पदार्थ से अन्य मूल पदार्थ में परिणत होते हैं। कोई-कोई विज्ञाननेता पंडित के मत में समस्त मूल पदार्थ ही उसी श्रेणी के अंतर्गत हैं।

यदि यह सत्य हो, तो फिर सृष्टि और स्थिति के संग में प्रलय का भी योग होना चाहिए।

जड़ एवं शक्ति-प्रकृति एवं पुरुष वस्तु-तत्त्व के जिज्ञासुक विषय हैं। जड़ के ऊपर शक्ति का कार्य वस्तु-तत्त्व के गवेषणा करनेवाले विषयों में है। केवल जड़ के गुण का ही अन्वेषण करना ही रसायन का क्षेत्र है। जड़ के ऊपर शक्ति के कार्य का नाम (work or energy) कर्म है। शक्ति के कार्य द्वारा जड़ की अवस्था का परिवर्तन का निर्णय वस्तु-तत्त्व का क्षेत्र है। वस्तु-तत्त्व में यह कर्म अक्षय है, इस कर्म में आध्यात्मिकता तनिक भी नहीं है। वस्तु-तत्त्व में कर्म के जो अर्थ हैं, उस अर्थ के अनुसार साहित्य-सम्मेलन के हेतु प्रबंध लिखना कोई भी काम नहीं है। विज्ञान के कर्म के हिसाब से हमारे अधिवेशन के कवि-वृंद सभी निष्कर्म हैं। अभ्यर्थना या सभा के कार्याध्यक्ष भी सभी निष्कर्म हैं। केवल स्वयंसेवक लोग ही कर्म करते हैं; किंतु वह भी कब करते हैं, जब कि वह अतिथियों का सामान एक तल्ले से दो तल्ले पर ले जाते हैं। शक्ति के किसी पदार्थ के ऊपर कार्य करने पर यदि वह पदार्थ स्थानांतरित हो जाय, तो फिर शक्ति को उस पदार्थ के दोनों स्थानों के बीच की दूरी से गुणा करने से शक्ति के द्वारा घटित कर्म की माप पाई जाती है। संक्षेप में वस्तु-तत्त्व ने 'कुली' कार्य का महत्त्व अत्यंत बढ़ाया है। एवं इस प्रकार से बढ़ाया है कि उसकी गणना में 'कुली' कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्म कर्म ही नहीं है, एवं वस्तु-तत्त्व के सिद्धांत के अनुसार यही कर्म अक्षय है।

हमारे दुबले-पतले स्वयंसेवक मारे उत्साह के अतिथियों का सामान तितल्ले में ले आ सकते हैं। ले जाने में सीढ़ी पर छः बार विश्राम भी कर सकते हैं, किंतु जितना कर्म उन्होंने किया, वह अक्षय होकर उस सामान से संचित हो जाता है। हाथबक्स में यदि प्रति दिवस कुछ पैसे रक्खे जायँ, तो फिर जैसे उससे वह पैसे एक-एक कर सब पाए जा सकते हैं कर्म का भी यही हाल है। हमारे स्वयंसेवक भ्राता यदि सामान को तितल्ले पर पहुँचाकर उसे फिर बरामदे से नीचे मोटर की छत पर फेंक दें, तो मोटर की छत के मोटे लोहे के डंडे दियासलाई की भाँति मरमरा के टूट जायँ। धनी भूत-शक्ति (the force of gravity or weight) एक मुहूर्त में, जो कर्म कर सकती है, हमारे क्षयाजीवी स्वयंसेवक की अल्पशक्ति भी शनैः शनैः संचित हो, वही कर्म कर सकती है—राममूर्ति व सैंडो अपने असीम बल के प्रभाव से जो काम करने में समर्थ हैं, ठीक वही कर्म एक खिन्नजीवी बंगाली करने में समर्थ है। केवल बंगाली का कर्म समय सापेक्ष है। दोनों का प्रयोजन संचयशीलता है।

कर्म अक्षय है, इस पर एक और उदाहरण दिया जा सकता है। कुएँ से जल भरने की एक घिर्री (Pulley) यदि तितल्ले के बरामदे में लगाई जावे, एवं एक रस्सी उस घिर्री से भूमि तक लटका दी जावे, और फिर हमारे स्वयंसेवक जो सामान तितल्ले में उठा लाए हैं, ठीक उसी के समान भारी और सामान रस्सी के निम्न भाग में बाँध दिया जाय, एवं ऊपर स्थित सामान रस्सी के ऊपर के प्रांत में बाँधकर उसमें धीरे से धक्का दिया जाय, तो वह सड़सड़ाकर नीचे उतर आएगा एवं नीचे का सामान गड़गड़ाकर ऊपर उठ जाएगा। प्रथम सामान में जो कर्म संचित था; वह अन्य सामान में हस्तांतरित हो जायगा। जैसे समिति के चंदे का रुपया सदस्यों से कोषाध्यक्ष में हस्तांतरित होता है, जैसे सभास्थल में सुराही का पानी पिपासुक सभासदों के गिलासों में पात्रांतरित होता है, उसी प्रकार कर्म भी एक आधार से दूसरे अन्य आधार में हस्तांतरित-मात्र होता है। हस्तांतरित करनेवाले यंत्र का नाम 'कल' (Machine) है। रसायन-शास्त्र का मूल मंत्र जड़ अक्षय एवं अविनाशी है। पदार्थ-विद्या का मूल मंत्र कर्म अक्षय एवं अविनाशी है।

कर्म-पात्र से पात्रांतरित होता है। एक रूप से दूसरे रूप में रूपांतरित होता है। तितल्ले के ऊपर तक सामान उठाने पर जो कर्म किया गया है, उसी सामान को मोटरगाड़ी की छत पर फेंकने से वही कर्म रूपांतरित होकर उसी का एक अंश हमारे लखनऊ-निवासी राजेंद्र सानयाल के कारख़ाने की छेनी एक हथौड़े के सहयोग से लोहे के डंडे काटने के काम में परिणत हुआ है। एक अंश शब्द में परिणत हुआ और एक अंश अग्नि में, हमारे स्वयंसेवक भ्राता का पसीने से भीगा हुआ कुरता घाते में।

कल के काम, अग्नि, आलोक, शब्द, विद्युत, चुंबक प्रभृति कर्म के विभिन्न रूप हैं। अग्नि या तेज-कर्म

श्रेणी भुक्त है, जड़-श्रेणी भुक्त नहीं है ; किंतु क्षण-भंगुर रश्मि विकीरक मूल पदार्थों में ग —रश्मि भी कर्म-श्रेणी भुक्त है, जड़-श्रेणी भुक्त नहीं है। प्रत्येक रासायनिक प्रक्रिया में, जैसे जड़ की अक्षयता रहती है, उसी प्रकार कर्म की भी अक्षयता रहती है । इस अक्षयता सूत्र से जड़ एवं कर्म एक वस्तु हैं एवं उसी सूत्र से तेज या क, ख एवं ग रश्मि जड़ कहे जायँ, तो कोई विशेष अपराध नहीं है। इदानीम् जड़ एवं कर्म में अक्षयता छोड़ एक और मिलनभूमि की सृष्टि हुई है, वह आधुनिक वस्तु-तत्त्व का कर्माणुवाद (Quantum theory) है । जैसे जड़ क्षुद्र-क्षुद्र परिमाणु द्वारा गठित है, प्लाँक (Planck) आदि विज्ञानाचार्य ने प्रतिपन्न किया है कि जब कर्म एक आधार से दूसरे आधार में हस्तांतरित होता है, तब कर्म भी एक-एक अणु करके प्रविष्ट होता है ।

उपर्युक्त बात कहाँ तक सत्य है, इस विषय में संभवतः गंभीर संदेह है । हमारे स्वयंसेवक आता सामान को तितल्ले में ले जाते समय सीढ़ी पर एक-एक सीढ़ी उठते हैं, एवं दो सीढ़ियों के मध्य में विश्रामस्थल न पाकर एक सीढ़ी से उठने की चेष्टा करने से ही दूसरी सीढ़ी पर न उठकर शांत नहीं होते हैं। किंतु जिस समय अट्टालिका निर्माण होता है, एवं सीढ़ी के वर्तमान न होने से बाँस या तख़्तों से एक ढाल-सा बनाया जाता है, एवं उस पर से क़ुली ईंट व चूना ले जाते हैं, तब क़दमों की कोई माप करनेवाली वस्तु नहीं रहती है। सीढ़ी के ऊपर जिस किसी अंतराय तक इच्छा हो, मज़दूर वहीं तक उठकर शांत हो विश्राम कर सकता है। कर्म-संचय सब क्षेत्र में रत्ती-रत्ती से ही होता है, इसमें संदेह है ।

जड़ाणु (Mass quantum) के समान यदि कर्माणु (Energy quantum) की भी कोई सत्ता हो, तो फिर तात्पर्य यह है कि जड़ाणु या अंतरायअणु (Space quantum) या समयाणु (Time quantum) भी वर्तमान है. जैसे कर्म आरोपित शक्ति एवं तत्घटित अंतराय का गुणनफल है, वैसे ही उस गुणनफल के अणु वर्तमान होने से उसका परिस्थिक्त दो में से अंततः एक अणु द्वारा सृष्ट होना आवश्यक है । अथवा एक कालीन जितना कम किया जा सकता है, काल के अणु वर्तमान होने से उस ही कर्म का अणु उत्पन्न होगा । घड़ी की सुई झिटके से अवश्य ही चलती है, पर यह उसके निर्माण-कौशल का दोष है । जिस प्रकार मिनट व घंटे की सुई की गति समान है, वैसे ही सेकेंड को लक्ष-लक्ष कोटि-कोटि भग्नांश करने पर भी उसकी गति समान है । समय की गति तथा घड़ी की सुई की गति एक-सी नहीं है । और भी द्विपदयुक्त मानव जब एक टांग एक टांगकर अग्रसर होता है, तब एक साथ ही एक पद अंतराय से कम अग्रसर नहीं हो सकता है । किंतु उस पद की माप शिशु के लिये एक है और युवक के लिये दूसरी । और फिर वही शिशु जब अपनी छोटी गाड़ी पर चढ़कर घूमने बाहर जाता है, तब उसकी गति के अंतराय का कोई भी अणु वर्तमान नहीं होता । जितनी कम इच्छा हो, अंतराय से वह एककालीन अग्रसर हो सकता है—ठीक उसी तरह से यह नहीं मालूम होता कि शक्ति में भी कोई अणु वर्तमान है । जैसे रस्सी खींचने में यदि किसी ओर शक्ति बढ़ाने की आवश्यकता हो तो उस ओर एक समूचा मनुष्य लगाना पड़ता है । एक मनुष्य का भग्नांश नहीं लगाया जा सकता है, किंतु किसी दल का एक मनुष्य यदि वह चाहे, तो बिलकुल ही शक्ति न लगाए और वही चाहने पर दो मनुष्यों की शक्ति लगा सकता है ।

कर्माणु का वास्तविक अस्तित्व है या नहीं, यह आज हमारा जिज्ञास्य विषय नहीं है । कर्माणुवादी कर्म को जड़-श्रेणी भुक्त करते हैं इसी को तनिक दिखाने का हमारा उद्देश्य है । जड़ एवं कर्म दोनों ही अक्षय तथा दोनों ही अणुयुक्त हैं, एवं यदि रासायनिक प्रक्रिया-मात्र में अग्नि का प्रवेश व निष्क्रमण अणु-रूप में हो, तो फिर वह अग्नि व तेज अनायास ही पंचभूत के अंतर्गत रक्खा जा सकता है । अब युक्ति एवं तर्क को त्याग कर इस विषय पर कुछ कहा जायगा । यदि हमारे पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त युवक बंधुगण तेज को हमारे पूर्व पुरुषों के भूतांतर्गत जान के लज्जित होते हैं, तो फिर सम्मेलन के आगामी अधिवेशन में विज्ञानाचार्य डेबाए (Dabye) के सिद्धांत पर अवलंबन कर "अग्नि जड़ है" इसे सिद्ध करने की चेष्टा करूँगा ।

किंतु अग्नि वास्तविक 'जड़' नहीं है, वह 'कर्म' है । पात्र में चावल एवं जल लेकर उसमें अग्नि संयुक्त करने से अन्न प्रस्तुत होता है । परंतु उसी अग्नि के

प्रविष्ट कराने के उपाय साधारण प्रणाली को छोड़कर अन्य भी हैं। पात्र झामा द्वारा घिस कर भी गरम किया जा सकता है अथवा एक लकड़ी के डंडे से जल को मंथन करने से जल गरम हो सकता है। रेनल्ड्स व मूर्बी (Reynolds and Moorby) ने, उसी भाव से मंथन कर जल में उफान ला दिया है। पर यह नहीं कहा जाता कि ईंधन परित्यक्त करके इन्हीं उपायों का घर में गृह-लक्ष्मियाँ अवलंबन करें — रेनल्ड्स व मूर्बी ने, अन्न प्रस्तुत करने के उद्योग में जल-मंथन करके उसे खौलाने की चेष्टा नहीं की। झामा से पात्र का घिसाव-कर्म तथा मंथन-कर्म अग्नि में रूपांतरित हो जाता है। एवं कितना कर्म कितनी अग्नि में परिवर्तित होता है, उसका निर्णय करना ही उनका यत्न था।

किंतु अग्नि जैसे कर्म का रूप है, विद्युत् उसी प्रकार दूसरा रूप है। यदि पात्र झामा द्वारा घिसा न जाकर रेशमी रूमाल द्वारा घिसा जाय, तो फिर अग्नि से परिवर्तन होकर विद्युत् की उत्पत्ति होती है। परंतु यही विद्युत् जड़ है-- यह हमारे पाश्चात्य विज्ञानवेत्ता पंडितों का सिद्धांत है। वर्तमान काल में ९२ मूल पदार्थों की जो क्रमावली है, उसका एक पदार्थ किसी अन्य पदार्थ में परिणत हो सकता है एवं उसी क्षेत्र में दोनों को ही मूल पदार्थ कहने में कोई सार्थकता नहीं है; यह हमने देखा ही है।

मूल पदार्थों की संख्या ९२ नहीं हो सकती है। दर्शनशास्त्र के अनुसार प्राकृतिक मूल पदार्थ एक ही है। व्योम ही एक-मात्र सूक्ष्म मूल पदार्थ है। क्षिति, अप्, तेज, मरुत् उसके स्थूल रूपांतर हैं। आधुनिक रसायन-शास्त्र की क्रमावली के ९२ पदार्थ यदि भंग किए जायँ, तो उनसे दो ही वस्तुएँ मिलती हैं। जड़ाणु विद्युताणु (Electrons) में परिवर्तित हो जाते हैं। विद्युत् दो प्रकार की होती है। पात्र को रूमाल द्वारा घिसने से पात्र में एक प्रकार की विद्युत् उत्पन्न होती है, पर रूमाल में दूसरे प्रकार की होती है। यदि पात्र काँच का हो, तो पात्र की विद्युत् "योग-विद्युत्" (Positive electricity) कही जाती है और रूमाल की 'वियोग-विद्युत्' (Negative electricity) कही जाती है। यही दोनों प्रकार की विद्युत् वर्तमान रसायन-शास्त्र के अनुसार अणु-रूप में वर्तमान हैं। उनकी गणना में योग-विद्युत्अणु अतिशय क्षुद्र हैं तथा वियोग-विद्युत्अणु अपेक्षाकृत अनेक गुना बड़े हैं। प्रत्येक जड़ाणु-विद्युत् कणों से गठित होता है और प्रत्येक जड़ाणु एक-एक सौर जगत् (Solar system) के समान है, जो कि विद्युत् कणाणुओं से गठित है। एक अति सूक्ष्म विद्युत् योगअणु केंद्र-रूप में अवस्थित होता है एवं एक व ततोऽधिक वियोग-विद्युत्अणु उसके चारों ओर ग्रह-रूप से घूमते हैं अथवा जड़े हुए गहने के हीरा, पन्ना, व मुक्ता इत्यादि के न्याय-जगत् जौहरी के नक़शे के अनुसार सजे हों — इस मीमांसा में कितना दूर तक सत्यता है, इस विषय में भी संदेह है। किंतु वर्तमान पाश्चात्य जगत् में केवल यही धारणा मानी जाती है और उसी का वर्णन किया गया है।

इस धारणा की उत्पत्ति के संबंध में दो-एक बातें कहना अच्छा होगा—स० १८८८ में विज्ञानाचार्य जोसेफ टामसन ने दिखाया है कि एक जड़ के गोलाकार पदार्थ के ऊपर शक्ति के आरोप करने से यदि उसमें कोई निर्दिष्ट गति उत्पन्न की जाय एवं उसी गोलाकार पदार्थ को विद्युत् संयुक्त किया जाय और वही गति उत्पन्न की जाय, तो फिर इन दो क्षेत्रों में शक्ति-घटित कर्म समान नहीं होता है। द्वितीय क्षेत्र में कर्म का परिमाण अधिक होता है। अर्थात् गोलाकार पदार्थ का एक जड़ परिमाण बढ़ाने से जो फल होता है, ठीक वही फल उसी गोलाकार पदार्थ को जड़ के स्थान पर विद्युत् से संयुक्त करने से होता है। इसी भाव के होने से 'विद्युत् का जड़ परिणाम' (Mass equivalent of an electric charge) शब्द की सृष्टि हुई एवं कितनी विद्युत् कितने जड़ के समान है, इसका गति-शास्त्र (Dynamics) के अनुसार एक सूत्र दिया है। किंतु उसी सूत्र के अनुसार विद्युत् का जड़ परिमाण केवल विद्युत् के परिमाण के ऊपर निर्भर नहीं करता; परंतु जिस गोलाकार पदार्थ से वह संयुक्त हो उसके आयतन के ऊपर भी निर्भर करता है। बहुत-से मनुष्य इस बात को भूल जाते हैं। गणित-शास्त्र के अनुसार यह सहज ही में देखा जायगा कि विद्युत् का जड़ परिमाण केवल एक कल्पित वस्तु (Imaginary quantity) है। यदि परिमाणुओं की विद्युत्-कण द्वारा सृष्टि हुई है तो फिर दो विद्युत्अणुओं के मध्य में जो वैद्युतिक

शक्ति होती है, उसका परिमाण प $\frac{ब_1 \times ब_2}{अ_2}$ है। दो अणु-गुणों के मध्य में जो आकर्षण-शक्ति होती है, उसका परिमाण नियमानुसार म $\frac{अ_1 \times अ_2}{अ_2}$ है—अतएव प×ब^2=—म×अ^2 अथवा अ=$\sqrt{\frac{प}{म}\times ब}$ । $\sqrt{\frac{प}{म}}$ इसका कोई अस्तित्व नहीं है, अतएव विद्युत् का जड़-परिमाण कल्पना-मात्र है। जड़ एवं कर्म दोनों विभिन्न श्रेणी की वस्तुएँ हैं। एक को अन्य में परिणत करने की चेष्टा वही है। जैसे दर्शन-शास्त्र में जड़वादी की आत्मा को जड़ प्रतिपन्न करने की चेष्टा, तथा मायावादी का जड़ को कवि की कल्पना प्रतिपन्न करने की चेष्टा है। जैसे दर्शन-शास्त्र में कोई मीमांसा है या नहीं, इसमें संदेह है। ठीक यही हाल विज्ञान-राज्य में भी है।

विज्ञानवेत्ता आज दिन अपना कार्य दर्शन को अग्राह्य करके किए जाते थे। विज्ञानाचार्य आइनस्टाइन (Einstein) ने विज्ञान-जगत् को इस विषय में एक झकझोरा दिया है। वैज्ञानिकों का दंभ है कि वे युक्ति व तर्क के भीतर नहीं जाते हैं। वे व्यावहारिक सत्ता का अन्वेषण करते हैं एवं प्रत्येक वस्तु को साधनीय परीक्षा द्वारा (Practical Experiment) जाँच करते हैं। आइनस्टाइन ने तब उनकी साधना एवं परीक्षा के मूल को विश्लेषण करके देखने को कहा है, एवं उनकी व्यावहारिक सत्ता को लेकर परीक्षा-साधन की प्रणाली में अनेक अशुद्धियाँ दिखाई हैं। उसके परीक्षा-साधन-तत्त्व (Theory of practical physics) सत्य हैं। इसे प्रमाणित करने की नूतन-नूतन आविष्कार किए हैं, उसके आविष्कारों में एक यह भी है कि जड़ के सन्निकट आलोकरश्मि टेढ़े हो जाते हैं। जब गणित-शास्त्र द्वारा उनके टेढ़े हो जाने का परिमाण निर्दिष्ट किया जाता है, तब लक्ष-लक्ष कोटि-कोटि मुद्रा व्यय करके परीक्षा-साधन का आयोजन किया गया। जड़ के लिये सूर्य का व्यवहार किया है एवं रश्मि के आदि स्वरूप लक्ष कोटि योजन दूर स्थित तारों का व्यवहार किया है। काल के लिये सूर्य-ग्रहण का समय लिया गया है एवं स्थान के लिये जिस स्थान पर पूर्ण ग्रहण दृश्यमान हो, उसी स्थल पर जाकर ग्रहण-समय मुहूर्तमान अंधकार के मध्य में आलोक (Photograph) चित्र लेकर सूर्य के चारों ओर नक्षत्रों का मानचित्र लिया है एवं उन्हीं नक्षत्रों के होने से जो आलोक-रश्मि आती हैं, वे सब सूर्य के सन्निकटवर्ती होने से आने में टेढ़ी हो जाती हैं - इन सब तारकगणों से जिनके सूर्य केंद्र में है, निकली हुई किरणें कितनी दूर टेढ़ी हो गई हैं, इसको देखने के लिये उसकी परीक्षा की गई। आइनस्टाइन का सूत्र ठीक है कि नहीं, उसकी जाँच की गई है। अब यदि जिस सूत्र से सूर्य की गुरुता निकाली जाती है, उसी सूत्र से हम परिमाणुओं के केंद्र की गुरुता निकालें, एवं परिमाणु ग्रहगण केंद्र के चारों ओर जिस अंतराय से घूमते हैं; उसी अंतराय को लें एवं उपर्युक्त उपाय से प्राप्त केंद्र को गुरुता आइनस्टाइन प्रदत्त सूत्र पर व्यवहार करें, तो फिर हम देख सकते हैं कि आइनस्टाइन के संपर्क-वाद के अनुसार सूर्य से निकली हुई आलोक-रश्मि जिस परिमाण से टेढ़ी होती है, जलजान के एक परिमाणु से निकली हुई उसकी अपेक्षा २० गुना और अधिक टेढ़ी होती है। अवश्य ही वाष्पीय अम्लजान के एक परिमाणु को लेकर परीक्षा-साधन असंभव है। किंतु यदि हम उसे एक बिंदु के आकार में लेकर उसके बीच से एक सूक्ष्म आलोक-रश्मि लेकर एक 'आतशी शीशा' द्वारा ले जायँ, और हम उसके सहारे एक प्रतिमा दीवाल पर डालें, एवं एक लोहे की गोली उसके सन्निकटवर्ती करें, तो फिर आलोक बिंदु की प्रतिमा गोलाकार छाया की ओर टेढ़ी हो जाती है। परीक्षा के लिये १६२२ खृष्टाब्द के सूर्य-ग्रहण के आगे लंदन विश्वविद्यालय के विज्ञानाचार्य ए० डब्ल्यू० पोर्टर के तत्त्वावधान में साधन किया गया था, एवं उसका वर्णन अमेरिका की Physical Review के वर्तमान साल की फ़रवरी की संख्या में पाया जायगा। आइनस्टाइन की परीक्षा के अनुकरण के सिवाय अन्य उपायों से आलोक का जड़ के सन्निकट होने के कारण टेढ़ा होना कार्यतः प्रमाणित करने की चेष्टा की गई है। Physical Review के संपादकों के सौजन्य से उक्त परीक्षाओं की तसवीर दी गई है।

सहज भाव से देखने से यह मालूम होगा कि इन परीक्षाओं का तात्पर्य केवल यही है कि आइनस्टाइन ने अपने आपेक्षिक तत्त्व को प्रमाणित करने के लिये जो
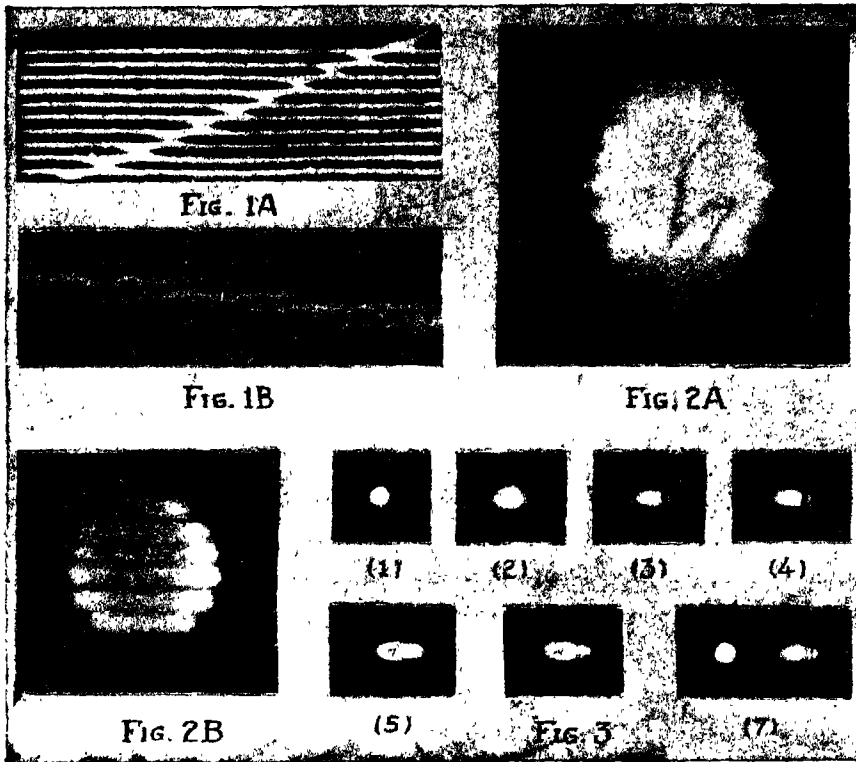
प्रबंध-पाठ किया है। विज्ञानाचार्य जेफ्री का यह मंतव्य कि जलजान के अणु द्वारा परीक्षा-साधन दुष्कर है, स्वीकार तो अवश्य करना होगा; किंतु परीक्षा-काल में वाष्पीय जलजान के स्थल में कठिन लोहे की गोली के उपस्थित अणुओं को व्यवहार करने से हम सहज ही में कृतकार्य हो सकते हैं। तृतीय आपत्ति में तनिक गुरुता है। उसमें जिस भाव से तथा जिस सूत्र से सूर्य की गुरुता निर्णीत की जाती है, उसी भाव से एवं उसी सूत्र द्वारा जड़ाणु के केंद्र की गुरुता को निकालना निषेध किया है। यद्यपि एक-एक जड़ाणु सौर जगत् का एक-एक क्षुद्र नमूना है, तो फिर उपर्युक्त में क्यों निषेध है। उसका कारण यही बताते हैं कि जड़ाणु वास्तविक में जड़-केंद्र एवं जड़-ग्रह द्वारा गठित नहीं है। वैद्युतिक केंद्र एवं वैद्युतिक ग्रह द्वारा गठित है।

परीक्षा सूर्य के सन्निकट तारक की रश्मि टेढ़ी हो जाने द्वारा अन्वेषण किया है, वह अनायास ही किसी विश्व-विद्यालय के विज्ञान-मंदिर में एक क्षुद्र धातु व अन्य किसी पदार्थ के समूह की सहायता से संपन्न किया जाता है। किंतु इँगलैंड के विज्ञानाचार्यों के मत के अनुसार यह आपेक्षिक तत्त्व (Theory of Relativity) को प्रमाणित करता हुआ नहीं ग्रहण किया जाता है। लेखक ने परीक्षा-साधन की प्रणाली व फल को न जानते हुए केवल गणित-शास्त्र के अनुसार किस भाव से आइनस्टाइन की परीक्षा एक-मात्र जड़ाणु द्वारा हो सकती है, उसको इंगित करके दो प्रधान विज्ञानाचार्यों को पत्र लिखे थे। उनके उत्तर नीचे उद्धृत हैं—

प्रत्येक ने दो-दो आपत्तियाँ दिखाई हैं, उनके बीच में एक आपत्ति दोनों ही के निकट वर्तमान है। विज्ञानाचार्य एडिंगटन अपने मंतव्य को इस प्रकार प्रकाशित करते हैं कि जड़ाणु पर आलोक-रश्मि द्वारा गवेषणा नहीं हो सकती। उसी बात को विज्ञानाचार्य जेफ्री स्वीकार नहीं करते, क्योंकि इसी विषय पर रायल सोसायटी में उन्होंने

किंतु इस मंतव्य में एक जटिल समस्या उत्पन्न होती है। वह यह है कि उसमें 'विद्युत् का जड़-परिमाण' शब्द का अर्थ क्या है? वैद्युतिक आकर्षण एवं जड़ का मध्याकर्षण-प्रणाली दोनों एक-सी हैं। यदि जड़ाणु के केंद्र व ग्रहगण वैद्युतिक हों और यदि हम उन्हें जड़ मानकर उनकी गति के होने से उनकी गुरुता निउटन के मध्याकर्षण के अनुसार निर्णय करें, तो फिर इस गुरुता को हम 'विद्युत् का जड़ परिमाण' कहकर क्यों नहीं गणना कर सकते हैं। यदि नहीं गणना कर सकते, तो उसका कारण क्या है? यदि गणना हो ही नहीं सकती, तो फिर जिस परीक्षा द्वारा सहज-भाव से देखने से आइनस्टाइन का आपेक्षिक तत्त्व प्रतिष्ठित होता है, उसी परीक्षा से वह खंडित होता है।

विज्ञानाचार्य एडिंगटन व जेफ़्री के मंतव्य से जो यही प्रतिपन्न होता हो, तो अणुओं का वैद्युतिक गठन एवं आपेक्षिक तत्त्व परस्पर विरोधी हैं।

Observatory,
Cambridge,
14th August 1922.

DEAR SIR,

The gravitational mass of hydrogen atom is of the order 10-53 cm. Your method does not give it because Bohr's orbit is not described under gravitational attraction.

The factor to convert grams (inertial mass) into centimeters (of gravitional mass) is of course the same for all matter.

There is the further difficulty that a "ray" of light becomes meaningless when dimensions less than the wave lengths are ref rred to.

Yours faithfully,
A. S. Eddington.

Harrow,
16th. August 1922.

DEAR MR. RAY,

I was very interested in your note on the deflection light, which I found waiting for me on my return to town to day, and I am very sorry to have to make two criticisms which as far as I can see are fatal to your contentions.

/ You compute the mass of the atom in Eddington's units by means of the formala $m = W^2R^3$. This is only valid on the assumption that the orbit is described under a purely gravitational attraction In the case considered the electrical attraction far outweighs the gravitational attraction. The result is you get far too big a value for the mass (4×10^{-18}) The sun's mass is of the order 5×10^{26} grams or 1 47 in Eddington's units To transform from one set of units to the other, we must therefore multiply by 3×10^{-29}. The mass of the atoms in grams being (?) $\times 10^{20}$ it would be of the order 10^{-46} you get 10^{-15}. It would therefore appear that the deflection due to a hydrogen atom is of a quite different order of magnitude to that calculated by you.

2. Even if the deflection were of a measureable order I cannot imagine how you would measure it experimentally. In passing through a gas, the effect due to different atoms would certainly not be cumulative, for it would be sometimes in one direction and sometimes in the other; it would moreover vary rapidly with time.

I am sorry to be so critical.

Yours sincerely,
G. B. Jeffery.

और उपर्युक्त भाव केवल मूर्खता पूर्ण ही नहीं है, यह कदाचित् एक विदेशी वैज्ञानिक पत्र की आलोचना से स्पष्ट हो जायगा जो कि उसने लेखक का इसी विषय पर प्रबंध लौटाते समय अपने ६ फ़रवरी सन् १९२४ के पत्र में किया है।

"This paper is of little value as it stands. I would suggest that the author leave out copies of other men's work (p l cf silbersteint, phil, mag. 39 p 161, 1920) and omit such nonsense as "mass equivalent of an electric charge", "mass has disappeared from physics owing to the electrical nature of matter" and several following statements Then he should state quite clearly and simply his radical hypothesis that an electric charge affects the motion of light in the same manner as would a "mass" capable of producing the same deflection of an electron by gravitational attraction of its mass, derive from this the deflection to be expected by a simple substitution in the familiar results of Relativity and finally describe his apparatus and method and its observations in detail and select a few of his best photographs and show clearly how they demonstrate the predicted deflection Such a paper would very likely be acceptable for the "..... ...."

सिल्वरस्टोन, जिसकी चर्चा करने की समालोचक ने लेखक से मना किया है, का आपेक्षिक तत्त्व के सिद्धांतों

कांग्रेस के सभापति-डॉक्टर मुख्तार अहमद अन्सारी

में दृढ़ विश्वास है। यद्यपि उस लेख में, जिसको लेखक ने इंगित किया था, उसने बड़ी ईमानदारी के साथ स्वीकार किया है कि सूर्य-ग्रहणवाले विचारों का प्रयोग उसी उत्तमता से व्योम का अस्तित्व तथा उसका सूर्य के धरातल पर जम जाना, यह सब दिखाने में किया जा सकता है—यह ज्ञात होता है कि सिल्वरस्टीन का यह मानना समालोचक महाशय को भला नहीं मालूम हुआ।

पुनः "विद्युत् का जड़-परिमाण" लेखक की "तत्त्व-हीन वार्त्ता" (Nonsens) नहीं है, परंतु यह इँगलिस्तान के आजकल के सबसे बड़े वस्तु-तत्त्ववेत्ता की है। अमेरिका के वस्तु-तत्त्ववेत्ता आर० ए० मिलिकन नोबेल प्राइज़ विजेता ने, इस पर एक टिप्पणी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "विद्युताणु" (Electrons) में लिखी है और हमारी यह "तत्त्वहीन वार्त्ता" कि आजकल वस्तु-तत्त्व-शास्त्र में जड़ का कोई स्थान नहीं है उपर्युक्त दोनों पत्रों द्वारा समर्थन की जाती है।

हृषीकेश त्रिवेदी

विदाई *

आह ! वेदना मिली विदाई !
मैंने भ्रम-वश जीवन संचित ,
मधुकरियों की भीख लुटाई।
छल-छल थे संध्या के श्रमकन ;
आँसू से गिरते थे प्रति छन।
मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनंत अँगड़ाई।
गहन विपिन की तरु-छाया में ;
सभित स्वप्न की मधु-माया में।
पथिक-उनींदी-श्रुति में किसने—
यह विहाग की तान उठाई ?
लगी सतृष्ण दीठ थी सबकी ;
रही बचाए फिरती कबकी।
मेरी आशा ! आह बावली—
तूने खोदी सकल कमाई।
बैठ हमारे जीवन-रथ में ;
प्रलय चल रहा अपने पथ में।
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर—
उससे हारी-होड़ लगाई।
लौटा लो यह अपनी थाती ;
मेरी करुणा हा, हा खाती।
विश्व ! न सँभलेगी यह मुझसे—
इसने मन की लाज गँवाई।

जयशंकर 'प्रसाद'

* (अप्रकाशित 'स्कंदगुप्त विक्रमादित्य'-नाटक से)—लेखक

किंग जॉर्ज-मेडिकल कॉलेज तथा अस्पताल

लखनऊ का मेडिकल कॉलेज सन् १९११ ई० में स्थापित हुआ था। अस्पताल तथा विद्यार्थियों की संख्या की दृष्टि से यद्यपि यह भारत के अन्य मेडिकल कॉलेजों की अपेक्षा छोटा है, फिर भी इसमें कई विशेषताएँ ऐसी हैं जिनके कारण इसको काफ़ी सम्माननीय पद प्राप्त है। संयुक्त-प्रांत में तो यह सबसे बड़ा अस्पताल है ही।

कुछ साल पूर्व मेडिकल कॉलेज सरकारी संस्था थी। पर अब लखनऊ-विश्वविद्यालय के अंतर्गत है।

मेडिकल कॉलेज की इमारतें संयुक्त-प्रांत और विशेषकर अवध के कुछ दान-वीर ताल्लुक़ेदारों की कृपा से बनी हैं।

नीचे के विवरण से पाठकों को नवीन चिकित्सा-शास्त्र की अध्यापन-प्रणाली का कुछ आभास मिलेगा।

Anatomy (शारीरक विभाग)—इस इमारत में जाने के लिये दर्शक का जी बहुत कड़ा होना चाहिए। जो अभ्यस्त नहीं हैं, उनके लिये इससे बढ़कर वीभत्स रस का समावेश और कहीं न मिलेगा। हमारे सुकुमार-हृदयवाले पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि बिना शारीरक शास्त्र (Anatomy) के ज्ञान के चिकित्सा का कुछ भी ज्ञान होना असंभव है। ऐलोपैथिक-चिकित्सा के पक्ष में शारीरक शास्त्र का ज्ञान एक बहुत बड़ी दलील है।

किंग जॉर्ज-मेडिकल कॉलेज का सिंहावलोकन

विद्यार्थियों के अनुभव के लिये प्रांत-भर से लावारिस मुर्दे लाकर यहाँ संग्रह किए जाते हैं। उन्हें सड़ने से बचाने के लिये उनकी नसों में कई ओषधियाँ भर दी जाती हैं। ऐसा करने पर वे वर्षों ख़राब नहीं होते। संगमर्मर की छोटी-छोटी मेज़ों पर शरीर के भिन्न-भिन्न अंग-प्रत्यंग रक्खे रहते हैं। सड़ने से बचाने के लिये विशेष प्रकार की ओषधियों में भीगी हुई चादरें इन पर पड़ी रहती हैं।

ऐसे स्थान पर दुर्गंध का थोड़ा बहुत होना तो अनिवार्य है ही, पर अभ्यास हो जाने पर विद्यार्थियों को कुछ भी कष्ट नहीं होता।

शरीर के प्रत्येक विभाग की बारीकियाँ जानना विद्यार्थी के लिये आवश्यक समझा जाता है। पढ़ाई की सुविधा के लिये सारा शरीर ७ भागों में विभक्त कर दिया गया है—

(१) पैर। (२) हाथ। (३) पेट। (४) छाती। (५) शिर और गर्दन। (६) दिमाग़। (७) हड्डियाँ।

प्रत्येक भाग के अध्ययन में प्रायः तीन मास लगते हैं। इस इमारत में एक बड़ा हॉल है। गंध और मक्खियों से बचने के लिये इसकी सफ़ाई का बड़ा ध्यान रक्खा जाता है। फ़र्श तथा दीवारें संगमर्मर की हैं।
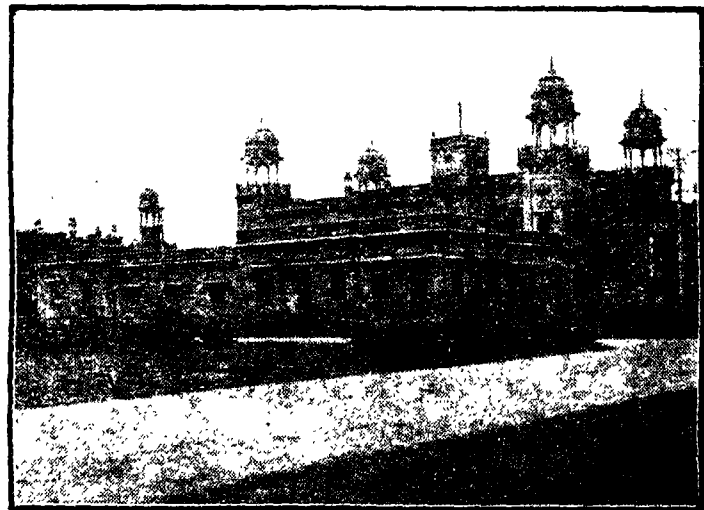
शारीरक विभाग का भवन

ऊपर के खंड में शारीरक-संग्रहालय देखने लायक़ चीज़ है। एक ओर गर्भ धारण से लेकर संतानोत्पत्ति तक जितनी अवस्थाएँ बच्चे की होती हैं, वे सब मिट्टी की प्रतिमूर्तियों द्वारा दिखलाई गई हैं। शरीर के भिन्न-भिन्न अंग-प्रत्यंग जैसे आँख, कान, नाक, गर्भाशय इत्यादि इसी प्रकार दिखलाए गए हैं। दूसरी ओर गर्भाशय से निकाले हुए सब अवस्थाओं के बच्चे तथा स्त्री-पुरुषों के अंगों के टुकड़े काट-काटकर ऐसे मसालों में रक्खे गए हैं कि वर्षों बीत जाने पर भी अभी ज्यों-के-त्यों बने हैं। इसी विभाग के अजायबघर में एक ऐसे मनुष्य का शरीर रक्खा हुआ है, जिसके पुरुष एवं स्त्री दोनों ही की जननेंद्रियों का समान विकास हुआ था !

Post Mortem Hall—किसी की मृत्यु किस कारण हुई, इस विषय की परीक्षा यहाँ की जाती है। मृत्यु का कारण जानने की आवश्यकता दो अवसरों पर पड़ती है—

(१) हत्या। हत्या कैसे हुई ? इसकी जाँच के लिये पुलीस लाश भेजती है। बहुधा इस बात में संदेह होता है कि अमुक मनुष्य की हत्या हुई अथवा उसने आत्मघात किया ? किसी नवजात शिशु के विषय में जानना है कि वह मृत ही उत्पन्न हुआ था अथवा उत्पन्न होने के बाद किसी ने मार डाला है। कुएँ में पाई गई किसी लाश के विषय में प्रश्न उठता है कि यह व्यक्ति मारकर कुएँ में डाल दिया गया था अथवा कुएँ में गिरकर मरा है ? विष द्वारा हत्याएँ इत्यादि।

(२) कभी-कभी ऐसे रोगियों की मृत्यु हो जाती है, जिनके रोग का निश्चय नहीं हो सका था। मृत्यु का कारण जानने के लिये मुर्दे के शरीर की परीक्षा होती है। जनसाधारण का मत इसके बहुत विरुद्ध है। पर पाठकों को ध्यान रखना चाहिए कि किस रोग में शरीर का कौन-सा अवयव बिगड़ जाता है इसका निश्चय होना चिकित्सा-शास्त्र के लिये अत्यंत आवश्यक है। और इस बात के लिये मुर्दे की चीर-फाड़ करनी ही पड़ेगी। एक ओर अपने प्रियजनों के मृत शरीर की दुर्दशा है और दूसरी ओर चिकित्सा-शास्त्र की वैज्ञानिक उन्नति। ज्ञान-वृद्धि के लिये किए गए स्वार्थ त्यागों के बहुत-से विवरण इतिहास में मिलते हैं। जनता को यह स्वार्थ-त्याग करने के लिये सदा प्रस्तुत रहना चाहिए।

पोस्टमार्टम्-प्रणाली के कारण गत पचास वर्षों में रोगों के निदान में आश्चर्य-जनक उन्नति हुई है। रोगी की असली शारीरिक अवस्था न ज्ञात होने के कारण कितने ही रोगों की ग़लत चिकित्सा होती थी। रोग-जनित शारीरिक विकार का निर्णय हो जाने से उचित चिकित्सा ढूँढ़ निकालना सहज हो गया है और कितने ही कष्टसाध्य रोग अब साध्य समझे जाते हैं। स्नायु-मंडल एवं हृदय के रोगों के ज्ञान में विशेष उन्नति हुई है।

योरप के अधिकांश अस्पतालों में नियम है कि मृत व्यक्ति का Post mortem अवश्य होगा। यहाँ भी यद्यपि नियम यही है, पर जनता के मानसिक भावों का ख़याल करके यह नियम कम बर्ता जाता है।

Physiology विभाग—शरीर के भिन्न-भिन्न अवयव अपना काम क्यों कर करते हैं, इस विषय पर इस विभाग में प्रयोग तथा अध्ययन होता है। हृदय क्योंकर और किसलिये धड़कता है ? कान से हम क्योंकर सुनते हैं ? आँख से दिखलाई क्योंकर पड़ता है ? इत्यादि प्रश्न सुनने में बड़े सहज जान पड़ते हैं, पर हैं बड़े कठिन। इन सबका विवेचन इस विभाग में होता है।

औषधियों का शरीर के भिन्न-भिन्न भागों पर क्या और कैसे प्रभाव होता है, यह बतलाने के लिये एक उदाहरण पर्याप्त होगा। उदाहरण के लिये मान लीजिए, तंबाकू का हृदय पर प्रभाव देखना है। एक जीवित मेढक अथवा ख़रगोश को बेहोश कर दीजिए। उसके बाद उसका पेट चीरकर सावधानी के साथ हृदय खोल दीजिए। एक आलपीन टेढ़ी करके हृदय की नोक पर लगा दीजिए और उस आलपीन में एक तागा बाँधकर एक यंत्र-विशेष में लगी हुई सुई से संबद्ध कर दीजिए। हृदय की प्रत्येक धड़कन के साथ यह सुई हिलेगी। सुई की इस चाल को काग़ज़ पर लाने के लिये एक धातु-निर्मित ढोल बिजली की सहायता से सीधा घूमता रहता है। इस ढोल पर मिट्टी के तेल अथवा गैस की कालिख़ लगा हुआ चिकना काग़ज़ लपेट दिया जाता है। हृदय की चाल के कारण हिलती हुई सुई की नोक का स्पर्श घूमते हुए ढोल से करा दीजिए। हृदय की गति ढोल पर अंकित होती जायगी। कुछ दूर साधारण गति अंकित करने के बाद हृदय पर तंबाकू का सत (Nicotine) डाल दीजिए। तंबाकू का प्रभाव ढोल पर अंकित हो जायगा।
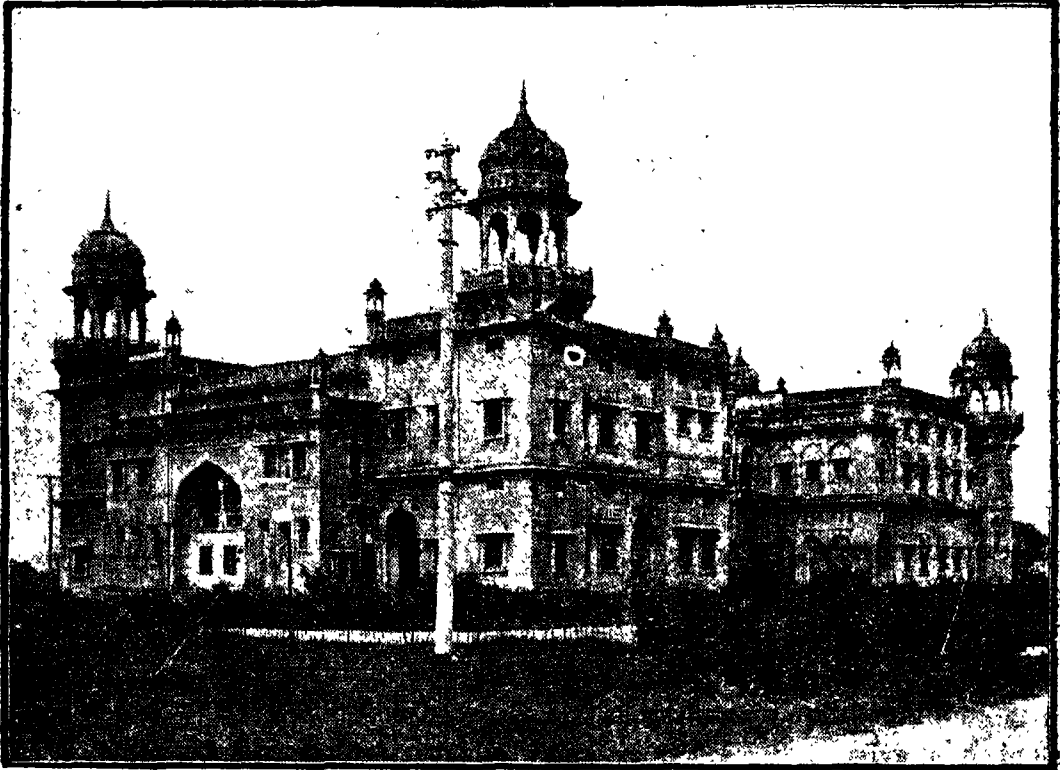
फीज़िओलोजी, हाइजीन एवं पैथालोजी-भवन
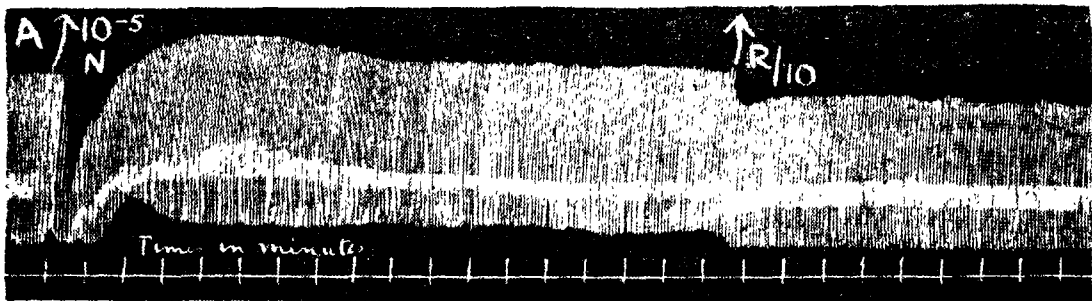
तंबाकू का हृदय पर प्रभाव

A पर तंबाकू का सत हृदय पर डाल दिया गया। N पर हृदय की चाल धीमी पड़ गई उसके बाद फिर हृदय उत्तेजित हो गया। १० मिनट के बाद फिर अपनी असली चाल पर आ गया। हृदय पर तंबाकू का यही प्रभाव होता है।

Pathology तथा Hygeine (स्वास्थ्य-विभाग)—जिस प्रकार Anatomy स्वस्थ शरीर के वर्णन को कहते हैं, उसी प्रकार Pathology का अर्थ है 'रुग्ण-शरीर-शास्त्र'। किसी विशेष रोग के कारण शरीर के किसी विशेष अंग में ऐसे क्या परिवर्तन हो जाते हैं कि रोगी को अमुक कष्टों का अनुभव होता है अथवा उसकी मृत्यु हो जाती है। उदाहरण के लिये क्षयरोग लीजिए। जब क्षय-रोग फेफड़ों में हो जाता है, तब एक

तो उसके कीटाणुओं का उत्पन्न किया हुआ विष रोगी के शरीर में विशेष लक्षण प्रकट करता है। दूसरे उन्हीं कीटाणुओं के कारण फेफड़ों में सूजन तथा घाव हो जाते हैं और रोगी का रक्त वायु के संसर्ग से शुद्ध नहीं होने पाता। Patho ogy के अंतर्गत Bac eriology (जीवाणुशास्त्र) इत्यादि और कई शाखाएँ हैं। वर्तमान वैज्ञानिक प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया है कि रोगों की एक बहुत बड़ी संख्या उन रोगों के कीटाणुओं के कारण है। मनुष्य को इस बात का बड़ा अभिमान है कि मैं जीवधारियों का राजा हूँ। इसमें कोई संदेह नहीं कि सृष्टि के बहुत-से जीवों पर उसने सचमुच विजय प्राप्त कर ली है। अधिकांश या तो गाय, घोड़ा, बकरी इत्यादि की तरह मनुष्य के दास हैं, या उसके भक्ष्य-पदार्थ और शत्रु हैं। मनुष्य के जिन शत्रु-पशुओं का कोई उपयोग नहीं, वे धीरे-धीरे संसार से उठते चले जाते हैं। इँगलैंड में गिलहरी और चूहे के अतिरिक्त कोई जंगली जानवर है ही नहीं। शेर, चीता, हाथी, गैंडा इत्यादि, अधिकांश देशों में अजायबघर अथवा चित्रों में देखने की चीज़ रह गई हैं। पर इन अणुवीक्षण यंत्रों से दिखलाई देनेवाले जीवाणुओं पर विजय प्राप्त करना मनुष्य के लिये एक कठिन समस्या हो रही है। प्रति वर्ष जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न प्लेग, हैज़ा, इन्फ़्लुएंज़ा, क्षय इत्यादि रोगों से लाखों मनुष्य मरते हैं। इन जीवाणुओं से अपनी रक्षा करने तथा इनके नाश के निश्चित उपाय, और इनके द्वारा आक्रांत हो जाने पर उपचार इत्यादि विषय यहाँ विद्यार्थियों को सिखलाए जाते हैं।

अस्पताल में भरती किए हुए तथा बाहरी रोगियों के मल, मूत्र, रक्त, एवं थूक की परीक्षा यहाँ होती है, तथा भिन्न-भिन्न रोगों के टीके तैयार किए जाते हैं। उपदंश-रोग की रक्त-परीक्षा (Wassermann Reaction) तथा क्षय-रोग की परीक्षा के लिये दूर-दूर से लोग आते हैं।

इसी विषय से संबद्ध एक बड़ा अजायबघर इस इमारत में है। भिन्न-भिन्न रोगों में शरीर के किस भाग की क्या दशा हो जाती है, यह दिखलाने के लिये शरीर के अंग-प्रत्यंग इसमें रक्खे गए हैं। यमज सन्तान, गुर्दे, मूत्राशय एवं पित्ताशय की पथरियाँ, अँतड़ियों के अंदर होनेवाले केंचुए, विषैले तथा निर्दोष साँप इत्यादि न-जाने कितनी बहु व्यय एवं श्रम-संगृहीत चीज़ें इसमें सुरक्षित हैं।

Hygeine & Sanitation अर्थात् स्वास्थ्य विभाग - किसी स्थान विशेष में विविध रोगों का आक्रमण क्यों कर रोका जा सकता है—किन नियमों का पालन करने से हम स्वस्थ रह सकते हैं, साफ़ और हवादार मकान तथा सूतिकागार क्यों कर बनने चाहिए, नालियों, कूड़ाख़ानों, संडासों की बनावट तथा उनकी उचित सफ़ाई, बाज़ार में बिकते हुए घी तथा अन्य खाद्य द्रव्यों की परीक्षा, हैज़ा, प्लेग, मलेरिया इत्यादि संक्रामक रोगों की जाँच और उनसे बचने के उपाय—इन्हीं सब विषयों की शिक्षा का प्रबंध यहाँ है। यों तो ये विषय स्थूल रूप से प्रत्येक विद्यार्थी को जानने होते हैं, पर इनके दो विशेष दर्जे भी यहाँ हैं। एक D. P. H. है जिसमें से हेल्थ ऑफ़िसर लिए जाते हैं। दूसरा L. P. H. है, जिसे पास करके म्युनिसिपैलिटियों में सैनिटरी इंस्पेक्टरी की नौकरी मिल सकती है।

Isolation Ward आईसोलेशन वार्ड में वे रोगी आते हैं, जिनके द्वारा अस्पताल के अन्य रोगियों में बीमारी फैलने का डर है। इन छूत के रोगियों को (जिसमें हैज़ा, प्लेग, मोतीझरा (Typhoid) चेचक, डिफ़्थीरिया इत्यादि

बाहरी रोगियों का अस्पताल

के रोगी संम्मिलित हैं)—एक दूसरे से बिलकुल अलग रक्खा जाता है, जिसमें एक का रोग दूसरे को न हो जाय।

Out patient's Department अर्थात् बाहरी रोगियों का विभाग—इस विभाग में उन लोगों की चिकित्सा होती है, जो रोज़ आकर दवा ले जा सकते हैं। इसके अंतर्गत निम्नलिखित छोटे-छोटे विभाग हैं—

(१) स्त्रियों का मेडिकल (चिकित्सा)-विभाग। इसमें कॉलेज की लेडी डॉक्टर स्त्रियों की चिकित्सा के लिये रहती हैं।

(२) पुरुषों का मेडिकल-विभाग।

(३) स्त्रियों का सर्जिकल-विभाग।

(४) पुरुषों का सर्जिकल-विभाग।

(५) नाक, कान और गले का चिकित्सालय।

(६) क्षय-रोग का चिकित्सालय।

(७) उपदंश तथा सुज़ाक़ का चिकित्सालय।

(८) दाँत का चिकित्सालय।

(९) डिस्पेंसरी।
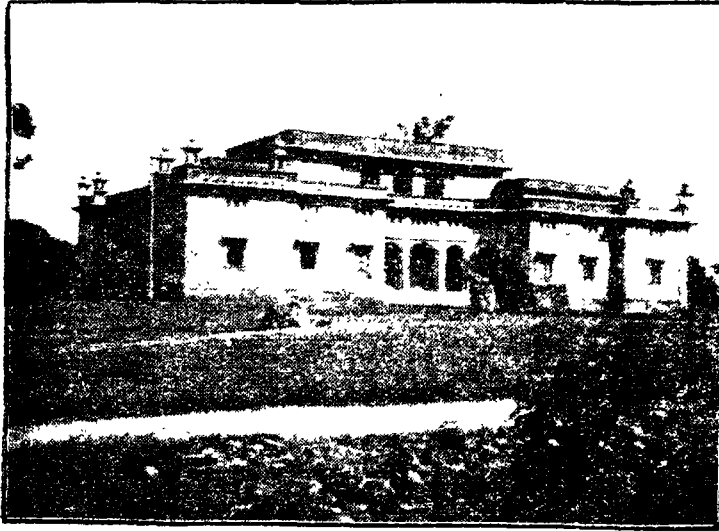
व्याख्यान-भवन

Clinical Theatre में विद्यार्थियों के लिये—

(१) व्याख्यान-भवन।

(२) ओषधियों का संग्रहालय।

(३) ओषधि-निर्माण के लिये प्रयोगशाला (laboratory)।

ये तीन विभाग हैं।

संग्रहालय में चिकित्सा-शास्त्र में काम आनेवाली जड़ी बूटियाँ तथा उनसे बनाई हुई दवाइयाँ संगृहीत हैं।

कॉलेज की प्रधान इमारत—यह औरों की अपेक्षा सुंदर एवं ऊँची है। नीचे के खंड में Convocation Hall है। यहाँ परीक्षाओं के बाद उपाधि-वितरण, सभाएँ तथा नाटक होते हैं। कॉलेज के दफ़्तर तथा परीक्षा-स्थान भी नीचे ही हैं। ऊपर के खंड में चिकित्सा तथा उससे संबंध रखनेवाले अन्य विषयों का एक सुंदर पुस्तकालय है। इस पुस्तकालय में पुस्तकें हैं तथा इन्हीं विषयों से संबंध रखनेवाले पत्र आते हैं।

अस्पताल की प्रधान इमारत—यह सबसे बड़ी है। इस इमारत में निम्न-लिखित खंड सम्मिलित हैं—

(१) अस्त्र-चिकित्सा (Surgery) से संबंध रखनेवाले वार्ड (पुरुषों के लिये)।

(२) अस्त्र-चिकित्सा से संबंध रखनेवाले वार्ड (स्त्रियों के लिये)।

(३) चिकित्सा (Medicine) से संबंध रखनेवाले वार्ड (पुरुषों के लिये), जिसमें क्षय एवं मधुमेह के विशेष रोगी भी सम्मिलित हैं।

(४) चिकित्सा-संबंधी स्त्री-वार्ड।

(५) आँख का विभाग तथा उसका वार्ड।

(६) गर्भवती स्त्रियों का वार्ड।

(७) लखनऊ-विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों का वार्ड।

(८) × ray तथा विद्युत्-चिकित्सा-विभाग।

(९) आपरेशन थिएटर।

(१०) धात्री-विद्या-संबंधी आपरेशन थिएटर।

(११) अस्पताल के लिये डिस्पेंसरियाँ अथवा दवा बनने के स्थान।

(१२) ड्यूटी-रूम।

(१३) लिफ़्ट।

इस सूची में × ray तथा विद्युत्-चिकित्सा का
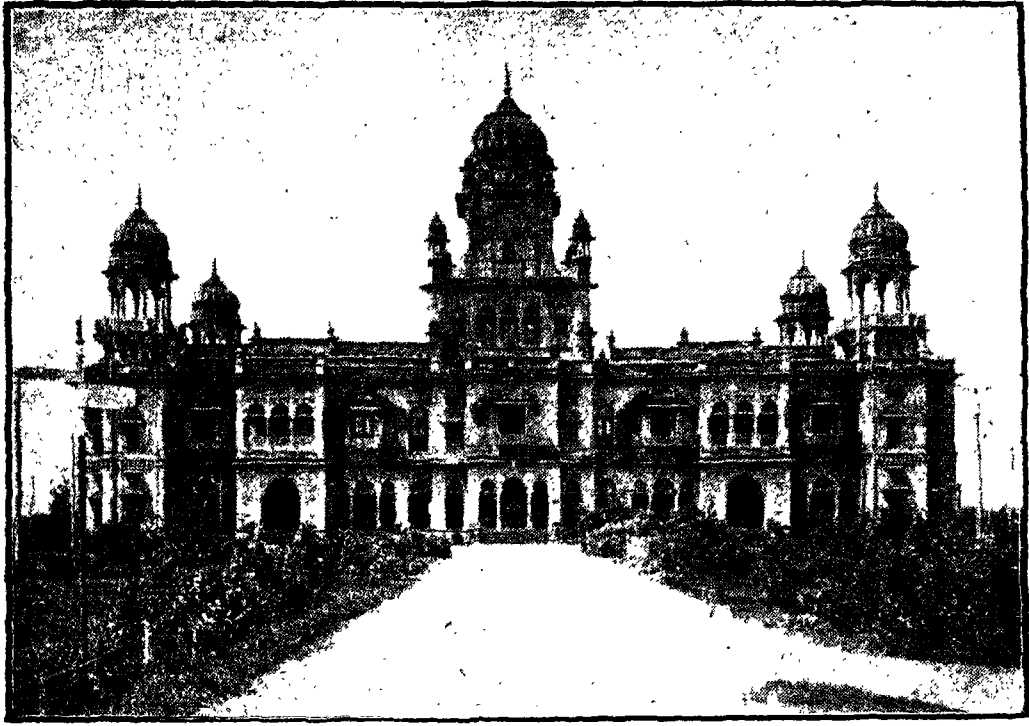
कॉलेज की प्रधान इमारत
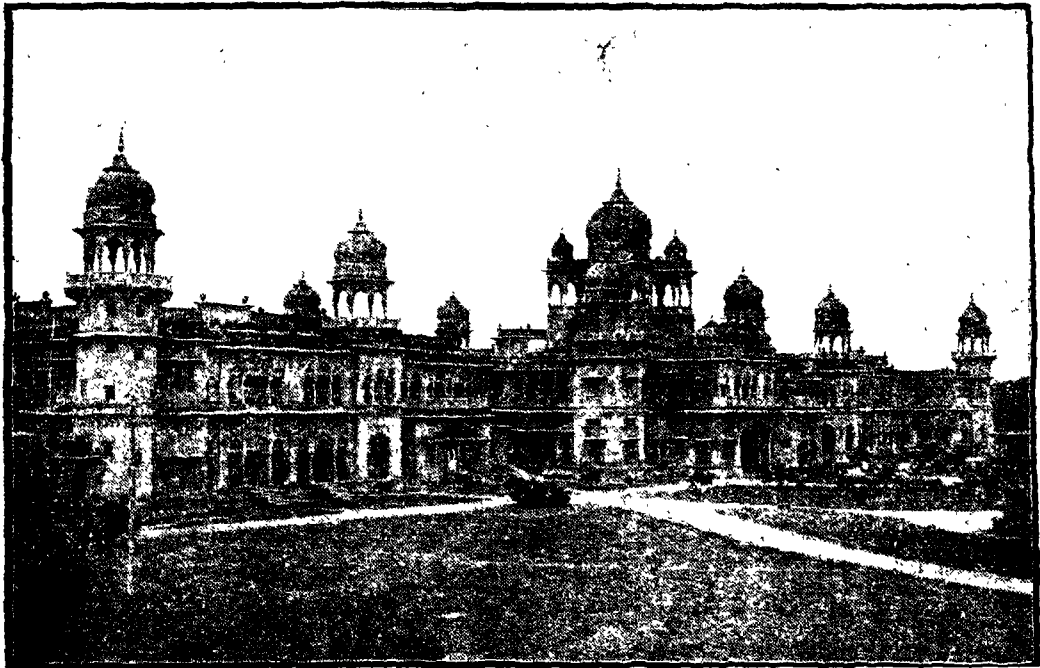
अस्पताल की प्रधान इमारत
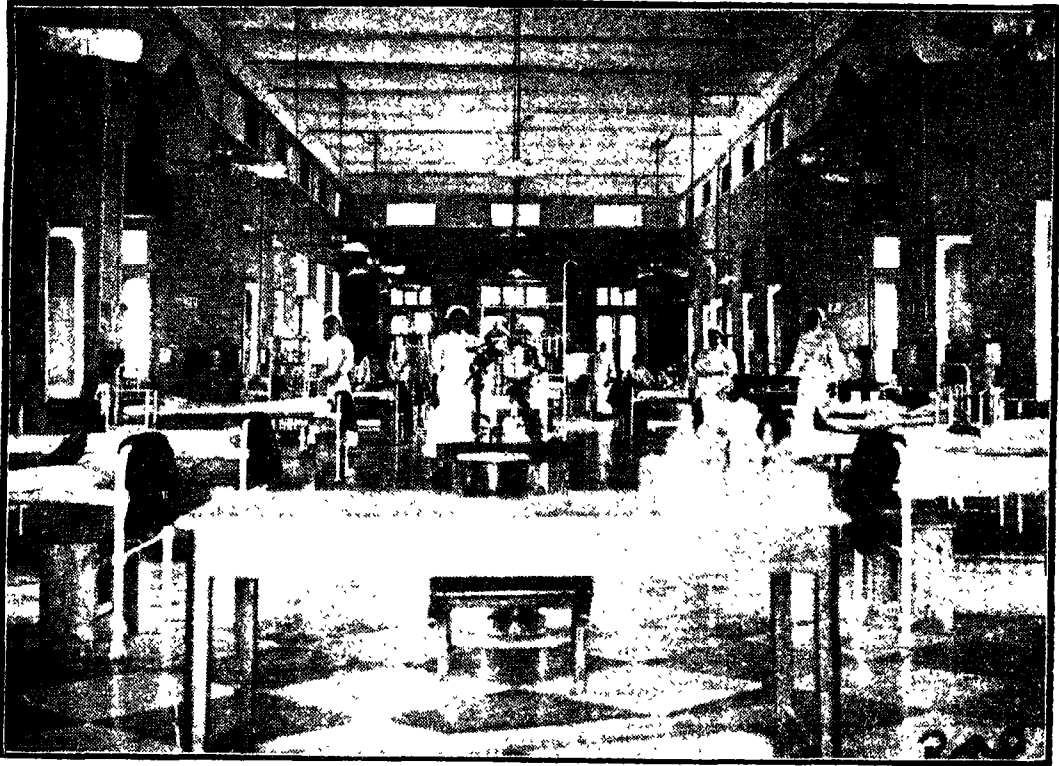
नेत्र-रोगियों का निवास-भवन

थोड़ा-सा हाल पाठकों को मनोरंजक होगा। विद्युत्-चिकित्सा बहुत से स्नावयिक रोगों के लिये बहुत लाभकारी सिद्ध हुई है। पक्षाघात-जैसे रोगों में—स्नायु-मंडल का कौन-सा स्थान बिगड़ गया है, इसका निदान कभी-कभी कठिन हो जाता है। बिजली के द्वारा इसके निर्णय में बड़ी सहायता मिलती है। Ultra Violet Rays जैसी प्रकाश-किरणें बहुत-से रोगों में आश्चर्य-जनक काम कर दिखलाती हैं। इनका भी प्रबंध यहाँ है।

X'ray का आविष्कार इस शताब्दी के श्रेष्ठ आविष्कारों में से है। शरीर के अंदर का बहुत-सा हाल रोगी को बिना कष्ट पहुँचाए क्षण-भर में देखा जा सकता है।

कुछ समय पूर्व अगर कोई बच्चा पैसा, आलपीन या इसी प्रकार की चीज़ निगल जाता था, तो सिवाय दस्त, क़ै, दो मर्द के आपरेशन अथवा ईश्वर पर भरोसे के अतिरिक्त और कोई उपाय न था। अब तो X'ray की फ़ोटो की सहायता से पहले यह ठीक-ठीक मालूम कर लिया जाता है कि पैसा कहाँ पर है। उसके बाद आपरेशन अथवा अन्य उपायों से सरलता-पूर्वक उसे निकाल लिया जाता है।

हड्डी टूटकर फिर अच्छी तरह से जुड़ गई है अथवा नहीं, इसके जानने का पहले कोई साधन न था। यदि किसी दुर्घटना-वश किसी के शरीर में बंदूक़ की गोली अथवा छर्रे चले गए हैं, तो उनका ठीक-ठीक स्थान जानकर उनको निकालना अब ज़रा भी कठिन नहीं है। X'ray की सहायता से धड़कता हुआ हृदय देखा जा सकता है, फेफड़े में रोग का स्थान निश्चित किया जा सकता है, आँत के फोड़े जाने जा सकते हैं, हड्डियों की भीतरी बीमारियों का निर्णय हो सकता है। और तो सब—गर्भ-स्थित शिशु की छाया दिखलाई पड़ती है !! संभव है—थोड़े दिन में X'ray की सहायता से गर्भ में पुत्र है या कन्या, इसका भी निर्णय हो सके !!!

कभी-कभी लोगों की आँख, कान अथवा नाक में लोहे के कण जाकर ऐसे जम जाते हैं कि साधारण रीति से उनका निकलना कठिन हो जाता है। इनके लिये एक

बड़ा शक्तिशाली चुंबक बनाया गया है। इसकी सहायता से वे कण बड़ी सरलता से निकल आते हैं।

एक बच्चे ने खेलते-खेलते एक पैसा निगल लिया। पैसा उसके गले में अटक गया। पैसे का स्थान निश्चित करने के लिये यह चित्र लिया गया। देखिए पैसा साफ़ दिखाई पड़ रहा है।

एक स्त्री अपना बुलाक निगल गई। देखिए, गले में अटकी हुई है। नीचे पसलियाँ साफ़ दिखलाई पड़ रही हैं। दोनों ओर फेफड़ों तथा बीच में हृदय की गहरी छाया पड़ रही है।

एक स्त्री के हाथ में इंजेक्शन दिया जा रहा था। भूल से सुई टूटकर भीतर रह गई है। साफ़ दिखलाई दे रही है। हाथ की सब हड्डियाँ साफ़ दीखती हैं।
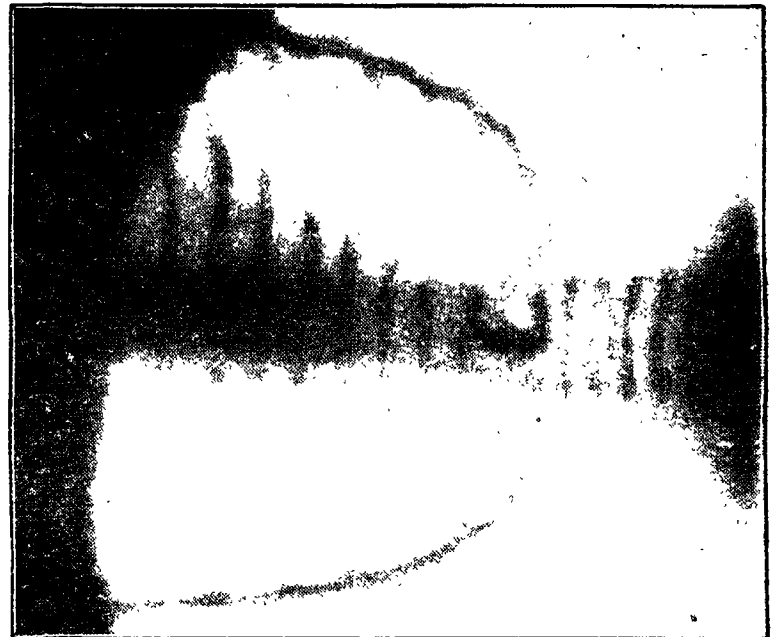
एक लड़का कालर में लगानेवाली पिन मुँह में डाले हुए था। भूल से निगल गया। पिन उसके पेट में साफ़ दीख रही है। एक ओर जाँघ पर L अक्षर इसलिये लगा दिया गया है, जिसमें दाहने-बाएँ में भूल न पड़े।

गले में अटका पैसा

गले में अटकी बुलाक

ड्यूटी-रूम-- आधी रात को अथवा अन्य किसी कुसमय में कहीं कोई दुर्घटना हो जाय, इसके लिये एक डॉक्टर तथा कुछ विद्यार्थी चौबीसों घंटे यहाँ तैयार रहते हैं। प्रारंभिक चिकित्सा का कुल सामान यहाँ मौजूद रहता है। रात में अनजान आदमी को यह स्थान ढूँढ़ने में अड़चन न पड़े, इसलिये

मांस के भीतर इंजेक्शन की सुई

पेट में कालर पिन

इसके सामने एक लाल लैंप रात भर जला करता है।

काटेज तथा स्पेशल वार्ड—मेडिकल कॉलेज का अस्पताल प्रधानतः उन लोगों के लिये है, जो बाहर अपनी चिकित्सा का अच्छा प्रबंध नहीं कर सकते। जो लोग रुपया ख़र्च कर सकते हैं और अपने लिये विशेष प्रबंध करना चाहते हैं, उनके लिये ये वार्ड बनाए गए हैं। काटेजवार्ड का १॥) तथा स्पेशलवार्ड का ४) रोज़ाना किराया देना पड़ता है।

छात्र तथा छात्रावास—मेडिकल कॉलेज में प्रायः २०० विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं। इनके लिये दो छात्रावास हैं। विद्यार्थियों ने मिलकर एक त्रैमासिक पत्र निकाल रक्खा है। इसके सिवाय एक नाट्य-समिति तथा खेल एवं कसरत का भी अच्छा प्रबंध है।

धनाभाव एवं अन्य कारणों से धातृ-विद्या की शिक्षा का अच्छा प्रबंध अभी तक नहीं हो सका है। इसके लिये छात्रों को मदरास आना होता है। उन्माद-रोग के अनुभव के लिये आगरा आना भी आवश्यक है।

कुछ नई इमारतें—Provincial Hygeine Institute प्रायः बनकर तैयार हो गया है। स्वास्थ्य-विभाग अब इसी में आ जायगा। क्षय-रोग का अस्पताल तथा एक बड़ा सूतिकागार—ये दो इमारतें शीघ्र बननेवाली हैं।

नवलविहारी मिश्र

स्कूल के संयमी छात्र

ON THE WAY TO SCHOOL.

आदर्श-नेत्र

(कवित्त)

सहज सुसीलवारे, सुजन-सनेहवारे ,
दुजन-दलेलवारे, पुन्यवारे पेखियै ;
ओजवारे, ऐंड़वारे, आबवारे, ताबवारे ,
प्रखर प्रतापवारे, दापवारे देखियै ।
तरनि-तमंकवारे, अतुल अतंकवारे ,
निपट निसंकवारे आय अवरेखियै ;
लेखियै न लागवारे, रूपवारे, रंगवारे ,
ऐसे जब होयँ नैन, नैननि मैं लेखियै । १ ।

साँचे नैन वेही, दीन-हीन जे बसावत हैं ,
करुन कुटीर प्रेम-पत्रनि सों छाय-छाय ;
साँचे नैन वेही, रक्त-अश्रु जे गिरावत हैं ,
दीठि देस-द्रोहिन औ दुष्टन पै लाय-लाय ।
साँचे नैन वेही, भक्ति-नीर जे बहावत हैं ,
घोर युद्ध-मध्य पार्थ-सारथि कों ध्याय-ध्याय ;
मोर-पच्छ-अच्छनि कों कहत प्रतच्छ नैन ,
छाँड़ि-छाँड़ि ओजवंत अच्छनि कों हाय-हाय ।२।

रसिक-निवास खास मदन-मवास छाँड़ि ,
रुधिर-विभोर रुद्र-मंदिर बसावै है ;
ललित बसंत कुंज-कोकिल-सुपुंज त्यागि ,
समर-समृद्ध गृद्ध-जुत्थनि रमावै है ।
भई आजु, देखौ, कैसी बावरी हमारी दीठि ,
कंदुक-विहाय सत्रु-मुंडनि नचावै है ;
छाँड़ि चारु चंदमुखी-मंद हास, चंडिका के ,
चंड अट्टहास पै अखंड बलिजावै है । ३ ।

लड़त ललाम ललनान ही के नैननि सों ,
बनत गुलाम बिन दाम गोरे चाम के ;
झेंपि जात झाँकन हों ओजवंत आँखिन कों ,
मंद अलसौहैं, सो है आवत न राम के ।
नाहिं कबौं उष्ण रक्त-बिंदु जे गिरावत हैं ,
देखि-देखि दाह हू स्वधर्म औ स्वधाम के ;
फूटि क्यों न जायँ बेगि मैन-ऐन रंग-भरे ,
ऐसे सुकुमार नैन, बोलौ कौन काम के । ४ ।

कहाँ रति-रंगदार, काजर की कोरदार ,
कहाँ लाल लोहित-से ओजदार शानदार ?
कहाँ मुसकानदार, नखरे औ नाजदार ,
कहाँ आब-ताबदार, न्यारे आन-बानदार ?
कहाँ रूपवंनन के रोगदार, झेंपदार ,
कहाँ निज ऐंड़दार, मेंड़दार, मानदार ?
कहाँ आशनाई के जनाने मुरदार, ए रे !
कहाँ मरदाने नैन ज्वालन के जानदार । ५ ।

छी छी ! धिक लाख बार जदपि सुकंज-जैसे
मंजुल, मनोज-प्यारे, रंग-रतनारे हैं ;
ललित मलिंद मीन खंजन-लजानहारे ,
अलस-विभोर, चित-चोर, अनियारे हैं ।
धन्य-धन्य वेही नैन, प्रलय-प्रचंड जहाँ ,
धँधकि विधूम रहे अधिक अँगारे हैं ;
देखि-देखि दुष्टन के यत्र-तत्र अत्याचार ,
बहत अरुद्ध जहाँ रुधिर पनारे हैं । ६ ।

नरक-निकेत मैन-ऐन ए रसीले नैन ,
कवित बनाय भूरि-भूरि क्यों सराहिए ;
रसिक कवींद्र ! हाहा, सुजन-समाज फेरि ,
विषय-समुद्र में न अब अवगाहिए ।
अधम अधर्म-रूप अंध आततायिन कों ,
समर प्रचारि ओज-ज्वालन तें दाहिए ;
रुद्र के, प्रताप के, शिवा के, छत्रसालजू के ,
आज तौ गुविंद के प्रचंड चक्षु चाहिए । ७ ।

वियोगीहरि

सहस्रशीर्षा पुरुष और शेषशायी विष्णु

भारतीय ऋषियों ने जिस सहस्रशीर्षा, सहस्राक्षः और सहस्रपात् ब्रह्म का वर्णन किया है, कौन समग्रतया उस पुराणपुरुष की महिमा को जानता है ? जिसके रोम-रोम में अनंत ब्रह्मांडों की कल्पना वेद करते हैं, केवल समाधि में ही उसके विश्वरूप का दर्शन हो सकता है । पाताल जिसके चरण, ब्रह्मलोक जिसका मस्तक, अवरलोक जिसके अन्य अवयव, भयंकर काल जिसका भ्रूबंक, सूर्य जिसका नेत्र, स्निग्ध घनमालाएँ जिसके केशकलाप, अश्विनीकुमार जिसकी घ्राणें-

द्रिय, अहोरात्र जिसके निमेषोन्मेष, दशों दिशाएँ जिसके श्रोत्र, पवन जिसका श्वासोच्छ्वास और वेद जिसकी महिमामयी वाणी है—उस आनंद-निधि अनंतरूप भगवान् के निरूपण में समस्त शक्तियाँ हार जाती हैं। लोभ जिसका अधर, व्रीड़ा जिसका ओष्ठ और यमराज जिसकी कराल दंष्ट्राएँ हैं; जनोन्मादकरी माया जिसका मंद स्मयन, सृष्टि जिसका कटाक्षपात, इंद्रादिक दिक्पाल जिसके भुजदंड, समिद्ध अग्नि जिसका मुख और वरुण जिसकी रसना है—किस प्रकार उस असत् और सत् से अतिरिक्त ब्रह्म से सृष्टि उत्पन्न हुई और किस प्रकार वह उसको धारण करता है? जिसकी इच्छा ही सर्ग, स्थिति और प्रलय के रूप में प्रकट होती है, अनंत वनस्पतियाँ जिसके रोम, वज्र सम शिला-संघात जिसकी अस्थियाँ और नित्य स्रवणशील सरिताएँ जिसका नाड़ी-जाल है;* महासागर जिसकी कुक्षि, धर्म जिसका स्तन और मही जिसकी विज्ञान-शक्ति है, उसी अनंत सन्निवेशवाले पुरुष को वेदों ने स्कंभ, ज्येष्ठ, हिरण्यगर्भ, प्रजापति, उच्छिष्ट और प्राण आदि अनेक नामों से पुकारा है। वही शेष है, वही विष्णु है, उसी की नाभि अर्थात् मध्यबिंदु से उत्पन्न होकर स्वयंभू प्रजाओं का विस्तार करते हैं। अपने ही एकांश से इन सब लोकों की कल्पना करके वह इनमें स्वयं व्याप्त हो रहा है।

उस अनंत ब्रह्म और इस ब्रह्मांड के संबंध को व्यक्त करने के लिये भारतीय ऋषियों ने शेषशायी विष्णु-भगवान् की कल्पना की है। विष्णु के केशव स्वरूप का स्मरण करके और उसके मर्म को समझकर यहाँ के पुराण-निर्माता सुधीजन विह्वल होकर अपनी लेखनी को वश में नहीं रख सके। उस महान् वैदिक कल्पना को शेषशायी विष्णु के सूक्ष्म सूत्र में परिच्छिन्न करके वे अतुल आनंद से नाच उठे। चित्रकारों की कूँची और शिल्प-शास्त्रियों की टाँकी दोनों ने इस महार्घ कला-सामग्री को पाकर अपने आपको शतशः धन्य जाना। एक महान् सृष्टि-तत्त्व को जिसके यथार्थ ज्ञान के लिये दर्शन-विज्ञान और श्रुति के अर्थों का प्रकाश होना चाहिए, लोगों ने सामान्यतया यों समझ लिया कि 'यह पृथ्वी शेषनाग के फन पर स्थित है अथवा विष्णु शेष की शय्या पर सोते हैं।'

सामाजिक धर्म में इसका स्वरूप अनंत चतुर्दशी है, जिस दिन अनंत का पूजन और अनंत का व्रत होता है तथा लोग चौदह गाँठवाले अनंतवलय को भुजा में पहनते हैं। वास्तव में इस अनंत की कल्पना का जन्म ऋग्वेद के पुरुषसूक्त से हुआ, उसी का विस्तार पुराणों में अनंत नाग के पृथ्वी का भार उठाने की कथा है। जो तत्त्व वेद में गहन था, वही पुराण की कथा में अत्यंत सरल और सुबोध हो गया। लोक में प्रतिवर्ष उसका स्मरण दिलाने के लिये अनंत चतुर्दशी का व्रत हुआ। इस प्रकार हम इस कथा के विवेचन का प्रयत्न करेंगे।

सर्वप्रथम जब नामरूपात्मक जगत् नहीं था, तब केवल एक ब्रह्म ही था। उसी का नाम स्कंभ और तम है। मनु ने कहा है—

> आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
> अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ (१।५)

अर्थात् सृष्टि के पहले न यही कहा जा सकता है कि कुछ था, न यही कहा जा सकता है, कुछ नहीं था। वह एक तमोभूत अवस्था थी। उसमें प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान आदि किसी प्रमाण की पहुँच नहीं। इन अप्रज्ञात आदि शब्दों का कुल्लूक ने बड़ा सुंदर अर्थ किया है—

"अप्रज्ञातमप्रत्यक्षं सकलप्रमाणश्रेष्ठतया प्रत्यक्षगोचरः प्रज्ञात इत्युच्यते तन्न भवतीत्यप्रज्ञातम्, अलक्षणमननुमेयं लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं लिंगं तदस्य नास्तीति अलक्षणम्, अप्रतर्क्यं तर्कयितुमशक्यं तदानीं वाचकस्थूलशब्दाभावाच्छब्दतोऽप्यविज्ञेयम्।" "अर्थात् सब प्रमाणों में श्रेष्ठ प्रत्यक्ष प्रमाण है, इसी से उसे प्रज्ञात कहा है। उससे बाहर होने से वह दशा अप्रज्ञात है। अलक्षण का अर्थ 'अनुमान के बाहर' है। जिससे ज्ञान हो, उसका नाम लक्षण अर्थात् लिंग, वह बाह्य लिंग भी जिसमें नहीं था, इसी से ब्रह्म की वह तमोभूत अवस्था को अलक्षण कहा है। तर्कणा अर्थात् अर्थ के वाचक स्थूल शब्दों का भी उस समय अभाव था, इसी से शब्द-प्रमाण गम्य भी वह अवस्था नहीं थी। सब प्रकार वह अगोचर अर्थात् अविज्ञेय थी।"

इस समय के दृश्यमान जगत् का वह आधारस्तंभ था, इसी से वेद ने उसे स्कंभ कहा है (अथर्ववेद १०।७)

---

* तुलसीकृत रामायण, लंकाकांड, मंदोदरी का विराट्रूप-वर्णन।—लेखक

उसी का नाम कतम भी है। नासदीयसूक्त ने उसी के लिये लिखा है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरोयत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्।
(१० । १२९ । १)

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास। २।

अर्थात्—उस समय न असत् (मूल अव्यक्त प्रकृति) था, न सत् (हिरण्यगर्भ हैमांड) था, न अंतरिक्ष में अग्नि, सोम, मित्रावरुण, सविता, बृहस्पति, इंद्र और विश्वेदेव इन सात देवताओं के नृत्य से उड़ी हुई परिमाणु रूप धूलि थी। कौन किसका आवरण था, कौन किसका आधार था और यह गहन गंभीर अंभोरूप सलिल भी जिस पर देवता नृत्य करते हैं, जिससे भुवन बनते हैं, उस समय क्या था? अर्थात् इनकी कोई कल्पना नहीं थी। न मरणधर्मा यह ब्रह्मांड था, न अमृत-रूप शेष का प्रविभाग था, न दिन और रात का ज्ञान था। उसके बाद वह ज्ञानस्वरूप चैतन्य कामना के वीर्य से केवल प्राण-रूप में विना स्थूल आश्रय के प्रकंपन करने लगा। उस स्पंदन का सापेक्ष ज्ञान कराने के लिये उस समय अव्यक्त प्रकृति थी। उस ब्रह्म से परे कुछ नहीं था।* इन दो मंत्रों में जो वैदिक सृष्टि-प्रक्रिया बताई गई है, वह अत्यंत गूढ़ है। थोड़े स्थान में समग्र अर्थ का सन्निवेश होने से और वेदों के पारिभाषिक शब्दों के एकत्र समवस्थान से यह दुरूहता आ गई है। शेष और विष्णु का संबंध समझने के लिये इस वैदिक सृष्टि को जानना आवश्यक है। सृष्टि-प्रक्रिया का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है—

१. तमोऽवस्था—स्कंभ ब्रह्म, कतम—उससे परे कुछ नहीं।

२. (अ) तप, (ब) काम—असत् अव्यक्त प्रकृति, सलिल, क्षीरसागर, कतर, अप्, संकर्षण, ज्येष्ठ ब्रह्म, तत्, स्वः।

३. (अ) तप, बीज, वीर्य—सत्, क, प्रजापति, विराट्, हिरण्याक्ष, हिरण्यगर्भ, हैमांड, महान्, सूर्य, आदित्य, भूः।

४. (अ) देवयुग—सात देवों का नृत्य।

(ब) वैराज पुरुष।

सबसे पहली अवस्था वह है, जब केवल ब्रह्म ही होता है, वह अलक्षण, अप्रतर्क्य और अविज्ञेय है। वह बाद की समस्त प्रकृति का परम आधार है, स्तंभ ब्रह्म (क) होने से उसे स्तंभ+क (त के स्थान में)= स्कंभ और क जो प्रजापति उससे आरोह-क्रम में तीसरे स्थान पर होने से क+तम (अतिशायने-तमबिष्ठनौ)=कतम कहते हैं। अथर्ववेद के स्कंभसूक्त में बार-बार उसे कतमः स्विदेव सः कहा गया है। ब्रह्म की स्कंभ संज्ञा मानकर स्कंभ का बड़ा विस्तृत वर्णन किया है। अर्थात् सूर्य, चंद्र, द्युलोक, अंतरिक्ष, समुद्र, पृथ्वी, वेद और देवता सब स्कंभ ब्रह्म में ही हैं। इसी प्रकार वर्णन करने की वैदिक प्रणाली है। जहाँ ब्रह्म को उच्छिष्ट संज्ञक माना है, वहाँ उच्छिष्ट में ही सबको प्रतिष्ठित कहा है; क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप भेद से अनंत नाम हो सकते हैं और यह संसार ब्रह्म में ही अधिष्ठित है, इसलिये प्रत्येक नाम के साथ उसका वर्णन हो सकता है। वेद में कहा है कि कोई पुरुष हिरण्यगर्भ को ही परम अधिष्ठान समझ लेते हैं, कोई ज्येष्ठ ब्रह्म को ही अंतिम आधार मान लेते हैं, पर वस्तुतः इन सबसे परे अनंत ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म है। इस ब्रह्म के अंदर अभीद्ध तप का प्रादुर्भाव हुआ। अर्थात् विस्तार और धारण सामर्थ्य रूप गुणों की अभिव्यक्ति होती है। इस तप से कामना का जन्म होता है। संकल्प ही मन का वीर्य है, यह संकल्प ही असत् नाम प्रकृति का कारण है। यह प्रकृति साम्य-रूप सत्त्व, रज, तमोमयी होने से अव्यक्त अवस्था में होती है। इसी को स्वः कहते हैं—

स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।

जो स्वः रूप है और जो क नाम प्रजापति रूप में उद्गत होता है, वह ज्येष्ठ ब्रह्म है, उसको नमस्कार है। यही नार या आप है। पुरुष रूप ब्रह्म की प्रथम अवस्था से जन्म लेने के कारण यह आप् प्रकृति नरसूनु हैं—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ (मनु १।१०)

नार संज्ञा आप् सलिल या प्रकृति की है, क्योंकि वह नर अर्थात् पुरुष ब्रह्म से उत्पन्न होती है। इस प्रकृति के अस्तित्व में आने से ही ब्रह्म में अमृत और काल

---

* देखो 'आज' १९ जून सन् १९२५ के अंक में, श्रीकोकिलेश्वर भट्टाचार्य का 'वैदिक सृष्टि-तत्त्व'-शीर्षक लेख।—लेखक

की कल्पना होती है। उसके एक अंश से प्रकृति का निर्माण होता है। जो अवशिष्ट भाग रहता है, वही अमृत है। इसीलिये असत् प्रकृति के निर्माण से पहले ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते समय कहा है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि।

जो त्रिगुणात्मिका प्रकृति है, वही विकार को प्राप्त होती है, उसी को प्रलय में आना होता है; इसीलिये मृत्यु-शब्द वाच्य धर्म की वह साक्षिणी है। ब्रह्म का अवशिष्ट अंश अमरत्व का भागी रहता है। इसी को पुराणों में क्षीरसागर कहा है। विष्णु इसी के अंदर निवास करते हैं। महाप्रलय में प्रकृति का पुनः अपने कारण स्कंभ ब्रह्म में लय होने पर उसी के साथ विष्णु करके व्याप्त नामरूपात्मक जगत् का भी अभाव हो जाता है।

इस अप् में ब्रह्म प्रजाओं के निर्माण के लिये बीज डालता है, अर्थात् वह एक नई कामना को लेकर फिर विकास-प्रणाली में तप से अग्रसर होता है। अव्यक्त प्रकृति ही सांख्य के अनुसार महत्तत्त्व में परिणत होती है। इसी का दूसरा नाम हिरण्यगर्भ, प्रजापति या क ब्रह्म है, सप्त महाव्याहृतियों में इसकी भू संज्ञा है, क्योंकि अब सबसे पहले हम किसी वस्तु की सत्ता को निश्चय से कह सकते हैं। जब एक वस्तु का निश्चित आधार हो जाता है, तभी उसी की अपेक्षा से (व्यवस्थायाम् पाणिनि १।१।३४) कि पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः आदि दिशाओं का परिज्ञान होता है। सत्त्व-गुणयुक्त होने से यह हैमाण्ड सत् भी कहलाता है। इसी को विराट् भी कहते हैं, क्योंकि यह विशेष प्रदीप्त होता है। यही मार्तण्ड है—

मृतेऽण्डे एष एतस्मिन् जातो मार्तण्डशब्दभाक्।
(देवी भा० ८।१४।१७)

मृते अचेतने एष वैराजरूपेण यस्मान्निविष्टस्ततो मार्तण्ड इत्यर्थः।

अर्थात् मरे हुए अंडे में जन्म लेने के कारण इस हिरण्यगर्भ की मार्तण्ड संज्ञा है। इसका उपाख्यान इस प्रकार है। कश्यप नाम उसी स्कम्भ ब्रह्म का है। उसके अनंतर अदिति नाम उसकी शक्ति जन्म लेती है। 'दो अवखण्डने' धातु से दिति शब्द बनता है। जो कभी खंडित नहीं होती, अर्थात् सदा अखंडित रहती है, वही अदिति अर्थात् शक्ति है। शक्ति का यही स्वरूप आधुनिक विज्ञान को भी सम्मत है। उस अदिति के आठ पुत्र होते हैं। उनमें एक पुत्र यही दक्ष या मार्तण्ड है। यह मार्तण्ड यद्यपि शक्ति का अक्षय भंडार है, पर वह शक्ति लेटेंट अथवा गुप्त सन्निहित रहती है। इसी से इस हैमाण्ड को मार्तण्ड कहा है। अकेली गुप्त शक्ति किसी कार्य को सिद्ध नहीं कर सकती। इसीलिये अदिति ने सात पुत्रों को और जन्म दिया। इनके नाम क्रमशः ये हैं—

अग्नि—Negative Electricity.
सोम—Positive Electricity.
मित्रावरुण—Magnetism.
सविता— Heat.
बृहस्पति—Light.
इंद्र—Sound.
विश्वेदेव—Motion.

इन्हीं सातों शक्तियों का निर्माण करने के अनंतर अदिति ने लेटेंट शक्ति के परम स्रोत मार्तण्ड को ब्रह्माण्ड के मध्य में स्थित करके अपने सातों पुत्रों की सहायता से लोक-निर्माण करने का विधान किया। शक्ति के इन सात रूपों को देवता कहा है, क्योंकि वे दिव्य गुण सम्पन्न थे। उनके निर्माण-कार्य को उनका नृत्य कहा है। यही देव-युग है। जब ये सब शक्तियाँ परस्पर कार्य करने लगीं, तब इनसे परमाणुओं की सृष्टि हुई। वेद ने इसी को कहा है कि जब देवताओं के नृत्य से तीव्र रेणु उठी, तब वे देव यतिशील होने लगे, अर्थात् रुकने लगे, क्योंकि अब जड़ांश पिण्डीभूत होकर नीचे बैठ गया और उनकी गति का व्याघात करने लगा। उसी से भुवनों की सृष्टि हुई। स्कंभ ब्रह्म के युग में न सलिल रूप आप् प्रकृति थी, न देव थे, फिर उनका नृत्य और उससे होनेवाला परमाणु संक्षोभ कहाँ हो सकता था*। इसीलिये नासदीय सूक्त में कहा है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजः...... ।

अर्थात् उस समय न असत् प्रकृति, न सत् हिरण्याण्ड,

---

* विस्तार के लिये 'वैदिक धर्म' अंक ७१ में, प्रो० ह्यलिया-रामजी काश्यप का 'स्थूल भूतपूर्व सृष्टि' नामक लेख और उसी अंक में, श्रीसातवलेकरजी का सृष्टि विषयक लेख देखिए।—लेखक

न देव नृत्य से उठी हुई रज और न अंतरिक्ष आकाश था।

इस हिरण्यगर्भ या विराट् या हैमाण्ड में सृष्टि-कार्य को अग्रसर करने के लिये पुरुष ने अवतार लिया—

तदंडमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ;
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः।

अर्थात् सहस्ररश्मि आदित्य की प्रभावाला वह सुवर्ण का अंड था। उसके भीतर पुरुष के चेतनस्वरूप ने अवतार लिया।

वेद ने भी इसी बात को यों कहा है—

तस्माद्विराडजायत विराजोऽअधिपूरुषः। (पुरुषसूक्त)

अर्थात् पहले ब्रह्म में अमृत और मृत्युरूप त्रिपाद एक पाद का विभाग हुआ। फिर उससे विराट् का जन्म हुआ। विराट् के भीतर स्वयं पुरुष उत्पन्न हुआ (अजायत)।

विराट् ही ब्रह्मांड है और ब्रह्मांड को व्याप्त करने-वाला पुरुष ही विष्णु है। इस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया का विस्तार वैदिक साहित्य में है। इससे यह बात विदित हुई कि ब्रह्म अनंत है। उससे विकास-प्रक्रिया में ब्रह्मांड बनता है। इस ब्रह्मांड में व्यापक ब्रह्म-अंश की संज्ञा विष्णु है।

निमित्तभेद से एक ही ईश्वर के पृथक्-पृथक् नाम हैं। वेवेष्टि व्याप्नोति इस अर्थ में, विष्लृव्याप्तौ धातु से विष्णु बनता है। हम मूल ब्रह्म को स्कंभ नाम से पुकारते हैं, उसी की प्राण-स्पंदन क्रिया पर लक्ष्य रखकर उसे प्राण भी कहते हैं और अथर्ववेद के प्राणसूक्त में ब्रह्म का प्राण रूप में वर्णन हुआ है। जगत् में व्यापक होने की दृष्टि से ब्रह्म की विष्णु संज्ञा है। सृष्टि से पहले जो ब्रह्मरूप पुरुष था, वह अनंत था। उसके स्वरूप का दिग्दर्शन कराने के लिये उसका वर्णन यों किया गया है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। (पुरुषसूक्त)

अर्थात् वह पुरुष सहस्र मूर्धावाला, सहस्रनेत्र और सहस्र पैरोंवाला है। यह बात स्पष्ट है कि यहाँ का सहस्र शब्द संख्यापरक नहीं है। यदि सहस्र निश्चित संख्या का द्योतक होता, तो सामान्य गणित से सहस्रशीर्षा पुरुष को द्विसहस्राक्ष और द्विसहस्रपात् होना चाहिए। सहस्रशीर्षा के साथ सहस्राक्षः पद स्वयं ही इस अर्थ की व्यंजना करता है कि सहस्र शब्द पाँच सौ की दूनी संख्या का वाचक नहीं, बल्कि अनंत का पर्यायवाची है। इसी कारण सूर्य को सहस्रांशु कहा जाता है। अर्थात् जिसकी किरणों की गणना नहीं है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में पुरुषसूक्त के इसी भाव का स्पष्टीकरण यों किया गया है—

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ;
सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात्सर्वगतः शिवः (३। ११)
सर्वतः पाणिपाद् तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ;
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति (३ । १६)
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ;
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् (॥ ३ । १७ ॥)

यह सर्व सहस्र का ही पर्यायवाची है। अर्थात् वह पुरुष अनंत शिर, अनंत ग्रीवा, अनंत पाणिपाद और अनंत चक्षु, श्रोत्रवाला है। वह समस्त प्राणियों के अंतर में व्याप्त है और सर्वेन्द्रिययुक्त और सर्वेन्द्रियविवर्जित भी उस पुरुष की कल्पना हो सकती है। इस प्रकार वह समस्त लोकों की बृहत् शरण अर्थात् अधिष्ठान है। गीता ने इसी को यों कहा है—

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् (११।२३)

तथा अनेक—

बाहूदरवक्त्रनेत्रं (११ । १६)
अनन्तबाहुं (११ । १६)

अर्थात् हे महाबाहो! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले तथा बहुत हाथ, जंघा और पैरोंवाले और बहुत उदरोंवाले तथा बहुत-सी विकराल दंष्ट्रावाले महान् रूप को देखकर सब लोक तथा मैं भी व्याकुल हो रहे हैं। सहस्र शब्द के ही स्थान में सर्व, बहु, अनेक और अनंत शब्दों का प्रयोग हमारे साहित्य में हुआ है इस अनन्त पुरुष से सृष्टि का निर्माण होता है। इस क्रिया में उस ब्रह्म का कुछ अंश काम आ जाता है। जो अंश व्यय हो जाता है, उसका नाम अन्न है। 'अद् भक्षणे' धातु से क्त प्रत्यय करने पर अन्न बनता है। जो खाया गया है वह अन्न है। अन्न जब भुक्त होता है, तब जो शेष बचता है उसे उच्छिष्ट अर्थात् जूठन कहते हैं। सृष्टि-प्रक्रिया में जिस ब्रह्म का एक अंश अन्न हो गया, उसका शेष भाग ही उच्छिष्ट ब्रह्म है। जगत् के कारण ब्रह्म में उच्छिष्ट उपाधि उत्पन्न हुई। जो अन्न है, वह विकृति को प्राप्त होता है। अन्न-रूप जगत् भी सर्ग-स्थिति नाश-रूप परिवर्तन के

आधीन है। यही मृत्यु है। जहाँ मृत्यु का भाव होगा, कालपरिच्छिन्नता का भाव भी वहाँ तुरंत आ जाता है। जिसको काल नहीं खाता, वही अमृत है। इसलिये ब्रह्म का वह अंश जो जगत् रूप अन्न की जूठन बच जाता है, अमृत है; क्योंकि वह कभी मरणशील गुणों से परिभूत नहीं होता, उसमें काल-कृत परिमेयता नहीं है। इन्हीं भावों का पुरुषसूक्त में विवेचन है—

पुरुषऽएवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्;
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति।

अर्थात् जो भूत और भविष्यत् है, वह सब पुरुष ही है। अन्न से बचा हुआ जो अमृत है, उसका स्वामी भी वह पुरुष ही है। काल परिच्छिन्न अन्न के साथ भूत और भविष्य का निरंतर साहचर्य है। वर्तमान की कल्पना के साथ अतीत और आयति की कल्पना भी अनिवार्य है। यद्यपि यह अन्न मृत्यु-पाश में बद्ध है, पर उसका जन्म अनंत पुरुष के एक-पाद से होता है, इस लिये उसको उस रूप में परिच्छिन्न करनेवाला काल-चक्र भी अनंत है। यह काल कितना है? वर्षों में इसकी कल्पना का यथार्थ रूप में दृगोचर होना असंभव है। इसलिये अनंत काल की अनंतता रखते हुए उसको कल्पना-शक्य बनाने के लिये लोमशऋषि की रचना हुई है। लोमशऋषि के एक-एक रोम में समय का एक-एक कल्प अंतर्निहित है। जब कल्पांत में ब्रह्मा का भी तिरोभाव हो जाता है, तब लोमशऋषि के केवल एक रोम का ह्रास होता है। क्या कोई बता सकता है कि लोमशऋषि के शरीर पर कितने रोम हैं? जिस प्रकार यह संख्या कल्पनातीत है, उसी प्रकार लोमश परिच्छिन्न कल्प संख्या भी अनंत है। अनंत काल की व्यंजना को अक्षुण्ण रखते हुए उसको शांत मूर्ति में प्रकट करने के लिये ही लोमश की सृष्टि भारतीय उपाख्यान लेखकों ने की। इस प्रकार सीमित वस्तु के द्वारा अनंत वस्तु का ग्रहण कराने में यहाँ के लेखकों ने अपूर्व कौशल प्राप्त कर लिया था। जिस प्रकार सहस्र-शीर्षा कहकर भी ब्रह्म की अनंतता का ही बोध होता है, उसी प्रकार लोमशऋषि को समय का मूर्तिमान् स्वरूप बताकर भी काल-चक्र की अनंतता ही प्रकट होती है। इस प्रकार भूत और भव्य उपाधिवाले नाम रूपात्मक जगत् (अन्न) को तथा उससे अवशिष्ट अमृत को सहस्रशीर्ष पुरुष ही अधिष्ठित करता है।

यह जो जगत् दिखाई पड़ता है, वह सब उसी पुरुष की महिमा है। लेकिन पुरुष इतना ही नहीं है, वह इससे बहुत बड़ा है।

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः;
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। (पुरु०)

यह समस्त चराचर जगत् (विश्वा भूतानि) उसके केवल एक पाद के बराबर है। उसका त्रिपाद अर्थात् तीन चौथाई भाग अमृत होकर द्युलोक में स्थित है। उच्छिष्ट पद उत्+शिष्+क्त से बनता है। ब्रह्म का जो शिष्ट भाग है, वह उत् अर्थात् ऊर्ध्व स्थान में स्थित है। इसलिये इस मंत्र में अमृत का अधिष्ठान द्युलोक बताया गया है। जो अंश सृष्टि के नियमों के भीतर आ गया है, वह घनीभूत होकर नीचे जम जाता है; और जो उससे अतिरिक्त है (अतिरोहति) वह दिव्लोक में है। सृष्टि के बाद ही पुरुष में अमृत और अन्न की कल्पना हो सकती है, इसी से पूर्व अवस्था के लिये वेद ने नासदीयसूक्त में 'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि' कहा है। दूसरा मंत्र इसी ऊर्ध्वगमन और अधःसमीकरण रूप क्रिया की ओर और स्पष्ट संकेत करता है—

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोस्येहाभवत्पुनः;
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि।

अर्थात् त्रिपाद पुरुष ऊपर गया और उसका एक चतुर्थांश यहाँ ही हो रहा। उसी एक पाद से दो प्रकार के पदार्थ उत्पन्न हुए (व्यक्रामत्=उत्क्रांत हुए) साशन और अनशन। स+अशन=साशन (Organic) अर्थात् जो दूसरे पदार्थों को अपने शरीर में खींच कर उनको अपने रस में परिवर्तित कर वृद्धि को प्राप्त होते हैं। न+अशन=अनशन (Inerganic) अर्थात् जड़ पदार्थ जो रस-ग्रहण करके आत्मवृद्धि नहीं करते। जगत् में ये ही दो प्रकार के पदार्थ हैं। इस सचराचर जगत् की स्थिति पुरुष के एक अंश में ही है, जैसा कि गीता में कहा है—

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्। (१०४२)।

अर्थात् मैं इस संपूर्ण जगत् को अपनी योग-माया के एक अंश-मात्र से धारण करके स्थित हूँ।

तथा—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। ११। ७।

इस मेरे शरीर में एक जगह स्थित हुए चराचर-सहित संपूर्ण जगत् को देखो।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा । (११ । १३)

अर्जुन ने उस समय अनेक प्रकार से विभक्त हुए संपूर्ण जगत् को देवों के देव कृष्ण के विराट् शरीर में एक जगह स्थित देखा ।

चार कलायुक्त ब्रह्म के पादों की चर्चा छांदोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के ५, ६, ७, ८ खंडों में दी हुई है । प्राचीदिक्, दक्षिणदिक्, प्रतीचीदिक् और उदीचीदिक्, पृथ्वी, अंतरिक्ष, दिव् और समुद्र, अग्नि, सूर्य, चंद्र और विद्युत्, तथा प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन—ये क्रम से चार-चार कलावाले ब्रह्म के चार पाद हैं । इस प्रकार संपूर्ण पुरुष की सोलह कलाएँ हैं । उसकी कलाओं के एकत्र समवाय से उसमें पूर्णता लक्षित होती है । षोडशकलात्मक चंद्र जिस प्रकार पूर्ण-बिम्ब के साथ प्रकाशित होता है, वैसे ही इस जगत् में प्रतीयमान ब्रह्म भी पूर्ण है ; उसमें कहीं न्यूनता नहीं है । यही संसार की अनंतता है । वस्तुतः ब्रह्म की विभूतियों का और कलाओं का अंत नहीं है । छान्दोग्य उपनिषद् के तीसरे अध्याय के १८वें खंड में भी ब्रह्म के पादों का निर्वचन है । उसमें वाक् प्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्हें आध्यात्मिक पाद और अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा इन्हें आधिदैविक पाद कहा है । ये सब कथन उपलक्षण-मात्र हैं । ब्रह्म के जिस भाग में यह जगत् है, वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, परंतु उसको एकत्व की संख्या से विशिष्ट करना ही होगा, क्योंकि एक से कम गिनती से वाच्य कोई पदार्थ हो नहीं सकता । आधा भी एक की सापेक्षता रखता है, जो आधा है, वह स्वयं एकत्व विशिष्ट है । इसीलिये एकांशेन स्थितं जगत्, आदि वाक्यों में जगत् को 'एक' अंश या चरण या पाद में स्थित बताया जाता है । जितना छोटा यह अंश होगा, ब्रह्म की उतनी ही महिमा प्रकट होगी । जितना कम अन्न परिभुक्त होता है, उच्छिष्ट उतना ही अधिक बचता है । इस प्रकार एक ओर शेष है और दूसरी ओर जगत् या ब्रह्म का विष्णुरूप है । वह जगत् शेष की तुलना में एक बिंदु-मात्र है—

ब्रह्माण्डकुम्भकारं भुजगाकारं जनार्दनं नौमि ;
स्फारे यत्फणाचक्रे धरा शरावश्रियं वहति ।

ब्रह्म ही जब उत्क्रांत होता है, तब ब्रह्मांड की उत्पत्ति होती है, उस ब्रह्मांडरूपी भांड का कर्ता या कुंभकार वह ब्रह्म ही है, वही शेष और अनंत है । उसी के आश्रय से यह अंडरूपी धरा स्थित होती है । इसीलिये कहा कि उसी शेष के फण-समूह के विस्तार पर यह धरा एक मिट्टी के सकोरे के समान जान पड़ता है । अर्थात् शेष इतना बड़ा और धरा उसकी तुलना में इतनी छोटी है । यहाँ छोटा बड़ा शब्द सापेक्ष्य हैं, अन्यथा न कोई शेष का ही पार पा सकता है, न जगत् का ही । शेष के विषय में विज्ञान की पहुँच नहीं है, परंतु जगत् को उसे भी अनंत मानना पड़ा है । विस्तार की दृष्टि से अनंतता का एक उदाहरण यह है कि जब से सृष्टि बनी है, तब से कुछ नक्षत्रों का प्रकाश १ लाख ८६ सहस्र मील प्रति सेकंड की दुर्धर्ष गति से हमारी पृथ्वी की ओर आ रहा है और अभी न-जाने कब पहुँचेगा । सूक्ष्मता में गुप्त अनंतता अणुओं के आंतरिक निर्माण को देखने से प्रकट होती है । जिस प्रकार अंतरिक्ष में सूर्य-मंडल है, उसी प्रकार प्रत्येक परिमाणु की कुक्षि में सूर्य-मंडल के सदृश गतिशील अनंत अवयवों का संस्थान है ।

पर एक दृष्टि से जगत् सांत है । जिस प्रकार वृत्त की परिधि पर सहस्रों वर्षों तक घूमते रहने पर भी हम उसका आदि-अंत नहीं पा सकते; परंतु वृत्त से बाहर भी किसी बिंदु की कल्पना नहीं कर सकते, ठीक वैसे ही यह जगत् है । एक चींटी यदि किसी अंडाकार वस्तु पर घूमने लगे, तो वह किसी तरह उसके बाहर नहीं आ सकती, यही उसकी सांतता है । यदि निर्मित जगत् अंडाकार न होता, तो ब्रह्म के भीतर उसका अधिष्ठान हो ही नहीं सकता था । प्रकृति में कहीं सीधी रेखाओं के लिये स्थान नहीं है, क्योंकि सीधी रेखाओं से बनी हुई वस्तु में हमें कोण मिल सकता है और कोण का बिंदु ही वस्तु को सीमित बना देता है । जगत् का ब्रह्मांड नाम ही उसके इस सांत और अनंत दोनों लक्षणों की ओर संकेत करता है । परिधि-व्यास यह जगत् चारों ओर से उसी अनंत उच्छिष्ट पुरुष से घिरा हुआ है, इसका निरूपण पुरुषसूक्त में ही इस प्रकार है—

स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।

वह सहस्रशीर्ष पुरुष इस भूमि को सब ओर से घेरकर ठहरा हुआ है । उसकी स्थिति को बतानेवाला 'दशांगुलम्' पद है । यह एक अत्यंत सरल निदर्शन की रीति

है। दोनों हाथों की दस अँगुलियों को एक साथ मिलाकर जो गोलाकृति बनती है, उसकी तरह जो ब्रह्मांड, उसको वह शेष घेरे हुए है। गोल वस्तु का परिज्ञान कराने के लिये हम स्वयं इसी प्रकार दोनों हाथों की उँगलियों को मिलाकर कहा करते हैं कि 'इस प्रकार घेरा हुआ है' इससे यह प्रकट हुआ कि शेष ने भूमि को चारों ओर से व्याप्त कर रक्खा है। अब यह देखना चाहिए कि उनकी स्थिति में कुछ व्यवधान है, या एक दूसरे से बिलकुल सटे हुए हैं। ज्येष्ठ ब्रह्म के सूक्त में अथर्ववेद ने इसको स्पष्ट करके कहा है—

अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् विद्वान्भूतमुतभव्यमस्य॥(१०।८।१२)

(अनन्तं) जिसका अंत नहीं है, ऐसा ब्रह्म—शेष—(पुरुत्रा=सर्वत्र, विश्वतः) चारों ओर (विततं) फैला हुआ है। (अनन्तं) अंत-रहित ब्रह्म (अन्तवच्च) और सांत ब्रह्म ये दोनों (समन्ते) पास-पास मिले हुए हैं। (ते) उन दोनों को (विचिन्वन्) अलग-अलग जाननेवाला, तथा (भूतमुतभव्यमस्य विद्वान्) सांत जगत् को भी जाननेवाला (नाकपालश्चरति) आनंद करता है।

ज्येष्ठसूक्त के पुरुत्रा को पुरुषसूक्त में विश्वतः और यजुर्वेद में सर्वतः कहा है। भूतमुतभव्यं को पुरुषसूक्त में भी सांत जगत् के लिये ही प्रयुक्त किया है, यथा—

पुरुष एवेद ꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।

भूत और भव्य की उपाधि जिसमें लगी हैं वह सृष्टि भी पुरुष ही का स्वरूप है। पर वास्तविक सहस्रशीर्ष पुरुष कहीं अधिक बड़ा है। जगत् की उत्क्रांति से ब्रह्म को दो नाम प्राप्त होते हैं। पहला नाम उच्छिष्ट है। उच्छिष्ट, उच्छेष, शेष—सब एक ही भाव के द्योतक हैं। बिना सृष्टि के ब्रह्म की उच्छिष्ट उपाधि नहीं हो सकती। सृष्टि के साथ ही ब्रह्म की विष्णु संज्ञा हो जाती है। यही ब्रह्म का सृष्टि के संबंध में दूसरा नाम है। जब तक पुरुष अकेला रहता है, तब तक उसमें व्याप्य-व्यापक-भाव नहीं रहता। जब ब्रह्मांड बनता है, तभी उस अंड में व्यापनशील गुण के कारण ब्रह्म को विष्णु कहते हैं। यह सृष्टि विष्णु है। इसको अनंत का आधार है। अनंत शेष का ही दूसरा नाम है—

अनन्तः केशवे शेषे पुमानिरवधौ त्रिषु। मेदिनी। सब कोशों में अनंत नाग और शेषनाग पर्यायवाची शब्द हैं। इसीलिये कहते हैं कि विष्णु शेष के आधार पर रहता है, या शेष की शय्या कल्पित करके सोता है। अर्थात् विष्णु शेषशायी है। विष्णु का नाम केशव और नारायण भी है। जो केशव का अर्थ है, वही नारायण का भी है। के जले शवतिगतिकर्मा केशवः। नारायण की व्युत्पत्ति तो मनुस्मृति के अनुसार प्रसिद्ध ही है—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः;
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः *। (१।१०)

आप् संज्ञा अव्यक्त प्रकृति की है। वह पुरुष से उत्पन्न होती है, इसलिये उसको नारा कहते हैं। इस समय दृष्टिगोचर होनेवाला जो जगत् है, वही महत्तत्त्व है। उसका पूर्व अयन-अधिष्ठान वही अव्यक्त प्रकृति या आप् या नार या क्षीरसागर है। यह विष्णु नामक ब्रह्मांड उसी क्षीरसागर के अंदर शयन करता रहता है, उसका आधार शेष या अनंत ब्रह्म रहता है। कल्पनांत में वह विष्णु लोकों का संहार करके अपनी योग-निद्रा के आधीन हो, अव्यक्त प्रकृति अर्थात् क्षीरसागर में शयन करते हैं। जब सृष्टि बनती है, तब इसी विष्णु की नाभि से कमलयोनि ब्रह्मा का जन्म होता है। उपबृंहण-शक्ति का नाम ब्रह्मा है। नाभि किसी वस्तु का मध्यबिंदु है। विज्ञान के अनुसार जितने फोर्स किसी अन्य वस्तु पर आघात करते हैं, अथवा उससे निकलते हैं, वे सब उसके सेंटर या मध्यबिंदु या नाभि पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। इसीलिये विष्णु पुरुष जब सृष्टि का उपबृंहण करना चाहता है, प्रलयांत में जब उस ब्रह्मात्मक फोर्स का जो प्रलय-काल में संहृत था, या अंतर्मुख था, विस्तार या बहिर्निक्षेप होता है, तब वह ब्रह्मा विष्णु को नाभि से ही प्रसूत होता है। यह बात गणित और विज्ञान से सम्मत है। कल्प और प्रलय का चक्र नियत है। जितनी अवधि का कल्प होता है, उतने ही वर्षों की प्रलय होती है। कल्प (Cosmos) की अथर्ववेद के अनुसार ४,३२,००,००,००० वर्ष (अ० ८, सू० २, मं० २१) की है।

---

*ततः स्वयम्भूर्भगवान् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्। २७।
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः।२८। हरिवंश(१।१)

यह भी वैज्ञानिक नियम है कि स्पंदन क्रिया का अंतर्मुख और बहिर्मुख काल या अंतर्निक्षेप और बहिर्निक्षेप समय तुल्यावधिक होता है। इस प्रकार अनंत समय से यह स्पंदन हो रहा है और अनंत काल तक होता रहेगा। इसका बहिर्निक्षेप हमारी सृष्टि है, इसकी अंतर्मुखी प्रतिक्रिया प्रलय है। यदि वायु में हम कोई स्पंदन करते हैं वह उसके घनांश से रुक-रुककर कुछ देर में बिलकुल रुक जाता है। जितना ही तरल और सूक्ष्म पदार्थ होगा, उतना ही स्पंदन देर तक होता रहेगा। यहाँ तक कि यदि एक बार क्रियाशील हुए वेग को उद्घात न मिले, तो वह कभी नहीं रुकेगा, इस सृष्टि में हम कितनी भी सूक्ष्म वस्तु की कल्पना करें, उसमें किसी न किसी प्रकार का गति-उद्घात अवश्य रहता ही है। सृष्टि और प्रलय का स्पंदन ब्रह्म में उसके मन के वीर्य से होता है अर्थात् शुद्ध ज्ञानस्वरूप की इच्छा ही इसकी प्रवर्तक है। ब्रह्म में स्थूलता की तो गति क्या सूक्ष्मता की कल्पना के लिये भी स्थान नहीं है। इसलिये सृष्टि और प्रलय का चक्र जो अनादि काल में चला आता है अनंत समय तक चलता रहेगा, उसका उद्घात कभी नहीं हो सकता। इसी को मनु ने 'काल' कालेन पीडयन्, लिखा है, अर्थात् प्रलय के अनंतर सर्ग और सर्ग के अनंतर प्रलय होना अवश्यंभावी है। जब प्रलय होती है, तब विष्णु के उपबृंहणात्मक स्वरूप का संकोच होता है। काव्य में इसी को इस प्रकार कहा है—

> नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ;
> अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते ।

अर्थात् सृष्टि के समय पुरुष की नाभि से उद्गत जो अम्बुरुह (कमल) उसके आधार से स्थित प्रथम धाता ब्रह्मा प्रजापति रूप—वह विष्णु के उपबृंहणतत्त्व की प्रथम उत्क्रांति है, वही पुनः उत्क्रांत होकर दक्षादि प्रजापतियों को उत्पन्न करता है। युगांत में सृष्टि-स्वरूप से स्वरूप में विलीन होती हुई अंत में प्रथम धाता की अवस्था तक पहुँच जाती है। वह पितामह भी विष्णु पुरुष की मानो आनंद और आश्चर्य से स्तुति करता हुआ उसी में निलीयमान हो जाता है। ऐसा पुरुष कल्पांत काल में अव्यक्त प्रकृति रूप क्षीरसागर में सो जाता है। आत्मवृत्तियों का सहस्ररूपेण निरोध होने से वह उसकी योग-निद्रा की अवस्था कही गई है। इस विष्णु पुरुष की उत्क्रांति के दार्शनिक तत्त्व को कलाविदों ने कमल के रूप में प्रकट किया है। कमल की संज्ञा कोश में कुशेशय (कुशे जले शयः) है, विष्णु भी केशव (के जले शयः) और नारायण (नाराः अजानि तत्र अयनं यस्य) कहा गया है। क नाम विराट् हिरण्यगर्भ का है। उसी के अंदर विष्णु जन्म लेता है—

> ततो विराडजायत विराजोऽधिपूरुषः ; पुरुषसूक्त ।
> तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ;
> तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः । (मनु०)

इसलिये वह क नामक हैमांड जिस वैराज पुरुष का धारण करता है, वही कमल (मल धारते) है। उसकी शक्ति कमला और उससे प्रसूत ब्रह्मा कमलासन या कमल-योनि रूप में कला में अभिव्यक्त किया जाता है। उस अवस्था में जहाँ असत् के अंदर सत् पुरुष विष्णु का जन्म हुआ, अर्थात् जहाँ अव्यक्त प्रकृति की हिरण्यगर्भ रूप दूसरी अवस्था थी, वहाँ जल के आधार से ही ठहरनेवाले प्रसून की कल्पना करके कलाविज्ञों ने अपनी अलौकिक बुद्धि का परिचय दिया। कला भावों को व्यक्त करने के लिये निर्देशात्मक चिह्नों और उपलक्षणों का आश्रय लेती है। एक इतनी महत्त्व-पूर्ण कोटि-कल्पना को शेषशायी विष्णुभगवान् के रूप में प्रकट करना एतद्देशीय कला-दार्शनिकों की अपूर्व विजय है। जिस प्रकार नटराज शंकर की सृष्टि और प्रलय के नृत्य में युगपद् व्यस्त प्रतिमा कला-जगत् में बेजोड़ है, उसी प्रकार सहस्र शीर्षवाले अनंत शेष पर शयन करते हुए विष्णु की कलात्मक अभिव्यक्ति भी अतुलनीय ही है। शेष नाग के सहस्र फन बताए जाते हैं। हमारा अनंत पुरुष भी सहस्रशीर्ष है। देखना यह है कि उस अनंत पुरुष को चित्र में किस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है। अनंत वस्तु सीधी रेखा से प्रकट नहीं हो सकती ; क्योंकि सीधी रेखा का कहीं अंत होता है। हम जानते हैं कि वृत्त की परिधि ही अनंत का उपलक्षण हो सकती है, क्योंकि वृत्त की परिधि ही स्वयं आदि-अंत-रहित है। अनंत उच्छिष्ट ब्रह्म को प्रकट करने के लिये नाग की आकृति का आश्रय लिया गया, जो कुंडली मारकर बैठते हैं।

यह केवल समझाने के लिये इस प्रकार बनाया गया है, कला की दृष्टि से इसका अत्यंत अभिराम चित्रण हमारे देश में हो चुका है। शेष का वास्तविक स्वरूप

भागवतपुराण में बड़ा अच्छा दिया हुआ है। महाभारत आदिपर्व ३६ वें अध्याय में शेष के पृथ्वी धारण की कथा है। वहाँ शेष को नागराज कहा गया है और उनकी संज्ञा अनंत भी दी हुई है। उस प्रकरण में शेष के सर्पात्मक रूप पर ही विशेष गौरव दिया गया है और नागों की कथा के प्रसंग में उस प्रकरण को रक्खा गया है। संभव है नाग जाति के किसी राजा का नाम शेष होने से उच्छिष्ट ब्रह्म की शेष-रूप-कल्पना और नागराज शेष इन दोनों में एकात्मकता कर दी गई हो। श्रीमद्भागवत के पाँचवें स्कंध के २५ वें अध्याय में (भूविवरविष्णुप-वर्णननामकाध्याय) जो शेष अनंत की स्तुति है, उससे शेष के स्वरूप जानने में तनिक भी संदेह नहीं रहता।

जब इन लोकों का संहार का समय आता है, तब उस संजिहीर्षा के फल-स्वरूप परमात्मा का संकर्षण रुद्र * रूप प्रकट होता है। पृथ्वी के नीचे पाताल में भगवान् की तामसी कला की संज्ञा अनंत है। उसी को सात्वती (सत्वत् शेषरूप बलराम से संबंध रखनेवाली) और संकर्षण भी कहते हैं; क्योंकि वह लोकों को अपने अंदर संकृष्ट करती है। और भी—

यस्येद क्षितिमण्डलं भगवतोऽनन्तमूर्तेः सहस्रशिरस एकस्मिन्नेव शीर्षणि ध्रियमाणं सिद्धार्थ इव लक्ष्यते।

अर्थात् उस अनंत सहस्रशीर्ष पुरुष के एक ही सिर पर रक्खा हुआ यह पृथ्वी-मंडल सरसों (सिद्धार्थ) की तरह दिखाई पड़ता है। इतना महान् (ज्यायान्) वह पुरुष और इतना सूक्ष्म यह 'भूत भुवन और भविष्य' एक पाद है, जिसमें विश्व-प्राणी समाए हुए हैं।

और भी—

स एव भगवाननन्तोऽनन्तगुणार्णव आदिदेव उपसंहृतामर्ष-रोषवेगो लोकानां स्वस्तय आस्ते। ध्यायमानः सुरासुरोरगसिद्ध-गन्धर्वविद्याधरमुनिगणैः... । य एष एवमनुश्रुतो ध्यायमानो मुमुक्षूणामनादिकालकर्मवासनाग्रथितमविद्यामयं हृदयग्रन्थि सत्त्वरजस्तमोमयमन्तर्हृदयं गतआशुनिर्भिनत्ति तस्यानुभावान्भ-गवान्स्वायम्भुवो नारदः सह तुम्बुरुणा सभायां ब्रह्मणः संश्लोकयामास।

उत्पत्तिस्थितिलयहेतवोऽस्यकल्पाः सत्त्वाद्याः प्रकृतिगुणा यदीक्षयासन्।

यद्रूपं ध्रुवमकृतं यदेकमात्मन्नानाधात्कथमु ह वेद तस्य वर्त्म।

अर्थात् प्रलय में जिसका संकर्षण नाम रुद्र रूप हो जाता है, वही सर्ग-अवस्था में अनंत गुण-सागर आदिदेव अनंत भगवान् अपने अमर्ष और रोष को रोककर लोकों के कल्याण के लिये स्थित रहता है। देवता, असुर, नाग, सिद्ध, गंधर्व, विद्याधर और मुनिजन उसका ध्यान करते, जो अनंत पुरुष इस प्रकार श्रुति अर्थ और ध्यान से प्रकाशित होकर मुमुक्षुओं के सत्त्व, रज और तमयुक्त अंतःकरण में प्रवेश करके अनादिकाल से कर्मवासना के कारण पड़ी हुई हृदय की गाँठ को तुरंत खोल देता है, उसकी महिमा दुरंतवीर्य और अमितप्रभाव को नारद, तुंबरु और गंधर्व के साथ ब्रह्मा की सभा में गाते हैं। वेदों के प्रथम ज्ञाता ब्रह्मा के समक्ष साम-विद्या-पारंगत नारद और श्रुतिस्व-राचार्य तुंबरु भगवान् के जिस पुण्य श्लोक का गान करते हैं, वही वेदों की सरस्वती है। श्रुति के अद्वितीय गोप्ता नारद में श्रुति-अर्थ का निक्षेप करके ब्रह्मा मानों निश्चिंत हो बैठे हैं (माघ १।२८)। संसार की उत्पत्ति-स्थिति और लय के हेतु प्रकृति के सत्वादि गुण जिसकी इच्छा से अपने-अपने कार्य में समर्थ होते हैं, जिसका रूप नित्य और अकृत (अनादि) है, जो अकेला ही सब प्रपंचों को धारण किए हुए है—उसके मार्ग को कौन जानता है? (भागवत ५।२५)

अनंत के इस स्वरूप को पढ़कर कौन शेष को साँप मानने की भ्रांति में रह सकता है? जिसके दर्शन से हृदय की ग्रंथि छूट जाती है (निर्भिनत्ति हृदयग्रन्थि—भा०। भिद्यते हृदयग्रन्थिः...तस्मिन्दृष्टे परावरे।—मुंडक उ० २।२।८) उस परावर से (परावरसर्वपरिच्छेत्ता, सबको अपने भीतर रखनेवाले) ज्ञानी लोग अनंत ब्रह्म को ही समझते हैं। वह अनंत सृष्टि से पूर्व निष्कल रहता है, अर्थात् जिसमें व्यक्त प्रकृति के उद्भव के लिये कला का प्रादुर्भाव नहीं होता, वह असंविभक्त रहता है। ब्रह्म की वह सदसदात्मक अवस्था को हरिवंश में अदक्षिणा (३।१६।२) कहा है। दक्षिणा-कर्म यज्ञ का उपलक्षण है, असत् पूर्ववर्ती ब्रह्म में सृष्टि-यज्ञ की क्रिया स्तब्ध रहती है। इसीलिये उत्क्रांति का वर्णन करते समय पुरुषसूक्त ने ब्रह्म के यज्ञ का वर्णन किया है—

* भागवत में संकर्षणरुद्र को अभिमान लक्षण कहा है। लंकाकांड में मंदोदरी के मुख से विराट्-स्वरूप का वर्णन कराते समय तुलसीदासजी ने भी शिव को अहंकार-रूप लिखा है। 'अहंकार-सिव बुद्धि अज ...।'—लेखक

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।

उस पुरुष को ही हवि कल्पित करके इंद्रादिक सात देवों ने यज्ञ किया । अर्थात् वे सातों शक्ति के रूप जिनका ऊपर वर्णन हो चुका है, पुरुष में से ही यज्ञ-रूप सृष्टि का विधान या जगत् का निर्माण करने लगे । वसंत, ग्रीष्म और शरद् को लेकर उन्होंने संवत्सरात्मक सत्र की कल्पना की । इसी सत्र के चक्रवत्परिवर्तन से बार-बार प्रकृति जन्म लेती और संहृत होती है । उसका क्रम इस प्रकार है—(१) शुद्ध चैतन्य (स्कंभ); (२) माया शबल (अव्यक्त प्रकृति, अहंकार); (३) सूत्रात्मा (बीज वीर्य, कर्मवासनायुक्त); (४) विराट् (हैमांड); (५) पुरुष ।

हिरण्यवर्णमभवत्तदण्डमुदके शयम् ।
तत्र जज्ञे स्वयं ब्रह्मा स्वयम्भूरिति निःश्रुतम् । २६ ।
हिरण्यगर्भो भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ;
तदण्डमकरोद्द्वैधं दिवं भुवमथापि च । ३० (हरि० १ । १)

हिरण्यवर्ण अंड का, जिसे हेकल ने संभवतः नेबुला के नाम से पुकारा था, हमारे सब ग्रंथों में वर्णन है । वह अंड उदक नाम अव्यक्त प्रकृति के अंदर स्थित था । उस अंड के भीतर प्रजापति भगवान् ने जन्म लिया । तदनंतर संवत्सर की उत्पत्ति हुई । और वह अंड बनने के बाद दो भागों में विभक्त हुआ—पश्चाद्भूमिमथो पुरः—द्युलोक और भूमि । उसमें रयि और प्राण नामक दो प्रजनन की शक्तियाँ कार्य करने लगीं । इसी हिरण्यांड को पौराणिकों ने बड़ा भारी कमल कहा है—

सहस्रपत्रं विरजो भास्कराभं हिरण्मयम् ;
पद्मं नाभ्युद्भवं चक्रे समुत्पादितवांस्तदा ।
हुताशनं ज्वलितशिखोज्ज्वलत्प्रभं सुगन्धिनं शरदमलार्कतेजसम् ।
विराजते कमलमुदारवर्चसं महात्मनस्तनुरुहं च सुदर्शनम् ।
(हरि० ३ । ११)

अर्थात् ब्रह्मा की उत्पत्ति का समय होने पर सूर्य के समान प्रकाशवान्, हिरण्यवर्ण का, रजोगुण विहीन एक अत्यंत तेजस्वी उस विष्णु पुरुष की नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ । इस कमल को सहस्र दलवाला कहा है । सृष्टि के अवतार के लिये तेजस्वी हैमांड अपनी अनंत (सहस्र) ज्वालाओं को चारों ओर छिटकाने लगा । उसी अवस्था को कमल का नाभि से उद्गम होना लिखा है । यह पुराणों के दर्शन-विज्ञान के पारिभाषिक शब्द हैं और इसी दृष्टि से इनको ग्रहण करना चाहिए ।

ऊपर ब्रह्म, अनंत, शेष, विष्णु, नाभि और कमल के विषय में यथेष्ट कहा जा चुका है । अब हम अनंत चतुर्दशी व्रत का लौकिक स्वरूप दिखाकर इस लेख को समाप्त करेंगे ।

भाद्रपद मास की शुक्लपक्ष की चतुर्दशी को लोक में अनंत चतुर्दशी व्रत करते हैं । यह व्रत पूर्णमासी संयुक्त चतुर्दशी में करना लिखा है । यदि चतुर्दशी के दिन पूर्णिमा का योग हो, तो चतुर्दशी को व्रत का विधान है; और यदि पूर्णिमा को उदयकाल में चतुर्दशी आ जाय, तो फिर व्रत पूर्णिमा को होना चाहिए । पुरुष के कितने अंश में यह लोक है, इसी वैदिक और औपनिषदिक कल्पना को पक्ष की तिथियों द्वारा बताया गया है । हम देख चुके हैं कि शेष और जगत् का अनुपात सब लाक्षणिक-मात्र है, वस्तुतः कोई नहीं कह सकता कि अनंत के कितने अंश से ब्रह्मांड बना है । पुरुषसूक्त में त्रिपादः एक पाद का वर्णन है । स्कम्भसूक्त पूछता ही रहा कि ब्रह्म के किस अंग में तप, श्रद्धा, सत्य, ऋत, अग्नि, वायु, चंद्रमा, भूमि, अंतरिक्ष, द्युलोक आदि प्रतिष्ठित हैं । यथा—

कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम् ;
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः ।

अंत में वहाँ ऋषि ने कह दिया है कि जिस असत् नाम अव्यक्त प्रकृति से इंद्र, अग्नि, सोम, सविता, विश्वेदेव, मित्रावरुण, बृहस्पति, दक्ष आदि देव उत्पन्न हुए हैं, वह ब्रह्म का एक अंग ही है ।

बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परिजज्ञिरे ;
एकं तदंग स्कम्भस्यासदाहुः परोजनाः ।

ज्येष्ठ ब्रह्म के सूक्त में यह अनुपात कतमः प्रजापतिः : : पूर्णः अर्ध कहा गया है—

अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः सकेतुः ।

उपनिषद् में इसे 'पूर्णः' पूर्ण कहा गया है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ;
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।

अर्थात् वह ब्रह्म पूर्ण है, यह जगत् पूर्ण है । पूर्ण से पूर्ण निकलता है । पूर्ण में से पूर्ण निकाल लेने पर शेष पूर्ण ही रहता है । अज्ञेय अनंत अवस्था का दिग्दर्शन कराने की कैसी सुंदर युक्ति है ।

गीता में इसे पुरुषः जगत् : : पुरुषः एकांश कहा है। अनंत व्रत की तिथि-निर्णय के हिसाब से यह अनुपात यों है—

अनन्त : जगत् :: चतुर्दशः पूर्णिमा तिथिः ?

भाव यही है कि अनंत को अधिक भाग देकर जगत् के लिये थोड़ा अंश रखते हैं। गणित से जहां तक संभव है वहीं तक अनंत के वाचक को बढ़ाकर जगत् के अंश को घटाते हैं। इसीलिये यदि पूर्णिमा को भी उदय में चतुर्दशी हो, तो अनंत व्रत पूर्णिमा को ही विधेय है।

चौदह इंद्र, द्वादश आदित्य, अष्ट वसु और एकादश रुद्रों का जो अनयिता है, सप्तसागर, पर्वत, नदी, वन, लोक, लोकांतरों का जो कर्ता है, उसी शुद्ध चैतन्य केवलात्मा की उपासना, ध्यान और विज्ञानमयी भक्ति के लिये अनंत व्रत की प्रणाली है। यद्यपि अनंत संसार-सागर से मोक्ष पाने के लिये सदा ही अनंत विष्णु के ध्यान और मनन कर्तव्य हैं, तथापि वर्ष के मध्य में उसके निमित्त एक पर्व रखना और सब कार्य बंद करके अनंत ही के स्वरूप पर दार्शनिक विचार करना यह इस देश के समाज-प्रवर्तकों की अपूर्व दूरदर्शिता का सूचक है। उत्सव और पर्व क्यों चलाये जाते हैं? यदि इन कारणों का विवेचन समाज-शास्त्र की रीति से किया जाय तो भी अनन्त एक विलक्षण पर्व ठहरता है। कृष्णाष्टमी और रामनवमी महापुरुषों की जयंतियाँ हैं। विजयादशमी, दीपमालिका आदि ऋतु विशेष तथा वर्ण-विशेष तथा पुरुषार्थ विशेष के त्योहार हैं। गंगा-स्नान एक सामाजिक मेला है। इन सबसे विचित्र अनंत व्रत एक चौथे ही प्रकार का पर्व है। यह व्रत चौदह वर्ष में पूर्ण होता है। त्रयोदशी के दिन एकभुक्त होकर चतुर्दशी को उपवास करके वेद के पुरुषसूक्त का विचार करे। विद्वान् पंडितों को बुलाकर पुराणों से अनंत के स्वरूप का माहात्म्य सुने। अपने आचार्य या ऋत्विज् को एक स्वर्ण-शृङ्गी, रजतखुरा, ताम्रपृष्ठी, कांस्यदोहनी, रत्नपुच्छी सवत्सा गौ का दान देना चाहिए। इस प्रकार सामाजिक आचार की प्रतिष्ठा करने से विद्वान् लोग आर्थिक चिंता से मुक्त हो जाते हैं। जो लोग अनंत की प्रतिमा बनाते हैं, उनके लिये पुरुषसूक्त के सोलह मंत्रों से क्रमशः षोडशोपचार पूजा की विधि है। 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इस मंत्र से आवाहन; 'पुरुष एवेदं सर्वं' आसन; 'एतावानस्य महिमा' पाद्य; 'त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः' अर्घ; तस्माद्विराट्, आचमन; 'यत्पुरुषेण हविषा' स्नान; 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्' वस्त्र; 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतसंभृतं' यज्ञोपवीत, 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' गन्ध; 'तस्मादश्वा' पुष्प; 'यत्पुरुषं व्यदधुः' धूप; 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' दीप; 'चन्द्रमा मनसो जातः' नैवेद्य; 'नाभ्या आसीदन्तरिक्षं' फल; 'सप्तस्यासन् परिधयः' ताम्बूल; 'यज्ञेन यज्ञमयजंत' दक्षिणा।

जो निर्धन हैं वे यथा सामर्थ्य अन्न लेकर एक चौथाई से अपना भरण करें, और शेष किसी पात्र को दान दे दें। चौदह ग्रंथिवाले अनंत सूत्र को भी लोग भुजा में धारण करते हैं। विष्णु, अग्नि, सूर्य, सहस्राक्ष, ब्रह्मा, इन्द्र, शिव, गणपति, कुमार, चंद्र, वरुण, वायु, पृथ्वी, वसु ये १४ ग्रंथिदेवता एक ही ब्रह्म के नामांतरमात्र हैं। अनंत सूत्र की ग्रंथि यज्ञोपवीत की ब्रह्म-ग्रंथि की तरह सामान्य ग्रंथियों से विलक्षण होती है। उस ग्रंथि के लगाने में यह विशेषता रहती है कि गाँठ के भीतर पोहे हुए सूत्र का छोर नहीं जान पड़ता, और ग्रंथियाँ सर्प कुंडली की तरह लहराती हुई जान पड़ती हैं। अपने देशके देहधार्य आभूषणों में अनन्तवलय एक विशेष आभूषण ही हो गया है; जिसे वाम प्रकोष्ठ में पहनते हैं।

इस प्रकार की पूजा विधि इस व्रत में कर्मकांड के ग्रंथों में लिखी मिलती है। पाठक विशेष विस्तार और फलश्रुति वहाँ ही देख सकते हैं। भविष्योत्तरपुराण में कृष्ण-युधिष्ठिर के संवाद-रूप में एक अत्यंत महत्त्व-पूर्ण बात लिखी है—

युधिष्ठिर उवाच—

कृष्णकोऽयमनन्तेति प्रोच्यते यस्त्वया विभो;
किं शेषनाग आहोस्विदनन्तस्तक्षकः स्मृतः।
परमात्माथवाऽनन्त उताहो ब्रह्म गीयते;
क एषोऽनन्तसंज्ञोऽयं तथ्यं मे ब्रूहि केशव।

युधिष्ठिर ने कहा—'हे कृष्ण! जिसको आप अनन्त कहते हैं, वह क्या शेषनाग या तक्षक है, या परमात्मा अथवा ब्रह्म है; अनंत नामवाला वह कौन है, यह कृपया बताइए।'

यह प्रश्न उन लोगों के लिये है, जो कला के भाव को न जानकर शेष को साँप मानने के भ्रम में रहते हैं।

कृष्ण ने इसका वही उत्तर दिया है, जो गीता के ग्यारहवें अध्याय में विराट्-स्वरूप दिखाते समय अर्जुन से कहा है—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो...लव, काष्ठा, मुहूर्त, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष, युग, कल्प, सृष्टि, प्रलय-काल, नदी, वृक्ष, नक्षत्र, दिशा, भूमि, पाताल, भूर्भुवादि लोक* सब कुछ अनंत ब्रह्म के ही रूप हैं। उसी के लिये कहा है—

नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये सहस्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते सहस्रकोटीयुगधारिणे नमः।

अंत में उस श्रुति महती सरस्वती को प्रणाम है, जो स्वल्प स्थान में निगूढ़ अर्थ का प्रकाश करती है, उन ऋषियों की बुद्धि को प्रणाम है, जिन्होंने पुराणों में शेष की कथा का विस्तार किया; उन कला-कोविदों को प्रणाम है, जिन्होंने शेषशायी विष्णु भगवान् की मूर्ति को प्रत्यक्ष अभिव्यक्त किया, और प्रणाम है उन योरपीय दिग्गजों की बुद्धि को जिन्होंने 'मिस्टिकल इम्मोलेशन ऑव पुरुष' के वास्तविक अर्थ को कभी नहीं समझ पाया।

वासुदेवशरण अग्रवाल

प्रतिध्वनि †

जीवन के सम्मोहन मन के वन के
प्राण-विटप के स्पर्श-करुण कंपन से
हिलते, आपस में खुलकर नयनों में
मिलते हैं प्रतिक्षण जो, शत चयनों में

संचित मधु भर करते औरों को सुमधुर प्रिय
मुग्ध मनोहर लुब्ध क्षुब्ध उद्वेलित सक्रिय,
प्रति मुहूर्त भरते रहते अपनी मृदु प्रतिध्वनि—
सुंदरता में पुष्पवाद्य, आंतरिक शब्द-मणि।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

*'प्रतार्क' पृष्ठ ३८८।—लेखक

† डी० ए० वी० कालेज, कानपुर के कवि-सम्मेलन में सभापति के पद से पठित।—लेखक

गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर

(१)
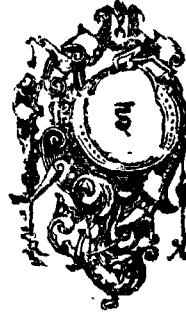
इस पाश्चात्य युग में जब कि चहुँ ओर पाश्चात्य राज्य-पद्धति, शिक्षा-दीक्षा, रीति-नीति, सभ्यता आदि की सर्वतोमुखी प्रभुता प्रसरित हो रही है, गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर (हरिद्वार)-जैसी प्राचीन निःशुल्क शिक्षा-दीक्षा देनेवाली संस्थाएँ भारतवर्ष में अल्पसंख्या में ही दृष्टिगोचर होती हैं—
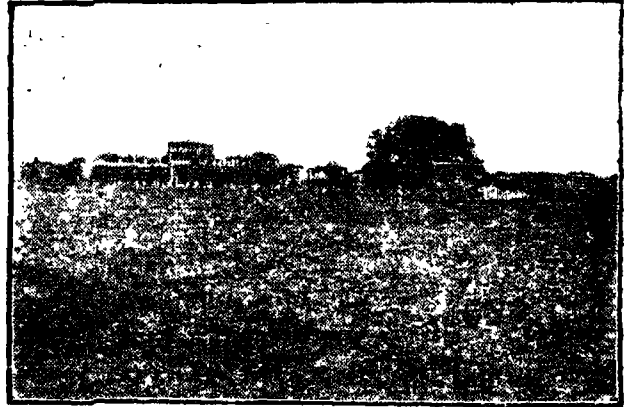
महाविद्यालय का बाहरी दृश्य

काशी, कांची, नदिया तथा मिथिला के कतिपय स्थानों में प्राचीन गुरु-शिष्य परंपरा की आभा देखने को मिलती है, किंतु ब्रह्मचर्याश्रम की प्राचीन पद्धति के आश्रम देखने को नहीं मिलते। संस्कृत-विद्या को जीवित रखने में काशी, कांची, कुंभकोण, पुण्यनगरी (पूना) नदिया, मिथिला आदि प्रदेश के पंडितों का बड़ा हाथ है, नहीं तो राज्याश्रयाभाव, लोकाश्रयाभाव के इस युग में संस्कृत विद्या कभी की विलुप्त हो गई होती। अभी जिन ग्रंथों और विद्याओं की पाठ्यप्रणाली विलुप्त हो गई है, वे ग्रंथ और विद्याएँ लुप्त ही हैं। काल के कराल गाल में कहाँ संस्थित है, विदित नहीं—

आश्रम का भीतरी दृश्य
(महाविद्यालय, ज्वालापुर)

(२)

संस्थापक तथा भूमिदाता

इस संस्था के संस्थापक हैं स्वर्गीय श्रीतार्किक-शिरोमणि स्वा० दर्शनानंदजी सरस्वती । आप आर्य-समाज के प्रसिद्ध परिव्राजक थे । आपने देखा कि निर्धन छात्रों का कहीं भी यथोचित प्रबंध नहीं है, अन्य गुरुकुल खुले हैं, तो उनमें शुल्क का प्रतिबंध है, तब आपने ज्वालापुर के रमणीय उद्यान में सं० १९६४ वि० विजयादशमी के शुभ मुहूर्त पर इस महाविद्यालय की संस्थापना की । ज्वालापुर के प्रसिद्ध दारोग़ा स्व० बाबू सीतारामजी ने यह सुंदरबाग़, जिसमें एक बँगला और कतिपय झोंपड़ियाँ थीं स्वामीजी को दे दिया ।

कई वर्ष पश्चात् बाबूजी ने अपनी समस्त स्थावर संपत्ति (लगभग बीस सहस्र की) महाविद्यालय-सभा को दे दी थी ।

(३)

स्थिर स्थावर संपत्ति

इस प्रकार तीन बीघे ज़मीन और तीन ही छात्र से प्रारंभ की हुई संस्था आज बीस वर्ष पश्चात् एक विशाल संस्था के रूप में परिणत हो गई है । इस संस्था के पास अब तीन-सौ-दस बीघे भूमि है । ब्रह्मचर्याश्रम, शांतिनिकेतन, औषधालय, भोजनालय, आनंदाश्रम, गोशाला, यज्ञशाला, धर्मशाला, अध्यापकों के निवासस्थान आदि मिलाकर सवा लक्ष की स्थावर संपत्ति है । इस महाविद्यालय के पास स्थिर निधि कुछ नहीं है । कभी कुछ बच गया, तो भूमि के ख़रीदने में व्यय किया जाता है, कार्यकर्ताओं का विचार है कि इसी प्रकार भूमि को बढ़ाते रहने से किसी समय महाविद्यालय की स्थिति अत्यंत सुदृढ़ हो जायगी ।

(४)

संस्था कैसे चलती है

यह संस्था कैसे चलती है, इस बात का लोगों को
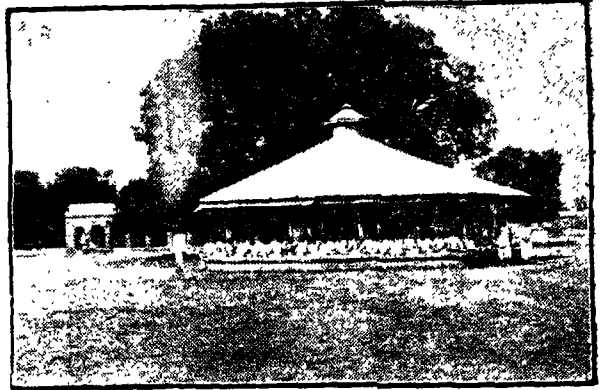
यज्ञशाला
(महाविद्यालय, ज्वालापुर)

वानप्रस्थाश्रम
(महाविद्यालय, ज्वालापुर)

गोशाला (महाविद्यालय, ज्वालापुर)

भोजनशाला
(महाविद्यालय, ज्वालापुर)

औषधालय (महाविद्यालय, ज्वालापुर)
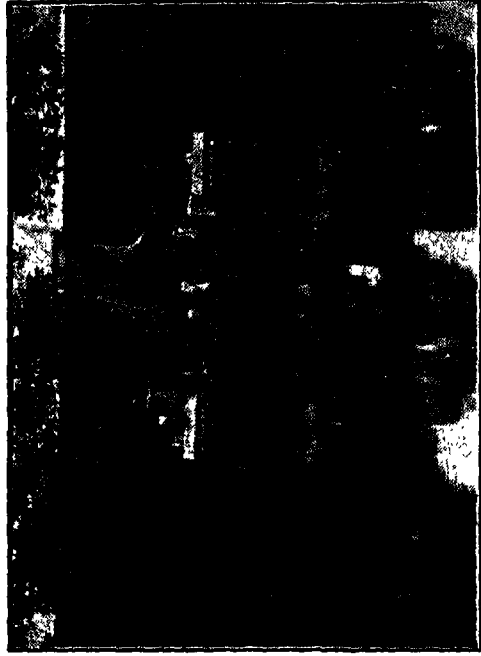
दर्शनानन्द घाट
(महाविद्यालय, ज्वालापुर)

श्रीस्वामी शुद्धबोधतीर्थजी महाराज आचार्य
(महाविद्यालय, ज्वालापुर)

बड़ा आश्चर्य है, किंतु इसके चलते रहने का तत्त्व जान लेने पर आश्चर्य नहीं रहता। पंडित-मंडली ही इस संस्था को प्रमुख संचालिका है, जिसने इस संस्था को इस उन्नत दशा में लाने के लिये असह्य कष्ट सहे। महाविद्यालय के

बैठे (बाईं ओर से)
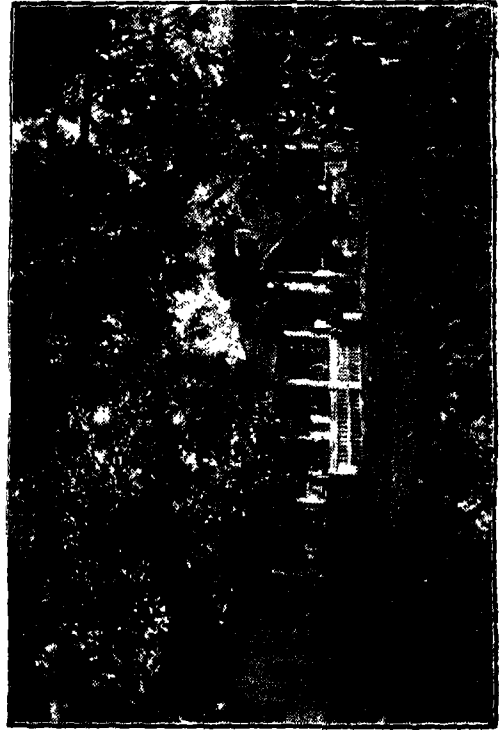
१—पं० काशीनाथ काव्यतीर्थ, २—ब्र० आनंद-प्रकाश नैष्ठिक ब्रह्मचारी, ३—स्वामी शुद्धबोधतीर्थजी आचार्य, ४—पं० पद्मसिंह शर्मा, ५-नरदेव शास्त्री। (खड़े) कतिपय अध्यापक तथा बड़े ब्रह्मचारी,

आचार्य व्याकरणभानु श्री १०८ स्वामी शुद्धबोधतीर्थजी महाराज, साहित्यकाननकेसरी श्री पं० पद्मसिंह शर्मा,

अध्यापक तथा कार्यकर्तृमण्डल
(महाविद्यालय, ज्वालापुर)

दर्शनाचार्य श्री पं० भीमसेन शर्मा मुख्याध्यापक (वर्तमान स्वामी भास्करानंद सरस्वती), वैद्यराज पं० रामचंद्र शर्मा कोशाध्यक्ष (म० वि०), श्री० पं० रविशंकर शर्मा वानप्रस्थी आदि ने इस संस्था को इस प्रेक्षणीय दशा में पहुँचाया। महाविद्यालय के इतिहास में इनके नाम सदैव स्वर्णाक्षरों से चिन्हित रहेंगे।

(४)

महाविद्यालय-सभा

महाविद्यालय की प्रबंधकारिणी-सभा का नाम है महाविद्यालय-सभा, जो कि रजिस्टर्ड है। इसके सभासद् लगभग २५० हैं, जो व्यक्ति एक मुश्त पाँच-सौ अथवा इससे अधिक देते हैं, वे आजन्म सभासद् होते हैं। जो समाज अथवा संघ पाँच-सौ देता है, वह प्रति पाँच-सौ रु० के पीछे एक प्रतिनिधि सदैव भेज सकता है। प्रतिमास एक अथवा वार्षिक १२) रु० देनेवाला व्यक्ति (स्त्री, अथवा पुरुष) साधारण सभासद् कहलाता है।

सब वैदिकधर्मी चाहे वह आर्य-सामाजिक हों अथवा सनातनधर्मी, इस सभा के सभासद् हो सकते हैं। इस तरह से महाविद्यालय-सभा और पंडित-मंडली द्वारा इस गुरुकुल का संचालन होता है।

(६)

इतना धन कहाँ से मिलता है

महाविद्यालय का वार्षिक आय-व्यय लगभग चौबीस सहस्र है, आय के साधन निम्न प्रकार से हैं—

(१) सभासदों का चंदा।

(२) बाहर से मनीऑर्डरों द्वारा आनेवाला दान।

(३) महाविद्यालय के प्रतिदिन के दर्शकों द्वारा दान।

(४) किसान और ज़िमींदारों द्वारा प्रत्येक फ़सल पर अन्न-दान।

(मुख्य भार इन्हीं लोगों पर है)

(५) डेपुटेशनों द्वारा धन-संग्रह।

(६) महोत्सव के अवसर पर प्राप्त दान।

इस प्रकार यह महाविद्यालय-रूपी शकट चलता है।

(७)

पाठ्यप्रणाली

श्रीआचार्य महाविद्यालय, वृक्ष के नीचे पढ़ा रहे हैं

यहाँ अ—आ से लेकर उच्च श्रेणी तक की संस्कृत-शिक्षा दी जाती है। अभी पर्याप्त धन के अभाव से कतिपय विभाग अपूर्ण ही हैं,—प्राचीन और नवीन दोनों पद्धति के ग्रंथ पढ़ाए जाते हैं—योग्यतानुरूप ब्रह्मचारियों को काशी, कलकत्ता, पंजाब की सरकारी परीक्षाओं में सम्मिलित होने की भी अनुमति दी जाती है। जो ब्रह्मचारी यहाँ व्रत-समाप्ति और शिक्षा-समाप्ति करते हैं, उनको विद्या-सभा योग्यतानुरूप उपाधियों को देकर स्नातक बना देती है—अब तक स्नातक, आचार्य, तीर्थ आदि विविध उपाधिधारी ब्रह्मचारी तथा छात्रों की संख्या लगभग डेढ़ सौ हो चुकी है। महाविद्यालय में इस समय छात्रों की संख्या है—लगभग सौ।

८. विद्या-सभा

इस विद्या-सभा में दस सदस्य हैं—

(१) मुख्याधिष्ठाता, (२) आचार्य, (३) पंडित पद्मसिंह शर्मा, (४) श्रीस्वामी भास्करानंदजी, (५) विद्याभास्कर श्रीमान् पं० काशीनाथजी काव्यतीर्थ, (६) श्रीआयुर्वेदभास्कर पंडित हरिशंकरजी वैद्य, (७) श्रीविद्याभास्कर पं० हरिशंकर शास्त्री न्यायतीर्थ, (८) श्रीविद्याभास्कर पं० रामावतार शास्त्री वेदांततीर्थ, (९) श्रीविद्याभास्कर पं० विश्वनाथ शास्त्री न्याय-व्याकरणतीर्थ और (१०) श्रीनरदेव शास्त्री वेदतीर्थ।

(९)

प्रवेश

आठ और दश वर्ष के बीच के ब्रह्मचारी प्रविष्ट किए जाते हैं। प्रवेश-समय है महाविद्यालय का महोत्सव, जो कि होलियों के दिनों में शुक्ल-पक्ष में प्रायः त्रयोदशी, चतुर्दशी और पूर्णिमा के दिन महाविद्यालय के सुरम्य विस्तृत उद्यान में मनाया जाता है। इसके अतिरिक्त जो छात्र नियमानुसार प्रविष्ट नहीं हो सकते, ऐसे बड़े-बड़े छात्रों के लिये भी पृथक् प्रबन्ध रहता है। इन छात्रों को भोजन व्यय-मात्र देना पड़ता है, किंतु निर्धन होनहार छात्रों से कुछ भी नहीं लिया जाता। आजकल इनमें एक लंका निगैम्बो, तीन फ़ीज़ी के छात्र हैं और एक मलावार का छात्र है। नियमानुसार प्रविष्ट होनेवाले छात्रों से कुछ भी नहीं लिया जाता, उनका शिक्षण-दीक्षण, भोजनाच्छादन सब मुफ़्त रहता है, इससे संचालकों की कठिनाइयों का बोध हो सकता है।

(१०)

प्रमुख संचालक-परिचय

(१) श्रीस्वामी शुद्धबोधतीर्थजी महाराज—आप गुरुकुल काँगड़ी के प्रथम आचार्य थे। आप वहाँ छः वर्ष तक रहे, पश्चात् १९०८ से अब तक बराबर महाविद्यालय के आचार्य-पद का कार्य कर रहे हैं। आप आर्यसमाज में सबसे बड़े पंडित हैं—आर्यसमाज में शिक्षा का काम करते हुए आपको ३४ वर्ष हुए।

(२) पंडित पद्मसिंह शर्मा—आप हिंदी-जगत् में प्रसिद्ध हैं ही—आप 'भारतोदय' के संपादक रह चुके हैं—इस समय महाविद्यालय के प्रतिष्ठित सभासद् तथा विद्या-सभा के प्रमुख अंग हैं।

(३) स्वामी भास्करानंदजी सरस्वती—(भूतपूर्व पं० भीमसेनजी शर्मा मुख्याध्यापक) आप विद्या-सभा के सभासद् हैं।

(४) पंडित रविशंकरजी शर्मा—आप महाविद्यालय-सभा के उपप्रधान हैं। पुराने महारथी हैं।

(५) बाबू मथुरादासजी रईस—आप महाविद्यालय-सभा के प्रधान हैं।

(६) वैद्यराज पंडित रामचंद्र शर्मा—आप कोषाध्यक्ष हैं।

(७) पंडित हरिशंकरजी वैद्यराज—आप सभा के मंत्री हैं।

(८) पंडित काशीनाथजी काव्यतीर्थ—आप उपमंत्री हैं।

(९) ब्रह्मचारी आनंदप्रकाश (नैष्ठिक ब्रह्मचारी)—आप महाविद्यालय के प्रसिद्ध उपदेशक हैं।

(१०) पंडित कांचीदत्त शर्मा—आप भंडार आदि की देख-भाल करते हैं। आप आश्रम के मुख्य संरक्षक भी हैं।

(११) स्वामी मुक्तानंद—आप कार्यालय के निरीक्षक हैं—इनके अतिरिक्त कतिपय वानप्रस्थो यहीं अपना मकान बनाकर रहते हैं, और कोई उद्यान के निरीक्षक, कोई गोशाला के निरीक्षक तथा कोई अन्य भाग के निरीक्षक हैं।

देवाश्रम (महाविद्यालय, ज्वालापुर)

ये अपना काम अपने पास से करते हैं और काम महाविद्यालय का—इस प्रकार यह आडंबर-शून्य संस्था चुपचाप अपना काम कर रही है—हरद्वार आनेवाले यात्रियों को रेल में बैठे-बैठे भी ज्वालापुर नहर के पुल के पास इस विस्तृत सुरम्य आश्रम के दर्शन होते हैं—यह आश्रम ज्वालापुर स्टेशन से दक्षिण को नहर के पुल के पास स्थित है—नहर में आश्रमवासी जनों के स्नानादि के लिये एक सुंदर दर्शनानंद घाट बना हुआ है। इस संस्था की विचित्रता यह है कि बीस वर्ष से इसी प्रकार चल रही है—त्रुटि यह है कि धनाभाव के कारण मार्ग रुका-सा पड़ा है—ईश्वर की कृपा से वहाँ वर्तमान संचालकों की अपेक्षा अधिक तेजस्वी महानुभावों का प्रवेश होकर यह पवित्र कार्य इससे भी अधिक उन्नत होता हुआ लोक-कल्याण का हेतु बने।

ब्रह्मचारीगण (महाविद्यालय, ज्वालापुर)

इस संस्था को भारतवर्ष के प्रायः सभी नेता और विद्वान् देख चुके हैं। जिसने भी इस आश्रम को देखा, वह चकित रह गया। महात्मा गांधी तीन बार दर्शन दे चुके हैं। पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय, महामना मालवीयजी, महात्मा पं० हंसराज, पंडित मोतीलाल नेहरू, भाई परमानंदजी, स्वामी शंकराचार्य गोवर्द्धन मठ, स्वामी शंकराचार्य शारदापीठ, वंग-देश के प्रसिद्ध महामहोपाध्याय गणनाथ सेन इत्यादि—महात्मा हंसराज इस महाविद्यालय के प्रतिष्ठित सभासद् हैं—शाहपुराधीश श्री०१०८ नाहरसिंहजी—तथा दानवीर अवागढ़-नरेश भी इसके आजन्म सभासद् हैं।

नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ

कामना

(१)

चाहत न ऋद्धि-सिद्धि संपति दुनी की नाथ ,
चाहत न रूप पद कीरति सुहावनी ;
चाहत न राज के समाज-सुख साज बहु ,
चाहत न वस्त्र दिव्य भूखन प्रभा-घनी ।
चाहत न चिंतामनि मंडित कनक-धाम ,
चाहत न नाग - बाजि - बाहन महा अनी ;
चाहत 'उमेश' एक लाड़िली के पाँयन की ,
बृंदाबन कुंज को पुनीत रज को कनी ।

(२)

प्रानन ते प्यारी मोहिं ब्रज की सकल भूमि ,
ताते ब्रजराज मोकूँ बेगिकै बुलाइयो ;
सेवक 'उमेश' कौन पातकी समुझि नाथ ,
प्रीति करिबे की रीति नेकहू घटाइयो ।
चरन शरन मैं तिहारेई पड़ौहौं आइ ,
ताते श्रीब्रजेंद्रनू न मोहिं बिसराइयो ;
लीजियो हमैंहू राखि दीन जानि दीनानाथ ,
बृंदाबन भूमि ते न मोहिं बिछुराइयो ।

(३)

वारि डारौं बृंदाबन कुंजन पै इंद्र धाम ,
नंदन कल्पद्रुम पुंजन बिहाइ देहुँ ;
त्यागि छिन माहिं देहुँ चौदहौं भुवनराज ,
नंदजू की गाइ नित हित सौं चराइ देहुँ ।
सेवक 'उमेश' पाइ माखन जसोमति सौं ,
देवभोग नाना भाँति-भाँति के भुलाइ देहुँ ;
ब्रजजन खोरिन मैं गूजरी किशोरिन मैं ,
ग्वालबाल टोरिन मैं जीवन बिताइ देहुँ ।

उमाशंकर बाजपेयी

कीर्ति-लता

प्राक्कथन—विद्यापति

विद्यापति के संबंध में हम लोगों की जो धारणा आज तक है, उसके अनुसार वह केवल कवि ही थे। परंतु उनकी समस्त रचनाओं की सम्यक् आलोचना से मालूम होता है कि न केवल वह कवि थे, किंतु वह ऐतिहासिक ग्रंथ-लेखक, धर्मप्रचारक और राज-नीति-कुशल उच्च राज-कर्मचारी भी थे। उनके समय के मिथिला-नरेशगण अल्पायु होने के कारण वे अपने समय में अपने कर्तव्य का पालन पूरी तरह से नहीं कर सके थे। परंतु विद्यापति दीर्घायु होने के कारण उनको पहले कीर्त्तिसिंह के, उसके पीछे देवसिंह के, उसके पीछे शिवसिंह के, उसके पीछे पद्मसिंह के, उसके पीछे हरसिंह के, उसके पीछे नरसिंह के, उसके पीछे धीरसिंह के अधीन काम करना पड़ा था। वह इन सब राजाओं के राजसभासद् तथा द्वारपंडित थे, और इन सभों के समय का छूटा हुआ काम उन्हीं को संपूर्ण करना पड़ा था। अतएव उन्हीं ने सात राजाओं के राजत्वकाल का योग सूत्रवत् होकर, मिथिला-राज्य को गठित रक्खा था, और उसकी रक्षा की थी। उन्होंने मुसलमान-विध्वस्त हिंदू-समाज का पुनर्गठन और हिंदू-धर्म का पुनः प्रचार किया था।

किंतु विद्यापति की ख्याति उनके मधुर गीतों के लिये है। उनके पदों से न केवल वंगदेश तथा मिथिला के, परंतु समग्र आर्यावर्त के लोग मुग्ध हुए। साधारण लोगों को विश्वास है कि वह राधा-कृष्ण के उपासक थे और कृष्ण-भक्ति में मग्न होकर केवल राधा-कृष्ण के प्रेम का चित्र अंकित कर समय काटते थे। लोगों की यह धारणा भ्रम-पूर्ण है। विद्यापति स्मृति-शास्त्र के मतानुसार चलते थे और पञ्चोपासक थे। विष्णु की उपासना के सिवाय वह गणेश, सूर्य, शिव तथा दुर्गा की उपासना करते थे। उन्होंने जिस प्रकार राधा-कृष्ण-विषयक गीत लिखे हैं, उसी प्रकार शिव और गंगा-विषयक पद भी लिखे हैं। वह सौंदर्य के कवि थे, विष्णु-भक्ति के कवि

नहीं थे। उन्होंने सौंदर्य की सृष्टि की है। शृंगार-रस सौंदर्य की खान है। इस रस को परिस्फुट करने के लिये राधा-कृष्ण के प्रेम से बढ़कर सौंदर्य के उपकरण कहाँ मिल सकते हैं? इसलिये उन्होंने शृंगार-रस के पदों में बहुत स्थल में राधा-कृष्ण के प्रेम का उपयोग किया है। इन पदों में राधाकृष्ण उपलक्षण-मात्र हैं, शृंगार-रस ही प्रधान लक्ष्य है। हमारे देश में कवि लोग जब-जब शृंगार-रस की कविता करने लगे हैं, तब-तब राधा-कृष्ण के प्रेम का अवलंबन किया है। विद्यापति ने भी ऐसा ही किया है। वह थे राज-कवि। राज-परिषद्, राजा के अथवा राज-सभासदों की फ़रमाइश के मुताबिक़ उनको कविता बनानी पड़ती थी। इसी प्रकार उन्होंने इतने आदि रस के पद रचे हैं। ये भिन्न-भिन्न समय में लोगों के रुचि के वश होकर लिखे गए थे। वह कभी राधा-कृष्ण की लीला के वर्णन के उद्देश्य से संकल्प कर पदों की रचना करने के लिये नहीं बैठ गए थे। आजकल के बंगाली वैष्णव कीर्त्तनियाओं ने भिन्न-भिन्न रसों के पदों को पृथक्-पृथक् एकत्र कर उनको विन्यस्त किया है और विद्यापति को वैष्णव कवि बना डाला है[1]। सूक्ष्म परीक्षा से देखा गया है कि बहुत पदों में राधा-कृष्ण का नाम गंध भी नहीं है। एक सुंदरी स्नान समाप्त कर जलाशय से उठ रही थी। एक ने फ़रमाइश की, तुम इस रमणी का रूप-वर्णन करो। बस विद्यापति ने यह पद बनाया—

कामिनी करए सनाने;
हेरितहि हृदअ हनए पँचबाने।
चिकुर गरए जलधारा;
जनि मुखशसि डरे रोअए अन्धारा।
कुचजुग चारु चकेवा;
निअकुल मिलत आनि कोने देवा।
ते सङ्के भुजपासे;
बाँधि धएल उड़ि जाएत अकासे।
तितल बसन तनु लागू;
मुनिहुक मानस मनमथ जागू।

भनइ विद्यापति गावे;
गुणमति धनि पुनमत जनि पावे।

इस गीत में राधा-कृष्ण का नाम तक नहीं है। तथापि पदावली में यह माधव की उक्ति बताई गई है। इसी प्रकार "आजु मुझु शुभ दिन भेला" यह पद भी है। बाबू नगेंद्रनाथ गुप्त ने विद्यापति की पदावली में ८४० पद दिए हैं; उनमें से ३३७ पदों में राधा-कृष्ण का किसी प्रकार उल्लेख नहीं है। संस्कृत अलंकार में जितने प्रकार की कविप्रौढ़ोक्तियाँ हैं, जितनी उपमाएँ हैं, विद्यापति ने अपने पदों में उनका प्रचुर उपयोग किया है और उनको अधिक परिस्फुट और उज्ज्वल किया है। उनकी तारीफ़ है भावों के यथार्थ विन्यास में। उन्होंने सुंदर को सुंदरतर, सुंदरतम बनाया है। संक्षेप में यह कहना है कि उन्होंने भजन के लिये पदों की रचना नहीं की थी। सौंदर्य ही उनका लक्ष्य था। परंतु यदि हम कहें कि उनमें भक्ति बिलकुल नहीं थी, तो उन पर अविचार होगा। भक्ति उनमें भरपूर थी। उनमें जैसे शिव-भक्ति तथा गंगा-भक्ति थी, वैसी ही राधा-कृष्ण-भक्ति थी।

स्मृति-शास्त्र में उनकी अगाध व्युत्पत्ति थी। वह 'शैशव-सर्वस्व', 'गंगावाक्यावली', 'षोडश दान', 'तुला-पुरुष-दान', 'दानवाक्यावली', 'वर्ष-क्रिया' तथा 'विभागसार' इन स्मृति-ग्रंथों के रचयिता हैं।

पुराण-साहित्य में भी उनका प्रगाढ़ पांडित्य था। भूपरिक्रमा नामक ग्रंथ में उन्होंने पुराणों के आधार पर बलरामजी का तीर्थ-भ्रमण-वृत्तांत लिखा है।

वह केवल पंडित ही थे, केवल पुस्तकों की आलोचना में उनका जीवन व्यतीत हुआ था, ऐसा नहीं। उन्होंने अपने "पुरुष-परीक्षा" नामक ग्रंथ में अपने समय के तथा पूर्ववर्ती समय के अनेक विषयों का उल्लेख किया है। यह पुस्तक एक प्रकार का गल्प-गुच्छ है। इसके अधिकांश वृत्तांत सत्य घटना-मूलक हैं। इसमें महमूद ग़ज़नवी के समय से लेकर विद्यापति के समय तक की अनेक सत्य घटनाओं का विवरण मिलता है।

विद्यापति की एक और पुस्तक है "लिखनावली"। इसमें पत्र लिखने की प्रणाली प्रदर्शित हुई है।

विद्यापति के समय में भारतवर्ष के पूर्व अंशों में दुर्गा-पूजा का अनुष्ठान ख़ूब ज़ोर व शोर से जारी हो रहा

---

१. महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्रीजी लिखित "विद्यापति" शीर्षक "कीर्ति-लता" की भूमिका। —लेखक

था। उन्होंने "दुर्गाभक्ति-तरंगिणी" नामक ग्रंथ में वेद, पुराण, स्मृति-शास्त्र के प्रमाणों से अपने मतों का समर्थन किया है। प्रथम मुसलमान आक्रमण के प्रबल स्रोत में हिंदुओं के धर्म-कर्म का एक प्रकार से लोप-सा हो रहा था। मैथिल पंडितों ने नाना प्रकार के ग्रंथों की रचना कर हिंदू-समाज को पुनर्गठित करने की चेष्टा की थी। इन सभों में विद्यापति का नाम बहुत ऊँचा है।

विद्यापति ने अपनी प्रतिभा को हिंदू-समाज के पुनर्गठन के लिये नियोजित किया था। इसका परिचय उनके पांडित्य-पूर्ण संस्कृत-ग्रंथों से मिलता है। उनकी प्रतिभा बहुत ही उज्ज्वल तथा सर्वतोमुखी थी। नीचे दिखाया जायगा कि "पुरुष-परीक्षा" के सिवाय उन्होंने और भी ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे थे।

विद्यापति को हम तीन मूर्तियों में पाते हैं। एक मूर्ति में वह पंडित, संस्कृत-साहित्य में व्युत्पन्न, तिरहुत के राजाओं के एक प्रधान सभासद्, और हिंदू-समाज के पुनर्गठन में कृतसंकल्प देखे जाते हैं। दूसरी मूर्ति में वह कवि हैं, कवि के नेत्रों से जगत् को देख रहे हैं, मैथिल-भाषा में सौंदर्य की सृष्टि कर रहे हैं, भक्ति में गद्गद होकर शिव तथा गंगा की स्तुति कर रहे हैं और कृष्ण-लीला के रसास्वादन में विभोर हो रहे हैं। उनकी एक और मूर्ति है—उसमें वह इतिहास-रचयिता हैं। उनकी ऐतिहासिक कविताएँ उनकी "कीर्ति-लता" तथा "कीर्ति-पताका" ग्रंथद्वय में निबद्ध हैं। इन ऐतिहासिक ग्रंथों के कारण वह भारत के अच्छे ऐतिहासिकों में गिने जा सकते हैं।

आलोच्य विषय—कीर्ति-लता

प्राक्कथन में विद्यापति-रचित दो ऐतिहासिक काव्यों का उल्लेख किया गया है। इनके नाम "कीर्ति-लता" और "कीर्ति-पताका" हैं। ये अपभ्रंश और प्राचीन मैथिल-भाषा में लिखे हैं। विद्यापति ने कीर्ति-लता में कहा है—

सक्कयवाणी[1] बुहअनै[2] भावइ, पाउअ[3] रस को मर्म न पावइ ;
देसिलवअना[4] सब जन मिट्ठा, तें तैसन जम्पओ[5] अवहट्ठा[6]।

१८९८ ई० में महामहोपाध्याय श्रीयुक्त हरप्रसाद शास्त्रीजी एक दफ़े नेपाल गए थे। उस समय दर्बार की पोथीशाला में वह उन दोनों पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ देख आए थे और उनकी नक़ल भी लाए थे। वह नक़ल अच्छी नहीं हुई थी, क्योंकि उस समय वहाँ कोई अच्छा लिखनेवाला नहीं था। फिर १९२२ ई० में वह जब नेपाल गए थे, तब देख आए थे कि वे पोथियाँ ज्यों-की-त्यों रक्खी हैं। पीछे महाराजा सर शमशेरजंग महोदय के अनुग्रह से उन्हें दर्बार पोथीशाला का पोथियाँ मिल गईं, और १९२४ ई० में बंगाक्षर में मुद्रित कर उन्होंने "कीर्ति-लता" प्रकाशित की। अब से तीन-सौ वर्ष पहले महाराजाधिराज श्रीजय-जगज्ज्योतिर्मल्लजी के समय ३०० घर मैथिल पंडित नेपाल में जा बसे थे। उन्हीं में से किसी के घर से लेकर पोथीशाला की इस पुस्तक की नक़ल की गई थी। नक़ल श्रीजगज्ज्योतिर्मल्लजी के आदेश से हुई थी। नक़ल करनेवाले थे दैवज्ञ नारायणसिंह। मैथिल-लिपि से नेवारी-लिपि में उतारने में कुछ अशुद्धियाँ ज़रूर हुई होंगी। फिर नेवारी अक्षरों से बँगला अक्षरों में लिखने में अशुद्धियों की संख्या बढ़ जानी असंभव नहीं।

'कीर्ति-लता' का विषय विद्यापति के समय की घटनाएँ हैं। इसमें युद्ध का वर्णन तथा राजनीति का प्रसंग है। इसमें बहुत-से अरबी, फ़ारसी, तुर्की-भाषा के शब्द पाए जाते हैं। इसमें जौनपुर का वर्णन अति मनोहर है, और पढ़ने के योग्य है। शास्त्रीजी ने, इस पुस्तक के साथ इसका बँगला-अनुवाद दिया है। वह कहते हैं कि यद्यपि उन्होंने अर्थ के लिये बहुतों की सहायता लेने की चेष्टा की, तथापि किसी-किसी अंश का अर्थ ठीक-ठीक नहीं लगा। उनका कहना ठीक है। पलटू झा नामक एक मैथिल पंडित ने, बहुत स्थानों का ठीक अर्थ कर दिया है, और बलिया ज़िलावासी उजागर चौबेजी ने भी दो-चार स्थानों का अर्थ लगा दिया है।

"कीर्तिलता" तो किसी प्रकार छप गई है, परंतु शास्त्रीजी कहते हैं कि वह "कीर्ति-पताका" की कुछ गति नहीं कर सके। उसकी दरबार-पोथी-शालावाली हस्त-लिखित प्रतिलिपि और भी एक-सौ वर्ष पहले की लिखी हुई है और तालपत्र पर टूटे मैथिल-अक्षरों में निबद्ध है। वह पढ़ी नहीं गई। विशेष मुश्किल की बात यह हुई कि उसके ८ से २१ संख्या तक के पत्ते ही ग़ायब

---

१. संस्कृत। २. बुधगण। ३. प्राकृत। ४. देसी बोली। ५. कहता हूँ। ६. अपभ्रंश भाषा।
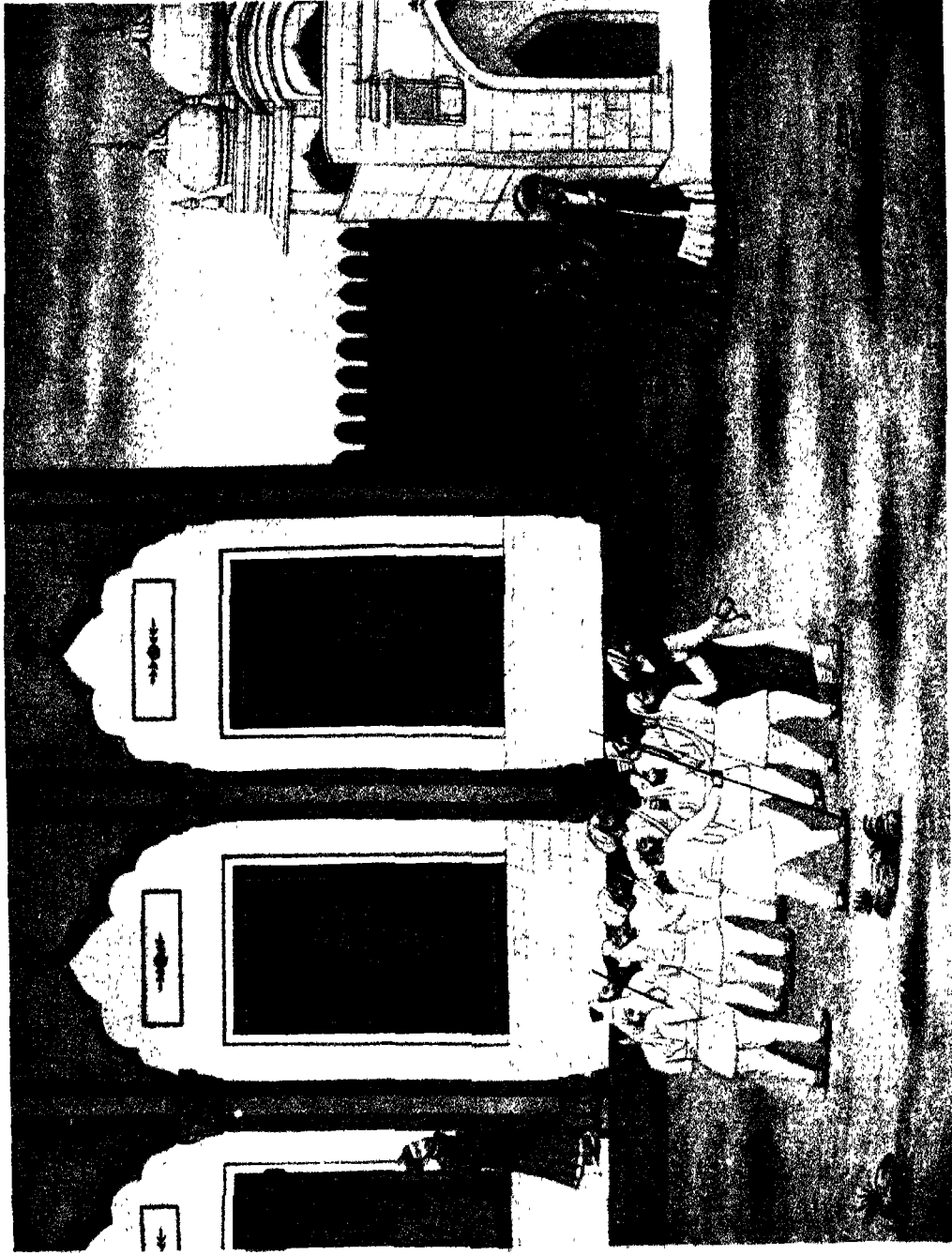
शाहजहाँ की गिरफ़्तारी

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ।

हैं। इसलिये शास्त्रीजी को असंपूर्ण पोथी के उद्धार के लिये उत्साह नहीं हुआ। उन्होंने पोथी लौटा दी।

हमारे देश में एक प्रकार की कहानियाँ बहुत दिनों से प्रचलित हैं। इस श्रेणी के क़िस्सों में प्रायः एक विहंगम और एक विहंगमी किसी वृक्ष पर बैठकर आपस में बातचीत करती हैं। वृक्ष के नीचे जो-जो आदमी उस समय बैठे रहते हैं, वे उस कथोपकथन को सुनकर अपने संबंध में तथा अपने आत्मीय लोगों के संबंध में बहुत-सी बातें जान जाते हैं, जिनसे वे अपने भाग्य-परिवर्तन की चेष्टा करने को समर्थ होते हैं। विद्यापति की कीर्ति-लता भी इसी ढंग की कहानी है। इसमें ऐसा लिखा गया है कि एक भृंगी अपने पति से पूछती है—"पुरुष किसे कहते हैं? पुरुष का लक्षण क्या है?" भृंग कहता है—

पुरिसत्तणेन पुरिसओ नहिं पुरिसओ जन्ममत्तेन ;
जलदानेन हुजलओ नहुजलओ पुंजिओ धूमो।
सो पुरिसो जसु मानो सो पुरिसो जस्स अज्जने सत्ति ;
इअरो पुरिसाआरो पुच्छ विहूनो पसु होई।
पुरिस काहानी हओ जसु पत्थावे पुन्न ;
सुक्ख सुभोअन सुअवअन देवहा जाइ सपुन्न।
पुरुस हुअउँ बलिराए जासुकर कन्ने पसारिअ ;
पुरिस हुअउँ रघुतनअ जेन्ने बले रावण मारिअ।
पुरिस भगीरथ हुअऊँ जेन्ने निज कुल उद्धरिउँ ;
परसुराम अरु पुरिस जेन्ने खत्तिय खअ करिअउँ।
अरु पुरिस पसंसओ रायगुरु कित्तिसिंह गएणेस सुअ ;
जो सत्तु समर सम्मद्दिकहु बप्पवेर उद्धरिअ धुअ।

भृंगी कहती है—

रायचरित रसाल एहू णाह न राखहिं गोए ;
कवन वंस को राअ सो कितिसिंह को होऐ[2]।

भृंग ने कहा—

कर्कशतर्क में तथा वेद-पाठ में नियुक्त, दान में दारिद्र्य-नाशकारी, परमब्रह्म तथा परमार्थ की चिंता में नियत, धन-दान के द्वारा कीर्ति-लाभकारी, संग्राम में शत्रुओं पर विजयशील, ऐसे प्रसिद्ध ओनी-वंश में कीर्तिसिंह का जन्म हुआ था। भुजवीर्य तथा ब्राह्मणत्व का एकत्र अवस्थान उनमें जैसा पाया जाता था, वैसा और कहीं नहीं।

उस वंश में कामेश्वर नामक एक राजा थे। उनके पुत्र भोगीशराय थे। उन्होंने इंद्र की नाईं पृथ्वी का भोग किया था। वे कुसुमायुध के सदृश रूपवान् थे और याचकों को प्रचुर धन देते थे। सुलतान फ़ीरोज़शाह उनको प्रियसखा के समान मानते थे। वह अपने गुणों से, दानों से और दूसरों के प्रति सम्मान से सभों को अपने वश में लाए थे। कुंद-कुसुम-सदृश उनके यश ने पृथ्वी आच्छन्न कर रखी थी। उनके पुत्र राय गणेस नीति-शास्त्र में दक्ष थे और अपनी कीर्ति से दश-दिक् आवृत किया था। वह दान में गुरु थे, मान में गुरु थे, सत्य में गुरु थे, लावण्य में गुरु थे और उन्होंने शत्रुओं का संहार किया था। उनके युवराजपुत्रों में महाराजाधिराज वीरसिंहदेव थे। उन्हीं के कनिष्ठ भ्राता गुण-गरिष्ठ कीर्तिसिंह भूपाल अब मेदिनी का शासन कर रहे हैं। वह चिरंजीव रहें और धर्म का पालन करें। अतुल विक्रम के कारण उनकी तुलना विक्रमादित्य से हो सकती है। उन्होंने साहस के साथ बादशाह के पास

---

१. पुरुषत्व से (आदमी) पुरुष (होता है); जन्म-मात्र से पुरुष (नहीं होता)। जल-दान से (मेघ) जलद (है), पुंजी-कृत धूम जलद नहीं। वही पुरुष (है) जिसका (अभि) मान (है); वही पुरुष (है) जिसकी अर्जन में (अर्थात् कमाने की) शक्ति (है)। (इनके) इतर (अर्थात् अतिरिक्त) (जो पुरुष हैं वे) पुरुष (के) आकार (विशिष्ट हैं, परंतु वे) पुच्छ-विहीन पशु हैं। (उस) पुरुष की कथा ही कथा है, जिसके प्रस्ताव से पुण्य (होता है), सुख (लाभ होता है), अच्छा भोजन (प्राप्त होता है), मिष्ट वचन (सुनने में आता है), (और) पुण्ययुक्त (होकर) देवलोक को जाया जाता है। बलि-राजा पुरुष थे, जिनके दान (की कथा सुनने के लिये) कान पसारे जाते (हैं)। रामचद्र पुरुष थे, जिन्होंने बल से रावण को मारा। पुरुष हुए थे भगीरथ, जिन्होंने निजकुल उद्धारा और परशुराम पुरुष थे, जिन्होंने क्षत्रियों (का) क्षय किया। और प्रशंसा करता हूँ (एक) पुरुष (की) (जो) गणेश के पुत्र राजगुरु कीर्तिसिंह (थे), जिन्होंने समर (में) शत्रु का मर्दन कर पितृ-वैर का निश्चय उद्धार किया था।

२. राजा (का) चरित रसयुक्त है, हे नाथ, इसे गोपन न रक्खो, वह कौन वंश था? वह राजा कौन थे? कीर्तिसिंह कौन थे?

जाकर और उनकी आराधना कर दुष्टों का दर्प चूर्ण और पितृ-वैरी का उद्धार किया। प्रथम पल्लव शेष।

भृंगी फिर पूछती है—शत्रुता किस प्रकार उत्पन्न हुई थी? किस तरह उन्होंने पितृ-वैरी का उद्धार साधन किया? हे प्रिय, तुम मुझे वह कहानी कहो, मैं सुख से सुनूँगी।

भृङ्ग कहता है—लक्ष्मणसेन राजा के २५२वें वर्ष में मधुमास के प्रथम पक्ष की पंचमी तिथि में राज्यलुब्ध असलान, राजा गयणेश की बुद्धि तथा विक्रमबल से हार गया। किंतु वह दुष्ट परम विश्वासी राजा गयणेश के पास बैठकर उन्हें मार डाला। पृथ्वी हाहाकार से भर गई, स्वर्ग की अप्सरियों के वामनयन फड़क उठे। ठाकुर लोग ठग हो गए, चोर सब प्रबल हो गए। धर्म डूब गया, खलगण सज्जनों का परिभव करने लगे, देश में विचारक न रहे, जातिवालों अजातिवालों में विवाह होने लगा, उत्तमों को अधमों ने थरहरा दिया। बड़े लोग भिखारी हो गए। तिरहुत के सब गुणों का नाश हो गया। तुर्क असलान ने देखा कि उसने बड़ा ख़राब काम किया है, तब उसने सोचा, "मैं कीर्तिसिंह का राज-सम्मानकर उन्हें राज्य लौटा दूँगा।" किंतु सिंह पराक्रमी मानी कीर्तिसिंह ने वैरी के उद्धार के लिये संकल्प किया था, उन्होंने शत्रु-समर्पित राज्य लेना स्वीकार नहीं किया।

लोगों ने उन्हें बहुत समझाया। माता ज़िद करने लगी। मंत्री, मित्र सभों ने सलाह दी कि राज्य-मत छोड़ो। कीर्तिसिंह ने कहा, "मान को विसर्जन दे शत्रु का शरणागत होकर जीवन धारण करना ठीक नहीं। जो अपमान से दुःख बोध नहीं करता, उसका चित्त नहीं है। मैं ध्वंसकर शत्रु पुरी का ग्रहण करूँगा। मैं साहस के साथ युद्ध करूँगा, शरणागत होकर मुक्त नहीं होऊँगा। कभी नीच के साथ प्रीति नहीं करूँगा। राज्य रहे चाहे जावे, वीरसिंह मेरे प्रभु हैं।"

तब दोनों भाई घर से निकले और पैदल चलने लगे। रास्ते में सभों ने उनका सम्मान किया। अंत में वे जौनपुर पहुँचे।

वहाँ देखा कि जौनपुर बड़ा भारी शहर है। वह शहर लक्ष्मी का विश्रामस्थान है और नयन मनोरंजक है। वहाँ असंख्य अट्टालिकाएँ हैं, सुंदर-सुंदर पोखरें और बग़ीचे हैं। अनेक तोरण हैं।

पल्लविअ कुसुमिअ फलिअ उपवन चुअ चम्पक सोहिआ;
मअरंद-पाण-विमुद्ध महुअर सद्द मानस मोहिआ।

× × ×

शहर में मत्त कुंजरगामिनी शत-शत कामिनी चौराहों पर सार्थवाह लोगों को बारंबार देख रही हैं। कर्पूर, कुंकुम, गंध, चामर, सुरमा इत्यादि बिक रहे हैं। सभी लोग सम्मान, दान, विवाह, उत्सव, गीत, नाटक, काव्य, आतिथ्य, विवेक, विनय और कौतुक में समय व्यतीत कर रहे हैं। राजपुत्रों ने नाना स्थान की विचित्र वस्तुएँ तथा क्रियाएँ देखीं। विन्यास में यह शहर अमरावती का अवतार मालूम होता था। वे घूमते-घूमते धनहट्टा, सोनहट्टा, पनहट्टा, पक्वान्नहट्टा, मच्छहट्टा इत्यादि कितने स्थान देखने लगे। कोलाहल से कान भर गये। सुख में रहने के कारण सब कोई बादशाह इबराहीमशाह की प्रशंसा कर रहे हैं।

कवि तुर्कों के लक्षण यों बताते हैं—

ततो वे[1] कुमारो पइट्ठ बजारो;
जहिं लक्ख घोरा मअंगा हजारो।
कहाँ कोटि गंदा[2] कहाँ बाँदि[3] बंदा;
कहीं दूरि रिका बिएँ[4] हिंदू गंदा।
तहाँ तत्थ कूजा[5] तबेल्ला[6] पसारा;
कहीं तीर कम्मान दोकानदारा।
सराफे सराफे भरे बंवि[7] बाजू;
तौलंति फेरा लसूला[8] पेआजू[9]।
खरीदे खरीदे बहुतो गुलामो;
तुरके तुरके अनेको सलामो।
बेसाहंति[10] खीसा[11] मइज्ज[12] मोजा;
भमे[13] मीर बल्लीअ सइल्लार खोजा।
अबे बे भनंता सरापा पिबंता;
कलीमा[14] कहन्ता कलामे[15] जीअन्ता[16]।
कसीदा[17] कढन्ता[18] मसीदा[19] भरन्ता;
कितेबा पढ़न्ता, तुरक्का अनन्ता।

---

१. द्वे। २. गुंडा। ३. लौंडी। ४. बिके। ५. सुराही। ६. टाल। ७. सड़क। ८. किनारा, ९. लहसून। १०. बेचते। ११. नरम दस्ताना, अंग दाबने के लिये। १२. साफ़। १३. घूमते। १४. कलमा। १५. बातों में। १६ समय काटते। १७. कविता। १८. पढ़ते। १९. मसजिद।

इस छंद को पढ़कर 'पृथ्वीराज रासो' की याद आती है। अब हिंदू-मुसलमानों के व्यवहार का कुछ विवरण सुन लीजिए—

हिन्दू तुरके मिलल बास ; एकक धम्मे अओक उपहास।
कतहु बांग कतहु वेद ; कँहु मिसिमिले कतहु छेदैं।
कतहु ओझा कतहु खोजा ; कतहु नकर्त कतहु रोजा।
कतहु तम्बारे कतहु कूजा ; कतहु निमाज कतहु पूजा।
कतहु तुरुक बरकर ; बाट जाइतें बेगार धर।
धरि आनए बाँमन बड़ुआ ; मथा चढ़ावए गाइक चुड़ुआ।
फोर्ट चाट जनउ तोड़ ; ऊपर चढ़ावए चाह घोड़।
धोआ उरि धाने मदिरा साँधे ; देउर भाँगि मसिद बाँध।
गोरि[12] गोमट[13] पूरलि मही ; पएरहुँ[14] देमाएक ठाम नही।
हिन्दु बोलि दूरहि निकार ; छोटेओ तुरुका भमकि मार।
हिन्दुहिं[15] गोट्ठओ गिलिए हल, तुरुक देखि होअ भान ;
अइसेओ तसु परतापे रहे, चिरे जिबत सुरतान[16]।
हट्ट हि हट्ट भमन्तओ दूअओ राजकुमार ;
दिट्ठि कुतूहल कज्ज रस तो पइट्ठ दरबार।

दरबार की स्थिति अति भयानक है। तुर्कों के पदक्षेप से मेदिनी कंपमान हो रही है। बड़े-बड़े राजा लोग दरबार में आए हैं, साल-भर में भी सुलतान के साथ मुलाक़ात नहीं हुई। इसके बाद दरबार की वर्णना है।

प्रमोद-वन, पुष्पवाटिका, कृत्रिम नदी, क्रीड़ा-शैल, धारा-गृह, यंत्र-व्यजन, शृंगार-संकेत, विश्राम-चौरा, चित्र-शाली, खट्टा, हिंडोल, कुसुम-शय्या, माणिक्य, चंद्रकांत-शिला, चतुः-सम-पल्लव इन सब स्थानों में भ्रमण करते हुए दोनों भाइयों ने भीतर की ख़बर ली। इसके बाद उन्होंने नगर के मध्यस्थल में एक ब्राह्मण के घर में डेरा लिया। दूसरा पल्लव शेष।

भृंगी ने फिर कहा, "हे कांत, तुम्हारी कथा मेरे कानों में मानों अमृतरस बरसा रही है। इसके बाद क्या हुआ, कहते जाओ।"

भृंग कहता है—दूसरे दिन प्रातःकाल निद्रा से उठकर तथा प्रातःकृत्य समाप्त कर वे वज़ीर के घर पहुँचे और उन्हें अपनी बात सुनाई। यदि प्रभु हम पर प्रसन्न हों, तो हम अपना राज्य पा सकते हैं। मंत्री ने बादशाह के पास प्रस्ताव छेड़ा। बादशाह ने कहा, "शुभ मुहूर्त में उन्हें मेरे पास ले आओ। एक घोड़े तथा एक वस्त्र की नज़र कर कुमारों ने बादशाह को प्रसन्न किया। बार-बार सलाम कर कीर्तिसिंह वृत्तांत कहने लगे—

अज्ज उच्छव, अज्ज कल्लाण, अज्ज सुदिन, अज्ज सुमुहुत्त,
अज्जे माजे मुझु पुत्त जाइअ ;
अज्ज पुम पुरिसत्थ याति पातिशाह पापोस पाइअ।
अकुशल वेवि[3]हि एक्के पइ अबर तुज्झ परताप ;
असें लोअन्तर सग्गउँ गअन राए मझु बाप।
फरमान भेल कज्ञो ण चाहि ;
तिरहुति लेलि[6] जन्हि साहि।
डरे कहिनी कहए आन ;
जेहाँ तो हे ताँहा असलान।

असलान आपका फ़रमान फेंककर और राजा गणेश को मारकर चामर चला रहा है, सिर पर छत्र धरवा रहा है। तिरहुत का भोगकर रहा है, तो भी आपको क्रोध नहीं। आप यदि यह बरदाश्त करें, तो अभिमान की तिलांजलि कीजिए। आपका दानमान अतुलनीय है, सब राजा आपके वश में हैं। जिससे ऐसा अन्याय न हो सके, वैसा कीजिए।

यह सुनते ही बादशाह की तेवरियाँ चढ़ गईं, होंठ फूलने लगे, आँखें लाल हो गईं। फ़ारन् उमराओं को आज्ञा दी—तुम लोग अभी तिरहुत प्रति युद्ध-यात्रा का उद्योग करो। तब युद्ध-यात्रा का घोर उद्योग होने लगा। तब दोनों सहोदर आनंदित हुए।

सुलतान चले, पहाड़ टलने लगा, पृथ्वी हिलने लगी, नाग का मन काँपने लगा, सूर्य-रथ का जो

---

१. आज़ान। २. हेल-मेल। ३. झगड़ा। ४. नक्तव्रत। ५. ताँबे का बर्तन। ६. जबरदस्त। ७. रान। ८. तिलक। ९. घोड़ा। १०. बना। ११. देवालय। १२. कबर। १३ मंदिर। १४. पैर भी धरने का स्थान नहीं। १५. हिंदु का गोष्ठ ग्रासकर उसमें फल उत्पन्न होता है, देखकर तुरुक लोग आनंदित होते हैं। १६. सुलतान।

१. आज हम माँ के यथार्थ पुत्र हुए। २. हमारा पुरुषार्थ पूर्ण हुआ। ३. दो। ४. एक तो आपका प्रताप खर्व हुआ। ५. और यह है कि हमारे पिता लोकांतर को गए। ६. ले लीजिये। ७. जहाँ आप हैं।

पथ था, वह धूल से भर गया, शत-शत तबले बजने लगे, प्रबल मेघ का-सा घोर रव होने लगा। जब सेना चलने लगी, तब शत्रु के घर में भी भय पहुँचा। तब उनकी निद्रा भंग हुई।

खग्ग लइ गब्ब कइ तुलुक यवें युज्झई ;
अपि सगरें सुर नअर संकँपेल मुज्झई।

बादशाह रास्ते में लोगों से कर लेने लगे, बहुतेरे लोग बंदी हुए। सब कोई युद्ध के लिये उत्साह दिखाने लगे। दोनों राजकुमारों का भोजन केवल फल-मूल था। उन्होंने बहुत कष्ट उठाया, परंतु उत्साह के साथ चलते थे। इस समय दोनों भाई सोचने लगे, "क्या हमारी माताजी अब तक जीवित हैं?" वहाँ माता के साथ उनके सन्धिविग्राहक आनंद और मित्र श्रीहंसराय थे। वे सब कुछ छोड़कर राज-कार्य में लगे थे। राजकुमारों के भाई रायसिंह, मंत्री गोविंददत्त तथा शिवभक्त हरदत्त भी उनके साथ थे। यदि ये माताजी को प्रबोध दें, तो वह शोक नहीं करेंगी।

दोनों भाई साहस के साथ युद्ध के लिये तैयार हुए हैं, उन्होंने अग्नि की शिखा हाथ में ली है, सर्प की फना पकड़ी है। उनकी दुःख की वार्त्ता मंत्री ने सुलतान के कर्णगोचर की।

इस प्रकार नाना कष्ट झेलते हुए वे तिरहुत की सीमा पर पहुँचे। तीसरा पल्लव शेष।

भृंगी कहती है—

कह कह कन्ता सब्ब भनन्ता किमि परिसेना सञ्चरिया ;
किमि चिरहुत्ती हाहउँ पवित्ति अरु असलान किकरियौं।

भृंग कहता है—

कित्तिसिंह गुण कहओं पेअसि अप्पहि कान ;
बिनु जने बिनु धने धन्धे बिनु जें चालिअ सुरुतान।

दोनों कुमार बड़े बहादुर हैं, असलान भी बड़ा बहादुर है। कुमारों के कारण ही सुलतान का तिरहुत में आगमन हुआ। सुलतान की आज्ञा से लाख से अधिक पदातिक आए हैं। नाना प्रकार के रण-वाद्य बजने लगे, हाथियों, घोड़ों तथा पदातिकों का जमघट बँध गया। चारों तरफ़ साथ-साथ कोलाहल मच गया। शीघ्र ही चतुरंग सेना तिरहुत में पहुँच गई। इसके बाद हाथियों का वर्णन है, घोड़ों का वर्णन है, पदातिकों का वर्णन है, सैन्यों की साजसज्जा का वर्णन है, लूट-पाट का वर्णन है। तुरुकों के पीछे हिंदुओं के दल आने लगे। कितने राजा आए, कितने राउत आए, उसका ठिकाना नहीं। इस आडंबर से सुलतान तिरहुत में पहुँचकर सिंहासन पर बैठे। उसी वक्त सुलतान ने कुमारों को बुलाकर फरमाया, "असलान बड़ा समर्थ है, अब वह कैसे रहेगा?" कीर्तिसिंह ने कहा "शत्रु को समय देना नहीं चाहिए। मैं जाकर शीघ्र ही उसे पकड़ लाऊँगा। यदि इंद्र भी उसके सहायक हों, तो भी उसे पकड़ूँगा। आज मैं पितृ-वैरी का नाश करूँगा। शत्रु के साथ लड़ूँगा। असलान को मार डालूँगा। उसका रुधिर लेकर अपने पैर पर लगाऊँगा।"

अब कीर्तिसिंह सैन्य लेकर गंडक नदी के पार असलान की छावनी पर जा पड़े। कुछ समय के लिये घोर युद्ध हुआ। असलान कीर्तिसिंह और वीरसिंह के साथ युद्ध में समर्थ नहीं हुआ।

तब्बे चिन्तइ मलिक असलान।
सब्ब सेन मइ पलइ पतिसाहे के हान आइअ ;
अनअ-महातरु फलिअ दुट्ठ दैव मह्नु निअर आइअ।
तोपल जीवन पलटि कहुँ थिर निर्मल जस लओ ;
कित्तिसिंह सओ सिंह सओ घट मेलि एक देओ।

अब कीर्तिसिंह और असलान में द्वंद्व युद्ध आरंभ हुआ। तलवारों के आघात से बिजली चमकने लगी। दोनों के शरीर से शोणित-धारा बहने लगी। असलान ने पीठ दिखाई। उस समय कीर्तिसिंह गर्व से स्फीत होकर कहने लगे, "अरे-अरे असलान प्राण-कातर,

---

१. सकल। २. नगर। ३. काँप गया। ४. मोह-प्राप्त होता है।

५. हे नाथ, तुम कहो कहो, तुम तो सभी कह रहे हो। किसके ऊपर सेना का संचालन किया गया? कैसे तिरहुत पवित्र हुआ? और असलान ने क्या किया?

६. कहूँगा। ७. अर्पण करो। ८. सुलतान को चलाया।

१. मेरी सब सेना ही मर गई। बादशाह को क्या हानि पहुँची? मेरा दुर्नीति-रूप महातरु फलवान् हुआ। दुर्दैव मेरे निकट आ पहुँचा। तथापि जीवन को पलट लूँ। स्थिर निर्मल यश उपार्जन करूँ। कीर्तिसिंह के साथ सिंह की नाईं एक बार मुलाक़ात करूँ।

अवज्ञान-मानस, समर-परित्याग-साहस, धिक् जीवन-मात्र-रसिक तू शत्रुता कर अपयश लाभ करते हुए जा रहा है। जब तूने रण में भंग दिया, तब तो तू कायर है। जो तुझे मारेगा, वह भी कायर है। अरे तू जा-जा, बौद्धों का अनुगमन कर।"

कीर्तिसिंह ने हँस-हँसकर ये बातें कहीं। तब रण जय कर राजा लौट आए। शंखध्वनि हुई। बाजे बजने लगे। चारों वेद झंकृत हुए। शुभ मुहूर्त में राजा का अभिषेक हुआ। बांधव लोग उत्साह करने लगे। तिरहुत ने अपना पूर्व रूप धारण किया। बादशाह ने उसके माथे पर तिलक चढ़ाया। कीर्तिसिंह राजा हुए।

इस प्रकार साहस के साथ युद्धक्षेत्र का मथनकर महाराजा कीर्तिसिंह ने जिस लक्ष्मी का लाभ किया था, वह जितने दिन चंद्र-सूर्य रहेंगे, तब तक परिपुष्ट होती रहे। और माधुर्य के प्रसवस्थल-स्वरूप यशोविस्तार की शिक्षा-सखी-सदृश विद्यापति कवि की कविता समस्त विश्व में व्याप्त होती रहे। चौथा पल्लव का शेष। ग्रंथ समाप्त।

नलिनीमोहन सन्याल

प्राणनाथ तौ हमारे हैं

जोगु को अँदेसो न अँदेसो भोगु त्यागिबे को ,
आगिबे को नेकु न अँदेसो उर धारे हैं ;
भनत 'बिसारद' अँदेसो न कछुक जो पै ,
यों ही मन मानि उन मोह तजे सारे हैं।
ऊधो ! यही आवत निरंतर अँदेसो हिए ,
जानिए न कैसे धौं बिचार वे बेचारे हैं ;
कूबरी के साथ बिधि कौन निबहैंगे अहो !
सरल-सुभाय प्राननाथ तौ हमारे हैं।

बलदेवप्रसाद टंडन

दो सखियाँ

(१)

लखनऊ
१-७-२५

री बहन, जब से यहाँ आई हूँ, तुम्हारी याद सताती रहती है। काश तुम कुछ दिनों के लिये यहाँ चली आतीं, तो कितनी बहार रहती। मैं तुम्हें अपने विनोद से मिलाती। क्या यह संभव नहीं है? तुम्हारे माता-पिता क्या तुम्हें इतनी आज़ादी भी न देंगे। मुझे तो आश्चर्य यही है कि बेड़ियाँ पहनकर तुम कैसे रह सकती हो। मैं तो इस तरह घंटे भर भी न रह सकती। ईश्वर को धन्यवाद देती हूँ कि मेरे पिताजी पुरानी लकीर पीटनेवालों में नहीं। वह उन नवीन आदर्शों के भक्त हैं, जिन्होंने नारीजीवन को स्वर्ग बना दिया है। नहीं तो मैं कहीं की न रहती।

विनोद हाल ही में इँगलैंड से डी० फ़िल होकर लौटे हैं और जीवन-यात्रा आरंभ करने के पहले एक बार संसार-यात्रा करना चाहते हैं। योरप का अधिकांश भाग तो वह देख चुके हैं, पर अमेरिका, आस्ट्रेलिया और एशिया की सैर किए बिना उन्हें चैन नहीं। मध्य एशिया और चीन का तो वह विशेष रूप से अध्ययन करना चाहते हैं। योरपियन यात्री जिन बातों की मीमांसा न कर सके, उन्हीं पर प्रकाश डालना उनका ध्येय है। सच कहती हूँ चंदा, ऐसा साहसी, ऐसा निर्भीक, ऐसा आदर्शवादी पुरुष मैंने कभी न देखा था। मैं तो उनकी बातें सुनकर चकित हो जाती हूँ। ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसका उन्हें पूरा ज्ञान न हो, जिसकी वह आलोचना न कर सकते हों, और यह केवल किताबी आलोचना नहीं होती, उसमें मौलिकता और नवीनता होती है। स्वतंत्रता के तो वह अनन्य उपासक हैं। ऐसे पुरुष की पत्नी बनकर ऐसी कौन-सी स्त्री है, जो अपने सौभाग्य पर गर्व न करे। बहन, तुमसे क्या कहूँ कि प्रातःकाल उन्हें अपने बँगले की ओर आते देखकर मेरे चित्त की क्या दशा हो जाती है। यह उन पर न्यो-

छावर होने के लिये विकल हो जाता है। वह मेरी आत्मा में बस गए हैं। अपने पुरुष की मैंने मन में जो कल्पना की थी, उसमें और इनमें बाल बराबर भी अंतर नहीं। मुझे रात-दिन यही भय लगा रहता है कि कहीं मुझमें उन्हें कोई त्रुटि न मिल जाय। जिन विषयों से उन्हें रुचि है, उनका अध्ययन आधी रात तक बैठी किया करती हूँ। ऐसा परिश्रम मैंने कभी न किया था। आईने-कंघी से मुझे कभी इतना प्रेम न था, सुभाषितों को मैंने कभी इतने चाव से कंठ न किया था। अगर इतना सब कुछ करने पर भी मैं उनका हृदय न पा सकी, तो बहन मेरा जीवन नष्ट हो जायगा, मेरा हृदय फट जायगा और संसार मेरे लिये सूना हो जायगा।

कदाचित् प्रेम के साथ ही मन में ईर्षा का भाव भी उदय हो जाता है। उन्हें मेरे बँगले की ओर आते हुए देख जब मेरी पड़ोसिन कुसुम अपने बरामदे में आकर खड़ी हो जाती है, तो मेरा ऐसा जी चाहता है कि उसकी आँखें ज्योति-हीन हो जायँ। कल तो अनर्थ ही हो गया। विनोद ने उसे देखते ही हैट उतार ली और मुसकिराए। वह कुलटा भी खीसें निकालने लगी। ईश्वर सारी विपत्तियाँ दे, पर मिथ्याभिमान न दे। चुड़ैलों की-सी तो आपकी सूरत है, पर अपने को अप्सरा समझती हैं। आप कविता करती हैं और कई पत्रिकाओं में उनकी कविताएँ छप भी गई हैं। बस, आप ज़मीन पर पाँव नहीं रखतीं। मैं सच कहती हूँ, थोड़ी देर के लिये विनोद पर से मेरी श्रद्धा उठ गई। ऐसा आवेश होता था कि चलकर कुसुम का मुँह नोच लूँ। ख़ैरियत हुई कि दोनों में बातचीत न हुई, पर विनोद आकर बैठे तो आध घंटे तक मैं उनसे न बोल सकी, जैसे उनके शब्दों में वह जादू ही न था, विनोद में वह रस ही न था। तब से अब तक मेरे चित्त की व्यग्रता शांत नहीं हुई। रात-भर मुझे नींद नहीं आई, वही दृश्य आँखों के सामने बार-बार आता था। कुसुम को लज्जित करने के लिये कितने मंसूबे बाँध चुकी हूँ। चंदा, मुझे आज तक यह नहीं मालूम था कि मेरा मन इतना दुर्बल है। अगर यह भय न होता कि विनोद मुझे ओछी और हलकी समझेंगे, तो मैं उनसे अपने मनोभावों को स्पष्ट कह देती। मैं संपूर्णतः उनकी होकर उन्हें संपूर्णतः अपना बनाना चाहती हूँ। मुझे विश्वास है कि संसार का सबसे रूपवान् युवक मेरे सामने आ जाय, तो मैं उसे आँख उठाकर न देखूँगी। विनोद के मन में मेरे प्रति वह भाव क्यों नहीं है ?

चंदा, प्यारी बहन, एक सप्ताह के लिये आ जा। तुमसे मिलने के लिये मन अधीर हो रहा है। मुझे इस समय तेरी सलाह और सहानुभूति की बड़ी ज़रूरत है। यह मेरे जीवन का सबसे नाज़ुक समय है। इन्हीं दस-पाँच दिनों में या तो पारस हो जाऊँगी, या मिट्टी। लो ७ बज गए और अभी बाल तक नहीं बनाए। विनोद के आने का समय है। अब विदा होती हूँ। कहीं आज फिर अभागिनी कुसुम अपने बरामदे में न आ खड़ी हो। अभी से दिल काँप रहा है। कल तो यह सोचकर मन को समझाया था कि यों ही सरल भाव से वह हँस पड़ी हो। आज भी अगर वही दृश्य सामने आया, तो उतनी आसानी से मन को न समझा सकूँगी।

तुम्हारी
पद्मा

(२)

गोरखपुर
५-७-२५

प्रिय पद्मा,

भला एक युग के बाद तुम्हें मेरी सुधि तो आई। मैंने तो समझा था, शायद तुमने परलोक-यात्रा कर ली। यह उसी निष्ठुरता का दंड है, जो कुसुम तुम्हें दे रही है। १५ एप्रिल को कॉलेज बंद हुआ और १ जुलाई को आप ख़त लिखती हैं, पूरे ढाई महीने बाद। वह भी कुसुम की कृपा से। जिस कुसुम को तुम कोस रही हो, उसे मैं आशीर्वाद दे रही हूँ। वह दारुण दुख की भाँति तुम्हारे रास्ते में न आ खड़ी होती, तो तुम्हें क्यों मेरी याद आती। ख़ैर। विनोद की तुमने जो तसवीर खींची, वह बहुत ही आकर्षक है, और मैं ईश्वर से मना रही हूँ, वह दिन जल्द आए कि मैं उनसे बहनोई के नाते मिल सकूँ। मगर देखना कहीं सिविल मैरेज न कर बैठना, विवाह हिंदू-पद्धति के अनुसार ही हो, हाँ तुम्हें, अख़्तियार है जो सैकड़ों बेहूदा और व्यर्थ के पचड़े हैं, उन्हें निकाल डालो। एक सच्चे, विद्वान् पंडित को अवश्य बुलाना, इसलिये नहीं कि वह तुमसे बात-बात पर टके निकलवाए, बल्कि इसलिये कि वह देखता रहे कि सब कुछ शास्त्र-विधि से हो रहा है, या नहीं।

अच्छा, अब मुझसे पूछो कि इतने दिनों क्यों चुप्पी

साधे बैठी रही। मेरे ही ख़ानदान में इन ढाई महीनों में पाँच शादियाँ हुई। बरातों का ताँता लगा रहा। ऐसा शायद ही कोई दिन गया हो कि १०० मेहमानों से कम रहे हों, और जब बरात आ जाती थी, तब तो उनकी संख्या पाँच-पाँच सौ तक पहुँच जाती थी। ये पाँचों लड़कियाँ मुझसे छोटी हैं, और मेरा बस चलता, तो अभी तीन-चार साल तक न बोलतीं, लेकिन मेरी सुनता कौन। और विचार करने पर मुझे भी ऐसा मालूम होता है कि माता-पिता का लड़कियों के विवाह के लिये जल्दी करना कुछ अनुचित नहीं है। ज़िंदगी का कोई ठिकाना नहीं। अगर माता-पिता अकाल ही मर जायँ, तो लड़की का विवाह कौन करे। भाइयों का क्या भरोसा। अगर पिता ने काफ़ी दौलत छोड़ी है, तो कोई बात नहीं, लेकिन जैसा साधारणतः होता है, पिता ऋण का भार छोड़ गए, तो बहन भाइयों पर भार हो जाती है। यह भी अन्य कितने ही हिंदू रस्मों की भाँति आर्थिक समस्या है, और जब तक हमारी आर्थिक दशा न सुधरेगी, यह रस्म भी न मिटेगी।

अब मेरे बलिदान की बारी है। आज के पंद्रहवें दिन यह घर मेरे लिये विदेस हो जायगा। दो-चार महीने के लिये आऊँगी तो मेहमान की तरह। मेरे विनोद बनारसी हैं, अभी क़ानून पढ़ रहे हैं, उनके पिता नामी वकील हैं। सुनती हूँ कई गाँव हैं, कई मकान हैं, अच्छी मर्यादा है। मैंने अभी तक वर को नहीं देखा। पिताजी ने मुझसे पुछवाया था कि इच्छा हो, तो वर को बुला दूँ। पर मैंने कह दिया, कोई ज़रूरत नहीं। कौन घर में बहू बने। है तक़दीर ही का सौदा। न पिताजी ही किसी के मन में पैठ सकते हैं, न मैं ही। अगर दो-एक बार देख ही लेती, नहीं मुलाक़ात ही कर लेती, तो क्या हम दोनों एक दूसरे को परख लेते। यह किसी तरह संभव नहीं। ज़्यादा-से-ज़्यादा हम एक दूसरे का रंग-रूप देख सकते हैं। इस विषय में मुझे विश्वास है कि पिताजी मुझसे कम संयत नहीं हैं। मेरे दोनों बड़े बहनोई सौंदर्य के पुतले न हों, पर कोई रमणी उनसे घृणा नहीं कर सकती। मेरी बहनें उनके साथ आनंद से जीवन बिता रही हैं। फिर पिताजी मेरे ही साथ क्यों अन्याय करेंगे। यह मैं मानती हूँ कि हमारे समाज में कुछ लोगों का वैवाहिक जीवन सुखकर नहीं है, लेकिन संसार में ऐसा कौन समाज है, जिसमें दुखी परिवार न हों। और फिर हमेशा पुरुषों ही का दोष नहीं होता, बहुधा स्त्रियाँ ही विष की गाँठ होती हैं। मैं तो विवाह को सेवा और त्याग का व्रत समझती हूँ और इसी भाव से उसका अभिवादन करती हूँ। हाँ, मैं तुम्हें विनोद से छीनना तो नहीं चाहती, लेकिन अगर २० जुलाई तक तुम दो दिन के लिये आ सको, तो मुझे जिला लो। ज्यों-ज्यों इस व्रत का दिन निकट आ रहा है मुझे एक अज्ञात शंका हो रही है, मगर तुम ख़ुद बीमार हो, मेरी दवा क्या करोगी—ज़रूर आना बहन।

तुम्हारी

चंदा

(३)

मंसूरी

५-८-२५

प्यारी चंदा—सैकड़ों बातें लिखनी हैं, किस क्रम से शुरू करूँ, समझ में नहीं आता। सबसे पहले तुम्हारे विवाह के शुभ अवसर पर न पहुँच सकने के लिये क्षमा चाहती हूँ। मैं आने का निश्चय कर चुकी थी, मैं और प्यारी चंदा के स्वयंवर में न जाऊँ। मगर उसके ठीक तीन दिन पहले विनोद ने अपना आत्मसमर्पण करके मुझे ऐसा मुग्ध कर दिया कि फिर मुझे किसी बात की सुधि न रही। आह! वे प्रेम के अंतस्तल से निकले हुए उष्ण, आवेशमय और कंपित शब्द अभी तक कानों में गूँज रहे हैं। मैं खड़ी थी, और विनोद मेरे सामने घुटने टेके हुए प्रेरणा, विनय और आग्रह के पुतले बने बैठे थे। ऐसा अवसर जीवन में एक ही बार आता है, केवल एक बार, मगर उसकी मधुर स्मृति किसी स्वर्ग-संगीत की भाँति जीवन के तार-तार में व्याप्त रहती है। तुम उस आनंद का अनुभव न कर सकोगी—मैं रोने लगी, कह नहीं सकती मन में क्या-क्या भाव आए; पर मेरी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। कदाचित् यही आनंद की चरम-सीमा है। मैं कुछ-कुछ निराश हो चली थी। तीन-चार दिन से विनोद को, आते-जाते, कुसुम से बातें करते देखती थी, कुसुम नित नए आभूषणों से सजी रहती थी। और क्या कहूँ, एक दिन विनोद ने कुसुम की एक कविता मुझे सुनाई और एक-एक शब्द पर सिर धुनते रहे। मैं मानिनी तो हूँ ही, सोची अब यह उस

चुड़ैल पर लट्टू हो रहे हैं, तो मुझे क्या ग़रज़ पड़ी है कि इनके लिये अपना सिर खपाऊँ। दूसरे दिन जब वह सवेरे आए, तो मैंने कहला दिया तबियत अच्छी नहीं है। जब उन्होंने मुझसे मिलने के लिये आग्रह किया, तब विवश होकर मुझे कमरे में आना पड़ा। मन में निश्चय करके आई थी साफ़ कह दूँगी, अब आप न आया कीजिए मैं आपके योग्य नहीं हूँ, मैं कवि नहीं, विदुषी नहीं, सुभाषिणी नहीं......एक पूरी स्पीच मन में उमड़ रही थी, पर कमरे में आई और विनोद के सतृष्ण नेत्र देखे, प्रबल उत्कंठा से काँपते हुए ओठ—बहन उस आवेश का चित्रण नहीं कर सकती। विनोद ने मुझे बैठने भी न दिया। मेरे सामने घुटनों के बल फ़र्श पर बैठ गए, और उनके आतुर, उन्मत्त शब्द मेरे हृदय को तरंगित करने लगे।

एक सप्ताह तैयारियों में कट गया। पापा और मामा फूले न समाते थे। और सबसे प्रसन्न थी कुसुम! वही कुसुम जिसकी सूरत से मुझे घृणा थी! अब मुझे ज्ञात हुआ कि मैंने उस पर संदेह करके उसके साथ घोर अन्याय किया। उसका हृदय निष्कपट है, उसमें न ईर्षा है, न तृष्णा, सेवा ही उसके जीवन का मूल-तत्त्व है। मैं नहीं समझती कि उसके बिना ये सात दिन कैसे कटते। मैं कुछ खोई-खोई-सी जान पड़ती थी। कुसुम पर मैंने अपना सारा भार छोड़ दिया था। आभूषणों के चुनाव और सजाव, वस्त्रों के रंग और काट-छाँट के विषय में उसकी सुरुचि विलक्षण है। आठवें दिन जब उसने मुझे दुलहिन बनाया, तो मैं अपना रूप देखकर चकित हो गई। मैंने अपने को कभी ऐसी सुंदरी न समझा था। गर्व से मेरी आँखों में नशा-सा छा गया!

उसी दिन संध्या-समय विनोद और मैं दो भिन्न जल-धाराओं की भाँति संगम पर मिलकर अभिन्न हो गए। विहार-यात्रा की तैयारी पहले ही से हो चुकी थी, प्रातः-काल हम मंसूरी के लिये रवाना हो गए। कुसुम हमें पहुँचाने के लिये स्टेशन तक आई और बिदा होते समय बहुत रोई। उसे साथ ले चलना चाहती थी, पर न-जाने क्यों वह राज़ी न हुई।

मंसूरी रमणीक है, इसमें संदेह नहीं, श्यामवर्ण मेघ-मालाएँ पहाड़ियों पर विश्राम कर रही हैं, शीतल पवन आशा-तरंगों की भाँति चित्त का रंजन कर रहा है; पर मुझे ऐसा विश्वास है कि विनोद के साथ मैं किसी निर्जन वन में भी इतने ही सुख से रहती। उन्हें पाकर अब मुझे किसी वस्तु की लालसा नहीं। बहन, तुम इस आनंदमय जीवन की शायद कल्पना भी न कर सकोगी। सुबह हुई, नाश्ता आया, हम दोनों ने नाश्ता किया; मोटर तैयार है, नौ बजते-बजते सैर करने निकल गए। किसी जल-प्रपात के किनारे जा बैठे। वहाँ जल-प्रवाह का मधुर संगीत सुन रहे हैं। या किसी शिला-खंड पर बैठे मेघों की व्योम-क्रीड़ा देख रहे हैं। ११ बजते-बजते लौटे। भोजन तैयार है। भोजन किया। मैं प्यानो पर जा बैठी। विनोद को संगीत से प्रेम है। ख़ुद बहुत अच्छा गाते हैं, और मैं गाने लगती हूँ, तब तो वह झूमने ही लगते हैं। तीसरे पहर हम एक घंटे के लिये विश्राम करके खेलने या कोई खेल देखने चले जाते हैं। रात को भोजन करने के बाद थिएटर देखते हैं और वहाँ से लौट-कर शयन करते हैं। न सास की घुड़कियाँ हैं, न ननदों की कानाफूसी, न जेठानियों के ताने। पर इस सुख में भी मुझे कभी-कभी एक शंका-सी होती है—फूल में कोई काँटा तो नहीं छिपा हुआ है, प्रकाश के पीछे कहीं अंधकार तो नहीं है! मेरी समझ में नहीं आता ऐसी शंका क्यों होती है। अरे! यह लो पाँच बज गए, विनोद तैयार है, आज टेनिस का मैच देखने जाना है। मैं भी जल्दी से तैयार हो जाऊँ। शेष बातें फिर लिखूँगी।

हाँ, एक बात तो भूली ही जा रही थी। अपने विवाह का समाचार लिखना। पतिदेव कैसे हैं? रंग-रूप कैसा है? ससुराल गईं, या अभी मैके ही में हो? ससुराल गईं तो वहाँ के अनुभव अवश्य लिखना। तुम्हारी ख़ूब नुमा-इश हुई होगी। घर, कुटुंब और महल्ले की महिलाओं ने घूँघट उठा-उठाकर ख़ूब मुँह देखा होगा, ख़ूब परीक्षा हुई होगी। ये सभी बातें विस्तार से लिखना। देखें कब फिर मुलाक़ात होती है।

तुम्हारी

पद्मा

(४)

गोरखपुर

१-६-२५

प्यारी पद्मा, तुम्हारा पत्र पढ़कर चित्त को बड़ी शांति मिली। तुम्हारे न आने ही से मैं समझ गई थी

कि विनोद बाबू तुम्हें हर ले गए, मगर यह न समझी थी कि तुम मंसूरी पहुँच गई। अब उस आमोद-प्रमोद में भला ग़रीब चंदा तुम्हें क्यों याद आने लगी। अब मेरी समझ में आ रहा है कि विवाह के नए और पुराने आदर्श में क्या अंतर है। तुमने अपनी पसंद से काम लिया, सुखी हो, मैं लोक-लाज की दासी बनी रही, नसीबों को रो रही हूँ।

अच्छा, अब मेरी बीती सुनो। दान-दहेज के टंटे से तो मुझे कुछ मतलब नहीं। पिताजी ने बड़ा ही उदार हृदय पाया है। ख़ूब दिल खोलकर दिया होगा। मगर द्वार पर बरात आते ही मेरी अग्नि-परीक्षा शुरू हो गई। कितनी उत्कंठा थी वर-दर्शन की, पर देखूँ कैसे? कुल की नाक न कट जायगी। द्वार पर बरात आई। सारा ज़माना वर को घेरे हुए था। मैंने सोचा छत पर से देखूँ। छत पर गई, पर वहाँ से भी कुछ न दिखाई दिया। हाँ, इस अपराध के लिये अम्माजी की घुड़कियाँ सुनना पड़ीं। मेरी जो बात इन लोगों को अच्छी नहीं लगती, उसका दोष मेरी शिक्षा के माथे मढ़ा जाता है। पिताजी बेचारे मेरे साथ बड़ी सहानुभूति रखते हैं। मगर किस-किसका मुँह पकड़ें, द्वारचार तो यों गुज़रा, अब भाँवरों की तैयारियाँ होने लगीं। जनवासे से गहनों और कपड़ों का डाल आया। बहन! सारा घर—स्त्री पुरुष—सब उस पर कुछ इस तरह टूटे, मानो इन लोगों ने कभी कुछ देखा ही नहीं। कोई कहता है कंठा तो लाए ही नहीं, कोई हार के नाम को रोता है। अम्माजी तो सचमुच रोने लगीं, मानो मैं डुबा दी गई। वर पक्षवालों की दिल खोलकर निंदा होने लगी। मगर मैंने गहनों की तरफ़ आँख उठाकर भी नहीं देखा। हाँ, जब कोई वर के विषय में कोई बात करता था, तो मैं तन्मय होकर सुनने लगती थी। मालूम हुआ दुबले-पतले आदमी हैं, रंग साँवला है, आँखें बड़ी-बड़ी हैं, हँसमुख हैं। इन सूचनाओं से दर्शनोत्कंठा और भी प्रबल होती थी। भाँवरों का मुहूर्त ज्यों-ज्यों समीप आता था, मेरा चित्त व्यग्र होता जाता था। अब तक यद्यपि मैंने उनकी झलक भी न देखी थी, पर मुझे उनके प्रति एक अभूतपूर्व प्रेम का अनुभव हो रहा था। इस वक़्त यदि मुझे मालूम हो जाता कि उनके दुश्मनों को कुछ हो गया है, तो मैं बावली हो जाती। अभी तक मेरा उनसे साक्षात् नहीं हुआ है, मैंने उनकी बोली तक नहीं सुनी है, लेकिन संसार का सबसे रूपवान् पुरुष भी मेरे चित्त को आकर्षित नहीं कर सकता। अब वही मेरे सर्वस्व हैं।

आधी रात के बाद भाँवरें हुईं। सामने हवन-कुंड था, दोनों ओर विप्रगण बैठे हुए थे, दीपक जल रहा था, कुल-देवता की मूर्ति रखी हुई थी। वेद-मंत्रों का पाठ हो रहा था। उस समय मुझे ऐसा मालूम हुआ कि सच-मुच देवता विराजमान हैं। अग्नि, वायु, दीपक, नक्षत्र सभी मुझे उस समय देवत्व की ज्योति से प्रदीप्त जान पड़ते थे। मुझे पहली बार आध्यात्मिक विकास का परिचय मिला। मैंने जब अग्नि के सामने मस्तक झुकाया, तो यह कोरी रस्म की पाबंदी न थी, मैं अग्निदेव को अपने सम्मुख मूर्तिमान्, स्वर्गीय आभा से तेजोमय देख रही थी। आख़िर भाँवरें भी समाप्त हो गईं, पर पतिदेव के दर्शन न हुए।

अब अंतिम आशा यह थी कि प्रातःकाल जब पति-देव कलेवा के लिये बुलाए जायँगे, उस समय देखूँगी। तब उनके सिर पर मौर न होगा, सखियों के साथ मैं भी जा बैठूँगी और ख़ूब जी भरकर देखूँगी। पर क्या मालूम थी कि विधि कोई और ही कुचक्र रच रहा है। प्रातःकाल देखती हूँ, तो जनवासे के ख़ेमे उखड़ रहे हैं। बात कुछ न थी। बरातियों के नाश्ते के लिये जो सामान भेजा गया था, वह काफ़ी न था। शायद घी भी ख़राब था। मेरे पिताजी को तो तुम जानती ही हो। कभी किसी से दबे नहीं, जहाँ रहे शेर बनकर रहे। बोले—जाते हैं जाने दो, मनाने की कोई ज़रूरत नहीं, कन्यापक्ष का धर्म है बरातियों का सत्कार करना, लेकिन सत्कार का यह अर्थ नहीं कि धमकी और रोब से काम लिया जाय, मानो किसी अफ़सर का पड़ाव हो। अगर वह अपने लड़के की शादी कर सकते हैं, तो मैं भी अपनी लड़की की शादी कर सकता हूँ।

बरात चली गई और मैं पति के दर्शन न कर सकी! सारे शहर में हलचल मच गई। विरोधियों को हँसने का अवसर मिला। पिताजी ने बहुत सामान जमा किया था। वह सब ख़राब हो गया। घर में जिसे देखिए, मेरी ससुराल की निंदा कर रहा है—उजड्ड हैं, लोभी हैं, बदमाश हैं। मुझे ज़रा भी बुरा नहीं लगता। लेकिन पति के विरुद्ध मैं एक शब्द भी नहीं सुनना

चाहती। एक दिन अम्माजी बोलीं—लड़का भी बेसमझ है। दूध पीता बच्चा नहीं, क़ानून पढ़ता है, मूछ-दाढ़ी आ गई है, उसे अपने बाप को समझाना चाहिए था कि आप लोग क्या कर रहे हैं। मगर वह भी भीगी बिल्ली बना रहा। मैं सुनकर मन में तिलमिला उठी। कुछ बोली तो नहीं, पर अम्माजी को मालूम ज़रूर हो गया कि इस विषय में मैं उनसे सहमत नहीं। मैं तुम्हीं से पूछती हूँ बहन, जैसी समस्या उठ खड़ी हुई थी, उसमें उनका क्या धर्म था? अगर वह अपने पिता और अन्य संबंधियों का कहना न मानते, तो उनका अपमान न होता? उस वक़्त उन्होंने वही किया, जो उचित था। मगर मुझे विश्वास है कि ज़रा मामला ठंडा होने पर वह आवेंगे। मैं अभी से उनकी राह देखने लगी हूँ। डाकिया चिट्ठियाँ लाता है तो दिल में धड़कन होने लगती है—शायद उनका पत्र भी हो! जी में बार-बार आता है, क्यों न मैं ही एक ख़त लिखूँ; मगर संकोच में पड़कर रह जाती हूँ। शायद मैं कभी न लिख सकूँगी। मान नहीं है, केवल संकोच है, पर हाँ, अगर दस-पाँच दिन और उनका पत्र न आया, या वह ख़ुद न आए, तो संकोच मान का रूप धारण कर लेगा। क्या तुम उन्हें एक चिट्ठी नहीं लिख सकतीं, सब खेल बन जाय। क्या मेरी इतनी ख़ातिर भी न करोगी? मगर ईश्वर के लिये उस ख़त में कहीं यह न लिखा देना कि चंदा प्रेरणा की है। क्षमा करना, ऐसी भद्दी ग़लती की तुम्हारी ओर से शंका करके मैं तुम्हारे साथ अन्याय कर रही हूँ, मगर मैं समझदार थी ही कब?

तुम्हारी
चंदा

(५)

मंसूरी
२०-१-२५

प्यारी चंदा! मैंने तुम्हारा ख़त पाने के दूसरे ही दिन काशी ख़त लिख दिया था। उसका जवाब भी मिल गया। शायद बाबूजी ने तुम्हें ख़त लिखा हो। कुछ पुराने ख़याल के आदमी हैं। मेरी तो उनसे एक दिन भी न निभती। हाँ, तुमसे निभ जायगी। यदि मेरे पति ने मेरे साथ यह बर्ताव किया होता—अकारण मुझसे रूठे होते—तो मैं ज़िंदगी भर उनकी सूरत न देखती। अगर कभी आते भी तो कुत्तों की तरह दुत्कार देती। पुरुष पर सबसे बड़ा अधिकार उसकी स्त्री का है। माता-पिता को ख़ुश रखने के लिये वह स्त्री का तिरस्कार नहीं कर सकता। तुम्हारे ससुरालवालों ने बड़ा घृणित व्यवहार किया। पुराने ख़यालवालों का ग़ज़ब का कलेजा है, जो ऐसी बातें सहते हैं। देखा उस प्रथा का फल, जिसकी तारीफ़ करते तुम्हारी ज़बान नहीं थकती। वह दीवार सड़ गई है। टीपटाप करने से काम न चलेगा। उसकी जगह नए सिर से दीवार बनाने की ज़रूरत है।

अच्छा, अब कुछ मेरी कथा भी सुन लो। मुझे ऐसा संदेह हो रहा है कि विनोद ने मेरे साथ दग़ा की है। इनकी आर्थिक दशा वैसी नहीं, जैसी मैंने समझी थी। केवल मुझे ठगने के लिये इन्होंने सारा स्वांग भरा था। मोटर माँगे की थी, बँगले का किराया अभी तक नहीं दिया गया। फ़रनिचर किराए के थे। यह सच है कि इन्होंने प्रत्यक्ष रूप से मुझे धोखा नहीं दिया। कभी अपनी दौलत की डींग नहीं मारी, लेकिन ऐसा रहन-सहन बना लेना जिससे दूसरों को अनुमान हो कि यह कोई बड़े धनी आदमी हैं, एक प्रकार का धोखा ही है। यह स्वांग इसीलिये भरा गया था कि कोई शिकार फँस जाय। अब देखती हूँ कि विनोद मुझसे अपनी असली हालत को छिपाने का प्रयत्न किया करते हैं, अपने ख़त मुझे नहीं देखने देते, कोई मिलने आता है, तो वह चौंक पड़ते हैं और घबड़ाई हुई आवाज़ में बैरा से पूछते हैं कौन है? तुम जानती हो, मैं धन की लौंडी नहीं। मैं केवल विशुद्ध हृदय चाहती हूँ। जिसमें पुरुषार्थ है, प्रतिभा है, वह आज नहीं तो कल अवश्य ही धनवान् होकर रहेगा। मैं इस कपट-लीला से जलती हूँ। अगर विनोद मुझसे अपनी कठिनाइयाँ कह दें, तो मैं उनके साथ सहानुभूति करूँगी, उन कठिनाइयों को दूर करने में उनकी मदद करूँगी। यों मुझसे परदा करके वह मेरी सहानुभूति और सहयोग ही से हाथ नहीं धोते, मेरे मन में अविश्वास, द्वेष और क्षोभ का बीज बोते हैं। यह चिंता मुझे मारे डालती है। अगर इन्होंने मुझसे अपनी दशा साफ़-साफ़ बता दी होती, तो मैं यहाँ मंसूरी आती ही क्यों, लखनऊ में ऐसी गरमी नहीं पड़ती कि आदमी पागल हो जाय। यह हज़ारों रुपए पर क्यों पानी पड़ता। सबसे कठिन समस्या जीविका

की है। कई विद्यालयों में आवेदन-पत्र भेज रक्खे । जवाब का इंतज़ार कर रहे हैं। शायद इस महीने के अंत तक कहीं जगह मिल जाय। पहले तीन-चार सौ मिलेंगे। समझ में नहीं आता, कैसे काम चलेगा। १५०) तो पापा मेरे कॉलेज का ख़र्च देते थे। अगर दस-पाँच महीने जगह न मिली तो यह क्या करेंगे, यह फ़िक्र और भी खाए डालती है। मुश्किल यही है कि विनोद मुझसे परदा रखते हैं। अगर हम दोनों बैठकर परामर्श कर लेते, तो सारी गुत्थियाँ सुलझ जातीं। मगर शायद यह मुझे इस योग्य ही नहीं समझते। शायद इनका ख़याल है कि मैं केवल रेशमी गुड़िया हूँ, जिसे भाँति-भाँति के आभूषणों, सुगंधों और रेशमी वस्त्रों से सजाना ही काफ़ी है। थिएटर में कोई नया तमाशा होनेवाला होता है, तो दौड़े हुए आकर मुझे ख़बर देते हैं। कहीं कोई जलसा हो, कोई खेल हो, कहीं सैर करना हो, उसकी शुभ सूचना मुझे अविलंब दी जाती है, और बड़ी प्रसन्नता के साथ, मानो मैं रात-दिन विनोद और क्रीड़ा और विलास में मग्न रहना चाहती हूँ, मानो मेरे हृदय में गंभीर अंश ही नहीं। यह मेरा अपमान है, घोर अपमान, जिसे मैं अब नहीं सह सकती। मैं अपने संपूर्ण अधिकार लेकर संतुष्ट हो सकती हूँ। बस, इस वक़्त इतना ही। बाक़ी फिर, अपने यहाँ का हाल-हवाल विस्तार से लिखना। मुझे अपने लिये जितनी चिंता है, उससे कम तुम्हारे लिये नहीं है। देखो हम दोनों के डोंगे कहाँ लगते हैं। तुम अपने स्वदेशी, पाँच हज़ार वर्षों की पुरानी, जर्जर नौका पर बैठी हो, मैं नए, द्रुतगामी मोटर-बोट पर। अवसर, विज्ञान और उद्योग मेरे साथ हैं, लेकिन कोई दैवी विपत्ति आ जाय, तब भी इसी मोटर-बोट पर डूबूँगी। साल में लाखों आदमी रेल के टक्करों से मर जाते हैं, पर कोई बैल-गाड़ियों पर यात्रा नहीं करता। रेलों का विस्तार बढ़ता ही जाता है। बस,

तुम्हारी

पद्मा

(६)

गोरखपुर

२५-१-२५

प्यारी पद्मा—कल तुम्हारा ख़त मिला, आज जवाब लिख रही हूँ। एक तुम हो कि महीनों रटाती हो। इस विषय में तुम्हें मुझसे उपदेश लेना चाहिए। विनोद बाबू पर तुम व्यर्थ ही आक्षेप लगा रही हो, तुमने क्यों पहले ही उनकी आर्थिक दशा की जाँच-परताल नहीं की? बस एक सुंदर, रसिक, शिष्ट, वाणी-मधुर, युवक देखा और फूल उठी। अब भी तुम्हारा ही दोष है। तुम अपने व्यवहार से, रहन-सहन से, सिद्ध कर दो कि तुममें गंभीर अंश भी है, फिर देखूँ विनोद बाबू कैसे तुमसे परदा रखते हैं। और बहन, यह तो मानवी स्वभाव है, सभी चाहते हैं कि लोग हमें संपन्न समझें, इस स्वांग को अंत तक निभाने की चेष्टा की जाती है और जो इस काम में सफल हो जाता है, उसी का जीवन सफल समझा जाता है। जिस युग में धन ही सर्वप्रधान हो, मर्याद, कीर्ति, यश, यहाँ तक कि विद्या भी धन से ख़रीदी जा सके, उस युग में स्वांग भरना एक लाज़िमी बात हो जाती है। अधिकार योग्यता का मुँह ताकते हैं। यही समझ लो कि इन दोनों में फूल और फल का संबंध है। योग्यता का फूल लगा और अधिकार का फल आया।

इस ज्ञानोपदेश के बाद अब तुम्हें हार्दिक धन्यवाद देती हूँ। तुमने पतिदेव के नाम जो पत्र लिखा था, उसका बहुत अच्छा असर हुआ। उसके पाँचवें ही दिन स्वामी का कृपापत्र मुझे मिला। बहन, वह ख़त पाकर मुझे कितनी ख़ुशी हुई, इसका तुम अनुमान कर सकती हो। मालूम होता था, अंधे को आँखें मिल गई हैं। कभी कोठे पर जाती थी, कभी नीचे आती थी। सारे घर में खलबली पड़ गई। तुम्हें वह पत्र अत्यंत निराशा-जनक जान पड़ता, मेरे लिये वह संजीवन-मंत्र था, आशा-दीपक था। प्राणेश ने बरातियों की उद्दंडता पर खेद प्रकट किया था, पर बड़ों के सामने वह ज़बान कैसे खोल सकते थे। फिर जनातियों ने भी बरातियों का जैसा आदर-सत्कार करना चाहिए था, वैसा नहीं किया। अंत में लिखा था—"प्रिए, तुम्हारे दर्शनों की कितनी उत्कंठा है, लिख नहीं सकता। तुम्हारी कल्पित मूर्ति नित आँखों के सामने रहती है। पर कुल-मर्यादा का पालन करना मेरा कर्तव्य है, जब तक माता-पिता का रुख़ न पाऊँ, आ नहीं सकता। तुम्हारे वियोग में चाहे प्राण ही निकल जायँ, पर पिता की इच्छा की उपेक्षा नहीं कर

सकता। हाँ, एक बात का दृढ़ निश्चय कर चुका हूँ— चाहे इधर की दुनिया उधर हो जाय, कपूत कहलाऊँ, पिता के कोप का भागी बनूँ, घर छोड़ना पड़े; पर अपनी दूसरी शादी न करूँगा। मगर जहाँ तक मैं समझता हूँ मामला इतना तूल न खींचेगा, यह लोग थोड़े दिनों में नर्म पड़ जायँगे और तब मैं आऊँगा और अपनी हृदयेश्वरी को आँखों पर बिठाकर लाऊँगा।"

बस, अब मैं संतुष्ट हूँ बहन, मुझे और कुछ न चाहिए। स्वामी मुझ पर इतनी कृपा रखते हैं, इससे अधिक और वह क्या कर सकते हैं। प्रियतम, तुम्हारी चंदा सदा तुम्हारी रहेगी, तुम्हारी इच्छा हो उसका कर्तव्य है, वह जब तक जिएगी, तुम्हारे पवित्र चरणों से लगी रहेगी, उसे बिसारना मत।

बहन, आँखों में आँसू भरे आते हैं, अब नहीं लिखा जाता, जवाब जल्द देना।

तुम्हारी
चंदा

(७)

दिल्ली
१५-१२-२५

प्यारी बहन, तुमसे बार-बार क्षमा माँगती हूँ, पैरों पड़ती हूँ। मेरे पत्र न लिखने का कारण आलस्य न था, सैर-सपाटे की धुन न थी। रोज़ सोचती थी कि आज लिखूँगी, पर कोई-न-कोई ऐसा काम आ पड़ता था, कोई ऐसी बात हो जाती थी, कोई ऐसी बाधा आ खड़ी होती थी कि चित्त अशांत हो जाता था और मुँह लपेटकर पड़ रहती थी। तुम मुझे अब देखो तो शायद पहचान न सको। मंसूरी से दिल्ली आए एक महीना हो गया। यहाँ विनोद को तीन-सौ रुपए की एक जगह मिल गई है। यह सारा महीना बाज़ार की ख़ाक छानने में कटा। विनोद ने मुझे पूरी स्वाधीनता दे रक्खी है। मैं जो चाहूँ करूँ, उनसे कोई मतलब नहीं। वह मेरे मेहमान हैं। गृहस्थी का सारा बोझ मुझ पर डालकर वह निश्चिंत हो गए हैं। ऐसा बेफ़िक्रा मैंने आदमी ही नहीं देखा। हाज़िरी की परवाह है न डिनर की, बुलाया तो आ गए, नहीं तो बैठे हैं। नौकरों से कुछ बोलने को तो मानो इन्होंने क़सम ही खा ली है। उन्हें डाटूँ तो मैं, रक्खूँ तो मैं, निकालूँ तो मैं। उनसे कोई मतलब ही नहीं। मैं चाहती हूँ वह मेरे प्रबंध की आलोचना करें, ऐब निकालें; मैं चाहती हूँ जब मैं बाज़ार से कोई चीज़ लाऊँ, तो वह बतावें कि मैं लुट गई या जीत आई; मैं चाहती हूँ महीने के ख़र्च का बजट बनाते समय मेरे और उनके बीच में ख़ूब बहस हो; पर इन अरमानों में से एक भी पूरा नहीं होता। मैं नहीं समझती इस तरह कोई स्त्री कहाँ तक गृह-प्रबंध में सफल हो सकती है। विनोद के इस संपूर्ण आत्मसमर्पण ने मेरे निज की ज़रूरतों के लिये कोई गुंजाइश ही नहीं रक्खी। अपने शौक़ की चीज़ ख़ुद ख़रीद कर लाते बुरा मालूम होता है, कम-से-कम मुझसे नहीं हो सकता। मैं जानती हूँ मैं अपने लिये कोई चीज़ लाऊँ, तो वह नाराज़ न होंगे, नहीं मुझे विश्वास है ख़ुश होंगे, लेकिन मेरा जी चाहता है, मेरे शौक़-सिंगार की चीज़ें वह ख़ुद लाकर दें, उनसे लेने में जो आनंद है, वह ख़ुद जाकर लाने में नहीं। पिताजी अब भी मुझे १००) महीना देते हैं और उन रुपयों को मैं अपनी ज़रूरतों पर ख़र्च कर सकती हूँ, पर-न-जाने क्यों मुझे भय होता है कि कहीं विनोद समझें, मैं उनके रुपए ख़र्च किए डालती हूँ। जो आदमी किसी बात पर नाराज़ नहीं हो सकता, वह किसी बात पर ख़ुश भी नहीं हो सकता। मेरी समझ ही में नहीं आता, वह किस बात से ख़ुश और किस बात से नाराज़ होते हैं। बस, मेरी दशा उस आदमी की-सी है, जो बिना रास्ता जाने इधर-इधर भटकता फिरे। तुम्हें याद होगा हम दोनों कोई गणित का प्रश्न लगाने के बाद कितनी उत्सुकता से उसका जवाब देखती थीं। जब हमारा जवाब किताब के जवाब से मिल जाता था, तो हमें कितना हार्दिक आनंद मिलता था। मेहनत सफल हुई, इसका विश्वास हो जाता था। जिन गणित की पुस्तकों में प्रश्नों के उत्तर न लिखे होते थे, उसके प्रश्न हल करने की हमारी इच्छा ही न होती थी। सोचते थे, मेहनत अकारथ जायगी। मैं रोज़ प्रश्न हल करती हूँ, पर नहीं जानती जवाब ठीक निकला, या ग़लत। सोचो मेरे चित्त की क्या दशा होगी।

एक हफ़्ता होता है लखनऊ की मिस रिग से भेंट हो गई। यह लेडी डॉक्टर हैं और मेरे घर बहुत आती-जाती हैं, किसी का सिर भी धमका और मिस रिग बुलाई गईं।

पापा जब मेडिकल कॉलेज में प्रोफ़ेसर थे, तो उन्होंने इन मिस रिग को पढ़ाया था। उसका एहसान वह अब तक मानती हैं। यहाँ उन्हें देखकर भोजन का निमंत्रण न देना अशिष्टता की हद होती। मिस रिग ने दावत मंज़ूर कर ली। उस दिन मुझे जितनी कठिनाई हुई है, वह बयान नहीं कर सकती। मैंने कभी अंगरेज़ों के साथ टेबुल पर नहीं खाया। उनमें भोजन के क्या शिष्टाचार हैं, इसका मुझे बिलकुल ज्ञान नहीं। मैंने समझा था, विनोद मुझे सारी बातें बता देंगे। वह बरसों अँगरेज़ों के साथ इँगलैंड रह चुके हैं। मैंने उन्हें मिस रिग के आने की सूचना भी दे दी। पर उस भले आदमी ने मानो सुना ही नहीं। मैंने भी निश्चय किया, मैं तुमसे कुछ न पूछूँगी, यही न होगा, मिस रिग हँसेंगी। बला से। अपने ऊपर बार-बार झुँझलाती थी कि कहाँ मिस रिग को बुला बैठी। पड़ोस के बँगलों में कई हमीं जैसे परिवार रहते हैं। उनसे सलाह ले सकती थी। पर यही संकोच होता था कि ये लोग मुझे गँवारिन समझेंगे। अपनी इस विवशता पर थोड़ी देर तक आँसू भी बहाती रही। आख़िर निराश होकर अपनी बुद्धि से काम लिया। दूसरे दिन मिस रिग आईं। हम दोनों भी मेज़ पर बैठे। दावत शुरू हुई। मैं देखती थी कि विनोद बार-बार झेंपते थे और मिस रिग बार-बार नाक सिकोड़ती थीं, जिससे प्रकट हो रहा था कि शिष्टाचार की मर्यादा भंग हो रही है। मैं शर्म के मारे मरी जाती थी। बारे किसी भाँति विपत्ति सिर से टली। तब मैंने कान पकड़े कि अब किसी अँगरेज़ की दावत न करूँगी। उस दिन से देख रही हूँ, विनोद मुझसे कुछ खिंचे हुए हैं। मैं भी नहीं बोल रही हूँ। वह शायद समझते हैं कि मैंने उनकी भद्द करा दी। मैं समझ रही हूँ कि उन्होंने मुझे लज्जित किया। सच कहती हूँ चंदा गृहस्थी के इन झंझटों में मुझे अब किसी से हँसने-बोलने का अवसर नहीं मिलता। इधर महीनों से कोई नई पुस्तक नहीं पढ़ सकी। विनोद की विनोद-शीलता भी न जाने कहाँ चली गई। अब वह सिनेमा या थिएटर का नाम भी नहीं लेते। हाँ, मैं चलूँ, तो वह तैयार हो जायँगे। मैं चाहती हूँ, प्रस्ताव उनकी ओर से हो, मैं केवल उसका अनुमोदन करूँ। शायद अब वह पहले की आदतें छोड़ रहे हैं। मैं तपस्या का संकल्प उनके मुख पर अंकित पाती हूँ। ऐसा जान पड़ता है, अपने में गृह-संचालन की शक्ति न पाकर उन्होंने सारा भार मुझ पर डाल दिया है। मंसूरी में वह घर के संचालक थे। दो-ढाई महीने में १२ सौ ख़र्च किए। कहाँ से लाए, यह मैं अब तक नहीं जानती। पास तो शायद ही कुछ रहा हो। संभव है, किसी मित्र से ले लिया हो। ३००) महीने की आमदनी में थिएटर और सिनेमा का ज़िक्र ही क्या। ५०) तो मकान ही के निकल जाते हैं। मैं इस जंजाल से तंग आ गई हूँ। जी चाहता है, विनोद से कह दूँ, मेरे चलाए यह ठेला न चलेगा। आप तो दो-ढाई घंटा युनिवर्सिटी में काम करके दिन-भर चैन करें, ख़ूब टेनिस खेलें, ख़ूब उपन्यास पढ़ें, ख़ूब सोएँ और मैं सुबह से आधी रात तक घर के झंझटों में मरा करूँ। कई बार छेड़ने का इरादा किया, दिल में ठानकर उनके पास गई भी, लेकिन उनका सामीप्य मेरे सारे संयम, सारी ग्लानि, सारी विरक्ति को हर लेता है। उनका विकसित मुख-मंडल, उनके अनुरक्त-नेत्र, उनके कोमल शब्द मुझ पर मोहिनी मंत्र-सा डाल देते हैं। उनके एक आलिंगन में मेरी सारी वेदना विलीन हो जाती है। बहुत अच्छा होता, अगर यह इतने रूपवान्, इतने मधुरभाषी, इतने सौम्य न होते। तब कदाचित् मैं इनसे झगड़ बैठती, अपनी कठिनाइयाँ कह सकती। इस दशा में तो इन्होंने मुझे जैसे भेड़ बना लिया है। मगर इस माया को तोड़ने का मौक़ा तलाश कर रही हूँ। एक तरह से मैं अपना आत्मसम्मान खो बैठी हूँ। मैं क्यों हरएक बात में किसी की अप्रसन्नता से डरती रहती हूँ, मुझ में क्यों यह भाव नहीं आता कि जो कुछ मैं कर रही हूँ, वह ठीक है। मैं इतनी मुखापेक्षा क्यों करती हूँ? इस मनोवृत्ति पर मुझे विजय पाना है, चाहे जो कुछ हो। अब इस वक़्त विदा होती हूँ, अपने यहाँ के समाचार लिखना, जी लगा है।

तुम्हारी

पद्मा

(असमाप्त)

प्रेमचंद

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा हिंदी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज

नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, काशी के नवीन संस्करण भाग ७, अंक १ में, इस खोज का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है। उससे ज्ञात होता है कि नौ वर्ष रायसाहब बा० श्यामसुंदरदास, बारह वर्ष तक रायबहादुर पं० श्यामविहारी मिश्र एम्० ए०, दो वर्ष तक रायबहादुर पं० शुकदेवविहारी मिश्र बी० ए० तथा उनके पदत्याग करने पर तीन वर्ष से रायबहादुर बा० हीरालाल बी० ए० ने इस खोज का निरीक्षण किया। मिश्र महोदयों के निरीक्षण-काल में "सभा को इन १३ सालों के बीच केवल दो रिपोर्टें उपलब्ध हुईं।" इससे तथा उसी लेख में दी गई तालिका से ज्ञात होता है कि सन् १९१७—१९ और १९२०—२२ की रिपोर्टें वर्तमान निरीक्षक द्वारा लिखी गई हैं।

सन् १९२२ में पं० शुकदेवविहारी मिश्र के निरीक्षक का पद त्याग करने पर कुछ दिन खोज का काम बा० श्यामसुंदरदास को चलाना पड़ा था। उस समय वे सभा के मंत्री तथा मैं उपमंत्री था, इससे उस कार्य में मैंने भी कुछ योग दिया था, पर शीघ्र ही वर्तमान निरीक्षक के नियुक्त हो जाने पर खोज का काय सब उन्हीं को सौंप दिया गया। इन्होंने सन् १९१७—१९ और १९२०—२२ की बाक़ी पड़ी हुई रिपोर्टों को शीघ्र तैयार कर सभा में भेज दिया। इन रिपोर्टों तथा नोटिसों की साफ़ कापियों के तैयार होने पर रायसाहब बा० श्यामसुंदरदास की सम्मत्यनुसार उन्हें मैंने देख डाला और जहाँ-जहाँ मतभेद तथा मेरे विचार में अशुद्धियाँ थीं, उन्हें नोट कर लिया था। बा० श्यामसुंदरदास ने उस नोट को देखा था, पर किसी कारणवश उसे निरीक्षक साहब के पास भेजना उचित नहीं समझा। पत्रिका के भाग ७, अंक ३ में पहली रिपोर्ट का संक्षिप्त विवरण पढ़कर मेरा ध्यान उस नोट की ओर गया और यह समझकर कि यह रिपोर्ट शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगी, उस नोट को लेख-रूप में इस पत्र में प्रकाशित कर देना उचित समझा। यह केवल इसलिये किया गया है कि यदि वास्तव में वे अशुद्धियाँ हैं, तो उन्हें ठीक कर देना चाहिए। तथ्य की विवेचना कठहुज्जती या हठ से बहुत परे है। हाँ, यह प्रश्न हो सकता है कि यह नोट सीधे निरीक्षक के पास क्यों नहीं भेज दिया गया? उत्तर में केवल इतना ही कहना है कि निरीक्षकगण दिग्गज विद्वान् थे और हैं, जिन पर इस नोट का कुछ भी असर न पड़ता तथा कुछ और भी कारण हैं जिससे मैं वैसा करना उचित नहीं समझता था।

पत्रिका के भाग ७, अंक ३ में सन् १९१७—१९ की रिपोर्ट का जो संक्षिप्त विवरण दिया गया है, उसमें भूपति के समय पर पुनः विचार किया गया है। लिखा गया है कि '१९२२ की नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, में इस विषय पर पूर्ण विचार किया गया है।............... अब पहेली हल हो गई और भूपति का स्थान तुलसी से पीछे के कवियों में हो गया।' नहीं ज्ञात होता कि यह पहेली सन् १९२२ के लेख में, उसके पहले या सन् २७ के लेख में हल हुई। इस लेख में कोई नई बात का हवाला भी नहीं दिया गया है। हाँ, भूपति के ग्रंथ के विषय में एक नई बात का पता लगा है, जिसे पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना आवश्यक है। मुझे भूपति-कृत भागवत दशमस्कंध की एक छपी हुई प्रति मिली है, या यों कहिए कि यह मेरी माता (भारतेंदुजी की पुत्री) के पुस्तकालय में थी; जो अन्य दो पुस्तकों के साथ एक जिल्द में बँधी हुई है। यह पुस्तक सन् १८६९ ई० में, अर्थात् हिंदी-साहित्य के दिग्गज महारथियों के तर्क-वितर्क के आरंभ होने के सैंतीस वर्ष पहले छपी थी। इसमें निर्माण-काल के दोहे का वही पाठ है, जिसने पहेली हल की है। इस ग्रंथ का परिचय शीघ्र किसी पत्रिका में दिया जायगा। यहाँ अधिक लिखना अनावश्यक है, इसलिये अब नोट का ही विवरण दिया जायगा।

१. भुवाल नामक एक कवि ने भगद्गीता का दोहों और चौपाइयों में अनुवाद किया है, जिसके निर्माण की तिथि इस प्रकार दी गई है—

संवत कर अब करौं बखाना; सहस्र सों संपूरन जाना।
माघ मास कृष्णपक्ष भयऊ; दुतिया रवि तृतिया जो भयऊ।

इससे सं० १००० ज्ञात होता है, पर जैसा निरीक्षक महाशय ने निश्चित किया है सं० १७०० होना चाहिए। उसके अनुसार आपने इस प्रकार पाठ ठीक किया है—

सहस्र सौ सत पूरन जाना।

पर इसमें सौ और सत दोनों सौ वाची हैं। सत सात से सौ के लिये विशेष प्रयुक्त है। इससे यह पाठ इस प्रकार हो, तो अधिक उत्तम है—

सत्रह सौ संपूरन जाना।

इसमें सब ज्यों-का-त्यों रहता है। सहस्र और सत्रह में विशेष विभिन्नता नहीं है और लिपिकर्ता के दोष से ह और त्र के उलट जाने से गड़बड़ हो गया है।

२. *निरीक्षक महोदय ने आनंदराम पर साहित्यिक* चोरी का अपवाद लगाया है। पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता का अनुवाद है। एक अनुवाद गद्य में और दूसरा पद्य में है। खोज की रिपोर्टों में इनके विषय में इस प्रकार पता चलता है।

पहलेपहल सन् १९०१ की रिपोर्ट के नं० ८४ में आनंदराम-कृत पद्यानुवाद का उल्लेख है, जो सं० १७६१ में प्रणीत हुआ था। इस नोटिस में ग्रंथ से जो उद्धरण दिए गए हैं, उनमें आनंदराम का कहीं नाम नहीं आया है। सन् १९०६—०८ की रिपोर्ट नं० १२७ में निरीक्षक लिखता है कि आनंदराम ने परमानंद प्रबोध नामक पद्य टीका लिखी। इस नोटिस में उद्धरण नहीं दिए हैं, अब सन् १९०१ के नं० ९० में हरिवल्लभ-कृत भगवद्गीता भाषा पद्यानुवाद का उल्लेख है। इसमें निर्माण-काल नहीं दिया है, पर रचयिता का नाम एक दोहे में दिया है। इसके तथा सन् १९०२ के उद्धरणों में अंत के जो दोहे दिए हैं वे भिन्न-भिन्न हैं। सन् १९०६—०८ के रिपोर्ट नं० २६० में हरिवल्लभ कृत टीका का उल्लेख-मात्र है, उद्धरण नहीं लिखे गए हैं। सन् १९०९—११ की रिपोर्ट नं० ११७ में हरिवल्लभ-कृत गीता टीका का जो उद्धरण है उससे उसका निर्माण-काल यों दिया है—

सत्रह सौ जो इकोतरा माघ मास तिथि ग्यास।

इसमें तीन दोहे अंत के दिए हैं, जिनमें तीनों में हरिवल्लभ ने अपना नाम दिया है। इस प्रकार इन दोनों लेखकों के विषय में अब तक रिपोर्टों में जो आ चुका है, उसका अवलोकन हो चुका।

इस रिपोर्ट को लिखते हुए (पत्रिका भा० ७, अं० ३) निरीक्षक महाशय लिखते हैं कि 'हरिवल्लभ का पद्यात्मक अनुवाद अक्षरशः आनंदराम के अनुवाद से मिलता है।' पूरा अनुवाद जब तक दोनों का मिलान न किया जाय, तब तक इससे मैं सहमत नहीं हो सकता। मेरा विचार है कि लिपिकर्ताओं के दोष से यह गड़बड़ी हुई है। हो सकता है कि एक ने पद्य में और एक ने गद्य में अनुवाद किया हो और उस संग्रह से जिसमें दोनों थे, नक़ल उतारने में गद्य भाग छोड़ दिया गया हो और किसी में एक का और किसी में दूसरे का नाम दे दिया गया हो। बिना निश्चय किए एक को दोषी ठहराना अनुचित है। क़ानूनी कहावत है कि सौ दोषी के छूट जाने से एक निर्दोष का दंड पा जाना अधिकतर अनुचित है।

३. धर्मदास ने स्वरचित महाभारत भाषा में इलाही सन् ८० का काल 'सत्रह सौ सों ग्यारह गएऊ।' से किया है। यहाँ निरीक्षक महोदय, जो इतिहास के दिग्गज विद्वान् हैं, कुछ विशेष गड़बड़ा गए हैं। पहली अशुद्धि उन्होंने यही की कि इलाही सन् के आरंभ होने का सन् ही ठीक नहीं लिया है। यद्यपि यह सन् अकबर के राज्यारोहण के बहुत वर्षों चलाया गया था, पर उसका आरंभ सन् ९६३ हि० = सन् १५५५ ई० से हुआ (देखिए ब्लॉकमैन-कृत आइनअकबरी का अनुवाद जि० २, पृ० १९५)। दूसरी अशुद्धि निर्माण-काल १७११ मानने से हुई। कवि का तात्पर्य है कि सत्रहसौ में से ग्यारह गया अर्थात् १६८९ (सन् १६३२ ई०)। अब देखिए कि कहीं कुछ गड़बड़ी नहीं रह जाती। सन् १६३२ ई० में ८० इलाही सन् आ जाता है। तीस चाँद वर्ष उन्तीस सौर वर्ष के बराबर होता है, इससे ७७ वर्ष सन् १५५५ ई० में जोड़ने से १६३२ आ जाता है।

४. वेधोप्रसाद नामक कवि ने महाराज छत्रसाल के पुत्र जगतराज के लिये 'रस-शृंगार-समुद्र' लिखा है। महाराज छत्रसाल की मृत्यु पर सन् १७३१ ई० में जगतराज अपने हिस्से के जैतपुरा राज्य की गद्दी पर बैठे थे। ग्रंथ का निर्माण-काल सत्रहसौ 'पचावने' दिया है, जिससे सन् १६९८ ई० आता है अर्थात् जगतराज की राजगद्दी के ३३ वर्ष पहले रचना-काल आता है। कवियों के आश्रयदाता वयस्क होने चाहिए और उन्हें वैसा माना जाय, तो राजगद्दी के समय जगतराज ५० वर्ष से कम नहीं रहे होंगे। यह कुछ असंभव नहीं है, पर 'पचावने'

का 'पचानवे' भी हो सकता है, जिससे समय सन् १७३८ ई० होता है ; जो उनके राज्यकाल में आता है। तिथि आदि दी हुई है, जिससे निश्चय किया जा सकता है।

५. नं० २८ में टीकाकार को आप विहारीदास का नाम देकर लिखते हैं कि यह एक वह नए टीकाकार हैं जिनका पता विहारीविहार के प्रणेता को नहीं था। पर वास्तव में यह बात नहीं है। स्पष्ट ही ग्रंथ के आरंभ में 'विहारीदास-कृत दोहा लिख्यते' लिखा है। लाल के बदले दास लिखकर लिपिकार महाशय ने गड़बड़ कर दिया। नोटिस के उद्धरण के एक कवित्त में 'सेनापति' उपनाम आया है, जो प्रसिद्ध सेनापति हो सकते हैं। दोनों ही सम सामयिक थे। निरीक्षक महोदय केवल अध्यक्ष महाशय के लिखने पर रह गए हैं इसीसे ऐसा धोखा हुआ है।

६. नं० ५० — में संवत् का दोहा दिया हुआ है।

७. नं० ५३ — के पुस्तक की भाषा बँगला है, हिंदी नहीं है।

८. नं० ६५ — ग्वालकवि की 'जमुनालहरी' सन् १८२२ ई० में और 'भक्तिभावना' सन् १८६२ ई० में प्रणीत हुई है, इससे इनका रचना-काल (१८२० — ६५) होगा।

९. नं० ७१ — कवि हरिचरणदास ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने यह टीका अनवरचंद्रिका के अनुसार ही लिखा है केवल अलंकारों के विषय में मतभेद हुआ है। नोटिस में दिए उसी उद्धरण से यह भी ज्ञात होता है कि वह प्राणनाथ के शिष्य थे और गंगा तथा सरजू के संगम पर स्थित शाह(लि)ग्राम के रहनेवाले थे। इन सब बातों का भी रिपोर्ट में समावेश होना चाहिए।

१०. नं० ७६ — इस नंबर का शालिहोत्र गद्य में है और लेखक का नाम नहीं दिया गया है। सन् १९०९ — ११ की रिपोर्ट नं० १२१ में भी इच्छाराम-कृत एक शालिहोत्र का उल्लेख है। इन दोनों ग्रंथों को एक मानकर नं० ७६ ग्रंथ का लेखक इच्छाराम लिखा गया है। यह ठीक नहीं है। दोनों ग्रंथ भिन्न हैं। एक गद्य में है और दूसरा पद्य में है। दोनों के अवतरणों को देखने से यह स्पष्ट हो जायगा।

११. नं० ७८ — 'माधो-विजय-विनोद' के विषय में कुछ ऐतिहासिक विचार का भी रिपोर्ट में समावेश होना चाहिए। भरतपुर-नरेश जवाहिरसिंह जाट ने जयपुर पर चढ़ाई की थी, उसका इस ग्रंथ में उल्लेख हुआ है। जयपुर-नरेश ईश्वरीसिंह के पुत्र तथा उत्तराधिकारी माधोसिंहजी थे।

१२. नं० ८५ — इसमें 'रासमाला' शब्द उपनाम माना गया है, पर यह ठीक नहीं है।

१३. नं० ८६ — इस ग्रंथ का कवि वल्लभीय संप्रदाय का नहीं है प्रत्युत माध्वसंप्रदाय का है। आरंभ में उसने 'श्रीराधारमणो जयति' लिखा है जो इस संप्रदाय के प्रधान देवता हैं। गौड़ के विषय में भी उल्लेख किया है।

१४. नं० ९२ — इसमें सं० १३९७ का सन् १४१५ ई० से मेल कैसे मिलाया गया है। सो ठीक नहीं मालूम होता।

१५. नं० १०१ — इसमें लिपि-काल निर्माण-काल के लिये दिया गया है।

१६. नं० ११५ — खोज की रिपोर्टें ऐसी होनी चाहिएँ जिससे 'अज्ञ भी विज्ञ हो सकें' पर इस नंबर में एक विचित्र बात हुई। इसमें एक नए कवि की खोज की गई है, जिसने एक अद्भुत प्रौढ़ आख्यानक रचा है। यह ग्रंथ अधूरा है। आरंभ और अंत दोनों ही नहीं है। इसी से गड़बड़ी मच गई। बीच के अवतरणों में मुहम्मद का नाम आया है, इससे वह एक नया कवि माना गया है। नोटिस में मध्य का जो अवतरण दिया गया है, वह सभा ही द्वारा प्रकाशित जायसी-ग्रंथावली के पृ० १२९ का २२ वाँ दोहा तथा चौपाइयाँ हैं। दोहा यों है—

कुँवर बतीसो लच्छना, सहस-किरिन जस भान ;
काह कसौटी कासिए, कंचन बारह बान।

१७. नं० १२७ — इसमें अनीराय का उल्लेख है। इनके विषय में कुछ नहीं लिखा गया है और स्यात् इतिहास से कुछ पता नहीं लगता, ऐसा कहा गया है। वीरनारायण के पुत्र अनूपसिंह बड़गूजर को जहाँगीर बादशाह के समय में अनीराय सिंहदलन का उपनाम मिला था। इसका उल्लेख 'तुजुके-जहाँगीरी' में है और इनकी संक्षिप्त जीवनी 'मआसिरुलउमरा' (वेवरिज-कृत अँगरेज़ी अनु० पृ० २६१-३) में दी गई है।

१८. नं० १३१ — अवतरण के एक दोहे से ज्ञात होता है कि पहलवान का गुरुसिद्ध जगजीवन के शिष्य दूलमदास का शिष्य था।

१९. नं० १४०—नोटिस में छोटेलाल लिपिकर्ता का नाम है। महीने का नाम 'अघन' अगहन मालूम होता है और पक्ष कृष्ण नहीं है।

२०. नं० १४६—अष्टयाम का अर्थ आठ प्रहर अर्थात् पूरा दिन है।

२१. नं० १८३—यदि सुखदेव मिश्र सन् १६७० ई० के लगभग थे, तो वह भगवंतराय खीची के समय में कैसे हो सकते हैं; जो एक शताब्दी बाद हुए। अध्यात्म-प्रकाश 'अष्टादश सै उनसठा' में और फ़ाज़िल अली-प्रकाश 'सत्रह सै तैंतीस जहँ' में बना है। एकसौ छब्बीस वर्ष की भिन्नता स्पष्टतया लेखकों के भिन्न होने की गवाही देती है।

२२. नं० २०४—नोटिस से व्यास और मोहनदास दो पुरुष ज्ञात होते हैं, पर रिपोर्ट में एक माने गए हैं। इसका स्पष्टीकरण वांछनीय है।

इतना रायबहादुर बा० हीरालाल बी० ए० द्वारा लिखित सन् १९१७-१९ की रिपोर्ट को देखकर जो समझ में आया था, वह लिख दिया गया है। रिपोर्ट के प्रकाशित होने पर, आशा है कि अन्य विद्वान् समालोचक उस पर विशेष प्रकाश डालेंगे। एक मनुष्य के लिये; वह चाहे किसी एक विषय का कैसा ही भारी विद्वान् हो, ऐसी रिपोर्ट लिखना जिसमें अनेक विषय के ग्रंथ रहते हैं, कठिन है और इससे भ्रम रह जाना अनिवार्य है। आशा है कि निरीक्षक महोदय, यदि उचित समझेंगे, तो इन नोटों से कुछ लाभ उठावेंगे। इन्हीं नोटों में कुछ अशुद्ध भी हो सकते हैं, पर उन पर पूर्णतया विचार कर लेना उचित है।

व्रजरत्नदास

स्वराज्य का विवाद

१. गोरा बादल की कथा

गोरा बादल की कथा एक प्राचीन ऐतिहासिक काव्य है जिसे जटमल नामक कवि ने सं० १६८४ वि० में रचा था। इस एक ही घटना को भिन्न-भिन्न कवियों ने भिन्न-भिन्न रीति से लिखा है। विशेषता यह है कि इस घटना पर हिंदू कवियों की अपेक्षा मुसलमान कवियों ने ही विशेष प्रकाश डाला है और जी खोलकर सत्य भाव की प्रशंसा की है। मलिक मुहम्मद जायसी-कृत पद्मावत नामक काव्य इसी घटना के आधार पर रचा गया था। जिसे हिंदी-साहित्य में बहुत उच्च स्थान प्राप्त है।

इससे यह अनुमान सरलतया लगाया जा सकता है कि उस समय में ऐसे मुसलमानों की संख्या भी न्यून न थी, जो मुसलमानों के मुक़ाबिले में हिंदुओं की सच्ची प्रशंसा करने में न हिचकते थे। इसीसे वे पृथ्वी के बहुत बड़े भाग पर राज्य कर रहे थे। मुसलमानों से इस सच्चाई का तिरोभूत हो जाना ही उनके पतन का कारण प्रतीत होता है। किसी जाति के मनुष्यों का व्यक्तिगत आचरण ही जाति को उच्च स्थान प्रदान करता है। वर्तमान काल में भी कुछ जातियाँ ऐसी हैं, जिनके बहुत-से मनुष्यों का व्यक्तिगत चरित्र इसी कोटि का है, जिसके कारण ही वे दिन-प्रतिदिन उन्नति पथ पर अग्रसर हो रही हैं।

कवि ने अपना परिचय बहुत कम दिया है, केवल एक पद्य पुस्तक के अंत में दिया हुआ है, जो कि निम्न-लिखित है—

> बसै मोर पड़ो अडोल अविचल सुवि यह लोग ;
> आनद उच्छव होत घर-घर देखियत नहिं सोग।
> राजा तिहाँ अलीखान न्याज़ीखान नासिरनंद ;
> सिरदार सकल पठाण महिं है ज्यों नक्षत्र महिं चंद।
> धर्म सी को नंद नाहर खान जटमल नाम ;
> जिण कही कथा बनाइ कै बिच सिबुला के गाम।

इससे यह विदित होता है कि जटमल का पूरा नाम नाहरख़ाँ जटमल था। यह धर्मसिंह का पुत्र राजपूताने की मोरछड़ा जागीरांतर्गत सिबुला ग्राम का निवासी था। तत्कालीन मोरछड़ा का जागीरदार न्याज़ी नासिरख़ाँ का पुत्र अलीख़ाँ था। उस स्थान की प्रजा अपने जागीरदार से संतुष्ट थी। संभव है, मुसलमान प्रजा ही वहाँ की संतुष्ट हो, क्योंकि मुसलमानी राज्य में अन्य धर्मवालों के लिये बहुधा उन्नति का मार्ग अवरुद्ध रहता था, और धार्मिक कट्टरता का ही प्राधान्य था। यह भी मुमकिन है कि जटमल की उपाधि नाहरख़ाँ हो अथवा वह स्वयं मुसलमान हो गया हो। काव्य-रचना से यह कवि चारण जाति का प्रतीत होता है।

ग्रंथ-निर्माण का दोहा निम्न प्रकार से है—

> संवत सोल पचासिये, पूनम फागुन मास ;
> गोरा बादल वरणी, कहि 'जटमल' सु प्रगास।

एक दूसरी प्रति में यही दोहा निम्नलिखित रीति से दिया हुआ है—

सोलैसै असीये समै, फागुण पूणम मास ;
बीरारस सिणगाररस कहि 'जटमल' सु प्रगास ।

इन दोनों दोहों के निर्माण-काल में ५ वर्ष का अंतर दिया हुआ है। पहला दोहा जो सं० १७६३ वि० की लिखी प्रति से लिया गया है, निर्माण-काल सं० १६८५ वि० बतलाता है और दूसरा दोहा जो सं० १८२० की लिखी प्रति में है, सं० १६८० लिखता है।

कहा जाता है कि जटमल ने पिछला दोहा गद्य-काव्य के लिये और पहला दोहा पद्य-काव्य के लिये रचा है, मिश्र-बंधु-विनोद के उद्धरण में भी दरशाया गया है कि गोरा बादल ने संवत् १६८० वि० में 'गोरा बादल की कथा' गद्य में कही, गद्य की भाषा खड़ी बोली की है, परंतु पद्य में व्रजभाषा और डिंगल का मिश्रण है। इनके अवलोकन से प्रतीत होता है कि जटमल ने प्रथम गद्य में गोरा बादल की कथा लिखी फिर उसीका सं० १६८५ में पद्य काव्य रचकर तैयार किया।

अब आइए पाठकगण कवि जटमल की कविता की चासनी भी चखिए और इस उत्तम काव्य-खंड का अवलोकन कीजिए—

प्रथम कवि ने चित्तौड़ का वर्णन करते हुए वहाँ के दरबार का वर्णन किया है और सिंघलदीप तथा पद्मिनी का वर्णन करते हुए वहाँ के एक भाट के चित्तौड़ आने का उल्लेख किया है। फिर वहाँ पर एक जोगी के आने और राना का जोगी के साथ जाने का वर्णन है। इसके पश्चात् स्त्री व पुरुष जाति के भेद व लक्षण कहे हैं। इतना कहने के अनंतर राणा रतनसेन का पद्मिनी से विवाह वर्णन और राघव का निकाला देने का कथन किया है।

फिर राघव का सुल्तान अलाउद्दीन से पद्मिनी का सौंदर्य-वर्णन करना और उसे चित्तौड़ पर चढ़ा लाना कथन किया है। जब विजय न पा सका तो राघव पद्मिनी का प्रतिबिंब देखकर संतोष करने और सेना वापस ले जाने की सलाह देता है। सुल्तान ने भी प्रतिज्ञा की। उस संबंध में कवि का वर्णन सुनिए—

राघव राय कहता है—

राय कहै सुलताण मान तू बात हमारी ;
गढ़ न लेहुँ नहिं लड़ू अरज इक सुणो हमारी।
म्हैं बहिन करूं पदमिनी तुझे भाई करि थप्पूँ ;
देखूं मुख पदमिनी अवर बहु देस समप्पूँ ।
गल कंठहार पहिराइ कै नाक नवण कर बाहडूं ;
राणा रतनसेन! सुलताण कहै पहर एक गढ़ पर चढूं ।७६।

अब पद्मिनी का प्रतिबिंब देख बादशाह मुग्ध हो गया तो राणा को उसने धोखा देकर बंदी बना लिया और उसे त्रस्त किया। उस समय का चित्रण कवि के शब्दों में ही दृष्टिगोचर कीजिए। साथ में मुसलमानी सभ्यता का भी इसी से अनुमान किया जा सकता है—

सदा मरावै साह राय कोरड़ा लगावै ;
कहै देह पदमिनी जीव तब हीं सुख पावै ।
गढ़ के नीचे आण महल भूपति दिखलावै ;
ले राखै लटकाय लोक बहुतै दुख पावै ।
यार तौं राय कायर भयो पदमावती देऊँ सही ;
भेजूं खवास मारौ न मुझ लै आवुँ जब लग अहीं ।८८।

अब पद्मावती ने रतनसेन के छुड़ाने का जो प्रयत्न किया, उसका भी दिग्दर्शन कीजिए। बादल के पास आकर किस विनम्र-भाव से राणा के छुड़ाने की प्रार्थना करती है और भारतीय सभ्यतानुसार विजय का बीड़ा भी उसे देती है। वह कथन भी अत्यंत मार्मिक है, लीजिए—

पान लिये पदमावती गइ बादल के पास ;
राखणहार न सूझ हीं इक बादल तुहि आस ।
मंत्र कियो मंत्रियां नारि पदमावत दीजे ;
छोडाइयैं नरेस विलंब खिण एक न कीजे ।
अब सरण तिहारे आइ मै ज्यु भावै त्या राख कर ;
बीड़ा उठाइ बादल कहै जाय बहिन अब बैठ घर ।६२।

गोरा और बादल आपस में सलाह करते हैं कि सुल्तान की सेना अधिक है, किस प्रकार लड़ना चाहिए—

गोरा बादल बैठ करि मन में करै विवेक ;
साह साथ कैसे लडूं लसकर अमित अनेक । ६५ ।

अब बादल सावंतों को लड़ने का आदेश देता है और साथ में लड़ने की प्रणाली का उपदेश भी करता जाता है कि पहले चौडोल से शीघ्र निकलकर बल्लम से शत्रुओं पर हमला करना। जब नेजा टूट जावे, तो तलवार से लड़ना और तलवार के टूट जाने पर तुम गुरज चलाना और उसके पीछे कटारो से सम्मुख लड़ना। यह युद्ध-क्रम अत्यंत ही वैज्ञानिक रीत्यनुसार युद्ध-विद्या के नियमों पर अवलंबित है

फिर माता बादल को बालक जानकर लड़ने से रोकती है, तब बादल जो उत्तर देता है, वह भी प्रत्येक क्षत्री के मनन करने योग्य है—

माता बालक क्या कहै रोय न माँग्यो ग्रास ;
जो खग बाहूँ साह सिर तौ कहियो साबास। १०७।
सिंहयोनि ते निकसतां गय घड़ दाठा जाम ;
तूटवि गज मस्तक लड़यौ आप रह्यौ महताम। १०८।
सिंह सिचाणो सापुरस ये लहुड़े न कहाँय ;
बड़े जिनावर मारके छिन में लेइ उठाय। १०९।

बालक बादल की यह भावना आजकल अँगरेज़ी स्कूलों में पढ़नेवाले विद्यार्थी कहाँ तक अनुभव कर सकते हैं !! जिन्हें कंघी और बालों से ही अवकाश नहीं मिलता। क्लीत्व भेष में पुरुषत्व कहाँ !

बादल जिसने माँ से कभी रोकर भोजन नहीं माँगा, सुल्तान अलाउद्दीन के सिर पर तलवार मारने की प्रतिज्ञा करता है और सिंह का उदाहरण देकर कहता है कि उसका बच्चा जन्मते ही मतवाले हाथी के मस्तक को तोड़कर श्रेष्ठत्व पद पाता है। तथा बतलाता है कि सिंह, बाज और वीर पुरुष छोटे नहीं कहलाते थे, सदैव बड़े-बड़े जानवरों को मारकर गिरा देते हैं। इत्यादि बातें समझा-कर माता का समाधान करता है।

उसके पीछे उसकी स्त्री समझाती है कि हे कंत ! रण में घुसकर कायर मत बन जाना, जिससे तुम्हें लज्जा हो और मुझे ताने दिए जावें। तब फिर बादल कहता है सुनिए—

मेर चले ध्रू चले भाण जो पच्छिम ऊगे ;
साध वचन जो चलै पग जो गिर लग पूगे।
धरणि गिड़े धवलाह उदधि मर्यादा छोड़े ;
अरजुन चूके बाण लिखत विधाता मोड़े।
बादल कहे री नार सुणि एह बोल नाहीं टलै ;
नासी न पूठ देऊँ कबहूँ बादल दल थें ना चले। ११६।

कैसा वीर-भाव-पूर्ण क्षत्रियोचित कथन है। जिसे पढ़कर कायर के भी मन में उत्साह पैदा हो सकता है। ऐसे ही नर-रत्नों से भारतीय समाज का मस्तक ऊँचा बना हुआ है। नहीं तो वर्तमान स्थिति कुछ रूप ही अन्य दिखला रही है।

जब गोरा बादल ससैन्य रण में उतर पड़े और राणा को छुड़ाकर गढ़ को भेज दिया, उस समय उनका उत्साह अवलोकनीय था, कवि के शब्दों में ही दृष्टिगत कीजिए—

सोरठा—गोरा बादल वीर, सिर दाबूं पर सेहरा ;
केसर छिरके चीर, सुंधे मींने सा पुरुस। १३०।

मोती दाम—

लड़ै अब गोरल बावन वीर ; दयाणक चोट चलावत तीर।
न चूकत रावत एकण चोट ; लड़े गज होत सु लोटहु पोट।
गहै बरछी जब गोर लराय ; सुनागण ज्यों नर ऊड़त खाय।
सु फोरत पाखर साथ पलाण ; सुजात निकास दुसार अमाण।
तजै बरछी पकड़ै तरवार ; धरी खुरसाण सु बीजल सार।
मिलावत वीर उतारत सीस ; उठावत एक चलावत बीस।
करै चकचूर गयंद कपाल ; सके उमराव न आप सँभाल।
कहै मुख पीर अयो जमकाल ; गहै नर दे हथियार सुडाल।
करै इमि गोरिलराय संग्राम ; सु गोरिल रावत आपहु काम।
पुकारत गोरिल गोरिल नाम ; करै अब बादल ऐमोइ काम। १३४।

भाजत ही गज थाट साह के अपरूर मंगल गाइयो ;
रणजीत राय छुटकाइ के तब बादल घर आइयो। १३७।

गोरा बादल के विजय पाने पर पद्मिनी बादल की आरती उतारती है और न्योछावर इत्यादि कर उत्सव मनाती है।

अब बादल की काकी उससे गोरा के युद्ध का वर्णन ज्ञात करती है, और कहती है कि वह लड़कर मारा गया, या भागते हुए युद्ध में काम आया। तब बादल उत्तर देता है वह भी कवि के ही शब्दों में सुनिए। यह वर्णन भी वीर-पत्नी व वीर पुरुष के अनुरूप ही है, अवलोकन कीजिए—

काकी बादल सों कहै गोरल लायौ काइ ;
भिड़मुओ कै भजिमुओ सो मुझ बात सुणाइ। १४१।

सोरठा—गोरा गिरसी धीर भिड़ी न भाजै भूम ते ;
यार चलावे पीर मगर चलावे तीर ते। १४२।
जाके लागे अंग रंग निकासै बेज उत ;
मारे मनुष तुरंग गोरा गरजै सिंह ज्यों। १४३।

बादल का गोरा के संबंध में उक्त कथन अत्यंत ही उत्साहवर्द्धक और वीर-रस संश्लिष्ट है, जो निर्जीवों में भी जीवन प्रदान कर सकता है।

अब गोरा की स्त्री के शब्द भी स्त्री-समाज के लिये अनुकरणीय हैं। जिस समय में ऐसी वीर पत्नी थीं, तभी ऐसे वीर पुरुष संसार में धीर-कार्य कर जाते थे।

इस संबंध में कवि के भावों का ही मनन कीजिए—

भला हुआ जो भिड़मुआ कलंक न आयो काइ ;
जस जंपे सब जगत में हिव रण दूदौं जाइ।

कैसा ओजस्वी वर्णन है, कलंक से मृत्यु को उत्तम समझती हुई गोरा की स्त्री पति का शव ढूँढ़ने को निकलती है। यह वीर-रस-पूर्ण काव्य अत्यंत ही उच्च कोटि का है। अब कुछ गद्य का भी नमूना लीजिए—"गोरा बादल की कथा गुरू के बस सरस्वती के मेहरबानगी से पूरन भई तिस वास्ते गुरू कूँ व सरस्वती कूँ नमस्कार करता हूँ। ये कथा सोल से आसी के साल में फागुन सुदी पुनम के रोज बनाई। ये कथा में दोर से हवीरा रस क सी न गार हे सो कथा।" इस प्रकार के काव्य हिंदी-साहित्य में २-४ से अधिक नहीं हैं। यह पुस्तक अप्रकाशित है तथा हस्तलिखित प्रति भी बहुत कम प्राप्त हैं, इससे साहित्य के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। मित्रवर पं० अयोध्याप्रसादजी शर्मा डिप्टीइंस्पेक्टर बीकानेर का अत्यंत कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने हस्तलिखित प्रति मेरे पास भेजने का कष्ट उठाया। किसी संस्था को शीघ्र इस प्रति को छपवाना चाहिए। आशा है, पाठकगण इस लेख से गोरा बादल के वीर भाव और कविराज जटमल (नाहरख़ाँ) के काव्य का रसास्वादन कर आनंदित होंगे। काव्य कैसा है, पाठक स्वयं इस लेख को पढ़कर अनुभव कर सकते हैं।

भगीरथप्रसाद दीक्षित

---

१. जीवन-चरित्र

लोकमान्य तिलक का चरित्र—मूल मराठी के लेखक, श्रीयुत नृसिंह चिंतामणि केलकर; संपादक, 'केसरी'; अनुवादक, सिद्धनाथ माधव लोंढे सहकारी संपादक, 'हिंदी-कर्मवीर', खंडवा; पृष्ठ संख्या ८१२; कागज़ और छपाई उत्कृष्ट; मूल्य ४); प्रकाशक श्रीधोंडो काशिनाथ फड़के; अरुणोदय-प्रेस थाना के पते से प्राप्य।

जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, इस पुस्तक में प्रातः स्मरणीय लोकमान्य बालगंगाधरतिलक का जीवन-चरित्र है। समालोच्य ग्रंथ जीवन-चरित्र का प्रथम खंड-मात्र है। इसमें सन् १८९९ तक की जीवन-घटनाओं का समावेश है। १९०० से लेकर १९२० तक की घटनाओं का वर्णन दूसरे खंड में किया जायगा। प्रस्तुत खंड में २८ अध्याय हैं, जिनमें कुछ अध्याय बहुत महत्त्व-पूर्ण हैं। इस पुस्तक की भूमिका हिंदू-कुल-कमल-भास्कर माननीय पं० मदनमोहनजी मालवीय ने लिखी है। पुस्तक में मालवीयजी, केलकरजी, काका, आगरकर, गोखले, फ़ीरोज़शाह मेहता, एवं भांडारकरजी के चित्रों के अतिरिक्त स्वयं लोकमान्य तिलक के भी दो चित्र हैं। लोकमान्य बालगंगाधरजी तिलक की जीवनी लिखने के उपयुक्त पात्र यदि कोई सज्जन हैं, तो वह श्रीकेलकरजी ही हैं। मराठी-साहित्य में केलकरजी का स्थान बहुत ऊँचा है। वे बहुत ऊँचे दरजे के लेखक और प्रभावशाली नेता हैं। लोकमान्य का और उनका साथ-साथ रहना भी बहुत दिनों तक हुआ है। लोकमान्य के जीवन की जितनी घटनाओं का हाल उन्हें मालूम है, उतना किसी दूसरे को नहीं। इसीलिये हमने लिखा है कि केलकरजी के अतिरिक्त और दूसरा आदमी लोकमान्य की जीवनी लिखने का यथार्थ अधिकारी नहीं है। जिस ढंग से केलकरजी ने यह जीवनी लिखी है, उससे यह स्पष्ट भी है कि उन्होंने लोकमान्य-संबंधी अपनी जानकारी का विस्तार के साथ सदुपयोग किया है और वह भी विशुद्ध, संयत और गंभीर साहित्यिक भाषा में। एक उत्कृष्ट जीवनी के लिये जैसे उत्कृष्ट और व्यापक सामग्री की आवश्यकता है, वैसी ही संयत और गंभीर साहित्यिक भाषा की भी। केलकरजी ने इन दोनों का ही प्रयोग किया है और इसलिये उनकी इस जीवनी के संबंध में सोने में सुगंधि की कहावत चरितार्थ होती है। लोकमान्य की जीवनी तो यह है ही, पर यदि इसे तत्कालीन इतिहास भी कहा जाय, तो अनुचित न होगा। सरकार की ओर से उस समय के जो इतिहास सुलभ हैं, वे एकांगी हैं। उनमें राजा के पक्ष की बातें, तो विस्तार के साथ तफ़सीलवार दी गई हैं। पर प्रजा-पक्ष की बातों की या तो उपेक्षा की गई है, या इस प्रकार से तोड़-मरोड़कर रखी गई हैं कि यथार्थ बातें समझ में नहीं आती हैं। लोकमान्य की इस जीवनी से वैसी बातों पर भी काफ़ी

प्रकाश पड़ता है, और प्रजापक्ष का भाव भी साफ़ समझ में आता है। इसीलिये हम कहते हैं कि इस जीवनी में लोकमान्य के समय का प्रजा-पक्ष का इतिहास भी सम्मिलित है। फिर इस जीवनी को हम भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के इतिहास का एक महत्त्व-पूर्ण अध्याय भी मानते हैं। स्वराज्य आन्दोलन में लोकमान्य का बहुत बड़ा हाथ था। आन्दोलन का ढंग उनका अपना था, वह न तो महात्मा गांधी के अहिंसात्मक आन्दोलन से मिलता था और न लिबरलों के वैध आन्दोलन से। वह न तो महात्मा गांधी के आन्दोलन के समान परम विशुद्ध था और न लिबरलों के आन्दोलन के समान अत्यंत नम्र और निरापद ही। लोकमान्य का व्यक्तित्व स्वयं एक क्रियाशील संस्था थी और उनका आन्दोलन भी उसी के अनुरूप था। सन् १६०० से १६२० तक देश पर लोकमान्य का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। उनके आन्दोलन का प्रभाव और सफलता इसी समय में दृष्टिगोचर होती थी। यद्यपि जीवनी के इस पूर्वार्ध में लोकमान्य के उस आन्दोलन का वर्णन नहीं है ; परंतु बीज रूप से उसकी सत्ता और प्रभाव का पता इस पूर्वार्ध भाग के पढ़ने से भी जान पड़ता है। राजनैतिक जीवन की अपेक्षा लोकमान्य का सामाजिक, शिक्षा-संबंधी और साहित्यिक जीवन भी बड़ा उपयोगी और मनोरंजक रहा है। जीवनी के इस पूर्वार्ध में एतादृश जीवन पर बड़ा ही विद्वत्ता-पूर्ण और विश्लेषणात्मक विवेचन केलकरजी ने अध्यायों के अंत में कुछ परिशिष्ट जोड़ दिए हैं, इनसे पुस्तक की उपयोगिता कई गुना अधिक हो गई है। 'तिलक के संवाद' शीर्षक से जो परिशिष्ट दिया गया है, वह बड़ा ही महत्त्व-पूर्ण है। 'तिलक की स्कूल एवं कालिज की रचित कविताएँ' शीर्षक परिशिष्ट भी बड़ा ही मनोहर है। हम यहाँ पर संस्कृत में, कॉलेज में बनाई 'मातृ-विलाप' शीर्षक कविता का कुछ अंश उद्धृत करते हैं—

प्रसमीक्ष्य सुतं गुणालयं, विधिना संहृतजीवितं पुरा ;
जननी निपपात दुःखिता, धरणौ मोहवशं गता भृशम् ।
अथ सा जननी विमूर्छिता, प्रकृतिं प्राप्तवती यथा यथा ;
सुतजीवितनाशहेतुभिर्विषमोहैरभवत्तथाकुला ।
बत ! हासि हता विधे त्वया, तनयस्यापहृता न मे पुनः ;
रविणा सरसि प्रशोषिते, ननु जीवेच्छफरी तदाश्रया ।
पितरौ प्रथमं ततः सुतौ, हननस्य क्रम एष भो विधे ;
तनयः प्रथमं कथं त्वया, मम नीतः प्रतिकूलचारिणा ।

संक्षेप में इस ग्रंथ के संबंध में महामति मालवीयजी ने जो राय दी है, उसको हम नीचे उद्धृत करते हैं और उसका नम्रता और श्रद्धा-पूर्वक समर्थन भी करते हैं—

"मैंने इस ग्रंथ का एक अच्छा अंश पढ़ा है और बिना उनके सब मतों का समर्थन किए मैं यह कह सकता हूँ कि जो इसको पढ़ेगा, वह इसको बहुत रोचक और उपदेशप्रद पावेगा।"

अब दो शब्द अनुवाद की भाषा के संबंध में भी लिखते हैं। खेद है, भाषांतरकार ने हिंदी में अनुवाद करते समय मूल के मराठीपन को दूर करने का प्रयत्न बहुत कम किया है। अनुवाद की भाषा को विशुद्ध हिंदी कहना सर्वथा अनुचित है। कहीं-कहीं तो भाषा नितांत विकृत और बेढंगी हो गई है और उसे साहित्यिक हिंदी-भाषा कहना उस प्रकार की भाषा का अपमान करना है। लोकमान्य तिलक के 'गीता-रहस्य' का जैसा सुंदर अनुवाद हिंदी में हुआ है, उससे यदि आधा घटकर भी यह अनुवाद होता, तो विशेष आपत्ति की बात न होती ; पर खेद है अनुवाद अच्छा नहीं हुआ। प्रकाशक और अनुवादक दोनों सज्जन महाराष्ट्र हैं और उन्होंने 'तिलक-चरित्र' को हिंदी-भाषा-भाषियों तक पहुँचाने के लिये अनुवाद का जो विपुल प्रयास किया है, उसके लिये वे धन्यवाद-पात्र भी हैं। पर इस कृतज्ञता के कारण यदि हम अनुवाद की सदोषता घोषित न करें, तो हिंदी-साहित्य के साथ अन्याय करने का लांछन हम पर अवश्य लगाया जायगा। आशा है, दूसरे संस्करण में अनुवाद की सदोषता अवश्य दूर कर दी जायगी। अनुवाद के कुछ उदाहरण हम यहाँ पर देते हैं—

१—इस चरित्र ग्रंथ को जितनी साधन सामग्री मिली उतनी का तो हमने उपयोग किया ही है ; तथापि वे साधन जितने भरपूर होने चाहिए, सो नहीं है। इसको स्वीकार करना ही पड़ता है।—(भूमिका)

२—प्रस्तुत चरित्र-ग्रंथ लिखने का काम नाजुक और जोखिम का है ऐसा हमें क्यों प्रतीत होता है, यह हम प्रारंभ में कह ही चुके हैं।—(भूमिका)

३—इनके सिवाय सुबूत के लिये और जो कुछ गवाह वग़ैरे की ज़ुरूरत होगी, वह पेशी के दिन हाज़िर किए

आयँगे। इस तरह से सुबूत लेकर मुद्दालेह को हक़ में इंडियनपिनलकोड की ४०० दफ़ा के मुताबिक गुनाह करने के लिये बाक़ायदा तजवीज़ की जानी चाहिए। क्योंकि मुद्दालेह इस बात की कांग्रेस में डेलिगेट की हैसियत से पूना आनेवाला सुनाया है, इसलिये एक समंस उनके क़ायम मुक़ाम मदरास में और दूसरा पूने में उन पर लागू किया जाने के लिये हुक्म दिया जाय। फ़क़त ता० २३ दिसंबर सन् १८९४ ई०।

—(तिलक का चरित्र पृष्ठ ४९०)

× × ×

२. नाटक और उपन्यास

मुद्राराक्षस—लेखक, स्वर्गीय भारतेंदु हरिश्चंद्र; संपादक, व्रजरत्नदास; प्रकाशक, साहित्य सेवा-सदन काशी; पृष्ठ-संख्या २४४; कागज़ और छपाई साधारण से कुछ अच्छी; अजिल्द का मूल्य १) और सजिल्द का १।); प्रकाशक से प्राप्य।

संस्कृत के प्रसिद्ध मुद्राराक्षस का हिंदी-अनुवाद भारतेंदुजी ने किया है। यह अनुवाद बहुत प्रसिद्ध है और इसमें अनुवादक ने मूल कवि विशाखदत्त के भावों की रक्षा बड़ी मार्मिकता से की है। यह ग्रंथ कई जगह पाठ्य-क्रम में भी है और पढ़ाया जाता है। अब तक इसका कोई सटिप्पण और सुसंपादित संस्करण न था। हर्ष की बात है कि अब बाबू व्रजरत्नदासजी ने उस अभाव की पूर्ति कर दी है। भूमिका और टिप्पणियाँ महत्त्व-पूर्ण और विद्यार्थियों के काम की हैं। अनुवादक के अनुवाद में संपादकजी को जहाँ कहीं चिन्त्य स्थल दिखलाई दिया है, वहाँ उन्होंने अपनी स्पष्ट सम्मति दी है, संपादकजी भारतेंदुजी के दौहित्र हैं, इसलिये उनके हाथों मातामह के ग्रंथ का सुसंपादन सर्वथा उपयुक्त ही है। बाबू व्रजरत्नदास विज्ञापनबाज़ी से कोसों दूर रहकर जिस प्रकार से ठोस साहित्य-सेवा कर रहे हैं, वह प्रशंसनीय है। समालोच्य मुद्राराक्षस उपादेय और संग्रहणीय है।

× × ×

मंच—लेखक, श्री राजेश्वरप्रसादसिंह; प्रकाशक, श्री-नंदकिशोरसिंहजी, नं० ३१५, कटरा, इलाहाबाद; मूल्य १।); पृष्ठ-संख्या २५२

बाबू राजेश्वरप्रसादसिंहजी से पाठक परिचित हो चुके हैं। आपने माधुरी, सरस्वती आदि पत्रिकाओं में कई सुंदर कहानियाँ लिखी हैं। अब आपने उपन्यास के चौड़े मैदान में क़दम रखा है और यह आपका पहला प्रयास है। आपकी भाषा सजी हुई और साफ़-सुथरी है। कथा मनोरंजक है और शैली आकर्षक है। हेम एक धनी डॉक्टर की कन्या है। व्रजराज एक संपादक का पुत्र। हेम और व्रज में प्रेम है। हेम के माता-पिता उसका विवाह किसी धनी से करना चाहते हैं। व्रजराज यह समाचार पाकर अधीर हो जाता है और हेम को एक पत्र लिखता है। यह पत्र डॉक्टर साहब के हाथ पड़ता है। संपादक महोदय से शिकायत की जाती है। आख़िर व्रजराज निराश होकर घर से भाग जाता है और एक थिएट्रिकल कंपनी में नौकरी कर लेता है। अपने दिल की जलन को शांत करने के लिये वह शराब पीना शुरू कर देता है। मगर ड्रामे लिखने और अभिनय करने में वह इतनी कुशलता प्राप्त कर लेता है कि मालिकों पर उसकी धाक बँध जाती है। उधर हेम का विवाह एक विलासी ज़मींदार से हो जाता है। वह बहुत दुखी है और मन में व्रजराज की उपासना करती रहती है। कुछ दिनों के बाद व्रजराज लौटकर घर आता है। उसकी हेम से भेंट होती है। उसकी सूरत देखकर उसे उसके दिल का हाल मालूम हो जाता है—हेम अभी उसे भूली नहीं है। उसका चित्त चंचल हो जाता है। आख़िर अपनी भाभी की छोटी बहन रमा से विवाह करके अपने चित्त को शांत करता है। हेम का पति भी एक दुर्घटना के बाद बुराई पर पश्चात्ताप करता है और दोनों प्रेम-पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। इसी साधारण-सी कथा को लेखक ने कुछ ऐसे नूतन ढंग से लिखा है कि उपन्यास बेहद दिलचस्प हो गया है। सूक्तियों के सुंदर नमूने सारी किताब में भरे पड़े हैं, जैसे "संतुष्टि उन्नति की घातिनी है। वही संतोष जो वृद्धावस्था की शोभा है, यौवन के हौसले पर पानी फेर देता है।"

"साफ़-सुथरे बिस्तरे पर हेम ऐसी सो रही थी, मानो हृदय में पवित्रता विश्राम कर रही हो।"

लेखक महोदय को पहले ही प्रयास में इतनी सफलता मिली है, इस पर हम उन्हें बधाई देते हैं। आशा है, आगे आपके द्वारा मौलिक उपन्यास-साहित्य की ख़ूब श्रीवृद्धि होगी।

× × ×

चारुशीला—लेखक, लालरुद्रनाथसिंह ; प्रकाशक, हरिदेव शर्मा ; संपादक, हिंदू-संबंध ; सहायक सहारनपुर। पृष्ठ-संख्या ६० ; काग़ज़ और छपाई अच्छी ; मूल्य ।=) ; प्रकाशक से प्राप्य।

यह एक छोटी-सी कहानी है। इसमें हिंदू-समाज का चित्र खींचा गया है और यह दिखलाया गया है कि हिंदू लोग अपनी बाल-विधवाओं के साथ कितना नृशंस व्यवहार करते हैं। इसी व्यवहार के कारण विधवाएँ मुसलमानों के चंगुल में फँस जाती हैं और उन्हें वेश्या-वृत्ति अंगीकार करनी पड़ती है। शुद्धि और संगठन के प्रचार के अभिप्राय से इस समय इस ढंग की बहुत-सी पुस्तकें निकल रही हैं। यह पुस्तक भी वैसी ही है। कला की दृष्टि से इस पुस्तक का महत्त्व कम है पर सामाजिक चित्र इसमें अच्छा है। कथानक बहुत संक्षिप्त है और उसमें क्रियाशीलता कम है। भाषा काव्यमयी अधिक बनाई गई है। कहीं-कहीं वह सदोष भी है। शुद्धि और संगठन के प्रेमियों को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए। बाल-विधवाओं की करुण दशा का इसमें अच्छा चित्र है। श्रीयुत लालरुद्रनाथसिंहजी से हमारी प्रार्थना है कि केवल मतविशेष के प्रचार को ही लक्ष्य में रखकर उन्हें कहानियाँ न लिखनी चाहिएँ। क्या ही अच्छा हो कि वे कथानक ऐसे चुनें, जो मनोरंजक भी हों और जिनमें स्थायित्व का भाव भी हो। ऐसे कथानकों को यदि वे कला को लक्ष्य में रखकर पल्लवित करेंगे, तो निःसंदेह अच्छी कहानी लिखने में समर्थ होंगे। इस स्पष्ट कथन के लिये लालसाहब हमें क्षमा करें।

× × ×

३. कविता

प्रेम का प्रकाश—लेखक, पं० चक्रधर अवस्थी ; पृष्ठ-संख्या ११५ ; काग़ज़ और छपाई अच्छी। मूल्य ॥) ; लेखक से—बलदेवनगर, सीतापुर के पते से प्राप्य।

इस पुस्तक में पं० चक्रधरजी की शताधिक कविताओं का संग्रह है। चक्रधरजी प्रसिद्ध कवि द्विज बलदेवजी के पुत्र हैं। आपकी रचनाएँ सुंदर होती हैं। प्रस्तुत संग्रह में जो कविताएँ रखी गई हैं उनमें से कोई-कोई सरस हैं। आशा है, समय पाकर जब पं० चक्रधरजी की प्रतिभा का विशेष परिपाक होगा तब आपकी रचनाएँ और भी सुंदर हो सकेंगी। इस संग्रह के आदि में गणेश-ध्यान का जो छंद है, वह 'माधुरी' में निकल चुका है। एक नमूना यहाँ पर और दिया जाता है—

चंद्र बनाय बनाय बिगारतो चकित ह्वै गो चितै चतुरानन ;
तानन तें भृकुटी द्विजचक्र बिंधे लगे केते मनोज के बानन।
बारिज बूड़ि गये जलमीन है खंजन संग कुरंग गे कानन ;
सानन के सम सानन और है आनन के सम आनन आनन।

× × ×

४. धर्म और नीति

धर्म-शिक्षा—लेखक, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी ; प्रकाशक, तरुण-भारत-ग्रंथावली-कार्यालय, दारागंज, प्रयाग ; पृष्ठ-संख्या २६८ ; काग़ज़ और छपाई उत्तम। मूल्य १) ; प्रकाशक से प्राप्य।

धर्म-शिक्षा का यह दूसरा संस्करण है, इससे यह बात प्रकट है कि पुस्तक लोकप्रिय हुई है। पुस्तक विद्वत्ता-पूर्ण और बड़े परिश्रम से लिखी गई प्रतीत होती है। जैसा इसके नाम से प्रकट है इसमें धर्म-शिक्षा से संबंध रखनेवाली बहुमूल्य बातों का संग्रह है। इसके लेखक श्रीयुत पं० लक्ष्मीधरजी वाजपेयी सुप्रसिद्ध हिंदी-साहित्य-सेवी हैं। यह पुस्तक आपकी ही लेखनी से निकली है। हम चाहते हैं कि इस पुस्तक का हिंदू-घरों में अधिकाधिक प्रचार हो। धर्म-शिक्षा ६ खंडों में विभक्त है। प्रत्येक खंड में क्रम से, १ धर्म, २ वर्णाश्रमधर्म, ३ आचारधर्म, ४ दिनचर्या, ५ अध्यात्मधर्म तथा ६ सूक्ति-संचय विषय हैं। प्रत्येक खंड का और भी सूक्ष्म भेद-भेदांतरों के साथ विवेचन किया गया है। पुस्तक प्रत्येक दृष्टि से उपादेय और संग्रहणीय है।

× × ×

५ फुटकल

होमियोपैथिक मेटिरिया मेडिका (दो भाग)—लेखक, श्रीहृदयरंजन घोष, प्रकाशक भी वही। मूल्य ३।।)

होमियोपैथिक चिकित्सा-प्रणाली का भारतवर्ष में दिन-दिन अधिक प्रचार हो रहा है। इसकी दवाएँ इतनी सूक्ष्म-मात्रा में दी जाती हैं, और इतनी स्वाद-रहित होती हैं कि उनका सेवन करने में लेश-मात्र भी कष्ट नहीं होता। इनसे तत्काल ही लाभ होता है। ओषधियाँ सस्ती इतनी होती हैं कि ग़रीब-से-ग़रीब आदमी भी मोल ले सकता है। कितने ही रोगों में, विशेषकर हैज़े और अन्य उदर-रोगों में तो ये ओषधियाँ जादू का-सा

असर दिखाती हैं। यद्यपि इस प्रणाली को न तो सरकार से कोई सहायता मिलती है और न चिर सम्मानित जन-श्रद्धा से; पर केवल अपनी उपयोगिता के बल पर खड़ी होकर वह आज अन्य सभी प्रथाओं का मुक़ाबला कर रही है। हिंदी-भाषा में इस विषय की कई किताबें निकल चुकी हैं, पर हमारे विचार में यह ग्रंथ सर्वोत्तम हुआ है। इसके लेखक स्वयं अच्छे डॉक्टर हैं। रोगों के लक्षण, निदान, औषधियाँ सब बड़े विस्तार से लिखी गई हैं। इस प्रणाली में सारा दारोमदार लक्षणों पर है। अन्य विधानों की भाँति यहाँ रोगों की दवा नहीं, केवल लक्षणों की दवा की जाती है। इसलिये जब तक लक्षणों को स्पष्ट रूप से न बताया जाय, किसी औषधि का उपचार नहीं किया जा सकता। यहाँ कोई कफ़ मिक्सचर या स्वासारिवटी नहीं है, जो खाँसी की शिकायत पैदा होते ही दे दी जाय, यहाँ तो प्रत्येक खाँसी के रोगी के लक्षणों को देखकर ही कोई दवा दी जाती है। अटकलपच्चू दवा दे देने से कोई फ़ायदा ही नहीं हो सकता। इस ग्रंथ में इस बात का ख़ूब ध्यान रक्खा गया है। पुस्तक बड़े काम की है। जिन्हें होमियोपैथी से रुचि हो, अन्यथा जो लोग थोड़े से ख़र्च में जनता का उपकार करना चाहते हों, उन्हें अवश्य यह पुस्तक मँगानी चाहिए। लेखक का दावा है कि केवल इसी पुस्तक को पढ़कर आदमी होमियोपैथी चिकित्सा कर सकता है, और यह दावा बहुत कुछ सच्चा है।

× × ×

सरल बँगला-शिक्षक—लेखक, श्रीगोपालचंद्र चक्रवर्ती ३८ नं० सदानंद बाज़ार स्वयंभाति पुस्तकालय, काशी से ग्रंथकार द्वारा प्रकाशित ; मूल्य १) ; पृष्ठ-संख्या २६८।

अब तक इस विषय की जितनी पुस्तकें निकली हैं, उनमें यह पुस्तक सर्वश्रेष्ठ है। इस पुस्तक को पढ़कर बँगला-साहित्य का रसास्वादन करने की योग्यता प्राप्त हो सकती है। चक्रवर्ती महोदय बंगाली हैं, पर हिंदी का उन्हें बहुत अच्छा ज्ञान है। बँगला-साहित्य के प्रेमी इस पुस्तक को अवश्य देखें।

× × ×

६. प्राप्ति-स्वीकार

निम्नांकित वस्तुओं के प्रेषकों को धन्यवाद—

१. मैनेजर—संजीवन औषधालय, कन्नौज ने हमारे पास 'संजीवनपाक' समालोचनार्थ भेजा है। पाक का आकार-प्रकार सुंदर और खाने में स्वादिष्ट है। स्वाद से यह भी प्रतीत होता है कि उसमें कुछ औषधियों का भी समावेश है। बिना कुछ काल तक सेवन किए गुणावगुण का विवेचन करना कठिन है। जो लोग मँगाना चाहें, वे उपर्युक्त पते से मँगाकर परीक्षा करें।

२. ओसवाल ट्रेडिंग कंपनी, १६, सिनागोग स्ट्रीट, कलकत्ता ने 'चंद्रकला' तथा 'नवकुसुमाकर' तैल परीक्षार्थ हमारे पास भेजे हैं। 'चंद्रकला तैल' ख़ासकर स्त्रियों के लिये बनाया गया है। इसकी सुगंध भीनी है, बाल मुलायम रहते हैं। यदि नियमानुसार कुछ समय सेवन किया जावे, तो बालों को काफ़ी लाभ पहुँच सकता है, ऐसी आशा है। मूल्य केवल ॥) प्रति शीशी है। 'नवकुसुमाकर तैल' लगाते-लगाते सर में ताक़त पहुँचाता और आँखों को शीतलता प्रदान करता है। इसकी ख़ुशबू बराबर २४ घंटे तक बनी रहती है। ख़ुशबू बहुत-से इत्रों से भी अच्छी है। एक अच्छाई इस तैल में यह है कि ह्वाइट ऑयल पर नहीं बना है। मेरी राय में दिमाग़ी काम करनेवालों को यह तैल अवश्य सेवन करना चाहिए। मूल्य प्रति शीशी ॥), दोनों तैल उपर्युक्त पते से मिल सकते हैं।

३. गीता-डायरी—गीता-प्रेस, गोरखपुर से प्राप्य ; मू० सादी ।), सजिल्द ।-) ; यह डायरी सन् १६२८ की है। डायरी के प्रत्येक पेज में गीता के श्लोक दिए हैं, इस प्रकार संपूर्ण गीता दे दी गई है। इसके अतिरिक्त बहुत-सी रोज़ाना काम आनेवाली आवश्यक बातें भी दे दी गई हैं। डायरी उत्तम और लाभप्रद है।

४. मेसर्स लाजपतराय ऐंड संस लाहौर ने कई प्रकार के आकर्षक चित्रों से सुसज्जित कुछ कैलेंडर १६२८ के भेजे हैं। सुख-संचारक कंपनी, मथुरा के भी कैलेंडर प्राप्त हुए हैं, तदर्थ धन्यवाद।

१. प्रेम के द्वारा शिक्षा

हुत-से लोगों का विश्वास है कि भय के द्वारा बालकों का शिक्षण और उनका सुधार किया जा सकता है। उनके विचार में प्रेम एक ऐसा मनोविकार है, जिसके कारण माता, पिता तथा अध्यापकों में बालकों के प्रति "जैसा वे चाहें करने दो, नहीं तो बालक के मन को दुःख पहुँचेगा" का भाव उत्पन्न हो जाता है और वे उसे अनुचित कार्यों से नहीं रोकते, जिससे कि बालक बिगड़ जाते हैं। वे माताएँ जिनके बालक आज्ञाकारी तथा योग्य होते हैं, यही समझती हैं कि उन्हें अपने बालक के शिक्षण में जो सफलता मिली है, उसका बहुत कुछ श्रेय ताड़ना को है, न कि उनके निजी आकर्षण को या बालक की ग्राहक और उत्पादक शक्तियों को। इस प्रकार की कहावतें कि "लालयेत् पंच वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्" और "लालने बहवो दोषास्ताडने बहवो गुणाः" तथा "भय बिन होय न प्रीति" इत्यादि इसलिये प्रचलित हो गई हैं और साधारण विवेक-शून्य मनुष्यों पर असर डालती हैं कि अभी तक अधिकतर मनुष्यों ने लाड़-प्यार तथा ताड़ना इन दोनों के बीच के सुलभ मार्ग को नहीं समझा।

जहाँ कुछ लोगों के विचार में ताड़ना ही बच्चों को ठीक मार्ग पर चलाने की सबसे उत्तम औषधि है, वहीं हमें ऐसे माता-पिता भी मिलते हैं, जो कि अपने बालकों पर आवश्यकता से अधिक लाड़-प्यार करते हैं। वे अपने बालकों को किसी भी प्रकार का ज़रा-सा भी कष्ट का अभाव नहीं होने देते और इस डर से बालक के मन को कष्ट न पहुँचे, वे न तो उसे अनुचित कार्य से ही रोकते हैं और न उत्तम शिक्षा ही दे पाते हैं। वे सदा उनकी इतनी अधिक देख-रेख रखते हैं कि बालकों को अपने अनुभव से बात सीखने का अवसर ही नहीं मिलता। वे उसकी प्रत्येक इच्छा को चाहे, वह अनुचित ही क्यों न हो, तुरंत पूर्ण कर देते हैं। जिससे बालक हठी हो जाता है और किसी भी बात के पूर्ण न होने पर सारा घर सिर पर उठाकर बड़ों को तंग कर देता है। उसे अपने बड़ों की इच्छा के अनुकूल चलकर उन्हें प्रसन्न करने का मधुर सुख कभी नहीं मिलता और उसका सारा समय एक-न-एक बात के लिये ज़िद करने तथा रोने में ही बीतता है। बड़े होने पर वह और भी अधिक हठी, ज़िद्दी, अभिमानी तथा स्वार्थी हो जाता है। इस प्रकार छोटी तथा बड़ी उम्र के अपने बालकों की इच्छाओं की पूर्ति करना ही उसके जीवन का ध्येय हो जाता है। घरों के लाड़-प्यार से भरे हुए वायु-मंडल के द्वारा सत्यानाश हो जाता है।

बालकों की इस प्रकार ताड़ना अथवा लाड़-प्यार होने के दो कारण हैं, पहला तो यह है कि बहुत-से मनुष्य यह नहीं जानते कि बच्चों से किस प्रकार व्यवहार करने से वे आज्ञाकारी हो सकते हैं। वे बालकों के स्वभाव तथा उनकी कठिनाइयों को नहीं समझते। वे उन्हें मनमाने तरीक़े से रखकर आज्ञाकारी तथा योग्य बनाना चाहते हैं और ताड़ना को ही इसकी परम उत्तम ओषधि ख़याल करते हैं। इस प्रकार कुछ माता-पिताओं का तो विचार होता है कि ताड़ना से ही बालक वश में रह सकते हैं और कुछ अपने प्रेम को बच्चों पर अनुपयुक्त रूप से प्रकट करते हैं। फल दोनों का ही शोचनीय होता है।

इसका दूसरा कारण मनुष्य का आवेश भी है। कभी-कभी लाड़-प्यार करने तथा ताड़ना देने का गुण एक ही मनुष्य में एक दूसरे के बाद पाया जाता है। ऐसे मनुष्य आवेशी स्वभाव के होते हैं। वे आवेश के वेग में आकर बच्चों का बहुत अधिक लाड़-प्यार करते हैं या मार बैठते हैं। परंतु शान्त चित्त होने के समय अपनी भूल को स्वीकार करते हैं और अनेकों बार अपने मन में निर्दोष बालक को पीटने पर पश्चात्ताप करते हैं। परंतु कुछ दिनों में यह मनुष्य का स्वभाव-सा हो जाता है। इसका प्रभाव बालक पर भी बुरा होता है। वे भी ज़िद्दी, क्रोधी और चिड़-चिड़े हो जाते हैं। जिससे तंग आकर माता-पिता को अधिकाधिक पीटने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। बच्चे बहुधा ज़िद करते हैं। उस समय उनके माता-पिता दिन-भर के कामों से थके हुए या तो उनको मार बैठते हैं या इससे बचने के लिये उनकी ज़िद पूर्ण कर देते हैं। परंतु दोनों का ही फल यह होता है कि बालक की ज़िद बढ़ती जाती है। यदि माता-पिता दब जाते हैं, तो बालक ज़िद करने को ही अपने सब काम कराने का साधन बना लेता है। इससे माता-पिता तथा बालक दोनों को बड़ा कष्ट होता है और उनकी मानसिक शांति भंग हो जाती है। अतः माता-पिता को यह आवश्यक है कि बच्चों से बहुत ही शान्ति और आत्मनिग्रह के साथ बर्ताव करें। शान्तचित्त से माता-पिता बालक के हठ करने पर भी शान्त बने रहते हैं और बालक का ध्यान दूसरी ओर लगाकर स्वयं कठिनाई से बच जाते हैं, और बालक में भी बुरा स्वभाव नहीं बढ़ने देते।

यदि बालकों को प्रसन्नचित्त, आत्मनिग्रही तथा आज्ञाकारी बनाना है, तो आरंभ से ही उनके साथ, अच्छा बर्ताव करना चाहिए। माता-पिता को क्रोध का बिलकुल त्याग कर देना चाहिए। उनको किसी भी दशा में प्रसन्नता और मृदु स्वभाव को न छोड़ना चाहिए। घर में यदि बड़ों का स्वभाव सरल और आनंदमय हो, तो बच्चे भी वैसा ही सीखते हैं। इसके विपरीत असभ्यता, कठोरता तथा आलस्य का बर्ताव करने से कार्य-शक्ति तथा नैतिक भाव से हीन और स्वार्थी बालक ही होंगे। दृढ़ और प्रसन्नचित्त माता-पिताओं के उदाहरण के प्रभाव से बालक भी दुःख, कष्ट और निराशा को सहन करनेवाले होते हैं, और उनका स्वभाव मृदु और कोमल हो जाता है तथा उनमें अच्छी आदतें पड़ती जाती हैं। आनंद का बालकों के ऊपर बहुत ही उत्तम असर होता है। बालकों को आनंदित रखने से उनकी सबसे अच्छी वृद्धि होती है। इससे उनके आचार-विचार भी अच्छे रहते और वे अच्छी शिक्षा ग्रहण करते हैं। बालक की सबसे अधिक आनंदित अवस्था में हम उसके हृदय पर पूर्ण आधिपत्य रख सकते हैं। हम बच्चों को अच्छे मार्ग पर उस समय सबसे अधिक सुगमता से ले जा सकते हैं, जब कि वह आनंद और प्रसन्नता में परम निमग्न हों। उस समय हम उन्हें जैसे साँचे में चाहें, ढाल सकते हैं।

हमें बालक की आवश्यकता और कठिनाइयों को समझने का पूरा प्रयत्न करना चाहिए। अपने को उनकी स्थिति में रखकर ही हम उनके साथ पूर्ण सहानुभूति तथा न्याय का बर्ताव कर सकते हैं। हमें स्वयं बालक के समान हो जाना चाहिए। उनके साथ बराबरवाले के समान व्यवहार करना चाहिए। उनका बराबरवाले के समान ही सम्मान तथा विश्वास करना चाहिए, वास्तव में वे ही बालक को शिक्षा देने के योग्य हैं, जो कि उनके साथ खेल सकते हैं। वे माता-पिता जो स्वभाव से दृढ़, शान्त तथा प्रेम करनेवाले हैं; बालक की कमज़ोरियों को गुणों में बदल सकते हैं। माता-पिता को न तो बालक के आगे शिर झुकाने की आवश्यकता है और न उसे मारने-पीटने अथवा भय दिखलाने की। उनको उचित है कि बालक को सरलता-पूर्वक ऐसा बना लें कि वह उनकी बातों को समझ सके। बालकों को ऐसी बान डालनी चाहिए कि

वह अपने दोषों को समझ जाने पर उस पर पश्चात्ताप करें, और वैसी भूल फिर न करने का वचन दें। दोष बतलाना, कभी-कभी हलकी डाट-डपट तथा उसकी किसी इच्छा को पूरी न करना आदि का भी दंड देने में उपयोग करना चाहिए, पर कड़ुवे व तीखे शब्द अथवा गालियाँ कभी नहीं देनी चाहिए। बच्चों को यदि कभी दंड देने की आवश्यकता ही आन पड़े, तो उनको ऐसे दंड देने चाहिए जैसे—यदि तुम उसको कोई वस्तु देनेवाले थे, तो उससे कहो कि तूने यह शैतानी की है, इसलिये तुझे अब यह वस्तु नहीं दी जावेगी अथवा मैं और बच्चों को खिलौने दूँगा; पर तुझे नहीं दूँगा, या अब मैं तुझसे नहीं बोलूँगा इत्यादि। मुझे अच्छी तरह याद है कि जब मैं छोटी थी, मेरी माँ मुझसे अप्रसन्न होने पर मुझसे बोलना छोड़ देती थीं। इसका असर मेरे हृदय पर होता था। यदि वह कभी मुझको पीटतीं या डाटती थीं, तब तो मुझको क्रोध आता था। परंतु उनके बोलना छोड़ देने पर अपनी ग़लती के प्रति मुझे बड़ा पश्चात्ताप होता था और मैं वैसी ग़लती फिर न करने का दृढ़ संकल्प करती थी। इसी प्रकार यह मेरा निजी अनुभव है कि इस प्रकार के दंड अधिक उपयुक्त हैं, पर इनका उपयोग भी विशेष आवश्यकता के समय ही करना चाहिए। यदि बालक से अनजाने या अकस्मात् कोई अपराध हो जावे, जैसे उसके हाथ से कोई चीज़ गिर पड़े अथवा टूट जावे या स्याही गिर जावे, तो उस पर नाराज़ नहीं होना चाहिए। बालक के साथ सदा वैसा ही बर्ताव करना चाहिए, जैसा कि यदि हम उसकी जगह होते, तो अपने बड़ों से किए जाने की आशा करते।

जहाँ तक हो सके, बालक से ख़ुशी-ख़ुशी उसकी सुदृढ़ आदत को होशियारी से उसका ध्यान दूसरी ओर लगा कर छुड़ा देना चाहिए। बालक अधिकतर अपनी नाड़ियों की कमज़ोरी या किसी अपने ऊपर प्रभुत्व रखनेवाले भाव के असर में आकर रोता है। कभी-कभी बालक के इस भाव के प्रभाव में आकर या उसके रोने-चिल्लाने से तंग आकर हम भी उस पर क्रोधित होने लगते हैं, और उसको पीट देते हैं। परंतु ऐसे समय हमें सदा अधिक शान्ति और दृढ़ता से काम लेना चाहिए अथवा बालक को किसी दूसरे मनुष्य के सुपुर्द कर देना चाहिए। इससे बालक प्रायः बदल जाता है और बड़े मनुष्य का क्रोध भी बदल जाता है तथा क्रोध और चिड़चिड़ाहट की तरंगें शीघ्र ही शान्ति में बदल जाती हैं। हमें न तो सदा अपनी ही ज़िद रखनी चाहिए और न बालक की ही।

जिन बालकों के साथ उनके सहनशील तथा प्रेम करनेवाले माता-पिता ऐसा बर्ताव करते हैं, वे अपने अधिकांश दुर्गुणों को छोड़ देते हैं तथा प्रसन्न रहते हैं। यदि बालक कोई ग़लती करता हुआ पाया जाय, तो असभ्य रूप से उसकी आलोचना करने, या डाटने-डपटने की अपेक्षा उसके सामने बातचीत तथा उदाहरण के द्वारा उस बुराई के विपरीत भलाई का आदर्श रखना और उस ग़लती से होनेवाली बुराइयों तथा हानियों को भली भाँति समझाना चाहिए। उदाहरण के लिये यदि वह किसी वस्तु को तोड़ रहा हो, तो उसे उस वस्तु के टूट जाने से होनेवाली हानि को बतलाओ। यदि तुम उसे अच्छी प्रकार समझा सकोगे, तो वह फिर उस वस्तु को कदापि न तोड़ेगा। एक बार मेरे एक ५-६ वर्ष के भतीजे को ऐसी बान पड़ गई थी कि मिट्टी के भरे पैर अपने बिस्तर पर रखकर उसे तुरंत मैला कर देता था। उसे कई बार मना किया गया। कई बार डाट डपट भी बतलाई गई, पर उसने अपनी यह बान न छोड़ी। परंतु एक बार जब हमने उसको समझाया कि देखो तुम्हारी चाँदनी कैसी जल्दी मैली हो जाती है और तुम्हारे चाचाजी की कैसी उजली है, तो वह कहने लगा कि मैं दूसरी चाँदनी बदल लूँगा। उस पर हमने उसे बतलाया कि नहीं हम धोबी को इतने पैसे नहीं दे सकते और तुम्हें मैली ही बिछानी पड़ेगी, तो वह तुरंत समझ गया और फिर कभी उसने अपने बिस्तर को इस प्रकार मैला नहीं किया। इसी प्रकार बच्चों की बहुत-सी बुराइयाँ प्रेम के द्वारा समझाने और उससे होनेवाली हानियों को बतलाने से सहज ही दूर की जा सकती हैं, जो कि पीटने या डाटने से कदापि नहीं हो सकतीं। असल में जब बालक अपनी किसी बुरी आदत या दोष को शारीरिक दंड के द्वारा छोड़ता है तो उसका कोई सच्चा नैतिक फल नहीं होता। वह सिर्फ़ पिटने के डर से उस कृत्य को छोड़ता है। उसके हृदय में यह विश्वास नहीं होता कि भलाई बुराई से उत्तम है। इसलिये वह अनेकों प्रकार की चतुराई से धोखा देकर इस आपत्ति से बचना चाहता

है। इस प्रकार शारीरिक दंड सदाचार की वृद्धि कराने के बजाय धोखेबाज़ी को बढ़ाता है। दूसरे मार-पीट के द्वारा दासता के गुण पैदा होते हैं, स्वतंत्रता के नहीं। इससे निर्लज्जता बढ़ती है; क्योंकि कोई भी इज़्ज़तदार आदमी मार-पीट के बजाय बात का अधिक आदर करता है।

वास्तव में बालक में पाया जानेवाला प्रत्येक दोष बहुत सुगमता से भलाई में बदला जा सकता है; क्योंकि बुराई या भलाई का वही संबंध है, जो अँधेरे और प्रकाश का। प्रकाश के होते ही अँधेरे का भाग जाना अवश्यं-भावी है। इसी प्रकार उस बुराई के प्रतिकूल भलाई को उत्पन्न करने से बुराई स्वयं दूर हो जावेगी। प्रकृति के अनुकूल कार्य करने से बुराई को सहज ही भलाई में बदल सकते हैं और प्राकृतिक नियमों के प्रतिकूल चलने से एक भला बालक भी दुष्ट हो जाता है। एक विद्वान् का कहना है कि "इस बात के बहुत-से प्रमाण हैं कि एक साधारण कोटि का बालक शिक्षा के द्वारा एक निर्बल मस्तिष्क-वाले और बेवकूफ़, या पागल के समान अथवा परम चतुर और प्रतिभाशाली पुरुष के समान बनाया जा सकता है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि बालक में पाई जानेवाली किसी शक्ति का नाश दमन के द्वारा नहीं किया जा सकता। वह होशियारी से अच्छे कामों में परिणत की जा सकती है अथवा मूर्खता से उसका दुरुपयोग किया जा सकता है।

असल में छोटे बालक निर्दोष होते हैं। उनका बुराई करने का अभिप्राय कभी नहीं होता। यदि बच्चों को कोई अनुचित बात न सिखलाई जावे और न वे दूसरों को ऐसा करते देखें, तो वे प्रायः झूठे और स्वार्थी न हों। बालक प्रायः अपने चारों ओर की परिस्थिति के प्रभाव के अनुकूल ही भले या बुरे होते हैं। यद्यपि यह ठीक है कि बालक अपने साथ ही कुछ भलाई व बुराई की आन्तरिक प्रवृत्तियाँ भी लाता हो और वह सदा ही इतना स्वच्छ हृदय और मन लेकर नहीं आता कि उस पर जैसा चाहो प्रभाव डाल दो। परंतु चतुर माता-पिता अपने गृह की स्थिति को सुधार कर और बालक के चतुर्दिक् उत्तम वातावरण रखकर उसकी बुरी प्रवृत्तियों को दबा तथा उत्तम को उकसा सकते हैं। यद्यपि बालक पर माता-पिता का अधिक प्रभाव पड़ता है, पर कुटुंब के अन्य मनुष्यों तथा नौकर-चाकरों का भी काफ़ी प्रभाव होता है। अतः इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि बालक का संपर्क जिन मनुष्यों से है, उनका चरित्र कैसा है। बुरी आदतोंवाले मनुष्यों के पास जहाँ तक हो सके, अपने बच्चे को नहीं हिलने देना चाहिए।

आरंभिक बाल्यकाल के समान ही यौवनकाल भी ऐसे बीज बोने का समय है, जो कि उनके जीवन पर्यंत वृद्धि पाते और फलदायक होते हैं। इस समय यदि बालक की आन्तरिक प्रवृत्तियों को भली भाँति समझ-कर उनका सदुपयोग किया जाय, तो सद्गुण का समावेश होता है। इसके विपरीत यदि इन प्रवृत्तियों की ओर ध्यान न दिया जाय और मनमानी ओर झुकने दिया जाय, तो दुर्गुण आ सकते हैं। इस काल में मनुष्य का शारीरिक तथा मानसिक विकास होता है और कार्यशील प्रवृत्तियाँ वृद्धि पाती हैं। इसलिये इस समय किसी बात का बहुत शीघ्र असर होता है और वह चिरस्थायी भी होता है। इस समय अच्छी संगति, अच्छे आदर्श और उत्तम पुस्तकों आदि की सहायता से पवित्रता, देश-सेवा, ब्रह्मचर्य आदि गुणों की नींव सहज ही में डाली जा सकती है; क्योंकि जीवन के इस काल में भावनाएँ बड़ी प्रबल होती हैं। अतः यह समय नैतिक स्वभाव को बदलने तथा उत्तम बनाने के लिये विशेष उपयुक्त है। इस समय व्यायाम करने की विशेष आवश्यकता होती है। बहुतों का एक साथ मिलकर गाना और प्रार्थना करना तथा अच्छा काव्य बालकों में शान्ति और अच्छे भाव उत्पन्न करता है। इस समय मनुष्य के हृदय में उच्चा-काक्षाएँ और उत्तम आदर्शों को प्राप्त करने की लगन तथा उत्साह उत्पन्न किया जा सकता है, अथवा बुरी संगति व बुरे आदर्श के द्वारा जीवन पर्यंत के लिये बुरी प्रवृत्तियों की ओर चित्त का झुकाव हो सकता है। अतः यौवनकाल में भी इसी प्रकार होशियारी रखने की आवश्यकता है, जैसी कि बाल्यकाल में।

हमें उचित है कि बालकों की स्वतः प्रेरित कार्य-शीलता को समझें और उसका आदर करें। बालक को अपने अनुभव से बात सीखने का मौक़ा तथा स्वतंत्रता देनी चाहिए, केवल उन बातों को छोड़कर जिनसे बालक अथवा अन्य मनुष्यों की विशेष हानि की संभावना है। बालक को स्वयं अपने

अनुभव से बात सीखने और उसके प्राकृतिक फल को भोगने देना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार निजी अनुभव से सीखा हुआ सबक़ सदा याद रहता है। हाँ, ग़लती करने से पूर्व या बाद में उसके फल का संकेत कर देना चाहिए।

यदि हम अपने ज्येष्ठ बालक को शिक्षा देने के महत्त्व-पूर्ण कार्य में भली प्रकार सफल हो जावेंगे, तो अन्य बालकों को शिक्षा देने का कार्य बहुत सहल हो जावेगा। क्योंकि छोटे बालक अपने बड़े भाई-बहन की बहुत अधिक नक़ल करते हैं और उसी तरीक़े पर चलते हैं। इसलिये हमें उचित है कि बालकों को शिक्षा देने के उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य को भली प्रकार संपन्न करने के लिये अपने आलस्य तथा क्रोध आदि का बिलकुल त्याग कर दें और तन, मन, धन से उनको उत्तम शिक्षा देने का प्रयत्न करें। देश और जाति की यही सबसे उत्तम सेवा है कि हम उसके भावी नागरिकों को जिन पर देश का उत्थान तथा पतन निर्भर है, अपनी उत्तम शिक्षा के द्वारा योग्य बनावें। तभी हम बालकों के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा कर सकेंगे। उत्तम शिक्षा ही वह अमूल्य उपहार है, जो हम अपने प्यारे बच्चों को दे सकते हैं और वही माता-पिता बच्चे का सच्चा प्यार करते हैं, जो उन्हें अच्छी शिक्षा देते हैं *।

दुर्गा देवी

* इस लेख के लिखने में हमें (Home influence) नामक विख्यात अँगरेज़ी की पुस्तक से भी सहायता मिली है।
—लेखिका

१. सिंह और गीदड़

(१)

मंगला चमार था—जन्म से अछूत। उसकी माता चक्की पीसती थी और बाप जूते गाँठता था। कुँवर 'शत्रुओं को कच्चा ही खा जाऊँ सिंह' जी जन्म से ही क्षत्रिय थे। उनकी माता एक बड़े जिमींदार की लड़की थीं और उनके पिता भी प्रतिष्ठित जिमींदार थे—सब लोग जन्म से छूत क्या महाछूत। मंगला झोंपड़ी में पला था, कुँवर साहब महलों में। मंगला कभी गधे पर भी नहीं चढ़ा था, कुँवर साहब घोड़ों, गाड़ियों और मोटरों से ऊब गए थे, और हवाई जहाज मँगाने को सोचा करते थे—डर था तो यही कि कहीं ऊपर से नीचे न आ पड़ें। मंगला को बेझड़ की बासी रोटी भी पेट-भर खाने को नहीं मिलती थी; कुँवर साहब को तरमाल खाते-खाते, अजीर्ण हो चला था। भुखमरा मंगला दुबला था; बहुभोगी कुँवर साहब मोटे-ताजे। मंगला का चेहरा खुरदुरा था; कुँवर साहब का चिकना-चुपड़ा। संसार में दोनों ही ने जन्म लेकर अपने-अपने घरवालों की मनोकामना पूरी की।

युवा होने पर मंगला ने एक मोची की कन्या से विवाह किया; कुँवर साहब को राजपूताने के एक बड़े जागीरदार की कन्या मिली। मंगला की बहू को झाड़ू देने, गोबर पाथने, चक्की पीसने, रोटी बनाने तथा और भी बहुत-से ऐसे ही कामों में लगे रहने के कारण दम लेने का अवकाश नहीं मिलता था; कुँवर साहब की बहूरानी के लिये इतनी सेविकाएँ थीं कि उन्हें काम करना तो एक ओर रहा—किसी काम के लिये किसी से कुछ कहने की भी आवश्यकता कभी नहीं पड़ती थी!

(२)

देव-उठान के अवसर पर मंगला की मा के मन में गंगाजी नहाने की आई; वही बात कुँवर साहब की माता के भी मन में आई। मंगला की मा ने एक गठरी अपने सिर पर लाद ली और दूसरी बहू के सिर पर लाद दी। मंगला के साथ दोनों, एक दिन पहले ही चल दीं, क्योंकि गंगाजी वहाँ से कोई दस कोस दूर थीं। साँझ होते-होते ये लोग वहाँ पहुँच गए और गंगा महारानी के दर्शन किए। उधर

राजमाता और बहूरानी का सामान दासियों ने बाँध-बूँधकर मोटर पर रख दिया। एक मोटरलारी सवेरे ही वहाँ नौकर डेरे और तंबुओं आदि के साथ पहुँच चुकी थी। साँझ का भोजन करके राजमाता, बहूरानी और कुँवर साहब मोटर पर सवार हुए और घंटे भर से भी कम में वहाँ पहुँच गए।

झुटपुटे के बाद राजकुल ने मंदिरों में दर्शन किए। पंडे-पुजारियों ने ठाकुरजी से भी अधिक उनका सम्मान किया और प्रसादों और आशीर्वादों का ढेर लगा दिया। चमार-कुल ने बाहर ही से दर्शन करने चाहे, पर झिड़की और बेंत का प्रसाद खाकर व्यर्थ इस मंदिर से उस मंदिर और उस मंदिर से इस मंदिर के द्वार पर भटकना पड़ा—दर्शन-वर्शन कुछ न हुए। ठंडी साँसें लेकर, दबी आवाज़ से ठाकुरजी की जय बोलते हुए बेचारे तीनों प्राणी एक पेड़ के नीचे आकर पड़ रहे, जो कुँवर साहब के डेरों के पास था।

रात के दो बजे कोई ५० शस्त्रधारी डाकुओं ने राजकुल पर हमला किया। हल्ले-गुल्ले से मंगला आदि की भी आँख खुल गई। कुछ डाकुओं की दृष्टि इन पर भी पड़ी। उन्होंने सोचा कि लाओ, लगे हाथों इन तीर्थ-यात्रियों को भी सांसारिक सामान से मुक्ति दे दें।

कुँवर साहब के नौकर मार पड़ते ही लगे सिर पर पैर रखकर भागने, क्योंकि मुफ़्त का माल चरे हुए वृथा-पुष्ट थे। लोगों को भागता देख, हड़बड़ाहट में, कुँवर साहब भी दौड़कर मोटर की सीट के नीचे छिप गए। भरी भराई दुनाली बंदूक धरी ही रह गई! इधर मंगला ने कुछ लोगों को अपनी ओर आता देखकर अपनी लाठी सँभाली और डटकर सामना किया, दो ही चार हाथ में डाकुओं के मुँह फेर दिए।

राजमाता और बहूरानी दोनों लुट गईं—तन पर एक भी गहना न बचा, अपमान हुआ सो अलग। मंगला की 'मैयो' और 'लुगाई' से कोई हाथ भी न लगा सका।

समाज-सुधार के पक्षपातियों को यह सोचने का कारण मिल गया कि यदि आज मंगला-जैसे क्षत्रिय और कुँवर साहब-जैसे जूते गाँठनेवाले होते, तो हिंदुओं पर इस प्रकार धार्मिक तथा सामाजिक संकट का पहाड़ न टूट पड़ता, और न उन्हें यों दूसरों के धक्के ही खाने पड़ते।

बदरीनाथ भट्ट

× × ×

२. नाई की धूर्तता

किसी समय में एक देश में एक नाई रहता था। उसके एक स्त्री थी। वह बहुत गरीब था, यहाँ तक कि उससे भोजन का सामान जुटना भी मुश्किल था। उसकी स्त्री बराबर इस बात की शिकायत किया करती थी कि उसका पेट नहीं भरता। वह जब तब अपने पति से कहती—"यदि तुम मुझे खाना-कपड़ा नहीं दे सकते, तो तुमने विवाह ही क्यों किया—मेरा हाथ ही क्यों पकड़ा? जो लोग घर का खर्च नहीं चला सकते उन्हें कभी भी विवाह नहीं करना चाहिए। जब मैं अपने पिता के घर पर थी, तब तो मुझे मनमाना भोजन मिलता था—परंतु यहाँ उपवास करना पड़ रहा है।" इस प्रकार बातों से ही उसका पेट नहीं भरता था। एक दिन वह बहुत बिगड़ गई और अपने पति को झाड़ू से मारा। नाई बहुत लज्जित हुआ, उसे अपने ऊपर स्वयं घृणा हुई;

वह अपना लोहखर * लेकर घर से निकल पड़ा और प्रतिज्ञा की कि बिना धन पैदा किए वह कभी भी घर न लौटेगा और न अपनी स्त्री का मुँह ही देखेगा। वह कई गाँवों को पार करता हुआ एक जंगल के किनारे पहुँचा। उस समय संध्या हो गई थी। इसलिये वह एक पेड़ के नीचे पड़ रहा और वहीं रात बिताने की ठानी।

ऐसा संयोग हुआ कि जिस पेड़ के नीचे नाई सोया हुआ अपने भाग्य पर विचार कर रहा था—उसी पेड़ पर एक देव रहता था। एक मनुष्य को नीचे सोया हुआ देखकर देव ने उसे मार डालना चाहा। वह नीचे उतरा और दोनों हाथ फैलाकर, मुँह बाकर भयंकर सूरत बनाकर नाई से बोला—"ऐ मनुष्य मैं तुम्हें खाऊँगा—मैं तुम्हें खाऊँगा, अब तुम्हें कौन बचा सकता है ?"

डर के मारे नाई का अंग-प्रत्यंग काँप रहा था, तथापि हिम्मत करके उसने कहा—"तुम मुझे क्या खाओगे ? ज़रा ठहर जाओ, मैं तुम्हें दिखाता हूँ कि मैंने आज रात में कितने देवों को पकड़कर अपने लोहखर में रख छोड़ा है। अब तुम्हें भी अपने लोहखर में बंद करूँगा।" ऐसा कहकर उसने अपने लोहखर में से एक आईना निकालकर उसे दिखा दिया और कहा—'देखो ! यहाँ एक देव है, जिसे मैंने अभी-अभी कुछ ही देर पहले पकड़ा था। अब तुम्हें भी इसका साथ देना होगा।"

देव ने आईना में अपना चेहरा देखकर समझा कि सचमुच यह कोई दूसरा देव है। वह डर गया और नाई से हाथ जोड़कर कहने लगा—"महाशय ! आप जो कहें, मैं करने को तैयार हूँ ; परंतु आप मुझे उस लोहखर में बंद न करें। आप जो कहें, मैं लाकर आपको दे सकता हूँ।"

नाई निडर होकर बोला—"पर तुम देवों का विश्वास ही क्या ? तुम वादा तो करोगे, परंतु काम निकल जाने पर उसे भूल जाओगे।"

देव ने कहा—"नहीं सरकार, मुझ पर दया कीजिए। आप जो कहें, मैं आपके लिये ला सकता हूँ। आप मेरा विश्वास करें। यदि वह वस्तु न ले आऊँ तब आप मुझे अपनी गठरी में खुशी से बंद कर लीजिएगा।"

नाई ने कहा—"अभी तुम एक हज़ार अशर्फ़ियाँ ले आओ और कल रात तक मेरे घर में एक कोठी * बनाकर उसे गेहूँ से भर दो। यदि तुम मेरे कहने के अनुसार कार्य नहीं करोगे, तो मैं तुम्हें अवश्य ही अपने लोहखर में बंद कर दूँगा।"

देव ने प्रसन्नता-पूर्वक इन शर्तों को स्वीकार किया। वह चला गया और थोड़ी ही देर में १००० अशर्फ़ियों की एक थैली लाकर नाई के हवाले किया। अशर्फ़ियों को देखकर नाई को बड़ी प्रसन्नता हुई। तब उसने देव से कहा—"देखो, मेरे कथनानुसार यदि कल रात तक मेरे घर में एक कोठी बनाकर उसे गेहूँ से न भर सके, तो अच्छा न होगा।" देव ने खुशी से इस काम का भार स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन सुबह में अशर्फ़ियों की थैली लेकर नाई अपने घर पहुँचा और अपनी स्त्री के आगे उँडेल दिया। अशर्फ़ियों को देखकर उसकी स्त्री के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसी दिन रात तक उस देव ने कोठी तैयार कर दी और रात भर गेहूँ

* जिसमें नाई अपना छूरा, कैंची आदि रखते हैं।

* कोठी मिट्टी की बनाई जाती है, जिसमें अनाज रखा जाता है।

ढो-ढोकर उसे भरता रहा। जब भर चुका, तब घर गया। उसके चचा ने जब यह हाल सुना, तब कहने लगा—"अरे मूर्ख! क्या तुम समझते हो कि नाई तुम्हें क़ैद कर सकता है? क्या तुम नहीं जानते कि नाई बहुत चालाक होते हैं। उसने तुमको बहुत धोखा दिया।"

उसके भतीजे ने कहा—"क्या आप उसके बल पर संदेह करते हैं? चलिए मैं दिखलाऊँ।"

इसके बाद दोनों नाई के घर गए, और बड़ा देव खिड़की की राह से भीतर झाँकने लगा। नाई उसे देखकर फिर वही आईना खिड़की की राह से दिखाकर कहने लगा—"आओ! आओ!! मैं तुम्हें भी इसी भाँति बंद करूँगा।" बड़ा देव अपना विकट मुखड़ा आईना में देखकर डर गया और उसी रात को दूसरी कोठी बनाकर उसे चावल से भरने का वादा किया। इस प्रकार अपनी चालाकी तथा ईश्वर की कृपा से दो ही रात में वह नाई बहुत धनी हो गया और अपनी स्त्री के साथ सुख से रहने लगा।

जगन्नाथप्रसादसिंह

---

१. हिंदुस्थान के सुप्रसिद्ध क्रिकेटर पी० बालू

सन् १९११ में सारे हिंदुस्थान में के हिंदू, पारसी तथा मुसलमान जातियों के चुने हुए क्रिकेट-प्रवीणों की एक टीम इँगलैंड गई थी। इस टीम के जिन खिलाड़ियों ने वहाँ बड़ा नाम कमाया था, उनमें श्रीयुत पी० बालू का नामोल्लेख प्रथम किया जाता है। इँगलैंड में आपने १०० से अधिक विकेट्स ली थीं। उस समय आपका बौलिंग सर्वोत्कृष्ट है और इँगलैंड के पहले दर्जे के बौलरों में आप गिने जा सकते हैं; ऐसा मत वहाँ के प्रसिद्ध परीक्षकों ने स्पष्ट रूप से दिया था। आज हम इस सुविख्यात क्रिकेटर का चरित्र 'माधुरी' के पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं। आशा है, आपका यह संक्षिप्त परिचय पाठकों को मनोरंजक तथा उपयुक्त मालूम होगा।

श्री० बालू का संपूर्ण नाम बालू बाबाजी पालवणकर है। आप 'कोंकणी मोची' याने कोंकण में के चमार जाति के सज्जन हैं। कोंकण में के रत्नागिरी ज़िले के पालवण नामक गाँव में आपके बाप-दादे रहते थे और इसी से आपका उपनाम पालवणकर पड़ा। आपके पिता, दादा तथा अन्य कई नातेदार मिलिटरी डिपार्टमेंट में नौकर थे। आपका जन्म सन् १८७६ ईसवी में धारवाड़ में हुआ था। आपकी प्राथमिक शिक्षा भिन्न-भिन्न जगहों में मिलिटरी स्कूलों में हुई थी। आगे आपकी १८ वर्ष की अवस्था में याने सन् १८९४ में आप मिलिटरी डिपार्टमेंट में सोल्जर क्लर्क बन गए। इस महकमे में आपने आठ वर्ष बिताए। इसके बाद आप सन् १९०२ में बी० बी० ऐंड सी० आई० रेलवे में क्लर्क हो गए।

बचपन से ही आपका क्रिकेट के खेल में ख़ूब चित्त लगता था। आप जब बारह-तेरह वर्ष की अवस्था के थे तब से ही आप पूने के मिलिटरी अफ़सरों का क्रिकेट का खेल देखने को बराबर आया करते थे। आपको न किसी ने क्रिकेट का खेल सिखाया था, और न कोई इस खेल का पथ-प्रदर्शक ही था। तिस पर भी दूसरों के खेल देखते समय आप इस खेल की ख़ूबियों पर सूक्ष्म ध्यान देते थे। खेल के लिये आपमें स्वाभाविक ही चाह थी, और इसी के बदौलत आपको खेल देखते-देखते उसका शौक़ हो गया। खेल में प्रवीणता प्राप्त करने की आपकी तीक्ष्ण अभिलाषा थी और उसी के अनुसार आपने भरसक प्रयत्न करना शुरू किया। पूने के जिमख़ाने में आप योरपियन मिलिटरी अफ़सरों के खेल देखते थे, वहाँ कुछ दिनों के बाद आप भी बौलिंग करने लगे। मिलिटरी डिपार्टमेंट में नौकरी मिलने तक आप इस जिमख़ाने में क्रिकेट का अभ्यास प्रतिदिन करते थे। किंतु उसके बाद भी दो तीन वर्ष तक मिलिटरी अफ़सरों की आज्ञा से आप बौलिंग के लिये वहाँ जाते थे। उस समय आपकी अवस्था बहुत कम थी, और क्रिकेट के खेल आप अभी आरंभ ही कर रहे थे। तिस पर भी आपकी होशियारी तथा चालाकी देखकर आप इस खेल में विशेष कर बौलिंग में ख़ूब नाम कमायेंगे, ऐसा क्रिकेट जाननेवाले लोग कहते थे, और उनकी यह भविष्य वाणी आगे पूर्ण भी हो गई।

मिलिटरी डिपार्टमेंट में तीन साल नौकरी करने के बाद आप जिस पलटन में काम करते थे, उस पलटन की तब्दीली बंबई में हो गई। किंतु इसके पूर्व ही आपने पूने में अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। पहले स्थानिक क्लबों में आपने अपनी कुशलता दिखाई। क्रिकेट की ये मैचेस सम्मिश्र रहती थीं और उनमें आप केवल हिंदुओं की ही ओर से न खेलते थे। क्योंकि आप अछूत जाति के होने से उच्च जातियों के लोगों से आपका बिलकुल संबंध नहीं रहता था। अतएव आप हिंदुओं की ओर से खेल न सकते थे। किंतु आगे जब हिंदू खिलाड़ियों का ध्यान आपकी कुशलता की ओर आकृष्ट हुआ, तब आप सरीखे खिलाड़ी अपने पक्ष में रहना आवश्यक है, ऐसा कई लोगों को प्रतीत होने लगा। मेजर ग्रेग नामक सुप्रसिद्ध क्रिकेट-प्रवीण योरपियन को तो आपकी पहले से ही बहुत चाह थी, और वे आपकी होशियारी की बड़ी तारीफ़ करते थे। श्री० बालू जैसे उत्कृष्ट खिलाड़ी हिंदू होते हुए भी आपका हिंदू-पक्ष को लाभ मिल नहीं सकता है, यह बात उक्त मेजर साहब को बहुत खटकती थी, और उन्होंने आपको शरीक करने के संबंध में पूने के यंगमेंस क्रिकेट क्लब से ख़ूब सिफ़ारिश की थी। साथ ही कुछ हिंदू सज्जनों ने भी इस बात पर ज़ोर दिया था।

क्रिकेट के मैदान में बालू

क़रीब ३० वर्ष पूर्व उच्च जाति के लोगों को अछूत जातियों के संबंध में आज सरीखी सहानुभूति नहीं थी। अतएव श्री० बालू को क्लब का सभासद् बनाने में वे लोग अनुकूल नहीं थे। यद्यपि कुछ सज्जन इस बात के विरुद्ध थे, किंतु अन्य पुराण मताभिमानी (orthodox) मेंबर्स क्या कहेंगे, इस डर से ही बहुतेरे सभासद् हिचकिचाते थे। क्लब में ब्राह्मणों की ही संख्या अधिक थी। अन्य जाति के भी कुछ सभासद् थे। किंतु उनकी इच्छा श्री० बालू को सभासद् बनाने की थी। उनमें से सायन्ना आदि कामाठी जाति के कुछ खिलाड़ियों ने श्री० बालू को सभासद् बनाने के संबंध में बड़ा अनुरोध किया था। इतना ही नहीं, बल्कि वे लोग क्लब छोड़ने को भी तैयार हो गये थे। जब बात यहाँ तक पहुँच गई, तब क्लब के सभासदों ने श्री० बालू को सभासद् बनाने का निश्चय किया और तदनुसार आप से क्लब का आनरेरी मेंबर बनने के संबंध में प्रार्थना की गई।

इस क्लब में शरीक हो जाने के बाद आपने अपनी प्रभाव-पूर्ण बौलिंग से इस क्लब को अनेक बार विजयश्री प्राप्त करा दी। तब से क्लब का नाम भी बड़ा मशहूर होने लगा। क्लब की टीम के साथ आप बेलगाँव और सतारा गए थे। सतारे में योरपियन टीम से मैच हुई थी, जिसमें आपका ही क्लब विजयी हुआ था। उस समय आपकी कुशलता पर मुग्ध होकर आपको एक चाँदी का 'कप' भेंट देकर आपका सम्मान किया गया था। स्वर्गीय न्यायमूर्ति रानाडे उस अवसर पर सतारे में ही थे और उन्होंने भी आपको धन्यवाद दिया था। बेलगाँव में रावबहादुर अच्युत भास्कर देसाई ने टीम के अन्य

मेंबरों के समान ही आपसे बर्ताव किया था। आपके क्लब के मेंबर भी आपके साथ प्रेम और आदर से बर्ताव करते थे। इतना ही नहीं, बल्कि पुराणमताभिमानी सभासद् भी आपको दूर न रखते थे। पूने सरीखे स्थान में क्लब के खिलाड़ियों ने मेरे साथ अच्छी तरह से ही बर्ताव किया था ऐसा आप हर समय कहते हैं।

बंबई में आने के बाद श्री० बालू को क्रिकेट में विशेष प्रवीणता प्राप्त करने का अवसर मिला। सन् १८६६ से आप बंबई में खेलने लगे। यद्यपि आपकी होशियारी का अनुभव बंबईवालों को मिल चुका था, किंतु अभी तक आपने क्रिकेट का सशास्त्र तथा सोपपत्तिक अभ्यास (Seintific aud theortical Study) प्रायः नहीं किया था। आगे यह अभ्यास आपने बंबई में किया। आपको बौलिंग का ही ख़ूब ख़याल था और आप उसमें स्वभावतः ही कुशल थे। बंबई में आपको बौलिंग की भिन्न-भिन्न प्रकार की युक्तियों का अनुभव करने का अवसर प्राप्त हुआ। आपने इस विषय की इँगलैंड के सुप्रसिद्ध क्रिकेट-प्रवीणों की लिखी हुई किताबें पढ़ीं और इन किताबों की सहायता से आपको इस विषय का सोपपत्तिक ज्ञान तथा बौलिंग की भिन्न-भिन्न प्रकार की युक्तियाँ मालूम हुईं। केवल किताबों के ज्ञान से ही आप संतुष्ट न रहते थे। किताबों में के वर्णनों का कैसा उपयोग हो सकेगा, इस बात पर आप विशेष ध्यान देते थे और इसलिये आप खेल में भिन्न-भिन्न प्रकार की युक्तियों की परीक्षा करते थे, निपुण खिलाड़ियों को किस प्रकार घबड़ाना, उनको किस सावधानता से गेंद फेंककर धोखा देना, और इस प्रकार उनको शीघ्र ही कैसा आउट करना, इस संबंध में आपने कई कल्पनाएँ खोजकर निकाली थीं, और वे सफल कर दिखाई थीं। बौलिंग का सशास्त्र अध्ययन करने के पूर्व श्री० बालू गेंद फेंकने में कई युक्तियाँ लगाते थे। किंतु यह केवल आपकी स्वाभाविक बुद्धि से ही था। उनका सोपपत्तिक ज्ञान आपको न था। आगे वह किताबों के अध्ययन से तथा अनुभवों की सहायता से आपको प्राप्त हो गया।

श्रीयुत बालू का बौलिंग

बंबई में आने के बाद हिंदू जिमख़ाने ने शीघ्र ही आपको आनरेरी मेंबर बनाकर आपका सम्मान किया। उस समय से हिंदू जिमख़ाने की दशा सुधारने के लिये आपने भरसक प्रयत्न किया। उस समय श्री० बालू हिंदू जिमख़ाने के एक बड़े आधार स्तंभ थे, ऐसा कहने में बिलकुल अत्युक्ति न होगी। हिंदू जिमख़ाने को आज जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है, उसका बहुत-सा श्रेय आपको ही है। अनेक महत्त्व के प्रसंगों में आपने हिंदू टीम को बड़ी चतुराई से बचाया है। बौलिंग के समय आपके प्रतिद्वंद्वी आपके गेंद से बहुत डरते थे। हिंदू टीम में यद्यपि कुछ दोष थे, फिर भी बौलिंग में उसकी उत्कृष्ट कुशलता दिखाई देती

थी। इसका सारा श्रेय श्री० बालू को ही था, यह बात स्पष्ट ही है।

बंबई में आने के बाद हिंदू जिमख़ाना तथा बी० बी० ऐंड सी० आई० रेलवे क्रिकेट क्लब की ओर से श्री० बालू कई मैचेस में खेले हैं। सन् १८६६ में यंगमेंस क्रिश्चियन ऐसोसिएशन के साथ जो मैच हुई थी, उसमें आपने स्वयं अकेले ही सब खिलाड़ियों को सिर्फ़ १६ रंस में ही आउट किया था! सन् १६०५ में हिंदू जिमख़ाने की इस्लाम जिमख़ाने के साथ मैच हुई थी। उसमें आपने लगातार तीन गेंदों में तीन खिलाड़ियों को आउट किया था! इस कुशलता को अँगरेज़ी में "हैट-ट्रिक" (Hat-trick) कहते हैं। कुछ इने-गिने ही बौलर्स ऐसी कुशलता दिखा सकते हैं! सन् १६०६ में हिंदू जिमख़ाना और न्यू शिवाजी क्रिकेट क्लब के बीच मैच हुई थी। उस समय आप ११२ रंस करके भी 'नाट आउट' रहे थे! इसके अतिरिक्त सन् १६०७ में आपने गौड़-सारस्वत क्रिकेट क्लब से हुए मैच में १०४, और भरतपुर टीम से हुए मैच में १०१ रंस किये थे!

क्रिकेट की जन्मभूमि इँगलैंड में जाकर वहाँ के मशहूर खिलाड़ियों का खेल देखने की तथा उस देश के लोगों को अपनी कुशलता का परिचय दिलाने की इच्छा श्री० बालू के हृदय में बहुत दिनों से प्रादुर्भूत हुई थी। किंतु आपकी यह इच्छा आपके ऐन उम्मेद के दिनों में सफल न हो सकी। आगे सन् १६११ में आल-इंडिया क्रिकेट टीम इँगलैंड में भेजना ठहराया गया, और उस समय आपकी यह हार्दिक इच्छा पूर्ण हो गई। क्रिकेट के खेल में खिलाड़ी बहुत वर्ष तक नहीं चल सकते। ऐन जवानी की चालाकी, ज़ोर तथा फ़ुर्ती आगे शनैः शनैः घटती जाती है, यही अनुभव प्रायः मिलता है। श्री० बालू भी पहले के समान नहीं खेल सकते थे। उनकी पहले की फ़ुर्ती कम हो गई थी, और आपके हाथ पर ज़्यादा परिश्रम पड़ने के कारण आपका कंधा भी कमज़ोर हो गया था। तिस पर भी उस समय सारे हिंदुस्थान में श्री० बालू के समान अन्य कोई भी उत्कृष्ट बौलर नहीं था यह बात ध्यान देने योग्य है! इँगलैंड में भी आपकी कुशलता का बड़ा प्रभाव पड़ा और आपने वहाँ अच्छी नामवरी प्राप्त कर ली। क्रिकेट के खेल का मर्म जानने-वाले कई सज्जनों ने तथा इस खेल में जिनकी राय प्रमाणित मानी जाती है, ऐसे समाचार-पत्रों ने आपकी निपुणता की बड़ी प्रशंसा की, और आप इँगलैंड के पहले दर्जे के किसी भी कौंटी (County) की ओर से खेलने के योग्य हैं, ऐसा उन्होंने अपना मत प्रकट किया था। इँगलैंड में के भिन्न-भिन्न मैचेस में आपने अकेले ही १०० से अधिक विकेट्स ली थीं। इनमें ७५ विकेट्स तो पहले दर्जे के मैचेस में ली थीं। यदि आपको अपने ऐन उम्मेद के दिनों में ही इँगलैंड के प्रवास का अवसर प्राप्त हो जाता, तो आपने इससे भी ज़्यादा प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली होती और सुप्रसिद्ध क्रिकेटर रणजीतसिंहजी के समान आपका नाम भी छोटे से बड़ों तक परिचित हो जाता; इसमें संदेह नहीं। अस्तु।

श्री० बालू अपने बाएँ हाथ से गेंद फेंकते थे। फल-स्वरूप वे बैटस्मन के पाँव की बाज़ू को (लेग-ब्रेक) गिरते थे। किंतु आप दाहिने हाथवाले बौलरों के समान बैटस्मन के सामने के बाज़ू को भी (आफ़ ब्रेक) गेंद फेंक सकते थे। इसके सिवा आप गेंद के वेग (pace) में इच्छानुसार परिवर्तन कर उसका अरसा (range) भी बदला सकते थे। आपके गेंद प्रायः मंदगति के रहते थे। किंतु आवश्यकतानुसार आप उसको शीघ्र गति से भी फेंक सकते थे। आपके गेंद चक्कर लेते हुए आने के कारण उनको रोकना बैटस्मन को कठिन मालूम होता था। आपके गेंद प्रायः कभी भी इधर-उधर नहीं गिरते थे। बैटस्मन की कमज़ोर बाज़ू आप तुरंत ही जान सकते थे, और उसी अंदाज़ से आप अपना बौलिंग किया करते थे। आप बहुत समय तक लगातार बौलिंग कर सकते थे, और आपका ज़ोर या आपकी कुशलता अंत तक बनी रहती थी। बैटस्मन को धोखा देने में आप बड़े होशियार थे। बैटस्मन को आसान मालूम होनेवाले गेंदों से ही आपने कई बार उनको आउट किया है। अन्य विख्यात खिलाड़ियों के समान आप सिर्फ़ बौलिंग में ही होशियार न थे। बैटिंग तथा फ़िल्डिंग में भी आपने अपनी चालाकी का परिचय दिया है।

क्रिकेट के सिवा फ़ुटबाल, हाकी और टेनिस में भी आपने प्रवीणता प्राप्त की थी। हाकी में चैम्पियनशिप के मैच में आपकी कुशलता पर सब-जन मुग्ध हो गए थे। टेनिस के खेल में तो आपकी जवानी में आपकी टक्कर के खिलाड़ी बंबई के हिंदू खिलाड़ियों में बहुत ही थोड़े

होंगे। हिंदू जिमखाने के डबल टेनिस टुर्नामेंट में श्री० बालू और सुप्रसिद्ध हिंदू क्रिकेटर श्री० पंढरीनाथ काशी-नाथ तेलंग (जिनको 'हिंदुस्थानी जेसप' कहते थे), एक बार 'चैम्पियस' हुए थे।

श्री० बालू का चेहरा बड़ा ही शान्त है। आपके नेत्रों में बुद्धि का तेज़ चमकता है। आप साधारण, ऊँचे और मज़बूत गठन के आदमी हैं। आपका वर्ण साधारण साँवला ही है। बातचीत से आपकी सरल वृत्ति का परिचय किसीको ही मिल जाता है। इसी अकृत्रिमता से आप सबमें बहुत प्रिय हुए हैं। आपका स्वभाव बड़ा ही शान्त है। आप बड़ी सावधानता से खेलते थे और प्रतिकूल परिस्थिति में भी आप धैर्य नहीं छोड़ते थे। खेल में सुप्रबंध (Discipline) रखने के संबंध में आप बहुत चौकस रहते थे। विरोधी-टीम के खिलाड़ियों के प्रति आप उदार-भाव रखते थे। दूसरों के गुणों को सराहने में आप सर्वत्र तैयार रहते थे, और अच्छा खेल देखकर आपको हार्दिक आनंद प्राप्त होता था। इसी के कारण सब खिला-ड़ियों के हृदय में आपके संबंध में प्रेम और आदर-भाव रहता था।

आपके शिवराम, विट्ठल, गणपत और कृष्णा नामक चार कनिष्ठ बंधु थे। दुर्भाग्य-वश इनमें से दो भाइयों का—कृष्णा का ता० १०। ११। १९११ को और गण-पत का ता० १०। १०। १९२० को देहान्त हो गया। आप सब भाई भिन्न-भिन्न खेलों में बड़े होशियार थे। सन् १९०८ में पायोनियर हॉकी क्लब को 'आगाखान कप चैम्पियनशिप' मिली थी। कप प्रदान करने का कार्य जब से शुरू हुआ, तब से यह कप प्राप्त करनेवाली यही पहली हिंदुस्थानी चैम्पियन टीम थी! इस टीम में श्री० बालू तथा आपके तीन कनिष्ठ भाई थे। प्रतिद्वंद्विता के लिये आई हुई सब टीम्स में इन चार भाइयों-सरीखी निपुणता और किसी ने नहीं दिखाई; ऐसा उस समय बंबई के अँगरेज़ी समाचार-पत्रों ने अपना मत प्रकट किया था! श्री० शिवराम, श्री० बालू से तीन वर्ष कनिष्ठ हैं। आप बंबई में जी० आई० पी० रेलवे के स्टोअर्स ऑफिस में क्लर्क हैं। आप भी क्रिकेट के बड़े मशहूर खिलाड़ी तथा हिंदू टीम के एक आधार स्तंभ थे। नाटोर के महाराजा तो श्री० बालू तथा आपको कलकत्ते

श्री० बालू और उनके चार भाई

शिवराम बालू विट्ठल

में खेलने के लिये ख़ासकर बुलाया करते थे। आलइंडिया क्रिकेट टीम में आप भी इँगलैंड गए थे। वहाँ के एक मैच में आपने १७५ रंस किये थे ! इस टीम के अन्य किसी भी खिलाड़ी ने इँगलैंड में इतने रंस नहीं किये थे ! इँगलैंड में आपने कुल १०० से भी अधिक रंस निकाले थे ! वहाँ के क्रिकेट-प्रवीण लोगों ने आपकी कुशलता की बड़ी तारीफ़ की थी। श्रीयुत पी० विट्ठल का नाम तो सारे हिंदुस्थान में मशहूर हो चुका है ! सन् १६२३ से आप आलइंडिया क्वाड्रिऐंग्युलर क्रिकेट मैचेस में हिंदू-टीम के कैपटन बन रहे हैं। अस्तु। कुछ वर्ष पूर्व से ही श्री० बालू तथा श्री० शिवराम ने क्वाड्रिऐंग्युलर क्रिकेट मैचेस में खेलना छोड़ दिया है, इस बात से तो पाठकगण परिचित ही होंगे *।

आनंदराव जोशी

* संकलित।

---

१. हिंदुओं का प्राचीन संगठन

राज्य की मृगमरीचिका ने हिंदुओं में एक नवीन उत्साह जागृत कर दिया है। यद्यपि यह अभी तक कोई नहीं जानता है कि उस स्वराज्य का, जिसका लोग जागते में स्वप्न देख रहे हैं, स्वरूप क्या होगा, उससे देश को किस दर्जे तक लाभ पहुँचेगा, और एक सीमा तक स्वराज्य मिल जाने पर भी हमारे लीडर ही अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग अलापने में ऐसे स्वराज्य की इतिश्री कर देंगे अथवा उससे जनता को वास्तव में कोई ठोस सुख की प्राप्ति होगी। या जैसे अभी प्रजा परदेशियों का मुँह ताकती रहती है, वैसे स्वराज्य मिल जाने पर लीडरों की ख़ुशामद करनी पड़ेगी ; किंतु इसमें संदेह नहीं कि अधिकांश जनता के कुछ न जानने पर भी हमारे लीडर लोग देश की टाँग पकड़कर उसे स्वराज्य की ओर घसीटे लिए आ रहे हैं।

इस तरह का स्वराज्य पाने की लालसा से देश के नेताओं को न्यूनाधिक आधी शताब्दि गुज़र चुकी। यद्यपि भारतवर्ष की साधारण जनता यहाँ के गाँवों की सर्व-साधारण प्रजा, नेताओं के उद्योग के अभाव से अभी तक अधिकांश में यह नहीं जानने पाई है कि स्वराज्य किस चिड़िया का नाम है, तथापि यह बिना किसी तरह की आनाकानी के स्वीकार किया जा सकता है कि पहले वर्षों में इस आन्दोलन का घोर विरोध होने पर कार्य एक अंश में वैधरूप से चलता आ रहा था। सूरत कांग्रेस ने इसकी सूरत बिगाड़ डाली, लखनऊ कांग्रेस ने इसे हिजड़ा बनाया और गयाजी पहुँचते ही इसका सचमुच श्राद्ध हो गया। वह मासिक, वार्षिक अथवा क्षयाह श्राद्ध न था। वह था गया श्राद्ध और तब से ही इसके शरीर का लोप होकर केवल इसकी प्रेतात्मा शेष रह गई। इसे चाहे नेताओं की भूल कहो अथवा स्वार्थ ही क्यों न कह डालो, किंतु इसमें तनिक भी संदेह नहीं रहा कि अब कांग्रेस का गौरव नहीं है। उसे कोई पूँछता नहीं है, और आपस की खैंचातानी से अब उसके अस्तित्व की रक्षा होना कठिन हो गई है। इसके विरुद्ध दिन-दिन आपस की फूट बढ़ती जाती है, आए दिन शिर फुटौवल होती है, और सच पूँछो, तो एकता का दम भरनेवालों की बदौलत देश में एक प्रकार का ग़दर मच गया है। दशा, गाँठ के दुबेजी रह जाने की-सी है।

मुसलमानों की ओर से इसका दोष हिंदुओं के संगठन और शुद्धि के माथे थोपा जा रहा है। शुद्धि के विषय में मैं पहले एक नहीं अनेक बार कह चुका हूँ कि कार्य किसी अंश में अच्छा और समय के अनुसार आवश्यक होने पर भी इसके मूल में भारी भूल है, और उसका उत्तर-दाता वास्तव में आर्यसमाज है। इसी भूल के कारण हिंदू-मुसलमानों का वैमनस्य बढ़ा है और इसी का परिणाम मुसलमानों की तबलीग़ और तंज़ीम है। महात्मा गांधी यद्यपि एक सरलप्रकृति मनुष्य हैं और वह जैसा उनका हृदय शुद्ध है, वैसा ही औरों का समझते हैं। किंतु

यह बिना किसी प्रकार की आनाकानी के वह भी अवश्य स्वीकार करेंगे कि खिलाफ़त आन्दोलन में आँख मूँदकर हिंदुओं से मुसलमानों को हर प्रकार की सहायता दिलाकर इसे घटाने की मिथ्या आशा में बढ़ाया है। मेरी राय में जो हिंदू (जन्म का हिंदू) लोभ, प्रमाद, धोखा, दबाव अथवा ऐसे अनिवार्य कारणों से मुसलमान बन गया है अथवा बलपूर्वक बना दिया गया है और अब अपने किए पर सच्चे अंतःकरण से पश्चात्ताप करता है, उसे ज़माने को देखते हुए इस प्रतिज्ञा पर कि फिर वह आजीवन सच्चा हिंदू रहेगा, धर्मशास्त्र के अनुसार प्रायश्चित्त कराकर हिंदू बना लेना बुरा नहीं है, और इसकी इस समय आवश्यकता भी कम नहीं है। किंतु जन्म के मुसलमान को प्रायश्चित्त कराना उसके लिये सनातनधर्म को झूठ-मूठ बदनाम करना एकदम मुसलमानों को चिढ़ाना, उनसे लट्ठबाज़ी करना, सनातनधर्म पर प्रबल आघात करना है। जो अपने पैतृक धर्म को छोड़कर आज हममें मिलना चाहता है, उसकी कौन गारंटी दे सकता है कि वह कल पीछे मुसलमान और परसों ईसाई न हो जायगा। फिर प्रथम तो यह संभव नहीं है कि ऐसी मँगनई की सेना ही हिंदू-समाज के शक्तिवर्द्धन में एक सच्चा अंग होगा। फिर इसका परिणाम समस्त देश के थोड़े दिन समस्त हिंदुओं के प्रकृत मुसलमान बन जाने के सिवाय कुछ नहीं। इस तरह का उद्योग देश-भर को मुसलमान बनाने के अतिरिक्त कुछ नहीं है, बल्कि यहाँ यह कहना समयसंगत है कि मुसलमानों की तंज़ीम और तबलीग़ नहीं —हिंदू-सुधारकों की मूर्खता एक दिन अवश्य हिंदू-जाति का नाम शेष करके छोड़ेगी। इसमें मुझे किंचित् भी संदेह नहीं है।

मुसलमान चाहे हिंदू-मुसलमान सिर फुटौवल का दोष हिंदू-संगठन पर डालते हों, किंतु उनका यह आक्षेप सरासर मिथ्या है। इस तरह वह चाहते हैं कि हिंदुओं को मुसलमान बनाने और अपनी शक्ति बढ़ाने में वह अनायास कृतकार्य हो जायँ, और हिंदुओं की आपस की फूट उन्हें अपने कार्य-साधन में सहायता देती रहे। संगठन का अभाव ही इसका प्रधान कारण है कि हिंदू जहाँ और जिस काम में पिटते हैं—दिन-पर-दिन हानि उठाते और दिन-दिन अपनी शक्ति नष्ट कर रहे हैं। इनकी आपस की फूट के कारण इनकी संख्या भारतवर्ष में चौबीस करोड़ होने पर भी कोई जाति कोई समाज इनसे डरता नहीं है। और "ग़रीब की जोरू सबकी सा'ली", वाली कहावत इनके विषय में अक्षरशः चरितार्थ हो रही है। अवश्य ही इस जगह बिना किसी प्रकार की आनाकानी के स्वीकार करना पड़ेगा कि इनमें जाति-भेद का बखेड़ा प्रधान रूप पर इसका उत्तरदाता है। किंतु इसमें संदेह नहीं कि महात्मा गांधी का हिंदुओं से क्षमाशील बनने का उपदेश और इसी तरह आजकल जाति-भेद तोड़ देने का आन्दोलन इसके मुख्य कारण हैं। कोई पचास वर्ष से ऊपर हुए, इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि गेहूँ, चने, जौ, ज्वार, मकई, बाजरा और सावाँ, खरैंटी सब एक बोरी में भरकर हिंदू-नामधारिणी एक नई जाति बनाई जाय। हिंदुओं के वर्णाश्रमधर्म का जाति-भेद का तत्त्व न समझकर धर्म—शास्त्रों के अध्ययन अध्यापन के अभाव से आजकल के नए सुधारक समझने लगे हैं कि जब हिंदुओं में—नहीं नहीं हिंदुस्थान भर में एक धर्म—जाति बन जायगी, तब ही योरप की तरह हममें राष्ट्रीयता का विकाश होगा। इस प्रकार का उद्योग करते समय वे लोग भूल जाते हैं कि योरप का एक धर्म एक आचार होने पर भी इँगलैंड का जर्मनी से और फ्रांस का इँगलैंड से समय पड़ने पर सिर फुटौवल होता है। इँगलैंड से आयलैंड वाले लड़ते हैं। इसके सिवाय उन्हें उस समय यह भी स्मरण नहीं रहता कि योरप और भारतवर्ष की जलवायु में दोनों देशों की सभ्यता और रीति-भाँति में पृथ्वी-आकाश का-सा अन्तर है। हिंदुओं को छुआछूत छोड़ देने की चाहे शिक्षा दी जाती हो, चाहे ब्राह्मणों के लिये पायख़ाना साफ़ करने में कुछ बुराई न बतलाई जाय, चाहे आर्यसमाज, गुरुकुल और जाति-पाँति तोड़क-मंडल-जैसी संस्थाएँ हिंदुओं के वर्णाश्रम-धर्म को नरक की ओर ही क्यों न ढकेलें। किंतु आजकल के नेताओं के प्रधान सरदार महात्मा गांधी एक ओर मदरास की छात्र-मंडली को विधवा के अतिरिक्त कुमारी से विवाह न करने का प्रण कराने पर बाध्य करते हैं, और दूसरी ओर अपने ही लड़कों का विवाह कुमारी से करना आवश्यक समझते हैं। इस तरह हमारे लीडरों में "हाथी के दाँत खाने के और, दिखाने के और" वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। उन्हें चाहे ब्राह्मण, भंगी और ढेढ़ चमार के सहभोजन में देश का कल्याण दिखाई

देता हो; किंतु वे उस समय यह नहीं सोचते कि ईसाई और मुसलमानों में जिनमें अनादिकाल से छूआछूत का—जाति-भेद का बंधन नहीं है—एक जर्मन और एक फ्रेंच एक मेज़ पर बैठकर खाना खाते हैं। यदि एकता का—देशोन्नति का सहभोजन ही कोई साधन होता तो योरोपियन महासमर में करोड़ों आदमियों की, जान जाकर दुनिया की बरबादी का अवसर क्यों आता।

इन बातों पर लक्ष्य देने से यह निश्चय होता है कि हिंदुओं में संगठन की संघशक्ति पैदा करने की आवश्यकता होने पर भी गत पचास वर्षों में जो उद्योग किया गया है वह नितांत भूल से भरा हुआ है। हमारे नेताओं की, सुधारकों की नासमझी से हिंदू-धर्म का तत्त्व न जानने से लाभ की मृग-तृष्णा में वर्णाश्रम धर्म का, जाति-पाँति का नाश कर देश को उन्नति के धोखे से अवनति के गर्त में डाला गया है।

होना था सो हो चुका! गया समय हज़ार शिर पटक कर मर जाने पर भी पीछे हाथ नहीं आ सकता। ऊपर की पंक्तियों से यदि हमारे सामयिक नेता इस भूल को मानकर वर्णाश्रमधर्म की रक्षा, उसमें समय के अनुसार धर्मशास्त्र के अनुकूल संशोधन और उसकी वास्तविक उन्नति में दत्त-चित्त हों, तो देश का और विशेषकर हिंदू-समाज का सच्चा उपकार हो सकता है। यह निश्चय है कि जो संस्कार लाखों वर्ष से दृढ़ हैं, जो बौद्धों के प्रयत्न और मुसलमानों के हमलों से नष्ट नहीं हो पाए हैं, वे नवशिक्षितों के सिर मारने से कदापि निर्मूल न होंगे। हिंदू-समाज का शरीर मिट्टी का बना हुआ नहीं है, जो सहज में पानी पड़ते ही बिगड़ जाय। वह फ़ौलादक वज्र का है और लाखों वर्ष से ज्यों का त्यों बना हुआ है। ऐसी दशा में उसका विनाश करने के बदले उसे और दृढ़ कर उससे संगठन के लिये—संघ-शक्ति के लिये काम लेना चाहिए। हमारे पूर्वजों ने वर्णाश्रमधर्म के जाति-भेद की रचना कर आरंभ से ही जिसके योग्य जो काम बतला दिया है। यह विभाग ब्राह्मण से ब्राह्मण का और लुहार से लुहारी का काम कराता है, और इनमें इस तरह परंपरा से विद्या की, हुनर की, कारीगरी के और व्यापार की रक्षा होती आई है। पिता अपनी योग्यता, अपना अनुभव, धरोहर की भाँति पुत्र को दे जाता है, और इस तरह पैतृक पेशे परंपरा से चले आ रहे हैं।

प्रथम आवश्यकता है हिंदू-शास्त्रों का मनन कर वर्णाश्रमधर्म का तत्त्व समझने की। यदि कोई पक्षपात की ऐनक उतारकर, आस्तिक बुद्धि से, परिणाम सोचने के लिये पश्चिम और पूर्व के आचरण की तुलना करते हुए विचार करें, तो इसमें मुझे किंचित् भी संदेह नहीं है कि घोर नास्तिक भी आस्तिकता स्वीकार किए बिना न रहेगा। ऐसे-ऐसे अनेक घोर नास्तिकों को कट्टर आस्तिक बनकर वर्णाश्रमधर्म का पालन करते हुए देखा गया है।

हमारे स्वर्गीय और वर्तमान नेताओं ने गत पचास वर्षों के सतत उद्योग में यदि समझ लिया है कि वर्तमान प्रयत्न निष्फल है, हज़ार मुसलमानों की ख़ुशामद करने पर भी इस कार्य में सफलता मिलने के बदले वे अधिक से अधिक अधिकार माँगते जा रहे हैं, राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलन में दिन-दिन जनता के टुकड़े-टुकड़े होते जा रहे हैं, तब एक बार रुख़ बदलकर यह भी परीक्षा कर देखना चाहिए। यह उद्योग यदि पचास वर्षों पहले आरंभ किया जाता, तो संभव था कि इसके सुफल भी अवश्य फल जाते। निश्चय है कि जो पीढ़ियों से अनेक शताब्दियों से हम लोगों में दृढ़ता से जमे हुए संस्कार हैं, वे इस तरह एक पल में मिट नहीं सकते और इसलिये उस दृढ़ता को बिगाड़ने के बदले उनका सुधार कर उनसे काम लेना चाहिए। प्राचीन परिपाटी का कुछ-कुछ आभास नीतिशास्त्रों में, स्मृतियों में; अब भी विद्यमान है। कुलपति और गोत्र इत्यादि शब्द यदि विचार करके देखा जाय, तो इसी के साक्षीभूत हैं। अब भी पेटा-भेदों की सभा के प्रतिनिधि, वर्ण-सभा में और वर्ण अथवा आश्रमसभा के प्रतिनिधि वर्णाश्रमधर्म-सभा में जावे, तो यह एक बना बनाया और दृढ़ संगठन है। पहले सामाजिक आन्दोलन के लिये ब्राह्मण-सभा, वैश्य-सभा, क्षत्रिय-सभा, कायस्थ-सभा और इसी तरह की अनेक जाति-संबंधिनी भिन्न-भिन्न जातियों की भिन्न-भिन्न सभाएँ क़ायम हुई थीं, और उनका प्रत्येक का खान-पान, रोटी-बेटी-संबंध चूँकि एक था, इस कारण शिक्षा और अर्थ-संबंधी कितनी ही तरह की उन्नति का दृढ़ पाए पर सूत्रपात होकर काम होने लगा था। यद्यपि

उनमें से कायस्थ-सभा अभी विद्यमान है और वह अपना काम भी कर रही है। कायस्थ जाति को आगे बढ़ा रही है, किंतु यह निःसंकोच कहना पड़ेगा कि इस आन्दोलन ने उस उचित और परंपरागत चिरस्थायी उद्योग को मटिया मेट कर डाला। हिंदू-सभा नामधारिणी संस्था यदि इसका विचार करे, तो इस प्रकार के प्रयत्न से सहज सफलता मिल सकती है और मैं साहस के साथ कह सकता हूँ कि बिना इस तरह के कार्य के स्वप्न में भी सफलता नहीं मिल सकती। एक तंत्र से गोरक्षा, गृह-शिल्प, शिक्षा, भाषा, व्यायाम और आर्थिक उन्नति का उद्योग आदि विषय सोच-सोचकर वे ही चुनना चाहिए जिनके विषय में मतभेद न हो। धर्म-संबंध का मतभेद ही एक ऐसी बात है, जो इस कार्य के उद्योग में विघातक हो सकती है। ऐसे कार्य यदि स्वेच्छा से जाति-सभाएँ, उपजाति-सभाएँ और वर्ण-सभाएँ अपने हाथ में लें, तो यह उनको अधिकार है। किंतु ऐसे विषयों में ठहराव बहुमत से न होकर सर्व-सम्मति से हो, और जो कुछ हो, धर्म-शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार।

इन पंक्तियों को लिखने के समय मेरी दृष्टि २३ ऑक्टोबर के "हिंदूसंसार" पर पड़ी। उसमें "सनातनधर्मियों का संगठन" शीर्षक लेख छपा है; मैं उसकी सम्मति का अन्तःकरण से अनुमोदन करता हूँ। ऊपर की पंक्तियों में मेरा "आदि" शब्द इसीलिये है। और अब भी मैं कहता हूँ कि इस तरह के सार्वजनिक उद्योग में प्रथम उन्हीं विषयों को लेना चाहिये जिनमें किंचित् भी मत-भेद की संभावना न हो।

इसके अतिरिक्त एक विषय इस समय हमारे सामने है, जिससे हिंदुओं के सर्वनाश हो जाने की संभावना है। इधर नेताओं में प्रतिभा का अभाव, उनका अविचार अथवा उनके स्वार्थ से उनकी नासमझी से एकता का ढोल पीटने में ऐसा कोई विषय नहीं जो अछूता छूटने पाया हो; और जिससे सच्चा संगठन होने के बदले हमारे टुकड़े-टुकड़े न होते जा रहे हों। उधर मुसलमान हमें हड़प जाने पर तुले हुए हैं जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इस बुद्धि की बदौलत हिंदू-समाज को नष्टभ्रष्ट कर मुसलमानों की शुद्धि के व्याज से देश-भर को मुसलमान बनाने का उद्योग किया जा रहा है और इधर "माधुरी" के देखने से स्पष्ट होता है कि कुछ दिमाग़ के फिरे देशहितैषी अछूत जाति को भारतवर्ष का आदिनिवासी बतलाकर उनकी अलग जाति बनाने के लिये खड़े हुए हैं। उनके ऐसे पागलपन को यदि आरंभ में रोका न जायगा, तो इसमें किंचित् भी संदेह नहीं कि आर्य-हिंदू और आदि निवासी के नाम से दो फिरके अलग हो जायँगे। इस तरह हिंदुओं की संख्या एकदम बाईस करोड़ से घटकर अधिक से अधिक आधी रह जायगी। इस तरह मुसलमानों की मनमानी मुराद मिलेगी और हिंदू धोबी के कुत्ते की तरह घर के रहेंगे और न घाट के। यद्यपि इस लेख का विशेष संबंध "छुआछूत" से नहीं है। उक्त आन्दोलन में अछूत जातियों के प्रतिनिधि भी लिये जा सकते हैं और साथ उनकी उन्नति का प्रश्न भी इसमें संयुक्त करना होगा; किंतु मैं अनेक बार कह चुका हूँ कि उनके साथ सहभोजन और उन्हें जनेऊ पहनाना उनकी उन्नति नहीं है। खान-पान और रोटी-बेटी का व्यवहार करना ही यदि हमारे पागल देशोद्धारकों को अभीष्ट हो, तो पहले उनमें आपस में जारी करना चाहिए। अभी तक उनमें भी आपस में चमारों का मेहतरों से और बहेलियों का अन्य जाति से किसी तरह का संपर्क नहीं है। उनकी मद्य-पानादि कुरीतियाँ दूर करो, उनकी आर्थिक सहायता करो, उनमें शिल्प-वाणिज्य बढ़ाओ, उनमें स्वच्छता और शुद्धता बढ़ाओ, उनमें विद्या-प्रचार करो, उन्हें स्वच्छ जल का और देव-दर्शन की सुविधा दो और इस तरह उनके साथ काम की—केवल बातों की नहीं—सहानुभूति दिखलाकर उनको कृपा के बोझे से जीतना चाहिए। और यदि बेटी-व्यवहार में ही उनकी और उनके साथ देश की उन्नति दिखाई देती हो, तो महात्माजी को चाहिए कि अपने कुँवारे बेटे का विवाह एक अंत्यज की लड़की से करके देश को नमूना दिखला दें, ताकि उनके अंधभक्तों को फिर कुछ कहने का साहस न हो।

लज्जाराम मेहता

अनित्य-जीवन

परम घिनौनी हाय, परी खोपरी भूमि जो :
कहति सुनाय सुनाय, जीवन निपट अनित्य यह ।

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ,

१. जादूगर की जादूगीरी
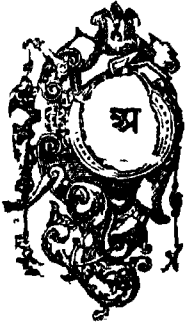
मेरिका के प्रसिद्ध वैज्ञानिक थामस ऐडिसन आधुनिक समय के वैज्ञानिक जादूगर कहे जाते हैं। उन्होंने मनुष्य के सामने जितने आविष्कारों को रक्खा है, उतने शायद ही किसी और वैज्ञानिक ने रक्खा हो। आपकी उम्र इस समय प्रायः ८० वर्ष की है; इस समय भी आप अथक परिश्रम करते रहते हैं। आज भी आप ६ घंटे अपनी प्रयोगशाला में बिताते हैं और तीन, चार या पाँच घंटा अपनी लायब्रेरी में। इस ढलती हुई उम्र में आप एक नए आविष्कार की ओर झुक गए हैं। आप घास से 'रबर' तैयार करने जा रहे हैं। किंतु अभी आपकी परीक्षा नियमित रूप से शुरू नहीं हुई है। आपने उन सब पुस्तकों को देख डाला है, जो अब तक 'रबर' पर छप चुकी हैं। आपके मददगारों ने आपके सामने उन विषयों को संक्षेप में रख दिया है, जो विदेशीय भाषाओं में छपे हैं। गत ग्रीष्म-काल में उन्हें मालूम हुआ कि जर्मनी में 'रबर' पर एक बड़ी उपयोगी पुस्तक तैयार हुई है, किंतु वह उस समय तक अमेरिका नहीं पहुँची है। आपने तुरंत अपने सेक्रेटरी को हुक्म दिया—"किसी मनुष्य को भेजकर उस पुस्तक की एक प्रति यथासंभव शीघ्र मँगाओ।" कहिए धुन के पक्के इसे कहते हैं। विद्याव्यसनी आप-सा और कौन होगा। एक पुस्तक लाने के लिये एक मनुष्य अमेरिका से जर्मनी जाय, और उसे ख़रीद लावे! अस्तु।

आपके मददगारों में फ़ोर्डमोटर के मालिक प्रसिद्ध हेनरीफ़ोर्ड और हारभेफ़ायरस्टोन हैं। इन लोगों के यहाँ मोटरें और उनके 'टायर' तैयार होते हैं। 'टायर' के लिये रबर चाहिए और अमेरिका में जो रबर तैयार होता है, उससे वहाँ का काम एक साल से अधिक नहीं चल सकता। उन लोगों को रबर के लिये दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। संभव है, भविष्य में पाश्चात्य देशवाले गुट बनाकर अमेरिका के विरोधी बन जायँ और उसे सब प्रकार की सहायता देने से हाथ खींच लें। उस समय अमेरिका क्या करेगा। पत्थर-युग, ताम्र-युग, लौह-युग का ख़ातमा हुआ। अब रबर-युग आया है। ऐसे समय में रबर का महत्त्व कितना है, बतलाना नहीं होगा। भविष्य के दुखदायी अवस्था का ही विचार कर ऐडिसन कृत्रिम रबर निकालने के लिये उतारू हो गए हैं। देश-भक्ति का इससे अच्छा नमूना वैज्ञानिक-जगत् में और कहाँ मिलेगा।

ऐडिसन ने अमेरिका में रबर की खेती पर भी ध्यान दिया है, किंतु आपका कहना है कि रबर एक वात-शीतोष्ण प्रदेश का पदार्थ है। वह मैक्सिको के कुछ हिस्सों
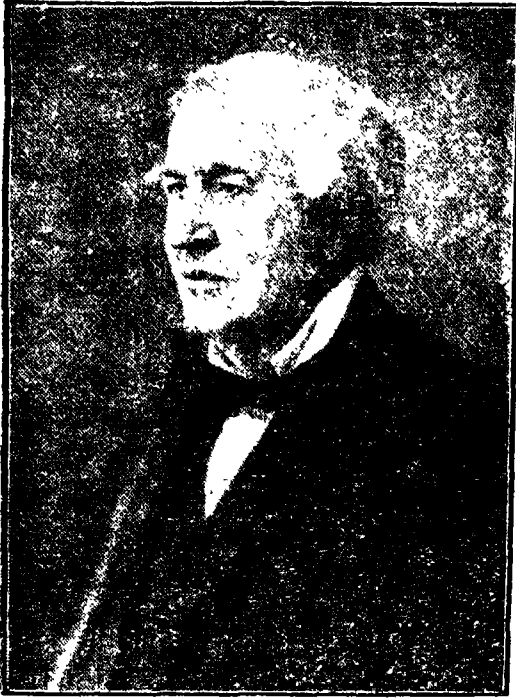
ऐडिसन हाल का
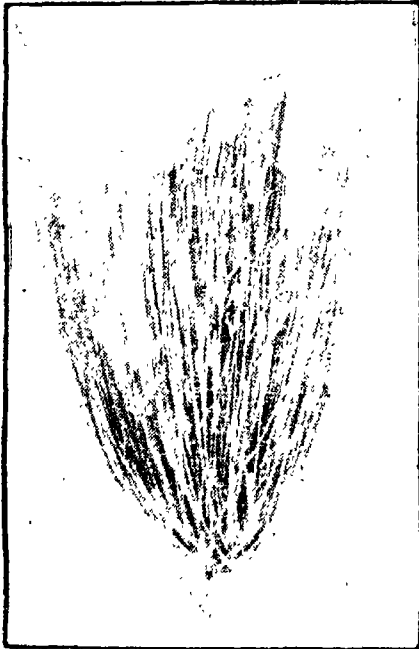
रबर पैदा करनेवाली घास

को छोड़कर अन्य हिस्सों में सफलता-पूर्वक नहीं उपजाया जा सकता, और न लाभदायक ही होगा। इसलिये अमेरिका को उधर से निराश होना पड़ेगा। इस समय तक आप के सामने संसार के भिन्न भिन्न प्रदेशों से प्रायः २५० तरह के ऐसे पौधे लाए गए हैं, जिनसे रबर जैसा ही गोंद निकलता है। इन पौधों से अधिक-से-अधिक सैकड़े १० गोंद निकाला जा सकता है। आपका लक्ष्य है कि जो पौधे रबर के लिये अमेरिका में लगाए जायँ वे अधिक-से-अधिक रबर निकाल सकें। साल भर में उनकी दो-तीन नहीं, तो, कम-से-कम एक फ़सल अवश्य काटी जाय और वह रूप और गुण में रबर सदृश ही हो। यह काम आसान नहीं, क्योंकि इसके साथ ही यह भी देखना पड़ेगा कि अमेरिका की जल-वायु उसकी उपज के अनुकूल हो। इस परीक्षा में वर्षों लग जायँगे। देखें सफलता कब मिलती है।

गत पचास वर्षों से वैज्ञानिक संसार एक ही प्रश्न बराबर पूछा करता है—"आजकल ऐडिसन क्या करते हैं?" अस्सी वर्ष का यह बूढ़ा आज अपने देश की भलाई के लिये एक ऐसे उपयोगी आविष्कार में लगा हुआ है, जो यदि सफल हुआ, तो संसार के व्यापार में युगांतर उपस्थित कर देगा।

× × ×

२. सूक्ष्मतम पदार्थ

संसार का सूक्ष्मतम पदार्थ क्या है, यह इस समय तक निश्चित प्रकार से नहीं कहा जा सकता। कुछ समय तक अणु (Molecule) पदार्थों का सबसे सूक्ष्म पदार्थ समझा जाता था, किंतु जब अणुओं ने कई समस्याओं को हल करने से इनकार कर दिया, तब परमाणु (Atom) सबसे सूक्ष्म पदार्थ माना गया। किंतु वैज्ञानिकों का संतोष इससे भी नहीं हुआ। उन्होंने तब कहा कि इलेक्ट्रन (Electron) पदार्थों का सबसे छोटा टुकड़ा है। आजकल का सिद्धांत है कि पदार्थ के प्रत्येक परमाणु (Atom) में एक या ततोऽधिक 'प्रोटोन' होते हैं, जिनके चारों ओर एक या अधिक इलेक्ट्रोन घूमा करते हैं। परमाणु $\frac{१}{१००००००००}$ वाँ भाग से भी छोटे होते हैं। इलेक्ट्रोन परमाणु का १८०० वाँ हिस्सा होता है, और प्रोटोन उससे भी छोटे। किंतु ये सूक्ष्मतर पदार्थ भी परमाणुओं के व्यवहार को ठीक-ठीक नहीं बतला सकते। अब सर जे०

जे० थामसन् प्रसिद्ध अँगरेज़ भौतिक विज्ञानशास्त्री का कहना है कि इनसे भी सूक्ष्म पदार्थ हैं।

इस सूक्ष्म पदार्थ के विषय में गणितज्ञ और ज्योतिषी कैप्टेन टी० जे० जे० सी० एक सिद्धांत प्रतिपादित करते हैं। गुरुत्वाकर्षण (Gravitation) के अध्ययन से आपको पता लगा है कि इलेक्ट्रोन से भी सूक्ष्मतर पदार्थ हैं, जिन्हें इथेरोन कहते हैं। ये इतने सूक्ष्म होते हैं कि पृथ्वी में स्वतंत्रता-पूर्वक प्रवेश कर सकते हैं। यदि हाइड्रोजन के एक परमाणु को एक नारंगी के आकार का मान लिया जाय, तो इलेक्ट्रोन बालू के कण के आकार का होगा और इथेरोन सिगरेट से निकलनेवाले धुआँ के कण के बराबर। यह इतना सूक्ष्म पदार्थ है, जिसकी हम कल्पना तक नहीं कर सकते।

× × ×

३. साइकेल के पीछे गाड़ी

साधारण साइकेल पर बहुत-से-बहुत तीन आदमी मुश्किल से चल सकते हैं, किंतु साइकेल के पीछे एक गाड़ी लगा दी जाय, तो कइयों का गुज़र हो जाय।

साइकेल के पीछे गाड़ी

एक फ्रेंच ने अपने लड़कों को हवा खिलाने को नियत से ऐसी ही एक गाड़ी बनाई है। उसे अपनी साइकेल के पीछे जोड़ लेता है, और हवाखाने को निकल जाता है।

× × ×

४. सूर्य की आयु

अब तक लोगों का विश्वास था कि सूर्य बूढ़े हो चले हैं और उनका अंतिम काल निकट, बहुत निकट नहीं, तो भी एक करोड़ वर्ष है। किंतु एक फ्रेंच ज्योतिषी चार्ल्स नार्डमेन का कहना है कि अभी तो सूर्य अपने बालपन में बाल-क्रीड़ा कर रहे हैं। अभी उनके जीवन के लाखों-करोड़ों वर्ष बाक़ी हैं। घबड़ाने की बात नहीं, वे हमें प्रकाश और गर्मी बहुत दिनों तक देंगे। परमाणुओं के गठन-संबंधी जो आविष्कार हुए हैं, उन्हीं पर आपका यह कथन अवलंबित है।

× × ×

५. साँपों को दूर करना

मेरे एक मित्र ने मुझसे एक बार कहा था कि प्याज़ पास में रखने से साँप पास नहीं आते। मेरी एक स्त्री संबंधी का कहना है कि सरसों साँपों के लिये "बुलेट" हैं। सरसों मारने से साँप मर जाते हैं। जहाँ सरसों छिटका रहता है, वहाँ भी साँप नहीं आते। रेंड़ की पत्ती टांग रखने से भी साँप निकट नहीं फटकते। ऐसी भी कुछ लोगों की धारणा है; किंतु मैं नहीं कह सकता, इनमें कोई सच है, या नहीं। कम-से-कम मैंने इन्हें आज़मा कर नहीं देखा है। जिन लोगों ने आज़माया हो, वे यदि इस विषय पर प्रकाश डालें, तो बड़ा लाभ होगा। अमेरिका के एक (Biological Surveyer) का कहना है कि उत्तरी अमेरिका में ऐसा कोई भी दरख़्त नहीं है, जिसकी बू से साँप भाग जायँ। अँगरेज़ों की धारणा है कि साँप घोड़े के बाल की रस्सी को नहीं पार करता, किंतु उक्त महाशय का कहना है कि यह भी ग़लत विश्वास है। अस्तु, लेखक ने एक बात आज़माई है, और उसे उपयोगी पाई है। कारबोलिक ऐसिड साँप के लिये काल है। साँप उसकी बू भी नहीं बरदाश्त कर सकता, और जहाँ उसकी बू फैली रहती है, वहाँ से भाग जाता है। लेखक को कुछ दिनों तक ऐसे स्थान में रहना पड़ा था, जहाँ साँप बहुत होते हैं। वहीं कारबोलिक ऐसिड-वाली परीक्षा हुई थी। इस ऐसिड का एक-दो बूँद साँप के शरीर पर डाल देने से एक दो मिनट में उसका काम तमाम हो जाता है।

× × ×

६ दूध की बर्फ़

साइबेरिया-प्रदेश में बड़ा जाड़ा पड़ता है। वहाँ पशुओं का दूध लोग बर्फ़ के आकार में जमा लिया करते हैं। जमाते समय उसमें एक लकड़ी डाल देते हैं, जिसमें दूध के जम जाने पर वह पकड़ कर उठाने और एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के काम में आ सके। हम लोग कहते हैं—"दूध न गिराओ"। किंतु इर्कुट्स के माता-पिता लड़कों को दूध तोड़ने से रोकते हैं। गिरा हुआ दूध उठाना संभव नहीं, किंतु टूटा हुआ दूध बर्फ़ के टुकड़ों जैसा उठाया जा सकता है। पृथ्वी के दो हिस्सों में कितना भेद है!

× × ×

७. जीविकोपार्जन का विचित्र तरीक़ा

संसार में पेट-पालने के न मालूम कितने तरीक़े हैं, इनके अलावा प्रतिदिन नए-नए तरीक़े भी ढूँढ़ निकाले जा रहे हैं। 'माधुरी' के किसी पिछले अंक में मैंने एक ऐसे सज्जन का ज़िक्र किया, जो जीविकोपार्जन के लिये अमेरिका में तैयार होनेवाले सिगरेटों को पीकर परखा करते हैं। इस बार एक स्त्री की बात सुनिए। इनका नाम

जीविकोपार्जन के लिये मुरब्बा चखना।

है मिस कैथरिनकैरेबाइन और काम है यूनाइटेड स्टेट्स के व्यापारिक विभाग में आनेवाले मुरब्बों को चखकर परीक्षा करना। वाशिंगटन के आपके ऑफ़िस में प्रतिदिन सैकड़ों प्रकार के मुरब्बे पहुँचा करते हैं, और प्रति दिन उन पर आप हाथ साफ़ किया करती हैं। मुँह मीठा तो होता ही है। कहिए कैसे मज़े का काम है।* अपनी सरकार से मुशाहरा पाना और मुफ़्त में तरह तरह के मुरब्बे चखना! ऐसा काम कौन नहीं चाहेगा?

× × ×

८. ग़ज़ब का साइक्लिस्ट

सर्कसों में साइकेल चलानेवाले कई प्रकार का खेल दिखा दर्शकों को चकित कर देते हैं। जो खेल पुराने हो जाते हैं, उन्हें देखने में लोगों का जी नहीं लगता। इसलिये नए-नए खेलों का आविष्कार करना पड़ता है। बर्लिन में एक ऐसा साइकेल चलानेवाला है, जो बिजली से घूमते हुए चाक के किनारे पर अपनी साइकेल चला लोगों को अचंभे में डाल देता है। बिजली द्वारा चाक
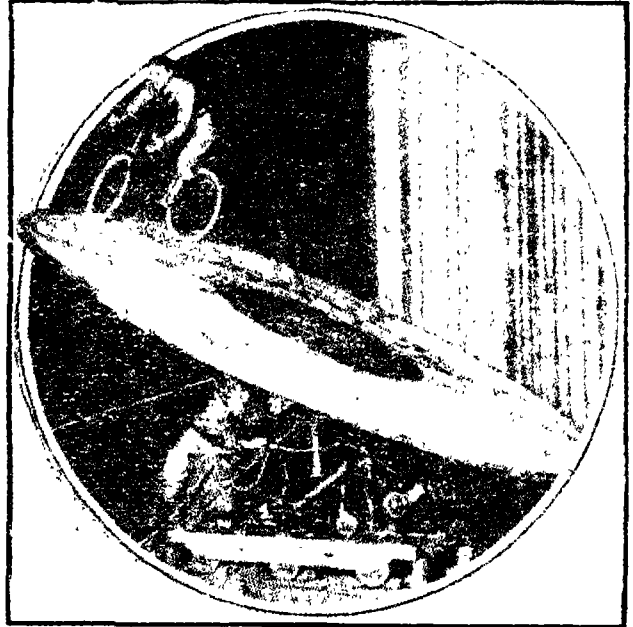
चाक पर साइकलिंग

ज़ोरों से घूमता रहता है, उस पर साइकेल चलाना कुछ हँसी-खेल नहीं है?

श्रीरमेशप्रसाद

१. पातालफोड़ कुएँ

(Tube-wells)

भारतवर्ष के अधिकांश प्रांतों में पानी की बहुत तंगी रहती है और कुछ प्रांत तो ऐसे हैं, जहाँ गरमी के मौसम में मवेशी और मनुष्यों को पीने के लिये पानी तक नहीं मिलता। वर्तमान काल में बड़ी-बड़ी नदियों से नहरें निकालकर और नदी-नालों में बाँध डालकर आबपाशी का प्रबंध किया जा रहा है। परंतु भारत के सभी प्रांतों को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है, और कुओं पर ही सब कुछ निर्भर करता है। देश की साम्पत्तिक अवस्था गिरती जा रही है। सिंचाई के साधनों के अभाव में काश्तकारों का अधिकांश समय व्यर्थ जाता है और उनकी आय भी घटती जा रही है। पाश्चात्य देशों में पातालफोड़ कुओं का प्रचार बढ़ता जा रहा है, और भारतवर्ष में भी प्रयोग किए जा रहे हैं। इसलिये इन कुओं के संबंध में यहाँ कुछ लिखना अप्रासंगिक न होगा।

भारतवर्ष में कुएँ कैसे होते हैं, और किस तरह खोदे जाते हैं, इस संबंध में यहाँ कुछ लिखने की ज़रूरत नहीं है।

कुएँ खोदने में बहुत ज़्यादा ख़र्च लगता है और कभी-कभी पानी न लगने या कम लगने पर सबका सब ख़र्च और परिश्रम व्यर्थ जाता है।

प्रत्येक नवीन आविष्कार में कुछ-न-कुछ दोष रहते हैं और धीरे-धीरे अनुभव से ही इनका सुधार होता है। यह नियम पातालफोड़ कुओं को भी लागू होता है।

अधिकांश लोगों की यह धारणा है कि येनकेन प्रकारेण ज़मीन के अंदर एक ऐसा नल (pipe) जिसके ज़मीन के अंदरवाले सिरे पर बहुत-से छेद हों और नल का छेदवाला भाग तार की जाली (wire gauze) से ढका हो, उतार देने भर से ही काम चल जाता है। इनके मत से जितनी ज़्यादा गहराई तक नल उतारा जावेगा, उतना ही ज़्यादा पानी प्राप्त हो सकेगा, और इसलिये कम पानी की ज़रूरत रहने पर ज़्यादा गहराई तक नल उतारने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी जाती है।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि लोगों की उक्त धारणा कहाँ तक सही है, और काम लायक़ 'ट्यूब वेल' के लिये किन-किन बातों की आवश्यकता है।

गर्भ-तल या नीचे का सतह—(sub-soil) ज़मीन की ऊपर की सतह के नीचे के भाग को 'नीचे की सतह' नाम दिया गया है। बरसात का अधिकांश पानी मट्टी में सोखा जाकर ज़मीन के इसी भाग में जमा होता है। और इसके नीचे अभेद्य-स्तर (Impervious layer) आ जाने से पानी उसी भाग में भरा रहता है। इस पानी को 'नीचे की सतह का जल' (Sub-soil-water) कहते हैं। यही पानी सोतों और झरनों के
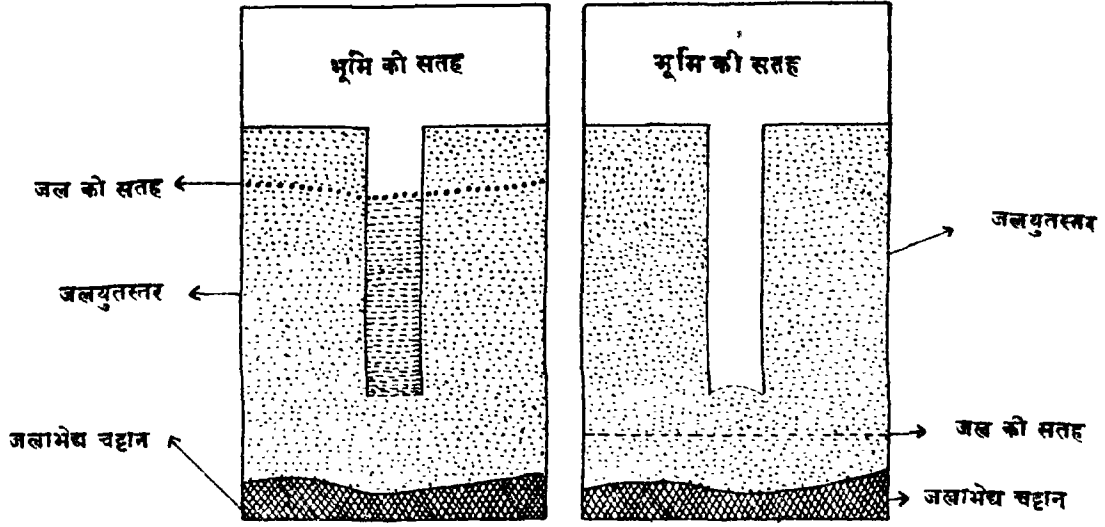
चित्र नं० १ चित्र नं० २

नीचे की सतह के जल पर निर्भर ट्यूब वेल्स

चित्र नं० १—बरसात में कुएँ की हालत।

चित्र नं० २—गरमी के मौसम में कुएँ की हालत

रूप में बहकर कुओं में गिरता है। गरमी के मौसम में इस जल का एक बड़ा भाग ज़मीन की ऊपरी सतह में से होकर भाप बनकर हवा में उड़ जाता है, और बहुत-सा भाग सोतों में बहकर कुओं में आ गिरता है। और यही कारण है कि गरमी के दिनों में इस जल की सतह (level) बहुत नीची हो जाती है और कुछ स्थानों में तो पानी बिलकुल ही सूख जाता है। पानी का सूखना या उसकी सतह का घटना ज़मीन की जल-संग्राहक शक्ति (Retentive capacity) पर निर्भर करता है।

गर्भ-तल या निम्न-सतह (Sub-soil) के नीचे का
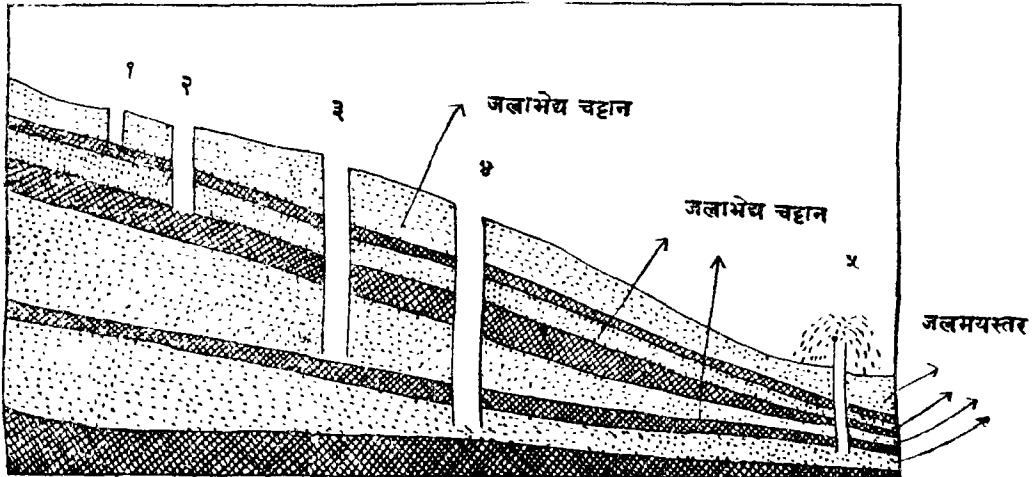
चित्र नं० ३

भूमि में जलमय स्तरों का अस्तित्व

१ छिछला ट्यूब वेल नीचे की तरह के जल पर निर्भर है।

२—३—४ गहरे ट्यूब वेल हैं, जो भिन्न-भिन्न गहराई के जल पर निर्भर करते हैं।

५ आर्टिसन वेल—दबाव के कारण पानी फ़व्वारे की तरह ऊपर उड़ रहा है।

भाग—ऊपर लिख आए हैं कि निम्न-सतह के नीचे चट्टान आदि का अभेद्य-स्तर होता है। इस अभेद्य-स्तर के नीचे कई प्रकार के स्तर पाए जाते हैं। कुछ स्तर रेती, आदि के होते हैं, जिनमें पानी भरा रहता है। निम्न-सतह में पाए जानेवाले जल और इस जल के गुणों में बहुत बड़ा अंतर होता है। भूगर्भ-वेत्ताओं में, बहुत ज़्यादा गहराई पर पाए जानेवाले जल के संबंध में बहुत मतभेद है। संभवतः ये नदियाँ हैं, जो अति प्राचीन काल में पृथ्वी की सतह पर बहती रही हों और जो कई कारणों से मिट्टी के नीचे दब जाने पर भी वर्तमान काल में अपने रेतीले पात्र में धीरे-धीरे बह रही हैं। इनको वर्तमान-कालीन नदी, तालाब आदि से किसी प्रकार पानी मिलता रहता है, या इनका उद्गम किसी पहाड़ से भी हो। कुछ भी कारण क्यों न हो, किंतु इतना तो निर्विवाद सत्य है कि ज़मीन की नीचे की सतह से भी नीचे भिन्न-भिन्न गहराई पर बहुत-सा पानी पाया जाता है। पानी का यह ख़ज़ाना अटूट है और ज़मीन में छेद करने पर यह पानी बहुत अधिक ऊँचाई तक चढ़ जाता है। कहीं-कहीं तो यह पानी फ़व्वारे की तरह उड़ने लगता है और तब आर्टिसन (artesian) कुआँ बन जाता है।

भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न गहराई पर पानी लगता है, किसी एक प्रांत में भी जुदे-जुदे भागों में जल की गहराई न्यूनाधिक होती है।

अबीसीन कुआँ—(Abyssinian-well) इस प्रकार का कुआँ बहुत सस्ते में तैयार किया जा सकता है। यह ३० फ़ीट से अधिक गहरा नहीं होता है। इस प्रकार का कुआँ तैयार करने में सिवा इसके कि एक नल किसी प्रकार ज़मीन के अंदर पानी तक उतार दिया जावे, और कुछ भी नहीं करना पड़ता। इस नल के नीचे के सिरे पर बहुत-से छेद होते हैं। जो नल का यह छेदवाला भाग, जो चार-पाँच फ़ीट लंबा होता है, तार की जाली से ढका रहता है। परंतु कुआँ खोदने-वाला यह तो जान ही नहीं पाता है कि वह किस प्रकार के स्तरों में से नल उतार रहा है। वह ज़मीन के अंदर उतारे जानेवाले नल में तार या लोहे की छड़ बार-बार डालकर यह पता लगाता रहता है कि पानी लगा कि नहीं। पानी लगने पर ज़मीन में उतारे हुए नल के बाहर के सिरे पर एक हाथ पंप लगा दिया जाता है। और
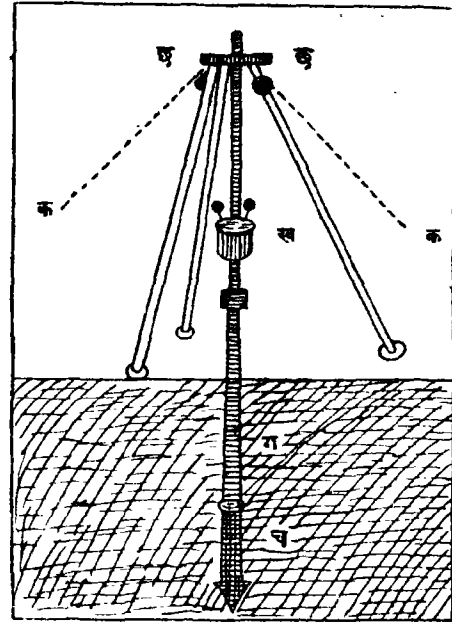
चित्र नं० ४

अबिसीनिया कुआँ खोदने की रीति

क—खींचने की रस्सी।

ख—वज़नदार हथौड़ा-सा लोहा का गोला, जिससे ठोंक कर नल ज़मीन में उतारा जाता है।

ग—'ट्यूबवेल' का नल, जो ज़मीन में उतारा जा रहा है।

च—स्ट्रेनर।

छ—चाक जिन पर से रस्सी खींची जाती है।

पंप लग जाने पर कुआँ तैयार हुआ मान लिया जाता है। इस प्रकार के कुओं में कई दोष होते हैं जिनके कारण असफलता प्राप्त होती है। यदि पथरीले और तार की जाली के छेद से बड़े कणवाले रेतीले भाग में काफ़ी पानी लग जाता है, तब तो कुआँ अच्छा काम देता रहता है। यदि जिस भाग में पानी लगता है, वह मिट्टी और जाली के छेदों से महीन कणवाली रेत-युत होता है और पानी भी काफ़ी नहीं होता, तो जल का नल के अंदर आने का रास्ता रेत और मिट्टी से भर जाता है और सब मिहनत और पैसा व्यर्थ जाता है।

ऊपर से ठोंक-ठोंककर नल ज़मीन के अंदर उतारा जाता है, जिससे नल के नीचे के सिरे पर लपेटी हुई जाली टूट जाती है और कभी-कभी नल का नीचे का छेदवाला सिरा, जो कमज़ोर होता है, ठोंकने और ज़मीन

की रगड़ से पानी तक पहुँचने के पहले ही टूट जाता है। कभी-कभी नल भी फट जाता है और ये बातें जल्दी मालूम भी नहीं होतीं। यदि नल किसी अभेद्य चट्टान पर जा लगता है, तो सब गुड़ गोबर हो जाता है। इन्हीं सब कारणों से इस प्रकार के पातालफोड़ कुओं की सफलता निश्चित नहीं होती। इस प्रकार के कुओं का सब दारोमदार नीचे की सतह के जल पर ही रहता है। उन प्रांतों में, जहाँ इस प्रकार के कुएँ सफलता-पूर्वक जारी हों, ये कुएँ खोदे जाने चाहिएँ। क्योंकि ये सस्ते होते हैं और अक्सर अच्छा काम देते हैं।

टंकी से खोदना—(Boring by Sludger) सफल पातालफोड़ कुएँ के लिये यह बहुत ही ज़रूरी है कि छेद करते समय ऊपर आनेवाली मिट्टी आदि की जाँच की जाती रहे। इस प्रकार कुएँ को खोदने के लिये सब से पहले ज़मीन में एक गढ़ा खोदा जाता है। और स्ट्रेनर (Strainer) ज़मीन में गाड़ दिया जाता है। स्ट्रेनर की पेंदी खुली रहती है। यदि खोदी जानेवाली ज़मीन की रेतीली या मिट्टी की होती हैं, तो टाँकी (Sludger को एक रस्सी बाँध कर चाक (pulley) पर से खींचते और गिराते जाते हैं, जिससे छेद होता जाता है। (चित्र देखिए नं० ४-५)। टाँकी पोली होती है। कटी हुई मट्टी टाँकी के अंदर भरती रहती है। मट्टी के अंदर घुसने का द्वार इस तरक़ीब से बनाया होता है कि बाहर की कटी हुई मिट्टी भीतर आ सकती है, किंतु टाँकी के भीतर की मट्टी बाहर नहीं निकल पाती। थोड़ी-थोड़ी देर से टाँकी को बाहर खींचकर मिट्टी की जाँच की जाती है। भिन्न-भिन्न प्रकार की तहों के लिये जुदे-जुदे प्रकार के औज़ारों का—टाँकियों का, उपयोग किया जाता है। और कभी-कभी ज़मीन को नरम करने के लिये पानी भी डाला जाता है। ज्यों-ज्यों छेद होता जाता है, भारी वज़न से या स्क्रू से नल नीचे उतारा जाता है। इस रीति से काम करने से काम का परता बहुत कम पड़ता है और कड़ी तहें तोड़ने और टूट-फूट को दुरुस्त करने में बहुत सावधानी से काम करना पड़ता है।

चित्र नं० ५

टाँकी से कुआ खोदने की रीति

क—रस्सी जिससे टाँकी ऊपर खींचकर गिराई जाती है।

ख—टाँकी जिससे ज़मीन में छेद किया जाता है।

ग—नल जो ज़मीन में उतारा जा रहा है।

च—टाँकी का बढ़ाया हुआ दृश्य।

वॉटरजेट (water-jet) से खोदना—इस रीति से कुआँ खोदना बंगाल और दुआब जैसे प्रदेशों में ही संभव है। ट्यूब-वेल के नल के भीतर एक औज़ार उतारा जाता
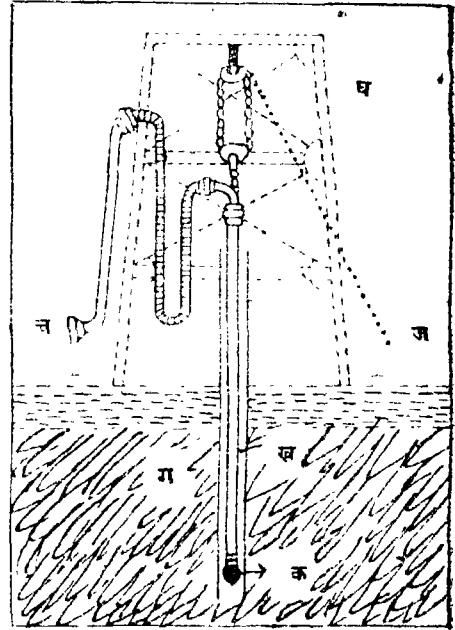
चित्र नं० ६

वाटर जेट से खोदने की रीति

घ—फ्रेम जिस पर से टाँकी चलाई जाती है।

क—टाँकी जिससे छेद किया जाता है।

ख—टाँकी का पोला डंडा, जिसमें से अंदर पानी छोड़ा जाता है।

ग—ट्यूब-वेल का नल।

च—वह स्थान, जहाँ टाँकी में पानी डालने के लिये पम्प जोड़ा जाता है।

है और वह बरमा की तरह घुमाया जाता है। और ऊपर से पानी की तेज़ धार छेद पर गिराई जाती है। इन दोनों कारणों से छेद बहुत जल्दी होता है और मिट्टी आदि पानी के साथ बाहर आ गिरती है। इस रीति का अवलंबन करने से काम इतनी तेज़ी से होता है कि कभी-कभी दो ही तीन दिन में २०० फीट गहरा छेद खोदा जा सकता है।

इसी रीति का अवलंबन करने में छेद करने का काम ट्यूबवेल के नल के अंदर किया जाता है। सबसे पहले स्ट्रेनर ज़मीन के अंदर उतारा जाता है, और तब ज्यों-ज्यों छेद गहरा होता जाता है, नल जोड़ते चले जाते हैं। आवश्यक गहराई तक पहुँच जाने पर छेद करने का बरमा हटा लिया जाता है और नली के भीतर के सिरे को लोहे की चादर आदि का गोल टुकड़ा डालकर अच्छी तरह से बंद कर देते हैं, जिससे नल के अंदर मिट्टी, रेती आदि भर जाने का अंदेशा नहीं रहता है।

इस रीति का अवलंबन करने से भी स्ट्रेनर के टूटने का डर रहता है, क्योंकि नल को ताक़त के साथ नीचे ढकेलने से स्ट्रेनर को बहुत ज़्यादा दबाव व रगड़ का सामना करना पड़ता है। जिससे स्ट्रेनर अक्सर टूट जाता है। और यही कारण है कि स्ट्रेनर उतना लंबा नहीं बनाया जा सकता, जितना लंबा बनाना ज़रूरी होता है। क्योंकि स्ट्रेनर नल के उस भाग को कहते हैं, जिसमें पानी के भीतर आने के लिये छोटे-छोटे छेद बनाए जाते हैं। इन छेदों के कारण वह भाग कमज़ोर हो जाता है और स्ट्रेनर की लंबाई जितनी ही ज़्यादा होगी, उसकी कमज़ोरी भी उतनी ज़्यादा बढ़ जाती है। यही कारण है कि स्ट्रेनर की लंबाई कम रखी जाती है और इस मज़बूती के लिये उसकी पानी छानने (filtering) की शक्ति बहुत ही मर्यादित करनी पड़ती है। इस प्रकार का ट्यूबवेल कितनी ही सावधानी से क्यों न तैयार किया जाय, उतना लाभदायक नहीं हो सकता। क्योंकि पानीयुत स्तर से पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता।

सुधारी हुई तरकीब—पातालफोड़ कुएँ को तैयार करने में सफलता प्राप्त करने के लिये इस सुधरी हुई तरकीब का उपयोग करना नितांत आवश्यक है। ट्यूबवेल के लिये चुने जानेवाले नल की अपेक्षा कुछ अधिक मोटा नल ज़मीन के अंदर उतारकर उसके भीतर छेद करना अर्थात् खुदाई का काम करना चाहिए। छेद करने के वक़्त
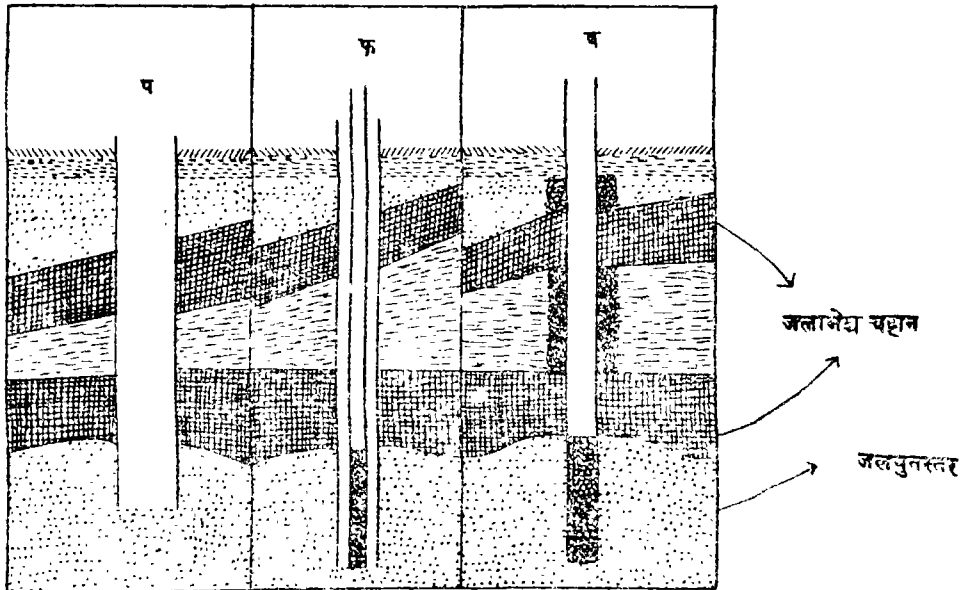
चित्र नं० ७
छेद में नल बिठाने की रीति

प—नल जो खोदते वक़्त बिठाया गया।
फ—खोदते वक़्त बिठाए हुए नल में ट्यूबवेल का नल बिठाया गया है।
ब—खोदते वक़्त बिठाए हुए नल को निकाल लेने के बाद ट्यूबवेल का नल ज़मीन में लगा हुआ है।

लगाए जानेवाले नल एक के बाद एक जोड़-जोड़कर ज़मीन में उतारते जाना चाहिए और खोदे हुए स्तरों की ठीक-ठीक गहराई का सही-सही इंदराज रखा जाना निहायत ज़रूरी है। एक विशेषज्ञ को खोदी जानेवाली ज़मीन की भीतरी हालत का पूरा-पूरा ज्ञान होना नितांत आवश्यक है।

मोटी रेत और छोटे-छोटे कंकरोंवाले स्तर तक पहुँच जाने पर पानी लग जाता है। तब ५०-६० फ़ीट लंबा नल पहलेवाले नल के अंदर सावधानी से उतार दिया जाता है। और तब इसको ज़मीन के अंदर रखकर पहलेवाला नल, जो खुदाई के वक़्त काम में लाया गया था, निकाल लिया जाता है। एवं ख़ाली जगह में मिट्टी, कंकर आदि भर दी जाती है। इस रीति का अवलंबन करने से स्ट्रेनर की लंबाई को मर्यादित करने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती है। यदि एक ही स्तर में काफ़ी पानी न लगे, तो दो-तीन तहों तक खुदाई की जा सकती है। और खुदाई के वक़्त नोट किए हुए इंदराजों के आधार पर दो-तीन स्तरों में स्ट्रेनर लगाए जा सकते हैं।

स्ट्रेनर और पानी की गति—(critical velocity) ट्यूबवेल के लिये जलयुत स्तर का पता लगाना अत्यंत महत्त्व का है, और इसके बाद स्ट्रेनर का महत्त्व है। स्ट्रेनर ऐसा होना चाहिए, जिसमें से पानी स्वतंत्रता-पूर्वक आ सके और रेत के कण भीतर न घुस पावें। स्मरण रखना चाहिए कि स्ट्रेनर के बाहर की रेत ही पानी को साफ़ करती है। इसलिये यह अत्यंत आवश्यक है कि स्ट्रेनर ऐसा बनाया जाना चाहिए कि जिससे पानी के बहाव के वक़्त रेत के कण हिलने न पावें। और न पानी के साथ नल के अंदर ही आ सकें। जब तक पानी धीरे-धीरे बहता रहता है, तब तक रेत-कण और कंकर हिल नहीं सकते। किंतु पानी के बहाव की गति एक निश्चित सीमा से अधिक बढ़ते ही, उसके साथ रेत-कण भी बहने लगते हैं। पानी के बहाव की उस गति को, जिसमें रेत-कण को भी गति प्राप्त हो जाती है (critical velocity) कहते हैं। और यह रेत-कणों के आकार, वपन या पोत (texture) आदि पर निर्भर करती है। स्ट्रेनर का आकार आदि निश्चित करते समय (critical velocity) पर भी ख़ूब ध्यान दिया जाना चाहिए। नीचे के उदाहरण से यह बात चट समझ में आ जायगी।

मान लो कि किसी जलयुत स्तर (water bearing stratum) की (critical) गति प्रयोग से $\frac{1}{2}$ इंच प्रति सेकेंड अर्थात् १५० फ़ीट प्रति घंटा पाई गई है। इसका यह मतलब है कि पानी के बहाव की गति इससे अधिक होते ही उसके साथ रेत के कण भी बहने लगेंगे। अब कल्पना कीजिए कि इस गतिवाले स्तर में ट्यूबवेल खड़ा किया गया है और स्ट्रेनर ३ इंच गोल और १० फ़ीट लंबा है। गणित करने से स्ट्रेनर का क्षेत्रफल क़रीब आठ वर्गफ़ीट होता है। यदि मान लें कि सिर्फ़ दो वर्गफ़ीट क्षेत्रफल ही पानी के आने के लिये खुला है। इस स्ट्रेनर में से पानी की गति १५० फ़ीट प्रति घंटा से ज़्यादा न होनी चाहिए। इस हिसाब से प्रति घंटा क़रीब १७०० गैलन पानी खींचा जाना चाहिए। यदि इससे ज़्यादा पानी खींचने की कोशिश की जायगी, तो पानी के साथ रेत-कण भी बहकर आवेंगे, और ताक़त के साथ स्ट्रेनर से टकरावेंगे। परिणाम यह होगा कि स्ट्रेनर टूट जावेगा और नल में रेत आदि भर जाने से कुआँ बेकाम हो जायगा।

'ट्यूबवेल' अभी कुछ ही वर्षों से अस्तित्व में आए हैं, अतएव यह तो नहीं कहा जा सकता कि वे कितने साल तक काम दे सकते हैं; किंतु फिर भी इतना अवश्य कह सकते हैं कि कम-से-कम २० वर्ष तक यह ठीक काम देते हैं।

आजकल बड़े-बड़े शहरों में पानी की कमी के कारण जनता को बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। यदि म्युनिसिपैलिटी और लोकलबोर्ड प्रयोग करके ट्यूबवेल तैयार कराने की कोशिश करें, तो संभव है पानी की कमी बहुत कुछ कम हो जाय। लोगों के घरों में भी जहाँ कहीं संभव हो, ट्यूबवेल लगवा दिए जायँ, तो कुछ लाभ की आशा की जा सकती है। परंतु साफ़ पानी प्राप्त करने के लिये यह ज़रूरी है कि ट्यूबवेल इतने गहरे हों कि जहाँ तक नगर की भूमि की सतह का अशुद्ध पानी न पहुँच पाता हो *।

शंकरराव जोशी

---

* माडर्न रिव्यू के एक अँगरेज़ी लेख के आधार पर।

—लेखक

१. नया सेंट्रल बैंक कैसा हो ?
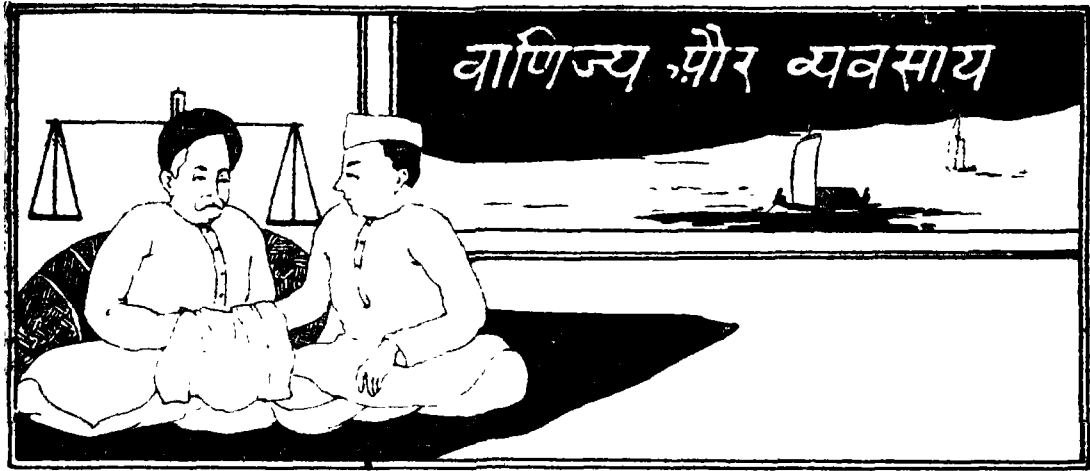
आजकल सेंट्रल बैंक खुलने की चर्चा बड़े ज़ोरों पर है। सरकार कहती है कि यह नया बैंक हिस्सेदारों का बैंक हो ; क्योंकि हिस्सेदारों के बैंक के हिस्से पहले से ही इंगलैंड में बिक जायँगे और भारतीय देखते रह जायँगे। फिर योरपियन हिस्सेदार अधिक तादाद में रहने पर विदेशी व्यापार को पूर्ण रूप से संरक्षण प्राप्त होगा। स्टेट-कौंसिल और लेजिसलेटिव व असेम्बली की संयुक्त कमेटी ने बहुमत से हिस्सेदारों का बैंक खोलकर स्टेट-बैंक खोलने की सलाह दी है। देश के प्रतिनिधियों का यह रुख़ देखकर अर्थ-मंत्री घबड़ा उठे, और उन्होंने साफ़-साफ़ कह दिया कि सरकार स्टेट-बैंक नहीं बनाना चाहती। यदि प्रतिनिधियों को सरकारी प्रस्ताव मंज़ूर नहीं है, तो यह बिल ही पेश नहीं किया जायगा। और जिस सोने के सिक्के के लिये इस बैंक का खुलना आवश्यक है, उसके अभी बहुत दिनों तक जारी होने की कोई आशा नहीं है। उनके कहने से यह विदित हुआ कि सरकारी देश की मुद्रा और आर्थिक अवस्था सुधारने के लिये बैंक नहीं खोलती है। पर इस उद्देश्य से न खुलने-वाला बैंक देश के लिये किसी प्रकार लाभदायक नहीं है। विदेशी बैंक और योरपियन व्यापारी स्टेट-बैंक के पक्ष में कभी मत नहीं देंगे। वे तो विदेश के सभी स्टेट-बैंकों का विकृतरूप हमारे सामने रखने की चेष्टा कर, यह कहते हैं कि अमुक-अमुक बैंक का संगठन इस रूप में नहीं, इस रूप में है। पर भारतवर्ष की आर्थिक अवस्था के सुधार के लिये और भारतीय उद्योग-धंधों की उन्नति के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि नया सेंट्रल बैंक स्टेट-बैंक बनाया जाय। स्टेट-बैंक सरकारी रक़म को जमा करेगा, उसका हिसाब रखेगा, ऋण पर व्याज देगा। और अवसर पड़ने पर ऋण भी देगा। इसके अतिरिक्त बिना किसी बाधा के देश के उद्योग और व्यवसाय में धनविनियोग करेगा। सचमुच ही ये कार्य व्यापारिक बैंक से नहीं हो सकते। तिस पर भारतवर्ष की वर्तमान अवस्था तो इसके सर्वथा विपरीत है। स्टेट-बैंक के व्यावसायिक कार्य करने पर वह अपने "रक्षित कोष" की रोकड़ या बट्टे के बाज़ार से किसी भी समय पूँजी की कमी पूरी कर सकता है। यद्यपि नोट-प्रकाशन के विभाग को व्यापारिक विभाग से कोई सम्पर्क नहीं होगा, तथापि किसी भी संख्या तक नोट निकालने व न निकालने का पूर्ण अधिकार प्राप्त होने पर अप्रत्यक्ष रूप से व्यापारिक विभाग के कामों में पूर्ण सहायता पहुँचा सकता है, स्टेट-बैंक को नोट-प्रकाशन का कार्य बड़ी सफ़ाई से करना होगा ; कारण मुद्रा के घटाने और बढ़ाने में हमेशा ख़तरा रहता है। इस प्रकार स्टेट-बैंक का सबसे पहला काम भारतीय प्रचलन में विशुद्ध सुवर्ण मुद्रा जारी करना है। उसका यह प्रधान कर्तव्य है कि सुवर्ण मापदंड को स्थिर रखे। इसके लिये यह आवश्यक है कि वर्तमान

१. पत्रोत्तर

आह की आँधी उठी, बरसे, तरसे दृग वारिद, अश्रु की धारा ;
धैर्यतरी उतरी नहीं पार, वियोग के वारिधि में बलहारा।
ऐसी घड़ी पर आ पड़ी यों, जब ढूँढ़े 'हितैषी' न पाया किनारा ;
पत्र मिला क्या तुम्हारा हमें, मिला डूबते को तिनके का सहारा।

"हितैषी"

× × ×

२. प्रेम के छींटे

ध्यान रखते न यदि संतत चराचर का ,
कौन तब जग में तुम्हारा ध्यान धरता ;
करते सदा न यदि वास उर धामों में तो ,
गमन न कोई तव धाम को भी करता।
तारना न सीखते जो पापियों को तारके तो ,
साधू भी न सहसा तुम्हारे तारे तरता ;
करते न अबल-जनों को निज ओर में तो ,
कैसे नाथ सबल समाज तुम्हें डरता ॥ १ ॥

ग्राह से गजेंद्र को दयाद्र हो छुड़ाया, किंतु—,
इसमें तो सर्वथा दया ही की बड़ाई है ;
द्रौपदी की लाज रक्खी अपनी हँसी विलोकि ,
भास होती यों भी तो हया की प्रभुताई है।
ध्रुव, प्रहलाद, शिव, तारे यदि आपने तो ,
तप-कीर्ति उनकी क्यों चारों ओर छाई है ;
करनी बिरानी से बने हैं यशशाली आप ,
लीलाधाम देखी सब ठौर चतुराई है ॥ २ ॥

कैसे नाम लेता सारा जगत, न होती यदि ,
आपसे अधिक सत्ता आपके सुनाम में ;
चाहता कृपा की कोर कोई भला कैसे, जब—,
राजती क्षमा न तव लोचनाभिराम में।
'कौशलेंद्र' रहते न दीन ही जगत में तो ,
दीन-बंधुता तुम्हारी आती किस काम में ;
पूछता न कोई तुम्हें कौड़ी को भी कमलेश ?
कमला न होती जो तुम्हारे स्वर्ग-धाम में ॥ ३ ॥

दुखिया अनाथ दाने-दाने को तरस रहे ,
अधम विलासियों को गाड़ दिया धन में ;
शासक सबल सुख भोग रहे महलों में ,
प्रेम के पुजारी भटकाए बन-बन में।
'कौशलेंद्र' बड़े हो बड़ी ही है तुम्हारी लीला ,
कौन कहकर पड़े भारी उलझन में ;
खोलता मैं किंतु सारी कलई तुम्हारी नाथ ,
बैठे जो न होते तुम मानस-भवन में ॥ ४ ॥

कौशलेंद्र राठौर

× × ×

३. अद्भुत स्मरण-शक्ति

एक समय की बात है कि एक ब्राह्मण गंगा नदी के घाट पर अपना प्रातःकर्म कर रहा था। इतने में किसी एक अँगरेज़ ने वहाँ खड़े हुए एक हिंदू नवयुवक विद्यार्थी को अपमानित किया। विद्यार्थी ने कुपित होकर उस अँगरेज़ को घाट की पक्की सीढ़ियों पर पटक दिया। फलतः दोनों एक दूसरे को अश्लील अँगरेज़ी-भाषा में गालियाँ देने लगे। वह ब्राह्मण चुपचाप इस झगड़े को उत्सुकता के साथ देखता रहा। निदान जब दोनों पुलीस द्वारा अदालत में पेश किए गए, तो वह ब्राह्मण भी गवाही देने के लिये बुलाया गया। जजसाहब को तुरंत पता चल गया कि वह अँगरेज़ी-भाषा का एक शब्द भी नहीं जानता है। परंतु उस ब्राह्मण साक्षी ने आँखों देखा हाल वर्णन करने के पश्चात् यह भी कहा कि यद्यपि वह अँगरेज़ी नहीं जानता है, तथापि स्मरण-शक्ति की सहायता से उन दोनों की बातचीत को शब्दशः दुहरा सकता है। अदालत में उपस्थित जजसाहब तथा वकीलों एवं अन्य मनुष्यों को उसके इस कथन में बिलकुल विश्वास न हुआ। परंतु शीघ्र ही उस ब्राह्मण ने समस्त अँगरेज़ी बातचीत हूबहू उसी उच्चारण के साथ कह सुनाई, यद्यपि उनका अर्थ वह स्वयं न समझ सकता था। उन दोनों अभियुक्तों ने यह स्वीकार किया कि ब्राह्मण का कथन अक्षरशः सत्य है। उस ब्राह्मण की स्मरण-शक्ति वास्तव में विलक्षण रही होगी।

उस ब्राह्मण के देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ, परंतु एक ऐसे अब्राह्मण हिंदू से मेरा परिचय है, जिसकी स्मरण-शक्ति इससे भी अधिक विस्मयोत्पादक है। इस नवयुवक का नाम सोमेशचंद्र बसु है। आप भारत में ख्यात नाम हैं। गणित-विषयक प्रश्नों को मन-ही-मन हल करने की इनकी लोकोत्तर मेधा-शक्ति ने इन्हें भारतवर्ष के विद्वज्जनों में मनोवैज्ञानिक विभूति का एक अद्भुत उदाहरण बना दिया है। अपनी योरप और अमरिका की यात्रा के द्वारा आप संसार के सभी राष्ट्रों के आदर, सम्मान एवं विस्मय की सामग्री बन गए हैं।

लंदन का विख्यात 'डेली मेल' लिखता है—"यदि पत्र के साधारण पाठक से १८, ९७, ६४७ को, जो डेली मेल की नित्य बिक्री संख्या है, इतने ही से गुणित करने के लिये कहा जाय, तो वह काग़ज़ पेंसिल, logarithm सारिकाएँ इत्यादि बीसों वस्तुओं को माँगेगा और सुनसान कमरे में अकेले बैठकर उसे लगाने में कम-से-कम आधा घंटा बितावेगा। परंतु सोमेश बसु महाशय की पद्धति इससे एकदम विभिन्न है। लंदन-स्थित हिंदू-छात्र-समिति द्वारा एकत्रित एक सभा के सम्मुख उन्होंने वही प्रश्न कुछ ही मिनटों में मन-ही-मन लगाकर हल कर दिया। ऐसे ही अपनी ईश्वरदत्त-शक्ति के अद्भुत प्रयोग उन्होंने कई बार किए।"

"एक भारतीय सज्जन ने ब्लैकबोर्ड पर ४० अंकों की दो संख्याएँ लिख दीं और बसु महाशय ने उनको मन-ही-मन गुणित करना आरंभ किया। लगभग २५ मिनट तक वे मौन धारण किए रहे। गुनगुनाते हुए होंठों और निमीलित नेत्रों के अतिरिक्त उनके बदन पर इस जटिल गणना का कोई भी बाह्य चिह्न दृष्टिगोचर नहीं हुआ। तत्पश्चात् बसु महोदय ने उत्तर लिखना आरंभ किया। आश्चर्य यह कि प्रश्नकर्ता विद्यार्थियों के अनेक परिश्रम द्वारा हल किए हुए उत्तर के अस्सी अंकों में से कोई अंक ऐसा नहीं था, जिसमें बसु महाशय का उत्तर मिल न गया हो।"

अमेरिका पहुँचने पर बसु महाशय को कोलंबिया विश्वविद्यालय के गणित-विभाग के अध्यक्ष प्रोफ़ेसर सी० जे० कैसर से परिचय कराने का सौभाग्य इस लेख के लेखक को प्रोफ़ेसर शेरर्ड द्वारा प्राप्त हुआ। मैंने बसु महाशय की गणित-संबंधी असाधारण स्मरण-शक्ति का उल्लेख प्रो० कैसर से किया। उसे सुनकर उनके मुख पर ऐसा अविश्वास झलकने लगा कि उसे एक अंधा भी पहचान लेता। शीघ्र ही प्रो० साहब ने उनसे एक छः सात अंकों की संख्या को एक उतनी ही बड़ी संख्या से गुणित करने के लिये कहा। बसु महाशय ने उन अंकों पर एक बार अपनी दृष्टि डाली और तुरत ही आँखें मूँद कर उस प्रश्न को मन-ही-मन हल करने में लीन हो गए। प्रो० कैसर ने वही प्रश्न पेंसिल लेकर साधारण रीति से लगाना शुरू किया। मुश्किल से दो पंक्तियाँ हो उन्होंने लिख पाई थीं कि बसु महाशय बोल उठे कि उनका उत्तर तैयार है। प्रो० कैसर ने उनका उत्तर लिख लिया और चकित दृष्टि से देखने लगे। अपने ज्ञान को एकत्रित कर उन्होंने पूछा—

"बसु महोदय, क्या यह उत्तर सचमुच ठीक है?"

उन्होंने उत्तर दिया—"निस्संदेह, यह तो साधारण ही प्रश्न था।"

प्रो०—"उत्तर की पंक्तियाँ भी आपको याद हैं ?"

बसु०—"जी हाँ।"

प्रो०—"अच्छा, कृपया पहली पंक्ति तो पढ़िए।"

बसु महोदय ने सुना दी।

प्रो० साहब खिलखिलाकर हँस पड़े और कहने लगे ठीक है।

"दूसरी पंक्ति भी आपको याद है ?"

बसु बाबू ने अपनी स्मरण-शक्ति से दूसरी लाइन भी सुना दी।

प्रो० साहब बोले—"ग़लत है।"

बसु महोदय ने आश्चर्य से कहा—"ग़लत ? मैं वास्तव में लज्जित हूँ। परंतु देखिए, मैं फिर से प्रयत्न करूँगा।"

दो मिनट तक पुनः मनन करने के पश्चात् बसुजी ने कहा—"प्रो० साहब आपने स्वयं कहीं भूल की है। मेरा उत्तर बिलकुल ठीक है। कृपया अपने अंक तो मुझे बतलाइए।"

ज्यों ही प्रोफ़ेसर साहब बतलाने लगे, बसु महोदय ने उन्हें रोककर कहा कि गुणन करने में आप चौथा अंक छोड़ गए हैं, इसी कारण यह ग़लती हो गई है।

यही बात थी। प्रो० कैसर को अपनी हार माननी पड़ी। उन्होंने आदर से झुककर और मुसकराकर कहा—"आपका उत्तर निस्संदेह सर्वथा शुद्ध है। मेरी इच्छा है कि आप गणित-विभाग की समिति के सम्मुख अपने इन अद्भुत कार्यों को दिखलाने की कृपा करें। गणित के सभी विद्यार्थी व अध्यापक आपके सम्मानार्थ वहाँ एकत्रित होकर आपकी इस योग्यता की परीक्षा करेंगे।"

एक तिथि नियत की गई। बसु महाशय अपने इस अद्भुत कार्य के प्रदर्शन में फिर से पूर्णतः सफल हुए। अध्यापकगण अपने काम को आसान बनाने के लिये जोड़ने व गुणन करनेवाली मशीनें भी लेते आए थे। उन्होंने दस से अधिक अंकोंवाली संख्याएँ नहीं दीं; कारण, उन मशीनों की सहायता से इससे बड़ी संख्याएँ गुणित नहीं की जा सकती थीं। प्रत्येक प्रश्न में बसु महाशय ने ठीक उत्तर दिया, और बहुधा वह अपनी गति में मशीनों से भी आगे बढ़ जाते थे।

तत्पश्चात् मनोविज्ञान और गणित-विभागों ने मिलकर बसु महाशय से दूसरा प्रदर्शन देने के लिये प्रार्थना की। इस बार उनके प्रयोग केवल एक क्लास-रूम में न होकर होरेसमैन स्कूल के विशाल भवन में किए गए। स्थान ठसाठस भरा हुआ था। इस हिंदू गणित-मेधावी को भुलावे में डालने के लिये छात्रगण और जनता घर से हल किए हुए प्रश्नों को लाए, परंतु प्रत्येक बार बसु महाशय का उत्तर ठीक निकला। यदि भूल हुई भी तो यंत्रों अथवा उपस्थित श्रोताओं द्वारा। प्रयोगों के समाप्त होने पर बसु महाशय हर्षध्वनि द्वारा उसी प्रकार सम्मानित किए गए, जिस प्रकार औषध-शास्त्र के आचार्य डॉ० जगदीशचंद्र बसु दश वर्ष पहले इसी कोलंबिया विश्वविद्यालय द्वारा सम्मानित किए गए थे।

नीवर्क में सोमेश बसुजी ने अपनी मेधा-शक्ति का सबसे अद्भुत परिचय दिया। न्यूयार्क और नीवर्क के मनुष्यों की एक समिति ने बड़ी ही होशियारी के साथ एक साठ अंकों की संख्या से उतनी ही बड़ी संख्या का गुणनफल निकाला। वह बृहत् संख्या ब्लैकबोर्ड पर इस प्रकार लिख दी गई।

'गुणन कीजिए—६५०१ ८७३४ ४६३१ ४३५४ ८२२३ ५१७७ ३३९१ ११४९ ४३२६ ०५९७ ९७२६ ७५४७ ३८८४ ०६३९ ८९७६ को उतने ही से।'

बसु महोदय ने इस संख्या को आद्योपांत देखकर अपने नेत्रों को ध्यानस्थ अवस्था में बंद कर लिया, और फिर सिर हिलाकर मुसकाते हुए आँखें खोलकर बोले—"अब आप लोग ४०-४५ मिनट तक जितना शोर चाहे मचा सकते हैं। मैं अपनी आँखें बंद करके प्रश्न हल करता हूँ। आप लोग चाहे उच्च स्वर से गाइए, चाहे बैंड बजाइए, इससे मेरी कोई हानि नहीं, न कोई बाधा पड़ने ही की संभावना है और न मेरे उत्तर में कोई ग़लती हो पड़ेगी।"

उपस्थित श्रोतागण इस बंधन से मुक्त होकर प्रसन्न हुए, और स्वतंत्रता-पूर्वक बातचीत करने लगे। इधर बसु महोदय ने अपनी आँखें बंद कीं और होंठ हिलाकर उस प्रश्न को गुनगुनाते हुए निकालने लगे। लगभग ४० मिनटों में उत्तर तैयार हो गया और ब्लैकबोर्ड पर इस प्रकार लिख दिया गया—

४२२७ ४३५८ ३१२२ ७७८१ ७८६७ ०२०६ ६५६० ९०७६ १६५२ ५२१४ ४७९७ ७८४२ ४६४५ १३१९ ३१२३ ७४६४ ७७६७ ०४४३ ९७४१ ३४६४ १४३० १४५५ ५१२२ ८२५३ ७४०२ ५७१९ ४५०९ ५०३६ ९३८४ ८५७६।

सभापति महोदय ने मुस्किराते हुए यह घोषणा की कि उनके अतिथि प्रसिद्ध हिंदू गणितज्ञजी पूर्णतया ठीक नहीं हैं, कुछ अंक ग़लत हो गए हैं। बात यह थी कि १२० अंकों में उन्होंने १०१ अंक सही बतलाए और १६ ग़लत। बसु महाशय का पीला चेहरा और भी फ़ीका पड़ गया। बिना कुछ कहे ही वे आँखें मूँदकर अपना हिसाब फिर से जाँचने लगे, कुछ ही मिनटों में वे फिर दृढ़ता-पूर्वक बोले—"मैं बिलकुल ठीक हूँ। यदि भूल हुई भी है, तो मेरी नहीं, वरन् उस कमेटी की है, जिसने प्रश्न रक्खा है। क्या सभापति महोदय कमेटी के उत्तर को बोर्ड पर लिख देने की कृपा करेंगे ?"

जब वह लिख दिया गया, तो बसु महोदय ने बतला दिया कि समिति के उत्तर में भूलें किस प्रकार पड़ गई थीं। परंतु कमेटी के सदस्य अपने हठ पर डटे रहे, और उन्होंने अपनी भूल को स्वीकार भी न किया। निदान उन्होंने वहीं पर सवाल को फिर से जाँचना आरंभ किया, और अंत में यह जानकर हैरान हो गए कि बसु महोदय का प्रत्येक अंक ठीक था।

जब किसी को यह विश्वास हो जाता है कि ऐसी बातें भी संभव हैं, तो उसे यह जानने की परम उत्कंठा होना भी स्वाभाविक ही है कि इस प्रकार के अद्भुत मनोवैज्ञानिक चमत्कार किस प्रकार सुलभ हो सकते हैं। अतएव एक दिन मैंने बसु महोदय से पूछा कि इस लोक में रहकर आपको यह शक्तियाँ कहाँ से प्राप्त हुईं। बंगालप्रांतस्थ ढाका ज़िला के बज्रराजुगिनी ग्रामनिवासी साधुरूप पांडुवदन उस युवक ने तत्क्षण उत्तर दिया। "केवल मन की एकाग्रता से।"

उन्होंने पुनः गंभीर भाव से कहा—"देखिए, मैं मिताहारी हूँ। मैं न तो अधिक पानी ही पीता हूँ और न अधिक सोता ही हूँ। गत कई वर्षों से मैं केवल नित्य चार गिलास दूध पीकर ही रहता हूँ। कभी-कभी मैं थोड़े से अंगूर व किसमिश भी खा लेता हूँ। अटलांटिक सागर पार करते समय मैं केवल एक सेब खाकर ही रहता था। मैं न तो पानी ही पीता हूँ और न कोई मद्य अथवा अन्य मादक पदार्थ ही प्रयोग में लाता हूँ। मैं कभी तीन घंटे से अधिक नहीं सोता। बहुधा मैं रात्रि में ११ से २ बजे तक सोता हूँ। दो बजे के बाद आप कभी मुझे बिस्तर में न पाइएगा।"

"तो दो बजे के बाद आप क्या करते हैं ?"

"मेरे जीवन की मुख्य वस्तु जो मुझे ऐसी मानसिक व शारीरिक अवस्था में, और मेरे गुरु और परमेश्वर के निकट रखती है, चित्त की एकाग्रता ही है। वास्तव में विचार-केंद्रण ही प्रगाढ़ ध्यान की एक अवस्था है। नित्यप्रति प्रातःकाल २ बजे से ६ बजे तक मैं मौन धारणकर अपने परब्रह्म गुरु का सिखाया हुआ मनसंकेंद्रण, ध्यान व प्राणायाम करता हूँ। कोई भी मनुष्य किसी उद्योग में बिना चित्त की एकाग्रता के सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। एकाग्रता के द्वारा ही आप अपने मन पर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं, अन्यथा मन की चंचलता मनुष्य की शक्तियों को दुर्बल और चित्त की दृढ़ता को नष्ट कर डालती है।"

"अच्छा, यह बतलाइए कि इतना शोर-ग़ुल होते हुए भी आप मन-ही-मन किस प्रकार प्रश्न हल कर लेते हैं ?"

"मैं इस दृढ़ता से मन को एकाग्र करता हूँ कि बाहरी शोर-ग़ुल मुझे सुनाई ही नहीं पड़ता। आप ढोल बजाइए, नर्तकियाँ मेरे चारों ओर नाचती रहें, परंतु मुझे अपने कार्य में कोई भी बाधा नहीं होती। जब मुझे कुछ सुनाई ही नहीं पड़ता, तो बाधा कहाँ की ? बात यह है कि मैं अपने को अपने ही में सुरक्षित कर लेता हूँ।"

"आपकी यह शक्ति ईश्वरदत्त है—अथवा स्वयं आपने उसे सप्रयास एकाग्रता द्वारा प्राप्त किया है ?"

"बचपन से ही मेरी स्मरण-शक्ति बहुत अच्छी थी। जब मैं आठ वर्ष का था, तभी मैं मन-ही-मन सोचकर जोड़ इत्यादि भले प्रकार लगा लेता था। पाठशाला में अपनी गणित-कक्षा में मैं शीघ्र ही सबसे अच्छा ज़बानी सवाल लगानेवाला हो गया। बीस वर्ष की आयु में मैं मन-ही-मन १४ अंकों की संख्या को उतनी ही बड़ी संख्या से गुणित कर लेने लगा। अब इस समय मेरी यह शक्ति ६० अंकों तक पहुँच चुकी है; बस, इससे बड़ा गुणा मैं इस समय नहीं लगा सकता।

सोमेश बसुजी ऐसी बृहद् संख्याओं के जोड़, भाग, गुणन इत्यादि तो लगाते ही हैं, परंतु साथ-ही-साथ वे संसार-भर में कहीं पर निकाले हुए प्रश्न को कम-से-कम १२ महीनों तक अवश्य याद रख सकते हैं। उनका कथन है कि तत्पश्चात् उनको वह स्मृति मिटने-सी लगती है। परंतु बारह महीने ही कहाँ के कम हैं ?

एक बार मैं बसु महाशय के साथ एक सहभोज में बैठा हुआ था। उन्होंने केवल दो गिलास दूध के अतिरिक्त कुछ न ग्रहण किया, मैंने उत्सुक होकर उनसे पूछा—"कृपया यह बतलाइए कि ऐसे बृहद् अंक-समूहों को आप किस प्रकार याद कर लेते हैं ?"

क्षण-भर सोचकर उन्होंने उत्तर दिया—"जिस प्रकार आप भिन्न-भिन्न मनुष्यों के चेहरे याद कर लेते हैं। जैसे ही किसी संख्या पर मैं अपने मस्तिष्क को केंद्रित करता हूँ, वैसे ही ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वही संख्या मेरे मानस-नेत्रों के समक्ष टाँग दी गई हो। फिर आँखें मूँदे हुए मुझे वही प्रश्न सहस्रों विभिन्न अंकों के रूप में इस प्रकार दृष्टिगोचर होने लगता है, मानो मैं आँखें बगारे हुए किसी विद्युन्मय आकार का अवलोकन कर रहा हूँ।"

सोमेश बसुजी के आँखों देखे करतबों में स्वयं मुझे ही विश्वास नहीं होता। भारतवर्ष के एक उच्च सरकारी अफ़सर श्रीयुत सी० जी० आर० स्टेबेन आई० सी० एस० ने, जिनको पहले बसुजी की करामातों की सत्यता पर विश्वास भी न था, स्वयं लिखा है—"आज सवेरे बाबू सोमेशचंद्र बोस का मुझसे यह कहकर परिचय कराया गया कि वे बिना काग़ज़-पेंसिल के ही मन-ही-मन बड़ी लंबी-लंबी संख्याओं को गुणित कर सकते हैं। इस कथन पर कुछ शक खाकर मैंने उनसे ११२५ ८९९९ ००८४ २६२४ का वर्गफल निकालने के लिये कहा। परंतु जब लगभग १५ मिनटों में ही बसु महाशय ने उसका उत्तर बतला दिया, तो मेरे विस्मय का ठिकाना न रहा। इसी गुणनफल को निकालने में मुझे दो घंटे लगे और उसमें भी बसु बाबू ने मेरी तीन ग़लतियाँ निकालीं। बसु महोदय के इस कार्य में किसी चालाकी की संभावना भी नहीं की जा सकती। वहाँ तो जब वे इस जटिल प्रश्न में लगे हुए थे, लोग ख़ूब बातचीत व गड़बड़ कर रहे थे। बसु महाशय का मस्तिष्क असाधारण ही होगा। सुनता हूँ कि बसु महोदय को इस प्रकार की अन्य क्रियाएँ भी सिद्ध हैं, परंतु मेरे विश्वास के लिये यही प्रश्न सुपर्याप्त था।"

मनुष्य का मन स्वयं अपनी ही क्रियाओं पर विस्मित होकर काँपता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी संभावनाएँ अपरिमित हैं, कारण यदि ऐसा न होता, तो हमें इस बात का अनुभव ही न हुआ होता कि मानव-मस्तिष्क स्वयं अनंत का ही एक संपूर्ण विभाग है *।

मदनगोपाल मिश्र

* फ़ारवर्ड में प्रकाशित श्रीयुत वसंतकुमार राय-लिखित 'Miracles of Mr Somesh Bose' नामक लेख का अनुवाद।— लेखक

१. विज्ञापनयुग का सफल नवयुवक

(ठलुआ क्लब की बैठक में पढ़ी हुई चौथी गाथा)

ननीय ठलुआवृंद! मैं साधारण मनुष्य नहीं हूँ। (अपने को बड़ा कहना और समझना सफलता की कुंजी है) मैं दस सभाओं का सभापति, पंद्रह सभाओं का संचालक, बीस सभाओं का साधारण सदस्य और पचीस कंपनियों का डाइरेक्टर हूँ। इसके अतिरिक्त "सफलता" नाम के एक मासिकपत्र का संपादक भी हूँ। मेरा रोज़गार इतना बढ़ा-चढ़ा है कि मेरी आमदनी का औसत क़रीब-अनक़रीब दोसौ रुपया फ़ी घंटे का होगा। है तो इससे और भी बहुत अधिक, किंतु यदि यथार्थ लाभ बतला दूँ, तो इसका ग़रीब भारतवासी विश्वास न करेंगे। ख़ास तौर से जब कि वह यह जान लेंगे कि मैं आपके क्लब का स्थायी सदस्य हूँ।

कदाचित् आप लोगों को भी इस बात का आश्चर्य होगा कि इतनी संस्थाओं से संबंध रखता हुआ भी आप लोगों के क्लब में सबसे आगे आता हूँ। और सबसे पीछे लौटता हूँ। आपके आश्चर्य का मुख्य कारण यह है कि आप लोग वर्तमान युग के चमत्कारों से (जिनका परिज्ञान केवल विलायती अख़बारों के शिक्षाप्रद विज्ञापनों से ही हो सकता है) नितांत अनभिज्ञ हैं। अब आपको मैं अपनी सफलता के मुख्य कारण बतलाता हूँ। उनको जानकर शायद आपकी ठलुआपंथी के लिये अधिक अवकाश मिल जावे। सुनिए—

मैट्राक्यूलेशन पास करते ही मैंने तीस दिन का "शॉर्ट हैंड कोर्स" पंद्रह रुपया ख़र्च करके लिया। कोर्स के ख़तम करते ही मुझमें पाँच सौ रुपया माहवार कमाने की योग्यता हो गई। यदि मेरा विश्वास न हो, तो उन लोगों के प्रमाण-पत्र देख लीजिए, जिन्होंने कि यह कोर्स लेकर भारतवर्ष में ही साढ़े सात सौ रुपया माहवार तक की नौकरी पाई है। मैंने केवल शॉर्ट हैंड ही नहीं सीखा, वरन् दो सौ रुपया देकर तीन महीने में बैंकिंग और एकाउंटेंटी का कोर्स भी सीख लिया और परीक्षा भी पास कर ली। अब मेरी पाँच सौ रुपया माहवार कमाने की योग्यता में क्या शक?

किंतु पाँच सौ रुपया माहवार केवल योग्यता रखने से ही नहीं मिल सकते हैं। योग्यता के अतिरिक्त प्रभाव की भी आवश्यकता है। आजकल के ज़माने में प्रभाव डालने के लिये दूसरे की सिफ़ारिश की ज़रूरत नहीं। दो गिन्नी ख़र्च करके (Personal magnatism) का कोर्स लिया। एक निगाह से मनुष्य को उल्लू बनाने की शक्ति आ गई। जौनपुर के क़ाज़ीजी तो गधे से मनुष्य बनाया करते थे, मैं अपना काम निकालने के लिये दूसरों को गधा बनाना सीख गया। उस कोर्स में कुछ पोशाक-संबंधी हिदायतें ही थीं। उनके लिये भी मुझे अधिक परेशान न होना पड़ा। सेल्फ़ मेज़रमेंट (Self measurement form) फ़ार्म पर अपना नाम लिख भेजा और एक अँगरेज़ी फ़र्म के पास भेज दिया। ठीक छठवें रोज़ सिलासिलाया बिना शिकन की घरी कराकराया एक सूट घर के दर्वाज़े पर (घर के दर्वाज़े पर ही पहुँचाने का वह लोग वादा

करते हैं) आ गया, सूट-बूट पहनकर टेलीफोन द्वारा (Always at your command) अर्थात् सदा सेवक नाम की कंपनी से एक Car ख़रीदने के बहाने से ट्रायल के लिये मँगा ली। उसकी टायर्स पाँच हज़ार मील के लिये गारंटेड थीं। और उनके ट्यूब्स में सेल्फ़ हीलिंग अर्थात् स्वयं मरम्मत करनेवाला सोल्यूशन भी पड़ा था। इसलिये वह पंचर-प्रूफ़ बन गए थे। ड्राइवर महोदय जैसे मशीनरी में कुशल थे, वैसे ही चक्रपाणि होकर ड्राइविंग में भी सिद्धहस्त थे। इसके अतिरिक्त वह क़ायदा-क़ानून के पूर्ण ज्ञाता थे। वह सदा बाएँ से ही मोटर बचाते, चाहे उनके सामने अंधा या लूला अथवा बालक ही क्यों न आ जावे। कार में बैलून टायर चारों पहियों में, ब्रैक चारों कमानियों में, शॉक़ एब्सॉर्बर्स (Shock absorbers) लगे थे और भीतर गद्दियों के ऊपर हवा भरे हुए रबड़ के तकिए लगे थे। यह न समझा जावे कि यह सब सामग्री आराम-तलबी ही के हेतु थीं। यह मेरी सफलता में बड़ी सहायक हुई, इसके कारण न तो मेरे कपड़ों में शिकन आई, न माथे पर पसीना, न क्रोध से भ्रूभंग हुआ और न धक्कों के कारण दिल ही धड़का। ऐसे दैवी साधनों से युक्त गाड़ी में बैठकर सफलता में मुझे संदेह न रहा। वाहन और सफलता के संबंध को धनुर्धारी अर्जुन ही भली भाँति जानते थे, इसीलिये उन्होंने श्रीकृष्णजी से सारथित्व का कार्य लिया था।

सफलता की पूर्ण आशा होने के कारण मैंने अपने पथ को निर्विघ्न बनाने के अर्थ विघ्न-विदारन विनायकजी को "वक्रतुण्ड महाकाय कोटिसूर्यसमप्रभ" आदि श्लोक द्वारा संबोधित न किया। बैंक के दफ़्तर में पहुँचते ही मैंने अपना अमेरिकन, जर्मन और इँगलिश डिग्रीज़ से विभूषित कार्ड भेजा। बिना ब्रुश प्रयोग के शीशे की सी चमक देनेवाली न्यूवियन ब्लैक पालिश से परिष्कृत जूता, बिना शिकन की पोशाक, शेवेक्स (Shawaxe) की सहायता से गिलेट (Gillet) द्वारा दो मिनट में साफ़ किया हुआ चेहरा देखकर मैनेजर ऐसा प्रभावित हो गया कि मुझे देखते ही उठ खड़ा हुआ, और शेकहैंड के लिये हाथ बढ़ाया। मैंने भी बहुत सधे हुए हाथ से (जिसमें कि न तो भय और न मूर्खता-जनक निर्भयता व्यंजित हो) हाथ मिलाया। अपनी हाऊ टू स्पीक एफ़ेक्टिविली (How to speak effectively) नाम की पुस्तक में से तीन-चार चुने हुए वाक्यों द्वारा उन्हें बतला दिया कि मैं उनके यहाँ नौकरी स्वीकार कर अपनी योग्यता का परिचय देना चाहता हूँ। मेरा वेष, भूषा और चेहरे का निश्चित भाव देखकर मैनेजर को विश्वास हो गया कि मैं किसी धन-संपन्न परिवार का उत्तराधिकारी हूँ और रुपए-पैसे का कार्य बेखटके मेरे सिपुर्द किया जा सकता है। उसको एक असिस्टेंट की आवश्यकता थी। वेतन की बातचीत चली, तो ५००) रु० माहवार सहज ही में तय हो गए। नियमानुकूल ज़मानत माँगी गई, वह भी एक कंपनी की मार्फ़त दे दी गई।

मुझे कारबार करने में कोई कठिनाई न हुई। आजकल की पद्धति से सब काम मंत्रवत् हो जाते हैं (Pabsnan) के कोर्स द्वारा मैंने अपनी स्मरण-शक्ति को आल्हा की तलवार की भाँति ख़ूब तीव्र कर रखी थी। स्मरण-शक्ति की भी खेती-सी होती है। अँगरेज़ी में उसे 'स्मरण-शक्ति की खेती' (Memory culture) कहते हैं। क़ायलें की क़ायलें मेरे बनाए हुए इने-गिने कोडवर्ड्स (Code-words) में रहने लगे। छः घंटे का काम मैं दो ही घंटे में करने लग गया। मेरा मैनेजर मेरी अलौकिक प्रतिभा को देखकर दंग एवं चकित रह गया, और प्रायः सभी बातों में सलाह लेने लग गया। इससे मुझे बैंक और बाज़ार की भीतरी बातों का परिज्ञान हो गया। ख़ाली समय को मैंने वृथा न जाने दिया, आख्यायिका लिखने और पत्र-संचालन के कोर्स मँगा लिए। मेरी आख्यायिकाएँ भारतीय विषयों से संबंध रखती थीं। अस्तु, बड़े मूल्य में बिकने लग गईं। कई प्रकाशकों से पुस्तक लिखने की माँग आने लगी, सरस्वतीजी और लक्ष्मीजी अपना विरोध छोड़कर मेरे यहाँ वास करने लग गईं।

बैंक की नौकरी छोड़ दी और एक्सचैंज के बाज़ार में हज़ारों के वारे-न्यारे करने लग गया, अभी तक मैंने विज्ञापनों से लाभ ही उठाया था, किंतु अब मैंने विज्ञापन द्वारा दूसरों को लाभ पहुँचाने का निश्चय कर लिया। "रुपए की खेती", "सोने का अंडा देनेवाली मुर्ग़ी", "बिना पूँजी के लखपति कैसे बन सकता है?", "भिखारी से कुबेर", "झोंपड़ी से राजमहल", "सफलता की कुंजी" और "स्वर्ग-द्वार" इत्यादि नाम की कई छोटी-मोटी पुस्तकें लिख डालीं। उनके धड़ाधड़ विज्ञापन निकलने लगे। मैं स्वयं अपने मंत्र से मुग्ध हो गया। सोचने लगा

कि 'अब भारत में निर्धनता की समस्या हल हो गई।' एक व्यापारिक सलाह-समिति (Commercial advice Bureau) भी खोल दी। चिट्ठियों के ढेर-के-ढेर मेरे पास आने लगे। सरकार को मेरे मकान के पास ही 'सफलता' नाम का एक पोस्टऑफ़िस भी खोलना पड़ा।

यद्यपि मेरे विज्ञापनों और चिट्ठी के काग़ज़ों पर बड़े मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा रहता था कि -

"हरएक मामले पर व्यक्तितः ध्यान दिया जाता है"

तथापि बहुत-से आदमियों की एक सी ही स्थिति थी और एक सी ही कठिनाइयाँ होती थीं और उनके प्रायः एक से ही उत्तर देने पड़ते थे। मैंने इस प्रकार की भिन्न-भिन्न स्थितियों के अनुकूल उत्तर ऐसे टाइप और स्याही में छपवा लिये मानो वह टाइपराइटर पर से ही उतरे हों। मेरे क्लर्क लोग ही उन उत्तरों द्वारा बहुत-सी चिट्ठियों का भुगतान करने लग गए। दस-पाँच चिट्ठी मेरे ख़ास ध्यान देने योग्य रहती थीं, वह मेरे पास भेज दी जातीं। उनके उत्तर देने के लिये मुझे क्लर्कस् का सामना नहीं करना पड़ता था। मेरे कमरे में एक ऐसा यंत्र रक्खा रहता था, जिसमें मेरे बोले हुए उत्तर भर जाते और मेरे क्लर्क लोग उनको टाइप कर हस्ताक्षरों के लिये मेरे पास भेज देते थे।

मैंने व्यापार-संबंधी व्याख्यान देना भी आरंभ कर दिया और एंप्लीफ़ाइर द्वारा दस हज़ार आदमियों को एक साथ मेरे व्याख्यानों से लाभ उठाने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता। इन सब बातों के कारण मुझे अपने प्रांत की चेंबर ऑफ़ कॉमर्स (Chamber of Commerce) का मेंबर बनना पड़ा। कौंसल में भी प्रवेश करने के लिये वोटों की भीख न माँगनी पड़ी, चेंबर की ओर से ही कौंसल में भेज दिया गया।

इन सब कामों के करने में मुझे परिश्रम अवश्य करना पड़ता था। इसी परिश्रम के कारण मेरे कुछ बाल भी सफ़ेद हो चले थे, लेकिन बलिहारी इस वैज्ञानिक युग की!! बिजली के इलाज से नए बाल आ गए और मुझे कविवर केशव की भाँति केशों को यह कहकर कोसना न पड़ा कि—

"केशव केशन अस करी अरि ना करिहैं काहिं;
चंद्रबदनि मृगलोचनी बाबा कहि-कहि जाहिं"

इसके अतिरिक्त परिश्रम सहन करने के भी बहुत नुसख़े मिल गए थे। एक आने रोज़ के क्रूशनसाल्ट (Crution Salt) से भोजन का पूरा लाभ और आनंद मिलने लग गया, और मैं बच्चों को अपनी पीठ पर बैठालकर घुड़दौड़ दौड़ने लग गया। अभी तो मैं नवयुवक ही हूँ, किंतु आगे भी 'युवावस्था-विद्रोह' होने का भय न रहा। मंकी ग्लांडस (Monkey Glands) का इलाज चल गया है, यदि वह भी सफल न हुआ, तो कृत्रिम दाँत और चश्मे तो बने ही हैं। कृत्रिम चीज़ें स्वाभाविक से अच्छी होती हैं, न उनमें दर्द की दहशत और न कीड़ा लगने की ही संभावना रहती है।

आदमी को सुखी बनने का एक-मात्र साधन यही है कि वह आँखें खोल ध्यान देकर विज्ञापनों को पढ़ता रहे और यथाशक्ति उनसे लाभ भी उठावे। विज्ञापनों द्वारा धर्मार्थ, काम और मोक्ष सभी के साधन मिल जाते हैं। मैं स्वयं तो इन बातों को नहीं मानता, किंतु यदि आप चाहें, तो आपके नाम से हरिद्वार में ब्राह्मण भोजन हो सकता है, गंगोत्री का जल सेतुबंध रामेश्वर तक पहुँच सकता है, यमुना-तट पर एक स्वाँस में एक माला जपनेवाले ब्राह्मण आपकी मनोकामनाओं को सफल करने के लिये अनुष्ठान कर सकते हैं, और अर्थ-साधन का तो मैं स्वयं ही एक ज्वलंत उदाहरण बैठा हूँ। किसी बात की आवश्यकता नहीं, चिट्ठी लिखने का भी कष्ट न उठाइए, केवल जवाबी पोस्टकार्ड पर हस्ताक्षर भरकर दीजिये और सफलता आपके द्वार को खटखटाएगी। ऋद्धि-सिद्धि सब सम्मुख कर जोड़े खड़ी रहेंगी। काम-साधन में आपके हित-चिंतकों की कमी नहीं। एक-से-एक बढ़कर पौष्टिक ओष-धियाँ तैयार हैं। यदि आपको कुछ कष्ट करना है, तो केवल इसी बात के विचार का कि इनमें सर्वोत्तम ओषधि कौन है। उसके लिये गुप्त प्रकाशित पत्रों की गवाही बड़ी सहायक होती है। नाना प्रकार के सुगंधित तैल और इत्र आपके ऑर्डर की बाट देखते रहते हैं। कपड़ों की भी कुछ कमी नहीं, सस्तेपन को सीमा तक पहुँचा दिया। स्वयं ख़रीदने से ईमानदार एक बात के कहनेवाले विज्ञापनों द्वारा ख़रीदना लाभदायक है। अपने जीवन और पुन्सत्व का पूर्ण लाभ उठाने के लिये असली कोकशास्त्र और वात्स्यायन मुनि-प्रणीत कामसूत्र का हिंदी-अनुवाद आपको सलाह देने को तैयार है। लड़का-लड़की पैदा करना या न करना आपकी इच्छा के आधीन है। निःसंतान या बहु-संतान के लिये आपको रोना न पड़ेगा। मोक्ष के लिये आपको योग और प्राणायाम की शिक्षा केवल दो रुपया ख़र्च करने से ही मिल जावेगी। वेदांत में भी थोड़े ही

परिश्रम द्वारा पारंगत हो जावेंगे। सुदामा-कृष्ण की भाँति गुरु की धोती धोने तथा जंगल से लकड़ी ढोने की आवश्यकता नहीं। कठिन-से-कठिन ग्रंथों का सार केवल चार आने पैसे में ही मिल सकता है। प्राकृतिक दृश्यों, तपोवनों और दैवी अनुभव प्राप्त करानेवाले स्थानों के लिये रेल और मोटरकार दौड़ रही हैं। गाइड और पंडे लोग आपको ठीक आपके अभीष्ट स्थान तक पहुँचा देंगे और जहाँ पर ऋषि-मुनियों को बड़े-बड़े अनुभव प्राप्त हुए हैं, पहुँचा देंगे। और यदि आप चाहें, तो वह अनुभव आपको कमरे के ही भीतर आग तापते-तापते हो सकता है।

लोगों ने अज्ञान-वश कामधेनु और कल्पवृक्ष स्वर्ग में स्थापित कर रक्खे थे। आजकल के वैज्ञानिक और विज्ञापनयुग में स्वर्गलोक पृथ्वी पर ही उतर आया है। रावण ने काल को पाटी से बाँध रक्खा था, यह आप भी कर सकते हैं। मौत पर विजय पाने का हाल आपको मालूम नहीं, क्योंकि आप विज्ञापन नहीं पढ़ते। मौत बुख़ार की तरह एक बीमारी है, जिसका इलाज हो सकता है। पानी के गुणों को आप नहीं जानते, विज्ञापनवाले बतलाते हैं कि 'आपो वै नारायणः'। आप जीवन और मरण को हाथ में कर सकते हैं; आप मर भी जाइए, तो 'बीमा कंपनियों' की कृपा से आपके बाल-बच्चे भूखों न रोएँगे। साधारण सुखों का तो कहना ही क्या, बिजली के आविष्कार ने संसार का जीवन पलट दिया है। घंटों का काम सेकेंडों में ही हो सकता है, दूर को निकट बना दिया है। बिजली जिससे लोग डरते थे, वह आपके घर में झाड़ू देती है। यदि आप वैज्ञानिक आविष्कारों से लाभ उठाना चाहते हैं—तो विज्ञापन पढ़िए, कूप-मंडूक न बनिए, मुझे देखिए और मेरा अनुकरण कीजिए। मेरी सफलता देख बहुत-से विज्ञापन-दाताओं ने मेरे लिये वार्षिक वृत्ति नियत कर रक्खी है। क्योंकि जो कोई मुझको देखता है, उनकी सचाई में भी विश्वास करता है। मेरा जीवन विज्ञापनदाताओं के लिये एक विस्तृत विश्वसनीय प्रमाण है। जैसा मैं हूँ वैसे आप भी बन सकते हैं; विज्ञापनदाताओं से वृत्ति पाने के कारण मुझे उनका दूत न समझिए। मैं आपके ही हित के लिये यहाँ नित्य आता हूँ। मैं अपनी सफलता का रहस्य कृपण के धन की भाँति गड़ा हुआ नहीं रखना चाहता हूँ, उसे फैलाकर संसार को सुखी बनाना चाहता हूँ। ईश्वर मेरी सहायता करे।

गुलाबराय

१. देश की वर्तमान राजनैतिक दशा

अफ़ग़ान-नरेश अमानुल्लाख़ाँ का आगमन, नेशनल कांग्रेस, लिबरल फ़िडरेशन एवं मुसलिमलीग के अधिवेशन तथा हकीम अजमलख़ाँ की मृत्यु आदि ऐसी घटनाएँ हैं, जिनका वर्तमान भारतीय राजनीति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इस समय स्वदेश का समस्त राजनैतिक चर्चा केवल दो बातों में केंद्रीभूत है, एक साइमन कमीशन और दूसरा हिंदू-मुसलिम प्रश्न। ऊपर हमने जिन घटनाओं का उल्लेख किया है, उनका महत्त्व भी इसी कारण है कि उनके द्वारा साइमन कमीशन और हिंदू-मुसलिम प्रश्न पर किसी-न-किसी प्रकार का प्रभाव पड़ा है। खेद है, इन दोनों प्रश्नों पर भी भारत में संपूर्ण एकता नहीं है। फिर भी यह बात अवश्य है कि एक पक्ष का समर्थक बहु संख्यक लोकमत है और दूसरे का अत्यंत अल्पसंख्यक। कदाचित् संपूर्ण एकता संभव भी नहीं है।

भारत का अधिकांश लोकमत साइमन कमीशन का बहिष्कार करना चाहता है। देश के दिग्गज राजनैतिक नेता बहिष्कार के पक्ष में हैं। महात्मा गांधी, पं० मोतीलाल नेहरू, पं० मदनमोहन मालवीय, डॉक्टर वेसेंट, लाला लाजपतराय, मिस्टर जिन्ना, सर सप्रू, मिस्टर मोहम्मदअली और शौकतअली, महाराजा साहब महमूदाबाद एवं डॉक्टर मुंजे और राजा रामपालसिंह बहिष्कार के पक्ष में हैं। उधर महाराजा दरभंगा, लॉर्ड सिनहा, सर हरीसिंह गौड़, सर मोहम्मद शफ़ी, मोहम्मद इक़बाल और मिस्टर ग़ज़नवी आदि कमीशन के साथ सहयोग करना चाहते हैं। मिस्टर केलकर तथा सर आग़ाख़ाँ का मत अभी स्पष्ट रीति से नहीं जान पड़ा है। पर ऐसा मालूम होता है कि बहिष्कार की अपेक्षा उनका रुझान सहयोग की ओर अधिक है; पर कदाचित् वे अधिक लोकमत की उपेक्षा भी नहीं करना चाहते हैं। मदरास की इंडियन नेशनल कांग्रेस ने एवं बंबई के लिबरल फ़िडरेशन ने एक मत से बहिष्कार के पक्ष में अपनी राय दी है। मुसलिम लीग में फूट पड़ गई है। इस बार उसके दो अधिवेशन हुए, एक कलकत्ते में तथा दूसरा लाहौर में। लाहौरवाले अधिवेशन के सूत्रधार थे मोहम्मद शफ़ी और कलकत्तेवाले के मिस्टर जिन्ना। अधिकांश मुसलिम नेता एवं जनता कलकत्तेवाले अधिवेशन के साथ रही और बहिष्कार का प्रस्ताव पास करवाया; पर लाहौर ने सहयोग के पक्ष में राय दी। उधर हिंदू महासभा ने एक मत से बहिष्कार का समर्थन किया है। श्रीमालवीय, मुंजे, लाजपत एवं रामपालसिंह के बहिष्कार के पक्ष में होने के कारण हिंदू महासभा एकस्वर से बायकाट की घोषणा कर रही है। उधर महात्मा गांधी, पं० नेहरू, सर सप्रू आदि राष्ट्रीय विचार के हिंदू नेताओं

को बहिष्कार पक्ष का समर्थन करते देखकर समस्त राष्ट्रीय हिंदू-समाज भी इन्हीं लोगों का अनुयायी हो रहा है। इस प्रकार से ६० प्रतिशत हिंदू बायकाट के पक्ष में है। जो थोड़े से हिंदू नेता बायकाट के विरोधी हैं, उनका हिंदू-जनता पर वैसा प्रभाव नहीं है। पंजाब और बंगाल के मुसलमान कदाचित् कुछ अधिक संख्या में सहयोग करें, क्योंकि पंजाब जातीयता का केंद्र है और वहाँ सर सफ़ी का कुछ प्रभाव भी है। वैसे ही बंगाल में यद्यपि सर अब्दुर्रहीम बायकाट के पक्ष में हैं, फिर भी वह प्रांत भी जातीयता प्रधान हो रहा है और वहाँ भी ग़ज़नवी आदि के कुछ अनुयायी हैं ही। अन्य प्रांतों के मुसलमान भी बायकाट के ही समर्थक हैं। इस प्रकार से यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि देश एक बहुत बड़े लोकमत के साथ साइमन कमीशन का बहिष्कार चाहता है। हर्ष की बात है कि डॉक्टर अनसारी अपने विशाल व्यक्तित्व से देश की इस इच्छा को पूर्ण करने के लिये प्रयत्नशील हैं।

बहिष्कार की सफलता के लिये यह परमावश्यक है कि देश की दो प्रधान जातियाँ--हिंदू और मुसलमान—आपस में लड़ना-झगड़ना छोड़ दें। यह लड़ाई-झगड़ा परस्पर के अविश्वास के कारण है। स्वराज्य प्राप्त करने पर हिंदू समझते हैं कि मुसलमान अपने सहधर्मी अमीर काबुल को भारत पर चढ़ा लावेंगे और हमारा सत्यानाश करा देंगे, उधर मुसलमान समझते हैं कि स्वराज्य में हिंदू अपने मताधिक्य के प्रभाव से हमको पीस डालेंगे—किसी काम का न रक्खेंगे। इसी परस्पर के अविश्वास के कारण दोनों जातियों में वैमनस्य है और लड़ाई-झगड़े हुआ करते हैं। इस अविश्वास को दूर करने के लिये देश के हिंदू-मुसलमान नेताओं ने एक समझौता कर लिया है। इसके अनुसार यह स्पष्ट कर दिया गया है कि स्वराज्य-योजना में दोनों जातियों के क्या अधिकार होंगे। इसी समझौते में गोवध और बाजे का प्रश्न भी आ गया है। कांग्रेस ने इस समझौते के प्रस्ताव को पास करके परस्पर के अविश्वास को दूर करने का एक उत्तम प्रयत्न किया है। कलकत्तेवाली मुसलिमलीग में भी यह प्रस्ताव थोड़े हेर-फेर के साथ पास हुआ है। लाहौरवाले अधिवेशन में भी इस प्रस्ताव का प्रकट विरोध नहीं हुआ है। कुछ प्रभावशाली हिंदू यह बात ज़रूर कहते हैं कि इस प्रस्ताव द्वारा मुसलमानों को उचित से अधिक अधिकार दिए गए हैं तथैव बहुतेरे मुसलमानों का कहना है कि इस प्रस्ताव द्वारा उनके उचित अधिकार संकुचित हो गए हैं, फिर भी कुल मिलाकर हिंदू और मुसलमानों ने इस समझौते का समर्थन ही किया है। यदि यह समझौता हिंदू-मुसलमानों में सच्चा मेल करा सके, तो फिर साइमन कमीशन का बायकाट बहुत कुछ सफलता प्राप्त करेगा, इसमें संदेह नहीं है। साइमन कमीशन के सबसे अधिक विरोधी इस समय सर सप्रू, मालवीयजी और मिस्टर जिन्ना हैं। सर सप्रू वैध नीति के साथ अकाट्य दलीलों द्वारा साइमन कमीशन के साथ सहयोग करने की सलाह का खंडन कर रहे हैं। वे सहयोग को व्यर्थ भी बतलाते हैं और अपमानजनक भी। लिबरल फ़िडरेशन के सभापति की हैसियत से उन्होंने जो भाषण दिया था, उसमें साइमन कमीशन के बायकाट का समर्थन जिस तर्क-शैली के साथ हुआ है, वह अद्वितीय है। बायकाट के पक्ष में जो दलीलें दी जा सकती हैं, वे सब इस भाषण में हैं और इतने अच्छे ढंग से प्रकट की गई हैं कि बरबस सर सप्रू की सराहना करनी पड़ती है। लिबरलों और वैध आंदोलनकारियों में बायकाट के पक्ष में इतना बड़ा लोकमत सर सप्रू और लीडर संपादक मिस्टर चिंतामणि के ही कारण है। मुसलमानों ने कमीशन के संबंध में जो कुछ भी तेजस्विता के भाव दिखलाए हैं, वह सब मिस्टर जिन्ना के प्रताप से। कठिन परिस्थिति में पड़कर भी मिस्टर जिन्ना ने, जिस प्रकार से राष्ट्रीयता को जातीयता के ऊपर रखा है, उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है। इधर मालवीयजी को कुछ लोग एकमात्र जातीय नेता मानने लगे थे। विगत निर्वाचन संग्राम के अवसर पर उनके कुछ काम ऐसे थे भी, जिन पर लोगों को कुछ कहने का मौक़ा था; पर पूर्व में उनसे जो कुछ भी भूलें हुई हों, उन सबका परिशोध उन्होंने मदरास कांग्रेस में कर डाला। कोई लाख भी सर पटकता, पर यदि मालवीयजी हिंदू-मुसलिम समझौते का समर्थन न करते, तो वह कदापि पास नहीं हो सकता था। मालवीयजी जातीय नेता हैं, राष्ट्रीय नहीं, यह बात मदरास में बिलकुल झूठी प्रमाणित हुई और इतने प्रकट रूप में कि पान इसलाम के हामी मौलाना मोहम्मदअली

मालवीयजी के चरणों पर गिर पड़े और मौलाना शौकत-अली उन पर पंखा झलने लगे। राष्ट्रीयता की इस अभूत-पूर्व विजय पर किस भारतवासी को गर्व न होगा। लोगों ने एक मत से, मदरास काँग्रेस की सफलता का सारा श्रेय वृद्ध ब्राह्मण मालवीय को दिया है। इस समय साइमन कमीशन के बायकाट के मामले में मालवीयजी लिबरलों और वैध आंदोलनकारियों से कुछ आगे बढ़े हुए हैं। काँग्रेस होने के कुछ पहले अफ़ग़ान-नरेश भारत पधारे थे, इनके सज्जनोचित व्यवहार का लोगों पर बहुत प्रभाव पड़ा। इन्होंने मुसलमानों को हिंदुओं के प्रति किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, इस संबंध में बहुत सच्ची और नेक सलाह दी। श्रीमती गांधी के प्रति उन्होंने जो भाव दिखलाए, वे भी बड़े ही उदारता-पूर्ण थे। हमारे ख़याल से हिंदू-मुसलिम समझौते के अनुकूल वातावरण बनाने में अफ़ग़ान-नरेश की स्पष्ट वाग्मिता का भी प्रभाव था। विगत वर्ष काँग्रेस अधिवेशन के कुछ पहले दिल्ली के श्रेष्ठ नेता स्वामी श्रद्धानंद की हत्या हो गई थी, इस बार काँग्रेस अधिवेशन के समाप्ति के कुछ पहले उसी दिल्ली के सर्वमान्य नेता हकीम अजमलख़ाँ का स्वर्गारोहण हो गया। हकीम साहब हिंदू-मुसलिम-एकता के प्रबल समर्थक थे, इस समय उनकी मृत्यु का होना देश के लिये बड़ी अशुभ बात है। यदि वे जीवित रहते तो उनके व्यक्तित्व के प्रभाव से मदरास के समझौते की प्रगति और भी शीघ्र और दृढ़ होती। मदरास काँग्रेस में पं० जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व का भी बड़ा प्रभाव पड़ा। श्रीनिवास आयंगर की सच्ची लगन, और श्रीमती डॉक्टर बेसंट की उत्साह प्रदायिनी उपस्थिति ने भी बहुत बड़ा काम किया। लाला लाजपतराय और पं० मोती-लाल नेहरू की अनुपस्थिति लोगों को खटकती थी, पर कुछ लोगों का कहना है, उनकी उपस्थिति से वातावरण जोशीला चाहे जितना हो जाता, पर आदान-प्रदान के भाव के साथ समझौते के मामले में अधिक सुविधा न होती।

इस समय विदेश से सर आग़ाख़ाँ और लॉर्ड सिनहा स्वदेश पधारे हैं। लोग राजनीति विषयिनी उनकी सम्मतियों को समझ रहे हैं। सर बटलर और सर मैरिस क्रम से बरमा और संयुक्तप्रदेश की गवर्नरी करके स्वदेश जा रहे हैं। संयुक्तप्रांत के गवर्नर अब से सर अलेक-ज़ेंडर मुडीमैन हो रहे हैं। इस प्रदेश को इनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। भरतपुर के शासन में कुछ गोलमाल है, और भारत सरकार और भरतपुर सरकार के बीच में कुछ बातचीत चल रही है। देश की राजनीति का इस समय यही सारांश है। ईश्वर उसे भारत के अनुकूल बनावे।

× × ×

२. माधुरी का विशेषांक

हमने श्रावण में सूचना दी थी कि वसंत के अवसर पर 'माधुरी' का दूसरा विशेषांक निकाला जायगा। हम उसके लिये तैयारी भी कर रहे थे, और अधिकांश तैयारी कर भी ली थी। इसी बीच में हमारे कुछ मित्रों ने हमसे अनुरोध किया कि यह विशेष अच्छा होगा कि अन्य पत्र-पत्रिकाओं के जो विशेषांक और वर्षांक निकलनेवाले हैं, उनको देखकर और उनके आकार प्रकार से लाभान्वित होकर तब 'माधुरी' का विशेषांक निकाला जाय। मित्रों ने हमें सुझाया कि 'माधुरी' का विगत विशेषांक, दो-एक सज्जनों को छोड़कर, हिंदी-संसार में एकस्वर से प्रशंसित हुआ है, इसलिये उसकी प्रतिष्ठा स्थिर रखने के लिये और उसे पहले से भी उत्कृष्ट निकालने के लिये यह परमावश्यक है, अन्य प्रतिष्ठित प्रकाशकों और संपादकों के आयोजन भी भली भाँति से समझ लिये जायँ। मित्रों की यह सलाह हमें भी पसंद पड़ी। हमने 'माधुरी' के स्वामी को भी यह बात बतलाई। उन्होंने भी इस सलाह को पसंद किया, तदनुसार हमने वसंत के अवसर पर विशे-षांक निकालने का विचार स्थगित कर दिया। अब अन्य विशेषांकों और वर्षांकों को देखकर हम शीघ्र ही 'माधुरी' का दूसरा विशेषांक निकालेंगे। नियत तिथि की सूचना आगामी मास तक दे देंगे। हम चाहते हैं कि हिंदी-संसार में 'माधुरी' का दूसरा विशेषांक भी अद्वितीय ही निकले, इसलिये अपने ग्राहकों और प्रेमियों से हमारी सादर प्रार्थना है कि वे भी हमारे इस प्रस्ताव को स्वीकृत करें। हमारा विश्वास है कि हमारे उच्च भाव का ख़याल करके वे हमारे इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकृत करेंगे। तथास्तु।

× × ×

३. साहित्य-सम्मेलन के सभापति

अखिल भारतवर्षीय साहित्य-सम्मेलन का समय अत्यंत निकट आ गया है। सम्मेलन का प्रबंध धूम-धाम से हो रहा है। आशा है कि इस बार का अधिवेशन

विशेष सफलता प्राप्त करेगा। इस बार साहित्य-सम्मेलन का सभापति कौन हो, यह विषय विचारणीय है। हमारी राय में साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद को कोई वृद्ध साहित्य-सेवी जिस प्रकार से गौरवान्वित कर सकता है, उस प्रकार से नवीन साहित्य-सेवी नहीं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि आचार्यवर पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी सभापतित्व स्वीकार करने के लिये राज़ी नहीं होते हैं। उनसे प्रार्थना फिर भी करनी चाहिए, पर वे यदि इसे स्वीकार न करें, तो हम तीन नाम पेश करते हैं। हमारी राय में इन्हीं में से कोई इस वर्ष सभापति बनाया जाय—

१—रायबहादुर लाला सीताराम

२—पं० लज्जाराम मेहता

३—पं० किशोरीलाल गोस्वामी

तीनों हिंदी के पुराने साहित्य-सेवी हैं। तीनों ही वृद्ध हैं। हमारा कर्तव्य है कि जितना शीघ्र हो सके, उतना शीघ्र इन सज्जनों का सम्मान कर लें। इन तीनों महारथियों की योग्यता की तुलना करना ठीक नहीं है। एक सज्जन और भी हमारी निगाह में हैं। उनका नाम है बाबू शिवनंदनसहाय, उनका सम्मान करना भी हमारा परम कर्तव्य है, पर इस वर्ष सम्मेलन विहार में होने जा रहा है और बाबू साहब विहार के वासी हैं, इसलिये उनके विषय में इस वर्ष हम अधिक ज़ोर देना ठीक नहीं समझते हैं। रायबहादुर लाला सीताराम पुराने साहित्य-सेवी और रामायण के विशेषज्ञ हैं। विश्वविद्यालयों में हिंदी-प्रवेश के मामले में उनका भी हाथ है। वे कवि भी हैं। पं० लज्जाराम सफल संपादक, उत्कृष्ट गद्य लेखक और कुशल उपन्यासकार हैं। पं० किशोरीलालजी विद्वान्, साहित्यमर्मज्ञ, सत्कवि और आकार प्रकार दोनों के ख़याल से अत्यंत उत्कृष्ट उपन्यास लेखक हैं।

× × ×

४. तुक

महाकवि दास ने तुक तीन प्रकार के माने हैं अर्थात् उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम तुक के समसरि, विषमसरि और कष्टसरि नामक तीन उपभेद हैं। मध्यम तुक के भी असंयोग मिलित, स्वर मिलित और दुर्मिल यह तीन उपभेद हैं। इसी प्रकार से अधम तुक भी अमिल सुमिल आदि मत्त अमिल और अंत मत्त अमिल भेदों में विभक्त हैं। लाट और वीप्सादि के आश्रय को लेकर तुक का एक और भी भेद दासजी ने माना है। इस प्रकार से प्रकट है कि भेदों और उपभेदों को लेकर तुकों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। अच्छे कवि सदा यह उद्योग करते हैं कि उनकी कविता में उत्तम तुक ही आवें, पर कभी-कभी भाव को बिगड़ते देखकर वे मध्यम और अधम तुकों को भी अपना लेते हैं। सत्कवि के लिये जितना प्यारा भाव है, उतना तुक नहीं। वह बड़ा ही सौभाग्यशाली कवि है जिसको उत्तम तुक को छोड़कर कभी मध्यम और अधम तुकों का आश्रय नहीं लेना पड़ा है। दासजी स्वयं एक बहुत बड़े कवि हैं, पर उनकी पुस्तकों में भी मध्यम और अधम तुकों के उदाहरण मौजूद हैं। देखिए—

१—द्विजगन को आसय बड़ो देवन को प्रिय प्रान;
ता रघुपति आगे कहा सुरपति करै गुमान।

२—बिनहु सुमन गन बाग मैं भरे देखियत भौर;
दास आजु मन भावती सैल कियो येहि ओर।

३—अमल कमल की है प्रभा बाल बदन की ठौर;
ताको नित चुंबन करै धन्य भाग तुअ भौर।

४—सिंही सुत को मानि भय ससा गयो ससि पास;
ससि समेत तहँ ह्वै गयो सिंही सुत को ग्रास।

५—धन संचै, धन सों सुरति सरस र सुख जग माँहि;
पै जीवन अति अलप लखि सज्जन मन न पत्याँहि।

रेखांकित शब्दों पर ध्यान से दृष्टि डालने पर तुकों की मध्यमता और अधमता स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। ये सब उदाहरण दासजी के काव्यनिर्णय ग्रंथ से लिये गये हैं, जो उनका सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ माना जाता है। स्थल संकोच के कारण उदाहरण केवल दोहा छंदों से चुने गये हैं और वे भी केवल पाँच। इन उदाहरणों से प्रकट है कि दासजी तुक की अपेक्षा भाव-रक्षा पर विशेष ध्यान देते थे। अब दासजी के पूर्ववर्ती आलम कवि के काव्य से भी कुछ उदाहरण लीजिए। ये उदाहरण 'आलमकेलि' से लिये जाते हैं। स्थल-संकोच से यहाँ भी हम केवल पाँच उदाहरणों पर संतोष करते हैं—

१—अजहूँ सँभारि आलम सुकवि जौ लौ अन्तक नहिं ग्रस्यो;
पग डगमगात हेरत हसत विरह भुअंगम को डस्यो।

.—दौरत गाय बहोरन छाँह ते घाम न बारि बयारिनि साधे।
डोलत हैं जितहीं तित ग्वाल सु गोधन फैलि रह्यो बन आधे।
काजरि के हित सों कबि 'आलम', आवत लै बछरू धरि काँधे।
हात छरी पनहीं पग पात की सीस खुहू करि कामरि काँधे।
३—वारे तें न पलक लगत बिनु साँवरे ते
बावरे अजान ऊधौ भले उपदेश हैं।
× × ×
आलम बिहात छिन जानो जात कोटि दिन
कौन रैन की समाई सूरति न नैस हैं।
४—बैनानि संतोषे श्रौन, नास घ्रान हूँ अघानी
अति हूँ अनूप ओप रूप तोषे नैन द्वै।
अधर मधुर परसत रसना सरस
काम केलि मिलि सुख साँचे अंग अंग छ्वै।
अब कवि आलम बिछोहे छिनु छिनु तिय
पिय पीय कहि कहि कहै कहाँ कहाँ स्वै;
सुरति समानी मन मनही में देखि बोलै
मेरे जान पाँच ह्वै समाने पाँच रूप ह्वै।
५—राजा को मरनु बिछुरन रघुबंसिन को,
केकई को सुख निहि दुख दहियतु हौं;
सिया की सुरति सूल फूल से चरन धरे,
फलका परत हैं हैं तातें दुखी अति हौं।

उपर्युक्त उदाहरणों में भी 'अस्यो—इस्यो' 'साधे, आधे' 'काँधे-काँधे', 'उपदेश हैं'—'नैस हैं' 'नैन द्वै', 'अंग छ्वै', 'कहाँ स्वै' 'रूप ह्वै' तथा 'दहियतु हौं', 'अति हौं', तुक कितने भद्दे और विकृत हैं। फिर भी भाव की रक्षा के लिये कवि को इन तुकों का आश्रय लेना पड़ा है और इसके लिये हम उसकी निंदा नहीं कर सकते हैं। महाकवि केशवदास ने विज्ञान-गीता में 'करालु' का तुकांत 'साधु' लिखा है तथा रामचंद्रिका के भी कई छंदों में तुकांत की परवा नहीं की है। अवसर पड़ने पर हिंदी के प्रायः सभी महाकवियों को तुकांत के मामले में ढिलाई करनी पड़ी है। उन्होंने भावरक्षा के लिये समसरि को छोड़कर विषमसरि एवं कष्टसरि को सादर अपनाया है और अधम तुकांत के प्रयोग से भी नहीं हिचके हैं। हाल में 'मतिराम-ग्रंथावली' के संबंध में एक पत्र में हमने एक 'प्रलापालोचना' पढ़ी थी। उक्त आलोचना में ग्रंथावली के संपादक को तो गालियाँ दी ही गई हैं, साथ ही तुक की ढिलाई को लेकर कवि मतिराम पर भी पारिजात-पुष्पों की वर्षा की गई है। नहीं जानते उक्त आलोचक महोदय सुकवि दास और आलम का भी स्मरण उन्हीं शब्दों द्वारा करेंगे या नहीं? यदि तुकों की ढिलाई के कारण मतिराम निंदनीय हैं, तो शायद उन्हीं कारणों से दासजी प्रशंसनीय न बतलाए जायँगे और यदि तुकों की इस कवि-कृत ढिलाई के कारण 'मतिराम ग्रंथावली' का संपादक अयोग्य और नालायक है तो 'आलमकेलि' का संपादक भी आलम-कृत तुकों की ढिलाई के कारण योग्यों और लायकों की पंक्ति में बैठने योग्य न रह जायगा। स्मरण रहे कि 'मतिराम-ग्रंथावली' के संबंध में 'प्रलापालोचना' लिखनेवाले महाशय ही 'आलमकेलि' के संपादक हैं। स्वयं 'प्रलापालोचना' के लेखक की रचनाओं में भी यह तुकों की ढिलाई मौजूद है, पर एतदर्थ हम उनकी रचनाओं के पढ़ने का कष्ट स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। हमारा स्पष्ट मत यह है कि हम उत्तम तुकों के प्रशंसक हैं। जिस काव्य में उत्तम तुकों का निर्वाह हुआ है उसकी हम भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं, पर यदि किसी सत्कवि की रचना में भाव-रक्षा के लिये मध्यम और अधम तुकों का भी व्यवहार हो गया है, तो इसी कारण से हम उक्त कवि को मूर्ख या अयोग्य नहीं मान सकते हैं। ऊपर हमने 'दास' और 'आलम' की कविता में तुकों की ढिलाई दिखलाई है, पर इस कारण से 'दास' और 'आलम' के प्रति हमारे हृदय में जो सम्मान है वह ज़रा भी कम नहीं हुआ है। 'आलम-केलि' के संपादक को भी हम इस कारण से अंट-संट कहने को नहीं तैयार हैं कि उनकी संपादित पुस्तक में तुकों की ऐसी ढिलाई दिखलाई पड़ती है। जो आलोचक 'मतिराम' को इसलिये गालियाँ देते हैं कि उनके एकाध छंद में मध्यम तुक का भी प्रयोग है, उन्हें उन्हीं गालियों से 'दास' और 'आलम' का भी सम्मान करना पड़ेगा, तथैव 'मतिराम-ग्रंथावली' के संपादक का स्मरण जिन शब्दों द्वारा किया गया है उन्हींसे 'आलमकेलि' के संपादक होने के कारण स्वयं अपनी स्तुति करनी होगी। असंयत और विवेक-हीन प्रलापालोचनाओं के लिखने का यही परिणाम होता है। हम तो मतिराम, दास और आलम

सभी का आदर करते हैं। किसी तुक की ढिलाई के कारण हम उन्हें अयोग्य मानने को तैयार नहीं हैं। उत्तम तुक के हम क़ायल हैं, पर मध्यम और अधम तुक के प्रयोक्ता को हम मूर्ख नहीं मानते हैं।

× × ×

५. श्रीटामसहार्डी का स्वर्गवास

इँगलैंड के साहित्य-गगन का पियूषवर्षी शशधर टामसहार्डी सदा के लिये अस्त हो गया। टामसहार्डी की प्रतिभा आलोक से नव साहित्य-सेवियों को मार्ग ढूँढ़ने में कठिनता न होती थी, साहित्य-मार्ग स्पष्ट दिखलाई पड़ता था। यद्यपि कुछ समालोचक उनको वर्तमान समय के प्रतिनिधि साहित्य-सेवी न मानते थे, उनका कहना था कि वे अतीत काल के लेखक और कवि थे। अब उनका समय बीत गया था, फिर भी यह बात निर्विवाद थी कि इँगलैंड के जीवित साहित्य-सेवियों में उनका सबसे अधिक मान था। महारानी विक्टोरिया के समय के साहित्य-सेवियों में से अब तक जो सज्जन जीवित थे, उनके टामसहार्डी ही प्रमुख थे। इस समय इनकी अवस्था ८७ वर्ष की थी। क्रम से ७० और ८० वर्ष की आयु पूरी करने के समय टामसहार्डी का बड़ा सम्मान किया गया था। इँगलैंड की साहित्य-मंडली ने बड़ा आनंदोत्सव मनाया था। तीन बरस बाद ६० वर्ष की आयु पूरी करने के उपलक्ष्य में, और भी आनंद मनाने का विचार था, पर ईश्वर को यह स्वीकृत न था, इसलिये टामसहार्डी महोदय संसार से चल बसे। इँगलैंड में इनकी बहुत बड़ी इज़्ज़त थी। स्वयं प्रिंस आव् वेल्स ने इनके मकान पर आकर इनके साथ चाय पीने में अपना सौभाग्य माना था। इनकी मृत्यु का समाचार प्रकाशित होते ही इनकी विधवा के पास जो सबसे पहला सहानुभूति सूचक तार आया, वह सम्राट् की ओर से था। आपकी मृत्यु से इँगलैंड और फ्रांस के साहित्य-सेवी बहुत दुखी हैं। इनकी अर्थी में बाल्डविन, मैकडानल्ड और बर्नार्डशॉ-जैसे लोगों ने कंधा लगाया। टामसहार्डी इधर कई साल से साहित्य-सेवा का काम नहीं करते थे। किसी प्रकार से अपने बुढ़ापे का समय काट रहे थे। समय-समय पर साहित्य-सेवियों का दल उनकी सेवा में उपस्थित होता था, और उनकी दो-चार बातों को सुनकर और दर्शन सौभाग्य प्राप्त करके कृतकृत्य होकर लौट आता। वर्तमान समय में साहित्य-संसार से उनका इतना ही संबंध था, पर अब वह संबंध भी टूट गया। अब तो टामसहार्डी संसार से सदा के लिये चले गए। उनकी रचनाओं के द्वारा ही अब साहित्य-संसार का उनसे संबंध रह गया।

टामसहार्डी उपन्यास लेखक भी थे और कवि भी। कविता उनकी पुराने ढंग की होती थी, फिर भी इस समय भी उसके पढ़नेवालों को ख़ूब आनंद मिलता था। ये प्राचीन कविता के नियमों का निर्वाह करके भी सौंदर्य और भाव की रक्षा करते थे, तथा कल्पना-क्षेत्र में बहुत लंबी दौड़ लगाते थे। फिर भी उपन्यास लेखक की हैसियत से इनका मान बहुत अधिक था। इनके उपन्यासों की बड़ी प्रतिष्ठा है। उनमें मानव-चरित्र का विश्लेषण बहुत सुंदर हुआ है, मनोभावनाओं के चढ़ाव-उतार एवं संघर्ष तथा तारतम्य का इन्होंने ऐसा ऊहापोह किया है कि इनके उपन्यास अमर हैं। वे स्थायी साहित्य की सामग्री हैं। कुछ लोगों को शिकायत है कि टामस-हार्डी भाग्यवादी थे। उनका भाग्य पर बहुत बड़ा भरोसा था। संसार के बड़े-से-बड़े उलट-फेर का प्रभाव उन पर कुछ न पड़ता था, क्योंकि भाग्य जन्य होने से उन्हें उसमें कुछ आश्चर्य न जान पड़ता था। आलोचकों का यह आक्षेप ठीक ही है कि टामसहार्डी भाग्यवादी थे। इनके विषय में दूसरी शिकायत यह भी सुनी जाती है कि इन्होंने स्त्री-जाति का चरित्र-चित्रण कुछ विकृत रूप में किया है। उन्होंने स्त्रियों की बुराइयों पर जितना अधिक दृष्टिपात किया है, उतना गुणों पर नहीं। यह एतराज़ भी प्रायः बहुत कुछ तथ्य है। पर इन दो-एक दोषों के होते हुए भी यह बात निस्संकोच कही जा सकती है, कि कवियों और उपन्यास लेखकों के बीच में उनका स्थान बहुत ऊँचा था। इँगलैंड अपने देश के साहित्य-सेवियों का मान करना जानता है, तभी वहाँ बड़े-बड़े साहित्य-सेवी जन्म लेते हैं। भारत भी कभी साहित्य-सेवियों का मान करता था। यहाँ भी महाराजे लोग आसन से उठकर कवि को अपने हाथ से पान खिलाते थे। तब यहाँ भी साहित्य-सेवी थे। अब तो हमारे साहित्य-सेवी भूखों मरते हैं; उनकी उदर पूर्ति की ओर भी हमारा ध्यान नहीं है; हाँ, उनकी अच्छी-से-अच्छी कृतियों के लिये उन्हें कुछ गालियाँ दिलवा देने का प्रबंध यहाँ अवश्य है। हमारे जैसे भाव हैं, वैसे ही हमारे

साहित्य-सेवी हैं। एक क्षुद्रातिक्षुद्र साहित्य-सेवी होने के कारण टामसहार्डी की मृत्यु का समाचार सुनकर हम भी दुखी हैं, हमारी भी शोक-पूर्ण परिवार के साथ सहानुभूति है।

× × ×

६. परलोक से प्राप्त साहित्यिक रचनाएँ

योरप में परलोक-विद्या का प्रचार बहुत ज़ोरों से हो रहा है। वहाँ बहुसंख्यक ऐसी संस्थाएँ हैं, जहाँ इसी विद्या के अध्ययन और उसके चमत्कारों के प्रदर्शन की व्यवस्था है। परलोकगत आत्मा से बातचीत करने, उसके शब्द को सुनने, उसका स्पर्श करने एवं उसको प्रत्यक्ष देखने और फिर उसका फोटो तक ले लेने का प्रबंध योरप की प्रयोगशालाओं में है। कुछ लोग इन बातों को धूर्तता ठगी, और प्रवंचना बतलाते हैं। ऐसा हो सकता है, पर आलिवरलाज तथा आर्थर कननडायल-जैसे संभ्रांत पुरुषों को धूर्त और वंचक मानने के लिये हम तैयार नहीं हैं। परलोक विद्यावाद में कोई-न-कोई रहस्य अवश्य है। हाल ही में इँगलैंड की विख्यात पत्रिका 'फार्टनाइटली रिविउ' में आर्थर कननडायल ने एक लेख लिखा है। उस लेख के पढ़ने से जान पड़ता है कि लेखकों और कवियों की आत्माएँ परलोक में भी पुस्तकें लिखती हैं। लिखती ही नहीं, वरन् उन पुस्तकों को इस लोक के निवासियों को लिखा भी देती हैं। सर आर्थर ने लिखा है कि चार्ल्स डिकिंस एवं आस्कर वाइल्ड की आत्माओं ने अपनी रचनाओं को इसी भाँति से लिखवा दिया है। ये रचनाएँ जिन लोगों के हाथों से लिख गई हैं, उनमें न तो डिकिंस की प्रतिभा थी और न आस्कर वाइल्ड की। फिर भी उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह उक्त दोनों लेखकों की उन रचनाओं से बहुत कुछ मिलता है, जो उन्होंने जीवितावस्था में लिखा था। लेखन-शैली, ओज, अलंकार चमत्कार एवं व्यंग्य तक में समता है। सूझ-बूझ, कल्पना और रचना-चातुरी तथा भावों में भी अद्भुत सादृश्य है। सर आर्थर कननडायल ने अपने लेख में उक्त लेखकों के कुछ ऐसे वाक्य उद्धृत किए हैं, जो उन्होंने अपनी जीवितावस्था में लिखे थे। फिर उन्हीं वाक्यों में कुछ अंश ऐसे भी मिला दिए गए हैं, जिनकी बाबत कहा जाता है कि वे परलोक से प्राप्त रचनाएँ हैं। उन दोनों को साथ-साथ देखते हुए यह कहना कठिन हो जाता है कि इनमें कौन-सा वाक्य जीवितावस्था का है, और कौन-सा मृतकावस्था का। कई प्रकार से विचार करके आर्थर कननडायल साहब इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि चार्ल्स डिकिंस की परलोक से प्राप्त रचनाओं में चाहे किसी को संदेह भी हो; पर आस्कर वाइल्ड की जो रचना परलोक से प्राप्त हुई है, वह उनके सिवाय और किसी दूसरे की लिखी नहीं हो सकती है। सर आर्थर का कहना है कि यह बात सत्य है कि लेखक की जो रचना परलोक से प्राप्त होती है, वह साहित्यिक दृष्टि से उस रचना से घटकर होती है, जो लेखक ने जीवितावस्था में इस लोक में लिखी है; पर यह अंतर इस कारण दिखलाई पड़ता है कि लेखक को अपने भाव एक दूसरे मध्यस्थ द्वारा प्रकट करने पड़ते हैं। विचार-विनिमय का साधन अपूर्ण होने के कारण साहित्य चमत्कार में कुछ न्यूनता का हो जाना स्वाभाविक है, पर भावों की उत्कृष्टता में कुछ भी कमी नहीं पड़ती है। सर आर्थर ने तो इस ढंग से लिखा है, मानों उनको इस बात में बिलकुल संदेह नहीं है कि लेखक और कवि परलोक में भी लेख एवं कविता लिखते रहते हैं और मध्यस्थ के द्वारा उन्हें इस लोक में भी प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं। विलियम स्टेड की आत्मा की बाबत भी कहा जाता है कि उसने परलोक से एक पुस्तक लिखकर इस लोक में प्रकट की है। हमने उस पुस्तक को पढ़ा है। श्रीयुत बी० डी० ऋषि महोदय ने कुछ दिन हुए हमारे पास कुछ छंद भेजे थे। छंद अब तक हमारे पास सुरक्षित रखे हैं। ऋषि महोदय का कहना है कि वे भूषण कवि की आत्मा के लिखाए हैं। छंद ओजस्विता-पूर्ण अवश्य हैं, पर भूषणजी के प्राप्त छंदों में जिस प्रतिभा का प्रदर्शन है, वह ऋषिजी द्वारा प्राप्त छंदों में नहीं है। कहीं-कहीं तो उनमें छंदो-भंग तक हैं। हिंदी के सुप्रसिद्ध लेखक बाबू रामदास गौड़ का परलोक-विद्या में बहुत अधिक विश्वास है। वे हरसू ब्रह्म के परम भक्त हैं। नहीं जानते उन्होंने हिंदी के किसी कवि की आत्मा से बातचीत की है या नहीं। सुनते हैं एक प्रसिद्ध हिंदी-साहित्य-सेवी ने एक बार 'हिंदी-नवरत्न' वाले नवो कवियों का कवि-सम्मेलन भी करवाया था और उसमें प्रत्येक ने अपनी कविता भी

सुनाई थी। धीरे-धीरे भारत में भी परलोक-विद्या का प्रचार बढ़ता जाता है। देखें, आस्कर वाइल्ड की भाँति हिंदी का भी कोई कवि परलोक से अपनी रचना प्रकट करता है या नहीं।

× × ×

७. राजा गुरुदत्तसिंह और बैरीसाल

१—अमेठी का राजवंश बहुत पुराना है। प्रारंभ से ही इस *राजवंश द्वारा हिंदी-साहित्य* का उपकार होता आया है। बनपुर निवासी तथा महाकवि कालिदास त्रिवेदी के पुत्र एवं सुकवि दूलह के पिता उदयनाथ त्रिवेदी उपनाम 'कविंद' इसी अमेठी दरबार के आश्रित कवि थे। यहीं के राजा हिम्मतिसिंह के लिये 'कविंदजी' ने 'रसचंद्रोदय' ग्रंथ की रचना की थी। राजा हिम्मतिसिंह के बाद राजा गुरुदत्तसिंह के ज़माने में भी 'कविंद' अमेठी में रहे थे। राजा गुरुदत्तसिंह कवि भी थे। वे 'भूपति' उपनाम से कविता करते थे, उन्होंने (१) कंठाभरण, (२) रसरत्नाकर, (३) भागवत भाषा, (४) रसदीप एवं (५) भूपति सतसई नाम के पाँच ग्रंथ बनाए थे। खेद है कि अब तक इनका बनाया कोई भी ग्रंथ छपा न था। हर्ष की बात है कि अब इनकी बनाई 'भूपति-सतसई' कुँवार-कातिक के 'साहित्य-समालोचक' में पूरी छप गई है। राजा साहब की कविता बड़ी ही सरस और हृदयग्राहिणी होती थी। सतसई दोहामय ग्रंथ है। कोई-कोई दोहे बहुत बढ़िया हैं। उदाहरण के लिये यहाँ पर कुछ दोहे दिए जाते हैं। राजा साहब की कविता का पूरा रसास्वादन तो उनकी पूरी सतसई को पढ़ने से ही हो सकता है। विश्वास है कि अमेठी के वर्तमान राजा साहब, एवं लेजिस्लेटिव असेंबली के सदस्य प्रसिद्ध देशभक्त श्रीयुत कुमार रणञ्जयसिंहजी, राजा साहब के अन्यान्य ग्रंथों के प्रकाशन का भी प्रबंध करेंगे, जिससे इस राजवंश के यथार्थ यश का समुचित विस्तार हो, और उसके द्वारा की गई हिंदी-साहित्य-सेवा की बात लोग भूल न जायँ। तथास्तु। सतसई का निर्माण-संवत् १७६१ में हुआ था। यहाँ पर उदाहरण के लिये ६ दोहे दिए जाते हैं—

वह रसाल है औरई जौन सुखद हिय मांह ;
अरे पथिक भटकत कहा लखि करील की छाँह।

संगति दोष न होय क्यों रहिए तन के पास ;
शिव शिव शिवहू को भयो चिता भूमि मैं बास।

जेहि सिरीख कोमल कुसुम लियो सुरस सुखमूल ;
क्यों अलि मन तूसे रहे चूसे रूसे फूल।

पिय हिय अति चित में चढ़त हठ हियते कढ़ि जाति ;
को तिय रस सरसाति नहिं को तिय रिस सरसाति।

घूंघट टारि चलावती तिय हरि ताकि गुलाल ;
बुझी रही मानों बरी एकै बार मसाल।

पिय तिय परयो गुलाल जो कौन करै परसाग ;
बढ़ि जनु आयो दुहुन को दुहुन हिए अनुराग।

२—फ़तेहपुर ज़िले में असनी एक अच्छा प्रतिष्ठित नगर है। इसमें बहुत-से सुकवि हो गए हैं। नरहरि और हरनाथ महापात्र यहीं के कवि थे। ठाकुर, ऋषिनाथ, बेनी और सेवक ने भी इसी नगरी को पुनीत किया था। सुकवि लाल आज भी असनी की महिमा को बढ़ा रहे हैं। इन्हीं लालजी के एक पूर्वज सुकवि बैरीसाल थे। वे महापात्र थे। उन्होंने संवत् १८२५ में अलंकार-शास्त्र पर 'भाषाभरण' नाम का एक बहुत सुंदर ग्रंथ बनाया था। कुछ विद्वान् भाषाभूषण और कंठाभरण के समान ही भाषाभरण का भी आदर करते हैं। इसमें लक्षण और उदाहरण दोहा-छंदों में हैं। अलंकारों के उदाहरण बहुत स्पष्ट हैं और विस्तार-पूर्वक भी हैं। अब तक यह ग्रंथ अमुद्रित था। बड़ी कठिनता से मिलता था, पर अब अगहन-पूस के 'साहित्य-समालोचक' में पूरा छप गया, इसलिये अब वह सबको सुलभ है। आशा है, इस ग्रंथ के प्रकाशन से हिंदी कविता-प्रेमी प्रसन्न होंगे। भाषाभरण के भी कुछ दोहे यहाँ उदाहरण-स्वरूप दिए जाते हैं—

मिस हाँ मिस मन भावती, सखी सबै बहराय ;
सौति नई करि चतुरई, पिय ढिंग दई पठाय।

जो पदुमिनि केवल तुम्हैं लखे लहत सुख पूर ;
चले ताहि अब तजि अनत ऐसी उचित न सूर।

वाहि कछू घनस्याम जू लागी बड़ी बलाइ ;
बिरह सिंधु मैं बास भो तऊ प्यास नहिं जाइ।

जैसी कछु बिधिनै दई बड़ी बिरह की झार ;
तैसेई अँसुवा दये तासु बुझावन हार।

पिय हिय गढ़ ते मान रिपु, आगे गयो पराइ ;
तेरे नैन कटाछ सर पीछे लागे जाइ।

× × ×

८. दिव्य संदेश

गीता-प्रेस गोरखपुर से निकलनेवाले 'कल्याण' ने हमारे पास "दिव्य संदेश" नामक एक पंफ्लेट भेजा है। उसका उद्देश्य है मनुष्य में ईश्वर-भक्ति और ईश्वर-भीरुता को जाग्रत करना। भूमिका में वर्तमान धार्मिक पाखंडों तथा मिथ्या सिद्धांतों का उल्लेख करने के बाद लेखक ने मनुष्य जाति के कल्याण के लिये सात उपदेश-पूर्ण बातें बताई हैं, जिन पर व्यवहार करके मनुष्य-मात्र परमधाम को प्राप्त कर सकते हैं। हम पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वे इन अमूल्य उपदेशों को अपने जीवन का सिद्धांत बना लें।

सात बातें

१—ईश्वर के नाम का जप, स्मरण और कीर्तन करना चाहिए।

२—ईश्वर के नाम का सहारा लेकर पाप नहीं करना चाहिए, जो लोग ईश्वर के नाम की ओट में पाप करते हैं, वे बड़ा अपराध करते हैं।

३—(क) ईश्वर के नाम का साधन कर, उसके बदले में संसार के भोगों की कामना नहीं करनी चाहिए।

(ख) ईश्वर के नाम साधनरूपी धन का उपयोग पाप-नाश के कार्य में नहीं करना चाहिए।

४—ईश्वर के नाम को परम प्रिय मानकर उसका उपयोग उसी के लिये करना चाहिए।

५—दंभ नहीं करना चाहिए। दंभ से भगवान् अप्रसन्न होते हैं। दांभिक की बुरी गति होती है।

६—सच्चे ईश्वरभक्त, सदाचार-परायण और कर्तव्यशील होने के लिये गीता-धर्म का आश्रय लेना चाहिए।

७—दूसरे के धर्म की निंदा या तिरस्कार नहीं करना चाहिए। ऐसे झगड़ों से सच्चे सुख के साधक को बड़ा नुक़सान होता है।

---

१ धृतराष्ट्र-संजय-संवाद

यह महाभारत का प्रसिद्ध ऐतिहासिक दृश्य है। युद्ध-समाचार को सुनकर, अपने पुत्रों की पराजय का हाल जानकर महाराज धृतराष्ट्र की क्या दशा हो रही है, यह इस चित्र में भली भाँति अंकित किया गया है। इस चित्र के चित्रकार हैं, श्रीयुत प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसादजी। आप कैसे चित्रकार हैं इसके बतलाने की ज़रूरत नहीं है। आपकी लेखनी की सूक्ष्मता और चित्रण-चातुरी भारत-प्रसिद्ध हैं।

२. डॉक्टर मुख़्तार अहमद अनसारी

इस बार मदरास में जो राष्ट्रीय महासभा हुई थी उसके सभापति श्रीयुत मुख़्तार अहमद अनसारी थे। आपका जन्म-स्थान युक्तप्रदेशांतर्गत ग़ाज़ीपुर नगर है। आप इस समय भारत-राजधानी दिल्ली में डॉक्टर हैं। आपकी अवस्था इस समय ४८ वर्ष की है। आप मुसलिमलीग के भी सभापति रह चुके हैं तथा ख़िलाफ़त कमेटी का भी बहुत काम किया है। आप सच्चे देश-भक्त और सुदृढ़ राष्ट्रीय विचारों के महापुरुष हैं। आप हिंदू-मुसलिम-एकता के स्तंभ हैं।

३. शाहजहाँ की गिरफ़्तारी

इस चित्र में वह प्रसिद्ध ऐतिहासिक दृश्य है, जिसके कारण पिता की जीवितावस्था में औरंगज़ेब दिल्ली के राजसिंहासन पर बैठा। शाहजहाँ नमाज़ पढ़ने आ रहा है। साथ में प्यारी पुत्री है। दूर से एक खंभे की ओट में खड़ा औरंगज़ेब ताक रहा है और सेनापति तथा कुछ सैनिक शाहजहाँ को गिरफ़्तार करने आ रहे हैं। बड़ा ही करुण दृश्य है। लखनऊ के चतुर चित्रकार श्रीयुत रामनाथजी गोस्वामी ने, इस चित्र को चित्रित करने में अच्छी सफलता प्राप्त की है।

४. अनित्य जीवन

युवती सुंदरी के सामने एक खोपड़ी पड़ी है मानो वीभत्स-रस शृंगार-रस का उपहास कर रहा हो। इस दृश्य को देखकर—जीवन की अनित्यता का विचार करके—सुंदरी ने गंभीर मुद्रा धारण की है। इस भाव को अपने इस चित्र में प्रसिद्ध चित्रकार श्रीयुत डी० बनर्जी ने बड़े अच्छे ढंग से प्रकट किया है।

शयनागार

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ।

[बा० बहादुरसिंहजी सिंघी, कलकत्ता की चित्रशाला से]
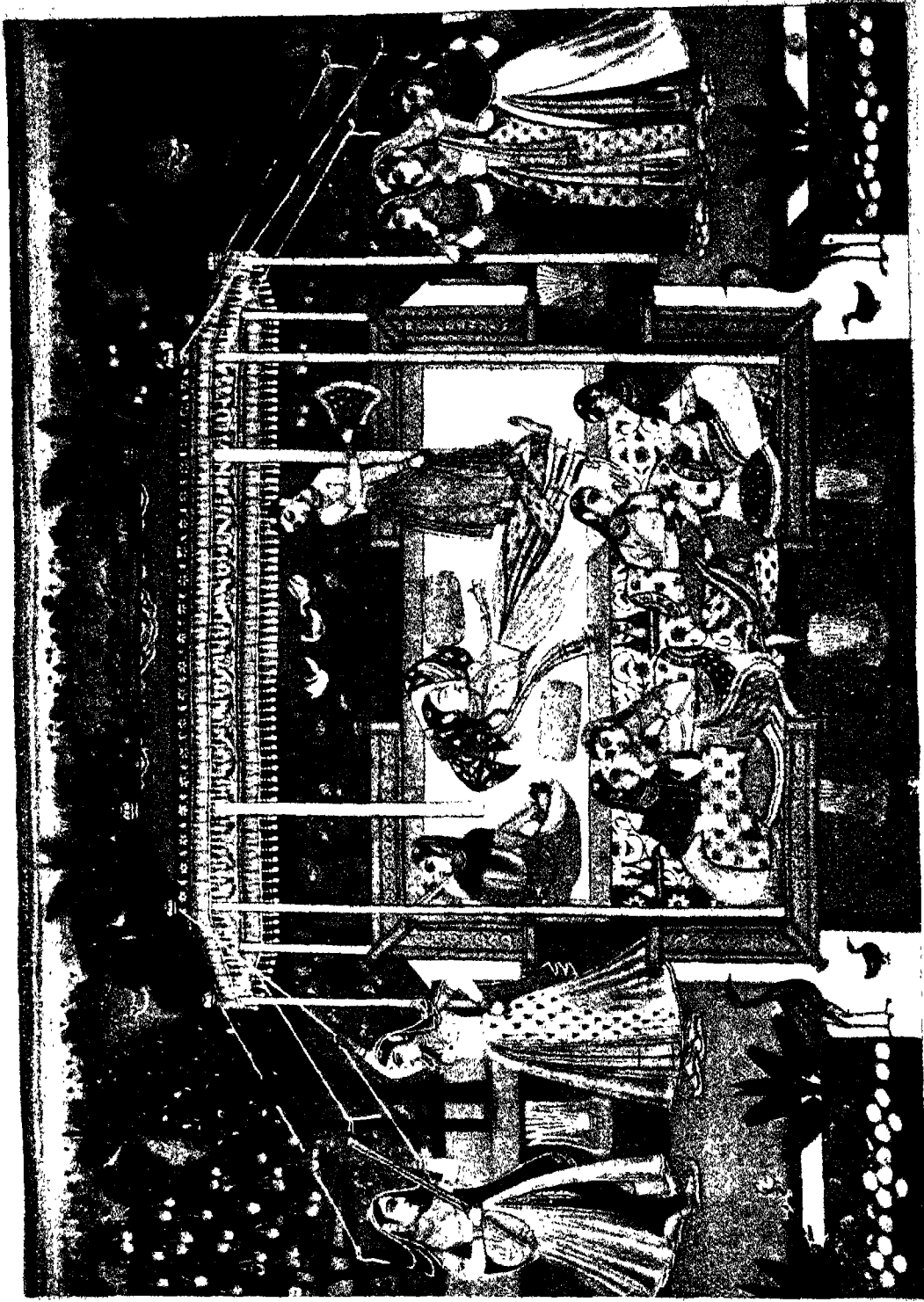
वर्ष ६ खंड २ | फाल्गुन, ३०४ तुलसी-संवत् (१९८४ वि०) मार्च, सन् १९२८ ई० | संख्या २ पूर्ण संख्या ६८

सुहावना सगुन

सुमन समूल ते समूल रसमूल फूले ,
फूलत रसाल बनमाल उमगावनो ;
तरन तरुन मिलीं अरुन अरुन बेली ,
तरुनी तरुन घर घरन मिलावनो ।
कंत के समागम मैं आगम बसंत 'देव' ,
मधुर सुनि कल कोकिल को गावनो ;
भूखन सुबेस सजि भावतीं गनेस करि ,
लगन सोहाग ही को सगुन सुहावनो ।

महाकवि देव

विलियम इरविन और महाराजा अजीतसिंह

मिस्टर विलियम इरविन का जन्म ई० सन् १८४० में, ऐबरडीन में हुआ था। २३ वर्ष की अवस्था में ये भारतीय सिविल सर्विस में प्रविष्ट हुए, और ई० स० १८८८ में ४८ वर्ष की अवस्था में अवकाश लेकर इँगलैंड चले गए। वहीं पर आपने मुग़ल राज्य के पतन का इतिहास लिखना प्रारंभ किया और उसका नाम 'लेटरमुगल्स' रक्खा। यह इतिहास दो भागों में समाप्त हुआ है। इसमें ई० सन् १७०७ में औरंगज़ेब की मृत्यु से लेकर ई० सन् १८०३ में अँगरेज़ों के देहली लेने तक का हाल है। परंतु ई० सन् १९११ में मि० इरविन की मृत्यु हो जाने के कारण यह ग्रंथ अधूरा ही रह गया। इसके चैपटर २ से ६ तक तो उन्हीं के सामने छप चुके थे, और चैपटर ७ का ई० सन् १७२० में सैयद-भ्राताओं के पतन से ई० सन् १७२९ में रुस्तमअलीख़ान की मृत्यु तक का भाग भी उन्हीं के समय क़रीब-क़रीब तैयार हो चुका था। परंतु फिर भी वह पूरी तौर से प्रेस में जाने लायक़ नहीं था; क्योंकि उसमें अनेक बातों के लिखने के लिये स्थान छुटे हुए थे, और अनेक स्थलों पर प्रमाणों से मिलान करके शुद्ध करने के लिये नोट लगे हुए थे। इसके आगे का भाग और भी अपूर्णावस्था में था। अतः उनकी मृत्यु के बाद, इस पुस्तक का संपादन-भार भारत के विख्यात मुग़लकालीन ऐतिहासिक श्रीयुत जदुनाथ सरकार के हाथ में आया और उन्होंने इसे योग्यता के साथ संपादित कर प्रकाशित करवाया।

उपर्युक्त पंक्तियों से हमने पाठकों को 'लेटर मुगल्स', नामक पुस्तक का परिचय करवा दिया है। इससे वे स्वयं सोच सकते हैं कि यह पुस्तक कैसे विद्वानों की रचना है। आगे हम जिस विषय पर अपना मत प्रकट करेंगे, वह ७ वें चैपटर में होने से शायद मि० इरविन और डॉक्टर सरकार दोनों के संयुक्त परिश्रम का फल है। 'लेटर मुगल्स' की दूसरी जिल्द के (चैपटर ७, सेक्शन २१ में) ११४ से ११७ तक के पृष्ठों में "अजीतसिंह का अपने पुत्र द्वारा मारा जाना" शीर्षक देकर इस प्रकार लिखा है—["हम इस भाग में राजा अजीतसिंह की मृत्यु का हाल देंगे। टॉड साहब अंगीकार करते हैं कि चारण और भाट इस घटना का उल्लेख-मात्र करके रह जाते हैं। एक ने तो इस कथा की मुख्य घटना को ही छोड़ दिया है। परंतु टॉड-रचित इतिहास के अन्य भाग में हमें इस अनुचित घटना का पूरा-पूरा विवरण मिलता है।

जो कुछ भी हो, स्वयं राजपूतों और उनके हितैषी कर्नल टॉड ने भी यह मान लिया है कि अजीतसिंह अपने द्वितीय पुत्र बख़तसिंह के हाथ से मारा गया था। (टॉड भा० १, पृ० ६१८; भा० २, पृ० ८८)

उनके लिखे क़िस्से के अनुसार बख़तसिंह रात में अपने पिता को प्रणाम करके लौटते हुए उसके शयन-गृह के पासवाले स्थान में छिपकर बैठ गया। अब सब लोग सो गये, तब उसने चुपचाप कमरे में घुसकर पिता की तलवार उठा ली और उसे पिता के शरीर में घुसेड़ दिया। पास में सोई हुई अजीतसिंह की रानी अपने पति के शरीर से निकले रुधिर के स्पर्श से जाग उठी। परंतु बख़तसिंह बचकर निकल गया। ई० सन् १७२४ की ७ जून को जब अजीतसिंह का शव चिता पर रक्खा गया, तब चौरासी रानियाँ और परदायतें उसके साथ सती हुईं। इसके बाद वहीं पर उसके पुत्रों में गद्दी के बाबत झगड़ा उठ खड़ा हुआ। ई० सन् १७२४ की २९ जुलाई को अभयसिंह को, जो कि उस समय २१-२२ वर्ष का था, समसामुद्दौला की सिफ़ारिश से राज-राजेश्वर की पदवी सात हज़ारीज़ात और सात हज़ार सवारों का मनसब मिला। साथ ही उसे जोधपुर जाकर अपने पिता की गद्दी पर बैठने की इजाज़त भी मिल

१. टॉड भा० १, पृ० ६११,—इस लिखने से ज़ाहिर होता है कि टॉड कमज़ोर दिल का ऐतिहासिक था। उसका अजीतसिंह की मृत्यु के साथ सैयद-भ्राताओं का संबंध जोड़ना सामयिक अनभिज्ञता का सूचक है। साथ ही उसका यह लिखना भी अनुचित ही है कि अजीतसिंह ने सैयद-भ्राताओं के अनुचित कार्यों का कभी विरोध किया था। वास्तव में वह उनका मित्र था और अंत तक उनके कुकृत्यों में योग देता रहा।

गई। (टॉड भा० १, पृ० ६६६,—मुन्तख़बुलूलुबाब, पृ० ६७४,—नादिरुज़्ज़मानी पृ० १४४ ब)

अजीतसिंह के अपने पुत्र बख़्तसिंह द्वारा मारे जाने का तो किसी ने भी विरोध नहीं किया है। परंतु इसके कारण के विषय में मतभेद है। टॉड को सूचना देनेवालों ने उसे बतलाया था कि अपने बड़े भाई अभयसिंह के इशारे से ही बख़्तसिंह ने यह कार्य किया था[1] और अभयसिंह उस समय देहली में होने से बादशाह के दबाव में था। इस हत्या के करनेवाले के लिये ४६६ गाँवों-सहित नागोर का परगना इनाम में रक्खा गया था[2]। कहते हैं कि अभयसिंह की इस पाशविक प्रवृत्ति के उत्तेजित करने में कृतघ्न सैयद-भ्राताओं का भी हाथ था; क्योंकि वे फ़र्रुख़सीयर के गद्दी से उतारने के समय अजीतसिंह द्वारा किए गए विरोध का बदला लेना चाहते थे। अब इस विषय में कुछ बातों पर साधारणतया विचार करना आवश्यक है। क्या ऊपर लिखा पारितोषिक बख़्तसिंह को इस हत्या के लिये उत्तेजित करने को पर्याप्त था? संभव है कि वह अधिक चालाक न हो, परंतु वह इतना बेवक़ूफ़ भी न था कि जो ऐसी बदनामी को, अपने फ़ायदे को छोड़कर केवल अपने भाई के फ़ायदे के लिये, अथवा केवल उस जागीर के लिये; जो कि राजपूतों के आम रिवाज के अनुसार उसके पिता की प्राकृतिक मृत्यु के बाद भी उसे मिल जाती, अपने सिर पर लेता।

परंतु इस प्रकार केवल बाह्य कारणों पर ही विचार करने से घटना का वास्तविक कारण छूट जाता है। अजीतसिंह ई० सन् १७२४ की जून में मारा गया था। परंतु सैयदों में से एक तो १७२० को ८ ऑक्टोबर को मारा गया था और दूसरा ई० सन् १७२० की १४ नवंबर को युद्ध में हराया जाकर क़ैद कर लिया गया था। तथा ई० सन् १७२२ की ११ ऑक्टोबर को क़ैद में ही मरा था। अतः इनका ई० सन् १७२४ में अभयसिंह को पिता की हत्या के लिये उत्तेजित करना कैसे संभव हो सकता है। फिर उस समय के इतिहास को साधारणतया देखने से भी यही प्रकट होता है कि अजीतसिंह फ़र्रुख़सीयर को हटाने में सैयदों का विरोधी न होकर सहायक ही था। इसलिये टॉड का लिखा वृत्तांत केवल दंतकथा-मात्र है। वह परीक्षा की कसौटी में नहीं ठहर सकता। टॉड स्वयं अंगीकार करता है कि जिन प्रमाणों के आधार पर उसका इतिहास लिखा गया है, वे भाटों की कविताएँ आदि भी उसे इस विषय में विशेष सहायता नहीं देतीं। टॉड ने अपने इतिहास के भाग २, पृ० ११३ में लिखा है कि "यद्यपि बख़्तसिंह के हाथ से यह एक पैशाचिक कांड हो गया था, तथापि वह राजस्थान के आज तक के जाने हुए राजाओं में सबसे अधिक योग्य था।" ऐसी हालत में क्या यह संभव था कि केवल उस साधारण-सी जागीर के लोभ से; जो कि वंश-परंपरा के नियमानुसार आप ही उसे मिलनेवाली थी; बख़्तसिंह जैसा समझदार आदमी अपने लोभी भाई के कहने में आ जाता? इसलिये क्या इस बात को मान लेने के लिये काफ़ी कारण नहीं है कि पिता ने कोई ऐसा कार्य किया हो, जिसे पुत्र ने अपना निज का अपमान समझा हो।

मुसलमानों के इतिहास में इसका कुछ और ही कारण लिखा है[1]। यद्यपि वह कारण अजीतसिंह-जैसे माननीय राजा के चरित्र को दूषित करनेवाला है तथापि उस समय के राजपूतों के लेखकों के लेखों से अधिक विश्वास-योग्य है। उससे इस घटना के कारण का बहुत कुछ पता लग जाता है और बात भी समझ में आ जाती है।

उसमें लिखा है कि "अपनी तरफ़ का विवाद शांत करके जोधपुर आने पर अजीतसिंह अपने पुत्र बख़्तसिंह की स्त्री पर आसक्त हो गया। उसके इस अपराध से अपमानित और मर्माहत होकर बख़्तसिंह बदला लेने का मौक़ा ढूँढ़ने लगा। एक रात को जब अजीतसिंह शराब के नशे में मस्त होकर सोया हुआ था, तब उसके पुत्र ने उसका काम तमाम कर दिया।"

टॉड के चित्रित चरित्र के विरुद्ध यहाँ पर हम अजीतसिंह के चरित्र के विषय में मुसलमानों की राय भी उद्धृत करते हैं। "वह विश्वास के अयोग्य, अपनी प्रतिज्ञा को तोड़नेवाला और अन्याय से अपने बंधुओं

---

१. मुहम्मदशफ़ी वारिद अपनी 'मीरात-ए-वारिदात' के पृष्ठ १३० में वही कारण लिखता है; जो कि टॉड ने, इस हत्या के विषय में लिखा है। देखो—मआसिरुल्उमरा भा० ३, पृ० ७५८

२. टॉड ने ५५५ गाँव लिखे हैं और आजकल भी ऐसी ही प्रसिद्धि है।—लेखक

१. तज़किरातुस्सलातीन-ए-चग़ताई।

और अनुयायियों को मारनेवाला था। उसके बुरे कामों में से एक यह भी था कि उसने अपने जामाता फ़र्रुख़-सीयर को विपत्ति के समय उसी के भाग्य पर छोड़ दिया। इतना ही नहीं प्रत्युत उसने बादशाह को गद्दी से उतारने में भी ख़ासा भाग लिया और अंत में वह अपनी करनी को पहुँचा।"]

यहाँ पर इरविन का लिखा उंतीसवाँ सेक्शन समाप्त हुआ है।

अब यहाँ पर हमें मुख्य दो बातों पर विचार करना है। उनमें से पहली बात तो यह है कि मि० इरविन के लेखानुसार क्या वास्तव में वंश-परंपरागत नियम से ही बख़तसिंह ५५५ गाँवों-सहित नागोर का हक़दार था? हमारी समझ में तो यह बात असंभव-सी हो है; क्योंकि एक तो महाराजा अजीतसिंह के २२ पुत्र थे। अतः यदि उनमें से छोटे २१ पुत्रों को इतनी बड़ी-बड़ी जागीरें दी जातीं, तो बड़े पुत्र अभयसिंह के लिये क़िले के बाहर पैर रखने तक की ज़मीन न रहती।

दूसरे उस समय इस परगने पर स्वयं महाराजा अजीतसिंह का भी अधिकार न था। यद्यपि वि० सं० १७७३ (ई० सन् १७१६) में यह परगना अजीतसिंह के मनसब में लिखा गया था, तथापि वि० सं० १७८० (ई० सन् १७२३) में बादशाह की आज्ञा से जयपुर-नरेश जयसिंह ने शाही सेना के साथ आकर उस पर राव अमरसिंह के पौत्र इंद्रसिंह का अधिकार करवा दिया था। इसके बाद महाराजा अभयसिंह के गद्दी बैठने पर वि० सं० १७८२ (ई० सन् १७२५) में फिर नागोर का परगना उसके मनसब में लिखा गया और इसी साल के कार्त्तिक में राजाधिराज बख़्तसिंह को स्वतंत्र रूप से दिया गया। ऐसी हालत में इरविन साहब का लिखना कहाँ तक प्रामाणिक हो सकता है? इतिहास के देखने से तो यही प्रकट होता है कि दिल्ली के तख़्त पर मनमाने बादशाहों को बिठानेवाले त्रिगुट से डरकर मुहम्मदशाह ने उधर तो दोनों सैयद-भ्राताओं का काम तमाम किया और इधर जयपुर-नरेश जयसिंह और जोधपुर के भंडारी रघुनाथ को मिलाकर महाराज कुमार अभयसिंह को धमकाया और उसी के द्वारा उसके छोटे भ्राता बख़्तसिंह को राजाधिराज की पदवी और नागोर देने का प्रलोभन देकर अजीतसिंह को मरवा डाला; क्योंकि उपर्युक्त त्रिगुट में से यही एक शेष रह गया था। यदि ऐसा न होता, तो पिता के हत्याकारी को स्वतंत्र-रूप से राजाधिराज की पदवी और नागोर का-सा परगना कैसे मिल सकता था।

दूसरी बात मुसलमानी तवारीख़ों की है।

मि० इरविन ने अपने इतिहास में अजीतसिंह की मृत्यु के कारण का उल्लेख करते हुए कोष्ठक में 'कमवर' का नाम दिया है। इससे ज्ञात होता है कि 'लेटर मुग़ल्स' में का यह क़िस्सा शायद मुहम्मदहादी कमवरख़ान की 'तज़किरातुस्सलातीन-ए-चग़ताई' से लिया गया है। यद्यपि उक्त इतिहास इस समय हमारे पास मौजूद नहीं है, तथापि ईलियट की 'हिस्टरी ऑफ़ इंडिया' के आठवें भाग के पृ० १७-१८ में इसका कुछ वर्णन मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि उक्त इतिहास के प्रथम भाग में तो मंगोलों और चंगेज़ख़ान का हाल देकर जहाँगीर की मृत्यु-पर्यंत का इतिहास दिया है। और दूसरे में जहाँगीर की मृत्यु से मुहम्मदशाह के सातवें राज्य वर्ष—हि० सन् ११३७ (ई० सन् १७२४=वि० सं० १७८१)—तक का हाल है। यह इतिहास स्वयं ग्रंथ-कर्ता के लेखानुसार बिना किसी की सहायता के उसने अपनी इच्छा से निजी तौर पर ही लिखा था, और उसे इसके लिखने में कठिनता का सामना भी करना पड़ा था। मि० इरविन द्वारा उद्धृत कमवरख़ान के लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह महाराजा अजीतसिंह से घृणा रखता था। विचार करने पर इसके कारण भी दिखाई देते हैं। उनका दिग्दर्शन आगे कराया जाता है—

मुहम्मदहादी (कमवरख़ान) औरंगज़ेब की सेवा में भी रह चुका था। अतः उसने अजीतसिंह के मुसलिम द्वेष का परिचय भी अवश्य ही प्राप्त किया होगा। इस महाराजा के तरफ़दारों ने बादशाह औरंगज़ेब की करतूतों का मुँहतोड़ जवाब देने के लिये उसके पुत्र शाहज़ादे अकबर को अपने पिता के मार्ग का अनुगामी बना दिया[1]।

---

१. बादशाह ने महाराजा जसवंतसिंह की मृत्यु के बाद बालक अजीतसिंह से मारवाड़ छीन लिया था। इस पर जब राठौड़-सरदारों ने उपद्रव उठाया, तब उसने अपने पुत्र अकबर को उन्हें दबाने के लिये भेजा। परंतु राठौड़ों ने उसे बादशाह बना देने का लालच देकर औरंगज़ेब के ही विरुद्ध खड़ा कर दिया। (भारत के प्राचीन राजवंश, भा० ३, पृ० २०१)।

औरंगज़ेब की मृत्यु के कुछ वर्ष बाद ही स्वयं महाराजा अजीत ने सैयद-भ्राताओं से मिलकर बादशाह फर्रुख़सीयर को गद्दी से उतारकर मार डाला, और क्रमशः रफ़ीउद्दरजात और उसके भाई रफ़उद्दौलह (शाहजहाँ द्वितीय) को कठपुतली की तरह देहली के तख़्त पर ला बिठाया। इनके मर जाने पर स्वयं मुहम्मदशाह को भी इसी त्रिगुट की बदौलत बादशाहत हाथ आई थी, और इसकी एवज़ में उसे अजीतसिंह को अजमेर और गुजरात की सूबेदारी देनी पड़ी थी।

परंतु अंत में बादशाह मुहम्मदशाह ने इस त्रिगुट के प्रभाव से डरकर पहले तो सैयद-भ्राताओं को मरवा डाला और बाद में अजीतसिंह के भी प्राण-हरण करवा लिए। ऐसी हालत में यदि एक शाही दरबार के मुसलमान लेखक ने प्रतापी हिंदू महाराजा को नीचा दिखाने और अपने सजातीय बादशाह के कलंक को छिपाने के लिये ऐसा लिख मारा हो, तो क्या आश्चर्य है? फिर यदि यह कमवरख़ान के ही ख़ास दिमाग़ की सूझ न होती, तो अन्य समकालीन शाही लेखक और दूसरे राज्यों के लेखक भी इस घटना का उल्लेख अवश्य करते।[1]

शाहनवाज़ख़ान (समसामुद्दौला) ने 'नासिरुलउमरा' नाम का इतिहास लिखा था। उसमें अकबर के समय से लेकर हिजरी सन् ११५५ (ई० सन् १७४२) तक के उमराओं का हाल है। उक्त इतिहास में साफ़ तौर से लिखा है कि जब अजीतसिंह का बड़ा पुत्र शाही दरबार में आया, तब उसने दरबारी उमराओं के दिए प्रलोभन में पड़कर अपने छोटे भाई द्वारा अपने पिता को मरवा डाला।

मुहम्मदशफ़ी वारिद ने 'मीराते वारिदात' नाम का इतिहास लिखा है। उसमें वह लिखता है कि हि० सन् ११०० (ई० सन् १६८६=वि० सं० १७४६) से हि० सन् ११४२ (ई० सन् १७३१=वि० सं० १७८६) तक का जो कुछ भी हाल मैंने इस पुस्तक में दिया है, वह या तो मैंने ख़ुद देखकर या भरोसेवाले आदमियों से बड़ी छानबीन के साथ दरियाफ़्त करके लिखा है। तथा २२ वर्षों का पिछला (अर्थात्—ई० सन् १७१७ से १७३१ तक का) हाल तो मैंने अपनी आँखों देखा ही लिखा है। परंतु मि० इरविन अपनी पुस्तक के पृष्ठ ११५ के फ़ुटनोट नं० २ में स्वयं अंगीकार करते हैं कि इस लेखक ने टॉड के अनुसार ही अजीतसिंह की मृत्यु में शाही हाथ का होना लिखा है।

इसके अलावा ख़ाफ़ीख़ान की 'मुन्तख़बुल्लुबाब' में[1] जिसमें ई० सन् १५१६ से मुहम्मदशाह के १४ वें राज्य वर्ष तक का हाल है, इस घटना का उल्लेखमात्र करके छोड़ दिया है। और यह ठीक भी प्रतीत होता है। क्योंकि इस लेखक ने अपने सजातीय बादशाह के कलंक का उल्लेख करने के बजाय इस घटना के कारण का उल्लेख ही छोड़ देना उचित समझा होगा।

ऐसी हालत में नहीं कह सकते कि इरविन साहब ने अन्य समकालीन प्रामाणिक लेखकों के लेखों से विरुद्ध होने पर भी अकेले कमवरख़ान के निजी तौर से लिखे इतिहास को ही प्रामाणिक कैसे मान लिया।

रही बाप को मारने की बात, सो ऐसी बातें तो राजपरिवारों में परंपरा से ही चली आती हैं। उनमें के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

आमेर के मिरज़ा राजा जयसिंह को उनके छोटे पुत्र कीरतसिंह ने औरंगज़ेब के प्रलोभन देने से अफ़ीम में ज़हर मिलाकर मार डाला था, और इसकी एवज़ में उसे कामा की जागीर मिली थी। क्या यह उपर्युक्त घटना से मिलती हुई घटना नहीं है? इसी प्रकार मेवाड़ के महाराणा कुंभा को उसके पुत्र उदयसिंह ने मार डाला था। इसके ख़िलाफ़ जयपुर-नरेश सवाई जयसिंह ने अपने पुत्र शिवसिंह को मारा था, और खेतड़ी के बाघसिंह ने अपने बालक पुत्र को, जो कि सुलताना के स्वामी को गोद दिया था, मारकर उक्त इलाक़ा अपने राज्य में मिला लिया।

---

१. राजपूताने के राज्यों के लेखकों का यह नियम सा था कि यदि किसी दूसरे राज्य की कोई कमज़ोरी नज़र आती, तो वे उसे अवश्य ही लिखकर प्रसिद्ध करने की चेष्टा करते थे। इसके अनेक उदाहरण देशी राज्यों के इतिहास में मिलते हैं।

१. शायद ख़ुशहालचंद ने अपनी नादिरुज़्ज़मानी में भी ऐसा ही किया है। यह पुस्तक ई० सन् १७४० के क़रीब लिखी गई थी।

मुग़ल-घराने में तो प्रारंभ से ही यह साधारण-सी बात समझी जाती थी। इसी तरह इँगलैंड के बादशाह जॉन ने गद्दी के हक़दार अर्थर को और रिचार्ड तृतीय ने अपने दोनों भतीजों को मरवा डाला था। ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। अतः इस घटना से ही इस प्रकार के कारण की कल्पना करना कहाँ तक उचित हो सकता है ?

इसके अलावा मि० इरविन ने महाराजा अजीत के बाबत मुसलमानों के जो ख़यालात उद्धृत किये हैं, वे भी इतिहास की कसौटी पर नहीं ठहर सकते।

वे उसे विश्वास और प्रतिज्ञा का भंग करनेवाला, बंधुओं और सेवकों को अन्याय-पूर्वक मारनेवाला और फ़र्रुख़सीयर का विरोधी लिखते हैं। परंतु क्या अजीतसिंह ने सैयद-भ्राताओं के साथ कभी विश्वासघात किया था ? क्या उसने जयपुर के सवाई जयसिंह को बुराई पर कमर बाँधे रहने पर भी, अपना समझकर, सैयदों की क्रोधाग्नि में पड़ने से नहीं बचाया था ? इतिहास में उसके द्वारा किसी बंधु या भृत्य के मारे जाने का भी उल्लेख नहीं मिलता है[1]। टॉड ने तो यहा तक लिखा है[2] कि—

So much was Ajeet beloved, that even men devoted themselves on his pyre.

अर्थात्—अजीत लोगों से इतना प्रिय था कि आदमी सहमरण तक के लिये उसकी चिता में कूद पड़े।

हाँ, यह तो प्रकट ही है कि उसने बालकपन में अपने साथ किए गए अत्याचारों का बदला मुसलमानों से ख़ूब लिया था। इसी से एकआध मुसलमान लेखक ने द्वेष-वश पूर्वापर घटनाओं को बिना सोचे-समझे ही अजीत पर दोष लगाए हैं। रही फ़र्रुख़सीयर को गद्दी से उतारने में सहायता देने की बात, सो उस समय के अजीतसिंह के लिखे ख़ास रुक्कों से और इतिहास से भी ज्ञात होता है कि इधर तो बादशाह को अजीतसिंह के देहली पहुँचते ही सैयद अब्दुल्लाख़ान से मिल जाने की शंका हो गई थी, और उधर जयपुर-नरेश सवाई जयसिंह ने अपनी महत्ता बनाए रखने के लिये बादशाह के कान भरने शुरू कर दिए थे। अतः फ़र्रुख़सीयर ने बिना सोचे-समझे तत्काल ही अजीत के प्राण लेने की चेष्टाएँ प्रारंभ कर दीं। ऐसी हालत में लाचार होकर उसे सैयदों का साथ देना पड़ा। इस संबंध का एक पत्र ई० सन् १९२५ की मई की 'माधुरी' में हम प्रकाशित करवा चुके हैं।

ऐसी हालत में अजीत पर लगाए गए दोष कहाँ तक ठीक हो सकते हैं, इस पर पाठक स्वयं ही विचार कर लें।

आगे मि० फ़ार्ब्स के 'रासमाला' नामक गुजरात के इतिहास से इस विषय का अवतरण[1] दिया जाता है—

When Ubhye Singh, from fear of the padishah, wrote to Wukhut Singh to put his father to death, the padshah, gave him the Eedur Pargunnah as a present.

अर्थात्—जब बादशाह के दबाव से अभयसिंह ने अपने पिता को मारने के लिये बख़्तसिंह को लिख दिया, तब बादशाह ने इसकी एवज़ में उसे ईडर का परगना दिया।

'रासमाला' में उपर्युक्त लेख के आगे जो वि० सं० १७८४ का आम्बेर-नरेश जयसिंह का लिखा, मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह के नाम का पत्र उद्धृत किया गया है[2], उससे भी इस बात की पुष्टि में सहायता मिलती है।

इस लेख को समाप्त करने के पूर्व मि० इरविन की मृत्यु पर खेद प्रकट करने के साथ-ही-साथ डॉक्टर जदुनाथ सरकार से हमारा निवेदन है कि वे उपर्युक्त बातों पर विचार कर अपना मत प्रकट करें और यदि इस इतिहास के द्वितीय संस्करण का मौक़ा मिले, तो इस विषय पर संशोधन या नोट देने की कृपा अवश्य करें।

विश्वेश्वरनाथ रेउ

---

१. इतिहास में केवल एक दुर्गादास की ही घटना ऐसी मिलती है कि अजीतसिंह ने राज्य-प्राप्ति के बाद उसे राज्य-कार्य से अलग कर दिया था, और इसी से वह मारवाड़ छोड़ कर चला गया। परंतु इतिहास में ऐसे भी यथेष्ट कारण दृष्टि-गोचर होते हैं, जिनसे इनके आपस में मनोमालिन्य का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं रह जाती है।

२. टॉड का राजस्थान (१८८०) भा० १, पृ० ६३७।

१. रासमाला, भा० २, चैपटर १०, पृ० ३२५।

२. रासमाला, भा० २, चैपटर १०, पृ० ३२७।

बसंत

दोहा

(१)

बर बसंत बानक बिसद, बृंदाबिपिन बिराज ;
बिलसत बिहँसत बिधुबदन, बिमल बेस ब्रजराज ।

(२)

बृंदाबन-बीथी बहुरि, बगरयो बिहँसि बसंत ;
बिबुध-बधूटी-सी बिमल, ब्रज-बनिता बिलसंत ।

(३)

बेनु बजावत बाग-बन, बिलसि बसंत-बहार ;
बिरचत बहु बिध बिबुधबर, बाल-बिनोद बिहार ।

(४)

ब्रज-बनिता बिहरैं बिहँसि, बागन बनक बनाइ ;
बहु बिध बिमल बिनोद-बस, बारन बौर बँधाइ ।

(५)

बर बानक बृंदाबिपिन, बिसद बसंत बहार ;
बेनु बजाइ, बिलोकि बिधु, बिलसत बिमल बिहार ।

किशोरीलाल गोस्वामी

अनुताप
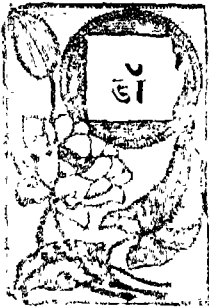
डॉक्टर साहब ने चारपाई भी न छोड़ी थी कि दरवाज़े पर एक आदमी ने आवाज़ दी, और ज़रूरी काम बता कर मिलना चाहा। जल्दी से कपड़े पहनकर डॉक्टर साहब ने घंटी बजाई और नौकर को आज्ञा दी कि आगंतुक को भीतर लाओ।

आगंतुक कोई ऊँचे दर्जे का आदमी मालूम होता था। उसका पीला चेहरा, उसकी घबराई हुई आँखें, उसकी आन्तरिक दशा बतला रही थीं। एक रूमाल से उसका दाहिना हाथ बँधा हुआ था और रह-रहकर उसके मुँह से एक आह निकल जाती थी।

डॉक्टर ने पूछा—"मैं आपके लिये क्या कर सकता हूँ?"

आगंतुक बोला—"मैं एक हफ़्ते से बिलकुल नहीं सोया हूँ। मेरे दाहिने हाथ में कुछ पीड़ा-सी उठती है, न-जाने क्या है ? शायद कोई भीतरी बीमारी हो। पहलेपहल तो मुझे कुछ तकलीफ़ न हुई, मगर बाद को ज़रा जलन मालूम पड़ने लगी; जो फिर असह्य हो उठी। वह अब हर घंटे बढ़ती ही जाती है और मुझे क्षण-भर भी चैन नहीं लेने देती। मैं इस बारे में आपसे सलाह लेने शहर तक आया हूँ। अगर थोड़ी देर और यह कष्ट रहा, तो मैं समझता हूँ कि मैं पागल हो जाऊँगा। आप चाहे मेरे हाथ को जला दें या काट दें, किसी तरह भी तकलीफ़ दूर करने का उपाय कीजिए।"

डॉक्टर ने उस आदमी को ढाढ़स दिया और कहा कि नश्तर लगाने की शायद ज़रूरत न पड़े। इस पर वह बड़ा उत्तेजित होकर बोला—

"नहीं साहब, नश्तर लगाना ही पड़ेगा। मैं इस हाथ के व्यथित भाग को कटवाने के लिये ही यहाँ आया हूँ। और कोई प्रयोग इसे अच्छा नहीं कर सकता।"

यह कहकर उसने अपना हाथ रूमाल में से बड़े कष्ट से निकाला और बोला—

"आप विस्मित न हों। ऊपर से हाथ में कोई घाव नहीं दीख पड़ता। यह बिलकुल नई बात मालूम होती है।"

डॉक्टर ने उसे विश्वास दिलाया कि वह नई बातें देखकर आश्चर्य नहीं करता। परंतु तब भी जब डॉक्टर ने वह हाथ देखा, तो अवाक् रह गया। वह एक साधारण हाथ था, उसमें कुछ भी ख़राबी न थी। उसका रंग तक न बदला था। ऐसा होने पर भी वह आदमी कष्ट से मरा जाता था और बड़ी मुश्किल से अपना पीड़ित हाथ सँभाल रहा था।

डॉक्टर ने पूछा—

"तुम्हारे कहाँ पर दर्द होता है ?"

उसने दो बड़ी नसों के बीच में एक गोल जगह बताई; परंतु जैसे ही डाक्टर ने उसे छूना चाहा, वैसे ही उसने अपना हाथ खींच लिया।

"क्या यहीं पर चोट है ?"

"हाँ, यहीं पर बड़ा दर्द होता है।"

"क्या मेरे उँगली से इसे छूने से तुम्हें तकलीफ़ होती है ?"

इसका जवाब वह न दे सका, वरन् उसकी आँखों से आँसू निकल आए, जिनने उसकी व्यथा कह सुनाई।

"बड़े आश्चर्य की बात है ! मुझे इसमें कुछ ख़राबी नहीं जान पड़ती ।"

"न मुझे कुछ दिखाई पड़ता है, परंतु बड़ी वेदना है । मुझे डर है कि मैं इसे सह न सकूँगा और मर जाऊँगा ।"

डॉक्टर ने फिर उस जगह की यंत्र से जाँच की और उस आदमी के थर्मामीटर लगाया । मगर फिर सिर हिलाकर बोला—

"चमड़ा बिलकुल ठीक है, नसें अच्छी अवस्था में हैं और कहीं भी जलन अथवा सूजन नहीं है । यह हाथ सब प्रकार से स्वस्थ मालूम होता है ।"

"मेरे ख़याल से इस जगह ज़रा चमड़ा लाल है ।"

"कहाँ पर ?"

अपरिचित मनुष्य ने एक पैसे के बराबर अपने हाथ पर एक चिह्न बनाया और कहा—"यहाँ पर ।"

डॉक्टर ने उसकी तरफ़ देखा और समझा कि शायद यह मनुष्य पागल है ।

"तुम्हें शहर में कुछ दिन ठहरना पड़ेगा, तब मैं तुम्हारा इलाज कर सकूँगा ।"

"मैं एक पल-भर भी नहीं ठहर सकता । जनाब, यह न समझिए कि मैं पागल हूँ या धोखा दिया चाहता हूँ । यह अदृश्य घाव मुझे बड़ा दुःख दे रहा है । मैं चाहता हूँ कि आप यह गोल भाग ख़ूब नीचे हड्डी तक काट दें ।"

"मैं ऐसा नहीं कर सकता ।"

"क्यों ?"

"क्योंकि हाथ में कुछ भी ख़राबी नहीं है, वह मेरे ही जैसा हाथ है ।"

"शायद आप सोचते होंगे कि मैं दिल्लगी कर रहा हूँ ।" यह कहकर उस आदमी ने एक हज़ार का नोट जेब से निकाला और मेज़ पर रख दिया ।"

"देखिए, मेरा काम ज़रूरी है और उसके लिये मैं एक हज़ार तक दे सकता हूँ । कृपा करके नश्तर लगाइए ।"

"अगर तुम दुनिया की दौलत भी मेरे सामने रख दो, तो भी शरीर के एक स्वस्थ भाग को नश्तर से न छुऊँगा ।"

"क्यों नहीं ?"

"क्योंकि यह बात डॉक्टरी नियम के विरुद्ध होगी । सब संसार तुम्हें मूर्ख बतलाएगा और मुझे तुम्हारी कमज़ोरी का फ़ायदा उठाने का दोष देगा, या यह कहेगा कि मैं एक छुपे हुए घाव को पहचान न सका ।"

"ख़ैर, साहब, जाने दीजिए । मैं अपने ही हाथ से नश्तर लगाऊँगा, यद्यपि मेरे बाएँ हाथ से यह काम ठीक ठीक न हो सकेगा । आप चीरा लगने के बाद मेरे हाथ की देखभाल तो कर लेंगे ? मैं आपसे सिर्फ़ यही चाहता हूँ ।"

डॉक्टर ने देखा कि आदमी अपनी बात पर दृढ़ है । उसने अपना कोट उतार लिया था और कमीज़ की आस्तीन उलट दी थी । कोई यंत्र पास न होने से, अपना चाक़ू ही जेब से निकाला और इसके पहले कि डॉक्टर उसे रोके, उसने चाक़ू को अपने हाथ में छेद लिया ।

"ठहरो, ठहरो !" डॉक्टर ने चिल्लाकर कहा; क्योंकि उसे डर था कि कहीं वह अपनी नस न काट डाले ।

"अगर तुम ऐसा करने पर उतारू हो, तो लाओ मैं ही यह काम किए देता हूँ ।"

नश्तर लगाने की तैयारी की गई । जब सचमुच काटने की बारी आई, तो डॉक्टर ने उस मनुष्य को दूसरी तरफ़ देखने को कहा; क्योंकि अक्सर लोग अपना ही ख़ून बहते देखकर विचलित हो जाते हैं ।

वह आदमी बोला—

"यह बेकार बात है, मैं आपको बतलाऊँगा कि आप कहाँ तक इस जगह को काटें ।"

अपरिचित ने बड़ी धीरता से नश्तर लगना सह लिया और उसमें मदद भी की । उसका हाथ ज़रा भी न काँपा और जब वह गोलाकार जगह काट दी गई, तो उसने एक गहरी साँस ली, मालूम होता था कि उस पर से एक बोझ उतर गया है ।

"अब तुमको कुछ दर्द तो नहीं मालूम होता ?"

"बिलकुल नहीं । अब ऐसा मालूम होता है कि मेरी व्यथा चली गई । ख़ून बहने दीजिए, मुझे इसमें आराम मिलता है ।"

जब घाव पट्टी से बाँध दिया गया, तो वह मनुष्य बड़ा प्रसन्न व संतुष्ट दिखाई पड़ने लगा । उसने डॉक्टर के हाथ को बड़ी कृतज्ञता से दबाया और कहा—

"मैं आपका अनुगृहीत हूँ ।"

इसके बाद कई दिन तक डॉक्टर उस मनुष्य को होटल पर देखने गया । वहाँ वह बड़े आदर का पात्र समझा जाता था और उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी, मालूम

हुआ कि वह एक विद्वान् व धनवान् मनुष्य था और कई बड़े परिवारों से उसका संबंध भी था।

जब घाव पूरा भर गया, तो अपरिचित अपने निवास-स्थान को लौट गया।

तीन सप्ताह बाद, वह फिर डॉक्टर साहब के मकान पर उपस्थित हुआ। उसका हाथ फिर एक रूमाल से बँधा था और वह हाथ में उसी जगह दर्द होने की शिकायत कर रहा था; जहाँ पहले नश्तर लगाया गया था। उसका चेहरा सफ़ेद था और माथे पर पसीने की बूँदें झलक रही थीं। वह एक आरामकुर्सी पर बैठ गया और चुपचाप डॉक्टर को अपना दाहिना हाथ दिखाने लगा।

"क्यों क्या हुआ ?"

मरीज़ ने दर्दभरी आवाज़ से कहा—

"आपने इसे काफ़ी गहरा नहीं काटा था, व्यथा फिर से लौट आई है और पहले की अपेक्षा अधिक दुःखप्रद है। मैं आपको तकलीफ़ न देना चाहता था, इसलिये मुझसे जहाँ तक हो सका, सहने की कोशिश की, मगर अब नहीं रहा जाता। आपको एक बार फिर नश्तर लगाना पड़ेगा।"

डॉक्टर ने उस जगह का निरीक्षण किया और देखा कि वह पूरी तरह से भर गई है। ऊपर से नई खाल आ गई थी, नसें अपनी जगह से न हटी थीं और नाड़ी ठीक चल रही थी। ज्वर का नाम नहीं था, परंतु तब भी वह आदमी बुरी तरह से काँप रहा था।

"मैंने आज तक कोई बात ऐसी नहीं देखी।"

नश्तर फिर लगाने के सिवाय और कोई उपाय नहीं था। पहले ही की तरह सब किया गया। दर्द रुक गया और उस मनुष्य ने एक दीर्घ निश्वास लिया। परंतु वह मुसकराया नहीं और अपनी कृतज्ञता डॉक्टर से बड़े दुःखित भाव से प्रकट की।

"अगर मैं एक महीने के बाद फिर लौटूँ, तो कोई ताज्जुब की बात नहीं।"

"ऐसी बात ध्यान में न लाइए।"

उसने बड़े निश्चिंतभाव से कहा—

"यह बात ऐसी पक्की है, जैसे परमेश्वर का स्वर्ग में होना। नमस्कार।"

डॉक्टर ने बाद को अपने कई सहयोगियों से इस बारे में परामर्श किया। हरएक ने अपनी-अपनी राय प्रकट की, परंतु कोई सन्तोष-जनक उत्तर न दे सका।

एक मास व्यतीत हो गया, परंतु मरीज़ न लौटा, कई सप्ताह बाद उसका एक पत्र मिला। डॉक्टर ने उसे ख़ुशी-ख़ुशी खोला और सोचा कि शायद इस बार दर्द न लौटा होगा।

पत्र में लिखा था—

"प्रिय डॉक्टर,

मैं नहीं चाहता कि तुम्हें अपने विषय में अंधकार में रक्खूँ और अपना भेद अपने साथ क़ब्र में ले जाऊँ। मैं तुम पर अपनी कहानी प्रकट कर देना चाहता हूँ। यह मेरी व्यथा तीन बार लौट चुकी है और मैं उससे सदा के लिये झगड़ना नहीं चाहता। मैंने अपने हाथ पर जलता अंगार रखकर, जो भीतरी ज्वाला को शांत करने का उपाय है, तुम्हें पत्र लिखा है।"

"छः महीने पहले मैं एक सुखी जीव था। मैं धनवान् अथवा संतुष्ट था और युवावस्था के सुखों का उपयोग किया करता था। एक साल हुआ मैंने अपना विवाह किया था, जो एक प्रेम का संबंध था। मेरी पत्नी बड़ी तथा अच्छे स्वभाव की स्त्री थी। मेरी जागीर के निकटवर्ती एक धनवान् महिला की वह संगिनी थी। वह मुझसे प्रेम करती थी और उसका हृदय स्नेह से परिपूर्ण था। छः महीने तक समय बड़े आनंद से कटा। जब मुझे अपने निवास-स्थान से शहर जाना होता था, तो मुझसे लौटते समय मिलने के लिये सड़क पर मीलों का रास्ता पार करके आया करती थी। अपनी स्वामिनी के पास, जहाँ उसे अकसर जाना पड़ता था, अधिक देर न लगाती थी। उसके इस अथाह पति-प्रेम से उसकी हमजोलियाँ ज़रा उससे असंतुष्ट रहती थीं। वह कभी किसी दूसरे पुरुष के साथ नहीं नाचती थी और स्वप्न में भी परपुरुष का ध्यान करना पाप समझती थी। वह एक सुंदर व अबोध बालिका के समान थी।

मैं नहीं कह सकता क्योंकर मुझे यह पता चला कि यह सब आडंबर-मात्र है। मनुष्य अपने पूर्ण सुख में भी दुःख का आवाहन करने की मूर्खता कर बैठता है। उसके पास एक छोटी-सी सीने की मेज़ थी, जिसके ख़ाने में वह हमेशा ताला लगाए रखती थी। मैंने बहुधा देखा कि वह कभी उस ख़ाने में चाभी न छोड़ती थी और न

उसे खुला ही रखती थी। उसके पास ऐसी सावधानी से छिपा रखने लायक़ क्या चीज़ हो सकती थी ? यह बात मुझे जलाने लगी। मैं ईर्षा से पागल हो उठा। मैंने उसकी सुंदर आँखें, उसके चुंबन व आलिंगन किसी का विश्वास न किया। शायद यह सब ऊपरी बनावट हो !"

"एक दिन उसकी स्वामिनी मेरे यहाँ आई और मेरी पत्नी को अपने साथ अपने मकान पर दिन भर के लिये लिवा ले गई। मैंने भी तीसरे पहर वहाँ पहुँचने का वादा कर दिया। गाड़ी मकान के बाहर भी न निकली होगी कि मैं उस मेज़ के ख़ाने को खोलने की फ़िक्र करने लगा। बहुत-सी चाभियाँ लगाने के बाद एक से वह खुल गया। कई चीज़ें ढूँढ़ने के बाद मुझे एक रेशमी कपड़े के नीचे रक्खा हुआ एक पत्रों का बंडल मिला। मुझे संदेह हुआ। वे, सचमुच, प्रेम-पत्र थे और एक पीले फ़ीते में बँधे हुए थे।

यह मैंने न सोचा कि दूसरों की चीज़ों को उनकी अनुपस्थिति में देखना उचित नहीं। किसी ने मुझे आगे बढ़ने को उत्तेजित किया। वे पत्र हाल के ही लिखे हुए थे, जब मेरी पत्नी मेरे नाम की अधिकारिणी हो चुकी थी। मैंने फ़ीते को खोला और एक के बाद एक पत्रों को पढ़ने लगा"

"वह मेरी ज़िंदगी की सबसे कठिन घड़ी थी। उन पत्रों ने मुझ पर एक भारी धोखा प्रकट किया। वे मेरे एक मित्र के लिखे हुए थे और उनकी भाषा......... ! उनसे बड़ी घनिष्ठता तथा विलासिता प्रकट होती थी। लिखनेवाले ने कैसे-कैसे मेरी पत्नी को वह संबंध गुप्त रखने का आदेश किया था, क्या-क्या मूर्ख पतियों के बारे में कहा था और कैसे मेरी आँखों में धूल झोंकने का अनुरोध किया था ! हरएक पत्र हमारे विवाह के बाद का लिखा हुआ था। और मैं समझता था कि मैं एक सुखी मनुष्य हूँ ! मैं अपनी उस समय की भावनाओं का वर्णन नहीं कर सकता। विष को मैं पूरा निगल गया। मैंने सब पत्रों को ढक दिया और उन्हें फिर वैसे ही ताले में बंद कर दिया।"

"मैं जानता था कि अगर मैं शाम तक कहीं न गया, तो मेरी स्त्री ज़रूर घर लौट आएगी। मेरा समझना सच निकला। वह गाड़ी में से ख़ुशी-ख़ुशी कूदकर मुझसे मिलने के लिये भागती हुई आई और मुझे आलिंगन करते हुए मेरा मुँह चूम लिया। मैं ऐसा बन गया, जैसे कुछ न हुआ हो। हम लोगों ने बातचीत की, साथ खाना खाया और रोज़ की तरह अपने-अपने कमरों में जाकर सोए। मैंने अपने मन में एक विचार पक्का कर लिया था, जिसको मैं एक पागल के हठ की तरह कार्य-रूप में परिणत करने के लिये प्रस्तुत था।"

"प्रकृति के लिये एक उज्ज्वल चेहरे को पाप-लिप्त बनाना कैसा तुच्छ व धोखे का व्यापार है ! मैंने यह अपनी स्त्री के कमरे में रात को घुसकर उसके सोते हुए शांत चेहरे को देखकर कहा। मेरे शरीर में विष चढ़ चुका था और उसका पूरा असर मुझ पर हो गया था। मैंने चुपचाप अपना दाहिना हाथ उसकी गरदन पर रक्खा और उसे ख़ूब ज़ोर से दबाया। क्षण-भर के लिये उसने एकाएक आँखें खोल दीं और मेरी ओर विस्मय की दृष्टि से देखा ! परंतु उन्हें फिर शीघ्र ही बंद कर लिया और सदा के लिये शांत हो गई। उसने अपने बचने का कुछ भी प्रयत्न न किया और इस प्रकार प्राण छोड़ दिए, जैसे कि वह स्वप्नावस्था में हो।"

उसके मुख पर मेरे विरुद्ध कोई भी भाव प्रकट न हुआ। एक रुधिर की बूँद उसके ओठों से निकलकर मेरे हाथ पर आ गिरी—कहाँ—वह जगह तो तुमको विदित ही है। मैंने उसको उस वक़्त न देख पाया, दूसरे दिन नज़र पड़ी, जब कि ख़ून सूख गया और एक निशान बन गया था, कुछ पूछ-ताछ किये बिना ही उसकी अंत्येष्टि क्रिया कर दी गई। मैं दूर अपनी जागीर पर रहा करता था। वहाँ कोई विचाराध्यक्ष नहीं था। किसी को कुछ संदेह नहीं हो सकता था, क्योंकि मृत स्त्री मेरी प्रिय पत्नी थी। उसके कोई कुटुंबीजन भी नहीं थे, जिनके सवालों का जवाब देना पड़ता। मैंने जान-बूझकर अपनी स्त्री की मृत्यु की सूचना प्रकाशित करवा दी, जिससे लोगों को किसी बात का संदेह न हो। मेरी आत्मा ने मुझे न धिक्कारा। मैं बेरहम था, मगर वह इस सज़ा के लायक़ थी। मैं उसे आसानी से भूल सकता था। किसी भी घातक ने अपना काम ऐसी उदासीनता से न किया होगा।"

"जब मैं घर लौटा, तो मेरी पत्नी की स्वामिनी अपनी गाड़ी से उतर रही थी। उसे मेरी पत्नी की अंत्येष्टिक्रिया में सम्मिलित होने में देर हो गई थी,

और ऐसा ही मैं चाहता भी था। वह भारी संताप में थी; इस भयानक व अचानक ख़बर ने उसे आश्चर्य में डाल दिया था। उसने मुझसे अपनी सहानुभूति प्रकट की, जिसे मैंने अन्यमनस्क होकर सुना; क्योंकि यथार्थ में मुझे किसी सहानुभूति की आवश्यकता नहीं थी। थोड़ी देर बाद उस महिला ने बड़े स्नेह से मेरा हाथ पकड़ लिया और मेरी तरफ़ इस प्रकार देखने लगी, मानो मुझसे कुछ प्रार्थना कर रही हो। वह बोली—

"मैंने तुम्हारी मृत—पत्नी के पास अपना एक पत्रों का बंडल सौंपा था। उसे मैं अपने पास न रख सकती थी, क्योंकि मुझे उनके प्रकट हो जाने का डर था। अब मैं तुमसे अनुरोध करती हूँ कि तुम मेरा वह बंडल मुझे दे दो।"

"मैंने ज्यों हीं यह सुना, मेरे बदन में बिजली दौड़ गई। ऊपरी अन्यमनस्कता से मैंने पूछा—

"उन पत्रों में क्या लिखा था?"

वह इस प्रश्न पर काँप उठी और बोली—

तुम्हारी पत्नी के सदृश विश्वास-पात्र स्त्री मुझे कहीं न मिली। उसने मुझसे यह कभी न पूछा कि उन पत्रों में क्या है और उन्हें न पढ़ने का भी उसने मुझे वचन दे दिया था।"

"उसने तुम्हारे पत्र कहाँ रक्खे थे?"

"उसने मुझे बतलाया था कि वह उन्हें अपनी सीने की मेज़ में ताले से बंद रखती थी। वे एक पीले फ़ीते में बँधे थे। तुम उन्हें सहज ही पहचान सकते हो। वे सब मिलकर तीस हैं।"

"मैं उसे कमरे में लिवा ले गया, जहाँ वह मेज़ रक्खी हुई थी और उसके ख़ाने को खोला। पत्रों के बंडल को बाहर निकाला और उस स्त्री को दिखाकर पूछा—

"क्या यही तुम्हारे पत्र हैं?"

उसने जल्दी से हाथ बढ़ाकर उन्हें ले लिया। मैंने अपनी निगाह नीची कर ली, क्योंकि मुझे डर था, कि कहीं वह मेरी आँखों से कुछ समझ न ले। इसके बाद वह शीघ्र ही चली गई।"

"मेरी पत्नी के मृत्यु के ठीक एक सप्ताह बाद मेरे हाथ में उसी जगह—जहाँ कि उस भयावनी रात में ख़ून की एक बूँद गिरी थी—बड़ा दुःसह दर्द होने लगा। बाक़ी हाल तुम जानते ही हो। मैं समझता हूँ कि यह एक ख़ामख़याली के सिवा और कुछ नहीं है, परंतु मैं उससे छुटकारा नहीं पा सकता। मेरे बिना सोचे-विचारे एक ख़ूबसूरत, अबोध बालिका जैसी अपनी स्त्री को बेरहमी से मार डालने का यह दंड है। मैं इससे बचने की कोशिश अब नहीं करता। मैं अपनी स्त्री के पास जा रहा हूँ। उससे क्षमा माँगने का प्रयत्न करूँगा। मुझे विश्वास है कि वह मुझे ज़रूर माफ़ कर देगी और पहले की तरह मुझसे प्रेम करेगी। डॉक्टर, तुमने जो कुछ मेरे लिये किया है, उसके लिये मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ*।"

हरिवर्मा

वसंत-प्रवेश

(१)

उमड़ यह कैसी चली उमंग?
मदिर मद-मत्त अंग-प्रत्यंग।
फैलने लगी वसंती वायु;
भूमने लगी सुकवि की आयु।
बरसने लगा मधुर ऋतुरंग;
उमड़ यह कैसी चली उमंग?

(२)

नाचतीं लतिकाएँ अनजान;
प्रकृति का यह उत्सव, सम्मान!
झर रहे आशिर्वादिक फूल:
अहा, यह यमुना, यह लघु कूल।
मचलता बिखुर पीत पट तान;
नाचतीं लतिकाएँ अनजान।

(३)

कहीं शुक कोकिल-वृंद किलोल;
कहीं नवयौवन मत्त हिलोल।
कहीं मृदु-कुंज सुधा से सींच—
गूँजती भ्रमर-भीर बन बीच।
कहीं रसरंग, कहीं जयरोल;
कहीं शुक कोकिल-वृंद किलोल।

---

* हंगरी के केरोली किस्फलूदी (Karoli Kisfaludi) की एक कहानी का अनुवाद।—लेखक

(४)

फूलते फलते विटप हजार ;
चकित-सी वसुधा कर शृंगार ।
खेलते आँखमिचौनी मौन ;
उधर उड़-उड़ खगमंडल कौन ?
खुल गया स्वर्ग, मुक्ति का द्वार ;
फूलते फलते विटप हजार ।

(५)

आह ! यह यौवन, यह आनंद ;
उड़ाते सुकवि-वृंद नव छंद ।
लजीली कुसुम-परी के साथ ;
चयन करते हम फूल सनाथ ।
बिछा मरु-पथ पर मधु मकरंद ;
आह ! यह यौवन, यह आनंद ।

(६)

अरी ओ कोकिल-वधू कठोर !
चली आओ उड़कर इस ओर ।
टहलता जाता है प्रिय शीत ;
सुनाओ अब तुम लघु-संगीत ।
मचा है ऋतु-प्रवेश का शोर ;
अरी ओ कोकिल-वधू कठोर !

"गुलाब"

देव-रहस्य

अहा ! समय का प्रभाव परम विचित्र है। जो बात आज हो रही है वह कल नहीं थी, और कल की बात आज लुप्त हो रही है। जो मत सहस्र वर्ष पूर्व ख्याति पा रहा था आज उसका कोई नाम भी नहीं लेता, और आज का मत भविष्य में किसी अन्यरूप में परिवर्तित हो जायगा। राज्य-क्रांतियाँ, राष्ट्रीय विग्रह, अद्भुत आविष्कार—सभी समय कराता है। देखा जाता है कि जिन विषयों में प्राचीन भारतीय दृढ़ विश्वास रखते थे, उन्हीं विषयों में अर्वाचीन भारत-जनता या तो संदिग्ध है अथवा उनको एकांत कपोल-कल्पना समझे बैठी है। कविवर टेनीसन (Tennyson) ने ठीक कहा है—

"The old order changeth, yielding place to new,
And God fulfils Himself in many ways
Lest one good custom should corrupt the world"[1]

आज हम एक ऐसे ही विषय को लेते हैं, जिसमें काल-चक्र के प्रभाव से आजकल विश्वास उठ-सा रहा है। वह है देव-तत्त्व।

'देव'[2] शब्द 'दिवु' धातु से निष्पन्न होता है। 'दिवु' के अर्थ होते हैं—क्रीड़ा करना, व्यवहार करना, जीतने की इच्छा करना, प्रकाशमान होना, प्रसन्न होना इत्यादि। यद्यपि क्रीड़ा करनेवाले, प्रकाशमान अथवा प्रसन्न होते हुए किसी भी प्राणी को देव कहा जा सकता है, तथापि जिस प्रकार गो (गच्छतीति गम्+डोस्) शब्द सास्ना—लांगूल—ककुद्—खुर—विषाण—युक्त पशुविशेष में रूढ़ है। उसी प्रकार 'देव' शब्द भी मनुष्येतर एक जातिविशेष में ही रूढ़[3] है।

नैरुक्तों के मत में तीन देवता हैं—अग्नि, वायु और सूर्य, और वे प्रत्यक्ष ही हैं। याज्ञिकों के मत में देवता अनेक हैं; उनमें से कुछ तो अग्न्यादिक प्रत्यक्ष हैं और कुछ रुद्रादिक परोक्ष हैं। वेद में देवों की स्तुति देखकर 'वे जड़ तो नहीं हैं ?' यह भ्रम समूल नष्ट हो जाता है तथा उनकी चेतनता सिद्ध होती है। अब चेतन के अनेक भेद हैं—पशु भी चेतन हैं और मनुष्य भी। देवता कैसे हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में निरुक्तकार[4] ने

---

१. पुरानी बातें बदल जाती हैं, उनकी जगह नई-नई बातें आ जाती हैं। ईश्वर अनेकों प्रकार से सृष्टि-चक्र को चला रहे हैं, जिसमें कि एक अच्छी बात समय पाकर (लोक की दृष्टि में बुरी न हो जाय) संसार को न बिगाड़ दे।

२. देव (French—Low Latin=Deitus. Latin = Deus).

३. अवयवशक्तिनिरपेक्षेण समुदायशक्तिमत्पदत्वम् रूढत्वम्। अथवा अवयवशक्तिसापेक्षसमुदायशक्तिमत्पदत्वं योगरूढत्वम्।
(सारमंजरी)

४. निरुक्तकार ने देवताओं के आकार के विषय में कोई निश्चित सम्मति नहीं दी। वे सन्दिहान के समान लिखते हैं 'पुरुषविधाः स्युरित्येकम् ... अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम् ... अपि वोभयविधाः स्युरपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः।' तथापि चतुर्थ वाक्य से प्रतीत होता है कि उनकी सम्मति देवताओं के पुरुषविधत्व के ही पक्ष में है।

कहा है—"अथाकारचिन्तनं देवानां पुरुषविधाः स्युः" अर्थात् अब देवताओं के आकार के विषय में वर्णन करते हैं ; वे पुरुषों के समान होते हैं। इस कथन से यह स्पष्ट है कि देवता न तो निराकार हैं, न पाषाणादि के समान जड़ हैं और न पशु-पक्षी आदिकों के समान सामान्य ज्ञानवाले हैं।

भूमंडल के सभी स्थानों पर निवास करनेवाले मनुष्यों का आधिदैविक जगत् में विश्वास था—ऐसा विदित हुआ है। भारतीय देवताओं में इंद्र, वरुण, वायु, कुबेर आदिक अनेकों नाम ऐसे हैं, जिन्हें प्रायः सभी जानते हैं। ग्रीक और रोमन प्राचीन योरप की बड़ी प्रसिद्ध जातियाँ थीं। पहली (ग्रीक) वक्तृत्व तथा कविता के लिये, तथा दूसरी (रोमन) युद्ध-विद्या व व्यावहारिक धर्म-शास्त्र के लिये विख्यात थी। १८०० वर्ष पूर्व इन दोनों ही जातियों का धर्म भारत के ही समान था। ग्रीकों का सर्वप्रधान देव Zeus तथा रोमन लोगों का Jupiter कहा जाता था। ये शब्द 'द्यौः' तथा 'द्यौस्पितर्' के ही अपभ्रंश प्रतीत होते हैं। वे लोग अग्नि के अधिष्ठाता देव को Ignis, विश्वकर्मा को Vulcan, बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी को Minerva एवं गणेशजी को Janus कहते थे। ग्रीस के सर्वोच्च पर्वत Olympus को वे अपने देवों का आवासस्थान बताते थे। वे लोग नदी, पर्वत, वृक्ष आदिकों के अधिष्ठाता देवताओं में भी विश्वास रखते थे।

पश्चिमी अफ्रीका के इफ़ा (Ifa) भारत के श्रीगणेश हैं। सब कामों के आरंभ में उनका स्मरण किया जाता है। चीन देशवासी अनेक देवता मानते हैं। इस देश के प्रत्येक महानस (चौके) में महानस-देव (Kitchen-god) की पूजा एक मास में दो बार होती है। इसके अतिरिक्त विवाह-देवता, कृषि-देवता, ओषधि-देवता आदिक बहुत-से और हैं। ये लोग प्रायः सभी शारीरिक अवयवों के तथा रोगों के देवताओं को मानते हैं।

सैटन (Saturn) इटलीवालों का कृषि-देव है। वीनस (Venus) ग्रीस की सौंदर्याधिष्ठात्री देवी है। फ़ीबस (Phoebus) अथवा अपोलो (Apollo) ग्रीस के सूर्य हैं। ये देव चार घोड़ों के रथ में बैठकर चलते हैं, श्मश्रुविहीन तथा अलकावली-मंडित मुखवाले हैं। ऐसीरिया (Assyria) के युद्ध-देव का नाम है, निन (Nin)। पारसी लोगों की धर्म-पुस्तक (Zend Avesta) में वर्षाधिष्ठातृ-देव का नाम है Tistriya उसी पुस्तक में इश्तर (Ishtar) का उल्लेख है, जिसको बाइबिल में Asktorith और Queen of Heaven कहा गया है। निस्रोच् (Nisroch) ऐसीरिया के देव हैं। पर्शिया के निवासी भी इन देव को मानते थे। मुहम्मद साहब के समय से पहले अरब के वासी भी निस्रोच् को पूजते थे।

अँगरेज़ी-साहित्य में अनेकानेक देवताओं का नामोल्लेख है। उदाहरण के लिये Hymen, Fortuna तथा Pan पर्याप्त होंगे। इनमें से पहले विवाह-देव हैं—दूसरी भारत की लक्ष्मी हैं और उनके एक हाथ में दंड (मनुष्य-भाग्य-प्रेरक चिह्न) व दूसरे में शृंग (Cornu-Copia) अर्थात् धन-विभूति-सूचक चिह्न है। इनके हाथ में कंदुक और चक्र भी हैं, जिनसे परिवर्तनशीलता द्योतित है। तीसरे Pan क्षेत्राधिष्ठाता देव हैं। इन्हें संगीत से परम प्रेम है और ग्वालियों की वंशी के आविष्कर्त्ता भी ये ही हैं। इनके नीचे का आधा अंग अजा (बकरी) का-सा है।

देवों का निवास-स्थान

दैव-सृष्टि भी प्राकृतिक सृष्टि ही है। सांख्य[१]-दर्शन में माना गया है कि दैव-सृष्टि आठ प्रकार की, तिर्यक्-सृष्टि पाँच प्रकार की और मनुष्य-सृष्टि एक ही प्रकार की है। देवताओं में भी यद्यपि रजोगुण और तमोगुण वर्तमान रहते हैं तथापि उनमें सत्त्व गुण की अभिवृद्धि होती है। हमारे त्रिगुणमय ब्रह्माण्ड में कहाँ-कहाँ किस-किस गुण की अधिकता है—यह निम्न-लिखित कारिका से स्पष्ट है—

"ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः ;
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः *।"

---

१. "देवादिप्रभेदाः" ४६ सूत्र, अध्याय ३।

सांख्यकारिका में भी यही विशद शब्दों में कहा गया है—

"अष्ट विकल्पो दैवस्तैर्य्यग्योनश्च पञ्चधा भवति मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः।"

*'सांख्य-दर्शन' में इसी का प्रतिपादन करनेवाले निम्न-लिखित सूत्र हैं—

'ऊर्ध्वं सत्त्वविशालाः', 'तमो विशाला मूलतः', 'मध्ये रजोविशालाः',

(अ० ३, सू० ४८, ४९, ५०)

अर्थात् 'भुवः' आदिक ऊपर के लोक क्रमशः अधिकाधिक सत्त्वगुण से संयुक्त हैं तथा अतल आदिक नीचे के लोक क्रमशः अधिकाधिक तमोगुण से युक्त हैं।

शास्त्र में इंद्रादि देवताओं का लोक 'स्वः' बताया है, जो हमारे भूमंडल से ऊपर भुवर्लोक से भी ऊपर है। श्रीविष्णु-पुराण में व्यासजी ने कहा है कि ध्रुव और सूर्य के मध्यवर्त्ती जो चौदह लाख योजन का स्थान है उसे ही लोक-संस्था न जाननेवाले स्वर्लोक कहते हैं। यद्यपि स्वर्गलोक इतनी ऊँचाई पर है तथापि कर्म-भूमि (अतएव मोक्ष-भूमि) भारत की पुण्यतम भूमि के दर्शन के परम अभिलाषुक देवगण मेरु पर्वत पर भी निवास किया करते हैं। इस पर्वत पर देवताओं की पुरियाँ[2] हैं। जिनमें वे लोग मनोविनोदार्थ आया-जाया करते हैं। जब ऊपर के लोकों से योगिगण भूमंडल पर आया करते हैं, तो यहाँ के दर्शकों के कौतूहल की सीमा नहीं रहती। तपःपुंज नारदजी को आकाश से उतरते देखकर श्रीकृष्णचंद्रजी ने भी प्राकृत नर के समान विस्मय प्रकट किया था[3]। स्वर्गलोक सुख-विलास की समस्त सामग्री से सम्पूर्ण है, तभी तो उसकी प्राप्ति की इच्छावाले पुरुषों को वेद में आज्ञा है 'स्वर्गकामो यजेत'। शास्त्र में लिखा है—

"यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वःपदास्पदम्॥"

इस स्थान के और भी अनेक नाम हैं, यथा नाक, त्रिदशालय, दिव इत्यादि।

स्वर्ग-वर्णन

इस लोक का वर्णन अर्जुन ने वहाँ से लौटकर युधिष्ठिर को इस भाँति सुनाया था। "तब मैंने इंद्र-देव की अमरावती नाम की नगरी का दर्शन किया, जहाँ कि इच्छानुसार फलनेवाले दिव्य पादपों से तथा नानाविध रत्नों से अपूर्व शोभा हो रही थी। सूर्य के आतप का वहाँ पर कोई भय नहीं है और न सर्दी का डर है। थकान तो उस लोक में होती ही नहीं। वहाँ धूलि दुःख नहीं देती और वहाँ के निवासियों को बुढ़ापा नहीं आता। शोक और दैन्य इत्यादिक मानसिक कष्ट वहाँ नहीं हैं तथा स्वर्ग-निवासी बलवान् होते हैं। हे भाई! देवताओं को ग्लानि, क्रोध और लोभ कुछ नहीं है। स्वर्गवासी गण सदा संतुष्ट रहते हैं। हरे-हरे पत्तेवाले वृक्षों पर नित्य फल और फूल लगते हैं। वहाँ पर कमलों की गंध से मनोरम जलवाली अनेक प्रकार की बावलियाँ हैं। वहाँ का वायु जीवन-शक्ति का देनेवाला, पवित्र, शीतल तथा सुगंधित है। वहाँ की भूमि नाना प्रकार के रत्नों से शोभित है तथा फूलों के कारण देखने में अच्छी है। वहाँ के पशु-पक्षी सुंदर दर्शन और मधुर स्वरवाले हैं। देवता लोग अपने आने-जाने में विमानों का प्रयोग करते हैं[1]।"

पाश्चात्य कवि-मुकुट-मणि मिल्टन ने भी पैरेडाइज़

---

१. द्वितीय अंश, सप्तम अध्याय।

२. भास्कराचार्यजी ने लिखा है—
'सद्रत्नकाञ्चनमयं शिखरत्रयञ्च
मेरौ मुरारि-क-पुरारि-पुराणि तेषु।
तेषामधः शतमख-ज्वलनान्तकाना
रक्षोऽम्बुपानिलशशीशपुराणि चाष्टौ ३६
(गोलाध्याय-भुवनकोश)

३. 'गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः'
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः;
चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्,
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः' ३
(माघ-काव्य सर्ग १)

१. 'ततः शक्रस्य भवनमपश्यममरावतीम् ४५
दिव्यैः कामफलैर्वृक्षै रत्नैश्च समलंकृताम्;
न तत्र सूर्यस्तपति न शीतोष्णे न च क्लमः ४६
न बाधते तत्र रजस्तत्रास्ति न जरा नृप;
न तत्र शोको दैन्यं वा दौर्बल्यं चोपलक्ष्यते ४७
दिवौकसां महाराज न ग्लानिररिमर्दन;
न क्रोधलोभौ तत्रास्तां सुरादीनां विशांपते ४८
नित्यतुष्टाश्च ते राजन् प्राणिनः सुरवेश्मनि;
नित्यपुष्पफलास्तत्र पादपा हरितच्छदाः ४९
पुष्करिण्यश्च विविधाः पद्मसौगन्धिकायुताः;
शीतस्तत्र ववौ वायुः सुगन्धी जीवनः शुचिः ५०
सर्वरत्नविचित्रा च भूमिः पुष्पविभूषिता;
मृगद्विजाश्च बहवो रुचिरा मधुरस्वराः ५१
विमानगामिनश्चात्र दृश्यन्ते बहवोऽम्बरे;
(महाभारत व० प० १६८ अध्याय)

(स्वर्ग) का वर्णन बड़ी भव्य भाषा में किया है। कुछ वाक्यों का सार यहाँ पर दिया जाता है। "यह स्वर्गोद्यान नानाविध चित्तानंदकारी अनेक दृश्यों से संयुक्त था। वहाँ सर्व प्रकार के प्रसून विकसित थे और उस क्रीडोद्यान के गुलाब में कंटक नहीं थे। पक्षी मधुर रव करते थे, वासंतिक समीर कुंज की वृक्षावलियों से अठखेलियाँ करता हुआ अपने को सुगंधित किया करता था। वहाँ क्षेत्राधिष्ठात्री देवता का मूर्तिमान् हर्ष तथा ऋतुओं के साथ नृत्य होता था। वसंत का साम्राज्य ही वहाँ दृष्टिगोचर हो सकता था *।"

कविवर-टेनीसन-कृत वर्णन भी महाभारतीय वर्णन से मिलता-जुलता ही है, जैसे—"मैं ऐवेलियन को जा रहा हूँ; जहाँ वर्षा, उपल तथा हिम का प्रसार नहीं है। उस जगह वायु तीव्र गति से नहीं चलती। वह देश सुंदर उपवनों से विभूषित और शष्पश्यामला भूमि से आनंददायी है। वहाँ की गुफाएँ निकुंजों से मनोरम हैं और वहाँ की शांति समुद्र की गर्जन करती हुई उत्तुंग तरंगों से नष्ट नहीं होती †।

देवताओं का मनुष्यों से सादृश्य

देवताओं के भी घर-द्वार, वाहन, पुत्र-कलत्र आदि होते हैं। वेद में इंद्र की स्तुति इस प्रकार की है—

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि ;
कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते।

अर्थात् हे इंद्र ! अपने दोनों घोड़ों द्वारा (रथादि में बैठकर) यहाँ आओ। तुम्हारी पत्नी कल्याण करनेवाली है तथा तुम्हारा महल रमणीय वस्तुओं से भरा-पुरा है।

देवताओं के वाहन आदिक

प्रत्येक देवता[१] के वाहनादि का वर्णन इस लेख में असंभव है। इस विषय पर स्वतंत्र लेख की आवश्यकता है। अतः केवल इंद्र का कुछ वर्णन किया जाता है—इंद्र देवताओं के राजा कहे जाते हैं। इनकी पुरी का नाम है देवधानी और सभा का सुधर्मा। शची इनकी धर्मपत्नी और जयंत पुत्र हैं। गज (गजाकार विमान ?) जिसका नाम ऐरावत प्रसिद्ध है, इनका प्रिय वाहन है। नंदन

---

* "Thus was this place
A happy rural seat of various view :
....
Flowers of all hue, and without thorn the rose;
....
The birds their choir apply: airs, vernal airs,
Breathing the smell of field and grove attune
The trembling leaves, while universal Pan,
Knit with the Graces and the Hours in dance,
Led on th' eternal spring"
(Paradise lost.)

† "I am going a long way
....
To the island of valley of Avilion,
Where falls not hail, or rain, or any snow,
Nor ever wind blows loudly; but is lies,
Deep meadowed, happy, fair with orchard lawn,
And bowery hollows crowned with summer sea."
(The Passing of Arthur)

१. महाभारत में कहा है कि "त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि च ; त्रयस्त्रिंशच्च देवानां सृष्टिः संक्षेपलक्षणा।" अर्थात् संक्षेप में देव-सृष्टि की संख्या ३३३३३३ है। तेंतीस कोटि देवता प्रसिद्ध हैं। उनके लिये वचन है—"त्रयस्त्रिंशदानि तान्येव शतानि बिंदुत्रययुक्तानि; पुनस्तान्येव त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि च बिंदुचतुष्टययुक्तानि तदा त्रयस्त्रिंशत्कोटयः।" तेंतीस देवताओं के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। वे यह हैं—१ भग, २ अंश, ३ अर्यमा, ४ मित्र, ५ वरुण, ६ सविता, ७ धाता ८ विवस्वान्, ९ त्वष्टा, १० पूषा, ११ इंद्र, १२ विष्णु, १३ धर, १४ ध्रुव, १५ सोम, १६ विष्णु, १७ अनिल, १८ अनल, १९ प्रत्यूष, २० प्रभास, २१ अज एकपात्, २२ अहिर्बुध्न्य, २३ विरूपाक्ष, २४ सुरेश्वर, २५ जयंत, २६ बहुरूप, २७ त्र्यम्बक, २८ अपराजित, २९ वैवस्वत, ३० सावित्र, ३१ हर, ३२ इंद्र, ३३ प्रजापति। इनमें विष्णु शब्द तथा इंद्र शब्द दो-दो बार आए हैं, इससे वे भिन्न-भिन्न समझने चाहिएँ।

यहाँ पर शंका हो सकती है कि इंद्रादिक देवता तो एक-एक मूर्ति (शरीर) वाले हैं, परंतु एक ही देव की उपासना यदि अनेक जन एक ही समय में करें, तो क्या केवल एक ही यज्ञ की सार्थकता होगी ? इसके उत्तर में यही कहा जाता है कि देवताओं में अनेक रूप धारण करने की योग्यता होती है, जिससे वे एक ही साथ अनेक यज्ञों में भाग ले सकते हैं। इसी बात को व्यासजी ने 'विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्' इस सूत्र में कहा है।

नामक उपवन में विहार के आप रसिक हैं। बृहस्पतिजी से धर्म अथवा विद्या-संबंधी कार्यों में आप समय-समय पर परामर्श भी लिया करते हैं, और दैत्य-भय निवारणार्थ इनको सच्चिदानंद-रूप आनंदकंद श्रीमन्नारायण के अशरण-शरण चरण-कमलों की शरण में जाना होता है।

गंधर्व व अप्सराएँ

गंधर्व और अप्सराओं का नाम निर्देश हुए बिना स्वर्गीय वर्णन अधूरा रहेगा, इसलिये दो शब्द इस विषय में भी कहे जाते हैं। श्रीमद्भागवत में लिखा है "देवोद्यानानि च भवन्ति चत्वारि नन्दनं चैत्ररथं वैभ्राजिकं सर्वतोभद्रम्। येष्वमरपरिवृढाः सह सुरललनाललाम यूथपतय उपदेवगणैरुपगीयमानमहिमानः किल विहरन्ति।"[1] इसका अर्थ है कि चार उद्यान नंदन, चैत्ररथ, वैभ्राजक और सर्वतोभद्र प्रसिद्ध हैं। इनमें बड़े-बड़े देवता प्रसिद्ध-प्रसिद्ध अप्सराओं (उर्वशी आदिकों) के साथ विहार करते हैं और तुंबुरु आदिक उपदेवता उन देवताओं की महिमा का गान किया करते हैं। उपदेवता से तात्पर्य उन देवों का है, जो पद-मान में कम हैं। उदाहरणार्थ—

छब्बीस तुषित, चौंसठ आभास्वर, उनचास पवन, दो-सौ बीस महाराजिक, बारह साध्य आदिक। हाहा, हूहू आदिक देवताओं के गंधर्व हैं और रंभा-मेनकादिक अनेकों अप्सराएँ हैं।

मनुष्य और देव-सुख

स्वर्ग-सुख देवताओं को ही विधाता ने निर्माण किया हो ऐसा नहीं है। मनुष्य भी यज्ञादि सत्कर्मों का अनुष्ठान करने से 'कर्मदेव' नामधारी होकर 'आजानदेवों' के समान उस वांछित सुख का अनुभव कर सकता है। परंतु उसका इस प्रकार का सुख एकांतिक और आत्यंतिक नहीं होता है। गीता में श्रीभगवान् ने कहा है—

"त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
　　यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ;
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
　　मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्
　　क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति"[1]।

क्या स्वर्ग-सुख शुद्ध तथा नित्य है?

सांख्य-कारिका[2] में कहा है कि त्रिविध दुःखों से मोक्ष के लिये लौकिक उपाय निःसत्व हैं। रहे वैदिक, वे भी ठीक नहीं, कारण वैदिक वाक्यों का पालन करता हुआ; यदि कोई यज्ञानुष्ठान द्वारा स्वर्ग-सुख प्राप्त भी कर ले, तो भी कल्याण नहीं होता। इसमें हेतु यही है कि यद्यपि यज्ञ का फल-स्वरूप स्वर्ग-सुख तो प्राप्त होता ही है तथापि यज्ञ-विहित वृक्षादि-हिंसा का फल-स्वरूप कुछ-न-कुछ दुःख भी अवश्य ही होता है। दूसरी बात यह है कि पुण्य क्षीण होने पर फिर उसी दुःख-सागर में आना पड़ता है, जिससे पार होने के लिये वैदिक कर्म-कांड को नाव बनाया जाता है। तीसरी बात यह है कि कल्पना कीजिए, पाँच मनुष्य एक ही इच्छा से यज्ञानुष्ठान में तत्पर हैं। परंतु ऐसा निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि वे सभी एक-से मनोयोग, एक-सी सामग्री और एक-से विश्वास से, उस कार्य को कर रहे हैं। फलतः वैषम्य-जनित स्वर्ग-सुख भी विषम क्यों न होगा? एक को सुधर्मा में पहले और उत्तम स्थान, तथा दूसरे को पीछे और अपेक्षा-कृत अनुत्तम स्थान मिलना ही चाहिए। ऐसी दशा में क्या अपने से अच्छी जगह बैठे हुए देवता को देखकर ईर्ष्या होना स्वाभाविक नहीं है? है।

उपर्युक्त कथन का यही निष्कर्ष है कि यद्यपि मनुष्य-सुख से तो स्वर्ग-सुख कहीं अधिक है; परंतु महः, तपः,

---

१. भास्कराचार्यजी ने भी कहा है—
"वनं तथा चैत्ररथं विचित्रं तेष्वप्सरोनन्दननन्दनञ्च
धृत्याह्वय यद् धृतिकृत् सुराणां भ्राजिष्णुवैभ्राजमिति प्रसिद्धम्;
सरांस्यथैतेष्वरुणञ्च मानसं महाह्रद श्वेतजल यथाक्रमम्
सरःसुरामारमणश्रमालसाः सुरा रमन्ते जलकेलिलालसाः" ३५
(गोलाध्याय-भुवनकोश)

१. अर्थात् वेदत्रयी के विद्वान्, सोमरस का पान करनेवाले, निष्पाप याज्ञिक स्वर्ग की इच्छा करते हैं। वे पवित्र इंद्रलोक में पहुँचकर स्वर्गीय भोगों को पाते हैं। परंतु पुण्य नष्ट हो जाने पर वे फिर मर्त्य (भू) लोक में लौट आते हैं।

२. दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः;
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।

आदि लोकों के सुख से अपेक्षा-कृत घटिया है। अब प्रश्न होता है कि देव-सुख हम लोगों के सुख से कितना अधिक होगा? इसके उत्तर में उपनिषद् का[1] वचन है कि मनुष्य-सुख की मर्यादा तो इतनी ही है कि वह स्वस्थ तथा अन्यान्य—(ऐन्द्रियिक)—सुख—वान् होता हुआ राजा बन जाए। ऐसे-ऐसे सौ सुख यदि एक तराजू के पलड़े पर रक्खे जायँ, तो दूसरे पलड़े पर लोक-विजयी पितरों का एक सुख चढ़ेगा। पितरों के सौ सुखों का सादृश्य गंधर्व-लोक के सुख में है। गंधर्वों के सौ सुख एक कर्मदेव के सुख के समान हैं। कर्म-देवताओं के सौ सुख जन्म-देवताओं के एक सुख के समान होते हैं।

बहुत-से लोग कहा करते हैं कि इंद्रादिक देवता कभी इसी भूमंडल के विभिन्न स्थानों के राजा-मात्र थे। वे ऐसा कहते हुए वेद-विरुद्ध मत को अंगीकार करने की चेष्टा करते हुए प्रतीत होते हैं।

देवताओं की विचित्रता

देवताओं में मनुष्यों से कई बातें बड़ी विलक्षण होती हैं—उदाहरणार्थ, पृथिवी का चरणों से अस्पर्श, अनिमेष, शरीर पर धूल का न लगना, स्वेदाभाव, मालाओं का म्लान न होना, छाया का न पड़ना इत्यादि। दमयंती के स्वयंवर में इंद्रादिक देवता भी नल-रूप धारण करके आए थे। पहले तो वह इस पंचनली को देखकर किं-कर्त्तव्य-विमूढ़ हो गई, परंतु देवताओं की उपर्युक्त विशेषताओं ने ही उसको वास्तविक नल के गले में जयमाल डालने में समर्थ किया। श्रीहर्ष कवि[2] ने, इस वैचित्र्य का चित्र बड़ी मधुर भाषा में खींचा है। जब दमयंती ने देखा कि देवताओं के चरण भूमि पर न होकर उससे कुछ ऊँचे हैं, तो उसको ऐसा विचार हुआ कि अहो! देवता बड़े सच्चरित्र हैं। वे पृथ्वी को राजा नल की भार्या समझकर उसका स्पर्श तक नहीं करते। उस सुमुखी ने, जब देवताओं को विचार-पूर्वक देखने से निश्चय किया कि उनके पलक नहीं लगते, तो उसे प्रतीत हुआ कि मानो नल राजा का निमेष यह कह रहा हो कि मुझ (निमेष) से चिह्नित नल के गले में माला डाल। अब दमयंती ने देखा कि नल के शरीर पर तो रास्ते में चलने के कारण धूल है, परंतु देवताओं के शरीरों पर नहीं है, तो ऐसा प्रतीत होता था, मानो पतिव्रता भूमि ने नल को ही आलिंगन करना उचित समझा, देवताओं को नहीं। उस स्वयंवरा ने नल के ही शरीर पर स्वेद-बिन्दु देखे, जो कि ऐसी शोभा पा रहे थे, जैसी सुवर्ण में जड़ा हुआ हीरे का नग। उस स्वेद की उत्पत्ति विरह-जन्य संताप की निवृत्ति के निमित्त थी।

दमयंती ने देखा कि देवताओं की माला विकसित है, परंतु नल की नहीं। शायद नल के गले की माला इसलिये मुरझा रही थी, क्योंकि उसे (माला को) भय था कि कोमलांगी दमयंती को पाकर राजा मेरी कोमलता को अच्छा न समझेंगे। उस राज-कन्या ने नल की छाया देखी, जो मानो यह कह रही थी कि ये देवता चाहे जितनी नल की नक़ल कर लें, मुझे (छाया को) तो पा नहीं सकते।

देवों का अंतर्धान होना

देवता लोग इच्छानुसार अपने को अदृश्य अथवा दृश्य

---

१. "स यो मनुष्याणाᳬराद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितृणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्तेऽथ ये शतं कर्म देवानामानन्दाः स एक आजान देवानामानन्दो... ।"
(बृहदारण्यकोपनिषद्) मन्त्र ३३, अध्याय ४, ब्राह्मण ३

२. परस्य दारान् खलु मन्यमानैरस्पृश्यमानाममरैर्धरित्रीम् ;
भक्त्यैव भर्त्तुश्चरणौ दधानान्नलस्य तत्कालमपश्यदेषा १
सुरेषु नापश्यदवेक्षताद्दणोर्निमेषमुर्वीभृति सम्मुखी सा ;
इह त्वमागत्य नले मिलेति संज्ञानदानादिव भाषमाणाम् १६
नाबुद्ध बाला विबुधेषु तेषु क्षोदं क्षितेरैक्षत नैषधे तु ;
पत्ये सृजन्त्याः परिरम्भमुर्व्याः सम्भूतसन्देहमसंशयं सा २०
स्वेदः स्वदेहस्य वियोगतापं निर्वापयिष्यन्निव संसिसृक्षोः ;
हीराङ्कुरश्चारुणि हेमनीव नले तयाऽऽलोकि न दैवतेषु २१
सुरेषु मालाममलामपश्यन्नले तु बाला मलिनीभवन्तीम् ;
इमां किमासाद्य नलोऽद्य मूर्द्ना श्रद्धास्यते मामिति चिन्तयेव २२
श्रियं भजन्तां कियदस्य देवाश्छाया नलस्यास्ति तथापि नैषाम् ;
इतीरयन्तीव तया निरैक्षि सा नैषधे न त्रिदशेषु तेषु २३
(नैषधीयचरितम्—सर्ग १४)

बना सकते हैं। इंद्र[1] ने रघु के सामने से यज्ञिय पशु को हरण करते समय अपने को अदृश्य ही बनाया था। इस प्रकार से क्षण-मात्र में रूपान्तर कर लेना असंभव नहीं है। शास्त्र[2] में कहा है—योगिजन शिला में समा सकते हैं, जल और अग्नि द्वारा उन्हें कुछ हानि नहीं हो सकती, अनावरणात्मक आकाश में भी अंतर्धान हो जाते हैं, उस दशा में उन्हें देखने में सिद्ध भी नहीं समर्थ होते। पतञ्जलिजी ने योग-दर्शन में अंतर्धान होने का उपाय बताया है—"कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्" अर्थात् अपने शरीर के रूप में संयम करने पर संकल्प-मात्र से ही योगी स्वरूप की दृश्यता शक्ति को और दूसरे की चक्षुः-रूयोग-योग्यता को रोक देता है। तदनंतर परचक्षुः प्रकाश व उसकी किरणों के असंयोग होने पर योगी अंतर्धान हो जाता है।

देव तथा अजरामरत्व

देवता अजर तथा अमर हैं; क्योंकि श्रीभगवान् ने संसार-विमोहन मोहिनी-रूप धारण करके उन्हें अमृत पिलाया है। श्रीमद्भागवत में कहा है—

"दैत्यान् गृहीतकलशो वञ्चयन्नुपसञ्चरैः ;
दूरस्थान् पाययामास जरामृत्युहरां सुधाम्।"

परंतु देवताओं का अजरत्व और अमरत्व मनुष्य की अपेक्षा से ही कहा गया है। ब्रह्मदेव के तो एक दिन में ही स्वर्ग की दशा कुछ-से-कुछ हो जाती है।

देवों का संदेश-प्रेषण

देवगण आवश्यकतानुसार भूमंडलस्थ पुरुषों के पास भी अपने संदेश भेजा करते हैं। देवराज इंद्र ने श्रीकृष्ण-चंद्रजी से शिशुपाल-वध के लिये प्रार्थना की थी, और इस प्रार्थना—संदेश को लेकर नारदजी आए थे। देवर्षि ने कहा था—'हे उपेन्द्र[1]! मैं जो संसार के कल्याण करनेवाले इंद्र-संदेश को सुनाता हूँ, उसे सर्व-कार्य-साधक आप सुनें।'

देवों का भूलोक पर आना

प्राचीन-काल में देवगण भूलोक में स्वयं भी आते-जाते थे। उदाहरण के लिये इंद्र, अग्नि, धर्मराज, तथा वरुण का कुंडिनपुर में दमयंती के स्वयंवर के लिये जाना जगद्-विख्यात है। इसी प्रकार जब कृष्णजी ने गोवर्धन द्वारा व्रज-मंडल की रक्षा की, तब इंद्रदेव अपना अपराध क्षमा कराने उनके पास आए थे।

भू-वासियों का स्वर्ग में जाना

भूलोकवासी जन भी समय-समय पर इंद्र से मिलने जाया करते थे। कविगुरु कालिदास ने दुष्यंत के मुख से कहाया है 'हे मातले![2] समस्त देवमंडली के देखते-देखते देवराज इंद्र ने मुझे अपने ही आधे आसन पर स्थान देकर मेरा आदर किया। कुमार जयंत के हृदय में इंद्र के गले में पड़ी हुई मंदार-माला पाने की इच्छा थी और वह उस समय निकट भी था, परंतु वक्षःस्थल पर लगे हुए हरिचंदन के चिह्नवाली वह अपनी माला जयंत की ओर देखकर मुसकराते हुए शचीश ने मुझे पहिरा दी।

स्वर्ग से भूमि पर व्योम-यान द्वारा उतरते हुए दुष्यंत के 'कतरस्मिन्[3] मरुतां पथि वर्त्तामहे' के उत्तर में मातलि ने कहा था कि जो[4] आकाशगंगा को धारण करती है

---

१. "ततः परं तेन मखाय यज्वना तुरङ्गमुत्सृष्टमनर्गलं पुनः ;
धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः" ३९
(रघुवंश—सर्ग ३)

२. "ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च" ४५
(योगदर्शन—विभूतिपाद)

......"पृथ्वी मूर्त्या न रुणद्धि योगिनः शरीरादिक्रियां शिलामप्यनुप्रविशतीति, नापः स्निग्धाः क्लेदयन्ति, नाग्नि-रुष्णो दहति, न वायुः प्रणामी वहति, अनावरणात्मकेऽप्याकाशे भवत्यावृतकायः, सिद्धानामप्यदृश्यो भवति" (व्यास-भाष्य)

१. "तदिन्द्रसन्दिष्टमुपेन्द्र ! यद् वचः क्षणं मया विश्वज-नीनमुच्यते । समस्तकार्येषु गतेन धुर्यतामहिद्विषस्तद् भवता निशम्यताम्।" (माघकाव्य—सर्ग १, श्लोक ४१)

२. "राजा......मातले ! मम हि दिवौकसां समक्षमर्धा-सनोपवेशितस्य—

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन ;
आमृष्टवक्षो हरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा २
(अभिज्ञानशाकुन्तल, अङ्क ७)

३. "हम वायु के कौन-से मार्ग में हैं।"

४. "मातलिः—

त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां ज्योतींषि वर्त्तयति च प्रविभक्त-रश्मिः ; तस्य द्वितीय-हरि-विक्रमनिस्तमस्कं वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम्।" (अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक ७, श्लोक ६)

तथा ध्रुवादि नक्षत्रों को घुमाती है, उसी परिवह नामक वायु के द्वितीय मार्ग में हम चल रहे हैं, जो श्रीवामनावतार के द्वितीय चरण के निक्षेप के कारण पाप और शोकों से रहित है।

पर्वत के एकांत शिखर पर तपस्या करने के कारण विगत-कल्मष अर्जुन को देवराज ने प्रकाशमान रथ द्वारा आकर दर्शन दिया था और कहा था कि हे अर्जुन[1]! तुमने प्राचीन काल में अनेक तीर्थों में स्नान किया था तथा अब भी घोर तप किया है, इसलिये तुम्हें स्वर्ग-लाभ सिद्ध हुआ है, चलो और स्वर्गीय सुख का अनुभव करो। इसके अनंतर इंद्र के वचनानुसार अर्जुन मातलि के लाए हुए वाहन पर बैठकर इंद्रपुरी को गए थे और दिव्यास्त्रों का प्रयोग सीखकर फिर युधिष्ठिर आदि के पास लौट आए थे।

राजा नल[2] भी अपने द्रुतगति रथ पर आरूढ़ होकर स्वर्ग-गंगा के जल में स्नान करने जाते थे।

श्रीकृष्णचंद्रजी[3] सत्यभामा की प्रसन्नता के लिये इंद्रलोक से कल्पवृक्ष लाए थे।

देवता और दैत्य

दैत्य लोग देवताओं के घोर शत्रु हैं। आपस के युद्धों से एक दूसरे की बड़ी हानि होती है। यद्यपि अमृत-पान के कारण देव अमर हैं तथापि वे 'अकुतोभय-संचार' नहीं हैं। दैत्यगण उनकी विलास-सामग्री को नष्ट कर डालते हैं। असाधारण[4] बली रावण ने इंद्रपुरी पर आक्रमण करके नंदन-कानन को उजाड़ डाला था, रत्नों को चुराकर अप्सराओं को हर लिया था और इन्हीं कारणों से स्वर्ग में रात-दिन बेचैनी रहती थी।

शुम्भ,[1] निशुम्भ, महिषासुर आदि दैत्यों ने देवताओं को पद-च्युत करके उनको स्वर्ग से भी निकाल दिया था। तभी तो देवों से संस्तुता जगदीश्वरी ने उनका विनाश कर यथापूर्व धर्म-संस्थापन किया था।

देवताओं की विघ्नकारिता

अपना पद छिन जाने के भय से देवगण मानवीय धार्मिक कार्यों में भी विघ्न किया करते हैं। इंद्र ने[2] नृपवर दिलीप के शततम यज्ञ के अश्व का हरण किया था और राजा सगर[3] के भी यज्ञीय पशु को हरकर कपिलजी के आश्रम में जा बाँधा था।

देवताओं की इच्छा रहा करती है कि और लोग भी भले ही हमारे समान सुख तो प्राप्त कर लें, परंतु इस सुख से अधिक आत्मज्ञान-रूप परमानंद न पा सकें। इसीलिये तो वे सिद्धप्राय योगियों को नाना प्रकार के प्रलोभन दिया करते हैं। शास्त्र का वचन है—"स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्ग-स्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्।" अर्थात् मधुमती नामक भूमि का साक्षात्कार हो जाने पर योगी को देवता निमंत्रण देते हुए कहते हैं कि हे महाराज! इस उत्तम स्थान पर विराजिए। यहाँ प्राणतर्पण वायुवाले उद्यान में विहार कीजिए; ये वस्तुएँ परम आनंद के देनेवाली हैं; इस रसायन को पीजिए, जो आपको जरा व मृत्यु का भय ही न रहे; देखिए यह व्योम-यान आपकी सेवा में प्रस्तुत है; उधर देखिए कल्पवृक्ष अपनी अद्भुत छटा विस्तार कर रहे हैं; पवित्र मंदाकिनी में स्नान

१. "त्वया हि तीर्थेषु पुरा समाप्लावः कृतोऽसकृत्;
तपश्चेदं महत्तप्तं स्वर्गं गन्तासि पाण्डव।"
(महाभारत)

२. आगच्छन् भगता मुदः क्षणमथाऽतिथ्यं दशोरानशे
स्वर्गङ्गाम्बुनि बन्दिनीकृतदिनारम्भाप्लुतिर्भूपतिः;
आनन्दाददतिपुष्पकं रथमधिष्ठाय प्रिया यांतके
प्राप्तं ते स्वरागतैरविदितप्रासादतो निर्गमः।
(नैषध-सर्ग ११, श्लोक ६६)

३. नोदितो भार्ययोत्पाट्य पारिजातं गरुत्मति;
आरोप्य सेन्द्रान् विबुधान् निर्जित्योपानयत्पुरम्।
(श्रीमद्भागवत)

४. पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः;
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः।
(माघ प्र० सर्ग, श्लो० ५१)

१. "पुरा शुम्भनिशुम्भाभ्यामसुराभ्यां शचीपतेः;
त्रैलोक्यं यज्ञभागाश्च हृता मदबलाश्रयात्।
स्वर्गान्निराकृताः सर्वे तेन देवगणा भुवि;
विचरन्ति यथा मर्त्या महिषेण दुरात्मना।"
(श्रीमार्कण्डेयमहापुराण)

२. "धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः।"

३. "सोऽश्वमेधैरजयत सर्ववेदसुरात्मकम्;
और्वोपदिष्टयोगेन हरिमात्मानमीश्वरम्,
तस्योत्सृष्टं पशुं यज्ञे जहाराश्वं पुरन्दरः।" ८
(श्रीमद्भागवत नवम स्कन्ध अ० ८)

कीजिए ; सिद्ध महर्षियों का सत्संग-सुख उठाइए ; उत्तम अप्सराओं से संभाषण कीजिए ; आपकी रुचि हो, तो हम आपको दिव्य इंद्रियाँ व वज्रोपम शरीर दें ; यह सब लाभ आपने अपने उत्तम गुणों द्वारा प्राप्त किया है, अतः हमारे अक्षय, अजर एवं अमर स्वर्ग को चलिए इत्यादि । इस प्रकार प्रलोभित योगी को चाहिए कि वह देव-कृत प्रार्थनाओं को स्वीकार न करे तथा 'देवता मेरी प्रार्थना करते हैं', इस भाँति विचारकर आश्चर्य प्रकट न करे । यही उपाय कल्याणकारक है ।

देवता न केवल वचनों से ही प्रलोभन दिखाते हैं, प्रत्युत प्रत्यक्ष अप्सरादिक भेजकर मुनि-मनों को प्रमोहित किया करते हैं । इन प्रलोभनों के पाश में विश्वामित्र[1] जैसे तपोधन भी फँस जाते हैं, परंतु जो अपेक्षा-कृत उन्नत कोटि के हैं, वे अव्यथित-चित्त ही रहे और हैं । श्रीभगवान् शंकरजी[2] का कामदेवमानमर्दन त्रिजगद्विख्यात । नारदजी के लिये भी कहा गया है—"कामकला कछु मुनिहि न व्यापी—निज मन डरेउ मनोभव पापी ।"

देवताओं की माया

देवगण अपनी माया के प्रभाव से दूसरे पुरुषों को सम्मोहित (hypnotised) कर देते हैं । श्रीब्रह्मदेव[3] ने जनक-नंदिनी जानकीजी की क्षुत्पिपासानिवृत्ति के निमित्त इन्द्र के हाथ अशोकवाटिका में पायस भेजा था । इंद्र को भय था कि कहीं मेरे इस प्रकार (रावण-शत्रु की धर्म-पत्नी की सहायता के लिये) लंका में आने का समाचार निशाचरों को न विदित हो जाय । अतएव उन्होंने लंका-निवासियों को मोहित कर जगज्जननी श्रीसीताजी को परमान्न निवेदन किया था ।

देवता लोग भी मनुष्यों के समान कभी-कभी बिना विचारे काम कर बैठते हैं, जिससे उन्हें पीछे पछताना पड़ता है और क्षमा माँगते समय दीनता स्वीकार करनी होती है । जिस समय श्रीहनुमान्‌जी ने 'कियो भक्ष रवि कहँ बलवाना' तथा पुत्रापमान से खिन्न होकर 'पवन देव पुनि कोप कर—रोक लियो सब स्वास' उस समय "सब मिलि सुर अस कहँ बखानोः भई चूक हमसों अनजानी ।" इसको स्पष्ट करने के लिये इतना ही कहना पर्याप्त प्रतीत होता है कि इंद्रदेव ने बिना हनुमान्‌जी के बल-बुद्धि का विचार किए ही उनका अनहित किया, जिसका परिणाम-रूप दुःख उन्हें उठाना पड़ा ।

इस लेख में उन्हीं देवताओं से तात्पर्य है जो स्वर्ग-लोक से सम्बद्ध हैं । पाठक कदाचित् श्रीगणेशजी, शिवजी, सूर्यनारायण, विष्णुभगवान् तथा देवीजी आदिक देव-देवियों के बारे में वर्णन इस लेख में न देखकर किसी अंश में अपूर्णता का अनुभव करने लगें ; परंतु इस लेख को स्वर्गीय देवों के वर्णन के लिये ही रक्खा है । गणेशजी आदिक सामान्य देवता न होकर परब्रह्म के साकार-रूप हैं । अतः यदि अवसर मिला, तो ईश्वर-तत्त्व नामक शीर्षकवाले लेख में उनका वर्णन करने का प्रयत्न करने का विचार है । अस्तु ।

बहुत-से पुरुष कहा करते हैं कि इंद्र-वरुण आदि ईश्वर के ही नामांतर हैं, परंतु वास्तव में ये देव उस परमेश्वर से भिन्न नाम-मूर्त्तिवाले हैं । श्रीकृष्णचंद्रजी ने कहा है कि जो देवताओं का भजन करते हैं, वे उनका सामीप्य लाभ करते हैं, तथा मेरे उपासक मेरे पास आते हैं ।

इस वचन से ईश्वर तथा देवताओं में जो महान् भेद है वह स्पष्ट है । कुछ लोग 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' इस मंत्र को सामने रखकर देवता और ईश्वर में अभेद प्रतिपादित करते हैं । वेदांत दृष्टि से यह मत हमें भी

---

१. "भीतः पुरन्दरस्तस्मान्मेनकामिदमब्रवीत्......
स मां न च्यावयेत् स्थानात्त वै गत्वा प्रलोभय ।
रूप-यौवन-माधुर्य-चेष्टित-स्मित-भाषणैः ;
लोभयित्वा वरारोहे तपसस्तं निवर्त्तय ।" इत्यादि
(महाभारत, आदिपर्व, श्लो० २६-७१)

२. सकल कला करि कोटि विधि, हारेउ सेन समेत ;
चली न अचल समाधि शिव, कोपेउ हृदय-निकेत ।
(गोस्वामी तुलसी-कृत श्रीरामायण बा० कां० दो० ८७)
"करालभालपट्टिका धगद्-धगद्-धगद्-ज्वलद्-
धनञ्जयाहुतीकृतप्रचण्डपञ्चसायके" (शिवताण्डव)

३. प्रवेशितायां सीतायां लङ्कां प्रति पितामहः ;
तदा प्रोवाच देवेन्द्रं परितुष्टं शतक्रतुम् ।
स त्वं शीघ्रमितो गत्वा सीतां पश्य शुभाननाम् ;
प्रविश्य नगरीं लङ्कां प्रयच्छ हविरुत्तमम् ।
... ...
मयैवेह च राक्षस्यो मायया मोहिताः शुभे ।

१. "देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि" (गीता)

मान्य है और इसके अनुसार देवता और ईश्वर दो में क्य। आत्मतत्त्व की दृष्टि से विचार करने पर साधारण जीव और ईश्वर में भी अभेद रहेगा। इस लेख में व्यावहारिक दृष्टिकोण से देवता और ईश में भेद-भाव तात्त्विक है।

भारत में देवताओं के प्रति बड़ा आदर है। यद्यपि उनमें भी दोष हैं, तथापि गुणों की अधिकता के कारण ईश्वर के साथ-साथ उनका भी पूजन होता है। उनकी स्तुतियाँ वेदादि शास्त्रों में स्थल-स्थल पर मिलती हैं। पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो का मत है कि 'यद्यपि * देवों में परिवर्तनोन्मुखता नहीं होती है तथापि इंद्रजाल द्वारा वे हमें यह विश्वास दिलाने की चेष्टा करते हैं कि वे अनेक रूपों में प्रकट हुआ करते हैं। मैं स्वीकार करता हूं कि न तो देवता रूप बदलते हैं और न शरीर व वचन द्वारा अतात्त्विक होकर हमें धोखा देते हैं। देवों व देवों की-सी प्रकृतिवाले प्राणियों में किसी प्रकार का असत्य नहीं होता।'

देव-विद्या

आजकल आधिदैविक जगत् में श्रद्धा बहुत कम है। पहले एक विद्या थी—देव-विद्या—जिसके द्वारा देवों का दर्शन, उनसे संलाप आदि सुगम थे।† सनत्कुमारजी के प्रश्न के उत्तर में नारदजी ने अपनी पढ़ी हुई विद्याओं में इस विद्या का भी उल्लेख किया है। इस विद्या के संबंध में आजकल कोई ग्रंथ नहीं उपलब्ध प्रतीत होता है। देव-दर्शनादि के लिये कठोर तपश्चर्यादिक ही उपाय शास्त्रों में पाए जाते हैं। अर्जुन से एक ब्राह्मण ने कहा था 'तुम[1] तपस्या करो, तो शीघ्र ही इंद्र-दर्शन करोगे।' इंद्र ने भी अर्जुन को अपना दर्शन देकर कहा था कि 'तुमने[2] घोर तप किया है, इसलिये तुम्हें स्वर्ग-वास-लाभ हुआ है।' योग-शास्त्र में देव-विद्या का संकेत-मात्र है "स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः" अर्थात् जब साधक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह; इन यमों में सिद्ध हो जाता है, तब शौच, संतोष, तपस्, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान, इन नियमों का पालन करता है। स्वाध्याय[3] का अर्थ है अभीष्ट-मंत्र-जप-आदिक। इसके करने से साधक जिन-जिन देवताओं का दर्शन करना चाहता है, वे-वे देवता उसको दर्शन देते हैं और उसकी कामनाओं की पूर्ति करते हैं।

कृष्णदत्त भारद्वाज शास्त्री, बी० ए०

आँसू

(१)

विश्व-वह्नि की स्फुलिंगों के
एक-एक कण के अनुरूप;
विषम विषादमयी रेखा की
श्यामलता के विह्वल रूप।

(२)

आशा-पाशों के मृत्युत्सव
रुद्ध लालसा के प्रतिहार;
शोक-लता की अविकच कलिका
हृदय भार के तरल विकार।

---

* "Though the Gods have no tendency to change in themselves they induce us, by deception and magic, to believe that they appear in various forms. I do grant that the gods neither metamorphose themselves like wizards, nor mislead us by falsehood expressed either in word or act. In every way, then, the nature of Gods and Godlike beings is incapable of falsehood." (Plato's Republic)

† स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं ७ सामवेद-माथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्य ७ राशिं दैवं निधिं वा कोवाक्यमेकायनं देवविद्यम्...॥ २ ॥
(छान्दोग्योपनिषदः सप्तमाऽध्यायस्य प्रथमखण्डे।)

१. "तपस्वी न चिरेण त्वं द्रक्ष्यसे विबुधाधिपम्।" (महाभारत)

२. "त्वया हि तीर्थेषु पुरा समाप्लावः कृतोऽसकृत्;
तपश्चेदं महत्तप्तं स्वर्गं गन्तासि पाण्डव।" (महाभारत)

३. "अभिप्रेतमन्त्रजपादिलक्षणे स्वाध्याये प्रकृष्यमाणे योगिन इष्टाया देवतायाः सम्प्रयोगो भवति। सा देवता प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः।" (योगदर्शनस्य भोजवृत्तिः)

"देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति, कार्ये चास्य वर्त्तन्ते।" (व्यास-भाष्य)

"सम्प्रयोगो दर्शनम्। यां देवतां द्रष्टुमिच्छति सैव दृश्या भवतीत्यर्थः।" (योगवार्त्तिक)

(३)

विकल हृदय-तंत्री की झंकृत
विकल वासना के सत्कार;
विकल वेदना के संचित फल
करुणा के अद्भुत शृंगार।

(४)

अननुरूप कल्पना-सर के
आशोत्पल के जर्जर कोश;
निबिड़-यामिनी की मंद द्युति-
चपल तारिका के संतोष।

(५)

शिशु के सत्प्रसाद अभिभावक
मूक हृदय के सत्संदेश;
प्रलय प्रकृति के विलुलित बालक
अनुसंधानों के निर्देश।

(६)

इच्छा रमणी के विद्रोही
मनो विपंची की झनकार;
तृप्ति तरंगिणि के आस्फालन
शैशव-सेना के आधार।

(७)

स्पष्ट सुनिर्झर हृदयोदधि के
भाव-वाष्प कादम्बिनि सृष्टि;
भयावर्त के बुद्बुद आकृति
उत्पीडन की जलमय सृष्टि।

(८)

प्रेम-पहेली के वियोग फल
प्रेमी की गुलझट के तार;
कसक सिसकती हुई आँख के
ज्यामिति के-से विंदु-विकार।

(९)

कल्पद्रुम के सत्प्रसून से
आभंदातिरेक के तत्त्व;
सौंदर्य के सीमित सीकर
उत्पलस्थ नैहारिक सत्त्व।

(१०)

भावुक मानस के मुक्ताफल
हृदय हिला देने की कल;
उच्छ्वासों की निपट प्रार्थना
काम-तंत्र के केवल बल।

(११)

सुषमा सने मधुरिमा से भर
स्नेह-कटोरों से कढ़कर;
पयोविंदु से छलक-छलककर
विद्रों को बिभोर कर-कर।

(१२)

हृदयावेग गगन शशिसेवित
सुधा कुमुदिनी से बरसें;
विरही के पीड़ा-सागर में
बड़वानल-कण से सरसें।

(१३)

विधवा के उन्मन भावों के
एक-मात्र उन्माद-प्रसार;
चिर संचित आशा के प्रतिफल
प्रेम-तंत्र के दूनाकार।

(१४)

भाव-भेद पटु, मान-विमोचन
हे किल्विष के सहचर शुद्ध;
विडंबना के साधक-बाधक
विप्रलंभ-रस के अविरुद्ध।

उदयशंकर भट्ट

दीनजी की दानाई

हरएक बात पर कहते हो तुम कि तू क्या है;
तुम्हीं कहो कि ये अंदाज़े गुफ़्तगू क्या है।

'माधुरी' के (श्रावण, ३०४ तुलसी-संवत्) विशेषांक में प्रकाशित हमारी "प्रिया-प्रकाश" की आलोचना को पढ़कर साहित्य-कुवलयापीड़ लाला भगवान-दीनजी के पेट में पानी हो गया प्रतीत होता है। वह ऐसे घबरा उठे हैं कि वाच्य, अवाच्य, पात्र, अपात्र किसी बात का भी उन्हें ध्यान नहीं रहा है। 'मतवाला' के कुछ कम २१ कालमों में आपका उत्तर

छपा है। इनमें एक दर्जन के लगभग कालम मिथ्या आत्मश्लाघा, सभ्यता तथा शिष्टता-शून्य अनर्गल बातों और गालियों से भरे पड़े हैं। आपने अकेले हम पर ही अभद्रता-पूर्ण आक्षेप नहीं किए हैं, पर हमारे साथ हमारे मित्रों, 'माधुरी' के संपादकों, ग्राहकों और पाठकों तथा हमारे गुरुओं तक पर छींटे फेकने की धृष्टता की है। एक स्थान पर आप लिखते हैं "आपका लेख जब निकलेगा तब आपको पीटेंगे, और जब आप चुप हो जायँगे तब आपके पिट्ठुओं की ख़बर ली जायगी।" एक दूसरे स्थान पर आप फ़रमाते हैं "हम आपकी, आपके हिमायतियों की और आपके उस्ताद तक की ख़बर ले डालनेवाले गुरू घंटाल हैं।" मालूम होता है लालाजी अपने उस्ताद-जैसे ही सबके उस्तादों को समझते हैं। मगर यह उनकी भूल है। गुरूघंटालजी! को हम बता देना चाहते हैं कि हमारे उस्ताद अभी वर्षों आपको साहित्य पढ़ा सकते हैं, इसलिये सावधान! दही के धोखे कपास में मुँह मारने को अक़्लमंदी न कर बैठना। आत्मश्लाघा की भी आपने हद कर दी है। आप लिखते हैं "पर अब डंके की चोट कहते हैं कि हमारे चार मित्रों और चार शिष्यों को छोड़कर (जो ग्रेजुएट नहीं हैं) यू० पी० के कॉलेजों का कोई ग्रेजुएट ऐसा नहीं, जो बिना हमारी टीका की सहायता के 'कवि-प्रिया' वा 'रामचंद्रिका' पढ़ा सके।" कुछ ठिकाना है। इधर-उधर से पुस्तकें इकट्ठा करके पुरानी टीकाएँ देख-देखकर टकैहल टीकाएँ लिखना और उस पर इतना अभिमान कि "अहं वेद शुको वेद।" छिः, छिः। इसका उचित उत्तर तो यू० पी० कॉलेजों के ग्रेजुएट ही दे सकते हैं, हमें केवल इतना ही कहना है कि यदि वास्तव में लालाजी उस पद और योग्यता के मनुष्य होते, जिस पर इस समय वह हैं, तो कदापि ऐसा उत्तर न लिखते। 'मतवाला' में प्रकाशित, लालाजी का यह लेख, उनके हृदय की क्षुद्रता, विवेक की हीनता, मन की मलिनता, ग्रेजुएट-विभीषिका और अनुचित आत्मश्लाघा का एक नग्न चित्र है।

एक बात और, फिर हम उत्तर का प्रत्युत्तर प्रारंभ करेंगे। लालाजी के लेख से मालूम होता है कि श्री १०८ शंकराचार्य के सदृश आपने भी केशव-मर्म-भेदन-पटु अपने को "अहं ब्रह्मास्मि" समझनेवाले चार पट्ट शिष्य तैयार कर दिए हैं। आपकी इच्छा उन शिष्यों द्वारा ही उत्तर दिलवाने की थी, पर हमारे सौभाग्य से आपने ही क़लम उठाया। गुरुजी को इस बुढ़ापे में अकेले ही आगे बढ़ते देख उनमें से एक मोहनवल्लभपंतजी विशारद भी पीछे-पीछे मैदान में उतर पड़े हैं। सत्य ही यदि विशारदजी लालाजी के शिष्य हैं, और यदि न भी हों, तो भी हमें प्रसन्नता है कि लालाजी की अपेक्षा आपने अधिक शिष्ट और संयतभाषा से काम लिया है। पंतजी भ्रान्त भले ही हों, पर आपमें सदिच्छा और सत्साहस का सर्वथा अभाव प्रतीत नहीं होता है। आपने "इस लेख के लिखने से मेरा यह प्रयोजन नहीं कि लालाजी निर्दोष हैं to err is human अर्थात् मनुष्य से भूल होती ही है" इत्यादि लिखकर जहाँ संपूर्ण लेख पर पानी फेर दिया है। और "मेरी समझ में जटिल-से जटिल पदों के अर्थ को सुलझाने में सूक्ष्म लालाजी को इस अति सुगम पद का अर्थ ही न आया होगा, ऐसा ही विचारना उनकी विद्वत्ता पर आक्षेप करने के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।" इत्यादि अंध श्रद्धा-पूर्ण कथनों का प्रायश्चित्त कर लिया है, वहाँ साथ ही दबी ज़बान से सूक्ष्म लालाजी के अर्थों की सदोषता भी स्वीकार कर ली है। लालाजी इन पंक्तियों के लेखक पर दंडपाणि भले ही हों, पर जिस सत्य की घोषणा उसने की है, उसके आगे उन्हें सिर झुकाना ही पड़ेगा। गाली-गलौज को छोड़कर जहाँ तक विवादास्पद बातों का संबंध है, दीनजी और विशारदजी के लेखों में अधिक अंतर नहीं है। बल्कि यदि यह कहा जाय कि बातें दीनजी की हैं और भाषा विशारदजी की, तो अत्युक्ति न होगी। इसलिये अलग-अलग प्रत्युत्तर न देकर एक साथ ही हम दोनों पर विचार करते जायँगे। लालाजी का उत्तर यतः व्यापक है और टीका के रचयिता भी आप ही हैं, इसलिये मुख्यतया हम आपके ही उत्तरों पर प्रथम विचार करेंगे। साथ-साथ जहाँ आवश्यक होगा, वहाँ विशेष रूप से विशारदजी के लेख पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

विचारणीय छंद का उत्तरार्ध इस भाँति है—

पुण्य को प्रकाश वेद विद्या को विलास किधौं,
जस को निवास केशोदास जग जानिए;
मदन कदन सुत बदन रदन किधौं,
विघनविनाशन की विधि पहिचानिए।
(पृष्ठ ३, छंद ३)

दीनजी ने इसका अर्थ इस प्रकार लिखा है—

"(श्रीगणेशजी के दाँत की प्रशंसा में कवि कहता है)... अथवा यह पुण्य का प्रकाश है, या वेद-विद्या की शोभा है, या इसे संसार के यश का निवास-स्थान ही समझें। अथवा शिव-पुत्र (गणेश) के मुख का दाँत है, या विघ्नों के नाश करने की युक्ति है।"

'विलास' का अर्थ 'शोभा' लालाजी ऐसे संस्कृतदाँ ही कर सकते हैं। अस्तु—इस छंद में संदिग्ध वस्तु 'मदन-कदन सुत बदन रदन' है।

अर्थात् गणेश का दाँत है। लालाजी कहते हैं कि यह उन्होंने ब्रेकेट में लिख दिया है। हम भी इसे मानते हैं और ब्रेकेट-समेत वह अर्थ हमने यहाँ उद्धृत भी कर दिया है। हमारा आक्षेप लालाजी के अर्थ में यह था कि संदिग्ध वस्तु के पहले 'अथवा' लगाकर उन्होंने संदिग्ध को ही संदेह कैसे बना दिया है। गणेशजी के दाँत (संदिग्ध वस्तु) के लिये 'अथवा शिवपुत्र के मुख का दाँत है' यह लिखना कहाँ तक संगत है ? इस अर्थ से तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह संदिग्ध वस्तु कोई अन्य है, जिसमें अन्य संदेहों के साथ गणेश के दाँत होने का भी कवि को संदेह है। इसीलिये हमने लिखा था कि "अथवा शिवपुत्र के मुख का दाँत है" यहाँ से "अथवा" शब्द को उड़ा देना चाहिए और वाक्य-रचना ऐसी करनी चाहिए, जो खटके नहीं और अनर्थकारिणी न हो। लालाजी ने इसका जो उत्तर दिया है, वह यह है—

"यह ग़लती हमारी नहीं है, स्वयं केशव की है। क़ायदा यह है कि संदेहालंकार में वर्णनीय वस्तु सबसे अंत में रक्खी जाती है। यहाँ केशव महाशय ने अंत में न रखकर अंतिम वस्तु से पहले रख दिया है। इसी कारण उस छंद का अनुवाद वैसा किया गया है। परंतु भावार्थ लिखते समय ब्रेकेट के बीच में लिख दिया है कि यह किस वस्तु का वर्णन है।"

लालाजी ने जो कुछ किया है, ठीक ही किया है, पर इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि अर्थ लिखने में ग़लती अवश्य हुई है। लालाजी क़ायदा-क़ानून की दुहाई देकर ग़लती का दोष केशव पर मढ़ना चाहते हैं, पर सहृदय विद्वान् देखें कि वास्तव में दोषी कौन है ? लालाजी के क़ायदे में पद्य लेखक कवि क्या बाँधे जा सकते हैं ? फिर अर्थ केशव ने लिखा है या लालाजी ने ? लालाजी का केशव पर दोष मढ़ने का प्रयत्न निष्फल है "अथवा" शब्द यहाँ पर बेतरह खटकता है। इसे निकालना ही पड़ेगा। सैकड़ों गालियाँ भी इस अर्थ को शुद्ध नहीं सिद्ध कर सकतीं और केशव को दोषी नहीं ठहरा सकती हैं।

[नोट—मेरे उत्प्रेक्षा शब्द पर लालाजी को कुछ शौक़ चर्रा उठा था। मेरा ख़याल है, मेरे इस लेख से वह दब जायगा। क्योंकि सन्देह के स्थान पर उत्प्रेक्षा लिखकर मैंने ग़लती की थी और उसे स्वीकार करता हूँ।]

(२)

सगुन पदारथ अर्थयुत, सुबरनमय सुभ साज ;
कंठमाल ज्यों कवि-प्रिया, कंठ करो कविराज।
(प्र० ३, पृ० २५)

इसका भावार्थ लिखते हुए दीनजी लिखते हैं—

"हे कविराजगण ! इसे (कविप्रिया को) कंठ में पहन लो (ज़बानी याद कर लो)। इसमें काव्य-गुण ही ओज माधुर्य और प्रसाद का डोरा है। काव्यार्थ ही मणि माणिक हैं। और शुभवर्ण ही सुवर्णमय गुरिया हैं। और अच्छी तरह सजाई गई है (अच्छी तरतीब से सोने की गुरियाँ और जवाहिरात इसमें गुहे गए हैं)।"

लालाजी-कृत इस अर्थ में हमारे दो एतराज़ थे। एक तो यह कि "काव्य-गुण ही ओज माधुर्य और प्रसाद का डोरा है।" इस वाक्य का क्या अर्थ है ? इसमें "काव्य-गुण" कैसा डोरा है ? दूसरा यह कि ब्रेकेट में जो (अच्छी तरतीब से सोने के गुरियाँ और जवाहिरात इसमें गुहे गए हैं) यह लिखा है। इसमें '(इसमें)' शब्द किसके लिये आया है।

लालाजी ने इन दो में से दूसरे एतराज़ का कोई उत्तर नहीं दिया है। 'इसका क्या मतलब समझा जाय।' हमें तो 'अलख़ामोशी नीमरज़ा' वाला मसला दिखाई देता है। ख़ैर, जिसका उत्तर दिया गया है, अब ज़रा उस पर भी ग़ौर कीजिए।

पहले एतराज़ का उत्तर देते हुए आप फ़र्माते हैं "यदि काव्य-गुण शब्दों के आगे डैश लगा होता, तो सब ठीक होता।" डैश न लगने का कारण प्रेस की प्रेत-लीला बताकर सहज ही पीछा छुड़ाना चाहते हैं। लालाजी के पक्षपोषक पंतजी ने भी हमारे एतराज़ का यही हाल

बताया है। बहुत अच्छा "एक बुज़ुर्गेदों को हम झुठलाएँ क्या ?" जैसा लालाजी कहते हैं, उसे सही मान कर आइए पाठको ! ज़रा डैश लगाकर भी देखिए, क्या हर्ज है। डैश लगाने पर वाक्य का स्वरूप होगा "इसमें काव्यगुण—ही ओज माधुर्य और प्रसाद का डोरा है।" क्यों ठीक है न लालाजी ? पर यह क्या ? यह तो और गड़बड़ हो गई। उत्तर तो आप लोगों ने अच्छा ही सोचा था, मगर इस 'ही' ने सब गुड़गोबर कर दिया। बात वास्तव में यह है कि हमारे 'माधुरी' के लेख में यह 'ही' काव्यगुण, के बजाय 'प्रसाद का' के आगे छप गया है। बस, इसीलिये आपने यह उत्तर सोच निकाला है। मगर आपकी प्रियाप्रकाश में यह 'ही' काव्यगुण के साथ चिपका हुआ है। इसलिये डैश लगाने पर भी आपका मतलब सिद्ध नहीं हो सकता है। हाँ, एक उपाय है, इसे भी प्रेस की प्रेतलीला बताकर जान छुड़ाइए, और अगली बार इस 'ही' की भी चुटिया पकड़कर या तो बारह पत्थर बाहर करवा दीजिए, या फिर 'प्रसाद का' के आगे लगा दीजिए।

हमारे इस एतराज़ का हल विशारदजी ने भी डैश लगाना ही बतलाया है। पर डैश न लगाने का कारण प्रेस की प्रेतलीला न बताकर आपने एक नया कारण ढूँढ़ निकाला है। आप लिखते हैं "हाँ, लालाजी के लिखने की शैली अवश्य पुरानी है। अगर लालाजी समानाधिकरण कारक को 'कामा' या 'डैश' से अलग कर देते, तो शर्माजी के लिये अवश्य सुबोध हो जाता।" क्या ख़ूब ! यह पुरानी लेखन-शैली की आपने एक ही कही। लालाजी तो केशव को नए ढाँचे में ढालने की घोषणा कर रहे हैं और आप उनकी लेखन-शैली को पुरानी कहकर बचाव करना चाहते हैं। जो चाहिए गुरुजी के बचाव तरीक़े निकालिए, मगर इतना इस उत्तर से भी स्पष्ट कि आप भी इसे प्रेस की प्रेतलीला मानने को तैयार नहीं हैं। अर्थात् लालाजी जिस उत्तर से अपना बचाव करना चाहते हैं, वह आपको भी कुछ जँचा नहीं है। हम लिख चुके हैं कि हमारे दूसरे एतराज़ का लालाजी ने कोई उत्तर नहीं दिया है, पर विशारदजी ने उसका भी समाधान करने की चेष्टा की है। खेद से लिखना पड़ता है कि जिस, कोष्टांतर्गत वाक्य के 'इसमें' शब्द का लक्ष्य करके हमने प्रश्न किया था, उसे न समझकर दूसरे वाक्य के अंतर्गत 'इसमें' शब्द को लेकर आपने समाधान करने की चेष्टा की है। इसलिये उसके संबंध में हम कुछ नहीं कहना चाहते।

(३)

हमारे 'पाठांतर' संबंधी तीसरे आक्षेप का उत्तर देते हुए लालाजी लिखते हैं "हम पर 'पाठ-परिवर्तन' का दोष लगाया गया है। ठीक है, हम 'पाठांतर' रखने के विरोधी हैं।" पर इसका विशारदजी क्या उत्तर लिखते हैं, वह ज़रा ग़ौर करने लायक़ है। आप फ़र्माते हैं "लालाजी पर 'प्रिया-प्रकाश' में अपनी इच्छानुसार पाठ-भेद करने का दोषारोपण किया है। आपका यह कथन कहाँ तक सत्य है, सो या तो लालाजी ही जानें, या विद्वान् ही इसकी समीक्षा करेंगे। पर हाँ, इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि शर्माजी ने, यहाँ भी अनधिकार चेष्टा की है। आप सरासर झूठ कहते हैं।" बलिहारी है इस अंध पक्षपोषकता की। विशारदजी महाराज जब स्वयं टीकाकार लालाजी उत्तर दे चुके थे, तब आपको दालभात में मूसलचंद बनने की क्या आवश्यकता थी। फिर 'मुद्दई सुस्त और गवाह चुस्त', लालाजी तो कहते हैं कि आक्षेप 'ठीक है', पर आप उसके लिये हमें झूठा बनाना चाहते हैं। लालाजी के होते हुए आपने व्यर्थ ही कष्ट उठाया। हाँ, एक बात तो हम भूले ही जाते थे, हमारी इस नेक सम्मति को कि "लालाजी पाठांतर भी यदि साथ-साथ लिख देते, तो पुस्तक अधिक उपादेय और पूर्ण हो जाती।" विशारदजी लिखते हैं "मुझे तो शर्माजी की यह राय भाड़ में झोंकने लायक़ जान पड़ती है।" ज़रूर-ज़रूर आप भाड़ में न झोंकिएगा, तो कौन झोंकेगा ? हरएक मनुष्य को अपनी समझ के अनुसार काम करने में कुंठित न होना चाहिए। आप ज़रूर भाड़ में झोंकिए। अस्तु।

इस पाठ-भेद के संबंध में विवादास्पद छंद का पूर्वार्द्ध इस भाँति है—

"दै दधि, दीन्हों उधार हो केशव, दानी कहा जब मोल लै खैहैं ;
दीन्हें बिना तो गई जु गई, न गई न गई घर हौ फिरि जैहै।"

(पृ० ३०, छं० ३९)

दही बेचने को जाती हुई एक ग्वालिन से कृष्णजी कहते हैं 'दै दधि' हमको दही दो। इस पर वह उत्तर देती है 'दीन्हों उधार' अर्थात् उधार तो हम दे चुकीं।

अब इसके बाद विवादास्पद वाक्य आता है। दीनजी के कथनानुसार पाठ है "दानी कहा जब मोल ले खैहैं।" और इसका अर्थ आप लिखते हैं कि जब उधार देने से ग्वालिन ने इनकार कर दिया, तब कृष्ण कहते हैं "हम दानी कैसे जो मोल लेकर खायँ। हम जगात में लेते हैं।" अब ज़रा इस अर्थ की विवेचना तो कीजिए।

ग्वालिन के उत्तर 'दीन्हों उधार' से स्पष्ट है कि कृष्ण ने 'दै दधि' कहकर जो दही माँगा था, वह उधार माँगा था। कम-से-कम टैक्स या जगात का नहीं माँगा था। यदि कृष्ण ने (जगात) टैक्स के रूप में दही माँगा होता, तो ग्वालिन को कहना चाहिए था 'दीन्हों जगात।' केशवजी को यदि लालाजीवाला अर्थ अभीष्ट होता, तो वह वैसा लिख सकते थे। किसी प्रकार से यदि यह मान भी लिया जाय कि कृष्ण ने 'दै दधि' पद द्वारा जगात का ही दही माँगा था, तो ग्वालिन का उत्तर 'दीन्हों उधार' उन्मादिनी का एक प्रलाप कहना पड़ेगा। क्योंकि सवाल कुछ है और जवाब कुछ। कहते आम हैं, जवाब इमली मिलता है। इसलिये इतना तो निर्विवाद है कि कृष्ण ने 'दै दधि' द्वारा जो दही माँगा था, वह जगात का नहीं प्रत्युत उधार का ही था। अब 'दानी कहा जब मोल लै खैहैं', लालाजी के इस पाठ की यहाँ संगति किसी प्रकार नहीं लग सकती। यह तो मानना ही होगा कि उधार और टैक्स (जगात) में आकाश-पाताल का अंतर है। ग्वालिन ने अब तक उधार-मात्र का निषेध किया है, जगात का नहीं। तब फिर कृष्ण के चित्त में यह प्रश्न कैसे उत्पन्न हुआ कि उनके 'दानी' या टैक्स वसूल कर्तृत्व पर घोर आक्रमण हो रहा है। उनका यह भय "हम दानी कैसे जो मोल लेकर खायँ", यह बिलकुल व्यर्थ और असंबद्ध वाक्य हो जाता है। दूसरा दोष लालाजी के पाठ में यह आता है कि छंद के देखने से मालूम होता है कि छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा ही प्रश्नोत्तर हो रहे हैं। और होने भी चाहिए। पर लालाजी के पाठ को यदि ठीक मान लिया जाय, तो कृष्ण का यह वाक्य बहुत बड़ा हो जाता है। यहाँ तक कि प्रथम चरण के उत्तरार्द्ध से लेकर दूसरे चरण के पूर्वार्द्ध तक वह बढ़ जाता है। जिसके कारण प्रश्नोत्तर का सौष्ठव नष्ट हो जाता है। न केवल सौष्ठव ही नष्ट हो जाता है, किंतु एक दोष भी उत्पन्न हो जाता है। और वह यह कि कृष्ण के इस बड़े कथन में "दानी कहा जब मोल लै खैहैं। दीन्हें बिना तो गई जु गई" स्पष्ट दो वाक्य मालूम होते हैं। एक तो "दानी कहा जब मोल लै खैहैं", और दूसरा "दीन्हें बिना तो गई जु गई।" दोनों ही वाक्य स्पष्ट पृथक्-पृथक् वाक्यों के उत्तर प्रतीत होते हैं। पर उन दोनों आकांक्षित वाक्यों का यहाँ कहीं पता भी नहीं है। लालाजी का पाठ सही मान लेने पर यह भी मानना पड़ेगा कि केशव ठीक-ठीक वाक्य-रचना भी नहीं कर पाए। इन्हीं सब बातों के कारण हमने इस पाठ को अनर्थकारी कहा था। अब सुविज्ञ पाठक देखें कि हमने जिस पाठांतर का उल्लेख किया था, वह कितना संगत और चमत्कार-पूर्ण है।

हमारी सम्मति में यहाँ पर "दान, कहा अरु मोल लै खैहै" पाठ होना चाहिए। अब इसका अर्थ भी समझ लीजिए। जब ग्वालिन ने उधार देने से इनकार कर दिया, तब कृष्ण ने उसे छकाने और मुफ़्त माल मारने का दूसरा उपाय सोच निकाला। यह पहले से अधिक कारगर भी था। क्योंकि उधार देना, या न देना तो देनेवाले की इच्छा पर निर्भर है। पर जगात या टैक्स के चक्कर से निकलना आसान नहीं था। इसलिये कृष्ण ने जब देखा कि उधार देने को यह ग्वालिन राज़ी नहीं है, तब बोले अच्छा 'दान' दान ही दो। 'दान' का अर्थ चाहे आप प्रचलित 'दान' कर लीजिए और चाहे सूरसागर की दान-लीला में प्रसिद्ध जगात या टैक्स कर लीजिए, दोनों ही अर्थ यहाँ सुसंगत हो सकेंगे। हाँ, उनकी संगति लगाने में यत्किंचित् भेद होगा।

इसका उत्तर देते हुए लालाजी ने दिनदहाड़े आँखों में धूल झोंकने का प्रयत्न किया है। आप लिखते हैं "दान, कहा अरु मोल लै खैहैं" इसे हम ग्वालिन का वचन मानते हैं। एकदम ग़लत। हमारे लेख को पाँच बार पढ़ने पर भी यह ग़लत बयानी। अजी लालाजी हम 'दान' इतना कृष्ण का कथन मानते हैं और "कहा अरु मोल लै खैहैं" इतना ग्वालिन का। जब कृष्ण ने 'दान' माँगा, तो ग्वालिन ने कुछ झुँझलाते और ताना मारते हुए कहा 'कहा अरु मोल लै खैहैं', अर्थात् और क्या आप मोल लेकर खायँगे? मतलब यह कि तुम्हारे ऐसे आदमी उधार मागेंगे या दान मागेंगे, मगर मोल लेकर थोड़ा ही खायँगे? कहिए लालाजी व्याकरण की अशुद्धि भी

अब दूर हो गई कि नहीं। 'लै हैं' पाठ से ही काम चल जायगा और वही शुद्ध भी है। 'लैहो' को चिंता में आप व्यर्थ ही घुल रहे हैं। तुकांत आपका सुरक्षित रहेगा। जब 'उधार' और 'दान' दोनों प्रकार से दही नहीं मिला, तो कृष्णजी भी थकड़ गए और बोले "दीन्हे बिना तो गई जु गई" आगे सब स्पष्ट हो है। कहने का तात्पर्य यह कि हमारा पाठ लालाजी के पाठ से कहीं अधिक संगत और निर्दोष है, इसलिये ही हम इसे ठीक समझते हैं और लालाजी के पाठ को असंगत।

हमारे इस एतराज़ का उत्तर देते हुए लालाजी ने अपनी संस्कृत दानी की एक और बानगी पेश कर दी है। हम तो आपकी संस्कृत दानी के तभी से क़ायल हैं, जब से 'रामचंद्रिका' की टीका में 'आनंदकंद' का अर्थ 'आनंद के बादल' और 'अवदात' का अर्थ 'चौड़ा' देखा है। अब और लोग भी देख लें। 'मंजु' शब्द के संबंध में लिखते हुए आप लिखते हैं "पचासों जगह 'माल' और 'हार' के लिये 'मंजु' शब्द आया है। यहाँ तक कि श्रीमद्भागवत में 'मंजुगुंजावतंस' शब्द आए हैं।" शब्द तो ज़रूर आए होंगे, मगर आपका इनसे मतलब? क्या आप इससे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि 'मंजु' शब्द का 'माल' या 'हार' अर्थ है। अफ़सोस, सदफ़सोस, अजी दीनजी बनारस को गलियों में घूमनेवाले किसी 'लघुसिद्धांत कौ०' पढ़नेवाले विद्यार्थी से ही यदि आप पूछ लेते, तो आपको मालूम हो जाता कि 'मंजु' शब्द का क्या अर्थ है। 'मंजु' शब्द का अर्थ कमनीय, सुंदर और कोमल है, 'हार' और 'माल' नहीं।

(४)

चौथा एतराज़ हमारा निम्न-लिखित छंद के तीसरे चरण में आए 'मध्यम' शब्द के अर्थ के संबंध में था।

"हे अति उत्तम ते पुरुषारथ जे परमारथ के पथ सो हैं।
केशवदास अनुत्तम ते नर संतत स्वारथ संयुत जो हैं।
स्वारथहू परमारथ भोगन मध्यम लोगनि के मन मोहैं।
भारत पारथ-मित्र कह्यो परमारथ स्वारथ हीन ते को हैं।"

(पृ० ४८, प० ४)

लालाजी ने इस छंद के तीसरे चरण का अर्थ करते हुए 'मध्यम' शब्द का अर्थ किया है 'अति नीच'। हमने इस पर लिखा था कि 'मध्यम' शब्द का 'अति नीच' अर्थ प्रथम तो अशुद्ध ही है, दूसरे कोई आवश्यकता भी नहीं मालूम होती कि बिना इस प्रकार का अर्थ किए काम न चले। 'मध्यम' को 'लोगनि' का विशेषण मानने से सब काम भी बन जाता है और इस खींचातानी की कोई आवश्यकता नहीं रहती। मगर लालाजी को हमारी बात रुची नहीं। आप अपनी बुज़ुर्गी की डफली पीटते हुए लिखते हैं कि "कै आमदी व कै पीरशुदी' अभी और कुछ दिन खाइए खेलिए, देश में भ्रमण कीजिए, तब कहीं किसी देश में 'मध्यम' का अर्थ 'अति ख़राब' मालूम हो जायगा।" क्या सुंदर उत्तर है? लालाजी उस देश का पता-ठिकाना भी लिख देते, तो उत्तम होता। 'अति ख़राब' का गंगा-मदारी सम्मेलन भी दर्शनीय है। एक कारण, ऐसा अर्थ करने का आपने और लिखा है और वह यह कि इस छंद से पूर्व केशव ने एक दोहा लिखा है, जिसमें उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार के कवियों के भेद किए हैं। उन्हीं तीनों का उत्तम, अनुत्तम और मध्यम शब्दों द्वारा इस छंद में वर्णन किया गया है। इसलिये यथासंख्यालंकार से 'मध्यम' का 'अति नीच' यदि अर्थ कर दिया, तो क्या बुरा किया है? ठीक है, बुरा तो कुछ नहीं किया। यही ज़रा अर्थ अशुद्ध कर दिया है। लालाजी की यह यथासंख्यालंकारवाली युक्ति भी लचर है। क्यों?

यह तो लालाजी भी मानते ही हैं कि केशव ने तीन प्रकार के कवि प्रथम दोहे में कहे हैं। उनमें से प्रथम दो का, अर्थात् उत्तम और मध्यम का छंद के प्रथम दो चरणों में वर्णन हो ही चुका है। इसलिये अब 'अधम' की ही व्याख्या शेष रह गई। हमारे ख़याल से छंद का उत्तरार्द्ध अर्थात् तीसरा और चौथा चरण दोनों उस अवशिष्ट 'अधम' की ही 'ते को हैं', इस पद के द्वारा व्याख्या कर रहे हैं। हमारे और लालाजी के अर्थ में भेद का मुख्य कारण यही है कि हम तीसरे और चौथे चरण को मिलाकर 'अधम' की व्याख्या मानते हैं और लालाजी दोनों चरणों में दो भिन्न बातों की व्याख्या मानते हैं। आप तीसरे चरण को 'अधम' की व्याख्या मानते हैं। और चौथे चरण में उसी अर्थ को पुनरुक्ति करके उनके कवि होने में भी संदेह करते हैं। चौथे चरण का अर्थ आपने लिखा है "ऐसे ही कवियों के लिये महाभारत में श्रीकृष्ण ने कहा है कि जो स्वार्थ और परमार्थ-रहित कविता करते हैं, उन्हें क्या कहें, अर्थात्

उन्हें कवि कहना भी चाहिए या नहीं।" अब ज़रा इस अर्थ पर विचार तो कीजिए। आप लिखते हैं "जो स्वार्थ और परमार्थ-रहित कविता करते हैं, उन्हें क्या कहें", उन्हें भटियारा या भाँड़ कहो। और क्या कहोगे! अजी जनाब उन्हीं को तो 'अधम' कवि कहते हैं। तीसरे चरण के 'स्वारथ हू परमारथ भोगन' और चौथे चरण के 'स्वारथ औ परमारथ हीन' दोनों एक ही अर्थ के वाचक तो हैं। इन दोनों वाक्यों के वाच्यार्थ क्या भिन्न हैं? यदि नहीं, तो फिर जिसे तीसरे चरण में आप 'अधम' या 'अति नीच' मान आए हैं, उनके लिये चौथे चरण में यह कहना कि "उन्हें क्या कहें, उन्हें कवि कहना भी चाहिए या नहीं", यह कहाँ तक संगत है। फिर केशव ने तो तीन प्रकार के कवि प्रथम कहे और अब छंद में चार का वर्णन कर डाला, यह कैसी बात? यदि यह मानें कि कवियों की तो तीन ही प्रकार की व्याख्या की है, इन चौथे चरणवालों को तो कवि ही नहीं माना है, तो यह भी व्यर्थ वाद है। जो कवि नहीं, उनकी व्याख्या प्रकट संप्राप्त नहीं है। तीसरे 'ते को हैं' का 'उन्हें क्या कहें', यह अर्थ एकदम अशुद्ध है। इन्हीं कारणों से हम तीसरे और चौथे चरण में अवशिष्ट 'अधम' कवियों की व्याख्या मानते हैं। और ऐसा मानने पर 'ते को हैं' इस प्रश्नवाचक वाक्य द्वारा ही 'अधम' की उपस्थिति हो जाती है, 'मध्यम' शब्द का 'अधम' अर्थ करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। 'ते को हैं' का अर्थ होगा 'वे कौन हैं' अर्थात् वही तो 'अधम' कवि हैं। इस प्रकार से इस उत्तरार्द्ध का अर्थ होगा कि जिस कविता से स्वार्थ और परमार्थ एक का भी साधन न हो, केवल साधारण जनता का मनोविनोद हो, ऐसी कविता करनेवाले स्वार्थ और परमार्थ-रहित कवियों के लिये ही महाभारत में श्रीकृष्ण ने कहा है 'ते को हैं' अर्थात वे ही तो 'अधम' कवि हैं।" लालाजी के पक्ष-पोषक 'विशारद' जी ने इस छंद की व्याख्या करने में बहुत सिर खपाया है, पर खेद है कि विचारों की कुछ समझ में ही नहीं आया। लालाजी ने जो कुछ ठीक भी लिखा था आपने उसे भी साफ़ करके अर्थ का अनर्थ ही नहीं घोर अनर्थ कर डाला है। आप तीसरे चरण की व्याख्या लिखते हैं—"जो केवल स्वार्थ ही साधने के लिये परमार्थ को ताक़ में रख देते हैं, केवल लोगों के रिझाने को भँड़ौवापन कर देते हैं, उनको हम पहले या दूसरे दर्जे में तो रख नहीं सकते, तीसरे ही दर्जे में उनको मानना पड़ेगा।" यह अर्थ सचमुच ताक़ में धर देने योग्य है। भर्तृहरि के "तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये", इस चरण द्वारा वर्णित तीसरी कोटि के पुरुषों की यह भले ही व्याख्या हो; पर केशव के तीसरी कोटि के (लालाजी के अर्थ से भी) कवियों की व्याख्या यह कदापि नहीं हो सकती है। केशव के तीसरी कोटि के कवि 'स्वारथ हू परमारथ भोगन' स्वार्थ और परमार्थ दोनों से हीन हैं। उनके लिये यह कहना कि स्वार्थ साधने के लिये परमार्थ को ताक़ में रख देते हैं महा अशुद्ध है।

सहृदय पाठको! यहाँ तक हमने केशव के छंद पर स्वतंत्र रूप से अर्थात् केशव का स्वतंत्र छंद समझकर विचार किया है। अब हम एक दूसरी दृष्टि से इस छंद पर विचार करेंगे। हमारा विचार इस लेख में ऐसा करने का नहीं था, पर इधर विशारदजी ने कुछ छेड़छाड़ कर दी है और उधर लालाजी भी हमें बहुत कुछ कह चुके हैं, इसलिये एक नवीन विचार इस छंद के संबंध में हम यहाँ रख ही देना चाहते हैं।

जिन्होंने भर्तृहरि का नीति-शतक पढ़ा है, उन्हें केशव का यह छंद पढ़ते ही मालूम हो जायगा कि यह छंद भर्तृहरि के एक श्लोक का अनुवाद है। वह छंद निम्न-लिखित है। विशारदजी ने इसे उद्धृत भी किया है —

"एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये;
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे।
(भर्तृ० नीति०)

हमारे मेहरबान, दीनजी और उनके पक्षपोषक विशारदजी केशव के छंद में जो चार चार प्रकार के पुरुषों की व्याख्या निकालते हैं, उसका कारण केवल यह श्लोक है। इस श्लोक में चार प्रकार के पुरुषों की व्याख्या है, इसलिये बावजूद इसके कि केशव ने प्रथम दोहे में तीन प्रकार के कवियों की घोषणा कर दी है, और तीसरे तथा चौथे चरण में एक ही अर्थ के वाचक शब्द दिखाई देते हैं यह महानुभाव उस छंद में से चार प्रकार के कवियों की व्याख्या निकालने में एँड़ी-चोटी का पसीना एक कर रहे हैं। जो शब्द इनका हुक्म मानने से इनकार करता है,

उसकी मरम्मत भी कर रहे हैं। जितना ज़ोर यह महानुभाव शब्दों के हलाल करने और अर्थों की खींचातानी में लगा रहे हैं, उसका आधा भी यदि सत्यार्थ के जानने में लगावें, तो हमें पूर्ण विश्वास है कि उन्हें अपने इन अनर्थों से हाथ खींच लेना पड़ेगा। विस्तार को छोड़कर संक्षेप में अब हम दोनों छंदों के क्रमशः एक-एक चरण का भावार्थ लिखेंगे। केशव के छंद का भावार्थ लिखने में लालाजी के ही भावार्थों को प्रथम हम लिखेंगे। पाठक देखें कि दोनों छंदों के अर्थों में कितनी समता और अंतर है।

श्लो० प्र० चरण—स्वार्थ छोड़कर एक-मात्र परमार्थ-साधन करनेवाले 'सत्पुरुष' हैं।
छं० प्र० चरण—एक-मात्र परमार्थ के मार्ग में चलनेवाले 'अति उत्तम' हैं।

श्लो० द्वि० चरण—स्वार्थ के साथ परार्थ करनेवाले 'सामान्य' हैं।
छं० द्वि० चरण—निरंतर स्वार्थ-साधन करनेवाले 'अनुत्तम' हैं।

श्लो० तृ० चरण—स्वार्थ के लिये परहित का नाश करनेवाले 'मनुष्यरूपी राक्षस' हैं।
छं० तृ० चरण—स्वार्थ और परमार्थ दोनों जिनकी कविता से न हो, वह 'अति नीच' है।

श्लो० च० चरण—जो व्यर्थ ही परहित का नाश करते हैं 'ते के' वे कौन हैं अर्थात् वह अधम से अधम हैं।
छं० च० चरण—स्वार्थ और परमार्थ-हीन जो कविता करते हैं 'ते को हैं' अर्थात् वे कौन हैं।

इन अर्थों की तुलना करने पर स्पष्ट मालूम होता है कि प्रथम और चतुर्थ चरणों को छोड़कर श्लोक और छंद के किसी चरण में अर्थ या भावसाम्य नहीं है। लाला भगवानदीनजी के पोषक विशारदजी ने जो यह लिखा है "केशव का उक्त छंद भर्तृहरि श्लोक से हू-ब-हू मिलता है", यह बात लालाजी का पाठ और अर्थ सही मान लेने पर कदापि सिद्ध नहीं हो सकती है। सच तो यह है कि दोनों ने ही इस छंद का अर्थ समझने में भारी भूल की है।

यह छंद निःसंदेह भर्तृहरि के श्लोक से हू-ब-हू मिलता है और उसका अनुवाद है, पर उस प्रकार से नहीं, जिस प्रकार से आप लोग समझे बैठे हैं। पुरानी टीकाएँ देखकर टीका लिखना और बात है, सोच समझकर संपादन करना दूसरी। हमारा विश्वास है कि इस छंद के संपादन में भारी भूल हो गई है। मगर यहाँ अपनी भूल को देखता कौन है? यहाँ तो इस अभिमान में चूर हैं कि संसार में केशव की कविता को यदि कोई समझनेवाला है, तो बस 'अहम्'। मगर सच तो यह है गुरुघंटाटालजी! आप कुछ समझते-बमझते नहीं है। यदि समझते होते तो ऐसी ग़लती न करते। अच्छा, तो वह ग़लती क्या है?

हमारे ख़याल से लेखकों के प्रमाद से हो, या किसी कारण से हो, केशव के दूसरे और तीसरे चरण में रद्दोबदल हो गया है। दूसरा तीसरे के स्थान पर और तीसरा दूसरे के स्थान पर लिखा गया है। यदि इसको बदल दिया जाय अर्थात् 'केशोदास अनुत्तम तेन २...' इस पद को तीसरे पद अर्थात् 'स्वारथ हू परमारथ भोगन...' के स्थान पर रख दिया जाय और तीसरे को दूसरे के स्थान पर तो और तभी यह छंद हू-ब-हू भर्तृहरि के श्लोक का अनुवाद हो सकता है। ऐसा करने पर 'मध्यम' शब्द को हलाल करने की भी आवश्यकता न रहेगी और छंद का अर्थ इस प्रकार होगा।

श्लो० प्र० चरण—"एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये"।
अर्थ—स्वार्थ छोड़कर एक-मात्र परार्थ करनेवाले 'सत्पुरुष' हैं।
छं० प्र० च०—"हैं अति उत्तम ते पुरुषारथ जे परमारथ के पथ सों हैं"।

अर्थ—एक-मात्र परमार्थ के पथ पर चलनेवाले 'अति उत्तम' हैं।

श्लो० द्वि० च०—"सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये"।
अर्थ—स्वार्थ के साथ परार्थ करनेवाले 'सामान्य' हैं।
छं० द्वि० च०—"स्वारथ हू परमारथ भोगन मध्यम लोगनि के मन मोहैं"।

अर्थ—'परमारथभोगन' शब्द को 'परमारथ भोग' का बहुवचन मानना पड़ेगा और इसका अर्थ होगा। "परमार्थ भोगों के साथ स्वार्थ को सिद्ध करनेवाले और

लोगों का मनोविनोद भी जो कर सकें, वह 'मध्यम' श्रेणी के कवि हैं।

श्लोक तृ० च०—"तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।"

अर्थ—स्वार्थ के लिये दूसरे के हित का नाश करनेवाले 'मनुष्यरूपी राक्षस' हैं।

छं० तृ० च०—"केशवदास अनुत्तम ते नर संतत स्वारथ संयुत जे हैं।"

अर्थ—निरंतर स्वार्थ-साधन करनेवालों के लिये केशवदास कहते हैं कि वे 'अनुत्तम' हैं। अर्थात् 'अधम' हैं।

श्लो० च० चरण—"ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे।"

अर्थ—जो व्यर्थ ही दूसरों के हित का नाश करते हैं 'ते के' वे कौन हैं? अर्थात् यह सबसे पतित या अधम हैं।

छं० च० चरण—"भारत पारथ-मित्र कह्यो परमारथ स्वारथ हीन ते को हैं।"

अर्थ—महाभारत में श्रीकृष्ण ने कहा है कि परमार्थ-स्वार्थ-हीन अर्थात् जिस कविता से न स्वार्थ सिद्ध हो और न परमार्थ ही, ऐसी कविता करनेवाले 'ते को हैं' वे कौन हैं? अर्थात् वह तो अधम से भी अधम हैं। हम कह नहीं सकते कि सरदार कविजी तथा हरिचरण-दासजी ने या और किसी विद्वान् ने केशव के छंद के संबंध में इस प्रकार का विचार क्यों नहीं किया। पर इतना हम कह सकते हैं कि भर्तृहरि के श्लोक का यदि यह छंद अनुवाद है, जैसा कि है, तो इसका पाठ और अर्थ इसी प्रकार का मानना पड़ेगा जैसा कि हमने यहाँ लिखा है। लालाजी इस अर्थ को यदि मान लें, तो 'मध्यम' शब्द 'अति नीच' अर्थ से बच सकता है, यथासंख्य अलंकार का भी भय नहीं रहेगा। 'अनुत्तम' शब्द में बहुव्रीहि समास न मानने पर उसका अर्थ 'अधम' हो ही सकता है। आशा है, सुविज्ञ विद्वान् इस पर विचार करेंगे।

(५)

पाँचवाँ एतराज़ हमारा 'सुरपाल' शब्द के अर्थ के संबंध में था। वर्णालंकार के पीत वर्णन में 'सुरपाल' शब्द आया है। लालाजी इसका अर्थ 'इंद्र' मानते हैं। परंतु श्वेत वर्णन में केशव ने एक शब्द 'हरिहय' लिखा है, इसका अर्थ भी इंद्र है। तो फिर इंद्र के यह दो रंग कैसे? इस दोष के परिहार के लिये हमने यह उपाय बताया था कि 'सुरपाल' शब्द के 'सुर' और 'पाल' ऐसे दो टुकड़े यदि मान लिये जायँ, तो न केवल दोष का ही परिहार हो जाता है अपितु दो नई वस्तुओं का वर्णन भी हो जाता है। हमारी यह नेक सलाह लालाजी को क्यों अच्छी लगने लगी। आप हमें बुरा-भला कहने के बाद लिखते हैं "तो आपके कथनानुसार सब देवता पीले हुए। इंद्र, वरुण, कुबेर, शिव, विष्णु, ब्रह्मा सब पीले हुए। शर्माजी ज़रा जनेऊ की क़सम खाकर कहिए तो यह बात ठीक है? हम तो क़लम की क़सम खाकर कह सकते हैं कि यह बात ठीक नहीं है" हम भी कहे देते हैं, आपकी बात बिलकुल ठीक नहीं है। मकतब में लड़के बात-बात पर 'इल्म' की क़सम खाते हैं। लड़कपन में लालाजी को भी यही आदत रही होगी। वही याद आ गई दीखती है। मगर बुढ़ापे में, अब 'इल्म' भूल गए प्रतीत होते हैं, इसलिये 'क़लम' की ही क़सम खा बैठे। वाह लालाजी वाह यह क़समा-क़समी की भी आपने यहाँ अच्छी चलाई। क़सम कौन खाते हैं, यह तो आप जानते ही हैं। हम क़सम नहीं खाते। फिर इस प्रकार क़समा-क़समी पर ही यदि निर्णय होने लगें, तो महा अंधेर हो जायगा। ख़ैर, जो हो, हम आपकी क़सम को मानने के लिये तैयार नहीं हैं। हाँ, आप यदि कोई प्रबल प्रमाण अपने पक्ष में दें, तो उस पर हम विचार करेंगे।

आपको जो यह भय है कि सब देवता पीले हो जायँगे, इससे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। निःसंदेह 'सुर' शब्द द्वारा सब देवताओं का रंग पीला मानना पड़ेगा। पर जिस-जिस देवता का केशव को पीला रंग अभीष्ट नहीं होगा, उनका वह स्वयं दूसरा रंग वर्णन कर देंगे। यही उन्होंने किया भी है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि का उन्हें पीला रंग अभीष्ट नहीं था, इसलिये अपवाद रूप उनके रंगों का अलग-अलग वर्णन कर दिया है। सामान्य और विशेष रूप में बातें कही ही जाती हैं। इसलिये आपका यह भय कि 'सुर' का अर्थ देवता कर लेने पर भी कई देवता दुरंगे हो जायँगे, सर्वथा निर्मूल है।

दूसरी बात जो आपने लिखी है, वह भी व्यर्थ है। आप फ़र्माते हैं "अभी कुछ दिन और साहित्य के जंगल में विचरण कीजिए, तब आपको मालूम हो जायगा कि एक इंद्र ही नहीं कई देवता गिरगिट रंगधारी हैं।" होंगे और ज़रूर होंगे लालाजी !! मगर साहित्य-कुवलयापीड़जी ! यह तो कहिए, यहाँ इससे आपका क्या मतलब है ? हम—यहाँ हिंदी-साहित्य में क्या माना जाता है ? या एक-एक देवता का कितने रंगों में वर्णन मिलता है ? यह विचारने तो बैठे नहीं है, फिर यह जंगल में विचरण करने के लिये उपदेश देने का आप कष्ट क्यों उठा रहे हैं। आजी जनाब हमें तो यहाँ केवल केशव के ही ग्रंथ पर विचार करना है और उसकी ही जहाँ तक संभव हो दोष-रहित संगति लगानी है।

आपकी तीसरी दलील भी निःसार है। काव्य-प्रभाकर के पीत रंग वर्णन में आ सके 'सुरेस' शब्द के प्रमाण द्वारा आप यह सिद्ध करना चाहते हैं कि यतः वहाँ इंद्र का रंग पीला माना गया है, अतः यहाँ भी 'सुरपाल' शब्द द्वारा इंद्र ही का अर्थ लेना चाहिए। लालाजी इस प्रमाण के बल पर ख़ूब उछले-कूदे हैं। मगर ज़रा-सा विचार करने पर इस सुप्रमाण की निरर्थकता प्रकट हो जाती है। हम लालाजी से पूछना चाहते हैं कि पीत-वर्णन के समीप ही लिखे काव्यप्रभाकर के श्वेत-वर्णन में भी कहीं 'हरिहय' या इंद्र का नाम आया है ? यदि नहीं है, तो इसका क्या अर्थ समझा जाय। इतना ही नहीं, बल्कि एक अन्य स्थान पर पृ० ६६० पर काव्य-प्रभाकरकार ने 'इंद्र' का रंग 'गौर' भी लिखा है। पर केशवदास ने गौर रंग का कहीं वर्णन ही नहीं किया है। कहने का तात्पर्य यह कि अन्य कई बातों के सदृश रंग-वर्णन में भी आचार्यों में मतभेद पाया जाता है। जिसने जिस वस्तु का जो रंग मुख्य माना है, उसी का वर्णन कर दिया है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि केशव ने अपने वर्णालंकार के वर्णन में किसी भी एक वस्तु के दो रंग नहीं माने हैं, फिर इंद्र के ही दो रंग क्यों मान लिये जायँ। इसलिये 'सुरपाल' शब्द को एक न मानकर उन्हें 'सुर' और 'पाल' दो शब्द ही मानना उचित है। और ऐसा अर्थ मिलता भी है। विशारदजी के वितंडावाद का भी इस उत्तर से ही समाधान समझना चाहिए।

(६)

हमारा छठा एतराज़ निम्न-लिखित छंद के अर्थ में था।

"मंगल ही जु करी रजनी बिधि, याही ते मंगली नाम धरयो है ;
दीपति दामिनि देह सँवारि, उड़ाय दई घन जाय बरयो है।
रोचन को रचि केतिक चंपक, फूल में अंग सुवास भरयो है ;
गौरी गोराई के मेलहिं लै करि, हाटक तें करहाट कयो है।"

(प्र० ५, पृ० ६८)

लालाजी ने इस छंद के प्रथम चरण का अर्थ किया है "पार्वती के मांगल्य गुण से ब्रह्मा ने हल्दी बनाई, इसी से उसका नाम 'मंगली' रखाया।" शब्दार्थ लिखते हुए 'मंगल' शब्द का अर्थ भी आपने लिखा है "मंगल=(पार्वती का एक नाम मंगला भी है) अतः मंगलकारी गुण, मांगल्य गुण।"

'मंगल' शब्द की इस छीछालेदर के संबंध में हमने जो एतराज़ किया था, लालाजी ने उसका कोई उत्तर नहीं दिया है। यह संभव नहीं कि लालाजी ने उत्तर लिखा हो और 'मतवाला' प्रेस के भूतों ने उसे उड़ा दिया हो, क्योंकि प्रेस के प्रबंधक लालाजी के भक्त हैं, और उन्होंने बड़े गौर से प्रूफ़रीडरी की है। इसलिये इसे भी 'मौन-मर्धस्वीकारं' मानना पड़ेगा। ख़याल रहे यह नंबर दो है।

'बड़े मियाँ-सो-बड़े-मियाँ छोटे मियाँ सुभानअल्लाह', लालाजी ने तो इसके संबंध में कुछ नहीं लिखा था, पर विशारदजी ने पूरे दो कालम 'माधुरी' के इसके लिये रंग डाले हैं। आप लिखते-लिखते लिखते हैं "यदि शर्माजी समझते हों कि हल्दी, दामिनी, रोचन आदि गोराई से ही बनाए गए हैं, तो यह शर्माजी की सरासर भूल है। पार्वतीजी का रंग कवियों ने पीला माना है। यही नहीं, किंतु पार्वतीजी से संबंध रखनेवाले जितने भी गुण हैं, उनको भी पीला माना है। मांगल्य, दीप्ति, सुवास और गोराई ये पार्वतीजी के नैसर्गिक गुण हैं। इन्हीं गुणों को लेकर एक-एक वस्तु की रचना की गई है।" विशारदजी के इस लेख से दो बातें तो स्पष्ट ही हैं। प्रथम यह कि पार्वतीजी से संबंध रखनेवाले सब गुण पीले हैं। दूसरी यह कि पार्वतीजी के चार ही नैसर्गिक गुण हैं। एक मांगल्य, दूसरा दीप्ति, तीसरा सुवास और चौथा गोराई। क्या यह दोनों बातें सत्य हैं ? यदि हाँ, तो क्या विशारदजी कोई ऐसा प्रमाण दे सकते हैं, जहाँ पार्वतीजी के सतीत्व, यश और ओष्ठ, कर और पाँवों के तलुओं का रंग पीला वर्णन किया गया है ? क्या यह नैसर्गिक

नहीं है ? इतना ही नहीं, यदि विशारदजी की बात सही मान ली जाय, तो स्वाभाविक ही यह प्रश्न होता है कि 'मांगल्य आदि गुणों' से जब हल्दी आदि बनाई गई, तो पीछे पार्वतीजी में 'मांगल्य आदि गुण', शेष रहे कि नहीं। उनमें कुछ कमी आई कि नहीं। सच तो यह है कि न केशवजी ने और न किन्हीं दूसरे ही आचार्य ने पार्वतीजी के गुणों के संबंध में ऐसी बातें कही हैं और न साहित्य से ही यह बातें सिद्ध हैं, यह विशारदजी की अपनी बात है। छंद को पढ़ने पर स्पष्ट मालूम होता है कि केशव को गौरी की गोराई का उत्कर्ष दिखाना ही अभीष्ट है। और इसीलिये वह कहते हैं कि 'गौरी गोराई की मैलहिं लै करि' हाटक से 'सोना' से लेकर (करहाट) कमलकोष तक अर्थात् संपूर्ण पदार्थ बनाए हैं। यह हल्दी, दामिनी, गोरोचन और केतकी आदि सब पदार्थ उस गौरी की गोराई के मैल से ही बने हैं। रही पुष्पों में सुगंध की बात, उसके लिये केशव कहते हैं कि गौरी के अंग सुवास से ही उनमें सुगंध आई है। इस स्पष्ट और सरल अर्थ को न मानकर आप लोग 'मंगल हो' इसका अर्थ करते हैं। 'पार्वती का मंगलकारी गुण मांगल्य गुण' कितना खींचातानी है। वास्तव में 'मंगल' शब्द के आगे पड़ा हुआ 'ही' हेत्वर्थक है। और इसका बिना ऐंचातानी के अर्थ है 'मंगल के हेतु से या मंगल की कामना से' अर्थात् प्रथम चरण का सीधा अर्थ यह है कि 'यतः ब्रह्मा ने मंगल की कामना से', गौरी की गोराई के मैल लेकर हल्दी (रजनी) बनाई, इसलिये अर्थात् मंगल का कारण होने से उसका नाम 'मंगली', रक्खा है। समझ में नहीं आता कि सरल और सीधे अर्थ को छोड़कर यह दुरूह और अशुद्ध कल्पना क्यों की जाती है ?

अब आगे चलिए दूसरे चरण का अर्थ लालाजी करते हैं—

"उनकी कांति से दामिनी बनाई, पर उसे अब चंचला समझकर आकाश की ओर उड़ा दिया, उसी से अब तक बादल जल रहे हैं।" लालाजी के अर्थों और अभिमान की पराकाष्ठा देखकर हमें एक शायर का यह गर्वोक्ति-पूर्ण शेर याद आता है—

"उठाए मैदाने मानी में नेज़ए क़लम जब कि मौज में हम;
तहलका जंगे सुख़न में डालें, तमाम आदा की फ़ौज में हम।"

लालाजी ! आपके अर्थों ने सचमुच तहलका मचा दिया है। आपकी क़लम में ही वह जादू देखा कि बादलों में भी आग लगा दे। क्योंजी ! 'उनकी कांति से' तथा 'पर उसे अब चंचला समझकर' यह दूसरे चरण के किन शब्दों का अर्थ, भावार्थ या ध्वन्यर्थ हैं। 'अब चंचला समझकर' यह लिखकर तो आपने अर्थ का सत्यानाश ही कर दिया है। केशव अपने इस छंद के चौथे चरण में स्पष्ट कह रहे हैं कि इस छंद में गौरी की गोराई के मैल से ही पदार्थों की रचना की गई है, फिर आप न जाने कहाँ से 'उनकी कांति से' लिख रहे हैं। इस पद का सीधा-सादा अर्थ यह है कि गौरी की गोराई के मैल से ही देदीप्यमान दामिनी की देह सँवारकर बनाई, और उसे उड़ा दिया, सो उसने जाकर बादलों को स्वीकार कर लिया अर्थात् वह बादलों में रहने लगी। 'अब चंचला' और 'तब अचंचला' वाला अर्थ नहीं, अनर्थ है।

लालाजी और उनके पिट्ठू पंतजी को तो बादलों में आग लगाने की धुन सवार है। उन्हें हमारा अर्थ क्यों रुचने लगा। दोनों महोदयों ने अपने उत्तरों में इस स्थान पर हमें ख़ूब सुनाई हैं। पर उससे भी जब संतोष नहीं हुआ, तो लालाजी लिखते हैं—"अजी शर्माजी ! आपको कुछ ख़बर भी है कि काव्य-परंपरा क्या है ? आपका अर्थ उस परंपरा का ध्वंसक है। वरो का अर्थ वरण करना, विवाह करना, ख़सम बना लेना हम भी जानते हैं; पर गौरी की कांति बादलों का वरण करे ऐसा कहना गौरी के पातिव्रत्य में दोषारोपण है।" ग़नीमत तो यही है कि लालाजी के पास पार्वतीजी का मुख़्तयारनामा नहीं है। अन्यथा बिना नालिश ठोंके क्या आप माननेवाले थे ? ख़ैर, यदि ऐसी अवस्था आई, तब उसका भी उत्तर देंगे। अभी तो हम लालाजी की 'काव्य-परंपरा' की दुहाई की ही छानबीन करेंगे।

क्यों लालाजी क्या बादलों में आग लगाना ही काव्य-परंपरा सिद्ध है ? घन में घन, प्रिया के रूप में दामिनी का वर्णन क्या काव्य-परंपरा के विरुद्ध है ? हमारा हिंदी-साहित्य में प्रवेश नहीं है, न सही, आप तो साहित्य के जंगल में विचरण करनेवाले साहित्य-कुवलयापीड हैं न ? क्या आपको अपनी इस स्वकल्पित काव्य-परंपरा के विरुद्ध कोई उदाहरण नहीं दिखाई दिया ? अच्छा देखिए।

१. 'जल भरें झूमें मानों भूमें परसत आय,
दसहू दिशान घूमें दामिनी लए लए ।' (श्री)
२. 'कैधों काम स्यामजू के तन ते निकरि गयो,
कैधों मेघ जूझे, कैधों बीजुरी सती भई ।''
(घासीराम)
३. मदन महीप की दोहाई फेरिबेतेंरही,
कैधौं मेघ जूझे कैधौं बीजुरी सती भई ;
(आलम)
४. ''पावस की पायके रसीली सुखदाई ऋतु,
भूलि दुख सगरे संजोग सुख पावत हैं ;
अंक में लगाय चंचला को घन भागशाली,
'पूरन' छिनै ही छन आनंद मनावत हैं ;
हलके हृदयवारे, कोर, मुख, लीन्हें वृथा,
हठके वियोगिन की बिथा को बढ़ावत हैं।
बार-बार छनदा दिखाय गुहराय मोहि,
धुरवा घमंडी हाय जियरा जरावत है ।''
(पूरन)

कहिए, लालाजी, आपकी इस स्वकल्पित काव्य-परंपरा में यह उदाहरण दियासलाई लगानेवाले हैं कि नहीं ? यदि 'काव्य-परंपरा' से आपका दूसरा तात्पर्य हो कि पार्वतीजी की गोराई तो क्या कोई वस्तु भी किसी दूसरी वस्तु का वरण नहीं कर सकती, तो यह भी ठीक नहीं जँचती । इसका प्रथम कारण तो यह है कि यहाँ गौरी की गोराई से बिजली नहीं बनी है प्रत्युत गौरी की गोराई के मैल से बनी है । दूसरे, अन्य इतने पदार्थ बन गए, यहाँ तक कि गौरी के अंगों की सुवास केतकी और चंपा के फूलों में जा बसी । तब तक यदि गौरी का पातिव्रत्य भंग नहीं हुआ, तो बिजली के बादलों के वरने से ही वह क्यों भंग होने लगा । वास्तव में पातिव्रत्य भंग की बात एक व्यर्थ की बात है, यहाँ इसका कुछ मतलब नहीं है ।

(७)

हमारा सातवाँ एतराज़ ''को है दमयंती, इंदुमती, रती, रातिदिन होहिं न छबीली छनछवि जो सिंगारियो ।'' इस छंद के प्रथम चरण के 'छनछवि' तथा चतुर्थ चरण के 'अनुरूप कै' शब्दों के अर्थों के संबंध में था ।

'छनछवि' को एक शब्द मानकर और उसका बिजली अर्थ करके लालाजी ने इसका अर्थ किया है ''दमयंती, इंदुमती और रती (सीता के रूप के सामने) क्या हैं (तुच्छ हैं)। यदि उन्हें रातोदिन बिजली से सिंगारते रहें, तो भी उतनी सुंदर न होंगी, जितनी सीताजी हैं।'' हमने इस अर्थ के संबंध में लिखा था कि बिजली द्वारा मानवीय शृंगार का वर्णन कवि संप्रदायाभिमत नहीं है और बिजली को मानवीय शृंगार का उपकरण बनाना, उसके चकाचौंध उत्पादिका होने के कारण कुछ संगत भी नहीं प्रतीत होता है । इसलिये इस चरण का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए ''दमयंती आदि यदि रातोदिन लगकर शृंगार करें, तब भी सीताजी के क्षणमात्र सौंदर्य को नहीं पा सकती हैं ।'' अथवा इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि ''दमयंती आदि यदि रातोदिन शृंगार करें, तब भी छिनमात्र को सीता के सौंदर्य को नहीं पा सकती हैं । सीता के सौंदर्य का अतिशय वर्णन करना ही कवि को अभीष्ट है । 'रातिदिन' और 'छन' शब्दों द्वारा उस अर्थ में एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न हो जाता है, जो कि 'छनछवि' को एक शब्द मानने पर नहीं उत्पन्न हो सकता है । लालाजी और विशारदजी दोनों को ही यह अर्थ ठीक नहीं जचता । लालाजी हमको गालियाँ देते हुए और स्वयं जौहरी बनते हुए लिखते हैं ''इस चरण में केशव ने जो खूबी रखी है, वहाँ तक आपकी बुद्धि इस जन्म में नहीं पहुँच सकती । सुनिए—साहित्य में 'संभावना' एक अलंकार होता है । 'जो' इस अलंकार का वाचक है ।......इस विवादास्पद चरण में 'जो' शब्द स्पष्ट रखा है । हमारे छोटे-छोटे शिष्य इस चरण को देखते ही कह देते कि इसमें 'संभावना' अलंकार है ।''

अजी लालाजी ! जब गुरुजी 'संभावना' अलंकार यहाँ बता रहे हैं, तब शिष्य कह दें, तो आश्चर्य ही क्या है ? हाँ, यदि कोई शिष्य सुयोग्य होगा, आपका अंध-भक्त न होगा, जिसने अपनी अक़्ल आपको गुरु-दक्षिणा में भेंट न कर दी होगी, वह कभी यहाँ 'संभावना' अलंकार नहीं कहेगा । यही देखिए न, आपके विशारदजी ही आपके विरुद्ध गवाही दे रहे हैं । आपके अर्थ को अक्षरशः सत्य मानने पर भी उन्होंने लिखा है कि यहाँ 'विशेषोक्ति' अलंकार है ।

पाठको ! अलंकार-शास्त्र के अद्वितीय ज्ञाता लालाजी ने 'अलंकार-मंजूषा' नाम का एक अपूर्व ग्रंथ भी इधर-

उधर से लेकर लिखा है। उसमें अनेक विशेषताएँ हैं। उनका यहाँ वर्णन करना विषयांतर होगा और लेख का कलेवर भी बढ़ जायगा। हाँ, उदाहरण-स्वरूप एक बानगी पाठकों के मनोविनोद के लिए लिख देते हैं। 'विरोधभास अलंकार' का विवरण लिखते हुए आपने लिखा है "जहाँ विरोधी पदार्थों का वर्णन किया जाय, वह विरोधाभास अलंकार है।" व्याख्या करना व्यर्थ है। इसी प्रकार की विशेषताओं से वह पिटारी भरी पड़ी है। उसी पिटारी के पृ० १८० में 'संभावना' अलंकार का भी वर्णन है। इसका लक्षण आपने इस भाँति लिखा है। 'होय जो यों तो होय यों।' लक्षण के बाद वही उदाहरण दिया गया है, जो आपने 'मतवाला' में हमें उत्तर देते समय लिखा है। इसके बाद आपने एक सूचना द्वारा सबको सचेत करते हुए लिखा है "संभव और संभावना में यह भेद है कि इसमें तो निश्चय कहा जाता है कि 'यदि ऐसा होता तो ऐसा होता' और उस 'संभव' में केवल यह कहा जाता है कि 'ऐसा संभवित' है। हो या न हो, यह निश्चित नहीं।"

अब सहृदय पाठक देखें कि यदि लालाजी का अर्थ सही भी मान लें, तो भी यहाँ संभावना' अलंकार नहीं हो सकता। क्योंकि रातोंदिन बिजली से शृंगार करने पर भी तो वह सीता के सदृश नहीं होती। इस अर्थ में तो 'विशेषोक्ति' अलंकार ही मानना पड़ेगा। विशारदजी यदि 'दीन' जी के शिष्य हैं, तो कहना पड़ेगा कि 'गुरु गुड़ ही रहे, चेला चीनी हो गए।'

विशारदजी ने बिजली से शृंगार कराने के संबंध में बड़ी विवेचना की है और अंत में एक नोट में आप लिखते हैं "बिजली से आजकल शृंगार करना एक साधारण-सी बात हो गई है। सिरपेंच, बटन, अँगूठी आदि न-जाने कितने आभूषण बिजली के मिलते हैं।" इस युक्ति पर हम कुछ नहीं कहना चाहते, विद्वान् लोग स्वयं सोचें।

अब चतुर्थ चरण को लीजिए। "छंद बहु रूप अनुरूप कै बिचारिए।" इसमें आप 'अनुरूप कै' शब्द को आप लोग एक मानकर उसका अर्थ 'प्रतिमा' करते हैं। हमने लिखा था कि यहाँ दो शब्द हैं 'अनुरूप' और 'कै' और उनका अर्थ है 'सदृश' और 'किस प्रकार या कैसे।'

लालाजी ने इसके उत्तर में लिखा है "हम इसे भी मानने को तैयार नहीं हैं। हमारा कथन है कि 'अनुरूपक' शब्द का अर्थ प्रतिमा ही है।" विशारदजी ने भी लालाजी की हाँ-में-हाँ मिलाते हुए लिखा है " 'अनुरूपक' शब्द का शब्दार्थ भी जैसा लालाजी ने लिखा है प्रतिमा-साक्षात् मूर्ति ही है।" ऐसे कठ हुज्जतीपन का तो कोई इलाज नहीं है। यदि कोई प्रमाण कोष या किसी पुस्तक का देते, तो हम मान भी लेते। यह अर्थ भी आप लोगों का अशुद्ध ही है। साधारण-से-साधारण संस्कृत जाननेवाला भी जानता है कि 'अनुरूप' शब्द का अर्थ प्रतिमा नहीं पर 'सदृश' है।

(८)

"मणिमय आलवाल थलज-जलज रवि,
मंडल में जैसे मति मांहैं कबिनान की ;
जैसे सविशेष परिवेष में अशेष रेख,
शोभित सुवेश सोम सीमा सुखदान की।"
(प्र० ६, पृ० १११)

इस छंद के अर्थ के संबंध में हमारे जो एतराज़ थे, उनमें से दो का उत्तर तो 'प्रेस की प्रेतलीला' बताया गया है इसलिये उनके संबंध में हम भी कुछ नहीं कहेंगे। हाँ 'थलज' और 'जलज' शब्दों के संबंध में हमने जो यह लिखा था कि यह दोनों मिलकर एक समस्त शब्द है और उसका अर्थ है 'स्थलकमल' इस पर अपने उत्तर में आक्षेप करते हुए लालाजी लिखते हैं—

"थलज-जलज एक शब्द नहीं हो सकता...... अन्यथा अलंकार में त्रुटि आती है......अगर आपके कहने से हम थलज-जलज को एक शब्द मान लें, तो 'रविमंडल में जैसे का क्या अर्थ होगा ?' आपके कहने से अगर मान लें कि इसका अर्थ 'अपने मण्डल के बीच में जैसे सूर्य हो' तो यह बतलाइए कि इसमें विशेषता क्या हुई।"

लालाजी अलंकार लिखने से न-जाने कैसे चूक गए। यदि आप अलंकार लिख देते और फिर बताते कि उसमें यह त्रुटि आती है, तो उस पर विचार भी किया जाता। हमारे ख़याल से हमने जो अर्थ लिखा है, उसमें कोई त्रुटि नहीं है और वही शुद्ध अर्थ है। अब रही विशेषता बताने की बात, उसके संबंध में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि छंद का शुद्ध अर्थ जो है, वही तो किया जायगा। यदि उसमें विशेषता होगी तो स्वयं प्रकट हो

आयगी। शुद्ध अर्थ से तो विशेषता निकल सकती है, पर विशेषता के लिये शुद्ध अर्थ का नाश या शब्दों की खींचातानी नहीं की जा सकती है। हम आपकी विशेषता के लिये शुद्ध अर्थ का सत्यानाश नहीं कर सकते।

विशारदजी ने भी इस छंद पर बड़ा विचार किया है, मगर मनमाने और ग़लत तरीक़े पर। आप हमसे पूछते हैं कि यह थल और जल से उत्पन्न होनेवाला 'वर्णसंकर' कमल है क्या? अजी पंतजी, यह 'थल' और 'जल' से पैदा होनेवाला 'वर्णसंकर' कमल नहीं है। प्रथम शब्द 'थलज' का अर्थ केवल 'थल में उत्पन्न होनेवाला' है। यहाँ उसका व्युत्पत्ति निमित्तक अर्थ ही लिया जायगा। और दूसरे 'जलज' का रूढ़ि अर्थ। इस प्रकार 'वर्णसंकरता' का दोष हमारे अर्थ में आ ही नहीं सकता। दूसरी बात आपने जो यह लिखी है कि 'थल-कमल' गुलाब को कहते हैं यह भी ठीक नहीं है। यह संभव है कि किसी ने गुलाब के लिये स्थल-कमल शब्द का प्रयोग कहीं कर दिया हो, पर इसका यह अर्थ है नहीं। 'स्थल-कमल' वास्तव में कमल का ही एक भेद है। अब रही आपकी तीसरी बात कि इसका रंग कौन-सा यहाँ पर माना जाय। आपने इसका नीला रंग स्वयं ही मान लिया है, हमने तो कहीं लिखा नहीं, फिर हमसे उसका एड्रेस क्यों पूछते हैं? यह सब गड़बड़ आपकी स्वयं उत्पन्न की हुई है। स्थल-कमल का अर्थ न गुलाब करते और न एड्रेस पूछना पड़ता। ख़ैर, यदि आप इसका अर्थ गुलाब कर भी लें, तो भी नीले गुलाब का एड्रेस पूछने की कोई आवश्यकता नहीं है। श्रीकृष्णजी का रंग श्याम है, इसलिये 'स्थल-कमल' अर्थात् गुलाब भी श्याम होना चाहिए, यह कोई आवश्यक नहीं है। इसी छंद में आगे चंद्र का भी वर्णन आया है। आपके कथनानुसार तो फिर हमें आपसे 'नीलचंद्र' का एड्रेस पूछना पड़ जायगा। इसलिये स्थल-कमल का अर्थ यदि आप कमल मान लें, तो इन सब झगड़ों से आपका उद्धार हो जायगा। और अनायास ही नीलकमल का बोध हो सकेगा। लाला भगवानदीनजी ने 'थलज' का अर्थ तमालवृक्ष माना है, यह बिलकुल अशुद्ध है। विशारदजी ने भी लिखा है कि "थलज" का अर्थ 'तमाल' भले ही न हो, इससे स्पष्ट है कि लालाजी के पृष्ठपोषक को भी लालाजी का अर्थ ठीक नहीं जँचता, विशारदजी इस छंद का अर्थ बिलकुल नहीं समझे। यदि कुछ भी समझते, तो इसका यह अर्थ न करते। आप इस छंद का अर्थ करते हैं "रासमंडल में गोपियों से घिरे हुए श्रीकृष्णजी ऐसे दिखाई देते हैं, जैसे मणिवेष्टित क्यारी में कोई सुंदर सघन वृक्ष हो, अथवा रविमंडल में जैसे नीलकमल शोभायमान हो।" वाह वा! विशारदजी धन्य हैं।

स्थल-कमल जिसका अर्थ आप गुलाब समझते हैं, उसके लिये मणिमय क्यारी की कल्पना आपको अनोखी मालूम होती थी, पर यह सघन वृक्ष के लिये मणिवेष्टित क्यारी की कल्पना कैसी है? फिर यह 'सघन वृक्ष' कौन-सा है? बाँस है, पीपल है, बरगद है, क्या है? ऐसे सघन वृक्षों के लिये क्यारियाँ कहाँ बनाई जाती हैं। पौधों के लिये तो क्यारियाँ सुनी और देखी हैं। पर सघन वृक्षों के लिये न कहीं देखी और न सुनी ही हैं। फिर रविमंडल में नील कमल किस प्रकार शोभायमान होता है। रविमंडल में नील कमल की कल्पना भी ख़ूब की है। अरे भाई, आपके इन अर्थों से तो दीनजी का ही अर्थ अधिक सुंदर और संगत है। हिंदी-साहित्य या केशव का ईश्वर ही रक्षक है।

(६)

"एक थल थित पै बसत प्रति जन जीय,
द्विकर पै देश-देश कर को धरन है;
....
केशोदास इंद्रजीत भूतल अभूत पंच,—
भूत की प्रभूति भवभूति को शरन है।"
(पृ० २३७)

हमारा नवाँ एतराज़ उक्त छंद के उद्धृत दो चरणों के अर्थों के संबंध में था। प्रथम चरण के उत्तरार्द्ध का अर्थ लालाजी करते हैं "हैं तो उनके दो ही हाथ, पर देश-देश के लोगों के हाथों को पकड़े हुए हैं। मित्रता किए हैं।" इसमें विरोधाभास अलंकार है। लालाजी और विशारदजी दोनों ही इसे स्वीकार करते हैं। पर इस अर्थ में विरोध की गंध तक कहाँ है? यह तो अच्छा है कि राजा इंद्रजीत के दोनों हाथ मौजूद हैं, मगर यदि उसका एक हाथ कट गया होता और वह ठुंडा होता, तब क्या वह लोगों के हाथ पकड़-पकड़कर मैत्री स्थापित नहीं कर सकता था। और इस हाथ पकड़ौअल से इंद्रजीत के प्रभाव या उत्कर्ष में क्या चमत्कार

उत्पन्न हो सकता है ? दोनों 'कर' शब्दों का 'हाथ' अर्थ करने पर विरोध ही कहाँ रह जाता है ? यहाँ विरोध की प्रतीति उस समय हो सकती है, जब इंद्रजीत के द्विकरत्व और देश-देश के कर ग्रहण कर्तृत्व की एक समय में, एक कालावच्छेदेन समुपस्थिति मानी जाय। क्योंकि दो हाथोंवाला एक ही समय देश-देश का कर-ग्रहण नहीं कर सकता, यही विरोध है। इस विरोध का परिहार दूसरे 'कर' शब्द का 'राज्य कर' अर्थ करने पर हो जाता है । और इस विरोधाभास से राजा इंद्रजीत का चक्रवर्ती साम्राज्य अतुल ऐश्वर्य और प्रभाव ध्वनित होता है । जिसे देश-देश के राजा कर देते हों, उसके ऐश्वर्य और प्रभाव का क्या कहना है। संस्कृत-साहित्य में विरोधाभास अलंकार के स्थलों में 'कर' शब्द का प्रयोग 'राज्य कर' के लिये ही आया है । एक उदाहरण देखिए—

"आसमुद्रकरग्राही भवान् यत्र करप्रदः ;
कान्ते तव कुचावेतौ, सततं चक्रवर्तिनौ ।" (स्फुटम्)

यहाँ एक 'कर' हाथ और दूसरा 'राज्य कर' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । ढूँढ़ने पर सैकड़ों उदाहरण मिल सकते हैं ।

इस छंद के चतुर्थ चरण के अर्थ में हमने जो एतराज़ किया था और उसका जो अर्थ हमने बताया था उसके विरोध में लालाजी ने कुछ नहीं लिखा, इससे हम समझते हैं कि हमारी बात को लालाजी ने स्वीकार कर लिया है, हाँ, विशारदजी ने जो कुछ लिखा है, उसके उत्तर में हम उनसे यही प्रार्थना कर सकते हैं कि आप हमारे अर्थ को फिर से देखिए ।

(१०)

हमारा दसवाँ एतराज़ निम्नलिखित पद के संबंध में था—

"दरशन सुर से नरेश सिर नावैं नित,
षटदरशन ही को सिर नाइयतु है ।" (पृ० २३८,छं० २३)

इस छंद का अर्थ लालाजी ने लिखा है "राजा इंद्रजीत के सामने देव-तुल्य राजा सिर नवाते हैं, पर वह उनकी ओर देखता तक नहीं, केवल षट्दर्शन को ही सिर नवाता है ।" विचारने की बात है, जो राजा अभी थोड़ी देर पहले देश-देश के लोगों के हाथ पकड़कर उनसे मैत्री पैदा करना चाहता था, या करता था, वही यहाँ पर ऐसा शिष्टाचार-शून्य कैसे हो गया कि देव-तुल्य राजा सिर नवाते हैं, पर वह उधर देखता तक नहीं । यदि लालाजी के अर्थ को सही मान लिया जाय, तो कहना पड़ेगा राजा इंद्रजीत साधारण शिष्टाचार-शून्य थे । हमने इस दोष के परिहार का उपाय लिखा था कि इस छंद का एक पाठ 'दरसैन' ऐसा मिलता है । उसे मान लेने से अर्थ अधिक सुंदर हो जाता है और अशिष्टता दोष भी नहीं आता । उस पाठ से इसका अर्थ होगा सब देव-तुल्य राजा, राजा इंद्रजीत को सिर नवाते हैं । तब वह 'दर' थोड़ा 'सैन' कटाक्ष से उनका मुजरा लेता है, सिर उनको नहीं झुकाता, सिर तो राजा इंद्रजीत का 'षड्दर्शन' के आगे ही झुकता है। हमारे इस अर्थ के संबंध में लालाजी और विशारदजी दोनों ही हमसे पूछते हैं कि 'दर' का अर्थ 'थोड़ा' किस कोष में है ? हमारा उत्तर इसमें यही है कि किसी भी हिंदी या संस्कृत के प्रामाणिक कोष को उठाकर देख लीजिए, आपको अन्य अर्थों के साथ 'दर' का एक अर्थ 'थोड़ा' भी मिल जायगा । आश्चर्य तो यह है कि हिंदी-साहित्य के मर्मज्ञ होने का दावा करते हैं, केशव के टीकाकार कहाने की हवस है और 'दर' शब्द का अर्थ आता नहीं ।

'षड्दर्शन' शब्द की व्याख्या करते हुए दीनजी ने स्वयं लिखा है कि वैष्णव, ब्राह्मण, योगी, संन्यासी, जंगम और सेवार यह छः प्रातः दर्शनीय ही 'षड्दर्शन' कहाते हैं । श्रीमान् विशारदजी ने भी यही लिखा है । फिर न जाने क्यों दीनजी हमसे पूछते हैं कि 'सेवार' यह कौन जंतु है । 'सेवार' शब्द पहले तो आपने लिखा है, फिर हमसे इसका अर्थ क्यों पूछते हैं । क्या हमारी परीक्षा लेना चाहते हैं, या टीका करते समय मक्खी पर मक्खी मार बैठे और अब हमसे उसका अर्थ समझना चाहते हैं । अच्छा सुनिए—आपने जिस शब्द को 'सेवार' छपवाया है, वह 'सेवरा' नाम से प्रसिद्ध है । सेवरा एक प्रकार के साधु होते हैं । जिनका वर्णन एक स्फुट छंद में इस प्रकार मिलता है—

"नख बिन कटा देखे, जोगी कनफटा देखे ,
शीश धारी जटा देखे, छार लाए तन में ;
मौनी अनबोल देखे, स्योरा सर छोल देखे ,
करत कलोल देखे, बनखंडी बन में ।
वीर देखे सूर देखे, जनम के क्रूर देखे ,
माया के पूर देखे, भूलि रहे धन में ;
आदि अंत सुखी देखे, जनम के दुःखी देखे ,
पर वे न देखे जिनके लोभ नाहीं मन में ।"

इस छंद में जिन्हें 'स्योरा मरछोल' लिखा है, वही सेवरे साधु कहाते हैं। यह 'सरछोल' सर घुटाए रहते हैं। बस, इसके साथ हम अपना लेख समाप्त करते हैं। एक तो लेख का कलेवर बहुत बढ़ गया है, दूसरे विशेष वक्तव्य भी शेष नहीं रह गया है। हमको दो महानुभावों के आक्षेपों और उत्तरों का प्रत्युत्तर लिखना पड़ा है, इसी से लेख का कलेवर बढ़ गया है। यथासंभव हमने कोई भी मुख्य बात ऐसी नहीं छोड़ी, जिसका उत्तर न दिया हो। लालाजी और उनके पक्षपोषक विशारदजी के लेखों को पढ़ने के बाद भी हमारा वही विचार स्थिर है कि जिन-जिन स्थलों पर हमने दोष दिखलाए हैं, वह वास्तव में दूषित हैं और इन दोनों महानुभावों ने उनके समझने में भूलें की हैं। हमारा विचार यह है कि लालाजी अपने पक्ष के समर्थन में अधिक-से-अधिक जो कुछ कह सकते थे, कह चुके हैं और हमें भी जो कहना था, कह ही चुके हैं, इसलिये अधिक उत्तर-प्रत्युत्तर की अब कोई आवश्यकता नहीं है।

हमारे इस उत्तर के बाद भी यदि लालाजी का समाधान न हुआ हो और वह अपने अर्थों को वैसा ही सही समझते हों, तो किन्हीं लब्ध-प्रतिष्ठ दो-तीन विद्वानों के सामने अपने और हमारे लेख निर्णय के लिये रख दें। उनके निर्णय से स्वयं मालूम हो जायगा कि कौन सही और कौन ग़लत है। हिंदी के विद्वानों को भी लालाजी की गालियों के भय से सत्य के निर्णय और उसकी स्पष्ट घोषणा करने से हिचकिचाना नहीं चाहिए।

अंत में दो शब्द हम लालाजी से निवेदन कर देना चाहते हैं। लालाजी आप घबड़ाएँ नहीं। हमारे इस लेख में अभी तक दूसरे किसी का हाथ है नहीं। जो कुछ लिखा है, उसके उत्तरदाता हम ही हैं। आप हमें शौक़ से, दिल खोलकर गालियाँ दे सकते हैं; पर हमारे कारण दूसरों पर अनुचित कटाक्ष करना युक्त नहीं है। आपने लिखा है कि हम "ललवा" को बनाने पर तुले हुए हैं। यह भी आपका भ्रम ही है। आपने हमें अंत में 'पालागन' किया है, इसलिए आशीर्वाद-स्वरूप हम भी परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि वह आपको सुबुद्धि प्रदान करे। इत्यलं पल्लवितेन।—

भूदेव शर्मा

सूक्ति-सुधा

कंचन झारी लिए अपने कर
प्रीतम के पद-पंकज धोती;
त्यों अति चारु अँगोछनि पोंछि
'बिसारद' बेस कृतारथ होती।
आजु सुभागम-मोद मढ़ी कहै
है जग मो सम आन सु को ती;
आरती-थार उतारि-उतारि कै
बाल लै वारती मंजुल-मोती।१।

छाय घने दहकैं बन-बीच
अँगारन ते दुति नेक न ऊन की;
देखत ही सु अगै उर-ज्वाल
खरी अतिसै नहिं रंचक न्यून की।
हाय बिसारि 'बिसारद' बात
बियोगिन के जियके दुख दून की;
का गुन मानि करी बिधि रीति
अरी यहि भाँति पलास-प्रसून की।२।

कैसे 'बिसारद' कोमल मंजु
लसे पग द्वै सुचि कंज सँवारे;
हाय हियो कसकै इन्हें हेरि
कठोरु महीतल पै गति वारे।
भार परी न अरी प्रतिकूलता
जा बस साज छुटे सुखकारे;
सीब बिलोकिकै ग्राम-बधू
कहै नीरज-नैननि नीरहिं ढारे।३।

वे तो घिरैं उघरैं जित ही तित
द्योसु निसा कबौं साँझ बिहाने;
पै न भले थिर ह्वै दरसाहिं
सदा सब याम सु एक ठिकाने।
पानिप सों परपूरित बेस
'बिसारद' त्यों मन यों अनुमाने;
ये घनस्याम नए सजनी
जे रहैं उनई नितै बरसाने।४।

बलदेवप्रसाद टंडन

मंडूकमति आलोचक

महामहिम मंडूकमति, आलोचक सिरताज ;
कविता गत माधुर्य को, चाखत सुख सों आज ।

आहार-शिलालेख
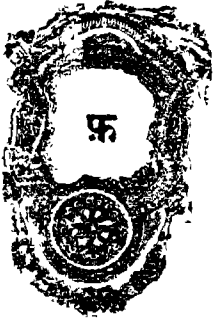
फरवरी सन् १९२४ में सर रिचर्ड बर्न, सी० एस० आई० ने मुझे बुलंदशहर ज़िले के कलक्टर द्वारा प्रेषित एक प्रस्तर लेख की छाप प्रदान की थी, और आज्ञा दिया कि मैं उसका सम्पादन करूँ। परंतु इसके पुनर्लेखन और सम्पादन का कार्य सरल नहीं था, कारण कि लिपि पर्याप्तरूप से स्पष्ट नहीं थी और पद-पद पर संदेह उत्पादन करती थी। अतएव मैंने लखनऊ प्रान्तीय म्यूज़ियम के अध्यक्ष राय साहब प्रयागदयालजी से प्रार्थना की कि वह प्रस्तर अपने स्थान से हटाकर म्यूज़ियम के हेतु प्राप्त कर लिया जावे। फलतः प्रस्तर एप्रिल मास में लखनऊ म्यूज़ियम में आ गया और पुरातत्व के प्रदर्शिनी-विभाग में उसे एक स्थान दिया गया। तब अध्यक्ष महोदय ने अपने ही देख-रेख में ली गई और सुचारुरूप से अंकित एक छाप मुझे प्रदान की और प्रशस्ति का पुनर्लेखन इसी के द्वारा हुआ है। मैंने असली प्रस्तर लेख को भी भली भाँति निरीक्षण कर लिया है। मेरी, भग्नांशों को पुनः ठीक कर देने की चेष्टा किसी अंश में असफल हुई है, कारण कि किसी-किसी स्थान पर अक्षर या तो सर्वतः नष्ट हो गए हैं या बिलकुल पढ़े ही नहीं जा सकते। मैं म्यूज़ियम के अध्यक्ष महोदय एवं श्रीयुत W. E. J. Dobbs, I. C. S. बुलंदशहर ज़िलाधीश को धन्यवाद देता हूँ, जिनकी सहायता से लेख प्राप्ति-स्थान के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त कर सका। अहर अथवा आहार[1] (२८°-२८' उत्तरांश : ७८°-१४' पूर्वदेशान्तर) एक छोटा किंतु प्राचीन क़स्बा है और युक्तप्रान्त के बुलंदशहर—ज़िलान्तर्गत अनूपशहर तहसील में अपने ही नाम के परगने में स्थित है। बुलन्द शहर से २१ मील पूर्व और अनूप शहर से ७ मील उत्तर कच्ची सड़क पर गंगातीर में आहार है। मिस्टर डाब्स का पड़ाव आहार से उठने ही को था कि उन्होंने सुना कि नंदकिशोर नामक एक व्यक्ति विशेष ने अपने घर के भग्नांशों में एक शिला लेख पाया है।

यह पत्थर वर्षों तक इस स्थान पर अधोमुखी हो पड़ा था। कलेक्टर साहब के प्रस्थान के दिन नंदकिशोर ने पत्थर को उलटकर लेख को देखा। इस सुसमाचार को सुन मि० डाब्स स्वयं उस स्थान पर गए और लेख की नकल ले ली, जो पश्चात् माननीय सर बर्न के पास भेज दी गई। कलेक्टर साहब की रिपोर्ट से यह ज्ञात होता है कि प्रस्तर गंगा के किनारे से लाया गया माना जाता है जहाँ कि वह तीर के बह जाने से उपलक्षित हो गया था। अब भी कई एक भीट प्राप्ति-स्थान के पास हैं, जो अब "सुरक्षित स्मारक" हैं। यह लेख ३ फीट ५ इंच लम्बे और १ फ़ुट ६½ इंच चौड़े तथा ३½ इंच मोटे किंचित् पीत बालुका प्रस्तर पर खुदा है। इसमें २८ पंक्तियाँ हैं।

लिपि वस्तुतः सुरक्षित ही है, किंतु पत्थर की दुर्दशा ग्रस्त अवस्था से लिपि के वामोपरि भाग का कुछ अंश भग्न हो गया है, फलतः प्रथमाष्ट पंक्तियों के कुछ अक्षर पूर्णतः नष्ट हो गए हैं। इनमें से कुछ अक्षर अनुमान से किसी अंश तक ठीक-ठीक फिर लगाए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अक्षर या तो परिवर्तित हो गए हैं अथवा किसी-किसी स्थान पर अस्पष्ट ही हैं। लिपि के निरीक्षण से ज्ञात होता है कि लिपिकार ने बड़ी सावधानी से अपना कार्य किया है। परंतु साथ ही लिपिकार एक ही व्यक्ति नहीं है। शिलालेख वस्तुतः बड़ी ही स्वच्छता और कारीगरी दिखलाता है।

शिलालेख की लिपि-वर्णमाला उत्तरी भारत की नवीं और दशवीं शताब्दियों में प्रचलित देवनागरी है। कहीं-कहीं पर यह कुछ अलंकृत भी कर दी गई है। विराम का काम लगभग छः प्रकार के शुभ चिह्नों से लिया गया है।

---

१. "आहार शब्द की स्थानीय उत्पत्ति 'अहि+हर' अर्थात् 'सर्प का विनाश' में है। कहा जाता है कि जनमेजय ने यहीं पर सर्प-यज्ञ किया था। यह ग्राम निःसंदेह अति प्राचीन है और मुसलमानी आक्रमण के पूर्व कई शताब्दियों तक किसी हिंदूराज्य का केंद्र रहा होगा। कलेक्टर मि० ग्राउज़ ने प्राचीन कारीगरी के कुछ टूटे-फूटे अंश सड़कों के समीप पाए थे। एक गोल स्तम्भ भी जिसके निम्न-भाग में एक सर्प लिपटा है पाया गया है.................." (डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर बुलंदशहर)

अक्षरकला के विषय में यह कह देना उचित है कि इस लेख में 'क्र, ख, ञ्च, ण और श' में दर्शनीय विशेषताएँ हैं— क्र के दो भिन्न-भिन्न रूप देखे जा सकते हैं और कभी-कभी तो समीप-ही-समीप। ख के भी दो रूप प्रदर्शित हैं एक में ख का त्रिभुज दोनों खड़ी रेखाओं के बीच में आता है ; परंतु दूसरे में वह और भी नीचे चला गया है: इस प्रकार वह 'ख' नहीं वरन् 'ग्व' ज्ञात होता है। इसी प्रकार 'ञ्च' के भी दो रूप हैं और 'ण' और 'श' के भी।

इस शिलालेख की दशवीं रेखा में हमें एक ऐसा आकार मिलता है, जिसे हम भूल से स्वतंत्र दीर्घ ईकार समझ सकते हैं, कारण कि होरियूज़ी[1] ताड़पत्रलेख के उस अक्षर से यह मिलता भी है। परंतु हम उसे दीर्घ इकार के स्थान में 'इम' ही समझते हैं (इन्द्र=संस्कृत इन्द्र) इस समय के अन्य शिलालेखों की भाँति इसमें भी दीर्घ इकार का न होना दर्शनीय है।

अवग्रह का चिह्न केवल एक ही बार आया है और ६३३ सन् में लिखित ग्वालियर-लेख[1] वाले से अधिक घसीट में लिखा है। विराम के चिह्न कई बार क् ट् और ण् के साथ हैं और इन व्यञ्जनों के अधोभाग में किञ्चित तिर्यग्रूप से यथा स्थान स्थित हैं। जिह्वामूलीय एवम् उपध्मानीय चिह्नों का समावेश हो नहीं हुआ है।

तिथियाँ और सम्वत्, शब्दों में, संख्याओं में अपि च दशमलवों में परिदर्शित किए गये हैं। 'सो' जो कि संख्यावाचक है, संयुक्ताक्षर रूप में आता है और १०० बतलाता है—उदाहरणार्थ सम्वत् सो। सौ का गुणनफल निकालने के लिये गुणक को 'सो' के दाहिनी ओर कुछ नीचे रक्खा गया है। 'लृ' स्वर जो १० की संख्या बताता है, वह महेन्द्रपाल प्रथम की डिघवा[2]—दुबौली वाले लेख एवं महेन्द्रपाल द्वितीय[3] के प्रतापगढ़वाले लेखवाली लृ से पूर्णतः नहीं मिलता है। लृ[4] के दाहिनो ओर कुछ नीचे एक शून्य विन्दु भी रक्खा है।

निम्न-लिखित चिह्न अपने सामने की संख्या इस लेख में बताते हैं—

(१) सो=१०० (२) अनुनासिक (दक्षिण की मुख किए)=४० (३) लृ=१० (४) ०=६ (५) ह्रा=८ (६) ञ=६

१. बूलर इंडि० पलाइ ग्रा, प्लेट ६, ४, ५।

लेख को भाषा संस्कृत-गद्य में है। व्याकरणनियमोल्लंघन एवम् शिथिल निर्माण लेख के मुख्य दो अवगुण हैं। ई, ऊ, ऋ, ऐ, ओ और औ से कोई भी शब्द प्रारम्भ नहीं होता है। अनुस्वार ही चन्द्रविन्दु के स्थान पर यदाकदा आता है। शुद्धाक्षरलेखनकला (orthography) पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है, तत्कालीन प्रचलित भाषा का भी प्रभाव उपलक्षित है, साधारण क्रियाओं का अभाव ही सा है और 'भवन्ति' को छोड़ प्रायः लेख भर में साधारण क्रियाओं के स्थान में कृदन्तों ही की भरमार है। लेख को देखकर लेखक की भाषा और व्याकरण ज्ञान की न्यूनता ज्ञात होती है।

अक्षर-विन्यासकला के विषय में निम्न-लिखित ध्यान देने योग्य अशुद्धियाँ हैं—

(१) आ के स्थान पर अ—कञ्चन (=काञ्चन) इत्यादि।
(२) ई के स्थान पर इ—इसान (=ईशान) ,,
(३) इ के स्थान पर ई—आवारी (= आवारि) ,,
(४) व्यञ्जनसंयुक्त रि के स्थान पर ऋ—क्षतृय (=क्षत्रिय) ,,
(५) वर्ग के पञ्चम अक्षरों के स्थान पर अनुस्वार—कुंकुम (=कुङ्कुम) ,,
(६) ट् के लिये ट्ट्—आघाट्ट (=आघाट) ,,
(७) ट्ट् के लिये ट्—पतन (=पत्तन) ,,
(८) द्ध् के स्थान पर ध्—वृध्यर्थम् (=वृद्ध्यर्थम्) ,,
(९) ध्व् ,, द्ध—तलोर्द्ध ,,
(१०) न् ,, ण्—कञ्चण्य (=काञ्चन) ,,

इसके अतिरिक्त और भी बहुत-सो अशुद्धियाँ मैंने लिखी हैं, परंतु स्थानाभाव के कारण वे यहाँ प्रदर्शित नहीं की जा सकतीं।

भाषाविज्ञान और कोश-सम्बन्धीय निम्न-लिखित शब्द भी महत्त्व-पूर्ण हैं—

(१)—सत्क (सत्का भी) (२)—भाटक (३)—वणृन (४)—धवलापन (५)—पारशीय और (६)—त्ति।

(१) सत्क जो कि इस लेख में कई बार आया है, वह तो 'देशी' शब्द है न कि संस्कृत। इसका प्रथम में अर्थ प्रोफ़ेसर कलिहार्न साहब ने किया है। सियदोनि लेख के अतिरिक्त (Epig. Ind. 1. 164) इसका उपयोग मध्यकालीन और लेखों में भी हुआ है, साथ ही जैन-ग्रंथों में भी।

(२) भाटक शब्द "भाड़ा" अथवा "किराया" के

अर्थ में आया है, साथ ही आदरणीय पुरुष के अर्थ में भी है। अतएव यह भाटक और भट्ट दोनों के समान ही है। 'भट्ट' शब्द भी इस लेख में आया है।

(३) वणून हमारे लेख में अनृण के अर्थ में आया है और इसमें 'णत्व' का प्रतिपालन नहीं किया गया है।

(४) धवलापन सम्भवतः संस्कृत 'धवललेपन' अर्थात् 'सफ़ेदी पोतने' अथवा 'धवलेपन' अर्थात् एक (मधुरत्वच नामक) वृक्ष विशेष के लिये ही आया है। परंतु चाहे यह शब्द सफ़ेदी पोतने के लिये आया हो, चाहे उपरि उक्त मधुरालेपन के लिये ही आया हो, यह स्पष्ट है कि लेखक 'लिप् और लप्' धातुओं के बड़े भारी भेद को न समझ भ्रम में पड़ गया है।

(५) 'पारश्वीयम्' और पारस्वीयम् दोनों ही संस्कृत 'पार्श्वीयम्' के अशुद्ध रूप हैं।

(६) त्ति तो 'त्रि' अर्थात् तीन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है (१. १५) १८वीं पंक्ति में यह केवल 'ति' ही रह गया है।

प्रशस्ति के लेखक ने प्रशस्ति में व्याकरण पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया है। निम्न-लिखित भिन्न-भिन्न प्रकार की अशुद्धियाँ प्रायः प्रत्येक पंक्ति में पाई जाती हैं—

(१) प्रारम्भिक संधियों में अशुद्धता जैसे एकून-षष्ट्याधिके=एकोनषष्ट्यधिके इत्यादि इत्यादि।

(२) असाधारण संधियों को करना जैसे अस्या-घाट्टा=अस्या आघाटा इत्यादि।

(३) संधियों का जान-बूझकर न किया जाना—भट्ट+इंद्र, भट्ट+इश्वर इत्यादि।

(४) कारकों तथा कारक-चिह्नों के अशुद्ध प्रयोग—

क्रयक्रीताः=क्रयक्रीतम्

विक्रीता=विक्रीतम् इत्यादि।

(५) कारक के चिह्नों का न होना—सुत=सुतेन इत्यादि।

(६) विसर्ग का अनावश्यक लोप—सुत, भूमि, ईश्वर इत्यादि।

(७) अस्याः और अमूषाम् के स्थान पर पुँल्लिङ्ग अस्य और अमीषाम् का क्रम से प्रयोग।

(८) कृदंत आदिकों और समासों का दुष्प्रयोग जैसे—

(१) तथा चेव=तथा चैव नागभार्या-लच्छिका तथा माधवभार्यासम्पदाभ्यां सम्मतेन। (२) दण्डपाशिक अमरादित्य दूतकवचनात् इत्यादि।

अव्याकरणयुक्त भाषा एवम् दोषयुक्त शैली के अतिरिक्त सबसे अधिक विशेष बात जो हमें प्रतीत हुई, वह व्यक्तिवाचक संज्ञा-शब्द रूपों की असमानता है। उदाहरणार्थ दिवाकर और दीयाक; भद्रप्रकाश और भद्दाक, कनक और काञ्चन, सहाक और साहाक हैं।

कञ्चन तो संस्कृत काञ्चन का भिन्न रूप है, अतएव यह कनक का पर्यायवाची ही है। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रतिशत पचास से भी अधिक नाम प्रायः 'क' में अंत होते हैं—जैसे अमाक, अन्मवाक, इच्छुक, उजुवाक, क्रोकाक, कमलानक, कविलाक, गौणाक गौक्षुक इत्यादि लच्छिका संस्कृत लक्ष्मी का ही एक अपभ्रंश है। इसके अतिरिक्त और भी संस्कृतीय नाम हैं, जो अधिकतर विष्णु, शिव और अन्य देवताओं के पर्यायवाची हैं।

प्राचीन भारत के दानसम्बंधीय और शिला लेखों की भाँति यह लेख भी कई एक दानों का उल्लेख करता है, जो कि समय-समय पर श्रीकनक देवी अथवा काञ्चन श्रीदेवी के पूजार्थ दिए गए थे। प्रथम प्रथक का प्रदान भद्रप्रकाश और मोक्क नामक दो व्यापारियों ने सौवर्णिक जाति के द्रव या द्रव्य नामक एक तीसरे साहूकार के सहित किया है। इस प्रदान की आय (भूमिकर) से भगवती को दैनिक पूजा-सामग्री 'गौष्ठी' द्वारा दी जाती थी।

पूजार्थ जो स्थावर संपत्ति थी, उसमें भवन और दूकानें थीं; जिन्हें स्वयं द्रव ने क्रीन किया था।

इस लेख में दश मितियों का उल्लेख है, जिनमें लगभग सात भवनों के क्रयकाल की हैं। इसी प्रकार प्रत्येक भवन की चारों सीमाएँ बड़े ध्यान से लिखी गई हैं और प्रत्येक के पूर्व स्वामी का नाम भी दिया गया है। इस प्रकार हमारे शिलालेख में कई दानों और प्रदानों का संग्रह है, जो कि मंदिर की प्रबंधकारिणी समिति (गौष्ठि) के अधिकार में थे—लिपिकार का नाम संभवतः स्थानाभाव से नहीं दिया गया है।

लेख में निम्न-लिखित दानों का उल्लेख है—

(१) हर्ष संवत् २५८ (८६४-६५ ई० सन्) महाराजाधिराज श्रीभोजदेव के शासनकाल में श्री कांचन

श्रीदेवी के हेतु एक दूकान मोल ली गई थी। उस समय के नियमानुसार भ्रतरादित्य नामक एक दूतक ने, जो कि उस स्थान का पुलिस कर्मचारी था, तत्तानंदपुर के सभासद् चतुर्वेदियों के साथ उस दान की मंजूरी दी थी और उसको शिला पर लिखने की भी आज्ञा दी थी। यह दान, शिलालेख की प्रथम ६ पंक्तियों से ज्ञात होता है।

(२) पुनः हर्ष संवत् २९८ (९०४-९०५ ख़ृ० स०) के चैत्र मास में प्रथम महेंद्रपाल के शासनकाल में कलुआ नामक दूतक की आज्ञा से उसी देवी के हेतु स्थावर संपत्ति एवम् अन्य क्रयों का उल्लेख वि० सं० ९४३, ह० सं० २८०, २८२ और २९६ में शिला पर किया गया है।

(३) पुनः ह० सं० २९८ के चैत्र और ज्येष्ठ मासों के बीच मांगलवर्मा के उत्तराधिकारियों के भवनों का विक्रय, जिनके भाड़े का धन भगवती कांचन श्री देवी के पूजार्थ, माधव, मधुसूदन, केशव और देवनाग नामक चार दाताओं की सम्मति से अर्पित किया गया था—उनके समय के १६ वर्ष पश्चात् द्रव के नाम मधुसूदन के दो पुत्र कोक्क और पद्मनाभ द्वारा कियागया है। अर माधव और देवनाग की स्त्री की भी सम्मति ले ली गई है। भगवती के लिये वास्तविक दान वि० स० ९४३ (८८६ ख़ृ० सं०) में हुआ है; परंतु उसकी रजिस्ट्री पीछे हर्ष संवत् २९८ में (९०४—९०५ ख़ृ० संवत्) हुई है। परंतु, चूंकि उत्तराधिकारियों ने उन्हें द्रव के हाथ बेचा था, अतएव उनके पुनः रजिस्ट्रेशन की आवश्यकता हुई और यह उसी वर्ष २९८ह० सं० ज्येष्ठ मास में की गई थी।

(४) हमारे लेख में एक और प्रदान का उल्लेख है। यह गंधवणिक्-जाति के माधवनामक व्यक्ति के भवन का क्रय-विक्रय है, जो कि हर्ष संवत् २६१ के आषाढ़ मास में हुआ था। परंतु दूतक का नाम नहीं दिया (इस विशेष क्रय का उल्लेख कलुवा नामक दूतक से ही किया जाना चाहिए था)

(५) अंतिम उल्लेख ईशानदत्त नामक किसी ब्राह्मण की संपत्ति का द्रव द्वारा ह० सं० २९८ में भाद्रमास में क्रीत किए जाने के विषय में है। परंतु यहाँ पर भी दूतक का नाम नहीं दिया गया है।

गुर्जर प्रतिहार-वंश के महाराजाधिराज श्रीराम भद्रदेव के पुत्र महाराजाधिराज श्रीभोजदेव (प्रथम) के शासन-काल में यह लेख हर्ष-संवत् २५९ के मार्गशीर्ष मास की कृष्ण दशमी को लिखा गया। अब प्रायः सभी यह मानते हैं कि भोजदेव प्रथम का शासनकाल लगभग ८४० ई० से ८९० ई० तक था और उसका उत्तराधिकारी महेंद्रपाल प्रथम उपनाम महेंद्रायुध था (८९०—९०८) भोज प्रथम के समकालीन निम्न-लिखित शिलालेखों में शक विक्रम और हर्ष संवतों का उल्लेख है।

(१) दौलतपुर दानपत्र में ९०० वि० सं० लगभग ८४३ ई० सन्
(२) देवगढ़-लेख ९१९ ,, ,, ,, ८६२ ,, ,,
(३) ग्वालियर-लेख (१) ९३२ ,, ,, ,, ८७५ ,, ,,
(४)...,,...,,... (२) ९३३ ,, ,, ,, ८७६ ,, ,,
(५) देवगढ़-लेख ७८४ शक,, ,, ८६२ ,, ,,
(६) पेहेवा-लेख २७६ हर्ष सं० ,, ८८२ ,, ,,

पाठकों की सरलता के लिये हम अपने लेख में प्राप्त मितियाँ देते हैं।

(१) हर्ष संवत् आषाढ़ २५८ = ८६४-८६५ ई० जून-जुलाई
(२) ,, ,, मार्गशीर्ष २५९ = ८६५-८६६ ,, नवं० दिसं०
(३) ,, ,, आषाढ़ २६१ = ८६७-८६८ ,, जून-जुलाई
(४) विक्रम,, पौष ९४३ = ८८६ ,, दिसं० जन०
(५) हर्ष सं० फाल्गुन २८० = ८८६-८८७ ,, फ़० मा०
(६) ,, ,, मार्गशीर्ष २८२ = ८८८-८८९ ,, नवं० दिसं०
(७) ,, ,, भाद्र २९६ = ९०२-९०३ ,, अग० सि०
(८) ,, ,, चैत्र २९८ = ९०४-९०५ ,, मा० ए०
(९) ,, ,, ज्येष्ठ २९८ = ९०४-९०५ ,, म० जू०
(१०),, ,, भाद्र २९८ = ९०४-९०५ ,, अग० सि०

यह ध्यान देने योग्य बात है कि लेख स्वयं भिन्न-भिन्न संवतों के नाम नहीं देता है। परंतु यदि हम तत्कालीन लेखप्रथानुसार मान लें कि विक्रम और हर्ष दोनों ही संवतों का उपयोग किया गया है, तो हमारा अनुमान ठीक ही है। जैसा कि दूसरी सूची में दिखाया गया है।

एक को छोड़कर प्रायः सभी मितियाँ हर्ष संवत् में हैं और वह एक विक्रम संवत् में सबसे आश्चर्ययुक्त बात तो यह है कि हमारे लेख में २६१, ९४३, २८०, २९६ इत्यादि संवतों का उल्लेख है। परंतु लेख के लिखने का संवत् २५९ ही दिया है (प्रशस्तीयं उत्कीर्णा) परंतु प्रत्येक मितियों के पश्चात् 'अतीत-संवत्' लिखा है। अतएव लेख का संवत २५९ नहीं हो सकता—महेंद्रपाल

प्रथम के शासन का सबसे प्रथम लेखवत् भी संवत् २७४ में है (८९३-८९४ ई० सन्) और महेंद्रपाल का शासन-काल ८९० - ९०८ ई० तक ऊपर बताया जा चुका है। इस प्रकार हर्ष संवत् २९८, जो कि हमारे लेख का सबसे पिछला वर्ष है, और जो कि ईसवी ९०४-९०५ के लगभग होता है, भोजदेव के शासनकाल में नहीं पड़ता है, जैसा कि प्रशस्ति हमें बतलाती है, वरन् महेंद्रपाल प्रथम के शासनकाल में। अब प्रश्न उठता है कि कब और किसके शासनकाल में यह शिलालेख लिखा गया।

अगर यह सत्य है कि यह प्रशस्ति भोज प्रथम के शासनकाल में लिखी गई थी, तो हमें या तो यह मानना पड़ेगा कि उसका शासनकाल ह० सं० २९८ तक रहा होगा, अथवा यह कि २५८ और २५९ संवतों को छोड़ और सब मितियाँ अशुद्ध हैं, परंतु चालुक्य महासामंत बलवर्मन् के, जो कन्नौज के महेंद्रायुध अथवा महेंद्रपाल प्रथम के आधिपत्य में नक्षिसपुर काठियावार का शासक था, ताम्रपत्र से हमें यह विश्वास पड़ने में कठिनाई होती है कि भोज प्रथम का शासनकाल ई० सन् ८९३ तक भी रहा होगा। पुनः हमें यह देखने में भूल न करना चाहिए कि ह० संवत् २६१ से २९८ तक श्रीकनक श्रीदेवी के हेतु भवन और दूकानें सौवर्णिकद्रव द्वारा क्रीत की गई थीं। अतएव यह कहना कि अधिकांश मितियाँ अशुद्ध हैं, न्याययुक्त नहीं है। विशेषतः जब हमारे लेख में एक ही व्यक्ति अपने जीवन के ३७ वर्षों में क्रय-विक्रय में लगा था और जब कि दूतकों के भी नाम दिए गए हैं, जिनका मुख्य कर्तव्य रजिस्ट्री करना था। इन सब बातों को देखते हुए मितियों में अशुद्धियाँ नहीं हो सकतीं।

परंतु कहा जा सकता है कि ह० सं० २५९ अशुद्ध है, और यह कि भोज प्रथम सं० २९८ में जीवित रहा होगा, चाहे उसने अपने पुत्र महेंद्रपाल के पक्ष में राज-त्याग कुछ समय पूर्व कर दिया हो; परंतु इसके विरुद्ध यह देखना चाहिए कि न तो इसमें और न अन्य प्राप्त लेखों ने इस कल्पित त्याग पर कोई प्रकाश डाला है। दूसरे, ऐसी बड़ी ऐतिहासिक अशुद्धि सीधे-सादे और अल्प ज्ञानदाताओं से हो जाना संभव है, परंतु दूतकों से कभी नहीं—कारण कि कम-से-कम उन्हें अपने राजा का जिसके वे कर्मचारी थे, नाम तो भली भाँति ज्ञात ही रहा होगा! अतएव ऐसी दलीलें ध्यान देने योग्य नहीं हैं।

इस भूल के दो ही उत्तर हो सकते हैं। एक तो यह कि प्रशस्ति का एक अंश ह० सं० २५९ में भोज प्रथम ही के शासनकाल में लिखा गया होगा और अवशेष पीछे। दूसरे यह कि क्रय-विक्रयों का क्रमबद्ध विस्तार प्रथम (भोजपत्रादिक) क्षण-भंगुर पदार्थों पर लिखा गया होगा और पीछे २९८ ह० सं० के पश्चात् प्रस्तर पर चिरस्थायी किया गया था—पुनः दूतक अमरादित्य और कलुवा के विषय में 'लिखितं' और 'उत्कीर्णा' दोनों शब्द आए हैं, परंतु तीसरे दूतक कविलाक के विषय में केवल 'लिखितं' का ही प्रयोग हुआ है। अतएव सिद्ध है कि दोनों का उल्लेख दोनों ही विधियों से किया जाता था। अर्थात् उनका साधारण सामग्रियों पर लिखना अथवा प्रस्तरादिक चिरस्थायी वस्तुओं पर लेखायित कराना। और ह० सं० २५९ के पश्चाद् की मितियों का होना इन्हीं दो कारणों से संभव है।

इस प्रकार यदि हमारे लेख का समय ह० सं० २९८ के पीछे का है, तो यह लेख महेंद्रपाल प्रथम के ही शासन-काल का होगा और उसके पिता गुर्जरप्रतिहार-वंश के भोज प्रथम के समय का नहीं।

रामभद्र और उसके उत्तराधिकारी पुत्र भोज प्रथम एवम् उसके पुत्र महेंद्रपाल प्रथम के समय की कई मितियों को छोड़कर हमारे लेख से और कोई महत्त्व-पूर्ण ऐति-हासिक सामग्री नहीं मिलती है। केवल इस बात का पता चलता है कि गुर्जरप्रतिहार-वंश के राज्य-विस्तार के साथ-साथ गंगा के समीपवर्ती प्रांतों में उस राजवंश की प्रजा भी बहिर्गामी हो बसती जाती थी।

भद्रप्रकाश और मौक भिल्लमाल (भिनमाल) से आकर तत्तानंदपुर आहार में बसे थे। भिल्लमाल नाग-भट द्वितीय उपनाम नागावलोक नामक राजा के समय तक गुर्जरप्रतिहारों की राजधानी थी। इसी राजा ने पंचाल, बंगाल और बिहार को जीतकर कन्नौज को राजधानी बनाया था—राजधानी के परिवर्तन के ही कारण संभवतः यह श्रेष्ठिलोग, केवल व्यापार के लिये नई राजधानी के समीप आ बसे थे। संभव है कि वे भी गुर्जर रहे हों जैसा कि उनके वंश, नाम 'वर्कट' और 'लंबकंचुक' ही से प्रत्यक्ष है। इच्छुक पुत्र 'सहाक' सेठ भी विदेशी ज्ञात होता है। वास्तविक क्षत्रियों के स्थान में 'राजक्षत्रियों' का होना हमें बतलाता है कि किस

प्रकार बहिर्देशीय राजघराने हिंदू-जाति के क्षत्रिय-समाज में समाते चले गए—इस समय में पश्चिम प्रांतों से लोगों का आ-आ करके इस भाग में बस जाने का प्रमाण शिलालेखों से मिलता है (देखो—ग्वालियर का वाइल्ल भट्ट स्वामिन् मंदिर-लेख)

"द्रम्म" और "विंशोपक" भोज प्रथम के समय की दो मुद्राओं का भी वर्णन आया है। मध्यकालीन लेखों में कई प्रकार के 'द्रम्म' का वर्णन है—See. Epiq. I pp. 174,175176,177 ibid I 173-178.] हमारे लेख का द्रम्म भोज प्रथम द्वारा प्रचलित "श्री-मदादिवराह-द्रम्म" है, जो कि एक रजतमुद्रा थी। भोज प्रथम का उपनाम 'आदिवराह' भी है (ग्वालियर-लेख) विंशोपक तो द्रम्म के बीसवें भागवाली मुद्रा है। यहाँ पर संभवतः इससे "वराहकीय विंशोपक" का अर्थ है, जैसा कि सियदोनि-लेख में आया है।

भारत के धार्मिक इतिहास के जानने में हमें शिला-लेखों ने बड़ी सहायता दी है। भिन्न-भिन्न और नए-नए देवी-देवताओं के नाम ज्ञात हुए हैं। हमारा लेख धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से बड़ा मनोरंजक है, कम-से-कम पाँच देवी-देवताओं के नाम दिए हुए हैं। विष्णु ही केवल एक पुरुष देवता हैं, जिनकी पूजार्थ कुछ दान का उल्लेख है। विष्णु दो नामों से लिखे गए हैं (१) श्री-दशावतार देव और (२) वामन स्वामीदेव, शेष चारों देवियों के नाम हैं—

(१) श्रीसर्वमंगलादेवी, (२) श्रीगंधश्रीदेवी, (३) श्रीकनक या कंचन श्री देवी और (४) गंगा देवी श्रीसर्वमंगलादेवी पार्वती ही हैं और शाक्त लोगों द्वारा पूजी जाती हैं। श्रीगंधश्रीदेवी अवश्य ही गंधेश्वरीदेवी हो हैं। यह गंधवणिक लोगों की देवी अब भी उनसे पूजिता हैं। श्री कनक या कंचनश्रीदेवी संभवतः लक्ष्मी के ही लिये आया है। हमें ज्ञात नहीं कि आधुनिक सुवर्ण वणिक लोग श्री कनक या कंचन श्री देवी को लक्ष्मी से इतर मानकर पूजते हैं, अथवा नहीं।

भूगोल-संबंधी जो तीन नाम आए हैं, उनमें भिल्ल-माल इतिहासज्ञों को भली भाँति ज्ञात है और ऊपर उसके विषय में कहा जा चुका है। इसको श्रीमाल भी कहते हैं और यह आबू पर्वत (राजपूताना) से ५० मील पश्चिमोत्तर सीमा में है। श्रीतत्तानंदपुर हमारी राय में आधुनिक आहार ही था। आहार के आसपास पुरानी प्रस्तरकला के अवशेष चिन्हों एवम् उच्च-उच्च टीलों के प्राप्त होने से ज्ञात होता है कि किसी समय यह अंतर-वेदी का एक समृद्धिशाली और जन-पूर्ण नगर रहा होगा। तीसरे नाम मदपापुर की स्थिति हम अभी ठीक ठीक नहीं निर्णय कर सके।

अंत में हम यह कहकर समाप्त करते हैं कि मिस्टर डाब्स के कथनानुसार * पुरातत्त्व-विभाग द्वारा आहार में खुदाई होने से महत्त्व-पूर्ण ऐतिहासिक सामग्री मिल सकती है।

मूल शिलालेख

१—[ओम् ॥ परम—] भट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर-श्रीरामभद्रदेव पादानुध्यातः परमभट्टारक-महाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीभोजदेवपादानामभिप्रवर्द्धमान कल्याणविजयराज्ये संवत्सरशतद्वये एकूनषष्ट्याधिके मार्ग-शिर मास बहुलपक्ष दशम्यां संवत् १०० ×२,५० , ९

२—[म] र्गशिर [वदि दशम्या] म् सम्वत्सरै मासदिवस पूर्वायान्तिथाविह श्री तत्तानन्दपुरे श्रीमदार्य-चातुर्व्वैद्यादेशाद् एडराशिक-अमरादित्यदूतक-वचनात् प्र-शस्तेयमुत्कीर्णा । [१ *] तथाऽतीतसंवत्सरशतद्वये अष्टपञ्चाशदधिके आषाढमासबहुलपक्ष दशम्यां सम्वत् १००[9]×२, ५०[10], ८[11], आषाढ वदि १०[12] अस्यां सम्व—

* "... . ...इस (प्रशस्ति के) आविष्कार के पूर्व ही मैंने पुरातत्त्व-विभाग को आहार में खुदाई की आवश्यकता के लिये लिखा है। यदि पुरातत्त्व-विभाग भी एक समान धन दे, तो मैं २०००) रुपए तक चंदा से एकत्रित करने को सहमत हूँ... ... ...।"

मिस्टर डाब्स के १३ ऑक्टोबर सन् १९२४ के पत्र का एक अंश।

१. शुद्ध-एकोनषष्ट्यधिके। २. मार्गशिर या मार्गशीर्ष। ३. सौ के लिये मूल में 'श्री' चिह्न है। ४. पचास के लिये अनुनासिक को दाहिनी ओर घुमाकर लिखा है। ५. नौ के लिये 'श्री' स्वर है। ६. तत्तानन्दपुरे। ७. सम्भवतः इसे चातुर्व्वैद्यसभादेशात् होना चाहिए, क्योंकि ७ और २०वीं पंक्ति में सभादेशपद आया है। ८. प्रशस्तिरियम्। ९, १०. पहले ३ और ४ चिह्नों के समान। ११. आठ की संख्या के लिये 'ह्रा' संकेत है। १२. दस की संख्या के लिये 'लृ' संकेत है।

३—त्सर मासदिव [स-पूर्व्वायान्तिथा] विह श्री तत्तानन्दपुरे प्रतिवसमानः[1] श्रीभिल्लमाल विनिर्गत वणिग्वर्कटजातीय भद्रप्रकाश नाम भट्ट[2] अन्मवाक पुत्र तथा लम्ब (म्ब) कञ्चुक वणिग् जातीय-मौङ्कः गोसुकपुत्र[3] [।*] अनयोर्भ्राम्या पत्रमभिलेखार्थ्य श्रीमत्कञ्चन-श्रीदेव्यां[4] ग्रम्मैः क्रयक्रीतावारी[6] इहैव पत्तनाभ्य

४—न्तरे पूर्व्वेह [ट मध्यप्रदेशे]............म्[7] [तलो] र्ध्व समहतोच्छ्रय समेतां[8] [।*] अस्यावार्य्या राघाटा[9] यत्र भवन्ति पूर्व्वतो[10] इहैव पत्तनाद्दहिर्द्दक्षिणस्यां दिशि या नन्दा भगवती देवी तस्यास्सनकं पक्केष्टकं गृहं दक्षिणतो भट्ट गोणाक बहिस्फोट[11] सत्कावारी[12] पश्चिमतो हट्टमार्ग्गः[13] उत्तरतो वामनस्वा

५—[मि] दे [व] सत्कावारी[14] [।*] ए [वं] ....[15] [प] त्तनाद्ब हिर्द्दक्षिणस्यां दिशि श्रीकञ्चन श्रीदेव्या-यातनस्य इहैव श्रीमत्तत्तानन्दपुर[16] निवासि सौवर्णिणक-वणिक महाजनेन[17] भद्र मौङ्काभ्यां च सदा सन्मार्जनो पलेपन[18] [कु] ङ्कुम[19] पुष्प धूपप्रदीप ध्वजाधवला-पन[20] सिन्दूर खंडस्फुटित—

६.....................................[21]प्रतिपादिता । यतो = (ऽ) द्यप्रभृति समस्त सौवर्णिणकमहाजनेन[22] पुत्रपौत्रात्वये[23]सहितेन यथाभिलिखितपालनेयं कर्त्तव्येति ॥ [२ *] तथातीत सम्मवत्सरशतद्वये अष्टनव-दाधिके[24] चैत्रमासशीत[25]पक्ष अष्टम्यां सम्व—

७ [—त्२१८]............................... [शा] यामिह श्री तत्तानन्दपुरे श्री मदुतरसभादेशा दूतके कलुवा वचनात् लिखित[3]मुत्कीर्ण्णा च ॥ [३ *] तथ अती[4] सम्वत् ६४३ पौष वदि १३ अस्यां तिथाविह श्रीमदपापुरे कार्याभ्यागताः श्री तत्तानन्दपुरवास्त—

८[—व्याः]...............[5].....................[6] [......]—सुत[7]नागः[8] नागसुत माधवः अस्य[9] लघु-भ्राता मधुसूदन[10] तथा सर्व्वसमुत गोविन्दः अस्य[11] सुत केशवः[12] तथा सर्व्वससुत[13] देवनाग[14] [। *] चत्वारोपेतेक-मतीभूत्वा[15] श्री तत्तानन्दपुरे पूर्व्व हट्टमध्यप्रदेशे श्रीम+द् आर्य चातुर्व्वे—

९—ग्रसामान्यभ [ट]........................[16] [भूमि][17] अस्मदीयपितामहमङ्गलवर्म्मेण[18] भवनवतिपत्रेण गृहीता[19] स्वयं कारित[20] पूर्व्वाभिमुखपक्केष्ट म—पवरक-द्वयं[21] विशालकस्तम्भस्तालातलोद्व्म्[22] अनस्तोच्छ्रयसमेतं पूर्व्वद्वारभोग्य (म्) [। * [23]] अस्याघाटा[24] यत्र भवंति[25] पूर्व्वतः कुरथ्या दक्षिण—

१०—तः[26] विजट्टसत्कागृहभूमि[27] पश्चिमतो भट्टइन्द्र[28] सत्कागृहभूमि[29] उत्तर तो[30] वणिक् उजुवा[31]गृहं (म्) [। *] एवं चतुराघा[32]ट्टविशुद्धं गृह[33] सोम-

१. शुद्ध । २. शुद्ध, प्रतिवसन् भद्दकोऽन्यवाकपुत्रस्तथा । ३. मौको गोसुकपुत्रः । ४. अधिलख्य । ५. देव्यै । ६. आवारिर् । ७. इस स्थान पर लगभग आठ अक्षर लुप्त हो गए हैं । ८. समेता । ९.अस्य आवार्या-आघाटा । १०. पूर्व्वतः ११. बहिस्स्फोट अथवा बहिःस्फोट । १२ आवारिः । १३. मार्ग । १४. आवारिः । १५. यहाँ १४ अक्षरों का लोप है । १६. तत्तानन्दपुर । १७. वणिग् या वणिन् महाजनेन । १८. सम्मार्जनोपलेपन । १९. कुंकुम । २० धवललेपन । २१. यहाँ लगभग २४ अक्षरों का लोप है, इस रिक्त स्थान की पूर्ति इस प्रकार हो सकती है—"चतुराघाट (ट) विशुद्धा आवारी (रिह) इहैव" । २२. महाजनेन । २३. पौत्रान्वय । २४. अष्टनवत्यधिके । २५. सित ।

१. यहाँ लगभग १६ अक्षरों का लोप है, इस रिक्तस्थान की पूर्ति इस प्रकार की जा सकती है—"चैत्र सुदि ८ अस्यां सम्वत्सर मास दिवस पू [र्व्वा—] । २. उत्तरसभादेशा-दूतक । ३. लिखितेयम् । ४. तथातीत । ५. यहाँ मंगलवर्मा होना चाहिए । ६. यहाँ १६ अक्षरों का लोप है । ७. सर्व्वस होना चाहिए । ८. सुतो नागो । ९. सुतो-माधवोऽस्य । १०. मधुसूदनस् । ११. गोविन्दोऽस्य । १२. सुतः केशवस् । १३ सर्व्वससुतो । १४. देवनागः । १५. चत्वारोप्येतेयकमतीभूय , यहाँ पर लिपिकार ने पहिले 'दा' लिखा था फिर 'म' कर दिया है । १६. इन अक्षरों के चिन्ह अब भी देखे जा सकते हैं—सर्भोक (१) सत्कागृह । १७. भूमिम् । १८. मङ्गलवर्म्मा । १९. गृहीत्वा । २०. कारितं । २१. पक्केष्टकापवरकद्वयं । २२. विशालस्तम्भशालातलोर्ध्वम् । २३. 'अयच्छन्' होना चाहिए । २४. अस्या आघाटा । २५. भवन्ति । २६. दक्षिणतो । २७. भूमिः । २८. भट्ट-एन्द्र । २९. भूमिर् । ३०. उत्तरतो । ३१. वणिग् उजुवाक । ३२. आघाट । ३३. 'एतैः' रखिए ।

प्रहरो गंगा-देव्यां स्नात्वा मातापित्रोरात्मनश्च पुण्य-यशोभिः वृध्यर्थं[1] प्रतिग्रहपत्रेण दशविंशोपका मासप्रदेय भाट्टकन्यासे—

११—न श्री कनकश्रीदेव्याय[3] प्रदत्तं (म्) [। *] अस्मदीयपुत्रपौत्रसंतत्यानुक्रमेण[6] भाट्टके[4] मध्ये विंशोपका[6] दश दत्वा भौक्तव्यमिति [।-६०३-।]

[४ *] तथातीत सम्वत् २८० फाल्गुन वदि ८ अस्यां तिथाविह श्री तत्तानन्दपुरे प्रतिवसमान श्री मदार्यचातुर्वैद्यसामान्यभट्ट-इश्वर[8] ।

१२—महादेवपुत्र[9] असैव[10] सुत[11] महादेवमाता इयट्टा सन्मतेन[12] इहैव पत्तनाभ्यन्तरे[13] पूर्व्वे दक्षिणदिग्विभागे स्वकीयक्रयक्रीता[14] उभयसंसाविंशतिहस्तप्रमाणा गृहभूम्यर्द्ध दक्षिणपारश्वीयं पश्चिमाभिमुखं पक्कैष्टकं गृहं दक्षिणाभिमुखा आवारिरीद्वयं[17] समस्त अपव—

१३—रकैः समस्तोच्छ्रयसमेतं[18] [। *[19]] अस्य गृहावार्यौराघाट्टा[20] यत्र भवन्ति पूर्व्वतः[21] भट्टच्छित्तराकसमाकयो सत्कगृहभूमि[22] दक्षिणतो वृ (वृ) हद्रथ्या पश्चिमतः कुरथ्या उत्तरतो[23] सहुलाक सत्कगृह भूम्यर्द्ध[24 25] उत्तरपौरश्वायं[। *]एवं चतुराघाट्ट विशुद्धं[26] गृहभूम्यर्द्ध[27] गृहावारी[28] द्वयसमेतं —

१४—श्रीकनकश्री देव्या[29] द्रव्येण गोष्टि[30] भिक्रयक्रीताः[31] [। *] भट्ट इश्वरा दिभिः नवनवति पत्रेण विक्रीता[33] सम्प्रदत्ताश्च[1] [। ◌ ।] [५ *] तथातीत

सम्वत् २८२ मार्गशिर वदि ११ अस्यां तिथाविह श्री तत्तानन्दपुरे प्रतिवसमान राजक्षत्रियान्वयः[3] वणिक सहाक इच्छुकपुत्र इहैव ।

१५—पत्तनाभ्यन्तरे पूर्व्वे हट्टमध्य प्रदेसे[4] स्वकीयक्रयक्रीता[5] पश्चिमाभिमुखावारी[6] त्रिप्रकोष्ठा[7] तलोंद्धम् तालकपत्तक समस्तोच्छ्रय समेत ([8]) [। *[9]] स्या (स्य) स्यावार्याघाट्टा[10] यत्र भवंति[11] पूर्व्वतः[12] वणिक् [था] गोकसत्कगृहं दक्षिणतो[13] श्रीगन्ध श्रीदेव्यावारी[14] पश्चिमतः[15] हट्टमार्ग्गः उत्तरतो[16] व—

१६—णिक् जयंनि[18] सुनसर्व्व देव सत्कावारी[19] [। *] एवं चतुराघाट्ट[20] विशुद्धाः पश्चिमाभिमुखावारी[21] श्रीकनक श्रीदेव्या[22] द्रवेण सौवर्णिकमहाजनेन क्रयक्रीता [। *] क्षत्रिय[23]—साहाकेन[24] नवनवति वर्ण्णानयां धावन्यतिकविक्रयपत्रेण[25] विक्रीता संप्रदत्ता[26] च [। ◌ ।]

[६ *] तथा संव

१७—त्सरशत[27] २८६ भाद्रपद शुदि १४ अस्यां तिथाविह श्रीतत्तानन्दपुरे प्रतिवस-माना[28] श्रीमदार्यचातुर्व्वैद्यसामान्याः शर्क राक्षिपगोत्राः[29] व (ब) हृचस व (ब्र) ह्मचारिणा[30] भट्टदिवाकर[31] [भट्ट ना][32] रायण[33] पुत्र[3]

१. पुण्ययशो (ऽ) भिवृद्ध्यर्थं । २. दशविंशोपकमासप्रदेयभाट्टकन्यासेन । ३. श्रीदेव्यै । ४. सन्तत्यनुक्रमेण । ५.भाटक । ६. विंशोपकान् । ७. प्रतिवसन् । ८. भट्ट एश्वरो । ९. पुत्रो । १०. असैव । ११. सुतेन । १२. महादेवमातियट्टासम्मतेन । १३. पत्तनाभ्यंतरे । १४. क्रयक्रीतम् । १५. समविंशतिहस्त मागणगृहभूम्यर्धं । १६. पार्श्वीयं । १७. दक्षिणाभिमुखावारिद्वयं । १८. समस्तापवरकसमस्तोच्छ्रयसमेत। १९. यहाँ 'घ्यकर्णित' शब्द हो सकता है। २०. अनयोः गृहावार्योराघाटा । २१. पूर्व्वतो । २२. भट्टच्छित्तराकामाकयोः सत्कगृह भूमिर् । २३. उत्तरतः । २४. गृहभूम्यर्धम् । २५. उत्तरपार्श्वीयं । २६. चतुराघाटविशुद्धं । २७. गृहभूम्यर्धं । २८. आवारि । २९. देव्य । ३०. गोष्ठीभिः । ३१. क्रयक्रीत । ३२. भट्टेश्वरादिभिर । ३३. विक्रीतं ।

१. सम्प्रत्तं (या सम्प्रदत्तं) । २. प्रतिवसन् । ३. राजक्षत्रियान्वयो । ४. पत्तनाभ्यन्तरे । पूर्व्वेहट्टमध्यप्रदेशे । ५.क्रयक्रीतां । ६. आवारिं । ७. त्रिप्रकोष्ठां । ८. तलोर्ध्वतालकपट्टकसमस्तोच्छ्रयसमेता । ९. यहाँ 'घ्यकर्णित' शब्द होना चाहिए । १०. अस्या आवार्या आघाटा । ११. भवन्ति । १२. पूर्व्वतो । १३. दक्षिणतः । १४. आवारिः । १५. पश्चिमतो । १६. मार्गे उत्तरतो । १७. वणिग् । १८. जयन्त या जयन्ति । १९. आवारि । २०. आघाट । २१. आवारिः । २२. देव्यै । २३ क्षत्रिय । २४. सहाक । २५. नवनवतिवर्ण्णानि धावनात्यतिकविक्रयपत्रेण । २६. आवारिर् विक्रीता सम्प्रत्ता (अथवा सम्प्रदत्ता) । २७. शत अनावश्यक है, केवल सम्वत् पढ़िए । २८. प्रतिवसन्तः । २९. गोत्रा । ३०. ब्रह्मचारिणः । ३१. दिवाकरो । ३२. यह अक्षर अस्पष्ट है । ३३. यह 'य' 'प' के समान लिखा है । ३४. पुत्रम् ।

तथा सैव[1] भट्टदीयाक पुत्रौ[2] अच्युतशिवदामोदरशिवौ अस्य अच्युतशि—

१८— वपुत्रौ[3] आनन्दभट्टशिवौ मातुभट्टिनीमहादेवी ञन्मतेन[4] एकमतीभूत्वा[5] इहैव पत्तनाभ्यंतरे[6] पूर्व्वहट्टमध्य-प्रदेशे पूर्व्वाभिमुखा[7] पक्के्टकाति[8] प्रकोष्टा[9] तर्लोर्द्धं तालक-पत्तकसंयु[10] (क्ता) वारी समस्तोच्छ्रूयसमेता[11] भट्टदीया-केन स्वयमार्जिता क[12]येण[13] [। *] अस्यावार्यारा-

१९—घाट्टा[14] यत्र भवंति[15] पूर्व्वतः[16] हट्टुर्मा (र्गा[17]) दक्षिणतो[18] श्रीदशावतारदेवसत्कावारी[19] पश्चिमतः श्री नन्दाभगवत्या[20] सत्कगृहं (म्) उत्तरतो[21] पिम्तुवाकवाट्टि-कायां[22] श्री सर्व्वमङ्गलदेव्यायतने सत्कावारी[23] [। *] एवं चतुराघाट्टविशुद्धावारी[24] श्रीकनकश्रीदेव्या[25] द्रव्येण सौवर्णिकमहा—

२०—जनेन[26] क्रयक्रीता [। *] भट्टदियाकादिभिः (र्) नवनवति प्रत्रेण विक्रीता[27] [। ❁ ।]

[७ *] संवत् २९८ ज्येष्ठ[28] शुदि १३ अस्यां तिथाविहश्रीत-त्तानन्दपुरे श्रीमदुतरसभादेशादुतक-[29] कविलाकवचनात् लिखितं[30] [॥ *] [८ *] इहैव प्रतिवसमानौ[31] क्षतृय[32]जातीयौ कोकाक पद्मनाभौ म—

२१— मधुसूदन पुत्रौ तथा चेव[33] नागभार्या-लच्छिका[34] तथा[35] माधवभार्या सम्पदा[36]भ्यां सन्मतेन[37] उपरिलिखित मंगलवर्म्मसर्व्वस-सत्क-पुत्रपौत्रैश्च अतीत[38] काले दशवि-

सोपकमासप्रदेय भाट्टकन्यासेन[1] पूर्व्वाभिमुखं गृहं[2] दत्तासीत्[3] [। *]=साम्प्रतं कोकाकादिभिः सर्व्वभा—

२२—ट्टकेन नवनवतिपत्रेण[4] श्रीकनकश्रीदेव्या[5] द्रवेण सौवर्णिकमहाजनेन क्रयक्रीतं (म्) [। *] कोकाकादिभिः सर्व्वभाट्टकेन[6] निवेदितमिति [। ० ।] [६ *] तथातीत सम्वत् २६१ आषाढ़ वदि ३ अस्यां तिथाविह श्रीतत्तानन्दपुरे प्रतिवस-मान[7] गंधिकमाथुरजातीयवणिक् माधव[8]

२३—देवनागपुत्र इहैव पतनाभ्यंतरे[9] पूर्व्वहट्टमध्यप्रदेशे स्वकीयक्रयक्रीतं पश्चिमाभिमुखं पक्केष्टनं[10] गृहं सर्व्वोच्छ्रूय-समेतं[11] [। *] अस्याघाट्टा[12] यत्र भवंति[13] पुर्व्वत[14] सद-चण्डाकसत्कावारी[15] दक्षिणतो (ऽ) प्यसैव[16] माधवगृहं पश्चिमत[17] वृ (बृ) हद्रथ्या उतरतो[18] वणिक मेचाक[19] सक्तगृहं (म्) [। *] एवं च—

२४—तुसघाट्टविशुद्धं[20] गृहं श्री कञ्चनश्री[21] देव्या[22] द्रव्येण सौवर्णिकमहाजनेन नवनवत्यात्यन्तिकविक्रय-पत्रेण क्रीतं (म्) [। *] वणिक्[23] माधवेन स्वहस्त-पत्रिकायां[24] विक्रीतं सम्प्रदत्तञ्च[25] [। ❁ ।]

[१० *]तथा सम्वत् २९८ भाद्र पद वदि ६[26] अस्या[27] तिथाविह श्री तत्तानन्दपुरे प्रतिवशमान[28]—

२५—श्रीमदार्यचातुर्व्वैद्य सामान्य[29] भारद्वाजसगोत्र व (ब) ह्वस व (ब्र) ह्मचारी भट्टइशानदत[31] भट्टकेशव-

---

१. चैव । २. पुत्रावच्युत । ३. अच्युतशिवस्य पुत्रौ । ४. मातुर-भट्टिनीमहादेव्याः सम्मतेन । ५. एकमतीभूय । ६. पत्तनाभ्यन्तरे । ७. पूर्व्वाभिमुख । ८. पक्केष्टकां । ९. त्रिप्रकोष्ठां । १०. तलोर्द्ध-तालकपत्तकसंयुक्तावारि । ११. समेतां । १२. क्रयेण स्वयमा-र्जितां । १३. यहाँ पर व्यर्कीणन होना चाहिए । १४. अस्या आवार्या आघाटा । १५. भवन्ति । १६. पूर्व्वतो । १७. मार्गो । १८. दक्षिणतः । १९. आवारिः । २०. भगवत्यास् । २१. उत्तरतः । २२. वाटिकायां । २३. श्रीसर्वमङ्गलादेव्यायतन-सत्कावारिः । २४. आघाटविशुद्धावारिः । २५. देव्यै । २६. महाजनेन । २७. आवारिर् विक्रीता । २८. ज्येष्ठ । २९. उत्तरसभादेशाद् । ३० लिखितम् । ३१ प्रतिवसन्तौ । ३२. क्षत्रिय । ३३. चैव । ३४. लच्छिकाया । ३५. तथा को छोड़ दीजिए । ३६. सम्पदायाश्च । ३७. सम्मतेन । ३८. चातीतकाले ।

१. दशविंशोपकमासप्रदेयभाटकन्यासेन । २. दत्तं । ३. ·························(यादेव) पूर्व्वाभिमुखं गृहं दत्तं (तदव्यर्कीर्णताम् *) । ४. साम्प्रत । कोकाका-दिभिः सर्व्वभट्टैर्नवनवतिपत्रेण (विक्रीतं *) । ५. देव्यै । ६. सर्वभट्टैर् । ७. प्रतिवसन् । ८. वणिग् माधवो । ९. पत्तनाभ्यन्तरे । १०. पक्केष्टकं । ११. व्यर्कीर्णात होना चाहिए । १२. आघाट । १३. भवन्ति । १४. पूर्व्वतः । १५. आवारिर् । १६. अस्यैव । १७. पश्चिमतो । १८. उत्तरतो । १९. वणिग् अथवा वणिन् मेचाक । २०. चतुरा-घाट । २१. काञ्चन । २२. देव्यै । २३. वणिग् या वणिन् । २४. पत्रिकया । २५. सम्प्रत्तम् अथवा सम्प्रदत्तम् । २६. 'ज' चिन्ह से प्रदर्शित किया गया है । २७. अस्यां । २८. प्रतिवसन् । २९. सामान्यो । ३०. गोत्रो । ३१. भट्टेशानदत्तो ।

पुत्र इहैव पतनाभ्यंतरे[1] पूर्व्वोतर[2]दिग्विभागमध्यप्रदेशे पितृपितामहोपात[3] पितृव्य[4]पितामहो वणृनायात[5] भ्रातृभिः सह वणृन पत्रणायाया क्रयक्रीता उ—

२६—भयसप्तविंसतिहस्तप्रमाणा गृहभूम्यार्द्धं[6] उतर पारस्त्रोयं पक्केष्टकावरि[8] एकप्रकोष्ठ-द्वयं[9] तथा द्वि प्रकोष्ठावारोत्रयं[10] उतराभिमुखा[11] तथा पश्चिमा-भिमुखा[12] द्विप्रकोष्ठमेकं[13] एवं मावारी[14] षट् आगम पत्रैसह[15] सर्व्वोच्छ्रयसमेता[16] [। *] भ्रमीषा-भावा[17]

२७—र्या[18]राघाट्टा[19]यत्र भवंति[20] पूर्व्वतः कमलानक-भट्ट हरदत[21]पुत्राणां गृहं दक्षितः अस्यैव[22] भूमे दक्षिण-पारश्यीयं[23] भट्टततस्य वंट्टनायातं[24] पश्चिमतो[25] कुरथ्या उतरतो (ऽ)[26] पि वृ (वृ) हद्रथ्या [। *] एवं घतुराघाट्टविपुद्धं[27] गृहभूम्यद्ध[28] पक्केष्टकाभावारी षट्[29] श्रीकनकश्रीदेव्या[30] द्र

२८—व्येण सौवर्णिकमहाजनेन-भट्ट इसान[31]दतहस्ते नवनवतिपत्रेण क्रीता (:) [। *] इसानदतेन विक्रोता सम्प्रदताश्च[32] [॥ *] एतेषां स्थापरानां[33] भट्टकं[34] यत्मुत्पदयते[35] तत् सर्व्वं [ग्] ो [ष्] ि [भ्] िः[36] कुंकुमधू[37] पगुस्प[38] दीपकध्वजाधवलापन-[39] खण्डस्फुट्टित[40] समरचनादिषु धर्म्मोपयोग्यां कर्तव्यं (म्) ॥ [। २ *]

श्रीचरणदास चटर्जी

---

१. पत्तनाभ्यन्तरे । २. पूर्व्वोत्तर । ३. पितामहोपात्ताः । ४. पितामहानृणायाता । ५. सहानृणपत्रेणायाताः । ६. सप्तविंशतिहस्तप्रमाणगृहभूम्यूर्ध्वा । ७. उत्तरपार्श्वीयाः । ८. आवारिर् । ९. एकप्रकोष्ठमात्राद्विय । १०. द्विप्रकोष्ठमात्रास्त्रियं । ११. उत्तराभिमुखं । १२. पश्चिमाभिमुखं । १३. द्विप्रकाष्ठाभिकामावारि । १४. एवमावारीः शन् । १५. पत्रैः । १६. यहाँ पर 'व्यक्रीणीत' शब्द होना चाहिए था । १७. अमूषाम् । १८. आवारीणाम् । १९. आघाटा । २०. भवन्ति । २१. हरदत्त । २२. दक्षिणतो (ऽ) स्यैव । २३. पार्श्वीयं । (भूमें) २४. वन्तनायातं । २५. पश्चिमतः । २६. उत्तरतो (ऽ) पि । २७. चतुराघाटविशुद्धा । २८. गृहभूम्यूर्ध्वाः । २९. पक्केष्टकावार्यः षट् । ३०. श्रीदेव्यै । ३१. भट्टेशानदत्तहस्तात् । ३२. ईशानदत्तेन आवार्यः षट् विक्रीताः सम्प्रदत्ताश्च । ३३. स्थावराणां । ३४. भाटकं । ३५. यदुत्पद्यते । ३६. गोष्ठीभिः । ३७. कुंकुम । ३८. पुष्प । ३९. धवललेपन । ४०. स्फुटित ।

ऋतु और विरहिणी

ग्रीषम समान तनु जारत विरह-ज्वाल ,

बरखा समान नैन-नीर बरसत है ;

सरद-सरित सम तन-तेज छीन होत ,

दीन-मन हेंउत दिवस दरसत है ।

काँपत हियो है अति शिशिर के शीत सम ,

पीरो परो गात ज्यों बसंत सरसत है ;

बिरहिनि बाल के बदन पै बिलोकियतु ,

छहो ऋतुवन को समाज सरसत है ।

शम्भुदयालु श्रीवास्तव

समाचारपत्र

(पर्यालोचना)

जब समाचारपत्र न थे, तब हमें उनकी आवश्यकता भी प्रतीत न होती थी। उस समय हमारी दुनिया ही दूसरी थी । किंतु अब समाचारपत्रों के लाभ का हमें चसका लग गया है, इसलिये अब उनके बिना हमारी गुज़र नहीं होती । यह बात, ज्यों-ज्यों दिन बीतते आयँगे, त्यों-त्यों सत्यतर होती आयगी। जितनी आवश्यकता हम आज प्रतीत कर रहे हैं, कुछ दिन बाद उससे अधिक आवश्यकता प्रतीत करने लगेंगे । जहाँ—पाश्चात्य देशों में और पौर्वात्य स्वतंत्र देशों में भी—समाचारपत्रों का चसका लग गया है, वहाँ यह दशा हो भी रही है । हमारे जीवन का प्रवाह ही कुछ ऐसे रुख़ से बह रहा है कि बिना समाचारपत्रों के काम ही नहीं चलेगा । अभी तो हम समाचारपत्रों को केवल मनोरंजन या सुविधा और कभी-कभी विलासिता के लिये चाहते हैं, किंतु आगे चलकर वह समय आनेवाला है, जब वे हमारे जीवन के आवश्यक अंग हो जायँगे ।

समाचारपत्र-संस्था का कार्य सबसे अधिक व्यापक है । भिन्न-भिन्न मनुष्यों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के सामान उसे तैयार करने पड़ते हैं । जो लोग जिस बात को पसंद करते हैं, वे उसका प्रतिबिंब समाचारपत्रों में

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ

पाते हैं। समाचार, साहित्य-चर्चा, कविता, मनोरंजन, संगीत आदि नाना प्रकार के विषयों का प्रवेश समाचार-पत्रों में रहता है। इसके अतिरिक्त विज्ञापन द्वारा भी समाज का बड़ा हित किया जाता है। बेकार लोग इस प्रकार का विज्ञापन देकर कि वे अमुक-अमुक योग्यता रखते हैं और काम चाहते हैं, काम प्राप्त कर सकते हैं। रोज़गार, व्यापार, कल, कारख़ाना और दफ़्तरवाले इस प्रकार का विज्ञापन देकर कि उन्हें अमुक-अमुक योग्यता का आदमी काम करने के लिये चाहिए, नौकर प्राप्त कर सकते हैं; किसी चीज़ के चाहनेवाले उस चीज़ के संबंध का विज्ञापन देकर यह मालूम कर सकते हैं कि वह चीज़ कहाँ पर, किस भाव से और किस प्रकार प्राप्त हो सकती है और बेचनेवाले अपनी चीज़ का विज्ञापन देकर उसकी तरफ़ जनता को आकर्षित कर सकते हैं, और उसकी बिक्री का पूरा प्रबंध कर सकते हैं। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक दृष्टि से समाचारपत्र सर्वसाधारण की सेवा करते हैं। वे समाचार-संग्रह करके जनता को देश की और संसार की घटनाओं से परिचित कराते हैं। अपने विचार प्रकट कर घटना-विशेष से देश पर पड़नेवाले प्रभाव का बोध कराते हैं, और विज्ञापन देकर व्यापार और बेकारी आदि की असुविधाएँ कम करते हैं।

समाचारपत्र-प्रकाशन स्वयं एक व्यापार है। एक व्यापार के लिये जिन-जिन बातों की ज़रूरत पड़ती है, वे सब इसमें भी ज़रूरी होती हैं। ग्राहकों की संख्या बढ़ाना, विज्ञापन प्राप्त करने की कोशिश करना, स्वयं अपना विज्ञापन करना, नौकर-चाकर रखना, बाक़ायदा ख़रीद-फ़रोख़्त करना आदि प्रायः समस्त व्यापार-संबंधी बातें इसमें आ जाती हैं। फिर भी अभी यह नितांत व्यापारिक रूप में नहीं आया। रुख़ उस तरफ़ ज़रूर है। अभी तो जो लोग इस व्यापार को (मैं इसे व्यापार ही कह रहा हूँ) करते हैं, वे प्रत्यक्ष धनोपार्जन की दृष्टि से नहीं करते। उनके हृदय में यह भाव यदि रहता भी है, तो बहुत कुछ अप्रत्यक्ष रूप में रहता है। किंतु कुछ उदाहरण छोड़कर जहाँ शुद्ध देश-भक्ति, या समाज अथवा साहित्य-सेवा के भाव से पत्र निकाले जाते हैं, अन्यत्र अधिकांश में स्वार्थ-भाव रहता अवश्य है, फिर वह अप्रत्यक्ष ही क्यों न हो। यह भाव दिनोदिन उन्नति कर रहा है और जैसा कि प्रथम संपादक-सम्मेलन के सभापति श्रीबाबूरावविष्णुपराड़कर ने अपने भाषण में कहा था, वह समय शीघ्र ही आनेवाला है, जब यह काम शुद्ध व्यापार की दृष्टि से किया जायगा और बड़े-बड़े व्यापारी, संपादक और रिपोर्टर आदि नौकर रखकर इस व्यापार का संचालन करेंगे। उस समय आपस की प्रतिद्वंद्विता बढ़ेगी और एक समाचारपत्र दूसरे से कम क़ीमत पर अधिक सुविधाएँ देने का प्रयत्न करेगा। किंतु साथ-ही-साथ संपादकों की स्वतंत्रता घट कर प्रबंधकों का प्रभाव बढ़ेगा। यह अवस्था देश के लिये आशीर्वाद सिद्ध होगी, या अभिशाप। इस संबंध में यदि समय की गति-विधि से कुछ अनुमान कर सकना संभव हो, तो यह स्पष्ट दिखलाई पड़ रहा है कि समाचारपत्रों पर पूँजीपतियों का शासन होगा और वे अपने तुच्छ स्वार्थ के अनुसार देश की इस विशाल विभूति का सदुपयोग या दुरुपयोग सब कुछ करने में तनिक भी आगा-पीछा न करेंगे। स्वतंत्र विचार-वाले धनाभाव के कारण उनका मुक़ाबिला न कर सकेंगे। पूँजीपतियों के पत्र बढ़िया छपे, कटे, साफ़ काग़ज़ और सुंदर टाइपवाले होंगे, उनके मुक़ाबिले में कम सजधज के समाचारपत्रों की पूछ न होगी। और स्वतंत्र संपादक उतना धन लगा न सकेंगे कि उतनी ही या उससे अधिक सजधज के पत्र निकालें। इन सब बातों का परिणाम यह होगा कि वे समाचारपत्र निकाल ही न सकेंगे और पूँजीपति निष्कंटक राज्य करेंगे। समाचार-पत्रों में पूँजी-पतियों का हाथ दिनोदिन बढ़ता जा रहा है। अभी से ही यह दशा आ गई है कि यदि कोई पत्र किसी पूँजी-पति के विरुद्ध हुआ, तो उसे द्रव्य आदि का मोह दिखा-कर वश में करने की कोशिश की जाती है और अनेक समाचारपत्र इस प्रकार पूँजीपतियों की हाँ-में हाँ मिलाने भी लगते हैं। किंतु अभी स्वतंत्र विचारवाले स्वतंत्र संपादक और उनके स्वतंत्र पत्र मौजूद हैं, यद्यपि इनकी संख्या इनी-गिनी ही है। इन पर अभी पूँजी-पतियों का जादू असर नहीं करता। किंतु उस समय जब पत्रों के पूर्ण स्वामी भी पूँजीपति ही होंगे, तब कौन उनके ख़िलाफ़ कुछ लिखने की हिम्मत कर सकेगा? इस संबंध में देश के हितचिंतकों और स्वतंत्र संपादन-कला के सम-र्थकों को अभी से सतर्क और सावधान रहने की आवश्यकता है। संपादक-सम्मेलन के विचार का यह ख़ास विषय होना चाहिए।

देश के जीवन में समाचारपत्रों का स्थान बहुत ऊँचा है। वे जैसा चाहें जनता को उसी प्रकार घुमा सकते हैं। उनके इसी प्रभावशालिता का अनुभव कर कोई विदेशी राष्ट्र आजकल जब किसी दूसरे देश पर अपना शासनाधिकार जमाने की कोशिश करता है, तब वहाँ के समाचारपत्रों को दबाने का सबसे पहले प्रयत्न करता है। भारतवर्ष में यह प्रत्यक्ष रूप से हो रहा है। पिछले योरपीय महासमर के समय दुश्मनों को हटाने से अधिक समाचारपत्रों को क़ाबू में रखने का प्रयत्न किया जाता था। समाचारपत्रों के प्रभाव से बड़े-बड़े सत्ताधारी काँपा करते हैं। भारतवर्ष-जैसे देश में तो, जहाँ पर जन साधारण में न्यायान्याय, कर्तव्याकर्तव्य और सत्यासत्य के विवेचन का अभ्यास नहीं है, अशिक्षा के कारण जहाँ के मनुष्य लिखी हुई बातों पर ब्रह्मा के वाक्यों से अधिक विश्वास कर लेते हैं, जहाँ अपने आप किसी समस्या पर कुछ सोच सकना पहाड़ दिखलाई पड़ता है, समाचारपत्रों का प्रभाव और भी अधिक पड़ता है। इन बातों का ख़ासा दृश्य चुनाव आदि के अवसर पर देखने में आता है। समाचारपत्रों और परचों द्वारा जनता में अपने-अपने पक्ष के लोग अपनी-अपनी बातें प्रकाशित करते हैं। जनता की मति डावाँडोल होती रहती है और उसके लिये यह निर्णय कर सकना कठिन हो जाता है कि किसको श्रेय देना चाहिए, किसको नहीं। चुनाव का दृश्य दूसरे-तीसरे साल आया ही करता है। इसके अलावा और भी अनेक अवसर ऐसे देखने में आते हैं, जब समाचारपत्रों के प्रभाव का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। 'रंगीला रसूल' के मामले में पंजाब के समाचारपत्रों ने जनता में जो उत्तेजना पैदा कर दी, वह अभी हाल ही की घटना है और समाचारपत्रों की प्रभावशालिता का ज्वलंत उदाहरण है। हिंदू-मुसलिम विद्रोहाग्नि को फूँकने में भी समाचारपत्रों का कम हाथ नहीं है।

भिन्न-भिन्न संस्थाओं का विकास करने में भी समाचारपत्रों से बड़ी सहायता मिलती है। समाचारपत्रों द्वारा उस संस्था के कार्यक्रम का वर्णन करके उसके किए हुए कामों का विज्ञापन करके, उसके रोचक और उपयोगी उद्देश्यों का प्रचार करके बड़ी उन्नति की जा सकती है। इसीलिये प्रायः यह देखने में आता है कि प्रत्येक महत्त्व-पूर्ण संस्था अपना एक मुखपत्र भी रखती है।

लोकतंत्र शासन के इस ज़माने में जब प्रत्येक नेता या शासक को जनसाधारण का मन अपने पक्ष में करने की ज़रूरत रहती है, समाचारपत्रों की आवश्यकता और भी बढ़ी हुई है। शासक या नेता समाचारपत्रों द्वारा अपनी नीति का उल्लेख कर, जनता को अपनी कार्यप्रणाली और अपने उद्देश्यों से परिचित कराता रहता है और इस प्रकार अपने काम समझने और उनकी दाद देने का जनता को मौक़ा देता है। यह बात तो हुई शासक या नेता की दृष्टि से समाचारपत्रों की आवश्यकता के संबंध की। दूसरी ओर शासित या जनसाधारण की दृष्टि से भी समाचारपत्रों की उपयोगिता होती है। वे जानना चाहते हैं कि अमुक शासक या अमुक नेता हमारे हिताहित के संबंध में क्या कर रहा है। यदि वह कार्य अनुकूल प्रतीत हो, तो उसकी प्रशंसा करके उसको उत्साहित करने का प्रयत्न किया जाता है और यदि कामों में प्रतिकूलता हुई, तो समाचारपत्रों द्वारा ही यथावत् आलोचना करके उन्हें अपनी गति-विधि सुधारने का अवसर दिया जाता है।

समाचारपत्र लोक-शिक्षण का भी एक प्रधान साधन होते हैं। बड़े-से-बड़ा प्रोफ़ेसर या अध्यापक उतनी जन-संख्या को शिक्षा नहीं दे सकता, जितनी बड़ी जन-संख्या को समाचारपत्र शिक्षा दे सकते हैं। उनके शिक्षण की रीति भी विचित्र होती है। वे जिस मत के प्रतिपादक हुए, उस मत से सहानुभूति उत्पन्न करनेवाले समाचार देकर या यदि वे समाचार स्वयं उस प्रकार के न हुए, तो उन्हें ऐसी भाषा में और इस प्रकार लिखकर कि वे वैसे हो जायँ, जनता में अपने प्रतिपाद्य विषय का प्रचार करते हैं। उनका शिक्षा का साधन होना एक और प्रकार से भी सिद्ध होता है। भिन्न-भिन्न विचारवाले समाचारपत्र एक ही विषय को विभिन्न रूप से सामने लाकर उपस्थित करते हैं। एक ही संबंध में कोई कुछ कहता है और कोई कुछ। पाठक दोनों विचारों को पढ़ते हैं। वे थोड़ी देर के लिये चक्कर में पड़ जाते हैं। उन्हें दोनों मत वालों की बातों में तथ्य मालूम होता है। किसको मानें, किसको न मानें : यह सवाल उनके लिये बड़ा टेढ़ा हो जाता है। वे एक उलझन में पड़ जाते हैं। उलझन में पड़कर स्वभावतः वे एक निर्णय पर पहुँचने की चेष्टा करते हैं, और इस प्रकार उनमें

विवेक-शक्ति उत्पन्न होती है। यह तो हुई अप्रत्यक्ष रूप से लोक-शिक्षण के प्रयत्न की बात, इसके अतिरिक्त 'संपादकीय कालमों' में अपने विचार प्रकट कर और कभी-कभी तद्विषयक विज्ञापन छापकर वे प्रत्यक्ष रूप से भी लोक-शिक्षण का काम करते हैं। किसी विषय को आगे बढ़ाने के लिये वे इन तीनों प्रकारों से—समाचार देना, विचार प्रकट करना और विज्ञापन देना—काम लेते हैं। समाचारपत्र प्रायः इन्हीं तीन प्रकारों से लोक-शिक्षण और प्रचार-कार्य को करते ही हैं।

समाचारपत्रों का एक महत्त्व-पूर्ण कार्य यह भी होता है कि वे एक समाज, संप्रदाय, देश या राष्ट्र की जनता को दूसरे समाज, संप्रदाय, देश या राष्ट्र की बातों से परिचित कराते रहते हैं। समाचारपत्र अंतर्समाज, अंतर्संस्था, या अंतर्देशीय संबंध स्थापित करने में एक सम्मेलन-सूत्र का काम देते हैं। एक स्थान पर बैठे-बैठे हम सारे संसार की बातें उन्हीं के ज़रिए से जान लेते हैं। कौन समाज, या कौन देश किस दिशा में क्या कर रहा है, उसके उस कृत्य का क्या परिणाम हुआ, हम उसका अनुकरण कहाँ तक कर सकते हैं, और उसको करने से कहाँ तक लाभ उठा सकते हैं, उसे परिस्थितियों की कौन-सी अनुकूलता प्राप्त है, वह हमें भी किस प्रकार प्राप्त हो सकती है आदि बातें समाचारपत्र हमें बताते हैं, और उनका ज्ञान प्राप्त कर हम अपने निस्तार और अपनी उन्नति का प्रयत्न करते हैं। सच पूछिए, तो हमारी वर्तमान जागृति का बहुत अधिक श्रेय समाचारपत्रों को है। यदि प्रचार और लोक-शिक्षण का यह साधन हमें प्राप्त न होता, तो मुझे पूरा शक है कि हमारी वर्तमान जागृति की यह गति कदापि न होती।

समाचारपत्र जनता के प्रतिनिधि हैं। जनता उनके द्वारा अपने मनोभावों को, अपनी शिकायतों को और अपने प्रशंसा और कृतज्ञता आदि के भावों को व्यक्त करके संबंधित लोगों से अपेक्षित कार्यवाही की आशा और प्रार्थना करती है। प्रत्येक विचार और प्रत्येक श्रेणी के व्यक्ति इस प्रकार समाचारपत्रों का उपयोग कर सकते हैं, और करते भी हैं। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक दृष्टि से देखने से समाचारपत्र एक अत्यंत प्रभावशाली और महत्त्व-पूर्ण संस्था सिद्ध होते हैं।

किंतु जहाँ इन्होंने यह महत्ता और यह प्रभावशालिता प्राप्त की है, वहाँ इनका उत्तरदायित्व भी बढ़ गया है। यह स्वभावसिद्ध और सर्वमान्य बात है कि जो जितना अधिक ऊँचा और महान् होता है, उसका उत्तरदायित्व भी उतना ही ऊँचा और उतना ही महान् होता है। समाचारपत्रों को अपने इस महान् उत्तरदायित्व का सदा ध्यान रखना चाहिए, जिस विषय में जो विचार वे प्रकट करें, उनमें काफ़ी विवेक-बुद्धि, जागरूकता, सचाई, ईमानदारी और नेकनीयती होना चाहिए। और जो बातें कही जायँ, वे साफ़-साफ़ सबकी समझ में आनेवाली स्पष्ट भाषा में कही जानी चाहिए, उनके लिये यह आवश्यक होता है कि प्रत्येक विषय पर वे अपने विचार निश्चित कर लें और फिर उन निश्चित विचारों के अनुसार जनता को आगे बढ़ाने का साधुता-पूर्ण सतत प्रयत्न करें। इस संबंध में साधारणतया तीन प्रकार की नीति बरती जाती है। किसी विषय पर मनुष्यों के तीन सिद्धांत हो सकते हैं। एक यह कि पुरानी बातों का आँख मूँदकर समर्थन किया जाय, और वर्तमान रीति-रिवाज को पुराने ढंग में परिवर्तित कर दिया जाय, दूसरे यह कि समय के अनुसार जो कुछ बरता जा रहा है, उसी को अबाधित रूप से चलने दिया जाय, उसमें किसी प्रकार का संशोधन-परिवर्तन न किया जाय और तीसरे यह कि वर्तमान रीति-रिवाज को नए ढाँचे में ढाल दिया जाय। परिवर्तन चाहनेवाले लोगों की दो श्रेणियाँ होती हैं। एक तो वह श्रेणी, जो धीरे-धीरे परिवर्तन चाहती है और दूसरी वह जो एक क्रांति कर वर्तमान वातावरण को एक बारगी नष्ट-भ्रष्ट कर उसमें एक विचित्र परिवर्तन कर डालना चाहती है। ये दोनों श्रेणियाँ उपर्युक्त प्रथम और तृतीय दोनों सिद्धांत के माननेवाले मनुष्यों में हो सकती हैं। समाचारपत्रों को इन्हीं सिद्धांतों और नीतियों में एक-न-एक सिद्धांत और नीति पसंद करके उसी के अनुसार अपने विचार-प्रवाह की गति मोड़ना चाहिए। इस संबंध में यह आवश्यक नहीं है कि समाचारपत्र इन सिद्धांतों में से जिनको ठीक समझें उसको सभी बातों में प्रयुक्त करें। यह बिलकुल स्वाभाविक है कि किसी एक विषय में वे एक सिद्धांत के पक्षपाती हों और किसी दूसरे विषय में किसी दूसरे सिद्धांत के। इसमें कोई ऐब नहीं कि राजनैतिक मामलों में एक पत्र नवीन ढंग के परिवर्तन के लिये क्रांति कर देने के सिद्धांत

का पक्षपाती हो और वही धार्मिक मामलों में पुरानी लकीर का फ़क़ीर बनकर काम करना पसंद करता हो। ये दोनों भावनाएँ साथ-साथ काम कर सकती हैं। किंतु एक ही विषय में कभी कुछ और कभी कुछ विचार रखना कोई मूल्य नहीं रखता। इसलिये समाचारपत्रों को एक निश्चित सिद्धांत के अनुसार ही आगे बढ़ाना चाहिए। और अपने विचारों में सदैव समता क़ायम रखनी चाहिए, इसके लिये यह आवश्यक है कि यदि कुछ लिखा जाय, तो उस विषय के पहले के लेख से उसका मिलान कर यह देख लिया जाना चाहिए कि दोनों लेखों के विचारों में कोई अंतर तो नहीं आ गया। यह स्मरण रखना चाहिए कि विचारों में परिवर्तन करते रहने से पत्र को जनता में अधिक आदर नहीं प्राप्त होता। एक पत्र का कभी कुछ और कभी कुछ लिखना जनता में उसके प्रति अरुचि उत्पन्न कर देता है। इस संबंध में समाचारपत्र और नेताओं की बात एक-सी होती है। दोनों के लिये बार-बार विचारों का बदलते रहना अहितकर है।

समाचारपत्रों के विविध कार्यों की गणना उतने ही से समाप्त नहीं हो जाती। समाचार देना, अपने विचार प्रकट करना और व्यापार की सूचनाएँ देना उनके काम अवश्य हैं। किंतु ये काम किसी दूसरे अंतर्हित उद्देश्य के साधन-मात्र हैं। यह अंतर्हित उद्देश्य भिन्न-भिन्न समाचारों की नीति के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। यदि पत्र किसी दल-विशेष का होता है या उसका संबंध किसी विशेष समुदाय से होता है, तो वह उपर्युक्त तीनों प्रकारों से समाचार-विचार-विज्ञापन द्वारा अपने उस दल या समुदाय का हित-साधन करता है और यदि पत्र स्वतंत्र विचार का हुआ, तो वह समष्टिरूप में देश या राष्ट्र के हित का ख़याल रखता है और हर प्रकार से उसका साधन करता है। विशेष विषय और समुदाय से संबंध रखनेवाले पत्र (मेरा मतलब संकीर्ण सांप्रदायिक भाववाले पत्रों से है) केवल नाम-मात्र के पत्र होते हैं। एक दृष्टि से विचार करने पर वे समाचारपत्र माने जा सकते हैं, किंतु दूसरी दृष्टि से वे समाचारपत्र की गणना में भी नहीं आ सकते। वास्तविक समाचारपत्र तो स्वतंत्र विचारवाले, समष्टिरूप से देश या राष्ट्र पर न्योछावर होनेवाले समाचारपत्र ही होते हैं। स्वतंत्र समाचारपत्र देश की भिन्न-भिन्न समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं। उनका क्षेत्र सामूहिक या वैज्ञानिक समाचारपत्रों की अपेक्षा अधिक विस्तृत और विशाल होता है। उस समय तो उनका कार्य-क्षेत्र और भी विशाल हो जाता है, जब वे किसी आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण करते हैं; ऐसे अवसरों पर जब समाचारपत्र शंख-नाद करते हुए आगे बढ़ते हैं, तब उनका रौद्र और शांकरीय रूप देखते ही बनता है। उनके नेतृत्व के प्रभाव का मुक़ाबला बड़े-बड़े नेता नहीं कर सकते। जिस आंदोलन को वे उठाते हैं, उसे पूरा करके ही छोड़ते हैं। अपने समाचारों से, अपने विचारों से और कभी-कभी अपने विज्ञापनों से भी वे जनता के हृदय में आंदोलन संबंधी बातों को ठूस-ठूसकर भर देते हैं जिससे स्वतः ही उसके हृदय में आंदोलन की ओर प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। किंतु यह दुःख की बात है कि हिंदी के समाचारपत्र इस काम की ओर बहुत कम ध्यान देते हैं। अधिकांश में मालूम यह होता है कि वे समाचार दे देना और किसी विषय पर सम्पादकीय लेख लिख देना ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं। बहुत कम पत्र ऐसे हैं, जो किसी आंदोलन को आगे बढ़ाने के लिये एक नेता की भाँति बढ़ते हैं और उसके पीछे पड़ जाते हैं। इसका कारण समाचार-विषयक कर्तव्य-ज्ञान की कमी है। मैं श्रीपराडकरजी के इस कथन से पूरा-पूरा सहमत हूँ कि हमारे समाचारपत्रों का यह वयः संधिकाल है। अभी उनमें प्रौढ़ावस्था नहीं आई। वे निरुद्देश्य होकर भटक रहे हैं। किंतु कुछ व्याकुलता अवश्य है। किसी चीज़ की खोज में हैं, किंतु यह नहीं जानते कि वह चीज़ क्या है? इसीलिये वे इस महत्ता और गुरुतर कार्य की ओर (किसी आंदोलन का नेतृत्व ग्रहण करने की ओर) प्रवृत्त नहीं होते।

समाचारपत्रों का कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण है। समाचार दे देने, विचार प्रकट कर देने, व्यापार संबंधी सूचनाएँ दे देने और किसी आंदोलन का नेतृत्व ग्रहण कर लेने के बाद भी उनके कार्यक्षेत्र की सीमा पूरी नहीं हो जाती। उनके अनेक कार्य फिर भी बाक़ी रह जाते हैं। वे कार्य हैं समाज के वास्तविक रूप का प्रदर्शन करना, समाज के गुण-दोषों का विवेचन करना, उसके लिये सुधार मार्ग प्रदर्शित करना और इन सब बातों में अधिक से अधिक मनोरंजक ढंग से काम लेना। हिंदी-पत्रों के लिये मनोरंजन पर विशेष रूप से ध्यान

रखने की इसलिये आवश्यकता है कि हिंदी-भाषी जनता में अभी गहन समस्याओं पर गंभीरता-पूर्वक विचार करने का अभ्यास नहीं है। उसके लिये तो मनोरंजक ढंग से विषय का विश्लेषण करना ही कुछ आकर्षक हो सकता है। निरुद्देश्य होकर समाचार दे देना या विचार प्रकट कर देना समाचारपत्रों का कार्य नहीं है। उनका वास्तविक कार्य तो यह है कि वे सामाजिक बुराइयों पर इशारा करते हुए ऐसे ढंग से समाचार प्रकाशित करें जिससे वे बुराइयाँ सुधरें और अच्छाइयों को अधिक प्रोत्साहन मिले। उनके सम्पादकीय विचार ऐसे होने चाहिए जिनमें समाज के गुण दोषों का पूरा-पूरा विवेचन हो और समाज को सुधरने का रास्ता मिले। ये बातें समाचारपत्र की ख़ास बातें हैं। इन पर जितना ही अधिक ध्यान दिया जायगा, समाचारपत्र देश के लिये उतने ही उपयोगी सिद्ध होंगे। समाचारपत्रों को ईमानदारी और सच्ची समाज-सेवा के भाव से प्रेरित होकर जो कुछ लिखना हो, लिखना चाहिए। इस संबंध में अपनी प्रतिष्ठा का सदा स्मरण रखना चाहिए। जनता का जिस समाचारपत्र पर जितना विश्वास होगा, वह समाचारपत्र उतनी ही अधिक उन्नति कर सकेगा। इसके प्रतिकूल यदि अपनी प्रतिष्ठा, साधु-समाज-सेवा और विश्वासपात्रता का समुचित स्मरण न रखकर यदि प्रमाद और असावधानी की गई, तो समाचारपत्रों को स्वयं जो धक्का लगेगा, वह तो लगेगा ही उसके अलावा देश को भी आघात पहुँचने का सदा भय रहेगा।

यह प्रसन्नता की बात है कि समाचारपत्रों की ओर जनता की रुचि अधिकाधिक बढ़ रही है और जिस परिमाण में इस रुचि की वृद्धि होती है, उसी परिमाण में समाचारपत्रों का प्रभाव भी बढ़ता जा रहा है। किंतु इस बढ़ते हुए प्रभाव से कहीं-कहीं बड़े निंदनीय ढंग से अपना स्वार्थ-साधन किया जा रहा है। हो यह रहा है कि कोई धनिकों को किसी विशेष रहस्य के उद्घाटन की धमकी दे-देकर, कोई किसी धनी विशेष की मिथ्या प्रशंसा करके धन कमाने की नीच नीति ग्रहण कर रहे हैं। समाचारपत्रों के लिये यह अत्यंत लज्जा और परिताप की बात है। किंतु इतना ही नहीं होता। स्वार्थ के पीछे अंधे होकर कहीं-कहीं लोग अन्य उपायों से भी जनता को धोखा देते और उन्हें ठगते हैं। कहीं समाचारपत्रों की लिमिटेड कम्पनियाँ खोलकर हिस्सेदारों को धोखा दिया जाता है और कहीं शुद्ध देश-सेवा की दुहाइयाँ देकर भी धूर्त और कपटी समाचारपत्र-संचालक पत्रकार कला को कलंकित करते हुए अपनी कुत्सित स्वार्थ भावना की तृप्ति करते हैं!

समाचारपत्रों के बढ़ते हुए प्रचार का एक परिणाम यह हुआ है कि अब लोगों की नज़र अंदाज़ बढ़ गई है। अच्छे-अच्छे समाचारपत्र देखकर अब उनकी रुचि भी उन्नत हो गई है। और उन्हें घटिया माल पसंद नहीं आता। लोग भिन्न-भिन्न विषयों का समावेश करके, भाँति-भाँति के चित्र और कार्टून दे-दे करके, अच्छे-अच्छे विशेषांक निकालकर, अच्छा काग़ज़ लगाकर, अच्छे टाइप में छपाकर समाचारपत्रों को देखने और पढ़ने में रोचक बनाने में कोई कोर-कसर नहीं रखते, और फिर इस बात पर भी ध्यान रखा जाता है कि इतनी अच्छाइयों के होते हुए भी पाठकों से कम-से-कम मूल्य लिया जाय। उधर दूसरी ओर कर्मचारी-मंडल बढ़ने लगा है। अब वह ज़माना गया, जब एक संपादक ही सब काम कर लेता था। अब तो समाचारपत्र के कार्यालय में प्रबंधक-विभाग के अलावा संपादक, उपसंपादक, प्रूफ़रीडर आदि का होना आवश्यक हो गया है। इन सब कर्मचारियों को वेतन के अतिरिक्त समाचारपत्र के लिये समाचार आदि प्राप्त करने के अर्थ आने-जाने का रेल-भाड़ा आदि भी देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त समाचारपत्र समाचार-समितियों से जो समाचार लेते हैं, उनके लिये भी उन्हें दाम देने पड़ते हैं। इन सब बातों से समाचारपत्रों की प्रतिद्वंद्विता बहुत क़ीमती हो गई है। वह समय बहुत शीघ्र आनेवाला है, जब समाचारपत्र निकालकर चला ले जाना कोई आसान काम न होगा। उसके लिये बहुत बड़ी धन-राशि लगाने की आवश्यकता पड़ेगी और उसको लगाकर भी पहले कुछ दिन घाटे में ही काम करना पड़ेगा। यह बात साधारण मनुष्यों की शक्ति से बाहर की बात होगी। अभी से प्रतिद्वंद्विता में अपने पत्र को सफलता-पूर्वक चला ले जाने के लिये मूल्य की कमी पर यहाँ तक ध्यान रखा जाने लगा है कि मूल्य लागत की चरम सीमा तक पहुँच चुका है। आगे चलकर तो उसे लागत

से कम रखना पड़ेगा। इसका परिणाम यह होगा कि फिर ग्राहक-संख्या हो जाने पर भी समाचारपत्रों का चल निकलना आशंकास्पद ही बना रहेगा। जब मूल्य लागत से कम रहेगा, तब कितने ही ग्राहक क्यों न हो जायँ, उससे लाभ न उठाया जा सकेगा। लाभ के लिये उन्हें विज्ञापनों का मुँह देखना पड़ेगा। यदि विज्ञापन काफ़ी तादाद में मिल गए, तब तो ग़नीमत, नहीं तो उलटा घाटा होगा और यदि संचालक घाटा बरदाश्त न कर सके, तो पत्र के बंद होने तक की नौबत आवेगी। इस दशा के प्रादुर्भाव का प्रारंभ हो गया है।

ऐसी दशा में समाचारपत्र निकालकर चला ले जाने की केवल दो सूरतें हैं। एक तो जनता में समाचारपत्रों के प्रति इतना प्रेम उत्पन्न हो जाय कि वे उन्हें ख़ूब पढ़ें और उनके वास्तविक गुण-दोष को समझें, केवल बाहरी रूप-रंग देखकर ही मुग्ध न हो जायँ और दूसरे संचालकों के पास इतना धन हो कि वे पत्र को सुंदरता और सजावट आदि के विचार से आकर्षक और मनोमोहक बना सकें और इसके बाद भी कुछ दिनों तक घाटे के साथ पत्र का प्रकाशन करते रह सकें। पहली दशा साधारण सामर्थ्यवाले उत्साही लोगों के लिये भी अनुकूल हो सकती है। यदि जनता में उनके पत्र का आदर हो जाय, तो उन्हें लाभ हो सकेगा और इस लाभ से अच्छे-अच्छे लेखकों को पुरस्कार आदि देकर वे उपयोगी और सुंदर लेख प्राप्त करके अपने पत्र को अधिक सुंदर बना सकेंगे। दूसरी दशा केवल धनिकों के लिये अनुकूल हो सकती है। क्योंकि वे किसी दशा में भी पुरस्कार आदि का प्रबंध करके प्रतिष्ठित लेखकों के लेख प्राप्त कर सकेंगे और अपने पत्र को सुंदर और उपयोगी बना सकेंगे। अस्तु।

विविध समाचार, और लेख, मनोहर कहानियाँ और चित्र, कविताएँ और समालोचनाएँ आदि देकर पत्रों का महत्त्व बहुत कुछ बढ़ाया जा रहा है। जहाँ तक कविताओं का संबंध है, वहाँ तक तो हिंदी पत्र प्रायः सब भाषाओं से बढ़े-चढ़े हैं। किंतु दुःख की बात यह है कि जो कविताएँ प्रकाशित होती हैं, उनमें अधिकांश में कविताएँ नहीं होतीं वरन् कविता का मज़ाक़ होता है। द्वितीय संपादक-सम्मेलन के सभापति श्री-माखनलालजी चतुर्वेदी को इसी विषय पर आँसू बहाना पड़ा। किंतु फिर भी इससे निराश होने की आवश्यकता नहीं। अभी तो इस विषय का यह प्रारंभिक काल है। ज्यों ज्यों उन्नति होगी, उसकी दशा में त्यों-त्यों सुधार भी होगा। अभी से इसकी बुराइयों को देखकर ऊबना ठीक नहीं है। विषय अच्छा है और समाचारपत्रों में इसको स्थान मिलना प्रसन्नता और हित की बात है। इसको प्रोत्साहन देना चाहिए। इसके द्वारा लोक-शिक्षण संबंधी समाचारपत्र के उद्देश्य में बहुत बड़ी सहायता प्राप्त होगी।

अंत में, हिंदी पत्रों के स्वर के संबंध में दो शब्द लिख देना अप्रासंगिक न होगा। इस दिशा में हमारे समाचारपत्रों ने काफ़ी उन्नति की है। अनेक विघ्न-बाधाओं और रुकावटों के होते हुए भी उन्होंने अन्याय और अत्याचार को मिटाने, जनता की शिकायतों को दूर करने के लिये अपने स्वर को काफ़ी ऊँचा उठाया है। शासन-प्रणाली की निरंकुशताओं और दुर्व्यवहारों की कड़ी-से-कड़ी आलोचना करने में हमारे समाचारपत्र ख़ूब आगे आ रहे हैं। कहा जा सकता है और लोग कहते भी हैं, यह स्वरोन्नति अन्य भाषाओं की स्वरोन्नति को देखते हुए बहुत कम है। इस कथन के साथ-साथ ख़ास तौर से बँगला के समाचारपत्रों की ओर इशारा किया जाता है। किंतु मैं इस बात से सहमत नहीं। मेरी धारणा है कि हमारे पत्रों का स्वर किसी भी भाषा के पत्रों के स्वरों से नीचा नहीं है। तथापि यदि थोड़ी देर के लिये यह मान भी लिया जाय कि हमारा स्वर कुछ नीचा है, तो भी—मैं इसे संतोषप्रद ही मानता हूँ। हमारी संपादन-कला को प्रारंभ हुए अभी दिन ही कितने हुए हैं? इसके अलावा हमारी जनता उन भाषाओं की जनता की अपेक्षा शिक्षा आदि में भी कितनी पिछड़ी हुई है? ऐसी दशा में यदि हमारे समाचारपत्रों के स्वर में इतनी भी उन्नति हुई, तो यह काफ़ी ही समझी जानी चाहिए। यदि हमारी उन्नति का यह क्रम बना रहा, तो अत्यंत निकट भविष्य में इस प्रकार की तानाज़नी करनेवाले देखेंगे कि उनके पत्रों की अपेक्षा हमारे पत्र कितने ऊँचे उठे हुए हैं। तथास्तु।

विष्णुदत्त शुक्ल

कोल्हापुर-रियासत

(तुलनात्मक एवं समालोचनात्मक वर्णन)

को ल्हापुर की रियासत यद्यपि आज क्षेत्रफल तथा मनुष्य-संख्या की दृष्टि से भारत की सबसे बड़ी रियासतों में नहीं, तथापि कई दृष्टियों से इसे वह महत्त्व प्राप्त है, जो कि अन्य राज्यों को नहीं। भारत के अर्वाचीन इतिहास में सिक्ख, राजपूत और मराठों की वीरता एक-से-एक बढ़कर है। मालूम नहीं, यदि ये तीन वीर जातियाँ युद्धक्षेत्रों में अपनी वीरता का परिचय देकर विदेशीय यवनों के दाँत खट्टे न करतीं, तो आज हिंदुओं की दशा क्या होती? सच तो यह है कि अधर्म और अत्याचार की वृद्धि को रोकने के लिये विशेष शक्तियुत जीवों का समय-समय पर प्रादुर्भाव होता रहता है। यदि यह नियम शिथिल हो जाय, तो संभव है कि शांति और धर्म दुनिया से हमेशा के लिये प्रस्थान कर जायँ। इसी नियम के अनुसार हिंदुओं की चोटी और गौओं की रक्षा के लिये गुरु गोविंदसिंह, राणा प्रताप और शिवाजी महाराज का जन्म हुआ था। शिवाजी हिंदुओं के सबसे अंतिम रक्षक थे, उनके बाद यद्यपि अनेक ब्राह्मण-शक्तियाँ (धार्मिक तथा सामाजिक सुधारक व्यक्तियाँ) हुईं, परंतु कोई क्षत्रिय-शक्ति देखने में नहीं आती। शिवाजी की वीरता, हिंदू-धर्म के लिये जान और मान का समर्पण आदि गुणों ने हिंदुओं के हृदयों में विशेष स्थान पा लिया है। आज मरहठे ही नहीं, अपितु हिंदू-मात्र उनके नाम को एक विशेष भाव और आदर के साथ स्मरण करते हैं। 'छत्रपति शिवाजी' का नाम सुनते ही हिंदुओं के मस्तिष्क आदर के साथ झुक जाते हैं और उनकी नसों का खून तेज़ी के साथ दौड़ने लगता है। आज भी जब किसी व्याख्यान में उनका नाम आ जाता है, तो जनता घोर करतल-ध्वनि कर उनके लिये श्रद्धा प्रकट करती है। दक्षिण की महिलाएँ बच्चों की लोरियों में शिवाजी के पवित्र और वीर नाम को स्थान देकर अपनी श्रद्धांजलि उनको भेंट करती हैं। उनकी मूर्त्ति के आगे ब्राह्मण और मरहठा का भेद-भाव एकदम लुप्त हो जाता है। अब तो जब तक इस हिंदू-जाति का नाम है, शिवाजी की स्मृति नष्ट नहीं हो सकती। सचमुच ही ये बातें उस वीर और अमर आत्मा के अनुकूल हैं।

कोल्हापुर राज्य के राजा उसी 'हिंदूपति' के वंशज हैं और वे आज भी अपने नाम के साथ 'हिंदूपति' 'गो-ब्राह्मण प्रतिपालक', 'छत्रपति' आदि विशेषणों का प्रयोग बड़े अभिमान के साथ करते हैं। इसकी स्थापना सन् १७३१ ई० में छत्रपति शिवाजी के द्वितीय पुत्र राजाराम की रानी ताराबाई के पवित्र करों से हुई थी। वह समय भारत के इतिहास में बड़ी उथल-पुथल का था। जगह-जगह कलह और त्राहि-त्राहि मची हुई थी। एक तो यवनों से मुक़ाबला, दूसरे आपस की कलह। ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि कोल्हापुर राज्य के ऊपर भी अंधकार के मेघ उमड़ते और वे उमड़े। प्रथम तो देहली के मुसलमानों से ही मोर्चा लेना पड़ा, फिर पूना और सतारा के मरहठों और पेशवाओं का सामना करना पड़ा और उसके बाद एक लंबे काल तक राजाओं को गोद ले-लेकर राजवंश क़ायम रखना पड़ा। परंतु ईश्वर की कृपा से इन सब आपदाओं का इसके अस्तित्व पर कोई गहरा प्रभाव न पड़ा, और आज यह उसी रूप में विद्यमान है। इसका कारण यह कि इसकी नींव में शिवाजी का रक्त और एक क्षत्राणी देवी के पवित्र भाव मिले हुए हैं।

दूसरी बात जो कोल्हापुर के महत्त्व को बढ़ाती है धार्मिक है। कोल्हापुर का प्राचीन संस्कृत नाम 'करवीर' है। धार्मिक जगत् में अब भी इसे उसी नाम से याद किया जाता है और उसकी देखादेखी अन्य स्थानों पर भी करवीर शब्द का प्रयोग होता है। जगद्गुरु शंकराचार्य का 'करवीर-मठ' यही कोल्हापुर है और उस मठ के अधिपति शंकराचार्य अब भी यहीं निवास करते हैं। इसके अतिरिक्त हिंदुओं के अन्य संप्रदायों के लिये भी 'करवीर' (कोल्हापुर) एक पवित्र तीर्थ-स्थान है, जिसके दर्शन उनके धार्मिक विश्वासों के अनुसार आवश्यक हैं। मनुष्य का विशेषकर कवि और धर्मान्धों का यह स्वभाव है कि वे जिसके पीछे पड़ जायँ, उसे सबसे ऊँचा बता कर रुकते हैं। यही बात इस तीर्थ के बारे में है। प्रत्येक मानवीय जन्म में करवीर की पुण्य-यात्रा अनि-

र्थ बताई गई है। यदि यह न की जाय, तो स्वर्ग से हाथ धोने पड़ते हैं। एक इससे भी बढ़कर रोचक बात है और वह हमारी सम्मति में कोल्हापुर की एक वास्तविक विशेषता है।

यहाँ पर भारत, क्या उत्तर और क्या दक्षिण, के प्रायः सभी बड़े-बड़े पवित्र तीर्थ छोटे रूप में विद्यमान हैं। एक दिन हमारे मित्र ने हमसे आकर पूछा कि क्या आप प्रयाग का मेला देखने और स्नान करने चलेंगे? इस प्रश्न से हम-जैसे नवीन आगंतुक को आश्चर्य होना स्वभाविक ही था। परंतु बातें होने पर पता चला कि यू० पी० के प्रयागराज की तरह यहाँ पर भी एक प्रयाग रानी (छोटा होने से रानी शब्द ही उपयुक्त होगा) विद्यमान हैं। तीर्थ मानकर वहाँ स्नानार्थ जाने के भाव तो आर्य-समाज के उपदेशों से कभी के काफ़ूर हो ही चुके थे और ऐसे मेले के दिनों में ऐसे स्थानों का पानी स्नान के योग्य रहता भी नहीं, फिर भी, उत्सुकता को शांत करने के लिये यहाँ के प्रयाग के दर्शनार्थ जाना निश्चय किया। जाकर देखा, तो इसके नाम का रहस्य समझ में आ गया। वहाँ पर दो छोटी-छोटी नदियाँ जिनमें से एक का नाम 'पंचगंगा' है मिलती हैं। और

पंचगंगा नदी का पुल

तीसरी 'सरस्वती' उनके नीचे बहती हुई बताई गई है। पवित्रतोया भागीरथी और सूर्य-तनया कालिंदी के भव्य संगम का दृश्य हमारी आँखों के सामने आ उपस्थित हुआ। यदि इन तीर्थ-स्थानों को अंध विश्वासों के भावों के बिना भी देखा जाय, तो भी वे अपने में निराले ही हैं। कम से कम वे प्रकृति के निपुण कौशल के एक अनुपम उदाहरण हैं। और उन्हें दिखाने के लिये ही प्रकृति माता का आमंत्रण आया करता है। उस दिन हमने केवल नवीन प्रयाग के ही दर्शन नहीं किए, अपितु यह बात भी जानी कि इसी तरह यहाँ पर सब तीर्थों का वास है। नगर के एक दूसरे कोने पर 'रामेश्वरम्' है। एक बड़ा तालाब है, उसके बीच में एक छोटा-सा टीला। तालाब के एक सिरे से उस टीले तक एक मार्ग बना हुआ है। बस, इसी 'सेतुबंध' ने इसको 'रामेश्वरम्' का नाम दिया है। इस प्रकार से यहाँ अन्य कई तीर्थ छोटे आकार में विद्यमान हैं। प्रयत्न यह किया गया है कि यहाँ के निवासियों को सब तीर्थों के दर्शन करवीर की चहारदिवारी के भीतर हो जायँ। उन धार्मिक जीवों को बहलाने के लिये, जो धन या समय के अभाव से इधर-उधर नहीं जा सकते; यह एक अच्छा उपाय है। कोल्हापुर को 'दक्षिण का काशी' कहा गया है। ये सब बातें उसे धार्मिक जगत् में एक विशेष स्थान देती हैं। उत्तर के पुरुषों के लिये इस तीर्थ की यात्रा आसान नहीं; इसलिये हम यहाँ उनकी मानसिक यात्रा के निमित्त करवीर-क्षेत्र का हाल देते हैं—संभव है, इससे तीर्थ-यात्रा का कुछ फल अधिगत हो जाय।

कोल्हापुर राज्य

कोल्हापुर रियासत १७° १०' ४५" तथा १५° ४०' २०" अक्षांश और ७४° ४४' ११" तथा ७३° ४३' १६" देशांश के मध्य में स्थित है। उत्तर में वर्ना नदी है, जो उसे सतारा-प्रदेश से अलग करती है, पूर्व तथा दक्षिण में बेलगाँव का ज़िला और पश्चिम में सह्याद्रि पर्वत-श्रेणी है। इस प्रकार यह रियासत भारत के दक्षिणी भाग में पूना से दक्षिण की ओर १८० मील पर स्थित है। इस तक पहुँचने के लिये दो मार्ग हैं—एक तो मोटर द्वारा सतारा होते हुए पक्की

सड़क और दूसरी रेल। मदरास ऐंड सदर्न मरहठा रेलवे की जो छोटी लाइन पूना से बैंगलोर तक गई है, उस पर पूना से १६० मील दक्षिण की ओर मिरज नामक एक रेलवे जंक्शन है। यहाँ से कोल्हापुर २९ मील है—जहाँ के लिये रेल की एक छोटी-सी शाखा जाती है। यह रेल-शाखा रियासत की अपनी है और इससे रियासत को दो-ढाई लाख रुपए वार्षिक की आय होती है।

रियासत का क्षेत्रफल ३२१७·१ वर्गमील और जन-संख्या (१९२१ ई० की गणना के अनुसार) ८३३·७२६ है। १८८१ ई० में उसकी आय ३०,८८,३४०) रुपए थी, परंतु इस समय (१९२६ में) संपूर्ण आय, जिसमें जागीरें भी सम्मिलित हैं ९० लाख रुपए के लगभग है।

प्रबंध

रियासत के वर्तमान शासक हिज़ हाईनेस सर श्रीराजारामजी छत्रपति महाराज हैं। आप ६ मई १९२२ ई० को अपने पिता श्रीशाहूजी छत्रपति महाराज के परलोक सिधारने पर राज्यासन पर बैठे थे। इस समय आपकी आयु ३० वर्ष की है। हर हाईनेस श्रीमती ताराबाई महारानी साहिबा बड़ौदा नरेश की पौत्री हैं। महाराज साहब को प्रथम श्रेणी के शासक की शक्तियाँ प्राप्त हैं और रियासत के प्रबंध में आपका शासन ही अंतिम शासन है। आपको १९ तोपों की सलामी का गौरव प्राप्त है। महाराज साहब के अधिकार में रियासत-प्रबंध का भार दीवान साहब पर है। गत वर्ष से प्रबंध को आसान एवं उन्नति करने के लिये एक कार्उसिल भी बना दी गई है, जिसके प्रधान स्वयं दीवान हैं। दो अन्य सभासदों में से एक अर्थ-सचिव और दूसरे आय-सचिव हैं। आजकल दीवान-पद पर राव बहादुर ए० बी० लट्ठे, एम्० ए०, एल्-एल्० बी० विराजमान हैं। आपकी नियुक्ति १ जनवरी १९२६ को हुई थी।

रियासत में फ़ौजदारी तथा माल दोनों प्रकार के न्यायालय हैं, जिनमें राज्य के अपने ही स्टाम्प व्यवहृत होते हैं। अभियोगों की अंतिम सुनवाई श्रीमहाराज साहब के सामने ही होती है।

अपनी रक्षा तथा प्रबंध के लिये राज्य को तीनों प्रकार की फ़ौज रखने की स्वतंत्रता है। कुल सेना की संख्या ७१२ है; जिनमें से १५६ अश्वारोही, २२ तोपख़ाने तथा ५३४ पैदल हैं। इसके अतिरिक्त रियासत की पुलिस है, जिसकी संख्या १००६ है।

रियासत के अधीन ९ बड़े-बड़े जागीरदार हैं। ये जागीरदार अपने-अपने आंतरिक प्रबंध में स्वतंत्र हैं। इन सब ज़ागीरों का क्षेत्रफल १,१०० वर्गमील है। शेष रियासत की भूमि प्रबंध की दृष्टि से दस भागों में विभक्त है।

भूमि और पैदावार

यों तो प्रायः सारी रियासत में ही भूमि ऊँची-नीची है, पर पश्चिमीय भाग की भूमि सह्याद्रि पर्वत-श्रेणी के कारण बिलकुल ही विषम एवं कृषि के लिये अनुपयोगी है। इस पश्चिमीय भाग को छोड़कर शेष भूमि उपजाऊ ही कही जानी चाहिए। मिट्टी काली और कहीं लाल रंग पर है। टीलों के आसपास की काली एवं नदियों के किनारों की लाल है। काली मिट्टी कपास की पैदावार के लिये अधिक उपयोगी होती है, इसलिये कपास यहाँ की विशेष पैदावारों में से एक है। यहाँ सबसे अधिक खेती ज्वार या ज्वारी की है, यही यहाँ का मुख्य भोजन है। इसके बाद बाजरा और मक्का की पारी आती है। गेहूँ की खेती बहुत कम होती है और जौ (यव) की तो नाम-मात्र को ही। अधिकतर आदमी जौ के पौधे तथा बाल से परिचित भी नहीं। गन्ना और मूँगफली यहाँ की विशेष चीज़ें हैं और इनके लिये कोल्हापुर प्रसिद्ध कहा जा सकता है। बड़े-बड़े गन्ने, जो यू० पी० में दो-चार आने को आते हैं, यहाँ पर दो-चार पैसे में मिल जाते हैं। ये गन्ने खाने के काम तो आते ही हैं, पर इनसे गुड़ बहुत बड़े परिमाण में तैयार होता है और वह अच्छा भी बहुत होता है। हमें याद है कि हमारे एक मित्र ने जिन्हें कोल्हापुर का गुड़ लग गया था, हमसे गुड़ भेजने का अनुरोध किया था। यही बात मूँगफली के बारे में है। एक रुपए की आठ-दस सेर मूँगफली आती है। इन दो वस्तुओं का यहाँ बड़ा बाज़ार है। प्रायः संपूर्ण साल भर चारों ओर के ग्रामों से गुड़ भरी गाड़ियाँ बड़ी संख्या में आती रहती हैं। बाहर के लिये भी गुड़ पर्याप्त परिमाण में भेजा जाता है।

यहाँ की खेती के बारे में दो विशेष बातें हैं—एक तो कई चीज़ों की साल में दो फ़सलें होती हैं; उदाहरणार्थ—मक्का, ज्वार आदि। द्वितीय यहाँ के चरस (चमड़े के पुर) भिन्न ही प्रकार के होते हैं और कई स्थानों पर नदी में से पानी लेने का उपाय भी विचित्र-

सा है। चरस नीचे से बंद न होकर लुहार की धौंकनी की तरह नीचे से खुला रहता है। उस मोटी रस्सी में जो चरस के ऊपरी भाग से बैल के जुए तक बँधा रहती है, एक पतली रस्सी चरस के नीचे के भाग से बाँध दी जाती है। जब चरस कुएँ के ऊपर आता है, बैल हाँकनेवाला व्यक्ति पतली रस्सी को खींचकर ढोली कर देता है, इससे चरस का पानी नीचे के छेद में से पीछे (वह स्थान जहाँ चरस का पानी ढाला जाता है) में गिर जाता है। इस प्रथा में एक विशेष सुविधा यह है कि चरस चलाने के लिये दो आदमियों की आवश्यकता नहीं। एक ही व्यक्ति बैल हाँकना और वही चरस का पानी निकालता है। परंतु यह तरीक़ा उन्हीं जगहों पर काम में आ सकता है, जहाँ पानी अधिक दूरी पर न हो। हमारे विचार से संयुक्तप्रांत के अलीगढ़-जैसे ज़िलों में यह परीक्षण की जा सकती है।

शाक, भाजी प्रायः उत्तर के समान ही हैं, हाँ कोई अधिक और कोई कम परिमाण में अवश्य होती हैं। फूलगोभी बहुत कम होता है। कोई-कोई शाक कुछ भिन्नता लिए हुए भी हैं। फलों की पैदावार कम है। आम तो होता ही नहीं, क़लमी आम इधर-उधर से आ भटकते हैं, पर चूसनेवाला आम तो दर्शन ही नहीं देता। भारत के उत्तर-पश्चिम में होनेवाले फल भी यहाँ कम परिमाण में और देर से आते हैं। उनका भाव महँगा होना ही हुआ। फल की दूकानों पर संतरा हमेशा और बड़ी संख्या में सजा हुआ रक्खा रहता है। यह नागपुर से आता और यहाँ भी होता है। इसके अतिरिक्त केले तथा अनार भी यहाँ होते हैं। कुछ स्थानों पर चाय तथा काफ़ी की खेती के भी परीक्षण किये जा रहे हैं।

खनिज-पदार्थों में कोई विशेषता नहीं रखता। कहीं-कहीं लोहा मिलता है। कहीं-कहीं पहाड़ों में से इमारत के पत्थर और टीलों में से सड़क के कंकड़ निकाले जाते हैं। चूने का कंकड़ भी पाया जाता है।

जलवायु और स्वास्थ्य

यद्यपि कोल्हापुर के दक्षिण में होने से इसका जल-वायु उष्णता-पूर्ण होना चाहिये था, परंतु वैसा है नहीं। इसके दो कारण हैं—एक तो यह पश्चिमीय घाट की पर्वतश्रेणियों में स्थित है; दूसरे पश्चिमीय समुद्र इसके समीप है। कहीं-कहीं से तो समुद्र केवल २० मील की दूरी पर है। ये दो कारण यहाँ की आब-हवा को सामान्य बनाए हुए हैं। ग्रीष्म-ऋतु में अधिक गर्मी नहीं और शीत-काल में अधिक सर्दी नहीं। शीत-काल में यहाँ पर उत्तर की तरह मोटे-मोटे ओवरकोटों की आवश्यकता नहीं होती—दिन में ऊनी कोट भी कम ही पहनना होता है। यहाँ के निवासी आगरा और प्रयाग की सर्दी को उसी दृष्टि से देखते हैं, जैसे वहाँवाले नैनीताल और शिमले की सर्दी को। इस प्रकार का जल-वायु सामान्यतया स्वास्थ्य के लिये लाभकर होता है।

यहाँ की वर्षा-ऋतु बहुत भयानक होती है। इसमें एक बात तो यह है कि वृष्टि का होना बिलकुल अनिश्चित रहता है। अभी कड़ाके की धूप पड़ रही है, आदमी अपने-अपने कार्य के लिये चल पड़े हैं; और अभी जल-पूर्ण श्याम मेघ-पंक्तियाँ आ घेरती हैं और वसुंधरा को नहवाकर लुप्त हो जाती हैं। दूसरी बात यह है कि वर्षा का काल कुछ अधिक होता है—शीघ्र आरंभ होकर देर तक रहती है। बादल हमेशा पश्चिम की ओर से आते हैं और बौछार की मार भी उधर ही से पड़ती है, इसलिये कच्चे मकानों की भी पश्चिमीय दीवाल अधिकतर पक्की बनवाई जाती है। वर्षा-ऋतु में यहाँ के निवासियों को पाचन-संबंधी व्याधियाँ बहुधा सताया करती हैं। यहाँ की एक विशेष बीमारी, जिसका हमें यहाँ आने से पूर्व ज्ञान भी न था, पेट में बड़े-बड़े जंतु (Round worms) पड़ जाना है। यहाँ के बच्चे-बच्चे भी इस रोग से परिचित हैं। वर्ष में एक बार जन्तुओं को मारकर निकालने की ओषधि लेना प्रायः अनिवार्य-सा है। हमने सुना है कि किसी-किसी व्यक्ति के ८—१० इंच लंबे दो-दो सौ जंतु निकले हैं। वास्तव में यह बहुत भयंकर और घृणित रोग है। इसका कारण यहाँ का जल बताया जाता है। गर्म किया हुआ जल पीना इस रोग से बचने का एक उपाय है। इसके अतिरिक्त पेट के अन्य रोग भी उत्तर की अपेक्षा कुछ अधिक हैं; परंतु और दृष्टियों से जल-वायु संतोषप्रद ही है और सामान्यतया पुरुषों का स्वास्थ्य अच्छा होता है।

दक्षिण के पुरुषों का क़द अधिकतर ठिगना ही होता है; ५ फ़ीट से ऊपर बहुत कम निकल पाते हैं। शरीर गठा हुआ खूब होता है और हमारी समझ में, अधिक परिश्रम सह सकता है। कोई-कोई शरीर तो पेशियों

का अच्छा विकास प्रदर्शित करता है, जिसका एक कारण कुश्ती का शौक़ है। कोलहापुर में शायद ही कोई ऐसा मुहल्ला होगा, जिसमें कोई अखाड़ा (जिसे यहाँ तालीम कहते हैं) न हो। स्वर्गवासी श्रीशाहूजी महाराज को कुश्ती का बड़ा शौक़ था। उन्होंने अपनी प्रजा में इसका प्रचार बढ़ाने के लिये बहुत प्रयत्न किया ; अनेक नवीन अखाड़े चलवाए। ये अखाड़े क्लबों (Clubs) की तरह हैं, जिन्हें जनता स्वयं चंदे से बड़े उत्साह-पूर्वक चलाती है और दरबार भी यथेष्ट सहायता देता है। प्रतिवर्ष बाहर के प्रसिद्ध मल्लों को बुलाकर उनका युद्ध कराया जाता है। उत्तर के हिंदुओं ने अभी इस आवश्यकता का अनुभव नहीं किया ; कोलहापुर अभिमान के साथ उन्हें यह पाठ पढ़ा सकता है।

यहाँ के निवासियों का रंग तो कालापन लिए हुए है ही, परंतु सुंदरता में भी, हमारे विचार से, ये उत्तर का मुक़ाबला नहीं कर सकते। प्रत्येक प्रांत शरीर की बनावट में अपनी-अपनी विशेषता रखता है और उसका दृष्टांत उसी प्रांत के विख्यात चित्रकार के चित्रों से भलीभाँति मिल जाता है। बंगाल से अभी हाल में राधा और कृष्ण के अनेक चित्र प्रकाशित हुए हैं ; उन सभी में दोनों की आँखें बड़ी-बड़ी और आधी खुली हुई हैं। शरीर भी भारी है। राजा रविवर्मा दक्षिण के एक निपुण और विख्यात चित्रकार थे। उनके चित्रों को देख जाइए— ठिगनी और गँठी हुई देह पावेंगे। राधा और कृष्ण की प्रतिकृति में भी यही मनोगत शारीरिक बनावट चित्रित की गई है। यहाँ के ब्राह्मणों का वर्ण अधिक तर गौर होता है, परंतु ठिगनेपन ने उनका भी पीछा नहीं छोड़ा।

मनुष्य

१९२१ ई० की मर्दुमशुमारी के अनुसार संपूर्ण रियासत की जन-संख्या ८,३३,७२६ है ; जिसमें से ४,२८,५४३ पुरुष तथा ४,०५,१८३ स्त्रियाँ हैं। भिन्न-भिन्न धर्मों की दृष्टि से ७,५७,७४६ हिंदू ; २८,२६७ जैन ; ३४,५१० मुसलमान ; ३,२९३ ईसाई तथा १० पार्सी हैं।

मुसलमानों के रीति-रिवाज प्रायः वे ही हैं, जो उत्तरीय भारत में ; परंतु अनेक बातों में उन पर इधर का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। मनुष्य अंततोगत्वा है प्राकृतिक तथा कृत्रिम वायु-मंडल का बनाया हुआ खिलौना ही। वह जैसे जल-वायु और पुरुषों के साथ रहेगा, कालांतर में वैसा ही बन जायगा। इन मुसलमानों में उतना पर्दा नहीं, जितना उत्तर में है। इन्होंने उर्दू भाषा को बनाए रखने का प्रयत्न किया है, परंतु मराठी का उस पर असर पड़े बिना नहीं रहा। अब यद्यपि वे हिंदुओं की अपेक्षा हिंदी तथा उर्दू अधिक आसानी से समझ एवं बोल सकते हैं, फिर भी उनकी मातृभाषा मराठी ही होती जा रही है। धार्मिक दृष्टि से भी वे उतने कट्टर नहीं रहे हैं।

ईसाइयों का रंग-रूप वही है, जो और सब जगह। इनका धन, साफ़ कपड़े और प्रेम-पूर्ण बर्ताव दुःखी नीच जातियों को अधिक आकृष्ट कर लेता है। यहाँ इनकी संख्या के कम होते हुए भी प्रचार के साधन पर्याप्त समुन्नत हैं।

हिंदू यहाँ के प्रधान निवासी हैं। इनके रहन-सहन, सामाजिक व धार्मिक विचार आदि उत्तरीय हिंदुओं से बहुत भिन्न हैं। दक्षिण को कई दृष्टियों से हिंदुओं का पोपगढ़ कहा जा सकता है। उत्तरीय और दक्षिणीय भारत में एक-एक बड़ा अंतर यह है कि उत्तर के निवासी सामाजिक एवं धार्मिक विचारों में उतने कट्टर नहीं जितने कि दक्षिण के हिंदू। इसका कारण स्पष्ट है— उत्तर का भाग समय-समय पर विदेशीय विधर्मियों द्वारा अभिभूत होता रहा है। यद्यपि वहाँ पर भी हिंदुओं ने कई एक आगंतुकों को अपना पाठ पढ़ा मिला लिया, और ऐसा हज़म किया कि उनका अलग अस्तित्व ही न रक्खा ; परंतु आक्रमणों की संख्या और शक्ति अधिक थी, उनका असर बिना पड़े न रहा। उत्तर और विशेषकर पंजाब के हिंदुओं के लिये अपने कट्टर सामाजिक व धार्मिक बंधनों में रहना कठिन हो गया और मस्तिष्क में विचार-स्वातंत्र्य ने स्थान पा लिया। किसी नवीन-मत और आंदोलन के लिये पंजाब से अधिक उपजाऊ अन्य कोई प्रांत नहीं। आर्य-समाज का कार्य-क्षेत्र पंजाब ही बना और असहयोग तथा सत्याग्रह का तांडव नृत्य भी वहीं संपादित हुआ, यद्यपि इन दोनों के प्रवर्तक वहाँ के रहनेवाले न थे। पंजाब का मस्तिष्क तथा हृदय नई प्रगति का स्वागत करने के लिये सदा प्रस्तुत रहता है। पंजाब के बाद फिर अन्य उत्तरीय प्रांतों की पारी आती है, और कट्टरता धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। नर्मदा को पारकर एकदम दृश्य बदल जाता है

और एक यात्री को भी अनुभव होने लगता है कि वह एक विभिन्न वायु-मंडल में श्वास ले रहा है।

दक्षिण की इस प्रकार की बातें—कि कोई-कोई मार्ग केवल द्विजों के लिये ही हैं, शूद्र उन पर नहीं चल सकते तथा कहीं-कहीं शूद्र के कानों में पवित्र वैदिक मंत्रों की ध्वनि पड़ जाने पर सीसा ढलवा दिया जाय—यद्यपि यहाँ देखने में नहीं आतीं तथापि कोल्हापुर में सामाजिक कट्टरता पर्याप्त रूप में विद्यमान है। यहाँ की वर्ण-व्यवस्था में भी भेद ही है; उत्तर की तरह चारों वर्णों को अलग-अलग न मानकर ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतर दो बड़े-बड़े विभाग हैं। मध्यकालीन पुस्तकों में एक श्लोक आया है, जिसमें बताया गया है कि कलियुग में केवल दो ही वर्ण रह जायँगे, एक ब्राह्मण और दूसरा शूद्र। इस ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतर विभाग का मूल इसी में दीखता है। ब्राह्मणेतरों में मरहठे, जैन, लिंगायत आदि सभी आ जाते हैं। अनेक ब्राह्मण मरहठों को शूद्र मानते हैं—यहाँ तक कि उन्हें छत्रपति महाराजाओं के संस्कारों में वैदिक मंत्र पढ़ने में संकोच होता है। ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतरों में भेद-भाव बहुत है और वह भीतरी ही नहीं, अपितु बाहरी भी। उत्तर में किसी व्यक्ति को देखकर उसका वर्ण आसानी से नहीं बताया जा सकता; परंतु यहाँ ऐसा बताना कठिन नहीं। ब्राह्मण स्त्रियों को तो देखते ही पहचाना जा सकता है, क्योंकि वे धोती गर्दन से ऊपर नहीं ले जातीं। दूसरी पहचान उनका गौरवर्ण तथा वेषभूषा की अधिक स्वच्छता है। यह बात ब्राह्मण पुरुषों को भी किसी दूरी तक अन्य पुरुषों से अलग करती है।

यद्यपि जात-पाँत का भूत समाज के लिये अत्यंत हानिकारक है, तथापि हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि उसके प्रवाह में बहनेवाले इन ब्राह्मणों में अन्यों की अपेक्षा अनेक अच्छाइयाँ हैं। प्रथम बात यह है कि यहाँ ब्राह्मणों का मस्तिष्क अन्यों से निश्चित रूप से बढ़कर है। अब तो समय बदल रहा है, परंतु कुछ काल पूर्व बिरले ही ब्राह्मणेतर विद्यार्थी कॉलेज की शिक्षा तक पहुँचते थे, और अब भी जो पहुँचते हैं, ब्राह्मणों से बाज़ी नहीं मार पाते। दूसरी बात स्वच्छता की है। शिक्षित तथा धनी ब्राह्मणेतरों को छोड़कर सामान्य जनता को देखने से पता लगता है कि ब्राह्मण तथा मरहठों में भेद डालनेवाली एक बात स्वच्छता है। एक ओर तो ब्राह्मणों ने हद कर रक्खी है; चलने में भी ध्यान रक्खेंगे कि कहीं कपड़े का कोना न छू जाय, और दूसरे मरहठे अशुद्धि के अवतार हैं। वे अशुद्ध और शुद्ध को एक ही उदार दृष्टि से देखते हैं। उनके बर्तन सड़क की मिट्टी से साफ़ हो जाते हैं। हमें याद है कि प्रारंभ में हमारे मरहठा भृत्य ने हमारे ऊपर भी ऐसी कृपा-दृष्टि की थी। जूते के हाथों से बर्तन छूना तथा अशुद्ध बर्तनों को मिट्टी लगाए बिना पानी से ही साफ़ कर लेना मामूली बातें हैं।

विचार करने से पता लगता है कि इस प्रकार की आदतें वर्षों के रहन-सहन तथा विचारों से इतनी पक्की हो जाती हैं कि उनसे छुटकारा पाना आसान नहीं होता। उसी प्रकार के मानसिक विचार भी बन जाते हैं। अस्पृश्यता को दूर करने में आज अस्पृश्य (?) भी बाधक हैं। उन बेचारों के मन भयभीत तथा दबे हुए हैं कि वे उन्नति का स्वप्न ही नहीं देख सकते। एक ब्राह्मण चाहे एक भंगी को छूने के लिये तैयार भी हो जाय, पर भंगी ब्राह्मण से छुवाने में पाप ही समझेगा। एक बार वृंदावन-गुरुकुल के कुछेक नवयुवकों ने एक सार्वजनिक सहभोज की आयोजना की थी, परंतु हमें याद है कि बहुत प्रयत्न करने पर भी वहाँ का भंगी उसमें सम्मिलित न हुआ था। इस प्रकार जिन्हें अशुद्ध रहने की आदत पड़ जाती है, उनके लिये शुद्धि के उपाय तथा साधनों का कोई मूल्य नहीं। क्या बर्तन माँजने के लिये किसी शुद्ध स्थान की मिट्टी नहीं मिल सकती? पर मनोवृत्ति भी ज़बरदस्त चीज़ है। ग्रामों के आदमी कीकड़ और नीम के जंगलों में रहते हैं, परंतु उन्हें दंतधावन करने की नहीं सूझती: उनके दाँतों को देख घृणा आती है। यदि औरों को दंतधावन करते देखते हैं, तो पूछते हैं कि लकड़ी क्यों चबाते हो। इस प्रकार अशुद्ध रहने का उत्तरदायित्व अशुद्ध रहनेवालों पर ही है; यह हो सकता है कि इसका प्रारंभ जात-पाँत के झंझट से हुआ हो।

परंतु मरहठे अपने आपको क्षत्रिय मानते और अपना निकास सूर्यवंश से बताते हैं। इसी बात को पक्का करने के लिये कुछेक मरहठा सरदारों ने राजपूतों में विवाह भी किए हैं। जैन लोग मरहठों और ब्राह्मणों के बीच में हैं।

वैश्य नाम से यहाँ पर कोई नहीं। कोई भी अपने नाम के आगे गुप्त शब्द का प्रयोग नहीं करता।

शूद्रों में यहाँ दो बड़े-बड़े भेद हैं—एक भंगी और दूसरा महार। इन दोनों के कार्यों का विभाग अतीव आश्चर्यप्रद है। भंगी पाख़ाना ही साफ़ करेगा, झाड़ू कभी न लगावेगा, और महार झाड़ू आदि से सफ़ाई करेगा, पाख़ाना कभी न उठावेगा। मरे हुए कुत्ते, बिल्ली आदि को भंगी कभी न उठावेगा। यह काम महार का है। इस प्रकार दोनों के कर्तव्यों की व्यवस्था है। एक बार हमने एक भंगिन को जैसे-तैसे अपनी कोठी के घेरे में झाड़ू लगाने को तैयार किया, वह तैयार भी इसलिये हो गई कि वह देहली की तरफ़ की थी। परंतु उसे झाड़ू लगाने देख बाहर लड़के-लड़कियों का झुंड लग गया और चिल्लाने लगे कि भंगिन झाड़ू लगा रही है! मानों उनके लिये कोई अद्वितीय घटना घटी जा रही हो।

स्त्रियों की स्थिति

हमारी सम्मति में उत्तर की अपेक्षा दक्षिण की स्त्रियों की दशा अधिक अच्छी है। यह तो स्पष्ट ही है कि उन्हें इधर-उधर कार्यार्थ आने-जाने की उचित स्वतंत्रता प्राप्त है; पर साथ ही शिक्षा की दृष्टि से भी वे अधिक उन्नत हैं। प्रारंभिक शिक्षा पाने के लिये लड़कियों के अपने स्कूल हैं और उच्च शिक्षा के निमित्त वे लड़कों के साथ कॉलेज में प्रविष्ट होती हैं। दक्षिण में शायद ही कोई कॉलेज ऐसा होगा, जिसमें कुछेक लड़कियाँ न पढ़ती हों। इस सबका कारण पर्दे का अभाव है। यहाँ की स्त्रियाँ उत्तर की तरह जेलख़ाने में बंद नहीं रहतीं, इस बात पर दक्षिण उचित अभिमान कर सकता है। हमने बड़े-बड़े शिक्षित पुरुषों को कहते सुना है कि पर्दा हटा देने से आचार-हीनता बढ़ जायगी और बदमाश आदमियों को स्त्रियों के भगाने में अधिक सुभीता हो जायगा। ऐसे तत्त्ववेत्ताओं के सामने हम दक्षिण की दशा रखना चाहते हैं। यहाँ पर कोई स्त्री अपना चेहरा नहीं ढकती और ब्राह्मणियाँ तो धोती को कंधे से ऊपर ही नहीं ले जातीं। सब जगह मिलने-जुलने आती-जाती हैं, परंतु आचार-विचार किसी प्रकार उत्तर से हीन दशा में नहीं। यह एक मामूली बात है कि छिपी वस्तु को देखने की उत्सुकता अधिक होती है, फिर जो वस्तु हमेशा ही सामने हो, उसे देखने को उतनी घोर दृष्टि नहीं लगानी पड़ती। यहाँ स्त्रियाँ निकलती रहती हैं और पुरुषों के बराबर हो, परंतु पुरुष उनकी ओर घूर कर नहीं देखते। न यहाँ स्त्रियाँ उत्तर के बराबर भगाई जाती हैं। इसका एक विशेष कारण भी है, परंतु साथ ही पर्दे का अभाव भी। जब तक स्त्रियाँ पर्दे में रहेंगी, अपनी रक्षा करने में समर्थ न हो सकेंगी। हमेशा पर्दे में रहनेवाली देवी अत्याचारी के विरुद्ध आवाज़ निकालकर चिल्ला भी नहीं सकती। और हम तो यहाँ तक कहेंगे कि जिन पुरुषों को यह भय है कि पर्दा हटा देने से उनकी स्त्रियाँ भगाई जा सकती हैं, उन्हें स्त्री रखने का कोई अधिकार ही नहीं। जिसकी रक्षा आप नहीं कर सकते, उसे आप क्यों रक्खें? इधर स्त्रियों को क्षय-रोग भी उतना नहीं होता और इसका एक कारण पर्दे का अभाव है।

कुछ महानुभाव कहा करते हैं कि तो क्या पर्दा हटाकर योरप का दृश्य दिखाना है। उनके सामने भी हम दक्षिण का उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। यहाँ पर्दा नहीं और साथ ही योरप का दृश्य भी नहीं। न तो कोर्टशिप (Courtship) की ही प्रथा है और न स्त्रियाँ उतनी स्वतंत्रता-प्रिय ही हैं। पर्दा नहीं है, स्त्रियाँ सायं-प्रातः भ्रमण के लिये जाती हैं; लेकिन फिर भी उन्हें अपने पुरुषों के साथ जाने में संकोच ही होता है। उनके भीतर से स्त्रियोचित नम्रता ने प्रस्थान नहीं कर दिया है। पर्दा नहीं है, लेकिन स्त्रियाँ नीची निगाह करके चलती हैं। कुलीन स्त्रियाँ कभी सड़क पर स्वतंत्रता से बातें करती नहीं देखी जातीं। हाँ, इतना अवश्य है कि यदि उनके घर पर उनके पुरुषों से मिलने के लिये कोई आता है और कोई अन्य व्यक्ति घर में नहीं होता, तो वे उस पुकार का उत्तर अवश्य दे देती हैं। उत्तर में तो ऐसे अवसर पर विचित्र ही दृश्य देखने में आता है। जहाँ किसी ने पुकार लगाई, देवियाँ भीतर भग जाती हैं। पुकार का उत्तर न देने में ही सतीत्व की रक्षा समझी जाती है। इन बातों में दक्षिण उत्तरीय भारत और योरप के मध्य की अवस्था में है और इस प्रकार एक अनुकरणीय दृष्टांत उपस्थित करता है।

स्त्रियों की वेष-भूषा

इधर स्त्रियों का वेष भी कुछ विचित्रता लिए हुए है और वह केवल कोल्हापुर में ही नहीं, अपि तु सारे महाराष्ट्र में प्रचलित है। स्त्रियों की धोती एक विशेष प्रकार की बनी

होती है, जिसे यहाँ लुगड़ी कहते हैं। इसकी लम्बाई १८-२० हाथ और चौड़ाई ४०-४४ इंच तक होती है। उत्तर की स्त्रियों के लिये इसका साधना कठिन होगा, परंतु यहाँ सब उसे ही पहनती हैं। उसे पहनने में वे पुरुषों की तरह कांछ मारती हैं।

स्त्रियों के आभूषण भी प्रायः अन्य ही प्रकार के होते हैं, पर वे उत्तर से किसी प्रकार घटिया नहीं होते। उनके धारण करने का व्यसन भी कुछ अधिक दीखता है, या यह प्रथा ही समझनी चाहिए कि प्रत्येक स्त्री के गले में कोई-न-कोई सुवर्ण का आभूषण अवश्य पड़ा हो। हमने उन स्त्रियों के गले में भी, जो बहुत ग़रीब हैं, जैसे दूध-दही बेचनेवाली या वे जो दूर-दूर के ग्रामों से आठ-दस आने का माल लेकर शहर में बेचने आती हैं, कई-कई सुवर्ण के आभूषण देखे हैं। उनके मकान और रहन-सहन को देख यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि इनके पास सोना ख़रीदने लायक़ रुपए भी जुड़ते होंगे। उत्तर में इनकी जैसी स्थितिवाली स्त्रियों के पास चाँदी का ज़ेवर कठिनता से होगा।

पुरुषों का वेष

पुरुषों का वेष वैसे तो कोट, कमीज़, धोती और साफ़ा ही है, परंतु उसके साथ हमने एक विचित्र बात देखी है। बहुत-से पुरुषों को हमने देखा कि कोट, साफ़ा आदि सब वस्त्र नवीन धारण किए हुए हैं, देखने में भी अच्छे खाते-पीते मालूम होते हैं। पर पैरों में जूते नहीं। यह जूतों का अभाव पैसों की कमी के कारण नहीं, अपि तु कुछ स्वभाव ही ऐसा पड़ गया है। स्कूल, कालेज में भी हमने अनेक छात्रों को इसी वेष में आते देखा है। इधर-उधर के-से देशी जूते तथा स्लीपर तो बिलकुल ही नहीं और बूट कम पहने जाते हैं। यहाँ के जूते भिन्न प्रकार के बने हुए होते हैं, जिन्हें चट्टी कहते हैं।

विवाह-संस्कार

विवाह-संबंध के बारे में यहाँ के हिंदुओं में एक-दो विचित्र बातें मौजूद हैं। ये लोग मामा या फूफा की लड़की से शादी कर लेते हैं और यह केवल ब्राह्मणेतरों के बारे में ही नहीं अपितु ब्राह्मणों के बारे में भी सत्य है। पता नहीं इस प्रथा का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ। अन्य बातों में मुसलमानों का प्रभाव, तो दक्षिण में कम ही हुआ है।

दूसरी उल्लेखनीय बात विवाह-पद्धति है। यहाँ का विवाह-संस्कार बहुत संक्षिप्त होता है—केवल ५-१० मिनट का काम है। बीच में पुरोहितजी तथा वर-वधू बैठ जाते हैं, इधर-उधर अन्य आमंत्रित महानुभाव। सब निमंत्रित नर-नारियों को थोड़े-थोड़े चावल दे दिये जाते हैं। जब पुरोहितजी ४-५ मिनट में कुछ मंत्र पढ़ चुकते हैं, तब अन्य जन अपने-अपने चावल वर-वधू के ऊपर फेंक देते हैं। बस, विवाह समाप्त हो जाता है और सब सज्जन बिदा हो जाते हैं। इसके बाद जो भोज होता है, उसका प्रबंध लड़के के घरवालों को करना पड़ता है, हाँ उसका व्यय लड़कीवाले देते हैं। आभूषण देना आदि अन्य बातें उत्तर की तरह की ही हैं।

मकान

यहाँ के मकान विचित्र ही प्रकार के बने होते हैं। प्रथम बात तो यह है कि सबकी छत खपरैल की होती है और दूसरी यह कि घरों में भीतर आँगन आदि कुछ नहीं होता। एक के बाद एक कमरा आता जाता है और वे सब बीच में एक-एक द्वार द्वारा मिले रहते हैं। इस प्रकार इधर-उधर के कमरों में तो प्रकाश की पहुँच हो जाती है: पर बीच के कमरे तो तिमिराच्छन्न ही रहते हैं। यह मकान पक्की छत तथा आँगनवाले मकानों की अपेक्षा सस्ते पड़ते हैं पर उनसे अच्छे नहीं होते।

भूमि-शयन

एक और विचित्र बात है, और वह है भूमि-शयन। यहाँ पलँग और खाट का काम ही नहीं। चाहे धनी हो या निर्धन, सब मोटे-मोटे गद्दे डालकर पृथ्वी पर ही सोते हैं। घर में या कई घरों के बीच केवल एक खाट रहती है, जो स्त्रियों को प्रसवकाल के समय दी जाती है। अन्यथा खाट का अभाव ही है और वह यहाँ तक कि बढ़इयों को खाट बनाना भी ठीक तरह नहीं आता।

भोजन

वहाँ की पैदावार पर लिखते हुए हमने बताया था कि गेहूँ की पैदावार नाम-मात्र को है और तथा चावल की बहुत अधिक इसलिये ज्वार तथा चावल ही यहाँ का भोजन समझना चाहिए। सब धनी पुरुष ज्वार को स्वाद के साथ खाते हैं। गेहूँ रुपए का तीन चार सेर आता है। परंतु उसके कम प्रचार का कारण उसका महँगापन न होकर उसे बहुत गरिष्ट मानना है। उसकी चीज़ें केवल विशेष अवसरों पर बनाई जाती हैं। यू० पी० का होने के कारण

हमें चावल खाने की आदत न थी और ज्वार की रोटियाँ तो कभी देखी भी न थीं। इसलिये हमें गेहूँओं का ही आश्रय लेना पड़ा। यहाँ के रहनेवालों के लिये यह आश्चर्य की बात है कि कोई व्यक्ति सदा दोनों समय गेहूँ ही किस प्रकार खा सकता है। पूड़ियाँ तो शायद यहाँ के पुरुष जानते ही नहीं। विशेष भोजों में गेहूँ की रोटी ही हमारी पूड़ी का काम देती है। दालों में अरहर की दाल का उपयोग अधिक है। लाल मिर्च तथा प्याज़ (जिसे यहाँ कांजा कहते हैं) अधिक मात्रा में खाया जाता है।

चाय और काफी यहाँ की प्रिय वस्तुएँ हैं—कहा जाता है कि वे यहाँ की जल-वायु के लिये आवश्यक हैं। परंतु हम तो उनके बिना ही रहे हैं। चाय सब जगह सब समय मिल सकती है। परंतु बाज़ार में दुकानों पर दूध, दही आदि कुछ नहीं मिलता। इन वस्तुओं के लिये शहर में भी ग्रामों की-सी प्रथा है। स्थान-स्थान पर प्रातः-सायं गाय, भैंसे एकत्रित की जाती हैं और वहीं दूध लेनेवाले पहुँच जाते हैं। दही के लिये प्रातः काल ही इधर-उधर के ग्रामों से स्त्रियाँ बेचने आती हैं। फिर बाज़ार में ये वस्तुएँ नहीं मिल सकतीं। यही बात घी के बारे में है। दूध-दही यदि बाज़ार में नहीं, तो कम-से-कम प्रातः-सायं या केवल प्रातः प्रतिदिन मिल सकता है, परंतु घी नहीं। घी तो केवल रविवार को ही मिलेगा और वह लोनी (मक्खन) के रूप में। उसकी पैंठ सप्ताह में केवल एक दिन लगती है। फिर नहीं, और न कहीं दूकान ही है। इस प्रथा से कुछ कष्ट भी है, परंतु घी मिलता बहुत अच्छे रूप में है। लोनी से निकाले हुए घी में कुछ भी नहीं मिला होता और वह भाव में भी प्रायः सस्ता रहता है। इन बातों में कोल्हापुर शहर भी हमारी ओर के ग्रामों से मिलता हुआ है।

मांस तथा अंडे खाने का प्रचार भी हिंदुओं में पर्याप्त है। परंतु वह मरहठों में ही है, ब्राह्मणों में बहुत कम। मरहठों के बहुत कम घर ऐसे होंगे, जिनमें मुर्गियाँ न पली हुई हों, और ऐसे शिक्षित लोग जो पालते नहीं बाज़ार से मोल लेते हैं। इस बात में यहाँ की तुलना पंजाब-प्रांत से की जा सकती है। हमारी सम्मति में यह मांस-भक्षण का स्वभाव ही शुद्धाशुद्ध के विचाराभाव का बड़ा कारण है। यही बात हमने पंजाब में देखी।

भोजन की वस्तुओं की तरह भोजन करने के प्रकार में भी भेद है। प्रारंभ में केवल दाल, चावल, नींबू तथा नमक दिया जाता है। रोटी चावल खा लेने के बाद ही दी जाती है और रोटी खाने के बाद एक बार चावल फिर दिए जाते हैं। ऐसी विशेषता यहाँ ही नहीं प्रत्युत सब जगह देखने में आती है। सूरत (गुजरात) में चावल अन्य सब चीज़ों के खा लेने पर दिए जाते हैं और उनके दिए जाने के बाद अन्य कोई वस्तु नहीं दी जाती। एक बार हमें अपने एक मित्र के विवाह में सूरत जाने का अवसर हुआ। भोजन करने बैठे, भोजन कर लेने पर अंत में एक महाशय चावल देने आए। हमें प्रथा का स्मरण हो आया और उनसे कहा कि अभी ठहर जाइए, सोच लें कि कुछ और तो नहीं लेना। इस प्रकार चावल लेने से पूर्व सोच लेना होता है कि कुछ और तो नहीं लेना। परोसनेवाले पुरुष भी चावल देने से पूर्व अन्य सब वस्तुओं को भोजन के स्थान से उठाकर चौके में रख आते हैं। इससे मिलती-जुलती अथवा भिन्न प्रकार की बातें पंजाब, बंगाल आदि में भी प्रचलित हैं। हमारे संयुक्त-प्रांत में सब चीज़ें सब समय दी जा सकती हैं।

धर्म के बड़े-बड़े विभागों के नाम तो हम पहिले ही गिना चुके हैं, यहाँ हमें हिंदुओं के एक-दो विचित्र पंथों को बताना है। पूर्व के

धर्म

ब्रह्म-समाज की तरह यहाँ एक 'सत्य-शोधक-समाज' है। इसका मुख्य काम ब्राह्मणों के विरुद्ध ब्राह्मणेतरों की उन्नति करना है। और इस प्रकार इसे एक सामाजिक संस्था ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। परंतु अब इसने धार्मिक रूप धारण कर लिया है। इसकी एक विशेषता यह है कि यह वेद-उपनिषद् आदि किसी ग्रंथ को सर्वात्मना मानने को उद्यत नहीं। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है। सब धार्मिक पुस्तकों में जो-जो सचाइयाँ हैं, उन्हें ही मानना इसका काम है। कोई पुस्तक नितांत सत्य नहीं।

इसके अतिरिक्त दूसरी विशेष घटना 'क्षात्र जगद्गुरु मठ' की स्थापना है। यहाँ पर प्राचीन काल से 'करवीर मठ'-नामक शंकराचार्य का एक मठ है, जिसके मठाधीश ब्राह्मण ही होते हैं। दक्षिण में ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतरों का प्रश्न बहुत प्रबलता पर है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ब्राह्मणों ने मरहठों को शूद्र क़रार देकर उनके संस्कारों

में वैदिक मंत्रों का पाठ निषिद्ध बता रक्खा था। जब तक यह नियम सामान्य जनता के ही लिये काम में लाया गया तबतक जैसे तैसे काम चलता रहा, लेकिन जब महाराज के लिये भी यही बात कही गई, तो विरोध होना स्वाभाविक था। महाराज ने ऐसे शंकराचार्यों के शासन की अवहेलना की, और पंडितों की मंडली बैठाकर मरहठों को क्षत्रिय तथा वेद-पाठ का अधिकारी सिद्ध कराया। और फिर शंकराचार्य के स्थान पर 'क्षात्र जगद्गुरु' नाम से एक नवीन मठ चलाया। इसके मठाधीश मराहठा ही हैं। अब यद्यपि शंकराचार्य भी यहाँ हैं, परंतु राजगुरु का सम्मान क्षात्र जगद्गुरु को ही प्राप्त है। यह कार्य परलोकवासी श्रीशाहूजी छत्रपति महाराज ने किया था। यह धार्मिक जगत् की एक विशेष घटना है। इससे हमें पता लग सकता है कि धार्मिक जगत् में भी राजा का हाथ कहाँ तक है।

इसके अतिरिक्त हिंदुओं में अनेक मत-मतांतर फैले हुए हैं—कोई शैव हैं, कोई वैष्णव। अनेक देव और देवियाँ अपने भक्तों की बड़ी-बड़ी संख्या रखती हैं। उत्तर की तरह अनेक अंधविश्वास भी प्रचलित हैं। उनमें से विशेष एक पालामा देवी है। छोटे-छोटे लड़के-लड़कियाँ इस देवी को समर्पण कर छोड़ दिए जाते हैं—फिर अपने मा-बाप से उनका कोई संबंध नहीं रहता और वे पालामा देवी की सेना के एक अंश हो जाते हैं। इस देवी के अनुयायियों में एक अत्यंत आश्चर्यमय प्रथा प्रचलित है—उनमें कोई स्त्री किसी एक पुरुष विशेष की पत्नी न होकर सब पुरुषों की स्त्री होती है और इसी प्रकार प्रत्येक पुरुष प्रत्येक स्त्री का पति। यह पाशविक धर्म मनुष्यों में देख हमें अत्यंत आश्चर्य हुआ।

१९१८ ई० से यहाँ आर्य-समाज का भी आगमन हुआ है। श्रीशाहूजी महाराज एक धर्मप्रिय व्यक्ति थे, उन्होंने हिंदुओं के अनेक मतों का स्वाध्याय कर आर्य-समाज के वैदिक धर्म को श्रेष्ठ समझा और उसका दक्षिण में प्रचार करने के लिये उसे अपने यहाँ आमंत्रित किया। उत्तरीय भारत में आर्य-समाज की कर्मण्यता देख उन्होंने रियासत का राजाराम कॉलेज तथा हाई-स्कूल यू० पी० की आर्य-प्रतिनिधि-सभा को सौंप दिया और साथ ही आर्य-समाज की स्थापना कर उसके प्रचार-कार्य में सहायता की।

स्व० श्रीकोल्हापुर-नरेश

आर्य-समाज अपने सामाजिक एवं शिक्षा-संबंधी कार्य के लिये पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुका है। यहाँ पर भी उसने अपने उसी उत्साह से कार्य करने की ठान ली और अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी अपने कर्तव्य में सफलता प्राप्त की। जहाँ पहले उच्च शिक्षा पानेवाले ब्राह्मणेतर विद्यार्थी अंगुलियों पर गिने जा सकते थे, अब वहाँ उनकी संख्या ब्राह्मणों के बराबर हो गई है। दक्षिण के लिये यह कम आश्चर्य की बात नहीं कि ब्राह्मणेतर विद्यार्थी वैदिक मंत्रों का पाठ एवं यज्ञादि कर सकें। उत्तरीय भारत की तरह यहाँ भी आर्य-समाजियों ने गुरुकुल एवं अनाथालय खोल हिंदू-समाज की सेवा प्रारंभ कर दी थी, परंतु दुर्भाग्य से श्रीशाहूजी महाराज अचानक ही असमय मृत्यु के शिकार हो गए। यदि वह कुछ दिन और जीवित रहते, तो आशा की जाती है कि आर्य-समाज उनकी सहायता से और भी अधिक कार्य करता। वे अत्यंत सुयोग्य शासक और बहुत बड़े हुए सामाजिक सुधारक थे।

शिक्षा

शिक्षा की दृष्टि से कोल्हापुर पर्याप्त उन्नत है। कोल्हापुर शहर की जन-संख्या साठ हज़ार के लगभग है। उसमें छः हाईस्कूल तथा एक प्रथम श्रेणी का, जिसमें एम्० ए० तक की पढ़ाई होती है, कॉलेज है। यह कॉलेज बंबई-प्रांत के अत्यंत पुराने कॉलेजों में से एक है। मि० गोपालकृष्ण गोखले एवं मि० जस्टिस महादेव गोविंदरानाडे सदृश व्यक्ति इसके विद्यार्थी रह चुके हैं। इसके अतिरिक्त कई प्राइमरी पाठशालाएँ हैं। छोटे बच्चों की शिक्षा निःशुल्क है और अब उसे अनिवार्य करने का प्रयत्न किया जा रहा है। लड़कियों का भी एक हाईस्कूल तथा कई छोटी-छोटी पाठशालाएँ हैं। पर्दे का अभाव होने से लड़कियाँ लड़कों के हाईस्कूल एवं कॉलेज में भी शिक्षा प्राप्त करती हैं।

कोल्हापुर शहर के अतिरिक्त क़स्बों एवं ग्रामों में भी वहाँ की आवश्यकतानुसार शिक्षा का प्रबंध है। और उसे उन्नत करने की ओर ध्यान दिया जा रहा है। कोल्हापुर में एक अमेरिकन मिशन भी शिक्षा-विस्तार में प्रशंसनीय कार्य कर रही है। इसकी ओर से एक हाईस्कूल तथा कुछेक रात्रि पाठशालाएँ आदि हैं। इसके अतिरिक्त रियासत की ओर से एक औद्योगिक स्कूल भी है, जिसमें लुहार, बढ़ई आदि का कार्य सिखाया जाता है।

भाषा

यह स्पष्ट ही है कि यहाँ की भाषा मराठी है। उसकी लिपि तो देवनागरी की ही लिपि है, परंतु भाषा में वह हिंदी से एकदम भिन्न है। यद्यपि यहाँ के रहनेवाले हिंदी को थोड़ा बहुत समझ भी सकते हैं। परंतु हिंदीवालों के लिये मराठी बिलकुल टेढ़ी खीर है। हमको मराठी भाषा की एक बात बहुत अच्छी लगी और वह हमारी सम्मति में हिंदी-भाषा में भी होनी चाहिए। मराठी भाषा के अपने शब्द बहुत अधिक नहीं, परंतु उसमें अन्य अनेक भाषाओं के बहुत-से शब्द मिला लिए गए हैं, और अब भी मिलाए जा रहे हैं। संस्कृत से तो उसका पूरा संबंध है, इसलिये उसके शब्द उसमें आने ही चाहिए थे; किंतु उसके अतिरिक्त हिंदी, उर्दू, फ़ारसी, अंगरेज़ी आदि से अनेक शब्द लिए गए हैं। इससे मराठी का कोष पर्याप्त संतोषप्रद हो गया है।

इसी प्रकरण में हम यहाँ के उच्चारण की विचित्रताओं के ऊपर भी एक-दो शब्द जोड़ना चाहते हैं। प्रत्येक प्रांत अपनी उच्चारण-संबंधी विशेषताएँ रखता है—वे विशेषताएँ भाषा-विज्ञान के अनुसार वहाँ की जल-वायु एवं प्राकृतिक तथा कृत्रिम परिस्थिति का परिणाम होती हैं। वहाँ के रहनेवाले प्रयत्न करने पर भी उस परिस्थिति के प्रभाव से नहीं बच सकते। किसी एक अँगरेज़ी के शब्द को ले लीजिए और फिर उसका भिन्न-भिन्न प्रांतों का उच्चारण सुनिए—इस नियम की सत्यता प्रकट हो जायगी। यहाँ कुछेक अँगरेज़ी शब्दों का उच्चारण बिलकुल ही विचित्र है, जैसे—म्यागझिन (Magajine) ब्यांक (Bank) आदि। मराठी एवं संस्कृत शब्दों के उच्चारण के बारे में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है और वह है उच्चारण की शुद्धता। अन्य जगह हमने देखा है कि व और ब तथा श और स के उच्चारण में बहुधा भूल हो जाती है, परंतु यहाँ यह नहीं। यदि कोई व को जगह ब कह जाय, तो यहाँ के विद्यार्थियों के कान खड़े हो जाते हैं। दक्षिण के ब्राह्मण वेद-पाठ की शुद्धता के लिये प्रख्यात ही हैं।

गान-विद्या तथा चित्रकारी

लेख अधिक लंबा हो गया है, फिर भी हम एक-दो बातों को लिखे बिना यह वर्णन समाप्त नहीं कर सकते। कोल्हापुर की मुख्य विशेषताओं में एक विशेषता गान-विद्या एवं चित्रकारी का अधिक प्रचार तथा उन्नति है। यह बात हमारी समझ में पूना आदि अन्य दक्षिणीय स्थानों के बारे में भी सच है। सायंकाल जगह-जगह गाने सुनाई देते हैं। किसी गली में चले आइए, जगह-जगह आपको सितार और हारमोनियम के मधुर स्वर सुनाई देंगे। सितार तो यहाँ का विशेष बाजा है। गान-विद्या बालिकाओं की शिक्षा का एक मुख्य अंग समझा जाता है। इधर पक्के गानेवाले अनेक मिल सकते हैं। यही उन्नति और प्रेम चित्रकारी के बारे में दिखाई देते हैं। छोटी-छोटी दुकानों पर सुंदर-सुंदर चित्र खिंचे रहते हैं। आजकल भी जो देवालय बनाए जाते हैं, उनमें आश्चर्यमय सजावट की जाती है। दूकानों के साइनबोर्ड तक में चित्रकला का प्रदर्शन किया जाता है।

इन्हीं दोनों कलाओं का अधिक प्रचार होने के कारण इतने छोटे नगर में कई सिनेमा और नाटक कंपनियाँ हैं। इनमें कोल्हापुर के भी अनेक पात्र प्रयोग

करते हैं, जिनमें कई एक अपनी दक्षता के लिये विख्यात हैं। इस प्रकरण में हम कोल्हापुर के एक व्यक्ति का जिन्होंने कोल्हापुर का ही नहीं, अपि तु संपूर्ण महाराष्ट्र का नाम उज्ज्वल कर दिया है, उल्लेख किए बिना नहीं रह सकते। आपका शुभ नाम श्रीबापूराव है। आपको बाल्यकाल से ही इन दोनों ललित कलाओं से विशेष प्रेम था। बड़े होने पर आपने एक सिनेमा कंपनी में कार्य कर लिया और धीरे-धीरे अपनी योग्यता इतनी बढ़ाई कि अंत में आपने एक मशीन स्वयं तैयार की। उसके बाद आपने 'महाराष्ट्र फ़िल्म कंपनी' के नाम से एक बृहत् आयोजन आरंभ कर दिया। इस कंपनी के चित्रपट (films) अधिकतर मरहठी में होते हैं, इसलिये अभी तक इसका नाम उत्तरीय भारत तक नहीं पहुँचा। अब ये अपने चित्रपटों में हिंदी, अँगरेज़ी, गुजराती आदि भी लिखने लगे हैं। इससे इस कंपनी का अच्छा प्रचार होगा। कुछ एक अँगरेज़ी के चित्रपट इँगलैंड भी भेजे गए हैं। इस कंपनी के चित्रपट अत्यंत प्रभावोत्पादक एवं आकर्षक होते हैं। एक पौराणिक आख्यायिका के ऊपर एक ऐसा चित्रपट तैयार किया गया था कि जिसे सरकार को ज़ब्त करना पड़ा। उसके ज़ब्त करने का कारण यह था कि उसमें एक व्यक्ति का वध इस प्रकार दिखाया गया था कि उसे देखकर अनेक दर्शकों के बेहोश हो जाने का भय था। अभी हाल में 'मुरलीवाला'-नामक श्रीकृष्ण-संबंधी चित्रपट तैयार किया गया है। इसके हिंदी के वाक्य बनाने का सौभाग्य हमें ही प्राप्त हुआ। यदि श्रीबापूरावजी अमेरिका सदृश किसी स्वतंत्र देश में जन्मे होते, तो आज उनकी प्रतिष्ठा न जाने कितनी होती।

दर्शनीय स्थान

रियासत की राजधानी कोल्हापुर शहर है। यह नगर यद्यपि बहुत बड़ा नहीं, परंतु सुंदर, सुडौल एवं अति प्राचीन है। ऊपर कहा जा चुका है कि प्राचीन पुस्तकों में यह करवीर के पुनीत नाम से स्मरण किया गया है। साथ ही कोल्हापुर नाम भी एकदम नया नहीं। हमें आश्चर्य हुआ, जब हमने 'भविष्यपुराण' में कोल्हापुर का विस्तृत वर्णन देखा। यद्यपि वास्तविक नगर उस वर्णनात्मक नगर (जो कि कवि की कल्पना का चित्रण है) से बहुत भिन्न है और उस समय भी रहा होगा, तथापि नगर की सुंदरता में कोई संदेह नहीं कर सकता। नगर के चारों ओर की पहाड़ियाँ बहुत ही मनोरम लगती हैं। पश्चिम की ओर पंचगंगा की धार बहती है। इसके भीतर की सड़कें भी पर्याप्त चौड़ी और लंबी हैं। आज-कल संकीर्ण मार्गों को चौड़ा किया जा रहा है। नगर का नया भाग शाहूपुरी तो बहुत ही खुला हुआ है।

नगर में अनेक दर्शनीय स्थान हैं, जिनमें मुख्य हैं—

अंबाबाई का देवालय—यह देवालय बहुत प्राचीन एवं वास्तुविद्या की दृष्टि से अत्यंत महत्त्व-पूर्ण है। अनुमानतः इसे बने हुए लगभग एक सहस्र वर्ष हुए होंगे। आज-कल तो स्पष्टरूप से ही यह हिंदुओं का है; परंतु कहा जाता है कि पहले यह जैनियों का था। और उन्हींने इसे बनवाया था। यह नगर के मध्य में एक बड़े घेरे में स्थित है, जहाँ प्रतिदिन प्रातः-सायं हज़ारों नर-नारियाँ अपने इष्टदेव के चरणों में श्रद्धा-पुष्प चढ़ाने आते हैं। देवालय की इमारत कुछ विचित्र-सी ही है। हमने इस ढंग का उत्तर में कोई मंदिर नहीं देखा। चारों ओर की सारी दीवार मूर्तियों से लदी पड़ी है। कहते हैं, इसमें हिंदुओं के सभी देवताओं की प्रतिमाएँ हैं। पत्थर भी लाल या सफ़ेद न होकर कुछ काला-सा है। और पत्थर के सिवाय सारी इमारत में लकड़ी का नाम भी नहीं है। पत्थरों के बीच में चूना भी नहीं लगाया गया है। चारों ओर बड़े-बड़े द्वार हैं और बीच में मैदान है, जहाँ सभाएँ आदि हुआ करती हैं। इस वृहद्देवालय के अतिरिक्त यहाँ अनेक छोटे बड़े देवालय हैं, जिनकी संख्या लगभग तीन-सौ होगी। सरकारी गज़ट से पता लगता है कि सैकड़ों मंदिर ज़मीन के अंदर दबे हुए हैं। अनेक मंदिर सुरंगों में भी हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन काल में कोल्हापुर का धार्मिक महत्त्व कितना रहा होगा। दूसरी प्रसिद्ध प्राचीन इमारत है—

पन्हाले का क़िला—यह शिवाजी के समय का होने से एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक क़िला है। शिवाजी के द्वितीय पुत्र राजाराम ने सतारा से भागकर इसी कोट की शरण ली थी और यहीं से आगे बढ़कर रानी ताराबाई ने कोल्हापुर की नींव डाली थी। यह क़िला कोल्हापुर से १२ मील पश्चिम की ओर एक पहाड़ी पर स्थित है, और नगर से बहुत अच्छा दिखाई देता है। जाने के लिये पक्की सड़क है, जिस पर मोटर तथा ताँगे चलते हैं। क़िला

पन्हाला क़िले का एक दरवाज़ा

कोल्हापुर-नरेश का राजमहल

पुराना होने से बहुत ही जर्जरावस्था में है, पर फिर भी शिवाजी के पवित्र नाम से संबंधित होने के कारण हमेशा ही यात्रियों को खींचता रहता है। एक दूसरी इमारत 'ज्योतीवा का देवालय' है। यह भी कोल्हापुर के उत्तर में १३ मील के अंतर पर है। धार्मिक दृष्टि से यह भी एक प्रसिद्ध स्थान है। प्रतिदिन ही यात्रियों की भीड़ इसके दर्शन को जाती रहती है। नगर के मध्य भाग में 'प्राचीन महल' नाम से एक बड़ी इमारत है। जैसा कि नाम से प्रकट है नवीन राजमहल के बनने से पूर्व यही महाराजा साहब का निवासस्थान था। अब तो इसमें महाराजा साहब की तथा कुछ अन्य कचहरियाँ हैं। इनके अतिरिक्त कुछ नवीन इमारतें भी ध्यान देने योग्य हैं, उनमें मुख्य हैं—

राजमहल—यह विशाल महल अर्वाचीन योरपियन महलों के ढंग पर बना है। इसकी बनावट यद्यपि पश्चिमीय ढंग की है तथापि कहीं-कहीं पूर्वीय-कला का भी आभास दीख पड़ता है। इसके बनाने के लिये कुछ पत्थर आदि इटली से भी मँगाए गए थे। यह महल स्वर्गीय शाहूजी महाराज के कला-प्रेम का अच्छा उदाहरण है। इसमें उनके लगभग सात आठ लाख रुपए लगे थे। महल नगर से लगभग दो मील है। इसके बीच में एक बड़ी मीनार है, जिसमें घड़ी लगी हुई है। बाहर बड़ा मैदान है और एक सुंदर ताल है। भीतर की सजावट भी महाराजाओं के योग्य ही है।
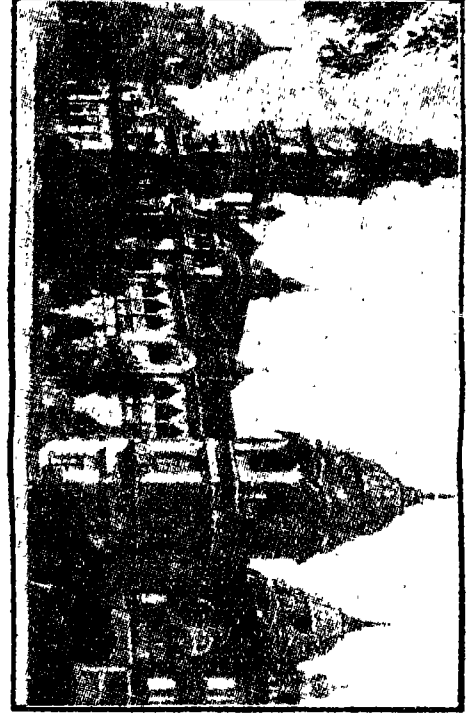
टाउनहाल—एक सुंदर हरे-भरे बगीचे के बीच में एक सुंदर-सा भवन है और उसी के सामने बड़ा अस्पताल है।

अस्पताल—इसकी इमारत भी सुंदर बनी हुई है। इसके बाद 'कॉलेज' की इमारत है। अब तक तो यह दो मंजिलवाली ही थी। पर गत वर्ष इसमें तीसरी मंज़िल भी बन गई है। इससे स्थान बढ़ जाने के अतिरिक्त इसकी शोभा भी अधिक हो गई है। इन सब इमारतों की बनावट और सामान प्रायः एक ही है। कॉलेज के सामने ही सार्वजनिक पुस्तकालय एवं वाचनालय है।

इन इमारतों के सिवाय कोल्हापुर में अनेक दर्शनीय तालाब हैं। इनमें मुख्य 'रंकाड़ा' है। इसको ताल न

राजाराम कॉलेज, कोल्हापुर

कह छोटी झील कहा जा सकता है । इसका घेरा डेढ़-दो मील होगा । शहर की ओर बाँध बँध रहा है और चारों ओर एक चौड़ी सड़क है । एक दूसरा बड़ा तालाब 'कड़म्बे' का है । यह शहर से तीन मील पर है, और शहर में पीने का पानी यहीं से आता है । इन तालाबों के बारे में एक रोचक कथा प्रसिद्ध है, सुनते हैं कि पहले यहाँ जल की बहुत कमी थी । एक बार पूना-निवासी ठाकुर बाबू राव केशव, जो कि एक धार्मिक व्यक्ति थे, कोल्हापुर में अम्बाबाई के दर्शनार्थ आए । ठाकुर साहब की उदारता देख आदमियों ने उनसे जल-कष्ट-निवारण की प्रार्थना की । पहले तो उन्होंने यह उचित न समझा कि देवताओं को पानी देने के लिये मनुष्य अपनी शक्ति लगावे; पर पीछे जब अम्बाबाई ने उन्हें स्वप्न में दर्शन दे तालाब बनवाने की आज्ञा दी, तब उन्होंने सन् १७१२ ई० में दो ताल बनवाए । एक ब्राह्मणों के लिये और दूसरा ब्राह्मणेतरों के लिये । इसमें ठाकुर साहब ने लगभग साढ़े चार लाख रुपए लगाए थे ।

महेंद्रप्रताप शास्त्री

क्या "भारत में सनातन निरीश्वरवाद" था ?

(१)

धुरी' में प्रत्यक्षदर्शी महोदय ने ईश्वर-खंडन पर लेख लिखे थे । उन्होंने ईश्वर के खण्डन में युक्तियों से काम न लेकर ईश्वर को लताड़ना शुरू कर दिया था । इसलिये मैंने उनकी युक्तियों (?) का ज़िक्र बिना किये ईश्वर के समर्थन में दी गई पूर्वीय तथा पाश्चात्य विचारकों की मुख्य-मुख्य युक्तियों का एक लेख में संग्रह कर दिया था, जो 'माधुरी' में प्रकाशित हुआ था । अब 'सुधा' में श्रीयुत हेमचंद्र जोशी ने 'भारत में सनातन निरीश्वरवाद' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित कराया है, जिसमें योग्य लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वैदिक काल में नास्तिक वर्तमान थे, उपनिषद् काल में भी उनकी संख्या कम न थी और परवर्ती काल भी नास्तिकों तथा संशयवादियों से भरा रहा है । लेखक का प्रधान उद्देश्य भारत के निरीश्वरवाद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि डालना प्रतीत होता है । परंतु कहीं-कहीं जोश में आकर जोशीजी इतिहास को छोड़कर नास्तिकवाद का समर्थन करने पर भी उतारू हो गए हैं और प्रवाह में कह गए हैं कि परमात्मा का होना या न होना इस विश्व-ब्रह्माण्ड के एक अणु के अणु का भी उद्देश्य विवक्षित नहीं करता । इस लेख में जोशीजी के विचारों की समीक्षा की जायगी ।

'भारत में सनातन निरीश्वरवाद' का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि भारत निरीश्वरवादी भी रहा है । निश्चित रूप से भारत को ईश्वरवादी देश नहीं कहा जा सकता । कम-से-कम जोशीजी के लेख को पढ़ने से पाठक के हृदय में यही भाव उत्पन्न होते हैं कि भारत को ईश्वरवादी कहना सरासर भूल है । वेद और उपनिषद् निरीश्वरवाद से भरे पड़े हैं । जोशीजी के "लेख लिखने का उद्देश्य यही है कि पाठक तथा विद्वान् सत्य-पिपासु देखें, इस जटिल विषय पर भारत में सदा मतभेद रहा है ।"

इस मतभेद को दर्शाने के लिये जोशीजी ऋग्वेद से प्रारंभ करते हैं। ऋग्वेद में निरीश्वरवाद का शब्द सुनकर मैं समझा था जोशी महोदय कुछ ऐसे प्रमाण पेश करेंगे, जिनसे उनके पक्ष की पुष्टि होगी। यह किसी को भी आशा न होगी कि वे ऐसे प्रमाण देंगे, जिनसे उनके पक्ष का खण्डन होगा! आप लिखते हैं कि ऋ० (२,२३,८ तथा ६, ६१, ३) में लिखा है—'बृहस्पते देवनिदो निवर्हय'—'सरस्वती देवनिदो निवर्हय'—हे बृहस्पति देवतों की निंदा करनेवालों को चौपट कर और हे सरस्वती, इन देवतों की निंदा करनेवालों को उजाड़—इसलिये ऋग्वेद में सनातन निरीश्वरवाद है! जोशीजी, आपने खूब लिखा है! क्योंकि वेद कहता है कि निरीश्वरवादी को चौपट कर दो, उसे उजाड़ दो, इससे आपने वेद से निरीश्वरवाद निकाला; यदि वेद कहता कि ईश्वरवादी को चौपट कर दो, तब शायद आप कहते कि वेद में ईश्वरवाद भरा हुआ है—ईश्वर को चौपट करने से आप ईश्वर को बसाना समझते हैं और ईश्वर को बसाने से ईश्वर को चौपट करना। जोशी महोदय की शायद युक्ति यह है कि क्योंकि 'देवनिद'—अर्थात् देवता की निंदा करनेवाले—को चौपट करने के लिये कहा गया है, इसलिये देवनिद अथवा निरीश्वरवादी थे अवश्य, क्योंकि जब तक निरीश्वरवादी न हों, तब तक उन्हें चौपट कैसे किया जा सकता है! इस प्रकार इन निरीश्वरवादियों की, उन्हें चौपट करने के लिये, सत्ता सिद्ध कर जोशीजी कह उठते हैं—"साथ ही यह देखकर प्रत्येक हिंदू को गर्व हुए विना नहीं रह सकता कि उसके देश में उस समय विचार-स्वतंत्रता थी, जब यूनान की सभ्यता पैदा भी नहीं हुई थी। योरप में तो १६वीं सदी तक यह आज़ादी न थी।" क्यों साहब, कौन-सी आज़ादी? निरीश्वरवाद की आज़ादी? इस आज़ादी की बाबत तो आपने ही स्वयं लिख दिया है कि निरीश्वरवादी को ऋग्वेद चौपट कर देना चाहता है। ऋग्वेद के जो उद्धरण भारत में निरीश्वरवाद की सत्ता दर्शाने के लिये दिए गए हैं, उनसे यदि कुछ सिद्ध होता है, तो यही कि भारत निरीश्वरवाद को सहन नहीं कर सकता था। जोशीजी महोदय को समझ लेना चाहिए कि निरीश्वरवाद की सत्ता-मात्र से कुछ सिद्ध नहीं होता। मनुष्य में प्रवृत्ति तो हर प्रकार की होती है। सत्य बोलने और झूठ बोलने की, दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ मनुष्य में पाई जाती हैं, और किसी पुस्तक में यह लिखे रहने से कि झूठ बोलनेवाले को दंड देना चाहिए यह सिद्ध नहीं हो जाता कि उस पुस्तक के लिखे जाने के समय लोग झूठ बोला करते थे, अथवा सत्य बोलने के 'जटिल विषय पर सदा से मतभेद रहा है।' वेद भारतीय सभ्यता की प्रतिनिधि पुस्तकें हैं। उनमें यदि यह लिखा हो कि निरीश्वरवादी चौपट हो जायँ तो उसका भी यह मतलब नहीं कि ईश्वरवाद का जटिल विषय विवाद-ग्रस्त था। परंतु इसका यही अभिप्राय है कि भारतीय सभ्यता के कर्णधार निरीश्वरवाद को भारत में नहीं रहने देना चाहते थे।

वेद पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। एक दृष्टि ऐतिहासिक है, दूसरी वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानने की। जोशीजी ने वेदों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया है। वेदों में जो कुछ पाया जाता है, आप उसे वैदिककाल की सभ्यता का सूचक मानते हैं। आपका कथन है कि वेद में देवविद्रोही, देवनिद शब्द पाए जाते हैं, अतः अनीश्वरवादियों की सत्ता उस समय अवश्य थी। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हुए कहा जा सकता है कि हाँ, सत्ता होगी; परंतु उनकी सत्ता को सहन नहीं किया जाता था। आप तो यही दिखाना चाहते हैं कि उन्हें भी सहन किया जाता था, या केवल सत्ता-मात्र दिखाने से आप संतुष्ट हैं। सत्ता-मात्र दिखाने के लिये, तो इतने काग़ज़ रँगने की ज़रूरत नहीं। ऐतिहासिक दृष्टि के अतिरिक्त वेदों के संबंध में एक दूसरी दृष्टि है ईश्वरीय-ज्ञान की। यदि वेद ईश्वरीय-ज्ञान माने जायँ, तो—देवनिदो निवर्हय—का यह अभिप्राय नहीं कि अनीश्वरवादी थे, अपि तु यह अभिप्राय होगा कि जिस देश, काल में भी अनीश्वरवादी हों, उनका नाश कर दिया जाय। शायद यह बात कइयों को नापसंद हो कि वेद में इतनी असहिष्णुता दर्शाई गई है। परंतु वेद में जहाँ 'निवर्हय' पाया जाता है, वहाँ—'देवयन्निद-देवयम्'—अर्थात् देवनिंदकों को देव-प्रशंसक बना दो, यह भी पाया जाता है। वेद में तो कहा है—'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'—संसार-भर को आर्य बना दो। ईश्वरीय ज्ञान संसार-भर के लिये है इसलिए देश-काल की परिधि को लाँघकर उसका सर्वत्र प्रचार करने की आज्ञा है। हाँ, जो लोग किसी प्रकार ईश्वर में विश्वास लाने

को तैयार न हों, उनके लिये 'निवर्हय' का ही एक-मात्र उपदेश है। वेद जोशीजी के निम्न-शब्दों की पुष्टि करते हुए नहीं प्रतीत होते "जैसा मैं आरम्भ में कह चुका हूँ, हमें कदापि यह न समझना चाहिए कि ईश्वर को मानने या न मानने से संसार में एक अणु भी अपने निर्दिष्ट पथ से विचलित होता है। जो समझते हैं कि आस्तिकता या नास्तिकता से नीति और अनीति का प्रचार होता है, वे मनुष्य को उस तराज़ू पर तौलते हैं, जिस पर उनकी दुर्बलता तथा पक्षपात का पासंग लगा हुआ है। मुझे तो ईश्वर की रत्ती-भर आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती।" आपको ईश्वर की रत्ती-भर आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती और आप उसे मढ़ते हैं ईश्वर प्रतिपादक वेदों और ईश्वर के उपासक भारत पर! आपको आवश्यकता हो, या न हो, पर वेदों का क़ानून तो आप पर 'निवर्हय' का लगता है।

यदि मान भी लिया जाय कि वैदिक काल में नास्तिक थे, तो भी कहा जा सकता है कि वे निरीश्वरवादी आर्य न थे, अनार्य थे, आर्य-समाज के बाहर थे। जोशीजी कहते हैं—कदापि नहीं। अपने पक्ष की पुष्टि में सर हार्डी और हिलेब्रांद्त का उद्धरण देते हैं। उद्धरण तो दासों को अनार्य सिद्ध करने के लिये जोशीजी की अपेक्षा कई गुना ज़्यादा दिए जा सकते हैं। अतः हम उद्धरणों पर आधार न रखकर वेदों की अंतःसाक्षी देखना चाहते हैं। जोशीजी लिखते हैं कि भले ही कुछ भारतीय तथा योरपियन विद्वान दासों या दस्युओं को अनार्य बतावें, किन्तु वेदों से यह सिद्ध नहीं होता। अर्थात्, जोशीजी के मत में दास तथा दस्यु आर्य थे, अनार्य नहीं, और आर्य होते हुए वे 'देवनिद' अथवा निरीश्वरवादी थे। इस बात को सिद्ध करने के लिये जोशीजी ठीक ऐसा मंत्र पेश करते हैं, जो इससे उलटा सिद्ध करता है। आपने मंत्र दिया है— 'त्वं तां इन्द्रोभयां अमित्रान् दासा वृत्राण्यार्या च शूर'—अर्थात् हे इंद्र! तूने आर्य तथा दास दोनों प्रकार के शत्रुओं को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। यहाँ स्पष्ट आर्य और दास पृथक्-पृथक् गिनाए गए हैं और फिर मज़ा यह कि इसी मंत्र से जोशीजी कहते हैं कि दास आर्य ही थे! आप का कहना है कि "दास तो सदा ही शत्रु रहे, पर ये आर्य-शत्रु कहाँ से आ गए? इनका क्या अपराध था कि ये आर्य होते हुए दुश्मन गिने गए? इसकी बहुत कम संभावना है कि एक राजा का पुरोहित दूसरे आर्य-राजा, उसकी सेना तथा प्रजा को रिपु कहकर उनका नाश चाहे। यदि ऐसा होता, तो वेद में बार-बार और कई स्थानों पर अप्रच्छन्न-रूप से यह ज़िक्र आता; किंतु ऐसा नहीं हुआ। इसलिये यह अनुमान ग़लत नहीं कि ये 'आर्य-शत्रु' देवनिद थे।" जोशीजी इस बात को स्वीकार करते हैं कि उक्त मंत्र में आर्य तथा दास दो शत्रुओं का वर्णन है। आपका कथन है कि आर्य-शत्रु 'देवनिद' ही हैं! तो साहब ये दास शत्रु कौन हैं? दास-शत्रु क्या देव-पूजक थे? यह तो आप पहले ही कह आए हैं कि "वेदों से तो यही प्रमाणित होता है कि 'देवनिद' का पर्याय दास, दस्यु आदि हैं।" वास्तव में उक्त मंत्र में दासशत्रु का अर्थ 'देवनिद' है, आर्य-शत्रु का नहीं। दास लोग अनार्य थे, देवतों की निंदा करते थे, इसलिये वे शत्रु गिने गए। हाँ, फिर आप पूछ सकते हैं कि आर्य-शत्रु कौन थे? इसका उत्तर यही है कि आर्यों में एक दूसरे के जो शत्रु थे, वे आपस में दस्यु-शत्रुओं से पार्थक्य जतलाने के लिये आर्य-शत्रु शब्द का व्यवहार कर देते थे। यह ज़रूरी नहीं कि यदि यह बात हो, तो इस बात का वेद में बार-बार ज़िक्र आए। आर्यों का पारस्परिक शत्रुता इतनी न थी कि उसका जगह-जगह वर्णन किया जाता। जब आप ऐतिहासिक दृष्टि से ही विचार कर रहे हैं, तो क्या आपको इतने से संतोष नहीं कि आर्यों की जहाँ अनार्यों—दस्युओं—से लड़ाई लगातार हुआ करती थी, वहाँ किसी-किसी बात पर आपस में भी लड़ जाते होंगे। आपकी बात तो तब सिद्ध होती, जब 'आर्य-शत्रु' शब्द का 'देवनिद' से संबंध सिद्ध किया जा सकता। देवनिदों का यदि किसी से संबंध दर्शाया जा सकता है, तो दासों से ही; जिस बात को आपने भी स्वीकार किया है, आर्यों से नहीं। 'आर्य-शत्रु' देवनिद थे, यह आपका अनुमान ग़लत है। वास्तव में 'दास-शत्रु' देवनिद थे और वे अनार्य थे। आप अपने पक्ष की पुष्टि में ऋग्वेद के २रे मंडल के १२ सूक्त की ५ वीं ऋचा—'यं स्मा पृच्छन्ति कुहसेति घोरं उतेत्याहुर्नैषो अस्तीत्येनम्'—पेश करते हैं। इस मंत्र का अर्थ है,—कि जिसके बारे में पूछते हैं कि वह कहाँ है और कहते हैं कि वह नहीं है, हे मनुष्यो! वह इंद्र है! जोशीजी कहते हैं कि दास तो इंद्र को मानते नहीं थे, इसलिये इंद्र के विषय में

पूछनेवाले और उससे इनकार करनेवाले आर्य ही हो सकते हैं। क्यों जोशीजी, यदि दास (अनार्य) इंद्र को नहीं मानते थे, तो क्या आपने उनकी ज़बान बंद कर दी थी कि वे आर्यों से यह भी न कहते कि—इंद्र नहीं है, यदि है, तो कहाँ है ? आपने सब प्रमाण उलटे दिए हैं। आप कहते हैं कि "इस सारे सूक्त में एक को छोड़ सब १४ ऋचाओं का अंतिम पद है—'स जनास इंद्रः'—हे मनुष्यो ! वह इंद्र है, जिसके गुण से यह सूक्त भरा है। इसमें इन अविश्वासियों को फिर से 'बप्तिस्मा' देने के लिये...और इंद्र को मनवाने के लिये १४ बार दोहराया गया है—'स जनास इंद्रः'—वह इंद्र है। यह थी अविश्वास की अवस्था।" क्योंकि इंद्र का प्रतिपादन १४ बार किया गया है, इसलिये इंद्र को न माननेवाले बड़ी भारी संख्या में थे—यह जोशीजी के दिमाग़ में पेरिस के वायु-मंडल में बैठे-बैठे उपजा है। जोशीजी ने, इसी युक्ति-प्रक्रम से अपना लेख शुरू भी किया है, इसलिये यदि वे उसी ढाँचे की युक्तियाँ देने जायँ, तो आश्चर्य नहीं। खेद इसी बात का है कि वे अपनी स्थापना के ठीक प्रतिकूल युक्ति देते हैं—बस, उनका यही दोष है, नहीं तो वे लिक्खाड़ बड़े हैं ! वेदों में अनिंद्रों का ज़िक्र आया है। जोशीजी कहते हैं, ये अनिंद्र भी आर्य थे, हम कहते हैं कि ये दास ही थे। अपने पक्ष की पुष्टि में जोशीजी ने, जहाँ उक्त प्रमाण दिए हैं, वहाँ एक और प्रमाण दिया है—'न ते त इन्द्राभ्यवस्मदृष्वायुक्तासो अब्रह्मता यदसन्'—इस मंत्र में अस्मदयुक्तासः का अर्थ है—हमसे अलग होनेवाले। 'अस्मदयुक्ताः' का तो अर्थ है, हमसे अलग, और दास लोग आर्यों से अलग थे ही ; 'अस्मदयुक्ताः' का अर्थ 'हमसे अलग होनेवाले' जोशीजी का अपना अर्थ है। दास और आर्य अलग-अलग थे, इस विषय में वेद-मंत्रों की अभी तक तो अनुकूल साक्षी ही मिली है। ऋग्वेद १—५१—८ में 'विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मतेरन्धया शासदव्रतान्' मंत्र आया है, जिसमें आर्य तथा दस्यु में भेद किया गया है। इसी प्रकार ऋ० १०—८६—१९ में 'अयमेय विचाकशद् विचिन्वन् दासमार्यम्' में इंद्र कहता है कि मैं दास और आर्य के भेद को करता हुआ आता हूँ। ऋग्वेद में 'दासान्यार्या अकः' पाठ आया है, जिसका अभिप्राय है कि दासों को आर्य बनाया। यदि दास आर्य ही थे, तो उन्हें आर्य बनाने का अभिप्राय कुछ नहीं रहता। इसीलिये म्योर, मैक्समूलर, रोथ आदि पाश्चात्य विचारकों का मत है कि भारत में आर्य तथा दास पृथक्-पृथक् जातियाँ थीं।

परंतु यदि गहराई से विचार किया जाय, तो ज्ञात होगा कि जोशीजी ने आर्य-अनार्य का झगड़ा फ़िज़ूल में छेड़ा। मान भी लिया जाय कि दास लोग आर्य ही थे, तो भी क्या उनका यह मत पुष्ट होता है कि भारत में सनातनकाल से निरीश्वरवाद चला आता है ? यदि देवनिंदों को, अनिंद्रों को, दासों को आर्य-शत्रु कहा गया है, तो क्या भारत में निरीश्वरवाद सिद्ध हो जाता है ? भाई साहब, वे शत्रु कहे गए हैं, मित्र नहीं। पहले भी उनके 'निवर्हण'—चौपट—कर देने का हुक्म दिया गया है, उन्हें अपनाने का नहीं। आख़िर, इन आर्य-शत्रुओं का अंत क्या हुआ ? आप स्वयं लिखते हैं कि "बक़ौल मि० अविनाशचंद्रदास के ये संशयवादी* तथा

* आपको मालूम है कि ये 'संशयवादी', 'नास्तिक', 'अनिंद्र' लोग कौन थे, जो ईरान में जा बसे ? ये वास्तव में संशयवादी तथा नास्तिक नहीं थे, अपि तु वैसे ही आस्तिक थे, जैसा मैं ! हाँ, ये 'अनिंद्र' अवश्य थे। आप पारसियों की धर्म-पुस्तक ज़िंदावस्था उठा कर देखें। पारसी अपने को 'अनिंद्र' कहते हैं—'इंद्र' के वे शत्रु हैं—'इंद्र' उनके यहाँ राक्षस का नाम है। वे 'अनिंद्र' ही नहीं, 'देवनिंद' भी हैं। पारसी-धर्म में देव का अर्थ भी राक्षस है। पारसियों की धर्म पुस्तक 'वेन्दीदाद' का अर्थ है—'वि-देव-दाद'—देवताओं के विरोध में दी हुई पुस्तक ! पारसी ही वास्तव में 'अनिंद्र' तथा 'देवनिंद' हैं और इन्हीं का वर्णन उन मंत्रों में आया है, जिनका आपने ऊपर उल्लेख किया है। क्योंकि श्रीयुत अविनाशचंद्रदास मानते हैं कि आर्य भारत के आदिम-निवासी हैं, इसलिये उन्होंने लिखा है कि आर्यों की ही शाखा ईरान चली गई थी। उनकी धर्म-पुस्तक को देखने से मालूम पड़ता है कि वे आर्यबीज या आर्यावर्त से आए हुए हैं। परंतु उन लोगों को, जो 'आर्य-शत्रु' कहे जा सकते हैं संशयवादी अथवा नास्तिक कहना पारसी-धर्म से अनभिज्ञता दर्शाना है। पारसी-धर्म आस्तिक धर्म था, और है। वह कभी नास्तिक या संशयवादी नहीं हुआ। पारसी-धर्म में, अर्थात् अनिंद्र, देवनिंद या आर्य-शत्रु धर्म में परमेश्वर को अहुर्मज़्द कहा

नास्तिक, इंद्र-पूजक आर्यों के संगठन तथा सैनिक बल के सामने हार मानकर, ईरान तथा पश्चिम को चले गए। जिनका यह हाल हुआ, उनका दृष्टांत देकर यह सिद्ध करना कि भारत में निरीश्वरवाद सनातन से चला आया है, कहाँ तक उपयुक्त है; इस पर पाठक विचार करें। योरप में बैठे हुए जोशीजी सोच रहे हैं कि यदि भारत में निरीश्वरवाद नहीं रहा, तो यह भारत के लिये कलंक की बात है—इसी कलंक को दूर करने के सद्भाव से आपने वैदिक काल में निरीश्वरवाद सिद्ध करने का प्रयास किया है। शायद आप समझते हैं कि योरप की सबसे अच्छी चीज़ निरीश्वरवाद है, वह किसी-न-किसी तरह प्राचीन भारत के महोदधि में से मथकर निकाल लेनी चाहिए। परंतु जैसा हमने दर्शाया, जोशीजी का प्रयत्न निरर्थक है। निरीश्वरवाद की लहरें कहाँ उत्पन्न नहीं होतीं, यह तो स्वाभाविक है, परंतु प्राचीन भारत में, जो कुछ भी निरीश्वरवादी विचार उत्पन्न हुए थे, उन्हें वे लोग 'शत्रु-विचार' समझते थे, और समझते ही न थे; परंतु उन विचारवाले नास्तिकों को उन्होंने भारत की सीमा से ढकेलकर बाहर भी कर दिया था।

जोशीजी लिखते हैं—"किंतु इन नास्तिकों के—इन *संशयवादियों के*—कुछ विचार वेद में आ गए हैं।" अभी तक तो आपने कोई दृष्टांत नहीं दिया। हाँ, अंत में एक दृष्टांत देते हैं, और वह है—सदसदीय सूक्त! आप कहते हैं—"पाठक देखेंगे कि यह सूक्त, जिसकी प्रशंसा के पुल बँध नहीं सकते, संशयवाद और निरीश्वरवाद के भावों से ओत-प्रोत है...यह ऋषि स्वयं ईश्वर के अस्तित्व में संदेह प्रकट करता है, और यह अविश्वास उसका अंतिम विचार है।" आइए, पाठक, देखें, इस सूक्त में कितना निरीश्वरवाद है! ऋ० १०, १२९, ३ मंत्र इस प्रकार है—"न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राज्या अह्न आसीत्प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्नपरः किंचनास।" अर्थात्, न मृत्यु थी, न अमृत, न दिन, न रात; उस समय एक बिना वायु के अपनी शक्ति से ज़िंदा था, उसके अतिरिक्त कुछ न था। कहिए जोशीजी, इस मंत्र में आपने क्या पाया? संदेह-वाद तथा निरीश्वरवाद! धन्य हैं आप। तब तो आप जहाँ से जो कुछ चाहते होंगे, अपनी मर्ज़ी से पा लेते होंगे, इस बात की पर्वा नहीं करते होंगे कि वह बात वहाँ है भी या नहीं। यह तो धींगाधींगी हुई। मंत्र में लिखा है, उस समय एक था और उसके अतिरिक्त कुछ न था—अर्थात् ईश्वर था और ईश्वर के अतिरिक्त कुछ न था—और आप इसमें से निकालते हैं अनीश्वरवाद। अच्छा आगे चलिए। अगला मंत्र है—"तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्व मा इदम्। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम्।" इस मंत्र का भी यही अभिप्राय है कि सृष्टि तप-स्वरूप परमात्मा से उत्पन्न हुई। जोशीजी ने इस सूक्त का अंतिम मंत्र उद्धृत किया है—"इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।" जोशीजी इस मंत्र का अर्थ करते हैं—"*जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई है, वह इसे धारण करता है या नहीं? अनंत आकाश में, जो इसका अध्यक्ष है, वह इसे जानता हो या वह भी न जानता हो।*" यह अर्थ करके आप लिखते हैं कि "यह ऋषि स्वयं ईश्वर के अस्तित्व में संदेह प्रकट करता है।" क्यों जोशीजी, इस मंत्र में ईश्वर के अस्तित्व संदेह को आपने कहाँ देखा? आप स्वयं अर्थ कर रहे हैं कि इस सृष्टि का जो 'अध्यक्ष' है! यह अध्यक्ष का स्वीकार करना है या उसके अस्तित्व में संदेह प्रकट करना? हाँ, इस मंत्र में यह ज़रूर आता है कि ईश्वर जानता है और नहीं भी जानता। आप इसका अर्थ पूछ सकते हैं! सुनिए, इसका अर्थ। अकसर शंका की जाती है कि यदि ईश्वर सर्वज्ञ है, तो वह सब कुछ जानता है—जो कुछ आगे होना है, वह सब पहले से ही जानता है। तब तो भाग्यवाद निश्चित सिद्धांत हो जाता है। परंतु हम जानते हैं कि पुरुषार्थ भी बहुत कुछ है। अतः पुरुषार्थ से जो कुछ किया जाता है, वह ईश्वर के ज्ञान में उस रूप से नहीं है, जिस रूप से हमारा या सृष्टि का *भाग्य*। उस ज्ञान के विषय में कहा गया—'न वेद'! इस 'न वेद'

जाता था। अहुर्मुज़्द ने ही सृष्टि की उत्पत्ति की। यह नाम भी वे आर्यों से ले गए थे। 'अहुर' शब्द 'असुर' का अपभ्रंश है। आर्यों में असुर शब्द देवता तथा राक्षस दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता था, परंतु पारसियों में तो यह केवल ईश्वर के लिये प्रयुक्त होता था। इन लोगों को अभी तक किसी ने संशयवादी या नास्तिक नहीं कहा, और न वे हैं!

—लेखक

का अभिप्राय संशयवाद वा निरीश्वरवाद नहीं है, यह आप भी स्वीकार करेंगे। यदि इस बात को आप न भी मानें, तो भी आपका यह लिखना कि 'यह ऋषि स्वयं ईश्वर के अस्तित्व में संदेह प्रकट करता है', नितांत भ्रम-मूलक है। और फिर आप अपनी ही युक्ति का क्या उत्तर देंगे कि "यदि ऐसा होता, तो वेद में बार-बार और कई स्थानों पर अप्रच्छन्न रूप से यह ज़िक्र आता। किंतु ऐसा नहीं हुआ।" उसी ऋग्वेद में जिसमें आप कहते हैं 'ईश्वर' शब्द नहीं आया, विश्वकर्मा सूक्त (१०, ८१) निकालकर देखिए। 'विश्वतश्चक्षुरुत-विश्वतो मुखः विश्वतोबाहुरुतविश्वतस्पात् सं बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः'—इस मंत्र में स्पष्ट परमात्मा के सृष्टि कर्तृत्व का प्रतिपादन है। बाक़ी रहा, ईश्वर शब्द। इसमें शक नहीं कि 'ईश्वर' शब्द ऋग्वेद में नहीं आता, परंतु 'ईश' शब्द आता है। देखिए, 'पुरुतमं पुरुणां ईशानं वार्याणां इन्द्रं सोमे सचा सुते', (१, ५, २)—इस मंत्र में इंद्र को ईश कहा गया है, और ईश तथा ईश्वर का एक ही अर्थ है। जोशीजी शायद यह पढ़कर समझ जायँगे कि ऋग्वेद में संशय-वाद वा निरीश्वरवाद अथवा इनकी छाया भी नहीं पाई जाती। उसमें यदि कुछ है, तो शुद्ध ईश्वरवाद, जिसका मैंने 'माधुरी' में प्रतिपादन किया था।

(२)

वेद की धज्जियाँ उड़ाकर जोशीजी उपनिषदों की तरफ़ अपनी कृपाकोर फेरते हैं। आपका कथन है कि उपनिषदों में निरीश्वरवाद अपने तीव्र रूप में दिखाई देता है। अराजक बाकुनीन ने कहा था, यदि कहीं ईश्वर हो भी, तो हमें उसे गद्दी से उतारना पड़ेगा। जोशीजी कहते हैं कि उपनिषदों के ऋषियों ने भी ईश्वर को खुला चेलेंज दे दिया था, उसे राज्य-सिंहासन से उतार दिया था। इसमें युक्ति ? जोशीजी की युक्ति यह है कि उपनिषदों में लिखा है—'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्म', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। आप लिखते हैं—"उस समय ईश्वर यह करुणा-पूर्ण वीर-रस का अभिनय देख रहा था कि सुकुमार बालक नचिकेता और सत्यकाम जाबालि अहं ब्रह्म का वज्र घोष कर उसका अस्तित्व मिटा रहे थे।" कहिए जोशीजी, 'अहं ब्रह्मास्मि' का क्या अर्थ है, और इससे किसका अस्तित्व मिटता है ? ब्रह्म का, या आपका ? यदि मान लिया जाय कि उपनिषद् की शिक्षा मोनिज़्म ही है, तो भी इसमें ब्रह्म का अस्तित्व मिट जाता है, या ब्रह्म का ही अस्तित्व रह जाता है ? आप कहते हैं, उपनिषद् के ऋषियों ने ईश्वर को सिंहासन से च्युत कर दिया; परंतु क्या 'अहं ब्रह्म' का सिद्धांत ईश्वर को ही सिंहासन पर अधिरूढ़ कर हम सबको सिंहासनच्युत नहीं करता। अब तक तो उपनिषदों का यही अर्थ सुनते आए हैं। उपनिषदों का मोनिस्टिक अर्थ मानने से भी जोशीजी का यह कथन कि नचिकेता ब्रह्म का अस्तित्व मिटा रहा था, सिद्ध नहीं होता। यदि कुछ सिद्ध होता है, तो यही कि वह अपना अस्तित्व मिटा रहा था, और ब्रह्म ही का अस्तित्व बना रहा था।

जोशीजी ने ब्रह्मवाद को निरीश्वरवाद कहा है, इसका कारण वे बतलाते हैं कि "मेरा अभिप्राय उस ईश्वर से है, जिसका रूप पं० सत्यव्रतजी ने 'माधुरी' की किसी संख्या में चित्रित किया है।" क्योंकि ऐसा ईश्वर उपनिषदों में नहीं पाया जाता, जो "ब्रह्मांड को संचालित कर रहा हो और कोई दूसरा पदार्थ उससे संचालित हो रहा हो।" अतः उपनिषदों का वाद ब्रह्मवाद है, मोनिज़्म है, ईश्वरवाद नहीं। आगे चलकर आप लिखते हैं कि "वैयक्तिक ईश्वर या परमेश्वर का ख़याल आर्यों में पैदा नहीं हुआ।" प्रश्न यह है कि क्या जोशीजी की इस स्थापना का उपनिषदें भी समर्थन करती हैं, क्या सचमुच उपनिषदों में सृष्टि के संचालक वैयक्तिक ईश्वर का विचार नहीं पाया जाता ? उपनिषद् का प्रारंभ 'ईशावास्यमिदं सर्वं' से होता है। जोशीजी, ज़रा इसका अर्थ तो कीजिए ? इसका यही अर्थ है न कि ईश अर्थात् ईश्वर—मुझे आशा है कि आप मेरे ईश के ईश्वर अर्थ करने पर कोई आपत्ति न करेंगे—इस संपूर्ण जगत् में स्थित है। लीजिए, आप कह रहे थे कि ब्रह्मांड को संचालित करनेवाले ईश्वर का उपनिषदों में ज़िक्र नहीं है, और आपके दुर्भाग्य से उपनिषद् के पहले मंत्र में ही उसका ज़िक्र है। अभी और देखिए। उपनिषद् में तो वैयक्तिक ईश्वर का भी ज़िक्र है—ठीक वैसे ईश्वर का जिसका प्रतिपादन मैंने अपने लेख में किया था। आप कह सकते हैं कि आपको वैसे ईश्वर से संतुष्टि नहीं होती, आपका वही मत है, जिसे ब्रह्मवाद अर्थात् सर्वैक-

रसवाद मानता है, आप ईश्वर को नहीं मानते, परंतु आप अपने विचारों के लिये सर्टिफ़िकेट उपनिषद् से न माँगिए। देखिए, उपनिषद् में ईश्वर का विचार। श्वेताश्वतरोपनिषद् के तृतीय अध्याय में निम्न लिखित श्लोक आते हैं—'विश्वतश्चक्षुरुतविश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुतविश्वतस्पात सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावा भूमी जनयन्देव एकः"—यह वही ऋग्वेद का मंत्र है, जिसका पहले भी उल्लेख किया जा चुका है—इसमें द्यु तथा पृथिवी को उत्पन्न करना परमात्मा का गुण बतलाया गया है। कहिए, क्या यही उपनिषदों का निरोश्वरवाद है, जिसमें परमात्मा को चेलेंज दिया गया है?—"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।"—मैं महान् पुरुष को जानता हूँ, जिसे जानकर ही मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं—इसमें परमात्मा को महान् पुरुष कहा गया है।—"यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।"—इसमें उसी महान् पुरुष, ईश्वर को सर्वव्यापक कहा गया है।—"सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः"—इसमें परमात्मा के सर्वव्यापी होने को और स्पष्ट शब्दों में कहा गया है।—"महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्वस्यैष प्रवर्त्तकः"—इसमें उस पुरुष विशेष ईश्वर को संसार का प्रवर्तक कहा गया है।—"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।"—इस श्लोक में तो स्पष्ट ईश्वर के विचार को वैयक्तिक ईश्वर के (personal conception of God) रूप में रखा गया है। आप शायद ब्रह्मवाद से यह समझते हैं कि ब्रह्म नष्ट हो जाता है। मैंने आपको इसका उत्तर दे ही दिया है कि ब्रह्मवाद का अभिप्राय खींचातानी से जीवात्मा का नाश तो समझा भी जा सकता है, ब्रह्म का नाश किसी हालत में नहीं। आप शायद कहें कि जीवात्मा यदि ब्रह्म हो गया, तब भी ईश्वर तो न रहा—निरीश्वरवाद तब भी उपनिषदों में निकल आया। इसका उत्तर भी सुन लीजिए। उपनिषदें जीवात्मा को ब्रह्म नहीं बनातीं। उपनिषदें वैसे ही ईश्वर को मानती हैं, जिसको मैं मानता हूँ। मुण्डकोपनिषद् में देखिए—"अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः"—जब आत्मा के दोष क्षीण हो जाते हैं, तब यती लोग परमात्मा को अंतरात्मा में देखते हैं; स्वयं ब्रह्म नहीं हो जाते। आगे देखिए, "ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः"—शुद्धात्मा परमात्मा को देखता है, अर्थात् आपका अशुद्ध आत्मा अपने को ही ब्रह्म समझने लगता है। क्या उपनिषदों के ये सब वाक्य निरीश्वरवाद को सिद्ध करते हैं? आप लिखते हैं कि "हमारे ऋषि शक्ति की इस साधना में इतने आगे बढ़े कि परमात्मा के सिंहासन पर ख़ुद बैठ गए।" इन ऋषियों को आप जैसे पैरोकार कुछ और मिल जायँ, तो न-जाने उनके सिर क्या-क्या न मढ़ा जाने लगे। आप कहते हैं, "हम बहुधा अपने पूर्वजों के विचारों को भी इतना तोड़-मरोड़ देते हैं कि उनकी जान ही निकल जाती है।" बिलकुल ठीक है, और आपका 'निरीश्वरवाद'-वाला लेख आपके इस सूत्र पर आप ही का लिखा लंबा-चौड़ा भाष्य है।

आप पूछ सकते हैं, तो क्या फिर उपनिषदों में मोनिज़्म नहीं है? इसका उत्तर रामानुजियों से पूछिए और उनके भाष्य देखिए। मुझे तो इस समय आपका यही भ्रम दूर करना है कि उपनिषदों में ईश्वर का वह रूप है या नहीं, जिसे मैंने 'माधुरी' की किसी संख्या में चित्रित किया था और जिसे देखकर आपकी लेखनी चिल्ला पड़ी,—"तब प्रत्यक्षदर्शी का ईश्वर-खंडन पर लेख देख हमारे कुछ भाई विचलित होते देख पड़ते हैं, तो हमारे विद्वानों की इस संकुचित मनोवृत्ति तथा दुर्बलता पर घोर दुःख होता है।" जोशीजी, घोर दुःख न कीजिए। हम विचलित नहीं हुए थे, हमने अविचल रहते हुए ईश्वर-सिद्धि-परक प्रमाणों का प्रतिपादन किया था।

(३)

वेदों तथा उपनिषदों के बाद जोशीजी महाभारत पर दृष्टि डालते हैं। महाभारत के आपने जो प्रमाण दिए हैं; उनसे यही सिद्ध होता है कि उस समय 'धर्म का ह्रास' हो गया था। इसमें संदेह नहीं कि महाभारत का समय गिरावट का समय था। युधिष्ठिर-जैसे व्यक्ति ने जूआ खेला था, भीष्म-जैसा व्यक्ति द्रौपदी को भरी सभा में

नंगा किया जाना देख रहा था। किंतु इससे आप परिणाम क्या निकालना चाहते हैं ? क्या आप द्रौपदी के चीर-हरण में भारतीय सभ्यता का विशुद्ध रूप देखना चाहते हैं ? ये उस समय की गिरावट के चिह्न हैं—ये उस समय की फ़िलासफ़ी नहीं, दर्शन नहीं, उस समय के ऋषियों के विचार नहीं। महाभारत में तो यह भी लिखा है—"काचित्प्रहृष्टा ननृतुश्चुक्रुशुश्च तथापराः ; जहसुश्च परा नार्यः पपुश्चान्या वरासवम् । द्रौपदी च सुभद्रा च वासांस्याभरणानि च ; प्रायच्छत महाराज स्त्रीणां ते स्म मदोत्कटे।"—स्त्रियाँ खुश थीं, चिल्ला रही थीं, हँस रही थीं और शराब पी रही थीं...... द्रौपदी और सुभद्रा शराब में मस्त थीं—इन सब बातों से आप यही परिणाम निकाल सकते हैं कि महाभारत काल का समाज गिर चुका था। इनसे निरीश्वरवाद नहीं सिद्ध होता। विचार तथा युक्ति से ईश्वर को मानता हुआ भी आदमी आचार में पतित हो सकता है—इसका यही अभिप्राय है कि मनुष्य गिर गया है—न कि वह निरीश्वरवादी है। क्या आप समझते हैं, इस समय ईश्वर के उपासक अपने जीवन से, आचरण से, ईश्वर को मानते हैं ? बस, जैसे ये लोग ईश्वर को माननेवाले हैं, वैसे ही महाभारत में उत्पन्न हो गए थे, आचार में गिर गए थे—उनका दृष्टांत देकर आप अपना पक्ष पुष्ट नहीं कर सकते !

महाभारत के बाद जोशीजी ने यह दर्शाया है कि सांख्य, बौद्ध, जैन तथा चार्वाक निरीश्वरवादी हैं और ये भारतवर्ष में थे और हैं। आपने कौटिल्य के 'सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी' सूत्र का उद्धरण देते हुए कहा है कि "इससे ज्ञात होता है कि ईसा से तीन सौ वर्ष पहले भारत में तीन दर्शन थे, न कि छः, और उनमें सांख्य तथा लोकायत दो निरीश्वरवादी थे।" तब तो आपके मत में ईश्वरवाद भारतवर्ष की बहुत पीछे की उपज है—न्याय तथा वेदांत शायद कल ही के हैं ! परंतु जोशीजी, उक्त सूत्र लिखनेवाले वात्स्यायन ने ही तो न्याय का भाष्य किया है, तब आप कैसे लिख रहे हैं कि कौटिल्य के समय में न्याय नहीं था। वेदांत भी आज या कल का नहीं, परंतु यह कौटिल्य के बहुत पहले का है। देखिए पाणिनि लिखते हैं—'पाराशर्यशलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः'—इसमें पराशर के ब्रह्मसूत्रों का नाम आया है, और पाणिनि को आप मानते ही हैं कि कौटिल्य से पहले था। फिर आपने कैसे लिखा कि ईसा से तीन-सौ वर्ष पहले भारत में तीन ही दर्शन थे, और उनमें से भी दो निरीश्वरवादी ? योग शब्द का अभिप्राय वात्स्यायन में वैशेषिक और न्याय से है, सांख्य शब्द में सांख्य और योग दोनों आ जाते हैं, अतः उक्त सूत्र का अर्थ है :- वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग और चार्वाक ये आन्वीक्षिकी हैं, इन पाँचों को एक दूसरे के अवांतर्गत करके तीन पढ़ा गया है। इसलिये भारत में आप जितना निरीश्वरवाद समझते हैं, उतना नहीं है।

जोशीजी का कथन है कि सांख्य निरीश्वरवादी था। यह बात विवाद-ग्रस्त है। आपने सांख्य-सूत्र 'ईश्वरासिद्धेः' प्रमाणाभावात्' पेश किया है। परंतु यह सभी विद्वान् जानते हैं कि इन सांख्य-सूत्रों का रचयिता कपिल ऋषि नहीं है, ये संभवतः विज्ञानभिक्षु के बनाए हुए हैं, जो लगभग १२ वीं शताब्दी का है। कपिल-लिखित 'तत्त्वसमास' हाल ही में प्रकाशित हुआ है, जिसमें ईश्वर का खंडन नहीं है। प्राचीन पुस्तकों में प्रचलित सांख्य-सूत्रों का कहीं उल्लेख नहीं है। जहाँ है, वहाँ सांख्यकारिका या पंचशिख के सूत्रों का उल्लेख है। प्रचलित कथानक इस प्रकार है—"कपिलाय महामुनये मुनये शिष्याय तस्य चासुरये ; पंचशिखाय तथेश्वरकृष्णायेतान्नमस्यामः", "एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ, आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्।"—कपिल ने आसुरि को, आसुरि ने पंचशिख को यह ज्ञान दिया और उसने इस शास्त्र का विस्तार किया। कपिल, आसुरि तथा पंचशिख में से किसी का ग्रंथ नहीं मिलता—फिर सांख्यदर्शन के नाम पर आप निरीश्वरवाद को कैसे मढ़ सकते हैं। वर्तमान सांख्यदर्शन के अप्रामाणिक होने में जहाँ और बहुत-सी युक्तियाँ दी जाती हैं, वहाँ एक प्रबल युक्ति यह भी है कि आत्मप्रकरण में सांख्यकारिका की कारिका उठाकर रख दी है—यह सूत्रों का तरीक़ा नहीं है। सूत्रों से तो कारिका ही पुरानी है, और सांख्यकारिका में ईश्वर का खंडन कहीं नहीं है। यदि है, तो वाचस्पति मिश्र ने टीका में अपनी तरफ़ से किया है—कारिकाओं में खंडन नहीं पाया जाता। वाचस्पति मिश्र के कथन के लिये कारिकाकार को ज़िम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता। इसके अतिरिक्त वेदान्तदर्शन के 'पत्युरसामञ्जस्यात्' (२,२,३७)

सूत्र के भाष्य को देखने से भी पता चलता है कि सांख्य ईश्वर को मानता था। देखिए, वहाँ लिखा है "केचित्तावत्सांख्ययोगव्यपाश्रयाः कल्पयन्ति प्रधानपुरुषयोरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इतरेतर विलक्षणाः प्रधान पुरुषेश्वरा इति।"—इसमें स्पष्ट लिखा है कि सांख्य तथा योगवाले प्रधान, पुरुष तथा ईश्वर इन तीनों को पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हैं—यदि सांख्यवाले ईश्वर को स्वीकार करते हैं, तो वे निरीश्वरवादी नहीं कहे जा सकते। जोशीजी के आग्रह से यदि मान भी लिया जाय कि सांख्यसूत्र ही वास्तविक सांख्य-दर्शन है, तो भी सांख्यवादी निरीश्वरवादी सिद्ध नहीं होते। 'ईश्वरासिद्धेः' का अर्थ यही है कि ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष—अनुमानादि प्रमाण नहीं घट सकते। आख़िर, 'असिद्धि' कहा है, 'अभाव' तो नहीं कहा। अनेक विद्वान् मानते हैं कि ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती, फिर भी उसकी सत्ता है। आप जानते ही हैं कि फ़्लिंट ने ईश्वर को प्रमाणों से सिद्ध करने की कोशिश की है और उन सब प्रमाणों का नाइट ने खंडन कर डाला है, फिर भी वह ईश्वर को मानता है। आपके सांख्य में 'ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा'—यह सूत्र भी पाया जाता है, जिसमें साफ़ लिखा है कि 'इस प्रकार का ईश्वर तो मानना ही पड़ता है।' सांख्य का एक और सूत्र है—'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता'—'समाधि में जीवात्मा ब्रह्मरूप हो जाता है'। बतलाइए, ज़रा, निरीश्वरवादी सांख्य जीवात्मा को 'ब्रह्मरूप' कैसे बना देता है? इसमें शक नहीं, सांख्य को निरीश्वरवादी कहा जाता है, परंतु यह विवाद-ग्रस्त विषय है!

सांख्य ही क्या, मीमांसक को भी तो निरीश्वरवादी कहा जाता है। परंतु यह सब कुछ 'कहा जाता' में ही आता है, वास्तव में मीमांसक भी निरीश्वरवादी नहीं है। आप जानते ही होंगे कि गौतम का शिष्य वेदव्यास था, वेदव्यास का शिष्य जैमिनि—यही जैमिनि मीमांसाकार हैं, देखिए, वेदव्यास अपने शिष्य जैमिनि के विषय में क्या लिखते हैं—"साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः" (१. २. २८)। इस पर शंकराचार्य भाष्य करते हैं—"पूर्वं जाठराग्निप्रतीको जाठराग्न्युपाधिको वा ईश्वर उपास्य इत्युक्तम्। इदानीन्तु विनैव प्रतीकोपाधिकल्पनाभ्यां साक्षादपि परमेश्वरोपासनपरिग्रहे न कश्चिद्विरोध इति जैमिनिराचार्यो मन्यते।" अर्थात्, प्रतीक और उपाधि-कल्पना न करते हुए भी साक्षात् परमेश्वर की उपासना हो सकती है, यह आचार्य जैमिनि का मत है! "संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति" (१. २. ३१) सूत्र पर आनंदगिरि की टीका पढ़िए—आपको मालूम हो जायगा कि जिस जैमिनि को नास्तिक कहा जाता है, वह कितना बड़ा आस्तिक था। मीमांसा पर लिखे गए "न्याय-प्रकाश" २८७ पृ० की टीका में महामहोपाध्याय कृष्णनाथ न्यायपंचानन इस प्रकार लिखते हैं—"ननु जैमिनिना मोक्षेश्वरयोरनुल्लेखात्तयोरङ्गीकार एव नोचित इति कथमीश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणयागादेर्मोक्षहेतुत्ववर्णनमिति चेत्, उच्यते। वेदस्य कर्मकाण्डे ईश्वरस्य मोक्षस्य चानाम्नायात् तन्मीमांसावसरे तयोः कीर्त्तनस्यानवकाशादेव तेन तदुल्लेखो न कृतः। न त्वेतौ प्रतिषिद्धौ। न ह्यनुल्लेखमात्रेणानङ्गीकारनिश्चयो युक्तः। अप्रतिषिद्धं परमतमनुमतं भवतीति तन्त्रयुक्तेस्तन्त्रान्तरसिद्धयोस्तयोराचार्यजैमिनेरप्यभ्युपगमस्यावधारणीयत्वात्। अतएव बादरायणाचार्यैरीश्वरविषयकजैमिनिमतमनेकत्रोल्लिखितम्। अतएव च पार्थसारथिमिश्रेण शास्त्रदीपिकाप्रथमाध्यायप्रथमपादे वैशेषिकमतं तदङ्गीकृतपदार्थेषु मीमांसकसम्मतिञ्चाभिदधता वैशेषिकाभिमतौ मोक्षेश्वरावपि मीमांसकसम्मताविति प्रतिपादितम्।"—अर्थात्, जैमिनि ने तो मोक्ष और ईश्वर का ज़िक्र ही नहीं किया, फिर उन्हें क्यों माना जाय? उत्तर में कहते हैं कि दूसरे के जिस मत का खंडन न किया जाय, वह स्वीकृत हुआ करता है, यही शास्त्र की मर्यादा है। जैमिनि आस्तिक है, इसीलिये तो बादरायण ने जगह-जगह जैमिनि के ईश्वर-विषयक मत का उल्लेख किया है! जैमिनि ईश्वर को मानता था, इस विषय में 'शंकर-दिग्विजय' (६ सर्ग, १०-१४) श्लोक भी देखने योग्य हैं। सुनिए—

> ननु सच्चिदात्मपरतामिमता
> यदि कृत्स्नवेदनिचयस्य मुनेः।
> फलदातृतामपुरुषस्य वदन्
> स कथं निराह परमेशमपि।
> न कथंचिदौपनिषदं पुरुषं
> मनुते बृहन्तमिति वेदवचः।
> कथयत्यवेदविदगोचरतां
> गमयेत्कथं तमनुमानमिदम्।

इति भावमात्मनि निधाय मुनिः
स निराकरोन्निशितयुक्तिशतैः ;
अनुमानमीश्वरपरं जगतः
प्रभवं लयं फलमीश्वरतः ।
तदिहास्मदुक्तविधया निषदा
न विरुद्धमत्रापि मुनेर्वचसि ;
इति गूढभावमनवेक्ष्य बुधा-
स्तममीश्वरव्ययमिति ब्रुवते ।

'शंकर-दिग्विजय' के ये श्लोक बड़े महत्त्व के हैं। इनमें स्पष्ट लिखा है कि जैमिनि ईश्वर का खंडन केवल इसलिये करते हैं, क्योंकि वे नहीं मानते कि अनुमान से ईश्वर की सिद्धि हो सकती है, और 'इति गूढभाव-मनवेक्ष्य'—इस गूढ़भाव को न देखकर—'बुधाः'—हेमचंद्र जोशी-सरीखे विद्वान्—'तं'—उसे—'अनीश्वरवादी अयं'—यह निरीश्वरवादी है—'इति ब्रुवते'—ऐसा कहते हैं! कहिए, जोशीजी, आपकी खबर मंडन-मिश्र तक ने ले डाली। जैसे सांख्य को भूल से निरीश्वर-वादी कहा जाता रहा, वैसे मीमांसा को भी भूल ही से निरीश्वरवादी कहा गया, ये दोनों ईश्वरवादी।

जोशीजी ने अपने मत में बौद्ध-मत का भी उल्लेख किया है। बुद्ध को आपने नास्तिक बताया है और समझा भी ऐसा ही जाता है। परंतु बौद्ध-धर्म पीछे से जाकर नास्तिक भले ही हो गया हो, बुद्ध नास्तिक नहीं था। बुद्ध के समय जो नास्तिक लोग थे, उन्हें बौद्ध लोग 'फरुसवाचा', कटुभाषी, कहते थे—यह आप ही लिखते हैं। वास्तव में बुद्ध नास्तिक नहीं था, नास्तिक होता, तो वह ईश्वर का स्पष्ट शब्दों में खंडन करता। बुद्ध का सारा बल जीवन बनाने की तरफ़ रहता था, वह सदाचार को बहस-मुबाहिसे से ऊँचा समझता था, और झगड़ों में नहीं पड़ना चाहता था। एक बार मुल्यूकपुत्र ने आकर बुद्ध से शंका की, तो बुद्ध ने उत्तर दिया—'क्या मैंने तुम्हें कहा है कि मेरे शिष्य बनो और मैं बतलाऊँगा कि संसार अनादि है या सान्त? ऐसी शंकाएँ मुझसे न करो।' बुद्ध ने ईश्वर तथा वेद का खंडन नहीं किया, इन विषयों पर वह चुप रहा है। उसकी इस उपेक्षा—चुप्पी—से उसे नास्तिक बना देना उसके अनुयायियों का बुद्ध पर भारी अत्याचार है, परंतु अनुयायी क्या-क्या नहीं करते? अनुयायी ही तो धर्म-प्रवर्तक को ऊपर उठाते हैं और वही फिर उसे अपना अनुयायी बना डालते हैं। बुद्ध नास्तिक नहीं था, परंतु बौद्ध नास्तिक हो गए, यह बुद्ध भगवान् का दुर्भाग्य है। 'सुत्तनिपात' के आमगंधसुत्त के ५ वें श्लोक को देखिए। उसमें नात्थिकदिट्ठि (नास्तिक) को आमगंध—बुरा—ठहराया गया है। 'सुत्तनिपात' के सुंदरिक भारद्वाज-सुत्त में बुद्ध कहता है—'तं सावित्तिं पुच्छामि तिपदं चतुवीसतक्खरम्'—वह सावित्री सुनाओ, जिसके तीन पद हैं और चौबीस अक्षर हैं। इसमें वेद का खंडन नहीं, लेकिन बुद्ध गायत्री मंत्र के विषय में एक ब्राह्मण से बातचीत करता हुआ पाया जाता है। इसी सुत्त में बुद्ध अपने को 'ब्राह्मण' कहता है। माघसुत्त (२२) में माघ बुद्ध को ब्राह्मण स्वीकार करता है। बुद्ध ने कहीं वेद अथवा ईश्वर पर बहस नहीं की। ऐसी अवस्था में बुद्ध को निरीश्वरवादी कहना वैसा ही निराधार है, जैसा सांख्य तथा मीमांसा को निरीश्वरवादी कहना। उनके अनुयायी अवश्य निरीश्वरवादी हो गए थे, यह बात मैं मानता हूँ। परंतु अब ज्यों-ज्यों वे अपनी प्राचीन पुस्तकों का अध्ययन करने लगे हैं, त्यों-त्यों उन्हें अपनी भूल का पता लगता जा रहा है, यह बात भी ठीक है। इसका परिचय वर्तमान बौद्ध-पत्रों से चलता है।

अब रहे 'चार्वाक'! वे अवश्य ईश्वर को नहीं मानते थे, परंतु क्या चार्वाकों के ईश्वर को न मानने से भारत में सनातन निरीश्वरवाद सिद्ध हो गया? जोशीजी कहते हैं—"यह भारत की ही महिमा है...कि मनुष्य को आज़ादी दी गई है कि वह वही सोचे और उसके अनुसार ही आचरण करे, जो उसे प्रिय हो तथा संतोष दे।" इस आज़ादी को सिद्ध करने के लिये आप इतने व्याकुल हो उठे, ऐसा लेख लिख मारा, जिससे मालूम हो कि भारत चार्वाकों से भरा रहा है। भारत में निरीश्वरवादी क्या, जब समाज था तो चोर, उचक्के और डाकू भी तो होंगे ही। ये बातें समाज में अवश्यंभावी हैं। भारत में निरीश्वरवादी थे, उन्हें विचार-स्वातंत्र्य भी दिया जाता था, परंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि भारत निरीश्वरवादियों का घर था। आपके मतलब के लिये चार्वाक ही काफ़ी थे, आपने नाहक वेदों, उपनिषदों को घर घसीटा। भारत में विचार-स्वातंत्र्य के लिये आज़ादी थी, इस बात में आपके

साथ में सहमत हूँ और प्रत्येक विचारशील व्यक्ति सहमत होगा, परंतु उस आज़ादी को आपने जिस प्रकार दर्शाया है, उसमें मेरा मतभेद है। आपके सब प्रश्नों का मुफ़्ती-जैसे किसी ने तीन-चार सौ वर्ष हुए बड़ा मज़ेदार उत्तर दे दिया था—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनः
बौद्धाः बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

(४)

जोशीजी के लेख की युक्तियाँ और प्रमाण तो समाप्त हुए, अब रहा जोशीजी का जोश! आप निरीश्वरवाद का इतिहास लिखते-लिखते एक 'आवश्यक, किंतु अप्रासंगिक' विचार-धारा में बह गए। सुनिए—"हमें कदापि यह न समझना चाहिए कि ईश्वर को मानने या न मानने से संसार में एक अणु भी अपने निर्दिष्ट-पथ से विचलित होता है।" "मुझे यदि कोई सौ ईश्वर और एक बमभोला महादेव में से मन-चाहा चुनने को कहे, तो हरहर महादेव का नारा मारकर उन्हीं के चरणों में लोट-पोट हो जाऊँ, सौ-के-सौ ईश्वरों को न्योछावर कर दूँ।" कहिए, जोशीजी, ईश्वर को आप न मानेंगे, तो ये बमभोला महादेव कहाँ से आएँगे, जिनके चरणों में आप लोट-पोट होना चाहते हैं? ईश्वर को माने बग़ैर, तो आख़िर बमभोला-बमभोला ही हैं! बमभोला की कैफ़ियत यही तो है कि वे ईश्वर होने का दावा रखते हैं। नहीं तो उसी शक्ल के बमभोले सैकड़ों बिखरे पड़े हैं और आप कहीं लोट-पोट होते नज़र नहीं आते! आप कहते हैं—"ईश्वर के नाम से सर्वसाधारण नहीं पसीजते, लेकिन ईसा का चित्र उन्हें रुला देता है।" कहिए जोशीजी, ईसा के साथ बैरेबस नाम का एक चोर भी तो सूली पर चढ़ाया गया था, उसका सूली पर चढ़ना आपको क्यों नहीं रुलाता? क्योंकि ईसा को ईश्वर ने पिघलाया था, इसीलिये तो ईसा आपको पिघला देता है और संसार के इतने बड़े हिस्से को पिघला रहा है। फिर आप कैसे कहते हैं कि ईश्वर के मानने या न मानने से संसार में एक अणु भी अपने पथ से विचलित नहीं होता? ईश्वर का मानना ही तो आपको लोट-पोट करा देता है और इतनों के हृदय को पसीज देता है, चाहे उस क्षण आप ईश्वर ईश्वर का जप न भी कर रहे हों! सूरदास कृष्ण पर लट्टू हुए! ख़ूब हुए, आप पर वे लट्टू क्यों न हो गए। इसलिये नहीं कि आप उस समय थे नहीं, पर इसलिये कि कृष्ण कृष्ण थे! ईश्वर का विचार न होता, तो कृष्ण का विचार भी कहाँ होता? ज़रा यह तो सोचो! ईश्वर के विचार को ईसा से अलग कर लीजिए, कृष्ण से अलग कर लीजिए, दशरथ-नंदन और जनक-सुता से अलग कर लीजिए, क्या रह जाता है? आपकी मस्ती, आपकी भक्ति छू-मंतर होती है या नहीं? आप कहते हैं, ईश्वर का विचार संसार के अणु को भी निर्दिष्ट-पथ से विचलित नहीं करता। अणु के विषय में आप जानते होंगे, परंतु मैं तो यह जानता हूँ कि परमात्मा का विचार व्यक्तियों के जीवनों को पलट देता है, जातियों में गगन-चुम्बिनी लहरें चला देता है और इस खोखले संसार में अमृत-रस भर देता है। तभी कहा है—'रसो वै सः'—इस नीरसता में वही तो शाश्वत रस है!!

सत्यव्रत सिद्धांतालंकार

दो सखियाँ

(गतांक से आगे)

(८)

री पद्मा, तुम्हारा पत्र पढ़कर मुझे कुछ दुःख हुआ, कुछ हँसी आई, कुछ क्रोध आया। तुम क्या चाहती हो यह तुम्हें ख़ुद नहीं मालूम। तुमने आदर्श पति पाया है, व्यर्थ की शंकाओं से मन को अशांत न करो। तुम स्वाधीनता चाहती थीं, वह तुम्हें मिल गई। दो आदमियों के लिये ३००) कम नहीं होते। उस पर अभी तुम्हारे पापा भी १००) दिए जाते हैं। अब और क्या चाहिए। मुझे भय होता है कि तुम्हारा चित्त कुछ अव्यवस्थित हो गया है। मेरे पास तुम्हारे लिये सहानुभूति का एक शब्द भी नहीं।

मैं १५ तारीख़ को काशी आ गई। स्वामी स्वयं मुझे बिदा कराने गए थे। घर से चलते समय बहुत

रोई। पहले मैं समझती थी कि लड़कियाँ झूठ मूठ रोया करती हैं। फिर मेरे लिये तो माता-पिता का वियोग कोई नई बात न थी। गर्मी दशहरा और बड़े दिन की छुट्टियों के बाद ६ सालों से इस वियोग का अनुभव कर रही हूँ। कभी आँखों में आँसू न आते थे। सहेलियों से मिलने की ख़ुशी होती थी। पर अबकी तो ऐसा जान पड़ता था कोई हृदय को खींचे लेता है। अम्माजी के गले लिपटकर तो मैं इतना रोई कि मुझे मूर्च्छा आ गई। पिताजी के पैरों पर लोटकर रोने की अभिलाषा मन में ही रह गई। हाय वह रुदन का आनंद! उस समय पिता के चरणों पर गिरकर रोने के लिये मैं अपने प्राण तक दे देती। यही रोना आता था कि मैंने इनके लिये कुछ न किया। मेरा पालन-पोषण करने में इन्होंने क्या कुछ कष्ट न उठाया। मैं जन्म की रोगिणी हूँ। रोज़ ही बीमार रहती थी। अम्माजी रात-रात भर मुझे गोद में लिये बैठी रह जाती थीं। पिताजी के कंधों पर चढ़कर उचकने की याद मुझे अभी तक आती है। उन्होंने कभी मुझे कड़ी निगाह से नहीं देखा, मेरे सिर में दर्द हुआ और उनके हाथों के तोते उड़ जाते थे। १० वर्ष की उम्र तक तो यों गए। ६ साल देहरादून में गुज़रे। अब जब इस योग्य हुई कि उनकी कुछ सेवा करूँ, तो यों पर झाड़कर अलग हो गई। कुल ८ महीने तक उनके चरणों की सेवा कर सकी और यही ८ महीने मेरे जीवन की निधि हैं। मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि मेरा जन्म फिर इसी गोद में हो और फिर इसी अतुल पितृ-स्नेह का आनंद भोगूँ।

संध्या समय गाड़ी स्टेशन से चली। मैं ज़नाने कमरे में थी। और लोग दूसरे कमरे में थे। उस वक़्त सहसा मुझे स्वामीजी को देखने की प्रबल इच्छा हुई। सांत्वना, सहानुभूति और आश्रय के लिये हृदय व्याकुल हो रहा था। ऐसा जान पड़ता था जैसे कोई क़ैदी काले पानी जा रहा हो।

घंटे भर के बाद गाड़ी एक स्टेशन पर रुकी। मैं पीछे की ओर खिड़की से सिर निकालकर देखने लगी। उसी वक़्त द्वार खुला और किसी ने कमरे में क़दम रक्खा। उस कमरे में एक औरत भी न थी। मैंने चौंककर पीछे देखा तो एक पुरुष। मैंने तुरंत मुँह छिपा लिया और बोली आप कौन हैं? यह ज़नाना कमरा है। मरदाने कमरे में जाइए।

पुरुष ने खड़े-खड़े कहा—मैं तो इसी कमरे में बैठूँगा। मरदाने कमरे में भीड़ बहुत है।

मैंने रोष से कहा—नहीं आप इसमें नहीं बैठ सकते।

"मैं तो बैठूँगा"।

"आपको निकलना पड़ेगा। आप अभी चले जाइए नहीं मैं अभी ज़ंजीर खींच लूँगी।"

"अरे साहब, मैं भी आदमी हूँ, कोई जानवर नहीं हूँ। इतनी जगह पड़ी हुई है। आपका इसमें क्या हरज है।"

गाड़ी ने सीटी दी। मैं और भी घबराकर बोली—'आप निकलते हैं या मैं ज़ंजीर खींचूँ?'

पुरुष ने मुसकिराकर कहा—आप तो बड़ी ग़ुस्सावर मालूम होती हैं। एक ग़रीब आदमी पर आपको ज़रा भी दया नहीं आती?

गाड़ी चल पड़ी। मारे क्रोध और लज्जा के मुझे पसीना आ गया। मैंने फ़ौरन् द्वार खोल लिया और बोली—अच्छी बात है आप बैठिए, मैं ही जाती हूँ।

बहन, सच कहती हूँ, मुझे उस वक़्त लेश-मात्र भी भय न था। जानती थी गिरते ही मर जाऊँगी। पर एक अजनबी के साथ अकेले बैठने से मर जाना अच्छा था। मैंने एक पैर लटकाया ही था कि उस पुरुष ने मेरी बाँह पकड़ ली और अंदर खींचता हुआ बोला—अब तक तो आपने मुझे काले पानी भेजने का सामान कर दिया था। यहाँ कोई और तो है नहीं, फिर आप इतना क्यों घबड़ाती हैं। बैठिए ज़रा हँसिए-बोलिए। अगले स्टेशन पर मैं उतर जाऊँगा, इतनी देर तक तो कृपाकटाक्ष से वंचित न कीजिए। आपको देखकर दिल क़ाबू से बाहर हुआ जाता है। क्यों एक ग़रीब का ख़ून सिर पर लीजिएगा।......

मैंने झटककर अपना हाथ छुड़ा लिया। सारी देह काँपने लगी। आँखों में आँसू भर आए। उस वक़्त अगर मेरे पास कोई छुरी या कटार होती तो मैंने ज़रूर उसे निकाल लिया होता, और मरने मारने को तैयार हो गई होती। मगर इस दशा में क्रोध से ओंठ चबाने के सिवा और क्या करती। आख़िर झल्लाना व्यर्थ समझकर मैंने सावधान होने की चेष्टा करके कहा—आप कौन हैं? उसने उसी ढिठाई से कहा—तुम्हारे, प्रेम का इच्छुक।

'आप तो मज़ाक़ करते हैं। सच बतलाइए'

'सच बता रहा हूँ। तुम्हारा आशिक़ हूँ'

'अगर आप मेरे आशिक़ हैं तो कम से कम इतनी बात मानिए कि अगले स्टेशन पर उतर जाइए। मुझे बदनाम करके आप कुछ न पावेंगे। मुझ पर इतनी दया कीजिए।'

मैंने हाथ जोड़कर यह बात कही। मेरा गला भी भर आया था। उस आदमी ने द्वार की ओर जाकर कहा—अगर आपका यही हुक्म है तो लीजिए जाता हूँ। याद रखिएगा।

उसने द्वार खोल लिया और एक पाँव आगे बढ़ाया। मुझे मालूम हुआ वह नीचे कूदने जा रहा है। बहन, नहीं कह सकती उस वक़्त मेरे दिल की क्या दशा हुई। मैंने बिजली की तरह लपककर उसका हाथ पकड़ लिया और अपनी तरफ़ ज़ोर से खींच लिया।

उसने ग्लानि से भरे हुए स्वर में कहा—'क्यों खींच लिया। मैं तो चला जा रहा था।'

"अगला स्टेशन आने दीजिए।"

"जब आप भगा ही रही हैं तो जितनी जल्द भाग जाऊँ उतना ही अच्छा।"

"मैं यह कब कहती हूँ कि आप चलती गाड़ी से कूद पड़िए।"

"अगर मुझ पर इतनी दया है तो एक बार ज़रा दर्शन ही दे दो।"

"अगर आपकी स्त्री से कोई दूसरा पुरुष ऐसी बातें करता तो आपको कैसी लगतीं ?"

पुरुष ने त्योरियाँ चढ़ाकर कहा—'मैं उसका ख़ून पी जाता।"

मैंने निस्संकोच होकर कहा—तो फिर आपके साथ मेरे पति क्या व्यवहार करेंगे, यह भी आप समझते होंगे ?

"तुम अपनी रक्षा आप ही कर सकती हो प्रिये, तुम्हें पति की मदद की ज़रूरत ही नहीं। अब आओ, मेरे गले से लग जाओ। मैं ही तुम्हारा भाग्यशाली स्वामी और सेवक हूँ।"

मेरा हृदय उछल पड़ा। एक बार मुँह से निकला 'अर! आप !!' और मैं, दूर हटकर खड़ी हो गई। एक हाथ लंबा घूँघट खींच लिया। मुँह से एक शब्द न निकला।

स्वामी ने कहा—"अब यह शर्म और परदा कैसा ?"

मैंने कहा—"आप बड़े छलिए हैं। इतनी देर तक मुझे रुलाने में क्या मज़ा आया ?"

स्वामी—इतनी देर में मैंने तुम्हें जितना पहचान लिया उतना घर के अंदर शायद बरसों में भी न पहचान सकता। यह अपराध क्षमा करो। क्या तुम सचमुच गाड़ी से कूद पड़तीं ?

"अवश्य !"

"बड़ी ख़ैरियत हुई, मगर यह दिल्लगी बहुत दिनों याद रहेगी' मेरे स्वामी औसत क़द के, साँवले, चेचकरू, दुबले आदमी हैं, उनसे कहीं रूपवान् पुरुष मैंने देखे हैं पर मेरा हृदय कितना उल्लसित हो रहा था, कितनी आनंदमय संतुष्टि का अनुभव कर रही थी, मैं बयान नहीं कर सकती।"

मैंने पूछा—गाड़ी कब तक पहुँचेगी ?

"शाम को पहुँच जायँगे।"

मैंने देखा स्वामी का चेहरा कुछ उदास हो गया है। वह दस मिनिट तक चुपचाप बैठे बाहर की तरफ़ ताकते रहे। मैंने केवल उन्हें बातों में लगाने ही के लिये यह अनावश्यक प्रश्न पूछा था। पर अब भी जब वह न बोले तो मैंने फिर न छेड़ा। पानदान खोलकर पान बनाने लगी। सहसा उन्होंने कहा चंद्रा एक बात कहूँ ?

मैंने कहा—"हाँ-हाँ शौक़ से कहिए ?"

उन्होंने सिर झुकाकर शर्माते हुए कहा—मैं जानता कि तुम इतनी रूपवती हो तो मैं तुमसे विवाह न करता। अब तुम्हें देखकर मुझे मालूम हो रहा है कि मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया है। मैं किसी तरह तुम्हारे योग्य न था।

मैंने पान का बीड़ा उन्हें देते हुए कहा—ऐसी बातें न कीजिए। आप जैसे हैं मेरे सर्वस्व हैं। मैं आपकी दासी बनकर अपने भाग्य को धन्य मानती हूँ।

दूसरा स्टेशन आ गया। गाड़ी रुकी। स्वामी चले गए। जब-जब गाड़ी रुकती थी वह आकर दो-चार बातें कर जाते थे। शाम को हम लोग बनारस पहुँच गए। मकान एक गली में है और मेरे घर से बहुत छोटा है। इन कई दिनों में यह भी मालूम हो रहा है कि सासजी स्वभाव की रूखी हैं। लेकिन अभी किसी के बारे में कुछ नहीं कह सकती। संभव है, मुझे भ्रम हो रहा हो। फिर लिखूँगी। मुझे इसकी चिंता नहीं कि घर कैसा है,

आर्थिक दशा कैसी है, सास-ससुर कैसे हैं। मेरी इच्छा है कि यहाँ सभी मुझसे ख़ुश रहें। पतिदेव को मुझसे प्रेम है, यह मेरे लिये काफ़ी है। मुझे और किसी बात की परवा नहीं। तुम्हारे बहनोईजी का मेरे पास बारबार आना सासजी को अच्छा नहीं लगता। वह समझती हैं कहीं वह सिर न चढ़ जाय। क्यों मुझ पर उनकी यह अकृपा है, कह नहीं सकती, पर इतना जानती हूँ कि वह अगर इस बात से नाराज़ होती हैं तो हमारे ही भले के लिये, वह ऐसी कोई बात क्यों करेंगी। जिसमें हमारा हित न हो। अपनी संतान का अहित कोई माता नहीं कर सकती। मुझही में कोई बुराई उन्हें नज़र आई होगी। दो-चार दिन में आप ही मालूम हो जायगा। अपने यहाँ के समाचार लिखना। जवाब की आशा एक महीने के पहले तो है नहीं, यों तुम्हारी ख़ुशी।

तुम्हारी
चंदा

(४)

देहली
१—१—२६

प्यारी बहन, तुम्हारे प्रथम मिलन की कुतूहलमय कथा पढ़कर चित्त प्रसन्न हो गया। मुझे तुम्हारे ऊपर हसद हो रहा है। मैंने समझा था तुम्हें मुझ पर हसद होगा, पर क्रिया उलटी हो गई। तुम्हें चारों ओर हरियाली ही नज़र आती है, मैं जिधर नज़र डालती हूँ सूखे रेत और नग्न टीलों के सिवा और कुछ नहीं! ख़ैर! अब कुछ मेरा वृत्तांत सुनो—

"अब जिगर थाम के बैठो मेरी बारी आई"।

विनोद की अविचलित दार्शनिकता अब असह्य हो गई है। कुछ विचित्र जीव हैं, घर में आग लगे, पत्थर पड़े, इनकी बला से। इन्हें मुझ पर ज़रा भी दया नहीं आती। मैं सुबह से शाम तक घर के झंझटों में कुढ़ा करूँ इन्हें कुछ परवा नहीं। ऐसी सहानुभूति से ख़ाली आदमी कभी नहीं देखा था। इन्हें तो किसी जंगल में तपस्या करनी चाहिए थी। अभी तो ख़ैर दो ही प्राणी हैं, लेकिन कहीं बाल-बच्चे हो गए तब तो मैं बेमौत मर जाऊँगी। ईश्वर न करे वह दारुण विपत्ति मेरे सिर पड़े।

चंदा, मुझे अब दिल से लगी हुई है कि किसी भाँति इनकी यह समाधि भंग कर दूँ। मगर कोई उपाय सफल नहीं होता, कोई चाल ठीक नहीं पड़ती। एक दिन मैंने उनके कमरे के लैंप का बल्ब तोड़ दिया। कमरा अँधेरा पड़ा रहा। आप सैर करके आए तो कमरा अँधेरा देखा। मुझसे पूछा, मैंने कह दिया बल्ब टूट गया। बस, आप ने भोजन किया और मेरे कमरे में आकर लेट रहे। पत्रों और उपन्यासों की ओर देखा तक नहीं, न जाने वह उत्सुकता कहाँ विलीन हो गई। दिन भर गुज़र गया, आपको बल्ब लगवाने की कोई फ़िक्र नहीं। आख़िर मुझी को बाज़ार से लाना पड़ा।

एक दिन मैंने झुँझलाकर रसोइये को निकाल दिया। सोचा अब लाला रात-भर भूखे सोयेंगे तब आँखें खुलेंगी। मगर इस भले आदमी ने कुछ पूछा तक नहीं। चाय न मिली, कुछ परवा नहीं। ठीक दस बजे आपने कपड़े पहने, एक बार रसोई की ओर आकर देखा, सन्नाटा था। बस कालेज चल दिए। एक आदमी पूछता है महाराज कहाँ गया, क्यों गया, अब क्या इंतज़ाम होगा, कौन खाना पकावेगा, कम-से-कम इतना तो मुझसे कह सकते थे कि तुम अगर नहीं पका सकतीं तो बाज़ार ही से कुछ खाना मँगवा लो। जब वह चले गए तो मुझे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। रायलहोटल से खाना मँगवाया और बैरे के हाथ कालेज भेज दिया। पर ख़ुद भूखी ही रही। दिन भर भूख के मारे बुरा हाल था। सिर में दर्द होने लगा। आप कालेज से आए और मुझे पड़े देखा तो ऐसे परेशान हुए मानों मुझे त्रिदोष है। उसी वक़्त एक डॉक्टर बुला भेजा, डॉक्टर आए, आँखें देखीं, ज़बान देखी, हरारत देखी, लगाने की दवा अलग दी, पीने की अलग। आदमी दवा लेने गया। लौटा तो १२) रुपए का बिल भी था। मुझे इन सारी बातों पर ऐसा क्रोध आ रहा था कि कहाँ भागकर चली जाऊँ। उस पर आप आरामकुरसी डालकर मेरी चारपाई के पास बैठ गए और एक-एक पल पर पूछने लगे कैसा जी है? दर्द कुछ कम हुआ? यहाँ मारे भूख के आँतें कुलकुला रही थीं। दवा हाथ से छुई तक नहीं। आख़िर झक मारकर मैंने फिर बैरे से खाना मँगवाया। फिर चाल उलटी पड़ी। मैं डरी कि कहीं सवेरे फिर यह महाशय डॉक्टर को न बुला बैठें, इसलिये सवेरा होते ही हार कर फिर घर के काम धंधे में लगी। उसी वक़्त एक दूसरा महराज बुलवाया। अपने पुराने महराज को बेक़सूर निकालकर दंड

स्वरूप एक काठ के उल्लू को रखना पड़ा जो मामूली चपातियाँ भी नहीं पका सकता। उस दिन से एक नई बला गले पड़ी। दोनों वक़्त दो घंटे इस महराज को सिखाने में लग जाते हैं। इसे अपनी पाक-कला का ऐसा घमंड है कि मैं चाहे जितना बकूँ पर करता अपने ही मन की है। उस पर बीच-बीच में मुसकिराने लगता है, मानो कहता हो कि "तुम इन बातों को क्या जानो, चुप चाप बैठी देखती जाव।" जलाने चली थी विनोद को, और ख़ुद जल गई। रुपए ख़र्च हुए वह तो हुए ही, एक और जंजाल में फँस गई। मैं ख़ूब जानती हूँ कि विनोद का डॉक्टर को बुलाना, या मेरे पास बैठे रहना केवल दिखावा था। उनके चेहरे पर ज़रा भी घबराहट न थी, चित्त ज़रा भी अशांत न था।

चंद्रा, मुझे क्षमा करना, मैं नहीं जानती कि ऐसे पुरुष के पाले पड़कर तुम्हारी क्या दशा होती, पर मेरे लिये इस दशा में रहना असह्य है। मैं आगे जो वृत्तांत कहने वाली हूँ उसे सुनकर तुम नाक भौं सिकोड़ोगी, मुझे कोसोगी, कलंकिनी कहोगी, पर जो चाहे कहो, मुझे परवा नहीं। आज चार दिन होते हैं मैंने त्रिया-चरित्र का एक नया अभिनय किया। हम दोनों सिनेमा देखने गए थे। वहाँ मेरे बग़ल में एक बंगाली बाबू बैठे हुए थे। विनोद सिनेमा में इस तरह बैठते हैं मानो ध्यानावस्था में हों। न बोलना, न चालना। फ़िल्म इतना सुंदर था, ऐक्टिंग इतनी सजीव, कि मेरे मुँह से बार-बार प्रशंसा के शब्द निकल आते थे। बंगाली बाबू को भी बड़ा आनंद आ रहा था। हम दोनों उस फ़िल्म पर आलोचनाएँ करने लगे। वह फ़िल्म के भावों की इतनी रोचक व्याख्या करता था कि मन मुग्ध हो जाता था। फ़िल्म से ज़्यादा मज़ा मुझे उसकी बातों में आ रहा था। बहन सच कहती हूँ शक्लसूरत में वह विनोद के तलुओं की बराबरी भी नहीं कर सकता। पर केवल विनोद को जलाने के लिये मैं उससे मुसकिरा-मुसकिराकर बातें करने लगी। उसने समझा कोई शिकार फँस गया। अवकाश के समय वह बाहर जाने लगा, तो मैं भी उठ खड़ी हुई, पर विनोद अपनी जगह पर बैठे रहे।

मैंने कहा—बाहर चलते हो, मेरी तो बैठे-बैठे कमर दुख गई।

विनोद बोले—हाँ-हाँ चलो, इधर-उधर टहल आवें।

मैंने लापरवाही से कहा—तुम्हारा जी न चाहे तो मत चलो, मैं मज़बूर नहीं करती।

विनोद फिर अपनी जगह पर बैठते हुए बोले—अच्छी बात है।

मैं बाहर आई तो बंगाली बाबू ने पूछा—क्या आप यहीं की रहनेवाली हैं?

'मेरे पति यहाँ युनिवर्सिटी में प्रोफ़ेसर हैं।'

'अच्छा! वह आपके पति थे। अजीब आदमी हैं।'

'आपको तो मैंने शायद यहाँ पहले ही देखा है।'

'हाँ, मेरा मकान तो बंगाल में है। कंचनपुर के महाराजा साहब का प्राइवेटसेक्रेटरी हूँ। महाराजा साहब वाइसराय से मिलने आए हैं।'

'तो अभी दो-चार दिन रहिएगा?'

'जी' हाँ, आशा तो करता हूँ। रहूँ तो साल भर रह जाऊँ। जाऊँ तो दूसरी गाड़ी से चला जाऊँ। हमारे महाराजा साहब का कुछ ठीक नहीं। यों बड़े सज्जन और मिलनसार हैं। आपसे मिलकर बहुत ख़ुश होंगे।

यह बातें करते-करते हम रेस्टाँ में पहुँच गए। बाबू ने चाय और टोस्ट लिया। मैंने सिर्फ़ चाय ली।

तो इसी वक़्त आपका महाराजा साहब से परिचय करा दूँ। आपको आश्चर्य होगा कि मुकुटधारियों में भी इतनी नम्रता और विनय हो सकती है। उनकी बातें सुनकर आप मुग्ध हो जायँगी।

मैंने आइने में अपनी सूरत देखकर कहा—जी नहीं, फिर किसी दिन पर रखिए। आपसे तो अक्सर मुलाक़ात होती रहेगी। क्या आपकी स्त्री आपके साथ नहीं आई।

युवक ने मुसकिरा कर कहा—मैं अभी क्वारा हूँ और शायद क्वारा ही रहूँ।

मैंने उत्सुक होकर पूछा—अच्छा! तो आप भी स्त्रियों से भागनेवाले जीवों में हैं। इतनी बातें हो गईं और आपका नाम तक न पूछा।

बाबू ने अपना नाम भुवनमोहनदास गुप्त बताया। मैंने अपना परिचय दिया।

'जी नहीं, मैं उन अभागों में हूँ जो एकबार निराश होकर फिर उसकी परीक्षा नहीं करते। रूप की तो संसार में कमी नहीं, मगर रूप और गुण का मेल बहुत कम देखने में आता है। जिस रमणी से मेरा प्रेम था वह आज एक बड़े वकील की पत्नी है। मैं ग़रीब था। इसकी

सज़ा मुझे ऐसी मिली कि जीवन पर्यंत न भूलेगी। साल भर तक जिसकी उपासना की, जब उसने मुझे धन पर बलिदान कर दिया, तो अब और क्या आशा रक्खूँ।'

मैंने हँसकर कहा—आपने बहुत जल्द हिम्मत हार दी।

भुवन ने सामने द्वार की ओर ताकते हुए कहा—मैंने आज तक ऐसा वीर ही नहीं देखा जो रमणियों से परास्त न हुआ हो। ये हृदय पर चोट करती हैं और हृदय एक ही गहरी चोट सह सकता है। जिस रमणी ने मेरे प्रेम को तुच्छ समझकर पैरों से कुचल दिया उसको मैं दिखाना चाहता हूँ कि मेरी आँखों में धन कितनी तुच्छ वस्तु है। यही मेरे जीवन का एक मात्र उद्देश्य है। मेरा जीवन उसी दिन सफल होगा जब विमला के घर के सामने मेरा विशाल भवन होगा और उसका पति मुझसे मिलने में अपना सौभाग्य समझेगा।

मैंने गंभीरता से कहा—यह तो कोई बहुत ऊँचा उद्देश्य नहीं है। आप यह क्यों समझते हैं कि विमला ने केवल धन के लिये आपका परित्याग किया। संभव है इसके और भी कारण हों। माता-पिता ने उस पर दबाव डाला हो, या अपने ही में उसे कोई ऐसी त्रुटि दिखाई दी हो जिससे आपका जीवन दुखमय हो जाता। आप यह क्यों समझते हैं कि जिस प्रेम से वंचित होकर आप इतने दुखी हुए, उसी प्रेम से वंचित होकर वह सुखी हुई होगी। संभव था कोई धनी स्त्री पाकर आप भी फिसल जाते।

भुवन ने ज़ोर देकर कहा—यह असंभव है, सर्वथा असंभव है। मैं उसके लिये त्रिलोक का राज्य भी त्याग देता।

मैंने हँसकर कहा—हाँ इस वक़्त आप ऐसा कह सकते हैं, मगर ऐसी परीक्षा में पड़कर आपकी क्या दशा होती इसे आप निश्चय पूर्वक नहीं बता सकते। सिपाही की बहादुरी का प्रमाण उसकी तलवार है, उसकी ज़बान नहीं। इसे अपना सौभाग्य समझिए कि आपको उस परीक्षा में नहीं पड़ना पड़ा। वह प्रेम, प्रेम नहीं है जो प्रत्याघात की शरण ले। प्रेम का आदि भी सहृदयता है और अंत भी सहृदयता। संभव है आपको अब भी कोई ऐसी बात मालूम हो जाय जो विमला की तरफ़ से आपको नर्म कर दे।

भुवन गहरे विचार में डूब गए। एक मिनट के बाद उन्होंने सिर उठाया और बोले—"मिसेज़ विनोद, आपने आज एक ऐसी बात सुझा दी जो आज तक मेरे ध्यान में आई ही न थी। यह भाव कभी मेरे मन में उदय ही नहीं हुआ। मैं इतना अनुदार क्यों हो गया समझ में नहीं आता। मुझे आज मालूम हुआ कि प्रेम के ऊँचे आदर्श का पालन रमणियाँ ही कर सकती हैं। पुरुष कभी प्रेम के लिये आत्म समर्पण नहीं कर सकता—वह प्रेम को स्वार्थ और वासना से पृथक् नहीं कर सकता। अब मेरा जीवन सुखमय हो जायगा। आपने मुझे आज जो शिक्षा दी है इसके लिये आपको धन्यवाद देता हूँ।

यह कहते-कहते भुवन सहसा चौंक पड़े और बोले—ओह! मैं कितना बड़ा मूर्ख हूँ—सारा रहस्य समझ में आ गया, अब कोई बात छिपी नहीं है। ओह! मैंने विमला के साथ घोर अन्याय किया! महान् अन्याय! मैं बिलकुल अंधा हो गया था। विमल, मुझे क्षमा करो।

भुवन इसी तरह देर तक विलाप करते रहे। बार-बार मुझे धन्यवाद देते थे और अपनी मूर्खता पर पछताते थे। हमें इसकी सुधि ही न रही कि कब घंटी बजी, कब खेल शुरू हुआ। यकायक विनोद कमरे में आए। मैं चौंक पड़ी। मैंने उनके मुख की ओर देखा, किसी भाव का पता न था। बोले—तुम अभी यहीं हो पद्मा, खेल शुरू हुए तो देर हुई। मैं चारों तरफ़ तुम्हें खोज रहा था।

मैं हकबकाकर उठ खड़ी हुई और बोली—'खेल शुरू हो गया? घंटी की आवाज़ तो सुनाई ही नहीं दी।

भुवन भी उठे। हम फिर आकर तमाशा देखने लगे। विनोद ने मुझे अगर इस वक़्त दो चार लगनेवाली बातें कह दी होतीं, उनकी आँखों में क्रोध की झलक दिखाई देती, तो मेरा अशांत हृदय सँभल जाता, मेरे मन को ढारस होती। पर उनके अविचलित विश्वास ने मुझे और भी अशांत कर दिया। बहन, मैं चाहती हूँ वह मुझ पर शासन करें, मैं उनकी कठोरता, उनकी उद्दंडता, उनकी बलिष्ठता का रूप देखना चाहती हूँ। उनके प्रेम, प्रमोद, विश्वास का रूप देख चुकी। इससे मेरी आत्मा को तृप्ति नहीं होती। तुम उस पिता को क्या कहोगी जो अपने पुत्र को अच्छा खिलाए, अच्छा पहनाए, पर उसकी शिक्षा-दीक्षा की कुछ चिंता न करे, वह जिस राह जाय उस राह जाने दे, जो कुछ करे वह करने दे। कभी उसे कड़ी आँख से देखे भी नहीं। ऐसा लड़का अवश्य ही

आवारा हो जायगा। मेरा भी वही हाल हुआ जाता है। यह उदासीनता मेरे लिये असह्य है। इस भले आदमी ने यहाँ तक न पूछा कि भुवन कौन है। भुवन ने यही तो समझा होगा कि इसका पति इसकी बिलकुल परवा नहीं करता। विनोद खुद स्वाधीन रहना चाहते हैं, मुझे भी स्वाधीन छोड़ देना चाहते हैं। वह मेरे किसी काम में हस्तक्षेप नहीं करना चाहते। इसी तरह चाहते हैं कि मैं भी उनके किसी काम में हस्तक्षेप न करूँ। मैं इस स्वाधीनता को दोनों ही के लिये विष-तुल्य समझती हूँ। संसार में स्वाधीनता का चाहे जो मूल्य हो, घर में तो पराधीनता ही फलती फूलती है। मैं जिस तरह अपने एक जेवर को अपना समझती हूँ उसी तरह विनोद को भी अपना समझना चाहती हूँ। अगर मुझसे पूछे बिना विनोद उसे किसी को दे दें, तो मैं लड़ पड़ूँगी। मैं चाहती हूँ इसी तरह उन पर मेरा अधिकार हो। अपने ऊपर भी उनका ऐसा ही अधिकार चाहती हूँ। उन्हें मेरी एक-एक बात पर ध्यान रखना चाहिए। मैं किससे मिलती हूँ, कहाँ जाती हूँ, क्या पढ़ती हूँ, किस तरह जीवन व्यतीत करती हूँ, इन सारी बातों पर उनकी तीव्र दृष्टि रहनी चाहिए। जब वह मेरी परवा नहीं करते, तो मैं उनकी परवा क्यों करूँ। इस खींचा-तानी में हम एक दूसरे से अलग होते चले जा रहे हैं। और क्या कहूँ, मुझे कुछ नहीं मालूम कि वह किन मित्रों को रोज़ पत्र लिखते हैं। उन्होंने भी मुझसे कभी कुछ नहीं पूछा। ख़ैर, मैं क्या लिख रही थी, क्या कहने लगी। विनोद ने मुझसे कुछ नहीं पूछा। मैं फिर भुवन से फ़िल्म के संबंध में बातें करने लगी।

जब खेल ख़त्म हो गया और हम लोग बाहर आए और ताँगा ठीक करने लगे, तो भुवन ने कहा—"मैं अपनी कार में आपको पहुँचा दूँगा।"

हमने कोई आपत्ति नहीं की। हमारे मकान का पता पूछकर भुवन ने कार चला दी। रास्ते में मैंने भुवन से कहा—"कल मेरे यहाँ दोपहर का खाना खाइएगा।" भुवन ने स्वीकार कर लिया।

भुवन तो हमें पहुँचाकर चले गए, पर मेरा मन बड़ी देर तक उन्हीं की तरफ़ लगा रहा। इन दो-तीन घंटों में भुवन को मैं जितना समझी उतना विनोद को आजतक नहीं समझी। मैंने भी अपने हृदय की जितनी बातें उससे कह दीं, उतनी विनोद से आजतक नहीं कहीं। भुवन उन मनुष्यों में है जो किसी पर-पुरुष को मेरी ओर कुदृष्टि डालते देखकर उसे मार डालेगा। उसी तरह मुझे किसी पुरुष से हँसते देखकर मेरा ख़ून पी लेगा और ज़रूरत पड़ेगी तो मेरे लिये आग में कूद पड़ेगा। ऐसा ही पुरुष-चरित्र मेरे हृदय पर विजय पा सकता है, मेरे ही हृदय पर नहीं, नारी-जाति (मेरे विचार में) ऐसे ही पुरुष पर जान देती है। वह निर्बल है, इसलिये बलवान् का आश्रय ढूँढ़ती है।

बहन, तुम ऊब गई होगी, ख़त बहुत लंबा हो गया मगर इस कांड को समाप्त किए बिना नहीं रहा जाता। मैंने सबेरे ही से भुवन की दावत की तैयारी शुरू कर दी। रसोइया तो काठ का उल्लू है, मैंने सारा काम अपने हाथ से किया। भोजन बनाने में ऐसा आनंद मुझे और कभी न मिला था।

भुवन बाबू की कार ठीक समय पर आ पहुँची। भुवन उतरे और सीधे मेरे कमरे में आए। दो चार बातें हुईं। डिनर टेबुल पर जा बैठे। विनोद भी भोजन करने आए। मैंने उन दोनों आदमियों का परिचय करा दिया। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि विनोद ने भुवन की ओर से कुछ उदासीनता दिखाई। इन्हें राजाओं-रईसों से चिढ़ है। साम्यवादी हैं। अगर राजाओं से चिढ़ है तो उनके पिट्ठुओं से क्यों न होती। वह समझते हैं इन रईसों के दरबार में ख़ुशामदी, निकम्मे, सिद्धांत-हीन, चरित्र-हीन लोगों का जमघट रहता है, जिनका इसके सिवाय और कोई काम नहीं कि अपने रईस की हर एक उचित, अनुचित इच्छा पूरी करें और प्रजा का गला काटकर अपना घर भरें। भोजन के समय बातचीत की धारा घूमते-घामते विवाह और प्रेम जैसे महत्त्व के विषय पर आ पहुँची।

विनोद ने कहा—"नहीं, मैं वर्तमान वैवाहिक प्रथा को पसंद नहीं करता। इस प्रथा का आविष्कार उस समय हुआ था जब मनुष्य सभ्यता की प्रारंभिक दशा में था। तब से दुनियाँ बहुत आगे बढ़ी है। मगर विवाह प्रथा में जौ भर भी अंतर नहीं पड़ा। यह प्रथा वर्तमान काल के लिये उपयोगी नहीं।"

भुवन ने कहा—"आख़िर आपको इसमें क्या दोष दिखाई देते हैं?"

विनोद ने विचारकर कहा—"इसमें सबसे बड़ा ऐब यह है कि यह एक सामाजिक प्रश्न को धार्मिक रूप दे देता है।"

"और दूसरा ?"

"दूसरा यह कि यह व्यक्तियों की स्वाधीनता में बाधक है। यह स्त्रीव्रत और पातिव्रत्य का स्वाँग रचकर हमारी आत्मा को संकुचित कर देता है। हमारी बुद्धि के विकास में जितनी रुकावट इस प्रथा ने डाली है उतनी और किसी भौतिक या दैविक क्रांति से भी नहीं हुई। इसने मिथ्या आदर्शों को हमारे सामने रख दिया और आजतक हम उन्हीं पुरानी सड़ी हुई, लज्जाजनक, पाशविक लकीरों को पीटते आते हैं। व्रत केवल एक निरर्थक बंधन का नाम है। इतना महत्त्वपूर्ण नाम देकर हमने उस क़ैद को धार्मिक रूप दे दिया है। पुरुष क्यों चाहता है कि स्त्री उसको अपना ईश्वर, अपना सर्वस्व समझे ? केवल इसलिये कि वह उसका भरण-पोषण करता है ? क्या स्त्री का कर्तव्य केवल पुरुष की सम्पत्ति के लिये वारिस पैदा करना है, उस सम्पत्ति के लिये जिस पर, हिंदू-नीतिशास्त्र के अनुसार, पति के देहांत के बाद उसका कोई अधिकार नहीं रहता। समाज की यह सारी व्यवस्था, सारा संगठन संपत्ति-रक्षा के आधार पर हुआ है। इसने सम्पत्ति को प्रधान और व्यक्ति को गौण कर दिया है। हमारे ही वीर्य से उत्पन्न संतान हमारी कमाई हुई जायदाद का भोग करे, इस मनोभाव में कितनी स्वार्थांधता, कितना दासत्व छिपा हुआ है इसका कोई अनुमान नहीं कर सकता। इस क़ैद में जकड़ी हुई समाज की संतान यदि आज घर में, देश में, संसार में, अपने क्रूर स्वार्थ के लिये रक्त की नदियाँ बहा रही है तो क्या आश्चर्य है। मैं इस वैवाहिक प्रथा को सारी बुराइयों का मूल समझता हूँ।

भुवन चकित हो गया। मैं ख़ुद चकित हो गई। विनोद ने इस विषय पर मुझसे कभी इतनी स्पष्टता से बातचीत न की थी। मैं यह तो जानती थी कि वह साम्यवादी हैं, दो एक बार इस विषय पर उनसे बहस भी कर चुकी हूँ, पर वैवाहिक प्रथा के वे इतने विरोधी हैं यह मुझे न मालूम था। भुवन के चेहरे से ऐसा प्रकट होता था कि उन्होंने ऐसे दार्शनिक विचारों की गंध तक नहीं पाई। ज़रा देर के बाद बोले—प्रोफ़ेसर साहब, आपने तो मुझे एक बड़े चक्कर में डाल दिया। आख़िर आप इस प्रथा की जगह कोई और प्रथा रखनी चाहते हैं, या विवाह की आवश्यकता ही नहीं समझते। जिस तरह पशु-पक्षी आपसे मिलते हैं वही हमें भी करना चाहिए ?

विनोद ने तुरंत उत्तर दिया—'बहुत कुछ। पशु-पक्षियों में सभी का मानसिक विकास एक-सा नहीं है। कुछ ऐसे हैं जो जोड़े के चुनाव में कोई विचार नहीं रखते, कुछ ऐसे हैं जो एक बार बच्चे पैदा करने के बाद अलग हो जाते हैं और कुछ ऐसे हैं जो जीवन पर्यंत एक साथ रहते हैं। कितनी ही भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं। मैं मनुष्य होने के नाते उसी श्रेणी को श्रेष्ठ समझती हूँ जो जीवन पर्यंत एक साथ रहते हैं। मगर स्वेच्छा से। उनके यहाँ कोई क़ैद नहीं, कोई सज़ा नहीं। दोनों अपने-अपने चारे-दाने की फ़िक्र करते हैं। दोनों मिलकर रहने का स्थान बनाते हैं, दोनों साथ बच्चों का पालन करते हैं। उनके बीच में कोई तीसरा नर या मादा आ ही नहीं सकता, यहाँ तक कि उनमें से जब एक मर जाता है तो दूसरा मरते दम तक फुट्टैल रहता है। यह अंधेर मनुष्य-जाति ही में है कि स्त्री ने किसी दूसरे पुरुष से हँसकर बात की और उसके पुरुष की छाती पर साँप लोटने लगा, ख़ून-ख़राबे के मंसूबे सोचे जाने लगे। पुरुष ने किसी दूसरी स्त्री की ओर रसिक नेत्रों से देखा और अर्धांगिनी ने त्योरियाँ बदलीं, पति के प्राण लेने को तैयार हो गई। यह सब क्या है ? ऐसा मनुष्य-समाज सभ्यता का किस मुँह से दावा कर सकता है।'

भुवन ने सिर सहलाते हुए कहा—मगर मनुष्यों में भी तो भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं। कुछ लोग हर महीने एक नया जोड़ा खोज निकालेंगे।

विनोद ने हँसकर कहा—लेकिन यह इतना आसान काम न होगा। या तो वह ऐसी स्त्री चाहेगा जो संतान का पालन स्वयं कर सकती हो, या उसे एक मुश्त सारी रक़म अदा करनी पड़ेगी।

भुवन भी हँसे—आप अपने को किस श्रेणी में रक्खेंगे ?

विनोद इस प्रश्न के लिये तैयार न थे। था भी बेढंगा-सा सवाल। झेंपते हुए बोले—परिस्थितियाँ जिस श्रेणी में ले जायँ। मैं स्त्री और पुरुष

दोनों के लिये पूर्ण स्वाधीनता का हामी हूँ। कोई कारण नहीं है कि मेरा मन किसी नवयौवना की ओर आकर्षित हो और वह भी मुझे चाहे, तो मैं समाज और नीति के भय से उसकी ओर ताक न सकूँ। मैं इसे पाप नहीं समझता।

भुवन अभी कुछ उत्तर न देने पाए थे कि विनोद उठ खड़े हुए। कालेज के लिये देर हो रही थी। तुरंत कपड़े पहने और चल दिए। हम दोनों दीवानख़ाने में आकर बैठे और बातें करने लगे।

भुवन ने सिगार जलाते हुए कहा—"कुछ सुना कहाँ आकर तान टूटी"।

मैंने मारे शर्म के सिर झुका लिया। क्या जवाब देती। विनोद की अंतिम बात ने मेरे हृदय पर कठोर आघात किया था। मुझे ऐसा मालूम हो रहा था कि विनोद ने केवल मुझे सुनाने के लिये विवाह का यह नया खंडन तैयार किया है। वह मुझसे पिंड छुड़ा लेना चाहते हैं। वह किसी और रमणी की ताक में हैं, मुझसे उनका जी भर गया है। यह ख़याल करके मुझे बड़ा दुख हुआ। मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। कदाचित् एकांत में मैं न रोती, पर भुवन के सामने मैं संयत न रह सकी। भुवन ने मुझे बहुत सांत्वना दी—"आप व्यर्थ इतना शोक करती हैं। मिस्टर विनोद आपका मान न करें, पर संसार में कम-से-कम एक ऐसा व्यक्ति है जो आपके संकेत पर अपने प्राण तक न्योछावर कर सकता है। आप जैसी रमणी-रत्न पाकर संसार में ऐसा कौन पुरुष है जो अपने भाग्य को धन्य न मानेगा। आप इसकी बिलकुल चिंता न करें।

मुझे भुवन की यह बात बुरी मालूम हुई। क्रोध से मेरा मुख लाल हो गया। यह धूर्त मेरी इस दुर्बलता से लाभ उठाकर मेरा सर्वनाश करना चाहता है। अपने दुर्भाग्य पर बराबर रोना आता था। अभी विवाह हुए साल भी नहीं पूरा हुआ और मेरी यह दशा होगई कि दूसरों को मुझे बहकाने और मुझ पर अपना जादू चलाने का साहस हो रहा है। जिस वक़्त मैंने विनोद को देखा था मेरा हृदय कितना फूल उठा था। मैंने अपने हृदय को कितनी भक्ति से उनके चरणों पर अर्पण किया था। मगर क्या जानती थी कि इतनी जल्द मैं उनकी आँखों से गिर जाऊँगी, और मुझे परित्यक्ता समझकर शोहदे मुझपर डोरे डालेंगे।

मैंने आँसू पोंछते हुए कहा—मैं आपसे क्षमा माँगती हूँ। मुझे ज़रा विश्राम लेने दीजिए।

"हाँ हाँ, आप आराम करें मैं बैठा देखता रहूँगा।"

"जी नहीं, अब आप कृपा करके जाइए। यों मुझे आराम न मिलेगा।"

"अच्छी बात है, आप आराम कीजिए। मैं संध्या समय आकर देख जाऊँगा।"

"जी नहीं, आपको कष्ट करने की कोई ज़रूरत नहीं है।"

"अच्छा तो मैं कल आऊँगा। शायद महाराजा साहब भी आवें।"

"नहीं आप लोग मेरे बुलाने का इंतज़ार कीजिएगा। बिना बुलाए न आइएगा।"

यह कहती हुई मैं उठकर अपने सोने के कमरे की ओर चली। भुवन एक क्षण मेरी ओर देखता रहा, फिर चुपके से चला गया।

बहन, इसे दो दिन हो गए हैं। पर मैं कमरे से बाहर नहीं निकली। भुवन दो तीन बार आ चुका है, मगर मैंने उससे मिलने से साफ़ इंकार कर दिया। अब शायद उसे फिर आने का साहस न होगा। ईश्वर ने बड़े नाज़ुक मौके पर मुझे सुबुद्धि प्रदान की, नहीं मैं अब तक अपना सर्वनाश कर बैठी होती। विनोद प्रायः मेरे ही पास बैठे रहते हैं। लेकिन उनसे बोलने को मेरा जी नहीं चाहता। जो पुरुष व्यभिचार का दार्शनिक सिद्धांतों से समर्थन कर सकता है, जिसकी आँखों में विवाह जैसे पवित्र बंधन का कोई मूल्य नहीं, जो न मेरा हो सकता है, न मुझे अपना बना सकता है, उसके साथ मुझे जैसी मानिनी गर्विणी स्त्री का कै दिन निर्वाह होगा!

बस, अब विदा होती हूँ बहन। क्षमा करना। मैंने तुम्हारा बहुत सा अमूल्य समय ले लिया। मगर इतना समझ लो कि मैं तुम्हारी दया नहीं, सहानुभूति चाहती हूँ।

तुम्हारी

पद्मा

(असमाप्त)

प्रेमचंद

बाज़ारू हकीम
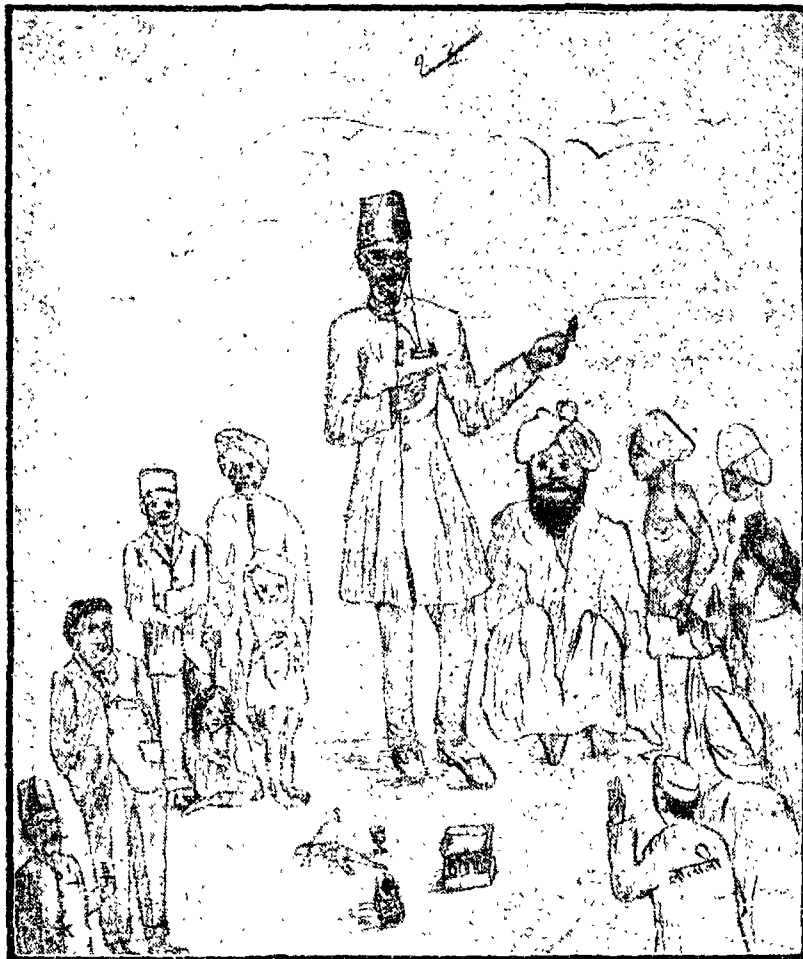
धन्वंतरि लुकमान हू, जाहि न सके बनाय :
ता औषधि को टकन मैं, जग हित रहे लुटाय ।

१. कविवर भूधरदासजी और उनका काव्य

भाषा-साहित्य के कवियों में, कविवर भूधरदासजी का स्थान बहुत ऊँचा है। ये आगरे के रहनेवाले खंडेलवाल जैन थे। इनके बनाए हुए १ जैनशतक, २ पार्श्वपुराण, ३ जैन-पद-संग्रह (तृतीय भाग) और ४ भूधरविलास ये ४ ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। जिनमें प्रथम तीन ग्रंथ तो मुद्रित हो चुके, किंतु भूधरविलास अभी तक अप्रकाशित है। कहीं-कहीं जैन-पुस्तकालयों में हस्त-लिखित मिलता है। ऐसा सुन पड़ता है। किंतु प्रयत्न करने पर भी अभी तक उसके देखने का सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ। पर इनके प्रकाशित ग्रंथों की उत्कृष्टता देखते हुए कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ भी सर्वोत्तम होगा इसमें संदेह नहीं।

जैनशतक—सवाई जैसिंहजी सूबा के हाकिम गुलाबचंदजी के कहने से कविवर ने पहलेपहल इसकी रचना प्रारंभ की। सं० १७८१ के पौष कृष्ण १३ रविवार को यह ग्रंथ समाप्त हुआ। इसमें कुल १०७ छंद हैं। सभी छंद उत्कृष्ट और विचार समीचीन हैं। प्रत्येक छंद अपने अपने विषय को स्वतंत्र रूप से कहनेवाला है। रचना बहुत ही श्रेष्ठ और सुंदर है। जैन-समाज में इसका अच्छा प्रचार है। आज तक इसके ७ संस्करण हो चुके, आठवें की तैयारी है। इतने संस्करणों का होना उसकी उपयोगिता और उत्कृष्टता का द्योतक है।

पार्श्वपुराण—यह ग्रंथ सं० १७८९ में समाप्त हुआ है। इसमें कुल २३५ छंद हैं। यह एक स्वतंत्र चरित्र-ग्रंथ है। विषय नामही से प्रकट है। इसकी रचना भी उच्च श्रेणी की है।

जैन-पद-संग्रह (तृतीय भाग)—यह भूधरविलास से चुनकर प्रकाशित किया गया है। इसमें लगभग ८० पद और स्तुतियाँ हैं। कितने ही पद तो बड़े ही प्रभावोत्पादक और हृदयग्राही हैं।

कविवर भूधरदासजी की रचना काव्य-गुणों से परिपूर्ण है। काव्य की कमनीयता, भाषा की प्रौढ़ता और भावों की भव्यता देखते ही बनती है। काव्य में माधुर्य और प्रसाद गुण की बहुलता है। इनके वाक्यों में हृदय आकर्षण करने की अद्भुत शक्ति है। पद-लालित्य और भाषा की मधुरता पाठकों और श्रोताओं के मन को, बरबश अपनी ओर खींच लेती है। यों तो कविवर के जितने ग्रंथ हैं, सभी उत्कृष्ट हैं। पर हमें 'जैनशतक' की रचना अधिक पसंद है। यह ग्रंथ काव्याकाश का निष्कलंक चंद्रमा है। कविवर के प्रथम प्रयास का नमूना है। प्रथम प्रयास में ऐसी उत्कृष्ट कविता का होना, कविवर की काव्य-प्रतिभा का पूर्ण परिचायक है। इनके ग्रंथों में जितनी अधिक औसत संख्या उत्कृष्ट छंदों की पाई जाती है; उतनी किसी अन्य कवि के काव्य-ग्रंथ में मेरे देखने में नहीं आई।

कविवर भूधरदासजी शांत रस के प्रेमी और शृंगार रस के कट्टर विरोधी थे। शृंगारी कवियों के प्रति आपके कैसे विचार थे, यह नीचे के छंदों से प्रकट है—

राग उदै जग अंध भयौ सहजै सब लोगन लाज गँवाई,
सीख बिना नर सीख रहे बिसनादिक*सेवन की सुघराई।
ता पर और रचैं रस काव्य कहा कहिए तिनकी निठुराई,
अंध असूझन की अँखियान में झोंकत हैं रज राम दुहाई।

जिन महात्माओं के ऐसे निर्मल विचार थे भला उनको शृंगार की कविता क्योंकर अच्छी लग सकती है। इसी विषय का एक और छंद है। यह उससे अधिक महत्त्व का है। कविवर विधाता को सम्बोधन करके कहते हैं कि 'हरिणों के शरीर में तुमने कस्तूरी बनाई सो बड़ी भूल की। पर को दुःख देनेवाली रस शृंगार की कविता करनेवाले कवियों की जीभों में कस्तूरी बनाते, तो अच्छा होता।' अभिप्राय यह कि उसके लिये उनकी जीभ नहीं काटी जाती—

हे विधि! भूल भई तुम तें समझे न कहाँ कसतूरि बनाई,
दीन कुरंगन के तन में तृन दंत धरैं करुना नहिं आई;
क्यों न करी तिन जीभन जे रस-काव्य करैं पर कौं दुखदाई,
साधु-अनुग्रह दुर्जन-दंड दुहू सधते बिसरी चतुराई।

फिर देखिए—

कंचन कुंभन की उपमा कह देत उरोजन को कवि बारे,
ऊपर श्याम बिलोकन के मनि नीलम की ढकनी ढकि छारे।
यों सत बैन कहे न कुपंडित ये जुग आमिष-पिंड उघारे,
साधन भार दई मुँह छार भए इहि हेत किधौं कुच कारे।

कविवर भूधरदासजी पूर्ण आस्तिक एवं भक्त कवि थे। उदाहरण के लिये यह सिद्धभगवान् की स्तुतिवाला छंद पर्याप्त है—

ध्यान-हुताशन में अरि-ईंधन झोंक दियो रिपुरोक निवारी,
शोक हरयो भवि लोकन को वर केवल ज्ञान मयूख उघारी;
लोक अलोक विलोक भए शिव जन्म जरा मृत पंक पखारी,
सिद्धन थोक बसैं शिवलोक तिन्हैं पग धोक त्रिकाल हमारी।

इस छंद से उन महापंडित यज्ञ हिंसकों को, शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जो यज्ञ में बेचारे निरपराध पशुओं को होमते (जलाते) हैं—

कहै पशु दीन सुन जग्य के करैया मोहिं,
होमत हुताशन में कौनसी बड़ाई है;
स्वर्ग सुख मैं न चहौं "देहु मुझे" यौं न कहौं,
घास खाय रहौं मेरे यही मन भाई है।
जो तू यह जानत है वेद यों बखानत है,
जग जलौ जीव पावै स्वर्ग सुखदाई है;
डारै क्यों न बीर यामें अपने कुटुंब ही को,
मोहिं जिन जारै जगदीश की दुहाई है।

सात व्यसन सेवन करने से जो जो बुराइयाँ होती हैं, कविवर का उसका अलग-अलग वर्णन भी देखिए कैसा अनूठा है—

जूआ खेलन मांस मद, वेश्या बिसन शिकार;
चोरी पर-रमनी-रमन, सातों पाप निवार।

जूआ-निषेध।

सकल पाप संकेत, आपदा हेत कुलच्छन;
कलह-खेत दारिद्र देत, दीसत निज अच्छन।
गुन समेत जस सेत, केत रवि रोकत जैसें;
औगुन-निकर-निकेत, लेत लखि बुद्धिजन ऐसें।
जुआ समान इहलोक में, आन अनीति न पेखिए;
इस बिसनराय के खेल को, कौतुक हू नहिं देखिए।

मांस-निषेध।

जंगम जिय को नास, होय तब मांस कहावै,
सपरस आकृति नाम, गंध उर घिन उपजावै।
नरक जोग निरदई, खाहिं नर नीच अधरमी;
नाम लेत तज देत, असन उत्तम कुल करमी।
यह निपट निन्द्य अपवित्र अति, कृमि-कुल-रास निवास नित;
आमिष अभच्छ याको सदा, बरजों दोष दयाल चित।

मदिरा-निषेध।

कृमिरास कुवास सराय दहै शुचिता सब छीवत जात मही,
जिहि पान किये सुधि जात हियें जननी जन जानत नार यही;
मदिरा सम आन निषिद्ध कहा यह जान भले कुल में न गही,
धिक है उनकों वह जीभ जलौ जिन मूढ़न के मत लीन कही।

वेश्या-निषेध।

धन कारन पापनि प्रीति करै नहिं तोरत नेह जथा तिनकों,
लव चाखत नीचन के मुँह की शुचिता सब जाय छिये जिनकों;
मद मांस बजारनि खाय सदा अन्धले बिसनी न करै घिन कौं,
गनिका संग जे सठ लीन भए धिक है धिक है धिक है तिनकों।

---

* विषयादिक सेवन की सुघराई। बनिता सुख सेवन की सुघराई। ऐसा भी पाठ है।

आखेट (शिकार)-निषेध।

कानन मैं बसै ऐसो आन न गरीब जीव,
आनन सों प्यारो प्रान पूँजी जिस यहै है;
कायर सुभाव धरै काहू सौं न द्रोह करै,
सब ही सौं डरैं दाँत लिए तृन रहै है।
काहू सौं न रोष पुनि काहू पै न पोष चहै,
काहू के परोस परदोष नाहिं कहै है;
नेकु स्वाद सारिबे कौं ऐसे मृग मारिबे कौं,
हा हा रे कठोर तेरो कैसे कर बहै है।

चोरी-निषेध।

चिंता तजै न चोर, रहत चौकायत सारै;
पीटै धनी विलोक, लोक निर्दइ मिलि मारै।
प्रजापाल करि कोप, तोप सौं रोप उड़ावै;
मरै महा दुख पेखि, अंत नीची गति पावै।
अति विपति मूल चोरी बिसन, प्रकट त्रास आवै नजर।
परवित अदत्त अंगार गिन, नीत निपुन परसैं न कर।

पर-स्त्री-सेवन-निषेध।

कुगति बहन गुन गहन, दहन दावानल-सी है;
सुजस चंद्र घन घटा, देहकृश करन खई है।
धन-सर-सोखन धूप, धरम-दिन साँझ समानी;
बिपति भुजंगनि बास, बाँबई बेद बखानी।
इहि बिधि अनेक औगुन भरी, प्रान हरन फाँसी प्रबल;
मत करहु मित्र यह जान जिय, पर-बनिता सौं प्रीति पल।

यह छंद भी इसी विषय का है। फ़र्क़ इतना ही है कि उपर्युक्त छंदों में प्रत्येक व्यसन का अलग वर्णन है और इस छंद में मय उदाहरण के सातों व्यसनों का एक साथ वर्णन है। किस व्यसन के सेवन करने से किसने क्या कष्ट भोगा, यही इस छंद में दिखाया गया है—

प्रथम पाण्डवा भूप, खेलि जूआ सब खोयौ;
मांस खाय बक-राय, पाय बिपदा बहु रोयौ।
बिन जानैं मद पान, जोग जादौंगन दज्झे;
चारुदत्त दुख सह्यो, बेसवा-बिसन अरुज्झे।
नृप ब्रह्मदत्त आखेट सौं, द्विज शिवभूति अदत्त रति;
पर-रमनि राचि रावन गयो, सातौं सेवत कौन गति।

होनहार-वर्णन।

कैसे-कैसे बली, भूप भू पर विख्यात भए,
बैरीकुल काँपे नेकु भौंहों के विकार सौं;
लंघे गिरि सायर दिवायर-से दिपै जिनौं,
कायर किये हैं भट कोटिन हुँकार सौं।
ऐसे महामानी मौत आए हू न हार मानी,
क्यौंही उतरे न कभी मान के पहार सौं;
देव सौं न हारे पुनि दाने सौं न हारे और,
काहू सौं न हारे एक हारे होनहार सौं।

तृष्णा-वर्णन।

दृष्टि घटी पलटी तन की छबि बंक भई गति लंक नई है,
रूस रही परनी घरनी अति रंक भयौ परियंक लई है;
काँपत नार बहै मुख लार महामति संगति छाँरि गई है,
अंग उपंग पुराने परे तिसना उर और नवीन भई है।

बुढ़ापा।

बालपनै न सँभार सक्यो कछु जानत नाहिं हिताहित ही को,
यौवन बैस बसी बनिता उर कै नित राग रह्यो लक्ष्मी को;
यौं पन दोइ बिगोइ दये नर डारत क्यों नरके निज जी को,
आए हैं सेत अजौं शठ चेत गई सुगई अब राख रही को।

यह भी इसी विषय का छंद है। यह ऊपर के छंद से अधिक महत्त्व का है। कविवर की कल्पना सचमुच अनूठी है—

अहो इन आपने अभाग उदै नाहिं जानी,
बीतराग बानी सार दयारस-भीनी है;
जोवन के जोर थिर जंगम अनेक जीव,
जानी जे सताए कछु करुना न कीनी है।
तेई अब जीवराम आए परलोक पास,
लैंगे बैर दैंगे दुख भई ना नवीनी है;
उन्हीं के भय को भरोसो जान काँपत है,
याही डर "डोकरा" ने लाठी हाथ लीनी है।

काल-सामर्थ्य।

लोहमई कोट केई कोटन की ओट करौ,
काँगुरेन तोप रोपि राखौ पट भेरिकै;
इंद्र चंद्र चौकायत चौकस ह्वै चौकी देहु,
चतुरंग चमू चहूँ-ओर रहौ घेरिकै।
तहाँ एक भौंहिरा बनाय बीच बैठो पुनि,
बोलो मति कोऊ जो बुलावै नाम टेरिकै;
ऐसे परपंच पाँति रचौ क्यौं न भाँति भाँति,
कैसैंहू न छोरै जम देख्यौ हम हेरिकै।

पर-स्त्री-त्याग-प्रशंसा।

दिवि दीपक-लोय बनी बनिता जड़-जीव पतंग जहाँ परते,
दुख पावत प्रान गँवावत हैं बरजे न रहैं हठ सौं जरते;

इहि भाँति विचच्छन अच्छन के वश होंय अनीति नहीं करते,
पर तो लखि जे धरती निरखैं धनि हैं धनि हैं धनि हैं नर ते।

कषाय जीतने के कैसे अच्छे उपाय बताए हैं—

छेम निवास छिमा-धुवनी बिन क्रोध पिशाच उरै न टरैगो,
कोमल भाव उपाव बिना यह मान महामद कौन हरैगो;
आर्जव-सार कुठार बिना छल-बेलि निकन्दन कौन करैगो,
तोष शिरोमनि मंत्र पढ़े बिन लोभ फणी बिष क्यों उतरैगो।

गुरु-उपकार-वर्णन।

ढई-सी सराय काय पंथी जीव बस्यो आय,
रत्न त्रय निधि जापै मोख जाको घर है;
मिथ्या निशि कारी जहाँ मोह-अंधकार भारी,
कामादिक तस्कर समूहन को घर है।
सोवै जो अचेत सोई खोवै निज संपदा कों,
तहाँ गुरु पाहरु पुकारै दया कर है;
गाफिल न हूजे भ्रात ऐसी है अँधेरी रात,
"जाग रे बटोही" यहाँ चोरन को डर है।

धैर्य-शिक्षा।

जो धनलाभ लिलाट लिख्यो लघु दीरघ सुकृत के अनुसारै,
सो लहि हैं कछु फेरि नहीं मरुदेश के ढेर सुमेर सिधारै;
घाट न बाढ़ वहीं वह होय कहा कर आवत सोच विचारै,
कूप किधौं भर सागर में नर गागर मान मिलै जल सारै।

पार्श्वनाथ भगवान् के गुण कथन।

चहुँगति भ्रमत अनादि वादि बहुकाल गमायो,
रही सदा सुख आस-प्यास जल कहूँ न पायो;
सुख करता जिनराज आज लौं हिएँ न आये,
अब मुझ माथे भाग चरन चिंतामनि पाये।
राखौं संभाल उर कोष में नहिं बिसरौं पल रंक धन;
परमादचोर टालन निमित करौं पार्स जिन गुन कथन।

वैराग्य-कथन।

राजा राना छत्रपति हाथिन के असवार,
मरना सबकों एक दिन अपनी-अपनी बार;
दलबल देई देवता मात-पिता परिवार,
मरती बिरियाँ जीवकों कोउ न राखनहार।
दाम बिना निर्धन दुखी, तिसना बस धनवान;
कहूँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान।
आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय;
यों कबही इस जीव का, साथी सगा न कोय।

मेरे मन सूवा, जिनपद पींजरे वसि, यार लाव न बार रे। टेक।
संसार से बलवृच्छ सेवत, गयो काल अपार रे।
विषय फल तिस तोड़ि चाखे, कहा देख्यौ सार रे। मेरे मन०।
तू क्यों निचिन्तों सदा तोकों, तकत काल मँजार रे।
दाबै अचानक आन तुझे, कौन लेय उबार रे। मेरे मन०।
तू फँस्यों कर्म कुफन्द भाई, छुटै कौन प्रकार रे।
तै मोह-पंछी-बधक-विद्या, लखि नाहिं गँवार रे। मेरे मन०।
है अजौं एक उपाय भूधर, छुटै जो नर धार रे।
रटि नाम राजुलरमन को, पशुबन्ध छोड़न हार रे। मेरे मन०।

जपि माला जिनवर नाम की। टेक।
भजन सुधारस सों नहिं धोई, सो रसना किस काम की। जपि०।
सुमरन सार और सब मिथ्या, पटतर धूँवा धाम की।
विषम कमान समान विषय सुख काय कोथली चाम की। जपि०।
जैसें चित्रनाग के माथे, थिर मूरति चित्राम की।
चित आरुढ़ करो प्रभु ऐसें, खोय गुड़ी परिनाम की। जपि०।
कर्म बैरी अहनिशि छल जोवैं, सुधि न परत पल जाम की।
भूधर कैसे बनत बिसारैं, रटना पूरन राम की। जपि०।

महालचंद बयेद

नहीं सह सकता। प्रेम को संतुष्ट करना चाहते हो, तो मौन रहो, या अश्रुपात करो।

× × ×

प्रतिबिम्ब—लेखक, श्रीयुत सत्यप्रकाश, एम्० एस्-सी; प्रकाशक, कला-कार्यालय, प्रयाग; कागज़ और छपाई उत्तम; पृ० सं० १०३; मूल्य साधारण संस्करण का ।||) और राजसंस्करण का १||)

यह श्रीयुत सत्यप्रकाशजी की विभिन्न विषयों पर लिखी गई नवीन ढंग की कविताओं का संग्रह है। आरंभ में १५ पृष्ठ की भूमिका अँगरेज़ी में है। जिसमें बड़ी योग्यता के साथ प्राचीन और नवीन कविताओं और विशेषकर अपनी रचनाओं पर प्रकाश डाला है। पर हम भूमिका में लिखी सभी बातों से सहमत नहीं हैं। एक बात और भी; यह भूमिका यदि अँगरेज़ी में न होकर हिंदी में होती, तो 'प्रतिबिम्ब' के पढ़नेवालों का कदाचित् अधिक उपकार होता। क्योंकि इसके पाठकों में अँगरेज़ी जाननेवालों की अपेक्षा न जाननेवालों की ही संख्या अधिक होगी। रचनाओं की भाषा परिमार्जित और साधु है। भाव सुन्दर हैं। आशा है, इससे कविता-प्रेमियों का मनोरंजन हो सकेगा।

× × ×

५. फुटकल

तेलुगु-स्वयं-शिक्षक—लेखक, पंडित हृषीकेश शर्मा; प्रकाशक, दक्षिण भारत-हिंदी-प्रचार सभा, ११३ हाईरोड, मद्रास; कागज़ और छपाई साधारण; पृ० सं० १२४; मूल्य ||)

दक्षिण भारत हिंदी-सभा के प्रचार-मंत्री ने इसकी भूमिका में लिखा है "इस पुस्तक में रोज़ काम काज में आनेवाली बातों के उपयुक्त छोटे-छोटे वाक्यों और तेलुगु के मुख्य मुख्य व्याकरण के आवश्यक अंशों के साथ अभ्यास-पाठ दिए गए हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है, जो भाई इस पुस्तक को श्रद्धा से पढ़ेंगे वे आसानी से तेलुगु रीडरें, कथा, कहानियाँ समझने में समर्थ हो जायँगे।" पुस्तक का परिचय देने के लिये, हम समझते हैं कि उक्त पंक्तियाँ पर्याप्त हैं। तेलुगु-भाषा मद्रास प्रान्त के एक बहुत बड़े भाग में बोली जाती है और इसका साहित्य भी गंभीर तथा पुष्ट है। जो महाशय उक्त साहित्य से परिचय प्राप्त करना चाहें, वे अवश्य इस पुस्तक से लाभ उठाएँ।

× × ×

प्रतिश्याय—जुकाम—लेखक और प्रकाशक वैद्य-भूषण श्रीश्यामलाल सुहृद; सुखमार्ग कार्यालय, बरानदी, बुढ़ाँसी, अलीगढ़ कागज़ और छपाई साधारण; मूल्य ।); पृ० सं ६१६।

इसमें जुकाम होने के कारण, उसके भेद और उसकी आयुर्वैदिक, यूनानी और डॉक्टरी चिकित्सा लिखी गई है। मूल्य अधिक है।

× × ×

६. पत्र-पत्रिकाएँ

विशाल-भारत—यह मासिक पत्र हाल ही में कलकत्ता राजधानी से प्रकाशित हुआ है। 'प्रवासी' और 'माडर्न रिविउ' के संपादक श्रीयुत रामानंद चटर्जी इस पत्र के संचालक हैं। प्रसिद्ध लेखक और देश-भक्त पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी इस पत्र के संपादक हैं। इसकी जनवरी की प्रथम संख्या में १४४ पृष्ठ हैं। छपाई उत्कृष्ट है और कागज़ भी चिकना और सुंदर लगा है। पत्र सचित्र है। बहुत-से सादे चित्रों के अलावा इस संख्या में चार रंगीन चित्र भी हैं। पत्र, मैनेजर 'विशाल-भारत ६१अपर सरकूलर रोड कलकत्ता' के पते से मिल सकता है। इसका वार्षिक मूल्य ६) है।

विशाल-भारत की प्रथम संख्या में संपादकीय विचारों-समेत ३१ गद्य-पद्यमय लेख हैं। कई लेख सचित्र हैं। प्रारंभ में बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की लिखी 'शारदा-स्तुति' नामक कविता है। यह शायद 'गंगावतरण' में पहले प्रकाशित हो चुकी है। कविता बड़ी सुंदर और सरस है। लेखों में श्रीमुकुंदीलाल का 'राजपूत चित्रकला और चित्रकार मोलाराम', श्रीप्रेमचंद की 'अग्नि-समाधि' कहानी, श्रीताराचंदराय का 'जर्मनी में श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर की व्याख्यान यात्रा' और श्रीकालीदास नाग का 'प्राचीन विशाल-भारत की यात्रा' शीर्षक लेख हमें बहुत पसंद पड़े। प्रारंभ में 'गोवर्धन-धारण' का रंगीन चित्र भी बड़ा ही भव्य और नयनाभिराम है। 'विशाल-भारत' उच्च श्रेणी का पत्र होगा, यह बात इसकी प्रथम संख्या को देखने से जान पड़ती है। हमारा विश्वास है कि हिंदी जगत् 'विशाल-भारत' का आदर करेगा, जिससे वह स्थायी रूप से हिंदी-साहित्य की सेवा करने में समर्थ हो। हम हृदय से इस पत्र के अभ्युदय के इच्छुक हैं।

× × ×

बाल-सखा—आज ११वर्ष से 'बाल-सखा' पत्र हिंदी-साहित्य की सेवा कर रहा है। जब इस पत्र का जन्म हुआ था, उस समय बालकों का उपयोगी और दूसरा कोई भी पत्र न था। अब धीरे-धीरे इस पत्र की देखा-देखी हिंदी में कई बालकोपयोगी पत्र निकल रहे हैं। जनवरी मास से 'बाल-सखा' ने १२वें वर्ष में पदार्पण किया है। जनवरी को प्रथम संख्या इसका विशेषांक है। विशेषांक में ६४ पृष्ठ को गद्य-पद्यमयी सचित्र पाठ्य सामग्री है। इस सामग्री का संग्रह बड़ी सावधानी और परिश्रम के साथ किया गया है। लेख और कविताएँ मनोरंजक तो हैं ही साथ ही सुरुचि-पूर्ण भी हैं। सारा अंक कई प्रकार की रंगीन रोशनाई में छापा गया है। सुंदर काग़ज़ पर इंडियन प्रेस की प्रसिद्ध छपाई ने इस संख्या को मनोहर बना दिया है। 'बाल-सखा' का वार्षिक मूल्य २॥) है, पर इस संख्या का मूल्य ॥) है। 'बाल-सखा' के संपादक श्रीनाथसिंहजी को ऐसा उत्तम विशेषांक निकालने के लिये हम बधाई देते हैं। हिंदी-संसार को चाहिए कि 'बाल-सखा' को अपनाकर उसके द्वारा बाल-साहित्य का निर्माण कराने में सहायक बनें। हम 'बाल-सखा' की हृदय से उन्नति चाहते हैं।

वर्तमान विवाह-प्रणाली.

हमारे देश के युवकों में प्रचलित विवाह-प्रणाली के संबंध में बड़ा असंतोष उत्पन्न हो गया है। वे यह नहीं चाहते कि किसी युवक की शादी किसी ऐसी युवती से कर दी जाय जिसके संबंध में वह कुछ न जानता हो। अनेक युवक तो कह देते हैं कि माता-पिता शादी के बारे में दख़ल देनेवाले कौन होते हैं ? वे कहते हैं कि लड़के-लड़कियों की शादी उन्हीं पर छोड़ देनी चाहिए। इस विचार की प्रबलता दिन पर दिन बढ़ती आ रही है। ऐसी स्थिति में इस विषय में विचार करना अत्यावश्यक जान पड़ता है।

ऐसे युवकों से सहमत होना कठिन है जो यह कह दिया करते हैं कि माता-पिताओं को लड़के-लड़कियों की शादी से कोई मतलब न रखना चाहिए, पर यह निश्चय है कि प्रचलित विवाह-प्रणाली में पूर्ण परिवर्तन करने की ज़रूरत है। इसमें संदेह नहीं कि लड़कों और लड़कियों की शादी दोनों की पसंद से होनी चाहिए।

माता-पिताओं और अन्य गुरुजनों को अपने कर्तव्य के संबंध में शांति से विचार करना चाहिए। यह ठीक नहीं है कि वे बिना उन लोगों का मत जाने, जिन्हें मरण पर्यंत जीवन निर्वाह करना है, विवाह के बंधन में डाल दें। बहुत से लड़के-लड़कियों की शादी ऐसी छोटी उम्र में हो जाती है जब कि वे समझ भी नहीं सकते कि विवाह क्या चीज़ है, जब कि उनका इतना विकास नहीं हुआ रहता कि वे वैवाहिक जीवन का आनंद ले सकें। अक्सर लड़कियों की और अक्सर लड़कों की भी शादी ऐसी छोटी उम्र में कर दी जाती है कि उन्हें ख़बर भी नहीं रहती कि उनकी शादी कब हुई।

बेजोड़ विवाह का तो कुछ कहना ही नहीं। बुड्ढों की शादी खेलनेवाली छोटी लड़कियों से हो जाती है। यह तो पाशविक आचरण है और इसकी जितनी निंदा की जाय थोड़ी है। इस प्रकार के विवाह का हमारे समाज में होना इस बात का प्रमाण है कि हम पशुओं से भी बदतर हैं। शादी के संबंध में अक्सर मुनासिब उम्र का ख़याल नहीं किया जाता। हमारे देश में लड़कों में शिक्षा-प्रचार बहुत कम है, पर लड़कियों में लड़कों की अपेक्षा और भी कम है। इसलिये समान सुशिक्षित लड़कों और लड़कियों की शादी तो मुश्किल से ही होती है। आम तौर से शिक्षित लड़कों की शादी अल्प शिक्षित या अशिक्षित लड़कियों के साथ हो जाती है।

अक्सर सुशिक्षित युवक का विवाह सर्वथा मूर्खा युवती से हो जाता है और अक्सर अल्प शिक्षित या अशिक्षित तथा आवारा युवक की शादी सुशिक्षित और सुशीला से हो जाती है। सुंदर लड़के की कुरूप लड़की से और कुरूप लड़की की सुंदर लड़के से भी शादी हो जाती है। काले की गोरे से, रोगी की स्वस्थ से भी विवाह हो जाता है। यहाँ तक कि आँख वाले की अंधे से शादी हो जाती है। अगर कोई युवक या युवती अंधा, लंगड़ा या लूला साथी ही पसंद करे, तो इसमें किसी को क्यों आपत्ति होनी चाहिए, मन मिलने की बात है; पर बिना परस्पर स्वीकृति के बेजोड़ बंधन में जकड़ देना उनके साथ घोर अन्याय करना है।

एक दूसरे की पसंद से शादी के ख़िलाफ़ यह बात कही जाती है कि पाश्चात्य देशों में यह प्रथा प्रचलित है तो भी वहाँ संबंध-विच्छेद बहुत होता है। वहाँ युवकों और युवतियों की शादी उन्हीं की पसंद से होती है, उनमें आपस में प्रेम हो जाता है तभी शादी होती है। ऐसी हालत में भी दोनों में अनबन हो आया करती है और विवाह-विच्छेद की नौबत तक आ-जाती है।

विवाह हो जाने के बाद पति-पत्नी में अनबन हो जाने और संबंध-विच्छेद भी हो जाने से यह बात सिद्ध नहीं की जा सकती कि लड़के-लड़कियों की शादी उनकी पसंद से न होनी चाहिए। हमारी वर्तमान विवाह-प्रणाली में परस्पर स्वीकृति से संबंध तो होता ही नहीं। माता-पिता ख़ुद लड़के-लड़कियों की शादी कर देते हैं और उन्हें जीवन पर्यंत वैवाहिक बंधन में जकड़े रहना पड़ता है। दोनों का कार्य-क्षेत्र अलग अलग रहता है। दोनों का संबंध बहुत थोड़े समय के लिये होता है। जब संबंध ही नहीं, तो संबंध-विच्छेद कैसा, जब प्रेम ही नहीं, तो प्रेम-विच्छेद कैसा? इसके अतिरिक्त दोनों के लिये यह अनिवार्य समझा जाता है कि वे संबंध-विच्छेद न करें। पत्नी के साथ तो कितना भी दुर्व्यवहार हो, उसकी कितनी भी दुर्दशा की जाय, उसे कितना भी मारा पीटा जाय, उसे कितना भी दुतकारा जाय, तो भी वह अपने पति "देव" का साथ नहीं छोड़ सकती। वह बेचारी तब भी अपने पति का भला चाहेगी, उसे सुखी देखना चाहेगी और दूसरे जन्म में भी उसी का साथ करने में अपना सौभाग्य मानेगी। अगर पति अपनी पत्नी को छोड़ दे, तो भी पत्नी के लिये वह ईश्वर-तुल्य ही रहेगा। जहाँ ऐसा "आदर्श' है, वहाँ संबंध-विच्छेद की संभावना कैसे हो सकती है। ऐसी अवस्था में यह कोई प्रशंसा की बात नहीं है कि हमारे समाज में विवाह-विच्छेद नहीं होता।

सबसे पहले हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि हमारे समाज में जो विवाह-प्रणाली प्रचलित है, उसे विवाह ही न कहना चाहिए। माता-पिता लड़के-लड़कियों को बंधन में डाल देते हैं और उनमें चाहे पटती हो, चाहे न पटती हो मजबूरन् बंधन में जकड़े रहना पड़ता है। अक्सर एक साथ रहने से कुछ न कुछ प्रेम हो ही जाता है और जब यह मालूम है कि आजीवन एक साथ रहना है, तो प्रेम करने में ही भलाई है। पर इसे स्वाभाविक विवाह नहीं कह सकते।

विवाह का आधार स्वाभाविक प्रेम होना चाहिए। विवाह बड़ा ही पवित्र संबंध होना चाहिए। यह आजीवन मैत्री होनी चाहिए। युवक और युवती एक दूसरे को पसंद कर लें, उनका आपस में प्रेम हो जाय, वे एक दूसरे का स्वभाव अच्छी तरह समझ लें, उनमें मित्रता हो जाय तभी उनकी शादी होनी चाहिए। मित्रता वही अच्छी कही जा सकती है जो आजीवन निभाई जाय। फिर विवाह का दर्जा मित्रता से ऊँचा होना चाहिए। एक दूसरे की प्रकृति समझ लेने के बाद जो विवाह होंगे उनके भी विच्छेद होने की संभावना है पर इसी कारण यह दलील पेश करना ठीक नहीं है कि एक दूसरे की पसंद से शादी न हो। वर्तमान सामाजिक स्थिति में संबंध-विच्छेद हो ही नहीं सकता। पर पसंद की शादी में जो संबंध-विच्छेद का भय किया जाता है उसका प्रतिकार इस प्रकार हो सकता है कि युवक और युवती एक दूसरे की पसंद से शादी करते समय यह समझौता कर लें कि हम कभी भी संबंध-विच्छेद न करेंगे। वास्तव में यह आदर्श विवाह-प्रणाली होगी। युवक और युवती दोनों एक दूसरे का स्वभाव अच्छी तरह समझकर विवाह करते समय यह भी प्रतिज्ञा करें कि हम आजीवन एक दूसरे का साथ देंगे, एक दूसरे को बराबर समझेंगे, एक दूसरे का आदर करेंगे, एक दूसरे की सदा सहायता करेंगे, एक दूसरे के सुख-दुःख को अपना ही सुख दुःख

समझेंगे। परस्पर सहानुभूति, सहिष्णुता और त्याग का जीवन बितावेंगे और कभी संबंध-विच्छेद न करेंगे और करेंगे, तो हम दोनों आजीवन अविवाहित रहेंगे। इस समझौते से वैवाहिक जीवन बहुत ही सुखमय हो सकता है। ऐसे प्रबंध से विवाह-विच्छेद की संभावना प्रायः आती रहेगी। अगर युवक और युवती यह प्रतिज्ञा कर लेंगे कि हम संबंध-विच्छेद करने पर अन्य किसी से संबंध न करेंगे तो इसमें आगे चलकर पुनर्मिलन की संभावना भी रहेगी क्योंकि अविवाहित जीवन बिताना बहुत अखरेगा। हिंदुओं में इस समय जो विवाह की प्रथा प्रचलित है उसमें कोई स्त्री दूसरा पति नहीं कर सकती, यहाँ तक कि वह अपने पति के मरने पर भी दूसरा पति नहीं कर सकती। अवश्य ही इस प्रकार का एकतरफ़ा बंधन अनुचित है, स्त्रियों के साथ अन्याय है। पर इस बंधन के कारण पति-पत्नी में अनबन होने में बड़ी सहायता मिलती है। यही बंधन दोनों तरफ़ से होना चाहिए। ऐसा प्रबंध होने से संबंध-विच्छेद होने पर पुनर्मिलन की बहुत संभावना रहेगी।

एक दूसरे की पसंद से शादी का सिद्धांत मानने के बाद उसके लिये वातावरण उपस्थित करना आवश्यक है। यह वातावरण तभी उपस्थित किया जा सकता है, जब लड़के-लड़कियों की सहपाठ प्रणाली प्रचलित की जाय। लड़के और लड़कियों को पितृ-तुल्य शिक्षक के निरीक्षण में रखा जाय और उन्हें एक दूसरे से स्वतंत्रता के साथ मिलने और खेलने का अवसर दिया जाय। इसी प्रकार युवक और युवती को एक दूसरे की प्रकृति समझने और मैत्री करने का मौक़ा मिलेगा। कुछ स्कूल और कॉलेज इस प्रकार के खुलने चाहिएँ जहाँ लड़के और लड़कियाँ बड़े बूढ़े शिक्षकों की देखभाल में एक साथ पढ़ें और एक साथ खेलें।

सहपाठ-प्रणाली चलाने में बड़ी कठिनाई यह है कि क्या बहुत से उच्च प्रकार से सुशिक्षित नवयुवकों और नवयुवतियों का संयम विवाह के पहले ही भंग न हो जायगा? जवानी में बड़ा जोश रहता है। अक्सर सुशिक्षित धर्म-पूर्वक त्याग और संयम का जीवन बितानेवाले लोग फिसल ही जाते हैं। अवश्य ही समस्या कठिन है। इस संबंध में नमूने के तौर पर कुछ सहपाठ-प्रणाली से शिक्षा देनेवाले विद्यालयों की स्थापना करने की आवश्यकता है। इस विषय में विचार करते समय हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि वर्तमान समय में जब कि सहपाठ-प्रणाली प्रचलित नहीं है, लड़के और लड़कियों को अलग रखा जाता है, दोनों की शिक्षा के लिये अलग-अलग विद्यालय हैं, ऐसी हालत में भी संयम भंग होते हैं। साधारण अनाचार तो कभी-कभी छिप भी जाते हैं, पर भीषण अनाचार बहुत "तोपने ढाँकने" का प्रयत्न करने पर भी प्रकट हो ही जाते हैं। सहपाठ-प्रणाली में "तोपा ढाँका" अनाचार न होने पावेगा। लड़के लड़कियाँ जब एक साथ स्वाभाविक जीवन बिताने लगेंगी, तो उनके चरित्र में दृढ़ता आवेगी। अगर शिक्षा का उपयुक्त प्रबंध किया गया, तो जिस अनाचार की आशंका की जाती है उसकी संभावना भी न रहेगी। इसमें तो संदेह नहीं कि इस समय जो अनाचार होते हैं वे बहुत घट जायँगे, युवकों और युवतियों का स्वतंत्र विकास होगा, दोनों में आत्मावलंबन, साहस आदि गुण आवेंगे और समाज अधिक उन्नत होगा। स्त्रियों और पुरुषों के जीवन में इस समय जो पार्थक्य है वह जाता रहेगा। जो हो, अगर हम चाहते हैं कि लड़के और लड़कियों की शादी एक दूसरे की पसंद से हो, तो निश्चय ही सहपाठ-प्रणाली प्रचलित करनी पड़ेगी।

युवकों और युवतियों की शादी पसंद से होने से उनमें जीवन आ जायगा और वे सांसारिक बातों में आनंद लेने लगेंगे। उनमें उत्साह, साहस और आत्मावलंबन का भाव उत्पन्न होगा। वे अपनी उन्नति करेंगे और उपयुक्त साथी ढूँढ़ने में लगेंगे। ऐसी हालत में विवाह का महत्त्व बढ़ जायगा। दहेज, फ़ज़ूलख़र्ची तथा विवाह-संबंधी अन्य बुरी चालें आप ही आप दूर हो जायँगी।

माता-पिताओं और अन्य गुरुजनों को अपने लड़के लड़कियों की शादी में पूरी दिलचस्पी लेनी चाहिए। जब तक सहपाठ-प्रणाली प्रचलित नहीं है, तब तक उन्हें अपने लड़के-लड़कियों को अपना साथी चुनने में यथा-संभव सुविधा उत्पन्न करनी चाहिए। वे कम-से-कम इतना तो कर दें कि लड़के-लड़कियाँ एक दूसरे को देख सकें, एक दूसरे से पत्र-व्यवहार कर सकें और उन्हें एक दूसरे के स्वभाव के बारे में बिना अतिरंजन के जानकारी करा दी जाय। माता-पिताओं का कर्तव्य है कि वे अपने

लड़के-लड़कियों का अच्छी तरह पालन-पोषण करें, उनकी शिक्षा का, जिसमें कामशास्त्र की शिक्षा भी शामिल रहे अच्छी तरह प्रबंध कर दें, उन्हें किसी-न-किसी रोज़गार में लगा दें और जीवन भर के लिये उपयुक्त साथी चुनने में भी पूरी सहायता दें। अन्य गुरुजनों और मित्रों को भी इस संबंध में सहायता करनी चाहिए। वैवाहिक जीवन के सुखमय होने पर समाज की बहुत कुछ भलाई निर्भर है इसलिये समाज-सुधारकों को भी युवकों युवतियों के विवाह का प्रश्न अपने कार्य-क्रम का अंग बनाना चाहिए।

अविवाहित लड़के और लड़कियों को इस बात पर अड़ जाना चाहिए कि बिना एक दूसरे को देखे, एक दूसरे का स्वभाव समझे शादी करने के लिये राज़ी न होंगे। कम-से-कम वे एक दूसरे को देख लें, पत्र-व्यवहार कर लें और दूसरों से एक दूसरे के बारे में जानकारी प्राप्त कर लें। हो सकता है कि अन्य लोग लड़के लड़कियों के बारे में बढ़ा चढ़ाकर बातें कहें, पर कई लोगों से एक ही व्यक्ति के बारे में जानकारी प्राप्त करने से बहुत कुछ सत्य-सत्य बातें मालूम हो जायँगी। हम सड़ी-से-सड़ी चीज़ ख़रीदते हैं तो उसे पहले देख लेते हैं, कपड़ा ख़रीदने लगते हैं, तो उसे पहले देख लेते हैं, जूता पहनने लगते हैं, तो उसे पहले देख लेते हैं। फिर हम बिना देखे किसी को जीवन भर के लिये साथी कैसे बना सकते हैं?

उमाशंकर

---

१. अंकों का खेल

एक-दो प्रभृति संख्याओं को लेकर नाना प्रकार के अद्भुत खेल खेले जा सकते हैं, और बंधु-बांधवों को भी चमत्कृत करने में किंचित्-मात्र कष्ट नहीं करना पड़ता। साधारणतः लोग अंकों के नाम सुनते ही घबड़ा उठते हैं। सुतरां अति सहज प्रक्रियाओं द्वारा सामान्य गुणा-भाग के खेल दिखलाकर ही अनेक समय विचक्षण लोगों को भी छकाया जा सकता है। नीचे संख्या-संबंधी कुछ खेलों का उल्लेख किया जाता है। आशा है, पाठकों का मनोरंजन होगा।

९ संख्या बहुत विचित्र है। इस अंक के किसी गुणितक संख्या को पास-पास योग करने से उसका योगफल बराबर ९ ही होगा। जैसे, ४×९=३६—इस गुणनफल की संख्याओं को पास-पास जोड़ने से वही ९ होगा (३+६=९)। अन्य उदाहरण लीजिए—१४×९=१२६—इसका योगफल हुआ, १+२+६=९।

दो-एक प्रश्न करके और दो-चार बार योग, वियोग, गुणन और भाग प्रभृति कराके किसी मनुष्य की ठीक आयु बतला देना कितना कौतूहलप्रद है। मान लीजिए विनय की आयु १५ साल की है और उसका जन्म अगस्त मास में हुआ है। पहले उससे कहिए कि वह अपने जन्म-मास (जनवरी १, फरवरी २, मार्च ३, सितंबर ९—इस हिसाब से) को २ से गुणा करके उसमें ५ का योग कर दे। उसके बाद उस संख्या को ५० से गुणा करने को कहिए और उसके गुणनफल में अपनी आयु को जोड़कर उसमें से ३६५ घटा दे। अब बची हुई संख्या में ११५ जोड़कर जो योगफल हो, वह पूछिए। उपर्युक्त रीति से योग वियोग आदि करने पर ८१५ होगा। इसका प्रथम संख्या जिस मास में उसका जन्म हुआ है, उसका निर्देशक तथा द्वितीय और तृतीय संख्या में उसके वयस् के द्योतक हैं। जिस किसी मनुष्य का वयस् और जन्म-मास इस रीति द्वारा बतलाया जा सकता है।

एक संख्या से कौन एक अंक निकाला गया है, इसकी भी जाँच बड़ी आसानी से हो सकती है तथा सहज ही लोग आश्चर्यचकित भी हो सकते हैं। चार-पाँच अथवा इससे भी अधिक अंक-युक्त संख्या किसी ने अपने मन में रक्खा। मान लीजिए संख्या है—४५,९३८। पास-पास की संख्याओं का योग हुआ—४+५+९+३+८ =२९। असल संख्या से २९ घटा देने से बचता है ४५,९०९। अब इसमें से कोई एक अंक निकाल लेने से उसका पता लग सकता है। मान लीजिए ४ को किसी ने निकाल बाहर किया। फिर पास-पास की संख्याओं को जोड़ने के लिये कहिए। योगफल हुआ २३। इस संख्या के निकटवर्ती ९ को गुणितक संख्या में इसको घटाने से जो शेष बचेगा, वही संख्या निकाली हुई होगी। यदि कुछ भी शेष नहीं बचे, तो ९ को निकाली हुई संख्या समझना चाहिए। उदाहरण में दी हुई संख्या (२३) के निकटवर्ती है।

९ का गुणितक २७। २७ से २३ को घटाने पर आता है ४। अतः ४ को निकाला गया है।

और एक खेल देख लीजिए—किसी को १ से ९ तक की संख्याओं में किसी दो संख्याओं को मन में रखने के लिये कहें। वह किन संख्याओं को मन में रखे हुए है, आप सहज ही बता देंगे। मान लीजिए उसने ४ और ६ रक्खे हैं। प्रथम संख्या को दुगुना करने पर ८ होता है। उसमें ५ जोड़कर और ५ ही से गुणाकर उसमें द्वितीय संख्या जोड़ने से ७१ होता है। इस संख्या को जान लेने के बाद उसमें से २५ घटा दीजिए—बाक़ी बचा ४६। इसके बाएँ ओर की प्रथम संख्या और दाहिने ओर की द्वितीय संख्या हुई।

एक और कौशल देखिए—किसी को तीन अंकों की एक ऐसी संख्या लिखने को कहिए, जिसमें प्रथम अंक की अपेक्षा तृतीय अंक २ कम हो। उसने लिखा—८३६। इस संख्या को उलट कर प्रथम संख्या से घटाने पर होगा १९८। इसको उलट देने से होता है ८९१। इन दोनों का योगफल होगा <u>१०८९</u>। तीन अंकों की कोई संख्या मन में रखिए, किंतु उपर्युक्त रीति से योगफल सदा <u>१०८९</u> ही रहेगा। परीक्षा कीजिए।

नीचे सजी हुई संख्याओं द्वारा कौशल-पूर्वक किसी का वयस् बतलाया जा सकता है। जो महाशय अपना वयस् जानना चाहें, उनसे पूछिए कि उनके वयस् की संख्या किन-किन लाइनों (लंबी-लंबी) में है। उन लाइनों की प्रथम संख्याओं को जोड़ देने से ही उनके वयस् का पता लग जायगा। मान लीजिए मोहन की उम्र ३६ साल की है। उससे पूछिए कि नीचेवाली तालिका में उसके वयस् की संख्या (३६) किन-किन लाइनों में है—वह तृतीय और षष्ठ लाइनों मे बतलाता है—अब आप उन लाइनों की प्रथम संख्याओं को जोड़ दीजिए—तृतीय लाइन की प्रथम संख्या ४+षष्ठ लाइन की प्रथम संख्या ३२=३६—कहिए कितनी आसानी से मोहन की आयु मालूम हो गई। तालिका निम्नांकित है—

१	२	४×	८	१६	३२×
३	३	५	९	१७	३३
५	६	६	१०	१८	३४
७	७	७	११	१९	३५
९	१०	१२	१२	२०	३६
११	११	१३	१३	२१	३७

१३	१४	१४	१४	२२	३८	३७	३८	३८	४२	५०	५०
१५	१५	१५	१५	२३	३९	३९	३९	३९	४३	५१	५१
१७	१८	२०	२४	२४	४०	४१	४२	४४	४४	५२	५२
१९	१९	२१	२५	२५	४१	४३	४३	४५	४५	५३	५३
२१	२२	२२	२६	२६	४२	४५	४६	४६	४६	५४	५४
२३	२३	२३	२७	२७	४३	४७	४७	४७	४७	५५	५५
२५	२६	२८	२८	२८	४४	४९	५०	५२	५६	५६	५६
२७	२७	२९	२९	२९	४५						
२९	३०	३०	३०	३०	४६						
३१	३१	३१	३१	३१	४७						
३३	३४	३६	४०	४८	४८						
३५	३५	३७	४१	४९	४९						

इस तालिका से ५० पर्यंत वयस् मालूम किया जा सकता है ।

(शेष फिर)

उमेशप्रसादसिंह बख़्शी

१. मृत व्यक्ति में जीवन

ई वर्ष हुए, मेरे परिचित एक महाशय के युवक पुत्र का देहांत हो गया। कई कारण ऐसे आ गए, जिनसे लाश का दाह उस समय असंभव था। पंडितों की सलाह से तीन सप्ताह के लिये लाश ज़मीन में दफ़न कर दी गई। जब दाह का मुहूर्त आया, तो लाश खोदकर निकाली गई। उस समय कई प्रतिष्ठित सज्जन वहाँ पर उपस्थित थे। खोदकर निकालने पर देखा गया कि लाश बिलकुल सड़ी न थी। बाल तथा नाखून बढ़ गए थे।

पाठकों में से कितनों ही ने इस प्रकार की घटनाएँ देखी तथा सुनी होंगी। जब कभी इस प्रकार की कोई बात देखी जाती है, तब अधिकतर लोग यही समझते हैं कि दफ़न करते समय अमुक मनुष्य की मृत्यु नहीं हुई थी और यदि उस समय प्रयत्न किया जाता, तो शायद वह बच भी सकता।

वैज्ञानिक दृष्टि से, सर्वसाधारण के इस विश्वास की हँसी नहीं उड़ाई जा सकती। ऐसी बहुत-सी घटनाएँ सुनी गई हैं कि चिता में रखने पर अथवा जल में प्रवाह करने पर लाश में जीवन के लक्षण दिखाई पड़े हैं और कहीं-कहीं तो 'मृत' मनुष्य जीवित होकर वर्षों स्वस्थ रहा है। प्रचलित विश्वास यह है कि यम-दूत उसी नाम के किसी दूसरे मनुष्य के धोके में उस मनुष्य को परलोक ले गए थे, पर अपनी भूल मालूम हो जाने पर वापस छोड़ गए। लोग यह भी कहते हैं कि ऐसे पुनर्जीवित मनुष्य को घर में स्थान न देना चाहिए।

यों तो औपन्यासिकों ने ऐसी घटनाएँ खूब बढ़ाकर वर्णन की हैं, और जनश्रुति की गवाही भी बहुत मिल जायगी; पर न तो मुझे स्वयम् ऐसी घटना देखने का मौक़ा मिला है और न किसी ज़िम्मेदार विशेषज्ञ द्वारा ऐसी बात सुनने में ही आई है।

फिर भी जिसे लोग मृत समझते हैं, उसमें जीवन के लक्षण पाए जाना असंभव नहीं है। मेस्मेरिज़्म के ट्रैंस (trance), योग, हिस्टीरिया, लू, क्लोरोफ़ार्म इत्यादि अनेक कारणों से ऐसी अवस्था अक्सर आ जाती है, जिसे साधारण मनुष्य मृत्यु ही समझेगा। हमारे देश में हज़ारों ऐसे सद्यः जात शिशु मृत समझकर छोड़ दिए जाते हैं, जो साधारण उपचार द्वारा 'जीवित' किए जा सकते हैं। ठंडे देशों में शील (Seal) मर्माइट (Marmite) रीछ इत्यादि अनेक जानवर जाड़े भर सोया करते हैं, उस समय उन्हें देखकर यह निश्चय करना बड़ा कठिन है कि वे मृत हैं अथवा जीवित।

मेरे उक्त परिचित महाशय के पुत्र के विषय में उनके प्रियजनों का यही विश्वास था कि शायद उसका जीवन बच सकता। मैं पहले ही लिख आया हूँ कि ऐसा होना एकदम असंभव नहीं है। परंतु उसके साथ ही निम्नलिखित बातें भी स्मरण रखनी चाहिएँ—

(१) ऐसी घटनाएँ विरली ही होती हैं।

(२) यदि दफ़न करते समय उनके शरीर में प्राण थे भी, तो कुछ ही मिनटों बाद मृत्यु अवश्य हो गई

होगी। इसलिये बाल तथा नाख़ूनों का बढ़ना एकदम असंभव है। इस विशेष मुर्दे में बाल तथा नाख़ून क्यों बढ़े हुए जान पड़े इसका कारण बहुत साफ़ है। मृत्यु के बाद मुर्दे का मांस तथा खाल सिकुड़ती है। नाख़ून तथा बाल तो स्वभावतः कड़े होते हैं, इसके सिवाय सिकुड़ने के कारण चमड़े में बने हुए अपने स्थान में ढीले हो जाते हैं। इस कारण बाल तथा नाख़ून चमड़े के साथ ही नहीं सिकुड़ते। यही बात है कि ये दोनों बढ़े हुए जान पड़ते हैं। किसी दो-तीन दिन के मुर्दे में देखिए। यही बात मिलेगी।

(३) तीन सप्ताह गड़ी रहने पर भी लाश सड़ी क्यों नहीं, यह भी बहुत साधारण बात है। यों तो मृत्यु के कुछ ही घंटों बाद लाश सड़ने लगती है, पर दो अवस्थाएँ ऐसी संभव हैं, जब ऐसा नहीं होता।

(क) यदि किसी की मृत्यु बहुत-सी संखिया खाने से हुई हो, अथवा लाश बिलकुल सूखी और रेतीली ज़मीन में ऐसी जगह दफ़न की गई हो, जहाँ बड़ी कड़ी धूप रहती हो, तो सड़ने के बजाय लाश सूख जाती है। सिंध, बलूचिस्तान, राजपूताना इत्यादि गरम तथा सूखे देशों में क़ब्रें खोदने पर वर्षों के गड़े हुए सूखे मुर्दे निकलते हैं। लाश की इस अवस्था को अँगरेज़ी में Mummification कहते हैं।

(ख) यदि लाश किसी गरम तथा नम ज़मीन में गड़ी हो, तो पानी और चर्बी के संयोग से उसमें Adepocere नाम का एक मोम जैसा पदार्थ बन जाता है। यह पदार्थ स्वयम् सड़ता नहीं और मुर्दे को भी सड़ने से बचाता है। कुएँ में पड़ी हुई तथा बरसात में दफ़न की हुई लाशों में कभी-कभी यह अवस्था देखी जाती है। संयुक्त-प्रांत के Medical Jurist डॉ० मोदी ने लिखा है कि बारह वर्ष के अंदर मुझे इस प्रकार के ६ मुर्दे मिले। मुर्दे की इस अवस्था को अँगरेज़ी में Saponification कहते हैं। मुर्दे में Saponification होने के लिये योरप में तीन महीने से लेकर साल-भर लगता है, पर भारत में बहुत कम समय लगता है। डॉ० मैकेंज़ी का अनुभव है कि उत्तरीय भारत में तीन से लेकर पंद्रह दिन Saponication के लिये काफ़ी है।

मेरे परिचित महाशय के पुत्र की मृत्यु बरसात के प्रारंभ में हुई थी और तीन सप्ताह बाद लाश खोदी गई थी, इसलिये इस बात की पूरी संभावना है कि उसमें Saponification हो गया होगा।

किसी व्यक्ति की मृत्यु हो गई अथवा नहीं, यह बतलाना जितना सरल समझा जाता है, उतना है नहीं। सर्वसाधारण का विश्वास है कि 'प्राण' नाम का एक वायु हृदय में निवास करता है और मुख अथवा अन्य किसी मार्ग से उसके निकलते ही मनुष्य मर जाता है। सदियों से विज्ञानवेत्तागण इस 'प्राण-वायु' की खोज रहे हैं, पर अभी तक हृदय में तो क्या, कहीं भी उसका पता नहीं लगा। यदि प्राणवायु कोई पदार्थ है, तो आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा इत्यादि किसी इंद्रिय के द्वारा उसका अनुभव होना चाहिए। यदि उसमें कुछ घनत्व है, तो मृत्यु के बाद शरीर का भार कुछ घट जाना चाहिए; पर यह कुछ नहीं होता। जैसे ही शरीर ठंडा हुआ, हृदय की गति बंद हुई तथा श्वास-क्रिया का लोप हुआ, वैसे ही साधारणतः हम निश्चय कर लेते हैं कि मृत्यु हो गई; पर ध्यान से देखा जाय, तो इतने लक्षण काफ़ी नहीं हैं। उदाहरण के लिये कोई ऐसा मुर्दा लीजिए, जिसे तीन घंटा पहले वैद्यजी नाड़ी देखकर बतला चुके हैं कि इसके प्राण निकल गए। उसकी किसी मांस-पेशी पर बिजली का तार छुला दीजिए। माँस-पेशी फड़क उठेगी। छिपकिली की कटी हुई दुम को फड़कते हुए सभी ने देखा होगा।

जहाँ क़ानूनी मामले आ पड़ते हैं, वहाँ डॉक्टरों को मृत्यु का सर्टिफ़िकेट देने में बड़ी सावधानी से काम लेना पड़ता है। डॉक्टर मोदी ने अपने (Medical Jurisprudence) में मृत्यु के निम्न-लिखित लक्षण दिए हैं—

(१) हृदय की गति का संपूर्ण तथा स्थायी लोप—

अ—उँगली में एक तागा साधारणतः कस कर बाँध दीजिए। यदि हृदय की गति बंद हो गई है, तो उँगली सफ़ेद बनी रहेगी। यदि कुछ बाक़ी है, तो उँगली सूज जायगी तथा नीली हो जायगी।

आ—त्वचा के अंदर अमोनिया का इंजेक्शन कीजिए। यदि हृदय में गति है, तो कुछ न होगा, यदि नहीं है, तो बादामी रंग का धब्बा पड़ जायगा।

इ—हाथ का पंजा फैलाकर प्रकाश में देखिए। यदि हृदय में गति है, तो उँगलियों के बीच की त्वचा में लाल रंग दिखाई पड़ेगा, यदि नहीं, तो पीला।

ई—त्वचा के अंदर फ़्लोरेसीन (Fluorescin) का इंजेक्शन कीजिए। यदि हृदय में गति है तो पीला रंग दिखाई पड़ेगा, यदि नहीं तो कोई असर न होगा।

उ—नाख़ून को दबाइए। यदि हृदय में गति है, तो पहले नाख़ून पीला हो जायगा, फिर लाल। यदि नहीं है, तो कोई परिवर्तन न होगा।

ऊ—शरीर का कोई स्थान किसी गरम चीज़ से दाग दीजिए। यदि हृदय में गति है, तो छाला पड़ जायगा और छाले के किनारे लाल हो जायँगे। हृदय की गति बंद हो जाने पर भी छाला पड़ सकता है, पर उसके किनारे लाल न होंगे।

ए—एक छोटी नाड़ी, (Artery) काट दीजिए, हृदय में यदि कुछ भी गति है, तो सक-सककर वेग से रक्त निकलेगा, यदि नहीं है, तो साधारण रूप से बहने लगेगा।

(२) श्वास-क्रिया का पूर्ण तथा स्थायी लोप—

अ—नाक तथा मुँह के सामने एक दर्पण रखिए। यदि श्वास कुछ भी होगी, तो दर्पण की चमक जाती रहेगी।

आ—नाक तथा मुँह के सामने एक हलका पंख रखिए। यदि कुछ भी साँस चलती होगी तो पंख हिलेगा।

इ—छाती पर एक दर्पण इस प्रकार रखिए कि उस दर्पण की चमक एक दीवार पर पड़े। यदि कुछ भी साँस चलती होगी, तो वह चमक हिलेगी।

(३) आँखों में मृत्यु के लक्षण—

अ—आँख की चमक का लोप।

आ—आँख में उँगली लगाइए, यदि जीवन है, तो वह व्यक्ति आँख बंद करने का प्रयत्न करेगा।

इ—आँख पर तेज़ प्रकाश डालिए। यदि जीवन है, तो पुतली छोटी पड़ जायगी।

ई—आँख में ऐट्रोपीन (Atropine) डालिए। यदि जीवन है, अथवा यदि मृत्यु को एक घंटे से अधिक समय नहीं हुआ है, तो पुतली फैल जायगी।

उ—आँख में एसेरीन (Eserine) डालिए। यदि जीवन है, अथवा यदि मृत्यु को एक घंटे से अधिक समय नहीं हुआ है, तो पुतली छोटी हो जायगी।

(४) त्वचा में मृत्यु के लक्षण—

अ—मृत्यु के बाद त्वचा का रंग मटमैला, पीले रंग का हो जाता है।

आ—रबर के समान फैलने तथा सिकुड़ने की शक्ति नष्ट हो जाती है।

इ—किसी स्थान पर चाक़ू से छोटा-सा घाव कर दीजिए। जीवित अवस्था में घाव कटते ही फैल कर चौड़ा हो जाता है। मृत्यु के बाद ऐसा नहीं होता।

(५) शरीर की गर्मी का लोप—

साधारणतः शरीर में ९८ डिगरी से लेकर ९९ डिगरी तक गर्मी रहती है। मृत्यु के बाद धीरे-धीरे १४ या १५ घंटे के भीतर ४ डिगरी के लगभग पहुँच जाती है।

(६) मांस-पेशियों में मृत्यु के लक्षण—

"मृत्यु" के बाद ३ से ७ घंटे तक मांस-पेशियाँ ढीली रहती हैं, पर उनमें जीवन रहता है; क्योंकि बिजली के आघात से वे सिमट सकती हैं।

"मृत्यु" के २ से १० घंटे बाद मांस-पेशियों की 'असली' मृत्यु होती है। वे कठोर हो जाती हैं। साधारणतः सबसे पहले आँखों के पटल कठोर होते हैं, फिर क्रम से—पीठ, गर्दन का पिछला भाग, जबड़ा, गर्दन का अगला भाग, चेहरा, छाती, हाथ, पेट और अंत में पैर। यह दशा १९ या २० घंटे रहती है। उसके बाद इसी क्रम से मांस-पेशियाँ फिर ढीली हो जाती हैं।

इन सबके बाद या तो शरीर (७) सड़ने लगता है, या जैसा पीछे लिखा आ चुका है—(८) Saponifiaction अथवा (९) Mummification होना प्रारंभ हो जाता है।

इन नौ लक्षणों* को ध्यान में रखकर ही निश्चय-पूर्वक यह कहा जा सकता है कि अमुक मनुष्य की मृत्यु हो गई। किसी की मृत्यु बतलाने में इतनी सावधानी और सोच-विचार देखकर कितने ही लोग हँसेंगे—विशेषतः हमारे वैद्यराज पाठक, जो केवल नाड़ी देखकर ही जीने मरने का फ़ैसला कर देते हैं। ऐसे लोगों से मेरा नम्र-निवेदन यही है कि मनुष्य मनुष्य ही है, सर्व-शक्तिमान् नहीं। उससे भूल हो जाना बहुत संभव है। एक या दो लक्षणों से किसी के जीवन-मरण का फ़ैसला कर देने से न-जाने कितने प्रिय-जनों का वियोग हो सकता है, क़ानून के फेर में पड़ जाने का भय रहता है। और कुछ न हुआ, तो हमारे उन पूर्वोक्त परिचित महाशय की तरह जन्म-भर यह संदेह बना रह सकता है कि शायद मेरा प्रियपुत्र बच ही जाता!

नवलविहारी मिश्र

---

* इन लक्षणों के अनेक अपवाद हैं। विस्तार-भय से वे इस लेख में नहीं दिए गए।—लेखक
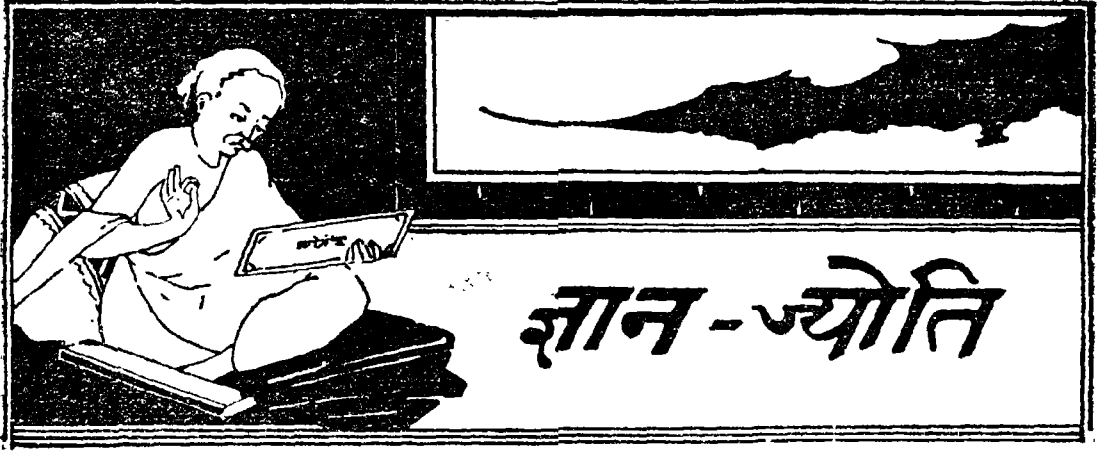
१. पुराणतत्त्वालोचन

हमें "माधुरी" की नवजात सहचरी "सुधा" नाम की मासिक पत्रिका में 'पुराणतत्त्व' शीर्षक लेख पढ़कर अत्याश्चर्य हुआ। हेडिंग को देखकर जो आशा मुझे थी, वह निराशा में ही परिवर्तित हो गई, क्योंकि लेखक की लेखन-प्रणाली से पुराणों की उपकारिता का वर्णन न होकर उन पर एक प्रकार का कुठाराघात हुआ है। जो अंश इस लेख में खंडनात्मक—या उस तत्त्व को न जानकर भ्रमात्मक लिखे गए हैं। उनका दिग्दर्शन कराते हुए पुराणों की उपयोगिता का कुछ वर्णन करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

आज हम वैदेशिक सभ्यता के चका चौंध में चकित होकर हिंदू-धर्म को इसलिये तिलांजलि देते जाते हैं कि—वैदिक ग्रंथों के पढ़ने की हम योग्यता नहीं रखते हैं। यदि हमारे अंगोपांगों के सहित वेदादि शास्त्रों के अध्ययन की परिपाटी होती, तो—ऐसे विचारकों का देश में रहना कठिन हो जाता। आजकल हिंदू जनता को प्रत्येक आदमी बहका सकता है। परंतु संसार शून्य नहीं है, अब भी अनेक शास्त्रज्ञ विद्यमान हैं। अस्तु—पुराणों का प्रतिपाद्य विषय यह है—"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्।" इसकी व्याख्या आगे चलकर करूँगा। अभी "पुराणतत्त्व" लेख के कुछ नमूने देखिए और पक्षपात-रहित होकर सत्य का ग्रहण कीजिए। पुराणतत्त्व के लेखक लिखते हैं—"वैदिक संहिताओं की बातें रूपकमयी हैं"—"पुराणों की बातें अतिशयोक्तिमयी हैं" इनसे पूछना चाहिए कि जिन वेदों को—'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्' इत्यादि मनुजी ने अखिल धर्मों की जड़ माना है, उनको आप रूपक बतलाते हैं। रूपक तो प्रायः कल्पित (फ़र्ज़ी) हुआ करते हैं। वेदों को ऐसा लिखना—"नास्तिको वेदनिंदकः" की चरितार्थता है। यदि आज पुराण-ग्रंथ संसार में न होते, तो हिंदू-इतिहास को कौन बतलाता तथा हिंदू-धर्म की सभ्यता का पता कहाँ से चलता। इस तत्त्व को ध्यान में न लाकर उनको अतिशयोक्ति प्रधान लिखकर मिथ्या बताना हिंदू-धर्म का मूलोच्छेदन करना है। वास्तव में पुराणों ने वेद में आई हुई बीज रूप कथाओं, आख्यानों को विशद रूप से स्पष्टीकरण करके गूढ़ तत्त्व को खोलकर वर्णन किया है। इसी अभिप्राय को लेकर महाभारतकार ने कहा है कि—"इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्"—अर्थात्—इतिहास और पुराण से वेदों का अर्थ समझे।—आगे चलकर पुराणतत्त्व के लेखक ने शिव, विष्णु आदि देवताओं को कल्पित तथा उनको हव्य पदार्थों का भोग लगाने एवं उनके नाम पर अग्नि में डालने को भी व्यंग्य भाव से मिथ्या बताया है। इस विषय पर अधिक लिखना व्यर्थ है। क्योंकि—'स ब्रह्मा, स विष्णुः, स शिवः, स कालाग्निः'

इत्यादि सहस्रशः उपनिषदादि के प्रमाणों से यह वैदिक देवता सिद्ध हैं। "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्"—गीतोक्त श्रीभगवान् के इस वचनानुसार प्रत्येक कर्म का ईश्वर को अर्पण-रूप निष्काम कर्म की श्रेष्ठता सर्वमान्य है। रहा अग्नि में डालना वह तो—"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते" इस वचन से हवन-कर्म वृष्टि का महान् साधन सर्ववादि सम्मत है। इसकी उपेक्षा शोचनीय है। आगे चलकर लेखक ने स्वर्ग-नरक का मानना, चौरासी लाख योनियों में जीव का भ्रमना, प्रेत-पिशाचादि योनियों का होना, भारतवासियों के इन वैदिक सिद्धांतों को धूर्तों की ठगी बताया है। पाठकगण ? भारतीयों की इन बातों को योरप-अमेरिकावालों ने ही सिद्ध कर दिखाया है—उन्होंने मृतात्माओं ? के बुलाने का भी विज्ञान निकाल लिया है तथा आवागमन को भी मानने लगे हैं। इन बातों को मिथ्या लिखना—प्रत्यक्षवाद का चौपट करना नहीं तो क्या है ? जो लोग वेदों को मानते हैं, उन्हें इन विषयों में अणु-मात्र भी शंका नहीं है, क्योंकि अथर्ववेद में भूत, प्रेतादि का वर्णन विस्तार से मिलता है—'ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः', 'यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च' इत्यादि मंत्रों में गधे के समान शब्द करके सायंकाल को नाचनेवाले तथा स्वप्न में गर्भिणी स्त्रियों को भ्राता व पिता का रूप धारण कर दिखाई देनेवाले भूतादि नहीं, तो और कौन हैं ?

जब कि पुराणतत्त्व के लेखक ने—आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक इन तीनों अर्थों को पौराणिक एवं वैदिक ग्रंथों का मूल स्वीकार किया है, तो आधिभौतिक अर्थ भी उनको मानना पड़ेगा; ऐसी दशा में पुराणों को अतिशयोक्ति प्रधान-मात्र कहना असिद्ध-साधन-मात्र है।—इस उपर्युक्त स्व-स्वीकृत युक्ति के अनुसार सूर्य का ससाश्व होना, अहल्या, उर्वशी, हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद आदि की सत्ता भी स्वीकार करना पड़ेगी। इन नामों का अर्थ बदल कर अनर्थ करना सहज है, पर सारे इतिहास का बदलना सहज नहीं। अतिशयोक्ति-मात्र मानने से इन नामों की कोई व्यक्तियाँ न ठहरेंगी, फिर तो इनके इतिवृत्त मिथ्या मानने पड़ेंगे। एवं कर्ण, युधिष्ठिरादि की सत्ता से भी हाथ धोना पड़ेगा, क्योंकि—इन लोगों का जो इतिहास उपलब्ध है, वह लेखक को मान्य नहीं। अतः इनके इतिहास का अन्य ग्रंथ बतलाना चाहिए।—इसी प्रकार दुर्गा-भगवती, महिषासुर, शुम्भ-निशुम्भादि विषयक कल्पना भी अयुक्त है। क्योंकि 'प्रकृति पुरुषयोरन्यत् 'सर्वमनित्यम्', 'अजामेकां लोहित-शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः' इत्यादि सूत्र, उपनिषदादि के प्रमाणों से भगवान् की आदिशक्ति जगदंबा भगवती का होना स्वतः सिद्ध है। उसे शासन-प्रणाली-मात्र मानना युक्ति-विरुद्ध है। चंडी-स्तोत्रादि पाठ करनेवालों को ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक होने से उनके चरित्र का सुधार-रूप फल अवश्य होता है। 'यद् वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' इस न्याय से प्रथम वाणी से पाठ किए बिना अर्थानुष्ठान असंभव है।—पुराणतत्त्व के लेखक ने मंत्र-शास्त्र का भी उपहास उड़ाया है। चार्वाकादि नास्तिक लोग—आठ, चार, तीन—प्रमाणों को न सही, पर प्रत्यक्ष प्रमाण को अवश्य स्वीकार करते हैं। पर आपने इनको भी मात देकर निराधार तर्कवाद के सहारे, अकाट्य प्राचीन शास्त्रों एवं विज्ञान-सिद्ध बातों को भी उड़ा देने का प्रयास किया है। यद्यपि मंत्र-विद्या आधुनिक काल में न्यून हो गई है, तथापि यत्र तत्र अब भी सर्प, वृश्चिकादि मंत्रों के ज्ञाता उपलब्ध हैं। भगवान् राम ने मानव-चरित्र का आदर्श दिखलाया है, अतएव उन्होंने अपने को ईश्वर प्रकट करने का प्रयास ही नहीं किया। यदि वे मानवीय रथ से वनवास को गए थे; तो इससे उस काल में मंत्र-विद्या का अभाव नहीं सिद्ध होता। 'वशिष्ठमन्त्रोक्षणजातप्रभावात्' इस प्रमाण से दिलीप महाराज का रथ, पर्वत, आकाशादि में वशिष्ठजी के मंत्र-प्रभाव से चला गया था, इसमें अणु-मात्र संदेह नहीं; क्योंकि वे त्रिकालज्ञ थे। 'ऋषयो मंत्रद्रष्टारः' महर्षि थे, आधुनिक वैज्ञानिकों से तो विशेषज्ञ थे। जब कि वर्तमान कालिक गुरुंडों के बनाए रथ (रेल, हवाईजहाज़) सर्वत्र आते-जाते हैं। तो वशिष्ठजी के मंत्र-बल में शंका का अवकाश कहाँ ? वास्तव में—'जन्मौषधि-मन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः' पातंजल योगदर्शन के इस सूत्रानुसार योग-सिद्ध महात्माओं को मंत्रादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। तदनुसार वशिष्ठादि महर्षियों में सर्व प्रकार की सिद्धियाँ थीं। वे मंत्र-प्रभाव से याज्ञिक मानसिक सृष्टि तक करने में समर्थ थे। अतः मंत्र-शास्त्र

को—वैदिक भंडार को—हँसकर उड़ाना आस्तिक समुदाय में हास्यास्पद बनना है। पुराणतत्त्व के लेखक ने "क्षुवतश्च मनोरिदवाकुर्घ्राणतो जज्ञे" "ध्यायतः तस्य नासाग्राद्विरंचेः सहसा नघवराहपोतो निरगा-देकांगुलप्रमाणतः" इत्यादि पुराणोक्त घटनाओं को स्वीकार करने में नाक-भौंह को अतिवक्रीभूत किया है। परंतु अभी दो ही वर्ष के अंदर की एक घटना है कि—योरप के एक ग्रामीण कृषक अँगरेज़ के पेट से दो बालक उत्पन्न हुए थे, जिस पर तत्कालीन "लीडर" आदि संवादपत्रों ने ख़ूब ही आकाश-पाताल के क़ुलाबे मिलाए थे। पाठकगण! जब आजकल अनेक विचित्र बातों को हम संसार में देखते हैं, तो वैचित्र्यमय सृष्टि की बातों को मिथ्या कहने का साहस अनभिज्ञता एवं अहंमन्यता गर्भित होने से जनता की वंचना-मात्र है। सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाय, तो—वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं, शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः—इस न्याय से क्रमशः ज्यों-ज्यों मनुष्यों की शक्तियाँ क्षीण होती गईं, त्यों-त्यों त्रिकालज्ञ, अगत्कर्णधार, महर्षियों ने वेदों के व्याख्यारूप—उपनिषद्, दर्शन, स्मृति, पुराणादि अनेक सरलोन्मुख ग्रंथ रचे। तदनुसार पुराणों ने वेदों और तद्भाष्यरूप ब्राह्मणग्रंथों की शुनःशेप, अजीगर्त, हरिश्चन्द्रादि कथाओं के रहस्य की प्रश्नोत्तर-पूर्वक व्याख्या की है। जो शंकाएँ हिंदू-धर्म के ऊपर की जाती हैं, या हमें स्वयं उत्पन्न होती हैं। उनका विवेचन स्वयं कारुणिक, पुराणकार ऋषियों ने करके समाधान भी किया है।—वेद में एक मंत्र आता है "द्वासुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति,—अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।" इसको भागवत पुराण ने यों स्पष्ट किया है कि—सुपर्णावेतौ सयुजौ सखायौ, यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे। एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नं, ह्यन्यो निरन्नोऽपिबलेन भूयान्॥ आत्मानमन्यं-सच वेदविद्वा, न पिप्पलादो न तु पिप्पलादः। यो विद्ययायुक् सतु नित्यमुक्तो, ऽविद्यामयो यः सतु नित्यबद्धः॥—पुराण-शास्त्रों ने वेदोक्त ५ बातों को समझाया है—(१) सर्ग—सृष्टि किस प्रकार बनी। (२) प्रतिसर्ग—प्रलय किस रीति से हुआ करता है। (३) वंश—सृष्टि में उत्पन्न हुए लोगों के अद्भुत चरित्र क्या हैं। (४) मन्वन्तर—चतुर्दश मनुओं से किस प्रकार सृष्टि रक्षित रहती है। (५) वंशानुचरित्र—सतयुग से लेकर द्वापर युगांतर्गतकालीन महाराजों के इतिहास—जो कुछ उनके भले या बुरे आचरण थे, उनका निदर्शन है।—

पुराण-ग्रंथों ने जिन उलझी हुई समस्याओं को सुलझाया है, उसका स्वाद पुराणों के पाठ करने से ज्ञात हो सकता है। परंतु अब तो विदेशी सभ्यता के चक्कर में पड़कर हमने अधिकांश हिंदू-शास्त्रों के पढ़ने में तथा वेदार्थ समझानेवाली संस्कृत-भाषा में विश्वास और अभिज्ञता को खो दिया है—इनके अध्ययन की शपथ कर ली है, हमें जो जैसा समझा देता है, उसी पर हम लट्टू हो जाते हैं। मेरा विश्वास है जब तक वैदिक वर्ण और आश्रमों का पुनरुद्धार न किया जायगा, तब तक देश स्वराज्य प्राप्त नहीं कर सकता।

अब हम प्राचीन बातों को वेदादि के प्रमाण देकर समझाते हैं, तब न्यूफ़ैशन के लोग हँसकर टाल देते हैं। परंतु जब एक गौरमुख विदेशी आदमी, हैट-बूट को डटकर उन्हीं बातों को विदेशी भाषा में समझा देता है, तब हम ननु नच न करके स्वीकार कर लेते हैं।

आधुनिक साइंस विज्ञान के अनुसंधान से हिंदू-धर्म की अनेक बातें सिद्ध हो गई हैं, यह हिंदू-धर्म की सत्यता का परम प्रमाण है।

रामसेवक शास्त्री

१. प्रेत-तत्त्व

'माधुरी' के पाठकों की आज्ञा है, मित्रों का आग्रह है और मेरी भी इच्छा है कि प्रेत-तत्त्व पर कुछ लिखा जाय। 'सुधा' के जीवन के आरंभ ही से उसके प्रायः प्रत्येक अंक में, प्रो० रामदासजी गौड़ का प्रेत-संबंधी कोई-न-कोई लेख रहता है। पाठकों ने उन्हें पढ़ा होगा और प्रेत-विषयक जानकारी भी उन्हें प्राप्त हुई होगी। उनके लेखों से लोगों को यह भी विश्वास जम गया होगा कि प्रेतों को मनुष्य बुला भी सकते हैं और उनसे बातचीत भी कर सकते हैं। सुनने में आया है, कि पाश्चात्य देशवाले प्रेतों के फ़ोटो भी उतारा करते हैं; किंतु ये बातें कहाँ तक ठीक हैं, मैं नहीं कह सकता। विज्ञान के लिये बहुत थोड़ी ही बातें असंभव हैं। शायद प्रेत बुलाने पर आते हों और टेबुल का पैर हिलाकर या लिखकर बातें भी करते हों; किंतु अभी तक बहुत से ऐसे लोग हैं जिन्हें इन बातों में विश्वास नहीं और उनमें यह तुच्छ लेखक भी एक है। शायद आगे चलकर हमारे जैसे लोगों को अपना मत बदलना पड़े क्योंकि सत्य का बोलबाला सब जगह होता है; किंतु साथ ही यह भी संभव है कि प्रेत-तत्त्व में विश्वास करनेवालों को ही मुँह की खाना पड़े।

संसार के बड़े-बड़े वैज्ञानिक प्रेत की अद्भुत लीलाओं में विश्वास करते हैं इसलिये सभी ऐसा करें यह कोई बात नहीं। उन लोगों को मैं श्रद्धा की दृष्टि से देखता हूँ। सर आलिवर लाज की विद्वत्ता, पांडित्य, और अगाध ज्ञान का सारा संसार क़ायल है। ये भी प्रेतात्मवादी हैं। प्रो० रामदासजी गौड़ के विषय में मैं क्या कहूँ। हिंदू-विश्वविद्यालय में उनके चरणों के पास बैठकर लेखक ने बहुत-सी शिक्षाएँ ग्रहण की हैं। उनका वह सदा ऋणी रहेगा; किंतु इस विषय में उनका और मेरा मत एक नहीं, इसका मुझे दुःख है। मेरी तनिक भी इच्छा नहीं थी कि मैं उनके लेखों के विरुद्ध लेख लिखूँ; किंतु प्रेतात्मवाद के विरोधी दल का विचार हिंदी-संसार के सम्मुख रखने के विचार से तथा कुछ लोगों के आग्रह से विवश होकर ऐसा करना पड़ता है। आशा है, प्रोफ़ेसर महोदय मुझे क्षमा करेंगे। मुझे सचमुच इस बात का दुःख रहता है कि जब आप बिहार-विद्यापीठ में शिक्षण का कार्य करते थे उस समय मैं आपके पास आकर अपने संशयों को दूर न कर सका। इसका एक-मात्र कारण यह है कि आपके प्रेतात्मवादी होने का पता हमें आपके यहाँ से (पटने से) चले आने के बाद लगा, किंतु अब भी यदि मौक़ा मिला, तो मैं आपके चरणों में उपस्थित होने से बाज़ नहीं आऊँगा। मि० बी० डी० ऋषि ने इस क्षेत्र में, भारतवर्ष में, जितना

नाम पैदा किया है उतना शायद ही और किसी ने किया हो; किंतु उनके प्रेतावाहन से भी मेरी शंका दूर नहीं हुई। पटने में वे एक बार आए थे। 'सर्चलाइट' आफ़िस में उन्होंने प्रेत बुलाया था। मैं भी वहाँ पर था; किंतु मेरा विश्वास अटल रहा—प्रेत बुलाने से आते नहीं।

मेरे मित्रों ने कई बार मुझे धर पकड़कर 'सियांस' में बैठाया। कभी तो प्रेत आए ही नहीं और कभी मित्रों की धूर्तता से आए भी तो एक दो कूट-प्रश्नों (Cross-questions) के बाद नौ दो ग्यारह हो गए। इस बार बड़े दिनों में मैं मकान गया था, सुना मेरी स्त्री भी प्रेत बुलाने की विद्या अपने भाई से सीख आई है। कड़ी परदा-प्रथा के कारण मैं दिन में उससे मिल नहीं सका। रात में भेंट होने पर पूछा, उसने अपनी स्वीकृति जताई। निश्चय हुआ दूसरे दिन रात में प्रेत बुलाया जायगा। तिपाई ऊपर की गई, रात में हम लोग प्रेत बुलाने बैठे। उसने पूछा—"किसे बुलाऊँ ?" मेरे मुँह से निकल पड़ा—"अपनी दीदी को।" कह तो दिया, किंतु जब यह ख़्याल आया कि उसकी बड़ी बहन मेरी पहली स्त्री थी और उसके विषय की यह बहुत सी बातें जानती है तब मैं घबड़ाया; किंतु अब आवाहन आरंभ हो गया था। थोड़ी देर के बाद टेबुल के एक पैर ने कई बार खटका मारा। यह पैर मेरी स्त्री जहाँ बैठी थी उसके ठीक सामने का पैर था। यदि पाठकों को कभी 'सियांस' में बैठने का मौक़ा मिला हो; तो उन्होंने लक्ष्य किया होगा कि प्रेत बुलानेवाले जहाँ बैठते हैं तिपाई का ठीक उनके सामने का पैर या ठीक उनके विपरीत दिशा का पैर उठता है। दाहिने या बाएँ हाथ की ओर जो पैर होते हैं वे कभी नहीं उठते। इससे क्या प्रमाणित होता है ? लोगों को धोखा देने के लिये प्रेत बुलानेवाले टेबुल के उन पैरों को ही उठाते हैं जो आसानी से उठते हैं। यदि अभी तक किसी ने लक्ष्य न किया हो, तो अब से वे ख़्याल करेंगे। अस्तु, मेरी मृत-स्त्री का प्रेत आया। टेबुल ही द्वारा कई प्रश्न पूछे गए और उनका उत्तर ठीक ही मिलता गया। किंतु जब मैंने ऐसे प्रश्न पूछने आरंभ किए जो सिवा मैं और मेरी मृत-स्त्री के और कोई नहीं जानता; तब तो ऊटपटांग जवाब मिलने लगे। मैंने कहा—ऐसे नहीं। कुछ प्रश्नों का उत्तर लिखकर माँगो। ऐसा ही कहा गया; प्रेत (यदि सचमुच वहाँ प्रेत आया हो, जिसमें मुझे शक है) राज़ी हो गया। मैं ही लेखक चुना गया; हाथ में पेंसिल पकड़ा दी गई, किंतु हाथ जहाँ-का-तहाँ रहा। कुछ देर के बाद फिर प्रेत से पूछकर मेरी स्त्री लेखिका बनी; किंतु हाथ टस-से-मस नहीं हुआ। फिर तिपाई पर हाथ रखे गए और इस बार मैंने तिपाई के उस पैर को ज़रा ज़ोर से दबा दिया जो उठ रहा था। टेबुल का पैर मेरी स्त्री के बहुत चेष्टा करने पर भी नहीं उठा। उसने मुझे यह समझाना चाहा कि प्रेतों के यह आराम करने का समय है इसलिये वह चला गया है। मैं तो पहले ही से अविश्वासी था; उसके समझाने से कब समझता। प्रो० गौड़जी के कथनानुसार प्रेत बुलाने का उपयुक्त समय रात में १० बजे से दो बजे तक है। उस समय साढ़े दस बज रहे थे प्रेत को ठहरना चाहिए था न कि बिना कुछ संकेत किए भाग जाना था। मेरे मित्रों ने भी कई बार मुझे धोका देना चाहा; किंतु प्रत्येक बार उनका भंडाफोड़ हो गया। मैं यह नहीं कहता कि प्रत्येक प्रेत बुलानेवाले धोखेबाज़ होते हैं; किंतु मैं यहाँ अपना अनुभव लिख रहा हूँ। शायद प्रेत सचमुच आते भी हों।

मेरे एक मित्र रेलवे में काम करते हैं। उनसे एक बार इसी विषय पर बातें हो रही थीं उन्होंने कहा—"यह सब कुछ नहीं है, साहब! यह सब इलेक्ट्रिसिटी और योग का खेल है।" आप कुछ दिनों तक योग साधन किया करते थे। आपने अपनी बहुत-सी बीती बातें बताई और साथ ही कहा—"आजकल जो लोग पाश्चात्य को अपना गुरु बनाकर प्रेत बुलाते हैं वे लोग मक्कारी करते हैं। मनुष्य शरीर में जो बिजली है वही ग़ज़ब करती है।" एक मिसाल लीजिए। हम लोग हिंदू ठहरे, हम लोग शुद्धता पसंद करते हैं। इसलिये जो लोग बिजली की यह करामात देखना चाहते हैं, नहा-धोकर शुद्ध हो लें। किसी स्थान को गोबर से लीप दें और उस लीपे हुए स्थान पर एक कोरा घड़ा (वह घड़ा जो कुम्हार के यहाँ से लाया गया हो और जिसमें पानी वग़ैरह नहीं रखा गया हो) उलट कर रख दें। उसके चारों ओर लोग उसी भाँति उस पर हाथ रखें जिस प्रकार टेबुल पर रखते हैं। अर्थात् एक मनुष्य के दोनों हाथों के अंगुष्ठ परस्पर को छूते रहें। उसके पास बैठे हुए मनुष्य की कनिष्ठिका अँगुली पहले मनुष्य की

कनिष्ठिका को छूए। इसी प्रकार एक घेरा बनाकर लोग उस घड़े के चारों ओर बैठें और एक निगाह से उसकी ओर देखें। आधे या तीन चौथाई घंटे में (कभी-कभी इससे कम समय में भी) घड़ा आप-ही-आप उठने लगेगा। प्रेतात्मवादी इसे क्या कहेंगे ? क्या इस घड़े पर भी प्रेत ने अधिकार जमा लिया है, घड़ा कभी-कभी मनुष्यों के हाथों के बीच घूमने भी लगता है। हमने सुना है, देखा तो नहीं, कि टेबुल भी कभी-कभी गोलाकार घूमने लगता है। जब टेबुल, घड़ा उठते हैं या घूमते हैं, तब संभव है और वस्तुएँ भी इसी प्रकार उठें या घूमें। इसलिये आप क्या कहियेगा कि सभी वस्तुओं पर प्रेत अपना अधिकार जमा लेते हैं ? कम-से-कम मैं यह मानने को तैयार नहीं।

प्रेतात्मा के आ जाने पर और टेबुल पर अधिकार जमा लेने पर किसी व्यक्ति को मध्यस्थ (Medium) बनाकर प्रेत अपनी बातें लिखवा भी सकते हैं। बड़े ही मज़े की बात है। आप अपने हाथ में पेंसिल पकड़ लिए, प्रेत न भी आया हो, तो भी आपका हाथ उन्हीं शब्दों को लिखेगा, जो आपके मन में उठ रहे हों। बहुधा हाथ चलता ही नहीं और यदि चलता भी है, तो उपरि लिखित अवस्था होती है। जिन मनुष्यों में बिजली की मात्रा अधिक होती है, जो योग द्वारा प्राप्त हो सकती है, वे अपने विचारों को, प्रेरण कर, कमज़ोर मनुष्यों द्वारा लिखवा सकते हैं। मैं नहीं जानता मेरे मित्र का यह विचार और लोगों को मान्य होगा, या नहीं। अस्तु।

प्रेत बुलानेवाले लोग अकसर तीन पैर के टेबुल ही पर प्रेत क्यों बुलाते हैं, यह भी एक विचारणीय विषय है। असल बात यह है कि तीन टांग होने की वजह से वे जितनी आसानी से अपनी धूर्तता को छिपा सकेंगे, उतनी अन्य किसी पदार्थ के होने से न कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त, धूर्तता छिपाने में सहायक चिराग़ का धीमा प्रकाश भी तो होता है। आजकल पाश्चात्य देशों में प्रायः प्रतिदिन ऐसे धोकेबाज़ों के कार्य का भंडाफोड़ हो रहा है। प्रायः तीन वर्ष हुए "Science and Invention" पत्र ने तेंतीस लाख रुपया उस मनुष्य को देने की घोषणा की थी, जो प्रेत से बात करे और प्रेत-संबंधी ऐसी करामात दिखावे, जो धूर्तता न हो। किंतु इतने प्रेत-तत्त्ववादियों के होते हुए भी उस पात्र का तेंतीसलाख अभी तक उसी के नाम बैंक में जमा है। साइकालोजिकल इन्वेस्टिगेशन कमेटी के चेयरमैन मि० डनिन्जर ने भी तीस लाख रुपया ऐसे ही कार्य के लिये देने की घोषणा की है। इस समय 'साइंस और इन्वेन्शन' पत्र के पास ६३ लाख रुपए प्रेत-आवाहन की सत्यता प्रमाणित करनेवाले के लिये रखे हुए हैं। कौन भाग्यशाली व्यक्ति उसे लेता है ; यही देखना है।

भारतवर्ष अभी तक पाश्चात्य देशों-सा उन्नत नहीं है। इसलिये यहाँ के लोगों में धूर्तता की मात्रा भी पाश्चात्य देशवालों की अपेक्षा कम है। यहाँ के प्रेत बुलानेवाले कई बातों को छिपाते हैं ; किंतु मैं तो उनका कच्चा चिट्ठा लिखने चला हूँ इसलिये मैं लिखूँगा अवश्य। प्रेत बुलाने का एक और तरीक़ा, जो पाश्चात्य देशों में काम में लाया जाता है, वह है एक टेबुल के चारो तरफ़ कई लोगों का परस्पर हाथ पकड़कर बैठना। टेबुल को कोई छूता तक नहीं ; दस-दस पंद्रह-पंद्रह आदमी तक एक घेरा बनाकर कुर्सियों पर टेबुल के चारों ओर बैठते हैं। ध्यान लगाकर प्रेत का आवाहन करते हैं। प्रेत आता है, टेबुल पर अधिकार जमाता है और प्रश्नों का उत्तर संकेत द्वारा 'हाँ या ना' देता है। लोग आश्चर्य करते हैं कि टेबुल को कोई मनुष्य छुए हुए तो है ही नहीं, फिर वह क्योंकर संकेत करता है। किंतु ज़रा सावधान होकर देखने से या कड़ी परीक्षा करने से तुरंत ज्ञात हो जाता है कि टेबुल के एक पैर से मिला कर कोई तार या रबर की नली 'मिडियम' के पैर के नीचे या उसके सहकारी के हाथ तक पहुँचती है, जिसके द्वारा वे जैसा चाहें टेबुल से संकेत करा डालते हैं। इस धूर्तता के साधन अभी भारतवर्ष में सहज प्राप्त नहीं हैं। इसलिये इस प्रथा द्वारा प्रेत बुलाने का यहाँ कोई नाम ही नहीं लेता। यदि आपका कोई मित्र प्रेत बुलाने का दावा रखता हो, तो उसे इस दूसरी प्रथा द्वारा प्रेत बुलाने को कहिए और उसे अपने यहाँ प्रेत बुलाने के लिये बुलाइए, जिसमें वह टेबुल में कोई कारसाज़ी न कर सके।

प्रेतों से संवाद-ग्रहण करने या बातचीत करने की मैं एक और प्रथा बतलाता हूँ। एक गोलाकार टेबुल पर
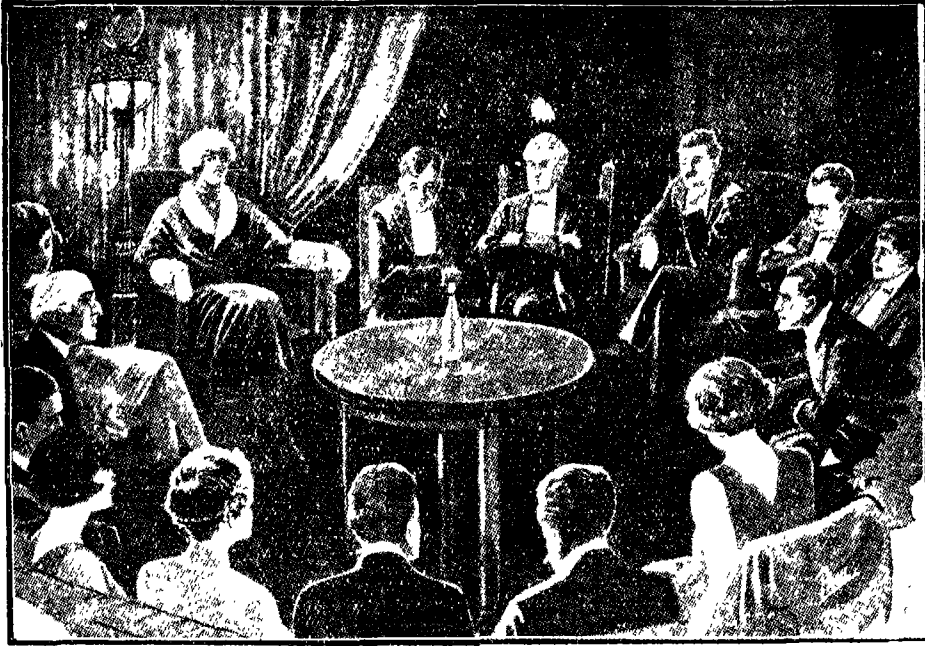
प्रेत का आवाहन

एक खाली बोतल रख दी जाती है। आपको बोतल की परीक्षा करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। उसके काग से लटकते हुए धागे की छोर पर कोई धातु का टुकड़ा बँधा रहता है। प्रेत अपना संकेत धातु के टुकड़े से बोतल की दीवार में टक्कर मार कर देता है। टेबुल के चारो ओर दस से पंद्रह तक आदमी कुर्सियों पर बैठते हैं। एक दूसरे का हाथ पकड़ने की ज़रूरत नहीं। 'मिडियम' ही प्रेत बुला लेता है या लेती है। रोशनी धीमी कर दी जाती है। 'मिडियम' ध्यानमग्ना होकर बैठती है। थोड़ी ही देर में प्रेत आता है और अपने आने की सूचना धातु के टुकड़े से बोतल की दीवार में टक्कर मारकर देता है। 'मध्यस्थ' कहता है कि यह उसका चिरपरिचित प्रेत है। वह आपके मृत व्यक्ति के प्रेतों को बुला लावेगा, या उनके विषय में प्रश्न करने पर उत्तर देगा। इसके बाद प्रश्न आरंभ होते हैं। उत्तर भी मिलता जाता है। इस क्रिया द्वारा अमेरिका के 'मिडियम' (जिन्हें मैं धूर्त कहूँगा) मालामाल हो रहे हैं। एक बार डेनिन्जर भी एक ऐसे ही 'मिडियम' के यहाँ पहुँचे। इन्होंने अपना नाम बदल लिया था, 'सियांस' आरंभ होने के पहले लोगों ने मिलकर दो-तीन भजन गाए। इसके बाद 'मिडियम' ने, जो एक औरत थी, अपने प्रेत के विषय में तथा उसकी शक्ति-संबंधी एक छोटी-सी वक्तृता दी। तब ध्यान लगाकर उसने अपने प्रेत को बुलाया और उपस्थित लोगों के प्रश्नों का उत्तर उपर्युक्त विधि से देने लगी। 'सियांस' प्रायः एक घंटे तक चलता रहा। इस समय में डेनिन्जर धूर्तता की खोज निकालने में लगा था। उसने देखा कि एक अँधेरे स्थान में एक मनुष्य और लोगों के साथ ही गोलक में बैठा हुआ है। बोतल की दीवार में धातु के टुकड़े का टक्कर मारने के समय उसका पैर भी हिलता है। उसके दिमाग़ में सारी बातें दौड़ गईं। उसने तुरंत उठकर बिजली का बटन दबाया। कमरे में तीव्र प्रकाश फैल गया। इसके बाद फ़र्श से क़ालीन को उठाते ही सारा भंडा फूट गया। लोगों ने देखा कि रबर के दो गेंद हैं—एक उस मनुष्य के पैर के नीचे और दूसरा टेबुल के एक पैर के नीचे, और दोनों का संबंध रबर के एक नल द्वारा है। पैर दबाते ही पैर के नीचे का गेंद सिकुड़ता या दबता है। टेबुल के नीचे का गेंद फूलता है और ज़रा-सा उठ जाता है। इसी
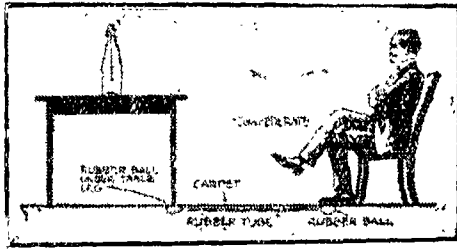
रबर का नल दबा रहा है ।

समय तागे से लटकता हुआ धातु का टुकड़ा बोतल की दोवार में टकर मारता है और उससे आवाज़ निकलती है। (चित्र देखिए)

जिस समय यह धूर्तता पकड़ी गई, उस समय वहाँ जितने लोग थे उनमें खलबली मच गई; क्योंकि वे सभी प्रेतों में विश्वास करनेवाले थे और 'मिडियम' के भक्त थे। किंतु साँच को आँच क्या ? उन लोगों ने अपनी आँखों के सामने जो देखा, उसे विश्वास करते या एक अदृश्य वस्तु प्रेत में। इसके बाद उस 'मिडियम' की क्या गति हुई, यह कहना नहीं होगा।

प्रेतवादी जिन कामों को प्रेत का करतब कहते हैं, उन्हें हाथ की सफ़ाई या चतुराई से दिखलाना कोई बड़ी बात नहीं है। यह लेख बहुत लंबा हुआ जाता है। इसलिये इसे यहीं समाप्त कर मैं फिर कभी पाठकों को प्रेत का रूप तक दिखलाने के लिये उपस्थित होऊँगा। मैं एक-दो और भी हाथ की सफ़ाइयाँ बतलाऊँगा, जिसे दिखलाकर आप लोगों को हैरत में डाल देंगे और उनका विश्वास प्रेत के अस्तित्व पर दृढ़ कर देंगे। यद्यपि यह है कुछ भी नहीं, है केवल हाथ की सफ़ाई और लोगों को धोखा देने का तरीक़ा।

× × ×

२. अन्न का अकाल

वैज्ञानिकों तथा अर्थ-शास्त्रियों का कहना है कि पृथ्वी पर मनुष्य जिस अनुपात से बढ़ते हैं, उस अनुपात से इसकी पैदावार नहीं बढ़ती। मनुष्य अन्न की अपेक्षा द्रुतगति से बढ़ रहे हैं। इसलिये लोगों का विश्वास है कि बहुत शीघ्र ही अन्न का अकाल हो जायगा, और कितने ही मनुष्य बिना खाए प्राण त्याग देंगे। इस भयानक अवस्था को दूर करने के लिये कृत्रिम रीति से अन्न तैयार करने की बात उठ पड़ी है। कहीं-कहीं इसका प्रयोग भी चल रहा है, किंतु अभी सफलता नहीं मिली है। ऐसे ही मौक़े पर पौधा अनुसंधानकारी Boyce Thompson Institute के डॉ० जान एम आर्थर ने अनुमान से बतलाया है कि पृथ्वी की पैदावार का केवल $\frac{1}{20}$ वाँ हिस्सा मनुष्य अपने काम में लाते हैं। पशु, पक्षी आदि इसके छः गुणे अन्न का व्यवहार करते हैं। इसलिये इस समय अन्न के अकाल की बात उठाना हास्य-जनक है। पृथ्वी के सारे प्राणियों की उदर-पूर्ति के बाद भी इतना अन्न प्रति साल बच जाता है, जो पचासों वर्ष तक काम में लाया जा सकता है। इसके अलावा जर्मन रसायनज्ञ हेबर ने वायुमंडल की नेत्रजन से पैदावार बढ़ाने का जो तरीक़ा निकाला है, उससे और भी अन्न के बचे रहने की संभावना है। फिर यह कैसे कहा जाय कि अन्न का दुर्भिक्ष निकट है ? डॉ० आर्थर से प्रार्थना है कि वे एक बार भारतवर्ष की अवस्था भी देख लें, जहाँ लाखों आदमी पेट की ज्वाला से त्रसित रहते हैं, और तब अपने प्रतिपादित कथन की सत्यता का अंदाज़ा लगावें।

× × ×

३. यान्त्रिक मनुष्य

मैंने कई प्रकार के यान्त्रिक मनुष्यों के विषय में 'माधुरी' में लिखा है, किंतु जिसके बारे में यहाँ लिखा जा रहा है, वह बड़ा विचित्र है। यह यंत्र का मनुष्य शतरंज खेलता है, और बेईमानी करने पर क्रोधित भी होता है। इसके आविष्कारक स्पेन के मैड्रिड शहर के रहनेवाले लियोनार्ड टारेसी क्रिमोड़ो हैं। यंत्र का यह खिलाड़ी स्वयं खेल आरंभ नहीं करता, किंतु अपने प्रतिद्वंद्वी की चालों का उत्तर देता जाता है, और अपने मोहड़ों को बचाता रहता है। यदि मनुष्य खिलाड़ी बेईमानी कर बैठता है, तो यंत्र का खिलाड़ी अपना हाथ खेल से खींच लेता है, मानो वह क्रोध कर खेलना नहीं चाहता। इस यांत्रिक मनुष्य के खेल में केवल एक त्रुटि है; वह अपने खेल को पूरा नहीं कर सकता, और न अपने प्रतिद्वंद्वी को मात कर सकता है

× × ×

४. बच्चों के लिये वायुयान

पाश्चात्य देश के बच्चे जो काम करते हैं, वह यहाँ के बड़े लोग भी नहीं करते। मोनटाना के एक मनुष्य ने बच्चों के लिये एक वायुयान बनाया है, जो ज़मीन से कुछ फ़ीट की ऊँचाई पर उड़ता है। ठीक वायुयान के ऐसा बना हुआ

बच्चों के लिये वायुयान

है, और असली वायुयान ही जैसा पैर से चलाया (Steer) जाता है। इसमें भी पंखे लगे रहते हैं, और उसी की सहायता से यह उड़ता है। ज़मीन से निकट ही उड़ने के कारण उससे गिरकर घायल होने का भी भय नहीं रहता। जिन लड़कों के भावी जीवन का उद्देश्य वायुयान चालक बनना है, उनके लिये यह बड़े काम की चीज़ है।

× × ×

५. वायुयानों में एक और उन्नति

किसी वस्तु की अवस्था स्थायी नहीं है। परिवर्तन संसार का नियम है, और संसार के प्रत्येक पदार्थ में परिवर्तन होता रहता है। फिर भला वायुयान में, जिसके पीछे पाश्चात्य जगत् मतवाला बना हुआ है, उन्नति क्यों न हो? अभी तक तो वायुयान सीधा ही उड़ा करते थे, उड़ते समय यदि वे उलट जाते थे, तो उनकी ख़ैर नहीं रहती थी : किंतु अब तो ऐसे भी वायुयान बनने लगे हैं, जो उड़ते समय यदि उलट भी जायँ, तो भी न गिरें; और फिर सीधे होकर उड़ने लगें। ऐसे वायुयानों में साधारण मनुष्य नहीं उड़ सकते, क्योंकि पटकनिया खाने से या सिर नीचा और पैर ऊपर हो जाने से उन्हें चक्कर आने लगता है। इस प्रकार के वायुयान में बैठने के लिये जो कुर्सियाँ बनी रहती हैं, वे ख़ास तरह की होती हैं। वे चारों ओर तथा गोलाकार घूम सकती हैं, इसलिये सिर नीचे और पैर ऊपर होने की नौबत ही नहीं आती।

रमेशप्रसाद

कृषि-कौशल

१. भूमि के जैव-तत्त्व की रक्षा

सेंद्रिय पदार्थों (Organic substance) के सड़े हुए भाग को ही जैव तत्त्व (Humus) नाम दिया गया है। ज़मीन की उर्वरा-शक्ति को बनाए रखने के लिये खेत की मिट्टी में जैवतत्त्व का मौजूद रहना बहुत ज़रूरी है। गोबर की खाद, खली, कूड़ा, कचरा आदि की खाद के रूप में ही यह तत्त्व ज़मीन को पहुँचाया जाता है।

जैव-तत्त्व की मौजूदगी से खेत की मिट्टी भुरभुरी हो जाती है और उसकी जल-संग्राहक शक्ति भी बढ़ जाती है। यह कहना अत्युक्ति-पूर्ण न होगा कि ज़मीन की उर्वरा-शक्ति, जैव-तत्त्व के अस्तित्व पर ही निर्भर रहती है। जैव-तत्त्व से भरी-पूरी ज़मीन ही उर्वरा और उच्च की मानी जाती है।

कृषि-विद्यालयों में सिखाया जाता है और कृषि-विभाग द्वारा प्रचारित किया जाता है कि ज़्यादा और गहरी जुताई करने से पैदावार बढ़ जाती है। कृषि-विज्ञान-विशारद यह बात ज़ोरों से प्रतिपादित करते हैं कि अच्छी और गहरी जुताई के लिये देशी हल (लकड़ी के हल) बिलकुल बेकार हैं। इसलिये मिट्टी पलटनेवाले लोहे के हलों का उपयोग किया जाना निहायत ज़रूरी है। कृषि-विद्यालयों में शिक्षा पाए हुए लोगों का अनुभव है कि लोहे के हलों से जोते हुए खेतों में पैदावार ज़्यादा होती है, और यह बात प्रयोगों से भी साबित हो चुकी है। किंतु मि० हचिनसन का मत है कि ज़्यादा जुताई करके खेत की मिट्टी को अधिक गहराई तक ढीली करना हानिकारक है। आपका कहना है कि ऐसा करने से खेत में के जैव-तत्त्व फ़सल की पैदावार बढ़ाने में ख़र्च होते रहते हैं। और जैव-तत्त्व की कमी के कारण खेत की उर्वरा शक्ति नष्ट हो जाती है। 'एग्रिकलचरल जरनल' में प्रकाशित आपके एक लेख का सारांश यहाँ दिया जाता है।

भारत-सरकार के कृषि-सलाहकार भी इस बात को मानते हैं कि गहरी और ज़्यादा जुताई करने से खेत के जैव-तत्त्व ज़रूरत से ज़्यादा मिक़दार में ख़र्च हो जाते हैं, जिससे ज़मीन कमज़ोर हो जाती है। वे सलाह देते हैं कि इस कमी को पूरा करने के लिये सेंद्रिय-खादों को (Organic manures) काम में लाया जाय और खनिज-खाद बिलकुल ही काम में न लाए जायँ। किंतु मि० हचिनसन के मत से सेंद्रिय खाद और खनिज खाद का मिश्रण काम में लाना ज़्यादा फ़ायदेमंद है।

बीज बोने योग्य मिट्टी तैयार करने के लिये काफ़ी जुताई करना ज़रूरी है। किंतु ज़रूरत से ज़्यादा जुताई हरगिज़ न की जानी चाहिए। गहरी और ज़्यादा जुताई करने से मिट्टी के कण बारीक हो जाते हैं और हवा, धूप, प्रकाश आदि के प्रभाव से मिट्टी के भोज्य पदार्थ घुलनशील अवस्था में आ जाते हैं। परिणाम यह होता है कि उनका एक बड़ा भाग नष्ट हो जाता है।

गहरी और ज़्यादा जुताई करने से फ़सल के भोज्य-पदार्थ घुलनशील-अवस्था में मिल जाते हैं, जिससे पैदावार बढ़ जाती है। किंतु पैदावार की वृद्धि ज़मीन में

संगृहीत जैव-तत्त्व के कारण ही होती है, जिससे जैव-तत्त्व का भांडार कुछ ख़ाली हो जाता है; यदि बरसों तक यही हाल रहा, तो जैव-तत्त्व का भांडार बिलकुल ख़ाली हो जायगा। परिणाम यह होगा कि ज़मीन की पैदावार आख़िरी हद तक घट जायगी।

पौधों को अपने भरण-पोषण और वृद्धि के लिये नत्रजन, पोटैश, फास्फरस आदि की ज़रूरत होती है। इन द्रव्यों के लिये जैव-तत्त्व के भांडार को ख़ाली करना हानिकारक है। ज़मीन को ये द्रव्य खनिज खाद के रूप में दिए जा सकते हैं। किंतु जैव-तत्त्व का काम कोई दूसरा द्रव्य नहीं कर सकता है।

खेत की मिट्टी में एक प्रकार के सूक्ष्म-कीटाणु पाए जाते हैं। ये वातावरण से नत्रजन ग्रहण करके फ़सल को देते हैं। ज़मीन का जैव-तत्त्व इन कीटाणुओं को भोजन और शक्ति देता है। यह सही है कि ज़्यादा जुताई करने से मिट्टी में हवा खेलने लगती है, जिससे ये कीटाणु अपना काम फुर्ती से करने लगते हैं। किंतु इससे जैव-तत्त्व और नत्रजन कम होने लगते हैं। रसैल साहब ने भी इस मत का समर्थन किया है। मि० टेम्पैनी ने अपने एक लेख में बतलाया है कि छः से लगाकर बारह मास की अवधि में प्रतिशत १२ से ३० तक जैव-तत्त्व कम हो जाता है। पूसा की अन्वेषणशाला (Research Institute) के प्रयोगों से भी यह बात साबित हो चुकी है। अतएव स्मरण रखना चाहिए कि ज़्यादा पैदावार के लालच से गहरी और ज़्यादा जुताई पर ही अवलंबित रहना हानिकारक है।

जैव-तत्त्व को सुरक्षित रखने के लिये खनिज खादों का उपयोग किया जाना चाहिए। गोबर, खली आदि सेंद्रिय खादों में ½ या ⅓ भाग खनिज खाद मिलाकर काम में लाना ज़्यादा फ़ायदेमंद है। अकेले खनिज खादों का उपयोग हानिकारक साबित हुआ है। सेंद्रिय और खनिज खाद के मिश्रण को काम में लाने से एक लाभ यह भी होगा कि ज़्यादा ज़मीन को खाद दी जा सकेगी।

काफ़ी जैव-तत्त्वों के मौजूद रहने से खेत की मिट्टी की जल-शोषक और संरक्षक शक्ति बढ़ जाती है। ऐसी मिट्टी फ़सल को उन दिनों में पानी देती है, जब कि अन्य किसी प्रकार पानी मिलने की संभावना नहीं होती है।

बीज बोने योग्य ज़मीन तैयार करने के लिये काफ़ी जुताई करना ज़रूरी है। अतएव जैव-तत्त्व का व्यय, संपूर्ण-रूप से, नहीं रोका जा सकता है। मामूली जुताई के कारण होनेवाली घटी को पूरा करने के लिये खेतों में—सेंद्रिय खाद दी जानी चाहिए। दोनों प्रकार के खादों का मिश्रण काम में लाने से जैव-तत्त्व का व्यय बहुत घट जायगा। क्योंकि फ़सल को, आवश्यक भोज्य-पदार्थ खनिज खाद से प्राप्त होते रहेंगे।

गोबर, खली, कूड़ा, कचरा आदि की खाद द्वारा जैव-तत्त्व की कमी पूरी की जा सकती है। भारत में गोबर से उपले बनाकर जलाए जाते हैं और खली विदेशों को भेज दी जाती है। यदि ये दोनों ही कार्य बिलकुल बंद कर दिए जायँ, तो भी भारतवर्ष की जोती जाने-वाली ज़मीन को देखते हुए बहुत ही कम खाद प्राप्त हो सकती है। इसलिये यह ज़रूरी है कि जैव-तत्त्व की कमी को पूरा करने के लिये अन्य साधनों का पता लगाया जाय। पत्ता, भूसा आदि की खादों से भी काम चल सकता है, किंतु यह खाद भी काफ़ी मिक़दार में नहीं मिल सकती है। 'हरी खाद' द्वारा जैव-तत्त्व की कमी को पूरा करना सरल, सुबीता-जनक और कम ख़र्च का काम है। मूँग, उड़द, सन, ढेंचा आदि द्विदल जाति के पौधों को बोकर फूल आने पर हल चलाकर खेत की मिट्टी में—मिला देना ही 'हरी खाद देना' कहाता है। भारत के किसान हरी खाद के लाभों से भली प्रकार परिचित हैं। और वे कभी-कभी उसे काम में भी लाते हैं। ज़रूरत इस बात की है कि 'हरी खाद' का प्रचार किया जाय। भारत के कई प्रांतों में बिना आबपाशी की फ़सलें भी होती हैं। इन प्रांतों में हरी खाद देने से एक साल की पैदावार मारी जाती है, क्योंकि उस साल खेत को परती रखना पड़ता है। हरी खाद का असर कई सालों तक बना रहता है। इस-लिये एक साल का नुक़सान बाद के दो-तीन साल में ही पूरा हो जाता है। अतएव भावी अधिक लाभ के देखते हुए एक साल की पैदावार का नुक़सान नहीं के बराबर ही है।

ऊपर कह आए हैं कि सेंद्रिय खादों में खनिज खाद मिलाकर खेत में डालने से अधिक लाभ होता है। अमो-नियम सल्फ़ेट, सुपरफ़ॉस्फ़ेट, हड्डी का चूर्ण आदि खनिज या कृत्रिम खाद सेंद्रिय खादों में मिलाना फ़ायदेमंद है।

शंकरराव जोशी

१. भारत में तेल का व्यवसाय

च्चा माल तो हम उत्पन्न करते हैं और विदेशी वणिक उसे अपने देश में ले जाकर कलों द्वारा उसके रूप में परिवर्तन करके जहाज़ भर कर फिर हमारे देश में भेज देते हैं। यही माल फिर हम चौगुना दाम देकर ख़रीदते हैं, और अपने दैनिक जीवन में व्यवहार करते हैं। हमारे देश के व्यापार की यह व्यवस्था विस्मय-जनक होने पर भी एक प्रकृत सत्य है, जिसका अनुभव हमें सदैव होता रहता है। कच्चे माल के रूप में मूल वस्तु तो हम पैदा करते हैं: किंतु उससे लाभ उठाते हैं, विदेशी वणिक और अंततः उन वस्तुओं को ख़रीदकर हम अपनी दुर्दशा आप मोल लेते हैं। भारत के तेल-व्यवसाय की दशा ठीक इसी प्रकार है। संसार में जितने देश हैं, उनमें सर्वापेक्षा तेल के बीज की अधिक परिमाण में भारत से ही रफ़्तनी होती है। यही तेल-बीज इँगलैंड, जर्मनी, अस्ट्रिया, फ्रांस, इटली, बेलजियम, अमेरिका प्रभृति देशों में पहुँचकर मनुष्य के व्यवहारोपयोगी तेल-रूप में प्रस्तुत किया जाता है और तब भारत आदि देशों को रवाना किया जाता है, और हम भारतवासी उसी तेल को—जिसका बीज हमने ही उत्पन्न करके भेजा था—कई गुना अधिक मूल्य देकर ख़रीदते हैं। इससे भारत को क्या लाभ हो सकता है? हमारे देश में उत्पन्न हुए कच्चे माल से लाभ उठावें विदेशी व्यवसायी और हम अभागे विदेशों में प्रस्तुत माल का व्यवहार करके अपने देश को दिनानुदिन दरिद्र बनाते जायँ। इससे बढ़कर हमारे देश की शोचनीय दुरावस्था और क्या हो सकती है?

हमारे देश में तेल के बीज और तेल का व्यवसाय जो कुछ है भी वह अत्यंत सामान्य है। यदि देश में उत्पन्न तेल-बीज को स्वदेश में ही रखकर उससे तेल तैयार किया जाता, तो उससे जो लाभ होता, वह देश में ही रह जाता और विदेशियों को इससे लाभ उठाने का मौक़ा नहीं मिलता। इस प्रकार वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा क्रम-क्रम से उन्नति करते हुए हम और भी कितने ही व्यवसायों की सृष्टि करने में समर्थ होते। तेल तैयार करने पर खली (Cakes) से गृह-पालित पशुओं की खाद्य सामग्री तथा खेतों में खाद का काम भी हम ले सकते हैं। हमारे देश में मज़दूरों की मज़दूरी भी अन्यान्य देशों की अपेक्षा कम है, जिससे विदेशी प्रतियोगिता का भी हमें उतना भय नहीं है। इस तेल-व्यवसाय को स्वदेश में प्रचलित करने से इसका जो लाभ होता, वह तो देश में रहता ही है। इसके सिवा इसकी सहायता से हम और भी कई व्यवसायों को चलाने में समर्थ हो सकते। मनुष्य के आहार-व्यवहार के अतिरिक्त तेल का उपयोग और भी बहुत-से कामों में होता है। साबुन, मोमबत्ती, रंग, वार्निश, छापने की स्याही, तैलवस्त्र (Oilcloth), कृत्रिम रबर, कृत्रिम चमड़ा

इत्यादि बहुत-सी चीज़ों के तैयार करने में तेल का प्रयोजन पड़ता है। यदि देश में तेल प्रस्तुत करने की यथेष्ट सुविधा होती, तो देशवासियों को उपर्युक्त वस्तुओं के लिये विदेशों का मुखापेक्षी न होना पड़ता। यदि हानि-लाभ की दृष्टि से विचार किया जाय, तो एक-मात्र इसी व्यवसाय के अभाव में हमारी कितनी हानि हो रही है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। देश में इस समय जो बेकारी की समस्या बढ़ रही है, उसका समाधान भी अनेकांश में इस व्यवसाय द्वारा अवश्य हो सकता है, यदि हर आधुनिक विज्ञान-सम्मत-प्रणाली से अपने देश में तेल-व्यवसाय का आयोजन करें। किंतु हमारे देश के शिक्षित लोगों का ध्यान इधर आकृष्ट हो तब न। उनकी दृष्टि तो एक-मात्र दासत्व तक ही आबद्ध है और वह दासत्व भी तो इस समय दुर्लभ ही हो रहा है।

तेल-बीज का तो इस देश में अभाव है ही नहीं, बल्कि जिस परिमाण में तेल-बीज उत्पन्न होता है, उसे विशेष-रूप से बढ़ाने की भी संभावना हो सकती है। आवश्यकता है केवल इच्छा एवं उद्योग की। देश के शिक्षित धनवानों का ध्यान यदि इस प्रकार के उद्योगों की ओर आकृष्ट हो, तो वे अपने मूलधन का सद् व्यवहार करते हुए उसमें यथेष्ट उन्नति एवं लाभ प्राप्त कर सकते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली से यदि इस व्यवसाय को परिचालना की जाय, तो उन्नति अवश्यं-भावी है। अमेरिका के सर्वश्रेष्ठ धनी तथा संसार के धनकुबेर मि० राकफ़ेलर के नाम से हमारे शिक्षित देश-धन-वासी अवश्य परिचित होंगे। तेल के व्यवसाय की बदौलत ही आज वह इस पद को प्राप्त हुए हैं। तेल के व्यवसाय में मूलधन लगाने से मूलधन का सदुपयोग तो होगा ही, साथ ही इससे हमारे बहुत-से स्वदेशभाइयों को उदर-पालन के लिये मुट्ठी-भर अन्न की खोज में नौकरी के लिये लालायित एवं विफल मनोरथ नहीं होना पड़ेगा। वर्तमान समय में अन्न-हीनों को अन्नदान की व्यवस्था करने की अपेक्षा पुण्यप्रद कार्य और क्या हो सकता है? यदि तेल प्रस्तुत करने के इस व्यवसाय में सरकार द्वारा कार्यारंभ किया जाय और इसके लिये जिन कल-पुर्ज़ों की ज़रूरत है, उनका आयोजन सरकार की ओर से किया जाय, तो इस कार्य की सुविधा अपनी आँखों से देखकर देशवासी भी इस ओर प्रवृत्त हो सकते हैं। किंतु हमारे हितों का दम भरनेवाली सरकार से इस प्रकार की आशा करना स्वप्न देखने के सिवा और कुछ नहीं है। यदि हमारे प्रभुओं का ध्यान यत्किंचित् भी स्वदेशी उद्योग-धंधों की ओर होता; तो आज हमारे अनेक उदीयमान् उद्योगराज साहाय्य के अभाव में विदेशी प्रतियोगिता की चक्की में पिसकर अकाल में ही कालकवलित नहीं हुआ करते।

जगन्नाथप्रसाद मिश्र

× × ×

२. भारतीय व्यापारियों का विदेश-गमन

यदि हम अपने व्यापार को उन्नत और परिष्कृत करना चाहते हैं, यदि हम यह चाहते हैं कि हमारे व्यापार में हमारा हाथ हो, तो हमारे व्यापारियों को विदेशों में जाना चाहिए। यह हमारे हित में बड़ी भारी बाधा पहुँचानेवाली बात है कि हमारे यहाँ आनेवाले माल को बाहर से विदेशी व्यापारी भेजें एवं यहाँ से जानेवाला माल भी विदेशी व्यापारियों को ही चलान दिया जाय। जिस भाँति विदेशी व्यापारी यहाँ आकर बसे हैं और वे यहाँ विदेशों से माल मँगाते और भेजते हैं, क्यों न हम भी उसी भाँति उन विदेशों में जावें, जहाँ से भारत को बहुत माल आना जाता है और वहाँ के आयात-निर्यात व्यापार में अपना हाथ डालें। भारत का विदेशी व्यापार बहुत बड़ा है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। बीसियों तरह के कच्चे और पक्के माल एवं सैकड़ों तरह के यंत्रादिकों का उल्लेख किया जा सकता है, पर यहाँ हम केवल निर्यात-विषयक एक अंग पर दृष्टि डालते हैं। विदेशों में हमें आढ़त का कारबार खोल देना उचित है। जिससे यहाँ से जो निर्यात अर्थात् विदेशों में जो भारत के माल का आयात हो, उस कारबार में वहाँ हमारा भी भाग रहे।

इसके लिये यह बात जानने योग्य है कि भारत के माल के सबसे बड़े ख़रीदार कौन-कौन देश हैं। भारतवर्ष जितना माल विदेशों को बेचता है, उसमें से २१ सैकड़ा इँगलैंड ले लेता है। उसके बाद जापान बड़ा ख़रीदार है, जहाँ भारत के निर्यात का १४ सैकड़ा माल चला जाता है। इस काम में तीसरा नम्बर अमेरिका का है, जो १० सैकड़ा भाग ले लेता है। सन् १९२६ में जर्मनी ने

केवल ७·४ भाग लिया ; पर अभी इसमें बहुत कुछ वृद्धि होने की सम्भावना है। फ़्रांस को सैकड़े पीछे ५·५ भाग जाता है और इसी भाँति इटली भी भारतीय निर्यात का ५ सैकड़ा भाग ले लेता है। इस ५ सैकड़े भाग का मूल होता है कोई १६·२० करोड़ रुपया।

इँगलैंड की बात छोड़ देने पर भी दूसरे पाँच देश भारतीय माल के बड़े ख़रीदार हैं। उनमें सबसे नीचे इटली है, वह भी अनुमान २० करोड़ रुपए का भारतीय माल प्रतिवर्ष ख़रीदता है। यदि इन्हीं देशों में भारतीय आढ़तें खोली जायँ, तो वहाँ ख़ासा कारबार चल सकता है।

बाहरवाले जो माल भारत को भेजते हैं, वे केवल यह नहीं करते हैं कि वहाँ से बैठे-बैठे भेज दें। नहीं, वे यहाँ स्वयं आते हैं और यहाँ की गति, स्थिति एवं आवश्यकताओं की सब देखभाल कर जाते हैं। प्रतिवर्ष अक्टूबर से दिसम्बर तक उन लोगों के यहाँ आने का ताँता लग जाता है और उस समय बम्बई-कलकत्ते के बड़े होटल इन विदेशी यात्रियों से खचाखच भर जाते हैं। गत वर्ष विलायत से कपड़े की एक बड़ी मील का मालिक यहाँ आया, पर उस समय माल के लिये एक भी सौदा नहीं हुआ। इन पंक्तियों के लेखक ने जब उससे पूछा कि आपका आना तो असफल ही रहा, तब उसने उत्तर दिया—"नहीं हम लोग जिस मतलब से यहाँ आते हैं वह आप नहीं जानते, हमारे यहाँ आने का उद्देश्य माल बेचने का उतना नहीं होता, जितना यहाँ के व्यापारियों की रीति-नीति जानने और यहाँ यथार्थ में कैसे माल की दरकार है यह जानने का होता है।"

These were the actual words of the Lancashire big mill owner, "We generally don't come to sell the goods, because this we can very well do from there. Our chief aim in coming here is to get acquaintance of our customers and to know what India actually wants ?"

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वे केवल वर्ष में दो-तीन महीने के लिये यहाँ आ जाते हैं। नहीं उनके यहाँ बड़े-बड़े ऑफ़िस खुले हुए हैं, जहाँ यथाविधि कार्य होता है, और उन लोगों ने भारतीय व्यापार को अपने हाथ में कर रखा है। विदेशी व्यापारी दिन-रात इस बात की फ़िक्र में रहते हैं कि किस तरह वे अपने यहाँ के माल को अधिक-से-अधिक परिमाण में भारत में खपा सकें। वे इस बात के लिये हर तरह के प्रयत्न करते रहते हैं। अभी गत वर्ष ही इसी काम के लिये जापान से एक व्यापारी समुदाय का डेपूटेशन भी यहाँ आया था, एवं कलकत्ते में एक जापानी बाज़ार खोला गया है। इसका नाम भारत-जापानी व्यापारिक अजायबघर (Indo Japanese Commercial museum) रखा गया है। इस प्रदर्शिनी अर्थात् संग्रहालय में मानो जापान ही विद्यमान है। भारतवासी यहीं बैठे-बैठे जापानी माल के नमूने देखकर अपनी पसंद में आए हुए माल का ऑर्डर दे सकते हैं।

देखते क्या हैं! हमें भी अमेरिकन, जापानी, अँगरेज़ व्यापारियों की तरह अपने व्यापार को अपने हाथ में करने के लिये सब तरह के उपाय काम में लाना उचित है। भारतीय माल की आढ़त, डिपो या संग्रहालय हेम्बर्ग, न्यूयार्क, टोकियो, जिनेवा आदि स्थानों में खोलकर इन सब विदेशी नगरों में भारतीय व्यापारियों को अपना अड्डा जमाना चाहिए।

मोहनलाल बड़जात्या

१. उदार प्रेमी से

अंतर के जर्जर प्याले को, ऐ प्रेमी, ख़ाली कर दे।
भर दे विकल वेदना अपनी, चुन-चुन फूलों में भर दे।
झुकती संध्या के आँचल में कर अतृप्ति का अब अवसान;
अपने अक्षय उज्ज्वल आँसू ओस-कणों को दे-दे दान।
सरस समीरण की श्वासों में भर दे अपने उर की आह;
सैनिक के जलते जीवन को दे-दे, दाता, दारुण दाह।
दे-दे विश्व-व्यथा से भरकर निर्झर को अपने उद्गार;
दे-दे किसी मूक भावुक को अपनी वीणा की झनकार।
भाव-भरी जीवन-झोली से लेकर एक-एक उपहार;
दे-दे जग के कण-कण को, हँसते-हँसते कर ले उपकार।
सूना बनकर मुझको दे-दे अपना सूनापन उपहार;
भिक्षुक की सूनी झोली का सूनेपन पर है अधिकार।

जगन्नाथप्रसाद खत्री "मिलिंद"

× × ×

२. १९२६ का नोबल प्राइज़

सन् १९२६ ई० का नोबल प्राइज़ इटैलियन लेखिका श्रीमती ग्रेजिया डिलेड्डा (Gragia deledda) को मिला है। इस संबंध में जानने योग्य यह है कि गत २५ वर्ष से यह प्राइज़ दिया जाता है और इस अवधि में केवल ३ बार स्त्रियों को मिला है। स्त्रियों में पहले-पहल यह पारितोषिक विज्ञान-विषय की सुप्रसिद्ध लेखिका मैडम कुरी को मिला था। इसके बाद सन् १९०९ में स्वीडन की उपन्यास लेखिका मिस जेलमा लैजेर्ल्यफ़ (Selma Lagerly of) को मिला था और अब तीसरी बार इटैलियन लेखिका श्रीमती ग्रेजिया डिलेड्डा को मिला है। इनका मूल निवासस्थान सर्डिनिया है। आशा है, इस संबंध में इन दोनों भाग्यवती स्त्रियों का संक्षिप्त परिचय देना अनावश्यक न होगा।

मिस जेलमा का जन्म सन् १८५८ में स्वीडन से उत्तर एक गाँव में हुआ था। सन् १९०९ में अर्थात् जब इन्हें नोबल प्राइज़ मिला था, इनकी अवस्था ५१ वर्ष की थी और इस समय ७० वर्ष की है। बचपन में केवल ३½ वर्ष की उम्र में एक तालाब के अत्यंत ठंडे पानी में स्नान करने के कारण इन्हें लक़वा मार गया था, परंतु अंत अवस्था में कुछ सुधार हुआ। दैवी प्रतिभा के बल से इन्होंने अपने देश के साहित्य की अनुपम सेवा की। इतना ही नहीं, बल्कि संसार को भी कितनी ही उत्तम पुस्तकें प्रदान कीं। इनकी कृतियों में नारी-हृदय, और जीवन की गूढ़ और लाक्षणिक भावनाओं का विशेष दर्शन होता है। यह सत्य है कि इनकी रचनाओं में बर्नार्ड शॉ या अनाटोल फ्रांस की जैसी तीव्र भाषा नहीं

है और न रोमाँरोलाँ, टेगोर और येट्स के जैसे भव्य आदर्श; फिर भी इनमें स्त्री-हृदय को शोभा देने योग्य प्रेम और क्राइस्ट भक्ति है। वे स्वयं अविवाहित हैं, फिर भी रचनाओं में बालकों के प्रति उनका अद्भुत प्रेम प्रकट होता है। एक ओर तो उन्होंने क्राइस्ट का महत्त्व बतलानेवाली लोक-वार्ताएँ एकत्र कर पुस्तकाकार प्रकाशित की हैं और दूसरी ओर छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं के उपयुक्त और ज्ञान-प्रदान करने के साथ-साथ मनोरंजन करनेवाले ग्रंथ भी लिखे हैं। प्रौढ़ अवस्था के स्त्री-पुरुषों के भी पढ़ने योग्य पुस्तकें मिस लैजेर्ल्यफ़ ने लिखी हैं।

इनकी रचनाओं में ध्यान देने योग्य एक विशेषता और भी है। वह यह कि यद्यपि सब पुस्तकों का बाह्य वातावरण, कथाओं के पात्र और घटनाएँ शुद्ध स्वदेशी हैं, फिर भी लेखिका के रचना-कौशल से वे सार्वदेशिक बन गए हैं। उनकी सब कृतियों, विशेषकर उपन्यासों में मनुष्य-जीवन के सामान्य और गंभीर प्रश्नों पर बड़ा सुंदर विचार किया गया है। (The Legend of goota Berling) उनकी सर्वोत्तम रचना मानी जाती है।

मिसेज डिलेड्डा को जिस पुस्तक पर पुरस्कार मिला है, उसमें भी उन्होंने रमणी-हृदय की गंभीर-से-गंभीर भावनाओं और मातृ-प्रेम को उच्च स्थान दिया है। एक माता अपने पुत्र को धर्म-गुरु बनने की प्रेरणा करती है। अपनी आकांक्षा सफल करने के लिये प्रतिदिन ईश्वर-प्रार्थना भी करती है। अंत में माता की इच्छा पूर्ण होती है, परंतु शीघ्र ही माता का आनंद तीव्र दुःख के रूप में बदल जाता है। क्योंकि वह लड़का एक स्त्री के प्रेम में पड़ जाता है और अपने पादरीपन को नमस्कार करने का निश्चय करता है। माता उसे बहुत समझाती है, पर व्यर्थ। अंत में जिस समय और जिस चर्च में वह अपनी पादरी-वृत्ति त्याग करता है, वहीं माता भी अपने प्राण छोड़ देती है। इसका नाम (La Madre) या माता है। सन् १९२० में यह छपी थी। (The Mother) के नाम से इसका अँगरेज़ी में भाषांतर भी छप चुका है। इस पर सम्मति देते हुए इटली के अग्रगण्य नाटककार पिरंडेलो ने कहा है कि आधुनिक इटैलियन साहित्य में लिखे गए सब उपन्यासों में यह श्रेष्ठ है।

इनका जन्म सन् १८७२ ई० में सर्डिनिया बेटकेनुओरो नामक गाँव में हुआ था। इस समय इनकी उम्र ५५ वर्ष की है। इनका लड़कपन और युवावस्था का कुछ भाग मातृ-भूमि में व्यतीत हुआ है, इससे अपने देशवासियों की रहन-सहन, उनके विचारों और जीवन की उलझनों को ये ख़ूब समझती हैं। २५ वर्ष की अवस्था से इन्होंने लिखना शुरू किया था। इन्होंने अन्य महान् लेखकों की भाँति अपनी शिक्षा और अपना मानसिक विकास अपने ही परिश्रम और सहज प्रेरणा से प्राप्त किया है। इसी बीच में नेपल्स में रहनेवाले एक इटैलियन से इनका विवाह हो गया और ये अपना गाँव छोड़कर पति के घर रहने लगीं, अब तक इनके कितने ही उपन्यास और कहानियों के संग्रह निकल चुके हैं। इनकी रचनाएँ लोग बड़े चाव से पढ़ते हैं और ये प्रथम श्रेणी के साहित्य-सेवकों में गिनी जाती हैं। सन् १९२६ में मुसोलिनी ने (Italian Academy of Immortals) का निर्माण किया था। उसमें भी अन्य दो स्त्रियों के साथ इन्हें स्थान दिया गया है।

कौमुदी (गुजराती)

× × ×

३. हिंदुओं में फ़ारसी का प्रचार

पढ़े-लिखे लोगों में बिरले ही ऐसे निकलेंगे, जिन्होंने राजा टोडरमल का नाम न सुना हो। जिस समय राज-कार्य में इन्होंने भाग लेना आरंभ किया, उस समय शेरशाह का शासन था। चतुर शेरशाह ने भूमिकर के संबंध में विस्तृत योजना इनकी सहायता से तैयार करवाई, किंतु उसे कार्य-रूप में परिणत करने के पहले ही वह इस संसार से चल बसा। जब अकबर बादशाह हुआ, उस समय अपनी प्रतिभा और कार्य-कुशलता का इन्होंने ऐसा परिचय दिया कि उस समय सारे भारत में इनकी धाक जम गई। ये एक चतुर राजनीतिज्ञ और वीर सैनिक भी थे, इसके अतिरिक्त संस्कृत, फ़ारसी आदि भाषाओं के पूरे पंडित थे। ये कवियों और पंडितों की अच्छी क़दर करते थे।

उन्होंने हिंदुओं की तत्कालीन परिस्थिति और अवस्था पर विचार करके यह सिद्धांत निकाला कि हिंदुओं के लिये फ़ारसी-भाषा, जो राज्य-भाषा थी, जानना आवश्यक है। क्योंकि इस भाषा के ज्ञान के बिना हिंदू लोग अपनी योग्यता और कार्य-दक्षता का परिचय तत्कालीन शासकों को नहीं दे सकते थे। इस

कमज़ोरी पर अच्छी तरह से सोच-विचारकर इन्होंने ऐसी आज्ञा निकलवाई कि आज से सारे राज्य के काम फ़ारसी-भाषा में हों। राज्य में छोटे-मोटे पदों पर हिंदू ही अधिकतर थे। वे हिंदी ही में सब काम किया करते थे। उपर्युक्त विज्ञप्ति के निकलते ही साधारण श्रेणी के हिंदुओं में सनसनी फैल गई। किंतु निर्धन और असहाय होने के कारण हाय तोबा मचाकर कर ही क्या सकते थे। लाचार हो किसी तरह पेट भरने के लिये उन्होंने फ़ारसी पढ़ना आरंभ किया। थोड़े ही दिनों में फ़ारसी में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। इसी फ़ारसी के ज्ञान के कारण तथा बादशाह अकबर की सहिष्णु नीति के कारण थोड़े ही समय में राज्य में ऊँचे-ऊँचे तथा उत्तरदायित्व-पूर्ण पद हिंदुओं को मिलने लगे।

फ़ारसी-भाषा के पढ़ने का परिणाम केवल इतना ही नहीं हुआ कि हिंदुओं को ऊँचे-ऊँचे पद मिलने लगे, किंतु कुछ समय के उपरांत हिंदुओं ने फ़ारसी-भाषा में इतनी योग्यता प्राप्त कर ली कि वे इस भाषा में ग्रंथ-निर्माण करने तथा कविता बनाने लगे। अकबर के शासन-काल में, 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार हिंदुओं के धर्म-शास्त्रों, काव्य-ग्रंथों और तत्व-ज्ञान की पुस्तकों में क्या है, यह जानने की एक प्रबल उत्सुकता लोगों में पैदा हुई। इस उत्सुकता का यह परिणाम हुआ कि संस्कृत के अच्छे-अच्छे ग्रंथों का फ़ारसी में अनुवाद होना आरंभ हुआ। इस कार्य में फ़ैज़ी, अबुलफ़ज़ल, बदाऊनी, नकीबख़ाँ, मुहम्मद सुल्तान तथा मुल्लाशीरी आदि विद्वानों का पूरा हाथ था। इन्होंने ही हिंदू पंडितों और विद्वानों की सहायता से बड़े-बड़े संस्कृत-ग्रंथों का फ़ारसी-भाषा में उल्था किया।

सौभाग्य से यही नीति आगे के बादशाहों—जहाँगीर, शाहजहाँ तथा आलमगीर के शासन-काल में बर्ती जाती रही। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदुओं ने फ़ारसी-भाषा में इतनी उन्नति की कि वे भी मुसलमानों के समान फ़ारसी-भाषा के गद्य-पद्य में रचनाएँ अच्छी तरह से करने लगे। जहाँगीर के समय में गिरधरदास ने समूचे रामायण का फ़ारसी-भाषा में पद्यात्मक संक्षिप्त अनुवाद करके जहाँगीर को समर्पित किया। बिहारीमल्ल ने सिंहासनबत्तीसी का फ़ारसी में अनुवाद किया। शाहजहाँ बादशाह के समय में तो हिंदुओं ने फ़ारसी-भाषा के अध्ययन में और भी उन्नति की। अब उन्होंने यहाँ तक योग्यता प्राप्त कर ली कि वे भी मुसलमानों के समान फ़ारसी के कवियों और लेखकों में गिने जाने लगे। शाहज़ादा दाराशिकोह ने इस काम में लोगों को और भी उत्साहित किया तथा साहस दिलाया। इन्हीं के उत्साह दान के कारण संस्कृत के योगवाशिष्ठ नामक प्रसिद्ध बृहद् ग्रंथ का फ़ारसी में भाषांतर हुआ। स्वयं दारा ने संसार-प्रसिद्ध अनुपम ग्रंथ भागवत, गीता तथा उपनिषदों का फ़ारसी-भाषांतर करके लोगों के सामने रक्खा। इनके वनमाली नामक हिंदू कर्मचारी ने कृष्णदास भट्ट-कृत प्रबोधचंद्रोदय को फ़ारसी में उल्था किया। उसी समय जसवंतराय मुंशी तथा हिंदू नाम के दो प्रसिद्ध कवि हुए। इन दोनों महानुभावों ने फ़ारसी में बहुत सुंदर कविताएँ लिखी हैं।

हिंदुओं में फ़ारसी-भाषा के जो-जो बड़े-बड़े लेखक तथा कवि हो गए हैं, उनमें चंद्रभान सर्वश्रेष्ठ थे। ये जाति के ब्राह्मण थे और इसी से पद्य के ग्रंथों में इन्होंने अपने को 'ब्राह्मण' (उपनाम) लिखा है। इनके पिता का नाम धर्मदास था। कवि का जन्म पंजाब के लाहौर शहर में हुआ था। वहीं पर इन्होंने मुल्ला अब्दुलकरीम के पास फ़ारसी-भाषा का अध्ययन करना आरंभ किया। पढ़ाई समाप्त होने पर यह मुल्ला शकरुल्ला के यहाँ लेखक के पद पर नियुक्त हो गए। और थोड़े ही दिन में उक्त मुल्ला के कृपा-पात्र बन बैठे। इन्हीं अफ़ज़लख़ाँ (मुल्ला अब्दुलकरीम शिराजी का दूसरा नाम) को बादशाह शाहजहाँ के समय में 'वज़ीरुल् मुल्क' का सर्वोच्च-पद प्राप्त हुआ और उन्हीं के पास रहकर कवि चंद्रभान ने उत्तमोत्तम कविताओं की रचना आरंभ किया। जब अफ़ज़लख़ाँ मर गए, तब स्वयं शाहजहाँ बादशाह ने इनको अपने पास बुलवा लिया। और इनकी योग्यता पर मुग्ध होकर इनको राजकीय इतिहास लेखक के पद पर नियुक्त किया। थोड़े ही समय तक काम करने पर बादशाह का इन पर पूरा विश्वास जम गया। कुछ काल के उपरांत एक बहुत महत्त्व-पूर्ण कार्य से यह बीजापुर के आदिलशाह के दरबार में भेजे गए। इसी समय, दैवयोग से, दाराशिकोह से इनकी भेंट हुई। दाराशिकोह रत्न-पारखी था ही, उसने इनकी कविता करने की असाधारण प्रतिभा पर मुग्ध हो इनको अपने पास रख

लिया। किंतु दुर्भाग्य से जब उसकी निष्ठुरता-पूर्वक हत्या हुई तो, इन्हें स्वार्थी और धोखेबाज़ दुनिया से घृणा और विरक्ति हो गई और सब छोड़-छाड़कर काशी में रहने लगे और यहीं पर इनकी मृत्यु भी हुई।

कवि-शिरोमणि चंद्रभान ने भिन्न-भिन्न विषयों पर फ़ारसी में अनेक पुस्तकें लिखी हैं—जैसे इतिहास, काव्य, चरित्र आदि। इनकी लिखी हुई पुस्तकों में 'चार चमन'-नामक एक सुंदर पुस्तक है। इसमें इन्होंने बड़े ही रोचक ढँग पर मुग़ल दरबार के भिन्न-भिन्न उत्सवों का वर्णन गद्य में किया है। इस पुस्तक में स्थल-स्थल पर इनकी कमनीय कविताओं की भी सुंदर छटा देखने को मिलती है।

इनकी फ़ारसी की पुस्तकों में से 'दीवान'-नामक पुस्तक अत्यंत प्रसिद्ध है। यह इतनी मनोरंजक है कि पढ़ते-पढ़ते पाठकों का मन इसमें तल्लीन-सा हो जाता है। किंतु दुःख की बात है कि अभी तक यह उत्कृष्ट रचना अप्रकाशित पड़ी हुई है। इनमें एक विशेषता यह थी कि यह बड़े-बड़े गूढ़ विषयों को अत्यंत सीधी-सादी भाषा में पाठकों को हृदयंगम करा देते हैं। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनका मानसचरित्र-अध्ययन उच्च कोटि का था। इनकी रचना-शैली अलंकार, उपमा, आदि काव्य के उत्तमोत्तम अपेक्षित गुणों से संपन्न है। इसी से इनकी पद्यमयी रचना सुंदर संगीत है। नमूने के तौर पर इनकी एक फ़ारसी-कविता का अनुवाद कर इस लेख को समाप्त करते हैं—

मेरे प्रत्येक साँस से मेरा आंतरिक प्रेम सुंदर शब्दों द्वारा प्रकट होता है, इसी से आप मेरे शब्दों ही से मेरी योग्यता का परिचय पा सकते हैं *।

गणेश पांडेय

× × ×

४. कृषकों की दशा का चित्र

कृषक! तुम जीवन के आधार।
सहित कुटुंब परिश्रम करके, देते अन्न अपार;
मदमाते बहु राष्ट्र भूलते, तुमहारा उपकार।
जो कुछ पैदा किया तुम्हीं ने, जाता न जलनिधि पार;
भारत आरत कभी न होता, होता सुख संचार।
फैला देते सभी भूमि में, स्वधन बटोर बटार;
एक बूँद पानी के लीये, तकते आँख पसार।
सूर्य किरण भी सीधी पड़तीं, लूहैं रहीं झँकार;
तन देह से बहे पसीना, पृथ्वी बनी अँगार।
घर से मर्मनि रोनी लाई, बेफड़ की दो-चार;
चलते-चलते भोग लगाया बिन भाजी अरु दार।
छाती-छाती जल में डूबे, शालि सँभारनहार;
इतने पर भी मन नहीं मैला, गाते हर्ष मलार।
शीत-काल में सीली भूमी, ऊपर पड़े तुषार;
जगते-जगते रात बिता दी, अग्नी लीनी बार।
सतत परिश्रम करिके फटुआ, हुआ जभी तैयार;
राजदूत पहुँचे दरवाज़े, की उनकी मनुहार।
बना बहाना कर आदिक का ले गए दे पैजार;
बचा-बचाया जाकर डाला, बोहरेजी के द्वार।
भरा रुपैया करी ख़ुशामद, हाकिम के दरबार;
इसी बीच में पड़ा मुक़द्दमा, जेब भरी मुख़्तार।
कठिन कमाई का वह पैसा, लुट गया बीच बज़ार;
भाग्य लिखा तो थोड़ा बच रहा, भोजन का आधार।
दीन दशा दुखिया कृषक की, भारत में कर्तार!
तीन-बटे-चौथी जनता का, कब होगा उद्धार,

कन्हैयालाल जैन

× × ×

५. लाल-पीला

केसर रँग बोरत खरी, तव रँग गयो न लाल;
लाल रँग कत परत भइ, पीरे रँग बेहाल।
केसर घट बोरी तऊ, रही लाल की लाल;
लाल दीठि कत पीठि दै, पीरी ह्वै गइ बाल।
पोरे-पीरे बसन मैं, पीरी-पीरी बाल;
पीतांबरवारो निरखि, भई हाल कत लाल।

बलभद्र दीक्षित

× × ×

६. कलिका

Ah! that a dream so soft so long enjoyed,
Should be so sadly, so cruelly destroyed!

(१)

उपवन में अनेकों पुष्प खिलते थे, सुरभित समीर प्रवाहित होती थी—भ्रमर भी कभी-कभी उधर को निकल जाता था।

कलिका बालिका थी, परंतु उसकी हरियाली लालिमा में परिवर्तित हो चुकी थी—दूध के दाँत टूट चुके थे।

एक बार कलिका उषा-काल की आभा में स्नान कर

* मराठी लेख के आधार पर लिखित।—लेखक

रही थी, मंदगामिनी मत्त मलय-मारुत उसका शरीर अँगोछने लगी—रसिक भ्रमर भी उधर आ निकला...। अपूर्व सौंदर्य !...भ्रमर अनिमेष होकर देखने लगा—देखता रहा—सौंदर्य-सुरा-पान से संज्ञाहीन होकर गिर पड़ा......उठा। कलिका के पास जाकर रुँधे कंठ से बोला—'कलिका !' उत्तर नहीं मिला...। भ्रमर उन्मत्त था।

'क्या सौंदर्य-सुरा उन्मत्त भी कर देती है ?'

(२)

अब तो भ्रमर अति प्रातःकाल उपवन में जाने लगा। वह कलिका के चारों ओर मँडराता हुआ कंपित-स्वर से कुछ गाया करता—अपने हृदय को सुनाया करता, परंतु कलिका चुप रहती थी; उसके हृदय पर कुछ प्रभाव पड़ता न दीखा।

क्या कलिका के हृदय ही न था ?

'क्या सौंदर्यवान् हृदयवान् नहीं होते ?'

(३)

कलिका की एक पंखड़ी खुल चुकी थी !—उसका रूप अज्ञात-यौवना नायिका के कटाक्ष के समान तीक्ष्ण था, प्रणय के प्रथम चुंबन के समान मधुर था, अबोध बालक की मुस्कान के समान—'न-जाने क्या' था—

उसके अधखिले कोष में गंध थी ! पराग था, मधु था ! चंचल चित्त वायुदेव जब कभी उपवन में वायु-सेवन करने आते, तो सदा उसे छेड़ा करते—वह भी लज्जा से शिर झुका लेती, परंतु वायु की विकलता देखकर उन्हें थोड़ी-सी गंध देकर कृतार्थ करती...

अब तो प्रेमी की विकलता देखकर उसे दया आने लगी है...। क्या वह युवती हो गई ?

क्या अब वह भ्रमर के गायन का अर्थ समझ लेगी ?

'क्या युवावस्था में लोग प्रेम का अर्थ समझ सकते हैं ?'

(४)

आज कलिका परदे की ओट में थी। उसके पिता वृक्ष ने उसे अपने पत्तों की गोद में छिपा लिया था—

भ्रमर आया...कलिका न दिखाई दी—भ्रमर ताड़ गया और गाने लगा—

विटप रे ! अब नहिं अंक भरो।
कलिका ललिता यह, लाल हुई अब
दुहिता युवती निज, देउ भ्रमर को—
अधर का भूल न पान करो ! विटप०

भ्रमर गाते-गाते अधीर हो गया। कलिका से कहने लगा—'प्रियतमे ! कलिके ! आज दर्शन भी न दोगी क्या ?...'...'कलिका !'

उपवन-व्यापी निस्तब्धता ने मूक उत्तर दिया—'कौन है ?'

'भूखा भिखारी भ्रमर'

—'क्या चाहते हो ?'

'मधु ! थोड़ा-सा मधु माँगता हूँ'

'हाथ खाली नहीं है'

'हाय निठुर ! सुंदर निठुर !!'

× × ×

इतने में वायुदेव भी उपवन की ओर आ निकले। वृक्षों ने झुक-झुककर उनका स्वागत किया। कलिका ने भी पत्तों की ओट से मुँह निकाला। वह मुसका दी—मुसकान 'मधु' से पूर्ण थी...!

ऐश्वर्यवान् वायुदेव आगे बढ़े और निःसंकोचभाव से सलज्ज कलिका का आलिंगन कर 'नौ दो ग्यारह हुए...'

बेचारा भ्रमर किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर खड़ा रहा—'हाय ! कलिका यह कैसा अन्याय !'

'क्या केवल ऐश्वर्यवान् ही प्रेम का मृदु फल चख सकते हैं ?'

(५)

आज भ्रमर नियत समय से पहले ही उपवन में जा पहुँचा—और उसने प्रेम-संगीत आरम्भ कर दिया—गाता रहा—किसी ने भी नहीं सुना। आज कलिका ने पत्तों की ओट से मुँह भी न निकाला, मुसकान भी न दिखाई। भ्रमर ने बार-बार पुकारा 'कलिका ! कलिका !'

कलिका कहीं नहीं थी।

वृक्ष सिर झुकाए खड़े थे, प्रभात पीला पड़ गया था, पक्षीगण रो रहे थे, ओस के बिंदु उपवन के अश्रु थे ! कलिका से विरह हो गया—कोई रो-रोकर कह रहा था 'कलिका ! कलिका !'

मंद समीर प्रबल झक्कड़ में परिणित हो गई, वृक्ष उखड़ने लगे, सूखे पत्ते उड़ने लगे, चपला चमकी, जलद गरजे, नीरवता के स्थान में कोलाहल मच गया। प्रलय सी आँधी पुकार रही थी 'कलिका ! कलिका !'

कलिका किसके कंठ का हार बनी ? भ्रमर कहाँ चला गया ? निर्दय वन-माली तूने यह क्या किया !

'रंग में भंग क्यों होता है'

(६)

मेरी वीणा के तार टूट गए थे—गायन नहीं निकलता था !

मस्तिष्क शक्तिहीन हो गया था—कविता नहीं बनती थी।

आकाश ! आकाश रात कितना धनी था ! उसका कोष रत्नों से परिपूर्ण था। वे सब कहाँ गए ? किसने चुरा लिए ? क्या आँधी ने ? सूर्योदय होते हो दिन दहाड़े ही चोरी !

मैं चौंक उठा—मैंने एक हृदय-भेदी संगीत सुना—आह ! कैसा संगीत था...यदि प्रेमियों की आँख लड़ते समय कोई शब्द हो, तो संभवतया वह इसकी तान की समता कर सके, यदि हृदय फटते समय कोई कविता बन सके, तो उसमें इस जैसा भाव हो—

मैं शब्द पर ध्यान देता हुआ बाहर—कोठी के बाहर निकला। एक कोने में कूड़े के ढेर पर कुछ बासी हार पड़े थे। वहाँ-वहाँ उस कूड़े के ढेर पर—मृत 'कलिका' की पंखड़ियाँ बिखरी पड़ी थीं। वायुदेव एक-एक पंखड़ी को ठुकरा-ठुकराकर अलग कर रहे थे—और भ्रमर, वही प्रेमी भ्रमर गायन गाता हुआ उन्हें चुन-चुनकर घूमघूमकर फिर से कलिका सी बनाने का प्रयत्न कर रहा था !

ऐश्वर्यशाली वायुदेव तुम्हारा प्रेम छोटे-से भ्रमर के प्रेम से कितना तुच्छ है !!

× × ×

'क्या छोटों का प्रेम बड़ों के प्रेम से बड़ा नहीं हो सकता ?'

सुधाकर दीक्षित 'सुधा'

× × ×

७. वसंत-पवन

काढ़ि कंज-कोष ते प्रभात परिमल पौन,
गौन किय मौन मानो फँसि मोह मलि के;
चोर-चोर सोर करि भ्रमर भभरि धाए,
भाए फिरैं लेत सोध पाए रितुपति के।
हहरि 'सरोज' हिय कानन बिलोरि कछु,
हेरि पग धरत निकुंजन में नलि के;
दुरत दुरूहन द्रुमन दल दूहन में,
सुमन समूहन में जूहन जुवति के।

ठा० त्रिभुवननाथसिंह 'सरोज'

१. आलस्य-भक्त

(ठलुवा क्लब की बैठक में पढ़ी हुई गाथा)

अजगर करै न चाकरी पछी करै न काम ;
दासमलूका कह गए सबके दाता राम।

प्रिय ठलुआवृंद! यद्यपि हमारी सभा समता के पहियों पर चल रही है और देवताओं की भाँति हम में कोई छोटा-बड़ा नहीं है, तथापि आप लोगों ने मुझे इस सभा का पति बनाकर मेरे कुँआरेपन के कलंक को दूर किया है। नृपति और सेनापति होना मेरे स्वप्न से भी बाहर था। नृपति नहीं तो नारी-पति होना प्रत्येक मनुष्य की पहुँच के भीतर है, किंतु मुझ ऐसे आलस्य-भक्त के लिये विवाह में पाणिग्रहण तक का तो भार सहन करना गम्य था। उसके आगे सात बार अग्नि की परिक्रमा करना जान पर खेलने से कम न था। जान पर खेलकर जान का जंजाल ख़रीदना मूर्खता ही है "अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वं" का कथन मेरे ऊपर लागू हो जाता। "ब्याहा भला कि क्वाँरा" वाली समस्या ने मुझे अनेकों रात्रि निद्रा-देवी के आलिंगन से वंचित रक्खा था, किंतु जबसे मुझे सभापतित्व का पद प्राप्त हुआ है, तबसे यह समस्या हल हो गई है। आलसी के लिये इतना ही आराम बहुत है। यद्यपि मेरे सभापति होने की योग्यता में, तो आप लोगों को संदेह करने के लिये कोई स्थान नहीं है, तथापि आप लोगों को अपने सिद्धांतों को बतला अपनी योग्यता का परिचय देना अनुचित न होगा।

वैसे तो आलसी के लिये इतने वर्णन का भी कष्ट उठाना उसके धर्म के विरुद्ध है, किंतु आलस्य के सिद्धांतों के प्रचार किए बिना संसार की विशेष हानि होगी और मेरे भी पेट में बातों के अजीर्ण होने की संभावना है। इस अजीर्ण-जन्य कष्ट के भय से मैंने अपनी जिह्वा को कष्ट देने का साहस किया है।

मनुष्य-शरीर आलस्य के लिये ही बना है। यदि ऐसा न होता, तो मानव-शिशु भी जन्म से मृगशावक की भाँति छलांगें मारने लगता, किंतु प्रकृति की शिक्षा को कौन मानता है। नई-नई आवश्यकताओं को बढ़ाकर मनुष्य ने अपना जीवन अस्वाभाविक बना लिया है। मनुष्य ही को ईश्वर ने पूर्ण आराम के लिये बनाया है। उसी की पीठ खाट के उपयुक्त चौड़ी बनाई है, जो ठीक उसी से मिल जावे। प्रायःअन्य सब जीवधारी पेट के बल आराम करते हैं। मनुष्य चाहे पेट की सीमा से भी अधिक भोजन कर ले, उसके आराम के अर्थ पीठ मौजूद है। ईश्वर ने तो हमारे आराम की पहले ही से व्यवस्था कर दी है। हम ही उस का पूर्ण उपयोग नहीं कर रहे हैं।

निद्रा का सुख समाधि-सुख से भी अधिक है, किंतु लोग उस सुख को अनुभूत करने में बाधा डाला करते हैं। कहते हैं कि सवेरे उठा करो, क्योंकि चिड़ियाँ और जानवर सवेरे उठते हैं; किंतु यह नहीं जानते कि वे तो जानवर हैं, और हम मनुष्य हैं। क्या हमारी इतनी

भी विशेषता नहीं कि सुख की नींद सो सकें! कहाँ शय्या का स्वर्गीय सुख और कहाँ बाहर की धूप और हवा का असह्य कष्ट! इस बात के ऊपर निर्दयी जगानेवाले तनिक भी ध्यान नहीं देते। यदि उनके भाग्य में सोना नहीं लिखा है, तो क्या सब मनुष्यों का एक-सा ही भाग्य है! सोने के लिये तो लोग तरसा करते हैं और सहस्रों रुपया डॉक्टरों और दवाइयों में व्यय कर डालते हैं, और यह अवैतनिक उपदेशक लोग स्वाभाविक निद्रा को आलस्य और दरिद्रता की निशानी बतलाते हैं। ठीक ही कहा है—"आए नाग न पूजिए बामी पूजन जायँ।" लोग यह समझते हैं कि हम आलसियों से संसार का कुछ भी उपकार नहीं होता। मैं यह कहता हूँ कि यदि मनुष्य में आलस्य न होता, तो वह कदापि उन्नति न करता और जानवरों की भाँति संसार में वृक्षों के तले अपना जीवन व्यतीत करता। आलस्य के ही कारण मनुष्य को गाड़ियों की आवश्यकता पड़ी। यदि गाड़ियाँ न बनतीं, तो आजकल वाष्पयान और वायुयान का भी नाम न होता। आलस्य के ही कारण मनुष्य को तार और टेलीफोन का आविष्कार करने की आवश्यकता हुई। अँगरेज़ी में एक उक्ति ऐसी है कि Necessity is the mother of invention अर्थात् आवश्यकता आविष्कार की जननी है, किंतु वह लोग यह नहीं जानते कि आवश्यकता आलस्य की आत्मजा है। आलस्य में ही आवश्यकताओं का उदय होता है। यदि आप स्वयं जाकर अपने मित्र से बातचीत कर आवें, तो टेलीफोन की क्या आवश्यकता थी? यदि मनुष्य हाथ से काम करने का आलस्य न करता, तो मशीन को भला कौन पूछता? यदि हम आलसी लोगों के हृदय की आंतरिक इच्छा का मारकोनी साहब को पता चल गया, तो शीघ्र ही एक ऐसे यंत्र का आविष्कार हो जावेगा जिसके द्वारा हमारे विचार पत्र पर स्वतः अंकित हो जाया करेंगे। फिर हम लोग बोलने के कष्ट से भी बच जावेंगे। विचार की तरंगों को तो वैज्ञानिक लोगों ने सिद्ध कर ही दिया है। अब काग़ज़ पर उनका प्रभाव डालना रह गया। दुनिया के बड़े-बड़े आविष्कार आलस्य और ठलुआपंथी में ही हुए हैं। वॉट साहब ने (जिन्होंने कि वाष्पशक्ति का आविष्कार किया है) अपने ज्ञान को एक ठलुआ बालक की स्थिति से ही प्राप्त किया था। न्यूटन ने भी अपना गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत बेकारी में ही पाया था। दुनिया में बहुत बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ उन्हीं लोगों ने की हैं जिन्होंने चारपाई पर पड़े-पड़े ही अपने जीवन का लक्ष्य पूर्ण किया है। अस्तु, संसार को लाभ हो या हानि हो, इससे हमको प्रयोजन ही क्या? यह तो सांसारिक लोगों के संतोष के लिये हमने कह दिया नहीं, तो हमको अपने सुख से काम है। यदि हम सुखी हैं, तो संसार सुखी है। ठीक ही कहा है कि "आप सुखी तो जग सुखी।" सुख का पराकाष्ठा आदर्श वेदांत में बतलाया है। उस सुख के आदर्श में पलक मारने का भी कष्ट उठाना महान् पाप है। अष्टावक्र-गीता में कहा है—

> व्यापारे खिद्यते यस्तु निमेषोन्मेषयोरपि ;
> तस्यालस्यधुरीणस्य सुखं नान्यस्य कस्यचित् ।
> [षोडश प्रकरण श्लोक ४]

अर्थात् जो पुरुष नेत्रों के निमेष-उन्मेष के व्यापार (नेत्रों के खोलने-मूँदने) में भी परिश्रम मानकर दुःखित होता है, इस परम आलसी एवं ऐसे निष्क्रिय पुरुष को ही परम सुख मिलता है, अन्य किसी को नहीं।

लोग कहते हैं कि ऐसे ही आलस्य के सिद्धांतों ने भारतवर्ष का नाश कर दिया है। परंतु वह यह नहीं जानते कि भारतवर्ष का नाश इसलिये नहीं हुआ कि वह आलसी है, वरन् इसलिये कि अन्य देशों में इस आलस्य के स्वर्ण-सिद्धांत का प्रचार नहीं हो पाया है। यदि उन देशों को भी भारत की यह शिक्षा-दीक्षा मिल गई होती, तो वे शय्या-जन्य नैसर्गिक सुख को त्याग यहाँ आने का कष्ट न उठाते। यदि बिना हाथ-पैर चलाए लेटे रहने में सुख मिल सकता है, तो कष्ट उठाने की आवश्यकता ही क्या? बेचारे अर्जुन ने ठीक ही कहा था कि युद्ध द्वारा रक्त-रंजित राज्य को प्राप्त करके मैं अश्रेय का भागी बनना नहीं चाहता। वह वास्तव में आराम से घर बैठना चाहते थे, किंतु वह भी कृष्णजी के बढ़ावे में आ गए और 'यशो लभस्व' के आगे उनकी कुछ भी न चल सकी। फिर फल क्या हुआ कि सारे वंश का नाश हो गया। इस युद्ध का कृष्ण भगवान् को भी अच्छा फल मिल गया। उनका वंश भी पहले की लड़ाई में नष्ट हो गया।

महाभारत में कहा है कि—

"दुःखादुद्विजते सर्वे सुखं सर्वस्य चेप्सितम् ।"

अर्थात् दुःख से सब लोग भागते हैं एवं सुख को सब लोग चाहते हैं। हम भी इसी स्वाभाविक नियम का पालन करते हैं। इन सिद्धांतों से तो आपको प्रकट हो गया होगा कि संसार में आलस्य कितना महत्त्व रखता है। इसमें संसार की हानि ही क्या? मैंने अपने सिद्धांतों के अनुकूल जीवन व्यतीत करने के लिये कई मार्ग सोचे, किंतु अभाग्य-वश वह पूर्णतया सफल न हुए, इसमें मेरा दोष नहीं है। इसमें तो संसार ही का दोष है; क्योंकि वह इन सिद्धांतों के लिये अभी परिपक्व नहीं है। अस्तु, *वर्तमान अवस्था में भी विना उद्योग के* भी बहुत कुछ सुख मिल सकता है। उद्योग करके सुख प्राप्त किया तो वह किस काम का? आलसी जीवन के लिये सबसे अच्छा स्थान तो सफ़ाख़ाने की चारपाई है। एक बार मेरा विचार हुआ था कि किसी बहाने से युद्धक्षेत्र में पहुँच जाऊँ तथा वहाँ पर थोड़ी बहुत चोट खाकर सफ़ाख़ाने के किसी ख़ाली पलँग में स्थान मिल जाय, किंतु लड़ाई के मैदान तक जाने का कष्ट कौन उठावे; और विना गए तो उन पलँगों का उपभोग करना इतना ही दुर्लभ है, जितना पापी के लिये स्वर्ग।

भाग्य-वश मुझे एक समय ऑप्रेशन कराने की आवश्यकता पड़ गई, और थोड़े दिनों के लिये विना युद्ध-क्षेत्र गए ही मेरा मनोरथ सिद्ध हो गया; किंतु पुण्य-क्षीण होने पर सफ़ाख़ाना छोड़ना पड़ा। मैं बहुत चाहता था कि मुझे जल्दी आराम न हो, किंतु डॉक्टर लोग माननेवाले जीव थोड़े ही हैं; अति शीघ्र आराम करके मुझे बिदा कर दिया, मानो उन्हें मेरे आराम से स्पर्धा होती थी। तब से फिर ऐसे सुअवसर की बाट जोह रहा हूँ कि मुझे वही पलँग प्राप्त हो, जहाँ पर कि मल-मूत्र त्याग करने के लिये भी स्थान छोड़ने का कष्ट न उठाना पड़े ख़ैर। अब भी जहाँ तक होता है, मैं शय्या की सेवा से अपने को विमुख नहीं रखता। मेरा सब कारबार भोजन एवं कसरत भी उसी सुख-निधान पलँग पर हो जाती है। कभी-कभी नहाने-धोने के लिये उससे वियोग होता है, तो उसको एक आवश्यक बुराई समझकर जैसे-तैसे स्वीकार कर लेता हूँ। धन्य हैं तिब्बत के लोग, जिन्हें नहाने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। ईश्वर ने न-जाने मेरा जन्म वहाँ क्यों नहीं दिया। तिब्बत का प्राचीन नाम त्रिविष्टप था। शायद इसी सुख के कारण वह वैकुंठ कहलाता है। वैकुंठ को लोग क्यों चाहते हैं, क्योंकि वहाँ आलस्य-धर्म का पूर्णतया पालन हो सकता है। वहाँ किसी बात का कष्ट ही नहीं उठाना पड़ता। कामधेनु और कल्पवृक्ष को ईश्वर ने हमारे ही निमित्त निर्माण किया है। आजकल कलियुग में और भी सुभीता हो गया है। अब स्वर्ग तक कष्ट करने की भी आवश्यकता नहीं। कल्पवृक्ष बिजली के बटन के रूप में महीतल पर अवतरित हो गया है। बटन दबाइए पंखा चलने लगेगा, *झाड़ू भी लग जावेगी, यहाँ तक कि पका*-पकाया भोजन भी तैयार होकर हाज़िर हो जावेगा। विना परिश्रम के चौथी-पाँचवीं मंज़िल पर लिफ्ट द्वारा पहुँच जाते हैं। यह सब आलस्य की ही आवश्यताओं को पूर्ण करने के लिये संसार में उन्नति का क्रम चला है; और उन्नति में गौरव माननेवाले लोगों को हम आलसियों का अनुगृहीत होना चाहिए।

उपर्युक्त व्यवस्था से प्रकट हो गया कि आलस्य का इस संसार में इतना महत्त्व है। अब मैं आप महानुभावों के शिक्षार्थ एक आदर्श आलस्याचार्य का वर्णन कर अपने वक्तव्य को समाप्त करूँगा। क्योंकि मैं समझता हूँ कि आप लोगों की पीठें शय्या के लिये बहुत ही उत्सुक हो रही होंगी।

कहा जाता है कि एक बड़े भारी आलसी थे। वह, जहाँ तक होता था हाथ क्या अपनी उँगली को भी कष्ट नहीं देना चाहते थे। उनके मित्र-वर्ग ने उनसे तंग आकर सोचा कि इनको जीवित ही क़ब्र की शांतिमयी निद्रा का सुख प्राप्त करा दें। इस इरादे से वह उनको चारपाई पर रख ले चले। रास्ते में एक धनाढ्य अमेरिकन महिला मिली। उसने जब यह शव-सा जाता हुआ मनुष्य देखा, तो उसका कुतूहल बहुत बढ़ा और उसने शय्या-वाहकों से सब वृत्तांत पूछा। उस दयामयी स्त्री ने हमारे चरित्रनायक से कहा कि आप मेरे यहाँ चलने की कृपा कीजिए। मैं आपको विना कष्ट के ही भोजनादि से संतुष्ट करती रहूँगी। हमारे आलस्याचार्य ने पूछा कि आप मुझे भोजन में क्या-क्या देंगी? उस महिला ने बहुत-से पदार्थों का नाम लिया, उनमें उबले हुए आलू भी थे। इस पर इन्होंने कहा कि आलुओं को छीलेगा कौन? (लंच में कभी-कभी

के छिले ही आलू देते हैं) इस पर उस स्त्री को बहुत झुँझलाहट आई। हमारे आलस्याचार्य ने कहा कि मैं तो पहले ही से जानता था कि आप मेरी सहायता न कर सकेंगी और आपने वृथा मेरा समय नष्ट किया, नहीं तो मैं अभी तक आरथेन आनंद-भवन में प्रवेश कर चुका होता। इतना कहकर उन्होंने शय्या-वाहकों को आगे चलने की आज्ञा दी।

इस आदर्श को मूर्खता न समझिए। वेदांत का मोक्ष और बौद्ध-निर्वाण इससे भिन्न नहीं है। भेद केवल इतना ही है कि इस प्रकार के जीवन को दार्शनिक रूप नहीं दिया गया है। इसलिये आप लोग जो इस सभा के सदस्य हैं, मेरे सिद्धांतों से सहमत हो निम्न-लिखित प्रस्तावों को स्वीकार करें—

(१) यह सभा प्रस्ताव करती है कि भारत-सरकार के क़ानून-विभाग से यह प्रार्थना की जावे कि ताज़ीरात-हिंद में एक धारा बढ़ाकर दिन-रात में दस घंटों से कम सोना दंडनीय बनाया जावे, क्योंकि कम सोनेवाला मनुष्य आत्महत्या का दोषी होता है।

(२) यह सभा प्रस्ताव करती है कि जो लोग ताश खेलना नहीं जानते हैं। अथवा जो लोग तम्बाकू न पीते हों, उन लोगों पर आमदनी के ५) रुपया प्रतिशत के हिसाब से कर लगाने की प्रार्थना की जावे। इससे सरकार की आमदनी बढ़ेगी। इसके सिवा लोगों को ठलुआपंथी से अरुचि न होगी।

(३) यह सभा प्रस्ताव करती है कि जो लोग, इस सभा में रुपया-पैसा कमाने या और कोई उपयोगी बात जिसकी क़ीमत आने-पाइयों में हो सकती है, कहेंगे, वे इस सभा से बहिष्कृत कर दिए जावेंगे।

(४) यह सभा प्रस्ताव करती है कि अमेरिका और इँगलैंड के मोटर-कंपनियों से निवेदन किया जावे कि भविष्य में जो मोटरें बनवाई जावें, वे ऐसी हों कि उनमें पैर पसारकर लेटे हुए सफ़र कर सकें। इसके अतिरिक्त ऐसी छोटी-छोटी मोटर-मशीनें तैयार करवाई जावें कि वे हमारी चारपाइयों में लगाई जा सकें और बटन दबाने से हमारी चारपाई एक स्थान से दूसरे स्थान तक जा सकें। पहले लोगों की कल्पना-शक्ति अच्छी थी। वे वायुयान को उड़नखटोला कहते थे। खटिया नहीं, तो खटोला अवश्य ही था। उड़नखटोला के स्थान में मोटर-पलँगों की आयोजना संसार की उन्नति के लिये परमावश्यक है।

(५) यह सभा प्रस्ताव करती है कि सरकार से यह प्रार्थना की जावे कि संसार में सबसे बड़े शांति-स्थापनकर्ता को जो नोबिलप्राइज़ मिलती है, वह सबसे बड़े आलसी को दिया जावे; क्योंकि आलसियों के बराबर संसार में दूसरा कोई भी शांति-स्थापनकर्ता हो ही नहीं सकता। यदि वह इनाम काम करनेवाले शक्ति-शाली पुरुष को दिया जावेगा, तो वह क़ैसर की भाँति संसार में युद्ध की ज्वाला को प्रचंड कर पुरस्कार-दाता की आत्मा को दुःख देगा।

आप लोगों का अधिक समय न लेकर मैं अपने भाषण को आलसियों के शांति-संगीत से समाप्त करूँगा। यह गायन हम लोग अपनी चारपाइयों पर गाया करते हैं। यही हमारा जातीय गीत है।

सुख-सेवक नर हैं हम हम हम ;
दुख से भय करते हम हम हम।
कभी कष्ट नहिं आवे हम पर, शयन करें नित मौजी बनकर ;
नाम काम का लेयँ न छन-भर, भोजन डटें सदा ही मनभर।
गप्पों में जाते रम रम रम।
आग लगी भी हो भर भर भर, माल रहा हो जल फर फर फर ;
लोग उठाते हों सर सर सर, तो भी हम सोवें घर घर घर।
कभी न करते हैं श्रम श्रम श्रम।
काम स्वप्न में भी सुन पावें, तो हम चुपके कान दबावें ;
नहीं भूलकर हाथ चलावें, चाहे भूखों भी मर जावें।
रहें डटे ही हम जम जम जम।
कैसा भी अपमान सहें हम, तब भी पूरन शांत रहें हम ;
नहीं कभी निज कष्ट कहें हम, बस खटिया की शरण गहें हम।
दुनिया है सारा भ्रम भ्रम भ्रम।
सुख-सेवक नर हैं हम हम हम।

गुलाबराय

१. वसंत का स्वागत

शिशिर-संताप को दूर करनेवाले प्यारे वसंत आओ तुम्हारा स्वागत है। पर साल जैसे ही तुम हमको छोड़कर चले गए वैसे ही हम बड़ी विपत्तियों में पड़े। ग्रीष्म ने हमको भली भाँति दग्ध कर डाला। हमारे मन की हरियाली बिलकुल झुलस गई। हमें तुम्हारी बार-बार याद आती थी। हम तुम्हें पुकारते भी थे, पर तुम्हारा कहाँ पता था। अपने साथ ही कोमल कुसुम, विमल चाँदनी और शीतल मंद सुगंध पवन भी तुम लेते गए थे। हमारे लिये धूलि-धूसरित वायु-मंडल, उत्तप्त लूह, विकलकारी उष्णता के अतिरिक्त तुमने और छोड़ा ही क्या था। ख़ैर, जब तुमको पुकारते-पुकारते थक गए और तुम न आए, तब तुम्हारा आसरा छोड़कर हमने प्रावृट् से जीवन-दान की प्रार्थना की। बहुत देर में यह प्रार्थना सुनी गई। एक बार जीवन के फिर दर्शन हुए। हरियाली फिर लहलहाई। सरसता का फिर प्रादुर्भाव हुआ। पर ऋतुराज वसंत तुम्हारे साथ में जो संयम था, वह प्रावृट् ने हमको न दिया। जीवन-प्रवाह इतना प्रबल और निरंतर हो गया कि हम अपने जीवन में स्वयं डूबने लगे। हमारा जीवन ही हमारी हरियाली को नष्ट करने लगा। उसी ने हमारे तेज को मंद कर दिया। जो जीवन आनंद का सर्वस्व था, उसने निरानंद का मार्ग खोल दिया। हंस उड़ गए, कमल सड़ गये। अंधकार और सील से मन मलीन हो गया। हम त्राहि-त्राहि कर उठे। ऐसा जीवन किस काम का। राम-राम करके शरद् सुंदरी के दर्शन हुए। हमारे प्यारे खंजन फिर थिरकने लगे। कमल फिर खिले। हंस मालाएँ फिर मँडराने लगीं। हमारा भी जीवन स्थिर हुआ। उसका गँदलापन दूर हुआ। उसमें निर्मलता के दर्शन होने लगे। समझे थे, यह आनंद बहुत दिनों तक रहेगा, पर हेमंत और शिशिर नामक दो भाइयों ने हमारी यह आशा भी न पूरी होने दी। बड़ा ऊधम मचाया हमारी सुकुमार आशाओं पर भली भाँति तुषार पात किया। हमारी कोमल मति की सभी बेलें झुलसा दीं। सुमनों का पता ही न रहा। फिर बेचारे मधुकर किसका आश्रय लेकर गुनगुनाते। इधर-उधर दबके पड़े रहे। हमें अपना जीवन भार हो गया। माघ शुक्ल पंचमी को किसी ने धीरे से कान में कहा घबड़ाओ नहीं, तुम्हारा प्यारा वसंत शासन की बागडोर अपने हाथ में लेने के लिये फिर से आ रहा है। देखते नहीं प्रकृति का रंग बदल रहा है, पर ख़बरदार अभी बोलना नहीं, नहीं तो शीत-शत्रु सचेत हो जायगा। हम चुप रहे, बिलकुल चुप रहे। आख़िर कोकिल के परिचित कलरव को सुनकर हमारे हृदय की कली-कली खिल उठी। सुमन-समूह फूल उठा। मधुकर गुंजारने लगे। प्रकृति सुंदरी ने आपके स्वागत में अपना शृंगार किया।

शशधर सुधा बरसाने लगे। तारे हँसने लगे। वायु मचल-मचलकर आलस्य से सनी मंद-मंद बहने लगी। हमारे हृदय में भी कोई अनिर्वचनीय उत्साह और स्नेह उमड़ पड़ा। संयम का बाँध टूट पड़ा। हम विवश हो गए। हमसे एक स्थान पर बैठे न रहा गया। दौड़कर तुम्हारे पैर पकड़े हैं। अब हमें ठुकराना नहीं। जिस किसी तरह से हो अपने चरणों के आश्रय में ही रखना। हम सौंदर्य के उपासक हैं, प्रेम के भिखारी हैं और उत्साह के अनुचर हैं। ऋतुराज वसंत तुम्हारे राज्य में यह सभी सुलभ हैं। तुम्हारी माधुरी हमारी सर्वस्व है। हम इसी 'माधुरी' के सेवक हैं। प्रिय वसंत इसे अपनाओ और, और भी रसमयी बनाओ। तथास्तु।

× × ×

२. शाही कमीशन की गति-विधि

जिस शाही कमीशन की महीनों से धूम थी, वह विगत ३ फ़रवरी को सर साइमन की अध्यक्षता में भारतवर्ष आ गया। इसकी नियुक्ति से जिस प्रकार से इस देश के राजनैतिक संसार में खलबली मच गई थी, उसी प्रकार से इसके स्वदेश में पदार्पण करते ही उक्त खलबली ने दो निश्चित रूप धारण कर लिए। एक रूप से वह कमीशन का बहिष्कार करना चाहती है और दूसरे रूप से उसका स्वागत। अपने ऊपर कम विश्वास करनेवाले, स्वार्थों के दास एवं राजभक्त तथा राजाश्रित लोग साइमन कमीशन का स्वागत कर रहे हैं एवं देश के योग्य तथा शिक्षित देशभक्त नेता कमीशन के बहिष्कार के पक्ष में हैं। जिस दिन कमीशन ने भारतवर्ष में पदार्पण किया उस दिन प्रकृति भी रो रही थी, मानो वह भी हड़ताल के पक्ष में अपना मत दे रही हो। उस दिन भारतवर्ष में बहुत व्यापक हड़ताल मनाई गई। सर साइमन ने दिल्ली पहुँचते ही राजनैतिक शतरंज का खेल प्रारंभ कर दिया। उन्होंने अपने पालिसी के फील को निकालने के लिये एक पत्ररूपी पैदल को बढ़ाया। उनका विश्वास था कि इस पत्ररूपी पैदल के बढ़ाने से विश्वासरूपी जो स्थान हमने प्राप्त किया है, उसी पर से अपना पालिसी के फील को मनमाना दौड़ावेंगे, पर दूसरे पक्ष के खिलाड़ियों ने तुरंत उस स्थान पर अपने निश्चयरूपी घोड़े को इस ख़ूबसूरती से बिठलाया है कि फील का आगे का मार्ग बहुत कुछ अवरुद्ध हो गया है। सर जानसाइमन जैसे चतुर खेलाड़ी ने अपनी चाल को व्यर्थ जाते देखकर फिर पत्ररूपी दूसरा पैदल बढ़ाया। यह पत्र सर शंकरन को लिखा गया है। इस पैदल को बढ़ाकर सर साइमन अपना रुख सीधा करना चाहते हैं, पर इस चाल में भी उनको सफलता मिलनी नहीं दिखलाई पड़ती है। जहाँ इन दो चालों से सर साइमन के मोहरे बाहर निकलते नहीं दिखलाई पड़ रहे हैं वहीं दूसरी ओर के खिलाड़ी अपने कई मोहरे बाहर निकाल लाये हैं। इनका निश्चयाश्व ऐसे मौक़े से डट पड़ा है कि सर साइमन के मोहरे आगे की ओर बढ़ ही नहीं पाते हैं। सर साइमन का विरोधी दल अब दूसरी चाल चलने जा रहा है। यह और कुछ नहीं असेंबली में अविश्वास के रुख़ की गति है। यदि विरोधी दल की यह चाल चल गई और सर साइमन इसकी गति को अव्यर्थ न कर पाए, तो फिर इस बात की बहुत कम संभावना रह जायगी कि वे विरोधी दल पर सहज में मात कर सकेंगे, कोई-न-कोई बाज़ी ज़िच भले ही हो जाय। हर्ष की बात है कि राजनैतिक शतरंज के चतुर खेलाड़ी लाला लाजपतरायजी ही यह चाल चलनेवाले हैं।

सर साइमन इस बात से संतुष्ट हैं कि उनके पास स्वागत-संबंध में ३०० तार आए हैं, पर राजभक्त भारतवासी यह समाचार सुनकर आश्चर्य में पड़ गए हैं कि क्या तेंतीस करोड़ भारतवासियों में अब केवल ३०० ही ऐसे रह गए जो सर साइमन के चरण-चुम्बन में अपना अहोभाग्य मानते हों। इधर सर साइमन ने गुप्त निरीक्षण प्रारंभ किया है। गुप्त निरीक्षण की पालिसी बड़ी सुंदर है। यदि स्वागत न हुआ, तो गुप्त निरीक्षण तो था ही, लोग आने की बात तो जानते न थे, फिर स्वागत कैसे हो और यदि स्वागत हो गया, तो फिर क्या कहना है। जो लोग कमीशन के बहिष्कार के पक्ष में हैं, वे सर साइमन से किसी प्रकार का संपर्क नहीं रखना चाहते हैं; यहाँ तक कि उनसे मिलना-जुलना भी अपमान-जनक बतलाते हैं। पर पं० मोतीलाल इस मत के समर्थक नहीं हैं। अँगरेज़ राजनीतिज्ञों का विश्वास है कि कुछ समय के बाद बहिष्कार-आंदोलन शिथिल पड़ जायगा पर भारतीय राजनीतिज्ञ कहते हैं कि वह बढ़ेगा।

× × ×

३. बँगला के सामयिक पत्र

देशी भाषाओं में बँगला-भाषा का ही साहित्य सबसे अधिक समृद्ध और उन्नत माना जाता है। ब्रह्म-समाज के संस्थापक स्वर्गीय राजा राममोहन राय के पहले बंग-साहित्य की अवस्था अच्छी न थी, परंतु इनके समय से ही यह स्थिति बदलने लगी और थोड़े ही दिनों में पूर्णरूप से बदल गई। पं० ईश्वरचंद्र विद्यासागर, बाबू बंकिमचंद्र चटर्जी, बाबू रमेशचंद्रदत्त, माइकेल मधुसूदनदत्त, सुकवि हेमचंद्र, बाबू दीनबंधु मित्र, बाबू गिरीशचंद्र घोष, पं० सुरेशचंद्र समाजपति, बाबू द्विजेंद्र-लाल राय, महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री, बाबू राखालदास बनर्जी, विश्व-कवि रवींद्रनाथ ठाकुर और श्रीयुत शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय आदि अनेक सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न सुलेखकों ने बँगला-साहित्य की अपूर्व श्रीवृद्धि की, और कर रहे हैं। बँगला-भाषियों के लिये यह बड़े गर्व, गौरव और संतोष की बात है।

बंगभाषा जैसे उत्तमोत्तम नाटकों, उपन्यासों और कविता-ग्रंथों से अलंकृत है, वैसे ही सुंदर-सुंदर सामयिक पत्रों से भी विभूषित है। यद्यपि यह सत्य है कि बँगला दैनिक और साप्ताहिक पत्र गुजराती और मराठी-भाषा के दैनिक और साप्ताहिक पत्रों की बराबरी नहीं कर सकते; परंतु इसके साथ ही यह भी सत्य है कि उक्त भाषाओं के मासिक और सचित्र साप्ताहिक बँगला मासिक और सचित्र साप्ताहिक पत्रों से बहुत पीछे हैं। सचित्र साप्ताहिक बंगला की विशेषता है। दूसरी देशी भाषाओं में ऐसे अच्छे पत्र अब तक कहीं नहीं निकले।

इस समय बँगला में प्रवासी, बंगवाणी, विचित्रा, भारतवर्ष, मानसी ओ मर्मवाणी, वसुमती, प्रवर्त्तक, कल्लोल, भारती, व्यवसा ओ वाणिज्य, सबुज, उद्बोधन अर्चना और मातृमंदिर आदि कई सुसंपादित और सचित्र मासिक पत्र अकेले कलकत्ते से ही प्रकाशित होते हैं। ये सभी पत्र अपने ढंग के निराले हैं। इनमें संपादकीयटिप्पणियों और विविध विषय के उच्च कोटि के लेखों के लिये प्रवासी, राजनैतिक उपन्यासों और साहित्यिक लेखों के लिये बंगवाणी और वसुमती, कथा-कहानियों और भ्रमण-वृत्तांत के लिये भारतवर्ष, कल्लोल, मानसी ओ मर्मवाणी, और अर्चना, और राजनैतिक लेखों के लिये प्रवर्त्तक अधिक प्रसिद्ध है। उद्बोधन वेदांत-संबंधी पत्र है।

साप्ताहिक पत्रों में वसुमती, बंगवासी, हितवादी, संजीवनी, आत्मशक्ति और अवतार का अधिक प्रचार है। सचित्र साप्ताहिकों में पहले वासंती और शिशिर का खूब प्रचार था, परंतु अब वे दोनों बंद हैं और अकेला नव-युग ही इस क्षेत्र में काम कर रहा है। दैनिक पत्रों में आनंदबाज़ारपत्रिका, वसुमती, बंगलार कथा और 'भोटरंग' उल्लेखनीय हैं। चटगाँव से ज्योति नामक एक और दैनिक पत्र निकलता है। उक्त पत्रों के संपादक और प्रकाशक हिंदू हैं। कुछ दिनों से बँगला-साहित्य में सांप्रदायिकता का भी प्रवेश हुआ है। परिणाम-स्वरूप मुसलमान भाई अलग पत्र निकाल रहे हैं। इनके मासिक पत्रों में नवरोज और सोगात, साप्ताहिक पत्रों में खादिम और दैनिक पत्रों में 'छोलतान' उल्लेखनीय हैं।

हिंदी भाषियों की अपेक्षा बँगला बोलनेवालों की संख्या बहुत कम है, फिर भी बंगालियों में विद्या-प्रेम और साहित्याभिरुचि विशेष है। इसीलिये इतने पत्र निकलते हैं। पर ग्राहकों का अभाव बहुधा नहीं होता, और न हर तीसरे महीने ग्राहक-संख्या बढ़ाने के लिये ही अपील करनी पड़ती है। बंगालियों का मातृ-भाषा-प्रेम हिंदी-भाषियों के लिये अनुकरणीय है। यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि बँगला के दैनिक हिंदी-दैनिकों की अपेक्षा सस्ते हैं और उनमें पाठ्य-विषय खूब रहता है तथा वे अँगरेज़ी पत्रों की ही भाँति शीघ्र-से-शीघ्र समाचार देते हैं। हिंदी-दैनिक इन दोनों बातों में उनसे पीछे हैं: किंतु हिंदी के साप्ताहिक बँगला-साप्ताहिकों से किसी प्रकार हीन नहीं हैं। और हिंदी के मासिक, यद्यपि वे संख्या में कम हैं, बँगला-मासिक पत्रों से सफलता-पूर्वक टकर ले सकते हैं। इनके अतिरिक्त और भी कितने ही पत्र निकलते हैं, पर वे साधारण श्रेणी के हैं। लड़कों के लिये शिशुसाथी, संदेश, छेलेमेये और मौचाक आदि कई पत्र निकलते हैं।

यदि हिंदी-भाषी अपनी मातृ-भाषा के प्रति वैसा ही अनुराग रखें जैसा कि बंगाली रखते हैं, तो हिंदी के सामयिक पत्र बँगला-पत्रों की अपेक्षा अधिक समुन्नत और सर्वाङ्ग-सुंदर हो सकते हैं। हमें आशा है कि हिंदी-भाषी सज्जन मातृ-भाषा के प्रति अपना कर्तव्य पूर्णरूप से पालन करेंगे।

× × ×

४. श्रीरामकृष्ण और श्रीविवेकानंद की नई जीवनी

कुछ समय बीता, जब भारत के प्रसिद्ध संगीतवेत्ता श्रीदिलीपकुमार राय योरप गए थे। योरप का भ्रमण करते हुए स्विट्ज़रलैंड में उन्होंने योरप के प्रसिद्ध साहित्य-सेवी श्रीरोमाँरोलाँ से भी मुलाक़ात की। फ़रवरी मास के 'प्रबुद्ध भारत' में इस मुलाक़ात का हाल प्रकाशित हुआ है। इस हाल के पढ़ने से जान पड़ता है कि श्रीरोमाँरोलाँ शीघ्र ही स्वामी विवेकानंद और श्रीरामकृष्णजी के संबंध में एक पुस्तक लिखनेवाले हैं। पुस्तक लिखने के लिये यथेष्ट सामग्री इकट्ठी कर ली गई है। यह सामग्री इतनी अधिक है कि इसमें से मतलब की वस्तु चुन लेने में काफ़ी समय लगेगा। रोमाँरोलाँ की श्रद्धा श्रीरामकृष्णजी पर ख़ूब है। रोमाँरोलाँ को इनके सिद्धांतों में व्यापकता, उदाराशयता और धार्मिकता के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। श्रीरामकृष्णजी पढ़े-लिखे न थे, फिर भी उनके विचार इतने उन्नत थे, यह बात रोमाँरोलाँ को चक्कर में डालती है। श्रीरामकृष्णजी के विषय में जैसे उदार विचार श्रीअरविंद घोष के हैं, श्रीरोमाँरोलाँ के विचार भी प्रायः वैसे ही हैं। श्रीविवेकानंद के संबंध में इनके भाव और भी अधिक ऊँचे हैं। रोमाँरोलाँ को इस बात का बहुत बड़ा दुःख है कि योरप के साहित्य-समाज का परिचय विवेकानंदजी से नहीं है। रोमाँरोलाँ की ज़बानी श्रीदिलीपकुमार राय को मालूम हुआ कि जीवन के अंतिम समय में श्रीटालस्टाय श्रीविवेकानंद के ग्रंथों से बहुत अधिक प्रभावान्वित हुए थे। टालस्टाय के अनन्य मित्र श्रीपालबिरकफ़ भी स्वामी विवेकानंद के बहुत बड़े प्रशंसकों में हैं। टालस्टाय के भाव श्रीविवेकानंदजी के प्रति कितने ऊँचे थे, इसका पता उस पत्र से चलता है, जो उन्होंने उस बुकसेलर को भेजा था, जिसने उनके पास स्वामी विवेकानंद-रचित राजयोग-ग्रंथ भेजा था। श्रीटालस्टाय ने इस पत्र में लिखा है कि स्वामी विवेकानंद के आत्मा-संबंधी विचार इतने ऊँचे हैं जितने और किसी विद्वान् के नहीं हैं। श्रीटालस्टाय का यह पत्र सुरक्षित है और रोमाँरोलाँ की पुस्तक में प्रकाशित होगा। रोमाँरोलाँ की राय है कि भारतीय नेताओं को, विशेष करके महात्मा गांधी को विवेकानंद के उठाए काम को पूरा करना चाहिए। इस काम का पूरा होना वे नितांत आवश्यक समझते हैं। श्रीविवेकानंद और रामकृष्ण की जीवनी लिखने के रोमाँरोलाँ ने कई कारण बतलाए हैं। योरप का उनके विचारों से परिचय कराना पहला उद्देश्य है। दूसरा उद्देश्य यह है कि जिन लोगों ने इन महात्माओं के संबंध में अनुचित धारणाएँ कर ली हैं, उनके भ्रम-पूर्ण विचार दूर कर दिए जायँ। तीसरा और सबसे बड़ा उद्देश्य तो यह है कि एशिया के प्रति योरप में जो उपेक्षा के भाव बढ़ रहे हैं, उनको दूर करने के लिये ऐसे महात्माओं के दिव्य चरित्रों का प्रचार किया जाय। श्रीविवेकानंदजी की पुस्तकों में जो प्रकाशमयी शक्ति है, जो समुज्ज्वल आत्म-सम्मान है, तथा मनुष्यत्व में जो अविचल विश्वास है, उस पर रोमाँरोलाँ मुग्ध हैं। रोमाँरोलाँ का कहना है कि उनका उपदेश बहुत सीधा और सच्चा है। उनके वचन बाणों के समान हृदय को बेधते हैं। आध्यात्मिक जगत् में उनका चरित्र उतना ही प्रखर और प्रभावान्वित है, जितना राजनैतिक जगत में नेपोलियन का। हमारा विश्वास है कि श्रीरोमाँरोलाँ ने जिस प्रकार से अपनी पुस्तक द्वारा महात्मा गांधी की प्रसिद्धि पाश्चात्य जगत् में करा दी है, वही बात श्रीविवेकानंद और श्रीरामकृष्ण के संबंध में भी उनकी पुस्तक के द्वारा होगी।

रोमाँरोलाँ

× × ×

५. संसार-विजयी गामा

अतीत काल से ही भारतवर्ष अपनी मल्लविद्या के लिये प्रसिद्ध है। यह ठीक है कि दुर्भाग्य-वश इन दिनों यहाँ शारीरिक पतन भी परम सीमा पर पहुँच गया है,

किंतु गामा-जैसे श्रेष्ठ पहलवानों से भारत की सुदूर अतीत-काल की वह अमर स्मृति अब भी सुरक्षित है, यह प्रसन्नता की बात है। गत २६ जनवरी को पटियाले में हिंदुस्थान के प्रसिद्ध पहलवान गामा और योरप के नामी मल्ल जेविस्को की कुश्ती यह जाँच करने के लिये हुई थी कि संसार का सर्वश्रेष्ठ पहलवान कौन है। कुश्ती का परिणाम जानने के लिये लोग बहुत उत्सुक थे। लगभग ४० हज़ार दर्शक तो कुश्ती देखने के लिये पटियाले में ही एकत्र हुए थे। अभी तक कभी ऐसा प्रसंग नहीं आया कि कोई हिंदुस्थानी पहलवान किसी विदेशी पहलवान से पराजित हुआ हो, परंतु गत २६ तारीख़ के पहले बहुतेरे आदमियों को यह संदेह था कि शायद इस बार भारत के सुयश की रक्षा न हो सके; क्योंकि जेविस्को पहले से ही समाचारपत्रों द्वारा अपनी शक्ति का ढिंढोरा पीट रहा था। इस संबंध में यह बात भी याद रखने लायक़ है कि अब से लगभग १७ वर्ष पूर्व सन् १९१२ में लंदन में जेविस्को और गामा की कुश्ती क़रीब ३ घंटे तक हुई थी। गामा ने उस समय भी जेविस्को को पछाड़ दिया था। यद्यपि वे उसे चित नहीं कर सके, दूसरे दिन फिर कुश्ती होने की घोषणा की गई थी, किंतु जेविस्को लंदन से उसी दिन खिसक गया था।

परंतु २६ जनवरी को गामा ने लोगों की उक्त धारणाओं को मिथ्या सिद्ध कर दिया; और दर्शकों के आनंद की सीमा न रही, जब गामा केवल ३० सेकेंड में ही जेविस्को को पछाड़कर उसकी छाती पर चढ़ बैठे। और तालियों की गड़गड़ाहट में संसार-विजयी पहलवान घोषित किए गए। इस उपलक्ष में पटियाला-नरेश ने गामा को एक सोने और एक चाँदी की गदा पुरस्कार-स्वरूप दी। हारकर जाते हुए स्वयं जेविस्को ने कहा कि "गामा शेर है।"

गामा की अवस्था इस समय ४४ वर्ष की है और शरीर का वज़न २४० पौंड है। ऊँचाई ५ फ़ीट ७ इंच की है। देखने में वह २० वर्ष के नवयुवक से प्रतीत होते हैं। गामा के पिता और पितामह दोनों नामी पहलवान थे, किंतु गामा को बहुत थोड़ी अवस्था का छोड़ ये दोनों चल बसे। इनकी माता ने ही इनका पालन-पोषण किया। १० वर्ष की उम्र से ही इन्होंने कुश्ती लड़ने का अभ्यास किया और उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त किया। सन् १९१० में अपने भाई इमामबख़्श के साथ लंदन गए थे। वहाँ उन दिनों एक प्रदर्शिनी हुई थी। उस अवसर पर संसार के कितने ही प्रसिद्ध पहलवान यह निश्चय करने के लिये इकट्ठा हुए थे कि संसार का सर्वश्रेष्ठ पहलवान कौन है। गामा ने वहाँ आये हुए कई पहलवानों से लड़ने की इच्छा प्रकट की, परंतु उन लोगों ने अस्वीकार कर दिया—अंत में मैनचेस्टर, ग्लासगो और लिवरपूल में इन्होंने कई कुश्तियाँ मारीं और लंदन में लौटकर बड़े पहलवानों से भिड़े और डा० रोलर आदि कई पहलवानों को पछाड़ा—जेविस्को से भी ३ घंटे तक कुश्ती हुई थी। अब ये महाराजा पटियाला के आश्रित हैं और २५०) मासिक पाते हैं।

जेविस्को का जन्म पोलैंड के बाल्टिक-प्रदेश में हुआ था। इनकी उमर ३६-३७ वर्ष की है। ये ८ भाषाएँ जानते हैं और वकील हैं, किंतु शारीरिक शक्ति अधिक होने के कारण पहलवानी करते हैं। अब तक २००० से अधिक कुश्तियाँ लड़ चुके हैं। इनका विश्वास है कि ६० वर्ष की अवस्था में ये बहुत अच्छे पहलवान होंगे। ३५ वर्ष की अवस्था में इनका वज़न २४५ पौंड था और ऊँचाई ५ फ़ीट १० इंच थी। अब तक बिगमन आदि संसार के श्रेष्ठ पहलवानों को ये हरा चुके हैं। एक बार पहले भी गामा से भिड़े थे। इस बार इनका दृढ़ विश्वास था कि गामा से जीत जायँगे। परंतु परिणाम उलटा ही हुआ।

जो, हो। हम संसार-विजयी पहलवान गामा को इस जीत पर हार्दिक बधाई देते हैं, और भारत की सुकीर्ति-रक्षा होने पर प्रसन्नता प्रकट करते हैं। ईश्वर करे, ये दीर्घजीवी होकर भारत का गौरव बढ़ाते रहें।

× × ×

६. संतान-निग्रह का प्रश्न

अभी दो ही चार वर्ष पहले संतान-सीमा-बंधन के विषय की चर्चा अपवाद-जनक समझी जाती थी। मालथस् ने जब पहले-पहले इस प्रश्न का विवेचन किया, तो समस्त संसार में हलचल पड़ गई। वैज्ञानिकों ने चारों ओर से उस पर आक्षेप करना शुरू किया। रूस के जेनरल कुरोपाटकिन ने उसके प्रतिवाद में एक दूसरा ही सिद्धांत उपस्थित कर दिया। भारत में तो पुरानी कहावत है "दूध-पूत से भी किसी का जी भरता है!" संतान ईश्वर

की देन है, जितनी ही अधिक हो उतनी ही अच्छी। अगर माता-पिता भूखों मरते हों तो मरें, संतान का पालन-पोषण उचित रीति से न हो सके, तो चिंता नहीं। पर उन्हें अबाध रूप से आने दो। जीते रहेंगे तो किसी तरह कमा खायँगे। संतान-लालसा मानव-जीवन की सबसे बड़ी लालसा है। धार्मिक कथा-पुराणों, जन श्रुतियों, तथा लोकोक्तियों और ग्राम्य-गीतों में संतान की महिमा गाई गई है। जिसके संतान न हो वह अपने को संसार में सबसे अभागा और अपने जीवन को असफल समझता है। यही मनोवृत्ति सनातन से चली आती है। पर इधर दो-तीन वर्षों से इस विषय की खूब आलोचना हो रही है, और आज संसार का कोई विचारवान् पुरुष ऐसा नहीं, जो संतान-निग्रह का क़ायल न हो। मातृत्व का मूल्य आज संसार में बहुत कम हो गया है, और शिक्षित स्त्रियों में ऐसी महिलाओं की कमी नहीं जो संतान के नाम से ही घृणा करती हैं। अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि यदि हम संतान का सुचारुरूप से पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा नहीं कर सकते, तो हमें उन्हें संसार में लाने का कोई अधिकार नहीं। हमें कोई अधिकार नहीं कि अयोग्य, दुर्बल, अशिक्षित व्यक्तियों की संसार में संख्या-वृद्धि करें। यदि हमारी आर्थिक स्थिति ऐसी है कि हम एक से अधिक संतान का भार नहीं उठा सकते, तो इसके उपरांत और जितने बालक हम पैदा करेंगे उनके साथ हमारा अन्याय होगा। केवल उन्हींके साथ अन्याय नहीं, अपने साथ भी अन्याय होगा। प्रसव से माता को जो शारीरिक तथा मानसिक क्षति पहुँचती है उसकी पूर्ति किसी तरह नहीं हो सकती। रुग्ण माता को जब अपना ही जीवन दूभर हो जाता है तो वह शिशु का पालन क्या करेगी, पति की सेवा क्या करेगी और गृहस्थी के संचालन में क्या आनंद प्राप्त करेगी। यह मानना पड़ेगा कि बहु संतति वर्तमान परिस्थितियों में गृह-सुख पर कुठाराघात से कम नहीं। माता बीमार पड़ी कराह रही है, अर्धनग्न आधे दर्जन बालक इधर-उधर रो रहे हैं, पिता दफ़्तर से आकर बैठा हुआ है, यदि इस दशा में वह जीवन से विरक्त हो जाय तो क्या आश्चर्य है।

योरप में इस विषय पर आज-कल बड़े ज़ोरों से बहस हो रही है। माडर्नरिविउ में मि० दिलीपकुमारराय ने इँगलैंड के सुप्रसिद्ध फ़िलासफ़र मि० आलफ्रेड रसेल से अपनी एक मुलाक़ात का वृत्तांत लिखा है। उस मुलाक़ात में मि० रसेल और उनकी पत्नी दोनों ही इसी विषय की आलोचना करते रहे। इस दंपति के इस वक़्त दो बच्चे हैं। बस, उन्हें अब और बालकों की ज़रूरत नहीं। मिसेज़ रसेल ने इस विषय में जितनी स्पष्टता तथा निस्संकोच रूप से बातें कीं, उससे विदित होता है कि योरप के विचारशील समाज में यह विषय कितना व्यापक हो रहा है। कई मुल्कों में तो ऐसा क़ानून बनाने की चेष्टा की जा रही है जो अयोग्य पुरुषों को संतान उत्पन्न करने से रोक सके। इस क़ानून के अनुसार कोई पुरुष संतान न पैदा कर सकेगा, जबतक उसने डाक्टर की सनद न ले ली हो कि वह इसके योग्य है। विवाह करने का अधिकार सबको होगा। इसमें वह क़ानून बाधक न होगा। लेकिन सभी विवाहित पुरुषों को संतान पैदा करने का अधिकार न होगा। वैज्ञानिक क्रियाओं द्वारा या तो उनकी आरोपक शक्ति की क्षति कर दी जायगी, या कृत्रिम साधनों से वे स्वयं संतानों का मार्ग बंद कर देंगे। यद्यपि ब्रह्मचर्य द्वारा संतान निग्रह का भाव सर्वथा स्तुत्य और आदर्श है, पर साधारण प्राणी इतना संयत नहीं हो सकता। इसलिये व्यावहारिक दृष्टि से इसमें किसी को आपत्ति न होनी चाहिए। यह केवल आर्थिक प्रश्न नहीं, केवल स्वास्थ्य का प्रश्न नहीं, मनुष्य-जाति के आदर्श को उच्च और पवित्र बनाने का प्रश्न है।

× × ×

७. पर उपदेश कुशल बहुतेरे

माधुरी के गतांक में पाठांतरों के संबंध में एक नोट निकल चुका है। उसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि हिंदी के पुराने कविता-ग्रंथों के जो नवीन संस्करण प्रकाशित किये जायँ उनमें पाठांतर अवश्य दिये जायँ। आज इसी विषय पर हम यहाँ कुछ और बातें लिखना चाहते हैं। ग्रंथ के मूल भाग में जो पाठ दिया जाय वह वही होना चाहिए जो अधिक प्रचलित हो। अधिक प्रचलित पाठ से यह मतलब है कि जो पाठ अधिक हस्त-लिखित और छपी प्रतियों में पाया जाय। यदि ऐसे पाठ में लिपि-प्रमाद की संभावना न जान पड़े और फिर भी उक्त पाठ से कविता में सदोषता आती दिखलाई पड़े, तो

केवल इसी कारण से अपनी ओर से खींचातानी करके कोई नया पाठ गढ़ने की ज़रूरत नहीं है। जिस कवि के ग्रंथ का संपादन किया गया है वह भी मनुष्य ही था। संभव है, उसी की भूल से उस प्रकार के पाठ का निर्माण हुआ हो, तो फिर वह भूल छिपाई क्यों जाय। संपादक का कर्त्तव्य तो यह है कि कवि के यथार्थ पाठ को मूल में दिखला दे, चाहे वह सदोष हो अथवा निर्दोष। संपादक के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह जिस कवि के ग्रंथ का संपादन कर रहा है उसे अपना कुलपूज्य देवता मान बैठे और जान बूझकर अपनी ओर से उक्त कवि के दिये पाठों में मनमाना उलट फेर कर दे। यदि संपादित ग्रंथ की केवल एक ही हस्त-लिखित प्रति प्राप्त है और वह बहुत पुरानी भी है, तो उसमें पाये जानेवाले पाठों की यत्नपूर्वक रक्षा की जानी चाहिए। जो पाठ सबसे अधिक प्राचीन हस्त-लिखित प्रति में पाया जाता है और अधिक प्रचलित भी है वह विशेष रूप से रक्षणीय है। ग्रंथ के मूल भाग में ऐसे ही पाठ को देना चाहिए। यदि उस प्रकार के पाठ से कवि की कविता में किसी प्रकार की सदोषता आती दिखलाई पड़े, तो उसकी परवा न करनी चाहिए, क्योंकि उस दशा में अधिक संभावना इसी बात की है कि भूल कवि से ही हुई होगी। जो लोग इस प्रकार से पाठ चुनते हैं वे संपादन का कार्य उचित रीति से पूर्ण करते हैं यही हमारी धारणा है।

पाठांतरों के चुनाव के संबंध में ऊपर जो कुछ लिखा गया है, प्रायः उन्हीं सब बातों को लक्ष्य में रखकर हिंदी के कुछ प्राचीन कविता-ग्रंथ संपादित किये गये हैं। 'मतिराम-ग्रंथावली' के संपादक ने भी प्रायः इन्हीं नियमों के अनुसार पाठों का चुनाव किया है, पर इस प्रकार का संपादन-क्रम एक आलोचकजी को पसंद नहीं पड़ा है। उन्होंने उक्त ग्रंथावली के संपादक को 'मक्षिका-स्थाने मक्षिका' रखनेवाला तथा अपनी बुद्धि से बिलकुल काम न लेनेवाला बतलाया है। संपादक का भद्दी गालियों से सम्मान करके आलोचकजी ने गर्वपूर्वक घोषणा की है कि मैं तो सर्वोत्तम पाठ चुनता हूँ और एक कवि की रचना में एक बार जो पाठ स्वीकृत कर लेता हूँ उस कवि की उस रचना में सदा वही पाठ देता हूँ, दूसरा नहीं। आलोचकजी प्राचीन कविता-ग्रंथों का संपादन जिस प्रकार से उचित समझें करें इसमें किसी को उनसे झगड़ने की ज़रूरत नहीं है। पर जब वे अपनी राय के अनुसार दूसरों को चलने का उपदेश देने लगते हैं, तब कुछ निवेदन करने की आवश्यकता जान पड़ती है। 'मक्षिकास्थाने मक्षिका' पाठ देने का जो लांछन वे औरों पर लगाते हैं वह बिलकुल मिथ्या है। औरों ने तो वैसा पाठ प्रचलित और प्राचीन समझकर दिया है और ठीक ही दिया है पर स्वयं उक्त आलोचकजी ने 'हिम्मत-बहादुर विरुदावली' में इस बात को मानते हुए भी कि 'षंडन' पाठ के स्थान में 'खंडन' लिखना चाहिए, मूल भाग में 'षंडन' ही रखा है सो यह संपादकीय कला का कैसा विकास है। इस प्रकार के लिपि-प्रमाद को भी मूल भाग में स्थान देना सचमुच 'मक्षिकास्थाने मक्षिका' की शरण लेना है। 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' में प्रायः सर्वत्र 'ख' के स्थान में 'ष' का साम्राज्य है। जान पड़ता है उक्त पुस्तक का जिस समय संपादन किया गया था उस समय तक आलोचकजी में यथार्थ संपादन-कला का विकास नहीं हुआ था। अब आलोचकजी की दूसरी दलील लीजिए। आपका कहना है कि मैं कवि-विशेष के छंद-विशेष में जो पाठ स्वीकृत करता हूँ सर्वत्र उसी पाठ का आदर करता हूँ। यदि किसी पुस्तक में एक ही छंद दो-तीन बार आ जाय, तो उक्त छंद का एक ही पाठ पाया जाना चाहिए, दो नहीं। आलोचकजी की यह गर्वोक्ति भी ग़लत है। रामचंद्रिका के पूर्ण और संक्षिप्त संस्करणों में जो पाठांतरों की लीला है उसका तो दिग्दर्शन और कभी कराया जायगा यहाँ पर दो एक उदाहरण 'ठाकुर-ठसक' से दिए जाते हैं। राम बंदना सम्बन्धी ठाकुर कवि का छंद मूलभाग में प्रथम पृष्ठ पर इस प्रकार छपा है:—

राम मेरे पंडित अखंडित सुदिन सोधै,
राम मेरे गुरु जप मेरे राम नाम है;
राम नाम गावतहिं राम नाम ध्यावतहिं,
राम राम सोचत रटत आठो जाम है।
ठाकुर कहत साँची आस मोहिं राम ही की,
राम ही से काम धन धाम मेरो राम है;
राम मेरे बेद बिसराम मेरो राम साँचो,
राम मेरो औषद जतन मेरे राम हैं।

आलोचकजी ने इसी छंद को 'भूमिका' में इस रूप में दिया है—

राम मेरे पण्डित अखंडित सुदिन सांधे ,
राम मेरे गुरु जप मेरे रामनाम है ;
राम राम गावतहि राम राम ध्यावतहि ,
राम-राम सोचत कटत आठो जाम हैं ।
'ठाकुर' कहत साँची आस मोहि राम हो की ,
राम हो से काम धन धाम मेरो राम है ;
राम मेरे वेद बिसराम मेरे राम सांचो ,
राम मेरो औषधि जतन मेरे राम है ।

पंडित और पण्डित, बेद और बिसराम तथा वेद और विसराम, मेरे एवं मेरो और ओपद तथा औषधि में जो भेद है सो तो है हो, साथ ही एक छंद में है 'राम नाम गावतहि रामनाम ध्यावतहि 'तो दूसरे में 'राम-राम गावतहि राम-राम ध्यावतहि' है। एक और उदाहरण लीजिए —

अखनी रचो राधिका मोहन सो बरजोरिहि नाम लेवावती हैं ;
भहरावती भौंह झुकावती फेर कहो जू कहो जू सुनावती है ।
कह 'ठाकुर' काम गुरू के कहे उपमान के ओप बढ़ावती है ;
रस रीति के प्रीति के प्रीतम को बिसरे मनो पाठ पढ़ावती है ।

*** यह पाठ ग्रंथ के मूल भाग में २४ पृष्ठ पर है। भूमिका में २१ पृष्ठ पर यही पाठ इस रूप में है—**

अखती रचो राधिका मोहन सो बधू को हठि नाम लेवावती हैं;
भहरावती भौंह झुकावती फेरि लिए कर लौंद खिझावती है ।
कहि 'ठाकुर' काम गुरू के कहे ते कहो जू कहो जू सुनावती है ;
रस रीति के प्रीति के प्रीतम को बिसरे मनो अंक पढ़ावती है ।

एक ही छंद के पाठों में कितना प्रकट अंतर है। एक में है 'बधू को हठि नाम लेवावती हैं' तो दूसरे में है 'बरजोरिहि नाम लेवावती हैं ', एक में है 'लिए कर लौंद खिझावती है' तो दूसरे में है 'कहो जू कहो जू सुनावती है' फिर एक में है 'कहोजू कहोजू सुनावती हैं' तो दूसरे में है 'उपमान के ओप बढ़ावती हैं'। अंतिम पद में एक बार है 'पाठ पढ़ावती है', तो दूसरी बार उसी स्थान में आया है 'अंक पढ़ावती हैं'। जो 'आलोचक' स्वयं पाठों के मामले में इतना शिथिल और अव्यवस्थित है, वही जब दूसरों को लक्ष्य करके डींगें मारता है और प्रलाप करता है, तब उसकी इस दीन दशा पर एवं वार्धक्य जनित मानसिक निर्बलता पर दया भी उत्पन्न होती है, और हँसी भी आती है। गोस्वामीजी ने ऐसे ही महापुरुषों को लक्ष्य करके कहा है—

''पर-उपदेश कुशल बहुतेरे ; जे आचरहिं ते नर न घनेरे ।''

× × ×

८. श्रीधूनीवाले दादाजी

नरसिंहपुर (सी० पी०) ज़िले के गाडरवाड़ा रेलवे स्टेशन से — गाडरवाड़ा इस ज़िले की तहसील भी है और इटारसी तथा जबलपुर के बीच में है जी० आई० पी० रेलवे-लाइन इधर से गई है, १६ मील दूर साईंखेड़ा नामक एक गाँव है। श्रीधूनीवाले दादाजी का वर्तमान निवासस्थान यहीं है। दादाजी की अवस्था लगभग ६० वर्ष की है और ये बड़े भारी त्यागी और सिद्ध महापुरुष माने जाते हैं। आप सदैव दिगंबर रहते हैं।

श्रीधूनीवाले दादाजी

आपके सम्मुख आठो पहर विशाल धूनी जलती रहती है, इसीलिये ये ''धूनीवाले दादाजी'' कहलाते हैं। उपर्युक्त चित्र इन्हीं महात्मा का है। पंजाब, बंबई, मद्रास, सिंध, राजपूताना, काठियावाड़, युक्तप्रांत, बंगाल और बिहार आदि विभिन्न दूरवर्ती प्रांतों से सहस्त्रों भक्त अनेक कामनाएँ लेकर इनके दर्शनार्थ आते हैं। कहते हैं कि उनकी कामनाएँ यहाँ आने पर अवश्य पूर्ण हो जाती हैं। आषाढ़ी पूर्णिमा पर यात्रियों की संख्या बढ़कर कभी-कभी १५ हज़ार तक पहुँच जाती है। भक्त-मंडली की दादाजी पर अटल श्रद्धा और अपार विश्वास है। कितने ही श्रद्धालु-सज्जन दादाजी को ब्रह्म-विद्या की साक्षात् मूर्ति और

भगवान् भूतनाथ का प्रत्यक्ष अवतार मानते हैं। दादाजी की अलौकिकता के संबंध में अनेक गाथाएँ प्रसिद्ध हैं। इनके कितने ही सुयोग्य शिष्य हैं, जो अध्यात्म-विद्या में विशेष पारदर्शी, बड़े विद्वान्, त्यागी तथा सुलेखक हैं। साईंखेड़ा पहले बहुत ही साधारण गाँव था। वहाँ यात्रियों के लिये कोई प्रबंध न था। किंतु अब वहाँ दो धर्मशालाएँ बन गई हैं और हलवाइयों की भी कितनी ही दूकानें खुल गई हैं। साईंखेड़े के मालगुज़ार ब्राह्मण हैं। ये ही दादाजी को रेवा के उत्तर तटवर्ती खंडोन गाँव से यहाँ लाए थे। दादाजी इन्हीं की गद्दी में रहते हैं।

× × ×

१०. हिंदी का स्टाइल

"माधुरी" के गत विशेषांक में "भारत की राष्ट्रभाषा और हिंदी का स्टाइल"-शीर्षक एक छोटा-सा लेख हिंदी के वयोवृद्ध और विचारशील सुलेखक पंडित लज्जारामजी मेहता का छपा था। हिंदी के राष्ट्रभाषा-स्वरूप को ध्यान में रखते हुए मेहताजी ने परामर्श दिया था कि हिंदी की लेखन-शैली में संस्कृत-शब्दों का ही अधिक प्रयोग वांछनीय है। मेहताजी का यह भी कहना था, संस्कृत-भाषा का ज्ञान हमारे लिये आवश्यक है। अपनी सम्मति प्रकट करने के बाद आपने अन्य हिंदी-लेखकों से भी इस विषय पर विचार प्रकट करने का अनुरोध किया था। इसी संबंध में मेहताजी ने यह भी सुझाया था कि बंगाल, महाराष्ट्र और मद्रास आदि के विद्वानों से भी यह सलाह ली जाय कि उन्हें हिंदी के संस्कृत-मिश्रित, अरबी-फ़ारसी-मिश्रित अथवा ठेठ अर्थात् किस स्वरूप के समझने में अधिक सुगमता होगी।

हिंदी यदि प्रांतीय भाषा होती, तो उसे इस उलझन में पड़ने की आवश्यकता न होती। किंतु वह राष्ट्रभाषा है, इसलिये उसके सम्मुख 'स्टाइल' का जटिल प्रश्न उपस्थित है। हिंदी के लेखकों और प्रेमियों में इस समय दो श्रेणियाँ हैं। एक में तो वे लोग हैं, जिनकी मातृभाषा हिंदी है, और दूसरे में वे लोग हैं, जिनकी मातृभाषा बँगला, गुजराती अथवा मराठी आदि है; परंतु राष्ट्रभाषा के नाते हिंदी लिखते-पढ़ते हैं। हिंदी का राष्ट्रभाषा रूप ज्यों-ज्यों विकसित और बृहत् होता जायगा, त्यों-त्यों दूसरी श्रेणी के ही सज्जनों का समुदाय बढ़ेगा। हिंदी का 'स्टाइल' निश्चय करते समय दोनों के सुभीते पर ध्यान रखना होगा। इसके साथ ही इस बात पर भी विचार करना पड़ेगा कि हिंदी का 'हिंदीपन' कहाँ तक सुरक्षित रखने पर ज़ोर दिया जाय और अहिंदी-भाषी कहाँ तक इससे मुक्त रखे जायँ। एक बात और भी है, हिंदी जिनकी मातृभाषा है, उनकी लेखन-शैली में भी एकता नहीं है। दिल्लीवालों और पंजाबियों का 'स्टाइल' भिन्न है। बिहारियों और संयुक्त प्रांतवालों का भी अलग-अलग है। इसमें समता कैसे हो, यह प्रश्न भी विचारणीय है।

हिंदी का इस समय जो साहित्यिक स्वरूप है, उसमें वह कहीं नहीं बोली जाती। बड़े-बड़े विद्वानों के भी घरों में इसका प्रचार नहीं है। वह अँगरेज़ी, संस्कृत और फ़ारसी आदि के विद्वानों का बनाया हुआ रूप है। यद्यपि उसमें ठेठ शब्दों का अभाव नहीं है, फिर भी कम है और जो कुछ है, उनके भी लोप होने में अधिक विलंब नहीं है। क्योंकि हिंदी पढ़कर हिंदी लिखनेवालों की संख्या नहीं के बराबर है। अँगरेज़ी अथवा संस्कृत आदि पढ़कर लोग लिखते हैं। दूसरे ठेठ शब्द बहुधा प्रांतीय हैं। निरंतर दूसरी भाषाओं के अध्ययन से लिखते समय ठेठ शब्द और मुहावरे याद ही नहीं आते। इसलिये अब कुछ दिनों बाद ठेठ शब्दों और मुहाविरों-मिश्रित हिंदी के 'स्टाइल' का प्रश्न ही नहीं उठेगा। हाँ, तद्भव और तत्सम शब्दों का आधिक्य रहेगा। अब विचार करने की बात यह है कि इन दोनों में किसका प्रयोग अधिक हो। पहले हिंदी-भाषी प्रांतों को ही लीजिए। दिल्ली, संयुक्त-प्रांत, मध्य-प्रांत और बिहार हिंदी-भाषी प्रांत माने जाते हैं। राजपूताने और पंजाब में भी हिंदी बोलनेवाले बहुत अच्छी संख्या में हैं, परंतु ये हिंदी-भाषी प्रांत नहीं हैं। हिंदी-भाषी प्रांतों में जो भाषा बोली जाती है, उसमें संस्कृत और अरबी-फ़ारसी दोनों के तद्भव और तत्सम शब्द हैं। बिहार और मध्य-प्रांत में संस्कृत या प्राकृत-तद्भव और तत्सम शब्द अधिक हैं और युक्तप्रांत में उर्दू के। कहने का अभिप्राय यह है कि इन प्रांतों के लिये वही भाषा उपयोगी हो सकती है, जिसमें दोनों भाषाओं के तद्भव शब्द अधिक और तत्सम शब्द कम हों; परंतु बंगाल, मद्रास, महाराष्ट्र, कर्नाटक, सिंध, पंजाब और

गुजरात के लिये भी यही बात नहीं कही जा सकती। बंगालियों, मराठों, मद्रासियों और कर्नाटक तथा आन्ध्र-वालों के लिये संस्कृत प्रधानभाषा की आवश्यकता है, क्योंकि उक्त प्रांतों की भाषा संस्कृत प्रधान है, और पंजाब तथा सिंध के लिये उर्दू प्रधानभाषा की। गुजराती और वर्तमान हिंदी में विशेष भेद नहीं है। परंतु इस संबंध में यह बात जानने की है कि जिन प्रांतों में उर्दू प्रधान हिंदी उपयोगी समझी जाती है, वहाँ के अधिकांश हिंदू संस्कृत प्रधान हिंदी पढ़ना ही अधिक पसंद करेंगे। क्योंकि संस्कृत से उनका सनातन संबंध है और इसके प्रति उनमें अब भी श्रद्धा का अंश है। इसके लिये यदि उन्हें कुछ कठिनाइयाँ भी उठानी पड़ें तो भी वे संभवतः न हिचकेंगे। पंजाब के उर्दू पत्रों के हिंदू-संपादक प्रायः संस्कृतप्रधान ही भाषा उर्दू पत्रों में भी लिखते हैं। इसलिये संस्कृत प्रधान भाषा के प्रति यदि किसी को आपत्ति हो सकती है, तो वे पंजाब, सिंध और यू० पी० के थोड़े-से मुसलमान ही होंगे। बंगाल, महाराष्ट्र और कर्नाटक आदि में रहनेवाले मुसलमानों को भी संस्कृत प्रधान ही हिंदी पसंद होगी। इसलिये यह अनुमान करना असंगत न होगा कि हिंदी का 'स्टाइल' संस्कृत प्रधान होगा। हमारी राय में इससे हिंदी का लाभ ही होगा। फिर भी दूसरे प्रांत के विद्वानों से विमर्श कर लेना अच्छा ही होगा। हाँ, यह ठीक है कि इस भाषा पर हिंदी-व्याकरण का ही अंकुश रहेगा, संस्कृत-व्याकरण का नहीं, और न इसकी आवश्यकता ही है। हिंदी संस्कृत से भिन्न स्वतंत्र सत्ता रखती है। फिर व्याकरण के लिये ही वह परमुखापेक्षी क्यों रहे?

अब 'हिंदीपन' पर ध्यान दीजिए। हिंदी-भाषा का यह सौभाग्य है कि उसके वर्तमान लेखकों में कितने ही ऐसे भी विद्वान् सज्जन हैं, जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं है, फिर भी राष्ट्रभाषा के नाते वे इसे प्रेम-पूर्वक अपनाए हुए हैं। यह सत्य है कि जन्म-गत संस्कारों के कारण इन सज्जनों के लेखों में इनके प्रांत की भाषा और मुहावरों का समावेश हो जाता है। शुद्ध हिंदी लिखने के पक्ष-पातियों को यह बात सह्य नहीं है। उनका कथन है कि इससे हिंदी का 'हिंदीपन' नष्ट हुआ जाता है। इसलिये इससे उसकी रक्षा अवश्य करनी चाहिए। उनकी यह आपत्ति किसी अंश तक ठीक है। किंतु जिसकी मातृ-भाषा बंगला, मराठी, गुजराती, तेलुगु अथवा तामिल है, बचपन से ही लिखने-पढ़ने और बोलने में जिसका अनवरत साथ रहा है, उसका सर्वथा त्याग नहीं हो सकता। यही कारण है कि बहुधा उनके लेखों में प्रांतीयता अपनी झलक दिखा देती है। दूसरे प्रांत के लोग, विशेषतः वे लोग जो हिंदी के अनन्य भक्त और निःस्वार्थ सेवक हैं, जान-बूझकर हिंदी का सौंदर्य नष्ट करने के लिये उस पर अपने-अपने प्रांत की छाप लगा रहे हैं, यह मानने के लिये हम तैयार नहीं हैं। और न यही कहने के लिये तैयार हैं कि उनका यह ढंग अनुकर-णीय अथवा प्रशस्त है या उसे 'स्टैण्डर्ड स्टाइल' मान लेना चाहिए। हम चाहते हैं कि हिंदी को दूसरे प्रांत-वाले भी उसी प्रकार लिखें; जिस प्रकार हिंदी बोलने-वाले लिखते हैं; परंतु यह तब तक नहीं हो सकता, जब तक हिंदी अँगरेज़ी अथवा उनकी मातृभाषा की ही तरह लड़कपन से ही न पढ़ाई जाय। अभ्यास ही संस्कार पर विजय पा सकता है। जैसे अँगरेज़ी, फ्रेंच, जर्मन या गुजराती, मराठी अथवा बँगला लिखते समय सदैव उसकी शैली का ध्यान रखा जाता है और जो नहीं रखते वे उपहासास्पद होते हैं, वैसे ही हिंदी में भी ध्यान रखना चाहिए। जो लोग ध्यान नहीं रखेंगे, वे आदर्श लेखकों की पंक्ति में बैठने योग्य नहीं माने जायँगे और उनकी ओर अंगुश्तनुमाई होगी। किंतु हमारी राय में यह 'अंगुश्तनुमाई' किसी को 'निरुत्साह' करने के लिये नहीं होनी चाहिए। अन्यथा मातृभाषा का हित करने के बदले हम अपनी अनुदारता से उसका अहित कर बैठेंगे। कहने का अभिप्राय यह है कि 'हिंदीपन' की रक्षा अवश्य की जाय, किंतु अनुदारता और व्यंगो-क्तियों से नहीं। दूसरे प्रांतवाले लेखकों के लेखों में हिंदी की वर्तमान शैली के अनुसार जो त्रुटियाँ हों, वे उन्हें बतला देनी चाहिए, जिससे वे अपनी भाषा का सुधार कर सकें। फिर भी उनसे यह आशा नहीं करनी चाहिए कि वे हिंदी-भाषियों की ही भाँति उत्तम, शुद्ध और प्रवाह-पूर्ण परिमार्जित भाषा लिख सकेंगे। यह दूसरी बात है कि उनमें कोई-कोई लिख भी सकें।

रहे हिंदी-भाषी प्रांत; उनकी भी लेखन-शैली में समता या एकता की आशा नहीं है। पंजाबी सदैव

कहेंगे, "मैंने रोटी खानी है।" चाहे प्रचलित शैली के अनुसार यह सर्वथा अशुद्ध ही क्यों न हो। दूसरे बड़े-बड़े पंडित संस्कृत-व्याकरण की "कर्मवाच्य प्रक्रिया" से इसका समर्थन भी करेंगे, और कर भी चुके हैं। बिहारी भाई भी बोलते और लिखते समय बराबर यही बोलें और लिखेंगे कि "रामवचनजी को चार लड़के हैं।" यू०पी० वाले भी अपनी यह आदत नहीं छोड़ेंगे कि "मुझे रोटी खानी है।" सारांश यह है कि जिन प्रांतों की बोलचाल की भाषा हिंदी है, उनमें भी प्रांत भेद से विभिन्नता अवश्य रहेगी। इसलिये अब 'बिहारी हिंदी' और 'पंजाबी हिंदी' का भी शोर बंद करना चाहिए। "अपने-अपने प्रांत को महत्त्व देने की अपेक्षा सार्वजनीन सुभीते को ही उच्चस्थान देना अच्छा होगा।" आशा है, इन पंक्तियों पर सुधी-समुदाय भली भाँति विचार करेगा। जो विद्वान् सज्जन इस संबंध में कुछ लिख भेजने की कृपा करेंगे, "माधुरी" में उनके लेख प्रकाशित किए जायँगे।

× × ×

१०. बँगला-लेखकों की अवस्था

हिंदी-लेखकों की कठिनाइयों और दरिद्रता का वर्णन पढ़कर खेद, और पाश्चात्य लेखकों की समृद्धि और समुन्नति का समाचार सुनकर आनंद होता है। दोनों ही भगवती वीणा-पाणि के उपासक हैं, परंतु एक मर्त्य में ही स्वर्ग-सुख भोगता है और दूसरा मानसिक और सांसारिक वेदनाओं से व्यथित रहता है। बड़ी मुसीबतों से जीवन की घड़ियाँ काटता है। हम समझते थे कि कदाचित् हिंदी-लेखकों पर ही दुर्भाग्यशनि की प्रखर दृष्टि है और बँगला-जैसी सर्वथा उन्नत और सुपुष्ट भाषा के लेखक इस व्याधि और जंजाल से मुक्त होंगे। परंतु इस महीने की 'कल्लोल' पढ़कर हमारी वह धारणा दूर हो गई। 'कल्लोल' से मालूम होता है कि बँगला के लेखकों को न केवल चिर दरिद्रता से जीवन-व्यापी संग्राम करना पड़ता है, वरन् उन्हें अपनी रचनाओं के छपाने में भी घोर कष्ट सहन करना पड़ता है। इससे यह भली भाँति विदित हो जाता है कि बँगला साहित्य चाहे हिंदी से अधिक उत्कृष्ट और महीयान् हो, पर उसके लेखकों की अवस्था हिंदी-लेखकों की दशा की अपेक्षा अच्छी नहीं है। 'कल्लोल' का उक्त अंश इस प्रकार है—

"बंगाल में केवल गल्पें या अच्छे उपन्यास लिखकर जिन्हें परिवार का प्रतिपालन करना पड़ता है, वे दरिद्रता के साथ जो संग्राम करके किसी भाँति जीवित रहते हैं, उसका हमारे धनवान् प्रकाशक अथवा सामयिक पत्रों के स्वत्वाधिकारी ज़रा भी अनुभव कर सकेंगे, या नहीं, इसमें भी संदेह है। दुःख का विषय होने पर भी यह प्रायः सह्य हो गया है। भूखे रहकर अपना व्यक्तित्व अथवा मान बचाया जा सकता है; किंतु इससे शरीर की रक्षा नहीं होती। विशेषतः जब आँखों के सामने देखा जाता है कि वृद्ध पिता, माता, छोटे और असहाय भाई-बहिन अल्पाहार या अनाहार से म्रियमाण हैं, तब अपनी बात सोचने का अवसर नहीं रहता। बड़ा अपमान, बड़ी अवज्ञा अंतस्तल में दबाकर बँगला के हतभाग्य लेखक को फिर यत्किंचित् अर्थ-सहायता के लिये पत्रिका-आफ़िसों अथवा प्रकाशकों का द्वार ताकना पड़ता है। इस देश में लेखकों का संघ बनाने से भी लाभ नहीं होगा, क्योंकि बहुत संभव है कि इस संघ के ही लोग जो कुछ मिले उसी में लेख बेच आवें। लेखों के लिये रुपए देनेवाली पत्रिकाएँ भी कम हैं। इसलिये जो लोग रुपया देने में समर्थ हैं, उनके पाद-प्रहार की धूल झाड़-पोंछकर फिर लेखक को उन्हीं की कृपा का भिखारी बनना पड़ता है।"

कितनी शोचनीय अवस्था है! चित्र का दूसरा पट इससे भी अधिक भयानक है। देखिए,—

"बँगला के कितने ही पाठक शायद यह नहीं जानते होंगे कि यहाँ बड़ी पत्रिकाओं में लेख छपाने में कितना कष्ट उठाना पड़ता है। आफ़िसों में नौकरी की उम्मेदवारी में जितना क्लेश है, अप्रसिद्ध लेखक को अपना लेख छपाने में वही कष्ट भोगना पड़ता है। कितनी ही जगह तो ख़ुद संपादक के दर्शन ही दुर्लभ हैं। कितनी ही जगह वेतन-भोगी संपादक की ऐसी अवस्था है कि लेख उनके पास तक सीधे पहुँचते ही नहीं। यदि किसी प्रकार उनके दर्शन मिल जायँ, तो भी उनकी दशा बहुत कुछ "दादा से पूछकर कहूँगा" के ही ढंग की है। वे स्वयं रायज़नी नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि मत प्रकाश करने से अंत में शायद इस "औद्धत्य" के लिये नौकरी से भी हाथ धोना पड़े। इसलिये कहीं-कहीं तो जो रुपए के मालिक हैं, वे ही लेखों की व्यवस्था

करते हैं। वहाँ किसके भाग्य का क्या निर्णय होता है, यह बहुत-से लेखक प्रकट भी नहीं करते।

जो हो, इस प्रकार की बहुतेरी अवज्ञाओं और अमर्यादाओं को सहकर भी जो अविचल रहते हैं, उन्हीं के लेख छपते हैं। किंतु आगे-पीछे भी यदि मालिक-संपादक का मन न रख सके, तो भी विपत्ति लगी ही रहती है। इसका मुख्य और चरम-दंड जो लेखक को मिलता है, वह यह है कि उस अज्ञात अपराध के अपराधी लेखक के लेखों का उस पत्रिका में छपना सदा के लिये बंद हो जाता है। जैसे आग के साथ पवन रहता है, वैसे ही मालिक-संपादक के साथ भी कितने ही अनुचर पार्श्वचर-सहचर और गुप्तचर रहते हैं, और उपयुक्त समय जानकर वे कार्य और भी बना देते हैं।"

यह है अवस्था, बँगला-साहित्य के लेखकों, संपादकों और प्रकाशकों की। कैसी लज्जा-जनक और विषम परिस्थिति है! ईश्वर करे, हिंदी-बँगला लेखकों का भाग्याकाश घन-घोर मेघों से शीघ्र ही मुक्त हो जाय, और वे शांत और संतुष्ट चित्त से अपनी-अपनी मातृभाषा की सेवा में उत्तरोत्तर अधिक तल्लीन हों। भगवती शारदा के सेवक उचित सम्मान और धन प्राप्त करें और उन्हें अनाहार और मानसिक व्यथाओं से व्यथित न होना पड़े। सत्साहित्य की वृद्धि तभी संभव होगी।

---

१. शयनागार

यह चित्र प्राचीन चित्र-कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। कलकत्ते में श्रीबहादुरसिंहजी सिंघी की एक विशाल चित्रशाला है। उसी चित्रशाला से हमें यह चित्र प्राप्त हुआ है। एतदर्थ हम सिंघीजी के कृतज्ञ हैं। जैसा कि चित्र के नाम से प्रकट है, इस चित्र में किसी अतुल ऐश्वर्यशालिनी बेगम के शयनागार का दृश्य है। चारों ओर बड़े ही सुंदर प्राकृतिक और कृत्रिम दृश्य उपस्थित हैं। मानसिक थकावट को दूर करके निद्रा लाने की सभी सामग्री मौजूद है। संगीत का भी प्रबंध है। कोई परिचारिका पंखा झलकर, शीतल समीर उत्पन्न करके शारीरिक श्रम को दूर कर रही है, तो कोई मधुर बाजे के शब्द से मानसिक उल्लास बढ़ा रही है। बेगम भी निमीलित लोचन शयन कर रही हैं। उन्हें निद्रा आगई है। इसी दशा का चित्रण इस चित्र में किया गया है। दृश्य बड़ा ही सुहावना और मनोमुग्धकारी है।

२. वसंतोत्सव

इस चित्र में कुछ अलबेली नवेलियाँ होली खेल रही हैं। इस क्रीड़ा-सौंदर्य को एक रसिक पुरुष छिपकर देख रहे हैं। मदन-महोत्सव के साथ-साथ नर-नारियों के हृदयों में जो एक अपूर्व उल्लास उत्पन्न होता है, उसका वर्णन करना या उसका चित्र खींचना बहुत कठिन काम है। फिर भी कवि और चित्रकार ऐसे भावों को प्रकट करने का उद्योग किया ही करते हैं। इस चित्र में भी वसंतोत्सव का उल्लास अंकित किया गया है।

३. विहंगम-वियोग

एक तरुणी ने एक कपोती को पकड़ लिया। वह उसे हाथ में लिये बैठी है। कबूतरी का जोड़ा कबूतर पास के ही वृक्ष की डाली पर बैठा सतृष्ण नेत्रों से कबूतरी की ओर निहार रहा है। कबूतरी बेचारी बेबस है पर कबूतर से मिलने के लिये विकल हो रही है। उसकी दृष्टि भी कबूतर की ही ओर है, सुकुमार तरुणी कबूतरी के इन भावों को समझ रही है। विरह के इस व्यापक प्रभाव को सोचकर वह भी गंभीर विचार में मग्न है। चतुर चित्रकार श्री डी० बनर्जी ने इस चित्र में इसी भाव का सफलतापूर्वक चित्रण किया है। यही विहंगम-वियोग का परिचय है।
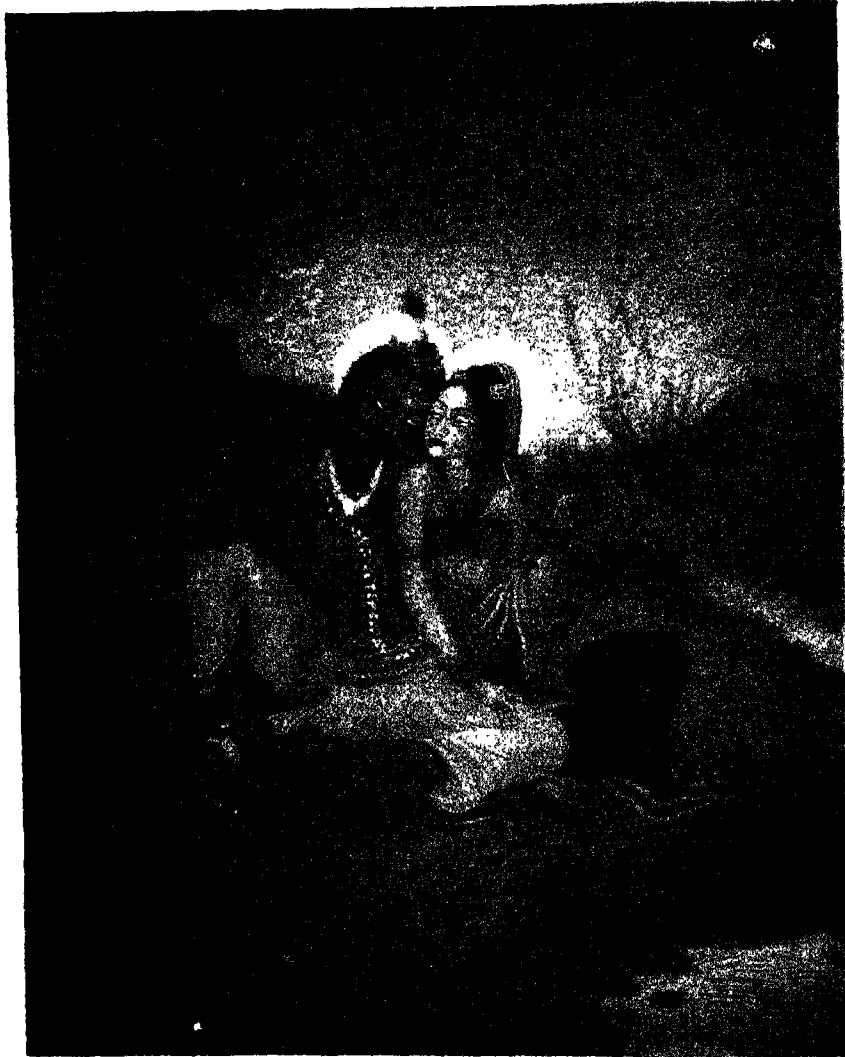
वर्ष ६ | खंड २

चैत्र, ३०४ तुलसी-संवत् (१९८५ वि०)
एप्रिल, सन् १९२८ ई०

संख्या ३ | पूर्ण संख्या ६९

लालसा

कब तक ठौर-ठौर खोजता रहूँ मैं तुम्हें ,
क्यों न मन में ही मैं तुम्हारी मूर्ति धार लूँ ;
क्यों न आँसुओं से मैं पखार लूँ तुम्हारे पद ,
क्यों न प्रेम-ज्योति से ही आरती उतार लूँ ।
रोकता बहुत रहता हूँ अपने को सदा ,
तो भी चित्त चाहता है तुमको पुकार लूँ ;
दिन-रात मेरी अब एक लालसा है यही ,
बस, एक बार तुम्हें जी-भर निहार लूँ ।

गोपालशरणसिंह

गोस्वामी तुलसीदास और रामचरित

गोस्वामी तुलसीदास से पहले श्री-रघुनाथजी का चरित वाल्मीकीय रामायण के अतिरिक्त महाभारत (वनपर्व) और विष्णुपुराण, आदि अनेक पुराणों में लिखा था, उन्हीं के आधार पर संस्कृत में अनेक काव्य-नाटक बन गए थे। जिनमें कुछ लुप्त हो गए, कुछ दबे पड़े हैं और कुछ प्रकाशित हो चुके हैं। गोस्वामीजी युगल सरकार के परम भक्त थे, इससे भक्ति-पूर्ण दृष्टि से जो प्रसंग उन्हें उचित जँचा, उसको जहाँ देखा, वहाँ से लेकर अपने ग्रंथों में रख दिया। इसी से उन्होंने रामचरितमानस के आरंभ ही में कहा है—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ।

चित्रकार एक ही विषय पर अनेक चित्र बनाता है। परंतु जब तक प्रत्येक चित्र में दूसरे की अपेक्षा कोई विशेषता न हो, तब तक उसको न तो संतोष होता है और न उसे अपने गुण दिखाने का ही अवसर मिलता है। कौन कहेगा कि गोस्वामीजी को श्रीजी के दूसरे वनवास की कथा विदित न थी, परंतु रामचरितमानस में उसका वर्णन करना उन्होंने उचित न समझा। अयोध्या के वैष्णव तो इसका कारण यह बताते हैं कि गोस्वामीजी उस संप्रदाय के थे, जिसका विश्वास है कि सरकार अब तक श्रीअवध में विराजमान हैं। इसी से किसी राजा-महाराजा का डंका राजधानी में बजने नहीं पाता। फिर भी बालकांड में इतना तो लिखा ही है—

सिय-निंदक-अघ-ओघ नसाए ।
मानहुँ फेरि उजारि बसाए ।

परंतु गीतावली में तो यह प्रसंग उत्तरकांड के २७ वें गीत से ३३वें गीत तक पूरा-पूरा दिया हुआ है। कहीं-कहीं तो ऐसा जान पड़ता है कि कालिदास के रघुवंश से यह प्रसंग लेकर रख दिया गया है। जैसे—

राम-वचन

तात तुरतहि साजि स्यंदन सीय लेहु चढ़ाय ;
बालमीकि मुनीस आश्रम आइयहु पहुँचाय ।
(गीतावली)

लै सोइ मिस तेहि रथ बैठारी ;
छाँड़ु आदि कवि-धाम मँझारी । (रघुवंश भाषा, सर्ग १४)

सीता-वचन

पालबी सब तापसिनि लौं राजधर्म बिचारि । (गीतावली)
जानेउ मोहि तपसिनि की नाईं । (रघुवंश भाषा, सर्ग १४)

बालमीकि वचन

पुत्रि, न सोचिए आई हौ जनक-गृह निज जानि ।
अब जनि करहु सोच कछु भारी ;
आई निज पितु गेह कुमारी । (रघुवंश भाषा, सर्ग १४)

इसी से श्रीरामचरित के प्रेमियों से मेरी प्रार्थना यह है कि गोस्वामीजी के रचे इस विषय के जितने ग्रंथ हैं, उन्हें ध्यान से पढ़ जायं, तो उनकी बहुतेरी शंकाएँ दूर हो जायँगी। इस कथन को पुष्ट करने के लिये इस ग्रंथ के दो उदाहरण देता हूँ—

अवरउ एक कहौं निज चोरी ;
सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी ।
कागभुसुंड संग हम दोऊ ;
मनुजरूप जानै नहिं कोऊ ।
परमानंद प्रेम सुख फूले ;
बीथिन फिरहिं मगन मन भूले ।

अर्थ स्पष्ट है। अपनी चोरी मनुष्य ओछे पेटवाले से नहीं कहता, जो चारों ओर ढिंढोरा पीट दे। पार्वतीजी से इसलिये कहते हैं कि उनकी मति दृढ़ है। शिवजी कागभुसुंडि को साथ लेकर मनुष्य-रूप धारण करके श्रीअवधपुरी को आए और गलियों-गलियों घूमते रहे। परंतु गलियों में घूमने से उनका प्रयोजन सिद्ध हुआ या घूमने ही से तृप्ति हो गई ? जब—

एक अनीह अरूप अनाम ;
अज सच्चिदानंद परधाम ।
व्यापक विश्वरूप भगवान ।—

ने मनुष्य के बच्चे का रूप धारण किया, तो शिवजी जो तत्त्व को जानते हैं, उनको अवश्य ही यह कौतुक होगा कि

चलो देखें तो यह महासागर गागर में कैसे समा गया। परंतु रामचरितमानस से यह पता नहीं चलता कि दर्शन भी हुए और हुए तो किस उपाय से हुए। क्योंकि इस देश में साधारण मनुष्य भी अपने नवजात बालक को गली-गली नहीं घुमाते; सरकार ने तो सम्राट् के घर जन्म लिया था। शिवजी के मनोरथ की सिद्धि गोस्वामीजी ने गीतावली में स्पष्ट रूप से दिखा दी है।

अवध आज आगमी एक आयो;
करतल निरखि कहत सब गुणगण बहुतन परचो पायो।
बूढ़ो बड़ो प्रमाणिक ब्राह्मण शंकर नाम सोहायो;
सँग शिशु शिष्य, सुनत कौशल्या भीतर भवन बुलायो।
पाय पखारि पूजि दियो आसन अशन, बसन पहिरायो;
मेले चारु चरण चारों सुत माथे हाथ दिवायो।
नख सिख बाल बिलोकि विप्रतन पुलकि नयन जल छायो;
लै-लै गोद कमलकर निरखत उर प्रमोद अनमायो।
जन्म-प्रसंग कह्यो कौशिक मिस सिया स्वयंवर गायो;
राम भरत रिपुदमन लखन को जय सुख सुयश सुनायो।
'तुलसीदास' रनिवास रहस बस भयो सबके मन भायो;
सनमानो महिदेव असीसत सानंद सदन सिधायो।

शिवजी बुड्ढे ब्राह्मण बने और भुसुंडिजी छोटे बालक। परंतु निरे ब्राह्मण बनते, तो काम नहीं चलता। ज्योतिषी बनते, तो बाहर बैठाये जाते, भीतर से टिप्पणी आती। इससे सामुद्रिक शास्त्री बने, नगर में दस जगह गए; लोगों के हाथ देखे, अगला-पिछला हाल बताया, सारे नगर में शोर हो गया कि बुड्ढा ब्राह्मण बड़ा प्रामाणिक है। राजद्वार पर भी पहुँचे, महल में समाचार पहुँचा, बुड्ढे ब्राह्मण और छोटे लड़के को अंतःपुर में बुलाने में कोई हानि नहीं है। माताओं को अपने बच्चों के भविष्य जानने की बड़ी अभिलाषा होती है। बालक सरकार बुड्ढे ब्राह्मण के सामने लाए गए। ब्राह्मण ने ब्रह्मानंद में मगन होकर बालक को गोद में ले लिया और जन्म के प्रसंग से लेकर विवाह के प्रसंग तक कह गया। हमारे देश में माता को प्रसन्न करने के लिये इससे बढ़कर समाचार नहीं है कि तुम्हारे बच्चे का विवाह जल्द बहुत अच्छे घर में हो जायगा। यह समाचार सुनाकर प्रेममग्न शिवजी काकभुसुंडि-समेत नगर में घूमते-घामते अपने धाम को चले गए।

दूसरा उदाहरण अरण्यकांड से लिया जाता है—

सीतहि समय देखि रघुराई;
कहा अनुज सन सैन बुझाई।

परंतु सैन क्या थे ! इन सैनों का वर्णन बरवा रामायण में है—

वेद नाम मनि अंगुरिन खंडि अकास;
सूपनखा प्रभु पठयो लछिमन पास।

"हाथ की चार अँगुलियाँ दिखाकर और आकाश का खंडन करके शूर्पणखा को सरकार ने लक्ष्मणजी के पास भेजा।"

यह बात स्पष्ट रूप से चित्र में दिखाई जा सकती है। चार उँगलियों का अर्थ वेद (श्रुति) सूचित हुआ और श्रुति का अर्थ कान भी है, फिर तर्जनी और अँगूठे के मिलाने से शून्य (आकाश) बन गया, जिसको संस्कृत में नाक भी कहते हैं। दोनों अंगों, नाक-कान, को सैन से बताकर दूसरे हाथ की तर्जनी से काट दिया, जिसका अभिप्राय यह हुआ कि इसके कान और नाक काट लो।

इंडियन-प्रेस के छपे रामचरितमानस की टीका में बरवारामायण "खंड प्रकाश" पाठ अशुद्ध है।

श्रीअवधवासी सीताराम

ब्रज-भारती

गहि कृष्ण कथा की जथा सिगरी,
कलि कल्मष-पंक पखारती है;
सुचि सारदा जासु की मोद-मढ़े उर,
आरती आपु उतारती है।
नित चारि पदारथ देत किसोरि,
कबीजन हेरि पुकारती है;
लहि सूर से स्वामी सतोगुनी सुंदर,
धन्य भई 'ब्रज-भारती' है।

किशोरीलाल गोस्वामी

ननकू चौधरी

(१)

"महाराज, चाहे मेरा सरबस ले लेओ, पर किसी जतन से इसे उठाय के खड़ाकर देओ—जनम भर आपका गुन मानूँगा।"

दिन के आठ बज चुके हैं। मंगलपुर ग्राम के अहीर टोले में एक कच्चे मकान के अंदर चारपाई पर एक रोगिणी लेटी हुई है। उसके समीप दूसरी चारपाई पर एक देहाती वैद्यराज विराजमान हैं—सामने एक अर्द्धवयस्क व्यक्ति हाथ जोड़े खड़ा है – एक द्वादशवर्षीय बालक उस व्यक्ति की कमर पर हाथ रक्खे कभी वैद्यराज के मुख को देखता है और कभी अपने पिता के मुख की ओर ताकता है। चारपाई पर जो रोगिणी पड़ी है, वह इतनी दुर्बल तथा कृशांग हो गई है कि एक अपरिचित व्यक्ति भी प्रथम दृष्टि डालकर ही यह बता सकता है कि रोगिणी को चारपाई पर गिरे हुए एक समय व्यतीत हो चुका।

वैद्यराज ने उस व्यक्ति के उपर्युक्त वाक्य सुनकर कहा, चौधरी, घबड़ाओ नहीं, अच्छी हो जायँगी। आठ-दस दिन की कसर और है—बुख़ार कम हो चला है, खाँसी को भी आराम है। भगवान् ने चाहा, तो अब प्रतिदिन अच्छी होती चली जायँगी।

रोगिणी के सिरहाने तीन-चार स्त्रियाँ बैठी हुई थीं, उनमें से एक बोली—बैदजी, जैसे बने, तैसे चौधराइन को अच्छा करो—भगवान् आपका भला करें—अब तो आप ही का सहारा है।

वैद्य—ईश्वर को याद करो—करने-धरनेवाला वही है—हमारा काम तो केवल दवा देने का है। सो उसमें हम कुछ उठा नहीं रख रहे हैं।

चौधरी—आप जो कर रहे हैं, वह हमारा जी जानता है, रोयाँ-रोयाँ आपको असीसता है।

इसके पश्चात् वैद्यराज ने औषध दी और उसकी सेवन-विधि बताकर उठ खड़े हुए। चौधरी ने अंटी से निकालकर एक रुपया वैद्य के हाथ में दिया, वैद्यराज बिदा हो गए।

वैद्यराज के जाने के पश्चात् एक ब्राह्मण देवता हथेली पर तमाखू मलते हुए आए और द्वार पर से ही बोले—काहे चौधरी का हाल है? यह कहते हुए ब्राह्मण देवता भीतर आ गए। चौधरी ने उन्हें देखते ही कहा—पालागौं महाराज!

ब्राह्मण—आशीर्वाद! कहो बैदराज का कहत हैं?

चौधरी एक दीर्घ निःश्वास लेकर बोला—कहत का हैं—यहै कहत हैं कि आराम होई जाई।

ब्राह्मण—आराम तो तुम जान लेओ होई जैहैं जित्ते दिन का शरीर का भोग है, वह तो भोगै का पड़बै करी।

चौधरी—का बतावैं, कुछ अक्किल काम नहीं करती, ऐसी बीमारी कबहूँ नहीं पाइन।

ब्राह्मण—सो तो तुम जान लेओ ठीकै है, बीमारी कठिन है—परंतु शंकरजी सब आनंद करिहैं—तुम घबराओ नहीं।

चौधरी—और कुछ नहीं महाराज, जो चौधराइन को कुछ हो गया, तो मेरा बुढ़ापा बिगड़ जायगा।

इतना कहते-कहते चौधरी के नेत्र अश्रु-पूर्ण हो गए।

ब्राह्मण—नहीं सो बात नहीं होगी। तुम जान लेओ इससे कठिन-कठिन रोग दूर होई जात हैं।

इसी समय द्वार पर से किसी ने पुकारा—ननकू काका! चौधरी ने आँखें पोंछते हुए कहा—आओ भइया, चले आओ।

चौधरी के इतना कहते ही एक व्यक्ति, जो वेष-भूषा से कृषक जान पड़ता था और हाथ में खुरपा लिए था—भीतर आया और आते ही बोला—का हाल है?

चौधरी—हाल तो अभी वैसा ही है।

कृषक—हम तो न जाने कित्ते दिनन से चिल्लाइत है कि इनकी दवा से कुछ न होई—जाना? शिवपुरी के बैद का दिखाओ, उई मरा मनई जियावत हैं—जाना? काहे पंडित महाराज झूठ कहत हन?

ब्राह्मण—नहीं, कहत तो यथार्थ हौ—तुम जान लेओ दोई चार बेर हमरौ साबका पड़ चुका है—बैद तो अव्वल हैं।

कृषक—चौधरी से बोला—देखो, पंडित का कहत हैं।

चौधरी—जैसी तुम लोगन की राय होय, तैसा करन। हमारी बुद्धि तो काम नहीं देती।

कृषक—तो उनहूँ का दिखाय देओ, नकसान का है। काहे पंडित महाराज?

ब्राह्मण—हाँ हाँ दिखावै माँ तुम जान लेश्रो का हरज है।

चौधरी—अच्छी बात है, अबहीं कौनो का भेजित है—बुलाय लाई। (कृषक से) तुम कैसी जाय रहे हो?

कृषक—हम तो खेतवा निकावै जाइत है—जाना?

चौधरी—तो वैसी से जरा रमचरना को पठै देना।

कृषक—अच्छी बात है, अबहीं भेजित है। काका तुम घबराश्रो नहीं—उई अबतै कौनौ ऐस दवा देहैं कि दोई तीन दिन माँ चौधराइन तुम्हें रोटी बनायके खवाय देंगी—जाना?

चौधरी—देखो भइया, तुम लोगन का पुन्न-परताप है, तो आराम हो जायगा।

ब्राह्मण—आराम तो तुम जान लेश्रो निश्चय करिकै होइ है—हाँ, हमार यह बात याद कर लेश्रो।

चौधरी—आप भगवान् का रूप हैं—आपका आसीर्बाद होई तो जरूर आराम होइ जाई।

कृषक—अच्छा तो हम जाइत है—रमचरना का भेजित है।

चौधरी—हाँ भइया भेज देश्रो तो बैद का बुलावै खातिर पठै देई।

ब्राह्मण—अच्छा तो हमहूँ चलित है, अबहीं बहुत काम करै का है।

चौधरी—अच्छा जाश्रो—ऐसै किरपा बनी रहै। पालागौं।

ब्राह्मण देवता—"आशीर्वाद!" कहकर विदा हुए।

(२)

ननकू चौधरी मंगलपुर के अहीरों का मुखिया है। उसकी आर्थिक दशा गाँव के अन्य अहीरों की अपेक्षा अधिक संतोषजनक है। पंद्रह-बीस बीघे भूमि की खेती करता है, दो भैंसें तथा चार गाएँ हैं। अपनी जाति के लोगों के साथ कुछ लेन-देन भी करता है। उसके परिवार में केवल चार व्यक्ति हैं। एक तो वह स्वयम्, दूसरी उसकी पत्नी, तीसरा एक द्वादशवर्षीय पुत्र, चौथा उसका एक बड़ा पुत्र, जिसका नाम रामचरण है। ननकू की उम्र यद्यपि चालीस वर्ष के लगभग है, परंतु खुले वायु-मंडल में रहने तथा खाने-पीने से सुखी होने के कारण वह तीस वर्ष से अधिक का नहीं मालूम होता।

उपर्युक्त घटना के पश्चात् दस दिवस व्यतीत हो गए। इन दस दिनों में ननकू ने चौधराइन को रोग-मुक्त करने के लिये अनेक प्रयत्न किए—शिवपुरी के वैद्य को दिखाया, एक अन्य वैद्य की चिकित्सा भी की; पर चौधराइन की दशा न सुधरी। दसवें दिन संध्या के समय चौधराइन ने चौधरी को अपने पास बुलाकर अत्यंत क्षीण स्वर में कहा—रामचरण के बापू, अब मैं भगवान् के घर जाती हूँ।

चौधरी, मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई पत्नी के इस वाक्य का कोई उत्तर न दे सका। उसके नेत्रों से आँसुओं का स्रोत फूट निकला। चौधराइन ने कहा—रोते काहे हो? भगवान् को याद करो। तुम्हारे रोने से मेरा जी भी दुखी होता है। और तो कोई अभिलाख है नहीं—तुमने मुझे जैसा सुख दिया, उसे देखकर यही कहना पड़ता है कि भगवान् दूसरे जनम में भी तुम्हारी ही चेरी बनावें—हाँ—रामचरन की दुलहिन का मुँह...। इतना कहकर चौधराइन मौन हो गई—दुर्बलता के कारण इतने वाक्य कहने में ही उसकी श्वास फूल गई। चौधरी उसी प्रकार अश्रु बहाता रहा। उसका कंठ इतना रुँध गया था कि वह इच्छा रहते हुए भी पत्नी की बात पर कुछ न कह सका।

कुछ देर दम लेने के पश्चात् चौधराइन फिर बोली—रामचरन की बहू का मुँह देख लेती, तो सुख से मरती। पर इतना सुख भाग में नहीं बदा था। मेरे पीछे मेरे मैकू को अच्छी तरह रखना—उसे किसी बात का दुःख न हो—रामचरन सयाना हो गया है—पर मैकू अभी बच्चा है—उसका ध्यान रखना।

इतना कहकर चौधराइन पुनः मौन हो गई।

चौधरी उसी प्रकार सिर झुकाए अश्रुधारा बहाता रहा। कुछ क्षणों पश्चात् चौधराइन ने फिर कहना आरंभ किया—और तुम ब्याह कर लेना, ब्याह न करने से तुम्हें तकलीफ रहेगी।

ये शब्द कहते हुए चौधराइन के रोगग्रस्त मुख पर विषाद की एक हल्की रेखा दौड़ गई। उसने पति की ओर एक ऐसी दृष्टि डाली, जिसमें अपनी इस बात का उत्तर पाने की उत्कंठा भरी थी।

इस बार बहुत चेष्टा करके चौधरी ने गद्गद कंठ से कहा—ब्याह! यह तुम क्या कहती हो रामचरन की माँ! अब मैं दूसरा ब्याह करूँगा? तुम्हारे बसाए हुए घर में तुम्हारी सौत लाकर बिठाऊँगा? तुम्हारी जोड़ी हुई

गिरस्ती भोगने के लिये दूसरी स्त्री लाऊँगा, ऐसा इस जनम में तो होगा नहीं।

पति के इन वाक्यों से चौधराइन के पीले मुख-मंडल पर कुछ क्षणों के लिये लाली आ गई। उसके मुख पर ऐसा भाव प्रस्फुटित हुआ, जिससे यह स्पष्ट था कि पति का यह उत्तर मिलने से उसे संतोष हुआ है। चौधराइन पुनः बोली—तुम यह बात इसलिये कह रहे हो कि मुझे दुःख न हो। पर मैं भगवान् की सौगंद खाकर कहती हूँ कि मुझे उसी में सुख है, जिसमें तुम्हें सुख है।

चौधरी—इस बात को जाने दो रामचरन की माँ—इन बातों से मुझे दुःख होता है—बस, अब तो भगवान् को याद करो।

चौधराइन—मेरे भगवान् तो तुम्हीं हो—तुम्हें छोड़ मैंने और किसी भगवान् को नहीं जाना। जब तक मेरे सामने तुम हो, तब तक, तब तक......। आह!

पत्नी के ये वाक्य सुनकर चौधरी व्याकुल हो गया। और बच्चों की भाँति ढाढ़ मारकर रोने लगा। वह रोता जाता था और कहता जाता था—अरे भगवान् तुम कहाँ हो, हाय अब मैं क्या करूँ। कोई मेरा सब कुछ ले-ले—मेरी चौधराइन को अच्छा कर दे। हाय राम, तनिक तो दया करो। पति को व्याकुल देखकर चौधराइन भी दुख के मारे बेहोश हो गई। घर की स्त्रियाँ दौड़ पड़ीं। उन्होंने चौधरी को सँभाला और समझाने-बुझाने लगीं।

उसी रात को चौधराइन का शरीरांत हो गया। चौधराइन की मृत्यु से चौधरी को अपने जीवन में एक विशेष परिवर्तन का अनुभव हुआ। एक पथिक जब सीधे मार्ग से भटककर निर्जन वन में पहुँच जाता है, तब उसकी जो दशा होती है, वही दशा इस समय चौधरी की, थी। अपना पिछला सुखमय जीवन उसे इस समय स्वप्नवत् प्रतीत हो रहा था। अपना घर, जो उसके लिये नंदन-कानन से भी बढ़कर था, वही उसे इस समय काटने दौड़ता था। उसके स्वप्न में भी कभी यह बात नहीं आई थी कि उसके जीवन में कभी ऐसा विकट परिवर्तन होगा। उसे क्या मालूम था कि उसके सुखमय जीवन-मार्ग का मोड़ उसे कंटकाकीर्ण वन में लाकर छोड़ देगा। आह! आज उसके नेत्रों में अंधकार है। आज भी भगवान् अंशुमाली अपनी पूर्ण शोभा के साथ उदय होते हैं, परंतु ननकू को उनका मुख-मंडल रक्त से सना हुआ प्रतीत होता है। आज भी ग्राम के पक्षिगण उसके घर की दीवारों पर आकर बैठते हैं और अपनी मधुर बोलियाँ बोलते हैं, परंतु ननकू को यह प्रतीत होता है कि वे उसकी चौधराइन के वियोग में व्याकुल होकर चीत्कार कर रहे हैं। द्वार पर बँधी हुई गाय जब राँभती है, तो ननकू समझता है कि वह उसकी चौधराइन को पुकारती है। उसके सामने जब कोई हँसता है, तो उसे प्रतीत होता है कि हँसनेवाला संसार की निस्सारता पर हँस रहा है। ननकू को आज ज्ञात हुआ कि किस प्रकार केवल एक प्राणी का अस्तित्व एक मनुष्य के जीवन को सुखमय बनाए रखता है, उसकी आँखों में संसार को प्रभा-पूर्ण रखता है और उसकी मृत्यु किस प्रकार जीवन को दुःखमय बना देती है, संसार को अंधकार-पूर्ण कर देती है।

(३)

चौधराइन की मृत्यु हुए दो वर्ष व्यतीत हो गए। चौधरी के हृदय में चौधराइन की मृत्यु से जो घाव हो गया था, वह भी काल-वैद्य द्वारा भरा जा चुका था। घाव भर गया था, परंतु उसका चिह्न शेष रह गया था। वह चिह्न, वह दाग़, चौधरी के हृदय में चौधराइन की स्मृति को स्थायी बनाए हुए था। इस बीच में चौधरी से लोगों ने दूसरा विवाह कर लेने का बहुत अनुरोध किया। अनेक माता-पिताओं ने उसे अपनी कन्याएँ अर्पित करने की उत्सुकता दिखाई। अनेक युवती विधवाओं ने उसका हृदय-हरण करने की भरसक चेष्टा की, परंतु किसी को भी सफलता न मिली। चौधराइन की स्मृति चौधरी के हृदय की कवच बनी हुई थी, जिसके कारण किसी भी रमणी के नयन-बाण उसके हृदय को विद्ध नहीं कर सकते थे। चौधरी ने यह व्रत कर लिया था कि अब वह किसी भी स्त्री को काम-पूर्ण दृष्टि से नहीं देखेगा। इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए।

शीत-काल की रात थी। चौधरी के द्वार पर अलाव लगा हुआ था और कुछ लोग बैठे हुए ताप रहे थे। चौधरी भी एक कोने में चुपचाप बैठा हुआ था। इधर-उधर की बातें हो रही थीं। हठात् एक आदमी बोल उठा—भइया ननकू, तुम अपना ब्याह करो, न करो पर रम्मचरन का ब्याह तो कर देओ। घर माँ कौनौ मेहरिया नहीं है—रोटी-पानी की तकलीफ़ होती है।

एक दूसरा व्यक्ति बोला—रोटी-पानी की तकलीफ है, और लड़का भी सयाना हो गया है। तुम लोगों में आठ-आठ दस-दस बरस के लड़कों का ब्याह होता है—रामचरन तो बीस बरस का होने आया।

चौधरी मानो निद्रा से जागकर बोला—हाँ भाई, यह तो तुमने ठीक कहा—ब्याह तो अब जरूर हो जाना चाहिए—मुझे इसका कुछ ध्यान ही नहीं रहा।

तीसरा व्यक्ति—ध्यान कहाँ सेरहे, साल भर तक तो तुम्हार चित्त ठिकाने नहीं रहा।

दूसरा—भइया ब्याह काज तभी अच्छा लगता है, जब घर में कोई करने-धरनेवाली हो।

पहला—एही से तो कहत हन कि ननकू भाई पहले अपन ब्याह कर लें, तो सब काम ठीक बन जाय।

चौधरी एक दीर्घ निश्वास लेकर बोला—हमारा ब्याह तो अब चिता के साथ होगा।

तीसरा—अच्छा ब्याह न करो न सही, कौनौ का घर बैठाय लेओ। बिना मेहरिया के घर की सोभा नहीं बनत।

चौधरी—रामचरन का ब्याह हो जायगा, तो घर की भी शोभा हो जायगी।

चौथा—तो फिर झटपट कर डालो।

चौधरी—अब आज ध्यान आया है, अब हो जायगा।

तीसरा—हमरे ममाने (ननसाल) माँ एक लड़की है—कोई पंद्रह-सोला बरस की। देखे-सुने माँ नीक है। घरौ अच्छा है। दस-बारह बीघा की खेती होत है, गइयाँ-भैंसी हैं—तुम कहो तो बातचीत लगाई।

चौधरी—हाँ-हाँ जरूर लगाओ। अब आज से मुझे भी रामचरन के ब्याह की फिकर हो गई।

पहला—हमार राय तो यह हती कि ननकू भाई पहले अपना ब्याह करें।

चौधरी—अरे क्या बेर-बेर वही बात कहते हो। मैं ब्याह करूँ? इस उमर में ब्याह करूँ, तो लोग क्या कहेंगे। और फिर मुझे चौधराइन-सी औरत मिलेगी कहाँ?

चौथा—औरत तो अव्वल नंबर की थी। इतने दिन हो गए—हमने कभी उसका मुँह नहीं देखा। जब बाहर निकलती, तो मुँह ढाँक कर।

तीसरा—और भइया दयावान भी बड़ी हती—देखो उसका पीठ पीछा है—पर बात जितनी होगी, उतनी ही कहेंगे। कभी कोई चीज मँगाई—कभी नाहीं नहीं की—हुई तो जरूर दे दी।

पहला—मेहनतिन कुछ कम हती? घर का सब काम अकेले करत रहै।

चौधरी—एक दीर्घ निश्वास छोड़कर बोला—दो गइयों और दो भैंसों का दूध अकेले मथती थी—आदमी न होय, तो चारा-पानी भी अकेले दे देती थी। हम मरद होके उसके बराबर मेहनत नहीं कर सकते थे।

चौथा—यह बात तो सच्ची है, वैसी औरत मिलना कठिन है।

तीसरा—धर्मात्मा बड़ी हती।

दूसरा—एक दफे हमारा लड़का बीमार हुआ—भइया मैं तुमसे क्या कहूँ—उसने ऐसी सेवा की कि जैसे उसी का लड़का हो। ऐसी धर्मात्मा औरत होना कठिन है।

चौधरी—हाथ इतना खुला हुआ था कि घर में दस-दस सेर पंद्रह-पंद्रह सेर दही और मट्ठा होता था; पर किसी-किसी दिन हमें और लड़कों को चाखने तक को नहीं मिलता था—सब बाँट देती थी।

पहला—वह परमेसुर का अंस हती—तबहीं तो चली गई। परमेसुर जिहिका पियार करत है ओहका जल्दी बुलाय लेत है।

चौधरी—सच बात कहते हो, हमारे बड़े भाग थे, जो हमारे घर आई, नहीं भला वह हमारे घर के लायक थी?

तीसरा—तुम्हारे लायक नहीं हती तभी तो चली गई।

चौथा—उस जनम में उसने कोई पाप किए होंगे, इस वास्ते अहीरों में जनम लिया—नहीं वह इस लायक थी कि किसी राजा-महाराजा के घर जनम लेती।

चौधरी एक लंबी साँस लेकर बोला—यही बात है। एक बात हो तो कहूँ—उसकी सभी बातें अच्छी थीं। वही बातें याद कर करके तो कलेजे में हूक उठती है। तुम लोग कहते हो ब्याह कर लो। किससे ब्याह कर लूँ? उसके तो कोई पैरों की धूल भी नहीं।

इसी समय पर रामचरण भी आ गया। उसे देखते ही एक व्यक्ति बोला—आओ भइया रामचरन—आओ, अच्छे बखत पर आए।

रामचरन चुपचाप आकर उस आदमी के पास बैठ गया।

रामचरण एक सुंदर युवक था। खूब पुष्ट तथा गठीला

शरीर, खुलता हुआ रंग, खुले तथा स्वच्छ वायु-मंडल में रहने के चिह्न-स्वरूप गालों पर लाली, नेत्र बड़े-बड़े और यथेष्ट काले थे। छोटे-छोटे बालों की काली मूछ ने उसके पुरुष-सौन्दर्य को पूर्णतया विकसित कर दिया था।

रामचरण ग्रामीण पुरुष-सौन्दर्य का एक अच्छा नमूना था।

अलाव में से उठती हुई अग्नि-शिखाओं के प्रकाश में चौधरी ने रामचरण पर दृष्टि डाली। पुत्र को देखकर चौधरी के उदासीन नेत्र प्रेम तथा गर्व से भर गए। वह कुछ क्षणों तक उसके मुख को स्थिर दृष्टि से ताकता रहा; इसके पश्चात् उसने कुछ इस प्रकार से अपनी दृष्टि दूसरी ओर फेरी मानो उसे भय हुआ कि कदाचित् उसकी दृष्टि से रामचरण को कुछ हानि पहुँचे।

रामचरण के पास बैठे हुए व्यक्ति ने रामचरण की पीठ पर हाथ रखके चौधरी से कहा—ख़ैर, अब तुम इनका ब्याह करो धूमधाम से।

चौधरी—करने-धरनेवाले सब तुम्हीं लोग हो, मैं तो इसकी महतारी के मरने से अपाहिज-सा हो गया हूँ। और धूमधाम काहे की? अब तो खाली एक रसम पूरी करना है—हाँ, आज इसकी माँ जीती होती तो...।

इतना कहते-कहते चौधरी का कंठ गद्गद हो गया—वह अपने साफ़े के कोने से आँखें पोंछने लगा।

यह देखकर एक व्यक्ति कुछ बिगड़कर बोला—ननकू भइया, यौ तुमका मेहेरियन की तना (तरह) करै लागत हौ मनई के मरे मेहेरिया रोवत है, मेहेरिया के मरे कहौं (कहीं) मनई नहीं रोवत है। मेहेरिया तो मरै (मरा ही) करति हैं।

एक दूसरा व्यक्ति गम्भीरतापूर्वक सिर हिला कर बोला—भइया, यह मोह बड़ा जबरजस्त होत है। आदमी एक चिड़िया पालता है, तो उसके मरे का रंज होता है—यह तो भला मेहेरिया हती।

रामचरण के पास बैठा हुआ व्यक्ति बोला—हमार मेहेरिया जब मरी रहै, तब हमैं तो रत्ती भर सोच न भा रहै।

एक अन्य व्यक्ति तुरंत बोल उठा—तो वह तुम्हार मेहेरिया न रही होई।

इस पर सब लोग खिलखिलाकर हँस पड़े। चौधरी भी उदास भाव से किञ्चित् मुस्करा दिया।

रामचरण से उसके पास बैठे हुए मनुष्य ने कहा—लेओ अब का चहते हौ—अब तो तुम्हार बियाह भवा जात है।

पिता की उपस्थिति से उत्पन्न हुई शिष्टता के कारण रामचरण ने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया—नीची दृष्टि करके केवल किञ्चित् मुस्करा दिया।

(४)

रामचरण का विवाह हुए तीन मास व्यतीत हो गए। घर में पुत्र-वधू की उपस्थिति के कारण ननकू की उदासीनता क्रमशः कम होने लगी। पहले वह घर में केवल भोजन करने और सोने के लिये आता था—शेष दिन खेत में काम करने, गाय-भैंस चराने तथा इधर-उधर मित्रों के पास बैठने में बिता देता था। परंतु अब वह दिन का कुछ अंश घर में बैठकर बिताने लगा। इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए।

एक दिन दस बजे के लगभग ननकू बाहर से आया और सीधा घर के भीतर चला गया। उस समय उसकी पुत्र-वधू घर के आंगण में बैठी स्नान कर रही थी। चौधरी की दृष्टि पुत्र-वधू के अर्द्धनग्न शरीर पर पड़ी। उस मूर्तिमान् तरुणता को देखकर चौधरी कुछ क्षणों के लिये स्तम्भित रह गया। रामचरण की पत्नी सुखिया के अंग-प्रत्यंग से यौवन फटा पड़ रहा था। चौधरी के नेत्रों को वह दृश्य बड़ा सुखकर प्रतीत हुआ। उसी समय सुखिया की दृष्टि भी चौधरी पर पड़ी—उसने चमककर अपना शरीर वस्त्र से ढाँक लिया। ननकू तुरंत दृष्टि नीची करके वहाँ से हट आया।

उसी दिन से पुत्र-वधू के प्रति ननकू का व्यवहार अत्यंत नम्र तथा उदार हो गया। अब वह सुखिया की छोटी-से-छोटी इच्छा पूर्ण करने का पूरा ध्यान रखने लगा। पहले उसका अधिकांश समय घर के बाहर व्यतीत होता था; परंतु अब घर में व्यतीत होने लगा। उसकी यह दशा देखकर उसके शुभचिंतकों को प्रसन्नता हुई। उन्होंने सोचा—लड़के का ब्याह हो गया, घर में बहू आई, अब ननकू को पुनः घर-गृहस्थी से अनुराग उत्पन्न हो चला। उसके दोनों पुत्रों ने भी पिता की इस दशा-परिवर्तन पर संतोष प्रकट किया।

एक दिन रामचरण ने किसी अपराध पर सुखिया के दो-चार तमाचे जड़ दिए। पुत्र के इस कार्य पर ननकू बहुत बिगड़ा। उसने आरक्त नेत्रों से रामचरण की ओर देखकर कहा—काहे, तने दुलहिन को काहे मारा?

रामचरण नम्रता-पूर्वक बोला—काम खराब करेगी तो मारी ही जायगी।

ननकू—काम खराब किया तो क्या हुआ—अभी ना समझ है, जब उसे ज्ञान हो जायगा, तो कभी काम खराब न करेगी। औरत पर कोई हाथ उठाता है? आज से पीछे जो कभी हाथ चलाया, तो ठीक न होगा। समझा?

रामचरण ने इसका कोई उत्तर न दिया—चुपचाप बाहर चला गया।

रामचरण के चले जाने पर ननकू ने पुकारा—दुलहिन! ओ! दुलहिन—यहाँ आओ।

सुखिया घूँघट में मुख छिपाए लज्जा से सिमटती हुई, ननकू के सामने आकर खड़ी हो गई।

ननकू ने एक बेर उसे सिर से पाँव तक देखा—तत्पश्चात् कहा—काहे, उसने तुझे काहे मारा?

सुखिया ने कुछ उत्तर न दिया—वह चुपचाप सिर झुकाये पैर के अँगूठे से भूमि खोदने लगी।

ननकू कुछ क्षणों तक प्रतीक्षा करने के उपरांत बोला—काहे बोलती काहे नहीं? ऐसी शरम किस काम की।

सुखिया उसी प्रकार निरुत्तर रही।

ननकू मृदु-स्वर में बोला—ऐसी सरम करोगी तो कैसे काम चलेगा? घर में और कोई है नहीं, अकेली तुम्हीं हो, जो तुम्हीं ऐसा परदा और ऐसी सरम करोगी तो ठीक न होगा, मैं यह सब ढोंग समझता हूँ। बोल, उसने तुझे क्यों मारा?

इस बार सुखिया ने कंपित स्वर में कहा—रोटी बनै माँ देर होइ गई।

ननकू—रोटी बनने में देर हो गई तो क्या हुआ—नालायक कहीं का। ऐसे सरऊ बड़े कहूँ के लाट साहब हैं। अब की मारे तो मुझे बताना, मैं ससुरे को ठीक कर दूँगा।

सुखिया श्वसुर की इस कृपा तथा दयालुता पर मन ही मन प्रसन्न होती हुई ननकू के सामने से चली गई।

उस दिन से सुखिया श्वसुर से बोलने-चालने लगी। रामचरण को यह बात मालूम हुई—परंतु उसने इस पर कोई आपत्ति नहीं की। उसने सोचा—एक औरत है—बिना बोले चाले गुज़ारा होना कठिन है।

क्रमशः यह दशा हो गई कि जहाँ पहले सुखिया ननकू के सामने लंबा घूँघट निकालकर आती थी, वहाँ अब इतना छोटा घूँघट निकालकर आने लगी कि उससे उसका आधा मुख दिखाई पड़ता रहता था।

* * *

रात के नौ बज चुके थे। ननकू के दोनों पुत्र खेतों में सिंचाई कर रहे थे—ननकू अकेला घर में था। भोजन करने के पश्चात् वह अपनी चारपाई पर लेटा हुक्का पी रहा था। वह हुक्का पीता जाता था और साथ ही किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार कर रहा था। हुक्का पीते-पीते वह कुछ सोचकर उठने को हुआ—परंतु फिर अपनी चारपाई पर बैठ गया और पुनः हुक्का पीने लगा। थोड़ी देर में वह लेट गया और कुछ क्षणों तक चुपचाप लेटा रहा। अब उसने करवट ली और आँखें बंद करके सोने की चेष्टा करने लगा। परंतु कुछ ही क्षणों में उसने पुनः आँखें खोल दीं और चित लेट गया। कुछ देर तक पड़ा सोचता रहा। हठात् अपने ही आप बोल उठा—"ऊ हूँ यह काम खराब है।" यह कहकर वह फिर करवट से लेट गया और उसने आँखें बंद कर लीं। इसी प्रकार कुछ देर तक वह करवटें बदलता रहा। उसने सोने की बहुत चेष्टा की, परंतु उसे नींद न आई। हठात् वह उठकर बैठ गया और अपने आप बोला—"जो होगा देखा जायगा। भगवान् की ऐसी ही इच्छा है।"

यह बड़बड़ा कर उसने पुकारा—दुलहिन, तनिक एक गिलास पानी दै जाओ।

घर के दूसरी ओर बरतन खटकने का शब्द हुआ। बरतनों के खटकने का शब्द सुनकर ननकू ने एक ज़ोर की अँगड़ाई ली। एक क्षण के पश्चात् सुखिया गिलास लिये श्वसुर के सामने आ खड़ी हुई और उसने गिलास श्वसुर की ओर बढ़ाया। इधर ननकू ने गिलास पकड़ने के लिए अपना हाथ बढ़ाया; परंतु वह हाथ गिलास पर न जाकर सुखिया की कलाई पर पहुँचा—ननकू ने सुखिया की कलाई पकड़ ली। सुखिया ने पहले तो यह समझा कि अँधेरे के कारण श्वसुर गिलास को नहीं देख सके इस लिये हाथ कलाई पर पड़ गया। परंतु जब ननकू ने सुखिया की कलाई दृढ़तापूर्वक पकड़कर उसे अपनी ओर घसीटने का प्रयत्न किया—तब सुखिया श्वसुर का अभिप्राय समझी। उसके हाथ से गिलास छूट पड़ा। यद्यपि सुखिया श्वसुर के प्रेम-पूर्ण व्यवहार से परम संतुष्ट थी—संतुष्ट ही नहीं कृतज्ञ थी, यद्यपि वह श्वसुर की सेवा करने के लिये

सदैव हर्षपूर्वक तत्पर रहती थी—यद्यपि श्वसुर को अप्रसन्न करना वह अपना अंतिम कर्त्तव्य समझती थी, तथापि वह ऐसे व्यवहार के लिए तैयार न थी। "हैं! हैं! यौ का करत हौ" कहकर उसने एक ज़ोर का झटका दिया—ननकू के हाथ से उसकी कलाई छूट गई। सुखिया तेज़ी के साथ भागकर एक कोठरी में घुस गई और इस भय से कि कहीं श्वसुर महोदय वहाँ भी न पहुँचें उसने भीतर से कोठरी के किवाड़े बंद कर लिये।

इधर ननकू कुछ क्षणों तक मूर्त्तिवत् बैठा रहा। असफलता के धक्के ने उसके अंतःकरण को जागृत कर दिया। वह सोचने लगा—यह मैंने क्या किया ? जिसे संसार बेटी के समान समझता है उस पर मैंने पाप-दृष्टि डाली! क्या इसीलिए मैंने दूसरा ब्याह नहीं किया? क्या इसी वास्ते मैंने व्रत किया था कि मैं अब किसी स्त्री पर बुरी दृष्टि न डालूँगा। ओह! मुझे यह क्या होगया था। उफ़! हाय रामचरन की माँ तुम कहाँ हो? तुम्हारे वियोग ने आज मुझे इतना पतित बना दिया। तुम्हारे होते हुए मैंने कभी किसी स्त्री पर बुरी निगाह नहीं डाली। परंतु तुम्हारे न रहने पर तुम्हारे सामने वादा करके भी, अपने मन में व्रत करके भी, मैंने तुम्हारे बेटे की बहू पर ....! "इतना सोच के ननकू फूट-फूटकर रोने लगा। सहसा उसके अश्रुपूर्ण नेत्रों के सामने अंधकार में चौधराइन की मूर्त्ति दिखाई पड़ी। ननकू को ऐसा मालूम हुआ मानो उसकी चौधराइन उसकी ओर देख रही है। मूर्त्ति की दृष्टि में उसके प्रति प्रेम तथा दया है,

ओठों पर मृदु-मुस्कान है। ननकू चौधरी रोना भूल गया वह हाथ फैलाकर चारपाई से उठा और "रामचरन की माँ" कहता हुआ आगे बढ़ा। परंतु उसके उठते ही, उसे यह प्रतीत हुआ कि मूर्ति ने अपना सिर इस प्रकार हिलाया मानो वह ननकू को अपने पास आने से मना कर रही है। ननकू आगे बढ़ा—परंतु उसी क्षण वह मूर्ति अंधकार में विलीन हो गई। ननकू पीछे हटकर अपनी चारपाई पर गिर पड़ा।

इसके पश्चात् वह कुछ देर तक बैठा ध्यान मग्न रहा। सहसा उसने सिरहाने से अपनी मिर्ज़ई उठाकर पहनी—सिर पर साफ़ा बाँधा और जिस कोठरी में सुखिया घुस गई थी, उसके द्वार पर जाकर बोला—"दुलहिन—आज तुमने अपने को नहीं, मुझे एक घोर पाप से बचाया है। इसके लिये मैं जब तक जीता रहूँगा तुम्हारे सुख-सौभाग्य के लिये भगवान् से प्रार्थना करता रहूँगा। अब मैं अपना पापी मुँह तुम्हें नहीं दिखाऊँगा। मैं तुमसे केवल एक भीख माँगता हूँ और वह यह कि इस बात की चर्चा किसी से मत करना—मेरे नाम को इस कलंक से बचाना बस, यही भीख तुमसे माँगता हूँ।" ननकू इतना कहकर तथा उत्तर पाने की प्रतीक्षा न करके झटपट घर के बाहर आया और रात्रि के निविड़ अंधकार में विलीन होगया।

* * *

उस दिन से फिर ननकू चौधरी का पता न लगा कि वह कहाँ गया। उसके दोनों पुत्र तथा गाँव के लोग उसके इस प्रकार ग़ायब हो जाने पर आश्चर्य करते हैं। उनकी समझ में आज तक यह बात नहीं आई कि आख़िर ननकू चौधरी के इस प्रकार लापता हो जाने का कारण क्या है। इसका रहस्य संसार में केवल एक प्राणी जानता है—वह प्राणी सुखिया है। आज भी जब कभी सुखिया एकांत में बैठती है, तो अपने श्वसुर के अंतिम शब्द स्मरण करके एक ठंढी साँस खींचती है और आँखों में आँसू भर लाती है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक

सूक्ति-सुधा-बिंदु

(१)

मोड़्यो मुख तुरत जुरत बल छोड़्यो सुख,
तोड़्यो छिन माँझ मोह संपति अकथ को;
अवधपुरी को राज मन में न ल्याए नेक,
भनत 'बिसारद' सु ऐसो समरथ को।
बिछुरत प्यारे रघुबंस-मनि रामजू के,
पल न बिताए प्रान धाए स्वर्ग-पथ को;
जन-जन जाँचो, सबही को लख्यो काँचो, अति,
जग में सनेह साँचो एक दसरथ को।

(२)

सुनत सुहात नहिं रंचक सु केहू भाँति,
भनत 'बिसारद' त्यों कैसे जात बरनी;
रेजा-रेजा करिके खिनक में ख़राब कीन्हों,
छाय गई जग में भलेई अपकरनी।

घाटवारी अजब, गजब बरु-ठाटवारी,
बाटपारी बीसो बिसे ह्वैके हठपरनी;
कौसिला-सुहाग-भाग-बस नहिं काज भई,
काट-भरी खरी अति कैकयी कतरनी।

(३)

लाड़हि लड़ायो लखि मुख सुख पायो जिहि,
अनखु न लायो कबौं वारने निते गई;
भनत 'बिसारद' भरत ते अधिक प्रीति,
राम-प्रति जाके उर अंतर ही छ्वै गई।
आवत अचंभो कछु कहत बनत नाहिं,
बात बनबास की सु कौन भाँति कै गई!
मंथरा की एक आह मर्द ते पिघल करि,
कैसे वह कैकयी कठोर अति ह्वै गई!

(४)

दीन्हों तजि रुचिर अवास सुख-रासि खास,
लीन्हों बरु बास बेगि धाइ नंदीग्राम को;
सरवसु मानि नित सहित सनेह पूज्यो,
चंदन चढ़ाय जुग पादुका ललाम को।
भनत 'बिसारद' सराहिए सु कौन भाँति,
भूरि-भक्ति-भाव त्यों भरत अभिराम को;
बर्ष चारिदस लौं जु नेम एकरस राखि,
कीन्हों निरबाह व्रत बेस राम-नाम को।

बलदेवप्रसाद टंडन

राजपूताने के इतिहास को भ्रष्ट करने का प्रयत्न

यह तो राठोड़ों को सूर्यवंशी ठहराने की कथा है। अब हम गाहड़वालों और राठोड़ों को एक ठहराने की रेऊजी की कल्पना का थोड़ा-सा विवेचन करते हैं। गाहड़वालों को राठोड़ों की एक शाखा मानकर रेऊजी लिखते हैं कि "कन्नौज पर राज्य करनेवाले गाहड़वाल भी राष्ट्रकूटों की ही एक शाखा समझे जाते थे" (भारत के प्राचीन राजवंश, भाग ३, पृष्ठ ४६०)। रेऊजी की कपोल-कल्पना का यह एक सुंदर नमूना है, क्योंकि राठोड़ों के किसी शिलालेख, ताम्रपत्र, ऐतिहासिक काव्य, ख्यात आदि में कहीं भी गाहड़वालों को राठोड़ों की शाखा नहीं बतलाया गया। अपनी इस कल्पना के समर्थन में जोधपुर से मिले हुए प्रतिहार राजा बाउक के लेख का अवतरण देकर रेऊजी लिखते हैं—

"इस लेख में प्रसिद्ध यादव-वंश का उल्लेख न करके उसकी भाटी-नामक शाखा का ही उल्लेख किया गया है। अतः क्या इससे यह समझ लेना चाहिए कि भाटी लोग यादवों से भिन्न वंश के हैं? यदि नहीं, तो फिर क्या कारण है कि युवराज गोविंदचंद्र के लेखों में राष्ट्रकूट-वंश के स्थान पर गाहड़वाल-वंश का उल्लेख होने से ही राष्ट्रकूट और गाहड़वाल-वंश को भिन्न माना जाय? इसके अलावा आजकल की चौहानों की देवड़ा आदि और गुहिलोतों की सीसोदिया आदि शाखाओं के लोग चौहान या गुहिलोत के नाम से अपना परिचय न देकर देवड़ा या सीसोदिया आदि शाखाओं के नामों से ही देते हैं, और प्रसिद्ध हैहयवंशी नरेशों का चलाया संवत् उनकी कलचुरी-शाखा के नाम पर ही कलचुरि-संवत् कहलाता है।"

रेऊजी का यह कथन आदरणीय नहीं है। यादवों की भाटी-शाखा का राज्य जैसलमेर पर था और अब भी है बाउक का लेख भाटियों का नहीं, किंतु प्रतिहारों का है। यदि उसमें यादवों की भाटी शाखा के राजा देवराज को भाटी (भट्टिक) लिख दिया, तो क्या हानि हुई? यदि रेऊजी ने जैसलमेर के भाटी राजाओं के लेख देखे होते, तो उन्हें निश्चय हो जाता कि भाटी लोग अपने लेखों में अपने को स्पष्ट रूप से यदुवंशी लिखते हैं, जिसके कुछ प्रमाण हम निम्नलिखित पंक्तियों में देते हैं—

(अ) जैसलमेर के पार्श्वनाथ के मंदिर की वि० सं० १४७३ की भाटी राजा लक्ष्मण के समय की प्रशस्ति में वहाँ के भाटियों की वंशावली दी है, जिसके प्रारंभ में ही उन राजाओं को यदुवंशी कहा है।[1]

---

(१) तत्राभूवन्नखंडा यदुकुलकमलोल्लासमार्तंडचंडा दोर्दंडाक्रांतचंडाहितनरपतयः पुष्कला भूमिपालाः। येषामद्यापि लोकैः श्रुतिततिपुटकैः पीयते श्लोकयूष-स्तत्पूर्णं विश्वभांडं कुतुकमिह यतो जायते नैव रिक्तम् ॥ ४॥
(जेसलमीरभाण्डागारीयग्रन्थानां सूची ; पृ० ६३)।

(आ) जैसलमेर के संभवनाथ नामक जैन-मंदिर की प्रशस्ति में भी भाटी राजाओं का वर्णन करते हुए उनके वंश का परिचय यदुवंश से ही दिया गया है[1]।

(इ) जैसलमेर के लक्ष्मीकान्त के मंदिर की वि० सं० १४९४ की प्रशस्ति में जैसलमेर के भाटी राजाओं का वर्णन करते हुए भाटियों के वंश को यादववंश कहा है[2]।

इसी तरह सीसोदिया, सोनगरा, देवड़ा, कलचुरी आदि अन्य शाखावालों के शिलालेखों में भी मूलवंश का नामोल्लेख अवश्य मिलता है, जिसके अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। उनमें से कुछ हम यहाँ बतलाते हैं—

(१) गुहिल-वंश की सीसोदिया शाखा के राणा मोकल की चित्तोड़ की वि० सं० १४८५ की प्रशस्ति में मूलवंश (गुहिलवंश) का परिचय दिया है[3]।

(२) इसी प्रकार गुहिल-वंश की सीसोदिया शाखा के राणा राजसिंह के बनवाए हुए राजसमुद्र-नामक विस्तीर्ण सरोवर के बाँध पर २५ विशाल शिलाओं पर खुदे हुए राजप्रशस्ति महाकाव्य में अपनी सीसोदिया शाखा का परिचय देते हुए मूल वंश को गुहिलोत-वंश कहा है[1]।

(३) चौहान-वंश की सोनगरा शाखा के राजा चाचिग-देव के समय के वि० सं० १३१९ के सूँधा नाम की पहाड़ी पर के बड़े शिलालेख में उक्त राजा के पूर्व पुरुषों का वर्णन करते हुए उसके मूलपुरुष चाहमान का जिससे वह वंश चला, परिचय दिया है[2]।

(४) चौहानों की देवड़ा-शाखा के राजा लुंभा के समय के वि० सं० १३७८ के आबू पर विमलशाह के मंदिर में लगे हुए शिलालेख में उसका वंश-परिचय चाहमान-वंश के नाम से दिया है[3]।

(५) हैहय-वंश की कलचुरी-शाखा के राजा कर्णदेव के बनारस से मिले हुए चेदि-संवत् ७९३ (वि० सं० १०९९) के दानपत्र में उक्त राजा के पूर्वजों का परिचय देते हुए उनको हैहयवंशी लिखा है[4]।

उपर्युक्त उदाहरणों से पाठक निश्चयपूर्वक जान लेंगे कि प्रत्येक शाखावालों के लेखों में मूल-वंश का उल्लेख सैकड़ों जगह मिलता है, परंतु लेख बढ़ जाने के भय से हमने थोड़े से उदाहरण ही यहाँ उद्धृत किए हैं।

गाहड़वालवंशी राजा निस्संदेह बड़े प्रतापी एवं दानी

---

१. वंशो यत्र यदुनायकैर्नरवरैः श्रीनेमिकृष्णादिभि-
र्जन्मैव प्रवरावदातनिकरैरन्यैश्च नराख्यतः ।
तेनासौ लभते गुणं त्रिभुवनं सन्नादतो रंजयेत्
को वा श्रुतममानितो न भवति श्लाघापदं सर्वतः ॥ ६ ॥
श्रीनेमिनारायणरौहिणेया दुःखत्रयात् त्रातुमिव त्रिलोकम् ।
यत्रोदिताः श्रीपुरुषोत्तमास्ते स वर्णनीयो यदुराजवंशः ॥७॥
तस्मिन् श्रीयादववंशे राउलश्रीजइतसिंहमूलराजरत्नसिंह राउलश्रीदूदारावलश्रीघटसिंहमूलराजपुत्रदेवराजनामानो राजा-नोऽभूवन् ।
(वही; पृ० ६६) ।

२. श्रीमज्जेसलमेरुनाम नगरं पृथ्व्याः परं मंडनं
मान्यं यादवभूभुजामिव नवं चारु स्वभर्तुर्वयः ।
शूरैर्यादववंशजैरुपचितं स्वाकारशुद्धैर्नृपै-
र्नानावित्तवणिग्विशां विजयते जेयं परैस्तच्चिरम् ॥ ३ ॥
(वही; पृ० ६९) ।

३. स्फारन्यायोऽन्वयायो गुहिलनरपतेरस्ति जाग्रत्प्रशस्ति-
र्व्यस्तीभूतांतरायो वसतिरिह युगे धर्म्मकर्म्मोदयस्य ।
शाश्वद्यागानुरागे (ग) स्थिरविमलनिधौ भूरिभोगेनभागां
भूयो नूनां विधत्ते सपदि शतमखो यत्र संभूय शक्रः ॥ ५ ॥
(एपिग्राफिया इंडिका ; जि० २ . पृ० ४११)

१. गुहादित्यसुताः सर्वे गुहिलोताभिधायुताः ।
जाता युक्तं तेषु पुत्रो ज्येष्ठो बप्पाभिधोऽभवत् ॥ ६ ॥
(भावनगर, इंस्क्रिप्शन्स ; पृ० १५०) ।

२. श्रीमद्वत्समहर्षिहर्षनयनोद्भूतांबु (बु)पूरप्रभः ;
पूर्व्वोर्व्वीधरमौलिमुख्यशिखरालंकारतिग्मद्युतिः ।
पृथ्वीं त्रातुमपास्तदैत्यतिमिरः श्रीचाहुमानः पुरा,
वीरः क्षीरसमुद्रसोदरयशोराशिप्रकाशोऽभवत् ॥ ४ ॥
(एपिग्राफिया इंडिका ; जि० ९, पृ० ७४) ।

३. वैरिवर्गदलने गततन्द्रश्चाहुवानकुलकैरवचन्द्रः ।
यो नड्डूलनगरस्य नरेश आसराज इति वीरवरोऽभूत् ॥ १४ ॥
(वही जि० ९, पृ० १५६) ।

४. तद्वंस(श)प्रभवा नरेंद्रपतयः ख्याता [:] क्षितौ हैहया-
स्तेषामन् (न्व) यभूषण (णं) रिपुमनोविन्यस्ततापानलः ।
धर्म्मध्याननधनान् (नु) संधितवृत्तः सत्व (शश्वत्स) (तां)
सौख्य (ख्य) कल्येयास (न्स) र्व्वगुणाङ्कितप्रभुतया
श्रीमानभूकाव्वकलः (श्रीमानभूत्कोक्कलः) ॥ ५ ॥
(वही जि० २, पृ० ३०५-६)

हुए, और उनके ६० के लगभग दानपत्र मिल चुके हैं, जिनमें से कई एक में अपने वंश का परिचय उन्होंने गाहड़वाल नाम से ही दिया है, कहीं भी राष्ट्रकूट या राठोड़ नाम से नहीं। यदि गाहड़वालवंश राठोड़ों की शाखा होती, तो वे अवश्यमेव गौरव के साथ अपने मूलवंश का उल्लेख करते, परंतु ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में प्रतिहार राजा बाउक के शिलालेख में, जो यादवों के ही नहीं, प्रसंगवशात् जैसलमेर के राजा देवराज के नाम के साथ भाटी शाखा का परिचय दे दिया, तो क्या उसी के आधार पर गाहड़वालों और राठोड़ों का एक होना कभी माना जा सकता है? गुहिल, चौहान, प्रतिहार, परमार, सोलंकी, राठोड़ आदि वंशों की शाखाओं के नाम ख्यातों आदि में मिलते हैं। परंतु उनमें दी हुई राठोड़ों की शाखाओं में कहीं भी गाहड़वाल शाखा का नाम-निशान तक नहीं है। ऐसी दशा में गाहड़वालों को राठोड़ों की शाखा मानने का कथन किस आधार पर स्थिर रह सकता है? यदि रेऊजी के सिद्धांतों के अनुसार ही कोई इतिहास लिखने बैठे, तो उसे गाहड़वालों को गुप्तों, बैसों, पालवंशियों, सेनवंशियों, वा काटकों, मैत्रकों आदि में से चाहे जिस वंश की शाखा मान लेने में किसी प्रकार की बाधा न होगी, और रेऊजी का सारा कथन ऐसा मानने में उधर घट जायगा; क्योंकि जैसे गाहड़वालों को राठोड़ों की शाखा मानने के लिये तनिक भी प्रमाण नहीं है, वैसे ही गाहड़वालों को उपर्युक्त वंशों की शाखा मान लेने के लिये कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। ऐसी दशा में रेऊजी की तरह कोई भी पुरुष गाहड़वालों को उक्त वंशों की शाखा मानने में चाहे जैसी मनमानी कल्पनाएँ कर सकता है। गाहड़वालों को राठोड़ों की शाखा मानने का एक भी प्रमाण न दे सके, इतना ही नहीं; किंतु सर्वत्र निराधार कल्पनाओं से ही काम लिया है। क्या रेऊजी यह कह सकते हैं कि किसी शिलालेख, दानपत्र, ऐतिहासिक संस्कृत काव्य, मुहणोत नैणसी की ख्यात तथा भाटों की अनेक ख्यातों में से एक में भी कहीं गाहड़वालों को राठोड़ों की शाखा कहा गया है अथवा यह केवल उनकी खड़ी की हुई निर्मूल कल्पनामात्र है।

कृष्णराज के सिक्के पर के लेख के झूठे अर्थ की वास्तविकता तो हमने बतला ही दी है। अब पाठक रेऊजी के किए हुए एक शिलालेख के श्लोक के मिथ्या अर्थ का भी नमूना देख लें। भारत के प्राचीन राजवंश के पृष्ठ ४६० में रेऊजी लिखते हैं कि—

"इसके सिवाय बदायूँ से लखनपाल के समय का एक लेख मिला है। अक्षरों को देखने से यह विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का प्रतीत होता है। इसमें मदनपाल द्वारा मुसलमानों के आक्रमण रोकने का वर्णन है। इससे अनुमान होता है कि यह घटना जयचंद्र की मृत्यु के पहले की होगी। इसमें लिखा है—

प्रख्याताखिलराष्ट्रकूटकुलजक्ष्मापालदोः पालिता,
पांचालाभिधदेशभूषणकरी वोदामयूतापुरी।

अर्थात्—तमाम राष्ट्रकूट-वंशी राजाओं से रक्षित पांचाल-देश को सुशोभित करनेवाली बदायूँ नामक नगरी है।

यहाँ पर एक तो अखिल (तमाम)-शब्द का प्रयोग करने से अनुमान होता है कि उस समय राष्ट्रकूट-वंश की अनेक शाखाओं का राज्य पांचाल-देश (कन्नौज और उसके आसपास के प्रदेश) पर था, अर्थात् उस समय कन्नौज पर राज्य करनेवाले गाहड़वाल भी राष्ट्रकूटों की ही एक शाखा समझे जाते थे।"

यह लिखते समय रेऊजी का यह कथन कि अखिल शब्द का प्रयोग... शाखा समझे जाते थे, सरासर मिथ्या है, क्योंकि मूल शिलालेख का आधा श्लोक ही रेऊजी ने उद्धृत किया है; उसका आशय तो यही है कि 'पांचाल-देश को भूषित करनेवाली वोदामयूता (बदायूँ) नगरी अखिल राष्ट्रकूटवंशी राजाओं से रक्षित थी। उक्त लेख का 'अखिल' शब्द उसी लेख में दिए हुए बदायूँ पर शासन करनेवाले चंद्र से लखनपाल तक के सब राजाओं का सूचक है, न कि राठोड़ों की अनेक शाखाओं का, जैसा रेऊजी ने अर्थ किया है। रेऊजी की मानी हुई शाखाओं का उसमें कहीं नाम-निशान भी नहीं है, न उसमें कन्नौज के गाहड़वालों का कोई उल्लेख है और न उस पर से कन्नौज के गाहड़वालों को राष्ट्रकूट मानने के लिये तनिक भी आधार मिलता है। पतंजलि-कृत महाभाष्य तथा अनेक संस्कृत शिलालेखों एवं ताम्रपत्रों के सुयोग्य संपादक सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डॉक्टर कीलहॉर्न ने बदायूँ के इसी लेख का संपादन करते हुए रेऊजी की उद्धृत की हुई पंक्तियों का अनुवाद इन शब्दों में किया है—*There is* the Town Vodâmayûtâ ornamenting the land

of Panchâla *and* protected by the arms of all the famous princes born in the Râshṭrakûṭa family".

एक विशाल देश के भिन्न-भिन्न नगरों पर भिन्न-भिन्न वंशों के राजा स्वतंत्र या सामंत रूप से राज्य करें, यह संभव है, परंतु एक नगर के राजा कहने से वे सारे देश के राजा कैसे माने जा सकते हैं, यह रेऊजी ही बतला सकते हैं। हम नहीं जानते कि उक्त लेख में 'अनेक शाखाओं' का सूचक कौन-सा शब्द है? कन्नौज के गाहड़वालों का राज्य बड़ा ही प्रबल था और न केवल पांचाल-देश (गंगा-यमुना के बीच का दोआब) पर, किंतु काशी से परे तक उनका राज्य फैला हुआ था, और बहुधा काशी में रहने के कारण वे काशीश्वर भी कहलाते थे। बदायूँ का इलाक़ा भी गाहड़वालों के विशाल राज्य के अंतर्गत था, इसीलिये वहाँ के राठोड़ भी कन्नौज के गाहड़वालों के सामंत होने चाहिएँ, जैसे कि सेंगरवंशी आदि थे।

इसके बाद रेऊजी कहते हैं—

"उक्त लेख में सबसे पहला नाम चंद्र और फिर उसके पुत्र का नाम विग्रहपाल दिया हुआ है। इसी प्रकार जयचंद्र के पुत्र हरिश्चंद्र के वि० सं० १२५३ के लेख में भी सबसे पहला नाम चंद्र और उसके पुत्र का नाम मदनपाल लिखा है, तथा इन दोनों लेखों में चंद्र को ही पहले-पहल पांचाल-देश का जीतनेवाला माना है। इससे भी ज्ञात होता है कि दोनों लेखों का चंद्र एक ही था। उसके बाद उसका बड़ा पुत्र मदनपाल तो कन्नौज का राजा हुआ, और छोटे पुत्र विग्रहपाल को बदायूँ की जागीर मिली। क्या इससे सिद्ध नहीं होता कि बदायूँ के राष्ट्रकूट और कन्नौज के गहड़वाल एक ही वंश के थे?"

उक्त दोनों लेखों में से बदायूँ के लेख में तो पहले-पहल चंद्र को पांचाल-देश का जीतनेवाले कहा ही नहीं। न जाने क्या समझकर रेऊजी ने यह बात झूठी लिख डाली? हम बदायूँ के लेख से चंद्र के विषय के मूल अवतरण देते हैं, जिससे पाठकों को स्पष्टतया ज्ञात हो जायगा कि रेऊजी का यह कथन सर्वथा कपोलकल्पित ही है—

.......(पहला चरण नष्ट हो गया है)
स्वः सिंधुदकपूरदूरगमिताशेषाघसंघोदये।
प्रख्याताखिलराष्ट्रकूटकुलजक्ष्मापालदोः पालिता
पंचालाभिधदेशभूषणकरी बोदामयूतापुरी ॥ १ ॥

मंदारातिव (च) हुप्रहृष्टसुमनः संपत्तिसंशोभिता
गंधर्वोत्तमभूषिता परिवृता संतानकल्पद्रुमैः।
अत्युच्चामलदेव...नारम्या सुधर्माश्रयो
या रेजे गुणसंचयैरिव पुरी पौरन्दरी सुन्दरी ॥ २ ॥
तत्रादितोऽभवदनन्तगुणो नरेन्द्र-
श्चन्द्रः स्वखड्गभयभीषितवैरिवृन्दः।
प्रत्यर्थिषु प्रकटितोऽर्थिषु यस्य दाता
क्षोणीं ररक्ष सुतविग्रहपालदेवः॥ ३ ॥
तस्यात्मजो भुवनपाल इति प्रसिद्धः......

इस लेख के पहले दो श्लोकों में तो बदायूँ नगर की प्रशंसा है। तीसरे के प्रारंभ में लिखा है कि वहाँ (बदायूँ) का पहला राजा अनंत गुणों से युक्त चंद्र हुआ, जो अपने खड्ग से शत्रु-समूह को भयभीत करता था। उसके पीछे विग्रहपाल पृथ्वी का रक्षक हुआ। तीसरे श्लोक के प्रारंभ में "तत्र" शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि उक्त लेख का चंद्र बदायूँ का राजा था, न कि पांचाल-देश को विजय करनेवाला कन्नौज का गाहड़वालवंशी चंद्र। अब हम रेऊजी से यह पूछना चाहते हैं कि बदायूँ के इस लेख में चंद्र को पांचाल देश का जीतनेवाला कहाँ कहा है। और यदि नहीं कहा, तो लोगों को धोखा देने के लिये यह झूठी बात किस अभिप्राय से बनाई गई? क्या इतिहास को शुद्ध करने की यही एक-मात्र परिपाटी है? गाहड़वाल राजा जयचंद्र के पुत्र हरिश्चंद्र के मछलीशहर से मिले हुए वि० सं० १२५३ के दानपत्र में चंद्रदेव को (जो गाहड़वाल-वंशी था) यशोविग्रह का पौत्र, महीचंद्र का पुत्र और गाधिपुर (कन्नौज) के राज्य को विजय करनेवाला लिखा है (एपिग्राफ़िया इंडिका; जिल्द १०, पृष्ठ ६-९, श्लोक २-४)। बदायूँ के लेख में राठोड़ चंद्र को जब पांचाल-देश या गाधिपुर (कन्नौज) का जीतनेवाला लिखा ही नहीं और उसे बदायूँ का पहला राजा ही कहा है, तब चंद्र और चंद्रदेव, इन दोनों को, जो अपने वंशों के नाम भिन्न-भिन्न देते हैं, एक मान लेना कैसे संभव हो सकता है? भिन्न-भिन्न वंशों में समान नामवाले एक से अधिक राजा मिल जाते हैं, अतः ऐसे नामों की समता देखकर ही राठोड़ और गाहड़वालों को एक मान लेने का रेऊजी का कथन किसी प्रकार मान्य नहीं हो सकता।

असली बात छिपाकर गाहड़वालों को राठोड़ बनाने के लिये रेऊजी किस-किस तरह की युक्तियाँ करते हैं,

पाठक उसका भी एक उदाहरण देख लें। पृष्ठ ४६०-४६१ में रेऊजी लिखते हैं—

"वि० सं० ११०७ (शक सं० ६७२=ई० सं० १०५१) का लाट-देश के त्रिलोचनपाल का एक ताम्रपत्र मिला है। उसमें लिखा है—

कान्यकुब्जे (?) महाराज राष्ट्रकूटस्य कन्यकाम्।
लब्ध्वा सुखाय तस्यां त्वं चौलुक्याप्नुहि संततिम्॥ ६॥

अर्थात्—हे चौलुक्य, तू कन्नौज के राष्ट्रकूट राजा की कन्या से विवाह कर संतति प्राप्त कर।

इससे भी सिद्ध होता है कि कन्नौज के गाहड़वाल राष्ट्रकूटों की ही एक शाखा समझे जाते थे; क्योंकि अन्य किसी राठोड़-वंश का वहाँ पर राज्य करना नहीं पाया जाता।"

पहली बात तो यह है कि असली बात को छिपाकर रेऊजी ने पाठकों के सम्मुख उक्त ताम्रपत्र के श्लोकों का वही अंश रक्खा है, जिसमें 'कान्यकुब्ज' और 'राष्ट्रकूट' शब्द आए हैं, परंतु यह भी बतलाना आवश्यक था कि ये शब्द किस संबंध में प्रयुक्त हुए हैं और किस समय अथवा प्रसंग के सूचक हैं। यदि रेऊजी ने यह बतला दिया होता, तो पाठकों को यह जानने में किसी प्रकार कठिनाई न होती कि भारत के प्राचीन राजवंश के कर्ता किसी झूठी बात को सिद्ध करने के लिये किस-किस तरह से लोगों को धोखा देते हैं और साथ ही सारे लेख की वास्तविकता भी खुल जाती। जिस ताम्रपत्र की दो पंक्तियाँ रेऊजी ने उद्धृत की हैं, वह सोलंकी-वंश के मूलपुरुष चौलुक्य की उत्पत्ति बतलाने के संबंध में है; उससे इस संबंध का मूल अवतरण नीचे दिया जाता है—

कदाचिद्दैत्यखेदोत्थचिन्तामन्दरमन्थनात्।
विरञ्चेश्चुलुकाम्भोधे राजरत्नं पुमानभूत्॥ ४॥
देव किं करवाणीति नत्वा प्राह तमेव सः।
समादिष्टार्थसंसिद्धौ तुष्टः स्रष्टाब्रवीच्च तम्॥ ५॥
कन्याकुब्जे महाराज राष्ट्रकूटस्य कन्यकाम्।
लब्ध्वा सुखाय तस्यां त्व चौलुक्याप्नुहि सन्ततिम्॥६॥
इत्थमत्र भवेत्तत्रसन्ततिर्विंतता किल।
चौलुक्यात्प्रथिता नद्याः स्रोतांसीव महीधरात्॥७॥
(इंडियन ऐंटिक्वेरी; जिल्द १२, पृष्ठ २०१)।

आशय—"दैत्यों के कष्ट से उत्पन्न होनेवाले चिंतारूप मंदराचल से मंथन करते हुए ब्रह्मा के चुलुकरूप समुद्र से एक पुरुष उत्पन्न हुआ, जो उनसे प्रणाम कर बोला कि महाराज! मुझे क्या आज्ञा है? इस पर ब्रह्मा ने संतुष्ट होकर उसे कहा कि हे चौलुक्य! तू कन्याकुब्ज (कन्नौज) में राष्ट्रकूट (राठोड़) राजा की पुत्री से विवाह कर, उससे तेरे संतान होगी और इस प्रकार पृथ्वी पर चौलुक्य (सोलंकी) क्षत्रियों का विस्तृत वंश होगा। चौलुक्यों की उत्पत्ति के विषय में जितने प्रमाण शिलालेख, दानपत्र और संस्कृत पुस्तकों से हमें मिल सके, उन सबका हमने विक्रम संवत् १९६४ में प्रकाशित अपने सोलंकियों के प्राचीन इतिहास के प्रथम भाग के पहले प्रकरण में मूल अवतरणों-सहित संग्रह किया है। उनमें यह प्रमाण भी दिया गया है। इस अवतरण में दिए हुए कन्नौज के राष्ट्रकूटों का संबंध न तो कन्नौज के गाहड़वालों से है और न बदायूँ के राठोड़ों से, क्योंकि यह कथन उस समय से संबंध रखता है, जब कि सोलंकी-वंश के मूलपुरुष चौलुक्य की उत्पत्ति हुई। चौलुक्य कब उत्पन्न हुआ, यह अभी तक अनिश्चित है, परंतु पाणिनि के गणपाठ में चौलुक्य नाम का उल्लेख मिलता है। दक्षिण के सोलंकियों का राज्य वि० सं० ६०० से लेकर १३०० तक रहना निश्चित है। उनका शृंखलाबद्ध इतिहास शिलालेख, ताम्रपत्र, सिक्के तथा प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के आधार पर ही हमने अपने सोलंकियों के प्राचीन इतिहास में प्रकाशित किया था, जिससे इतना तो निश्चित है कि वि० सं० ६०० से पूर्व किसी समय चौलुक्य-वंश के मूलपुरुष चौलुक्य की उत्पत्ति हुई होगी। ताम्रपत्र तैयार करनेवाले पंडित का आशय तो चौलुक्य की उत्पत्ति के समय कन्नौज पर राठोड़ों का राज्य होना बतलाता है। इसके अनंतर कन्नौज पर अनेक राजवंशों का परिवर्तन हुआ और पिछले समय में कन्नौज पर जिन-जिन वंशों के राज्य होने का पता चलता है, उससे ज्ञात होता है कि विक्रम-संवत् की पाँचवीं और छठी शताब्दी में तो कन्नौज पर गुप्तों का अधिकार था। फिर मोखरियों का अधिकार हुआ। वहाँ के मोखरी राजा अवन्तिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ थाणेश्वर के सुप्रसिद्ध बैसवंशी राजा हर्षवर्द्धन की बहन राज्यश्री का विवाह हुआ था। फिर मालवे के राजा ने ग्रहवर्मा को मारकर राज्यश्री को क़ैद कर लिया, जिससे हर्ष के बड़े भाई राज्यवर्द्धन ने मालवे के राजा पर विजय प्राप्त की। तदनंतर हर्ष ने कन्नौज के राज्य को अपने राज्य

में मिला लिया और वहाँ भी वह रहने लगा, जिससे हर्षवर्द्धन को कन्नौज का राजा भी कहते हैं। हर्षवर्द्धन के पीछे इंद्रायुध और चक्रायुध नामक राजा हुए। वे किस वंश के थे, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। ई० स० १६११ में 'सिरोही राज्य' का इतिहास लिखते समय सोलंकी त्रिलोचनपाल के दानपत्र के आधार पर ही हमने इन दो राजाओं का राष्ट्रकूट होना अनुमान किया था, जो अनुमान-मात्र ही है, क्योंकि उसके लिये कोई निश्चित प्रमाण अब तक नहीं मिला। वि० सं० की नवीं शताब्दी में उपर्युक्त चक्रायुध को परास्त कर मारवाड़ के प्रतिहार राजा नागभट दूसरे ने कन्नौज का राज्य अपने अधीन किया। वि० सं० की नवीं शताब्दी से आरंभ कर बारहवीं शताब्दी के प्रारंभ तक कन्नौज पर प्रतिहारों का राज्य रहा। फिर वि० सं० ११३५ के आसपास गाहड़वाल यशोविग्रह के पौत्र और महीचंद्र के पुत्र चंद्रदेव ने प्रतिहारों से कन्नौज का राज्य छीन लिया।

सोलंकी त्रिलोचनपाल का उपर्युक्त दानपत्र शक संवत् ६७२ (वि० सं० ११०७) का है और उस समय तक तो कन्नौज पर गाहड़वालों का अधिकार भी नहीं हुआ था। इस दानपत्र में लिखा हुआ राठोड़ों का कन्नौज का राज्य सोलंकी-वंश के मूलपुरुष चौलुक्य के समय अर्थात् वि० सं० ६०० से भी बहुत पूर्व का है। ऐसी दशा में उस दानपत्र के आधार पर गाहड़वालों को राठोड़ों की शाखा मान लेना कहाँ तक संभव है, इसका निर्णय विज्ञ पाठक स्वयं कर सकते हैं।

राठोड़ों को सूर्यवंशी बना देने तथा राठोड़ों और गाहड़वालों को एक ही वंश मानकर गाहड़वालों को राष्ट्रकूटों की शाखा सिद्ध करने के लिये रेऊजी की जिन-जिन झूठी, निस्सार एवं निराधार कल्पनाओं का हमने विवेचन किया है, उन्हें वे अपनी दलीलों की पुष्टि के प्रबल प्रमाण समझते हैं। नहीं कह सकते कि ऐसी कपोलकल्पित बातें लिखने पर भी रेऊजी ने क्या सोचकर पृष्ठ ४६१ में लिख डाला है कि "इन सब प्रमाणों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि होरल [? हॉर्नली], स्मिथ आदि पाश्चात्य विद्वानों और उनके अनुगामी अनेक प्राच्य विद्वानों की की हुई राष्ट्रकूटों और गाहड़वालों के संबंध की कल्पनाएँ निस्सार ही हैं।" दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यही हो सकता है कि जिन अनेक योरपियन एवं भारतीय विद्वानों ने अपनी सारी आयु भारतीय पुरातत्त्व के अनुसंधान में व्यतीत कर राष्ट्रकूट आदि अनेक राजवंशों के विषय में परिश्रमपूर्वक बहुत कुछ अनुसंधान किया है, उन सबने तो निस्सार कल्पनाएँ कीं ; और राष्ट्रकूटों के संबंध में वास्तविक अनुसंधान एवं प्रमाणभूत कल्पनाएँ कर उनको सूर्यवंशी बतलाने और गाहड़वालों को उनकी शाखा सिद्ध करने का अलभ्य श्रेय तो 'भारत के प्राचीन राजवंश' के कर्ता को ही मिल सकता है। तब तो फिर राष्ट्रकूटों के इतिहास के संबंध में रेऊजी की प्रशंसनीय सेवाओं का सभी इतिहासवेत्ताओं को अवश्य आदर करना चाहिए!

माधुरी वर्ष ५, खंड १, संख्या ६, पृष्ठ ८४६ में रेऊजी-रचित 'भारत के प्राचीन राजवंश', तृतीय भाग (राष्ट्रकूट) की समालोचना करते हुए श्रीयुत कालिदास कपूर, एम्० ए०, एल्० टी०. ने लिखा है—

"आपका (अर्थात् रेऊजी का) मत है कि कन्नौज के गाहड़वाल दक्षिण के राष्ट्रकूटों के ही वंशज हैं। आपने अनेक युक्तियों से इस मत को पुष्ट करने की चेष्टा भी की है। हमने युक्तियों को आदि से अंत तक पढ़ा ; परंतु हमें यह आशा नहीं कि विद्वान् लोग लेखक महाशय की इन युक्तियों से प्रतिपादित मत का समर्थन करें।"

समालोचक महोदय का लिखना ठीक ही है, क्योंकि विद्वान् लोग भूलकर भी कपोलकल्पनाओं का समर्थन नहीं करते।

उल्लिखित थोड़े-से उदाहरणों से ही माधुरी के पाठक समझ सकेंगे कि रेऊजी प्राचीन इतिहास की कैसी दुर्दशा कर रहे हैं। इसी से हमें रेऊजी की कथन की कुछ परवाह न कर उनकी झूठी बात को सच्ची बताने की निराली शैली का दिग्दर्शन कराना पड़ा है।

अब हम रेऊजी के ऐतिहासिक ज्ञान तथा उनके ग्रंथों का पाठकों को थोड़ा-सा परिचय कराते हैं। रेऊजी जयपुर संस्कृत कॉलेज के साहित्याचार्य हैं। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के अनंतर वे जोधपुर-राज्य के इतिहास-कार्यालय के 'बार्डिक' विभाग में रु० १५) मासिक पर कार्य करते थे। साहित्याचार्य होकर बहुत ही अल्प वेतन पाने के कारण हमारे जोधपुर-निवासी मित्र मुंशी देवीप्रसादजी मुंसिफ़ (स्वर्गीय) ने इनको हमारे पास भेजकर यह लिखा कि आप इन्हें प्राचीन लिपियों का पढ़ना सिखाइए और इतिहास

का ज्ञान-सम्पादन कराइए, ताकि भविष्य में यह कुछ उन्नति कर सकें। अजमेर आने पर हमने इनको प्राचीन लिपियों का पढ़ाना, शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों का छापना तथा सिक्कों के 'कास्ट' (प्रतिकृति) बनाना सिखलाया, और भारत के प्राचीन इतिहास की जानकारी के लिये उदयपुर में रहते समय मेरी तैयार की हुई भारत के प्राचीन राजवंशों के इतिहास की दो बड़ी-बड़ी हस्तालिखित जिल्दें पढ़ने को दीं। जब रेऊजी अजमेर से जोधपुर जाने लगे, तब हमने इन्हें प्राचीन लिपियों के पढ़ सकने तथा प्राचीन इतिहास के जानकार होने का प्रमाणपत्र दिया, जिससे वहाँ जाने के पश्चात् इन्हें वहाँ के सरदार म्यूज़ियम के उपाध्यक्ष का पद मिल गया; यह जानकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। अजमेर से बिदा होते समय इन्होंने हमसे कहा कि पंडित रामकर्णजी ने 'सरस्वती' में आबू के परमारों के संबंध में एक लेख प्रकाशित किया है; यदि आप सामग्री दें, तो उसी तरह एक लेख मैं भी लिखूं। इस पर हमने अपनी तैयार की हुई भारत के प्राचीन राजवंशों के इतिहास की दूसरी जिल्द, जिसमें परमारों का इतिहास भी था दे दी, और यह कहा कि पंडित रामकर्णजी ने तो केवल आबू के परमारों का इतिहास लिखा है, परंतु हमारी इस पुस्तक में आबू, मालवा, वागड़ आदि समस्त ठिकानों के परमारों का इतिहास लिखा हुआ है, जिससे इसके अध्ययन द्वारा आप परमारों की सब शाखाओं के इतिहास से भली भाँति परिचित होकर इसके आधार पर एक नया लेख लिख सकेंगे। हमने रेऊजी से यह भी कहा कि वागड़ के परमारों का एक भी शिलालेख अब तक प्रकाश में नहीं आया और मैंने कई शिलालेख तलाश कर उनका भी इतिहास लिखा है, जो आपके लेख में एक नई बात होगी। हमारी पुस्तक में परमारों का जो इतिहास लिखा हुआ है, वह उस समय से १२ वर्ष पूर्व लिखा गया था; इसी से हमने उनको कहा कि हमारा इतिहास लिखने के पश्चात् परमारों के संबंध में कुछ नई शोध हुई है, इसलिये मालवे के परमारों के संबंध में मिस्टर सी० ई० लुअर्ड, एम्० ए० (ऑक्सन), आई० ए० और पंडित काशीनाथकृष्ण लेल की लिखी हुई, "दि परमार्स ऑफ़ धार एण्ड मालवा" नामक पुस्तक में— जो हमें भेंट में मिली थी—कुछ अधिक वृत्तांत जानकर हमने वह उन्हें देते हुए कहा कि मालवे के परमारों का इतिहास लिखते समय उससे भी सहायता ले लेना। साथ ही हमने अपनी लिखी हुई परमारों के प्रकाशित एवं अप्रकाशित समस्त शिलालेखों के संग्रह की पुस्तक भी दे दी और उनसे कहा कि मूल अवतरण इस पुस्तक से उद्धृत कर लेना, जिससे लेख का महत्त्व बढ़ जायगा। इनके अतिरिक्त कई ऐतिहासिक ग्रंथों, शिलालेखों एवं ताम्रपत्रों की अनेक छापें भी इस अभिप्राय से दीं कि रेऊजी के ऐतिहासिक ज्ञान में वृद्धि हो।

जोधपुर जाने पर इन्होंने हमारी दी हुई सामग्री के आधार पर 'सरस्वती' में तमाम परमारों का इतिहास प्रकाशित किया और उसकी एक-एक प्रति हमारे पास भेजी, जिससे हमें और भी अधिक हर्ष हुआ और हमने जान लिया कि हमारा शिष्य अब हिंदी में कुछ लिखने योग्य हो गया है। कहना न होगा कि रेऊजी का इतिहास-संबंधी यही पहला लेख था। फिर हमारी लिखी हुई भारत के प्राचीन राजवंशों की जिल्द का वे दुरुपयोग करने लगे और उसके फलस्वरूप भारत के प्राचीन राजवंश का प्रथम भाग जुलाई सन् १९२० ई० में प्रकाशित हुआ, जिसे रेऊजी ने निम्न-लिखित शब्दों में हमें ही अर्पण किया—

"जिनकी कृपा से आज यह पुस्तक लेकर मातृभाषा हिंदी के प्रेमी विद्वानों की सेवा में उपस्थित होने का मौक़ा मिला है; उन्हीं राजपूताना म्यूज़ियम, अजमेर के सुपरिंटेंडेंट रायबहादुर पंडित गौरीशंकर ओझा को यह तुच्छ भेंट सादर और सप्रेम समर्पित करता हूं।"

इस पुस्तक में क्षत्रप, हैहय, परमार, पाल, सेन और चौहान, इन ६ राजवंशों का इतिहास है। जिन दिनों रेऊजी हमारे पास पढ़ते थे, उस समय बाँसवाड़ा राज्य के सिरवाणिया गाँव से क्षत्रपवंशियों के २४०० सिक्के मिले, जो हमारे पास पढ़ने के लिये भेजे गए थे। हमने रेऊजी को अपने पास बिठाकर वे सिक्के इस अभिप्राय से इनसे विभक्त करवाए और उनका पढ़ना भी सिखलाया कि इन्हें भी क्षत्रपों के इतिहास से परिचय हो जाय और साथ ही सिक्कों के पढ़ने का अभ्यास भी हो जाय। इन्होंने अपने 'भारत के प्राचीन राजवंश', प्रथम भाग में सर्वप्रथम क्षत्रपों का ही इतिहास लिखा है; वह हमारे अभ्यास कराए हुए इन सिक्कों तथा प्रोफ़ेसर रैप्सन-रचित "कैटेलॉग ऑव दि कॉइंस इन दि ब्रिटिश म्यूज़ियम

दि आंध्र डाइनेस्टी, दि वेस्टर्न क्षत्रप्स, दि त्रैकूटक डाइनेस्टी एंड दि बोधी डाइनेस्टी" नामक ग्रंथ से लिया गया है। शेष पाँचों वंशों का इतिहास हमारी पुस्तक से ही नक़ल किया गया है। आबू के परमारों के इतिहास में पंडित रामकर्णजी के लेख से और मालवे के परमारों के इतिहास में मिस्टर लुअर्ड और पंडित लेले की उपर्युक्त पुस्तक से भी कुछ बढ़ा दिया गया है। वागड़ के परमारों का इतिहास तो ज्यों-का-त्यों हमारा लिखा हुआ ही है। बाक़ी चारों वंशों—अर्थात् हैहय, पाल, सेन और चौहान—का इतिहास तो हमारी हस्तलिखित पुस्तक की ही नक़ल है। अंतर इतना ही है कि रेऊजी ने अपनी पुस्तक में कहीं हमारे वाक्य को आगे-पीछे कर दिया है, तो कहीं हमारे किसी शब्द को निकालकर उसके स्थान में दूसरा पर्यायसूचक शब्द लिख दिया; कहीं एक वाक्य के दो-तीन बना दिए हैं, कहीं वाक्य को दूसरे शब्दों में लिख दिया है, तो कहीं कोई वाक्य संक्षिप्त कर दिया गया है। साथ ही वंशों का क्रम बदल दिया है। हमने अपने ग्रंथ में प्रमाण चलती पंक्तियों में संकेत द्वारा अँगरेज़ी में लिखे थे (जैसा कि हमारे इतिहास के पृष्ठों के फ़ोटो में पाठक देख सकते हैं), उन्हें रेऊजी ने अपना ग्रंथ लिखते हुए फुटनोटों में ले लिए हैं। हमारी ग्रंथ की नक़ल करते हुए कहीं-कहीं रेऊजी ने अपनी पुस्तक में यह भी लिख दिया है "कि रायबहादुर पं० गौरीशंकर ओझा का मत है कि......" आदि। इन चार वंशों का इतिहास बहुधा हमारा ही लिखा हुआ है, जिसके प्रमाण में हम रेऊजी के 'भारत के प्राचीन राजवंश' प्रथम भाग में प्रकाशित हैहय-वंश के इतिहास से और ग्रंथान्त में लिखित चौहानों के इतिहास से एक-एक अवतरण—हमारी हस्त-लिखित पुस्तक में लिखे हुए उन्हीं अंशों के फ़ोटो-सहित—उद्धृत करते हैं; इससे पाठकों को रेऊजी के ग्रंथ का असली स्वरूप ज्ञात हो जायगा।

फ़ोटो संख्या १

[illegible] प्यारी रहना पसंद करता है. उसने प्रयाग के प्रसिद्ध वट के नीचे रहना पसंद किया था जहां पर
उसका देहान्त हुआ और एक सौ रानियें उसके साथ सती हुईं (ए.इ.२-५). — [illegible]
ई.स. १०३० (वि.सं. १०८७) में गांगेयदेव हैहय (चेदि) का राजा दिखता है, इसके समय
का एक लेख कलचुरी संवत् ७८९ (वि.सं. १०९५) का मिला है और उसके पुत्र कर्णदेव का ताम्र-
पत्र कलचुरी संवत् ७९३ (वि.सं. १०९९) का मिला है, जिसमें लिखा है कि कर्णदेव ने वेणी
(वेनगंगा) नदी में स्नान कर दान दिया है क्योंकि अपने पिता श्री गांगेयदेव के [illegible]
[illegible] पर [illegible] दूसरा दान दिया. अतएव गांगेयदेव का देहान्त वि.सं. १०९५ और
१०९९ के बीच के [illegible] होना चाहिये और वि.सं. १०९९ [illegible] क्योंकि
उसका देहान्त हुए कम से कम एक वर्ष हो चुका था. गांगेयदेव के समय [illegible]
[illegible] चाहिये और प्रमाण भी उसके [illegible] होना चाहिये. [illegible]
गांगेयदेव के पुत्र कर्ण को [illegible] है.

हैहयवंशी राजा गांगेयदेव का वृत्तान्त

हमारी हस्त-लिखित पुस्तक के पृष्ठ ५ से	रेऊजी-रचित 'भारत के प्राचीन राजवंश' प्रथम भाग के पृष्ठ ४५-४६ से
......उसने प्रयाग के प्रसिद्ध वट के नीचे रहना पसंद किया, जहाँ पर उसका देहान्त हुआ और एक सौ रानियाँ	...... । इसने प्रयाग के प्रसिद्ध वट के नीचे, रहना पसंद किया था; वहीं पर इसका देहान्त हुआ।

उसके साथ सती हुई (E. I. २-४) अलबेरुनी ई० स० १०३० (वि० सं०१०८७)में गांगेय को डाहल(चेदी) का राजा लिखता है, उसके समय का एक लेख कलचुरी संवत् ७८६ (वि० सं० १०६४) का मिला है, जिसमें लिखा है कि 'कर्णदेव ने वेणी (वेनगंगा) नदी में स्नान कर फाल्गुन वदि २ के दिन अपने पिता, श्रीमद्गांगेयदेव के संवत्सर श्राद्ध पर पंडित विश्वरूप को सूसी गाँव दिया, अतएव गांगेयदेव का देहान्त वि० सं० १०६४ और १०६६ के बीच के किसी वर्ष फाल्गुण वदि २ को होना चाहिए और सं० १०६६ फाल्गुन वदि २ के दिन उसका देहान्त हुए कम-से-कम एक वर्ष हो चुका था। गांगेयदेव के समय हैहयों का राज अधिक बढ़ जाना चाहिए और प्रयाग भी उनके राज्य में होना चाहिए, प्रबंधचिंतामणि में. गांगेयदेव के पुत्र कर्ण को काशी का राजा लिखा है।

एक सौ रानियाँ इसके पीछे सती हुई। अलबेरूनी ई० स० १०३० (वि० सं० १०८७) में गांगेय को, डाहल (चेदी) का राजा लिखता है। उसके समय का एक लेख कलचुरी सं० ७९३ (वि० सं० १०६६) का मिला है; जिसमें लिखा है कि कर्णदेव ने, वेणी (वेनगंगा) नदी में स्नान कर, फाल्गुन कृष्ण २ के दिन अपने पिता श्रीमद्गांगेयदेव के संवत्सर-श्राद्ध पर, पंडित विश्वरूप को सूसी गाँव दिया। अतएव गांगेयदेव का देहान्त वि० सं० १०६४ और १०६६ के बीच किसी वर्ष फाल्गुन कृष्ण २ का होना चाहिए और १०६६ फाल्गुन कृष्ण २ के दिन, उसका देहान्त हुए कम-से-कम एक वर्ष हो चुका था। शायद गांगेयदेव के समय हैहयों का राज्य, अधिक बढ़ गया हो; और प्रयाग भी उनके राज्य में आ गया हो। प्रबंधचिंतामणि में गांगेयदेव के पुत्र कर्ण को काशी का राजा लिखा है।

(२) Ep. Ind. Vol. II, P. 4.

फ़ोटो संख्या २

[illegible] के बसाये जाने के विषय में अनेक बातें प्रसिद्ध हैं। कोई इसको महाभारत के [illegible] का इसको बतलाते हैं (Cun. A. S. R. II, p. [illegible]), कर्नल टाड साहब भाटों के आधार पर इसको चौहान राजा के पूर्वज अजयपाल का बसाया हुआ अनुमान करते और अजयपाल का समय ई० स० [illegible] (वि० सं० [illegible]) बतलाते हैं (A. S. R. II, [illegible]) [illegible] साहब लिखते हैं कि 'अजमेर नगर चौहान राजा बीसलदेव के [illegible] पुत्र के [illegible] [illegible] अजयपाल ने बसाया था' और उन्होंने बीसलदेव का समय १०३८ से ११[illegible] तक अनुमान करते हैं (Ibid. [illegible] 103) [illegible] कि अजमेर का किला और आना सागर तालाब दोनों बीसलदेव के [illegible] बनवाये गये थे (Cun. A. S. R. II, p. [illegible]), राजपूताना गैज़ेटियर से पाया जाता है कि 'अजमेर नगर प्रथम चौहान अजयपाल के [illegible] ई० स० १४५ में बसाया था।' उसमें लिखा है [illegible] साहब का अनुमान है कि अजमेर का मूल नाम [illegible] है और ई० स० १४५ के [illegible] के लेखक टालमी ने जो 'गगासिरि' नाम दिया है वह अजमेर के वास्ते है (Cun. A. S. R. [illegible], p. [illegible]). ये तो सब अनुमान मात्र हैं, इनके आधार के वास्ते कोई शिलालेख [illegible] प्रमाण नहीं दिया। लिखित प्रमाणों से [illegible] (अजयपाल) [illegible] का अजमेर बसाना पाया जाता है। [illegible] [illegible] से तीसरे राजा अजयदेव को 'अजयमेरु दुर्ग' (अजमेर का किला) बनवाने [illegible] है और तारीख फ़िरिश्ता में ई० स० [illegible] (वि० सं० [illegible]) [illegible] [illegible]

चौहानवंशी राजा अजयदेव का वृत्तान्त

हमारी हस्तलिखित पुस्तक के पृष्ठ २४ से

अजमेर के बसाए जाने के विषय में अनेक बातें प्रसिद्ध हैं, कोई उसको महाभारत के समय से भी पूर्व का बतलाते हैं (Cun A. S R. II, 252) कनिंगहाम साहब भाटों के आधार पर उसको मानिकराज के पूर्वज अजयपाल का बसाया हुआ अनुमान करते और मानिकराय का समय ई० स० ८१६-८२५ (वि० सं० ८७६-८८२) बतलाते हैं (A. S. R. II. 253)। टॉड साहब लिखते हैं कि 'अजमेर नगर चौहान बीसलदेव के बेटे पुष्कर के बकरे चरानेवाले अजयपाल ने बसाया था' और उन्होंने बीसलदेव का समय संवत् १०७८ से ११४२ तक अनुमान करते हैं (Tod, R. mad. Ed. II, 663)। खींची चौहानों के भाट मूकजी का मानना है कि अजमेर का क़िला और आनासागर तालाब दोनों बीसलदेव के बेटे आनाजी ने बनवाए थे (Cun, A. S. R. II. P. 252)। राजपूताना गेज़ेटिअर से पाया जाता है कि 'अजमेर नगर प्रथम चौहान अनहल के बेटे अज ने ई० स० १४५ में बसाया था (R. G. II. 14)।' जर्मन विद्वान् लॉसन् साहब का अनुमान है कि अजमेर का मूल नाम अजामीढ़ हो और ई० स० १५० के क़रीब के लेखक टॉलमी ने जो 'गगस्मिर' नाम दिया है, वह अजमेर के वास्ते हो (Indische. A. S. V III. P. 151), ये तो सब अनुमान-मात्र हैं, इनके आधार के वास्ते कोई प्राचीन लिखित प्रमाण नहीं दिया। लिखित प्रमाणों में हंमीर महाकाव्य से चाहमान से चौथे राजा जयपाल (अजयपाल) चक्री का अजमेर बसाना पाया जाता है, प्रबंध-कोश के अंत की वंशावली में वासुदेव से तीसरे राजा अजयदेव को 'अजयमेरुदुर्गकारक' (अजमेर का क़िला बनवानेवाला) माना है और तारीख़ फ़िरिश्ता से हि० स० ६३ (ई० स० ६८२), ३७७ (ई० स० ६८७) और ३६६ ....

रेऊजी-रचित 'भारत के प्राचीन राजवंश', प्रथम भाग के पृष्ठ २३६-३८ से

अजमेर नगर के बसाए जाने के विषय में भिन्न-भिन्न पुस्तकों में भिन्न-भिन्न मत मिलते हैं। कुछ विद्वान् इसे महाभारत के पूर्व का बसा हुआ मानते हैं[1]। कनिंगहाम साहब का अनुमान है कि यह मानिकराय के पूर्वज अजयराज का बसाया हुआ है। उनके मतानुसार मानिकराय वि० सं० ८७६ से ८८२ (ई० स० ८१६-८२५) के मध्य विद्यमान थे[2]। जेम्स टॉड साहब ने अपने राजस्थान नामक इतिहास में लिखा है कि—"अजमेर नगर अजयपाल ने बसाया था। यह अजयपाल चौहान राजा बीसलदेव के बेटे पुष्कर की बकरियाँ चराया करता था।" उसी में उन्होंने बीसलदेव का समय वि० सं० १०७८ से ११४२ माना है[3]। चौहानों के कुछ भाटों का कहना है कि अजमेर का क़िला और आनासागर तालाब दोनों ही बीसलदेव के पुत्र आनाजी ने बनवाए थे[4]। राजपूताना गजटियर से प्रकट होता है कि पहलेपहल यह नगर ई० स० १४५ में चौहान अन्हल के पुत्र अज ने बसाया था[5]। जर्मन विद्वान् लासन साहब का मत है कि अजमेर का असली नाम अजामीढ़ होगा और ई० स० १५० के निकट के टोलेमी नामक लेखक ने जो अपनी पुस्तक में 'गगस्मिर' नाम लिखा है, वह संभवतः अजमेर का ही बोधक होगा[6]।

हम्मीर-महाकाव्य से विदित होता है कि यह नगर इस वंश के चौथे राजा जयपाल (अजयपाल) ने बसाया था। शत्रुओं के सैन-चक्र को जीत लेने के कारण इसकी उपाधि चक्री थी। प्रबंध-कोश के अंत की वंशावली में भी उक्त अजयपाल को ही अजमेर के क़िले का बनवानेवाला लिखा है। तारीख़ फ़िरिश्ता से हिजरी सन् ६३ (ई० स० ६८३—वि० सं० ७४०), ३७७ (ई० स० ६८७—वि० सं० १०४५) और ३६६..................

(१) Cun, A. S. R., Vol. II, P. 252, (२) Cun, A. S. R, Vol. II, P. 253, (३) Tods Rajasthan. Vol. II, P 663. (४) Cun, A. S. R Vol II, P, 252, (५) R. G, Vol. II, P. 14. (६) Indische, A. S, Vol. III, P. 151.

अब हमारी हस्तलिखित पुस्तक और रेऊजी के भारत के प्राचीन राजवंश, प्रथम भाग के इन दोनों अवतरणों का मिलान करने पर पाठक स्वयं निर्णय कर सकेंगे कि मूल लेखक कौन है, और किसने किसकी नक़ल की है। यहाँ हम इस प्रकार के अनेक अवतरण देकर अपने लेख को बहुत विस्तृत नहीं बनाना चाहते, परंतु हम विश्वास दिलाते हैं कि क्षत्रपों को छोड़कर यदि रेऊजी के सारे ग्रंथ का इस तरह मिलान किया जाय, तो उससे एक वृहद् ग्रंथ तैयार हो जायगा, जिसकी हमें आवश्यकता नहीं है। प्रथम खंड का प्राक्कथन (रेऊजी के शब्दों में "निवेदन") लिखते समय रेऊजी ने हमारे लिये यह लिखने की भी कृपा नहीं की कि हमने गौरीशंकर की पुस्तक से भी कुछ सहायता ली है। इन सब बातों से सुस्पष्ट हो जायगा, रेऊजी-रचित भारत के प्राचीन राजवंश का प्रथम भाग मौलिक ग्रंथ न होकर अधिकांश में हमारा ही लिखा हुआ है।

हमने इन्हें अपना ही शिष्य समझकर और पुस्तक हमें ही अर्पण की हुई होने से इस विषय में मौन धारण कर लिया; परंतु हमारे मित्र विद्वद्वर पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरीजी (स्वर्गस्थ) ने, जिन्होंने हमारी दोनों हस्तलिखित जिल्दों को पढ़ा था, रेऊजी की पुस्तक देखते ही कह दिया कि इस तरह की साहित्यिक चोरी तो एक ऐतिहासिक के लिये कलंक की बात है; इसे पत्रों में अवश्य प्रकाशित कर देना चाहिए, ताकि हिंदी-प्रेमी जान जावें कि अपने को इतिहास-लेखक समझनेवाला एक व्यक्ति ख्याति प्राप्त करने के लिये उचितानुचित का विचार छोड़कर कैसी-कैसी चेष्टाएँ कर सकता है! इस पर हमने गुलेरीजी से यही कहा कि रेऊजी हमारे शिष्य हैं और उनकी ख्याति के श्रीगणेश में ही हम कोई बाधा डालना उचित नहीं समझते, अतः हमारे विचारानुसार इस विषय में कुछ भी लिखना अनुचित है। गुलेरीजी ने यह बात किसी से कह दी और समय पाकर वह रेऊजी के कानों तक पहुँच गई, जिस पर वे बहुत बिगड़े और श्रीयुत सुखसम्पतिरायजी भंडारी से जोधपुर में उन्होंने बहुत-कुछ कहा। अजमेर आने के बाद भंडारीजी, 'मालव-मयूर' के वर्तमान और 'हिंदी-नवजीवन' के भूतपूर्व सम्पादक श्रीयुत हरिभाऊजी उपाध्याय को साथ लेकर हमारे यहाँ आए और जोधपुर में कही हुई रेऊजी की बात पर चर्चा छेड़ी। इस पर हमने उक्त दोनों विद्वानों के सम्मुख हमारी हस्तलिखित पुस्तक तथा रेऊजी के भारत के प्राचीन राजवंश का प्रथम खंड रख दिया। उन दोनों ने क्षत्रपों के इतिहास को छोड़कर बीसों स्थानों पर दोनों ग्रंथों का ध्यानपूर्वक मिलान किया, तो उन्हें निश्चय हो गया कि रेऊजी ने अपनी पुस्तक का सभी अंश (क्षत्रपों के इतिहास को छोड़कर) हमारी पुस्तक से ही नक़ल किया है और केवल कहीं-कहीं कुछ शब्द पलट दिए गए हैं। हमारा लिखा हुआ क्षत्रपों का इतिहास हमारी हस्तलिखित पहली जिल्द में होने से और वह रेऊजी को माँगने पर भी न दिए जाने के कारण उन्हें वह अंश प्रोफ़ेसर रैप्सन की उपर्युक्त पुस्तक से लेना पड़ा। इस विषय में हम अधिक न लिखकर इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि यदि निश्चय करना चाहें, तो कोई विद्वान् हमारे पास आकर हमारी आज से २७ वर्ष पूर्व लिखी हुई उक्त पुस्तक से सहर्ष मिलान कर सकते हैं। रेऊजी के भारत के प्राचीन राजवंश के प्रथम भाग की मौलिकता का यह एक बहुत अच्छा उदाहरण है।

रेऊजी-रचित भारत के प्राचीन राजवंश, तृतीय भाग, के अंत में उनका सचित्र परिचय लिखनेवाले महाशय ने रेऊजी के अध्ययन और विद्वत्ता आदि का प्रशंसापूर्वक वृत्तांत लिखा है, परंतु उसमें हमारे पास रहकर इतिहास एवं पुरातत्त्व-संबंधी अध्ययन के विषय में एक भी शब्द नहीं लिखा, तो भी भारत के प्राचीन राजवंश के प्रथम भाग की भूमिका लिखते हुए मुंशी देवीप्रसादजी ने स्पष्ट लिख दिया है कि—

"ये (अर्थात् रेऊजी) संस्कृत और अँगरेज़ी तो जानते ही थे, केवल पुरानी लिपियों के सीखने की आवश्यकता थी। इसके लिये ये मेरा पत्र लेकर राजपूताना म्यूज़ियम (अजायबघर) के सुपरिंटेंडेंट रायबहादुर पंडित गौरीशंकर ओझा से मिले और उनसे इन्होंने पुरानी लिपियों का पढ़ना सीखा।

जिस समय ये अजमेर में पुरानी लिपियों का पढ़ना सीखते थे, उस समय इन्होंने बहुत-से सिक्कों आदि के कास्ट बनाकर मेरे पास भेजे थे; जिन्हें देख मैंने समझ लिया था कि ये भी ओझाजी की तरह किसी दिन हिंदी-साहित्य को कुछ पुरातत्त्व-संबंधी ऐसे रत्न भेट करेंगे; जिनसे हिंदी-साहित्य की उन्नति होगी। मुझे यह देख बड़ा हर्ष हुआ कि मेरा वह अनुमान ठीक निकला।"

हमारी हस्तलिखित पुस्तक से नक़ल करने का और एक रोचक उदाहरण सुन लीजिए। अजमेर के चौहानवंशी राजा विग्रहराज (बीसलदेव) चतुर्थ ने अपना बनाया हुआ 'हरकेलि' नाटक और अपने राजकवि सोमदेव-रचित 'ललितविग्रहराज' नाटक, इन दोनों को कई बड़ी-बड़ी शिलाओं पर खुदवाकर अजमेर में अपनी बनवाई हुई पाठशाला में, जो मुसलमानों के समय में तोड़ी जाकर 'ढाई दिन का झोंपड़ा' नाम से प्रसिद्ध हुई, रखवाया था। भारत-सरकार द्वारा खुदाई होने पर वहाँ पाँच शिलाओं के टुकड़े चौक के मध्य में बने हुए एक मकान की नींव में से निकले। इन टुकड़ों को जोड़ने से ललित-विग्रहराज की दो शिलाएँ तथा हरकेलि नाटक की भी दो शिलाएँ और चौहानों के इतिहास के किसी काव्य की एक शिला पाई गई। ये सब टुकड़े जोड़े जाकर पाँचों शिलाएँ पहले ढाई दिन के झोंपड़े में काँच की अलमारियों के भीतर रक्खी गई थीं और ईसवी सन् १८८९ में हमने इन्हें वहीं देखा था। पीछे से ये पाँचों शिलाएँ लखनऊ के म्यूज़ियम में भेज दी गईं। जिस समय हमने अपना चौहानों का इतिहास लिखा था, उस समय इनके लखनऊ म्यूज़ियम में होने के कारण हमने अपने इतिहास (पृष्ठ २८) में लिखा था कि "उनमें से पाँच शिलाएँ ढाई दिन के झोंपड़े में से खोदते समय मिल आई थीं, जो इस समय लखनऊ के म्यूज़ियम में रक्खी हुई हैं। ई० सन् १९०८ में अजमेर में राजपूताना म्यूज़ियम खुलने पर उसी वर्ष लिखा-पढ़ी कर हमने ये शिलाएँ पीछे अजमेर के म्यूज़ियम में मँगवा लीं। सन् १९१२ ई० में जब रेऊजी हमारे पास पढ़ने के लिये आए, उस समय इनसे ये शिलाएँ पढ़ाई गईं और शिलालेखों की छापें लेना सिखलाते समय इनकी छापें भी रेऊजी से तैयार करवाई गई थीं। रेऊजी ने अजमेर में रहते समय इन शिलाओं को कई बार भली भाँति देखा था और ललित विग्रहराज का रचना-काल भी इन्हीं शिलाओं द्वारा जाना था। अपने भारत के प्राचीन राजवंश का प्रथम खंड लिखते समय हमारी २७ वर्ष पूर्व की लिखी हुई पुस्तक से शीघ्रतापूर्वक नक़ल करते हुए रेऊजी को यह स्मरण न रहा कि ये शिलाएँ इस समय अजमेर के राजपूताना म्यूज़ियम में रक्खी हुई हैं। इसी से इन्होंने हमारी पुस्तक के अनुसार अपने ग्रंथ के पृष्ठ २४९ में लिख दिया कि "हम पहले ही लिख चुके हैं कि इसने हरकेलि नाटक और ललितविग्रहराज नाटक दोनों को शिलाओं पर खुदवाकर उक्त पाठशाला में रखवाया था। उनमें से ढाई दिन के झोंपड़े में खुदाई के समय ५ शिलाएँ प्राप्त हुई थीं। ये आजकल लखनऊ के अजायबघर में रक्खी हैं।" इसी से पाठक जान जावेंगे कि रेऊजी ने नक़ल करने में भी कैसे भूल की है।

रेऊजी के भारत के प्राचीन राजवंश का दूसरा भाग भी मौलिक नहीं है। वह मुख्यतः विन्सेंट स्मिथ-रचित "अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया", बंबई गैज़ेटियर की पहली जिल्द तथा हमारी भारतीय प्राचीन लिपिमाला आदि ग्रंथों से ही संग्रह किया गया है।

दिसंबर सन् १९२५ ई० में रेऊजी के भारत के प्राचीन राजवंश का तृतीय भाग प्रकाशित हुआ। उसके परि-शिष्ट नं० १—"राष्ट्रकूट और गाहड़वाल-वंश"—का हम इस लेख में संक्षिप्त विवेचन कर चुके हैं। इस पुस्तक के प्रकाशित होने से तीन मास पूर्व माधुरी, वर्ष ४, खंड १, संख्या ३ में रेऊजी ने इसी परिशिष्ट को छपवाया था। उस लेख के अंत में (पृष्ठ ३६४) रेऊजी लिखते हैं कि "इन्हीं राष्ट्रकूटों और गाहड़वाल-नरेशों का विक्रम की सातवीं शताब्दी से लेकर आज तक का प्रामाणिक इतिहास हमने प्रकाशित करना आरंभ कर दिया है। वह हमारे 'भारत के प्राचीन राजवंश' नामक प्रसिद्ध इतिहास का तीसरा भाग होगा।" रेऊजी के 'भारत के प्राचीन राजवंश, नामक "प्रसिद्ध" इतिहास का वास्तविक स्वरूप तो हमने पाठकों को बतला ही दिया है।

रेऊजी के "प्रसिद्ध" इतिहास के तीसरे भाग के संबंध में पहले ही कान्हा के 'सिद्ध' जन्म-संवत् के विवेचन में बहुत-कुछ लिख दिया है। इस तृतीय भाग के पहले ११७ पृष्ठों में राठोड़ों का जो प्राचीन इतिहास छपा है, वह डॉक्टर सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर की 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ दि डेक्कन', डॉक्टर फ़्लीट-रचित "दि डाइने-स्टीज़ ऑफ़ दि कैनेरीज़ डिस्ट्रिक्ट्स ऑफ़ दि बॉम्बे प्रेसिडेंसी" और डॉक्टर भगवानलाल इंद्रजी की "अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ गुजरात" तथा खड्गविलास प्रेस बांकीपुर से प्रकाशित "हिंदी टॉड-राजस्थान" के सातवें प्रकरण पर लिखे हुए राठोड़ों के संबंध के हमारे टिप्पणों से लिया गया है। पाठक चाहें, तो रेऊजी के लिखे हुए तीसरे खंड

में राजस्थान के पहले राष्ट्रकूट, धनोप के राष्ट्रकूट आदि का वृत्तांत, हिंदी-टॉड-राजस्थान में लिखे हुए हमारे विस्तृत टिप्पणों में दिए हुए वृत्तांत से मिलाकर देख लें। इसके बाद मारवाड़ के राठोड़ों का इतिहास पृष्ठ ११८—३१६ में छपा है, जो अधिकांश में मारवाड़ की ख्याति का ही सारांश-मात्र है। बीकानेर आदि शेष सब राठोड़ रियासतों का इतिहास अन्य प्रकाशित पुस्तकों से ही संक्षिप्त किया गया है।

इस तरह पाठक जान लेंगे कि रेऊजी ने अपने लिखे हुए जिस "भारत के प्राचीन राजवंश" को "प्रसिद्ध इतिहास" कहा है, उसके तीनों ग्रंथों में से एक भी मौलिक नहीं है। 'माधुरी', 'सरस्वती', 'मनोरमा' आदि-आदि मासिक पत्रिकाओं में इनके जो ऐतिहासिक लेख प्रकाशित हुए हैं, उनमें से हमने एक को भी मौलिक नहीं पाया। वे सब बहुधा दूसरों की पुस्तकों से छाँटकर ही लिखे गए हैं, न कि स्वतंत्र गवेषणा के आधार पर। मौलिक लेख न लिख सकने के कारण ही रेऊजी के लेखों को हम भारत में प्रकाशित होनेवाली प्राचीन शोध-संबंधी पत्रिकाओं (Reserch Journals) में नहीं पाते। यदि अब तक रेऊजी का कोई मौलिक लेख प्रकाशित हुआ, तो 'माधुरी' वर्ष ४, खंड १, संख्या ३ तथा 'भारत के प्राचीन राजवंश' तृतीय भाग के परिशिष्ट संख्या १ में प्रकाशित "राष्ट्रकूट और गाहड़वाल-वंश" शीर्षक लेख है, जिसके विषय में हम पहले ही सविस्तर विवेचन कर चुके हैं।

आजकल राजपूताने के प्रायः प्रत्येक राज्य में तथा सरदारों के ठिकानों में भी इतिहास की थोड़ी-बहुत चर्चा होने लगी है और कई राज्य तथा ठिकाने अपना-अपना इतिहास लिखवा रहे हैं; और हमारे संग्रह से इतिहास छाँटने के लिये हमारे पास कई लोग आते हैं, परंतु उनकी बहुधा यही चेष्टा पाई गई कि प्रत्येक राज्य या ठिकानेवाले जैसे बने वैसे अपने-अपने राज्य अथवा, ठिकानों का उत्कर्ष बतलाने का ही प्रयत्न करते हैं। यह बात हमें कदापि इष्ट नहीं है। इतिहास वास्तव में इतिहास होना चाहिए, उसमें भली-बुरी सभी बातों का यथा-स्थान समावेश होना चाहिए। अलवर, जयपुर आदि राज्यों से अच्छे वेतन पर बुलाने का हमसे भी आग्रह किया गया, परंतु हमें तो स्वतंत्रता-पूर्वक राजपूताने का इतिहास लिखने की लगन थी, इसीलिये हमने किसी राज्य की सेवा स्वीकार नहीं की।

अभी तक तो हमने जोधपुर-राज्य के इतिहास का श्रीगणेश भी नहीं किया, परंतु मेवाड़ के इतिहास में प्रसंगवशात् जोधपुर के राव रणमल का जो यत्किंचित् वृत्तांत आया है, उसी को देखकर रेऊजी अभी से इतने भड़क उठे हैं कि उन्हें इस विषय पर 'माधुरी' में एक लंबा-चौड़ा लेख प्रकाशित करने की आवश्यकता हुई। उसके विषय में किस-किस तरह की प्रमाण-शून्य, निराधार, कल्पित बातों की सृष्टि हुई है, यह हम पहले ही बतला चुके हैं। थोड़े ही दिनों से रेऊजी जोधपुर-राज्य के इतिहास-कार्यालय के अध्यक्ष नियत हुए हैं। अतः अब इनके द्वारा जोधपुर राज्य का इतिहास बहुत-कुछ शुद्ध हो जायगा। राजपूताने के राज्यों की आधुनिक परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर हम निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि किसी राज्य का नमक खाकर कोई व्यक्ति उसी राज्य का प्रमाणभूत इतिहास कदापि नहीं लिख सकता, जिसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण 'माधुरी' में प्रकाशित रेऊजी का यह लेख ही है।

यदि हमारे इतिहास के प्रकांड समालोचक श्रीरेऊजी हमारे ग्रंथ की त्रुटियाँ बतलाते हुए स्थल-स्थल पर ऐसे अकाट्य प्रमाण देते कि हम उनका लोहा मान जायँ तो वह हमारे लिये बड़े ही परितोष की बात होती, परंतु उनका यह सारा लेख तो खुशामद से तथा प्रमाण-शून्य एवं मिथ्या कल्पनाओं के आधार पर ही लिखा गया है, जिससे हम उसका तनिक भी महत्त्व नहीं समझते। रेऊजी ने यह सारा लेख राठोड़ों को यह बतलाने के लिये ही लिखा है कि हम राजपूताने का जो इतिहास लिख रहे हैं वह राठोड़ों की निंदा एवं सीसोदियों की प्रशंसा के लिये ही लिखा जा रहा है, और राठोड़ों के कीर्ति-कलाप की रक्षा करने तथा उनकी यश-पताका को दिगंत में फहराने के एक-मात्र ठेकेदार मानों रेऊजी ही हैं। यदि उनका ऐसा भाव न होता, तो हमारे इतिहास-रूपी दिल में कहीं-न-कहीं तो खून का एकाध क़तरा उनके दृष्टिगोचर अवश्य होता। हम नहीं कह सकते कि हमारे जिस राजपूताने के इतिहास के दूसरे खंड में रेऊजी को खून का एक क़तरा भी नहीं मिला, उसी इतिहास के पहले खंड के विषय में रेऊजी ने न-जाने क्या समझकर 'माधुरी'

वर्ष ४, खंड १, संख्या १, पृष्ठ ३३ में लिखा था कि "यह पुस्तक बड़े महत्त्व की और उपादेय है, प्रत्येक पुस्तकालय में इसका रहना ज़रूरी है। इस पुस्तक की विशेष प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है, क्योंकि यह एक प्रसिद्ध और सर्वमान्य ऐतिहासिक की लेखनी से लिखी गई है। इससे हिंदी का बहुत-कुछ गौरव बढ़ेगा।" ख़ून के क़तरे के संबंध में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि पुष्ट प्रमाणों की अग्नि से तपाए हुए और जँच की कसौटी पर बारंबार कसे हुए हमारे इतिहास के दुर्बल एवं क्षीण दिल में ख़ून का क़तरा कहाँ से मिले? ख़ून के फ़व्वारे तो तभी छूटते, जब कि हम खुशामद, चापलूसी एवं स्वार्थपरायणता रूपी दवाइयों की मात्राओं से अपने इतिहास के दिल को परिपुष्ट करते, परंतु सखेद कहना पड़ता है कि हम ऐसा करने के लिये सर्वथा असमर्थ हैं। चाहे रेऊजी को हमारे ग्रंथ में ख़ून का एक भी क़तरा मिले अथवा न मिले, इसकी हमें तनिक भी परवाह नहीं है। ख़ून के फ़व्वारे के लिये तो रेऊजी का राठोड़ों का इतिहास ही काफ़ी है।

हमारे ही शिष्य होने के कारण रेऊजी का ऐतिहासिक ज्ञान हमसे छिपा नहीं है। इतिहास लिखने से पूर्व अभी उन्हें कई वर्षों तक सतत परिश्रम के साथ इतिहास-विषय का गंभीर अध्ययन एवं मनन करना चाहिए। तब रेऊजी इतिहास-लेखन के पवित्र एवं दायित्व-पूर्ण कार्य का संपादन करने में कृतकृत्य हो सकेंगे, न कि खुशामदों से भरी हुई ख्यातों के आधार पर चाहे जो सच-झूठ लिख डालने से।

यहाँ पर हम हिंदी के इतिहास-प्रेमियों से यह नम्र निवेदन करना उचित समझते हैं कि भारतवर्ष और विशेषकर राजपूताने के इतिहास में अभी तक अनेक विवादग्रस्त स्थल विद्यमान हैं। अतः जब कभी किसी ऐतिहासिक विषय पर वाद-विवाद उठाया जाय, तब प्रत्येक पक्ष के लेखक को अपने हरएक कथन के लिये निराधार कल्पनाओं को छोड़कर प्रबल प्रमाण देने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए; क्योंकि ऐसा होने पर ही उभय पक्षों की तरफ़ से विद्वत्ता-पूर्ण विवेचन होता है, समय का अपव्यय नहीं होने पाता और इस प्रकार वादानुवाद होते-होते अंत में कोई उचित एवं सर्वमान्य निष्कर्ष निकल आता है। आशा है, हमारी यह सलाह पाठकों को अग्राह्य प्रतीत न होगी।

हम अपने राजपूताने के इतिहास की पहली जिल्द की भूमिका (पृ० ४४) में लिख चुके हैं कि—

"हमारी यह भी धारणा है कि राजपूताने का वास्तविक इतिहास लिखे जाने का समय अभी दूर है, क्योंकि उसके लिये विशेष खोज की आवश्यकता है। यदि शोध के कार्य में विशेष उन्नति होती गई, तो आधी शताब्दी के भीतर इतिहास की कायापलट हो जायगी, और उस परिपूर्ण शोध के आधार पर राजपूताने का एक सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वांगसुंदर इतिहास लिखने का श्रेय किसी भावी विद्वान् को ही मिलेगा।"

लेख को समाप्त करने से पूर्व हम राजपूताने के इन्हीं भावी इतिहासवेत्ताओं के लिये दो शब्द लिखना उचित समझते हैं। हमारी एक-मात्र अभिलाषा यही है कि वे अनेक असुविधाओं का सामना करते हुए, अदम्य उत्साह के साथ, इस प्रांत के प्राचीन इतिहास की सच्चे दिल से खोज करें, प्रत्येक ऐतिहासिक स्थल का खोजपूर्ण निरीक्षण करें, वहाँ से मिलनेवाले समस्त शिलालेख, ताम्रपत्र, हस्तलिखित ग्रंथों आदि का संग्रह कर उनको प्रकाश में लावें, इतिहास की अनेक संदिग्ध बातों को रेऊजी की तरह अपनी कल्पनानुसार "सिद्ध" एवं निश्चित न मानकर उनकी पूरी छानबीन करें और फिर उन पर अपना मत प्रकाशित करें। ऐसा करने से ही उनके ऐतिहासिक ज्ञान में वृद्धि होगी, न कि 'येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्' के अनुसार ठंढी छाया में बैठकर इधर-उधर की पुस्तकों के आधार पर तथा कल्पना के घोड़े दौड़ाकर चाहे जो मनमानी बात लिख डालने से। यदि इस प्रकार के परिश्रम के अनंतर वे ऐतिहासिक ग्रंथ लिखेंगे, तो वे उच्च कोटि के ऐतिहासिक का पद प्राप्त कर सकेंगे और उनके ग्रंथ तथा लेख ऐतिहासिक जगत् में सर्व प्रकार समादरणीय समझे जावेंगे।

गौरीशंकर-हीराचंद ओझा

व्यंग्यार्थ-मंजूषा

(आलोचना)

हिंदी में काव्य के प्रधान अंग व्यंग्य अर्थात् ध्वनि विषय के ग्रंथ बहुत कम हैं। प्राचीन कवियों ने इस विषय पर बहुत ही कम प्रकाश डाला है। अतः उन ग्रंथों से साहित्य-रसिक पाठक और विद्यार्थी भली भाति लाभ नहीं उठा सकते। हर्ष का विषय है कि आधुनिक विज्ञ लेखकों का भी ध्यान इस विषय पर लिखने के लिये आकर्षित हुआ है। इस विषय का सबसे नया ग्रंथ लाला भगवानदीनजी—'दीनजी' की व्यंग्यार्थ-मंजूषा है। अतएव हमारी धारणा थी कि इस विषय के पहले ग्रंथों से इसमें अवश्य ही कुछ अधिक विशेषता और उपयोगिता होगी। जब 'मंजूषा' का प्रारंभिक 'वक्तव्य' पढ़ा, तो हमारी यह धारणा और भी दृढ़ हो गई। 'वक्तव्य' में लिखा है—

"हिंदू यूनिवर्सिटी में एम्० ए० क्लास में यह विषय पढ़ाते हैं। इस विषय की कोई उपयुक्त पुस्तक हमें नहीं मिली। प्राचीन कवियों ने जो कुछ लिखा है वह बहुत ही संक्षेप से लिखा है, उतने से विद्यार्थियों को संतोष तो क्या ठीक-ठीक बोध भी नहीं होता। पद्यमय होने से उसके समझने में उन्हें कठिनाई होती है। ...... इस कठिनाई को दूर करने के लिये हमने सरल और सुबोध बनाने का उद्योग किया है। ...... इस विषय के लिखने में हमारा मुख्य आधार तो है 'दासजी' कृत 'काव्यनिर्णय' ही पर हमने इस विषय के उपलब्ध ग्रंथ भी देखे हैं और उनसे सहायता ली है।"

'मंजूषा' के बहुत समय पहले ही सेठ कन्हैयालाल पोद्दार प्रणीत 'काव्य-कल्पद्रुम' ग्रंथ प्रकाशित हो चुका था। और हमको विश्वस्त सूत्र से पता लगा है कि यह ग्रंथ मुद्रित होते ही लालाजी को मिल गया था। यह दूसरी बात है कि इसे आपने उपयुक्त न समझा हो। जो कुछ हो, पर लालाजी यह नहीं कह सकते कि 'काव्य-कल्पद्रुम' उन्हें 'मंजूषा' के प्रथम नहीं मिला। पर लालाजी ने अपनी स्वाभाविक सहृदयता से 'मंजूषा' में 'काव्य-कल्पद्रुम' का नाम तक कहीं नहीं आने दिया है। किंतु 'मंजूषा' के अवतरण ही इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि लालाजी ने 'काव्य-कल्पद्रुम' को देखकर ही 'मंजूषा' लिखने का मन चलाया है। काव्य-कल्पद्रुम के स्तवकों की केवल सौरभ ही नहीं, उसके पुष्पादि अवयव भी—मंजूषा में बंद होते हुए भी—अपना स्पष्ट रूप सूचित कर रहे हैं। खेद तो इस बात का है कि ऐसे सरल और सुबोध ग्रंथ को देखकर भी उससे लालाजी ने उचित लाभ न उठाकर 'मंजूषा' लिखने का व्यर्थ प्रयास किया और साहित्य की मिट्टी पलीद की। कहते तो आप यह हैं कि "हमने सरल और सुबोध बनाने का उद्योग किया है।" पर सत्य तो यह है कि लालाजी की स्मृति सुबोध तो कहाँ, पर दुर्बोध और अनर्थकारी अवश्य है। कुछ नमूने तो देखिए—

प्रथम ही आप अभिधा के वर्णन में अनेकार्थी शब्दों का एक अर्थ निकालने के लिये तेरह ढंग बताकर 'संयोग' का उदाहरण देते हैं—

"विचरत हरि सिंहिनि सहित"। (पेज ४)

इसे आप 'संयोग' का उदाहरण किस आधार से कहते हैं? यह 'संयोग' का उदाहरण नहीं। यदि आप इसे 'संयोग' का उदाहरण मानते हैं, तो कहिए 'संयोग' और 'साहचर्य' में क्या भेद रहेगा? फिर आप साहचर्य का उदाहरण देते हैं—

(१) "राम बाम दिसि जानकी लखन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यान कर सुरतरु तुलसी तोर"॥

(२) "सारँग धर रघुनाथ"। (पेज ५)

"यहाँ जानकी, लखन और तुलसी के साहचर्य से राम का अर्थ दासरथी राम ही होगा"। हम कहते हैं कि न तो आप यही समझे कि 'साहचर्य' किसे कहते हैं और न 'संयोग' को ही। यदि समझे होते, तो 'तुलसी' शब्द को आप 'साहचर्य' का ज्ञापक कभी नहीं कहते, और न आप 'सारँगधर रघुनाथ' को ही साहचर्य का उदाहरण बताते। जब पहले 'संयोग' का उदाहरण आपही "गांडीवधारी अर्जुन" दे चुके हैं, तो फिर आप 'सारँगधर रघुनाथ' को साहचर्य का उदाहरण क्या समझकर कह रहे हैं?। फिर आप लिखते हैं—

'अर्थ प्रकरण ज्ञान से'। (पेज ६)

इसमें आपने मक्षिकास्थाने मक्षिका की भाँति काव्य-निर्णय की नक़लनवीसी की है। किंतु फिर भी आप भूल

खा गए। वस्तुतः 'अर्थ' और 'प्रकरण' दो भेद पृथक्-पृथक् हैं। काव्य-निर्णय में इन दोनों को एकत्र लिख दिया है। तथापि उसमें फिर 'प्रकरण' का भिन्न भेद नहीं लिखा है। पर लालाजी ने अन्य उपलब्ध ग्रंथों में प्रकरण भेद भिन्न लिखा हुआ देखकर 'प्रसंग' के नाम से प्रकरण-ज्ञान का एक भेद भिन्न भी लिख दिया है। यह नहीं समझे कि 'प्रकरण' और 'प्रसंग' एक ही पदार्थ हैं। इसी 'अर्थ-प्रकरण' ज्ञान की आप व्याख्या करते हैं—

"वाक्य में आए हुए अन्य संज्ञा, क्रियादि पदों के अर्थ-ज्ञान से भी किसी शब्द का अर्थ निश्चित हो जाता है।"

ज्ञात होता है कि आप यहाँ 'अर्थ' का 'अर्थ-ज्ञान' ही अर्थ समझ बैठे हैं। लालाजी! अर्थ-ज्ञान से तो सभी शब्दों का अर्थ निश्चित हुआ करता है। खेद है कि यहाँ 'अर्थ' से क्या अभिप्रेत है? वह आप समझे ही नहीं। यदि, समझे होते, तो यह व्याख्या आप कदापि न लिखते। यहाँ 'अर्थ' से अभिप्राय है—"प्रयोजना परपर्याय-मनन्यथा साध्यं फलम् अर्थः"। और इसमें प्रायः चतुर्थी विभक्ति रहती है। आपके दिए हुए—

'राम ने तीर चलाया' 'वे गंगातीर मिले'। इत्यादि उदाहरण, ये अर्थ ज्ञान के कदापि नहीं हो सकते। 'अर्थ' ज्ञान का उदाहरण देखिए—

"भव-खेद छेदन के लिये क्यों स्थाणु को भजते नहीं"। (काव्य-कल्पद्रुम)

इसमें संसार के खेद का नाश करने रूप अर्थ (अर्थात् प्रयोजन) की सिद्धि भगवान् शिव से ही हो सकती है, न कि काठ के खंभे से। अतः यहाँ 'भव-खेद-छेदन' अनन्य साध्य है और उसका ज्ञान छेदन के लिये इस चतुर्थी विभक्ति द्वारा होता है।

फिर आपने रूढ़ि लक्षणा की परिभाषा की है—

"मुख्य अर्थ को बाध पै जग में अर्थ प्रसिद्ध।"

यह दोहार्ध 'काव्य-निर्णय' का है। इसकी आपने व्याख्या की है—"रूढ़ि लक्षणा प्रचलित मुहाविरों में होती है और इससे कोई ध्वनि नहीं निकलती।"

मुख्य अर्थ किसे कहते हैं? 'बाध' किस बाध का नाम है? उक्त व्याख्या में कुछ भी स्पष्टता नहीं की गई। हाँ, किसी विषय को स्पष्ट करना या न करना लेखक की इच्छा पर निर्भर है, इस पर किसी को एतराज़ करने का अधिकार नहीं। किंतु लालाजी की तो प्रतिज्ञा है सुबोध और सरल बनाने की। लालाजी के विद्यार्थियों के लिये यह सुबोध हो, पर अन्य पाठकों को तो दूसरे ग्रंथ की सहायता विना ऐसे पारिभाषिक शब्दों का अर्थ कदापि ज्ञात नहीं हो सकता। 'काव्य-कल्पद्रुम' में लक्षणा की परिभाषा और स्पष्टता इस प्रकार है—

"लाक्षणिक शब्द के अर्थ को बोध करानेवाली शक्ति को लक्षणा कहते हैं।"

"लाक्षणिक शब्द।"

"वाच्यार्थ से संबंध रखनेवाले किसी लक्ष्यार्थ को लखानेवाले शब्द को लाक्षणिक शब्द कहते हैं।"

"लक्ष्य-अर्थ।"

"लक्ष्यार्थ के लिये (१) मुख्य अर्थ का बाध, (२) मुख्य अर्थ का योग अर्थात् संबंध और रूढ़ि या प्रयोजन ये तीन कारण आवश्यक हैं। अर्थात् जैसे मुख्यार्थ-वाच्यार्थ, शब्द के ज्ञान के साथ ही उपस्थित हो जाता है, उस प्रकार लक्ष्यार्थ उपस्थित नहीं होता—यह तो उपर्युक्त कारणों से (मुख्यार्थ के बाध आदि से) ही होता है। इन कारणों में मुख्यार्थ का बाध और मुख्यार्थ का योग तो सर्वत्र ही आवश्यक है, पर रूढ़ि या प्रयोजन में किसी एक का ही होना आवश्यक है, जहाँ मुख्यार्थ का बाध हो अर्थात् जब मुख्यार्थ से वक्ता का अभिप्राय नहीं निकलता हो, तब उस अभिप्राय को—अभिप्रेतार्थ—को समझने के लिये रूढ़ि के कारण अथवा किसी ख़ास प्रयोजन से कोई दूसरा अर्थ लखा जाय, जिसका मुख्य अर्थ से संबंध हो, वहाँ उस दूसरे अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं।"

हम लालाजी से ही पूछते हैं 'मंजूषा' की अपेक्षा प्राचीन, इस ग्रंथ में विषय की स्पष्टता सरल और सुबोध है या 'मंजूषा' में?

फिर पेज ११ में आप लिखते हैं—"रूढ़ि लक्षणा तीन प्रकार की होती हैं—(१) रूढ़ि, (२) यौगिक, (३) योगरूढ़ि।"

इसी प्रकार १८ पेज में भी आपने लक्षणा के भेदों के चक्र में पड़कर रूढ़ि के ये तीन भेद लिख डाले हैं। साहित्य-संसार में बधाई है! रूढ़ि लक्षणा के अद्यापि 'यौगिक' और 'योगरूढ़ि' भेद किसी साहित्याचार्य को दृष्टिगत नहीं हुए थे, अब सौभाग्य-वश लालाजी की कृपा से इन दो भेदों का नवीन आविष्कार हुआ है। अब तक

तो न्याय और साहित्यशास्त्रों के सिद्धांत-ग्रंथों में अभिधा के ही 'यौगिक' और योगरूढ़ि शब्द-भेद माने गए हैं। न्यायशास्त्र के सुप्रसिद्ध ग्रंथ मुक्तावली में लिखा है—

'यत्रावयवार्थ एव बुध्यते तद् **यौगिकम्**।'

'यत्रावयवशक्तिनिरपेक्षेण समुदायशक्तिमात्रेण बुध्यते तद् **रूढम्**।'

'यत्र तु अवयवशक्तिविषये समुदायशक्तिरप्यस्ति तद् **योगरूढम्**।'

पंडितराज जगन्नाथ त्रिशूली अभिधा की स्पष्टता में लिखते हैं—

'सेयमभिधा........."एता एव त्रिधा रूढि-योग-योगरूढि शब्दैर्व्यपदिश्यते।" आद्याया डित्थादिरुदाहरणम्। द्वितीयायास्तु **पाचक** पाठकादि। तृतीयायाः **पङ्कजादि**।'

(रसगंगाधर प्रथम आनन)

फिर आप यौगिक के '**पालक**' **पाचक** और योगरूढ़ि के 'कुशल' **पङ्कज** उदाहरण दिखाते हैं—जोकि रसगंगाधर के उक्त अवतरणों में अभिधा के उदाहरण हैं। लाक्षणिक शब्द तो वही होता है, जिसके मुख्य अर्थ का बाध हो। **पङ्कज, पालक** आदि के मुख्य अर्थ का किस प्रकार बाध है? लालाजी ने अपने वक्तव्य में लिखा है—

"हमने विविध ग्रंथों से विविध प्रकार के उदाहरण संग्रह किये हैं"।

धन्य है! आपने बड़े अच्छे उदाहरण संग्रह किए। कृपया यह तो बताइए कि रूढ़ि **लक्षणा के ये** उदाहरण आपने किस ग्रंथ से संग्रह किए हैं? हमारा तो अनुमान है कि लक्षणा के ये विलक्षण लक्षण, परिभाषा और अलौकिक उदाहरण लालाजी द्वारा ही आविष्कृत हैं। हम लालाजी से ही सानुनय पूछते हैं कि न्यायशास्त्र के सुप्रसिद्ध ग्रंथ मुक्तावली और साहित्य के सर्वमान्य ग्रंथ रसगंगाधर की बात को ठीक समझें या इस नवीन आविष्कार को? हम लालाजी के इस आविष्कार को सहर्ष मानने को तैयार हैं, यदि उन्होंने किसी विशेष रहस्य से **पालक, पंकज** आदि शब्दों को लाक्षणिक माने हों। शायद हम उस रहस्य को न समझे हों। इसलिये लालाजी से विनीत प्रार्थना है कि कृपया वे इन शब्दों को जिस रहस्य द्वारा लाक्षणिक मानते हैं, वह रहस्य प्रकट कर दें, तो केवल हम जैसे क्षुद्रबुद्धि ही नहीं, किंतु साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान् भी आपके बड़े अनुगृहीत होंगे।

पेज ११ में आप उपादानलक्षणा की परिभाषा और उसके उदाहरण देते हैं—

"उपादान सो लक्षणा परगुण लीन्हें होय।"

"तब चले बाण कराल।"

यहाँ बाण स्वयं नहीं चलते, वीर लोग चलाते हैं, अतः चलनेवालों का गुण लिए हैं।"

"चलत रंग ब्रज गलिन में बाजत बीन सितार;
छाये तान तरंग सुख उड़त गुलाल अपार।"

"यहाँ रंग स्वयं नहीं चलता, बीन और सितार स्वयं नहीं बजते, गुलाल स्वयं नहीं उड़ता, चलानेवाले, बजानेवाले, उड़ानेवाले, की क्रिया से कार्य होते हैं।

उक्त दोहार्ध काव्यनिर्णय का है। उसमें 'पर-गुण' ही है। लालाजी 'परक्रिया' भी लिखते हैं। पहिली व्याख्या में भी चलानेवाले की क्रिया ही है, पर वहाँ 'गुण' लिखते हैं, अस्तु, उपादानलक्षणा की परिभाषा में 'परगुण' या 'परक्रिया' मात्र का उपयोग करने में अव्याप्ति दोष हो जाता है। 'उपादान' लक्षणा की 'परिभाषा' में 'परगुण' के स्थान पर 'पर अर्थ' होना चाहिए। उपादान लक्षणा की परिभाषा है—

'स्वसिद्धये पराक्षेपं' अर्थात्—

जहाँ अपने अर्थ की सिद्धि के लिये मुख्य अर्थ को न छोड़कर दूसरे अर्थ का आक्षेप किया जाय अर्थात् खींचकर लाया जाय वहाँ उपादानलक्षणा होती है"। (काव्य-कल्पद्रुम) यदि लालाजी अपने वक्तव्य में 'मंजूषा' का आधार केवल काव्यनिर्णय ही बतलाते, तो यह प्रसाद लालाजी के सिर न पड़ता। पर लालाजी तो अन्य उपलब्ध ग्रंथों की सहायता भी स्वीकार करते हैं। यदि 'काव्य-कल्पद्रुम' द्वारा ही समझ लेते, तो पाठकों को लालाजी के गतानुगतिक होकर पथ-भ्रष्ट न होना पड़ता। अस्तु—

पेज १२ में आप लक्षण-लक्षणा का उदाहरण देते हैं—

"लोचन सुख नित दीजियो दे दर्शन ब्रजराज"।

"विचारिये तो यहाँ लोचन सुख से सर्वांग सुख अभिप्रेत है या नहीं? यहाँ अंगांगीभाव है।"

हुआ करे, हम लालाजी से पूछते हैं '**लक्षणलक्षणा**' में अंगांगी भाव कब से होने लगा? हम नहीं समझते आपने इसे लक्षण-लक्षणा का उदाहरण क्या सोच समझ-

कर बता दिया ? यह लक्षण-लक्षणा का उदाहरण कदापि नहीं हो सकता। कम-से-कम यह तो समझना चाहिए था कि लक्षण लक्षणा किसे कहते हैं, और वह कहाँ होती है ? लक्षणलक्षणा है—"परार्थे स्वसमर्पणम्" अर्थात् जहाँ मुख्यार्थ का बाध होने पर दूसरे अर्थ के लिये स्वार्थ को—अपने मुख्य अर्थ के सर्वथा छोड़ दिया जाता है। आपके दिये हुए उदाहरण में मुख्यार्थ है—'दर्शन द्वारा नेत्रों को सुख देना'। दर्शन से नेत्रों को सुख अवश्य होता है। कहिए, इसमें मुख्यार्थ का कैसे बाध है ? लालाजी ! लक्षण लक्षणा तो वहीं होती है, जहाँ मुख्यार्थ संभव न हो अर्थात् मुख्यार्थ सिद्ध न हो सके। 'लोचन सुख' ऐसे स्थल पर लक्षण-लक्षणा का बताना कहाँ तक संगत है, यह आप ही समझ सकते हैं। हमारे-जैसों की मंद बुद्धि तो यहाँ काम नहीं कर सकती।

पेज १४ में शुद्धासारोपालक्षणा की व्याख्या में आप लिखते हैं—"किसी अन्य वस्तु पर अन्य वस्तु का आक्षेप किया जाय (समता-संबंध से नहीं)।" इसके कुछ उदाहरण देकर पेज १५ में इसी लक्षणा के विषय में आप लिखते हैं—"नोट—सम-अभेद-रूपकों में प्रायः यही लक्षणा बहुधा पाई जाती है।"

देखिए, कैसा पूर्वापर विरोध है। जिसमें आप समता-संबंध का निषेध करते हैं, उसी का होना आप सम-अभेद-रूपक में (अर्थात् औपम्य गर्भ-समता संबंधवाले अलंकार में) स्वीकार करते हैं। यदि ऐसा निरर्गल अनर्थ किसी साधारण व्यक्ति द्वारा हुआ होता, तो कोई आश्चर्य नहीं था। किंतु हार्दिक दुःख तो यह है कि लालाजी-जैसे लब्धप्रतिष्ठ और एम्० ए० के प्रोफ़ेसर-पद प्राप्त व्यक्ति ने ऐसा लिख डाला है। उन्हें उचित तो यह था कि ऐसे जटिल और अज्ञात विषय पर पुस्तक लिखने का दुःसाहस न करते, जिससे आपकी यह अनधिकार चेष्टा लोक-दृष्टि में हास्यास्पद न होती। लालाजी ने अवश्य ही अन्य ग्रंथकारों के परिश्रम पर हाथ साफ़ करके अपनी विषयापहरण-लीला को छिपाने की भरसक चेष्टा की है। किंतु खेद है कि इस चेष्टा से ही आप पथ-भ्रष्ट हुए हैं। काव्यकल्पद्रुम के "अभेद-रूपक में यही लक्षणा रहती है।" इस वाक्य के आधार पर ही शायद आपने अपनी 'मंजूषा' में "सम-अभेद-रूपकों में प्रायः यही लक्षणा पाई जाती है" यह वाक्य लिख दिया है। किंतु इस नक़लनवीसी छिपाने की चेष्टा का ही यह परिणाम है कि आप पथ-भ्रष्ट हो गए। बात यह है कि काव्यकल्पद्रुम में उक्त वाक्य गौणी सारोपा लक्षणा के प्रकरण में है, न कि शुद्धासारोपा के किंतु आपने चोरी छिपाने के लिये उक्त वाक्य यथास्थान न लिखकर अनभिज्ञता के कारण शुद्धासारोपा के प्रकरण में लिख दिया। समझ लीजिए कि गौणीसारोपा में समता-संबंध रहता है, न कि शुद्धासारोपा में। इसी से सम-अभेद-रूपक में गौणी सारोपालक्षणा रहती है। अस्तु। मंजूषा के द्वितीय संस्करण में इसका भी संस्करण कर दीजिए जिससे पाठकों को पथ-भ्रष्ट न होना पड़े।

फिर आपने शुद्धासारोपालक्षणा का उदाहरण लिखा है—"चिंता साँपिनि काहि न खाया।" और—

"संपति चकई भरत चक मुनि आयसु खेलवार।
तिहि निसि आश्रम पींजरा राखे भा भिनुसार॥"

इन उदाहरणों में शुद्धासारोपालक्षणा किस प्रकार है ? भरसक कोशिश करने पर भी हम नहीं समझ सके। यहाँ 'चिंता' से साँपिनि का और 'आश्रम' आदि से पिंजरे आदि का समता-संबंध है। अतएव हमारी समझ में तो यहाँ गौणीसारोपालक्षणा है, न कि शुद्धा सारोपा। और इसमें सम अभेद अलङ्कार भी है—जिस में गौणीसारोपालक्षणा ही हुआ करती है, न कि शुद्धा। शुद्धा तो वही कही जाती है, जहाँ समता-संबंध न हो।

पेज १६ में आप शुद्धासाध्यवसानालक्षणा का उदाहरण देते हैं—

"नाचत पापी सिखर चढ़ि गरजत घन गजराज।
पावस दिन क्यों बीति हैं बिन व्रज के सिरताज॥"

इसकी व्याख्या में लिखा है—"इसमें मयूर पर पापी का घन गरजन पर गज गर्जन का कृष्ण पर व्रज सिरताज का आरोप है, परंतु वर्ण्य विषय को छोड़कर केवल आरोप्य विषयी को ही मुख्यता दी गई है।"

हम लालाजी से जिज्ञासा-पूर्वक पूछते हैं, कि 'गरजन घन गजराज' को आप शुद्धा और साध्यवसाना का उदाहरण किस आधार पर बतलाते हैं ? 'साध्यवसाना' तो वहीं हो सकती है, जहाँ केवल आरोप्यमाण विषयी का ही कथन होता है। शुद्धासाध्यवसाना की परिभाषा की व्याख्या में पेज १५ में आप भी इस बात को कह चुके हैं कि "इसमें जिस पर

आरोप्य किया जाता है, उसका नाम नहीं लिया जाता"। यहाँ तो वर्ण्य (विषय)—घन और आरोप्यमाण (विषयी)—गजराज दोनों का ही शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है। अर्थात् जिस घन पर आरोप्य किया है, उसका नाम लिया गया है, अतः जहाँ विषय और विषयी दोनों का उक्त शब्द द्वारा कथन होता है, वहाँ तो सारोपालक्षणा हुआ करती है, न कि 'साध्यवसाना'। और न यहाँ शुद्धा ही है। क्योंकि 'घन' तथा 'गजराज' का यहाँ केवल समता-संबंध ही नहीं, किंतु 'गरजन' गुण भी कहा गया है, अतः यहाँ गौणी है, न कि शुद्धा। शुद्धा तो वहीं हो सकती है, जहाँ समता-संबंध न हो। लालाजी ! या तो अपनी ग़लती स्वीकार करिए, या इन आक्षेपों को निर्मूल सिद्ध करिए।

पेज १६ में आप व्यंजना का प्रकरण आरंभ करते ही लिखते हैं शाब्दी व्यंजना केवल अनेकार्थवाची शब्दों द्वारा ही निकलती है।"

प्रथम तो यह बतलाइए कि व्यंग्यार्थ निकलता है या व्यंजना निकलती है ? लालाजी ! व्यंग्यार्थ ही निकला करता है, व्यंजना तो स्वयं व्यंग्यार्थ निकालने का व्यापार है। अस्तु, क्यों लालाजी ! अनेकार्थवाची शब्दों द्वारा ही शब्द श्लेषअलंकार होता है न ? व्यंजना की उक्त परिभाषा मान लेने पर तो व्यंजना और शब्द-श्लेष में कुछ भी भेद नहीं रह जाता। आप ही कहिए ! आपकी इस परिभाषा की 'श्लेष' में व्याप्ति होती है या नहीं ? हम तो कहते हैं अवश्य ही इसमें 'अतिव्याप्ति' दोष है। श्लेष अलंकार से पृथकता दिखाने के लिये ही प्राचीनाचार्यों ने व्यंजना का लक्षण लिखा है—

"अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रणे।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥"

अतएव न तो आप यही समझे कि अनेकार्थवाची शब्दों द्वारा व्यंजना कब होती है और न आप यही समझे कि 'संयोग' आदि अभिधा शक्ति को रोकनेवाले—प्रतिबंध—क्या वस्तु है ? यह किस मर्ज़ की दवा है ? यदि आप कुछ भी समझे होते, तो न तो आप व्यंजना की यह परिभाषा ही लिखते और न काव्यनिर्णय के गतानुगतिक होकर अभिधा प्रकरण में इनका वर्णन ही करते, जहाँ इनके वर्णन की न तो कुछ आवश्यकता है और न इनकी कुछ उपयोगिता ही है, इनकी उपयोगिता तो व्यंजना के प्रकरण में ही प्रदर्शित होती है। अब विज्ञ पाठक स्वयं विचार सकते हैं कि लालाजी ने अपने अनभिज्ञात विषय पर पुस्तक लिखकर कैसा भयंकर कार्य करने का दुःसाहस किया है। और आश्चर्य तो यह है कि लालाजी एम्० ए० के विद्यार्थियों के प्रोफ़ेसर हैं, और उन्हीं के लिये इसमें सुबोध और सरल बनाने का उन्होंने उद्योग किया है।

अच्छा, पेज २१ में व्यंजना के 'काकुवैशिष्ट्य' का आप उदाहरण देते हैं—

"दग लखिहैं मधुचंद्रिका ? सुनिहैं कलधुनि कान ?
रहिहैं मेरे प्राणधन ? प्रीतम करो पयान ॥"

आप कह सकते हैं कि 'मंजूषा' में यह काव्यनिर्णय का अवतरण है, इसके हम ज़िम्मेवार नहीं। न सही, हम भी इसके आपको ज़िम्मेवार नहीं बनाते। और न हम काव्यनिर्णय के इस उदाहरण पर विचार करने ही बैठे हैं। हम केवल लालाजी से यही पूछना चाहते हैं कि इसमें आपने काकुव्यंग्य कहाँ और किस प्रकार माना है ? यदि आप समझा देंगे, तो बड़ी कृपा होगी। आपको तो कुछ विशेष परिश्रम भी न होगा, क्योंकि आप तो प्रतिदिन इससे भी कहीं अधिक जटिल बातें विद्यार्थियों को समझाते ही रहते हैं, हमें एक विद्यार्थी समझकर ही समझा दीजिए।

फिर पेज २१ में लिखते हैं—"वाक्य से" "अर्थात् वाक्य में आए हुए **किसी शब्द से** व्यंग्य जाना जाता है।" हम लालाजी से यह पूछना चाहते हैं कि आपने **'किसी शब्द से'** यह किस आधार पर लिखा है। जब **किसी शब्द से** व्यंग्य जाना जायगा, तब वह वाक्य द्वारा व्यङ्ग्य कैसे कहा जायगा ?। प्रथम आप यह तो समझ लेते कि 'वाक्य' किस पक्षी को कहते हैं—

'वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।'
(साहित्य-दर्पण)

अर्थात् योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति-युक्त पदों को वाक्य कहते हैं, न कि एक **किसी शब्द** या पद को। अतः 'वाक्य' की व्याख्या में आपने **'किसी शब्द से'** लिखकर बड़ी ग़लती की है। फिर आप काव्यनिर्णय के दोहे का रूपांतर करके इसका उदाहरण देते हैं—

"अबलौं ही **मोही** लगी लाल तिहारी दीठि।
जात भई अब अनत कत करत सापुही नीठि" ॥

"इसमें अनत जात भई शब्दों से यह व्यंग्य निकलता है कि 'नायक' ने दूसरी स्त्री पर प्रेम-दृष्टि डाली है।"

डालने दीजिए न, आपको क्या ?। जहाँ किसी प्राचीन कवि के पद्य का अर्थ न समझ में आवे, वहाँ पाठ-परिवर्तन कर देना और मनचाहा अर्थ लगा लेना, तो आपके लिये साधारण बात है। पर श्रीमानों को यह मालूम नहीं कि यहाँ पाठ-परिवर्तन कर देने से अर्थ का क्या अनर्थ हो गया है। काव्यनिर्णय की वेल-वेडियर प्रेस की प्रति में इस दोहे का पाठ इस प्रकार है—

"अब लौं ही मोहीं लगी लाल तिहारी दीठि।
जात भई अब अनत कत करत सामुहे नीठि॥"

इसका अर्थ है—हे लाल! आपकी दृष्टि अब तक तो मेरी ओर ही लगी हुई थी, अब वह कहीं अन्यत्र जा रही है, मेरे सम्मुख बड़ी कठिनता से होती है।

हमारे विचार में यही पाठ उचित है। जिस गाथा का भाव कविवर भिखारीदासजी ने इस दोहे में लिखा है, वह इस प्रकार है—

"तइआ मह गंडत्थल णिमिश्रं दिहिं ण णेसि अण्णत्तो।
एरिंह सचेश्र अहं तेश्र कवोला न सा दिट्ठि॥"

(काव्यप्रकाश)

और इसी का अनुवाद 'काव्यकल्पद्रुम' में इस प्रकार है—

"मम कपोल तजि अनत तव दृग न कियो कित गौन।
मैं हु वही रु कपोल वह अब तव वह न चितौन॥"

इसमें अपने प्रच्छन्न कामुक नायक के प्रति नायिका की रहस्य भरी उक्ति है। नायिका के पास एक सुंदरी बैठी हुई थी—जो नायक की प्रेमिका थी, और जिसपर वह अत्यंत अनुरक्त था। और उस (सुंदरी) के मुख का प्रतिबिंब नायिका की कपोल-स्थली पर गिर रहा था। नायक भी वहीं था और वह (अपनी नायिका के भय से उस सुंदरी की तरफ़ सम्मुख न देखकर) नायिका की उस कपोल-स्थली पर ही निश्चल और साभिलाष-दृष्टि से देख रहा था, जिस पर अपनी प्रेमिका का प्रतिबिंब पड़ रहा था। कुछ देर पीछे वह सुंदरी जब वहाँ से उठ गई और उसका प्रतिबिंब भी नायिका की कपोल-स्थली पर न रहा, तब नायक अन्यत्र देखने लगा। इसी रहस्य को नायिका ने अपने नायक को इस गाथा द्वारा सूचन किया है। इस गाथा या दोहे के सारे वाक्य द्वारा यह व्यंग्यार्थ सूचन होता है कि "मैं आपकी चालबाज़ियों को अच्छी तरह समझ रही हूँ। आपका प्रेम मुझ पर नहीं, किंतु उसी सुंदरी पर है, जो अभी मेरे समीप बैठी हुई थी। यह व्यंग्यार्थ यहाँ किसी शब्द से नहीं निकल सकता। आपने जो यह व्याख्या की है कि "इसमें 'अनत जात भई' शब्दों से यह व्यंग्य निकलता है कि 'नायक' ने दूसरी स्त्री पर दृष्टि डाली है।" ज्ञात होता है कि लालाजी ने न तो इस दोहे का वाच्यार्थ ही समझा है और न व्यंग्यार्थ ही।

बस, यह लेख यहीं समाप्त किया जाता है। उक्त विवेचना से लालाजी स्वयं समझ सकते हैं कि वे इस पुस्तक के लिखने में कहाँ तक कृतकार्य हुए हैं, अस्तु। 'मंजूषा' के विषय में अभी बहुत कुछ वक्तव्य शेष है, पर वह और लालाजी की मौलिकता की जो प्रतिध्वनि इस 'मंजूषा' में है, वह भी फिर कभी प्रदर्शित की जायगी। हमारा लालाजी से सादर अनुरोध है कि वे ऐसी अन-धिकार चेष्टाएँ न किया करें। हम लालाजी के विरुद्ध कुछ लिखना नहीं चाहते थे, किंतु मंजूषा के सगर्व वक्तव्य में यह देखकर कि यह पुस्तक लालाजी जिस विषय के प्रोफ़ेसर हैं, उस विषय की एम्० ए० कक्षा के छात्रों के लिये लिखी गई है, अतएव हमने 'मंजूषा' द्वारा होनेवाले भयंकर अनर्थ को रोकने के लिये इन पंक्तियों को लिखना आवश्यक समझा। एतदर्थ हम क्षमाप्रार्थी हैं। आशा है, श्रीयुत लालाजी महाकवि भारवि की—

'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।'

इस नैतिक उक्ति पर लक्ष्य देकर इन पंक्तियों के लेखक पर कुपित न होंगे। प्रत्युत हम तो लालाजी द्वारा धन्य-वाद के अभिलाषी हैं, वह इसलिये कि मंजूषा के असंख्य दोषों का—जो लालाजी की कीर्ति-कालिमा के प्रबल और समुज्ज्वल उदाहरण हैं, अनायास ही संशोधन हो जाने से वे मंजूषा के द्वितीय संस्करण में उपयुक्त लाभ उठा सकेंगे।

साहित्य-हितैषी

नवीन युग के श्रीगणेश

चित्तौरगढ़

(१)

धाक हिंदुश्राने की धसकि धरनी में गई ,
गारत सुदेश वेश त्यागिके महत्ता भो ;
प्रलय-पयोद-सी यवन साहनी की बाढ़ ,
बरसी बिपत्ति-वारि पेखि हिय लत्ता भो ।
ग्रासिबे को तरुनी, निखिल नर नासिबे को ,
कठिन कराल महाकाल सो चकत्ता भो ;
तू ही सूर-बंस के सिरोमनि सिसौदिया के ,
सुजस-मुकुंद को अखैबर को पत्ता भो ।

(२)

केते बार कुपति कठिन कूर साहिनी लै ,
बिपुल बिरोध सों बिनास बीज व्वै गए ;
तेरी पाँवरी पै रेलि-पेलि जुद्ध-फाग खेलि ,
केते बीर नाक कौं चरन-रज छ्वै गए ।
बीर ललनान के सपूत रजपूत केते ,
सोनित सों रावरी धरा की धूरि ध्वै गए ;
तेरे जस-भार सों धसकि धरनी यों उठी ,
फटिके फनीस के हजार फन ह्वै गए ।

(३)

कैधौं बीर-भूमि में पहार सों पर्‍यो है यह ,
सुजस-पराग-पुंज-पदुमिनि रानी को ;
कैधौं है समूह श्रीप्रताप को प्रताप पर्‍यो ,
मान भंजि समद मुहिम्म भुगतानी को ।
कैधौं पर्‍यो उलटि गुमान-गेरि हिंदुन को ,
कैधौं खरो खंभ एक करुन कहानी को ;
कैधौं बार कैयक अपार रजपूतन की ,
खोपरी को खाय पर्‍यो खप्पर भवानी को ।

"अनूप"

कौटिल्य की इंद्रजाल-विद्या

जय-प्राप्ति के लिये अपने ग्रंथ में कौटिल्य ने अनेक प्रकार के उपाय राजा को बताए हैं। पहले तो इसके लिये 'षाड्गुण्य' का उपयोग करना चाहिए। 'संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव' में से यान और विग्रह का उपयोग बहुत कम करना चाहिए, क्योंकि इनसे दोनों पक्षों का नुक़सान ही अधिक होता है। परंतु जब शांत उपायों से काम न चले, तो यान और विग्रह का प्रयोग करना अवश्यंभावी है। संग्राम में विजय पाने के लिये अनेक प्रकार के उपायों का अवलंबन करना पड़ता है। इनके लिये उसने इंद्रजाल-विद्या या कौटिल्य के शब्द में 'औपनिषदिक' का उपयोग करने के लिये भी कहा है। कौटिल्य ने कैसी-कैसी चमत्कार-पूर्ण बातों और उपायों का उल्लेख किया है, यह उसके ग्रंथ के १४वें अधिकरण से भली भाँति जाना जा सकता है। परंतु इसके सिवा इंद्रजाल-विद्या के कई कथन उसके ग्रंथ में स्थान-स्थान पर लिखे हुए हैं।

वैसे तो इंद्रजाल-विद्या की बातें 'अर्थशास्त्र' में स्थान-स्थान पर आई हैं, पर उनका सविस्तर वर्णन चौदहवें अधिकरण में है। वहीं पर कई ऐसे भी 'योग' या प्रयोग हैं कि जिनमें इंद्रजाल-विद्या का पूर्ण स्वरूप नहीं देख पड़ता। इसलिये हमने उनका वर्णन 'कौटिल्य का वस्तु-विज्ञान'-नामक लेख में करने का विचार किया है। कौटिलीय इंद्रजाल-विद्या के हमने तीन स्थूल भेद किए हैं। पहले भेद में वे सब प्रयोग आएँगे कि जिनमें ओषधि और मंत्र द्वारा निजी हानि से बचने के उपाय बताए हैं। दूसरे भेद में मंत्र और ओषधि के उन उपायों का वर्णन होगा कि जिनसे किसी को किसी प्रकार की हानि पहुँचाई जा सके। तीसरे भेद के अंतर्गत वे सब ओषधि और मंत्र के उपाय बताए जायँगे कि जिनका प्रयोग किसी वस्तु की सिद्धि के लिये बताया गया है।

घरों को आग से बचाने के लिये पहले अधिकरण के २०वें अध्याय में यह योग बताया गया है—"मनुष्य की हड्डी में बाँस के रगड़ने से उत्पन्न होनेवाली आग के

द्वारा, अंतःपुर का स्पर्श कराते हुए, तथा इस संबंध के अथर्ववेद के मंत्रों का उच्चारण करते हुए, बाईं ओर से तीन परिक्रमाएँ यदि अंतःपुर की कर दी जावें, तो फिर उसमें और कोई दूसरी आग असर नहीं करती (अर्थात् फिर अंतःपुर को कोई दूसरी आग नहीं जला सकती)। फिर ऐसे अंतःपुर में कोई दूसरी आग जल भी नहीं सकती। (यानी यहाँ यदि कोई दूसरी आग लाई जावे, तो वहाँ आते ही ठंडी पड़ जाती है)।" इसी के लिये एक और योग यह है—"हथियार से मारे हुए और जिसके शरीर में शूली आदि का प्रवेश किया गया हो, ऐसे पुरुष के बाईं ओर की पसली की हड्डियों में विचित्र वर्ण के बाँस से निर्मथन करके निकाली हुई अग्नि, अथवा स्त्री या पुरुष की हड्डियों में मनुष्य की पसली से निर्मथन करके पैदा की हुई अग्नि जहाँ तीन बार बाईं ओर को घुमा दी जाती है, वहाँ पर दूसरी अग्नि का प्रभाव नहीं हो सकता।" चौथे अधिकरण के तीसरे अध्याय में एक स्थान पर अतिवृष्टि को शांत करने के लिये अथर्ववेद के जाननेवालों के द्वारा जप-होमादि कराने के लिये बताया गया है। वहीं पर संक्रामक रोगों से बचने के लिये जो उपाय बताया गया है, उसका वर्णन सुनिए—"गंगा आदि तीर्थों में स्नान, समुद्र की पूजा, श्मशान में गौओं का दोहन, चावल और सत्तू से बने हुए कबंध का श्मशान में दाह, और किसी स्थान पर देव की पूजा करके रात्रि जागरण करवावे।" पशुओं में महामारी फैलने पर शांतिकर्म करावे तथा उनके देवताओं की पूजा करवावे। "सर्प का भय होने पर मंत्र और ओषधियों के द्वारा विष वैद्य उनका प्रतीकार करें।... अथवा अथर्ववेद को जाननेवाले पुरुष सर्पों को अभिचार-क्रियाओं से मारें।" "राक्षसों का भय होने पर आभिचारिक तथा मायायोग को जाननेवाले पुरुष राक्षसों के नाशक कर्मों का अनुष्ठान करें। और कृष्ण चतुर्दशी, अष्टमी आदि पर्व तिथियों में वेदी, छाता, कुछ खाने का सामान, हाथ में छोटी झंडी तथा भेंट के लिये बकरा लेकर श्मशान-भूमि में राक्षसों की पूजा करवावें।"

अब हम दूसरे वर्गभेद का वर्णन करेंगे। शत्रु को नष्ट करने के लिये इस ग्रंथ में जो सैकड़ों उपाय बताए हैं, उनमें एक यह भी है कि इस कार्य की सिद्धि के लिये अथर्ववेद में बतलाए हुए मंत्रों के द्वारा यज्ञ करे। आग के द्वारा शत्रु का विनाश करना हो, तो ऐसी आग का प्रयोग करना चाहिए कि जो कभी न बुझे। इसके लिये यह योग लिखा है—"बिजली से जले हुए ज्वाला-रहित अंगारे की अग्नि को, बिजली से ही जली हुई लकड़ियों के द्वारा खूब सुलगावे, और कृत्तिका तथा भरणी नक्षत्र में, रौद्र कर्म के द्वारा (अर्थात् रुद्र देवता को लक्ष्य करके विशेष कर्म के द्वारा) उस अग्नि में हवन किया जावे। इस प्रकार बनाई हुई आग का प्रतीकार नहीं हो सकता।" समुद्र झाग, तेल से युक्त होने पर, पानी में तैरते हुए जलता रहता है। इसी प्रकार, बंदर की हड्डियों में विचित्र वर्ण के बाँस से निर्मथन करके उत्पन्न की हुई अग्नि जल से शान्त नहीं होती, प्रत्युत और भी जलती है। शत्रु का विवेक नष्ट करना हो, तो इस उपाय का प्रयोग कीजिए—"कुम्हार के यहाँ से आग लाकर, पृथक् ही (यानी आगे बताई हुई आगों से पृथक् रखकर ही) शहद से उसमें हवन करे; इसी प्रकार शराब बेचनेवाले के यहाँ से आग लाकर उसमें शराब से हवन करे; लुहार के घर से आग लाकर उसमें भारगी (भारंगी नामक ओषधि) तथा घृत से हवन करे; पतिव्रता स्त्री के पास से लाई हुई अग्नि को फूलों की माला से हवन करे; व्यभिचारिणी स्त्री के पास से लाई हुई अग्नि में सरसों से हवन करे; सूतिका-गृह से लाई हुई अग्नि में दही से हवन करे; अग्निहोत्री के पास से लाई अग्नि में चाँवलों से हवन करे; चंडाल के यहाँ से लाई हुई अग्नि में मांस से हवन करे; चिता की अग्नि में मनुष्य से हवन करे; फिर इन सब अग्नियों को इकट्ठा करके इनमें बकरे की चर्बी, मनुष्य और ध्रुव (सालवन की लकड़ी या बड़ की लकड़ी?) से हवन करे। तथा अमलतास की लकड़ियों से—

"अदिते नमस्ते। अनुमते नमस्ते। सरस्वति नमस्ते। सवितर्नमस्ते। अग्नये स्वाहा। सोमाय स्वाहा। भूः स्वाहा। भुवः स्वाहा।"

यह मंत्र कहते हुए हवन करे। इस अग्नि का प्रतीकार नहीं हो सकता, और उसे देखने से मनुष्य मूढ़ हो जाता है।" इसका उपयोग शत्रु को विवेक-हीन बनाने के काम में हो सकता है।

अब निद्रायोग के नमूने देखिए। "चार रात्रि पर्यंत उपवास रखकर कोई पुरुष कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को विस्तृत खुले श्मशान के मैदान में बलि देकर—

बलिं वैरोचनं वन्दे शतमायं च शम्बरम् ।
निकुम्भं नरकं कुम्भं तन्तुकच्छं महासुरम् ॥
अर्मालवं प्रमीलं च मण्डोकूपं घटोद्बलम् ।
कृष्णकंसोपचारं च पौलोमीं च यशस्विनीम् ॥
अभिमन्त्रस्य गृह्णामि सिद्धार्थं शवसारिकाम् ।
जयतु जयति च नमः शककभूतेभ्यः स्वाहा ।"
सुखं स्वपन्तु शुनकाये च ग्रामे कुतूहलाः ॥
सुखं स्वपन्तु सिद्धार्था यमर्थं मार्गयामहे ।
यावदस्तमयादुदयो यावदर्थं फलं मम ॥ इति स्वाहा ॥

इस मंत्र को कहते हुए एक मरी हुई मैना को लेकर छोटे से कपड़े में उसकी पोटली बाँध लेवे । उसके बीच में सेही का एक काँटा बाँधकर जहाँ कहीं उपर्युक्त मंत्र को कहते हुए उसे गाड़ दें, वहाँ पर सबको निद्रा आ जाती है ।"

"तीन रात्रि पर्यंत उपवास करके पुष्य नक्षत्र में कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को किसी चाण्डाली के हाथ से चूहे का एक टुकड़ा ख़रीद के, उसको उड़दों के साथ एक छोटी सी पिटारी में रखकर खुले विस्तृत श्मशान में गढ़ा खोदकर उसे गाड़ दे ; दूसरी चतुर्दशी में वहाँ से इसे उखाड़कर किसी कुमारी से इसको पिसवावे और इसकी गोली बनवावे ; तदनंतर एक गोली—

बलिं वैरोचनं वन्दे शतमायं च शम्बरम् ।
भण्डीरपाकं नरकं निकुम्भं कुम्भमेव च ॥
देवलं नारदं वन्दे वन्दे सावर्णिगालविम् ।
एतेषामनुयोगेन कृतं ते स्वापनं महत् ॥
यथा स्वपन्त्यजगराः स्वपन्त्यपि च मूखलाः ।
तथा स्वपन्तु पुरुषा ये च ग्रामे कुतूहलाः ॥
भण्डकानां सहस्रेण रथनेमिशतेन च ।
इमं गृहं प्रवेदयामि तूष्णीमासन्तु भाण्डकाः॥
नमस्कृत्वा च मनवे बध्वा शुनकफेलकाः ।
ये देवा देवलोकेषु मानुषेषु च ब्राह्मणाः ॥
अध्ययनपारगाः सिद्धा ये च कैलासतापसाः ।
एतेभ्यः सर्वसिद्धेभ्यः कृतन्ते स्वापनं महत् ॥
अतिगच्छति च मय्यपगच्छन्तु च संहताः ।
अलिते पलिते मनवे स्वाहा ॥

मंत्रों से अभिमंत्रित करके जहाँ पर उपर्युक्त मंत्र को पढ़ते हुए एक गोली को फेंक दे, वहाँ सबको निद्रा आ जाती है ।"

पूर्वोक्त प्रकार के अनुसार ही चाण्डाली के हाथ से तीन जगह से काली और तीन जगह से सफ़ेद सेही के काँटे ख़रीदे और उसे पूर्ववत् ही खुले विस्तृत श्मशान के मैदान में गढ़ा खोदकर गाड़ दे ; उससे अगली की चतुर्दशी में उसे उखाड़कर श्मशान की राख के साथ जहाँ उसको उपर्युक्त मंत्र-पूर्वक फेंक दे, वहीं सबको निद्रा आ जाती है ।"

"पूर्ववत् ही तीन जगह से सफ़ेद सेही के काँटे को कोई पुरुष श्मशान-भूमि में गाड़ दे ; सात रात्रि पर्यंत उपवास करके वह कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को खैर आदि वृक्षों की समिधाओं से—

सुवर्णपुष्पीं ब्रह्माणीं ब्रह्माणं च कुशध्वजम् ।
सर्वांश्च देवता वन्दे वन्दे सर्वांश्च तापसान् ॥
वशं मे ब्राह्मणा यान्तु भूमिपालाश्च क्षत्रियाः ।
वशं वैश्याश्च शूद्राश्च वशतां यान्तु मे सदा ॥
स्वाहा अमिले किमिले वयुजारे प्रयोगे फके वयुश्वे विहाले दन्त कटके स्वाहा ।
सुखं स्वपन्तु शुनका ये च ग्रामे कुतूहलाः ।
श्वाविधः शल्यकं चैतत्त्रिश्वेतं ब्रह्मनिर्मितम् ॥
प्रसुप्ताः सर्वसिद्धा हि एतत्ते स्वापनं कृतम् ।
यावद्ग्रामस्य सीमान्तः सूर्यस्योद्गमनादिति ॥ स्वाहा ॥

मंत्र को कहते हुए फेंक देता है, वहीं वह सबको सुला देता है ।"

सुलाने पर द्वार खोलने की आवश्यकता हो, तो वह भी करते आना चाहिए । इसका योग यह है । पुष्य-नक्षत्र में तीन रात्रिपर्यंत उपवास करके बहुत-सी कंकड़ियों को लेकर उनके ऊपर अग्नि में शहद और घी से हवन करे, तदनंतर गंध-मालाओं से उनकी पूजा करके एक गढ़ा खोदकर उसमें उन्हें गाड़ दे । जब दूसरी बार पुष्य-नक्षत्र का योग हो, तो उन्हें उखाड़कर उनमें से एक कंकड़ी को

उपैमि शरणं चाग्निं देवतानि दिशो दश । अपयान्तु च सर्वाणि वशतां यान्तु मे सदा ॥ स्वाहा ॥

मंत्र से अभिमंत्रित करके किवाड़ पर मारे । उस आघात से किवाड़ में चार कंकड़ियों के बराबर छेद हो जायगा । इसी तरह संपूर्ण किवाड़ को छेदकर उसे खोल सकते हैं ।"

शत्रु के धनुष की डोरी तोड़ना हो, इस योग का व्यवहार करना चाहिए । "तीन रात उपवास करके कोई पुरुष पुष्य नक्षत्र में हथियार से मारे हुए या शूलीप्रोत

(जिसके शरीर में शूली का प्रवेश किया गया हो, ऐसे) पुरुष की खोपड़ी में मिट्टी भरकर उसमें थोर या अरहर बो दे और उसको जल से सींचता रहे। जब वह अंकुरित हो जाय, तो पुष्य नक्षत्र में उसे उखाड़कर उसकी रस्सी बटवावे। उस रस्सी से डोरी-सहित धनुषों का और अन्य यंत्रों का भी सामने से छेदन कर सकता है। तथा धनुष् की डोरी का भी छेदन कर सकता है।"

शत्रु को कष्ट पहुँचाने के लिये और कुछ उपाय इंद्र-जाल-विद्या के ये हैं। "जल के साँप की केंचुली को किसी स्त्री या पुरुष की चिता के ऊपर की मिट्टी से भर देवे, यह योग नासिका और मुख का निरोध करनेवाला होता है। इसी तरह सूअर की बस्ती में चिता के ऊपर की मिट्टी भरकर उसे किसी बंदर की नाड़ी में बाँध दिया जाय; यह योग मल को रोकनेवाला होता है। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को हथियार से मारी हुई कपिला गाय के पित्त से अमलतास की लकड़ी से बनी हुई शत्रु की प्रतिमा को आँजे; इस योग से शत्रु अंधा हो जाता है।" "चार रात्रि पर्यंत उपवास करके कोई पुरुष कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को विधि-पूर्वक बलि देकर शूल-प्रोत पुरुष की हड्डी से बहुत-सी कीलें बनवावे; इनमें से एक कील जिसके पायख़ाने या पेशाब में गाड़ दी जाय, उसी का पायख़ाना बंद हो जाता है। यदि किसी के पैर या आसन में गाड़ दी जाय, तो वह पुरुष सूख-सूखकर मर जाता है। जिसकी दूकान या खेत या घर में गाड़ दी जाय, उसकी आजीविका नष्ट हो जाती है।"

शत्रु के सर्वनाश के लिये यह योग है। "दक्षिण की ओर होनेवाला पुनर्नवा, काकमधु, नीम, बंदर के बाल और मनुष्य की हड्डी को मृतक मनुष्य के कपड़े से बाँध कर जिस घर में गाड़ दिया जाय, अथवा जिसको पीस कर पिलाया जाय, वह और उसकी संतति, पत्नी और धन कठिनाई से एक पक्ष तक बच सकते हैं।" "दक्षिण की ओर होनेवाला पुनर्नवा, काकमधु, नीम, धमासा, और मनुष्य की हड्डी को जिसके स्थान पर, घर में, सेना, गाँव या नगर के दरवाज़े पर गाड़ दिया जाय, वहाँ का निवासी पुरुष अपने स्त्री, पुत्र और धन-समेत डेढ़ महीने के भीतर नष्ट हो जाता है।" "बकरा, बंदर, बिलाव, नेवला, ब्राह्मण, चाण्डाल, कौआ और उल्लू के बालों को इकट्ठा करे, फिर जिस पुरुष को मारना हो, उसकी विष्ठा को इन सब बालों के साथ पीस लिया जाय; उस पिसी हुई चीज़ को स्पर्श करते ही वह पुरुष तत्काल मर जाता है।"

एक 'अपुरुषकारक' योग भी सुन लीजिए। "मुर्दे पर डाली हुई माला, सुराबीज और नेवले के बाल तथा बिच्छू, भौंरा और साँप की खाल ले; इन सब चीज़ों को जिसके स्थान पर गाड़ दिया जाय, वह तत्काल अपुरुष हो जाता है, और उनके वहाँ से हटाने तक वह ऐसा बना रहता है।"

ऐसे-ऐसे उपाय कौटिल्य ने शत्रु को हानि पहुँचाने के लिये बताए हैं।

अब तीसरे भेद का वर्णन हम करेंगे। उस समय भी वशीकरण-विद्या का प्रयोग होता था, ऐसा "अर्थशास्त्र" से स्पष्ट सिद्ध होता है। 'जिसको यंत्रों के द्वारा, औष-धियों के द्वारा या श्मशान में किये जानेवाले तान्त्रिक उपायों के द्वारा, वशीकरण करनेवाला समझें, उससे सभी यह कहें कि मैं अमुक पुरुष की स्त्री, पुत्र-वधू या लड़की को चाहता हूँ, इसलिये ऐसा उपाय करो कि जिससे वह भी मुझे चाहने लगे। लो यह इतना धन ले लो।' यदि वह लोभ में आकर वैसा काम करने के लिये तैयार हो जाय, तो उसे वशीकरणकर्ता समझकर प्रवासित कर दिया जाय। यही नियम उन पुरुषों के लिये भी समझना चाहिए, जो भूत, प्रेत, पिशाच आदि को बुलाकर (प्रजा को) कष्ट देते हैं, और तान्त्रिक मंत्र-प्रयोगों के द्वारा अभिचार कर्म करते हैं।

विना थकावट के बहुत दूर तक चलना हो तो उसके लिये ये उपाय कौटिल्य ने बताए हैं। (१) "केंकड़े के अंडे और मेंढक तथा खारकीट की चर्बी से ख़ूब अच्छी तरह सूकर गर्भ को बढ़ाकर, कंक (एक पक्षी) और गिद्ध की पसलियों तथा कमल के जल से पीसकर चौपायों या दुपायों के पैरों में उसका लेपकर दिया जावे; और उल्लू तथा गिद्ध की चर्बी से ऊँट के चमड़े की बनी हुई जूतियों को चुपड़ कर तथा बड़ के पत्ते से ढककर उन जूतियों को पहने और पैरों में उपर्युक्त लेप करे, तो कोई पुरुष पचास योजन तक विना थकावट के चला जा सकता है।" (२) "बाज, कंक, कौआ, गिद्ध, हंस, कुंज, वीचिरल्ल एक प्राणी की चर्बी और वीर्य को मिलाकर पूर्ववत् पैरों में लेप करे तथा जूतियों में चुपड़ दे, तो कोई पुरुष विना थकावट के सौ योजन तक चला जा सकता है।"

(३) सिंह, बघेरा, गेंडा, कौआ और उल्लू की चर्बी और वीर्य, अथवा सब ही वर्गों के गिरे हुए गर्भों को मिट्टी के किसी पात्र में अभिषव करके अथवा मरे हुए छोटे बच्चों को श्मशान-भूमि में ही अभिषव करके उनसे उत्पन्न हुआ मेद पैर में लेप करे, तो कोई पुरुष विना थकावट के सौ योजन तक चला जा सकता है।"

अब हम रात को अंधकार में विना प्रयास के देखने के उपाय दिए देते हैं। (१) "बिलाव, ऊँट, भेड़िया, सूअर, सेही, बगली, नप्ता (एक पक्षी), कौआ और उल्लू, अथवा रात्रि में विचरण करनेवाले अन्य प्राणियों में से एक, दो या बहुतों की दाईं-बाईं आँखों को लेकर उनका पृथक्-पृथक् दो जगह चूर्ण बना ले ; तदनंतर बाईं आँख के चूर्ण से दाहनी आँख को आँजे, और दाई आँख के चूर्ण से बाईं आँख को आँजे, तो रात में अंधकार के समय भी पुरुष प्रत्येक वस्तु को देख सकता है।" (२) "एक बदल (बड़हल), सूअर की आँख, जुगनू और काला शारिवा (एक ओषधि) को मिलाकर आँख में लगाने से पुरुष रात को भी रूपों को अच्छी तरह देख सकता है।" (३) "तीन रात्रि पर्यंत उपवास करके कोई पुरुष पुष्य-नक्षत्र में हथियार से मारे हुए अथवा शूलप्रोत पुरुष के सिर की हड्डी में मिट्टी भर के उसमें जौ बोकर उन्हें भेड़ के दूध से सींचे। तदनंतर उन उपजे हुए जौओं की माला को गले में बाँधकर छाया और रूप से रहित होकर विचरण करता है (यानी और कोई पुरुष उसे नहीं देख सकते, पर वह सबको देख सकता है)।" (४) "अथवा तीन रात उपवास करके पुष्य-नक्षत्र में कुत्ता, बिलाव, उल्लू और बागुली (संभवतः एक प्रकार का पक्षी) की दाईं-बाईं आँखों को पृथक्-पृथक् दो जगह चूर्ण करे। तदनंतर दाईं आँख के चूर्ण को बाईं आँख में और बाईं आँख के चूर्ण को दाईं आँख में लगाए, तो वह छाया-रहित और रूप-रहित होकर विचरण कर सकता है।" (५) "अथवा तीन रात उपवास करके कोई पुरुष पुष्य-नक्षत्र में पुरुष को मारने के बाण की सुरमा डालने की एक सलाई और सुरमादानी बनावे ; तदनंतर कुत्ता, बिलाव, उल्लू और बागुली में से किसी एक की दाईं-बाईं आँखों का पृथक्-पृथक् चूर्ण बनाकर उसी सलाई और सुरमादानी से उसे आँख में आँजे, तो वह पुरुष छाया और रूप से रहित होकर विचरण कर सकता है।" (६) "अथवा तीन रात्रि पर्यंत उपवास करके कोई पुरुष पुष्य-नक्षत्र में फ़ौलाद की एक सुरमादानी और सलाई बनावे ; तदनंतर रात में घूमनेवाले जानवरों में से किसी एक की खोपड़ी को अंजन से भरकर उसे मरी हुई स्त्री की योनि में प्रविष्ट करके जला देवे ; बाद में पुष्य-नक्षत्र में उस अंजन को वहाँ से निकाले और लोहे की उस सुरमादानी में रख दे ; उस अंजन को उसी पूर्वोक्त सलाई से आँखों में आँजने से पुरुष छाया और रूप से रहित होकर सर्वत्र विचरण कर सकता है।" (७) "अथवा जहाँ पर अग्निहोत्री ब्राह्मण को जला हुआ या जलता हुआ देखे, वहाँ पर तीन रात्रि पर्यंत उपवास करके कोई पुरुष स्वयं मरे हुए किसी मनुष्य के वस्त्र से एक थैला बनाकर उसमें उसी मनुष्य की राख भर ले और उस पोटली को अपने शरीर में किसी जगह बाँध ले, तो वह पुरुष छाया और रूप से रहित होकर सर्वत्र विचरण कर सकता है।" पहले दो उपाय कदाचित् "भैषज्ययोग" में आ सकते हैं, पर अंतिम पाँच इंद्रजाल-विद्या के ही हैं।

अब पशु आदि को अंतर्धान करने के एक-दो योग देख लीजिए। "ब्राह्मण के प्रेत-कार्य अर्थात् श्राद्ध में जो गाय मारी जाती है, उसकी हड्डी और मज्जा के चूर्ण से साँप की केंचली को भर दिया जाय ; यह पशुओं के अंतर्धान करने का योग है। सर्प से काटे हुए किसी जानवर की राख से मोर पंख की बनाई थैली को भर दिया जाय ; यह योग सभी जंगली पशुओं के अंतर्धान के लिये है।"

पक्षियों के भी अंतर्धान का योग है। "उल्लू और बागुली की पूँछ, विष्ठा, जानु और हड्डियों के चूर्ण से साँप की केंचुली को भर दिया जाय ; यह योग सभी पक्षियों के अंतर्धान के लिये उपयोगी है।"

अब आपके सामने कौटिल्य का ऐसा योग रखते हैं, जिसमें दो बैलों से युक्त एक बैल-गाड़ी के उपस्थित करने की बात बताई है। "चार रात्रि पर्यंत उपवास करके कोई पुरुष कृष्णपक्ष की चतुर्दशी में टूटे हुए पुरुष की हड्डी से एक बैल-मूर्ति बनवावे ; उस मूर्ति को

सदारविरविः भगण्डपरिधाति सर्वं भणाति ,

चाण्डालीकुम्भी तुम्भकटुक सारीघः सनारीभगोऽसि स्वाहा ।

मंत्र से अभिमंत्रित करे ; ऐसा करने से दो बैलों से युक्त एक बैल-गाड़ी वहाँ उपस्थित हो जाती है। तदनंतर उसके द्वारा पुरुष परम आकाश में घूम सकता है।"

मक्खन चाहिएँ तो इस योग को कीजिए। "मरी हुई गाय के थनों को काटकर रात को तमाशा होने के समय प्रदीप की आग पर जलावे ; उन भुने हुए थनों को बैल के पेशाब के साथ पीसकर एक नए घड़े के भीतर चारों ओर लीप दें ; उस घड़े को बाईं ओर से परिक्रमा करके जहाँ रख दिया जाय, वहाँ पर ग्रामीण लोगों का सब मक्खन (उस घड़े में) आ जाता है।"

वृक्षों के फल बुलाने के लिये भी एक योग है। "पुष्य नक्षत्र में कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को कामासक्त कुतिया की योनि में लोहे की बनी हुई मुद्रिका लगा दे। जब वह अपने आप वहाँ से निकलकर गिर पड़े, तो उसे ले ले। उसके द्वारा वृक्षों के फल बुलाने पर आ जाते हैं।"

कौटिल्य की इंद्रजाल-विद्या के कुछ नमूने हमने यहाँ दिए हैं। कुछ लोगों का ऐसा मत है कि आर्यों में इस विद्या का प्रचार यहाँ के अनार्यों से हुआ। परंतु "कौटिलीय अर्थशास्त्र" को पढ़कर हमारा ऐसा मत हुआ है कि आर्यों में इस विद्या का प्रयोग बहुत पहले से होता था। इसकी थोड़ी बहुत बातें भले ही आर्यों ने अनार्यों से सीखी हों, पर उसकी बहुत-सी बातें उनमें पहले से ही थीं। इन्हीं के संग्रह का रूप अथर्ववेद हो गया। पीछे से परिपूर्ण होने के कारण तथा ऐंद्रजालिक होने के कारण उसे बहुत समय तक प्रथम तीन वेदों का मान न मिला। तथापि कौटिल्य के बहुत पहले वह संपूर्ण हो चुका था और ऐंद्रजालिक विद्या की दृष्टि से उसका भरपूर महत्त्व था। अथर्ववेद के जाननेवालों का भरपूर उपयोग तथा सम्मान करने के लिये कौटिल्य ने अपने ग्रंथों में स्थान-स्थान पर कहा है। इस लेख में हमने जो उद्धरण दिए हैं, उन्हीं से हमारा कथन सिद्ध हो जाता है, इसलिये अन्य उद्धरण देने की आवश्यकता नहीं है। नवें अधिकरण के अंत में उसने साधारण तौर से कह दिया है—

अवृष्टिरतिवृष्टिर्वाऽसृष्टिर्वा यासुरी भवेत् ।
तस्यामाथर्वणं कर्म सिद्धारम्भाश्च सिद्धयः।

अवृष्टि, अतिवृष्टि, अथवा आसुरी सृष्टि (चूहे आदि जंतुओं के अधिक होने) से आपत्ति उत्पन्न हो, तो उनके प्रतीकार के लिये अथर्ववेद में प्रतिपादित शांति कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। तथा सिद्ध पुरुषों के प्रारंभ किए अन्य शांति कर्मों को (इन आपत्तियों के प्रतीकार करने के लिये) सिद्धिदायक (समझना चाहिए)।

हमारा यह भी मत है कि कौटिल्य को इस विद्या का ज्ञान केवल पुस्तकों से, विशेषकर अथर्ववेद से, हुआ था— उसने उसके प्रयोग न किए थे। अन्यथा, उस-जैसा विद्वान् ऐसी बातें न लिखता कि जिनका प्रयोग असंभव या अव्यवहार्य हो। हाँ, यह बात स्पष्ट है कि लोग उस समय इस विद्या के महत्त्व को जीवन के उपयोग के लिये मानते थे। इसी कारण उसने अपने ग्रंथ में शत्रु राजा को नष्ट करने के उपायों में इसका भी यथेष्ट विवेचन किया है।

गोपालदामोदर तामसकर

दो सखियाँ

(गतांक से आगे)

(१०)

काशी
४-१-२६

बहन, तुम्हारा पत्र पढ़कर मुझे ऐसा मालूम हुआ कोई उपन्यास पढ़कर उठी हूँ। अगर तुम उपन्यास लिखो, तो मुझे विश्वास है उसकी धूम मच जाय। तुम आप उसकी नायिका बन जाना तुम ऐसी ऐसी बातें कहाँ सीख गई मुझे तो यही आश्चर्य है। उस बंगाली के साथ तुम अकेली कैसे बैठी बातें करती रहीं, मेरी तो समझ में नहीं आता। मैं तो कभी न कर सकती। तुम विनोद को जलाना चाहती हो, उनके चित्त को अशांत करना चाहती हो। हाय ! उस ग़रीब के साथ तुम कितना घोर, कितना भयंकर अन्याय कर रही हो। तुम यह क्यों समझती हो कि विनोद तुम्हारी उपेक्षा कर रहे हैं, अपने विचारों में इतने मग्न हैं कि उन्हें तुम्हारी परवा ही नहीं। यह क्यों नहीं समझतीं कि उन्हें कोई मानसिक चिंता सताया करती है, उन्हें कोई ऐसी फ़िक्र घेरे हुए है कि जीवन के साधारण व्यापारों में उनकी रुचि ही नहीं रही। संभव है, वह कोई दार्शनिक तत्त्व खोज रहे हों, कोई थीसिस लिख रहे हों, किसी पुस्तक की रचना कर रहे हों। कौन कह सकता है ? तुम जैसी

रूपवती स्त्री पाकर यदि कोई मनुष्य चिंतित रहे, तो समझ लो उसके दिल पर कोई बड़ा बोझ है। उनको तुम्हारी सहानुभूति की ज़रूरत है, तुम उनका बोझ हलका कर सकती हो। लेकिन तुम उलटे उन्हीं को दोष देती हो। मेरी समझ में नहीं आता कि तुम एक दिन क्यों विनोद से दिल खोलकर बातें नहीं कर लेतीं। संदेह को जितनी जल्द हो सके दिल से निकाल डालना चाहिए। संदेह वह चोट है, जिसका उपचार जल्द न हो, तो नासूर पड़ जाता है और फिर अच्छा नहीं होता। क्यों दो-चार दिनों के लिये यहाँ नहीं चली आतीं? तुम शायद कहो तू ही क्यों नहीं चली आती। लेकिन मैं स्वतंत्र नहीं हूँ, बिना सास-ससुर से पूछे कोई काम नहीं कर सकती। तुम्हें तो कोई बंधन नहीं है।

बहन, आजकल मेरा जीवन हर्ष और शोक का विचित्र मिश्रण हो रहा है। अकेली होती हूँ तो रोती हूँ, आनंद आ जाते हैं तो हँसती हूँ। जी चाहता है वह हर दम मेरे सामने बैठे रहते। लेकिन रात के बारह बजे के पहले उनके दर्शन नहीं होते। एक दिन दोपहर को आ गए थे, उस पर सासजी ने ऐसा डाँटा कि कोई बच्चे को क्या डाँटेगा। मुझे ऐसा भय हो रहा है कि सासजी को मुझसे चिढ़ है। बहन, मैं उन्हें भरसक प्रसन्न रखने की चेष्टा करती हूँ। जो काम कभी न किए थे, वह उनके लिये करती हूँ, उनके स्नान के लिये पानी गर्म करती हूँ, उनकी पूजा के लिये चौकी बिछाती हूँ। वह स्नान कर लेती हैं, तो उनकी धोती छाँटती हूँ, वह लेटती हैं, तो उनके पैर दबाती हूँ, जब वह सो जाती हैं, तो उन्हें पंखा झलती हूँ। वह मेरी माता हैं, उन्हीं के गर्भ से वह रत्न उत्पन्न हुआ है, जो मेरा प्राणाधार है। मैं उनकी कुछ सेवा कर सकूँ, इससे बढ़कर मेरे लिये सौभाग्य की और क्या बात होगी। मैं केवल इतना ही चाहती हूँ कि वह मुझसे हँस कर बोलें, मगर न जाने क्यों वह बात-बात पर मुझे कोसने दिया करती हैं। मैं जानती हूँ दोष मेरा ही है, हाँ, मुझे मालूम नहीं वह क्या है। अगर मेरा यही अपराध है कि मैं अपनी दोनों ननदों से रूपवती क्यों हूँ, पढ़ी-लिखी क्यों हूँ, आनंद क्यों मुझे इतना चाहते हैं, तो बहन यह मेरे बस की बात नहीं। मेरे प्रति सासजी का यह व्यवहार देखकर ही कदाचित् आनंद माताजी से कुछ खिंचे रहते हैं। सासजी को भ्रम होता होगा कि मैं ही आनंद को भरमा रही हूँ। शायद वह पछताती हैं कि क्यों मुझे बहू बनाया। उन्हें भय होता है कि कहीं मैं उनके बेटे को उनसे छीन न लूँ। दो-एक बार मुझे जादूगरनी कह चुकी हैं। दोनों ननदें अकारण ही मुझसे जलती रहती हैं। बड़ी ननदजी तो विधवा हो गई हैं, उनका जलना समझ में आता है, लेकिन छोटी ननदजी तो अभी कलोर हैं, उनका जलना मेरी समझ में नहीं आता। मैं उनकी जगह होती, तो अपनी भावज से कुछ सीखने की, कुछ पढ़ने की कोशिश करती, उनके चरण धो-धोकर पीती। पर इस छोकरी को मेरा अपमान करने ही में आनंद आता है। मैं जानती हूँ, थोड़े दिनों में दोनों ननदें लज्जित होंगी। हाँ, अभी वे मुझसे बिचकती हैं। मैं अपनी तरफ़ से तो उन्हें अप्रसन्न होने का कोई अवसर नहीं देती।

मगर रूप को क्या करूँ। क्या जानती थी कि एक दिन इस रूप के कारण मैं अपराधिनी ठहराई जाऊँगी। मैं सच कहती हूँ बहन, यहाँ मैंने सिंगार करना एक तरह से छोड़ ही दिया है। मैली-कुचैली बनी बैठी रहती हूँ। इस भय से कि कोई मेरे पढ़ने लिखने पर नाक न सिकोड़े, पुस्तकों को हाथ नहीं लगाती। घर से पुस्तकों का एक गट्ठर बाँध लाई थी। उनमें कई पुस्तकें बड़ी सुंदर हैं। उन्हें पढ़ने के लिये बार-बार जी चाहता है, मगर डरती हूँ कि कोई ताना न दे बैठे। दोनों ननदें मुझे देखती रहती हैं कि यह क्या करती है, कैसे बैठती है, कैसे बोलती है, मानो दो-दो जासूस मेरे पीछे लगा दिए गए हों। इन दोनों महिलाओं को मेरी बदगोई में क्यों इतना मज़ा आता है, नहीं कह सकती। शायद आजकल उन्हें इसके सिवा दूसरा काम ही नहीं। गुस्सा तो ऐसा आता है कि एक बार झिड़क दूँ, लेकिन मन को समझाकर रोक लेती हूँ। यह दशा बहुत दिनों नहीं रहेगी। एक नए आदमी से कुछ हिचक होना स्वाभाविक ही है, विशेषकर जब वह नया आदमी शिक्षा और विचार-व्यवहार में हमसे अलग हो। मुझी को अगर किसी फ्रेंच लेडी के साथ रहना पड़े, तो शायद मैं भी उसकी हरएक बात को आलोचना और कुतूहल की दृष्टि से देखने लगूँ। यह काशीवासी लोग पूजा-पाठ बहुत करते हैं। सासजी तो रोज़ गंगा स्नान करने जाती हैं। बड़ी ननदजी भी उनके साथ जाती हैं। मैंने कभी पूजा नहीं की। याद है, हम और तुम पूजा

करनेवालों को कितना बनाया करती थी। अगर मैं पूजा करनेवालों का चरित्र कुछ उन्नत पाती, तो शायद अब तक मैं भी पूजा करती होती। लेकिन मुझे तो कभी ऐसा अनुभव प्राप्त नहीं हुआ। पूजा करनेवालियाँ भी उसी तरह दूसरों की निंदा करती हैं, उसी तरह आपस में लड़ती-झगड़ती हैं, जैसे वे जो कभी पूजा नहीं करतीं। ख़ैर, अब मुझे धीरे-धीरे पूजा से श्रद्धा होती जा रही है। मेरे ददिया ससुरजी ने एक छोटा-सा ठाकुरद्वारा बनवा दिया था। वह मेरे घर के सामने ही है। मैं अक्सर सासजी के साथ वहाँ जाती हूँ, और अब यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं कि विशाल मूर्तियों के दर्शन से मुझे अपने अंतःस्थल में एक ज्योति का अनुभव होता है। जितनी अश्रद्धा से मैं राम और कृष्ण के जीवन की आलोचना किया करती थी, वह बहुत कुछ मिट चुकी है।

लेकिन रूपवती होने का दंड यहीं तक बस नहीं है। ननदें अगर मेरे रूप को देखकर जलती हैं, तो यह स्वाभाविक है, दुःख तो इस बात का है कि यह दंड मुझे उस तरफ़ से भी मिल रहा है, जिधर से इसकी कोई संभावना न होनी चाहिए—मेरे आनंद बाबू भी मुझे इसका दंड दे रहे हैं। हाँ, उनकी दंड-नीति एक निराले ही ढंग की है। वह मेरे पास नित्य ही कोई-न-कोई सौग़ात लाते रहते हैं। वह जितनी देर मेरे पास रहते हैं, उनके मन में यह संदेह होता रहता है कि मुझे उनका रहना अच्छा नहीं लगता। वह समझते हैं कि मैं उनसे जो प्रेम करती हूँ, यह केवल दिखावा है, कौशल है। वह मेरे सामने कुछ ऐसे दबे-दबाए, सिमटे-सिमटाए रहते हैं कि मैं मारे लज्जा के मर जाती हूँ। उन्हें मुझसे कुछ कहते हुए, ऐसा संकोच होता है मानो वह कोई अनधिकार चेष्टा कर रहे हों। जैसे मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए कोई आदमी उज्ज्वल वस्त्र पहननेवालों से दूर ही रहना चाहता है, वही दशा इनकी है। वह शायद समझते हैं कि किसी रूपवती स्त्री को रूपहीन पुरुष से प्रेम हो ही नहीं सकता। शायद वह दिल में पछताते हैं कि क्यों इससे विवाह किया, शायद उन्हें अपने ऊपर ग्लानि होती है। वह मुझे कभी रोते देख लेते हैं, तो समझते हैं मैं अपने भाग्य को रो रही हूँ, कोई पत्र लिखते देखते हैं, तो समझते हैं मैं उनकी रूपहीनता ही का रोना रो रही हूँ। क्या कहूँ बहन, यह सौंदर्य मेरी जान का गाहक हो गया। आनंद के मन से इस शंका को निकालने और उन्हें अपनी ओर से आश्वासन देने के लिये मुझे ऐसी-ऐसी बातें करनी पड़ती हैं, ऐसे-ऐसे आचरण करने पड़ते हैं, जिन पर मुझे घृणा होती है। अगर पहले से यह दशा जानती, तो ब्रह्मा से कहती मुझे कुरूपा ही बनाना। बड़े असमंजस में पड़ी हूँ। अगर सासजी की सेवा नहीं करती, बड़ी ननदजी का मन नहीं रखती, तो उनकी आँखों से गिरती हूँ। अगर आनंद बाबू को निराश करती हूँ, तो कदाचित् मुझसे विरक्त ही हो जायँ। मैं तुमसे अपने हृदय की बात कहती हूँ बहन, तुमसे क्या पर्दा रखना है, मुझे आनंद बाबू से उतना ही प्रेम है, जो किसी स्त्री को पुरुष से हो सकता है, उनकी जगह अब अगर इंद्र भी सामने आ जायँ, तो मैं उसकी ओर आँख उठाकर न देखूँ। मगर उन्हें कैसे विश्वास दिलाऊँ। मैं देखती हूँ, वह किसी-न-किसी बहाने से बार-बार घर में आते हैं और दबी हुई, ललचाई हुई नज़रों से मेरे कमरे के द्वार की ओर देखते हैं, तो जी चाहता है जाकर उनका हाथ पकड़ लूँ और अपने कमरे में खींच ले जाऊँ, मगर एक तो डर होता है कि किसी की आँख पड़ गई, तो छाती पीटने लगेगी, और इससे भी बड़ा डर यह कि कहीं आनंद इसे भी कौशल ही न समझ बैठें। अभी उनकी आमदनी बहुत कम है, लेकिन दो चार रुपए सौग़ातों में रोज़ उड़ाते हैं। अगर प्रेमोपहार-स्वरूप वह धेले की कोई चीज़ दें, तो मैं उसे आँखों से लगाऊँ, लेकिन वह कर-स्वरूप देते हैं, मानों उन्हें ईश्वर ने यह दंड दिया है। क्या करूँ, अब मुझे भी प्रेम का स्वाँग करना पड़ेगा। प्रेम-प्रदर्शन से मुझे चिढ़ है, तुम्हें याद होगा मैंने एक बार कहा था कि प्रेम या तो भीतर ही रहेगा या बाहर ही रहेगा। समान रूप से वह भीतर और बाहर दोनों जगह नहीं रह सकता। स्वाँग वेश्याओं के लिये है, कुलवती तो प्रेम को हृदय ही में संचित रखती है।

बहन पत्र बहुत लंबा हो गया, तुम पढ़ते-पढ़ते ऊब गई होगी। मैं भी लिखते-लिखते थक गई। अब शेष बातें कल लिखूँगी। परसों यह पत्र तुम्हारे पास जायगा।

* * *

बहन, क्षमा करना, कल पत्र लिखने का अवसर नहीं मिला। रात एक ऐसी बात हो गई, जिससे चित्त अशांत हो उठा। बड़ी मुश्किलों से यह थोड़ा-सा समय निकाल

सकी हूँ । मैंने अभी तक आनंद से घर के किसी प्राणी की शिकायत नहीं की थी । अगर सासजी ने कोई बात कह दी या ननदजी ने कोई ताना दे दिया, तो इसे उनके कानों तक क्यों पहुँचाऊँ । इसके सिवा कि गृह-कलह उत्पन्न हो, इससे और क्या हाथ आएगा । इन्हीं ज़रा-ज़रा-सी बातों को पेट में न डालने से घर बिगड़ते हैं । आपस में वैमनस्य बढ़ता है । मगर संयोग की बात, कल अनायास ही मेरे मुँह से एक बात निकल गई, जिसके लिये मैं अब भी अपने को कोस रही हूँ, और ईश्वर से मनाती हूँ कि वह आगे न बढ़े । बात यह हुई कि कल आनंद बाबू बहुत देर करके मेरे पास आए । मैं उनके इंतज़ार में बैठी एक पुस्तक पढ़ रही थी । सहसा सासजी ने आकर पूछा—क्या अभी तक बिजली जल रही है ? क्या वह रात भर न आएँ, तो तुम रात भर बिजली जलाती रहोगी !

मैंने उसी वक़् बत्ती ठंडी कर दी । आनंद बाबू थोड़ी ही देर में आए, तो कमरा अँधेरा पड़ा था । न जाने उस वक़् मेरी मति कितनी मंद हो गई थी । अगर मैंने उनकी आहट पाते ही बत्ती जला दी होती, तो कुछ न होता । मगर मैं अँधेरे में पड़ी रही । उन्होंने पूछा क्या सो गईं । यह अँधेरा क्यों पड़ा हुआ है ?

हाय ! इस वक़् भी यदि मैंने कह दिया होता कि मैंने अभी बत्ती गुल कर दी है, तो बात बन जाती । मगर मेरे मुँह से निकला 'सासजी का हुक्म हुआ कि बत्ती गुल कर दो, गुल कर दी । तुम रात भर न आओ, तो क्या रात भर बत्ती जलती रहे ।'

'तो अब तो जला दो । मैं रोशनी के सामने से आ रहा । मुझे तो कुछ सूझता ही नहीं ।'

'मैंने अब बटन को हाथ से छूने की क़सम खा ली । जब ज़रूरत पड़ेगी मोम की बत्ती जला लिया करूँगी । कौन मुफ़्त में घुड़कियाँ सहे ।'

आनन्द ने बिजली का बटन दबाते हुए कहा—'और मैंने क़सम खा ली कि रात भर बत्ती जलेगी, चाहे किसी को बुरा लगे या भला । सब कुछ देखता हूँ, अंधा नहीं हूँ । दूसरी बहू आकर इतनी सेवा करेगी तो देखूँगा । तुम हो नसीब की खोटी कि ऐसे प्राणियों के पाले पड़ीं । किसी दूसरी सास की तुम इतनी ख़िदमत करतीं, तो वह तुम्हें पान की तरह फेरती, तुम्हें हाथों पर लिए रहती, मगर यहाँ चाहे कोई प्राण ही दे दे, किसी के मुँह से सीधी बात न निकलेगी ।'

मुझे अपनी भूल साफ़ मालूम हो गई । उनका क्रोध शांत करने के इरादे से बोली—ग़लती तो मेरी ही थी, कि व्यर्थ आधी रात तक बत्ती जलाए बैठी रही । अम्माँजी ने गुल करने को कहा, तो क्या बुरा कहा । मुझे समझाना, अच्छी सीख देना उनका धर्म है । मेरा धर्म भी यही है कि यथाशक्ति उनकी सेवा करूँ और उनकी शिक्षा को गिरह बाँधूँ ।

आनंद एक क्षण द्वार की ओर ताकते रहे । फिर बोले—मुझे मालूम हो रहा है कि इस घर में मेरा अब गुज़र न होगा । तुम नहीं कहतीं, मगर मैं सब कुछ सुनता रहता हूँ । सब समझता हूँ । तुम्हें मेरे पापों का प्रायश्चित्त करना पड़ रहा है । मैं कल अम्माँजी से साफ़-साफ़ कह दूँगा कि 'अगर आपका यही व्यवहार है, तो आप अपना घर लीजिए, मैं अपने लिये कोई दूसरी राह निकाल लूँगा ।'

मैंने हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाते हुए कहा—नहीं, नहीं, कहीं ऐसा ग़ज़ब भी न करना । मेरे मुँह में आग लगे कहाँ से कहाँ बत्ती का ज़िक्र कर बैठी । मैं तुम्हारे चरण छूकर कहती हूँ, मुझे न सासजी से कोई शिकायत है, न ननदजी से, दोनों मुझसे बड़ी हैं, मेरी माता के तुल्य हैं, अगर एक बात कड़ी भी कह दें, तो मुझे सब्र करना चाहिए । तुम उनसे कुछ न कहना, नहीं तो मुझे बड़ा दुःख होगा ।

आनंद ने रुँधे कंठ से कहा—तुम्हारी जैसी बहू पाकर भी अम्माँजी का कलेजा नहीं पसीजता, अब क्या कोई स्वर्ग की देवी घर में आती । तुम डरो मत, मैं ख़्वाम-ख़्वाह लड़ूँगा नहीं, मगर हाँ, इतना अवश्य कह दूँगा कि ज़रा अपने मिज़ाज को क़ाबू में रक्खें । आज अगर मैं २-४ सौ रुपए घर में लाता होता, तो कोई चूँ न करता । कुछ कमाकर नहीं लाता, यह उसी का दंड है । सच पूछो, तो मुझे विवाह करने का कोई अधिकार ही न था । मुझ जैसा मंदबुद्धि जो कौड़ी कमा नहीं सकता, उसे अपने साथ किसी महिला को डुबाने का क्या हक़ था । बहनजी को न जानें क्या सूझी है कि तुम्हारे पीछे पड़ी रहती हैं । ससुराल का सफ़ाया कर दिया, अब यहाँ भी आग लगाने पर तुली हुई हैं । बस, पिताजी का लिहाज़ करता हूँ, नहीं इन्हें तो एक दिन में ठीक कर देता ।

बहन, उस वक़्त तो मैंने किसी तरह उन्हें शांत किया पर नहीं कह सकती कि कब वह उबल पड़ें। मेरे लिये वह सारी दुनिया से लड़ाई मोल ले लेंगे। मैं जिन परिस्थितियों में हूँ, उनका तुम अनुमान कर सकती हो। मुझ पर कितनी ही मार पड़े मुझे रोना न चाहिए, ज़बान तक न हिलाना चाहिए। मैं रोई और घर तबाह हुआ। आनंद फिर कुछ न सुनेंगे, कुछ न देखेंगे। कदाचित् इस उपाय से वह अपने विचार में मेरे हृदय में अपने प्रेम का अंकुर जमाना चाहते हों। आज मुझे मालूम हुआ कि यह कितने क्रोधी हैं। अगर मैंने ज़रा सा पुचारा दे दिया होता, तो रात ही को वह सासजी की खोपड़ी पर जा पहुँचते। कितनी ही युवतियाँ इसी अधिकार के गर्व में अपने को भूल जाती हैं। मैं तो बहन, ईश्वर ने चाहा तो कभी न भूलूँगी। मुझे इस बात का डर नहीं है कि आनंद अलग घर बना लेंगे, तो गुज़र कैसे होगा। मैं उनके साथ सब कुछ झेल सकती हूँ। लेकिन घर तो तबाह हो जायगा।

बस, प्यारी पद्मा, आज इतना ही। पत्र का जवाब जल्द देना।

तुम्हारी

चंदा

(११)

देहली

४-२-२६

प्यारी चंदा—क्या लिखूँ, मुझ पर तो विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा! हाय वह चले गए, मेरे विनोद का तीन दिन से पता नहीं—निर्मोही चला गया, मुझे छोड़कर, बिना कुछ कहे सुने चला गया—अभी तक रोई नहीं, जो लोग पूछने आते हैं, उनसे बहाना कर देती हूँ कि दो-चार दिन में आएँगे, एक काम से काशी गए हैं। मगर जब रोऊँगी, तो यह शरीर उन आँसुओं में डूब जायगा, प्राण उसी में विसर्जित हो जायँगे। इसलिए न मुझसे कुछ भी नहीं कहा, रोज़ की तरह उठा, भोजन किया, विद्यालय गया, नियत समय पर लौटा, रोज़ की तरह मुसकिराकर मेरे पास आया, हम दोनों ने जल-पान किया, फिर वह दैनिक पत्र पढ़ने लगे, मैं टेनिस खेलने चली गई, इधर कुछ दिनों से उन्हें टेनिस से कुछ प्रेम न रहा था, मैं अकेली ही जाती थी। लौटी तो रोज़ ही की तरह उन्हें बरामदे में टहलते और सिगार पीते देखा। मुझे देखते ही वह रोज़ की तरह मेरा ओवरकोट लाए और मेरे ऊपर डाल दिया। बरामदे से नीचे उतरकर खुले मैदान में हम टहलने लगे। मगर वह ज़्यादा बोले नहीं, किसी विचार में डूबे रहे। जब ओस अधिक पड़ने लगी, तो हम दोनों फिर अंदर चले आए। उसी वक़्त वह बंगाली महिला आ गई, जिनसे मैंने वीणा सीखना शुरू किया है। विनोद भी मेरे साथ ही बैठे रहे। संगीत उन्हें कितना प्रिय है, यह तुम्हें लिख चुकी हूँ। कोई नई बात नहीं हुई। महिला के चले जाने के बाद हमने साथ-ही-साथ भोजन किया, फिर मैं अपने कमरे में लेटने आई, वह रोज़ की तरह अपने कमरे में लिखने-पढ़ने चले गए। मैं जल्द ही सो गई, लेकिन जब वह मेरे कमरे में आए, तो मेरी आँख खुल गई। मैं नींद में कितनी बेख़बर पड़ी रहूँ, उनकी आहट पाते ही आप-ही-आप आँखें खुल जाती हैं। मैंने देखा, वह अपना हरा शाल ओढ़े खड़े थे। मैंने उनकी ओर हाथ बढ़ाकर कहा—आओ, खड़े क्यों हो और फिर सो गई। बस, प्यारी बहन! वही विनोद के अंतिम दर्शन थे। कह नहीं सकती, वह पलँग पर लेटे या नहीं। इन आँखों में न जाने कौन सी महानिद्रा समाई हुई थी। प्रातः उठी, तो विनोद को न पाया। मैं उनसे पहले उठती हूँ, वह पड़े सोते रहते हैं। पर आज वह पलँग पर न थे। शाल भी न था। मैंने समझा शायद अपने कमरे में चले गए हों। स्नान-गृह में चली गई। आध घंटे में बाहर आई, फिर भी वह न दिखाई दिये। उनके कमरे में गई, वहाँ भी न थे। आश्चर्य हुआ, इतने सवेरे कहाँ चले गए। सहसा खूँटी पर आँख पड़ी—कपड़े न थे। किसी से मिलने चले गए? या स्नान के पहले सैर करने की ठानी। कम-से-कम मुझसे कह तो देते, संशय में तो जी न पड़ता। क्रोध आया—मुझे लौंडी समझते हैं......

हाज़िरी का समय आया। बैरा मेज़ पर चाय रख गया। विनोद के इंतज़ार में चाय ठंडी हो गई। मैं बार-बार झुँझलाती थी, कभी भीतर जाती, कभी बाहर आती, ठान ली थी कि आज ज्यों ही महाशय आएँगे, ऐसा लताड़ूँगी कि वह भी याद करें। कह दूँगी आप अपना घर लीजिए, आपको अपना घर मुबारक रहे, मैं अपने घर चली जाऊँगी। इस तरह तो रोटियाँ वहाँ भी मिल जायँगी। जाड़े के नौ बजने में देर ही क्या लगती है।

विनोद का अभी पता नहीं। झल्लाई हुई उनके कमरे में गई कि एक पत्र लिखकर मेज़ पर रख दूँ—साफ़-साफ़ लिख दूँ कि इस तरह अगर रहना है, तो आप रहिए, मैं नहीं रह सकती। मैं जितना ही तरह देती जाती हूँ, उतना ही तुम मुझे चिढ़ाते हो। बहन, उस क्रोध में संतप्तभावों की नदी-सी मन में उमड़ रही थी। अगर लिखने बैठती, तो पन्नों-के-पन्ने लिख डालती। लेकिन आह! मैं तो भाग जाने की धमकी ही दे रही थी, वह पहले ही भाग चुके थे। ज्यों ही मेज़ पर बैठी, मुझे पैड में उनका एक पत्र मिला। मैंने तुरंत उस पत्र को निकाल लिया और सरसरी निगाह से पढ़ा—मेरे हाथ काँपने लगे, पाँव थरथराने लगे, जान पड़ा कमरा हिल रहा है, एक ठंडी, लंबी, हृदय को चीरनेवाली आह खींचकर मैं कौच पर गिर पड़ी। पत्र यह था—

"प्रिये, नौ महीने हुए, जब मुझे पहली बार तुम्हारे दर्शनों का सौभाग्य हुआ था। उस वक़्त मैंने अपने को धन्य माना था। आज तुमसे वियोग का दुर्भाग्य हो रहा है, फिर भी मैं अपने को धन्य मानता हूँ। मुझे जाने का लेश-मात्र भी दुःख नहीं है, क्योंकि मैं जानता हूँ तुम खुश होगी। जब तुम मेरे साथ सुखी नहीं रह सकतीं, तो मैं ज़बरदस्ती क्यों पड़ा रहूँ। इससे तो यह कहीं अच्छा है कि हम और तुम अलग हो जायँ। मैं जैसा हूँ वैसा ही रहूँगा। तुम भी जैसी हो, वैसी ही रहोगी। फिर सुखी जीवन की संभावना कहाँ? मैं विवाह को आत्म-विकास का साधन समझता हूँ। स्त्री-पुरुष के संबंध का अगर कोई अर्थ है, तो यही है, वर्ना मैं विवाह की कोई ज़रूरत नहीं समझता। मानव-संतान विना विवाह के भी जीवित रहेगी और शायद इससे अच्छे रूप में। वासना भी विना विवाह के पूरी हो सकती है, घर के प्रबंध के लिये विवाह करने की ज़रूरत नहीं। जीविका एक बहुत ही गौण प्रश्न है, जिसे ईश्वर ने दो हाथ दिए हैं, वह कभी भूखा नहीं रह सकता। विवाह का उद्देश्य यही और केवल यही है कि स्त्री और पुरुष एक दूसरे की आत्मोन्नति में सहायक हों। जहाँ अनुराग हो, वहीं विवाह है और अनुराग ही आत्मोन्नति का मुख्य साधन है। जब अनुराग न रहा, तो विवाह भी न रहा, अनुराग के विना विवाह का अर्थ ही नहीं।

जिस वक़्त मैंने तुम्हें पहली बार देखा था, तुम मुझे अनुराग की सजीव मूर्ति-सी नज़र आई थीं। तुममें सौंदर्य था, शिक्षा थी, प्रेम था, स्फूर्ति थी, उमंग थी। मैं मुग्ध हो गया। उस वक़्त मेरी अंधी आँखों को यह न सूझा कि जहाँ तुममें इतने गुण थे, वहाँ चंचलता भी थी, जो इन सब गुणों पर पर्दा डाल देती है। तुम चंचल हो, ग़ज़ब की चंचल, जो उस वक़्त मुझे न सूझा था। तुम ठीक वैसी ही हो जैसी तुम्हारी दूसरी बहनें होती हैं, न कम न ज़्यादा। मैंने तुमको स्वाधीन बनाना चाहा था, क्योंकि मेरी समझ में अपनी पूरी ऊँचाई तक पहुँचने के लिये इसी की सबसे अधिक ज़रूरत है। संसार-भर में पुरुषों के विरुद्ध क्यों इतना शोर मचा हुआ है? इसीलिये कि हमने औरतों की आज़ादी छीन ली है और उन्हें अपनी इच्छाओं की लौंडी बना रखा है। मैंने तुम्हें स्वाधीन कर दिया। मैं तुम्हारे ऊपर अपना कोई अधिकार नहीं मानता। तुम अपनी स्वामिनी हो। मैं अब तक समझता था, तुम मेरे साथ स्वेच्छा से रहती हो, मुझे कोई चिंता न थी। अब मुझे मालूम हो रहा है, तुम स्वेच्छा से नहीं, संकोच या भय या बंधन के कारण रहती हो। दो-ही चार दिन पहले मुझ पर यह बात खुली है। इसलिये अब मैं तुम्हारे सुख के मार्ग में बाधा नहीं डालना चाहता। मैं कहीं भागकर नहीं जा रहा हूँ। केवल तुम्हारे रास्ते से हटा जा रहा हूँ और इतनी दूर हटा जा रहा हूँ कि तुम्हें मेरी ओर से पूरी निश्चिंतता हो जाय। अगर मेरे बग़ैर तुम्हारा जीवन अधिक सुंदर हो सकता है, तो मैं तुम्हें ज़बरन् नहीं रखना चाहता। अगर मैं समझता कि तुम मेरे सुख के मार्ग में बाधक हो रही हो, तो मैंने तुमसे साफ़-साफ़ कह दिया होता। मैं धर्म और नीति का ढोंग नहीं मानता, केवल आत्मा का संतोष चाहता हूँ, अपने लिये भी, तुम्हारे लिये भी। जीवन का तत्त्व यही है, मूल्य यही है। मैंने डेस्क में अपने विभाग के अध्यक्ष के नाम एक पत्र लिखकर रख दिया है। वह उनके पास भेज देना। रुपए की कोई चिंता मत करना। मेरे एकाउंट में अभी इतने रुपए हैं, जो तुम्हारे लिये कई महीने को काफ़ी हैं, और उस वक़्त तक मिलते रहेंगे, जब तक तुम लेना चाहोगी। मैं समझता हूँ, मैंने अपना भाव स्पष्ट कर दिया है। इससे अधिक स्पष्ट मैं नहीं करना चाहता। जिस वक़्त तुम्हारी इच्छा मुझसे मिलने की हो बैंक से

मेरा पता पूछ लेना। मगर दो-चार दिन के बाद। घबड़ाने की कोई बात नहीं। मैं स्त्री को अबला या अपंग ही नहीं समझता। वह अपनी रक्षा स्वयं कर सकती है—अगर करना चाहे। अगर अब या अब से २-४ महीना, २-४ साल, पीछे तुम्हें मेरी याद आवे, तुम समझो कि मेरे साथ सुखी रह सकती हो, तो मुझे केवल दो शब्द लिखकर डाल देना। मैं तुरत आ जाऊँगा। क्योंकि मुझे तुमसे कोई शिकायत नहीं है। तुम्हारे साथ मेरे जीवन के जितने दिन कटे हैं, वह मेरे लिये स्वर्ग-स्वप्न के दिन होंगे। जब तक जिऊँगा इस जीवन की आनंद-स्मृतियों को हृदय में संचित रखूँगा। आह! इतनी देर तक मन को रोके रहने के बाद आँखों से एक बूँद आँसू गिर ही पड़ा। क्षमा करना, मैंने तुम्हें 'चंचल' कहा है। अचंचल कौन है? जानता हूँ कि तुमने मुझे अपने हृदय से निकालकर फेंक दिया है, फिर भी इस एक घंटे में कितनी बार तुमको देख-देखकर लौट आया हूँ। मगर इन बातों को लिखकर मैं तुम्हारी दया को उकसाना नहीं चाहता, तुमने वही किया, जिसका मेरी नीति में तुमको अधिकार था, है, और रहेगा। मैं विवाह में आत्मा को सर्वोपरि रखना चाहता हूँ। स्त्री और पुरुष में मैं वही प्रेम चाहता हूँ, जो दो स्वाधीन व्यक्तियों में होता है, वह प्रेम नहीं, जिसका आधार पराधीनता है।

बस, अब और कुछ न लिखूँगा। तुमको एक चेतावनी देने की इच्छा हो रही है, पर दूँगा नहीं; क्योंकि तुम अपना भला और बुरा खुद समझ सकती हो। तुमने सलाह देने का हक़ मुझसे छीन लिया है। फिर भी इतना कहे बग़ैर नहीं रहा जाता कि संसार में प्रेम का स्वाँग भरनेवाले शोहदों की कमी नहीं है, उनसे बचकर रहना। ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूँ कि तुम जहाँ रहो, आनंद से रहो। अगर कभी तुम्हें मेरी ज़रूरत पड़े, तो याद करना। तुम्हारी एक तस्वीर का अपहरण किए जाता हूँ। क्षमा करना। क्या मेरा इतना अधिकार भी नहीं। हाय! जी चाहता है एक बार फिर देख आऊँ, मगर नहीं जाऊँगा।"

तुम्हारा ठुकराया हुआ
विनोद

बहन, यह पत्र पढ़कर मेरे चित्त की जो दशा हुई, उसका तुम अनुमान कर सकती हो। रोई तो नहीं, पर दिल बैठा जाता था। बार-बार जी चाहता था कि विष खाकर सो रहूँ। १० बजने में अब थोड़ी ही देर थी। मैं तुरन्त विद्यालय गई और दर्शन-विभाग के अध्यक्ष को विनोद का पत्र दिया। यह एक मदरासी सज्जन हैं। मुझे बड़े आदर से बिठाया और पत्र पढ़कर बोले—आपको मालूम है वह कहाँ गए और कब तक आवेंगे। इसमें तो केवल एक मास की छुट्टी माँगी गई है। मैंने बहाना किया—वह एक आवश्यक कार्य से काशी गए हैं। और निराश होकर लौट आई। मेरी अंतरात्मा सहस्रों जिह्वा बनकर मुझे धिक्कार रही थी। कमरे में उनकी तस्वीर के सामने घुटने टेककर मैंने जितने पश्चात्ताप-पूर्ण शब्दों में क्षमा माँगी है, यह अगर किसी तरह उनके कानों तक पहुँच सकती, तो उन्हें मालूम होता कि उन्हें मेरी ओर से कितना भ्रम हुआ! तब से अब तक मैंने कुछ भोजन नहीं खाया, और न एक मिनट सोई। विनोद मेरी क्षुधा और निद्रा भी अपने साथ लेते गए और शायद इसी तरह दस-पाँच दिन उनकी ख़बर न मिली, तो प्राण भी चले जायँगे। आज मैं बैंक तक गई थी, पर यह पूछने की हिम्मत न पड़ी कि विनोद का कोई पत्र आया। वह सब क्या सोचते कि यह उनकी पत्नी होकर हमसे पूछने आई है!

बहन, अगर विनोद न आए, तो क्या होगा! मैं समझती थी, वह मेरी तरफ़ से उदासीन हैं, मेरी पर्वा नहीं करते मुझसे अपने दिल की बातें छिपाते हैं, उन्हें शायद मैं भारी हो गई हूँ; अब मालूम हुआ, मैं कैसे भयंकर भ्रम में पड़ी हुई थी। उनका मन इतना कोमल है, यह मैं जानती, तो उस दिन क्यों भुवन को मुँह लगाती। मैं उस अभागे का मुँह तक न देखती। इस वक़्त तो उसे देख पाऊँ, तो शायद गोली मार दूँ। ज़रा तुम विनोद के पत्र को फिर पढ़ो, बहन—आप मुझे स्वाधीन बनाने चले थे। अगर स्वाधीन बनाते थे तो भुवन से ज़रा देर मेरा बात-चीत कर लेना, क्यों इतना अखरा? मुझे उनकी अवि-चलित शांति से चिढ़ होती थी। वास्तव में उनके हृदय में इस ज़रा-सी बात ने जितनी अशांति पैदा कर दी, शायद मुझमें न कर सकती। मैं किसी रमणी से उनकी रुचि देखकर शायद मुँह फुला लेती, ताने देती, खुद रोती, उन्हें रुलाती, पर इतनी जल्द भाग न जाती। मर्दों का घर छोड़कर भागना तो आज तक नहीं सुना, औरतें ही

घर छोड़कर मैके भागती हैं, या कहीं डूबने जाती हैं, या आत्महत्या करती हैं। पुरुष निर्द्वन्द्व बैठे मूछों पर ताव देते हैं, मगर यहाँ उलटी गंगा बह रही है—पुरुष ही भाग खड़ा हुआ ! इस अशांति की थाह कौन लगा सकता है ! इस प्रेम की गहराई को कौन समझ सकता है। मैं तो अगर इस वक्र विनोद के चरणों पर पड़े-पड़े मर जाऊँ, तो समझूँ मुझे स्वर्ग मिल गया। बस, इसके सिवा मुझे अब और कोई इच्छा नहीं है। इस अगाध प्रेम ने मुझे तृप्त कर दिया। विनोद मुझसे भागे तो, लेकिन भाग न सके। वह मेरे हृदय से, मेरी धारणा से, इतने निकट कभी न थे। मैं तो अब भी उन्हें अपने सामने बैठे देख रही हूँ। क्या मेरे सामने फ़िलासोफ़र बनने चले थे ? कहाँ गई आपकी वह दार्शनिक गंभीरता। यों अपने को धोखा देते हो ! यों अपनी आत्मा को कुचलते हो। अब की तो तुम भागे, लेकिन फिर भागना तो देखूँगी। मैं न जानती थी कि तुम ऐसे चतुर बहुरूपिए हो। अब मैंने समझा, और शायद तुम्हारी दार्शनिक गंभीरता की समझ में भी आया होगा कि प्रेम जितना ही सच्चा, जितना ही हार्दिक होता है, उतना ही कोमल होता है। वह विपत्ति के उन्मत्त सागर में थपेड़े खा सकता है, पर अवहेलना की एक चोट भी नहीं सह सकता। बहन, बात विचित्र है, पर है सच्ची, मैं इस समय अपने अंतस्तल में जितनी उमंग, जितने आनंद का अनुभव कर रही हूँ, याद नहीं आता कि विनोद के हृदय से लिपटकर भी कभी पाया हो। तब एक पर्दा बीच में था, अब कोई पर्दा बीच में नहीं रहा। मैं उनको प्रचलित प्रेम-व्यापार की कसौटी पर कसना चाहती थी। यह फ़ैशन हो गया है कि पुरुष घर में आए, तो स्त्री के वास्ते कोई तोहफ़ा लावे, पुरुष रात-दिन स्त्री के लिये गहने बनवाने, कपड़े सिलवाने, बेल, फीते, लेस ख़रीदने में मस्त रहे, फिर स्त्री को उससे कोई शिकायत नहीं, वह आदर्श-पति है, उसके प्रेम में किसे संदेह हो सकता है। लेकिन उसी प्रेयसी की मृत्यु के तीसरे महीने वह फिर नया विवाह रचाता है। स्त्री के साथ अपने प्रेम को भी चिता में जला आता है। फिर वही स्वांग इस नई प्रेयसी से होने लगते हैं, फिर वही लीला शुरू हो जाती है। मैंने यही प्रेम देखा था और इसी कसौटी पर विनोद को कस रही थी। कितनी मंद-बुद्धि हूँ। छिछोरेपन को प्रेम समझे बैठी थी। कितनी स्त्रियाँ जानती हैं कि अधिकांश ऐसे ही गहने-कपड़े और हँसने-बोलने में मस्त रहनेवाले जीव लम्पट होते हैं ? अपनी लम्पटता को छिपाने के लिये वे यह स्वांग भरते रहते हैं। कुत्ते को चुप रखने के लिये उसके सामने हड्डी के टुकड़े फेंक देते हैं। बेचारी भोली-भाली स्त्री अपना सर्वस्व देकर खिलौने पाती है और उन्हीं में मग्न रहती है। मैं विनोद को उसी काँटे पर तौल रही थी—हीरे को साग के तराज़ू पर रक्खे देती थी। मैं जानती हूँ, मेरा दृढ़ विश्वास है, और वह अटल है कि विनोद की दृष्टि कभी किसी परस्त्री पर नहीं पड़ सकती, उनके लिये मैं हूँ, अकेली मैं हूँ, अच्छी हूँ या बुरी हूँ, जो कुछ हूँ मैं हूँ ! बहन, मेरी तो मारे गर्व और आनंद के छाती फूल उठी है। इतना बड़ा साम्राज्य, इतना अचल, इतना स्वरक्षित, किसी हृदयेश्वरी को नसीब हुआ है ! मुझे तो संदेह है। और मैं इस पर भी असंतुष्ट थी, यह न जानती थी कि ऊपर बबूले तैरते हैं, मोती समुद्र की तह में ही मिलते हैं। हाय ! मेरी इस मूर्खता के कारण, मेरे प्यारे विनोद को कितनी मानसिक वेदना हो रही है ! मेरे जीवनधन, मेरे जीवनसर्वस्व न जाने कहाँ मारे-मारे फिरते होंगे, न जाने किस दशा में होंगे, न जाने मेरे प्रति उनके मन में कैसी-कैसी शंकाएँ उठ रही होंगी—प्यारे ! तुमने मेरे साथ कुछ कम अन्याय नहीं किया। अगर मैंने तुम्हें निष्ठुर समझा, तो तुमने तो मुझे उससे कहीं बदतर समझा—क्या अब भी पेट नहीं भरा ! तुमने मुझे इतनी गई-गुज़री समझ लिया कि इस अभागे भुवन . . . . में ऐसे-ऐसे एक लाख भुवनों को तुम्हारे चरणों पर भेंट कर सकती हूँ। मुझे तो संसार में ऐसा कोई प्राणी ही नहीं नज़र आता, जिस पर मेरी निगाह उठ सके। नहीं तुम मुझे इतनी नीच, इतनी कलंकिनी नहीं समझ सकते—शायद वह नौबत आती, तो तुम और मैं दो में से एक भी इस संसार में न होता।

बहन, मैंने विनोद को बुलाने की, खींच लाने की, पकड़ मँगाने की एक तर्कीब सोची है। क्या कहूँ पहले ही दिन यह तर्कीब क्यों न सूझी। विनोद को दैनिक पत्र पढ़े बिना चैन नहीं आता और वह कौन-सा पत्र पढ़ते हैं, मैं यह भी जानती हूँ। कल के पत्र में यह ख़बर छपेगी 'पद्मा मर रही है' और परसों विनोद यहाँ होंगे—रुक ही नहीं सकते। फिर ख़ूब झगड़े होंगे, ख़ूब लड़ाइयाँ होंगी।

अब कुछ तुम्हारे विषय में। क्या तुम्हारी बुढ़िया सचमुच तुमसे इसलिये जलती है कि तुम सुंदरी हो, शिक्षित हो, खूब! और तुम्हारे आनंद भी विचित्र जीव मालूम होते हैं। मैंने तो सुना है कि पुरुष कितना ही कुरूप हो, पर उसकी निगाह अप्सराओं ही पर जाकर पड़ती है। फिर आनंद बाबू तुमसे क्यों झिझकते हैं। ज़रा ग़ौर से देखना कहीं राधा और कृष्ण के बीच में कोई कुब्जा तो नहीं। अगर सासजी यों ही नाक में दम करती रहें, तो मैं तो यही सलाह दूँगी कि अपनी झोपड़ी अलग बना लो। मगर जानती हूँ, तुम मेरी यह सलाह न मानोगी, किसी तरह न मानोगी। इस सहिष्णुता के लिये मैं तुम्हें बधाई देती हूँ। पत्र जल्द लिखना। मगर शायद तुम्हारा पत्र आने के पहले ही मेरा दूसरा पत्र पहुँचे।

तुम्हारी
पद्मा
प्रेमचंद

किसान

धन्य तुम हे ग्रामीण किसान ;
सरलता-प्रिय औदार्य-निधान।
छोड़ जन-संकुल नगर-निवास ,
किया क्यों विजन ग्राम में गेह ?
नहीं प्रासादों की कुछ चाह ,
कुटीरों से क्यों इतना नेह ?
विलासों की मंजुल मुसकान ;
मोहती क्या न तुम्हारे प्राण ? ॥ १ ॥

सहनकर कष्ट अनेक प्रकार ;
किया करते हो काल-क्षेप।
धूल से भरे कभी हैं केश ,
कभी अंगों में पंक-प्रलेप।
प्राप्त करने को क्या वरदान ;
तपस्या का यह कठिन विधान ? ॥ २ ॥

तीर सम लगती चपल समीर ,
अग्रहायण की आधी रात ;
खोलकर यह अपना खलिहान ,
खड़े हो क्यों तुम कम्पित गात ?
उच्च स्वर से गा-गाकर गान ;
किसे तुम करते हो आह्वान ? ॥ ३ ॥

स्वीय श्रम-सुधा-सलिल से सींच ,
खेत में उपजाते जो नाज ;
युगल कर से उसको हे बंधु ,
लुटा देते हो तुम निर्व्याज।
विश्व का करते हो कल्याण ;
त्याग का रख आदर्श महान ॥ ४ ॥

लिए फल-फूलों का उपहार ,
खड़ा यह जो छोटा-सा बाग ;
न केवल वह द्रुम-बेलि समूह ,
तुम्हारा मूर्ति मंत अनुराग।
हृदय का यह आदान-प्रदान ;
कहाँ सीखा तुमने मतिमान ? ॥ ५ ॥

देखते कभी शस्य-शृंगार ,
कभी सुनते खग-कुल-कल-गीर ;
कुसुम कोई कुम्हलाया देख ,
बहा देते नयनों से नीर।
प्रकृति की अहो कृती-संतान ,
तुम्हारा है न कहीं उपमान ? ॥ ६ ॥

राजमहलों का वह ऐश्वर्य ,
राजमुकुटों का रत्न-प्रकाश ;
इन्हीं खेतों की अल्प विभूति ,
तुम्हारे हल का है मृदु हास।
स्वयं सह तिरस्करण अपमान ;
अन्य को करते गौरव-दान ॥ ७ ॥

मुकुटधर पांडेय

पंतजी और पल्लव

(समालोचना)

(३)
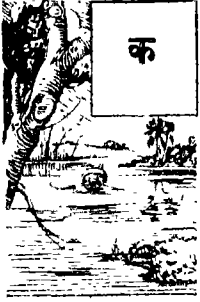
कहीं-कहीं विना किसी प्रकार का परिवर्तन किए ही, मेरे मुक्त काव्य में कवित्त-छंद के बद्ध लक्षण प्रकट हो जाते हैं। अवश्य इस तरह की लड़ी मैं जान-बूझकर नहीं रक्खा करता। पंतजी द्वारा उद्धृत मेरे उस अंश की तीसरी लड़ी—

"उन्नत उरोज पीन"—

इसका प्रमाण है। यदि कोई महाशय यह पूछें कि कहीं-कहीं तो कवित्त-छंद का सच्चा स्वरूप प्रकट होता है, और कहीं-कहीं नहीं हो पाता, ऐसा क्यों?—यह तो छंद की कमज़ोरी है, ऐसा न होना चाहिए, उत्तर में निवेदन मुझे जो कुछ करना था, एक बार संक्षेप में कर चुका हूँ, यहाँ फिर कहता हूँ। मुक्त काव्य में बाह्य समता दृष्टि गोचर नहीं हो सकती, बाहर केवल पाठ से उसके प्रवाह में जो सुख मिलता है, उच्चारण से मुक्ति की जो अबाध धारा प्राणों को सुख-प्रवाह-सिक्त निर्मल किया करती है, वही इसका प्रमाण है। जो लोग उसके प्रवाह में अपनी आत्मा को निमज्जित नहीं कर सकते, उसकी विषमता की छोटी-बड़ी तरंगों को देखकर ही डर जाते हैं, हृदय खोलकर उससे अपने प्राणों को मिला नहीं सकते, मेरे विचार से यह उन्हीं के हृदय की दुर्बलता है। दुःख है, वे ज़रा देर के लिये भी नहीं सोचते कि संभव है, हमीं किसी विशेष कारण-वश इसके साथ मिल न सकते हों—इसे पढ़ न सकते हों। वे तुरंत अपना अज्ञान बेचारे कवि के ललाट पर मढ़ा हुआ देखने लगते हैं। व्यक्तित्व के विचार से अपने व्यक्तित्व का मूल्य कोई भले ही न घटाए, परंतु कवि बेचारे को भी अपनी समझ की तुला पर उतने ही वज़न का रक्खे, निवेदन यह है। अन्यथा बुद्धि की इकतरफ़ा डिग्री देने का उन पर दोष लगता है। मेरे "अमित्र" जो जो पहलेपहल लोगों से मैत्री नहीं कर सके, इसका मुख्य कारण यही है उनके हृदय में सहृदयता काफ़ी थी, वेशवैचित्र्य के होने पर भी, इंगितैर्गत्या, वे अपने ही जान पड़ते थे। पूर्व-कथित कारण के अनुसार, उन्हें देखकर, हमारे कुछ पूज्यपाद आचार्यों ने और कुछ कवि-महोदयों ने अपनी अमूल्य सम्मति की एक कौड़ी भी फ़िज़ूल ख़र्च में नहीं जाने दी। गतवर्ष कलकत्ते में हिंदी के प्रसिद्ध कवि बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त से मुलाक़ात हुई और इस अमित्र छंद के संबंध में उनके पूछने पर मेरी ओर से उन्हें जो उत्तर मिला, उनकी उस समय की प्रसन्नता से मुझे ऐसा जान पड़ा, जैसे दो मनुष्यों के हृदय की बातें एक हो गई हों—जैसे मेरे विचार और उनके विचार एक हो गए हों। गुप्तजी ने कहा, मेरा भी यही विश्वास है कि मुक्त काव्य हिंदी में कवित्त-छंद के आधार पर ही सफल हो सकता है। गुप्तजी द्वारा किया गया वीरांगणा-काव्य का अनुवाद जिन दिनों 'सरस्वती' में निकल रहा था, उन दिनों, इस अमित्र छंद की सृष्टि मैं कर चुका था—मैं कर क्यों चुका था, भाव के आवेश में "जूही की कली" उन दिनों मेरी कापी में खिल चुकी थी। गुप्तजी के छंद में नियम थे। मैंने देखा, उन नियमों के कारण, उस अनुवाद में, बहाव कम था—वह बहाव जैसे नियम के कारण अ.ए हुए कुछ अक्षरों को—उनके बाँध को तोड़कर स्वच्छंद गति से चलने का प्रयास कर रहा हो—वे नियम मेरी आत्मा को असह्य हो रहे थे—कुछ अक्षरों के उच्चारण से जिह्वा नाराज़ हो रही थी।

जिस समय आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के संपादक थे "जूही की कली" सरस्वती में छापने के लिये मैंने उनकी सेवा में भेज दी। उन्होंने उसे वापस करते हुए, पत्र में लिखा—आपके भाव अच्छे हैं, पर छंद अच्छा नहीं, इस छंद को बदल सकें, तो बदल दीजिए।

मेरे पास ज्यों-की-त्यों वह तीन-चार साल तक पड़ी ही रही। फिर संगीतात्मक विषममात्रिक गीतिकाव्य में मैंने अपनी "अधिवास" नाम की कविता 'सरस्वती' के वर्तमान संपादक श्रीपदुमलाल पुन्नालालजी बख़्शी बी० ए० महोदय के पास भेजी। पंतजी ने अपने "पल्लव" के "प्रवेश" में इसकी भी समालोचना की है और इसमें संगीत के रहने के कारण इसे हिंदी की अपनी वस्तु

बतलाया है (कारण गीतिकाव्य उनके छंदों के प्रवाह से मिलता-जुलता है !)। अस्तु, बख्शीजी ने उस कविता पर यह नोट लिखा—इसके भाव समझ में नहीं आए, इसलिये सधन्यवाद वापस करता हूँ। यह उस साल की बात है, जिस साल पहलेपहल बख्शीजी 'सरस्वती' के संपादक हुए थे।

हिंदी-संसार समझ सकता है कि संपादकों की इतनी बारीक समझ, बेचारे नए लेखक और कवि पर क्या काम करती है। दो वर्ष बाद पूज्यपाद आचार्य द्विवेदीजी महाराज ने 'समन्वय' वालों से मेरा परिचय कराया। क्रमशः अनुकूल समय के आने पर मैं 'समन्वय' का संपादक (प्रत्यक्ष विचार से सहायक) होकर कलकत्ता गया। हिंदी के साहित्यिकों में मेरे प्रथम मित्र हुए बाबू महादेवप्रसादजी सेठ—'मतवाला' के सुयोग्य संपादक और बाबू शिवपूजनसहायजी, हिंदी के स्वनामधन्य लेखक। श्रीमान् सेठजी को मेरी कविता में तत्त्व दिखाई पड़ा, वे हृदय से उसके प्रशंसक हुए। बाबू शिवपूजनसहायजी ने अपने 'आदर्श' में मेरी "जूही की कली" को जगह दी और भावों की प्रशंसा से मुझे उत्साह भी दिया। इसके पश्चात् वही "अधिवास" जिसे बख्शीजी ने न समझ सकने के कारण वापस कर दिया था, सेठजी के कहने पर बाबू शिवपूजनसहायजी ने "माधुरी" के संपादकों के पास भेज दिया और "माधुरी" के उस समय के संपादक श्रीदुलारेलालजी भार्गव और श्रीरूपनारायणजी पाण्डेय ने उसे "माधुरी" के मुख-पृष्ठ पर निकाला। यह बात "माधुरी" के प्रथम वर्ष की है। कलकत्ते में पाण्डेयजी की कविता-मर्मज्ञता प्रसिद्ध थी। इसीलिये वह कविता उनके पास भेजी गई थी। भार्गवजी भी मेरी कविता के प्रशंसक थे, यह मुझे मालूम हुआ जब वे कलकत्ता गए। और भी मेरी कई कविताएँ "माधुरी" में अग्र-पश्चात् निकलीं, परंतु मुझे हिंदी-संसार के सामने लाने का सबसे अधिक श्रेय है सहृदय साहित्यिक, श्रीबालकृष्णजी शर्मा 'नवीन' के शब्दों में छिपे हुए हीरे, श्रीमहादेवप्रसादजी सेठ को और उनके पत्र 'मतवाला' को। मुझे मेरे 'मास्टर साहब' हिंदी के वृद्ध केसरी श्रीमान् राधामोहन गोकुलजी ने भी किसी से कम प्रोत्साहन नहीं दिया।

मेरे विरोध में जो बड़े-बड़े लोग खड़े हुए थे, मैं उनकी चर्चा से अकारण लेख की कलेवर-वृद्धि न करूँगा। इतिहास की दृष्टि से जो कुछ लिखना आवश्यक समझता हूँ, "माधुरी" के पाठकों के सामने उतना ही अंश निवेदन के रूप में रक्खूँगा।

चिरकाल से बंगाल में रहने के कारण हिंदी और बँगला की नाट्यशालाओं में अभिनय देखते रहने के मुझे विशेष अवसर मिले। कलकत्ता इन दोनों भाषाओं के रंगमंचों से प्रसिद्ध है। हिंदी के रंगमंचों में अलफ्रेड और कोरिन्थियन के नाटकों को देखकर मुझे बड़ा दुःख होता था। उनके नटों के अस्वाभाविक उच्चारण से तबियत घबराने लगती थी। उस समय मैं १६-१७ से अधिक न था। कल्पना की सुदूर भूमि में हिंदी के अभिनय की सफलता पर विचार करते हुए, बोलते हुए, पाठ खेलते हुए, जिस छंद की सृष्टि हुई, वह यही है और पीछे से विचार करके भी देखा, तो इसे स्वभाव-वश निरछल हृदय की सत्य ज्योति की तरह निकला हुआ पाया। वेदों और उपनिषदों में इसकी पुष्टि के प्रमाण भी अनेक मिले और सबसे प्रधान युक्ति, जिस किसी के सामने मैंने इसे पढ़ा, उसी के हृदय में "कुछ है" के रूप से इसने घर कर लिया। पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी, पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय, पं० सकलनारायणजी शर्मा, पं० चंद्रशेखरजी शास्त्री, इसके उदाहरण हैं। पूज्यपाद द्विवेदीजी महाराज ने भी इसे मेरे मुख से सुना है और उस समय की उनकी प्रसन्नता ने मुझे सफलता का ही विश्वास दिलाया।

यह सब बाहर की बातें हुईं। मेरी आत्मा में तो इसकी सफलता पर इतना दृढ़ विश्वास है, जो किसी तरह भी नहीं दूर हो सकता। एक दिन वह भी था, जब हिंदी-संसार एक तरफ़ और मैं अपने "अमित्र" महाशय के साथ एक तरफ़ था। अब तो उस तरह की शैली में बहुत कुछ दूसरों को भी सफलता मिल गई है।

अस्तु, वेदों और उपनिषदों में इस तरह के अनेक छंद हैं। छंद-शास्त्र का निर्माण भाषा के तैयार हो जाने के पश्चात् ही हुआ करता है, जैसे बच्चे के पैदा हो जाने के बाद उसका नामकरण। स्वर की बराबर लड़ियों में भी शब्द निकलते हैं और विषम लड़ियों में भी। जैसे आलाप में ताल नहीं होता, राग या रागिनी का चित्र-मात्र देखने और समझने के लिये सामने आता है, उसी

तरह मुक्त काव्य में स्वर का संयम नहीं देख पड़ता—स्वर की लड़ी बराबर नहीं मिलती, कविता की केवल मूर्ति सामने आती है। राग या रागिनी जब सीमा के अंदर, बजानेवाले की सुविधा के लिये, बाँध दी जाती है, तब ताल में उसके बँधे रूप का लावण्य रहता है—जैसे एक ही विहंग की वन में स्वाधीन वृत्तियाँ और पींजड़े में ससीम चेष्टाएँ। जैसे—

"मानो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं
प्रतिहारः प्राणो निधनमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥"

इसमें एक मुक्त झंकार-मात्र है, राग के आलाप की तरह। वैदिक छंद, अतिछंद और विच्छंद को बहु भेदों में बाँट कर भी कोई उनके सब छंदों के नामकरण नहीं कर सका। अंत में अनंत भेद (!) मान लिए गए। ठीक ही है, जब सृष्टि में भी "अगणित" दिखलाई पड़ा, तब गिनने की धृष्टता समझ में आ गई।

इसी तरह मेरे मुक्त काव्य में गिनने की धृष्टता नहीं की जा सकती। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कवित्त-छंद हिंदी का चूँकि जातीय छंद है, इसलिये जातीय मुक्त छंद की सृष्टि भी कवित्त-छंद की गति के अनुकूल हुई है।

व्रज-भाषा के संबंध में पंतजी लिखते हैं—"हिंदी ने अब तुतलाना छोड़ दिया, वह "पिय" को "प्रिय" कहने लगी है। उसका किशोर कंठ फूट गया, अस्फुट अंग कट-छँट गए, उनकी अस्पष्टता में एक स्पष्ट स्वरूप की झलक आ गई; वंश विशाल तथा उन्नत हो गया; पदों की चंचलता दृष्टि में आ गई; हृदय में नवीन भावनाएँ नवीन कल्पनाएँ उठने लगीं, ज्ञान की परिधि बढ़ गई; ×××× विश्व जननी प्रकृति ने उसके भाल में स्वयं अपने हाथ से केशर का सुहाग-टीका लगा दिया, उसके प्राणों में अक्षय मधु भर दिया है। × × × मुझे तो उस तीन-चार सौ वर्ष की वृद्धा के शब्द बिलकुल रक्त-मांस-हीन लगते हैं; जैसे भारती की वीणा की झंकारें बीमार पड़ गई हों, उसके उपवन के लहलहे फूल मुरझा गए हों; जैसे साहित्याकाश का 'तरणि' ग्रहण लग जाने से निष्प्रभ 'तरनि' बन गया हो; भाषा के प्राण चिरकाल से पीड़ित तथा निःशक्त होकर अब 'प्रान' कहे जाने योग्य रह गये हों। × × × × और 'थान' जैसे बहुत दिनों से लिपा-पुता न हो, श्रीहीन बिछाली बिछा हुआ, ढोरों के रहने योग्य; वैसे ही व्रजभाषा की क्रियाएँ भी—'कहत', 'लहत', 'हरहु', 'भरहु'—ऐसी लगती हैं, जैसे शीत या किसी अन्य कारण से मुह की पेशियाँ ठिठुर गई हों, अच्छी तरह खुलती न हों, अतः स्पष्ट उच्चारण करते न बनता हो; पर यह सब खड़ी बोली के शब्दों को सुनने, पढ़ने, उनके स्वर में सोचने आदि का अभ्यास पड़ जाने से।"

खड़ी बोली और व्रजभाषा पर पंतजी ने अपनी कविता की भाषा में जो कुछ समालोचना की है, उसमें उन्होंने अपने ही भावों पर ज़ोर दिया है, इसलिये उनके विचारों से अपना एक पृथक् विचार रखने पर भी मैं उन्हें विशेष कुछ कहने का अधिकारी नहीं रह जाता। सत्य-विवेचन की दृष्टि से ही मैं यहाँ व्रजभाषा के संबंध में विचार करूँगा।

पंतजी की तरह मेरा भी खड़ी बोली से प्रेम-संबंध घनिष्ठ है। परंतु जब भाषा-विज्ञान का प्रश्न सामने आता है, उस समय कुछ काल के लिये विवश होकर प्रेम-संबंध से अलग, न्यायानुकूल विचार करना पड़ता है। संस्कृत का "धर्म" जब पाली में "धम्म" बन गया, उस समय "धर्म" की अपेक्षा "धम्म" में ही लोगों को अधिक आनंद मिलता था। इधर 'धर्म' से 'धरम' का भी यही हाल रहा। स्वेच्छानुवर्ती कवियों ने किसी भी काल में नियमों की परवा नहीं की। वे अपनी आत्मा के अनुशासन के अनुसार ही चलते गए। कुछ लोगों का कहना है कि समाज ज्यों-ज्यों मूर्ख होता गया, अपभ्रष्ट शब्दों की संख्या भी त्यों-त्यों दिन दूनी और रात चौगुनी की कहावत के अनुसार बढ़ती गई। क्रमशः भाषा भी एक रूप से दूसरे रूप में बदलती चली गई। मैं यहाँ इस मीमांसा से प्राणों की सहृदयता की मीमांसा अधिक पसंद करता हूँ। मेरे विचार से अचिरता की गोद में प्रचलित शब्दों की भी समाधि होती है—कुछ ही काल तक किसी प्रचलित शब्द को मनुष्य-समाज के अधर धारण करते हैं। फिर उसके परिवर्तित रूप से ही उनका स्नेह अधिक हो जाता है। अथवा उस शब्द का अपर रूप-धारण प्रेम के कारण ही हुआ करता है।

कारीगरी के विचार से व्रजभाषा-काल में शब्दों की जो छान-बीन हुई है, जिस-जिस प्रकार के परिवर्तन हुए हैं, भाषा-विज्ञान उन्हें बहुत ही ऊँचे आसन पर स्थापित

करता है। सहृदयता उनकी व्याख्या में अपने हृदय का रस निःशेष कर देती है। खड़ी बोली की विभक्तियाँ—को, के लिये, से, का, के आदि ब्रजभाषा की हिं, कों, सें, सों, कँहँ, आदि से समता की स्पर्द्धा नहीं कर सकतीं। खड़ी बोली में एक ही विभक्ति मधुर है—'में', परंतु वह भी ब्रजभाषा की 'मँहँ' की श्रुति-सरसता से फीकी पड़ जाती है। ब्रजभाषा में ॰ की मणि से सौंदर्य का उज्ज्वल गौरव खड़ी बोली में नहीं मिल सकता। पश्चिमी भाषाओं में फ्रेंच की विजय और स्पर्द्धा इसीलिये है। संस्कृत में भी इसके चढ़ाव से श्री भरी हुई है। उधर ब्रजभाषा ने अपनी क्रियाओं के रूपों में भी यथेष्ट श्रुति-कोमलता ला दिखलाई है। 'लाभ करते' की तुलना में 'लहत', 'मुड़ने' को तुलना में 'मुरत' 'पाते' की अपेक्षा 'पावत' विशेष श्रुति-मधुर हैं। सारांश यह कि ब्रजभाषा एक समय जीवित भाषा रह चुकी है और यों तो अब भी वह जीवित ही है, परंतु खड़ी बोली इस समय भी हिंदी-भाषा का मातृ-गौरव नहीं प्राप्त कर सकी। पंतजी यदि खड़ी बोली में ही विचारों का आदान-प्रदान करते हैं, तो इससे बढ़कर हर्ष की बात और क्या हो सकेगी। परंतु जहाँ वे रहते हैं, अल्मोड़े के उन देहात-वासियों के साथ, अवश्य ही, उन्हें, वहाँ की ही प्रचलित भाषा में बातचीत करनी पड़ती होगी और, यदि अपनी उस जातीय भाषा से, खड़ी बोली के प्रति विशेष प्रेम के कारण, वार्तालाप करते समय, वे कुछ भी विराग दिखलाते होंगे, तो निस्संदेह युक्ति के अनुसार, वहाँ के अधिवासियों के साथ अपने प्राणों की सोलहों आने सहृदयता से मिल भी न सकते होंगे। भविष्य में, दो-चार पीढ़ियों के बाद, शिक्षित-समुदाय की एक भाषा अलग हो जाय, यह बात और है। और जो लोग आगरा-सरौंडिंग की भाषा के साथ हिंदी में प्रचलित वर्तमान भाषा-साहित्य को एक कर देने के प्रयत्न में रहते हैं, उनसे तो अकेले (हिंदी) कविता-कौमुदीकार ही अच्छे जिन्होंने हिंदी की प्रथम सृष्टि से अब तक का क्रम किसी तरह नहीं बिगड़ने दिया। ब्रजभाषावालों के शब्दों और क्रियाओं के परिवर्तित रूप तो पंतजी को जाड़े की कुकुर-कुंडलीवत् सिकुड़े हुए दिखलाई पड़ते हैं और स्वयं जो खड़ी बोली के चिर प्रचलित "भौंह"—शब्द को "भोंह" कर देते हैं, कहते हैं, वह सुंदर बन जाता है।

बात यह कि आज किसी प्रांतीय भाषा के साथ अपने हृदय की पूर्णता और उज्ज्वल उत्कर्ष पर विश्वास रखकर वार्तालाप करने की शक्ति, हिंदी के प्रचलित दो रूपों में, यदि किसी में है, तो ब्रजभाषा में। ब्रजभाषा का प्रभाव बंगाल के प्रथम वैष्णव कवियों पर भी पड़ा और इधर सुदूर गुजरात तक फैला। उद्धरणों से लेख की कलेवर-वृद्धि का भय है। इसलिये ब्रजभाषा का भाषा वैज्ञानिक विस्तृत विवेचन, समय मिला तो कभी फिर करूँगा।

अब आजकल के प्रचलित विश्ववाद पर विचार होना चाहिए। पंतजी लिखते हैं—"अधिकांश भक्त कवियों का संपूर्ण जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया। बीच में उन्हीं की संकीर्णता की यमुना पड़ गई; कुछ किनारे पर रहे, कुछ उसी में बह गए; बड़े परिश्रम से कोई पार भी गए, तो ब्रज से द्वारका तक पहुँच सके, संसार की सारी परिधि यहीं समाप्त हो गई। × × × कठिन काव्य के प्रेत, पिंगलाचार्य, भाषा के मिल्टन, उड़गन केशवदासजी, तथा जहाँ-तहाँ प्रकाश करनेवाले मतिराम, पद्माकर, बेनी, रसखान आदि—जितने नाम आप जानते हों, और इन साहित्य के मालियों में से जिनकी विलास-वाटिका में भी आप प्रवेश करें, सबमें अधिकतर वही कदली के स्तंभ, कमल-नाल, दाड़िम के बीज, शुक, पिक, खंजन, शंख, पद्म, सर्प, सिंह, मृग, चंद्र; चार आँखें होना, कटाक्ष करना, आह भरना, रोमांचित होना, दूत भेजना, कराहना, मूर्छित होना, स्वप्न देखना, अभिसार करना—बस, इसके सिवा और कुछ नहीं! सबकी बावड़ियों में कुत्सित प्रेम का फुहारा शत-शत रसधारों में फूट रहा है; सीढ़ियों पर एक अप्सरा जल भरती या स्नान करती है, कभी एक संग रपट पड़ती, कभी नीरभरी गगरी ढरका देती है! × × × उसका (ब्रजभाषा का) वक्षःस्थल इतना विशाल नहीं कि उसमें पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्द्ध; जल-स्थल, अनिल आकाश, ज्योति-अंधकार, वन-पर्वत, नदी-घाटी, नहर-खाड़ी, द्वीप-उपनिवेश; उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक का प्राकृतिक सौंदर्य, × × × सब कुछ समा सके।"

जिनके संस्कार बहुत कुछ अँगरेज़ी-कविता के साँचे में ढल जाते हैं, उन्हें ब्रजभाषा की कविता पसंद नहीं आती, यह बहुत ठीक है। परंतु यह भी बहुत ठीक है कि

पंतजी ने ब्रजभाषा पर अपनी उदासीनता के कारण जो कुटिल कटाक्ष किया है, वह बहुत कुछ उन्हीं के दोषों का परिचायक हो गया है। कुछ अंशों में यह कथन सत्य भी है।

आजकल के शिक्षित लोग यह समझते हैं कि वे पहले से इस समय ज्ञान की उच्च भूमि पर विचरण कर रहे हैं। पहले तो यह ज्ञान ही मेट देता है। इसके पश्चात् गौरांग की उज्ज्वल अँगरेज़ी, गौरांग का गुरुत्व और कृष्णांग पर गौरांग का भाग्य और उस भाग्य पर कृष्णांग बालकों का विश्वास।

भारत-भारती के एक पद्य में है, ख़ूब लिखा है दो ही लाइन में कि जिस समय से भारत के पतन का अंधकार घनतर होता गया, दूसरे देशों विशेष रूप से पश्चिम की उन्नति का क्रम उसी समय से दिखलाई पड़ता है। इसलिये भारत की उन्नति के समय का अनुमान करना कठिन है। अपने समय का श्रेष्ठ अँगरेज़ विद्वान् मैक्स-मूलर, प्राचीन भारत के कल्पनालोक में विचरण करते रहने के कारण, नवीन भारत के विकृत रूप को देखने का साहस नहीं कर सका। बार-बार उसने अपनी भारत-दर्शन की लालसा रोकी।

ऐसे भारत की कविता में भी एक विचित्र तत्त्व है। थोड़ी देर के लिये ब्रजभाषा को जाने दीजिए, संस्कृत को लीजिए। और ब्रजभाषा के शृंगारी कवियों को पंतजी की तरह दुनाली बंदूक़ के सामने रखकर, "Shoot out hear" के अनुसार ज़रा मन भी लीजिए। संस्कृतकाल के व्यास और शुकदेव प्रसिद्ध ऋषि हैं। शुकदेव की जीवनी किसी भारतीय से अविदित न होगी। इन दोनों महापुरुषों का स्मरण कर भागवत भी देखिए। देखिए, एक ओर कवि के गहन वेदान्तिक विचार और दूसरी ओर गोपियों के शृंगार-वर्णन में अश्लीलता की हद, जैसे कि आजकल के विद्वान् कहेंगे। उधर गीत-गोविंद के प्रणेता भी कितने बड़े वैष्णव और भक्त थे, यह किसी पढ़े-लिखे महाशय से छिपा नहीं है। उनके भी—

"गोपी पीन-पयोधर-मर्दन-चंचल-कर-युगशाली—
धीर-समीरे यमुना-तीरे वसति वने वनमाली"—,

अयि प्रिये, "मुंच मयि मानमनिदानम्"—आदि देखिए। और इधर फिर विद्यापति, जिनके—

"चरन-चपल-गति लोचन लेल"

"चरन-चपलता लोचन लेल" का लोभ—पंतजी संवरण नहीं कर सके और अपने गद्य में भी—

"पदों की चंचलता दृष्टि में आ गई" द्वारा भावानु-सरण की चेष्टा की, वे विद्यापति भी प्रसिद्ध चरित्रवान् थे, नौकर के रूप से रहकर जिन्हें भगवान् विश्वनाथ ने दर्शन देने की कृपा की। आजकल की प्रचलित अश्लीलता का प्रसंग सामने आने पर शायद वे अपने किसी भी समानधर्मा से घट कर न होंगे—

"दिन दिन पयोधर भै गेल पीन;
बाढ़ल नितम्ब माझ भेल खीन।"
"थरथरि काँपत लहु लहु भास;
लाजे न वचन करए परकास।"
"नीविबन्धन हरि काहे कर दूर;
एहो पै तोहार मनोरथ पूर।" आदि आदि

अश्लील से अश्लील वर्णन उन्होंने किए हैं। यही हाल बँगला के प्रथम और सर्वमान्य कवि चंडिदास का रहा, जिन्हें देवी के साक्षात् दर्शन हुए और कृष्ण की मधुर रस से उपासना करने की, देवी के आचरण से, जिनकी प्रवृत्ति हुई—अवश्य औरों की तरह वे अश्लील नहीं हो सके। इधर ब्रजभाषा में भी यही दशा रही। संस्कृत के प्रसिद्ध श्रीहर्ष और कालिदास का तो ज़िक्र ही नहीं किया गया।

भारतवर्ष और योरप की भावना की भूमि एक होने पर भी दोनों की भावनाओं के प्रसरण का ढंग अलग-अलग है। रवीन्द्रनाथ की युक्ति के अनुसार योरप की कविता के सितार में, बोलवाले तार की अपेक्षा स्वर भरनेवाले तारों की झनकार अधिक रहती है। परंतु भारतवर्ष में विशेष ध्यान रस-पुष्टि की ओर रहने के कारण प्राणों का संचार कविता में अधिक दिखलाई पड़ता है। यहाँ के कवि व्यर्थ की बकवाद नहीं करते। यहाँ-वहाँ के उपमान-उपमेयों का ढंग भी जुदा-जुदा है। यहाँ की उपमा जितना चुभती है, वहाँ की उपमा उतना घाव नहीं कर सकती। यहाँ प्रेम है, वहाँ मादकता। यहाँ देवाशक्ति है और वहाँ आसुरी; इसलिये यहाँ की कविता में एक प्रकार की शक्ति रहती है और वहाँ की कविता में प्रगल्भता। दिव्य भाव की वर्णना तो आज तक मैंने वहाँ की किसी कविता में नहीं देखी और यहाँ यही प्रधान

है। यदि तुलसीकृत रामायण का अनुवाद किसी विद्वान् अँगरेज़ के सामने रख दिया जाय, तो शायद ही श्रीगोस्वामीजी की कविता में उसे कोई कला (art) दिखलाई पड़े। बल्कि मैं तो गोस्वामीजी को महा सौभाग्यवान् समझूँ, यदि उनके लक्ष्मण, सुमित्रा, सीता और भरत के चरित्र-चित्रण को देखकर, वह उन्हें हाल ही दम लगाकर लौटा हुआ सिद्ध करने से शान्त रहे। विभीषण से वह कितना प्रसन्न होगा, आप सहज ही अनुमान कर सकते हैं। एशिया के कवियों में उमरख़ैयाम की योरप में अधिक प्रशंसा होने का कारण जितना उसकी कविता नहीं, उससे अधिक उसके उपकरण, शराब, कबाब, नायिका और निर्जन हैं। ब्रजभाषा की कविता का जितना अंश अश्लीलता के प्रसंग से अशिष्ट बतलाया जाता है, वह फिर भी मानवीय है, आसुरी नहीं, रहा आह भरना, कटाक्ष करना और नीर-भरी गगरी ढरकाना, सो मानवीय सृष्टि में शृंगार का परिपाक नायिकाओं के इन्हीं व्यवहारों, इन्हीं आचरणों, सामाजिक इन्हीं नियमों के आश्रय से हो सकता है। न ब्रजभाषा-काल में अँगरेज़ी सभ्यता का प्रकोप भारतवर्ष में हुआ, न गधे के चित्रण में आर्ट (art) दिखलाने की कवियों को ज़रूरत मालूम पड़ी। यह मैं मानता हूँ कि मानवीय सृष्टि में उस समय अश्लीलता की हद कुछ अधिक हो गई थी, मनुष्यों के नैतिक पतन के कारण।

परंतु, मियाँ की दौड़ मसजिद तक के अनुसार, ब्रजभाषा के कवियों पर वृंदावन, गोकुल, मथुरा और नंदगाँव के इर्द-गिर्द चक्कर लगाते रहने का जो लांछन लगाया जाता है, उसका मुख्य कारण यह नहीं कि वे राष्ट्र के अष्टावक्र वाद-विवाद से अनभिज्ञ थे। ब्रजभाषा के एक भूषण ने भारतीय राष्ट्र के लिये जो कार्य किया, वैसा कार्य इधर तीन सौ वर्ष के अंदर समग्र भारतवर्ष में अपनी कवित्व प्रतिभा द्वारा कोई दूसरा कवि नहीं कर सका। प्रचलित रीतियों और अपने जातीय मेरुमूल-धर्म-भावों से प्रेरित होकर एक कृष्ण को ही उन लोगों ने अपनी रस-सृष्टि का मूलाधार-स्वरूप ग्रहण किया, और स्मरण रहे, कृष्ण वह हैं, जिनके पेट में चौदहों भुवन— एक यह पृथ्वी या केवल योरप नहीं—चौदहों भुवन समाए हुए हैं। सर जगदीशचंद्र को जिस दिन एक पौधे में वीक्षण-यंत्र द्वारा आश्चर्य कर अनेक विषय—अनेक सृष्टियाँ दिखलाई पड़ी थीं, उस दिन भारत के महर्षियों के मानसिक विश्लेषण पर श्रद्धा प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा था, जी चाहता है, यह सब वैज्ञानिक विश्लेषण-कार्य छोड़ दूँ, अपने ऋषियों के गौरव की पूजा करूँ। कृष्ण की गोपियों के साथ जो मधुर रसोपासना हुई थी, स्वामी विवेकानंदजी उसके संबंध में कहते हैं, वह इतने उच्च भावों की है कि जब तक चरित्र में कोई शुकदेव न होगा, तब तक श्रीकृष्ण की रासलीला के समझने का अधिकारी वह नहीं हो सकता। कृष्ण का महान् त्याग, उज्ज्वल प्रेम, गीता में सर्व धर्म समन्वय, भारत का सर्वमान्य नेतृत्व, भारतवासियों के हृदय में स्वभावतः पुष्प-चंदन से अर्चित हुआ और वृंदावन का क़तरा ब्रजभाषा के कवियों को दरिया नज़र आया। वासनावाले कवियों ने श्रीकृष्ण की वर्णना में ही अपने हृदय का ज़हर निकाला—इस तरह जहाँ तक हो सका, अपने धर्म को ही वासना से अधिक महत्त्व दिया। कुछ लोगों ने राजों-महाराजों और अपने प्रेम-पात्रों पर भी कविताएँ लिखीं।

एक दिन मैं अपने मित्र श्रीशिवशेखर द्विवेदी को जब वे हिंदी की मध्यमा परीक्षा की तैयारी कर रहे थे, सूर की पदावली का एक पद पढ़ा रहा था। इस समय मेरे पास वह पुस्तक नहीं, न वह पद मुझे याद है। अंतिम लड़ी उस पद की शायद यों है—"समझयो सूर सकट पग पेलत।" इस पद के पढ़ाते समय दर्शन-शास्त्र की सर्वोच्च युक्ति मुझे उसमें दिखलाई पड़ी। उस पद में कहा गया है, बालक श्रीकृष्ण अपना अँगूठा मुँह में डाल रहे हैं और इससे तमाम ब्रह्मांड डोल रहा है—दिग्दंती अपने दाँतों से दृढ़ता-पूर्वक धरा-भार के धारण का प्रयत्न कर रहे हैं। इन पंक्तियों में भक्तराज श्रीसूरदासजी का अभिप्राय यह है कि किसी एक केंद्र के चेतन-स्वरूप से तमाम संसार, संपूर्ण विश्वब्रह्मांड के प्राणी गुँथे हुए हैं, इसलिये उसके हिलने से यह सौर-संसार भी हिलता है। दिग्गजों और शेषजी को धारण करने की शक्ति दी गई है। ताकि प्रलय न हो जाय। इसलिये श्रीकृष्ण की मुख में अँगूठा डालने की चेष्टा से हिलते हुए तमाम चेतन संसार को शेष और दिग्गज अपनी धारणा-शक्ति से बार-बार धारण करते हैं। इस चेतन के कंपन-गुण से कहीं-कहीं खंड-प्रलय हो भी जाता है। अस्तु, भारतीय विश्व-वाद इस प्रकार का चेतन-वाद है जिसमें अगणित सौर-

संसार अपने सृष्टि-नियमों के चक्र से विवर्तित होते जा रहे हैं। सूर ने चेतन की यह क्रिया समझी, इसीलिये "सकट पगु पेलत"—धीरे-धीरे चल रहे हैं—स्थिर होकर क्रमशः चेतन-समाधि में मग्न होने की चेष्टा कर रहे हैं—साधना कर रहे हैं। हरएक केंद्र में वह चेतन-स्वरूप, वह आत्मा, वह विभु मौजूद है। सूर ने कृष्ण के ही उज्ज्वल केंद्र को ग्रहण किया। तुलसी ने श्रीरामचंद्र के केंद्र को और कबीर ने निर्गुण आत्मा को—विना केंद्र के केंद्र को। भारत के सिद्धांत से यथार्थ विश्वकवि यही हैं—कबीर, सूर और तुलसी-जैसे महाशक्ति के आधार स्तंभ। तुलसी भी—"उदर माँझ सुनु अंडज राया ; देख्यों बहु ब्रह्मांड निकाया" से अगणित विश्व की वर्णना कर जाते हैं, और यह भ्रम नहीं—वे ज़ोर देकर कहते हैं—"यह सब मैं निज नयनन देखा।" भारत का विश्ववाद इस प्रकार है। भारत के विश्वकवि जड़ विश्व की धूल पाठकों पर नहीं झोंकते—वे ब्रह्मांडमय चेतन का अंजन उनकी आँखों में लगाते हैं। रवींद्रनाथ का विश्ववाद योरप के सिद्धांत के अनुकूल है और उनके ब्राह्मसमाजी होने के कारण, उनका विश्ववाद* उपनिषदों से भी संबंध रखता है। रवींद्रनाथ का "विश्व"-प्रयोग अर्थ की दृष्टि से कदर्थ की सृष्टि नहीं करता। परंतु पंतजी "विश्व-कामिनी की पावन छवि मुझे दिखाओ करुणावान्" से, "विश्व" शब्द-मात्र से अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने की लालसा रखनेवाले जान पड़ते हैं, और अर्थ की तरफ़ से वही—"अंधेनैव नीयमाना यथान्धाः।" पंतजी की "विश्व-कामिनी" यदि "विश्व ही कामिनी=कर्मधारय" है, तो कोई सार्थकता नहीं दिखलाती, और यदि "विश्व की कामिनी=छठा तत्पुरुष" है, तो भी कोई अर्थ नहीं देती ; विश्व में जितनी कामिनियाँ हैं, सब किसी-न-किसी देश की—किसी-न-किसी समाज ही की हैं, इस तरह सब एकदेशीया हुई, व्यापक विश्व की कामिनी किस तरह की होगी, यह पंतजी ही बतलाएँ। (अपूर्ण)

सूर्यकांत त्रिपाठी

---

* मैं विश्ववाद पर आधुनिक और प्राचीन विश्लेषण 'माधुरी' में, हो सका तो किसी स्वतंत्र लेख में करूँगा।—लेखक

घोषणा

(१)

मैं चमक रहा हूँ सूर्य-सरीखा कविता-जग में,
हैं खिले सहस्रों फूल विजय के मेरे मग में।
युग युग में ले अवतार जगत में मैं आता हूँ,
आनंद-लोक में अमर गीत सुख से गाता हूँ।
उन्मत्त, नवीन उत्साह, टहलता है डग-डग में ;
मैं चमक रहा हूँ सूर्य-सरीखा कविता जग में।

(२)

मेरे गीतों से विपुल विश्व सुख में मतवाला,
है छलक रहा हर ओर अमृत का सुंदर प्याला।
साहित्य-आयु के साथ आयु मेरी बढ़ती है,
हिंदी फूलों से सजी कथा मेरी पढ़ती है।
है मुझे रिझाती काव्य-कोकिला-बाला,
मेरे गीतों से विपुल विश्व सुख में मतवाला।

(३)

मुझ विजयी कवि की क्रान्ति-पिपासा गहरी,
मेरे प्राणों में मुक्त बह रही कविता-लहरी।
मैं झूम रहा हूँ सुधा-पात्र ले सुंदर कर में,
करते हैं ताण्डव नृत्य उग्र दिग् विजयी वर में।
मेरी दुनिया है नित्य—नवीन—सुनहरी ;
मुझ विजयी कवि की क्रान्ति-पिपासा गहरी।

(४)

मैं अग्रदूत हूँ नित रहस्यमय पथ का,
मैं हूँ वसंत, हूँ कुसुम—बाण मन्मथ का।
संसार चक्र-सा घूम रहा हूँ विश्व-समर में,
हँसता है मेरा भाग्य मधुर कविता अक्षर में।
मैं कृष्ण सारथी हूँ पारथ के रथ का,
मैं अग्रदूत हूँ नित रहस्यमय पथ का।

(५)

मैं किसी का न लघु-उग्र राज्य-शासन मानूँगा,
मैं तीर-धनुष भी किसी के न सम्मुख तानूँगा ;
ईश्वर की इंगित मार्ग—वीथिका में जाऊँगा,
भर-भर डाली में फूल सुजन पर बरसाऊँगा।
मैं भीष्मपितामह-तुल्य प्रतिज्ञा को पालूँगा,
मैं किसी का न लघु-उग्र राज्य-शासन मानूँगा।

(६)

मैं बादशाह हूँ प्रेम-राज्य का, उज्ज्वल रवि हूँ ;
मैं महावीर संतान, महा आनंदी कवि हूँ ।
जीवन में सुख-दुख मान और अपमान सदा है,
मुझको पाकर गरीयसी मा—वसुधा है ।
जाता विरोध दल चौंक, शक्ति की अद्भुत छवि हूँ ;
मैं बादशाह हूँ प्रेम-राज्य का उज्ज्वल रवि हूँ ।

"गुलाब"

बौद्ध-तीर्थ-स्थानों पर एक ऐतिहासिक दृष्टि
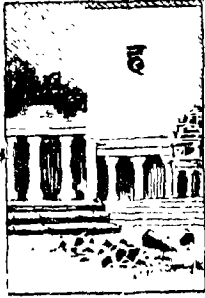
हमारी प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में शिक्षा के साधनों में 'देशाटन' का मुख्य स्थान था । इसका कारण यह है कि आचार्य लोग भली भाँति जानते थे कि देशाटन से बुद्धि-विकाश, अनुभव और ज्ञान-वृद्धि होती थी ; और कूप-मंडूकता जाती रहती थी । प्राचीन भारत के इतिहास में बहुत-से दृष्टांत इस बात को सिद्ध करते हैं । विद्यार्थी लोग ऋषि-कुल में विद्योपार्जन कर ज्ञान-वृद्धि के लिये देशाटन करते थे और देश में जहाँ कहीं बड़े-बड़े विद्वानों की सभा होती थी, जाते थे और उनमें भाग लेते थे । जिज्ञासु शिष्य और सद्गुरु की खोज में देशाटन किया करता था, और जब तक इस प्रकार देशाटन द्वारा पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता था, उसकी शिक्षा अधूरी ही समझी जाती थी । पाश्चात्य देशों में भी देशाटन के बिना शिक्षा अपूर्ण समझी जाती है । किंतु भारत की आधुनिक शिक्षा-प्रणाली बिलकुल ही निराली है । वहाँ के विद्यार्थियों को पुस्तकों का कीड़ा बनाया जाता है । बाहर के अनुभव का उन्हें ज्ञान नहीं कराया जाता । स्कूल क्या, कॉलेजों में भी बहुत ऐसे विद्यार्थी निकलेंगे, जिन्होंने पहाड़ तक नहीं देखे, समुद्र देखने की बात तो दूर रही । इन्हीं कारणों से उनकी बुद्धि संकुचित रहती है ।

इधर कई वर्षों से हमारी शिक्षा-प्रणाली में कुछ संतोषजनक परिवर्तन हुए हैं । कॉलेज की उच्च श्रेणियों में कुछ ऐसे विषय पढ़ाए जाते हैं—जैसे इतिहास, वनस्पति-विज्ञान, भूगर्भ-विद्या इत्यादि—जिनमें देशाटन करके अनुभव प्राप्त करना आवश्यक है । हर्ष की बात है कि हमारे विश्वविद्यालयों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है, और उन्होंने देशाटन को भी शिक्षा का एक अंग मान लिया है ।

गत 'दिसंबर' मास में मुझे 'लखनऊ-विश्वविद्यालय' के भारतीय इतिहास-विभाग (Indian History Department) की पार्टी में सम्मिलित होकर कुछ भारतवर्ष के प्राचीन ऐतिहासिक स्थानों में जाने का अवसर प्राप्त हुआ था । ये स्थान (१) सारनाथ, (२) राजगृह और (३) नालंदा हैं । पाठकों ने, इन स्थानों के नाम तो सुने होंगे, क्योंकि भारतवर्ष के इतिहास-निर्माण में इन स्थानों ने विशेष भाग लिया है । बौद्ध-धर्म से इनका घना संबंध है । किंतु फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से इन स्थानों का मूल्य लोग कम जानते हैं । इसी हेतु

सारनाथ के भग्नावशेष

'माधुरी' के पाठकों को इनका संक्षिप्त वृत्तांत दिया जाता है। इस अंक में केवल सारनाथ का वृत्तांत लिखा जाता है, राजगृह और नालंदा का वर्णन दूसरे अंकों में होगा।

१. सारनाथ

सारनाथ बनारस से केवल चार मील के अंतर पर बनारस से ग़ाज़ीपुर जानेवाली सड़क पर खँडहर व टीलों की दशा में स्थित है। इस नाम का रेलवे-स्टेशन भी इस स्थान से थोड़ी ही दूर पर है। सारनाथ का प्राचीन नाम "ऋषिपतनमृगदाव" था। इस नाम से यह विदित होता है कि यहाँ पर एक बड़ा वन था—जिसमें मृगों का आधिक्य था और यही वन ऋषियों के तपस्या करने का स्थान था। 'मृगदाव' नाम पड़ने का कारण एक कहानी से जो कि 'निग्रोध मृग-जातक' में लिखी है अनुमान किया जा सकता है। वह कहानी* इस प्रकार है।

"किसी समय जब ब्रह्मदत्त-नामक राजा बनारस में शासन करता था, बोधिसत्व ने मृग-रूप में जन्म लिया। इस मृग का नाम 'निग्रोध' मृगराज था और पाँचसौ मृग उसके अनुचर थे। पास ही 'शाखामृग' नाम का एक और मृग रहता था और उसके भी बहुत-से अनुयायी मृग थे।

काशी-नरेश को आखेट से बड़ा प्रेम था। वह प्रतिदिन जब आखेट के लिये जाते, तब नगर-निवासियों को भी अपने साथ ले जाते थे। प्रतिदिन जाने से उन लोगों के काम-काज में बाधा पड़ने लगी। अंत में उन लोगों ने एक उपाय सोचा और एक बड़ा उद्यान तैयार किया, उसमें घास लगवाई, जल का भी प्रबंध किया। फिर चारों ओर के सब मार्ग बंद कर दिए, केवल भीतर जाने के लिये एक मार्ग छोड़ दिया। तब सब लोगों ने मिलकर वन के सब मृगों को उसी उद्यान में हाँककर भर दिया, और द्वार बंद कर दिया। इसके अनंतर उन लोगों ने राजा से जाकर निवेदन किया "महाराज, अपनी सुविधा के लिये हम लोगों ने वन के सब मृगों को एक ही स्थान में रख दिया है, अब आप मृगाहार के लिये उन्हीं मृगों में से प्रतिदिन बध कर सकते हैं।"

राजा जब उन मृगों को देखने गया, तो दो असाधारण मृगों को देखकर बड़ा चकित हुआ, और उन दोनों को अभयदान दिया। इसके पश्चात् कभी राजा और कभी राजा का अनुचर उद्यान में जाता, और बाणों से मृग का बध कर आहार के निमित्त ले आता। किंतु बाणों के आघात से मृग बड़े व्याकुल हुए, कोई अंधा हो जाता, कोई लँगड़ा हो जाता। इस प्रकार दुःखी मृगों ने निग्रोध मृगराज से जाकर अपनी सब विपत्ति कही। निग्रोध मृगराज ने शाखामृग को बुलाकर सलाह ली—और तब राजा के पास जाकर निवेदन किया—"महाराज! आज से मृग-बध के लिये आप कष्ट न उठावें। हम लोगों में से प्रतिदिन आपके आहार के लिये स्वयं आ जाया करेगा।" राजा इस पर सहमत हो गया। उस दिन से प्रतिदिन एक मृग एक दिन निग्रोध के दल का और दूसरे दिन शाखामृग के दल का बारी-बारी से राजा के आहार के लिये बधस्थान में स्वयं चला जाता। एक दिन शाखामृग के दल की एक मृगी की बारी आई। वह दैवयोग से गर्भवती थी। उसने कहा—"यद्यपि मरने के लिये आज मेरी बारी है, तथापि उस बच्चे की, जिसको मैं गर्भ में धारण किए हूँ, बारी नहीं है। इस कारण मैं न जाऊँगी।" जब उसको शाखामृग के दल से कुछ सहायता न मिली, तो वह निग्रोध मृगराज के पास गई, और संपूर्ण वृत्तांत कहा। निग्रोध ने मृगी को आश्वासन दिया, और कहा—"मैं तुम्हारा दुःख दूर करूँगा।" निग्रोध स्वयं मृगी के बदले काशीराज के बधस्थान में जा पहुँचे। जब राजा ने सुना कि स्वयं निग्रोध, जिसको अभयदान प्राप्त था, मरने के लिये आया है, तो उन्होंने सारा हाल निग्रोध से पूछा। हाल जानकर राजा ने निग्रोध की उदारता और दया पर प्रसन्न होकर उस उद्यान के समस्त पशु-पक्षियों को बध किए जाने से मुक्त कर दिया। उस दिन से उस उद्यान के मृग स्वच्छंद विचरने लगे।" इसी कारण से, ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस वन का नाम 'मृगदाव' पड़ा।

गौतमबुद्ध के समय में मृगदाव बड़ी तपोभूमि थी। ऋषिगण यहाँ घोर तपस्या किया करते थे। इसी कारण इस स्थान को 'ऋषिपतन' कहते थे। 'ललितविस्तर' में लिखा है कि बोधित्व प्राप्त हो जाने पर बुद्ध ने कौण्डिन्य और उनके चार साथियों को जो कि पञ्च-भद्रवर्गीयस कहलाते थे, और जिन्होंने बुद्ध के साथ-साथ तप करना आरंभ किया था, अपना धर्मानुयायी बनाने का निश्चय किया। जब बुद्धजी को विदित हुआ

* Rhys Davids Buddhist Birth Stories, Vol. 1. p. 205.

कि ये लोग ऋषिपतन मृगदाव में तपस्या कर रहे हैं, तो वे उसी ओर चल दिए। जब उन लोगों ने गौतम को अपनी ओर आते देखा, तो वे समझे कि इन्होंने जब तप करना सब छोड़ दिया है और योग-भ्रष्ट हो गए हैं। उन लोगों ने आपस में सलाह की कि अपने-अपने आसनों से न उठें, और न बुद्ध का अभिवादन करें। किंतु ज्यों ही बुद्धभगवान् सन्निकट आए, उनके अलौकिक तेज के आगे वे अपना हठ न रख सके। तुरंत आसनों से उठकर और अर्घ-पाद्यादि से सत्कार कर उन्हें आसन दिया। बुद्धजी ने तब उन लोगों से कहा—"भिक्षुगण! मैंने बोधि-ज्ञान प्राप्त कर लिया है। उसका उपदेश तुम

बुद्धभगवान् का धर्मचक्रप्रवर्तन

लोगों को देने के लिये मैं इस स्थान पर आया हूँ।" तब उन्होंने दूसरे दिन उन लोगों को निम्न-विषयों पर उपदेश दिया—(१) विपत्ति का अस्तित्व, (२) विपत्ति का कारण, (३) विपत्ति से मुक्ति और (४) विपत्ति से मुक्त होने के उपाय—इन चार आर्यसत्यों को आर्य-सत्य-चतुष्टय कहते हैं, और इन्हीं से बुद्धभगवान् की प्रथम ज्ञान-शक्ति जागृत हुई। इस धर्म के उपदेश को जिसको बुद्धजी ने प्रथम बार मृगदाव में किया था, धर्मचक्रप्रवर्तन कहते हैं। सारनाथ का मूल्य धर्मचक्र-प्रवर्तन ही के कारण है।

धर्म का पहला उपदेश बुद्धजी ने ३५ वर्ष की आयु में लगभग ५८९ वर्ष ईसा के पूर्व दिया था। उसके ३०० वर्ष बाद तक मृगदाव का कुछ हाल नहीं मिलता, किंतु यह निश्चय है कि बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् यह बौद्धों का बड़ा तीर्थ स्थान हो गया—इसका कारण यह कहा जाता है कि बुद्धभगवान् ने अपने निर्वाण के समय अपने समस्त अनुयायियों को इस पवित्र स्थान के दर्शन का आदेश * दिया था।

बुद्धभगवान् के निर्वाण के लगभग ३०० वर्ष बाद इसी स्थान पर सम्राट् अशोक ने एक पत्थर का स्तम्भलेख लिखवाकर खड़ा कराया। यह विशाल स्तम्भ अब नष्ट हो गया है, और केवल उतना ही भाग सुरक्षित है, जितना कि नष्ट होने के समय भूमि में गड़ा हुआ था। स्तम्भ के कुछ टूटे खंड और उसका शीर्ष पास ही पृथ्वी के भीतर से खोदकर निकाले गए हैं। यद्यपि स्तम्भ के लेख का प्रारम्भिक भाग नष्ट हो गया है, फिर भी उसका सारांश स्पष्ट हो जाता है। यह लेख संघ में भेद डालनेवाले को दंड देने के विषय में है। इसका आशय है कि जो कोई भिक्षु या भिक्षुणी संघ में फूट डालेगा, वह सफ़ेद कपड़े पहनाकर उस स्थान में रख दिया जायगा, जो भिक्षु या भिक्षुणियों के लिये अनुचित है (अर्थात् वह संघ से बहिष्कृत कर दिया जायगा)। ऐसा ही उपदेश उपासकों के लिये भी है।

* चत्तारिमानि आनन्द सद्धस्स कुलपुत्तस्स दस्सनीयानि संवेजनीयानि ठानानि। कतमानि चत्तारि.........इध तथागतेन अनुत्तरं धम्मचक्कं पवत्तितन्ति आनन्द सद्धस्स कुलपुत्तस्स दस्सनीयं संवेजनीयं ठानं।

(महापरिनिब्बान सुत्तन्त दीघनिकाये)

स्तम्भ की दक्षिण ओर थोड़ी दूर पर अशोक के समय का अथवा मौर्यकालीन एक बड़ा स्तूप था। यह स्तूप ईंटों का बना हुआ था, किंतु इस पर ऐसा सुंदर प्लास्टर लगा था कि हुएनच्वांग ने इसे पत्थर का बना हुआ समझा। स्तूप का कोई भाग शेष नहीं है, केवल दीवारों की नींव उसका अस्तित्व सूचित करती हैं। स्तूप के नष्ट होने का कारण यह है कि बनारस के राजा चेतसिंह के दीवान जगतसिंह ने जब सन् १७९३-९४ में बनारस में अपने नाम पर एक मुहल्ला जगतगंज बनवा रहे थे, ईंटों के लिये स्तूप की नींव तक खोदवा डाली। स्तूप के खोदने पर बहुत-सी प्राचीन वस्तुएँ मिलीं, जिनसे सारनाथ में खोज का युग आरंभ हुआ।
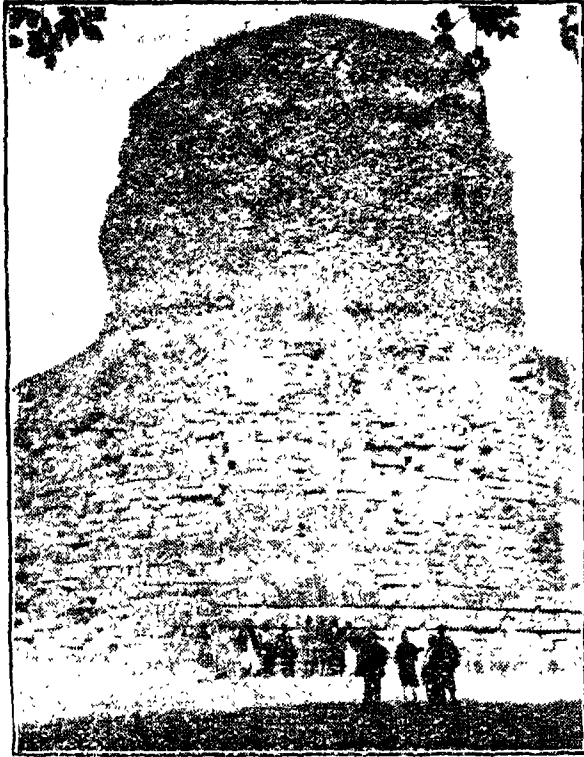
बौद्ध-स्तूप

इस स्थान से थोड़ी ही दूर पर एक पत्थर की नक्काशी-दार चहारदीवारी मिली है। इसकी अद्भुत पालिश और कारीगरी से यह विदित होता है, यह भी अशोक के ही समय की है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह किसी पवित्र स्थान के रक्षणार्थ निर्माण की गई थी, और यह संभव है कि यह उसी स्थान के सूचनार्थ है, जहाँ भगवान् बुद्ध ने धर्मचक्रप्रवर्तन किया था।

मौर्यकाल के बाद शुंगवंश और गुप्तवंश के समय में सारनाथ की उन्नति होती रही। लोग यहाँ पर विहार बनवाते रहे। हुएनच्वांग ने भी अपनी यात्रा के वर्णन में मृगदाव का कुछ हाल दिया है। वह लिखते हैं कि यहाँ उस समय एक बड़ा संघाराम बना था, जिसके मध्य में एक सुंदर विहार में भगवान् बुद्धदेव की एक पीतल की बड़ी मूर्ति धर्मचक्र के उपदेश की मुद्रा में स्थापित थी।

हुएनच्वांग ने अशोक स्तंभ के विषय में लिखा है कि "वह ७० फ़ीट ऊँचा था। और उसका पत्थर मरकत-मणि के समान चमकीला था और जो कोई उसके सामने सानुराग प्रार्थना करता है, उनको उनके निवेदनानुसार शुभ या अशुभ रूप दिखलाई पड़ते हैं। यह वही स्थान है, जहाँ पर गौतमबुद्ध (तथागत) ने धर्मचक्रप्रवर्तन किया था*।"

सारनाथ के विहारों में परिवर्तन समयानुसार होते रहे। छठी शताब्दी के प्रारंभ में हूण जाति के आक्रमणों से इसको बड़ी क्षति पहुँची। किंतु कोई-न-कोई उदार पुरुष इसे फिर ठीक कराता गया। इस प्रकार के जीर्णोद्धार का हाल हमको एक लेख से जो कि संवत् १०८३ वि० में बुद्ध की मूर्ति के अधोभाग पर लिखा गया था, मिलता है। लेख का सारांश यह है कि गौड़ (बंगाल)-देश के राजा महिपाल के राज्य-समय में स्थिरपाल और बसंतपाल नामक दो भाइयों ने 'धर्मराजिका' और 'धर्मचक्र'-नामक इमारतों को पुनः स्थापन कराया। इस लेख से यह अनुमान किया जाता है कि जब महमूद-ग़ज़नवी ने सन् १०१७ ई० में बनारस व सारनाथ को नष्ट कर दिया, तो उदार पालबंधुओं ने सारनाथ का नष्टोद्धार किया।

सबसे बाद का शिलालेख रानी कुमारदेवी का मिलता है, जिसका आशय यह है कि कान्यकुब्ज के राजा गोविंदचंद्र की रानी कुमारदेवी ने श्रीधर्मचक्रजिन की मूर्ति को एक नए निर्माण किए गए विहार में पुनः

* Beal, Buddhist Records of the Western World, Vol. II, page 46.

स्थापन कराया। यह कुमारदेवी गौड़देश के पाल राजा की कन्या थीं।

इस प्रकार शिलालेखों से पता चलता है कि कम-से-कम बारहवीं शताब्दी तक सारनाथ उन्नत अवस्था में रहा। इसके पश्चात् ऐसा विदित होता है कि कुतबुद्दीन एबक ने, जब कि उसने सन् ११६४ ई० में बनारस को नष्ट किया था, सारनाथ का भी विध्वंस कर डाला। धमेख-स्तूप व चौखंडी को छोड़ शेष सब खंडहर हो गया।

सारनाथ में खोज किस प्रकार प्रारंभ हुई, इसका भी थोड़ा-सा हाल देना आवश्यक है। यह पहले कहा जा चुका है कि राजा चेतसिंह के दीवान जगतसिंह ने ईंटों के लिये अशोक के स्तूप को सन् १७६३-६४ में खोदवाया था। स्तूप के भीतर से कुछ मोती व सोने के टुकड़े निकले। एक मनुष्य की हड्डियाँ मिलीं, जो कि गंगाजी में विसर्जित कर दी गईं। हड्डियों के विषय में लोगों की राय थी कि यह स्थान किसी स्त्री के सती होने का स्थान था। किंतु Mr. Jonathan Duncan ने, जो उस समय बनारस के कमिश्नर थे, इस राय को न माना और उन्होंने यह निश्चय किया कि यह हड्डियाँ किसी बौद्ध की हैं। विद्वानों का ध्यान इस ओर कुछ आकृष्ट तो हुआ, किंतु उन्होंने कोई विशेष परिश्रम खोज के लिये नहीं किया। उसका परिणाम यह हुआ कि सारनाथ से लोग बड़े-बड़े पत्थर, जिनमें लेख भी थे और बहुत-सी मूर्तियाँ भी थीं, उठा ले गए और उनका मकान बनवाने में उपयोग किया। लगभग ४० बड़ी मूर्तियों को, जो वहीं पर पड़ी रह गई थीं, इंजीनियरों ने वारणा नदी पर पुल बनाने के समय पानी रोकने के लिये नदी में डाला था और एक दूसरे पुल के बनाने में पचास या साठ गाड़ी पत्थर सारनाथ से लाकर उन लोगों ने अपने काम में लगाया। इन पत्थरों में क्या लेख थे और उनके नष्ट होने से इतिहास को क्या क्षति पहुँची, यह अनुमान करना कठिन है।

सारनाथ में वैज्ञानिक रीति से खोदाई Sir Alexander Cunningham ने सन् १८३४ में प्रारंभ की, और यद्यपि थोड़े समय बाद ही उन्होंने काम बंद कर दिया, किंतु पुरातत्त्व के विद्वानों ने कुछ-न-कुछ खोज सारनाथ में जारी रक्खी। इसका फल यह हुआ कि सारनाथ के विषय में लोगों को बहुत-सा नया हाल विदित हुआ। इंजीनियर Oertel साहब को, जब वे बनारस से ग़ाज़ीपुर के लिये सड़क निकाल रहे थे, सारनाथ के पास मिट्टी खोदते समय बुद्ध की एक बड़ी भारी मूर्ति मिली, जिससे उन्होंने सारनाथ में खोदाई फिर से प्रारंभ की। मुख्य संघाराम का स्थान मालूम किया। इसके पश्चात् अशोक का स्तंभ व उसका शीर्ष मिला। बहुत-से नए विहार भी मिले। इन सब प्राचीन वस्तुओं के रक्षणार्थ मार्शल साहब के प्रयत्न से सन् १६१० ई० में सरकार ने सारनाथ में एक अजायबघर बनवा दिया। तब से सारनाथ में बड़े-बड़े विद्वान् बौद्ध-धर्म के इतिहास के विशेष अध्ययन के लिये जाया करते हैं। बौद्धों ने भी अपने तीर्थ-यात्रियों की सुविधा के लिये एक विहार बनवा दिया है।

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास से जिनकी कुछ भी रुचि है, उनको सारनाथ एक बार अवश्य जाना चाहिए*।

लक्ष्मीनाथ मिश्र

हिंदू-विधवा की चेतावनी

(१)

जब तक बैठी हूँ मैं घर में, छापे तिलक लगा लो तुम ;
जब तक सहती जाती हूँ दुख, तब तक ढोंग बना लो तुम।
लज्जा का है ध्यान मुझे कुछ, तब तक मौज उड़ा लो तुम ;
जब तक तुमको अपना रही हूँ, तब तक मुझे सता लो तुम।

(२)

जिस दिन ठन जावेगी मन में, कहीं निकल मैं जाऊँगी ;
किसी यवन का हाथ पकड़कर, उसको मैं अपनाऊँगी।
पैदा करके बच्चे उससे, उसकी शक्ति बढ़ाऊँगी ;
जितना ऊँचे देख रहे हो, नीचा तुम्हें दिखाऊँगी।

(३)

गौओं को कटवाऊँगी नित, मंदिर मैं तुड़वाऊँगी ;
देवस्थानों को मिटवाकर, मसजिद मैं बनवाऊँगी।
छापे तिलक तुम्हारे सारे, पत्थर से घिसवाऊँगी ;
धर्म-ग्रंथ जलवा दूँगी मैं, चुटियों को कटवाऊँगी।

---

* Dr J. Ph. Vogel's Introduction of the 'Catalogue of the Museum of Archaeology at Sarnath' से विशेष सहायता मिली है।—लेखक

(४)

जिन ग्रंथों में तुम पढ़ते हो, पुनर्विवाह नहीं होते ;
जिनको बुद्धि छोड़कर नित ही, पढ़ते हो बनकर तोते।
उनको ही मानोगे यदि तुम, निश्चय खाओगे गोते ;
यदि हँसते हो आज तुम्हें कल, दुनिया देखेगी रोते।

(५)

सती-प्रथा क्यों बंद हुई है, हो यदि ग्रंथों के हामी ;
जिसके बल हिंदू-विधवाएँ, होती थीं पति-अनुगामी।
रहती थीं जब नहीं, नहीं वे, करती थीं कुछ बदनामी ;
छेड़ कभी सकते थे कोई, उनको नहीं पुरुष कामी।

(६)

यदि अनिष्टकर प्रथा पुरानी, अब भी कहीं न छोड़ोगे ;
यदि टूटे दिल विधवाओं के, करके ब्याह न जोड़ोगे।
यदि उनको तुम व्याधि समझकर, उनसे मुख को मोड़ोगे ;
तो अपने हाथों से किस्मत, अपनी ही तुम फोड़ोगे।

(७)

कहती हूँ अपनी विधवा हूँ, अपनाने का काम करो ;
प्रकृति-नियम तोड़ूँ मैं कैसे, मुझको मत बदनाम करो।
मुझे सताकर बेफ़िकरी से, अब तुम मत आराम करो ;
देखो ! अपने हाथों अपना, मत तुम काम तमाम करो।

देवीप्रसाद गुप्त 'कुसुमाकर'

मिश्रबंधु का जीवन-चरित्र

किसी ग्रंथ को पूर्णतया समझने में उसके ग्रंथकार का भी समझना सहायता-प्रद है। यह बात इन साहित्य-मर्मज्ञ मिश्रबंधु-विनोद प्रमुख ग्रंथों के सुयोग्य लेखक बंधुत्रय जिनकी कीर्ति-पुंज के बढ़ाने में उनके अनुकूल और प्रतिकूल समालोचकों ने समय-समय पर योग दिया है, विशेष रूप से युक्तियुक्त प्रतीत होता है ; इसलिये उन लोगों के जीवन की मुख्य घटनाएँ, जो लेखक को उनके द्वारा एवम् उनके सहवास से प्राप्त हुई हैं, पाठकों के सामने रखी जाती हैं। आशा है कि इस प्रयत्न द्वारा पाठक मिश्रबंधु के ग्रंथों, विचारों तथा क्रियाओं को अधिक सहृदयता और मर्मज्ञता के साथ समझने में समर्थ होंगे।

वंश-परिचय—इनका गोत्र कात्यायन है और कात्यायन, कीलक और विश्वामित्र इनके वंश-प्रवर माने जाते हैं। कात्यायन और विश्वामित्र की क्रिया प्रधान दृष्टि का प्रभाव इस वंश में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। यह लोग पहले पत्योंजा के द्विवेदी कहलाते थे। किंतु इनके पूर्वजों में से पं० राम मिश्र को उनकी विद्वत्ता के कारण काशी के पंडितों द्वारा सम्मान-स्वरूप 'मिश्र' की पदवी मिली। तभी से इनके वंश के लोग 'मिश्र' की उपाधि से विभूषित हुए। मुहूर्त-चिंतामणि के प्रख्यात लेखक चिंतामणि मिश्र इन्हीं के पूर्वज थे।

भगवंतनगर कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के बारह केंद्रों में से है। यहाँ पर इनसे सात पीढ़ी ऊँचे प्रपितामह पं० देवदत्त आकर बसे थे। इनकी बड़ी मान-प्रतिष्ठा थी और यहाँ पर इन्होंने एक महल बनवाया था। इसी कारण से अब तक इनके वंशधर कान्यकुब्जों में महल-वाले कहलाते हैं। इनके बाबा पं० बालगोविंद मिश्र के भाई पं० मुखलाल मिश्र अपनी ससुराल इटौंजे में आ बसे थे। इटौंजा शहर लखनऊ से उत्तर १६ मील पर है। लखनऊ-सीतापुर रेलवे का एक स्टेशन इटौंजा है। पं० मुखलालजी के पुत्र का देहांत तीन वर्ष की अवस्था में भगवंतनगर में हो गया था। इस दुर्घटना के कारण बालक की माता स्वभावतः बहुत विकल थीं। उस काल हमारे मिश्रबंधुओं के पिता प्रायः ७ वर्ष के थे। अपनी जिठानी की विकलता देखकर मिश्रबंधुओं की पितामही ने अपने इकलौते पुत्र के विषय में अपनी जिठानी से कहा कि क्या यह आपका पुत्र नहीं है ? आप इसी को अपना पुत्र समझिए। यह सुनकर उन्होंने वास्तव में ऐसा ही मान लिया और बालक को वे अपने ही पास रखने लगीं। यह बात पं० मुखलालजी ने भी पसंद की और जब वे भगवंतनगर से इटौंजे गईं, बालक को भी उन्हीं के साथ जाना पड़ा। इसी समय से पं० बालदत्त मिश्र अपने ताऊजी के साथ इटौंजे में रहने लगे और वे दम्पती इन्हें पुत्रवत् मानते रहे।

संवत् १८६१ में पं० बालदत्तजी की उत्पत्ति हुई थी और वह सं० १८६८ में इटौंजे आए। यद्यपि यह अपने पिता के एक-मात्र पुत्र थे, तथापि पिता ने उनके वहाँ

रहने पर शील-वश कुछ भी आपत्ति नहीं उठाई । तब से इटौंजा ही इनका पैतृक घर-सा हो गया । इनके पिता ६ भाई थे, जिनमें तीन बड़ी माता से उत्पन्न हुए थे और दूसरे तीन छोटी से । पं० सुखलाल, बालगोविंद और ब्रह्मानंद छोटी माता के पुत्र थे । इन लोगों के तीनों बड़े भाई दूसरे विवाह के कारण पिता पं० सावलेकृष्ण से पहले ही से अलग हो गए थे । पं० सुखलाल के पास इटौंजे में जो सम्पत्ति थी, वह उस सम्पत्ति के प्रायः सम थी, जो भगवंतनगर में पं० बालगोविंद और पं० ब्रह्मानंद के पास रह गई थी । जब पं० बालदत्त ताऊजी के साथ इटौंजे चले आए, तब भगवंतनगर की सम्पत्ति पं० बालगोविंद के पीछे पं० ब्रह्मानंद और उनके तीन पुत्रों को मिली । उनमें से अब केवल पं० अवधविहारी मिश्र जीवित हैं, जो हमारे मिश्रबंधुओं के चचा हैं और अपुत्र होनेके कारण इन्हीं को पुत्रवत् मानते हैं*। पं० बालदत्तजी ग़दर के समय में जवान हो गए थे और उन्होंने उस समय अपने गाँव भगवंतनगर की रक्षा में अच्छा योग दिया था । यद्यपि वह पुरानी चाल के मनुष्य थे, तथापि वह युक्ति-पूर्ण बात को हमेशा पसंद करते थे और अपने लड़कों के तर्क-पूर्ण प्रश्नों से अप्रसन्न न होकर उनकी तर्क-बुद्धि को उत्तेजित करते रहते थे । समाज और धर्म के विषय में उनके उदार भाव थे, किंतु कोई काम ऐसा नहीं करते थे, जिससे कि धर्म में अरुचि और समाज के प्रति अवहेलना प्रकट होती हो । व्यवहार में, धर्म और समाज के बंधनों को उन्होंने बिलकुल शिथिल नहीं किया था । ईश्वर में परम दृढ़ विश्वास न होते हुए भी चित्त की शांति के लिये माला जपते रहते थे ।

पंडितजी बड़े दूरदर्शी थे । अवध में राज्य-परिवर्तन होते ही उन्होंने लेन-देन के काम को बढ़ा दिया और उसमें उनको पूर्ण सफलता हुई । उन्होंने अपनी परिश्रम-शीलता और बुद्धि-बल से अपनी आर्थिक स्थिति अच्छी कर ली । इनको कविता से भी बहुत रुचि थी, जिसका प्रभाव (जैसा आगे बताया जावेगा) उनके लड़कों पर अच्छा पड़ा । यह अपनी कविताओं में 'पूर्ण' की छाप डाला करते थे । इनके सबसे बड़े विमात्र ताऊजी पं० कुंजविहारी मिश्र के पौत्र प्रसिद्ध कवि लेखराज गँधौली ज़िला सीतापुर में रहते थे । गँधौली इटौंजे से प्रायः ६ मील पर स्थित है । नाते में भतीजे होने पर भी अवस्था में वे इनसे बड़े थे । इनके सत्संग से भी पं० बालदत्तजी में साहित्य की रुचि बढ़ी थी । इनका स्वर्गवास ३१ दिसंबर १८९९ (१९५६) में हुआ था ।

जन्म और बाल्यकाल—यद्यपि जिन मिश्रबंधुओं का हिंदी-साहित्य में उल्लेख होता है, वह तीन ही हैं, तथापि वास्तव में उनके एक बड़े भ्राता भी थे, जिनकी मृत्यु सं० १९७४ के दिसंबर मास में हुई थी । पं० शिवविहारी मिश्र उनका नाम था । उनका जन्म सं० १९१७ में हुआ था । यह एंट्रेंस पास करके ही लखनऊ में वकालत करने लग गए थे । इन्हीं के लखनऊ में स्थापित होने के कारण इनके पिता ने १९५४ में अपनी स्थिति इटौंजे से लखनऊ बदली थी। इनसे छोटे पं० गणेशविहारी मिश्र का जन्म सं० १९२२ में हुआ था । इन्होंने इटौंजे ही में संस्कृत और फ़ारसी की शिक्षा पाई थी । पं० श्यामविहारी मिश्र का जन्म संवत् १९३० में हुआ तथा पं० शुकदेवविहारी मिश्र का १९३५ में । यह प्रसव के समय किसी व्यतिक्रम के कारण उल्टे उत्पन्न हुए अर्थात् पैर पहले और सिर पीछे । इसी गड़बड़ से आप मूर्छित हो गए थे और लोग मृतक समझकर त्याग का विचार करने लगे । इनके पिता के चचा ने इनकी माता से कहला भेजा कि शोक न करो और अपने तीनों बच्चों के मुँह देखकर धैर्य धारण करो । माताजी की एक परम प्रिय सखी थीं, जिन्हें पिताजी भवजी कहते थे, वे भी प्रसूति-गृह में थीं और उन्हीं के उपचार से बालक की मूर्छा भंग हुई । इसी तथा अन्य कारणों से भवजी ने अपने मरण-पर्यंत इनको तथा पं० श्यामविहारीजी को सदैव पुत्रवत् माना और इन लोगों ने भी उनके साथ सदा माता के समान व्यवहार किया । यद्यपि उपर्युक्त जन्म के समय पं० श्यामविहारीजी बहुत छोटे थे, तथापि जन्म की प्रतीक्षा यह विचारकर बड़े उत्साह के साथ करते थे कि हमको भी 'दादा' कहनेवाला उत्पन्न होनेवाला है । इस उत्पत्ति में प्रेम-पूर्ण स्वभाव के कारण उन्हें साधारण से अधिक प्रसन्नता हुई थी ।

उत्पत्ति से पाँच-छः माह तक पं० शुकदेवविहारी का स्वास्थ्य बहुत ख़राब रहा । दस्तों की मुख्य शिकायत थी । इनकी माता तथा उपर्युक्त भवजी की इच्छा हुई कि

* इनका देहांत संवत् १९८२ में हो गया ।

नैमिषारण्य पर पसनी हो, किंतु पिताजी ने कहा कि बालक को नैमिष तक पहुँचना ही कठिन है। इस पर भवजी ने कहा, यों ही कब जिया जाता है। स्त्रियों की नैमिष जाने की इच्छा बलवती समझकर मिश्रबंधुओं के छोटे पितामह उनके साथ नैमिष तक गए। नैमिष वहाँ से प्रायः ३० मील है। कष्ट बचाने के लिए आप कुल मार्ग-भर बच्चे को गोदी में लिए हुए पैदल चले गए। चक्र में स्नान कराते ही बच्चे का रोग दूर हो गया और तब से वह हृष्ट-पुष्ट रहने लगा।

मिश्रबंधुओं का बाल्यकाल इटौंजा में ही बीता। वहाँ एक छोटा हिंदी स्कूल था, जिसमें अब प्रायः ४०० लड़के पढ़ते हैं। इटौंजे में रेल गए हुए प्रायः ३५ साल हुए होंगे। हाल में वहाँ एक अस्पताल भी स्थापित हो गया है।

कनिष्ठ मिश्रबंधुओं की वयस में बहुत अंतर नहीं है, इसलिये यह एक दूसरे के खेल में भी साथी रहते थे। पं० शिवविहारी और गणेशविहारी अवस्था में बड़े थे। पं० शिवविहारी तो लखनऊ ही में रहने लगे थे और पं० गणेशविहारी मकान पर ही रहते थे। यद्यपि पं० बालदत्तजी अपने पुत्रों के विषय में 'लालने बहवो दोषाः ताडने बहवा गुणाः' वाले नियम को पूर्णतया नहीं लगाते थे, तथापि इस कमी को पं० गणेशविहारी भली प्रकार से पूरी कर देते थे। इनके भय से यह बालकद्वय अपने घर के पीछे के मार्ग से खेल के स्थान को जाया करते थे। लौटते समय यह लोग मुख्य द्वार से आते थे, लेकिन इस बात को कोई आपत्ति नहीं उठाता था कि क्यों खेलने गए थे। यदि खेल को जाते हुए देखते, तो अवश्य रोक देते थे। भविष्य का अधिक ध्यान था, अतीत काल के लिये इतना न था। इन दोनों में से बड़े में उपद्रवी स्वभाव की भी मात्रा कुछ थी। छोटे बहुत बातों में उनका अनुकरण-मात्र करते थे। इस कारण इनमें कुछ बहुत पछताछ नहीं होती थी। यद्यपि इनमें अपनी अवस्था के प्रतिकूल गम्भीर्य की मात्रा अधिक थी, तथापि यह अनुकरण कंटक-पथ के अरुचिकर अनुसरण की भाँति न था। इसमें इनकी भी पूरी-पूरी रुचि थी, भेद इतना ही था कि यह खेल-कूद के कामों में इतने अग्रसर न थे, जितने कि बड़े भ्राता।

इटौंजे में बालकों की अच्छी गोष्ठी थी और मुहल्ले में सभी खेल होते थे। मुहल्ले के बाहर खेलने जाने की न आज्ञा थी, न इच्छा। होली-दिवाली को भी खूब जमघट होता था। होली में वृद्ध पंडितजी के सिवाय सभी शामिल होते थे। इस बाल्य-काल के खेल-कूद में भावी जीवन पर यह प्रभाव पड़ा कि यह संसार की सभी बातों में रुचि रखते रहे। साधारण-से-साधारण वस्तु का महत्त्व समझा। संसार को सचाई सार माना। अहम्मन्य वृथाडम्बर करनेवाले पुरुषों के दल में नहीं शामिल हुए। कनिष्ठ मिश्रबंधुओं में उस काल ही से खेल में भी साथी होने के कारण बहुत अधिक प्रीति-भाव रहता आया है। पं० श्यामविहारी संवत् १६४४ में भाई के पास लखनऊ पढ़ने चले गए। जब छुट्टी में घर वापस आते थे, तब सदैव की भाँति फिर खेल-कूद रहता था। खेलों में दौड़-धूप के अतिरिक्त शतरंज, गंजीफ़ा, चौसर, ताश और सूजापाटी में इन लोगों की विशेष रुचि रही। पं० श्यामविहारी चौसर के खेल में अधिक प्रवीण हैं और कनिष्ठ भ्राता ताश में। बाल-वयस में गोली भी अच्छी खेलते थे और बंदूक से उड़ती चिड़िया और भागता मृग तक मार देते थे। धनुष बाण, गुल्ला-गुलेल का बहुत थोड़ा अभ्यास था। तैरना ज्येष्ठ बंधु अच्छा जानते हैं, कनिष्ठ बहुत थोड़ा और मध्यम बिलकुल नहीं। आगे चलकर टेनिस, बिलियर्ड, पिंगपांग, बैडमिंटन आदि में भी कुछ-कुछ अभ्यास दोनों कनिष्ठ भ्राताओं को हुआ, किंतु अच्छी प्रवीणता न आई। व्यायाम में चलने का विशेष अभ्यास है।

एक बार मध्यम भ्राता के लखनऊ से आने में उस रोज़ पं० शुकदेवविहारी स्कूल नहीं गए। मुंशी रामप्रसाद ने, जो उस समय स्थानिक स्कूल के अध्यापक थे, दूसरे रोज़ इनसे स्कूल न आने का कारण पूछा। इन्होंने साफ़-साफ़ कह दिया कि बड़े भाई लखनऊ से आए थे, उन्होंने कहा खेलने चलो, सो चले गए। मुंशीजी ने कहा कि अगर वह कहते कि कुएँ में गिर पड़ो, तो क्या गिर पड़ते। पंडितजी ने तत्काल उत्तर दिया, अवश्य गिर पड़ते। उसी के दो-एक दिन बाद पं० श्यामविहारी भी मुंशीजी से तथा अपने इष्ट मित्रों से मिलने स्कूल में गए। मुंशीजी ने उपर्युक्त हाल कहकर इनसे कहा कि ज़रा इनसे कह तो दो देखें यह कुएँ में गिरते हैं या नहीं। पं० श्यामविहारी

ने कहा कि वाह मुंशीजी ऐसा कैसे कह दें। वह तो हमारी मान-प्रतिष्ठा रखने के लिये कुएँ में गिरने को तैयार हैं। हम कहकर क्यों उसे भंग करावें ? और अगर वह सचमुच गिर ही पड़े, तो ग़ज़ब ही हो जावे। यद्यपि दोनों भाइयों के उत्तरों में किंचित् गुरु की अवज्ञा प्रकट होती है, तथापि यह दोनों भाइयों के पारस्परिक प्रेम और अनुरक्ति का अच्छा उदाहरण है। यह लोग बाल्य-काल से ही सत्यप्रिय रहे हैं। उपर्युक्त वार्तालाप से सत्यता के कारण मुंशीजी भी बहुत प्रसन्न हुए थे। पं० शुकदेवविहारी के बाल्य-काल की एक घटना से यह प्रकट होता है कि यह न केवल स्वयं ही सत्य के प्रेमी थे, वरन् दूसरों को भी अपनी ही भाँति सच्चा समझते थे। एक बार यह खीरे खरीदने इटौंजे के बाज़ार गए। कुंजड़ा पैसे के चार खीरे देने लगा। इन्होंने पाँच खीरे माँगे। उसने कहा कि चार खीरे तो मेरी ख़रीद है, पाँच कहाँ से दूँ। बुद्धिमान् बालक ने कहा यदि ऐसा है तो यह एक खीरा वापस लो, यह तुम्हारी नफ़ा का है। बेचनेवाला भी ऐसा पक्का आदमी था कि इस विश्वास के बदले भी उसने ईमानदारी का व्यवहार नहीं किया। हमारे पंडितजी ने घर आकर अपनी माता के सामने खीरे रख दिए, तो उन्होंने कहा कि अमुक बालक तो पैसे के छः लाया था, तुमको उसने किस प्रकार से तीन दिए। इन्होंने सब कथा कह सुनाई। तब इनकी माता ने इनको बतलाया कि यह लोग तो ऐसी झूठी बात कह देते हैं। साधारणतया इनको इस बात पर विश्वास न आता, किंतु यह बात माता ने कही थी, इस कारण विश्वास आ गया। माता ने समझाया कि इस प्रकार विना सोचे साधारण आदमियों की बात न मान लेनी चाहिए।

पं० श्यामविहारी अपने ग्राम के स्कूल की शिक्षा पूरी करके सन् १८८७ में बड़े भाई के पास लखनऊ चले गए थे। वहाँ यह ब्रांच स्कूल और फिर जुबली स्कूल में पढ़े। मिडिल को छोड़, वे सब दर्जों में बराबर पास होते चले गए। केवल मिडिल में फेल होने से इनको इतनी लज्जा लगी थी कि आगे के दर्जे में तरक्की मिल जाने पर भी जब तक आप इंट्रेंस पास न हो गए तब तक दो वर्ष-भर ज्येष्ठ भ्राता के मित्र बाबू भैरोंप्रसाद के सामने न हुए। इनको इतनी ग्लानि थी कि एक बार चित्त में अस्थिर विचार आ गया कि यदि इंट्रेंस में भी फेल हो जावेंगे, तो आत्महत्या कर डालेंगे। पीछे से इस विचार पर आप बहुत लज्जित हुए, किंतु एक बार कुछ काल के लिये यह आया अवश्य। फिर कालेज में भर्ती हुए और संवत् १९५१ में बी० ए० प्रथम श्रेणी और अँगरेजी में ऑनर्स से पास किया। इसी से उनको एम० ए० परीक्षा एक ही साल में देने का अधिकार मिला और वह उसमें सफल भी हुए। ऐसा कभी नहीं हुआ कि उन्होंने ऊँच क्लास में किसी साल तरक्की न पाई हो। एम० ए० के लिये एक ही साल पढ़े और उसमें भी डेढ़-दो मास आँखें दर्द करती रहीं। उस काल कनिष्ठ भ्राता अपना पाठ छोड़कर इन्हें इनकी कक्षा के ग्रंथ पढ़-पढ़कर सुनाया करते थे। इतनी बाधा होते हुए भी ये एम० ए० एक ही साल में पास हो गए और उस पर भी युनिवर्सिटी में ऊँचा नंबर आया।

दस वर्ष की अवस्था में पं० शुकदेवविहारी भी लखनऊ आ गए। उन्होंने जुबली स्कूल में अँगरेजी अध्ययन आरंभ किया। आपने मिडिल अव्वल दर्जे में पास किया और वज़ीफ़ा पाया। अँगरेजी में आप डिस्टिंग्विशड (प्रख्यात) हुए थे। फिर संवत् १९५२ में स्कूल फ़ाइनल परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की, और विश्वविद्यालय में इनका तीसरा नंबर रहा। इस कारण इस बार भी वज़ीफ़ा पाया। इसी प्रकार एफ़० ए० में प्रथम श्रेणी में पास हुए और विश्वविद्यालय में तीसरा नंबर रहा और वज़ीफ़ा मिला। बी० ए० में बीमार हो जाने के कारण दूसरी श्रेणी में पास हुए। इनको एक रजत-पदक एफ़० ए० में मिला था और दो स्वर्ण-पदक बी० ए० में और १९०५ की सरस्वती के लेखों में इनका एक लेख सर्वोत्तम समझे जाने के कारण इन दोनों भाइयों को एक स्वर्ण-पदक मिला था। इनके बड़े भाई को भी बी० ए० में दो स्वर्ण-पदक मिले थे। इन दोनों भ्राताओं का नाम अपने-अपने साल में बी० ए० की परीक्षा में कॉलेज में अव्वल आने के कारण कैनिंग कॉलेज की भीत पर स्वर्ण-अक्षरों में लिखा हुआ है। सं० १९५६ में बी० ए० पास कर एक ही वर्ष में इन्होंने हाईकोर्ट की वकालत का इम्तिहान पास कर लिया।

इनके लखनऊ के शिक्षा-काल के विषय में कुछ बातें विशेषरूप से लिखने योग्य हैं। एक यह है कि लखनऊ की बाल-समाज में यह इतनी स्वतंत्रता के साथ नहीं मिलते थे, जितने कि इटौंजे की। कारण यह था कि

बाहरवालों का प्रायः यह विचार था कि लखनऊवालों में अनुचित आचरणों की मात्रा कुछ विशेष होने से वहाँ की बाल-समाज में सम्मिलित होना ठीक नहीं है। यह बात अशुद्ध होने पर भी इन लोगों को उस काल लखनऊ की बाल-समाज में अधिक मिलना आचरणों के लिये भय-प्रद समझ पड़ा। दूसरा कारण यह था कि इनके पूज्य पिता अंतिम समय में स्वास्थ्य बिगड़ने के कारण चिकित्सा के अभिप्राय से प्रायः १० वर्ष बहुत करके बराबर लखनऊ रहे। दोनों कनिष्ठ मिश्रबंधु अवकाश के समय उन्हीं के पास बैठते और रामायण, महाभारत तथा अन्य हिंदी के ग्रंथ उन्हें सुनाते तथा उनसे वार्तालाप भी करते थे। इनके हिंदी-प्रेम का यह भी एक कारण है। बड़े भाई तो कभी-कभी क्रिकेट खेलने चले भी जाते थे, किंतु छोटे भाई शायद ही कभी मैच वग़ैरह देखने जाते हों। यह दोनों हमेशा स्कूल या कॉलेज से सीधे घर ही आते थे। एक रोज़ किसी शिक्षक के यहाँ चले जाने के कारण कनिष्ठ भ्राता ६ बजे घर पर लौटे थे। इतने ही में उनके लिये लोग ढूँढ़ने को जाने लगे। यह बात इस इनके स्कूल और कॉलेज से शीघ्र घर लौटने की आदत को प्रमाणित करती है। इसके संबंध में पं० शुकदेवबिहारी की वकालत के समय की एक बात से यह प्रकट होता है कि जीवन में प्रवेश करने पर भी वह अपने को शासन में रखने के इतने अभ्यस्त थे कि स्वतंत्रता उन्हें अनुचित समझ पड़ती थी। आपने वकालत कान्यकुब्जों के मुख्य उद्गम स्थान कन्नौज में आरंभ की थी। वहाँ आप पं० बतानूलाल मिश्र के मकान पर रहते थे। एक रोज़ वहाँ आप अपने एक डॉक्टर मित्र के यहाँ से ९ बजे रात को घर पर लौट कर आए, तो उन्होंने जिनके घर में रहते थे, उनसे आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा कि हम नौ बजे लौटकर आए और आपने पूछा भी नहीं कि इतनी रात तक कहाँ रहे। घर के मालिक को इस पर बहुत ही आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा कि शुरू से बहुत शासन में रहे मालूम होते हो। भला हमको पूछताछ करने का क्या अधिकार है? यह आपका सौजन्य है कि आपने हमको अपने घर के बड़ों की भाँति माना। वास्तव में यह शासन बाहरी शासन न था, आत्मशासन ही था। पं० शुकदेवबिहारी के संबंध में एक बात और लिखने योग्य है। जब यह एफ़० ए० का इम्तिहान देनेवाले थे, तब इनको शीतला-रोग से पीड़ित होकर बड़ा दुःख उठाना पड़ा। शीतला के कारण से यह परीक्षा में भी न शामिल हो सके। इनके प्रोफ़ेसर ने इस बात पर शोक प्रकट करके कहा कि "The brightest boy of the class is not appearing अर्थात् कक्षा का सबसे श्रेष्ठ विद्यार्थी परीक्षा में शामिल नहीं हो रहा है।

शीतला का कष्ट प्रायः १५ दिन रहा। मार्च का महीना था। प्रायः आठ दिन ऐसे ख़राब बीते कि दिन को यह समझा करते थे कि रात कब होगी और रात इतनी लंबी दिखती थी कि समझ पड़ता था कि क्या सूर्योदय होगा ही नहीं। अवस्था प्रायः अठारह साल की थी। इन्होंने विश्रामसागर में लिखित यमदूतों का वह रोमांचकारी वर्णन पढ़ रक्खा था कि वे कैसे भयानक रूपों और संख्याओं में पापियों को मारने आते हैं और उन्हें कैसे कष्ट देते हैं, इनको समझ पड़ा कि वैसे ही यमदूत हमको मारने आए हैं और पलँग के चारों ओर खड़े हैं। यमदूतों का मानसिक चित्र इतना दृढ़ हुआ कि यह जानते थे कि यह सब मानसिक कल्पना-मात्र है, किंतु तो भी उसका ध्यान नहीं छूटता था। आँखें खोलने से अपने पास बैठे हुए लोगों को देखने लगते थे, किंतु नेत्र बंद करने ही यमदूतों का तमाशा फिर दिखने लगता था। वे इनसे बार-बार कहते थे कि हमारे साथ चलो और ये इनकार करते थे। इनका कहना था कि उत्पन्न होने से उस काल तक इन्होंने विद्या-प्राप्ति आदि में परिश्रम-ही-परिश्रम किया था, किंतु उसका फल कुछ न पाया था। इनका यह भी कहना था कि हमने संसार में भेजे जाने के लिये ईश्वर के यहाँ कोई प्रार्थना-पत्र तो दिया ही न था, तब फिर इतना परिश्रम करने के पीछे उसका कुछ फल दिए बिना वापस बुलाना अन्याय है। इन्होंने जाने से साफ़ इनकार किया, किंतु यमदूतों ने केवल इतना कहा कि हम यह कुछ नहीं जानते। हम तो हुक्मीबंदे हैं और तुमको ले ही चलेंगे। तुम अपना उज्र वहाँ कर लेना। इन्होंने उत्तर दिया कि जब चले ही गए, तो उज्र किससे करेंगे। इस पर इन्हें समझ पड़ा कि उन्होंने आपस में कहा कि ये नर्मी से न चलेंगे, ज़बर-दस्ती घसीटकर ले चलो। अब इनके दोनों ओर खड़े होकर एक-एक दूत ने एक-एक उँगली बग़ल में लगाई

और दूसरा हाथ कमर की ओर उठाने को ले चले। अब विवश होकर आप मानसिक रीति से उनके साथ चल दिए। बड़े कष्टप्रद मार्ग में सब लोग जाने लगे। मार्ग में मिश्रजी को समझ पड़ा कि एक मरे बैल के पेट में उनका पैर घुस पड़ा, जो रास्ते में पड़ा था। मिश्रजी को मलिन वस्तुओं से बड़ी घृणा है, सो बहुत नाराज़ होकर और उनके साथ चलने से, इस घटना के कारण, इनकार करके आप वापस आए। वे भी आकर चलने का हठ करने और मारने को धमकाने लगे। इतने में आपको समझ पड़ा कि यमदूत तो पापियों को लेने आते हैं, सो मेरे पास कैसे आए; क्योंकि मैंने कोई पाप नहीं किया है। यह भाव उठते ही समझ पड़ा कि वे सब अंतर्ध्यान हो गए और आसमान से एक विमान आया, जिसमें दो शिष्ट सेवक बैठे थे। उन्होंने आदर-पूर्वक कहा कि आपके पास यमदूत भेजने में अवश्य भूल हुई। अब आप इस विमान पर चढ़कर धर्मराज के पास चलिए। मिश्रजी ने कहा कि आप तो सभ्य पुरुष हैं, क्या आपको ज़बरदस्ती करनी चाहिए? उन्होंने उत्तर दिया कि बल-प्रयोग की कोई बात नहीं है, हम तो आपको स्वर्ग लिए चलते हैं, जहाँ आप यहाँ से बहुत अच्छे रहेंगे। मिश्रजी ने उत्तर दिया कि इच्छा से तो हम स्वर्ग में भी न जायँगे, चाहे आप बल-पूर्वक घसीट ले चलिए। यह सुनकर वे विमान-सहित वापस चले गए। इन बातों से समझ पड़ता है कि यमदूतों के विचार मानसिक चिंता-मात्र हैं।

परीक्षा में सम्मिलित न होने के कारण पंडितजी भी बहुत निराश हुए। एक साल ख़राब होने के भय से इन्होंने अपने पिता की सेवा में अपने विलायत भेज दिए जाने का विचार प्रकट किया। पिताजी ने कहा कि ग्यारह हज़ार रुपए ख़र्च करें और लड़के को ब्याज में हाथ से खोवें, ऐसी शिक्षा हमें नहीं दिलानी है। पंडितजी भी समझाने-बुझाने से मान गए और फिर अच्छे होने के पश्चात् उन्होंने यथोचित रीति से पढ़ने-लिखने में पुनः मन लगाया और वे परीक्षा में बड़े गौरव के साथ पास हुए। इन दोनों भाइयों में यह विशेष प्रशंसनीय बात थी कि घर की ओर से किसी प्रकार का दबाव न होने पर भी इन्होंने उस ताड़ना के अभाव का साधारण लोगों की भाँति दुरुपयोग नहीं किया। यही इनकी जीवन-संबंधी सफलता का मुख्य कारण है। यह लोग शुरू से ही अपना उत्तरदायित्व पूर्णतया समझे आए हैं।

विवाहादि-संबंध—पं० गणेशविहारीजी का पहला विवाह संवत् ३७ के लगभग सुमेरपुर में हुआ। संवत् १९४६ में इनकी धर्मपत्नी का देहांत हो गया। इसके पश्चात् संवत् ४८ में दूसरा विवाह सुमेरपुर ही में किया। दूसरी धर्मपत्नी का भी संवत् १९६५ में देवलोक हो गया। यद्यपि इनकी अवस्था उस काल केवल ४३ वर्ष की थी, तथापि इसके पश्चात् इन्होंने विवाह नहीं किया। पंडितजी के दो पुत्र हैं। पहली स्त्री से पं० राजकिशोर और दूसरी स्त्री से पं० प्रतापनारायण। पं० राजकिशोर संवत् ६३ में अमेरिका गए थे। संवत् ७० में कपड़े बिनने का काम (Txtile Ingineering) सीख कर लौटे। यह आजकल बंबई के प्रसिद्ध मिल (मुरारजी गोकुलदास मिल्स) में बहुत उच्च पद पर नियुक्त हैं। पं० प्रतापनारायणजी भी अपने बड़े भाई के ही पास मिल में काम सीखते हैं।

पं० श्यामविहारी मिश्र का विवाह त्रिवेदीगंज में संवत् ४२ में हुआ। उनके तीन पुत्र हुए। सबसे ज्येष्ठ पुत्र काशीप्रकाश की मृत्यु ११ वर्ष की अवस्था में हो गई थी (हा काशीप्रकाश ! नामक कविता, जो पुष्पांजलि प्रथम भाग में छपी है, इसी की मृत्यु पर लिखी गई थी।), उससे छोटे आदित्यप्रकाश, कमरशियल डिप्लोमा क्लास की परीक्षा के लिये तैयार हो रहे हैं और सबसे छोटे आबालप्रकाश की अभी छोटी ही अवस्था है।

पं० शुकदेवविहारी का विवाह नादरपुर ज़िला सीता-पुर संवत् १९४६ में हुआ था। इनके कोई औरस संतान नहीं है, किंतु अपने पाँचों भतीजों को पुत्रवत् मानकर प्रसन्न रहते हैं।

सबसे बड़े भाई पं० शिवविहारी के पुत्र पं० लक्ष्मी-शंकर सन् १९२० में इँगलैंड से लौटे थे। यह केम्ब्रिज युनिवर्सिटी के एम० ए० हैं और आजकल लखनऊ में बैरिस्टरी करते हैं।

इनकी दोनों बहनें लखनऊ में बाजपेइयों के घराने में ब्याही हुई थीं। बड़ी का देहांत संवत् १९६३ में हुआ था। उनके दो पुत्र और एक कन्या वर्तमान हैं। छोटी के पति पं० भैरवप्रसाद उपनाम विशाल कवि थे। यह कनिष्ठ मिश्रबंधुओं के यावज्जीवन सखा रहे। इन्होंने

यावज्जीवन सिवाय साहित्य-रचना के और कोई काम नहीं किया। इनके कई ग्रंथ प्रस्तुत थे। बिसवाँ कवि-मंडल से इनको हास्य-रसेंदु की उपाधि मिली थी। इनका शरीरांत संवत् १९६४ में ४० वर्ष की अवस्था में हो गया। इनकी मृत्यु से हमारे चरित्र-नायकों को बहुत बड़ा क्लेश हुआ था। अब तक इनको उनका वियोग दुःख देता है। इनका विचार है कि जीवन का पूर्ण स्वाद उन्हीं के साथ चला गया। इनके कई पुत्र, कन्याएँ हुईं, किंतु जीवित कोई नहीं रहा। यह छोटी बहन अपने पति के मृत्यु के पश्चात् अपने भाइयों के यहाँ ही रहती हैं।

जीवन-प्रवेश—पं० गणेशविहारीजी ने पिता के सामने ही घर के काम, ज़मींदारी, लेन-देन और अन्य रोज़गार की देखभाल करनी आरंभ कर दी थी। भाई लोग नौकरी और वकालत का काम करते रहे। घर के प्रबंध का प्रायः सभी भार इनके ऊपर रहा। पिता की मृत्यु के बाद, जो कि संवत् १९५६ में हुई थी, यह भार पूर्णतया इनके ऊपर आ गया। ज़मींदारी, लेन-देन के काम को यह बड़ी योग्यता और परिश्रम के साथ चला रहे हैं। प्रायः २० साल से आप लखनऊ डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के प्रजा की ओर से चुने हुए मेम्बर हैं और कुछ काल से उसके उपसभापति भी हैं *।

पं० श्यामविहारी एम० ए० पास करते ही संवत् ५४ में डिप्टी कलेक्टर हो गए। पहलेपहल इनकी नियुक्ति अलीगढ़ में हुई। यहाँ पर यह सर सैयद अहमद के यहाँ मिलने प्रायः जाया करते थे। यह सर सैयद को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। पं० शुकदेवविहारी भी जब अलीगढ़ जाते थे, तब यह भी उनके साथ सर सैयद के यहाँ जाते थे। एक दिन जब पं० श्यामविहारी सर सैयद के पास बैठे हुए थे, तब इनके पुत्र जस्टिस महमूद वहाँ आए। जब सर सैयद ने इनका पंडितजी से परिचय कराया, तब उन्होंने इनकी ओर देखकर कहा था—"बलायसरसज़े होशमंदी मीताफ़्त सितारये बुलंदी।" एक बार छोटे पंडितजी से सैयद साहब ने पूछा कि बेटा, तुम्हारे भाई तो इतने बड़े ओहदे पर पहुँच गए तुम क्या करोगे? इन्होंने उत्तर दिया कि जैसा आपको हुआ होगा, वैसा हो जावेगा। किंतु इनके चित्त में बड़ा आश्चर्य हुआ कि डिप्टी कलेक्टरी है ही क्या वस्तु, जिसके लिये उन्होंने इस तरह से कहा। जब इन्होंने डिप्टी साहब से अपनी शंका प्रकट की, तब उन्होंने यह कहकर समझा दिया कि उन्होंने अपने विचार से नहीं कहा, वरन् तुम्हारे विचार से। अलीगढ़ के संबंध में यह कह देना आवश्यक है कि इन दोनों भाइयों का पहला ग्रंथ "लवकुशचरित्र" अलीगढ़ ही में संवत् १९५५ में लिखा गया था। यह प्रायः १०० पृष्ठों का पद्य-ग्रंथ एक मास के परिश्रम का फल है। इनको यह भय था कि पिताजी इस ग्रंथ का हाल सुनकर अप्रसन्न न हों, किंतु वह इसको सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। डिप्टी कलेक्टरी की दशा में इनको संयुक्तप्रांत व अवध के ज़िलों में रहना पड़ा। उनमें से इटावा, बुलंदशहर, गोंडा, बनारस, गोरखपुर, जौनपुर, बस्ती, आज़मगढ़, बाँदा, इलाहाबाद मुख्य हैं।

जब आप इटावे में डिप्टी सुपरिंटेंडेंट पुलिस थे, उस समय की एक घटना उल्लेखनीय है। सन् १९०६ में किसी व्यक्ति ने राजद्रोह-संबंधी कुछ बातें एक काग़ज़ पर लिखकर इनको और बाबू ईश्वरीप्रसाद डिप्टीकलेक्टर, लगभग पचास हिंदू अफ़सरों एवं अन्य सज्जनों को विपत्ति में डालने के लिये इन लोगों के उस काग़ज़ पर जाली दस्तख़त बनाए। गवर्नमेंट ने चार बड़े-बड़े ऑफ़िसर जाँच के लिये नियुक्त किए। जालसाज़ी बहुत पक्की थी। पंडितजी को इसका कुछ पता न था। आप डिप्टी कलेक्टरी से डिप्टी सुपरिंटेंडेंटी पर अपनी प्रार्थना पर गए थे, किंतु आपकी समझ में आपकी वेतन-वृद्धि अपर्याप्त थी। जब आपने सुना कि पुलिस के सबसे बड़े ऑफ़िसर आए हैं, तब वेतन-वृद्धि के विषय में बातचीत करने को उस बँगले पर गए, जहाँ वे ठहरे थे। बाबू ईश्वरीप्रसाद आपके बड़े मित्र थे। वे जाति के कायस्थ और बड़े ही धर्म-निष्ठ थे। आपने बँगले के पास उन्हें बैठा पाया और स्वभावतः आप उन्हीं के पास जाकर बैठ गए। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा कि पंडितजी! मैं तो अब बाग़ी हो गया हूँ, आप मेरे पास न बैठिए। मैं अपने संग से एक ब्राह्मण का सर्वनाश करना नहीं चाहता। पंडितजी ने कहा—बात क्या है, सो तो जान पड़े। उन्होंने उत्तर दिया कि यदि हाकिम लोग आपको मेरे पास बैठा देखेंगे, तो मुझ ही सा समझ लेंगे। इससे मैं हाथ जोड़ता हूँ कि आप मुझ

* प्रायः तीन साल हुए वृद्धावस्था के कारण आप प्रसन्नता-पूर्वक बोर्ड से अलग हो गए।—लेखक

दो चाँद

इतने में गहन समे सांतल एक व्याज बड़ा अटपटा हुआ :
नभ से अवनी अवनी से नभ अब उछलै नटका बटा हुआ ।

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ ।

से दूर बैठिए। इतना कहकर डिपुटी साहब अपनी कुर्सी हटाकर इनसे दूर जा बैठे। पंडितजी अपनी कुर्सी इनके पास ले जाकर फिर उनसे सटकर बैठ गए और बोले कि कुछ हाल तो बताइए। तब उन्होंने बताया कि किसी ने राज-विद्रोह का एक काग़ज़ बनाकर उस पर पचास-साठ भलेमानसों के दस्तख़त बनाए हैं और उनकी ओर से विद्रोह करने तथा चंदा देने का हाल लिखा है। उस पर मेरे भी दस्तख़त बनाए गए हैं। मैंने न ऐसा काम किया, न दस्तख़त किए, किंतु मेरे हस्ताक्षर ऐसे साफ़ हैं कि मैं यह नहीं कह सकता कि वे मेरे नहीं हैं, और यही मैंने हाकिमों से कह दिया! मैं तो फँस चुका, अब आप मेरे पास बैठकर क्यों फँसना चाहते हैं? पंडितजी ने उत्तर दिया कि आप बड़े सीधे आदमी हैं, सो आप कुछ कह न सके। यदि मेरे विषय में कोई जाल बनाता, तो उसे मालूम होता कि जाल बनाना क्या है। भला यह तो बतलाइए कि आपका शक किस पर जाता है? डिपुटी साहब ने कहा कि ख़लील नाम का एक जालसाज़ शहर में है, जिसे मैंने एक बार सज़ा दी थी, किंतु वह अपील से छूट गया था। संभव है उसी ने बनाया हो। भाग्य-वश वास्तव में जाल उसी द्वारा बनाया गया था और मुख़बिर बनाकर उसी द्वारा वह काग़ज़ सरकार में पेश कराया गया था। यह बातें हो ही रही थीं कि अंदर से पंडितजी को बुलावा आया। उन्होंने चपरासी से कहा कि मैंने तो अभी तक इत्तिला भी नहीं कराई, यह बुलावा कैसा? चपरासी ने उत्तर दिया, बुलावा आप ही का है किसी और का नहीं। जब पंडितजी अंदर गए तो देखते क्या हैं कि एक के स्थान पर चार ऊँचे अँगरेज़ ऑफ़िसर बैठे हुए हैं। नियम-पूर्वक सलाम करके ये भी एक कुर्सी पर बैठ गए, तो एक ऑफ़िसर ने इनसे पूछा कि क्या बाबू ईश्वरीप्रसाद से आपकी कोई बातचीत अभी हुई थी? पंडितजी ने उत्तर दिया हाँ, वे कहते थे कि किसी जालिया ने पचास-साठ सज्जनों पर राजविद्रोह का जाल रचा है और उनके भी हस्ताक्षर उसी काग़ज़ पर बनाए गए हैं। इस पर प्रश्न हुआ कि कुछ और भी बातें हुईं, तो उत्तर मिला कि मेरे पूछने पर उन्होंने एक जालिए का नाम लेकर उस पर उस जाल का संदेह प्रकट किया था। उसका नाम मुझे स्मरण नहीं है। इस पर अफ़सरों ने पंडितजी के सामने ही बाबू ईश्वरीप्रसाद को फिर बुलाकर उनसे पूछा कि आपकी पंडितजी से अभी कोई बातचीत हुई थी, तो उन्होंने कहा, हाँ। इस पर अफ़सरों के पूछने पर उन्होंने जालिए का नाम बता दिया। अब वे बाहर भेज दिए गए और पंडितजी ने अफ़सरों को संतोष दिलाते हुए कहा कि हम दृढ़ता-पूर्वक कह सकते हैं कि बाबू ईश्वरीप्रसाद इन बातों में कभी न पड़े होंगे।

इस पर अफ़सरों की ओर से एक ने कहा कि क्या यह सुनकर आपको आश्चर्य होगा कि इसी काग़ज़ पर आपके भी हस्ताक्षर कहे जाते हैं और आपके द्वारा २०) चंदा देना लिखा हुआ है। जब पंडितजी ने यह सुना, तब उन्होंने असीम आश्चर्य प्रकट करके दृढ़ता-पूर्वक कहा कि यह काग़ज़ अवश्यमेव जाली है। आपने काग़ज़ देखकर और बड़े आवेश में आकर दस-पंद्रह मिनट व्याख्यान-सा दिया, जिसका सारांश यह था कि "मैं क़ायम मुक़ाम कप्तान पुलिस रह चुका हूँ और सरकारी बड़े-बड़े गुप्त काग़ज़ न केवल देख सका हूँ, वरन् उनकी तैयारी में भी योग दे चुका हूँ। उस काग़ज़ में यह लिखा था कि इटावे के हिंदू सज्जनों ने राजविद्रोह करने और इटावे के अँगरेज़ों के मार डालने का मंसूबा बाँधा था। मिश्रजी ने बहुत बल पूर्वक कहा कि क्या यह स्वप्न में भी सोचा जा सकता है कि मैं पुश्तैनी सज्जन और इतना बड़ा सरकारी आफ़िसर होकर ऐसा गर्हित कर्म सोचूँगा कि इटावे के उन अँगरेज़ अफ़सरों को मार डालूँ, जिनमें से कई मेरे मित्र भी हैं? फिर एम० ए० पास करके और उसके पीछे दस वर्ष तक और ज्ञान उपार्जित करके क्या मैं इतना भी न समझूँगा कि चार-छः अँगरेज़ों के मरने से सरकार के राज्य पर समुद्र से एक बूँद कम करने का ही हाल होगा? पहले तो ज़िला इटावा ही विना कारण राज-विद्रोह में सम्मिलित नहीं हो सकता, और यदि हो भी जावे, तो क्या मैं इतना भी नहीं समझ सकता कि एक ज़िला कर ही क्या सकता है? यहाँ न कोई आजकल राजनैतिक आंदोलन है और न अशांति, तब प्रजा में राज-विद्रोह का विचार उठ ही कैसे सकता है? फिर यदि मैं राज-विद्रोह की गोष्ठी में होता, तो अपने छोटे-छोटे लड़के-बच्चे यहाँ क्यों रखता? और उन्हें किसी सुरक्षित स्थान पर क्यों न भेज देता? जब से मैंने नौकरी की है, तब से अपने आय-व्यय का पूरा हिसाब रक्खा

है। मैं अभी कुंजी देता हूँ, मेरे बॉक्स से हिसाब की पुस्तक मँगाकर देखा जावे, उसमें २०) का यह ख़र्च पड़ा है या नहीं। यदि कहा जावे कि मैं अपने हिसाब में फँसने का मसाला क्यों रखता, तो उत्तर यह है कि जब मैं इतना हिम्मतदार था कि ऐसे काग़ज़ पर दस्तख़त कर दिए जिसे औरों के पास जाना था, तो ऐसी पुस्तक में लिखने में क्या भय था, जो अपने ही पास रहनी थी? फिर एक ही काग़ज़ पर सब लोग हस्ताक्षर क्यों करते और यदि किया भी था, तो उसे ऐसी मूर्खता से क्यों रखते कि सहज ही में सरकार के हाथ में पड़ जाता? फिर मैं केवल तेंतीस वर्ष का हूँ, सो यदि मान भी लिया जावे कि गरम खून के कारण मैं राज-विद्रोह की गोष्ठी में पड़ सकता हूँ, तो बाबू ईश्वरीप्रसाद के समान वृद्ध पुरुष के विषय में यह क्योंकर सोचा जा सकता है? उन्होंने सरकार की गुण-ग्राहकता ही के कारण परम साधारण पद से उन्नति करते हुए ४००) मासिक वेतन की डिपुटी कलेक्टरी प्राप्त की है। ऐसा वयोवृद्ध पुरुष भी यदि सरकार से संतुष्ट न होगा, तो कौन होगा? यदि थोड़ी-सी असंतुष्टता हो तो भी वह इन्हें इस अवस्था में क्या राज-विद्रोह करने पर उत्तेजित कर सकती है?"

मिश्रजी की उपर्युक्त वक्तृता सुनकर अफ़सरों ने वहीं कहा कि "पंडितजी! आप उत्तेजित न हूजिए। हम लोग आपके ऊपर तिल-भर भी संदेह नहीं करते। हमारे सामने एक भारी मामले का काग़ज़ जब आया, तब उसके विषय में पूछना हमारा कर्तव्य है।" आपने उत्तर में प्रार्थना की कि "जाँच आप बहुत ही पक्की कर लीजिए क्योंकि यदि तिल-मात्र भी संदेह रहा, तो मेरा भविष्य अंधकार में हो जावेगा। मैं विना बुलाए इंसपेक्टर जनरल साहब पुलीस से अपनी वेतन-वृद्धि की प्रार्थना करने आया था कि बीच में यह झगड़ा उठ खड़ा हुआ।" इनके उपर्युक्त कथनों का यह फल हुआ कि पुलीस के बड़े जनरल साहब ने पंडितजी को साथ लेकर प्रायः आधी रात को उपर्युक्त जालसाज़ ख़लील के मकान की तलाशी की। वह शायद पहले ही से पता पा गया था, सो खुद तो निकल गया, किंतु उसके घर में कई प्रकार के निब, कई बॉक्स काग़ज़ तथा जालसाज़ी करने का पूरा सामान मिला। पीछे से एक हिंदू और एक मुसलमान डिपुटी कलेक्टरों द्वारा काग़ज़ों की जाँच कराई गई, तो उनमें सैकड़ों अफ़सरों तथा अन्य लोगों के दस्तख़तों के ऐसे काग़ज़ निकले, जिन्हें रखने का, यदि वह जालिया न होता, तो उसे कोई प्रयोजन न था। पीछे से एक ऐसे वकील महाशय के भी हस्ताक्षर उस जाली काग़ज़ पर निकले, जिनका मवक्किल ख़लील का एक वह रिश्तेदार था जो, खुद जालसाज़ी के काम में पूरा प्रवीण था। उसने वकील साहब को जाल-साज़ी बनाने की पूरी विधि बताकर ख़लील से अपनी पुरानी शत्रुता निकाली। उसकी युक्ति से यदि किसी का एक भी हस्ताक्षर हो, तो उसी प्रकार के सैकड़ों हस्ताक्षर बन सकते हैं; जिसमें असली से कोई भेद न निकाल सके। एक प्रकार का बहुत गाढ़ा मरहम-सा होता है, जिस पर असली दस्तख़त किए जाते हैं। इस प्रकार वे हस्ताक्षर भी नहीं बिगड़ते और मरहम पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि उस पर पंद्रह-बीस नए काग़ज़ एक-एक रखते जाओ, तो उन पर भी वही हस्ताक्षर बनते चले आवेंगे। इनमें भी जाल पकड़ने की एक विधि है। यदि एक ही हस्ताक्षर हो, तो विना मूल हस्ताक्षर मिले नहीं पकड़ा जा सकता, किंतु यदि एक ही हस्ताक्षर से एक से-अधिक नकलें उतारी जावें, तो पकड़ जावेंगी। नियम यह है कि असली हस्ताक्षर वही मनुष्य चाहे जै बार उन्हें एकसाँ बनाने का प्रयत्न करके बनावे, तो भी खुर्दबीन में रखने से जब उसका रूप बढ़ता है, तब कहीं-न-कहीं कुछ अंतर हो ही जाता है। कहीं कोई रेखा, कोण, पेट आदि घट-बढ़ अवश्य ही हो जाते हैं। सूक्ष्म-मापक यंत्र द्वारा भी यह अंतर निकल ही आता है। उधर मरहम द्वारा बनाए हुए हस्ताक्षरों में अंश-मात्र भी अंतर नहीं होता। इसी युक्ति से जाली अक्षर नापकर वकील साहब ने उपर्युक्त चारों अफ़सरों को जाली हस्ताक्षरों का जाल सिद्ध कर दिया। उन्होंने उन्हीं के सामने उन्हीं अफ़सरों के हस्ताक्षर उसी समय लेकर उनका जाल बनाकर दिखला दिया। इस प्रकार जब जालसाज़ी निश्चित हो गई, तब ख़लील के ऊपर वारंट जारी हुआ और कई मास में पकड़ा जाकर वह चौदह वर्ष के लिये कारागार भेजा गया। उससे संलग्न कुछ अन्य लोगों को भी थोड़ा बहुत दंड मिला। सरकारी नौकरी में आपने कई पदों पर काम किया है।

कुछ दिन आप इलाहाबाद एक्साइज़-कमिश्नर के परसनल असिस्टेंट रहे हैं। संवत् १९६७ से ७१ तक बड़ी

योग्यता के साथ आपने छतरपूर की दीवानी की और अपने स्थान पर अपने लघु भ्राता पं० शुकदेवविहारी को दीवानी के पद पर छोड़ गए थे । इनकी दीवानी की सफलता का यह सबसे बड़ा प्रमाण है । प्रायः एक वर्ष गोंडे में कलेक्टर रहे । इससे पूर्व कुछ काल तक बुलंदशहर में भी कलेक्टर रहे थे । दो या तीन बार स्थानापन्न सुपरिंटेंडेंट पुलिस भी रह चुके हैं । प्रायः चार वर्ष कोआपरेशन-विभाग में डिपुटी रजिस्ट्रार तथा रजिस्ट्रार रहे, और अब उन्नाव में डिपुटी कमिश्नर हैं ।

इन भ्राताओं के एक मित्र पं० शिवनरायण तिवारी रेल के ऊंचे ऑफ़िसर थे और गोरखपुर में नियुक्त थे । वहीं उनकी मित्रता पं० श्यामविहारी से हुई और फिर सब भ्राताओं से हो गई । गोरखपुर में कुसमी नामक एक अच्छा जंगल है, जिसका सरकारी प्रबंध होता है । एक बार तिवारीजी कनिष्ठ मिश्रबंधुओं के साथ इभारोही होकर उसे प्रायः चार-छः घंटे देखते रहे थ, जिससे सब लोग बहुत प्रसन्न हुए । गोरखपूर छोड़ने के पीछे एक बार दोनों कनिष्ठ मिश्रबंधु गोरखपूर ही में तिवारीजी के अतिथि हुए थे । खाने का नियम यह था कि जिस पदार्थ में कोई अन्न अथवा मांस न पड़ा हो, वह एक दूसरे का पकाया ये लोग खा सकते थे, अन्य नहीं । यही कान्य-कुब्ज ब्राह्मणों का नियम है । इस नियम को पालते हुए भी तिवारीजी ने बीस-पच्चीस प्रकार के ऐसे सुस्वादु भोज्य पदार्थ बनवाए कि जिनके विचारने और बनवाने में कठिन परिश्रम की आवश्यकता थी । केवल रोटी या पूरी अपने हाथ से बना लेने से भोजन बहुत सुस्वाद और जल्दी पचनेवाला तैयार हो गया । उसे भोजन करके मिश्रबंधु प्रसन्न तो हुए, किंतु पं० श्यामविहारी ने स्टेशन पर उनसे विदा होते समय बड़ा क्रोध प्रकट किया और कहा कि आपने हमारे लिये इतना कष्ट क्यों उठाया ? हम आपसे मिलने, आपकी संगति से आनंद लेने आते हैं कि कष्ट देने के लिये ? इस प्रकार कुछ थोड़ा-सा कहते तो उचित भी था, किंतु पंडितजी उचित से बहुत अधिक क्रोध प्रकाश कर गए । बेचारे तिवारीजी कुछ विस्मित और उदास हुए । यह देख छोटे पंडितजीने उनसे कहा कि आप मेरा ख़ातिर किया कीजिए और इनके लिये पनेथियाँ बनवा दिया कीजिए जिससे ये प्रसन्न रहें, क्योंकि इनकी शोराजी तवाजो पर ही रुचि है । इस पर तीनों आदमी बहुत हँसे । मिश्रजी का विचार है कि मित्रों, संबंधियों आदि में दिखलावापन न करके साधारण, किंतु सारगर्भित और सदा निभनेवाली ख़ातिर होनी चाहिए । इसका असली भाव समझने में कभी-कभी लोग भूल भी कर जाते हैं । कनिष्ठ भ्राता के सहपाठी और प्रगाढ़ मित्र ठाकुर रघुनाथसिंह वकील एक बार इसी से बहुत नाराज होकर बोले कि हमने तुम्हारे यहाँ ससुर, दमाद, मामा, फूफा, साले, बहनोई, राजा, प्रजा, मित्र, कुटुंबी सभी को आते-जाते देखा, किंतु किसी की ख़ातिर में तुम्हें व्यस्त कभी न पाया । इससे हम पूछते हैं कि क्या तुम अपने यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश के ही आने पर अपनी पूरी ख़ातिरदारी का परिचय दोगे ?

हाईकोर्ट की वकालत पास करने के पश्चात् पं० शुकदेवविहारी ने पहलेपहल कन्नौज में वकालत शुरू की । फिर दो ही तीन मास में उठकर लखनऊ आ गए । संवत् १९६४ (२३ मार्च, सन् १९०८) में आप मुंसिफ़ नियत हुए । इनकी पहली नियुक्ति बिलग्राम में हुई । जब यह लखनऊ में वकील थे, तब उपर्युक्त पं० शिवनारायण तिवारी ने इनके पास बड़े दिनों की छुट्टियों में एक बार आने को लिखा । इन्होंने उत्तर में खेद प्रकट करते हुए लिखा कि हम छुट्टियों में अपने बड़े भाई के पास दौरे में ज़िला इटावा जायँगे । तिवारीजी ने उत्तर में तो कुछ न लिखा, किंतु जहाँ ये दौरे पर अपने भाई के पास अपने मित्र बाबू लक्ष्मणप्रसाद वकील के साथ थे, वहीं पता लगाकर तिवारीजी भी अकस्मात् जा मिले । तिवारीजी के इस सौजन्य से मिश्रजी का सब घर परम प्रसन्न हुआ । प्रायः ५४ वर्ष की अवस्था में तिवारीजी की तीन वर्ष पीछे अकस्मात् मृत्यु हो गई । मिश्रबंधु इस बीमारी में उनको देखने न जा सके । यद्यपि पंडितजी का इसमें कोई क़सूर न था (क्योंकि उनकी बीमारी का ठीक हाल मालूम न हो सका और कोई छुट्टी भी निकट न थी) तथापि इनके वकील भ्राता इस बात से इन पर एक बार रुष्ट हुए और बोले कि जिसने इनके साथ इतना प्रीति-भाव रक्खा, उसकी बीमारी का ठीक हाल न जान सकना भी पंडितजी का ही दोष था । उन्होंने कहा कि यह उनका धर्म था कि ऐसे मित्र की हर हालत में पूरी ख़बर रखते ।

बिलग्राम की मुंसफ़ी की, एक बात यह भी लिखने योग्य है कि यह एक साल-भर एक मुसलमान तहसीलदार

के साथ एक ही बँगले में रहे । जनाने मकान दो थे, किंतु मर्दाना एक ही था। यह इनकी पक्षपात-शून्यता को प्रकट करता है । यहाँ से ही एक बार नैमिषारण्य गए थे। वहाँ पर श्रीवेद की ऐतिहासिक व्यासगद्दी के चबूतरे पर विराजकर दोनों भाइयों ने व्यास-स्तुति लिखी। (पुष्पांजलि प्रथम भाग) वहाँ पर ढाई वर्ष रहने के बाद इनका सीतापुर को तबादला हो गया, जहाँ ये चार वर्ष मुंसिफ रहे। सीतापुर में सौंडर्स क्लब के मेम्बर और कुछ काल मंत्री रहे। इसके बाद जैसा कि बतलाया जा चुका है, यह अपने ज्येष्ठ भ्राता की जगह छतरपूर की दीवानी पर आए। यहाँ पर छः वर्ष इस पद पर बहुत अच्छी तरह से काम किया। चलते समय महाराजा साहब ने इनको २०००) रुपए का इनाम देकर विदा किया। छतरपूर से लौटने पर रायबरेली सदर आला होकर २५ सितंबर संवत् १९७७ में गए। वहाँ केवल पंद्रह महीने काम कर पाए थे कि महाराजा साहब ने इनको अपने पुराने पद पर फिर बुलाकर सम्मानित किया। इस समय भी यह इसी पद को सुशोभित कर रहे हैं। संवत् १९८३ में अँगरेज़ सरकार ने अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय देते हुए आपको "रायबहादुर" की उपाधि से विभूषित किया।

इस नौकरी के काल की एक घटना लिखने योग्य है। संवत् १९७६ की अगस्त में पं० शुकदेवविहारी को छतरपूर में ज्वर की पीड़ा हुई। उसी में सन्निपात हो गया। पं० राजकिशोर उस काल बंबई में नियुक्त थे। पं० शुकदेवविहारी का स्वभाव है कि कुटुंबियों को पत्र लिखने में किसी की बीमारी का हाल जैसा का तैसा लिखते हैं। उसे कुछ भी घटाकर नहीं लिखते, जैसा कि अन्य लोग प्रायः करते हैं। इनकी उपर्युक्त बीमारी के पूर्व इनकी स्त्री तथा इनके भतीजे प्रतापनारायण का पुत्र राजप्रताप छतरपूर ही में बहुत बीमार थे। मिश्रजी को समझ पड़ा कि दोनों की दशा बहुत ख़राब है और ईश्वरेच्छा से ही वे लोग बच सकते हैं। सो उनमें से एक का शरीरांत प्रायः निश्चित है। डॉक्टर की भी ऐसी ही राय बातों से समझ पड़ी। सो यही बातें मिश्रजी ने पं० राजकिशोर को बंबई लिख भेजीं। यह सुनकर वे तीन-चार दिन के भीतर छतरपूर पहुँचे, तो देखा कि स्त्री और बच्चा तो अच्छे हैं, किंतु स्वयं मिश्रजी की बुरी दशा है। आपने उनसे कहा कि अब तक किसी योग्य कुटुंबी के निकट न होने से मैं अपनी दवा का प्रबंध स्वयं करता रहा, किंतु अब इस चिंता का भार मेरे लिये असह्य है, सो यह चिंता तुम्हें सौंपकर मैं निश्चिंत होता हूँ। अब दवा तथा अन्य कौटुंबिक प्रबंधों का भार तुम्हारे ऊपर है। तुम मेरा भी प्रबंध इस प्रकार करो कि मानों मैं मनुष्य न होकर एक वस्तु-मात्र हूँ। अब मैं अपने विषय में भी कुछ भी न कहूँगा, तुम जानो और तुम्हारा काम जाने। इतना कहकर पंडितजी सरसाम के वेग में आ गए और उसी समय से इनका दिमाग़ चक्कर खाने लगा। इनको पहले समझ पड़ा कि दाहिनी ओर पैरों के पास पलँग के नीचे दो यमदूत खड़े हैं। फिर तुरंत ही यह विचार दृढ़ हुआ कि यह भ्रम-मात्र है और दिमाग़ के गरम हो जाने से समझ पड़ा है। सं० १९५४ की बीमारी में सरसाम न था, किंतु विद्या की कमी से विश्रामसागर के लेखों का ऐसा बुरा असर पड़ा कि यमदूतों का भारी तमाशा देख पड़ा और बीमारी के बढ़ जाने का पूरा भय हुआ। इधर विद्वत्ता बढ़ जाने से ७२ घंटे तक सरसाम रहने पर भी यह बखेड़े न समझ पड़े। इससे प्रकट है कि ग्रंथों में यम-दूतों आदि के अनर्गल कथन करने से कम शिक्षित अथवा निर्बल चित्तवालों की भारी हानि हो सकती है। थोड़ी देर में पंडितजी को समझ पड़ा कि कमरों में भुस भरा हुआ है। इसी प्रकार की कई और बातें समझ पड़ीं और जान पड़ा कि अंग-प्रत्यंग ढीले हुए जाते हैं। समय क़रीब साढ़े दस बजे रात का था। आपने अपने भतीजे को बुलाकर कहा कि मरने का अब मुझे कोई भय नहीं है, किंतु ऐसा न हो कि ग़फ़लत में शरीर छूट जावे। यह समझे रहो कि मेरी बीमारी कठिन है, और मुझे रात पार होना दुस्तर समझ पड़ता है। उन्होंने तुरंत डॉक्टर को फिर से बुलवाया। इन डॉक्टर पर मिश्रजी को बड़ा विश्वास था और है। इनसे मिश्रजी ने पूछा कि मेरी वास्तविक दशा क्या है? तो डॉक्टर ने उत्तर दिया कि मैं आपको बिना दवा के भी अच्छा कर सकता हूँ। इस बात पर आपको पूरा विश्वास बैठ गया। पीछे से अच्छे हो जाने पर डॉक्टर ने कहा था कि वास्तविक दशा वही थी, जैसी आपको समझ पड़ती थी। बीमारी में उसी समय मिश्रजी ने यह भी कहा था कि यदि

आवश्यकता हो, तो तार देकर छावनी से एजेंसी सर्जन को बुलवा लो। डॉक्टर ने उनके लिये छिपाकर तार दिलवा दिया, किंतु मिश्रजी से आश्वासनार्थ कह दिया कि कोई आवश्यकता नहीं है। बड़े डॉक्टर दौरे पर बाहर चले गए थे, सो समय पर आ न सके और चौथे-पाँचवें दिन आए। यहाँ छतरपूर के डॉक्टर भट्टाचार्य रात-भर उपचार करते रहे, किंतु मिश्रजी को दो बजे रात तक निद्रा न आई। आप ईश्वर पर पूर्ण विश्वास रखते हैं, किंतु आपका विचार है कि ईश्वरीय नियम दयामय होने पर भी वह व्यक्तिगत विशेष दया नहीं करता; क्योंकि ऐसी दया नियमातिरिक्त है। इसलिये छंदोबद्ध ग्रंथों में स्वभावित प्रथा के विचार से आपने ईश्वर से कभी-कभी प्रार्थनाएँ तो की हैं। किंतु वास्तविक प्रार्थना आप कभी नहीं करते, क्योंकि आपके विचार से वह निष्फल है। उस रात निद्रा के अभाव और अन्य कष्टों से खिन्न होकर आपने आरोग्य-प्राप्ति के लिये एक बार ईश्वर से वास्तविक प्रार्थना की। शिक्षा-प्राप्ति के पीछे आपने याव-ज्जीवन यही एक प्रार्थना की। आपको आध घंटे के भीतर निद्रा पड़ गई और चित्त बहुत स्वस्थ हो गया। इतना होने पर भी अभी तक आपको प्रार्थना की यथार्थता पर विश्वास नहीं है, और समझ पड़ता है कि उस रात निद्रा या तो अकस्मात् प्रार्थना के पीछे पड़ गई या सच्ची प्रार्थना के कारण रोग के कष्टों से हटकर चित्त ईश्वर में लग गया, जिससे शांति मिलकर निद्रा पड़ गई। उस निद्रा का ईश्वरीय कृपा से मिश्रजी अब तक कोई संबंध नहीं मानते।

जब प्रातःकाल जगे, तब अपनी प्राचीन मानसिक दशा के अनुसार आपने दुर्गापाठ कराए जाने की आज्ञा दी, जो होने लगा। उस काल पं० श्यामविहारी मिश्र इलाहाबाद में नियुक्त थे और उन्हीं के यहाँ पंडित गणेशविहारी मिश्र आए थे। रविवार का दिन था। आपने भाई को बुलवाने को तुरंत तार दिलवाया। वहाँ से तार में उत्तर आया कि बड़े भाई साहब आ रहे हैं, किंतु बड़े ऑफ़िसर के दौरा पर होने से मँझले भाई साहब को तुरंत छुट्टी नहीं मिल सकती। दूसरा तार दिया गया कि वे भी अवश्य आवें। बड़े भाई साहब स्टेशन को रवाना हो चुके थे। दूसरा तार पाने से पं० श्यामविहारी भी रोते हुए स्टेशन पर पहुँचे। प्रायः चौबीस घंटे का मार्ग था। मार्ग-भर आप बहुत ही विकल रहे और बड़े भाई से कहते रहे कि मुलाक़ात होगी या नहीं? बड़े भाई सान्त्वना देते रहे। यहाँ छोटे पंडितजी की तबियत बिगड़ी रही। पानी बरसता था, किंतु आप पलँग से उठ-उठकर भागते रहे। जब-जब आप पलँग पर से उठते, तब-तब पं० राजकिशोर सामने खड़े हो जाते और कहते कहाँ जाइएगा! आप समझते थे, बल में उनसे जीत न सकेंगे, सो फिर लेट जाते थे। इस प्रकार कई बार रोकने से सरसाम के वेग में आपको उन पर क्रोध आया और आपको समझ पड़ा कि वे, डॉक्टर और नर्स गोष्ठी करके उन्हें मारना चाहते हैं। इसी धुन में सरसाम के कारण आपको समझ पड़ा कि मुझे तीन बार ज़हर दिया गया तथा रासायनिक परीक्षक (Chemical Examiner) ने अपनी रिपोर्ट में यही बात कही, जिस पर लड़के पर मुक़दमा क़ायम होने का समय आया। इस पर आपने कहा कि यदि लड़के ने बेवक़ूफ़ी से ज़हर दे भी दिया, तो चाचा होकर क्या मुक़दमा क़ायम कर दूँ! इतना सब सोचते-विचारते रहे, किंतु दवाई पीते ही रहे, केवल उन तीनों को दो-एक बार घूँसा मार दिया। रविवार की रात को दशा बहुत बिगड़ गई। कानों से कुछ सुन नहीं पड़ता था तथा जिह्वा में किसी वस्तु का स्वाद नहीं मिलता था। बहुत देर तक आँखों में पलक न लगी। डॉक्टर ने किताब देखकर एक बड़ी ही दुर्गंधित और कड़वी दवा निकाली और कहा कि दुर्गंधि और दुःस्वाद के कारण यह दवा प्रायः पेट में ठहरती नहीं और क़ै होकर गिर पड़ती है, किंतु यदि रुक गई, तो बच जायँगे। जब उसकी डाट खोली गई, तब मारे दुर्गंध के लोग कमरे से बाहर चले गए, किंतु मिश्रजी को बुरा स्वाद और दुर्गंधि कुछ भी न समझ पड़ी और इन्होंने दो घंटे के भीतर उसकी दो ख़ुराक पानी की भाँति पी ली। दोनों ख़ुराकें पेट में ठहर गईं, रात को निद्रा पड़ गई और सबेरे तक चित्त बहुत कुछ ठीक हो गया। डॉक्टर को देखकर इनको क्रोध लग आता था। ज्यों ही क़रीब साढ़े पाँच बजे डॉक्टर आए कि आपने कहा कि क्या तुमको और कहीं ठौर नहीं है कि सुबह नहीं होने पाई और टहलते हुए यहाँ आ पहुँचे! डॉक्टर ने अमल देना चाहा, तो आपने सरसाम की रौ में उसे लेने से इनकार कर दिया। चपरासियों को बुलाकर आप बोले कि डॉक्टर, नर्स तथा पं० राजकिशोर को फ़ौरन्

गिरफ़्तार करो, क्योंकि ये मुझे क़ैद किए हैं। चपरासी इधर-उधर भाग गए। यदि बीमारी का विचार छोड़ दिया जावे, तो क़ानून की दृष्टि में उनका कार्य समुदाय क़ैद करने की हद तक अवश्य पहुँचता था। सोमवार को सब लोग बहुत घबड़ाए, तो डॉक्टर ने मिश्रजी के शरीर को गरम पानी से और सिर को ठंडे पानी से धुलवाकर इन्हें कुछ दाल-रोटी खिलवाई, जिससे भीतर-वालों को बहुत कुछ संतोष हो गया। इस दिन दोपहर को आपको समझ पड़ा कि छत के तीन चश्मों में से एक जल रहा है। आपने पं० राजकिशोर से कहा कि तुम बार-बार मेरे पास मत आओ, क्योंकि छत जल-जल कर गिर रही है। सो कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारे चोट लग जावे। विष का विचार, जो मिश्रजी के चित्त में उठा, सो कुछ आश्चर्य-पूर्ण घटना है। इन्हें कभी इसका अनुभव नहीं हुआ और न बुँदेलखंड में सिवाय एक बार पन्ना के और कहीं इसका नाम आया। रियासत के नाम में विष आदि का भय लगा हुआ है। संभवतः इसीलिये इनके तत्कालीन दुर्बल चित्त में यह अनर्गल विचार उठ पड़ा। डॉक्टर ने पीछे से यह भी बतलाया कि सरसाम में ऐसा प्रायः होता है कि बहुत ही प्रिय पुरुष शत्रुवत् दिखने लगते हैं। शाम को दोनों भाई इलाहाबाद से आ गए। इनसे मिलकर आप बहुत प्रसन्न हुए और उनके कहने से अमल भी ले लिया, जिससे पेट बिलकुल साफ़ हो गया और आपका भी चित्त प्रायः स्वस्थ हो गया। तो भी सन्निपात का लेश बना रहा और आपने दोनों भाइयों से कहा कि राजकिशोर और उनके भाई ने मूर्खता-वश मुझे तीन बार विष दिया है। आप दोनों आदमी बहुत होशियार रहिएगा, नहीं तो आपकी भी यही गति होनी है। यह कथन कुछ ऐसा भीषण-भाषण-सा हो गया कि उसी मास में उन दोनों भाइयों को भी सन्निपात हुआ, जैसा कि आगे कहा जावेगा। दूसरे दिन मंगल को सरसाम ने इन्हें छोड़ा, किंतु महीने-भर तक और दवा करने पर इनकी शारीरिक स्थिति पूर्ववत् हुई। शनिश्चर और रविवार की रात को इनकी दशा देखकर पं० राजकिशोर बहुत रोते रहे थे, किंतु ईश्वर ने सब कुशल कर दिया।

पं० श्यामविहारी क़रीब पाँच सितंबर को इलाहाबाद वापस गए। वहाँ इनको बड़े ज़ोर का ज्वर आ गया और क़रीब २२ तारीख़ को सन्निपात हो गया। छतरपूर को बुलावे का तार आया, तो डॉक्टर ने साफ़ कह दिया कि जावोगे, तो त्रिवेनी पर ही कपाल-क्रिया होनी है। तब आपने नर्स और हेडमास्टर साहब को इलाहाबाद भेजा। लखनऊ से पं० गणेशविहारी भी वहीं पहुँचे। उन्होंने प्रसिद्ध वैद्य पं० दीनानाथ की दवा कराई, जिनके एक ही तेल से बारह घंटे के अंदर सरसाम उतर गया। सन्निपात की दशा में पंडितजी को समझ पड़ता था कि मैं सिद्ध हो गया हूँ और नया धर्म चलाऊँगा। आपका विचार था कि ईश्वरीय तेज सब कहीं भरा हुआ है, किंतु आकाश नीला पर्दा है, जिससे वह ढका है और पृथ्वी पर नहीं आने पाता। जहाँ-जहाँ सूर्य, चंद्रमा और नक्षत्र हैं, वहीं-वहीं आकाश में छिद्र हैं, जिनके द्वारा ईश्वरीय तेज चमकता है। इन्हीं छिद्रों को हम सूर्य, चंद्रमा और नक्षत्र समझते हैं। क़रीब २३ सितंबर के आपका रोग घटा, तो २५ तारीख़ को बड़े भाई साहब को ज़ोर का ज्वर आया और सन्निपात हो गया। बीमारी की दशा में कहीं पं० श्यामविहारी के दफ़्तर का कोई अहलकार आया, तो बड़े पंडितजी को समझ पड़ा कि यह मुझसे कहता है कि मँझले पंडितजी के ज़िम्मे दफ़्तर का कुछ रुपया निकला है, सो आप हिसाब समझाइए। आप मँझले पंडितजी से कहने लगे कि तुम्हारा यह मात-हत बड़ा बदमाश है, मैं कहता जाता हूँ कि पराया हिसाब मैं कैसे समझा सकता हूँ, सब लोग मिलकर हिसाब कर लो, इनके ज़िम्मे जो निकले, उसका मैं देनदार हूँ; किंतु यह कुछ नहीं मानता और हिसाब समझने पर ही हठ करता है। पंडितजी को सरसाम का कष्ट प्रायः ६ घंटे रहा और पं० दीनानाथ की दवा से शरीर नीरोग हो गया। (अपूर्ण)

गुलाबराय

मनावन

प्यारे, जीवन-धन, मनमोहन, कैसे तुम्हें रिझाऊँ?
वस्तु न कोई है ऐसी—जिसको, ले भेंट चढ़ाऊँ।
धन, बल, रूप, न गुण कोई है—जो आकर्षण लाऊँ;
बुद्धि, चातुरी चल न सकेगी, कौन ढंग अपनाऊँ?
कौन वचन कैसे कह, कानों के मग सुधा पिलाऊँ?
हाव-भाव कैसे दिखलाकर, तेरे नयन जुड़ाऊँ?
कैसे वह कटाक्ष करके हम तव हिय सुखी कराऊँ—
जिस कौतुक में हो निज मन के सारे भेद जताऊँ?
गाऊँ, नाचूँ, रोऊँ या चरणों में बलि-बलि जाऊँ?
हे 'नटवर' के निठुर नाथ! किस विधि से तुम्हें मनाऊँ?

ललितकुमारसिंह 'नटवर'

देहरादून का मिलिटरी कॉलेज

किसी भी देश की पूर्ण उन्नति के लिए पहले उसकी आत्मरक्षा की आवश्यकता है। कहा भी है—"शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र-चिंता प्रवर्तते।" लड़ाई के दिनों में इँगलैंड तथा जर्मनी के विद्यार्थियों तक ने अपने देश के लिये युद्ध में भाग लिया था। जर्मनी में तो सैनिक शिक्षा सबके लिये अनिवार्य है। यही हाल जापान का भी है। अतएव भारतवर्ष में भी धीरे-धीरे सभी बातों में अन्यान्य देशों की बराबरी करने के लिये कुछ-न-कुछ हो रहा है। सेक्रेटरी ऑव् स्टेट ने २० अगस्त सन् १९१७ ई० को हाउस ऑव कामंस में यह घोषणा की:—

"That the policy of His Majesty's Government with which the Government of India are in complete accord, is that of increasing the Association of Indians in every branch of the Administration."

तभी से सभी विभागों में भारतीयों को भी आगे बढ़ने की सुविधाएँ दी जा रही हैं। सैनिक क्षेत्र में भी इस प्रकार की सुविधाएँ देने के लिये मार्च १९२१ में लेजिस्लेटिव असेम्बली में यह प्रस्ताव पास हुआ:—

"That adequate facilities should be provided in India for the preliminary training of Indians to fit them to enter the Royal Military College, Sandhurst."

तब से यह देखा जा रहा है कि विश्वविद्यालयों में भी सैनिक शिक्षा के प्रारंभिक अंकुर निकलने लग गए हैं और (University Training corps) की धूम-सी हो गई है। यहाँ तक कि गर्मी की छुट्टियों में भी विद्यार्थियों की ट्रेनिंग होती है। अस्तु—

इस प्रस्ताव के पास होने के साल-भर के ही भीतर सरकार ने यह निश्चय कर लिया कि देहरादून में विलायत के ढंग का एक छोटा-मोटा सैनिक विद्यालय खोला जाय। यह निश्चय इतना दृढ़ था कि एकाध महीने में ही एक कॉलेज बनकर तैयार हो गया और जब मार्च १९२२ में प्रिंस ऑव् वेल्स यहाँ आए, तो उन्होंने ही इसकी प्राण-प्रतिष्ठा की। उस समय उन्होंने यह छोटी वक्तृता दी थी, जिसमें इस कॉलेज के उद्देश्यों का दिग्दर्शन कराया गया था:—

"As General Jacob has said, the services of the forces of India in the Great War won for the rising generation of Indians the right to hold the king's commission and the path to the highest ranks in the Indian Army is now open to India's youngmen. × × × × I took with confidence to young India to prove worthy of the great opportunity won for them by the soldiers of an older India in the hour of supreme trial.

From my own experience I may say that it is the first few blows on the anvil of life that give the human weapon the set and temper which carries it through life's battles. It is the pride of the English Public schools that they have supplied the early training of those British Officers who, with the aid of the gallant body of Indian Officers, have for years led and guided the fighting men of India to victory on many fields. It is in order to give you the same opportunities and advantages that this college has been established. The youngmen of India who wish to go later to Sandhurst, and who aspire to hold a King's Commission, will receive their early training here.

I trust that those who are responsible for the administration of this college will keep before them not only the great ideals of the Public Schools of England, but will also foster and maintain the fine old Indian spirit of mutual reverence which bound together the *Guru* and his *Chela*."

संक्षेप में यह कॉलेज सैंडहर्स्ट के प्रवेश की तैयारी के लिये खोला गया है और एक प्रकार से पूर्व तथा पश्चिम के सम्मिलन का भी द्योतक है। इसीलिये इसका पूरा

नाम है "प्रिंस ऑव् वेल्स रायल इंडियन मिलिटरी कॉलेज।" इस संस्था के लिये देहरादून स्थान भी सर्वथा उपयुक्त है। यहाँ भारत सरकार के सर्वे तथा फ़ॉरेस्ट रिसर्च दो बड़े विभाग हैं, जिनसे सैनिक विद्यार्थियों को बड़ी सहायता मिलती है। कॉलेज की अपनी भूमि १५० बीघे से अधिक है, जो छावनी के बाहर स्थित है। कॉलेज में एक बड़ा हाल, पुस्तकालय, अजायबघर तथा प्रयोग-शाला है और इसके अतिरिक्त अस्पताल तथा व्यायामशालाएँ भी अलग हैं। विद्यार्थियों के नहाने के लिये गर्म और ठंडे पानी के अलग-अलग स्नानागार हैं और एकत्र भोजन करने के लिये एक लंबा-चौड़ा हाल है। यहाँ जाति-पाँति का भेद-भाव नहीं रक्खा जाता, परंतु सभी धर्मों के एक-एक पृथक् शिक्षक हैं और सिख विद्यार्थियों के लिये एक गुरुद्वारा, हिंदुओं के लिये मंदिर और मुसलमानों के लिये मसजिद बनी है। वहाँ प्रतिदिन प्रार्थना होती है और सप्ताह में शुक्रवार के दिन एक घंटा धार्मिक शिक्षा सबके लिये अनिवार्य होती है। धर्मगुरु लोग भी सैनिक विभाग के पेंशन प्राप्त वृद्ध सज्जन हैं। ये लोग अधिकतर रामायण, महाभारत तथा ग्रंथसाहब और कुरान के ही आधार पर शिक्षा देते हैं।
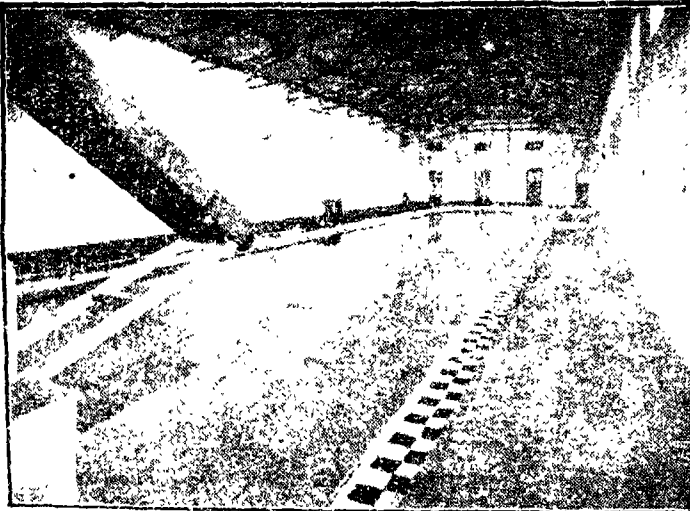
कॉलेज का पढ़ाई विभाग

कैडेटों के तैरने और नहाने का स्थान

पढ़ाई में अँगरेज़ी, इतिहास एवं भूगोल, गणित, ड्राइंग, विज्ञान तथा उर्दू अथवा फ़ारसी आवश्यक विषयों में हैं। बड़े खेद की बात है कि इन विषयों में हिंदी का कहीं नाम तक नहीं है। न-जाने अधिकारियों को इसका ध्यान ही नहीं रहा अथवा हिंदी इस योग्य समझी ही नहीं गई! विद्यार्थियों के दो विभाग होते हैं, सीनियर केडेट और जूनियर केडेट। सीनियरों को बंदूक़ चलाना भी सिखाया जाता है और तैरना तो नहाने के साथ आवश्यक ही है। तैरने में परीक्षा पास करना होता है और इसके लिए विशेष प्रकार का "स्विमिंग बाथ" बना है जो भारतवर्ष भर में अपने ढंग का एक ही है। १०० फ़ीट लंबा २० फ़ीट चौड़ा एक छिछला कुंड-सा है जो ३ फ़ीट से ८ फ़ीट तक गहरा है। चारों ओर दीवारें और खिड़कियाँ हैं और कूदने के लिए एक स्प्रिंगदार तख़्ता लगा है जिसमें से कूद-कूदकर केडेट लोग डुबकी लगाते और तैरते हैं। बिजली की रोशनी का अलग प्रबंध है और अलग नहाने के लिए भी फ़व्वारेदार स्नान-भवन (Shower Bath) बने हैं।

व्यायाम-शाला का एक दृश्य

नहीं है, और न होने की संभावना ही जान पड़ती है।

कॉलेज में प्रवेश करने के लिये कमांडर-इन-चीफ़ के यहाँ से आज्ञा मिलती है और सेना के कर्मचारियों के लड़कों के लिये वार्षिक व्यय भी वे ही निश्चित करते हैं। साधारण विद्यार्थियों के लिये यह व्यय १५००) वार्षिक है, जिसमें खाने-पीने आदि के सभी ख़र्च सम्मिलित हैं। ११ से १२ वर्ष तक के लड़कों का प्रवेश कराया जा सकता है, और छः वर्ष के उपरांत वे सैंडहर्स्ट भेजे जाते हैं। विलायत के विद्यार्थी तो ८-६ वर्ष से ही इसके लिये तैयार किए जाते हैं, और उन्हीं के साथ इन भारतीय केडेटों को भी परीक्षा पास करना होता है। प्रारंभ में १४ से १७ वर्ष तक के लड़के भरती किए गए थे, जिनकी संख्या ३७ थी। इनमें से सबसे अधिक सिख थे। १६२६ में सैंडहर्स्ट जाने के लिये २२ केडेटों की परीक्षा हुई थी, जिसमें से १८ पास होकर विलायत गए थे। विलायत में सैनिक अफ़सरों के लड़कों के लिये फ़ीस ५५७ पौंड है और साधारण लड़कों के लिये ७७५ पौंड। वहाँ की परीक्षा के तीन भाग होते हैं— लिखित, मौखिक एवं स्वास्थ्य-संबंधी। आवश्यक विषयों में अँगरेज़ी, इतिहास तथा भूगोल और गणित हैं। वैकल्पिक विषयों में से दो लेने होते हैं जिसमें से उर्दू, गणित, विज्ञान तथा फ़ारसी और पश्तो के अतिरिक्त ड्राइंग भी है। वहाँ भी हिंदी को कोई स्थान नहीं मिला है। हिंदी के साथ यह नादिरशाही अत्याचार सैनिक विभाग के सर्वथा उपयुक्त ही है !! यों तो इन विषयों के कोर्स सरल हैं, पर बात है केवल भिन्न-भिन्न भाषाओं के स्थान की, और यदि उर्दू-फ़ारसी को आवश्यक समझा गया है, तो क्या हिंदी बेचारी इसके योग्य भी नहीं है ?

खेल तथा व्यायाम भी सबके लिये आवश्यक हैं। सभी प्रकार के खेलों का प्रबंध है और केडेट चाहे कमरे के भीतर खेलें चाहे बाहर हरे-हरे हवादार मैदान में। महाराजा पटियाला को सैनिक तथा व्यावसायिक संस्थाओं से विशेष प्रेम है। आपने हिंदू-विश्वविद्यालय के इंजीनियरिंग कॉलेज को बड़ी सहायता दी है, और वहाँ घुड़सवारी के प्रबंध के लिये भी दान दिया है। इस कॉलेज के लिये भी आपने क्रिकेट का एक सुरम्य रंगमंच बनवा दिया है। इसी प्रकार हॉकी, फ़ुटबाल आदि के लिये भी सुविधाएँ हैं। पर खेद है कि देशी खेलों का कुछ भी प्रबंध

व्यायाम का एक और दृश्य

साधारणतया तो ये केडेट लोग अँगरेज़ी ढंग से रखे जाते हैं, पर उनका

लुहार और बढ़ई का काम सिखलाया जाता है

पढ़ाई के लिये साल-भर में दो 'टर्म' होते हैं—एक तो जनवरी से मई तक और दूसरा अगस्त से दिसंबर तक। बीच में गर्मियों के दो महीने की और जाड़े में एक महीने की छुट्टी रहती है। कॉलेज के पास ही अस्पताल है, जिसमें छोटे-छोटे विद्यार्थियों की देख-रेख के लिये महिलाएँ नियुक्त हैं, जिन्हें मैट्रन (matron) कहते हैं। इतने प्रबंध पर भी यदि यहाँ के पढ़े-लिखे विद्यार्थी अच्छे न निकलें तो फिर—

"यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः?"

आशा है, भारतीय नवयुवक इस अवसर का यथायोग्य उपयोग करके देश-सेवा के इस अंग की पूर्ति करेंगे, और
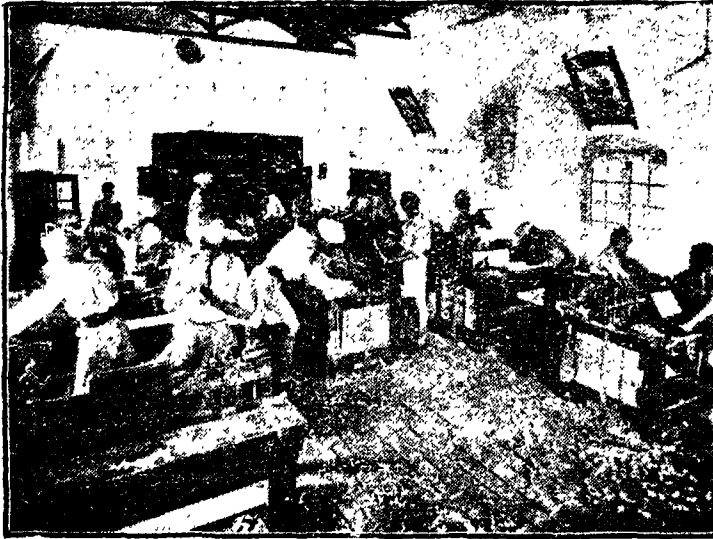
जीवन यथाशक्ति सादा ही बनाने का प्रयत्न किया जाता है। रहने के स्थानों में १४ विद्यार्थी एक साथ सोते तथा उठते-बैठते हैं। भोजन सब एक साथ करते हैं। अब ऐसा प्रबंध हो गया है कि इनकी संख्या बढ़ते-बढ़ते सन् १९३२ में १२० हो जायगी, और अभी तो केवल ८४ हैं। प्रतिवर्ष केवल ७ विद्यार्थियों का बढ़ना तो बहुत कम है, पर अभी इससे अधिक का प्रबंध भी नहीं हो सकता। इनका सारा समय पढ़ने, लिखने तथा खेल-कूद में बीतता है। इन पर देख-रेख बड़ी कड़ाई के साथ की जाती है, यहाँ तक कि सबको एक-से कपड़े पहनने पड़ते हैं और भिन्न-भिन्न समय के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के कपड़े पहनने पड़ते हैं। यदि कोई केडेट किसी से मिलने के लिये सादे कपड़े पहनकर जाना चाहता है, तो उसे विशेष आज्ञा लेनी पड़ती है। किसी को भी १५ मासिक से अधिक जेबखर्च नहीं दिया जाता, और न बाज़ार ही जाने की आज्ञा मिलती है। उनकी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ कॉलेज में ही मिल जाया करती हैं, क्योंकि इसके लिये वहीं एक छोटी-मोटी दूकान रखी जाती है। इसी प्रकार उन्हें वहीं के गोशाले से दूध और घी भी दिया जाता है, जिसके लिये गाएँ और भैंसें रक्खी गई हैं। ये सब साहीवाल जाति की हैं। गायों का दूध खाने-पीने के काम में आता है और भैंसों के दूध का घी और मक्खन बनाया जाता है।

प्रिंस ऑव् वेल्स के उस संदेश को सर्वथा ग्रहण करेंगे, जो उन्होंने इस कॉलेज के उद्घाटन के समय विद्यार्थियों को दिया था। उन्होंने कहा था—

"Work hard, play hard; live upright and honest lives; maintain untarnished the great martial; traditions of India's men; keep unsullied the chivalry and honour which has been handed down to you as a heritage by the Indian princes and warriors of old × × × × × ×. I shall always follow interest the fortunes of a college which is to bear my name. I hope that its future record will make me proud of it."

उनके उपदेश का सारांश परिश्रम तथा गौरव-पूर्ण जीवन एवं भारत के पूर्वजों की कीर्ति की रक्षा था। इस कार्य में हमारे देश के वीर राजाओं और भीम, अर्जुन, शिवाजी तथा राना प्रताप ऐसे योद्धाओं एवं ब्रह्मचारियों की स्मृति से विद्यार्थियों को अवश्य बहुत सहायता मिलेगी। उधर अधिकारियों से हमारी यह प्रार्थना है कि वे यहाँ की शिक्षा में भारतीयता तथा भारतीय भावों के समावेश का यथावसर प्रयोग करें। बड़े-बड़े वीरों और उनके कृत्यों की स्मृतियाँ—यथा चित्रों के रूप में—वहाँ स्थायी बनाकर रखी जायँ, जिससे वहाँ के छात्रों को सदैव उनके उदाहरण से लाभ तथा उपदेश प्राप्त हो।

श्रीरामाज्ञा द्विवेदी

प्रेमी

(१)

मानस-प्रदेशों में तुम्हारा प्रेम-शासन है
प्रेमी ! तुम धन्य हो तुम्हारे ढंग न्यारे हैं,
हिंसक, दयालु बन जाते तुम्हें देखकर
द्रोह पच जाते दुष्ट द्रोहियों के सारे हैं;
'कौशलेन्द्र' प्रबल प्रतापी हो तुम्हारे आगे
योधा, जग-विजयी, जितेन्द्रिय भी हारे हैं,
कौन कहे ? तुमसे बड़ा है कोई और, जब—
स्वयं चक्रपाणि बने चाकर तुम्हारे हैं।

(२)

प्रेम व्रतधारी ! तुम्हीं प्रेम की क्षुधा में कभी
चुँगते अँगार हो चकोर बन जाते हो,
देखकर मंजु घन-माला नभ-मंडल में
तुम्हीं 'कौशलेन्द्र' मत्त-मोर बन जाते हो;
मृग बन मरते तुम्हीं हो बान-बानी पर
तुम्हीं प्रेम-चंग की सुडोर बन जाते हो,
देते हो किसी को भोले बनके हृदय-दान
किसी को चतुर चित्त-चोर बन जाते हो।

(३)

प्रेमधन ! होते जो न आप ही जगत में तो
महिमा बढ़ाता कौन ? ईश-गुण-गान की,
रखता किसी से कोई क्योंकर ? सहानुभूति
जग में न चलती प्रथा प्रणय-दान की;
'कौशलेन्द्र' पूछता न वेद औ पुराण कोई
कौन ? गाँठ खोलता गहन ब्रह्म-ज्ञान की,
मिलता सुदामा-सा न प्रेमी यदि श्याम को, तो—
पदवी न पाते वह करुणानिधान की।

(४)

भावुकता-भावमय दया का पढ़ाया पाठ
सानकर सबको समानता-सरस में,
आपमें हमें औ हममें दिखाया अपने को
मोहिनी-सी डालकर किया निज वश में;
'कौशलेन्द्र' अकथ तुम्हारी महिमा है, तब—
कैसे कुछ कहके पड़ें हम अयश में,
प्रेमिक ! तुम्हारे गुण गाते हम खूब, यदि—
डूबी होती रसना हमारी प्रेम-रस में।

कौशलेन्द्र राठौर

गुरुकुल काँगड़ी में तीन दिन

(१)

पिछले आषाढ़ में मुझे गुरुकुल काँगड़ी के दर्शनों का अवसर मिला। इच्छा तो बहुत दिनों से थी, मगर यह सोचकर कि उस वेद-वेदांगों के केंद्र में मुझ-जैसे धर्म-शून्य व्यक्ति का कहाँ गुज़र, कभी जाने की हिम्मत न पड़ी। सौभाग्य से साहित्य-परिषद् ने उन्हीं दिनों अपना वार्षिक उत्सव करने की ठानी, और मुझे न्योता मिला। ऐसा अवसर पाकर भला कैसे चूकता। दिली मुराद पूरी हुई। रात को लखनऊ से चलकर प्रातःकाल हरिद्वार जा पहुँचा। वहाँ दो ब्रह्मचारी मेरी राह देख रहे थे। गुरुकुल की सिद्धांतवादिता का कुछ थोड़ा सा परिचय मुझे स्टेशन पर ही मिला। एक ताँगा करने की ठहरी। ताँगेवाले ने शायद यह समझकर कि ये नए यात्री हैं कनखल के ॥) माँगे। इधर से ।=) कहा गया। ताँगेवाले ने शायद कहा ॥) से कम न होंगे। ब्रह्मचारियों ने वाजिब किराया कह दिया था। ताँगेवाले से ठायँ-ठायँ करना उनकी शान के ख़िलाफ़ था। आध मील जाकर दूसरा ताँगा उन्हीं दामों पर लाए। पहला ताँगेवाला उन्हीं दामों पर चलने को तैयार था, अपना अपराध क्षमा कराता था, अपनी भूल स्वीकार करता था; पर ब्रह्मचारियों को उस पर दया न आई। उसने यात्रियों को ठगना चाहा था, इसका दंड उसे देना ज़रूरी था। और नीति की दृष्टि में दया का कोई मूल्य नहीं।

ताँगा आध घंटे में कनखल आ पहुँचा। हम लोग उतरकर घाट पर पहुँचे। सामने की पहाड़ियाँ हरे-हरे आभूषण पहने खड़ी थीं। नीचे गंगा पहाड़ियों की गोद से निकलकर उछलती-कूदती चली जाती थी। वहाँ कई धाराएँ हैं, जो वर्षा-काल में मिलकर काँगड़ी के नीचे तक चली जाती है। मैंने समझा था किसी किश्ती पर नदी पार करनी पड़ेगी, मगर किश्ती का कहीं पता न था। यहाँ पानी का तोड़ इतना तेज़ है, नीचे का पेटा इतना पथरीला कि थोड़ी दूर के बाद किश्ती आगे जा ही नहीं सकती। तमेड़ों पर बैठकर लोग आते-जाते हैं। यह

एक प्रकार की घनई है, जिसमें मिट्टी के मटकों की जगह टीन के कनस्टर होते हैं। कई कनस्टरों को लंबे-लंबे रखकर रस्सी और बाँसों से बाँध देते हैं। तमेड़ा बीच में चौड़ा और दोनों सिरों पर पतला होता है। जिन्हें इस पर पहली बार बैठना पड़े, उन्हें मन में कुछ संशय होने लगता है कि यह डोंगा पार लगेगा या बीच ही में ले डूबेगा। मगर थोड़ी ही दूर चलकर यह संशय दूर हो जाता है। यह डोंगी डूब नहीं सकती। पानी का बहाव कितना ही तेज़ हो, भँवर कितने ही भयंकर हों, वायु कितनी ही प्रचंड हो, लहरें उछलकर उसके ऊपर ही क्यों न आ जाती हों; पर उसे परास्त नहीं कर सकतीं। आदमी अगर उस पर ज़रा सँभलकर बैठा रहे, तो चाहे अनंत तक पहुँच जाय, डूब नहीं सकता। इस तुच्छ-सी वस्तु को विराट् और प्रचंड जल-प्रवाह का इतनी वीरता से सामना करते देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो कोई अकेली आत्मा माया-सागर की लहरों को ठुकराती, विघ्न-बाधाओं को कुचलती परमधाम की ओर चली जा रही हो।

अभी आध घंटा भी न गुज़रने पाया था कि घटा छा गई, और वर्षा होने लगी। सारे कपड़े भीग गए। हवा भी चलने लगी। लहरें उछलती ही न थीं, छलाँगें भरती थीं। कई बार तमेड़ा नीचे की चट्टान से टकराया और हम गिरते-गिरते बचे। १० बजते-बजते हम काँगड़ी पहुँच गए।

(२)

गुरुकुल की इमारतें देखकर बेअख़्तियार मुँह से निकल गया 'नाम बड़े दर्शन थोड़े'। एक ही इमारत है, जिसे इमारत कह सकते हैं, पर साधारण हाईस्कूलों की इमारत भी इससे अच्छी होती है। ३ साल पहले यहाँ कई और इमारतें थीं। पर १९२४ की बाढ़ में कई इमारतें बह गईं, और हरा-भरा बाग़ बालू से भर गया। गिरे हुए भवनों के खँडहर अभी तक नज़र आते हैं। हम लोग एक छोटे से पक्के घर में ठहरे, जिसे यहाँ पक्का धर्मशाला कहते हैं। श्रद्धेय पंडित पद्मसिंहजी शर्मा भी आ गए थे। हम दोनों इसी कमरे में ठहरे। स्नान किया। इतने में भोजन आ गया। खाने बैठ गए। पेड़े बहुत स्वादिष्ट थे। अतिथि-सत्कार यहाँ की विशेषता है। भस्मक रोगी भी यहाँ से तृप्त हुए बिना नहीं जा सकता। सबसे बड़ा आनंद मुझे यहाँ के ब्रह्मचारियों को देखकर हुआ। ऐसे सरल हृदय, सेवा-शील युवक हमारे अँगरेज़ी कॉलेजों में बहुत कम हैं। वह पंडिताई वातावरण, जो काशी के किसी संस्कृत-पाठशाला में नज़र आता है, यहाँ नाम को भी न था। यहाँ विद्यालय का मेहमान प्रत्येक ब्रह्मचारी का मेहमान है, वह उसकी चारपाई बिछा देगा, उसके लिये पानी भर लावेगा और उसकी धोती भी ख़ुशी से छाँट देगा। यह विद्यालय नहीं, किसी ऋषि का आश्रम मालूम होता है। ऐसे उत्साही युवक मैंने नहीं देखे। जो काम करते हैं, उसमें तन-मन से लिपट जाते हैं। प्रमाद की मात्रा इनमें बहुत ही कम है। कुछ सीखने के लिये, कुछ जानने के लिये, यह लोग सदैव उत्सुक रहते हैं।

साहित्य-परिषद् का उत्सव संध्या समय हुआ। आचार्यजी का व्याख्यान हुआ। ब्रह्मचारियों ने अपनी-अपनी रचनाएँ सुनाईं। कुछ साहित्यिक लेख थे, दो-चार ग़ज़लें थीं, एक-दो लेख ऐतिहासिक थे। इन रचनाओं को किसी ऊँचे आदर्श से तोलना अन्याय होगा—ये प्रौढ़ लेखकों की कृतियाँ न थीं, पर किसी विद्यालय के शिष्यों को उन पर गर्व हो सकता है। हाँ, यहाँ जो संगीत सुनने में आया, उससे कुछ निराशा हुई। गुरुकुल में संगीत-शिक्षा का कोई प्रबंध नहीं। शायद संगीत ब्रह्मचर्य के लिये बाधक समझा जाता हो। मगर मुझे तो ऐसी धार्मिक संकीर्णता यहाँ कहीं न दिखाई दी। सबसे बड़ा आश्चर्य मुझे ब्रह्मचारियों के विचार-स्वातंत्र्य पर हुआ। उनके राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक विचारों में मुझे संकीर्णता का कोई चिह्न नहीं मिला।

दूसरे दिन प्रीति-भोज था। भोजन-गृह में सभी ब्रह्मचारी और आचार्य फ़र्श पर बैठकर थालियों में भोजन कर रहे थे। हमारे अँगरेज़ी विद्यालयों में कुरसियों और मेज़ों का व्यवहार होता है। यहाँ अभी तक अँगरेज़ियत की वह हवा नहीं आई। हमारी जातीय रीति-नीति, आचार-विचार की रक्षा अगर हो सकती है, तो ऐसी ही संस्थाओं में हो सकती है। मगर शायद अब उसकी रक्षा करने की ज़रूरत ही नहीं समझी जाती। आजकल वही पक्का आर्य है, जो चाहे और सभी बातों में विदेशियों का ग़ुलाम हो, केवल अन्य धर्मावलम्बियों को गाली देता जाय।

आज संध्या समय एक कवि-सम्मेलन था। पं० पद्मसिंहजी सभापति थे। ब्रह्मचारियों ने अपनी-अपनी रचनाएँ सुनाईं। अधिकांश कविताएँ हास्यास्पद थीं, मगर मैं ब्रह्मचारियों के साहस की तारीफ़ करूँगा कि उन्हें अपनी अंडबंड

रचनाएँ सुनाने में लेश-मात्र भी संकोच न होता था। किसी हद तक तो यह बालोचित साहस सराहनीय है। हमने ऐसे बालक भी देखे हैं, जो किसी सभा में खड़े कर दिए जायँ, तो उनकी घिग्घी बँध जायगी। उस झिझक के देखते तो यह धृष्टता फिर भी अच्छी है। पर रसिक-जनों के सामने ऐसी रचनाएँ न सुनाना ही अच्छा, जिन्हें सुनकर हँसी आवे। रचनाओं के समाप्त हो जाने के बाद शर्माजी ने विचार-पूर्ण वक्तृता दी और ब्रह्मचारियों को खूब हँसाया। शर्माजी जितने ही विद्वान् हैं, उतने ही सरल और उदार हैं। और मेहमाँ नेवाज़ी तो उनका जौहर है।

तीसरे दिन हमने मुख्याधिष्ठाताजी के घर भोजन किया। उसका स्वाद अभी तक भूला नहीं। रामदेवजी उन सज्जनों में हैं, जिनकी बातों से जी नहीं भरता। नई-नई बातें भी मालूम होती हैं, और मनोरंजन भी होता है। आप अँगरेज़ी-साहित्य के अच्छे ज्ञाता हैं, और भारतीय इतिहास के तो आप पूरे माहिर हैं। ब्रह्मचारियों की उन पर असीम श्रद्धा है। गुरुकुल अगर कुछ न करे, तो भी इतने युवकों के सम्मुख सरल जीवन और उच्च विचार का आदर्श रखना ही उसके जीवित रहने के लिये काफ़ी है। अँगरेज़ी कॉलेजों में तो आवश्यकताओं की गुलामी सिखाई जाती है, और अध्यापक लोग ही इस विद्या के सबसे बड़े शिक्षक होते हैं। ज़िंदगी की दौड़ में वे युवक क्या पेश पा सकते हैं, जिनके पैरों में ज़रूरतों की भारी बेड़ियाँ पड़ी हों। सर-कारी विभागों में चाहे वे अच्छे पद पा जायँ, पर सर-कारी नौकरियों से तो राष्ट्र नहीं बनते। गुरुकुल ने अपने जीवन के थोड़े से सालों में राष्ट्र के जितने सेवक पैदा किए हैं, उतने और किसी विद्यालय ने न किए होंगे। डिग्रियाँ लेकर पद प्राप्त करना राष्ट्रीय सेवा नहीं। प्रचार और उद्धार के कामों को सँभालना ही राष्ट्रीय सेवा है। अब तक गुरुकुल ने १४१ स्नातक निकाले हैं। उनमें सार्वजनिक-जीवन में भाग लेनेवालों की संख्या ८७ है। यह कहने में ज़रा भी अत्युक्ति नहीं है कि हिंदी-भाषा को जितना प्रोत्साहन गुरुकुल से मिला है, उतना शायद ही और किसी विद्यालय से मिला हो।

गुरुकुल की उपयोगिता के विषय में पहले जनता में बड़ा संदेह फैला हुआ था। पर गुरुकुल से निकले हुए स्नातकों का सांसारिक जीवन देखकर इस विषय की सभी शंकाएँ शान्त हो जाती हैं। १४१ स्नातकों में २६ तो गुरुकुलों में काम कर रहे हैं, ६ साहित्य-सेवा में लगे हुए हैं, २३ आर्यसमाज के उपदेशक हैं, ५ सफल वैद्य हैं, १८ व्यापार में लगे हुए हैं और ७ विदेश में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। इनमें से दो उत्तीर्ण होकर लौट आए हैं। डॉक्टर प्राणनाथ हाल ही में इँगलैंड से डॉक्टर होकर लौटे हैं, एक और महाशय बैरिस्टर हो आए हैं। पिछले साल ४ ब्रह्मचारी Senior Cambridge परीक्षा में सम्मिलित हुए, और तीन पास हो गए। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्मचारियों को अँगरेज़ी में भी काफ़ी अभ्यास हो जाता है। महाशय सत्यव्रतजी सिद्धां-तालंकार ने हाल ही में ब्रह्मचर्य पर अँगरेज़ी में एक ग्रंथ लिखा है, जिसकी शैली और भाषा दोनों ही परिमार्जित हैं। किसी युनिवर्सिटी के विद्यार्थी के लिये ऐसी पुस्तक लिखना गर्व का कारण हो सकता है।

गुरुकुल विद्यालय में एक आयुर्वेद-विद्यालय भी है। यहाँ ब्रह्मचारियों को जड़ी, बूटियों तथा रसों का भी ज्ञान हो जाता है। शरीर-विज्ञान की शिक्षा भी इन वैद्यों को दी जाती है। हमें आशा है कि यहाँ के पढ़े हुए वैद्यों द्वारा आयुर्वेद का उद्धार होगा। वे केवल पुरानी लकीर के फ़क़ीर नहीं होते, बल्कि मानव-शरीर के तत्त्वों को जानते हैं और शल्य-चिकित्सा में भी दख़ल रखते हैं।

गुरुकुल की प्राकृतिक शोभा का तो कहना ही क्या। बलवान् चरित्र ऐसे ही जल-वायु में विकसित होते हैं। सामने गंगा की जल-क्रीड़ा है, पीछे पर्वतों का मौन संगीत। दाहिने-बाएँ मीलों तक शीशम और कत्थे के वृक्ष, ऐसी साफ़, छनी हुई, विमल वायु में साँस लेना स्वयं आत्म-शुद्धि की एक क्रिया है। न शहरों का दूध-घी, न यहाँ का स्वच्छ वायु। ब्रह्मचारी गंगा माता की गोद में किलोलें करते हैं, और बड़ी दूर तक तैरते चले जाते हैं। नगरों की दूषित जल-वायु में यह गुण कहाँ। मगर पिछली बाढ़ ने विद्यालय को जो क्षति पहुँचाई है, उसको देखते हुए अब विद्यालय का स्थान बदल देने का प्रश्न आवश्यक हो गया है। इसका प्रबंध भी हो रहा है।

प्रेमचंद

संगीत

रसकिन कहता है कि संगीत, यदि वह ठीक हो, मनुष्य को देवता बना सकता है; परंतु यदि उसमें अनुचित की मात्रा का भी मेल हो जाय, तो वह मनुष्य को राक्षस भी बना सकता है। रसकिन के उक्त कथन से स्पष्ट है कि वह संगीत को एक बड़ी भारी शक्ति स्वीकार करते हैं।

संगीत के विषय में पाश्चात्य देश का प्रसिद्ध कवि पोप कहता है—"संगीत के कारण मनुष्य का स्वभाव न तो बहुत ऊँचा बन जाता है और न बहुत नीचा। संगीत से मनुष्यों के स्वभाव में समता आ जाती है। योद्धाओं के हृदय में यह नवजीवन का संचार करता है और दुःखी प्रेमियों के घावों में औषधि का काम करता है।

मैं ठीक-ठीक इस समय नहीं कह सकता कि निम्न-लिखित वाक्य मैंने कहाँ पढ़ा है, परंतु इतना तो मुझे भली भाँति स्मरण है कि इसे मैंने शेक्सपियर के किसी नाटक ही में अवश्य पढ़ा है—

Music is the food of love.

अर्थात् संगीत, प्रेम का भोजन है।

इसी संबंध में शेक्सपियर ने एक स्थान पर और लिखा है—

Music do I hear!
Ha, ha! keep time, how sweet music is.
When time is broke, and no proportion kept.

शेक्सपियर के उक्त कथन से शेक्सपियर की संगीत-कलाभिज्ञता का अच्छा परिचय मिलता है। शेक्सपियर ने अपने 'मर्चेंट ऑफ़ वेनिस' नामक नाटक में लिखा है—

The man that hath no music in himself,
Nor is not moved with concord of sweet sounds is fit for treasons.

वह मनुष्य, जो न तो संगीत-कला जानता है और न जिसके ऊपर संगीत का प्रभाव पड़ता है, राजद्रोह तथा अपकार के उपयुक्त पात्र है। शेक्सपियर के इस कथन से यह ध्वनि निकलती है कि अच्छे आदमी के लिये संगीत का जानना आवश्यक है। उससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि जो मनुष्य संगीत नहीं जानता, वह अच्छा आदमी हो ही नहीं सकता।

पाश्चात्य देश के और भी अनेक कवियों तथा लेखकों की पुस्तकों से संगीत की प्रशंसा से संबंध रखनेवाले अंश उद्धृत किए जा सकते हैं। परंतु जहाँ तक मैं समझता हूँ, इतने अंशों से भी इस बात का पता चल जाता है कि पाश्चात्य देशवाले संगीत को बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। परंतु संगीत का संबंध ईश्वर से भी प्रायः जोड़ा जाता है, और पाश्चात्य देशवालों ने भी इसे स्वीकार किया है। यूनान-देश के विश्व-संगीत (music of the sphere) के बारे में किसने नहीं सुना है? यहाँ पर यूनान-देश के इस विश्व-संगीत के विषय में विस्तार से विचार करने से लेख का आकार बहुत बढ़ जायगा। परंतु यहाँ पर इतना लिख देना अनुचित न होगा कि उस विश्व-संगीत का ईश्वर से भी संबंध है।

इसी संबंध के विषय में इँगलैंड का प्रसिद्ध कवि मिल्टन लिखता है—

In song and dance about the sacred hill;
Mystical dance, which yonder story sphere
Of planets, and of fixed, in all her wheels,
Resembles nearest, mazes intricate,
Eccentrick, intervolved, yet regular
Then most, when most irregular they seem;
And in their motions harmony divine
So smooths her charming tones, the God's own ear.
Listens delighted.

Milton, Book V., 155.

मिल्टन के इस कथन से स्पष्ट है कि वह संगीत का संबंध ईश्वर से जोड़ता है और संगीत को, चाहे वह विश्व-संगीत ही क्यों न हो, एक बहुत ही अधिक पवित्र वस्तु समझता है।

भारत में भी संगीत को पहले लोग बड़ी ऊँची दृष्टि से देखते थे। यही कारण है कि त्यागी महात्माओं ने भी संगीत की प्रशंसा की है, जैसा कि भर्तृहरि के निम्न-लिखित श्लोक से प्रकट होता है—

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।

तृणं न खादन्नपि जीवमान-
स्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ।

इसमें संदेह नहीं कि संस्कृत तथा हिंदी के भी अनेक कवियों ने भी संगीत की बड़ी प्रशंसा की है। विहारी का—तंत्रीनाद कवित्तरस—वाला दोहा प्रसिद्ध ही है। परंतु यहाँ पर हम एक ऐसे ग्रंथ से संगीत के संबंध में कुछ अंश उद्धृत करना चाहते हैं, जिसे प्रायः सब लोग प्रमाण मानते हैं। हमारा अभिप्राय जगत्प्रसिद्ध ग्रंथ गीता से है। गीता में स्वयं भगवान् कृष्ण ने कहा है—

वेदानां सामवेदोऽस्मि, देवानामस्मि वासवः ;
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि, भूतानामस्मि चेतना।

अर्थ—मैं वेदों में सामवेद, देवताओं में इंद्र, इंद्रियों में मन और प्राणियों में उनकी चेतना हूँ। सब लोग जानते हैं कि सामवेद ही संगीत-कला का जन्म-स्थान है और संसार के इतिहास में सबसे पहले सामवेद की ऋचाओं ने अपनी ध्वनि से पर्वत की गुफाओं, तपस्वियों, ऋषियों और मुनियों को पवित्र कर दिया था।

संसार के इतिहास में सबसे पहले सामवेद के गीत ही गाए गए थे। इसीलिये तो स्वयं भगवान् कृष्ण ही कह उठते हैं कि मैं वेदों में सामवेद हूँ। संगीत-कला प्रधान होने के कारण से ही श्रीकृष्णजी ने अपने को सामवेद बतलाया था। इसमें संदेह नहीं कि श्रीकृष्ण ने अपने को तो सामवेद अवश्य ही कहा है, परंतु बहुत लोग इस कथन में संदेह कर सकते हैं कि संगीत-कला के कारण से ही उन्होंने ऐसा कहा है। कुछ लोग ऐसा आक्षेप कर सकते हैं, मैं भी इसे स्वीकार करता हूँ। परंतु मेरा विचार है कि गीता में कोई भी संदिग्ध बात है ही नहीं। गीता जिन मतों का प्रतिपादन करती है अथवा जिस सिद्धांत का खंडन करती है, उनके संबंध में संदेहात्मक पद्धति का तो वह अवलंबन लेती ही नहीं। गीता के वाक्य स्पष्ट, निश्चित तथा संदेह-रहित हैं। यदि गीता एक विषय को कहीं स्पष्ट नहीं कर पाती है, तो उसे दूसरे स्थान पर अवश्य ही स्पष्ट कर देती है। इसी संदेह को दूर करने के विचार से गीता में एक दूसरे स्थान पर स्वयं भगवान् ने लिखा है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामि नारद॥

अर्थ—हे नारद! न तो मैं वैकुंठ में रहता हूँ और न योगियों के हृदय में। मैं तो वहीं पर रहता हूँ, जहाँ मेरे भक्त गाते हैं।

श्रीकृष्ण भगवान् के इस कथन से उक्त संदेह बिलकुल मिट जाता है। उक्त कथन से संगीत का महत्त्व और भी अधिक हो जाता है। इस कथन के अनुसार संगीत ईश्वर-प्राप्त करने का केवल एक नहीं—एक प्रधान साधन हो जाता है। इससे प्रकट है कि संगीत, ईश्वर की उपासना का एक प्रधान अंग हो जाता है। इस संगीत के द्वारा मनुष्य ब्रह्म का अनुभव कर सकता है। हमारे शास्त्रकारों ने संगीत-कला की उत्पत्ति स्वयं शिव से ही मानी है। इससे भी संगीत-कला का उपासना आदि से संबंध प्रकट ही है।

यही कारण है कि हमारे संगीत-शास्त्रियों ने इस प्रकार से प्रार्थना की है—

यस्माद्ग्रामप्रबन्धरागरचनाऽलङ्कारजातिक्रमो।
वन्दे नादतनुं तमुद्धुरजगद्गीतं मुदे शङ्करम् ॥ १ ॥
ततं येनावनद्धं च भुवनं निजमायया।
आनन्दघनमध्यमितं ब्रह्म सुषिरे हरम् ॥ २ ॥
आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम् ॥ ३ ॥

ऊपर के श्लोकों से प्रकट है कि संगीत एक बहुत ही व्यापक विषय है। प्रथम श्लोक से यह भी प्रकट होता है कि साहित्य-शास्त्र, संगीत का एक अंग है, और संगीत, साहित्य से अधिक व्यापक है। संगीत-शास्त्र के अनुसार संगीत के तीन तो बड़े प्रधान अंग हैं,—(१) गायन, (२) वादन और (३) नर्त्तन।

गायन के भीतर साहित्य-शास्त्र, नाद-शास्त्र, स्वर-शास्त्र, राग-शास्त्र, गान-रचना और संगीत-विज्ञान हैं। इससे प्रकट है कि साहित्य-शास्त्र, वास्तव में संगीत का एक बहुत छोटा रूप है।

यही कारण है कि कवियों को संगीत से अवश्य ही परिचित रहना चाहिए, क्योंकि काव्य उक्त कथनानुसार संगीत ही का एक अंग है। मैं इस समय इस पर शास्त्रार्थ नहीं उठाना चाहता कि संगीत अधिक व्यापक है अथवा साहित्य। परंतु इसमें तो कुछ भी संदेह नहीं है कि यदि कवि, संगीत-कला से परिचित न हो, तो उसे कई कठिनाइयों का अवश्य सामना करना पड़ता है, और यदि कवि, संगीत-कला को अच्छी तरह से जानता हो, तो उसे अनेक प्रकार

की सहायता मिल सकती है। आजकल मैं प्रायः समालोचकों तथा एक कवि की दूसरे कवि से प्रायः ऐसी बातों के संबंध में लड़ते तथा झगड़ते देखता हूँ। इनमें से कुछ प्रश्न तो ऐसे हैं, जो संगीत से संबंध रखते हैं, और जो संगीत की सहायता से सुगमता से हल किए जा सकते हैं। कभी-कभी तो मैंने यह भी देखा है कि इन झगड़ों का मुख्य कारण संगीत-कला अथवा संगीत-विज्ञान की अज्ञता ही रहती है। इस संबंध में मैं फिर कभी एक स्वतंत्र लेख में विचार करूँगा।

आजकल योरप में भी संगीत का प्रचार हो रहा है। वहाँ पर संगीत के दो प्रधान अंग आजकल स्वीकार किए जाते हैं। पहले को गाना कह सकते हैं और दूसरे को भिन्न-भिन्न स्वरों की एकता। इस कथन का यह अभिप्राय है कि आजकल योरप के निवासी अपने को संगीत-कला तथा संगीत-विज्ञान में बहुत निपुण समझते हैं, और सारे संसार की संगीत-कला को अपनी संगीत-कला के सामने तुच्छ समझते हैं। ये संगीत-कला को गाना (Melody) और भिन्न-भिन्न स्वरों की एकता (Harmony) दो भागों में विभाजित करते हैं। ये लोग कहते हैं कि गाने (Melody) का अस्तित्व तो सारे संसार में पाया जाता है; परंतु भिन्न-भिन्न स्वरों की एकता (Harmony) की सत्ता संसार के किसी भी देश में नहीं पाई जाती। पाश्चात्य देश के अनेक संगीत-कला तथा संगीत-विज्ञान के धुरंधर पंडितों ने कई स्थलों पर और स्पष्ट रूप से लिखा है कि भारत में गायन (Melody) का तो अस्तित्व पाया जाता है, परंतु वहाँ पर भिन्न-भिन्न स्वरों की एकता का बिलकुल ही अधिक अभाव पाया जाता है।

इस संबंध में अपना मत प्रकट करने के पहले मैं इन दोनों शब्दों की परिभाषा देना और वर्णन करना आवश्यक समझता हूँ। क्योंकि ऐसा करने से इस बात के समझने में सुगमता पड़ेगी कि वास्तव में इनका कथन सत्य है अथवा असत्य।

भिन्न-भिन्न शब्दों (Sounds) को, एक के बाद दूसरे को, लगातार इस प्रकार से रखने की कला को गाना (Melody) कहते हैं, जिससे कानों को सुनने में अच्छा लगे। जब कानों को एक ही समय में भिन्न-भिन्न शब्दों का संयोग अच्छा लगता है, तो उस कला को भिन्न-भिन्न स्वरों की एकता कहते हैं।

इस संबंध में एक विद्वान् ने लिखा है—

Melody has been known felt through all the ages: perhaps the same cannot be affirmed of harmony.

गाना तो संसार-भर में मालूम है तथा लोग उसका अनुभव करते चले आए हैं। परंतु यही बात भिन्न-भिन्न स्वरों की एकता के संबंध में नहीं कही जा सकती।

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि एक मनुष्य भी गाना गा सकता है। परंतु स्वरैकता (harmony) के लिये यही बात नहीं कही जा सकती। उक्त परिभाषा के अनुसार भारतीय संगीत के जाननेवालों को निश्चय करना चाहिए कि भारत में वास्तव में स्वरैकता का अस्तित्व माना जाता है अथवा नहीं।

संगीत के संबंध में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह कला है अथवा विज्ञान? इसमें तो किसी को संदेह ही नहीं हो सकता कि गाने का अधिक संबंध कला से है और स्वरैकता का अधिक संबंध विज्ञान से है। संगीत कला भी है और विज्ञान भी है। इसमें तो किसी को भी कुछ संदेह नहीं हो सकता कि संगीत कला है। एक प्रकार से हम लोग संगीत न कहकर प्रायः संगीत कला ही कहते हैं। इसलिये हम लोग संगीत कला शब्द के सुनने के बहुत ही अधिक आदी हो गए हैं, और इसका प्रभाव हम लोगों के ऊपर इतना अधिक पड़ा है कि हम लोग संगीत को विज्ञान मानने में अवश्य ही हिचकिचाते हैं। तथापि यह भी मानना ही पड़ेगा कि संगीत विज्ञान भी है। अतएव स्वरैकता को विज्ञान कह देने से ही हम लोग इसके महत्त्व का खंडन नहीं कर सकते, क्योंकि संगीत विज्ञान भी है। यदि संगीत की गणना विज्ञान में न होती, तब स्वरैकता को हम लोग विज्ञान कहकर उसका महत्त्व कम कर सकते थे।

यहाँ पर मैं थोड़े में, परंतु स्पष्ट शब्दों में यह दिखा देना चाहता हूँ कि संगीत विज्ञान भी है। ऊपर गाना तथा स्वरैकता की जो परिभाषा दी गई है, उसमें 'शब्द' (Sound) का प्रयोग किया गया है। यदि परिभाषा पर भी विचार न किया जाय, तो भी सब लोग जानते हैं कि गाने में शब्दों (Sound) का प्रयोग अवश्य ही किया जाता है। जिन लोगों ने विज्ञान का अध्ययन किया है, वे भली भाँति जानते हैं कि (Sound)

शब्द विज्ञान का एक विषय है। इस शब्द (Sound) के विषय में विज्ञान का एक छोटा विद्यार्थी भी अवश्य ही जानता है। परंतु शब्द की हरात्मक गति (Harmonic motion) के संबंध में विज्ञान का प्रारंभिक विद्यार्थी कुछ भी नहीं जानता। इसके संबंध में बी० ए० और एम्० ए० में अवश्य बहुत बातें बतलाई जाती हैं और शब्द की हरात्मक गति (Harmonic motion of sound) से ही संगीत का अधिक संबंध है। दो हरात्मक गतियों के संयोग से कौन-सी हरात्मक गति उत्पन्न होगी? तीन हरात्मक गतियों से कौन-सी गति उत्पन्न होगी? ये सब शुद्ध विज्ञान के प्रश्न हैं, और जो लोग गणित जानते हैं, वे इन प्रश्नों को हल कर सकते हैं। उसमें भी जिसने केवल एम्० ए० तक गणित का अध्ययन किया है, वह ऐसे सब प्रश्नों को सुगमता से नहीं हल कर सकता, क्योंकि ऐसे प्रश्नों में दीर्घवृत्तीय संबंधी फलों (Elliptic Functions) की आवश्यकता पड़ती है, जिन्हें एम्० ए० के साधारण विद्यार्थी नहीं समझ सकते।

आगे चलकर गणित और विज्ञान दोनों भाई-भाई की तरह मिलते हैं, और दो भिन्न-भिन्न विषय नहीं रह जाते। इन सब कथनों से प्रकट है कि जो शब्द संगीत का विषय है, वही विज्ञान तथा गणित का भी विषय है। इससे इतना तो कम-से-कम स्पष्ट ही है कि संगीत विज्ञान भी है।

इसमें भी संदेह नहीं कि हवा तथा ऋतुओं का भी शब्द पर प्रभाव पड़ता है। जब हवा कम रहती है, तो शब्द कम सुनाई पड़ता है। हवा और शब्द के इस पारस्परिक संबंध को सब लोग जानते हैं। ध्वनि-विद्या (Acoustics) नामक एक विज्ञान है। जो लोग एम्० ए० में विज्ञान पढ़ते हैं, उन्हें इस ध्वनि-विद्या को भी पढ़ना पड़ता है। उसमें इन सब बातों का विस्तृत वर्णन रहता है। संगीत में भी इन सब बातों का विचार किया जाता है। कब किस गीत को गाना चाहिए? किस समय, किस राग तथा किस रागनी को अलापना चाहिए? ये सब विषय संगीत के हैं, और ध्वनि-विद्या के भी। यदि कोई मनुष्य ध्वनि-विद्या का संपूर्ण तथा विस्तृत अध्ययन करे, और फिर भारतीय संगीत का अध्ययन करे, और फिर दोनों की तुलना करे, तो वह वास्तव में एक बड़ा भारी मौलिक काम करेगा। परंतु इसके लिये कम-से-कम एम्० ए० तक गणित, बी० ए० तक विज्ञान तथा संपूर्ण संगीत-कला और संपूर्ण संगीत-विज्ञान का जानना आवश्यक है। दोनों के विस्तृत अध्ययन के बाद यह प्रश्न सुगमता से हल हो सकता है कि भारतीय संगीत-कला में कितनी वैज्ञानिकता है। ऐसा करने से संगीत-कला-संबंधी ऐसे बहुत अधिक नियम निकाले जा सकते हैं, जिनसे संगीत-कला की उन्नति हो। अस्तु।

इसके अतिरिक्त संगीत-कला के विधायक नियम भी हैं और यह विज्ञान का विषय है, कला का नहीं। इसलिये हम लोगों को योरपीय देश-निवासियों की 'स्वरैकता' को केवल विज्ञान से अधिक संबंध रखने के कारण बुरा नहीं कहना चाहिए। इतना तो निश्चय है कि ये लोग भी भारत के गाने (melody) की प्रशंसा करते हैं, परंतु इन लोगों की स्वरैकता का गर्व ही अधिक विचारणीय है। इस संबंध में देश-भक्ति तथा अपनपो के जोश में आकर सत्य की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। हम लोगों को यह वाक्य कभी नहीं भूलना चाहिए—

तस्मात् प्रवर्तेय सखे सततं परीक्षाम्

सर विलियम जोंस साहब ने गाने की ही प्रशंसा की है और स्वरैकता की बड़ी निंदा की है। इनके भिन्न-भिन्न प्रभावों के संबंध में मैं एक अलग स्वतंत्र लेख में विचार करूँगा। रूसो ने भी स्वरैकता की बड़ी निंदा की है।

इन सब प्रश्नों पर विचार करने के पहले स्वरों का विचार करना अत्यंत अधिक आवश्यक है। योरप में सात ही स्वरों का प्रयोग होता है और भारत में भी सात ही स्वरों का प्रयोग होता है। इस समानता को देखकर कुछ योरप के लोग फूले नहीं समाते और प्रायः कहा करते हैं कि जिन सात स्वरों का प्रयोग हम लोग करते हैं, उन्हीं का प्रयोग भारत, यूनान और मिस्र आदि देशों में भी होता है। इसमें तो कुछ भी संदेह नहीं कि हम लोग भी सात ही स्वरों का प्रयोग करते हैं। परंतु संसार में अब भी ऐसे अनेक स्थान पाए जाते हैं, जहाँ सात नहीं, ५ स्वरों का ही प्रयोग होता है।

बात यह है कि संस्कृत की पुस्तकों में सात स्वरों का उल्लेख पाया जाता है। इनके नाम ये हैं (१) षड्ज, (२) ऋषभ, (३) गंधार, (४) मध्यम, (५) पञ्चम, (६) धैवत और (७) निषाद।

आहार शिलालेख
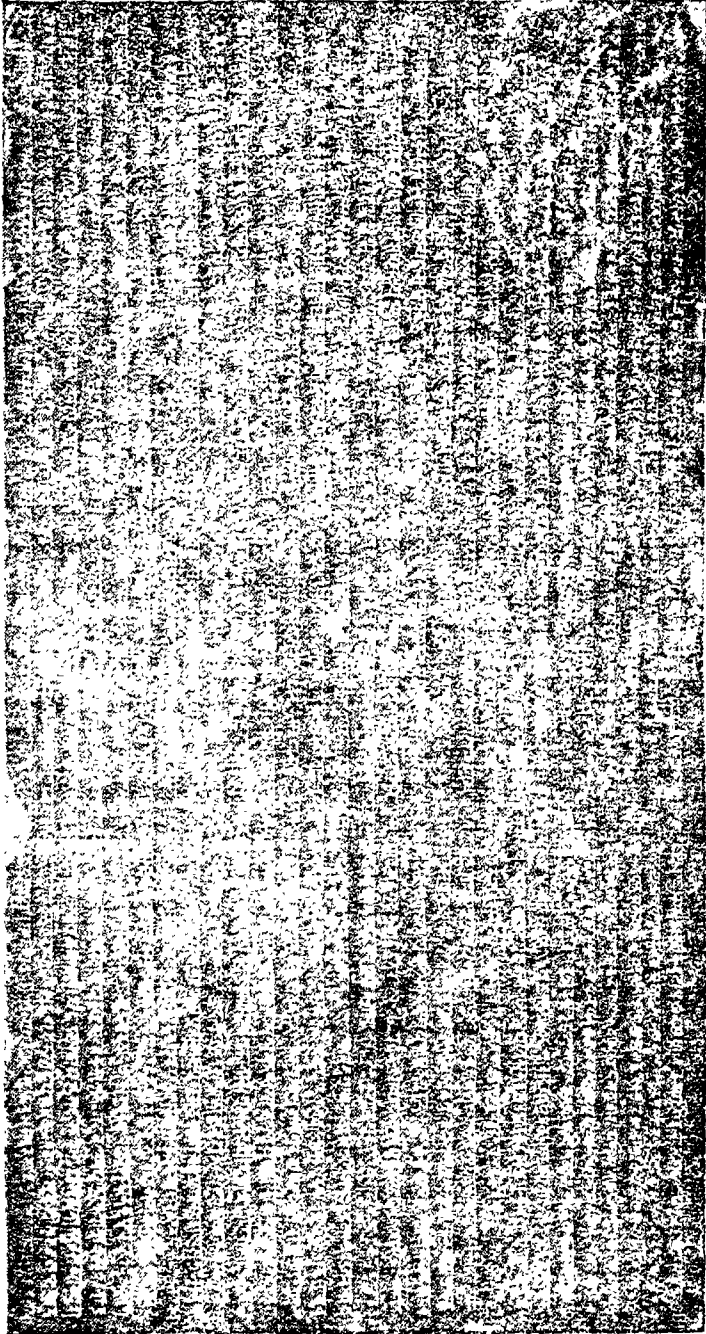
(विगत मास की 'माधुरी' में इस शिलालेख के संबंध में एक लेख निकल चुका है)

इन्हीं सात स्वरों के आधार पर स, रे, ग, म, प, ध, और नि बताए गए हैं। भारतवर्ष में सब बातें वैदिक युग में ही हो गई थीं। यहाँ से ये सातों स्वर फ़ारस तथा अरब-देश में गए, और वहाँ से सारे योरप में फैल गए। इस प्रकार प्रकट है कि इन सात स्वरों के लिये योरप भारत का ऋणी है। बहुत लोग कदाचित् मेरे इस कथन में संदेह करें कि योरप इस विषय में भारत का ऋणी है। इस विषय पर मैं अलग एक लेख में स्वतंत्र-रूप से इस बात के सत्य प्रमाणित करने का विचार करूँगा; परंतु यहाँ पर प्रसिद्ध विद्वान् डॉक्टर वेवर साहब के मत का उल्लेख कर देना आवश्यक जान पड़ता है। आप जर्मनी देश के एक प्रसिद्ध विद्वान् हैं, और आपने भारतीय साहित्य पर सन् १८७६ ई० में एक बहुत ही अधिक महत्त्व-पूर्ण लेख लिखा था। उसमें उन्होंने भारतीय संगीत पर भी विचार किया है। आपने अपनी पुस्तक के २६७वें पृष्ठ में लिखा है—

"The Hindu scale, sa, re, ga, ma, pa, dha, ni has been borrowed also the Persians, where we find it in the form do, re, me, fa, so, la, ei. It came to the west and was introduced by Guido of Arezzo in Europe in the form de, re, mi, fa, sol, la, ti.

I have moreover hazarded the conjecture that even the gamma of Guido (French gramme, English Gamut goes back on the Sanskrit Grama and Prakrit gama and is thus a direct testimony of the Indian origin of our European scale of seven notes."

इसका भावार्थ यह है—हिंदुओं के सात स्वर स, रे, ग, म, प, ध और नि की ही फ़ारस देशवालों ने नक़ल की थी। परंतु इन्होंने इसे दो, रे, मि, फ, सो, ल और सि के रूप में परिवर्तित कर लिया। फ़ारसवालों से अँगरेज़ों के गिडो ने इन सात स्वरों को सीखा था—और इसने इसका दो, रे, मि, फ, सो, ला और ति रूप दिया। मेरा यह भी विचार है कि फ़्रांसीसियों का ग्राम या अँगरेज़ों का गैमुत भी संस्कृत ग्राम और पाली गम का ही रूपान्तर है। इस प्रकार प्रकट है कि योरप में जिन सात स्वरों का आजकल प्रचार है, वे भारत से ही यहाँ आए हैं, और वहीं से इनका पश्चिम में प्रचार हुआ है।

और भी अनेक प्रमाण दिए जा सकते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि भारत से ही ये सात स्वर पश्चिम में गए हैं। परंतु यहाँ पर स्थानाभाव से ऐसा नहीं किया जाता। एक प्रकार से ऐसा करना गड़े मुर्दों को उखाड़ना भी है; क्योंकि स्वयं योरप के निवासी ही इस बात को स्वीकार करते हैं।

जिस Gamut शब्द के प्रयोग के संबंध में जर्मन-देश के प्रसिद्ध विद्वान् वेवर साहब ने अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है, उसका प्रयोग इँगलैंड-देश के जगत्प्रसिद्ध कवि शेक्सपियर ने भी अपनी निम्न-लिखित कविता में किया है—

Madam, before you touch the instrument,
To learn the order of my fingering,
I must begin with rudiments of art,
To teach you gamut in a brief sort.

इन सब विषयों के बारे में मैं फिर कभी विस्तृत रूप से विचार करूँगा।

अवध उपाध्याय

कवि-कीर्तन

चंद

प्यारी कविता कुमुदिनी हर्षित हुई दुचंद;
रासो अम्बर में उदित ज्यों राका का चंद।
ज्यों राका का चंद मंद यह कभी न होता;
निज आभा से नित्य दोष पृथ्वी के धोता।
उडु-गण की क्या बात सूर-सा बना भिखारी;
सागर छलका देख चंद की विभुता प्यारी।

कबीर

बीजक सब चुकता किया साखी बने कबीर;
पद-पद पर आने लगा अनहद नाद गभीर।

बिहारी

विज्ञ बिहारी स्वाति शुचि दोहा सीप रसाल;
सुभग भाव मोती विमल पाते सुमन मराल।

मतिराम

उशना अवतार कवींद्र महामति या विभ-मंडल भाम हुए;
मति में रति में द्युति में गति में यति में यति से अभिराम हुए।
कल कोमल कांत पदावलि के मन-रंजन मंजुल दाम हुए;
रसराज धरा पर शोभित या मतिराम ललाम ललाम हुए।

विद्याभूषण 'विभु'

१. करौली के कवि महाराज सुजानसिंहजी
उपनाम फ़क़ीरसिंह

आज हम अपने पाठकों को एक कवि का परिचय कराते हैं। ये पूर्वीय राजस्थान के करौली-राज्य के निवासी थे। इन्हीं के वंशजों में से यह लेखक भी है। यह मानी हुई बात है कि राजस्थान में अभी साहित्य-विषयक खोज बहुत अधूरी हुई है। यहाँ पर साहित्य का भंडार पर्याप्तरूप से मिल सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि सच्ची लगनवाले इस ओर ध्यान दें। राजस्थान सर्वदा से कवियों का आश्रयदाता रहा है। यदि यहाँ पर बराबर खोज की जाय, तो बड़े-बड़े अनमोल रत्न प्राप्त हो सकते हैं। करौली-राज्य भी कवियों का आश्रयदाता रहा है। यहाँ के नरेश कृष्ण-वंशज हैं। करौली के पहले इनकी राजधानी बयाना थी। जहाँ पर महाराज विजयपालजी ने, जो कि पृथ्वीराज से पूर्व हो गए हैं, मानी नामक पहाड़ी पर एक बड़ा विस्तृत गढ़ बनवाया था। यह स्थान अब भरतपुर राज्यांतर्गत है। इन्हीं महाराज विजयपाल के समय में नल्ल कवि हुआ है, जिसने एक वृहद् ग्रंथ विजयपाल रासो नाम का बनाया था। नल्ल कवि के विषय में हम दूसरे लेख में प्रकाश डालेंगे। उक्त स्थान से निकल जाने के बाद महाराज अर्जुनदेव ने भद्रावती नदी के तट पर कल्याणपुरी विक्रमाब्द सं० १४०२ में बसाई। उसी का नाम आज करौली नगर है।

यह हम पहले कह आए हैं कि यहाँ पर भी कवियों का खूब सत्कार होता रहा है। महाराज धर्मपालजी के समय देवीदासजी यहीं आकर बस गए, जिनके वंशज अभी तक करौली नगर में निवास करते हैं। 'प्रेमरत्नाकर'-नामक ग्रंथ उक्त कविजी ने बनाया, जिसकी प्रति इस लेखक के पुस्तकालय में मौजूद है।

अब हमें महाराज सुजानसिंह की ओर मुड़ना चाहिए। करौली-नरेश महाराज द्वारिकादासजी के ७ पुत्र हुए। उनके द्वितीय पुत्र सलेदीजू हुए; जिनके नाम से इस लेखक का गृह सलेदी भवन के नाम से प्रसिद्ध है। सलेदीजू के तृतीय पुत्र रत्नमणि हुए और इनके तृतीय पुत्र भोजराजजी हुए। भोजराजजी के पुत्र विष्णुसिंह और इनके पुत्र हमारे इस लेख के नायक सुजानसिंह हुए। करौली-राज्य के अधिकारी सलेदीजू के वंशज ही होते, परंतु उन्होंने कई कारण-वश गद्दी का अधिकार अपने छोटे भाई को दे दिया। तभी से हमारे कुल के मनुष्य राज्य-कुल के लोगों द्वारा 'बाबाजू' शब्द द्वारा संबोधित होते हैं। महाराज विष्णुसिंह बड़े हरि-भक्त तथा विद्वान् पुरुष थे। और स्वयं कविता भी करते थे। इनका बनाया हुआ ग्रंथ विष्णुसागर हमारे पास है। इनकी कविता की भी बानगी हम पाठकों को किसी दूसरे लेख में चखावेंगे। विष्णुसिंह बड़े धनी भी थे। इनके समय में राज्य पर

कई बड़े-बड़े आक्रमण मरहठों के हुए थे । उस समय राज्य की आर्थिक स्थिति बड़ी डाँवाडोल थी ; इस समय इन्होंने राज्य को भरपूर आर्थिक सहायता दी । जिसके सरकारी पट्टे अब तक हमारे पास मौजूद हैं। विष्णुसिंहजी का पिछला जीवन बड़ा शोक-पूर्ण रहा । यह पता उनकी कविता से चलता है ।

इन्हीं के पुत्र महाराज सुजानसिंहजी थे, ये बड़े ही प्रतिभाशाली तथा काव्य-रसिक पुरुष थे । इनके जन्म-दिवस का पता भली प्रकार नहीं लगता, पट्टों से केवल यहीं तक पता लग सका है कि ये महाराज गोपालसिंह करौली-नरेश जिनका राज्य-काल वि० सं० १७८१ से लेकर १८१२ है, वर्तमान थे । और महाराज तुरसमपालजी के राज्य में जिनका राज्य-काल वि० सं० १८१२ से १८२३ तक है, जीवित रहना पाया जाता है। ये किस अवस्था में स्वर्गधाम सिधारे; इसका पता नहीं चलता। इनके विषय में कहा जाता है कि इनको विष दिया गया था। और इसी से इनकी मृत्यु हो गई । इनका बनाया हुआ 'सुजान-विलास'-नामक ग्रंथ है, उसमें से हम पाठकों के मनो-विनोदार्थ कुछ पद्य उद्धृत करते हैं। इस ग्रंथ में ९१ पृष्ठ हैं, और पहले अध्याय में विविध देवताओं की स्तुति आदि हैं ; पर यह ग्रंथ शृंगार-रस प्रधान है। अंत में षट्ऋतु वर्णन भी है । ग्रंथ से कुछ छंद ज्यों-के-त्यों उद्धृत किए जाते हैं।

गणेश-स्तुति

जय गनेस गजबदन रदन इक महादेव सुव ;
मंगल रचित भुसुंड सीस छबि औषधीस हुव ।
नगतनया के तनय दनुज कोना नहिं नाम कर ;
फरस कमल में गहे लहे प्रभुता सभासकर ।
षटवदन अनुज सुरईस हो विघ्नहरन छितिसुत करन ;
तुव जन 'सुजान' दिन-रैन विवि पान जोर बंदित चरन ।

श्रीकृष्ण-विनय

मोर मुकुट कुंडल कपोल कुंतल छवि छावत ;
जनु अहिछौना मणि समीप बिहरत मनभावत ।
अरुन कमल से नैन छुवत कानन मृग भाजत ;
मुरली उर बनमाल भाल बिच खौरि बिराजत ।
गोधन चराय ग्वालनसहित कर लकुट कोटि कलमल नसौ ;
निसदिन 'सुजान' मोहन मदन यह मूरति मो मन बसौ ।

अथच

सुरतर दार, गिरिराज है अचल, और
चिंतामनि पाहन, सो कैसे उर आनिए ;
प्रभाकर तापकर, बिकल छपाकर है,
नदीपति खारौ, तारौ तमहीन जानिए ।
रतिपति बिना तन, बलि हू है निशाचर,
कामधेनु पशु सम क्योंकर प्रमानिए ;
मोहन मदन प्रभु तुम सौं हो तुम ही
'सुजान' कहा उपमा समान कै बखानिए ।

अब शृंगार-विषयक कुछ पद्य भी लीजिए । कवि ने शृंगार-रस में अपनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है । इनकी कविता कैसी है इस बात का निर्णय हम अपने पाठकों पर ही छोड़ते हैं । आशा है 'माधुरी' के विद्वान् संपादक भी अपनी सम्मति प्रदान करने की कृपा करेंगे ।

(१)

प्रात ही निहारे बिन गुन गुनवारे हर,
हार सिसुवारे स्याम रंग द्युति भारी के ;
करन कलित लसै ललित छवान तक,
तम को प्रवाह किधौं भानु सुत सारी के ।
मारग की फौज किधौं ससि ने भजाई,
ताकी मुख स्यामताई नीर टपकत जारी के ;
कहत 'सुजान' मखतूल के लछान नील-
मनि की प्रमान ऐसे जीवसुत प्यारी के ।

(२)

बैस है किशोरवारी बड़े दृग छोरवारी,
अधर तमोलवारी प्यारी इत ह्वै गई ;
भौंहैं विवबंकवारी आनन मयंकवारी,
लचकीले लंकवारी रूप दरसै गई ।
जलजातमालवारी बेंदी भाल लालवारी,
मोहनी-सी डारिकै 'सुजान' हित कै गई ;
करी चालवारी कर छरी लालवारी,
बालहरी सालवारी हर हेरी मना लै गई ।

(३)

चंद छबि मंद रंग मेचक मलिंद मूँगा,
खंजन चकोर कंज मीन मुरझाने हैं ;
दारिम दरकि गई चपला चमक गई,
कोकिल कपोत कीर कोक सकुचाने हैं ।

केहरी करिंद हंस कदली प्रगट एको,
मन मैं न आने मनमथ मनमाने हैं;
सौतिन के तन-मन नैन अकुलाने ताहिं,
देखत 'सुजान' स्यामसुंदर बिकाने हैं।

(४)

कटि पर केहरि भ्रमत रहैं बन-बन,
दसन बिलोक दारौं बदन बिदारौं है;
बेनी पै फनिंद गति ऊपर मराल गज,
बानी सुनी पीक मृग मद रंग धारौं है।
कुचन पै करह छबि कंठ पै कपोत नैन,
हेरत कमल मीन खंजन बिसारौं है;
चामीकर तन पै पवारी दुति ओढ़नी पै,
राका ससि बदन बिलोक बार डारौं है।

अब ज़रा ऊजरी गूजरी के ठोडी के बिंद की भी बड़ाई सुन लीजिए और कवि की कल्पना को दाद दीजिए।

कंचन केरी किधौं जरिया बिधि नीलम को कनिका जरयो पावक;
कै रवि को सुत जीव की गोद में मोद भरयो दरसै रसनावक।
आनन चंद चकोर से नैन लगे पुतरीन की काँत सुहावक;
गूजरी ऊजरी ठोड़ी को बिंदु गुलाब को फूल मलिंद को शावक।

आगम बसंत को बिचारकै बिदेस तज,
आयो मनभावन मदन सरसैनी सौं;
आनँद अनंत भयो नैनन बिलोकत ही,
आनन अरुन अनुराग रंग रैनी सौं।
सौतन बियोग राखि बिरह को त्राय ताहि,
काढ्यौ मनमोहन सनेह सुख छैनी सौं;
जौ लौं प्यारो प्रीतम बिहार कर उर पर,
तौ लौं उर हार तू बिहार कर बैनी सौं।

इस ग्रंथ में अधिक घनाक्षरी तथा सवैया हैं। इसमें से कुछ नमूने पाठकों के मनोविनोदार्थ दिए गए हैं। उनसे पाठक, कवि के विषय में कुछ अनुमान कर सकते हैं। ग्रंथ के ऊपर संवत् आदि कुछ भी नहीं लिखा है। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि यह ग्रंथ किस संवत् में बनाया गया है।

कुं० परमसिंह "प्रेम"

---

१. उपन्यास और कहानी

स्नेह-पूर्णा—लेखक, श्रीयुत गोकुलदास द्वारकादास रायचुरा। प्रकाशक, बेचरसेघजी एंड संस, बुकसेलर्स, राजकोट, काठियावाड़। कागज़ और छपाई साधारण। पृष्ठ-संख्या ३५४। मूल्य ३)

स्नेह-पूर्णा विस्तृत सरस सामाजिक उपन्यास है। इसके लेखक श्रीयुत गोकुलदासजी गुजराती की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका शारदा के संपादक और गुजराती-भाषा के यशस्वी लेखक हैं। प्रस्तावना में सौभाग्यवती शारदा सुमंत मेहता बी० ए० ने उपन्यास का परिचय दिया है। उसका कुछ अंश इस भाँति है—

"पुस्तक के आदि से अंत तक पढ़ने से पता लगेगा कि यह कोई साधारण सांसारिक उपन्यास नहीं है। यह वह वस्तु है, जिसे अँगरेज़ी में Problem Novel कहते हैं। × × × इसीलिये इसमें विद्वानों को प्रिय जटिल वाक्यावली अथवा विस्तृत पांडित्यमय वर्णन नहीं, बल्कि प्रतिदिन होनेवाली घटनाओं को सरस रूप देकर अपने सड़ते हुए समाज को उत्तम कोटि तक पहुँचाने का प्रयास किया गया है।

इन सबके बाद इस उपन्यास की सबसे बड़ी एक विशेषता और भी है। वह यह कि आजकल के उपन्यासों में शृंगार-रस की पराकाष्ठा गुप्त या प्रकट रूप से देखने में आती है, और सर्वसाधारण का दिल बहलाने के लिये बहुधा इसे प्रधानता देनी पड़ती है। परंतु इस पुस्तक भर में सर्वत्र उसका बहिष्कार किया गया है। पति-पत्नी के वार्त्तालाप में भी औचित्य का पूर्ण ध्यान रखा गया है। फिर भी पुस्तक नीरस नहीं है। वास्तव में उपन्यास या नाटक तो ऐसा ही होना चाहिए कि जिसे पिता अपनी संतति के सामने बेधड़क पढ़ सके। यह उपन्यास पाश्चात्य वातावरण की छाया से हीन और आर्य संस्कृति का उत्तम दर्शन करानेवाला है।"

उपन्यास के अंतरंग का परिचय देने के लिये, उक्त पंक्तियाँ, हम समझते हैं, पर्याप्त हैं। इसके कुछ उत्तमोत्तम उद्धरण भी हम पाठकों की सेवा में उपस्थित करते हैं। "× × ज्ञान की तेज किरणों से ईर्ष्या-द्वेष आदि का नाश होगा और भारत की महान् प्रजा की हम माता हैं, बहन हैं, अर्द्धांगिनी हैं, इस भावना से भारत का सुंदरी-समाज जाग्रत होगा। × × घर-घर में गृहिणियाँ यदि गृह-राज्य चलावें, तो स्वर्ग और मर्त्य में कोई भेद न रहे। × × सुंदरी-समाज देश के उदय का मंत्र निरंतर जपेगा। जब स्वदेश की सेवा के लिये सन्नारियाँ तपस्या करेंगी, तब भारतवर्ष प्राचीन महत्ता से संसार के सब देशों में शोभित होगा। भारत के उदय की उषा प्रकटी है, यह सत्य है। वर्षों से अज्ञान के अंधकार में भटकती हुई हिंदी प्रजा में ज्ञान-रवि का प्रकाश पड़ेगा। प्रकाश की इन रश्मियों से सत् और असत् की परीक्षा होने पर सच्चे

साधुओं का दर्शन होगा। साधुता का अर्थ केवल गेरुआ कपड़ा ही नहीं है, केवल वेद के मंत्रों का गान नहीं है, सिर्फ़ जटा-जूट, कौपीन या कमंडलु नहीं है। साधुता सच्चे साधु को शोभा देने योग्य मातृभूमि और मनुष्य जाति की सेवा है।" कई एकरँगे चित्र भी हैं। जो पाठक महोदय गुजराती जानते हों, उनसे इस उपन्यास को अवश्य पढ़ने का हमारा अनुरोध है।

× × ×

गंगा जमुनी (दूसरा भाग)—लेखक, श्री जी० पी० श्रीवास्तव्य। प्रकाशक, हिंदी-पुस्तक-एजेंसी, कलकत्ता। मूल्य २), पृष्ठ २३५।

इस रचना में युवक प्रेम और प्रौढ़ युवक प्रेम के रूप दिखाए गए हैं। पहले खंड में कहानियाँ हैं, दूसरे में एक छोटा-सा नाटक। गंगाप्रसादजी ने मस्त तबियत पाई है, और उसकी मस्ती उनकी रचनाओं में छलकी पड़ती है, पढ़नेवाले पर उस मस्ती का असर न हो यह संभव नहीं। भाषा का ऐसा प्रवाह, भावों का ऐसा बाहुल्य कम देखने में आता है। मगर मस्ती जब अपनी सीमा का उल्लंघन कर जाती है, तो उसे पागलपन कहते हैं। समाज कुछ बंधनों से ही संगठित है। उन बंधनों को तोड़ दीजिए और पशु-वृत्तियों का तमाशा देखिए। पन्ना और उसके प्रेमी की प्रेम-लीला वासना का वह रूप है, जिसे लम्पटता कह सकते हैं। युवकों के सम्मुख ऐसे चरित्र रखकर हम उन्हीं वासनाओं के उत्तेजित करते हैं, जिनका खुले बंदों घूमना न व्यक्ति के लिये उपयोगी हो सकता है, न समाज के लिये।

× × ×

तीर्थयात्रा—लेखक, महाशय सुदर्शन। प्रकाशक, इंडियन-प्रेस प्रयाग। मूल्य २), पृष्ठ २६२। सजिल्द।

इस संग्रह में सुदर्शनजी की १४ कहानियाँ हैं और एक छोटा-सा ड्रामा। पहले यह संग्रह उर्दू में प्रकाशित हुआ था। उस पर महाशय को पंजाब के शिक्षा-विभाग ने ७५०) पुरस्कार दिए थे। सुदर्शन जी की कहानियों में प्रसाद, गहराई और मनस्तत्त्व कूट-कूटकर भरे होते हैं। इन कहानियों में ये सभी गुण मौजूद हैं। तीर्थ-यात्रा, घोर पाप आदि कहानियाँ बहुत सुंदर हुई हैं।

× × ×

ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट—लेखक और प्रकाशक उपर्युक्त। मूल्य ||=)

बड़ा ही मनोरंजक प्रहसन है। अनपढ़ ऑनरेरी मैजिस्ट्रेटों की खूब क़लई खोली गई है। झंडूसाह और गंडूसाह की बातें पेट में बल डाल देती हैं।

× × ×

२. कविता

बक-संहार—लेखक, बाबू मैथिलीशरण गुप्त। प्रकाशक, साहित्य-सदन, चिरगाँव झाँसी। पृष्ठ-संख्या ५५। कागज़ और छपाई अच्छी। मूल्य ।=)।

महाभारत की एक घटना के आधार पर गुप्तजी ने उक्त खंड काव्य लिखा है। घटना यों है,—कुरु-राज धृतराष्ट्र ने कुंती और उनके पुत्रों को जलाकर मार डालने के लिये दुर्योधन और शकुनि आदि की सलाह से वारणावत नगर में भेज दिया था। जिस घर में ये लोग ठहराए गए थे, वह झट जल उठनेवाले पदार्थों से बना था। पूर्व निश्चयानुसार उक्त घर में समय पर आग लगाई गई। किंतु विदुर ने युधिष्ठिर को सावधान कर दिया था, इसलिये उस विपत्ति से पांडवों की रक्षा हुई। ये लोग वहाँ से भाग निकले और बड़ी दीनावस्था में अपने को छिपाए नाना स्थानों में घूमते फिरे। अंत में एकचक्रनगर में आकर एक ब्राह्मण के यहाँ आश्रय लिया। वहाँ बक नामक दैत्य ने बड़ा उपद्रव मचा रक्खा था। वह सदा अपनी घात में लगा रहता और जब मौक़ा पाता उक्त नगर के प्राणियों का संहार करता। अंत में एक-चक्र निवासी घबड़ा गए और उक्त दैत्य से संधि कर ली। संधि के अनुसार प्रतिदिन एक आदमी बक के पास जाता और वह उसे मारकर खा जाता। एक दिन उस ब्राह्मण की पारी आई, पांडव जिसके आश्रित थे। ब्राह्मण के एक पुत्र, एक पुत्री और पत्नी थी। ब्राह्मण के विनाश की आशंका से तीनों प्राणी रो रहे थे। अंत में कुंती को सब हाल मालूम हुआ और उन्होंने उक्त ब्राह्मण-परिवार को आश्वासन दिया और उस ब्राह्मण के बदले अपने पुत्र भीम को भेजा। भीम ने अपने बाहु-बल से बक दैत्य का संहार करके उक्त गाँव के रहनेवालों को निर्भय बना दिया। बक-संहार इसी घटना के आधार पर बना है। इसमें ब्राह्मण के यहाँ पांडवों के आश्रय के समय से वर्णन है। वर्णन-शैली रोचक है। करुण और वीर-रस का अच्छा परिपाक हुआ है। भाषा सरस, सरल और निर्दोष है, पर कहीं-कहीं त्रुटि-पूर्ण भी है। जैसे 'देहली'

की तुक के लिये 'अंजलि' का 'अंजली' किया गया है। कहीं पद-पूर्ति के लिये व्यर्थ शब्द लिखे गए हैं, जैसे, 'सु-नवीन' आदि। एकाध अप्रचलित शब्द भी हैं जैसे, 'ओसेरे।' इन साधारण दोषों को छोड़कर पुस्तक अच्छी है। ब्राह्मण-कुंती-संवाद बहुत ही सुंदर है। कुंती की एक उक्ति सुनिए,—

"राजा प्रजा का पात्र है;
वह लोक प्रति निधि-मात्र है।
यदि वह प्रजा-पालक नहीं तो त्याज्य है।
हम दूसरा राजा चुनें;
जो सब तरह अपनी सुनें।
कारण, प्रजा का ही असल में राज्य है।"

वन वैभव—लेखक और प्रकाशक उपर्युक्त। कागज़ और छपाई अच्छी। पृष्ठ-संख्या ५६। मूल्य ।=)

यह भी महाभारत के ही आधार पर गुप्तजी का लिखा हुआ खंड-काव्य है। महाराज युधिष्ठिर द्यूत में अपना सर्वस्व गँवाकर और मुनिजनोचित वृत्तियाँ अंगीकार कर द्रौपदी और भीमादि चारों भाइयों सहित द्वैत-वन में रहते थे। उन्हें उस अवस्था में भी चिढ़ाने और तंग करने के लिये शकुनि की सलाह से कर्ण आदि महारथियों और चतुरंगिणी चमू के साथ दुर्योधन धृतराष्ट्र की आज्ञा लेकर शिकार खेलने के बहाने जा रहा था। रास्ते में चित्ररथ गंधर्व से इसकी मुठभेड़ हो गई। कौरव बुरी तरह हारे। चित्ररथ दुर्योधन को क़ैद किए लिए जा रहा था। किसी प्रकार युधिष्ठिर आदि के कानों तक यह बात पहुँची। भीम इत्यादि तो उसकी दुरवस्था सुनकर बड़े प्रसन्न हुए, पर युधिष्ठिर को यह गवारा नहीं हुआ कि उनके भाई को कोई बाहरी आदमी अपमानित करे। अंत में उनकी आज्ञा से अर्जुन गए और चित्ररथ को हराकर दुर्योधन को छुड़ा लाए।

पुस्तक अच्छी है। भाषा सरल और सरस है। द्रौपदी, भीम और युधिष्ठिर की उक्तियाँ रमणीय हैं। युधिष्ठिर का भ्रातृ-प्रेम और अर्जुन का भाई की आज्ञा का पालन करना देखने-योग्य है। किंतु इसका नाम बहुत अस्पष्ट है। 'वन-वैभव' नाम से तो यही पता चलता है कि इसमें किसी वन के वैभव का ही वर्णन होगा। परंतु इसका कथा-प्रसंग ही कुछ दूसरा है। जो हो, पुस्तक सुंदर और संग्राह्य है।

× × ×

सैरंध्री—लेखक और प्रकाशक उपर्युक्त। कागज़, छपाई और मूल्य पूर्ववत्। पृ० सं० ५७।

गुप्तजी की यह सुंदर कृति भी महाभारत के ही आधार पर है। महाभारत की इस घटना पर अनेक कवियों ने सुंदर-सुंदर रचनाएँ की हैं। किसी ने कीचक-वध के नाम से और किसी ने पाण्डवों का अज्ञातवास के नाम से। परंतु गुप्तजी की रचना उनसे भिन्न और मनोहर है। घटना बहुत पुरानी है, फिर भी उसका इसमें जो वर्णन किया गया है, वह नया ही है। भाषा बहुत साफ़ और प्रसाद-गुण से पूर्ण है। इसमें आदि से अंत तक केवल कीचक-वध की ही कथा है। देखिए द्रौपदी किस वीरता से विपत्ति का स्वागत करती है,—

"आ, विपत्ति, आ, तुझसे नहीं डरती हूँ अब मैं;
देखो बढ़कर आप कि क्या करती हूँ अब मैं।
भय क्या है, भगवान मात्र ही मैं है मेरा;
निश्चय, निश्चय जिए हृदय, दृढ़ निश्चय तेरा।
मैं अबला हूँ तो क्या हुआ? अबलों का बल राम है;
कर्मानुसार भी अंत में शुभ सबका परिणाम है।"

× × ×

आर्द्रा—लेखक, बाबू सियारामशरण गुप्त। प्रकाशक, साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी। कागज़ और छपाई उत्तम। पृष्ठ-संख्या १४२। खद्दर की बँधी हुई जिल्ददार पुस्तक का मूल्य १)

आर्द्रा सियारामशरणजी की हूक, प्रयाणोन्मुखी, डाकू, नृशंस, एक फूल की चाह, अग्नि-परीक्षा, चोर, डॉक्टर, अबोध, वंचित, खादी की चादर, अब न करूँगी ऐसा और बंदी शीर्षक १३ फुटकर कविताओं का संग्रह है। प्रायः सभी रचनाएँ समय-समय पर पत्रों में प्रकाशित हो चुकी हैं। भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से कविताएँ उत्तम हैं। डाकू, डॉक्टर और अग्नि-परीक्षा शीर्षक कविताएँ हमें बहुत पसंद आईं। डाकू का एक अंश इस भाँति है,—

"उड़ाकर मेरे ऊपर कीच;
मुझे कहते फिरते जो नीच।
जरा देखें वे अपनी ओर;—
सुधार्मिकता वह अपनी घोर।
हड़पकर औरों के घर-द्वार;
नहीं लेता जो कभी डकार।

कपट है जिसका कौशल-कार्य;
असत् है जिसे सदा अनिवार्य।
एक ही जिसकी छोटी बात;
छिपा रखती सौ-सौ आघात।
निरघों, हत भागों का खून;
पिलाता है, जिसको कानून।
धान्य-धन तिजोरियों में डाल;
बद्ध रखता जो शांति-सुराल।
वचन से बनकर ऊपर वर्म;
घातकायुध का करता कर्म।"

× × ×

चमचम—रचयिता, हिंदी-भूषण श्रीरामलोचन शर्मा 'कंटक'। प्रकाशक, हिंदी-मंदिर, शीतलपुर, पो० एकमा, ज़िला सारन। कागज़ और छपाई साधारण। पृष्ठ-संख्या ४३। मू० ≈)

चमचम बाल-विलासोद्यान का चतुर्थ पुष्प है। गाय और सिंह, पंडुक और शिकारी, राजा और बंदर, राजा और ब्राह्मण, दंपति आदि कई छोटी-छोटी मनोरंजक कहानियाँ बालकों के लिये लिखी गई हैं। अच्छी हैं। आशा है, लड़कों को पसंद आएँगी। लेकिन जान पड़ता है कि लेखक को बंगाली मिठाइयाँ बहुत पसंद हैं, क्योंकि चमचम बंगाली मिठाई का नाम है और इसके बाद वे बालकों को 'रसगुल्ला' खिलाने की प्रतिज्ञा करते हैं। अच्छी बात है।

× × ×

३. वैद्यक

नाड़ी सिद्धांत—लेखक, श्रीरामदेव ओझा चिकित्सक। प्रकाशक, श्रीवैद्यनाथ औषधालय सरैयागंज मुज़फ़्फ़रपुर। पृष्ठ-संख्या ७२। कागज़ छपाई-सफ़ाई साधारण। मू० ॥)।

इस पुस्तक में संक्षेपतः नाड़ी शब्द की व्याख्या करते हुए नाड़ी-ज्ञान-विषयक विधि लिखी गई है। यह पुस्तक नाड़ी-ज्ञान-तरंगिणी, तथा नाड़ी-विज्ञान के आधार पर लिखी गई है। लेखक ने अपनी ओर से कोई विशेष बात नहीं लिखी है। जो बात नाड़ी-विज्ञान में है, वही इसमें है। इसे यदि उक्त ग्रंथ की कुछ विस्तृत हिंदी टीका कहें, तो अत्युक्ति न होगी। लेखक ने प्रारंभ में नाड़ी शब्द की व्याख्या करते हुए कुछ ग्रंथों के नामोल्लेखन में कुछ अक्षर अंकित किए हैं, किंतु उन अक्षरों से साधारणतया यह नहीं ज्ञात होता है कि क्या प्रयोजन है। आदि में उन अक्षरों का अर्थ लिख देना आवश्यक था, यथा—पा० द० स० पा० ३३ सू० तथा द० स० क्या समझा जाय? इसमें प्रायः प्रथम क्लिष्ट शब्द लिखकर ब्रेकट में हिंदी का पर्यायवाची शब्द लिखा गया है। यथा—हृदय-विमुक्त स्वच्छ रक्त (शरीर में फैलने के लिये हृदय से निकला हुआ खून) सद्योजात बालक (तुरंत का उत्पन्न लड़का) मणिबंध (कलाई) इत्यादि। मेरी समझ में इस प्रकार कागज़ रँगने से कोई लाभ नहीं था। यदि मणिबंध न लिखकर केवल कलाई ही का प्रयोग होता, तो कोई हानि नहीं थी। तथापि केवल हिंदी पढ़कर वैद्यक पढ़नेवालों के लिये पुस्तक उपादेय है।

मधुसूदन वैद्य

× × ×

४. संस्कृत

साहित्य-सुधा-संग्रहः—(प्रथमो विंदुः)—संग्रहकर्ता, पंडित भगवानप्रसाद और पंडित वागीश्वर विद्यालंकार। प्रकाशक, लाला नंदलाल, गुरुकुल विश्वविद्यालय, काँगड़ी, बिजनौर। पृष्ठ-संख्या १७१। कागज और छपाई साधारण। मूल्य १)

काँगड़ी के गुरुकुल से कोई गीर्वाणवाणी-ग्रंथावली निकलती है। साहित्य-सुधा-संग्रह उसी का प्रथम विंदु है। गुरुकुल में पढ़नेवाले ब्रह्मचारियों के हितार्थ संस्कृत के भिन्न-भिन्न ग्रंथों से इसका संकलन किया गया है। अथर्ववेद, शतपथ, ऐतरेय और गोपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यक और कठोपनिषद्, श्रीवाल्मीकियरामायण, भगवद्गीता, पातंजल महाभाष्य, चरक-संहिता, रघुवंश महाकाव्य, कुमारसंभव और बुद्ध-चरित से चुने हुए शृंगार-रहित अंशों का संग्रह इस में है। आरंभ में 'पूर्वभाषणम्' या भूमिका है, जिसमें संग्रह की उपयोगिता और क्रम पर विचार किया गया है। संग्रह अच्छा है और संस्कृत के विद्यार्थियों के काम का है।

× × ×

साहित्य-सुधा-संग्रहः—(द्वितीयो विंदुः) संग्रहकर्ता, प्रकाशक, कागज़, छपाई और मूल्य पूर्ववत्।

पूर्वोक्त ग्रंथावली का यह द्वितीय भाग है। यजुर्वेद, दूतवाक्य, श्रीमद्भागवत, मृच्छकटिक, वासवदत्ता, हर्ष-

चरित और कादंबरी के अंशों का इसमें संग्रह है। एक ही पुस्तक में संस्कृत के अनेक धुरंधर लेखकों की लेखन-शैली का परिचय जानने में इससे बड़ी सहायता मिलेगी। चुनाव अच्छा है। यों तो विद्यार्थियों के लिये ही यह संग्रह है, पर अन्य संस्कृत-प्रेमी भी इनसे लाभ उठा सकते हैं।

× × ×

५. महिलोपयोगी

भारत की सती स्त्रियाँ—संपादक, श्रीभक्तशिरोमणि। प्रकाशक, वेलवेडियर-प्रेस, प्रयाग। पृष्ठ-संख्या २५६। कागज़ और छपाई साधारण। मूल्य १)

'स्त्रियों के साहित्य की बड़ी कमी' की पूर्ति के लिये उक्त पुस्तक का प्रकाशन हुआ है। इसमें प्राचीन और मध्यकाल की सीता, द्रौपदी, विदुला, शैव्या, सुकन्या, गोपा, दमयंती और पद्मावती आदि ३६ सती नारियों का जीवनचरित्र लिखा गया है। भारत की इन सती स्त्रियों में संपादक ने जहानआरा, चाँदबीबी, गुलशन, सुलतान रजिया बेगम और रूपवती बेगम को भी शामिल किया है। ३ तिरंगे और एक एकरंगा चित्र भी है। चित्रों की छपाई भद्दी है। पुस्तक स्त्रियों के पढ़ने-योग्य है।

× × ×

६. फुटकर

गार्हस्थ्य शास्त्र—लेखक, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी। प्रकाशक, तरुण-भारत-ग्रंथावली-कार्यालय, दारागंज, प्रयाग। मूल्य १)। पृष्ठ २६८।

पुस्तक में ६ खंड हैं, पहले खंड में गार्हस्थ्य-शास्त्र का महत्त्व और आवश्यकता बताई गई है, दूसरे खंड में घर, तीसरे में आय-व्यय, चौथे में सामानों को सुरक्षित रखने, पाँचवें में शिशु-पालन तथा रोगी-सेवा और छठे में घरेलू दवाइयों के विषय में बहुत उपयोगी बातें बताई गई हैं। बालिकाओं के लिये बड़े काम की चीज़ है।

× × ×

मदर-इंडिया—अनुवादिका, श्रीमती उमानेहरू। प्रकाशक, हिंदुस्तानी-प्रेस, प्रयाग। मूल्य ३॥)। पृष्ठ-संख्या ५५०।

यह मिस मेयो की बदनाम किताब का अनुवाद है। श्रीमती नेहरू का लिखा हुआ आदि में 'पश्चिमीय साम्राज्यवाद के विषय में मिस मेयो से दो-दो बातें' शीर्षक से एक कल्पित प्रश्नोत्तर है, जिसमें पाश्चात्य देशों की रीति-नीति, विलासिता, हृदय-शून्य धन-लिप्सा, प्रतिद्वंद्विता, दुर्बल जातियों को नोच खाने और शक्तिवानों के सामने पूँछ हिलाने की श्वानोचित नीति, नीच स्वार्थपरता आदि विषयों पर स्पष्ट, निर्भीक और सप्रमाण आलोचना की गई है। क्या ज़माने की खूबी है कि वह पश्चिम जो आज भी स्त्रियों और बच्चों को मिलों में पीसता है, जो अपने पड़ोसियों का सर्वनाश करने के लिये प्लेग, हैज़े आदि के कीड़े फैलाना भी धर्म समझता है, जिसने हिंसात्मक उपायों से संसार की कितनी ही जातियों का नाम-निशान मिटा दिया। जो पानी की जगह शराब पीता है, वह ग़रीब भारत पर इसलिये हँसता है कि वह सफ़ाई और स्वास्थ्य और सामाजिक व्यवहार में उसकी बराबरी क्यों नहीं कर सकता। मगर १५० वर्ष तक एक सभ्यता के शिखर पर पहुँची हुई जाति के अधीन रहने पर भी भारत की आज यह दशा क्यों है? क्या यह बतलाने की ज़रूरत है? हमारे शासकों ने जान-बूझकर हमारी बुराइयों के मिटाने में आनाकानी की है, और जब कभी शिक्षित भारत ने कोई सामाजिक सुधार का प्रस्ताव किया है, सरकार ने धार्मिक विषयों से दूर रहने की नीति की शरण लेकर उस प्रस्ताव को रद्द कर दिया है, हालाँकि अपना स्वार्थ-सिद्ध करने के लिये उसने धार्मिक बाधाओं की परवाह कभी नहीं की। श्रीमती नेहरू ने यह "दो-दो बातें" लिखकर हिंदी-जनता पर एहसान किया है। मूल पुस्तक का अनुवाद आदि से अंत तक सरल और सुपाठ्य है।

× × ×

७. पत्र-पत्रिकाएँ

लेख-माला—के प्रथम गुच्छ के तीन पुष्प हमारे सामने हैं। बिहार के कलंक को दूर करनेवाली, बाह्याडंबर से विपरीत सुपाठ्य लेखों एवं सरस रचनाओं से संग्रहीत यह साहित्य-संबंधी त्रैमासिक पत्रिका है। संपादक हैं हिंदी के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक और कवि—श्री० भुवनेश्वरसिंह साहब "भुवन"। उत्तमोत्तम लेखों एवं कविताओं के चुनाव की दृष्टि से आपकी साहित्याभिरुचि प्रशंसनीय है। साहित्य-महारथी—पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी, श्री० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ, पं० छविनाथ पांडेय बी० ए० एल्-एल्० बी०, पं० भगवतीप्रसादजी वाजपेयी आदि हिंदी के धुरंधर लेखकों, तथा संपादक—श्री०

भुवनेश्वरसिंहजी 'भुवन' के अतिरिक्त श्री० मैथिलीशरणजी गुप्त, पं० कृष्णविहारीजी मिश्र बी० ए०,एल्-एल्० बी०, श्री० मोहनलाल महत्तो गयावाल, 'वियोगी', श्री० ज्योतिप्रसादजी मिश्र 'निर्मल', पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय "हरिऔध", श्री० ललितकुमारसिंह "नटवर", पं० जगदीश झा 'विमल', पं० गुलाबरत्नजी वाजपेयी, पं० केदारनाथ मिश्र गौड़ "प्रभात" प्रभृति प्रसिद्ध कवीश्वरों द्वारा यह माला अलंकृत है। पत्र की सादगी और भीतर की मनोहरता देखकर हृदय यही कहलाता है—

जेब-ओ-ज़ीनत से उसको अनबन है!
सादगी में हज़ार जोबन है!!

पत्र-संपादन-कला क्या वस्तु है—इस बात से अपरिचित होते हुए भी कविवर—श्री० "भुवन" जी अपनी 'लेख-माला' को इतना सुंदर बना सके, इससे पत्रिका के होनहार होने में किसी को भी संदेह नहीं हो सकता। हम हृदय से पत्र की सर्वदा उन्नति चाहते हैं। प्रस्तुत अंकों में क्रम से ४४ तथा ५६-५६ पृष्ठ हैं, तिस पर भी वार्षिक मूल्य केवल ॥।) तथा प्रति संख्या ।) है। इस विशेषता से संपादक की साहित्य-सेवा, एवं त्याग तथा परिश्रम का पता चलता है। अतः सभी श्रेणी के साहित्य-मर्मज्ञों को, शीघ्र ही ग्राहक बनकर प्रकाशक के उत्साह को बढ़ाना चाहिए।

पता—लक्ष्मीपुस्तकालय, "शांति-कुटीर" मुज़फ़्फ़रपुर।

'विह्वल'

× × ×

वीर-संदेश—संपादक, श्रीयुत महेंद्र। प्रकाशक, महावीर प्रेस, आगरा। वा० मू० २); प्रति अंक का मूल्य ≡); काग़ज़ और छपाई साधारणतः अच्छी।

वीर-संदेश वीर-रस प्रधान सचित्र साहित्यिक मासिक पत्र है।

इसके द्वितीय वर्ष का तृतीय अंक हमारे सामने है। इसमें १२ गद्य-पद्यमय लेख हैं। लेखकों और कवियों में पं० हरिशंकर शर्मा कविरत्न, साहित्यरत्न श्रीबाबूराम बित्थरिया 'नवीन' पं० किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री और श्रीउग्र आदि हैं। लेखों और कविताओं का चुनाव संतोषजनक है और संपादकीय विचार उत्तम हैं। कई एकरंगे चित्र भी हैं। वीर-संदेश अपने ढंग का बहुत अच्छा पत्र है। हम इसका पूर्ण अभ्युदय चाहते हैं।

× × ×

उपन्यास-कुसुम—संपादक पं० रामलोचन शर्मा 'कंटक'। मिलने का पता—मैनेजर, 'उपन्यास-कुसुम' सिद्धेश्वरी काशी; वार्षिक मूल्य ४)। एक प्रति का मूल्य ।≈); काग़ज़ और छपाई अत्यंत साधारण।

हाल में ही यह पत्र काशी से निकला है। आरंभ में श्रीयुत पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय की कविता है और फिर संपादकीय विचार। अनंतर हास्य-विनोद, कहानी, एकांकी नाटक और एक छोटा-सा उपन्यास है। मनोरंजक साहित्य की वृद्धि करना इसका उद्देश है। हम पत्र की उन्नति चाहते हैं।

× × ×

कानपूर के रिसाला ज़माना ने इस वर्ष अपने जीवन के २५ वर्ष पूरे किए हैं और उसकी खुशी में "जुबिली" अंक प्रकाशित किया है। इस देश में पत्रों और पत्रिकाओं की आयु अधिक नहीं होती। उर्दू में एक भी ऐसी मासिक पत्रिका नहीं है, जिसे जुबिली मनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। इस संख्या में २२४ पृष्ठ हैं, २ रंगीन तसवीरें और क़रीब साठ फ़ोटो हैं। उर्दू के कई कवियों के चित्र पहली ही बार प्रकाशित किए गए हैं। मोमिन, सौदा, ग़ालिब, आज़ाद, शरर, रतननाथ, शिबली आदि बुज़ुर्गों के अतिरिक्त वर्तमान लेखकों के चित्र भी दिए गए हैं। पत्र की लिखाई और छपाई बहुत ही सुंदर हुई है। गद्य लेखों की संख्या २५ है और पद्य लेखों की ३०। लेखों का चुनाव इस भाँति किया गया है कि साहित्य का कोई प्रधान अंग छूटने नहीं पाया। प्रायः गद्य और पद्य के सभी लेख ऊँचे दरजे के हैं। उर्दू में अन्य पत्र भी अपने विशेषांक निकालते हैं, लेकिन इतना सुंदर, सजीला, भीतरी और बाहरी गुणों से पूर्ण विशेषांक हमने पहले कभी नहीं देखा। यह स्थायी साहित्य की एक वस्तु है, कवियों और प्रसिद्ध साहित्य-सेवियों की इतनी सुंदर चित्रावली शायद ही किसी पत्रिका में निकली हो। आदि में सर रवींद्रनाथ टैगोर, आनरेबल राय राजेश्वरबली, मि० सी० एफ़० एंड्रूज़, पूज्य लाला लाजपतराय और आनरेबल रायबहादुर लाला सीताराम की शुभेच्छाएँ और आशीर्वाद उनके हस्ताक्षरों के साथ प्रकाशित किए गए हैं। पत्र का मूल्य १॥) है। और दफ़्तर ज़माना कानपूर से मिल सकता है। ज़माना का यह अंक देखकर हिंदी पाठकों को उर्दू की वर्तमान प्रगति का अच्छा परिचय मिलेगा।

१. स्त्री और पश्चिमीय विद्वान्

दि पुरुष को समस्त संसार का राज्य मिल जाए और स्त्री न हो, तो वह भिखमंगा है। इसके विपरीत यदि निर्धन के पास अच्छी स्त्री है, तो वह चक्रवर्ती राजा है।

"काउपर"

× × ×

मुझसे पूछते हो, तो मैं निर्भयता-पूर्वक कहता हूँ कि मैं स्त्री का गुलाम हूँ। इसके विना मैं निराश और संकटापन्न हूँ। और कोई कुछ कहे, सबकी यही दशा है, उस मनुष्य का क्या हाल होगा जिसे यदि कोई सुदूर द्वीप अथवा महाभयंकर रेगिस्तान में फेंक आए, वह राजा ही क्यों न हो। सहस्रों प्राणियों पर राज्य ही क्यों न करता हो! स्त्री-विहीन उसकी क्या अवस्था होगी? वह निराश-सागर में धुंध की तरह परेशान और अँधेरी रात्रि के विक्षिप्त बादलों की भाँति घूमता फिरेगा। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि यदि हमारे भाग्य में किसी युवती देवी का प्रेम नहीं; तो हमें कम-से-कम मातृ-प्रेम के बदले में स्त्री का आदर करना चाहिए।

"होग"

× × ×

यदि संसार में कोई स्त्री न रहे, तो यह इस प्रकार सुनसान दृष्टिगोचर हो, जिस तरह वह मेला—जिसमें न तो किसी प्रकार की विक्री हो, और न जहाँ मनोरंजन का कोई अन्य सामान हो। इसकी मुस्कराहट के विना समस्त संसार इस प्रकार निकम्मा हो जाए, जिस तरह साँस के विना शरीर, फूल-फल के विना वृक्ष, शांति के विना बुद्धि, नींव के विना मकान, हाकिम के विना क़िला; यदि स्त्री न होती, तो प्रेम न होता, और जब प्रेम न होता तो आराम न होता, संसार में जो खूबी है, वह एक-मात्र इसी—स्त्री—के कारण है। यदि इस संसार में कोई ज्योति की रेखा है, तो इसी के कारण से!

"लेज़ो"

× × ×

प्रकृति ने स्त्री को इस कारण बनाया है कि वह अच्छी संतान उत्पन्न करे, मनुष्य की प्यारी बने, और तनिक-तनिक-सी बात में प्रेम और प्यार से हमारे आनंद में वृद्धि करे एवं कष्टों को कम करे। घरेलू झंझटों को हल्का करके हमें इस योग्य बना दे कि हम परिश्रम कर सकें। जो व्यक्ति स्त्रियों को इस उच्च श्रेणी से गिराना चाहते हैं—वे मूर्ख हैं।

"फोरडायस"

× × ×

मूर्ख लोग वैवाहिक आनंद से अनभिज्ञ रहते हैं। हम जो इसके मज़े उड़ा रहे हैं, अनुभव से कह सकते हैं कि यदि विवाह के सच्चे अर्थ लिए जाएँ, तो अच्छे आदमियों के लिये यही स्वर्ग है, बल्कि उससे भी बढ़कर है।

"कॉटन"

× × ×

विवाह एक प्रकार का स्कूल है, जिसमें अच्छी शिक्षा मिलती है। यद्यपि विवाह से फ़िक्रों का भार सिर पर आ पड़ता है, मगर मनुष्य अकेले जीवन में प्रायः ऐसी इच्छाओं का शिकार रहता है, जो भयानक होती हैं और कभी-कभी उसे दुष्कर्मों की ओर ले जाती हैं। अकेला प्राणी उस मक्खी की भाँति है, जो सेब के भीतर बैठी हुई स्वयं मिष्टान्न का आनंद-लाभ कर रही है। परंतु है अकेली और उदासी में ही अपना जीवन-समाप्त कर देती है। विवाहित पुरुष मधु-मक्षिका की भाँति घर बनाता, चारों ओर से मिठास एकत्र करता और प्रेम से रहता है।

"जर्मी टेलर"

× × ×

कुछ कवियों ने स्त्रियों को बेकार बदनाम किया है। उन्होंने लिखा है कि स्त्री प्लेग है, आस्तीन का सर्प है, घर की आफ़त है, बुद्धिमानों को इस ओर बिलकुल ध्यान नहीं देना चाहिए। दूसरी वस्तुएँ तो भाग्य से मिल जाती हैं, परंतु स्त्री, केवल ईश्वर की कृपा से ही मिल सकती है। जिसके पास स्त्री-रत्न है, क्या वह कष्ट को कष्ट समझ सकता है? पुरुष यदि स्त्री के कथनानुसार कार्य करें, तो समस्त कार्य भली प्रकार सम्पन्न हों, और सारा संसार बुद्धिमान् हो जाए।

"पोप"

× × ×

स्त्री से, अच्छे—कार्य इस प्रकार होते हैं, जिस तरह आकाश से वर्षा। प्रेम के छोटे-छोटे कार्य, जिन्हें लोग तुच्छ समझकर छोड़ देते हैं, वही करती है। कोई भी काम, जिससे किसी को ढाढस हो, आराम मिले, आनंद-लाभ हो, उसे तुच्छ नहीं मालूम होता।

"लावल"

× × ×

मैं स्त्रियों की केवल इसलिये ही प्रशंसा नहीं करता कि वे संसार में सबसे अधिक सुंदरी हैं। मैं केवल इसीलिये उनसे प्रेम नहीं करता हूँ कि वे मनुष्य के आनंद व आराम की केंद्र हैं, बल्कि मैं इस कारण उनका आदर करता हूँ कि मनुष्य का मनुष्यत्व इन्हीं के कारण क़ायम है। उनके मस्तिष्क और हृदय में ऐसी अच्छी बातें भरी हुई हैं, जिनसे एक तुच्छ मनुष्य भी देवता बन सकता है।

"ह्यूरस टोस"

× × ×

सौंदर्य के कारण, स्त्री घमंडी हो जाती है। लज्जा से वह देवी बन जाती है। नेकी से उसकी प्रशंसा होती है।

"शेक्सपियर"

× × ×

स्त्री के नेत्र वह दीपक हैं, जिनसे भूले-भटके मनुष्य स्वर्ग का मार्ग देख लें।

"विलस"

× × ×

स्त्री-शिक्षा में एक बड़ी कमी यह है कि स्त्रियों की आवाज़ों को सुधारने का उद्योग नहीं किया जाता। इसी के द्वारा वह अपने पति को सुमार्ग में प्रवृत्त करा सकती हैं, उसका मनोरंजन कर सकती है, अपने कुटुंब के आराम का कारण बन सकती है। इसलिये कन्या-पाठशालाओं में इस पर विशेषरूपेण ध्यान देना चाहिए। क्योंकि प्रायः इस गुण के न होने से स्त्री का पति और बालक या तो शोकाकुल रहते हैं, अथवा मन-बहलाने के लिये कुमार्ग-गामी हो जाते हैं।

"रस्लेनी"

आनंदीप्रसाद मिश्र "निर्द्वंद्व"

× × ×

२. असहाय अबला

अर्द्ध रात्रि के समय पूर्णिमा की शीतल ज्योत्स्ना से समस्त धरातल धवलित हो रहा था। सब लोग सन्नाटे से निद्रा-माता की गोद में निर्भय हो आश्रय ले रहे थे। ऊपर गगन-मंडल में चारों ओर तारा-गण अपनी चमचमाती ज्योति से भूमंडल की दशा देख मृदु हास्य कर रहे थे। चारों ओर निस्तब्धता छा रही थी, कभी-कभी हृदय को कँपानेवाली पहरेदारों की भयंकर आवाज़ें सुनाई दे रही थीं। ऐसे

समय में एक षोडशवर्षीया नवोढ़ा सुधा की भी निद्रा-भंग हुई। सहस्र प्रयत्न करने पर भी निद्रा-माता ने अपनी प्यारी गोद में उसे आश्रय न दिया। चारों ओर दृष्टि दौड़ाने पर सिवा प्रकृति की प्रौढ़ रचना के कुछ भी दिखाई न दिया। वह अपने आपको चंद्र की चंद्रिका के समान एकाकी ही समझती थी।

हा! वह पूर्णिमा की चंद्रिका, जिसको देखकर अथाह समुद्र का भी साहस छिन्न-भिन्न हो जाता है। आज इसे देखकर उस नवयुवती का यौवन-पुष्प चिंता-चिता की प्रचंड अग्नि से भस्मीभूत हुआ जा रहा है। कौन जान सकता था, उस समय उसके हृदयोदधि में क्या क्या विचार लहरें मार रहे थे। एक ओर यौवनोत्फुल्ल कमनीय कमल लहरा रहा था, दूसरी ओर वैराग्यरूपी पिशाच काल का कवल बनाता जाता था। जब प्रसन्नता होती थी, तो साथ ही शोक भी अपना भयानक रूप धारण करके भक्षण करने को दौड़ता था। सुधा ने बहुत प्रकार से अपने हृदय से प्रश्न किए, परंतु कोई भी पर्याप्त उत्तर न पाकर अपना-सा मुंह लेकर रह गई। उसने धीरे से उठकर दरवाज़ा खोला, तो देखती है कि चटकीली चाँदनी चटक रही है, मानों प्रकृति अपनी समस्त सभ्यता की यहाँ इति-श्री करना चाहती है। सुधा का हृदय धधकने लगा। और अकस्मात् उसका नवीन यौवन का हृदय शोक और प्रसन्नता से भर गया। वह वहाँ से आगे को चल दी। परंतु उस समय उसके अकेलेपन के विचार सीमा को लाँघ रहे थे। उसका हृदय रुका पड़ता था और कुछ न बोल सकती थी। ऐसे भयानक समय में अकेली और आपत्तियों से जर्जरित नवोढ़ा बालिका के पास उसकी दुखिया माता प्रकृति ही थी।

सुधा ने दूर से आते हुए किसी के पैरों की आहट सुनी। वह एकदम भौचकी-सी होकर इधर-उधर देखने लगी कि हाय इस अर्द्धरात्रि के समय किस निशाचर को निकलना सूझा। थोड़ी देर के पीछे उसने धीरे-धीरे दबे पाँवों से आते हुए किसी पुरुष को देखा। धीरे-धीरे वह मनुष्य, जो एक साधारण वेश में था, देखने से प्रतीत होता था कि वह भी सांसारिक संकटों और यातनाओं से सताया हुआ था। उसने आते ही नम्र-स्वर से पूछा 'देवि कुशलं ते'। सुधा का शोकार्दित हृदय धधकने लगा। और कोई भी उत्तर न दिया। उस सज्जन ने फिर पूछा देवि! इस नवयौवन प्रौढ़-क्षेत्र में चिंता का वृक्ष कहां? इन पियूष-वर्षिणि नेत्रों से शोकाश्रुओं का बहना कैसे?

यह सुन सुधा का हृदय वश में न रह सका और वह उसके चरण-कमलों पर गिरकर फूट फूटकर रोने लगी। उस समय के बिलख-बिलखकर रोने को सुनकर पाषाण भी पसीजा जाता था। उस कठोर हृदय मनुष्य का हृदय भी मोम की भाँति पिघल गया। उसने सोचा, वास्तव में यह कोई असहाय और दुखित हृदय है।

उसने कई बार नम्र-स्वर से पूछा हे हृदयाधिदेवते! तुम्हारा यह दारुण रुदन सुनकर मेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े हुआ जा रहा है। अब मुझसे भी तुम्हारा दुःख सहा नहीं जाता। शीघ्र ही दारुण व्यथा कहने की कृपा करो।

सुधा ने इस प्रकार नम्र वचन सुनकर सोचा, आज मनुष्य-जाति के निष्ठुर हृदय में दया कहाँ से आई। क्या पाषाण पर स्नेह-अंकुर उत्पन्न हुआ चाहते हैं। ओ भारी आश्चर्य! भारी आश्चर्य!! कुछ काल के अनंतर सुधा ने अपने हृदय को ढाढ़स दिया और बोली हे करुणाभाजन! तुम कौन हो? और इस अर्द्धरात्रि में निकलने का क्या कारण है? हे बालिका! मैं इसी असार-संसार का एक प्राणी हूँ। निद्रा-भंग हो जाने के कारण इधर-उधर फिर रहा था, परंतु तुम्हारा रुदन सुनकर मेरा चित्त इधर ही आकर्षित हो गया और मैं इधर आ निकला। अब मैं तुम्हारा परिचय सुनना चाहता हूँ।

सुधा ने उत्तर दिया, तू मेरा परिचय क्या सुनेगा। यदि पुरुष-समाज बालिकाओं का परिचय सुने, तो वे अह-र्निश शोक-सिंधु में ही क्यों डूबें। मेरा परिचय केवल इतना ही है कि मैं भी संसार-रंगभूमि में अभिनय करने-वाली एक बालिका हूँ। परंतु सदा ही करुणा-क्रंदन करती रहती हूँ, क्योंकि शरद् पूर्णिमा के चंद्रमा को राहु ने ग्रस लिया। विधाता ने अमृत में हालाहल मिला दिया। प्रसन्नता के स्थान में चिंता का बीज बोया गया। एक स्वच्छंदचारी हृदय को स्त्रीत्व के कलंक से कलंकित कर दिया। नेत्रों को संसार की अद्भुत रचनाओं को देखने से वंचित कर दिया। कहाँ तक कहूँ पुष्प खिलाकर गंध छीन ली। इतना-कहते कहते बालिका का हृदय रुक गया और आगे कुछ न बोल सकी।

उसके इस प्रकार के करुणा-रव को सुनकर उस

मनुष्य का हृदय भी पसीज गया। आँखों में आँसू आ गए। और बड़े धीरे स्वर से बोला। हे संसार की शोभा! आज इस सुधाधर की अमृतवर्षिणी शीतल किरणों से अंगार क्यों बरसने लगे। क्या सुकोमल कमनीय बालिका को विषैली तलवार की तीक्ष्ण धार से टुकड़े-टुकड़े किए जा रहे हैं या भोली-भाली निरपराधिनी गाय को क्रूर कसाई के हाथ में सौंपा जा रहा है। शीघ्र बताओ यह कोमल हृदय इतना शोकातुर क्यों है?

सुधा के हृदय से शुद्ध स्वर न निकलते थे, परंतु टूटे-फूटे शब्दों से बोली। हे हृदयेश्वर! मैं स्वयं ही नहीं जानती कि यह हृदय इतना शोकातुर क्यों रहता है। मुझे न तो संसार की कोई अनमोल वस्तु चाहिए और न किसी बात की इच्छा ही है। शोक यही है कि संसार में जो दशा अबलाओं की हो रही है, उसे देख-देख हृदय विदीर्ण होता है। हा! मुझे इस बालिका का जीवन सुन आँसू बहाने पड़ते हैं, जिसने अपने हृदय को अनायास ही एक कठोर हृदय को सौंप अपने बहु-मूल्य जीवन की कमनीयता को झूठे काँच के टुकड़े के समान व्यर्थ नष्ट कर दिया। जिसने अपने प्यारे जीवन के सम्पूर्ण आनंद व ऐश्वर्य को एकबारगी शोक की भयानक अग्नि में प्रज्वलित कर दिया था। जिसने अपने सदा मुसकरानेवाले मुखारविंद को शोक के प्रचंड मार्तंड से सदा के लिये संसार की वेदी पर न्योछावर कर दिया था। जो मुख कभी चिंता का नाम भी नहीं जानता था, आज दिल खोलकर हँसने का प्रयत्न करता है, परंतु मुसकराहट का नाम भी नहीं। वह नहीं जानती भाग्य में क्या बदा है। दिन-रात आँखों से आँसू बहाते जीवन जाता है।

हृदय सदा यही कहकर साक्षी रहता था कि यदि ईश्वर स्त्री-जाति को पैदा ही न करता, तो संसार से शांति न उठती। चारों ओर हृदय-विदारक चीत्कार न सुनाई देता। स्त्रीत्व के कलुषित हृदय से आकाश को *भी नीलिमा का धब्बा न लगता।*

हे हृदयेश्वरी! मेरा हृदय अधिक सुनने में समर्थ नहीं! अब अधिक शोक न कर। इस दुर्भागी का शरीर किस काम आएगा। यदि तुम्हारे लिये नर्क की घोर यातना भी सहनी पड़ेगी, तो भी यह तुच्छ कभी पीछे न हटेगा।

सुधा ने सोचा, क्या आज स्वार्थी पुरुष-समाज भी स्त्री-जाति से सहानुभूति प्रकट करेगा। ओह कितनी देर तक? जब तक स्वार्थ-सिद्धि का झंडा फहरा रहा है। जब तक पुष्प में गंध है। आज स्त्रियों की भयानक दशा को देखकर कोई भी युवक न सिसकेगा। हा! वह जादू-भरा यंत्र प्रेम, जिसके वश में पड़कर मनुष्य आत्म-घात तक करने में भी नहीं हिचकते, वही अनमोल रत्न मेरे लिये तुच्छातितुच्छ है। जैसे अंधे के आगे दीपक।

हंत! संसार में सभी कुछ हो सकता है, एक-से-एक अधिक आनंद देने के स्थान हैं; परंतु जिसका हृदय निराशा से चूर हो चुका, उसके लिये मधुर-से-मधुर वस्तु और प्रसन्नता के गीत भी शोक-जनक हैं। ज्यों-ज्यों मैं अधिक कहने का प्रयत्न करती हूँ शोकाग्नि भड़कती ही जाती है। संभव है मैं जल के स्थान में घृत से अग्नि बुझाना चाहती हूँ।

यदि तू सहृदय है, तो इन तुच्छ और थोड़े से शब्दों द्वारा सारा तात्पर्य समझ, मुझसे अधिक नहीं बोला जाता, क्योंकि अश्रु-धारा बीच में बाधक हो रही है। हा! दुर्भाग्य है, उन माता-पिता का जिन्होंने मुझ सरीखी दुर्भागिनी को जन्म देकर आप शोक-सिंधु में दिन-रात डूबते हैं। जब मैं अपनी ओर देखती हूँ, तो धीरज धरकर कुछ नहीं सोचती; परंतु जब माता-पिता की ओर देखती हूँ, तो उस समय यह पापिनी पृथ्वी भी नहीं फटती, जिससे इसमें समाकर उनकी चिंता को दूर करूँ। हंत! जिसका सर्वस्व दुष्ट पिशाच दुर्भाग्य ने लूट लिया, उसको कौन सहायता देने में समर्थ हो सकता है। हंत! फूटे भाग्य को जोड़नेवाला कौन? भाग्यहीन के लिये ईश्वर के पास भी स्थान नहीं।

यह सुन नवयुवक का शोक-सिंधु उमड़ आया और कहने लगा हे प्रियतमे, इतना शोक करने की क्या आवश्यकता है। यदि मैं आपके दुःख में किसी प्रकार से भाग ले सकता हूँ, तो वह भी बताने की कृपा करो!

सुधा ने टूटे-फूटे शब्दों में उत्तर दिया—

हे करुणानिधे! पहले जन्मों के पापों का फल तो मैं अब भोग रही हूँ और इस जन्म का फल कब भोगूँगी। यदि अब भी मैं तुम्हें दुःख दूँगी, तो मेरे लिये नरक का द्वार खुला है। हा! मैं पक्षहीन शकुंत हूँ। संसार-सागर के बीच पड़ा तड़फ रहा हूँ। इसकी विकल कराहना

को कोई भी सहृदय न सुनेगा और अधिक क्या। अच्छा पवित्र पुष्प! अब प्रातःकाल हुआ चाहता है। यह देखो पूर्व दिशा में से प्रभा की छटा चारों ओर छा रही है। सारे पक्षी अपने-अपने घोंसलों में से निकलकर मृदु कलरव करके प्रभाती राग गा रहे हैं। अब तुम अपने गृह की सुध लो। मैं भी अब घर जाती हूँ। हे अंतर्यामी ईश्वर! यही अंतिम बार प्रार्थना है कि तू मुझे अपनी आराधक समझकर अपनी दिव्य मूर्ति से वंचित न कर! हे असहायों के सहाय! इस पुष्प को जल्दी से तोड़ ले; कहीं यह समय से पहले ही सूखकर पृथ्वी पर न गिर जाय। इसे अपनी दिव्यमाला में स्थान दे; निर्गंध समझकर निरादृत न कर।

शकुंतला देवी

---

१. दो मूर्ख

भोंदूराम और भोलाराम दो मित्र दिल्ली में रहते थे। जब वे छोटे थे और स्कूल में पढ़ते थे तब अन्य लड़के इन दोनों को इनकी मूर्खता पर चिढ़ाया करते। दोनों में से कोई भी न तो पढ़ने ही में अच्छा था और न खेल-कूद ही में, और न वे बातचीत ही ढंग से कर सकते थे। अन्य लड़के इनको अपने खेल का सामान समझते थे और नाना प्रकार से उनको चिढ़ाकर आनंदित होते थे। कोई उनकी पुस्तकें छिपाता, कोई उनको चुटकी काटता और कोई मौखिक व्यंग्य से ही आनंदित होता था। लड़कों के उपद्रव से तंग आकर वे उनकी शिकायत अपने मास्टर से करते। दो एक बार तो मास्टर साहब ने उनका पक्ष लिया; परंतु जब देखा कि बकरे की माँ कब तक खैर मनाती रहेगी, तो उनकी शिकायत को सुनी अनसुनी कर देते। सब ओर से सताए जाकर उनको एक दूसरे की संगति में ही कुछ तसल्ली होती थी।

बालपन की इस मित्रता का स्कूल ही में अंत नहीं हो गया। बल्कि स्कूल छोड़ने के पश्चात् भी एक दूसरे के अधिकतर साथ ही साथ रहते थे। उनके माता पिता जानते थे कि दोनों से कुछ काम तो हो नहीं सकता इसलिये काम से इन लोगों को छुट्टी थी। बस, वे स्वतंत्रता से घूमते, सड़कों पर टहलते और सिनेमा देखते थे। परंतु ऐसा कोई दिन नहीं जाता था कि दोनों में से कोई अपने सिर पर आपत्ति न मोल लेता हो। एक दिन कुछ और नहीं सूझा, तो ट्राम के उस ओर वाले फुटबोर्ड पर चढ़ गए जिस ओर दरवाजा न था, वह तो खैर हुई जो ट्राम ड्राइवर ने देख लिया। नहीं तो दोनों का सिर तार के लट्ठे से टकरा जाता और दोनों के दोनों टें बोल जाते।

एक दिन दोनों ने सोचा कि गाँव की सैर करनी चाहिए। फिर क्या था; दोनों बड़े तड़के उठे और एक इक्के पर बैठकर शहर के बाहर हो गए। वहाँ वे इक्के पर से उतर पड़े और पैदल सैर के लिये चले। उनको खाने पीने की चिंता थी ही नहीं क्योंकि खाना साथ में था और जेब में कुछ पैसे भी थे। एक पगडंडी पर चले जा रहे थे कि उन्होंने

देखा कि पगडंडी पानी के एक नाले में घुस गई है। नाले में पानी बड़ी तेज़ी से बह रहा था और उसमें कहीं-कहीं घास उगी हुई दिखलाई देती थी। नाले को देखकर दोनों सोचने लगे कि अब उस पार किस प्रकार जाना चाहिये। भोंदूराम ने कहा, "भाई! पानी बड़ी तेज़ी से बह रहा है, आओ जब तक इस हरी-हरी घास पर बैठें और कुछ जल-पान करें, तब तक यह सब बह जायगा और हम लोग आनंद से उस पार जा सकेंगे" दोनों घास पर बैठे और नाश्ता करने लगे। जब भोजन कर चुके और बैठे-बैठे बहुत देर हो गई और तब भी पानी कम नहीं हुआ तो दोनों को कुछ और चिंता हुई, भोलाराम ने सलाह दी कि भाई, किसी मनुष्य से पूछना चाहिए कि इस नाले में कितना पानी है? पास ही एक हरवाहा हल लिए हुए खेत जोत रहा था। उसको इन लोगों ने बुलाया। बेचारा हरवाहा उन लोगों को कोई बड़ा आदमी समझकर डरता-डरता आया। जब वह पास आ गया तो भोलाराम ने उससे पूछा "भाई इस नाले में कितना पानी है, क्या तुम हम लोगों को उस पार पहुँचा दोगे?" हरवाहा इस बात को सुनकर उन लोगों को सिर से पैर तक देखने लगा, फिर हँसने लगा और बोला कि तुम लोगों को दिखलाई नहीं देता कि नाले में घास उगी हुई है, इससे यह साफ़ प्रकट है कि नाले में पानी बहुत कम है। हरवाहे की यह बात सुनकर दोनों कुछ लज्जित हो गए और पानी में घुसकर तुरंत नाले को पार कर गये।

थोड़ी दूर चले होंगे कि एक तालाब के किनारे पहुँचे। उस तालाब में सिंघाड़े की बेलें पड़ी हुई थीं। उन लोगों ने सिंघाड़े तो अवश्य खाये थे, परंतु सिंघाड़े की बेलें कभी नहीं देखी थीं। सिंघाड़ों को ऊपर उतराते देख दोनों के मुँह में पानी भर आया। भोंदूराम ने कहा "यार पानी में घुसकर सिंघाड़े खाना चाहिए।" भोला ने कहा, "सलाह तो ठीक है। परंतु यदि तालाब में पानी अधिक हुआ तो?" भोंदू भोला की यह मूर्खता की बात सुनकर हँसा और कहा "यार बड़े मूर्ख हो। खुदा अक़्ल से जाना जाता है। यदि तालाब में पानी अधिक होता तो सिंघाड़े की बेलें न डूब जातीं!" यह कहकर वह तुरंत पानी में कूद पड़ा। तैरना तो जानते ही न थे, पानी में कसरत करने लगे। भोला ने सोचा, यह तो बड़े आनंद से सिंघाड़े खा रहा है। आप भी किनारे से उछले और बीच तालाब में कूद पड़े। फिर क्या था दोनों ही पानी में डूबने और उतराने लगे। भाग्यवश तालाब का धीवर पास ही झोपड़ी में रहता था। उसे जो आहट मिली तो समझा कोई मेरे सिंघाड़ों को खा रहा है। झट झोपड़ी से बाहर आया और तालाब के किनारे पहुँचा। वहाँ उसे कुछ और ही दृश्य दिखलाई दिया। बस फिर क्या था; वह पानी में कूद पड़ा और धक्का दे देकर दोनों को बाहर निकाल लाया। दोनों को पानी में गिरे कुछ अधिक समय नहीं हुआ था। इसलिये उनको जल्दी चेत हो गया। धीवर उनको उनके घर पहुँचा आया। माता पिता उनको फिर देखकर बहुत प्रसन्न हुए और धीवर को इनाम देकर बिदा कर दिया। उस दिन से उन दोनों ने सैर करने का नाम तक नहीं लिया।

चक्खनलाल गर्ग

× × ×

२. सर्वोत्तम पुण्य-कर्म

धनराज सेठ के पास धन की कमी नहीं थी। वे अतुलित धन-भंडार के स्वामी थे। बड़े धर्मात्मा और ईश्वरभक्त थे। संसार का बहुत सुख भोग चुके थे। अब उन्हें केवल परलोक का ध्यान रहता था। वे रात-दिन ईश्वर-भजन, साधु-सेवा और अतिथि-सत्कार में लगे रहते थे। उन्हें अपने खाने-पीने का बहुत कम ध्यान रहता था। इस प्रकार वे अपना दिन बड़े सुख से काट रहे थे। उन्हें यदि कोई चिंता थी तो बस एक ; जिससे कभी-कभी उन्हें बड़ा उद्विग्न हो जाना पड़ता था।

सेठजी के तीन लड़के थे—परंतु उनमें आपस में मेल नहीं था। सेठजी एक ओर अपने बुढ़ापे की ओर देखते तो दूसरी ओर उन कलहप्रिय पुत्रों की ओर। वे सोचते थे कि मेरे मरने पर वे तीनों सम्पत्ति के लिये लड़ेंगे, झगड़ेंगे और इस प्रकार हमारे इतने दिनों तक परिश्रम से कमाई हुई संपत्ति को बरबाद कर देंगे। यही एक प्रबल चिंता उनके ईश्वर-भजन में बाधक थी। अंत में सेठजी ने सोचा कि यदि मैं अपनी सारी सम्पत्ति को अपने रहते ही तीनों पुत्रों में बाँट दूँ तो झगड़े का कोई कारण ही न रहे। यह विचार उन्हें ठीक जँचा और उन्होंने ऐसा करना ही स्थिर किया।

एक दिन सेठजी ने अपनी संपत्ति के तीन बराबर-बराबर हिस्से किए और अपने पुत्रों को बुलाकर प्रत्येक को एक-एक हिस्सा दे दिया। परंतु उनके पास एक अत्यंत बहुमूल्य हीरा था। उसे उन्होंने किसी को नहीं दिया। तीनों लड़के उस हीरे पर दाँत गड़ाए हुए थे। सेठजी बड़े चतुर थे। वे उस हीरे को उसे देना चाहते थे जो उसके योग्य हो। अंत में उन्होंने अपने पुत्रों को बुलाकर कहा—"प्यारे पुत्रो ! मैंने तुम्हें अपने धन का बराबर-बराबर हिस्सा लगाकर दे दिया है, परंतु मैं यह हीरा उसे ही दूँगा जो इसके योग्य होगा। तुम्हें मैं एक महीने का समय देता हूँ। इस बीच में जो सबसे उत्तम पुण्य का काम करेगा उसी को मैं यह रत्न दूँगा।"

लड़कों ने उसी दिन से अच्छे से अच्छा काम ढूँढ़कर करना प्रारंभ कर दिया।

एक दिन बड़े लड़के ने सेठजी से कहा—"पिताजी ! मैंने एक बहुत बड़ा पुण्य-कर्म किया है। स्थिति के फेर में पड़कर एक निपट अपरिचित आदमी ने अपनी छाती कड़ी करके मुझे एक दस लाख की थैली रखने के लिये दी थी। उसको इतना समय भी नहीं था कि मुझसे एक रसीद तक लिखवा ले। उसने तो उन रुपयों की आशा छोड़ ही दी थी; तथापि जिस समय वह मुझसे अपनी धरोहर माँगने आया, मैंने उसी समय उसका कौड़ी-कौड़ी चुका दिया। भला इतनी बड़ी रक़म, जिसका पचा जाना बाएँ हाथ का खेल था—कौन ऐसा है जो अपने हाथ से जाने देगा ? पिताजी ! क्या यह सर्वोत्तम पुण्य का काम नहीं है ? क्या इससे भी बढ़कर कोई पुण्य का काम हो सकता है ?

सेठजी ने हँसकर कहा—"बेटा ! तुम्हारा यह कार्य प्रशंसनीय अवश्य है, परंतु इस प्रतियोगिता में तुम तो एकदम असफल रहे। तुम्हारा यह काम सर्वोत्तम पुण्य का काम नहीं, वरन् न्याय का काम हुआ है। तुमने उस अपरिचित मनुष्य के प्रति पुण्य नहीं बल्कि न्याय किया है।"

इसी प्रकार दूसरे दिन मँझला लड़का भी आकर सेठजी से कहने लगा—"पिताजी ! एक दिन संध्या के समय मैं गंगाजी के किनारे टहल रहा था। वहीं

एक लड़का स्नान कर रहा था। एकाएक उसके पैर फिसल गए और वह जल में डूबने लगा। वह तैरना तो जानता नहीं था—जल में गोते खाने लगा। तब मैं गंगाजी में कूद पड़ा और उसकी बाँह पकड़कर किनारे पर खींच लाया। मैंने अपना प्राण संकट में डालकर दूसरे के प्राण की रक्षा की। बाबूजी! क्या यह पुण्य-कर्म नहीं है? क्या इससे भी बढ़कर कोई सत्कर्म हो सकता है?"

सेठजी चुपचाप अपने पुत्र की बातें सुन रहे थे। जब लड़का चुप हो गया तब उन्होंने कहा—"प्यारे पुत्र! क्या हमें पुण्य-कर्म की परिभाषा भी तुम लोगों को बतलानी पड़ेगी? तुमने उस लड़के को बचाकर पुरुषार्थ का काम किया है। ईश्वर करे तुम बराबर इसी प्रकार लोगों का उपकार किया करो। तुम्हारा यह काम पुण्य-कर्म नहीं बल्कि परोपकार-कर्म है—मनुष्य के हृदय की स्वाभाविक दया है। तुम भी इस प्रतिद्वंद्विता में असफल रहे।"

पिताजी की बात सुनकर मँझला पुत्र चुपचाप खड़ा था, तबतक सेठजी का छोटा लड़का भी आ गया और बोला—"पिताजी! एक दिन मैं पहाड़ की सैर कर रहा था, तब तक रात हो गई। मैं जल्दी-जल्दी घर लौट रहा था तब तक देखता क्या हूँ कि एक मनुष्य एक चट्टान पर बेखबर सो रहा है। उसके बगल में एक बड़ी गहरी खाई थी। जहाँ वह करवट लेता तहाँ उसी खाई में अवश्य गिर जाता, और उस खाई में गिर जाने पर उसकी मृत्यु निश्चित थी। मैंने निकट जाकर देखा तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वह मनुष्य मेरा कट्टर शत्रु था, जिसने पहले मुझे कई बार मार डालने की भी चेष्टा की थी। यदि मैं चाहता तो उसे वहीं खाई में ढकेलकर मार डालता। परंतु मैंने खूब साव-धानी से उसे जगाया और एक सुरक्षित स्थान पर ले जाकर बैठाया। नींद का नशा उतर जाने पर उससे मैंने सब कुछ कह सुनाया। अब वह मेरा मित्र हो गया है। आज मैंने अपने सर्वोत्तम पुण्य के बल से एक प्रबल शत्रु को भी अपना मित्र बना लिया है। पिताजी! क्या इससे भी बढ़कर किसी पुण्य-कर्म की आप आशा कर सकते हैं?"

सेठजी की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं था। उन्होंने अपने छोटे लड़के को छाती से लगा लिया। वही लड़का जाँच में पूरा उतरा। उसे सेठजी ने वह हीरा दे दिया।

प्यारे बालको! क्या तुम बता सकते हो कि इस कहानी से तुम्हें कौन सी शिक्षा मिली? यदि कोई बुराई भी करे तुम उसकी भलाई करो। ईश्वर तुम्हें इस नेकी का फल अवश्य चखावेगा, याद रखो—द्वेष का शमन द्वेष से नहीं होता। अद्वेष ही द्वेष का नाश करता है। तुम सदा नीचे के दोहे को याद रखते हुए सब काम किया करो। ऐसा करने पर तुम अपने जीवन को सफल कर सकोगे।

जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल।
तोको फूल के फूल हैं, वाको हैं तिरसूल॥

जो इस प्रकार काम करता है वही अजातशत्रु कहलाता है। उसका कोई शत्रु रह ही नहीं जाता—उसका जीवन आदर्श और श्लाघनीय होता है। वही मरने पर अमरत्व को पाता है।

श्रीजगन्नाथप्रसादसिंह

१. तक्र-चिकित्सा

१—विषय-प्रवेश
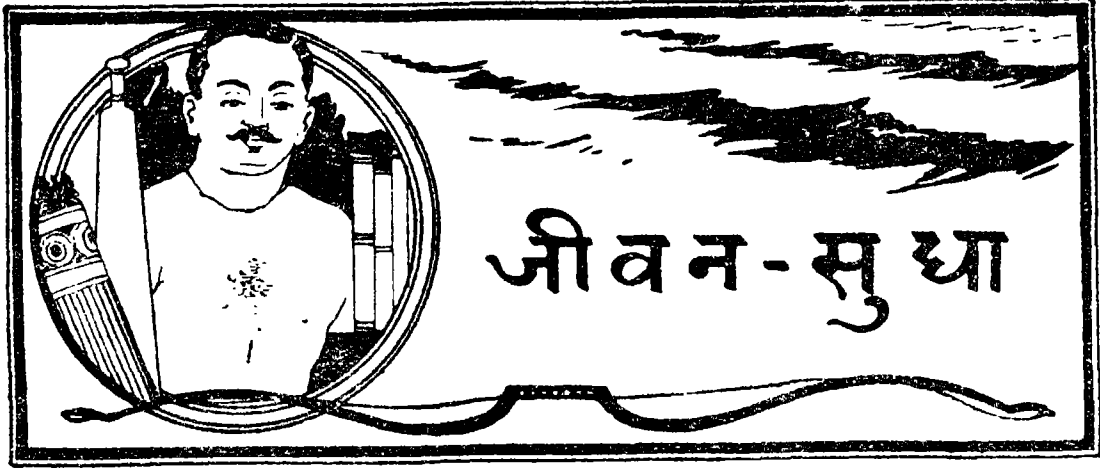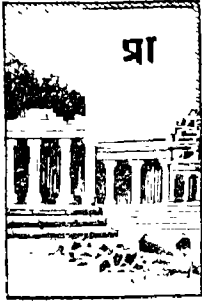
कृतिक संसार-मंच पर परम पुरुषा-सक्ता प्रौढ़ा प्रकृति-नटी अपने ध्येय पुरुष को अपने ऊपर अनुरक्त करने के लिये उसे चित्र—विचित्र अद्भुत अभिनय दिखलाकर अपने को स्वाधीन भर्तृका बनाने की सर्वदा चेष्टा किया करती है। उस मुग्ध पुरुष को चित्र—विचित्र वस्त्रालंकारादि से विभूषित कर स्वयं उसे देख-देखकर अपने आप लोट-पोट हुआ करती है। उसे प्रसन्न रखने के लिये प्रकृति-देवी ने इतने अच्छे ढंग से सुख-सामग्री सुसज्जित कर रक्खी है कि उसे किसी प्रकार के सुख की कमी नहीं होने पाती। जिस देश में जिस समय जिस प्रकार की वस्तु की आवश्यकता प्रतीत होती है, उसी देश में उसी समय तदनुकूल ही वस्तु उपस्थित पाई जाती है। अनावश्यक वस्तु की सूचना अपने दूतों द्वारा पाने पर प्रकृति स्वयं उसे तत्काल हटाने की चेष्टा करने लगती है। जिस कार्य के लिये अपने को अशक्त पाती है उसके लिये स्वरचित अपने अनेक समीपस्थ साधनों की सहायता ले अशक्य कार्यों के लिये अपने को समर्थ बना लेती है। उन साधनों के लिये उसे दूरस्थ देशों का मुख नहीं ताकना पड़ता। उदाहरण के लिये अपना शरीर ही पर्याप्त है। प्रकृति ने इस प्रासाद को इतने अच्छे ढंग से बनाया है कि यह देखते ही बन पड़ता है। इस प्रासाद में बैठा हुआ पुरुष अखंड राज्य कर रहा है, इंद्रियां उस की परिचर्या कर रही हैं, बुद्धि उसके मंत्रित्व का पद ग्रहण कर सेवा में त्रुटि नहीं होने देती। मनोरथारूढ़ होकर पुरुष प्रकृति-विहित विषयों का उपयोग करता हुआ पृथक् होते हुए भी प्रकृति-मय प्रतीत होता है। प्रकृति स्वयं अपने नियमानुकूल इस शरीर-दुर्ग की रक्षा के लिये उचित सामग्री इंद्रियों द्वारा संचितकर सार भाग ग्रहणकर अनावश्यक मलादिकों को बाहर निकाल-कर शरीर-दुर्ग की सफाई तथा रक्षा किया करती है। इस शरीर को किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है। यदि इंद्रियों के प्रमाद-वश, इस शरीर-दुर्ग में अनावश्यक वस्तु स्थिति तथा अनुचित व्यवहारों का प्रचार न होने पाये, तो यह शरीर-दुर्ग किसी रोगादि शत्रु द्वारा नियमित समय तक नहीं नष्ट किया जा सकता। इस शरीर के साथ अनुचित व्यवहार होने पर तथा उसमें अनावश्यक वस्तु अनुचित परिमाण में एकत्रित होने पर उसके दूर करने के लिये प्रकृति ने अपने को अशक्त पाकर अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये जिन-जिन साधनों की रचना की है, उनमें तक्र भी एक साधन है। जो शरीर के समस्त विकारों को दूर करने के लिये प्राकृतिक शक्ति बढ़ाकर तथा स्वयं अपनी शक्ति से शरीर को सुदृढ़ तथा कांतिमय बनाता है।

तक्र द्वारा प्रायः समस्त रोग दूर किये जा सकते हैं; तक्र का सेवन करनेवाला मनुष्य आधुनिक डॉक्टर तथा वैद्यों का शिकार नहीं बनता। तक्र-सेवी सदा नीरोग, निरालस, स्फूर्तिमान् तथा बलवान् रहता है। वैद्याचार्यों ने तो इसके गुणों पर मुग्ध होकर इसकी उपमा अमृत से

दे डाली है। इसका वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है—तक्र का सेवन करनेवाला कभी व्यथित नहीं होता और तक्र का जलाया हुआ रोग फिर दूसरी बार उत्पन्न नहीं होता, जिस प्रकार देवताओं में अमृत प्रधान है, उसी प्रकार मनुष्यों में तक्र प्रधान है। आचार्यों ने तक्र के गुण इस प्रकार लिखकर अपने अनुसंधान (खोज) का पूरा पता दिया है। पाश्चात्य वैज्ञानिक विद्वद्वृन्द आज तक तक्र के गुण-ज्ञान से तथा लाभ से वंचित रहे; किंतु फरासीसी डॉक्टर श्रीयुक्त मेचनीकफ के अनुसंधान से अब उन लोगों को भी भली-भाँति विदित हो गया है कि तक्र के समान पाचक वस्तु कोई दूसरी नहीं है, अभी हाल में कुछ उद्यमशील डॉक्टरों ने मिलकर बहुत बड़े परिश्रम से अनुसंधान कर और आयुर्वेदीय खोज का गुण-गान करते हुए तक्र-माहात्म्य में आयुर्वेदाचार्यों का समर्थन किया है। एक नीरोग तथा सबल स्त्री की १२० वर्ष की आयु में अर्थात् पूर्णावस्था प्राप्त होने पर मृत्यु देखकर उपर्युक्त डॉक्टरों ने यह अनुसंधान करना प्रारंभ कर दिया कि इसके पूर्णायु होने में विशेष कारण कौन हैं। अंत में यह निश्चित हुआ कि अनवरत तक्र सेवन करने के कारण ही इसकी आयु १२० वर्ष की हुई। इस स्त्री का तक्र से इतना प्रेम हो गया था कि जब तक इसकी कटोरे भर तक्र से भेंट नहीं हो जाती थी तब तक इसे चैन नहीं मिलती थी। यहाँ तक कि जब इसे अपने ग्राम में तक्र ढूँढ़े नहीं मिलता था तो दूसरे-दूसरे ग्रामों से स्वयं जा-जाकर माँग लाती थी, इसके लिये उसे ३—३ ग्राम तक घूमने पड़े थे। अब इससे पाठकों को भली-भाँति विदित हो गया होगा कि तक्र को अमृत कहना अत्युक्ति नहीं है, देखिये किसी संस्कृत के प्राचीन कवि ने तक्र के गुणों पर मुग्ध होकर उसके गुणों का वर्णन कितने अच्छे ढंग से किया है जिसका भाव इस प्रकार है कि यदि कैलास में तक्र सुलभ होता तो श्रीमहादेवजी आज नीलकंठ न होते, अर्थात् उनके कंठ से विष कभी नष्ट हो गया होता। यदि वैकुंठ (स्वर्ग) में तक्र प्राप्त होता तो क्या श्रीकेशव (विष्णु) जी आज कृष्ण (काले) होते, कभी नहीं। वह तक्र-सेवन कर गौर वर्ण अवश्य हो गये होते। इंद्र की दुर्भगता और चंद्रदेव की क्षयी तत्काल नष्ट हो गई होती, गणेशजी का उदर आज इतना लंबा (उदररोग) न होता, कुबेरजी को कुष्ठी कहने की शक्ति आज किसी में न होती और क्या अग्निदेव स्वयं जल जाने का दुःख उठाते होते। नहीं कभी नहीं, तक्र के होते हुए यह होना कठिन ही नहीं किंतु असंभव था, यह कवि की अत्युक्ति नहीं है, किंतु कवि ने इन रोगों की ओर इंगित (इशारा) किया है कि तक्र-सेवन से यह समस्त रोग निःसंदेह नष्ट हो जायँगे। तक्र में यह संपूर्ण गुण उपस्थित हैं जो आयुर्वेदज्ञों से छिपे नहीं; जिनका वर्णन यथास्थान किया जायगा।

किसी राजा ने एक बहुत बड़े वयोवृद्ध वैद्य से कहा कि वैद्यजी ! कृपया आप मुझे अपनी अनुभूत एक ऐसी वस्तु बतला दीजिए जिसका मैं बराबर सेवन करता रहूँ, जो सुस्वादु तथा रोचक होते हुए समस्त भोजन पचा दिया करे और मैं सब रोगों से बचा रहूँ। वैद्यजी ने कहा, महाराज ! इतनी अवस्था में मुझे जो कुछ अनुभव हुआ है उसके अनुसार मेरी राय में ऐसी वस्तुओं में तक्र ही प्रधान है। तक्र के समकक्ष गुणदायी मुझे संसार में दूसरी वस्तु दृष्टिगोचर नहीं हुई। अतः आप इसका सेवन प्रारंभ कर दीजिए। भोजन के अंत में लवण मिला हुआ थोड़ा तक्र पी लिया कीजिए, फिर उसके ऊपर थोड़ा जल पीकर अंत में कुछ न खाइए, मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपकी अभीष्ट-सिद्धि अवश्य होगी।

तक्र में यह प्रधान गुण है कि तक्र आमाशयस्थ समस्त भोजन को पचाकर अति लघु होने के कारण स्वयं पच जाता है, इसका भार उदर की अग्नि पर नहीं पड़ता इसी से संग्रहणी रोग में तक्र के समान आशु लाभदायी ‡

---

† न तक्रसेवी व्यथते कदाचिन्न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः।
यथा सुराणाममृतं प्रधानं तथा नराणां भुवि तक्रमाहुः ॥
(भावप्रकाश)

कैलाशे यदि तक्रमस्ति गिरिशः किं नीलकण्ठो भवेत् ;
वैकुण्ठे यदि कृष्णतामनुभवेदद्यापि किं केशवः।
इन्द्रो दुर्भगतां क्षयं द्विजपतिर्लम्बोदरत्वं गणः ;
कुष्ठित्वञ्च कुबेरको दहनतामग्निश्च किं विन्दति ॥
(योगरत्नाकर)

‡ भोजनान्ते तु राजेन्द्र तक्रं सलवणं पिब।
तस्योपरि जलं किंचित् तस्योपरि न किंचन ॥

‡ "न तक्रतुल्यं ग्रहणीविकारे"

—बालबोध

फिर अधिक घी के साथ गाढ़ा दूध (रबड़ी) तथा मलाई नित्य अधिक मात्रा में सेवन करनेवाला तदनुकूल परिश्रम न करने पर अवश्य बीमार रहेगा, यदि आप इन दोनों को नीरोग रखना चाहते हैं तो इन्हें तक्र—सेवन बराबर कराते रहिए, उसके साथ-साथ घी-दूध आदि जो कुछ भी सेवन करायेंगे वह सब पचता रहेगा। पिता फिर अपने दोनों पुत्रों को तक्र-सेवन कराने लगा, जिससे वे दोनों सबल होकर नीरोग रहने लगे। बल-कारक घी-दुग्ध आदि वस्तु का जब ठीक-ठीक परिपाक होता है तभी उनका परिणाम भी ठीक होता है, अन्यथा उनसे हानि की संभावना होने लगती है। अग्नि के प्रदीप्त होने पर ही बल-कारक वस्तु का प्रभाव होता है, इससे दीपन वस्तु ही यदि बल-कारक कही जाय तो अनुचित न होगा, कारण कि बल उत्पन्न करने का कारणभूत अग्नि का प्रदीप्त होना ही है। अग्नि के मंद होने पर घी तथा गाढ़ा दुग्ध (रबड़ी) आदि कभी लाभ-दायक नहीं हो सकते। दुग्ध आदि बल-कारक पदार्थ दीपन-पाचन वस्तु की सहायता विना उतनी मात्रा में सेवन नहीं किये जा सकते जितनी मात्रा में तक्र आदि दीपन-पाचन पदार्थ विना किसी की सहायता से सेवन किये जा सकते हैं। कई रोगी चौदह-चौदह सेर तक तक्र-पान विना किसी ओषधि की सहायता करते हुए देखे गये हैं * क्या विना दीपन तथा पाचन ओषधि की सहायता से दुग्ध भी तक्र की भाँति उतनी ही मात्रा में सेवन किया जा सकता है‡ कभी नहीं ; तक्रगुणानुभवी किसी कवि ने "तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्" यह पद बनाकर व्यंग्य रूप से तक्र-युक्त मृत्युलोक के संमुख अमृतमय स्वर्ग का कैसा मनोरंजक अनादर किया है। अमृत के होते हुए भी इंद्र को तक्र की लालसा रहती है, किंतु उन्हें दुर्लभ है क्योंकि अमृत तक्र के गुणों को नहीं पाता। अमृत में जरा-मरण-नाशक शक्ति अवश्य है; किंतु रोग-नाशक शक्ति नहीं। अन्यथा चंद्रदेव के यक्ष्मा, कुबेर के कुष्ठ आदि स्वर्ग में रोग क्यों होते। किंतु तक्र में जरा-मरण रोग-नाशक तीनों शक्तियाँ उपस्थित हैं। तक्रसेवी जरा-जनित व्याधियों से मुक्त होते हुए अकाल मरण से बचा रहता है। फिर रोगों के लिये कहना ही क्या है ? वे तो उसके आस पास भी नहीं फटकने पाते। तभी तो इंद्र इसे देख-देखकर ललचाते हैं ; किंतु उन्हें दुर्लभ है। तक्र मृत्युलोक ही में होता है स्वर्ग में नहीं, अतः स्वर्गलोक से मृत्युलोक कहीं बढ़कर है, उपर्युक्त पद में यह संपूर्ण भाव भरकर कवि ने अपने तक्र-सेवन से प्राप्त गुणों का परिचय कराया है। इस कवि के अवश्य ही कोई दुर्जेय रोग हुआ होगा, जो अन्य ओषधियों से अच्छा न होकर तक्र से अच्छा हुआ होगा, अन्यथा इतना भावपूर्ण इस प्रकार का पद्य न लिखता। इसी पद को समस्या रूप में अंतर्लापिका द्वारा पूर्त्ति करते हुए किसी कविवर वैद्य ने भोजनोपरांत कौन-सी वस्तु पीना चाहिए ? इसके उत्तर में—तक्र, * इस प्रकार लिखकर भोजनोपरांत तक्र-सेवन-विधि को स्पष्ट कर देता है। इसीलिये कच्ची रसोई में तक्र के पदार्थ कढ़ी, बरा, आदि बनाये जाने की प्रथा डाली गई है। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के यहाँ विवाह आदि में भोजन कराते समय तक्र से भीगा हुआ बरा सबसे पीछे इसीलिये परोसा जाता है कि जिससे भोजनांत में तक्र का कुछ अंश पहुँच जाय और भोजन पच जाय। तक्र जिस प्रकार गुणदायी है, उसी प्रकार रुचिकारक भी है। कविवर चंद्रवरदाई ने एक-एक छंद लिखकर तक्र का माहात्म्य बहुत ही बढ़ा दिया है इससे विविध प्रकार के भोजन बनाये जाते हैं। तक्र मांस, क्वथिता (कढ़ी) तक्र वटक (बरा) आदि प्रयोग आयुर्वेद-शास्त्र में बहुत विधि-पूर्वक वर्णित हैं। जिनका वर्णन आगे चलकर यथा स्थान पर किया जायगा। मृत्युलोक में सर्व रोगनाशक, अति सुलभ तथा सुरुचि-कारक एवम् किसी अवस्था में भी हानि न पहुँचानेवाली तक्र के समान दूसरी सरल चिकित्सा दृष्टि-गोचर नहीं होती, अतः तक्र के गुणादि लिखते हुए, प्रत्येक रोग पर तक्र-प्रयोग-विधि शास्त्रानुसार वर्णन की जायगी।

(आगामी संख्या में समाप्य)

मधुसूदन दीक्षित

---

* लेखक ने स्वयं कई रोगियों को १२-१२ सेर तक तक्र-पान कराया है।

‡ दीपन तथा पाचन ओषधि चन्द्रप्रभा वटी आदि के साथ दुग्ध भी चौदह-चौदह सेर तक सेवन किया जा सकता है।—लेखक

* भोजनान्ते तु किं पेयम् जयन्तः कस्य वै सुतः।
कथं विष्णुपदं प्रोक्तम् ? तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्।
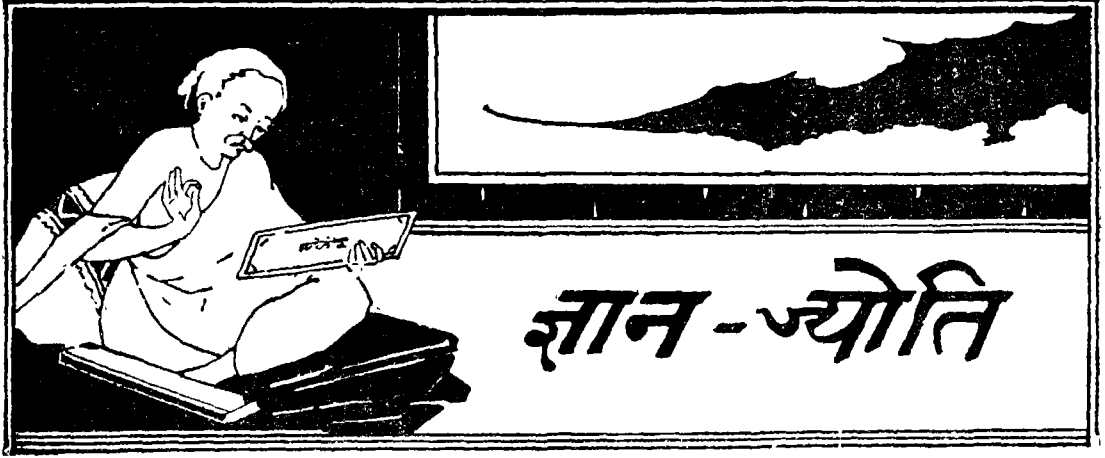
१. यह वर्ण-व्यवस्था है या मरण-व्यवस्था ?

धुरी के आषाढ़ के अंक में मैंने श्री० रामसेवकजी के एक लेख पर अपने विचार प्रकट किए थे। उसका उत्तर आपने श्रावण तथा भाद्रपद की संख्याओं में देने की चेष्टा की है। परंतु इतने पर ही आपको संतोष नहीं हुआ। अगले अंक से इस विषय पर एक अनंत लेखमाला लिखने की घोषणा भी आपने की है। लेख मुझ में इतना लंबा लिखने की शक्ति नहीं। इसलिए आपने उक्त दो अंकों में जो कुछ लिखा है उसी का प्रत्युत्तर यहाँ संक्षेप से लिखता हूँ। काल और अनुभव दिखला देगा कि जात-पात हिंदू-समाज का कलंक है या गौरव; इससे जाति की उन्नति हो रही है या ह्रास।

श्री० रामसेवकजी के लेख को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। एक में तो उन्होंने उर्दू के शेर लिखकर मेरे व्यक्तित्व पर हँसी उड़ाने का और दूसरे में मेरी युक्तियों का उत्तर देने का यत्न किया है। पहले भाग का उत्तर देने की आवश्यकता नहीं।

अब रहा दूसरा भाग—युक्तियों का उत्तर। सो उसकी आलोचना करना आवश्यक है। श्री० रामसेवकजी ने मुझे ब्राह्मणों का द्वेषी या निंदक प्रकट करने का यत्न किया है। पर मेरी प्रतिज्ञा है कि जो कोई आषाढ़ की संख्या में प्रकाशित मेरे लेख को निष्पक्ष भाव से पढ़ेगा वह कभी श्री० रामसेवकजी के साथ सहमत न होगा। ब्राह्मण और अब्राह्मण या बाबू का झगड़ा यू० पी० और मद्रास में है, पंजाब में ईश्वर की कृपा से ऐसी कोई बात नहीं। इसलिए ब्राह्मण-नामधारी जनसमुदाय को मेरे विरुद्ध भड़काने की यह चाल व्यर्थ है। जो जात-पात-तोड़क मंडल सारे हिंदू-समाज को एकता के सूत्र में पिरोने का इच्छुक है, वह भला किसी जात से वैर-भाव रखने को बुद्धिमत्ता कैसे समझ सकता है। हिंदुओं की भिन्न-भिन्न जातों के हृदय में एक दूसरे के प्रति घृणा और अविश्वास का भाव विद्यमान है। इस नीच भाव को किसी भी समय बड़ी आसानी से भड़काया जा सकता है, श्री० रामसेवकजी भी कदाचित् हिंदुओं की इसी आंतरिक दुर्बलता का अनुचित लाभ उठाना चाहते थे। जात-पात-तोड़क मंडल रोटी-बेटी का संबंध पैदा करके हिंदुओं की जातों के इसी भीतरी द्वेष-भाव को दूर करना चाहता है। इस उद्देश की पूर्ति के लिये यदि उसे किसी अत्याचारी जन-समुदाय या बिरादरी को रगड़ना भी पड़े तो वह उससे कदापि नहीं डरता। मंडल गाय, भैंस, घोड़ा, पीपल और तोता आदि की तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि को जुदा-जुदा जात नहीं समझता। जिस प्रकार सभी ब्राह्मण अपने को भाई समझते हैं—एक रोटी पकानेवाले ब्राह्मण का पुत्र एक वकील ब्राह्मण के यहाँ विवाह कर सकता है—उसी प्रकार सभी हिंदू भाई हैं—वे एक दूसरे के साथ रोटी-बेटी का संबंध कर सकते हैं। अपने को ब्राह्मण कहने-

वाले बज़ाज़ और अपने को बनिया कहनेवाले बज़ाज़ में कुछ फ़र्क नहीं। पैसे कमाने के लिए वेदों की कथा करना और धन कमाने के लिए जूते बनाना एक ही बात है। कथा-वाचक जूता बनानेवाले से श्रेष्ठ नहीं। दोनों समाज के लिए उपयोगी हैं। दोनों का समान आदर होना चाहिए।

श्री० रामसेवकजी कहते हैं कि "मैं उनको (अछूतों को) अपना भाई समझता हूँ।...एक "श्रेष्ठ ब्राह्मण-कुल" में जन्म लेकर ढकोसलों का ज़रा भी समर्थक नहीं। किंतु, मैं इस बात से कदापि सहमत नहीं कि रोटी-बेटी का संबंध ही हिंदू-संगठन का मूल-मंत्र है। आज तक किसी भी अछूत ने ऐसे एतराज़ पेश नहीं किए।"

हमारा नम्र निवेदन है कि जिस भाई के हाथ का आप खा नहीं सकते, जिसके स्पर्श-मात्र से भगवान् का बनाया हुआ अन्न-जल आपके लिए अपवित्र हो जाता है; जिसको नीच (या कुछ और) समझकर आप उसके यहाँ विवाह-संबंध करना महापातक समझते हैं, वह किन अर्थों में आपका भाई है। पंजाबी में कहावत है कि "घर-बार की मालिकन कहाना; परंतु कोठी में हाथ न लगाना।" आपका उनको भाई कहना ठीक वैसा ही है। आपके असली भाई तो वे ब्राह्मण हैं; जिनके साथ आपका रोटी-बेटी का संबंध है और जिनके लिए आप कड़वी सचाई सुनकर तलमला उठे हैं। भगवान् रामचंद्र ने भीलनी के जूठे बेर खाकर अपना प्रेम प्रकट किया था, पर आप उनकी बनी रोटी खाने से भ्रष्ट हो जाते हैं। इसीलिए तो दलित भाई कहते हैं कि हिंदुओं की इस समय की हमारे साथ सहानुभूति दिखलावामात्र है—एक राजनीतिक चाल है। यह अपना मतलब निकालना चाहते हैं, और हिंदुओं में हमारी गणना कराकर हमारे राजनीतिक स्वत्वों का उपभोग आप करना चाहते हैं।

श्रीमानजी, मैं जानना चाहता हूँ कि क्या "ब्राह्मण-कुल" ही "श्रेष्ठ" हो सकता है या कोई चमार-कुल भी श्रेष्ठ कहला सकता है? ब्राह्मण के साथ श्रेष्ठता का और चमार के साथ नीचता का अटूट संबंध करके ही हिंदुओं ने अपने जातीय जीवन—अपने संगठन—के पैर पर कुल्हाड़ा मारा है। अपने मित्र, श्री० मंगूरामजी से जो पंजाब में अछूतों के नेता हैं, मैंने एक दिन पूछा कि आप हिंदुओं में रहकर क्यों नहीं सामाजिक अधिकारों के लिए उद्योग करते? उन्होंने कहा कि "जब तक मनुस्मृति आदि धर्म-ग्रंथ हैं, और जब तक हिंदू-बालक जन्म से ही—माता के मुख से ही—एक चमार को अछूत और नीच समझने की शिक्षा पाता है, तब तक हमें हिंदुओं से कुछ भी भलाई की आशा नहीं। मनु ने साफ़ लिखा है कि यदि कोई ब्राह्मण एक चमार का गला काट दे तो उसके लिए केवल एक सौ बार गायत्री का जाप कर लेना ही पर्याप्त दंड है, परंतु यदि कोई अछूत किसी ब्राह्मण को गाली भी दे तो उसे प्राण-दंड दिया जावे। जिन हिंदू-बच्चों को जन्म-घुट्टी में ऐसी शिक्षा मिलती है उनसे समता के अधिकारों की आशा करना दुराशामात्र है।"

श्रीरामसेवकजी कहते हैं कि आज तक किसी भी अछूत ने यह एतराज़ नहीं पेश किया। वे करें कैसे? आपने उनकी बोलने की शक्ति ही छीन रक्खी है। "स्त्री-शूद्रौ नाधीयाताम्।" आपने तो उनको विद्या-प्राप्ति का अवसर ही नहीं दिया। अब ब्रिटिश-राज्य की कृपा से जब उन में विद्या का प्रचार हुआ है तो वे भी बोलने लगे हैं। ज़रा लाहौर के "जात-पात-तोड़क" मासिक पत्र या मद्रास के "Justice" जस्टिस का फ़ायल उठा कर देखिए।

देश की भयानक राजनैतिक अवस्था से डरकर जो सामाजिक अधिकार आप दलितों को देने की कृपा करने को तैयार हुए हैं, उन्हें लेकर वे अब संतुष्ट नहीं हो सकते। आज से दश वर्ष पहले शायद हो जाते। हिंदुओं के पास अब है ही क्या जो वे उनको देंगे। हिंदू तो अब आप दाने-दाने के लिए तरस रहे हैं। नौकरियाँ सरकार के हाथ में हैं, वह जिसे चाहे निहाल कर दे और जिसे चाहे कंगाल कर दे। सरकारी स्कूल सबके लिए खुल पड़े हैं। कौन है जो दलितों को वहाँ पढ़ने से रोक सके? गाँवों में उनके अपने कुएँ हैं और नगरों में सरकारी जल-कल। हिंदुओं के पास इतना धन और उदारता ही कहाँ है जो उनके लिए जगह जगह स्कूल और कुएँ बनवा दें; उनके बच्चों को पढ़ा-लिखाकर अच्छे-अच्छे वेतनों पर नौकर रख लें। हिंदू तो आप मदद के मुहताज हैं—मुसलमानों से पिट रहे हैं। ये दलितों की क्या ख़ाक सहायता कर सकते हैं। मुसल-

मानों को जो सामाजिक अधिकार प्राप्त हैं, वह हिंदुओं की कृपा का नहीं, उनके डंडे का फल है।

इतिहास से जान पड़ता है कि अछूतों के उद्धार का कई बार पहले भी यत्न किया गया। उन्हें वासिष्ठ, रहतिए (अच्छी रहन-सहनवाले), रामदासिए (गुरु रामदास की संतान); वाल्मीकिए (वाल्मीकि मुनि के वंशज) आदि अच्छे-अच्छे नाम दिए गए। परंतु कुछ देर बाद वे फिर अछूत के अछूत बना दिए गए। यदि उनके साथ रोटी-बेटी का संबंध, गुण-कर्म्मानुसार कर लिया जाता, तो वे हिंदू-समाज में आत्मसात् हो जाते। फिर उन्हें कोई भी बाहर न निकाल सकता। क्या क्षत्रियों और ब्राह्मणों में मैले-कुचैले, अशिक्षित, भंगी, चरसी, मद्यपी, व्यभिचारी और ग़रीब नहीं? क्या उनको किसी ने कभी अछूत बनाने का साहस किया? कारण उनके साथ हाड़-मांस का संबंध है। उनको समाज से निकालना सुगम नहीं। इसलिए हिंदू-मात्र को भाई समझने का एक ही उपाय है—आपस में रोटी-बेटी का संबंध करो; जन्ममूलक जात-पात को एकदम नष्ट कर डालो।

हिंदुओं को अपनी गंदी से गंदी बात में भी आध्यात्मिकता दिखाई देती है। कब्रों, ताजियों, पेड़-पौदों को पूजने में, अछूत की छाया भी पड़ जाने पर स्नान करने में, बाल्य-विवाह, वृद्ध-विवाह स्त्रियों, को अशिक्षित रखने में; दूसरे मनुष्यों को कुत्तों से बत्तर और अपने को श्रेष्ठ कुलोत्पन्न समझने और मुसलमानों द्वारा पिटने, इन सबमें इनको "स्वाभाविकता, स्थिरता, ईश्वरवाद का संमिश्रण" दीखता है। "हिंदुओं की सभ्यता और आध्यात्मिक विकास" के नाम पर न मालूम कितने करोड़ मनुष्यों का जीवन दुःसह बना दिया गया है। पश्चिमी सभ्यता और विकाशवाद को गालियाँ देने और अपनी श्लाघा करने से हमारी अधोगति रुक नहीं सकती। पश्चिम की सभी चीज़ें खराब नहीं; और न हमारी पुरानी सभी चीज़ें इस समय के लिए उपयुक्त हैं। परमात्मा ने बुद्धि इसलिए नहीं दी कि उसे ताला लगाकर रख छोड़ा जाय। पुराने ऋषि-मुनि जो कर गए सो कर गए। अब हाथ पर हाथ धरे बैठे रहो। ऐसी बातों से किसी जाति का उद्धार नहीं हो सकता। इस झूठी ऋषि-भक्ति से कोई लाभ नहीं। संसार के इतिहास से कुछ शिक्षा लेनी चाहिए। जिस प्रकार टरकी ने खिलाफत और इस्लाम के ढकोसलों को एकदम ठुकराकर अपना उद्धार किया है, उसी प्रकार हमें भी पुराने ब्राह्मनिज़्म (Brahmanism) को देश से निर्वासित करके उन्नति के सच्चे साधनों को ग्रहण करना चाहिए।

जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था कोई ईश्वर नहीं, जिसके विरुद्ध आवाज़ उठाना घोर नास्तिकता समझी जाय। अपने समाज के कल्याण के लिए हम उसे एकदम ठुकरा सकते हैं। हमें इसमें किसी का भय नहीं। वर्ण-व्यवस्था मनुष्यों के लिए है, मनुष्य वर्ण-व्यवस्था के लिए नहीं। श्री० सत्यव्रतजी सिद्धांतालंकार ने अपने लेख (माधुरी, भाद्रपद) में जो कुछ लिखा है वह मनन करने-योग्य है। उनके इन शब्दों के साथ प्रत्येक देश-हितैषी सहमत होगा कि "आगामी सौ साल तक कोई अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कुछ न कहे। इसे भुला दिया जाय, हिंदू-बालकों के मस्तिष्क से मिटा दिया जाय, लुप्त कर दिया जाय, इतिहास की वस्तु बना दिया जाय। वर्ण-व्यवस्था से आज हमारे देश में जो अत्याचार हो रहे हैं, उन्हें दूर करने का यही तरीक़ा है।"

मैंने अपने उत्तर में इतिहास से कुछ ऐसे उदाहरण पेश किए थे जिनमें ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के बीच विवाह हुए थे। इस पर श्री० रामसेवकजी कहते हैं कि ऐसे विवाह "कोई रूप के लालच में, कोई धन के लोभ में, कोई अन्य प्रभावों आदि से दबकर सौदा कर लेते हैं। परंतु उसे रिवाज या जायज़ नहीं कहा जा सकता।" हम पूछते हैं, क्या ऋषियों और राजाओं के वे विवाह नाजायज़ थे? क्या श्रीपरशुरामजी (जिन्हें अवतार माना जाता है), श्रीरामचंद्रजी के गुरु भगवान् वसिष्ठ, और महर्षि पराशर सब नाजायज़ पुत्र थे? क्या वे वर्णसंकर थे? उन युगों में आप न हुए, नहीं तो उन बेचारे ऋषियों और नृपतियों की कुशल न होती। श्रीमान्जी, इतिहास में थोड़े से मनुष्यों के कार्यों का ही उल्लेख हो सकता है, तेतीस करोड़ का नहीं। यदि आपको अधिक उदाहरणों की आवश्यकता हो, तो सारा महाभारत भरा पड़ा है। देख लीजिए। फिर बताइए, इनमें से कौन-कौन जायज़ और कौन-कौन नाजायज़ संतान हैं।

आप रूप के लालच से विवाह करना बुरा समझते

हैं । मैं पूछता हूँ फिर लोग किस भाव से प्रेरित होकर विवाह करते हैं? क्या आप यह चाहते हैं कि लोग कुरूपा स्त्रियों को ही पसंद किया करें? 'भारद्वाज-गृह्यसूत्र' में साफ़ लिखा है—

यस्यां मनोऽनुरमते चक्षुश्च प्रतिपद्यते ;
तां विद्यात् पुण्यलक्ष्मीकां किं ज्ञानेन करिष्यतीति ।

मुश्किल तो यह है कि आप शब्दों पर जाते हैं, भाव को ग्रहण करने का यत्न नहीं करते । हमारा लक्ष्य जाति का सर्वांगीण विकास है । वर्ण-व्यवस्था भी किसी समय उसी के लिये बनाई गई होगी । परंतु अब वह हानिकारक हो गई है । इसलिए उसे रखने की ज़िद करना अपने को रसातल की ओर ढकेलना है ।

हिंदुओं में भ्रातृ-भाव और समता कैसे स्थापित हो सकती है ; दलित भाई आपके साथ कैसे रह सकते हैं, इसका वर्णन मद्रास से निकलनेवाले दलितों के पत्र "जस्टिस" के शब्दों में सुनिए । जात-पात-तोड़क मंडल के प्रधान श्री भाई परमानंदजी के भाषण पर टिप्पणी करता हुआ वह अपनी २७ सितंबर १९२७ की संख्या में लिखता है—

"हम इस बात पर सदा से ज़ोर देते रहे हैं कि हमारी राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाओं की सिद्धि तभी हो सकती है जब हमें सामाजिक न्याय और सामाजिक समता मिलेगी । अब तक हमारे शब्द अरण्य-रुदन ही सिद्ध हुए हैं और हमारी विनती को स्वार्थी दल फिरका-दारी (Communalism) का ही पक्षपोषण कहता रहा है । इसी पवित्र शब्द ने स्वार्थीदल की नग्न स्वार्थ-परता को प्रकट करने में सहायता दी है । यह देखकर संतोष होता है कि हमारे आदर्शों को भारत के दूसरे भागों में अधिक भली भाँति समझा जा रहा है, और योग्य पुरुष हमारे सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए निकल रहे हैं । भाई परमानंदजी पंजाब के एक बड़े हिंदू नेता हैं । सूचना मिली है कि कलकत्ते में आपने यों कहा है—'मेरा मत है कि नवीन हिंदू-राष्ट्रीयता का आधार समता और भ्रातृभाव हो । इसमें ऊँच और नीच का सब भेद मिटाकर ब्राह्मण और चांडाल की समान स्थिति होगी । हमें जातीयता की एक नवीन अग्नि प्रज्वलित करनी होगी, जो हमारे समाज के सभी भेद-भावों और फूट को जला देगी । पुराने अग्निकुलों के सदृश इसमें से एक नवीन जाति की उत्पत्ति होगी । मैं आपके सामने अमरीका का उदाहरण रखता हूँ । फटे-पुराने कपड़े धारण किए और भूखों से दुर्बल हुआ यूनानी, इटालियन या आयरिश ज्यों ही अमरीका की भूमि पर पैर धरता है, वह अमरीकन भ्रातृ-मंडल का सदस्य बन जाता है ; वह अनुभव करने लगता है कि वह नरक से निकलकर स्वर्ग में आ पहुँचा है, जहाँ सब बराबर हैं, और कोई भी ऊँचा या नीचा नहीं । वहाँ सबको समान अधिकार मिल जाते हैं, और जीवन की उच्चतम स्थिति को प्राप्त करने के समान अवसर उसको दिए जाते हैं । अपनी स्थिति की तुलना अमरीकनों के साथ कीजिए । हम अपने करोड़ों दलित भाइयों को मनुष्यता के अधिकार भी देने को तैयार नहीं । भूमंडल पर केवल हिंदू ही एक ऐसी जाति है, जो अपने पैर पर आप कुल्हाड़ा मारकर आत्म-विनाश की चेष्टा कर रही है । इस समय एक बड़ी सामाजिक क्रांति का प्रयोजन है । योरपीय देशों में नवीन राजनैतिक विचार की उत्पत्ति तथा विकास के पूर्व सदा ऐसी सामाजिक क्रांतियाँ होती रही हैं । हमारा राजनैतिक उद्धार इस सामाजिक पुनर्निर्माण के द्वारा ही होगा । समाज में मानव-विचार एक निरंतर धारा के रूप में बहता है । सामाजिक बातों में विचार और कर्म की स्वतंत्रता से ही राजनैतिक बातों में विचार की स्वतंत्रता प्राप्त होती है । जिस प्रकार उच्चतर राजनैतिक सिद्धांतों की अट्टालिका से मैं आपको सामाजिक क्रांति की महान् आवश्यकता में ले आया हूँ, उसी प्रकार जब सामाजिक क्रांति से हिंदुओं में समता और भ्रातृ-भाव का प्रचार होगा तो उसका परिणाम हमारा उच्चतम राजनैतिक उत्कर्ष होगा ।'

कहना न होगा कि "हम अक्षरशः इन विचारों के साथ सहमत हैं ।"

जात-पात प्रजातंत्र राज्य के मार्ग में भारी रुकावट है। यदि भारत स्वराज्य चाहता है तो इसे जात-पात का नाम-निशान नष्ट करना पड़ेगा । देखिए लाहौर का "एङ्ग्लो-इंडियन" दैनिक पत्र "सिविल मिलटरी गज़ट" अपने मुख्य लेख में लिखता है—

"हिंदुओं में प्रजातंत्र का भाव बहुत कम है । मनु ने जो चार बड़े वर्ण नियत किए थे उनमें बाद के वर्ण-धारी हिंदुओं ने जाति और उपजाति की रचना कर दी ।

इससे हिंदू-जाति असंख्य छोटी-छोटी टुकड़ियों या बिरादरियों में बँट गई। प्रजातंत्र का सिद्धांत यह है कि राष्ट्र के सभी सदस्य समान स्थिति रखते हैं और उनमें एकता रहनी चाहिए। परंतु हिंदुओं का सिद्धांत इसके विपरीत है। उनकी वर्ण-व्यवस्था में समाज का प्रत्येक वर्ग असमान स्थिति रखता है, अतः हिंदुओं के भिन्न-भिन्न वर्गों को एक दूसरे के साथ संयुक्त नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त हिंदुओं का सामाजिक संगठन इस प्रकार का है कि लाखों मनुष्यों के वर्ग ऐसे असंख्य वर्गों में विभक्त हैं, जो एक दूसरे में आत्मसात् नहीं हो सकते। इसलिए यद्यपि वे नाममात्र हिंदू हैं; परंतु उनको उच्चजाति के क्षेत्र से बहिष्कृत ही समझा जाता है। इससे सिद्ध है कि हिंदुओं का सामाजिक संगठन जिस प्रकार का है उसकी बदौलत किसी सच्चे प्रजातंत्र का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

यह स्पष्ट है कि हिंदुओं को इस प्रश्न पर बड़ी गंभीरता के साथ विचार करना चाहिए। यदि वे प्रजातंत्र के विषय में अधिक चेष्टा नहीं करेंगे, तो जिस गति से वे पहले चल रहे हैं उसके कारण वे ईसाई मत और इसलाम में अपनी बहुत बड़ी संख्या ढकेल रहे हैं। इसलिए यह बात युक्ति-संगत जान पड़ती है कि हिंदुओं में **नवीन आंदोलन*** **उत्पन्न होंगे,** जिनका उद्देश्य यह होगा कि हिंदुओं के सामाजिक संगठन को प्रजातंत्र आदर्शों के बिलकुल अनुकूल बनाया जाय।"

इतना ही नहीं, जात-पात ने हिंदुओं को नपुंसक और केवल क़लम-घसीट क्लर्क बना दिया है। हाथ से करने के कामों को नीच समझने के कारण वे दुर्बल हो गए हैं और आए दिन हाथ से मिहनत-मज़दूरी करनेवालों से पिटते हैं। सर गुरुदास बनरजी लिखते हैं—

"The caste system...has created in the higher castes a prejudice against agricultural, technological, and even commercial pursuits." *Calcutta University Commission Report*, Vol. III. p. 161

श्रीरामसेवकजी कहते हैं कि देखो गाँधीजी और मालवीयजी-जैसे विद्वान् और देश-भक्त भी जात-पात को मानते हैं। महात्मा हंसराज, प्रिंसिपल साईंदास और लाला लाजपतराय अपने को पंडित और शर्मा नहीं लिखते। इस संबंध में हमारा नम्र निवेदन है कि बड़े आदमियों की सभी बातें बड़ी नहीं होतीं। वे प्रत्येक बात में दूसरों से बड़े नहीं होते। गाँधी और मालवीय ही ऐसे बड़े आदमी नहीं जो अपने समय की बेहूदा बातों का भी समर्थन करते हों, जो, जिन अवस्थाओं और परिस्थितियों में उनका जन्म और पालन-पोषण हुआ है, उनसे ऊपर न उठ सकते हों। जिस बात में वे बड़े हैं उसीमें वे मान्य हैं, उनकी ऊटपटांग बातों को मानने के लिए कोई भी समझदार मनुष्य तैयार न होगा। अरस्तू कितना बड़ा विज्ञानी था। परंतु वह दास-प्रथा का समर्थक था। वह कहता था कि दासों में जान नहीं होती। वे मशीन के सदृश आत्मा से शून्य यंत्र हैं। पर क्या कोई बुद्धिमान् मनुष्य आज दास-प्रथा का समर्थन करने का साहस कर सकता है? हमारे यहाँ महात्मा तुलसीदासजी स्त्रियों को ढोल बताकर 'ताड़न' की अधिकारिणी ठहरा गए हैं। क्या आज कोई स्त्रियों पर दंड-प्रहार को उचित कह सकता है? और लीजिए। स्वामी शंकराचार्यजी का पुराने ढर्रे के हिंदुओं में कितना मान है। उनको भगवान् तक कहा जाता है। परंतु शूद्रों के सबसे बड़े शत्रु वही थे। आपकी आज्ञा है कि शूद्र के कान में यदि वेद का शब्द पड़ जाय तो पिघला हुआ सीसा उसके कान में भर देना चाहिए; यदि उसकी जिह्वा से श्रुति का कोई शब्द निकल जाय तो उसकी जीभ को काट डालना चाहिए। आप लिखते हैं—

यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधो भवति। वेदश्रवणप्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते। श्रवणप्रतिषेधस्तावत् 'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्' इति। पद्य ह्वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्।

ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्यम्। अ० १ पा० ३ अ० ६ सू० ३८

इतना ही नहीं। आपने एक और भी भद्दी बात लिखी है। आपका मत है कि अपनी शय्या पर आई हुई किसी भी स्त्री को न छोड़ना चाहिए। आपके शब्द ये हैं—

"न काञ्चन काञ्चिदपि स्त्रियं स्वात्मतल्पप्राप्तां न परिहरेत्समागमार्थिनीम्।"

* जात-पात-तोड़क मंडल ऐसा ही एक आंदोलन है। —लेखक

देखिए छांदोग्योपनिषद् शंकरभाष्य ; द्वितीयाध्याय का त्रयोदश खंडः ।

क्या आप शंकराचार्यजी के इस मत को मानते हैं ?

जात-पात के रहते कभी अस्पृश्यता दूर नहीं हो सकती। इसीलिए पिछले दिनों मद्रास के किसी अब्राह्मण सज्जन ने लिखा था कि गाँधीजी पर हमें विश्वास नहीं। जब वे जात-पात को मानते हैं तो उनका अस्पृश्यता-निवारण पर ज़ोर देना दिखलावामात्र है, हमें ब्राह्मणों के पंजे में फँसाने की चालमात्र है ।

श्रीमालवीयजी के जात-पांत के बंधनों में फँसे होने का परिणाम आप देख ही चुके हैं। आपने अपने समधी श्रीलक्ष्मीकांत भट्ट को इसलिए बिरादरी से बाहर निकाल दिया और उनकी पुत्री (अपनी पुत्रवधू) को अपनी मरणासन्न माता (भट्टजी की धर्मपत्नी) से इसलिए न मिलने दिया, क्योंकि भट्टजी ने अपनी एक पुत्री का विवाह किसी दूसरी जाति के योग्य ब्राह्मण वर के साथ कर दिया था। सभ्य संसार ऐसे हिंदू-नेता की बुद्धि को क्या कहता होगा !

लाला लाजपतराय, महात्मा हंसराज और प्रिंसिपल साईंदास जन्ममूलक जात-पात को बिलकुल नहीं मानते। वे अनेक बार अपने व्याख्यानों में इसका खंडन कर चुके हैं। शर्मा शब्द उनके लिए कोई गौरव की बात नहीं। शर्मा और वर्मा आदि शब्द बहुत नवीन हैं। आप रामायण में कहीं भी किसी नाम के साथ शर्मा शब्द दिखलाइए। उस समय भी तो आखिर ब्राह्मणों का अभाव न था। फिर वे क्यों अपने को शर्मा नहीं कहते थे। महाभारत में केवल एक जगह सुशर्मा शब्द आया है, और वह भी व्यक्तिविशेष के नाम के ढंग में। इन शब्दों की उत्पत्ति भी कुछ अच्छी नहीं। इन पर इतराना व्यर्थ है। सभ्य संसार और बुद्धिमान् लोग इनका एक कौड़ी भी मूल्य नहीं समझते ।

आपने एक बड़े मज़े की बात लिखी है। लोग परमेश्वर को जाति, वर्ण और रंग-रूप से ऊपर मानते हैं। परंतु आप कहते हैं कि 'भगवान् कृष्ण योगीश्वर, ज्ञानी और पंडित होते हुए भी कभी ब्राह्मण नहीं बने। जो थे वही बने रहे।' श्रीमानूजी, आप तो श्रीकृष्ण को परमेश्वर मानते हैं। क्या परमेश्वर के लिए ब्राह्मण बनना कोई गौरव की बात थी ? वे क्या थे और क्या बने रहे, इसे भी तनिक स्पष्ट कर दिया होता।

जात-पांत के टूटने से हिंदू दूसरे धर्मों का शिकार हो जायँगे, यह बात सत्य के सर्वथा विपरीत है। उलटा इसके दुःख से लोग पतित हो रहे हैं। देखिए बंबई लेजिस्लेटिव कौंसिल में एक सदस्य ने क्या कहा है—

"I think the day will not be distant when the people who are placed by the tyranny of the higher classes into the lower grade of society...wile find themselves driven to other religious folds. There will then be no reason at all for the Hindu society to complain that Mohammedan or Christian missionaries are inducing members of the depressed classes to change the religion of their birth ..How can we ask far greater political rights [we ourselver] deny elementary rights of human beings." *Bombay Legislative Council Debates*, 1926, Vol. XIII, Part XI. p. 717.

ईसाई और मुसलमान सब किसी का खा-पी लेते हैं। व हिंदू-मुसलमान सबके साथ विवाह कर लेते हैं। इससे उनका धर्म कभी भ्रष्ट नहीं होता। वरन् उनकी संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती ही है। क्या हिंदू-धर्म ही ऐसा बोदा और चूल्हे-चौके का धर्म है जो हिंदू-मात्र में भी रोटी-बेटी का संबंध करने से नष्ट हो जायगा। इसे कच्चा धागा रखकर अब निर्वाह न होगा। इसे सर्वग्राही काल के समान अमर और लोहे की ज़ंजीर के समान अटूट बनाने की आवश्यकता है। और वह तभी हो सकता है जब जात-पात का बंधन तोड़कर आपस में रोटी-बेटी का संबंध स्थापित किया जाय। इसके बिना हिंदुओं में प्रजातंत्री समता का भाव कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता।

महात्मा गाँधीजी सत्यभक्त हैं। पहले वे जात पात के कट्टर पक्षपाती थे। परंतु ऐसा जान पड़ता है कि मद्रास-प्रांत में अपनी आँखों से देखकर उन्हें इस वर्ण-व्यवस्था का (जिसका दूसरा नाम जात-पात है) घातक परिणाम समझ में आ गया है। इसीलिए आपने हाल में इसके विरुद्ध प्रबल आवाज़ उठाई है। मद्रास से निकलनेवाले "स्वराज्य" की १४ अक्तूबर की संख्या में श्री० वायिसू शंमुखम् चट्टियर ने महात्माजी के साथ अपनी बात-चीत का सविस्तर विवरण छपाया है।

उसमें महात्माजी ने जात-पात का खूब खंडन किया है। श्री० रामसेवकजी उस विवरण को पढ़ने की कृपा करें तो उन्हें मालूम हो जाय कि महात्मा गाँधी के विचार ठीक वही हैं जो जात-पात-तोड़कमंडल के हैं। सुनिए—

"प्रश्न—क्या आप मनुस्मृति को अच्छा समझते हैं? स्मृतियों और शास्त्रों के संबंध में सामान्यतः आपकी क्या सम्मति है?

महात्माजी—मनु में थोड़ी-सी सचाई और बहुत-सा अत्याचार है। प्रत्येक स्मृति और शास्त्र को हमें सचाई की कसौटी पर परखना चाहिए और जो भी बात सचाई के विपरीत सिद्ध हो उसे परे फेंक देना चाहिए। मेरी सम्मति में मनुस्मृति एक मनुष्य की रचना नहीं। बहुत-से लोगों ने अपने अनुभव और इच्छा के अनुसार इसे लिखा है।

प्रश्न—आपके लिए वर्णाश्रम-धर्म के लक्षण के अनुसार क्या वर्ण जन्म से है?

महात्माजी—हाँ। परंतु उसमें छुटाई और बड़ाई का लवलेश भी नहीं।

प्रश्न—जब चारों वर्णों में छुटाई-बड़ाई नहीं, तो ब्राह्मण अपने को ऊँचा कैसे कह सकता है?

महात्माजी—नहीं कह सकता।

प्रश्न—क्या आप दो भिन्न-भिन्न वर्णों (ज़ातों) के बीच विवाह को अच्छा समझते हैं?

महात्माजी—हाँ। परंतु दूसरे वर्णों के लोग, यदि चाहें भी तो, ब्राह्मण-जाति की लड़कियों के साथ विवाह नहीं कर सकते, क्योंकि ब्राह्मणों की संख्या बहुत ही थोड़ी है।—

'Intermarriage is not objectionable. A Shudra may marry a Brahman girl.'

अंतर्जातीय विवाह आपत्तिजनक नहीं। एक शूद्र एक ब्राह्मण-कन्या से विवाह कर सकता है। Swrajya, Friday, October 1927.

हमें आशा है कि जिस प्रकार महात्मा गाँधी के विचारों में परिवर्तन हुआ है और उन्होंने सचाई को मुक्त-कंठ से स्वीकार किया है, उसी प्रकार श्रीराम-सेवकजी भी इसे स्वीकार करेंगे।

संतराम

बेदम कर डाला था। क्या मैं विनम्र भाव से आपसे पूछ सकता हूँ कि उस धुएँ से आपकी लड़की को कोई तकलीफ़ नहीं हुई होगी?—प्रेत चाहे भले ही प्रसन्न रहा हो। अस्तु, अब देखता हूँ, 'माधुरी' के संपादक भी प्रेतों का पक्ष ग्रहण करने चले हैं। "परलोकगत आत्मा से बातचीत करने, उसके शब्द को सुनने, उसका स्पर्श करने एवं उसको प्रत्यक्ष देखने और फिर उसका फ़ोटो तक ले लेने का प्रबंध योरप की प्रयोगशालाओं में है।" ये काम कैसे प्रकार होते हैं—धूर्तता से, ठगी से, प्रवंचना से। आप इसका प्रमाण चाहते हैं। अच्छा, इस अंक में नहीं आगे के किसी अंक में। युगल-संपादकों का कहना है कि "आलिवर लॉज तथा आर्थरकननडायलजैसे संभ्रांत पुरुषों को धूर्त और वंचक मानने के लिए हम तैयार नहीं हैं।" कोई भी उन्हें ऐसा नहीं मान सकता। तु यहाँ तो बात दूसरी ही है। विरोधी दल भी इन गों को आदर की दृष्टि से देखता है। किंतु वह उन गों को—उन 'मिडियमों' को, उन प्रेत बुलानेवालों को ढोंगी करार करता है, जो लोगों को ठगने के लिए तों का आश्रय ग्रहण करते हैं। हमने कहीं भी नहीं पढ़ा या सुना है कि आलिवर लॉज स्वयं प्रेत बुलाते हैं। प्रेत बुलाना और उसमें विश्वास करना दो बातें हैं। आपका विश्वास ग़लत हो सकता है। किंतु इस ग़लत विश्वास के लिए हम आपको 'धूर्त, वंचक' आदि विशेषण नहीं दे सकते। किंतु 'मिडियमों' को, जो रुपया कमाने के लिए, नाम पैदा करने के लिए या अन्य किसी कारण से लोगों को धोका देते हैं, उन्हें हम क्या कहें? ये 'मिडियम' जिन कामों को प्रेतों का किया हुआ, या जिन बातों को प्रेतों का बतलाया हुआ कहते हैं उसे ही एक जादूगर हाथ की सफ़ाई या बुद्धि के उपयोग से कर सकता है। 'मिडियम' जो कहते या करते हैं वे स्वाभाविक तरीक़ों द्वारा ही, न कि किसी प्रेत की प्रेरणा से और न किसी अस्वाभाविक (Supernatural) शक्ति से। आगे चलकर इसका स्पष्टीकरण किया जायगा।

'माधुरी' के पिछले अंक में हमने प्रेत बुलानेवालों के कुछ तरीक़ों का भंडा-फोड़ किया था। इस लेख में कुछ और देखिए। गोल टेबुल के चारों ओर लोग बैठते हैं, प्रेत बुलानेवाला या वाली भी एक ओर बैठती है। लोगों से पहले ही कह दिया जाता है कि प्रेत प्रश्नों का उत्तर टेबुल का पैर उठाकर नहीं देगा किंतु टेबुल के किसी हिस्से में खटका मारकर देगा। प्रेत का आवाहन होता है, प्रेत आता है। बैठे हुए लोगों के प्रश्नों का उत्तर खटका मारकर देता है और चला जाता है। लोग दंग रह जाते हैं। यदि आपको असली बात न मालूम हो तो आप भी कहेंगे कि सचमुच प्रेत आया था। चालाकी जो की जाती है, उसे जान लेने पर प्रेतों पर से आपका भी विश्वास उठ जायगा। एक ख़ास तरह की कमरबंद—पेटी—तैयार की जाती है जिसमें दो छोटी-छोटी बैटरियां लगी रहती हैं। इनसे जो तार निकलते हैं वे एक "टैप-बॉक्स" (Tap Box) या निःशब्दकारी घंटी (Gongless bell) से होते हुए

'मिडियम' की चतुरता

"पैंट" के भीतर ही भीतर जूते की एँड़ी तक पहुँच जाते हैं। जूते की एँड़ी में दो धातु के पत्तर लगे रहते हैं, जो रुई या सन द्वारा अलग किए रहते हैं। एँड़ी को दबाने से दोनों पत्तर परस्पर छूते हैं, विद्युत्-धारा घंटी से प्रवाहित होती है और घंटी का हथौड़ा हिलता है। यदि 'मिडियम' ज़रा-सा झुककर टेबुल से सट जाता है तो हथौड़ा टेबुल के किसी हिस्से में चोट मारकर टेबुल से आवाज़ निकालता है। टेबुल की ऊँचाई कमर ही के बराबर बनवा ली जाती है। चित्र देखिए, धोके का पता लग जावेगा। न जाननेवाले के लिए प्रेत, भूत का विश्वास दिला देना कितना आसान है।

गत अंक में हमने प्रेत बुलाने के एक तरीक़े का ज़िक्र करते हुए लिखा था कि जो लोग प्रेत बुलानेवाले की सचाई की जाँच करना चाहते हों वे उनकी परीक्षा इसी प्रकार लें। किंतु यह मेरा भ्रम था। उस दिन मेरे एक मित्र आए, वे भी मेरे ही जैसा प्रेतों में विश्वास नहीं करते। उनसे इसी विषय पर बात होने लगी। उन्होंने कहा—"तुम भूल करते हो, इस प्रकार प्रेत बुलाना लड़कों का खेल है। प्रेत बुलानेवाले के हाथ पकड़े जाने पर भी ये उसे छुड़ा ले सकते हैं। फिर उनके मुँह और पैर तो स्वतंत्र रहते हैं। इनके द्वारा वे कितने काम कर सकते हैं और उन्होंने करके दिखलाया भी। उन्हें मैं पाठकों के मनोरंजनार्थ यहाँ देता हूँ।

टेबुल के चारों ओर लोग बैठते हैं। टेबुल को कोई नहीं छूता। हरएक आदमी दूसरे का एक हाथ पकड़ता है। इस प्रकार कार्यारंभ होता है। कमरे में प्रायः अँधेरा होना आवश्यक ही है। चित्र नं० २ की अवस्था में लोग बैठते हैं। अब देखिए कि हमारे जिस हाथ को हमारे

प्रेत-आवाहन

पड़ोसी ने पकड़ा है उस हाथ से हम अपने पड़ोसी का हाथ पकड़कर अपना एक हाथ स्वतंत्र कर सकते हैं और उस अँधेरे में यह किसी को मालूम भी नहीं पड़ेगा। ज़रा-सा हाथ के झटके से यह काम हो सकेगा। चित्र नं० ३ में वह दृश्य दिखलाया हुआ है, जब प्रेत बुलानेवाले ने अपने एक हाथ को स्वतंत्र कर लिया है और दूसरे हाथ से अपने पड़ोसी का हाथ पकड़ लिया है। अपने स्वतंत्र किए हुए हाथ से कोई भी काम कर सकता है। अब आप ही कहिएगा कि यह तो लड़कों का खेल है। अवश्य प्रेतों का बुलाना ऐसा ही काम है।

धोका देनेवाले 'मिडियम' अपने चारों ओर की परिस्थिति को अपने अनुकूल बना लिया करते हैं। अँधेरा तो उनका प्रधान सहायक है। इसके अतिरिक्त लोगों के मृत पुरुषों का शोक भी 'सियांस' के समय उन लोगों को आ घेरता है। प्रायः ऐसा भी देखने में आता है कि ऐसे ही समय लोगों को सभी कष्टों या दुःखों की याद आ जाती है और वे झूठे 'मिडियमों' के सहज शिकार बन जाते हैं। मनस्कष्टों की शांति के लिये, मरे हुए व्यक्तियों के दुःखों की सांत्वना के लिये उनसे प्रेत बुलानेवाले जो कुछ झूठी बातें बनाकर कह देते हैं उसे वे डूबते हुए मनुष्य की नाईं तिनका समझकर आश्वासित होते हैं। ऐसे लोगों को क्या गरज़ पड़ी हुई है कि वे धोकेबाज़ों की धोकाधड़ी का पता लगावें और उनको लोगों के सामने प्रकट करें? इधर धोकेबाज़ 'मिडियम' अपना

मतलब साधने के लिये तरह-तरह की कारसाज़ी किया करते हैं, जिनका भंडाफोड़ ज़रा-सी चेष्टा करने से हो जा सकता है। जिन बातों को लोग गुप्त समझते हैं, उन्हें भी ये 'मिडियम' उन्हीं लोगों के पेट से पहले निकाल लेते हैं और पीछे उन्हीं बातों को कहकर उन्हें हैरत में डाल देते हैं। जिन लोगों ने प्रेतों की खोज में कुछ समय दिया है, उनका कहना है कि 'मिडियम' कोई भी बात अपने मानसिक शक्ति के बाहर की नहीं करता। चालाक लोग टूटी-फूटी बातों से ही पूरी कहानी बना लिया करते हैं!

अमेरिका में एक जादूगर है जिसका नाम हाउडिनी (Houdini) है, इसने 'मिडियमों' की बहुत-सी धूर्तताओं को लोगों के सम्मुख रखा है। है तो यह जादूगर, पर भूत-प्रेतों में ज़रा भी विश्वास नहीं करता, सब करतब हाथ की सफ़ाई से या बुद्धि के प्रयोग से किया करता है, किंतु लोग विश्वास करते हैं कि वह 'मिडियम' है, टूटी-फूटी बातों से वह किस प्रकार पूरी कहानी बना लिया करता है उसे भी उन्हीं के शब्दों में सुनिए।

"एक बार मुझे पुलिस के कुछ लोगों के सामने तमाशा दिखलाना था। मैंने सोचा इन्हें प्रेत के कुछ कारनामे दिखलाने चाहिएँ। तमाशा दिखलाते-दिखलाते मैंने कहा—'अब मैं प्रेतावाहन करता हूँ, देखें कौन-सा प्रेत आता है।' थोड़ी देर आँख बंदकर यों ही बैठा रहा, इसके बाद उठकर खड़ा हो गया और पूछा—'सातवीं रेजिमेंट के लेफ़्टिनेंटस्मिथ क्या यहाँ उपस्थित हैं?' स्मिथ आश्चर्य-चकित हो गए। उठकर उन्होंने अपनी उपस्थिति जताई।

मैंने कहा—"जान ब्राउन की आत्मा आई है। वह आपको धन्यवाद देती है, क्योंकि आपने उन्हें १६२० ई० में नदी में डूबने से बचाया था। वह आपको आपकी तरक्की पर बधाई भी देती है। आपकी शीघ्र ही एक और तरक्की होनेवाली है। अपने लड़के से कह दीजिएगा कि वह इम्तिहान के लिये चिंतित न हो। वह अवश्य उत्तीर्ण होगा। अपनी स्त्री से कह दीजिएगा कि वह अपनी नन्हीं बच्ची के लिये उत्सुक न हों। गरमी के दिनों को वह ख़ुशी-ब-ख़ुशी तय कर डालेगी।"

प्रेत की इन बातों को सुनकर केवल स्मिथ ही नहीं किंतु वहाँ जितने लोग थे अचरज में पड़ गए। "मैं स्मिथ को जानता भी नहीं था और उनसे कभी मेरी बातें भी नहीं हुई थीं। आप भी आश्चर्य करेंगे कि यह कैसे हुआ और मैंने उनको ये सच्ची-सच्ची बातें कैसे बताईं। किंतु इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। एक पुलिस-वाले ही से मैंने ये बातें जान पाई थीं। उसने मुझसे यह भी कहा था कि स्मिथ की शादी हो गई है; उनके एक बारह वर्ष का लड़का है और एक नन्हीं-सी बच्ची हाल ही में पैदा हुई है। चूंकि गरमी के लिये स्कूल बंद होनेवाले थे और इसी समय परीक्षाएँ भी हो रही थीं; इसलिये मैंने सोचा कि स्मिथ का लड़का भी परीक्षा के लिये चिंतित होगा। इसलिये जो निशाना अंदाज़ी मारा वह ठीक ही बैठा। सभी माताएँ गरमी के दिनों में अपने छोटे बच्चों के लिये उत्सुक हो जाती हैं। इसलिये स्मिथ की स्त्री के विषय में जो कुछ कहा वह सभी माताओं के विषय में लागू हो सकता है।

कहिए कितना स्पष्ट है; किंतु जब तक आप गुप्त रहस्य को नहीं जानते तब तक आप ही आश्चर्य-समुद्र में पड़े रहते हैं।"

"जब से लोग प्रेतों में विश्वास करने लगे हैं तब से वे मुझसे भी प्रेतों की करामात दिखलाने के लिये आग्रह करते हैं। मैं ३५ वर्षों से धोकेबाज़ 'मिडियमों' का भंडाफोड़ कर रहा हूँ तब कब संभव है कि मैं ही प्रेतों को बुलाऊँ। तो भी लोगों की आग्रह-रक्षा के लिये मुझे अपनी बुद्धि का सहारा लेना पड़ता है और मैं उन्हें अचरज में डाल देता हूँ।

एक दिन न्यूयार्क में मुझे तमाशा दिखलाना था। मैं जानता था कि लोग मुझसे प्रेत बुलाने के लिये कहेंगे। ऐसा ही हुआ भी। इसके लिये मैं पहले से तैयार था। तमाशा शुरू करने के पहले मैंने अपने सहकारी को दर्शकों के बीच घूम आने को कहा। वह लौट आया और दो मनुष्यों की बातों को इस प्रकार कह सुनाया।

एक ने पूछा—कहो ब्लैक! आजकल सेंटलुइस में कैसा कारबार चल रहा है?

दूसरे ने उत्तर दिया—मामूली तौर से अच्छा है। इस साल हमने बहुत-सी मोटर-गाड़ियाँ बेची हैं।

बस इतने ही से मैंने अपनी कहानी गढ़ ली। स्टेज पर से हमने पूछा—"क्या सेंटलुइस के मि० ब्लैक यहाँ उपस्थित हैं?" उन्होंने अपनी उपस्थिति जताई।

मैंने कहा—"जो प्रेत आया है उसके कहने से जान पड़ता है कि आप वहाँ मोटर-गाड़ियों का कारबार करते

हैं। अपने कारबार के मुतअल्लिक़ आप यहाँ आए हैं, आपको उसमें सफलता मिलेगी चिंता की बात नहीं।" इन बातों को सुनकर दर्शक-मंडली चकित हो गई। आप तो गुप्त-भेद जानते हैं कहिए चकित होने की बात है या नहीं।

एक मरतबा, मैं तमाशा दिखलाने के लिये जा रहा था कि तमाशा-भवन के बाहर एक स्त्री-पुरुष को झगड़ते देखा। स्त्री अपने पति का नाम ले-लेकर गालियाँ दे रही थी। पुरुष स्त्री से पिंड छुड़ाने के लिये एक टिकट खरीदकर तमाशा देखने के लिये भवन में घुस गया। तमाशा दिखाते हुए जब प्रेत बुलाने की बारी आई तब मैंने उसी मनुष्य का नाम लेकर पुकारा और यह भी कह दिया कि तुम अपनी स्त्री से लड़ाईकर अपने मन की अशांति दूर करने के लिये यहाँ आए हो। लोग यह सुनकर दंग रह गए।"

मैं ऐसे उदाहरण दे, लेख बढ़ाना नहीं चाहता। जो बात अमेरिका में संभव है वह यहाँ भी संभव है। जो लोग प्रेत में विश्वास करते हैं, वे दूसरों को भी ऐसा ही करने के लिये विवश किया चाहते हैं। इसलिये वे 'मिडियमों' को उस अविश्वासी की अंदरूनी बातें बतला देने में भी नहीं हिचकते। यदि किसी प्रेत बुलाने-वाले के पास एक सर्वथा अपरिचित मनुष्य जाय तो उसकी कोई भी सच्ची बात वह नहीं बतला सकेगा।

हावडिनी ने भी तीस हज़ार रुपया उस मनुष्य को देने की घोषणा की है, जो प्रेत की ऐसी करतूतों को कर दिखावे जिसे वे हाथ की सफ़ाई, अपनी बुद्धि या स्वाभाविक तरीकों द्वारा न दुहरा सकें।

रमेशप्रसाद

१. सिंचाई या आबपाशी

भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रांतों में साल में कुछ ही महीने पानी बरसता है। बरसात के महीनों को छोड़कर अन्य महीनों में फसलों को मट्टी द्वारा सोखे हुए जल या सिंचाई के जल पर निर्भर रहना पड़ता है। पौधों के लिये जल ही जीवन है। पौधे ही क्यों सभी जीवधारियों को—पौधे भी जीवधारी ही हैं, अपने भरण-पोषण और वृद्धि के लिये जल की आवश्यकता होती है। पौधे अपना भोजन मट्टी से ग्रहण करते हैं। मट्टी के भोज्य पदार्थ जल में घुलकर शरबत के रूप में जड़ों द्वारा सोखे जाकर पौधे के भिन्न-भिन्न अवयवों को पहुँचाए जाते हैं। पौधे के शरीर में भी जल का एक बड़ा अंश वर्तमान रहता है। पत्तों के रंध्रों द्वारा प्रतिदिन कई मन पानी भाप के रूप में वातावरण मे छोड़ा जाता है। इस फेंके हुए जल की कमी को, जड़ें मट्टी में से जल ग्रहणकर पूरी करती रहती हैं। जड़ों को पानी न मिलने पर पौधा मुरझा जाता है और यदि एक दो रोज़ पानी न मिला, तो पौधा मर जाता है।

पंजाब, युक्तप्रांत आदि कई प्रांतों में नहरों द्वारा पाट से सिंचाई होती है और मध्य-भारत, राजस्थान आदि कुछ प्रांतों में कुओं, तालाबों या नदी-नालों द्वारा ही आबपाशी की जाती है। अनुभव से मालूम हुआ है कि ज़रूरत से ज़्यादा पानी देने से पैदावार कम आती है और खेत भी जल्दी ख़राब हो जाते हैं। जिन प्रांतों में नहरों द्वारा सिंचाई का प्रबंध किया गया है, वहाँ के किसान अपनी फ़सलों को ज़रूरत से ज़्यादा पानी देते हैं। इससे दो प्रकार से हानि होती है। प्रथम तो यह कि जिस फ़सल को ज़्यादा पानी दिया जाता है, उसमें पैदावार कम होती है। और दूसरे, एक आदमी को ज़रूरत से ज़्यादा पानी ख़र्च कर देने से उसके एक दूसरे भाई को कम पानी मिलने, या बिलकुल ही पानी न मिलने से हानि उठानी पड़ती है। अतएव हरएक काश्तकार को जान लेना चाहिए कि किस फ़सल को कितने पानी की ज़रूरत होती है और तब उस फ़सल को उतना ही पानी देने का ख़याल रखना चाहिए।

आबपाशी से लाभ—१ सिंचाई का उत्तम प्रबंध हो जाने पर किसान को वर्षा के जल पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। २ पैदावार ज़्यादा होती है। ३ एक ही खेत में एक ही वर्ष में एक के बाद एक तीन चार फ़सलें बोई जा सकती हैं।

आबपाशी से हानि—१ हमेशा सिंचाई करते रहने से पौधों की जड़ें गहराई तक नहीं घुस पाती हैं। सतह के पास ही फैल जाती हैं। जिससे ऊपरी सतह के सूखते ही पौधा मुरझा जाता है। २ हमेशा सिंचाई करते रहने से ज़मीन कड़ी हो जाती है। खाद देने से यह दोष दूर किया जा सकता है। ३ पानी में घुले हुए लवण मट्टी में जमा होते रहते हैं, जिससे कुछ वर्षों बाद ज़मीन ख़राब

हो जाती है । ४ अगर ज़मीन के नीचे की सतह (Sub-soil) कड़ी-जलाभेद्य, होगी तो मट्टी में पानी भरा रहेगा जिससे फ़सल को हानि पहुँचती है ।

पानी ऊपर उठाना—जिन प्रांतों में सिंचाई के लिये नहरें बनवाई गई हैं, उन प्रांतों में पानी ऊपर उठाकर खेत सींचने का सवाल ही नहीं पैदा होता है । परंतु उन प्रांतों में जहाँ सिंचाई, कुएँ, बावड़ी, नदी-नालों आदि से होती है, पानी ऊपर उठाने का प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । कुएँ, बावड़ी, नदी आदि से पानी ऊपर उठाने में, इस बात पर अत्यधिक ध्यान दिया जाना चाहिए कि कम-से-कम मिहनत और कम-से-कम ख़र्च में अधिक-से-अधिक पानी ऊपर उठाया जाय—भूमि की सतह पर फेंका जाय ।

भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों में पानी ऊपर उठाने के लिये भिन्न-भिन्न साधनों का उपयोग किया जाता है । इस ज़माने में चेन पंप, हाथ पंप, एंजिन से चलनेवाले पंप आदि मशीनों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है । ये नवीन यंत्र भारतीय किसानों के लिये उपयोगी हैं या नहीं, इस पर हम यहाँ कुछ नहीं लिखेंगे । केवल इतना ही सूचित कर देना काफ़ी होगा कि भारतीय कृषकों की वर्तमान अवस्था और देहातों की वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए इस समय पंप, एंजिन से चलनेवाले पंप आदि का प्रचार लाभदायक नहीं हो सकता ।

पानी देना—गहरे कुँओं और नदी-नालों से पानी ऊपर उठाने में बहुत अधिक परिश्रम और व्यय होता है । अतएव खेतों में सिंचाई करते समय अत्यधिक सावधानी और मितव्यय से काम लेना अत्यावश्यक है । ज़रूरत से ज़्यादा पानी हरगिज़ नहीं दिया जाना चाहिए। क्योंकि ज़रूरत से ज़्यादा पानी सींचने से नीचे लिखी हुई हानियाँ उठानी पड़ती हैं :

१—खेत खराब हो जाते हैं ।

२—पानी उठाने में लगे हुए द्रव्य का अपव्यय होता है ।

३—मिहनत बेकार जाती है ।

भारत के अधिकांश प्रांतों में पानी ऊपर उठाने में बहुत ज़्यादा पैसा और मिहनत लगानी पड़ती है । इसलिए सिंचाई करते समय हमारा लक्ष्य होना चाहिए—कम-से-कम पानी खींचकर ज़्यादा-से-ज़्यादा पैदावार प्राप्त करना । और इसके लिए हमें यह मालूम कर लेना चाहिए कि किस फसल को कितना पानी दिया जाना चाहिए । प्रयोगों से पता चला है कि एक सेर सूखे पदार्थ * (dry-matter) को तैयार करने के लिए नीचे लिखी हुई फसलों को कितना पानी आवश्यक होता है ।

नाम फसल	बिना खाद का खेत	खाद दिया हुआ खेत
गेहूँ	८६० सेर	६०० सेर
जौ	७०० ,,	५०० ,,
अलसी	१००० ,,	१००० ,,
मटर	८५० ,,	५५० ,,
चना	१४०० ,,	१००० ,,
मक्का	५०० ,,	४०० ,,

देश की आबहवा, मौसम, ताप-क्रम आदि के असर से यह मिक़दार घट बढ़ सकती है । मध्यप्रान्त में एक सेर गेहूँ पैदा करने के लिये जितना पानी पौधा ग्रहण करता है । उससे कहीं अधिक पानी उसे मद्रास-जैसे गरम प्रांतों में दरकार होता है । और पौधे को बरसात या शीतकाल में जितना पानी आवश्यक होता है, उससे कई गुणा अधिक पानी जेठ बैशाख में दरकार होता है । इसके अलावा जो फसल जितनी ही ज़्यादा देरी से पकती है, उसे उतना ही अधिक पानी लगता है । झाखरा जड़वाले पौधों को (गेहूँ, जौ आदि) ज़्यादा पानी लगता है और मूसला जड़वाले पौधों को (चना, कपास, मूंग आदि) कम । ज़मीन की बनावट और उसके सतह के नीचे के स्तरों की अवस्थानुसार भी पानी की मिक़दार घट बढ़ सकती है । अतएव सिंचाई का कार्य आरंभ करने से पहले उक्त सभी प्रश्नों पर सभी बाजू से विचार कर लेना निहायत ज़रूरी है ।

गणित करने से मालूम हुआ है कि एक एकड़ ज़मीन पर अगर एक इंच गहरा पानी भरा जाय, तो वह क़रीब २६०० मन होगा । एक इंच वर्षा का यही मतलब है ।

प्रयोगों से पता चला है कि रेतीली ज़मीन को एक बार में दो इंच अढ़ाई इंच (५६०० मन ७००० मन से)

---

* एक सेर मक्का, या पत्ते, डंठल आदि (सूखे) की वृद्धि के लिए पौधे को कम-से-कम ५०० सेर जल का उपयोग करना पड़ता है । पौधे को सुखाने पर जो पदार्थ शेष रह जाते हैं उन्हें ही Dry Matter नाम दिया गया है—

से ज़्यादा पानी नहीं दिया जाना चाहिए। ऊँचे दर्जे की ज़मीन को ४ या ४½ इंच पानी प्रति बार दिया जाना चाहिए।

आबपाशी के लिये खेत तैयार करना—सिंचाई करने से पहले खेत की मट्टी ऐसी तैयार करना चाहिए कि वह पानी सोख ले। ढीली मट्टी पानी ज़्यादा सोखती है। इसके अलावा खेत की मट्टी का बराबर होना भी ज़रूरी है। स्मरण रखना चाहिए कि सिंचाई के समय नालियों में छोड़ा हुआ पानी इतना तेज़ी से न बहे कि वह मट्टी के कणों को हिला दे। शान्त प्रवाह बहने देना लाभदायक है। इसकी उत्तम पहचान यह है कि बहती हुई नालियों का पानी मटीला न हो।

नालियाँ—कुओं, नदी-नालों आदि से ऊपर उठाया हुआ पानी नालियों द्वारा खेतों में पहुँचाया जाता है। अकसर देखा जाता है कि ये नालियाँ इतनी बेपरवाही से बनाई जाती हैं कि बहुत सा पानी इधर-उधर बह जाता है, जिससे पैसा और मिहनत बेकार जाती है। इसलिए जहाँतक संभव हो, कुएँ से खेत के पास तक की नालियाँ ईंट चूने से पक्की बनवा दी जावें। यदि किसी कारण से नालियाँ पक्की न बनवाई जा सकती हों, तो चिकनी मिट्टी की नालियाँ बनवाई जावें। इनको अच्छी तरह से दबा दी जावें, जिससे पानी अंदर न घुसने पावे, इन नालियों की दोनों बाजू पर दूब लगादी जाय, तो और भी अच्छा है। कारण कि इससे वे मज़बूत हो जायँगी, किंतु मिट्टी की नालियों को हमेशा गीली बनाए रखना चाहिए। नहीं तो, एकबार सूख जाने पर वे बहुत सा पानी सोखेंगी जिससे नुक़सान होगा। नालियों के ढाल पर भी विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। प्रति १०० फ़ीट की लम्बाई में यह ढाल ६ इंच से १२ इंच तक होनी चाहिए। इससे अधिक ढाल रखना ठीक नहीं।

सिंचाई की रीतियाँ—भिन्न-भिन्न प्रांतों में जुदी-जुदी रीतियों से पानी सींचा जाता है। किंतु क्यारियाँ बनाकर पानी सींचने की रीति करीब-करीब सभी प्रांतों में प्रचलित है, नहरों के पानी से सिंचाई करनेवाले लोग खेत के कोने पर पानी को खेत में छोड़ देते हैं! धीरे-धीरे पानी सारे खेत में फैल जाता है।

सिंचाई की रीतियों में भी योग्य सुधार करना आवश्यक है, पानी की ज़रूरत पौधे की जड़ों को ही होती है। अतएव ऐसा प्रबंध किया जाना चाहिए जिससे जड़ों को पानी मिलता रहे और पौधे के अन्य अवयवों को—विशेषतः तने को पानी छूने न पावे। सभी फसलों के लिए यह नियम लागू नहीं होता है। तरबूज़, ईख, गोभी, मूली, आलू, हल्दी आदि के तनों को पानी से बचाते रहना चाहिए, क्योंकि पानी लगने से तनों को फंगसरोग लग जाते हैं। नारंगी, आम, केला, जामफल आदि फल झाड़ों के तनों को तो अवश्य ही बचाए रखना चाहिए। तने के चारों ओर एक या दो फुट मट्टी चढ़ा दी जाने से बचाव हो सकता है।

गेहूँ, मटर, जौ, अफ़ीम, मेंथी आदि फसलों को सींचने का तरीका, साधारणतया, ठीक है। किन्तु तरकारियों की फसलों के लिए सिंचाई के तरीके में सुधार करना अत्यंत आवश्यक है।

कुछ तरकारियों को बाढ़ के शुरू महीनों में ज़्यादा पानी की ज़रूरत रहती है और बाद में कम। ऐसी तरकारियों को पहले नालियों में बोना चाहिए और तब उनकी जड़ों पर मट्टी चढ़ा देना चाहिए। ऐसा करने से फसल की दो कतारों के बीच में पानी सींचने की नाली बन जायगी। इस नाली को पानी से भर देना ही काफी होगा। नारंगी, आम, आदि के लिए भी यह तरीक़ा फ़ायदेमंद साबित हुआ है।

बड़े फल-झाड़ों की चारों ओर शाखाओं के विस्तार के अनुसार गोल नाली सी बनादी जावे। स्मरण रहे कि तने की मुटाई के अनुसार दो से पाँच फुट तक तने के चारों ओर मट्टी चढ़ा दी जावे। इस नाली में सब पानी भर दिया जावे।

स्थानाभाव के कारण हम इस विषय पर विस्तार-पूर्वक नहीं लिख सके हैं। इसके अलावा यह विषय ही ऐसा है, जो खेतों में दिखलाकर जाने पर ही समझ में आता है। अतएव सिंचाई पर स्थूल-दृष्टि से ही विचार किया गया है। फल-झाड़ों और तरकारियों के सींचने की रीतियों पर हमारी लिखी हुई—'उद्यान' और 'तरकारी की खेती' नामक पुस्तकों में विस्तार पूर्वक लिखा जा चुका है।

शंकरराव जोशी
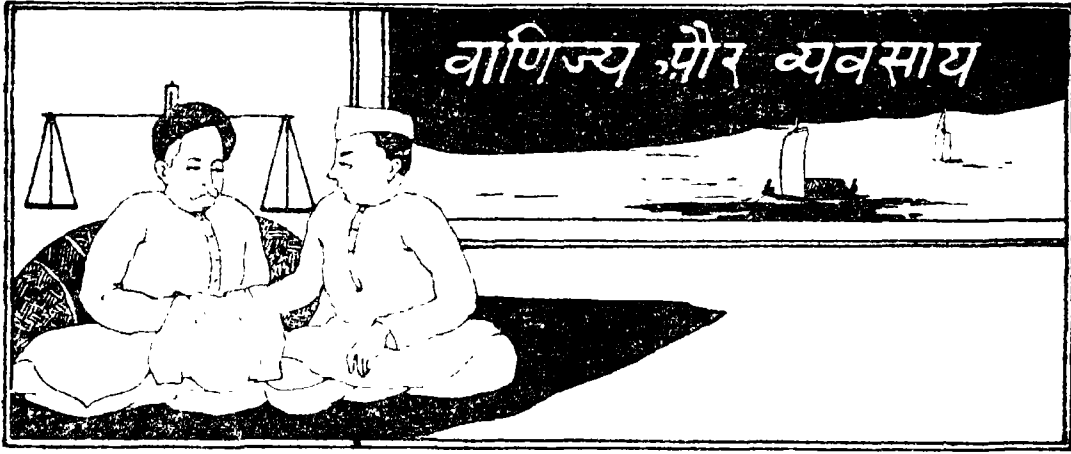
भारतवर्ष के विदेशी व्यापार पर एक दृष्टि

(१)

व्यापार समृद्धि का मुख्य साधन है। देश का व्यापार कैसा है, किस ढंग का है, उन्नत अवस्था में है या अवनत, आदि बातों की चर्चा करना देश के शुभ-चिंतन के लिये परम आवश्यक है। विदेशों में व्यापार विषयक कई पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं, केवल व्यापार पर ही नहीं, व्यापार के चाहे जिस विभाग पर भिन्न-भिन्न पत्र ले लीजिए। वहाँ कोई पत्र ख़ाली जहाज़ी व्यापार पर, तो कोई बीमा व्यापार पर, अन्य बैंकिंग व्यवसाय पर, इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयों के लिये कई तरह के पत्र निकलते हैं। देश की राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक या अन्य परिस्थितियों का विचार करना जिस प्रकार ज़रूरी है; उसके व्यापार या उद्योग धंधे की चर्चा, समालोचना करना भी देश के हित की दृष्टि से किसी प्रकार कम महत्त्व की बात नहीं है।

भारत को राष्ट्र-भाषा का दावा करनेवाली हिंदी में भला एक भी ऐसी पत्रिका है जो केवल व्यापार या उद्योग धंधे का वर्णन करती हो? हमारी उच्च पत्रिकाओं ने अपनी देह में महिलोपयोगी, बालोपयोगी या वैज्ञानिक टिप्पणियाँ आदि अंग निर्माण कर रखे हैं; पर केवल "माधुरी" ने ही अपने नवीन वर्ष में पदार्पण करने के साथ इस विषय का भी स्तंभ खोला है, आशा है, देश के व्यापार पर गवेषणा-पूर्ण साहित्य बराबर निकला करेगा और व्यापार के सुधार और उन्नति में उसका यह प्रयास साधन-भूत होगा। सचित्र गल्प या कहानी या किसी नगर या स्थान का वर्णन अथवा प्राचीन कवियों और कविता संबंधी लेख जितने अच्छे लगते हैं संभव है, पाठकों को अभी यह विषय उतना रोचक न प्रतीत हो, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि देश के हित की दृष्टि से यह विषय है बड़े महत्त्व का।

हमारे प्राचीन ग्रंथ रचयिताओं ने यह बात कही है कि विदेशी व्यापार का बढ़ना देश की उन्नति का पक्का चिह्न है। मनु महाराज ने लिखा है—

"विदेशी व्यापार राजा की आय का प्रधान मार्ग है, इससे राज्य का सम्मान बढ़ता है, देश के व्यापारी-वर्ग को उद्यम की प्राप्ति होती है; और कला-कौशल की उन्नति होती है। यह देश की आवश्यकताओं की पूर्ति और काम-धंधे की जुगाड़ का साधन है; इससे शत्रु भय-भीत रहते हैं और राज्य के लिये यह परकोटे का काम देता है। इससे नाविकों का पालन होता है, युद्ध-काल में बड़ी भारी सहायता मिलती है और संक्षेप में बात यह है कि यह लक्ष्मी का निवास है।"

मनु महाराज ने सच लिखा। दूर जाने की आवश्यकता नहीं, आज जापान ही को देख लीजिए। उसकी उन्नति,

समृद्धि और बढ़ा हुआ मान इज़्ज़त सब व्यापार की बढ़ती के कारण हैं। यदि उसका व्यापार इस उच्चदशा पर न पहुँचता तो उसका जहाज़ी बेड़ा, बीमा कंपनियाँ, बैंक, कल-कारख़ाने और उद्योग-धंधे कैसे और किसके बल पर बढ़ते ?

व्यापार के ये गुण होने पर भी वह "आर्थिक उन्नति का एक प्रबल चिह्न है" यह बात कहने के पूर्व व्यापार के ढंग और उसके लेखे की जाँच करना आवश्यक है। केवल उसके बढ़ते हुए अंकों से कुछ नहीं होगा। मनु महाराज ने व्यापार की महिमा का वर्णन करते हुए उसके सब अंगों का वर्णन कर दिया है। जब तक ये बातें उससे नहीं होतीं हम उसे व्यापार कैसे कहें अथवा वह लक्ष्मी का निवास कैसे हो सकता है। व्यापार के साथ देश के उद्योग-धंधे की, कला-कौशल की, सामुद्रिक बेड़े की और उसके धन-वैभव की बढ़वारी होनी चाहिए। जब तक इन बातों में उन्नति नहीं होती तब तक किसी भी राष्ट्र का व्यापार उसकी आर्थिक उन्नति का द्योतक कैसे माना जा सकता है! विदेशी व्यापार दो तरह से बढ़ सकता है एक तो इस तरह कि एक देश दूसरे से उद्योग-धंधे में बढ़े और अपने यहाँ के बने हुए माल का एक्सपोर्ट करे जैसे इँगलैंड, जापान, जर्मनी आदि देशों को लीजिए। दूसरे इस प्रकार कि वह अपने यहाँ के उद्योग-धंधे में दूसरे देशों से गिर जाय और तब अपने यहाँ पैदा हुआ कच्चा माल अपने यहाँ के उद्योग निर्माण में काम न लाकर बाहर एक्सपोर्ट करदे जैसी आज हमारे भारत की दशा है। वह इम्पोर्ट करता है अधिकतर बाहर का तैयारी माल और एक्सपोर्ट करता है अपने यहाँ से कच्चा माल और खाद्य पदार्थ। साधारणतया इम्पोर्ट और एक्सपोर्ट दोनों व्यापार बढ़े हैं, पर एक्सपोर्ट इम्पोर्ट की अपेक्षा होता भी अधिक है। एवं वह बढ़ा भी अधिक मात्रा में है। नीचे के कोष्ठक से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

	युद्ध के पहले का औसत	सन् १९२५-२६
इंपोर्ट	१ अरब ४५ करोड़	२ अरब २६ करोड़
एक्सपोर्ट	२ अरब १९ करोड़	३ अरब ७४ करोड़

इंपोर्ट होता है कपड़े, मशीनरी, चीनी आदि विदेशों में बने हुए तैयारी माल का, और एक्सपोर्ट होता है यहाँ से मुख्यतया कच्चे माल और खाद्य पदार्थों का, जिसका लेखा इस भाँति है—

पदार्थ का नाम	युद्ध के पूर्व औसत रुपया	सन् १९२५-२६ रुपया
रुई (कच्चा माल)	३३,२७,८३,०००	९४,९९,२८,०००
पाट	२२,२०,२४,०००	३७,९४,५७,०००
धान्य और आटा	४५,८१,११,०००	४८,०३,३९,०००
चाय	१३,०६,७८,०००	२७,१२,१७,०००
तेलहन	२४,३६,९७,०००	२९,६३,६८,०००
चमड़ा (कच्चा माल)	१०,३१,६०,०००	७,३३,३८,०००
ऊन	२,६८,३९,०००	३,७९,८८,०००
अफ़ीम	९,९७,१७,०००	१,९३,३७,०००
धातु	१,७९,०४,०००	७,२८,८३,०००
मिरच-मसाला फल मछली आदि	१,७१,१३,०००	३,३६,१८,०००
खलमोम खाद के पदार्थ	३,३०,२६,०००	६,१६,१४,०००
तमाखू	२३,२७,०००	१,०५,०८,०००
रबड़ (कच्चा माल)	३८,७०,०००	२,९४,१०,०००
लकड़ी काठ	१०,४२,०००	१,९५,७४,०००
कहवा	१,३७,५२,०००	१,८५,२६,०००
भोडल	३५,८७,०००	१,०४,१७,०००
घोड़ा भेड़ बकरी आदि	३५,०५,०००	३४,६२,०००
नील आदि रंग पदार्थ	१,१४,९१,०००	१,३३,११,०००
रेशम (कच्चा माल)	४२,७३,०००	३५,७५,०००

सन् १९२५-२६ के एक्सपोर्ट में भिन्न-भिन्न विदेशों का भाग इस भाँति रहा—

	रुपया
ग्रेटब्रिटेन	८०,९७,००,०००
जापान	५७,९५,००,०००
जर्मनी	२६,८८,००,०००
अमेरिका	४०,२२,००,०००
फ़्रांस	२१,२४,००,०००
इटली	१९,१७,००,०००
चीन	१५,४८,००,०००
बेलजियम	१२,४१,००,०००
सीलोन	१६,९१,००,०००

चाहे व्यापार को लीजिए, चाहे देश की धन-सम्पत्ति को ; जब इन दोनों पर या किसी एक पर विदेशियों का अधिकार है तो फिर इनसे देश का क्या भला हो सकता है। जब तक देश की और उसके उत्पादक-वर्ग की

आंतरिक दशा का सुधार न हो तब तक क्या आशा की जा सकती है ? जिस व्यापार से हमें, हमारी जनता को, पेट भर खाने की उपार्जना करने लायक मजूरी भी न मिल सके और बड़े-बड़े वेतन एवं मुनाफ़ों से विदेशीय गुलछर्रे उड़ायें ; उससे हमारी वास्तविक उन्नति कैसे मानी जा सकती है ? हमारा विदेशी व्यापार न तो देशवासियों को उद्योग-धंधे ही में लगाता है और न वह देश के लिये लाभदायक उद्योग-धंधों का साधन ही है, व्यापार के परिमाण मुख्यतया विदेशी व्यापार के परिमाण के साथ देश की पैदावार या समृद्धि का कोई संबंध नहीं है। देश का भला विदेशी व्यापार के परिमाण पर अवलंबित नहीं है, पर देश का हित देशवासियों को उद्योग-धंधे काम-काज में लगा देने के साधनों पर स्थित है। यह नहीं कि केवल एक्सपोर्ट ही हमारे काम-धंधे का आधार हो अर्थात् हम यहाँ से बना हुआ माल बाहर भेजें पर हमारे इंपोर्ट किए हुए माल से यहाँ पर भिन्न-भिन्न पदार्थ तैयार किए जायँ। सारांश यह है कि विदेशी व्यापार का उद्देश्य और ध्येय ही यह होना चाहिए कि उससे देश के उद्योग-धंधे, कला-कौशल की उन्नति हो, जनता के जीविकोपार्जन के उपायों में वृद्धि हो और अपनी रोज़ी पैदा करने के लिए समुचित साधन मिल जायँ। यदि ये बातें नहीं हैं तो हम यह कैसे कह सकते हैं कि विदेशी व्यापार से हमारी आर्थिक उन्नति हुई है। यदि कोई यह कहे कि बाहर से बना हुआ तैयारी माल मँगाने से हमें चीज़ें सस्ती मिलती हैं उस समय यह न भूल जाना चाहिए कि इस काम से देश की कारीगरी, उद्योग, कला-कौशल का नाश हो जाता है और देश के कारीगर एवं श्रमजीवियों की दशा निकृष्ट हो जाती है।

भारत का शिल्प-कला-कौशल नष्ट हो गया—सात समुद्र पार चला गया और जो चतुर शिल्पी थे वे नासमझ किसान बन गये। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि विदेशी-व्यापार ने देश के कला-कुशल कारीगरों को ग़रीब और भूखे किसान बना दिया। कच्चे माल का एक्सपोर्ट कर बदले में बने हुए पदार्थों को लेना, इम्पोर्ट करना देश के कला-कौशल और उद्योग-धंधे की हत्या करना है। व्यापार के अंक बढ़ जाने से क्या हुआ जब कि उसकी समूची बागडोर विदेशियों के हाथ में है। बाहर से लाना भी उनके हाथ, और लेजाना भी उनके हाथ। यदि कोई यह कहने का साहस करे कि यह कैसे जब कि आजकल इतने हिंदुस्तानी फर्म इम्पोर्टर और एक्सपोर्टर हैं; उस समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि थोड़े समय से हमने इम्पोर्ट और एक्सपोर्ट के काम में हाथ डाला है, पर प्रथम तो इसके सिवाय और क्या हुआ कि हम अपने यहाँ उत्पन्न हुए माल को बाहर भेज दें और बाहर से तैयारी माल मँगाकर देश का धन बाहर भेजने में सहायक हों; दूसरे इम्पोर्टर और एक्सपोर्टर क्या हमें केवल विदेशी कंपनियों के दलाल समझना चाहिए क्योंकि थोड़ी सी इम्पोर्टिंग या एक्सपोर्टिंग कमीशन के रूप में दलाली हमें मिल जाय इसके सिवाय और हमें क्या लाभ है जब कि हमारे इम्पोर्ट एक्सपोर्ट से विदेशी जहाज़ कंपनियों, बीमा कंपनियों और बैंकों का काम चले।

जब तक योरप की जातियाँ नहीं आईं तब तक हमारा व्यापार हमारे ही हाथ में था और अभी थोड़ा ही काल हुआ हमारा व्यापार हमारे हाथ से इस भाँति छीना गया है। पोर्चगीज़, डच और अँगरेज़ों ने आकर हमारे व्यापार को हथिया लिया और सन् १८४० से १८८० के बीच अँगरेज़ व्यापारी यहाँ के इम्पोर्ट, एक्सपोर्ट में ऐसे घुस गये कि हमारा लाभ उन्हींके हाथ में चला गया। बाहर से बना हुआ माल इस तरह आने लगा कि देशी कारीगरों का काम छिन गया, और वे निकम्मे हो गये। प्रत्येक मनुष्य-गणना के समय कृषक जाति की संख्या बढ़ना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है और हमें उद्योग, कला और कौशल-हीन बनाकर हमारा जो अनिष्ट किया गया है वैसा वास्तव में समझा जाय तो भयंकर से भयंकर हमला करनेवाले भारत के किसी शत्रु ने भी नहीं किया।

इम्पोर्ट में माल का दाम हमें चुकाना पड़ता है और एक्सपोर्ट में हमें मिलता है। भारतवर्ष का एक्सपोर्ट व्यवसाय इम्पोर्ट से अधिक है और सो भी १०-२० करोड़ नहीं एक अरब से भी अधिक। बाहरी दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि हमारे देश को बाहर से आये हुए माल के लिए ख़र्च करके एक्सपोर्ट जितना अधिक होता है उतना रुपया अधिक मिल जाता है पर ऐसा नहीं है। हमारे अर्थशास्त्री कहते हैं कि इम्पोर्ट से एक्सपोर्ट का

अधिक होना हमारे लिए समृद्धि का चिह्न नहीं है। एक्सपोर्ट की अधिकता की रकम ब्रिटिश सरकार को होमचार्ज़ आदि के रूप में चली जाती है। ग्लैडस्टन एवं लॉर्ड सैलिसबरी जैसे निष्पक्ष सज्जनों ने इस बात को माना है कि भारत को उसके एक्सपोर्ट के बदले में न तो बराबर पदार्थ ही और न उसके बदले में धन ही मिलता है। जान पड़ता है अभागे भारत का दृष्टांत मिल साहब के मस्तिष्क में निश्चय ही घूम रहा था; जब उन्होंने यह बात लिखी कि "जिस देश को किसी अन्य देश को रकम चुकानी है उसे वह तो देनी पड़ती ही है पर इसके अतिरिक्त उसे और भी हानि उठानी पड़ती है। वह यह है कि उसे अपने माल के बदले में बाहरी पदार्थों के लिए ऊँचा मूल्य देना होगा और जो पावनेदार देश है उसे अपने पावने की रकम के अतिरिक्त उस चुकानेवाले देश का माल सस्ते दामों में मिल जाता है।"

भारतवर्ष का अरबों का व्यापार उसकी जन संख्या के हिसाब से अन्य देशों के मुकाबिले में कुछ भी नहीं है क्योंकि यहाँ का व्यापार प्रति मनुष्य १॥ पौंड पड़ता है जब कि अमेरिका का १७ पौंड, फ्रांस का २० पौंड केनाडा का ४० पौंड, जापान का ४ पौंड, इटली का४ पौंड और बेलजियम का २५ पौंड जन संख्या के प्रति मनुष्य पीछे पड़ता है। हमारे इम्पोर्ट और एक्सपोर्ट व्यवसाय के अंकों के संबंध में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि इम्पोर्ट के मूल्य की जो संख्या है उसमें विदेशों से यहाँ तक का जहाज़ भाड़ा जुड़ा हुआ करता है, अतः उसमें से ४ रुपया सैकड़ा घटाने से और एक्सपोर्ट में ४ सैकड़ा जोड़ने से इम्पोर्ट और एक्सपोर्ट के असली अंक निकलेंगे क्योंकि यहाँ से जो एक्सपोर्ट होता है उसके मूल्य की संख्या में जहाज़ भाड़ा शामिल नहीं है। इस बात से हमारा एक्सपोर्ट इम्पोर्ट से और भी अधिक पड़ जाता है।

वास्तव में देखा जाय तो भारत के जोड़ का अन्य कोई देश नहीं है। देश की उर्वराशक्ति इतनी है और कृषि भी यहाँ काफ़ी होती है कि उसे अपने व्यापार के लिए इँगलैंड, जर्मनी आदि अन्य देशों की तरह दूसरे देशों पर निर्भर रहने की कोई आवश्यकता नहीं। जिस भाँति दूसरे देशों को अपने कल-कारखाने, उद्योग-धंधे के लिए बाहर से कच्चा माल लेना पड़ता है। भारत में सब कुछ यहाँ मौजूद है—आवश्यकता है केवल इस बात की कि वह अपने यहाँ पैदा हुए कच्चे माल को अपने यहीं काम में ले ले। अभी दशा यह है कि उसके एक्सपोर्ट का अधिक भाग धान्य, तेलहन, चमड़ा, पाट, रुई, आदि पदार्थों का अर्थात् अन्य देशों के उद्योग-धंधों के लिए आवश्यकीय कच्चे माल का होता है और इम्पोर्ट का ६० प्रतिशत भाग रेलवे सामग्री कल, काँटे, कपड़ा, लोहे की चीज़ें और चीनी आदि विदेशों में तैयार किये हुए पदार्थों का होता है। देश के हित की दृष्टि से देखा जाय तो कहना होगा कि जो कुछ हो रहा है, उलटा ही हो रहा है; क्योंकि देश की समृद्धि के लिए यह वाञ्छनीय है कि धान्यादिक खाद्य-पदार्थ और कच्चे माल के स्थान में देश में बनाये हुए पदार्थों का एक्सपोर्ट अधिक हो। यह बात ही देश के उद्योग-धंधे और शिल्प-कला की उन्नति का साधन है और इससे देश-वासियों को जीविकोपार्जन के लिए मजूरी मिलेगी एवं देश की पूँजी काम में लगेगी। देश में बेकारी मेटना हो एवं आवश्यकता से अधिक खेती में लगने से जनता को रोकना हो तो केवल यही उपाय है कि देश में कच्चे माल से पक्का माल बनाने का अधिकाधिक प्रयत्न किया जाय।

हमारे एक्सपोर्ट व्यवसाय की एक बुराई कच्चे माल और खाद्य पदार्थ का जाना है तो दूसरी बुराई यह भी है कि सबसे बढ़िया माल बाहर भेजा जाता है और रद्दी-सद्दी देश को नसीब होता है। बरमा से सागवन लकड़ी के एक्सपोर्ट ही को लीजिये, सबसे बढ़िया लकड़ी एक्सपोर्ट के लिए रखी जाती है, उससे दूसरे नंबरवाली सरकार के लिए और फिर तीसरे दर्जे की सर्वसाधारण को बेची जाती है। यद्यपि बरमा में चावल बहुत होता है कभी-कभी वहाँ चावल का भाव बंगाल के भाव से भी तेज़ हो जाता है और इसका कारण वहाँ से चावल का एक्सपोर्ट हो जाना ही है। चमड़े के एक्सपोर्ट में भी यही बात है, देशी मोची और चमारों के हाथ रद्दी चमड़ा आता है इसलिए उससे बनाये हुए पदार्थों में वह चमक और चिकनाहट नहीं आती जो विदेशी पदार्थों में होती है। रुई की मिलों के लिए भी बढ़िया रुई की दरकार होती है और धान्य की बात तो जाने ही दीजिये हमें चाहे गला, सड़ा, कड़ा, कचरा या कंकर

पत्थरवाला मिले अथवा जौ, जुआर, मकई भी पूरी मक़सद न हो, पर बाहर बढ़िया गेहूँ और सो भी साफ़ सफ़ाई झड़ाई चुनाई होकर जायगा। भूखे भारत में अकाल भी पड़ते रहते हैं और उस समय मज़दूर जाति को केवल अन्न ही दुर्लभ नहीं होता पर उसकी प्राप्ति के लिए मज़दूरी भी मिलनी कठिन हो जाती है। अन्य देशों को लीजिए जहाँ प्रकृतिदेवी ने अपनी दया का दान नहीं किया तब भी वे बाहर से कच्चा माल मँगाकर अपने यहाँ उद्योग धंधों में लीन हैं और जिस भारत पर प्रकृतिदेवी की पूर्ण कृपा है वह प्रकृति-दत्त दान—अपनी पैदावार—को बाहर भेजकर बदले में वहाँ के बने हुए पदार्थों को लेकर ही संतुष्ट है। यदि इटली केवल वहाँ उत्पन्न हुई सामग्री से माल तैयार करता तो वह शराब और फलादिक के सिवा और क्या कर सकता था पर नहीं—उसने बाहर के कोयले, रुई और ऊन आदि पदार्थों में अपने उद्योग-धंधे को कैसा उन्नत और परिष्कृत कर लिया है।

(आगामी अंक में समाप्य)

मोहनलाल बड़जात्या

कवीन्द्र रवीन्द्र के दो पत्र

लकत्ते से निकलनेवाले बँगला के प्रसिद्ध मासिक पत्र प्रवासी के चैत्र के अङ्क में विश्व-कवि रवीन्द्र-नाथ टैगोर के 'कयेक खानि पत्र' प्रकाशित हुए हैं। पत्र वैयक्तिक हैं, पर उनमें दो का संबंध राष्ट्र से भी है। इसलिए उनका अनुवाद यहाँ दिया जाता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि ये पत्र आज से ६ वर्ष पूर्व लिखे गये थे।

ॐ

(१)

अँगरेज़ों के अत्याचार सहने होंगे, अथवा भारतवर्ष कभी स्वाधीन होने की चेष्टा नहीं करेगा, यह बात मैंने नहीं कही। महात्माजी ने कही है, ब्रिटिश साम्राज्य में ही हम लोग रहेंगे और उस प्रकार रहने की इच्छा न करना "Religiously wrong" अर्थात् धर्म-विरुद्ध है। मैं यह नहीं कहता। मैं कहता हूँ, स्वाधीनता बाहरी किसी एक घटना पर निर्भर नहीं करती। देश की जैसी अवस्था होने पर स्वाधीनता का मूल पत्तन होता है, स्वाधीनता सत्य होती है, वैसी अवस्था लाने की चेष्टा करना ही हम लोगों का वर्तमान कर्तव्य है। वैसी अवस्था चर्खा कातने से भी नहीं होती, जेल जाने से भी नहीं होती—उसकी साधना उससे भी कठिन और विचित्र है—उसमें शिक्षा की आवश्यकता है और दीर्घ-काल की तपस्या चाहिये। सहसा कुछ कर डालना तपस्या नहीं है। जिन कार्यों में मन की सम्पूर्ण शक्ति का जागरण और दीर्घ काल का प्रात्याहिक त्याग स्वीकार करना चाहिये, उन कार्यों में जब अपने युवकों का उत्साह नहीं देखता, जब देखता हूं कि वे तीव्र हृदयावेग के नशे में मस्त रहना चाहते हैं 'तदा नाशंसे विजयाय, संजय।"

इति २२ माघ, १३२८

ॐ

(२)

तुमने मुझे ग़लत समझा है। देश के संबंध में हम लोगों के करने योग्य कुछ नहीं है, यह बात मैं कभी नहीं कहता; किंतु उन्मत्त होकर कुछ करना ही चाहिए यह बात भी मैं नहीं मानता। मैं यह जानता हूं कि उस उन्मत्तता में एक विशेष प्रकार का आनंद है, किंतु फल नहीं भी तो हो सकता है। यहाँ एक गांव में आग लगी थी। अवश्य, आग जल से ही बुझाई जाती है, यह

सभी जानते हैं, किंतु गांव में तालाब नहीं था। फिर भी पानी-पानी की आवाज़ से कोलाहल मच गया। उस चिल्लाहट से आग भी नहीं बुझी और लोग दूसरे उपाय का सोचना भी भूल गये। एक विदेशी आदमी था, उसने कहा, जिन घरों में आग लगी है, उनके आस-पासवाले घरों को तोड़ दो, जिससे आग मुहल्ले भर में न फैल जाय। गांव के लोग यह सलाह सुनने के लिये तैयार नहीं थे। तब उस विदेशी ने हाथ में बेंत लेकर बल-पूर्वक उन लोगों से घर तुड़वाकर आग शान्त की। इन दिनों मैं जहाँ हूँ, यह घटना उसके पड़ोस के ही मुहल्ले में हुई थी।

दूसरे इतिहास की नक़ल करके अपने देश के इतिहास की रचना नहीं की जाती। मन का आक्षेप, उत्तेजना और चिल्लाहट खूब प्रचंड हो सकती है, किंतु देश की अवस्था के साथ उद्देश्य का सामंजस्य साधन उस उपाय से नहीं होता। "देशमें आग लगी है अतएव इत्यादि" ये बातें कुछ दिनों से सुनता हूँ। यह आग शताब्दियों पहले से ही लगी है, किंतु "आड़ि, आड़ि, आड़ि, आड़ि" कहकर शोर मचाने के लिये विद्यार्थियों के लिखना पढ़ना और बूढ़ों के काम-काज छोड़ देने से ही यह आग बुझ जायगी, इस बात पर मैं विश्वास नहीं करता। चर्खा, चलाने और खद्दर पहनने से यह आग बुझेगी, यह एक इतनी बड़ी बच्चों को बहलानेवाली बात है कि इस पर देश भर के आदमियों को भूला देखकर हतबुद्धि और हताश होना पड़ता है; संन्यासी कहता है, ताम्बे को सोना करने की एक सहज प्रक्रिया मैं जानता हूं; मैं कहता हूं, सोना नियमानुसार उपार्जन करना होगा, दूसरी कोई प्रक्रिया नहीं है, इससे यदि तुम मुझ पर बिगड़ो तो यही सिद्ध होगा कि उपार्जन करने योग्य उद्यम तो तुममें नहीं है, हाँ, सोना पाने का लोभ भरपूर है। ऐसे मनुष्य को विधाता पुरस्कार नहीं देता। चर्खा कातने से कोई लाभ नहीं होता, यह बात कोई नहीं कहता। उसका जितना फल होना चाहिए, वही होगा उससे अधिक नहीं। किनाइन खाने से मलेरिया मिटता है और मलेरिया मिटने से देश का परम उपकार होता है, किंतु इसके खाने से स्वराज्य होगा, यह बात तो किनाइन बेचनेवाला भी नहीं कहता।

स्त्रियों की शिक्षा के संबंध में अवकाश के अनुसार तुम्हारे साथ किसी दूसरे समय आलोचना करूंगा।

प्रवासी (बंगला)

× × ×

२. हारूंरशीद और नौशेरवां

ईरान का बादशाह नौशेरवाँ विचार और न्याय-परता के लिये प्रसिद्ध था। ईरानी "नौशेरवाँ आदिल" कहकर उनका स्मरण करते हैं। ईरानियों का विश्वास है कि बगदाद के मशहूर ख़लीफ़ा हारूंरशीद एक बार अपने पार्षदों सहित पहाड़ की गहरी गुफ़ा में बिल्कुल छिपी हुई नौशेरवाँ की क़ब्र देखने गये थे। नौशेरवां का मृत शरीर तरह-तरह के मसाले लगाकर सुरक्षित रखा गया था। हारूंरशीद ने देखा कि नौशेरवाँ की देह एक महा-मूल्यवान सिंहासन पर रखी हुई है। उनका संपूर्ण अवयव ज्यों का त्यों है। केवल दोनों कान सफ़ेद हो गये हैं। नौशेरवां की मृत्यु के दो सौ साल बाद हारूंरशीद गद्दी पर बैठे थे। एक पुस्तक में उनकी उस यात्रा का हाल इस प्रकार दिया हुआ है:—

"बीच पहाड़ की गुफ़ा में घोर अंधकार में यह क़ब्र थी। उसके सामने एक स्वर्ण-सूत्र-खचित चद्दर टँगी हुई थी। हारूंरशीद ने ज्योंही इस पर्दे को हटाने की चेष्टा की, त्योंही वह प्राचीन जीर्ण चद्दर झरकर मिट्टी में मिल गई। ख़लीफ़ा ने देखा कि क़ब्र के चारों ओर की दीवारों में इतने उज्ज्वल मणि, रत्न और हीरे जड़े हुए हैं कि अँधेरे में भी उक्त स्थान स्पष्ट दिख रहा है। उनकी लाश जिस सिंहासन पर रखी हुई थी, वह भी हीरा और मणि-मंडित था। उनकी मृत देह बिल्कुल जीवित मनुष्य की सी प्रतीत होती थी और ख़लीफ़ा को भ्रम हुआ कि मानों नौशेरवाँ मृत नहीं जीवित हैं। उन्होंने आदर के साथ सिर झुकाकर नौशेरवाँ का अभिवादन किया।

यद्यपि मृत नौशेरवाँ की देह अद्भुत उपाय से ठीक जीवित की भाँति सुरक्षित थी, फिर भी उस पर ढके हुए वस्त्र बिल्कुल जीर्ण हो गये थे। ख़लीफ़ा ने जिस-जिस कपड़े को छुआ, वह-वह झरकर मिट्टी में मिल गया। इसलिये उन्होंने अपनी बहु-मूल्य शाल से मृत सम्राट् का शरीर ढक दिया और चारों ओर नवीन और मूल्यवान पर्दे लगाने की आज्ञा दी और समस्त क़ब्रस्थान को कस्तूरी और कपूर आदि पदार्थों द्वारा सुगंधित करवा दिया।

ख़लीफ़ा ने देखा कि रत्न-जटित सिंहासन पर कुछ

लिखा हुआ है। उन्होंने मोविदों को बुलाकर, पहलवी * भाषा में क्या लिखा हुआ है, पढ़कर सुनाने की आज्ञा दी। नीचे लिखे हुए नीति-उपदेश उसमें अंकित थे।—

(१) यह संसार चिरस्थायी नहीं है। जो मनुष्य इसके संबंध में बहुत कम सोचता है, वही सबसे अधिक बुद्धिमान् है।

(२) संसार द्वारा निहत होने के पहले ही उसका सुख भोग लो।

(३) जो लोग तुम्हारे अधीन हैं, उन पर उसी प्रकार अनुग्रह करो, अपनी अपेक्षा उच्च-स्थानीयों से जैसी तुम आशा करते हो।

(४) स्मरण रखो, चाहे तुम समस्त-संसार जीत लो; पर मृत्यु तुम्हें एक दिन अवश्य पराजित करेगी।

(५) सावधान रहो, अपने सुख और ऐश्वर्य द्वारा प्रतारित मत हो।

(६) तुम जो कुछ करोगे, उसी कर्म का प्रतिफल पाओगे। न उससे अधिक पाओगे और न कम।

खलीफा ने देखा कि नौशेरवाँ के हाथ में एक घोर रक्त-वर्ण पद्म-राग निर्मित अँगूठी है। उस पर इस भांति लिखा हुआ था—

(१) निठुरता मत करो। सत्कार्य करने का अभ्यास करो। कभी जल्द-बाज़ी मत करो।

(२) यदि तुम सौ वर्ष तक जीते रहो तो भी मृत्यु को मत भूलो।

(३) बुद्धिमानों की संगति को सबसे अधिक मूल्य-वान् समझो।

हारूँरशीद को वहाँ बहुत से मणि-मुक्ता वग़ैरह मिले थे। उन्हीं में अनेक रत्न-जटित, बेश कीमती एक मुकुट भी था। उसमें ५ कोने थे। उन पांचों कोनों में निम्न-लिखित उपदेश लिखे थे।

एक ओर

(१) आत्म-ज्ञानियों के प्रति मेरा सम्मान प्रकट करो।

(२) परिणाम सोचकर कार्यारंभ करो। पहले भागने का मार्ग स्थिर करके फिर अग्रसर हो।

(३) किसी को व्यर्थ मत सताओ। सबके सुख-स्वाच्छंदय पर दृष्टि रखो।

(४) दूसरे को सताने की सामर्थ्य को अपने ऐश्वर्य का अधिकार मत समझो।

दूसरी ओर

(१) किसी कार्य के प्रारंभ करने के पूर्व उपयुक्त व्यक्ति से परामर्श लो। जो बहुदर्शी नहीं है, उसके भरोसे कार्य मत प्रारंभ करो।

(२) जीवन के लिये धन, और धर्म के लिये जीवन उत्सर्ग करो।

(३) सुनाम अर्जन में अपना समय लगाओ और यदि प्रकृत ऐश्वर्य चाहो तो संतुष्ट और त्यागी बनो।

तीसरा ओर

(१) जो टूट या है, खो गया है, चुरा गया है, नष्ट हो गया है अथवा जल गया है, उसके लिये दुःखित न हो।

(२) दूसरे के घर में बैठकर आज्ञा मत दो। अपने घर में बैठकर आहार करने का अभ्यास करो।

(३) स्त्री के वशीभूत मत हो।

चौथी ओर

(१) मंद और नीच कुल से स्त्री मत ग्रहण करो। निर्लज्ज पुरुष के साथ मत बैठो।

(२) चरित्र-हीन व्यक्तियों से दूर रहो। जो अनुग्रह की मर्यादा नहीं समझ सकता, उसके साथ सद्भाव न रखो।

(३) दूसरे की वस्तु का लोभ मत करो।

(४) राजाओं को डरो, क्योंकि वे आग की तरह जलकर, जला देते हैं।

(५) अपना मूल्य समझने की चेष्टा करो। दूसरे के मूल्य का उचित समादर करो। तुम्हारी अपेक्षा जो उच्चस्थानीय हैं, उनसे विवाद मत करो।

पाँचवीं ओर।

(१) राजा, रमणी और कवियों से डर कर चलो।

(२) किसी व्यक्ति की हिंसा न करो। दूसरे के दोष ढूंढ़ने का स्वभाव छोड़ दो।

(३) आनंद-पूर्वक रहने का अभ्यास करो। हर वक़्त विरक्त मत रहो। इस प्रकार से तुम्हारा जीवन दुःसह हो जायगा।

* नौशेरवां के समय में ईरान में पहलवी (Pahalvi) भाषा और लिपि प्रचलित थी और जरथुस्त मत प्रचलित था। ६३५ ईस्वी में अरबों ने ईरान जीत लिया और वहां आधुनिक फ़ारसी भाषा और अरबी लिपि प्रचलित हुई। जरथुस्त धर्म के पुजारियों को 'मोविद' कहते हैं। केवल वे ही प्राचीन लिपि और भाषा समझते थे।

(४) अपने कुल की स्त्रियों का सम्मान करो और उनकी रक्षा करो।

(५) क्रोध के वशीभूत मत हो। विवाद के समय सदैव शांति स्वीकार करने के लिए तैयार रहो।

(६) आय की अपेक्षा व्यय ज़्यादा मत बढ़ाओ।

(७) पहले नये पौधे लगाओ फिर पुराने पेड़ काटने की स्पर्धा करो।

(८) बिस्तरे से अधिक पैर मत फैलाओ।

कब्र-स्थान छोड़ने के समय खलीफा ने आज्ञा दी कि इसका मार्ग सदा के लिये बंद कर दिया जाय, जिससे और कोई लोभ में पड़कर मृतक के प्रति असंमान न कर सके। उसी समय से वह पथ बंद कर दिया गया। उसके बाद और कोई वहाँ नहीं जा सका, जा भी नहीं सकेगा। वह कब्र-स्थान कहाँ है, यह भी कोई नहीं जानता।

श्रीअमृतलाल शील

मानसी ओ मर्मवाणी (बँगला)

× × ×

३. जैन प्रतिमा-विधान और चित्र-कला

(प्रतापगढ़ (अवध) के डिप्टीकमिश्नर श्रीयुत नानालाल चमनलाल मेहता आई० सी० एस्० भारतीय चित्र-कला के कुशल पारदर्शी हैं। इस विषय पर आपने अनेक निबंध और लेख अँगरेज़ी के प्रसिद्ध पत्रों में लिखे हैं। हाल में ही आपकी Studies in Indian Painting नामक एक बड़ी पुस्तक प्रकाशित हुई है। चित्रकला के मर्मज्ञों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। इन्हीं मेहताजी ने गुजराती के सचित्र त्रैमासिक "जैन-साहित्य संशोधक में" जैन प्रतिमा विधान और चित्रकला, शीर्षक बहुत ही सुंदर लेख लिखा है। उसीका सारांश नीचे दिया जाता है।)

भारतीय सभ्यता का हार्दिक धर्म है। और धर्म के कारण समाज की प्रत्येक प्रवृत्ति में फेर-फार होता है। साम्प्रदायिक सिद्धांतों की भिन्नता के कारण एकही देशकी, एक ही प्रजा की, सभ्यता में विलक्षण परिवर्तन होता है और कालांतर में ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों की मानसिक वृत्ति मानों आरंभ से ही एक दूसरे ही प्रवाह में बहती चली आती है। हमारी ललित कला के इतिहास में इस नियम के अनेक विशद दृष्टांत मिलते हैं। हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य का महाकारण इनकी सभ्यता के मूल में छिपा हुआ है। धर्म विरोध जीवन की अनेक प्रवृत्तियों में दृढ़ होगया और विचार-भेद की नींव पर जनता के मानसिक जीवन का सूक्ष्म-रूप बना, इसकी विविधता-असमानता, इमारतों में, रहन-सहन में, कपड़ों-लत्तों में और सामाजिक वातावरण में सर्वत्र दिखाई पड़ती है। प्राचीन धर्मों की भिन्नता भी केवल साम्प्रदायिक मत-मतांतरों में ही नहीं बल्कि जीवन के प्रत्येक अंग में फैल गई है।

नंद-वंश के राज्यकाल से लेकर पंद्रहवीं सदी तक की हमारी शिल्प-कला के नमूने विद्यमान हैं। वे ललित कला में, अपने स्थापत्य और प्रतिमा निर्माण कलाओं के इतिहास में विशेष महत्त्व के हैं। इनमें भी विशेषकर मूर्त्ति-विधान तो हमारी सभ्यता, हमारी धर्म-भावना और हमारी विचार-परंपरा का मूर्त्त स्वरूप है। आरंभ काल से लेकर मध्य युग के अंत तक हमारे शिल्पकारों ने अपनी धार्मिक और पौराणिक कल्पना का और अपने हृदय की प्राकृत भावना का दिग्दर्शन कराया है।

जैन धर्म निवृत्ति-प्रधान धर्म है और इसका प्रतिबिंब, इसके मूर्त्ति-विधान में आदि काल से लेकर अंत तक एक ही प्रकार का पड़ा हुआ मिलता है। ईस्वी सन् के आदि की कुशाण राज्य काल की जो जैन प्रतिमाएँ मिलती हैं, उनमें और सैकड़ों वर्ष बाद बनी हुई मूर्त्तियों में बाह्य-दृष्टि से बहुत ही थोड़ा अंतर प्रतीत होता है। जैन अर्हत की कल्पना में श्रीमहावीर स्वामी से लेकर श्रीहरि-विजय सूरि के समय तक कोई गंभीर फेर-फार हुआ ही नहीं। इससे जैसे बौद्ध-कला के इतिहास में, महायान-बाद के प्रादुर्भाव से धर्म और उसके कारण संपूर्ण सभ्यता का स्वरूप बदल गया था, वैसे जैन ललित कला के इतिहास में परिवर्तन नहीं होने पाया। इसीलिये जैन मूर्त्ति विधान में विविधता—अनेकरूपता नहीं आने पाई। मंदिरों और मूर्त्तियों का विस्तार तो बहुत हुआ परंतु विस्तार के साथ अनेकता या गंभीरता में अंतर नहीं पड़ा, प्रतिमा के लाक्षणिक अंग लगभग दो हज़ार वर्ष तक एक ही रूप में कायम रहे और जैन केवली की खड़ी या आसीन मूर्त्तियों में दीर्घ काल के अंतर में भी विशेष रूप-भेद नहीं होने पाया। जैन प्रतिमाओं के बनानेवाले सदैव अधिकतर हिंदुस्थानी ही थे ; परंतु

जैसे मुसलमानी शासन-काल में हमारे कारीगरों ने इस्लाम के अनुकूल इमारतें बनाई थीं, वैसे ही प्राचीन शिल्पियों ने भी जैन और बौद्ध प्रतिमाओं में, उन-उन धर्मों की भावनाओं का अनुसरण करके जीवन संचार किया था। जैन तीर्थंकर की मूर्त्ति विरक्त, शांत और प्रसन्न होनी चाहिए। इसमें मनुष्य हृदय के निरंतर विग्रह के लिये, उसकी अस्थायी वासनाओं के लिये, स्थान ही नहीं होता। जैन विग्रह को यदि हम निर्गुण कहें तो भी अनुचित नहीं होगा। इस निर्गुणता को मूर्त-शरीर देते हुए सौम्य और शांति की ही मूर्त्ति बनती है। इसमें स्थूल आकर्षण या भाव की प्रधानता नहीं होती। इसलिये जैन-प्रतिमा को उसकी मुख-मुद्रा पर से तुरंत ही पहचाना जा सकता है। खड़ी मूर्त्तियों के मुख पर प्रसन्न भाव रहता है और हाथ बिल्कुल शिथिल, प्रायः चेतना रहित सीधे लटकते होते हैं। नग्न और वस्त्राच्छादित प्रतिमाओं में विशेष भेद नहीं होता। प्राचीन श्वेताम्बर मूर्त्तियों में प्रायः एक कटि वस्त्र ही दिखाई पड़ता है। आसीन प्रतिमाएँ साधारणतः ध्यान मुद्रा और वज्रासन में मिलती हैं। उनके दोनों हाथ ढीले ढंग के बने हुए होते हैं। हस्त-मुद्रा को छोड़कर शेष सभी बातों में वे बहुधा बौद्ध मूर्त्तियों से मिलती जुलती हैं। २४ तीर्थंकरों के प्रतिमा विधान में व्यक्ति भेद न होने के कारण लक्षणांतरों के ही आधार पर मूर्त्तियों को भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों के नाम से पहचान सकते हैं।

बौद्ध और ब्राह्मण-प्रतिमा—विधान की ख़ास खूबी मूर्त्तियों की भाव-वाही हस्त-मुद्राओं में होती है। जैन प्रतिमाओं में इसका बिलकुल ही अभाव होता है। कारण केवली की कल्पना-सृष्टि में पूर्ण निवृत्ति के अतिरिक्त दूसरे चंचल भावों का स्थान ही नहीं है। मध्यकालीन जैन-मूर्त्तियों में कपाल और मस्तक पर ऊन की उष्णीष (पगड़ी) अंकित करने की बौद्ध-प्रथा प्रारम्भ हुई। वक्षःस्थल में श्रीवत्स का चिह्न भी अङ्कित होने लगा। वे सब फेर-फार नगण्य थे, इसलिये इनसे जैन-मूर्त्तियों की लाक्षणिक रचना में कोई भेद नहीं हुआ आदर्श की एकता के कारण अनेकता नहीं बढ़ी। कला की दृष्टि से भी यद्यपि विकास नहीं हुआ, फिर भी शिल्पकार की प्रतिमा-निर्माणशक्ति साम्प्रदायिक सिद्धांत के संकुचित क्षेत्र में सर्वथा लुप्त नहीं हुई। विविधता अशक्य थी पर परिमाण अपरिमित था। इससे श्रवण बेल्गोला जैसी अनुपम मूर्त्ति बनाकर शिल्पी ने रसात्मा को संतुष्ट किया। तीर्थंकरों की सारी प्रतिमाओं के आवास-गृह सजाने और शृङ्गार करने में केवल जैन ही नहीं, बल्कि जैनाश्रित कलाओं ने भी कुछ उठा नहीं रखा। भारतवर्ष के चारों भागों में जैन मंदिरों की अद्वितीय इमारतें आज भी खड़ी हैं; मैसूर राज्य के हसन ज़िले के वेलूर का मंदिर मध्यकालीन जैन-वैभव का साक्ष्य देने के लिये आज भी मौजूद है। आबू के मंदिर के विषय में तो कुछ लिखना ही व्यर्थ है।

मध्यप्रदेश के छतरपुर राज्य के खजराहो में नवीं सदी से लेकर ग्यारहवीं सदी तक के कितने ही सुंदर-सुंदर देवालय विद्यमान हैं और काले पत्थर की ढेर की ढेर खंडित और अखंडित जैन-प्रतिमाएँ भी विद्यमान हैं। मध्य-कालीन जैन प्रतिमा-निर्माण में सजीवता का अंश थोड़ा ही प्रतीत होता है। जैन-धर्म में हिंदू की पौराणिक कथाओं में बहुत ही थोड़ा परिवर्तन हुआ है। मुख्य भेद तो यही प्रतीत होता है कि ब्राह्मण देवता जैन अर्हन् और केवलियों के मुकाबले में गौण स्थान पाते हैं। इतने पर भी जैन देवस्थानों में हिंदुओं के सब देवताओं की प्रतिमाएँ मिलती हैं, और मध्यकालीन युग में जब वाममार्ग के कारण या दूसरे कारणों से ब्राह्मण मंदिरों में अति अश्लील विषयों को स्थान मिलता था, तब भी जैन देवालयों में शुद्ध, सात्त्विक और पवित्र भावनामयी सुंदर मूर्ति-कला को आश्रय मिलता था। खजराहो और मैसूर के वेलूर मंदिर को देखते ही जैन मंदिरों की पवित्र भावना का तुरंत पता लग जाता है। इनमें स्वच्छंदता और अनियंत्रित विलासिता को देव विभूतियों के बहाने भी स्थान नहीं मिला; सौंदर्य की दृष्टि से जैन मंदिरों की प्रधान मूर्त्तियां, मुख्य तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ महत्त्व की नहीं प्रतीत होतीं, परंतु मंदिर के बाहर की दीवारों पर आभरण रूप में रची हुई जो अन्य देवताओं की प्रतिमाएँ होती हैं, वे आकर्षक होती हैं। तीर्थंकरों की मूर्तियों में एक प्रकार की निर्द्वंद्विता और भव्यता प्रतीत होती है।

बैठी हुई मूर्त्तियों को अपेक्षा खड़ी हुई मूर्त्तिया ही मुझे अधिक पसंद हैं। परंतु दोनों में खास ध्यान देने योग्य विशेषता तो इनकी एक लक्ष्यता है। एलोरा की

नवीं सदी की जैन प्रतिमाओं तथा वेलूर, खजारा हो या आबू की ग्यारहवीं शताब्दी की मूर्त्तियों में कोई लाक्षणिक भेद नहीं है। जैनाश्रित कला का प्रधान गुण मूर्त्तियों के अंतर्गत उल्लास या भावना-लेखन में नहीं है। इसकी महत्ता उदार शुद्धि में और एक प्रकार की बाहरी सादगी में है। जैन-कला वेग प्रधान नहीं बल्कि शांति-मय है। सौम्यता का परिमल, जैन मंदिरों की प्रसिद्ध सुगंधित द्रव्यों की भाँति, सर्वत्र महँकता है। इनकी समृद्धि में भी त्याग की शांत झलक दिखती है।

यहीं जैन चित्र-कला के विषय में भी दो शब्द लिखना अनुचित नहीं होगा। सच बात तो यह है कि जैन चित्रालेखन को जैन न कहकर गुजराती कहना ही अधिक ठीक होगा। साथ ही यह भी कहना उचित होगा कि जो कोई मध्यकालीन युग के चित्रावशेष हमें प्राप्त होते हैं, वे प्रायः जैन कल्पसूत्रों अथवा अन्य जैन ग्रंथों के ही नमूने हैं। इनमें बाह्य आकर्षण और भाव-वाहिता लुप्त हुई प्रतीत होती है। केवल कथा का प्रसंग आलेखन द्वारा कहना प्रधान उद्देश्य प्रतीत होता है। इनमें लालित्य का अभाव है और एक प्रकार की कृत्रिमता तथा निर्जी-वता दिखती है। ऐसा जान पड़ता है कि मध्य कालीन युग में स्थापत्य और मूर्त्ति विधान का विशेष विकाश हुआ और चित्र-कला गौण बनी। भित्ति-चित्रों का छोटे चित्र पटों के रूप में परिवर्त्तन हुआ और क्षेत्र के संकुचित होने के साथ ही कल्पना-शक्ति का, कारीगरी की सूक्ष्मता का भी ह्रास हुआ।

—जैन साहित्य संशोधक (गुजराती)

---

१. विनोद-नैवेद्य

शिवजी के घर में चोर

भाग भरी भाजन भसम की चलावै कौन,
भौन भूतनाथ भली बात है पढ़न की ;
भारी भीर भोगिन की भौंर भननात भूरि,
भागत बनै न बैल गैल मैं चढ़न की ।
"भौन" कवि कहत भ्रमत भूलि भीतर मैं,
आभा अवलोकत बिभावरी बढ़न की ;
आयो गथ लेन को बिचारो चोर चातुरी ते,
आफति परी है आनि बाहर कढ़न की ।

भौन

तुरंग नायक

आलस रहत अंग सदा ही उनीदे नैन,
बोलत से बैन मद ऐसे गुन गोओ करै ;
देवकी नँदन कहैं मोटी बाँह गात-गात,
फूलत उतंग सुघराई सब खोओ करै ।
खार जल गंध अंग अंगन सघन लोम,
सरस अनंग अंग रस बीज बोओ करै ;
देखौ कहै माय यहु नायक तुरंग आप,
खाय कै बहुत भंग निसि दिन सोओ करै ।

देवकीनंदन

अगुणज्ञ कृष्ण

एक कलंकी जहान में जाहिर,
दूसरो जाको हलाहल भाई ;
ताके पिता को जलौ न पियै कोऊ,
लोनहु ते बहु बानि खराई ।
कायर कूर कमीनन के बस,
नीच गमारन सों असनाई ;
ता कमला को धरे छतिया पर,
सोय गये महराज कन्हाई ।

घासीराम

नँदललवा की ढिठाई

बेचन दही को गाँव गोकुल गइन तहाँ,
औचक महरि तोर मिलिगा गोपलवा ;
लीन्हिसि छिनाय मोरि मटुकी झटकि,
झकझोरि बाँह अँगुरी गड़ाय गयो गलवा ।
फारिसि चुनरि कही मानिसि न एकु देखु,
तोरिसि अमोल मोर मोतिन को मलवा ;
गाढ़ भा रहब अब मोर यहि गाँव क्यार
तोर नँदरानी बड़ा ढीठ नँदललवा ।

उमेश

सभ्य सुंदरी

जानतीं ना अँगराग को नाउँ सदा,
अंग साबुन ही सों मलावतीं ;
सेंदुर बेंदी न आँजतीं अंजन,
टेढ़ी सदा रचि माँग बनावतीं ।
घाँघरो औ चुनरी को 'उमेशजू',
भूलि कबौं चरचौ न चलावतीं ;
जेवर देखि सिकोरतीं नाक,
कलाई मैं केवल वाच लगावतीं ।

उमेश

× × ×

२. चौपटचंद

(१)
चौपटचंद नाम का कोई,
अहमक रहा रईस।
इँगलिश पढ़, होगया बावला,
बना आप साईस ॥

(२)
फ़ैशन की धुन सिर चढ़ बैठी,
मिले यार शैतान।
बड़े साहबों में मिलकर वह,
हुआ अजब हैवान ॥

(३)
उससे मिलने एक रोज़ जब,
आए छोटे लाट।
हुए दंग वह, देख-देखकर,
उस कमरे का ठाट ॥

(४)
उस कमरे के बाहर आसन—
पर बुड्ढा था एक।
ओढ़ रामनामी, जप करता,
मौनी, विमल-विवेक ॥

(५)
उसे लाट साहब ने लखकर,
पूछा, "है, यह कौन ?।
आँख मूँदकर बैठ यहाँ पर,
जप करता, हो मौन !" ॥

(६)
देख वहाँ पर, संग बाप को,
मन में हो, नाराज़।
चौपटचंद लगा कहने यों,
"क्षमा कीजिये, आज ॥

(७)
अब से ऐसा कभी न होगा,
यह बुड्ढा है, फूल।
इसका फिरा दिमाग़, रात दिन,
बकता ऊल-जलूल ॥

(८)
यह तो है 'सर्वेंट' पुराना,
पेंशन पाता आज।
इसे तमीज़ नहीं है, करिये,
क्षमा, ग़रीब निवाज ॥"

(९)
नालायक लड़के की बातें,
सुन, बुड्ढा, हो, लाल।
लगा कड़ककर इँगलिश में यों,
कहने वह तत्काल ॥

(१०)
"इसका नहीं, किंतु इसकी,
अम्माँ का हूँ मैं दास।
बेहरा और खानसामा भी,
चाकर, सगा खवास ॥

(११)
बुला पूछिये, इसकी मां से,
मेरा कैसा मेल।
समझ पड़ेंगे, तभी आपको,
इस लौंडे के खेल ॥"

(१२)
असल बात को समझ, लाट
साहब ने होकर रुष्ट।
कहा, "अरे, 'सर्वेंट' बताता,
किसे ? अभागे ! दुष्ट ! ॥

(१३)
क्षमा मांग तू अभी बाप से,
ओ पामर ! ओ नीच ! ।
तुझ जैसे कपूत को, क्योंकर,
भूल गई है मीच !" ॥

(१४)
सुन फटकार, लाट साहब की,
मन में हो भयभीत।
बढ़कर उसने तुरत बाप के,
पकड़े चरण पुनीत ॥

(१५)
रो-रोकर जब लगा मांगने,
'क्षमा', झुकाकर माथ

तब करुणाकर, दिया बाप ने,
'क्षमा', उठाकर हाथ ॥

(१६)

तब बुड्ढे से हाथ मिलाकर,
गए लाट निज भौन।
लगा गिराने आँसू, चौपट—
चंद खड़ा हो मौन ॥

(१७)

कभी न उससे मिले लाट फिर,
मन में होकर क्रुद्ध।
समाचार फैला लोगों में,
जनता हुई विरुद्ध ॥

(१८)

ऐसी ही शिक्षा से चौपट—
चंद हुए हैं लोग।
देश, समाज, धर्म से, जिनका,
खासा हुआ वियोग ॥

(१९)

घर-घर चौपटचंद-सरीखे,
प्रगटे हैं अब लाल।
लिखा जायगा उनका पीछे,
खोज, अनोखा हाल ॥

(२०)

क्या ही होने लगी दुर्दशा,
इस शिक्षा से आज।
भूले सभी निजत्व, धर्म औ,
अपना देश, समाज ॥

(२१)

ऊँच नीच क्या भाव घुसा है,
छूवाछूत अपार।
भ्रातृभाव का नाम गया उठ,
ढोंग रहा, निस्सार ॥

(२२)

ऐसे समय, नाथ ! करुणाकर,
प्रगटो, करो निहाल।
सुख पावे भारत भी अब तो,
मिटें, सभी जंजाल ॥

किशोरीलाल गोस्वामी

१. अपनी बात ।

ईश्वर की अनुकंपा से आज 'माधुरी' को हमारे संपादकत्व में निकलते एक वर्ष होगया । जैसा कुछ हो सका हमने 'माधुरी' की सेवा की । हम जानते हैं कि हमसे बड़ी-बड़ी त्रुटियाँ हुई हैं—हमारे जैसे अयोग्य संपादकों से त्रुटियों का न होना आश्चर्य की बात होती—पर हमें इस बात का संतोष है कि हमको अपने प्रतिष्ठित लेखकों, उदार कवियों और प्रेमी ग्राहकों का पूर्ण सहयोग प्राप्त रहा है । इस समय 'माधुरी' की उन्नति की कामना करनेवाले हमको यह उलहना नहीं दे रहे हैं कि 'माधुरी' का स्टैंडर्ड गिर रहा है, या गिर गया है, वरन् उनका कहना है कि माधुरी का स्टैंडर्ड यद्यपि पहले की अपेक्षा ऊँचा है, पर वे उसे बहुत उन्नत चाहते हैं और वह भी बहुत शीघ्र । 'माधुरी' का शुभकामना चाहनेवाले सज्जनों को हम विश्वास दिलाते हैं, कि उनके इस सत्परामर्श पर हम भली-भाँति ध्यान देंगे और उससे लाभान्वित भी होंगे । यदि ईश्वर की कृपा बनी रही तो 'माधुरी' को हम अब से और भी अधिक उन्नत बनाने का उद्योग करेंगे । 'माधुरी' में हम कई और ऐसी नई बातों का समावेश करना चाहते हैं, जिससे पत्रिका की प्रतिष्ठा और उपयोगिता दोनों में समान रूप से वृद्धि हो । पाठकगण इन नये परिवर्तनों को स्वयं देखेंगे, अभी से उनकी घोषणा करने की आवश्यकता नहीं है । 'सुमनसंचय' स्तंभ में पाठकों को इसी संख्या में परिवर्तन दिखलाई पड़ेगा । अब तक जिस प्रकार की पाठ्य सामग्री इस स्तंभ के अंतर्गत जाती थी वैसी ही सामग्री अब भी जा सकेगी ; पर अब इस स्तंभ में प्रायः बँगला, मराठी, गुजराती, उर्दू एवं अँगरेज़ी पत्रिकाओं से महत्त्वपूर्ण लेखों का संकलन करके उनका हिंदी में अनुवाद या सारांश भी जायगा । इससे पाठकों को अन्य पत्रिकाओं की उपयोगिता भी मालूम होती रहेगी । सारांश कि हम 'माधुरी' को उन्नति-पथ पर बराबर अग्रसर करने का प्रयत्न करेंगे । सफलता ईश्वर के हाथ है ।

'माधुरी' में इस वर्ष जो समालोचना सबसे अच्छी प्रकाशित होगी उसके लेखक को एक 'समालोचना-पदक' देने की सूचना प्रकाशित की जा चुकी है । 'माधुरी-संपादक' निर्णायकों को इस बात की सूचना देंगे, कि कौन-कौन सी समालोचनाएँ प्रतियोगिता में हैं । निर्णायकगण उन्हीं पर अपनी सम्मति प्रदान करेंगे । निर्णायकों के नाम इस प्रकार हैं—

१—श्रीयुत बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन एम० ए०, एलू—एलू० बी०

२—रायबहादुर पं० शुकदेवबिहारी मिश्र बी० ए०

३—पं० कृष्णबिहारी मिश्र

कृषकों के जीवन से संबंध रखनेवाली जितनी कविताएँ इस वर्ष माधुरी में छपेंगी उनमें जो सर्वश्रेष्ठ होगी उसके रचयिता को भी एक पदक दिया जायगा। इसके निर्णायक पाँच सज्जन हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१—सेठ महेश्वरदयालु साहब ताल्लुक़दार कोटरा

२—श्रीयुत पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

३—आनरेब्ल रायबहादुर पं० श्यामविहारी मिश्र, एम०, ए०,

४—श्रीयुत त्रिभुवननाथसिंह 'सरोज'

५—पं० कृष्णविहारी मिश्र

'समालोचना-पदक' और 'कविता-पदक' के अतिरिक्त एक 'चित्र-पदक' देने की भी व्यवस्था की गई है। उक्त पदक के निर्णायकों का अभी निश्चय नहीं हुआ है। निश्चय होते ही इस पदक के निर्णायकों के नाम भी प्रकाशित कर दिये जायँगे। आशा है कवि, चित्रकार एवं समालोचक महोदयगण 'माधुरी' पर अपनी कृपा बनाये रखेंगे।

× × ×

२. असेंबली का तेजस्विता पूर्ण अधिवेशन

लेजिस्लेटिव असेंबली में साइमन कमीशन के बहिष्कार का प्रस्ताव धूम-धाम के साथ पास हो गया। लाला लाजपतराय ने इस प्रस्ताव को उपस्थित करते हुए एक बड़ी ही जोशीली और तर्क संगत स्पीच दी। प्रस्ताव के समर्थन में महामना मालवीयजी, मिस्टर जिन्ना एवं पं० मोतीलाल नेहरू के भाषण भी बड़े ही मार्के के हुए। लाला लाजपतराय ने साफ़-साफ़ कह दिया कि हमें सरकार की नेकनीयती में संदेह है। मालवीयजी ने राष्ट्रीय-सम्मान का संदेश बड़े अच्छे ढंग से बतलाया। मिस्टर जिन्ना ने सरकार की बदनीयती के उदाहरण दिए। पं० मोतीलालजी ने कहा कि लोकमत की उपेक्षा करके बड़े-बड़े साम्राज्य ध्वस्त हो गए हैं, और यदि अँगरेज़ सरकार ने भी वही किया तो उसका विनाश भी दूर नहीं है। सरकार की ओर से जो भाषण हुए वे तर्कहीन, संकुचित और निर्बल थे। बजट में साइमन कमीशन के लिये जो धन सरकार ने माँगा था, उसका भी ग़ैर सरकारी सदस्यों ने घोर विरोध किया और वह भी पास न हो सका। इस अवसर पर पं० मोतीलाल नेहरू ने जो भाषण दिया वह बड़ा ही तेजस्विता पूर्ण था। 'लीडर' पत्र की राय है कि असेंबली के इस अधिवेशन में सबसे महत्त्वपूर्ण भाषण यही था। सरकार की ओर से सर बेसिल ब्लैकेट ने जो जवाब दिया था उसमें पं० मोतीलालजी की बातों का ही जवाब विशेष रूप से दिया गया था। इससे भी जान पड़ता है कि सरकार ने भी इसी भाषण को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। पंडितजी के भाषण का सारांश यह है, कि सरकार से अनुनय विनय पूर्वक माँगने से कुछ न मिलेगा। स्वराज्य दल सरकार से सहयोग करने में असमर्थ है। बजट की माँगों को अस्वीकृत करने या न करने से सरकार का कुछ बनता बिगड़ता नहीं है पर जिन माँगों को असेंबली अस्वीकृत कर देती है जब उनको सरकार फिर स्वीकृत कर लेती है तो वह उतना रुपया मानों लूट कर लेती है। सरकार में, भारतीयों का विश्वास उठ गया है। स्वतंत्र भारत और इँगलैंड के हित समान नहीं हो सकते हैं, इसलिये इँगलैंड यह कभी न चाहेगा कि भारत स्वाधीनता प्राप्त करने के योग्य बनाया जाय। लॉर्ड बर्केनहेड ने अपने एक भाषण में यह बात साफ़ तौर से प्रकट कर दी है। भारतीयों को चिढ़ाया जाता है कि सेना में वे कुछ नहीं कर सकते हैं, उन्हें तो केवल क़ानून और तर्क आता है। वकालत में भारतीयों को बराबरी का मौक़ा मिला है और उसमें उन्होंने दिखला दिया है कि वे अँगरेज़ों से किसी बात में कम नहीं हैं, यदि फ़ौज में भी उनको वैसा ही अवसर मिले, तो वहाँ भी वे अपनी योग्यता का उसी प्रकार से परिचय दे सकते हैं। कांग्रेस-दलवालों को पदों का लोलुप कहना बिलकुल असत्य है। पं० मोतीलालजी ने अंत में बड़े ही आवेश के साथ मर्मस्पर्शिनी भाषा में कहा कि—"स्वतंत्र भारत की नींव में समाधिस्थ होना मेरी सबसे बड़ी मनोकामना है। मेरी इस मनोकामना को कोई भी भंग नहीं कर सकता है। हम लोग स्वतंत्रता की नींव भरने के काम को बराबर जारी रखेंगे; यहाँ तक कि उसी काम को करते-करते उसी नींव में मृत होकर गिर पड़ेंगे, और वहीं दफना दिये जायँगे। मगर इस विश्वास से हमको संतोष होगा कि हमारी हड्डियों पर विशाल स्वतंत्र भारत की इमारत उठेगी।" कितने वीरता-पूर्ण और ओज-वर्धक वाक्य हैं। असेंबली के प्रेसिडेंट ने भी इस बार अपनी तेजस्विता का पूर्ण परिचय दिया। एक दिन

प्रधान सेनापति नहीं उपस्थित थे। अपनी अनुपस्थिति का उन्होंने कोई कारण भी न बतलाया था। उधर उन्हीं से संबंध रखनेवाला बजट पेश था, उस अवसर पर पटेलजी ने प्रधान सेनापति को खासी फटकार बतलाई। इस पर सर बैसिल ब्लेकट बहुत चिढ़े और उठकर चले भी गये, पर अंत में प्रधान सेनापति को अपनी अनुपस्थिति का स्पष्टीकरण देना ही पड़ा। इसी प्रकार से श्रीपटेलजी ने सर जान साइमन को असेंबली में निमंत्रित नहीं किया और न उनसे मिलने ही गये। अंत में स्वयं सर जान साइमन श्रीपटेल को मिलने गये और उनके साथ चाय पी। इस प्रकार से असेंबली का यह अधिवेशन खूब तेजस्वितापूर्ण रहा और इसमें सरकार को पराजित भी होना पड़ा और उसकी पोल भी खूब ही खोली गई।

× × ×

३. लॉर्डसिंह का देहावसान

गत ४ मार्च को भारत के कृती संतान सर सत्येंद्रप्रसन्नसिंह उर्फ लॉर्ड सिंह का केवल ६४ वर्ष की अवस्था में देहांत हो गया। वास्तव में यह बड़े शोक की बात है। लॉर्ड सिंह की कार्य-पद्धति और विचार-वृत्ति से कोई सहमत हो, या न हो, पर उनकी स्वदेश हितैषिता, बुद्धिमत्ता और नेकनीयती पर दो मत नहीं हो सकते और यही कारण है कि समग्र भारत मत-भेद भूलकर उनके वियोग में शोकाश्रु बहा रहा है।

बंगाल के वीरभूम जिले में रायपुर नामक एक गांव है। सन् १८६३ ईस्वी में इसी गांव के कायस्थ परिवार में लार्ड सिंह का जन्म हुआ था। ये अपने चार भाइयों में सबसे छोटे थे। इनके पिता ईस्ट इंडिया कंपनी के ज़माने में सदर अमीन थे। सन् १८७९ ईस्वी में कलकत्ते के प्रेसिडेंसी कॉलेज से प्रथम श्रेणी में इंटर मीडियट परीक्षा पास की और इसके कुछ दिन बाद बैरिस्टरी पास करने के लिये अपने बड़े भाई डॉक्टर मेजर एन० पी० सिंह के साथ चुपचाप विलायत चले गये और १८८६ में बैरिस्टरी पास की और यूरोप के अनेक देशों का पर्यटन करते हुए कलकत्ते लौटे। २३ वर्ष की अवस्था में बैरिस्टरी आरंभ की। लगभग ८ वर्ष के बाद बैरिस्टर के रूप में ये खूब चमके। सन् १९०३ में भारत सरकार द्वारा स्टैंडिंग काउंसल नियुक्त हुए और १९०७ में बंगाल के एडवोकेट जनरल बनाये गये। १९०९ तक इसी पद पर रहे और फिर इसी वर्ष बड़े लाट की शासन परिषद् के प्रथम भारतीय सदस्य हुए। सन् १० में इसे छोड़कर फिर बैरिस्टरी करने लगे। १८९६ में पहले पहल कलकत्ते की कांग्रेस में ये सम्मिलित हुए थे और सन् १९१५ में बंबई कांग्रेस के सभापति बनाये गये थे। इसी वर्ष 'सर' हुए। सभापति की हैसियत से आपने जो भाषण दिया था, देशवासियों ने उसे पसंद नहीं किया। इसके बाद १९१६ में फिर ये बंगाल के एडवोकेट जनरल बनाये गए। १९१७ में बंगाल कौंसिल के सदस्य हुए और इस वर्ष तथा इसके अगले वर्ष भारत के प्रतिनिधि रूप में 'इंपीरियल वार कान्फ्रेंस' में सम्मिलित हुए। १९१९ में लॉर्ड उपाधि देकर सहकारी भारतमंत्री बनाये गये। १९२० में बिहार-उड़ीसा के गवर्नर होकर स्वदेश लौटे और १९२१ के अंतिम भाग में इस्तीफ़ा देकर गवर्नरी से अलग हो गये। तब से कभी विलायत और कभी देश में रहते थे। हाल में कमीशन के समर्थक के रूप में यहाँ आये थे और यहीं उनका शरीरांत हो गया। लॉर्ड सिंह के पहले
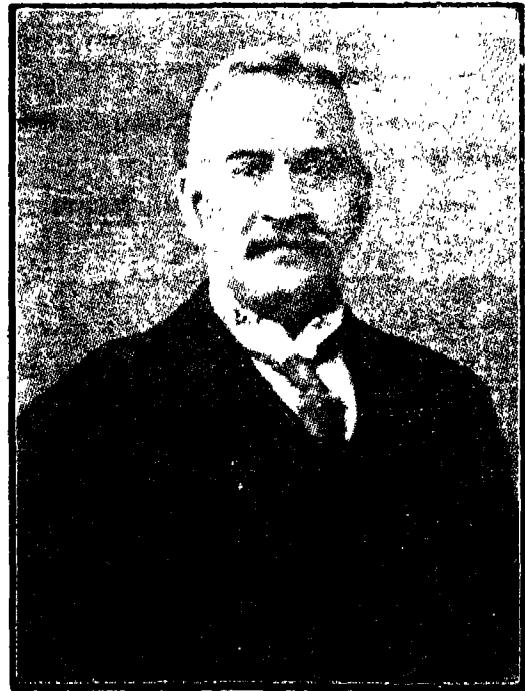
लॉर्ड सिनहा

हिंदुस्थानी लार्ड सहकारी भारत मंत्री और विहार उड़ीसा के गवर्नर थे। सरकारी कर्मचारी के रूप में इनसे ऊँचे पद पर कोई दूसरा भारतीय नहीं पहुँचा। उच्च-से-उच्च सरकारी सम्मान इन्होंने प्राप्त किया था।

राजनीति में लॉर्ड सिंह बहुत ही नरम थे। वे स्वायत्त शासन में भारतीयों का अधिकार तो मानते थे, पर उस अधिकार प्राप्ति के लिये अँगरेज़ों की सहायता और सहयोगिता का उपदेश देते थे। अँगरेज़ों पर उनका अटल विश्वास था, सहयोग उनका मूल मंत्र था और वे इसे अंधाधुंध वेग पर प्रतिष्ठित नहीं मानते थे। बृटिश साम्राज्य के अन्तर्गत होमरूल प्राप्त करना ही उनका राजनैतिक आदर्श था। उनकी मृत्यु से हम दुखी हैं और उनकी शोक-संतप्त विधवा पत्नी, पुत्रियों और पुत्रों से हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं। परमात्मा परलोकगत आत्मा को शांति और दुखी परिवार को धैर्य दे।

× × ×

४ महारानी शर्मिष्ठा देवी

अमेरिकन कुमारी मिलर ने हिंदू-धर्म स्वीकृत कर लिया। नासिक में जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य ने उनकी शुद्धि की। शुद्धि में बीस हज़ार के लगभग आदमी मौजूद थे। शुद्धि का सारा कार्य सनातन-धर्म के अनुसार हुआ। शुद्धि संस्कार के बाद मिसमिलर का नाम शर्मिष्ठा देवी रक्खा गया। शुद्धि के थोड़े ही दिनों बाद बड़वाहा स्थान में श्रीमती शर्मिष्ठा देवी का ब्याह इंदौर नरेश महाराजा सर तुकोजीराव के साथ विधिपूर्वक संपन्न हो गया। इस समय मिसमिलर महारानी शर्मिष्ठादेवी के नाम से विख्यात हैं। इस विवाह की चर्चा संसार भर में है। नित्यप्रति विवाह आदि होते ही रहते हैं। तब इस विवाह में विशेषता क्या है? जो इसको इतना अधिक महत्त्व दिया जाता है। कारण स्पष्ट है। मिसमिलर एक संभ्रांत और धनी घराने की अमेरिकन महिला हैं। वे जन्म से ईसाई धर्म को माननेवाली हैं। फिर भी उन्होंने इंदौर के महाराज से वैवाहिक संबंध जोड़ने में आनाकानी न की। मिसमिलर को यह बात मालूम है कि सर तुकोजीराव अब इंदौर के सिंहासन पर नहीं हैं, वरन् उनका पुत्र उक्त पद का अधिकारी है। उन्हें यह भी मालूम है कि महाराज तुकोजीराव वयस्क पुरुष हैं। शायद उनसे यह भी छिपा न होगा कि महाराज के सिंहासन त्याग का रहस्य क्या था, तथा मुमताज कांड की कथा कितना करुण है। महाराज के दो रानियाँ और भी हैं, यह बात भी मिसमिलर भली भाँति जानती होंगी; फिर जब महाराज ने मिसमिलर को हिंदू-धर्म में दीक्षित होने को कहा होगा तो मिस महोदया ने सब बातों पर भली भाँति से विचार

महारानी शर्मिष्ठा देवी

कर लिया होगा। इस प्रकार परिस्थिति पर पूर्ण विचार करने से यह बात समझ में आती है कि मिसमिलर ने सब समझ बूझकर ब्याह किया है। हिंदू-धर्म को अंगीकृत करते समय उन्होंने जो प्रतिज्ञा की है एवं जो व्याख्यान दिया है उससे भी यह ध्वनि निकलती है कि उन्होंने केवल ब्याह के कारण ही हिंदू-धर्म नहीं स्वीकृत किया है, वरन् उक्त धर्म पर पहले से ही उनकी श्रद्धा थी। ऐसी दशा में हम श्रीमती महारानी शर्मिष्ठादेवी

का हिंदू-समाज में स्वागत करते हैं। महाराज सर तुकोरावजी भी यदि इस ब्याह से सुखी हों, यदि काम-वासना चरितार्थ करने की प्रवृत्ति एक उचित और नियमित सीमा के भीतर रह जाय तो हम सर तुकोरावजी को भी बधाई दिये विना नहीं रह सकते हैं। पर इस वैवाहिक एकता के अतिरिक्त इस प्रश्न पर एक दूसरे ढंग से भी विचार करने की ज़रूरत है। हिंदू-धर्म विशेष करके कट्टरता का पोषक सनातन-धर्म विधर्मियों को अपने धर्म में लेने के लिये विख्यात नहीं है। परंतु महारानी शर्मिष्ठादेवी को अंगीकृत करने में कट्टर सनातनधर्म ने विशेष उदारता का परिचय दिया है। शर्मिष्ठादेवी की शुद्धि कट्टर सनातन-धर्म के स्तंभ जगद्गुरु शंकराचार्य ने की है। शुद्धि के अवसर पर जगद्गुरु ने बड़ा ही तर्कपूर्ण भाषण दिया है। ऐसा जान पड़ता है कि भविष्य में हिंदू-धर्म उदारतापूर्वक उन सभी लोगों को अपनाने के लिये तैयार रहेगा, जो हिंदू-धर्म में आना चाहेंगे। चक्र चल गया है! महारानी शर्मिष्ठा की शुद्धि के कुछ ही समय बाद एक अंग्रेज़ ने भी हिंदू-धर्म में दीक्षा ली है। हम भी ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि महारानी शर्मिष्ठा और महाराज सर तुकोजीराव का भविष्य जीवन सुखी हो और वे अपना समय आनंद से समाज सेवा में व्यतीत करें।

× × ×

५. हिंदी का स्टाइल।

'माधुरी' के गतांक में 'हिंदी का स्टाइल' शीर्षक संपादकीय टिप्पणी निकली थी। उसमें हिंदी के अन्यान्य विद्वान् लेखकों से भी इस संबंध में मत प्रकट करने की प्रार्थना की गई थी। हर्ष की बात है, कि उक्त प्रार्थना निष्फल नहीं हुई और विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट होने लगा है। हमारे पास पं० लज्जारामजी मेहता का इसी संबंध में एक विचारपूर्ण पत्र आया है। हम नीचे उसे ज्यों का त्यों प्रकाशित करते हैं। पत्र में कमीशन नियुक्त करने का जो प्रस्ताव है, हम उससे सहमत नहीं हैं। परस्पर विचार-विनिमय से ही यदि कुछ निश्चय हो जाय तो कमीशन नियुक्ति की आवश्यकता ही न पड़ेगी—दूसरे, कमीशनों से बहुधा ऐसे प्रश्न टल जाया करते हैं, और हम इसके टालने के पक्ष में नहीं हैं। मेहताजी का पत्र इस प्रकार है—

"इस प्रश्न के विषय में मैंने अपने पूर्वजन्म में, जब मैं पत्र-संपादन का छकड़ा खींच रहा था, जो कुछ लिखा-पढ़ी की वह तो गई गुजरी बात है; किंतु गत कुछ वर्षों के अर्से में मैंने सम्मेलन के दिल्लीवाले अधिवेशन में इसका प्रस्ताव उपस्थित करने के लिये स्वागत कमेटी को, लिखा, नागरी प्रचारिणी सभाके जीवन-धन बाबू श्यामसुन्दरदासजी को और हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के प्रधान मंत्री पंडित रामजीलालजी को लिखा और श्रीवेंकटेश्वर समाचार संपादक, "हिंदू-संसार" के संपादक तथा "मनोरमा" संपादक से लिखकर निवेदन किया! इन संपादक महानुभावों ने अवश्य ही मेरे लेख प्रकाशित करने का अनुग्रह किया, किंतु अपनी ओर से कुछ ज़ोर लगाना आवश्यक न समझा। पंडित रामजीलालजी ने मुझसे वादा ज़रूर किया है, और हो सकता है कि वह सम्मेलन के आगामी अधिवेशन में इस विषय की छेड़-छाड़ करें। हाँ! 'माधुरी' की पूर्ण संख्या ४७ में मैंने इस प्रश्न पर विशेष रूप से ज़ोर देकर उसका आगा पीछा अच्छी तरह सुझाया है; और पूर्ण संख्या ६१ में उसका हवाला देकर प्रसंग मिलते ही फिर लिखा है। ऐसी स्थिति में माधुरी संपादक महाशय ने संख्या ६८ में मुझे स्मरण कर, मेरे ऊपर अनुग्रह किया और इस कृपा के लिये यदि मैं उन्हें धन्यवाद न दूँ तो मेरी कृतघ्नता कही जा सकती है।

संपादक प्रवर, आपका लेख वास्तव में बहुत विद्वत्ता-पूर्ण है और प्रांतीय भाषाओं का हिंदी पर प्रभाव पड़ने और इस तरह हिंदी के स्टाइल नियत करने में जो अड़चनें पड़ सकती हैं, उन्हें जनता के समक्ष रखने में आपने किसी प्रकार की कोर कसर नहीं रक्खी है। इस बात को मैं स्वीकार करता हूँ, किंतु आप ही के लेखानुसार इस प्रश्न को दो भागों में बाँट दीजिए। एक हिंदी की राष्ट्रीयता और दूसरी प्रांतीय भाषाओं से इसका सहयोग। जिन प्रांतों की हिंदी सार्वजनिक भाषा है, उनमें ही जब एक प्रांत का दूसरे प्रांत से शब्द प्रयोग और महावरों में वैमत्य है तब गुजराती, मराठी और बँगलावालों की हिंदी में उन-उन प्रांतों की प्रांतीयता आये विना नहीं रह सकती। यह अनिवार्य है। और जब तक वर्तमान हिंदी परिमार्जित होकर एक और दृढ़ स्वरूप धारण न करले तब तक इस प्रश्न को उठाना उसे राष्ट्रीयता प्रदान करने के कार्य को आगे की ओर ढकेलना है। इस

कारण अभी इस सवाल को प्रकृति पर छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। इस बात पर विचार करने का काम आनेवाली पीढ़ियों का है, और तबही वे लोग देख सकेंगे कि इसमें कौन-कौन सी उलझनें हैं और उन्हें क्योंकर किस-किस उपाय से सुलझाना चाहिए। तबही हिंदी की बोल-चाल की भाषा का रूप स्थिर होगा और सच पूछो तो तबही यह सच्ची राष्ट्रीय-भाषा कहलाने की अधिकारिणी होगी।

गत बीस पच्चीस वर्ष के अर्से में प्रकृति ने हिंदी को जितनी सहायता पहुँचाई है, वह कम नहीं है। प्रकृति-शब्द का प्रयोग मैं यहाँ इसलिये करता हूँ, कि इसे राष्ट्रीय-भाषा का स्थान दिलाने में जितना उद्योग हिंदी-भाषा-भाषियों का है उससे बढ़कर अन्यान्य प्रांतों के विद्वानों ने इसे सहायता पहुँचाई है, और यदि स्थिर चित्त से इस पर विचार किया जाय तो सबसे बढ़कर हाथ इसमें प्रकृति का है। विस्तार भय से मेरा अनुरोध यह है कि यदि इस पर विशेष विचार करना इष्ट हो तो 'माधुरी' की पूर्ण संख्या ४७ पढ़ना चाहिये।

हिंदी के स्टाइल नियत करने में हमारे सामने दो मार्ग हैं। एक संस्कृत के शब्दों का प्रयोग। २५-३० वर्ष पूर्व या इससे भी अधिक पहले का लिखा हुआ "रणवीर प्रेममोहिनी" अथवा "परीक्षागुरु" में जिन साधारण संस्कृत शब्दों के लिये स्वर्गीय लाला श्रीनिवासदासजी को पाद-टिप्पणी देनी पड़ी थी, उनसे भी क्लिष्ट-क्लिष्टतर संस्कृत शब्द अब जनता के साधारण व्यवहार में हैं और यह व्यवहार ही इस बात को साबित कर रहा है कि प्रकृति हमको वर्तमान स्टाइल की ओर धारा-प्रवाह से लिये जा रही है। दूसरी ओर हमारे राजनैतिक-नेता युक्तप्रांत और पंजाब के मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिये अवश्य ही सरल हिंदी लिखने की सलाह देते हैं, किंतु जहाँ तक मेरा अनुभव है मैं कह सकता हूँ कि ऐसी राय देनेवालों ने अभी तक नमूने के लिये दश पंक्तियाँ भी लिखकर नहीं दिखलाई हैं; जिससे विदित हो कि कैसी भाषा उन्हें पसंद है। हाँ या तो वे उर्दू की ओर ढलते हैं, अथवा ठेठ हिंदी की ओर। यह नमूना अवश्य ही बंगाली, महाराष्ट्री और गुजरातियों के लिये क्लिष्ट होगा, और सच पूछो तो वह खिचड़ी के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता।

बस इन्हीं बातों पर विचार करके मैंने एक कमीशन नियत करने की सम्मति दी है जो बँगला, मराठी, गुजराती इत्यादि भिन्न भाषा-भाषी विद्वानों की रायें लेकर संग्रह करे और देखे कि उनके लिये कौन सा स्टाइल समझने और लिखने में आसानी है। भारतवर्षीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का आगामी अधिवेशन अब शीघ्र ही मुज़फ़्फ़रपुर में होनेवाला है। यदि आपकी प्रेरणा और उद्योग से यह प्रश्न उसमें प्रस्ताव रूप पर रक्खा जा सके तो कार्यारंभ हो सकता है। मेरी समझ में यदि अब इस प्रश्न को हाथ में लेने में विलंब किया जायगा तो वर्तमान हिंदी मनमाना मार्ग ग्रहण करे विना न रहेगी और उसका फल साहित्य के लिये अच्छा न होगा।"

× × ×

६. गुजराती का सामयिक साहित्य

गुजराती भाषी जितने समृद्ध हैं, गुजराती साहित्य उतना नहीं है। उसकी अपेक्षा बँगला, मराठी और हिंदी का साहित्य अधिक उन्नत, विशाल और पुष्ट है। किंतु गुजराती सामयिक साहित्य, विशेषकर दैनिक और साप्ताहिक पत्र-साहित्य के प्रकाशन में, उपर्युक्त भाषाओं में सर्वोत्कृष्ट हैं। संसार के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष महात्मा गांधी गुजराती-भाषा के लेखक और पत्र-सम्पादक हैं, गुजरातियों के लिये यह गौरव की बात है। अपने दान-वीर सुपुत्रों की सहायता और सुलेखकों की अनुकम्पा से गुजराती-साहित्य धीरे-धीरे, किंतु दृढ़ता के साथ उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है, यह संतोष की बात है। गुजराती के आधुनिक औपन्यासिकों में श्री कनैयालाल माणिकलाल मुंशी बी० ए० एल्-एल० बी० की गणना सर्वोच्च श्रेणी में होती है। आपके 'गुजरात नो नाथ' आदि उपन्यास विशेष लोक-प्रिय हैं। आप गुजराती-साहित्य संसार के मासिक मुख-पत्र गुजरात के सम्पादक भी हैं। आपकी पत्नी श्रीमती लीलावती मुंशी भी सुलेखिका हैं। इसके अतिरिक्त अन्य प्रसिद्ध लेखकों और कवियों में हिंदू विश्वविद्यालय काशी के प्रोवाइस चांसलर प्रिंसिपल ध्रुव, भाई न्हानालालजी दलपतराम, सर रमणा भाई, महीपतराम नीलकंठ, भाई छगनलाल हरिलाल पंड्या, भाई कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी, श्रीयुक्त देसाई और श्री गोकुलदास द्वारकादास राय-

चुरा आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से पारसी लेखक और सम्पादक भी हैं।

इन दिनों बंबई से बंबई-समाचार, जामे जमशेद, सांझ वर्तमान और हिंदुस्थान अने प्रजामित्र ये ४ दैनिक पत्र निकलते हैं। ये चारों पत्र समाचार-संग्रह और तरह-तरह के उपयोगी लेख प्रकाशित करने में अँगरेज़ी दैनिकों की बराबरी करते हैं। इनमें प्रति दिन १२ से १६ और कभी-कभी—ऐसे अवसर सप्ताह में दो बार अवश्य आते हैं, २८ पेज तक निकलते हैं। मूल्य भी अँगरेज़ी पत्रों की ही भाँति ४ से ६ पैसे तक होता है। यद्यपि इनकी छपाई उतनी अच्छी नहीं होती और काग़ज़ भी हलकाही लगाया जाता है, फिर भी विषय-निर्वाचन और उपयोगिता की दृष्टि से सब देशी भाषाओं के पत्रों से बढ़कर हैं। इनमें पहले दो प्रातःकाल और शेष दो सायं-काल प्रकाशित होते हैं। पहले तीन पारसियों के हैं और शेष हिन्दुओं के। इन पत्रों को न पाठकों का अभाव रहता है और न विज्ञापनों का। इनकी उत्कृष्टता के ये दो मुख्य कारण हैं। 'बंबई समाचार' और 'हिन्दुस्थान अने प्रजामित्र' का साप्ताहिक संस्करण भी निकलता है। 'बंबई-समाचार' का दिवाली-अंक बहुत उत्कृष्ट निकलता है। पारसी पत्रों की भाषा में उर्दू का अधिक मिश्रण रहता है। सूरत से देशबंधु नामक एक और भी दैनिक पत्र निकलता है, पर यह साधारण है। बंबई-समाचार स्वराजिष्ट और हिन्दुस्थान-अने प्रजामित्र हिंदू महासभा-वादी और रेस्पांसिविस्ट है।

साप्ताहिक पत्रों में गुजराती, हिन्दुस्थान अने प्रजामित्र, बंबई-समाचार का अठवाड़िक, नवजीवन, सौराष्ट्र, सचित्र बीसवीं सदी, गुजरातीपंच, मौज और प्रगति उल्लेखनीय हैं। गुजराती सनातनधर्मियों का पत्र है, और विशेष प्रतिष्ठित है। इसका वार्षिक अंक बहुत उत्कृष्ट निकलता है। इसके मुक़ाबले पहले आर्य प्रकाश नामक आर्यसमाजियों का भी पत्र निकलता था। 'नवजीवन' महात्माजी का है और 'सौराष्ट्र' उनका अनुयायी है। बीसवीं सदी पहले मासिक था और अपने कला-पूर्ण चित्रों के लिये प्रसिद्ध था। उस समय संपादक, स्वर्गीय हाजी अलारखिया शिवजी थे; इसी पत्र सम्पादन की धुन में वे सर्वस्वान्त होगये। अब उनके पुत्र इसे साप्ताहिक रूप में निकालते हैं।

गुजराती के मासिक-पत्रों की अवस्था दैनिकों और साप्ताहिकों की भाँति गौरव-योग्य नहीं हैं। संख्या तो कम नहीं है; पर रंग-रूप और छपाई-सफ़ाई तथा संपादन आदर्श नहीं। गुजरात, शारदा, समालोचक, गुणसुंदरी, कुमार, रंग-भूमि और नवचेतन इनमें मुख्य हैं।

त्रैमासिकों में पुरातत्त्व, कौमुदी और जैन-साहित्य-संशोधक मुख्य हैं। ये तीनों अपने ढंग के निराले हैं। इनमें हम पुरातत्त्व को सर्वोत्कृष्ट समझते हैं। गुजराती-भाषियों की संख्या देखते हुए उनका सामयिक साहित्य अधिक है। हम उनके मातृ-भाषा-प्रेम और विद्याभिरुचि का अभिनंदन करते हैं।

× × ×

७. सम्मेलन के सभापति

श्रद्धेय पं० लज्जारामजी मेहता ने 'सम्मेलन का सभा-पति कौन हो' इस शीर्षक का एक छोटा सा नोट 'माधुरी' में प्रकाशनार्थ भेजा है। खेद है जिस समय मेहताजी का यह नोट प्राप्त हुआ उस समय संपादकीय विचार स्तंभ को छोड़कर शेष सब स्तंभों का मैटर छप चुका था। नोट महत्त्वपूर्ण है और वैशाख की संख्या में उसका महत्त्व भी वैसा न रह जाता, इस कारण उसे यहीं संपादकीय विचारों में अविकल उद्धृत करते हैं। सभापति के चुनाव के संबंध में इस समय हिंदी के समाचार-पत्रों में खूब लिखा पढ़ी चल रही है। कुछ सज्जन धनी मानी राष्ट्रीयता के पुजारी देशभक्तों को सभापति की कुर्सी पर बिठलाना चाहते हैं, तथा दूसरे लोग उन सज्जनों को जिनमें संस्था विशेष के संचालन की शक्ति हो, जो खूब उत्साही हों और अनवरत परिश्रम करने के आदी हों, तथा लोगों पर जिनका प्रभाव भी खूब पड़ता हो। कई पत्र संपादकों ने तो साफ़-साफ़ कह दिया है कि हम उन वयोवृद्ध साहित्य-सेवियों को सभापति नहीं बनाना चाहते हैं जिन्होंने साहित्य-सेवा तो की है पर अब जो वृद्धता के कारण शिथिल हैं और जिनका लोगों पर कोई प्रभाव भी नहीं है। पर हम इस मत को मानने में असमर्थ हैं। हमारी राय में यदि मंत्री और कार्यकारिणी समिति के सदस्यों का चुनाव उचित रीति से किया जाय तो संस्था का काम मज़े में चल सकता है। साहित्य-सम्मेलन के सभापति पद पर तो साहित्य-सेवी की ही शोभा है। यदि साहित्यसेवी की सेवाओं का प्रभाव जनता पर नहीं है

तो कहना पड़ेगा कि जनता साहित्य-सेवी का नहीं वरन् किसी कार्य कुशल देश-भक्त, वाग्मी नेता का आदर करना चाहती है। ऐसे सज्जन का आदर जनता खुशी से करे पर तब उस संस्था को साहित्य-सम्मेलन कहने का ढोंग न किया जाय, वरन् उसका नाम 'राष्ट्रीयता प्रचारक हिंदी-मंडल' रख दिया जाय। वृद्ध साहित्य-सेवियों को भी सदा के लिये यह आशा छोड़ देनी चाहिए कि केवल साहित्य-सेवा के नाते व 'साहित्य-सम्मेलन' नाम की संस्था के कभी सभापति हो सकेंगे। यदि उन्हें सभापति बनने का ही शौक हो तो चाहिए कि वे खूब वाग्मी बनें, लोगों पर प्रभाव डालने का ढंग सीखें और राष्ट्रीयता के नाते इच्छा हो या न हो, परंतु राजनैतिक आंदोलनों में ज़ोरों से भाग लें। यदि वे ऐसा न करेंगे तो साहित्य-संबंधी सैकड़ों पुस्तकें लिख डालने पर भी वे साहित्य-सम्मेलन के सभापति न हो सकेंगे। देशी रियासतों में बड़े ओहदों पर नौकर अथवा भारत सरकार के सेवक अथवा पेंशन पानेवाले साहित्य-सेवियों को साहित्य-सम्मेलन के सभापति के पद पर बैठने का लोभ सदा के लिये छोड़ देना चाहिए। हम तो समझते थे कि जाति, धर्म, वर्ण, व्यवसाय एवं राजनैतिक मतों का विचार किए बिना ही कोई भी उत्कृष्ट साहित्य-सेवी (जिसका जीवनोद्देश्य साहित्य-सेवा हो) साहित्य-सम्मेलन के सभापतित्व को प्राप्त कर सकता है। साहित्य-सम्मेलन के मंच को हम बहुत व्यापक समझते थे, पर कुछ हिंदी लेखकों ने अपना मत प्रकट करके हमें सुझाया है कि नहीं साहित्य-सम्मेलन का उद्देश्य दूसरा ही है। होगा, पर हम अब भी अपने पूर्व मत को ही ठीक समझते हैं, और इसीलिये एक बार सभापति पद के लिये फिर से (१) रायबहादुर लाला सीताराम बी० ए० रिटायर्ड डेपुटी कलक्टर (२) मेहता लज्जाराम और (३) पं० किशोरीलाल गोस्वामी के नामों का समर्थन करते हैं। आगे हम मेहता लज्जारामजी का पत्र उद्धृत करते हैं।

"आगामी हिंदी-साहित्य-संमेलन का सभापति कौन होना चाहिये ? यह प्रश्न आज कल हिंदी-संवाद पत्रों में उपस्थित हुआ है। प्रश्न आवश्यक है और अधिवेशन में अब विलंब नहीं है, इसलिये जहाँ तक बन सके शीघ्र ही इसका निर्णय हो जाना चाहिये ताकि भरतपुर के अधिवेशन की तरह गड़बड़ न हो। उस समय ओझा जी को केवल एक सप्ताह में अपनी वक्तृता तैयार करनी पड़ी थी। अवश्य उन जैसा विद्वान् अल्प समय में अपनी वक्तृता में उत्तमता ला सकता है तथापि सभापति की कुरसी से व्याख्यान देना केवल दाल भात का खाना नहीं है। मेरे श्रद्धेय मित्र पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी, दोनों मिश्रबंधु महाशय, लाला सीतारामजी और ऐसे ही इने गिने विद्वानों के अतिरिक्त आजकल के धुरंधर लेखकों में से अधिकांश से मैं अपरिचित हूँ, इस कारण उनके नामों नामों पर अपनी राय देना मुझसे बन नहीं सकता है। हाँ ! बाबू श्यामसुंदरदासजी का नाम मैं फिर भी याद दिलाता हूँ। वह एक बार इस पद को अवश्य सुशोभित कर चुके हैं, किंतु वह गाढ़ी भीड़ का समय था इने गिने दिनों में जब और कोई नहीं मिलता दिखलाई दिया तब लाचारी से उन्हें केवल काम निकालने के लिये स्वीकार करना पड़ा था। मेरी समझ में हिंदी के जीवित लेखकों में उनके समान दूसरा कोई न होगा जिसने ग्रंथ रचना के सिवाय साहित्य-प्रचार के कार्य में भी अपना समस्त जीवन खर्च कर डाला है। द्विवेदी जी की प्रशंसा करना सूर्य को दीपक लेकर दिखाना है और मिश्रबंधुओं का कार्य भी सामान्य नहीं है। उनकी हिंदी सेवा चिरस्थायिनी है।

हाँ ! सभापति ऐसा होना चाहिये जो साहित्य का पूर्ण विद्वान् होने के अतिरिक्त सालभर तक संमेलन के सिद्धांतों के प्रचार करने में सिद्धहस्त हो। संपादक महाशय ! आपने मेरे जैसे अकिंचन लेखक का नाम भी इस पद के योग्य विद्वानों में संयुक्त कर दिया है। यह आपका अनुग्रह है, किंतु हिंदी लेखकों में मेरा जैसा पाँचवाँ सवार अनेक जन्म में भी इस पद के योग्य कदापि नहीं कहा जा सकता। इसलिये आपकी कृपा के लिये धन्यवाद देकर आपसे क्षमा माँगकर निवेदन करता हूँ कि मुझे आजीवन इस कोन में ही पड़ा रहने दीजिये।"

लज्जाराम मेहता

१. राधाकृष्ण

श्रीराधाकृष्ण की मधुर-मूर्ति घन-दामिनी की शोभा को लज्जित कर रही है। आनंदमय दिव्य अनुराग साक्षात् मूर्तिमान् होकर विराजमान है, श्रीकृष्ण भगवान् की चितवन में प्रेम समुद्र हिलोरे ले रहा है, तो श्रीराधा की "अधमुँदी अँखियन" से "मूँदी प्रीति उघार" का दिव्य दृश्य सुलभ हो रहा है। प्रसिद्ध चित्रकार श्रीशारदाचरण उकील की चित्र-चित्रण-चातुरी का यह चित्र एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

२. दो चंद्र

नीलांबर में पूर्ण शशधर मुसकरा रहे हैं। महीतल पर एक चंद्रवदनी खड़ी-खड़ी चंद्र-शोभा देख रही है। ग्रहण लगनेवाला है। राहु ग्रास करने के लिये आया है। उसे दो चंद्र देखकर बड़ी परेशानी है। ऊपर आकाश में चंद्रमा है और नीचे पृथ्वीतल पर भी एक चंद्रवदन है। बेचारा राहु भ्रम में पड़ गया है। वह नहीं जानता है कि किस चंद्रमा को ग्रसे। प्रसिद्ध चित्रकार डॉ० बनर्जी ने इसी भाव का चित्रण इस चित्र में चतुरता के साथ किया है।

३. बालकृष्ण

श्रीयुत पं० मोहनलाल शुक्ल ने 'बालकृष्ण' का यह सुंदर चित्र बनाया है। वात्सल्य प्रेम और गार्हस्थ्य सुख का इस चित्र में बढ़िया चित्रण हुआ है। श्रीजशोदा माता के मुख-मंडल पर जो संतोष की छाप है वह विशेष रूप से दर्शनीय है।
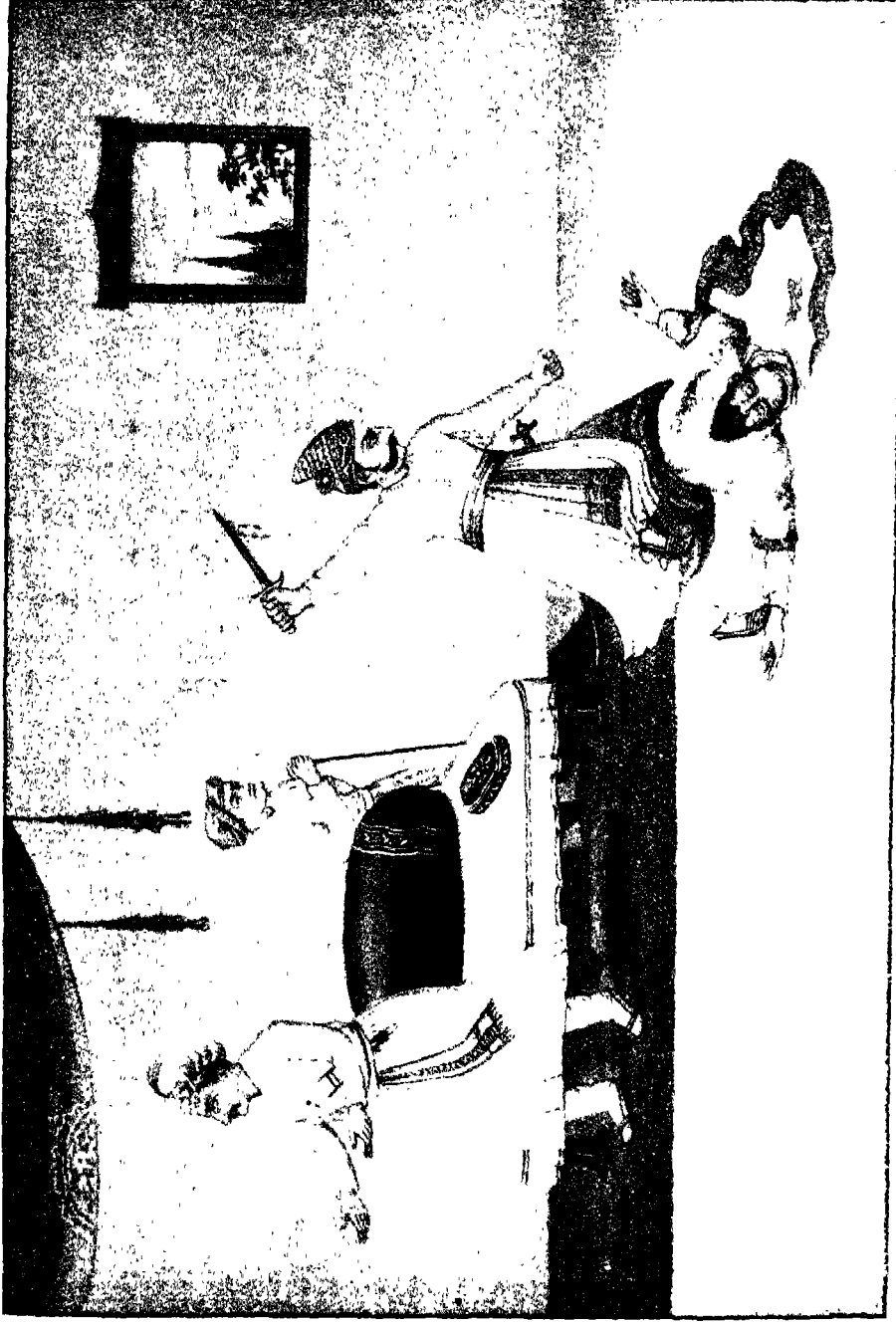
(चित्रकार प्रो० ईश्वरीप्रसाद वर्मा, कलकत्ता)

वर्ष ६ | वैशाख, ३०४ तुलसी-संवत् (१९८५ वि०) | संख्या ४
खंड २ | मई, सन् १९२८ ई० | पूर्ण संख्या ७०

यहि ओर ये कौन चले गये हैं ?

सिर मौर है मोर के पंखन को जेहि सों दिननाथ छले गये हैं ,
दृग लोने मृगान के मान दहैं दल नीरज नीर दले गये हैं ;
तन साँवरो अंबर पीरो लसै मनो दामिनी-मेघ मले गये हैं ,
गुन दै 'द्विजराज' गयंदन को यहि ओर ये कौन चले गये हैं ।

द्विजराज

वैशाली

उज्जैन नगरी का नाम किसने न सुना होगा। वह बहुत प्राचीन राजधानी रही है और उसका विस्तार इतना बड़ा था कि इसी कारण से उसका दूसरा नाम विशाला पड़ गया था। परंतु इससे भी प्राचीन और बड़ी भारी राजधानी गंगा के किनारे उत्तर में थी जो विशाला या वैशाली कहलाती थी, जिसके एक मुहल्ले में जैनियों के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर का जन्म हुआ था, और जहाँ पर गौतम बुद्ध के अवतार लेने का भी शोर था परंतु कुछ विशेष कारणों से अंततः कपिलवस्तु में हुआ। परंतु इस वैशाली नगरी पर भगवान् गौतम का बड़ा प्रेम था। कई बार उन्होंने अपनी पद-रज से उसे पवित्र किया और अनेक व्याख्यान देकर वहाँ के निवासियों को अपने मत का अनुयायी बनाया। वैशाली-निवासी भगवान् बुद्ध के बड़े भक्त थे और उन्हें बड़े आदरभाव से रखते थे।

वैशाली लिच्छविवंशीय क्षत्रियों की राजधानी थी। लिच्छवि बड़े प्रतापी, वैभवशाली और स्वतंत्र लोग थे। इनकी शासनप्रणाली निराली ही थी। वैशाली में एक ही राजा नहीं था; वहाँ पर सात हज़ार सात सौ सात राजा थे। राजकीय बातों का निर्णय संघ अर्थात् कांग्रेस द्वारा होता था। उनका टाउन हाल संथागार कहलाता था। वहीं धार्मिक और राजकीय विषयों पर वाद-विवाद होता था। उसमें जो बात बहुमत से स्थिर की जाती थी वह सबको माननी पड़ती थी।

वाल्मीकि-रामायण के अनुसार वैशाली को विशाल नाम एक इक्ष्वाकुवंशी राजा ने बसाया था। वह श्रीरामचंद्रजी के कई पीढ़ी पूर्व हुआ था। राम के समय में वह नगरी 'रम्या, दिव्या स्वर्गोपमा' थी। मिथिला को विश्वामित्र के संग जाते समय, राम और लक्ष्मण ने गंगा को पार करते ही विशाली नगरी के दर्शन किये थे। इसका उल्लेख वाल्मीकि-रामायण में है। इसी एक बात पर से अनुमान किया जा सकता है कि यह कितनी प्राचीन नगरी थी। प्रायः तेरह सौ वर्ष पूर्व चीनी यात्री युवानच्वांग ने जब इसे देखा था, तब इसका घेरा प्रायः २० मील का था अर्थात् इतने चक्कर में शहरपनाह बनी हुई थी। परंतु अब कोई नाम निशान नहीं रहा। पुरातत्त्वज्ञों ने बड़ी कठिनता से उसके बसने का स्थान खोजा है जो विवादशून्य नहीं है।

तिरहुत में मुज़फ़्फ़रपुर नामक ज़िला है। वहाँ गण्डकी के बाएँ किनारे बसाढ़ नामक गाँव है, वही प्राचीन वैशाली है। खोदने से यहाँ पर अनेक खंडहर मिले हैं जिनके द्वारा पुरातत्त्ववेत्ताओं ने सिद्ध किया है कि यहीं पर वैशाली नगरी रही होगी। कुछ मिट्टी की मोहरें यहाँ पर मिली हैं जिन पर वैशाली का नाम अंकित है जिससे यह विश्वास होता है कि यदि वहाँ पर विशेष रूप से खुदाई की जाय तो ऐसे अनेक चिह्न मिलेंगे जो वैशाली के गौरव और कई अज्ञात बातों के सूचक होंगे।

वैशाली के तीन मुहल्ले थे। मुख्य पुरा वैशाली कहलाता था, जिसमें विशेषकर लिच्छवि क्षत्रिय रहते थे। दूसरा पुरा कुंडग्राम कहलाता था जिसमें विशेषकर ज्ञात्रिक क्षत्रिय रहते थे। इसी वर्ग में जैन तीर्थंकर महावीर पैदा हुए थे जिनका वैशाली के लिच्छवियों से घनिष्ठ संबंध था। ज्ञात्रिक या नात वर्ग का मुखिया सिद्धार्थ था। उसको वैशाली के मुख्य राजा चेटक लिच्छवि की बहन त्रिशला ब्याही थी। उसी की कोख से महावीर पैदा हुए थे। ज्ञात्रिक (नात या नाय) वर्ग में पैदा होने से महावीर को नायपुत्त भी कहते हैं। कुंडग्राम ईशान कोण में बसा था। तीसरा पुरा वाणियग्राम कहलाता था जिसमें विशेषकर व्यापार करनेवाले बनिये रहते थे। वह वैशाली का पश्चिमी अंग था। ख़ास वैशाली की स्थिति दक्षिण और पूर्व की दिशाओं में थी। नगर से लगा हुआ उत्तर की ओर जंगल था, जिसे महावन कहते थे। इसका विस्तार हिमालय पर्वत तक था। इसी वन में एक दो मंज़िला विहार था, जिसका नाम 'कूटागारशाला' था। यह देवविमान के आकार का था और इसी में भगवान् बुद्ध ठहरा करते थे।

एक बार वैशाली में विकट प्लेग आया। उस समय भगवान् बुद्ध राजगृह में थे। तब लिच्छवियों ने अपनी ओर से एक डेपुटेशन उनको लाने के लिये भेजा। इस डेपुटेशन का नायक तोमर था। वह राजगृह जाकर भगवान् बुद्ध के चरणों पर गिर पड़ा और वैशाली चलने

को प्रार्थना की। उत्तर में उससे कहा गया कि पहले मगध के राजा श्रेणिक बिंबिसार से आज्ञा ले लो। तब राजा साहब से विनती की गई। उन्होंने इस शर्त पर अनुमति दी कि लिच्छवि लोग अपने राज्य की सीमा पर उपस्थित होकर भगवान् बुद्ध का स्वागत करें। इस बात को उन्होंने बड़े हर्ष के साथ स्वीकार किया। तब मगध के राजा ने राजगृह से लेकर अपने राज्य की सीमा अर्थात् गंगा तक अत्यंत चिकनी और उज्ज्वल सड़क बनवाई और ध्वजा, पताका, माला आदि से उसे सजाया। फिर तमाम सड़क पर पानी सिंचवाकर फूल बिछवा दिए और धूप-दीप से सुगंधित करवा दिया। फिर भगवान् बुद्ध को पहुँचाने के लिये दरबार और सेवकों समेत स्वयं अपने राज्य की सीमा तक गये। उधर वैशाली के लोगों ने इससे कहीं बढ़कर अपना ठाट बनाया और विविध रंगों की पोशाकें पहिन घोड़े हाथी और सोने के साज से चमकते हुए रथों को लेकर बड़े आवभगत से भगवान् के लेने को आये। भगवान् बुद्ध इस सजावट से चकित हो गये और अपने साथियों से कहने लगे 'भिक्खुओ देखो ये वैशाली के लिच्छवि छोटे-बड़े सभी कैसे दिखते हैं मानों त्रैयस्त्रिंश के देवता अपनी सुदर्शना बगिया को जा रहे हों।' ज्यों ही भगवान् गंगापार हुए, प्लेग का भूत सटक गया। वैशाली नगरी में प्रवेश करते ही बड़ी धूमधाम से भगवान् का स्वागत किया गया। पश्चात् उनसे पूछा गया कि आप किस स्थान में ठहरना पसंद करेंगे। बुद्ध ने महावन में ठहरने की इच्छा प्रकट की, तब भगवती गोश्रृंगी ने अपने स्थान में डेरा डलवाया। लिच्छवियों की इच्छा थी कि भगवान् उनके नगर में रहने आवें। इसलिये उन्होंने महावन में एक दो मंजिला बिहार बहुत शीघ्र तैयार करवाया जिसका नाम 'कटागारशाला' रखा गया। यह शाला भगवान् को अर्पण कर दी गई। बुद्ध ने जिन-जिन चैत्यों में जाकर एक आध दिन बिताया उन सबको लिच्छवियों ने उनके अर्पण कर दिया। भगवान् ने वैशाली में कई व्याख्यान दिये और बुद्ध-धर्म की जड़ अच्छी तरह जमा दी। महावीर उनके विरोधी थे। इसलिये उनकी ओर से कई बाधाएँ डाली गईं, परंतु वे सफल नहीं हुईं। भगवान् बुद्ध वैशाली से कई बार अन्यत्र चले गये और फिर लौट आए। अंत में जब आप पावापुरि से कुशिनारा को जा रहे थे उस समय मार्ग में वैशाली पड़ी। बुद्ध ने हाथी के समान अपना पूरा शरीर लौटाकर उस नगरी पर एक बार पूरी नज़र फेरी और अपने शिष्य से कहा—"आनंद! अब तथागत वैशाली को फिर कभी न देखेंगे।" ऐसा ही हुआ। काशिया में जाते ही भगवान् का महापरिनिर्वाण हो गया।

हीरालाल

रूपमय हृदय

(१)

बहु नीहार-कल्पनाएँ बन
रसता है वह सर्व सनातन।
रूप हृदयमय, हृदय रूपमय का अनंत अंबुधि उमड़ा है;
कहीं किसी चढ़ती तरंग पर शीर्षबिंदु बन उछल पड़ा है।
कहकर "क्या ही अकल कला है!"
प्रलय-निलय की ओर चला है।

(२)

विविध रूप-संगीत-नीत स्वर।
भीतर हृदय हमारे होकर
भाव-सत्र शुभ खोल बाँटते हैं हमको दहने औ बाएँ
"बँटते-बँटते चुक जाएँ हम, ये लेनेवाले रह जाएँ"
गरज गरज कर बरस गया घन।
उमड़ चला जग में नव जीवन।

(३)

नवदल-गुंफित पुष्पहास यह!
शशिरेखा-सुस्मित-विभास यह!
नभचुंबित नग-निविड़-नीलिमा उठी अवनि-उरकी उमंग सी।
कलित-विरल-घनपटल-दिगंचल-प्रभा पुलकमय राग-रंग सी।
पांडुर धूम्र पुंज बहु खंडित;
कोर हिरण्य-मेखला-मंडित।

(४)

तिग्म ताप तिलमिली तिरोहित,
शीतलता संचरित समाहित,
दृगरंजन अंजन-घन-छाया हरे हरे लहलहे हर्ष पर।
निशा-नयन-मीलित अरूपता असित असन् छनहेतु छिन्नकर
वज्ररेख-द्युति द्रुत उन्मीलन,
अचर रूपकला अनुशीलन।

(५)

चमक दमक कुछ नहीं जहाँ पर ,
भोग-विभूति नहीं विस्मयकर ,
रूप वहाँ के भी अंतस् में कोई प्रिय प्रसंग कहते हैं ;
साहचर्य-सुत-स्निग्ध-श्लेषरस-सिक्त सदा लिपटे रहते हैं ।
चमत्कार की चाह वाह पर
नहीं चारुता उनकी निर्भर ।

(६)

जीर्ण शीर्ण दीवार खड़ी है ,
जिसमें कहीं दरार पड़ी है ;
सटे नींव से धरे पति पुट हैं घमोय के झाड़ कँटीले ।
ठूँठी नीम तले कुछ बैठे धूल-धूसरे बाल हठीले ।
ये भी स्मृति-मधु में हैं गिरते ,
लगी हुई आँखों में फिरते ।

(७)

रूपों से तो परे हमारा
हृदय नहीं है कभी पधारा ,
और पधारेगा न कभी वह, जो चाहे सो पैरें उभरे—
ज्ञान जाय, अज्ञान जाय, मतवाद जाय, बकवाद सिधारे ।
अखिल व्यंजना को इस सुंदर
छोड़े कौन लक्षणा कहकर ?

(८)

ये ही रूप खेल कर मन में
देशकाल के धुँधलेपन में
नंदनवन बनकर ललचाते, अमरधाम की आहट लाते ,
शोभा-शक्ति-शीलमय प्रभु की लोकरंजनी कला दिखाते—
धन्य ! धन्य ! जगमंगल झाँकी
यह नारायणमय नरता की ।

(९)

रचित इन्हीं रूपों से सारे
भव्य भावना-भवन हमारे ।
इनकी ही अनुभूति-भूति से विश्वमूर्तिमय योग जगेगा ।
किंतु न किसी अरूपलोक से हृदय हमारा कभी लगेगा ।
रसमय-रूप-रूपमय-रसधर
चलित चराचर चक्र निरंतर ।

(१०)

अत्याचार-वेदना भारी
बढ़ती है तो बढ़े हमारी—
मर लेंगे फिर कभी, अभी तो ऐसी कुछ हड़बड़ी नहीं है ।
बढ़ती है वह धर्मशक्ति के दर्शन को जो यहीं कहीं है ।
अमित पाप-संताप सने हैं ,
उत्कंठा में इसी बने हैं ।

(११)

सिर पर के झोंकों से सारे
छत्र पत्र छिन जायँ हमारे ,
इस उत्कंठा में ही ठूँठी ठटरी तक हम खड़े रहेंगे ,
फूले फले हरे निज बीती प्रिय समीर से कभी कहेंगे ।
आशा-सुख की भाषा सुंदर—
हास-विकास-रूप कुसुमाकर ।

(१२)

सचमुच ही यदि प्रेम कहीं है ,
ज्ञात छोड़ वह कहीं नहीं है ।
'लगा किसी अज्ञात क्षेत्र में' यह कहकर क्यों बात छिपाना ?
यही ज्ञात 'सत्' का प्रकाश है, 'चित' का भी है यही ठिकाना ।
यही सघन 'आनंद' घटा है ।
यही अजस्र अदभ्र छटा है ।

(१३)

एक देशगत ध्वंस असत् है ;
रूपकला विभु सत् शाश्वत है ।
प्रभु के रक्षामय स्वरूप में है 'सत्' का संकेत सुभासित ।
रुचिर लोकरंजन सुषमा में है 'आनंद' मोद अधिवासित ।
काव्य-कला-धर 'सदानंद' मय
वाल्मीकि तुलसी जय जय जय ।

(१४)

सम्मुख सर्जन, रक्षण, रंजन ।
विमुख विलोपन, भक्षण, भंजन ।
लोकभ्रांति-बाधा-छाया में उभयमुखी यह कला छूटकर
रोष-अमर्ष-समन्वित फूटी होकर कोमल करुण काव्यस्वर—
क्रुद्ध प्रेममय उग्र अनुग्रह ,
दया दर्पमय द्रवण भयावह ।

रामचंद्र शुक्ल

नवयुवक नरेश

उसके अभिषेक के लिये नियत तिथि की पूर्वग रात्रि थी, और नवयुवक नरेश अपने सुंदर कमरे में अकेला बैठा था। समय की प्रथा के अनुसार, साष्टांग दंडवत् करके, उसके सब दरबारी आज्ञा लेकर शिष्टाचार के आचार्य से राजकीय शिष्टाचार के कुछ अन्तिम पाठ पढ़ने के लिये राजप्रासाद की बड़ी बारादरी को जा चुके थे; उनमें से कुछ ऐसे थे जिनका आचार-व्यवहार अब तक बिलकुल प्राकृतिक ही था, जो एक दरबारी के लिये, कहने की आवश्यकता नहीं, बहुत बड़ा दोष है।

लड़का—नवयुवक नरेश की उम्र अभी सिर्फ़ सोलह साल की थी—अपने दरबारियों के चले जाने से तनिक भी खिन्न नहीं था, और चैन की गहरी साँस लेकर ज़री के मखमली मसनद पर वह पीछे लगे हुए गोल गिरदे पर लुढ़क चुका था। वह लेटा हुआ था। नेत्रों में उन्मत्तता थी और मुख खुला था, चम्पकवर्ण वनदेवता के सदृश, या बहेलियों के फंदे में ताजा फँसे हुए जवान जंगली पशु की तरह।

वास्तव में, बहेलियों ने ही संयोग से उसे पाया था, जब, हाथ में बाँसुरी लिए और नंगे बदन, अपने पालक दीन गड़रिये के, जिसका वह अपने को सदा पुत्र समझता आया था, भेड़ियों के गोल के पीछे-पीछे वह जा रहा था। बूढ़े, महीपति की एकमात्र राजकुमारी का सामाजिक स्थिति में उससे किसी बहुत नीचे मनुष्य से कुछ लोगों का कहना था कि, एक अजनबी पर, उसके बीन बजाने के अद्भुत जादू के कारण, युवती राजकुमारी मोहित हो गई थी; दूसरे जयपुर के एक कारीगर का नाम लेते थे, जिसके प्रति राजकुमारी ने अधिक, कदाचित् अत्यन्त अधिक आदर प्रदर्शित किया था, और जो राजकीय मन्दिर में अपना काम अधूरा छोड़कर नगर से एकाएक ग़ायब हो गया था—गन्धर्वविवाह का वह बच्चा था और छठी के ही दिन अपनी सोई हुई जननी की बगल से चोरी चला गया था, तथा एक साधारण किसान और उसकी पत्नी को सौंप दिया गया था, जिनकी गोद अपने बच्चों से सूनी थी, और नगर से एक दिन से अधिक की यात्रा पर, वन के एक सुदूर भाग में रहते थे। उसको जन्म देनेवाली राजकुमारी का, जागने के एक घंटे ही के भीतर, शोक या राजवैद्य के कथनानुसार, विशूचिका, अथवा कुछ लोगों के मत से, केसर और कस्तूरी से सुगंधित बदाम के हरीरे में मिली हुई तेज़ संखिया से अन्त हो गया था, और छः दिन के बच्चे को घोड़े की काठी में रखकर ले जानेवाला विश्वासी दूत जिस समय गड़रिये के झोपड़े के खुरखुरे किवाड़ खटखटा रहा था उसी समय शहरपनाह से बाहर एक एकान्त श्मशान में लगाई गई चिता पर राजकुमारी का शव रक्खा जा रहा था। इसी मरघट में कुछ ही देर पहले, लोग कहते थे, एक अपूर्व सुन्दर परदेशी युवक की लाश में, जिसके हाथ एक फंदेदार रस्सी से पीछे बँधे हुए थे और सीने पर कई लाल घाव थे, आग लगाई जा चुकी थी, जो अभी तक जल नहीं चुकी थी।

यही कथा, जिसकी सत्यता या असत्यता के संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता, लोग एक दूसरे से कान में कहते थे। किन्तु यह इतना असन्दिग्ध है कि, बूढ़े, महीपति ने, जब वह अपनी मृत्युशय्या पर पड़ा हुआ था, अपने महापातक पर पश्चात्ताप से प्रेरित होकर या केवल इस इच्छा से कि राज्य उसकी वंशपरम्परा से निकल कर दूसरे हाथों में न चला जाय, लड़के को बुलवा भेजा था, और राजमंत्रियों के सामने उसे अपना उत्तराधिकारी क़बूल किया था।

और ऐसा जान पड़ता है कि, अपने दिन बहुरने के पहले ही क्षण से उसने सौन्दर्य के लिये उस उत्कट अनुराग के लक्षण प्रकट किये थे जिसे उसके जीवन पर अति अधिक प्रभाव डालना बदा था। उसके रहने के लिये नियत कमरों की श्रेणी में जो लोग उसके साथ गये थे, वे उस आनन्दध्वनि की, जो उसके लिये प्रस्तुत सुन्दर वस्त्रों और मूल्यवान् अलंकारों को देखते ही उसके मुख से कढ़ी थी, और उस उद्दंड हर्ष की, जिससे उसने अपनी गाढ़े की मिरजई और कमली दूर फेंक दी थी, प्रायः चर्चा किया करते थे। अवश्य ही, वह समय-समय पर अपने जंगली जीवन

की सुखद सुंदर स्वच्छंदता का स्मरण करता था, और राजसभा की मंथर रीतियों से सदा ऊबा करता था। किंतु जिस विचित्र राजभवन का—लोग जिसे 'आनंद कोट' कहते थे—वह अब स्वामी था, वह उसे अपने आनंद के लिये रचित नया संसार प्रतीत होता था; और मंत्रण-मंडल या दरबार-भवन से अपना पिंड छुटा पाते ही वह संगमूसा के चमकीले और बड़े ज़ीने से जिसके पीतल के शेरों पर सोने का पानी फिरा था, कुदकता हुआ नीचे उतर जाता था, और कमरे-कमरे, बरामदे-बरामदे, घूमा करता था, मानों कोई सौंदर्य में पीड़ाहर ओषधि ढूंढ़ रहा हो, या अभिसारिका प्रेयसी की व्यग्र प्रत्याशा में संकेत-स्थान में टहल रहा हो।

उसकी इन अन्वेषण-यात्राओं में—अपनी इन सैरों को वह इसी नाम से पुकारता था, और वास्तव में उसके लिये ये एक विचित्र प्रदेश में वास्तविक यात्राएँ ही थीं—कभी कभी उसके छरहरे और उन्नतवक्ष अनुचर भी साथ रहते थे, जिनमें से किसी के हाथ में गंगा-जमनी डंडी का चँवर और किसी के हाथ में सोने का जड़ाऊ गिलौरीदान और किसी के हाथ में काशी की बनी ज़री की पंखी होती थी। किंतु बहुधा वह अकेला ही होता था। कदाचित् किसी सहज बुद्धि की बदौलत, जो प्रायः दैवी प्रेरणा थी, उसे भासित हो गया था कि, कला-कौशल के रहस्यों का भेदन एकांत ही में होना संभव है, और सुंदरता, बुद्धिमत्ता की तरह, अपने एकाकी उपासक से ही प्रेम करती है।

इन दिनों अनेक अद्भुत आख्यायिकाएँ उसके संबंध में प्रचलित हो गई थीं। कहा जाता था कि, पैतृक राज-गुरु ने, जो उसे, राजमंत्रियों की मंत्रणा से, राजकीय कर्त्तव्यों की शिक्षा देने नित्य जाया करते थे, उसे एक दिन अतीव भक्ति भाव से एक परम सुंदर चित्र के सामने, जो हाल ही में जयपुर से आया था, नतमस्तक हो प्रणाम करते देखा था। उसकी यह क्रिया मानों नवीन देवताओं की उपासना का संकल्प थी। एक बार घंटों तक उसका पता ही नहीं लगा था, और बड़ी देर खोज होने के बाद राजप्रासाद के एक उत्तरी बुर्ज़ की एक छोटी सहनची में एक बहुमूल्य पन्ने में खुदी हुई कामदेव की मूर्ति को तल्लीन सा एकटक निरखता हुआ पाया गया था। किंवदंती के अनुसार, वह एक पुरानी प्रतिमा थी, जो पत्थर का पुल बनते समय नदी के गर्भ में मिली थी और जिस पर 'राजकुमारी रत्नेश्वरी' खुदा हुआ था, संगमर्मर की भौंहों पर अपने आरक्त और उष्ण अधर बड़े उद्वेग से चापते देखा गया था। एक समग्र निशा तो उसने एक चाँदी की किन्नरी पर चटक चाँदनी का प्रभाव मनन करने में ही बिता दी थी।

सभी अनोखे और बहुमूल्य पदार्थों में उसके लिये निस्संदेह मोहिनी शक्ति थी, और उन्हें प्राप्त करने की उत्कट लालसा से उसने अनेक सौदागरों को दूर दूर भेजा था। कुछ सुदूर सागरतट से अम्बर लाने गये थे। कुछ उन अद्भुत व्याल-मणियों की फ़िक्र में घने जंगलों और प्राचीन दुर्गों के ढाहों को गये थे जो अँधेरी रजनी के घनघोर अंधकार को दूर कर देती हैं और जिनके वियोग में उनके स्वामी विषधर भुजंग सिर पटक-पटककर प्राण दे देते हैं। कुछ गजमुक्ताओं की खोज में कजरी बन को भेजे गये थे। कुछ रेशमी और ऊनी गलीचों के लिये ईरान गये थे। कपड़े के व्यापारी श्रेष्ठतम वस्त्रों के लिये मकसूदाबाद, ढाका, काशी, चँदेरी और काश्मीर गये थे। काशानी मखमल और चीन की अतलस, गुलदार हाथी दाँत, चंद्रकांत मणि, मीनाकारी के आभूषण, लखनवी गोटाकिनारी, कोसों तक महकनेवाले कनौजी अतर, और मिट्टी के सुरंजित खिलौने लाने की भी आज्ञा दी जा चुकी थी।

किंतु सबसे अधिक उसका चित्त उस पोशाक में धरा रहता था जो वह अपने अभिषेक के दिन पहनने को था—कीनख़ाब और ज़रबफ़्त के कपड़े, माणिक्यमंडित मुकुट और मोतियों की लड़ियों तथा मोतियों के फुँदनों से सुशोभित राजदंड। वस्तुतः, आज रात को, जब अपने सुखमय ज़री के मखमली गद्दे पर पड़ा हुआ गुलदानों में रक्खे गुलाब और चंपा के फूलों के गुच्छों को वह निहार रहा था, वह इन्हीं वस्तुओं के ध्यान में लीन था। उस समय के धुरंधर कारीगरों के कौशल के नमूने कई मास पूर्व उसके सामने पेश किये गये थे, और उसने आज्ञा दी थी कि, दिन-रात श्रम करके वे समय पर काम तैयार कर दें, तथा उपर्युक्त रत्नों की खोज में सारी दुनिया छान डाली जाय, ध्यान-नेत्रों से उसने अपने को, मनोहर बादशाही वस्त्रों में परिच्छन्न, देवमंदिर के सभा-मंडप में खड़े देखा, और उसके लड़-

कौंधे ओठों पर मुसकुराहट आई तथा ठिठकी, और उसके लाल डोरेदार बंद नयन उज्ज्वल ज्योति से जगमगा उठे।

कुछ देर बाद वह अपनी गद्दी से उठा, और एक ओर रक्खी हुई लाल पत्थर की चौकी पर बैठकर, जिस पर अंगूरी रंग की झालरदार रेशमी गद्दी पर बाघंबर बिछा हुआ था, कमरे में चारों ओर दृष्टि डालने लगा। दीवालों की घोट के सामने दर्पण झख मारते थे, और उन पर चटकीले पक्के रंगों के बेल-बूटे बने हुए थे, जिन पर बैठे विविध पक्षी सौंदर्य के विजय का स्तोत्र गाते-से जान पड़ते थे। कमरे के एक कोने में एक तिपाई पर एक काठ की संदूक़ची रक्खी थी, जिस पर हरी बनात का गिलाफ़ चढ़ा था और जिसके भीतर नीलोत्पल आदि सुंदर-सुंदर रत्न जड़े थे। उत्तर की ओर की बीचवाली खिड़की के सामने पीतल की एक ऊँची सुनहली चौकी शोभायमान थी। उस पर रूपे और सोने के कई गिलास, एक रत्नजटित गडुआ, और पन्ने की एक कटोरी थी। पलंग पर पड़े रेशमी आबी पलंगपोश पर पीले फूल कढ़े हुए थे, मानो निद्रा देवी के अरसीले हाथों से छूट पड़े हों, और चाँदी के चारों पायों पर हाथीदाँत के डंडे लगे थे जिन पर ज़रदोज़ी के काम का मखमल का चँदवा तना था, और उसमें टके हुए मोरपंखों के तोड़े चित्रकारी की छत की चाँदी की चदरछत की धूल बड़ी कोमलता से झाड़ रहे थे। पलंग के पैताने संगमर्मर की एक हँसती हुई पुतली अपने सिर पर एक बड़ा दर्पण लादे खड़ी थी। चदरछत से रंगीन काँच के तीन झाड़ लटक रहे थे, जिनमें बीचवाला सौ कमलों का था और आस-पास के दोनों पचास-पचास के। दीवालों के ऊपरी भाग में देवताओं, रूपराशि रमणियों, और विविध दृश्यों के चित्रों की पंक्ति, जिनके चौकठों की सुनहली ज़मीन पर मीने के आसमानी बेलबूटों की रमणीयता का वर्णन नहीं हो सकता, शोभा की पिचकारियाँ चला रही थीं।

खिड़की की राह से बाहर दृष्टि फेरने पर वह राजकीय देवालय के विशाल शिखर को, जो भवनों की धारा पर बुल्ले की तरह तैर रहा था, और राजमहल के नदी की ओर के फाटक पर औंधाये हुए पहरेदारों को लटपटे चक्कर काटते देख सकता था। बहुत दूर पर, रसाल के एक बाग़ में एक कोकिल पंचम-स्वर से गान कर रही थी। खिड़की से केवड़े की बालियों, कामिनी, मोमासिरी, मोतिया और बेले के फूलों की सुगंध की लहरें हवा पर लदी चली आ रही थीं। उसने अपने काले-भौंराले घुँघराले केशों के लंबे लच्छों को मुख की ओर से समेटकर पीछे को फेंका, और एक बाँसुरी उठाकर बजाने लगा। उसकी घनी पलकें झुकने लगीं, और एक अनोखी शिथिलता ने उसे घेर लिया। सुंदर वस्तुओं के जादू ने उस पर इतना प्रभाव कभी नहीं डाला था, और न ऐसा उद्दाम आनंद ही उसे कभी हुआ था।

जब महल के हाते में लगे हुए घड़ियाल में पहरुए ने आधी रात का घंटा टनटनाया और गजर बजी, तब उसने भी एक घंटी खुनखुनाई। घंटी बजते ही उसके सेवक 'महाराज, ग़रीबनेवाज,' कहते हुए कमरे के अंदर आये, और बड़ी सावधानी से उन्होंने उसके कपड़े उतारे, उसकी चाँद पर गुलाब जल ठोंका, सेज पर अतर छिड़का, और तकिये के आस-पास चमेली और जुही के ढेरों फूल बिखराये। भृत्यों के कमरे से निकल जाने के कुछ ही क्षणों बाद वह सो गया।

निद्रा की गोद में उसने एक स्वप्न देखा, और उसका स्वप्न यह था।

उसे जान पड़ा कि, वह एक लंबे और नीची पटनई के दरदालान में अनेक करघों की खटपट और ठकठक के बीच में खड़ा है। छोटे दरों और अगल-बगल के रोशनदानों की झँझरियों से दिनकर का धुँधला उजाला आ रहा था। उसने देखा कि, कोरियों के डाँगर तन अपने-अपने करघों पर झुके हुए हैं और पैर उनके गढ़ों में हैं। पीले, रोगी-से कुछ बच्चे आँगन में खेल रहे थे और आगेवाली दालान में नरकुल की फटी चटाइयों पर कुछ सोये हुए थे। करघों पर झुके कोरी अपने बीनने के काम में व्यस्त थे। उनके चेहरों पर केवल चमड़ी थी, मांस का लेश भी नहीं दिखाई देता था। उनके दुबले हाथ काँपते और थरथराते थे। कुछ उदास औरतें एक ओर एक मैली-कुचैली दरी पर बैठी रेशम की लच्छियाँ खोल रही थीं। दालान में एक प्रकार की भीषण दुर्गंध भरी थी। हवा नाम को भी नहीं आती थी, और दीवालें सीलन से भीगी हुई थीं।

नवयुवक नरेश एक कोरी के पास जाकर खड़ा हो गया और ध्यान से उसके हाथों की सफ़ाई देखने लगा।

कोरी ने गुरेर कर उसकी ओर देखा, और कहा,

"तू मुझे क्यों ताक रहा है ? क्या तू हमारे मालिकों का हम लोगों पर तैनात किया हुआ जासूस है ?"

नवयुवक नरेश ने पूछा, "तेरे मालिक कौन हैं ?"

कोरी हाय मारकर बड़े उदास स्वर से बोला। "हमारे मालिक ! वे भी मेरे जैसे मनुष्य हैं। हाँ, हममें और उनमें इतना भेद अवश्य है—वे उम्दा-उम्दा कपड़े पहनते हैं और मुझे चीथड़ों से काम चलाना पड़ता है, मैं भर पेट भोजन न मिलने से पीड़ित रहता हूँ और वे तर भोजन की अधिकता से क्लेश भोगते रहते हैं।"

नवयुवक नरेश ने कहा, "देश स्वाधीन है, और तू किसी का ग़ुलाम नहीं है।"

कोरी ने उत्तर दिया, "समर-काल में बलवान् दुर्बलों को ग़ुलाम बनाते हैं, और शांति के समय में अमीर, और अमीरों के संगठित दल व्यवसाय की ओट में, ग़रीबों को ग़ुलाम बनाते हैं। हमारे इस देश में व्यवसाय का यह नवविधान अपनी निपट नवीनता के कारण हमें और भी अधिक खल रहा है। ज़िन्दगी के लिये हमें काम करना पड़ता है और वे इतनी ओछी मजूरी देते हैं कि, हम मर जाते हैं। दूसरों के लिये काम करने को हम लाचार किये जाते हैं, और हठ करने पर हमारी अँगुलियाँ काट ली जाती हैं। इन नये निर्दय वणिकों की ज़बर्दस्तियों से जिन्हें पहले हमने कभी नहीं देखा था और जो न हमारे धर्म के हैं और न हमारी जाति के, हमारा नवाब हमारी रक्षा करने में असमर्थ है। इधर हम सारा दिन उनके लिये रगड़ते हैं, उधर वे अपनी थैलियों में अशर्फ़ियाँ भरते, और हमारे बच्चे अपने समय से पहले ही मुर्झा जाते हैं; और जिन्हें हम प्यार करते हैं उनके चेहरे कठोर और कुत्सित हो जाते हैं। अंगूरों को निचोड़ते हम हैं, और अँगूरी शराब कोई दूसरा ही पीता है। अनाज हम पैदा करते हैं, और हमारी ही रसोई सूनी रहती है। हम जंज़ीरों से बँधे हैं, यद्यपि चर्मचक्षुओं के लिये वे अदृश्य हैं। हम ग़ुलाम हैं, यद्यपि लोग हमें स्वाधीन कहते हैं। हमारी ग़ुलामी यहाँ तक बढ़ी हुई है कि, जो माल हम बिलकुल निजी तौर पर तैयार करते हैं, उसका भी वे हमें मनमाना मूल्य देते हैं, हम चूँ तक नहीं कर सकते।"

नवयुवक नरेश ने पूछा, "क्या तुम सबका यही हाल है ?"

ताँती ने उत्तर दिया, "हाँ, जवान और अधबैसू, नर और नारी, बच्चे और बूढ़े, सबकी यही गति है। ब्राह्मण और पुरोहित पालकियों पर सवार अपने मालाओं की गुरियाँ सरकाते हमारे पास से निकल जाते हैं, किंतु हमारी सुध लेनेवाला एक आदमी भी नहीं है। हमारी अँधी गलियों में जिनमें धूप कभी नहीं जाती, दरिद्रता अपने भुखाते नेत्रों से हमें ताकती हुई रेंग आती है, और उसके पीछे दबे पाँवों से मत्तमुख पाप प्रवेश करता है। प्रातःकाल मुसीबत हमको जगाती है, और रात को अधमता और बेहयाई हमारे साथ बसेरा करती हैं। पर तुझे इन बातों से क्या मतलब ! तू हमारी श्रेणी का नहीं है। तेरा मुखमंडल अत्यंत प्रफुल्लित है।" यह कह चेहरा सिकोड़ कर उसने मुँह फेर लिया और फिर अपने काम में लग गया। नवयुवक नरेश ने देखा कि रेशम और सोने के तारों का कपड़ा वह बीन रहा है ?

एक विकट आतंक ने उसे धर दबाया, और उसने कोरी से कहा, "यह कौन कपड़ा तू बीन रहा है ?"

"उसने उत्तर दिया, "यह कपड़ा नवयुवक नरेश के राज्याभिषेक के लिये है। तुझको इससे क्या प्रयोजन ?"

इस पर नवयुवक नरेश बड़ी ज़ोर से चिल्लाकर जाग पड़ा। देखता क्या है कि वह अपने ही कमरे में है, और खिड़की से उसने मधुवर्ण राकेश को धूमिल पवन में लटकते देखा।

और फिर वह सो गया तथा स्वप्न देखा, और उसका सपना यह था।

उसे समझ पड़ा कि, वह एक बड़ी नौका की तख़्तेबंदी पर लेटा हुआ है, जिसे पूरे सौ ग़ुलाम खे रहे थे। उसके समीप एक चौतही पर नौका का स्वामी बैठा था। वह आबनूस के समान काला था, और उसकी रेशमी पगड़ी कुसुंभी थी। बड़ी-बड़ी चाँदी की ओंटियाँ उसके मोटे कानों में झूल रही थीं, और उसके हाथों में हाथी दाँत का एक काँटा था।

ग़ुलाम नंगे थे, सिर्फ़ एक लँगोटी उनकी लज्जा निवारण करती थी। कड़ा घाम उनके लग रहा था, और हबशी इधर से उधर दौड़ रहे थे तथा चरसे की चाबुकों से उनकी खाल काट रहे थे। वे अपने क्षीण भुजदंड पसार पसार कर भारी डाँड़ों से पानी को काट रहे थे। नमकीन फेना डाँड़ों के फलों से छिटक रहा था।

अंत को वे एक कोल में पहुँचे, और थहाना शुरू किया। तट से वायु का एक हलका सा झकोरा आया, और नौका की तख़्तेबंदी तथा विशाल पाल को महीन लाल धूल ने ढक लिया। गधों पर सवार तीन अरबों ने सामने आकर नौका की ओर बर्छे फेंके। नौकापति ने एक सुरंजित धनुष् अपने हाथ में उठाकर बाण चलाया, जो एक अरब का गला बेधकर पार निकल गया। वह झम से तरंग में गिरा, और उसके साथी गधों को सरपट भगाकर रफ़ूचक्कर हो गये।

ज्यों ही वे लंगर डाल चुके और पाल उतर आया, हबशी गोदाम में गये और रस्सों की एक बड़ी सीढ़ी निकाल लाये, जो पिलाये सीसे के बोझ से भारी की हुई थी। नौकापति ने उसे एक बग़ल से जल में फेंक दिया, और सिरे लोहे की दो मेखों में बाँध दिये। तब हबशियों ने सबसे कम उम्र गुलाम को पकड़ा और उसकी बेड़ियाँ काट दीं, और उसके नथुनों तथा कानों में मोम की डाटें लगा दीं, और उसकी कमर में एक भारी पत्थर बाँध दिया। वह शिथिलता से सीढ़ी से उतरा, और सागर में विलीन हो गया। जहाँ उसने गोता लगाया था वहाँ कुछ बुदबुदे उठे। कुछ दूसरे गुलाम ऊपर से विचित्र ढंग से झुलक रहे थे। नौका के माथे पर एक मकर-मदारी बैठा हुआ एक ही लहजे से ढोल पीट रहा था।

कुछ देर बाद गोताख़ोर पानी से बाहर निकला, और हाँफता हुआ सीढ़ी से चिपट गया। उसके दाहिने हाथ में एक मोती था। हबशियों ने मोती उससे छीन लिया, और उसे पीछे ढकेल दिया। गुलाम अपने डाँड़ों पर सो गये।

बार-बार वह पानी से ऊपर आया, और हर बार ऊपर आने में अपने साथ एक सुंदर मोती लाया। नौका के स्वामी ने उनको तौला, और हरे चमड़े की एक छोटी थैली में रख लिया।

नवयुवक नरेश ने बोलने का यत्न किया, किंतु उसकी जिह्वा तालु में चिपक सी गई, और उसके ओठों ने हिलना अस्वीकार किया। हबशी आपस में एक दूसरे से चिनचिनाते थे, और एक तरह के चमकीले दानों की एक लड़ी के बारे में झगड़ने लगे। दो सारसें जलयान के इर्द-गिर्द बारबार मड़रा रही थीं।

गोताख़ोर अंतिम बार पानी के ऊपर आया, और इस बार जिस मोती को अपनी मुट्ठी में लाया था वैसा मोती कभी किसी को नहीं दिखाई पड़ा था। उसकी आकृति पूर्णिमा के तारापति की सी थी, और रंग तड़के के तारों के रंग से भी स्वच्छ था। किंतु गोताख़ोर के चेहरे पर विचित्र पीलापन था, और जब वह नौका के पटरों पर उलटकर गिर पड़ा, तब उसके कानों और नथुनों से लोहू बलबलाने लगा। तनिक देर वह फटका और फिर ठंढा हो गया। हबशियों ने अपने कंधे चमकाये, और सामने पड़ी हुई देह उठाकर नीचे पानी में फेंक दी।

नौकापति हँसा, और आगे बढ़कर उसने मोती ले लिया। मोती को देखकर पहले उसने अपने माथे से लगाया और फिर प्रणाम किया। उसने कहा, "यह नवयुवक नरेश के राजदंड में लगेगा," और हबशियों को उसने लंगर उठा लेने का संकेत किया।

नवयुवक नरेश यह सुनकर बड़ी ज़ोर से चीख़ा और जाग पड़ा, तथा खिड़की के द्वारा उसने तड़के की लंबी भूरी अँगुलियों को कुम्हलाते हुए तारों को दबोचते देखा।

वह फिर सोगया, और स्वप्न देखने लगा। और यह उसका स्वप्न था।

उसे मालूम हुआ कि, वह एक अँधेरे वन में घूम रहा है, जिसमें विचित्र फल और सुन्दर ज़हरीले फूल लगे थे। जिधर वह जाता था काले नाग उसकी ओर फुफकारते थे, और चटकीले तोते टें-टें करते हुए एक डाली से उड़कर दूसरी डाली पर जा बैठते थे। तप्त कीचड़ पर बड़े-बड़े कछुए सोये हुए थे। पेड़ बानरों और मयूरों से परिपूर्ण थे।

आगे बढ़ते-बढ़ते वह निदान वन के सिरे पर पहुँचा, और वहाँ उसने एक सूखी हुई नदी की तह में मनुष्यों के एक बड़े समूह को काम करते देखा। चींटियों के समान वे कगारे पर जमा थे। वे भूमि में गहरे गढ़े खोदते थे और उनमें उतर जाते थे। कुछ बड़े-बड़े कुल्हाड़ों से शिलाओं को चीर रहे थे। दूसरे बालू में जुटे हुए थे। वे घास-फूस के झाड़ों को जड़ से उखाड़कर फेंक रहे थे, और उनकी जंगली गुलेनार कलियों को पैरों से रौंद देते थे। वे इधर-उधर चटपट आ-जा रहे थे, एक दूसरे को हाँक दे रहा था, और एक भी जना निकम्मा नहीं था।

एक गुहा के अन्धकार से मृत्यु और लोभ उन्हें ताक रहे थे। मृत्यु ने कहा, "मैं थक गई हूँ, उनमें से तीसरा मेरे हवाले कर दो और मैं चली जाऊँ।"

किन्तु लोभ ने मूड़ हिलाकर कहा, "वे सब मेरे नौकर हैं।"

इस पर मृत्यु ने लोभ से कहा, "तेरे हाथ में क्या है?"

उसने उत्तर दिया, "मेरे पास तीन दाने अनाज के हैं। तुझे इससे क्या प्रयोजन?"

मृत्यु ने कहा, "उनमें से एक मुझे दे दे, केवल एक, मेरे बाग़ में बोने के लिये और फिर मैं अपनी राह लूँगी।"

लोभ ने कहा, "मैं तुझे कुछ भी न दूँगा, और अपने वस्त्रों की तह में उसने अपना हाथ लुका लिया।"

तब तो मृत्यु खिलखिला कर हँसी, और एक कटोरा लेकर उसने पानी के एक कुंड में डुबकी देकर निकाल लिया। कटोरे से जूड़ी निकली, और उनमें से तीसरा मनुष्य ढेर हो गया। शीतज्वर उसके पीछे-पीछे जा रहा था, और पनिहाले साँप अगल-बगल दौड़ रहे थे।

जब लोभ ने मजूरों के समूह में से तीसरे मनुष्य को मरा देखा, तब वह अपनी छाती पीट-पीट कर कलपने लगा। उसने अपनी उघारी छाती पीटी और ज़ोर से रोया। उसने चिल्लाकर कहा, "तूने मेरे नौकरों में तीसरा ख़ून किया, तू यहाँ से लंबी हो। पंजाब के सीमान्त में समर हो रहा है, और दोनों पक्षों के सेनापति तेरा आवाहन कर रहे हैं। अफ़ग़ान काले बैल की क़ुर्बानी कर चुके और रणस्थल की ओर अग्रसर हो रहे हैं। वे अपनी ढालों को अपने भालों से कूट चुके, और सिरों पर लोहे के तवे भी बाँध चुके। मेरी यह घाटी तेरे लिये क्या है, जो तू इसमें ठहरी हुई है? तू यहाँ से दूर हो, और यहाँ फिर न आना।"

मृत्यु ने उत्तर दिया, "न आऊँगी, किन्तु जब तक अनाज का एक दाना तू मुझे न देगा तब तक मैं नहीं जाने की।"

किन्तु लोभ ने अपनी मुट्ठी बन्द कर ली, और दाँत जकड़ लिये। उसने मिनमिना कर कहा, "मैं तुझे कुछ भी न दूँगा।"

इसपर मृत्यु हँसी, और एक काला पत्थर उठा लिया, जिसे उसने वन में फेंका। तब तो धतूरे की एक झाड़ी से ज्वाला के वस्त्र धारे विषमज्वर बाहर निकला। वह मजूरों के समूह में गया, उन्हें स्पर्श किया और वह प्रत्येक मनुष्य चल बसा जिसे उसने छुआ। चलने में उसके तलवों के तले पड़नेवाली घास झुलस गई।

लोभ थर्राने लगा और शोक में उसने अपने शरीर पर राख रमाई। उसने कहा, "तू निठुर है, तू निठुर है। कलिङ्ग देश में घोर दुर्भिक्ष है, और कटक की दोनों नदियों, महानदी तथा काठजुड़ी का पानी सूख गया है। बंग और अंगदेशों में भी अकाल है, और सफ़ेद टीड़ियों के दल के दल पश्चिम दिशा से समुद्र नाँघ कर आये हैं। राँगा, मेघना और पद्मा में बाढ़ नहीं आई है। किसान और ग़रीब इन्द्रदेव को कोस रहे हैं। तू वहाँ जा, जहाँ तेरी ज़रूरत है और मेरे नौकर मेरे लिये छोड़ दे।"

मृत्यु ने उत्तर दिया, "यही सही; किन्तु जब तक तू मुझे अनाज का एक दाना न देगा, तब तक मैं न जाऊँगी।"

लोभ ने कहा, "मैं तुझे कुछ भी नहीं देने का।"

मौत फिर हँसी और अपनी अँगुलियों से उसने सीटी बजाई। तुरन्त एक नारी हवा में उड़ती हुई आई। उस के माथे पर 'महामारी' दगा हुआ था, और पेट के टूटे गीधों का एक मंडल उसके इर्द-गिर्द मँडला रहा था, उसने अपने पंखों से घाटी को छा लिया, और एक भी मनुष्य जीता नहीं बचा।

तब तो लोभ चिचियाता हुआ जंगल की राह से भागा, और मृत्यु तड़ककर अपने लाल घोड़े की पीठ पर पहुँची और उसे सरपट भगा दिया। घोड़े की दौड़ पवन को भी मात करती थी।

तब तो घाटी के धरातल के कीचड़ से महा विषधर अजगर और अनेक प्रकार के भीषण जन्तु निकले, और नथुनों से बालू का नास लेते हुए सियार कुत्ते की चाल से रेत के किनारे-किनारे आए।"

नवयुवक नरेश बिलखता हुआ बोला, "ये मनुष्य कौन थे, और किस वस्तु की तलाश में लगे थे?"

उसके पीछे खड़ा हुआ एक मनुष्य बोला, "वे एक सम्राट् के मुकुट के लिये माणिक्य निकाल रहे थे।"

नवयुवक नरेश चौंका, और पलटने पर उसने तीर्थ-यात्री के वेष में एक मनुष्य को हाथ में चाँदी का दर्पण लिये देखा।

नरेश पीला पड़ गया, और बोला, "किस सम्राट् के लिये ?"

तीर्थयात्री ने उत्तर दिया, "इस दर्पण में देख, वह सम्राट् तुझे दिखाई देगा ।"

नवयुवक नरेश ने दर्पण में देखा । अपना ही मुखड़ा देखकर वह ज़ोर से चीख़ा और जाग पड़ा । सूर्य के प्रथम प्रकाश की रश्मियाँ कमरे में प्रवाहित हो रही थीं, और बाग़ तथा फुलवारी के वृक्षों से पक्षियों के गाने की ध्वनि आ रही थी ।

मुख्य-मुख्य कर्मचारी और महामंत्रीजी नवयुवक-नरेश के कमरे में आये, और उन्होंने दंडवत् की । भृत्य उसके लिये ज़री की पोशाक लाये और राजमुकुट तथा राजदंड उसके सामने रख दिये गये ।

नवयुवक नरेश ने उनकी ओर देखा और वे सुंदर थे । अब तक जितनी सुंदर वस्तुएँ उसने देखी थीं उन सबसे वे अधिक सुंदर थे । किन्तु उसे अपने स्वप्न याद पड़े, और उसने उच्च राजकर्मचारियों तथा महामंत्री से कहा, "ये सामान ले जाओ, मैं इन्हें नहीं धारण करूँगा ।"

कर्मचारी विस्मित हुए, और कुछ हँसे। उन्होंने समझा कि, वह ठठोली कर रहा है ।

किन्तु उसने कर्कश स्वर से उनसे फिर कहा, "ये चीज़ें ले जाओ, मेरे सामने से इन्हें हटाओ । यद्यपि आज मेरे राज्याभिषेक का शुभ मुहूर्त है, तथापि मैं इनका उपयोग न करूँगा । क्योंकि विषाद के करघे पर, और व्यथा के सफ़ेद हाथों से, मेरी यह पोशाक बीनी गई है । माणिक्य के हृदय में ख़ून है, और मोती के हृदय में मौत ।" और उसने अपने तीनों स्वप्न उन्हें सुनाए ।

जब कर्मचारियों ने उन्हें सुना वे एक दूसरे की ओर देखने और कानोकान कहने लगे, "निःसंदेह वह पागल है । क्योंकि स्वप्न और है ही क्या, केवल स्वप्न है, और कल्पना केवल कल्पना है । वे वास्तविक बातें नहीं हैं, कि, उनकी परवाह की जाय । और जो लोग हमारे लिये श्रम करते हैं उनके जीवन से हमें क्या सरोकार है ? बोनेवाले को बिना देखे क्या मनुष्य को रोटी नहीं खाना चाहिए, और अहीर से बिना बातें किए दूध नहीं पीना चाहिए ?"

महामंत्री ने नवयुवक नरेश को फिर नम्रतापूर्वक प्रणाम किया, और विनती की, "महाराज, मेरी आपसे विनय है कि, अपने इन मलिन विचारों को दूर कर दीजिए, और यह ताज अपने शिर पर धारण कीजिए। यदि आप राजकीय वस्त्र न धारण करेंगे, तो लोग कैसे जानेंगे कि, आप महाराजाधिराज हैं ?"

नवयुवक नरेश ने उसकी ओर देखा । उसने प्रश्न किया, "क्या सचमुच यही बात है ? यदि मैं राजकीय पोशाक न पहनूँगा, तो वे नहीं जानेंगे कि, मैं सम्राट् हूँ ?"

एक कर्मचारी ने कहा, "वे आपको नहीं पहचानेंगे ?"

उसने उत्तर दिया, "मेरी धारणा थी कि, बिना राजकीय पोशाक के राजा जान पड़नेवाले राजा हो चुके हैं । किंतु संभव है कि, आप ही का कहना ठीक हो । तो भी मैं ये कपड़े नहीं पहनूँगा, न इस मुकुट से अपने शिर को मंडित होने दूँगा, और जैसा मैं इस महल में आया था वैसा ही इससे चल दूँगा ।"

और एक छोकड़े भृत्य को छोड़कर, जो अवस्था में एक साल उससे छोटा था, उसने सबको चले जाने का आदेश दिया । अपने हमजोली परिचारक को वह अपने सखा के समान रखता था । उसे उसने अपनी सेवा के लिये रख लिया, और स्वच्छ जल से स्नान कर चुकने पर उसने एक रंगीन बड़ा बकस खोला, और उससे गाढ़े की मिरज़ई तथा कमली निकाली, जो उसकी उस ज़माने की पोशाक थी जब वह पहाड़ी की किसी चट्टान पर बैठकर गड़रिए की झबरी भेड़ियों को चराता और उनकी तकवाही करता था । मिरज़ई उसने पहन ली और कमली कंधों से पीठ पर डाल ली, और अपने हाथ में उसने ले लिया अपना चरवाहे का अनगढ़ भद्दा सोंटा ।

छोकड़ा भृत्य चकित चक्षुओं से उसकी ओर घूरने लगा, और मुसकुरा कर बोला, "मालिक आपकी पोशाक और राजदंड तो मैं देख रहा हूँ, किंतु आपका ताज कहाँ है ?"

नवयुवक नरेश ने छज्जे के सायबान पर फैली हुई गुलाब की कँटीली बेल की एक लम्बी फुनगी तोड़ ली, और उसे मंडलाकार बनाकर अपने सिर पर रख लिया ।

तब उत्तर दिया, "यही मेरा राजमुकुट है ।"

और यह रूप बनाकर वह अपने कमरे से निकल दरबार-भवन में गया, जहाँ मंत्रीगण, प्रधान कर्मचारी, महाजन और दरबारी उसकी राह देख रहे थे।

महाजन देखते ही हौले-हौले हँसे और कुछ ने उससे झिड़क कर कहा, "महाराज, लोग अपने नरेश की प्रत्याशा कर रहे हैं, और आप भिखारी का बाना उन्हें दिखाते हैं।" कुछ लोग क्रुद्ध गए और बोले, "वह हमारे राज्य का नाम धराता है, और हमारा नरेश होने के अयोग्य है।" किंतु उसने इन कटूक्तियों के उत्तर में एक शब्द भी ज़बान से नहीं निकाला, केवल आगे बढ़ता चला गया, और संगमूसा की चमकीली सीढ़ियों से नीचे उतरा, फिर पीतल के फाटक से राजप्रासाद के बाहर निकला, और अपने घोड़े पर सवार होकर श्रीबाँकेबिहारी के शाही देवालय की ओर उसे बढ़ा दिया। छोकड़ा भृत्य उसके पीछे-पीछे दौड़ता चला जाता था।

लोग देखकर हँसे और बोले, "यह सम्राट् का स्वांग घोड़े पर सवार चला जा रहा है," और वे उसे बिराने लगे।

उसने घोड़े की लगाम खींची, और कहा, "सम्राट का स्वांग नहीं, मैं सम्राट् हूँ।" और अपने तीनों स्वप्न उन्हें सुनाए।

तब तो भीड़ से निकलकर एक आदमी आगे आया, और दुःखित भाव से उससे कहने लगा, "महाराज, आप क्या नहीं जानते हैं कि, अमीरों की विलासिता से ग़रीबों को जीवन मिलता है? आप लोगों के ठाठ-बाठ से हमारा पालन होता है, और आपके दुर्व्यसन हमें रोटी देते हैं। हृदयहीन मालिक के लिये काम करना दुखद है, किंतु मजूरी के लिये मालिक का न होना और भी अधिक दुखदायी है। क्या आप समझते हैं कि मरभुक्खे हमारा पेट भरेंगे? और इन बातों का उपाय आपने क्या सोचा है? क्या आप ख़रीदार से कहेंगे कि, 'इतने ही दाम देकर ख़रीद' और बेंचनेवाले से कहेंगे, 'इतने ही दामों पर बेंच'? मेरी समझ में तो नहीं आता। अतएव अपने महल को लौट जाइए, और अपने शाही कपड़े पहनिए। आपको हमसे और हमारे कष्टों से क्या मतलब?"

नवयुवक नरेश ने सवाल किया, "क्या निर्धन और धनी भाई-भाई नहीं हैं?"

उस मनुष्य ने उत्तर दिया, "क्यों नहीं, और धनी भाई का नाम है 'घातक।'"

नवयुवक नरेश के नयनों में आँसू भर आए, और लोगों की घुनघुनाहट के बीच से अपना घोड़ा बढ़ाते वह चला गया, और छोकड़े भृत्य ने भयभीत होकर उसका साथ छोड़ दिया।

जब देवालय के सिंहद्वार पर वह पहुँचा, तब द्वारपालों ने अपनी तलवारों की मूठों पर हाथ रख ललकार कर कहा, "यहाँ तुम क्या चाहते हो? आज इस द्वार से सम्राट् के सिवाय कोई और नहीं प्रवेश कर सकता।"

उसका चेहरा रोष से तमतमा उठा, और उसने उनसे कहा, "हाँ, मैं सम्राट् हूँ," और धड़धड़ाता भीतर चला गया।

जब वृद्ध राजपुरोहित और प्रधान पुजारी ने उसे गाढ़े की मिरज़ई पहने और काँधे पर कमरी डाले आते देखा, वे विस्मय में अपने उच्चासनों से उठे, और राज-पुरोहित उससे बोले, "वत्स! क्या यही राजकीय वेष है? किस मुकुट को मैं तुम्हारे शीश पर रक्खूँ, और कौन-सा दंड तुम्हारे हाथ में मैं दूँ? निस्संदेह, आज का दिन तेरे लिये हर्ष का दिन होना चाहिए, न कि विमर्ष का।"

नवयुवक नरेश ने कहा, "क्या हर्ष को विषाद की बनाई वस्तुओं को धारण करना चाहिए?" और उसने अपने तीनों स्वप्न राजपुरोहित और प्रधान पुजारी को सुनाए।

जब वे उसके स्वप्नों को सुन चुके, तब राजपुरोहित ने अपनी भौंहें सिरोरीं, और बोले, "मेरे बच्चे, मैं वृद्ध हूँ, और मेरे जीवन का अब शीतकाल है, और मैं जानता हूँ कि संसार में अनेक कुकृत्य होते हैं। भीषण लुटेरे जंगलों के बीहड़ नालों से निकल कर डाके डालते हैं और जान-माल के गाहक बनते हैं। सिंह जलाशयों के तट पर छाया में बैठे भूले-भटके बटोहियों की राह देखा करते हैं, और शिकार देखते ही चिटक कर चोट करते हैं। जंगली सुअर अनाज के खेतों को गर्द-बर्द कर डालते हैं, और तोते सुंदर फलों को खुथर कर पकने से पहले ही चौपट कर देते हैं। ठग भाँति-भाँति के वेष बनाकर धनिकों का पीछा करते हैं और अवसर पाते ही पल मात्र में उनका काम तमाम कर अपना काम बनाते हैं।

कोढ़ी नगरों के बाहर इधर-उधर पड़े दाने-दाने को बिललाया करते हैं और कोई उनके पास तक नहीं फटकता। भिखारी दर-दर घूमकर माँगते हैं और गंदे नालों के किनारे कुत्तों के साथ बैठकर खाते हैं। क्या तुम इन बातों को मेट सकते हो? क्या तुम कोढ़ी को अपने साथ पलंग पर पौढ़ाओगे, और भिखारी को अपने साथ बैठाकर अपने थाल में खिलाओगे? क्या सिंह तेरा कहना मानेंगे, और बनैले शूकर तेरी आज्ञा का पालन करेंगे? जिसने कष्टों की सृष्टि की, क्या वह तुझसे अधिक बुद्धिमान् नहीं है? इसी से तूने जो कुछ किया है उसकी मैं प्रशंसा नहीं कर सकता, और तुझे आदेश देता हूँ कि, महल को लौट जा और अपना मुखमंडल प्रफुल्लित कर, और सम्राट् के योग्य वस्त्रों को धारण कर, और तब स्वर्ण मुकुट से मैं तेरा अभिषेक करूँगा, और मोतियों का राजदंड तेरे हाथ में दूँगा। अपने स्वप्नों को अब तू भूल जा। इस संसार का भार एक मनुष्य के उठाने के लिये बहुत भारी है, और जग का विषाद एक मनुष्य के हृदय के झेलने के लिये बहुत तीव्र है।"

नवयुवक नरेश ने कहा, "इस भवन में आप ऐसा कहते हैं" और राजपुरोहित तथा प्रधान पुजारी को जहाँ का तहाँ छोड़कर वह झपट कर आगे बढ़ा, और सभामंडप से होता हुआ श्रीबाँकेबिहारी के सिंहासन की सीढ़ियों के नीचे जाकर भक्ति के आवेश में खड़ा हो गया।

वह भगवान् बाँकेबिहारी की प्रतिमा के सामने खड़ा था। सिंहासन के इधर-उधर चंदन की चौकियों पर पूजा के सुवर्ण-पात्र रक्खे थे। कुछ देर बाद उसने भूमि पर गिरकर दंडवत् की। सुवर्ण-सिंहासन में जटित रत्नों की ज्योति से मंदिर जगमगा रहा था, और धूप का सुगंधित धुआँ मंदिर में छाया था। सिंहासन की तीसरी सीढ़ी पर कपूर का एक ढेला चाँदी की थाली में जल रहा था, और पास ही पंचमुखी दीपदानी के घी से भरे पाँचों मुखों से बत्तियों का मधुर और शीतल प्रकाश हो रहा था। नवयुवक नरेश विह्वल होकर स्तुति करने लगा। उसके नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लग गई। क्षण में वह नेत्र खोलकर स्थिर दृष्टि से मनमोहन की मोहिनी मूर्ति को निरखने लगता था और क्षण में उसके नेत्र बंद हो जाते थे। कभी वह लंबा-लंबा लेट जाता था और भूमि पर मस्तक रगड़ने लगता था। पीताम्बरधारी राजपुरोहित और प्रधान पुजारी नवयुवक नरेश की यह दशा देखकर अवाक् हो गए।

सहसा राजपथ में तुमुल कोलाहल होने लगा, और तलवारें चमकाते हुए दरबारी लोग देवालय के प्रांगण में झपटते दिखाई दिये। वे रोष से कह रहे थे, "कहाँ है वह स्वप्न देखनेवाला? वह सम्राट् कहाँ है जो भिखारियों के से कपड़े पहने है—वह लौंडा जो हमारे राज्य को हँसाता है? हम बिना उसका सीस उतारे नहीं मानेंगे, क्योंकि हम पर शासन करने की योग्यता उसमें नहीं है।"

नवयुवक नरेश को इस कोलाहल और दौड़-धूप का परिज्ञान तक नहीं हुआ, वह तो श्री बांकेबिहारी की वंदना में अचेत था।

उन्मत्त दरबारी अपनी बौखलाहट को लेकर सभामंडप में पहुँचे। मंदिर के भीतर देवों के देव भगवान् कृष्णचंद्र के सिंहासन के नीचे नवयुवक नरेश उन्हें खड़ा दिखाई दिया। झरोखों से आनेवाली सूर्य की किरणों की धारा ने उसके शरीर को जिन सुनहले कपड़ों से घेर दिया था, वे उन कपड़ों से अधिक जगमगा रहे थे जो उसके अभिषेक के लिये विशेष यत्न से बनवाये गये थे। उसके पास पड़ा हुआ उसका सूखा और अनगढ़ डंडा हरिया आया था और मोतियों से भी अधिक सफ़ेद फूल उसमें खिले हुए थे। उसके शिर के कँटीले मुकुट के काँटे हरे-भरे होगये थे और मानिकों से भी अधिक लाल गुलाब उसमें लहलहा रहे थे। सफ़ेद फूल मोतियों से भी अधिक सफ़ेद थे और उनके डंठल रूपे के से थे। लाल गुलाब बढ़िया से बढ़िया माणिक्यों से भी अधिक लाल थे और उनकी पखुरियाँ सोने के पत्तरों की थीं।

राजकीय वस्त्र धारण किये वहाँ वह खड़ा था, और रत्नजटित मंदिर के बग़ली दरवाजे खुल गये, और ठाकुर की पूजा के जगमगे पात्रों के स्वर्ण से एक अद्भुत और अवर्णनीय आभा की छटा छहराने लगी। राजकीय पोशाक में वहाँ वह खड़ा था, और ज्योतिर्मय की ज्योति से स्थान परिपूर्ण था, और आलों में स्थापित देवता वेदध्वनि कर रहे थे। सम्राटोचित सुंदर वस्त्र धारे वहाँ वह खड़ा था, और चित्रित देववधूटियाँ गान कर रही थीं। सम्राटोचित सुंदर वस्त्र धारे वहाँ वह खड़ा था, और सभामंडप में

नवल नर्तकियाँ नृत्य करने लगीं, और सिंहद्वार के ऊपर नौबतखाने में नौबत बजने लगी।

लोग ससंभ्रम दंडवत् करने लगे, और क्रुद्ध दरबारियों की तलवारों ने मियानों का घूँघट काढ़ लिया, और दरबारी स्तुति करने लगे, और राजपुरोहित का मुख उतर गया, और हाथ उसके काँपने लगे। उसने कहा, "मुझसे भी महान् ने तेरा अभिषेक कर दिया," और नवयुवक नरेश की चरणरज लेने को लपका।

नवयुवक नरेश मंदिर से बाहर निकला, और जनता के बीच से होता हुआ अपने 'आनंद कोट' को चला गया। किंतु किसी का भी साहस न हुआ कि, उसके मुख मंडल की ओर देखे, क्योंकि दैवी तेज से वह पूर्ण था। *

—बालमुकुंद वाजपेयी

* आस्कर वाइल्ड की यंगकिंग कहानी का अनुवाद।

साहित्य-सुधा

(१)

निरखि-निरखि नीके मनहर-मूर्ति मंजु,
तोरतीं सुतृन ठाढ़ीं टोलीं सखियान की;
पारतीं न पलक 'विसारद' सराहि भले,
वारतीं मनोज-वारी सोभा अति सान की।
कहाँ मृदु-पानि कहाँ हर को पिनाकु यह,
भावतीं अहै न बात नेसुक सयान की;
करते भली जु प्रन-कठिन विहाय निज,
देते रघुबरहिं विदेह ब्याहि जानकी।

(२)

राचसन-राज की कछुक रचना नवीन,
बहु विधि भरित अनैसी ओर-छति की;
कैधों कोऊ वेस दुख-दारुन की दूतिका सु,
आई द्रुत दौरि इत अनचाही अति की।
रूठी-तकदीर तूठी भलेई 'विसारद' जू,
ताही की सुहाई शुभ-सूचना जुगति की;
लीन्हे कर-मूठी सिय सुमुखी विचारैं बैठी,
कैधों या अनूठी है अँगूठी प्रान-पति की।

(३)

छूट्यो देस वेस सब सुजन समूह छूट्यो,
असन बसन छूट्यो छूट्यो सौंजु-सुख को;
छूट्यो सरबसु प्रिय प्रान को अधारु पति,
छूट्यो वर-देवर लखनवारों रुख को।
छूट्यो धीर हिय को 'विसारद' भलेई हाय,
जूट्यो आय जूह त्यों प्रगट घोर-दुख को;
सुतरु-असोकु तर बैठी यों विचारैं सिय,
छूट्यो क्यों न? अबलौं सँजोगु या बपुख को।

(४)

उठति न एक पल पलक पलक हू सों,
छाई स्यामताई आनि सिगरे सरीर में;
कढ़त न बोल वर रसना जकरि रही,
मरुरत जात अँग वेदन-गँभीर में।
कुंज परे कहरैं सु केहूँ कर ठहरैं न,
हहरैं कुँवर-कान्ह अधिक अधीर में;
त्रिष ते विसेष यों 'विसारद' विषमता है,
राधे तेरे तिरछे-कटाच्छन के तीर में।

बलदेवप्रसाद टंडन

"पंतजी और पल्लव"

(समालोचना)

(४)
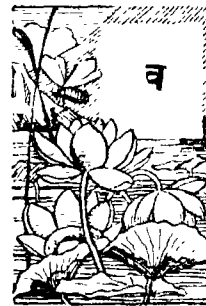
वर्तमान विश्ववाद ब्रजभाषा और भारतवर्ष की तमाम भाषाओं के कवियों में चेतन-वाद या वेदांत-वेद्य अनंतवाद के रूप में मिलता है। जो लोग यह समझते हैं कि भारतवर्ष के पिछले दिनों में लोगों की बुद्धि संकुचित हो गई थी, और पंतजी के शब्दों में यह कहने का साहस कर बैठते हैं कि ब्रज-भाषा में कुछ कवियों को छोड़कर प्रायः अन्यान्य और सब कवि एक साधारण सीमा के अंदर ही तेली के बैल की तरह आँख चक्कर काटते चले गये हैं, वे वास्तव में ग़लती करते हैं। मैं यह मानता हूँ कि भारतवर्ष की उदारता, इसका विशाल हृदय, मुसलमानों से लड़ते-लड़ते प्रतिघातों के

फल से धार्मिक संकीर्णता में मृदु-स्पंदित होने लगा था और उसकी व्यावहारिक पहली विशालता चौके के अंदर आ गई थी। परंतु, दार्शनिक अनुलोम-विलोम के विचार से बाहरी आसुरी दबाव के कारण भारतीय दिव्य प्रकृतिवाले मनुष्यों का इतना संकुचित हो जाना स्वाभाविक सत्य का ही परिचायक सिद्ध होता है। हर एक मनुष्य, हर एक प्रकृति, हर एक जाति, हर एक देश दबाव से संकोच-रूप धारण करता है। व्रज-भाषा-काल में इस दबाव का प्रभाव जातीय साहित्य में भी पड़ा, और उस काल की हमारी हार हमारी संकुचित वृत्ति का यथेष्ट परिचय देती है, यह सब ठीक है, परंतु इसमें भी संदेह नहीं कि वह दबाव आवश्यक था जाति को संकुचित करके उसे शक्तिवाली सिद्ध करने के लिये—शेर जब शिकार पर टूटता है तब, पहले, उसकी तमाम वृत्तियाँ—तमाम शरीर सिकुड़ जाता है और इस संकोच से ही उसमें दूर तक छलाँग भरने की शक्ति आती है। व्रज-भाषा-काल का जातीय संकोच जिस तरह देखने के लिये बहुत छोटा है, उसी तरह उसने छलाँग भी भराई उससे बहुत लंबी—धर्म के नाम पर इस काल के इतना त्याग शायद ही भारतवर्ष ने दिखाया हो—"Either sword or Quran" वाले धर्म के सामने हर्ष-विषाद-रहित हो जाति के वीरों ने अपने धर्म-गर्वोन्नत मस्तकों की भेंट चढ़ाई—एक-दो नहीं,—अगणित सीताएँ और सावित्रियाँ पैदा होकर अपने उज्ज्वल सतीत्व का जौहर दिखलाती गईं—उस संकोच के भीतर से करोड़ों शेर कूदे, आज जिनकी वीरता व्रज-भाषा-काल के साहित्य के पृष्ठों में नहीं—चारणों के मुखों में प्रतिध्वनित हो रही है, जैसे उस समय की सीमा को वे वीर एक ही छलाँग से पार कर गये और अपने भविष्य-वंशजों के पैरों में एक छोटी-सी बेड़ी डाल गये—भविष्य के सुधार की आशा से। आजकल के साहित्यिक चीत्कार इसी बेड़ी के तोड़ने के लिये हो रहे हैं—धार्मिक, सामाजिक और नैतिक निनादों के साथ-ही-साथ।

जिस तरह धार्मिक छलाँग भरी गई, उसी तरह साहित्यिक भी—हमेशा ध्यान रक्खा गया, एक पद्य के अंदर—एक छोटी-सी सीमा में भावों की विशालता ला दी जाय। मथुरा-व्रज-गोकुल और द्वारिका की छोटी-सी सीमा में पंतजी अकारण भटकते हैं—यह तो कवियों की, भावों के दिव्य-आधार कृष्ण पर की गई, प्रीति है—आप भाव ग्रहण कीजिये, "श्याम" के नाम से न घबराइये—बड़ा-सा दृश्य चाहते हैं आप?—लीजिये—

> सावन-बहार झूलें घन की घुमंड पर,
> घन की घुमंड पौन चंचला के टोले पे;
> चंचला हू झूलें घन सेवक अकास पर,
> झूलत अकास लाज-हौसले के टोले पे।"

लाज और हौसले के टोले में आकाश झूलता है,—समाज और हौसले के आनंद के कंपन से तमाम प्रकृति—तमाम आकाश के परमाणु आनंद से काँपते हैं—देखिए चेतन—देखिए सौंदर्य की दिव्य मूर्ति—देखिए आकाश जैसे बड़े को लाज-जैसी छोटी-सी सखी के टोले में झुला दिया—कितने बड़े को कितने छोटे में।

नारियों या नायिकाओं के भेद, रसों के भेद, अलंकारों—भूषणों के भेद, छंदों के भेद, ध्वनियों की परख, कविता-साहित्य का विश्लेषण जहाँ तक हो सकता है—आर्य-भाषाओं के किये हुए उन विश्लेषणों के अनुसार, व्रज-भाषा के काव्य-साहित्य ने सब भेदों पर लिखा और खूब लिखा। क्या कविता-साहित्य का इतना सुंदर विश्लेषण संसार की किसी आर्येतर भाषा ने किया? पंतजी, क्या आप शराब, कबाब और बग़ल में बीबी—वाले कवियों को अश्लील न कहेंगे?—यदि कहते हैं, तो योरप का एक प्रसिद्ध कवि निकालिए जो इन दुर्गुणों से बचा हो और शृंगार की कविता में बाज़ी मार ले गया हो। व्रज-भाषावालों ने तो फिर भी कृष्ण—जैसे शृंगार-रस के महापुरुष की आड़ में—उस मदन को मूर्च्छित कर देनेवाले कामजित् आदर्श की शरण में अपनी वासनाओं को चरितार्थ किया,—यह क्या योरप की कविता के बालडांस् से भी गया-बहा हो गया?

योरप की कविता के जो अच्छे गुण हैं, मैं उनका हृदय से भक्त हूँ, उनकी वर्णना-शक्ति स्वीकार करता हूँ, परंतु यह उन्हीं की दृष्टि से, तुलनात्मक समालोचना द्वारा नहीं। जिस दिन हिंदोस्तान में अपने पैरों खड़े होने की शक्ति आएगी—वह स्वाधीन होगा—उस दिन तक योरप के इन भावों की क्या दशा रहती है, हम लोग दस-बीस जीवन के बाद देखेंगे। दुःख है, उस समय मुझे और पंतजी को समालोचना की ये बातें याद न रहेंगी। व्रज-भाषा के पक्ष की अनेक बातें, अनेक

उदाहरण, प्रासंगिक होने पर भी, लेख-वृद्धि के भय से छोड़ दिये गये। मैं यहाँ केवल इतना ही कहूँगा कि ब्रज-भाषा के कवियों ने सौंदर्य को इतनी दृष्टियों से देखा है कि शायद ही कोई सौंदर्य उनसे छूटा हो—शायद ही किसी दूसरी जाति ने अपने सुख के दिन इतनी आवारगी में बिताये हों और वह जाति जागृत होने के बदले काल के गर्भ में चिरकाल के लिये विलीन न हो गई हो।

शब्दों के चित्र पर अब कुछ लिखना आवश्यक है। पंतजी लिखते हैं—'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल की कोमल-कंपन, 'तरंग' में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलन, उठकर गिरना, 'बढ़ो-बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है; 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, 'ऊर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिल्लोल-कल्लोल से ऊँची-ऊँची बाहें उठाती हुई उत्पात-पूर्ण तरंगों का आभास मिलता है। 'पंख' शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान के लिये भारी लगता है; जैसे किसी ने पत्ती के पंखों में शीशे का टुकड़ा बाँध दिया हो, वह छटपटा कर बार-बार नीचे गिर पड़ता हो; अँग्रेज़ी का (wing) जैसे उड़ान का जीता-जागता चित्र है। उसी तरह 'touch' में जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती। "स्पर्श" जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच हो उठता है, उसका चित्र है; ब्रज-भाषा के परस में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है; 'joy' से जिस प्रकार मुँह भर जाता है, 'हर्ष' से उसी प्रकार आनन्द का विद्युत्-स्फुरन् प्रकट होता है। अँग्रेज़ी के 'air' में एक प्रकार की (trans parency) मिलती है, मानों इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखलाई पड़ती हो; 'अनिल' से एक प्रकार की कोमल शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छनकर आ रही हो; 'वायु' में निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फ़ीते की तरह खिंचकर, फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है' 'प्रभंजन' 'wind' की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्रों को उड़ाता हुआ बहता है; 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नहीं सकती; 'पवन' शब्द मुझे ऐसा लगता है जैसे हवा रुक गई हो, 'प' और 'न' की दीवारों से घिर-सा जाता है; 'समीर' लहराता हुआ बहता है।"

पंतजी की इस छानबीन का ही फल है कि उनके तपे हुए हृदय के स्वर्णशतदल पर कविता की ज्योतिर्मयी मूर्ति खड़ी हुई। उनकी दृष्टि की तृष्णा आकर इस व्याख्या से बहुत अच्छी तरह प्रकट हो रही है। रूप का अन्वेषण करती हुई उसने, अरण्य, पर्वत, खोह और कन्दराएँ कुछ भी नहीं छोड़ा। शब्दों के रूपों को उनकी दृष्टि की करुण प्रार्थना से आना ही पड़ा। उनके स्वर के प्राणायाम ने आकर्षण-मंत्र सिद्ध कर दिखाया। उनकी दृष्टि ने शब्दों के रूपों का अमृत पान किया।

परन्तु यहाँ भी भारतीय शब्दों की भारतीय व्याख्या उनके इस अन्वेषण से प्रतिकूल चल रही है। बँगला के रवीन्द्रनाथ और अँग्रेज़ी के शेली पंतजी की व्याख्या से, अपने दल की पुष्टि के विचार से प्रसन्न होंगे। परंतु भारतवर्ष के आचार्य और कवि नाराज़ होंगे। इसी विषय पर यहाँ के आचार्यों ने दूसरी तरह से व्याख्या की है। पंतजी की व्याख्या से ज़ाहिर है, उनका झुकाव अँग्रेज़ी शब्दों के तत्सम रूपों की ओर अधिक है और यह प्रयत्न ऐसा जैसे भारतवर्ष की आबो-हवा को अँग्रेज़ी दवाओं के अनुकूल करना।

भारतवर्ष के शब्दों के चित्र पहले से तैयार किए हुए हैं। धातुरूप से उनके चित्र निकाले जा चुके हैं। जैसे पंतजी कहते हैं, touch में जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती। यहाँ एक विशेष बात है जिसकी ओर, अपने संस्कारों के वश, पंतजी ध्यान नहीं दे सके। touch के छूने की क्रिया पर विचार कीजिए, 't' से जीभ मूर्द्धा स्पर्श करती है, फिर 'अच्' (ouch) से स्वरवायु भीतर से निकलकर जैसे बाहर की किसी वस्तु को छू जाती हो, इस तरह 'touch' से स्पर्श की क्रिया उच्चारण द्वारा होती है। 'स्पर्श' में जो छूने की क्रिया है, वह 'touch' से और सुंदर, और मधुर है। यों तो यहाँ वाले 'स्पृश्' का ही अपभ्रष्ट रूप 'touch' (टच् या टश्) हुआ है, कहेंगे। 'स्पर्श' की 'स्पृश'—धातु की क्रिया देखिए— 'स्' दंतों को स्पर्श कर, 'प्' द्वारा ओष्ठों को—शरीर के सबसे अंतिम उच्चारण स्थल तक पहुँचकर—स्पर्श करता है, फिर 'ऋ' द्वारा

स्वर-शक्ति अंतर्मुखी होती है जैसे उस स्पर्श का संवाद देने के लिये 'श' से तालु, स्पर्श करती हुई 'स्पर्श' की कोमलता का अनुभव करा जाती है—तालु से उच्चारित होनेवाले अक्षर कोमल हैं। पंतजी जो यह लिखते हैं कि, "स्पर्श", जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच होता है, उसका चित्र है, यह विचार वे बहिर्दृष्टि से कर रहे हैं—उनका यह स्पर्श बाहर से होता है जो भारतीय शब्दों की विचारणा-प्रणाली की अनुकूलता नहीं करता। 'touch' के समर्थन से उनके विचार बाह्य हो जाते हैं—'touch' से बाहर की वस्तु के छूने की क्रिया होती है। चूँकि भारतीय समस्त विचार अन्तरात्मा से संबंध रखनेवाले अन्तरात्मा को ही रूप, रस, गंध और शब्द-स्पर्श से सुखी करनेवाले होते हैं, इसलिये 'स्पर्श' होठों से बाहर नहीं जा सका, जैसे सब क्रिया अपने ही भीतर हुई और उसका फल भी अपने ही भीतर मिल गया। पंतजी का 'touch' का विचार भी बाह्य है और 'स्पर्श' का भी। अंत में जो वे कहते हैं, 'परस' में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है, यह ख़याल मात्र है।

गोस्वामी तुलसीदासजी का एक उदाहरण पंतजी ने भी दिया है—

"घन घमंड गरजत नभ घोरा :"

इन शब्दों में एक भी शब्द ऐसा नहीं जो अपना विशेष अर्थ न रखता हो। इन तमाम शब्दों के एक साथ उच्चारण से बादलों की गर्जना जैसे हो रही हो—ग. घ. ड. भ. का कोई न कोई प्रत्येक शब्द में आया है। फिर—

"प्रिय विहीन डरपत जिय मोरा।"

प्रिया के वियोग से क्षीण प्रियतम के हृदय का भय "डरपत" क्रिया के चित्रफल से प्रकट किया गया। एक ओर मेघों में प्रकृति का उत्कट उत्पात, दूसरी ओर विरह-कृश पति के हृदय में भय, घबड़ाहट। एक ओर विराट्, दूसरी ओर स्वराट्। एक ओर उत्पात, दूसरी ओर उसकी क्रिया। एक ओर कठोर, दूसरी ओर करुण कितना सुंदर निबाह है।

इस प्रसंग में मैं और अधिक उद्धरण न दूँगा। केवल इतना ही कहना चाहता हूँ, यहाँ के शब्दों से, यहीं के प्रचलित अर्थ के अनुकूल, काम लेना ठीक है। पन्तजी अपनी कल्पना में पड़कर कितना बड़ा अनर्थ करते हैं, देखें—

"हमें उड़ा ले जाता जब द्रुत दल-बल-युत घुस वातुल-चोर"

अपनी इन पंक्तियों के संबंध में पंतजी लिखते हैं—"इसमें लघु अक्षरों की आवृत्ति ही वातुल चोर के दल-बल-युत घुसने के लिये मार्ग बनाती है।

पहला एतराज़ यह कि दल-बल-युत आदि शब्दों की आवृत्ति यदि घुसने के लिये मार्ग बनाती है, तो सफ़रमैना की पलटन की तरह वह अर्थ की लड़ाई में काम भी न देती होगी। तुलसीदासजी की उद्धृत चौपाइयों में देखा गया—शब्द गरजते और काँपते हैं और अपने अर्थ के फाटक की रक्षा भी करते हैं।

दूसरा यह कि चोर यदि वातुल है, वात-ग्रस्त है, पागल है, तो उड़ा ले जाने की बुद्धि से रहित है—क्योंकि विकृत-मस्तिष्क है।

तीसरा यह कि मेघ को उड़ाने का कार्य वायु ही करता है, विना किसी सहायक के अकेला। यदि उसके इस उड़ाने के कार्य में और और सहायक आते हैं, जिससे 'दल-बल-युत' के अर्थ की पुष्टि होती है, तो पंतजी बतलाएँ उसके ये सहायक और कौन-कौन से हैं।

चौथा यह कि यदि "वात-चोर" के कर्मधारय का रूप "वातुल-चोर" बना है,—'वात' शब्द विशेषण के रूप में 'वातुल' कर दिया गया है, तो यह भारतवर्ष के किस प्रदेश के व्याकरण के अनुसार सिद्ध होगा, जिससे हमें विश्वास हो जाय, 'वातुल-चोर' द्वारा बात या वायु के चोर होने का अर्थ सिद्ध होता है।

अब यहाँ से मैं पंतजी के 'प्रवेश' की आलोचना समाप्त करता हूँ यद्यपि उनके लिखे हुए अभी बहुत से विषय ऐसे रहे जा रहे हैं जिन पर कुछ न कुछ लिखना आवश्यक था।

अब मैं पंतजी की कविताओं के निबाह पर कुछ लिखना चाहता हूँ। 'पल्लव'-पुस्तक में उनकी कविता 'पल्लव'-शीर्षक पद्य से शुरू होती है—श्रीगणेश इस तरह होता है—

"अरे, ये पल्लव-बाल!
सजा सुमनों के सौरभ-हार

गूँथते वे उपहार ।
अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल,
नहीं छूटी तरु-डाल ;
विश्व पर विस्मित चितवन डाल,
हिलाते अधर-प्रवाल ।"

पहले इन दोनों पंक्तियों को देखिए—

"अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल,
हिलाते अधर-प्रवाल !"—

'प्रवाल' शब्द दो बार आया है, एक बार तो पल्लवों को ही उन्होंने नवल-प्रवाल कहा, फिर पल्लवों के अधरों में प्रवाल जड़ दिये ! अर्थ हुआ, प्रवाल-पल्लव अपने अधर-प्रवालों को हिला रहे हैं !—इस तरह उपमान-उपमेय का निवाह सार्थक नहीं हो सका। दूसरे, 'हिलाते अधर-प्रवाल' का भाव-चित्र बड़ा ही विचित्र है। मैं जब इसे पढ़ता हूँ, मुझे "पंजाब थियेट्रिकल्स" के उस 'जोकर' की याद आती है जो बड़े-बड़े अक्षरों के साइनबोर्ड के नीचे एक ऊँची टेबिल पर, 'कॉर्नेट' और ड्रम की ताल पर थिरकता हुआ दर्शकों को देख-देखकर मुँह बनाता और अपने पौडर सफ़ेद अधरों के मुक्ताकार तबक को अपनी विचित्र मुख-भंगियों द्वारा हिलाता रहता है। इस पद्य के साथ उस 'जोकर' का मेरी प्रकृति में इतना घनिष्ट संबंध हो गया है जिसका भूलना मेरे लिये असंभव हो रहा है।

पंतजी सोचें, उन्हीं के सामने यदि कोई खड़ा होकर अधर-प्रवाल हिलावे, तो हँसेंगे या नहीं। क्या इससे हास्य के सिवा कोई सौंदर्य भी उन्हें मिल सकता है ?

यों तो दो बार प्रवाल का आना ही उनकी कविता में दोषकर हो गया है, परंतु यदि पहला प्रवाल छोड़ भी दिया जाय, तो दूसरा प्रवाल भी ऐसा नहीं कि भाव-चित्र का अच्छा निवाह कर सके।

यह सारा दोष "हिलाते" का है। "हिलाते" का प्रयोग ऐसे स्थलों में अच्छा नहीं होता। दो वाक्य देखिए—

"वे अधर-प्रवाल हिला रहे हैं"
"उनके अधर-प्रवाल हिल रहे हैं"

दूसरे वाक्य में सौंदर्य पहले वाक्य से कितना बढ़ गया है। पंतजी की इधर की कविता में एक जगह मैंने देखा—

"झलका हास कुसुम-अधरों में,
हिल मोती का-सा दाना ।"

यहाँ हास फूलों के अधरों पर मोती के दाने की तरह आप ही हिलता है, हिलाया नहीं जाता, अतएव कितना सुंदर है।

"बजा दीर्घ-साँसों की भेरी,
सजा सटे-कुच कलशाकार ;
पलक-पाँवड़े बिछा, खड़े कर,
रोवों में पुलकित-प्रतिहार ।
बाल-युवतियाँ तान कान तक,
चल-चितवन के बंदनवार ;
देव ! तुम्हारा स्वागत करतीं,
खोल सतत उत्सुक-दृग-द्वार ।"

इस पद्य में 'बजा', 'सजा', 'तान' आदि क्रियाएँ वैसी ही हैं। कलशाकार सटे कुचों को सजाना सौंदर्य की अभिव्यक्ति में सहायक होता है और स्त्रियों के लिये कुचों का शृंगार करना प्रचलित भी है, इस दृष्टि से बुरा नहीं हुआ, परंतु दीर्घ साँसों की भेरी बजाना अस्वाभाविक प्रतीत होता है। यहाँ अवश्य "ऊँटख़ाने का मुंशी" "मुंशीख़ाने का ऊँट" नहीं हुआ। यह ज़रूर है कि पंतजी नारी-सौंदर्य के दिव्य भाव पर सफल नहीं हो सके। उनकी ऐसी अनेक पंक्तियाँ हैं जिनमें दिव्यभाव की जगह बहुत साधारण भाव मिलते हैं—

"खैंच ऐंचीला-भ्रू-सुरचाप,
शैल की सुधि यों बारंबार ;
हिला हरियाली का सुदुकूल,
झुला झरनों का झलमल-हार ।
जलद-पट से दिखला मुख-चंद्र,
पलक पल-पल चपला के मार ;
भग्न-उर पर भूधर-सा हाय !
सुमुखि ! धर देता है साकार !"

यहाँ, जब शैल की सुधि हरियाली का सुदुकूल हिलाती, झरनों का झलमल-हार झुलाती है, उस समय स्वर्गीय सौंदर्य वेश्या के सौंदर्य में परिणत होता—बहुत हल्का हो जाता है जैसे कोई वेश्या दूसरे को मुग्ध करने के लिये वेश-विन्यास कर रही हो। यहाँ यदि हार आप झूलता, दुकूल आप हिलता, तो सौंदर्य दिव्य कहलाता। जलद-पट से मुखचंद्र दिखलाना

झरोखे से किसी चंचला नायिका का झाँकना हो गया है—अच्छा होता, यदि उसी तरह जलद-पट से मुखचंद्र आप दिखलाई पड़ता।

सौंदर्य जिस ढंग का यहाँ चित्रित हुआ है, उसके निवाह में फ़र्क नहीं, कविता की दृष्टि से यह प्रथम श्रेणी की कविता हुई है, यह प्रत्येक समालोचक स्वीकार करेगा। आर्ट के विवेचन से तो पंतजी ने कमाल कर दिया है। 'खेंच' और 'पेंच', 'हिला' और 'हरियाली', 'फुला' और 'झरनों का झलमल', 'पलक' और 'पल पल' अनुप्रासों की सार्थकता के साथ अर्थ को उतना ही मधुर कर देते हैं।

अंतिम दो लाइनें अच्छी नहीं, कम-से-कम 'साकार' को तो ज़रूर निकाल देना चाहिए। साकार यहाँ निरर्थक है, बल्कि अर्थ में एक अड़ंगा लगा देता है।

'उच्छ्वास' में जहाँ आया है—

> "गिरिवर के उर से उठ-उठकर,
> उच्चाकांक्षाओं से तरुवर;
> हैं झाँक रहे नीरव-नभ पर,
> अनिमेष, अटल कुछ चिंता पर!"

यहाँ निबाह अच्छा नहीं हुआ, पहाड़ के हृदय से उठकर पेड़ आस्मान पर झाँकते हैं, ठीक नहीं; वाक्य ही असंगत है आसमान की ओर झाँकते हैं, यह भी ठीक नहीं; झाँकने के लिये पहले तो एक झरोखे का चित्र चाहिए, जिसका इन पंक्तियों में अभाव है। फिर झाँकनेवाले को दृश्य से ऊपर रहना चाहिए, नीचे से ऊपर की ओर झाँका नहीं जाता; पेड़ नीचे हैं, आसमान ऊपर है, नीचे से ऊपर की ओर पेड़ क्या झाँकेंगे? अपरंच, झाँकना चंचलता का द्योतक है, झाँकते समय पेड़ों को अनिमेष, अटल और चिंता पर बतलाना प्राकृतिक सत्य की प्रतिकूलता करना है। यदि कोई कहे, "नभ पर" यानी "नभ की गोद में रहकर" तो भी अन्यान्य विरोधों से संगति ठीक नहीं बैठती। अतएव ये तमाम पंक्तियाँ प्रलाप हैं। इनके बाद पंतजी लिखते हैं—

> "उड़ गया, अचानक, लो, भूधर;
> फड़का अपार पारद के पर!
> रव-शेष रह गए हैं निर्झर!
> है टूट पड़ा भू पर अम्बर!
> धस गए धरा में सभय शाल!
> उठ रहा धुआँ, जल गया ताल!
> यों जलद-यान में विचर, विचर,
> था इंद्र खेलता इंद्रजाल!"

पंतजी शायद इन्हीं पंक्तियों के संबंध में लिखते हैं—"इसके बाद प्रकृति-वर्णन है, उसमें निर्झरों का गिरना दृश्यों का बदलना, पर्वतों का सहसा बादलों के बीच ओझल हो जाना आदि, आदि अद्भुत-रस का मिश्रण है।"—ऐसा अद्भुत रस वास्तव में मैंने बहुत कम पढ़ा है। पंतजी इन पंक्तियों में अद्भुत रस का मिश्रण न करके यदि निर्विकार अद्भुत रस दर्शाते, तो और विचित्रता आ जाती।

इन पंक्तियों में अद्भुत रस इस तरह आया है जैसे अद्भुत दृश्य देखकर कहना चाहें बात और कह डालें बाघ!

(अपूर्ण)

सूर्यकान्त त्रिपाठी

'तारक'

> हे नीरव गगनगण के कण,
> व्यथित हृदय के अश्रु-विशाल;
> नीलांबर के विकच कुसुमदल,
> निशा-सिंधु के स्फीत प्रवाल।
>   किसके बनकर चमक रहे हो—
>   विधि वैशिष्ट्य सितारे से?
>   किस जीवन की मरुस्थली के,
>   आशा के हरकारे से।
> विधि-विडंबना के अक्षर से,
> अस्थिर झलक दिखाते हो;
> अथवा यामिनि दशन कांति से,
> स्मय का रास रचाते हो।
>   विरहविधुर के हृदुच्छ्वास की,
>   स्फुलिंगों के सित कण से;
>   पुण्योपार्जित सत्पुरुषों के,
>   धर्म भरे भावुक मन से।
> इस जीवन की उलट-फेर के,
> मनो-राज्य के से खद्योत;

या विवेक की दीप्त शिखा के,
मानव-मंदिर के उद्योत।
कलहांतरिता के वाक्यों के,
बाणों की-सी हो नोंके;
सदय हृदय सहृदय के खुनकर,
झल-झल करते हो चोंके।
प्रेमीजन के सदुपहार के,
हृदय कुसुम जैसे बिखरे;
सुखद कल्पना के स्वप्नों में,
मनोरथों से हो निखरे।
कभी निराशा के आँचल में,
लीन अचानक ही होते;
कभी टिम-टिमाते आशा की,
पहेलियों में खा गोते।
नील सौध के उस गवाक्ष से,
मुँह निकाल क्या ताक रहे;
चल अति विम्ब तरणियों के,
जल में लेते हैं झाँक रहे।
प्रकृति नटी की अठखेली को,
देख देख हो मस्त रहे;
जहाँ पराग-प्रभृत गन्ध,
मृदु वासित-सुखद-प्रशस्त बहे।
थिरक-थिरककर वायु विनोदित,
नृत्य कुसुमदल का अविराम;
झूम-झूमकर कुंज पुंज में,
भरे लतातरु की सु-ललाम।
साधुवाद-आशीर्वाद से,
कोकिल का 'कू' 'कू' करके;
चटक शारिका शुक अलिदल का,
गायन मोद भरे स्वर से—
सरस भेंट को इस रमणी की,
सद्विलास प्रेरित होकर;
खिंचे हुए उतरे आते हो,
स्वर्गानंद विमुख होकर।
परिवेशों में निशानाथ के,
गुप्त मंत्रणा-सी करते;
कौन समस्या सुलझाने को,
कौन निदिध्यासन करते।

नंदन के मंदार पुष्प हो,
जड़े निशा रमणी शृंगार;
किंवा मंदाकिनि कमलों पर,
हो ध्यानी ऋषिगण साकार।
क्या हो, कौन, कहाँ से आए,
क्यों अनंत में बिखर रहे;
किस जीवन की साध तुम्हें है,
किस जीवन में बिचर रहे।
किस अदृश्य के नीलांचल में,
गुंफित आनन झलक रहे;
किस अस्पष्ट वेदना पीड़ित,
भग्न हृदय से कलक रहे।
जीवनीय संग्राम भूमि में,
अनथक अविश्रांत संघर्ष;
बढ़ो, चलो, फिर चमक दिखाओ,
ज्योतिर्मय होना सामर्श।

उदयशंकर भट्ट

कविरत्न पं० नवनीतलाल चतुर्वेदी

"रंगी है आजकल के गले-नौ बहार से;
अगला जो बर्गे-ज़र्द कोई इस चमन में है।"

ब्रज-भाषा की पुरानी फुलवारी के पीले पत्ते (बर्गे ज़र्द) श्रीयुत पंडित नवनीतलाल चतुर्वेदी उपनाम 'नवनीत' उक्त सूक्ति का वर्तमान उदाहरण हैं। ७० वर्ष से ऊपर के इन महाकवि का दर्शन करके, प्राचीन कवि समाज का चित्र आँखों में फिर जाता है। आपके मुख से व्रज-भाषा की रस-भरी कविता सुनकर मन मस्त हो जाता है और आजकल के गुले नौ बहार—(कविता-वसंत वाटिका के नये फूल) सचमुच निर्गंधा इव किंशुकाः, से प्रतीत होने लगते हैं। जब आप अपने देखे-भाले और परम्पराश्रुत प्राचीन कवियों की कथा सुनाते हैं, तो आजकल की दशा से तुलना करके

चित्त पर चोट-सी लगती है। बेअख़्तियार मुँह से निकल पड़ता है—"दौड़ पीछे की तरफ़ ऐ गर्दिशे अय्याम ! तू" नवनीतजी की प्रशंसा तो कविवर रत्नाकरजी से कई बार सुनी थी; पर साक्षात्कार का सौभाग्य कभी प्राप्त न हुआ था। गत श्रावण की व्रज-यात्रा में दैवयोग से यह सुयोग हाथ आ गया। बहुत पुराना मनोरथ पूरा हो गया। विद्वद्वर पंडित श्रीहरिनाथजी शास्त्री (वृंदावन, गुरुकुल के दर्शनाध्यापक) की कृपा से कविरत्नजी का दर्शन और परिचय प्राप्त करके बड़ा ही आनंद आया।—

"सुना जैसा उन्हें वैसा ही पाया।" 'नवनीतजी यथार्थ में नवनीत ही हैं। आपका स्वभाव अत्यंत मृदु और स्निग्ध है। कवियों में ठसक और अहम्मन्यता की मात्रा होती ही है, पर नवनीतजी इसका सर्वथा अपवाद हैं, बड़े ही स्नेहशील और मिलनसार सज्जन हैं, जितना ही मिलिए, तबियत यही चाहती है कि और मिलिए। जी नहीं भरता। नवनीतजी की सहृदयता और ज़िंदा-दिली को देखकर ज़ौक़ का शीर्षक के साथवाला शेर बार-बार याद आता है, नवनीतजी अगले ज़माने के कवियों की बची-खुची एक यादगार हैं, जो चुपचाप अलग एक कोने में पड़े हैं, नया दौर है न कोई उन्हें पहचानता है, न वह किसी को जानते हैं। बड़े-बड़े बा-कमाल साथी एक एक करके उठ गये—"एक दो का ज़िक्र क्या महफ़िल की महफ़िल उठ गई।" अकेले रह गये, नई रोशनी से आँखें बंद किए बैठे हैं। ध्यान दृष्टि से अतीत अनुभूत दृश्य देखते हैं और सिर धुन धुनकर विहारी का यह दोहा पढ़ते हैं—

"जिन दिन देखे वे कुसुम गई सु बीत बहार;
अब अलि रही गुलाब में अपत कँटीली डार।

मेरी सानुरोध प्रार्थना पर इस बुज़ुर्ग 'बर्गे-ज़र्द' ने जो आपबीती सुनाई उसी का सारांश माधुरी के प्राचीनता-प्रिय पाठकों को सुनाता हूँ।

नवनीतजी का जन्म संवत् १९१५ वि० मार्गशीर्ष शुक्ल पंचमी को मथुराजी के चतुर्वेदी माथुर वंश में हुआ। अपने वंश और जन्म स्थान का संक्षिप्त छंदोबद्ध परिचय 'गोपी प्रेम पियूष प्रवाह' के अंत में इस प्रकार दिया है—

"श्रीमथुरा हरिजन्म भुव तरणितनूजा तीर;
लगी रहत निस दिन जहाँ मुनि सिद्धन की भीर।
तहां घाट वल्लभ विदित श्रीहलधर की पौर;
ता पीछे मारूगली उज्ज्वल सुंदर ठौर।
बसत जहाँ माथुर सबै जग जस चार हजार;
विप्र वेद में विदित जे जानत सब संसार।
ता कुल कोविद 'कृष्ण' सुत 'बूलचंद' सु पुनीत;
तिन त्रयसुत में एक लघु कहत नाम नवनीत।
श्रीगुरु गंगादत्त के चरणकमल को ध्यान;
मो मन में निस दिन बसौ बोध ज्ञान की खान।
जिनकी कृपावलोक तें यह कविता रसरीत;
जानी सरल सुभाव सों माथुर दुज नवनीत।

आपके पितामह का नाम चौबे कृष्णचंद्रजी था, और पिताजी का पं० बूलचंद जो बूलाजी के नाम से प्रसिद्ध थे।

नवनीतजी अपने सब भाइयों में छोटे हैं। बड़े दो भाई और थे, बौनाजी और खिलकरजी। मथुरा में होली दरवाजे के भीतर मारूगली में आपका मकान है। आज-कल आप अपने दूसरे मकान में जो बंगाली घाट पर है, प्रायः रहते हैं। आपकी माता २½ वर्ष की अवस्था में आपको छोड़कर स्वर्ग सिधार गई थीं, दादी ने आपको पाला-पोसा। ७ वर्ष की अवस्था थी कि चेचक निकली जिससे आपका एक नेत्र जाता रहा। दुःख की बात है कि अब वृद्धावस्था में; पिछले दिनों, विषमज्वर की पीड़ा में विषम-प्रतिकूल उपचार से आपका दूसरा नेत्र भी नष्ट हो गया।

आठ वर्ष की वय में यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। उपनीत होकर अपने काका ऊलाजी दशग्रंथी से सामवेद पढ़ा। तत्पश्चात् श्री पंडित गंगादत्तजी चतुर्वेदी से लघुकौमुदी का पाठ आरंभ किया, उक्त पंडितजी सुप्रसिद्ध वैयाकरण दंडी स्वामी श्रीविरजानंदजी महाराज के शिष्य और श्रीस्वामी दयानंद सरस्वतीजी (आर्यसमाज के प्रवर्तक) के सहपाठी थे। पं० गंगादत्तजी को भरतपुर राज्य से १५) रु० मासिक वृत्ति मिलती थी, उसी से अपना योगक्षेम चलाते और विद्यार्थियों को पढ़ाते थे, गुरुभाई स्वामी दयानंदजी से आपका घनिष्ठ भाईचारा था। स्वामीजी आपसे अत्यधिक स्नेह करते थे, ३००) रु० की किसी से सहायता दिलाकर स्वामी दयानंदजी ने पंडितजी का पक्का मकान बनवा दिया था। स्वामीजी मथुरा छोड़कर जब इधर-उधर लोकनेतृत्व के रूप में भ्रमण करने लगे थे, तब भी पंडित गंगादत्तजी से उनका

पत्र-व्यवहार बराबर जारी रहा, स्वामी दयानंदजी के उस समय के बहुत से पत्र पं० गंगादत्तजी के पुत्र पं० विदुरदत्तजी तांत्रिक के पास अब भी मिल सकते हैं। पंडित गंगादत्तजी व्याकरण के अतिरिक्त साहित्य-शास्त्र के भी मार्मिक विद्वान् थे, नवनीतजी के कवितागुरु भी आप ही थे। नवनीतजी ने अपनी कविता प्राप्ति की जो कथा सुनाई, वह सुनने लायक़ है।

पं० गंगादत्तजी के शिष्यों में 'शतरंजबाज' उपाधि-धारी कोई लल्लूजी थे, जिन्हें श्रीगणेशजी की वंदना का एक अशुद्ध-सा कवित्त याद था, जिसे वह ऐब की तरह छिपाते थे, किसी को न बताते थे। नवनीतजी के कान में भी उसकी भनक पड़ी। 'शतरंजबाज' जी से सुनाने और सिखाने के लिये बहुत-बहुत प्रार्थना की, पर वह तो पूरे शतरंजबाज थे, अपनी चाल काहे को छोड़ने लगे। बराबर चाल चलते रहे, टालते रहे कृपण के सोने के समान उसके वित्त को छिपाए ही रहे। अंत को बहुत सेवा-शुश्रूषा से किसी तरह पसीजे भी तो सिर्फ आधा कवित्त ही सुनाकर रह गये, पूरा फिर भी न बतलाया, नवनीतजी के सिर कवित्त पूरा करने की धुन सवार थी, आखिर को ज्यों-त्यों करके उसकी पूर्ति नवनीतजी ने स्वयं ही कर डाली, माधुरी के कोई कविता-प्रेमी पाठक उस गोपनीय कवित्त के लिये लालायित हों, तो सुन लें, (स्वर्गीय शतरंजबाज की आत्मा से इस रहस्य-भेद रूप अपराध के लिये क्षमा माँगता हूँ। अच्छा तो सुनिए—

"सुंदर चंदन मस्तक चर्चित हस्त त्रिशूल को धारण किये रहें,
एक ही दंत उमासुत के तेल सिंदूर को लेपन किये रहें;

बस यही था, शतरंजबाजजी का बतलाया हुआ वह करामाती कवितार्द्ध, नवनीतजी ने इसकी पूर्ति की—

"मोदक पान को भोग लगै प्रभु मोसे अज्ञान पै कृपा ही किये रहें,
कहैंनवनीत गुरुगणपतसुमरकरिकै धोयघोटछान प्रेमप्याला पियेरहें।

जो कुछ हो नवनीतजी के बचपन की इस तुकबन्दी में भी मामलाबन्दी का रंग है, 'धोय घोट छान' में चौबेपन की झलक है।

इस घटना का पता जब गुरु गङ्गादत्तजी को लगा, तो उन्होंने नवनीतजी को धमकाया कि खबरदार इस चक्कर में अभी से मत पड़ो। कविता का शौक़ है, तो पहले रीति-ग्रंथ पढ़ो, छंद-शास्त्र का अभ्यास करो, तब कविता करना 'समय आने दो, कविता भी' गुरु सिखा देंगे, अभी पढ़ो। कौमुदी-पढ़ाकर 'रस-मंजरी' (भानुदत्त-कृत), कुवलयानंद और काव्य-प्रकाश का कुछ भाग पढ़ाया। इसके कुछ समय पीछे सोरो, (श्रीशूकर शूकर क्षेत्र में जहाँ रामकथा सुनकर श्रीतुलसीदासजी के हृदय-क्षेत्र में कवितांकुर उगा था) गुरु गंगादत्तजी गंगा-स्नान को गये, साथ में नवनीतजी भी थे। गंगा की पवित्र धारा में स्नान करते समय गुरुजी ने नवनीतजी को पुकार कर कहा "अबे आ तुझे कविता दें" वहीं मंत्र दिया, जिसका जप राजघाट पर आकर नवनीतजी ने निरंतर ४० चालीस दिन किया। वहाँ से जो आये, तो कविता करते ही आये। उस समय आपकी उम्र १७ वर्ष की हो गई थी। कविता का आरंभ श्रीगणेशजी की वंदना में, इस 'छप्पय' छंद से हुआ—

"वंदन श्री शिवसुवन प्रथम मंगल स्वरूप कर,
लंबोदर गजबदन सदन बुधि विमल वेषधर।
भालचंद्र भुजचार पाश अंकुश विचित्रकर,
रक्त मलय सिंदूर अंग शोभित सु आयुपर;
मंजु मुकुत कुंडल प्रभा सुभग शुंड मोदक लिये,
पणत दीन 'नवनीत' उर मो प्रकाश कीजे हिये;

कविता का श्रीगणेश श्रीगणेशजी की वंदना से हुआ, उस रहस्यमय कवित्त का जो भाव हृदय में खटक रहा था, कविता के प्रथम उद्गार में वही बाहर आया। नवनीतजी को अपनी यह रचना इतनी पसंद आई कि गद्गद हो गये, इसे सरस्वती का वरदान समझा और उत्साह बढ़ा। गणेश-वंदना के पश्चात् श्रीगुरुदेव-वंदना का नंबर आया जिनकी कृपा से कविता की कुंजी पाई थी। दूसरी कविता गुरु-वंदना की यह 'कुंडलिया' है—

"श्रीगुरु गंगादत्त के चरण कमल को ध्यान,
मो मन में निसदिन बसौ बोध ज्ञान की खान।
बोध ज्ञान कर खान वरामय पुस्तक धारत,
सकल शास्त्र सर्वज्ञ वेद वेदांग उचारत।
'नीत' नित्य तप तेज शंभु जिमि राजत भूपर,
श्रीविद्या अनुरक्त सुगंगादत्त श्री सुगुरुवर।"

इस प्रकार गणेश-गुरु-वंदना से प्रारंभ होकर नवनीतजी की कविता का परिपाक आगे चलकर श्रीकृष्ण-कीर्तन में हुआ।

दैवदुर्विपाक से १६ वर्ष की आयु से ही पहले पितामह की, फिर पिता की सुखद छाया से नवनीतजी वंचित

हो गये, तीन मास के अंदर ही उक्त दोनों महानुभावों का स्वर्गवास हो गया, इससे अध्ययन-क्रम आगे न चल सका। घर का भार आप ही पर आ पड़ा। पिताजी १००) का ऋण छोड़ गये थे, जीविका का कोई स्थिर प्रबंध न था, इसी चिंता में थे कि दाऊजी के मंदिरवाले गुणज्ञ गोस्वामी श्रीयुत गोपाललालजी महाराज से आपकी भेंट हुई और उन्होंने उदारतापूर्वक आश्रय दिया। फिर उक्त गोस्वामीजी के छोटे भाई कांकरौलीवाले गोस्वामी श्रीमान् बालकृष्णजी महाराज से आपका परिचय हुआ, इन गोस्वामी महाराज को साहित्य और संगीत से अधिक प्रेम था, स्वयं गुणी थे और गुणियों के क़द्रदान थे, वह इन्हें अपने साथ कांकरौली ले गये, यह वहीं उनके आश्रय में रहने लगे, घर का सब ख़र्च गोस्वामीजी देने लगे, उन दिनों कांकरौली के दरबार में कवियों और गुणियों का अच्छा सम्मेलन था, गोस्वामीजी की उदारता और गुणग्राहकता से खिंच-खिंचकर दूर-दूर के कवि और गुणी वहाँ पहुँचते और आदर-सम्मान पाते थे। सुप्रसिद्ध विद्वान् भारतमार्तंड प्रज्ञाचक्षु श्री पंडित गट्टूलालजी महाराज भी वहाँ बिराजते थे। श्रीगट्टूलालजी अनेक विषयों के असाधारण विद्वान् और गुणवान् थे, प्रत्युत्पन्नमति, आशुकवि, महागणितज्ञ, धुरंधर दार्शनिक, शतरंज के अद्वितीय खिलाड़ी, इत्यादि शताधिक अलौकिक गुणों की खान थे। उनकी 'शतावधानता' प्रसिद्ध है। एकही समय में सौ विषयों के चमत्कृत रीति से अचूक उत्तर देकर तत्तद्विषय के बड़े-बड़े विशेषज्ञों को चकित और परास्त कर देते थे। "भारत-मार्तंड" की उपाधि सर्वथा आपके अनुरूप थी। आप वल्लभ-सम्प्रदाय के आचार्य थे, इसलिये व्रजभाषा कविता के भी मार्मिक जानकार थे। ऐसे अद्भुत प्रतिभाशाली महानुभाव के अजान को भी सुजान बना देने की शक्ति रखनेवाले सत्संग ने नवनीतजी की प्रतिभा के सोने पर सुहागे का काम दिया, इस देव-दुर्लभ सत्संग में नवनीतजी की प्रतिभा और भी चमक उठी। रात-दिन कविता की चर्चा रहती, कविसमाज होते रहते थे।

उन्हीं दिनों कविवर बाबू जगन्नाथदासजी बी० ए० 'रत्नाकर' भी कुछ समय तक कांकरौली में थे। वहीं 'रत्नाकर' जी ने नवनीतजी से छंदः शास्त्र का नष्ट, उद्दिष्ट, प्रस्तार आदि सीखा, इसी नाते रत्नाकरजी नवनीतजी को अपना काव्यगुरु मानते हैं। प्राचीन ढंग के वर्तमान कवियों में इनके क़ायल हैं।

इस विद्वन्मंडली में एक तीसरे विद्वान् उदयपुर दरबार के भेजे हुए पंडित बालकृष्णजी शास्त्री थे, जिनसे श्रीगोस्वामी बालकृष्णलालजी शास्त्राध्ययन करते थे। इस प्रकार कांकरौली में अच्छे-अच्छे विद्वानों का समुदाय एकत्र था।

एक बार कांकरौली के छप्पनभोग में आर्यकुल-कमल-दिवाकर हिंदुपति महाराणा श्रीफतेहसिंहजी उदयपुराधीश, पधारे थे, गोस्वामीजी ने श्रीमहाराणा से नवनीतजी का परिचय भी कराया, उस अवसर पर श्रीमहाराणा की प्रशस्ति में नवनीतजी ने यह कवित्त भेंट किया जिसके पुरस्कार में १०१ सरूपशाही रुपये महाराणाजी की ओर से मिले।

"प्रगट प्रतच्छ तच्छ क़हर-कलेश काट,
लच्छ-लच्छ कंज-दीन मंजु भे प्रकासवान;
चक्रवाक अच्छ लोल लोल भे विहार किये,
दच्छ-भोर दारिद हटायो कर सुद्धसान।
रच्छ है सुरच्छन की पच्छ भये द्वारकेस,
रुच्छता हटाय बैन करत पियूषदान;
पूरब उदैपुर में उदयो अनंत आज,
फतेहसिंह दूलह दिनेस सो विराजमान॥"

इस समय नवनीतजी की वय २५ वर्ष की हो गई थी। उक्त छप्पन भोग महोत्सव के पश्चात् गोस्वामीजी ने मारवाड़ की यात्रा की। इस यात्रा में गट्टूलालजी और नवनीतजी भी साथ थे, एक दिन कविता का प्रसंग चलने पर श्रीगट्टूलालजी महाराज ने सोमनाथ† कवि का यह सवैया पढ़ा—

"चारु निहारि तरैयन की दुति लाग्यो महाविरहातन तावन,
ए ससिनाथ सुजान सुनो उन सूल गिने नहीं कंज से पावन;
पीत दुकूल में फूलन लै अमबेली के प्रेम की सिद्धि बढ़ावन,
कान्ह दिवाली की रैन चले बरसाने मनोज को मंत्र जगावन।"

सवैया सुनाकर श्रीगट्टूलालजी ने नवनीतजी से कहा—'सवैया सुंदर है, पर रूपक पूरी तरह नहीं बँधा। प्रेम की सिद्धि का सब सामान इसमें नहीं आया। कुछ

† सोमनाथ चतुर्वेदी बड़े विद्वान् कवि थे। भवभूति के मालती-माधव और मम्मटाचार्य के काव्यप्रकाश के, सोमनाथ-कृत गद्य-पद्यात्मक हिंदी-अनुवाद, रस पियूषनिधि, उपलब्ध हुए हैं।

कसर रह गई। इस रूपक को तुम तो बाँधकर दिखाओ, देखें कैसा कहते हो'। सोमनाथ कवि के रूपक-पर-रूपक बाँधना हँसी खेल न था, पर भारत मार्तंड के आदेश की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। नवनीतजी को रूपक बाँधने पर कमर बाँधना ही पड़ी, आपने रूपक को यह रूप दिया।

"अच्छत आनँद फूल के फूल,
सुचाह को चंदन चौप चढ़ावन;
त्यों 'नवनीतजू' लाग की लौंग,
उमंग सिंदूर को रंग रचावन।
धावन धूप संयोग सुगंध लै,
केलि-कपूर की जोति जुरावन;
कान्ह बिहारी की रैन चलै,
बरसाने मनोज को मंत्र जगावन।"

'केलि-कपूर की जोति जुरावन' ने रूपक के रूप को चमका दिया। चार चाँद लगा दिए, श्रीगट्टूलालजी इस उक्ति पर लट्टू हो गए, आसन से उठकर नवनीतजी को छाती से लगा लिया।

इस प्रकार गोस्वामी श्रीबालकृष्णलालजी के साथ रहते हुए नवनीतजी की आयु २७ वर्ष की होगई, फिर कभी मथुरा रहते, कभी गोस्वामीजी की मंडली के साथ यात्रा में भारत-भ्रमण करते रहे। एक बार गोस्वामीजी के साथ काशीजी गए हुए थे, उन्हीं दिनों वहाँ एक बड़ा कवि-समाज काशी-कवि-समाज की ओर से हुआ जिसमें दो दलों में प्रतियोगिता सी थी, पहला दल काशी-कवि-समाज का था जिसके प्रधान कवि बेनी कवि, रसीले, छबीले, वल्लभ, हनुमान, (लखनऊ के कायस्थ), नकछेदी तिवारी, लछीरामजी अयोध्यावाले, दूसरे दल में द्विज मन्नालालजी (हनुमान काशीवालों के शिष्य) शंकर (पूरब के) मार्कण्डेयलाल (चिरंजीवी) पुत्तनलाल (पटना-निवासी) इत्यादि थे, नवनीतजी एक दल में थे। इस प्रतियोगिता में स्वर्ण-पदक के साथ नवनीतजी को 'कवींद्र' की उपाधि मिली। इससे पहले रजत-पदक के साथ 'कविरत्न' की उपाधि आपको प्राप्त हो चुकी थी, इसी अवसर पर आपकी कवित्व शक्ति से प्रसन्न होकर काशी-नरेश महाराज ईश्वरीप्रसादसिंहजी ने गोस्वामीजी से माँगकर इन्हें तीन महीने अपने पास बड़े आदर-संमान से रक्खा।

एक दिन काशी-नरेश ने नवनीतजी से पूछा कि क्या कारण है नये पुराने कवियों ने गोपियों की ओर से कुब्जा की तो बड़ी फ़ज़ीहत कराई है, तानों का तूमार बाँध दिया है—पर कुब्जा बेचारी की हिमायत किसी ने नहीं की, उसकी तरफ़ से उत्तर में गोपियों को कुछ नहीं सुनवाया? नवनीतजी ने उत्तर दिया कि महाराज! बात यह है "गोपियाँ हमारी इष्ट हैं—आराध्य हैं प्रेम का स्वरूप हैं, शृंगार-रस की पोषक हैं, उनकी निंदा हमसे नहीं हो सकती,—इस पर महाराज ने कहा यह उत्तर तो कुछ संतोषजनक नहीं हुआ, जब कवि लोग परमाराध्य भगवान् को भी अछूता नहीं छोड़ते, भक्तों की ओर से उसे भी खरी-खोटी सुना डालते हैं और इसमें अनौचित्य नहीं समझा जाता, तो फिर कुब्जा से कुछ क्यों नहीं कहलवाया गया। क्या गोपियों के ताने सुन-सुन कर कुब्जा को जोश और तैश न आया होगा; वह चुप क्यों रही होगी? औचित्य तो यही चाहता है कि कुब्जा की 'सफ़ाई' भी सुनी जाय, न्याय का अनुरोध और इंसाफ़ का तक़ाज़ा है कि कोई कवि कुब्जा की वकालत में भी क़लम उठावे—"

महाराज का यह पुर इसरार इशारा पाकर बादिलेना-ख़्वास्ता नवनीतजी ने तीन दिन में "कुब्जा पचीसी" कहकर महाराज को सुनाई।

उस समय कुब्जा पक्षपाती महाराज को और गोपी-भक्त नवनीतजी को मालूम न था—कि अबसे बहुत पहले कुब्जा के पड़ोसी (मथुरा-निवासी) ग्वाल कवि हक़े-हमसायगी अदा कर गये हैं कुब्जा की ओर से गोपियों को वह चुनी चुनी की सुना गये हैं कि सुनकर लखनऊवालियाँ भी शरमा जायँ! ग्वाल कवि की कुब्जा की कटूक्तियाँ सुनकर गोपियाँ बेचारी कट गई होंगी, कुब्जा की फब्तियों से झेंपकर कह उठी होंगी—

"छोड़कर इस बेअदब को मुफ्त में रुसवा हुई।"

नवनीतजी ने अपनी (कुब्जापचीसी) के साथ ग्वाल कवि का "कुब्जाष्टक" भी पीछे से छपा दिया है। इस प्रसंग में 'कुब्जापचीसी' और 'कुब्जाष्टक' से दो-दो छंद उद्धृत करना अनुचित न होगा—

"गोबर की डलिया सिर लै कब गायन में हम जात ही रूँधन,
त्यों 'नवनीत' दुहावन के मिस द्वार किवार दिए कब मूँदन;

कौन दिना बन बीच कही हरि कामरी लाय बचाइयो बूँदन ,
ऊधव और कहा कहिए कब खोल दिए फरियान के फूँदन ।"
"कुंज के मंजु महारस रंग में अंग उमंग भरे रससामी ,
त्यों 'नवनीत जू' गोपिन को अभिमान लख्यो हरि अंतरयामी ;
छोड़ गए बन में बहकाय कै आय के आप बने सुखधामी ,
कौन सो दोष हमारो रह्यो उन नाहक मोहिं दई बदनामी ।"

कुब्जापचीसी

"परपति केलि गोपि-गोपि सदा करती हीं ,
यातें ठीक गोपिका हैं नाम गुन गैबे कों ;
चंदन चढ़ायो मैं जु सो जहान जोवत है ,
उन मेरो कूब दियो रूप प्रभा पैबे कों ।
'ग्वाल कवि' मैं हूँ कियो तन मन अरपन ,
राख्यो पतिव्रत नन सुजस बढ़ैबे कों ;
कियो पति मैंने ब्रजराज-राज मारग मैं ,
डंका बज्यो मथुरा में मेरे घर ऐबे कों ।"
"गोपी मनलोपी की सुनी मैं बात कहन पै ,
मोकों तो कुजातनी कमीनी कहि बोलीं वे ;
आपने न औगुन गिनत परपति पागी ,
ऐसी बेशरम करें मोही सों ठठोली वे ।
'ग्वालकवि' छिप-छिप अँधियारी रातन में ,
सोए पति त्यागि कै किवारें मूँदि खोली वे ;
बनन में बागन मैं यमुना किनारन में ,
खेतन खरान में खराब होत डोलीं वे ।"
(कुब्जाष्टक)

विवाह और संतान

इस प्रकार अनेक दरबारों और देशों की सैर करते, घूमते फिरते, जब आप की आयु चालीस से ऊपर हो गई, तो मथुरा में आकर गोस्वामीजी से कहा महाराज ! अब छुट्टी मिले, मैं अब घूमना नहीं चाहता, यहीं रहूँगा", गोस्वामीजी बोले कि मथुरा में रहो, तो विवाह करके—गृहस्थ बनकर रहो, नवनीतजी ने निवेदन किया कि विवाह-समस्या की पूर्ति मेरे बस की नहीं, शब्दों की कमी नहीं, पर अर्थ का अभाव है । एक तो मैं कुरूप, दूसरे निर्धन, तीसरे ४६ वर्ष की अवस्था, इस अवस्था में कौन मुझे कन्या देगा ! बूढ़े के विवाह पर यह फब्ती आपने सुनी ही होगी—

"बूढ़े ब्याह किए जो फँस्यो ,
वाने लाँस्यो वाने हँस्यो ;
वाको हँसिबो वाय न सुहाय ,
थो-थो फटके उड़-उड़ जाय ।"

इस पर मथुरावाले गोस्वामी गोपाललालजी ने कहा—'हम तुम्हें बचपन से जानते हैं, तुम सदाचारी ब्रह्मचारी हो, तुम्हारे संतान अवश्य होगी । तुम्हें विवाह करना पड़ेगा । हम सब ठीक किए देते हैं—' आखिर गोस्वामीजी के उद्योग से आपका विवाह एक अच्छी जगह हो गया, द्वारकाधीश और रंगजी के मंदिरवाले सेठ लछमनदासजी ने और काँकरौलीवाले गोस्वामीजी ने यथेष्ट सहायता देकर धूम-धाम से विवाह करा दिया, यही नहीं, गोस्वामी श्रीबालकृष्णलालजी काकरौली-वालों ने प्रतिज्ञापूर्वक आश्वासन दिया कि हम तुम्हें जन्म-भर निबाहते रहेंगे, जब तक गोस्वामीजी धरा-धाम पर विराजमान रहे, नवनीतजी को बराबर सहायता देते रहे, उनके गोलोकवास के अनंतर उनकी श्रीमती बहूजी और सुपुत्र गोस्वामी श्रीव्रजभूषणलालजी तथा गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी ने भी सहायता जारी रक्खी, और अबतक 'अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति' का पालन कर रहे हैं ।

विवाह करके नवनीतजी ने बाहर जाना बिलकुल बंद कर दिया, घर पर ही रहने लगे । इस विवाह से आपके सात संतान हुईं, ६ पुत्रियाँ और एक पुत्र । जिनमें पुत्र और दो पुत्रियाँ वर्तमान हैं, पुत्र का नाम गोविंद है, सुंदर सुशील, चतुर और होनहार है, संस्कृत पढ़ता है, कविता भी करता है, सोलहवें वर्ष में है । परमात्मा चिरायु करे ।

ग्रंथ—

आपके रचित ११ ग्रंथ हैं, जिनमें कुछ मुद्रित, कुछ लिखित, कुछ प्राप्य और कुछ अप्राप्य हैं ।

(१) श्यामांगावयवभूषण—श्रीराधाजी का नख-शिख, मुद्रित, अब अप्राप्य ।

(२) नवीनोत्सव-संग्रह—ठाकुरजी के होलिकोत्सव का वर्णन, (मुद्रित)

(३) कुब्जा-पचीसी, जिसकी चर्चा ऊपर होचुकी है ।

(४) गोपी प्रेम-पियूष-प्रवाह (संग्रह) मुद्रित,

(५) रहिमन-शतक पर कुंडलियाँ (मुद्रित)

(६) मूर्ख शतक, सौ दोहे, (मुद्रित)

(७) प्रेमरत्न (फुटकर) अप्रकाशित

(८) प्रेमपचीसी ,,

(६) स्नेहशतक ,,

(१०) वैष्णवधर्म (गद्य) गोस्वामी श्रीमधुसूदनाचार्य के स्मार्तधर्म का खण्डन, (प्रकाशित)

(११) प्रश्नोत्तर (१६ मात्रा के छंदों का निरूपण) दो पन्ने का ट्रेक्ट (मुद्रित)

इनके अतिरिक्त १००० के क़रीब फुटकर पद्य हैं, काव्यप्रकाश के कुछ अंश का अनुवाद भी आपने किया था।

शिष्य—

आपके बहुत से शिष्य हैं, जिनमें कई अच्छे कवि हैं।

(१) पं० चतुर्भुज पाठक चतुर्वेदी

(२) पं० भोलानाथ भंडारी, सनाढ्य (आप द्वारकाधीश के मंदिर में खासा भंडार के भंडारी हैं)

(३) पुरुषोत्तमदासजी अग्रवाल,

(४) कृष्णलालजी वैष्णव, 'शतरंज-मार्तंड'

(५) गोपीनाथ—(नवनीतजी के मित्र वनकविजी के पुत्र)

(६) गोविंद चतुर्वेदी (नवनीतजी के सुपुत्र)

ये सबही सज्जन कविता के मार्मिक प्रेमी हैं, अच्छे कवि हैं। इनमें श्रीयुत कृष्णलालजी बड़े ही साधुस्वभाव गुणी पुरुष हैं, बड़े अच्छे कवि हैं। प्राचीन कविता आपको बहुत याद है, शतरंज के अद्वितीय खिलाड़ी हैं इस विद्या के कारण बड़े-बड़े राजदरबारों में आपकी पहुँच है, शतरंज की बाज़ी में अनेक विजयी विदेशी शातिरों को आपने मात दी है। कुछ दिनों से बाहर आना-जाना आपने बंद कर दिया है, भगवद्भजन में और कविजी के सत्संग में ही इस समय आप समय का सदुपयोग कर रहे हैं।

जो साहित्य-प्रेमी सज्जन मथुरा की यात्रा करें वह कविरत्नजी और उनके शिष्य-समुदाय से भी मिलें और व्रज-माधुरी का पान करें। व्रज के अनेक विस्मृत* सुकवियों के सुभाषित सुनने को मिलेंगे।

नवनीतजी की रचना पर विस्तृत विचार तो किसी दूसरे ही लेख में हो सकेगा, यहाँ कुछ फुटकर पद्य उद्धृत करके बस करता हूँ।

प्रेम के चरखे का रूपक—कवित्त

"ताक तन तूल तोल चाह चरखा में कात,
बाद के बिनौला प्रेम पौनी कर बेह की ;
'नवनीत' प्यारे प्रीत पट के बुनाव काज,
कूकरी उतारी सूत सरस अछेह की।
पर गई लगन अनूठी गुर गाँठ जामें,
छूटत न कैसेहूँ सनेह मद मेह की ;
सुरझ न जाने पै न छाड़ै कीट रेसम ज्यों,
सुरझ न जाने हाय उरझन नेह की ॥"

रसिक भिखारी

"प्रेम प्रण प्राग नीठि त्रिपथ त्रिवेनी न्हाय,
पाय पद पूरन प्रवीन ताहि पै धरी ;
'नवनीत' साधे सब साधन सनेह जोग,
जगत जमाय प्रान ध्यान धारना धरी।
आयो बचि बिकल वियोग की तपन तापि,
नाम जप तेरो तान विपत मंत्र टरी ;
रसिक भिखारी एक द्वार पै ठहरयो हो आइ,
रूप रस माधुरी की माँगत मधुकरी ॥"

शिकारी नृप-शीत

"प्रातहि ते भानु बहुरूपिया को स्वांग धरे,
बादर की गुदरी सी ओढ़ि के लखानो है ;
'नवनीत' प्यारे पौन आवत बरफ़ सना,
कंपत करेजा मन धीर ना धरानो है।
विपिन बंदूक तान पवमर गोली गेर,
बिकल वियोगिन को करत निसानो है ;
भीत करि डारे सब भूतल के जीव जंतु,
जात ऋतु पाँचो नृप भीत मरसानो है ॥"

शिशिर

"मारन तुसार वर बीरुध सरोजन कों,
बड़ी भई रैन दिन लघुता में दर से ;
'नवनीत' प्यारे वारि लगत बरफ़ जैसो,
सीरे होत बसन दमन होठ पर से।
कंपत करेजा रंजा ओढ़ि पसमीना तोहू,
छाड़िबो कठिन सेज प्यारी सुख सर से ;
और की कहा है अब आगहु छिपी-सी जाय,
सिसिर में होत सविता हू सीतकर से ॥"

---

* यथा—उरदाम चौबे, दत्त कवि चौबे, नवीन सनाढ्य, बाल पाठक, खड्ग कवि, लोकनाथजी चौबे इत्यादि। मथुरा, वृंदावनके इन कवियों की बहुत-सी कविताएँ नवनीतजी और उनके शिष्यों से प्राप्त हो सकती हैं, यदि ऐसा संग्रह हो जाय तो व्रज-भाषा-साहित्य के अनेक लुप्त रत्न प्रकाश में आ जायँ। लेखक—

ऋतुराज

"खेत सरसों के हैं कि छिरकी हरद मानौं,
उलहे प्रवाल लाल कुंकुम उड़ायो है ;
कमल पराग पीरे अलित अनंद भरे,
केसू कचनार पुंज पुहुप सुहायो है।
गावैं भाँड हीजरा सुकोकिल मधुप गुंज,
राजत रसाल मंजरीन सरसायो है ;
चटक गुलाबन की विपिन पढ़त वेद,
आज ऋतुराज जन्मदिन को बधायो है ॥"

"करत करेजे हूक कूक कूक कोकिल ये,
टूक टूक करत रसाल ये निहारे तें ;
'नवनीत' सरसों सरस फूल फूल रही,
केसू कचनार काम पंच सर जारे तें।
पौन करै गौन भौन सरस सुगंध लैके,
अंग अंग आतप ज्यों लागत सवारे तें ;
एक तो विकल बनमाली के बिरह दूजे,
कैसे के बचैगी या बसंत बज मारे तें ॥"

मेघ मतंग

"छूटि चले मानों सुरराज की समाजन तें,
कदली-वियोगिन के दल दलि डारे हैं ;
मानत न संक 'नवनीत' आन-अंकुस की,
सरम-जँजीरन के टूक करि डारे हैं।
भूमि भहरात काम कज्जल पहार कैसे,
बरसे विचित्र वारि मद के पनारे हैं ;
अंग अंग ऐंड़न उमंग रस रंग भरे,
मेघ मन मथ्थ के मतंग मतवारे हैं ॥"

(शेष फिर कभी)

पद्मसिंह शर्मा

कुरुक्षेत्र

(महाकाव्य)

(१)

जीवन की जर्जर झोली में,
सुंदर बिल्वपत्र भरकर ;
मैं दरिद्र कवि फिर आया हूँ,
विश्वकोष के रट अक्षर।
कुचल गया है 'द्वेष' दुष्ट-सा,
यह सुकुमार वदन, यौवन ;
हे भुजंगधर ! उग्र रूप धर,
करो प्रलय, तांडव नर्तन।

(२)

मुझे अभय दो, और मुझे दो,
सुख, माधुर्य धैर्य सुंदर ;
रक्षा करो अकाल मृत्यु से,
हे मृत्युंजय, शिव, शंकर !
मुझे शक्ति दो फिर प्रलयंकर !
अपना छोड़ प्रलय का राग ;
द्वेष-देश को शीघ्र उड़ा दूँ,
फैली रक्त रंग की आग।

(३)

दो अजेय साहस मानस में,
वाणी में मृदु-स्वर-सुंदर ;
पीने को 'विजया' थोड़ी-सी,
सोने को निज बाघंबर।
फिर त्रिशूल दो हे त्रिशूलधर !
कर दूँ अहंकार का नाश ;
फैला दूँ तव कृपाकोर से,
दुनिया में यश-चंद्र-प्रकाश।

(४)

मुझे शक्ति दो, विश्वरूप धर,
मैं उदार बालक सुकुमार ;
मा-हिंदी की स्नेह-गोद में,
खेलूँ, सुख से करूँ विहार।
सदा सुमन के सिंहासन पर,
बादशाह-सा मैं सुंदर ;
रचा करूँ नित काव्य-कहानी,
छोड़ व्यर्थ का आडंबर।

(५)

बनकर विमल-कमल खिल जाऊँ,
मान-सरोवर में सानंद ;
तन्मय होकर भ्रमर सरीखा,
रहूँ उड़ाता मनहर छंद।
चरण-शरण में मुझे खींच लो,
इष्टदेव ! शंकर ! भगवान !
दिव्य-दृष्टि दो और मुझे दो,
इस दुनिया में गौरवदान।

(६)

मेरे पाप-शृंग पर झर-झर,
बरसा दो गंगा की धार;
आज तुम्हारे आसन पर मैं,
पड़ा लोटता हूँ सुकुमार।
मुझे शक्ति दो, निज भाषा का,
सुख से करूँ अमर अभिषेक;
मुझे शक्ति दो, काव्य-स्रोत की,
सुंदर नदी बहाऊँ एक।

(७)

मुझे शक्ति दो हे गंगाधर,
हे कराल, भैरव, हे रुद्र!
मैं, अंधी अज्ञान लहर का,
शीघ्र सोख लूँ पाप-समुद्र।
अपनी महामधुर डमरू ध्वनि,
मुझे शीघ्र कर दो तुम दान;
मैं हूँ एक भक्त कवि सुंदर,
सरल हृदय, सेवक, अज्ञान।

(८)

इसी स्वर्ग-कैलास-भूमि पर,
डमरू नित्य बजाऊँगा;
मुझे गीत जो सिखलाओगे,
वही गीत मैं गाऊँगा।
नहीं किसी की कभी सुनूँगा,
यही प्रतिज्ञा है, क्या डर?
चरण-शरण में लोट रहा हूँ,
हे मृत्युंजय, शिव, शंकर !!!

पाप-कहानी

(१)

दुर्योधन की पाप-कामना से इठलाता दुःशासन,
कृष्णा के मानस-प्रदेश पर करता हुआ कुटिल शासन;
लाकर पटका सभा-भूमि में, फैला प्रलयंकर आवेश,
बिखर गए, कंपित वसुधा पर कृष्णा के अति सुंदर केश।

(२)

बहता था ललाट से शोणित, प्राण कर रहे थे क्रंदन,
काँप रहा था थर-थर-थर-थर, धूलि धूसरित सुंदर तन;
देख दुर्दशा पांचाली की, मची प्राणियों में हल-चल,
घिरा अचानक अंधकार, पर, हँसा खूब दुर्योधन खल।

(३)

जिसकी इस उन्माद हँसी में यही एक थी स्वर-रस-धार,
'यह त्रिलोक सुंदरी विश्व के शृंगारों की दिव्य सँवार;
कितना बड़ा भाग्यशाली हूँ इस दुनिया में अजर-अमर,
सुंदरियों के वशीकरण का मंत्र जानता मैं सुंदर।'

(४)

दुर्जनता से बंद हो गए सुजन-वृंद के नेह-नयन,
मानो विकल प्राण में करते शत सहस्र वृश्चिक दंशन,
कहीं हर्ष था वेणु बजाता, कहीं उमड़ता था उन्माद,
कहीं विषाद खड़ा रोता था, कहीं बरसता आशिर्वाद।

(५)

सूख गए कितने ही सुंदर, हृद-सर के आनंद नलिन,
तेजस्वी दृढ़ धीर वीर नर महारथी हो रहे मलिन;
पुतली तुल्य मौन बैठे थे भीमादिक कर हृदय विदीर्ण,
किंतु रोष ज्वाला से जलकर कहने लगे विकर्ण प्रवीण।

(६)

'सावधान! ओ खल दुःशासन! अबला के प्रति अन्याचार!
कितने दिन तक रह सका है सोने का सुंदर संसार?
डूब रहा है पाप-सिंधु में विद्रोही-सा जो अज्ञान,
मिल जायेगा मलिन धूलि में एक दिवस अभिनय-अभिमान।

(७)

मुक्त केश है, रक्त विलोचन, और दुःख से जिह्वा मौन,
सतियों के सुहाग को छूकर बचा विश्व में पापी कौन?
आया था मैं अमृत-सिंधु में धोने पाप-ताप-अपमान,
किंतु सुधा की लहरों में ही मैंने पाया गरल महान।

(८)

घिरी मृगी है वनसिंहों से छूट रहा है धैर्य अनंत,
अरे कुटिल नट! झटपट कर दे पापपूर्ण नाटक का अंत;
फैला दे न पवित्र राज्य में ओ अपवित्र! कपट आतंक,
अपनी कीर्ति-चंद्रिमा में तू लगने दे न प्रचंड कलंक।

(९)

सती शिरोमणि मा है जग की क्या न जानता इसे प्रमत्त?
तनिक ठहर जा, कर्ण पात कर, इधर देख ओ खल उन्मत्त!
इस सुंदरी सोहागिन पर जो करता है तू अन्याचार,
मेरा रोम-रोम जल-जल कर तुझे दे रहा है धिक्कार।'

(१०)

सुनते ही विकर्ण की बातें सारी सभा रह गयी मौन,
किंतु कर्ण ने कहा क्रोध से—'अरे पाप, खल तू है कौन?

क्या तूने देखा, क्या समझा, तू है मंद बुद्धि अज्ञान ;
क्या पहिचान सका न सभा की व्यंग्य भरी अविदित मुसुकान?'

(११)

'तू लज्जा की छुई मुई कह जिसे रहा है व्यर्थ पुकार,
वह है एक वारबनिता-सी इसे देख तू आँख पसार ;
हार गये हैं इसे जुये में भीमादिक, क्या है अब तत्त्व,
बड़ा खेद होता है तेरे जीवन का अवलोक जड़त्व।'

(१२)

'शीघ्र छोड़ दे देव-सभा यह, वन में लेकर तीर-कमान,
बाल-वृन्द में जाकर सुख से लगा किसी पर तीक्ष्ण निशान ;
यदि यह हो न सके तुझसे तो बैठ किसी वन में थककर,
या सो रह तू वृद्ध-फूल-सा किसी धूलि में मुख ढक कर।'

(१३)

'क्या प्रकाश के सन्मुख अंधा तम फैला सका है जाल ?
देख चुका मैं सब पागलपन, सावधान ! अब बजा न गाल ;
हृदय-देश का उठा बवंडर, यह है प्रलयंकर तूफान,
कौन रोक सकता है इसको, कौन विश्व में है बलवान ?'

(१४)

'इन सबका क्षय ही निश्चित है' इसी चिंतना में मुख मोड़,
महावीर सज्जन विकर्ण ने दिया सभा-गृह झटपट छोड़ ;
हाहाकार स्वरों में केवल एक रह गयी शेष लहर,
जिसकी प्रलयपूर्ण गर्जन से काँप रहे थे सब थर-थर,

(१५)

किन्तु नीच दुर्योधन के मृदु-अधर-पल्लवों की मुसुकान,
अट्टहास से लगी छेड़ने शून्य सभा में यह गुरु तान ;
'कृष्णा के इन कमल-दृगों से झरता है जो मधु सुंदर,
पी लेने दो मुझे प्राण भर, मैं हूँ एक मत्त मधुकर।

(१६)

'महामानिनी के चरणों की रौंदी हुई धरा की धूल,
क्षण में फूल खिला देती है इसमें तनिक नहीं है भूल ;
चुपके ही चुपके करता हूँ मैं आकर्षण, आलिंगन,
इसे नग्न कर इस जंघा पर शीघ्र बिठाओ दुःशासन !'

(१७)

सुन न सके निज कर्ण कुहर से क्रोधी वीर भीम यह राग,
जलने लगी चिता-सी धक्-धक् उनके रोम-रोम में आग ;
जिसकी प्रलयंकर लपटों में जलने लगे युधिष्ठिर आप,
किंतु न्याय था यही सिखाता यहाँ बोलनाही है पाप।

(१८)

अतः धधकते हुए दृगों से एक गुप्त, दृढ़ इंगित कर,
समझाया,—इस प्रबल क्रोध का है न कदापि अभी अवसर ;
इधर शान्त शासन छूछा था, किंतु उधर था यह प्रण-धन,
'इसे नग्न कर इस जंघा पर शीघ्र बिठाओ दुःशासन।'

(१९)

बजती थी उन्माद-हृदय में यही एक रागिनी विकल,
फूल रहे थे पाप-कुंज में फूल-सरीखे खल दल-बल ;
किंतु सुजन की सजल-कल्पना आँखों में आँसू भर कर,
रोती थी दुखिनी-विधवा-सी हृदय समाधि बना क्षण भर।

(२०)

इधर कुटिल दुःशासन झटपट यौवन का समेट कर जोर,
झपट, दैत्य-सा लगा खींचने पांचाली का अंचल छोर ;
दुर्दिन में सुंदर सुमेरु भी हो जाते हैं लघु-रज-कण,
नील-गगन में छिप जाते हैं क्षुद्र-तारिका-से गुरु गण।

(२१)

बहती थी द्रौपदी दृगों से विकल तप्त आँसू की धार ;
जिसकी बूँदों से होता था एक महासागर तैयार।
ओफ़ ! प्रखर शत धाराओं में बही जा रही थी यह नाव ;
फैल-फैल कर डूब रहे थे जिसमें पांचाली के भाव—

(२२)

'दौड़ो, यहाँ न कोई रक्षक, भक्षक है पापिष्ठ प्रदेश ;
झंझा का झकोर है भीषण, गर्जन-तर्जन ही अवशेष।
डूब गयी जो कहीं हमारी लाजमयी नौका जर्जर ;
तो संसार रहेगा कैसे मायामय बनकर, दुखहर !!'

(२३)

'बेसुध है सोहाग की संध्या, चमको शीघ्र सुधाधर तुम !
क्या इस सूखी फुलवारी में खिलो न गे कुसुमाकर ! तुम ?
सूख रही है इस जीवन की आशा की लतिका सुकुमार ;
क्या न श्यामघन ! बरसाओगे तुम इस पर करुणा की धार ?'

(२४)

'अंधकार के अतल गर्भ में सिसक रही सेविका सरल ;
क्या न आज सान्त्वना-सूर्य तुम चमकाओगे, दुर्बल-बल '
विश्व-रूप में देख रही हूँ नाथ ! तुम्हारी ज्योति अखंड ;
हृदय-मूर्ति कैसे सह लेगी दुर्जन का अन्याय प्रचंड ?

(२५)

'शिलाखंड हा ! बरस रहे हैं आशा की नव लतिका पर ;
बरस पड़ो सूखी खेती में श्याम सुधाधर झर-झर-झर।

रोती आँखें देख रही हैं कालरूप में कौरव-दल ;
छली गयी हूँ मैं 'पांडव' से, पर न करो तुम मुझसे छल ।'

(२६)

'अभागिनी का सुन न सके जो तनिक भूल कर गीतातंक ;
तो कृष्णा के जीवन में ही कृष्ण ! लगेगा तुम्हें कलंक ।
लज्जा में ही मृत्यु बसी है, सुनो सुनो यह करुण पुकार ;
तांडव नृत्य 'न्याय' करता है, ओफ़ !—भयंकर-अत्याचार !!'

(२७)

नतमस्तक सब लोग खड़े थे, उधर द्रौपदी की ध्वनि, आह !
पगली बनकर टहल रही थी त्रिभुवन बीच कराह-कराह ।
काँप रही थी वसुंधरा औ, शक्ति ले रही थी करवट ;
कृष्णा के कोमल शरीर से खिंचता था पीतांबर-पट !!

(२८)

पर, नटनागर करुणा-कुंज में वेणु बजाते थे चंचल ;
आशा की कालिंदी-तट पर छलक रहा था रस छल-छल ।
हटा आवरण अंधकार का, फैली एक ज्योति उस क्षण ;
भक्ति-विनय से प्रकट हो गये वसन-रूप में नारायण ।

(२९)

फटे और मैले आँचल से, दुःशासन कर से, सुंदर—
रंग-रंग के नील, गुलाबी, लोहित, पिंगल-पीतांबर—
होने लगे ढेर पर्वत-से, देख पड़ा वह दृश्य विचित्र ;
जिससे हम असमर्थ बने हैं यहाँ खींचने में लघु चित्र ।

(३०)

अति विचित्र जीवन उलझन में फैल गया फिर कौतूहल ;
होने लगा क्षीण क्षण-क्षण में दुःशासन का भीषण बल ।
जीवन में गुरु-पाप-गरल पी, कौन न आया पतन समीप ?
लोहित 'लौ' से भला जला है कितने दिन तक पाप-प्रदीप ?

(३१)

होकर क्लांत-नार की शव-सा, गिरा मूर्च्छित दुःशासन ;
चकित रह गये सभी सभासद्, यह किसका प्रचंड शासन ?
खेल रहा 'आश्चर्य' हर तरफ़, शांति-हिंडोले में झुक, झूल ;
बरस रहे थे नभमंडल से, इधर द्रौपदी पर मृदु फूल !!

(असमाप्त)

"गुलाब"

रायबहादुर गौरीशंकरजी ओझा के आक्षेपों का उत्तर
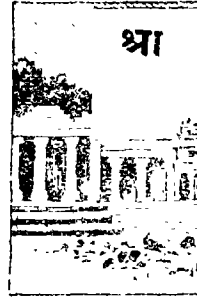
आवण मास की माधुरी के पृ १०५ से ११३ तक 'राजपूताने के इतिहास को भ्रष्ट करने का प्रयत्न' शीर्षक देकर श्रद्धेय पं० गौरीशंकरजी ओझा ने एक लेख लिखा है। इसमें हमारे ज्येष्ठ मास की माधुरी में छपे 'राजपूताने का इतिहास और मारवाड़ के राठोड़ नरेश' नामक लेख के उत्तर देने का प्रयास करने के साथ ही साथ हम पर छींटे भी फेंके गए हैं। परन्तु इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि हम बराबर देख रहे हैं कि राजकीय सेवा में हमारे पद, मान और वेतन की वृद्धि से और साथ ही हमारे 'भारत के प्राचीन राजवंश' नामक इतिहास के प्रकाशन से कुछ लोग चंचल हो उठे हैं और साथ ही जोधपुर, बीकानेर और ईडर के नरेशों तथा नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा उक्त इतिहास के पुरस्कृत होने से तो उनके चित्त में भीषण ज्वालामुखी ही भड़क उठा है। जब इसकी उष्णता बहुत बढ़ गई, तब वि० सं० १९८२ के कार्तिक मास में इसने श्रीयुत डा० अंबालालजी की आड़ में माधुरी में 'एक ऐतिहासिक भूल' के रूप में और १६ मई १९२६ के तरुणराजस्थान में श्रीयुत एस. एस. गुप्त की आड़ में 'राठोड़ों का इतिहास' के रूप में अपनी भयङ्करता प्रकट की थी। इसके लिये वि० सं० १९८३ के वैशाख की माधुरी में 'एक ऐतिहासिक भूल सम्बन्धी भ्रमनिवारण' के रूप में और ६ या ७ जून १९२६ के तरुण में 'राठोड़ों के इतिहास का उत्तर' के रूप में पूरा-पूरा शान्ति-पाठ किया गया था। परन्तु तरुण के ६ जून के उसी अङ्क में यह फिर से संपादकजी की आड़ में भी भड़क उठा था। इस पर लाचार अगस्त १९२६ की सरस्वती में इसका भी शान्ति-पाठ करना पड़ा। इसके बाद इसने इधर-उधर से भड़कना छोड़ उसी पूर्व मार्ग का अनुसरण किया।

अभी ऑक्टोबर १६२६ में श्रीमान् जोधपुर-नरेश ने इतिहास-कार्यालय आदि कुछ महकमे हमें सौंप दिये थे। इस पर तरुण में फिर उबाल आ गया, परंतु 'नर चिन्ती होवे नहीं, हर चिन्ती सो होय' कहावत के अनुसार इस बार भी विपक्षियों को ही नीचा देखना पड़ा। इसका खुलासा हाल चित्रमय जगत् के दिसंबर १६२६ के अङ्क में 'हिंदी-संसार की दशा का दिग्दर्शन' शीर्षक में प्रकाशित हो चुका है।

इसके अलावा ओझाजी की तरफ़ से समय-समय पर हम पर और भी अनेक नीच और घृणित आक्रमण किए जा चुके हैं, परंतु—

जाको राखे साइयां मार सके ना कोय;
बाल न बाँका कर सके जो जग बैरी होय।

यहाँ तक तो 'एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं' के अनुसार हम केवल आत्मरक्षा ही करते रहे। परंतु अन्त में लाचार होकर हमें भी गत ज्येष्ठ मास की माधुरी में 'राजपूताने का इतिहास और मारवाड़ के राठोड़ नरेश' शीर्षक देकर नम्र भाषा में कुछ प्रश्न उपस्थित करने पड़े। इसमें विपक्षियों के लेखों के समान व्यक्तिगत आक्षेप न होकर ऐतिहासिक घटनाओं पर ही विचार किया गया था। परंतु इसके उत्तर में जिस भाषा का प्रयोग कर श्रावण की माधुरी में श्रीमान् ओझाजी ने अपनी मानसिक दुर्बलता का प्रदर्शन किया है वह पाठक हमारे पूर्वपक्ष और श्रीमान् के उत्तरपक्ष को सामने रखकर जान सकते हैं। अस्तु, अब हम आगे 'कण्टकेनैव कण्टकम्' न्याय से आपके 'राजपूताने के इतिहास को भ्रष्ट करने का प्रयत्न' नामक लेख की उक्तियों और युक्तियों पर विचार करते हैं:—

पहले इस लेख के शीर्षक पर ही विचार करना उचित होगा। एक समय ऐसा था जब स्वयं श्रद्धेय ओझाजी उदयपुर-नरेश से अप्रसन्न थे और आपही ने उदयपुर में नौकरी करते हुए मेवाड़-नरेशों को नागर ब्राह्मण प्रकट करनेवाले जिन प्रमाणों का संग्रह किया था, अजमेर आने पर उनको मि० डी० आर० भाण्डारकर को देकर उन्हें उक्त विषय पर (शायद) इण्डियन ऐण्टिक्वेरी में लेख लिखने को प्रेरित किया था। तथा उसका हिंदी-अनुवाद स्वर्गवासी श्रीयुत चन्द्रधरशर्मा गुलेरी के नाम से सरस्वती में प्रकाशित करवाया था। परंतु इस समय भेंट-पूजा प्राप्त हो जाने के कारण श्रीयुत भाण्डारकर को डाँट फटकार बताई जाती है। आपकी युक्तियों में कितना बल है यह राजपूताने के इतिहास से ज्ञात हो सकता है।

इसी प्रकार एक समय था जब स्वर्गवासी कविराजा मुरारिदानजी और मुंशी देवीप्रसादजी की सिफ़ारिश से आपको राष्ट्रकूटों के कुछ लेखों का संग्रह और संक्षिप्त नोट लिखकर लाने पर जोधपुर-राज्य से १०००) रुपए मिले थे। उक्त नोट में आपने राठोड़ों और गाहड़वालों को एक लिखा था। परंतु अब यहाँ से कुछ प्राप्ति की आशा न देख उक्त राजवंश पर भीषण हुंकार किया जा रहा है।

आप अपने राजपूताने के इतिहास को कहाँ तक आय का द्वार बना रहे हैं। यह राजस्थान क्षत्रिय-महासभा अजमेर के मुखपत्र क्षत्रिय की १० फ़रवरी सन् १६२७ की संख्या के पृ० ६ से १५ तक के संपादकीय लेख की नीचे उद्धृत की गई पंक्तियों से प्रकट हो जायगा—

"ओझाजी ने यह फ़रमाया है कि रावणा, चेला, गोला, इत्यादि राजपूत ही हैं। जिनकी समय-समय पर जागीरें चली गई हैं वह सेवावृत्ति का कार्य करने लगे हैं। परंतु उन्होंने यह नहीं बतलाया कि दरोगा लोग, जिनकी उत्पत्ति और ही है, वे कहाँ गये। बड़े अफ़सोस की बात है कि श्रीमान् ओझाजी राजपूताने में रहते हुए भी या तो असली बात को छिपाते हैं, या उनको यह बात मालूम नहीं है। अगर ऐसी मोटी बात उनको मालूम नहीं है, तो जो राजपूताने का इतिहास उन्होंने बनाया है उसमें उन्होंने न जाने किस तरह से नई सृष्टि रची होगी।"

अब पाठक विचारें कि लोभवश राजपूताने के इतिहास को कौन भ्रष्ट कर रहा है। ख़ैर; अब आगे की बातों पर विचार किया जाता है। श्रीमान् ओझाजी ने लेख के प्रारम्भ में इधर-उधर की बातों के बाद पृ १०७ के पहले कालम में लिखा है:—

(१) बड़वों की सौ से अधिक ख्यातों की हमने प्राचीन शोध की कसौटी पर जाँच की तो पंद्रहवीं शताब्दी तक के नाम, संवत् आदि अधिकतर कृत्रिम ही नज़र आए।

(२) अपने स्वामियों की ख्याति करने की दृष्टि से लिखी जाने के कारण भाटों की पुस्तकें राजपूताने में 'ख्यातें' कहलाती हैं।"

वास्तव में आपका लिखना बहुत कुछ ठीक है। परंतु जहाँ-जहाँ लेखादिकों में भी पुरानी वंशावलियाँ उद्धृत करनी होती हैं वहाँ-वहाँ पुराणों, प्राचीन काव्यों या ख्यातों का ही आधार लेना पड़ता है। अतः यह पहला दोष शिला-लेखों में भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ राजपूताने के इतिहास के पृ० ३६८—३६६ पर की भिन्न-भिन्न लेखों के आधार पर दी हुई उदयपुर-नरेशों की वंशावली ही उद्धृत की जा सकती है। इसमें वि० सं० १०३४ के लेख में तो बापा रावल का पता तक नहीं है। परंतु वि० सं० १३३१ से १४९६ तक के लेखों में बप्प को गुहिल का पिता और वि० सं० १५१७ के लेख में बप्प को गुहिल का चौथा वंशज लिखा है।

इसी प्रकार दूसरा दोष भी बहुधा इनमें मिलता है। कभी-कभी इनके लिखनेवाले अपने बप्प जैसे नरेश के लिये भी "चतुरुदधिमहीवेदिनिखिलयूपो" विशेषण का प्रयोग कर देते हैं। इसके अलावा ओझाजी के राजपूताने के इतिहास के पृ० ५८५ में के वि० सं० १४८५ और १५४५ के लेख भी इस विषय में उद्धृत किए जा सकते हैं। उनमें महाराणा मोकल का फ़ीरोज़ को हराना लिखा है। परंतु फ़ारसी तवारीख़ों में इससे बिलकुल उलटी ही बात मिलती है। ओझाजी के लेखानुसार यदि फ़ारसी तवारीखें विश्वास-योग्य नहीं हैं तो राजाश्रय से जीविकोपार्जन करनेवाला लेख का लेखक भी तो दूध का धोया नहीं समझा जा सकता।

इस प्रकार और भी अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। आगे चलकर पृ० १०८ के प्रथम कालम में आपने अपने खड्ग-विलास प्रेस, बाँकीपुर में मुद्रित टाडराजस्थान पर के टिप्पण का उल्लेख कर उसकी प्रशंसा में प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता मुंशी देवीप्रसादजी का सार्टिफ़िकेट उद्धृत किया है। वास्तव में बात भी ऐसी ही है। परंतु कीलहार्न की लिस्ट ऑफ़ नॉर्दर्न एण्ड सदर्न इंसक्रिपशंस के परिशिष्ट की भिन्न-भिन्न राजवंशों की वंशावली और राजक्रम की सूची तथा डफ़ की क्रॉनॉलॉजी के परिशिष्ट की वंशावली की सूची; जोकि श्रीमान् के टिप्पणों से बहुत पहले प्रकाशित हो चुकी थीं देख लेने से सारा मज़ा ही किरकिरा हो जाता है। जिनको संदेह हो मिलान करके देख लें। टिप्पणी का विशेष वृत्तांत परिशिष्ट में के नामों के आगे दिए संवतों को सूची में देखने से मिल जायगा।

आगे इसी कालम के अंत में आप लिखते हैं कि "कर्नल टाड के 'राज-स्थान' प्रकाशित होने के बाद राजपूताने के संबंध में कई छोटे बड़े ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे गए। उनमें से जो-जो किसी प्रकार उपयुक्त पाए गये उनका उल्लेख हमने राजपूताने के इतिहास की पहली जिल्द की भूमिका में किया है। उनके अतिरिक्त राजपूताने के राज्यों अथवा राजाओं के संबंध में और भी कई पुस्तकें हिंदी-भाषा में समय-समय पर प्रकाशित हुई हैं। वे अधिकांश में ऐसे पुरुषों की लेखनी से निकली हैं जो इतिहासवेत्ता एवं शोधक किसी प्रकार से नहीं कहे जा सकते, अपनी विद्वत्ता का आडंबर दिखलाने या खुशामद के कारण लिखे हुए होने से वे ग्रंथ इतिहास की कोटि से बाहर हैं।"

पाठक ज़रा उन ग्रंथों की सूची को और उनके आगे दी हुई ओझाजी की सम्मति को भी देख लीजिए—

ग्रंथों के नाम

१ एचिसन की कलेक्शन ऑफ़ ट्रीटीज़, एंगेज़मेंट्स एंड सनदज़, भाग ३
२ ज़ेसी० ब्रुक कृत हिस्ट्री ऑफ़ मेवार
३ ए पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ दि स्टेट ऑफ़ जयपुर
४ जनरल शावर्स की ए मिसिंग चैप्टर ऑफ़ दि इंडियन म्युटिनी
५ जे० पी० स्टेट्न कृत चित्तौर एंड दि मेवार फ़ैमिली
६ राजपूताने के राज्यों के गैज़ेटियर
७ इंपीरियल गज़टियर ऑफ़ इंडिया
८ राजपूताने के राज्यों और एजेंसियों की सालाना रिपोर्टें
९ चीफ़्स एंड लीडिंग फ़ैमिलीज़ ऑफ़ राजपूताना
१० कर्नल वाल्टर का मेवाड़ के सरदारों का इतिहास

पं० नवनीतलाल चतुर्वेदी मथुरा

(३० वर्ष पूर्व का चित्र)

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ।

पं० नवनीतलाल चतुर्वेदी मथुरा
(इस समय का चित्र)

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ ।

११ सूर्यमल्ल का वंशभास्कर	इस ग्रंथ का कर्ता इतिहास-वेत्ता नहीं था।
१२ मुंशी ज्वालासहाय-कृत वकाये राजपूताना	पहले का सारा इतिहास टॉड से और पिछला सर्कारी रिपोर्टों से लिया गया है।
१३ कविराजा श्यामलदासजीकृत वीर-विनोद	
१४ रामनाथ रत्नू का इतिहास राजस्थान	यह भी बहुधा टाड के आधार पर है।
१५ मुंशी देवीप्रसाद-कृत प्रसिद्ध चित्रावली	कुछ राजाओं की जीवनियाँ हैं। परंतु बहुत ही संक्षिप्त हैं।

(**इसके बाद आपकी पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि इन पुस्तकों के अतिरिक्त राजपूताना या उसके भिन्न-भिन्न राज्यों के इतिहास के संबंध में कुछ और भी पुस्तकें हिंदी में प्रकाशित हुईं, परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से वे उल्लेखनीय नहीं हैं।**)

अब हम श्रीमान् से पूछते हैं कि जिस "भारत के प्राचीन राजवंश के इतिहास" के द्वितीय भाग के आधार पर आपके राजपूताने के इतिहास के प्रथम भाग के 'प्राचीन राजवंश' नामक अंश का बहुत सा भाग लिखा गया है, जिसके बाबत आप स्वयं अपने ता० १२-१-२२ के पत्र में लिखते हैं 'पुस्तक बड़े महत्त्व की है और अँगरेज़ी न जाननेवालों के लिये विंसेंटस्मिथ की अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया से कम महत्त्व की नहीं है, जिस पर नागरी प्रचारिणी सभा ने जोधसिंह पुरस्कार और राधा कृष्णदास पदक दिया है, क्या वह पुस्तक इन सब पुस्तकों से भी गई बीती थी। 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी।' इसमें किसी को कौन रोक सकता है। फिर हसद जो कुछ करवावे थोड़ा है। आगे इसी पृष्ठ के द्वितीय कालम में आप अपने राजस्थान के इतिहास के दोनों भागों का उल्लेख कर हमारे 'राजपूताने का इतिहास और मारवाड़ के राठोड़ नरेश' शीर्षक लेख में का यह शेर उद्धृत करते हैं—

बहुत शोर सुनते थे पहलू में दिलका।
जो चीरा तो एक कतरए खूं न निकला।

श्रीमन्! हमारा इससे यही तात्पर्य था कि आप बात-बात में दूसरों को पक्षपाती या खुशामदी बताने के आदी हो गए हैं। अतः आपका इतिहास तो पक्षपात-रहित ही होना चाहिए था। परंतु उसमें भी पक्षपात की ख़ासी बू भरी है। ज़रा सोचिए तो सही जिनको वीर-विनोद नामक उदयपुर के बृहत् इतिहास को देखने का सौभाग्य मिला है, क्या वे राजपूताने के इतिहास के उदयपुर के इतिहास को उसी का संशोधित रूप नहीं कह सकते? ऐसी हालत में उक्त बृहत् इतिहास में भी जहाँ-जहाँ मारवाड़ नरेशों द्वारा की गई मेवाड़ नरेशों की सहायता का उल्लेख आया है उस पर भी जान-बूझकर आपने सफ़ेदी लगा दी है। रही खुशामदी की बात सो पाठकों के विनोदार्थ १७ अप्रेल १९२७ के तरुण राजस्थान के पृष्ठ ४ की कुछ पंक्तियाँ आगे उद्धृत करते हैं—

"विषय" निर्धारिणी समिति में हमने देखा बिना माँगे ही आप अपनी सम्मति दे बैठते थे। जिस समय हिंदुस्तानी एकेडेमी के संबंध में श्रीखन्नाजी ने प्रस्ताव रखते हुए हिंदी-भाषियों की संख्या कम रखने के कारण सरकार के प्रति असंतोष प्रकट करने की बात कही, उस समय तो आप एक तरह से बिगड़ पड़े। प्रस्तावक महाशय अप्रसन्न होकर प्रस्ताव वापस लेने को तैयार हो गये, किंतु आप असंतोष शब्द रक्खे जाने पर सहमत न हुए। अंत में बड़ी मुश्किल से आपही का सुझाया हुआ 'प्रतिवाद' शब्द रखने पर प्रस्ताव पास हो सका। वस्तुतः प्रस्ताव में बिना कुछ असंगति बताये, इस प्रकार अड़ जाना अनधिकार चेष्टा थी, फिर भी आपके सम्मान में लोगों ने उसे चुपचाप सह लिया। कुछ लोग तो खुले अधिवेशन में फिर 'प्रतिवाद' की जगह 'असंतोष' शब्द ही रखने का विचार कर रहे थे, किंतु ज्यों-त्यों कर बात दबा दी गई। इसके बाद वह दृश्य तो लोगों को बहुत ही बुरा लगा, जब अधिवेशन के अंतिम दिन आपने बार-बार कुरसी पर से उठ, भरतपुर-नरेश के सामने

---

(१) इसका उल्लेख हम वि० सं० १९८२ के श्रावण की माधुरी में उक्त इतिहास की समालोचना करते हुए पहले ही कर चुके हैं। जिसको संदेह हो दोनों को मिलाकर देख ले।

हाथ जोड़ एवं उन्हें अन्नदाता आदि शब्दों से संबोधित कर उनकी एवं उनके प्रबंध की प्रशंसा के पुल बाँध दिये। सभापति के पद से यह उनका व्यवहार किसी भी प्रकार शोभाजनक अथवा वांछनीय न था।"

क्या इस अवतरण से ओझाजी की गवर्नमेंट और भरतपुर-नरेश के प्रति हद से ज़्यादा खुशामद तथा हठ-धर्मी प्रकट नहीं होती[१] ?

यहाँ तक हमारा आदर सत्कार कर आगे आप हमारे लेख की तरफ़ झुके हैं। पृष्ठ १०६ के द्वितीय कालम से पृष्ठ ११० के द्वितीय कालम तक के आपके लेख का सारांश यह है—

मारवाड़ की ख्यात तथा वीरविनोद में भी कान्हा के *जन्म-संवत् का कहीं उल्लेख नहीं है*।...मुंशी देवीप्रसादजी ने कान्हा के पिता चूंडा का वि० सं० १४६५ में तुर्कों से लड़कर काम आना लिखा है।...यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि जिस संवत् को मुंशीजी चूंडा की मृत्यु अथवा कान्हा की गद्दी नशीनी का बतलाते हैं उसी को रेऊजी कान्हा का जन्म संवत् मानते हैं।...दूसरी बात यह है कि चूंडा ने अपनी मृत्यु से किस वर्ष कान्हा को अपना उत्तराधिकारी नियत किया यह भी अब तक अज्ञात ही है। अतः कहना होगा कि—प्रथम ग्रासे मक्षिकापातः।"

अब हम उन प्राचीन ख्यातों का उल्लेख करते हैं; जिनमें कान्हाजी का जन्म संवत् १४६५ दिया है—

(१) भंडारीजी के यहाँ की ख्यात (२) लोलावास के बारट किशोरदानजी के यहाँ की ख्यात (३) मथाणिया के बारहठ जैतदानजी के यहाँ की ख्यात (४) जोशी पोकरदासजी के घरकी ख्यात (५) पाल ठाकुर रणजीतसिंहजी के यहाँ की ख्यात (६) सुमेर पब्लिक लाइब्रेरी में की ख्यात (७) मूंदियाड़ के ठिकाने से आई हुई ख्यात (८) पं० रामकर्णजी की लिखी चूंडाजी की ख्यात और (९) हमारे भारत के प्राचीन राजवंश का तीसरा भाग।

अब रही कान्हाजी को राज्याधिकार देने के समय की बात सो नैणसी के निम्नलिखित लेख से सिद्ध हो जायगी—

"अठे मोहिलां रै रावजी चूंडेजी विवाह कियौ थो, सो राणीरै बेटो जायो, सो घूंटी न दे, ताहरां रावजीनू निगाह हुई, ताहरां आप रणवास में पधारनें राणी नूं कहियौ, मोहल कंवरनें घूंटी क्यूं न देवै है, ताहरां कहियौ, जू रिणमलनें विदा देवो तो घूंटी देऊं, ताहरां रिणमलजीनें तेडने रावजी चूंडाजी फुरमायो जू रिणमल तूं सपूत छै,... सो थारे अठासूं दूसरी जगै जाणसूं श्रो म्हारो विषाद मिटै छै। ताहरै रिणमलजी रावजीरै पगे लागा अर उठासूं सोझत पधारिया।"

(इससे कान्हा के जन्म-समय ही उसको राज्याधिकार मिलना प्रकट होता है।)

इसके अलावा वि० सं० १४७८ का राव चूंडाजी का एक ताम्रपत्र भी बडली गाँव से मिला है। अतः वि० सं० १४६५ में चूंडाजी का मरना और कान्हाजी का गद्दी बैठना किसी तरह भी सम्भव नहीं हो सकता। पं० रामकर्णजी ने भी अपने इतिहास में चूंडाजी की मृत्यु वि० सं० १४८० में होना ही लिखा है। इसके अलावा जोशी पोकरदासजी के यहाँ की पुरानी लिखी ख्यात में भी इस घटना का यही संवत् दिया है। आशा है श्रीमान् ओझाजी का अब तो अवश्य ही समाधान हो गया होगा।

रही मुंशीजी के लिखने की बात सो सम्भव है वह ताम्रपत्र उनके दृष्टिगोचर न हुआ हो। परंतु अब उसके और बहुत से अन्य प्रमाणों के मिल जाने पर उनके लेख की दुहाई देना कहाँ तक ठीक हो सकता है। स्वयं आपके राजपूताने के इतिहास के पृष्ठ २२५ में सोलंकी मूलराज का समय वि० सं० १०१७ से लिखा है। परंतु हमारे आविष्कृत साँभर के लेख से उसका समय ९९८ सं० सिद्ध हो गया है। तब क्या पुराने लिखे के आधार पर नवीन शोध पर ध्यान ही न देना चाहिए ?

---

(१) माधुरी के पृष्ठ १०४ के प्रथम स्तंभ में आप लिखते हैं कि हमें किसी बात की हठधर्मी नहीं है। उपर्युक्त लेख से आपकी इस उक्ति की भी परीक्षा हो जाती है। इसी कालम में आप राजपूताने के इतिहास का काशी हिंदू यूनिवर्सिटी की एम० ए० परीक्षा के पाठ्य ग्रंथों में नियत होना लिखते हैं। वास्तव में यह इतिहास इसी योग्य है भी। परंतु पुस्तकों के चुनाव में कमेटियों का पक्षपात भी किसी से छिपा नहीं है। अगले कालम में हम पर जो स्वार्थपरायणता का दोष लगाया गया है वह तो तरुण के लेख से आपही पर अधिक शोभा देता है।

यहाँ पर हम श्रीमान् से यह भी नम्र निवेदन कर देना उचित समझते हैं कि यदि राजपूताने के इतिहास के तीसरे भाग में, जो आपका राठोड़ों का इतिहास छापने का इरादा था उसका आधार यदि (माधुरीवाले लेख के पृष्ठ ११० के प्रथम कालम में उल्लिखित) स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसादजी की वही ८८ पृष्ठ की पुस्तिका है, तो कृपाकर उक्त इतिहास को तीसरे भाग में न छपवाकर किसी अगले भाग के लिए रख छोड़ें। क्योंकि तब तक शायद हमारा राजकीय इतिहास भी प्रकाशित हो जाय। अन्यथा लोगों को नाहक ही अपनी विद्वत्ता का आडंबर दिखाने का मौक़ा मिल जायगा।

उपर्युक्त ऐतिहासिक संवत् पर आक्षेप करते हुए जान पड़ता है कि श्रीमान् के चित्त में फिर उबाल आ गया है। इसी से आपने पृष्ठ ११० के इसी कालम में हम पर और हमारे इतिहास पर व्यक्तिगत आक्रमण कर दिया है। आप लिखते हैं—

जब ग्रंथ शुद्धिपत्र सहित प्रकाशित हो गया और इसकी समालोचना में टीका-टिप्पणियाँ होने लगीं, तब रेऊजी को उसे शुद्ध कराने की आवश्यकता हुई। इस पर पंडित रामकर्णजी से उसकी ऐतिहासिक अशुद्धियाँ शुद्ध कराकर एक लंबा-चौड़ा नया शुद्धिपत्र छपवाकर ग्रंथकर्ता को अलग वितरण करना पड़ा।........इस ग्रंथ के प्रकाशक हमारे विद्वान् मित्र बंबई-निवासी नाथूरामजी प्रेमी ने इसकी समालोचना लिखने का हमसे आग्रह किया, तो हमने उन्हें यही लिख दिया कि इस ग्रंथ को मैं इतिहास की कोटि में नहीं गिनता।.........इसलिये हमने प्रेमीजी के सम्मुख इस ग्रंथ की समालोचना लिखने में अपनी असमर्थता प्रकट की। इसके अनंतर एक ऐतिहासिक ने इस पुस्तक के कुछ अंश को जाँचकर २५ फुलस-केप पृष्ठ भरकर इसकी मोटी-मोटी अशुद्धियाँ हमारे पास ....भेजीं।"

वास्तव में हमने यह इतिहास अपनी संगृहीत सामग्री के आधार पर ही लिखा था। और पंडित रामकर्णजी राजकीय इतिहास कार्यालय में क़रीब २५ वर्ष से काम कर रहे थे। अतः हमने पुस्तक छपकर आते ही एक कापी श्रीमान् ओझाजी को और एक उनको भेंट की थी और उनसे इसे देखकर हो सके तो अशुद्धियों की सूची बनाकर देने को भी कहा था। उसी के अनुसार उन्होंने एक शुद्धिपत्र बनाया था। उसको हमने अन्य अशुद्धियों के साथ ही, जो इस अरसे में पुस्तक के विचारपूर्वक दुबारा पढ़ने पर हमारी दृष्टि में आईं, छपवा दिया था। और उसी शुद्धिपत्र के नीचे ही लिख दिया था कि 'इस शुद्धिपत्र में मारवाड़ के राठोड़ों के शुद्धिपत्र के तैयार करने में हमारे मित्र विद्वद्वर पं० रामकर्णजी ने बड़ी सहायता दी है। अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं।' इसके कुछ दिन बाद हमने अपनी तरफ़ से एक और भी शुद्धिपत्र प्रकाशित किया है। फिर भी कहीं-कहीं अशुद्धियों का रह जाना संभव है। यथा पृष्ठ ४२५ के राजाओं को हमने एक दूसरे का भाई लिख दिया है। परंतु अधिक अनुसंधान से उनमें क्रमशः पिता-पुत्र का संबंध होना ही अधिक संभव है। श्रीमन्, यह इतिहास अपने विषय का प्रथम ही है। इसके लिखने में वीर-विनोद जैसे किसी इतिहास का सहारा न था। ऐसी हालत में इसमें जो कुछ भी सफलता हुई है उससे हमें पूर्ण संतोष है। कुछ नहीं तो कम-से-कम इससे ऐतिहासिकों का मार्ग तो अवश्य ही साफ़ हो गया है। परंतु उदयपुर के इतिहास के लिये वीर-विनोद जैसी सड़क पाकर भी आप कहाँतक सफल हुए हैं इसका निर्णय पाठक ही कर सकते हैं। फिर या तो श्रीमान् की पवित्र लेखनी से निकले इस इतिहास में कोई अशुद्धि रही ही नहीं है, या आप इसका शुद्धिपत्र लिखने का अभी साहस ही नहीं कर सके हैं? हमारी पुस्तक के शुद्धिपत्र का अजमेर पार्टी के आक्षेपों के कारण बनाया जाना लिखना सफ़ेद झूठ है। आक्षेपों का तो वह मुँह-तोड़ उत्तर दिया जा चुका है कि विपक्षियों का कोई प्रत्युत्तर अब तक हमारे देखने में नहीं आया है। पाठकगण लेखारंभ में उल्लिखित माधुरी और तरुण के अंकों को पढ़कर इसका निर्णय कर सकते हैं। रही २५ पृष्ठ में अशुद्धियाँ निकालनेवाले की बात सो नहीं समझ में आता कि ये गुप्त महाशय प्रकट होने से क्यों घबराते हैं। आगे ओझाजी के समालोचना करने से इनकार करने का विचार करते हैं।

वास्तव में डॉक्टर बार्नेट ने रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में और माडर्नरिव्यू के समालोचक ने उस पत्र में इसकी समालोचना कर तथा रायबहादुर दयाराम साहनी, डिपुटी डाइरेक्टर जनरल आदि

विद्वानों ने अपनी उपयुक्त सम्मति दे श्रीमान् का बड़ा अपराध किया है। सबसे अधिक अपराध तो नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी के वि० सं० १९८३ के वार्षिक विवरण लिखनेवाले का है; जिसने श्रीमान् ओझाजी से विना पूछे ही हमारे राठोड़ों के इतिहास को विशेष प्रशंसा-योग्य पुस्तकों की सूची में स्थान दे दिया है। आशा है अगले अधिवेशन में उपसभापति महाशय उस पर अवश्य कुछ दंड तजवीज करवायँगे। हाँ, यदि प्रेमीजी श्रीमान् से ही समालोचना लिखवाने को लालायित थे, तो उन्हें हमें लिखना था। हम ऐसा रामबाण नुसखा बतला देते कि 'न साँप ही मरता न लाठी ही टूटती।' या उनके 'घर बैठे ही गंगा आ जातीं।' पाठक उस नुसख को जानने के लिये अवश्य ही उत्कंठित होंगे। अच्छा तो आगे देख लीजिए—

"भूमिका के संबंध में कथन है कि मंशीजी के लड़के से जन्मपत्रिएँ लेकर आओ तो जैसा तुम चाहो लिखाकर ले जाओ, नहीं तो मेरे बताए अनुसार दो भाग कर पुस्तक भेजो सो उसको पढ़कर ५-४ पंक्ति में सम्मति लिख दूंगा।"

यह नुसखा ता० ६-४-२७ के एक पोस्टकार्ड में लिखा मिला है। यह पोस्टकार्ड एक ग्रंथकार के मित्र ने ओझाजी से बातचीत कर लिखा था और उस ग्रंथकार की असावधानी से हमें एक स्थान पर पड़ा मिला था। इसकी पुष्टि में हम ओझाजी का ता० २०-१-२२ का एक पत्र भी उद्धृत करे देते हैं। यह उन्होंने हमें हमारे उक्त इतिहास के प्रथम और द्वितीय भाग की समालोचना के बारे में लिखा था—

श्रीमान् साहित्याचार्य पंडित विश्वेश्वरनाथजी की सेवा में—नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में आपकी पुस्तक की समालोचना छप सकती है। परंतु खेद की बात इतनी ही है कि पत्रिका के नए संदर्भ के २ वर्ष समाप्त होने आए परंतु आपने पत्रिका की कुछ भी सेवा न की। "यदि आप भी कुछ पत्रिका की सेवा करें तो पत्रिका आपके लिये सेवा बजाने को तैयार है।"

इन अवतरणों से पाठक समझ ही गए होंगे कि 'जो करेगा सेवा वो पावेगा मेवा' की कहावत कहाँ तक ठीक होती है। अतः यदि प्रेमीजी भी कुछ प्रेमोपहार लेकर जाते, तो अवश्य ही काम बना लाते। मगर वे तो पहले ही चूक गए थे।

आगे पृ० ११० के द्वितीय कालम के अंत में और पृ० १११ के प्रथम कालम के आदि में आप लिखते हैं—

रणमल के जल्दी-से-जल्दी मेवाड़ में जाने के संवत् १४६६ पर जो कान्हा के कल्पित सिद्ध जन्म संवत् १४६५ के आधार पर माना गया है और जिसका कान्हा के जन्म संवत् से कोई संबंध नहीं है हम कदापि विश्वास नहीं कर सकते।

हम इस लेख में १५० वर्षों से भी पुरानी लिखी और भिन्न-भिन्न गाँवों से आई आधी दर्जन ख्यातों के अवतरणों से कान्हा का जन्म संवत् उद्धृत कर चुके हैं और आप जिस मुहणोत नैणसी की जगह-जगह प्रशंसा कर चुके हैं उसकी ख्यात से कान्हा के जन्म समय पिता की इच्छा से राज्याधिकार छोड़ रणमल्लजी का सोजत की तरफ़ होते हुए मेवाड़ जाना भी दिखला चुके हैं। फिर भी उस पर विश्वास न करना आपकी इच्छा की बात है।

आगे इसी पृष्ठ (१११) में आपने हमारे राष्ट्रकूटों के इतिहास में से कुछ पंक्तियाँ चूंडाजी के इतिहास से और कुछ पंक्तियाँ रणमल्लजी के इतिहास से उद्धृत कर यह सिद्ध करना चाहा है कि अबतक हम रणमल्लजी का वि० सं० १४८० के बाद मेवाड़ में जाना मानते थे। क्या खूब है "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुनबा जोड़ा।"

श्रीमान् यदि आप रणमलजी के इतिहास के दो पैरेग्राफ़ ही शांतचित्त से पढ़ लेते, तो घटनाओं के क्रम से ही आपका यह भ्रम दूर हो जाता। हाँ, यह हम भी मानते हैं कि यदि हम पिता की मृत्यु के समय ये नागौर में थे, की जगह पिता की मृत्यु के समय ये नागौर में आए हुए थे, लिख देते, तो आपको माधुरी का क़रीब पौन पृष्ठ काला न करना पड़ता। अगले पृष्ठ में श्रीमान् लिखते हैं—

ऐतिहासिक निर्णय करने के लिये तो स्थल-स्थल पर अकाट्य प्रमाणों की आवश्यकता रहती है। परंतु रेऊजी प्रमाण देने का कष्ट नहीं उठाना चाहते, कान्हा का जन्म वि० सं० १४६५ में सिद्ध होना मानकर ही यह कल्पना की गई है। परंतु जब रेऊजी का बतलाया हुआ कान्हा का "सिद्ध" जन्म संवत् सरासर झूठा है, ऐसी स्थिति में झूठे संवत् के आधार पर हंसाबाई के विवाह के जल्दी-से-जल्दी होने के संवत् की कल्पना कैसे की जा सकती है।

"......जब हंसाबाई के विवाह संवत् का निश्चय नहीं हो सका, तब मोकल का जन्म संवत् किस आधार पर स्थिर किया जा सकता है। ...."

श्रीमन्! हमने कान्हा के जन्म संवत, रणमल्ल के राज्य त्याग के समय और राव चूंडाजी की मृत्यु के बारे में आज्ञानुसार इस लेख में पहले ही प्रमाण उद्धृत कर दिए हैं। आशा है, अब तो आपका समाधान अवश्य ही हो गया होगा। इतनी सेवा कर लेने पर हम श्रीमान् से निवेदन करते हैं कि स्थल-स्थल पर प्रमाणों की आवश्यकता का ढोल तो पीटा जाता है, परंतु अब तक आपने अपने मत की पुष्टि में कौन सा प्रमाण उद्धृत किया? आश्चर्य है, हमारी दृष्टि में तो बिलकुल नहीं आता।

ख़ैर, इस प्रमाण के सिलसिले में ही हम श्रीमान् से नम्रता के साथ दो बातों की जिज्ञासा करते हैं। पहली बात तो यह है कि राजपूताने के पवित्र इतिहास के पृ० ५७१ में लाखाजी का वि० सं० १४३६ में गद्दी बैठना लिखा है। आप वयोवृद्ध हैं। आपका वाक्य ही हमारे लिये आप्त वाक्य है। परंतु आप ही के इतिहास के पृ० ५६५ में कीर्तिस्तम्भ की प्रशस्ति के आधार पर लिखा है कि चेत्रसिंह ने पराक्रमी शक (मुसलमान) पृथ्वीपति के गर्व को मिटानेवाले गुर्जर मण्डलेश्वर वीर रणमल्ल को कारागार में डाला। इसी के अगले पृष्ठ के फुटनोट नं० २ में श्रीमान् लिखते हैं कि 'ज़फ़रखां द्वितीय...ईडर के राजा रणमल्ल से दो बार लड़ा था। दूसरी लड़ाई ई० सन् १३६७ (वि० सं० १४५४) में हुई। जिसमें रणमल्ल से सन्धि कर उसे लौटना पड़ा।...यदि रणमल्ल महाराणा के हाथ से क़ैद होने के पहले ज़फ़रखां से लड़ा हो तो यही मानना पड़ेगा कि वह ज़फ़रखां (प्रथम) से भी लड़ा होगा।"

परंतु प्रशस्ति में—वीरः श्री रणमल्लमर्जितशकक्ष्मापालगर्वांतकं स्फूर्जद्गुर्जरमंडलेश्वरमसौ कारागृहेवीवसत्। २३।—

लिखा होने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मुज़फ़्फ़र को हराने से बढ़े हुए प्रतापवाले ईडरनरेश रणमल्लजी को खेताजी ने क़ैद किया था। इसके अनुसार तो उक्त राना का वि० सं० १४५४ तक जीवित होना पाया जाता है। आपके उपर्युक्त नोट का अंतिम भाग देखने से ज्ञात होता है कि यह शङ्का तो आपको भी हुई थी। परंतु आपने आर्ष प्रयोग के अनुसार ऐसी हालत में रणमल्ल का मुज़फ़्फ़र प्रथम से लड़ना अनुमान कर बात को दबा दिया है। पर क्या एक भी ऐसा प्रमाण दिया जा सकता है जिससे इस आर्ष वाक्य की पुष्टि हो सके। इसके अलावा पवित्र इतिहास के पृ० ५८० पर वि० सं० १४४६ के मैनाल के शिलालेख के आधार पर हाडा महादेव को राना खेता का सरदार लिखकर महाराणा लाखा की गद्दी नशीनी तक उसका जीवित होना सिद्ध किया है। परंतु कर्नल टाड ने अपने इतिहास में जहाँ लेख का उल्लेख किया है वहाँ केवल खेता का नाम ही मिलता है, लाखा का कोई उल्लेख नहीं है। यदि महादेव मेवाड़वालों का सामन्त था और लाखा वि० सं० १४४६ के पूर्व गद्दी पर बैठा, तो उपर्युक्त लेख में इसका भी कुछ उल्लेख अवश्य ही होना चाहिए था। तीसरा जिन पं० रामकर्णजी के गुरु होने का दावा करने के कारण, एक समय, आपके और उनके बीच खींचतान चल रही थी, परंतु आज हमसे द्वेष होने के कारण जिनके आप गीत गा रहे हैं वे अपने इतिहास[१] के पृष्ठ २२ के, फुट नोट ४८ में लिखते हैं—

"चित्तौड़ की जयस्तंभ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि राना चेत्रसिंह ने गुजरात के बादशाह के गर्व को गंजन करनेवाले ईडरनरेश रणमल्ल को क़ैद कर दिया था। यह आख़िरी घटना ई० सन् १४०३ (वि० सं० १४६०) में हुई होगी, जब कि मुज़फ़्फ़रख़ान के पुत्र ने अपने पिता को क़ैद कर कुछ दिन तक अपना राज्य क़ायम कर लिया था (Bom. Gaz., Vol I. p. 234) इस गड़बड़ में रणमल्ल ने मुज़फ़्फ़र के पुत्र की सहायता कर गुजरात के बादशाह का गर्व गंजन किया था। फिर राना लाखा का वि० सं० १४६२ का एक ताम्रपत्र भी मिला है। इसलिए राना लाखा के गद्दी बैठने का समय वि० सं० १४६० और १४६२ के बीच ही होगा।...टाड ने लाखा की गद्दी नशीनी वि० सं०

(१) यह इतिहास श्रीमान् ओझाजी के इतिहास के बहुत पूर्व छपकर उनके पास पहुँच चुका था। परंतु न तो इसका नाम 'राजपूताने के इतिहास' की भूमिका के उत्तम इतिहासों में ही मिलता है, न उक्त इतिहास में इसके इस लेख का कुछ खण्डन ही है।

१४३६ में लिखी है। परंतु खेता का वि० सं० १४३० तक जीवित रहना सिद्ध होने से वह अशुद्ध ही है।"

आशा है, इन बातों पर विचार कर अवश्य ही फतवा दिया जायगा। जिससे संशयात्मा लोगों का समाधान हो जाय।

दूसरी बात जो हम श्रीमान् से पूछना चाहते हैं वह यह है कि राजपूताने के पवित्र इतिहास के पृष्ठ २७३ और ८४ में लिखा है—

"हि० स० ७९९ (वि० सं० १४५३ = ई० सन १३९६ में ज़फ़रख़ाँ गुजरात का स्वतंत्र सुलतान बन गया और अपना नाम मुज़फ़्फ़रशाह रक्खा।"

वास्तव में यह संवत् आपने फ़ारसी तवारीख़ों से न लेकर डफ की क्रॉनॉलॉजी से या बील की ओरियंटल बायोग्राफ़िकल डिक्शनरी से ही लिया है। अतः यह ठीकनहीं है। तबकाते अकबरी और मिराते सिकंदरी में इस घटना का समय हि० स० ८१० (वि० सं० १४६४ ई० सन् १४०७) लिखा है। मुंशी देवीप्रसादजी की यवनराजवंशावली से भी इसी की पुष्टि होती है।

ख़ैर, जो कुछ भी हो अब तो आपका लिखा ही भारतीय इतिहास में आप्त वाक्य हो जाना चाहिए।

विषयांतर से अब हम फिर लेख की तरफ़ आते हैं। अपने लेख के पृष्ठ ११२ में श्रीमान् लिखते हैं कि "हमने लिखा है कि हमारे अनुमान से राज्याभिषेक के समय मोकल की अवस्था कम-से-कम १२ वर्ष की होनी चाहिए, अर्थात् १२ वर्ष से अधिक ही होगी। रेऊजी को हमारा कथन असंभव ही प्रतीत होता है; परंतु उसके असंभव प्रतीत होने का उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया है। यदि कोई प्रमाण है तो कान्हा के उसी झूठे "सिद्ध" जन्म संवत् के अनुसार की हुई गणना, जिसे हम किसी प्रकार स्वीकार नहीं कर सकते। इसके संबंध में हम विवेचन कर चुके हैं। टाड और नैणसी ने उस समय मोकल की अवस्था ५ वर्ष होना बतलाया है।......हम रेऊजी को यह बतला देना चाहते हैं कि टाड और नैणसी के जो जो कथन ऐतिहासिक शोध की कसौटी पर ठीक न निकलें वे नहीं माने जा सकते।"

ख़ैर, सज्जनतोषन्याय से थोड़ी देर के लिये वि० सं० १४७८ में गद्दी बैठते समय (क्योंकि आपने १४७६ और १४७८ के बीच इस घटना का होना लिखा है) आपके लिखे अनुसार ही यदि मोकल की अवस्था १२ वर्ष की मान ली जावे, तो भी तो मोकल का जन्म वि० सं० १४६६ में ही आवेगा। अतः कान्हा के जन्म को १४६५ में मानने में आपको क्या आपत्ति आ सकती है। नैणसी लिखता ही है कि कान्हा के जन्म समय ही रण-मल्लजी सोजत की तरफ़ चले गए थे। अतः हम यह भी मान लेते हैं कि उसी साल हंसाबाई का विवाह राना लाखा से हो गया और अगले वर्ष ही मोकल ने जन्म लिया। इसके बाद मोकल की १६—१७ वर्ष की अवस्था में (अर्थात् वि० सं० १४८२—८३ में) इसके पुत्र कुंभा का जन्म भी हो गया। ऐसी हालत में भी तो राज्यप्राप्ति के समय (अर्थात् वि० सं० १४९० में) कुंभा की अवस्था ५—६ वर्ष के बदले ७—८ वर्ष की ही होगी। और राव रणमल्ल की मृत्यु-समय (अर्थात् वि० सं० १४९५ में) १०—११ वर्ष के बदले १२—१३ वर्ष तक पहुँचेगी। अतः हमारे 'राजपूताने का इतिहास और मारवाड़ के राठौर-नरेश' नामक लेख में किए गए कुंभाजी के इतिहास पर के आक्षेप तो फिर भी आपके इतिहास की यथावत् गरदन नापते ही रहेंगे।

अब हम श्रीमान् से निवेदन करते हैं कि हमने तो अपने पक्ष के प्रमाण भी उपस्थित कर दिए और आपके मत का अनुगमन करके भी उसमें आनेवाले दोषों को दिखा दिया। परंतु आपको भी तो केवल प्रमाण की दुहाई देना छोड़कर अपने मत की पुष्टि में सिवाय मौखिक वितंडावाद के एक-आध प्रमाण तो अवश्य ही उद्धृत करना था। रही आपकी ऐतिहासिक शोध की कसौटी, सो हमारी समझ में इसका तात्पर्य या तो 'मीठा-मीठा गड़प और कड़वा-कड़वा थू' है या फिर यह मायावाद की तरह अज्ञेय और अनिर्वचनीय ही है।

इसके बाद पृ० ११२ के दूसरे कालम और पृ० ११३ के प्रथम कालम में आप लिखते हैं—

"रेऊजी ने लिखा है रणमल ने राज्य का प्रबंध बड़ी ही ख़ूबी से सँभाला अनेक युद्धों में महाराणा की विजय-पताका फहराई। इसके प्रमाण में उक्त इतिहास के पृ० ५८५ में उद्धृत वि० सं० १४८५ के शिलालेख ही पर्याप्त होंगे।

यह वाक्य लिखते समय तो रेऊजी ने इतिहास जाननेवालों की आँखों में धूल डालने में कोई कसर

नहीं रक्खी ।...शिलालेखों में कहीं रणमल्ल का नामोल्लेख नहीं है ।...रणमल्ल तो महाराणा के अनेक सरदारों में से एक था ।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि वि० सं० १४६० में जब मोकल का स्वर्गवास हुआ उस समय उसके सात पुत्र विद्यमान् थे । इसलिये मोकल की १७ वर्ष की आयु होने के रेऊजी के कथन को हम ग़लत ही समझते हैं, क्योंकि इस आयु का हिसाब कान्हा के 'सिद्ध' जन्म-संवत् की झूठी गणना के अनुसार ही लगाया गया है ।"

श्रीमन् ! यद्यपि अब जबतक आप कान्हा के जन्म-संवत् को, जो इतने प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया गया है प्रमाणों ही के आधार पर झूठा सिद्ध न कर दें, तबतक हमारे सारे ही आक्षेप जनता के समक्ष आपके इतिहास के गलग्रह बने ही रहेंगे । अतः हमको इस विषय में अधिक निवेदन की आवश्यकता ही नहीं है । तथापि हमें हर तरह से आपको संतुष्ट करना ही अभीष्ट है । अतः निवेदन है कि आप अपने इतिहास के पृ० ५८४ पर लिखे इस वाक्य पर ध्यान दें—"चूंडा के चले जाने पर रणमल्ल ने राज्य का सारा काम अपने हाथ में कर लिया और सैनिक विभाग में राठोड़ों को उच्चपद पर नियत करता रहा । तथा उनको अच्छी-अच्छी जागीरें देने लगा । महाराणा ने अपने मामा का लिहाज़ होने से उसके काम में किसी प्रकार हस्तक्षेप न किया ।" इससे साफ़ ज़ाहिर होता है कि उस समय रणमल्ल महाराणा का साधारण सरदार न होकर सारे मेवाड़ का करता-धरता था और मेवाड़ के उच्चसैनिक पदों पर भी राठोड़ ही नियत थे । ऐसी हालत में हमारा रणमलजी की तारीफ़ में उपर्युक्त वाक्य लिखना क्या अनुचित है ? शिलालेखों के हवाले से हमने केवल रणमलजी के समय की मेवाड़ की दशा का उन्नतावस्था में होना ही प्रकट किया है । और यह भी प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि देश की उन्नत दशा का श्रेय उसके प्रबंधक को ही मिला करता है । शिलालेखों में रणमल्लजी के नाम का झगड़ा खड़ाकर लोगों की आँखों में धूल तो श्रीमान् ही झोंकना चाहते हैं । आगे आपने मोकल की मृत्यु-समय उसके ७ पुत्रों का विद्यमान होना लिखा है । सो १७ वर्ष से २२ वर्ष की अवस्था तक एकाधिक रानियों से यदि ७ पुत्र उत्पन्न हुए तो क्या आश्चर्य हो गया । कान्हाजी के जन्म-संवत् की सिद्धि पहले ही की जा चुकी है । आगे ११३वें पृष्ठ के दूसरे कालम में महाराणा कुंभा के कीर्तिस्तंभ का प्रारंभ वि० सं० १४६७ में सिद्ध किया गया है । परंतु इससे हमारा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं ; क्योंकि हमारे मतानुसार उस समय कुंभाजी की अवस्था १२-१३ वर्ष की और आपके मतानुसार (मोकलजी को राज्य पर बैठते समय १२ वर्ष का मान लेने से) १४-१५ वर्ष की (अथवा अधिक से अधिक १६ वर्ष की) होती है ।

हम अपने इस लेख को माधुरी के पाठकों के समक्ष रखकर आशा करते हैं कि प्रश्न, उत्तर और प्रत्युत्तर तीनों को मिलाकर वे इसके निर्णय की चेष्टा करेंगे ।

राज्य-प्राप्ति के समय मोकल की अवस्था का छोटी होना श्रीमान् ओझाजी के राजपूताने के इतिहास के पृ० ५८३ पर की इन पंक्तियों से ही सिद्ध हो जाता है—

"इस समय आपका सती होना अनुचित है ; क्योंकि महाराणा मोकल कम उम्र है, अतएव आपको राजमाता बनकर राज्य का प्रबंध करना चाहिए ।"

इसके अलावा यदि मोकल की अवस्था छोटी न होती तो, पहले कुछ दिन तक चूंडा को और उसके बाद रणमल्लजी को मेवाड़ के प्रबंध की बागडोर क्यों ग्रहण करनी पड़ती ।

अंत में हमारा निवेदन है कि आज से १५० वर्ष पूर्व तक की लिखी और भिन्न-भिन्न ग्रामों आदि से एकत्रित की गई अनेक ख्यातों आदि के आधार पर हम कान्हा का जन्म वि० सं० १४६५ में होना और मुहता नैणसी की ख्यात के आधार पर उसी वर्ष रणमल्ल का राज्याधिकार त्यागकर मेवाड़ की तरफ़ जाना सिद्ध कर चुके हैं । अतः जबतक श्रद्धेय ओझाजी ज़बानी जमाख़र्च को छोड़ प्रमाणों के आधार पर इस भित्ति को ढहाने में समर्थ नहीं होते तबतक हमें श्रीमान् के केवल मौखिक फतवे के आधार पर लिखे उत्तर का प्रत्युत्तर देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ।

विश्वेश्वरनाथ रेउ

कल्पना जगत् में प्रतिभाशाली कवि

कृषक

तेरे अथक परिश्रम का क्या मूल्य दे सकेगा संसार ?
क्या, कर सका आदर तेरा बतला तुझको मूर्ख गँवार।
कतिपय वस्तु विदेशी देकर ले लेता है तेरा धन ;
हाय ! समझ बैठा है तेरा सारा विश्व घृणित जीवन।
धूलि-धूसरित वस्त्र देख तव, भूल गया अंधा संसार ;
कह डाला 'अज्ञान' तुझे तू कर बैठा सादर स्वीकार।
है जिसका उद्देश्य सदा करना निर्बल पर अत्याचार ;
कैसे भला देख सकता है तेरे अंतर के उद्गार।
यदि तू है ग्रामीण अशिक्षित तो इसमें तेरा क्या दोष ?
धन्य ! तुझे लांछित होने पर भी कर बैठा है संतोष।
अब न शोक कुछ बंधु कृषक कर तेरे दिन भी आयेंगे ;
तेरे लांछित करनेवाले तुझको गले लगायेंगे।

व्रजकिशोर शर्मा 'पंकज'

समाचार-समितियाँ

समाचारपत्रों के लिये जिस प्रकार रिपोर्टर और संवाददाता आवश्यक हो गये हैं (यहाँ केवल हिंदीपत्रों से ही तात्पर्य नहीं है) उसी प्रकार समाचार-समितियाँ भी आवश्यक हो गयी हैं। असल में समाचार-समितियाँ रिपोर्टरों का एक संगठित समूह मात्र ही हैं। अंतर केवल इतना है कि रिपोर्टर एक या यदा कदा एक से अधिक पत्रों को समाचार भेजने का काम करते हैं और समाचार-समितियाँ आम तौर से अनेक पत्रों को समाचार भेजती हैं। कुछ समाचार-समितियाँ भी ऐसी हैं जो कुछ ख़ास समाचारपत्रों को, जो उसके सदस्य होते हैं और जिनकी संख्या परिमित होती है, समाचार भेजती हैं, औरों को नहीं। किंतु इस प्रकार की समाचार-समितियाँ भारतवर्ष में नहीं हैं। यहाँ तो ऐसी ही समितियाँ हैं जो एक निश्चित चंदा देने पर किसी समाचारपत्र को समाचार भेज सकती हैं। इन समितियों के प्रतिनिधि देश-विदेश के तमाम बड़े-बड़े शहरों और कस्बों तक में घूमा करते हैं और वे जो समाचार पाते हैं, उसे अपने निकटवर्ती पत्रों के अलावा अपनी समिति के केंद्रस्थानों को भी भेज देते हैं ताकि वह (समाचार) अन्य पत्रों को भी भेजा जा सके।

बहुत-सी समाचार-समितियाँ व्यापारिक संस्था-सी होती हैं जो दूसरी संस्थाओं से समाचार लेकर मुनाफ़े पर बेंचती रहती हैं। ऐसी समितियाँ अमेरिका में अधिक पाई जाती हैं। ये समितियाँ राइटर जैसी अंतरदेशीय या अन्य साधारण समाचार-समितियों से भी कोई विशेष समाचार, जिसे वे समझती हैं कि वह पत्रों के लिये अधिक रुचिकर होगा, एक निश्चित रकम देकर ख़रीद लेती हैं। फिर राइटर या अन्य साधारण कंपनियों को, जिनसे समाचार ख़रीदा जाता है, वह समाचार उस हलक़े के समाचारपत्रों में भेजने का हक़ नहीं रह जाता जिसमें उक्त ख़रीदार समिति समाचार भेजती है। फिर तो ख़रीदार समिति ही उसे, अपनी ओर से, उन पत्रों को वे समाचार भेजती है जो उसके लिये चंदा देते हैं।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतवर्ष में समाचार-समितियों का अनुकरण भी पाश्चात्य देशों के उदाहरण पर ही किया गया है। इसलिए इस विषय के एतद्देशीय इतिहास में कोई विशेष चमत्कार नहीं है। किंतु विदेशों में समाचारसमितियों के प्रचार में आने का बड़ा विस्तृत इतिहास है। पहिले, उस प्रारंभकाल में, जब समाचारपत्रों का वैसेही जन्म हुआ था, समाचार-समितियों की कौन कहे रिपोर्टर आदि भी संगठित रूप से नहीं थे। कुछ फुटकर रिपोर्टर इधर-उधर से समाचार एकत्र करके भेजते थे और वे ही समाचारपत्रों में प्रकाशित होते थे। धीरे-धीरे कुछ समाचारपत्रों के संचालकों को इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि उनके पत्रों में समाचार भेजने के लिये ऐसे आदमी हों जो साधारण समाचारों की अपेक्षा अधिक और अच्छे समाचार भेज सकें। यह बात उनके हृदयों में इस आशा से उत्पन्न हुई कि ऐसा करने से, वे, दूसरे पत्रों की अपेक्षा एक विशेष बात अपने पत्र में दे सकेंगे और इस प्रकार प्रतिद्वन्द्विता में दूसरों से बाजी मार ले जायँगे। सबसे पहले १९वीं शताब्दी के आरंभ-काल में, इंगलैंड के 'मार्निंग क्रॉनिकल' नाम के पत्र ने इसी भाव से प्रेरित

होकर अपना स्वतंत्र रिपोर्टर-मंडल स्थापित किया। उसकी देखा-देखी अन्य पत्रों ने भी रिपोर्टर रखे। यह सब इस स्पर्धा के फल स्वरूप हुआ कि एक पत्र दूसरे पत्र से अधिक और अच्छे समाचार दे। किंतु जब रिपोर्टरों की संख्या प्रायः सर्वत्र एक-सी ही हो गयी, सभी पत्र एक से ही समाचार देने लगे, तब अपने-अपने पत्र में विशेषता लाने के और उपाय सोचे जाने लगे। अब समाचारपत्र-संचालक अधिकता और अच्छाई के साथ-साथ इस बात का प्रयत्न करने लगे कि उनके पत्र में अन्य पत्रों की अपेक्षा पहले समाचार प्रकाशित हो जायँ। इसी बीच में तारों की एक कंपनी खुली। इससे उक्त भाव की पूर्ति को बहुत सहारा मिला। समाचारपत्र, पोस्ट या हरकारे के ज़रिये से अपने समाचार न मँगाकर, जल्दी प्रकाशित करने की सुविधा के विचार से, इस कंपनी के तारों द्वारा समाचार मँगाने लगे। इस प्रकार, तारों के ज़रिये सबसे पहले समाचारपत्रों को जो समाचार भेजा गया वह १८४६ ई० में पार्लियामेंट के उद्घाटन के समय दिया गया साम्राज्ञी विक्टोरिया का भाषण था। इसके बाद साधारण समाचार भी भेजे जाने लगे थे। इस प्रकार जल्दी-जल्दी समाचार पाने से जनता में जल्दी से जल्दी समाचार जानने की रुचि बढ़ी। अभी तक देहाती पत्रों के पाठक समाचारों के जल्दी जानने की उतनी कोशिश नहीं करते थे, किंतु अब उनकी रुचि में भी सुधार हुआ और वे शीघ्रातिशीघ्र समाचार जानने की उत्कंठा प्रकट करने लगे। समाचारपत्रों के चतुर संचालकों ने, जनता की इस रुचि और इस उत्कंठा के अनुरूप अपना कार्य-क्रम बनाया। अभी तक जो तार कंपनी थी वह समाचारपत्रों ही के लिये न थी, इसलिए इसके द्वारा समाचार भेजने में कभी-कभी विलंब भी हो जाता था। अतः समाचारपत्र-संचालकों ने, विशेषतः शहरों के समाचार-पत्रवालों ने मिलकर एक अपनी तार कंपनी खोली। यह कंपनी १८६५ में स्थापित हुई। इसके द्वारा समाचार भेजने में बड़ी सुविधा हो गयी। इस कंपनी ने अपने कर्मचारी रखे जो समाचार-प्राप्त करके तार द्वारा समाचारपत्रों को भेजते रहे। इस कंपनी पर सरकार का हाथ न था, इसलिए वह इस कंपनी द्वारा भेजे गये समाचारों पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं रख सकती थी और जैसा कि स्वाभाविक सा ही है। सरकार समाचारपत्रों में प्रकाशित होनेवाले समाचारों में नियंत्रण रखना अपनी भलाई के लिये आवश्यक समझती थी। इसलिये उसने यह कंपनी ख़रीद ली। अब समाचारपत्रों को थोड़ी सी कठिनाई फिर दिखलाई पड़ी। ऐसी स्थिति में पत्र-संचालकों ने एक दूसरी समिति स्थापित की जो एक समाचार प्राप्तकर भिन्न-भिन्न केंद्रों में तार द्वारा पहुँचा देती थी। इसी प्रकार धीरे-धीरे और भी ऐसी ही समितियाँ स्थापित हुईं और उन्नति करते-करते वर्तमान रूप में आयीं।

समाचार-समितियों के प्रतिनिधियों को वे तमाम सुविधाएँ प्राप्त रहती हैं जो समाचारपत्र के किसी रिपोर्टर के लिए सुलभ होती हैं। अर्थात् समाचार-समितियों के प्रतिनिधि सार्वजनिक सभाओं में प्रवेश कर सकते हैं, अदालतों में रिपोर्ट ले सकते हैं, अन्य घटना-स्थल पर जाकर समाचार प्राप्त कर सकते हैं। और एक रिपोर्टर के करने योग्य सब काम कर सकते हैं। समाचार समितियों का, उनके जन्म-काल से ही पत्रों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। जहाँ पहले समाचारपत्र अपने रिपोर्टरों पर अधिक अवलंबित रहते थे, वहाँ अब वे समाचार-समितियों के अधिक मोहताज रहते हैं। यह दशा विदेशों में ही है, हमारे यहाँ, इसका यदि कुछ आभास दिखलायी पड़ता है, तो अँगरेज़ी समाचारपत्रों में ही। हिंदी-पत्रों में तो अभी इसका एक प्रकार से नामोनिशान तक नहीं। हमारे यहाँ के समाचार-पत्रों की अभी प्रारंभिक अवस्था है। इसलिये पाश्चात्य देशों में प्रारंभिक अवस्था में जो दशा थी वही हमारे यहाँ भी है। ज्यों-ज्यों हम इस कला में उन्नति करते जायँगे त्यों-त्यों हमारी स्थिति में भी परिवर्तन होंगे और हम भी समाचार-समितियों के अधिक आधिन होते जायँगे।

भारतवर्ष में समाचार-समितियों के अस्तित्व का इतिहास कोई विशेष चमत्कार-पूर्ण नहीं है। हमारे सामने विदेशों का उदाहरण मौजूद था। आवश्यकता सिर्फ़ इतनी थी कि समाचारपत्र इतनी अधिक संख्या में निकलने लगें जिनमें समाचार भेजकर कोई कंपनी आमदनी कर सके। जब यह अवस्था आगई, तब समाचार-समिति का भी जन्म हो गया।

इस समय पाश्चात्य देशों में राइटर कंपनी, प्रेस एसोसियेशन और एसोसियेटेड प्रेस (अमेरिका) बहुत

प्रसिद्ध समाचार-समितियाँ हैं । राइटर कंपनी सबसे अधिक पुराना है । यह कंपनी सन् १८४८ ईसवी में पेरिस में स्थापित हुई थी और इसके संस्थापक थे श्रीज्यू-टियस राइटर । प्रारंभ में यह नितांत सरकारी संस्था थी । कोई १७ वर्ष तक यह संस्था अपनी इसी हैसियत से काम करती रही । सन् १८६५ ईसवी में कुछ व्यक्तियों के आंदोलन और उद्योग से यह संस्था सार्वजनिक संस्था बना ली गई । किंतु फिर भी इसकी नीति सदा सरकारी पक्ष का समर्थन करती रहती है । अब इसकी प्रसिद्धि एक अर्ध सरकारी संस्था की भाँति है मगर काम अब भी पूर्ण सरकारी नीति से ही होता है । यह संस्था अंतर्राष्ट्रीय समाचार भेजने के लिये समस्त-संसार में प्रसिद्ध है । इसके केंद्रस्थान संसार भर में स्थापित हैं, जहाँ से यह हर जगह समाचार भेजती रहती है । यह संस्था व्यापकता के विचार से संसार की समस्त समाचार-समितियों से बड़ी है ।

इसके बाद न्यूयार्क अमेरिका की एसोसियेटेड प्रेस नामक संस्था का स्थान है । कार्य-बहुलता की दृष्टि से यह संस्था भी संसार में अपना सानी नहीं रखती । इस दृष्टि से यह संसार की सबसे बड़ी संस्था पाई जाती है । इसके जन्म के संबंध में कहा जाता है कि अमेरिका के पत्र पहले इस प्रकार की समाचार-समितियों से काम नहीं लेते थे । पत्रों के अपने-अपने रिपोर्टर थे और अपना-अपना अलग-अलग काम होता था । बाहर से समाचार प्राप्त करने के लिये समाचारपत्रों के अलग-अलग जहाज़ भी थे । किंतु इस प्रणाली से अधिक ख़र्च भी पड़ता था और असुविधाएँ भी होती थीं और इतने पर भी समाचार शीघ्रतापूर्वक न पहुँच पाते थे । इसलिये १८५० ईस्वी के लगभग इस प्रथा से काम लेना बंद होने लगा । इसके बाद वहाँ के कुछ समाचारपत्रों ने मिलकर एक सम्मिलित समाचार-समिति स्थापित की । इसी का नाम एसोसियेटेड प्रेस पड़ा । एसोसियेटेड प्रेस ने अपने मेम्बरों की संख्या निश्चित कर ली है और उससे अधिक मेम्बर उस संस्था में शामिल नहीं हो सकते । इस समिति (और सभी समितियों) का नियम है कि अपने मेम्बरों के अलावा अन्य किसी समाचारपत्र को अपने समाचार नहीं भेजती । इसलिये अमेरिका के दूसरे पत्र अपनी अलग संस्थाएँ बनाने के लिये मजबूर हुए हैं । एसोसियेटेड प्रेस तीन प्रकार के काम करती है । एक तो इधर उधर से समाचार एकत्र करती है, दूसरे उन्हें अपने मेम्बरों के पास भेजती है, और तीसरे अपने समाचार दूसरी समाचार-समितियों को देकर उनके समाचार लेती है । इस प्रकार एसोसियेटेडप्रेस समाचार-संकलन, समाचार-विक्रय और समाचार-विनिमय प्रभृति तीन प्रकार के काम करती है । इस कम्पनी को खूब लाभ रहता है । कुछ दिन हुए 'माधुरी' के एक लेख में इसके मुनाफ़े का ब्योरा दिया गया था । पाठकों की जानकारी के लिये, सामयिक (up to date) न होते हुए भी, वह नीचे दिया जाता है । यह मुनाफ़ा वह है जो समिति के हिस्सेदारों में बाँटा गया था ।

१९०६	८	फ़ी सैकड़ा
१९०७-१०	१०	,,
१९११-१३	१२	,,
१९१४	१७	,,
१९१५	१२	,,
१९१६	१२	,,
१९१७	१५	,,
१९१८-२०	२०	,,

इस मुनाफ़े के अलावा सन् १९२० में ४० लाख रुपया हिस्सेदारों में बाँट दिया गया था । इन अंकों से एसोसियेटेड प्रेस के मुनाफ़े का अंदाजा लगाया जा सकता है ।

ऊपर कहा जा चुका है कि समाचारपत्रों द्वारा स्थापित तार कम्पनी के ब्रिटिश सरकार द्वारा ख़रीद लिये जाने पर इंगलैंड के समाचारपत्रों ने अपनी समाचार-समिति स्थापित की । इस समिति की नियमित स्थापना १८६८ में हुई और इसका नाम प्रेस एसोसियेशन डाला गया । यह समिति वहाँ के प्रांतीय समाचारपत्रों को समाचार भेजती रहती है । किंतु लन्दन के समाचार-पत्रों को नहीं भेजती । इसका कारण यह है कि लंदन के समाचारपत्र स्वतः ही इससे समाचार लेना नहीं चाहते । अमेरिका के एसोसियेटेड प्रेस की भाँति—इसके सदस्यों की संख्या परिमित नहीं है । यह किसी भी समाचारपत्र को अपना मेम्बर बना सकती है, संख्या का कोई प्रतिबंध नहीं है, जितने पत्र चाहें इसके

मेम्बर बन सकते हैं। यह संस्था इंग्लैंड की सबसे अधिक लोक-प्रिय समाचार-समिति बन रही है।

भारतवर्ष में सबसे प्रमुख समाचार-समिति एसोसियेटेड प्रेस है। दुःख है कि मैं इस संबंध में अधिक विश्वस्त और अधिक विस्तृत विवरण नहीं दे सकता। मैंने इसके जानने के लिये इस कम्पनी के मैनेजिङ्ग एडीटर श्री के० सी० राय साहब को पत्र लिखा था, किंतु उन्होंने अपनी संस्था संबंधी बातें बताने से इनकार कर दिया। उन्होंने अपने पत्र में कोई कारण भी नहीं बताया कि किस लिये वे इस प्रकार इनकार कर रहे हैं। जो हो। मुझे तो यह उनकी निरंकुशता और संकीर्ण-हृदयता ही मालूम पड़ती है। अस्तु! एसोसियेटेड प्रेस यद्यपि अर्ध सरकारी संस्था कहकर ही प्रसिद्ध है तथापि कार्यरूप में वह बिलकुल सरकारी है। उसके द्वारा भेजे हुए समाचारों में सरकारी रंग सदा चढ़ा होता है। सार्वजनिक दृष्टिकोण से इस कम्पनी के समाचार प्रकाशित नहीं होते, प्रत्युत वे प्रकाशित होते हैं सरकारी दृष्टिकोण से। सरकार की नीति स्वेच्छाचार पूर्ण निरंकुश शासन प्रणाली की नीति है। इसलिये इस प्रेस के कर्ता-धर्तागण भी उसी नीति का अवलंबन करते हैं। इस मामले में वे यहाँ तक बढ़े हुए हैं कि कभी-कभी अपने सार्वजनिक सेवाभाव तक को तिलांजलि देकर, ऐसी संस्थाओं के समाचार जो निरंकुशता और स्वेच्छाचार का विरोध करती हैं, उन संस्थाओं द्वारा तत्स्थानीय एसोसियेटेड प्रेस प्रतिनिधि के पास भेज जाने पर भी, स्वीकृत नहीं किए जाते। कभी-कभी इस प्रकार का अंधेर खाता इस संस्था द्वारा मचाया जाता है। फिर भी समाचारपत्रों के पास ऐसी दूसरी संस्था न होने के कारण वे इसी से समाचार लेने के लिये मजबूर होते हैं। भारतवर्ष के वे सब समाचारपत्र, जो समाचार-समितियों से समाचार लेते हैं, इससे समाचार प्राप्त करते हैं। इसमें भी ग्राहकों की संख्या परिमित नहीं है। जो कोई इसकी फ़ीस अदा करे वही समाचार प्राप्त कर सकता है। इस संस्था के संबंध में यह किंवदंती है कि कुछ दिनों से इसका प्रबंध राइटर कंपनी के हाथों में आ गया है। और भारतवर्ष के समाचार इसी कंपनी की मारफ़त राइटर के पास पहुँचते हैं। एक किंवदंती यह भी है कि इस कंपनी के आदि संस्थापक एक यूरोपियन सज्जन थे और इसका नाम एसोसियेटेड प्रेस न था। किंतु बाद, आदि संस्थापक और वर्तमान मैनेजिंग एडीटर श्री के० सी० राय में कोई समझौता हुआ और कंपनी के काम में श्रीराय भी साझीदार होगये। उसी समय इस संस्था का नाम बदलकर एसोसियेटेड प्रेस रखा गया। किंतु वास्तव में क्या बात है उसका प्रामाणिक वर्णन प्रयत्न करने पर भी प्राप्त न हो सका। अस्तु। इसका प्रधान कार्यालय शिमला में है और देश के प्रायः प्रत्येक शहर में इसके प्रतिनिधि रहते हैं। जो वहाँ के समाचार एकत्र कर सब समाचार-पत्रों को भेजते रहते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि यह संस्था नितांत सरकारी संस्था है। इसलिये ख़ास प्रकार के समाचार यह संस्था ऐसे भ्रमात्मक या अस्पष्ट ढंग से भेजती है जिससे वस्तु-स्थिति का ठीक पता ही नहीं लगता। यही हाल राइटर साहब का भी है। उनके द्वारा प्राप्त विदेशी समाचारों में भी यही हाल होता है। मुश्किल से कोई समाचार साफ़ और सच्चा निकलेगा। अन्यथा विदेश संबंधी वास्तविक बातों को जानने के लिये हमें दूसरे साधनों पर ही अवलंबित रहना पड़ता है और उन साधनों के सुलभ न होने के कारण विदेशों संबंधी हमारा अधिकांश ज्ञान अधूरा ही रहता है। एसोसियेटेड प्रेस की कृपा से अपने देश संबंधी ज्ञान की भी यही हालत है, किंतु देश में दूसरे साधन उतने दुर्लभ नहीं होते इसलिये यहाँ की वस्तु-स्थिति छिपती नहीं है। फिर भी जितनी जल्दी और जितनी सुगमता से चाहिए उतनी जल्दी और उतनी सुगमता से हमें सब समाचार नहीं प्राप्त होते। बहुत से समाचार तो यह कंपनी प्रकाशित ही नहीं करती, केवल इसलिये कि उनसे सरकारी नीति पर आक्षेप होने का डर रहता है। उदाहरण के लिये बंगाल के नज़रबंदों की हालत, अकाली क़ैदियों की दशा आदि के संबंध में इस कंपनी के फूटे मुँह से कभी एक शब्द तक नहीं निकलता।

इस प्रकार का सरकार का अंधपक्षपात सबसे अधिक खटकने की बात है। देश के सम्पुन्नत पत्रकार इस त्रुटि का निरंतर अनुभव करते हैं। वे इस प्रयत्न में भी हैं कि ऐसा प्रबंध किया जाय जिससे समाचार अपने असली रूप में समाचार-पत्रों के पास पहुँच सकें। इसी विचार से प्रेरित होकर

हमारे कुछ सार्वजनिक कार्यकर्ताओं ने १९२९ के जनवरी मास में एक समाचार-समिति की स्थापना भी की। इसका नाम फ्री प्रेस रखा गया। इसके पहले कांग्रेस न्यूज़ सर्विस का भी प्रबंध किया गया था। हिंदी-संपादक-सम्मेलन ने भी इसी विचार से अपने उद्देश्यों में एक स्वतंत्र समाचार-समिति स्थापित करने की चर्चा की है। किंतु अभी तक अन्यत्र कोई काम निश्चित रूप से सामने नहीं आया। स्वतंत्र रूप से एक 'फ्रीप्रेस' ही सामने है। इसके मैनेजिंग एडीटर श्री एस्० सदानंदजी हैं। मैंने आपसे इस संस्था संबंधी बातें जानने की इच्छा प्रकट की। मेरी प्रार्थना स्वीकार करके आपने बड़ी उदारतापूर्वक इस संबंध की आवश्यक बातें लिख भेजने की कृपा की। इस संस्था का प्रधान कार्यालय बंबई में है। सन् १९२६ के अप्रैल महीने से यह संस्था प्राइवेट लिमिटेड लाइबिलिटी कंपनी के रूप में परिवर्तित हो गयी है। इसमें १ लाख का मूल धन लगाया गया है। फ्रीप्रेस के प्रतिनिधि देश के समस्त नगरों में हैं और वे वहाँ के समाचार भेजा करते हैं। नीति में यह कंपनी पक्षपातहीन बनने की कोशिश करती है। सार्वजनिक महत्त्व के अनुसार समाचार भेजने के जिस उद्देश्य से इसका जन्म हुआ था इसके अधिकारी उस उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर सच्चे और निष्पक्ष समाचार भेजने का उद्योग करते हैं। इसके प्रतिनिधियों में श्री सेन गुप्त (कलकत्ता) श्री श्रीनिवास (मद्रास) श्रीकबाड़ी (बंबई) ऐसे बड़े-बड़े महानुभाव हैं। थोड़े दिनों की सेवा से ही इस कंपनी ने अपनी योग्यता और स्वतंत्र भावना के लिये ख्याति प्राप्त कर ली है। किंतु फिर भी इसको घाटे में ही कार्य करना पड़ता है। श्रीसदानंदजी के पत्र में यह पढ़कर कि संस्था को घाटे में ही काम चलाना पड़ रहा है और जनता से जितनी इमदाद मिलनी चाहिए उतनी नहीं मिल रही, मुझे बड़ा दुःख हुआ। इतने बड़े देश में सच्चे और निष्पक्ष समाचार भेजनेवाली एक ही संस्था होने पर भी उसे पर्याप्त सहायता न मिलना वास्तव में परिताप की बात है। स्वतंत्रता के आंदोलन के इस ज़माने में ऐसी संस्थाओं का होना कितना आवश्यक है, यह बतलाने की ज़रूरत नहीं है। और जब इसकी आवश्यकता निश्चय है तब इस संस्था को सहायता न देना अपने हित की अपने हाथों ही हानि पहुँचाना है। कितने दुःख की बात है कि जो कंपनियाँ उलटे-सीधे, झूठे-सच्चे, और भ्रमोत्पादक समाचार दें, वे तो मजे में चलती रहें और जो सच्ची और निष्पक्ष बातें प्रकाशित करें वे घाटा उठावें। देश के समाचारपत्रों और सार्वजनिक कार्य-कर्ताओं को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

इस संस्था के संबंध में यह शिकायत भी है कि इसमें रिपोर्टरों और कार्यकर्ताओं की संख्या पर्याप्त नहीं है। इसलिए सच्चे और निर्भीक समाचार भेजते रहने पर भी यह अधिक समाचार नहीं भेज पाती। संस्था के घाटा उठाने का यह भी एक कारण है क्योंकि अधिक समाचार पाने की आशा न होने के कारण समाचारपत्र इसको सहायता देने से मजबूर हो जाते हैं। वे तो अधिकाधिक समाचार चाहते हैं और यह संस्था उनकी यह आकांक्षा सर्वथा पूरी नहीं कर पाती। यही मज़बूरी है। संस्था के अधिकारियों को इस ओर ध्यान देना चाहिए। समाचार-पत्रों को भी संस्था की प्रारंभिक अवस्था और भविष्य में उसके द्वारा होनेवाले लाभों का विचार करके इस त्रुटि के होते हुए भी उसकी सहायता करनी चाहिए। जब समिति को इतनी इमदाद मिलने लगेगी कि घाटा से बचकर अधिक उपयोगी बनने के लिए वह धन लगा सके तब यह त्रुटि वैसे ही दूर हो जायगी। आशा है, वर्तमान संपादकवृंद और पत्रकार-कला के पोषक सार्वजनिक कार्यकर्ता इस ओर ध्यान देंगे।

किंतु इतना करके ही हमें शांत न हो जाना चाहिए। समाचारपत्र संचालकों को संगठित होकर भारतवर्ष में तो अपनी एक स्वतंत्र समाचार-समिति स्थापित ही कर लेनी चाहिए इसके अलावा विदेशों में भी एक ऐसी संस्था स्थापित करनी चाहिए जो वहाँ के ठीक-ठीक समाचार दिया करे। इसमें निःसंदेह बहुत बाधाएँ हैं और यह काम भी अत्यंत दुःसाध्य है। किंतु इसकी आवश्यकता है, यह निश्चय है और इसलिए इसकी पूर्ति का ध्यान रखना भी आवश्यक ही है।

विष्णुदत्त शुक्ल

चुम्बन के प्रति

सरल सुमन के नव विलास हे !
मधुर प्रेम के सुन्दर खेल !!
प्रेम विजय के नव परिचायक !
कली अली के सुंदर मेल !!
संयोजक भावी जीवन के !
नवयौवन के आंदोलन !!
स्नेह-सुधा-रस में सिंचित हे !
पुण्य प्रेम के उद्वेलन !!
जीवन प्रातः के अरुणोदय !
दो हृदयों के मौनालाप !!
मूक मनों के स्वीकृत सूचक !
चिन्ह चारु चोखे निष्पाप !!
युगल हृदय गत प्रेम गीत के,
एकस्वर से अयि गायक !!
दो हृदयों को एक मार्ग पर,
ले चलने वाले नायक !!

पद्मकांत मालवीय

उपाध्यायजी और अद्वैतवाद

दर्शन एक गहन विषय है, उसमें भी वेदान्तदर्शन तो और भी गूढ़ है। उसके ठीक समझने के लिये कुछ चित्तशुद्धि और साधना की भी आवश्यकता है। वेदांत एक ब्रह्म को ही असल और सर्वोपरि तत्त्व मानता है जिसके ज्ञान का प्रकृष्ट साधन स्वानुभव ही है। महात्मा भर्तृहरि ने ठीक कहा है—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ;
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे।

अर्थात् ब्रह्म की सिद्धि में प्रत्यक्षादिक अनेक प्रमाण हैं। पर वे सब कहीं-न-कहीं चल कर अधूरे रह जाते हैं, एक स्वानुभव प्रमाण ही सर्वोपरि प्रधान है। यही बात उपनिषद् के इस भाव से प्रकट होती है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ;
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।

अर्थात् ब्रह्म के आनन्दस्वरूप तक मन और वाणी दोनों में से किसी की पहुँच नहीं है। मन और वाणी को प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द का साधन है, इन्हीं की सहायता से उनके ऊहापोह का क्रम चलता है। पर ये साधन कुछ दूर तक ही ले जाते हैं, आगे चलकर केवल ज्ञान और अनुभव ही (आत्मज्ञान या आत्मप्रत्यक्ष) परम तत्त्व की प्राप्ति कराते हैं। इस प्रकार अतीन्द्रिय और प्रमाणों से भी अगम्य जिस ब्रह्म का प्रतिपादन वेदांत करता है, उस स्वरूप के साथ कुछ मतानुयायियों का विरोध है। वे वेदांत की उस मीमांसा को जिसके प्रतिपादक शंकराचार्य हैं जिसका दूसरा नाम ही अद्वैतवाद है, नहीं मानते। अपनी बुद्धि और विद्या के बल से किसी के मत को न मानना कोई आश्चर्य-कारक बात नहीं है। पर किसी सिद्धांत को पूरा न समझकर या ग़लत समझकर उसका उपहास करना अवश्य ही लज्जास्पद है। विद्वानों को यह शोभा नहीं देता कि वे साधारण मनुष्यों को किसी विषय पर भ्रम में डाल दें। बड़ा दुःख है कि पंडित गंगाप्रसादजी उपाध्याय ने अपना अद्वैतवाद लेख लिखकर शंकरस्वामी पर धूल फेंकने की चेष्टा की है, जिस लेख में जगह-जगह उनका भ्रम भरा हुआ है, जिसमें उन्होंने शंकर के पारिभाषिक शब्दों तक के समझने में भूल की है, उसी अपने लेख को वे इस देश में बारह सौ वर्षों के बाद लिखा हुआ एक अद्भुत दार्शनिक विवेचनात्मक निबन्ध समझते हैं। हम अत्यन्त शिष्ट भाषा में उपाध्यायजी के 'अद्वैतवाद' की आलोचना करेंगे, पर साथ ही यह भी दिखा देना चाहते हैं कि उपाध्यायजी ने शंकर-स्वामी के प्रति कैसी भाषा का प्रयोग किया है।

'अद्वैतवाद' नामक लेख 'माधुरी' की श्रावण की संख्या से निकलना आरंभ हुआ। अभी तक उसके चार खंड हमारे देखने में आये हैं; अतएव उन्हीं के आधार पर हम यहाँ लिखेंगे। संभव है, यह अप्रकाशित ग्रंथ धाराप्रवाह रीति से अभी और प्रकाशित हो, पर हमारे मत में ये लेख सत्य को प्रकट करने के बजाय सामान्य जनों की बुद्धि को अत्यन्त भ्रम में डालनेवाले हैं। जैसी थोथी भूलें शारीरिक भाष्य में निकालने का दावा उपाध्यायजी ने किया है, वे यदि वास्तव में भूलें होतीं तो बड़े-बड़े दार्शनिक जिनसे शंकर को टक्कर लेनी पड़ी

थी, और जो एक सहस्र वर्षों से शंकर के सामने मस्तक झुकाते आये हैं, उन्हें कैसे अबतक न निकाल लेते? यह प्रश्न स्वभावतः मन में उठता है। उपाध्यायजी के मन में भी यह प्रश्न उठा और उन्होंने जो उसका समाधान दिया, वह सुनने योग्य है—

"....उन्होंने (शंकराचार्यजी ने) इस बात की कल्पना कर ली है कि जो चीज़ दिखाई देगी, वह अवश्य मिथ्या होगी। स्वप्नवाद-रूपी भवन के लिये यह बहुत ही कमज़ोर बुनियाद है। फिर भी आश्चर्य है कि यह भवन किस तरह अब तक खड़ा रहा। संभव है कि, मध्यकालीन सांख्यवादियों के नास्तिक हो जाने के कारण आस्तिकों ने "डूबते को तिनके का सहारा" के अनुसार 'एकवाद' को ही ग़नीमत समझा और शंकराचार्यजी की युक्तियों की कभी मीमांसा नहीं की।"

क्या बढ़िया कल्पना है। इसके अर्थ ये हैं कि शंकराचार्य अभी तक अपने युक्ति और तर्क के बल से नहीं टिके रहे, बल्कि सब लोगों की आँखों में धूल झोंककर उन्होंने प्रतिष्ठा लाभ की। और लोग भी ऐसे बुद्धू थे कि उन्होंने शंकर को कभी समझने तक की कोशिश न की। आज बीसवीं शताब्दी में उपाध्यायजी को शंकर की 'समीक्षा' भी करने का भार उठाना पड़ा; कैसी विडंबना है। क्या यह भी बताना पड़ेगा कि 'दार्शनिकों के इस देश' ने बिना मीमांसा किये शंकराचार्य क्या ब्रह्मा के सामने भी कभी मस्तक नहीं झुकाया? इस देश के सजग न्याय के सामने शंकराचार्य की 'भूलें', 'दूषित युक्तियाँ' और 'वाक्छल' क्षणभर भी छिपकर नहीं रह सकते थे।

उपाध्यायजी को विवेक, दृश्यमान, अविद्या, मिथ्या, आदि वेदांत के पारिभाषिक शब्दों के अर्थ या तो ज्ञात नहीं है, या उन्होंने जान बूझकर अर्थ का अनर्थ किया है। इन शब्दों के न समझने के कारण उन्होंने शंकर के साथ बड़ा अन्याय किया है। अद्वैत क्या है इसको हम लोकमान्य तिलक के शब्दों में पाठकों को आरंभ में बता देना चाहते हैं—

"सत्य वही है कि जो अव्यय है अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं होता, जो नित्य है अर्थात् सदा-सर्वदा बना रहता है, और अविकारी है अर्थात् जिसका स्वरूप कभी बदलता नहीं। अभी कुछ और थोड़ी देर में कुछ कहनेवाले मनुष्य को झूठा कहने का कारण यही है कि वह अपनी बात पर स्थिर नहीं रहता—इधर-उधर डगमगाता रहता है। सत्य के इस निरपेक्ष लक्षण को स्वीकार कर लेने पर कहना पड़ता है कि आँखों से देख पड़नेवाला पर हर घड़ी में बदलनेवाला नाम-रूप मिथ्या है; उस नाम-रूप से ढका हुआ और उसी के मूल में सदैव एक ही सा स्थित रहनेवाला अमृत वस्तुतत्त्व ही—वह आँखों से भले ही न देख पड़े—ठीक-ठीक सत्य है। भगवद्गीता में ब्रह्म का वर्णन उसी नीति से किया गया है 'यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति' (गी. ८. २०.; १३. २७) अक्षर ब्रह्म वही है कि जो सब पदार्थ अर्थात् सभी पदार्थों के नाम-रूपात्मक शरीर न रहने पर भी, नष्ट नहीं होता।... वेदान्त में जब आभूषण को 'मिथ्या' और सुवर्ण को 'सत्य' कहते हैं, तब उसका यह मतलब नहीं है कि वह ज़ेवर निरुपयोगी या बिल्कुल खोटा है अर्थात् आँखों से दिखाई नहीं पड़ता या मिट्टी पर पत्री चिपकाकर बनाया गया है अर्थात् वह अस्तित्व में है ही नहीं। यहाँ 'मिथ्या' शब्द का प्रयोग पदार्थ के रंग-रूप आदि गुणों के लिये और आकृति के लिये अर्थात् ऊपरी दृश्य के लिये किया गया है, भीतरी द्रव्य से उसका प्रयोजन नहीं है। स्मरण रहे कि तात्त्विक द्रव्य तो सदैव 'सत्य' है। वेदांती यही देखता है कि पदार्थमात्र के नामरूपात्मक आच्छादन के नीचे, मूल में कौन-सा तत्त्व है, और तत्त्वज्ञान का सच्चा विषय है भी यही। व्यवहार में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि गहना बनवाने में चाहे जितनी बनवाई देनी पड़ी हो, पर आपत्ति के समय जब उसे बेचने के लिये शराफ़ की दूकान पर ले जाते हैं, तब वह साफ़-साफ़ कह देता है कि "मैं नहीं जानना चाहता कि गहना गढ़वाने में तोले पीछे क्या मेहनत देनी पड़ी है, यदि सोने के चलतू भाव में बेचना चाहो, तो हम ले लेंगे।" वेदान्त की परिभाषा में इसी विचार को इस ढंग से व्यक्त करेंगे;—शराफ़ को गहना मिथ्या और उसका सोना भर सत्य देख पड़ता है। इसी प्रकार यदि किसी नए मकान को बेचें, तो उसकी सुंदर बनावट (रूप), और गुंजाइश की जगह (आकृति) बनाने में जो ख़र्च लगा होगा उसकी ओर ख़रीदार ज़रा भी ध्यान नहीं देता; वह कहता है कि ईंट-चूना लकड़ी-पत्थर और मज़दूरी की लागत में यदि बेचना चाहो, तो बेच

डालो। इन दृष्टांतों से वेदांतियों के इस कथन को पाठक भलीभाँति समझ जावेंगे कि नाम-रूपात्मक जगत् मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है। 'दृश्य जगत् मिथ्या है' इसका अर्थ यह नहीं कि वह आँखों से देख ही नहीं पड़ता; किंतु इसका ठीक-ठीक अर्थ यही है कि वह आँखों से तो देख पड़ता है, पर एक ही द्रव्य के नाम-रूप भेद के कारण जगत् के बहुतेरे जो स्थलकृत अथवा कालकृत दृश्य हैं, वे नाशवान् हैं और इसीसे मिथ्या हैं; इन सब नाम-रूपात्मक दृश्यों के आच्छादन में छिपा हुआ सदैव रहनेवाला जो अविनाशी और अविकारी द्रव्य है, वही नित्य और सत्य है। शराफ़ को कड़े, कंगन, गुंज और अँगूठियाँ खोटी जँचती हैं, उसे सिर्फ़ उनका सोना खरा जँचता है, परंतु सृष्टि के सोनार के कारखाने में मूल में ऐसा एक ही द्रव्य है कि जिसके भिन्न-भिन्न नाम रूप देकर सोना-चाँदी, लोहा-पत्थर, लकड़ी, हवा-पानी आदि सारे गहने गढ़वाये जाते हैं। इसलिये शराफ़ की अपेक्षा वेदांती कुछ और आगे बढ़कर सोना-चाँदी या पत्थर प्रभृति नाम-रूपों को ज़ेवर के ही समान मिथ्या समझकर सिद्धांत करता है कि इन सब पदार्थों के मूल में जो द्रव्य अर्थात् वस्तु तत्त्व मौजूद है वही सच्चा अर्थात् अविकारी सत्य है। इस वस्तुतत्त्व में नामरूप आदि कोई भी गुण नहीं है, इस कारण इसे नेत्र आदि इंद्रियाँ कभी भी नहीं जान सकतीं। परंतु आँखों से न देख पड़ने, नाक से न सूँघे जाने अथवा हाथ से न टटोले जाने पर भी बुद्धि से निश्चयपूर्वक अनुमान किया जाता है कि अव्यक्त रूप से वह होगा अवश्य ही; न केवल इतना ही बल्कि यह भी निश्चय करना पड़ता है कि इस जगत् में कभी न बदलनेवाला 'जो कुछ' है, वह यही सत्य वस्तुतत्त्व है। जगत् का मूल सत्य इसी को कहते हैं। परंतु जो नासमझ विदेशी और कुछ स्वदेशी पंडितम्मन्य भी सत्य और मिथ्या शब्दों के, वेदांत-शास्त्रवाले पारिभाषिक अर्थ को न तो सोचते-समझते हैं, और न यह देखने का ही कष्ट उठाते हैं कि सत्य शब्द का जो अर्थ हमें सूझता है, उसकी अपेक्षा इसका अर्थ कुछ और भी हो सकेगा या नहीं; वे यह कहकर अद्वैत वेदांत का उपहास किया करते हैं कि 'हमें जो जगत् आँखों से प्रत्यक्ष देख पड़ता है, इसे भी वेदांती लोग मिथ्या कहते हैं, भला यह कोई बात है !"

इस लम्बे अवतरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि वेदांती का संसार को मिथ्या कहने से क्या तात्पर्य है। अब उपाध्यायजी के लेखों में क्या भूलें हैं उन पर विचार करना चाहिए।

श्रावण की संख्या के लेख में आपने प्रकृति के न्यूनतम कारण का विवेचन किया है। "न्यूनतम-कारण का नियम क्या है? वह यह है कि यदि हमको किसी घटना का कारण मालूम करना हो और उस घटना की व्याख्या एक कारण से हो सकती हो, तो हमको उसके स्थान में एक से अधिक कारण नहीं मानने चाहिएँ। अर्थात् किसी घटना की मीमांसा करने के लिये जहाँ तक हो सके कम-से-कम कारणों को मानना आवश्यक है। इस नियम का आधार इस मत पर है कि सृष्टि में मितव्यय (Economy of nature) की पराकाष्ठा है।......मेरा काम एक सिर से निकल सकता है, अतः मुझे दो सिर नहीं दिये गए। दो हाथों से निकल सकता है, अतः तीन हाथ नहीं बनाए गए। एक नाक से निकल सकता है, अतः एक से अधिक नाकें बनाना व्यर्थ होता। मनुष्य शरीर के बाहर अन्य विभागों का भी यही हाल है।" न्यूनतम कारण के ये उदाहरण ठीक नहीं हैं। हाथ पैर की बनावट और संख्या से कोई नियम नहीं निकलता। एक कान से हम अच्छी तरह सुन लेते, एक आँख बीच मस्तक में होती तो उससे देखने में क्या हानि होती। यदि ऐसा ही है तो प्रकृति को दोनों आँखें एक सीध में न रखकर एक आँख सिर के पीछे रखनी चाहिए थी। प्रकृति ने हृदय एक दिया, फेंफड़े दो, इसकी क्या मीमांसा है। फिर ऐसे भी प्राणी हैं जिनके दो सिर होते हैं। देवताओं के चार हाथ होते हैं। अजागलस्तन प्रकृति में व्यर्थ ही है, कभी-कभी मनुष्य के हाथ में भी छः अंगुलियाँ देखी जाती हैं। स्वयं इस लेखक को प्रकृति ने दो दाँत अधिक दिये हैं। हज़ारों विप्रतिपत्तियाँ प्रकृति में दिखाई दे सकती हैं। न्यूनतम कारण को आप वेदान्त के अद्वैतवाद के साथ मिलाते हैं। अर्थात् सृष्टि का न्यूनतम कारण ढूँढने की कोशिश में लोग अद्वैतवाद पर पहुँचे। वस्तुतः न्यूनतम कारण का संबंध सांख्य के विपरिणाम-वाद या उत्क्रांतिवाद से है जहाँ चौबीस मूलतत्त्वों के बाद एक मूल अव्यक्त प्रकृति की कल्पना की गई है। सत्कार्यवाद की खोज में सांख्यशास्त्र ने एक मूल

प्रकृति पर पहुँचकर विश्राम लिया, पर साथ ही चौबीस तत्त्वों को भी वे उसी अव्यक्त प्रकृति से उत्क्रांत हुआ मानते हैं जिनकी सत्ता असंदिग्ध है। वेदान्त के अद्वैतवाद में न्यूनतम कारण (Parsimony of Causes) का जोड़ लगाना असंगत है। वेदान्त एक परब्रह्म को ही सत्य मानता है, और शेष सब पदार्थ उसी के विवर्त या नामरूपान्तरमात्र हैं। अद्वैतवाद में सत्य वस्तु ही एक है, अधिक और न्यून कारण और कार्य जैसे द्वैत के लिये स्थान ही नहीं है। जहाँ हम विकास (evolution) के सिद्धान्त को मानते हैं वहीं मूल कारण या कारणों की खोज होती है। वह सांख्य का क्रम है। उसी में उपाध्यायजी का बताया हुआ पर्याप्त कारण का नियम (Law of sufficient Causes) लग सकता है जिससे सम्भवतः वे एक से अधिक संख्यक कारण की ही सिद्धि करते हैं।

उपाध्यायजी अद्वैतवाद शब्द को भी कमजोर अर्थवाला समझते हैं और उसके स्थान पर एकवाद शब्द रखना चाहते थे, पर आपने 'एकवाद' शब्द का इसलिए प्रयोग नहीं किया कि इस वाद के धुरंधर नेताओं ने अपने लिये 'अद्वैतवाद' की उपाधि ही पसंद की है। हमारी समझ में 'अद्वैतवाद' शब्द ही वेदांत के लिये उपयुक्त है। सिवाय ब्रह्म के और कुछ नहीं है यह नकारात्मक भावना 'अद्वैतवाद' शब्द से ही पुष्ट होती है। अनेक तत्त्वों में एक ही व्यापक ब्रह्म है यह एकवाद का अर्थ है। एकवाद अनेकता में एकता की खोज है, अद्वैतवाद अनेकता का निराकरण है।

पुरुष और प्रकृति के संबंध को जटिल प्रश्न बताते हुए आप लिखते हैं, "परंतु अद्वैतवादियों ने एक बात में इस समस्त रोग का प्रतीकार कर दिया है। वे कहते हैं कि हम जड़ और चेतन दो वस्तुएँ मानें ही क्यों? क्यों न एक ही मूलतत्त्व माना जाय, जिससे एक के दूसरे पर प्रभाव डालने का प्रश्न ही न उठ सके। न दो होंगे और न झगड़ा होगा। ताली एक हाथ से नहीं बज सकती।" कहना न होगा कि यहाँ अद्वैतवाद को कितने भोंडे तरीके से आपने सामने रक्खा है। अद्वैतवाद में दंभ का नाम नहीं है और न अद्वैतवादी किसी झगड़े को मिटाने की ग़रज़ से झूठी कल्पना करने की ज़बरदस्ती ही करते हैं। जब ब्रह्म का आनंद प्रत्यक्ष हो जाता है तभी अद्वैतवादी को ब्रह्म के अतिरिक्त और सब कुछ माया ही भासने लगती है।

उपाध्यायजी कहते हैं—"*यहाँ ताली तो बजती ही है*। इसलिये तो हम द्वैत को मानते हैं। यह झगड़ा हमारा उत्पन्न किया हुआ तो नहीं है। संसार का प्रपंच तो हम देखते ही हैं, दार्शनिकों को तो केवल इसकी व्याख्या-मात्र करने का अधिकार है।" अद्वैतवादी के सामने इस प्रकार की स्वयंसिद्ध बात रखना आडंबरमात्र है। क्या शंकर प्रपंच को नहीं मानते? वे भी तो इसकी मीमांसा करने के अतिरिक्त कुछ नहीं करते। क्या शंकराचार्य ने अध्यास को अनादि अनंत नैसर्गिक व्यवहार नहीं माना है? फिर शंकर को 'ताली बजने' से कब इन्कार है? अध्यास कभी नहीं मिटता, पर इसके यह अर्थ नहीं हैं कि मनुष्य को सच्चा ज्ञान ही नहीं होता।

न्यूनतम कारणवाद (Parsimony of Causes) के विषय में एक बात और याद रखनी चाहिए। जब आप कहते हैं कि हमारा काम दो भुजा और दो टाँगों से ही चल सकता है इसलिये "दो भुजाओं या दो टाँगों के स्थान में एक भुजा या एक टाँग बनाने से सृष्टि-प्रबंधक की कंजूसी प्रकट होती", तो यह याद रखना चाहिए कि ईश्वर और प्रकृति और जीव की तरह दो टाँग और एक टाँग भिन्न-भिन्न नहीं है। तीन आँखों की जगह दो आँखों की कल्पना में आँख एक ही चीज़ रहती है। *शरीरावयवों की तरह* ईश्वर में न्यूनतम कारण ईश्वर और प्रकृति के बीच न होकर एक ईश्वर और कई ईश्वरों के बीच होगा। समानधर्मी चीज़ों की संख्या एक ही होनी चाहिए। ईश्वर और प्रकृति दोनों ही जब हाथ और पाँव की तरह स्वतंत्र सत्तावाली होंगी, तब उनमें आप हाथ और हाथ तथा पाँव और पाँववाला न्यूनतम कारण का नियम कैसे घटा सकते हैं?

आप कहते हैं कि यदि यह सिद्ध हो सके कि एक कारण से बहुसंख्यक वस्तुएँ बन सकती हैं, तो फिर एक कारण को ही सृष्टि का पूर्ण कारण (sufficient Cause) मान सकते हैं। इसका समाधान यह है कि न केवल दर्शन ने ही अद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन किया है वरन् आधुनिक विज्ञान की गति भी अद्वैत की ही ओर है। सजीव पदार्थों (organic

substances) का एक दूसरे से भेद उनके अणुओं की आंतरिक रचना के कारण है, वस्तुतः उनमें कोई भेद नहीं है। जिन्हें वैज्ञानिक मूल द्रव्य (elements) कहते हैं वे भी वस्तुतः एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। मूल-द्रव्यों का भेद अतात्त्विक है, अतएव उनके नामरूप भी अतात्त्विक हैं। मूल-प्रकृति जो कि परमाणुमय है इन विविध द्रव्यों के रूप में भासती है। उन परमाणुओं का स्वरूप वैद्युत् शक्तिमय है। विज्ञान के समक्ष यही समस्या है कि क्या परमाणु भी अंततो गत्वा शक्ति के ही रूप हैं। यदि ऐसा हो, तो मैटर और इनर्जी का भेद भी अतात्त्विक ही होगा। और फिर इनर्जी को चेतन मानने में भी क्या बाधा होगी; क्योंकि प्रेरणा विना चेतन के हो नहीं सकती। उपनिषद् के अनुसार भी ईश्वर ही तपश्चरण के बाद कामना करता है कि मैं एक से बहुत हो जाऊँ इस प्रकार देखने से मालूम होता है कि विज्ञान की गति भी अद्वैत के विरुद्ध नहीं है।

उपाध्यायजी कहते हैं "क्या द्वैतवादी या अनेकवादी उसी प्रकार दार्शनिक नहीं हैं जैसे एकवादी अथवा अद्वैतवादी ?" अनेकवादियों को दार्शनिक मानने से कब किसने इन्कार किया है ? यदि उन्हें दार्शनिक न समझा जाता, तो अद्वैतवादियों के दर्शन-ग्रंथों में उनका परिग्रहण क्यों होता ? जो लोग एक तत्त्व की खोज में आगे बढ़ते हैं उनका द्वैत या त्रित्व से असंतोष ही आगे खोज का कारण है। असंतोष ही दर्शन का जन्मदाता है। ततः किं प्रश्न को ही दर्शन हल करता है। अंतिम प्रश्नों को सुलझाने के लिये मनुष्य का जो कुछ विमर्श है वही दर्शन नाम से विख्यात होता है; अतएव द्वैत या त्रित्व-वादियों को अथवा नास्तिकों को भी दार्शनिक पदवी तो समानरूप से ही मिलती है।

उपाध्यायजी ने एकीकरण शब्द बनाकर अद्भुत तर्क की प्रतिष्ठा की है। "वस्तुतः एकीकरण एक वस्तु का नहीं हो सकता, अनेक वस्तुओं का ही हो सकता है।" वेदांत में एक करना जैसी क्रिया का भाव नहीं है, एक तत्त्व का ज्ञान ही अद्वैत है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक नहीं है कि जहाँ बहुत वस्तुओं के परदे के नीचे एक मूल-तत्त्व हो, वहाँ बहुत्व की सत्ता सच्ची ही हो। एक ही मूल शक्ति इंद्रियों की उपाधि से अष्टधा प्रतीयमान होती है। सूर्य की शक्ति नेत्रों को प्रकाश और कानों को शब्द मालूम होती है।

उपाध्यायजी का विचार है कि बहुतों में एक की खोज का नाम ही एकीकरण है। एकीकरण से बहुत्व की सिद्धि होती है; क्योंकि विना बहुत मनुष्यों के उनमें मनुष्यत्वरूप एकीकरण नहीं किया जा सकता। खेद है कि उपाध्यायजी को अद्वैत में एक जातित्व के अनुसंधान का ही क्रम देख पड़ता है। अद्वैत अंतिम जाति में व्यक्ति की खोज नहीं है। यदि ऐसा ही हो, तो अंतिम जाति सत्ता होनी चाहिए जो सबमें रहती है। शंकर के अद्वैतब्रह्म में सामान्य और विशेष गुणों के भेद के लिये स्थान नहीं है। ब्रह्म एक है वही सत्य है, यह जगत् अध्यासरूप है। अद्वैतवादी संसार के भी कुछ गुणों को लेकर ब्रह्म के गुणों के साथ एकीकरण नहीं करते; वे तो संसार को भी ब्रह्मरूप देखते हैं। जो ब्रह्म है वही संसार है, जो संसार है वह ब्रह्म ही है—इस प्रकार की तुल्यता में जातित्व-अनुसंधान के लिये अवकाश ही कहाँ रहता है।

वेदांती अज्ञानियों से कहा करता है कि 'तुम स्वप्न-दशा में हो, तुम संसार के यथार्थ स्वरूप को नहीं देखते।' वेदांत-ज्ञान निश्चय ही स्वानुभव की वस्तु है। स्वप्न-ग्रस्त मनुष्य को स्वप्नावस्था का ज्ञान कभी नहीं हो सकता जब तक वह जाग्रत् दशा में न आ जाय। स्वप्न या छलावे की उत्पत्ति का कारण वेदांत के अनुसार अविद्या है। परावर ब्रह्म का दर्शन ही कर्मों को क्षीण करके संसार के मोह का नाश करता है।

आश्विन की संख्या के लेख में पहले तो प्रमाण शब्द के अर्थ में गड़बड़ की गई है। आप लिखते हैं—"प्रमाण वह है, जिसके द्वारा किसी वस्तु को मापा या नापा जाय। जैसे कपड़े की लंबाई गज़ से नापते हैं, या अन्न तथा दूध आदि को नापने के लिये भी पात्र होते हैं। वस्तुतः यह गज़ और यह पात्र ही प्रमाण हैं। जिस प्रकार इनसे कपड़े तथा अन्य वस्तुओं का परिमाण जाना जाता है, उसी प्रकार सत्यासत्य के लिये भी प्रमाण हैं।" प्रमाण शब्द के कई अर्थ होते हैं। एक अर्थ हेतु है, एक इयत्ता है, एक प्रमाता है। वेदांत या न्याय में इयत्ता-वाला अर्थ नहीं लिया जाता। गज़ को प्रमाण कहना इयत्तावाचक अर्थ है; प्रत्यक्ष अनुमान को प्रमाण कहना

हेतुवाचक अर्थ है। दर्शन-शास्त्र में प्रमाण और हेतु की एकार्थता में वैशेषिक सूत्र प्रमाण है—

हेतुरपदेशो लिङ्गं प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् ९। २। ४

अर्थात् प्रमाण, हेतु, अपदेश, लिंग, करण ये सब समानार्थक शब्द हैं। उपाध्यायजी ने यहाँ पर यजुर्वेद का एक मंत्र (१५-६५) दिया है जिसको वे विद्वान् का संबोधन कहते हैं। मंत्र का देवता अग्नि है। इसलिये वह अग्निवाच्य ईश्वर की अनंतता का वर्णन करने के लिये है, न कि मनुष्य को 'अनेक पदार्थों का प्रमाण प्रतिमान तथा उन्मान' बताने के लिये। इसके बाद आपने प्रमाणों के नाम दिये हैं। शंकराचार्य सब प्रमाण मानते हैं, वे उन्हें 'अविद्यावद्' समझते हैं। अविद्यावद् का तात्पर्य तीसरे लेख के उत्तर में दिया जायगा। एक स्थान पर लिखा है कि 'ज्यों-ज्यों इंद्रियों को शिक्षित किया जाता है त्यों-त्यों इनमें यथार्थ दर्शन की शक्ति आ जाती है।' हमारे विचार से यदि बच्चे और बड़े की चक्षुरिंद्रियाँ दुरुस्त हैं, तो उनके यथार्थ दर्शन में फ़र्क़ नहीं हो सकता। यह हो सकता है कि आदमी का प्रत्यक्ष सविकल्प हो और बच्चे का निर्विकल्प, क्योंकि बचपन में बहुत सी वस्तुओं का तादृक्प्रकारक ज्ञान नहीं होता। उपाध्यायजी ने प्रत्यक्ष आदि की सिद्धि के लिये जो अवतरण दिये हैं, वेदांत को उनसे कुछ प्रयोजन नहीं है क्योंकि वेदांत इन प्रमाणों को स्वीकार करता है। पर देखना चाहिए कि ये प्रमाण मनुष्य को अंत तक नहीं ले जाते। प्रत्यक्ष ही सब प्रमाणों का मूल है और 'चक्षुर्वै सत्यं' यही सत्य की परिभाषा यदि मान ली जावे, तो ईश्वर या आत्मा का प्रत्यक्ष कौन सी प्रयोगशाला में हो सकता है? इसलिये वेदांत ने प्रमाणों की सीमा निर्धारित कर दी है। ये प्रमाण 'अविद्या' नामक जो माया या जगत् है उससे आगे नहीं बढ़ पाते। हमारा अद्वैततत्त्व तो वाचा और मन दोनों को दूर से ही लौटा देता है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों की वहाँ गति कैसे संभव है।

जहाँ तक अविद्या का विस्तार है, प्रमाण ठीक उतरते हैं, और वे बराबर हमारा साथ देते हैं।

उपाध्यायजी ने संदेहवादियों की युक्तियों का पूर्वपक्ष अच्छा बाँधा है, पर शंकर ने अध्यास-सिद्धि के लिये संदेहवाद जैसी रपटीली तर्क से लाभ नहीं उठाया है, इसलिये अद्वैत-खंडन में उसका क्या मूल्य? जहाँ तक संसार का संबंध है इंद्रियाँ ठीक ज्ञान कराती हैं। पर जिसका ज्ञान होता है, वही सत्य तत्त्व नहीं है। वेदांत के मिथ्यात्व का भाव समझने के लिये गीता-रहस्य का ऊपर लिखित अवतरण फिर पढ़ना चाहिए। उससे स्पष्ट हो जायगा कि जब संदेहवादी की आँख उससे कहती है कि सड़क साफ़ है, आगे पैर धरो, तब वह उसे धोखा नहीं देती। न जाने उपाध्यायजी वेदांत-शास्त्र के 'मिथ्या' शब्द को ठीक न समझकर वेदांत के सिर ऐसी-ऐसी उपहासास्पद बातें क्यों मढ़ते हैं। एक उदाहरण लीजिए—"विचित्र बात यह है कि यदि इनके मतानुसार आँख, कान, नाक, खाल, तथा जीभ को धोखेबाज़ मान लिया जाय, तो अंधे, बहिरे आदि इंद्रियहीन पुरुषों को बधाई देनी पड़ेगी कि अच्छा हुआ तुम्हारा कम-से-कम दो-तीन धोखेबाज़ों से तो पिंड छूटा, और यदि इस प्रकार नेत्र और कानवाले भी पिंड छुड़ाने लगें, तो बड़ी विचित्र अवस्था उपस्थित हो जायगी, जिसको बड़े-से-बड़े संदेहवाद तथा भ्रमवाद के महोपदेशक भी ग्रहण करने से काँपने लगेंगे।" यह ऐसी तर्क है जैसे कोई कहे कि तुम फूल रूप ब्रह्म को मूर्तिरूप ब्रह्म पर चढ़ाने से रोकते हो, तो ब्रह्मरूप अन्न को ब्रह्मरूप उदर में रखने से क्यों नहीं रोकते। संदेहवादी उपाध्यायजी के प्रश्न के उत्तर में कह सकते हैं कि अच्छी इंद्रियों के अभाव में उन्हें अपनी इंद्रियों से ही काम निकालना पड़ता है। फिर यहाँ अच्छा और बुरा, समर्थ और असमर्थ ये सब सापेक्ष विचार हैं। कैसी भी विकृत या पुष्ट इंद्रिय हो वह वस्तु का यथार्थ ज्ञान केवल सापेक्ष रीति से ही ग्रहण कर सकती है। कम-से-कम वेदांत के विषय में तो निश्चय है कि वह इंद्रियों को धोखेबाज़ नहीं कहता। और न वेदांत का मत मान लेने से हम सबके अंधे और बहिरे होने की प्रार्थना की ही संभावना है, क्योंकि इंद्रियों के कार्य मन से नियंत्रित होते हैं, इसलिये इंद्रियों के बिगड़ जाने की आवश्यकता नहीं है बल्कि साक्षीरूप मन के परिवर्तन की। इंद्रियों से परे मन है। मन के सुधरने से इंद्रियों से यथार्थ ज्ञान होने लगता है अर्थात् फिर इंद्रियों को वस्तुओं के आपेक्षिक मूल्य (Relative Values) में कभी संशय नहीं होता। वेदांत कहता है कि इसी जन्म में ज्ञान प्राप्त होने के बाद हमारी इंद्रियाँ आत्म और अनात्म के विवेक को अच्छी तरह समझने लगती

है, इसलिये हमें उपाध्यायजी के शब्दों में नेत्रहीन श्रोत्र-हीन होने की आवश्यकता नहीं है। पृष्ठ ३६४ पर कहा है—"भ्रम तथा संदेह शब्द ही बताते हैं कि इनके साथ-ही-साथ निश्चयात्मकता भी अवश्य है। यदि निश्चयात्मकता का अस्तित्व न होता, तो भ्रम तथा संदेह भी न होते। जिस प्रकार प्रकाश की अपेक्षा से अँधेरे का ज्ञान होता है, उसी प्रकार निश्चयात्मकता की अपेक्षा से संदेह और भ्रम का भी ज्ञान होता है।" परंतु इससे यह कभी नहीं सिद्ध होता कि संदेह और भ्रम की सत्ता भी सत्य है। यदि सामान्य स्त्रियों के पुत्र का जन्म न होता, तो हम बंध्यापुत्र की कल्पना भी नहीं कर सकते थे, पर क्या बंध्यापुत्र की सत्ता भी सत्य हो सकती है। इसी प्रकार भ्रम और संदेह असत्य हैं।

उसी पृष्ठ पर आगे लिखा है—"जो मनुष्य कहता है कि मुझे संदेह हो रहा है या मुझे भ्रम हो रहा है वह मान रहा है कि 'संदेह' या भ्रम का उसको निश्चयात्मक ज्ञान है। अर्थात् संदेह और भ्रम को आश्रय देनेवाला भी निश्चयात्मक ज्ञान अवश्य होता है। क्या कभी किसी को यह कहते हुए भी सुना है कि मुझे भ्रम होने में भ्रम है?" यहाँ उपाध्यायजी ने विचित्र तर्क से यह सिद्ध किया है कि भ्रम का आधार भी निश्चयात्मक ज्ञान ही है। पहले तो भ्रम की दशा में मिथ्यात्व का ज्ञान ही नहीं होता। जो भ्रम वशीभूत है वह एक वस्तु को यथार्थ न जानकर अन्यथा जानता है और उसी को ठीक जानता है। जहाँ उसे भ्रम का पता चला वह उसे तुरंत छोड़ देता है। और संदेह वह अवस्था है जिसमें ऐसा ज्ञान होता है कि आया यह ठीक है या यह। संदेह और भ्रम दोनों की अवस्था में मनुष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं होता। क्या निश्चयात्मक ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है? मनुष्य का अपना निश्चय यथार्थ वस्तु से भिन्न भी हो सकता है। और यदि निश्चय को यथार्थ का ही पर्याय लें, तो फिर निश्चय ज्ञान और भ्रम दोनों एक साथ रह नहीं सकते। जिस प्रकार सोता हुआ आदमी यह नहीं कह सकता कि मुझे स्वप्न हो रहा है वैसे ही भ्रांत पुरुष भ्रम की दशा में भ्रम को कैसे पकड़ सकता है, केवल सत्य ज्ञान होने पर ही वह कहेगा कि मुझे भ्रम था। इसलिये भ्रम कभी सत्य वस्तु नहीं हो सकती।

इस संबंध में एक बात और याद रखने योग्य है। कोई आदमी जानता है कि चाँद एक है। किसी समय वह दो चाँद देखकर अपने पूर्व निश्चय के कारण कह उठता है कि मुझे भ्रम हो रहा है। यहाँ भ्रम बताने के लिये पहला ज्ञान मौजूद है। परंतु जगत् के मिथ्यात्व का भ्रम दूर करने के लिये हमारे पास पूर्व अनुभव कुछ भी नहीं है जिससे तुलना करके हम कह सकें कि मृग-तृष्णिका की तरह जगत् भ्रम है इसलिये जगत् के विषय में समकालीन निश्चयात्मक ज्ञान और भ्रम हो नहीं सकते।

मृग-तृष्णा के सीधे-सादे उदाहरण में जिसे वेदांती जगत् की असारता के लिये काम में लाते हैं, उपाध्यायजी ने निरर्थक ही काँट-छाँट की है। दूर से बालू के मैदान को देखकर जल का सार समझना मृग-तृष्णा है। दूर की अवस्था अज्ञान की दशा है। ज्यों-ज्यों मनुष्य रेत के मैदान की ओर बढ़ता है वह यथार्थ ज्ञान की ओर बढ़ता है। निकट होते जाना ही ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग है। अज्ञानी को ही अनात्म में आत्मा का आभास होता है, जैसे दूरस्थित पुरुष को ही बालू में जल मालूम होता है। निकट पहुँचे हुए पुरुषरूप ज्ञानी को बालू बालू ही मालूम होता है। इतना ही मृग-तृष्णा का उदाहरण वेदांत के काम का है। उपाध्यायजी आँख के धोखेबाज़ होने का प्रश्न व्यर्थ उठाते हैं। वेदांती जगत् को सामने देखकर यह नहीं कहता कि वह दिखलाई नहीं पड़ता। उसका तात्पर्य यह होता है कि अविकारी द्रव्य दृश्यमान जगत् के अतिरिक्त कोई और ही वस्तु है। ज्ञान को संशय का हेतु मानना भूल है।

अपूर्ण, अधूरे या मिथ्या ज्ञान से संशय और भ्रम होते हैं। पृ० ३६५ पर टोपी के उदाहरण में उपाध्यायजी कहते हैं—"आपको संदेह भी इसीलिये हुआ कि आपको टोपी का ठीक-ठीक ज्ञान हो गया। यदि टोपी का ठीक-ठीक ज्ञान न होता, तो मोहन या सोहन के अस्तित्व का संदेह भी न होता।" केवल मोहन की टोपी का ज्ञान और सोहन की टोपी का ज्ञान संदेह नहीं करता, बल्कि यह बात भी कि उन दोनों की टोपी एक-सी है। कितना भी घुमा फिराकर कहा जाय प्रश्न यही है कि निश्चय ज्ञान संदेह का कारण नहीं है। मोहन या सोहन को दूर से देखने पर स्थाणु और पुरुष की कोटि का संदेह उत्पन्न होता है। मोहन को जब हम सोहन जान लेते हैं, तो

सोहन के गुणों का भी अध्यारोप उसमें कर देते हैं। बस यही अध्यारोप दिखाने का वेदांत का तात्पर्य है जिसके लिये उदाहरण दिया जाता है, अन्यथा अद्वैत के लिये उदाहरण मिल ही नहीं सकता। ठूंठ और चोर, या साँप और रस्सी के उदाहरणों में प्रश्न यह नहीं है कि आँख ने धोखा दिया, या दूरी ने, या विशेष के अविमर्ष ने। धोखा या अध्यास होता अवश्य है। उसी अध्यास से केवल हमारा तात्पर्य है। अध्यास ही दृष्टांत का लक्ष्य है। लोक में परीक्षकों का जिस वस्तु का जिस वस्तु के साथ बुद्धिसाम्य हो वही दृष्टांत है। साँप और रज्जु आदि के दृष्टांतों में अध्यारोप या अध्यास ही बुद्धिसाम्य का लक्ष्य है। इसी प्रकार ज्वर और लड्डू के कड़वे लगने के दृष्टांत में भी ज्वर से तात्पर्य अज्ञानावस्था से है जिसमें अयथार्थ अनुभव का दोष उत्पन्न होता है।

उपाध्यायजी ने शंकर के "अविद्यावद्विषयाणि शास्त्राणि प्रमाणानि च" इस वाक्य के समझने में वेदांत की दृष्टि से भारी भूल की है। इस मीमांसा को जिस प्रकार उपाध्यायजी ने पाठकों के सामने रक्खा है उसको यहाँ दुहराना आवश्यक नहीं है। अंत में आपने लिखा है कि "श्री-शंकराचार्य की परम विद्वत्ता तथा उनकी युक्तियों के प्राबल्य की प्रशंसा करते हुए भी हमको कहना पड़ता है कि यहाँ शंकरस्वामी की युक्ति ठीक नहीं है। यदि पाठक-गण थोड़ा-सा भी विचार करेंगे, तो उनको प्रतीत हो जायगा कि उनका हेतु हेत्वाभासमात्र है।" हमें तो इस वाद में विचारपूर्वक देखने से उपाध्यायजी की ही भूल मालूम होती है। उपाध्यायजी कहते हैं कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अविद्या-जन्य हैं अतः वे विश्वास के योग्य नहीं। शंकर का तात्पर्य दूसरा ही है। शंकर ने पहले अध्यास का लक्षण किया है। एक मनुष्य काणा है। काणापन उसका शरीर-दोष है। आत्मा काणी नहीं है क्योंकि आत्मा शरीर नहीं है। पर मनुष्य अपने आपको काणा समझकर सकुचाता है और सभा इत्यादि में नहीं जाता, इस प्रकार शरीर के धर्म को वह आत्मा में आरोपित करता है। इसी प्रकार के अध्यारोप से जगत् के सब काम हो रहे हैं। कोई अपने को मोटा समझता है, कोई दीन, कोई धनी, कोई रंक। इसी अध्यास का नाम अविद्या है। शंकर के शब्दों में यह वाद इस प्रकार है—

तमेतमेवं लक्षणमध्यासं पंडिता अविद्येति मन्यन्ते। तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः। तत्रैवं सति यत्र यद-ध्यासस्तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न सम्बध्यते, तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाण-प्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि।

उस अध्यास के विवेक अर्थात् विवेचन से वस्तुस्वरूप का निश्चय कर लेना विद्या है यहाँ शंकर ने कितने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि अध्यास को हटाकर जगत् के सच्चे स्वरूप को जान लेना ही विद्या या ज्ञान है। जिस वस्तु का किसी वस्तु पर अध्यास किया जाता है उसका अणुमात्र भी दोष-गुण अध्यस्त वस्तु में नहीं आता। शरीर में आत्मा का अध्यास करने से आत्मा शरीर के गुण-दोषों से लिप्त नहीं होती। इस प्रकार के आत्मा और अनात्म वस्तुओं के इतरेतर अध्यास को मानकर ही सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों का व्यवहार होता है और विधि-निषेध और मोक्ष का उपदेश करने-वाले समस्त शास्त्र प्रवृत्त होते हैं। जैसे किसी वस्तु को आँख देखती है। आत्मा अपने को शरीर के साथ अभिन्न मानकर कहता है कि मैंने देखा। तब हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ। शंकर कहते हैं कि प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों के लिये अध्यास आवश्यक है। प्रत्यक्ष ज्ञान यथार्थ है, पर आत्मा उसकी साक्षी तब तक नहीं बन सकती जब तक कि देहेन्द्रिय धर्म का आत्मा में अध्यास न किया जाय। इसी तरह आत्मा को देहबद्ध मानकर ही वेद और स्मृतियों की रचना हुई है जिनमें विधि-निषेध कर्मों का विधान है। जैसे वेद कहता है कि अमुक कर्म करने से मोक्ष या स्वर्ग मिलेगा, तो यह आज्ञा तभी सार्थक होगी जब आत्मा पर देह का अध्यास मान लेवें।

अन्यथा नित्य-शुद्ध मुक्तस्वभाव निर्लेप आत्मा के लिये ऐसे आदेशों का कुछ मूल्य नहीं है। यही संक्षेप में शंकर का तात्पर्य है। अध्यास और अविद्या का विस्तार कहाँ तक है? ये समस्त दृश्यमान नामरूपात्मक पदार्थ ही कल्पित अर्थात् अतात्विक हैं क्योंकि वे नाशवान् और विकारी हैं। इसलिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों और सब शास्त्रों की पहुँच अविद्या-ग्रस्त पदार्थों तक ही है; दूसरे शब्दों में नामरूपवाले पदार्थों से, जो समय और स्थल से परिच्छिन्न हैं, परे प्रत्यक्षादि प्रमाणों की गति नहीं। शुद्ध ज्ञान चैतन्य की अवस्था जिसमें आत्मा अविद्या से

मुक्त हो जाती है सब प्रकार के प्रमाण और शास्त्रों की पहुँच से बाहर है।

शंकर स्वयं पूछते हैं—

कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति। उच्यते—

अर्थात् क्या प्रत्यक्षादिक प्रमाण और सब शास्त्र फिर अविद्या विषयक ही हैं? विषय माने विस्तार (scope) के हैं, अर्थात् इनका विषय अविद्या-जन्य नामरूपात्मक जगत् ही है? इसका उत्तर यों देते हैं—

देहेन्द्रियादिष्वहं ममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नहीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः संभवति। न चाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः संभवति। न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद्व्याप्रियते। न चैतस्मिन्सर्वस्मिन्नसति असंगस्यात्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते। न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।

अर्थात् देहेंद्रियों में 'मैं हूँ', 'यह मेरा है' इस प्रकार की भावना उत्पन्न हुए विना आत्मा प्रत्यक्ष विषय की साक्षी नहीं बन सकती, विना प्रमाता (knowing agent) के प्रमाण (means of right knowledge) कैसे हो सकते हैं? इसलिये आत्मा को प्रमाता बनाने के लिये 'अहं, ममेदं' यह अध्यास मानना ही पड़ेगा। क्योंकि अकेले आत्मा को विना इंद्रियों की सहायता के प्रत्यक्षादि व्यवहार रूप ज्ञान हो नहीं सकता। और विना देह के इंद्रियाँ भी व्यवहार नहीं करतीं। इसलिये जब तक देह को अपना नहीं समझा जायगा, तब तक 'मैं' का व्यवहार उसमें नहीं हो सकता और विना 'मैं' और 'मेरा' समझे देह से कोई काम आत्मा नहीं निकाल सकती। यदि आत्मा को बिलकुल निर्लेप (असंग) जैसी कि वह वास्तव में है समझे रहें, तो आत्मा को प्रमाता नहीं बना सकते। जब प्रमाता साक्षी भरनेवाला कोई नहीं, तब प्रमाण भी ठीक नहीं। पहले कोई देखनेवाला होना चाहिए, तब हम कहते हैं कि हमको प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ। चूँकि अध्यस्त आत्मा में ही प्रत्यक्षादि ज्ञान संभव हैं, और अध्यास नाम अविद्या या दृश्यमान नामरूप का है, इसलिये कहते हैं कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों और सर्व शास्त्रों का विषय (scope) अविद्यावत् अर्थात् अविद्यावाला है।

इस सीधी-सादी बात के मानने में भी उपाध्यायजी को अड़चन है। उन्हें शंकर में हेत्वाभास मालूम होता है। हर्ष है हमें शंकर की उपर्युक्त तर्कों में कहीं हेत्वाभास नहीं मालूम होता। उपाध्यायजी कहते हैं कि आत्मा का देह और इंद्रियों को 'मैं' समझना अध्यास के किसी लक्षण के अंतर्गत नहीं है। अध्यास के जो चार लक्षण शंकर ने दिये हैं उनमें से चारों के अनुसार ही आत्मा का यह ज्ञान अध्यास है। पहला लक्षण है "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः" अर्थात् पहले देखी हुई किसी वस्तु की स्मृतिरूप से किसी दूसरी वस्तु में कल्पना करना अध्यास है। अपनी आत्मा में अनात्म देह का व्यवहार करके हम देह के सुख के कार्य करते हैं। देह के साथ अमुक प्रकार का व्यवहार करने से हमें अर्थात् आत्मा को सुख पहुँचा था, इस विचार से दूसरे किसी की देह को सुख पहुँचा कर उसे (अर्थात् उसकी आत्मा को) सुख देने का विचार करना पूर्व दृष्ट का दूसरे में स्मृतिरूप अध्यास है, क्योंकि हमने उसकी देह को भी आत्मा मानकर यह सोचा कि इससे उसको सुख पहुँचेगा। दूसरा लक्षण है "अन्यत्रान्यधर्माध्यासः" अर्थात् अन्य के धर्म अन्य में आरोपित कर देना अध्यास है। आत्मा को देह समझना अनात्मा में आत्मा के गुणों का आरोपण करना नहीं तो क्या है? फिर कहते हैं कि जिन दो वस्तुओं का अध्यास होता है उनमें परस्पर के भेद का अग्रह अर्थात् न पकड़ना रूप भ्रम ही अध्यास को उत्पन्न करता है। आत्मा और देह में परस्पर के विवेक को भूल जाने से ही भ्रम होता है। विपरीत धर्मों की कल्पना रूप चौथा अध्यास भी यहाँ ठीक घटता है। उपाध्यायजी ने शंकर का एक लम्बा अवतरण दिया है जिसमें शंकर ने देह इन्द्रियों और अन्तःकरण के धर्मों के आत्मा में अध्यास करने के उदाहरण दिये हैं।

'अहं' का प्रत्ययी, सर्व कार्यों का साक्षी आत्मा ही है, देह, इन्द्रियाँ या अंतःकरण नहीं। कोई गोरा होने से अभिमान करता है। यद्यपि उसका शरीर गोरा है, तथापि 'मैं गोरा हूँ' ऐसा समझकर उसकी आत्मा में अभिमान उत्पन्न होता है। 'मैं ऐसा कर लूँगा' यह कहनेवाला संकल्प रूप अन्तःकरण के धर्म को 'अहं' में अध्यासित करता है। उपाध्यायजी कहते हैं—आत्मा, शरीर और इन्द्रिय आदि में आत्मत्व की भावना नहीं करता,

किंतु वह उनको अपने कार्य का साधन तथा अपनी संपत्ति समझता है। अध्यास में वह वस्तु, जिसका अध्यास किया जाता है, उस वस्तु के पास, जिसमें अध्यास किया जाता है, नहीं होती। परंतु साधक के पास, साधन या स्वामी के पास सम्पत्ति होती है।" यदि आत्मा शरीर में अपना अध्यास नहीं करता और शरीर को केवल साधन ही समझता है तो आत्मा शरीर को किसके लिये विविध व्यापारों में विनियुक्त करता है? यह आत्मा ही है जिसकी इच्छा कभी पूरी नहीं होती और वह संतत संचय करता है, शरीर-धारण के लिये तो बहुत थोड़े साधनों की आवश्यकता होती है। वस्तुतः अज्ञानी शरीर को ही आत्मा समझ लेता है और उसी के सँवारने, रक्षा करने में सारा ध्यान और धन व्यय करता है। केवल ज्ञानी ही आत्मा के धर्म और शरीर के धर्मों को अलग अलग करके जानता है, और वह शरीर को उससे अधिक महत्त्व कभी नहीं देता जितना कि उसको मिलना चाहिए। देह अनात्म है, उसमें आत्मा के गुणों का अध्यारोप करना शरीर को वह वस्तु देना है जो उसके पास नहीं है। देही में साधक का भाव देह की सापेक्षता से ही उठता है, क्योंकि अध्यास-शून्य आत्मा असंग और अकर्ता है। इसलिये साधक-साधन विचार से पहले ही आत्मा में देहेंद्रियाध्यास प्रवृत्त हो जाता है।

उपाध्यायजी कहते हैं—"श्रीशंकराचार्य जैसे दार्शनिकों की बात जाने दीजिए। वह विचित्रता के लिये कुछ भी क्यों न समझते हों, या समझा सकते हों, परंतु साधारणतया असभ्य और अशिक्षित मनुष्य से लेकर शिक्षित और सभ्य मनुष्य तक कोई भी यह नहीं समझता कि मैं शरीर हूँ। यही सब कहते हैं कि मेरा शरीर है।" कैसा अद्भुत आडंबर है। भला दार्शनिक और ज्ञानी के सिवाय शरीर और आत्मा के विवेक का प्रश्न और कौन उठाएगा? प्रायः संसार के सभी मनुष्य शरीर और चैतन्य आत्मा को अभिन्न समझकर लोक-व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, केवल शंकर जैसे ज्ञानी ही सचेत रहते हैं कि शरीर और आत्मा पृथक् वस्तु है। शरीर की ओर संकेत करके लोग भले ही कह दें 'यह मेरा शरीर है', परंतु जब कोई शरीर की ओर डंडा लेकर मारने दौड़ता है, तब प्रायः सबको आत्मा और शरीर का भेद भूल जाता है और वे 'मैं शरीर हूँ' की भावना से ही जान लेकर भागते हैं। मृत्यु का भय भी शरीर को आत्मा समझ लेने के कारण ही होता है, अन्यथा आत्मा के शरीर-विमोक्षण पर हर्ष मनाना चाहिए जैसा कि ज्ञानी लोग करते हैं।

कार्तिक के लेख में स्वप्न के ऊपर बड़ा लंबा-चौड़ा विचार है। संसार को स्वप्न कहने या मिथ्या कहने का जो वेदांत का अभिप्राय है उसे हम गीता-रहस्य के शब्दों में ऊपर प्रकट कर चुके हैं। यह स्पष्ट है कि स्वप्न की बात असत्य और अस्थायी होती है। किसी को स्वप्न में एक लाख रुपए मिल गये, और जागने पर एक लाख रुपए मिले, इन दोनों में पहले एक लाख रुपए मिथ्या और दूसरे सच्चे हैं। जो वस्तु अपना एक स्वरूप नहीं रखती, निरंतर बदला करती है, वही मिथ्या है। यदि कोई आदमी घंटे-घंटे भर बाद अपनी बात बदलने लगे, तो हम उसके वचन को मिथ्या कहेंगे। ऐसे ही नाम रूपात्मक दृश्य भाव निरंतर परिवर्तनशील हैं इसी अभिप्राय से वे मिथ्या हैं। वे क्षणिक और अस्थायी हैं इसीलिये वेदांत उनकी स्वप्न से उपमा देता है। स्वप्न के विषय में अधिक आडंबर वेदांत के प्रयोजन के लिये बिलकुल व्यर्थ है। वेदांत की दृष्टि से यह जाग्रत् अवस्था और यह स्वप्न अवस्था अर्थात् रोज़ का जागना सोना एक ही बात है। ऐसा नहीं कि हम जागते में अज्ञानी या स्वप्न में ज्ञानी हो जाते हैं। मनुष्य-जन्म ही अविद्या-जन्य है। उसके समस्त व्यवहार अध्यासकृत हैं। उपाध्यायजी ने स्वप्न को फ़ोटो के समान बताया है, सो ठीक नहीं है। फ़ोटो को देखकर आकृतिमात्र का ज्ञान होता है, उसमें यह भ्रांति किसी को नहीं होती कि फ़ोटो में अमुक मनुष्य या पदार्थ सशरीर उपस्थित है। पर स्वप्न में यह मिथ्या ज्ञान रहता है कि हम पदार्थ को वस्तुतः विद्यमान देखते हैं। स्वप्न में हमें स्मृतिरूप वासना का ज्ञान नहीं रहता। अध्यास के लिये देवदत्त का स्मृतिरूप अवभास होना चाहिए, फ़ोटो में अध्यास इसीलिये नहीं है क्योंकि वहाँ देवदत्त की आकृति प्रत्यक्ष होती है, इसलिए स्वप्न ही अध्यास का ठीक उदाहरण है। यह स्मरण रखना अत्यंत आवश्यक है कि वेदांत में स्वप्न, मृग-तृष्णा, सर्प-रज्जु, पुरुष ठूँठ ये सब लौकिक उदाहरण हैं। एक अद्वैत-तत्त्व को भाषा की दृष्टि से ये सब दूषित कहे जा सकते

हैं । अतएव वेदांत में जाग्रत् और स्वप्न के अन्योन्य-संबंध के विवाद से कुछ लेना-देना नहीं है । वेदांत के लिये जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही अविद्या है । दोनों ही अविनाशी नहीं हैं, दोनों ही कालपरिच्छिन्न हैं । उपाध्यायजी की दी हुई गौड़पाद की पाँचवीं कारिका भी इसी सिद्धांत का प्रतिपादन करती है । 'स्वप्न और जाग्रत् दोनों अवस्थाओं में एक-सी ही बात होती है, इसलिये बुद्धिमान् लोग दोनों अवस्थाओं को एक ही कहते हैं ।'

उपाध्यायजी का यह कहना है कि 'जिस प्रकार स्वप्न में देखे हुए पदार्थों का कोई अपना अस्तित्व नहीं होता, इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थ, जिनको हम जाग्रत् अवस्था में देखते हैं अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखते । यदि वस्तुतः यह बात ठीक है तो प्रत्यक्ष, अनुमान आदि सभी प्रमाणों पर पानी फिर जाता है, और जो कुछ सूर्य, चंद्र, तारागण, पहाड़, नदी, मनुष्य आदि संसार में उपस्थित देखे जाते हैं, वह सब मिथ्या सिद्ध होते हैं ।' वेदांत के मिथ्या शब्द के अर्थ को न समझने के कारण ही यह विचित्र कल्पना की गई है । जब तक यह अविद्याजन्य बद्ध अवस्था है तब तक हमें सब कार्यों में प्रवृत्त होना ही पड़ेगा, कोई क्षण भर भी विना कर्म नहीं रह सकता ; लेकिन ज्ञानी के कर्म आध्यात्मिक दृष्टि से किये जाने के कारण बंधन के हेतु नहीं होते, अज्ञानी को वे ही कर्म आधिभौतिक सुख के लिये होने से अधिकाधिक कर्म बंधन में बाँधते हैं ।

जहाँ हठवादिता होती है वहाँ तर्क भी विचित्र-विचित्र सूझते हैं । क्या स्वप्न में भी इसका अनुमान कोई कर सकता है कि शंकर के अद्वैत ज्ञान का ऐसा हेय परिणाम हो सकता है जैसा उपाध्यायजी लिखते हैं—"यदि स्वप्न में देखे हुए हाथी की भाँति ही जाग्रत् में देखा हुआ हाथी है, तो उसको मोल लेने के लिये कौन प्रयत्न करेगा ? यदि एक जाति द्वारा दूसरी जाति पर किए अत्याचारों का स्वप्न के पदार्थों के समान ही अभाव है, तो फिर हाथ पैर मारना स्वराज्य-प्राप्ति की कोशिश करना, और दूसरों को अत्याचारी बताना यह सब व्यर्थ ही तो है ।" यहाँ स्वप्न और जाग्रत् दशाओं के कार्यों के आपस में मिला देने के कारण ही यह गड़बड़ तर्क उत्पन्न हुआ है । यदि हाथी स्वप्न का है, तो खरीदार की भी स्वप्न में ही कल्पना कीजिए, फिर देखिए कौन स्वप्न के हाथी को लेने की कोशिश न करेगा ? असली हाथी जाग्रत् दशा में है खरीदार भी उसी अवस्था का है अतएव उसको लेने की कोशिश भी स्वाभाविक है । इसी तरह यदि अत्याचार स्वप्न है, तो जाति और उन अत्याचारों के करनेवाले भी स्वप्नगत पदार्थ हुए जो कि स्वप्न में सब सच्चे हैं ; फिर अत्याचार का प्रतिकार क्यों न होना चाहिए ? क्या स्वप्न में सिंह को देखकर लोग तदनुकूल भागने रूप कार्य में नहीं प्रवृत्त होते ? फिर गौड़पाद के अनुसार जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही मानवी जीवन के अंग हैं और जीवन मोह-निशा है, फिर जाग्रत्-स्वप्न में विप्रतिपत्ति कहाँ रहती है ? वेदांत का राजनीति पर कभी बुरा प्रभाव नहीं हो सकता । जो ज्ञानी शरीर और माया के बंधन को भी तोड़ डालता है वह राजनैतिक पाशों को क्या समझता है ? ज्ञानी को कोई बंधन में नहीं रख सकता । राजनीति का चरम लक्ष्य स्वराज्य और धर्म संस्थापन है, वेदांत का इन दोनों से विरोध नहीं है । वेदांत राजनीति के अधःपतन का हेतु नहीं है, राजनीति वेदांत के पारस को छूकर विमल सुवर्ण बन जाती है । महाभारत के समय इस देश में आधुनिक योरप की तरह स्वराज्य था, पर वेदांत से वियोग होने के कारण राजनीति धर्म-संस्थापन-रूप अपने दूसरे कार्य में चूक रही थी, अतएव अहमन्य की प्रबल अभिलाषा ने सबको विनाश के गर्त में गिरा दिया ।

यह बात सबको मान्य होगी कि जिस शास्त्र का विषय हो उसी की परिभाषा के अनुकूल शब्दों का अर्थ लेना चाहिए । उपाध्यायजी खंडन तो अद्वैत का करना चाहते हैं, पर 'दृश्यमान' शब्द का चलता बाज़ारू अर्थ ले लेते हैं—दिखाई पड़नेवाला । वेदांत में दृश्यमान का अर्थ है नामरूपात्मक । क्या उपाध्यायजी नाम-रूपात्मक एक भी वस्तु ऐसी बता सकते हैं जो अविनाशी हो ? फिर शंकर ने इस जगत् को दृश्यमान होने के कारण मिथ्या कहा, तो क्या अनर्थ कर दिया ? उपाध्यायजी शंकर पर व्यंग्य करने में बड़े प्रवीण हैं । वे कहते हैं 'शंकराचार्यजी जैसे धुरंधर या जगद्धर दार्शनिक की व्यवस्था है कि मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिये दृश्यमानत्व एक पर्याप्त हेतु है । सबसे बड़ी भूल, जो ब्रह्मा से लेकर जैमिनि तक समस्त वैदिक ऋषि तथा अन्य शिक्षित तथा अशिक्षित पुरुष करते रहे, वह यह थी कि किसी

पदार्थ के अस्तित्व की सिद्धि के लिये वह (वे ?) अपनी ज्ञान-इंद्रियों का सहारा लेते रहे, और आजकल के साइंसज्ञ भी ऐसा ही करते हैं। परंतु शंकराचार्यजी ने इस भूल से लोगों को रोका। उन्होंने विचित्र गुरु यह बताया कि "जो चीज़ तुमको दीखे वह झूठी।" किसी उर्दू कवि ने भी तो ऐसा ही कहा है— 'शंकर को जगद्गुरु या धुरंधर मानिए अथवा न मानिए, परंतु इसमें रत्ती भर भी संदेह नहीं कि मिथ्यात्व के लिये दृश्यमानत्व हेतु पर्याप्त है, बशर्ते कि मिथ्यात्व और दृश्यमानत्व के वे बच्चोंवाले अर्थ न लिये जायँ जो आप लेते हैं। इन दोनों शब्दों के अर्थ हम ऊपर बता चुके हैं। स्मरण रहे कि उर्दू शायरी के 'दीखे और झूठी' अर्थ वेदांत की परिभाषा को ग्राह्य नहीं है। वेदांत का ज्ञान वह है जहाँ आँखें रहते भी लोगों को अद्रष्टा और नेत्र-हीन होते हुए भी द्रष्टा कहा जाता है। शंकर ने भी ब्रह्मा और जैमिनि को देखा था। उनके 'दृश्यमान' के अर्थ से ब्रह्मा और जैमिनि को भी व्याघात नहीं है। शंकर के दृश्यमान और मिथ्या अर्थों से वैज्ञानिकों (साइंसज्ञों) का भी विरोध नहीं पड़ता। प्रत्युत हम दिखा चुके हैं कि विज्ञान की गति भी अद्वैत तत्त्व की ओर ही अग्रसर है। यह कहना भी ग़लत है कि गौड़पाद की पाँच कारिकाओं पर ही शंकर ने अपने अद्वैत-भवन का निर्माण कर दिया। 'तत्तु समन्वयात्'-सूत्र के भाष्य में उन्होंने सब उपनिषदों का अद्वैत-परक समन्वय दिखाया है।

उपाध्यायजी ऐसी बेजड़ बात क्यों कहते हैं कि शंकर ने स्वप्न की मीमांसा नहीं की ? पृ० ४०८ पर उपाध्यायजी के शब्द हैं—"परंतु खेद तो यह है कि श्रीशंकराचार्यजी ने स्वप्न क्या वस्तु है इसकी मीमांसा नहीं की।" पृ० ४०६ पर उपाध्यायजी के ही शब्द ये हैं—"श्रीशंकराचार्यजी वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् (वेदा० २।२।२६) के भाष्य में स्वप्न की मीमांसा इस प्रकार करते हैं।" आप शंकर की स्वप्न की मीमांसा और उनके जगत् को स्वप्नवत् मिथ्या कहने का युक्ति-युक्त समन्वय नहीं कर सके इसको आप शंकर का ही दोष कहते हैं। आपकी राय में शंकर ने स्वप्न की जो मीमांसा की उसे अपने कल्पित सिद्धांत की पुष्टि के लिये सर्वथा भुला दिया। अर्थात् शंकर की दोनों उक्तियों में आपको विरोध मालूम पड़ता है। उपाध्यायजी ने शंकर पर इस प्रकार स्वयंव्याघात का लाञ्छन लगाकर अपने ही ज्ञान का परिचय दिया है। शंकर में विरोध नहीं है। शंकर दैनिक स्वप्न-व्यवहार को उसी तरह सच्चा नहीं मानते जिस तरह जाग्रत् को, इसी बात से यह प्रकट हो जाना चाहिए था कि संसार को स्वप्नवत् कहने में शंकर का अभीष्ट दृष्टांत इतना ही था कि जिस प्रकार स्वप्न जाग्रत् दशा में नहीं रहते ; उसी तरह ज्ञानी को नाम-रूपात्मक दृश्यभाव भी विनाशशील प्रतीत होते हैं। शंकर के अद्वैत के लिये तो जाग्रत् और स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय सब एक समान ही कल्पित व्यवहार हैं, जैसा कि गौड़पाद की पाँचवीं कारिका में आप स्वयं देख चुके हैं।

उपाध्यायजी 'दृश्यमान' हेतु को स्वयंसिद्ध न मानकर उसे साध्यसमहेत्वाभास कहते हैं। 'दृश्यमान' 'वैतथ्य' के लिये सिद्ध हेतु कैसे है, दार्शनिकों को यह समझाना उनका अपमान करना है। जगत् के सब पदार्थ एक मूल द्रव्य की विकृति हैं अतएव उनकी कोई सत्ता नहीं। विज्ञान भी इस बात को मान लेता है। यदि मूल कारण को परमाणुमय मानते हैं तो परमाणु अनेक हैं, अनेक द्रव्यों के अनेक कारण मानना सृष्टि की पहेली को सुलझाना नहीं और जटिल करना है। फिर परमाणु में सावयवत्व और निरवयवत्व का प्रश्न हल नहीं होता, पुनः परमाणुओं को प्रेरणा करनेवाला स्वतंत्र कारण कोई और ही होगा। इस प्रकार परमाणु प्रकृति के स्वतन्त्र कारण नहीं हैं जैसा कि न्याय वैशेषिक-वाले मानते हैं। यदि एक अव्यक्त मूल प्रकृति को सृष्टि का स्वतंत्र कारण माना जाय जैसा सांख्यवादी कहते हैं, तो प्रकृति जड़ है। उसमें अव्यक्त से व्यक्त होने की असंगत कल्पना करनी पड़ेगी। इसलिये वेदान्त के अनुसार जगत् का कारण ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह सृष्टि उसी अविनाशी की लीला है, उसी के विवर्त से इस नाम रूपात्मक जगत् का व्यवहार हो रहा है, अन्यथा यह सब मिथ्या अथवा अस्तित्व-विहीन है।

पृ० ४१० पर उपाध्यायजी ने एक बड़े अचरज की बात लिखी है—"जो मनुष्य आँखों से देखता हुआ नहीं देखता और कानों से सुनता हुआ नहीं सुनता, उसके विषय में हम कुछ नहीं कह सकते, जिस मनुष्य के पास 'दृश्यमानत्व' किसी वस्तु के 'वैतथ्य' की दलील है, उसे हम पूछते हैं कि वेदों में—

पश्येम शरदः शतम्, शृणुयाम शरदः शतम्

अर्थात् सौ वर्ष तक हम देखते रहें, सौ वर्ष तक हम सुनते रहें आदि प्रार्थनाएँ क्यों की गई। श्रीशंकराचार्यजी के कथनानुसार तो प्रार्थना ऐसी होनी चाहिए थी—

नेत्रहीनाः स्याम शरदः शतम्,

श्रोत्रहीनाः स्याम शरदः शतम् इत्यादि।"

अद्वैत का खंडन है या शंकर पर व्यङ्ग्य बौछार है। क्या उपाध्यायजी को विश्वास है कि अंधे और बहरे ज्ञानी होते हैं? शंकर तो ज्ञानचक्षु और ज्ञानश्रोत्र चाहते हैं। शंकर के मत से जन्म ही अविद्यामूलक है अतएव यदि आपको शंकर के मत की प्रार्थना करनी थी, तो यों कहना चाहिए था कि हम सब मुक्त हो जायँ अर्थात् यह मानव-जन्म ही न रहे। स्वयं उपाध्यायजी भी तो मोक्ष को जन्म से श्रेष्ठ मानते होंगे, फिर वेद में ऐसी प्रार्थना क्यों है कि इस स्त्री के दस लड़के हों। हम पूछते हैं पापी इन्द्रियाँ अच्छी, या इन्द्रियों का नितान्त अभाव अच्छा? इसलिये शंकर तो दोनों के अतिरिक्त ज्ञानी इन्द्रियाँ चाहते हैं। यदि यह शरीर है तो अविद्यागत व्यवहार भी सिद्ध करने ही होंगे अर्थात् जगत् के दृश्यमान भावों से संपर्क रखना ही होगा।

पृ० ४१० पर उपाध्यायजी ने उसी स्वप्नवाली बात को पकड़कर शंकर पर फिर दोष लगाया है—"इस प्रकार श्रीशंकराचार्य ने इस सूत्र के भाष्य में उसी बात का खण्डन किया है, जिसका वह कारिकाओं के भाष्य में मण्डन करते हैं। परंतु यहाँ उनको अपने मत के स्थापन की अपेक्षा बौद्ध योगाचार मत के खंडन का अधिक ध्यान था। उन्होंने यह न सोचा कि हम अपने ही शब्दों में अपने मत का खंडन कर रहे हैं। और करते भी क्या?"

ठीक है अपने शब्दों में अपना खंडन करना ही शंकर जैसे दार्शनिकों के भाग्य में बदा है! और करते भी क्या। आगे आनेवाले लोग तो शंकर के नाम से ही डरकर उनकी बातों को बिना समीक्षा किये मान लेते थे, इसलिये शंकर को स्वयं ही अपने खंडन की राह बतानी पड़ी! योगाचार मत को दूषित करने की फ़िक्र में शंकर अपने मत को भी दूख गये। असली बात क्या है? शंकर में न कहीं विरोध है न दम्भ। उनका सिद्धांत स्पष्ट है। योगाचार मतवाले बड़े सीधे न थे, शंकर को उनसे शास्त्रार्थ भी करना पड़ा था। इस प्रकार के 'स्वयं विरोधी' सिद्धांत लेकर वे कितनी देर टिक पाते? गौड़पाद की कारिका कहती है कि जाग्रत् अवस्था में देखे हुए पदार्थ मिथ्या हैं। क्योंकि जैसे स्वप्न में देखे हुए पदार्थ आत्मा के भीतर ही विद्यमान रहते हैं, बाहर नहीं, इसी प्रकार जाग्रत् दशा में देखे हुए पदार्थ भी एक परम चैतन्य आत्मा के भीतर ही विद्यमान हैं, बाहर उनकी सत्ता नहीं है। जाग्रत् के पदार्थों का बनना बिगड़ना स्पष्ट है। योगाचार मत का दोष यह था कि वे दैनंदिनीय स्वप्न की ओर जाग्रत् की अवस्थाओं को मिलाकर तर्क करते थे। वे कहते थे—स्वप्न मिथ्या है अतएव जाग्रत् भी मिथ्या है। पदार्थ वहाँ भी हैं, यहाँ भी हैं। अतएव दोनों में समता है। वे लोग किसी अविनाशी तत्त्व को दृश्यमान पदार्थों के परदे के नीचे नहीं मानते थे। यही उनका दोष था। यही शंकर ने योगाचार मतवालों से कहा कि जाग्रत् के पदार्थों का जाग्रत् के अनुभवों के आधार पर ही खंडन करो। जैसे स्वप्नगत पदार्थों के वैतथ्य का प्रत्ययी अहं है, वैसे ही जाग्रत् के पदार्थों में भी एक मानना आवश्यक था। परंतु बौद्ध लोग ऐसा नहीं मानते थे। इसलिये शंकर ने उनका सफलतापूर्वक खंडन किया, न कि स्वयं विरोधिनी बातों से।

मार्गशीर्ष के अंक के लेख में उपाध्यायजी ने शंकर की जो भूलें दिखाई हैं वे यदि वास्तव में भूलें होतीं, तो शंकर को दर्शन-विषय पर लेखनी ही न उठानी चाहिए थी। पंडितजी को विवेक शब्द का अर्थ नहीं मालूम, और वे शंकर पर वज्रप्रहार करते हैं। लिखा है—"इंद्रियों में आत्मा के अध्यास के जो उदाहरण श्रीशंकराचार्यजी ने दिए हैं उनके विचार से तो हँसी आए बिना नहीं रुकती।" शंकर कहते हैं कि मैं कृश हूँ, पीन हूँ, अंध हूँ, बधिर हूँ, ये सब यद्यपि शरीर और इंद्रियों के गुण-दोष हैं, तो भी मनुष्य अपने ऊपर उन दोषों को ओढ़कर वैसा ही व्यवहार करते हैं। यह अध्यास का उदाहरण-मात्र है। जितने अंश में लँगड़ा आदमी अपने अहं को उस दोष का भोगी समझता है वही अध्यास है। 'मैं अंधा हूँ' इस वाक्य में सार इतना ही है कि हम आत्मा को दृष्टि-गुण-विहीन मानते हैं। मैं नेत्रवाला हूँ इससे हम अपने अहंभाव में दृष्टि-गुण का आरोप

करते हैं। वेदांत की दृष्टि से जैसे स्वप्न और जाग्रत् समान ही अविद्याजन्य हैं, वैसे ही नेत्र होना और न होना, ये दोनों भावनाएँ समानरूप से आत्मा में अध्यारोप हैं।

बाहर जो मोटर रूप पदार्थ है उसका यदि आत्मा पर कुछ प्रभाव नहीं है तो उस पदार्थ का अस्तित्व होना न होना बराबर है। केवल 'मोटर है' इस वाक्य से आत्मा में कोई अध्यास नहीं होता, क्योंकि लाट साहब की मोटर के विषय में एक रंक आदमी यही कहेगा कि मोटर है। 'मैं मोटरवाला हूँ' इस वाक्य से हम तुरंत अपनी आत्मा में एक गुण का अध्यारोप करते हैं जो आत्मा का वस्तुतः धर्म नहीं है। 'मैं मोटर-हीन हूँ' इससे क्या तात्पर्य है? शरीर में मोटर का अभाव, या ड्राइवर में मोटर का अभाव, या अस्तबल में मोटर का अभाव नहीं। क्योंकि कहीं न कहीं ड्राइवर का संपर्क मोटर से है ही, और अस्तबलघर में भी मोटर होगी ही; परंतु हमें कहना यह है कि अपने आपमें जो मोटर का स्वामित्व हमने समझा था वह जाता रहा। यही अतस्मिन् तद्बुद्धि है; क्योंकि त्रैकाल्य में भी आत्मा में स्वामित्व या उसके अभाव की कल्पना नहीं है। इस भावना का होना ही आध्यात्मिक सुख मीमांसा; और न होना ही, आधिभौतिक सुख है जो नश्वर है। "इसी प्रकार संकल्प और विकल्प के विषय में समझना चाहिए। अंतःकरण और आत्मा में साधन और साधक का संबंध है, अध्यास और अध्यस्त का नहीं।" संकल्प, विकल्प, अध्यवसाय अंतःकरण के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा सबमें एक-समान होती है। एक मनुष्य में विश्वास है कि मैं इस काम को कर लूँगा, इससे उसमें बहादुरी बढ़ती है और वह अपनी आत्मा को आगे भिड़ा देता है। दूसरा मनुष्य इस विश्वास के अभाव से अपने आपको कमज़ोर समझता है। उसको यह भेद नहीं मालूम रहता कि यह कमज़ोरी अंतःकरण का धर्म है, वह अपनी आत्मा को ही अयोग्य और कमज़ोर समझता है, यद्यपि आत्मा में वैसा कोई अविश्वास नहीं है। यही शंकरमत से अंतःकरण के धर्म का आत्मा में अध्यास है। अंतःकरण ही क्या समस्त देह को चैतन्य प्रदान करनेवाली आत्मा ही है। यदि यह चैतन्य ज्योति न हो, तो अंतःकरण से क्या सोचने विचारने के काम भी नहीं हो सकते। चैतन्य संबंध सिद्ध मानकर ही अध्यास और अध्यस्त का उदाहरण दिया जाता है। ये पूर्वापर कोटि हैं, तुल्यबलविरोधिनी कोटि नहीं।

"चेतन विषयी आत्मा में अचेतन विषय और उसके धर्मों का मान लेना अध्यास है। इसके लिये उन्होंने (इस कल्पना के लिये शंकर ने) कोई युक्ति नहीं दी और इसी कल्पना के ऊपर समस्त 'अध्यासवाद' तथा 'अद्वैतवाद' का भवन निर्माण कर दिया है।" स्वयं-सिद्ध बात के लिये शंकर क्या युक्ति देते? सबसे बड़ी युक्ति जिसको उपाध्यायजी ने उद्धृत नहीं किया शंकर ने यह दी है—

अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य, अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।

अर्थात् धर्म और धर्मी के अत्यंत भिन्न होते हुए भी मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न सत्य (आत्मा) और अनृत (अनात्मा) को मिलाकर लोक में स्वाभाविक 'मैं' और 'मेरा' यह व्यवहार चल रहा है। प्रत्यक्ष ही है कि आत्मा में अनात्मा की तरह और अनात्मा में आत्मा की नाईं लोग प्रवृत्त हो रहे हैं। धर्मी का विवेक क्या है? उसका तादात्म्याभाव अर्थात् आत्मा का देहादिक के धर्मों के साथ तादात्म्य न होना। धर्म का पृथक् विवेचन है उनका धर्मी में संसर्गाभाव अर्थात् असंगता। यह जानने योग्य है कि अध्यास धर्मों का ही होता है, क्योंकि वस्तु के धर्मों से ही वस्तु की सत्ता का प्रत्यक्ष होता है।

देह के साथ संयोग होने से ही आत्मा में प्रमातृत्व गुण आता है, अन्यथा आत्मा शुद्ध चैतन्य होने से किसी की साक्षी नहीं है। विषयी (Subject) आत्मा प्रमेय पदार्थ रूप विषय (Object) संसार से भिन्न है इसमें किसी को क्या शंका हो सकती है। असाक्षी आत्मा में देह-संबंध से प्रमातृधर्म कल्पित करना अध्यास का ही रूप है। प्रकाश और अंधकार में इतरेतरभावानुपपत्ति संबंध है, यही प्रत्यगात्मा विषयी और युष्मत्प्रत्ययगोचरीभूत विषय में भी है। अर्थात् आत्मा की तरह संसार की सत्ता नहीं है जैसे प्रकाश की तरह अंधकार की सत्ता नहीं है। प्रकाश का अभाव ही अंधकार सही, पर क्या अंधकार और प्रकाश दोनों की पृथक् सत्ता है? प्रकाश एक अपरिच्छिन्न ज्योति है। जब सूर्य का सूर्या के साथ विवाह हुआ अर्थात् इस सृष्टि की रचना से ब्रह्मरूप ज्योति का व्यवधान हुआ तभी छाया का जन्म होता है।

छाया स्वतंत्र कोई वस्तु नहीं है। अंततोगत्वा प्रकाश की सत्ता रह सकती है, अंधकार की नहीं। पृथ्वी का व्यवधान अंधकार को जन्म देता है। सूर्य में अंधकार नहीं है। जब मूल में पृथ्वी के स्थूल रूप का अस्तित्व नहीं है, तब अंधकार भी कोई वस्तु नहीं रहती। पृथ्वी, समुद्र आदि अंधे लोकों का परमाणुरूप विशरण होने पर एक ज्योतिर्मय शक्ति की कल्पना ही हो सकती है। उस बहुला प्रकाश को हमारे ये चक्षु तमस् भी कह सकते हैं, पर है वह एक ही वस्तु। आत्मा का और विषय का ज्ञाता ज्ञेय संबंध उस समय स्थापित होता है जब पहले आत्मा में प्रमातृत्व की उपपत्ति कर लें। वह केवल प्रत्यगात्मा के विषय में देहेंद्रियाध्यास से ही संभव है। साधक-साधन संबंध और ज्ञाता-ज्ञेय आदि संबंधों का अध्यास-अध्यस्त संबंध से विरोध दिखाना उचित नहीं, क्योंकि शंकर ने अध्यास-अध्यस्त संबंध को सबसे पहले मूल में रक्खा है। और यद्यपि अध्यास मिथ्या है, तथापि उस अध्यास को सत्यवत् मानकर ही ज्ञाता-ज्ञेय, प्रमाता-प्रमेय, साधक-साधन आदि व्यवहारों की कल्पना होती है

(तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि ।)

शंकर के मौलिक विचारों के रहस्य तक पहुँचने के लिये उनके इस दृष्टिबिंदु को कभी नहीं भूलना चाहिए। केवल ब्रह्म ही त्रैगुण्य से अतीत है। और सब प्रकृति त्रिगुणात्मिका है इसी तत्त्व को ध्यान में रखकर गीता की यह पंक्ति कही गई है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

अर्थात् वेद का विषय त्रिगुणमयी प्रकृति से परिच्छिन्न है। हे अर्जुन! तुम इन तीन गुणों के चक्कर से ऊपर उठो।

यह ऊँचे से ऊँचा वेदांतभाव है। निस्त्रैगुण्य की अवस्था में सत्यमेव वेदों के ज्ञान के भी अंत से परे मनुष्य को जाना होता है। यही बात शंकर ने 'वैदिकाश्च' शब्द से कही है। अर्थात् वैदिक व्यवहार भी लौकिक व्यवहारों की तरह अविद्यावद्विषय हैं यानी अविद्याख्य माया या सृष्टि के अस्तित्व को मानकर प्रवृत्त हुए हैं।

"कहीं-कहीं श्रीशंकराचार्यजी ने अध्यास के जो उदाहरण दिए हैं वे हास्यजनक हैं। जैसे—

अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यंति।

तात्पर्य यह है कि मूर्ख लोग अप्रत्यक्ष आकाश द्रव्य में नीलेपन या मलिनता आदि का अध्यास कर लेते हैं। परंतु थोड़े से विचार से प्रकट हो जाता है कि इसको अध्यास मानने में श्रीशंकर स्वामी ने वाक्छल से काम लिया है।......एक ही वाक्य में पहले आकाश को एक अर्थ में प्रयुक्त करना और फिर दूसरे में एक ऐसी ग़लती है जिसकी आशा दार्शनिक-शिरोमणि श्रीशंकराचार्यजी की पुस्तकों में नहीं हो सकती। परंतु यह दुर्भाग्य है कि उनका भाष्य ऐसे हेत्वाभासों से भरा पड़ा है।"

शंकर का वाक्छल बताना उपाध्यायजी की उदारता ही है, वस्तुतः शंकर में छल और हेत्वाभासों की हस्ती ढूँढने पर भी नहीं मिलेगी। प्रस्तुत उदाहरण में शंकर आकाश से एक ही द्रव्यात्मक अर्थ का ग्रहण करते हैं, उपाध्यायजी की तरह दो अर्थ नहीं। दर्शनशास्त्र के अनुसार आकाश की गणना नौ द्रव्यों में है, वही आकाश शंकर को ग्राह्य है। उस आकाश में रूप कहीं नहीं है, क्योंकि रूप पृथिवी, जल, तेजमात्रवृत्ति है। जो बच्चे आकाश के इस स्वरूप को नहीं जानते, उनसे यदि यह कहो कि आकाश नीला नहीं है, तो वे हठ करेंगे कि नहीं आकाश नीला ही है। यह दृढ़ धारणा ही अध्यास है जिसका शंकर के उदाहरण में ज़िक्र है। उपाध्यायजी के ही शब्दों में 'बिचारे साधारण मनुष्यों को तो सर्वव्यापी निराकार आकाश का ज्ञानमात्र भी नहीं है', फिर वे इस ऊपरी वस्तु को आकाश जानते हुए आकाश को निश्चय नीला समझने की भूल करेंगे या नहीं? यही अध्यासकृत भूल है। जो सच्चे आकाश को जानते हैं वे भाषा के मुहाविरे के लिये भले ही कह दें कि 'आकाश नीला है' पर ज्योंही उनसे फिर पूछा जायगा—'क्यों जी, क्या सचमुच आकाश का रंग नीला है?' तो वे निश्चय यही कहेंगे—नहीं आकाश का तो कोई रंग नहीं, पर यह ऊपर वैसे ही नीला-नीला दीखता है।' परंतु बच्चे ऐसा नहीं कहेंगे, उनका फिर जवाब यही होगा कि हाँ, आकाश नीला ही है। बच्चों की तरह ही और भी अनजान लोगों में आकाश के विषय में ऐसी ही धारणा होगी। उपाध्यायजी को यह ध्यान रखना चाहिए था कि शंकर ने अज्ञों की ही बात कही है। और आप जो यह कहते हैं कि 'जो

ऊपर दीखता है उसको तो शंकर स्वामी भी नीला ही कहेंगे', यह आपकी ज़बरदस्ती है। शंकर उसे नीला किस जन्म में कहने आएँगे, शंकर तो साफ़ कह रहे हैं कि आकाश में कहीं नीलिमा नहीं है। उसे नीला समझना बच्चों की भूल है। शंकराचार्य ऊपर की नीलिमा का कारण बता सकते थे, उसे वे आकाश में कभी अध्यसित नहीं करते।

अविद्यावद्विषयाणि आदि लंबा अवतरण देकर उपाध्यायजी ने ६७५ पृष्ठ पर शंकर की जो भूल दिखलाई है वह यदि वास्तव में भूल होती, तो हम कह उठते कि शंकर का दिमाग़ बिगड़ गया था। उपाध्यायजी कहते हैं—"जो पढ़े-लिखे पुरुष हैं अर्थात् जिनका मस्तिष्क विकसित हो चुका है, परंतु जिन्होंने श्रीशंकराचार्यजी के ग्रंथ नहीं पढ़े, उनको कभी विश्वास न होगा कि यह कथन श्रीशंकराचार्य जैसे धुरंधर विद्वान् का है। परंतु हम शोक और लज्जा से कहते हैं कि यह न केवल शांकर-भाष्य का ही अवतरण है, किंतु ऐसे स्थान से लिया गया है, जो समस्त भाष्य की जान है अर्थात् 'चतुःसूत्री' पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे पृ० ६७५ पर इस प्रकरण को अवश्य पढ़ें। उस सारे विवाद को यहाँ उद्धृत न करके हम उसका खंडन-मात्र देते हैं।

दर्शन-शास्त्र के जाननेवाले प्रत्येक सज्जन को इससे मार्मिक दुःख होगा कि उपाध्यायजी ने विवेक शब्द के दार्शनिक अर्थ न लेकर साधारण बोलचाल के अर्थ ले लिये हैं। विवेक से शंकर का अभिप्राय आत्म-अनात्म की पहचान से है। शंकर ने वि पूर्वक विच् धातु का इसी अर्थ में अत्यंतविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोः यह प्रयोग भी किया है। शंकर के उदाहरण ने उनके अर्थ की स्पष्टि के विषय में संदेह छोड़ा ही नहीं। शंकर की कोटियाँ सुनिए—

(१) पशु में मनुष्य की भाँति आत्मा है।
(२) पशु के ऊपर कोई डंडा लेकर चला।
(३) डंडे की चोट शरीर को लगेगी, आत्मा को डंडा स्पर्श नहीं करता।
(४) पर तो भी भयभीत हो पशु भागते हैं।
(५) उन्हें आत्मा और अनात्म शरीर का विवेक (भेद-ज्ञान) नहीं है।
(६) इसलिये पशु अविवेकी हैं।

दूसरा उदाहरण—

पशु में आत्मा है।

पशु को कोई घास खिलाने चला।

पशु उसकी तरफ़ लपकता है, यद्यपि घास से आत्मा की कुछ तृप्ति नहीं, क्योंकि घास से पुष्टि देह का धर्म है।

इस प्रकार पशु को आत्म-अनात्म का विवेक नहीं। अतएव पशु अविवेकी हैं।

मनुष्य भी अपने विषय-कृत व्यवहारों में ऐसी ही अविवेकपूर्ण दशा में प्रवृत्त होते हैं।

इसलिये मनुष्य और पशुओं के इन व्यवहारों में कुछ विशेषता नहीं है, ये दोनों ही अविवेककृत अर्थात् आत्मानात्मभेदज्ञान-शून्यता जन्य हैं। शंकर ने शंखध्वनि की है—

पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरो व्यवहारः। तत्सामान्यदर्शनाद् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते।

पशुओं का अविवेक-कृत व्यवहार प्रसिद्ध ही है। यद्यपि मनुष्य व्युत्पन्न बुद्धिवाले हैं, तथापि प्रत्यक्षादि व्यवहार उनके भी पशुओं के समान ही आत्मज्ञान-शून्य दशा में हो रहे हैं। कितनी स्पष्ट और सरल बात थी, विवेक शब्द के ठीक अर्थ न लेकर उपाध्यायजी ने तिल की ओट पहाड़ दिखा दिया।

उपाध्यायजी हरी घास की ओर दौड़ने को पशुओं का विवेक समझते हैं, क्योंकि उनके मस्तिष्क में विवेक के साधारण अर्थ हैं, पर शंकर दार्शनिक विचार से इस व्यवहार को भी अविवेक (non-apprehension of the difference self and non-self) कहते हैं।

अब आपको विचारना चाहिए कि शंकर में न कहीं वाक्छल है और न शंकर को पढ़कर 'शोक और लज्जा' मनाने की ज़रूरत है। विवेक माने आत्मा की पहचान के हैं, पशु कभी विवेकी नहीं हो सकते, वह योनि ही अविवेक की है। मनुष्य-योनि व्युत्पन्न बुद्धिवाली है, अतः मनुष्य चाहें तो विवेकी बन सकते हैं, पर सामान्यतया देखा जाता है कि वे भी अविवेक पुरःसर ही व्यवहार करते रहते हैं।

अब एक उपाध्यायजी की कोटि-कल्पना भी देखिए। "हम यहाँ अपनी ओर से एक युक्ति देते हैं जो ऊपर दी हुई शांकर-युक्ति के सर्वथा समान है। भेद केवल इतना है कि उस पर शंकर महाराज की छाप है।

(१) मोहन पागल है।

(२) अतः उसके सब काम पागलपन के हैं।

(३) वह मुँह से रोटी खाता है।

(४) अतः उसका यह काम भी पागलपन का हुआ।

(५) मैं भी मोहन के समान ही मुँह से रोटी खाता हूँ।

(६) अतः मैं भी पागल हुआ।

जिस प्रकार आप इसको ठीक नहीं मान सकते इसी प्रकार मैं भी शंकराचार्यजी की युक्ति को नहीं मान सकता।" यहाँ उपाध्यायजी ने क्या विकट भूल की है। ज़रा उपाध्यायजी के तीसरे अंक के सामने 'वह मुँह से रोटी खाता है' की जगह ऐसा कर दीजिए—'वह पत्थर लेकर मारने दौड़ता है', फिर देखिए आप भी निश्चय ही पागल हो जाते हैं, या नहीं। वह मुँह से रोटी खाता है यह ऐसा धर्म है जो पागलपन के पहले भी मोहन में था, अतएव पागलपन से जिसका कोई संबंध नहीं है उसको लिखकर उपाध्यायजी हेत्वाभास रचते हैं और शंकर के साथ उसकी तुलना करते हैं। शंकर की युक्तियों में पशु और मनुष्य का अविवेक-कृत व्यवहार बिलकुल समान ही है। डंडे से भागना और घास की ओर लपकना दोनों अविवेक-जन्य हैं। शंकर ने उपाध्यायजी की तरह एक भी ऐसा उदाहरण नहीं दिया जो अविवेक-कृत न हो। शंकराचार्य ने प्रकांड दार्शनिक की तरह अध्यात्म-विषय का विचार करते-करते तर्क की सीमा निर्धारित कर दी है। अवश्य ही एक स्थान ऐसा आता है जहाँ प्रत्यक्ष ही नहीं अनुमान प्रमाण भी हार जाता है। इसी को अंग्रेज़ी में limitations of human knowledge कहेंगे। अध्यात्म की दृष्टि से यही अपरा विद्या की चरम सीमा है जिसके आगे परा का क्षेत्र शुरू होता है। इसी लिये उपनिषदों में ऋक्, यजु, साम सबको अपरा की कोटि में रखकर परा से नीचे रखा गया है। ईश्वर-सिद्धि में जहाँ तर्क हार जाती है, वहाँ फिर किसको प्रमाण बनाएँगे? यह एक बड़ा प्रश्न है। Limits of the Knowable अर्थात् ज्ञेय-सीमा से आगे अज्ञेय अर्थात् unknowable के क्षेत्र में स्वानुभूति के अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है। तर्क की कोई सीमा, प्रतिष्ठा या अवस्थिति नहीं। कितना भी बड़ा त्रिकवादी हो अद्वैतवादी से हार सकता है। इसी तरह अद्वैतवादी भी अपने से श्रेष्ठ तार्किक के आगे चुप हो जायगा जैसा कि विद्वन्मोदतरङ्गिणी में दिखाया गया है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र के लिये बड़ा भारी अनवस्था रूप दोष आ जाता है। शंकर ने इसी से उद्धार करने के लिये सच्चे दार्शनिक की भाँति दोनों पक्षों को विवृत किया। जहाँ तक शब्द साथ दे सकते हैं, अर्थात् नामरूपात्मक पदार्थों के वाचक शब्दों से जहाँ तक संतुष्टि हो सकती है, वहीं तक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की गति है। जहाँ वाणी की भी गति अवरुद्ध हो जाती है, वहाँ तर्क का द्वार भी बंद हो जाता है। उस अवस्था के लिये, जो दार्शनिक विमर्ष की उच्चातिउच्च अवस्था है, गुरु की वाणी, आप्तवाक्य और स्वानुभव का ही एकमात्र अवलंबन रह जाता है। श्रुति का अधिक मूल्य वेदांत में इसी लिये है क्योंकि उनमें सत्य को प्रत्यक्ष देखनेवाले ऋषियों के अनुभव उपनिबद्ध हैं। महामना तिलक की सम्मति में अध्यात्म-शास्त्र का कोई ग्रंथ कभी उपनिषदों से आगे नहीं जा सकता इसका क्या कारण है? उपनिषदों में तर्क और प्रमाणों को पीछे छोड़ दिया गया है। ऋषि कहता है—'मैंने ऐसा देखा है, तुम भी देख सकते हो।' तर्क की भाषा सीमित है, अनुभव अनंत है। शंकर ने अनंत अद्वैततत्त्व की प्राप्ति का उपाय भी अनंत ही रख दिया है। इस सीधी बात पर भी उपाध्यायजी ने व्यर्थ का आडंबर रचा है। उपाध्यायजी की तर्क ही क्या ऐसी पुष्ट है कि वह नहीं कट सकती? किसी प्रबल तार्किक की परख में अपनी तर्क के ओछी उतरने पर क्या उपाध्यायजी त्रिक को भ्रांत मान सकते हैं? तर्क दोलायमान कर सकती है, तर्क अवाक् कर सकती है, वह बुद्धि को अपना बंदी बना सकती है, परंतु हृदय के लिये ज्ञान का अपनी आत्मा में अनुभव करना ही एकमात्र संतुष्टि का उपाय है। साथ ही यह भी है कि सर्वत्र हम तर्क को धता नहीं बना सकते। कुछ विषय ऐसे हैं जिनमें तर्क की प्रतिष्ठा है ही। उपाध्यायजी को अविद्यावद्विषय शब्द से बड़ा भ्रम उत्पन्न हुआ है। वे कहते हैं—"आपकी मोक्ष-विद्या या ब्रह्म-विद्या तो सच है। फिर उसमें अविद्यावत् शास्त्रों का कैसे प्रमाण मानते हो?" यह बात कितनी स्पष्ट है कि शंकर की अविद्या की परिभाषा के अनुसार स्वयं उपाध्यायजी, उनका खंडन, हमारा समाधान, स्वयं शंकर, उनका

भाष्य, बादरायण और शारीरिक सूत्र सब ही विकारी, नाशवान् और अविद्यावद-विषयवाले हैं। शंकर का और बादरायण का वेदांत-विषय पर लिखना सब लौकिक व्यवहार है, अतः उनको जगत् में से उदाहरण देने और लोक के दृष्टांत रखने में कोई भी बाधा नहीं पहुँचा सकता। उपाध्यायजी ने कहने में कोई कसर नहीं रक्खी है। आपके विचार में रामानुज और निंबार्क ने भी शंकर की बहुत-सी हेत्वाभास भरी बातों को बिना परीक्षा के ही चुपचाप तद्वत् मान लिया। जो व्यक्ति यह समझता हो कि शंकर के समय से आजतक मैंने ही पहले-पहल शंकर की समीक्षा की है, उसकी लेखनी से ऐसे विचार प्रसूत हों, तो क्या आश्चर्य, यथा—"परंतु श्रीशंकराचार्यजी की असाधारण विद्वत्ता ने लोगों के दिलों पर ऐसा सिक्का जमा दिया था कि वह उनके मत का विरोध करते हुए भी स्वतंत्रतया विचार नहीं कर सके। या उनको शांकर-भाष्य के उन स्थलों की सत्यता या असत्यता के जाँचने की आवश्यकता प्रतीत न हुई, जहाँ वह शांकर-मत के विरोधी न थे।"

अपने पूर्ववर्ती समस्त दार्शनिक-समुदाय पर इस प्रकार का लांछन लगाना इस देश की प्रथा के अनुकूल तो है नहीं। उपाध्यायजी ने तो शांकर-भाष्य की 'जान या बुनियादी पत्थर' अर्थात् 'चतुःसूत्री' में से ही शंकर के वाक्छल पकड़े हैं। फिर वे कौन से स्थल हैं जिनको बिना विरोध के सहमत होकर लोग मानते रहे और उनके सत्यासत्य की जाँच नहीं की। 'यदि चतुःसूत्री' की भी जाँच नहीं की गई, तो इसके माने ये हैं कि लोग शंकर के मूल-सिद्धांतों को बिना सोचे-विचारे ही मानते चले आये!

चलते-चलते उपाध्यायजी ने पाल डॉयसन का नाम भी लिया है और उसके ग्रंथ में से दो लंबे अवतरण भी दिए हैं। डॉयसन की लीला विचित्र है, हम पाठकों को उसका रहस्य बताना चाहते हैं। डॉयसन ने वेदांत-सूत्रों का शांकर-भाष्य पढ़कर देखा। शांकर-भाष्य की एक विशेषता यह है कि उसमें जगह-जगह उपनिषदों के उद्धरण दिए गए हैं। कभी-कभी जहाँ हमें तर्क की आशा होती है, वहाँ भी शंकर निर्णय के लिये उपनिषद् का अवतरण देकर आगे बढ़ जाते हैं। डॉयसन का पश्चिमी दिमाग़ आगम प्रमाण को इतना महत्त्व क्यों देने लगा? प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणों का श्रुति से नीचे की कोटि में रक्खा जाना, बल्कि उनकी अव-हेलना होना भी, डॉयसन को अच्छा न लगा। उसका यह साहस तो हुआ नहीं कि उपाध्यायजी की तरह शांकर-भाष्य को वेदांत-सूत्रों का ठीक अर्थ करने-वाला न माने (जैसा कि उपाध्यायजी कहते हैं कि व्यास ने प्रत्यक्ष अनुमान को माना है, शंकर ने नहीं माना), इसलिये डॉयसन ने वेदांत-सूत्रों को ही उपनि-षदों का सच्चा प्रतिनिधि मानने से इनकार कर दिया। उसने यह मत प्रकट किया कि उपनिषदों के दार्शनिक विचारों का व्याख्यान बादरायण के सूत्रों के अतिरिक्त स्वतंत्र रीति पर करना चाहिए। डॉयसन ने सोचा वेदांत कैसा दर्शन, इसमें तो ज्ञान-उपलब्धि के स्वाभाविक साधनों प्रत्यक्ष और अनुमानादिक को ही मानने से इनकार है। दर्शनकार चला है ज्ञान करने पर उसे तो अपने प्राथमिक साधनों का भी पता नहीं; इस गड़बड़ी को देखकर डॉयसन ने लिख मारा कि "इस बात के (स्वाभाविक साधनवाली) समझने के लिये मस्तिष्क का जो विकास चाहिए, वह वेदांत में नहीं मिलता। वेदांत में तो इस कठिनाई से बचने के लिये दार्शनिक प्रमाणों के बजाय श्रुति का सरल-सा मार्ग ढूँढ़ लिया गया है।" डॉयसन की समझ में वेदांत-दर्शनकार प्रमाणों से भागते हैं, उनका दर्शन फ़िलासफ़ी की जगह थ्यौलाजी बन गया है।

'मुखमस्तीति वक्तव्यम्' वाली बात है। भला भारतवर्ष की जलवायु में रहकर कोई यह भी कहेगा कि प्रमाणों के समझने के लिये जो मस्तिष्क का विकास चाहिए वह वेदांत में नहीं मिलता? यहाँ भी उपनिषद्-विद्या के जाननेवाले बहुतेरे हो गए, वेदांत-सूत्रों के टीकाकार अनेक हुए, परंतु आज तक किसी ने यह कहने का साहस नहीं किया कि वेदांत-सूत्र उपनिषदों के सच्चे प्रतिनिधि नहीं हैं। न शंकराचार्य और न बादरायणाचार्य ही, प्रमाणों से दोनों नहीं घबड़ाते, पर दोनों ने ही अध्यात्म-विषय में स्वानुभूति और श्रुति से प्रत्यक्ष अनुमान को नीचे रक्खा है। उपनिषद्विद्या अध्यात्म-विषय का मथा हुआ घी है। केवल नास्तिकों के लिये शंकर की तर्क थी आस्तिकों के लिये जहाँ उन्हें निकला हुआ घी मिला, वहाँ शंकर तर्क के पचड़े में नहीं पड़े।

लेख बड़ा हो गया है इसके लिये पाठकों से क्षमा-प्रार्थना है। सबसे अधिक क्षमा हमको पंडित गंगाप्रसादजी उपाध्याय से माँगनी है। हमने भरपूर संयत-भाषा लिखने की चेष्टा की है, तिस पर भी यदि कहीं कुछ उग्र लिख गया हो, तो उपाध्यायजी हमें क्षमा दान दें, क्योंकि हमारे मन में उपाध्यायजी के प्रति बहुत आदर है।

वासुदेवशरण अग्रवाल

वधिक से

बाँध कर कोमल सरस स्वर-लहरी यों
जादू डालते हो मेरे तन मन ध्यान पर
दीन बनचारी तृणाहारी भोलेभाले मृग
देवें उपहार क्या ? तुम्हारे कलगान पर
'कौशलेंद्र' छलिया बड़े हो तुम्हें जानता हूँ
बात है तुम्हारी यह मेरे प्यारे प्रान पर
मार डालना परन्तु नेक रुक जाओ अभी—
मरने मुझे दो ! बीनवाले मृदुतान पर

(२)

शीत के कसाले सहे पाले पर पाले सहे
आतप के काले-काले छाले से हैं तन में
लेते रहे सिर पै घनों की वारि-धारा हम
घोर दुख पाते रहे संतत विजन में
'कौशलेंद्र' आँख आँखवालों से बचाते रहे
डरते रहे सदा हवा की सनसन में
दूब दशनों में लिये दया के भिखारी रहे
तो भी हाय ! तनिक दया न आई मन में

(३)

मरते सभी हैं हमें डर मरने का नहीं
मारकर हमको न आप कुछ पायँगे
होगा अपकार रम जायगा कुरंग कुल
जग में कभी न तुम्हें भोले पतिआयँगे
'कौशलेंद्र' हमें बस शोक इतना है, जब—
प्यारे मृग खोज में हमारी यहाँ आयँगे
सूनी विपिनस्थली विलोकि दूनी होगी व्यथा
उर भर आयँगे नयन झर लायँगे

(४)

बेधते हो कोमल कलों को बिष बाण से तो
बेध दो ! दया न मन में तनिक लाना तुम
अब न दुखाना कभी दिल दुखियों का तथा
आज से कभी न यहाँ बीन भी बजाना तुम
'कौशलेंद्र' लेकर हमारी मृत-देह जब
जाना घर को तो यह भूल मत जाना तुम
प्यार करते थे हमें रसिक सुजान हाय—
इन अँखियों को खूब उनसे छिपाना तुम

कौशलेंद्र राठौर

कालिदास की रचना-शैली में अनुकरण

विश्व के साहित्य में जितने महाकवि हुए हैं और जो माता के गर्भ से ही विश्वतोन्मुखी प्रतिभा लाए हैं; उनको भी अपनी रचना में पूर्ववर्ती रचनाओं का आश्रय लेना पड़ता है। किंतु छायारूपी नींव पर अपने प्रतिभा-बल से जो विशाल कवित्व-भवन का निर्माण करते हैं, वे ही 'महाकवि पद' के अधिकारी होते हैं। स्वयं आदिकवि की रचना में ही वैदिक रचना की झलक है। विश्व-विख्यात महाकवि कालिदास के ग्रंथों में भी पूर्व रचनाओं का प्रतिबिंब है। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कालिदास से प्रथम आदिकवि की रामायण, व्यास-विरचित महाभारत, पुराण तथा भास आदि के नाटक थे। यह दूसरी बात है कि वर्तमान समय में उक्त ग्रंथ परिवर्द्धित रूप में हों। उक्त ग्रंथों में कालिदास ने मुख्यतया रामायणीय रचना का अनुकरण किया है यद्यपि, आदिकवि की रचना-शैली को आदर्श रख महाकवि कालिदास साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए, तथापि, उन्होंने साहित्य-जगत् में युगांतर उपस्थित कर दिया। संस्कृत-साहित्य का वह भाग निराला ही है, जिसमें कालिदासीय कृति की छाप लगी हुई है। अतः यह किसी को कहने का साहस नहीं हो सकता है कि कालिदासीय रचना में पुराने ही भाव हैं। उसमें मौलिकता नहीं।

भाषा का अनुकरण

कालिदास के समय में संस्कृत और प्राकृत दोनों

भाषाएँ थीं। शिक्षित समाज तथा राज-दरबार में संस्कृत ही व्यवहृत होती थी। सर्वसाधारण की भाषा प्राकृत थी। कालिदास के श्रव्य काव्य केवल संस्कृत में हैं। पर दृश्य काव्यों में मिश्र रचना अर्थात् संस्कृत और प्राकृत दोनों हैं। कालिदास ने भाषा-शैली का आदर्श आदिकवि की भाषा का रक्खा है। संस्कृत-भाषा की रचना देश-विभागों से विभक्त है। मालूम होता है कि विदर्भ देशवालों की रचना और प्रकार से होती रही होगी और गौड़ देशवालों की और प्रकार से। इसी तरह भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भाषा-विपर्यय देखकर उत्तरकालीन अलंकार-शास्त्रियों ने गौड़ी, लाटी, पांचाली और वैदर्भी रीतियाँ निर्धारित की हैं। साहित्य-शास्त्रियों ने आदिकवि की रचना में वैदर्भी रीति निश्चित की है। आदिकवि की भाषा मधुर, प्रांजल तथा कोमल है। कठिनता का लेश नहीं और न लंबे समासों की भरमार है।

दण्डी ने वैदर्भी रीति का लक्षण इस प्रकार किया है 'बंधपारुष्यरहिता शब्दकाठिन्यवर्जिता। नातिदीर्घ समासा च वैदर्भी रीतिरिष्यते" अर्थात् जिसमें कठिन शब्द न हों, लंबे समास न हों तथा रचना में कोमलता हो, उसको वैदर्भी रीति कहते हैं। कालिदास ने भी सर्वत्र अपनी रचना में वैदर्भी रीति को अक्षुण्ण रक्खा है। पाठक कह सकते हैं कि कालिदास ने भाषा-सारल्य अथवा प्रसाद गुण में आदिकवि के पदांकों का अनुसरण किया है। किंतु वह अपनी रचना में आदिकवि की अपेक्षा अधिक तथा दीर्घ समासों का प्रयोग करते हैं। पर इसका कारण यह है कि कालिदास छंदोरचना में आदिकवि का अनुकरण नहीं करते हैं। उनकी रचना में अनुष्टुप् वृत्त न्यून हैं। दीर्घ वृत्त अधिक हैं। दीर्घ वृत्तमयी रचना होने के कारण उन्हें दीर्घ समासों का सहारा लेना पड़ता है। पर दोनों कवियों ने जहाँ अनुष्टुप्वृत्त में ही कविता की है। वहाँ दोनों कवियों की भाषा में कितना सादृश्य है। यह निम्न-लिखित उदाहरणों में देखिए—

> सर्वान् समागतान् दृष्ट्वा सीता काषायवासिनी
> अब्रवीत् प्रांजलिर्वाक्यमधोदृष्टिरवांमुखी।
> यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये
> तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हसि।
>
> रामायण

> अथ वाल्मीकिशिष्येण पुण्यमावर्जितं पयः,
> आचम्योदीरयामास सीता सत्यां सरस्वतीम्।
> वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे,
> तथा विश्वम्भरे देवि! मामन्तर्धातुमर्हसि।
>
> रघुवंश

आलङ्कारिकों ने वीर, रौद्र और वीभत्स रस में 'ओज' गुण का होना आवश्यक माना है। मध्यकालीन कवि ओज गुण के अभिव्यंजन के लिये उद्धत अक्षरयुक्त दीर्घतर समासों का प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिये जैसे भट्टनारायण के निम्न-लिखित पद्य में रेखाङ्कित पदों में उद्धत अक्षरयुक्त दीर्घ समास है।

> चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
> संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य
> स्त्यानावनद्धघनशोणितशोण-पाणि
> रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः

आदिकवि उक्त रसों में भी उद्धत अक्षरयुक्त दीर्घसमासों का प्रयोग नहीं करते। पर विकट अर्थ प्रतिपादक पद-संदर्भ से पर्याप्त ओज गुण उनकी रचना में झलकता है। आदिकवि ने अपनी रचना में सर्वथा बंध-पारुष्य (रचना की कठोरता) नहीं आने दिया है। पाठक, रामायण का युद्ध-कांड देखें। उक्त रसों का बाहुल्य इस कांड में है। नीचे लिखा हुआ पद्य रौद्र रस का है। रामचंद्र ने कुंभकर्ण की भुजा को पैने बाणों से काट डाला है। कुंभकर्ण क्रुद्ध होकर साल वृक्ष को उखाड़ता है और राम के ऊपर आक्रमण करता है।

> स कुम्भकर्णोऽस्त्रनिकृत्तबाहु-
> र्महानिकृत्ताग्र इवाचलेन्द्रः;
> उत्पाटयामास करेण वृक्षं,
> ततोऽभिदुद्राव रणे नरेन्द्रम्।

रौद्र रस होने पर भी यहाँ भीषण समास-राशि नहीं है। यही बात निम्न-लिखित वीर रस के छंदों में भी है। विभीषण राम को रावण के पुत्रों का परिचय करा रहे हैं—कि—देखो जिनके रथ पर सिंह की ध्वजा फहरा रही है, जो इंद्रधनुष् के समान चमकते हुए अपने धनुष् को टंकोर रहे हैं और जिनके दाँत हाथी के समान फैले हुए हैं। उनका नाम इंद्रजित् है। संध्याकालीन मेघों से ढके हुए पर्वत के समान, तथा सोने के विविध आभूषणों से सजे

हुए घोड़े पर जो चढ़े हुए हैं और जो भाला को उठाकर गरज रहे हैं वे पिशाच हैं।

योऽसौ रथस्थो मृगराजकेतु-
धुन्वन् धनुः शक्रधनुः प्रकाशम्,
करीव भात्युग्रविवृत्तदंष्ट्रः,
स इन्द्रजिन्नाम वरप्रधानः।
योऽसौ हयं काञ्चनचित्रभाण्ड-
मारुह्य सन्ध्याभ्रगिरिप्रकाशम्,
प्रासं समुद्यम्य मरीचिनद्धं,
पिशाच एषोऽशनितुल्यवेगः।

महाकवि कालिदास भी रौद्र आदि रसों में दीर्घ समासों द्वारा विकट बंध नहीं होने देते हैं। निम्नलिखित कुमार-संभव के पद्यों का मुलाहिज़ा कीजिए। कुमार स्वामिकार्त्तिक युद्ध में तारकासुर के वचनों को सुनकर क्रुद्ध होते हैं। क्रोध से उनके ओंठ फड़क रहे हैं। मुख और आँखें विकसित कोकनद के समान अरुण हो गई हैं। धनुष् को देखते हुए और अपनी शक्ति का अंदाज़ा करते हुए बोले कि दैत्याधिराज, अभिमान से जो कुछ आपने कहा है, वह उचित ही है। अब तुम्हारे श्रेष्ठ भुज-बल को देखूँगा। शस्त्र ग्रहण कीजिए और धनुष् पर प्रत्यञ्चा (डोरी) चढ़ाइए।

इत्थं निशम्य वचनं युधि तारकस्य,
कम्प्राधरो विकचकोकनदारुणास्यः;
शोभातिलोचनसुतो धनुरीक्षमाणः,
प्रोवाच वाचमुचितां परिमृश्य शक्तिम्।
दैत्याधिराज भवता यदवादि गर्वा—,
त्तत्सर्वमप्युचितमेव तथैव किंतु;
प्रष्टास्मि ते प्रवरबाहुबलं वीरष्ठं,
शस्त्रं गृहाण कुरुकार्मुकमाततज्यम्।

मालूम होता है कि भीषण समास-घटित कृत्रिम भाषा का कालिदास के समय के पश्चात् प्रचार हुआ है।

छाया अथवा भावों का ग्रहण

आदिकवि के काव्य-जगत् में सभी चर-अचर सजीव हैं। उनकी भावनाएँ विश्व में व्याप्त हैं। मानवीय हृदय से पर्वत, पशु और पक्षियों की भी सहानुभूति है। निर्जन वन में अधम रावण राक्षस ने असहायिनी मैथिली का अपहरण किया है। मैथिली के करुण-क्रंदन से पर्वतों का भी हृदय हिल गया है। सीता के दुःख से वह भी दुखी हैं। उन पर जल-प्रपात जो होता है वह वे मानो अश्रु-मोचन कर रहे हैं। शिखररूपी भुजाओं को उठाकर मानो वह चिल्ला रहे हैं कि—मैथिली को रावण हरे लिये जा रहा है।

जल-प्रपातास्रमुखाः शृङ्गैरुच्छ्रितबाहवः।
सीतायां ह्रियमाणायां विक्रोशन्तीव पर्वताः।

सखी की भाँति मैथिली को मूर्च्छित देखकर कमलिनियों के कमल-मुख फीके पड़ गए और मीन-नयन व्याकुल हो गए। इस तरह कमलिनियाँ भी मैथिली के लिये शोक करती थीं।

नलिन्यो ध्वस्तकमलाः त्रस्तमीनजलेचराः;
सखीमिव गतोच्छ्वासामन्वशोचन्त मैथिलीम्।

कालिदास ने आदि-कवि दर्शित पद्धति का अनुकरण किया है। उनके काव्यों में भी प्रकृति चेतन है। राम-परित्यक्त सीता जब अरण्य में रुदन करती हैं तब मयूर नृत्य छोड़ देते हैं, हरिणियाँ मुख से चबाए हुए कुशों को त्याग देती हैं और वृक्ष कुसुमों को छोड़ देते हैं। इस तरह मानो समग्र वन मैथिली के दुख से दुखी हो रो देता है।

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षाः,
दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः;
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभाव-
मत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि।

रामायण में सुंदरकांड की कविता अत्यंत मधुर और हृदय ग्राहिणी है। उसमें विप्रलम्भ शृंगार का खूब ही परिपाक हुआ है। जिसे पढ़कर वज्र-हृदय भी द्रवीभूत हो जाते हैं। मालूम होता है कि सुंदरकांड कालिदास को अत्यंत प्रिय था। उन्होंने उसे अत्यंत आदर के साथ निरंतर अनुशीलन किया था। तत्फलस्वरूप मेघदूत की कृति है। जो जगत् के साहित्य में अतुलनीय है। श्रीहनुमान् रामचंद्र का संदेश लेकर जब समुद्र को कूदे हैं तब वह यकायक प्रथम आकाश को उड़ गए हैं। आदिकवि ने उनकी उपमा मेघ से दी है। 'बभौ मेघ इवाकाशे विद्युद्गणविभूषितः' इस पद्यार्ध से उनके मस्तिष्क में मेघ के संदेश-वाहक बनाने की कल्पना जागृत हुई होगी। वियोग-व्यथित रामचंद्र के समान विरही यक्ष की कल्पना की है। विरहिणी यक्षपत्नी के रूप में राघव विरह-विधुरा मैथिली का प्रतिबिंब अंकित किया है। आदिकवि मैथिली का चित्र इस प्रकार खींचते हैं कि—विपत्ति-परंपराओं से पीड़ित मैथिली की शोभा

पाले से मारी हुई कमलिनी की भाँति क्षीण हो गई है। तथा वह चक्रवाक-रहित चक्रवाकी के समान शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो गई है।

हिमहतनलिनीव नष्टशोभा व्यसनपरम्परयातिपीड्यमाना।
सहचररहितेव चक्रवाकी जनकसुता कृपणां दशां प्रपन्ना।

कालिदास भी यक्ष-मुख से उसकी पत्नी की दमनीय अवस्था इस भाँति कहलवाते हैं कि—वह मेरा द्वितीय जीवन है, ऐसा समझो। उसका सहचर मैं दूर हूँ। वह चक्रवाकी की भाँति अकेली होगी। इन विरह-दिवसों में उत्कण्ठा बढ़ रही होगी। शिशिर ऋतु में नष्ट कमलिनी की भाँति उसकी दशा हो गई होगी।

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं,
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां विरहदिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां,
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्।

रामायण में हनुमान के सन्निकट जाने पर सीता के वाम नेत्र के स्फुरण का वर्णन इस तरह है कि—सुंदर केशवाली सीता का श्वेत, श्याम तथा अरुण नेत्र—जिसमें घनी बरुनियों की पंक्ति है—मीन-क्षुभित कमल की भाँति फड़क उठा।

"तस्याः शुभं वाममरालपक्ष्मराज्यावृतं कृष्णविशालशुक्लम्"
प्रास्पन्दतैकं नयनं सुकेश्या मीनाहतं पद्ममिवाभिताम्रम्।

मेघदूत में भी वर्णन है कि—मृगनयनी (यक्षपत्नी) का नेत्र तुम्हारे (मेघ) समीप होने पर मीन-ताड़ित कमल की शोभा को धारण करेगा। इसी स्थल पर सीता के ऊरु-स्पन्दन के समान मेघदूत में यक्ष-पत्नी के ऊरुस्पन्दन का वर्णन है।

गजेन्द्रहस्तप्रतिमश्च पीनस्तयोर्द्वयोः संहतयोः सुजातः।
प्रस्पन्दमानः पुनरूरुरस्या रामं पुरस्तात्स्थितमाचचक्षे।

रामायण

यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम्।

मेघ—

दोनों में अंतर इतना ही है कि वाल्मीकि ऊरु को हाथी के सूँड़ के समान वर्णन करते हैं और कालिदास सरस कदली के खंभे की तरह। आदिकवि के काव्य को कालिदास ने ऐसा मनन किया है कि उनके हृदय में आदि-कवि के भाव जम गए हैं। कविता के समय में कभी-कभी मानो उन्होंने यह अनुभव ही नहीं किया कि यह भाव आदि-कवि का है। कालिदास ने रघुवंश * में रघु के शय्या त्यागने का वर्णन इस भाँति किया है कि—चारणों के जगाने पर रघु ने शय्या को इस तरह छोड़ा जैसे राजहंसों के जगाने पर सुप्रतीक गज गंगा के पुलिन को छोड़ता है। पर पाठक जान सकते हैं इस पद्य की रचना के समय आदि-कवि के इस पद्य का 'गांगे महति तोयान्ते प्रसुप्तमिव कुञ्जरम्' भाव वासनान्तर्विलीन अवश्य था। इन उदाहरणों से भलीभाँति सिद्ध होता है कि कालिदास ने कविता में आदिकवि को अपना गुरु माना है और उनके दर्शित मार्ग पर चले हैं। जिसमें उन्हें सफलता भी हुई है।

रामसेवक पांडेय

छेदि रहे हैं

आये पिया कर डारि गरे अति प्रीति भरे मृदु बैन कहे हैं,
रूप पै मैं मदमाती भई, झटक्यो, हटकी, न विचार गहे हैं;
जात उन्हें लखि व्याकुल प्रान कपोलन आँसुन धार बहे हैं,
कीन्ह जो मान भरे अभिमान हिये सोइ बान सों छेदि रहे हैं।

सोहनलाल द्विवेदी

दो सखियाँ

(गतांक से आगे)

काशी
१०—२—२६

प्रिय पद्मा, कई दिन तक तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा करने के बाद आज यह खत लिख रही हूँ। मैं अब भी आशा कर रही हूँ कि विनोद बाबू घर आगए होंगे, मगर अभी वह न आए हों और तुम रो रोकर अपनी आँखें फोड़े डालती हो तो मुझे ज़रा भी दुख न होगा। तुमने उनके साथ जो अन्याय

* इति विरचितवाग्भिर्बन्दिपुत्रैः कुमारः;
सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झाञ्चकार,
मदपटुनिनदद्भिर्बोधितो राजहंसैः;
सुरगज इव गाङ्गं सैकतं सुप्रतीकः।

किया है उसका यही दंड है ! मुझे तुमसे ज़रा भी सहानुभूति नहीं है। तुम गृहिणी होकर वह कुटिल क्रीड़ा करने चली थीं जो प्रेम का सौदा करनेवाली स्त्रियों को शोभा देता है। मैं तो जब खुश होती कि विनोद ने तुम्हारा गला घोंट दिया होता और भुवन के कुसंस्कारों को सदा के लिये शांत कर देते। तुम चाहे मुझसे रूठ ही क्यों न जाओ, पर मैं इतना ज़रूर कहूँगी कि तुम विनोद के योग्य नहीं हो। शायद तुम उस पति से प्रसन्न रहतीं जो प्रेम के नए-नए स्वाँग भरकर तुम्हें जलाया करता। शायद तुमने अंग्रेज़ी किताबों में पढ़ा होगा कि स्त्रियाँ छैले रसिकों पर ही जान देती हैं और यह पढ़कर तुम्हारा सिर फिर गया है। तुम्हें नित्य कोई सनसनी चाहिए, अन्यथा तुम्हारा जीवन शुष्क हो जायगा। तुम भारत की पतिपरायणा रमणी नहीं, योरप की आमोद-प्रिय युवती हो। मुझे तुम्हारे ऊपर दया आती है। तुमने अब तक रूप को ही आकर्षण का मूल समझ रखा है; रूप में आकर्षण है, मानती हूँ ; लेकिन उस आकर्षण का नाम मोह है, वह स्थायी नहीं, केवल धोखे की टट्टी है। प्रेम का एक ही मूल मंत्र है, और वह सेवा है। यह मत समझो कि जो पुरुष तुम्हारे ऊपर भ्रमर की भाँति मँडलाया करता है वह तुमसे प्रेम करता है। उसकी यह रूपासक्ति बहुत दिनों तक नहीं रहेगी। प्रेम का अंकुर रूप में है, पर उसको पल्लवित और पुष्पित करना सेवा ही का काम है। मुझे विश्वास नहीं आता कि विनोद को बाहर से थके-माँदे, पसीने में तर देखकर तुमने कभी पंखा झला होगा। शायद टेबुल-फ़ैन लगाने की बात भी तुम्हें न सूझी होगी। सच कहना मेरा अनुमान ठीक है या नहीं। बतलाओ तुमने कभी उनके पैरों में चप्पी की है ? कभी उनके सिर में तेल डाला है ? तुम कहोगी यह ख़िदमतगारों का काम है, लेडियाँ यह मरज़ नहीं पालतीं। तुमने उस आनंद का अनुभव ही नहीं किया। तुम विनोद को अपने अधिकार में रखना चाहती हो, मगर उसका साधन नहीं करतीं। विलासिनी मनोरंजन कर सकती है, चिरसंगिनी नहीं बन सकती। पुरुष के गले से लिपटी हुई भी वह उससे कोसों दूर रहती है। मानती हूँ रूपमोह मनुष्य का स्वभाव है, लेकिन रूप से हृदय की प्यास नहीं बुझती, आत्मा की तृप्ति नहीं होती। सेवाभाव रखनेवाली रूप-विहीन स्त्री का पति किसी स्त्री के रूप-जाल में फँस जाय तो बहुत जल्द निकल भागता है, सेवा का चस्का पाया हुआ मन केवल नख़रों और चोंचलों पर लट्टू नहीं होता। मगर मैं तो तुम्हें उपदेश करने बैठ गई, हालाँकि तुम मुझसे दो चार महीने बड़ी होगी। क्षमा करो बहन, यह उपदेश नहीं है। ये बातें हम, तुम, सभी जानते हैं, केवल कभी-कभी भूल जाते हैं। मैंने केवल तुम्हें याद दिला दिया है। उपदेश में हृदय नहीं होता लेकिन मेरा उपदेश मेरे मन की वह व्यथा है जो तुम्हारी इस नई विपत्ति से जाग्रत हुई है।

अच्छा; अब मेरी रामकहानी सुनो। इस एक महीने में यहाँ बड़ी-बड़ी घटनाएँ हो गईं। यह तो मैं पहले ही लिख चुकी हूँ कि आनंद बाबू और अम्माँजी में कुछ मनमुटाव रहने लगा है। वह आग भीतर ही भीतर सुलगती रहती थी। दिन में दो एक बार माँ-बेटे में चोंचें हो जाती थीं। एक दिन मेरी छोटी ननदजी मेरे कमरे से एक पुस्तक उठा ले गईं। उन्हें पढ़ने का रोग है। मैंने कमरे में किताब न देखी तो उनसे पूछा। इस ज़रा सी बात पर वह भलेमानस बिगड़ गईं और कहने लगी तुम तो मुझे चोरी लगाती हो। अम्माँ ने भी उन्हीं का पक्ष लिया और मुझे खूब सुनाईं। संयोग की बात अम्माँजी मुझे कोसने ही दे रही थीं कि विनोद बाबू घर में आगए। अम्माँजी उन्हें देखते ही और ज़ोर से बकने लगीं—बहू की इतनी मजाल ! यह तूने सिर चढ़ा रक्खा है और कोई बात नहीं। पुस्तक क्या उसके बाप की थी ! लड़की लाई तो उसने कौन गुनाह किया। ज़रा भी सब्र न हुआ, दौड़ी हुई उसके सिर पर जा पहुँची और उसके हाथों से किताब छीनने लगी।

बहन, मैं यह स्वीकार करती हूँ कि मुझे पुस्तक के लिये इतनी उतावली न करनी चाहिए थी। ननदजी पढ़ चुकने पर आप ही दे जातीं। न भी देतीं तो उस एक पुस्तक के न पढ़ने से मेरा क्या बिगड़ा जाता था। मगर मेरी शामत कि उनके हाथों से किताब छीनने लगी थी। अगर इस बात पर आनंद बाबू मुझे डाँट बताते तो मुझे ज़रा भी दुख न होता। मगर उन्होंने उलटे मेरा ही पक्ष लिया और त्योरियाँ चढ़ाकर बोले—किसी की चीज़ कोई बिना पूछे लाए ही क्यों ? यह तो मामूली शिष्टाचार है।

इतना सुनना था कि अम्माँ के सिर पर भूत-सा सवार

हो गया। आनंद बाबू भी बीच-बीच में फुलझड़ियाँ छोड़ते रहे। और मैं अपने कमरे में बैठी रोती रही कि कहाँ-से-कहाँ मैंने किताब माँगी। न अम्माँजी ही ने भोजन किया, न आनंद बाबू ने ही। और मेरा तो बार-बार यही जी चाहता था कि ज़हर खा लूँ। रात को जब अम्माँजी लेटीं, तो मैं अपने नियम के अनुसार उनके पैर दबाने गई। मुझे देखते ही उन्होंने दुत्कार दिया, लेकिन मैंने उनके पाँव पकड़ लिये। मैं पैताने की ओर तो थी ही, अम्माँजी ने जो पैरों ही से मुझे ढकेला तो मैं चारपाई के नीचे गिर पड़ी। ज़मीन पर कई कटोरियाँ पड़ी हुई थीं। मैं उन कटोरियों पर गिरी, तो पीठ और कमर में बड़ी चोट आई। मैं चिल्लाना न चाहती थी, मगर न जाने कैसे मेरे मुँह से चीख़ निकल गई। आनंद बाबू अपने कमरे में आ गए थे, मेरी चीख़ सुनकर दौड़ पड़े और अम्माँजी के द्वार पर आकर बोले—क्या उसे मार डालोगी हो क्या अम्माँ। अपराधी तो मैं हूँ, उसकी जान क्यों ले रही हो! यह कहते हुए वह कमरे में घुस आए और मेरा हाथ पकड़कर ज़बरदस्ती खींच ले गए। मैंने बहुत चाहा कि अपना हाथ छुड़ा लूँ पर आनंद ने न छोड़ा। वास्तव में इस समय उनका हम लोगों के बीच में कूद पड़ना मुझे अच्छा नहीं लगता था। वह न आ जाते, तो मैंने रो-धोकर अम्माँजी को मना लिया होता। मेरे गिर पड़ने से उनका क्रोध कुछ शांत हो चला था। आनंद का आ जाना ग़ज़ब हो गया। अम्माँजी कमरे के बाहर निकल आईं और मुँह चिढ़ाकर बोलीं—हाँ, देखो मरहम-पट्टी कर दो, कहीं कुछ टूट-फूट न गया हो?

आनंद ने आँगन में रुककर कहा—क्या तुम चाहती हो कि तुम किसी को मार डालो और मैं न बोलूँ?

'हाँ मैं तो डायन हूँ, आदमियों को मार डालना ही तो मेरा काम है। ताज्जुब है कि मैंने तुम्हें क्यों न मार डाला।'

'तो पछतावा क्यों हो रहा है, धेले की संखिया में तो काम चलता है।'

'अगर तुम्हें इस तरह औरत को सिर चढ़ाकर रखना है तो कहीं और ले जाकर रखो। इस घर में तुम्हारा निबाह अब न होगा।'

'मैं ख़ुद इसी फ़िक्र में हूँ, तुम्हारे कहने की ज़रूरत नहीं।'

'मैं भी समझ लूँगी कि मैंने लड़का ही नहीं जना।'

'मैं भी समझ लूँगा कि मेरी माता मर गई।'

मैं आनंद का हाथ पकड़कर ज़ोर से खींच रही थी कि उन्हें वहाँ से हटा ले जाऊँ मगर वह बार-बार मेरा हाथ झटक देते थे। आख़िर जब अम्माँजी अपने कमरे में चली गईं तो वह अपने कमरे में आए, और सिर थामकर बैठ गए।

मैंने कहा—यह तुम्हें क्या सूझी?

आनंद ने भूमि की ओर ताकते हुए कहा—'अम्माँ ने आज नोटिस दे दिया।'

'तुम ख़ुद ही उलझ पड़े, वह बेचारी तो कुछ बोली ही नहीं।'

'मैं ही उलझ पड़ा!'

'और क्या। मैंने तो तुमसे फ़रियाद न की थी।'

'पकड़ न लाता तो अम्माँ ने तुम्हें अधमरा कर दिया होता। तुम उनका क्रोध नहीं जानतीं।'

"यह तुम्हारा भ्रम है। उन्होंने मुझे मारा नहीं, अपना पैर छुड़ा रही थीं। मैं पट्टी पर बैठी थी। ज़रा-सा धक्का खाकर गिर पड़ी। अम्माँजी मुझे उठाने ही जा रही थीं कि तुम पहुँच गए।"

'नानी के आगे ननिहाल का बखान न करो, मैं अम्माँ को ख़ूब जानता हूँ। मैं कल ही दूसरा घर ले लूँगा, यह मेरा निश्चय है। कहीं-न-कहीं नौकरी मिल ही जायगी। यह लोग समझते हैं कि मैं इनकी रोटियों पर पड़ा हुआ हूँ। इसीसे यह मिज़ाज हैं।'

मैं जितना ही उनको समझाती थी, उतना वह और बफरते थे। आख़िर मैंने झुँझलाकर कहा—तो तुम अकेले जाकर दूसरे घर में रहो। मैं न जाऊँगी। मुझे यहीं पड़ी रहने दो।

आनंद ने मेरी ओर कठोर नेत्रों से देखकर कहा—यहीं लातें खाना अच्छा लगता है?

"हाँ, मुझे यही अच्छा लगता है"

"तो तुम खाओ, मैं नहीं खाना चाहता। यही फ़ायदा क्या थोड़ा है कि तुम्हारी दुर्दशा आँखों से न देखूँगा। न देखूँगा न पीड़ा होगी।"

'अलग रहने लगोगे, तो दुनिया क्या कहेगी।'

'इसकी परवा नहीं। दुनिया अंधी है।'

'लोग यही कहेंगे कि स्त्री ने यह माया फैलाई है।'

'इसकी भी परवा नहीं, इस भय से अपना जीवन संकट में नहीं डालना चाहता।'

मैंने रोकर कहा—तुम मुझे छोड़ दोगे, तुम्हें मेरी ज़रा भी मुहब्बत नहीं है।'

बहन, और किसी समय इस प्रेम-आग्रह से भरे हुए शब्दों ने न जाने क्या कर दिया होता। ऐसे ही आग्रहों पर रियासतें मिटती हैं, नाते टूटते हैं; रमणी के पास इससे बढ़कर दूसरा अस्त्र नहीं। मैंने आनंद के गले में बाँहें डाल दी थीं और उनके कंधे पर सिर रखकर रो रही थी। मगर इस समय आनंद बाबू इतने कठोर हो गए थे कि यह आग्रह भी उन पर कुछ असर न कर सका। जिस माता ने जन्म दिया, उसके प्रति इतना रोष! हम अपनी ही माता की एक कड़ी बात नहीं सह सकते, इस आत्माभिमान का कोई ठिकाना है। यही वे आशाएँ हैं जिन पर माता ने अपने जीवन के सारे सुख-विलास अर्पण कर दिए थे, दिन का चैन और रात की नींद अपने ऊपर हराम कर ली थी! पुत्र पर माता का इतना भी अधिकार नहीं!

आनंद ने उसी अविचलित कठोरता से कहा—अगर मुहब्बत का यही अर्थ है कि मैं इस घर में तुम्हारी दुर्गति कराऊँ, तो मुझे वह मुहब्बत नहीं है।

प्रातःकाल वह उठकर बाहर जाते हुए मुझसे बोले—मैं जाकर घर ठीक किये आता हूँ। ताँगा भी लेता आऊँगा, तैयार रहना।

मैंने दरवाज़ा रोककर कहा—क्या अभी तक क्रोध शांत नहीं हुआ? 'क्रोध की बात नहीं, केवल दूसरों के सिर से अपना बोझ हटा लेने की बात है।'

'यह अच्छा काम नहीं कर रहे हो। सोचो, माताजी को कितना दुख होगा। ससुरजी से भी तुमने कुछ पूछा?

'उनसे पूछने की कोई ज़रूरत नहीं। कर्ता-धर्ता जो कुछ हैं वह अम्माँ हैं। दादाजी मिट्टी के लोंदे हैं।'

'घर के स्वामी तो हैं?'

'तुम्हें चलना है या नहीं, साफ़ कहो।'

'मैं तो अभी न जाऊँगी।'

अच्छी बात है, लात खाओ।

मैं कुछ नहीं बोली। आनंद ने एक क्षण के बाद फिर कहा, तुम्हारे पास कुछ रुपए हों, तो मुझे दे दो।

मेरे पास रुपए थे मगर मैंने इनकार कर दिया। मैंने समझा शायद इसी असमंजस में पड़कर वह रुक जायँ। मगर उन्होंने बात मन में ठान ली थी। खिन्न होकर बोले—अच्छी बात है, तुम्हारे रुपयों के बग़ैर भी मेरा काम चल जायगा। तुम्हें यह विशाल भवन, यह सुख-भोग, ये नौकर चाकर, ये ठाट-बाट, मुबारक हो। मेरे साथ क्यों भूखों मरोगी। वहाँ यह सुख कहाँ। मेरे प्रेम का मूल्य ही क्या।

यह कहते हुए वह चले गए। बहन क्या कहूँ उस समय अपनी बेबसी पर कितना दुख हो रहा था। बस यही जी में आता था कि यमराज आकर मुझे उठा ले जायँ। मुझ कुलकलंकिनी के कारण माता और पुत्र में यह वैमनस्य हो रहा था। जाकर अम्माँजी के पैरों पर गिर पड़ी और रो-रोकर आनंद बाबू के चले जाने का समाचार कहा। मगर माताजी का हृदय ज़रा भी न पसीजा। मुझे आज मालूम हुआ कि माता भी इतनी वज्रहृदया हो सकती है। फिर आनंद बाबू का हृदय क्यों न कठोर हो। अपनी माता ही के पुत्र तो हैं।

माताजी ने निर्दयता से कहा—तुम उसके साथ क्यों न चली गई? जब वह कहता था तब चला जाना चाहिए था। कौन जाने यहाँ मैं किसी दिन तुम्हें विष दे दूँ।

मैंने गिड़-गिड़ाकर कहा—अम्माँजी, उन्हें बुला भेजिए, आपके पैरों पड़ती हूँ। नहीं तो कहीं चले जायँगे।

अम्माँजी उसी निर्दयता से बोलीं—जाय चाहे रहे, वह मेरा कौन है। अब तो जो कुछ हो तुम हो, मुझे कौन गिनता है। आज ज़रा-सी बात पर यह इतना झल्ला रहा है, और मेरी अम्माँजी ने मुझे सैकड़ों ही बार पीटा होगा। मैं भी छोकरी न थी, तुम्हारी ही उम्र की थी, पर मजाल न थी कि तुम्हारे दादाजी से किसी के सामने बोल सकूँ। कच्चा ही खा जातीं। मार खाकर रात-रात भर रोती रहती थी, पर इस तरह घर छोड़कर कोई न भागता था। आजकल के लौंडे हो प्रेम करना नहीं जानते, हम भी प्रेम करते थे, पर इस तरह नहीं कि माँ-बाप, छोटे-बड़े, किसी को कुछ न समझें।

यह कहती हुई माताजी पूजा करने चली गईं। मैं अपने कमरे में आकर नसीबों को रोने लगी। यही

शंका होती थी कि आनंद किसी तरफ़ की राह न लें। बार-बार जी मसोसता था कि रुपए क्यों न दे दिए, बेचारे इधर-उधर मारे-मारे फिरते होंगे। अभी हाथ-मुँह भी नहीं धोया, जलपान भी नहीं किया। वक्त पर जलपान न करेंगे, तो ज़ुकाम हो जायगा और उन्हें ज़ुकाम होता है, तो हरारत भी हो जाती है। महरी से कहा ज़रा जाकर देख तो बाबूजी कमरे में हैं। उसने आकर कहा, कमरे में तो कोई नहीं है, खूँटी पर कपड़े भी नहीं हैं।

मैंने पूछा—क्या और भी कभी इस तरह अम्माँजी से रूठे हैं? महरी बोली—कभी नहीं बहू, ऐसा सीधा तो मैंने लड़का ही नहीं देखा। मालकिन के सामने कभी सिर नहीं उठाते थे। आज न जाने क्यों चले गए।

मुझे आशा थी कि दोपहर को भोजन के समय वह आ जायँगे। लेकिन दोपहर को कौन कहे, शाम भी हो गई और उनका पता नहीं। सारी रात जागती रही। द्वार की ओर कान लगे हुए थे। मगर रात भी उसी तरह गुज़र गई। बहन, इस प्रकार पूरे तीन दिन बीत गए। उस वक्त तुम मुझे देखतीं तो पहचान न सकतीं। रोते-रोते आँखें लाल हो गई थीं। इन तीन दिनों में एक पल भी नहीं सोई, और भूख का तो ज़िक्र ही क्या। पानी तक न पिया। प्यास ही न लगती थी। मालूम होता था देह में प्राण ही नहीं है। सारे घर में मातम-सा छाया हुआ था। अम्माँजी भोजन करने दोनों वक्त जाती थीं, पर मुँह जूठा करके चली आती थीं। दोनों ननदों की हँसी और चुहल भी ग़ायब हो गई थी। छोटी ननदजी तो मुझसे अपना अपराध क्षमा कराने आईं।

चौथे दिन सबेरे रसोइए ने आकर मुझसे कहा—बाबूजी तो अभी मुझे दशाश्वमेध घाट पर मिले थे। मैं उन्हें देखते ही लपककर उनके पास जा पहुँचा और बोला—भैया, घर क्यों नहीं चलते। सब लोग घबड़ाए हुए हैं। बहूजी ने तीन दिन से पानी तक नहीं पिया। उनका हाल बहुत बुरा है। यह सुनकर वह कुछ सोच में पड़ गए, फिर बोले—'बहूजी ने क्यों दाना-पानी छोड़ रखा है, जाकर कह देना जिस आराम के लिये उस घर को न छोड़ सकीं उससे क्या इतनी जल्द जी भर गया।'

अम्माँजी उसी समय आँगन में आ गईं। महराज की बातों की भनक कानों में पड़ गई, बोलीं—क्या है अलगू, क्या आनंद मिला था?

महराज—हाँ बड़ी बहू, अभी दशाश्वमेध घाट पर मिले थे। मैंने कहा, घर क्यों नहीं चलते, तो बोले—उस घर में मेरा कौन बैठा हुआ है।

अम्माँ—कहा नहीं, और कोई अपना नहीं है तो स्त्री तो अपनी है। उसकी जान क्यों लेते हो।

महराज—मैंने बहुत समझाया बड़ी बहू, पर वह टस से मस न हुए।

अम्माँ—करता क्या है?

महराज—यह तो मैंने नहीं पूछा, पर चेहरा बहुत उतरा हुआ था।

अम्माँ—ज्यों-ज्यों तुम बूढ़े होते जाते हो, शायद सठियाते जाते हो। इतना तो पूछा होता कहाँ रहते हो, कहाँ खाते-पीते हो। तुम्हें चाहिए था उसका हाथ पकड़ लेते और खींचकर ले आते। मगर तुम नमकहरामों को अपने हलवे माँडे से मतलब, चाहे कोई मरे या जिये। दोनों वक्त बढ़ बढ़कर हाथ मारते हो और मूछों पर ताव देते हो। तुम्हें इसकी क्या परवा है कि घर में दूसरा कोई खाता है या नहीं। मैं तो परवाह न करती, वह आए या न आए। मेरा धर्म पालना-पोसना था, पाल-पोस दिया। अब जहाँ चाहे रहे। पर इस बहू को क्या करूँ जो रो-रोकर प्राण दिए डालती है। तुम्हें ईश्वर ने आँखें दी हैं, उसकी हालत देख रहे हो, क्या मुँह से इतना भी न फूटा कि बहू अन्न-जल त्याग किए पड़ी हुई है।

महराज—बहूजी, नारायन जानते हैं मैंने बहुत तरह समझाया; मगर वह तो जैसे भागे जाते थे। फिर मैं क्या करता।

अम्माँ—समझाया नहीं अपना सिर। तुम समझाते और वह यों ही चला जाता। क्या सारी लच्छेदार बातें मुझी से करने को हैं। इस बहू को मैं क्या कहूँ। मेरे पति ने मुझसे इतनी बेरुख़ी की होती, तो मैं उसकी सूरत न देखती। पर इस पर उसने न जाने कौन-सा जादू कर दिया है। ऐसे उदासियों को तो कुलटा चाहिए जो उन्हें तिगनी का नाच नचावे।

कोई आध घंटे बाद कहार ने आकर कहा—बाबूजी आकर कमरे में बैठे हुए हैं ।

मेरा कलेजा धक-धक करने लगा । जी चाहता था कि जाकर पकड़ लाऊँ, पर अम्माँजी का हृदय सचमुच वज्र है । बोलीं, जाकर कह दे, यहाँ उनका कौन बैठा हुआ है, जो आकर बैठे हैं ।

मैंने हाथ जोड़कर कहा, अम्माँजी उन्हें अंदर बुला लीजिए कहीं फिर न चले जायँ ।

अम्माँ—यहाँ उसका कौन बैठा हुआ है जो आयेगा । मैं तो अंदर क़दम न रखने दूँ ।

अम्माँजी तो बिगड़ रही थीं, उधर छोटी ननँदजी जाकर आनन्द बाबू को लाईं । सचमुच उनका चेहरा उतरा हुआ था जैसे महीनों का मरीज हो । ननँदजी उन्हें इस तरह खींचे लाती थीं जैसे कोई लड़की ससुराल जा रही हो । अम्माँजी ने मुसकिराकर कहा—इसे यहाँ क्यों लाईं ? यहाँ इसका कौन बैठा हुआ है ?

आनन्द सिर झुकाए अपराधियों की भाँति खड़े थे । ज़बान न खुलती थी । अम्माँजी ने फिर पूछा—चार दिन कहाँ थे ?

'कहीं नहीं, यहीं तो था ।'

'खूब चैन से रहे होगे ।'

'जी हाँ, कोई तकलीफ़ न थी ।'

'वह तो सूरत ही से मालूम हो रहा है ।'

ननँदजी जलपान के लिये मिठाई लाईं । आनंद मिठाई खाते हुए तरह झेप रहे थे, मानो ससुराल आए हों ! फिर माताजी उन्हें लिये हुए अपने कमरे में चली गईं । वहाँ आध घंटे तक माता और पुत्र में बातें होती रहीं । मैं कान लगाए हुए थी, पर साफ़ कुछ न सुनाई देता था । हाँ, ऐसा मालूम होता था कि कभी माताजी रोती हैं और कभी आनंद । माताजी जब पूजा करने निकलीं, तो उनकी आँखें लाल थीं । आनंद वहाँ से निकले, तो सीधे मेरे कमरे में आए । मैं उन्हें आते देख चटपट मुँह ढाँपकर चारपाई पर पड़ रही मानो बेख़बर सो रही हूँ । वह कमरे में आए, मुझे चारपाई पर पड़े देखा, मेरे समीप आकर एक बार धीरे से पुकारा और लौट पड़े । मुझे जगाने की हिम्मत न पड़ी । मुझे जो कष्ट हो रहा था इसका एकमात्र कारण अपने को समझकर वह मन-ही-मन दुखी हो रहे थे । मैंने अनुमान किया था, वह मुझे उठावेंगे, मैं मान करूँगी, वह मनावेंगे, मगर सारे मंसूबे ख़ाक में मिल गए । उन्हें लौटते देखकर मुझसे न रहा गया । मैं हकबकाकर उठ बैठी और चारपाई से नीचे उतरने लगी, मगर न जाने क्यों मेरे पैर लड़खड़ाए और ऐसा जान पड़ा मैं गिरी जाती हूँ । सहसा आनंद ने पीछे फिरकर मुझे सँभाल लिया और बोले—लेट जाव, लेट जाव, मैं कुरसी पर बैठा जाता हूँ । यह तुमने अपनी क्या गत बना रक्खी है ।

मैंने अपने को सँभालकर कहा—मैं तो बहुत अच्छी तरह हूँ । आपने कैसे कष्ट किया ?

'पहले तुम कुछ भोजन कर लो तो पीछे मैं कुछ बात करूँगा ।'

'मेरे भोजन की आपको फ़िक्र पड़ी है । आप तो सैर-सपाटे कर रहे हैं ।'

'जैसे सैर सपाटे मैंने किए हैं मेरा दिल ही जानता है । मगर बातें पीछे करूँगा, अभी मुँह हाथ धोकर खा लो । चार दिन से पानी तक मुँह में नहीं डाला । राम ! राम !'

'यह आपसे किसने कहा कि मैंने चार दिन से पानी तक मुँह में नहीं डाला । जब आपको मेरी परवा न थी तो मैं क्यों दाना-पानी छोड़ती ।'

'वह तो सूरत ही कहे देती है । फूल से......मुरझा गए ।'

'ज़रा अपनी सूरत जाकर आईने में देखिए ।'

'मैं पहले ही कौन बड़ा सुंदर था । ठूँठ को पानी मिले तो क्या और न मिले तो क्या । मैं न जानता था कि तुम यह अनशन व्रत ले लोगी, नहीं ईश्वर जानता है अम्माँ मार मारकर भगातीं तो भी न जाता ।'

मैंने तिरस्कार की दृष्टि से देखकर कहा—तो क्या सचमुच तुम समझे थे कि मैं यहाँ केवल आराम के विचार से रह गई ?

आनंद ने जल्दी से अपनी भूल सुधारी—नहीं, नहीं प्रिये, मैं इतना गधा नहीं हूँ, पर यह मैं कदापि न समझता था कि तुम बिलकुल दाना-पानी छोड़ दोगी । बड़ी कुशल हुई कि मुझे महराज मिल गया, नहीं तो तुम प्राण ही दे देतीं । अब ऐसी भूल कभी न होगी । कान पकड़ता हूँ । अम्माँजी तुम्हारा बखान कर करके रोती रहीं ।

मैंने प्रसन्न होकर कहा—तब तो मेरी तपस्या सुफल हो गई।

'थोड़ा-सा दूध पी लो, तो बातें हों। जाने कितनी बातें करनी हैं।'

'पी लूँगी ऐसी क्या जल्दी है।'

जब तक तुम कुछ खा न लोगी, मैं यही समझूँगा कि तुमने मेरा अपराध क्षमा नहीं किया।'

'मैं भोजन अभी करूँगी जब तुम यह प्रतिज्ञा करो कि फिर कभी इस तरह रूठकर न जाओगे।'

'मैं सच्चे दिल से यह प्रतिज्ञा करता हूँ।'

बहन, तीन दिन कष्ट तो हुआ, पर मुझे उसके लिये ज़रा भी पछतावा नहीं है। इन तीन दिनों के अनशन ने दिलों में जो सफ़ाई कर दी वह किसी दूसरी विधि से कदापि न होती। अब मुझे विश्वास है कि हमारा जीवन शांति से व्यतीत होगा।

अपने समाचार शीघ्र, अति शीघ्र लिखना।

तुम्हारी
चंदा

देहली
२०-२-२६

प्यारी बहन, तुम्हारा पत्र पढ़कर मुझे तुम्हारे ऊपर दया आई। तुम मुझे कितना ही बुरा कहो, पर मैं अपनी यह दुर्गति किसी तरह न सह सकती, किसी तरह नहीं। मैंने या तो अपने प्राण दे दिए होते, या फिर उस सास का मुँह न देखती। तुम्हारा सीधापन, तुम्हारी सहनशीलता, तुम्हारी सास-भक्ति तुम्हें मुबारक हो। मैं तो तुरन्त आनन्द के साथ चली जाती और चाहे भीख ही क्यों न माँगनी पड़ती, पर उस घर में क़दम न रखती। मुझे तुम्हारे ऊपर दया ही नहीं आती, क्रोध भी आता है, इसलिये कि तुममें स्वाभिमान नहीं है। तुम जैसी स्त्रियों ने ही सासों और पुरुषों का मिज़ाज आसमान पर चढ़ा दिया है। जहन्नुम में जाय ऐसा घर जहाँ अपनी इज़्ज़त नहीं। मैं पति-प्रेम भी इन दामों न लूँ। तुम्हें उन्नीसवीं सदी में जन्म लेना चाहिए था। उस वक़्त तुम्हारे गुणों की प्रशंसा होती। इस स्वाधीनता और नारी-स्वत्व के नवयुग में तुम केवल प्राचीन इतिहास हो। यह सीता और दमयन्ती का युग नहीं। पुरुषों ने बहुत दिनों राज्य किया। अब स्त्री-जाति का राज्य होगा। मगर अब तुम्हें अधिक न कोसूँगी।

अब मेरा हाल सुनो। मैंने सोचा था पत्रों में अपनी बीमारी का समाचार छपवा दूँगी। लेकिन फिर ख़याल आया यह समाचार छपते ही मित्रों का ताँता लग जायगा। कोई मिज़ाज पूछने आवेगा, कोई देखने आवेगा। फिर मैं कोई रानी तो हूँ नहीं जिसकी बीमारी का बुलेटिन रोज़ाना छापा जाय। न जाने लोगों के दिल में कैसे-कैसे विचार उत्पन्न हों। यह सोचकर मैंने पत्र छपवाने का विचार छोड़ दिया। दिन भर मेरे चित्त की क्या दशा रही लिख नहीं सकती। कभी मन में आता ज़हर खा लूँ, कभी सोचती कहीं उड़ जाऊँ। विनोद के संबंध में भाँति-भाँति की शंकाएँ होने लगीं। अब मुझे ऐसी कितनी ही बातें याद आने लगीं जब मैंने विनोद के प्रति उदासीनता का भाव दिखाया था। मैं उनसे सब कुछ लेना चाहती थी, देना कुछ न चाहती थी। मैं चाहती थी कि वह आठों पहर भ्रमर की भाँति मुझ पर मँडराते रहें, पतंग की भाँति मुझे घेरे रहें। उन्हें किताबों और पत्रों में मग्न बैठे देखकर मुझे झुंझलाहट होने लगती थी। मेरा अधिकांश समय अपने ही बनाव सिंगार में कटता था, उनके विषय में मुझे कोई चिंता ही न होती थी। अब मुझे मालूम हुआ कि सेवा का महत्त्व रूप से कहीं अधिक है। रूप मन को मुग्ध कर सकता है पर आत्मा को आनन्द पहुँचानेवाली कोई दूसरी ही वस्तु है।

इस तरह एक हफ़्ता गुज़र गया। मैं प्रातःकाल मैके जाने की तैयारियाँ कर रही थी—यह घर फाड़े खाता था—कि सहसा डाकिए ने मुझे एक पत्र लाकर दिया। मेरा हृदय धक् धक् करने लगा। मैंने काँपते हुए हाथों से पत्र लिया, पर सिरनामे पर विनोद की परिचित हस्तलिपि न थी, लिपि किसी स्त्री की थी इसमें संदेह न था पर मैं उससे सर्वथा अपरिचित थी। मैंने तुरंत पत्र खोला और नीचे की तरफ़ देखा तो चौंक पड़ी—यह कुसुम का पत्र था। मैंने एक ही साँस में सारा पत्र पढ़ लिया। लिखा था—'बहन, विनोद बाबू तीन दिन यहाँ रहकर बंबई चले गए। शायद विलायत जाना चाहते हैं। तीन चार दिन बंबई रहेंगे। मैंने बहुत चाहा कि उन्हें देहली वापस कर दूँ पर वह किसी तरह न राज़ी हुए तुम उन्हें नीचे लिखे पते से तार दे दो। मैंने उनसे यह पता पूछ लिया था। उन्होंने मुझे ताकीद कर दी थी कि

इस पते को गुप्त रखना, लेकिन तुमसे क्या परदा। तुम तुरंत तार दे दो। शायद रुक जायँ। यह बात क्या हुई! मुझसे तो विनोद ने बहुत पूछने पर भी नहीं बताया, पर वह दुखी बहुत थे। ऐसे आदमी को भी तुम अपना न बना सकीं इसका मुझे आश्चर्य है, पर मुझे इसकी पहले ही शंका थी। रूप और गर्व में दीपक और प्रकाश का संबंध है। गर्व रूप का प्रकाश है।'........

मैंने पत्र रख दिया और उसी वक़्त विनोद के नाम तार भेज दिया कि बहुत बीमार हूँ, तुरंत आओ। मुझे आशा थी कि विनोद तार द्वारा जवाब देंगे, लेकिन सारा दिन गुज़र गया और कोई जवाब न आया। बँगले के सामने से कोई साइकिल निकलती तो मैं तुरंत उसकी ओर ताकने लगती थी कि शायद तार का चपरासी हो। रात को भी मैं तार का इंतज़ार करती रही। तब मैंने अपने मन को इस विचार से शांत किया कि विनोद आ रहे हैं, इसलिये तार भेजने की ज़रूरत न समझी।

अब मेरे मन में फिर शंकाएँ उठने लगीं। विनोद कुसुम के पास क्यों गए, कहीं कुसुम से उन्हें प्रेम तो नहीं है? कहीं उसी प्रेम के कारण तो वह मुझसे विरक्त नहीं होगए? कुसुम कोई कौशल तो नहीं कर रही है? उसे विनोद को अपने घर ठहराने का अधिकार ही क्या था। इस विचार से मेरा मन बहुत क्षुब्ध हो उठा। कुसुम पर क्रोध आने लगा। अवश्य दोनों में बहुत दिनों से पत्र-व्यवहार होता रहा होगा। मैंने फिर कुसुम का पत्र पढ़ा और अबकी उसके प्रत्येक शब्द में मेरे लिये कुछ सोचने की सामग्री रक्खी हुई थी। निश्चय किया कि कुसुम को एक पत्र लिखकर ख़ूब कोसूँ। आधा पत्र लिख भी डाला, पर उसे फाड़ डाला, उसी वक़्त विनोद को एक पत्र लिखा। तुमसे कभी भेंट होगी तो वह पत्र दिखाऊँगी, जो कुछ मुँह में आया बक डाला। लेकिन इस पत्र की भी वही दशा हुई जो कुसुम के पत्र की हुई थी। लिखने के बाद मालूम हुआ कि यह किसी विक्षिप्तहृदय की बकवाद है। मेरे मन में यही बात बैठती जाती थी कि वह कुसुम के पास हैं। वही छलिनी उन पर अपना जादू चला रही है। यह दिन भी बीत गया। डाकिया कई बार आया, पर मैंने उसकी ओर आँख भी नहीं उठाई। चंदा, मैं नहीं कह सकती मेरा हृदय कितना तिलमिला रहा था। अगर कुसुम इस समय मुझे मिल जाती तो मैं न जाने क्या कर डालती।

रात को लेटे-लेटे ख़याल आया कहीं वह योरप न चले गए हों। जी बेचैन हो उठा। सिर में ऐसा चक्कर आने लगा मानो पानी में डूबी जाती हूँ। अगर वह योरप चले गए तो फिर कोई आशा नहीं—मैं उसी वक़्त उठी और घड़ी पर नज़र डाली। दो बजे थे। नौकर को जगाया और तारघर जा पहुँची। बाबूजी कुरसी पर लेटे लेटे सो रहे थे। बड़ी मुश्किल से उनकी नींद खुली। मैंने रसीदी तार दिया। जब बाबूजी तार दे चुके, तो मैंने पूछा—इसका जवाब कब तक आवेगा?

बाबू ने कहा—यह प्रश्न किसी ज्योतिषी से कीजिए। कौन जानता है वह कब जवाब दें। तार का चपरासी ज़बरदस्ती तो उनसे जवाब नहीं लिखा सकता। अगर कोई और कारण न हो, तो ८-९ बजे तक जवाब आ जाना चाहिए।

घबराहट में आदमी की बुद्धि पलायन कर जाती है। ऐसा निरर्थक प्रश्न करके मैं स्वयं लज्जित होगई। बाबूजी ने अपने मन में मुझे कितना मूर्ख समझा होगा; ख़ैर, मैं वहीं एक बेंच पर बैठ गई, और तुम्हें विश्वास न आवेगा, नौ बजे तक वहीं बैठी रही। सोचो कितने घंटे हुए! पूरे सात घंटे। सैकड़ों आदमी आए और गए, पर मैं वहीं जमी बैठी रही। जब तार का शब्द खटकता मेरे हृदय में धड़कन होने लगती। लेकिन इस भय से कि बाबूजी झल्ला न उठें, कुछ पूछने का साहस न करती थी। जब दफ़्तर की घड़ी में नौ बजे, तो मैंने डरते-डरते बाबू से पूछा—क्या अभी तक जवाब नहीं आया?

बाबू ने कहा—आप तो यहीं बैठी हैं, जवाब आता तो क्या मैं खा डालता। मैंने बेहयाई करके फिर पूछा, तो क्या अब न आवेगा? बाबू ने मुँह फेरकर कहा—और दो-चार घंटे बैठी रहिए।

बहन, यह वाग्बाण शर के समान हृदय में लगा। आँखें भर आईं। लेकिन फिर भी मैं वहाँ से टली नहीं। अब भी आशा बँधी हुई थी कि शायद जवाब आता हो। जब दो घंटे और गुज़र गए, तब मैं निराश हो गई। हाय! विनोद ने मुझे कहीं का न रक्खा। मैं घर चली तो आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी हुई थी। रास्ता न सूझता था।

सहसा पीछे से एक मोटर का हार्न सुनाई दिया। मैं रास्ते से हट गई। उस वक़ मन में आया, इसी मोटर के नीचे लेट जाऊँ और जीवन का अंत कर दूँ। मैंने आँखें पोंछकर मोटर की ओर देखा, भुवन बैठा हुआ था, और उसकी बगल में बैठी हुई थी कुसुम! ऐसा जान पड़ा मानो अग्नि की ज्वाला मेरे पैरों से समाकर सिर से निकल गई। मैं उन दोनों की निगाहों से बचना चाहती थी, लेकिन मोटर रुक गई और कुसुम उतर कर मेरे गले से लिपट गई। भुवन चुपचाप मोटर में बैठा रहा मानो मुझे जानता ही नहीं। निर्दयी, धूर्त!

कुसुम ने पूछा—मैं तो तुम्हारे पास जाती थी बहन! वहाँ से कोई ख़बर आई? मैंने बात टालने के लिये कहा—तुम कब आई?

भुवन के सामने मैं अपनी विपत्ति-कथा न कहना चाहती थी।

कुसुम—आओ कार में बैठ जाओ।

'नहीं, मैं चली जाऊँगी। अवकाश मिले, तो एक बार चली आना।'

कुसुम ने मुझसे आग्रह न किया। कार में बैठकर चल दी। मैं खड़ी ताकती रह गई। यह वही कुसुम है या कोई और? कितना बड़ा अंतर होगया है!

मैं घर चली तो सोचने लगी भुवन से इसकी जान-पहचान कैसे हुई? कहीं ऐसा तो नहीं है कि विनोद ने इसे मेरी टोह लेने को भेजा हो। भुवन से मेरे विषय में कुछ पूछने तो नहीं आई है?

मैं घर पहुँचकर बैठी ही थी कि कुसुम आ पहुँची। अबकी वह मोटर में अकेली न थी—विनोद बैठे हुए थे। मैं उन्हें देखकर ठक रह गई। चाहिए तो यह था कि मैं दौड़कर उनका हाथ पकड़ लेती और मोटर से उतार लाती, लेकिन मैं जगह से हिली तक नहीं। मूर्त्ति की भाँति अचल बैठी रही। मेरी मानिनी प्रकृति अपना उद्दण्ड स्वरूप दिखाने के लिये विकल हो उठी। एक क्षण में कुसुम ने विनोद को उतारा और उनका हाथ पकड़े हुए ले आई। उस वक़ मैंने देखा कि विनोद का मुख बिलकुल पीला पड़ गया है और वह इतने अशक़ होगए हैं कि अपने सहारे खड़े भी नहीं रह सकते। मैंने घबराकर पूछा, क्यों तुम्हारा यह क्या हाल है?

कुसुम ने कहा—हाल पीछे पूछना, ज़रा इनकी चारपाई चटपट बिछा दो और थोड़ा सा दूध मँगवा लो।

मैंने तुरंत चारपाई बिछाई और विनोद को उसपर लेटा दिया। दूध तो रक्खा ही हुआ था। कुसुम इस वक़ मेरी स्वामिनी बनी हुई थी। मैं उसके इशारे पर नाच रही थी चंदा, उस वक़ मुझे ज्ञात हुआ कि कुसुम पर विनोद को जितना विश्वास है, वह मुझ पर नहीं। मैं इस योग्य हूँ ही नहीं। मेरा दिल सैकड़ों प्रश्न पूछने के लिये तड़फड़ा रहा था, लेकिन कुसुम एक पल के लिये भी विनोद के पास से न टलती थी। मैं इतनी मूर्ख हूँ कि अवसर पाने पर इस दशा में भी मैं विनोद से प्रश्नों का ताँता बाँध देती।

विनोद को जब नींद आ गई, तो मैंने आँखों में आँसू भरकर कुसुम से पूछा—बहन, इन्हें क्या शिकायत है? मैंने तार भेजा उसका जवाब नहीं आया। रात दो बजे एक ज़रूरी और जवाबी तार भेजा। दस बजे तक तार-घर में बैठी जवाब की राह देखती रही। वहीं से लौट रही थी जब तुम रास्ते में मिलीं। यह तुम्हें कहाँ मिल गए?

कुसुम मेरा हाथ पकड़कर दूसरे कमरे में ले गई और बोली—पहले तुम यह बताओ कि भुवन का क्या मुआमला था? देखो साफ़ कहना।

मैंने आपत्ति करते हुए कहा—कुसुम तुम यह प्रश्न पूछकर मेरे साथ अन्याय कर रही हो। तुम्हें ख़ुद समझ लेना चाहिए था कि इस बात में कोई सार नहीं है। विनोद को केवल भ्रम हो गया।

'बिना किसी कारण के?'

'हाँ, मेरी समझ में तो कोई कारण न था।'

'मैं इसे नहीं मानती। यह क्यों नहीं कहती कि विनोद को जलाने, चिढ़ाने और जगाने के लिये तुमने यह स्वाँग रचा था।'

कुसुम की सूझ पर चकित होकर मैंने कहा—'वह तो केवल दिल्लगी थी।'

'तुम्हारे लिये दिल्लगी थी, विनोद के लिये वज्राघात था। तुमने इतने दिनों उनके साथ रहकर भी उन्हें नहीं समझा। तुम्हें अपने बनाव सँवार के आगे उन्हें समझने की कहाँ फ़ुरसत। कदाचित् तुम समझती हो कि तुम्हारी यह मोहिनी मूर्त्ति ही सब कुछ है। मैं कहती

हूँ इसका मूल्य दो चार महीनों के लिये हो सकता है। स्थायी वस्तु कुछ और ही है।

मैंने अपनी भूल स्वीकार करते हुए कहा—विनोद को मुझसे कुछ पूछना तो चाहिए था?

कुसुम ने हँसकर कहा—यही तो वह नहीं कर सकते। तुमसे ऐसी बातें पूछना उनके लिये असंभव है। वह उन प्राणियों में हैं जो स्त्री की आँखों से गिरकर जीते नहीं रह सकते। स्त्री या पुरुष, किसी के लिये भी वह किसी प्रकार का धार्मिक या नैतिक बंधन नहीं रखना चाहते। वह प्रत्येक प्राणी के लिये पूर्ण स्वाधीनता के समर्थक हैं। मन और इच्छा के सिवा वह और कोई बंधन स्वीकार नहीं करते। इस विषय पर मेरी उनसे खूब बातें हुई हैं। ख़ैर, मेरा पता उन्हें मालूम था ही, यहाँ से सीधे मेरे पास पहुँचे। मैं समझ गई कि आपस में पटी नहीं। मुझे तुम्हीं पर संदेह हुआ।

मैंने पूछा—क्यों? मुझ पर तुम्हें क्यों संदेह हुआ?

'इसलिये कि मैं तुम्हें पहले देख चुकी थी।'

'अब तो तुम्हें मुझ पर संदेह नहीं है?'

'नहीं, मगर इसका कारण तुम्हारा संयम नहीं, परंपरा है। मैं इस समय स्पष्ट बातें कर रही हूँ इसके लिये क्षमा करना।'

'तुम समझती हो कि मुझे विनोद से प्रेम नहीं है?'

'नहीं, विनोद से तुम्हें जितना प्रेम है, उससे अधिक अपने आपसे है। कम-से-कम दस दिन पहले यही बात थी। अन्यथा यह नौबत ही क्यों आती। विनोद यहाँ से सीधे मेरे पास गए और दो-तीन दिन रहकर बंबई चले गये। मैंने बहुत पूछा पर कुछ बतलाया नहीं। वहाँ उन्होंने एक दिन विष खा लिया।'

मेरे चेहरे का रंग उड़ गया।

'बंबई पहुँचते ही उन्होंने मेरे पास एक ख़त लिखा था। उसमें यहाँ की सारी बातें लिखी थीं और अंत में लिखा था मैं इस जीवन से तंग आ गया हूँ, अब मेरे लिये मौत के सिवा और कोई उपाय नहीं है।'

मैंने एक ठंडी साँस ली।

'मैं यह पत्र पाकर घबरा गई और उसी वक़्त बंबई रवाना हो गई। जब वहाँ पहुँची तो विनोद को मरणासन्न पाया। जीवन की कोई आशा नहीं थी। मेरे एक संबंधी वहाँ डॉक्टरी करते हैं। उन्हें लाकर दिखाया तो वह बोले इन्होंने ज़हर खा लिया है। तुरंत दवा दी गई। तीन दिन तक डॉक्टर साहब ने दिन को दिन और रात को रात न समझा, और मैं तो एक क्षण के लिये विनोद के पास से न हटी। बारे तीसरे दिन इनकी आँखें खुलीं। तुम्हारा पहला तार मुझे मिला था, पर उसका जवाब देने की किसे फ़ुरसत थी। तीन दिन और बंबई रहना पड़ा। विनोद इतने कमज़ोर हो गये थे कि इतना लंबा सफ़र करना उनके लिये असंभव था। चौथे दिन मैंने जब उनसे यहाँ आने का प्रस्ताव किया, तो बोले मैं अब वहाँ न जाऊँगा। जब मैंने बहुत समझाया, तब इस शर्त पर राज़ी हुए कि मैं पहले आकर यहाँ की परिस्थिति देख जाऊँ।'

मेरे मुँह से निकला—'हा! ईश्वर, मैं ऐसी अभागिनी हूँ।'

अभागिनी नहीं हो बहन, केवल तुमने विनोद को समझा न था। वह तो चाहते थे कि मैं अकेली आऊँ, पर मैंने उन्हें इस दशा में वहाँ छोड़ना उचित न समझा। परसों हम दोनों वहाँ से चले। यहाँ पहुँचकर विनोद तो वेटिंगरूम में ठहर गए, मैं पता पूछती हुई भुवन के पास पहुँची। भुवन को मैंने इतना फटकारा कि वह रो पड़ा। उसने मुझसे यहाँ तक कह डाला कि तुमने उसे बुरी तरह दुत्कार दिया है। आँखों का बुरा आदमी है, पर दिल का बुरा नहीं। उधर से जब मुझे संतोष हो गया और रास्ते में तुमसे भेंट हो जाने पर रहा सहा भ्रम भी दूर हो गया, तो मैं विनोद को तुम्हारे पास लाई। अब तुम्हारी वस्तु तुम्हें सौंपती हूँ। मुझे आशा है कि इस दुर्घटना ने तुम्हें इतना सचेत कर दिया होगा कि फिर ऐसी नौबत न आवेगी। आत्मसमर्पण करना सीखो। भूल जाओ कि तुम सुंदरी हो। आनंदमय जीवन का यही मूल मंत्र है। मैं डींग नहीं मारती, लेकिन चाहूँ तो आज विनोद को तुमसे छीन सकती हूँ, लेकिन रूप में मैं तुम्हारे तलवों के बराबर भी नहीं। रूप के साथ अगर तुम सेवाभाव धारण कर सको, तो तुम अजेय हो जावगी............

'मैं कुसुम के पैरों पर गिर पड़ी और रोती हुई बोली—बहन, तुमने मेरे साथ जो उपकार किया है उसके लिये मरते दम तक तुम्हारी ऋणी रहूँगी। तुमने न सहायता की होती, तो आज न जाने मेरी क्या गति होती।'

बहन, कुसुम कल चली जायगी। मुझे तो अब वह देवी-सी दीखती है। जी चाहता है उसके चरण धो धोकर पीऊँ। उसके हाथों मुझे विनोद ही नहीं मिले हैं, सेवा का सच्चा आदर्श और स्त्री का सच्चा कर्तव्य-ज्ञान भी मिला है। आज से मेरे जीवन का नवयुग आरंभ होता है जिसमें भोग और विलास की नहीं, सहृदयता और आत्मीयता की प्रधानता होगी।

तुम्हारी
पद्मा

प्रेमचंद

मेरा परिचय

मैं हूँ वह संगीत कि जिसमें पाया जाता राग नहीं
काव्य-कुसुम में वह मिलता है जिसमें भाव-पराग नहीं
वह हूँ ज्वालामुखी कि जिससे निकला करता अनल नहीं
महा प्रलय हूँ वह मैं जिसमें महानाश-बल प्रबल नहीं
हूँ मैं वह तूफान कि जिसकी गति में है कुछ ज़ोर नहीं
मैं वह हा हा कार न जिससे जग में उठता शोर कहीं
वह हूँ प्रातः काल न जिसमें है रवि का आभास कहीं
वह विद्युत् हूँ मैं मिलता है जिसमें प्रभा प्रकाश नहीं
हूँ मैं वह मुसुकान कि जिसमें सुधा नहीं उल्लास नहीं
मैं हूँ वह उछ्वास कि जिसमें व्यथा नहीं, निश्वास नहीं
वह विक्षिप्त निराला हूँ पै पागलपन का नाम नहीं
मैं हूँ वह दार्शनिक अनोखा षट दर्शन से काम नहीं
वह जीवन हूँ मैं ढूँढ़े भी मिलते जिसमें प्राण नहीं
मैं हूँ वह ज्ञानी जिसको है अपना तक भी ज्ञान नहीं
वह निराश हूँ मैं, देखी है जिसने आशा ही आशा
क्या परिचय दूँ? असफलता है मेरी पूरी परिभाषा

श्रीरतशङ्कर

परिचय।

(१)

सुमुखि! बतलाओ, हो तुम कौन?
तुम्हारा सुखमय मोहन बोल; तुम्हारा वीणा-सम सुठि गान!
तुम्हारे सुंदर अधर कपोल; मनोहर मन-हर मृदु मुसकान!!
देवि! उत्तर दो, हो क्यों मौन?
सुमुखि! बतलाओ, हो तुम कौन?

(२)

तुम्हारा निश्छल सरल स्वभाव; कपट की चालों से हो दूर!
कहीं यदि धोखा दे यह विश्व; काल की दृष्टि वक्र हो क्रूर!!
बालिका हो, चतुरा तुम हौ न!
सुमुखि! बतलाओ, हो तुम कौन?

(३)

अकेली निर्जनता में बाल! खड़ी हो चिन्तित क्यों मुख म्लान?
प्रतीक्षित किसके हैं ये नैन? कहाँ है देवि! तुम्हारा ध्यान?
कहाँ है, किधर तुम्हारा भौन?
सुमुखि! बतलाओ, हो तुम कौन?

(४)

कौन की हो क्या है तव नाम? हैं बिखरे क्यों ये कुञ्चित केश?
हृदय की बतलाओ कुछ बात! कहो है क्यों यह 'विह्वल' वेष?
पौन प्रति करती हो क्या श्रौन?
सुमुखि! बतलाओ, हो तुम कौन?

वैद्यनाथमिश्र 'विह्वल'

हैदरअली की दिनचर्या।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य में हैदरअली ने किस योग्यता, वीरता और साहस के साथ अपना राज्य मैसूर में स्थापित किया इसके वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। हैदरअली की सेना के एक फ्रांसीसी अफ़सर ने उसकी एक जीवनी लिखी है * उसी के आधार पर यहाँ उसके संबंध की कुछ विशेष बातों का उल्लेख किया जाता है।

हैदरअली प्रातःकाल ६ बजे उठता था। उठते ही जमादार लोग, जो रात को पहरे पर रहते थे, आकर अपनी रिपोर्ट देते थे, और उसकी आज्ञाओं को मंत्रियों और सरदारों के पास ले जाते थे। रात में जो हरकारे आते थे वह भी इसी समय पत्र लाकर पेश करते थे, इसके बाद दो-तीन घंटे तक हजामत बनती थी। युद्ध के समय इसमें इतना समय नष्ट न किया जाता था।

* M. M. D L. T. The History of Hyder Shah. 1784.

आठ और नौ के बीच में वह उठकर एक ख़ास कमरे में जाता था, जहाँ कई एक सेक्रेटरी उसकी प्रतीक्षा किया करते थे। भिन्न-भिन्न विभागों के अनुसार वह उनके हाथों में पत्र रख देता था और उनके जवाब लिखवा देता था। इसी समय उसके लड़के, अन्य कुटुम्बी तथा रोज़ के मिलनेवाले सरदार आते थे, और वहीं नौ बजे सबेरे का नाश्ता होता था। यदि समय हुआ, तो छज्जे पर खड़े होकर वह अपने हाथी और घोड़ों की सलामी लेता था। इसी समय उसके चीते भी लाये जाते थे, उनके ऊपर हरी और सुनहरी झूलें पड़ी रहती थीं, और उनके सिर पर ज़री के काम की टोपियाँ होती थीं। बिगड़ने पर इन टोपियों से उनकी आँखें ढक दी जाती थीं। इनमें हर एक को हैदरअली एक-एक लड्डू देता था, जिसे वे अपने पंजे से लेकर खाते थे।

दस बजे वह खाना खाकर सभा-भवन में आता था, और सुनहली छतरी के नीचे सिंहासन पर बैठता था। उसके दोनों ओर उसके कुटुम्बी बैठते थे। इस समय जिसे जो कुछ प्रार्थना करनी होती थी, वह प्रार्थना करता था। प्रार्थना-पत्र उसके पैरों के पास रख दिये जाते थे। उसकी बाईं ओर तीस-चालीस मुंशी बैठे रहते थे, जो बराबर लिखा करते थे। क्षण-क्षण पर हरकारे आते थे और उनके काग़ज़ात सेक्रेटरी घुटने टेककर पेश करता था। हैदर उसी समय उत्तर लिखवा देता था और वे पत्र भिन्न-भिन्न विभागों के मंत्रियों के पास भेज दिए जाते थे। पत्रों पर हैदरअली स्वयं हस्ताक्षर करता था। कोई ख़ास पत्र होने पर वह अपनी एक विशेष छाप लगाता था, जिसे हर समय वह अपनी अँगुली में पहने रहता था। इस पत्र के लिफ़ाफ़े को वह अपने हाथ से हरकारे को देता था। इस लिफ़ाफ़े के साथ काग़ज़ की एक चिट लगी रहती थी जिस पर हरकारे के चलने का समय लिखा रहता था। अगली चौकी पर पहुँचने के समय जब यह लिफ़ाफ़ा दूसरे हरकारे को दिया जाता था, तब इसी तरह उसके चलने का समय भी लिख दिया जाता था। बाद डाक भेजने में इसी रीति की नक़ल की गई।

मंत्री, सरदार, राजदूत या और बड़े-बड़े आदमी इस समय दरबार में न आते थे। उनकी मुलाक़ात संध्या समय होती थी। बड़े-बड़े राजा, और नवाबों के वकील लोग, जो प्रायः ब्राह्मण होते थे, बुलाये जाने पर पेश किए जाते थे। साधारण मनुष्य को तीन बार झुककर सलाम करनी पड़ती थी। हैदरअली हाथ से अपनी पगड़ी छूकर उसे स्वीकार करता था और एक तरफ़ बैठने के लिये इशारा करता था। अवकाश मिलने पर उसकी बात सुनकर उसी समय जवाब दे दिया जाता था। यदि आगंतुक कोई विदेशी या व्यापारी होता था, तो नवाब उसके देश का सब हाल पूछता था और माल देखने के लिये समय निश्चित करता था। फिर उसके सामने पान लाया जाता था जिसका अर्थ यह होता था कि अब वह जा सकता है। यह दरबार तीन बजे तक रहता था। फिर वह सोने के लिये आराम-गाह में जाता था।

साढ़े पाँच बजे वह सभा-भवन के छज्जे से अपनी सेना की क़वायद देखता था और ६ बजे से मंत्री, राजदूत तथा और बड़े-बड़े आदमियों से मिलता था। जब ये लोग मिलने आते थे, तो उन्हें अपने अस्त्र-शस्त्र बाहर ही छोड़ देने पड़ते थे। कमरों में फ़ारस के बढ़िया क़ालीनों पर सफ़ेद चादरें बिछी रहती थीं। हैदरअली को सफ़ेद रंग बहुत पसंद था। इसलिये ज़री के गद्दों और तकियों पर भी सफ़ेद तंज़ेब की खोलियाँ चढ़ी रहती थीं।

प्रायः प्रति दिन आठ बजे से ग्यारह बजे रात तक एक नाटक होता था। हैदरअली नाटक भी देखता था और उसी समय राजदूत और मंत्रियों से बातचीत भी करता जाता था। यदि कोई गुप्त बात होती थी, तो वह उठकर दूसरे कमरे में चुपके से कह आता था। उसकी व्यग्रता का किसी को पता भी न लगता था। नाटक समाप्त होने पर फूलों से भरी एक टोकरी लाई जाती थी जिसमें से वह मुख्य-मुख्य सरदारों को अपने हाथ से कुछ फूल दे देता था। बाक़ी फूलों को सब लोग, जितने छोटे बड़े लोग वहाँ बैठे थे, एक एक करके उठा लेते थे और नवाब को झुककर सलाम करते थे। जिस किसी पर उसकी विशेष कृपा होती थी उसे चमेली के फूलों की एक माला वह स्वयं गूँथकर अपने हाथ से पहनाता था। बात करते समय वह बराबर माला गूँथता रहता था। जिसके गले में यह माला पड़ती थी, उसे सभी लोग बधाई देते थे।

यदि किसी युद्ध में विजय या और कोई ख़ुशी का अवसर होता था, तो इसी समय पर दरबार का कवि आता था। उसके आने पर नाचना-गाना बंद कर दिया

जाता था। सब लोग इस तरह बैठ जाते थे कि जिससे यह जान पड़े कि वे बड़े ध्यान से सुन रहे हैं। केवल नवाब कविता की ओर बिना कुछ ध्यान दिए मन्त्रियों से बात किया करता था। दरबारी लोग कभी कभी कवि और उसकी कविता का ख़ूब मज़ाक भी उड़ाते थे।

नाटक-मंडली में सब स्त्रियाँ ही होती थीं। मैनेजर भी स्त्री ही होती थी। वह सुंदर-सुंदर लड़कियों को चार वर्ष की अवस्था से ही भरती कर लेती थी। उन्हें नाचना और गाना सिखलाने के लिये उस्ताद रखे जाते थे। दश ग्यारह वर्ष की अवस्था होने पर वे नाटकों में भाग लेना आरम्भ करती थीं। यह युवतियाँ बड़ी हृष्ट-पुष्ट और सुंदरी होती थीं। फ्रांसीसी लेखक का कहना है कि इनका अभिनय, नाचना और गाना पेरिस के बड़े-बड़े थियेटरों से किसी प्रकार कम आनन्द-प्रद नहीं होता था। सत्रह वर्ष की अवस्था हो जाने पर उन्हें मंडली छोड़ देनी पड़ती थी। मंडली में बीस या तीस युवतियाँ होती थीं। मैनेजर की तनख़्वाह निश्चित न थी। उसे हर एक नाचने गानेवाली पीछे सौ रुपए दिये जाते थे। बड़े-बड़े सरदार लोग भी ख़ास अवसरों पर इस मंडली को बुलाते थे। ग्यारह बजे रात को भोजन करने के पश्चात् वह सोने जाता था। युद्ध के समय में यह दिनचर्या बदल दी जाती थी और वह हर समय भारी से भारी शारीरिक कष्ट उठाने के लिये तैयार रहता था।

हैदरअली मुसलमानी प्रथा के प्रतिकूल दाढ़ी मूँछ मुँड़ाये रहता था। वह लम्बा घेरदार तंज़ेब का जामा पहनता था और सिर पर छज्जेदार पगड़ी बाँधता था। जब वह चलता था, तब एक आदमी पीछे से उसका जामा उठाए रहता था। सेना के साथ रहने पर वह सफ़ेद साटन की वर्दी पहनता था। कमर में सफ़ेद पटुका और सिर पर लाल साफ़ा बाँधता था। उसकी पगड़ी या पोशाक में हीरे या जवाहिरात न होते थे और न वह कभी हार ही पहनता था। वह अपनी आकृति से अन्तर्गत भावों को छिपाता न था। वह कुछ भी पढ़ा-लिखा न था। केवल अपने नाम का पहला फ़ारसी अक्षर "हे" बना सकता था। वह पाँच भाषाओं में बातचीत कर सकता था। उसको भी अकबर और रणजीतसिंह की तरह हर एक बात का ज्ञान था। वह एक ही साथ नाच देखता था, मंत्रियों से गूढ़ विषयों पर परामर्श करता था। और चार-चार पाँच-पाँच ख़त एक साथ ही लिखवाता था।

उसकी साधारण से साधारण प्रजा को अपना दुःख स्वयं निवेदन करने का अधिकार प्राप्त था। कहा जाता है कि वह एक बार जब जलूस में जा रहा था, एक वृद्धा स्त्री ने उसकी गाड़ी रोक ली और उसके एक बड़े सरदार आग़ा मुहम्मद पर अपनी लड़की के साथ अत्याचार करने का अभियोग लगाया। हैदरअली ने उसी समय उसका सिर काट लाने की आज्ञा दे दी। उसमें किसी प्रकार का धार्मिक पक्षपात न था। वह सभी धर्म के आदमियों से बराबर मिलता जुलता था। उसके बड़े-बड़े राज कर्मचारी हिंदू थे। उसने कई एक मंदिरों के लिये बहुत कुछ संपत्ति दी थी। सन् १७६१ ई० में त्रिचनापल्ली के आक्रमण के समय उसने श्रीरंगजी के पूजन के लिये पंडों को बहुत-सा धन दिया था*।

वह अपनी शासन-व्यवस्था में किसी प्रकार की बाधा न पड़ने देता था। बड़े-बड़े अफ़सरों की चाबुक से ख़बर लेता था। उसकी कठोरता में एक विचित्र व्यंग्य भी रहता था। मैसूर के प्राचीन हिंदू राज्य वंश के अर्थ-सचिव खाँडेराव ने जब उसके मरवाने के लिये षडयंत्र रचा, तो उसने खाँडेराव को क़ैद कर लिया, इस पर रानी ने उसकी प्राण-रक्षा के लिये प्रार्थना की। उत्तर में उसने कहा कि "मैं उसको सदा तोता की तरह पालता रहूँगा" इस बात को पूरा करने के लिये उसने बँगलोर की बाज़ार में खाँडेराव को एक लोहे के पिंजड़े में बंद कर दिया और जन्म भर दूध-भात खिलाकर उसको इसी तरह रखा। जब अँगरेज़ों ने बँगलोर विजय किया, तब उस पिंजड़े में अभागे खाँडेराव की ठठरी मिली।

अँगरेज़ों के तो उसने छक्के ही छुड़ा दिये थे। प्रथम मैसूर युद्ध में तो उसने अँगरेज़ों को ऐसा दबाया कि उनको घबराकर संधि का प्रस्ताव लेकर एक दूत भेजना पड़ा। उत्तर में उसने कहला भेजा कि "मैं मद्रास के द्वार पर आ रहा हूँ। वहीं पहुँचकर मद्रास कौंसिल और उसके गवर्नर की शर्तों को सुनूँगा"। इस उत्तर के कुछ ही दिन बाद वह मद्रास के निकट आ धमका। अँगरेज़ों को विवश होकर उसकी दी हुई शर्तों पर संधि करनी पड़ी।

* Fullerton. A view of the English Interests in India ?

उन दिनों की परिस्थिति एक व्यंग्य-चित्र में जो मद्रास क़िले के शाही फाटक पर लटकता हुआ पाया गया था, इस तरह दिखलाई गई थी । हैदरअली तोपों के सिंहासन पर बैठा हुआ था, उसके सामने मद्रास के गवर्नर और कौंसिल के मेंबर घुटना टेके हुए थे । हैदरअली अपने दाहने हाथ से गवर्नर की लम्बी नाक को हाथी की सूँड़ की तरह हिला-हिला कर मुँह से अशर्फ़ियाँ उगलवा रहा था । उसके थोड़ी दूर पर जनरल स्मिथ, जिसने पहले एक बार हैदरअली की सेना को हराया था, हाथ में संधिपत्र लिये हुए अपनी तलवार के दो टुकड़े कर रहा था ।

मंडन मिश्र

सजल-प्रतीक्षा

रजनी जब प्रियतम के पथ में
फैलाती तारक-मोती,
तब सहसा शशि दर्शन देते
वह अपनी चिंता खोती।

मैंने भी प्रिय-पथ में कितने
बिखराये आँसू-मोती,
किंतु कहाँ, आते हैं सखि! 'वे'
अब भी तो मैं हूँ रोती!

श्रीशांतिप्रिय द्विवेदी

---

१. कविवर गंगाधरजी व्यास का
भाषा-छंदोबद्ध सत्योपाख्यान

सवीं शताब्दी के बुंदेलखंडी कवियों में गंगाधरजी व्यास का आसन सबसे ऊँचा है। इस कवि पुंगव का जन्म विक्रमीय संवत् १८९९ में माघ मास के कृष्णपक्ष की नवमी मंगलवार को हुआ था। और देहांत संवत् १९७२ सावन सुदी १४ सोमवार को हुआ था। सनाढ्य ब्राह्मणों के व्यास-कुल को इस कविरत्न ने अपने जन्म से पुनीत किया था। इनके पिता का नाम श्रीयुत रामलाल व्यास और पितामह का नाम श्रीयुत लटोरेलालजी व्यास था। यों तो इनके पुरखों का आदि निवास व्रज मंडल है, पर इनके पूर्वज महोबा (जिला हमीरपुर) से छतरपुर राज्य में आए पांडित्य और कुलीनता की दृष्टि से इनका घराना एक प्रतिष्ठित घराना है। अब भी नगर की महाजनमंडली में व्यासवंश का अच्छा आदर और मान है। यह केवल विद्या ही के बल से कविता नहीं करते थे वरन् जन्म और स्वभाव से ही कवि थे।

बुंदेलखंडी भाषा पर आपका अच्छा अधिकार था, इनकी बहुत-सी काव्यपंक्तियाँ सर्वसाधारण में लोकोक्ति की भाँति प्रचलित हैं। हमारे वर्तमान प्रजा-प्रिय छत्रपुराधीश श्रीमान् महाराजा साहब बड़े ही नीतिज्ञ तथा विद्याप्रिय नरेश हैं। हमारे व्यासजी श्रीमान् के ही आश्रित कवि थे। कविवर के निर्वाहार्थ राजोचित मासिक वेतन भी श्रीमान् की कृपा से लगा था।

व्यासजी ने मंजरी, गोमाहात्म्य, भरथरीचरित्र, श्रीविश्वनाथपताका आदि सात-आठ पुस्तकों के अतिरिक्त स्फुट कवित्त, सवैया, फाग, शेर आदि छंदों की रचना भी बहुत उत्तम की है जो क्रमशः "हिन्दी-चित्रमय-जगत्" में प्रकाशित हो रही है। 'कविकीर्तन' कार ने पृष्ठ ७८ में आपको १९४ नंबर दिया है किंतु मिश्रबंधुविनोद में न जाने किस कारण से आपको स्थान नहीं दिया गया।

अस्तु। अब हम अपने प्रेमी पाठकों को इनके रचे हुए 'सत्योपाख्यानभाषानुवाद' का नमूना पेश करते हैं। हमारे व्यासजी को यह अनुवाद करने में कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है इसका अनुमान करना तथा सम्मति प्रकट करना हम अपने-कविता-मर्मज्ञ पाठकों के ही ऊपर छोड़ते हैं।

श्रीगणेशायनमः। अथ श्रीसत्योपाख्याने भाषाप्रबन्धे
गंगाधरव्यासविरचिते प्रारम्भः

दोहा

मंगल मूल गनेस के, पद बंदहुँ कर जोर।
करहु कृपा पुरवहु सकल, मंजु मनोरथ मोर॥

सोरठा

सारद पद जलजात, बंदहु सीस नवाइ कै।
कोटिन बिघन नसात, जिनकी कृपा कटाच्छ तें॥

संकर सरल सुभाइ, सदा दीन देखे द्रवत।
विनय करहुँ सिर नाइ, "राम-भक्ति" वर दीजिये॥
सकल सिद्धि के धाम, बंदहु गिरिजा के चरन।
कीजै पूरन काम, रामचरित बरनन करत॥

छप्पय

बंदहुँ पवन कुमार रुद्र अवतार महाबल।
राम भक्ति के धाम सदा निष्काम दहन खल॥
यातुधान दल दलन सदा भक्तन भयहारी।
बुद्धिमान सज्ञान कीसपति के हितकारी॥
दुज 'गंग' भनत पूरन प्रगट, तुव प्रताप चौदह भुवन।
श्रीरामचरित बरनन करत, कृपा करहु अञ्जनिसुवन॥

दोहा

षटमुख के सनमुख भए, कोटिन विघन नसात।
जिनकी कृपा कटाच्छ ते, सुख उपजत दुख जात॥

सोरठा

जे हरि भक्ति सुजान, भए होंय जे हैं अबै।
कृपा करौ जन जान, दुज गंगाधर व्यास पर॥

चौपाई

ऋषी मुनिन पद पद्म मनाऊँ, जिनकी कृपा विमल मति पाऊँ।
बंदौं कौशिक गुरू वसिष्टा, जिनके सिया राम को इष्टा
आदिशक्ति जग जननि भवानी, बंदौं तुम पद मन क्रम बानी
जगचच्छु भगवान 'दिवाकर', हरहु सो मम अज्ञान कृपाकर
मधुनिवास किरनन में जासू, 'चंद्र' करो मम बुद्धि प्रकासू
धरासून मंगल के कर्ता, 'मंगल' देव अमंगल हर्ता
'बुध' के पद बंदौं दिव जासा, शशिसुत अखिल बुद्धि के धामा।
सुर 'गुरु' पद बंदहुं सब लायक, जीव सकल जीवन सुखदायक॥
भृगुज स्वामिधर्मी अति जानो, 'शुक्र' सकल को रूप बखानौ।
दिनमणि सुत उत्कर्ष सुभाऊ, 'सनि' मोसन प्रसन्न नित रहऊ।

दोहा

यदपि असुर कुल मे जनम, तदपि सुरन संग थाप।
करहु कृपा मोपर सदा, 'राहु' 'केतु' दोउ आप॥

दोहा

बालमीकि मुनि आदि कवि, व्यास मुनी शुकदेव।
बंदहुँ तिनके पद पदम, विमल बुद्धि करि देव॥

सोरठा

अवधपुरी सुख धाम, राम जन्म की भूमि सुचि।
भक्ति, मुक्ति आराम, जाके दरसन सन मिलै॥

चौपाई

सो प्रभु पुरी मनहिं मन ध्याऊँ, पुनि सरजू को सीस नवाऊँ।
जिहि जल बूँद परत मुख माहीं, कोटि जनम अघ मोट नसाहीं॥
बंदहु सकल अवधपुर वासी, मन वच क्रम सियराम उपासी।
जड़ चेतन्य राम पुर माहीं, बसेहु फेरि जग आवत नाहीं॥
रघुकुल मध्य कुँवर जे जनमें, तिनके चरन मनाऊँ मन मे।
रघुपति सखा सुकृत सुखरासी, बदहुँ सकल दास अरु दासी॥
जासु ध्यान आवत उर माहीं, सकल अमंगल मूल नसाहीं।
पुनि बंदौं कौशिल्या चरना, परम पुनीत जासु आचरना
भये 'ब्रह्म' सुत जिन हितलागी, तिन सम अपर कौन बड़ भागी।
बहुरि सुमित्रा पद जलजाता, बंदौं सकल सिद्धि के दाता॥

दोहा

भरत मात श्रीकैकई, पद बंदहुँ बहु बार।
कुमत दूर कीजै जननि, दीजै सुमत सुधार॥

सोरठा

राम मात सुख मूल, कही तीन सै साठि जे।
सदा रहौ अनुकूल, सुत सेवक निज जानिके॥

चौपाई

अवध भूप श्री दशरथ नामा, बंदौं तिनके चरन ललामा।
जिनको प्रेम जगत् विख्याता, राम वियोग तज्यो प्रिय गाता॥
सुमंतादि मंत्री जिन केरे, राज मंत्र महँ कुशल घनेरे।
जिनको सदा राम पद नेहू, मोपर कृपा करहु सब तेहू॥
भरत राम प्रिय बंधु पुनीता, गावत जगत जासु गुन गीता।
लषन प्रभाव अखंड अनंता, छीरसिंधु वासी भगवंता॥
रिपुसूदन लघु भ्रात राम के, मन भायक दायक अराम के।
बंदहुँ रघुपति राम उदारा, सुर मुनि हित जिन नर तनुधारा॥
अगम अरूप अलख अविनासी, चिदानंद साकेत निवासी।
कीन्हे चरित आय जग माहीं, तिन सुमिरत कलि कलुष नसाहीं॥

दोहा

सोइ रघुबीर कृपा करौ, मुहिं निज सेवक जान।
कहत चरित कछु आपको, बसहु सो मम उर आन॥

सोरठा

जनक नगर सुख मूल, आदि शक्ति जनमी जहाँ।
मिटत सकल भय सूल, जाके सुमिरन के किये॥

चौपाई

जनक नृपति पद बंदौं सोई, जोग भोग जिनके सम दोई।
गूढ़ सनेह रहे हिय भारे, प्रगट भयो जब राम निहारे॥
बंदहु जननि सुनैना चरना, जासु प्रभाव जाय नहिं बरना।

जगत मातु की मातु कहाहीं, तिन सम भागवंत कोउ नाहीं ॥
पुनि लक्ष्मीनिधि सिय के भ्राता, बंदौं तिन यह निधि के दाता।
सिद्धा सदा सिद्धि सुखकारी, सो लक्ष्मीनिधि की अति प्यारी ॥
जिनके चरन हिये करि धारन, जानहु सकल सिद्धि के कारन।
बंदहुँ जनक नंदिनी सीता, रूप सील गुन परम पुनीता ॥
उतपति स्थिति लय की करनी, संचित भूमि भार की हरनी।
जन्म लियो भक्तन हित लागी, राम सक्ति महिमा जग जागी ॥

दोहा

हे श्रुतिकीरति मांडवी, तव पद पद्म समान।
बन्दत हौं कर जोरि के, करहु कृपा जन जान ॥

सोरठा

बंदहु सीस नवाय, मात उर्मिला के चरन।
बंदहु सकत न गाय, तुव कीरति अतुलित अगम ॥

चौपाई

रघुबंसी निमिबंस सना कर, सुकबिन को पुनि सीस नवा कर।
अपनो देस ग्राम कुलनामा, विधि मोहि जन्म दियो जिहि ठामा ॥
देसन माहि सुंदर धरनी, कहूँ बुंदेल खंड कर बरनी।
छत्रशाल नृप को यश छायो, सुदिन सुभ घरी शहर बसायो ॥
नाम छतरपुर तासे राख्यो, देस देस जाहिर जस भाख्यो।
चारि बरन तहँ बसहिं सुजाना, पालहिं निज निज धर्म प्रमाना ॥
रहै सदा सुख सों सब प्रानी, विश्वनाथ नृप की रजधानी।
मातु पिता जिमि सुत कहँ लालहिं, प्रजा सकल नृप इहि विधि पालहिं
जिनके राज नहीं अघ लेसा, कबहुँ देइ नहिं प्रजहिं कलेसा।
जिनको तेज देखि रिपु डरहीं, सिंह देखि जनु मृग थर थरहीं ॥

दोहा

विश्वनाथ नर नाह के, जो करिये गुन गान।
अधिक ग्रन्थ बढ़ि जाय यह, ताते अल्प बखान ॥

दोहा

दुज सनाढ्य कुल में जनम, व्यास बंस अभिराम।
गंगाधर की कृपा ते मो गंगाधर नाम ॥

चौपाई

रामचरित्र अगम जिमि सागर, लहत न पार मुनी कवि नागर।
यह भरोस करिके जिय जोहीं, रघुबर पार लगैहैं मोहीं ॥
राम भक्त इक मित्र सयानों, मंत्र जु दियो प्रेम रस सानों।
राम चरित्र कहौ कछु गाई, लोकहु पर लोकहुँ सुखदाई ॥
सत्योपाख्यान पर नेहू, भाषा रचौ सुगम करि येहू।
भयो हरष तब मो मन भारी, तिहिकी कहनि लगी अति प्यारी ॥
रघुनायक पद उपजी प्रीती, साँचहु विबुध कहत अस नीती।
सुर मुनि सिद्ध कवीश्वर नाना, शिव सनकादि करत गुन गाना ॥
कहे सुने बिन राम प्रभुताई, तरै न भवसागर कोई भाई।

दोहा

प्रेम भक्ति मय यह कथा, नहि वियोग को लेस।
राम चरित मंगल करन, काटन कठिन कलेस ॥

सोरठा

रामायन को भाव, सत्योपाख्यान बिना।
लहत न पूरन आव, मज्जन बिन जैसे मुकर ॥

कथा-प्रसंग

चौपाई

गुरु पद पंकज सिर धरि धूरी, बरनहुँ कथा सुमंगल मूरी।
एक समै नमिष बन माहीं, आए सून बसहिं ऋषि तहहीं ॥
सहस अठासी मुनि विज्ञानी, तिनमें शौनक मुख्य बखानी।
ऋषिन सूत के चरन पखारे, सादर सुभ आसन बैठारे ॥
षोडस विधि पूजन करि सोई; पूछो प्रश्न जोरि कर दोई।
भो! भो! सूत सर्व गुण सागर, महा बुद्ध शास्त्रज्ञ उजागर ॥
राम चरित्र पवित्र पुनीता, होइ प्रसन्न कहिये शुभ गीता।
मुनि के प्रश्न सूत हरषाने, राम चरित्र हिये मह आने ॥
बोले सूत सुनहु मुनि वृंदा, कथा अनूपम करन अनंदा।
श्रीगुरुव्यास प्रथम मो पाहीं, जो बरनी सो कहत यहाहीं ॥

दोहा

चित्रकूट गिरि अति रुचिर, पूर्ण पवित्र स्थान।
वाल्मीकि मुनि तहँ बसैं, तत्वज्ञ धर्म सुजान ॥

सोरठा

तिनके दरसन काज, मारकंडेय महामुनी।
दीर्घायु सम भाज, चले चित्रकूट स्थलहिं ॥

चौपाई

आवत दीख महा मुनि जबहीं, बाल्मीकि आसन तजि तबहीं।
भार्गव भृगु वंशज मुनि चीन्हों, अर्घ पाद्य युत पूजन कीन्हों ॥
दिय आसन बैठारेहु आनी, बोले बाल्मीकि मृदुबानी।
कृपा करी इत आवन कीन्हो, मम आसन पावन करि दीन्हों।
कौन हेतु आए मुनि पुंगव, आतुर कहौ कृपा करि भार्गव।
मारकंडेय बचन ये सुनिके, उत्तर दियो प्रनत होय गुनिके ॥
हे बाल्मीकि! तपोधन आपू, मेटहु बेगि मोर संतापू।
राम रहस्य सुनावहु मोही, कृपा करो बिनवौं प्रभु तोही ॥
वाल्मीकि मुनि बचन मनोहर, बोले बिहँसि सुमिरि उर रघुबर।
राम रहस्य सकल तुम जानी, रामहि परमातम करि मानौ ॥

दोहा

तदपि तुम्हारे श्रवन हित, बरनहु राम चरित्र ।
नारायण प्रत्यक्ष प्रभु, पूजत देव पवित्र ॥

सोरठा

हरन सकल भुव भार, भे नृप दशरथ के तनय ।
स्वयं ब्रह्म करतार, भक्त हेतु नर तन धरयो ॥

चौपाई

रतन जटित नृप अंगन माहीं, भ्रातन युत विचरहिं प्रभु तहहीं ।
धूसर धूरि भरे तन श्यामा, धात्री पर रचित दिव जामा ॥
जो रक्षत यह सृष्टि घनेरी, रक्षा करें धात्रि तिन केरी ।
यह आश्चर्य न करिबे लायक, भक्तन सुखदायक रघुनायक ॥
कुंचित केश सचिक्कन श्यामा, पीत भँगुलिया तनु अभिरामा ।
कुंडल छोटे श्रवनन माहीं, लसत बजुल्ला दोउ भुज पाहीं ॥
वलय बिराजत करन पगन में, तिन पर नूपुर जड़ित नगन में ।
क्रीड़ा करत ज्ञान सुख दायक, बालवेष विचरहिं रघुनायक ॥
एक दिवस भगवान महा मुनि, चले वसिष्ठ करत वेदध्वनि ।
पिंगल जटाजूट सिर धारे, ठाढ़े भये नृपति के द्वारे ॥

दोहा

रतन जड़ित नृप भवन में, कीन्हो गुरू प्रवेश ।
दासिन ने आवत लख्यो, कीन दंडवत वेस ॥

सोरठा

लखि मुनि चेरी आसु, गई कौशिल्या के निकट ।
बहुरि सुमित्रा पास, फेरि कैकई पहँ चली ॥

चौपाई

वचन कहे तिनसों मृदुबानी, देवी विनय सुनौं हित मानी ।
तुम्हरो भद्र वचन मम येहा, पद्मज सुत आए प्रभु गेहा ॥
जिनके सदन गुरू द्विज आवहिं, होब सुमंगल विघ्न नसावहिं ।
अपने-अपने सुत लै चलहू, बंदहु चरन लहौ शुभ फलहू ॥
जाउ दरस अज्ञान नसावन, तिनते लहौ असीस सुहावन ।
सुनतहिं प्रेम बिवस सब रानी, उठि तुरत मन में हरषानी ॥
कौशल्यादि राम कर गहके, मंद मंद गवनी मुद लहिके ।
मधुर सुरन पग नूपुर बाजे, प्रभा नील मणि राति न साजे ॥
कौशल्या सह सुत तहँ आई, राम हाथ पूजा करवाई ।
गुरुपद की रज रघुवर माथे, दीन्ह लगाये आपने हाथे ॥

दोहा

तब मुनि सहज प्रसन्न चित, राम शीश धर पाणि ।
चिरंजीव भाषण कियो, सुन्दर गिरा प्रमाणि ॥

सोरठा

लीन्हो अंक उठाय, गुरु वशिष्ठ तब राम कहँ ।
सिंहासन पर आय, बैठे रघुवर को लिये ॥

चौपाई

ताही समय सुमित्रा रानी, जुगल कुमारन को गह पाणी ।
मुनि पद पदम पाणि तिन परसे, दीन्ह अशीष मुनिन मन हरषे ॥
तब वशिष्ठ कर माथे फेरे, रहे सदा सुत कुशल घनेरे ।
यह विधि बदत भये मुनि वाणी, सुनत सुमित्रा हिय हरषानी ॥
लषन शत्रुहन दोनों भाई, बैठारे समीप मुनिराई ।
अंतहपुर की जितनी दारा, देख वसिष्ठहिं मन मुद धारा ॥
कैक देश के नृप की कन्या, नाम कैकयी रूप सो धन्या ।
भरत मातु गुण शील प्रकासी, लीन्हे साथ मन्थरा दासी ॥
कोउ सखि चमर लिये कर माहीं, मंद मंद गवने मुनि पाहीं ।
नूपुर शब्द पगन ते बाजें, उज्ज्वल बसन बदन पर साजें ॥

दोहा

भरतैं हाथ की आंगुरी, पकरें अपने हाथ ।
है सलज्ज तहँ आयके, मुनि पद नायो माथ ॥
पुनि वशिष्ठ के चरणतर, भरतहिं डारो आनि ।
दे अशीष मुनिराय ने, परसे शिर पर पाणि ॥

सोरठा

बोले गुरु मृदु बैन, सकल राज पत्नीन प्रति ।
करहिं पुत्र तुव चैन, सदा श्रीमति तुम रहो ॥

दोहा

क्रीड़ा करहिं अनन्द से, नित प्रति राजकुमार ।
नृप सुधर्म रक्षक सदा, मानहुँ बचन हमार ॥

इति श्रीसत्योपाख्याने भाषाप्रबंधे गंगाधरव्यास-
विरचिते बाल्मीकिमारकंडेयमुनिसंवादे
नाम प्रथमोऽध्यायः संपूर्णः

(असमाप्त)

रामनारायण शर्मा

१. उपन्यास, कहानी और नाटक ।

सुदर्शन सुधा—लेखक श्रीयुत सुदर्शन, प्रकाशक इंडियन प्रेस प्रयाग, मूल्य २) पृष्ठ-संख्या ३१६ । सुंदर जिल्द।

यह श्रीयुत सुदर्शन की १६ कहानियों का संग्रह है। एक छोटी-सी भूमिका भी है । आपकी कहानियों में हृदय के भाव भी होते हैं और समाज के चित्र भी। प्रत्येक कहानी जीवन का कोई-न-कोई रहस्य प्रकट करती है । भाषा तो इतनी सरल है कि जिसे वर्णमाला-मात्र का ज्ञान हो वह भी इन्हें समझ सकता है । मातृ-स्नेह, 'माया', 'स्त्री का हृदय', आदि कहानियाँ बहुत सुंदर हैं।

× × ×

मेरी आशा—लेखक और प्रकाशक, बाबू शिवरामदास गुप्त; उपन्यासबहार आफ़िस काशी । मूल्य १) पृष्ठ-संख्या १४० । मुखपृष्ठ पर एक तिरंगा चित्र ।

यह स्व० द्विजेंद्रलालराय के प्रसिद्ध नाटक 'परपारे' का छायानुवाद है । हिंदीरंगमंच पर अधिकांश तीन ही अंकों के नाटक खेले जाते हैं । 'परपारे' में पाँच अंक थे । इसलिये मूल नाटक में कुछ काट-छाँट करके उसे हिंदीमंच की रुचि के अनुसार तीन ही अंकों में समाप्त कर दिया गया है । मुन्नी और भोला इस नाटक के आदर्श चरित्र हैं । हीरा कुछ ज़रूरत से ज़्यादा कठोर हो गई है । भाषा में इतना ज़ोर और प्रवाह है कि रचना मौलिक मालूम होती है। अधिकांश नाटकों को पढ़ने में आनंद नहीं आता । वे स्टेज की सजावट और पात्रों के कौशल के ऋणी होते हैं । संगीत का चस्का न हो तो कोई उन्हें देखना न पसंद करे । इस रचना में यह बात नहीं है । इसमें इतना साहित्यिक रस है कि इसे पढ़ने में भी आनंद आता है ।

× × ×

२. महिलोपयोगी

मेरी सहेली—चार भाग, लेखक संत गोकुलचंद शास्त्री बी० ए०, प्रकाशक अतरचंद कपूर एंडसंस लाहौर ।

यह पुस्तक-माला कन्याओं के कोर्स के लिये प्रकाशित की गई है । पाठों का चुनाव, क्रम, भाषा आदि सभी बातों पर विशेष ध्यान दिया गया है । प्रत्येक पाठ के अंत में अभ्यास के लिये प्रश्न दिए गए हैं । पुस्तक का काग़ज़, छपाई, चित्र बहुत सुंदर हैं ।

× × ×

३. राजनीति

निर्वाचन नियम—लेखक, पं० दयाशंकर दुबे एम० ए०, एल्-एल्० बी० और श्री० भगवानदास केला; प्रकाशक—भारतीय ग्रंथमाला, वृंदावन ; पृष्ठ-संख्या १३०; मूल्य—सर्वसाधारण से ॥-) तथा स्थायी ग्राहकों से ।=); छपाई-सफ़ाई साधारण ।

यह भारतीय ग्रंथमाला का दसवाँ ग्रंथ है । पुस्तक के नाम के अनुसार प्रस्तुत पुस्तक में केवल निर्वाचन-नियम ही का उल्लेख नहीं है, किंतु प्रतिनिधि-प्रणाली

कब से आरंभ हुई, निर्वाचन अधिकार किसे है, निर्वाचक-संघ क्या है, व्यवस्थापक संस्थाओं एवं युक्तप्रांत की म्यूनिसिपैलिटियों और ज़िलाबोर्डों के लिये, तथा राज्य-परिषद् प्रभृति अन्य समस्त निर्वाचक संघ के लिये उम्मेदवार किसे होना चाहिए, किन्हें मताधिकार मिलना चाहिए, किन्हें मताधिकार नहीं मिलना चाहिए, कोई व्यक्ति उम्मेदवार कैसे हो सकता है, मत किस प्रकार दिए जाते हैं, निर्वाचन-संबंधी अनियमित कार्य दंडनीय अपराध माने जाते हैं, निर्वाचन-संबंधी दरख़्वास्तें कब और किसको देनी चाहिए, आदि बातों का समावेश, सरल भाषा में, उत्तमता के साथ किया गया है। पुस्तक के तेरहवें अध्याय में, योग्य लेखकों ने, निर्वाचन में सुधार-संबंधी योजनाएँ भी उपस्थित की हैं। पुस्तक के अंत में—भिन्न-भिन्न प्रांतों से निर्वाचित सदस्यों की परिमित संख्या-संबंधी सूचनाएँ पुस्तक की उपयोगिता को बढ़ाती हैं। पुस्तक महत्त्वपूर्ण है।

वास्तव में इस प्रकार की पुस्तक की अत्यंत आवश्यकता थी। अस्तु। पुस्तक निर्वाचनसंबंधी बातों से अनभिज्ञ उन निर्वाचकों के बड़े काम की है जो किसी प्रकार के प्रलोभन अथवा दबाव में पड़ने के कारण आँख मूँदकर किसी व्यक्ति के लिये अपना मत देते हैं। इस प्रकार की पुस्तक के प्रचार की बड़ी आवश्यकता है। शुद्धि-पत्र लगाने पर भी पुस्तक में कुछ प्रूफ़ की अशुद्धियाँ रह गई हैं। आशा है, दूसरे संस्करण में उनका संशोधन हो जायगा।

"विह्वल"

× × ×

भारतीय शासन—लेखक, बाबू भगवानदास केला। प्रकाशक-व्यवस्थापक भारतीय ग्रंथमाला, वृंदावन। कागज़ और छपाई साधारण। पृ० सं० २१०, मूल्य ॥=)।

इस पुस्तक में लेखक ने यह बतलाया है कि भारतवर्ष का शासन किस भाँति होता है। इसमें १७ परिच्छेद, ३ परिशिष्ट और अंत में पारिभाषिक शब्द हैं। इसमें शासनसंबंधी सब बातों और उन नवीन परिवर्तनों का भी जो रिफ़ार्मस ऐक्ट के बाद हुए हैं, भलीभाँति उल्लेख कर दिया गया है। पुस्तक के अंत में राजनैतिक पारिभाषिक शब्द देकर पुस्तक की उपादेयता और भी बढ़ा दी गई है। हमारे देश का शासन कैसे होता है, इसका यथार्थ ज्ञान बहुत ही थोड़े लोगों को है। परंतु इसकी जानकारी की बड़ी आवश्यकता है, यह सभी मानते हैं। ऐसी पुस्तकों से ही उक्त अभाव की पूर्ति हो सकती है। पुस्तक बड़े काम की है। भारतीय ग्रंथमाला की प्रथम पुस्तक का यह पंचम संस्करण है।

× × ×

राजनीति-शब्दावली—लेखक, प्रकाशक, कागज़ और छपाई उपर्युक्त। पृ० सं० ५०, मूल्य ।-)

उक्त पुस्तक भारतीय ग्रंथमाला की १२ वीं संख्या है। इसमें हिंदी-पारिभाषिक शब्दों का अँगरेज़ी और अँगरेज़ी-पारिभाषिक शब्दों का अर्थ हिंदी में दिया गया है, ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता उत्तरोत्तर बढ़ रही है। यद्यपि इससे बड़े भारी अभाव की पूर्ति की आशा नहीं की जा सकती फिर भी 'अभावे शालिचूर्णं वा' के अनुसार इसकी भी कम उपयोगिता नहीं है। ग्रंथकार का प्रयत्न सराहनीय और पुस्तक संग्राह्य है।

× × ×

४. ज्योतिष और व्याकरण

ज्योतिश्शास्त्र-प्रवेशिका—लेखक, पंडित मुकुंदराम शर्मा। अनुवादक पं० रामदयालु और वृंदावन शर्मा एम० डी० बी०। कागज़ और छपाई बहुत साधारण। पृ० सं० ५०, मूल्य ।)

ज्योतिश्शास्त्र में प्रवेश करने के इच्छुक व्यक्तियों के हितार्थ ग्रंथकर्त्ता ने यह पुस्तक लिखी है। इसमें ४ प्रकरण हैं। प्रथम प्रकरण में तिथि वारादिकों की संज्ञा का ज्ञान, द्वितीय में ग्रहस्पष्ट और भाव-स्पष्टादिकों की गणित क्रिया, तृतीय में विंशोत्तरी प्रभृति दशाओं की रीति और चतुर्थ में वर्षफल बनाने की विधि है। हिंदी भाषा में सरल और सुबोध टीका है। पुस्तक विद्यार्थियों के बड़े काम की है। पुस्तक पं० रामदयालु शर्मा, देव-प्रयाग (गढ़वाल) से मिलती है।

× × ×

सरल संस्कृतप्रवेशिका—लेखक, श्रीयुक्त जे० पी० चौधरी काव्यतीर्थ। प्रकाशक, मेसर्स चौधरी ऐंड संस, नीचीबाग़ बनारस सिटी। कागज़ और छपाई साधारण। पृ० सं० ३६६ मूल्य १।)

पुस्तक हाईस्कूलों के विद्यार्थियों के लाभार्थ लिखी गई है। संस्कृत व्याकरण का आवश्यक और उपयोगी

ज्ञान प्राप्त करने के लिये जिन जिन बातों की आवश्यकता है, उन सबका समावेश इसमें बड़े अच्छे ढंग से किया गया है। ग्रंथकर्ता अपने प्रयत्न में सफल हुए हैं। आशा है, इसकी सहायता से विद्यार्थी संस्कृत में आसानी से प्रविष्ट हो सकेंगे।

× × ×

५. फुटकर

मदरइंडिया का जवाब—लेखिका, श्रीमती चंद्रावती लखनपाल बी० ए०। प्रकाशक सत्यव्रत सिद्धांतालंकार, गुरुकुल कांगड़ी, बिजनौर। कागज़ और छपाई साधारण पृ० सं० १४४। मूल्य ॥)

मिस मेयो और उनकी बदनाम 'मदरइंडिया' का परिचय देना अनावश्यक है। उसके उत्तर में कई पुस्तकें भारतीयों ने लिखी हैं। उनमें एक आध का अनुवाद हिंदी में भी हो चुका है। मूल 'मदरइंडिया' का भी उल्था हिंदी में हो गया है। इस पुस्तक में श्रीमती चंद्रावती ने बड़ी योग्यता से मिस मेयो की झूठी और बे सिर-पैर की बातों का जवाब दिया है। पुस्तक में चार भाग हैं और अंत में एक लंबा परिशिष्ट। परिशिष्ट में पाश्चात्य संसार में निरंतर होनेवाली बुराइयों का वर्णन है। जिसे पढ़कर लज्जा को भी लज्जा मालूम होगी। पुस्तक अच्छी है। श्रीमती चंद्रावतीजी को इतनी उत्तम पुस्तक लिखने के उपलक्ष में हम बधाई देते हैं और इसका बहुल प्रचार चाहते हैं।

× × ×

दंपती-परामर्श—अनुवादक, श्रीयुक्त यशपाल बी० ए० (नेशनल) विशारद हिंदीप्रभाकर। प्रकाशक, हिंदी-भवन, हास्पिटल रोड, लाहौर। कागज़ और छपाई साधारण। पृ० सं० १६८, मूल्य १।≈)।

अंगरेज़ी में डा० मेरी कारमाइकल स्टोप्स की 'Radiant motherhood' नामक पुस्तक है। उसमें उन्होंने 'सुखमय गृहस्थ के रहस्य' बताये हैं। कहते हैं, उक्त पुस्तक का यूरोप में बड़ा आदर है और इसके ४। ५ वर्ष में ही १४ संस्करण हो गये हैं। पुस्तक की उपयोगिता इसी से प्रकट है। इसमें, संसार में सुखपूर्वक रहने के अभिलाषावाले नव-दंपतियों को नेक सलाह दी गई है। इसमें परिशिष्ट के अतिरिक्त २० परिच्छेद हैं। इनमें भावी माता-पिताओं के जानने और मनन करने-योग्य अनेक बातें हैं। अनुवाद की भाषा कुछ क्लिष्ट है परंतु पुस्तक उपयोगी और संग्रह करने-योग्य है।

× × ×

६. पत्र-पत्रिकाएँ।

आर्यप्रकाश—ज्ञान-अंक। संपादक, श्रीहरिशंकर विद्यार्थी। प्रकाशक श्रीबापू भाई कुबेरदास पटेल, मंत्री, मुंबई आर्यप्रतिनिधिसभा। प्राप्ति-स्थान रामजी पुंजा आर्य-प्रकाश मुद्रणालय, स्टेशन रोड, आनंद।

आर्यप्रकाश बंबई आर्यप्रतिनिधिसभा का प्रभाव-शाली साप्ताहिक मुख-पत्र है और गुजराती में निकलता है। बंबई के साप्ताहिक पत्रों में इसका ख़ास स्थान है। गत शिवरात्रि के उपलक्ष में इसका बड़ा सुंदर और दर्जनों चित्रों से अलंकृत विशेषांक निकला है। सभी लेख और कविताएँ मनन करने-योग्य हैं। आर्यसमाज के सभी विचारशील लेखकों के लेखों का इसमें संग्रह है। इस अंक का मूल्य १) है। ऐसा सुंदर अंक निकालने के उपलक्ष में हम संपादक श्रीहरिशंकरजी विद्यार्थी को बधाई देते हैं।

माधुरी के चैत्र के अंक में 'गुजराती का सामयिक साहित्य' शीर्षक टिप्पणी निकली थी। उसमें भूल से लिख दिया गया था कि आर्यप्रकाश अब नहीं निकलता। वस्तुतः इसका स्थान बदल गया है, पर पत्र बराबर प्रका-शित होता है। पाठक भूल सुधार लें।

× × ×

गरीब—संपादक, श्रीप्रयागदास भार्गव बी० ए० वकील अवध चीफ़कोर्ट, लखनऊ। प्रकाशक, श्रीकेदारनाथ भार्गव इलाहाबाद ओरियंटल प्रेस, लखनऊ। कागज़ हलका, छपाई मामूली। वार्षिक मूल्य १।) एक प्रति)।

अभी हाल में ही लखनऊ से हिंदी में यह साप्ताहिक पत्र निकलने लगा है। आकार प्रताप का-सा है। भाषा बोलचाल की है और लेखादि उत्तम हैं। अपने नाम के अनुसार ही गरीबों का प्रबल समर्थक है। हम हृदय से इसका पूर्ण अभ्युदय चाहते हैं। मूल्य सस्ता है। आशा है, हिंदी-भाषियों में इसका उचित आदर होगा।

१. जर्मनी में नारी-जागरण

गत यूरोपीय महासमर के फलस्वरूप पाश्चात्य समाज में जो विप्लव संघटित हुआ है उसका प्रभाव केवल वहाँ की राजनीति, अर्थ-नीति, व्यवसायनीति आदि पर ही नहीं पड़ा है प्रत्युत् पाश्चात्य देशों के नारी-समाज में भी एक नूतन अध्याय की अवतारणा होने लगी है। विभिन्न सामाजिक बंधनों के भस्मस्तूप के मध्य से जिस महामहिमामयी अपूर्वनारी मूर्ति की उत्पत्ति हुई है उसे विस्मयस्तिमित नेत्रों से देखकर समस्त पाश्चात्य संसार चकित एवं मुग्ध हो रहा है। हाम्वार्ग विश्वविद्यालय की अध्यापिका Dr. Agetha Lasch जर्मनी की सर्वप्रथम महिला अध्यापिका हैं। संप्रति उन्होंने जर्मनी में नारी-जागरण के संबंध में एक प्रबंध प्रकाशित किया है जिसका सारांश हम पाठकों के मनोरंजनार्थ यहाँ देते हैं:—

"कुछ समय से जर्मनमहिलाएँ राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिये विशेषरूप से प्रयत्न करती आ रही थीं किंतु उनकी यह चेष्टा अब तक फलवती नहीं हो सकी थी। स्वार्थपर पुरुष उनकी इस उन्नति-प्रचेष्टा को प्रारंभ में ही दबा देते थे। इसके बाद भगवान् के आशीर्वादस्वरूप विश्वव्यापी महासमर का सूत्रपात हुआ जिसके फलस्वरूप जर्मनी के नारीजीवन में एक विराट् उच्छ्वास दृष्टिगोचर होने लगा। इस समय जर्मन-स्त्रियाँ अपने घरों में बैठकर जीवन व्यतीत नहीं करतीं। उन्हें मताधिकार प्राप्त हो गया है और वे जर्मनी की राष्ट्रमहापरिषद् (Reichstag) एवं प्रादेशिक Diet समूहों में पुरुषों के साथ समान भाव से कार्य कर रही हैं। मंत्रित्व के समान-दायित्वपूर्ण पदों पर नियुक्त होकर भी कतिपय जर्मन-महिलाओं ने अपने कृतित्व का परिचय दिया है। आज से तीस वर्ष पूर्व जर्मनी के स्त्रियों के लिये वहाँ के विश्वविद्यालय के द्वार बंद थे। किंतु इस समय यह बात स्वप्न-सी प्रतीत हो रही है। तरुण जर्मनी की अनेक विदुषी महिलाएँ अध्यापन का कार्य करती हुई संसार में विख्यात हो रही हैं। जर्मनी के छात्र इस समय पुरुष अध्यापकों की अपेक्षा नारी अध्यापिकाओं से पढ़ना अधिक पसंद करते हैं। केवल अध्यापन के कार्य में ही नहीं प्रत्युत् कानून, चिकित्सा, दर्शन, अर्थनीति, कल-कारखाना आदि के कामों में सर्वत्र जर्मनमहिलाएँ अपनी जादूगरी प्रतिभा का परिचय देने लगी हैं। पुस्तकालय, अद्भुत वस्तु संग्रहालय (Museum), सरकारी दफ़्तरों का रक्षण प्रभृति दायित्वपूर्ण कार्यों का

संपादन भी अनेक जर्मन-महिलाएँ सुदक्षरूप से इस समय कर रही हैं। जर्मनी की वैज्ञानिक गवेषणाशालाओं में जर्मन-महिलाएँ जिस गवेषणाशक्ति का परिचय दे रही हैं उससे तो यही बोध होता है कि निकट भविष्य में ही जर्मन महिलाओं में कतिपय न्यूटन एवं गेलिली उत्पन्न हो जायँगी। जर्मनी में स्त्री-शिक्षा किस द्रुतगति से अग्रसर हो रही है यह निम्न-लिखित ब्योरे से भली-भाँति प्रकट हो जायगा।

सन् १६१३ साल में जर्मनी में नारी-चिकित्सकों की कुल संख्या थी १६५ किंतु इस समय अर्थात् १६२७ में वह संख्या १६२६ तक पहुँच गई है। १६१४ ईसवी में जर्मनी में महिला छात्रों की संख्या ४१०० थी और इस समय ७२५६ जर्मन महिलाएँ विभिन्न विश्व-विद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। इन ७२५६ विद्यार्थियों में ३०५० दर्शन, १२०० पदार्थ-विज्ञान, ११५० क़ानून एवं अर्थनीति, १२०० डाक्टरी, २५० दंत-चिकित्सा, २७० औषधालय (Pharmacy) तथा २६ धर्मशास्त्र की शिक्षा प्राप्त कर रही हैं।

१६२३ ईसवी में शिल्प-विद्यालयों में कुल जर्मन छात्राओं की संख्या थी ६२ और १६२७ में यह संख्या ४७५ तक पहुँच गई है। इस समय छः कोटि जर्मन अधिवासियों में लगभग एक करोड़ स्त्रियाँ विभिन्न अर्थ-कर व्यवसायों में संलग्न हैं। इस प्रकार अपने देश को उन्नति के पथ पर अग्रसर करने के लिये नवयुग के, नव-जीवन के बोधन-मंत्र से उद्बुद्ध होकर जर्मन स्त्रियाँ इस समय अपने कृतित्व का संसार के सामने परिचय दे रही हैं।

× × ×

२. जापानी महिला का कृतित्व

सर्व साधारण पुरुषों की अब तक यही धारणा चली आती थी कि अर्थोपार्जन के कार्य में एकमात्र पुरुष ही सक्षम हो सकते हैं। कुसुम-कोमला नारी कोई विराट् कार्य कर सकेगी इसकी कल्पना कभी किसी ने शायद ही की हो। किंतु वर्तमान युग की अद्भुतकर्मा महिलाएँ अपने कृतित्व द्वारा असंभव को भी संभव सिद्ध कर रही हैं। इस प्रसंग में विश्वविख्यात जापानी महिला व्यवसायी मेडम सुजकी का परिचय हम पाठकों को देना चाहते हैं। इस अद्भुतकर्मा महिला की प्रतिभा एवं कर्म-कुशलता वास्तविकरूप में विस्मयकर है। इस समय आप ३०००००००० कोटि पाउंड के मूल्य की संपत्ति की अधिकारिणी हैं। इस विशाल संपत्ति को इन्होंने उत्तराधिकाररूप में नहीं प्रत्युत् अपनी कर्मकुशलता के बल पर ही अर्जन किया है।

बहुत दिन पहले मेडम सुजकी के स्वामी ने कतिपय कर्मचारियों को साथ लेकर एक छोटा चीनी का कारख़ाना खोला था। इसके बाद सन् १६०५ में इनके स्वामी की मृत्यु होने पर उक्त कारख़ाना के संचालन का कुल भार मेडम सुजकी के ऊपर पड़ा। उस समय से इस कारख़ाने की उन्नति के लिये मेडम सुजकी तन, मन, धन से दत्त-चित्त होने लगीं। जिसके फलस्वरूप आज सुजकी एंड कंपनी विश्वविख्यात हो रही है।

व्यवसाय, वाणिज्य की इस उन्नति के युग में भी इतनी बड़ी विराट कंपनी संसार में इस समय विरल है। इस कंपनी की शाखाएँ समस्त संसार में फैली हुई हैं। संसार के विभिन्न स्थानों में इस कंपनी की तीस बड़ी-बड़ी एजंसियाँ हैं। इस कंपनी के तत्त्वाधान में अनेक बड़े-बड़े जहाज़, जहाज़ तैयारी करने के डक, इस्पात के कारख़ाने, मैदा की कलें, सूत और रबर तैयार करने के कारख़ाने, बंक तथा बीमा कंपनियाँ काम कर रही हैं। इसके सिवा चावल, गेहूँ, चीनी प्रभृति के भी बड़े-बड़े कारख़ाने इस विराट कंपनी के अंतर्गत चल रहे हैं। कर्पूर के व्यवसाय में तो इस कंपनी को समस्त संसार में एकच्छत्र अधिकार (World monopoly) प्राप्त है।

इतने बड़े विशाल व्यवसाय की प्रतिष्ठात्री एवं परि-चालिका मेडम सुजकी की असाधारण प्रतिभा एवं विपुल कर्मशक्ति का अनुमान करने पर आश्चर्य एवं विस्मय प्रकट किये बिना नहीं रहा जाता।

जगन्नाथप्रसाद मिश्र

× × ×

३. श्रीकामेश्वरनारायण शर्मा को प्रत्युत्तर

श्रावण मास की "माधुरी" के विशेषांक में एक लेख श्री कामेश्वरनारायणजी शर्मा का "स्त्री-कर्त्तव्य" पर छपा है। यह लेख मैंने आज ही पढ़ा है। समाचार-पत्रों में ऐसे लेख बहुधा प्रकाशित हुआ करते हैं। पर मैं लेखक से निवेदन कर देना चाहती हूँ कि स्त्रियाँ

अपने कर्त्तव्यों का निरीक्षण स्वयं कर सकती हैं। आपने तो स्त्रियों के कर्त्तव्यों को खब बतलाया! मैं भी स्त्री-जाति का एक अंग हूँ। वर्त्तमान समय में "स्त्रियों का पति के प्रति कर्त्तव्य" आदि का उपदेश सुनकर मुझे बड़ी हँसी आती है।

आप लिखते हैं "स्त्रियों के लिये सर्वदा पातिव्रत्य-धर्म का पालन, सुधा-सदृश फलप्रद है।" इस लेख की पुष्टि करते हुए, आप सीता, सावित्री और दमयंती का उदाहरण देकर नारि-जाति को कोसते हैं!! मैं कहती हूँ कि "पुरुषों के लिये पत्नी-व्रत-धर्म का पालन, क्या सुधा-सदृश फलप्रद नहीं होगा?"

वर्त्तमान अवस्था में भी पुरुषों का ऐसे लेख लिखना, मैं केवल स्वार्थपरायणता ही समझती हूँ। क्या लेखक यह नहीं जानते कि इस समय स्त्रियाँ पुरुषों की काम-लिप्सा-पूर्ति का ही केवल साधन हैं! सैकड़ों स्त्रियाँ पुरुष-समाज के अत्याचारों से पीड़ित हैं। लाखों अनाथ विधवाओं के करुण क्रन्दन से आकाश गूँज रहा है।

कितने ही पुरुष नित्य अबलाओं पर बलात्कार करते हैं, मारते हैं, पीटते हैं। भाँति-भाँति के पाशविक अत्याचार करते हैं। बहुतेरी स्त्रियाँ ऐसी हैं जिनको अपनी चहारदीवारी से कभी बाहर निकलने का अवसर ही नहीं मिलता। इस तरह रोते झींकते ही उनकी सारी आयु व्यतीत हो जाती है। इस पर भी उन पतिपरायणा देवियों को यह विश्वास नहीं है कि हमारी आँख मीचने के पीछे पतिदेवताओं का हमारी संततियों से क्या व्यवहार होगा। मैं लेखक महोदय से पूछती हूँ कि क्या आप यह नहीं जानते कि भारतीय स्त्रियाँ मृत्यु पर्यन्त पति-भक्ति में, पति की शुभ-कामना में ही निरत रहती हैं। केवल इतना ही नहीं, भावी जन्म में भी उसी पति का संग चाहती हैं।

क्या कभी किसी पुरुष को भी इतना घोर तप करते हुए देखा है? मैं पूछती हूँ पति की कितनी ही प्यारी और जीतेजी उसके हृदय की सर्वस्व, अगर आज इस संसार से विदा हो जाती है, तो पुरुष झट प्रतिज्ञा से विमुख हो जाते हैं कि नहीं? उनको अपनी प्रतिज्ञा का तनिक भी ध्यान नहीं रहता। वह सोचते नहीं कि मेरी हृदयेश्वरी किन किन कष्टों का सामना करती हुई इस लोक से चल बसी!

सच जानिए, मैं तो यही कहूँगी कि वर्त्तमान समय में पुरुषों ने एक नहीं, वरन् कई विवाह करने का ठेका ले रखा है। पुरुषों को चाहे वे बाल हों, युवा हों अथवा वृद्ध हों; उनके घर में पोते हों, पड़पोते हों, विवाह करने का अधिकार सदा बना रहेगा। उस समय उनको समान आयु का भी ध्यान नहीं रहता। विधवा-विवाह से नाक भौं चढ़ जाती है। किसी तरह हो, उनको तो कुमारिका ही चाहिए।

आज जिन पुरुषों का जी यह चाहता है कि हम स्त्रियों को पति-व्रत धर्म का उपदेश दें। क्या वह यह नहीं जानते कि दीन भारत में करोड़ों अक्षतयोनि बाल-विधवाएँ अपने भाग्य को रोती हैं; और पुरुष उनके लिये कुछ नहीं करते। अगर कुछ न करें, तो विधुर का विवाह विधवा से ही कर लें।

जो दुर्व्यवहार आज तक स्त्री-जाति से किया गया है और किया जा रहा है, उसको देखकर स्त्रियाँ पुरुषों के 'तुल्य अधिकार' न माँगें तो और क्या करें? सदियों तक दासता सही! पुरुषों ने अपने व्यवहार का पर्याप्त परिचय दे दिया! अब उनके मुख से पति-व्रत धर्म का उपदेश नहीं फबता। जहाँ तक हो सकेगा, स्त्रियाँ अपना कर्त्तव्य पालन करती हैं और करेंगी, पर इतना करने पर भी कोई सुधार दिखाई न दे, तो मैं कहती हूँ कि दोष किसका है?

लेखक महोदय ने सीता, सावित्री और दमयन्ती को तो याद किया। किंतु उपर्युक्त देवियों का स्मरण करते हुए उन्हें मर्यादापुरुषोत्तम राम, ब्रह्मचारी हनूमान् और भीष्म-पितामह की याद क्यों नहीं आई? क्या उन्हें पुरुषों की सतयुगी मर्यादा भूल गई? खेद है, 'स्थल-संकोच' के कारण उन्हें लेख जल्दी समाप्त करना पड़ा। मेरी राय में तो सम्पादक महोदय लेखक को और भी लिखने की आज्ञा दें जिससे वे अपने हृदय के और भी उद्गारों को प्रकट करें।

अन्त में मैं लेखक से एक निवेदन करके क्षमा माँगती हूँ। अगर यही लेख किसी रमणी का होता और वह पति-व्रत धर्म के भावों को स्पष्ट करती तो मुझे ज़रा भी दुःख न होता। वरन् मेरा हृदय गद्गद हो जाता। मुझे उस रमणी के भावों पर गर्व होता। मेरे इस उत्तर से यह न समझिएगा कि मैं पति-सेवा के विरुद्ध हूँ, या पुरुषों की अवहेलना ही में प्रसन्न हूँ। नहीं, मैं चाहती हूँ कि जहाँ

पुरुष सीता, सावित्री और दमयन्ती के चरित्र वर्णित करते हैं, वहाँ राम, लक्ष्मण और भीष्मादि की मर्यादा का भी ध्यान रखें।

सामाजिक उन्नति के लिये जितना उत्तरदायित्व पुरुषों पर है, उतना ही स्त्रियों पर भी है। जो समाज स्त्रियों के उत्तरदायित्व को न समझता हुआ उनके स्वत्वों को कुचलने की चेष्टा करता है, वह कभी उन्नति नहीं कर सकता। ऐसे अन्यायी समाज की उन्नति कदापि सम्भव नहीं। राष्ट्र निर्माण में स्त्री के उत्तरदायित्व पर दृष्टि डालना, स्त्रियों को समाज के अधिकारों के योग्य बनाना नितान्त आवश्यक है।

गोपालदेवी हिंदी-प्रभाकर

---

२. धर्म-वीर बालक

(१)

आओ बालक चतुर सुजान; तुम्हें सुनाएँ चरित महान।
जिससे बनो वीर बलवान; तुम भी पाओ सुख सम्मान।

(२)

है पंजाब प्रान्त प्रख्यात; बल वीरता विश्व-विख्यात।
गुरु गोविंदसिंह रणधीर; उसी देश के थे नरवीर।

(३)

थे स्वभाव के सरल उदार; म्लेच्छ वंश के शत्रु अपार।
फतहसिंह जोरावर नाम; थे इनके दो सुवन ललाम।

(४)

पिता तुल्य यह भी सुकुमार; दोनों शिशु थे शूर अपार।
केहरि-शावक सम वे बंधु; थे निर्भीक शौर्य के सिंधु।

(५)

दैवयोग से युगुल कुमार; भोले-भाले गुण आगार।
प्रतिभाशाली परम प्रवीन; हुए शत्रु के हाथ अधीन।

(६)

मुगल सैन्य का जो था शूर; सेनापति वर्जीरखाँ क्रूर।
देख बालकों का प्रिय रूप; बोला तुम्हें बनादूँ भूप।

(७)

किंतु तजो तुम अपना धर्म; कलमा पढ़ो छोड़ निज कर्म।
बोले हम हैं बालक वीर; संकट में होते न अधीर।

(८)

चाह नहीं पावें सम्राज; जग के प्रिय सुंदर सुख साज।
दुखद मृत्यु या मां की गोद; दोनों में मिलता है मोद।

(९)

शेष तजै चाहे भू-भार; चढ़े हिमाचल सुर-सरि-धार।
सुधा स्रवै रवि, इंदु अंगार; अमृत पान से तन हो छार।

(१०)

दहै पवन, पावक हो शीतल; नष्ट भ्रष्ट हो यह जगतीतल।
तो भी धर्म कर्म सम्मान; तजें न हम जब तक तन प्रान।

(११)

कहा म्लेच्छ ने इन्हें तुरंत; चुन दो ईंटों में हो अंत।
फतहसिंह निज बंधु निहार; हुआ हृदय में व्यथित अपार।

(१२)

भय्या! लखकर मेरी पीर; कहीं न तुम हो अधिक अधीर।
तज दो धर्म, आत्म-सम्मान; इसी सोच में व्याकुल प्रान।

(१३)

बंधु! तजो यह चिंता शोक; हम हैं वीर विश्व-आलोक।
चुने गए ईंटों में सत्वर; केवल शीश रहे जब ऊपर।

(१४)

कहा यवन ने तज दो बान; दें हम तुमको जीवन-दान।
बोले सुनकर वे सुकुमार; वीरों को यह तन है भार।

(१५)

न तज सकते निज शान: धर्म हेतु होते बलिदान।
गए यों दोनो बंधु; अस्त अरुण दो, हों ज्यों सिंधु।

(१६)

तजे प्राण पर तजा न धर्म; सहे कष्ट पर तजा न कर्म।
हुआ अंत! यों उनका अंत: किंतु कीर्ति है व्याप्त दिगंत।

(१७)

शिशुओ! तुम में भी हो शान; तो निज मन में लो यह ठान।
हम भी बन सकते मतिमान: धर्म-वीर बालक बलवान।

रमाशंकर मिश्र "श्रीपति"

× × ×

२. मियाँ गजमार खाँ.

किसी कस्बे में एक दर्ज़ी रहा करता था। एक दिन बैठा हुआ वह अपनी दूकान में कपड़ा सी रहा था कि उधर से एक मक्खनवाली मक्खन बेचती हुई निकली। मक्खनवाली की आवाज़ सुनते ही इस दर्ज़ी के मुँह में पानी भर आया। सोचने लगा पैसे तो पास हैं नहीं, मक्खन खरीदूँ तो कैसे खरीदूँ। पर पास ही एक बनिए की दूकान थी। झट उससे चार पैसे उधार लिए और मक्खनवाली को बुलाकर चार पैसे का मक्खन खरीदा। दस्तरख़्वान में से बड़ी डबल डबल दो रोटियाँ निकालीं और उस मक्खन को उनपर खूब लपेटा। खाने ही को था कि इतने में एक गाहक अपना कुर्ता लेने के लिये आ पहुँचा। उससे पैसे भी मिलने थे। इसलिए उसने उन मक्खन लगी हुई दोनों रोटियों को पास ही पड़ी हुई एक तिपाई पर रख दिया और उस आदमी के कुर्ते में बटन टाँकने लगा। इसी बीच में कहीं मक्खियों की निगाह उन पर पड़ गई। फिर क्या था, सबकी सब दल-बल सहित उस शिकार पर टूट पड़ीं। इधर मियाँ दर्ज़ी राम कुर्ते के बटन टाँकने में मस्त थे और उधर मक्खियों का कलेऊ हो रहा था। बात की बात में उन्होंने आधा मक्खन साफ़ कर दिया। ज्यों ही मियाँ खलीफ़ा ने गाहक के हाथ में कुर्ता देकर रोटियों की तरफ़ निगाह फेरी, त्योंही उनकी त्योरी बदल गई। मारे क्रोध के होंठ काँपने लगे। आँखें लाल टेसू हो गईं। एक तो भूख, दूसरे दिन दहाड़े इतनी तादाद में जमा होकर मक्खियों का बेचारे की रोटी और मक्खन का लूटना। कहाँ तक बर्दाश्त करता। अगर उस समय उसके पास *तलवार होती, तो एक-एक मक्खी का सर धड़ से* अलग कर देता। पर अफ़सोस, हाथ खाली था। फिर भी गुस्सा बुरा होता है, ज़ब्त न हो सका। झट कपड़ेवाला गज़ उठा ही तो लिया। वीरों की डाँट से शत्रु-दल तितर-बितर हो जाता है। कुछ तो गज़ उठाते ही उड़ गईं। जो बाक़ी बचीं उनके जान पर खेल गईं। गईं तो थीं मक्खन खाने, पर वहाँ खुद ही चटनी होगईं। शुमार लगाने पर मालूम हुआ कुल मिलाकर सात मक्खियाँ शहीद हुईं।

इस मृत्यु-संख्या को देख मियाँ ख़लीफ़ा खिलखिलाकर हँस पड़े। सारा क्रोध शांत हो गया। "कितनी भारी विजय! एक बार में सात खून! मेरा जैसा बहादुर और कौन हो सकता है। लोग सुनकर दंग रह जायँगे। जिस समय वे सुनेंगे कि मैंने एक बार में सात खून किए, तो वे दाँतों तले उँगली दबाएँगे। उन्हें यह क्या मालूम कि आदमी थे या मक्खियाँ। और मैं उन्हें बताने कब लगा।" इस प्रकार मन ही मन मुँगौड़े खाते हुए मियाँ खलीफ़ा खूब खुश थे। झटपट बचा-बचाया मक्खन और रोटी भूखे पेट की नज़र किया। बेभाड़ के दो हाथी-रोट और दो लोटे पानी से पेट

फूलकर नगाड़ा हो गया। डकारते हुए आप तिपाई से नीचे आ बैठे। खाना खाते ही उसे अपनी इस बहादुरी की शोहरत करने की तरकीब सूझ गई थी। थैले से कपड़ा निकाल कर एक जाँघिया और उसका कमरबंद बनाया और उस कमर-बंद के ऊपर बड़े मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा—"एक बार में सात खून।" मारे खुशी के उस दिन दूकान भी जल्दी ही बढ़ा दी। बाक़ी समय यार-दोस्तों में बात-चीत और गप-शप में काट दिया। उधर दूकान पर जो आता, बंद देखकर लौट जाता। अब तो मियाँ खलीफ़ा गज़-मारखाँ के दिमाग में और ही खयाल चक्कर लगा रहे थे, दूकान और गाहकों की फ़िक्र कौन सोचे। ज्यों-त्यों करके वह दिन और वह रात कटे।

सबेरा होते ही सफ़र की तैयारी होने लगी। "यहाँ से कहीं दूर चलकर देखना चाहिए। जिस समय लोग मेरे कमर-बंद पर लिखे हुए इन शब्दों को पढ़ेंगे मुझे बड़ी इज्ज़त की निगाह से देखेंगे। धाक जम जायगी। जिससे जो चाहूँगा ले सकूँगा। यहाँ जब दिन भर सुई और तागे से लड़ना पड़ता है और आँखें फोड़नी पड़ती हैं तब कहीं जाकर चवन्नी से भेंट होती है। अगर कहीं कोई आँख का अंधा और गाँठ का पक्का मिल गया, तब तो फिर कहना ही क्या। माल कटेंगे। यहाँ तो शाम तक रो धोकर बेफ़िक्र की दो रोटियाँ मिलती हैं।" इस प्रकार अपने भावी जीवन के संबंध में ऐसी ही अनेकों कल्पनाएँ करता हुआ वह सफ़र की तैयारी करने लगा। एक झोले में थोड़ी सी रोटी और बासी मलाई, जो शाम को कहीं से ले आया था, रखकर घर से निकल पड़ा। बाहर निकलते ही एक झाड़ी में फँसी हुई एक छोटी सी चिड़िया दिखाई पड़ी। "आहा! कैसा अच्छा सगुन मिला? इसे भी साथ में ले लेना चाहिए! और नहीं तो कहीं नाश्ते का ही काम देगी।" यह सोचकर उस चिड़िया को भी पकड़ कर झोले में रखा और चल दिया।

रास्ता बहुत दूर तक लंबा चला गया था। चलते-चलते वह एक जंगल के पास पहुँचा। चारो तरफ़ सन्नाटा था। रास्ता जंगल के भीतर होकर गया था। मियाँ गज़मार खाँ पहिले तो सटपटाए; पर मजबूरी थी! चारो ओर जंगल ही जंगल था। इसके सिवा और कोई दूसरा मार्ग न था। दिल कड़ा करके आगे बढ़े। थोड़ी दूर चलकर जो आँख उठाई तो क्या देखता है कि सामने एक टीले पर एक भीम-काय दानव खड़ा है। दानव को देखते ही इसके रोंगटे खड़े हो गए। समझा, अब खैर नहीं। सारी शेखी मिट्टी में मिल जायगी। जितना बड़ा मेरा डील-डौल उतना बड़ा तो इसका पेट है। आज इसके चंगुल से बचना कठिन है। पर फिर दिल को कड़ा किया। आगे बढ़कर बोला—"भाई साहब, सलाम।" आवाज़ सुनते ही दानव चौंक पड़ा। बड़े ज़ोर से उसकी ओर घूरकर बोला—"अबे छोकड़े! तू कौन है? यहाँ कैसे आया?" दर्ज़ी ने भी किञ्चित् सँभलकर उत्तर दिया—"मैं? भाई साहब! मैं सफ़र के लिये निकला हूँ। मैंने एक बार में सात खून किए हैं। [कमर-बन्द की ओर संकेत करते हुए]। क्या आप भी मेरे साथ चलेंगे? दानव ने फिर उसी तरह कड़क कर कहा—"अबे छोकड़े! तेरे साथ? ज़रा मेरे डील-डौल को देख और अपने को देख। तू क्या कर सकता है? अच्छा बता, जो मैं कर सकता हूँ वह तू कर सकता है?" इतना कह-

कर उसने ज़मीन से एक बड़ा पत्थर उठाया और दोनों हाथों से उसे ज़ोर से दबाया। दबाते ही उसमें से पानी निकल पड़ा। दानव ने कहा—"बोल, तू ऐसा कर सकता है?" डील-डौल तो उस दर्ज़ी का भुट्टा-सा था, पर समयानुकूल बात सोचने में वह बीरबल का मुक़ाबिला करता था। झट बोल उठा—"हाँ, क्यों नहीं कर सकता हूँ।" इतना कहकर उसने अपने झोले से वह बालाई लगा हुआ रोटी का टुकड़ा निकाला और एक हाथ से उसे दबाया। उसमें से पानी बह चला। यह देख उस दानव ने एक दूसरा पत्थर उठाया और एक हाथ में लेकर ज़ोर से फेंक दिया। पत्थर बड़ी दूर जा गिरा। बोला—"बतला, यह कर सकता है?" दर्ज़ी ने कहा—"हाँ, क्यों नहीं। यह भी कर सकता हूँ।" इतना कहकर उसने झोले से चिड़िया निकाली और थोड़े से हाथ के झिटके के साथ उसे फेंक दिया। चिड़िया फड़-फड़ाती हुई उड़ चली। थोड़ी दूर तक तो दिखाई पड़ती रही। इसके बाद आँखों से ओझल हो गई। यह देखकर दानव दंग हो गया। अब तो वह कुछ ढीला पड़ा। उसने समझा—'यह तो मुझसे भी बढ़कर मालूम पड़ता है।' अब उसने कुछ नर्मी से बातें करना शुरू किया। उसी जगह एक बड़ा भारी पेड़ गिरा हुआ पड़ा था। दानव ने कहा—"अच्छा! आओ मेरे साथ इस पेड़ को तो उठाकर ले चलो।" दर्ज़ी ने कहा—"अच्छा, चलो चलता हूँ।" इतना कहकर वह झट उस पेड़ के सिरे की तरफ़ जा खड़ा हुआ। तने की ओर दानव लगा। जब दानव ने पेड़ को उठाकर अपने कंधे पर रख लिया तो पीछे-पीछे उस पेड़ की सूखी टहनियों को पकड़कर वह दर्ज़ी भी चल दिया और थोड़ी दूर के बाद कूदकर खुद भी एक डाली के ऊपर बैठ गया। दानव के कंधे पर अब काफ़ी बोझ हो गया। क़रीब तीन ही चार फ़र्लांग गया होगा कि बोझ के मारे दानव-देव का कंधा फटने लगा। सारा शरीर पसीने से तर हो गया। आगे चलने की हिम्मत न रह गई। बोले—"भाई, अब इसे उतार कर रख देना चाहिए। सुस्ता लें फिर चलेंगे।" डाल के ऊपर पीछे बैठे हुए दर्ज़ी मियाँ खलीफ़ा गज़मारखाँ ने कहा—"अभी थोड़ी दूर और चले चलो, अभी मैं तो थका नहीं हूँ। ख़ैर, जैसी आपकी इच्छा।" दानव देव में अब आगे चलने की शक्ति न थी, बोले—"भाई रख दो। थोड़ा सुस्ता लेने के बाद फिर चलेंगे।" इतना कहकर उसने पेड़ कंधे पर से उतार कर फेंक दिया। दर्ज़ी भी कूदकर अलग खड़ा हो गया। उसके चेहरे पर थकान का कहीं नाम भी नहीं था। यह देख दानव बड़ा विस्मित हुआ। अब तो उसको इस छोटे से डील-डौलवाले मनुष्य के प्रति बड़ी ईर्ष्या पैदा हुई। अभी तक वह अपने बराबर बली किसी को भी नहीं समझता था, अब तो उसको एक ऐसे आदमी से हार खानी पड़ी जो डील-डौल में उसकी एक टाँग के बराबर भी नहीं था। ऐसी अवस्था में ईर्ष्या पैदा हो जाना स्वाभाविक था। अस्तु।

संध्या हो चली थी। भगवान् सूर्यदेव अपनी दिन भर की यात्रा समाप्त कर धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर जा रहे थे। सारे वन्य पशु-पक्षी भी अपने-अपने आश्रय-स्थानों की ओर प्रस्थान कर रहे थे। अतएव राक्षस-देव ने कहा—"आओ अब चलें। सबेरे उठा ले चलेंगे। इस समय बहुत देर हो जायगी। भूख भी बड़े ज़ोर की लगी है।

आओ, तुम भी हमारे साथ चलो। आज तुम हमारे मेहमान रहोगे।" दोनों साथ-साथ चल दिए। आकर राक्षस के मकान पर पहुँचे। इस समय काफ़ी अँधेरा हो चुका था। उस राक्षस के और भाई भी घूम-घाम कर घर आ गए थे। सबके-सब अलाव के पास बैठे हुए भोजन कर रहे थे। इसी बीच में ये दोनों जा पहुँचे। राक्षस ने अपने सब भाइयों से अपने साथी का परिचय कराया। सबके-सब वहीं पर बैठ गए। सारे राक्षस लोग इस नवागत व्यक्ति को देखकर बड़े खुश हुए। उन्होंने सोचा; बिना ढूँढ़े आप-ही-आप कैसा शिकार हाथ आ गया। सब लोग खूब छककर खायँगे।

भेड़ियों की माँद में सिवाय हड्डियों के ढेर के और क्या हो सकता है। इन राक्षसों के यहाँ खाने-पीने, चाय-पानी, आदि का जो कुछ सामान था सब मांस-ही-मांस। यदि कहीं संयोगवश कोई वैष्णव-पंथी वहाँ जा पहुँचता, तो शायद उसके भगवान के भोग के लिये भी वहाँ मांस को छोड़ और कुछ न मिलता। मियाँ गज़मारखाँ का इसी मांस के दो बड़े-बड़े टुकड़ों से अतिथि-सत्कार किया गया। यद्यपि यह कच्चा मांस खाने के आदी न थे, तो भी इनकार करते तो कैसे करते; वज़ादारी में फ़र्क पड़ता था। साथ ही उनकी नाराज़ी का भी खयाल था। दोनों मांस के टुकड़े ले लिये। राक्षस ने उसे सोने के लिये एक चारपाई बतला दी जो एक कमरे में पड़ी थी। रात बहुत हो गई थी। खलीफ़ा गज़मारखाँ जाकर उस पर पड़ रहे। लेकिन चारपाई इतनी बड़ी थी कि उसके जैसे आठ-दस आदमी उस पर लेट सकते थे। सब राक्षस लोग भी जाकर लेट रहे। सब सो गए, पर खलीफ़ा साहब के पुराने दोस्त जगते रहे।

जब क़रीब आधी रात बीत गई, सब लोग खूब खर्राटे मारकर सोने लगे, तो वह दानव उठा। अपनी तबल उठाई और धीरे-धीरे उस कोठरी की ओर चला जिसमें दर्ज़ी पड़ा सो रहा था। अँधेरा तो था ही। चुपके-चुपके चारपाई के पास जाकर बड़े ज़ोर का जो हाथ मारा तो चारपाई दो टुकड़े हो गई। इसके बाद आकर वह फिर अपनी चारपाई पर सो रहा। बच्चा को खूब मज़ा चखाया, और मेरी बराबरी कर ले, इस प्रकार सोचता हुआ वह दानव बड़ा प्रसन्न था।

सबेरा हुआ। सब लोग उठे। वह दानव भी उठा और रात का सारा माजरा अपने भाइयों से कह सुनाया। सबके-सब मियाँ गज़मारखाँवाली कोठरी की ओर उनको देखने के लिये गए। पर वहाँ कोई न था सब बड़े चक्कर मे आए। एक दूसरे पर उसके खा जाने का संदेह कर सब आपस में लड़ने लगे। आपस में खूब मल्लयुद्ध हुआ। लड़-भिड़कर सब बाहर निकले। थोड़ी ही दूर गए होंगे कि एक ठिगने कद के आदमी ने सामने आकर सलामी दागी। सबके सब चौंक पड़े। बड़े ग़ौर से देखने लगे। यह और कोई नहीं : खलीफ़ा गज़मारखाँ ही थे। जिस समय राक्षस सो गए थे वह चारपाई पर से उतरकर अलग एक कोने में जाकर सो रहा था और चार बजे तड़के ही, जब कि अभी सबके-सब सो ही रहे थे, निकल भागे थे। दानवों को इस बात की क्या खबर। उन्होंने समझा, यह उसी आदमी की, जिसको हमने रात में मारा था, प्रेतात्मा है। साथ ही उसके कमरबंद पर **'एक वार में सात खून'** लिखा देखकर और चकराए।

(अपूर्ण)

माधवप्रसाद मिश्र

तक्र के भेद

(२)
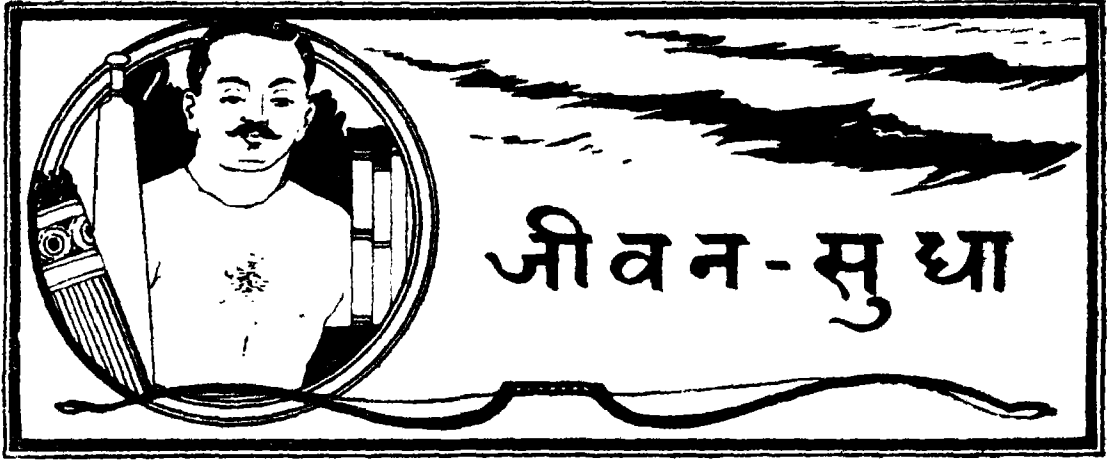
रम किए हुए दुग्ध को अम्ल (खट्टे) पदार्थों के संयोग से जमाकर फिर उसे मथानी (रई) द्वारा मथकर जो वस्तु तैयार की जाती है उसे तक्र कहते हैं—यह तक्र रचना-भेदवश पाँच प्रकार का होता है। * जिनके नाम इस प्रकार हैं।

घोल, मथित, तक्र, उदश्वित और छच्छिका (छाँछ)

घोल तक्र उसे कहते हैं जो दही साढ़ी-(जो दही जमाने पर ऊपर मलाई जम रहती है) युक्त विना जल का छींटा दिए हुए मथा जाता है।

मथित तक्र वह है जो साढ़ी (मलाई) निकालकर विना जल का छींटा दिए हुए मथा गया है।

तक्र उस भेद का नाम है जो दही चतुर्थांश जल मिलाकर मथा गया है।

उदश्वित् आधा जल मिलाकर मथे हुए दही को कहते हैं।

छच्छिका (छाँछ) अधिक जल मिले हुए दही को मथकर नैनू (मक्खन) निकाल लेने पर जो भाग शेष रह जाता है उसे कहते हैं।

तक्र के गुण * ।

क्षुधा-वर्द्धक, नेत्र-रोग-नाशक, प्राण का देनेवाला, रक्त तथा मांस का बढ़ानेवाला, आमनाशक, कफ तथा वात-नाशक, यह तक्र के प्रधान गुण हैं।

गुण—घोल-नामक तक्र शकर मिलाकर सेवन करने से आम्र के सदृश गुणकारक हो जाता है। आम्र वीर्यवर्द्धक, स्निग्ध, (रूक्षतानाशक) सुख तथा बल का देनेवाला, गुरु (भारी), वातनाशक, रुचिकारक, वर्ण को उत्तम करनेवाला, शीतल, हृदय को प्रिय, तथा पित्त का अनुत्पादक, (उत्पन्न न करनेवाला) एवम् स्त्री में हर्षदायी होता है। यह संपूर्ण गुण शकर मिले हुए घोल में पाये जाते हैं।

मथित-तक्र—वात-पित्त तथा कफ-पित्त-नाशक, एवम् हृदय को प्रिय है।

तक्र—स्वलक्षण संपन्न तक्र ग्राही (मल का बाँधनेवाला) कसैला, खट्टा, पाक में तथा रस में मधुर, हलका, उष्णवीर्य, अग्नि को प्रदीप्त करनेवाला, वीर्यवर्द्धक, तृप्तिकारक तथा वातनाशक एवम् ग्रहणी आदि रोग में पथ्य है। तक्र हलका होने के कारण ग्राही है और पाक में मधुर होने के कारण पित्त का अनुत्पादक है अर्थात् पित्त को कुपित नहीं करता। अम्ल, उष्णवीर्य, दीपन, वृष्य,

---

ससरं निर्जलं घोलं मथितं त्वसरोदकम् । तक्रं पादजलं प्रोक्तमुदश्विदर्द्धवारिकम् । छच्छिका सारहीना स्यात् स्वच्छा प्रचुरवारिका ॥

* कोई तक्र लक्षणवाले को उदश्वित् और उदश्वित् लक्षणवाले को तक्र कहते हैं; किंतु बहुमत न होने से यह मान्य नहीं है।

* क्षुद्वर्द्धनं नेत्ररुजापहं च प्राणप्रदं शोणितमांसदं च ।
आमाभिघातं कफवातहन्तृ त्वष्टौ गुणा वै कथिता हि तक्रे ।

योगरत्नाकर

प्रीणन होने से वातनाशक है। कसैला, उष्ण और विकाशी तथा रूक्ष होने के कारण कफनाशक है। इस प्रकार तीनों दोषों को शांत करते हैं। इसी तक्र के विषय में पूर्व लिखा जा चुका है कि इसका सेवन करनेवाला कभी व्यथित नहीं होता और इसका जलाया हुआ रोग दूसरी बार फिर उत्पन्न नहीं होता।

उदश्वित् तक्र कफकारक तथा बल का देनेवाला, एवम् आम का अत्यंत शीघ्र नाश करनेवाला है।

छच्छिका (छाँछ) शीतल, हलकी, वात-नाशक, तृषा और पित्तनाशक तथा कफ-कारक है। लवण मिलाकर सेवन करने से अग्नि को प्रदीप्त करती है।

तक्र में जिस प्रकार जल और घृत मिला रहेगा उसी प्रकार गुणों में भी भेद होगा। जिस तक्रसे पूर्णांश में घी निकाल लिया गया हो वह तक्र लघु होने से पथ्य होता है। जिसमें से थोड़ा घी निकाला गया हो वह पूर्वोक्त तक्र से गुरु तथा वीर्य-वर्द्धक एवम् कफकारक है। जिस तक्र से किंचिन्मात्र भी घी न निकाला गया हो वह तक्र पूर्वोक्त तक्र से गाढ़ा, भारी, पुष्टिकारक, एवम् कफ करता है। इसी प्रकार जल के न्यूनाधिक होने पर भी तक्रगुण परिवर्तित हो जाते हैं। इनके भेद पूर्व लिखे ही जा चुके हैं।

मंदादिदधि से उत्पन्न हुए तक्र के गुण

जिस प्रकार के दही से जो तक्र बनाया जाता है उस तक्र में उसी दही के अनुकूल गुण पाये जाते हैं ‡।

(१) जो दही दूध के सदृश, अव्यक्त रसवाला, कुछ गाढ़ा हो वह मंद नामक दही है। इससे बनाया गया तक्र मल तथा मूत्र का प्रवर्तक, त्रिदोष-वर्द्धक, एवम् दाह-कारक है।

(२) जो दही भली प्रकार से जम गया हो और जिसमें मिठास स्पष्टरूप से आ गई हो तथा खट्टापन न ज्ञात होता हो उसे स्वादु कहते हैं। स्वादु से बनाया गया तक्र अभिष्यन्दी, (गुरुता उत्पन्न करनेवाला), मैथुनशक्ति-वर्द्धक, मेदा तथा कफ उत्पन्न करनेवाला, वातनाशक, पाक में मधुर और रक्तपित्त को स्वच्छ करनेवाला है।

(३) जो दही खट्टा, मीठा और कषायरस-युक्त हो उसे स्वाद्वम्ल कहते हैं इससे उत्पन्न हुए तक्र के गुण सामान्य तक्र के तुल्य हैं।

(४) जिस दही से मिठास जाती रही हो और खट्टापन आ गया हो उसे अम्ल कहते हैं इस दही से उत्पन्न हुआ तक्र अग्नि-वर्द्धक, पित्त, रक्त तथा कफ-वर्द्धक है।

(५) जिस दही के खाने से दाँत गुठला जायँ और रोम खड़े हो जायँ और कंठ आदि में दाह पड़ने लगे उसे अत्यम्ल कहते हैं। इससे बनाया गया तक्र अग्नि-दीपक, रक्त-विकार, वात तथा पित्त को अधिक उत्पन्न करनेवाला होता है।

गौतक्र

गौ का तक्र पवित्र अग्नि-वर्द्धक, बुद्धि बढ़ानेवाला, अर्श तथा त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) का शांत करनेवाला, गुल्म, अतीसार, प्लीहा, अर्श, संग्रहणी में हितकारक है।

भैंस का तक्र

कफ का उत्पन्न करनेवाला, गाढ़ा तथा सूजन उत्पन्न करनेवाला, गरुआ, बलकारक, वात-पित्त को दूर करनेवाला है।

छाग (बकरी) का तक्र

चिकना, हलका, त्रिदोष-(वात, पित्त, कफ) नाशक, गुल्म, अर्श, संग्रहणी, क्षयी, दुर्बलता, शोथ (सूजन), तथा पांडुरोग का दूर करनेवाला है।

तक्र-विशेष के गुण

कच्चा (जो औटा न गया हो) तक्र आमाशय के कफ तथा आम को नाश करनेवाला और कंठ में कफ उत्पन्न करनेवाला है।

औटाया हुआ तक्र पीनस, श्वास, कास आदि में विशेष लाभदायी है।

दोष-विशेष में तक्र-प्रयोग (चिकित्सा)

वात-प्रधान रोगों में सोंठ—तथा सैंधव नमक पड़ा हुआ अम्ल (खट्टा) तक्र उत्तम है और घोल नामक तक्र में यदि हींग, ज़ीरा और सैंधव नमक मिलाकर पिया जाय तो अत्यंत कुपित हुई वायु को शांत करता है। बवासीर तथा अतीसार-नाशक, रुचिदायक, पुष्टिकारक, बल-वर्द्धक और वस्ति-शूल-नाशक है। पित्त-जनित रोगों में शकर मिला हुआ मीठा तक्र विशेष लाभदायी होता है। कफ की वृद्धि में सोंठि, पीपरि, मिर्च-युक्त तक्र गुणदायी होता है।

‡ यान्युक्तानि दधीन्यष्टौ तद्गुणं तक्रमादिशेत्—
भावप्रकाश

तक्रसेवन के प्रधान विषय (रोग)

यद्यपि तक्र अन्य ऋतुओं में भी सेवन किया जा सकता है तथापि शीतऋतु तक्र-सेवन का प्रधान समय है। अरुचि और स्रोतों के कफादि द्वारा रुक जाने पर तथा अग्निमांद्य एवं वातादि रोगों में तक्र अमृत का कार्य करता है। विष, वमन, विषमज्वर, प्रसेक, पांडु, मेदा, संग्रहणी, बवासीर, मूत्रकृच्छ्र, भगंदर, प्रमेह, गुल्म, अतीसार, शूल, प्लीहा, उदररोग, अरुचि, सफ़ेद कुष्ठ, शोथ, तृषा तथा क्रिमि रोगादि में तक्र प्रधान औषध है।

केवल उष्णकाल में, तथा क्षत, दौर्बल्य, मूर्छाभ्रम, दाह और रक्त-पित्त में प्रधानतया तक्र-सेवन न कराकर अन्य समस्त रोगों की तक्र एक परमौषध है।

ज्वर और तक्र

समस्त रोगों में ज्वर से कठिन (दुर्जय) और कोई रोग नहीं है। प्रायः ज्वर आये बिना किसी प्राणी का प्राण-वियोग नहीं होता। प्रत्येक रोग के राज्य पर ज्वरदेव की पताका फहराया करती है जो आहार-विहार में अणु-मात्र भी चूकने पर विकराल ज्वर की कालमूर्त्ति सामने ही उपस्थित पाई जाती है। बड़े-बड़े महारथी विशाल कायवालों को एक क्षण-मात्र में धराशायी बनाकर उनकी सबलता का मान-मर्दन करते हुए अपने चक्रवर्ती शासक होने का प्रत्यक्ष प्रमाण दे देता है। निर्दयी ज्वर मरे को मारने में तनिक भी संकोच नहीं करता, प्रत्युत निर्बल पाकर अपनी और भी भीषण मूर्त्ति धारण करता है। दीन-हीन बालक और वृद्ध तो इसके आहार ही हैं, किंतु इस ज्वर का भय उन्हींके लिये है, जो प्राकृतिक राज्य के बागी हैं। प्रकृति देवी की आज्ञा की अवहेलना करनेवाले प्राणियों को यह ज्वर दंडस्वरूप है। प्राकृतिक राज्य में रहते हुए उसकी धारानुकूल चलने-वालों का जीवन-मार्ग निष्कंटक है। ज्वरादि रोग उसको दूर ही से हाथ जोड़े हुए जीवन का शांतिमय मार्ग बतलाते रहते हैं। प्रकृति के बागियों को ज्वराक्रांत होने पर प्रकृति की शरण में आने मात्र से ही बहुत ही शीघ्र ज्वर से मुक्ति मिलती है। उसे किसी औषध आदि की सहायता की आवश्यकता नहीं। इसीलिये हमारे शास्त्र-कारों ने ज्वरादि रोगाक्रांत होने पर लंघन को ही प्रधानता दी है। यहाँ तक कि दोष पाचन समय तक औषध का निषेध किया है, केवल प्रकृति पर छोड़ देने ही का सिद्धांत स्थिर किया है। अब इस सिद्धांत का अनुकरण बड़े-बड़े धुरंधर डॉक्टरों ने करना शुरू कर दिया है। अमरीका में तो उपवास-चिकित्सा के बड़े-बड़े कॉलेज खुल गये हैं, १०-१० लंघन कराकर कुछ पथ्य देते हैं यहाँ पर इस भूमिका के लिखने का यही भाव है कि जबतक ज्वर में औषध देने की आवश्यकता न हो, तब तक उसे कुछ न देकर उचित समय (दोष-पाचन समय के अंत में यथा* वातजनित संतत ज्वर में सात-सात दिन बाद और पित्तज संतत ज्वर में दस-दस दिन के अनंतर तथा कफज संतत ज्वर में बारह-बारह दिन के अंत में) जब औषध देने का समय प्राप्त हो उस समय तक्र को पूर्वोक्त विधि से दोषानुकूल बनाकर छः माशे एक चम्मच से प्रारंभ कर दे और क्रमशः काल बलानुसार बढ़ाता रहे। ज्वर शांत होने पर पथ्य के विषय में लिखना ही क्या है जो औषध की औषध तथा आधार का आधार तथा पाचन में रामबाण का कार्य करता है। विषमज्वर में तक्र तो अमृत ही का कार्य करता है। इसमें अन्न के स्थान पर यदि तक्र ही का सेवन कराया जाय तो सब प्रकार के विषम ज्वर दूर हो जाते हैं कारण कि दुष्ट आहार-विहार से दूषित दोष आमाशय में कुपित होकर ज्वर उत्पन्न कर देते हैं और आमाशय को शुद्ध करने के लिये तक्र से बढ़कर कोई दूसरी चीज़ नहीं है। क्योंकि यह पहले ही लिखा जा चुका है कि तक्र हलका होने के कारण स्वयं पच जाता है, इसके पचाने का भार आमाशय पर नहीं पड़ता प्रत्युत आमाशयगत दुष्ट दोषों के पचाने के लिये इससे बढ़कर दूसरी कोई औषध नहीं है। चातुर्थिक (चौथिया) ज्वर सबसे घोर होता है यह वर्षों तक पिंड नहीं छोड़ता, किंतु तक्रसेवी मनुष्य के दर्शन चातुर्थिकज्वर को दुर्लभ हो जाते हैं। फिर आंतरिक (अतरा) तथा तृतीयक (तिजारी) आदि ज्वरों के विषय में कहना ही क्या है × तक्र-कल्प करनेवाला मनुष्य शारीरिक तथा स्वर्गीय सुख का

---

* वातिके सप्तरात्रे तु दशरात्रेण पैत्तिके। श्लैष्मिके द्वादशाहेन ज्वरे युञ्जीत भेषजम्।

† तक्रवर्ग-भावप्रकाश

× तक्रकल्प, देखो—संग्रहणी प्रकरण

अनुभव मृत्युलोक ही में प्राप्त कर लेता है। कारण कि शारीरिक ज्वरादि व्याधियों से वह सर्वदा मुक्त रहता है *।

बांदा को मठा में पीसकर पीने से सब प्रकार के विषम-ज्वर शांत होते हैं। तथा बेल और पद्माक को मठा में मिलाकर पीने से भी विषमज्वर शांत होता है। केवल दोषानुकूल ही मठा को बनाकर नित्य सेवन करने से सब प्रकार के ज्वर शांत हो जाते हैं।

अतीसार संग्रहणी

अतीसार भी बड़ा प्रबल रोग है इसके उत्पन्न होते ही मनुष्य के सारे अङ्ग शिथिल हो जाते हैं। इसमें दोषों के कुपित होने पर रक्तादि समस्त द्रव धातुएँ अग्नि को शांत (मंद) कर पवन द्वारा प्रेरित हो मल के साथ गुदा द्वारा बाहर निकला करती हैं। फिर अग्नि मंद होने के कारण इसमें अन्नादि गुरु वस्तु के सेवन करने पर उसका ठीक-ठीक परिपाक न होने से इस अतीसार का वेग और भी बढ़ जाता है।

कभी आम (कच्चारस) कभी हरे कभी पीले दस्त आने लगते हैं। अलग पेशाब का आना बंद हो जाता है। वायु नहीं निकलती है। पेट में ऐंठन होने लगती है। ऐसी दशा में तक्र से बढ़कर हितकारी और दूसरी वस्तु नहीं पाई जाती है। जो आधार की आधार और औषध की औषध होती है। हलका तथा रूक्ष होने के कारण बहुत शीघ्र स्वयं पचकर जल धातु को सोखकर मल को बाँध देता है जिससे फ़ौरन् दस्त बंद हो जाते हैं। आम के दस्त आने पर तो तक्र के सिवा और कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो आधार होते हुए आम को जलाकर शीघ्र मल को बाँध दे, कारण कि आमातीसार अन्न के अजीर्ण (न पचने) से ही उत्पन्न होता है। इसमें और कुछ भी वस्तु आधार के लिये खाने पर अजीर्ण और भी बढ़ जाता है जिससे दस्त और ऐंठन बंद होने के स्थान पर बढ़ती ही रहती है। आमातीसार में आधी छटाँक या १ छटाँक उचित मात्रा में एरंड तैल (कास्टरइल) पिलाकर और तक्र का सेवन प्रारंभ करा देने से ३ दिन में हींग, ज़ीरा, नमक मिलाकर पुराना से पुराना आमातीसार शांत हो जाता है। यह कई बार का अनुभूत प्रयोग है।

इंद्रयव, नागरमोथा, नागकेशर, लोध, सोंठ, मोचरस इनका चूर्ण बनाकर लाल देशी (गुड़ की घुटी हुई) शकर से मिले हुए ऽ= तक्र में ६ माशा सेवन करने से पुराना से पुराना अतीसार शांत हो जाता है। अथवा तक्रादि-चूर्ण। तक्र को भूनकर खोवा बना ले। फिर उसमें उपरलिखित औषधें तथा दोनों ज़ीरे, अजवायन, हींग भुनी, अजमोद, वायबिडंग, चीत की जड़, बेल की गूदी, आम की गुठली, भाँग यह सब सम भाग लेकर और सबके बराबर खोवा मिलाकर १ तोला चूर्ण खाने से अतीसार शांत हो जाता है। यह चूर्ण मेरे पूज्यपाद पिताजी का अनुभूत प्रयोग है।

तक्रार्क

तक्र का भाफ़ द्वारा अर्क निकालकर जल के स्थान पर पीने से बहुत ही लाभ होता है।

संग्रहणी

संग्रहणी बड़ा ही भयंकर रोग है। इसके चंगुल में फँसकर मनुष्य बड़ी ही कठिनता से मुक्त होता है। यह अतीसार के आगे का बिगड़कर बढ़ा हुआ रूप है। अतीसार में अथवा अतीसार के निवृत्त होने पर अग्नि मंद रहती है। उसी मंदाग्नि में अहित (कुपथ्य) सेवन करने से अवशिष्ट अग्नि भी नष्ट हो जाती है। जिससे संग्रहणी (अन्न को धारण करनेवाली ६ छठी कला) दूषित हो जाती है। दुष्ट ग्रहणी में अन्न की धारणशक्ति नहीं रहती है जिससे अन्न का कुछ भी संग्रह होने पर दस्त आने लगते हैं। इसी कारण से संग्रहणी रोग में जब तक अन्न का ग्रहणी में बलानुसार संग्रह होता रहता है तबतक (१०—१२—१४ दिन तक) मनुष्य अच्छा रहता है अंत में दस्त आने लगते हैं। जिस प्रकार ग्रहणी का बल घटता जाता है उतने ही शीघ्र शीघ्र दस्त आने लगते हैं। अंत में बराबर दस्त आते हैं। जो कुछ खाया जाता है वह उसी प्रकार निकल पड़ता है। रक्तादि समस्त द्रव धातुओं के साथ निकल जाने के कारण अस्थि-चर्मावशिष्ट मनुष्य रह जाता है। फिर अंत में अपने प्राणों को परित्याग कर इसका शिकार बन जाता है। इस भयंकर रोग की एकमात्र औषध तक्र है। तक्र की छत्रच्छाया में रहनेवाले मनुष्यों का संग्रहणी ऐसे भयंकर रोग कुछ भी

* दोष-विशेष में तक्र-प्रयोग-विधि पहले ही लिखी जा चुकी है। अतः वैद्य को उचित है कि दोषानुकूल उचित अनुक्त औषधियों को भी मिलाकर तक्र अनुकूल बना ले।

नहीं बना सकते अथवा यों कहिए कि तक्र की राज्य में इन डाकुओं का सर्वथा अभाव है। संग्रहणी ऐसे डाकुओं से सताये हुए मनुष्य के तक्र की शरण में आते ही पूर्णरूप से शांति मिलती है। फिर उन डाकुओं को उसकी ओर यावज्जीवन आँख उठाने की भी शक्ति नहीं रहती।

तक्र-कल्प

संग्रहणी के होते ही मनुष्य तक्र को दोषानुकूल बनाकर उसमें ज़ीरा, नमक, हींग आदि उचित औषधें मिलाकर, उसके सेवन का क्रमशः प्रारंभ कर, अन्न का क्रमशः त्याग कर देना चाहिए। यहाँ तक कि जल के स्थान पर भी तक्र को पिए। जितना तक्र पिया जा सके उतना तक्र पिए बीस सेर तक तक्र पीते हुए लोग देखे गये हैं।

अर्श (बवासीर)

अर्श रोग मनुष्य को उसी प्रकार निर्बल बना देता है, जैसे गेहूँ के भीतर पैदा हुआ घुना गेहूँ को। अर्श बड़ा ही दुर्जय रोग है। इसके उत्पन्न होते ही मनुष्य की समस्त इंद्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। अर्श (बवासीर) में त्वचा, मांस, मेदा के दूषित होने पर गुदा में मांस के अंकुर निकल आते हैं। यह अंकुर सरसों से लगाकर बड़ी-बड़ी कुँदुरू के बराबर होते हैं। किसी के एक, किसी के दो और किसी के तीनों बढ़ जाते हैं। किसी के मस्सों से इस प्रकार की रक्त-धार निकलती है कि मानो बकरा काट दिया गया हो। एक मनुष्य के तीनों मस्से इस प्रकार सूजकर एक में मिल गये थे कि उसका मल निकलना तो दूर रहा वायु तक नहीं निकलने पाती थी। अँगुलियों द्वारा मल निकाला जाता था। इसके उत्पन्न होने पर गुल्म, प्लीहा, उदर, ज्वर, मूर्च्छा, तृषा, अरति दाह, श्वास, कास, हृल्लास, अरुचि, पीनस, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, क्लैव्य, मंदाग्नि, छर्दि, शिरोजाड्य आदि अनेक आमजन्य व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। रक्तार्श में अधिक रक्त निकल जाने पर पीले मेढक की भाँति स्वरूप हो जाता है। बल, वर्ण, और उत्साह नष्ट हो जाता है। ऐसी दुर्जय व्याधि किले को विध्वंस करने के लिये तक्र ही एक ऐसी सहस्रघ्नी (तोप) है जिसके प्रहार से चूर-चूर होकर नष्ट हो जाता है।

मधुसूदन दीक्षित

---

१. आर्यों की वर्ण-व्यवस्था

"वर्णाश्रम-धर्म के नियम का पता सत्य की निरंतर खोज का अत्यंत सुंदर परिणाम है।"—महात्मा गांधी

चीन आर्यों की वर्ण-व्यवस्था चाहे श्रम-विभाग के सिद्धांत पर बद्ध-मूल हो और चाहे लोक-मनःप्रवृत्ति पर निहित हो; पर वह है सर्वथा संसार में अपने ढंग की एक अनूठी समाज-संगठन की कल्पना। इस बात को प्रायः सभी विद्वान एकस्वर से स्वीकार कर चुके हैं, जिनमें पाश्चात्यों की संख्या भी कुछ कम नहीं है। मन की प्रवृत्तियों के मुख्य चार विभाग करके लोक को उसी के अनुसार चार विभागों में विभक्त किया गया था। अवश्य ही इस शृंखला के कारण इन लौकिक प्रवृत्तियों में लोकोत्तर उन्नति संभावित है, जो प्राचीन काल में, इसी भारत वसुंधरा में, चरम सीमा को पहुँच गई थी। बाप की प्रवृत्ति जिस ओर है, और उसके अनुसार वह जिस काम को करता है, अगर उसका लड़का भी उसी प्रवृत्ति का होकर उसी काम की ओर झुकेगा, तो इसमें संदेह नहीं कि वह उस काम में अधिक उन्नति करेगा—कम-से-कम अपने पिता से तो कुछ आगे अवश्य ही बढ़ेगा। इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते धीरे-धीरे वह काम वहाँ तक उन्नत हो जायगा, जहाँ तक उसकी अंतिम सीमा है। वर्ण-व्यवस्था का एक यह मुख्य लाभ है।

आर्यों में वर्ण-व्यवस्था ने इस प्रकार समाज को मुख्य चार भागों में विभक्त कर दिया था। वे चारों अपने-अपने काम करते थे। परंतु यह बात न थी कि वे दूसरे कामों की ओर झुकें ही न। समय पड़ने पर क्षत्रियों के साथ ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र भी तलवार पकड़कर अपने धर्म और देश के शत्रुओं के छक्के छुड़ाते थे। आवश्यकता पड़ने पर शूद्रों के साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी अपनी शिल्प-कला में संलग्न होते थे। जब काम पड़ता था, तब वेदों और शास्त्रों के अभिरक्षण में क्षत्रिय आदि सभी आर्य ब्राह्मणों का साथ देते थे। तात्पर्य यह कि वर्ण-व्यवस्था मुख्य प्रवृत्ति के अनुसार थी। यों तो संसार के प्रत्येक मनुष्य में सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ थोड़े-बहुत रूप में होती हैं। पर, एक प्रवृत्ति की ओर आधिक्य अवश्य होता है। यह भी निश्चय है कि पिता की प्रवृत्ति जिस ओर होती है, पुत्र की भी प्रायः उसी ओर होती है। इसके अपवाद भी कुछ हो सकते हैं। पर मुख्य बात यही है। वे अपवाद इस मुख्य सिद्धांत में धक्का लगाकर इसे पलट नहीं सकते—उनकी मात्रा अत्यंत न्यून होती है। ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न परशुराम में आवश्यकता-वश क्षात्र-धर्म की ओर अधिक प्रवृत्ति होना और क्षत्रिय जनक में संस्कार और अभ्यास के कारण ब्राह्मण-सुलभ अध्यात्म-विद्या की पराकाष्ठा पर पहुँचना ऐसे ही अपवाद हैं। फिर भी, लोक में जनक क्षत्रिय और परशुराम ब्राह्मण नाम से ही प्रसिद्ध होंगे। इसका कारण यह है कि उनका जन्म उन-उन वर्णों में

हुआ था और उन वर्णों की, उनकी मुख्य प्रवृत्ति के अनुसार, वे वे संज्ञाएँ थीं। सब जगह प्रधानता से व्यपदेश होता है। एक गाँव में सौ घर ब्राह्मणों के हों और बीस घर इतर वर्णों के, तो सब कोई उसे "ब्राह्मणों का गाँव" ही कहेंगे। और, यदि किसी गाँव में सौ घर वैश्यों के और बीस ब्राह्मण आदि इतर वर्णों के, तो उस गाँव को लोग "वैश्यों का गाँव" कहकर पुकारेंगे। इस प्राधान्य व्यपदेश की कोई दवा नहीं है। इस व्यपदेश से कुछ हानि भी नहीं दीख पड़ती। फिर इसके विरुद्ध उछल-कूद मचाने में न जाने क्या लाभ है?

वर्ण-व्यवस्था के लाभ ऐसे छिपे हुए नहीं हैं कि इस लेख में उनका खुलासा करके हम अपना और पाठक सज्जनों का समय व्यर्थ बरबाद करें। यहाँ पर हम केवल उन आक्षेपों पर, संक्षेप में, दृष्टि डालना चाहते हैं, जो प्रायः वर्ण-व्यवस्था के विरोधी समय-समय पर दिया करते हैं।

वर्ण-व्यवस्था और अछूतपन

लोगों का कहना है कि जब तक किसी देश में कोई मानव-वर्ग अछूत कहकर पद-दलित किया जाता है, तब तक उस देश को स्वातंत्र्य-सुख परम दुर्लभ है। यह बात ध्रुव सत्य है। जापान हमारे सामने है। जब तक वहाँ प्रजा-वर्ग के एक टुकड़े को अछूत कहकर दुतकारा और दुर्दुराया जाता रहा, तब तक उस देश की अत्यंत दयनीय दशा रही और जब से इस राक्षसी भाव को दूर भगाकर उस देश के निवासियों ने उन पद-दलित अछूत कहानेवाले जनों को गले लगाकर सब तरह से उन्हें साम्य दिया, तभी से जापान दुनिया में चमका। भारत बिलकुल उस जापान की तरह है, जहाँ किसी समय मनुष्यों को कुत्ते-बिल्ली से भी बुरा समझा जाता था और उनके साथ कठोरतम व्यवहार किया जाता था। सच तो यह है कि हमारा दुर्दैव-चर्वित भारत उस समय के जापान से कई गुना अधिक भयावह है। यहाँ के करोड़ों मनुष्यों का, जो हम कुत्ते-बिल्ली से भी बुरा अपमान कर रहे हैं, उसके लिए ईश्वर के पुनीत दरबार से कभी हमें क्षमा नहीं मिल सकती। यह घोरतम पाप है। हमें शीघ्र इससे बचने की चेष्टा करनी चाहिए।

अछूतपन की इस पाप-सृष्टि का भार हमारे कुछ भाई वर्ण-व्यवस्था के सिर पर फेंक रहे हैं! उनका कहना है कि जब तक इस वर्ण-व्यवस्था का विध्वंस न हो जायगा, तब तक भारत से अछूतपन मिट नहीं सकता; क्योंकि इस वर्ण-व्यवस्था ने ही इस पाप को फैलाया है। जब तक निदान—आदि कारण—दूर न किया जायगा, तब तक रोग दूर नहीं हो सकता, चाहे कितनी भी चिकित्सा क्यों न की जाय। यदि किसी रसायन औषध द्वारा रोग कुछ काल के लिये कुछ परिमाण में दब भी गया, तो फिर भी वह समय पाकर भभक निकलेगा और फिर उससे बहुत ज़्यादा क्षति होगी। इसलिए आवश्यक है कि अछूतपन की जननी इस वर्ण-व्यवस्था को पहले नष्ट किया जाय। यही अछूतपन की निदानभूत है और रोग दूर करने के लिये "आदौ निदानं परिवर्जयेत्" का सिद्धांत प्रसिद्ध ही है।

हमारे भाई भूलते हैं। वे पाश्चात्य चश्मा लगाकर अपने देश को देख रहे हैं। उन्हें सब कुछ और का और ही नज़र आ रहा है। उन्हें उचित है कि भारत को देखने के समय वह पाश्चात्य चश्मा उतारकर रख दें। इस देश की सभ्यता में और देशों से बहुत कुछ अंतर या विशेषता है, इसे सदा ध्यान में रखना चाहिए। वह विशेषता कैसी कुछ है, इसे समझना चाहिए। वर्ण-व्यवस्था अछूतपन की जननी है, यह केवल अज्ञान-प्रलाप है। कोई भी तर्क या अनुभव इसमें प्रमाण नहीं और न दिल ही मानता है। वर्ण-व्यवस्था से इस पाप का संपर्क बतलाना तो ऐसा ही है, जैसे सूर्य में अंधकार बतलाना। हमारे देश में अछूतपन की सृष्टि तो केवल अज्ञान से हुई है, जैसे और और देशों में। यदि यह बात नहीं है, अगर वर्ण-व्यवस्था ही इस पाप को पैदा करनेवाली है, तो फिर दूसरे देशों में इस दुष्ट और नीच प्रथा का कारण क्या है, जो प्रायः सभी पाश्चात्य देशों में और विशेषतः जापान आदि में समय-समय पर अपने बीभत्स स्वरूप को प्रकट कर चुकी है? वहाँ तो आर्यों की यह वर्ण-व्यवस्था न थी? फिर, आपके देश में ही स्त्रियों की यह हीनतम दशा किसने की? वर्ण-व्यवस्था ने? वर्ण-व्यवस्था के पक्षपाती मनु जहाँ कहते हैं कि "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" वहाँ आपके इन घरों में इन देवियों की क्या दशा हो रही है? इसमें किसका दोष है? सोचिए। यहीं क्यों, सब ओर से जो हमारा पतन हो रहा है, इस सबका मूल कारण क्या है? केवल अज्ञान। अज्ञान से ही सब बुरी प्रवृत्तियों का

जन्म होता है। इस अज्ञान ने ही अवश्य हमारी वर्ण-व्यवस्था में भी धब्बा लगा दिया है।

वर्ण-व्यवस्था में किसी को नीच या अछूत नहीं समझा गया है। जो भी उत्तम काम करे, वह उत्तम। शूद्रों को किसी भी वर्ण-व्यवस्था के विधान में नीच या अछूत नहीं बतलाया गया है। उन्हें तो परम श्रेष्ठ माना गया है और वह काम सौंपा गया है जिसके बल पर आज सभी देश मौज़ें उड़ा रहे हैं। वह कौन-सा काम है? यही शिल्प-कला। शिल्प-कला हमारे यहाँ शूद्रजनों के भाग में है। इस शिल्प-कला को कौन नीच कह सकता है? हमारे मन की भावना ही कुछ ऐसी नीच हो गई है कि शूद्रों को तो क्या, शूद्रों से संसेवित शिल्प-कला को भी नीच दृष्टि से देखने लगे हैं! पतन का कुछ ठिकाना है? चमड़े का जूता हम पहनेंगे और उसके ट्रंकों में बड़ी उत्तम-उत्तम वस्तुएँ आनंद से रक्खेंगे; किंतु उसके बनानेवालों से घृणा करेंगे! चमड़ा छुएँगे; पर चमड़े को छूनेवाले मनुष्य को न छुवेंगे, जो उस चमड़े की शिल्प-कला में निष्णात है! यह कैसा अज्ञान है! फिर इस अज्ञान को पवित्र वर्ण-व्यवस्था के मत्थे मढ़ना कितना भीषण अज्ञान है! ब्राह्मण से लेकर भंगी तक सभी बराबर हैं। जो अच्छे काम करे, वही अच्छा और बुरे काम करे सो बुरा। सदा से ही यह बात रही है। रावण जन्म से ब्राह्मण था; पर कर्मों से नीच था। भगवान् राम ने उसे चौपट कर दिया। एक क्षत्रिय ने एक वेदज्ञ ब्राह्मण की छाती अपने पैने बाणों से चीर डाली। उस समय की वर्ण-व्यवस्था से व्यवस्थित जनता ने इसका सहर्ष अनुमोदन किया और आज तक करती आती है। वैदिक सिद्धांत ही है कि जो अच्छे काम करे, अच्छा; और बुरे करे, सो बुरा। वर्ण-व्यवस्था कभी भी इस सिद्धांत की बाधक नहीं हुई है। उसकी दृष्टि में साम्य है।

वर्ण-व्यवस्था और दलबंदियाँ

बहुत से लोग कहा करते हैं कि वर्ण-व्यवस्था के ही कारण भारत में दलबंदियाँ हो रही हैं। दक्षिण में ब्राह्मणों और अब्राह्मणों का भयंकर झगड़ा इसी का भीषण परिणाम है। उत्तर भारत में भी यह बीमारी बढ़ती जा रही है। यहाँ भी लोगों के मन मलिन होते जा रहे हैं। इन सब उपद्रवों का कारण एकमात्र वर्ण-व्यवस्था है।

यह बात भी निःसार है। दक्षिण भारत में अब्राह्मणों के साथ जो ब्राह्मण अन्याय करते हैं—मनुष्यों के एक वर्ग को अछूत समझकर उन पर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि ऊँचे कहे जानेवाले लोग जो राक्षसी बर्ताव करते हैं, वे अक्षम्य हैं। पर, उनका यह दोष वर्ण-व्यवस्था के सिर कभी नहीं है। इस सब उपद्रव का कारण अज्ञान है। दुर्मद अज्ञानी अपने अज्ञानावेश में आकर निर्बल जनता को कुचलने लगते हैं। जब इस प्रकार का अत्याचार हद दर्जे तक पहुँच जाता है, तो फिर समस्त देश को इसका कटु फल भोगना पड़ता है। ऐसे अज्ञान-जन्य अत्याचार को हम वर्ण-व्यवस्था के सिर थोपें, यह बड़ी भारी मूर्खता है। यह अवश्य है कि समय की गति-विधि से हमारी सुंदर वर्ण-व्यवस्था में भी बड़ी-बड़ी बुराइयाँ आ गई हैं—अज्ञान ने इसे भी अपने पंजे में ले लिया है। आज वर्ण-व्यवस्था के नाम से ही अनेक अत्याचार जारी हैं। वर्ण-व्यवस्था का ही नाम लेकर करोड़ों भाइयों को अछूत कहकर दुरदुराया जाता है और उस कुएँ से उन्हें पानी भी नहीं भरने दिया जाता, जिससे एक विधर्मी चमड़े के डोल से अपनी मशक भरता है और जिसके घाट पर गड्ढों में भरा हुआ पानी मज़े में कुत्ते, कौए तक पीते हैं! उन्हें कुएँ के ऊपर चढ़ने तक नहीं दिया जाता! दक्षिण में तो कई मार्गों से अपने भाइयों को निकलने भी नहीं दिया जाता! कहा जाता है कि मार्ग अपवित्र हो जायगा! और, उसी मार्ग से कुत्ते-बिल्ली, गधे, सुअर आदि निकलते रहते हैं। उनसे मार्ग अपवित्र नहीं होता! हाँ, यदि ये भाई कल अपनी चोटी कहीं जाकर कटा लें, तो फिर इनको न कोई कुएँ से पानी भरने को मना कर सकता है और न किसी मार्ग पर चलने को। तो क्या यह चोटी ही इतनी अपवित्र है? सो, यह सब अनर्थ अवश्य ही अधिकांश में वर्ण-व्यवस्था के नाम पर जारी है। पर, ऐसे पापकर्म में लीन दुष्टजन वर्ण-व्यवस्था को व्यर्थ में बदनाम करते हैं। वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप बड़ा पवित्र है। क्या वह ऐसा नृशंस कर्म करने की आज्ञा देगी? दुष्ट लोग बहाना ढूँढ़ लेते हैं। जुआरी, शराबी और मांसाहारी भी अपने पक्ष में शास्त्रों की दुहाई देने को तैयार रहते हैं। तो, क्या उनके ऐसा कहने से शास्त्र, जुआ और शराब आदि के सिखानेवाले हो सकते हैं? यही दशा इन अत्याचारी दुष्टों की और वर्ण-व्यवस्था की है।

यह तो हुई विशेष दलबंदी की बात। पर सामान्यतः दलबंदी के बारे में कहा जा सकता है कि पाश्चात्य हवा का झँकोरा ही कुछ ऐसा है कि इससे दलबंदियों के दल बहुत तैयार होते हैं। योरप में बड़ी-बड़ी दलबंदियाँ होती हैं; पर विशेषतः राजनैतिक। इन दलबंदियों के कारण प्रजावर्ग में बड़ा विषैला मनोमालिन्य बढ़ता है, जिसका प्रभाव अच्छा नहीं होता। प्रत्येक प्रकार की व्यर्थ दलबंदी से जनता का अहित ही है। सो, देश की दलबंदियों का कारण वर्ण-व्यवस्था नहीं, मूर्खता है।

वर्ण-व्यवस्था और ब्राह्मण

जात-पाँत-तोड़क लोग कहा करते हैं कि वर्ण-व्यवस्था की चाल ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ के लिये डाल रखी है और ये ही इसे टूटने नहीं देते। इस बात की भी जाँच कीजिए और देखिए कि इसमें कितना तत्त्व है। यदि वर्ण-व्यवस्था को ब्राह्मणों ने जारी किया, तो कोई अन्याय नहीं किया, यदि उससे लोकहित हो। यदि इसे उन्होंने केवल अपने स्वार्थ के ही लिये गढ़ा हो, तो अवश्य यह व्यवस्था और व्यवस्थापक दोनों ही त्याज्य और निंद्य हैं। देखिए, ब्राह्मणों ने वर्ण-व्यवस्था बाँधी, अच्छा बाँधी। किस लिए? लोक-श्रृंखला को सुचारु-रूप से चलने के लिये और फलतः जनता के कल्याण के लिये। उसमें उनका भी कुछ स्वार्थ था? बिलकुल नहीं। वे अत्यंत त्यागी और निःस्पृह थे। जो उन ब्राह्मणों को अज्ञानवश स्वार्थी कहते हैं, अवश्य कृतघ्न हैं। उन ब्राह्मणों ने लोक-सेवा के लिये अपने सुख-साधनों का कुछ भी ख़याल न किया। ऐश-आराम के सब साधन अन्य तीनों वर्णों को सौंप दिए। लोक-शासन—राज्य-रंजन—क्षत्रियों को सौंप दिया। 'व्यापारे वसते लक्ष्मीः' और लक्ष्मी से सब कुछ सुख-सामग्री उपलब्ध हो सकती है। सो, इस व्यापार-विद्या और इसके कार्य को वैश्यों के हवाले कर दिया। व्यापार शिल्प-कला के अधीन है। शिल्पी जन सदा स्वतंत्र रहकर अपनी उन्नत-कला के द्वारा सब कुछ कर सकते हैं। हमारी शिल्प-कला पर काल-वश पानी फिर गया है; पर पश्चिमीय देशों की शिल्प-कला इसका प्रमाण है। कह सकते हैं कि शिल्प-कला से ही उन देशों का व्यापार है, जिससे वे समस्त संसार का शासन करते हैं। कभी हमारे देश की भी शिल्प-कला इसी प्रकार उच्च थी। यह शिल्प-विद्या शूद्र-वर्ण को सौंप दी गई। ब्राह्मणों ने अपने लिये क्या रखा? यह कि जन्म भर अध्ययन-अध्यापन करें। सब वर्णों की विद्याएँ सबको सिखाएँ; पर उनसे स्वयं कुछ उपार्जन न करें। वेदों और शास्त्रों का अध्ययन और मनन करते रहें और लोक को शिक्षा दें। फिर, इनकी लोक-यात्रा के लिये क्या उपाय है? क्षत्रिय राज-प्रासादों में बैठकर हुकूमत कर रहे हैं। वैश्य अपने तिमंज़लों में बैठे आराम से मुनीमों के कारनामें जाँच रहे हैं और शूद्र-बंधु विविध शिल्प-कलाओं के द्वारा सुसम्पन्न होकर महलों में बैठे सुखमय जीवन बिता रहे हैं। ये सब तो इस आनंद में हैं। ऐसी दशा में ब्राह्मणों ने अपने आराम के लिये क्या व्यवस्था की? यही कि अनायास जो मिल जाय, उससे निर्वाह कर लेना चाहिए। यदि उस महती सेवा को कुछ समझकर वर्ण-त्रयी के लोग कुछ दे दें, तो उससे अपना जीवन-निर्वाह ब्राह्मण कर ले। यदि कोई कुछ न दे, तो वन के फल-फूल खाकर रहे। खेतों से शिल-कण बीनकर खा ले। पर, न तो किसी से कुछ माँगे और न स्वयं अपने जीवन के लिये कुछ चेष्टा करे। ऐसा करने से वह इधर का ही हो रहेगा। फिर उसकी लोक-सेवा की मात्रा कम पड़ जायगी, जिसे उसने अपना धन समझा है।

कहिए, वर्ण-व्यवस्था रचकर ब्राह्मणों ने कैसा अपना स्वार्थ-साधन किया? कृतघ्नता की भी कोई हद है? यह तो हुई पुरानी बात—उन ब्राह्मणों की जिन्होंने वर्ण-व्यवस्था का सूत्र-पात किया था। अब इधर आइए। देखिए कि उसके बाद उन ब्राह्मणों की इस वर्ण-व्यवस्था से क्या स्वार्थ-सिद्धि है, जो बराबर इसके अब तक पक्षपाती और पोषक रहे हैं और हैं? वैदिक धर्म से बौद्ध-धर्म की उत्पत्ति हुई। बौद्ध वेदों को नहीं मानते थे। उस समय भारत के प्रायः सभी राजा-महाराजा इस नये धर्म की छत्र-छाया में आ गये। प्रजा भी इधर झुक गयी; पर ब्राह्मण अपनी बात पर अड़े रहे। वे किसी न किसी तरह वेद-शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन करते रहे। बहुत दुख सहे; पर अपने कर्तव्य से न हटे। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जन बौद्ध मत से दीक्षित होकर मौज कर रहे थे; पर ब्राह्मण बेचारे सूखी-रूखी रोटी चबाकर वेदों का मनन करके संतुष्ट रहते थे।

बहुत दिनों तक यह प्रवाह जारी रहा। क्या वे सुख को बुरा समझते थे? पर, धर्म भी तो कोई चीज़ है? वह भी तो सुख-सामग्री है, पर जाननेवाले के लिए।

बाद में मुसलमानी राज्य-काल में भी ब्राह्मणों ने ही बड़े-बड़े दुख सहकर अपने धर्म और वेद-शास्त्रों की रक्षा की। सभी लोग फ़ारसी और अरबी पढ़-पढ़कर ऊँचे ऊँचे ओहदों पर बैठे मूछों पर ताव दे-देकर आनंद करते थे। उन्होंने वेष-भूषा आदि भी मुसलमानी ही बना लिया था। ऐसे कठिन समय में ब्राह्मणों ने अपनी भाषा, अपनी लिपि और अपना वेष-भूषा तथा धर्म-कर्म सँभाले रखा। उन्होंने देखा कि कुछ ब्राह्मण भी लोभ में आकर फ़ारसी की ओर झुकने लगे हैं, तो नियम-सा बना दिया कि "न पठेद्यावनीं भाषां प्राणैः कंठगतैरपि।" चाहे कितना ही दुःख मिले, भले ही प्राण तक निकलने को हो जायँ, पर अपनी भाषा छोड़कर कभी विदेशी भाषा मत पढ़ो। किंतु इनकी बातों का असर उस समय मदोन्मत्त हिंदु-समाज पर बिलकुल न पड़ता था। हाँ, ब्राह्मण ही इस ओर झुके हुए थे। अपनी संस्कृत और हिंदी-भाषा को देवनागर लिपि में सदा ब्राह्मण ही लिखते थे, जिनकी और लोग "बह्मनी" भाषा और लिपि कहकर खिल्ली उड़ाया करते थे। परंतु ब्राह्मण-बंधु इन सब मुसीबतों का सामना करते हुए अपने कर्तव्य-पथ पर डटे रहे। आज भी संस्कृत-भाषा, राष्ट्र-भाषा और वेदाध्ययन आदि शुभ कार्यों में किसकी संख्या सबसे अधिक है? कौन वर्ण सब समाजों की कटु भर्त्सना और दरिद्रता को ओढ़े हुए भी इधर अग्रसर है, सनातनधर्म अथवा आर्य-समाज में संस्कृत-भाषा का अध्ययन किस समुदाय के नाम प्रायः रजिस्ट्री-सा हो रहा है? ज़रा सोचिए तो सही और बतलाइए कि इसमें उनका क्या स्वार्थ है? क्या व्यापार-वाणिज्य आदि करके मालामाल होना उन्हें अच्छा नहीं लगता? यह सब वर्ण-व्यवस्था का माहात्म्य है, जिसके प्रभाव से आज तक बड़े-बड़े कष्ट सहकर ब्राह्मणों ने संस्कृत-भाषा और वैदिक धर्म का नाम बचा रखा है। इस पर भी दो कौड़ी के आदमी भी आजकल मेज पर उर्दू-पुस्तक फटकार कर 'वेदों का परचार' करते हुए भरपेट ब्राह्मणों को कोसते रहते हैं! यह कितनी कृतघ्नता है!

कोई-कोई महाशय कहेंगे कि हाँ, उस समय के ब्राह्मणों में अवश्य वैसा त्याग था। वे धन्यवाद के पात्र हैं। किन्तु, आज तो वे वैसे नहीं रहे। अब तो ब्राह्मण केवल अपने स्वार्थ के लिये वर्ण-व्यवस्था के गीत गाते हैं। इस बात में भी तथ्य ढूँढ़िए! आजकल अधिकांश ब्राह्मणों की प्रवृत्ति भी संसार की हवा देखकर उसके अनुकूल हो गयी है। ब्राह्मण भी कार-व्यापार में पड़कर धन कमाने लगे हैं। वे भी अंग्रेज़ी पढ़कर ऊँचे-ऊँचे पदों पर विराजने लगे हैं। ब्राह्मण भी वकील, बैरिस्टर और डाक्टर आदि प्रचुर संख्या में हो गये हैं। यह सब देखकर किसी को जलना न चाहिए। समय सब करा लेता है। फिर इसमें दोष ही क्या है? ब्राह्मण भी दुनिया में इज़्ज़त से रहना पसंद करते हैं। उन्होंने बहुत दिन तक संस्कृत-भाषा और वेद-विद्या को अपनाया। अब औरों की बारी है। केवल बातों से काम नहीं चलता। इनके अतिरिक्त बहुत से ब्राह्मण मिहनत-मज़दूरी करके अपना निर्वाह करते हैं। कुछ संख्या ऐसी है, जो संस्कृत की भक्त है। ये बेचारे स्कूल-कालेजों और पाठशालाओं में पढ़ाते हुए जीवन-यापन करते हैं--सब परिश्रम से कमा-कमा कर खाते हैं। कुछ अधकचरे संस्कृत के पंडित ज्योतिष आदि के द्वारा अथवा पौरोहित्य से अपना काम चलाते हैं। क्या कोई इन्हें इनके परिश्रम से अधिक दे देता है? रहे पंडे-पुजारी। सो इन्हें यदि आप मुफ़्त-खोर कहें, तो कह सकते हैं। पर, प्रत्येक मत और समाज में यह श्रेणी है। हाँ, हमारे पंडे-पुजारियों में पाप की मात्रा भी बहुत बढ़ गयी है; अतः शीघ्र इनका शासन होने की ज़रूरत है। ब्राह्मणजाति या वर्ण में इन पंडे-पुजारियों की संख्या दाल में नमक के बराबर भी नहीं है। फिर, ये दुष्ट पंडे-पुजारी कब वर्ण-व्यवस्था की शिक्षा देने आते हैं? इनके इतनी बुद्धि ही होती, तब क्या था? आप इनका कड़ा शासन कीजिए। इनकी जगह योग्य पंडे और पुजारी नियत कीजिए। दुष्टता और नीचता को दूर करने के भी उपाय हैं। प्रत्येक रोग की दवा होती है।

इतना सब कहने का मतलब यह कि ब्राह्मणों को वर्ण-व्यवस्था के प्रचलित रखने से अपना कोई स्वार्थ नहीं, प्रत्युत लौकिक दृष्टि से हानि ही है। देखते हैं, हिंदुओं में ब्राह्मण ही सबसे अधिक ग़रीब हैं। सदा से ये ऐसे ही रहे हैं। क्षत्रिय और वैश्य आदि मजे से मौजें

करते रहे हैं और करते हैं ; पर ब्राह्मण सदा ऐसे ही रहे। यह क्यों ? इसी वर्ण-व्यवस्था के बंधन के कारण। ब्राह्मण लोग पढ़ना-पढ़ाना और लोगों को शिक्षा देना अपना काम समझते रहे। उस काम को वे शक्ति भर देश-काल के अनुसार करते भी रहे। इस गये-गुज़रे ज़माने में भी इस वर्ण ने उज्ज्वल रत्न उत्पन्न किये हैं। स्वामी श्रीदयानंद सरस्वती, लोकमान्य तिलक, माननीय मालवीय और त्यागमूर्ति नेहरू आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। हमारे और वर्णों में भी ऐसे त्यागशील और कर्मठ व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं; पर ब्राह्मणों में अधिक। इसका कारण वर्ण-व्यवस्था ही है। ब्राह्मणों की बुद्धि प्रसिद्ध है। क्या ये व्यापार नहीं कर सकते थे ? या इन्हें कंगाल रहना ही पसंद था ? इतनी बुद्धि रहते हुए भी ये व्यापार की ओर क्यों न झुके ? इसमें वर्ण-व्यवस्था ही कारण थी और है, जिससे ब्राह्मणों की यह दशा हो रही है। चाणक्य जैसे नीति-पटु ब्राह्मण ने भी राज्य कार्य न सँभालकर कुशासन दूर करके भी अपना कुशासन ही पसंद किया। राजाओं को बनाना और बिगाड़ना उनके बाएँ हाथ का खेल था, तब उनके लिये राज्य-व्यवस्था क्या चीज़ थी ? किंतु, उन्होंने राजप्रासाद में न बैठकर अपनी कुटिया ही सँभाली। इस त्याग में कौन शक्ति विशेष काम कर रही थी ? वर्ण-व्यवस्था। परशुराम ने इक्कीस बार पृथ्वी के दुष्ट राजाओं का विध्वंस करके समस्त पृथ्वी ब्राह्मणों को दे दी। स्वयं सम्राट् न बने। क्यों ? वर्ण-व्यवस्था का ज़ोर था। उन ब्राह्मणों ने भी फिर-फिर उस पृथ्वी को इक्कीसों बार क्षत्रियों को ही सौंप दिया। क्यों ? वर्ण-व्यवस्था की विधि थी। परशुराम ने ऐसा इसलिये किया था कि पृथ्वी के अधीश्वरों में दुर्मद और अन्याय बहुत बढ़ गया था, जिसके शिकार स्वयं उनके पिता भी बन चुके थे। इन्हीं अत्याचारियों का शासन अकेले परशुराम ने किया था—धर्म की स्थापना के लिये तब की बात जाने दीजिए। अब भी वर्ण-व्यवस्था के ही विधान से ब्राह्मण इतने दुखी हैं। इनका मन कार-व्यापार की ओर जाता ही नहीं। पर, यह ग़लती है। हम पीछे कह आए हैं कि समय पर क्षत्रिय और ब्राह्मण भी व्यापार करते थे और करना चाहिए। इसमें वर्ण-व्यवस्था कुछ भी बाधक नहीं। आजकल ब्राह्मणों को भी समयानुसार उचित धंधों में लगना चाहिए। संस्कृत-भाषा विशेषतः उन्हीं ब्राह्मणों को पढ़ना चाहिए, जिनके पास अपने निर्वाह के लिये पुष्कल धन है। कारण, पहले क्षत्रिय और वैश्य आदि संस्कृतज्ञ विद्वानों की उचित सेवा करते थे—अपनी आमदनी का कुछ भाग इधर लगाते थे ; पर आज वह बात नहीं है। कितने ही संस्कृत के पंडित इधर-उधर फिरते हैं, जिन्हें कोई पूछता तक नहीं। इसलिये समझ-सोचकर काम करना उचित है। बहुत से ब्राह्मण कहा करते हैं कि ऐसा करने से संस्कृत-भाषा को धक्का लगेगा। हम कहते हैं इसकी परवा तुम तब करो, जब अपने पेट और इज़्ज़त की कर लो। बहुत दिनों तक तुमने इसकी रक्षा की। अब कुछ भार औरों पर भी छोड़ो। सभी का काम है कि अपनी भाषा और सभ्यता की रक्षा करें। क्या क्षत्रियों और वैश्यों तथा शूद्रों का कर्तव्य नहीं है कि वे संस्कृत पढ़कर अपने शास्त्रों के अस्तित्व की रक्षा करें ? फिर, वे इधर से क्यों विमुख हैं ? हम यह नहीं कहते कि उनकी तरह तुम भी इसे यों ही अनाथ छोड़ दो। नहीं, इसकी सेवा कभी मत छोड़ो, पर साथ ही अपने जीवन मान-मर्यादा और बालबच्चों का भी ध्यान रखो, जो अब बिना उचित कारबार के सम्भव नहीं। वर्ण-व्यवस्था की विधि ऐसा करने से मिट न जायगी। यह आपत्काल है। आपत्काल के लिये सब विधियाँ प्रायः विकल्प हो जाती हैं। इतनी दरिद्रता और अपमान से तो मरना अच्छा।

इतना सब लिखने से मतलब यह कि वर्ण-व्यवस्था से ब्राह्मण वर्ग का किंचित् भी अपना स्वार्थ नहीं, सिवाय नुकसान के। हाँ, सम्भव है, मैं स्वयं ब्राह्मण हूँ; अतः ऐसा कहता हूँ और मुझे अपना स्वार्थ छिपाना ही अभीष्ट हो। यदि यह बात हो, तो इस विषय के विद्वान् अवश्य इस विषय पर प्रकाश डालेंगे और बतलायेंगे कि ब्राह्मणों का वर्ण-व्यवस्था से क्या स्वार्थ है। मेरा यह अनुरोध पंजाबी जात-पाँत-तोड़क मंडल के मंत्री श्रीयुत संतरामजी बी० ए० तथा हिंदी साहित्यिकों के सुपरिचित श्रीसत्यव्रत सिद्धान्तालंकार आदि महाशयों से विशेषतः है।

यहाँ पर एक बात और कहनी है। संसार की गति देखे, हुए ब्राह्मणों में भी कुछ ऐसे महाशय उत्पन्न हो गये हैं, जो दूसरों से मोर्चा लेने के लिये कमर

कसकर तैयार हो गये हैं। ये लोग राम और कृष्ण की पूजा बन्द कराके रावण और परशुराम की पूजा का विधान करते हैं। कहते हैं, ये ब्राह्मण थे; अतः इन्हीं की पूजा करनी चाहिए। परशुराम तो भगवान् के अवतार हैं ही। उनकी पूजा करने को कौन मना करता है? पर, रावण की पूजा एक अद्भुत बात है! दुष्टों की पूजा कभी नहीं हुई है। ऐसी संकीर्णता निन्द्य है। ऐसी पार्टियाँ आजकल के आक्षेपों से जर्जरित-मनस्क नवयुवक बनाते हैं। उन्हें धैर्य और बुद्धि से काम लेना चाहिए। वर्ण-व्यवस्था को ऐसे दलदल में फँसने से बचाना चाहिए।

दक्षिण के ब्राह्मण-अब्राह्मण आन्दोलन में विषाग्नि पैदा हो रही है। इसे सबसे पहले ठंडी करनी चाहिए। कुछ लोग उत्तर भारत में भी यह आग सुलगा रहे हैं। इससे सावधान रहने की आवश्यकता है। दक्षिण के ब्राह्मण आदि ऊँचे वर्ण कहानेवाले लोग वहाँ के अब्राह्मणों (अछूतों) पर घोर अन्याय करते हैं। इसे शीघ्र मिटाना धर्म है। 'ब्राह्मण-पार्टी' से सिर्फ़ ब्राह्मणों का ही ग्रहण नहीं है। उसमें क्षत्रिय, वैश्य आदि सभी शामिल हैं, जिन्हें 'ब्राह्मण-पार्टी' कहते हैं। दूसरी ओर अब्राह्मण हैं, जिन्हें अस्पृश्य समझा जाता है। यह विषमता का विष शीघ्र दूर हो, तभी जाति का कल्याण है। समस्त भारत से छुआछूत के कोढ़ को निकालकर शुद्ध वर्ण-व्यवस्था प्रचलित करने की ज़रूरत है।

जाति और वर्ण

आजकल यह प्रथा है कि जब कोई हमसे पूछता है कि आप किस जाति के हैं? तो, हम लोग उत्तर देते हैं—ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय, वैश्य आदि। यह भूल है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियाँ नहीं, वर्ण हैं। इनके फिर कितने ही भेद और उपभेद हैं। जाति तो 'हिंदू' है। जब कोई जाति पूछे, तो हिंदू-जाति बतलाना या लिखाना चाहिए। विवाह आदि अपने-अपने वर्ण या वर्ग में हों, और उस समय वर्ण या वर्ग पूछने की ज़रूरत है। एक हिंदू अथवा आर्य-जाति के ब्राह्मण आदि वर्ण हैं। पुलिस और अस्पताल आदि में भी ब्राह्मण से लगाकर भंगी तक को अपनी जाति हिंदू लिखानी चाहिए। इसकी व्यवस्था होनी चाहिए। मर्दुमशुमारी में भी सबको अपनी जाति 'हिंदू' ही लिखाना उचित है। ब्राह्मण आदि वर्णों का नाम जाति की जगह ग़लती से लिखा जाता है। इसे दूर कर देना ही ठीक है।

हिंदू-जाति और मत-मजहब

हमारी जाति में सदा से विचार-स्वातन्त्र्य रहा है। कभी किसी को अपने विचार प्रकट करने की मनाई नहीं रही है। कभी ऐसा नहीं हुआ है कि वेदों पर आक्षेप करनेवाले की जान 'संग-मारी' करके ले ली गयी हो, या कोई शूली पर लटका दिया गया हो। यही कारण है कि वेदों के माननेवाले और न माननेवाले, ईश्वर के उपासक और अनीश्वरवादी आदि सभी विचार के समुदाय हमारी हिंदू-जाति में हैं और सदा रहेंगे। यही इस जाति की सर्वोत्कृष्ट विशेषता है। इसमें इतना ध्यान रखना चाहिए कि हिंदू-जाति के ये सब मत-मजहब हैं, ये मत-मजहब कोई जाति नहीं। सनातनी, आर्यसमाजी, जैन, बौद्ध और सिख आदि बहुत-से मत हिंदू-जाति में हैं। कोई-कोई नहीं बहुत से लोग इन मत-मतान्तरों को ही इस प्रकार आजकल समाचारपत्रों में लिखने लगे हैं, जिससे भ्रम फैलता है। कहीं लिखा रहता है—"आर्य और हिंदू नेताओं की मीटिङ्ग हुई।" कोई छापता है—"बहुत से हिंदू और सिख घायल हुए।" कहीं देखते हैं—"हिंदुओं और जैनियों की सभा दया-प्रसार के लिए हुई।" यह ग़लती है। इस प्रकार आर्य, जैन और सिख आदि को कभी अलग न लिखना चाहिए। ये सब एक हिंदू-जाति के मत हैं। हाँ, आवश्यकता पर इस प्रकार लिख देना चाहिए, जिससे ये मत ज़ाहिर हों। सभी फ़िर्क़ों को एक जाति के नाम से लिखना चाहिए। ऐसा न करने से आगे भारी अनर्थ की संभावना है।

(असमाप्त)

किशोरीदास वाजपेयी

राग खम्माच-ताल दादरा

धा	धी	ना	ता	ती	ना	धा	धी	ना	ना	ती	ना
×			०			×			०		
ऩ	—	म	ऩ	म	म	ध़	ध़	न	नध	प़	ध़
मे	ऽ	रे	तो	गि	र	ध	र	गो	पाऽ	ऽ	ल
र	ग	र	ऩ	म	म	ध़	ध़	ऩ	नध	प़	ध़
मे	ऽ	रे	तो	गि	र	ध	र	गो	पाऽ	ऽ	ल
र	—	र	र	र	र	र	र	र	रग	म	ग
मे	ऽ	रे	तो	गि	र	ध	र	गो	पाऽ	ऽ	ल
र	ग	र	न	म	म	ध़	ध़	ऩ	नध	प़	ध़
मे	ऽ	रे	तो	गि	र	ध	र	गो	पाऽ	ऽ	ल
	स	ग	ग	ग	ग	स	ग	स	गम	प	प
	मे	रे	तो	गि	र	ध	र	गो	पाऽ	ऽ	ल
गर	ग	र	न	म	म	ऩ	ध़	ऩ	नध	प़	ध़
मेऽ	ऽ	रे	तो	गि	र	ध	र	गो	पाऽ	ऽ	ल
स	—	ग	—	ग	म	प	—	प	प	प	प
जा	ऽ	के	ऽ	शि	र	मो	ऽ	र	मु	क	ट
ग	प	ग	म	र	ग	प	—	प	प	प	प
जा	ऽ	के	ऽ	शि	र	मो	ऽ	र	मु	क	ट

गम	पध	नृ	धप	मग	—	स	—	ग	—	ग	म
जा	ऽऽ	ऽ	केऽ	ऽऽ	ऽ	जा	—	के	ऽ	शि	र
प	—	प	प	प	प						
मो	ऽ	र	मु	क	ट						
न	—	स	न	स	स	ध	ध	न	नध	प	ध
मे	ऽ	रे	नो	गि	र	ध	र	गो	पाऽ	ऽ	ल
ध	—	न	स	—	स	—	—	—	धन	सर	नस
दू	ऽ	स	र	—	न	ऽ	ऽ	ऽ	आऽ	ऽऽ	ऽऽ
ध	—	न	स	—	स	—	नस	गम	पग	ऽर	सा
दू	ऽ	म	र	ऽ	न	ऽ	आऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽ
ध	—	न	म	—	स	नस	गम	पध	न	प	ग
दू	ऽ	म	रा	ऽ	न	आऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽ	ऽ	ऽ
रस	ध	न	स	—	स						
ऽऽ	दू	स	रा	ऽ	न						
स	—	ग	—	ग	म	प	—	प	प	प	प
जा	ऽ	के	ऽ	शि	र	मो	ऽ	र	मु	क	ट
म	—	ग	—	ग	म	प	—	—			
जा	ऽ	के	ऽ	शि	र	आ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
	(1)										
पप	रग	मप	धप	मग	रस						
आऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ						
स	—	ग	—	ग	म	प	—	प	प	प	प
जा	ऽ	के	ऽ	शि	र	मो	ऽ	र	मु	क,	ट
प	-	गम	पध	नध	पध	धप	मग	पम	गर	गर	नस
आ	ऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ
न	—	म	न	म	स	—	धन	सर	गर	सन	स
मे	ऽ	रे	तो	गि	र	ऽ	आऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽ
न	—	म	न	स	स	धन	मर	गम	पम	गर	स
मे	ऽ	रे	तो	गि	र	आऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽ
न	--	म	न	स	स	—	—	—	धन	सर	गम
मे	ऽ	रे	तो	गि	र	ऽ	ऽ	ऽ	आऽ	ऽऽ	ऽऽ
पध	नध	पम	गर	सन	स						
ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽ						

न	—	स	न	स	स	—	—	—	धन	सर	गम
मे	ऽ	रे	तो	गि	र	ऽ	ऽ	ऽ	आऽ	ऽऽ	ऽऽ
पध	नसं	-न	धप	मग	रस						
ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ						
न	—	स	न	स	स	ध	ध	न	नध	प	ध
मे	ऽ	रे	तो	गि	र	ध	र	गो	पाऽ	ऽ	ल
न	मन	सस	धध	न,नध	पध	ध	नम	-स	गग	रर	रग,न
मे	रे तो	गिर	धर	गो,पाऽ	ऽल	दू	सरा	ऽन	काई	रे प्र	भु,ऽ
मग	×रन	रुस	नध	न न	धप,ध						
मेऽ	रे तो	गिर	धर	गोपा	ऽऽल						

राजाराम भार्गव, लखनऊ.

In the next issue more songs together with *tans* and *alaps* will be given on the *Rag Khammach.*

१. टेलिभोक्स या यांत्रिक मनुष्य

त्रिक मनुष्य बनाने के पीछे वैज्ञानिक पड़े हुए हैं। वे यह नहीं चाहते कि मनुष्य कोई भी काम स्वयं करे। कई साल हुए हमने 'माधुरी' के कालमों में एक यांत्रिक सैनिक के विषय में लिखा था। उसके बाद से और भी यांत्रिक मनुष्य बने हैं और वे भिन्न-भिन्न प्रकार का काम करते हैं। कुछ दिन हुए बोस्टन के मैसाचुसेट्स इंसटिटिउट आफ़ टेक्नोलाजी के गणितज्ञों ने एक ऐसा वैद्युतिक यंत्र बनाया जो कठिन-से-कठिन सवालों को बात-की-बात में हल कर देता है। ऐसे प्रश्नों का जिन्हें हल करने में मनुष्यों को हफ़्तों और महीनों लग जाते हैं, बिजली के बटन दबाने और मोटरों को चालू करने से सिर्फ़ आठ मिनट में ही ठीक-ठीक जवाब निकल आता है।

किंतु इससे भी आश्चर्यजनक कार्य 'टेलिभोक्स' करता है। यह टेलिफ़ोन से दी हुई आज्ञाओं को सुनता है, उसके मुताबिक काम करता है और आज्ञापालन की सूचना भी दे देता है। इस मनुष्य के आविष्कारक वेस्टिंग हाउज़ इलेक्ट्रिक और मैन्युफ़ैक्चरिंग कंपनी के एक इंजिनीयर आर० जे० वेंसले हैं। यदि आप इस मनुष्य के शरीर को चीरकर देखेंगे, तो उसमें आपको रेडियो का एक ग्राहक-यंत्र (Receiving Apparatus) और दो चार और यंत्र दीख पड़ेंगे। आप मकान से बाहर जाते समय इसे घर में रख छोड़िए और वह आपका विश्वासी और आज्ञाकारी नौकर जैसा काम करेगा।

इस यंत्र में कुछ ऐसे वैद्युतिक हिस्से हैं जो आवाज़ों के चढ़ाव उतराव (Pitch) से प्रभावान्वित होकर उन्हें कार्यरूप में परिणत करते हैं। यह कार्य विशेषतः बिजली के बटन दबाने और उठाने का होता है। यांत्रिक मनुष्य टेलिफ़ोन से लगा हुआ नहीं है, किंतु जैसे आप टेलिफ़ोन के शब्दों को सुनते हैं वैसेही यह भी सुनता है। इसका कारण यह है कि इस मनुष्य के कान नाज़ुक शब्द-ग्राहक यंत्र (Sensative Microphone) हैं। वह स्वयं बोल तो नहीं सकता, किंतु कई प्रकार के शब्द कर सकता है जो टेलिफ़ोन द्वारा आप तक पहुँच जा सकते हैं और उनसे आप मतलब निकाल ले सकते हैं। यों तो यह यंत्र मनुष्यों द्वारा कहे गए सारे शब्दों को समझ लेता है और उनका उत्तर देता है, किंतु व्यावहारिक रूप में केवल तीन प्रकार के शब्द उसे काम में लगाते हैं। ये शब्द तीन प्रकार के शब्द करनेवाले चिमटे (tuning forks) से उत्पन्न होते हैं।

उदाहरण के लिये समझ लीजिए कि आप अपने मित्र के घर पर बैठे हुए हैं और अपने घर में लगे हुए

टेलिभोक्स को पुकार रहे हैं। आपने अपने मकान को टेलिफ़ोन किया। घंटी बजते ही टेलिभोक्स ने 'रिसीवर' उठाया और एक विशेष प्रकार का शब्द किया जिससे आपको ज्ञात हो गया कि एक्सचेंजवालों ने ठीक नंबर दिया है। अब आप एक चिमटे से एक बार शब्द करते हैं। टेलिभोक्स अपने आप शब्द करना बंद कर देता है। फिर आप उसी चिमटे से दो बार शब्द करते हैं, इसका अर्थ है बिजली के चूल्हे को जला देना। टेलिभोक्स ऐसा ही करता है और फिर दो बार शब्दकर आपको सूचित करता है कि आज्ञा का पालन हो गया। अब आप शायद यह जानना चाहते हैं कि चूल्हा धधक तो नहीं रहा है ; वह बहुत गरम तो नहीं हो गया है। आप उसी चिमटे से तीन बार शब्द करते हैं। टेलिभोक्स भी तीन बार शब्दकर उत्तर देता है "चूल्हा धीमे-धीमे गरम हो रहा है घबड़ाने की बात नहीं।" यदि आप और प्रश्न पूछना चाहें चार बार शब्द करें और आपको टेलिभोक्स भी यथोचित उत्तर देगा। अब यदि आपको कुछ भी पूछना नहीं है तो तीनों चिमटों में जिसकी आवाज़ सबसे धीमी है उससे शब्द कीजिए। यांत्रिक मनुष्य "आदाब अर्ज़" कहकर टेलिफ़ोन के 'रिसिवर' को लटका देगा।

सारा खेल तीन चिमटे, उनसे निकलनेवाले शब्द के चढ़ाव-उतराव और बिजली के कुछ यंत्रों का है। इन्हीं के द्वारा उपरोक्त यांत्रिक मनुष्य काम करता है। ऊपर सिर्फ़ एक ही उदाहरण दिया गया है। वैसे-वैसे और भी कई काम यह यंत्र करता है।

× × ×

२. पुस्तक बेचनेवाली मेशीन

अब पुस्तकें ख़रीदने के लिए आपको पुस्तकों की दूकानों

पुस्तक की ख़रीदारी

पर जाने की आवश्यकता नहीं। राह चलते, लंदन के चौराहों पर आपको पुस्तक बेचनेवाली मेशीनें मिलेंगी। इन मेशीनों में पुस्तकें शीशे की आलमारी में जैसी सजी रहती हैं। प्रत्येक पुस्तक के साथ एक नंबर और उसका मूल्य सटा रहता है जो बाहर से दिखलाई पड़ता है। मेशीन के साथ एक हैंडिल लगा रहता है। आपको जिस नंबर की पुस्तक चाहिए हैंडिल को घुमाकर उस नंबर पर कर दीजिए, एक सुराख़ में पुस्तक का मूल्य डाल दीजिए और दूसरा हैंडिल पकड़कर खींचिए पुस्तक बाहर निकल आवेगी।

× × ×

३. दबाव का फल

पदार्थों में रसायनिक परिवर्त्तन साधारणतः दो प्रकार से होते हैं—(१) गरमी से (२) दबाव से। किंतु अभी तक हम लोग पदार्थों पर दबाव के फल से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। एक दो बातें जो मालूम हुई हैं वे नहीं के बराबर हैं। किंतु इस दशा में भी वैज्ञानिक कार्य कर रहे हैं। ऐसे वैज्ञानिकों में एक हैं एक फ्रेंच इंजिनीयर जेम्स बैसेट। इन्होंने एक यंत्र तैयार किया है जिससे प्रति घन इंच ३,००,००० पौंड का दबाव पैदा किया जा सकता है। यह दबाव आपके अँगूठे के नख पर एक मकान के वजन के बराबर है। बैसेट फ्रांस में एक तीव्र दबाव (Ultra-pressure)की एक प्रयोगशाला स्थापित
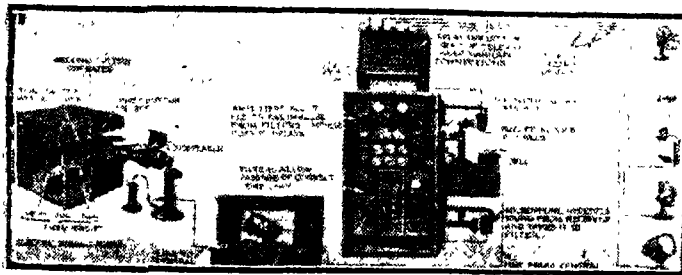
पुस्तक बेचनेवाली मेशीन

करना चाहते हैं, जहाँ वैज्ञानिक पदार्थों के कणों को दबा दबाकर उसका फल तथा व्यवहार निश्चित करेंगे। तरल पदार्थ साधारणतः न दबनेवाले समझे जाते हैं किंतु इन्हें भी दबाने से आश्चर्यजनक फल दीख पड़ता है। पेट्रोलियम को दबाने से वह एक ठोस पदार्थ में परिणत हो जाता है। अन्य तरल पदार्थों को ६०,००० पौंड प्रति इंच के दबाव से दबाकर बैसेट ने देखा कि वे या तो ठोस पदार्थ हो जाते हैं या लेई के सदृश। [illegible] साधारण अवस्था में अकार्यकारी (inert) होती [illegible] दबाने से वह कार्य करने लगती है। नेत्रजन गैस साधारण अवस्था में किसी भी पदार्थ से नहीं मिलती, पर यह भी दबाव के चपेटों में पड़कर हाइड्रोजन गैस से मिलकर एमोनिया गैस में परिणत हो जाती है।
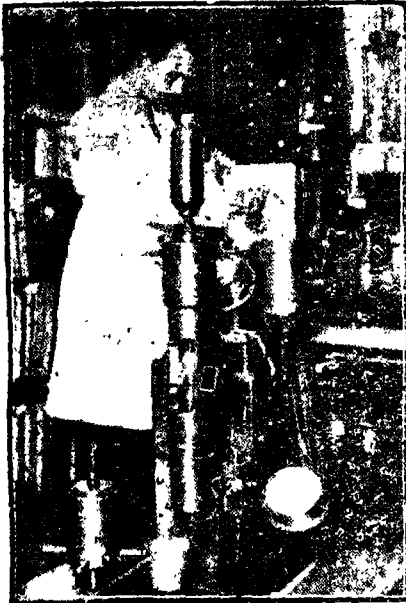
दबाव का यंत्र

हीरा कोयले का रूपांतर-मात्र है। कोयले पर अत्यधिक दबाव डालने से वह हीरे में बदल जाता है। हेनरी मोमसन और विलियम क्रुक्स ने भिन्न भिन्न तरीक़ों द्वारा थोड़ा थोड़ा हीरा कोयले से तैयार किया है किंतु वे देर तक उस दबाव को न रख सके, इसलिए $\frac{१}{५०}$ इंच से बड़े हीरे नहीं बन सके। बैसेट का यंत्र हफ़्तों तक एक ही सा बहुत दबाव बनाए रख सकता है। इसके द्वारा अनेक आश्चर्यजनक कार्य हो सकते हैं। एक तो कृत्रिम हीरा तैयार करना ही है। इस आविष्कार से वैज्ञानिक संसार में विप्लव मच जाने की संभावना है।

× × ×

४. अभेद्य 'टायर'

मोटर और साइकेल के 'टायरों' में कांटा पिन, कील या अन्य कितने ही पदार्थों के गड़ जाने से 'पंकचर' हो जाता है और वे चलने से उस समय तक बेकार हो जाते हैं, जिस समय तक वे मरम्मत नहीं कर दिए जाते। इसमें बड़ी असुविधा होती है और कभी कभी बड़ी नुकसानी भी उठानी पड़ती है। इस असुविधा को दूर करने के लिए जर्मनी के कूनो आजिन ने एक नए प्रकार का 'टायर' बनाया है। यह 'टायर' अपने ही आप हवा ग्रहण करता है और उसे छोड़ता है। इसमें स्पंज से छोटे छोटे छिद्र होते हैं, उन्हीं के द्वारा यह क्रिया होती है। 'टायर' में न तो 'पंप' द्वारा हवा भरी जाती है और न 'टायर' के फटने से हवा निकलने का डर ही रहता है। इस 'टायर' के लोकप्रिय होने की आशा की जाती है।

× × ×

अभेद्य टायर

५. अजीब पेंसिलें

उन्नति के इस युग में पेंसिल ही अपनी पुरानी अवस्था में क्यों रह जाय? इस छोटी किंतु उपयोगी पदार्थ में भी काफ़ी उन्नति हुई है। अभी हाल ही में

एक ऐसी पेंसिल बनी है जो स्वयं जोड़, बाक़ी, गुणा, भाग ठीक ठीक कर दिया करती है। यह पेंसिल बैंकवालों, हिसाब करनेवालों तथा विद्यार्थियों के लिए बड़े काम की सिद्ध हुई है।

दूसरे प्रकार की पेंसिल है जिससे आप अँधेरे में भी लिख सकते हैं। पेंसिल की नोक के पास ही बिजली का एक छोटा सा 'बल्ब' लगा रहता है। यह 'बल्ब' बलकर उस स्थान को प्रकाशित करता है जहाँ लिखना है। 'बल्ब' की रक्षा के लिए एक ढकन होता है। 'फौन्टेन-पेन' जैसा इस पेंसिल को आप पाकेट में रख सकते हैं।

प्रकाशमान पेंसिल

पेंसिलों के खो जाने का बहुत डर रहता है। एक बार पेंसिल हाथ से हटी तो उसे ग़ायब ही हुआ समझिए। इसलिए एक ऐसी पेंसिल बनाई गई है जो अंगूठी में आ जाती है। आप अंगुली में ऐसी अंगूठी पहन लेते हैं। ज़रूरत के समय अंगूठी से पेंसिल निकाल कर लिखा और उसे फिर अंगूठी में डाल दिया चित्र देखिए।
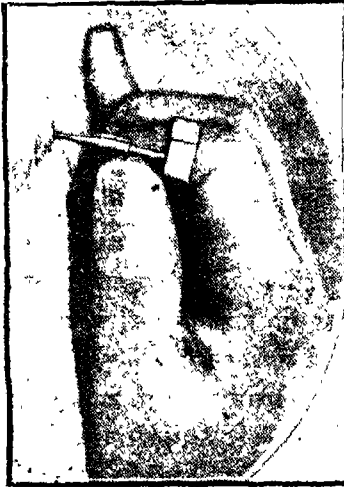
अँगूठी पेंसिल

× × ×

६. शरीर दबानेवाली मेशीन

सब कामों के लिए मेशीन आविष्कृत हुई तो शरीर दबाने के लिए मेशीन क्यों न हो? नौकरों और चेलों से शरीर दबवानेवाले रईस और मठाधीश आनंद मनावें! कई छोटे छोटे गद्देवाली चारपाई के साथ बिजली का संबंध रहता है। ये गद्दे ऐसे बने होते हैं कि बिजली

शरीर दबानेवाली मेशीन।

का बटन दबाते ही वे अपने स्थान से हट-हटकर शरीर के प्रत्येक हिस्से को दबाने लगते हैं। सचमुच बड़ा मज़ा मिलता होगा! रईस और महंत लोग शीघ्र एक एक ऐसी चारपाई अमेरिका से मँगवा लें।

रमेशप्रसाद

———
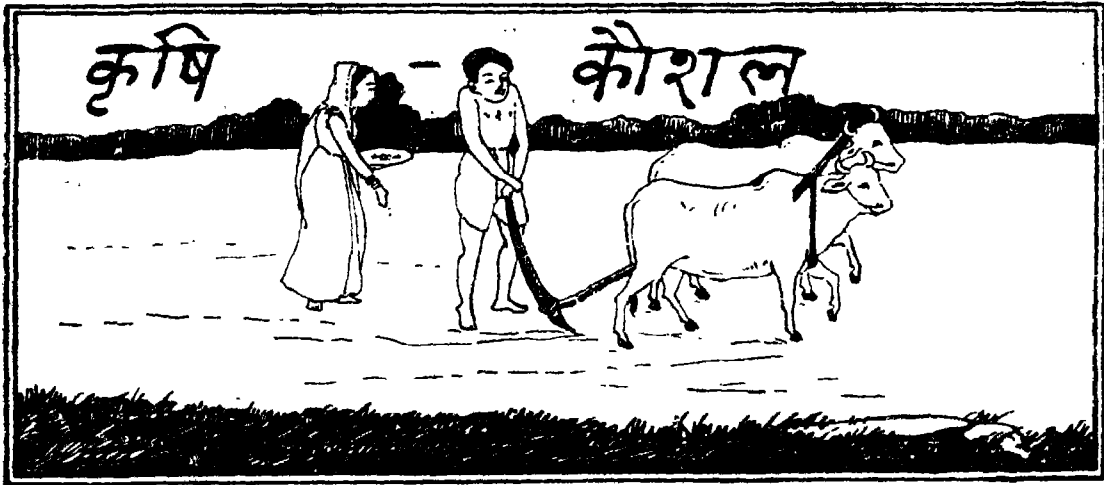
१. टोमेटोज़ (विलायती बैंगन) की काश्त—
Tomators (Lycopersicum es-culentum)

संसार में ज्यों-ज्यों देशांतर करने की सुविधाएँ बढ़ती गईं त्यों-त्यों भिन्न प्रकार की साग भाजियों का प्रचार एक देश से दूसरे देश में होता गया। इस रीति के अनुसार अन्य साग भाजियों के साथ भारत में टोमेटो का आगमन दक्षिण अमेरिका से हुआ। मेक्सी के निवासी इसको बहुतायत से खाया करते थे और इसे वे टोमाटी कहते थे। भारतवर्ष में इसकी काश्त कहीं-कहीं बागीचों में हो रही है। परंतु अन्य तरकारियों की भाँति इसका आदर नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण इसका कसैला स्वाद प्रतीत होता है। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों इसके गुणों का ज्ञान जन-समाज में बढ़ रहा है इसका उपयोग भी बढ़ रहा है। इसकी काश्त से लाभ भी पूरा होता है।

टोमेटो के गुण—यह दस्तावर, अग्निदीपन करनेवाला तथा वीर्य-वर्धक है। बेरी-बेरी, स्कर्वी तथा रिकेट्स आदि बीमारियों के लिये बहुत अच्छी औषधि है। यह मसोड़ों को मज़बूत करता है व उनमें से बहते हुए खून को बंद करता है। हड्डियों के जोड़ की कमज़ोरी को भी दूर करता है। पके फलों की तरकारी की अपेक्षा कच्चे फल अथवा उनकी चटनी बनाकर खाई जाय तो वह विशेष लाभदायक होती है। कच्चे फल पहले अच्छे नहीं लगते हैं परंतु नमक मसाला अथवा चीनी के साथ चटनी बनाकर खाने से इसकी ओर रुचि बढ़ जाती है। बाज़ार में टोमेटोकैचअप इत्यादि नाम की इसकी कई प्रकार की चटनियाँ बिकती हैं।

वर्तमान युग में वैज्ञानियों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि भोजन के पदार्थों में एक क़िस्म का पदार्थ होता है जिसको अँग्रेज़ी में वाइटेमीन्स (Vitamins) अर्थात् अन्नान्तर्गत सूक्ष्म पदार्थ कहते हैं। अभी तक वाइटेमीन्स ५ भागों में विभक्त किये गये हैं परंतु इनमें से तीन प्रथम जिनको ए, बी, सी, कहते हैं, इनका स्वास्थ्य और पाचन-शक्ति से बहुत संबंध है। यदि भोजन के पदार्थों में से इन्हें निकाल दिया जाय तो प्राणियों का जीना ही कठिन हो जाय। कुछ खाद्य पदार्थ ऐसे हैं जिनमें तीनों प्रकार के वाइटेमीन्स पाये जाते हैं और बहुत से ऐसे हैं जिनमें एक या दो प्रकार के ही पाये जाते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जिनमें इनका बिलकुल अभाव होता है। यदि अवकाश मिला तो वाइटेमीन्स की आवश्यकता और किन-किन पदार्थों में कौन-कौन से वाइटेमीन्स पाये जाते हैं इसके विषय में एक लेख माधुरी के किसी अगले अंक में प्रकाशित होने के लिये भेजूँगा। यहाँ पर यही कह देना उचित होगा कि टोमेटो में तीनों प्रकार के वाइटेमीन्स पाये जाते हैं। भारतीय दीन कृषकों के लिये यही एक ऐसा फल है जिसके द्वारा वे अल्पमूल्य में तीनों प्रकार के वाइटेमीन्स पा सकते हैं। सिर्फ़ ताज़े फलों में ही नहीं

बल्कि सूखे हुए फलों में भी वाइटेमीन्स रहते हैं इसलिये फलों को सुखाकर भी रख लेना चाहिए।

वाइटेमीन्स के सिवाय मनुष्यों के भोजनार्थ जिन-जिन तत्वों की आवश्यकता है उनमें के कुछ लोहा, खटिक, पोटेशियम आदि अन्य साग व फलों की अपेक्षा टोमेटो में अधिक पाये जाते हैं।

टोमेटो के पेड़ तथा फल का वर्णन—वनस्पति-शास्त्र में टोमेटो की गणना बैंगन के वर्ग में की गई है। इसके फल का आकार संतरे जैसा होता है, परंतु फल बहुत चिकना और मुलायम होता है। पकने पर फल का रंग लाल या गुलाबी हो जाता है। पके हुए फलों का गूदा चिकना व बहुत से बीजों से भरा हुआ होता है। पेड़ इसका लगभग २ से ३ फीट की उँचाई का होता है। जब तक पौधा छोटा होता है उसकी डंडी नर्म और बालदार होती है, परंतु बड़े पौधों में वह पहलूदार और सख़्त हो जाती है। पत्ते करीब-करीब आलू के पत्ते के समान परंतु बड़े होते हैं और फल बैंगन की भाँति ही आते हैं।

इसके योग्य मिट्टीः—वैसे तो यह हर प्रकार की मिट्टी में, जहाँ बैंगन पैदा किये जाते हैं, हो सकता है, परंतु बालूदार कछार-भूमि इसके लिये अच्छी होती है।

भूमि की तैयारीः—

श्रावण से कार्तिक तक पौधे खेतों में लगाये जाते हैं। जहाँ वर्षा अधिक हो वहाँ कार्तिक में ही लगाना चाहिए ताकि किसी व्याधि का पौधों पर आक्रमण न हो। गर्मी की जुताई के पश्चात् बरसात में भी एक दो जुताई दे देनी चाहिए। तत्पश्चात् खेतों में पानी देने के लिये नालियाँ बनानी चाहिए।

टोमेटो के पौधे दो रीतियों से लगाये जाते हैं। एक तो हरएक टोमेटो की कतार के साथ एक पानी की नाली बनाई जाती है, दूसरी रीति से हर दो कतारों के लिये एक नाली पानी की बनाई जाती है, पहली रीति की अपेक्षा दूसरी रीति में जल की आवश्यकता कम रहती है।

(१) प्रथम रीति के अनुसार लगाना हो तो नालियाँ ऐसी बनानी चाहिए कि ऊपर से लगभग १॥ फीट चौड़ी और नीचे लगभग १५ इंच चौड़ी हो। नालियों की गहराई लगभग ४,५ इंच की होनी चाहिए। दो नालियों के बीच की भूमि ऊपर से १॥ फीट चौड़ी और नीचे से १॥ फीट चौड़ी होनी चाहिए। दो नालियों के बीच की भूमि को बराबर कर देना चाहिए। इसके बीचोबीच टोमेटो के पेड़ लगाये जाते हैं।

(२) जब दूसरी रीति से लगाना हो तो दो पानी की नालियों के बीच की भूमि ४ फीट चौड़ी रखी जाती है और नालियों के किनारों से ६ इंच की दूरी पर टोमेटो के पौधे लगाए जाते हैं। इस रीति से लगाये हुए पौधों की कतारें तीन-तीन फीट की दूरी पर होंगी और यदि पौधे लकड़ियों या बाँस की टट्टियों पर नहीं चढ़ाये जायँ तो भी बीच की भूमि पर दोनों ओर के पौधे छोड़ दिये जा सकते हैं। पानी की नालियों में पौधे नहीं गिरने पाते। जहाँ लकड़ियाँ लगाने की सुविधा न हो वहाँ पर दूसरी रीति से ही काम लेना चाहिए।

खादः—टोमेटो के लिये बहुधा खाद इसके पहले की फ़सल को ही देना चाहिए। यदि पहली फ़सल को न दिया गया हो तो बहुत ही सड़ा हुआ गोबर का खाद प्रति एकड़ १०, १२ गाड़ी के हिसाब से डालना चाहिए। ताजे खाद से इसको हानि पहुँचती है। १०, १२ गाड़ी से अधिक खाद भी इसको हानिकारक है, क्योंकि इससे फल कम आते हैं, सिर्फ़ शाखाएँ और पत्ते ही बढ़ जाते हैं। गोबर के खाद के साथ यदि राख मिल सके तो वह भी डाल देनी चाहिए।

शहरों के निकट जहाँ गोबर के खाद का मेल न हो लेकिन कूड़े-कर्कट तथा रासायनिक खादों का मेल हो, तो कूड़े-कर्कट का खाद पहली फ़सल को ही देना चाहिए। और रासायनिक खादों को निम्नलिखित रीति से दे सकते हैं।

सड़े हुए गोबर का खाद खेतों की एक दो जुताई के बाद तथा सुपर फॉसफेट को आखिरी जुताई के समय डालना चाहिए। कूड़ा-कर्कट से खाद दिये हुए खेतों में सुपर फॉसफेट २॥ मन प्रति एकड़ तथा नाइट्रेट ऑफ सोडा १। मन प्रति एकड़ के हिसाब से डालना चाहिए। सोडियम नाइट्रेट का आधा भाग पौधों के रोपने के एक महीने बाद और दूसरा आधा भाग जब फल आने लगें उस समय डालना चाहिए। सोडियम नाइट्रेट देने के पश्चात् भूमि को चला देना चाहिए।

टोमेटो के बीज को रखने की रीतिः—अच्छे पके हुए फलों के बीज निकालकर उन्हें जल से धो डालना

चाहिए ताकि चिकना पदार्थ धुल जाय। फिर उनको राख में मिलाकर धूप में सुखा लेना चाहिए। जब सूख जाय तो फ़ालतू राख को अलग फेंककर बीज को ऐसे बर्तन में रखना चाहिए कि जिसमें हवा का आवागमन न हो। एक एकड़ ज़मीन के लिये २, ३ छटाँक बीज काफ़ी होते हैं। इसलिये बीज को रखने के लिये किसी बड़े बर्तन की आवश्यकता नहीं। यदि बोतल मिल सके तो उसमें, और नहीं तो टीन की डिबियों में रखे जा सकते हैं।

बीजों को नर्सरी में लगाने की रीतिः—

नर्सरीः—(बीजों को लगाने की क्यारियाँ)

इसके बनाने की उत्तम रीति यह है कि जहाँ पर इसे बनाना हो उस भूमि पर कुछ घास व पत्ते इत्यादि जला देना चाहिए। ऐसा करने से वहाँ की दीमक और अन्य प्रकार के कीट तथा हानिकारक सूक्ष्म जंतुओं का नाश हो जायगा और बीज अच्छी तरह से निकलेंगे। जलाने के पश्चात् मिट्टी में से बड़े-बड़े कंकर इत्यादि अनावश्यक पदार्थों को निकाल देना चाहिए व भूमि को ठीक से जुतवा लेना चाहिए। इसके पश्चात् लगभग ४ फीट चौड़ी व आवश्यकता के अनुसार लंबी भूमि को ४, ५ इंच ऊँची बनाकर प्रत्येक दो भागों के बीच १ फीट चौड़ा मार्ग जल देने तथा कीटादि को चुनने के लिये छोड़ देना चाहिए कि जिसमें मनुष्य आसानी से चल सके।

जहाँ पर दीमक से हानि पहुँचने की संभावना अधिक हो वहाँ पर छोटे-छोटे ६ इंच ऊँचे लकड़ी के संदूकों (Seedling boxes) में मिट्टी भरकर उसमें बीज लगाना चाहिए और उनको मचान के ऊपर रखना चाहिए।

जब नर्सरी इस तरह से तैयार हो जाय तो उसमें ४ इंच की दूरी पर लकीरों में बीज लगाना चाहिए। आवश्यकतानुसार जल देना, कीटादि शत्रुओं का नाश करना, कमज़ोर पौधों को घने पौधों से निकाल देना इत्यादि कार्यों की ओर नर्सरी में ध्यान देना चाहिए। जब नये पौधों में पत्ते आने लगें उस समय उखाड़कर एक बेर फिर ३, ४ इंच की दूरी पर नर्सरी में लगाने से व जब पौधे ५, ६ इंच ऊँचे हो जायँ उस समय खेतों में लगाये जायँ तो पौधे अच्छे होते हैं और फल भी अच्छे आते हैं। यदि समय न मिले तो कम-से-कम घने पौधों को उखाड़कर अच्छे-अच्छे पौधों को ५, ६ इंच की दूरी पर तो अवश्य कर देना चाहिए।

बीज गिराने के समय से ४, ५ सप्ताह में पौधे खेतों में रोपने-लायक हो जाते हैं। यदि कार्तिक में पौधे लगाना हो तो आश्विन में नर्सरी में बीज डाल देना चाहिए। जहाँ वर्षा कम हो वहाँ पहले भी लगाये जा सकते हैं।

खेतों में पौधों को लगाने की रीतिः—

पौधों को लगाने के दो तीन दिन प्रथम यदि भूमि में तरी पूरी न हो तो नालियों में पानी भर देना चाहिए। दो तीन दिन पश्चात् वह भूमि पौधों को लगाने के योग्य हो जाती है। जब टोमेटो की प्रत्येक कतार के साथ एक नाली पानी की होती है तो पौधों का दो नालियों के बीच की भूमि के बीचों बीच लगाना चाहिए। और जब दो क़तारों के लिये एक पानी की नाली हो तो पानी की नाली से ६ इंच की दूरी पर लगाना चाहिए। पौधे से पौधा ज़मीन की उपजाऊ शक्ति के अनुसार २ से ३ फीट की दूरी पर लगाया जाता है।

जब पौधे लग जायँ तो आवश्यकतानुसार पानी देना व हर पानी के पश्चात् पपड़ी तोड़ना इत्यादि कार्यों की ओर ध्यान दिया जाता है। पपड़ी तोड़ देते रहने से पानी कम देना पड़ता है। और पौधों की जड़ों में हवा लगने से पौधे भी तंदुरुस्त रहते हैं परंतु स्मरण रहे कि पौधों की जड़ों को हानि न पहुँचे।

फ़ालतू शाखाओं का तोड़ना, या नहीं तोड़ना और लकड़ियों का लगाना या नहीं लगाना यह मज़दूरी की दर पर और लकड़ी या बाँस इत्यादि के मूल्य पर निर्भर है। दोनों रीतियों से जो हानि-लाभ होते हैं वे नीचे दिखलाये जाते हैं। पाठक जैसा चाहें कर सकते हैं।

टोमेटो का पौधा जब बढ़ने लगता है तो बीच की शाखा के दोनों ओर दो शाखाएँ और निकलती हैं। इन शाखाओं में दूसरी कई शाखाएँ निकलती हैं। जब ये बढ़ जाती हैं तो पौधे ज़मीन पर गिर जाते हैं। गिरे हुए पौधों में हवा और धूप के अभाव से फल छोटे-छोटे आते हैं। फलों के मिट्टी पर गिरे रहने के कारण वे बिगड़ भी जाते हैं और उनके तोड़ने में बहुत असुविधा होती है। इधर-उधर उठाने में कई शाखाएँ टूट भी जाती हैं।

इन सब कारणों से बचाने के लिये पौधों पर तीन चार शाखाओं से अधिक नहीं रखना चाहिए। जैसे ही छोटी-छोटी शाखाएँ निकलने लगें कि उन्हें तोड़ डालना चाहिए। पौधों को खड़ा रखने के लिये बाँस की टट्टियाँ या अन्य प्रकार के छोटे-छोटे डंडे तीन फ़ीट की उँचाई के गाड़कर उन पर पौधों की शाखाओं को केले के रेशों से या अन्य प्रकार की रस्सी से बाँध देना चाहिए। ऐसा करने से फल बड़े आते हैं और उनके तोड़ने में भी आसानी होती है।

अमेरिका में इस विषय पर कई प्रयोग किये गये तो कहीं-कहीं तो लाभ हुआ परंतु अधिकांश भागों में आमदनी के हिसाब से हानि ही हुई। लाभ और हानि दो बातों पर निर्भर है। यदि बाजार ऐसा हो कि जहाँ बड़े-बड़े फलों की माँग हो और बिक्री अच्छी होती हो तो यह परिश्रम अवश्य करना चाहिए। जहाँ पर छोटे बड़े सब प्रकार के फलों की अच्छी बिक्री होती हो वहाँ पर शाखाएँ तोड़ने की या लकड़ियों के लगाने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। बगीचों में यदि शोभा के लिये लगाये जायँ और थोड़ी ही ज़मीन में लगाना हो तो ऊपर बतलाई हुई क्रिया अवश्य करनी चाहिए। स्मरण रहे कि तीन शाखाओं से कम न हो।

टोमैटो की पैदावारः—

पौधों को खेत में लगाने के ४,६ सप्ताह पश्चात उनमें फूल आने लगते हैं और ८,१० सप्ताह में फल भी आ जाते हैं। पौष, माघ, फाल्गुन तथा आधे चैत्र तक फल आते रहते हैं।

अमेरिका में इसकी काश्त बहुत होती है। एक-एक पौधे में १ सेर से लेकर १० सेर तक फल आते हैं।

पूसा (बिहार) में भी टोमैटो इसी हिसाब से फलते हैं। अमेरिका में औसत पैदावार २०० से ३०० मन तक होती है। कहीं ५०० मन तक भी हो जाती है।

भारतवर्ष में इसकी पैदावार प्रति एकड़ क्या हो सकती है यह बतलाना ज़रा कठिन है क्योंकि यहाँ पर अभी इसकी काश्त इतनी नहीं हुई है कि बहुत से एकड़ों की पैदावार का औसत लगाकर बतलाया जा सके।

हॉवर्ड साहब ने १९१२ में क्वेटा में $\frac{?}{५}$ एकड़ के टुकड़े में पौधों को तार पर चढ़ाकर देखा था तो ७०० मन प्रति एकड़ के हिसाब से पैदावार निकली थी।

लेखक ने स्वयं पूसा में देखा है कि आजकल इसकी पैदावार औसत दर्जे ३०० मन भली भाँति ली जा सकती है। एक एक पौधे में १० सेर तक भी टोमैटो पाये गये हैं। ऐसा कोई विरला ही पौधा होता है जिसमें दो सेर से कम फल आते हों। बिगड़े हुए तथा पिछले छोटे फलों को काटकर ३०० मन प्रति एकड़ बिकने-योग्य फल भली भाँति प्राप्त हो सकते हैं।

टोमैटो बहुधा २॥) रु० मन के हिसाब से बिकते हैं। कहीं बड़े-बड़े शहरों में जहाँ इसकी माँग बहुत है और जहाँ के निवासियों को इसका गुण मालूम है वहाँ तो इसका मूल्य बहुत मिलता है। मान लिया कि २॥) मन के दर से ही फल बेचे जायँ तो ७५०) प्रति एकड़ आय हो सकती है। इस आमदनी के सिवाय वर्षाऋतु की फसल से भी कुछ आमदनी उसी खेत से हो ही जाती है।

इसकी काश्त में जो व्यय हो सकता है वह पाठक-गण स्वयं अपने प्रांत की मज़दूरी की दर, भूमि-कर, सिंचाई-कर तथा खाद के मूल्य के अनुसार कर सकते हैं।

टोमैटो में होनेवाली व्याधियाँः—

सूक्ष्म जंतुओं (Bacterial and Trungoid diseases) द्वारा होनेवाली ४,५ प्रकार की व्याधियाँ टोमैटो में पाई जाती हैं, परंतु अभी तक कोई मुख्य ऐसी व्याधि नहीं पाई गई है जिससे फ़सल को विशेष हानि पहुँचती हो। यदि कहीं कोई पेड़ व्याधि-ग्रस्त दिखाई दे तो उसे उखाड़कर जला देना चाहिए।

टोमैटो को हानि पहुँचानेवाले कीट भी दो चार जाति के हैं, परंतु वे भी बहुत हानिकारक नहीं हैं। थोड़े बहुत हों तो चुनकर फेंक दिये जा सकते हैं।

टोमैटो को दूर भेजने की रीतिः—

दूर जानेवाले टोमैटो को ऐसी स्थिति में तोड़ना चाहिए कि न तो वे बिलकुल ही लाल हो गये हों और न बिलकुल हरे हों। जब थोड़ा-थोड़ा हरा रंग उन पर रहे उस समय तोड़ना चाहिए। अधिक हरा तोड़ने से फलों का स्वाद बिगड़ जाता है और बिलकुल पके हुए तोड़ने से राह में वे खराब हो जाते हैं। जैसा कि दूसरे फलों के साथ डंठल रख लिया जाता है ऐसा टोमैटो के साथ नहीं करना चाहिए। ये फल बहुत मुलायम होते हैं। इससे एक के डंठल से दूसरे को हानि पहुँचती है। फल जब

प्रातःकाल में ठंडे हों उस समय तोड़ने चाहिए और उसी समय में लकड़ी की संदूकों (crates) में बंद कर देना चाहिए। अगर बहुत दूर भेजना हो तो हर एक फल को कागज़ में लपेटकर क्रेट में रख सकते हैं।

जिस क्रेट में टोमेटो भरे जायँ वे हल्के, सस्ते, मज़बूत, हवादार और इतने बड़े होने चाहिए कि आसानी से उठाये जा सकें और फलों को भी हानि न पहुँचे।

हॉवर्ड साहब २४×१६×१३॥ इंच के क्रेट को ठीक समझते हैं।

ऐसे प्रत्येक क्रेट में ७॥×७॥×३ इंच की छोटी-छोटी २४ टोकरियाँ रहती हैं। प्रत्येक टोकरी में चार-चार टोमेटो रखे जा सकते हैं। एक सतह में ६ टोकरियाँ ऐसे ही चार सतहों में २४ टोकरियाँ रखी जाती है। प्रत्येक सतह के बीच एक पतला लकड़ी का तख़्ता भी रखते हैं। ऊपर से क्रेट का मुँह बंद कर दिया जाता है। ऐसे क्रेटों में भेजे हुए टोमेटो क्वेटा से कलकत्ता (१७२० मील) बहुत अच्छी हालत में पहुँच गये। प्रत्येक टोकरी में लगभग एक सेर टोमेटो रहते हैं, इस हिसाब से एक क्रेट में २४ सेर के करीब टोमेटो रखे जा सकते हैं।

टोमेटो की तरकारी, चटनी, मुरब्बा आदि।

टोमेटो की तरकारियाँ भी कई प्रकार से बनती हैं, जिनको बहुत-सी गृहिणियाँ जानती ही हैं। इसकी पृथक् तरकारी के सिवाय यदि यह आलू इत्यादि दूसरी तरकारियों में डाल दिया जाय तो दूसरी तरकारियाँ भी बहुत स्वादिष्ठ बन जाती हैं। यह खटाई का भी काम दे देता है।

टोमेटो के फलों को बोतलों में या टीन में भरकर रखना:—

बहुधा अन्य फलों की भाँति टोमेटो भी बोतलों में भरकर रखे जाते हैं। साफ धुले हुए टोमेटो एक महीन कपड़े में या बाँस की टोकरी में रखकर उबलते हुए पानी में एक मिनट के लिये छोड़ दिये जाते हैं। और फिर निकालकर बोतलों में भर दिये जाते हैं, बोतल में रखते समय इतना विचार अवश्य रखना चाहिए कि न तो फल ही टूटने पावें और न बोतल में वृथा जगह ही छुटे। जब बोतल भर जाय तो उसमें नमक का पानी डाल दिया जाता है जिसमें बोतल की खाली जगह भर जाय। नमक का पानी इतना ही खारा बनाना चाहिए कि जिसमें टोमेटो के स्वाद में परिवर्तन न हो।

इस रीति से रखे हुए फलों को सूक्ष्म जंतुओं से रहित रखने का उपाय:—

टोमेटो में जो अम्ल होता है वह सूक्ष्म जंतुओं की वृद्धि को रोकने के लिये काफ़ी होता है। तथापि निम्न-लिखित रीति से बोतलों को गरम कर लेने से उनमें जो जंतु टोमेटो को तैयार करते समय पहुँच जाते हैं उनका भी नाश हो जाता है और फल बिगड़ने नहीं पाते। इसलिये बोतलों का मुँह बंद करके उन्हें उबलते हुए जल में या भाफ़ से १०,१५ मिनट तक रखकर निकाल लेना चाहिए। बोतलों के कॉर्क को पहले कुछ ढीला रखना चाहिए और जब पानी के बर्तन से अलग कर दी जाय उस समय हाथ में कपड़ा लपेटकर कॉर्क को मज़बूत कर देना चाहिए। उबलते हुए जल तथा भाफ में रखने की क्रिया को स्टेरिलाइज़ेशन (Sterilisation) कहते हैं। इसकी बहुत ही सरल रीति यह होगी कि यदि दूसरा बर्तन न हो तो मिट्टी के तेल के पीपे में जल गरम किया जा सकता है। बोतलों को जल में रखते समय इतना स्मरण रहे कि टीन की पेंदी से बोतलें कुछ ऊपर रहें। किसी प्रकार की जाली लगा देने से काम चल सकता है। बोतलों को टीन के अंदर रखने के पश्चात् पीपे का मुँह ढकने से बंद कर देना चाहिए। पानी इतना रखना चाहिए कि कम-से-कम बोतल के तीन हिस्से जल में और एक हिस्सा ऊपर रहे। १०,१५ मिनट तक इस रीति से गरम करने से बोतलों में के सूक्ष्म जंतुओं का नाश हो जाता है।

टोमेटो को सुखाकर रखने की रीति:—

साफ धुले हुए टोमेटो को काटकर एक-एक के दो-दो टुकड़े कर दिये जाते हैं। फिर खुली हुई सतह पर खूब नमक छिड़ककर धूप में सुखा लिये जाते हैं। जब तरकारी बनानी होती है तो सूखे हुए फलों को धोकर बना लेते हैं।

टोमेटो की पपड़ी।—(Tomato paste)

पके हुए फलों को लकड़ी से कूटकर चलनी से छान लेना चाहिए ताकि बीज और छिलके रस या गूदे से पृथक् हो जाय। फिर गूदे को मलमल के कपड़े में बाँधकर लटका दिया जाता है ताकि बहुत-सा जल निकल जाय और फिर लकड़ी के तख़्तों पर घी या तेल लगाकर गूदा आम के रस की भाँति सुखा लिया जाता है।

टोमेटो की चटनी:—

अच्छे पके हुए टोमेटो को ठंडे जल में अच्छी तरह से धोकर उनके टुकड़े कर दिये जाते हैं, ये टुकड़े रस के साथ कलईदार बर्तन में धीमी आँच पर (६५ से ७० शतांश) करीब पाव घंटे तक गरम किये जाते हैं, फिर चलनी से छिलका और बीज को गूदे से अलग करने के लिये छान लिये जाते हैं। स्मरण रहे कि चलनी अच्छी कलई की हुई हो ताकि टोमेटो के अम्ल का असर धातु पर न हो। यदि कलईदार चलनी न हो तो बाँस की चलनी से भी काम चल सकता है। छाने हुए रस को दो-तीन मिनट तक उबालकर मलमल के कपड़े से ऊपर बताई हुई रीति से छान लेना चाहिए। जब पानी निकल जाय तो एक सेर टोमेटो के पीछे एक छटाँक चीनी, एक तोला नमक और एक प्याला सिरके को गूदे में मिला देना चाहिए।

एक दूसरे बर्तन में आधपाव पानी में दो चार इलायची, दो चार लौंग, कुछ दालचीनी व अदरक के टुकड़े व दूसरा जो मसाला डालना हो डालकर उबाल लेना चाहिए और इस पानी को छानकर टोमेटो के गूदे में मिलाकर फिर उबाल लेना चाहिए ताकि जैसा चाहिए वैसा गाढ़ा हो जाय, इस प्रकार की बनी हुई चटनी भी बोतलों में भरकर यदि ऊपर बतलाई हुई रीति से बोतलों को गरम पानी में स्टेरिलाइज़ कर ली जाय तो यह चटनी भी कई दिनों तक अच्छी बनी रहती है।

टोमेटो का मुरब्बा:—

साफ धुले हुए टोमेटो एक मिनट के लिये गरम पानी में रखकर एक दम ठंडे पानी में रख दिये जाते हैं, ऐसा करने से छिलका आसानी से निकल जाता है। छिलका निकालने के बाद प्रत्येक टोमेटो के दो-दो भाग-कर उसमें के बीज निकाल दिये जाते हैं। आम के मुरब्बे के लिये जैसी चीनी की चाशनी बनाई जाती है वैसी ही चाशनी में डालकर टोमेटो को कुछ देर तक गरम कर लिया जाता है। इलायची, केसर इत्यादि मसाला भी डाल दिया जाता है।

जिन महाशयों की इच्छा हो कि इसकी काश्त की जाय और बाज़ार में इसकी बिक्री बढ़ाने का उपाय जानना चाहें तो लेखक से पत्र-व्यवहार करके इसका उपाय पूछ सकते हैं। सहर्ष उत्तर दिया जायगा।

नारायण दुलीचंद व्यास

---
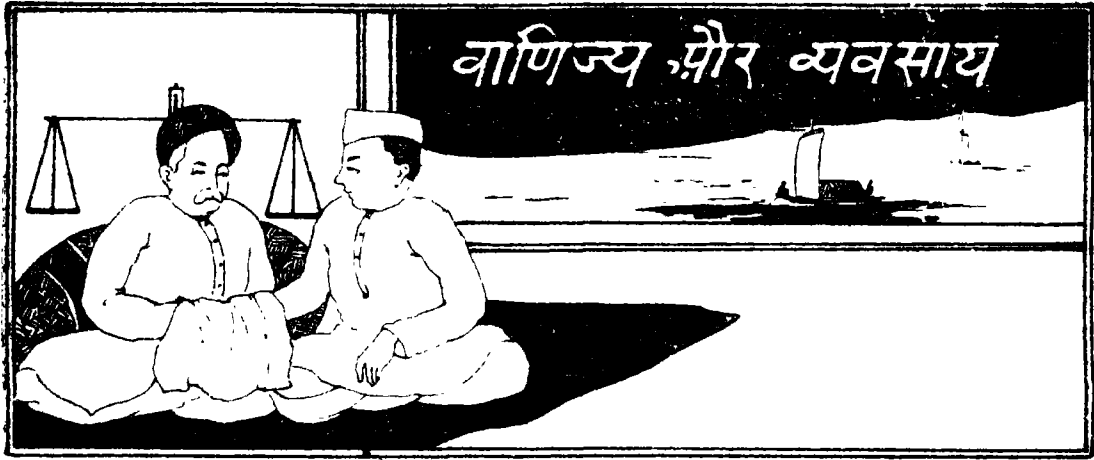
१. भारतवर्ष के विदेशी व्यापार पर एक दृष्टि

(२)

यहाँ से भूमि में खाद देने की सामग्री भी बाहर भेज दी जाती है। बहुत समय पूर्व डॉक्टर वोलकर ने इन पदार्थों का एक्सपोर्ट कर देना देश-हित की दृष्टि से बुरा बतलाया, पर अभी तक इस बात पर कुछ ध्यान नहीं दिया गया है। भूमि को उचित खाद न देने से उसकी उर्वराशक्ति क्षीण हो जाती है। कृत्रिम खाद का व्यवहार न हम जानते और न उसके लिये ख़र्च करने को पैसा ही है, तब फिर प्राकृतिक खाद तो बाहर नहीं जाना चाहिए। हड्डियाँ फ्रांस और बेलजियम को चली जाती हैं, सलफ़ेट आफ़ अमोनिया गन्ने की खेती के लिए जावा को और खल (oil cakes) ग्रेट ब्रिटेन, सीलोन; जावा और जापान को चला जाता है। जिस प्रकार गोबर को खाद में काम न लाकर कंडे के रूप में जला देना खेती के हित के लिये बुरा है उसी भाँति उल्लिखित पदार्थों का बाहर भेज देना है। मिश्र की रूई (Egyptian Catton) जो संसार में सबसे बढ़िया गिनी जाती है उसके लिये खाद के रूप में रासायनिक द्रव्यों का कितना व्यवहार होता है, यह सुनिए—सन् १९२४ में मिश्र में खाद पदार्थों का इंपोर्ट इस भाँति हुआ, नाइट्रेट आफ़ सोडा १,२१,८९५ टन, नाइट्रेट आफ़ लाइम, अमोनियम, सलफ़ेट सुपरफोस्फेट आदि खाद पदार्थ १,७१,०८७ टन।

एक बात हमारे व्यापार में अनिष्टकारक यह है कि चाहे यहाँ से जानेवाले माल को समझिए चाहे यहाँ आनेवाले को लीजिए सबका मूल विदेशी बाज़ारों की इच्छा और खेल पर निर्भर करता है। हमारे यहाँ के बाज़ार विदेशी बाज़ारों के आधार पर चलते हैं और सौदे के स्थानों में जाने पर यही सुनाई देता है, "आज विलायत क्या आई ?" अथवा "अमेरिका का क्या तार आया ?" यदि विलायत की या अमेरिका की ख़बर तेज आती है तो यहाँ तेज़ी आ जाती है और मंदे की ख़बर आने पर यहाँ भी मंदी हो जाती है, तात्पर्य यह है कि हमारा व्यापार, जैसे विदेशी नचावें, नाचता रहता है। हमारे व्यापार में इंपोर्ट और एक्सपोर्ट दोनों ही बढ़े हैं पर हमें चाहिए कि अपने यहाँ के तैयारी माल का एक्सपोर्ट बढ़े। रेल, जहाज़, बीमा कंपनियों और बैंकों को उचित है कि देश के एक्सपोर्ट व्यवसाय में सहायता पहुँचावें और उसका सुधार करें। जब तक ये सब साधनभूत शक्तियाँ देश की भलाई में न जुटें तब तक बाहर के बने पदार्थों का मुक़ाबिला हम, अपने घर, यहाँ देश के देश में भी नहीं कर सकते। बाहरवाले यहाँ से कच्चा माल ले जाकर (जिसमें उनके दलाल, माल भेजनेवाली कंपनियाँ, बीमा और जहाज़ कंपनियाँ एवं बैंक ये सब लाभ उठाते हैं।) अपने यहाँ उससे जो चीज़ें बनाकर और यहाँ वापस भेजकर जिस दाम

में बिक्री करते हैं उसका सामना हम अपने कच्चे माल से यहीं पर वे चीज़ें बनाकर नहीं कर सकते, यह कितने विचार की बात है !

विदेशों में वहाँ की रेल 'जहाज़' कंपनियाँ और बैंक ये सब अपने व्यापार में सहायता पहुँचाते रहते हैं पर भारतवर्ष में ये सब संस्थाएँ विदेशी लोगों के हाथ में हैं, जो अपने लिये भारी मुनाफ़ा करने एवं अपने देशों को लाभ पहुँचाने में अधिक व्यग्र रहती हैं। उन्हें भारत के हित अहित से क्या प्रयोजन है, केवल अपना भला होना चाहिए। वर्तमान समय में भारतीय जहाज़ कंपनियों द्वारा सरहदी व्यापार (Indian Coastral trade) का केवल एक दशमांश और सामुद्री व्यापार (Sea trade) का एक पचासवाँ भाग अर्थात् दो प्रतिशत काम होता है। व्यापार के बाक़ी सब भागों पर मुख्यतया अँगरेज़-कंपनियों का आधिपत्य है और भारतीय उद्योग-धंधे में सहायता पहुँचे ऐसा कार्य वे क्यों करने लगीं या ऐसा रेट ही वे क्यों दें। भारतीय एक बंदर से दूसरे बंदर का जहाज़ भाड़े का दर भारतीय बंदर से विदेश के किसी बंदर के भाड़े की अपेक्षा अधिक है। ऐसी दशा में भारत की प्रकृतिदत्त सुविधाएँ देश के कारबार में किस भाँति सहायभूत हो सकती हैं। इसलिये हमारे व्यापार के लिये यह आवश्यक है कि एक भारतीय जहाज़ी बेड़ा हो, इससे भाड़े की दर पर देख-रेख रह सकेगी, युद्ध-काल में जहाजी सुविधा, देश के उद्योग धंधे की उन्नति और जहाजी काम में भारतियों का प्रवेश ये सब लाभ होंगे। हमारे व्यापार का अधिकांश भाग विदेशी व्यापारियों के हाथ में है और दुख की बात है कि हमारे ही व्यापार में हमारा हाथ बहुत कम है। हाँ, कुछ लोग विदेशी व्यापारियों के दलाल भले ही बने बैठे हैं। हमारे व्यापार में हमारा स्थानीय आधिपत्य होना तो नितांत आवश्यक है पर जिस प्रकार विदेशी हमारे यहाँ आकर हमारे व्यापार के स्वामी बन बैठे हैं उसी भाँति हम विदेशों में जाकर वहाँ के व्यापार में घुसने की चेष्टा क्यों न करें। मारवाड़ी-जाति एक व्यापार-प्रमुख जाति है और उसके धनी पूतों ने देश के कपड़े, चीनी और लोहे आदि के इंपोर्ट में कुछ-कुछ हाथ डाला है पर अभी बराबर आगे बढ़ना चाहिए। केवल यही नहीं कि यहीं पर बैठे-बैठे इंपोर्ट या एक्सपोर्ट किया करें पर जिस तरह विदेशी लोगों ने हमारे यहाँ के इंपोर्ट एक्सपोर्ट को हाथ में कर रखा है उसी भाँति हमें उचित है कि हम उन विदेशों में जाकर यदि अधिक नहीं तो भारतवर्ष में आने और यहाँ से जाने-वाले माल के संबंध का कारबार अपने हाथ में लें अर्थात् यहाँ आनेवाले माल को हम उन विदेशों से यहाँ भेजें और यहाँ से जानेवाले को हम वहाँ विदेशों में मँगावें और बेचें। लेखक प्रतिवर्ष अनुमान ४०-५० लाख रुपये का माल बाहर से मँगाता है, अभी जहाँ से माल आता है अर्थात् इँगलैंड, जर्मनी, जापान आदि देशों में भारतीय कोई भी ऐसी कंपनी, जो माल वहाँ से यहाँ भेज दें, न होने के कारण सब वहाँ की कंपनियों से मँगाना पड़ता है पर यदि वहाँ कोई भारतीय कंपनी हो तो उसी से माल मँगाना सबसे प्रथम कर्त्तव्य होगा। यहाँ प्रति-वर्ष अंतिम दो तीन महीनों में विदेशी व्यापारी आया करते हैं—एक साहब ने लेखक से पूँछा "तुम हमारे देश की तरफ़ क्यों नहीं आते ?" उत्तर दिया गया कि "हमारे आने में कुछ जातीय अड़चनें हैं।" साहब ने कहा "ओह ! मैंने जाना, नहीं तो क्या आप लोग वहाँ के व्यापार को बाकी छोड़ते ?"

भारत से एक्सपोर्ट मुख्यतया खाद्य वस्तुओं और कच्चे माल का होता है, यह तो ऊपर लिखा जा चुका है। खाद्य पदार्थों में धान्य, दाल दलिये की चीज़ें जैसे चना मटर आदि, आटा, चाय, कहवा और मसाले के पदार्थ आदि सब वस्तुएँ आ जाती हैं। तमाखू का अंक सरकारी लेखे में अलग दिया जाता है। युद्ध के पूर्व यहाँ से तमाखू का एक्सपोर्ट प्रतिवर्ष २३ लाख रुपये का औसत था, वह बढ़कर सन् १६२५-२६ में एक करोड़ रुपये का हो गया। इधर तमाखू भेजने में भारत ने कदम बढ़ाया तो उधर बाहर से धुआँ उड़ाने की चीज़ें सिगरेट आदि मँगाने में भी कुछ कमी न रखी। युद्ध के पूर्व ७१ लाख रुपये की सिगरेट आदि आई तो १६२५-२६ में कलेजा जलाने के साथ ही साथ इन पदार्थों के लिये देश का दो करोड़ से भी अधिक रुपया बाहर भेज दिया। धान्य में मुख्य एक्सपोर्ट चाँवल और गेहूँ का होता है। सन् १६२५-२६ में ३० लाख टन अनाज का एक्सपोर्ट हुआ जिसका मूल्य ४८ करोड़ रुपया मिला और युद्ध के पूर्व ४५ लाख टन का ४६ करोड़ रुपया मिला था। इन अंकों से युद्ध के पूर्व और अब के भावों का पता लग जाता है। पहले ४५

लाख टन का ४६ करोड़ मिला और अब ३० लाख टन का ४८ करोड़ मिल गया। अनाज की इस तेजी मँहगी से देश का क्या हित अहित है, इसकी समालोचना के लिये इस लेख में स्थान नहीं। २५ लाख टन चाँवल ५० करोड़ रुपये का बाहर गया और गेहूँ केवल २ लाख टन ३ करोड़ ६० लाख रुपये का गया। गेहूँ ३५४२० टन आस्ट्रेलिया से भारत में इंपोर्ट भी हुआ। गेहूँ का आटा १ करोड़ ५६ लाख का और अन्य धान २ करोड़ ८९ लाख रुपये का एक्सपोर्ट हुआ।

चाय का एक्सपोर्ट अभी थोड़े समय से होने लगा है। अधिक से अधिक ५० वर्ष हुए होंगे। यह सीलोन और चीन में भी बहुत होती है। भारत में चाय की खपत बहुत कम होती है इसलिये इसका एक्सपोर्ट होना स्वाभाविक है। सन् १८९५-९६ से सन् १८९९-१९०० तक इसकी औसत पैदावार प्रतिवर्ष १६ करोड़ रतल होती थी, वह बढ़कर सन् १९२५-२६ में ३६ करोड़ रतल हो गई। इसमें से ९० प्रतिशत भाग बाहर चला गया या यों समझिए कि ३७ करोड़ रुपए की ३३ करोड़ रतल चाय बाहर गई। ग्रेटब्रिटेन को २८ करोड़ रतल माल ३३$\frac{3}{4}$ करोड़ रुपये का अर्थात् समूची एक्सपोर्ट का ८६ प्रतिशत भाग गया। कलकत्ते से चाय के एक्सपोर्ट का ६४ प्रतिशत भाग भेजा गया। इसकी खेती अर्थात् चाय बग़ीचों का काम विदेशी कंपनियों के हाथ में अधिक है और भारतीय मज़दूरों के साथ उनके मालिकों के व्यवहार के लिये बहुत कुछ शिकायत है। क्या किया जाय, भारत का भाग्य ही ऐसा है।

कहवा का पौधा यहाँ मक्का से मैसूर लौटनेवाले किसी मुसलमान यात्री द्वारा २०० वर्ष पहले लाया बतलाया जाता है, लेकिन इसकी खेती उन्नीसवीं शताब्दी के आदि काल से होने लगी। सन् १९२५-२६ में १ करोड़ ८५ लाख रुपये का २ करोड़ २० लाख रतल माल बाहर भेजा गया।

कच्चामाल—कच्चे माल का एक्सपोर्ट बहुत भारी होता है, इसमें रुई, पाट, तिलहन, चमड़ा ये मुख्य हैं। अकेला रुई समस्त एक्सपोर्ट का एक चतुर्थांश ले लेती है। सन् १९२५-२६ में भारत में रुई की पैदावार ६० लाख गाँठें (४०० रतल की एक गाँठ) हुई। इस साल अमेरिका में भी रुई बहुत हुई और इसलिये रुई के दाम बुरी तरह गिर गये। यद्यपि इस वर्ष गतवर्ष की अपेक्षा सवाई गाँठों का अर्थात् ३३ लाख से बढ़कर ४१ लाख गाँठ का एक्सपोर्ट हुआ। भाव की मंदी के कारण माल दामों में केवल ४) सैकड़ा वृद्धि हुई अर्थात् गतवर्ष ३३ लाख गाँठ का ९१ करोड़ रुपया मिला और इस वर्ष ४१ लाख गाँठ का केवल ९५ करोड़ रुपया। भारतीय रुई का सबसे बड़ा ख़रीदार जापान रहा और उसने ४७$\frac{1}{2}$ करोड़ रुपए की २०,८४,००० गाँठें लीं। इटली ने ४,५६,००० बेलजियम ने २,४३,००० फ्रांस ने १,६३,००० जर्मनी ने २,१८,००० और ग्रेटब्रिटेन ने १,६२,००० गाँठें लीं। यह बात ध्यान देने-योग्य है कि यद्यपि भारत ने ९५ करोड़ रुपये की रुई बाहर भेजी, उसने कपड़ा ६६ करोड़ रुपये का मँगा लिया। जब रुई जिससे कपड़ा बनता है यहाँ मौजूद है तब फिर यह क्यों बाहर भेजी जाय और कपड़ा बाहर से मँगाया जाय—क्यों न यहाँ की रुई यहीं रहे और उससे कपड़ा बना लिया जाय कि बाहर से न मँगाना पड़े ? एक बात है, यदि ९५ करोड़ की रुई से कपड़ा बनाया जाय तो कम-से-कम २ अरब रुपये का हो जायगा। इसमें क्या हर्ज़ है; यहाँ की आवश्यकता से अधिक जो कपड़ा बचे वह फिर बाहर भेज दिया जाय। भारत के लिये यह निस्संदेह लाभदायक होगा कि कच्चे माल के स्थान में तैयारी भेजा जाय।

पाट—कच्चे पाट की ३६,२४,००० गाँठें भेजी गई जिनसे ३८ करोड़ रुपया मिला। कुल ८९ लाख गाँठ पैदा हुई और बाहर भेजकर जो माल बचा वह यहीं की पाट की मिलों में हेसियन और चट्टी बनाने के काम में आया। हेसियन और चट्टी का एक्सपोर्ट भी यहाँ से बहुत होता है और यह संतोष की बात है कि इस उद्योग की दशा अन्य उद्योगों से अच्छी है। हाँ, इन मिलों पर भी विदेशी व्यापारियों का भारी हाथ है। हेसियन और चट्टी कपड़ा ५९ करोड़ रुपये का बाहर गया। इस बात पर पूर्ण सावधानी रखना उचित है कि कहीं कच्चे पाट का एक्सपोर्ट बढ़कर बने हुए माल का एक्सपोर्ट घट न जाय।

तिलहन—तेल के पदार्थों का जो एक्सपोर्ट होता है उसके विषय में फिसकल कमीशन की रिपोर्ट का कुछ भाग यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

"तिलहन के विषय में हम समझते हैं कि इन पदार्थों का एक्सपोर्ट रोकना देश के लिये हितकारक नहीं होगा। तिलहन की पैदा यहाँ की खपत से अधिक होती है और समस्त तैल-पदार्थों से यदि तैल निकाला जाय तो वह यहाँ खप नहीं सकता। तैल को यहाँ से भरकर एक्सपोर्ट करने में भी बहुत कठिनाइयाँ हैं और तैल का लाभदायक एक्सपोर्ट होना कठिन है।"

चमड़ा—इसमें भी रुईवाली दशा है, यहाँ से कच्चा चमड़ा भेज दिया जाता है और बदले में चमड़े की बनी हुई चीज़ें बाहर से आती हैं। युद्ध के पूर्व यहाँ का चमड़े का व्यापार जर्मन-कंपनियों के हाथ में था, पर इधर चमड़े को कमाने में यहाँ कुछ उन्नति की गई है। भारत में चमड़े की कमी नहीं है कि इसे चमड़ा या चमड़े की चीज़ें बाहर से मँगाना पड़े, पर चमड़े को कमाकर विदेशी चक-चक लाना कठिन हो रहा है और इसीलिये अभी बाहर से तैयारी चमड़ा और उसकी चीज़ें भारी परिमाण में आती हैं।

जंगली पैदावार—जब तक भारत की जंगली पैदावार का वर्णन न किया जाय तब तक यहाँ के कच्चे माल के एक्सपोर्ट का लेखा अधूरा ही समझिए। जंगल में धन भरा हुआ है पर आवश्यकता है केवल अन्वेषण और खोज की।

भारत में २३/४ लाख वर्गमील में जंगल का विस्तार है और अभी तक केवल ६० हज़ार वर्गमील क्षेत्र वैज्ञानिक प्रबंध के नीचे आया है। अभी अनुमान ३४ करोड़ क्यूबिक फ़ीट लकड़ी काटी जाती है, पर कम-से-कम १ अरब २० करोड़ फ़ीट काटी जा सकती है। यहाँ पर बाँस और घास इतना अधिक होता है कि काग़ज़ और पुट्ठा जो वर्ष में अनुमान ५ करोड़ रुपए का बाहर से आता है उसकी पूर्ति यहीं हो जाय।

जिधर देखो, जिस तरफ़ विचार करो यही नज़र आता है कि भारत में उद्योग-धंधे की कमी है, कला-कौशल की हीनता है और जब तक इस तरफ़ ध्यान नहीं दिया जाय, समुचित उन्नति न की जाय, तब तक देश की समृद्धि वैभव में बढ़वारी होना नितान्त कठिन है।

मोहनलाल बड़जात्या

---

१. जापान का राष्ट्र-धर्म

संसार में जो राष्ट्र आज अग्रगण्य हैं, उनके संबंध में सब तरह की जानकारी विशेष लाभदायक है। एशियाई राष्ट्रों में जापान जैसा पुरोगामी देश दूसरा नहीं है। इसलिये उस देश के विविध तथ्य कौतूहलपूर्वक सुनने के लिये सभी लोग तैयार होंगे। उस देश के राष्ट्रीय धर्म पर वहाँ की राष्ट्रीयता का प्रतिबिंब बहुत अंशों में पड़ा प्रतीत होता है। विशिष्ट देशों की विशिष्ट वृत्तियाँ उन देशों के धर्म-द्वारा ही निर्मित होती हैं। इसीलिये जापान के राष्ट्रीय धर्म के संबंध में कुछ पंक्तियाँ नीचे लिखी जाती हैं।

बहुतेरे लोगों ने सुन रखा है कि हमारा पूर्वपरिचित बुद्ध-धर्म ही जापान में पूर्ण प्रतिष्ठित है। फिर भी बुद्ध-धर्म के पूर्व जापान का कोई राष्ट्रीय धर्म था या नहीं और यदि था तो वह क्या था इत्यादि प्रश्न विचारवान् पाठकों के मन में उठे बिना न रहेंगे। जापान में बुद्ध-धर्म का प्राबल्य बहुत है, इसमें कोई संदेह नहीं। फिर भी उसके पहले और जिसके स्थान पर वह प्रतिष्ठित है उस स्थान पर जापान का मूल राष्ट्रीय धर्म था। जापानी भाषा में उसे 'शिंतो' कहते हैं। उस भाषा में इसका अर्थ "ईश्वर का पंथ" होता है। यह 'शिंतो' धर्म अपनी विचित्रता के कारण, किसी-किसी को कौतूहल-प्रद प्रतीत होगा।

कौतूहल-प्रद कहने का तात्पर्य यह है कि इस धर्म का प्रमाणभूत कोई लिखित ग्रंथ नहीं है। पितरों की पूजा और निसर्ग-सेवा ही इस धर्म की विशेषता है। दूसरे धर्मों की भाँति किसी विशेष ढंग के आचार-व्यवहार अथवा नीति-नियम का बंधन इसमें नहीं है। हाँ, यह कहना अनुचित न होगा कि जापानियों का कौटुंबिक रहन-सहन उनके शिंतो धर्म के अनुसार ही बन गया है। इस धर्म का एक तत्त्व यह है कि दृश्य सृष्टि और अदृश्य सृष्टि का निकट संबंध है। जीवित पुरुष अपने सत् और असत् कृत्यों से अपने मृत पूर्वजों को क्रमशः सुख और दुःख देते हैं। अपने मृत पितरों और संबंधियों की वर्ष-तिथि मनाने और परंपरा के अनुरूप दूसरे कृत्य करने में जापानी कभी नहीं चूकते। उनकी धारणा है कि मृत पुरुष अपने संबंधियों पर अवलंबित रहते हैं। उनके इस विश्वास की यदि कोई हँसी उड़ाए तो भी वे हिंदुओं की ही भाँति उसे छोड़ने

को तैयार नहीं होंगे। सैकड़ों सदियों तक जापानियों में 'धर्म' के नाम पर कोई स्वतंत्र मत प्रचलित नहीं था।

जापान में बुद्ध-धर्म के अतिरिक्त कन्फ्यूशियन धर्म का भी प्रचार है। और बुद्ध-धर्म की विशेष प्रबलता के समय में भी इसे कोई क्षति नहीं पहुँची। 'इयेयासु' नामक शासक ने कन्फ्यूशियन धर्म पुस्तकें छपाकर इस धर्म को प्रोत्साहन दिया था। तब से जापान की आधुनिक जाग्रति तक इसका विशेष महत्त्व रहा है। कन्फ्यूशियन धर्म में तात्त्विक अथवा आध्यात्मिक किसी गूढ़ विषय की चर्चा नहीं है। दैनिक व्यवहार में सदाचार, माता-पिता का अभिवादन और राज्य-शासकों की आज्ञा का पालन इन्हीं बातों पर कन्फ्यूशस ने बड़ा ज़ोर दिया है।

आत्मिक उन्नति ही प्राणियों की परम गति है। शाश्वत जीवन को चरम लक्ष्य न मानकर निर्वाण-साधन को ही लोग अपना ध्येय मानें। अज्ञान और मनोविकारों से युक्त जीवन को बड़ी भारी विपत्ति समझें। ज्ञान-प्राप्ति और आत्मिक जाग्रति से ही भगवान् बुद्ध को संतोष होता है। ये तथा इसी प्रकार के बौद्ध-धर्म के तत्त्व जापानी जनता को बहुत ही पसंद आए। उनके मन पर इनकी छाप बैठ गई और जापान में बौद्ध-धर्म का प्रचार बड़ी तेज़ी से हो गया। जैसे भारतवर्ष में क्रिश्चियन मिशनरियों ने आधुनिक इंगलिश शिक्षण का बीज बोया है, वैसे ही बौद्ध-धर्मोपदेशकों ने जापान में नवीन शिक्षा-पद्धति की योजना की थी। राजनीति शास्त्र और राष्ट्रीय आंदोलन में बौद्धों की विशेष प्रगति हुई और जापानी जनता पर इनका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। शिंतोधर्म, कन्फ्यूशियन धर्म और बुद्ध-धर्म इनमें किसी में भी परात्पर ईश्वर की स्वतंत्र कल्पना नहीं है। इसलिये दूसरे धर्मवालों का ईश्वर-स्मरण—चाहे वह किसी प्रकार का हो, जापानियों को हँसाये बिना नहीं रहता।

उपर्युक्त धर्मों के प्रवेश के बाद, सबके अंत में अर्थात् लगभग १६वीं सदी में ईसाई मजहब का भी अंकुर उगने लगा। स्वतंत्रता-प्रिय जापानियों ने समझा कि ईसाई मजहब जैसे दूसरे देशों में विदेशियों की राज-सत्ता स्थापित होने का कारण बना, वैसे ही यहाँ भी हो सकता है। परतंत्रता की कल्पना भी उन्हें असह्य थी। इसलिये ईसाई मिशनरियों के यहाँ से हटने में विशेष विलंब नहीं लगा। यद्यपि इसका इतिहास भिन्न है, परंतु यहाँ इतना कहना अभीष्ट है कि जापान का धर्म-वृक्ष शिंतो, कन्फ्यूशस बुद्ध और ईसाई-धर्म के सम्मिश्रण से बढ़ा है।

शिंतो जापान का सबसे प्राचीन और मौलिक धर्म है। यह ध्यान देने-योग्य है। अब भी जापानी इस धर्म के अनुसार आचरण करते हैं। इसलिये उसका विशेष विवरण यहाँ दिया जाता है। 'कोजिकी' (पुरानी बातों के नोट पत्र) और 'निहोन शोकी' (जापान का वृत्तांत) ये दोनों क्रमशः सन् ७१०—७१२ और सन् ७२० ई० में लिखे गये जापान के पुराण-ग्रंथ हैं। जापान में दूसरे धर्मों के प्रविष्ट होने के पूर्व शिंतो-धर्म में जो तत्त्व समाविष्ट थे, उनका परिचय इन ग्रंथों में है। सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में 'कोजिकी' ग्रंथ में निम्नलिखित विवरण मिलता है।

विश्व के आरंभ में बहुत ही ऊँचे स्थान पर "अमी-नो-मिना कानुशी-नो-कामी" नामक कामी का निर्माण हुआ। उसके पश्चात् "ताका-मिमुसुबि-नो-कामी" और "कामिमिसुबुबि-नो-कामी" नामक दो और कामी उत्पन्न हुए। ये तीनों कामी स्वयंभू, स्वयंपूर्ण और अविभेद्य थे। जल पर फैले हुए तैल-बिंदुओं की भाँति विश्व आरंभ में था। उससे धीरे-धीरे अंकुर निकला और फिर उससे तरह-तरह के पदार्थ उत्पन्न होने लगे। इन वस्तुओं से 'उमाशि-आशि काबि-हिकोजि नो-कामी' उत्पन्न हुआ और तदनंतर "आमि-नो-तोको-ताचि-नो कामि" उर्फ़ "कुनि-नो-तोको ताचि-नो-कामि" नामक कामी का अवतार हुआ। उपर्युक्त तीनों कामियों की भाँति ये कामी भी स्वयंजात, अविभेद्य और एक जैसे थे। 'कामी' शब्द का अर्थ जापानी भाषा में बहुत ऊँचा, देवता अथवा बादशाह होता है।

"आमि-नो-मिनाकानुशि" से राजा और राज-परिवार की और बाकी दो कामियों से सरदारों की उत्पत्ति हुई। अन्य कामियों से स्वकामी (पवित्र रक्त का सरदार) और भूकामी (मिश्र रक्त का सरदार) उत्पन्न हुए। इस भाँति सृष्टि के आरंभ से ही जापान एक बहुत बड़ा कुटुंब था। राजा उस कुटुंब का स्वामी है। शासक और शासित में कोई भेद नहीं है। एक ही पिता के पुत्र होने के कारण उनमें भिन्न वंश और भिन्न जाति का अस्तित्व

संभव नहीं है। शिंतो-धर्म की प्रत्येक बात मनोरंजक परंतु विचारपूर्ण है। अन्य धर्मों की भाँति इस धर्म में देवताओं से अपने लाभ के लिये प्रार्थना नहीं की जाती। निसर्ग-नियमों का उल्लंघन न करते हुए उनकी मधुरता का सेवन करना ही शिंतो-धर्मानुयायियों का मुख्य कर्त्तव्य है। वायु और पानी के संयोग से पवित्रता प्राप्त होती है, रक्त और मृत्यु ये दोनों वस्तुएँ अपवित्र मानी गई हैं। कामी सर्व-साक्षी हैं, इसलिये प्रत्येक को सदैव अंदर और बाहर पवित्र रहना चाहिए।

"स्वर्ग पवित्र है। पृथ्वी पवित्र है। "सहामुला" सहित अंदर और बाहर पवित्र रहो।" इस आशय का शिंतो-धर्म में एक सूत्र है। "सहामुला" का अर्थ पंच ज्ञानेंद्रिय और अंतःकरण होता है। पवित्रता का यह सूत्र जापानियों के अस्थि-मज्जा-गत हो गया है। इसलिये वे संसार में सबसे अधिक पवित्र रहते हैं। उनमें पवित्रता की पराकाष्ठा है। संकट-निवारण के लिये प्रार्थना तो करे, परंतु कामी (देवता) की मदद न माँगे, बल्कि मर्त्य और स्वर्ग की किसी दूसरी शक्ति से सहायता लेकर जैसे हो सके वैसे अपने कष्टों को मिटाकर अपनी रक्षा करे; इस नियम की शिक्षा प्रारंभ से ही जापानियों को दी जाती है। जापानी प्रजा केवल अपने राजा के कल्याण के लिये प्रार्थना करती है और राजा अपनी प्रजा के कल्याण के लिये। जापानी राजा को ही लोक-देव मानकर उसका सम्मान और प्रेम करते हैं। दूसरी ओर यह जाग्रत् देवता अर्थात् राजा अपनी प्रजा की सब तरह से रक्षा करता और इसीमें अपनी इति-कर्त्तव्यता मानता है। राजा और प्रजा में परस्पर संबंध की यह भावना बड़ी प्रबल है। राजा प्रजा की आवश्यकता और संकट का निरीक्षण और उनका निवारण करता है। "जो कामी की इच्छा वही राजा की इच्छा" इस आशय की एक कहावत ही जापानी भाषा में प्रचलित है।

जापान के आधुनिक धर्म में शिंतो, कन्फ्यूशियन और बौद्ध-धर्म का मिश्रण हुआ। सार्वजनिक कार्यों में शिंतो-धर्म, धार्मिक विधियों में बौद्ध-धर्म और दैविक कार्यों में कन्फ्यूशियन-धर्म का पालन किया जाता है। वहाँ प्राचीन कामी और बुद्धदेव का समान सम्मान करते हैं। उनमें कोई भेद नहीं मानते। जापान देश संसार में कैसे अवतीर्ण हुआ। इस संबंध की प्र[illegible] आख्यायिका भी विचित्र ही है। 'इज्ञानागी' एक [illegible] था। इसने और इसकी स्त्री ने मिलकर जापान देश [illegible] निर्माण किया। फिर इसकी पुत्री "आमातेरा[illegible] अपने वंशजों को यहाँ रहने के लिये भेज दिय[illegible] समय उसने कहा था,—"जापान में जाओ। [illegible] भूमि उपजाऊ और उत्तम है। वहाँ हमारे वंशज [illegible] करेंगे। स्वर्ग और पृथ्वी के अंत तक वहाँ हमारा [illegible] प्रतिष्ठित रहेगा।" जिस जापान में शास्त्रीय संशोध[illegible] निर्माण होते हैं, उस देश में ऐसे विक्षिप्त विचार नई [illegible] पीढ़ी में फैलने देना अच्छा नहीं है; यह यदि कोई कहे, तो जापानी उसे तत्काल उत्तर देगा कि "ईसामसीह ईश्वर के बेटे थे, यह शिक्षा, जो यूरोप भर की शिक्षा-संस्थाओं में पढ़नेवाले बालकों को दी जाती है, कहाँ तक ठीक है?" सुशिक्षित जापानियों के धर्म-विधि के संबंध में विचार जानने के लिये 'कि ओ' यूनिवर्सिटी के आदि संस्थापक और जापान में आधुनिक शिक्षा-पद्धति का बीजारोपण करनेवाले 'फुकुजावा' के निम्नलिखित विचार पढ़ने चाहिए। वे कहते हैं, "समाज में शांति और सुव्यवस्था कायम रखने के लिये धर्म-बंधनों की आवश्यकता है। इस संबंध [illegible] कोई मत-भेद नहीं है। परंतु यह किसी भी धर्म के लि[illegible] साध्य है। "अमुक ही धर्म अच्छा है" ऐसे विवाद नहीं होने चाहिए। मुझ पर आक्षेप किया जाता है कि मैं स्वयं तो किसी धर्म का नहीं हूँ, फिर भी लोगों को धर्मनिष्ठ रहने के लिये उपदेश देता हूँ। परंतु सच बात तो यह है कि मन में यदि किसी धर्म के प्रति श्रद्धा न हो, तो केवल लोकापवाद के डर से मैं उस ढोंग में पड़नेवाला नहीं। मैं मजहबी बखेड़ों के पक्ष में नहीं हूँ। धार्मिक उपदेशक चाहें तो अपने धर्म की प्रशंसा करें, पर दूसरे धर्म की निंदा कदापि न करें।"

विट्ठल कृष्ण नेरूरकर बी० ए०

मनोरंजन (मराठी)

× × ×

२. तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रचार

सातवीं सदी के प्रारंभ में पराक्रमी राजा रंसानगंपो के राजत्व काल में राजकीय और जातीय धर्म के रूप में बौद्ध-धर्म का तिब्बत में पहले-पहल प्रचार हुआ।

सम्राट् धर्माशोक के समय उनके आदेश से उन्हीं के दीक्षागुरु उपगुप्त ने बौद्ध-धर्म की महत्ता और पवित्रता का प्रचार तिब्बत में किया था। किंतु तिब्बती भाषा में बौद्ध-धर्म-शास्त्रों का अनुवाद न होने और जन-साधारण का वन-धर्म (भूत-प्रेत-पूजा) में अनुराग होने के कारण बहुत दिनों तक बौद्ध-धर्म का विस्तार वहाँ नहीं हो सका। ईसवी सन् की चतुर्थ शताब्दी के प्रथम भाग में तिब्बती भाषा में बौद्ध-धर्म-ग्रंथों का अनुवाद प्रारंभ हुआ। उस समय कुमार जीव और उनके सहकारी विमलाच तिब्बत के उत्तर पश्चिम प्रदेश के "खुः—त्सि" (Khu-tsi) परगने में कुछ दिन तक रहे थे। और विनय शास्त्र और अमिताभ सूत्र प्रभृति बहुतेरी पुस्तकें लिखी थीं। कुमार जीव और उनके सहकारियों ने तीन सौ से भी अधिक भाँति-भाँति की पुस्तकें लिखकर और अनूदित कर उक्त देश में बौद्ध-धर्म के प्रचार का मार्ग सुगम कर दिया था। उपगुप्त के बाद अपने धर्म का प्रचार करने बौद्ध भिक्षु बराबर वहाँ जाया करते थे। किंतु सातवीं सदी के आरंभ में इन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। इस सफलता का मूल कारण दो स्त्रियाँ थीं। ये दोनों राजा रंसान गंपो की रानियाँ थीं। उस समय संपूर्ण उत्तर और पूर्व एशिया महाद्वीप में अपूर्व पराक्रमी और अतुल ऐश्वर्यवान् के नाम से राजा रंसान गंपो प्रसिद्ध थे। पड़ोसी राजा बड़े आग्रह के साथ उनके साथ मैत्री करते थे। चीन सम्राट् ताई सुङ Tain-tsung ने अपनी प्रिय-पुत्री राजकुमारी किम् सिं काजो का तिब्बत-नरेश के साथ विवाह कर दिया और इस प्रकार उनसे बंधुता स्थापित की। नेपाल के अधीश्वर अंशुवर्मा ने भी अपनी एक कन्या का पाणिग्रहण उनसे कराया और सख्यता का संबंध जोड़ा। इन दोनों राजकुमारियों के ही प्रयत्न से राजा और प्रजा आदि सबने बौद्ध-धर्म को अपना जातीय धर्म मान लिया। १४ सौ वर्ष पूर्व दो रानियों के प्रयत्न से एक देश में बिलकुल नवीन धर्म का प्रचार हुआ, यह सचमुच अद्भुत बात है। संसार के इतिहास में इसकी तुलना नहीं है। राजकुमारियों में भगवान् बुद्धदेव के प्रति अचल भक्ति और असीम विश्वास था। उक्त देश में नवधर्म प्रवर्त्तन का मूल कारण यही है। इन्हीं दोनों राजपुत्रियों के विशेष आग्रह से राजा रंसान गंपो ने बौद्ध-धर्म ग्रहण किया था। इसके बाद राजा की सहायता से बड़े उत्साह के साथ रानियों ने सर्व-साधारण में नवीन धर्म का प्रचार प्रारंभ किया। इसी चेष्टा के परिणाम स्वरूप संपूर्ण तिब्बत में बौद्ध-धर्म का विस्तार हुआ था।

राजा रंसान गंपो ने ६२० ईसवी से ६५० ईसवी तक अर्थात् लगभग ३० वर्ष तक राज्य किया। उन्हीं के समय में बौद्ध-धर्म-शास्त्रों के अनुसार राज्य-शासन और भगवान् बुद्धदेव की दशविध अनुयायी-शासन-प्रणाली लिपिबद्ध हुई। उस समय तिब्बत का नाम था हिमवत। हिमवत की विशिष्टता की रक्षा करते हुए उन्होंने राज-कीय पोशाक और सब अनुष्ठानों में सफ़ेद रंग प्रचलित किया। आज भी वहाँ यही नियम प्रचलित है। राजा की क्षमता और सद्गुणों से हिमवत की खूब ख्याति फैली थी और दूर-दूर देशों के नरेशों ने भी उनसे राष्ट्र और धर्म के विषय में घनिष्ठ संबंध स्थापित किया था। उनके दरबार से गंधार और नेपाल आदि देशों को दूत भेजे जाते थे और दूसरे देशों से भी उनके यहाँ दूत आते थे। उस समय तक तिब्बत में लिखित भाषा में संस्कृत प्रचलित नहीं थी, इसलिये भिन्न-भिन्न राष्ट्रों से मौखिक ही भाव विनिमय होता था। राजा ने इस अभाव को अनु-भव करके अपने कर्मचारियों में सात बुद्धिमान् युवक कर्मचारियों को चुना और देव-भाषा लिखना-पढ़ना सीखने के लिये उन्हें भारतवर्ष भेजा। शीत-प्रधान देशों के लोग भारतवर्ष आते डरते थे। तिब्बतियों में यह बात प्रसिद्ध थी कि भारतवर्ष आग-जैसा स्थान है। खूंखार जानवरों और विषधर सर्पों से परिपूर्ण है और ज्वर आदि रोगों की आवास-भूमि है। इसके अतिरिक्त 'भूत का डर' आदि दुश्चिंताओं से चिंतित होकर युवक-गण हिमालय से ही वापस लौट गये। इन लोगों के लौट जाने के बाद राजा ने बड़े यत्न से अपने मंत्री अनु के पुत्र, बुद्धिमान् और साहसी युवक 'थनमि' को लेखन-पद्धति और संस्कृत-विद्या सीखने के लिये भारतवर्ष भेजा। 'थनमि' के साथ भारतीय राजाओं और पंडितों को उपहार देने के लिये राजा ने प्रचुर परिमाण में सोना भेजा था। 'थनमि' भारतवर्ष पहुँचे और उपयुक्त गुरु के अनुसंधान में प्रवृत्त हुए और ज्ञानी पंडित और लेखन-क्रिया में पारदर्शी लिपिदत्त के पास पहुँचे। उनकी चरण-वंदना करके बोले, "देव, आप ओंकार के प्रतिरूप हैं।

भाषा और शब्द देवता के अंश से पवित्र कुल में उत्पन्न हुए हैं। आप दया के अवतार स्वरूप हैं। मैं अतिदीन हिमवतवासी हूँ। हमारे देश के लोग अज्ञानान्धकार से आच्छन्न हैं। लिखना-पढ़ना तक नहीं जानते। मैं हिमवत के राजा के मंत्री का पुत्र हूँ। उन्होंने इस दूर देश में आप लोगों के चरणों में बैठकर लिखना-पढ़ना सीखने के लिये मुझे भेजा है। कृपा करके इस अधम को शिष्य रूप से ग्रहण करके लिपि विद्या के साथ-साथ देव-भाषा की शिक्षा देकर कृतार्थ कीजिए।"

थनमि की मीठी बातों से आचार्य लिपिदत्त बड़े प्रसन्न हुए और बड़े स्नेह तथा यत्न से उन्हें शिक्षा देने लगे। मेधावी युवक ने यथेष्ट परिश्रम करके थोड़े ही काल में लेखन-पद्धति सीख ली और संस्कृत का भी थोड़ा अभ्यास कर लिया। इसके बाद ब्राह्मण्य और बौद्ध शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त करने श्री नालंदा चले गये। वहाँ उन्होंने आचार्य देव-विद सिंह का शिष्यत्व ग्रहण करके शास्त्राभ्यास प्रारंभ कर दिया। थनमि जिन दिनों वहाँ पढ़ रहे थे उन्हीं दिनों सुप्रसिद्ध चीनी पर्यटक ह्यूयेन सांग नालंदा आये थे। उस समय नालंदा विश्वविद्यालय अत्यंत उन्नतावस्था में था।

थनमि ने अपने देश में लौटकर वहाँ लेखन-कौशल का प्रचार किया। यद्यपि सातवीं सदी के आरंभ में ही वहाँ महिषियों की चेष्टा से बौद्ध-धर्म का प्रचार हो गया था, फिर भी लेखन-विद्या प्रचलित होने के बाद जब शास्त्रादि का अनुवाद हुआ, तब आठवीं सदी में इसका विशेष आदर जनसाधारण में हुआ। प्रचारकार्य इसी समय से बड़ी तेज़ी से अग्रसर हुआ। राजा थाइरं देनसां (Thi-srong-den-isan) ने भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध पंडितों को बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिये निमंत्रण दिया था। उनके प्रबल आग्रह, अपूर्व उत्साह और विपुल अर्थ-व्यय से सैकड़ों पंडित तिब्बत पहुँचे और वहाँ धर्म-प्रचार, शास्त्र-व्याख्या और अगणय पुस्तकों के अनुवाद में निरत हुए। धर्म-प्रचार के उद्देश से तिब्बत नरेश के आमंत्रण पर सबसे पहले जो सज्जन तिब्बत गये थे उनका नाम था 'शांत-रक्षित।' वे नालंदा विहार के प्रधान आचार्य और मगध-राज के धर्मगुरु थे। राजा थाइरं देनसां ने उन्हें बड़े आदर के साथ ग्रहण किया और उन्हें वहाँ के प्रधान आचार्य और जगद् गुरु के आसन पर अभिषिक्त किया। उन्होंने ही तिब्बत में बौद्ध-धर्मान्तर्गत भिक्षुओं में 'लामा' पदवी की सृष्टि की। उनके साथ उनके सहकारी रूप से बौद्ध मत, तांत्रिक क्रिया और तन्त्र-शास्त्र में अभिज्ञ पंडित 'पद्मसंभव' गये थे। तिब्बत में जब ये लोग थे, तभी उनकी सहायता के लिये अद्वितीय पंडित 'कमलाशील' भी वहाँ पहुँचे थे। मगध में बौद्धदर्शन के वे अद्वितीय विद्वान् के नाम से प्रसिद्ध थे। ऐसे ही प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पंडितों ने तिब्बत में बौद्ध-धर्म के प्रचार में सहायता दी थी। इसी से बौद्ध-धर्म का उस देश भर में विस्तार हुआ था।

श्रीप्रभातचंद्र घोष

मानसी ओ मर्म वाणी (बँगला)

× × ×

३. आर्य संस्कृति का श्रेष्ठत्व।

प्रचलित काल पूर्वीय और पश्चिमीय संस्कृति के संघर्षण का काल है। इस संघर्षण के परिणाम पर ही आगामी संसार की शांति और अशांति का दारोमदार है। इसलिये प्रत्येक समझदार आदमी का कर्त्तव्य है कि इस संघर्षण में भाग लेकर मनुष्य-जाति को अच्छे परि-णाम पर पहुँचाने का यत्न करे। इस छोटे से लेख में दोनों सभ्यताओं का भेद बतलाना इष्ट है। पश्चिमी सभ्यता की बुनियाद दो सिद्धांतों पर है:—

(१) संसार में अधिक-से-अधिक बलवान् ही को जीवित रहने का अधिकार है। (Survival of the fittest) और "The weakest must go to the down" अर्थात् निर्बलों को रसातल चला जाना चाहिए।

(२) पश्चिमी सभ्यता का झुकाव उपयोगितावाद (Utilitarianism) की ओर है। आस्तिकता से जो प्राणियों के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ करता है उसके लिये इस धर्म में कोई स्थान नहीं है। और इसीलिये पश्चिमीय सभ्यता कभी-कभी नास्तिकता की ओर झुकती हुई प्रतीत होती है। इसके विपरीत पूर्वीय (आर्य) संस्कृति की आधार-शिला दो भिन्न नियमों पर रखी गई है:—

(१) प्राणिमात्र में सद्भाव स्थापित हो और वे परस्पर एक दूसरे के सहायक हों—बलवानों की अपेक्षा निर्बलों की अधिक चिंता करने का भाव मनुष्यों में उत्पन्न हो।

(२) ईश्वर पर विश्वास और निष्काम भाव को लक्ष्य में रखते हुए, कर्त्तव्याकर्त्तव्य की खातिर जिसमें स्वार्थपरायणता की ज़रा भी गुंजायश नहीं है, पालन करना।

दोनों सभ्यताओं का आदर्श बतला देने के बाद उन पर थोड़ा विचार करना चाहिए।

बलवानों को बाक़ी रहने का अधिकार।

पश्चिमी सभ्यता का यह अंग पश्चिम देशों की अशांति का कारण बन रहा है। इसी अंग ने नेपोलियन, नेल्सन, कैसर आदि अनेक पुरुषों को उत्पन्न किया और उनके द्वारा यूरोप में अशांति का विस्तार किया। सभ्यता का यह अंग जबतक बाकी और कार्य में परिणत होता रहेगा, तबतक संभव नहीं है कि पश्चिमीय देश शांति का श्वास ले सकें। एक उदाहरण से यह बात अच्छी तरह समझ में आ जायगी। कल्पना करो कि एक तालाब है जिसमें १०० मछलियाँ रहती हैं। और उनमें यही बलवानों के बाक़ी रहने के अधिकारवाली सभ्यता प्रचलित है। इसका परिणाम यह होगा कि प्रथम सबसे अधिक निर्बल मछली मारी जायगी और बलवान् मछलियाँ उससे उदरपूर्ति करेंगी। उसके बाद दूसरी, तीसरी यहाँ तक कि ९९ तक मछलियों को नष्ट होना पड़ेगा। अब अंतिम और सबसे अधिक बलवाली १०० वीं मछली बाक़ी रह गई। उसके लिये प्रश्न यह है कि क्या वह बाक़ी रह जायगी? उत्तर स्पष्ट है कि नहीं। वह इसलिये मर जायगी कि इसके लिये खाने को अब कोई मछली बाक़ी नहीं रही। सचमुच जिस प्रकार तालाब की सारी मछलियाँ नष्ट हो गईं इसी प्रकार पश्चिमी देशों का नाश किये विना यह सभ्यता चैन न लेगी।

उपयोगितावाद।

पश्चिमी सभ्यता का दूसरा अंग उपयोगितावाद है। अर्थात् बुरा भला कैसा ही काम क्यों न हो यदि उसकी उपयोगिता है तो अवश्य कर लेना चाहिए। आवश्यकता होने पर झूठ बोला जा सकता है, चोरी की जा सकती है, रिश्वत देकर काम निकाला जा सकता है। जन स्टुअर्ट मिल और उनके अनुयायियों के ग्रंथों को पढ़िए; इस प्रकार की अनेक बातें उनमें मिलेंगी। इस स्वार्थपरायणतावाद ने श्रमी और पूँजीपतियों का युद्ध जारी करा रखा है। पूँजीपति यदि श्रमियों का खून चूसना चाहते हैं, तो श्रमी पूँजीपतियों के प्राण के ग्राहक बन रहे हैं। आज जो इंगलैंड और रूस में मनमुटाव दिखलाई पड़ रहा है वह भी इसी वाद का परिणाम है। निष्कर्ष यह है कि पश्चिमी सभ्यता का जन्म संसार को शांति का नहीं, अपि तु अशांति का संदेश देने को हुआ है।

पूर्वीय सभ्यता।

इसके विपरीत पूर्वीय सभ्यता बलवान् और निर्बल दोनों को संसार में स्थिति और उन्नति का अवसर देती है। Live and let live जियो और जीने दो का सिद्धांत ही यहाँ मान्य है। अब तक सैकड़ों हिंदू आटा या चीनी खोज-खोजकर चींटियों के बिलों में डाला करते हैं। भाव यह है कि चींटी-जैसे तुच्छ प्राणी की भी रक्षा होनी चाहिए। निष्कामता का मार्ग स्वार्थ-परायणता के मार्ग से सर्वथा पृथक् है। और उनमें वैसा ही अंतर है जैसे पूर्व और पश्चिम में। श्रमी हो या पूँजीपति, दोनों इस विशद मार्ग पर निष्कंटक कंधे से कंधा भिड़ाकर चल सकते हैं और प्रेम के साथ एक दूसरे की रक्षा कर सकते हैं। और सबसे श्रेष्ठ बात यह है कि पूर्वीय सभ्यता आस्तिकता की सभ्यता है। एक ईश्वर के माननेवाले असंख्य नर-नारी किसी नस्ल या रंग के हों भाई-भाई और बहिन बहिन की भाँति मिलकर सभी प्रकार के धंधे और व्यवसाय कर सकते हैं। और इनमें पूर्ण रीति से शांति प्रचलित रह सकती है।

नारायण स्वामी
आर्यप्रकाश (गुजराती)

× × ×

४. वैदिक भारत के वस्त्र और आभूषण।

वस्त्रों से सभ्यता की जाँच होती है। मनुष्य आरम्भिक अवस्था से ज्यों-ज्यों सभ्यता की ओर अग्रसर होते जाते हैं, त्यों-त्यों वस्त्रों की अधिकता और सुघरता बढ़ती जाती है। ईसाइयों के मत से बाइबिल में उल्लिखित आदम और हौवा (Adam and Eve) संसार के आदि पिता-माता हैं। बाइबिल और ईसाइयों के दूसरे धर्म-ग्रंथ पढ़ने से मालूम होता है कि आदम और हौवा के शरीर पर कोई वस्त्र या आभूषण नहीं था। ज्ञान-वृक्ष के निषिद्ध फल खाने के बाद उनमें लज्जा का प्रादुर्भाव हुआ और फिर वे एक दूसरे की नग्न मूर्ति देखकर लज्जित हुए और लज्जा निवारण के लिये उन्हें

कपड़ों की आवश्यकता प्रतीत हुई। जब तक मनुष्य प्रकृति के साथ मिलकर रहता है, तब तक परिच्छद के आडंबर की आवश्यकता नहीं होती। सभ्यता-वृद्धि के साथ-साथ पोशाक का आडंबर बढ़ जाता है। मनुष्य क्रमशः जितना अधिक सभ्य होता जाता है, उतना ही उसके शिल्प और कला ज्ञान का विकास और परिणति होती जाती है। वस्त्रों और आभूषणों में ही मनुष्य के शिल्प-कला ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है। जीवन-निर्वाह करने में बहुधा ये वस्तुएँ अनावश्यक हैं फिर भी जीवन-यात्रा के पथ में इनकी कुछ न कुछ उपयोगिता अवश्य है।

भिन्न-भिन्न जातियों का पहनावा विभिन्न प्रकार का है। परिच्छद की प्रकृति देश की जल-वायु पर निर्भर है। सूक्ष्म-वस्त्र शिल्प ने गर्म देशों में अत्यावश्यक वस्तु रूप में उत्कर्ष प्राप्त किया है और ठंडे मुल्कों की सभ्य जातियों ने तापवर्द्धक और शीतनिवारक कपड़ों के बुनने में विशेष उन्नति की है।

भारतीय आर्यों ने वैदिक युग में भी वस्त्र-शिल्प का उत्कर्ष साधन किया था, इसका प्रमाण वेद-मंत्रों से मिलता है। वैदिक काल में केवल साधारण व्यवहारोपयोगी वस्त्र ही नहीं बनाये जाते थे, बल्कि विलास-उपकरण महीन कपड़ा बुनने में भी आर्य निपुण थे। अवश्य ही, इसके साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि वेदों में कहीं विस्तृत रूप से वस्त्र-वयन-प्रणाली का उल्लेख नहीं है। किंतु प्रसङ्ग-वश, छंदों में, किसी वस्तु के साथ दूसरी वस्तु की उपमा देने के समय, अलङ्कारों में ऐसी अनेक बातें ऋक् मंत्रों में कही गई हैं, जिनसे वैदिक भारत के वयन-शिल्प और अलङ्कार-शिल्प का प्रकृष्ट परिचय पाया जाता है।

"ये अंजिषु ये वाशीषु, स्वभानवः स्रक्षु रुक्मेषु
खादिषु श्राया रथेषु धन्वसु ॥ ४। ५३। ५ म"

अर्थ—तुम्हारे आभरणों में, अस्त्र और माल्य में और वक्ष के सुनहले गहनों में तथा पैरों के अलङ्कारों में शोभा पा रही है। और रथ तथा शरासन आश्रय करके वर्तमान है।

स्त्रियाँ ही वस्त्र बुनती थीं। ऋग्वेद के दशम मण्डल के तीसवें सूक्त में रात्रि के वर्णन-प्रसङ्ग में ऋषि कहते हैं,—"स्त्री जैसे कपड़ा बुनती है, वैसेही रात इस विस्तृत पृथ्वी को ढक लेती है। इत्यादि। मेधातिथि कण्वऋषि ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के २२ वें सूक्त में देवताओं के स्तुति-प्रसङ्ग में सविता देवता को 'सुवर्णवलयधारी' ("हिरण्यपाणिमूतये सवितारम्") कहकर वर्णन करते हैं और उन्हें "साधारण धन और मणि मुक्तादि के विभाग-कर्ता नरश्रेष्ठ सविता" कहकर आवाहन किया है:—

"विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः।
सवितारं नृचक्षसम् ॥"

ऋग्वेद के दशम मण्डल के ७५ वें सूक्त में नदी-देवता के स्तुति प्रसङ्ग में सिंधु का वर्णन करते हुए सिंधुक्षित् ऋषि कहते हैं,—

"स्वश्वा-सिंधु सुरथा सुवासा हिरण्यमयी सुकृता वाजिनीवती" ऊर्णावती युवतिः..."अर्थात सिंधु के उत्कृष्ट घोड़े, उत्कृष्ट रथ, उत्कृष्ट वस्त्र और सोने के आभूषण हैं और विस्तर पशुरोम है।" इसी मण्डल के ८५ वें सूक्त में स्त्रियों के परिधेय "आशसन वस्त्र, विशसन वस्त्र, अधि विकर्तन वस्त्र" का उल्लेख है।

श्रीपंचानन घोष
नवयुग (बँगला)

× × ×

५. संस्कृत-भक्त डॉ. लूडर्स।

प्राच्य साहित्य के अनुशीलन-परिशीलन में जिन जर्मन विद्वानों ने अपनी आयु व्यतीत की है, डॉ. लूडर्स की गणना उनकी प्रथम श्रेणी में होती है। इन्होंने अपनी आयु के ४० वर्ष भारतवर्षीय भाषा और साहित्य का मनन करने में बिताये हैं। कलकत्ता-विश्वविद्यालय के निमंत्रण पर "मध्य एशिया में प्राचीन वस्तुओं का संशोधन और उनका भारतीय साहित्य और सुधारणा से संबंध" विषय पर व्याख्यान देने के लिये हिन्दुस्थान आये थे। बंबई विश्व-विद्यालय ने भी गत जनवरी में डॉक्टर साहब के ७ व्याख्यान कराये थे। पाठकों के विनोद के लिये डॉक्टर साहब का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

डॉक्टर साहब का पूरा नाम है, हेनरिक लूडर्स। इनका जन्म ल्यूबक में २५ जून १८६९ ईसवी में हुआ था। १८८८ ईसवी में अंतिम स्कूली परीक्षा देकर, म्यूनिच और गोटिंजन के विश्वविद्यालय में प्रो० कीलहर्न की देख-रेख में संस्कृत का अच्छा अध्ययन किया। सन् १८९४ में "व्यासशिक्षा और उसका तैत्तिरीय प्रातिशाख्य से

संबंध" विषय पर निबंध लिखकर पी० एच्० डी० की डिग्री और एक पारितोषिक प्राप्त किया।

सन् १८६४ में आक्सफर्ड में इंडियन इंस्टिट्यूट के पुस्तकाध्यक्ष बनाये गये। यहाँ वे ७ वर्ष तक काम करते रहे और फिर गोटिंजन विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफ़ेसर बनाये गये। १६०३ में रैस्टेक की युनिवर्सिटी में संस्कृत और तुलनात्मक भाषा शास्त्र के अध्यापक नियुक्त हुए। यहाँ से सन् १६०८ में कील को इनकी बदली हो गई और एक वर्ष बाद अर्थात् १६०६ में बर्लिन विश्व-विद्यालय में चले गये। ये कितनी ही विद्वत्सभाओं के सभ्य और प्रसिद्ध "जर्मन प्राच्य संस्था" के अध्यक्ष हैं।

वैदिक साहित्य और सभ्यता का इन्होंने खूब मनन किया है। प्राचीन भारत में द्यूत, उपनिषद, इतिहास और उनका पाली साहित्य से संबंध, ऋष्यशृङ्ग, और कृष्ण आदि के संबंध की दंतकथाओं पर मनोहर निबंध लिखे हैं। शिलालेख पढ़ने का भी इन्होंने खूब अभ्यास किया है।

मध्य एशियाई तुर्किस्थान में डा० लूडर्स ने महत्त्व-पूर्ण हस्तलिखित ग्रंथों की खोज की है। ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए अश्वघोष के 'सारीपुत्रप्रकरण' नामक नाटक की हस्त-लिखित प्रति पहले-पहले इन्होंने ही खोज निकाली थी। चीनी भाषा में अनूदित सूत्रालंकार-नामक ग्रंथ की मूल प्रति भी पहले पहल इन्हीं को मिली थी। अभी तक अश्वघोष ही इसके रचयिता माने जाते थे परंतु डॉक्टर साहब ने कुमारलता को इसका कर्त्ता सिद्ध किया तथा यह भी बतलाया कि इसका असली नाम 'कल्पनामर्दितिका' है। इसकी मूल प्रति इन्हें बड़ी ही जीर्णावस्था में मिली थी परंतु बड़े प्रयत्न से इसे ठीक कर इसका संशोधन किया। यह ग्रंथ चतुर्थ शताब्दी में लिखा गया था।

कुशान राजाओं के समय लिखे गये और चरक-संहिता से भी प्राचीन आयुर्वैदिक हस्तलिखित ग्रंथ भी इन्हें खोज में मिले। 'भेद-संहिता' नामक एक दूसरा ग्रंथ भी इन्होंने ढूँढ़ निकाला। इसकी एक प्रति तंजौर के राजकीय पुस्तकालय में है। प्राचीन तुर्किस्थान-निवासियों और उनकी भाषा पर कई विद्वत्तापूर्ण निबंध इन्होंने लिखे हैं।

हाल में ही भंडारकर प्राच्य संशोधन संस्था में डॉक्टर साहब का भाषण हुआ था, उसमें इन्होंने कहा—

"पश्चिम हिंदुस्थान के कुछ लोग चीन के कुछ हिस्से में रहते थे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि उस भाग के रहनेवालों की भाषा में हिंदुस्थानी और पर्शियन शब्द बहुत पाये जाते हैं। तीन प्रकार के हस्त-लिखित ग्रंथ वहाँ मिले हैं। एक तो भोजपत्र पर लिखे हुए हैं। इन पर महीनों का तो उल्लेख है पर वर्षों का नहीं है। कदाचित् ये राजघराने के सरकारी आज्ञापत्र हों। शेष दो इनसे भिन्न हैं। भारतवर्ष का प्रत्यक्ष संबंध बतलानेवाले अनेक प्रमाण वहाँ मिलेंगे। हिंदुस्थान के पुरातत्त्वज्ञ विद्वानों के लिये वहाँ एक नूतन संशोधन क्षेत्र है।"

हिंदी के संबंध में आपकी यह सम्मति है कि "हिंदी ही एक ऐसी भाषा है जो भारत की राष्ट्रभाषा बन सकती है। हिंदी को लगभग सभी भारतीय समझ सकते हैं। भारतीय भावों के विरोधी तत्त्व हिंदी में नहीं पाए जाते।"

लूडर्स साहब का विद्या-व्यासंग, दीर्घोद्योग और उत्साह हमारे देश के नवयुवकों के लिये अनुकरणीय है। हमारे पुरातन साहित्य के प्रति उनके हृदय में बड़ा आदर है। हमारे देशवासियों, उनकी रीति-नीतियों और उनकी सभ्यता का निरीक्षणपूर्वक मनन करने के लिये डॉक्टर साहब कुछ दिनों तक इस देश में रहेंगे। ऐसे बड़े विद्वानों के आगमन से हम लोगों का लाभ होगा, ऐसी आशा है।

मनोरंजन (मराठी)

१. शिवजी की बरात

किलकैं खबीस दसबीस आसपास
बैल बेभूत देवालैं भौन कौन को बिगारौंगे ;
फफकैं फनीस औ फुलंग फिरैं फेरी देत
भूत प्रेत डाकिनी कहाँ लौं निरधारौंगे ;
बेनी कवि कहै कहूँ बिपिनि बताय दीजै
ऐसेई बरातिन सों सहर सँघारौंगे ;
जोग जनवासे को लगै न कहूँ महाराज
कौन के दुवार यह आफति उतारौंगे ।

बेनी

× × ×

२. नंद के बबुआ की करतूत

नंद का बबुआ बगिया में बाटै
अम्बकहि मोहिका लपलस बाटी ;
नहिं पर ससुर का डरवा छुड़ल्यूँ
मितवन पै ल्यूँ सोचत बाटी :
गवईं क मनई क मनई मिले न
मग यह विधना हम माँगत बाटी ;
जस जस ग्वैयाँ कीन्ह हम सन
तस तस हमहूँ सबका जानत बाटी ।

ग्वाल

× × ×

३. सुभट कवि

कागद कोरे पर बोरि मसि भाजन मैं
लैकै जब लेखनी सुभट कवि धमकै ;
नाही समै कविता तयार करि आनँद सों
बोलि निज मित्रन सुनावै अति श्रम कै ;
भनत बिशाल मंजु मौज सों पढ़त बेर
आनन मैं जीहा जबै लप्प लप्प लमकै ;
तबै कवि गोतन के भाव उर आनै यह
मानौ मातुभारती झरोखा झाँकि झमकै ।

विशाल

× × ×

४. कौआ हड़ौआ जदुनाथ

यक पै कर फेरि कछु करिकै
भरिकै भरमायो भुलाअन मैं ;
खर के सरसों इक पीड़ित कै
चख एकै रह्यो अमरौअन मैं ;
पदघात कै एक पठायो तहाँ
न जहाँ ते भयो फिरि औअन मैं ;
जदुनाथ तुम्हैं हम जानि लियो
तुम ह्वै गये कौआ हड़ौअन मैं ।

द्विजराज

× × ×

५. चमारी का चना पछोरना

कानन में कनफूल बड़े बड़े
कज्जल फारि दई चख कोरन ;
सूप सराथनि ले करमें
घरसों डगरी खरिहान की ओरन ;
बैठि गई ठकुरू सुलतान
लगी नख सों धरती खदखोरन ;
ऊँचे उरोज उलारि उलारि
चमारी चनाधना लागी पछोरन ।

सुलतान

× × ×

६. सुधारक !

'सुधारक' कहते हमको लोग ।
मिटाते हम दुनियाँ का सोग ॥ १ ॥
अपनी डफली आप बजाते ।
राग बेसुरा अपना गाते ॥
सीधे सादे को बहकाते ।
माया अपनी जा फैलाते ॥
भोगते नये नये यों भोग ।
मिटाते हम दुनियाँ का सोग ॥ २ ॥
सभी पुरानी लीक मिटाते ।
नई डगर झट खोज बनाते ॥
जहाँ तहाँ घुस गाल बजाते ।
चिकनी चुपड़ी बात सुनाते ॥
जोड़ते नये नये संजोग ।
मिटाते हम दुनियाँ का सोग ॥ ३ ॥
वेदों को सारा खाजाते ।
स्मृतियों को जंजाल बताते ॥
गप्प, पुराणों को ठहराते ।
कवियों को झूठा कह जाते ॥
तमाशा देख रहे सब लोग ।
मिटाते हम दुनियाँ का सोग ॥ ४ ॥
अपनी बात सिरे पर धरते ।
कहे दूसरा, वह कब करते ॥
कहते, फिर सौ बार मुकरते ।
बिना बात ही लड़ते, मरते ॥
ढोंग में फँसे सयाने लोग ।
मिटाते हम दुनियाँ का सोग ॥ ५ ॥
लेस लीडरी बाना रखते ।
चंदे की रकमों को चखते ॥
देशदशा को भूल, न लखते ।
अपनी टिर्र लिये ही झँखते ॥
मचाया कैसा यह हर बोंग ।
मिटाते हम दुनियाँ का सोग ॥ ६ ॥
मूड़, लड़ाते आपस में हम ।
देश भाड़ में जाय, न कुछ ग़म ॥
नामबरी हो, ज़रा नहीं कम ।
लड़ने को हैं ठोंक खड़े खम ॥
भरा स्वर कैसा सरस चिपोंग ।
मिटाते हम दुनियाँ का सोग ॥ ७ ॥
एका कभी न होने देंगे ।
सुख की नींद न सोने देंगे ॥
बात न अपनी खोने देंगे ।
फूट-बैर को बोने देंगे ॥
सदा ही चलते चाल ढँपोंग ।
मिटाते हम दुनियाँ का सोग ॥ ८ ॥
हम जो कहते, वही सही है ।
यहाँ चाह का काम नहीं है ॥
रुकनी कब, जो धार बही है ।
समझो, यारो ! सार यही है ॥
'सुधारक' कहते हमको लोग ।
मिटाते हम दुनियाँ का रोग ॥ ६ ॥

किशोरीलाल गोस्वामी

१. माधुरी का मुक़द्दमा

पौष मास की 'माधुरी' में 'मोटेराम शास्त्री' नाम की एक कहानी प्रकाशित हुई थी। इस कहानी में किसी कुटिल और कुत्सित वैद्य का चरित्र चित्रित किया गया था। यह वैद्य कोई जीवित प्राणी न था वरन् कल्पना जगत् का एक जीव था। खेद की बात है कि लखनऊ के एक वैद्य पं० शालिग्राम शास्त्री को यह भ्रम हो गया कि यह कहानी उनके व्यक्तित्व का अपमान करने को लिखी गई है। धीरे-धीरे उनका यह भ्रम विश्वास में परिणत हो गया और उन्होंने स्थानीय फ़ौजदारी अदालत में 'माधुरी' के संपादकों पर दावा दायर कर दिया। दावा दायर करने के पूर्व उन्होंने 'माधुरी' के संपादकों से मौखिक अथवा लिखित रूप में इस संबंध में कोई पूछ-ताँछ नहीं की। माधुरी के स्वामी से भी आपने कुछ नहीं पूछा। इस्तग़ासा दायर होने के बाद मैजिस्ट्रेट ने माधुरी-संपादकों को पाँच-पाँच सौ के ज़मानती वारंटों के द्वारा तलब किया, पर इसके पूर्व कि सरकारी कर्मचारी वारंट लेकर आवे माधुरी संपादकगण स्वयं अदालत में उपस्थित हो गये। ज़मानत करनेवाले लोग भी उनके साथ थे, पर ज़मानत दाख़िल करने की नौबत नहीं आई क्योंकि मैजिस्ट्रेट ने अंत में संपादकों से पाँच-पाँच सौ के मुचलके लेना ही पर्याप्त समझा। १२ अप्रैल को मुक़द्दमे की पेशी थी। संपादकों की ओर से १ बैरिस्टर और दो वकील पैरवी करते थे। राय साहब बाबू रामप्रसाद बी० ए०, एल-एल० बी० तथा ठाकुर सी० पी० सिंह बी० ए०, एल-एल० बी० दोनों संपादकों की ओर से थे। पं० कृष्णबिहारी मिश्र की ओर से पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र एम० ए० एल-एल० बी० (कैन्टब) बार-एट-ला विशेष रूप से पैरवी करते थे। मुक़द्दमा प्रारंभ होने के पूर्व ही संपादकों की ओर से अदालत के समक्ष एक दरख़्वास्त पेश की गई। इसका आशय यह था कि मोटेराम शास्त्री-कहानी किसी व्यक्ति-विशेष को लक्ष्य करके नहीं लिखी गई है। पं० शालग्राम शास्त्री को हम लोग विद्वान् पुरुष मानते हैं और उनका चरित्र-चित्रण वैसा ही चाहते हैं जैसे कि वे हैं। मोटेराम शास्त्री-कहानी में तो किसी कल्पित कुत्सित वैद्य का चित्र है। संपादकगण अदालत को विश्वास दिलाते हैं कि यह कहानी प० शालग्रामजी को लक्ष्य करके नहीं लिखी गई है। फिर भी यदि वैद्यजी की यह धारणा है कि कहानी उन्हीं पर लिखी गई है और वे समझते हैं कि हम लोगों ने उसे प्रकाशित करके अनजान में उनके भावों को चोट पहुँचाई है, तो इस बात का संपादकों को वास्तविक खेद है। पर वे इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं कि शास्त्रीजी की धारणा ठीक है। इस दरख़्वास्त के पेश हो चुकने के बाद शास्त्रीजी ने अपना मुक़द्दमा वापस ले लिया।

मुक़द्दमा आरंभ करने के पूर्व भी यदि शास्त्रीजी चाहते, तो इसी प्रकार का स्पष्टीकरण हम लोग उनको दे देते, पर न जाने क्यों उन्होंने ऐसा कोई उद्योग नहीं किया। इस्तग़ासे में शास्त्रीजी ने लिखा है कि "मेरे कई मित्रों ने मेरा ध्यान इस कहानी की ओर उस समय आकर्षित किया, जब मैं बीमार था और मुझको बतलाया कि इससे तुम्हारी बड़ी ज़िल्लत हुई है।" इस कथन से स्पष्ट है कि सबसे प्रथम स्वयं शास्त्रीजी के ध्यान में यह बात नहीं आई कि कहानी उन पर लिखी गई है, वरन् उनके मित्रों ने पहले पहल उनको यह बात सुझाई। हमारा ख़याल है कि अपना पक्ष समर्थन करने के लिये शास्त्रीजी ने जो गवाह तलब किये थे उनमें ये मित्र लोग भी होंगे। ऐसा भी हो सकता है कि न हों, पर हमारा अनुमान है कि वे होंगे अवश्य; क्योंकि ऐसे मुक़द्दमे के लिये उनका साक्ष्य परमोपयोगी है। यह भी स्पष्ट है कि जिन मित्रों ने बीमारी की अवस्था में शास्त्रीजी का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण कहानी की ओर आकर्षित किया उन लोगों ने या तो शास्त्रीजी के मकान पर जाकर ऐसा किया होगा या पत्र लिखकर। शास्त्रीजी ने जो गवाह अपने पक्ष-समर्थन के लिये तलब किये थे उनमें से कुछ गवाह स्थानीय थे और ४ बाहर के। बाहरी गवाहों में श्रीरत्नाकर और पं० पद्मसिंह शर्मा भी थे। दो सज्जन और थे एक ऋषिकुल हरद्वार के तथा दूसरे हिंदू-विश्व-विद्यालय के। शास्त्रीजी की बीमारी की दशा में जहाँ तक हमारा ख़याल है ये सज्जन लखनऊ में न थे। स्थानीय गवाहों में पं० रामसेवक त्रिपाठी तथा श्री-केसरीदासजी सेठ केवल मूल लेख और प्रूफ़ कापी पेश करने के लिये तलब थे। पं० उमापतिजी वाजपेयी के विषय में हमें विश्वस्त सूत्र से मालूम है कि समन पाने के पहले तक उन्होंने 'मोटेराम शास्त्री' कहानी पढ़ी ही न थी। शेष गवाह ऐसे हैं जिनका शास्त्रीजी के यहाँ प्रायः आना-जाना रहता है। संभवतः जब शास्त्रीजी बीमार थे तो ये लोग लखनऊ में ही थे। ये लोग 'माधुरी' के पाठक भी हैं। फिर भी हमें यह नहीं मालूम है कि इन लोगों में वे मित्र थे या नहीं जिन्होंने पहले पहल शास्त्रीजी का ध्यान इस कहानी की ओर आकर्षित किया। इन गवाहों के नाम इस प्रकार हैं।

१—श्रीदुलारेलाल भार्गव सम्पादक 'सुधा'

२—श्रीरूपनारायण पांडेय सम्पादक 'सुधा'

३—श्री मातादीन शुक्ल गंगापुस्तक-माला-कार्यालय

४—पं० बदरीनाथ भट्ट बी० ए० लखनऊ-विश्व-विद्यालय

५—पं० आद्यादत्त ठाकुर एम्० ए० लखनऊ-विश्व-विद्यालय

६—पं० बदरीनाथ शास्त्री लखनऊ-विश्व-विद्यालय

'माधुरी' पर मुक़द्दमा चलाने का समाचार पाकर हमारे प्रेमी पाठकों, लेखकों और कवियों को बड़ी चिंता हो गई थी। उन्होंने जिस प्रकार से हमारे साथ सहानुभूति प्रकट की है उसके लिये हम उन सभी के हृदय से कृतज्ञ हैं। 'मोटेराम शास्त्री' कहानी पढ़ने को लोग बहुत उत्सुक हैं। पौष की माधुरी का अङ्क अब प्रायः अप्राप्य है इस लिये हम उक्त कहानी को इस संख्या में फिर से उद्धृत करते हैं। पाठकों को यह स्मरण रहे कि मोटेराम शास्त्री पं० शालग्राम नहीं हैं। संपादकों की ओर से जो दरख़्वास्त अदालत में पेश की गई थी वह भी मूल अंग्रेज़ी में मै तर्जुमे के प्रकाशित की जाती है।

× × ×

2. APPLICATION.

Copy of application, dated 12th April 1928, presented by B. Premchand and Krishna Behari Misra in case No. 119, Saligram vs. Krishna Behari Misra and Premchand under Section $\frac{500}{109}$, I. P. C., decided on 12th April 1928, P. S. Hazratganj.

IN THE COURT OF THE CITY MAGISTRATE, LUCKNOW.

Saligram Shastri,

versus

1. Krishna Behari Misra, } Editors,
2. Premchand, } Madhuri.

Re—Complaint under Section 500/109, I. P. C.

This humble petition of the accused aforesaid most respectfully sheweth :—

1. That the article entitled "Motay Ram Shastri" published in the Madhuri of

January 1928 at pages 832 to 835 was intended merely to depict the caricature of a quack vaid and was written by accused No. 2 as a mere satire on present day quacks.

2. That nothing was farther from the mind of the writer No. 2 than to cast any aspersions on the complainant by the article in question.

3. That both accused No. 1 and accused No. 2 consider Pt. Saligram Shastri to be a gentleman learned alike in the Science of Vaidak and Sanskrit and Hindi literature and do not in the least consider him or wish to depict him in any manner other than what he really is.

4. That both accused are willing to give the above facts the widest publicity in order to remove any doubt which may possibly be in the mind of the complainant.

5. We assure you this article was never meant to represent the complainant but if he thinks it is meant for him and that we have thereby unconsciously hurt his feelings we are sincerely sorry without admitting that he is right in his surmise.

Yours humble petitioners
beg to subscribe,

(Sd.) KRISHNA BEHARI MISRA.
(Sd.) PREMCHAND

LUCKNOW }
Dated 12th April 1928. }

तर्जुमा

नक़ल दरख़्वास्त मोअर्रख़ै १२ । ४ । २८ मिन जानिब बाबू प्रेमचंद व पं० कृष्णविहारी मिश्र मुक़द्दमा नं० १४६ शालिग्राम बनाम कृष्णविहारी मिश्र व प्रेमचंद हस्ब दफ़ा ५००/१०९ ताज़ीरात हिंद मुनफ़सला १२ । ४ । २८ पुलिस स्टेशन हज़रतगंज ब अदालत सिटी मैजिस्ट्रेट लखनऊ ।

ब अदालत सिटी मैजिस्ट्रेट लखनऊ,

शालग्राम शास्त्री

बनाम

१. कृष्णविहारी मिश्र }
२. प्रेमचंद } एडीटरान 'माधुरी'

इस्तग़ासा हस्ब दफ़ा ५००/१०९ ताज़ीरात हिंद

मुलज़िमान बज़रिये इस दरख़्वास्त के निहायत अदब से ज़ाहिर करते हैं—

१—यह कि जनवरी १९२८ की 'माधुरी' के ८३२ लगायत ८३५ सफ़हात पर मोटेरामजी शास्त्री नाम से जो मज़मून छपा है वह इस इरादे से लिखा गया था कि किसी नीम हकीम का ख़ाका खींचा जाय ; इस मज़मून को मुलज़िम नं० २ ने मौजूदा ज़माने के नीम-हकीमों की हजो करने के लिये लिखा था ।

२—यह कि मज़मून हाज़ा के ज़रिये से मुस्तग़ीस के हजो करने का इरादा मुलज़िम नं० २ का न था ।

३—यह कि मुलज़िम नं० १ व मुलज़िम नं० २ दोनों पं० शालग्राम शास्त्री को एक शरीफ़ आदमी समझते हैं जो इल्म वैदक व संस्कृत और हिंदी के आलिम हैं । मुलज़िमान क़तई यह नहीं समझते हैं और न उनकी यह ख़्वाहिश है कि वे जैसे कुछ हैं उसके अलावा और किसी सूरत में उनका ख़ाका खींचा जाय ।

४—यह कि दोनों मुलज़िमान इन वाक़यात को अच्छी तरह से मुश्तहिर करने के लिये तैयार हैं जिससे मुस्तग़ीस के दिमाग़ में अगर किसी तरह का शक हो तो वह रफ़ा हो जाय ।

५—यह कि मुलज़िमान हुज़ूर को यक़ीन दिलाते हैं कि यह मज़मून मुस्तग़ीस के ऊपर नहीं लिखा गया । लेकिन अगर उसका ख़याल है कि यह उसी के लिये लिखा गया है और मुलज़िमान ने लाइल्मी में उसके दिल को चोट पहुँचाई है तो मुलज़िमान को वाक़ई अफ़सोस है । हालाँकि वे इस बात को नहीं तस्लीम करते हैं कि मुस्तग़ीस का ऐसा सोचना सही है ।

१२ अप्रेल १९२८
लखनऊ

कमतरीनान
कृष्णविहारी मिश्र
प्रेमचंद

× × ×

२. धर्म और राजनीति

गत यूरोपीय महासमर के बाद टर्की में राज्य-क्रांति हो गई और कमालपाशा इत्यादि तुर्कों के नेताओं ने वहाँ के सुलतान को सिंहासन-च्युत करके शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। इससे खिलाफ़त का अंत हो गया और इस्लाम का एकमात्र नियंता संसार में कोई नहीं रहा। बात यह थी कि धर्म और शासन का सूत्र सदियों तक टर्की के सुलतान के ही हाथों में रहा और इससे अन्य यूरोपियन राष्ट्रों की भाँति तुर्कों की प्रगति नहीं हुई और वे अन्य राष्ट्रों के मुक़ाबले बहुत पिछड़ गये। राज्य-विप्लव के पहले से ही मुस्तफ़ा कमालपाशा और उनके सहकारी इस व्यवस्था के अंत करने का उपाय सोच रहे थे और ज्यों ही अनुकूल अवसर आया त्यों ही उन लोगों ने खिलाफ़त का अंत कर डाला और वहाँ प्रजातंत्र राज्य स्थापित कर राष्ट्र के निर्माण और संघटन में अपना ध्यान लगाया। उन लोगों के अध्यवसाय और निरंतर यत्न से टर्की की आशातीत उन्नति हुई और दकियानूसी तथा हानिकारक विचारों और रीतियों से उस मुक्ति मिली। इतना होने पर भी 'तुर्की शासन का धर्म इस्लाम है' यह नियम बना ही रहा। जल्दी-जल्दी परिवर्त्तन करने से प्राचीनता के भक्त कमालपाशा से कुछ असंतुष्ट थे इसलिये अब तक उक्त नियम ज्यों का त्यों बना रहा। परंतु अब अपनी सत्ता अधिक दृढ़ देख उन लोगों ने हाल में ही सर्वसम्मति से यह निश्चय किया है कि तुर्की शासन का कोई धर्म नहीं है। अब वहाँ का शासन इस्लाम की शरीयत के अनुसार नहीं होगा बल्कि लोक-प्रतिनिधियों के समय-समय पर बनाये हुए नियमों के अनुकूल होगा। फिर वे नियम चाहे मुसलमानी धर्म के अनुकूल हों और चाहे प्रतिकूल। हिंदुस्थानी मुसलमान यद्यपि इसका विरोध कर रहे हैं फिर भी हम समझते हैं कि तुर्कों ने जो कुछ किया वही ठीक है। क्योंकि प्रजा-तंत्र राज्यों का कोई एक धर्म नहीं हो सकता। फ़्रांस और जर्मनी आदि प्रजातंत्र राष्ट्र भी इसे नमस्कार कर चुके हैं।

भारतवर्ष में भी जो लोक-तंत्र राज्य होगा, वह किसी धर्म का नहीं होगा। क्योंकि इस राष्ट्र में हिंदू, मुसलमान, ईसाई और पारसी आदि सभी सम्मिलित हैं। पार्लमेंटरी ढंग की शासन-पद्धति में प्रतिनिधि निर्वाचित करने का नियम है। इन प्रतिनिधियों के द्वारा संगठित मंत्रि-मंडल में कभी हिंदुओं का बहुमत होगा, कभी मुसलमानों और ईसाइयों आदि का। राष्ट्र का सभापति कभी हिंदू होगा और कभी मुसलमान। फिर भी किसी धर्म-विशेष के अनुसार शासन नहीं होगा; क्योंकि उसका संबंध अखिल राष्ट्र से होगा और राष्ट्र में भिन्न-भिन्न मतावलंबियों का निवास है। उनमें किसी के भावों को चोट पहुँचाए बिना ही शासन होगा। लोक-तंत्र शासन भी यदि धर्म-विशेष के अनुसार हो, तो उससे इतर धर्मावलंबियों के पीड़ित होने की आशंका रहे। परंतु समता, निष्पक्षपातिता और भूत-दया आदि जो सब धर्मों के अविरोधी तत्त्व और प्राणिमात्र के लिये हितकारक हैं, उनका परित्याग नहीं होगा। लोक-तंत्र धर्म-प्रधान न होगा इसका अर्थ यही है कि वह हिंदू, मुसलमान और ईसाई धर्म प्रधान न होगा। हाँ, उसमें धर्म-भावना अपने उदात्त रूप में अवश्य रहेगी। इस विचार से तुर्कों के कार्य की हम मुक्त-कंठ से प्रशंसा करते हैं; क्योंकि इसी से धार्मिक संकीर्णता का ह्रास और शांति का प्रसार होगा।

× × ×

३. हिंदी पर बँगला का प्रभाव

गत ईस्टर की छुट्टियों में मराठी-साहित्य-सम्मेलन का १३ वाँ अधिवेशन ग्वालियर में हुआ था। बरार के प्रसिद्ध लोक-नायक श्रीयुक्त माधवराव अण एम्० एल्० ए० उसके अध्यक्ष थे। आपने अपने भाषण में आधुनिक मराठी-साहित्य पर विचार प्रकट करते हुए कहा कि, "हल्लीं झालेल्या प्रसिद्ध वाङ्मयांत बंगाली वाङ्मयाची छाप मराठी वर पडत आहे, असें दिसतें......कादंबऱ्यांत बंगाली कादंबऱ्यांतीचि भाषांतरें पुष्कल पात्राचीं व मुलींचीं नांवें सुद्धां बंगाली बलणावर ठेवणाऱ्या प्रघात पडत आहे हा प्रकार विशेष अभिनंदनीय आहे, असें नाहीं।" तात्पर्य यह है कि हाल में प्रकाशित हुए साहित्य में बंग-साहित्य की छाप मराठी पर पड़ रही है, ऐसा प्रतीत होता है। उपन्यासों में बँगला उपन्यासों के भाषांतर में पात्रियों और लड़कियों के नाम तक बंगाली ढंग पर रखने की चाल चल रही है। यह ढंग विशेष अभिनंदनीय है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

श्रीयुत अणे मराठी पर पड़ती हुई बंग-साहित्य की जिस 'छाप' को अभिनंदनीय नहीं कहते, वही बँगला की 'छाप' हिंदी पर मराठी की अपेक्षा कहीं अधिक पड़ी हुई है और अधिकाधिक पड़ती जा रही है। फिर भी यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि हमारे साहित्य-सेवियों ने अबतक उसके विरुद्ध ज़ोरदार आवाज़ नहीं उठाई। कदाचित् वे उसे अभिनंदनीय समझते हों; पर हम श्रीयुक्त अणे से सहमत हैं। इसमें संदेह नहीं कि अँगरेज़ी राज्य के प्रारंभ होने के बाद बंगाल में कितने ही असाधारण प्रतिभा-शाली मनीषी उत्पन्न हुए और उन्होंने अपनी उत्तमोत्तम रचनाओं से बंग-भाषा के रिक्त भंडार को खूब भरा और भर रहे हैं। ऐसे लेखकों को पाकर, ऐसी असामान्य कृतियों से विभूषित होकर कोई साहित्य, साहित्य-संसार में विशेष प्रतिष्ठित हो सकता है। बंग-साहित्य की भी इसीलिये बड़ी प्रतिष्ठा हुई। इसमें भी संदेह नहीं कि बंगाली अपने साहित्य की महत्ता पर, अपने लेखकों की गुण-गरिमा पर उचित गर्व प्रकट कर सकते हैं, पर हिंदी-भाषियों को इससे क्या? बंग-साहित्य की अभिवृद्धि उनके आदर की वस्तु हो सकती है, अभिमान की नहीं। बँगला की उस अमूल्य संपद् को हिंदी स्वरूप में देखकर भी हमें संतोष नहीं होता और हम अपने अनुवादकाचार्यों को धन्यवाद नहीं दे सकते; क्योंकि उक्त वस्तु हिंदी पोशाक में होने पर भी हमारी नहीं है। बंगालियों की दृष्टि में हिंदी के हीन बनाने का यही कारण है और हिंदी-भाषी उनकी गर्वोक्तियों और व्यंग्य-बाणों के लक्ष्य भी इसीलिये होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि हिंदी पर बँगला की इस छाप को किसी भाँति अभिनंदनीय मानने के लिये हम तैयार नहीं हैं।

किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम उच्च श्रेणी की पुस्तकों के अनुवाद के भी विरोधी हैं। अनुवाद की उपादेयता हमें स्वीकार है। किंतु उसकी सीमा होती है। हमारी धारणा है कि हमारे अनुवादक बँगला से अनुवाद करने में उक्त सीमा पार कर चुके हैं। अनुवाद की धुन में उन्होंने ऐसी पुस्तकों का भी अनुवाद कर डाला है जो बहुत ही साधारण श्रेणी की हैं। इससे हिंदी का घोर अहित हुआ है। स्वर्गीय पं० बालकृष्णभट्ट के बीसियों उत्तमोत्तम मौलिक निबंध हिंदी-प्रदीप की फाइलों में ही पड़े रहे। उनके संग्रह करने और प्रकाशन करने की ओर किसी का ध्यान नहीं गया, पर बँगला की निशीथ-चिंता जैसी साधारण पुस्तक का अनुवाद निकल गया। कलकत्ता विश्वविद्यालय के वेद-व्याख्याता पं० भीमसेन शर्मा के कितने ही बहुमूल्य वैदिक संदर्भ ब्राह्मणसर्वस्व के पुराने अंकों की ही शोभा बढ़ा रहे हैं, उनके पुस्तकाकार प्रकाशित करने का यत्न नहीं हुआ, परंतु पं० रामेंद्रसुंदर त्रिवेदी के निबंधों का धारावाहिक अनुवाद निकल चुका है। पं० चंद्रशेखर पाठक के बहुमूल्य ऐतिहासिक ग्रंथ पृथ्वीराज के मुश्किल से दो संस्करण हुए होंगे, किंतु हरिसाधन मुकर्जी के रंगमहल और शीशमहल जैसे बहुत ही मामूली ग्रंथों के अनुवाद निकल गये। अभिप्राय यह है कि इन लोगों को अर्थात् हिंदी के मौलिक लेखकों को जो महत्त्व और प्रोत्साहन प्राप्त होना चाहिए था, वह नहीं हुआ। क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि बँगला अक्षरों में होना ही ग्रंथ की उत्तमता की कसौटी है और हिंदीवाले अपने अच्छे से अच्छे विचारशील मौलिक लेखकों की अवज्ञा करते हैं और साधारण से साधारण बंगाली लेखक को भी उच्च-स्थान देते हैं। किसी साहित्य के लिये ये दोनों बातें लज्जास्पद हैं। और इसका दोष उन अनुवादकों पर है जिन्होंने अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये हिंदी के सिर पर यह भार लाद दिया है। जो रात-दिन अब भी बँगला से अनुवाद करने में मशीन की तरह लगे रहते हैं। हिंदी पर बँगला की गहरी छाप बैठानेवाले ये ही हैं। खेद है, हम इनके कार्य का अभिनंदन नहीं कर सकते।

× × ×

४. विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार

हमारे देश में विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार का प्रबल आंदोलन होने जा रहा है। महात्मा गांधी और लाला लाजपतराय तथा अन्य सभी नेतृवृंद इसके पक्ष में हैं। आंदोलन को सफल बनाने के लिये तरह-तरह के उपाय सोचे जा रहे हैं। यदि यह आंदोलन सफल हुआ, तो इससे कई लाभ होंगे। एक तो देश का धन देश में ही रहेगा। दूसरे हमारा वस्त्र-शिल्प स्वावलंबी बनेगा और हम अपना अभाव आप ही पूर्ण करने में समर्थ होंगे। तीसरे हमारे देश के हज़ारों बेकार और बुभुक्षित लोगों को रोज़गार और अन्न मिलेगा। संक्षेप में हमारी आर्थिक अवस्था बहुत कुछ सुधर जायगी। बहिष्कार

का हेतु केवल आर्थिक ही नहीं बल्कि राजनीतिक भी है। अर्थात् इस आंदोलन से गोरे बनियों के अर्थोपार्जन में व्याघात होगा। उनमें भी बेकारी बढ़ेगी और तब वे हमारी बातें सुनने के लिये शासकों को मजबूर करेंगे। परंतु कुछ लोग कहते हैं कि भारतवासी इस समय विदेशी वस्त्रों का सफल आंदोलन नहीं कर सकते; क्योंकि वे अपनी आवश्यकता-भर के लिये कपड़ा नहीं तैयार करते या कर सकते हैं। यह प्रश्न वास्तव में विचारणीय है। इसी संबंध में बंगाल के प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्री बाबू द्विजेंद्रकुमार सान्याल बी० काम ने एक विचार-पूर्ण लेख आनंद बाज़ार पत्रिका में छपवाया है। उपयोगी होने से उसका कुछ अंश यहाँ दिया जाता है। लेख यों है—

"वर्तमान समय में भारत के लिये विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार संभव है या नहीं इस पर विचार करने के पूर्व यह जानना अधिक हितकर होगा कि भारतवासियों को प्रतिवर्ष कितने गज़ कपड़ों की आवश्यकता है। बीसवीं सदी के आरंभ में अर्थात् १८६६ से १६०४ तक भारत में प्रति वर्ष कुल ३१३ करोड़ ७० लाख गज़ कपड़ा लगता था। इसमें एक तृतीयांश से कुछ कम कर्घे में और बाक़ी देशी और विदेशी मिलों में बनता था। उस समय भारतवर्ष की जन-संख्या ३० करोड़ थी। अब ३३ करोड़ हो गई है। इसलिये उस अनुपात से ३३ करोड़ लोगों के लिये वार्षिक ३४१ करोड़ गज़ वस्त्रों की आवश्यकता है। अब यह देखना चाहिए कि भारतवर्ष प्रति वर्ष ३४१ करोड़ गज़ कपड़ा उत्पन्न कर सकता है या नहीं। गत सन् १६२६-२७ में भारतीय मिलों में और कर्घों पर ३५७ करोड़ ४० लाख गज़ कपड़ा तैयार हुआ था। इतने वस्त्र बनाने में भारत को ८ करोड़ ८५ लाख पाउंड विदेशी सूत लगाना पड़ा था। अतएव सिद्ध हुआ कि सन् १६२६-२७ में भारत में ३३७ करोड़ २४ लाख गज़ शुद्ध स्वदेशी वस्त्र उत्पन्न हुआ था। इसी वर्ष २१ करोड़ ६० लाख गज़ कपड़ा और ५ करोड़ पाउंड सूत विदेशों को भारत से भेजा गया था। यदि यह ५ करोड़ पाउंड सूत बाहर न भेजा जाता, तो इससे २२ करोड़ ४० लाख गज़ कपड़ा और भी बन सकता। इससे यह साबित होता है कि यदि हम लोग प्रति वर्ष भारत में बना २१ करोड़ ६० लाख गज़ कपड़ा और ५ करोड़ पाउंड सूत बाहर न भेजें, तो ३८१ करोड़ ६४ लाख गज़ शुद्ध स्वदेशी कपड़ा मिल सकता है। पहले हिसाब करके यह दिखलाया गया है कि १८६६ से १६०४ तक प्रति वर्ष जिस परिमाण से वस्त्र व्यवहृत होते थे उसी अनुपात से इस समय प्रति वर्ष ३४१ करोड़ गज़ वस्त्र प्रति वर्ष भारत के लिये चाहिए। इस हिसाब से हमारा देश शुद्ध स्वदेशी ३८१ करोड़ ६४ लाख गज़ वस्त्रों द्वारा अपना अभाव मिटाकर भी १८ करोड़ ६४ लाख गज़ कपड़ा विदेशों में भेज सकता है।

संभव है, इस पर कुछ लोग यह कहें कि सन् १६०० में भारतवासी जिस परिमाण से वस्त्र-व्यवहार करते थे इस समय उससे अधिक व्यवहार करते हैं। अतएव पुराने अनुपात से हिसाब करना समीचीन न होगा। इस पर हमारा वक्तव्य यह है कि गत १६२४-२५, १६२५-२६ और १६२६-२७ में भारत में क्रमशः ४७० करोड़ ६० लाख, ४४३ करोड़ १० लाख और ५०८ करोड़ ६० लाख गज़ वस्त्र व्यवहृत हुए थे। इस हिसाब से भारत के लिये प्रतिवर्ष ४७४ करोड़ १० लाख गज़ कपड़ों की आवश्यकता है। मान लीजिए कि इतने ही गज़ वस्त्रों की प्रतिवर्ष हमारे देश को आवश्यकता है। तो प्रश्न यह है कि वह आवश्यकता यहीं पूरी हो सकती है अथवा नहीं। हमारा उत्तर है कि हाँ, हो सकती है। कैसे? सो भी सुनिए। गत १६२६-२७ में हम लोगों ने १७२ करोड़ ८० लाख गज़ विदेशी वस्त्र का उपयोग किया था। इसमें ३१ करोड़ ३ लाख गज़ धोतियों का परिमाण था। हिंदुस्थानी कपड़े की अपेक्षा विदेशी कपड़ा बारीक़ होता है और कम टिकाऊ होता है। इसलिये यदि हम लोग विदेशी वस्त्रों के बदले भारत का बना हुआ मोटा कपड़ा पहनें, तो उक्त परिमाण के दो तिहाई अंश से ही अर्थात् ११५ करोड़ २० लाख गज़ देशी कपड़े से ही १७२ करोड़ ८० लाख गज़ विदेशी कपड़े का काम चला सकते हैं। और उस अवस्था में ३१ करोड़ ३ लाख गज़ विदेशी धोतियों के बदले २० करोड़ ६६ लाख गज़ देशी धोतियों की ही आवश्यकता पड़ेगी। इसके अतिरिक्त सभी लोग यह स्वीकार करेंगे कि आज-कल हम लोग जैसी धोतियों का व्यवहार करते हैं उनकी लंबाई अनायास ही कुछ घटाई जा सकती है। हम लोग

बहुधा १० गज़ी धोतियाँ काम में लाते हैं। उनकी चौड़ाई ज्यों-की-त्यों रखकर लंबाई यदि दो या ढाई हाथ घटा दी जाय तो किसी को अड़चन होने की संभावना नहीं है। अतएव यदि सब प्रकार की धोतियों की लंबाई में एक चौथाई अंश घटा दिया जाय तो प्रतिवर्ष कितने गज़ धोतियों की आवश्यकता पड़ेगी, इस पर भी विचार करना चाहिए। १६२६-२७ में ४८ करोड़ २० लाख गज़ देशी और ३१ करोड़ ३ लाख गज़ विदेशी धोतियों की आवश्यकता पड़ी थी। अगर विदेशी धोतियों के बदले अधिक टिकाऊ देशी धोतियों का व्यवहार किया जाय तो कुल ७६ करोड़ गज़ देशी धोतियों की आवश्यकता पड़ेगी। धोतियों की लंबाई में एक चतुर्थांश घटा दिया जाय तो ७६ करोड़ के स्थान पर ५६ करोड़ ३० लाख गज़ देशी धोतियों का काम पड़ेगा। इसी भाँति यदि हम लोग सभी बारीक़ कपड़ों के बदले मोटे कपड़े पहनें और धोतियों की लंबाई घटा दें, तो प्रति वर्ष भारत को ३६६ करोड़ ७७ लाख गज़ कपड़ों की ज़रूरत होगी। हम पहले हिसाब करके बता चुके हैं कि भारतवर्ष ३२६ करोड़ ६४ लाख गज़ शुद्ध स्वदेशी वस्त्र बना सकता है। शेष ४७ करोड़ १३ लाख गज़ कपड़ा बनाने का या तो प्रबंध करना पड़ेगा या फिर इसके लिये विदेशों का मुँह ताकना पड़ेगा। हमारी सम्मति में इतने वस्त्र बनाने के लिये चर्खे की सहायता लेना अनिवार्य होगा। अन्यथा मिलों का आश्रय लेना पड़ेगा। उस अवस्था में मिलवाले इच्छानुसार दाम बढ़ा देंगे; किंतु यदि चर्खे को प्रोत्साहन मिले और इसकी वृद्धि हो, तो मिलवाले दाम नहीं बढ़ा सकेंगे और बहुतेरे बेकारों को रोजी मिल जायगी। इस समय हिंदुस्थान में लगभग ७ लाख गाँव हैं। यदि हर एक गाँव में ६७३ गज़ भी चर्खे का कपड़ा तैयार हो, तो ४७ करोड़ १३ लाख गज़ कपड़े के लिये हमें विदेशियों का मुँह नहीं ताकना पड़ेगा।"

उपर्युक्त हिसाब से बहिष्कार की सफलता संभव है; यह मालूम होता है। यद्यपि इसमें 'यदि' और 'तो' की भरमार है फिर भी इसके विना काम नहीं चल सकता। आशा है, पाठक-गण इसका मनन करेंगे और लाभ उठाएँगे।

× × ×

५. मराठी-साहित्य की प्रगति।

बंगालियों की ही भाँति मराठों का भी महाराष्ट्र प्रांत और मराठी-साहित्य-विषयक अभिमान प्रसिद्ध है। इसलिये मराठी-साहित्य की सतत वर्द्धमान प्रगति पर आश्चर्य नहीं, किंतु आनंद होता है। बँगला-साहित्य यद्यपि अन्य देशी भाषाओं की अपेक्षा अधिक उन्नत और महीयान् है तथापि वह मराठी की अपेक्षा आधुनिक है। मराठी-साहित्य उससे कहीं प्राचीन है। समर्थ स्वामी रामदास का दासबोध, श्रामयूरपंत की मनोहर कविताएँ और गीता की ज्ञानेश्वरी जैसी उत्तम टीका मराठी से अन्यत्र दुर्लभ है। मराठी का इस समय की सर्वोत्तम कीर्ति ज्ञान कोष के मुक़ाबले का कोई विश्वकोष भारत की किसी देशी भाषा में नहीं है। बँगला का विश्वकोष इसके सामने नगण्य है। इसी ज्ञान-कोष के आधार पर गुजराती में भी ज्ञान-कोष तैयार होने जा रहा है। मराठी के साप्ताहिक पत्र अपनी मार्मिक विचार-शीलता के लिये प्रसिद्ध हैं। इनमें पूना का केसरी और स्वराज्य, नागपुर का महाराष्ट्र, बंबई के श्रद्धानंद, रण-गर्जना, और नवाकाल बहुत प्रसिद्ध हैं। केसरी के संपादक पहले लोकमान्य तिलक थे। तिलक महाराज भाषा-शुद्धि के बड़े पक्षपाती थे। कहते हैं कि मित्रों के प्रबल आग्रह करने पर भी इसीलिये आपने केसरी का दैनिक संस्करण नहीं निकाला। उनका कथन था कि दैनिक-पत्रों की भाषा विकृत हो जाती है। संपादन के अतिरिक्त गीता-रहस्य जैसा अद्भुत विवेचनात्मक ग्रंथ इन्होंने मातृ-भाषा को भेंट किया था। महाराष्ट्र में और मराठी जाननेवालों में आज भी केसरी का समादर है। इसके दूसरे संपादक श्रीयुक्त नरसिंहराव केलकर मराठी के सर्वोत्कृष्ट पत्र-संपादक और ग्रंथकार माने जाते हैं। हाल में ही उनका लिखा हुआ तिलक चरित्र नामक बहुत विशद और उच्च कोटि का ग्रंथ निकला है। श्रद्धानंद के संपादक तपस्वी सावरकर के छोटे भाई श्रीनारायणराव सावरकर हैं। हिंदू-संघटन के प्रेमियों में श्रद्धानंद का बड़ा सम्मान है। सावरकरजी स्वयं मराठी के उत्कृष्ट कवि और लेखक हैं। इनका लिखा हुआ जन्म ठेप नामक बहुत सुंदर ग्रंथ हाल में ही निकला है। ये देवनागरी-लिपि-संशोधन के प्रबल पक्षपाती हैं। मराठी के नाटक लेखकों में श्रीयुक्त कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर का बड़ा नाम है।

ये पहले केसरी का संपादन करते थे और अब बंबई से नवाकाल नामक उच्च श्रेणी का दैनिक और साप्ताहिक पत्र निकालते हैं। इनके पेशवे वाजीराव और सवती-मत्सर आदि नाटक विशेष लोक-प्रिय हुए हैं। इनके बाद श्रीकोल्हटकर का स्थान है। ऐतिहासिक और विवेचनात्मक ग्रंथ मराठी में विशेष हैं और उपन्यास तथा अन्य लघु साहित्य कम। हाल में ही सन् १८२७, शिव-भारत, प्रतापगढ़ चे युद्ध, इतिहास विहार, गझनाच्या महमूदाच्या स्वाऱ्या और तर्कांचा साम्राज्य आदि कई बहुत ही बढ़िया ऐतिहासिक ग्रंथ निकले हैं। राजनीतिक पुस्तकों में श्रीकेलकर का गेली पाँचवर्षे, श्री लिमये की भारतीयांच्या शासन विषयक कल्पना, अर्थशास्त्र में श्रीकरंदीकर का कौटिलीय अर्थशास्त्र, धार्मिक और सामाजिक पुस्तकों में धर्मरहस्य, नवयुग धर्म और प्रार्थना समाजाच्या इतिहास तथा फुटकर में श्रीवासुदेव-गोविंद आपटे बी० ए० कृत लेखनकला विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन पुस्तकों के पढ़ने से प्रतीत होता है कि मराठी-साहित्य का भंडार अमूल्य और बहुमूल्य रत्नों से बड़ी शीघ्रता से भर रहा है। मराठी में बँगला की भाँति उत्तमोत्तम उपन्यास नहीं हैं। औपन्यासिकों में स्वर्गीय हरिभाऊ आपटे का नाम ही उल्लेख-योग्य है। ये महाराष्ट्र के बंकिमचंद्र माने जाते हैं। दूसरे उपन्यासकर्त्ताओं में श्री० नाथ माधव, श्री० जोशी और डा० केतकर आदि हैं। मराठी के मासिक पत्रों में मनोरंजन, चित्रमय जगत, गृह-लक्ष्मी, रत्नाकर और विविधवृत्तविस्तार आदि उल्लेखनीय हैं। फिर भी ये हिंदी और बँगला मासिक पत्रों का मुकाबला नहीं कर सकते। मराठी को बड़ौदा, इंदौर, ग्वालियर और कोल्हापुर-जैसे समुन्नत नरेशों का करावलंब प्राप्त है। उसकी द्रुत प्रगति का यह भी एक कारण है। श्रीयुक्त रावबहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य, श्री० कोल्हटकर, ज्ञान-कोष के संपादक डा० केतकर, श्री० केलकर, श्रीयुक्त खाडिलकर, बैरिस्टर सावरकर, प्रो० आपटे आदि स्वनाम-धन्य सुलेखक मराठी-साहित्य का यश-विस्तार करने में सतत संलग्न हैं। हर्ष की बात है कि अपनी मातृ-भाषा के यथेष्ट प्रेमी होते हुए भी राष्ट्र-भाषा हिंदी के ये लोग भक्त हैं। मराठी-साहित्य की वर्द्धमान प्रगति से हम आनंदित हैं।

चित्र-चर्चा

१. राठौर अमरसिंह द्वारा सलाबतख़ाँ का वध

मोग़ल-सम्राट् शाहजहाँ के आमख़ास दरबार में एक बार एक बड़ी ही रक्तरंजित दुर्घटना हो गई। मारवाड़-नरेश के उद्धत पुत्र वीरशिरोमणि राठौर अमरसिंह को बख़्शी सलाबतख़ाँ ने गँवार कह दिया। वीर राठौर युवक को यह बात असह्य हो उठी। अमरसिंह ने तुरंत कटार का वार किया। सलाबतख़ाँ धराशायी हुए और सदा के लिये इस संसार से चल बसे। यह एक विशुद्ध ऐतिहासिक घटना है। कलकत्ते के चतुर चित्रकार प्रो० ईश्वरीप्रसाद वर्मा ने इसी दृश्य को अपनी कुशल लेखनी से अंकित किया है।

२. मीरा की मलार

कहते हैं 'मीरा' नाम की एक नारी संगीत-कला में परम प्रवीणा थी। उसे मलार राग सिद्ध था। उसका दावा था कि मलार गाकर वह मृत पुरुष को भी जिला सकती है। एक बार ऐसा अवसर उपस्थित हुआ कि उसके प्रेमपात्र की मृत्यु हो गई। मीरा उस स्थान पर उपस्थित न थी। जब वह लौटी, तो शव फूँका जा चुका था। चिता में अस्थि-मात्र शेष थी। फिर भी मीरा ने संगीत-बल का प्रयोग किया। चिता के निकट बैठकर उसने मलार की अलाप लगाई, पर बिखरी और जली हड्डियों पर उसका वश न चला। वह मन मसोस कर रह गई। लखनऊ के चतुर चित्रकार श्रीरामनाथ गोस्वामी ने इसी भाव को इस चित्र में चतुरता से अंकित किया है। कहते हैं संगीतज्ञों में जो राग 'मियाँ की मलार' नाम से प्रसिद्ध है वह वास्तव में 'मीरा' की मलार है।

३. कृष्णाभिसारिका

रात अँधेरी है। तारे छिटके हुए हैं। एक रमणी श्यामवस्त्र धारण किये अपने प्रेमी से मिलने जा रही है। कृष्णाभिसारिका के इसी मनोहर चित्र का चित्रण चतुर चित्रकार डी० बनर्जी ने किया है।

मोटेरामजी शास्त्री *

(१)

पंडित मोटेरामजी शास्त्री को कौन नहीं जानता? आप अधिकारियों का रुख देखकर काम करते हैं। स्वदेशी आंदोलन के दिनों में आपने उस आंदोलन का खूब विरोध किया था। स्वराज्य-आंदोलन के दिनों में भी आपने अधिकारियों से राजभक्ति की सनद हासिल की थी। मगर जब इतनी उछल-कूद पर भी उनकी तक़दीर की मीठी नींद न टूटी, और अध्यापन-कार्य से पिंड न छूटा, तो अंत में आपने एक नई तदबीर सोची। घर में जाकर धर्मपत्नीजी से बोले—इन बूढ़े तोतों को रटाते-रटाते मेरी खोपड़ी पच्ची हुई जाती है। इतने दिनों विद्या-दान देने का क्या फल मिला, जो और आगे कुछ मिलने की आशा करूँ।

धर्मपत्नी ने चिंतित होकर कहा—भोजनों का भी तो कोई सहारा चाहिए।

मोटेराम—तुम्हें जब देखो, पेट ही की फ़िक्र पड़ी रहती है। कोई ऐसा बिरला ही दिन जाता होगा कि निमंत्रण न मिलते हों; और चाहे कोई निंदा ही करे; पर मैं परोसा लिए बिना नहीं आता हूँ। क्या आज ही सब यजमान मरे जाते हैं? मगर जन्म-भर पेट ही जिलाया, तो क्या किया। संसार का कुछ सुख भी तो भोगना चाहिए। मैंने वैद्य बनने का निश्चय किया है।

स्त्री ने आश्चर्य से कहा—वैद्य कैसे बनोगे, कुछ वैद्यकी पढ़ा भी है?

मोटे०—वैद्यक पढ़ने से कुछ नहीं होता, संसार में विद्या का इतना महत्त्व नहीं जितना बुद्धि का। दो-चार सीधे-सादे लटके हैं, बस और कुछ नहीं। आज ही अपने नाम के आगे भिषगाचार्य बढ़ा लूँगा। कौन पूछने आता है, तुम भिषगाचार्य हो, या नहीं। किसी को क्या ग़रज़ पड़ी है, जो मेरी परीक्षा लेता फिरे। एक मोटा-सा साइनबोर्ड बनवा लूँगा। उस पर यह शब्द लिखे होंगे—"यहाँ स्त्री-पुरुषों के गुप्त रोगों की चिकित्सा विशेष रूप से की जाती है।" दो-चार पैसे का हड़, बहेड़ा-आँवला कुछ छानकर रख लूँगा। बस, इस काम के लिये इतना सामान पर्याप्त है। हाँ, समाचार-पत्रों में विज्ञापन दूँगा और नोटिस बटवाऊँगा। उसमें लंका, मदरास, रंगून, करांची आदि दूरस्थ स्थानों के सज्जनों की चिट्ठियाँ दर्ज की जायँगी। ये मेरी चिकित्सा-कौशल के साक्षी होंगे। जनता को क्या पड़ी है कि वह इस बात का पता लगाती फिरे कि उन स्थानों में इन नामों के मनुष्य रहते भी हैं, या नहीं। फिर देखो, वैद्यक कैसी चलती है!

स्त्री—लेकिन बिना जाने-बूझे दवा दोगे, तो फ़ायदा क्या करेगी!

मोटे०—फ़ायदा न करेगी, मेरी बला से। वैद्य का काम दवा देना है। वह मृत्यु को परास्त करने का ठेका नहीं लेता, और फिर जितने आदमी बीमार पड़ते हैं, सभी तो नहीं मर जाते। मेरा तो यह कहना है कि जिन्हें कोई ओषधि नहीं दी जाती, वे विकार-शांत हो जाने पर आप ही अच्छे हो जाते हैं। वैद्यों को बिना माँगे यश मिलता है। पाँच रोगियों में एक भी अच्छा हो गया, तो उसका यश मुझे अवश्य ही मिलेगा। शेष चार, जो मर गए, वे मेरी निंदा करने थोड़े ही आवेंगे। मैंने बहुत विचार करके देख लिया, इससे अच्छा कोई

* इसी निर्दोष कहानी के संबंध में लखनऊ के वैद्य पं० शालग्राम शास्त्री को यह भ्रम हुआ था कि यह उनपर लिखी गई है। उन्होंने इस कहानी को लेकर माधुरी-संपादकों पर फ़ौजदारी अदालत में दावा भी दायर किया था पर जब संपादकों ने अदालत को विश्वास दिलाया कि वह एक कुत्सित वैद्य पर व्यंग्य प्रहसन-मात्र है—शास्त्रीजी से उसका कोई संबंध नहीं है—तो वे संतुष्ट हो गए और अब उनका यह विश्वास है कि कहानी उनको लक्ष्य करके नहीं लिखी गई है। पाठकों में इस कहानी के पढ़ने की विशेष उत्सुकता देखकर यह फिर प्रकाशित की जाती है।

संपादक

काम नहीं है। लेख लिखना मुझे आता ही है, कवित्त बना ही लेता हूँ। पत्रों में आयुर्वेद-महत्त्व पर दो-चार लेख लिख दूँगा, उनमें जहाँ-तहाँ दो-चार कवित्त भी जोड़ दूँगा और लिखूँगा भी ज़रा चटपटी भाषा में। फिर देखो कितने उल्लू फँसते हैं। यह न समझो कि मैं इतने दिनों केवल बूढ़े तोते ही रटाता रहा हूँ। मैं नगर के सफल वैद्यों की चालों का अवलोकन करता रहा हूँ, और इतने दिनों के बाद मुझे उनकी सफलता के मूल-मंत्र का ज्ञान हुआ है। ईश्वर ने चाहा, तो एक दिन तुम सिर से पाँव तक सोने से लदी होगी।

स्त्री ने अपने मनोल्लास को दबाते हुए कहा—मैं इस उम्र में भला क्या गहने पहनूँगी, न अब वह अभिलाषा ही है, पर यह तो बताओ कि तुम्हें दवाएँ बनानी भी तो नहीं आतीं, कैसे बनाओगे, रस कैसे बनेंगे, दवाओं को पहचानते भी तो नहीं हो?

मोटे०—प्रिये! तुम वास्तव में बड़ी मूर्खा हो। अरे वैद्यों के लिये इन बातों में से एक की भी आवश्यकता नहीं। वैद्य की चुटकी की राख ही रस है, भस्म है, रसायन है, बस, आवश्यकता है कुछ ठाट-बाट की। एक बड़ा-सा कमरा चाहिए, उसमें एक दरी हो, ताखों पर दस-पाँच शीशियाँ बोतलें हों। इसके सिवा और कोई चीज़ दरकार नहीं, और सब कुछ बुद्धि आप ही आप कर लेती है। मेरे साहित्य-मिश्रित लेखों का बड़ा प्रभाव पड़ेगा, तुम देख लेना। अलंकारों का मुझे कितना ज्ञान है, यह तो तुम जानती ही हो। आज इस भूमंडल पर मुझे ऐसा कोई नहीं दीखता, जो अलंकारों के विषय में मुझसे पेश पा सके। आखिर इतने दिनों घास तो नहीं खोदी है! दस-पाँच आदमी तो कवि-चर्चा के नाते ही मेरे यहाँ आया-जाया करेंगे। बस, वही मेरे दल्लाल होंगे। उन्हीं की मारफ़त मेरे पास रोगी आवेंगे। मैं आयुर्वेद-ज्ञान के बल पर नहीं, नायिका-ज्ञान के बल पर धड़ल्ले से वैद्यक करूँगा। तुम देखती तो जाओ।

स्त्री ने अविश्वास के भाव से कहा—मुझे तो डर लगता है, कहीं यह विद्यार्थी भी तुम्हारे हाथ से न जायँ। न इधर के रहो, न उधर के। तुम्हारे भाग्य में तो लड़के पढ़ाना लिखा है, और चारों ओर की ठोकर खाकर फिर तुम्हें वही तोते रटाने पड़ेंगे।

मोटे०—तुम्हें मेरी योग्यता पर विश्वास क्यों नहीं आता?

स्त्री—इसलिये कि तुम वहाँ भी धूर्तता करोगे। मैं तुम्हारी धूर्तता से चिढ़ती हूँ। तुम जो कुछ नहीं हो और नहीं हो सकते, वह क्यों बनना चाहते हो? तुम लीडर न बन सके, न बन सके, सिर पटक कर रह गए। तुम्हारी धूर्तता ही फलीभूत होती है और इसी से मुझे चिढ़ है। मैं चाहती हूँ कि तुम भले आदमी बनकर रहो, निष्कपट जीवन व्यतीत करो। मगर तुम मेरी बात कब सुनते हो।

मोटे०...आखिर मेरा नायिका-ज्ञान कब काम आवेगा?

स्त्री—किसी रईस की मुसाहिबी क्यों नहीं कर लेते? जहाँ दो-चार सुंदर कवित्त सुना दोगे, वह खुश हो जायगा और कुछ-न-कुछ दे ही मरेगा। वैद्यक का ढोंग क्यों रचते हो!

मोटे०—मुझे ऐसे-ऐसे गुर मालूम हैं, जो वैद्यों के बाप-दादों को भी न मालूम होंगे। और सभी वैद्य एक-एक दो-दो रुपए पर मारे-मारे फिरते हैं। मैं अपनी फ़ीस ५) रखूँगा, उस पर सवारी का किराया अलग। लोग यही समझेंगे कि यह कोई बहुत बड़े वैद्य हैं, नहीं तो इतनी फ़ीस क्यों होती।

स्त्री को अबकी कुछ विश्वास आया, बोली—इतनी देर में तुमने एक बात मतलब की कही है। मगर यह समझ लो, यहाँ तुम्हारा रंग न जमेगा, किसी दूसरे शहर को चलना पड़ेगा।

मोटे०—(हँसकर), क्या मैं इतना भी नहीं जानता। लखनऊ में अड्डा जमेगा अपना। साल-भर में वह धाक बाँध दूँ कि सारे वैद्य गर्द हो जायँ। मुझे और भी कितने ही मंत्र आते हैं। मैं रोगी को दो-तीन बार देखे बिना उसकी चिकित्सा ही न करूँगा। कहूँगा, मैं जबतक रोगी की प्रकृति को भली भाँति पहचान न लूँ, उसकी दवा नहीं कर सकता। बोलो कैसी रहेगी?

स्त्री की बाछें खिल गईं, बोली—अब मैं तुम्हें मान गई। अवश्य चलेगी तुम्हारी वैदकी, अब मुझे कोई संदेह नहीं रहा। मगर गरीबों के साथ यह मंत्र न चलाना, नहीं तो धोखा खाओगे।

(२)

साल-भर गुज़र गया।

भिषगाचार्य पं० मोटेरामजी शास्त्री की लखनऊ में धूम मच गई। अलंकारों का ज्ञान तो उन्हें था ही, कुछ गा-बजा भी लेते थे, उस पर गुप्त रोगों के विशेषज्ञ,

रसिकों के भाग्य जागे। पं० जी उन्हें कवित्त सुनाते, हँसाते और बलकारक ओषधियाँ खिलाते, और ये रईसों में, जिन्हें पुष्टिकारक ओषधियों की विशेष चाह रहती है, उनकी तारीफ़ों के पुल बाँधते। साल ही भर में वैद्यजी का वह रंग जमा कि बायद व शायद। गुप्त रोगों के चिकित्सक लखनऊ में एक मात्र वही थे। गुप्त रूप से चिकित्सा भी करते। विलासिनी, विधवा रानियों और शौक़ीन, अदूरदर्शी रईसों में आपकी खूब पूजा होने लगी। किसी को अपने सामने समझते ही न थे।

मगर स्त्री उन्हें बराबर समझाया करती कि रानियों के झमेले में न फँसो, नहीं एक दिन पछताओगे।

मगर भावी तो होकर ही रहती है, कोई लाख समझाए-बुझाए। पंडितजी के उपासकों में बिड़हल की रानी भी थीं। राजा साहब का स्वर्गवास हो चुका था। रानी साहिबा न-जाने किस जीर्ण रोग में ग्रस्त थीं। पंडितजी उनके यहाँ दिन में पाँच-पाँच बार जाते। रानी साहिबा उन्हें एक क्षण के लिये भी अपने पास से हटने न देना चाहती थीं। पंडितजी के पहुँचने में ज़रा भी देर हो जाती, तो बेचैन हो जातीं। एक मोटर नित्य उनके द्वार पर खड़ी रहती थी। अब पंडितजी ने खूब केचुल बदली थी। तंज़ेब की अचकन पहनते, बनारसी साफ़ा बाँधते और पंप जूता डाटते थे। मित्रगण भी उनके साथ मोटर पर बैठकर दनदनाया करते। कई मित्रों को रानी साहिबा के दरबार में नौकर रखा दिया। रानी साहिबा भला अपने मसीहा की बात कैसे टालतीं।

मगर चर्खे जफ़ाकार और ही षड्यंत्र रच रहा था।

एक दिन पंडितजी रानी साहिबा की गोरी-गोरी कलाई पर एक हाथ रक्खे नब्ज़ देख रहे थे, और दूसरे हाथ से उनके हृदय की गति की परीक्षा कर रहे थे कि इतने में कई आदमी सोंटे लिए हुए कमरे में घुस आए और पंडितजी पर टूट पड़े। रानी ने भागकर दूसरे कमरे की शरण ली और किवाड़ बंद कर लिए। पंडित जी पर बेभाव पड़ने लगी। यों तो पंडितजी भी दम-खम के आदमी थे, एक गुप्ती सदैव साथ रखते थे, पर जब धोखे में कई आदमियों ने धर दबाया, तो क्या करते। कभी इसका पैर पकड़ते, कभी उसका। 'हाय-हाय' का शब्द निरंतर मुँह से निकल रहा था, पर उन बेरहमों को उन पर ज़रा भी दया न आती थी। एक आदमी ने एक लात जमाकर कहा—इस दुष्ट की नाक काट लो। दूसरा बोला—इसके मुँह में कालिख और चूना लगाकर छोड़ दो। तीसरा—क्यों वैद्यजी महाराज बोलो, क्या मंजूर है? नाक कटवाओगे? या मुँह में कालिख लगवाओगे?

पंडित—हाय! हाय! मर गया, और जो चाहो करो, मगर नाक न काटो।

एक—अब तो फिर इधर न आवेगा?

पंडित—भूलकर भी नहीं सरकार, हाय मर गया।

दूसरा—आज ही लखनऊ से रफ़ूचक्कर हो जाओ नहीं तो बुरा होगा।

पंडित—सरकार मैं आज ही चला जाऊँगा। जनेऊ की शपथ खाकर कहता हूँ, आप यहाँ मेरी सूरत न देखेंगे।

तीसरा—अच्छा भाई, सब कोई इसे पाँच-पाँच लातें लगाकर छोड़ दो।

पंडित—अरे सरकार मर जाऊँगा। दया करो।

चौथा—तुम-जैसे पाखंडियों का मर जाना ही अच्छा। हाँ, तो शुरू हो।

पँच-लत्ती पड़ने लगी। धमाधम की आवाज़ें आने लगीं। मालूम होता था नगाड़े पर चोट पड़ रही है। हर धमाके के बाद एक बार हाय! की आवाज़ निकल आती थी मानो उसकी प्रतिध्वनि हो।

पंच-लत्ती-पूजा समाप्त हो जाने पर, लोगों ने मोटेरामजी को घसीटकर बाहर निकाला और मोटर पर बैठाकर घर भेज दिया। चलते-चलते चेतावनी दे दी कि प्रातःकाल से पहले भाग खड़े होना, नहीं तो और ही इलाज किया जायगा।

(३)

मोटेरामजी लँगड़ाते, कराहते, लकड़ी टेकते घर में गए और धम से चारपाई पर गिर पड़े। स्त्री ने घबड़ाकर पूछा—कैसा जी है? अरे तुम्हारा क्या हाल है? हाय-हाय, यह तुम्हारा चेहरा कैसा हो गया है!

मोटे०—हाय! भगवन्!! मर गया!!!

स्त्री—कहाँ दर्द है? इसी मारे कहती थी, बहुत रबड़ी न खाओ। लवणभास्कर ले आऊँ?

मोटे—हाय! दुष्टों ने मार डाला। उसी चांडालिनी के कारण मेरी दुर्गति हुई। मारते-मारते सभों ने भुरकस निकाल लिया।

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ.
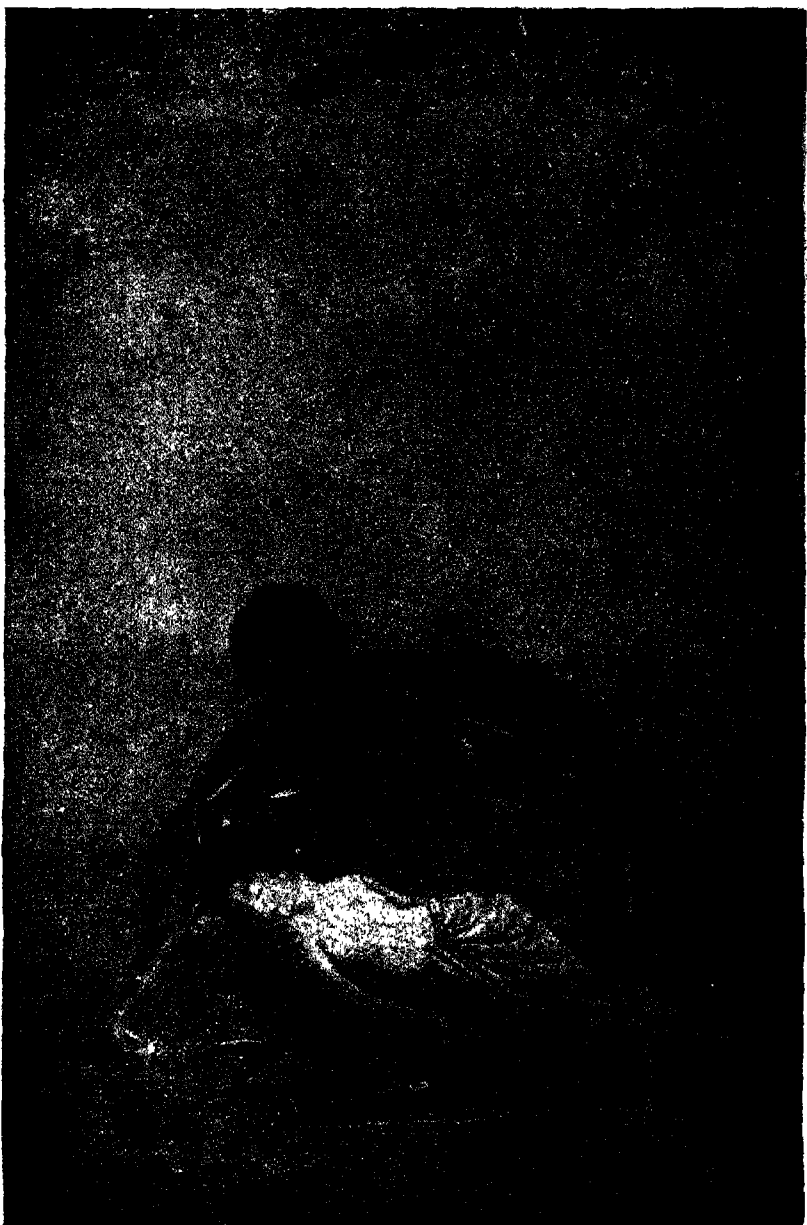
वर्ष ६ | खंड २

ज्येष्ठ, ३०४ तुलसी-संवत् (१९८५ वि०)
जून, सन् १९२८ ई०

संख्या ५ | पूर्ण संख्या ७१

छबीलो छैल छोहरा

कुंडल मुकुट कटिकाछनी तिलक भाल,
सोमनाथ कहै मंद गमन मनोहरा ;
वारियैरी कोरि मनमथ की निकाई देखि,
भृकुटी नचावैरी रचावै चित मोहरा ;
बड़े-बड़े नैन पुनि साँवरो बरन वर,
लोगन को लंगर लुभावै पाढ़ि दोहरा ;
आवै नित मुरली बजावै तान गावै यह,
छरहगो कौन को छबीलो छैल छोहरा ।

सोमनाथ

भारतीय तिथिक्रम

गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी से प्रकाशित 'भारतवर्ष का इतिहास' (द्वितीय-खण्ड) में एक नवीन तिथिक्रम (Chronology) का आश्रय लिया गया है। अनेक समालोचकों ने इस पर विप्रतिपत्ति की है। 'माधुरी' के भी एक विगत अंक में श्री-वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस 'अप्रचलित' तिथिक्रम की पुष्टि के लिए प्रमाण पेश करने की आवश्यकता अनुभव की थी। निस्संदेह भारत का प्राचीन इतिहास लिखते हुए आचार्य रामदेवजी ने आधुनिक यूरोपीय व भारतीय विद्वानों का आँख मूँद अनुकरण न कर, एक नवीन मार्ग का आश्रय ले ऐतिहासिक जगत् में हलचल उत्पन्न कर दी है। नवीन तिथिक्रम का अवलम्बन करते हुए भी उन्हें प्राग्-बौद्धकाल का क्रमबद्ध राजनीतिक इतिहास लिखने में जो सफलता हुई है, वह वस्तुतः आश्चर्यजनक है। हम इस लेख में अन्य विद्वानों द्वारा स्वीकृत तिथिक्रम और आचार्य रामदेवजी द्वारा प्रतिपादित तिथिक्रम की संक्षिप्त विवेचना करेंगे।

भारतीय तिथिक्रम (Chronology) के इतिहास में २८ फ़रवरी सन् १७७३ का दिन चिरस्मरणीय रहेगा। इस दिन सर विलियम जोन्स ने अपने उस 'आविष्कार' को बंगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी के सम्मुख प्रस्तुत किया था, जिसे आज तक पुरातत्त्ववेत्ता भारतीय तिथिक्रम की आधारशिला मानते हैं। सर जोन्स ने अपने इस आविष्कार को इन शब्दों में प्रकट किया था—

"हिंदुओं और अरबों का विधान-शास्त्र मैंने अपनी गवेषणाओं के लिए विशेष रूप से चुना हुआ है, अतः आप यह आशा नहीं कर सकते कि ऐतिहासिक ज्ञान के सम्बन्ध में मैं बहुत कुछ नवीन बातें उपस्थित कर सकूँ। मैं केवल कभी-कभी ही कुछ बातें पेश कर सकता हूँ। परंतु मैं आज एक आविष्कार आपके सामने रखने लगा हूँ, जो कि अचानक ही मेरे ध्यान में आ गया है। इस विषय पर मैं पृथक् ही विस्तार से एक निबंध में विचार करूँगा, जिसको कि मैंने सोसायटी के चतुर्थ कार्य-विवरण के लिए रख छोड़ा है। पालिबोथ्रा, जिसकी यात्रा और जिसका वर्णन मैगस्थनीज़ ने किया था, किस स्थान पर स्थित थी, इस प्रश्न का हल करना बहुत ही कठिन समझा जाता रहा है। यह पालिबोथ्रा प्रयाग नहीं हो सकती, क्योंकि प्राचीन काल में प्रयाग राजधानी नहीं रहा। यह कान्यकुब्ज भी नहीं समझी जा सकती, क्योंकि पालिबोथ्रा का कान्यकुब्ज शब्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसे 'गौड़' या लक्ष्मणावती भी नहीं समझा जा सकता, क्योंकि यह नगर भी बहुत प्राचीन नहीं है। यद्यपि 'पालिबोथ्रा' शब्द 'पाटलिपुत्र' से बहुत कुछ मिलता-जुलता है और ग्रीक लोगों द्वारा वर्णित 'पालिबोथ्रा' की परिस्थितियाँ भी पाटलिपुत्र की परिस्थितियों से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं, तथापि इन दोनों का एक होना अब तक निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता था। इसका कारण यह है कि 'पाटलिपुत्र' नगर गंगा और सोन नदियों के संगम पर स्थापित था, और ग्रीक लोगों की 'पालिबोथ्रा' नगरी गंगा और एरानेबोअस (Erranaboas) नदियों के संगम पर। मो. डी-एन-विले के मतानुसार यह एरानेबोअस यमुना नदी का ही नाम है। इसी कठिनता के कारण पाटलिपुत्र और पालिबोथ्रा को मिला सकना सम्भव प्रतीत नहीं होता था। परंतु यह कठिनाई अब दूर हो गई है। कारण यह कि दो हज़ार वर्ष के लगभग प्राचीन एक संस्कृत पुस्तक में सोन नदी का पर्यायवाची 'हिरण्यबाहु' लिखा है और 'एरानेबाअस' निस्सन्देह इसी हिरण्यबाहु का अपभ्रंश है, यद्यपि मैगस्थनीज़ ने असावधानता या अज्ञान के कारण इन दोनों को पृथक् रूप से लिखा है। इस आविष्कार से एक और भी अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम निकाला जा सकता है। वह है 'चंद्रगुप्त' और सैण्ड्राकोट्टस (Sandracottus) की एकता। सैण्ड्राकोट्टस की तरह ही चंद्रगुप्त, जो कि पहले एक सैनिक साहसिक व्यक्ति था, उत्तरीय हिंदुस्तान का राजा बन गया और उसने पाटलिपुत्र को अपने साम्राज्य की राजधानी बनाया। यहाँ उसके दरबार में विदेशी राजदूत भी आते थे। निस्संदेह यह चंद्रगुप्त वही सैण्ड्राकोट्टस है, जिसने कि सैल्यूकस निकेटर के साथ एक संधि की थी[1]।"

इस प्रकार सर विलियम जोन्स ने पुराण आदि भारतीय इतिवृत्त (Tradition) के चंद्रगुप्त मौर्य और

[1] Asiatic Researches, Vol IV, PP. 10-11.

ग्रीक लेखकों के सैण्ड्राकोट्टस को मिलाकर एक किया और पालिबोथा को पाटलिपुत्र का ही अपभ्रंश निश्चित किया। इस कल्पना को विल्फोर्ड मैक्समूलर आदि विद्वानों ने निस्संकोच भाव से स्वीकृत कर लिया और इसकी पुष्टि अनेक प्रमाणों द्वारा की। श्रीमैक्समूलर ने इसी बात को भारतीय तिथिक्रम का आधार मानते हुए लिखा कि केवल एक ही साधन है, जिससे कि भारतीय इतिहास को ग्रीस के इतिहास के साथ जोड़ा जा सकता है। यद्यपि ब्राह्मणों और बौद्धों के साहित्य में सिकंदर के आक्रमण का कोई ज़िक्र नहीं है और सिकंदर के साथियों द्वारा वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं को भारत के ऐतिहासिक इतिवृत्त से मिला सकना असंभव है, तथापि भाग्यवश प्राचीन लेखकों ने एक ऐसा नाम सुरक्षित छोड़ दिया है जो कि सिकंदर की विजयों और तत्काल बाद की घटनाओं की ठीक व्याख्या कर देता है और जो कि प्राच्य तथा पाश्चात्य इतिहासों को मिलाने के लिए श्रृंखला का कार्य करता है। यह नाम है, सैण्ड्राकोट्टस या सैण्ड्राकिप्टस (Sandrocyptus) अथवा संस्कृत का चंद्रगुप्त। इसके बाद फिर अध्यापक मैक्समूलर लिखते हैं—

"जस्टिन, एरियन, डायोडोरस, सिल्यूकस, स्ट्रैबो किंटस, कर्टियस और प्लूटार्क आदि प्राचीन लेखकों से हमें ज्ञात होता है कि सिकंदर के समय गंगा के पारवर्ती प्रदेशों पर एक शक्तिशाली राजा राज्य करता था। इसका नाम था क्सैण्ड्रेमस (Xandrames) सिकंदर के आक्रमण के बाद शीघ्र ही सैण्ड्राकोट्टस या सैण्ड्राकिप्टस ने एक नवीन साम्राज्य की स्थापना की।" इसके बाद मैक्समूलर महोदय ने ग्रीक लेखकों के वर्णनों से पुराणों के चंद्रगुप्त की समानता प्रतिपादित की है। प्रो॰ विल्सन और प्रो॰ लैस्सन आदि सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ताओं ने भी इसी मत की पुष्टि की है। यही कल्पना भारत के प्राचीन तिथिक्रम की आधारशिला बनती है। पुराण आदि प्राचीन इतिवृत्त में वर्णित सब वंशावलियों और राजाओं के काल का निर्णय इस कल्पना के आधार पर सरलता से कर दिया गया है। ३२५ ई॰ पू॰ में सिकंदर ने भारत पर आक्रमण किया और ३२२ ई॰ पू॰ में चंद्रगुप्त मगध के सिंहासन पर बैठा। ये दो तिथियाँ भारत के प्राचीन इतिहास में निश्चित समझ ली गईं और इन्हीं को आधार मानकर सब वंशों व राजाओं का काल-निर्णय सरलता से किया जा सका। निस्संदेह सर विलियम जोन्स का यह आविष्कार भारतीय इतिहास में एक अनुपम क्रांति है। भारतीय तिथिक्रम के निर्णय में इससे आश्चर्यजनक सहायता मिली है। बहुत समय तक पाश्चात्य व भारतीय सब ऐतिहासिक इस 'आविष्कार' को सत्य समझते रहे। यद्यपि प्रो॰ ट्रोयर आदि कुछ विद्वानों ने इसमें संदेह प्रकट किया, पर सभी पुरातत्त्ववेत्ता इसको सत्य व निश्चित सिद्धान्त मानकर चलते रहे। परंतु पीछे से कुछ विद्वानों ने इसके विरुद्ध ज़ोर के साथ आंदोलन शुरू किया। उन्हें यह मान्य नहीं हुआ कि ग्रीक लेखकों का सैण्ड्राकोट्टस और भारत का मौर्य चंद्रगुप्त एक ही है। इन विद्वानों में से श्री टी॰ एस॰ नारायण शास्त्री,[१] श्री एम॰ के॰ आचार्य[२] और श्री टी॰ सुब्बाराव[३] के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इनमें भी श्री॰ नारायण शास्त्री ने इस संबंध में बहुत विस्तार से विचार किया है। आपको सर जोन्स की कल्पना में मुख्यतः निम्न-लिखित दोष दिखलाई देते हैं—

१. चंद्रगुप्त मौर्य की तिथि (३२२ ई॰ पू॰) भारत के सब प्राचीन ऐतिहासिक इतिवृत्तों के प्रतिकूल है। इसके अनुसार मौर्य चंद्रगुप्त की तिथि १५३४ ई॰ पू॰ है।

२. जिस समय सर विलियम जोन्स ने यह आविष्कार किया, उस समय तक केवल एक मौर्य चंद्रगुप्त का ही

१. Asiatic Researches. Vol V.

२. Max Muller—'A History of Ancient Sanskrit Literature.'

३. Max Muller—" A History of Ancient Sanskrit Literature" पृष्ठ १४१-१४३

४. अनेक ऐतिहासिकों ने इसे 'The Anchor-sheet of Indian Chronlogy' नाम से लिखा है।

१. श्रीनारायण शास्त्री की पुस्तक देखिए—'The age of Shankar' और विशेषतः उसके दो Appendix—'The Mistaken Greeks Synchronism in Indian History' और 'The Kings of Magadh'

२. श्री आचार्य की पुस्तक "The Basis Blunder in the Orientalists' Reconstruction of Indian History"

३. श्रीसुब्बाराव ने इसी संबंध में 'The theosophist' पत्र में अपने लेख प्रकाशित करवाए थे।

ऐतिहासिकों को परिज्ञान था । परंतु पीछे से गुप्तवंश के संस्थापक चंद्रगुप्त का भी पता लग गया है । प्राचीन इतिवृत्त के अनुसार गुप्तवंश के संस्थापक इस चंद्रगुप्त का काल ३२८ ई० पू० से प्रारंभ होता है । इस अवस्था में कोई कारण नहीं समझ में आता जिससे कि ग्रीक लेखकों के सैण्ड्राकोट्टस को इस चंद्रगुप्त के साथ क्यों न मिलाया जाय । ग्रीक लेखकों का अन्य वृत्तांत भी इसके साथ पूर्णतया मिलता है ।

३. सर विलियम जोन्स ने अपनी स्थापना का आधार दो ग्रंथों को रक्खा है—एक तो सोमदेव-कृत "कथा-सरित्सागर" और दूसरा एक अन्य संस्कृत दुःखान्त नाटक जिसका नाम जोन्स महोदय ने "चंद्र का अभिषेक" बताया है । आपका कहना है कि इन ग्रंथों में मौर्य चंद्रगुप्त का जो वृत्तांत लिखा है, वह ग्रीक लेखकों द्वारा दिए हुए वृत्त से बहुत मिलता है । परंतु वास्तव में बात यह नहीं है । कथा-सरित्सागर का वृत्तांत ग्रीक-वृत्तांत से बिलकुल नहीं मिलता । उसमें चंद्रगुप्त मौर्य का विदेशीय व पार्वत्य आदि राजाओं की सहायता से राज्य प्राप्त करने की कथा का कहीं उल्लेख नहीं । दूसरी पुस्तक अब तक उपलब्ध नहीं हुई । अगले वर्ष ही जोन्स महोदय की मृत्यु हो गई और वे अपने प्रतिज्ञात निबंध को न लिख सके, इसीलिए इस पुस्तक का अब कोई परिचय प्राप्त नहीं किया जा सकता ।

४. भारतीय इतिवृत्त के अनुसार आंध्रवंश के राज्य से पूर्व भारत पर कोई विदेशी आक्रमण नहीं हुए । अतः स्वाभाविक रूप से मौर्य चंद्रगुप्त के समय में सैल्यूकस का आक्रमण नहीं माना जा सकता ।

५. इन दोषों के सिवाय श्रीनारायण शास्त्री का यह कहना है कि भारतीय इतिवृत्त के अनुसार आंध्रवंश के अन्तिम राजा चन्द्रश्री को हटाकर गुप्तवंश के संस्थापक चंद्रगुप्त ने स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया । ग्रीक लेखकों के अनुसार सैंड्राकोट्टस ने क्सैंड्रमस को हटाकर राज्य प्राप्त किया । क्सैंड्रमस और चंद्रश्री में ध्वनिसाम्य स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, नंदवंश के अन्तिम राजा महापद्मनंद या नंद के साथ क्सैंड्रमस का ध्वनिसाम्य प्रतिपादित नहीं किया जा सकता । सैंड्राकोट्टस और चंद्रगुप्त के साम्य को दिखलाने की तो कोई आवश्यकता है ही नहीं । इसलिये इन नामों की समानता के साथ इन घटनाओं की समानता भी पूर्णरूप से मिल जाती है । भारतीय तिथिक्रम के अनुसार गुप्तवंशीय चंद्रगुप्त प्रथम का शासनकाल ३२८ ई० पू० से ३२१ ई० पू० तक है, जो यूनानी सिकंदर के आक्रमण से ठीक तरह मिल जाता है । चंद्रगुप्त प्रथम के बाद प्रसिद्ध गुप्तवंशी सम्राट् समुद्रगुप्त सिंहासन पर आरूढ़ हुआ । संभवतः इसी का यूनानी लेखकों ने सैंड्रोकिप्टस् के नाम से लिखा है । इसी पर सैल्यूकस ने आक्रमण किया था, और इसी के राज दरबार में मेगस्थनीज़ रहा था । मेगस्थनीज़ आदि ग्रीक लेखकों ने सैंड्रोकिप्टस् के जिस प्रबल प्रताप और अतुल ऐश्वर्य का वर्णन किया है, वह भी समुद्रगुप्त के प्रताप और ऐश्वर्य से मिलता जुलता है । इसी समुद्रगुप्त को ऐतिहासिक स्मिथ ने भारतीय नेपोलियन की पदवी दी है । उसके दिग्विजय का वर्णन प्रयाग के अशोक-स्तम्भ पर संस्कृत कविता में उत्कीर्ण है ।

यूनानी लेखकों के वृत्तांत बहुत स्पष्ट नहीं हैं । वे सबके सब उस राजा को, जिसे मारकर पाटलिपुत्र में एक नए वंश की स्थापना की गई थी, क्सैंड्रमस, एग्ड्रेमस या एग्ड्रेमस के नाम से लिखते हैं । नये वंश के संस्थापक को वे सैण्ड्राकोट्टस का नाम देते हैं । उनके अनुसार इस सैण्ड्राकोट्टस ने ही अपने पूर्ववर्ती राजा को मारकर राज्य प्राप्त किया था और सिकंदर से भी इसकी भेंट हुई थी । इसी व्यक्ति के लिए वे सैण्ड्राकिप्टस नाम भी लिखते हैं । अनेक स्थानों पर सिकंदर के ३२६ ई० पू० में भारत-आक्रमण के समय गंगा के पार प्रदेश पर राज्य करनेवाले राजा का भी नाम सैण्ड्राकोट्टस् लिखा है । इस सबकी संगति इसी प्रकार लग सकती है कि कलियुग राज वृत्तांत के गुप्तवंश के प्रारम्भ संबंधी वर्णन पर ध्यान दिया जाय । उसके अनुसार आंध्रवंश का अंतिम राजा चन्द्रश्री था । इसके सेनापति का नाम चंद्रगुप्त था । इस चंद्रगुप्त ने अपनी सेना की सहायता से चंद्रश्री को मरवा दिया और उसके लड़के 'पुलोमान्' का प्रतिभू (रीजंट) बनकर स्वयं राज्य करने लगा । इस तरह पुलोमान् ने सात वर्ष तक चंद्रगुप्त के प्रतिभूत्व (रीजैंसी) में राज्य किया । उसके पश्चात् चंद्रगुप्त ने पुलोमान् को भी मार दिया और स्वयं राजा बन गया । इस चंद्रगुप्त के अनेक पुत्र थे । उनमें एक पुत्र का नाम था समुद्रगुप्त । इस समुद्रगुप्त ने म्लेच्छ सेनाओं की सहायता से स्वयं अपने पिता को मार-

१. कलियुग राजवृत्तांत ।

कर राज्य प्राप्त किया। इस प्रकार गुप्तवंश का यह वृत्तांत ग्रीक सैण्ड्राकोट्टस् के इस वृत्तांत से पूरी तरह मिलता है। चन्द्रश्री ही कैमण्ड्रमस है, जिसे मारकर सैण्ड्राकोट्टस् ने एक नवीन राजवंश की स्थापना की। फिर इसके पुत्र समुद्रगुप्त या सैण्ड्रोकिपृटस ने म्लेच्छ व ग्रीक आदि विदेशी और स्वदेशी सैन्यों की सहायता से स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया। यही सैण्ड्रोकिपृटस सिकंदर से मिला था। सिकंदर से भेंट करनेवाले व्यक्ति को सैण्ड्राकोट्टस भ्रान्तिवश ही लिखा गया है। यूनानियों ने सैण्ड्रोकिपृटस् का संबंध विदेशीय राजाओं से वर्णन किया है और कलियुगराजवृत्तांत के अनुसार गुप्तवंशी इस समुद्रगुप्त का भी विदेशी नृपों के साथ सबंध था। इस तरह स्पष्ट है कि भारतीय तिथिक्रम के निश्चय में सर विलियम जोन्स तथा उनके अनुयायी विद्वानों ने बहुत बड़ी ग़लती की है। उनकी ग्रीक समसामयिकता (Greek Synchronism) अशुद्ध आधारों पर आश्रित है। सच्ची ग्रीक सम-सामयिकता चंद्रगुप्त मौर्य के साथ न समझकर श्रीगुप्तवंशीय चंद्रगुप्त प्रथम के साथ समझनी चाहिए।

श्रीनारायण शास्त्री के अनुसार ग्रीक लोगों के प्राचीन वृत्तांत बहुत अधिक भ्रमोत्पादक हैं। यदि विदेशी इतिहास में भारतीय तिथिक्रम की सम सामयिकता ढूँढ़ना आवश्यक ही हो, तो पर्शियन इतिहास में देखना चाहिए। इसी लिए उन्होंने एक पर्शियन समसामयिकता (Persian Synchronism) की कल्पना की है। उनकी स्थापना को हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं।

साइरस ने पर्शियन-साम्राज्य की स्थापना की थी। इस साम्राज्य-स्थापना की तिथि ५५० ई० पूर्व है। इस समय से पर्शियन इतिहास में एक नवीन संवत का प्रारम्भ होता है। यही संवत भारत में भी चला, क्योंकि उस समय भारत और पर्शिया का बहुत संबंध था और साइरस ने पर्शियन साम्राज्य की स्थापना भारत की सहायता से ही की थी। यह संवत् भारतवर्ष में 'शककाल' 'शकनृपतिकाल' और 'शक संवत्सर' आदि नामों से प्रसिद्ध है। भारत और पर्शिया के प्राचीन सम्बन्ध को सूचित करनेवाले पर्शियन-इतिहास में मुख्य आधार निम्न-लिखित हैं--

१. बेबिलोन में प्राप्त साइरस का शिलालेख।

२. पर्शिपोलिस और नकशाय रुस्तम में प्राप्त डेरियस के शिलालेख।

३. स्काइलेक्स, हीरोडोटस, टसेसियस, और क्सोनोफोन आदि प्राचीन ऐतिहासिकों के ग्रन्थ।

साइरस ने पर्शियन साम्राज्य की स्थापना किस प्रकार की, इस पर संक्षेप से विचार करना 'पर्शियन समसामयिकता' को समझने के लिये बहुत आवश्यक है। ५५० ई० पूर्व से कुछ समय पहले भारत के पश्चिम की तरफ़ के देश तीन बड़े-बड़े साम्राज्यों में बँटे हुए थे। पुराना बेबिलोनियन साम्राज्य—जो कि २२३१ ई० पू० से १७८६ ई० पू० तक रहा—अब नष्ट हो चुका था। उसके स्थान पर असीरियन लोगों ने 'नेनेवा' को राजधानी बनाकर अपना साम्राज्य स्थापित किया था। ६२५ ई० पू० के लगभग बेबिलोन के अधीनस्थ राजा बैलीसिस ने

. अथ श्रीचंद्रगुप्ताख्यः पार्वतीयकुलोद्भवः।
आपर्वतेन्द्राधिपतेः पौत्रः श्रीगुप्तभूपतेः॥
कुमारदेवीमुद्वाह्य नेपालाधीशितुः सुताम्।
लब्धप्रवेशो राज्येऽस्मिन् लिच्छवीनां सहायतः॥
सेनापतिपदं प्राप्य नानासैन्यसमन्वितः॥
लिच्छवीनां समुद्वाह्य देव्याश्चंद्रश्रियोऽनुजाम्।
राज्ञियः स्पालको भूत्वा राजपत्न्या च चोदितः॥
चन्द्रश्रियं घातयित्वा मिषेणेव हि केनचित्।
तत्पुत्रप्रतिभूत्वे च राज्या चैव नियोजितः॥
वर्षेस्तु सप्तभिः प्राप्तराज्यो वीराग्रणीरसौ।
तत्पुत्रे च पुलोमानं विनिर्हत्य नृपार्भकम्॥
आन्ध्रेभ्यो मागधं राज्यं प्रसह्यापहरिष्यति।
कंचन स्वेन पुत्रेण लिच्छवीयेन संयुतः॥
विजयादित्यनाम्ना तु सप्त पालयिता समाः।
स्वनाम्ना च शकं त्वेकं स्थापयिष्यति भूतले॥
एकच्छत्रश्चक्रवर्ती पुत्रस्तस्य महायशाः।
नेपालाधीशदौहित्रो म्लेच्छसैन्यैः समावृतः॥
वञ्चकं पितरं हत्वा सहपुत्रं सबान्धवम्।
अशोकादित्यनाम्ना तु प्रख्यातो जगतीतले॥

(कलियुग राजवृत्तांत, भाग ३, अध्याय २)

. 'स्वदेशीयैर्विदेशीयैर्नृपैः समभिपूजितः'

(कलियुगराजवृत्तांत, भाग ३, अध्याय २)

स्वाधीनता उद्घोषित कर दी और मीडिया के राजा साइक्सेरस के साथ मिलकर 'नेनेवा' के ऊपर आक्रमण किया। इस प्रकार असीरिया के साम्राज्य का भी अन्त हुआ। इस समय में पुराना पार्शिया दो आर्यन जातियों के अधिकार में था। इन जातियों को 'मीड' और 'पार्शियन' कहते हैं। इनमें से मीड लोग बड़े उत्तम घुड़सवार थे और पर्शियन लोग पदाति-सेना के लिए प्रसिद्ध थे। मीड लोगों के राजा का नाम 'साइक्सेरस' था। इस साइक्सेरस ने असीरियन साम्राज्य को नष्ट करके—या उसके विनाश में हाथ बँटाकर, उसके एक भाग पर मीडियन साम्राज्य की स्थापना की। इस तरह इस समय में तीन साम्राज्य इस भूभाग पर विद्यमान थे—१. बेबिलोन, २. मीडिया, ३. असीरिया। अब स्वाभाविक था कि ये तीनों राज्य आपस में अपनी शक्ति के लिए युद्ध करते। परंतु इन तीनों को नीचा दिखानेवाली एक नई शक्ति का इस समय उदय होता है। यह शक्ति 'महान् साइरस' (Cyrus the Great) है। इस शक्ति ने इन तीनों राज्यों को नष्ट कर उनके स्थान पर पार्शियन साम्राज्य की स्थापना की।

यह साइरस 'एलम' नामक छोटे से अधीनस्थ राज्य का राजकुमार था। इसके बाल्यकाल व प्रारंभिक जीवन के संबंध में विस्तार से लिखने की हमें कोई आवश्यकता नहीं। साइरस ने पहिले मीडियन राजा साइक्सेरस पर आक्रमण किया और ५५० ई० पू० में मीडिया को परास्त कर अपने पर्शियन साम्राज्य की नींव डाली। यह साइरस भारतवर्ष के साथ संबद्ध था और इसको अपने विजयों में भारत या सिन्धु देश के राजा से सहायता मिली थी। यद्यपि इस संबंध में भी पर्याप्त प्रमाण विद्यमान हैं कि साइरस तथा उसके वंश के अन्य राजाओं के नाम संस्कृत नामों से बहुत मिलते हैं तथा भारतीय संस्कृति (Culture) आदि का उन पर बहुत प्रभाव था, परंतु फिर भी हम इस विचार में नहीं पड़ते। ५५० ई० पू० की तिथि—जो कि मीडियन साम्राज्य का अंत और पर्शियन-साम्राज्य के प्रारंभ को सूचित करती है—संसार के प्राचीन इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण है। हीरोडोटस् स्पष्ट रूप से लिखता है कि अगले पर्शियन राजा काल की गणना इसी तिथि से करते थे। यह बिलकुल स्वाभाविक है कि उन हिंदुओं और उन भारतीय राजाओं ने, जिन्होंने कि साइरस की सहायता की थी, बहुत हद तक इस शक नृपति के साम्राज्य स्थापन से अपने काल की गणना करना प्रारंभ कर दिया हो।

बहुत प्राचीन काल से भारत और इन पाश्चात्य देशों का घनिष्ठ संबंध रहा है। महाभारत के द्वारा भारत का चीन, असीरिया, खाल्डिया, बैबिलोनिया, मिश्र, फिनीशिया आदि देशों के साथ संबंध सूचित होता है। साइरस के युद्धों में भी भारत का बहुत घनिष्ठ संबंध था। क्रेनोफोन के लेखों से सूचित होता है कि ५६० ई० पू० में जब साइरस और बेबिलोनियन लोगों के साथ युद्ध शुरू होता है, तो दोनों पक्ष अपने-अपने प्रतिनिधि सिंधु-देश के राजा के पास भेजते हैं। इन प्रतिनिधियों का उद्देश्य भारत के राजा की सहायता प्राप्त करना था। इसके अनुसार भारत से एक प्रतिनिधि-मण्डल यह निर्णय करने के लिए गया कि दोनों में से कौन सा पक्ष न्याय्य है। अंत में साइरस का पक्ष न्याय्य समझा गया और उसी की पुष्टि करने का निश्चय किया गया। इसी भारतीय सहायता का यह परिणाम हुआ कि साइरस को सफलता प्राप्त हो सकी। इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि ५५० ई० पू० का काल न केवल पर्शियन-इतिहास में, अपितु भारतीय इतिहास में भी बहुत महत्त्व का काल है, क्योंकि भारतीयों ने साइरस की विजय के लिए बहुत अधिक सहायता की थी, और इसी के कारण वह सफल-मनोरथ हो सका था।

अब हमें यह देखना है कि भारतीय साहित्य में इस तिथि से किसी नए संवत् का प्रारंभ होता है या नहीं? प्राचीन साहित्य में एक प्रसिद्ध श्लोक है—

आसन मघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ।
षड्द्विकपञ्चद्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञश्च ॥ १ ॥

इस श्लोक के अनुसार युधिष्ठिर के काल और शक-काल में २५२६ वर्ष का अंतर है। हमें मालूम है कि राजा युधिष्ठिर की मृत्यु ३०७६ ई० पू० में हुई थी। अतः ३०७६ में २५२६ घटा देने पर ५५० ई० पू० निकलता है। जो निस्संदेह शककाल का प्रारंभ सूचित करता है। इस प्रकार भारतीय साहित्य के अनुसार शक-काल का प्रारंभ ५५० ई० पू० में ही समझना चाहिए। पर्शियन-इतिहास के अनुसार तो साइरस या शक नृपति

१. वराहमिहिर—बृहत्संहिता।

का काल ५५० ई० पू० में प्रारंभ होता ही है। शककाल के विषय में आजकल ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। इस सब गड़बड़ का कारण 'शक' शब्द को ठीक प्रकार से न समझना ही है। प्राचीन साहित्य के सप्तद्वीपों में एक द्वीप का नाम 'शकद्वीप' है। इस शकद्वीप से संपूर्ण पश्चिमीय एशिया का ग्रहण होता है। प्राचीन पर्शिया में एक प्रांत का नाम सैकी (Sacae) भी था। शकशब्द इस सैकी प्रदेश में रहनेवालों के लिए प्रयुक्त होता था। मनु के अनुसार शकलोग काम्बोज, पह्लव, पारद और यवन—इन उपविभागों में विभक्त थे। इन्हीं शक लोगों के राजा साइरस को शकनृपति के नाम से कहा गया है। और इसी के साम्राज्य-स्थापन के समय से वस्तुतः शककाल का प्रारंभ होता है। यदि इस बात को मान लिया जाय तो भारतीय तिथि-क्रम के सब विवाद समाप्त हो जाते हैं और प्राचीन भारतीय साहित्य के अनुसार ही बिना कोई रद्दोबदल किए सब कालों का फ़ैसला हो जाता है।

वर्तमान पुरातत्ववेत्ताओं ने अपने कल्पित तिथिक्रम के अनुसार इस शककाल को भी जहाँ तक पीछे ले जाना संभव हो, ले जाने का प्रयत्न किया है। इसे उन्होंने 'शालिवाहन शाक' के साथ मिला दिया है, और इसी ग़लती के कारण भारत के प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर की तिथि ५०५ ई० पश्चात् नियत कर दी है। वराहमिहिर के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पञ्चसिद्धांतिका' के अनुसार यह ग्रन्थ ४२७ शककाल में समाप्त किया गया है। अब, क्योंकि वराहमिहिर विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक था, इसलिए विक्रम की तिथि भी पाँचवीं व छठी शताब्दी ई० पश्चात् में फेंक दी गई है, यद्यपि विक्रम की तिथि उनके वर्तमान प्रचलित संवत् के अनुसार भी ५७ ई० पू० है, और सर विलियम जोन्स ने भी इसे स्थिर तिथि के तौर पर स्वीकृत किया है। अब यदि ५५० ई० पू० में शककाल को माना जाय तो वराहमिहिर की तिथि ५५०—४२७=१२३ ई० पू० हुई। वराहमिहिर की मृत्यु आमराज के अनुसार ५०९ शक में अर्थात्—५५०—५०९=४१ ई० पू० में हुई थी। इस प्रकार वराहमिहिर १२३ ई० पू० से ४१ ई० पू० तक अवश्य ही जीवित थे। यह तिथि पुराने इतिवृत्त के सर्वथा अनुकूल है।

इसी प्रकार कालिदास की तिथि को लीजिए। कालिदास अपने ज्योतिर्विदाभरण नामक ग्रन्थ में लिखता है—

धन्वन्तरिक्षपणकाऽमर-सिंहशंकु-
वेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

इसी ज्योतिर्विदाभरण ग्रन्थ में वह यह भी लिखता है कि 'यह ग्रन्थ मैंने ३०६८ कलि-संवत् में समाप्त किया।' यह ३०६८ कलि संवत् ३४ ई० पू० के बराबर है, जो कि पुरातन इतिवृत्त के अनुकूल है। जब कालिदास के अनुसार ही वराहमिहिर उसके समकालीन हैं, तो वराहमिहिर की तिथि भी इसी के लगभग होनी चाहिए। अतः शककाल का प्रारंभ ५५० ई० पू० में ही मानना उचित है।

इसी संबंध में एक अन्य उदाहरण को लीजिए। प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सिद्धांत-शिरोमणि' में लिखता है कि वह १०३६ शक नृप के समय में हुआ। इसके अनुसार पाश्चात्य विद्वान् यह मानते हैं कि भास्कराचार्य का समय ११५० ई० पश्चात् है। परंतु इसमें आपत्ति यह आती है कि अल्बरूनी ने—जिसने कि १०३० ई० पश्चात् में भारत-यात्रा की थी, भास्कराचार्य और उसके ग्रन्थों का उल्लेख किया है। क्योंकि अल्बरूनी यूरोपीय विद्वानों द्वारा स्वीकृत भास्कराचार्य की तिथि से ८० वर्ष पहिले आया था, इस लिए प्रो० वीवर तक भी इस कठिनता को अनुभव करते हैं। वे लिखते हैं कि 'मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं इस पहेली को सुलझाने में असमर्थ हूँ।' इसी कारण उन्होंने दो पृथक् भास्कराचार्यों की सत्ता की कल्पना कर ली है।

इस प्रकार यदि इस पर्शियन सम सामायिकता को भारतीय तिथिक्रम का आधार मान लिया जाय, तो भारतीय इतिवृत्त के वर्णनों में अधिक उथल-पुथल करने की आवश्यकता न रहेगी। पाश्चात्य ऐतिहासिक, श्री० नारायण शास्त्री के मतानुसार, व्यर्थ ही भारतीय

१. 'नवाधिकपञ्चशतसंख्यशाके (५०९) वराहमिहिराचार्यो दिवं गतः।' (खण्डखाद्य में भाउदाजी द्वारा उद्धृत)

१. वर्षे सिन्धुरदर्शनाम्बरगुणैर्याते कलौ सम्मिते।
मासे माधवसंज्ञितेऽत्र विहितो ग्रन्थक्रियोपक्रमः ॥
(ज्योतिर्विदाभरण)

इतिवृत्त को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। वस्तुतः भारत का प्रामाणिक इतिहास और तिथिक्रम विशुद्ध रूप में पुराण आदि ग्रंथों में उपलब्ध है। संपूर्ण भारतीय ग्रंथ निर्विवाद रूप से कलियुग-संवत् और युधिष्ठिर शक को आज से लगभग ५००० (पाँच हज़ार) वर्ष पूर्व में प्रारंभ हुआ मानते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने इस कलियुग संवत तथा इसी तरह के अन्य प्राचीन सवतों में व्यर्थ ही परिवर्तन करने चाहे हैं। श्री० शास्त्री के अनुसार भारत के प्राचीन संवतों का ब्यौरा संक्षेप में इस प्रकार है—

१. सृष्ट्यब्द—१,६५५, ८८३, १०१ ई० पू०
२. चतुर्युग संवत्—३८६ ११०२ ई० पू०
३. कलियुग-संवत्—३१०२ ई० पू०
४. लौकिकाब्द—३०७८ ई० पू०
५. युधिष्ठिर शाक—३१३९ ई० पू०
६. शककाल—५५० ई० पू०
७. श्रीहर्षकाल—४५७ ई० पू०
८. विक्रम संवत्—५७ ई० पू०
९. शालिवाहन शाक—७८ ई० पश्चात्
१०. कोल्लम संवत—८२५ ई० पश्चात्

भारतीय साहित्य में ये ही संवत् उपलब्ध होते हैं। यदि इनकी प्रामाणिकता को स्वीकृत कर प्राचीन इतिवृत्त की विवेचना की जाय, तो सब घटनाओं का समन्वय सरलता के साथ हो जायगा। परंतु पाश्चात्य ऐतिहासिकों ने अपने इस विश्वास के आधार पर कि मनुष्य को उत्पन्न हुए ६ हज़ार साल से अधिक व्यतीत नहीं हुए—क्योंकि उनके धार्मिक ग्रंथ 'बाइबल' का यही विश्वास है—भारत के सारे तिथिक्रम को बड़ी निर्दयता के साथ तोड़-मरोड़ दिया है। वे भारत के प्राचीन साहित्य को सर्वथा अविश्वसनीय समझते हैं और उस पर आश्रित संवतों को अप्रामाणिक समझकर अपने ही विश्वासों के अनुसार कार्य करते हैं। प्राचीन शिलालेख, सिक्के आदि उनके लिए मान्य हैं, पर उन पर भी वे अपने विश्वासों के अनुसार कलम चलाने में संकोच नहीं करते। यहाँ पर केवल एक उदाहरण लेना ही पर्याप्त होगा। नेपाल की प्राचीन वंशावलियों में हर्ष-संवत् का विशेषरूप से प्रयोग किया गया है। 'नेपालराजवंशावली' में अनेक नेपाली राजाओं के जो दानपत्र उल्लिखित हैं, वे इसी संवत के अनुसार हैं। नेपाल के प्राचीन राजाओं की एक वंशावली पं० भगवानलाल इन्द्रजी पी० एच्० डी० को प्राप्त हुई है। इस वंशावली का नाम है—

'पार्वतीय वंशावली'। इस वंशावली में कलियुग के प्रारंभ से भी अनेक शताब्दियाँ पूर्व से लेकर १७२८ ई० पश्चात् तक के राजाओं की वंशावली दी गई है। इस वंशावली के अनुसार 'सूर्यवंशी' वंश के २७ वें राजा शिवदेव वर्मा का शासनकाल कलि-संवत् २७६४ (तदनुसार ३३८ ई० पू०) के लगभग है। इसी तरह ठाकुरी वंश के प्रथम राजा अंशुवर्मा का शासन-काल कलि-संवत् ३००० या १०१ ई० पू० है। इस राजा का शासन-समय ६८ साल लिखा है। इस प्रकार इसने १०१ ई० पू० से ३३ ई० पू० तक राज्य किया। इसी वंशावली के अनुसार अंशुवर्मा के समय विक्रमादित्य ने नेपाल की यात्रा की थी। हम जानते हैं कि विक्रमीय संवत के प्रारंभकर्ता विक्रमादित्य का भी यही समय है। अतः इस वंशावली की प्रामाणिकता सर्वथा स्पष्ट है। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने इसको अस्वीकृत करने में कोई संकोच नहीं किया। डा० फ़्लीट ने देखा कि 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' शिवदेव वर्मा (सूर्यवंशी वंश के २७ वें राजा) के एक दानपत्र में ११९ हर्ष-संवत लिखा है। यह देखना था कि उन्होंने एकदम शिवदेव वर्मा की तिथि को ७२५ ईसवी पश्चात् नियत कर दिया। उन्होंने कहा कि कन्नौज के प्रसिद्ध राजा हर्षवर्धन का समय ६०६ ई० पश्चात् है, अतः स्वाभाविक रूप से शिवदेव वर्मा का समय ७२५ ई० पू० होना चाहिए, क्योंकि हर्ष-संवत् कन्नौज के हर्षवर्धन का ही चलाया हुआ है। इस प्रकार अपने कल्पित हर्ष-संवत के अनुसार पाश्चात्य ऐतिहासिक एकदम नेपालराजवंशावली की तालिका की तिथियों को अशुद्ध घोषित कर देते हैं। नेपाल की वंशावली ने तो शिवदेव वर्मा का समय रक्खा है ३२८ ई० पू०, और उत्कीर्ण लेखों की साक्षी द्वारा ज्ञात होता है ७२५ ई० पश्चात। अतः वंशावली का समय अप्रामाणिक समझा ही जाना चाहिए। परंतु कुछ अधिक गंभीरता से विचार करने पर ऐतिहासिकों की यह युक्ति-परम्परा हेत्वाभास मालूम पड़ने लगती है। विचारना यह चाहिए कि बाणभट्ट और ह्वेनसांग के आश्रयदाता,

कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्धन ने किसी नए संवत् को चलाया था या नहीं। भारतीय और चीनी साहित्य इस विषय पर सर्वथा चुप हैं। बाणभट्ट ने, जिसने कि हर्ष के जीवनचरित्र का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है, यह कहीं नहीं लिखा कि हर्ष ने किसी नवीन संवत् को चलाया था। ह्वूनसांग व अन्य चीनी लेखकों ने भी इसका कहीं ज़िक्र नहीं किया। यदि हर्ष ने किसी नवीन संवत् की स्थापना की होती, तो अवश्य ही ये लेखक उसका वर्णन करते। अतः सिद्ध है कि हर्ष संवत् का प्रारम्भ कन्नौज के हर्षवर्धन ने नहीं किया और उसके साथ हर्ष संवत् को जोड़ना सर्वथा युक्ति-शून्य है। फिर इस प्रश्न का हल किस प्रकार किया जावे? शिवदेव वर्मा के दानपत्र में किस हर्ष संवत् का उल्लेख है? इस प्रश्न का उत्तर बहुत साधारण है। भारतीय साहित्य से हमें ज्ञात है कि विक्रमीय संवत के प्रारम्भ से ४०० वर्ष पूर्व यहाँ पर एक संवत् प्रचलित था, जिसे कि हर्ष संवत् कहते थे। अलबरूनी के अनुसार भी इस हर्ष संवत् का प्रारम्भ विक्रमीय संवत से ४०० वर्ष पूर्व हुआ था।

अब यदि हम शिवदेव वर्मा के ताम्रपत्र में उत्कीर्ण हर्ष-संवत् का अभिप्राय ४५७ ई० पू० लें, तो शिवदेव वर्मा का काल होगा—४५७ ई० पू०—११९ या ३३८ ई० पू०। यह ठीक नेपाल राजवंशावली के अनुसार है। इससे अंशुवर्मा के प्रथम सदी ईसवी पूर्व में विक्रम के समकालीन होने में भी बाधा नहीं पड़ती।

प्राचीन भारतीय साहित्य पर विश्वास न करने के कारण, तथा अपनी कल्पित ग्रीक-समसामयिकता को क़ायम रखने की उत्कण्ठा से पाश्चात्य विद्वानों ने और भी बहुत सी असम्य अशुद्धियाँ कर दी हैं। यहाँ पर सबको दिखा सकना असंभव है, अतः इतने को ही पर्याप्त समझना चाहिए।

इस प्रकार श्रीनारायण शास्त्री महोदय पाश्चात्य विद्वानों द्वारा स्वीकृत तिथि-क्रम का खण्डन कर भारतीय इतिवृत्त के अनुसार अपने नवीन ही तिथि-क्रम का विनिश्चय करते हैं[१]। महाभारत के बाद यह तिथि-क्रम निम्न-लिखित रूप से है—

१. प्रद्योतवंश—२१३२ई० पू० से १९९५ई० पू० तक
२. शैशुनाग-वंश—१९९५ई० पू०से १६३५ई० पू०तक
३. नंद-वंश—१६३५ ई० पू० से १५३५ ई० पू० तक
४. मौर्य-वंश—१५३५ ई० पू० से १२१९ई० पू० तक
५. शुङ्गवंश—१२१९ ई० पू० से ९१९ ई० पू० तक
६. कण्ववंश—९१९ ई० पू० से ८३४ ई० पू० तक
७. आंध्र वंश—८३४ ई० पू० से ३२८ ई० पू० तक
८. गुप्तवंश—३२८ ई० पू० से ८३ ई० पू० तक

इसमें संदेह नहीं कि यदि श्रीनारायण शास्त्री की इस स्थापना को स्वीकृत कर लिया जाय, तो भारतीय इतिहास में बड़ी भारी क्रांति हो जायगी। अब तक जिस तिथिक्रम को माना जाता है, वह एकदम बदल जायगा और भारतीय तिथिक्रम में एक नवीन युग का प्रारंभ होगा। इस नवीन युग में ऐतिहासिकों को भी प्राचीन भारतीय साहित्य की प्रामाणिकता उसी तरह स्वीकृत करनी पड़ेगी, जिस तरह पुरातन पंडित करते आये हैं। इसमें विक्रमीय संवत् के प्रारंभ के लिए नवीन-नवीन कल्पनाओं की आवश्यकता न रहेगी, जो जैसा चाहेगा वैसा ही न मान सकेगा। विक्रमीय संवत् का प्रारंभ एक अभाव कल्पना से न मानना होगा। श्रीयुत वि० ए० स्मिथ को नंदवंश का शासनकाल, सब भारतीय ग्रंथों के १०० वर्ष प्रतिपादित करने पर भी, अपनी ग्रीक-समसामयिकता की रक्षा करने के लिए ५० साल न कर देना होगा। भारत की सब प्राचीन वंशावलियाँ क़लम के एक प्रहार से ही अशुद्ध न ठहराई जा सकेंगी। इस युग में स्वच्छंद कल्पना को बहुत गुंजाइश न रहेगी।

आचार्य रामदेवजी ने अपने भारतवर्ष के इतिहास में इसी तिथि-क्रम का आश्रय लिया है। यद्यपि हम मानते हैं कि इस पक्ष में अनेक दोष उद्भावित किये जा सकते हैं, और वर्तमान प्रचलित तिथि-क्रम के पक्ष में अनेक स्वतंत्र युक्तियाँ भी पेश की जा सकती हैं, परंतु यह स्पष्ट है कि आचार्य रामदेवजी का तिथि-क्रम भी दृढ़ प्रमाणों पर आश्रित है। आवश्यकता इस बात की है कि हम यूरोपियन विद्वानों का आँख मूँद कर अनुसरण न करते जावें, हम स्वयं स्वतंत्र विचार करना सीखें। अपने इतिहास का स्वयं निर्माण करें। आचार्य रामदेवजी ने इस दिशा में जो प्रयत्न किया है, वह वस्तुतः स्तुत्य है।

सत्यकेतु विद्यालंकार

---

१. देखो The Age of Shankar, Appendix I, The Kings of Magadha.

चोरी

(१)

मुख ने चुराई प्रभा मंजुल मयङ्क की है,
छीनी अधरों ने अरुणाई है प्रवाल से ;
आँख ने चुराई सुघराई नील-नीरज की,
बाँह ने छुड़ाई पतलाई है मृणाल से ।
कीर की लुनाई है चुराई मंजु नासिका ने,
मंद गति छीन ली है चाल ने मराल से ;
तेरे अंग अंग हैं चुराने में चतुर खूब,
कैसे वे बचे हैं दंड-संग्रह के जाल से ॥

(२)

तेरे लोल लोचन चुराते चित्त-वित्त नित्य,
किंतु वे कदापि दंड नेक भी न पाते हैं ;
चित्त जिनका वे छीनते हैं वे अभागे उसे,
वापस न पाते घोर दुख ही उठाते हैं ।
क्या करें, कहीं भी उन्हें मिलता नहीं है न्याय,
न्यायाधीश, न्याय-शील व्यर्थ ही कहाते हैं ;
जो हैं अपराधी उन्हें कहता न कोई कुछ,
अपराध-हीन हीं सताये सदा जाते हैं ॥

गोपालशरणसिंह

भ्रम

(१)

लोग अभी दो-तीन मास ही पहले के मुंशी भवानीशंकर से परिचित थे, आज वे उनका बदला हुआ रंग देखकर दंग रह गये । उनकी वक्तृता समाप्त हो गई । आकाश-मण्डल जयकारों की अनवरत ध्वनि से गूँजने लगा । उनके भाषण का सार, और अंतिम शब्द कुछ इस प्रकार थे—

"सज्जनो ! जिस इमारत को हम सालों के परिश्रम से खड़ी करते हैं, उसे अकसर हम अपने ही हाथों से गिरा देते हैं । क्या इसलिये कि हमें उस इमारत की ज़रूरत नहीं ? नहीं, इसलिये कि वह इमारत ख़तरनाक है, उसकी नीव कमज़ोर है, दीवारें टेढ़ी हैं । अभी कुछ ही दिनों पहले आपका यही बूढ़ा सेवक हिंदू-मुसलिम एकता के लिये अपीलें करता फिरता था । आज मैं इस ऐक्य पर ज़ोर नहीं देता, तो क्या इसलिये कि राष्ट्र को इसकी आवश्यकता नहीं रही ? नहीं इसलिये कि आज इसका समय नहीं । बलहीनों और शक्तिशालियों में सच्चा और स्थायी मेल नहीं हो सकता । आज आपकी सेवा में मैं आप ही की अपील लेकर उपस्थित हुआ हूँ । आज हिंदू-जाति का अस्तित्व ख़तरे में है । चारों ओर से हमारे ऊपर आक्रमण हो रहे हैं । जिधर देखिए लूटमार का बाज़ार गर्म है । आज हमारे धन और संपत्ति पर, हमारी स्त्रियों और बच्चों पर विजातियों की दृष्टियाँ लगी हुई हैं । क्या हम विवशता की दशा में खड़े हुए देखा ही करेंगे ? हमें ख़बरदार हो जाना चाहिए, अपनी शक्तियों को संगठित करना चाहिए, नहीं तो संसार से हमारी हस्ती भी उसी तरह उठ जायगी, जिस प्रकार यूनान और मिश्र—जैसी सभ्य जातियों के नाम मिट गये ।"

परिस्थिति के चक्कर में पड़कर ऐसा कट्टर राष्ट्रवादी, अंतर-जातीय ऐक्य का ऐसा ज़बरदस्त पक्षपाती इतना बदल सकता है, यही सबका आश्चर्य था । इस समय हिंदू-सभा के सदस्यों के हर्ष और उत्साह की सीमा न थी । जिन महानुभावों का संगठन के सिद्धांतों पर अभी तक पूरा विश्वास नहीं हुआ था, उनके हृदयों से अविश्वास की मात्रा जाती रही । किंतु वे इने-गिने राष्ट्रवादी, जिन पर हिंदू-सभा के कार्यकर्ताओं के किसी तर्क का प्रभाव न पड़ता था, विरोध के भाव से बराबर सिर हिलाते रहे ।

सभापति के भाषण के बाद सभा विसर्जित हुई ।

(२)

मौलाना एजाज़ हुसेन ने सामने बैठे हुए अधेड़ व्यक्ति के मुख पर अपनी तीव्र दृष्टि गाड़ दी, फिर एक क्षण के बाद पूछा—मियाँ ! अब तो आपके दिल में किसी क़िस्म का शक बाक़ी नहीं ?

उस व्यक्ति ने सिर हिलाकर कहा—नहीं जनाब, मुतलक़ नहीं ।

"मुझे यह सुनकर नेहायत ख़ुशी हुई । शक कुफ़्र का सबूत है । आप जो कारे-सवाब करने जा रहे हैं, वह अपने लिये नहीं दीन और मिल्लत के लिये, ख़ुदा और रसूल

के लिये। आपकी हालत पर फ़रिश्तों को भी रश्क होगा। जब तक आप ज़िंदा रहेंगे आपको माली, जिस्मानी, और रूहानी ऐश, और तस्कीन हासिल रहेगी, और मरने के बाद आपको जन्नत नसीब होगा, खुदा आपको अपने क़दमों में जगह देगा।"

उस व्यक्ति के हृदय पर आत्मोत्कर्ष का नशा छा गया। उसे अपने रग-रग में साहस और बल उमड़ता हुआ ज्ञात हुआ।

मौलाना साहब थोड़ी देर तक आँखें बंद किये हुए कुछ धीरे-धीरे पढ़ते रहे। फिर उन्होंने ज़बान खोली—खुदा इस अदम काम के लिये तुम्हें ताक़त और हिम्मत दे।

उस व्यक्ति ने दोनों हाथ ऊपर उठाकर कहा—आमीन!

इसके बाद मौलाना साहब उठ खड़े हुए, उस व्यक्ति से हाथ मिलाया, बग़लगीर हुए, और उसका मथ्था चूमा।

मौलाना साहब के विशाल भवन से निकलकर वह व्यक्ति अँधेरी गली में एक ओर वेग से चल पड़ा।

(२)

रात का एक बज चुका था। मुंशी भवानीशंकर अपने दीवानख़ाने में एक आरामकुर्सी पर लेटे हुए थे। घर के सारे प्राणी सो गये थे, किंतु उनकी आँखों को नींद न थी। जहाँ मनोभावों का आंदोलन हो, विचारों की धारा बह रही हो, वहाँ निद्रा का वास कहाँ? मुंशीजी के हृदय पर विजयोल्लास छाया हुआ था। आज वे एक विस्तृत भ्रमण के पश्चात् घर लौटे थे। इस दौरे में उन्हें जो अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई, उसके उपलक्ष में स्थानीय हिंदू-सभा ने उन्हें एक मानपत्र भेंट किया था। समर-भूमि से लौटे हुए विजयी सेनापति की भाँति उनका हृदय आह्लाद, गर्व और संतोष से आंदोलित हो रहा था। किंतु इन भावों के परदे में एक प्रकार की अशांति छिपी हुई थी। उन्हें ऐसा जान पड़ने लगा, मानो उनकी कोई अमूल्य वस्तु खो गई हो। इस अशांति का कारण था अपने वर्तमान कार्य-क्रम से एक प्रकार का अज्ञात असंतोष। असंतोष की मात्रा सरिता में बिंदु के समान थी। किंतु यह आश्चर्य का विषय था कि असंतोष की इस ज़री-सी खटक के सामने उनके हृदय का सारा आह्लाद, सारा गर्व, सारा संतोष दबा जाता था। एक-एक करके उनके नेत्रों के सम्मुख उस समय के चित्र आने लगे जब प्रत्येक जाति के लोग स्थान-स्थान पर उनका स्वागत करते थे, और हिंदुओं से अधिक मुसलमान उत्साह दिखाते थे। आज भी उनके स्वजातीय उसी उत्साह के साथ उनका स्वागत करते हैं, लेकिन मुसलमानों को आज उनकी सूरत से घृणा है। उन्हें संदेह होने लगा कि कहीं यह उनके पतन की दशा तो नहीं है, कहीं उनका दृष्टि-कोण संकुचित तो नहीं होगया, कहीं वे अपने उच्च आदर्श से गिर तो नहीं गये। नहीं, कदापि नहीं। वे आज भी वैसे ही कट्टर राष्ट्रवादी हैं जैसे एक वर्ष पूर्व थे। यद्यपि उन्हें यह स्वीकार करने में आपत्ति थी, तथापि उनके विशुद्ध अंतः-करण में कहीं यह भावना छिपी हुई थी कि उनका संदेह सत्य है। क्षय का रोगी वैद्य के पास जाने से इसलिये डरता है कि कहीं उसका संदेह सत्य न निकले! मुंशीजी इसी प्रकार के विचारों में व्यस्त लेटे थे। एकाएक उन्हें कमरे के बाहर बरामदे में किसी के धीरे-धीरे चलने की आहट मिली। वे सतर्क होकर अधखुले दरवाज़े की ओर देखने लगे। सहसा धीरे-से दरवाज़ा खोलकर एक व्यक्ति मुख पर नक़ाब डाले, दाहिने हाथ में रिवाल्वर लिये हुए कमरे में घुसा। मुंशीजी उछलकर खड़े होगये और कड़क-कर पूछा—तुम कौन हो?

आगंतुक ने निर्भीकता से उत्तर दिया—मौत का फ़रिश्ता! तुम्हारे करतूतों के लिये सज़ा देने आया हूँ। एक वक़्त था जब मैं भी तुम्हारा पैरो था, लेकिन आज तुम हमारे दीन और मिल्लत के दुश्मन हो। इसलिये आज अपने खुदा और रसूल के लिये तुम्हें कुर्बान करूँगा।

मुंशीजी का चेहरा क्रोध से लाल हो गया।

"गुमराह शख़्स! ठहर, तेरी बदज़बानी के लिये तुझे अभी सज़ा देता हूँ।" यह कहकर वृद्ध भवानीशंकर आगंतुक की ओर एक नवयुवक की भाँति लपके।

लेकिन क़ातिल के रिवाल्वर की गोली पहले ही चल चुकी थी। एक क्षण में सीने पर हाथ रक्खे हुए मुंशीजी फ़र्श पर गिरे और दम तोड़ दिया। पंचभूतों की क़ैद में पड़ा हुआ पक्षी, पिंजड़े का द्वार खुला पाते ही, अनंत साम्राज्य की ओर उड़ चला!

क़ातिल शव पर झुका। सीने से खून का फ़ौव्वारा छूट रहा था, किंतु मुख-मंडल पर पीड़ा के चिह्न न थे,

एक स्वर्गीय मुसकान नृत्य कर रही थी । सहसा अर्द्ध-चेतना की अवस्था भंग हुई, क़ातिल को अपने अमानुषीय कृत्य का सम्पूर्ण ज्ञान हुआ । वह एक अज्ञात आध्यात्मिक भय से काँप गया । उसे अपने चारों ओर अंधकार, निबिड़ अंधकार, आँधी के वेग से, बढ़ता हुआ दिखाई देने लगा । भविष्य का जो अलौकिक चित्र अभी कुछ ही क्षण पूर्व उसके नेत्रों के सम्मुख उपस्थित था इसी रहस्यमय अंधकार में छिप गया । वह शीघ्रता से कमरे से निकला, और एक क्षण में बँगले के बाहर हो गया ।

गोली की आवाज़ सुनते ही घर के सारे लोग जग पड़े। एक विचित्र कोलाहल आरंभ हो गया ।

(४)

पाँच वर्ष बीत गये । हिंदुओं और मुसलमानों का पारस्परिक विरोधोन्माद पूर्णतया शांत हो गया । राष्ट्रीय महासंघ ने अपने स्वर्गीय नेता मुंशी भवानीशंकर के नाम पर सार्वजनिक हित के लिये कई नई संस्थाओं को जन्म दिया । हिंदू-सभा ने कई धनाढ्य सेठों की सहायता से अपने जन्म-दाता की एक विशाल समाधि तैयार कराई । और उसी के निकट एक बृहत पुस्तकालय स्थापित किया । वर्ष में कई बार इस स्थान पर विराट राजनैतिक, साहित्यिक और सामाजिक सम्मेलन होते हैं जिनमें प्रत्येक जाति के लोग सम्मिलित होते हैं ।

आज मुंशी भवानीशंकर की छठवीं श्राद्ध तिथि थी । सारे दिन समाधि में मुंशीजी के स्वजनों, भक्तों, अनुयायियों और मित्रों का ताँता बँधा रहा । सारा भवन फूलों और हारों से पट गया ।

रात के दस बजे थे । वह सुसज्जित समाधि असंख्य दीपकों के अविरल प्रकाश से जगमगा रही थी । समाधि में एक वृद्ध चौकीदार के अतिरिक्त कोई न था । सहसा सामने के खुले फाटक से एक बूढ़ा फ़क़ीर गेरुए रंग का कंटोप लगाये, एक लाँबा कुरता और लुंगी पहने लाठी टेकता हुआ धीरे-धीरे अंदर घुसा । समाधि के समीप पहुँच कर वह संगमरमर की चिकनी सीढ़ियों पर बैठकर सुसताने लगा । एकाएक उस पर खाँसी का हमला हुआ । खाँसते-खाँसते फ़क़ीर का दम फूल गया । बड़ी देर के बाद जब उसका चित्त पूरी तरह शांत हो गया, तो फ़क़ीर धीरे-धीरे ऊपर गया, लाठी और झोली एक ओर रख दी, और बरामदे में चौखट के समीप घुटनों के बल बैठ गया। झोली से गेंदे के फूलों की एक माला निकालकर चौखट पर चढ़ाई, और फ़र्श पर सिर टेककर उसने प्रणाम किया । फिर दोनों हाथों को ऊपर उठाकर फ़क़ीर दुआ करने लगा—

"ऐ नेकदिल बुज़ुर्ग ! मुझे मुआफ़ कर । मैं जानता हूँ मेरा गुनाह क़ाबिल मुआफ़ी नहीं, लेकिन मुझे तेरी फ़राखदिली उमीद दिलाती है । मुझे माली और जिस्मानी ऐश की उमीदें दिलाई गई थीं, बिहिश्त का सब्ज़ दिखाया गया था । आज मुझे इनमें से एक भी हासिल नहीं । तंगदस्ती हुलिया तंग किये हुए है, बीमारियाँ दिनों-दिन कमज़ोर कर रही हैं । और बिहिश्त ? अगर मैं बिहिश्त का हक़दार हूँ, तो दुनिया का हर क़ातिल, हर मुजरिम बिहिश्त का हक़दार हो सकता है । मेरी रूह पुकार-पुकारकर कहती है कि मैं गुनहगार हूँ । अब मैं अपने को धोके में नहीं रख सकता । अफ़सोस ! मेरे ऊपर कैसा फ़रेब किया गया ! ऐ खुदा ! तू मेरे बहकानेवालों को सज़ा दे । नहीं, नहीं उन्हें अक़्ल दे ।"

फ़क़ीर की आँखों से अश्रुधाराएँ बह चलीं ।

राजेश्वरप्रसादसिंह

तुलसी और सूर के उपास्यदेव

तुलसीदास के संबंध में यह किंवदंती प्रचलित है कि एक बार वे एक कृष्ण-मंदिर में गये और कृष्णजी का सुन्दर स्वरूप देखकर वे प्रतिमा के सामने नत-मस्तक न हुए । वरन कहने लगे—'तुलसी मस्तक जब नवै, धनुपबाण लेव हाथ ।' कहा जाता है तुरंत ही उस प्रतिमा की वेश-भूषा परिवर्तित होगई और कृष्ण के स्थान में धनुपबाणयुक्त राम की प्रतिमा दृष्टिगोचर हुई ।

इस किंवदंती में अधिक मार्के की बात यदि कोई है, तो वह यह है कि तुलसीदासजी के उपास्यदेव राम थे अतएव कृष्ण को वे अपना इष्टदेव नहीं मानते थे और सूरदास के उपास्यदेव कृष्ण थे और वे राम को अपना नायक नहीं मानते थे । भक्त-प्रणाली की उपासना के

अनुकूल भी यह बात नितांत स्वाभाविक है। कबीरदासजी कहते हैं :—

> या दुनिया में आय के कीन्हें बहुतक मित ;
> जिन दिल बांधा एक से वे सोये निश्चित।

वास्तव में भक्ति एक ही के प्रति हो सकती है। श्रद्धा एक ही के प्रति हो सकती है। प्रेम एक ही के प्रति हो सकता है। इससे यह न समझना चाहिए एक को दूसरे के इष्टदेव से वैमनस्य था। अथवा एक दूसरे के देव के प्रति अश्रद्धा थी। इसका सबसे प्रत्यक्ष उदाहरण यह है कि सूरदास ने तुलसी के अभीष्ट देव राम पर सूर-रामायण लिखी और तुलसी ने सूर के अभीष्ट देव कृष्ण पर कृष्ण-गीतावली लिखी। इन दोनों पुस्तकों को भली-भाँति हृदयंगम करके साफ़ पता चल जाता है कि एक ने दूसरे के प्रति कैसी भावनाएँ प्रकट की हैं। दोनों ने बड़ी श्रद्धा और पवित्रता दिखाई है और फिर भी अंतर है। सूर-रामायण भर पढ़ जाइए कहीं भी सूरदास ने यह नहीं लिखा कि राम मेरे प्रभु हैं। अपना प्रभु, अपना स्वामी, अपने अभीष्ट देव इत्यादि शब्दों से कहीं भी सूर ने सूर-रामायण में राम को सम्बोधित नहीं किया।

तुलसीदासजी ने इनसे भी अधिक पटुता दिखाई है। वे और भी दक्ष हैं। सूर चाहे कहीं-कहीं पर प्रेम के आवेश में आकर राम में कृष्ण देखकर कुछ बदली हुई बातें भी कर जायँ, परंतु तुलसी ऐसा कभी नहीं करते। सूरदास के उद्गारों में बहुत से ऐसे स्थान हैं जहाँ पर प्रेम के आवेश में आकर उन्हें कई स्थानों पर भ्रम-सा हो गया है। उदाहरणार्थ उनका प्रसिद्ध पद हम नीचे देते हैं :—

> खंजन नैन रूप रसमाते
> अतिसै चारु चपल, अनियारे
> पल पिंजरा न समाते ;
> चलि-चलि जात निकट स्रवनन के,
> उलटि-उलटि ताटंक बढ़ाते।
> सूरदास अंजन गुन अटके,
> नातरु अब उड़ि जाते।

कहा जाता है कि यह पद्य तुलसीदास के समक्ष अंत-काल के समय सूरदासजी ने कहा था। पंचत्व के समय उनके नेत्रों से अनायास अश्रुपात होने लगा। इस पर तुलसीदासजी ने पूछा कि आपके नेत्रों की वृत्ति कहाँ है। इसके उत्तर में ऊर्ध्व-लिखित पद्य सुनाकर सूरदासजी ने इस असार संसार से सर्वदा के लिए नेत्र बंद कर लिए।

परंतु प्रश्न यह होता है कि ये खंजन नैन हैं किसके? यदि सूरदास ने अपने नेत्रों को खंजन नैन कहा और इसके बाद जितने विशेषण हैं अपने लिये कहे, तो नितांत अनुचित-सा प्रतीत होता है। वह सम्भवतः ताटंक पहनते भी न होंगे और न सूर अपने नेत्रों में अंजन ही लगाते थे। फूटी आँखें चपल और अनियारी भी नहीं हो सकतीं अतएव उन्होंने अपने नेत्रों के लिये तो कभी न कहा होगा। कुछ लोग कहते हैं कि खंजन नैन कृष्णजी के नेत्रों के लिये आया है। उनका अर्थ वे यों करते हैं कि कृष्णजी के नेत्र उनके रूप में स्वयं मस्त थे। उनके 'कानन-चारी' नेत्र चपलता के कारण ताटंक तक चक्कर लगाकर फिर लौट आते थे। ख़ैर, यदि मान लिया जाय कि कृष्णजी के नेत्रों को ही सम्बोधित किया गया है, तो प्रश्न यह उठता है कि जिस प्रसंग में यह पद्य कहा गया है उस प्रसंग में कहाँ तक यह अर्थ न्यायसंगत होगा। तुलसी-दासजी ने ही उनके नेत्रों की वृत्ति के संबंध में पूछा था, परंतु उन्हें कृष्णजी के नेत्रों की प्रशंसा करने लगने की क्या आवश्यकता थी। अपने नेत्रों की वृत्ति के संबंध में कुछ न कहकर कृष्णजी के नेत्रों की प्रशंसा करना प्रसंग-प्रतिकूल-सा प्रतीत होता है। और पुनः अपने नेत्रों का अपने ही स्वरूप पर मस्त हो जाना माननीय व्यक्तियों के संबंध में भले ही उपयुक्त कल्पना समझी जाय। परंतु भगवान् कृष्ण के ये नेत्र हैं। यह भी समझ लेना चाहिए कि उनके नेत्रों के संबंध में यह कहकर कि वे उन्हीं के रूप में मस्त हैं हम उन्हें आदर्श चित्रण से गिरा देते हैं। और फिर यदि अंजन के लासे में फँसे न होते, तो शायद उड़कर भी चले जाते। यह बात भी अखरती है। एक ओर तो रूप में मस्त हैं दूसरी ओर केवल 'अंजन गुन' के ही कारण उन्हें फँसा दिखाया है अन्यथा वे उड़ जाने के लिये प्रस्तुत हैं। इन सब कारणों से यह स्पष्ट है कि 'खंजन नैन' कृष्ण के नहीं माने जा सकते अन्यथा अर्थ-चमत्कार नष्ट होता-सा दिखाई देता है। अतएव यदि वास्तव में प्रसंगानुकूल अर्थ दिखाया जाय और जिससे चमत्कार भी नष्ट न हो, तो इसे मानना पड़ेगा कि नेत्र कृष्णजी के तो तुलसीदासजी के समक्ष हैं, परंतु वर्णन अपने नेत्रों का करते हैं। भक्ति में, रूप-रस में, सगुणो-

पासना में सूरदास इतने ओतप्रोत रहते थे कि कुछ भी वर्णन करें उन्हें कृष्ण का सौंदर्य सामने आ जाता था। अपने नेत्रों की वृत्ति के ही संबंध में वे कहते हैं कि वे 'रूप-रस माते' हैं। परंतु नेत्रों का जो विशेषण प्रथम पंक्ति में लगा दिया है वह कृष्णजी के नेत्रों का है। दूसरी पंक्ति के सारे विशेषण कृष्णजी के ही नेत्रों के हैं। और उनके नेत्रों के सौंदर्य की ही चर्चा है, परंतु इनके द्वारा सूरदासजी अपने नेत्रों की भी 'चक चकाहट' तथा सुंदर दर्शनों द्वारा प्रसन्नपीनता दिखाते हैं जिसके कारण वे 'पल पींजरे' में नहीं 'समाते' तीनों पंक्तियों में भी पूर्व भाग में भी कृष्णजी के नेत्रों का सौंदर्य सामने है, परंतु ताटंक के फंदे की चरचा यहाँ बहुत ही सुंदर है। वह कृष्ण के सगुण स्वरूप का चिन्ह है। उसी में ये नेत्र फँसे-से हैं। या यों कहिए उनको देख करके भी केवल लौट आते हैं, उड़ नहीं जाते। वास्तव में अंतिम पंक्ति बहुत मार्के की है। अंजन काला होता है। कृष्ण की सूरत भी कृष्ण है। सूरदासजी का कहना है कि यह मेरा अंतिम समय है। मेरे नेत्र कृष्ण की साँवली सूरत में फँसे हुए हैं अतएव वह प्रभु के वासना में इतने व्यस्त हैं कि अब वहाँ से उड़कर कहीं अंत नहीं जा सकते। अर्थात् यह केवल अंजन का गुण है (अर्थात् साँवले कृष्णजी के प्रति प्रेम का ही प्रभाव है) कि मेरे नेत्रों की उधर वृत्ति है वरना इस संसार में मेरा और कोई लगाव नहीं और वे नेत्र न जाने कहाँ चले जाते। यह केवल कृष्णजी की सुंदर मूर्ति ही है जो मुझे फाँसे है।

इस छंद को यहाँ उद्धृत करने का मेरा केवल यही अभिप्राय था कि सूरदासजी बहुधा अपने इष्टदेव के प्रेम में इतना मस्त हो जाते थे कि संसार में वही वह दीखता था। अतएव कभी-कभी रामचंद्रजी की प्रशंसा में भी वह राम में कृष्ण देखकर ऊँचे उठ गये हैं। परंतु इसमें यह न समझना चाहिए कि राम उनके अभीष्ट देव की उपासना के पात्र कभी भी थे। इन दोनों महारथियों का उपासनामार्ग भिन्न है। एक अपने भगवान् का दास है। उसकी शान के खिलाफ़ एक शब्द भी कहना पाप समझता है। दूसरा सखा-भाव मार्ग का भक्त है। वह अपने उपास्यदेव को मित्र समझता है। उसको आदरणीय मित्र समझता है। उससे भक्ति माँगता है। उससे पाप दूर करने का आग्रह करता है। उनसे लड़ जाता है। उन पर आवाज़े तवाज़े करने लगता है। तुलसीदास की सब रचनाएँ पढ़ जाइए आपको स्थान-स्थान पर तुलसीदास रोक-रोककर यह बतलाते हैं कि उनके रामचंद्रजी भगवान् का अवतार हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश उनके अनुचर हैं। सारी सृष्टि उनकी आज्ञा मानती है। परंतु सूरदासजी का मार्ग यह नहीं। वे विषयांतर करके अपने उपास्यदेव के प्रति मौक़े बे मौक़े रुककर नेवाज़ पढ़ने लगने के आदी नहीं। कुछ लोगों को तुलसीदासजी का स्थान-स्थान पर विषयांतर हो जाना बहुत खटकता है। उन्हें तुलसीदासजी की कविता में यह एक बड़ा भारी दोष दीखता है। वास्तव में पुनरुक्ति दोष तो बिलकुल स्पष्ट है। दो-एक उदाहरण देकर हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे।

रामजी का बाल-सौंदर्य वर्णन कर रहे हैं। ऊपर पंक्ति में लिखा है—

कौशिल्या जब बोलन जाई, ठुमुकि-ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई।

इसी के बाद तुलसीदासजी कहते हैं—

निगम नेति शिव अंत न पावा, ताहि धरहि जननी हठि धावा।

और फिर आगे की पंक्ति में धूसरि धूरि इत्यादि कहकर फिर बाल-सौंदर्य का वर्णन किया है। परंतु बीच में यह एक अप्रासंगिक पंक्ति अपने अभीष्ट देव के लिये डाल दी। सम्भवतः उन्हें स्थान-स्थान पर यह भय हो जाया करता था कि कहीं साधारण लोग उनके अभीष्ट देव को साधारण मनुष्य न समझ लें क्योंकि उनका चरित्र माननीय है।

मारीच के पीछे दौड़ते हुए भी वह राम का दशरथ का पुत्र नहीं रहने देते वह कह देते हैं—

निगम नेति जेहि ध्यान न पावा, माया-मृग पीछे सो धावा।

सीता के विलाप करते समय भी तुलसीदास को यह आशंका उठती है कि कहीं लोग उनका असली स्वरूप भूल न जायँ अतएव वह फिर याद दिलाते हैं कि रामचंद्रजी मानव-चरित्र दिखा रहे हैं। सारी रामायण भर में ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं।

परंतु तुलसीदासजी की प्रत्येक पंक्ति भक्ति से इतनी सराबोर रहती है, प्रत्येक पंक्ति में रामजी की इतनी ज़बरदस्त छाप रहती है कि इस प्रकार के विषयान्तर का पाठक को पता भी नहीं रहता और वह उसे प्रसंग का एक अंग समझता है। अन्यथा यह बड़ा भारी दोष हो जाता। सूरदासजी में यह बात नहीं। उनका उपास्यदेव उनका आदरणीय मित्र (सखा) है। वह यह बत-

जाने की स्थान-स्थान पर चेष्टा नहीं करते कि वह त्रिभुवन-नायक है। वह तो स्वयं उसे एड़ी-बेड़ी सुनाते हैं। तुलसीदास कभी भी इस बात को गँवारा नहीं कर सकते थे। उनकी भावुकता नियंत्रित है। उनके उद्‌गार अनुशासित हैं। वह सेवा-धर्म की गहनता समझते हैं। सेवा-धर्म में स्वामी की ओर आँख उठाकर देखना भी पाप है। भरतजी और राम-मिलन में तुलसीदास ने वास्तव में अपनी भक्ति का आदर्श समक्ष रक्खा है। उनके उद्‌गार शिष्ट और नागरिक हैं। परंतु सूरदास में यह बात नहीं। वे तो अपने उपास्यदेव के गले पड़ते हैं। उससे लड़ने लगते हैं।

''आजु मैं एक एक कै टरिहौं'
कै हमहीं कै तुमहीं माधो अपुन भरोसे लरिहौं'' ;

यही नहीं कहीं तो 'खंजन नैन' रूप रस माते हैं और कहीं कहते हैं—

''सखी री स्याम सबै इकसार ;
मीठे वचन सोहाये बोलत, अंतर जारनहार।
* * *
भँवर, कुरंग काग अरु कोकिल, कपटिन की चटसार।''

''सखीरी, स्याम कहा हितु जानै ?
कोऊ प्रीति करौ कैसेहू, वह अपने गुन ठानै।
देखौ या जलधर की करनी, बरषत पोषै आनै ;
'सूरदास—'सरवसु जो दीजै, कारो कृतहि न मानै''

''ऊधो, कारे सबहि बुरे
कारे की परतीति न कीजै, विष के बुते छुरे।
कारो अंजन देत दृगन पै, तीखो सान धरे ;
नाग नाथ करि बाहर आए फन पर निरत करे।''
इत्यादि।

डसीसी भाई स्याम-भुअंग ए कारे
मोहन—मुख मुसकानि मनहुँ बिष, जाति मरे सो मारे।
फुरे न मंत्र जंत्र गति नाहीं, चले गुनी गुन डारे,
प्रेम-प्रीति-बिष हिरदै लागी, डारत है तनु जारे ;
निर्बिष होत नहीं कैसेहु करि, बहुत गुनी पचि हारे,
'सूर' स्याम गारुड़ी बिना को, मो सिर गाड़ टारे ?

यही नहीं जो चुटीलापन, जो व्यंगोक्ति, जो गड़गड़ाहट जो कसमसाहट सूरदास के भावों में है तुलसीदास में नहीं है। मैंने ऊपर ही कहा है कि तुलसीदास अधिक नियंत्रित और अनुशासित भावनाओं को व्यक्त करते थे। सूरदास की 'तड़पन' में परिमार्जन करने की वह शैली नहीं है जो तुलसी में है। कारण वही है जो ऊपर कहा गया है—दोनों की उपासना का दृष्टिकोण पृथक् है। सूरदास नेत्रों की लड़ाई का कैसा चित्र देते हैं—

''नैना नाहीं कछू बिचारत ;
सनमुख समर करत मोहन सों, जद्यपि हैं हठि हारत,
अवलोकत अलसात नवल छबि, अमित तोष अति आरत ;
तमकि-तमकि तरकत मृगपति ज्यों, घूँघट-पटहि बिदारत'',

दूसरा बड़ा अंतर इन कवियों में यह है कि जितनी अधिकता से सूरदास ने अलंकारों का उपयोग किया है तुलसीदास ने नहीं किया। कूट लिखना, अत्यंत क्लिष्ट कल्पना करना, क्लिष्ट रूपक बाँधना सूरदास के बाएँ हाथ का खेल है। तुलसीदास ने रूपकों का आश्रय रामायण में तथा अन्य ग्रंथों में यत्र-तत्र, विनयपत्रिका में अधिक तथा कृष्णगीतावली में सबसे अधिक प्रयोग किया है। परंतु उनके रूपक क्लिष्ट नहीं। सूरदास के अत्यंत क्लिष्ट हैं। यद्यपि सुंदरता में तुलसीदास के भी रूपक सूरदासजी से कम नहीं हैं। यह बात विचार करने की है। कृष्णगीतावली इतना छोटा ग्रंथ होने पर भी रूपकों से परिपूर्ण है। मानो तुलसीदास यह समझते थे कि सूरदास के उपास्यदेव रूपकों से अधिक संतुष्ट होते हैं। अथवा उन्होंने सूर की लेखन-प्रणाली के अनुकूल ही कृष्णगीतावली रची।

मैंने ऊपर यह कहा है कि सूरदास की भाषा अधिक अलंकारिक और अधिक अस्पष्ट है। परंतु इससे यह न समझना चाहिए कि उनके पदों में लालित्य का अभाव होता था। उनके पदों में स्थान-स्थान पर काव्य-कला की छटा दृष्टिगत होती है। इतने सुंदर शब्दों का एकीकरण शायद ही संसार के किसी व्यक्ति ने किया हो। उदाहरण के लिये दो-चार पद नीचे दिए जाते हैं।

''अतिहि अरुन हरि, नैन तिहारे ;
मानहु रति-रस भए रँगमगे, करत केलि पिय पलक न पारे,
मंद-मंद डोलत संकित से, राजन मध्य मनोहर तारे ;
मनहुँ कमल संपुट महँ बींधे, उड़ि न सकत चंचल अलिवारे,
झलमलात, रतिरैनि जनावत, अति रस-मत्त भ्रमत अनियारे ;
मानहु सकल जगत जीतन को, कामबान खरसान सँवारे।
अटपटात, अलसात, पलक-पट, मूँदत, कबहूँ करत उघारे।
मनहुँ मुदित मरकत-मनि-अंगन, खेलत खंजरीट चटकारे,

बार-बार अवलोकि कनखियन, कपट-नेह मन हरत हमारे ;
'सूर' स्याम सुखदायक रोचन, दुख मोचन लोचन रतनारे ।"

नेत्रों के सम्बन्ध में कैसी अनूठी उक्ति है—

"नैना नाहीं कछू बिचारत ;
सनमुख समर करत मोहन सों, जद्यपि हैं हठि हारत ।
अवलोकत अलसात नवल छवि, अमित तोष अति आरत ;
तमकि-तमकि तरकत मृगपति ज्यों, घूँघट-पटहि बिदारत ।"

एक कूट का भी उदाहरण देखिए—

"जनि हठ करहु सारँग-नैनी
सारँग ससि सारँग पर सारँग, ता सारँग पर सारँग बैनी ।
सारँग रसन दसन गुनि सारँग, सारँग सुत दृढ़ निरखनि पैनी ;
सारँग कहीं सुमौन बिचारो, सारँग-पति सारँग रचि सैनी ।
सारँग सदनहिं लै जु बइन गए, अजहुँ न मानत गत भइ रैनी ।
'सूरदास'—प्रभु तब मग जोवैं, अधक रिपु ता रिपु सुखदैनी",

इन पदों के जोड़ के तुलसीदासजी के पास कोई पद्य नहीं है । हाँ, यह अवश्य है कि कृष्णगीतावली में तुलसीदास ने भी इसी प्रकार की रचना की है । कूट लिखने का प्रयास तुलसीदासजी ने बहुत कम किया है । उनके कूट बहुत ही कम हैं । कूट लिखने में सूर की समता यदि कोई कर सकता है, तो कबीर । अन्य कोई कवि कूट लिखने में सूर की समता नहीं कर सकता ।

तुलसीदासजी के बहुत से छंद ऐसे हैं जो मालूम होता है कि सूरदास के रूपान्तरमात्र हैं । बहुतों के तो प्रथम चरण वेही रखे हैं । बहुतों में भावों की भिन्नता होगई है । ऐसे छंद गीतावलीमें कम परंतु विनयपत्रिका में बहुत अधिक हैं ।

सूरदास के उन छंदों की चरचा हमें यहाँ करना अभीष्ट नहीं जिनमें तुलसी की समता है, इस विषय पर पर्याप्त लिखा जा चुका है । यहाँ अनायास हमें एक पद स्मरण आगया जिसका भाव तुलसी के भाव से बहुत ही मिलता है । वह संतों के प्रति श्रद्धा के संबंध में है:—

"जा दिन संत पाहुने आवत ;
तीरथ कोटि अन्हान करे फल, जैसो दरसन पावत ।
नेह नयो दिन दिन-प्रति उनको, चरन-कमल चित लावत ;
मन-बच-कम औरन नहिं जानत, सुमिरत औ सुमिरावत ।
मिथ्या-बाद-उपाधि-रहित हैं, बिमलि-बिमलि जस गावत ;
बंधन करम कठिन जो पहिले, सोऊ काटि बहावत ।"

इसी प्रकार निम्न-लिखित दो छंदों में भी तुलसीपन दृष्टिगत होता है—

"प्रीति करि काहू सुख न लह्यो
प्रीति पतंग करी दीपक सों, अपनी देह दह्यो ।
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों संपति हाथ गह्यो ;
सारँग प्रीति जु करी नाद सों, सन्मुख बान सह्यो ।
हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत न कछू कह्यो ;
'सूरदास' प्रभु बिनु दुख दूनो, नैननि नीर बह्यो ।"

परंतु एक बात में सूर और तुलसी में आकाश-पाताल का अन्तर है । इसका भी कारण वही है कि दोनों महानुभावों की उपासना-प्रणाली में भारी अंतर है । एक अपने आराध्य देव का सेवक है । वह उसके सम्मुख अथवा उसकी शान में कोई भी ऐसी बात नहीं कह सकता जिसमें शृंगारिकता का भद्दापन आ जाय । वह तो उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकते । वास्तव में तुलसीदास ने किसी भी ग्रंथ में, शृंगार में अश्लीलता नहीं आने दी । उनके क़रीब-क़रीब सभी ग्रंथ मैंने ग़ौर से पढ़े हैं । दो-चार स्थानों के अतिरिक्त उन्होंने कहीं भी शारीरिक सौंदर्य-वर्णन में शिष्टता की कड़ी शृंखला शिथिल नहीं की । उनका शृंगार-वर्णन वास्तव में बड़ा सुन्दर और गुप्त है । वर्णन-कला संपूर्ण रूपेण परिपूर्ण है । उन्होंने रामायण में एक स्थान पर सीताहरण-काल के समय लिखा है—

"खंजन सुक कपोत मृग मीना । मधुप निकर कोकिला प्रबीना ॥
कुन्दकली दाड़िम दामिनी । सरद-कमल ससि अहि भामिनी ॥
बरुन पास मनोज धनु हंसा । गज केहरि निज सुनत प्रसंसा ॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं । नेकु न संक सकुच मन माहीं ॥
सुन जानकी, तोहि बिनु आजू । हरषे सकल पाइ जनु राजू" ॥

इसी भाव से मिलते-जुलते सूरदास के भी कुछ भाव हैं । हम सूर-रामायण से वह भी छंद उद्धृत करते हैं ।

'सुनो अनुज यहि बन इतननि मिलि जानकी प्रिया हरी ।
कछु इक अंगनि की सहिदानी मेरी दृष्टि परी ॥
कटि केहरि, कोकिल बानी, अरु शशिमुख प्रभा खरी ।
मृगमरती नैननि की सोभा जाय न गुप्त करी ॥
चंपक बरन बरन कमलनि की, दाड़िम दसन लरी ।
गति मराल अरु बिंब अधर छबि अहि अनूप कबरी" ॥

इस अवतरण के देने का हमारा यह अभिप्राय नहीं कि हम यह दिखाना चाहते हैं कि इस अवतरण में अश्लीलता है । सूरदास के सभी पद शृंगार का भद्दापन नहीं लिये हैं । उनके अधिकांश पद अच्छे और उच्चकोटि का शृंगार वर्णन करते हैं, परंतु कहने का तात्पर्य यह है कि

उनके ऐसे भी काफ़ी पद हैं जो साधारण दृष्टि से अश्लीलता की परिधि को छूते दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने भक्ति के श्रृंगारिक ढंग के वर्णन में सांसारिक श्रृंगार का बहुत आश्रय लिया है। और उनके उपास्यदेव तो उनके सखा थे। अतएव उनसे उन्हें कुछ भय भी न था। सूरदास के ऐसे अनेक छंद हैं जहाँ श्रृंगारिकता की अश्लीलता दृष्टिगत होती है। हम उदाहरण स्वरूप केवल एक छंद देते हैं। इसमें बहुत कुछ छिपे तौर से वर्णन किया गया है। परंतु तो भी बहुत कुछ स्पष्ट है—

नीबी ललित गही हरि राई

जबहिं सरोज धरो श्रीफल पर, तब जसुमति गइ आई;
ततछन रुदन करत मनमोहन, मन में बुधि उपजाई।
देखो ढीठ, देति नहिं माता, राखो भेद चुराई;
काहे को झकझोरत नोखे, चलहु न, देउ बताई।
देखि बिनोद बाल-सुत को तब, महरि चली मुसकाई;
'सूरदास' के प्रभु की लीला को जाने इहि भाई।

यहाँ पर 'सरोज' और 'श्रीफल' चाहे जितने सांकेतिक शब्द क्यों न हों परंतु अश्लीलता स्पष्ट है। इस छंद से सूर के देव का चरित्र ऊँचा होने की अपेक्षा गिरा हुआ दिखाई देता है। चालाकी, दुनियादारी, फरेब इत्यादि नैतिक गुण नहीं हैं, अतएव किसी प्रकार से यह पद्य कृष्णजी के चरित्र को उज्ज्वल नहीं करता।

तुलसीदासजी ने जहाँ कहीं श्रृंगार लिखा भी है तो वहाँ भी अपने नायक अथवा नायिका को कहीं नहीं लथेड़ा। सबसे निम्न-कोटि का तुलसीदासजी का श्रृंगार 'रामलला नहछू' में दृष्टिगत होता है। उसका भी उदाहरण हम नीचे देते हैं।

"बनि-बनि आवत नारि जानि गृह मायन हो,
बिहँसत आउ लोहारिनि हाथ बरायन हो।
अहिरिनि हाथ दहेंड़ि सगुन लेइ आवइ हो,
उनरत जोबनु देखि नृपति मन भावइ हो।
रूप सलोनि तँबोलिनि बीरा हाथहि हो,
जाकी ओर बिलोकहिं मन तेहि साथहि हो।
दरजिनि गोरे गात लिहे कर जोरा हो,
केसरि परम लगाइ सुगंधन बोरा हो।
मोचिनि बदन-सकोचिनि हीरा माँगन हो,
पनही लिहे कर सोभित सुंदर आँगन हो।
बतिया के सुघरि मलिनिया सुंदर गातहि हो,
कनक रतन मनि मौर लिहे मुसुकातहि हो।
कटि के छीन बरनिआँ छाता पानिहि हो,
चंद्रबदनि मृगलोचनि सब रसखानिहि हो।
नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो,
देइ गारी रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो।
नाउनि अति गुनखानि तो बेगि बोलाई हो,
करि सिंगार अति लोन तो बिहँसति आई हो,
कनक-चुनिन सों लसित नहरनी लिये कर हो।
आनंद हिय न समाइ देखि रामहि बर हो,
काहे रामजिउ साँवर, लछिमन गोर हो,
कीदहुँ रानि कौसिलहि परिगा भोर हो,
राम अहहिं दशरथ के लछिमन आनक हो।
भरत सत्रुहन भाइ तो श्रीरघुनाथ कहो।"

ऐसा श्रृंगार तुलसीदास ने अन्यत्र किसी ग्रंथ में व्यक्त नहीं किया। परंतु इस स्थान में देखने की बात यह है कि उस समय नीच जातिवालों की भी कैसी स्थिति थी। मोचिन को आँगन तक आने का अधिकार था। धन-धान्य से प्रजा परिपूर्ण थी। नीच लोगों में भी इतना सौंदर्य था कि बड़े-बड़े लोग उस पर मुग्ध होते थे। परंतु इन छंदों में तुलसीदास ने अपने अभीष्ट देव को नहीं घसीटा। राम और लक्ष्मण किसी महिला के सौंदर्य से विमोहित नहीं हुए। इन अवतरणों से तुलसीदास की ज्ञानकुशलता का भी पता चलता है। जिन लोगों का यह ख्याल है कि तुलसीदास निरानिर साधु थे उन्हें भी यह जान लेना चाहिए कि तुलसीदास को रस्म-रिवाज़ों का कितना अधिक ज्ञान था। अब इस स्थान पर सूरदास का श्रृंगारिक एक पद और देकर अवतरणों को समाप्त करते हैं—

सबै रहीं जल माँझ उघारी

बार-बार हा-हा करि थाकीं, मैं तट लिये हँकारी,
आई निकसि बसन बिनु तरुनी, बहुत करी मनुहारी।
कैसे हास भए तब सबके, सो तुम सुरति बिसारी,
हमहिं कहति दधि-दूध चुराए, अरु बाँधे महतारी?
'सूर' स्याम के भेद-बचन सुनि, हँसि सकुची ब्रजनारी।

कुछ लोग सूरदास के इस दोष से उनकी रक्षा करने के लिये कहते हैं कि सूर और तुलसी के नायकों में भेद होने के कारण सूर इस प्रकार की श्रृंगारिक छटा

दिखाने के लिये बाध्य थे। उनका कहना है कि कृष्णजी का चरित्र ही इस प्रकार का है। सूरदास उसको अन्य प्रकार से प्रकट ही नहीं कर सकते थे। कवि को प्रस्तुत विषय में उतना ही हेर-फेर करने का अधिकार है जितने में पात्रों की ऐतिहासिकता में बाधा न पड़े। तुलसीदास के नायक मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र थे। उनका चरित्र उसी प्रकार का वाल्मीकीय रामायण में भी है और अध्यात्म-रामायण में भी। राम उसी प्रकार से वर्णित हैं जैसा तुलसी ने अनुकरण किया है। अतएव इसमें कवियों के गुण-दोष न होकर नायकों का ही स्वभाव आचार की अनुकूलता ही शृंगारिकता का कारण है। हम इस दलील से बिलकुल सहमत नहीं। सूरदास को पूरी आज़ादी थी कि वह राम के ऊपर ही कविता करते। उनको कृष्ण-भक्त होने के पहले रामचरित्र का भी अनुशीलन कर लेना चाहिए था। अतएव यह सिद्ध है कि उन्होंने अपने रुचि के अनुकूल ही अपने लिये अभीष्ट देव चुना। और फिर यह भी ध्रुव सत्य नहीं कि कृष्ण का चरित्र और शील प्राचीन ग्रंथों में ऐसा ही है कि उनके लिये अश्लील शृंगार का आश्रय लेना परमावश्यक था। श्रीमद्भागवत का ही केवल हवाला दिया जा सकता है। परंतु हमें पूर्ण विश्वास है कि गीता के उपदेशक श्रीकृष्णचंद्र का चरित्र बहुत ही आध्यात्मिक ढंग से लिखा जा सकता है। प्रेम की वेदी पर शृंगारिक वासना को पहले भेंट चढ़ा देना चाहिए। यह भी बात भ्रमोत्पादक है कि कवि को इतनी स्वतंत्रता नहीं कि वह अपने नायक को आदर्श न बना सके। इस प्रसंग में हम गोस्वामी तुलसीदास का एक उदाहरण देकर यह बतलाने की चेष्टा करेंगे कि स्वामीजी ने अपने पात्रों में सौंदर्य और विशेषता लाने के लिये वाल्मीकि-रामायण और अध्यात्म-रामायण से कथा-प्रसंग में मत-भेद कर लिया। आज कोई भी आलोचक तुलसीदास को इस परिवर्तन के लिये दोषी नहीं ठहराता वरन् उनकी प्रशंसा करता है।

कौशल्या का चरित्र वाल्मीकि-रामायण और अध्यात्म-रामायण में उतना सुंदर नहीं है। उन दोनों रामायणों में कौशल्या ज़हर खाकर आत्म-हत्या करने का भय दिखाकर पुत्र को पिता की आज्ञा से परांमुख करना चाहती हैं। परंतु तुलसीदास की कौशल्या सुंदर और शीलवती हैं। दशरथ की मृत्यु के समय अध्यात्म-रामायण की कौशल्या क्या कहती हैं—

कैकेय्यै प्रियभार्यायै प्रसन्नो दत्तवान्वरम् ।
त्वं राज्यं देहि तस्यैव मत्पुत्रो किं विवासितः ॥
कृत्वा त्वमेव तत्सर्वमिदानीं किं तु रोदिषि ।
कौशल्या वचनं श्रुत्वा क्षते स्पृष्ट इवाग्निना ॥
ततः शोकाश्रुपूर्णाक्षः कौशल्यामिदमब्रवीत् ।
दुःखेन म्रियमाणं मां किं पुनर्दुःखयस्यलम् ॥
इदानीमेव मे प्राणा उत्क्रमिष्यंति निश्चयः ।

वाल्मीकिजी की कौशल्या की उक्तियाँ सुनिए—

तत्र त्वं मम नैवासि रामश्च वनमाहितः ।
न वनं गंतुमिच्छामि सर्वथा हा हता त्वया ॥
सा त्वं धर्मपरा नित्यं दृष्टलोकपरावरा ।
नार्हसे विप्रियं वक्तुं दुःखितापि सुदुःखितम् ॥

× × ×

जानामि धर्मं धर्मज्ञ त्वां जाने सत्यवादिनम् ।
पुत्रशोकार्तया तत्तु मया किमपि भाषितम् ॥

अब पाठक स्वयं विचार करेंगे कि तुलसीजी की कौशल्या इनसे कितनी ऊँची और शीलवती हैं। क्या यह परिवर्तन करके तुलसी ने अपने पात्र को अधिक उज्ज्वल और आदर्श नहीं बना दिया? इसी प्रकार अन्य पात्रों में भी परिवर्तन करके तुलसीदास ने उन्हें सुंदर कर दिए हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सूरदास स्वयं जिस प्रकार का चरित्र कृष्ण को दिखाना चाहते थे वैसा ही दिखाया है। उनको वैसा ही दिखाना अभीष्ट भी था। और इसीलिये उन्होंने सखाभाव-प्रणाली की उपासना का भी आश्रय लिया। अतएव उनकी रचना में उपासना-अवरोध का दोष भी नहीं लगाया जा सकता। सूरदास तुलसीदास की भाँति विद्वान् न थे। सूरदास को उद्गार और कल्पना का ही सहारा था। तुलसीदास के पास इन दोनों तत्वों के अतिरिक्त 'बुद्धि' तत्व भी प्रचुर मात्रा में उपस्थित था। इसी कारण हमारी यह पूर्ण धारणा है कि सूरदास प्रबंध-काव्य कभी भी ठीक-ठीक न लिख सकते थे। प्रबंध-काव्य लिखने में बुद्धितत्त्व की ही पूर्ण आवश्यकता पड़ती है। स्फुट छन्द और खंड-काव्य रच देने में उतनी अधिक मात्रा में उनकी आवश्यकता नहीं। परंतु रागात्मक और कल्पनात्मक तत्व में सूरदास तुलसी से किसी दशा में कम न थे। बहुत गहरे पहुँच जाना और

बहुत ऊँची उड़ान मारना उनके लिये बिलकुल साधारण बात थी। कल्पना का बाहुल्य उनमें प्रत्येक स्थान पर दृष्टिगत होता है। परंतु जैसा ऊपर कहा गया है सूर में बुद्धि-तत्त्व की तुलसी की अपेक्षा कमी होने के कारण वे प्रबंध-काव्य न लिख सकते थे। रामायण लिखने में इसी कारण सूरदासजी को सफलता नहीं मिली। उनकी प्रबंध-रचना में बहुत से दोष आ गये हैं। यदि वह कहीं रामचरित्र-मानस के इतना बृहद् ग्रंथ लिखने की चेष्टा करते, तो सम्भवतः उनके लिये असम्भव था। सूर-रामायण के कुछ स्पष्ट दोष हम नीचे देते हैं। ये प्रत्येक पाठक को खटकते हैं—

(१) कई स्थानों में केवल छंद-पूर्ति के लिये कवि को शब्दों को ह्रस्व और दीर्घ करना पड़ा है। जैसे—

प्रमुदित जनक निरखि अंबुज मुख, बिगत नयन मन पीर,
तात कठिन प्रण मानि जानि जिय, जनक सुता आधीर।

(२) कहीं कहीं अन्त्यानुप्रास के लिये शब्दों को विकृत भी करना पड़ा है—जैसे 'रही' का 'रढ़ी'

पिय दरसन प्यासी अति आतुर निसिवासर गुनगान 'रढ़ी'।

यह खैंचातानी तभी होती है जब भावों का स्फुरण न हो। प्रबंध-काव्य में सर्वत्र भावों का स्फुरण होना चाहिए और उनकी उड़ान बुद्धि-तत्त्व के अनुकूल होनी चाहिए। सूरदास के लिये यह नितान्त स्वाभाविक है कि राम के लिये उनके उच्च भाव न स्फुरित हों। वह उनके अभीष्ट देव नहीं हैं।

(३) प्रसंग में भी कई स्थानों में अर्थ-स्फुरण का तारतम्य क़ायम नहीं रखा जा सका। परशुराम का मिलान वाल्मीकि-रामायण के अनुकूल करके उनकी सरलता क़ायम नहीं रख सके।

(४) कौशल्या का निम्नलिखित वाक्य तुलसी के राम के लिये अथवा तुलसी की 'कौशल्या' के लिये कदापि उपयुक्त नहीं—

बिनती जाइ कहियो पवनसुत तुम रघुपति के आगे।
या पुर जिनि आवहु बिनु लछमण जननी लाज न लागे॥
मारुतसुत संदेश हमारो सुमित्रा कहि समुझावै।
सेवक जूझि परै रन बिग्रह ठाकुर तो घर आवै॥
जब ते तुम गौने कानन को भरत भोग सब छाँड़े।
सूरदास प्रभु तुमरे दरश बिनु दुःख समूह उर गाड़े॥

(५) अहिल्या के उद्धार का स्थान भी परिवर्तित करके कथा की रोचकता नष्ट कर दी गई है।

हम आलोचकों की इस दलील में भी कोई सार नहीं समझते कि सूरदास को रामचरित्र-चित्रण करने में उतनी ही सफलता मिली है जितनी तुलसी को मिली है। और न इसी बात में कोई सार है कि कृष्ण-चरित्र को 'सूर' के ढंग से चित्रण करने में भी तुलसी को सूर से अधिक सफलता मिली है। मेरी यह धारणा है कि अपने-अपने उपास्य देव के ही चित्रण में प्रत्येक को कमाल हासिल हुआ है, दूसरे को नहीं। हाँ, यदि सापेक्षित दृष्टि से देखा जायगा, तो प्रत्येक निष्पक्ष आलोचक इसी सिद्धांत पर पहुँचेगा कि तुलसी को सूर की अपेक्षा अन्य के उपास्य देव के चित्रण में अधिक सफलता मिली है अर्थात् कृष्णगीतावली—एक नितान्त छोटा ग्रन्थ होने पर भी सूर-रामायण से कहीं अधिक अच्छी है। कृष्णगीतावली के अब हम कुछ सुन्दर उदाहरण देते हैं—

"देखु सखी हरि बदन इन्दु पर"
चिक्किन कुटिल अलक-अवली-छवि,
　　कहि न जाइ सोभा अनूप बर।
बाल-भुअंगनि निकर मनहुँ मिलि,
　　रहीं घेरि रस जानि सुधाकर।
तजि न सकहिं नहिं करहिं पान कहो,
　　कारन कौन बिचारि डारहिं उर।
अरुन बनज-लोचन, कपोल सुभ,
　　स्रुति मंडित कुंडल अति सुंदर।
मनहुँ सिंधु निज सुतहि मनावन,
　　पठए जुगल बसीठ बारिचर।
नँद नंदन मुख की सुंदरता,
　　कहि न सकत स्रुति शेष उमा वर।
तुलसीदास त्रैलोक्य-विमोहन,
　　रूप कपट नर त्रिविध सूलहर॥

किसी भी सुंदर से सुंदर सूरदास के रूपक की समानता यह छंद कर सकता है, मानों इसकी प्रत्येक उक्ति अनूठी है। यह भावना कि मानों सिंधु ने अपने पुत्र को मनाने के लिये दो मीन भेजे हैं कितनी सुंदर है।

और दूसरा छंद देखिए—

आजु उनींदे आए मुरारी ।
आलसवंत सुभग लोचन सखि छिन मूँदत छिन देत उघारी ;
मनहुँ इंदु पर खंजरीट दोउ कछुक अरुन विधि रचे सँवारी ।
कुटिल अलक जनु मार फंद कर गहे सजग ह्वै रह्यो सँभारी ;
मनहुँ उड़न चाहत अति चंचल पलक पंख छिन देत पसारी ।
नासिक कीर, वचन पिक सुनि करि संगति मनु गुनि रहति बिचारी ;
रुचिर कपोल, चारु कुंडल वर, भृकुटि सरासन की अनुहारी ।
परम चपल तेहिं त्रास मनहुँ खग प्रगटत दुरत न मानत हारी ;
जदुपति मुख-छबि कलप कोटि लगि कहि न जाइ जाके मुखचारी ;
तुलसिदास जेहि निरखि ग्वालिनी भजीं तातपति तनय बिसारी ।

यह छंद कितना सुन्दर है । इसमें तुलसीपने और सूरपने दोनों का पूर्ण आभास है । कल्पनाएँ अनूठी हैं । सूर की उड़ान दृष्टिगत होती है । 'छिन मूँदत छिन देत उघारी' में कितनी स्वाभाविकता है । 'करि संगति मनु गुनि रहति बिचारी' में कितनी सत्यता और सूझ है । 'प्रगटत दुरत न मानत हारी' में कैसा चमत्कार है । फिर भी तुलसीदास दूसरे के उपास्य देव का हथियाते नहीं । वह स्पष्ट कहते हैं—'जदुपति मुख छबि'—अपना प्रभु उन्हें नहीं बनाते । और न स्वयं उसमें मुग्ध ही होते हैं । वह कहते हैं—'तुलसिदास जेहि निरखि ग्वालिनी भजीं तात पति तनय बिसारी' ।

इसी प्रसंग की एक और उक्ति सुनिए ।

नेत्रों को किस सुंदरता से कोसा गया है । इस छंद में भी तुलसी ने सूरपना खूब निबाहा है ।

'बिछुरत श्रीब्रजराज आजु इन नयनन की परतीति गई ,
उड़ि न लगे हरि संग सहज तजि, ह्वै न गए सखि स्याम मई ।
रूप रसिक लालची कहावत, सो करनी कछु तौ न भई ;
साँचेहु कूर कुटिल सित मेचक, वृथा मीन छबि छीनि लई ।
अब काहे सोचत मोचत जल, समय गए चित सूल नई ,
तुलसिदास अब आपहुँ से भए जड़, जब पलकनि हठ दगा दई ।

'उड़ि न लगे हरि संग' में कैसा भाव निबाहा गया । मानों 'खंजन नैन' अंजन गुन, अटके हैं । चौथी पंक्ति भी बहुत सुन्दर है । नेत्र हिंसक होते हैं । हृदय में आघात कर देते हैं । इसी से ये क्रूर कहलाते हैं । यह सब इनके लिये उपयुक्त ही है क्योंकि ये प्रेम निबाहना नहीं जानते । कारण यह कि ये 'सितमेचक हैं ।' 'विष रस भरा कनक घट जैसे' । इनसे क्या उपकार हो सकता है । परंतु अंत में करुणा की पराकाष्ठा है । अभी तक नेत्रों ने ही दगा की थी अब पलकों ने भी दगा कर दी । नेत्र बंद होना ही बंद हो गया । नींद ही नहीं आती । कितनी सुंदर उक्ति है ।

आगे चलकर दोष नेत्रों से हटाकर 'मन' के मत्थे मढ़ा जाता है । इस छंद में भी सूरदास की छाप है । यह शक्ति तुलसीदास ही में थी कि वे सूरदास और तुलसीदास दोनों का पार्ट कर सकते हैं । कौन कह सकता है कि अधोलिखित छंद में सूर की गहनता नहीं है अथवा उनमें अलंकारप्रियता की कमी है ।

नहिं कछु दोष स्याम को भाई ।
जो दुख मैं पायो सजनी सो तो सब मन की चतुराई ॥
निज हित लागि तबहीं ए बंचक सब अंगनि बसि प्रीति बढ़ाई ।
लियो जो सकल सुख हरि-अंग-संगको जहँ जिहिबिधि तहँ सोइ बनाई॥
अब नँदलाल-गवन सुनि मधुबन तनहिं तजत नहिं बार लगाई ।
रुचिर रूप-जल मोर सेस है, मिलिन फिरन की बात चलाई ॥
एहि सरीर बसि सखि वा सठ कह कहि न जाइ जो निधि फबिआई ।
तदपि कछू अपकार न कीन्हो निज मिलन्यो नहिं मोहि सिखाई ॥
आपु मिल्यो यहि भाँति जाति तजि, तन मिलयो जल-पय की नाई ।
ह्वै मराल आयो सुफलक सुत लै गयो छीर नीर बिलगाई ॥
मन हौ तजी, कान्ह हौं त्यागी, प्रानो चलिहैं परिमिति पाई ।
तुलसीदास रीतेहु तनु ऊपर नयननि की ममता अधिकाई ॥

इस छंद की भी सुंदरता बहुत स्पष्ट है । मानों यह 'मन' क्या है स्वयं कृष्णजी ही है । 'मन' की निंदा मानों कृष्ण की ही निंदा है । 'तनहि तजत नहिं बार लगाई ।' कहकर यह सादृश्य और भी परिपक्व कर दिया है । वैसे प्रेम की कितनी गहनता दिखाई है । फिर यह भी दिखाने की चेष्टा की है कि मनुष्य शरीर में ही रहकर नर-तन-धारण कर तपस्या से भगवान् को प्राप्त होता है परंतु इस शरीर को यहीं छोड़ जाता है । शरीर को उसके संसर्ग से इतना लाभ नहीं होता कि आत्मा का कोई 'गुन' भी इसमें आ जाय । इस छंद की अंतिम पंक्ति बहुत ही उपयुक्त और सुंदर है । नेत्रों को तो दर्शन की लालसा है । शरीर से उनका क्या मतलब । मरे हुए शरीर पर भी नेत्रों के लिये ममता होना स्वाभाविक है ।

'कागा सब तन खाइयो, चुनि चुनि खइयो मास ।
द्वै नैना मत खाइयो, पिय दरसन की आस ॥'

कृष्णजी का कितना सुंदर और धार्मिक चित्रण तुलसीदास ने इन दो पंक्तियों में किया है—

करी है हरि बालक की सी केलि
हरषत रचत, विशद न बिगरत, डगरि चले हँसि खेलि।

कितनी निष्कपटता और कितना त्याग इन पंक्तियों से व्यक्त होता है।

तुलसीदास ने अधोलिखित रूपक कितना सुंदर बाँधा है। सूर के किसी भी अच्छे रूपक की यह समता कर सकता है।

जब ते ब्रज तजि गये कन्हाई
तब तें बिरह-रबि उदित एक रस सखि बिछुरनि-वृष पाई॥
घटत न तेज, चलत नाहिन रथ, रह्यो उर-नभ पर छाई।
इंद्रिय रूपरासि सोचहिं दाउ, हरि सनकी बिसराई॥
भयो सोक-भय-कोक-कोकनद भ्रम-भ्रमरनि सुखदाई।
चित-चकोर, मन मोर, कुमुद-मुद सकल बिकल अधिकाई॥
तनु तड़ाग बल बारि सूखन लाग्यो परी कुरूपतकाई।
प्रान मीन दिन दीन दूबरो दसा दुसह अब आई॥
तुलसीदास मनोरथ-मन-मृग मरत जहाँ तहँ धाई।
राम स्याम सावन भादों बिनु जिय की जरनि न जाई॥

विरह का कैसा सुंदर वर्णन है—

सखि ते सीतल मोको लागे माइरी ! तरनि।
याके उए बरत अधिक अँग-अँग दव,
वाके उए मिटति रजनि-जनित जरनि॥
सब बिपरीत भए माधो बिनु,
हित जो करत अनहित की करनि।
तुलसिदास स्याम सुंदर-बिरह की दुसह दसा,
सो मो पै परनि नहिं बरनि॥

पुनश्च—

संतत दुखद सखी रजनीकर।
स्वारथ सत, अबहुँ एक रस,
मोको कबहुँ न भयो तापहर॥
निज अंसिक सुख लागि चतुर अति,
कीन्हों है प्रथम निसा सुभ सुंदर।
अब बिनु मन तन दहत दया तजि,
राखत रवि है नयन बारिधर॥
जद्यपि है दारुन बड़वानल,
राख्यो है जलधि गंभीर धीरतर।
ताहू तें परम कठिन जान्यो ससि,
तज्यो पिता तब भयो ब्योमधर।
सकल बिकार-कोस बिरहिनि-रिपु,
काहे तें याहि सराहत सुरनर।
तुलसिदास त्रैलोक्य मान्य भयो,
कारन इहै गह्यो गिरिजावर॥

ऊपर के दोनों छंदों में अंतिम छंद की चार पंक्तियाँ बहुत उत्कृष्ट कल्पनाओं के उदाहरण हैं। चंद्रमा इतना निन्दनीय है कि समुद्र ने उसे अपने घर से निकाल दिया, यद्यपि बड़वानल ऐसी भीषण अग्नि को उसने स्थान दे रखा है। कहने का तात्पर्य यह है कि चंद्रमा बड़वानल से भी अधिक कठोर है। परंतु शिवजी ने उसे अपने मस्तिष्क पर धारण कर रखा है इसी से यह वंदनीय है।

अब ज़रा देखिए तुलसीदास ने उर्दू की कैसी छटा दिखाई है। उनका ज्ञान भूमि के संबंध में कैसा विशद है। फ़ारसी के अल्फ़ाज़ों के इस्तेमाल में उनको कितना फ़माह हासिल है। और रूपक कितना अनूठा है। साथ ही साथ कृष्ण और गोपिकाओं का चरित कितना उठा दिया है। इस छंद से यह स्पष्ट है कि कृष्ण के समय कामदेव की कुछ भी न चलती थी। अर्थात् कृष्ण और गोपिकाओं का प्रेम कामुक प्रेम न था। 'श्रीफल' पर 'सरोज' रखने की बात न थी।

कोउ सखि नई चाह सुनि आई
यह ब्रजभूमि सकल सुरपति सों मदनमिलिक करि पाई।
घन-धावन, बगपाँति पटो सिर, बैरख-तड़ित सोहाई॥
बोलत पिक नकीब, गरजनि मिस मानहुँ फिरति दोहाई।
चातक मोर चकोर मधुप सुक सुमन समीर सहाई॥
चाहत कियो बास बृंदावन बिधि सों कछु न बसाई।
सींव न चापि सको कोऊ तब जब हुते राम-कन्हाई॥
अब तुलसी गिरिधर बिनु गोकुल कौन करिहै ठकुराई?

अब विचारने की बात है कि श्रीकृष्णजी का चरित्र-भेद शृंगारिकता से बचाया जा सकता था, अथवा नहीं।

और सुनिए—

ऊधो या ब्रज की दशा बिचारो
ता पाछे यह सिद्धि आपनी जोग कथा बिस्तारो॥
जा कारन पठए तुम माधव सो सोचहु मनमाहीं।
केतिक बीच बिरह परमारथ जानत हौ कि धौं नाहीं?
परम चतुर निज दास स्याम के संतत निकट रहत हौ।
जल बूड़त अवलंब फेन को फिरि फिरि कहा कहत हौ?॥

वह अति ललित मनोहर आनन कौने जतन बिसारौं।
जोग जुगुति अरु मुकुति बिबिधि बिधि वा मुरली पर वारौं॥
जेहि उर बसत स्याम सुंदर घन तेहि निर्गुन कस आवै।
तुलसिदास सो भजन बहाओ जाहि दूसरो भावै।"

पुनश्च—

मधुकर कहहु कहन जो पारो
नाहिंन, बलि, अपराध रावरो, सकुचि साध जनि मारो॥
नहिं तुम ब्रज बसि नदलाल को बालविनोद निहारो।
नाहिंन रास रसिक रस चाख्यो, तातें डेल सो डारो॥
तुलसी जो न गए प्रीतम संग प्रान त्यागि तनु न्यारो।
सो सुनिबो देखिबो बहुत अब कहा करम सों चारो?॥

पहले छंद में अंतिम तीन पंक्तियाँ कितनी ज़ोरदार हैं, इसे पाठक स्वयं विचार सकते हैं। सखियाँ सारे योग को मुरली पर न्योछावर करने को तैयार हैं। उन्होंने तो श्याम का सगुण स्वरूप बसा रक्खा है उन्हें निर्गुण स्वरूप कैसे रुच सकता है।

ऊधो बिचारे ने व्रज में निवास तो किया ही नहीं अतएव वह नन्द के सहवास का सुख क्या जाने। इसी लिये ढेले की तरह मार रहा है। सखियों की 'मायूसी' प्रत्येक सहृदय व्यक्ति की सहानुभूति आकृष्ट कर लेगी। उनका कहना कितना कारुणिक है कि जो मेरे प्राण बाक़ी हैं, तो न जाने क्या क्या सुनना पड़े।

कृष्ण-गीतावली में 'कूबरी' के कूबर पर कई व्यंग किए गए। यहाँ उनको उद्धृत करके व्यर्थ में लेख बढ़ाना हमें अभीष्ट नहीं। गोपियों की निराशाजनित शांति सराहनीय है। नीचे हम एक छंद इसी Resigned attitude का उल्लिखित करते हैं। हमारी यह धारणा है कि इस भाव के छंद सूरसागर में भी बहुत ही कम होंगे—

कही है भली बात सबके मनमानी।
प्रिय सम प्रिय सनेह-भाजन, सखि! प्रीति-रीति जग जानी॥
भूषन भूति गरल परिहरि कै हरमूरति उर आनी।
मज्जन पान कियो कै सुरसरि कर्मनास—जल छानी॥
पूछ सो प्रेम, बिरोध सींग सों, यहि बिचार हित हानी।
कीजै कान्ह कूबरी सों नित नेह करम मन बानी॥
तुलसी तजिय कुचालि आलि अब सुधरै सबइ बसानी।
आगे करि मधुकर मथुरा कह सोधिय सुदिन सयानी॥

प्रेम के संबंध में तो तुलसीदास अनोखे ही कवि थे। अपनी सानी का दूसरा रखते ही नहीं। दोहावली की 'चातक-पच्चीसी' तथा अन्य स्थानों में अपने प्रत्येक ग्रंथ में जहाँ कहीं कुछ कहा है लाजवाब कहा है। अतएव इस संबंध में कृष्ण-गीतावली के छंदों को उद्धृत करना आवश्यक नहीं। यहाँ केवल दो छंदों को अवतरित करके कृष्ण-गीतावली के अवतरणों को समाप्त करते हैं। अधिक अवतरणों के देने से इस लेख का कलेवर बहुत बढ़ जायगा।

मोको अब नयन भये रिपु माई
हरि-बियोग तनु तजेहि परम सुख ए राखहि सोइ है बरियाई।
बरु मन कियो बहुत हित मेरो बारहिबार काम-दव लाई॥
बरषि नीर ये तबहिं बुझावहिं स्वारथ निपुन अधिक चतुराई।
ज्ञान परसु दै मधुप पठायो बिरह बेलि कैसेहु कठिनाई॥
सो थाम्यो बरखो एकहि तक देवत इनकी सहज सिंचाई।
हारत हू न हारि मानत सखि, सठ सुभाव कंदुक की नाईं॥
चातक जलज मीनहू ते भोरे समुझत नहिं उनकी निठुराई।
ए हठ-निरत दरस लालच-बस परे जहाँ बुधि बल न बसाई॥
तुलसीदास इन्ह पर जो द्रवहि हरि तौ पुनि मिलौं बैरु बिसराई।

और—

ऐसे हौं हूँ जानति भृंग
नाहिंनै काहू लह्यो सुख प्रीति करि इक अंग॥
कौन भीर जो नीर दहि जेहि लागि रटत बिहंग।
मीन जल बिनु तलफि तनु तजै, सलिल सहज असंग॥
पीर कछू न मनिहि जाके बिरह-बिकल भुअंग।
ब्याध बिसिख बिलोक नहिं कल मान-लुबुध कुरंग॥
स्याम घन गुनबारि छबि मनि मुरलि-तान-तरंग।
लग्यो मन बहु भाँति तुलसी होइ क्यों रस भंग॥

कृष्ण गीतावली के संबंध में मेरी तो यह धारणा है कि इसमें लोगों ने अधिक परिश्रम नहीं किया। इसको छोटा ग्रंथ समझकर छोड़ दिया। इसके रत्नों की परख करने की अधिकांश चेष्टा नहीं की गई। जिस व्यक्ति ने ध्यानपूर्वक तुलसी के संपूर्ण ग्रंथों का अनुशीलन किया होगा वह मेरी इस धारणा से बिलकुल सहमत होगा कि और किसी ग्रंथ में तुलसीदास ने इतनी अधिक आलंकारिक भाषा का प्रयोग नहीं किया। कृष्ण-गीतावली के प्रत्येक छंद में कुछ-न-कुछ साहित्यिक कला प्रदर्शित की गई है। इसका कारण भी स्पष्ट है। तुलसी के उपास्यदेव कृष्ण न थे। उनके प्रति उनके भक्ति के भाव

राम की भाँति स्फुरित नहीं हो सकते थे। परंतु भावों के अभाव में भी कल्पना का बाहुल्य होने के कारण इतना बड़ा सुंदर काव्य अपनी प्रतिभा के कारण ही तुलसीदास ने खड़ा कर दिया। कुछ सूर के 'देव' पर लिखते हुए सूर की शैली का भी अनुकरण करने की इच्छा होगी। इस पर भी तुलसीदास ने अपनी सिद्ध-शांतता प्रदर्शित कर दी है। अतएव कला की दृष्टि से छोटे ग्रंथों में यह सबसे उच्च ग्रंथ तुलसीदास का है।

अब यह प्रश्न उठता है कि तुलसीदास को कृष्ण-गीतावली में इतनी अधिक सफलता कैसे हुई जिसको देखते यह साफ़ कहा जा सकता है कि सूर-रामायण में सूरदास को कुछ भी सफलता न हुई। मेरी यह धारणा है कि तुलसीदासजी प्रबंध-काव्य के अतिरिक्त खंड-काव्य और स्फुट छंद भी लिखने में अपनी प्रतिभा स्फुटित कर चुके थे। उन्होंने विनयपत्रिका और गीतावली और रामायण दोनों प्रकार के ग्रंथों की रचना करके सिद्धहस्तता प्राप्त कर ली थी। अतएव उन्हें सूरदास की प्रणाली के अनुसार लिखने में तनिक भी कष्ट न हुआ होगा। सूरदास को प्रबंध-काव्य लिखने का अभ्यास न था। रामचरित्र केवल प्रबंध काव्य की भाँति ही लिखा जा सकता है। उसमें सिलसिला और तारतम्य होना चाहिए। कथा का कुछ विकास होना चाहिए। इसके लिए एक विशेष प्रकार की साहित्यमर्मज्ञता की आवश्यकता है। जो तुलसी में प्रचुर मात्रा में थी, परंतु सूर में उसका अभाव था। अपनी नियंत्रित भावना और स्वाभाविक नैतिकशीलता से तुलसी ने सूर के कृष्ण को अपनी कृष्ण-गीतावली में सूर-सागर के कृष्ण से उठा दिया।

नैतिक और लौकिक दृष्टि से यह बात सबको माननी पड़ेगी। अतएव प्रेम के ओतप्रोत अथवा चपलता और विहारप्रियता की दृष्टि से नहीं वरन् साधुता और नैतिकता की दृष्टि से तुलसी के कृष्ण सूर के कृष्ण से चढ़े-बढ़े हैं। परंतु एक बड़ी भारी कमी तुलसी के कृष्ण में है इसीसे वे सर्वरूप से सूर के कृष्ण की समता नहीं कर सकते। तुलसी के कृष्ण उतने विशद नहीं हैं और न तुलसी के हृदय के सम्राट् ही हैं। परंतु सूर के कृष्ण उनके हृदय के सम्राट् हैं। तभी तो शृंगारिकता में घसीटे जाने पर, गाली खाने पर भी उनका चमत्कार हृदय को भुला देता है। कवि का हृदय नायक के साथ न रहने के कारण यह विषमता हो गई है।

यह विषमता सूर-रामायण में और भी अधिक है। सूरदासजी की कृति में तो अधिक चमत्कार भी दृष्टिगत नहीं होते। हम सूर-रामायण के कुछ सुन्दर अवतरण देते हैं।

देखन मन्दिर आन चढ़ी।
रघुपति पूरन चन्द विलोकत मानो उदधि तरंग बढ़ी।
पिय दरसन प्यासी अति आतुर निसिबासर गुनगान रढ़ी॥
तजि कुलकानि पीय मुख निरखत, सीस नाइ, आसीस पढ़ी।
भई देह जो खेह करम बस, ज्यों तट गंगा अनल डढ़ी।
सूरदास प्रभु दृष्टि सुधानिधि, मानों फेरि बनाय गढ़ी॥

'इसमें पियदरसन प्यासी' और आसीस पढ़ना ये पद कुछ खटकते से हैं। अन्यथा पद अच्छा है।

रामचरित्रमानस में, कवितावली में, गीतावली में तुलसीदासजी ने अपने नायक के संबंध में ऐसे-ऐसे सुन्दर उद्गार व्यक्त किये हैं कि सूर का उस विषय पर लिखना दुस्साहसमात्र है और वह उनकी समता की तो बात ही और है उनकी छाँह तक नहीं पा सके हैं। अब पाठक स्वयं रामायण के वर्णन के साथ नीचे लिखा वर्णन मिलावें—

तुम जानकी जनकपुर जाहु।
कहाँ जाइ हम संग भरमिहौ, बनदुख सिंधु अथाहु।
तजि वह जनकराज भूषण सुख कत तृणतल विपिनफल खैहौ॥
ग्रीषम कमल बदन कुम्हिलैहै, तजि सर निपट दूर कित न्हैहौ।
जिन कछु वृथा सोच मन करिहौ मातु पिता सुख देहौ।
तुम फिरि रहो संग जो मेरे तो बन त्रासि पछितैहौ॥

इसीप्रकार—

बिछुरी मानो संग ते हिरिनी।
चितवति रहति चकित चारों दिशि उपजी बिरह तनुजरनी॥
तरवर मूल अकेली ठाढ़ी दुखित राम की घरनी।
बसन कुचील चिहुर लपटाने देह पितांबर बरनी॥
लेत उसास नयन जल भरि भरि धुजु पकरी धरि धरनी।
सूर सोच जिय पोंच निसाचर, राम नाम की शरनी॥

इसमें राम की घरनी कहकर कैसा सखापन व्यक्त कर दिया है। तुलसीदास के वर्णन में कहीं ऐसा सखापन नहीं आया। नीचे हम दो छंद देते हैं। उनमें अनोखा सादृश्य है। मानों एक को देखकर ही दूसरा बनाया गया है, या यों कहिए कि एक का दूसरा नक़लमात्र है।

"मैं निज प्राण तजौंगो, सुनु कपि, तजि है जानकी सुनिकै।
ह्वै है कहा बिभीषन की गति यहै सोच जिय गुनिकै।" (सूर)
"गिरि कानन जैहैं शाखामृग, हौं पुनि अनुज सँघाती।
ह्वैहै कहा बिभीषण की गति, रही सोच भरि छाती॥ (तुलसी)

अपनी जन्म-भूमि के संबंध में राम ने रामायण में जो उद्गार प्रकट किए हैं उनका सादृश्य सूर के ये विचार कठिनता से कर सकते हैं—

हम रौं जन्मभूमि यह गाऊँ
सुनहु सखा सुग्रीव विभीषण अवनि अयोध्या नाऊँ॥
देखत बन उपवन सरिता सर परम मनोहर ठाऊँ।
अपनी प्रकृति लिये बोलत हौं सुरपुर मैं न रहाऊँ॥
ह्याँ के बासी अवलोकत हौं आनँद उर न समाऊँ।
सूरदास जो बिधि न सकोचै तौ बैकुंठ न जाऊँ॥

इन अवतरणों से एक बात तो स्पष्ट हो गई कि तुलसी की कृष्ण-गीतावली की समता सूर-रामायण नहीं कर सकती। इसका कारण हम कई बार ऊपर कह चुके हैं। यहाँ उनके दोहराने की आवश्यकता नहीं। हम इसी लेख में दोनों कवियों के बालचरित्र-चित्रण के संबंध में अपना मंतव्य प्रकट करना चाहते थे। परंतु इस लेख का कलेवर काफ़ी बढ़ गया है अतएव और भी बढ़ जाने की आशंका थी। बग़ैर अवतरणों के हम अपनी बात कह न सकते थे अतएव इस लेख को यहीं समाप्त करते हैं। अगले किसी अंक में सूर और तुलसी के बालचरित्र-चित्रण के संबंध में लिखने की चेष्टा करेंगे।

सद्‌गुरुशरण अवस्थी

सूक्ति-सुमनावली

(१)

भावत न मन मणि-जटित खिलौने मंजु,
डारि डारि देत ऐसे हठ प्रन पलिंग;
माखन न लेत मिसरी हू नहिं लेत नेक,
दूध को न चेत वे सुभाय ही बदलिंगे।
हारि करि जतन बिचारे नंद राय सबै,
रहत न गोद त्यों बिनोद मोद टलिंग;
रोवत रिसात न चुपात केहूँ भाँति बलि,
आजु ब्रजचंद चंद हेत यों मचलिगे।

(२)

पीत पट धारे मोर मुकुट सँवारे मंजु,
मुरली सिहारे आछे कर कजरारे हैं;
अंग-अंग सुखमा समूहन सों गारे बलि,
उपमा न पावत विचारि कवि हारे हैं।
नैनन को लाहु लेरी निरखि-निरखि नीके,
भनत 'विशारद' सदाही सुखकारे हैं;
नंद के दुलारे, जसुमति प्रानप्यारे एई,
ब्रज रखवारे जीव-धन त्यों हमारे हैं।

(३)

लाँबे बार छहरैं छवा लौं छूटे छबिदार,
राजैं औन खुटिला-जड़ाऊ-सुवरन वार;
मोतिन की माल उर माँझ बिलसत बार,
भनत 'विशारद' भरित सुचि सोभा सार।
सुमन गुलाब गुच्छ सोहै कर कंज एक,
दूसरे सरोज-पानि मंजु मालती को हार;
पिक सम बोलति कलोलति सखीन संग,
हरे-हरे डोलति नवेली कुंज भौन द्वार।

बलदेवप्रसाद टंडन 'विशारद'

कूप-निर्माण-कला

(१)

वर्ष पहले हमने "सरस्वती" की कई संख्याओं में 'राजपूताने की प्राचीन कलाओं' का यथाक्रम उल्लेख किया था। जिसमें 'भवन-निर्माण-कला' के प्रसंग में भारत के कई एक अद्भुत, अद्वितीय और आश्चर्य-जनक कुएँ भी बतलाए थे। किंतु उस समय उनके बनाने की विधि का वर्णन नहीं हो सका था। आज यहाँ उसी संबंध में लिखा जाता है जिससे ज्ञात होगा कि राजपूताने की 'कूप-निर्माण-कला' में भी विज्ञान के बहुत अंश भरे हुए हैं। और उससे सर्व साधारण का अनेक प्रकार से हित होता है।

यद्यपि इस समय भारतीय 'वास्तु-विद्या' अथवा 'शिल्प-शास्त्र' के बहुत कम ग्रंथ देखने में आते हैं और

उनमें वर्तमान समय के वैज्ञानिकों को संतोष देनेवाले तत्त्व बहुत ही कम हैं। तथापि आज जितने प्रकार के महल, मकान, गढ़, क़िले और कुएँ, बावली आदि देखने में आ रहे हैं उनमें चाहे कोई हज़ारों वर्ष पहले के हैं और चाहे कोई कल्ह ही के हैं उनसे यह अवश्य प्रतीत होता है कि किसी दिन भारतीय "वास्तु-विद्या" सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान थी और यहाँ के "शिल्प-शास्त्र" का समुज्ज्वल प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ था।

इस समय 'भवन-निर्माण-कला' के संबंध में 'विश्वकर्म विद्या-प्रकाश' अथवा 'लघुशिल्प-शास्त्र' जैसी पुस्तकें अधिक प्रसिद्ध हैं। उनमें विशेष कर भू-परीक्षा, शुभाशुभ-लक्षण और मुहूर्त-ज्ञान आदि का वर्णन है। किंतु किस प्रकार के मकान किन साधनों से किस भाँति तैयार किए जाते हैं और उनसे आपत्ति-विपत्ति अथवा उत्पात आदि के अवसरों में किस प्रकार परित्राण पाकर उनको किस तरह रक्षित रख सकते हैं इत्यादि बातों का उनमें दिग्-दर्शनमात्र भी बहुत कम है। इस संबंध में ज्योतिष शास्त्र के अन्य ग्रंथों में जहाँ प्रसंग-वश वास्तु विषय का वर्णन आया है वहाँ प्राचीन काल के वास्तु-विद्या-विशारद विद्वानों अथवा शिल्प-शास्त्र के सद्ग्रंथों का उल्लेख पाया जाता है जिससे भलीभाँति विदित होता है कि प्राचीन काल में कश्यप, वशिष्ठ, भारद्वाज, गर्ग, नारद, शुक्राचार्य, विश्वकर्मा और मयदानव आदि इस विषय के मर्मज्ञ थे। और उन्होंने अपने नाम की कश्यप, वशिष्ठ, भारद्वाज आदि संहिताएँ तथा अन्य ग्रंथ निर्माण किए थे जिनमें भवन-निर्माण-कला का विस्तार से वर्णन किया था।

उनके सिवा वास्तु-प्रदीप, वास्तु-शास्त्र, वास्तु-दर्शन, माण्डव्य-शास्त्र, मय-शास्त्र, महालुगिशास्त्र, शिल्पादर्श, विश्वकर्म और किरणरथ तंत्र आदि अनेकों ग्रंथ-रत्न थे जिनमें भवन-निर्माण के अतिरिक्त चौदह विद्या, और चौंसठ कलाओं का विस्तार के साथ वर्णन था और उनमें अनेक प्रकार की विद्याएँ भरी हुई थीं। किंतु इस समय वे सब अदृष्ट, अप्राप्य और दुर्लभ हो गई हैं। हमारा विचार है कि यथासाध्य ऐसे ग्रंथों का संग्रह किया जाय और उनके आधार से भारतीय शिल्प-कला पर प्रकाश डाला जाय। कूप-निर्माण-कला का उल्लेख इसी दृष्टि से किया गया है और इसके संबंध की सामग्री इसमें युक्त की है।

(२)

शिल्प-शास्त्र में 'कूप-निर्माण-कला' कम महत्त्व की नहीं है। भू-पृष्ठ के आधार से आरंभ करके आकाशस्पर्शी मकानों का बना लेना असंभव नहीं, किंतु भू-गर्भ को विदीर्ण करके उसके अंदर पाताल तल में पहुँचनेवाले कुओं को सांगोपांग संपन्न करना अवश्य ही अति कठिन और असाध्य है। इतनी कठिनता होने पर भी मानव-समाज में कूप-निर्माण की सर्वत्र आवश्यकता है और सर्वत्र ही इसका आदर है। भूतल के किसी भी भाग अथवा समाज में ऐसी जगह नहीं जहाँ कुएँ की आवश्यकता न हो।

समुद्र के बीच में बसनेवाले बंबई जैसे नगरों से लेकर भूटान सम बालू में बसनेवाली बीकानेर जैसी बस्तियों तक—अथवा काश्मीर जैसे जलप्लावित शहरों से लेकर वैद्यनाथ जैसे पार्वत्य देश में नितांत रहनेवाले स्थानों तक आवश्यकता और उपयोग के अनुसार किसी भी आकार-प्रकार अथवा अवस्था के कुएँ सर्वत्र पाए जाते हैं। और सदा नहीं तो यदा-कदा भी वे काम में आते हैं। हमारी तो यह धारणा है कि अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष साधन के लिये भी कुएँ प्रयोजनीय हैं।

(१) "धर्म की" कामना करके यदि कोई बाग़-बगीचे, देवालय, अन्नक्षेत्र अथवा प्याऊ आदि नियत किए जायँ, तो उनके स्थायी रखने के लिए सर्वापेक्षा कुएँ की आय ही अधिक अच्छी है। (२) "अर्थ" की कामना करके यदि अन्नादि का क्रय-विक्रय किया जाय, तो कुएँ की उपजीविका से ही धनबाहुल्य होता है। (३) "काम" के लिये किसी प्रकार के सुख-साधनों का आयोजन किया जाय, तो उसमें कुएँ की खेती अधिक अनुकूल होती है। और (४) "मोक्ष" अथवा मोह-क्षय के लिये मरणासन्न अवस्था में स्त्री-पुत्रादि के भरण-पोषण की चिंताओं से निश्चिंत करने में कुएँ की आय ही स्थायी रहती है। अतः कुएँ चतुर्वर्ग-साधन में भी अच्छे हैं।

भूमि के जिन भागों में नहर, तालाब या नदीतट आदि नहीं होते हैं वहाँ सब काम कुओं से ही सम्पन्न किए जाते हैं। कुछ विज्ञानी अथवा तत्त्वज्ञ कृषकों का तो यह कथन है कि नहर, तालाब या नदी आदि की अपेक्षा कुएँ का पानी खेती के लिये अनेक अंशों में अच्छा होता है।

नहर, तालाब या नदीतट-निवासियों में मलेरिया, ज्वर अथवा फसली बुख़ार होने की शंका रहती है। साथ ही

नहरों की सिंचाई से खेतों की उपजाऊ शक्ति भी कम हो जाती है। अतः नहरों की अपेक्षा खेती और स्वास्थ्य दोनों के लिये कुएँ सर्वथा अच्छे हैं।

आयुर्वेद के मत से भी नहर, तालाब या नदी आदि के जल की अपेक्षा कुएँ का सद्योजल रोग-निवारण के लिये तत्काल गुण करनेवाला है। विशेषकर उदरामय में तो अकड़ कुओं का पानी औषध-सम माना गया है। अस्तु।

यह सब कुछ होने पर भी कुओं बनाते समय सर्व प्रथम यह जान लेना बहुत ज़रूरी है कि जिस जगह कुआँ बनेगा उस जगह पानी निकलेगा या नहीं? और यदि निकलेगा, तो कितने नीचे और कितने परिमाण में कैसे स्वाद का निकलेगा।

सजल देशों में कुएँ बनवाना कठिन नहीं, किंतु निर्जल देशों में उनका सांगोपांग संपन्न होना अवश्य कठिन है। कई बार उनमें मनुष्यों के धन, धर्म और भाग्य की परीक्षा हो जाती है।

कई जगह हज़ारों रुपए लगाकर बहुत गहरा और बड़ा विशाल कुआँ बनवा लिया जाता है। किंतु गलाई करते समय उसमें पानी ही नहीं आता है। तब सब खर्च व्यर्थ चला जाता है। कई जगह बहुत ही कम नीचे बहुत ठंढा और बहुत गहरा पानी निकल आता है जिसमें युग-युगांतर के लिये बनवानेवाले का अक्षय पुण्य स्थिर हो-जाता है। और कई जगह अन्य सब बातें अनुकूल होने पर भी केवल पानी के खारी निकल आने ही में अधि-कांश उपकार अधूरे रह जाते हैं। अतएव सर्वप्रथम पानी का ज्ञान होना परम आवश्यक है।

(३)

"पानी का ज्ञान" होने के लिये शास्त्र का आधार, देशकाल का विचार, पूर्वापर सोचने की बुद्धि और समयो-चित सम्मति मानने योग्य मनुष्य आदि के द्वारा जल का ज्ञान होना संभव है।

यद्यपि क्षार-शून्य सजल देशों में सुमिष्ट पानी का प्राप्त होना कठिन नहीं, परंतु क्षार-युक्त निर्जल देशों में अथवा टीले-नाले और पार्वत्य देशों के बीहड़ भू-भागों में प्रयासयुक्त प्रयत्न करने पर भी सुमिष्ट जल का मिल जाना कठिन है। और उसमें अनेक प्रकार के आयोजन आव-श्यक होते हैं। सर्वप्रथम यहाँ इस बात का उल्लेख किया जाता है कि किस जगह कितने नीचे कैसा पानी निकलता है।

भू-गर्भ में छुपे हुए अनेक प्रकार के धातु, उपधातु, धन-रत्न और जल आदि को जानने के लिये प्राचीन काल के भू-गर्भवेत्ताओं ने अनेक प्रकार की विधि बतलाई हैं, उनमें से जलसंबंधी बातों का यहाँ संक्षेप से उल्लेख किया जाता है।

(१) जिस प्रकार देहधारियों के शरीर में छोटी-बड़ी अनेक प्रकार की रक्तवाहिनी नस-नाड़ी अथवा शिरा होती हैं उसी प्रकार पृथ्वी के अंतस्तल में भी जलवा-हिनी शिरा-स्रोत होते हैं।

पृथ्वी के प्रत्येक अंश अथवा खंड में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, अग्नि, नैर्ऋत्य, वायव्य और ईशान की ओर से बहनेवाली आठ बड़ी शिराएँ होती हैं और एक पाताल से निकलनेवाली महाशिरा होती है। इनके सिवा इनसे संपर्क रखनेवाली सैकड़ों छोटी शिराएँ होती हैं। उन सबमें पृथ्वी के भेद के अनुसार जुदे जुदे रूप, रंग, स्वाद-भेद और वेगवाला जल होता है वह कुएँ, बावड़ी या तालाब के रूप में पृथ्वी के पेट को विदीर्ण करने से बाहर आता है, उसी जल को जानने के लिये पृथ्वी को भीतर से बिना खोदे ही उसके ज्ञात होने के अनेकों चिह्न होते हैं।

(१) पृथ्वी के मरु, जांगल और अनूप यह तीन भेद मुख्य माने हैं। अनूप अथवा महानद समीपी देशों में जल का सौलभ्य और बाहुल्य होता है। जांगल अथवा वृक्षादि से वेष्टित देशों में जल का समत्व होता है। और मरुस्थल अथवा टीले-नाले और वन-शून्य देशों में जल का दौर्लभ्य या अल्पत्व होता है।

(२) जिस देश में केला, कदंब और कमल आदि अधिक होते हैं उस देश में पद-पद पर पदतल गत पानी मिलता है। जिस देश में आम, नीम और जामुन आदि अधिक होते हैं उस देश में अधिक से अधिक उन वृक्षों को ऊँचाई जितने नीचे पानी होता है और जिस देश में आक, फोग और खींप-जैसे क्षुद्र पेड़ हों उस देश में अधिक नीचे जाकर पानी मिलता है।

(३) अनूप और जांगल-देश के किसी निर्जल स्थान में यदि जलबेंत हों, तो उनसे पश्चिम दिशा में ३ हाथ परे अनूप में ७॥ हाथ और जांगल में २३ हाथ नीचे वारुणी शिरा का मीठा जल होता है।

(४) यदि जामुन हों, तो उनसे उत्तर में ३ हाथ परे अनूप में १० और जांगल में ३० हाथ नीचे कोबेरी शिरा का जल मिलता है।

(५) यदि गूलर हो, तो उससे पश्चिम में ३ हाथ परे अनूप में १२ और जांगल में ३६ हाथ नीचे पानी होता है।

(६) यदि निर्जल स्थान में साँप की बँबई अथवा वैसा कोई बिल हो और उसके पास निर्गुंडी हो, तो उससे दक्षिण में ३ हाथ परे अनूप में १३ और जांगल में ३९ हाथ नीचे कभी न सूखनेवाला जल होता है।

(७) यदि आक और गूलर के बीच में बँबई हो तो उसी के नीचे अनूप में १५ और जांगल में ४५ हाथ नीचे वारुणी शिरा का बहुत जल होता है।

(८) यदि बहेड़ा से पश्चिम में बिल हो, तो उससे उत्तर १ हाथ परे अनूप में २२ और जांगल में ६६ हाथ नीचे अथाह पानी होता है। किंतु वह ३ वर्ष बाद सूख जाता है।

(९) और यदि कदंब के समीप में बिल हो, तो उससे दक्षिण में २ हाथ परे अनूप में ३० और जांगल में ९० हाथ नीचे जल होता है।

(१०) इसी प्रकार मरुस्थल के किसी भी निर्जल स्थान में यदि पीलू से पूर्व में बिल हो, तो उससे दक्षिण में ४॥ हाथ के अंतर पर ७० हाथ नीचे जल होता है।

(११) यदि उस वृक्ष के पास ही बिल हो, तो उससे पश्चिम में ४॥ हाथ परे मरुस्थल में १०० हाथ नीचे पानी होता है।

(१२) यदि रोहिड़ा हो, तो उससे ३ हाथ परे दक्षिण में १२० हाथ नीचे खारा पानी होता है।

(१३) यदि रोहिड़ा और वर दोनों एकत्र हों, तो उनसे १६० हाथ नीचे याम्योत्तर शिरा का मीठा जल मिलता है।

(१४) यदि कैर और बेर हों, तो १८० हाथ नीचे बहुत मीठा पानी होता है।

(१५) यदि पीलू और बेर एकत्र हों, तो २०० हाथ नीचे पानी आता है।

(१६) यदि रोहिड़ा और गेरेडोंवाला समी (खेजड़ा) हो, तो २५० हाथ नीचे पानी होता है।

(१७) यदि रोहिड़ा और पलाश हो, तो उनके समीप में ३०० हाथ नीचे पानी होता है।

(१८) और यदि सफ़ेद रोहिड़ा अकेला हो, तो ३५० हाथ नीचे पानी होता है। स्मरण रहे कि ये चिह्न प्राचीन काल के हैं और वर्तमान समय में कई प्रकार से स्थित्यंतर होगये हैं अतः उक्त प्रमाण में न्यूनाधिक होना पूर्ण संभव है। अब कुछ ऐसे चिन्ह देते हैं जो सार्वत्रिक अथवा सार्वदेशिक हैं।

(१९) यदि वन-शून्य देश में सफ़ेद शमी हो, तो उसके समीप ही में देशानुसार पानी होता है।

(२०) यदि कँटेदार वृक्षों के बीच में कोई वृक्ष बिना काँटा का हो अथवा बिना काँटों के वृक्षों में कोई एक वृक्ष काँटेवाला हो, तो वहाँ पानी होता है।

(२१) यदि खुदे हुए खड्डे में ठोकर मारने से गाँज निकलती हो, तो उससे आठ-दस हाथ नीचे जल होता है।

(२२) और यदि वृक्ष-वर्जित देश में सघन वृक्षों का समूह हो, तो वहाँ भी समीप ही में पानी होता है। यह सब चिन्ह प्रत्यक्ष में जाकर आँखों से देखने के हैं, किंतु पूर्वाचार्यों ने कुछ ऐसे उपाय भी बतलाए हैं जिनके आधार से घर में बैठे हुए भी दूर देश के पानी का पता मालूम हो जाता है। यहाँ हम उनको भी लिखते हैं।

(२३) ऋषियों ने पौष, माघ, फाल्गुन, वैशाख, श्रावण और कार्तिक ये महीने—२।५।७।३।६।१०।११।१२ और त्रयोदशी ये तिथियाँ तथा हस्त, पुष्य, रोहिणी, उत्तरा, धनिष्ठा, अनुराधा, मघा और शतभिषा ये नक्षत्र जलाशयों के आरंभ के लिये उत्तम जल का लाभ करानेवाले माने हैं।

(२४) इतनी विशेषता है कि रविवार में न्यून जल, सोमवार में शीतल जल, भौम में बालूरेत, बुध में स्वच्छ जल, गुरु में मधुर जल, शुक्र में खारा जल और शनि में अत्यल्प जल होता है। इनके अतिरिक्त कुछ विलक्षण युक्तियाँ और हैं, वे ये हैं।

(२५) नीचे लिखे अनुसार पाँच चक्र बनाकर उनमें आठ दिशाएँ अंकित करे और सूर्य, भौम, रोहिणी, राहु और सूर्य इनके नक्षत्र से दिन के नक्षत्र तक गिनकर संख्यात्मक अंकों का मिलान करे। जिस संख्या में जिस दिन का नक्षत्र आवे उसी के अनुसार जल-लाभ का निश्चय करे।

सूर्य-नक्षत्र से दिन-नक्षत्र को क्रम से देखे ।

३	३	३	३	३	३	३	३	३
सजल	खड जल	स्वच्छ जल	क्षुद्र जल	श्रेष्ठ जल	खारी जल	शिलायुक्त	केवल जल	नमकयुक्त

मंगल के नक्षत्र से दिन-नक्षत्र तक देखे ।

१	५	५	३	२	४	३	४
बहुजल	सिद्धि	अभंग	रोगद	ख्याति	यशप्राप्ति	प्रसिद्धि	जलभंग

रोहिणी से दिन-नक्षत्र तक देखे ।

म	प	अ	द	ने	प	वा	उ	ई
१	२	३	५	६	२	२	३	३
स्वल्पजल	मधुर	सजल	निर्जल	सजल	लवणयुक्त	पाषाण	समुद्रतुल्य	कीचड़

राहु के नक्षत्र से दिन तक देखे ।

प	अ	द	ने	प	वा	उ	ई	म
३	३	३	३	३	३	३	३	३
अंकि	जल	नाश	[illegible]	जल	लघु	जल	जल	अल्प

तालाब में सूर्य से दिन तक देखे ।

प	अ	द	ने	प	वा	उ	ई	म	द्वा
२	२	२	२	२	२	?	२	५	६
शुद्ध जल	बहु जल	लघु जल	अमृततोपम	स्वल्प	शुष्क जल	स्थिर जल	खारा जल	पथ्य जल	अमृत

यथासंभव इन सबका समीकरण करके जिस दिन सुलभ और सुमिष्ट जल का योग हो उसी दिन कूपारंभ करे, तो संभव है वह कार्य सुख-पूर्वक सम्पन्न होता है। ये चक्र ज्योतिषी लोगों के काम के हैं। इन के सिवा कई जगह "सूँघे" भी जल बतलाया करते हैं। वे लोग अपने इष्ट और अभ्यास के आधार से बतलाते हैं। और विश्वास से वह कई बार सत्य भी मिल जाता है। अस्तु। अब कुआँ बनाने की विधि बतलाई जाती है।

(४)

सजल देशों के अधिकांश कुएँ केवल काम-चलाऊ होते हैं। सुदूर बंगाल के बहुत-से कुएँ एक प्रकार के खिलौने हैं। वहाँ प्रत्येक गृहस्थ घर के कोने में कुआँ बनवा लेते हैं और उसमें मिट्टी की पकी हुई गोलाकार चूड़ियाँ नीचे-ऊपर जड़ देते हैं। बस, कुआँ बन गया।

पथरीली ज़मीन की छोटी बस्तियों में पानी के पेंदे तक गोलाकार खड्डा खोद लेते हैं और उसी से कुएँ का काम चलाते हैं। बहुधा लोग उसी को पत्थरों से चुन-कर कोरे पारे का कुआँ बना लेते हैं। उसमें ख़र्च नहीं होता है, तो भी वह वर्षों तक बना रहता है।

कई कुएँ ऐसे भी होते हैं जिनकी गोल दीवार काठ की बनाई जाती है। कालांतर के कारण कई एक कुएँ सूख जाते हैं उनमें भी काठ की दीवार बनाई जाती है। ऐसी दीवारों को काठ अथवा काठ का कुआँ कहते हैं।

पर्वत के समीप के कुएँ केवल पत्थरों को गोलाकार या जैसा बन आवे—काटकर कुआँ बना लेते हैं। उनको चुनाने की ज़रूरत नहीं होती। केवल मुड़ासा-मात्र मढ़ देते हैं।

इनकी अपेक्षा जिन देशों में ज़मीन खोदने पर कुछ कम नीचे अथवा बहुत नीचे पानी मिलता है उन देशों के कुएँ अवश्य ही अधिक महत्त्व और अनेक प्रकार की विशेषताओं से युक्त होते हैं। उनके बनाने, गलाने और चलाने में विज्ञान से काम लिया जाता है।

ऐसे कुएँ उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन प्रकार के होते हैं। (१) उत्तम कुआँ आकार, प्रकार, गहराई और चौड़ाई आदि में विशाल बनता है। उसकी गहराई देश-भेद के अनुसार ७, २१, ४१, ६१ या इससे भी अधिक हाथ की होती है। मरुस्थल में वह दो-सौ से भी अधिक बढ़ जाती है। और चौड़ाई पौने पाँच हाथ से पौने तेरह हाथ तक होती है। इससे भी अधिक चौड़ाई हो, तो उसे झालरा कहते हैं।

मध्यम कुएँ पौने चार, पौने पाँच और पौने सात हाथ तक के होते हैं। ग्रामवासी लोगों का ऐसे कुओं से अधिक काम चलता है। और निकृष्ट कुएँ पौने दो, सवा दो, या सवा तीन हाथ तक चौड़े होते हैं। ऐसे कुएँ अर्थ की हीनता अथवा छोटे कामों के लिये बनवाए जाते हैं। और उनको विशेषकर बेरी कहा करते हैं। कुएँ हों, या

बेरी हों—यदि वे मौक़े की जगह हों और उनमें मीठा जल हो, तो परमार्थ साधन के लिये सभी अच्छे हैं। ऐसे कुओं के लिये सर्वप्रथम झरी खुदवाई जाती है।

(५)

"झरी"— उसको कहते हैं जो ज़मीन के अंदर कुएँ के परिमाण का गोलाकार गर्त खोदकर बनाई जाती है और उसी के पेंदे से कुएँ की चुगाई प्रारंभ की जाती है।

झरी में इस बात का विचार विशेष रखना पड़ता है कि वह चूड़ उतार हो। उसमें पेंदे की चौड़ाई से मुँह की चौड़ाई आध हाथ, एक हाथ, या डेढ़ हाथ अधिक हो। कुआँ और झरी के बीच में इतना फ़ासिला रहे कि जिसमें कारीगर उसकी लिपाई कर सके, अधिक फ़ासिला अच्छा नहीं। कदाचित् उनके बीच में विशेष फ़ासिला बना दिया जाय, तो उसमें गलाई के समय बहुत बालूरेत आने-जाने ;—बहुत टेढ़ी बन जाने ;—बहुत ख़र्च होने—और बहुत टूट-फूट होने की संभावना रहती है।

झरी को यथासंभव पानी के चोवे तक खुदवाना चाहिए। पानी आने के लक्षण आ जावें, किंतु पानी न आवे। ऐसी झरी अच्छी होती है। यदि यह निश्चय हो कि उस ज़मीन में चिकनी मिट्टी अथवा मोरींड़ा के सिवा बालूरेत आवेगी ही नहीं, तो झरी को पानी आए पीछे भी हाथ, दो-हाथ अधिक खुदवा लेना चाहिए। कुएँ के लिये झरी एक प्रकार का वस्त्र है। जिस भाँति गोल गिलास को गोल वस्त्र में रखते हैं उसी भाँति गोल कुएँ को गोल झरी में बिठा देते हैं। उपर्युक्त प्रकार की झरी में उत्तम और मध्यम श्रेणी के कुएँ चुगे जावें, तब सर्वप्रथम झरी के पेंदे में निहचक लगा देते हैं।

(६)

"निहचक"—उस साधन का नाम है जिसके आधार पर कुएँ का आरंभ करते हैं। निहचक ४-५ प्रकार के होते हैं। (१) धनवान् लोग लोहे का निहचक बनवाते हैं, ग़रीब लोग उसको अशुभ मानते हैं। उसमें दो-ढाई सौ रुपए ख़र्च बैठ जाते हैं।

(२) कुछ लोग पत्थर की पूठियों का निहचक बनवाते हैं। उसमें ५० से ७५ तक ख़र्च लगता है परंतु पूठी कमज़ोर हों, तो उसके टूटने का डर रहता है।

(३) खेती के कुओं में खड़े कातलों की जड़ाई के निहचक निर्माण किए जाते हैं। उसमें ३० से ५० तक ख़र्च होता है। वह निहचक मज़बूत माना जाता है। जिस प्रकार तान की कबान में पत्थरों की जड़ाई पीछे जाकर पक्की हो जाती है उसी प्रकार खड़े कातलों की गोलाकार जड़ाई का निहचक भी पीछे जाकर वज्र बन जाता है।

(४) अधिकांश लोग काठ का निहचक बनवाते हैं उसमें १५-२० या २५ रुपए ख़र्च होते हैं। और वह उपर्युक्त निहचकों से किसी काम में कम नहीं होता।

निहचक बनवाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिस परिमाण की गोलाई-चौड़ाई और आशार की मोटाई का कुआँ बनवाया जाय उसी परिमाण का निहचक भी निश्चित किया जाय। और उसका पेंदा यथासंभव साफ़ रखा जाय। जिसमें गलाई के समय उसके नीचे की मिट्टी खोदने में औज़ार आदि अटकने की संभावना न रहे। और वह मिट्टी में खिसकता हुआ धँसता चला जाय।

लोहे के निहचक बहुत कम होते हैं। पत्थरों की पूठियों के रेलवेवाले बनवाते हैं। कातलों की जड़ाई के निहचक किसानों के काम के होते हैं। और काठ के निहचक सबके लिये हितकारी कहे जा सकते हैं।

प्रत्येक निहचक में ४, ६, ८, या १० पूठियाँ जड़ी जाती हैं। उनमें नीचे की दो-दो पूठियाँ ऊपर की एक-एक पूठी को थाँभे हुए रहती हैं। उनके जोड़ों में काठ की कीलें और एक-एक 'मल्लखंभ' ठेंसाकर गड़ा दिए जाते हैं। लोहे के निहचक में लोहे के मल्लखंभ—पत्थर के निहचक में पत्थर के मल्लखंभ—और काठ के निहचक में काठ के मल्लखंभ उपयोगी हैं।

बहुधा लोग मल्लखंभों का कुछ हिस्सा निहचक के पेंदे में निकाए रखते हैं और उसमें कील ठोंक देते हैं। ऐसा करना मज़बूती के लिये तो अच्छा है किंतु गलाई में उनके नीचे से मिट्टी खोदते समय औज़ार अटकने और हाथ फटने आदि की बड़ी तुहमत होती है। इसके सिवा गलाई में बालू-रेत आने लगे, अथवा रेती का प्रवाह प्रबल हो, तब वे बड़ा नुकसान करते हैं। अतः निहचक का पेंदा साफ़ हो, तो वह बालू या रेती को दबाता हुआ नीचे जाता रहता है। और यदि उसके नीचे मल्ल खंभों के खूँटे हों, तो उनके बीच

में होकर बालू आती रहती है। अतः निहचक का पेंदा साफ़ ही अच्छा है।

(७)

पूर्वोक्त प्रकार के निहचकों पर 'कुओं की चुगाई' का आरंभ करते समय धर्मज्ञ लोग गणपति, मातृका, वरुण और क्षेत्रपाल आदि की पूजा करते हैं और कारीगर आदि को गुड़, लड्डू, नारियल तथा रुपए पैसे देते हैं।

कुएँ की चुगाई सामान्य कारीगरों से नहीं करवाई जाती। निपुण कारीगर ही उसमें नियत होते हैं। अनाड़ी कारीगर कुएँ को कहीं से छोटा, बड़ा, बाँका, टेढ़ा या ढीला-ढाला बना दे, तो वह गलाई के समय टूट-फूटकर नष्ट हो सकता है। इसी विचार से बहुधा लोग ज़मीन के ऊपर कुआँ बनवाकर उसे वर्षों तक खड़ा रखते हैं और पके पीछे उसे गलाते हैं। परंतु निपुण कारीगर का निर्माण किया हुआ गीला भी गला दिया जाय और उसमें दो-चार धक्के भी लग जायँ, तो वह टूटता नहीं है।

चुगाई करते समय मेथी, कोंगनी और गुड़ आदि मिले हुए मज़बूत चूने से यथोचित आकार के शोधक पत्थरों की विधिवार चुगाई करना चाहिए। उसके साथ में लाव, खूँटे, कातले और मल्लखंभ आदि की जड़ाई भी होती रहनी चाहिए, पाँच-पाँच हाथ के फ़ासले पर अर्धगोलाकार काष्ठ खंभों को मल्ल खंभों के साथ मज़बूती से जड़ते जाना चाहिए। ऐसी जड़ाई कम-से-कम १२ हाथ और अधिक-से-अधिक २५ हाथ तक कर दी जाय तो उसमें बहुत मज़बूती आ जाती है। और उसको तत्काल ही गला दिया जाय तो कोई हानि नहीं होती है। चामूँ में गणेश कारीगर का परिवार कुएँ बनाने में विशेष विख्यात है। अब भी उस परिवार के एक दो आदमी कुएँ बनाने में सुदक्ष हैं। हमने स्वयं देखा है कि चुगाई के काम में वह पूर्वापर का पूरा विचार रखते हैं। किंतु गलाई में वे पूर्ण निपुण नहीं हैं। अस्तु।

(८)

''गलाई''—का काम इस देश के कुओं में कुछ अधिक कठिनाई का समझा जाता है। यदि संपूर्ण गलाई सुख-शांति के साथ सांगोपांग हो जाय तो समझना चाहिए कि एक अजेय क़िला जीत लिया है। अथवा अपरिमित आपत्तियों से बच गए हैं।

जिन देशों में पर्वत काटकर या पथरीली भूमि खोद-कर कुएँ बनवाए जाते हैं वहाँ गलाई की ज़रूरत नहीं पड़ती, किंतु जिन देशों में ज़मीन के अंदर मिट्टी, मोरीड़ा, बालू, काँकरे और ठोस ज़मीन के दो-दो चार-चार या दस-दस हाथ के कई परत आते हैं और उनमें कभी-कभी ५,७,६ या १५ हाथ तक अकेली बालू ही बालू आ जाती है। उस अवस्था में गलाई का काम संकटमय बन जाता है।

प्रतिदिन बड़ा कष्ट उठाकर दो-चार या छः हाथ बालू निकाल ली जाती है और दूसरे दिन फिर उतनी ही भरी हुई तैयार मिलती है। यह हाल कभी-कभी महीनों तक नहीं मिटता है। उस समय गलानेवाला तन से मन से और ख़र्च से अखता जाता है।

कूप-निर्माण-कला के मर्मज्ञ मनुष्यों का मत है कि जिस प्रकार पृथ्वी के ऊपर नद-नदी या नलसीर बहा करती हैं उसी प्रकार पृथ्वी के पेट में भी वे बहती रहती हैं और उनका प्रवाह दूर-दूर तक होता रहता है। यदि उनके प्रवाह-मार्ग में या अति समीप में कहीं बालू हो, या बालू की कोई अति विस्तृत तह हो, तो वह जल के साथ में प्रवाहित होती रहती है। अतएव कुएँ की गलाई में खुदाई करते समय कदाचित् उस प्रकार का प्रवाह आ जावे, तो वह अवश्य ही आपज्जनक होता है।

जितनी दूर में उसका विस्तार होता है उतनी दूर की समग्र रेती अथवा बालू कुएँ में होकर बाहर आती है। और कुआँ खुदवानेवाले के धन, पुण्य और भाग्य की परीक्षा कर जाती है। अस्तु, ऐसी अवस्था में बालू का सब अंश निकालकर किसी भी कुएँ को ठोस भू-भाग में एक दो हाथ नीचे तक भली भाँति बिठा देना बहुत ज़रूरी है। यदि ऐसा न किया जाय तो कुएँ का अथाह पानी भी बालू में मिल जाता है और वह पानी से नहीं बालू से भर जाता है। जिसमें उसका कूपपना भी किसी काम का नहीं रहता इसलिए रेतीले देशों में अथवा मरुस्थल के कुओं में गलाई का काम यथाविधि पूरा करवाना चाहिए।

इस देश की ''प्राचीन रीति की गलाई'' के लिये बैल, डाँगरे, जोड़ी, लाव, चड़स, फावड़े और मज़बूत मज़दूर एकत्र करने चाहिए। और कुएँ के ऊपर मध्य-भाग में भरशाहे रखवाकर ढाना बनवाना चाहिए। ध्यान रहे कि गलाई के समय कुएँ में एक या एकाधिक कई हाथ पानी नित्य इकट्ठा होना संभव है। अतः प्रति-

दिन, पहले पानी निकाल लेना चाहिए। और फिर एक, दो या अधिक मनुष्यों को फावड़े देकर मिट्टी खोदने के लिये कुएँ में उतार देने चाहिए।

नीचे जानेवाले लोग पेंदे की मिट्टी खोद-खोदकर चड़स भरते रहें और जोड़ीवाले उसको खेंचकर बाहर निकालते रहें। प्रत्येक चड़स में ५-७ या १० फावड़े मिट्टी आना संभव है। अतः जिस प्रकार दो-तीन आदमी कुएँ के अंदर मिट्टी खोदने पर हों उसी प्रकार दो-चार आदमी बाहर आई हुई मिट्टी को तुरंत अलग फेंकते रहने के लिये ढाने में नियत रहने चाहिए। 'गलाई के लिये चड़स, फावड़े और आदमी आदि जितने अधिक हों उतना ही अधिक काम होता है।' ऐसा विचार करना पैसे लगाकर काम करानेवालों के लिये बुरा है। आजकल के मज़दूर जितने ही अधिक होते हैं उतनी ही अधिक खेंचातान, खोट-कपट, धींगा-धींगी और ढीलापन करते हैं। अतः आयोजन के अनुसार प्रयोजन के मनुष्य प्रमाण के रखने चाहिए। और स्नेह, चतुराई, दूरदर्शिता और सावधानी के साथ काम कराने चाहिए।

जो लोग कुएँ के अंदर रहकर खुदाई का काम करते हैं उनको चाहिए कि वे प्रतिदिन कुएँ के मध्यभाग की १-२ या अधिक हाथ मिट्टी पहले खोदकर बाहर भेज दिया करें और फिर निहचक के नीचे की मिट्टी निकाला करें। निहचक के नीचे की मिट्टी निकालने में इन बातों का ध्यान अवश्य रहे कि (१) जितनी देर खुदाई करें उतनी देर निहचक सर्वथा निराधार न रहे। उसके नीचे ३ जगह ३ पाए मिट्टी के सदैव बने रहें और आते समय उनको सावधानी से तोड़ते आवें। (२) अवकाश के समय अर्थात् खुदाई करके बाहर आए बाद निहचक के नीचे के अगले और पिछले दोनों किनारे कम-से-कम ६ अंगुल और अधिक-से-अधिक हाथ-दो-हाथ सदैव अधर रहें। उसके नीचे इस भाँति की खुदाई होती रहे जिसमें (३) पिछले दोनों किनारों से लेकर कुएँ के मध्य भाग तक की मिट्टी की खुदाई में कढ़ाही के आकार-जैसा गोलाईदार ढलाव हो। जिसमें निहचक के नीचे के भाग टिकते रहने की जगह चारों ओर की खुदाई समतल बनी रहे। प्रतिदिन इसी प्रकार की खुदाई करते रहना चाहिए और आधार के पायों को ढहाते आना चाहिए।

कुछ दिन की खुदाई से जब उसके जल-स्रोत प्रबल हो जाते हैं, तब कुएँ का संपूर्ण अंग हिलकर खिसक जाता है और नीचे कढ़ाही के आकार की खुदी हुई बेरी के समतल किनारों पर जम जाता है।

(९)

'कई बार ऐसा होता है' कि झरी और कुएँ के बीच में किसी तरह के कंकर-पत्थर आदि की रोक लग जाती है जिससे आरंभ में कुआँ खिसकता नहीं है। तब उसके लिये झरी और कुएँ के बीच में पानी डालना, वहाँ की मिट्टी को पोली बनाना, निहचक को निराधार कर देना और कुएँ के ऊपर मिट्टी के भरे हुए १०-२० बोरे रखवाना आदि यत्न करने चाहिए। ऐसा करने से वह उसी दिन या एक दो दिन में खिसक जाता है और फिर प्रतिदिन चलता या खिसकता रहता है।

इस प्रकार पृथ्वी के कई तह काटने पर यदि बालूरेत का आना आरंभ हो जावे, तो सर्वप्रथम लोहे की चाबी अथवा लंबी सलाका से अंदाज़ लगाना चाहिए कि क़रीब कितनी बालू आवेगी। यदि हाथ दो हाथ ही हो, तो उसे कुछ अति शीघ्रता से काम करके एक दो दिन ही में निकाल लेना चाहिए। कदाचित् बालू अधिक अथवा अथाह हो, तो या तो अधिक जुड़ियाँ जोड़कर व्यर्थ का अर्थ व्यय करके ५-७-१० या २०-२५-३० दिन में उस बालू को निकालकर बाहर फेंकना चाहिए, या उसमें झाम लगाकर बैठे पानी से बालू निकालना चाहिए।

(१०)

"इस देश की पुरानी झाम" एक प्रकार का फावड़ा होता है। उसमें वजन ज़्यादा रहता है। उसके द्वारा बालू निकालने की क्रिया में विज्ञान का एक अच्छा अंग आभावित होता है।

यह नियम है कि प्रवाही कुएँ में जितना पानी निकाला जाय उतना ही पानी उसी सीमा तक और आ जाता है और उसके साथ में अगर बालू भी आती हो और उसे भी पानी की तरह निकालते हों, तो वह भी पानी के साथ ही अपनी हद तक उसी भाँति भर आती है। ऐसी दशा में पानी निकालकर बालू निकालना निकम्मा काम है।

बालू के आने से इधर कुआँ अधर झूल रहेगा। और उधर पानी निकालने से फिर बालू आती रहेगी।

इसके लिये प्राचीन काल के कूप-विद्या-विशारदों ने पानी के विना निकाले ही झाम के द्वारा बालू निकालने की क्रिया प्रचलित की थी। और वह अब तक आदर के साथ चली आ रही है, यह उसकी विशेषता है।

उसके लगाने के लिये एक विधिज्ञ व्यक्ति होता है जो अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक अनुभव रखता है और बालू-रेत को क्रम-क्रम से बाहर निकाल लेता है। वह झाम केवल बालू ही नहीं निकालती है बल्कि मिट्टी, मोरींड़ा और कंकड़-पत्थर आदि सभी को उखाड़ लाती है और कुएँ को ठोस भू-भाग में पहुँचा देती है।

उस झाम में और सब सुभीते हैं, सिर्फ़ इतनी अड़चन है कि कुएँ में एक अड्डा बनवाना पड़ता है उस अड्डे पर बैठकर झामी लोग उस झाम को बालू में रोप देते हैं। और एक बहुत लंबी बल्ली में लगे हुए काठ के एक वजनदार हथौड़े से अथवा ठोंकने से ठोंककर उसे गड़ा देते हैं। इस क्रिया में कम-से-कम ५ और अधिक-से-अधिक १५ मिनट लगते हैं। और यह क्रिया प्रत्येक बार करनी पड़ती है। इसके सिवा--

(११)

"एक झाम और होती है" उसमें इसकी अपेक्षा कई सुभीते हैं। और कई गुना अधिक काम आसानी से होता है। उसकी बनावट गोल ढोल के १-१ भाग को दो भागों में जोड़ लेने जैसी होती है। और लोह के एक खटके से उसका संयोजन और वियोजन होता है।

उस झाम के लिए कोई ५ हाथ का ढाना काम देता है। झाम की जंज़ीरों को लाव में पची करके उसे कुएँ में उतार देते हैं और बालू में पहुँचे पीछे धीरे-धीरे दो-चार झटके लगा देते हैं। साथ ही उसके मुँह पर लगे हुए खटके की रस्सी खेंच लेते हैं। तब वह नीचे की ओर से अपने आप सिमट जाती है और लगभग दस मन बालू को स्वतः भर लाती है। फिर उसे बैलों, भैंसों या चर्खी से खेंचकर निकाल लेते हैं और आई हुई बालू को खाली करके फिर उसे उसी भाँति कुएँ में डुबो देते हैं। इस प्रकार वह घंटे भर में कम-से-कम १० बार और अधिक-से-अधिक ३० बार जाकर आ जाती है और सैकड़ों मन मिट्टी को सहज ही निकाल देती है।

उस झाम से काम करने में कई सुभीते हैं (१) बड़े-से-बड़े ज़बर्दस्त ज़मींदार को जीत लेनेवाली बालू अथवा रेली उसके सामने हार जाती है। (२) उसका प्रतिदिन का बढ़ता हुआ वेग इसके लगाते ही बंद हो जाता है। (३) बालू का प्रवाह बंद होकर उसका निवास केवल कुएँ में ही रह जाता है। (४) उसको भी यह कम-से-कम १ हाथ और अधिक-से-अधिक ४-५ हाथ प्रतिदिन निकाल डालती है। और (५) सबसे अधिक गुण या सुभीता यह है कि एक भी आदमी को कुएँ में भेजने, रखने या डुबोने की ज़रूरत नहीं होती। झाम ही सब काम अपने आप कर लेती है। जिससे कंकड़-पत्थर गिर जाने, कोई वस्तु टूट पड़ने और किसी के चोट-फोट आने की संभावना नहीं रहती है।

यह सब कुछ होने पर भी यह झाम केवल बालू, रेत अथवा रेली निकालने में ही उपयोगी होती है। कुएँ के पेंदे की कठोर मिट्टी अथवा मोरींड़ा आदि को काटकर लाने में यह कुछ काम नहीं कर सकती। उनके लिये तो फिर वही पुरानी झाम काम देती है और कुएँ को ठोस भूभाग में ले जाकर बिठा देती है। अस्तु।

(१२)

किसी भी प्रकार से गलाई का काम समाप्त हुए पीछे पता लगे कि कुएँ में यथेष्ट पानी हो गया है और प्रवाही स्रोत के सूखने की संभावना नहीं है, तब तो कुएँ का शेषांग चुणवाकर उसे सांगोपांग तैयार करवा देना चाहिए। और कदाचित् पानी के प्रवाह में किसी प्रकार की रोक अथवा कमी होने की संभावना हो, तो उसमें नाला या बर्ला लगाकर उसे वेगवान् बना देना चाहिए। और फिर भरी को भरवाकर शेष भाग की चुणाई करा देना चाहिए।

पथरीले अथवा पहाड़ी देश के कुओं में इस प्रकार की गलाई करने का कोई प्रयोजन नहीं पड़ता है। परंतु वहाँ भी किसी-किसी कुएँ की खुदाई भी इसी प्रकार संकटमय हो जाती है। वहाँ कुएँ के अंदर कभी-कभी ऐसे पत्थर अथवा शिला आ जाती हैं जिनका काटना केवल कठिन ही नहीं, आपज्जनक और असंभव भी होता है। अतः—

(१३)

"पत्थरों के काटने की दो क्रिया" की जाती हैं। एक यह कि पक्के लोहे की छीनियों या टाँकियों से

पत्थरों में दरार करके उनको सबली आदि से उखाड़ देते हैं । और दूसरी यह है कि उनमें बारूद भरकर आग लगा देते हैं । इस क्रिया के लिये शिलाओं में कई एक ओखली खोदकर उनमें बारूद भर देते हैं । साथ ही मूँज की रस्सी को बारूद से सानकर उसका एक हिस्सा ओखली में और दूसरा ढाने में दबा देते हैं ।

जिसमें रस्सी दबाई गई हो उस ओखली का अन्य ओखलियों के साथ बारूद से संबंध जोड़ देते हैं । और फिर बाहर आकर गोल थूहर के पोले टुकड़े को आग से सुलगाकर उस रस्सी के द्वारा पेंदे में पहुँचा देते हैं । जिससे बारूद भड़क जाती है । और पत्थरों के टुकड़े-टुकड़े होकर आकाश में उड़ जाते हैं ।

हमारे पूर्वाचार्यों ने इस काम के लिये भी कुछ ऐसी विधियाँ बतलाई हैं जिनसे सहज ही पाषाण फट जाते हैं और किसी प्रकार की जान-जोखिम नहीं होती । यहाँ उनका उल्लेख कर देना भी उचित और आवश्यक है ।

(१) जो शिलाएँ फट नहीं सकती हों उनके ऊपर ढाक और तेंदू की लकड़ियाँ जलाकर उनको खूब गर्म कर देनी चाहिए । और उनके ऊपर कली चूने का घुला हुआ पानी छिड़कना चाहिए, तो वे टूट जायँगी (२) मरवे की राख मिले हुए पानी को औटाकर उसमें खार मिलाना चाहिए और तपी हुई शिला उससे छिड़कनी चाहिए, तो वे टूट जायँगी । (३) छाछ, काँजी, मदिरा-कुलथी और बेर फल इनको सात रात तक पानी में भिगोना चाहिए और उनके जल से गर्म शिला छिड़कनी चाहिए, तो वह टूट जायँगी । (४) अथवा नीम के पत्ते, नीम की छाल, तिल के डंठल, ओंधा काँटा, गिलोय और तेंदू इनकी राख को गोमूत्र से छाननी चाहिए और गर्म की हुई शिला छिड़कनी चाहिए, तो वे टूट जायँगी । इस संबंध में यह भी आवश्यक है कि—

लोहे की छैनियों से पत्थर फोड़े जाते हैं, तब वे भौंटी हो जाती हैं, अतः उनके शीघ्र ही भौंटी न होने के लिये— (१) मेष-सींग की भस्म और कबूतर तथा चूहों की बीट इनको आक के दूध में घोटकर शस्त्रों पर लेप करना चाहिए और धार लगाने के पत्थर पर तिलों का तेल डालकर उनको घिस लेनी चाहिएँ, तो वे भौंटी नहीं होंगी । (२) अथवा केर की राख के खार में छाछ मिलाकर एक दिन रखना चाहिए और फिर उसकी लोहे में पान लगाकर औज़ार बना लेना चाहिए तो वे भौंटे नहीं होंगे ।

ये सब उपाय प्राचीन काल के हैं और इस देश के लोगों के अनुभव में आए हुए हैं । परंतु वर्तमान समय में विदेशियों के बनाए हुए सब प्रकार के साधन ऐसे सुलभ हो रहे हैं जिनके सामने हमारा यह लेख भी किसी अंश में निरर्थक अथवा अरण्यरोदन है । परंतु हम अपने निज के अनुभव से फिर भी यह कह सकते हैं कि वर्तमान की अपेक्षा प्राचीन काल के साधनों में धन, धर्म, देश-सेवा, स्वाधीनता और सानुकूलता आदि के अंश अब तक विद्यमान हैं । और बहुत से काम विदेशी साधनों से होने की दशा में भी भारतीय प्राचीन साधन अभी निकम्मे अथवा निर्जीव नहीं माने जाते हैं । लेख को समाप्त करने के पहले—

(१४)

"बावली और तालाब" के विषय में कुछ लिख देना और आवश्यक है । भारत में पुराने ज़माने की बावड़ी बहुधा ऐसी हैं जिनकी अति विशाल बनावट को देखकर दंग रह जाना पड़ता है ।

सौ-सौ गज़ चौड़ी, चार-चार सौ गज़ लंबी और नौ-नौ खन की गहरी बावड़ी पृथ्वी के पेट में किस प्रकार बनाई जाती था । और बनाते समय उनके वेगवाही जल को किस प्रकार क़ाबू में रखकर काम करते थे । इन बातों का शायद आजकल के कारीगरों को अभ्यास भी न होगा । और कदाचित् प्रयोजन आ जावे, तो शायद आजकल के कारीगर वैसी बावड़ी बनाना भी नहीं जानते होंगे।

केवल अनुमान से कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में अति विस्तार की बावड़ी बनाते समय सर्वप्रथम उसके प्रवेशद्वार अथवा सीढ़ियों के सामने की दीवार में सटा हुआ जो कुआँ होता है वह बनाया जाता था । फिर उसी के समीप से बावड़ी के विस्तार का खड्डा खुदवाया जाता था । उस खड्डे में सर्वप्रथम भावी बावड़ी का प्रधान चौक तथा उसके चारों ओर की दीवारें और पहले खन की पेढ़ियाँ बना ली जाती थीं ।

स्मरण रहे कि सर्वप्रथम सबसे नीचे का चौक तथा खन बनाते समय ज़मीन के जल का प्रवाहित रहना अनिवार्य होता है । अतः उसके लिये निर्झर स्थानों से लेकर कुएँ तक चारों ओर धोरे अथवा नहर बना दी जाती थी,

जिनसे बावड़ी के पेंदे का पानी कुएँ में गिरता रहता था और कुएँ में से चड़सों के द्वारा प्रतिदिन निकलता रहता था। बस, इसी एक अड़चन को दूर करके किसी भी प्रकार की हलकी या भारी बावड़ी बना लेते थे। और आवश्यकता के अनुसार उसके प्रधान चौक के चारों ओर ४-६ या १०-१२ कुएँ भी साथ ही गला देते थे। जिनके द्वारा प्रथम खण्ड के खन में यथेच्छ पानी पीछे जाकर खोल दिया जाता था। और वे सब कोठियाँ दीवारों में छुपा दी जाती थीं।

कई एक बावड़ियों के पेंदे के दोनों बाजुओं में गुप्त कोठरी भी बनाई जाती थीं, जिनमें यदा-कदा निधि-स्थापन होता था और वह आपत्ति के अवसरों में काम आता था। इन दिनों कहीं-कहीं कम गहराई के कुओं के पास दस, बीस या तीस सीढ़ियों की बावड़ी अब भी बनाते हैं, परंतु इनमें और उनमें दिन-रात का अंतर है। अस्तु प्रकारस्वरूप में बावड़ी का उद्देश्य यही होता है कि सीढ़ियों के द्वारा उसके पेंदे तक पहुँचकर कोई भी जलार्थी जल ले लेवे। और उसका यथेच्छ उपयोग करे।

तालाब के विषय में लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं। क्योंकि बाँध और तालाब तो इन दिनों भी अनेक जगह बनते बनाते हैं। और उनमें अनेक प्रकार की विशेषताएँ होती हैं। किंतु उदयपुर के सागरोपम बाँध और भोपाल के ताल इस समय सर्वोत्कृष्ट समझे जाते हैं। और उनकी विशेषताओं को देखकर विदेशी भी आश्चर्ययुक्त होते हैं। अथवा भारतीय शिल्प-कला का महत्त्व मानते हैं।

(१५)

कई बार ऐसा हो जाता है कि सुस्वादु जल के कुएँ, बावड़ी अथवा तालाब आदि विरस और बिगड़े हुए पानी के बन जाते हैं। उस अवस्था में उनके पेंदे तक छाँटकर तमाम कूड़ा-कर्कट अथवा कीचड़ निकाल देना चाहिए। और फिर उसमें सुरमा, नागरमोथा, खस, आँवले, निर्मली और तूँबी के बीज इनको यथोचित मात्रा में समान लेकर चूर्ण करना चाहिए। और बिगड़े हुए पानी के जलाशयों में डालकर तीन दिन पीछे एक बार उनको फिर साफ़ कर देना चाहिए।

ऐसा करने से प्रत्येक जलाशय का जल खारी, कड़ुवा बेस्वाद, गँदला और गुणहीन आदि दोषों से वर्जित बन जाता है। और सुस्वादु सुमिष्ट तथा गुणयुक्त हो जाता है। अस्तु।

अब यह लिखकर इस लेख को समाप्त करते हैं कि—

(१६)

भारतीय कूप-निर्माण-कला के प्राचीन और अर्वाचीन रूप को प्रकट करनेवाले अगणित कुएँ और अनेकों बावड़ियाँ भारत के प्रत्येक प्रांत में विद्यमान हैं और उनके द्वारा बहुतों का बहुत भला होता है। फिर भी आजकल के अद्भुत आयोजनों से मुग्ध होकर अधिकांश मनुष्य आग्रह करते हैं कि भारत में नहरों का विस्तार बढ़ाना ही अच्छा है।

हमारी समझ में नहरों के प्रचार की अपेक्षा पचासों पीढ़ियों तक परोपकारी काम करते रहनेवाले कुओं का प्रचार करना अधिक कल्याणकारी है। और उसमें भारतवासियों को हर तरह से लाभ है। आशा है, इसे विशेषज्ञ स्वीकार करेंगे।

चौमूँ के प्रसिद्ध 'सिद्ध' पं० महादेवजी वैद्य, भवन-निर्माण कराने के कामों में अच्छा अनुभव रखते हैं। कार्यकर्ताओं से काम कराने का उनको अच्छा अभ्यास है। चौमूँ का अतिविशाल और 'आदर्श स्टेशन' उन्हीं के निरीक्षण में निर्मित हुआ था।

संवत् १९८४ के आरंभ में चौमूँ की श्मशान-भूमि के समीप कृष्णतालाब में जो तीन ही महीने में स्वच्छ, सुमिष्ट और गहरे पानी का उत्तम कुआँ बना है उसका निर्माण भी उक्त सिद्धजी के निरीक्षण में ही हुआ था। यह कुआँ चौमूँ के सेठ नंदकिशोरजी हनुमानबख़्शजी और रामकिशनजी 'सावा' ने परोपकार के लिये निःस्वार्थ भाव से बनवाया है। और उससे वहाँवाले बड़े ही संतुष्ट हुए हैं।

इस लेख में कई बातें उक्त कुएँ की प्रत्यक्ष देखी हुई स्थिति, अवस्था और अनुभव के आधार से लिखी हैं। फिर भी इस विषय के विशेषज्ञ विद्वानों से विनय है कि वे इस संबंध में जो कुछ अधिक जानते हों जनता के उपकार के लिये प्रकट करें।

हनुमान शर्मा,

अधिक के लिये मुँह फैलाना व्यर्थ है

इजिप्ट—स्वराज्य की भूख अभी बहुत है।
इंग्लैंड—काफ़ी मिल चुका, अधिक न मिलेगा।

कुरुक्षेत्र

[गतांक से आगे]

प्रतिशोध-प्रतिज्ञा

(१)

फिर अंधकार का अंधा,
होगया छिन्न बादल-दल ;
शतलक्ष प्रखर किरणों से,
फिर उदय हुआ रवि-पागल ।

(२)

काँपती धरा के दृग से,
चू पड़े अश्रु के मोती ;
चेतना विपुल भावों से,
जिनको थी मौन पिरोती ।

(३)

सहसा घमगड में भर कर,
उन्मत्त कमलदल फूटे ;
मधुकोष देखकर जिनमें,
विक्षिप्त भ्रमर-दल टूटे ।

(४)

होगया सजग चंचल-सा
अपराध-विश्व का यौवन ;
सुन पड़ा भीम का सहसा,
भीषण प्रचगड रण-गर्जन ।

(५)

जिसकी विप्लव प्रतिध्वनि से,
त्रैलोक्य 'त्राहि' था करता ;
भागता भूत-सा भय था,
यम था कराह कर मरता ।

(६)

जब खिंची सभी की आँखें,
भयभीत भयंकर बनकर ;
तब तेज-क्रोध-ज्वाला में,
यह कहा भीम ने तन कर ।

(७)

'मैं महाभयानक बल हूँ,
मैं किसी से न हूँ डरता ;
इस कुटिल सभा के सन्मुख,
प्रण यही आज हूँ करता ।'

(८)

'इस नीच दुष्ट दुःशासन
का वक्ष विदार, प्रफुल्लित ;
मैं प्रेत प्रचगड पिऊँगा,
अंजुलि में भर-भर शोणित ।

(९)

जिन कुटिल करों से उसने,
खींचा कृष्णा का अंचल ;
उनको उखाड़ फेकूँगा,
मैं अग्नि सरीखा जल-जल ।

(१०)

धिक्कार मुझे है जो मैं,
लाऊँ न प्रलय का अवसर ;
मैं दिवस-रात्रि काटूँगा,
उत्पात प्रहर गिन-गिन कर ।'

(११)

यह सर्वनाश का प्रण सुन,
सब हुए सशंकित कंपित ;
रह गया चकित दुःशासन,
होकर मन ही मन लज्जित ।

(१२)

कब वज्रपात सकता है,
बर्बर विरोध से डर कर ?
यों कहा वृकोदर ने फिर,
उन्मत्त क्रोध में भर कर ।

(१३)

होगी न कामना फिर भी,
संपूर्ण दुष्ट-द्रोही की ;
मैं गर्व गिरा तोड़ूँगा,
दुर्योधन निर्मोही की ।

(१४)

कर गदा प्रहार भयंकर,
लघु जंघ भंग कर दूँगा ;
फिर पांचाली का अंचल,
नर-मुण्डों से भर दूँगा ।

(१५)

यमदण्ड भुजाएँ मेरी,
अवलोक मरेगा पापी ;

खल नर पिशाच विद्रोही,
धृतराष्ट्र-पुत्र संतापी ।

(१६)
मेरा उलङ्ग भीषण तन,
मेरा नवीन रक्तांबर ;
जग देख-देख चौंकेगा,
मुसकान अधर में भर कर ।

(१७)
जो खड़े अटल पर्वत हैं,
मैं उन्हें शीघ्र फोड़ूँगा ;
गुरुदम्भ वैरियों का मैं,
क्षण भर में ही तोड़ूँगा ।

(१८)
'जब विजय-गदा तानूँगा,
मैं युद्ध बीच प्रलयं-कर ;
हर ओर दिखाई देगा,
बस, रक्त मांस औ पंजर ।'

(१९)
सुन वीर भीम की वाणी,
अर्जुन ने कहा—'और फिर—
मैं काट-काट फेंकूँगा,
क्षण में विरोधियों के सिर ।

(२०)
मा का सूखा वक्षस्थल,
शोणित जल से सींचूँगा ;
प्रार्थना न एक सुनूँगा,
मैं प्रलय-साँस खींचूँगा ।

(२१)
जग के 'हा—हा' मय स्वर में,
बजती होगी रण भेरी ;
यह घूर-घूर कर आँखें,
देखेंगी मृत की ढेरी ।'

(२२)
पांडवपति की जिह्वा पर,
यह आग प्रचंड जली जब ;
नागिनी लटें फैलाकर,
द्रौपदी सरोष चली तब ।

(२३)
वेदना गिरी मूर्छित-सी
अति म्लान विकल मानस से ;
फिर दर्प नशा चढ़ आया,
झंकार उठी नस-नस से ।

(२४)
सिंहिनी-समान गरज कर,
बोली प्रचंड स्वर में वह ;
'दुःशासन ! खोल विलोचन,
अवलोक मुक्त कुंतल यह ।

(२५)
जब रक्त-धार में धोकर,
सूखेंगे सूर्य-किरण में ;
संतोष साँस खींचूँगी,
मैं भयंकरी उस क्षण में ।

(२६)
क्या इसी सभा में मैं थी,
पथ की पतिता पातकिनी ?
कब तक कुचली जायेगी,
अत्याचारों से नलिनी ?

(२७)
मैं ही असाध्य साधन कर,
लाऊँगी द्रुत भू-कंपन ;
जगदीश सुनेंगे मेरी,
जिनका करती हूँ दर्शन ।'

(२८)
कुचले ज्वलंत प्राणों की,
प्रतिशोध-प्रतिज्ञा सुन कर ;
दृग मूँद भयंकर भय से,
जग काँप उठा थर-थर-थर ।

(२९)
आनंद लोक से सहसा,
सुन पड़ा नाद जय-जय-जय ;
नीतिज्ञ विदुर ने समझा,
होगा विरोधियों का क्षय ।

(असमाप्त)

"गुलाब"

प्रेत-बाधा का निदान और चिकित्सा *

१. प्रेतबाधा सम्बन्धी अनुभव

महाभारत वनपर्व के २३० वें और किसी-किसी संस्करण के २२६ वें अध्याय में जहाँ स्कंद के जन्म की कथा मार्कंडेय ऋषि ने युधिष्ठिर से कही है वहाँ भगवान् षडानन द्वारा अनेक बालग्रहों और उन्मादरोग के कारणों की उत्पत्ति की कथा भी कही है। स्कंदजी के शरीर से एक रुद्रग्रह हुआ जिसका नाम ब्राह्मणों ने "स्कंदापस्मार" रक्खा। उन्हीं के आश्रय में शकुनी-ग्रह-विनता नामक लोकमाता है जो पक्षी के रूप में बालकों को सताती है। शीत-पूतना स्त्रियों के गर्भ से बच्चों को निकाल लेती है। लोकमाता अदिति का रैवतक ग्रह बच्चों को सताता है। दिति की मुखमंडिका पिशाची बच्चों का मांस खाया करती है। सरमा नामक कुत्तों की माता भी गर्भ निकाल लेती है। इस तरह के अठारह ग्रह सूतिका-गृह में दस दिन तक रहते हैं। इन्हें मांस-मद्य प्रिय है। कद्रू गर्भ को खाकर उसकी जगह नाग पैदा कर देती है। गंधर्व माता गर्भ को ससा लेती है अर्थात् गायब कर लेती है। अप्सराओं की माता नष्ट कर देती है। यह सब सोलह बरस की अवस्था तक बालक को दुःख देती हैं। उसके बाद देवग्रह, पितृग्रह, सिद्धग्रह, राक्षस ग्रह, गंधर्व ग्रह, पैशाच ग्रह, यक्ष ग्रह आदि के द्वारा पागलपन के हो जाने का वर्णन है। अंत में यह भी लिखा है कि सत्तर बरस की उमर तक यह ग्रह सताते हैं। फिर ज्वर ही ग्रह के समान हो जाता है। हाँ, जितेन्द्रिय, पवित्र, दानी, कर्मशील वा परिश्रमी, श्रद्धावान् और आस्तिक लोगों को ग्रह छोड़ देते हैं और जो भगवान् शंकर के सच्चे भक्त हैं उनको ग्रह दुःख नहीं देते। "ग्रह" का अर्थ यहाँ पकड़नेवाला या लगनेवाला है।

जो लोग देवता, गंधर्व, यक्ष, पिशाचादि योनियों को नहीं मानते वह कहेंगे कि माननेवालों ने यह कथा अपने मतलब से महाभारत में मिला दी होगी। परंतु चरक-संहिता में चिकित्सा-स्थान में चौदहवें अध्याय में भगवान् आत्रेय ने उन्माद की चिकित्सा पर व्याख्या करते हुए व्रतभंग, विधिभंग, शाप आदि कारणों से उत्पन्न (आगन्तु) उन्माद से लेकर भूतप्रेत, पितृ, राक्षस, यक्ष, देवता, गंधर्व, ब्रह्मराक्षस आदि के आवेश और तज्जनित उन्माद का विस्तार से वर्णन किया है। अंत में अभिचार (जादू टोना) आदि से भी उन्माद का होना बताते हुए वैद्य को आदेश दिया है कि—

"तदंगोपहारबलिश्रमेण मंत्रभैषज्यविधिना उपक्रमेत ॥३४॥"

बलिदान, उपहार, पूजा आदि तथा अभिमंत्रित ओषधियों द्वारा इलाज करे।

चरक-संहिता कोई इतिहास-ग्रंथ नहीं है। परंतु इसमें भी उन्माद-प्रकरण में वही बात विस्तार से बताई है, महाभारत में जिसका चर्चामात्र है।

महाभारत और चरक-संहिता में वर्णित विषय की चर्चा यहाँ मैं उन सैकड़ों पाठकों के लाभार्थ करता हूँ जो अनेक भली भाँति जाने हुए रोगों का इलाज करते-करते थक गये हैं। डाक्टर, हकीम, वैद्य, किसी की बुद्धि सहायक नहीं हुई। अल्ला, होमियो, क्रोमो, वैचो, एलेक्ट्रो, नेचरो, ऑस्टियो इत्यादि अनेक पथियों का अनुगमन करते-करते हार बैठे हैं। स्वास्थ्य की चिंता में लंदन, पेरिस, बर्लिन, शिकागो आदि महातीर्थों की यात्रा करने में भी जो समर्थ हैं, रोग ने उनका भी पिंड नहीं छोड़ा है। बहुधा रोग को असाध्य समझ उपचार से सदा के लिये विरत हो जाते हैं। जीर्ण रोगों की चिकित्सा की यदि कोई ऐसी विधि बताई जाय जिसे ऐसे बहुकालीन रोगी अपने ऊपर आजमा न चुके हों, तो उनके लिये अवश्य हित की बात होगी।

इस विषय के तीन-चार बरसों के अनुशीलन से मैंने यह निष्कर्ष निकाला है कि (१) मनुष्य के समस्त दुःखों को हम दैहिक, दैविक, और भौतिक इन तीन तापों में विभक्त कर सकते हैं और (२) दस में नव जीर्ण रोगी तो प्रायः तीनों प्रकार के तापों से पीड़ित होते हैं।

* इस लेख के लिये वैज्ञानिक दृष्टि से किसी वैद्यक सम्बन्धी सामयिक पत्र में अधिक उपयुक्त स्थान होता, परंतु विशिष्ट वैज्ञानिक पत्रों का सर्वसाधारण में कम प्रचार है, इसीलिये, अधिक उपयोगिता की दृष्टि से, "माधुरी" में ही प्रकाशित करना लेखक ने अधिक लाभकर समझा। लेखक

दैहिक ताप वे सब रोग हैं जो मिथ्याहार-विहारादि भीतरी हेतुओं से उत्पन्न होते हैं।

दैविक ताप वे सब रोग हैं और दुःख हैं जो मंत्र, शाप आदि से अथवा अग्नि, सूर्य, जल, ग्रह, बिजली आदि दैवी शक्तियों के तथा देवताओं के कुपित होने से पैदा होते हैं।

भौतिक ताप वे सब दुःख और रोग हैं जो टोने-टोटके आदि अथवा स्थूल शरीर पर बाहर के प्राणियों के आक्रमण से उत्पन्न होते हैं, चाहे वह प्राणी कीट, पशु, मनुष्य, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, स्थूल-देहधारी वा सूक्ष्म देहधारी कोई हो।

आजकल चिकित्सा की सभी रीतियाँ केवल दैहिक रोगों पर ध्यान देती हैं। कोई-कोई ही वैद्य शायद दैविक और भौतिक कारणों का विचार करते हों। मेरे अनुभव में तो एक भी ऐसा चतुर विद्वान् चिकित्सक नहीं आया जो दैहिक के साथ ही-साथ दैविक और भौतिक कारणों पर भी विचार करना अपना कर्त्तव्य समझता हो।

परलोक-विद्या की खोज अमेरिका और योरप में बड़ी मुद्दत से हो रही है। उसका साहित्य मैं स्वयं पचीस बरस से पढ़ता आया हूँ। परंतु प्रेत-बाधा-शमन-संबंधी प्रयोग का अवसर तीन-चार ही बरसों से मिला है। पाश्चात्य खोजी यह प्रयोग नये विज्ञान की रचना की दृष्टि से करते आये हैं। उनकी राय में प्रेत सताते ही नहीं। परंतु मुझे पहले-पहल अपनी पुत्री के उन्माद रोग से प्रेत-बाधा का अनुभव हुआ। रोग का ठीक निदान न होने के कारण पहले दो मास के लगभग बहुत परेशानी उठाई। जब पता लगा कि प्रेतोन्माद है, तो प्रेतावेश के दूर करने के उपायों की खोज में और दो महीने लग गये। अन्तिम उपाय से उसे प्रेत-बाधा से छुटकारा हुआ। उसकी दशा से मुझे शुबहा हुआ कि संभव है कि मेरी सहधर्मिणी को भी प्रेत-बाधा हो।

बीस-इक्कीस बरस पहले की बात है कि उनको आर्त्तव-संबंधी रोग होने आरंभ हुए। धीरे-धीरे तीन-चार बरस में उनका शरीर गर्भाशय के समस्त रोगों का घर हो गया। योषापस्मार की मूर्च्छाओं में चौबीस घंटों में ग्यारह-बारह घंटे तक निरय जाने लगे। इलाज होता था। कभी-कभी आठ दस दिन के लिये और कभी-कभी महीने दो महीने के लिये रोग ग़ायब हो जाता था। फिर शुरू होकर बढ़ने लगता और पहले से भी अधिक उग्र रूप धारण कर लेता था। मूर्च्छा के पहले, मध्य में, या पीछे कभी कोई बातचीत ऐसी नहीं होती थी कि उन्माद का संदेह हो। खाँसी आती थी। दाँत बैठ जाते थे। रोगिणी रोती कराहती थी। पीड़ा अकथनीय थी। किसी प्रकार का इलाज बाक़ी नहीं रहा। जल-वायु के फेरफार के लिये पहाड़ों पर, मैदान में जहाँ कहीं चिकित्सकों की सलाह हुई ले गया और कई-कई मास रोगिणी को रखा। शल्य-चिकित्सा भी हुई। प्राकृतोपचार भी करके थक गया। रोगों की तालिका बढ़ती ही गई। अन्त में दमा भी हो गया। जब किसी तरह लाभ नहीं दीखा, तो हार मानकर समझ लिया कि कुछ-न-कुछ इलाज करते रहना चाहिए, जो होनी होगी हो रहेगी। जीवन की आशा न थी। कई चिकित्सकों की राय थी कि बच्चे होने से यह रोग अच्छे हो जाते हैं, पर इन्हें बच्चे होते थे और तीन दिनों से अधिक नहीं जीते थे। सात बच्चे हुए और मर गये। रोगिणी की दशा ज्यों की त्यों रही।

लड़की का प्रेतोन्माद जब दूर हो गया, तब संदेह हुआ कि उसकी माता के योषापस्मार में भी कोई प्रेत कारण हो सकता है। मैंने सहधर्मिणी के लिये भी वैसे ही उपाय किये। एकमात्र दैविक उपाय से उनके शरीर से सारे रोग एक सप्ताह में ऐसे रफ़ूचक्कर हो गये कि आज तीन बरस हो गये वह बिलकुल भली चंगी हैं। रोग की दशा सपने सी लगती है। ऐसा जान पड़ता है मानों उन्हें कोई रोग ही न था।

मुझे स्वयं चक्कर आया करता था। घंटा, शंख, विजय-घंट, ढोल, तबला, सितार, हारमोनियम, झाँझ किसी प्रकार का बाजा सह नहीं सकता था। अपना इलाज करते-करते भी मैं हार गया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि मैंने अपने ऊपर भी प्रेत बाधा का संदेह किया। उपाय किये। मुझे स्वयं अब चक्कर का रोग नहीं है। बाजा बजने से कष्ट नहीं होता। मैं अपने छत्तीस बरस पुराने रोग को असाध्य ही समझ बैठा था।

पुत्री की बीमारी में जब मुझे यह पता लगा कि प्रेत-बाधा है, एक ओर तो मुझे उस रोग को भगाने की चिंता हुई और उपाय की खोज में लगा, दूसरी ओर मैं स्वयं भरसक वैज्ञानिक परीक्षाओं द्वारा प्रेत को दूर करने

का उद्योग करने लगा। इस उद्योग में सैकड़ों तरह की परीक्षाएँ कीं। बहुत-सी नयी बातें मालूम हुईं। प्रेतों के स्वभाव, उनके लिये प्रेय और श्रेय का विभेद, उनकी जीवनी, उनका आदि अंत इत्यादि मालूम करना आवश्यक था। जब पुत्री की प्रेत-बाधा दूर हो गई, तब मैंने सर्व साधारण के लाभ के लिये उसका संक्षिप्त विवरण दो लेखों में "विज्ञान" में प्रकाशित कराया। तब से पिछले दो वर्षों के भीतर सैकड़ों पढ़े-लिखे सज्जनों ने मेरे प्रकाशित किये हुए उपाय किये और सबने लाभ उठाया। गत दो वर्षों के भीतर के औरों के अनुभव से मेरे विचारों की पुष्टि हुई। मुझे अनेक रोगियों की दशा और उपचार से बहुत-सी बातें बड़े महत्त्व की मालूम हुईं। उन्हें मैं माधुरी के पाठकों के लिये सार रूप से यहाँ वर्णन करता हूँ।

२. प्रेत-बाधा का निदान

शारीरिक रोग चाहे जो हो, प्रेत-बाधा सबके संग समान रूप से चलती है। उसके विशिष्ट लक्षण प्रायः मानसिक ही हैं। प्रेत का जब आवेश होता है वह निर्बल अंग को ही रोगी कर देता है और रोग के सभी लक्षणों को उग्र और भयानक कर देता है। ओषधि-सेवन से भागना, ओषधि को विष-तुल्य जानना, ओषधि देते ही कष्टों का बढ़ जाना, ओषधि कैसी ही दी जाय रोग का शमन न होना, सेवकों पर तथा प्रियजनों पर संदेह करना, सबमें अविश्वास, अत्यधिक भोजन करना अथवा एकदम उपवास करना अत्यधिक पानी पीना अथवा प्यास का अत्यन्ताभाव, चक्कर, मूर्च्छा और निरर्थक बातें बकना, निरंतर रोते रहना, वा हँसते ही रहना, एकांत में रहने की इच्छा, कहीं भाग जाने की इच्छा, जल तथा स्नान से भय, अग्नि से भय, तेज़ हवा से डर, घंटा, शंख आदि बाजों से डर, राम, शिव, दुर्गा आदि देवताओं का नाम न लेना, देवताओं में अविश्वास, पूजा, पाठ, व्रतादि में अविश्वास, ईश्वर में अविश्वास, संध्या-हवन में अविश्वास, भूतप्रेतादि योनियों में अविश्वास, अत्यंत चचलता, अहंकार की प्रबलता, कुतर्क और मिथ्या प्रलाप, देवमंदिर, मसजिद या गिरिजाघर में जाने से परहेज़, मांस मद्यादि से अत्यंत रुचि अथवा अत्यंत घृणा, सभी कामों में उच्छृंखलता और उद्दंडता, चित्त की अस्थिरता और अव्यवस्था, गंदगी से प्रेम, चित्त का विक्षिप्त रहना, इत्यादि वातप्रकोप से मन की अप्रमित अवस्था जितनी ही उग्र हो उतना ही प्रेत-बाधा का उभाड़ समझना चाहिए। इन सब लक्षणों में से दो-चार का होना भी प्रेत-बाधा का संदेह करने के लिये पर्याप्त है। रोग की दो अवस्थाएँ होती हैं, नवीन और जीर्ण। जिस प्रकार जीर्ण रोगों में लक्षणों की उग्रता नहीं होती उसी तरह जीर्ण भौतिक बाधा में भी उग्रता नहीं होती। रोगी को थोड़ा-थोड़ा कष्ट होता है जिसे सहते-सहते उसकी बान पड़ जाती है। वह कष्ट प्रतीत नहीं करता।

प्रेत का आक्रमण देह के सबसे निर्बल अंग पर होता है। मिथ्याहार-विहार से भी सबसे निर्बल अंग में रोग होता है। यही बात है कि रोग की उग्रता और पीड़ा प्रेत-बाधा से बढ़ जाती है। जब ओषधि उस अंग में पहुँचाई जाती है, तब प्रेत ओषधि की क्रिया में बाधा डालता है। इसी से अच्छी-से-अच्छी ओषधि अपना काम नहीं कर सकती। चिकित्सक विफल-प्रयास होते-होते या तो जवाब दे देता है, या रोगी के पक्ष से ही उसका इलाज बंद हो जाता है। निर्बल अंग के साथ-साथ प्रेत की चढ़ाई मन पर भी होती है। चिकित्सा की ओर से मन को भरमा देना प्रेत का मुख्य काम होता है। प्रेत-योनि अस्तित्व में अविश्वास उत्पन्न कर देना भी उसका मुख्य प्रयत्न होता है। इन दो उपायों से वह अपनी स्थिति दृढ़ कर लेता है। ओषधि यदि अधिक उग्र और प्रबल हुई, तो प्रेत अपनी क्रिया में दब जाता है, परंतु ज्योंही दवा का प्रभाव घटा त्योंही प्रेत फिर पूर्वावस्था उत्पन्न कर देता है। इस तरह रोगी थोड़े काल तक अच्छा रहकर फिर बीमार हो जाता है। रोग जड़ से छूटने नहीं पाता।

रोगी को प्रेत चोरी से सताता है, क्योंकि वह खूब जानता है कि मेरे अनेक वैरी हैं जो मेरे काम में बाधक होंगे। पहला वैरी रोगी, दूसरा वैद्य, तीसरे रोगी के सभी हितैषी, चौथे ओषधि, पाँचवें उससे भी अधिक बलवान् सतानेवाले प्रेत, छठे रोगी के देव, पितर आदि पारलौकिक रक्षक और सातवें मंत्र-यंत्रादि प्रेत को चोट पहुँचानेवाले पारलौकिक अस्त्र-शस्त्र, और प्रेत संसार की पुलीस और रक्षक यह सभी सतानेवाले प्रेत के विरोधी हैं। इसी लिये प्रेत किसी के शरीर में चोरी से प्रवेश करता है और चोरी से ही रहता है। इसी लिये मन पर

मंदिर-गामिनी
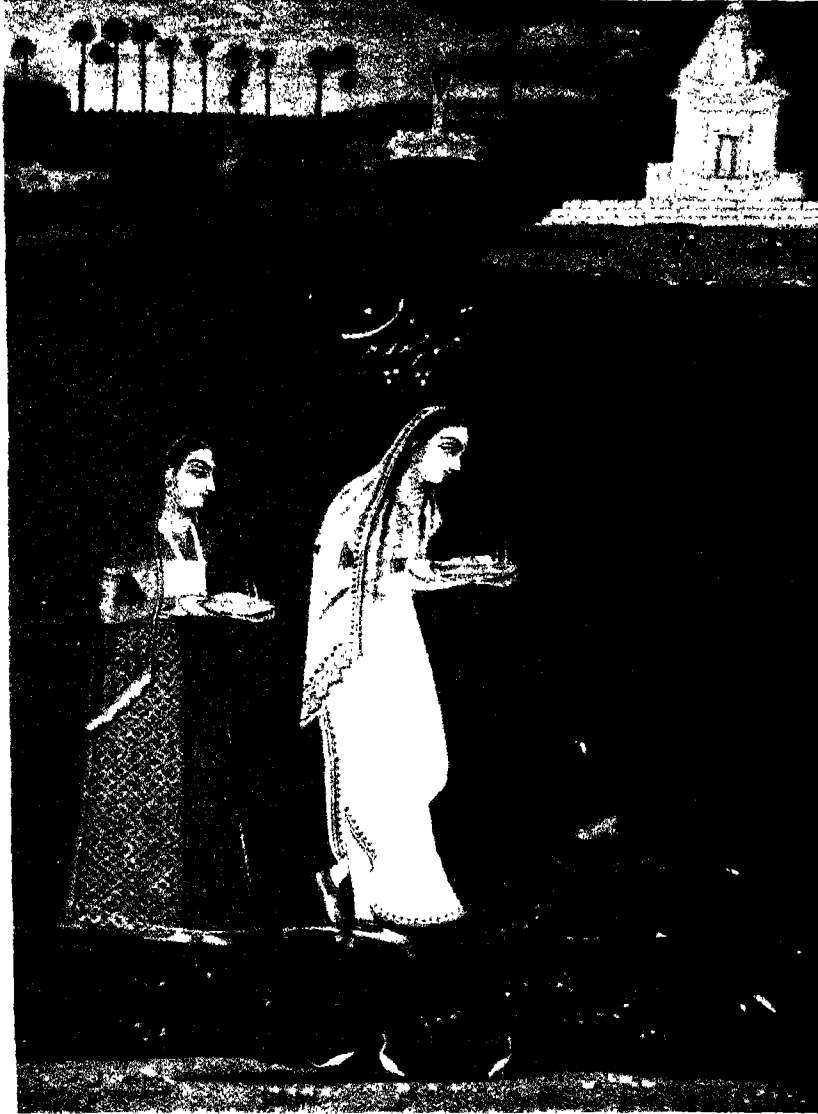
[बा० बहादुरसिंहजी सिंघी, कलकत्ता की चित्रशाला से]

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ।

यह प्रभाव डालता है कि आविष्ट प्राणी प्रेत के अस्तित्व को ही न माने। केवल रोगी के ही मन को प्रेत नहीं भरमाता। उसके हितू प्रिय परिजनों के मन पर भी अधिकार कर लेता है। सबमें यह प्रवृत्ति पैदा करता है कि प्रेत-योनि की सत्ता ही न मानें। कोई माने भी, तो प्रेत का सताना ही असंभव समझे। प्रेतों की माया बड़ी विचित्र होती है। चाहें तो एक शान्त घर में दम के दम में कुहराम मचवा दें और चतुर-से-चतुर शांत-से-शांत विद्वान्-से-विद्वान् को पता न लगे।

मेरे पास प्रेत-रोगी आए। उनके साथ कोई और न था। मुझे लौटा देना पड़ा कि अपने किसी रक्षक को भेजिए। आपसे कुछ न कहूँगा। रक्षक को उपाय बतलाया गया। रोगी को उपाय बताने के लिये जो एकांत चाहिए वह तो होना कठिन है क्योंकि सतानेवाले प्रेत प्रायः बराबर साथ रहते हैं। देखने में तो रोगी अकेला है परंतु वास्तव में वह भीड़ में है। जिसके विरुद्ध रोगी को उपाय बताने हैं वह तो पास मौजूद हैं। हम उपाय बतावें भी, तो प्रेत लोग वह सब सुनकर उसके विरुद्ध कारवाई करने में क्यों चूकेंगे? वह तो मन को भरमाकर रोगी को कभी वह उपाय न करने देंगे। बल्कि उलटा ही आचरण करावेंगे। रक्षक भी यदि प्रेत-ग्रस्त हुआ और प्रेत प्रबल हुए, तो उन उपायों को करने में रक्षक को भी भरमा देंगे।

जिस तरह हमें स्वादिष्ट भोजन पान में, रसीले मधुर गान में, सुंदर रूप के देखने में, मंजुल मृदुल स्पर्श में और मधुर मृदु सुगंध में मज़ा आता है उसी तरह प्रेत को किसी प्राणी के शरीर में प्रवेश करके उसकी ही इन्द्रियों के द्वारा विषयोपभोग में, रक्त चूसने में, गर्भ को खा जाने में, मेद, मज्जा, मांस, वीर्य, रक्त, रसादि को खाने में, रोग पैदा करने में, और प्राणियों को दुःख पहुँचाने में और कभी-कभी प्राण ले लेने में भी मज़ा आता है। जिस किसी को प्रेत प्यार करता है उसे अपने साथ रखना चाहता है और इस इच्छा से भी वह घातक होता है।

यह आवश्यक नहीं है कि किसी को मरे हुए प्राणी का ही प्रेत सतावे। जीवित प्राणियों के भी प्रेत-शरीर होते हैं। राग-द्वेष के वशीभूत हो जीवित प्राणी के प्रेत-शरीर भी सताते हैं। जो लोग अत्यधिक संयम, घोर तप, व्यर्थ उपवास, अनावश्यक कठिन परहेज़ करते हैं, उनके स्थूल शरीर को उनका ही प्रेत-शरीर सताने लगता है* उनका अपना आपा ही उनसे असंतुष्ट रहता है। एक स्थूल शरीरधारी जब दूसरे स्थूल शरीरधारी को व्यवहार में सताता दीखता है, तो लिंग-शरीरधारी किसी स्थूल शरीरधारी को प्रेत की तरह सतावे, तो कोई असंगत बात नहीं मालूम होती।

प्रेत-शरीर सभी चर प्राणियों और अचर पदार्थों के होते हैं। चर प्राणियों में प्रेत-शरीर चेतना-संयुक्त होता है। उसके इंद्रियाँ भी प्रायः वही होती हैं जो उसके स्थूल देह में मौजूद रहती हैं। उन इंद्रियों से वह बाहरी चराचर पदार्थों के प्रेत-शरीर का ही ग्रहण-त्याग आदि करता और प्रेत-शरीर से ही व्यवहार कर सकता है। परन्तु स्थूल शरीर में रहते हुए स्थूल पदार्थों का जो सुख वह उठा चुका है, उसकी याद उसे सताती है, अपने प्रेत-शरीर में उन सुखों से वंचित रहता है, इसी लिये वह किसी स्थूल शरीर में समा जाता है, "आवेश" कर लेता है, जिसमें वह अपनी नीच वासनाओं को तृप्त कर सके। यह असल में चोरी हुई क्योंकि उस स्थूलशरीरधारी की भरसक इस मदाखिलतेबेजा का पता वह नहीं लगने देता। परन्तु यदि नित्य-नित्य की आवाजाई ज़रूरी हो, तो प्रेत को सुभीता इसी में होता है कि वह उस स्थूलशरीरधारी के प्रेत-शरीर से मिताई कर ले। कभी-कभी स्थूलशरीर का मालिक प्रेत

* पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ तत्त्वों से ही चराचर ब्रह्मांड बना हुआ है। स्थूल शरीर इन्हीं आठ स्थूल तत्त्वों का बना है। उसके दो विभाग हैं, एक दृश्य स्थूल शरीर, दूसरा अदृश्य स्थूल वा लिंग वा प्रेत-शरीर। दृश्य स्थूल शरीर पहले चार और प्रेत-शरीर पहले चार के सूक्ष्म रूप और पिछले चार तत्त्वों के स्थूल रूप का बना होता है। स्थूल शरीर की चेतना जाग्रत् चेतना है। प्रेत-शरीर की वही चेतना है जो स्वप्नावस्था में रहती है। स्थूल शरीर की मृत्यु के साथ ही लिंग-शरीर की मृत्यु आवश्यक नहीं है। स्थूल शरीर के रहते भी लिंग शरीर स्वतंत्र रूप से विचर सकता है, आवेश कर सकता है, सता सकता है, परंतु किसी के शरीर में मृत प्राणी के प्रेत की तरह निरंतर नहीं रह सकता।

ऐसे चोर प्रेतों से अपनी कमज़ोरी से लाचार होकर मित्रता कर लेता है, क्योंकि यह चोर बड़े भयानक गुंडे, हत्यारे, बदमाश भी होते हैं। यह चोर प्रेत मालिक प्रेत के साथ निरंतर लगे रहते हैं, इसलिये मालिक प्रेत उनके विरुद्ध कोई उपाय भी नहीं कर सकता। अगर इसी हालत में स्थूलशरीर की मृत्यु हो गई, तो मालिक प्रेत एकदम उन चोरों की मुट्ठी में हो जाता है। मरनेवाले को जो कुछ उसके कुटुंबी श्राद्ध, तर्पण वा अन्य रीतियों से खिलाना-पिलाना चाहते हैं, सब यह प्रेत-चोर ले लेते हैं और मालिक प्रेत भूखों मरता है और बड़े कष्ट उठाता है। प्रेत-ग्रस्त होकर मरने पर बड़े-बड़े कष्ट भोगने पड़ते हैं। प्रेत लोग प्राणियों को इस लोक और परलोक दोनों में कष्ट पहुँचाते हैं। कष्ट पहुँचानेवाले आप भी कष्ट पाते रहते हैं और उससे छुटकारा पाने के लालच से भी दूसरों को सताते हैं। जैसे डूबता हुआ प्राणी दूसरे डूबनेवाले से भी बचने की आशा से घबराकर चिमट जाता है, जैसे जलता हुआ प्राणी घबराकर औरों को पकड़ लेता है और जलाने लग जाता है उसी तरह घबराये हुए भूत औरों को यातना पहुँचाने के कारण बन जाते हैं। इसी लिये अनेक प्रेत आविष्ट रोगी के शरीर में असह्य प्रचंड ताप उत्पन्न कर देते हैं। कभी आविष्ट के पेट में भयानक शूल हो जाता है। ऐसी दशा में यह न समझना चाहिए कि प्रेत इन कष्टों से पीड़ित नहीं है। आवेश की अवस्था में प्रेत को रोगी की अपेक्षा अधिक कष्ट होता रहता है, परंतु यदि प्रेत स्वच्छंद होता, तो उसे दूनी या चौगुनी यातना होती, इसीलिये शरीर में घुसकर अपनी यातना की उग्रता को वह घटा लेता है और लाख जतन करने पर भी छोड़ना नहीं चाहता। एक दूसरे के पुराने वैरी बहुधा माँ-बेटे या बाप-बेटे होकर पैदा होते हैं और अगर पुराने ऋण से मुक्त होने के पहले मरे, तो मरे पीछे उन्हें पहले की दुश्मनी याद आ जाती है, और एक दूसरे की जान के ग्राहक हो जाते हैं। इसलिये यह भी देखा गया है कि मरी माँ बेटे को, या मरा बेटा माँ को सताता है।

प्रेतों में अहंकार की प्रबलता होती है। उनका बल उनकी देह की सूक्ष्मता पर विचार करते हुए प्रायः स्थूल शरीर की अवस्था से कम-से-कम दूना रहता है। वह देख नहीं पड़ते इसलिये उनकी चोट का जवाब नहीं दिया जा सकता। चोट किसने पहुँचाई इसका पता भी नहीं लगता। वह नाराज़ भी जल्दी हो जाते हैं। आप थूकते हैं, पेशाब करते हैं, या छड़ी ही घुमाते या टेकते चलते हैं, तो अनदेखे प्रेत को बे जाने कष्ट पहुँचा सकते हैं और वह क्रुद्ध होकर आप पर तुरंत हमला कर बैठता है। आप चले जा रहे हैं, तो भी अनदेखे, बे जाने उन्हें आपका धक्का लग सकता है। इस पर भी वह नाराज़ होकर हमला कर सकते हैं। आप ऋणी हों, आप से दुश्मनी हो, तो प्रेतमहाजन और प्रेतशत्रु तो निश्चय ही आपको सतावेगा। चोट वह किस-किस विधि से करते हैं, इसका वर्णन कहाँ तक किया जाय? यह तो आक्रामक और आक्रांत के परस्पर बल और उपबल, करण और उपकरण तथा परिस्थिति पर निर्भर है। चलते-चलते ठेस लगी गिर पड़े, घोड़ा बिगड़ गया, गाड़ी उलट गई, मोटर टकरा गई, साँड़ ने दबा दिया, या मार दिया, घर गिर पड़ा, साँप ने काट खाया, इत्यादि-इत्यादि अनेक दुर्घटनाओं के रूप में अदृश्य प्रेत की ओर से चोट हो सकती है। परंतु प्रेत "आवेश" तो चोट के साथ-साथ अवश्य ही कर लेते हैं। न लगनेवाले प्रेत बहुत थोड़े होते हैं। अधिकांश लगनेवाले ही होते हैं। इनकी संख्या भी मनुष्यों की आबादी से कई गुनी अधिक है। इसलिये ऐसे मनुष्य कम ही मिलेंगे जिनके स्थूलशरीर में अनेक बे बुलाये मेहमान न हों। अत्यंत प्रबल आध्यात्मिक शक्तिवालों के शरीर के किसी कोने में बैठे उसकी नीच वासनाओं की तृप्ति के समय वह भी विषयभोग की चोरी कर लेते हैं। वह कैसे ही बली हों उसे इतनी ही बाधा पहुँचाते हैं। जब प्रबल भी इनकी चढ़ाई से नहीं बच सकते, तो निर्बलों की क्या चर्चा? इसलिये प्रत्येक मनुष्य को आत्मशुद्धि के लिये परमात्मा की उपासना और ऊँचा और पवित्र चरित्र बनाये रखना चाहिए। प्रबल आत्मवान् पर प्रबल प्रेत की गहरी चोट भी ओछी लगती है।

जैसे आवेश से प्रेत स्थूलशरीर के सुख भोगता है, वैसे ही दुःख के समय वह शरीर में रहे, तो दुःख भी भोगे। कोई-कोई जो सुख के लालचमात्र से आवेश करते हैं, दुःख का सामना होते ही भाग खड़े होते हैं। मसल मशहूर है कि मार से शैतान भी भागता है। इसलिये दागने, मारने, नहलाने आदि से कभी-कभी

कुछ देर के लिये आवेश रफूचक्कर हो जाता है। इस पर अवैज्ञानिक जाँच करनेवाले बेचारे रोगी को ढोंगी समझने लगते हैं।

प्रेतों की इतनी उद्दंडता और इतने व्यापक अत्याचार से कोई ऐसा न समझ ले कि उन पर कोई शासन नहीं है। जिस तरह क़ानून और पुलीस के शासन के होते हुए भी चोर डाकुओं का व्यापार बंद नहीं हो जाता उसी तरह प्रेत-संसार का इस स्थूल-संसार की अपेक्षा कहीं अच्छा शासन होते हुए भी हमारी दृष्टि से वहाँ अपराध होते ही रहते हैं। यद्यपि प्रेत-संसार का देश काल-वस्तु-परिमाण हमारे स्थूल-संसार से बिलकुल-भिन्न है, तथापि इतना तो हम समझ सकते हैं कि मरने के बाद के जीवन में रागद्वेष प्रायः अत्यंत प्रबल हो जाता है। स्थूलदेह में जो अत्यंत साधु दीखता था उसका नग्न खलरूप खुल जाता है और वह निर्लज्ज बदमाश हो जाता है। प्रेत-शरीर यातनाओं को भोगने का शरीर है। प्रेतों का दौरात्म्य उनकी यम-यातना के अनेक अश्रुत, अकथनीय, अननुभूत और कल्पनातीत कष्टों में से एक कष्ट है, जिसमें स्थूल शरीरधारी भी अपने दंड के अंश को जीते-जी भुगत लेता है। यही बात है कि कर्म के रत्ती भर भी न चूकनेवाले अटल नियमों के कारण माया में पड़े स्थूलधारी भी प्रेतयातना का कुछ भाग भुगत लेते हैं, उन्हें प्रेतबाधा बताई जाय, तो वह कदापि नहीं मानते। देव-बाधा कहिए, तो देवयोनि से इनकार है। ईश्वरीय नियम से तो इनकार करने से रहे, क्योंकि वह तो परम सत्य है। परंतु जिन शास्त्रों से उन नियमों का पालन होता है उन्हें वह पहचानने नहीं पाते, अन्यथा छुटकारे का उपाय सरल हो जाय।

इस विषय के संबंध में अपरिचय और नवीनता के कारण सैकड़ों प्रश्न उठ सकते हैं, जिनका उत्तर एक छोटे से लेख में देना असंभव है। निदान के संबंध में जितनी अत्यावश्यक ज्ञातव्य बातें थीं वह सब हमने संक्षेप से यहाँ वर्णन कर दीं। यह सभी बातें एवं इनके अतिरिक्त अनेक बातें वैज्ञानिक प्रयोगों से मालूम की गई हैं। परंतु लेखक का यह उद्देश्य कदापि नहीं है कि लोग उसे प्रमाण समझें और मान लें। चिकित्सक अपनी चिकित्सा का आधार जो सिद्धांत रखता है और तदनुसार जो ओषधोपचार करता है, उस पर कोई रोगी या इलाज करानेवाला बहस नहीं करता। उसके इलाज से जो लाभ उठाना चाहते हैं वह उसकी बताई विधि से उपचार करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक चिकित्सा एक तरह की परीक्षा है। जो लोग बताए हुए लक्षणों से पीड़ित हों वह इस लेख में बताई हुई बातों को न मानते, न जानते वा न समझते हुए भी रोगी की सी अंध-भक्ति के साथ बताई हुई विधियों की जाँच कर सकते हैं। हाँ, इसमें संदेह नहीं कि इन विधियों को मुफ़्त काम में लानेवाले सफल नहीं हो सकते। इनकी क़ीमत हर इलाज करानेवाले को देनी पड़ेगी। यह क़ीमत है "सच्ची श्रद्धा"। जो लोग प्रेतादि योनियों को तो क्या, ईश्वर को भी नहीं मानते वह मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के इस एकमात्र नुस्ख़े "सच्ची श्रद्धा" को अवश्य मानते हैं। परंतु इसमें कठिनाई यह है कि उनके पास यह होती ही नहीं, इसलिये इसका लाभ नहीं उठा सकते। वह स्वयं रोगी हैं और इलाज से भागते हैं। उनका कोई श्रद्धावान् रक्षक या हितैषी ही उन्हें इस इलाज से सहायता पहुँचा सकता है।

(असमाप्त)

रामदास गौड़

वंशी

(१)

बजाई थी वंशी मृदुलरव से श्याम तुमने,
सुधा से भी मीठी सुखद अति हृद्धाम तुमने;
मगों में कुञ्जों में व्रज-विपिन में भी सुन पड़ी,
समाई है जी में अबतक उसी की धुन बड़ी।

(२)

बहाई थी मानो यदपि रव गङ्गा ध्वनिमयी,
वियोगी प्राणों की जलन जिससे थी बढ़ गई;
रसों में थी पागी विविध वर आस्वादन सनी,
बढ़ाती थी तौ भी तरल वह तृष्णा अति घनी।

(३)

जिलाने की फूकें गहन-वन-ज्वाला सम जगीं,
सुरीली तानें वे विशिख सम चोखी उर लगीं;

रसीले रागों के ललित लय से थी वह लसी,
सदा थी पीती पै अधर-रस राधा-सवत सी।

(४)

सुधा की बूँदों को श्रवणपुट में थी बरसती,
जगा अन्तर्ज्वाला निखिलतन को थी झुलसती;
बिकी सी हाथों में विरह दव दागी व्रज-धना,
खिंचीसी जाती थी जिधर रहते श्याम सुमना।

(५)

रसीले रागों से व्रज-जन विरागी कर दिया,
सुना तानें मीठी हृदय-धन भी था हर लिया;
नरों की क्या बातें पशु खग बिचारे विकल थे,
उठा कानें वे भी छकित छवि से ज्यों अटल थे।

(६)

तुम्हारी वंशी में विरह-रव की थी रति घनी,
न थीं मानप्राणा स्थिरचित व्यथा रोक अपनी;
जगा चिन्ता-ज्वाला दुचित छवि सी थीं बन गई,
बहाती आँसू की अगम यमुना था नित नई।

(७)

सहस्रों आशाएँ लगन-सरिता में बह गईं,
तथा अस्थिप्राणा व्रज-युवतियाँ भी रह गईं।
व्यथा थी वंशी में तदपि मन में थी नित बसी,
विषैले काँटे सी हृदय-तल में थी वह धँसी।

(८)

जगाई वंशी ने तव विरह की ज्योति व्रज में,
किया बालाओं को कृशतन मिला मान रज में;
फिरीं वे बौरानी विकल यमुना-केलि-तट में,
करों में थीं धारे लघु मुदरियाँ, नाम रट में।

(९)

स्वरों की कोरों से उर न किसका छेदन किया,
किसी ने भी तो भी मिलन पथ में भेदन किया;
सुधा पीती वंशी हरि अधर पै थी नित धरी,
पिलाती औरों को विषम विष थी क्यों मदभरी।

उमाशङ्कर द्विवेदी

खजराहो

(२)

खजराहो का वर्णन हम गत वर्ष माधुरी के एक अंक में बुंदेलखंड के साथ कर चुके हैं, जहाँ मंदिरों का भी कथन हो चुका है तथा कई चित्र भी दिए जा चुके हैं। आज वहीं के १३ और चित्र पाठकों को अर्पण किये जाते हैं। उन्हीं का कुछ सूक्ष्मरीत्या कथन भी किया जावेगा। सबसे पहले उस लेख की एक भूल सुधारे देते हैं। उसमें लिखा है कि इब्न बतूता ने खजराहो को खजराउ लिखा है किंतु वास्तव में उसने इसे खजराड कहा है। उसने यहाँ भारी तालाब का होना लिखा है। आज भी यहाँ दो बड़े चंदेली ताल जल-पूर्ण हैं। उनमें से एक में कमल भी हैं। इन जलाशयों में मेले के समय लोग स्नान करते हैं।

अब उन तेरह चित्रों का कथन किया जाता है जो इस लेख के साथ दिए जाते हैं। इनकी सूची इस प्रकार है:—(१) मतंगेश्वर, (२) चतुर्भुज, (३) लक्ष्मणजी, (४) वामनजी, (५) विश्वनाथ का भाग, (६) वराह, (७) जटकरा, (८) जवारा, (९) घंटाई, (१०) पारसनाथ का भाग, (११) अजायब घर का फाटक, (१२) राशि-चक्र, तथा (१३) बँगला दिलकुशा। इनमें से नंबर (१२) तथा (१३) छतरपुर में हैं और शेष खजराहो में।

नं० (१२) राशि-चक्र संभवतः खजराहो में किसी ऐसे मंदिर में स्थापित था जो अब अशेष हो गया है। जो हो, आज कल वह छतरपुर के प्रताप सागर नामक सरोवर की उत्तर ओर जो बंधान है उसी में एक चबूतरे पर खुले में स्थापित है। चक्र एक ही पत्थर का है किंतु उसके बीच में एक दरार सी पड़ गई है। देखने में बड़ा अच्छा लगता है। इसमें तीन चक्कर हैं जिन सबमें सुंदर मूर्तियाँ खुदी हैं। जितनी मूर्तियाँ तथा मंदिरों के चित्र यहाँ दिए जाते हैं वे सब पाषाण की हैं, केवल दिलकुशा बँगला ईंट-चूने का है। राशि-चक्र में २७ नक्षत्र, १२ राशियाँ, नवग्रह, किन्नरों तथा देवताओं की प्रति-

राशि-चक्र
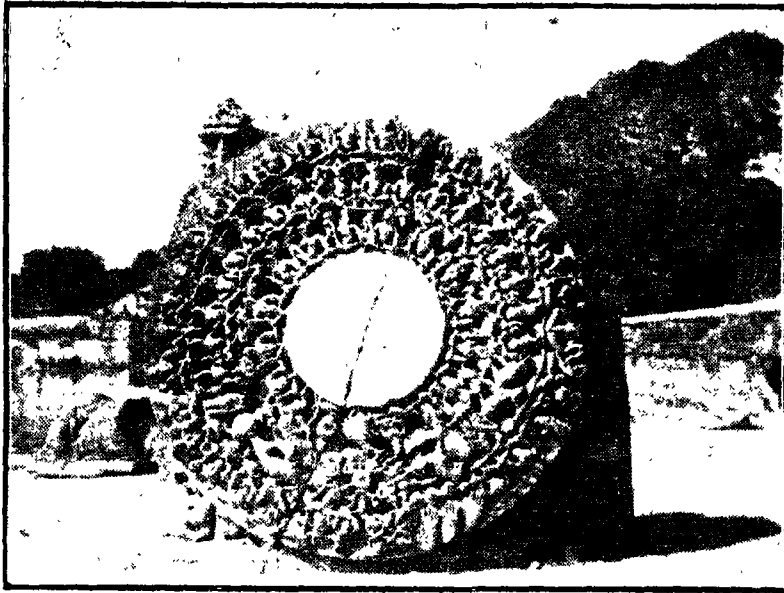
दीवान साहब अपने बँगले के बरामदे में

फ़ोटो उतार ले जाते हैं। नं० (१३) बँगला दिलकुशा एक सुंदर प्रासाद छतरपुर का दिलकुशा बाग़ में है। यह फूल बाग़ है जिसमें अन्य सुंदर पुष्पों के अतिरिक्त अस्सी-बयासी प्रकार के गुलाब के पौधे भी हैं। एक-एक पौधे पर तीन तीन चार-चार प्रकार के फूलों की क़लमें लगी हैं जिससे एक ही एक पौधे में उतने भिन्न प्रकार के फूल फूलते हैं जो बहुत भले लगते हैं। आजकल यह बँगला दीवान रियासत के रहने के लिये नियत है। उसी के साथ उनका भी चित्र है। आज कल इस लेख के लेखकों में से दूसरे लेखक इस रियासत में दीवान अर्थात् प्रधान अमात्य के पद पर प्रतिष्ठित हैं। यह चित्र भी एक यूरोपीय यात्री का उतारा हुआ है जिसने अपने ही लिये इसे उतारा था।

नं० (१) मतंगेश्वर का प्राचीन मंदिर है जिसका सविस्तर कथन गत लेख में हो चुका है। मंदिर के ऊपरी भाग में जो पत्थरों के छज्जे से तर ऊपर बने हैं उन पर मेले में जब दियालियाँ जलाई जाती हैं, तब मंदिर की शोभा और भी अपूर्व हो जाती है। नं० (२)

माएँ खुदी हैं। ज्योतिष-ज्ञाता इसे देखकर विशेषतया प्रसन्न होते हैं। यह महाराजा साहब बहादुर के महल से थोड़ी ही दूर पर रक्खा है। बाहर के यात्री प्रायः इसका

चतुर्भुज का मंदिर है। जटकरा ग्राम की हद में होने से यह जटकरा का भी मंदिर कहलाता है। यह भग्नप्राय हो गया था किंतु हाल की मरम्मत से अब अच्छी दशा में
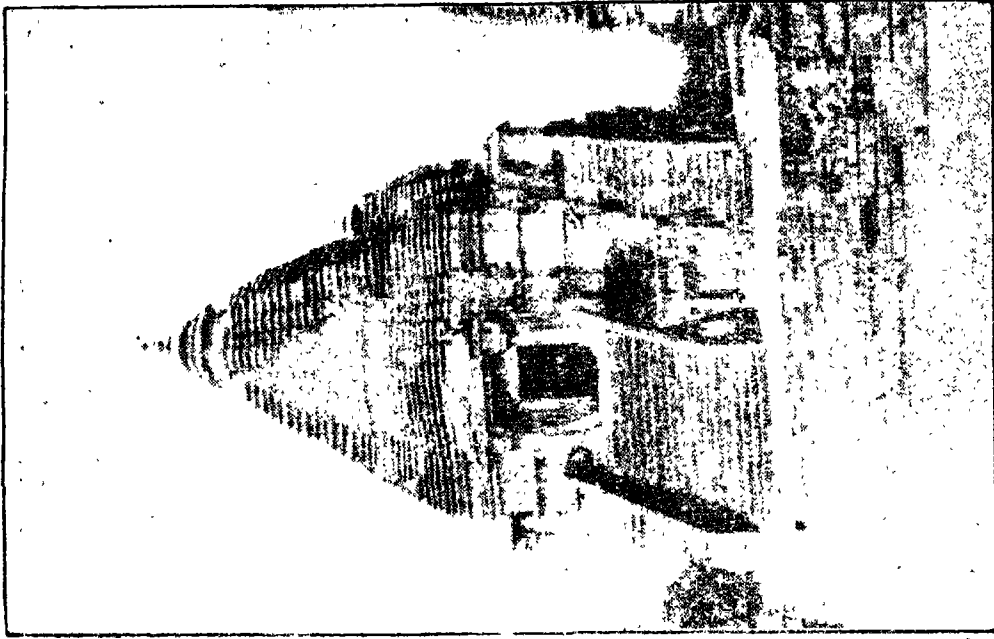
मतंगेश्वर का मंदिर
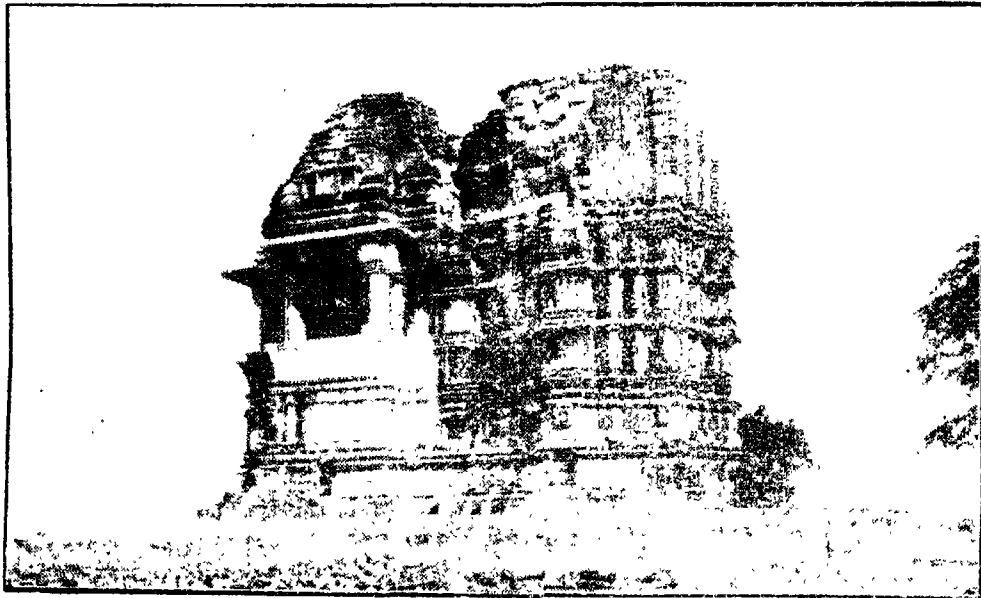
जटकरा का मंदिर चतुर्भुज

है । मरम्मत सब पत्थर से हुई है और इसके चबूतरे पर पत्थर की चीपें भी लगा दी गई हैं जिससे इसकी शोभा और भी बढ़ गई है । इसका सौंदर्य विशेषतया मूर्ति का बहुत दर्शनीय है ।

नं० (३) लक्ष्मणजी का मंदिर है जिसके चबूतरे के चारों कोनों पर चार और मंदिर हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह एक बड़ा सुंदर मंदिर है और इसकी मुख्य मूर्ति इतिहास-प्रसिद्ध है। यह मंदिर वैष्णव सम्प्रदाय के विश्वासों का प्रत्यक्ष रूप है।

नं० (४) विश्वनाथ के शैव मंदिर का भाग है। इससे लगी हुई एक सीढ़ी भी खड़ी है जिससे इसकी ऊँचाई का विचार हो सकता है। चित्र से इस मंदिर के सौंदर्य का अच्छा पता लगता है। मंदिरों के भागों के चित्र इस कारण लिये जाते हैं कि जिससे उनकी कारीगरी के छोटे-छोटे अंश भी विस्तृत रूप से ध्यान में आ जावें।
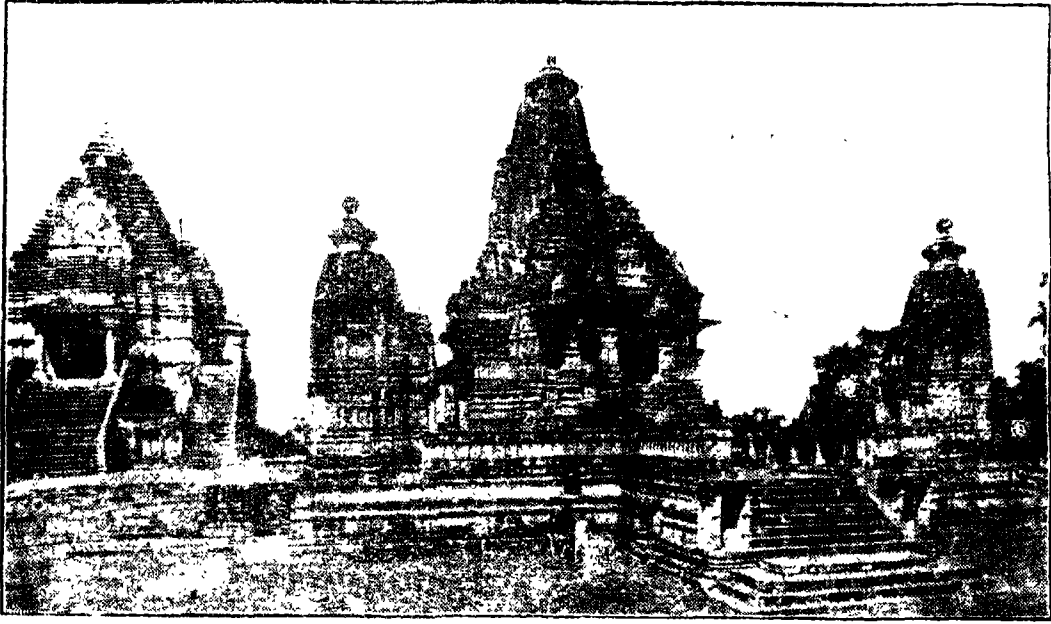
मंदिर लक्ष्मणजी

नं० (४) वामनजी का मंदिर बड़ा ही सुंदर है। इसके भी चबूतरे पर पत्थर की चौपें जड़ी हैं जिनसे इसका सौंदर्य बहुत बढ़ जाता है।

नं० (६) वराह की मूर्त्ति है जिसे गत लेख में हमने अपनी देखी हुई मूर्तियों में सर्वश्रेष्ठ कहा था। इसका चित्र भी बहुत अच्छा आया है। इस चित्र का तथा राशि-चक्र का अँगरेज़ी में विवरण पुरातत्त्व-विभाग के एक उच्च कर्मचारी श्रीयुत पं० भँवरलालजी धामा ने हमारे पास भेजा है। आप हमारे मित्र हैं और संवत् १६७७ से १६८१ की मरम्मत का काम रियासत द्वारा आप ही की अध्यक्षता में हुआ था। राशि-चक्र का उपर्युक्त वर्णन आप ही के कथनों के आधार पर हुआ
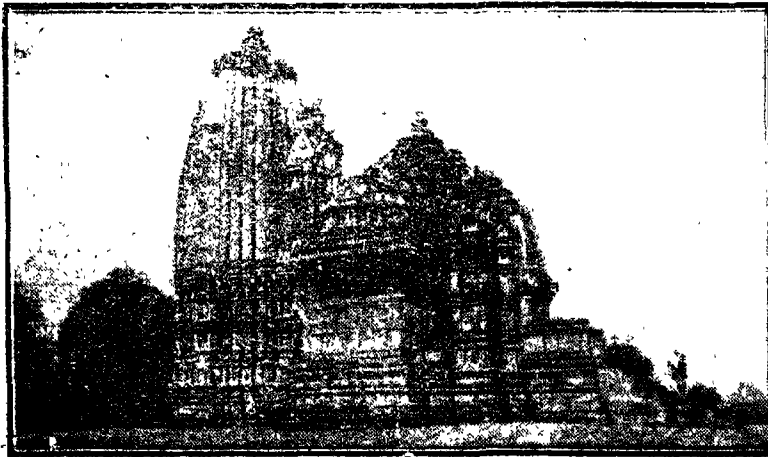
वामनजी का मंदिर

है तथा वराह का जो वर्णन यहाँ किया जाता है वह भी आप ही के कथनों पर अवलंबित है। यह मूर्ति सैंडस्टोन के एक ही खंड से बनी है। यह पौने नौ फ़ीट लंबी तथा ५३/४ फ़ीट ऊँची है। वराहजी के शरीर पर कई चक्कर बने हुए हैं जिनमें देवताओं की मूर्तियाँ खुदी हैं। इन मूर्तियों में ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य, नागों आदि की प्रतिमाएँ हैं तथा बहुतेरे गंधर्व हैं जो माला लिये हुए हैं और वाद्य यंत्रों को बजा रहे हैं। चारों पैरों पर वाहनों समेत दिक्पाल खुदे हैं और उनके ऊपर चतुर्भुज विष्णु की मूर्तियाँ हैं। दाईं और बाईं आँखों पर सूर्य और शिव की मूर्तियाँ हैं। नाक के ऊपर तथा नाक के बग़लों में लक्ष्मीजी की मूर्तियाँ हैं। मुँह के बग़लों में दाँतों के पीछे कानों के नीचे नवग्रह की मूर्तियाँ हैं, जिनमें से कुछ दाएँ हैं और शेष बाएँ। नाक की सीध में सामने वीणा बजाती हुई सरस्वती की मूर्त्ति है। पृथ्वी के पैर मूर्त्ति के मुँह के नीचे उसके पाषाणमय चबूतरे पर बने हैं जिससे प्रकट किया गया है कि पृथ्वी ऊपर उठाई गई, परंतु ऊपर उसकी कोई मूर्त्ति नहीं है। पहले हमने सरस्वती की मूर्त्ति को पृथ्वी की मूर्त्ति समझा थी। पैरों के पास चबूतरे पर वराहजी के शरीर के नीचे उस नागिनी की लंबी मूर्त्ति बनी है जिसने पृथ्वी का ऊपर उठाया जाना रोका था। यह दिखलाया गया है कि नागिनी की दुम तथा उसका मुँह कुछ देवताओं ने कुचला है किंतु ये मूर्त्तियाँ अब नहीं हैं और पूछ भी कुछ टूटी हुई है। इस मूर्त्ति के विषय में पुरातत्व-वेत्ताओं का यही कथन है जिसे हमने अपने गत लेख में चित्ताकर्षक बतलाया था और जिसे प्रिय पाठकों के मनोरंजनार्थ हमने लिखा-पढ़ी करके धामाजी से मँगवा लिया है।
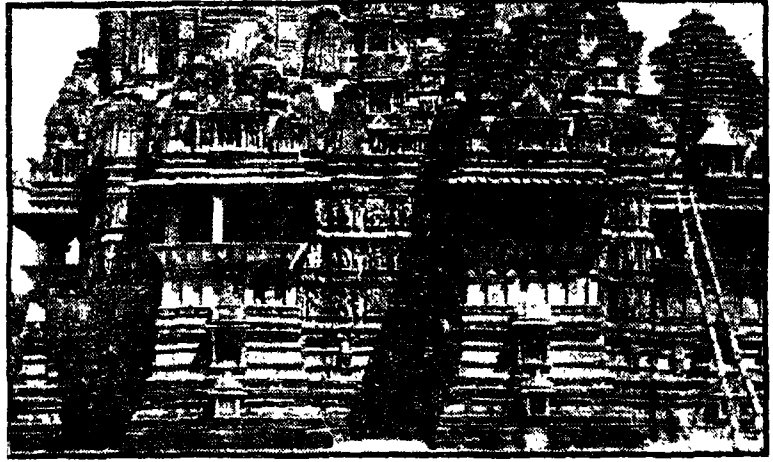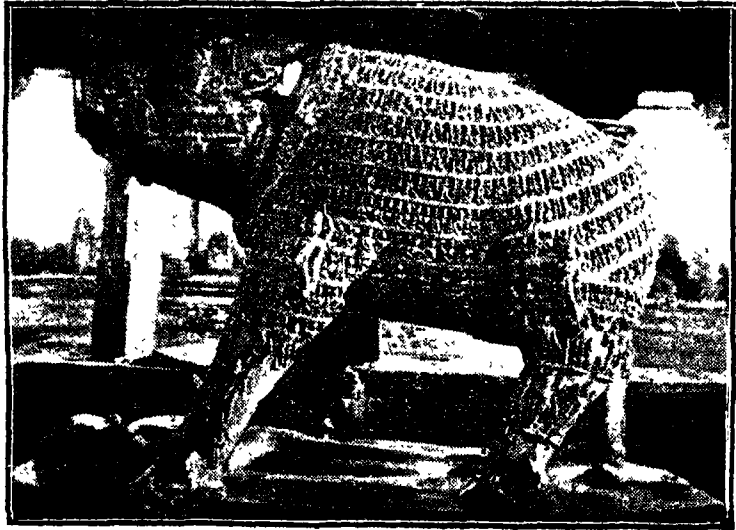
विश्वनाथ-मंदिर

वराह की मूर्त्ति

नं० (७) जटकरा का वही मंदिर है जो नं० (२) है। यहाँ दोनों चित्र पृथक् कोणों से लिये हुए दिए गए हैं।

नं० (८) जवारे का मंदिर खजराहो का मानों नगीना है। यह छोटा-सा परम सुंदर मंदिर खेतों के बीच बहुत ही सोहावना लगता है, विशेषतया उस काल जब खेतों में हरे-हरे गेहूँ के पौधे लहराते हों। इसकी कारीगरी दर्शनीय है।
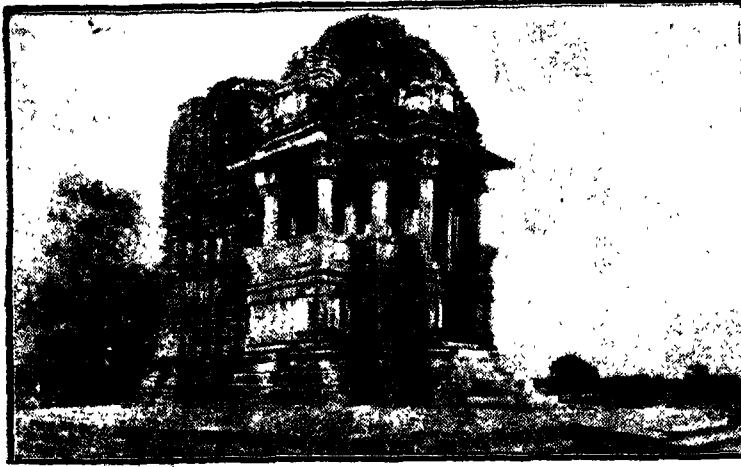
जटकरा का मंदिर

शताब्दी में भारत की परमोच्च कारीगरी का यह मंदिर प्रत्यक्ष साक्षी है । पुरातत्त्ववेत्ता इसे जैन-मंदिर कहते हैं ; किंतु बहुतेरे जैन लोग इसे बौद्ध-मंदिर मानते हैं और इसमें कई ऐसे चिह्न देखते हैं जो उनके मत में नहीं होते । पुरातत्त्वज्ञों का कथन है कि वे लोग साधारण जन समुदाय में से हैं सो उनका ज्ञान संकुचित है और यह जैन-मंदिर ही है । यही कथन मान्य भी है ।

नं० (१०) पारसनाथ का भाग भी जैन-मंदिरों में सर्वोत्कृष्ट

जवारि का मंदिर

घंटाई का मंदिर

नं० (९) घंटाई का मंदिर है जिसकी कारीगरी खजराहो में सबसे महीन है । सातवीं या आठवीं

है । इसके पक्खे की शोभा दर्शनीय है । उस काल के चंदेल-नरेशों की धार्मिक सहिष्णुता का भी इन मंदिरों से अच्छा पता लगता है क्योंकि उन्हीं

के समय में प्रायः एक ही स्थान पर वैष्णव, शैव, शाक्त, सूर्य तथा जैन-मंदिर ऐसे-ऐसे अच्छे, दृढ़ और मूल्यवान् बने जो आज तक संसार को अपनी शोभा से चकित करते हैं।

नं० (११) अजायब घर का फाटक है। यह नया पाषाण का घेरा है जो सं० १६६५ के लगभग बना था और जिसमें सैकड़ों सुंदर पाषाण-मूर्तियाँ खजराहो में एकत्रित हैं। हाल ही में पृथ्वी खोदवाने तथा अन्य प्रकार से हमने भी इसमें प्रायः एक-सौ नवीन मूर्तियाँ रखवाई हैं और रखवाते जाते हैं। इनमें गौतमबुद्ध, वराह, गणेश, सूर्य, विष्णु, गंगा, वामन, शिव-पार्वती, महिषासुरमर्दिनी आदि के चित्र तथा कई पाषाण के फाटक, बाजू आदि बहुत ही दर्शनीय हैं। महाराजा साहब बहादुर खजराहो की उन्नति पर बहुत दत्तचित्त रहते हैं।

कुल मिलाकर खजराहो भारतवर्ष का एक गौरव है। और जो महाशय यहाँ आने का कष्ट उठावेंगे उन्हें इनके दर्शन करके अपने कष्ट पर पश्चात्ताप कभी न करना पड़ेगा।

श्यामविहारी मिश्र
शुकदेवविहारी मिश्र
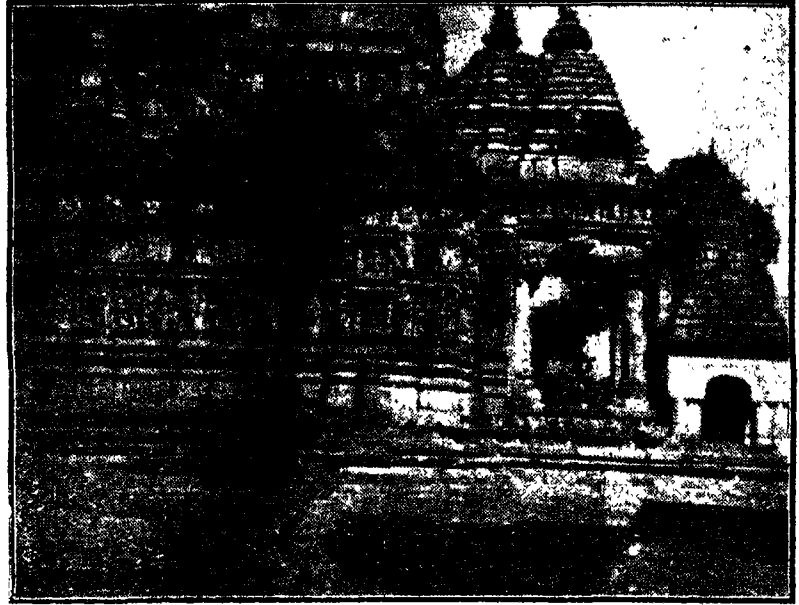
पारसनाथ का जैन-मंदिर

अजायब-घर का फाटक

मारखेइम *

मैं कई प्रकार से लाभ उठाता हूँ। कितने ग्राहक तो अज्ञानी होते हैं। उस समय मैं अपने श्रेष्ठ ज्ञान द्वारा लाभ उठाता हूँ। कितने बेईमान होते हैं"...इन अंतिम शब्दों का उच्चारण करते हुए व्यापारी ने अपना दीपक ऊपर उठाया; दीपक की तेज-पूर्ण ज्योति अभ्यागत के ठीक मुखड़े पर पड़ी।..."और इस दशा में," उसने पुनः कहा, "मैं अपनी चतुराई द्वारा लाभ उठाता हूँ।"

मारखेइम उसी क्षण दीप्यमान प्रकाश में से आया था; उसके नेत्र दुकान की जगमगाहट एवं अंधकार से अभी परिचित नहीं हुए थे। अकस्मात् इन तीखे शब्दों को सुन एवं एकाएक ज्योतिर्मय प्रकाश के सम्मुख पड़ उसके नेत्र झपकने लगे; उसने अपना मुख एक तरफ़ को मोड़ लिया।

व्यापारी मुस्कराया। मुस्कराहट से व्यंग्य एवं हँसी के भाव टपक रहे थे। उसने पुनः कहा—"तुम मेरे यहाँ "बड़े-दिन" पर आये हो। तुम अच्छी तरह जानते हो कि आज के दिन मैं घर पर अकेला ही रहता हूँ, खिड़कियाँ बंद कर लेता हूँ, और कोई भी काम नहीं करता। आज आकर तुमने मेरा समय नष्ट किया है क्योंकि इस समय मैं हिसाब करता होता। दूसरे आज तुम्हारे मुखड़े पर चोरी और बेईमानी का एक विचित्र भाव झलक रहा है। इन बातों के बदले तुम्हें दंड देना पड़ेगा। मैं बड़ा सीधा आदमी हूँ; भद्दे सवाल नहीं किया करता हूँ। लेकिन जब कोई ग्राहक किसी गुप्त कारण-वश मेरी तरफ़ सीधी आँखें उठा नहीं देख सकता, उस समय उसे दंड देना पड़ता है।" यह कह व्यापारी ने पुनः व्यंग्यपूर्ण मुस्कराहट छोड़ी।...सहसा गम्भीर हो उसने पुनः कहा—"सदा की तरह इस बार भी साफ़-साफ़ बताओ कि ये चीज़ें तुमने कहाँ से पाईं। क्या ये भी तुम्हारे चाचा के ही कमरे के हैं। तुम्हारे चाचा ज़रूर एक अद्भुत संग्रह-कर्ता होंगे।"

वह दुर्बल व्यापारी मारखेइम की ओर अपने सुवर्ण-मंडित चश्मों के भीतर से गूढ़ नेत्रों से देख रहा था। मारखेइम ने भी अपने नेत्र उठाए। आँखें चार हुईं। उसकी आँखों में अनंत दया एवं भय के भाव झलक रहे थे।

उसने उत्तर दिया—"पर इस बार तुम्हारा विचार ग़लत है। इस बार मैं बेचने नहीं, ख़रीदने आया हूँ। मेरे पास अब कोई भी अनोखी सौगात नहीं रह गई है। चाचा की कोठरी एकमात्र ख़ाली हो गई। आज का मेरा व्यापार सरल है। "बड़े दिन" के उपलक्ष में मैं एक स्त्री को सुंदर भेंट देना चाहता हूँ। कष्ट माफ़ करना; कल मैं नहीं आ सका था। लेकिन आज किसी तरह भी भोजन के समय तक यह भेंट तैयार रहनी चाहिए। तुम तो ख़ुद जानते होगे कि जब धन-पूर्ण ब्याह की उम्मीद रहती है, तो अधिक चिंता लग जाती है।"

मारखेइम चुप हो गया। व्यापारी भी उस समय मौन-भाव से मारखेइम के इस कथन के सत्यासत्य की अपने मस्तिष्क में मीमांसा कर रहा था। पूर्ण निस्तब्धता छा रही थी। केवल कमरे में लटकी हुई अनेकों घड़ियों की मिश्रित टिकटिकाहट एवं सड़कों पर दौड़ते हुए बालकों की धीमी ध्वनि ही इस नीरवता को भंग कर रहे थे।

शांति-भंग करते हुए व्यापारी ने कहा—"ख़ैर यही सही। तुम मेरे पुराने ग्राहक हो; और यदि तुम्हारा यह कहना ठीक है कि तुम्हें एक अच्छे ब्याह की उम्मीद है, तो मैं बाधक क्यों बनने जाऊँ? यह देखो तुम्हारी स्त्री के योग्य एक बहुत ही अच्छी चीज़ है। यह "हस्त-दर्पण" पंद्रहवीं सदी का है और एक अच्छे संग्रह-कर्ता द्वारा संग्रह किया गया था। पर मैं इसके विक्रेता का नाम नहीं बताऊँगा क्योंकि वह भी तुम्हारी ही तरह एक अच्छे संग्रहकर्ता का भतीजा था।"

व्यापारी इन निरसे रूखे शब्दों का उच्चारण करते हुए उस हस्त-दर्पण को उठाने के हेतु एक ओर झुका था। उसी समय मारखेइम के समस्त शरीर में एक विद्युत्-सी दौड़ गई। उसका सारा शरीर काँप उठा। सहसा उसके मुख-मण्डल पर अनेकों भावों का एक अद्भुत भयंकर-मिश्रित भाव झलक पड़ा; परंतु जितनी ही शीघ्रतापूर्वक वह भाव उसके मुख-मण्डल पर अंकित

* अङ्गरेज़ी-साहित्य की सर्वोत्तम सात गल्पों में से एक। लेखक की बिना आज्ञा के कोई भी इस गल्प को प्रकाशित नहीं करा सकता।

हुआ था, उतनी ही शीघ्रतापूर्वक विलीन भी हो गया। चिह्न-मात्र तक शेष न रहा। केवल दर्पण को ग्रहण करते समय उसके हाथ तनिक काँप-से रहे थे।

मारखेइम ने बैठे स्वर में कहा – "एक दर्पण !" क्षण-भर को वह रुक गया, एवं इस उक्ति को पुनः भली प्रकार दुहराते हुए कहा—"एक दर्पण ? एक ईसाई के लिये ? नहीं; कदापि नहीं।"

"क्यों नहीं ?" व्यापारी ने पूछा—"क्यों नहीं?"

मारखेइम व्यापारी की ओर एक अद्भुत दृष्टि से देख रहा था। उसने कहा—"तुम पूछते हो" क्यों नहीं ? "क्यों; इधर देखो, इसमें देखो, अपने मुख को देखो। क्या तुम इसे देखना पसंद करते हो ? नहीं; मैं भी नहीं करता हूँ।...कोई भी नहीं करता।"

मारखेइम ने सहसा वह दर्पण व्यापारी के मुख से सटा दिया। व्यापारी प्रथम तो किसी हानि की आशंका से भयभीत होकर दूर कूद पड़ा। पर यह देख कि दर्पण में कोई खराबी न थी वह मुस्करा पड़ा। उसने हास्य-पूर्ण शब्दों में कहा—"तब तो मालूम होता है तुम्हारी मेम साहिबा बहुत ही कुरूप होंगी।"

मारखेइम ने तीखे स्वर में कहा—"मैं तुमसे उपहार की चीज़ माँगता हूँ और तुम मुझे वर्षों का सड़ा दर्पण देते हो। तुम्हारे कुछ भी अक़्ल है ?"......एकाएक शांत होकर उसने पुनः कहा—"अच्छा एक बात बताओ। मुझे अब कुछ-कुछ आभास होता है कि तुम दिल के बड़े दयालु हो। क्या यह बात सच है ?"

व्यापारी ने मारखेइम की ओर बड़े ध्यान-पूर्ण नेत्रों से देखा। आश्चर्य था, मारखेइम के मुख-मंडल पर हास्य का तनिक भी भाव न था। उसके चेहरे पर व्यंग्य-हास्य की ज्योति न थी। उसके मुख पर चमक रही थी एक "आशा" की ज्योति।

व्यापारी ने क्रुद्ध होकर पूछा—"तुम क्या बक रहे हो ?"

मारखेइम ने अति ही द्रवित हृदय से पूछा—"तो क्या दयालु नहीं हो ? न पवित्र ? न बुद्धिमान् ?...केवल निर्मोही ? अधम ? केवल द्रव्य अपनाने के हाथ और उसे सुरक्षित रखने के बक्स ?...बस इतना ही ?...आह ईश्वर ! क्या मनुष्य इतना ही है ?"

व्यापारी ने कुछ तीखे क्रुद्ध शब्दों में कहा—"मैं अभी बताता हूँ, मैं क्या हूँ।"...पर वह शीघ्र ही मुस्करा पड़ा। उसने हँसते हुए कहा—"परंतु मैं देखता हूँ तुम प्रेम-जाल में खूब फँस गये हो। मालूम होता है अपनी स्त्री के स्वास्थ्य के नाम पर अधिक मदिरा-पान कर गये हो।"

"अह !" मारखेइम ने अद्भुत आश्चर्य से पूछा—"क्या तुम कभी प्रेम-जाल में बँधे थे ? क्या सचमुच ?"

"मैं ?" व्यापारी ने चिल्लाकर कहा—"मैं और प्रेम में फँसूँ ? मुझे इसके लिये कभी समय ही नहीं मिला, न कि आज भी इस बेहूदे काम के लिये समय है। क्या दर्पण लोगे ?"

मारखेइम ने कहा—"जल्दी क्या है ? यहाँ खड़े-खड़े बात करने में बड़ा आनंद मिलता है। जीवन इतना क्षण-भंगुर है कि मैं इसका एक क्षण भी खोना नहीं चाहता। आओ, हम एक दूसरे की बात करें, आज भेद-भाव कपट सब छोड़ दें। कौन जानता है, शायद हम तुम मित्र बन जायँ।

व्यापारी ने गुस्साकर कहा—"मुझे तुमसे सिर्फ़ एक बात कहनी है। या तो तुम चीज़ ख़रीदो, या तुरंत कमरे से बाहर हो जाओ।"

मारखेइम ने भी शीघ्र ही कहा—"बिलकुल ठीक। बहुत गप्प हुई। अब अपना काम करना चाहिए। अच्छा, मुझे कोई दूसरी चीज़ दिखाओ।"

व्यापारी एक बार पुनः दर्पण रखने के हेतु नीचे झुका। मारखेइम उसके कुछ निकट खिसक आया। उसका एक हाथ उसके कोट की जेब में था। उसने दम भरकर साँस भरी। उस समय अकस्मात् कितने ही भाव उसके मुख-मण्डल पर अंकित हो उठे...भय, त्रास, दृढ़ता, आकर्षण, हटाव (घृणा) के विपरीत भाव उसके चेहरे पर चमक रहे थे। उसके सूखे हुए अधर-पल्लवों के बीच से उसके दाँत दीख पड़े।

"शायद, यह तुम्हारे काम का हो" यह कह व्यापारी पुनः उठने लगा। पर उसी क्षण मारखेइम उस पर व्याघ्र की नाईं टूट पड़ा। लपलपाती कटार चमक उठी। दूसरे ही क्षण वह रक्त से लथपथ दीख पड़ी। व्यापारी मुर्गी की भाँति नाच उठा। उसका शिर आलमारी से टकरा पड़ा, वह पृथ्वी पर ढेर हो गया।

पूर्ण सन्नाटा छा गया। केवल घड़ियाँ ही अपनी टिक-टिक की आवाज़ करने में व्यस्त थीं। उनकी ध्वनि एक सम्मिलित गान सी प्रतीत होती थी। ...मारखेइम

निस्तब्ध भाव से खड़ा रहा। एकाएक एक सड़क पर दौड़ते बालक के पैरों की गम्भीर ध्वनि से उसकी ध्यान-शृङ्खला भंग हुई। उसने अपने चारों ओर भयपूर्ण नेत्रों से देखा। दीपक मंद ज्योति से जल रहा था। वायु दीपक की ज्योति से कल्लोल कर रही थी। ज्योति के फहराने से सारे कमरे का दृश्य समुद्र की लहरों की भाँति हिल रहा था। चित्रों, वर्तनों के हिलते प्रतिबिम्ब दीवाल पर हिलते जल में छाया की भाँति नाच रहे थे। कमरे की समस्त वस्तुओं को एक अद्भुतरूप में उछलते नाचते देख मारखेड्म का हृदय भय से दबा जा रहा था। वह आँखें फाड़-फाड़ कर चारों ओर देख रहा था।

एकाएक उसकी दृष्टि मृतक पर पड़ी। व्यापारी का शरीर मिट्टी के ढेर की तरह पड़ा हुआ था। मारखेड्म एकटक उसी ओर निहारने लगा। निहारते-निहारते वह अकस्मात् ही काँप उठा। उसे सहसा ज्ञात हुआ कि उस धूल की ढेरी में बोलने एवं हिलने की शक्ति आ गई। वह भय से पीछे उछल पड़ा। उसे आशंका हुई कहीं मृतक अपने तेज़ शब्दों में सारे विलायत में हत्या का ढिंढोरा न पीट दे। वह सचमुच काँपने लगा। ...पर धीरे-धीरे उसे सत्यता प्रतीत हुई। उसने सोचा "अब मृतक कदापि नहीं उठ सकता; समय कम है, अपना काम करना चाहिए।"

उसी समय घड़ियाँ बज उठीं। किसी ने धीमी एवं किसी ने तेज़ ध्वनि में तीन का घंटा ठोंक दिया। एकाएक इतनी घड़ियों के एक साथ बज उठने से मारखेड्म पुनः चौंक पड़ा। उसने दीवाल पर दृष्टि डाली। देखा उसका प्रतिबिम्ब दीवाल पर एक भयंकर रीति से नाच-कूद रहा है। भय एवं घृणा से उसने दृष्टि फेर ली। परंतु दूसरी ओर भी लटकते हुए विशाल दर्पण में उसे अपनी डरावनी सूरत दीख पड़ी। उसने उधर से भी अपना मुख मोड़ लिया। पर जिधर ही वह मुँह मोड़ता उधर ही, किसी-न-किसी प्रकार, उसे वही भयावना मुख दीखता। वह विह्वल हो उठा। उसने भागने की चेष्टा की; पर पैर पृथ्वी से जकड़ से गए। वह भाग न सका।...उसके मस्तिष्क में अनेकानेक चिंताएँ आने लगीं—"मैंने भूल की; मुझे किसी अन्य एकान्त समय में आना चाहिए था।...मुझे कटार नहीं वर्त्तनी चाहिए थी।...अच्छा होता, यदि मैं उसकी हत्या ही न करता; केवल उसे बाँध कर ही छोड़ देता।...अह! तनिक और साहस कर नौकर की भी हत्या कर डालता...ओफ़! मुझे सब काम ही दूसरी तरह से करना चाहिए था।" सोचते-सोचते उसका सिर घूमने लगा। वह पागल सा हो उठा। संग-संग उसे भविष्य की भी चिन्ता लग रही थी—"आह! मुझे पुलिस पकड़ ले जायगी।...मारा जाऊँगा...फाँसी पर चढ़ा दिया जाऊँगा...अह! अह!! कितनी भयंकर यातना होगी।" एक ही क्षण में उसके सम्मुख ये सारे चित्र नाच उठे।

वह पुनः पागलों की भाँति सोचने लगा—"यदि किसी ने सुन लिया हो तो? ...पर...नहीं, यह सम्भव नहीं। सब अपने-अपने काम में लगे होंगे, अपने आनन्द में व्यस्त होंगे; उन्हें इससे क्या मतलब।" घड़ियाँ ज़ोर-ज़ोर से टिकटिका रही थीं। मारखेड्म ने उन्हें दौड़कर बंद कर दिया। पूर्ण नीरवता छा गयी। ...पर दूसरे ही क्षण उसे वह निस्तब्धता काटने दौड़ी; नीरवता उसे और भी भयभीत प्रतीत हुई। वह सोचने लगा—"कमरे में सन्नाटा सुन सबको आश्चर्य होगा; कोई देखने चला आवे तब। ...और सन्नाटे में मैं अपना काम भी तो नहीं कर सकता। ज़रा भी आवाज़ हुई और सबने सुना। ऐसे तो सब छिप जायगा।"

उसके हृदय में द्वन्द्व मच रहा था। उसके चित्त का एक भाग तो ज्ञान एवं चातुर्य से परिपूर्ण था परंतु दूसरा भय एवं पागलपन से दबा जा रहा था। एक भयंकर ध्यान उसे सता रहा था—"कहीं पड़ोसी अपनी खिड़की द्वारा कुछ देख न रहा हो, कहीं पथिक उसके शब्दों को सुन न रहे हों।" उसे भय होने लगा "कहीं ईंट की दीवाल को पार कर शब्द बाहर तक न सुनाई दे जाय।" वह जानता था, भली प्रकार जानता था कि वह गृह में अकेला ही है। उसने देखा था कि नौकरानी छुट्टी पाकर हँसती-खेलती अपने घर की ओर जा रही थी। वह दृढ़ था कि वह अकेला ही है। पर तो भी उसे उस निर्जन कमरे में किसी के पैरों की धीमी आहट मालूम होती थी। उसका ध्यान उसे चारों ओर नचा रहा था। उसे प्रतीत हुआ उसके संमुख कोई बिना सूरत की मूर्ति खड़ी है। "पर यह क्या, उसमें तो बोलने की शक्ति है। हैं, यह तो कोई पूर्व-परिचित सूरत है...अरे, यह तो व्यापारी ही है, मेरी ओर घृणा एवं क्रोध के नेत्रों से घूर रहा है।"

एकाएक किसी ने दुकान के बाहरी द्वार पर ज़ोर से थपकी देते हुए व्यापारी को पुकारा। मारखेइम का समस्त शरीर भय से बर्फ़ की तरह ठंडा पड़ गया। उसने भय-भीत होकर मृतक की ओर देखा।...पर नहीं, मृतक तो ढेर हो रहा था; वह ध्वनि की पहुँच से अनन्त दूरी पर था, वह निस्तब्धता के गहरे समुद्र में डूब गया था और वही ध्वनि जिसे वह अन्धड़ में भी सुन सकता था, उसके लिये अब "शून्य" मात्र थी।...उत्तर न पा, वह मनुष्य चला गया।

इस घटना ने मारखेइम को संकेत किया—"शीघ्र ही शेष कार्य कर डालो एवं भागकर जनता में जा मिलो। अभी तो एक ही मनुष्य आया था, वह लौट गया। संभव है, कितने ऐसे मनुष्य आवें जो व्यापारी से मिले बिना न फिरें "कार्य करना, पर उसका फल न पाना एक घोर असफलता है।" इस समय मारखेइम को दो ही वस्तुओं की चिन्ता थी—"द्रव्य और उसके पाने के हेतु चाभी।"

मारखेइम ने द्वार की ओर दृष्टिपात किया। अपनी शंका भलीभाँति दूर कर ली एवं कम्पित हृदय से मृतक के निकट बढ़ा। उसका चित्त उस समय अभिज्ञ घृणा एवं अनिच्छा से परिपूर्ण था; पर कोई अदृश्य शक्ति उससे सब कार्य करा रही थी। मृतक के मुख-मण्डल की मानुषिक आभा शून्य हो गई थी; वह निर्जीव वृक्ष-शाखा की भाँति पृथ्वी पर पड़ा हुआ था। तथापि मारखेइम को भय प्रतीत होता था। उसे आशंका हो रही थी कि स्पर्श करते ही कहीं उसमें जीव न आ जाय। उसने धीरे से मृतक शरीर को पलट दिया। शरीर हलका और कोमल था। उलटते ही उसके सारे अङ्ग शरीर से विलग हो जाने की भाँति, एक अद्भुत कुरूप दशा में बिखर-से गये। मुखड़े पर तनिक भी भावुकता न थी; सारा मुख-मण्डल पीत-वर्ण हो रहा था, एवं ललाट रक्त से रँगा हुआ था। मारखेइम को यह दृश्य अति ही अप्रिय ज्ञात हुआ। एकाएक उसके नेत्रों के संमुख अनेकों चित्रपट नाच उठे। उसने हत्याओं के कितने चित्र देखे थे, कितने वास्तविक दृश्य देखे थे। चित्रों एवं घटनाओं को देख उसका बाल-हृदय दया और क्षोभ से परिपूर्ण हो जाया करता था। पर आज उसने स्वयं ही ऐसा भीषण काण्ड रच डाला। उसका शिर नाच उठा; उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शिथिलता आने लगी।

पर अपने मस्तिष्क की भावनाओं को अपने हृदय की दुर्बलता को दबा रखना ही उसने श्रेयस्कर समझा। वह मृतक शरीर को नेत्र गड़ाकर देखने लगा। वही शरीर जो तनिक-तनिक-सी भावनाओं पर तमक उठता था, आज एक प्रकार से नेत्रहीन हो रहा था। मारखेइम ने इस बार निश्चय कर लिया; वह दृढ़ हो गया। उसके हृदय में अब शोक-चेतनता न रही; वही हृदय जो "घटनाओं" को सुनकर काँप उठता था; आज "वास्तविकता" को भी देख दृढ़ रहा। पहिले उसने सोचा था "इसकी हत्या कर मैंने महान् पाप किया।" पर अब उसका विचार बदल गया। "ऐसे हृदय-हीन निरर्थक पुरुष का संसार में न रहना ही उत्तम है।" मारखेइम के हृदय में व्यापारी के प्रति तनिक-सी करुणा अवश्य थी; पर पश्चात्ताप, कम्पन-भाव का लेशमात्र तक न था।

उसी क्षण उसने अपनी सभी दुर्बल भावनाओं को एक साथ ही तोड़ डाला। वह खुले द्वार की ओर झपटा। बाहर घोर वर्षा हो रही थी। छप्पर पर जल-पात की आवाज़ से सारी निस्तब्धता दूर हो गई थी। सारा कमरा वर्षा की गंभीर ध्वनि से गूँज उठा। घड़ियों की टिकटिकाहट एक प्रकार से लोप हो गई।... मारखेइम जैसे ही द्वार के निकट पहुँचा, उसे सीढ़ी पर किसी के पैरों की आहट सुनाई पड़ी। उसका हृदय काँप उठा। सारे शरीर में बल-पूर्वक शक्ति-संचार कर वह पीछे लौट आया।

सूर्य का धीमा धुँधला प्रकाश फ़र्श एवं सीढ़ियों पर जगमगा रहा था। कमरे में अनेकों प्रकार के लटके हुए कवच, चित्रित काष्ठों, एवं जड़ित चित्रों पर एक अद्भुत ही आभा दीख पड़ती थी। वर्षा-ध्वनि इतनी गंभीर थी कि मारखेइम के कानों में समय-समय पर अन्य-अन्य ही ध्वनि प्रतीत होती। कभी ध्वनि, पैरों की आहट-सी ज्ञात होती; कभी सिसकने-सी; कभी सेनादल के जूतों की चरमराहट-सी, कभी गिनते समय द्रव्य की झन्कार-सी; तो कभी द्वारों की चरचराहट-सी। इस ध्यान ने कि वह अकेला नहीं था उसे पागल बना दिया, चहुँदिशि उसे किसी-न-किसी की उपस्थिति ही ज्ञात होती। उसे ज्ञात होता—"ऊपर-वाले कोठे में कोई दौड़ रहा है, दूकान में व्यापारी उठ बैठा है।" उसने शीघ्र ही ऊपर चढ़ने की चेष्टा की; पर पैर अग्रसर न हो सके, वह पीछे ही लौट आया।

उसने सोचा—"यदि बधिर होता, तो कितनी ही शांति-पूर्वक सब कार्य कर लेता।" तत्क्षण दूसरा ध्यान आया—"नहीं ; ईश्वर को धन्यवाद है, मेरे कान रक्षक का कार्य करते हैं। उसके हृदय में ऐसे-ही-ऐसे विपरीत भाव आ रहे थे। शिर घूम रहा था, नेत्र नाच रहे थे। चारों ओर उसे किसी अदृश्य वस्तु की पूँछ-ही-पूँछ दीखती थी। चौबीस सीढ़ियों का चढ़ना उसे चौबीस संताप-भोग-सा प्रतीत होता था।

ऊपर के तीनों द्वार गुप्त चोरों की भाँति खुले पड़े थे। मारखेइम के हृत्तंत्री के प्रत्येक तार भय से काँप उठे। उसे दृढ़ निश्चय हो गया कि वह अब किसी प्रकार भी मनुष्यों की दृष्टि से नहीं बच सकता। उसे इच्छा हुई—"घर भाग जाऊँ, द्वार बंद करके बिस्तरे में घुस पड़ूँ, जिसमें ईश्वर के सिवाय मुझे कोई अन्य न देख सके।" इसी समय उसे और भी हत्याओं की स्मृति हो आई। उसने कितनों को कहते सुना था—"ईश्वर इसका भीषण बदला लेता है।" पर मारखेइम के हृदय में इस समय इसका तनिक भी भय नहीं था। उसे भय था "कहीं पैर फिसल न पड़े जिसकी ध्वनि से वह पकड़ा जाय।" उसे भय था "उसके पैरों की ठोकर से कोई वस्तु गिरकर मनुष्यों को विदित न कर दे कि गृह में कोई घुसा है।" उसे आशंका थी—"कहीं प्रकृति ही न रंग बदल जाय—यही तो नेपोलियन की दशा में हुआ था, शरदृतु अपने नियमित समय से पूर्व ही आ पहुँची थी।" उसे डर था—"कहीं दीवाल पारदर्शक न हो जाय और उसकी सब करतूत ज्ञात हो जाय। उसे भय था, कहीं फ़र्श में छिद्र न हो जाय और उसके पैर उसी में फँस जायँ। उसे आशंका थी—"कहीं छप्पर न टूट पड़े और वह वहीं क़ैद हो जाय।" उसे डर था—"कहीं लुटेरे द्वार में आग न लगा दें एवं घर पर चारों ओर से आक्रमण न कर दें।" उसे इसी प्रकार की अनेक यंत्रणाएँ सता रही थीं। पर उसे ईश्वर पर पूर्ण भरोसा था। उसने हत्या "विशेष" कारणों से की थी ; उसने पृथ्वी को एक निरर्थक जीव के बोझ से हलका किया था। मनुष्यों के पास नहीं ; पर ईश्वर के सम्मुख उसे न्याय का पूर्ण भरोसा था।

मारखेइम ने ऊपरवाले कमरे में घुस भीतर से द्वार बंद कर लिया। उस समय उसे कुछ सांत्वना-सी प्रतीत हुई। कमरे की सारी वस्तुएँ इधर-उधर छितरी पड़ी थीं। अद्-भुत बक्स, बेमेल कुर्सियाँ, विशाल दर्पण, जड़ित-अजड़ित चित्र इत्यादि अनेक वस्तुएँ बिखरी हुई थीं। खिड़कियाँ खुली थीं। पर भाग्य-वश उनके नीचेवाले द्वार बंद थे। मारखेइम वहीं पर चाभियाँ खोजने लगा। कार्य कठिन था क्योंकि चाभियों की संख्या अपरिमित थी। तथापि उसने धैर्य न खोया। रह-रहकर वह द्वार की ओर देख लेता। उस समय उसे किसी प्रकार का भी भय नहीं था ; वह प्रसन्न था। शीतल समीर-युत वर्षा उसे अति ही प्रिय प्रतीत होती थी। उसी समय पड़ोस में पियानो बज उठा। पियानो की सुरीली तान एवं गायकों की सुमधुर वाणी उसे स्वर्ग-सम प्रतीत हुई। वह आनंद-सरिता में गोते खाने लगा। सीटी बजाते, गिर्जा जाते हुए बालकों, मैदान में प्रसन्नचित्त उछलती हुई बालिकाओं, सरिता-तट पर स्नान करते हुए मनुष्यों एवं गिर्जे में ईश-स्तुति की सुरीली ध्वनि के चित्र एक-एक करके उसके नेत्रों के संमुख नाच उठे। कुछ समय के लिये वह संसार की सुध-बुध भूल गया।

मारखेइम का हृदय स्वर्ग में उड़ रहा था। एकाएक वह चौंककर उछल पड़ा। उसके सारे शरीर में आशंका, भय, आश्चर्य की विद्युत दौड़ गई। वह मूर्त्तिवत् हो काँपने लगा। उसे सीढ़ियों पर किसी के पैर की आहट सुनाई पड़ी। तत्क्षण उसे ज्ञात हुआ किसी ने ताला खोलकर द्वार खोल डाला।

भय से उसका सारा शरीर बर्फ़ की तरह ठंढा पड़ गया। आशंका होने लगी—"कहीं मृतक तो जीवित न हो उठा ; कहीं पुलिस तो न आ गई ? एकाएक कमरे में किसी की छाया दीख पड़ी। उस मूर्त्ति ने कमरे में पदार्पण करते ही कमरे में चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, मारखेइम की ओर देख व्यंग्यपूर्ण मुस्काया, मानो पूर्व-परिचित मित्र हो, एवं द्वार बंदकर पुनः बाहर चला गया। मारखेइम के साहस का बाँध टूट पड़ा। वह भय से चीख पड़ा। चीखते ही आगंतुक पुनः भीतर चला आया।

भीतर आ, द्वार को अंदर से बंद करते हुए उसने हास्य-पूर्ण शब्दों में पूछा—"क्या तुमने मुझे पुकारा था ?"

मारखेइम उसकी ओर एकटक निहारने लगा। संभवतः उसकी आँखों में कुछ धुँधलापन आ गया।

आगंतुक का मुख उसे भली प्रकार नहीं दीखता था। कमरे की हिलती दीप-ज्योति की भाँति उस छाया-मूर्त्ति का भी मुखड़ा हिलने एवं बदलने लगा। मारखेइम को आभास हुआ, "यह मुख कुछ पूर्वपरिचित है।" पुनः उसे ज्ञात हुआ—"नहीं, यह तो मेरे ही समान है।" उसके हृदय में दृढ़ विश्वास था कि वह आगंतुक न तो मृत्यु-लोक का है, न देव-लोक का।

पर आगंतुक के चेहरे पर साधारणता टपक रही थी; वह मारखेइम की ओर साधारणरूप से देख रहा था। उसने अति ही नम्र शब्दों में पूछा—"शायद तुम रुपयों की खोज में हो।"...मारखेइम ने कुछ भी उत्तर न दिया।

आगंतुक-स्वरूप ने पुनः कहा—"मैं तुम्हें सावधान किए देता हूँ कि नौकरानी आज रोज़ के समय से पहिले ही घर से चल चुकी है और यहाँ शीघ्र ही आ जायगी। और यदि मारखेइम महाशय इस घर में पकड़े गए, तो... यह बताने की ज़रूरत ही नहीं कि फिर क्या होगा।"

हत्यारा चिल्ला पड़ा—"क्या तुम मुझे जानते हो?"

आगंतुक ने मुस्कुराते हुए कहा—"तुमसे मेरा बहुत दिनों से परिचय है। समय-समय पर तुम्हें मैं सहायता भी देता आया हूँ।"

मारखेइम पागलों की भाँति चिल्ला पड़ा—"तुम कौन हो? शैतान?"

दूसरे ने उत्तर दिया—"इस समय जो मैं तुम्हारी सहायता करना चाहता हूँ उसके लिये यह बताने से कुछ मतलब नहीं कि मैं कौन हूँ।"

मारखेइम ने कहा—"मतलब! क्यों नहीं?...अवश्य है। सहायता! तुमसे सहायता लूँ?...नहीं,—कदापि नहीं। तुम मुझे नहीं जानते; ईश्वर को धन्यवाद है कि तुम मुझे अभी तनिक भी नहीं पहिचानते।"

आगंतुक ने रुखाई परंतु दृढ़ता-पूर्वक कहा—"मैं तुम्हें जानता हूँ; तुम्हारी आत्मा तक को जानता हूँ।"

मारखेइम ने कहा—"मुझे जानते हो? हँह, मुझे कौन जान सकता है? मेरा जीवन तो सिर्फ़ उपहास का विषय और कलंक की वस्तु है। मैं तो अपनी प्रकृति को छिपाए रहता हूँ। पर ऐसा तो सभी करते हैं। यदि आदमी का वश हो, तो उसकी सूरत से सदा यही मालूम हो कि वह बड़ा वीर और साधु है। वही हालत मेरी है। मैं अनेकों से बुरा हूँ। लेकिन मेरे बुरे होने के कारण, मुझे और ईश्वर को ही मालूम हैं। अगर समय होता, तो तुम्हें भी सब बातें भली प्रकार बता देता।"

आगंतुक ने पूछा—"मुझे?"

मारखेइम ने उत्तर दिया—"हाँ?...तुम्हें; और सबके सामने। मैं तो समझता था तुम बुद्धिमान् होगे; सबके दिल की बातें जान सकते हो। पर तुम तो निरे बुद्धू हो। इसी बिरते पर तुम मेरी करतूतों की बात कर रहे थे? सोचो, सोचो; मेरी करतूतों को भली प्रकार सोचो। जिस दिन से मैं जन्मा हूँ उसी दिन से मुझे दुःख सता रहे हैं।...क्या तुम मुझे मेरी करतूतों से ही पहिचान सकते हो? क्या तुम मेरी आंतरिक बात भी जान सकते हो? क्या तुम्हें मालूम है कि मैं पापों से घृणा करता हूँ?

उत्तर मिला—"बातें तुमने बड़े ही करुणभाव से कहीं। पर इससे मुझे कुछ मतलब नहीं। मुझे यह जानने से कुछ मतलब नहीं कि किन कारणों से तुमने यह कार्य किया है।...याद रक्खो समय बीता जा रहा है। यद्यपि नौकरानी बीच-बीच में रुकती आ रही है, तथापि वह अब निकट ही है। मैं सब जानता हूँ; क्या तुम्हें रुपए पाने में सहायता करूँ?"

मारखेइम ने पूछा—"इस सहायता के लिये तुम मुझसे क्या लोगे?"

दूसरे ने उत्तर दिया—"कुछ नहीं; बड़े दिन के उपलक्ष में योंहीं कर दूँगा।

मारखेइम ने विजय की हँसी हँसी। उसने कहा—"नहीं; मैं तुमसे सहायता नहीं लूँगा। यदि मैं प्यास से मरता रहूँ, तो भी यदि "तुम" पानी भरकर लाओ, तो मैं दृढ़ता-पूर्वक पीने से इन्कार कर दूँगा। शायद तुम विश्वास न करो; पर मैं अब पाप का कोई भी काम न करूँगा।"

आगंतुक ने उत्तर दिया—"तुझे पश्चात्ताप में तनिक भी आपत्ति न होगी।"

"क्योंकि तुम उनके प्रभाव में विश्वास नहीं करते," मारखेइम ने दृढ़ भाव से उत्तर दिया।

दूसरे ने कहा—"नहीं, मैं यह नहीं कहता। मैं इन बातों को दूसरी तरह से देखता हूँ। मृत्यु के बाद मुझे किसी से कुछ मतलब नहीं रह जाता।...मनुष्य जन्म भर बुराई करता है। मरने के समय वह "एक" अच्छा कार्य कर सकता है। वह कार्य है पश्चात्ताप कर हँसते हुए मरना। मैं कठोर नहीं हूँ,

मेरी परीक्षा कर देखो। मेरी सहायता मंजूर करो। जन्म भर खूब आनन्द उठाओ। बस, मरते समय ईश्वर को साक्षी दे हृदय से पश्चात्ताप कर डालो। पापी से पापी जीव भी मुक्त हो जाता है।

मारखेइम ने उत्तर दिया—"तो क्या तुम मुझे भी ऐसा ही पापी समझते हो? क्या तुम समझते हो कि पाप करने के सिवाय मेरे हृदय में कोई ऊँची भावनाएँ ही नहीं हैं? मुझे इस बात पर घृणा होती है। क्या तुम्हें जीवन का इतना ही अनुभव है? या तुम मुझे इस कारण नीच समझते हो कि मैं पाप करते पकड़ा गया हूँ? क्या यह हत्या का कार्य इतना अपवित्र है कि भलाई का स्रोत ही सूख जाय?"

आगंतुक ने उत्तर दिया—"हत्या को मैं कोई विशेष बात नहीं समझता। सब पाप हत्या हैं। मेरे लिये सभी पाप बराबर हैं। नाचने जाने के लिये अपनी माता के मना करने पर सुंदरी युवती का अपने माँ का तिरस्कार करना भी मेरे लिये उतना ही पाप-युक्त है जितना तुम्हारा यह हत्या-काण्ड। क्या मैं कहता हूँ कि मैं पापों की ही फ़िक्र करता हूँ? मैं गुणों, पुण्यों की भी चिंता रखता हूँ। पर मृत्यु के संमुख दोनों ही बराबर हैं। पाप करतूतों में नहीं होता, चाल-चलन में। मुझे पापी "मनुष्य" प्यारा है, न कि पापी "करतूत"। और मैं तुम्हारे बचाव में सहायता इसलिये नहीं करता हूँ कि तुमने व्यापारी की हत्या कर डाली है; परन्तु इसलिये कि तुम मारखेइम हो।"

मारखेइम ने कहा—"आज मैं अपना सारा हृदय तुम्हारे संमुख खोले देता हूँ। यह पाप, जिसे करते तुमने मुझे पकड़ा है, मेरा अंतिम पाप है। इस पाप से मुझे बड़ी भारी शिक्षा मिली है। दरिद्रता के मारे मैं भूखों मर रहा था, इसीलिये मैं यह काम करने पर तैयार हुआ। अब तक मुझे भोग की अभिलाषा थी। पर आज मुझे एक नई शक्ति मिल गई है। अब मैं सब समझने लगा हूँ, अब मैं एकदम से बदल गया। आज मेरे हाथों में भलाई का चिह्न है। मेरे हृदय में इस समय शांति है। आज तक मैं ठोकरें खाता फिरा। पर आज मुझे अपने सौभाग्य का पता चल गया।"

आगंतुक ने कहा—"शायद इन रुपयों को तुम विनिमय-शाला में ले जाओगे। यदि मैं भूलता नहीं, तो वहाँ शायद तुम बहुत रुपये पानी में बहा आये होते।"

मारखेइम ने उत्तर दिया—"आह! पर इस बार मैं निश्चल हूँ।"

"पर इस बार भी तुम उसे खो आओगे"—आगंतुक ने धीरे से कहा—

"पर इस बार आधा मैं अपने पास रख लूँगा।"

"तुम उससे भी हाथ धो बैठोगे"

मारखेइम के ललाट पर पसीने की बूँदें छिटक पड़ीं। "तो हर्ज़ ही क्या है?" उसने चिल्लाकर कहा—"मान लो कि वह भी खो जाय, मैं फिर दरिद्रता के गड्ढे में गिर पड़ूँ; पर क्या मेरी बुरी भावनाएँ अन्त समय तक मेरी अच्छी भावनाओं को दबाये रक्खेंगी? पाप-पुण्य मुझमें दोनों हैं। मैं दोनों को ही प्यार करता हूँ। मैं अक्सर मुक्ति और धर्मार्थ जीवन-प्रदान की सोचा करता हूँ। यद्यपि मैं हत्यारा हूँ तथापि मेरे दिल में दया का भी भाव है। मैं दरिद्रों पर दया करता हूँ, उनसे सहानुभूति दिखाता हूँ, उनकी सहायता भी करता हूँ। मैं प्रेम की पूजा करता हूँ। मैं दुनियाँ की सभी अच्छी चीज़ों को प्यार करता हूँ। क्या पाप ही मेरी जीवन-नौका पार लगाएँगे? क्या मेरे पुण्यों का मेरे ऊपर कुछ भी प्रभाव नहीं? नहीं, नहीं; मेरे हृदय में अच्छे कामों का भी स्रोत है।"

पर आगंतुक ने अपनी तर्जनी उठाकर कहा—"छत्तीस वर्षों से मैं तुम्हें देखता आ रहा हूँ। पन्द्रह वर्ष पहिले तुम चोरी की बात सुनकर काँप उठते थे, तीन वर्ष पहिले हत्या के नाम से घृणा करते थे; पर अब क्या कोई भी ऐसा अपराध है, कोई भी ऐसी निठुरता है जिसे करने से तुम पीछे हटते हो? आज से पाँच वर्ष बाद भी मैं तुम्हें इसी दशा में पकड़ूँगा। पाप के गड्ढे में गिरना ही तुम्हारा सौभाग्य है। मृत्यु के सिवाय तुम्हें और कोई भी वस्तु नहीं बचा सकती।"

"सत्य है" मारखेइम ने खाँसते हुए कहा—"मैंने पापमय कार्य किये हैं। पर यह तो सभी करते हैं। साधु महात्मा भी ज़रूरत पड़ने पर पापमय कार्य कर बैठते हैं।"

आगंतुक ने कहा—"मैं तुमसे केवल एक प्रश्न पूछूँगा। उसी से तुम्हारी सारी बातें मालूम हो जायँगी। तुम कई कार्यों में ढीले पड़ गये हो। शायद तुम यह

ठीक ही करते होगे; क्योंकि सब ही ऐसा करते हैं। पर तुमने ऐसा एक भी दृढ़ काम किया है जिससे तुम्हारी आत्मा को सुख मिला हो?

"कोई भी काम!" मारखेइम ने सोचते हुए इस उक्ति को दुहराया। "नहीं," उसने शोक-पूर्ण शब्दों में उत्तर दिया, "नहीं, कोई भी नहीं; मैं प्रत्येक काम में ही ढीला पड़ा रहा।"

आगंतुक ने कहा—"तो तुम अपनी इसी दशा में संतुष्ट रहो; क्योंकि अब तुम बदल नहीं सकते।"

मारखेइम चुप हो गया, देर तक निस्तब्धता छाई रही, आगंतुक ने शांति-भङ्ग करते हुए पुनः पूछा—"हाँ, तो मैं तुम्हें रुपये दिखा दूँ?"

मारखेइम ने करुण भाव से पूछा—"और शोभा"? गौरव?

आगंतुक ने उत्तर दिया—"क्या इसके लिये तुमने चेष्टा नहीं की थी? दो या तीन वर्ष पहिले ईश्वर-भजन करते समय क्या तुम्हारी आवाज़ सबसे तेज़ न थी?"

"ठीक है" मारखेइम ने कहा—"अब मैं अच्छी तरह समझ गया कि मेरा कर्तव्य क्या है। मैं तुम्हें इन शिक्षाओं के लिये धन्यवाद देता हूँ। मेरी आँखें खुल गईं। अब मुझे मालूम हो गया कि मैं वास्तव में क्या हूँ।"

इसी समय घंटी की ध्वनि कमरे में गूँज उठी। आगंतुक मानो इसकी प्रतीक्षा ही कर रहा हो। मारखेइम से पुनः उसने कहा—"नौकरानी आ गई, मैंने तुम्हें पहिले ही चेता दिया था, अब तुम्हें एक और भी कठिन काम करना पड़ेगा। द्वार खोलकर उसे भीतर बुला लो। उससे गंभीर स्वर में कहना—"तुम्हारे मालिक बीमार हैं।" याद रहे, गंभीर रहना; मुस्कुराहट न आने पावे। बस फिर क्या है; मैं तुम्हें सफलता की पूरी आशा दिलाता हूँ। जब एक बार वह लड़की भीतर आ जायगी और द्वार अंदर से बंद हो जायँगे, बस तुम्हारी वही निपुणता, जिसने व्यापारी का अंत कर दिया है, तुम्हारे इस अंतिम काँटे को भी दूर कर देगी। फिर तो तुम्हें सारी रात ही मिल जायगी; जी भर के धन चुराना। बस उठो, मित्र! उठो; देखो तुम्हारा जीवन पलड़े में झूल रहा है; उठो और कार्य कर डालो।"

मारखेइम का हृदय परखने के लिये आगंतुक ने उसे यह अंतिम प्रलोभन दिया।

मारखेइम अपने सलाहकार की ओर गंभीर भाव से देखता रहा। वह बोल उठा—"यद्यपि मैं पापी हूँ तथापि मेरे बचाव का अब भी एक द्वार खुला हुआ है। कम-से-कम आज से पापमय काम करना मैं छोड़ सकता हूँ। यदि मेरा जीवन बुरा है तो मैं इसे त्याग सकता हूँ। इस समय मेरे दिल में भले कार्यों के लिये प्रेम नहीं है। पर इससे क्या? न होने दो। पर मैं अब तक पाप से घृणा करता आया हूँ। मैं अपनी एक इसी भावना से, शायद तुम्हें आश्चर्य एवं निराशा होगी, सत् कार्य के लिये शक्ति और साहस पैदा करूँगा।"

आगंतुक के मुख-मण्डल में एक अद्भुत, आश्चर्यमय, आकर्षक परिवर्तन आने लगा। उसका मुखड़ा चमक उठा; हास्य की मृदु-रेखा झलक उठी। पर एक ही क्षण में वह छाया-मूर्ति हँसती हुई विलीन हो गई। मारखेइम ने इस परिवर्तन की तनिक भी चिंता न की। द्वार खोल वह सोचते-सोचते मंद गति से नीचे उतर गया। भूत का सारा दृश्य उसके नेत्रों के संमुख एक बार शांत भाव से नाँच उठा। मारखेइम को अपने सारे कर्त्तव्यों से अकृत्रिम घृणा हो उठी। उसके हेतु अब "जीवन" में तनिक भी प्रलोभन न रह गया। दूरी पर उसे अपनी जीवन-नौका का बंदरगाह दीख पड़ा। वह रास्ते में रुक गया; दूकान के भीतर दृष्टि डाली। दीपक अब भी मृतक के पास अपनी ज्योति प्रसार रहा था। आश्चर्य-जनक निस्तब्धता छा रही थी। व्यापारी के विचार उसके मस्तिष्क में एक बार गूँज उठे। वह उसकी ओर शांत भाव से एक टक देखता रहा......एकाएक घंटी पुनः बज उठी।

मारखेइम द्वार पर नौकरानी के संमुख जा खड़ा हुआ। उसके मुखड़े पर प्रसन्नता, मुस्कराहट, हँसी एवं पश्चात्ताप की आभा नाँच रही थी। उसने मृदु-मुस्कान से कहा—"जाओ; पुलिस को बुला लाओ; मैंने तुम्हारे मालिक की हत्या कर डाली है।"

बाँकेबिहारीलाल भटनागर "कृष्ण"

अङ्गरेज़ी-साहित्य के लब्ध-प्रसिद्ध लेखक "स्टीवेनसन" (Stevenson) के सर्वोत्तम एवं सर्व-प्रसिद्ध गल्प का हिंदी छायानुवाद।—लेखक

दीन

दूसरों के दुख में सदैव उर थाम लिया,
　　और पर सुख में तुम्हारा मन भाया है ;
प्राण तक वार दिया चाहा किसी ने जो तुम्हें,
　　पास भी बिठाया उसे उर में बिठाया है ।
'कौशलेंद्र' संतत रहे परोपकार-लीन,
　　समझा न भूल कभी अपना पराया है ;
प्रेम-बश होना, द्रवना, दया का दान देना,
　　दीन ! तुमने ही दयानिधि को सिखाया है ।

(२)

सदय बड़े हो है सदयता तुम्हारी गेय,
　　छोड़ते न आन अपनी हो किसी हाल में ;
रखते अटल अनुराग हो सभी के प्रति,
　　बाँध रक्खा बैरियों को भी है प्रेम-जाल में ।
'कौशलेंद्र' कृशता तुम्हारी ही शरण लेती—
　　खोजती तुम्हीं को है दरिद्रता दुकाल में :
शांति पाती है तुम्हारी छाया में निदाघ धूप—
　　शीत छिपता है मुट्ठियों में शीत-काल में ।

(३)

कहते दशा न अपनी कभी किसी से, सदा—
　　बात हो बनाते पर मुँह न बनाते तुम ;
मानस में भाप-सी व्यथा जो उठती कभी तो,
　　अश्रु बरसाते उर आतप बुझाते तुम ।
'कौशलेंद्र' रहते अचल हो अचल सम,
　　घोर दुख में भी रसना पै हा ! न लाते तुम ;
आह करते भी तो डिगाते ध्यान शंकर का,
　　प्रलय मचाते हरि-हृदय हिलाते तुम ।

(४)

होता उपलब्ध जितना, उसी में होते तुष्ट,
　　हीनता पै अपनी न नेक पछताते हो ;
आँख है चुराता यदि कोई तुम से तो तुम—
　　राह में उसी की नैन-पाँवड़े बिछाते हो ।
'कौशलेंद्र' निर्बल कभी कभी सबल तुम,
　　प्रबल प्रभाव प्रबलों पै भी जमाते हो;
दीन ! तुम्हें दीन बतलाओ हम कैसे कहें,
　　जब तुम बंधु दीनबंधु के कहाते हो ।

कौशलेंद्र राठौर

पत्रकार-कला और पत्रकार

प्रचलित 'संपादन-कला' शब्द के होते हुए भी मैं नव-संगठित 'पत्रकार-कला' शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ । नवीनता-विरोधी साधारण भारतीय जन-समुदाय में संभव है यह शब्द किञ्चित् असंतोष का कारण बन बैठे । अतएव इस संबंध में प्रारंभ में ही दो शब्द कह देना आवश्यक प्रतीत होता है । बहुत अच्छा होता यदि संपादन-कला से ही मेरा मतलब सिद्ध हो जाता । वह हो ही सकता था क्योंकि संपादन शब्द में काफ़ी व्यापकता है । संपादन शब्द 'पद' धातु में सम् उपसर्ग जुड़ने और ल्युट् प्रत्यय लगने से बना है । पद धातु का अर्थ किसी विषय में गति होना है । पादन का अर्थ है वह क्रिया जिससे किसी विषय में गति हो । इस प्रकार संपादन का अर्थ होगा वह क्रिया जिसके द्वारा किसी विषय में सम्यक् रूप से गति हो । हम प्रायः कहा करते हैं अमुक सभा, अमुक स्थान पर संपादित हुई, अमुक मनुष्य ने अमुक कार्य संपादित किया आदि । इससे स्पष्टतया हम यह कहते हैं कि किसी विषय में संबंधित मनुष्य की गति हुई अर्थात् उसने वह काम किया । इस कथन-प्रणाली से यह स्पष्ट हो जायगा कि हम किसी भी ऐसी क्रिया को जो अपने अनुष्ठान को योग्यता-पूर्वक पूर्ण करती हो संपादन कह सकते हैं । संपादन-कला शब्द इसी क्रिया से बना है । इसलिये इसके अर्थ में भी उतनी ही व्यापकता होनी चाहिए थी—किंतु जो रूढ़ि पड़ गई है उसके अनुसार संपादन-कला में वह व्यापकता नहीं मिलती । साधारण व्यवहार में संपादन शब्द में एक देशीय भाव का आरोप किया जाता है । इस शब्द से प्रायः जो अभिप्राय लिया जाता है वह है समाचारपत्रों में फुटकल लेख या टिप्पणियाँ आदि लिखने का अथवा यदि और उदारता से काम लिया गया, तो समाचार-संकलन आदिक कार्य भी इसकी परिभाषा में जोड़ दिये गये । बस, संपादन शब्द की परिधि इससे अधिक साधारण व्यवहार में, नहीं मानी जाती । इसलिये संपादन-कला की परिधि भी

इससे अधिक बड़ी नहीं हो सकती। उधर जिस विषय पर ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं वह इतनी छोटा-सी परिधि में घिरा नहीं रह सकता। अतः यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि कोई ऐसा शब्द संगठित किया जाय जो विषय का पूरा-पूरा द्योतक हो। इसके लिये स्वभावतः दूसरे प्रचलित शब्द पत्रकार पर दृष्टि पड़ती है। पत्रकार शब्द का प्रयोग अँगरेज़ी के जर्नलिज़्म शब्द के बदले किया जाता है। मैं जर्नलिज़्म के जोड़ का शब्द चाहता था इसलिये मैंने इस विषय को पत्रकार-कला के नाम से ही याद करना उचित समझा।

पत्रकार-कला का संबंध पत्रकार शब्द से है। शब्द के साधारण अर्थ के अनुसार पत्रकार किसी भी ऐसे व्यक्ति को कहते हैं जो पत्र के बनाने में सहायक हो। पत्र से यहाँ पर समाचारपत्र से अभिप्राय है। समाचारपत्र को बनाने में सहायता देनेवाला व्यक्ति पत्रकार कहलाता है। किंतु समाचारपत्र के बनाने में काग़ज़ बनानेवाले, स्याही बनानेवाले से लेकर मशीन बनानेवाले, टाइप बनानेवाले, टाइप जोड़नेवाले, छापनेवाले आदि न जाने कितने व्यक्ति शामिल होते हैं। इसलिये उक्त व्याख्या के अनुसार ये व्यक्ति भी पत्रकार ही कहे जाने चाहिए। किंतु बात ऐसी नहीं है। ये सब व्यक्ति पुस्तक बनाने तथा अन्य ऐसे ही कामों में भी सहायक होते हैं फिर भी ये पुस्तककार नहीं कहे जाते। पुस्तककार उसका लेखक ही होता है। इसी प्रकार समाचारपत्र के बनानेवालों में भी यद्यपि ये सब व्यक्ति होते हैं तथापि ये पत्रकार के नाम से नहीं पुकारे जाते। पत्रकार के नाम से वे ही व्यक्ति पुकारे जाते हैं जिनका समाचारपत्र के लेखों, समाचारों आदि से संबंध रहता है। इस काम में लेख लिखनेवाले, लेखों और समाचारों का संपादन करनेवाले, समाचार-संग्रह करनेवाले, आलोचना करनेवाले आदि अनेक प्रकार के व्यक्ति शामिल होते हैं। अब इस शब्द की परिधि और भी बढ़ा दी गई है। पाश्चात्य देशों में स्वीकृत की हुई इस शब्द की नवीन परिभाषा के अनुसार वे तमाम व्यक्ति पत्रकार के नाम से पुकारे जाने लगे हैं जो समाचारपत्र की उन्नति में सहायक होते हैं। इस अर्थ-निर्देश से संपादकीय विभाग के कर्मचारियों के अतिरिक्त प्रबंध-विभाग के कुछ कर्मचारी तक पत्रकार के नाम से पुकारे जाने लगे हैं। इसी परिभाषा के अनुसार विज्ञापन-कार्य करनेवाला कर्मचारी और प्रबंध-संपादक आदि पत्रकार कहे जाने लगे हैं।

पत्रकारीय कार्यों में अनेक कार्य सम्मिलित हैं। केवल संपादन ही पत्रकारीय कार्य नहीं है। यह अवश्य है कि संपादन इन कार्यों में सबसे प्रमुख कार्य है, किंतु सब कुछ उसी को नहीं माना जा सकता। भारतवर्ष के समाचारपत्रों के कार्यालयों में अधिक कर्मचारी नहीं होते। हिंदी के समाचारपत्रों में तो संपादकों के अतिरिक्त अधिकांश स्थानों में और कोई होता ही नहीं; और संपादक महानुभाव ही संपादक, प्रूफ़रीडर, रिपोर्टर, आलोचक आदि सब कुछ होते हैं। ऐसे समाचारपत्र तो बहुत थोड़े हैं जिनमें पत्रकारीय कामों से संबंध रखनेवाले अनेक भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न कर्मचारी नियुक्त हों। किंतु एक ही व्यक्ति द्वारा किये जाने पर भी कार्यों की विभिन्नता नष्ट नहीं होती। एक ही व्यक्ति द्वारा किये जाने पर भी संपादन, रिपोर्टिंग, प्रूफ़रीडिंग, आलोचन, समाचार-संकलन आदि कार्यों का अलग-अलग होना बना ही रहता है। एक उत्तम समाचारपत्र के लिये यह आवश्यक होता है कि इन तमाम कामों के लिये अलग-अलग कर्मचारी रहें। कार्य-विभाजन से कर्मचारियों में निपुणता आती है और कार्य विशेष का संपादन अधिक योग्यतापूर्वक होता है। एक आदमी सब बातों में उतनी कुशलता प्राप्त नहीं कर सकता जितनी कि वह एक बात में कर सकता है। इसलिये समाचारपत्रों में कर्मचारि-मण्डल की कमी नहीं होनी चाहिए।

पत्रकारीय कर्मचारि-मंडल में संपादक का स्थान सबसे प्रधान है। पत्र की नीति का स्थिर करना, उसके लेखों आदि का संशोधन करना, उसमें कही गई सब बातों की ज़िम्मेदारी लेना, संपादक का ही काम है। संपादक के बाद उपसंपादकों का स्थान आता है। प्रधान संपादक के निर्दिष्ट आदेशानुसार समाचार-पत्र कार्यालय का तमाम संपादकीय कार्य उनके ज़िम्मे रहता है। स्थान की दृष्टि से यद्यपि ये प्रधान संपादक से निम्न श्रेणी के हैं तथापि उनका कार्य प्रधान संपादक की अपेक्षा कहीं अधिक और उत्तरदायित्वपूर्ण होता है। वास्तव में ये ही किसी समाचारपत्र के कर्ता-धर्ता होते हैं। इन दो प्रधान कर्मचारियों के अतिरिक्त रिपोर्टर, संवाददाता आदि कुछ ऐसे कर्मचारी होते हैं जो

देश-विदेश में स्थान-स्थान पर भ्रमण करके समाचार प्राप्त करते और उन्हें पत्रों को भेजते रहते हैं। उनकी भी आवश्यकता और महत्ता कम नहीं होती। ख़ास-ख़ास आदमियों से बातचीत करके उनके विचार समाचार-पत्रों में देनेवाले, भेंट करनेवाले, कर्मचारी, पत्रकारीय कर्मचारि-मंडल में एक विशेष स्थान रखते हैं। इनके अतिरिक्त आलोचना करनेवाले, विशेष लेख लिखनेवाले, आदि व्यक्ति भी इसी कर्मचारि-मंडल के सदस्य होते हैं। आजकल यह मंडल और भी विस्तृत हो गया है। समाचारपत्रों में प्रायः चित्र और कारटून भी निकलने लगे हैं। इसलिये फ़ोटोग्राफ़र और कार्टून मेकर भी इस मंडल से बहुत कुछ संबंधित हो गये हैं; यद्यपि अभी इनकी गणना शुद्ध पत्रकारों में नहीं हुई। इस प्रकार पत्रकार-कला का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उसमें संपादक, उपसंपादक, सहायक संपादक, प्रबंध-संपादक, रिपोर्टर, संवाददाता, भेंट करनेवाले, प्रूफ़रीडर, विशेष लेखक, आलोचक, विज्ञापन का प्रबंध करनेवाले, फ़ोटोग्राफ़र, कारटून बनानेवाले आदि सब सन्निविष्ट हो जाते हैं।

पत्रकार और लेखक (पुस्तककार) में बड़ा घनिष्ठ संबंध है। प्रायः एक ही मनःशक्ति दोनों कामों के लिए आवश्यक होती है। लेखक का काम भी लिखना होता है और पत्रकार का काम भी लिखना ही होता है। अन्तर केवल यह होता है कि एक पुस्तक लिखता है और दूसरा समाचारपत्र। लेखनकला एक व्यक्ति की अपनी चीज़ होती है और पत्रकारकला में व्यक्तियों का एक समूह कार्य करता है। लेखक की पुस्तक का महत्त्व न्यूनाधिक अंश में स्थायी होता है; परंतु पत्रकार के कार्य में यह बात नहीं होती। पत्रकार का कार्य समाचार और उन पर टिप्पणियाँ लिखने का होता है, जिसके महत्त्व में स्थिरता नहीं होती। पत्रकारीय कार्य का महत्त्व अधिकांश में पत्र का दूसरा अंक निकलते-निकलते समाप्त हो जाता है। इन दोनों कलाओं की मानसिक शक्ति-संबंधी एकता के कारण प्रायः यह होता है कि एक दूसरे को नष्ट कर देती है। कहने का तात्पर्य यह कि यदि मनःशक्ति जो दोनों कामों के लिए एक ही होती है, किसी एक की ओर लगा दी जाती है तो दूसरा काम नहीं हो सकता। पत्रकारकला और लेखनकला में एक मनुष्य एक ही कला का अभ्यास कर सकता है। अत्यन्त अलौकिक प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों को छोड़कर साधारणतया यदि कोई व्यक्ति अच्छा पत्रकार है तो वह अच्छा लेखक (पुस्तककार) नहीं, और यदि अच्छा लेखक है तो अच्छा पत्रकार नहीं होता।

पत्रकार पूरा योगी होता है। उसकी दशा करीब-करीब उस मुनि की सी हो जाती है जिसके संबंध में कहा गया है "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।" पत्रकार के लिये रात दिन काम रहता है। इस बात का कोई ठिकाना नहीं होता कि कब कौन-सी आवश्यकता आ जाय और उसे क्या करना पड़े। वह सदा काम के लिए तैयार रहता है। जब सारा संसार घोर निद्रा में पड़ा होता है तब भी वह कार्य करता हुआ पाया जाता है और जब सब काम करते होते हैं तब भी वह काम करते ही पाया जाता है। रात-दिन उसके लिए बराबर होते हैं। अपनी धुन में मस्त, सिद्ध योगी की भाँति वह न रात देखता है, न दिन। सुबह देखता है न शाम। धूप देखता है न छाँह। पानी देखता है न आग। युद्ध देखता है न शांति। शत्रुता देखता है न मित्रता। हर समय और हर परिस्थिति में अपने काम में ही अनुरक्त रहता है। उसे न खाने की परवा होती है न पहनने की। अदम्य उत्साह के साथ वह सदा अनवरत परिश्रम किया करता है। उसका हृदय बड़ा कोमल होता है। संसार की छोटी से छोटी घटना से वह प्रभावित हो जाता है। जीवन के नाना विध संघर्षण उसमें विचित्र प्रभाव डालते हैं। उस प्रभाव से वह इतना अधिक कढ़ा हो उठता है कि क्रौंच-वध-घटना से द्रवीभूत महर्षि वाल्मीकि की भाँति उस (उस प्रभाव का) दूसरों पर व्यक्त करने के लिए वह छटपटाने लगता है और फिर जब तक औरों पर उस प्रभाव का प्रकाश डाल नहीं लेता तब तक शांत नहीं होता। उसका हृदय बहुत कठोर भी होता है। अपने संकल्प से विचलित होना वह जानता ही नहीं। लोभ से ललचाता नहीं, धमकियों से घबड़ाता नहीं, निन्दा से ऊबता नहीं, प्रशंसा से पिघलता नहीं, कष्ट से डरता नहीं और अपमान से खिन्न होता नहीं। प्रलोभनों को ठुकराकर, भर्त्सनाओं की अवहेलना कर, कठिनाइयों की परवा न कर अपना तन, मन, धन तथा और सब कुछ स्वाहा करके भी वह अपने संकल्प पर दृढ़ रहता है। ऐसा

की भाँति सूली की तख्ती से, मोरध्वज की भाँति आरा की धार से और मीराबाई की भाँति विष भरे प्याले की तह से वह एक ही बात पुकारा करता है— वही अपना निश्चय अपना दृढ़ संकल्प !

पत्रकार का काम बड़ा टेढ़ा है। इसमें प्रवेश करने के पहिले खूब सोच-समझ लेना चाहिए। लार्ड मार्ले ने एक भोज के समक्ष कहा था कि 'मैं किसी नवयुवक को यह सलाह नहीं देता कि वह पत्रकार बने।' मैं लार्ड मार्ले की उस सलाह को दुहराना चाहता हूँ। इस काम में बड़े त्याग, बड़ी लगन, बड़े परिश्रम, और बड़ी जिम्मेदारी की ज़रूरत है जो साधारणतया बहुत कम लोगों में पाई जाती है। भारतवर्ष के लिये तो यह काम और भी कठिन है। अपने विरोधियों के वार, अधिकारियों के प्रहार, कानून की चोटें और अपने ही आदमियों की शक्तियाँ झेलनी पड़ती हैं। यह जो है सो तो है ही इसके अलावा यहाँ पर शिक्षा का इतना अभाव है और समाचार-पत्रों की महत्ता से लोग इतना अधिक अपरिचित हैं कि किसी पत्र को निकालकर व्यापारिक दृष्टि से चला सकना तक कठिन होता है और ऐसी दशा में पत्रसंचालक के लिये यह कठिन हो जाता है कि वह अपने पत्रकारों को उचित पुरस्कार दे सके जिसका परिणाम यह होता है कि यहाँ के पत्रकारों की आय इतनी कम होती है कि आर्थिक संकट से उन्हें कभी छुटकारा ही नहीं मिलता और कभी-कभी तो नौबत यहाँ तक आती है कि उन्हें अपना भरण-पोषण करना तक असंभव हो जाता है। ऐसी दशा में इस टेढ़े, पेचीदे मार्ग में कदम रखने के लिये किसको सलाह दी जाय ? यह काम तो कम-से-कम इस समय उन्हीं लोगों के करने का है जिनमें कोई विशेष अंतर्दाह हो जो उन्हें चैन न लेने देता हो, जिनके हृदयों में एक अटूट लगन हो, जिसके सामने वे आय-व्यय को गिनते ही न हों। जिनमें त्याग और सहिष्णुता की वह प्रज्वलित भावना हो कि बड़े-से-बड़े कष्ट और बड़ी-से-बड़ी हानियाँ भी तुच्छ दिखलाई पड़ती हों, और जो लोक-सेवा के महत्तम आदर्श पर लौ लगाए हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य से दूर, निर्विकार चित्त से निर्दिष्ट स्थान की ओर दृढ़ता-पूर्वक आगे बढ़ना ही अपने जीवन का एक-मात्र उद्देश्य बना चुके हों। ऐसे ही लोग इस काम के पात्र हैं और जब तक किसी मनुष्य में इन दुर्लभ गुणों का समावेश न हो जाय तब तक उसका पत्रकार के गहनतर कार्य में हाथ न डालना ही अच्छा है। उन लोगों को तो, जो केवल १० से ४ बजे तक काम करके निश्चिंत हो जाना चाहते हों, जो लखपती और करोड़पती होने के स्वप्न देखते हों, जो सुख के साथ गार्हस्थिक जीवन का उपभोग करना चाहते हों, जो बुढ़ापे में अपने कमाए हुए धन के बूते पर चादर तानकर सुख की नींद सोना चाहते हों, और जो अन्य सांसारिक आमोद-प्रमोद के साथ जीवन बिताना चाहते हों, इस कँटीले रास्ते पर भूलकर भी कदम न देना चाहिए।

किंतु परिस्थिति ठीक उसके प्रतिकूल है। लोग इस काम की ओर बहुत अधिक आकृष्ट हो रहे हैं। वे इसे हँसी-खेल ही समझते हैं। साधारण शिक्षा का पाठ्य-क्रम समाप्त करते ही, यदि उनमें दो अक्षर लिखने की शक्ति हुई तो वे फ़ौरन इस ओर दौड़ पड़ते हैं और बिना उसकी पात्रता प्राप्त किए ही उसमें हाथ पैर फेंकने लगते हैं। बात यहीं से समाप्त नहीं होती। उनकी सबसे बड़ी गलती तो यह होती है कि वे इस मार्ग पर पैर रखते ही आसमान फाड़ डालना चाहते हैं। वे किसी समाचारपत्र के दफ़्तर में एक साधारण रिपोर्टर या संवाददाता होकर काम करना पसंद नहीं करते, वरन् सीधे संपादक या यदि यह उतना सुलभ न हुआ तो उपसंपादक तो ज़रूर होना चाहते हैं। कभी-कभी तो किसी प्रचलित पत्र में इस प्रकार का स्थान न पाकर वे नया पत्र तक निकालने की धृष्टता कर बैठते हैं; किंतु किसी हालत में संपादक से नीची जगह पर काम करने के लिये तैयार नहीं होते। ऐसे लोगों के असफल होने की सदा आशंका रहती है और साधारण अनुभव से यह बात सिद्ध भी की जा चुकी है कि ऐसे लोग— जिनमें अत्यंत असाधारण प्रतिभा और योग्यता होती है उन मनुष्यों को छोड़कर प्रायः सब असफल ही होते हैं। बात भी ठीक है। दौड़ने के पहिले चलना सीखना चाहिए। सीढ़ी का एक एक डंडा पकड़कर ही ऊपर चढ़ना चाहिए। रिपोर्टर आदि छोटे स्थान से शुरू करके ही बढ़ते-बढ़ते संपादक बनने का प्रयत्न करना चाहिए। एकबारगी नहीं। अत्यधिक महत्त्वाकांक्षा अनिष्ट होती

है। जिन विचारों में प्रौढ़ता नहीं होती वे कोई शक्ति नहीं रखते। अप्रौढ़ विचार लेकर कोई मनुष्य संपादकीय विचार नहीं प्रकट कर सकता और यदि वह ऐसा करता है तो अनधिकार चेष्टा करता है और अपने इस कार्य से न केवल अपने-आप को वरन् देश को भी हानि पहुँचाता है। इसलिये जब तक संपादकीय कार्य का अनुभव न हो जाय, और विचारों में प्रौढ़ता न आ जाय तब तक संपादक बनने की महत्त्वाकांक्षा करना श्रेयस्कर होने की अपेक्षा कहीं अधिक हानिकर होता है।

शिक्षा के संबंध में पत्रकार के लिये किसी असाधारण योग्यता की आवश्यकता नहीं होती। यह आवश्यक नहीं है कि पत्रकार की हैसियत से सफलता प्राप्त करने के लिये मनुष्य को असाधारण विद्वान् होना चाहिए। जो कुछ आवश्यक है वह यह है कि उसमें इतना साहित्यिक ज्ञान हो कि वह रोज़मर्रा बोल-चाल की भाषा में समाचार लिख सके और साधारण बुद्धिमानी और सचाई के साथ, स्पष्ट शब्दों में उन पर अपने विचार प्रकट कर सके। उसके लिये धुरंधर पंडित होने की अपेक्षा बहुश्रुत होना अधिक आवश्यक होता है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि जो मनुष्य बहुश्रुत होने के साथ-साथ जितना अधिक विद्वान् होगा वह उतनी ही अधिक योग्यता से काम कर सकेगा। किंतु साधारणतः पत्रकारों के लिये यही आवश्यक होता है कि वे किसी एक विषय का अधिक ज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा अधिक विषयों का थोड़ा बहुत ज्ञान रखें। अंग्रेज़ी लेखकों के शब्दों में (A journalist should know something of everything and everything of something)
अर्थात् पत्रकार को समस्त विषयों का कुछ और कुछ विषयों का समस्त ज्ञान होना चाहिए। किंतु समस्त विषयों में गति रखना मनुष्य के जैसे अल्प जीवन के लिये संभव नहीं होता। इसलिये सब विषयों का ज्ञान न होने पर भी हताश न हो जाना चाहिए। पत्रकार का काम इससे भी चल सकता है कि जिन विषयों का ज्ञान उसे न हो उन विषयों के संबंध में वह यह जानता हो कि उनका ज्ञान कहाँ से प्राप्त हो सकता है। उसमें सब कुछ जानने की बड़ी विलक्षण जिज्ञासा होनी चाहिए। सांसारिक उपेक्षाभाव के दार्शनिक विचार उसके लिये कदापि श्रेयस्कर नहीं। वे व्यक्ति जो यह कहकर कि हमें अमुक घटना से क्या पड़ी है, किसी घटना के संबंध में उपेक्षा प्रकट करते हैं, पत्रकार बनने के योग्य नहीं होते। पत्रकार को तो घटनाओं और उनके कारणों, परिणामों की उधेड़-बुन में रात-दिन लगा रहना चाहिए।

पत्रकारों की योग्यता और उनके गुणों की गिनती गिनाना बहुत कठिन है। उनके गुण प्रायः नैसर्गिक होते हैं। फिर भी सतत अभ्यास करने से भी वे प्राप्त किये जा सकते हैं। सच्चरित्रता, वाक्पटुता, सौम्यभाव, आशावादिता, सत्यता, दया, दूरदर्शिता, साहस, विवेक-शक्ति, उत्तरदायित्व की भावना, सावधानी, तत्परता, उत्साह आदि पत्रकार के लिये आवश्यक नैसर्गिक गुण हैं। ये मनुष्य में पैदा नहीं किये जा सकते। किंतु न्यूनाधिक मात्रा में ये सब मनुष्यों में विद्यमान अवश्य रहते हैं। इसलिये यदि इनका निरंतर अभ्यास किया जाय तो ये खिल अवश्य उठेंगे। समय पर निर्धारित क्रमानुसार काम करने की आदत भी एक नैसर्गिक गुण है। यह गुण पत्रकार के लिये शायद सबसे अधिक आवश्यक होता है। पत्रकार बनने की इच्छा रखने-वालों को इसका अभ्यास विशेष रूप से करना चाहिए। इसी प्रकार किसी काम को शीघ्रतापूर्वक समाप्त करने की धुन भी पत्रकारों के लिये बहुत लाभप्रद गुण है। किंतु इस गुण के संबंध में इतना ध्यान रखना चाहिए कि शीघ्रता की धुन में काम की अच्छाई का भोग न लग जाय। काम की अच्छाई के साथ यदि शीघ्रता हो, तो लाख अच्छा किंतु काम को बिगाड़ कर शीघ्रता करना कदापि श्रेयस्कर नहीं होता। एक बात की ओर और भी ध्यान रखना चाहिए वह यह कि पत्रकार जनता का विश्वासपात्र सेवक होता है और जिस प्रकार एक स्वामि-भक्त सेवक को अपनी विश्वासपात्रता क़ायम रखने की ज़रूरत होती है उसी प्रकार जनता के इस सेवक को भी अपनी विश्वासपात्रता सर्वस्वव्ययेऽपि बनाये रखनी चाहिए। विश्वासघात करना ऐसे ही महापाप है। फिर इस अत्यंत उत्तरदायित्व और महत्त्व-पूर्ण कार्य में तो विश्वासघात महान् से भी महानतर पाप है। एक महत्त्व-पूर्ण बात तो छूटी ही जा रही है। पत्रकारों के लिये यह बहुत आवश्यक होता है कि उनकी स्मरण-

शक्ति बहुत तीव्र और बहुव्यापिनी हो । सब बातें 'नोटबुक' में दर्ज नहीं की जा सकतीं कि जब लिखने बैठें, तो नोटबुक खोलकर सब बातें जान लें, और न सब किताबों के गट्ठर ही सब जगह प्राप्त होते हैं कि आवश्यकता पर उनकी मदद मिले । पत्रकारों के लिये इस प्रकार के अनेक अवसर आते हैं, जब काग़ज़ क़लम के अलावा उनके पास और कुछ नहीं होता । ऐसे अवसरों पर उन्नत स्मरणशक्ति ही काम आती है ।

पत्रकार को अन्य आवश्यक योग्यताओं के साथ-साथ प्रेस-संबंधी उन तमाम बातों को जानने की भी ज़रूरत होती है जिनसे पत्र बनने में सहायता मिलती है । उसे अधिक से अधिक मित्र बनाने का प्रयत्न करना चाहिए । अपना व्यवहार तो उसे ऐसा मधुर बना लेना चाहिए जिससे शत्रु तो कोई हो ही नहीं । अक्षर सुंदर और साफ़ लिखने का अभ्यास भी पत्रकार के लिये बहुत लाभ की वस्तु होती है । यह सरलतापूर्वक प्राप्त भी किया जा सकता है, सिर्फ़ थोड़ी-सी सावधानी की ज़रूरत है । इसके अतिरिक्त जैसे अन्य विषयों से संबंध रखनेवाले लोगों को तद्विषयक विशेषज्ञों के जीवनचरित्र पढ़ने की ज़रूरत होती है वैसे ही पत्रकारों के लिये भी अच्छे-अच्छे पत्रकारों और अच्छे अच्छे लेखकों के जीवन-चरित्र पढ़ने की आवश्यकता होती है । इससे उन्हें नया उत्साह मिलेगा । पत्रकारों के लिये यह नितांत आवश्यक होता है कि वे अधिकाधिक समाचारपत्र पढ़ने के आदी हों । पत्रकारीय कार्य में नये-नये प्रवेश करनेवालों के लिये तो यह बहुत ही अधिक आवश्यक होता है कि वे अधिक संख्या में समाचारपत्र पढ़ें और उनके मुख्य लेखों पर ख़ास तौर से मनन करें । ख़ास-ख़ास पत्रों के संबंध में तो उन्हें यह नियम बना लेना चाहिए कि उन पत्रों का एक-एक अक्षर वे पढ़ जाया करें । इन योग्यताओं और गुणों के साथ यदि पत्रकार में साधारण फ़ोटोग्राफ़ी की योग्यता भी हो, तो उनके काम में अधिक सहायता मिल सकती है ।

पत्रकार अनेक हो गये हैं । विदेशों में तो उनकी संख्या बहुत ही अधिक है । हमारे देश में भी उनकी संख्या बढ़ रही है । विदेशी पत्रकारों की गणना करने की यहाँ आवश्यकता नहीं प्रतीत होती । किंतु अपने यहाँ के पत्रकारों का स्मरण किए बिना भी नहीं रहा जा सकता । अपने यहाँ के प्राचीनतर पत्रकारों का उल्लेख करते हुए श्रीनरदेवशास्त्री ने अभी थोड़े दिन हुए एक लेख में (स्मरण नहीं, कि वह किस पत्रिका में निकला था) व्यासादिक ऋषियों को पत्रकार बताया था । द्वितीय गुजराती-पत्रकार-परिषद् के सभापति गुजराती भाषा के प्रसिद्ध 'गुजराती' पत्र के सुयोग्य संपादक श्रीमणिलाल इच्छाराम देशाई ने भी अपने भाषण में वाल्मीकि, व्यासादि ऋषियों को पत्रकार कहा है । बात अधिकांश में ठीक मालूम होती है । किंतु मेरी समझ से इन महर्षियों को पत्रकारों की श्रेणी में गिनना उचित नहीं है । वाल्मीकि, व्यासादि ऋषियों ने ग्रंथों का लेखन और संपादन अवश्य किया और इसलिये वे लेखक और संपादक थे, इससे भी इंकार नहीं किया जा सकता । किंतु उनका वह महान् काम उस श्रेणी का काम नहीं था जिस श्रेणी के काम का ज़िक्र वर्तमान पत्रकार-कला में किया जाता है । ऊपर कहा जा चुका है कि पत्रकार-कला का महत्त्व प्रायः अल्पकालिक होता है । उन महर्षियों का काम अल्पकालिक तो क्या स्थायी और शाश्वत था इसलिये और इसलिये भी कि वर्तमान पत्रकार-कला का उद्गम उन महर्षियों के कार्यों के आधार पर नहीं हुआ, वे पत्रकार कहे जाने-योग्य नहीं माने जा सकते । इन महापुरुषों की गणना शीर्ष-स्थानीय ग्रंथकारों में ही शोभा पाती है और वहीं उनका विशिष्ट स्थान होना भी चाहिए । हमारे यहाँ पत्रकारों का प्रादुर्भाव अभी थोड़े समय पहिले का है और वास्तविक पत्रकार-कला स्वर्गीय लोकमान्य तिलक, स्वर्गीय मोतीलाल घोष, स्वर्गीय सर सुरेंद्रनाथ बनर्जी आदि के ज़माने में प्रारंभ हुई । श्रीनटराजन, श्रीसुब्रह्मण्य ऐयर, श्रीरामानंद चटर्जी आदि इसी युग के प्रसिद्ध पत्रकार हैं । पत्रकार-कला की उन्नति करने में इन महा-रथियों ने बड़ी सहायता दी है । स्वर्गगत देशबंधुदास, लाला लाजपतराय, म० गांधी, श्री एन्० सी० केलकर, श्रीचिंतामणि, आदि से भी इस विषय में अमूल्य सहायता प्राप्त हुई और हो रही है ।

हिंदी में जिन महज्जनों ने पत्रकार-कला को उन्नत किया है उनमें स्वर्गीय श्रीबालमुकुंद गुप्त, स्वर्गीय श्रीराधाचरण गोस्वामी, स्वर्गीय श्रीराव कृष्णदास, स्वर्गीय श्रीमाधवराव सप्रे के नाम विशेष स्थान रखते हैं

इस श्रेणी में एक महापुरुष का नाम लेना अभी और बाक़ी है। वह है आचार्य श्रीमहावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम। द्विवेदीजी ने इस कला की प्रवाह-धारा ही मोड़ दी। सरस्वती के सजे हुए पटल पर अपनी ओजस्विनी लेखनी द्वारा आचार्य महावीरप्रसाद ने पत्रकार-कला का एक नया ही रूप सामने ला उपस्थित कर दिया। नए आकार-प्रकार में नए ढंग से मासिकपत्र निकालने का आदि श्रेय आप ही को है। द्विवेदीजी की सेवाएँ इस विषय में बहुत बड़ी हैं और हिंदी-संसार उनसे कभी उऋण नहीं हो सकता। इन वृद्ध जनों के अतिरिक्त श्रीअम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, श्रीकृष्णकान्त मालवीय, श्रीसुंदरलाल, श्रीगणेशशंकर विद्यार्थी, श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी, श्रीबाबूराव विष्णुपराड़कर, श्रीलक्ष्मणनारायण गर्दे, श्रीअमृतलाल चक्रवर्ती, श्री-प्रकाश, श्रीराजेंद्रप्रसाद, श्रीपुरुषोत्तमदास टंडन, श्रीनारायणप्रसाद अरोड़ा, श्रीरघुवरप्रसाद द्विवेदी, श्री बी० एस्० पथिक आदि सज्जनों ने इस कला की उन्नति के लिये बहुत कुछ किया और बराबर करते जा रहे हैं। श्री० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, श्रीहरिभाऊ उपाध्याय, श्रीपारसनाथ त्रिपाठी, श्रीपदुमलाल पन्नालाल बख्शी, श्रीरूपनारायण पांडेय, श्रीकृष्णविहारी मिश्र, श्रीदुलारेलाल भार्गव, श्रीप्रेमचंद, श्रीमूलचंद अग्रवाल, श्रीबालकृष्ण शर्मा, श्रीरमाशंकर अवस्थी, श्रीझाबरमल शर्मा, श्रीदशरथप्रसाद द्विवेदी, श्रीहरिशंकर शर्मा, श्रीइंद्र, श्रीबालमुकुंद वाजपेयी, श्रीबाबूराम मिश्र, श्रीरामनारायण चौधरी, स्वर्गीय श्रीईश्वरीप्रसाद शर्मा, श्रीमती विद्यावती सेठ, श्रीमती उमा नेहरू आदि विद्वानों और विदुषियों ने भी इस कला की उन्नति के लिये बहुमूल्य सहायताएँ प्रदान की हैं और अब भी करते जा रहे हैं। श्रीमहादेवप्रसाद सेठ को इस कला के एक विशेष अंग को ला उपस्थित करने का श्रेय है। यद्यपि 'रमता योगी' और 'मनसुखा' की कृपा से हास्यरस-पूर्ण टिप्पणियों से सजे हुए समाचारों का प्रकाशित होना पहले ही से शुरू हो गया था तथापि विशेष रूप से ऐसे समाचारों से सजे हुए पत्र को निकालने का श्रेय सेठजी को ही है। श्रीविश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक ने भी गल्पात्मक—मासिकपत्र निकालकर एक नया काम पेश किया था, किंतु दुर्भाग्यवश वह चल न सका।

हमारे यहाँ के बहुत-से पत्रकार विदेशों में पड़े हुए हैं। कुछ तो अपने निजी कारणों से और अधिकांश विदेशी शासन के पाप के कारण विदेशों की खाक छान रहे हैं। राजा महेंद्रप्रताप, श्री एम्०-एन्० राय, लाला हरदयाल, डा० तारकनाथदास, डा० सुधींद्रबोस, श्रीसैयदहुसैन, सेंट निहालसिंह, श्रीमनिकर, श्रीकान्हीकर आदि न जाने कितने योग्यतम पत्रकार बाहर पड़े हुए हैं। यदि हमारी यह बहुमूल्य विभूति यहाँ होती, तो आज हमें न जाने कितना लाभ प्राप्त हुआ होता। किंतु पराधीनता की परसंतापिनी रात्रिसिर्णी यह कब होने देती है? हमारे सौभाग्य का वह सबसे बड़ा दिन होगा जब पराधीनता की बेड़ियों को काटकर हम अपने इन निर्वासित नर-रत्नों को अपने बीच में ला सकेंगे, और इनकी ज्ञानमाला, विचार-प्रौढ़ता और अनुभव से अपनी पत्रकार-कला को समुन्नत और सुसज्जित कर सकेंगे।

विष्णुदत्त शुक्ल

रामचंद्रिका की केशव कौमुदी

'रा म चंद्रिका' केशव का एक उत्तम ग्रंथ है। उनकी प्रतिभा और पाण्डित्य पूर्ण रूप से उसमें प्रतिबिंबित है। एकाक्षरी से लगाकर घनाक्षरी और दण्डक तक बीसियों प्रकार के अद्भुत छंदों का प्रयोग यदि कहीं दिखाई देता है, तो केशव के इसी ग्रंथ में। अलंकारों में भी पांडित्यपूर्ण अलंकारों की ही प्रधानता है। केशव संस्कृत के विद्वान् थे, इसीलिये उनके ग्रंथों में प्राचीन संस्कृत के कवियों की गद्य-पद्य कृतियों के अनुवाद पद-पद पर दिखाई देते हैं। रामचंद्रिका में भावानुवादों और छायानुवादों की भरमार तो है ही, साथ ही पद के पद, वाक्य के वाक्य, पंक्तियाँ की पंक्तियाँ, श्लोक के श्लोक और प्रकरण के प्रकरण संस्कृत ग्रंथों से अनूदित दिखाई देते हैं। इसी संबंध में केशवकौमुदी के दूसरे भाग की भूमिका में लिखते हुए लाला भगवानदीनजी ने लिखा है—"पांडित्य की तो बात ही न पूछिए बाण, माघ, भवभूति, कालिदास तथा भास

तक के सुंदर प्रयोग और अद्भुत विचार, गंभीर और क्लिष्ट अलंकार ज्यों के त्यों अनुवाद किए हुए इस ग्रंथ में रखे हैं।" इसके आगे आप लिखते हैं—"हमारा अनुमान है कि भास के नाटकों को अधिक पढ़ने के कारण ही केशव ने रामचंद्रिका में संवाद रखे हैं। जो नाटक ही का सा मज़ा देते हैं।"

नाटकों के पढ़ने के कारण ही काव्य में भी कोई संवाद रख सकता है यह बात कुछ समझ में नहीं आती। फिर सब नाटकों में ही संवाद होते हैं, भास के नाटकों में ही क्या विशेषता थी जो उन्हें पढ़ते ही काव्य में भी संवाद रखने की केशव को सूझी। वास्तव में लालाजी की दोनों ही बातें निरर्थक और अज्ञानपूर्ण हैं। न जाने किसने लालाजी को यह उलटी-सीधी बातें सुझा दी हैं। लालाजी को तो यह पता ही नहीं है कि नाटक का-सा मज़ा देनेवाला कुल प्रकरण अनुवाद है या केशव की स्वतंत्र रचना। यह प्रकरण देखकर हमारी तो दृढ़ धारणा हो गई है कि रामचंद्रिका का प्रारंभ केशव ने उसी ग्रंथ के आधार पर किया था जिसका वह कुल प्रकरण अविकल अनुवाद है। केशव ने क्या सोचकर आगे उस ग्रंथ का अनुवाद बंद कर दिया यह कहना कठिन है; पर इसमें रत्ती भर संदेह नहीं है कि रामचंद्रिका का दूसरा, तीसरा, चौथा और पाँचवाँ यह चार प्रभाव यत्किंचित् परिवर्तन के साथ 'प्रसन्न राघव' के संवाद प्रकरण का अक्षरशः अनुवाद है।

'प्रसन्न राघव' संस्कृत का एक नाटक है। इसके रचयिता महाकवि पंडित जयदेवजी हैं। आज जयदेव कवि संसार में नहीं हैं। उनका वह नट जिसने रंग-मंच पर आकर प्रतिज्ञा की थी कि—

"चोरापहारचकितेन चिरं मयैव
त्वत्सूक्तिमौक्तिकगणाः परिरक्षणीयः।"

वह भी विद्यमान नहीं है, अन्यथा रामचंद्रिका के इन चार प्रभावों का रहस्य कभी खुल गया होता। कानपुर से प्रकाशित होनेवाले 'कवींद्र' मासिक पत्र में इस संबंध में आज से शायद दो वर्ष पूर्व हम थोड़ा-बहुत लिख चुके हैं। लालाजी ने इसके संबंध में जो कुछ लिखा है वह सर्वथा अशुद्ध और भ्रामक है। इतना ही नहीं बल्कि केशव के पिता के संबंध में भी जो कुछ लालाजी ने खोज की है वह भी सर्वथा अशुद्ध है।

अस्तु! केशव की रामचंद्रिका जैसी कुछ है वह सबके सामने है। उसके संबंध में आज हमें यहाँ विशेष विचार नहीं करना है। हमारी आलोचना का विषय आज रामचंद्रिका नहीं है, पर उसकी एक टीका है। जिसे लाला भगवानदीनजी ने लिखा है और केशव कौमुदी नाम से जो प्रकाशित है।

श्रीलाला भगवानदीनजी 'दीन' का नाम इतना प्रसिद्ध है कि उसके परिचय कराने की यहाँ कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। आपके हृदय में हिंदी का जो अनुराग है और उसकी जो सेवा वे कर रहे हैं वह सर्वथा अनुकरणीय है। आप कोरे अध्यापक ही नहीं हैं, पर लेखक, कवि और आलोचक भी हैं। इधर कुछ दिनों से आपको टीकाकार और संपादक बनने का भी शौक़ हुआ है। दो चार इधर-उधर की टीकाएँ एकत्र करके उनको नवीन ढंग से सरल भाषा में लिखकर उस शौक़ को आप किसी तरह पूरा किया करते हैं। प्राचीन टीकाओं की भाषा पुराने ढंग की होने के कारण निःसंदेह दुरूह और कठिन है। उस भाषा के जाल से भाव को निकाल लेना सर्वसाधारण का काम नहीं है। इसलिये उन टीकाओं का नवीन ढंग से सरल और सुबोध भाषा में संपादन करना अनुचित नहीं प्रत्युत उपादेय ही है। हाँ, इसमें अनौचित्य यदि हो सकता है जैसा कि है भी, तो यही कि नवीन टीकाकार प्राचीन टीकाओं की नक़ल करते हुए भी जनता को यह दिखलाना चाहे कि यह नवीन टीका उसके दिमाग़ की उपज है, और उसका श्रेय पुराने टीकाकारों को न देकर सब स्वयं ही लेने की इच्छा करे। यही देखिए, रामचंद्रिका की 'केशव कौमुदी' नाम से लालाजी ने जो टीका की है वास्तव में वह टीका प्राचीन टीकाकार जानकीप्रसाद की टीका का उल्थामात्र है। ऐसे ही 'कवि-प्रिया' की प्रियाप्रकाश नाम से आपने जो टीका छपवाई है, वह भी क्या है सरदार कवि की टीका का नवीन संस्करण-मात्र है। केशव की कठिन और दुरूह गुत्थियों को यह प्राचीन टीकाकार सुलझा गए हैं। केशव की कविता का रस वह लोग निचोड़कर रख गए हैं। पर लालाजी चाहते हैं कि यह श्रेय उन्हें ही मिलना चाहिए। सड़क खोदने तथा दाग़ बेल लगाने का पुरस्कार उनको न देकर आप ही सब ले लेना चाहते हैं।

हमारी बात में यदि किसी को संदेह हो, या अत्युक्ति

की गंध आती हो तो वह उपर्युक्त प्राचीन टीकाओं को और लालाजी की नवीन टीकाओं को सामने रखकर देख ले। भाषा के सिवाय विशेष अंतर नहीं मिलेगा बल्कि ख़ास उन शब्दों के ही अधिकांश में प्रयोग मिलेंगे जो प्राचीन टीकाकारों ने प्रयुक्त किए हैं। और जहाँ तनिक भी इधर-उधर करने की चेष्टा की है वहीं प्रायः भटक गए हैं।

लाला भगवानदीनजी को केशव की कविता के समझने का भी दावा है। आश्चर्य तो यह है कि आपने साभिमान इस दावे को प्रकाशित भी किया है। मगर हमारा ध्यान कुछ दूसरा ही है। हम तो समझते हैं कि अधजल गगरी छलका ही करती है। हमारे इस लेख से पाठक स्वयं ही निर्णय कर सकेंगे कि लालाजी का दावा कहाँ तक ठीक है।

लालाजी के दावे के विरुद्ध साक्षियों के श्रीगणेश, गणेश की वंदनावाले प्रथम छंद की टीका से ही हो गया है। इस छंद का दूसरा चरण इस भाँति है—

"विपति हरत हठि पद्मिनी के पात सम,
पंक ज्यों पताल पेलि पठवै कलुष को।"

इस पद का अर्थ आपने लिखा है—"और विपत्ति को हठ करके पुरइन के पत्तों के समान खींचकर तोड़ डालते हैं। और पाप को दबाकर पाताल को भेज देते हैं।" इस अर्थ में 'पंक ज्यों' इन शब्दों का अर्थ ढूँढ़ने पर भी कहीं दिखाई नहीं देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इस सीख को लक्ष्य में रखकर ही लालाजी इन शब्दों का अर्थ छोड़ गए हैं। हम जानते हैं कि जहाँ युक्तिसंगत अर्थ के बैठालने में कठिनता होती है या कोई बात ठीक बनती दिखाई नहीं देती है वहाँ ही इस गोलमाल-कारिणी रीति का आश्रय लिया जाता है। पर टीकाकार के लिये, उस पुरुष के लिये जिसे कवि के भावों को समझने का दावा हो और जिसने उन भावों को समझाने के लिये लेखनी उठाई हो, इस प्रकार कठिन स्थलों से बच निकलने का प्रयत्न करना कहाँ तक ठीक है वही जाने।

पाठांतर

'प्रिया-प्रकाश' की आलोचना करते हुए हमने लिखा था कि लालाजी अपनी पुस्तकों में पाठांतर भी यदि साथ-साथ दे दिया करें, तो वह अधिक पूर्ण और उपयोगी हो जायँ। हमारी यह नेक सलाह आपको भला क्यों रुचने लगी थी। अविलम्ब ही आपने 'पाठांतर का रोग' शीर्षक से एक लेख 'मनोरमा' में इसके प्रतिवाद में छपवाया। 'मतवाला' और 'वीणा' में जो लेख निकले उनमें भी इस संबंध में आपने अपने अद्भुत विचार प्रकट किए। आपके पृष्ठ-पोषक श्रीमोहनवल्लभजी पंत ने भी आपकी हाँ-में-हाँ मिलाते हुए दो-चार पंक्तियाँ इस संबंध में लिख डालीं। इन लेखों में पाठांतर संपादन के विरुद्ध घनघोर गर्जना की गई है। पंतजी ने तो यहाँ तक लिख डाला है कि हमारी यह राय भाड़ में झोंकने के लायक़ है। काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा को तो पाठांतर रोग का प्रवर्तक ही कहा गया है। और तो और, उन सब विद्वानों को जिन्होंने पाठांतरों के साथ पुस्तकों का संपादन किया है बिना पक्षपात के विवेक-शून्य कहा गया है। इन लेखों के अंदर लालाजी ने यहाँ तक दावा करने की धृष्टता की है कि जिस बुद्धि या प्रतिभा द्वारा शुद्ध और सर्वोत्तम पाठ चुना जा सकता है वह प्रतिभा पाठांतर रखनेवाले संपादकों के पास है ही नहीं। यदि है तो केवल आपके पास है। और पुस्तकों का संपादन करते समय आप उस प्रतिभा को सदा साथ रखते हैं। लालाजी के इस दावे की निरर्थकता के उदाहरण उपस्थित करने से प्रथम इतना हम लिख देना चाहते हैं कि पाठांतर लिखने या न लिखने को हम अयोग्यता या योग्यता का चिह्न नहीं मानते हैं। हमारा विचार तो यह है कि पाठांतर रखनेवाला संपादक अपने पाठकों के साथ न केवल न्याय-युक्त व्यवहार ही करता है किंतु उनके ज्ञान की वृद्धि भी करता है। वह उनकी विवेचना-शक्ति की अवहेलना न करके उसका आदर करते हुए अवसर देता है कि उसने (संपादक ने) जिस पाठ को सर्वोत्तम माना है उस पर भी वह विचार कर सकें। पर लालाजी सरीखे पंडितम्मन्य पाठांतरों को स्थान न देनेवाले ठीक इसके विपरीत चलते हैं। पाठांतर-हीन पुस्तकों के संपादक ज़बरदस्ती अपने पाठकों से स्वाभिमत पाठ को ही कविकृत मनवाने की इच्छा करते हैं। जोकि सर्वथा अयुक्त और अन्याय्य है। योग्यता और अयोग्यता की दृष्टि से भी देखा जाय, तो पाठांतरों को स्थान देनेवालों का ही स्थान ऊँचा रखना पड़ेगा। ख़ैर, लालाजी हमारी इन बातों से सहमत हों, या न हों,

इतना तो आपको मानना ही पड़ेगा कि शुद्ध और सर्वोत्तम पाठ एक ही हो सकता है, दो नहीं। पर लालाजी की संपादित पुस्तकों में इस साधारण-सी बात के विरुद्ध भी बीसियों छंद ऐसे मिलेंगे जिनमें अनेक पाठ-भेद होंगे। 'कवि-प्रिया' केशव का रचा एक लक्षण-ग्रंथ है। केशव का ही रचा हुआ है इसीलिये रामचंद्रिका के बीसियों छंद उदाहरण के रूप में यथावकाश उसमें उद्धृत कर दिए गए हैं। लालाजी ने 'प्रिया-प्रकाश' और 'केशव कौमुदी' नाम से दोनों का ही संपादन किया है। पर विरला ही उभयनिष्ठ छंद दोनों पुस्तकों में ऐसा होगा जिसका एक ही पाठ हो और पाठ-भेद न हुआ हो। इसी प्रकार सूक्ति-सरोवर में 'रामचंद्रिका' के जिन छंदों का संग्रह लालाजी ने किया है उनमें और 'केशव-कौमुदी' तथा 'प्रिया-प्रकाश' के छंदों में भी घोर पाठ भेद देखा जाता है। उदाहरण के रूप में देखिए-

१ केशव-कौमुदी के प्रथम भाग के ३७२वें पृष्ठ पर एक छंद इस प्रकार छपा हुआ है—

"भूति विभूति पियूषहु की विष ईश शरीर कि पाय वियो है;
है किधौं केशव कश्यप को घर देव अदेवन के मन मोहै।"

इत्यादि।

यही छंद लालाजी की प्रतिभा-द्वारा प्रिया-प्रकाश के १३७वें पृष्ठ पर भी संपादित हुआ है। पर वहाँ पहले चरण के पाठ में आकाश-पाताल का भेद हो गया है। वहाँ छपा है

"भूति विभूति पियूषहु की विष ईश शरीर कि पाप वियो है।"

एक अक्षर के भेद से, कहीं-कहीं केवल एक रेखा के भेद से अर्थ में कितना बड़ा अंतर हो सकता है, इसका यह छंद सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। 'य' के स्थान में 'प' का पाठ-भेद हो जाने से ही 'पाय वियो है' के स्थान में 'पाप वियो है' हो गया है। केशव कौमुदी में 'पाय वियो है' का अर्थ 'दूसरा पाया गया है' किया गया है। और प्रियाप्रकाश में 'पाप वियो है' पाठ हो जाने के कारण 'पाप का छेदन करनेवाला' अर्थ करना पड़ा है। दोनों ही पाठ और अर्थ लालाजी द्वारा संपादित हैं। किसको सर्वोत्कृष्ट और शुद्ध माना जाय? और देखिए—

२ केशव कौमुदी दूसरे भाग के पृष्ठ ६७ में एक छंद यह छपा है-

"विलोकि सिरोरुह सेत समेत तनोरुह कोविद यों गुण गायो,
उठे किधौं आयुकी औधि के अंकुर शूल कि शुष्क समूल नसायो;
जरे किधौं केशव व्याधिन की किधौं आधि के आखर अंत न पायो,
जरा सर पंजर जीव जरयो कि जरा जर-कंवर सों पहिरायो।"

वृद्धावस्था का कितना सुंदर वर्णन है। यही छंद प्रियाप्रकाश के ६५ वें पृष्ठ पर भी छपा है। पर निम्नलिखित प्रकार दोनों में पाठ-भेद दर्शनीय है—

तनोरुह कोविद=तनूरुह केशव,

शूल कि शुष्क=शूल कि सुःख,

तीसरा चरण तो एकदम भिन्न है। प्रियाप्रकाश में छपा है—

"लिख्यौ किधौं रूपके पानी पराजय रूप कौ भूप कुरूप लिखायो।"

और 'जरा ज़र कंवर' के स्थान पर 'जुराजर कंवर' छपा है। इन छंदों का संपादन करते समय शुद्ध और सर्वोत्तम पाठ चुननेवाली प्रतिभा कहाँ चली गई थी कि चरण का चरण ही गड़बड़ हो गया? किस पाठ को सर्वोत्तम समझा जाय। और देखिए—

३ केशव कौमुदी दूसरे भाग के १२२ वें पृष्ठ पर एक छंद इस प्रकार छपा है—

"वेरी गाय ब्राह्मण को मंथन में सुनियत,
कविकुल ही के सुवरण हर काज है;
गुरु शय्यागामी एक बालकै बिलोकियत,
मातंगन ही के मतवारे को सो साज है।
अरि नगरीन प्रति होत है अगम्या गौन,
दुर्गनहि केशोदास दुर्गति सी आज है;
देवताई देखियत गढ़न गढ़ोई जीवो,
चिरु-चिर रामचंद्र जाको ऐसो राज है।"

प्रियाप्रकाश के २६६ वें पृष्ठ पर भी यही छंद आया है, वहाँ भावार्थ के स्थान पर आपने एक नोट जड़ा है कि इस छंद का अर्थ केशव कौमुदी में लिखा जा चुका है वहाँ देख लो। पर प्रियाप्रकाश में इस छंद का जैसा संपादन हुआ है उससे स्पष्ट है कि दोनों छंदों में ज़मीन-आसमान का अंतर है और वह एक हो ही नहीं सकते, फिर समझ में नहीं आता लालाजी ने यह नोट क्या समझ कर और कैसे लिखा है। पाठको! उपरिलिखित छंद में और प्रिया-प्रकाश के छंद में निम्नलिखित प्रकार से पाठ-भेद है—

१. मंथन में सुनियत=कालै सब काल जहाँ,

२. गुरु शय्यागामी=गुरु सेज गामी

३. कवि कुल ही के=कवि कुल ही को

४. मातंगन=मातंगनि,

५. चतुर्थ चरण तो इस पाठ से एक दम भिन्न हो गया है। वहाँ छपा है—"राजा दशरथ सुत राजा रामचंद्र तुम चिरु चिरु राज करौ जाकौ ऐसो राज है।"

इतना पाठ भेद होते हुए भी यह लिखने का दुःसाहस करना 'दीन' जी का ही काम है कि इसका अर्थ केशव कौमुदी में देख लो। न जाने किस झोंके में उन्होंने ऐसा लिख मारा है। जिसकी बुद्धि इतनी अस्त-व्यस्त और भ्रान्त है वह भी यह दावा करे कि सर्वोत्तम और शुद्ध पाठ चुन सकनेवाली प्रतिभा उनके पास है, तो "किमाश्चर्यमतः परम्"।

अधिक उदाहरण देकर हम लेख का कलेवर व्यर्थ ही बढ़ाना नहीं चाहते हैं। सूप बोलै तो बोलै पर आश्चर्य तो यही है कि छलनी भी अब बोलने लगी है। जितनी बार एक छंद का सम्पादन करें, उतने ही पाठान्तर करते जायँ और फिर भी दावा यह करें कि सर्वोत्तम और शुद्ध पाठ चुननेवाली प्रतिभा उनके ही पास है। पाठान्तरों को संग्रह करनेवालों को लालाजी विवेकशून्य यदि कहते हैं, तो वह स्वयं ही बतावें कि उनकी गणना अब किनमें की जाय। जो सज्जन लालाजी की प्रतिभा के इस संबंध में और अधिक चमत्कार देखना चाहें, उन्हें निम्नलिखित पुस्तकों के निर्दिष्ट पृष्ठों को खोलकर देख लेना चाहिए—

के० कौ० प्र० भाग के पृष्ठ ३, १०२, ३७८, ३७९, ४१७, ४८७ और ४९६ पर छपे छंदों को प्रियाप्रकाश के पृष्ठ ११७ २८०, २७८, २७९, १०८, २७२ और २७५, पर छपे छंदों से मिला लें। के० कौ० दू० भा०के० पृ० ६४, २०७, ३२५ और ३७८ पर सम्पादित छंदों को प्रियाप्रकाश के पृ० ३६१, ७४, १६३ और १६७ पर सम्पादित छंदों से क्रमशः मिला लें। वह के० कौ० प्र० भा० के पृष्ठ १४, ८६, २२५ और ३७२ पर सम्पादित छंदों को सूक्तिसरोवर के पृष्ठ ११४, १४९, ७४ और १४३ पर सम्पादित छंदों से तुलना कर लें। तथा के० कौ० दू० भा० पृ० २११ पर छपे छंद को सूक्तिसरोवर के ६३ पृष्ठ पर सम्पादित छंद से मिलाकर देख लें।

४. पाठान्तर के इस पचड़े को समाप्त करने से पहले एक उदाहरण हम अपने पाठकों के सामने और रखना चाहते हैं। छंद इस प्रकार प्रारम्भ होता है—"को है दमयंती इंदुमती रती राति दिन होंहि न छबीली छनछबि जो सिंगारिए।" इत्यादि—सीताजी के स्वरूप का इस छंद में वर्णन है। 'माधुरी' के पाठकों का यह छंद पूर्व परिचित है, इसी लिए यहाँ प्रतीक मात्र हमने लिख दिया है।

'दीन' जी कृत इस छंद के अर्थ की समालोचना 'माधुरी' के पिछले अंकों में हम भली भाँति कर चुके हैं। लालाजी-कृत इस छंद के अर्थ को हम एक दम अशुद्ध मानते हैं। लालाजी और उनके पृष्ठपोषक पं० मोहनवल्लभपन्तजी के अद्भुत उत्तरों को पढ़ने के बाद भी हमारी वही धारणा बनी हुई है जो पहले थी। बिजली द्वारा मानवीय शृंगार के वर्णन को हम अयुक्त, असंगत और काव्य-रीति के विरुद्ध मानते हैं। लालाजी और पन्तजी के उत्तर न केवल आक्षेपों का समाधान करने में ही असमर्थ रहे हैं, किंतु उन्होंने इस छन्द के अलंकार के संबंध में एक नई गड़बड़ भी पैदा कर दी है। लालाजी के उत्तर ने तो उनकी अलंकार-योग्यता का भंडा ही फोड़ दिया है।

पाठकों को भूला न होगा कि हमारे पिछले लेख का उत्तर देते हुए 'मतवाला' में दीनजी ने बड़े गर्व से लिखा था कि उनके छोटे छोटे शिष्य भी इस छंद को देखते ही बता सकते हैं कि इसमें 'सम्भावना' अलंकार है। गोस्वामी तुलसीदासजी के एक उदाहरण द्वारा आपने अपने इस कथन को पुष्ट करने की चेष्टा भी की थी जिसका समुचित उत्तर 'माधुरी' के गत अंक में हम दे चुके हैं। आज इसी संबंध में एक और नई बात हम पाठकों के सामने रख देना चाहते हैं जिससे सर्व साधारण और लालाजी के शिष्य, विशेष करके यह जान लें कि अपने आपको अलंकार-शास्त्र का अद्वितीय ज्ञानी समझनेवाले लालाजी की अलंकार-शास्त्र में कितनी गति है और किस कोटि के वह संपादक हैं। के० कौ० प्र० भाग के १३९वें पृष्ठ पर यही छंद लालाजी द्वारा संपादित हुआ है। आपकी सर्वोत्तम और शुद्ध पाठ चुननेवाली प्रतिभा द्वारा संपादित होने पर भी 'प्रियाप्रकाश' और 'केशव कौमुदी' के पाठों में घोर पाठांतर हो गया है। इस छंद के तीसरे चरण का पूर्वार्ध प्रियाप्रकाश में "बदन निरूपन निरूपमतिरूप भए" छपा है। और 'केशव कौमुदी' में यही वाक्य 'मदन निरूपम निरूपन निरूप भयो' इस प्रकार छपा है। यह पाठांतर किसके प्रमाद का फल है ? इतना ही नहीं

किंतु इस छंद का अलंकार निरूपण करते हुए केशव कौमुदी के १३१ पृष्ठ पर लालाजी ने लिखा है कि इसमें "काकु से पुष्ट सम्बन्धातिशयोक्ति अथवा प्रतीप" अलंकार है। वाह वाह लालाजी! वाह वाह यह 'अथवा प्रतीप' की तो आपने एक ही कही। क्या 'काकु से पुष्ट संबंधातिशयोक्ति' और 'प्रतीप' आपकी निगाहों में एक ही हैं? अथवा आपको स्वयं संदेह है कि इसमें कौन-सा अलंकार है। 'अथवा' शब्द बीच में लिखकर तो आपने अपनी पूरी 'अलंकार दानी' ही लुढ़का दी है। 'माधुरी' के पाठक, विशेष करके ग्रेजुएट पाठक और विश्वविद्यालयों के प्रोफ़ेसर नोट कर लें कि इस छंद में आधुनिक अलंकार-शास्त्र के आचार्य लाला भगवानदीनजी 'दीन', 'काकु से पुष्ट सम्बन्धातिशयोक्ति अथवा प्रतीप अथवा सम्भावना' अलंकार मानते हैं। धन्य है लालाजी धन्य है। सचमुच इतनी बारीकी से अलंकारों का निरूपण और कौन कर सकता है। आपकी प्रतिभा बरक़रार रहे, फिर अलंकारों की क्या कमी है। हम क्या लिखें पाठक स्वयं ही देख लें कि लालाजी कैसे संपादक और अलंकार-शास्त्री हैं।

अशुद्ध अर्थ—

पाठान्तरों के कुछ उदाहरण पाठकों ने देख ही लिए अब अशुद्ध अर्थों की भी बानगी देख लीजिए। यद्यपि इनकी भी कमी नहीं है; पर कुछ उदाहरण ही हम पाठकों की भेंट करेंगे।

१. के० कौ० प्र० भा० पृ० २८ पर अयोध्या के वर्णन में एक छंद यह आया है—

"अति उच्च अगारनि बनी पगारनि जनु चिंतामणि नारि।
बहुशतमख-धूमनि-धूपित अंगन हरि की सी अनुहारि॥
चित्री बहुचित्रनि परम विचित्रन केशवदास निहारि।
जनु विश्वरूप को अमल आरसी रची विरंचि विचारि॥" छं० ४५

इस छंद के प्रथम चरण में आए 'नारि' शब्द का अर्थ 'समूह' खानि, करके इसका अर्थ लालाजी ने लिखा है—"बड़े ऊँचे मकानों पर (रत्नजटित) छारदिवारी बनी हैं, मानों चिंतामणियों का समूह है।" क्या अद्भुत अर्थ है। छहरदिवारी को चिंतामणि कल्पना करने का रहस्य लालाजी ही समझ सकते हैं। हमारी सम्मति में 'नारि' शब्द का 'समूह या खानि' अर्थ करना ठीक नहीं है 'नारि' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ स्त्री है और यही यहाँ पर भी समझना चाहिए। इस प्रकार से इस पद का अर्थ होगा—"बड़े-बड़े ऊँचे मकानों की चहारदीवारियों में (पुर-कौतुक देखने के लिये खड़ी) स्त्रियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं मानों चिंतामणि की ही स्त्रियाँ हों, या साक्षात् चिंतामणि ही हों।" चिंतामणि अभीष्ट फल को देनेवाली मणि मानी गई है। उन चहारदीवारियों में लगी खड़ी स्त्रियों के दर्शन से ही दर्शकों के सकल मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं, या यों समझिए कि जो कोई जो कुछ माँगता है उसे तत्काल वह वस्तु देकर कृतार्थ कर देती हैं इसीलिये कवि ने उन्हें चिंतामणि कल्पना किया है। कवि का यह भाव लालाजी के अर्थ से निकलता है कि नहीं, यह पाठक ही देखें। हमारे और लालाजीके अर्थ में कौन-सा संगत और श्रेष्ठ है, इसका निर्णय पाठक ही करें। प्राचीन टीकाकार पं० जानकीप्रसादजी ने भी इस छंद का अर्थ वही लिखा है जो हमने लिखा है। आप लिखते हैं "बहुत जे अति उच्च अपार घर हैं......तिनकी जे बनी पगार परिखा हैं, छारदेवालीति कहे शिरबंदी कहते हैं तिनमें लगी अनेक पुर कौतुक देखिबे को चिंतामणि सदृश नारी स्त्री ठाढ़ी हैं। चिंतामणि सदृश जिनको देखि मनोभिलाष पूरे होते हैं इत्यादि।" चहारदीवारियों को चिंतामणि का समूह कल्पना करने से अर्थ में क्या चमत्कार उत्पन्न हो सकता है, यह लालाजी ही जान सकते हैं। हमें तो लालाजी-कृत अर्थ अशुद्ध ही जँचता है।

२. के० कौ० प्र० भाग के ३२वें पृष्ठ पर एक दोहा यह आया है—

"अति चंचल जहँ चलदले, विधवा बनी न नारि।
मन मोह्यो ऋषिराज को, अद्भुत नगर निहारि॥" छं० ४८

यह दोहा भी उसी प्रकरण का है। अयोध्या का ही इसमें भी वर्णन है। इस दोहे में आये 'चलदले' शब्द का अर्थ आपने लिखा है "पीपर का पत्ता" यह एकदम अशुद्ध है। 'चलदल' एक समस्त शब्द है। कोई स्वतंत्र नहीं। 'चल' और 'दल' इन दो शब्दों के योग से यह शब्द बना है। 'चल' का अर्थ है 'चंचल' और 'दल' का अर्थ है 'पत्ता'। इस प्रकार 'चलदल' का अर्थ होता है 'चंचल हैं पत्ते जिसके'। बहुव्रीहि समास है इसलिये यदि किसी अर्थ का यह वाचक हो सकता है, तो 'वृक्ष' का ही हो सकता है। पीपल के पत्ते बहुत चंचल होते हैं इस-लिये 'पीपर' के अर्थ में ही इसका प्रयोग होता है। हिंदी के किसी कोष को उठाकर देख लीजिए 'चलदल' का

अर्थ 'पीपल' मिलेगा 'पीपल का पत्ता' नहीं। यदि 'चल दल' का अर्थ 'पीपल का पत्ता' हो तो लालाजी बतावें किसी कवि के इस पद का क्या अर्थ होगा "चलदल-पत्ता सो हलत कलकत्ता है।"

यह अशुद्धि लालाजी से अचानक हो गई होगी, सो बात भी नहीं प्रतीत होती है क्योंकि पृष्ठ १४४ पर फिर इसे दुहराया गया है। वहाँ एक दोहा आया है—

होम धूम मलिनाई जहाँ।
अति चंचल चलदल है तहाँ॥" छं० ८

इसका अर्थ करते हुए भी 'चलदल' का अर्थ "पीपल का पत्ता' किया गया है। लालाजी बतावें कि किस कोष या व्याकरण के आधार पर यह अर्थ किया गया है।

३. लंका-दाह का वर्णन करते हुए केशव ने एक छंद लिखा है के० कौ० प्र० भा० के १८६ पृष्ठ पर वह इस प्रकार छपा है—

"जटी अग्नि ज्वाला अटा सेत है यों।
शरत्काल के मेघ संध्या समै ज्यों।
लगी ज्वाल धूमावली नील राजै।
मनों स्वर्ण की किंकिनी नाग साजै॥"

दीनजी कृत इस छंद के पूर्वार्ध का अर्थ दर्शनीय है। आप लिखते हैं—"अग्नि-ज्वालाओं से युक्त अट्टालिकाएँ ऐसी श्वेत हो रही हैं जैसे संध्या-समय शरद ऋतु के बादल होते हैं।"

केशव की क्लिष्ट और गंभीर कविताओं के समझने का तो आपका दावा है, पर एक साधारण-से छंद का शुद्ध अर्थ तक आप कर नहीं सके। छंद जितना ही सुन्दर है लालाजी ने उतनी ही उसकी मिट्टी पलीद कर दी है। एक तो अग्निज्वालाओं से अट्टालिकाओं का श्वेत होना उस पर शरत्काल के साधारण नहीं पर संध्याकालीन मेघों से उनकी तुलना करना यह चमत्कार लालाजी की लेखनी के सिवाय और कौन पैदा कर सकता है। यह अर्थ अशुद्ध ही नहीं महा अशुद्ध और भ्रष्ट है। वास्तव में 'सेत' शब्द 'अटा' का विशेषण है और इसका अर्थ है कि "अग्निज्वालाओं से युक्त सफ़ेद अट्टालिकाएँ ऐसी दिखाई देती हैं जैसे संध्या समय में शरद ऋतु के मेघ।"

शरद्‌ऋतु के मेघ श्वेत होते हैं, इधर अट्टालिकाएँ श्वेत हैं। संध्या समय में आकाश में लाली होती है, इधर अग्नि की ज्वालाएँ लाल हैं। कहाँ कवि की यह चमत्कारपूर्ण कल्पना और कहाँ लालाजी का अर्थ आकाश-पाताल का अंतर है कि नहीं?

यूँ तो हँडिया के दो एक साथ ही टटोलने से परखैया परख लेते हैं और हमने तो तीन-तीन उदाहरण सामने रख दिए हैं। इतने उदाहरणों से संतोष न हुआ हो, तो और उदाहरण देखिए—

४. के० कौ० प्र० भा० के ४७० वें पृष्ठ से उन्नीसवें प्रकाश का प्रारंभ होता है और उसका प्रथम दोहा उस प्रकाश की कथा का सार बतानेवाला यह है—

'उन्नीसवें प्रकाश में, रावण दुःख निदान।
जृम्भैगो मकराक्ष पुनि, है है दूत विधान॥" छं० १.

एक साधारण योग्यता रखनेवाला भी व्यक्ति जानता है कि 'निदान' शब्द का अर्थ 'कारण या हेतु' है। किसी कोष को उठाकर देख लो, यही अर्थ मिलेगा। 'रोग का निदान' आदि स्थलों पर इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग प्रायः सुना भी जाता है। पर लाला भगवानदीन-जी ने इस शब्द का एक नवीन अर्थ खोज निकाला है। आप 'दुःखनिदान' शब्द का अर्थ लिखते हैं—"दुःख-निदान, अर्थात् "दुःख का अंतिम दर्जा अर्थात् बहुत बड़ा दुःख।" इतने 'अर्थात्' 'अर्थात्' लगाकर अपने अर्थ को यदि आप स्पष्ट न करते तो सचमुच कोई क्योंकर समझ पाता। धन्य है लालाजी धन्य है। इन नवीन आविष्कृत अर्थों का एक उदाहरण और देखिए—

५. के० कौ० प्र० भा० के ११ पृष्ठ पर एक छंद छपा है जिसमें एक वाक्य आया है—

"आनन्द के कन्द सुर पालक से बालक ये।"

इसका अर्थ करते हुए 'आनंद कंद' शब्द का अर्थ आपने 'आनंद के बादल' किया है। कहिए इससे पहिले भी किसी ने कहीं 'कंद' शब्द का अर्थ 'बादल' देखा है? हम तो भाई आज तक 'कंद' का अर्थ 'मूल या जड़ों में लगनेवाली विशेष प्रकार की गाँठों को ही समझते थे। शक्कर का भी एक नाम कंद सुना जाता है; पर 'कंद' का 'बादल' अर्थ आज तक न हमने सुना और न कहीं देखा ही। संभव है काशी के पण्डित के पास जाकर आप इस शब्द को शुद्ध करा सकें; पर हम फिर भी पूछेंगे क्या इस अर्थ में इस शब्द का कहीं कभी किसी ने प्रयोग किया है। यदि नहीं तो फिर कहना पड़ेगा कि यह अर्थ ठीक नहीं है। एक उदाहरण इस संबंध में

और लिखकर इस विषय को भी समाप्त करेंगे देखिए—

६. भरतजी की चतुरंगिणी सेना ने चित्रकूट के समीप डेरा डाला है, लक्ष्मण उसको देखकर सोच रहे हैं—के० कौ० प्र० भा० पृ० २२४।

"युद्ध को आज भरत्थ चढ़े धुनि दुंदुभि की दसहूं दिसि धाई।
प्रात चली चतुरंग चमू बरनी सु न केशव कैसहुं जाई॥
यों सबके तन मानिनि में झलकी अरुनोदय की अरुनाई।
अन्तर ते जनु रंजन को रजपूतन की रज बाहर आई॥" छं० १८

इस छंद की सामयिकता या असामयिकता पर यहाँ विचार नहीं करके केवल लालाजी-कृत इस छंद के उत्तरार्ध के अर्थ पर ही आलोचना करेंगे। आप उत्तरार्ध का अर्थ लिखते हैं—

"समस्त सैनिकों के कवचों पर सूर्योदय-समय की लालिमा इस प्रकार झलकती है, मानों क्षात्रधर्म से (वीरता से) वर्जित करने के हेतु क्षत्रियों का क्षत्रियत्व अन्तःकरण से निकलकर ऊपर ही आ गया है।"

क्या कहने इस अर्थ के, लालाजी की क़लम चूमने को नहीं, तोड़ डालने को जी चाहता है। आखिर लाला ही तो ठहरे, क्षात्र-धर्म की बात कैसे समझ सकते थे। यह आपने क्या लिख मारा कि क्षत्रियों का क्षत्रियत्व उन्हें क्षात्र-धर्म से वर्जित करने के लिए मानों हृदय से निकला हो। खेद है इस समझदारी पर और आश्चर्य है कि इतने पर भी टीकाएँ लिखने का शौक आप छोड़ते नहीं। इसका शुद्ध अर्थ हमारी संमति में इस प्रकार होना चाहिए—

"सैनिकों के कवचों पर प्रातःकालीन सूर्य्य की लाली इस प्रकार झलक रही थी मानों राजपूतों को क्षात्र-धर्म में रँगने के लिए उनके अन्तःकरण का रजोगुण ही बाहर निकल कर आ गया हो।" कैसी सुंदर कल्पना है; पर लालाजी कुछ समझें तब तो।

यह आधा दर्जन उदाहरण अशुद्ध अर्थों के संबंध में लिखकर अब हम इस बात की परीक्षा करेंगे कि लालाजी का यह दावा कि केशव के ग्रंथों को उनके दो-चार इष्ट-मित्रों और शिष्यों के सिवाय कोई नहीं समझता है कहाँ तक ठीक है। हमें यहाँ उनके इष्ट-मित्रों या शिष्यों के संबंध में कुछ नहीं कहना है। हाँ, लालाजी के दावे की छानबीन ज़रूर करेंगे। अस्तु देखिए—

१. के० कौ० प्र० भा० के ३७ वें पृष्ठ पर राजा दशरथ के वर्णन में एक छंद है—

"विधि के समान है विमानीकृत राजहंस,
विविध विबुध युत मेरु सो अचल है।
दीपति दिपति अति सातों दीप दीपियतु,
दूसरो दिलीप सो सुदक्षिणाको बल है।
सागर उजागर बहु बाहिनी को पति,
छन दान प्रिय किधौं सूरज अमल है।
सब विधि समरथ राजै राजा दशरथ,
भगीरथपथगामी गंगा कैसो जल है।"

जिन्होंने प्रसिद्ध महाकवि बाण की कादंबरी पढ़ी है वह इस छंद को देखते ही कह देंगे कि उनकी कुछ पंक्तियों का ही यह छंद अनुवाद है। बाण ने अपने राजा के वर्णन में 'कमलयोनिरिव विमानीकृतराजहंस-मण्डलः' तथा 'गंगाप्रवाह इव भगीरथपथप्रवर्ती' आदि जो वाक्य लिखे हैं उन्हीं के आधार पर केशव ने इस छन्द की रचना की है। अस्तु।

इसके प्रथम चरण के पूर्वार्ध का अर्थ लालाजी ने लिखा है "राजा दशरथ ब्रह्मा के समान हैं; क्योंकि जैसे ब्रह्मा राजहंस पर सवारी करते हैं; वैसे ही राजा दशरथ अनेक राजाओं के जीवों पर सवारी किए हुए हैं। सब राजाओं के चित्त पर चढ़े रहते हैं।" यह चित्त पर चढ़ानेवाला अर्थ हमारे चित्त पर तो क्षण भर के लिये भी नहीं चढ़ता। जैसा अभी हम लिख चुके हैं कि कादम्बरी के 'विमानीकृतराजहंसमण्डलः' वाले वाक्य का ही यह अक्षरशः अनुवाद है। कादंबरी के टीकाकार ने इन शब्दों का राजा के पक्ष में अर्थ करते हुए लिखा है "विगतो मानो दर्पो यस्य तद्विमानं, तथा-कृतं राजहंसानां श्रेष्ठनृपाणां मण्डलं येन" अर्थात् मान-रहित कर दिया है बड़े बड़े राजाओं को जिसने। यही इन शब्दों का अर्थ राजा दशरथ के पक्ष में होना चाहिए। प्राचीन टीकाकार पं० जानकीप्रसादजी ने इसी अर्थ से मिलता-जुलता अर्थ लिखा भी है कि "राजा विमानीकृत कहे मान-रहित किये हैं राजन के हंसजीव जिन करिकै।" इसलिए हमारी संमति में लालाजी ने जो अर्थ लिखा है वह ठीक नहीं है। इसके साथ ही हम यह भी बता देना चाहते हैं कि यह अर्थ लालाजी की प्रतिभा की उपज नहीं है बल्कि जानकीप्रसादजी ने जिस अर्थ

को गौण मानकर 'अथवा' करके लिखा है उसे ही आपने मुख्य मान लिया है और उसे भी ठीक-ठीक समझ न सकने के कारण अशुद्धरूप में लिख डाला है। जानकी-प्रसादजी ने पूर्वोद्धृत अर्थ लिखने के बाद लिखा है "अथवा विमानीकृत वाहिनीकृत हैं राजन के हंसजीव जिन करिकै अर्थ शत्रु भय सों मित्र प्रेम सों मन में चढ़ाए रहत हैं।" यह लालाजी-कृत 'अनेक राजाओं के जीवों पर सवारी' करानेवाला अर्थ ठीक नहीं है। 'अनेक' शब्द बीच में जड़ देने से तो इस अर्थ की भलमनसाहत एकदम जाती रही है।

इसी छंद के तीसरे चरण में आए "छनदान-प्रिय किधौं सूरज अमल है।" इसका भी अर्थ लालाजी ने विचित्र ही किया है। आप लिखते हैं "अथवा राजा दशरथ निर्मल सूर्य हैं क्योंकि जैसे सूर्य सबको (प्राणी-मात्र को) आनन्द देते हैं, वैसे ही राजा दशरथ प्रति-क्षण दान करने को प्रिय कार्य समझते हैं।" सूर्य के पक्ष में 'छन' शब्द का जो अर्थ अर्थात् 'आनंद' किया गया है उसे अशुद्ध तो हम कह नहीं सकते हैं। क्योंकि संस्कृत के जिस 'क्षण' शब्द का अपभ्रंश यह 'छन' शब्द है उसके अनेक अर्थों में 'आनंद या उत्सव' भी एक है; पर इतना हम अवश्य कहेंगे कि यह दोनों ही अर्थ अत्यन्त अप्रसिद्ध हैं। संस्कृत-साहित्य में भी बहुत कम इन अर्थों में इसका प्रयोग देखा जाता है।" हिंदी में तो शायद ही कहीं इन अर्थों में इस शब्द का प्रयोग हुआ हो। दूसरे इस स्थान पर इस अर्थ से कोई चमत्कार भी नहीं उत्पन्न होता है। हमारी सम्मति में इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए "अथवा राजा दशरथ निर्मल सूर्य-सदृश हैं। क्योंकि राजा दशरथ 'छनदानप्रिय' हैं और सूर्य भी 'छनदानप्रिय' है। दशरथ के पक्ष में तो 'छनदान' का सीधा अर्थ होगा कि उन्हें प्रतिक्षण दान देना बहुत ही प्रिय है। पर सूर्य-पक्ष में इस शब्द का 'छनदा' और 'न प्रिय' ऐसा पदच्छेद करना पड़ेगा। 'छनदा' का अर्थ होता है 'रात्रि' क्योंकि संस्कृत के 'क्षणदा' शब्द का यह अपभ्रंश है। इसलिए सूर्य-पक्ष में इसका अर्थ होगा "रात्रि नहीं है प्रिय जिसको" सूर्य के प्रकाश में अन्धकार क्या कभी ठहर सकता है। पं० जानकीप्रसादजी ने इस अर्थ को भी लिखा है, पर दीनजी ने न जाने ऐसा अर्थ क्यों किया है।

२—और देखिए के० कौ० प्र० भा० पृ० ४६ पर एक छंद यों लिखा है—

"रामचलत नृप के युग लोचन, बारि भरित भए बारिद रोचन।
पायन परि ऋषि के साजि मौनहिं, केशव उठिगए भीतर भौनहिं॥"

छंद के पूर्वार्ध का अर्थ आपने लिखा है "रामचंद्र के चलते समय राजा दशरथ के दोनों नेत्र ऐसे हो गये जैसे पानी से भरे लाल बादल (आँखें लाल हो गईं और आँसू आ गए)।"

आँखें लाल हो गई होंगी और आँसू भी आए होंगे, पर यह तो बतलाइए कि पानी से भरे और रीते लाल बादल कैसे होते हैं। प्रलयकालीन मेघों से तो यहाँ कोई बात बनती दीखती नहीं। फिर रोचन' का अर्थ 'लाल' समझ-कर 'वारिद-रोचन' शब्द का अर्थ आपने 'लाल बादल' कैसे कर डाला है। वस्तुतः 'वारिदरोचन' शब्द का अर्थ 'मेघ की कांतिवाले' है। और करना भी चाहिए। यहाँ पर यह 'राम' का विशेषण है अर्थात् "मेघ की कांति-वाले राम के चलते समय राजा दशरथ के नेत्र जल से भर गए।" सीधी और कितनी चमत्कारपूर्ण बात है। मगर नए-नए अर्थों की धुन में इनको देखता ही कौन है। और देखिए—

३—के० कौ० प्र० भा० के ५३ पृष्ठ पर एक कुण्डलिया आई है जिसमें विश्वामित्र सपुत्रा ताड़का के मारने के लिये राम को उद्यत कर रहे हैं। कुण्डलिया इस प्रकार है—

"सुता बिरोचन की हुती, दीरघ जिह्वा नाम।
सुरनायक सों संहरी, परम पापिनी बाम॥
परम पापिनी बाम बहुरि उपजी कवि माता।
नारायण सों हती चक्र चिंतामणि दाता॥
नारायण सों हती सकल, द्विज दूषण संयुत।
त्यों अब त्रिभुवननाथ ताड़का मारहु सह सुत॥"

कितनी सीधी-सादी कुंडलिया है; पर इसके अर्थ में भी लालाजी गड़बड़ा गये हैं। दूसरी बार आए "नारायण सों हती" का अर्थ आप लिखते हैं कि "नारायण की कसम खाकर कहता हूँ।" कहिए है न नवीन और विलक्षण अर्थ। 'सों' के ऊपर हिंदी जड़कर एक तो लालाजी ने मनमाना पाठ बना लिया है, उस पर यह 'कसम' वाला अर्थ करके तो अँगूठी में नगीना ही जड़ दिया है। लालाजी को खुद जो कसम खाने की कुटेव पड़ी हुई है उसी का यह चमत्कार प्रतीत होता है, अन्यथा कोई बतावे कि

यहाँ क़सम खाने का कौन-सा अवसर था। रामचंद्र को किसी बात पर विश्वास दिलाने के लिए विश्वामित्र को क्या क़सम खाने ही की आवश्यकता थी? शिष्य को कोई बात समझाते समय क्या गुरु को क़सम खाना पड़ता है? अपने शिष्यों को पढ़ाते समय क्या लालाजी इसी प्रकार क़समें खाया करते हैं? वास्तव में 'परमपापिनी बाम' के सदृश अर्थ पर बल देने के लिए ही 'नारायण सों हती' इस वाक्य की द्विरुक्ति की गई है। और उसका वही अर्थ है जो पहली बार आए वाक्य का है। यह क़समवाला अर्थ अर्थ नहीं अनर्थ है।

४—उदयोन्मुख सूर्य का वर्णन करते हुए एक छंद केशव ने लिखा है।

के० कौ० प्र० भाग के ८६ पृष्ठ पर। वह इस प्रकार छपा है—

"व्योम में मुनि देखिये अति लाल श्री मुख साजहीं।
सिंधु में बड़वाग्नि की जनु ज्वाल माल विराजहीं॥
पद्मरागनि की किधौं दिवि धूरि पूरित सी भई।
सूरबाजिन की खुरी अति तिक्तता तिनकी हई॥" छं०२१

छंद के उत्तरार्ध का अर्थ आपने यों लिखा है—"अथवा सूर्य के घोड़ों के अतितीक्ष्ण सुमों से चूर्ण की हुई पद्मराग मणियों की धूल से सारा आकाश पूरित-सा हो गया है।" विचारने की बात है कि 'तिक्तता' भाववाचक शब्द का अर्थ 'तीक्ष्ण' कैसे हो सकता है? लालाजी ने 'तिक्तता' को 'तीक्ष्ण' समझकर झट उसे 'खुरी' का विशेषण बना डाला है और यह अर्थ कर दिया है। हमारी सम्मति में यह अर्थ अशुद्ध है और इसका अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—"अथवा पद्मरागमणि की धूल से ही आकाश पूर्ण हो रहा है, जिसमें सूर्य के किरणों की अति तीक्ष्णता (तेजी) नष्ट हो गई है।" 'सूरबाजिन की खुरी' इसका अर्थ 'सूर्य के घोड़ों की खुरी' अवश्य है; पर यहाँ इसका तात्पर्य 'सूर्य की किरणों' से ही मानना पड़ेगा। यदि यह नहीं मानेंगे तो इसका दूसरा अर्थ यह होगा "अथवा पद्मरागमणियों की धूल से आकाश पूर्ण हो रहा है; पर 'तिनकी अर्थात् उन मणियों की अतितिक्तता' प्रखरता सूर्य के घोड़ों की खुरियों से नष्ट हो गई है।" जो भी अर्थ मानिए पर लालाजी का अर्थ तो ठीक नहीं जँचता है। हमें तो बीचवाला अर्थ ही अधिक समीचीन मालूम होता है।

५—विश्वामित्र के मुख से राम और लक्ष्मण का गुण वर्णन करवाते हुए केशव ने एक छंद कहा है, उसका विचारणीय प्रथम चरण इस भाँति है—

"दानिन के शील, पर दान के प्रहारी दिन,
दानवारि ज्यों निदान देखिये सुभाय के।"

के० कौ० प्र० भा० के ९८ पृष्ठ पर यह पद छपा है। लालाजी ने इसका अर्थ किया है—"बड़े-बड़े दानियों के-से स्वभाववाले हैं, सदैव शत्रुओं से दण्डस्वरूप धन-दान लेनेवाले हैं, और अंततः विष्णु के-से स्वभाववाले हैं।" इसमें विशेष विचारणीय 'परदान के प्रहारी दिन' इन शब्दों का अर्थ है। लालाजी 'पर' का अर्थ 'शत्रु' और 'दान के प्रहारी' का 'दण्डरूप दान लेनेवाले' करते हैं, यह अर्थ एकदम अशुद्ध और अयुक्त है। प्रथम तो 'प्र' पूर्वक 'हृ' धातु का अर्थ लेनेवाला होता ही नहीं। संस्कृत में एक नियम है कि भिन्न-भिन्न उपसर्गों के संयोग से धातु का अर्थ भी बदल ही जाता है। 'प्रहार' शब्द का प्रयोग 'लेने' के अर्थ में शायद ही कहीं हुआ हो। इसका तो अर्थ प्रहार करना, मारना या नाश करना ही होता है। दूसरे यह छंद उस समय कहा गया है, जब राम-लक्ष्मण के साथ विश्वामित्र जनक के दरबार में पहुँचे हैं और जनक ने विश्वामित्र से पूछा है कि यह दोनों बालक तुम्हारे साथ कौन हैं। उस समय तक राम का विवाह भी नहीं हुआ था राज्याभिषेक की तो बात ही दूर है, इसकी तो चरचा तक नहीं थी। जब इनका राज्याभिषेक तक नहीं हुआ था तो शत्रुओं से दण्डरूप धन लेनेवाले वह कैसे कहे जा सकते हैं। इसलिए लालाजी-कृत अर्थ अशुद्ध है। वास्तविक अर्थ इसका यह है—"बड़े-बड़े दानियों के से शीलवाले हैं पर 'दान' के 'प्रहारी' नाश करनेवाले हैं।" जो दानियों के शीलवाला है वह 'दान' का नाशक कैसे हो सकता है। इस विरोध का परिहार 'दान' का अर्थ 'मद या अहंकार' करने से अनायास ही हो जाता है। शत्रुओं के मद का वह नाश करनेवाले थे ही। कितने ही राक्षसों और ताड़का का वध उससे पूर्व वह कर चुके थे। विद्वज्जन ही निर्णय करें कौन-सा अर्थ ठीक है? और देखिये—

६—तेरहवें प्रकाश में वर्षाऋतु का कालिका के रूप में वर्णन करते हुए एक घनाक्षरी केशव ने लिखा है। के० कौ० प्र० भा० के ३०२ पृष्ठ पर वह यों छपा है—

"भौंहैं सुर चाप चारु प्रमुदित पयोधर,
भूखन जराय ज्योति तड़ित रलाई है।
दूरि करी सुख मुख सुखमा ससी की नैन,
अमल कमल दल दलित निकाई है॥
केसोदास प्रबल करेनुका गमन हर,
मुकुत सुहंसक सबद सुखदाई है।
'अंबर बलित मति मोहै नीलकंठजू की,
कालिका की बरषा हरषि हिय आई है॥"

संपूर्ण घनाक्षरी के अर्थों पर विचार न करके यहाँ पर केवल एक चरण के अर्थ पर ही हम विचार करेंगे। इससे ही पाठकों को मालूम हो जायगा कि इस छंद का अर्थ करने में दीनजी की प्रतिभा ने कैसा कमाल किया है। देखिए प्रथम चरण का कालिका-पक्ष में लालाजी क्या अर्थ लिखते हैं!—

"भावार्थ—(कालिका-पक्ष का) इंद्र-धनुष ही जिसकी सुंदर भौंहें हैं, घने और बड़े बादल (पयोधर) ही जिसके उन्नत कुच हैं, विद्युच्छटा ही जिसके जड़ाऊ जेवरों की चमक है, इत्यादि।"

सहृदय पाठको! किञ्चित् विचार करके देखिए लालाजी-कृत कालिका-पक्ष का यह अर्थ क्या कालिका पर किसी प्रकार घटता है? यह अर्थ तो वर्षा का एक स्त्री के रूप में वर्णन कर रहा है न कि कालिका का। कालिका का तो इस अर्थ से तो कोई संबंध ही नहीं प्रतीत होता है। वास्तव में यह अर्थ कालिका-पक्ष के योग्य नहीं है। कालिका-पक्ष में इसका अर्थ इस प्रकार होना चाहिए।

"(सुरचाप) इंद्र-धनुष से या (सी) सु (चारु) सुंदर हैं भौंहें जिसकी, (प्रमुदित) उन्नत हैं कुच जिसके, और जिसके (जराय) जड़ाऊ (भूखन) भूषणों की (जोति) ज्योति में (तड़ि) बिजली की (तरलाई) चंचलता है अथवा जिसके जड़ाऊ भूषणों की ज्योति में (तड़ित) बिजली (रलाई) मिश्रित है अर्थात् वह विद्युत् के समान दमकते हैं इत्यादि" सहृदय विद्वान् दोनों अर्थों पर ध्यान देकर निर्णय करें कौन-सा सही और समुचित है। लालाजी इस छंद को समझे ही नहीं। इन आधा दर्जन उदाहरणों से पाठकों को भली भाँति विदित हो गया होगा कि लालाजी का केशव की कविताओं के समझाने का दावा कहाँ तक ठीक है। एक उदाहरण इस संबंध में और लिखकर इस विषय को भी हम समाप्त करेंगे।

७—त्रिवेणी के वर्णन में एक छंद केशव ने यह लिखा है—के० कौ० प्र० भा० २११

"चिलके दुति सूक्षम सोभति बारू। तनु है जनु सेवत हैं सुर चारू॥
प्रतिबिंबित दीप दिपैं जल माहीं। जनु ज्वालमुखीन के जालन हाहीं॥"

अर्थ सरल ही है। त्रिवेणी-तट पर जो बालुका के कण चमक रहे हैं, केशवदास कहते हैं कि मानों स्वयं देवता-गण ही आकर त्रिवेणी-सेवन कर रहे हैं। इसी प्रकार त्रिवेणी-जल में तैरते हुए प्रज्वलित दीपकों को देखकर यह उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानों ज्वालामुखियों के समूह ही त्रिवेणी में स्नान कर रहे हों। क्या अद्भुत कल्पना है। कितना सुंदर वर्णन है। इस छंद के उत्तरार्ध के अर्थ में भी लालाजी ने एक भूल की है। आपने 'ज्वालमुखीन' का अर्थ 'देवनारियाँ या देवियाँ' किया है। यदि हम ग़लती नहीं करते और हमारा अनुमान सही है, तो ऐसा मालूम होता है कि फ़ारसी के 'शोला रूह' शब्द का ही अनुवाद आपने 'ज्वालमुखी' समझा है। मगर लालाजी को ध्यान रखना चाहिए, केशव ब्राह्मण थे और संस्कृत के पंडित थे, आपके सदृश संस्कृत से कोरे पर उर्दू-फ़ारसी के विद्वान् कायस्थ न थे। उनकी कविता में संस्कृत-कवियों के भाव ही होना स्वाभाविक है। उनकी कविताओं में प्रयुक्त शब्दों के भाव संस्कृत-साहित्य से ही लिए गए हैं, उर्दू और फ़ारसी-साहित्य से नहीं। संस्कृत-साहित्य में 'ज्वालामुखी' शब्द देवनारियों के लिये हमने अभी तक नहीं देखा है, संभव है कहीं हो। पर इसका सीधा और प्रचलित अर्थ ही क्यों न लिया जाय, उसमें क्या दोष है। हमारी सम्मति में इसका ज्वालामुखी अर्थ करना ही अधिक युक्तिसंगत और ठीक है। आगे विद्वज्जन जैसा कहें। सज्जनो! केशव कौमुदी के प्रथम भाग के ही यह कुछ उदाहरण हमने आपके सामने रखे हैं, दूसरे भाग को अभी हमने छुआ भी नहीं है और न उसे छूने का विचार ही है, क्योंकि इतने ही उदाहरणों से समझनेवाले समझ सकते हैं कि टीकाकार और टीका की क्या हालत है। लेख यद्यपि बहुत बढ़ गया है, तब भी लालाजी द्वारा निरूपित अलंकारों के संबंध में एक दो उदाहरण दिए बग़ैर हम इसे अभी समाप्त नहीं करेंगे। देखिए—

१—के० कौ० दूसरा भाग के २८वें पृष्ठ पर एक छंद यह आया है—

"भूतल की रज देव नसावैं। फूलन की बरषा बरषावैं॥
हीन निमेष सबै अवलोकैं। होउ परी बहुधा दुहु लोकैं॥"

लंका-विजय के बाद अयोध्या में जिस समय रामचंद्रजी ने प्रवेश किया है उस समय का यह वर्णन है। इसका अलंकार निरूपण करते हुए लालाजी ने लिखा है "ललितोपमा अथवा उत्प्रेक्षा।" कहिए पाठको, क्या समझे। क्या ललितोपमा और उत्प्रेक्षा एक ही स्थान पर एक समय में हो सकते हैं? दोनों के बीच में पड़ा 'अथवा' शब्द क्या स्पष्ट घोषणा नहीं कर रहा है कि लालाजी को स्वयं संदेह है कि इसमें कौन-सा अलंकार है। यदि ऐसा ही था, तो अलंकार लिखने ही की क्या आवश्यकता थी। और देखिए के० कौ० दू० भा० पृ० १०८ में एक दोहा इस प्रकार आया है—

२—"सकल रतन सब मृत्तिका शुभ ओषधी अशेष।
सात दीप के पुष्प फल पल्लव रस सविशेष॥"

राम-राज्याभिषेकोपयोगी वस्तुओं की ही इसमें गणना की गई है। पर इसमें भी लालाजी को "तुल्ययोगिता" अलंकार दिखाई दिया है। लालाजी की 'अलंकारमंजूषा' में 'तुल्ययोगिता' का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

"क्रिया और गुण करि जहाँ धर्म एकता होय।
चतुर चतुर विधि कहत हैं, तुल्ययोगिता सोय॥"

पाठक सोचें और लालाजी बतावें कि तुल्ययोगिता का यह लक्षण यहाँ किस प्रकार घटता है।

लालाजी की टीकाओं में 'मघवा नाम बिडौजा टीका' के उदाहरण भी यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। यही देखिए के० कौ० दू० भा० के २६४वें पृष्ठ पर एक छंद छपा है जिसमें एक वाक्य आया है "पंकज केशर सोहत हीं" इसकी टीका करते हुए 'केशर' शब्द का अर्थ आपने 'किंजल्क' लिखा है। अर्थ सवा सोलह आने ठीक है; पर मेरे ख़्याल में बहुत-से पुस्तक पढ़नेवालों के लिये इस शब्द की टीका की भी आवश्यकता पड़ेगी। ऐसे अप्रसिद्ध शब्दों द्वारा टीका करना, या मूल से भी अर्थ को कठिन कर देना व्यर्थ है। इससे तो केशर ही अधिक सरल और सुबोध था। अब दो उदाहरण लालाजी के पाठांतरों में से पाठ चुनने की योग्यता के संबंध में देकर इस लेख को समाप्त करेंगे।

लालाजी ने लिखा है कि वह अपनी योग्यता और अनुभव के ज़ोर से शुद्ध और सर्वोत्तम पाठ चुन लेते हैं और वही संपादन कर देते हैं। अशुद्ध पाठों के उद्धरण देने से लोगों के गोरखधंधे में उलझ जाने का भय है इसीलिये वह अपनी पुस्तकों में पाठांतर नहीं देते हैं। पर हमारा ख़याल दूसरा है। पाठांतर रखने से पढ़नेवालों को संपादक के अभीष्ट पाठ में तथा अन्य पाठों में तुलना करने का जो अवसर मिलता है, इसी तुलना की कसौटी पर रगड़े जाने से जो घबराते हैं वही पाठांतरों के विरोधी हैं। पाठांतर न लिखना बतलाता है कि उन्हें अपनी पाठ चुनने की योग्यता पर स्वयं संदेह है अन्यथा तुलना के मैदान में खड़े होने से क्यों कतराते हैं। अच्छा, अब ज़रा इन दो उदाहरणों पर दृष्टि डालिए—

१—के० कौ० प्र० भाग के ४२३वें पृष्ठ पर एक दोहा यों छपा है—

"या सत्रहें प्रकाश में लंका को अवरोधु।
शत्रु चमू वर्णन समर लक्ष्मण को परमोधु॥"

राम-चंद्रिका के सत्रहवें प्रकाश की कुल कथा का संक्षेप से वर्णन करनेवाला यह प्रथम दोहा है। इसके चतुर्थ चरण का पाठ लालाजी ने 'लक्ष्मण को परमोधु' सब पाठों में से चुना है। 'परमोधु' का अर्थ 'प्रमुग्ध' होना या बेहोश होना करके इस चरण का अर्थ 'लक्ष्मण का शक्ति से घायल होकर मूर्छित होना' आपने लिखा है। जैसा पाठ आपने माना है उसके अनुसार यह अर्थ यदि सही मान लिया जाय, तो मानना पड़ेगा कि सत्रहवें प्रकाश में लक्ष्मण के घायल होकर मूर्छित होने तक का ही वर्णन होना चाहिए। पर सत्रहवाँ प्रकाश पढ़कर देखिए उसमें लक्ष्मण का मूर्छित होना, राम का विलाप, हनुमान् का द्रोणागिरि से ओषधि का पहाड़ लाना तथा उसमें से विशल्यकरणी ओषधि का स्पर्श कराना और लक्ष्मण का "देखो रावण जीतेजी लंका में जाने न पावे" इत्यादि कहते हुए उठ बैठने तक की संपूर्ण कथा का वर्णन है। अब कहिए यह 'परमोधु' वाला पाठ कहाँ तक ठीक कहा जा सकता है।

अच्छा अब देखिए। लखनऊ नवलकिशोर-प्रेस की छपी पुस्तक में 'परमोधु' के स्थान पर 'परबोधु' ऐसा पाठ मिलता है। 'परबोधु' का अर्थ 'प्रबुद्ध' होना, जागना या चैतन्य होना है। इस पाठ में इस दोहे का अर्थ यह होगा कि लक्ष्मण के प्रबुद्ध होने या चैतन्य

होकर उठ बैठने तक की कथा इस प्रकाश में है। प्रबुद्ध होने की कथा तक का निर्देश करने में उसके पहले की घटनाओं का होना तो स्वाभाविक ही समझ लिया जायगा। अधिक इसमें लिखने की आवश्यकता नहीं है, पाठक ही देखें, दोनों पाठों में उत्तम कौन-सा है। एक उदाहरण और देखिए—

२—के० कौ० टू० भा० पृ० ६१ पर यौवन के व्यवहारों का वर्णन करनेवाला एक छंद लालाजी ने यों संपादन किया है—

"जारति चित्त चिता दुचिताई। दीह त्वचा अहि कोप चबाई।
काम समुद्र झकोरनि झूल्यो। यौवन चोर महामद भूल्यो।"

इसके चतुर्थ चरण का एक पाठांतर लखनऊवाली पुस्तक में इस प्रकार है—

"यौवन जोर महा प्रभु भूल्यो।"

पाठक ही निर्णय करें, कौन-सा पाठ अधिक युक्ति-युक्त और उत्तम जँचता है।

सज्जनो! रामचंद्रिका के छंदों का लालाजी की प्रतिभा द्वारा जैसा संपादन हुआ है और जैसी उनकी टीका हुई है उसके यह कुछ उदाहरण आपके सामने हैं। आप स्वयं ही निर्णय करें कि ऐसे टीकाकारों और ऐसी टीकाओं का हिंदी-साहित्य में कौन-सा स्थान होना चाहिए। हम इसे केशव और उनकी कविताओं का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों का दुर्भाग्य ही समझते हैं कि ऐसी टीकाएँ छप रही हैं और बिक रही हैं।

भूदेव शर्मा विद्यालंकार

पिसनहारी का कुआँ

(१)

गोमती ने मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए चौधरी विनायकसिंह से कहा—"चौधरी, मेरे जीवन की यही लालसा थी।"

चौधरी ने गंभीर होकर कहा—"इसकी कुछ चिंता न करो काकी, तुम्हारी लालसा भगवान् पूरी करेंगे। मैं आज ही से मजूरों को बुलाकर काम पर लगाये देता हूँ। दैव ने चाहा, तो तुम अपने कुएँ का पानी पीओगी। तुमने तो गिना होगा कितने रुपए हैं?"

गोमती ने एक क्षण आँखें बंद करके बिखरी हुई स्मृति को एकत्र करके कहा—"भैया, मैं क्या जानूँ, कितने रुपए हैं। जो कुछ हैं वह इसी हाँडी में हैं। ऐसा करना कि इतने ही में काम चल जाय। किसके सामने हाथ फैलाते फिरोगे।"

चौधरी ने बंद हाँडी को उठाकर हाथों से तोलते हुए कहा—"ऐसा तो करें हीं गे काकी, कौन देनेवाला है। एक चुटकी भीख तो किसी के घर से निकलती नहीं, कुआँ बनवाने को कौन देता है! धन्य हो तुम कि अपनी उम्र भर की कमाई इस धर्म-काज के लिये दे दी।"

गोमती ने गर्व से कहा—"भैया, तुम तो तब बहुत छोटे थे। तुम्हारे काका मरे, तो मेरे हाथ में एक कौड़ी भी न थी। दिन-दिन भर भूखी पड़ी रहती। जो कुछ उनके पास था वह सब उनकी बीमारी में उठ गया। वह भगवान् के बड़े भक्त थे। इसीलिये भगवान् ने उन्हें जल्दी से बुला लिया। उस दिन से आज तक तुम देख रहे हो कि मैं किस तरह दिन काट रही हूँ। मैंने एक-एक रात में मन-मन भर अनाज पीसा है बेटा! देखनेवाले अचरज मानते थे। न जाने इतनी ताक़त मुझमें कहाँ से आ जाती थी। बस, यही लालसा रही कि उनके नाम का एक छोटा-सा कुआँ गाँव में बन जाय। नाम तो चलना चाहिए। इसीलिये तो आदमी बेटे-बेटी को रोता है।"

इस तरह चौधरी विनायकसिंह को वसीयत करके उसी रात को बुढ़िया गोमती परलोक सिधारी। मरते समय अंतिम शब्द जो उसके मुख से निकला वह यही था कि—"कुआँ बनवाने में देर न करना।" उसके पास धन है, यह तो लोगों का अनुमान था, लेकिन दो हज़ार हैं इसका किसी को अनुमान न था। बुढ़िया अपने धन को ऐब की तरह छिपाती थी। चौधरी गाँव का मुखिया और नीयत का साफ़ आदमी था। इसीलिये बुढ़िया ने उससे यह अंतिम आदेश किया था।

(२)

चौधरी ने गोमती की क्रिया-कर्म में बहुत रुपए न ख़र्च किये। ज्यों ही इन संस्कारों से छुट्टी मिली, वह अपने बेटे हरनाथसिंह को बुलाकर ईंट, चूना, पत्थर का

तखमीना करने लगे। हरनाथ, अनाज का व्यापार करता था। कुछ देर तक तो वह बैठा सुनता रहा, फिर बोला—"अभी दो-चार महीने कुआँ न बने, तो कोई बड़ा हरज है ?"

चौधरी ने हूँहु करके कहा—"हरज तो कुछ नहीं लेकिन देर करने का काम ही क्या है। रुपए उसने दे ही दिए हैं, हमें तो सेंत में यश मिलेगा। गोमती ने मरते-मरते जल्द कुआँ बनवाने को कहा था।"

हरनाथ—"हाँ, कहा तो था, लेकिन आजकल बाज़ार अच्छा है। दो-तीन हज़ार का अनाज भर लिया जाय तो अगहन-पूस तक सवाया हो जायगा। मैं आपको कुछ सूद दे दूँगा।" चौधरी का मन आशा और भय के दुबिधे में पड़ गया। दो हज़ार के कहीं ढाई हज़ार हो गये, तो क्या कहना, जगमोहन में कुछ बेल-बूटे बनवा दूँगा। लेकिन भय था कहीं घाटा हो गया तो? इस शंका को वह छिपा न सके, बोले—"जो कहीं घाटा हो गया तो ?"

हरनाथ ने तड़पकर कहा—"घाटा क्या हो जायगा, कोई बात है !"

"मान लो घाटा हो गया तो"

हरनाथ ने उत्तेजित होकर कहा—"यह कहो कि तुम रुपए नहीं देना चाहते। बड़े धर्मात्मा बने हो।"

अन्य वृद्ध जनों की भाँति चौधरी भी बेटे से बहुत दबते थे। कातर स्वर में बोले—"मैं यह कब कहता हूँ कि रुपए न दूँगा। लेकिन पराया धन है, सोच-समझ ही कर तो उसमें हाथ लगाना चाहिए। बनिज व्यापार का हाल कौन जानता है। कहीं भाव और गिर जाय तो! अनाज में घुन ही लग जाय, कोई मुद्दई घर में आग ही लगा दे। सब बातें सोच लो अच्छी तरह।"

हरनाथ ने व्यंग्य से कहा—"इस तरह सोचना है, तो यह क्यों नहीं सोचते कि कोई चोर ही उठा ले जाय, या बनी बनाई दीवार बैठ जाय, ये बातें भी तो होती ही हैं।"

चौधरी के पास अब और कोई दलील न थी, कमज़ोर सिपाही ने ताल तो ठोंकी, अखाड़े में उतर भी पड़ा, पर तलवार की चमक देखते ही हाथ पाँव फूल गये। बग़लें झाँककर चौधरी ने कहा—"तो कितना लोगे ?"

हरनाथ कुशल योद्धा की भाँति शत्रु को पीछे हटते देखकर बफर कर बोला—"सबका सब दीजिए, सौ-पचास रुपए लेकर क्या खिलवाड़ करना है।"

चौधरी राजी हो गये। गोमती को उन्हें रुपए देते किसी ने न देखा था। लोक-निंदा की संभावना भी न थी। हरनाथ ने अनाज भरा। अनाजों के बोरों का ढेर लग गया। आराम की मीठी नींद सोनेवाले चौधरी अब सारी रात बोरों की रखवारी करते थे, मजाल न थी कि कोई चुहिया बोरों में घुस जाय। चौधरी इस तरह झपटते थे कि बिल्ली भी हार मान लेती। इस तरह छः महीने बीत गये। पौष में अनाज बिका, पूरे ५००) का लाभ हुआ।

हरनाथ ने कहा—"इसमें से ५०) आप ले लें"

चौधरी ने झल्लाकर कहा—"५०) क्या ख़ैरात ले लूँ। किसी महाजन से इतने रुपए लिये होते, तो कम-से-कम २००) सूद के होते, मुझे तुम दो-चार रुपए कम दे दो, और क्या करोगे।"

हरनाथ ने ज़्यादा बतबढ़ाव न किया। १५०) चौधरी को दे दिये। चौधरी की आत्मा इतनी प्रसन्न कभी न हुई थी। रात को वह अपनी कोठरी में सोने गया, तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि बुढ़िया गोमती खड़ी मुसकिरा रही है। चौधरी का कलेजा धक् धक् करने लगा। वह नींद में न था। कोई नशा न खाया था। गोमती सामने खड़ी मुसकिरा रही थी। हाँ, उस मुरझाए हुए मुख पर एक विचित्र स्फूर्ति थी।

(३)

कई साल बीत गये। चौधरी बराबर इसी फ़िक्र में रहते कि हरनाथ से रुपए निकाल लूँ, लेकिन हरनाथ हमेशा ही हीले-हवाले करता रहता था। वह साल में थोड़ा-सा ब्याज दे देता; पर मूल के लिये हज़ार बातें बनाता था। कभी लेहने का रोना था। कभी चुकते का। हाँ, कारोबार बढ़ता जाता था। आख़िर एक दिन चौधरी ने उससे साफ़-साफ़ कह दिया कि तुम्हारा काम चले या डूबे, मुझे परवा नहीं, इस महीने में तुम्हें अवश्य रुपए चुकाने पड़ेंगे। हरनाथ ने बहुत उड़न घाइयाँ बताईं, पर चौधरी अपने इरादे पर जमे रहे।

हरनाथ ने झुँझलाकर कहा—"कहता हूँ कि दो महीने और ठहरिए। माल बिकते ही मैं रुपए दे दूँगा।"

चौधरी ने दृढ़ता से कहा—"तुम्हारा माल कभी न

बिकेगा और न तुम्हारे दो महीने कभी पूरे होंगे। मैं आज रुपए लूँगा।"

हरनाथ उसी वक़्त क्रोध में भरा हुआ उठा और दो हज़ार रुपए लाकर चौधरी के सामने ज़ोर से पटक दिये। चौधरी ने कुछ झेंपकर कहा—"रुपए तो तुम्हारे पास थे।"

"और क्या बातों से रोजगार होता है ?"

"तो मुझे इस समय ५००) दे दो, बाक़ी दो महीने में दे देना। सब आज ही तो ख़र्च न हो जायँगे।"

हरनाथ ने ताव दिखाकर कहा—"आप चाहे ख़र्च कीजिए, चाहे जमा कीजिए, मुझे रुपयों का काम नहीं। दुनिया में क्या महाजन मर गये हैं जो आपकी धौंस सहूँ !"

चौधरी ने रुपए उठाकर एक ताख पर रख दिये। कुएँ की दागबेल डालने का सारा उत्साह ठंडा पड़ गया।

हरनाथ ने रुपए लौटा तो दिये थे, पर मन में कुछ और मनसूबा बाँध रक्खा था। आधी रात को जब घर में सन्नाटा छा गया, तो हरनाथ चौधरी की कोठरी की चूल खिसकाकर अंदर घुसा। चौधरी बेख़बर सोए हुए थे। हरनाथ ने चाहा कि दोनों थैलियाँ उठाकर बाहर निकल जाऊँ, लेकिन ज्यों ही हाथ बढ़ाया, उसे अपने सामने गोमती खड़ी दिखाई दी। वह दोनों थैलियों को दोनों हाथों से पकड़े हुए थी। हरनाथ भयभीत होकर पीछे हट गया।

फिर यह सोचकर कि शायद मुझे धोखा हो रहा हो, उसने फिर हाथ बढ़ाया, पर अबकी वह मूर्त्ति इतनी भयंकर हो गई कि हरनाथ एक क्षण भी वहाँ खड़ा न रह सका। भागा, पर बरामदे ही में अचेत होकर गिर पड़ा।

(४)

हरनाथ ने चारों तरफ़ से अपने रुपए वसूल करके व्यौपारियों को देने के लिये जमा कर रक्खे थे। चौधरी ने आँखें दिखाईं, तो वही रुपए लाकर पटक दिये। दिल में उसी वक़्त सोच लिया था कि रात को रुपए उड़ा लाऊँगा। झूठ-मूठ चोर का गुल मचा दूँगा, तो मेरी ओर संदेह भी न होगा। पर जब यह पेशबंदी ठीक न उतरी, तो उस पर व्यौपारियों के तगादे होने लगे। वादों पर लोगों को कहाँ तक टालता, जितने बहाने हो सकते थे, सब किये। आख़िर वह नौबत आ गई कि लोग नालिश करने की धमकियाँ देने लगे। एक ने तो ३००) की नालिश कर भी दी। बेचारे चौधरी बड़ी मुश्किल में फँसे। दूकान पर हरनाथ बैठता था, चौधरी को उससे कोई वास्ता न था, पर उसकी जो साख थी वह चौधरी के कारण। लोग चौधरी को खरा, लेन-देन का साफ़ आदमी समझते थे। अब भी यद्यपि कोई उनसे तकाज़ा न करता था, पर वह सबसे मुँह छिपाते फिरते थे। लेकिन उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि कुआँ के रुपए न छुऊँगा, चाहे कुछ भी पड़े।

रात को एक व्यौपारी के मुसलमान चपरासी ने चौधरी के द्वार पर आकर हज़ारों गालियाँ सुनाईं। चौधरी को बार-बार क्रोध आता था कि चलकर उसकी मूछें उखाड़ लूँ; मन को समझाया "हमसे मतलब ही क्या है, बेटे का क़र्ज़ चुकाना बाप का धर्म नहीं।"

जब भोजन करने गये, तो पत्नी ने कहा—"यह सब क्या उपद्रव मचा रक्खा है।"

चौधरी ने कठोर स्वर में कहा—"मैंने मचा रक्खा है।"

"और किसने मचा रक्खा है। बच्चा क़सम खाते हैं कि मेरे पास केवल थोड़ा-सा माल है, रुपए तो सब तुमने माँग लिये।"

चौ०—"माँग न लेता तो क्या करता, हलवाई की दूकान पर दादे का फातेहा पढ़ना मुझे पसंद नहीं।"

स्त्री०—"यह नाक कटाई अच्छी लगती है ?"

चौ०—"तो मेरा क्या बस है भाई, कभी कुआँ बनेगा कि नहीं ? पाँच साल तो हो गये।"

स्त्री—"इस वक़्त उसने कुछ नहीं खाया। पहिली जून भी मुँह जूठा करके उठ गया था।"

चौ०—"तुमने समझाकर खिलाया नहीं; दाना-पानी छोड़ देने से तो रुपये न मिलेंगे।"

स्त्री—"तुम क्यों नहीं जाकर समझा देते ?"

चौ०—"मुझे तो वह इस समय बैरी समझ रहा होगा।"

स्त्री—"मैं रुपये ले जाकर बच्चा को दिये आती हूँ, हाथ में जब रुपए आ जायँ तो कुआँ बनवा देना।"

चौ०—"नहीं, नहीं; ऐसा ग़ज़ब न करना। मैं इतना बड़ा विश्वास-घात न करूँगा, चाहे घर मिट्टी ही में मिल जाय।"

लेकिन स्त्री ने इन बातों की ओर ध्यान न दिया। वह लपककर भीतर गई और थैलियों पर हाथ डालना ही चाहती थी कि एक चीख़ मारकर हट गई। उसकी सारी देह सितार के तार की भाँति काँपने लगी।

चौधरी ने घबड़ाकर पूछा—"क्या हुआ क्या? तुम्हें चक्कर तो नहीं आ गया।"

स्त्री ने ताक़ की ओर भयातुर नेत्रों से देखकर कहा—"वह चुड़ैल वहाँ खड़ी है।"

चौधरी ने ताक़ की ओर देखकर कहा—"कौन चुड़ैल, मुझे तो कोई नहीं दीखता।"

स्त्री—"मेरा तो कलेजा धक-धक कर रहा है। ऐसा मालूम हुआ, जैसे उस बुढ़िया ने मेरा हाथ पकड़ लिया।"

चौधरी—"यह सब भ्रम है। बुढ़िया को मरे पाँच साल हो गये, अब तक यहाँ बैठी है?"

स्त्री—"मैंने साफ़ देखा, वही थी। बच्चा भी कहते थे कि उन्होंने रात को उसे थैलियों पर हाथ रक्खे देखा था।"

चौधरी—"वह रात को मेरी कोठरी में कब आया?"

स्त्री—"तुम से कुछ रुपयों के विषय ही में कहने आया था। उसे देखते ही भागा।"

चौ०—"अच्छा फिर तो अंदर जाओ, मैं देख रहा हूँ।"

स्त्री ने कान पर हाथ रखकर कहा—"ना बाबा, अब मैं उस कमरे में क़दम न रक्खूँगी।"

चौ०—"अच्छा मैं जाकर देखता हूँ।"

चौधरी ने कोठरी में जाकर दोनों थैलियाँ ताक़ पर से उठा लीं। किसी प्रकार की शंका न हुई। गोमती की छाया का कहीं नाम भी न था। स्त्री द्वार पर खड़ी झाँक रही थी, चौधरी ने आकर गर्व से कहा—"मुझे तो कहीं कुछ दिखाई न दिया। वहाँ होती, तो कहाँ चली जाती।"

स्त्री—"क्या जाने तुम्हें क्यों नहीं दिखाई दी, तुमसे उसे स्नेह था, इसीसे हट गई होगी।"

चौ०—"तुम्हें भ्रम था और कुछ नहीं।"

स्त्री—"बच्चा को बुलाकर पुछाये देती हूँ।"

चौ०—"खड़ा तो हूँ, आकर देख क्यों नहीं लेती।"

स्त्री को कुछ आश्वासन हुआ। उसने ताक़ के पास जाकर डरते-डरते हाथ बढ़ाया कि—ज़ोर से चिल्लाकर भागी और आँगन में आकर दम लिया।

चौधरी भी उसके साथ आँगन में आ गया और विस्मय से बोला—"क्या था क्या? व्यर्थ में भागी चली आई। मुझे तो कुछ न दिखाई दिया।"

स्त्री ने हाँफते हुए तिरस्कारपूर्ण स्वर में कहा—

"चलो हटो, अब तक तो तुमने मेरी जान ही ले ली थी। न जाने तुम्हारी आँखों को क्या हो गया है। खड़ी तो है वह डाइन!"

इतने में हरनाथ भी वहाँ आ गया। माता को आँगन में पड़े देखकर बोला—"क्या है अम्माँ, कैसा जी है?"

स्त्री—"वह चुड़ैल आज दो बार दिखाई दी। बेटा! मैंने कहा लाओ, तुम्हें रुपए दे दूँ। फिर जब हाथ में आ जायँगे, तो कुआँ बनवा दिया जायगा। लेकिन ज्यों ही थैलियों पर हाथ रक्खा, उस चुड़ैल ने मेरा हाथ पकड़ लिया। प्राण-से निकल गये।"

हरनाथ ने कहा—"किसी अच्छे ओझा को बुलाना चाहिए जो इसे मार भगावे।"

चौधरी—"क्या रात तुम्हें भी दिखाई दी थी?"

हरनाथ—"हाँ, मैं तुम्हारे पास एक मामले में सलाह करने आया था। ज्यों ही अंदर क़दम रक्खा, वह चुड़ैल ताक़ के पास खड़ी दिखाई दी, मैं बदहवास होकर भागा।"

चौधरी—"अच्छा फिर तो जाओ।"

स्त्री—"कौन, अब तो मैं न जाने दूँ, चाहे कोई लाख रुपए दे।"

हरनाथ—"मैं आप न जाऊँगा।"

चौधरी—"मगर मुझे कुछ दिखाई नहीं देता। यह बात क्या है?"

हरनाथ—"क्या जाने, आपसे डरती होगी। आज किसी ओझा को बुलाना चाहिए।"

चौधरी—"कुछ समझ में नहीं आता, क्या माजरा है। क्या हुआ बैजू पाँड़े की डिग्री का?"

हरनाथ इन दिनों चौधरी से इतना जलता था कि अपने दूकान के विषय की कोई बात उनसे न कहता था। आँगन की तरफ़ ताकता हुआ मानों हवा से बोला—"जो होना होगा वह होगा, मेरी जान के सिवा और कोई क्या ले लेगा, जो खा गया हूँ, वह तो उगल नहीं सकता।"

चौधरी—"कहीं उसने डिग्री जारी कर दी तो?"

हरनाथ—"तो क्या। दूकान नीलाम हो जायगी। चार-पाँच सौ का माल है नीलाम हो जायगा।"

चौधरी—"कारोबार तो सब चौपट हो जायगा ?"

हरनाथ—"अब कारबार के नाम को कहाँ तक रोऊँ। अगर पहले से मालूम होता कि कुआँ बनवाने की इतनी जल्दी है, तो यह काम छेड़ता ही क्यों। रोटी दाल तो पहले भी मिल जाती थी। बहुत होगा दो-चार महीने हवालात में रहना पड़ेगा। इसके सिवा और क्या हो सकता है।"

माता ने कहा—"जो तुम्हें हवालात में ले जाय उसका मुहँ झुलस्म दूँ। हमारे जीते जी तुम हवालात में जाओगे!"

हरनाथ ने दार्शनिक बनकर कहा—"माँ-बाप जन्म के साथी होते हैं, किसी के कर्म के साथी नहीं होते।"

चौधरी को पुत्र से प्रगाढ़ प्रेम था, उन्हें शंका हो गई थी कि हरनाथ रुपए हज़म करने के लिये टाल-मटोल कर रहा है। इसलिए उन्होंने आग्रह करके रुपए वसूल कर लिये थे। अब उन्हें अनुभव हुआ कि हरनाथ के प्राण सचमुच संकट में हैं, सोचा—"अगर लड़के को हवालात हो गई, या दूकान पर कुर्की आ गई, तो कुल मर्यादा धूल में मिल जायगी। क्या हरज है अगर गोमती के रुपए दे दूँ। आखिर दूकान चलती ही है, कभी-न-कभी तो रुपए हाथ में आवेंही गे।"

एकाएक किसी ने बाहर से पुकारा—"हरनाथसिंह!" हरनाथ के मुख पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। चौधरी ने पूछा—कौन है?

"कुर्क अमीन"

"क्या दूकान कुर्क करने आया है?"

"हाँ, मालूम होता है।"

"कितने रुपयों की डिग्री है?"

"१२००) की"

"कुर्क अमीन कुछ लेने-देने से न टलेगा?"

"टल तो जाता, पर महाजन भी तो उसके साथ होगा। उसे जो कुछ लेना है, उधर से ले चुका होगा।"

"न हो १२००) गोमती के रुपयों में से दे दो"

"उसके रुपए कौन छुएगा। न जाने घर पर क्या आफ़त आवे।"

"उसके रुपए कोई हज़म थोड़ा ही किये लेता है, चलो मैं दे दूँ।"

चौधरी को इस समय भय हुआ, कहीं मुझे भी वह न दिखाई दे। लेकिन उनकी शंका निर्मूल थी। उन्होंने एक थैली से २००) निकाले और दूसरी थैली में रखकर हरनाथ को दे दिए। संध्या तक इन २०००) में एक रुपया भी न बचा।

(४)

बारह साल गुज़र गये। न चौधरी अब इस संसार में हैं, न हरनाथ। चौधरी जब तक जिये, उन्हें कुएँ की चिंता बनी रही, यहाँ तक कि मरते दम भी उनकी ज़बान पर कुएँ की रट लगी हुई थी। लेकिन दूकान में सदैव रुपयों का तोड़ा रहा। चौधरी के मरते ही सारा कारोबार चौपट होगया। हरनाथ ने आने रुपए लाभ से संतुष्ट न होकर दूने, तिगुने लाभ पर हाथ मारा—जुआ खेलना शुरू किया। साल भी न गुज़र पाया था कि दूकान बंद हो गई, गहने-पाते, बरतन-भाँड़े सब मिट्टी में मिल गये। चौधरी की मृत्यु के ठीक साल भर बाद हरनाथ ने भी इस हानि-लाभ के संसार से पयान किया। माता के जीवन का अब कोई सहारा न रहा। बीमार पड़ी; पर दवा-दर्पन न हो सकी। तीन-चार महीने तक नाना प्रकार के कष्ट झेलकर वह भी चल बसी। अब केवल उसकी बहू थी और वह भी गर्भिणी। उस बेचारी के लिये अब कोई आधार न था। इस दशा में मज़दूरी भी न कर सकती थी। पड़ोसिनों के कपड़े सी-सीकर उसने किसी भाँति पाँच-छः महीने काटे। पड़ोसिनें कहती थीं, तेरे लड़का होगा, सारे लक्षण बालक के थे। यही एक जीवन का आधार था। लेकिन जब कन्या होगई, तो यह आधार भी जाता रहा। माता ने अपना हृदय इतना कठोर कर लिया कि नव-जात शिशु को छाती से भी न लगाती थी। पड़ोसिनों के बहुत समझाने-बुझाने पर छाती से लगाया, पर उसकी छाती में दूध की एक बूँद न थी। उस समय अभागिनी माता के हृदय में करुणा और वात्सल्य और मोह का एक भूकम्प-सा आ गया। अगर किसी उपाय से उसके स्तन की अंतिम बूँद दूध बन जाती, तो वह अपने को धन्य मानती।

बालिका की वह भोली, दीन, याचनामय, सतृष्ण छवि देखकर उसका मातृ-हृदय मानों सहस्र नेत्रों से रोदन करने लगा था। उसके हृदय की सारी शुभेच्छाएँ, सारा आशीर्वाद, सारी विभूति, सारा अनुराग मानों

उसकी आँखों से निकलकर उस बालिका को उसी भाँति रंजित कर देता था, जैसे इंदु का शीतल प्रकाश पुष्प को रंजित कर देता है ; पर उस बालिका के भाग्य में मातृ-प्रेम के सुख न बदे थे । माता ने कुछ अपना रक्त, कुछ ऊपर का दूध पिलाकर उसे जिलाया; पर उसकी दशा दिन-दिन जीर्ण होती जाती थी ।

एक दिन लोगों ने जाकर देखा, तो वह भूमि पर पड़ी हुई थी और बालिका उसकी छाती से चिपटी उसके स्तनों को चूस रही थी । शोक और दारिद्र्य से आहत शरीर इस रक्त-प्रवाह को सहन न कर सका ।

वही बालिका पड़ोसियों की दया-भिक्षा से पलकर एक दिन घास खोदती हुई उस स्थान पर जा पहुँची जहाँ बुढ़िया गोमती का घर था । छप्पर कब के पंच-भूतों में मिल चुके थे । केवल जहाँ-तहाँ दीवारों के चिह्न बाक़ी थे, कहीं-कहीं आधी-आधी दीवारें खड़ी थीं । बालिका ने न जाने क्या सोचकर खुरपी से गड्ढा खोदना शुरू किया । दोपहर से साँझ तक वह गड्ढा खोदती रही, न खाने की सुधि थी, न पीने की, न कोई शंका थी, न भय । अँधेरा हो गया; पर वह ज्यों की त्यों बैठी गड्ढा खोद रही थी । उस समय किसान लोग भूलकर भी उधर से न निकलते थे ; पर बालिका निःशंक बैठी भूमि से मिट्टी निकाल रही थी । जब अँधेरा हो गया, तो वह चली गई ।

दूसरे दिन वह बड़े सवेरे उठी और इतनी घास खोदी जितनी वह कभी दिन भर में भी न खोदती थी । दोपहर के बाद वह अपनी खाँची और खुरपी लिये फिर उसी स्थान पर पहुँची; पर आज वह अकेली न थी । उसके साथ दो बालक और भी थे । तीनों वहाँ साँझ तक 'कुआँ-कुआँ' खेलते रहे, बालिका गड्ढे के अंदर खोदती थी और दोनों बालक मिट्टी निकालकर फेंकते थे ।

तीसरे दिन दो लड़के और भी उस खेल में मिल गये । शाम तक खेल होता रहा । आज गड्ढा दो हाथ गहरा हो गया था । गाँव के बालकों और बालिकाओं में इस विलक्षण खेल ने अभूतपूर्व उत्साह भर दिया था !

चौथे दिन और भी कई बालक आ मिले । सलाह हुई कौन अंदर जाय, कौन मिट्टी उठाये, कौन झौवा खींचे । गड्ढा अब चार हाथ गहरा हो गया था, पर अभी तक बालकों के सिवा और किसी को उसकी ख़बर न थी ।

एक दिन रात को एक किसान अपनी खोई हुई भैंस ढूँढ़ता हुआ उस खँडहर में जा निकला । अंदर मिट्टी का ऊँचा ढेर, एक बड़ा-सा गड्ढा और एक टिमटिमाता हुआ दीपक देखा, तो डरकर भागा । औरों ने भी आकर देखा, कई आदमी थे । कोई शंका न थी । समीप जाकर देखा तो बालिका बैठी थी । एक आदमी ने पूछा—"अरे क्या तूने यह गड्ढा खोदा है ?" बालिका ने कहा—"हाँ ।"

"गड्ढा खोदकर क्या करेगी ?"

"यहाँ कुआँ बनाऊँगी ।"

"कुआँ कैसे बनावेगी ?"

"जैसे इतना खोदा है वैसे ही और खोद लूँगी । गाँव के सब लड़के खेलने आते हैं ।"

"मालूम होता है तू अपनी जान देगी और अपने साथ और लड़कों को भी मारेगी । ख़बरदार, जो कल से गड्ढा खोदा ?"

दूसरे दिन और लड़के न आए, बालिका भी दिन भर मज़दूरी करती रही । लेकिन संध्या समय वहाँ फिर दीपक जला और फिर वह खुरपी हाथ में लिये वहाँ बैठी दिखाई दी ।

गाँववालों ने उसे मारा-पीटा, कोठरी में बंद किया; पर वह अवकाश पाते ही वहाँ जा पहुँचती ।

गाँव के लोग प्रायः श्रद्धालु होते ही हैं, बालिका के इस अलौकिक अनुराग ने आख़िर उनमें भी अनुराग उत्पन्न किया । कुआँ खुदने लगा ।

इधर कुआँ खुद रहा था, उधर बालिका मिट्टी से ईंटें बनाती थी । इस खेल में सारे गाँव के लड़के शरीक होते थे । उजाली रातों में जब सब लोग सो जाते, तब भी वह ईंटें थापती दिखाई देती । न जाने इतनी लगन उसमें कहाँ से आ गई थी । सात वर्ष की उम्र कोई उम्र होती है ! लेकिन सात वर्ष की वह लड़की बुद्धि और बात-चीत में अपने तिगुनी उम्रवालों के कान काटती थी ।

आख़िर एक दिन वह भी आया कि कुआँ बँध गया और उसकी पक्की जगत तैयार होगई । उस दिन बालिका उसी जगत पर सोई । आज उसके हर्ष की सीमा न थी । गाती थी, चहकती थी ।

प्रातःकाल उस जगत पर केवल उसकी लाश मिली। उस दिन से लोगों ने कहना शुरू किया, यह वही बुढ़िया गोमती थी। इस कुएँ का नाम "पिसनहारी का कुआँ" पड़ा।

प्रेमचंद

उषा से

वह क्षण मुझे नहीं है ज्ञात,
जिस क्षण तुझ-सा ओचक मात;
अरुण कमल दल पर निज कर से,
लिख डालूँगी सुन्दर काव्य।
वृथा है तुझको इसका मान;
यह होगा मुझसे सम्भाव्य?
विमल कल्पना में सुकुमार,
उठता है माँ शुचि संभार;
तू उनमें निज कुशल करों से,
अङ्कित कर दे सुंदर छंद;
भर दे उनमें निश्चल गति लय,
मृदु स्वर, माँ होकर स्वच्छंद!
पृथ्वी के अञ्चल में दीन,
जग होगा निद्रा में लीन;
तब मैं तेरा विमल कंठ ले,
गा दूँगी प्रभात सङ्गीत;
नव्य कंठ्य से लेकर माँ कुछ
निरुपम, अश्रुत भाव पुनीत
जग में छा जायेगा कलरव,
मैं हो जाऊगा तब नीरव;
तेरे अंतस्तल में जाकर,
केवल झंकृत होगा गान;
जग की हृद्तन्त्री में माँ,
लेकर अपना भाव महान!!

मंगलप्रसाद विश्वकर्मा

बलपूर्वक-सहयोग

(सहयोगी सैनिक राष्ट्रीय हिरन को साइमन कमीशन की हरी घास ज़बर्दस्ती खिलाना चाहता है)

हिंदी के कुछ कवियों के विषय में टिप्पणियाँ

(पौष मास की ६६ वीं संख्या से आगे)

(७) गोकुल कायस्थ, बलरामपुर, उपनाम ब्रज पृ० ११४६ व १२०८ मि० ब० वि०

विनोद के पृ० ११४६ पर गोकुल कायस्थ का कविता-काल सं० १६०० माना है और उनके बनाए हुए नाम-रत्नाकर और वामविनोद-नामक दो ग्रंथों का उल्लेख है और विवरणशीर्षक में लिखा है कि "धर्म एवं नीति कही।" पृ० १२०८ पर गोकुल उपनाम ब्रज कायस्थ का वर्णन है और उनका कविता-काल १६२५ सं० के लगभग माना गया है। दिग्विजयभूषण, अष्टयाम, चित्र-कलाधर, दूतीदर्पण, नीतिरत्नाकर और नीतिप्रकाश-नामक छः ग्रंथ इनके बनाए लिखे गए हैं। विवरण में यह भी लिखा है कि विनोदकारों ने इनमें से कोई ग्रंथ देखा नहीं। अस्तु।

यथार्थतः बात ऐसी है कि पृ० ११४६ और १२०८ पर वर्णित गोकुल कायस्थ उपनाम ब्रज कवि एक ही हैं और उनका कविता-काल १६०० संवत् से प्रारंभ होता है। ऊपर लिखे हुए आठ ग्रंथों में से ४ ग्रंथ हमारे पुस्तकालय में वर्तमान हैं। अतः इन चार के विषय में तो हम पूर्णतया यह बात कह सकते हैं कि ये ग्रंथ एक ही कवि के बनाए हुए हैं। इन चार ग्रंथों का विवरण इस प्रकार है:—

(१) अष्टयाम पृ० संख्या २०८ निर्माण-काल सं० १६१६
(२) दिग्विजयभूषण पृ० सं० ६७२ निर्माण-काल सं० १६१६
(३) नीतिरत्नाकर ,, २४२ ,, ,, १६२१
(४) वामविनोद ,, २०४ ,, ,, १६२६

शेष चार ग्रंथों को अर्थात् चित्रकलाधर, दूतीदर्पण, नामरत्नाकर और नीतिप्रकाश हमने नहीं देखा और न उनके विषय में कुछ सुना ही है। यद्यपि इनमें से नाम-रत्नाकर खोज में प्राप्त हुआ है और उसका सं० १६०० में निर्माण होना लिखा है। इन आठ ग्रंथों के अतिरिक्त इन कविराज का बनाया एक छोटा-सा और ग्रंथ हमारे पुस्तकालय में है, इसका नाम 'पंचदेवपंचक' है और यह ११ पृ० का ग्रंथ सं० १६२३ में बना। प्रत्येक पंच-देवविषयक इसमें ५ कवित्त हैं।

मदनगोपाल सुकुल फतुहाबादी-कृत अर्जुनविलास ग्रंथ की भूमिका भी इन्हीं की लिखी है। अस्तु।

ये महाशय गदाधर कवि के शिष्य बलरामपुर के महाराजा सर दिग्विजयसिंह के यहाँ थे और उनके यहाँ इनका मान भी अच्छा हुआ। इन्हीं महाराज की दिन-चर्या अपने अष्टयाम-नामक ग्रंथ में इन्होंने सविस्तर लिखी है। इनका दिग्विजयभूषण-नामक ग्रंथ इनकी काव्य-प्रौढ़ता और विद्वत्ता का परिचय देता है। मुख्यतः यह ग्रंथ अलंकार-विषयक है और उदाहरण में कवि ने अपने छंदों के अतिरिक्त अन्य नामांकित प्राचीन कवियों के छंद भी दिये हैं। इस प्रकार इसमें १६२ कवियों के छंद लिखे गए हैं।

जैसा विनोद में लिखा है, इनकी कविता परम विशद होती थी। उदाहरणार्थ इनके दो छंद नीचे दिए जाते हैं। यथा—

हरि हाठ सों दीठि अरूझै जबै गन कानि कुटुंब की टूटिहैरी,
चल चाज चबाइन के चित मैं गुरु गाँठि परे पर फूटिहैरी ;
ब्रज कैसे कै नेह नये निबंह निज नाह को नातो ही छूटिहैगी,
मन मोह कसामसी ऐसी बसी केहि भाँति भटू जुग जूटिहैगी।

इकतो बिनुआर बिलासिनि के तनताप कलापिन तापर टेरे,
तड़पै तड़िता बहै पौन प्रचंड उड़े तृन से मनहीं मन हेरे ;
ब्रज एते सबै दुखदायक हैं सुखदायक नाम सुनै हम तेरे,
जगजीवन जीवन दै जगजीवन क्यों हठि जीवन लेत हो मेरे।

(८—१४) छत्र, तुलाराम, देवन, धनेश, भीम, मिथिलेश, रतिनाथ, पृ० १३५७—१३५८ मि०ब०वि०

विनोद में इन महाशयों का समय सं० १६४० के पूर्व माना गया है और इनमें से प्रत्येक के विवरण में लिखा है कि "श्रृंगारसंग्रह" में काव्य है। अब प्रश्न यह होता है कि जब इन लोगों के काव्य श्रृंगारसंग्रह में हैं जो स्वयं सं० १६०५ में बनी, तो इनका कविता-काल १६०५ सं० के पूर्व था। ऐसी दशा में इनका कविता-काल सं० १६४० के पूर्व क्यों रक्खा गया है, यह हमारी अल्प बुद्धि में नहीं आता।

(१५) मनराज—पृ० ११६१ मि० ब० वि०

इनके कविता-काल के विषय में भी हमें यही वक्तव्य है कि इनका कविता-काल भी सं० १६०५ के पूर्व होना चाहिए, सं० १६०६ के नहीं ; क्योंकि इनकी कविता भी श्रृंगारसंग्रह में संगृहीत है—

(१६) समाधान—पृ० १३५८ मि० ब० वि०

इनके समय के विषय में भी हमें वही वक्तव्य है जो ऊपर छत्र इत्यादि के विषय में कह चुके हैं। इनका कविता-काल भी सं० १६०५ के पूर्व होना चाहिए। श्रृंगार-संग्रह में संगृहीत काव्य के अतिरिक्त इनका बनाया एक ग्रंथ हमको और मिला है। इसका नाम 'लक्ष्मण-शतक' है और इसमें लक्ष्मण और मेघनाद के युद्ध से प्रारंभ होकर मेघनाद-वध पर कथा समाप्त होती है। उदाहरण के लिये इसमें से एक छंद नीचे देते हैं—

भूतल उपारि डारौं, हिमगिरि जारि डारौं,
लंकहिं उखारि डारौं, मारि डारौं रावनौं ;
सिंधु पूरि डारौं, करि धूरि डारौं विधिचक्र,
चूरि डारौं मेरु, भूरि डारौं महिरावनौं।
भनै समाधान मघवान मीसि डारौं,
असुरान चीसि डारौं, पीसि डारौं अरि आवनौं ;
द्रोन गिरि ल्याऊँ, मूरि जीवन पियाऊँ,
कहौ प्रथम जिआऊँ, नाथ तेरो मन भावनौं।

(१७) मंडन—पृ० ४८७ मि० ब० वि०

विनोद में लिखा है कि "इनके बनाए हुए रसरत्नावली, रसविलास, जनकपचीसी, जानकीजू का विवाह और नैन-पचासा नामक ग्रंथ खोज में लिखे हैं। इन्होंने पुरंदरमाया १७१६ में रची" बहुत ढूँढ़ने पर भी जनकपचीसी को छोड़कर इनमें से और कोई ग्रंथ हमको खोज की रिपोर्टों में नहीं मिला। अतः उनके विषय में सद्यः मौन रहने के अतिरिक्त कोई और उपाय देख नहीं पड़ता। पुरंदरमाया मिली भी तो उसके बनानेवाले दूसरे अर्थात् मणिमंडन मिश्र। फिर उसके संवत् का खोज में पता नहीं। इस ग्रंथ का रचना-काल किस आधार पर स्थिर किया गया है हम नहीं जानते। मिश्रबन्धु-विनोद में मंडन मिश्र और मणिमंडन मिश्र को क्या एक ही माना है? इसका भी कारण कुछ नहीं समझ पड़ता। मणिमंडन मिश्र गौड़ क्षत्री राजा केशरीसिंह के आश्रित थे। मंडन मिश्र राजा मंगदसिंह के आश्रित थे। इसके अतिरिक्त विनोद के १४२५ पृ० पर एक मणिमंडन मिश्र का नाम है और पुरंदरमाया का नाम उनके ग्रंथों में भी लिखा है। तो अब शंका यह होती है कि क्या 'पुरंदरमाया' ग्रंथ दो कवियों ने बनाया। इसके अतिरिक्त मणिमंडन मिश्र का नाम अलग देने से ही जान पड़ता है कि विनोदकारों ने इन दोनों कवियों को भिन्न-भिन्न माना है। तो फिर पुरंदरमाया का नाम मंडन मिश्र के ग्रंथों में नहीं होना चाहिए। (देखो मणिमंडन मिश्र-विषयक टिप्पणी नं० १८)।

पृ० ४८८ पर विनोद में लिखा गया है कि "मंडनजी के नाम से हमने कुछ पद भी सुने हैं। जैसे "अरे हाँ हाँ हाँ अरे हाँ हाँ हाँ मकराकृत कुंडल कानन मां। हम साखा राम जनकपुर मां" इस विषय में यह कहना है कि स्वयं हमने इनके बनाए कोई पद नहीं सुने। जिस पद का उल्लेख विनोद में है उसका विवरण हम नीचे लिखेंगे। इसके अतिरिक्त और भी कोई पद मंडन का बनाया यदि हो, तो कुछ कहते बने।

जनकपचीसी-नामक इनके ग्रंथ में २५ चौबोला हैं और उन सबका चतुर्थ चरण इसी प्रकार है—"कहैं मंडन

श्रीपति मुकुट धरे हम देखे राम जनकपुर में।" इसी ग्रंथ का एक चौबोला इस प्रकार है:—

ऊर्ध्वपुंड्र माथे पर सोहै, कौस्तुभमणि सोहै तन में,
पाग सुही शिरपच सहित, मकराकृत कुंडल कानन में;
नयन कमलदल चंचलगति चहु ओर विलोकनि हैं तिनमें,
कहैं मंडन श्रीपति मुकुट धरे हम देखे राम जनकपुर में।

विनोदकारों ने जो पद सुना है वह अब प्रत्यक्ष है कि किस तरह बना है। किसी बैसवारी महाशय ने यह चौबोला सुना और पीछे से उसके कुछ अंश भूल जाने पर "अरे हाँ हाँ हाँ..." इत्यादि पादपूर्त्यर्थ लगाकर एक पद बना डाला।

हनुमानाष्टक इनका बनाया हुआ एक और कहा जाता है और हमने उसे देखा भी है। पिंगलविषयक अशुद्धियाँ उसमें भी प्रचुररूपेण विद्यमान हैं; परंतु प्रायः वे लिपिकार की असावधानी के कारण आ गई हैं। अस्तु।

(१८) मणिमंडन मिश्र पृ० १४२५

मंडन कवि के विषय में पृ० ४८८ पर विनोद में लिखा है कि "इन्होंने पुरंदरमाया सं० १७१६ में रची।" मणिमंडन मिश्र के विषय में पृ० १४२५ पर लिखा है कि इन्होंने पुरंदरमाया-नामक ग्रंथ बनाया। अब शंका का स्थान यह है कि यदि ये दोनों कवि एक हैं तो इनका वर्णन एक जगह होना चाहिए और यदि ये कवि पृथक्-पृथक् हैं तो एक ही ग्रंथ दोनों द्वारा रचित नहीं हो सकता। यदि पुरंदरमाया सं० १७१६ में बनी और उसके रचयिता मंडन न होकर मणिमंडन मिश्र हैं तो उनका समय सं० १७१६ में होना चाहिए न कि १९४७ के पूर्व। जैसा कि विनोद में लिखा है। हमारी स्वयं धारणा यह है कि मणिमंडन मिश्र जो गौड़ क्षत्री राजा केशरीसिंह के आश्रित थे और जिनकी बनाई हुई पुरंदरमाया जान पड़ती है (देखो खोज की रिपोर्ट १९०६—१९०८ नं० २११) मंडन मिश्र से पृथक् थे। परंतु यह नहीं कहते बनता कि इनका कविता-काल क्या था; क्योंकि विनोद में 'पुरंदरमाया' का रचना-काल किस आधार पर १७१६ लिखा गया है हम नहीं जानते। परंतु यदि यह ठीक हो तो मणिमंडन मिश्र का कविता-काल १७१६ के लगभग होगा। विनोद में पृ० १४२५ पर लिखा है कि एक मणिमंडन मिश्र तुलसीदास के समकालीन थे। इस कथन का आधार क्या है, यह हमें ज्ञात नहीं। परंतु यदि मणिमंडन मिश्र का कविता-काल १७१६ में होना ठीक हो, तो उनका कुछ काल तक तुलसीदासजी का समकालीन रहना असंभव नहीं।

(१९) चन्द्र झा—पृ० १३९१ मि० बं० वि०

रामायण के अतिरिक्त, जिसका उल्लेख विनोद में है, इस कवि का बनाया "महेशवाणीसंग्रह" नामक ग्रंथ और है, 'यथार्थतः यह ग्रंथाकार नहीं लिखा गया था, वरन् चन्द्र झा के शरीरपात के उपरांत म० म० पं० गंगानाथ झा द्वारा उनके शिवाराधन-विषयक पद संग्रहरूपेण प्रकाशित हुए हैं। इसके अतिरिक्त मिथिलापुरातत्त्व विषय पर भी इन्होंने कुछ लिखा है जो संभवतः "मिथिलातत्त्व-विमर्श" रूप में प्रकाशित हुआ है। उदाहरणार्थ महेशवाणीसंग्रह से एक पद नीचे दिया जाता है:—

विषय विरत मन जखन तखन हर परसन,
सुरपुर अति रमणीय तनिक हो धर सन;
जनम-जनम धन पाय बटोरल संचल,
से कि तोहर परिणाम बूझह मन चंचल।
जो निज हित अवसान सरल चित चाहह,
तो शशिशेखर चरण में प्रीति निबाहह;
सो प्रभु अशरन शरन अंत गति मानह,
कह कवि चंद्र महादेव विभु पहिचानह।

(२०) द्विज कवि मन्नालाल, बनारसी पृ० १२१० मि० बं० वि०

ये महात्मा भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के सहवासियों में से अपने समय के काव्यरसिकों में रत्न थे। विनोद में इनके संगृहीत प्रेमतरंगसंग्रह का नाम है और विवरण में साधारण श्रेणी ऐसा लिखा है। प्रेमतरंगसंग्रह इनका संगृहीत है कि नहीं, यह तो हम नहीं जानते परंतु यह निश्चय है कि स० १९२३ के लगभग 'रघुनाथ-शतक' नामक एक संग्रह-ग्रंथ इन्होंने अवश्य बनाया और उसी साल उसको "समाधान-कविकृत लक्ष्मण-शतक के साथ अपने वाराणसीय संस्कृत-यंत्रालय में मुद्रित किया। इस ग्रंथ में २६ कवियों के श्रीरामचंद्र-विषयक छंदों का उत्तम संग्रह है जो इनकी काव्य-मर्मज्ञता का अच्छा परिचय देता है। इसके उपरांत सं० १९२६ में भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के आदेशानुसार इन्होंने एक ऐसे ग्रंथ का संग्रह किया जिसके कारण इनका नाम हिंदी-संसार में सदैव अमर रहेगा। यथार्थतः संग्रह-ग्रंथों में

"सुंदरीतिलक" का स्थान बहुत ऊँचा है। स्वयं इन महाशय की कविता हमने कोई नहीं देखी। अस्तु, और जो कुछ भी हो यह तो स्पष्ट ही है कि इनका रचना-काल १९३० में न होकर सं० १९२३ से प्रारंभ होता है—

(२१) मदनगोपाल सुकुल (शुक्ल नहीं) फतुहाबादी—पृ० ११५१ मि० ब० वि०

विनोद में इनका जन्म सं० १८७६ में और कविता-काल १९०० निर्धारित हुए हैं। ये दोनों अशुद्ध हैं और इन भूलों का कारण सरोजकार का भ्रम है। यथार्थतः ये महाशय कान्यकुब्ज ब्राह्मण सांकृतगोत्रीय गंगाराम के सुकुल बलरामपुर के महाराज अर्जुनसिंह के आश्रित थे। ये महाराज अर्जुन सिंह सं० १८७४ में गद्दी पर बैठे और सं० १८८७ में इनका शरीरपात हुआ। इन्हीं महाराज की आज्ञानुसार इन कविराज ने सं० १८७६ में अर्जुन-विलास-नामक ग्रंथ की रचना किया। जैसा सरोजकार ने लिखा है, यह ग्रंथ "महा विचित्र" है और कवि के पांडित्य का पूरा परिचय देता है। विशेष बात तो यह है कि नीति, धर्मशास्त्र, तंत्र, मंत्र, वैद्यक, ज्योतिष, काव्य-रीति इत्यादि गहन और प्रशस्त विषय इसमें सब ही उपस्थित हैं। और जो कुछ हो ये महाशय बड़े विद्वान् थे। इनके षट्शास्त्री होने की किंवदंती भी सुनने में आई है और इस ग्रंथ को देखकर उसकी पुष्टि भी होती है। इस ग्रंथ का वैद्यक-संबंधी अंश हमने एक बड़े भारी वैद्य को दिखलाया था और उन्होंने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा किया। काव्य-रीति-विषयक ग्रंथ तो बहुत ही अच्छा बना है। उदाहरण के लिये गणविचार का विषय जिस एक ही कवित्त द्वारा कहा गया है, वह नीचे लिखा जाता है—

आदि लघु यगन जल संत्रस (?) सुत देत,
मध्य लघु रगन विनासै अग्नि ईस है ;
अंत छोटो तगन ख देव सूनो फल कर,
आदि गुरु भगन ६कीरति ससीस है।
जगन मँझार गुर रवि स्वामी रोगकर,
अंत बड़ो सगन उड़ावे वायु खास है :
तीनों गुरु मगन मही सुदेत लक्ष्मी को,
त्रिलघु नगन देत आयु ईस ईस है।

मणिराम मिश्र-कृत छंद छप्पनी में भी गण-विचार का वर्णन एक ही छंद द्वारा वर्णन किया गया है। वह छंद भी तुलनार्थ नीचे दिया जाता है—

तीन गो मो धरा श्री मनोराम ला,
आदि गो अंबुदं वृद्धि को मानिए ;
बीचलारो सुनो वह्नि है मीच को अंत,
गो सो बयारी भ्रमं जानिए।
अंत लो तो सुआकास सून्यं फलं,
मध्य गा जो रवी रोग को दानिए ;
आदि गो भो शशी कीर्ति को देइ ला,
तीन नो नाग आनंद को ठानिए।

इस छंद के विषय में विनोद में लिखा है कि "गण-विचार, उनके देवता और फल का एक ही छंद द्वारा कैसा उत्कृष्ट वर्णन किया गया है कि एक ही छंद को कंठस्थ करने से वह गणविचार पूर्ण रीति से समझ में आ जाता है तथा याद हो जाता है, जिसको कि अन्य आचार्यों ने अध्यायों में कहा है" ...... "इस छंद में गणों के नामों एवं देवताओं के नामों के प्रथम अंक दिए गए हैं और उन पर छंद पूर्ण होने के विचार से जो मात्राएँ लगा दी गई हैं उन्हें अर्थ समझते समय निकाल देना चाहिए।... सूत्र-ग्रंथ होने के कारण ये दूषण नहीं कहे जा सकते।" अब यदि मदनगोपाल सुकुल-कृत और मणिराम मिश्र-कृत इन दोनों छंदों की तुलना की जाय तो प्रत्यक्ष ही मणिरामजी के छंद का नीचा देखना पड़ेगा। जिन दूषणों को "सूत्र-ग्रंथ" में होने के कारण मणिराम के छंद में दूषण नहीं माना गया है। वे दूषण "सूत्र-ग्रंथ" विषयक छंद होते हुए भी मदनगोपाल के छंद में नहीं हैं।

और देखिए द्वितीय विभावना के लक्षण और उदाहरण इस भाँति हैं:—

जहँ लघु कारन लखि परै, होत बड़ो पुनि काज ;
दूजी तहाँ विभावना, बरनत हैं कविराज।

यथा—

आपु अतनु पुनि पुहुपमय, धारे चाप महान ;
पुहुपवान मनमथ तऊ, जीतत जग जहान।

अर्जुनविलास ग्रंथ में ३१७ पत्र अर्थात् ६३४ पृष्ठ हैं। इस ग्रंथ के पुरस्कार में कवि को एक हाथी, एक घोड़ा और एक गाँव महाराज अर्जुनसिंह ने दिया, यह भी 'आशीष' नामक अंतिम अध्याय में कहा है। यह सब कुछ होते हुए भी मदनगोपाल सुकुल की गणना साधारण श्रेणी में है। अस्तु।

ऐसा पांडित्य-पूर्ण ग्रंथ कवि ने ४० वर्ष की अवस्था

के पूर्व नहीं बनाया होगा, यह बात अनुमान-सिद्ध है। अतएव मदनगोपाल सुकुल का जन्म सं० १८३६ के लगभग होना समझ पड़ता है।

(२२) आनंदराम—पृ० ६७६ मि० ब० वि०

इनका कविताकाल १७६० और ग्रंथ भगवद्गीताविनोद लिखा है। और यह भी लिखा है कि "रिपोर्ट से इनका समय सं० १७२७ निकलता है। हमको स्वयं बहुत ढूँढ़ने पर भी यह नहीं मिला कि किस रिपोर्ट में यह बात लिखी है" अतः इस विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। परंतु हाँ, यह निश्चय है कि 'परमानंदप्रबोध' नामक श्रीमद्भगवद्गीता की टीका इन्होंने सं० १७६१ में लिखी। यथा—"ससि, रस, उदधि धरा समित कातिक उज्ज्वल मास।" अतः यह तो निश्चय है ही कि इनका रचना-काल सं० १७६१ के लगभग अवश्य था। अपना परिचय लिखते हुए इस कवि ने लिखा है कि विक्रमनगर के राजा अनूपसिंह के यहाँ वह नाज़िर था। बीकानेर के राजा अनूपसिंह ने सं० १७३० से सं० १७६५ तक राज्य किया अतः इन्हीं महाराज के आश्रित आनंदराम नाज़िर रहे होंगे; क्योंकि विक्रमनगर का ही अपभ्रंश बीकानेर है।

इन महाशय के विषय में एक टिप्पणी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में कुछ दिन हुए निकली थी जिसमें कि इनके ऊपर "चोरी" का आक्षेप लाया गया है। उसके विषय में अपना वक्तव्य हम अलग से लिखेंगे।

(२३) रतनहरि पृ० १०८८ मि० ब० वि०

विनोद में इस कवि के बनाए केवल एक ग्रंथ सत्योपाख्यान का उल्लेख है। इन महाशय का बनाया 'दशमसारसंगीत' नामक एक और ग्रंथ हमने हस्त-लिखित देखा है। यह ग्रंथ बहुधा सवैया छंद में है और श्रीमद्भागवत के दशमस्कंध की कथा इसमें है।

(२४) हरिराय—पृ० ३४७ मि० ब० वि०

हिंदी-गद्य अथवा व्रजभाषा-गद्य के आदि प्रवर्तकों में ये महात्मा अग्रगण्य हैं। इनके ११ ग्रंथों का उल्लेख विनोद में है। इनके अतिरिक्त इनका लिखा हुआ 'उत्सवभावना' नामक ग्रंथ हस्त-लिखित हमको और मिला है। इस ग्रंथ में वैष्णवों के प्रत्येक उत्सव के कारण, क्रम और विशेषता दिखाई गई है। यह ग्रंथ १२ पत्र अर्थात् २४ पृष्ठ का है और प्रत्येक पृष्ठ में २५ पंक्ति हैं। (शेष फिर)

कुबेरनाथ सुकुल

१. काव्य

जरासंध-वध-महाकाव्य—रचयिता स्व० बाबू गोपालचंद्र, उपनाम गिरिधरदास, संपादक बाबू ब्रजरत्नदास बी० ए०। प्रकाशक कमलमणि ग्रंथमाला कार्यालय, काशी। पृष्ठ-संख्या २०० के लगभग। कागज और छपाई साधारण से कुछ अच्छी। मूल्य सवा रुपया। प्रकाशक से प्राप्य।

स्वर्गीय भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी के पिता श्रीगिरिधरदासजी बड़े अच्छे कवि थे। इन्होंने छोटे बड़े सब मिलाकर ४० ग्रंथों की रचना की थी। इनका काव्य परम सरस और भावपूर्ण होता था। खेद है कि अब तक इनके सब ग्रंथ मुद्रण-सौभाग्य नहीं प्राप्त कर सके हैं। जरासंध-वध-महाकाव्य भी अब तक अप्रकाशित ही था। हर्ष की बात है कि अब श्रीब्रजरत्नदासजी ने उसे प्रकाशित करवा दिया है। यह समुचित ही है कि परनाती के हाथों परनाना के काव्य का उद्धार हो। बाबू ब्रजरत्नदासजी भारतेंदु हरिश्चंद्रजी के दौहित्र हैं। समालोच्य ग्रंथ के प्रारंभ में २४ पृष्ठ का एक परिचय लगा है। इसमें ग्रंथ एवं ग्रंथ-रचयिता से संबंध रखनेवाली सभी आवश्यक बातें आ गई हैं। प्रारंभ में श्रीगिरिधरदासजी का एक चित्र भी दिया है। संपादक महोदय ने मूल काव्य में प्राप्त कठिन शब्दों के अर्थ फुट-नोट में दे दिए हैं, इससे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। मूल ग्रंथ ११ सर्गों में विभक्त है। ११ वाँ सर्ग अपूर्ण था, उसकी पूर्ति संपादक महोदय ने की है। खेद है कवि महोदय इस ग्रंथ को पूरा करने के पूर्व ही गोलोकवासी हो गये, इसलिये यह पूर्वार्ध-मात्र ही बन सका। इसका उत्तरार्ध कब बनेगा और उसे कौन पूरा करेगा यह भविष्य के गर्भ में है। प्रस्तुत पुस्तक में कथानक का प्रारंभ उस समय से होता है, जब जरासंध को कंस-वध की सूचना मिलती है। इस समाचार को सुनकर वह क्रुद्ध होता है और अपनी सेना को युद्धार्थ एकत्रित करता है। कवि ने सेना, सेनापति एवं प्रधान वीरों का वर्णन बड़े मार्के का किया है। सेना सजाकर जब जरासंध मथुरा की ओर प्रस्थान करता है तो उस अवसर पर बड़े अशकुन होते हैं। उधर मथुरा में उग्रसेन भी बड़ी तैयारी करते हैं, वे भी अपनी चतुरंगिणी सेना को सजाते हैं। जरासंध आकर मथुरा को घेर लेता है। इसके बाद युद्धारंभ हो जाता है। दसवें और ग्यारहवें सर्गों में क्रम से पश्चिम और उत्तर द्वार का युद्ध वर्णित है। यह महाकाव्य सब प्रकार से उत्तम है। कविता-प्रेमियों को 'जरासंध-वध' अवश्य पढ़ना चाहिए। यहाँ पर कविता का एक नमूना दिया जाता है:—

बीर रस अंकुर द्वै कढ़े धौं भयानक सों,
अति छबि छाके बाँके सेतता के आसपद;
नीलाचल में ते कढ़े सेस के कुँवर किधौं,
कादे घन ओट इंदु बिंबि कर सोमा हद।

तमोगुन बीच किधौं बान द्वै सतोगुन के,
लसे अध धँसे गिरिधर दास नाम जद ।
जलद में किधौं बिबि बक को बिमद पाँति,
किधौं उग्रसेन-सैन-दुरद के दोय रद ।

× × ×

विवेक-वाटिका—रचयिता श्रीहरिहरशरण मिश्र, प्रकाशक श्रीजगदीशशरण मिश्र, सूर्यकमल-ग्रंथ-माला-कार्यालय ४३२ गणेशगंज लखनऊ । छपाई और कागज़ उत्कृष्ट । पृष्ठ संख्या ५२ सुंदर और पुष्ट जिल्द से समन्वित, मूल्य जिल्ददार प्रति का ॥=) और सादी का ।), प्रकाशक से प्राप्य ।

लखनऊ से पं० जगदीशशरणजी मिश्र ने सूर्य-कमल-ग्रंथ-माला नाम से एक पुस्तक-माला का प्रकाशन प्रारंभ किया है । इस पुस्तक-माला का उद्देश्य क्या है, यह किस प्रकार की पुस्तकें प्रकाशित करेगी, साल में कितनी पुस्तकें निकलेंगी आदि का विवरण उक्त ग्रंथ-माला के प्रथम पुष्प 'विवेक-वाटिका' में नहीं दिया है । रहता तो बहुत अच्छा होता । विवेक-वाटिका पुस्तक ६ खंडों में विभक्त है । उनके नाम क्रम से इस प्रकार हैं—भक्त-विनोद २ राष्ट्रीय संदेश ३ भक्त और तमसुहा ४ कमला-कीर्तन ५ शुद्धश्रृंगार और ६ वेदांतचंद्रिका । कविता की भाषा व्रजभाषा है । मूल की कठिनाइयाँ फुटनोट देकर समझाई गई हैं । इस पुस्तक को यत्र तत्र हमने ध्यान से पढ़ा । पुस्तक अच्छी है । रचयिता में कवित्व-शक्ति है । उनकी कोई कोई रचनाएँ बड़ी ही सरस और हृदयग्राहिणी हैं । वियोगिनी पर उनकी एक उक्ति अन्यत्र माधुरी में प्रकाशित है । वह छंद विवेक-वाटिका में भी है । बड़ा सुंदर छंद है । कविता-प्रेमियों को चाहिए कि वे एक बार 'विवेक-वाटिका' को पढ़ें । पुस्तक संग्रह करने के योग्य है । हमारा विश्वास है कि यदि प्रकाशक को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला, तो वे हिंदी-साहित्य-संसार को अच्छी पुस्तकें भेंट कर सकेंगे । तथास्तु ।

× × ×

"जज़बाते-बिसमिल"—रचयिता मु० सुखदेवप्रसाद "बिसमिल" इलाहाबादी, प्रकाशक "अभ्युदय-प्रेस" प्रयाग, पृष्ठ-संख्या १२५ कागज़ अच्छा, छपाई साफ़, मूल्य ।।।)

श्रीयुत "बिसमिल" प्रयाग के होनहार उर्दू-कवि हैं। उनकी रचनाएँ सरल, सुबोध, प्रवाह-पूर्ण तथा हृदय-स्पर्शिनी होती हैं और बहुधा हिंदी-उर्दू के पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहती हैं । बिसमिलजी बड़े-बड़े "मुशायरों" में जाया करते हैं । उनके पढ़ने का ढंग ऐसा अच्छा है कि वायद व शायद । सुननेवाले मुग्ध होकर 'दाद' दिए बिना नहीं रहते । खुद कहते हैं और ठीक कहते हैं—

एक तो पढ़ना क़यामत, दूसरे अच्छा कलाम ;
ग़ैर मुमकिन है कि उखड़े हज़रते बिसमिल का रंग ।

अभ्युदय-प्रेस ने आपका कलाम हिंदी में छापकर सराहनीय कार्य किया है । यह हिंदी की लोकप्रियता का प्रमाण है । हम यह तो नहीं कह सकते कि केवल हिंदी जाननेवाले उसे पूर्णतया समझ सकेंगे । कुछ शब्दों के अर्थ अवश्य दिए गए हैं ; पर हमारी राय में अधिक की आवश्यकता थी । कहीं-कहीं व्याख्या का होना भी ज़रूरी था । फिर भी रचना-सारल्य पढ़ने-समझने में बहुत कुछ सहायता देगा । अस्तु—देखिए, कैसे अच्छे पद हैं—

आह से दिल का दाग़ जलता है, यह हवा में चिराग़ जलता है ;
अपनी महफ़िल से फेंक दो बाहर, रश्क से यह चिराग़ जलता है।
नूर फैला है उसका काबे में, बुतकदे में चिराग़ जलता है ;
आहे मज़लूम गुल करेंगे हम, ज़ुल्म का कब चिराग़ जलता है ?
हुस्न-रौशन से अपना ए बिसमिल, हर ज़मीं पर चिराग़ जलता है;
मतलब है इबादत से मुझको, मतलब है परस्तिश से मुझको ;
जिस दर पे झुकाया सर मैंने, काबा था नहीं बुतख़ाना था ,
वह शमअ न थी, वह नज़्म न थी, वह सुबह को अहले नज़्म न थे।
बस याद दिलाने की ख़ातिर, अंबारे-परे-परवाना था ;
अभी कुछ रो चुके हैं हम, अभी कुछ और रोना है ।
ख़ुदा जाने तेरी उलफ़त का क्या अंजाम होना है ।
इन्हीं फ़िक्रों में अपनी ज़िंदगी के दिन गुज़रते हैं ,
यह करना है वह करना है, यह होना है वह होना है।
चैन ए गर्दिशे-ऐयाम मिलेगा कि नहीं ;
दिन फिरेंगे कभी आराम मिलेगा कि नहीं ।

(१) ईर्ष्या । (२) मूर्ति-स्थान । (३) अत्याचार-पीड़ितों की आह । (४) चमत्कारपूर्ण प्रतिमा । (५) रचना-शैली । (६) प्रार्थना । (७) पूजा । (८) द्वार । (९) मूर्ति-भवन । (१०) दीपक । (११) महफ़िल । (१२) महफ़िल के लोग । (१३) पतंगों के परों का ढेर । (१४) कालचक्र ।

दस बजे दिन से मरो चार बजे तक,
"बिसमिल" नौकरी में कभी आराम मिलेगा कि नहीं।
कुछ भी न चली इश्क़ में तदबीर किसी की;
तदबीर प हँसती रही तक़दीर किसी की।

आपकी कविता में राष्ट्रीयता की भी पुट है। सामयिकता की दृष्टि से यह उपयुक्त ही है तथा इस कारण कतिपय पदों में विशेष आकर्षण पैदा हो गया है। कहीं-कहीं रचना-प्रवाह के साथ भावों की मार्मिकता एवं सजीवता द्रष्टव्य है—

ख़िदमते क़ौम में आज़ार से डरना कैसा;
मर्द होकर रसनोदारें से डरना कैसा।
मुसीबत सर पे जो आएगी उसको झेल जाएँगे;
वतन के वास्ते हमने हुए हम जेल जाएँगे।
नतीजा कसरते जुल्मो सितम का क्या है ए बिसमिल;
यही होगा कि एक दिन जान पर हम खेल जाएँगे।
जुल्म पर जुल्म करें जुल्म के करनेवाले;
हम वह जाँबाज़ हैं इनसे नहीं डरनेवाले।
धुन के पक्के हैं चले जाते हैं बे खौफ़ोख़तर;
अपनी मंज़िल ही प ठहरेंगे ठहरनेवाले।
धमकियों मे नहीं आने के कभी ए बिसमिल;
सर हथेली पर लिये फिरते हैं मरनेवाले।
उनको ए अहले-वतन मिलने की आज़ादी नहीं;
रंजोग़म सहने के जो ख़ूगर नहीं आदी नहीं।
था दिखाने के लिये वह चार दिन की खादनी;
तन प अब गाढ़ा नहीं खद्दर नहीं खादी नहीं।
अलग जब नो गए दोनों तो लुत्फ़े अंजुमन क्या है;
यह हिंदू-संगठन क्या है, यह मुसलिम-संगठन क्या है।

महाकवि स्वर्गीय अकबर (प्रयागनिवासी) अपनी काव्य-शैली के आविष्कर्ता थे। उन्होंने अपने कथन को हृदयंगम करा देने के हेतु प्रायः व्यंग्य एवं हास्य का आश्रय लिया था। बिसमिलजी ने भी उनके अनुकरण का प्रयास किया है। वह अनुकरण के अनुपात से सफल भी हुए हैं—

मुल्क की ख़िदमत भी है क्या जुर्म क़ानूनी कोई;
ज़ब्त पेंशन हो गई, नीलाम मोटर हो गया।
किसलिये नाचूँ न दिल से हर तरफ़ कौंसिल में नाच;
वह मदारी हो गए मैं उनका बंदर हो गया।
अच्छी कही कि आपका दिल क्यों मलूल है;
एक-एक बात पर हमें अब डैम-फ़ूल है।
जो ख़ुशामद में अप-टू-डेट हुए;
आनरेरी मजिस्ट्रेट हुए।
मतलब के न बीडर न किसी काम के लीडर;
दुनिया में हज़ारों हैं फ़क़त नाम के लीडर।
उठने लगे हैं खल्क़ में क्या शर नये-नये;
पैदा हुए हैं जब से एडीटर नये-नये।

जज़्बाते-बिसमिल में अनेक पदों में समानार्थक शब्दों का प्रयोग-बाहुल्य अच्छा नहीं लगता—व्यर्थ-सा प्रतीत होता है। हमारी राय में बिसमिलजी को इससे बचने का प्रयत्न करना चाहिए। कुछ ऐसे पद ये हैं—

कहीं **बिसमिल** कहीं **घायल** कहीं **ज़ख़मी** तड़पते हैं;
तमाशा है मियाने कूचये क़ातिल तड़पते हैं।
इक **ज़माना** एक **आलम** इक **जहाँ** मेरी तरह,
तुझ पे **क़ुरबाँ** तुझ पे **सिदक़े** तुझ पे **मिट**कर रह गया।

बिसमिलजी को भावप्रदर्शन में भी काफ़ी इहतियात बरतनी चाहिए। कविता में शृंगार-रस का प्रधानत्व माना गया है। परंतु हम ऐसा तभी मानेंगे जब हमें भौतिक सौंदर्य[1] द्वारा विश्व-सौंदर्य[3] को आत्मसात करने और उसमें तल्लीन हो जाने का अवकाश मिले, अन्यथा शृंगार-रस तो सभी रसों में निम्नतम स्थान ही पाने का अधिकारी होगा। निम्न पदों में प्रेमिका की अनुचित निर्लज्जता एवं उच्छृंखलता का ही प्रकटीकरण हुआ है।

तुम्हें हम देखही लेंगे कहीं से।
कहा के तुम बड़े पर्दानशीं हो?
अख़्यार की महफ़िल में उड़ाते हो मज़े रोज़।
क्या हज़रते बिसमिल को भला याद करोगे?

एक और पद है—

बाहरे उनका हुस्ने आलम ताब,
देखना था कि आगई आँखें?

यह प्रेमिका की प्रशंसा नहीं है कि उसके सौंदर्य-प्रकाश से आँख ही दुखने लगे। उससे तो नेत्रों के सहज प्रकाश में वृद्धि ही होनी चाहिए। अधिक-से-अधिक

(१) दुःख, कष्ट। (२) रसा=रस्सी; दार=शूली। (३) जान पर खेलनेवाले। (४) अभ्यस्त।

(१) सृष्टि। (२) दर्शन। (३) जगत्-प्रकाशक सौंदर्य।

आँखों का चमत्कृत हो जाना भी कहा जा सकता है। अस्तु। हमारी जान में कवि ने "आँखों का आ जाना" कहकर प्रेमिका का अपमान ही किया है। हाँ, यदि यह पद "अकबर" के रंग में अन्योक्ति की रीति पर हो तो और बात है।

कुछ मुहाविरों का प्रयोग भी खटकता है। दो पद नीचे दिये जाते हैं—

वह सरबाज़ी वह जाँबाज़ी कोई मंसूर से सीखे,
चढ़ा कर दार पर सर इस तरह सरदार हो जाना।
चुपके-चुपके कभी जाना पसे दीवार मुझे,
डरते-डरते मुझे रुकना तेरे दरवाँ के क़रीब।

प्रथम पद में "सरबाज़ी" का प्रयोग भला नहीं लगता। "सर फ़रोशी" अलबत्ता प्रचलित है। द्वितीय पद में दोनों मुझे की जगह मेरा होना चाहिए था।

कवि को स्वाभाविकता का भी खूब ख़याल रखना चाहिए। अस्वाभाविकता कविता के लिये भी उतनी ही हानिकर है जितनी मनुष्य के लिये। एक पद है—

नहीं रखता कोई मतलब खुदा से,
बुतों की बंदगी करते हैं सब लोग।

इसे पढ़कर हम इसके अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं कि "ईश्वर न करे, ऐसा समय कभी आवे।"

जिन त्रुटियों का ऊपर उल्लेख हो चुका है वह किताब की खूबियों को देखते हुए प्रायः नगण्य ही हैं। ऐसी त्रुटियाँ अभ्यास से आप ही आप दूर हो जाती हैं। फिर इसमें संदेह नहीं कि बिसमिलजी का अभ्यास दिनोंदिन बढ़ ही रहा है। हमें अभी उनसे बहुत कुछ आशा है।

हम अन्त में एक बात और कहना चाहते हैं। अब बिसमिलजी को शृंगारिक कविताओं की ओर बहुत ध्यान देने की ज़रूरत नहीं। उर्दू-साहित्य में न तो ऐसी कविताओं की कमी है और न अभी उस कमी की संभावना है, उन्हें ऐसी रचनाओं में लग जाना चाहिए जो शिक्षाप्रद तथा स्फूर्तिवर्द्धक हों—जो नव्य भारत के निर्माण में साहाय्य दे सकें। हम दिखला चुके कि वह ऐसा कर सकते हैं। हमें विश्वास है कि वह ऐसा ही करेंगे।

इक़बाल वर्मा "सेहर"

× × ×

स्तोत्राणि—श्रीमद्भिर्माधुरीसंपादकमहोदयैः श्रीवैद्यनाथ-मिश्रद्वाराऽस्मत्सविधौ "स्तोत्राणि" नामकमेकं पुस्तकं प्रहितम्। दृष्टं चैतदस्माभिः सर्वमेव। पुस्तकेऽस्मिन्बहूनि स्तोत्राणि ग्रन्थकर्त्रा विरचितानि विलसन्ति। मन्येऽनेनैव हेतुना पुस्तकस्य स्तोत्राणीति नाम विद्यते।

पुस्तके सर्वाणि स्तोत्राणि नानाविधवृत्तैर्निबद्धानि प्रसाद-माधुर्यगुणविलसितानि सन्ति। यद्यपि दक्षिणदेशप्रतिष्ठितानामेव देवानां स्तोत्राण्यत्र सन्ति तथापि पुस्तकमिदमास्तिकानामुपादेयमस्ति। इति महामहोपाध्यायो देवीप्रसादशुक्लः कविचक्रवर्ती काशी।

× × ×

प्रेमवर्षा—रचयिता—पण्डित ब्रह्मदत्त शर्म्मा, 'शिशु', प्रकाशक—पण्डित ब्रह्मदत्त शर्म्मा 'गौतम' श्रीप्रेमार्णव पुस्तक-मन्दिर, देवबन्द, ज़िला सहारनपूर (यू० पी०); आकार—डबल क्राउन, १६ पेजी; पृष्ठ-संख्या २६; मूल्य ।) छपाई-सफ़ाई—उत्तम।

यह श्रीप्रेमार्णव-पुस्तक-मन्दिर की प्रथम प्रतिमा है; आठ 'फुहार' में विभाजित है। समालोच्य खण्ड-काव्य में लेखक ने अपने प्रेम, भक्ति एवं ज्ञान का विवेचना-पूर्ण चित्र खींचा है। भाव की दृष्टि से निम्नांकित पंक्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं—

"व्यक्तिस्थ प्रेम है प्रेम नहीं यह मोह लुभानेवाला है;
अपना अनादि आनन्द रूप, यह नीच भुलानेवाला है।
आसक्ति सखे! यह दुनियाँ की, बाहर धक्के दिलवाएगी;
कर विचलित उन्नति के पथ से मन को तम-कूप गिराएगी।"

× × ×

"है जिसका लक्ष्य सदा सन्मुख, वह आयेगा, फिर पायेगा;
जो आज यहाँ, कल और कहीं, वह इस जग में रह जायेगा।"

× × ×

"हे धन्य भाग, तव पीताम्बर! तू बना प्रेम का साधन है;
प्यारे! प्यारा! निज हाथों से कर रहा तुझे आलिंगन है।
हे भारतीय प्यारे सुमनो! हो गया आज सौन्दर्य सफल;
प्यारे हरि के हिय लसे हुए फूलो! युग-युग में रहो अचल।"

× × ×

"उस योग-युक्त योगी वर को आश्रित का मोद बढ़ाना था;
यों नीर कमलवत् रहता हूँ जग को यह दृश्य दिखाना था।
ततथेइ ताल स्वर में भर कर क्या रास छमाछम होता है;
जागो अब भी वह सम्मुख है, क्या देख सके जो सोता है।"

× × ×

"वह निराकार होने पर भी, आकार बना आँखों में है ;
सब दृश्य दिखाने को जग के आधार बना आँखों में है।"

× × ×

"यह आत्मा स्वयं है निर्विकार, है देह सहित साकार हुआ ;
आकार सहित होने पर भी, वह स्वयं नहीं आकार हुआ।
इस तरह, नित्य तू निर्विकार, साकार प्रेम बन रहता है ;
'हर समय एक' दो रूपों में, संसार तुझे ही कहता है।"

× × ×

"तू ही वह है अव्यक्त प्रेम, हो रहा व्यक्त निज माया में ;
छिप रहा ॐ प्यारे ! तू ही, प्रत्येक जीव की काया में।"

× × ×

"हो ध्येय रूप की छवि जहाँ युग-कमल अनूपम खिला हुआ।
यह नेत्र सफल हों देव, प्रभो ! तेरे मन से मन मिला हुआ।"

× × ×

"जग में धन जन्म उसी का है, तव प्रेम को जिसने जाना है :
जो प्रेम-सिंधु में कूद गया, उसका तो कौन ठिकाना है ?"

× × ×

राधेश्यामी लटके की उपर्युक्त पंक्तियाँ मुझे विशेष पसंद आई। यही भाव यदि पिंगलांतर्गत छंदों में व्यक्त किये जाते, तो साहित्य की दृष्टि से उनका मान कहीं अधिक होता। प्रस्तुत पुस्तक में प्रूफ़ की उतनी अशुद्धियाँ नहीं हैं, जितनी छंद-भंग की हैं। आशा है, लेखक महोदय पुस्तक की द्वितीयावृत्ति के समय इन बातों पर विचार करेंगे।

"विह्वल"

× × ×

२. फुटकर

उपयोगी खेती—लेखक श्रीनंदकुमार ठाकुर डाइरेक्टर प्रमहिया ऐग्रीकल्चरल फ़ार्म गोरखपुर। पृष्ठ-संख्या २०३। काग़ज़ और छपाई साधारण से कुछ अच्छी। मूल्य दो रुपया। लेखक से प्राप्य।

यह पुस्तक जैसा कि इसके नाम से प्रकट है कृषि-शास्त्र से संबंध रखती है। पुस्तक का यह प्रथम भाग है। दूसरा भाग शायद बाद को प्रकाशित होगा। इसमें वक्तव्य, सूचना तथा ध्यान देने-योग्य बातें शीर्षकों के अतिरिक्त गन्ना, गेहूँ, जौ, गोजई, सरसों, मटर तथा चना का वर्णन है। लेखक ने पुस्तक लिखने में काफ़ी परिश्रम किया है। पुस्तक ज़मींदार और काश्तकार दोनों के लिये उपयोगी है। कृषि के संबंध में जो लोग अपना ज्ञान बढ़ाना चाहते हैं उन्हें यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए। बड़ा अच्छा हो यदि प्रकाशक महोदय इस पुस्तक का दूसरा भाग भी शीघ्र ही प्रकाशित करने की कृपा करें।

× × ×

हिंदी-अँगरेज़ी-शिक्षक या इंगलिश-टीचर—लेखक श्री० हरिरामजी भार्गव ; प्रकाशक नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ, आकार—डबल क्राउन १६ पेजी ; पृष्ठ-संख्या १६८ ; मूल्य ॥) ; छपाई-सफ़ाई—उत्तम।

बिना गुरु के अँगरेज़ी की शिक्षा प्राप्त करनेवालों के लिये यह अद्वितीय पुस्तक लेखक ने अत्यंत परिश्रम से लिखी है। अन्यत्र प्रकाशित इस संबंध की दूसरी पुस्तकों की अपेक्षा प्रस्तुत पुस्तक में अनेकों विशेषताएँ हैं। पत्र-लेखन-कला; तार-संबंधी ख़बरों के नमूने; व्यापारिक शब्दों के संक्षेप और सांकेतिक चिह्न; अदब-क़ायदा (आचरण-विधि); कहावतें तथा व्याकरण-संबंधी संक्षिप्त परिचय आदि विषय विद्यार्थियों एवं व्यवसायियों के लिये विशेष उपयोगी प्रमाणित हो सकते हैं। यह पुस्तक उन सज्जनों के भी बड़े काम की है, जो अपने घर की स्त्रियों को, बिना विद्यालय भेजे ही उनमें अँगरेज़ी का समुचित ज्ञान कराना परम आवश्यक समझते हैं। आशा है, जनता इसका आदर करेगी। प्रेस के भूतों की लापरवाही से पुस्तक में कुछ प्रूफ़ की अशुद्धियाँ भी रह गई हैं, जो शायद पुस्तक की चतुर्थ आवृत्ति में न रह जायँगी।

"विह्वल"

× × ×

३. प्राप्ति स्वीकार

श्रीयुत पं० हीरावल्लभजी जोशी शास्त्री मौज़ा पाटिया ज़िला अलमोड़ा-निवासी ने हमारे पास तीन ओषधियाँ भेजी हैं। दो तेल हैं और एक वटी। एक तेल ज़ुकाम की ओषधि है तथा दूसरा मस्तिष्क और शिरोरोग की। ज़ुकाम और शिरोरोग को दूर करने में शास्त्रीजी के तेल सचमुच समर्थ हैं। ज़ुकाम से पीड़ित होने पर हमने इस तेल का स्वयं व्यवहार किया और इसे आशुफलप्रद पाया। मस्तिष्क और शिरोरोगवाले तेल का भी हमने व्यवहार किया वह भी हमें गुणकारी प्रमाणित हुआ। साधारण ज्वर पर हमने वटिका का व्यवहार भी किया, तो उससे भी हमें लाभ हुआ। हमारे ख़याल से शास्त्रीजी की ओषधियाँ गुणकारी हैं और उनसे सर्वसाधारण को लाभ उठाना चाहिए।

१. स्त्री-शिक्षा का स्वरूप

कुछ लोगों का विचार है कि स्त्रियों और पुरुषों की शिक्षा का स्वरूप एक होना चाहिए; पर जब भिन्न-भिन्न मनुष्यों की शिक्षा एक नहीं होती—भिन्न-भिन्न मनुष्यों के लिये भिन्न-भिन्न वैकल्पिक विषयों का आयोजन किया जाता है तथा विशेष रुचि के मनुष्यों के लिये विशेष विषयों के विद्यालय स्थापित किए जाते हैं, तब स्त्रियों की शिक्षा—स्त्री और पुरुष में महान् अंतर होते हुए भी—पुरुषों की शिक्षा के समान किस प्रकार हो सकती है? स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र दूसरा है और पुरुषों का कार्य-क्षेत्र दूसरा। स्त्रियों का स्वभाव भी पुरुषों के स्वभाव से भिन्न प्रकार का होता है, अतएव स्त्री और पुरुष की शिक्षा में भी विभिन्नता का होना अनिवार्य है।

कई विषयों की रुचि और आवश्यकता स्त्री और पुरुषों में समान रूप से पाई जाती है, अतएव स्त्रियों और पुरुषों को उन विषयों की शिक्षा समानरूप से दी जानी चाहिए; इनमें साहित्य, व्याकरण, प्रारंभिक इतिहास, भूगोल और गणित आदि विषय हैं। इन विषयों की जितनी आवश्यकता पुरुषों को है उतनी ही स्त्रियों को भी, पर कई विषय ऐसे हैं जिनकी शिक्षा की आवश्यकता स्त्रियों को विशेषरूप से है। इस विभिन्नता का कारण जानने के लिये स्त्रियों की विशेषताओं पर विचार किया जाना चाहिए।

ईश्वर ने स्त्रियों पर बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षा का बहुत ही उत्तरदायित्व-पूर्ण भार सौंपा है। माताएँ जैसा अपने बच्चों को बनाती हैं; देश का भावी जन-समुदाय भी वैसा ही होता है। वे चाहें तो देश को उन्नति के उच्च-से-उच्च शिखर पर बैठा सकती हैं वा उसे नेस्त-नाबूद कर सकती हैं। बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षा का कार्य सुचारुरूप से संपादन करने के लिए उन्हें घर ही के कार्य में लगना पड़ता है क्योंकि दौड़-धूप के काम में लगने से यह काम ठीक ठीक से नहीं हो सकता।

स्त्रियाँ अबला होती हैं। वे भाव-प्रवण होती हैं और उनका स्वभाव कोमल होता है। पर पुरुषों की प्रकृति तार्किक और उनका स्वभाव कठोर होता है। ये ही स्त्रियों और पुरुषों की विशेषताएँ हैं। अतएव स्त्रियों की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो इन गुणों की विनाशक न हो। उन्हें ऐसी शिक्षा कभी न देनी चाहिए। जीविका-निर्वाह के लिये जो उन्हें दौड़-धूप के काम में लगाती हो और उनकी स्वाभाविक कोमलता को नष्ट करती हो अथवा जिस शिक्षा के कारण उन्हें जीविका-निर्वाह के लिये

शारीरिक श्रम का कार्य करना पड़ता हो। यदि इन बातों पर ध्यान न देकर स्त्री-शिक्षा का स्वरूप निश्चित किया जायगा, तो यह निश्चय समझिए कि बच्चों की उचितरूप से शिक्षा-दीक्षा न होने के कारण देश चौपट हो जायगा, स्त्री-जाति अपना स्वास्थ्य और अपने स्वाभाविक गुण खो बैठेगी और गृह-कार्य में बड़ी गड़बड़ी मच जायगी।

सीना, पिरोना, कपड़ा बुनना और दस्तकारी के कार्य को स्त्री-शिक्षा का प्रधान अंग बनाना चाहिए। इन कार्यों को स्त्रियाँ बहुत ही सुविधा से कर सकती हैं और ये कार्य उनके अनुकूल हैं भी। इससे भारत-जैसे गरीब देश का कितना उपकार होगा यह वर्णनातीत है। इनमें घर की स्त्रियों के लग जाने से पारिवारिक व्यय बहुत कम हो जायगा और जीविका-निर्वाह बहुत ही सुगम हो जायगा इससे विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार भी सहज में होगा तथा कितने ही निराधार कुटुंबों और अनाथ विधवाओं का यह सहारा हो जायगा।

स्त्री-शिक्षा में ललित कलाओं को भी स्थान मिलना चाहिए। ललित कलाओं के लिये निश्चिंतता की बड़ी भारी आवश्यकता होती है और घर की जिम्मेदारी पुरुषों पर होने के कारण स्त्रियाँ निश्चिंत रहती ही हैं। ललित कला स्त्रियों के सुकुमारभावों की पोषक भी है। इससे कला की तो उन्नति होगी ही; यह मनोरञ्जन की भी बहुत अच्छी सामग्री है।

व्यायाम भी स्त्री-शिक्षा का आवश्यक अंग होना चाहिए। खेद का विषय है कि लोग व्यायाम को स्त्रियों के लिये उतना आवश्यक नहीं समझते जितना पुरुषों के लिए। स्वास्थ्य के लिये यह स्त्रियों के लिये भी अत्यंत आवश्यक है। इतना ध्यान अवश्य रहना चाहिए कि जिन व्यायामों की व्यवस्था स्त्रियों के लिये की जाय वह कठिन न हो और उसकी व्यवस्था केवल स्वास्थ्य की दृष्टि से की गई हो।

ये स्त्री-शिक्षा की साधारण बातें बताई गई हैं। ख़ास-ख़ास स्त्रियाँ अपनी रुचि के अनुसार अन्य-अन्य विषयों का भी अध्ययन कर सकती हैं; पर इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि स्त्रियाँ ऐसी शिक्षा प्राप्त न करें जिनसे उनके रमणी-सुलभ गुणों में धक्का लगे।

प्रबोधचंद

× × ×

२. संसार का सबसे बड़ा पुस्तकालय

यों तो संसार में कई बड़े-बड़े पुस्तकालय हैं; पर इनमें सबसे बड़े चार हैं, एक रूस देश की राजधानी सेंट-पीटर्सवर्ग में जो कि अब पिट्रगार्ड के नाम से पुकारा जाता है, है। दूसरी बड़ी लाइब्रेरी लंदन के प्रसिद्ध ब्रिटिश म्यूजियम में है। तीसरी फ्रांस की सबसे बड़ी लाइब्रेरी पेरिस की प्रधान लाइब्रेरी है। परंतु आजकल इन सब से बढ़ चढ़कर कई बातों में अमरीका के न्यूयार्क (New yark) नगर का मशहूर पुस्तकागार है। इस पुस्तकागार की विशाल इमारत का क्या कहना। यह संगमरमर की बनी है। उसमें सात खंड हैं।

इमारत की लंबाई ३६० फ़ीट और चौड़ाई २७० फ़ीट है। बनवाने की लागत कुछ कम तीन करोड़ रुपया है। तीस लाख पुस्तकों के रखने की जगह इस पुस्तकालय में है।

कम-से-कम १७०० आदमी सरस्वती के इस विशाल मंदिर में बैठकर पुस्तकावलोकन कर सकते हैं। इसका सबसे बड़ा वाचनालय सबसे ऊपर के खंड में है। इसमें हवा और रोशनी पहुँचाने का बड़ा अच्छा प्रबंध है। उसी के आस-पास कुछ ऐसे कमरे हैं जिसमें विशेष-विशेष प्रकार की पुस्तकें हैं। वाचनालय भी उनके वहीं हैं। यह इसलिये किया गया है कि जिसको जिस शास्त्र या कला के विषय में पुस्तकें देखना हो उसको सब वहीं पर मिल जायँ। जैसे आर्ट (Art) चित्रकारी की संबंध में कुछ देखना है तो एक कमरे में सारे संसार के आर्ट संबंधी पुस्तकें मिलेंगी। जो विद्वान् किसी शास्त्र-विशेष का अध्ययन करना चाहे और दो-चार महीने अलग एकांत में बैठकर पुस्तकावलोकन करने की इच्छा रक्खे उसके लिये भी सुभीता है। उसके लिये अलग-अलग कमरों का प्रबंध है।

ऐसे कमरों में प्रत्येक आदमी की सारी आवश्यकीय पुस्तकें जमा कर दी जाती हैं। जब तक वह चाहता है वह वहीं रहती हैं। उस कमरे में और कोई नहीं जाने पाता।

यह पुस्तकालय दिन भर खुला रहता है, रात में भी थोड़ी देर तक लोग पढ़ा करते हैं। जो वाचनालय सर्व-साधारण के लिये खुला रहता है उसमें खुली हुई

अल्मारियों में लगभग तीस हज़ार ऐसी पुस्तकें रहती हैं जिनको देखने की आवश्यकता बहुधा सभी को हुआ करती है। सामयिक पुस्तकागार, समाचारपत्रागार और आश्चर्यजनक पदार्थान्विय इसी वाचनालय से मिले हुए पर अलग हैं। इनमें सब कोई जा सकता है और पुस्तकें तथा समाचारपत्र पढ़ सकता है।

इस विशाल पुस्तकागार में एक कमरा बहुत बड़ा है जो यहाँ की पुस्तकों की सूचीपत्र के लिये है। इस बड़े सूचीपत्र अथवा नामावली जो कहिए इसकी ६०००जिल्दें हैं। लंबे-लंबे १३ मेजों पर वे रक्खी रहती हैं। लोग जाकर उनको वहीं देखते हैं। जिसे जिस पुस्तक की दरकार होती है वह उसका नाम छपे हुए कागज़ पर लिख देता है, फिर उसे वह एक लाइब्रेरी के कर्मचारी को दे देता है। वह उस कागज़ पर नंबर डालता है और उस आदमी को "पास" देकर उससे कह देता है कि प्रधान वाचनालय की अमुक दिशा में अमुक मेज़ पर उसको वह पुस्तक मिलेगी। वहाँ जाइए और बैठकर पुस्तक मिलने की प्रतीक्षा कीजिए। उधर वाचक बतलाए हुए स्थान पर जाकर बैठ जाता है, इधर कर्मचारी उस कागज़ को एक नली में डालकर पेंच घुमाता है। घुमाते ही वह उस खंड के कर्मचारी के पास पहुँच जाता है जहाँ वह पुस्तक होती है। अधिकारियों और कर्मचारियों के दफ़्तर भी इसी लाइब्रेरी में हैं। इस पुस्तकालय से नगरवासी और अन्य नगर-निवासी के पास पुस्तकें पढ़ने को भेजी जाती हैं। मकानों पर भी पुस्तकें भेजने का प्रबंध है। इसका भुहकमा ही अलग है और इसकी इमारत का भाग अलग बना है। संसार के इस सबसे बड़े पुस्तकालय में बच्चों की लाइब्रेरी व वाचनालय भी अलग बना है। लड़के-लड़कियों सभी उम्रवालों के पढ़ने-योग्य पुस्तकें व समाचारपत्र यहाँ रहते हैं, वैसी छोटी-छोटी अलमारियाँ व छोटी-छोटी मेज़-कुर्सी बच्चों के बैठने को हैं। इस इमारत में बड़ा भारी सभा-भवन भी है जहाँ अमरीका के बड़े-बड़े नामी प्रोफ़ेसरों के व्याख्यान भी होते हैं। पुस्तकालय में काम करनेवालों के लिये स्कूल व ट्रेनिंगक्लास (Training class) भी है जहाँ लाइब्रेरी के कार्यकर्ताओं को शिक्षा भी मिलती है।

यहाँ अजायबघर में विद्या-संबंधी बड़ी-बड़ी विचित्र और अजूबा चीज़ें मौजूद हैं। समाचारपत्रों का वाचनालय अलग है और सामयिक पुस्तकों का अलग। हर साल लगभग ७००० के सामयिक पुस्तकें आ जाती हैं। यही हाल समाचारपत्रों का भी है। कला-कौशल, विज्ञान-व्यवसाय से संबंध रखनेवाले वाचनालय अलग-अलग हैं। पचास-पचास हज़ार पुस्तकों से कम हर एक में न होंगी। इतिहास के वाचनालय में केवल अमरीका से संबंध रखनेवाली २०००० जिल्दें हैं। अंधों तक के पढ़ाने को यहाँ बड़ी लाइब्रेरी है और उनके पढ़ाने का भी प्रबंध है। वह तुरंत उस पुस्तक को उठाता है और यंत्र द्वारा वाचक के कमरे में भेज देता है। ज्योंही वाचक बताए हुए कमरे में पहुँचता है त्योंही उस मेज़ के सामने वही पहिला कागज़ जिसे उसने पूर्वोक्त कर्मचारी को दिया था, एक यंत्र के भीतर दिखाई देता है। उसका दर्शन सूचित करता है कि अपेक्षित पुस्तक आ गई, लीजिए। वाचक पास "pass" को तब लौटा देता है और पुस्तक ले लेता है। इस पुस्तकालय में एक और विचित्र बात है, यहाँ बहुत से खटोले लगे हैं जो यंत्र द्वारा चलते हैं। एक खंड से दूसरे खंड को या एक कमरे से दूसरे कमरे को प्रायः पुस्तकें इन्हीं खटोलों द्वारा भेजी जाती हैं। सब पुस्तकें, जो भेजनी होती हैं इन पर रख दी जाती हैं। एक बटन दबाने ही वे दौड़ते या ऊपर नीचे जाते हैं और बात की बात में हज़ारों पुस्तकें जहाँ की तहाँ पहुँच जाती हैं। इन खटोलों को जहाँ चाहे ठहरा भी सकते हैं। और भेज भी सकते हैं।

प्रत्येक खटोले में ४ मन वजन तक की पुस्तकें भेजी जा सकती हैं। इन खटोलों की चाल भी थोड़ी नहीं है। प्रति मिनट यह १५० फ़िट तक की दौड़ लगाते हैं। जब यह अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँचते हैं, तो अपने पहुँचने की सूचना देने के लिये घंटी बजाते हैं, तत्काल माल उतार लिया जाता है, यदि कुछ लादना हुआ, तो फिर लादकर कहीं भेज दिए जाते हैं। यदि कुछ न भेजना हुआ, तो अपने ठहरने के स्थान पर वापस कर दिए जाते हैं।

इस पुस्तकालय की सैकड़ों शाखाएँ भी फैली हुई हैं जिनमें लाखों की संख्या में पुस्तकें हैं। इसी पुस्तकालय के कर्मचारी इन शाखाओं की भी निगरानी करते हैं।

प्राचीन विद्या, प्राचीन कला कौशल, प्राचीन इमारतें, प्राचीन पदार्थ रखनेवाले कमरे और पुस्तकें सब अलग-अलग हैं।

जो लोग किसी विषय-विशेष में नए-नए तत्व खोज निकालने की इच्छा से अध्ययन करना चाहते हैं उनके लिये यहाँ सब तरह का सुभीता है। यह सब मुफ़्त है।

फिर भला क्यों न अमरीका क्रिया-कला-कौशल, विज्ञान में सबसे अधिक उन्नति करे। आज वहाँ इस विशाल मंदिर में सहस्रों पुजारी नित्य सरस्वती की उपासना करते हैं, तभी लक्ष्मी उनकी चेरी हो रही है। बड़े-बड़े राष्ट्र अमरीका के कोष से क़र्ज़ पाते हैं। सारा सभ्य संसार उसके इशारे पर नाच रहा है।

लक्ष्मीदेवी निगम

(धर्मपत्नी श्रीकेदारनाथ निगम)

---

१. मियाँ गजमार खाँ

(गतांक से आगे)

ब तो उन लोगों के ऊपर उसका रोब बैठ गया। बिना कुछ कहे-सुने सबके-सब चले गए। मियाँ गजमारखाँ भी अपने रास्ते में आगे बढ़े। उसकी प्रसन्नता की सीमा न रही। राक्षसों के चंगुल से बचना कोई हँसी-ठट्ठा नहीं था। अगर कोई अमीर आदमी होता, तो चद्दर और मलीदे से मदार साहब की कब्र पाट देता। पर वहाँ तो बेचारे के पास एक दिन के लिये खाने का भी ठिकाना न था। खैर, कुछ न सही अपना दिल तो अपने पास था। उसी को अपने पीर-पैगंबर और अपने खुदा पर निसार करता हुआ चल दिया।

रास्ता बड़ा लंबा था। चलते-चलते एक दिन और एक रात बीत गए। दूसरे दिन करीब १२ बजे एक नगर में पहुँचा। सामने ही एक विशाल राज-भवन और उसके सामने हरित घास का एक लंबा-चौड़ा मैदान था। वहीं एक पेड़ के नीचे बैठ गया। लंबी मंजिल का थका, खाने के लिये भी कई दिन की सड़ी-गली बासी रोटी के टुकड़ों को छोड़, जोकि वह अपने झोले में डाल ले गया था, और कुछ न मिला था। कमजोरी के मारे वहीं घास पर लेट गया। लेटते-ही गाढ़ निद्रा में मग्न हो गया।

थोड़ी देर के बाद बादशाह का कोई सिपाही उधर से आ निकला। मैदान में इस अनजान आदमी को देखकर वह बड़ा चकित हुआ। पास जाकर उसे बड़े गौर के साथ देखा। कमर-बंद के ऊपर '**एक वार में सात खून**' लिखा हुआ पढ़कर वह सोचने लगा—'यह तो कोई बड़ा बहादुर आदमी जान पड़ता है। यह तो बादशाह की फ़ौज में रखनेवाला आदमी है। ऐसा वीर पुरुष तो बादशाह की सेना में एक भी नहीं है। चलकर इसकी खबर बादशाह को देनी चाहिए।' इस प्रकार सोचता हुआ वह झट बादशाह के पास गया और बादशाह से सारा हाल कह सुनाया। सुनते ही बादशाह ने हुक्म दिया कि उस आदमी को शीघ्र ही हमारे सामने ले आओ। झट दो आदमी दौड़ पड़े। मियाँ गजमारखाँ अभी सो ही

रहे थे। आदमियों ने डरते-डरते उसे जगाया। वह झट उठ बैठा। अपने सामने दो सिपाहियों को देखकर पहिले तो कुछ घबड़ाया, पर बाद जब लोगों ने उससे कहा कि बादशाह साहब पूछते हैं कि क्या तुम नौकरी करोगे, तब तो वह बहुत खुश हुआ। झट बोल उठा "हाँ, क्यों नहीं। इसी के लिये तो यहाँ आए हैं।" सिपाहियों ने ले जाकर उसे बादशाह के सामने पेश कर दिया। बादशाह से उसकी बातचीत हुई। उन्होंने उसे अपनी फ़ौज में एक बड़े पद पर नियुक्त कर दिया और उसकी बड़ी इज़्ज़त करने लगा। अब क्या था। अब तो पाँचों घी में थीं। दिन भर में तीन बार खूब बढ़िया बढ़िया खाने को मिलता, जिसके कभी स्वप्न में भी दर्शन नहीं हुए थे। और इज़्ज़त अलग खूब होती। दोनों समय खूब डंड पेलता और मस्त होकर अकड़ता फिरता। एक छोटे से आदमी की इतनी बड़ी इज़्ज़त और एक दम इतने बड़े ओहदे का मिल जाना, पुराने नौकरों से यह न देखा गया। उन्होंने बादशाह से जाकर फ़र्याद की। "सरकार, हम लोगों ने बहुत दिन हुज़ूर की खिदमत की है, बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ सर की हैं तब भी इस ओहदे को नहीं पहुँचे जिस ओहदे को यह कल का आया हुआ एक अनजान आदमी पहुँचाया गया है। इसमें कौन-सी खूबी है? बिना परीक्षा किए ही यह एक दम बड़े ओहदे पर पहुँचा दिया गया। हुज़ूर! हम लोगों का इस्तीफ़ा है।" जब इस तरह जाकर उन लोगों ने बादशाह से कहा, तो बादशाह घबड़ाए। उन्होंने समझा अगर सब एकदम छोड़कर चल देंगे, तो इस अकेले आदमी को लेकर ही हम क्या कर लेंगे। पर एक दम उसे जवाब देते भी नहीं बनता था। इसलिये उन्होंने लोगों से कहा—"अच्छा, हम उसकी परीक्षा करेंगे।" तत्पश्चात् उन्होंने मियाँ गज़मारखाँ को बुलाया और उससे कहा—"यहाँ से थोड़ी दूर पर एक जंगल है। उसमें दो बड़े विकराल दानव रहते हैं। उनके कारण हम सब तंग आ गए हैं। इसलिए हमने तय किया है कि जो शख़्स उनको मार डालेगा उसको हम अपना आधा राज्य दे डालेंगे और उसके साथ अपनी लड़की की शादी कर देंगे। क्या तुम इस काम को कर सकोगे? फ़ौज में से जिन बढ़िया-बढ़िया सौ जवानों को चाहो उन्हें अपने साथ ले जाओ।" दर्ज़ी ने उत्तर दिया—"इसमें क्या है, हुज़ूर। मैं अभी उनको बात की बात में मारे आता हूँ। मैं अकेला ही उन दो के लिये काफ़ी हूँ, मुझे आदमियों की भी कोई ज़रूरत नहीं है।" इतना कहकर वह झट बादशाह को सलाम करके चल दिया। बादशाह ने अपनी फ़ौज के सौ छटे जवानों को उसके साथ कर दिया। चलकर सब लोग जंगल के पास पहुँचे। दर्ज़ी ने सब सिपाहियों को वहीं जंगल के बाहर ही छोड़ दिया और आप अकेला अंदर घुसा। प्रतिद्वंद्वी बड़े प्रसन्न थे। वह समझते थे कि अब वह जीवित नहीं लौटने का। पर ज़िंदगीवाले को मारता कौन है।

जंगल के अंदर चारों ओर सन्नाटा था। थोड़ी दूर पहुँच कर उस चालाक दर्ज़ी ने थोड़े से कंकड़ पत्थर बटोर कर अपने झोले में रखे और आगे बढ़ा। थोड़ी दूर और पहुँच कर देखा कि वे दोनों राक्षस एक पेड़ के नीचे पड़े हुए खूब खर्राटे मार रहे हैं। झट चुपके से एक पेड़ की आड़ में खड़े होकर झोले से एक पत्थर निकाला और

उसे उन सोते हुए राक्षसों की ओर फेंका। पत्थर जाकर धड़ाक से एक के सीने पर लगा। वह झट उठ बैठा और क्रोध के साथ इधर-उधर घूर-घूर कर देखने लगा, पर कोई दिखाई न पड़ा। उसने समझा कि हो न हो इस मेरे साथी ने ही पत्थर मारा है और फिर पड़कर सो रहा है। इसलिये उसने अपने साथी से कहा—"क्यों बे, तूने मुझे मारा क्यों?" यह सुनकर वह भी चकराया। उसने कहा—"मैंने नहीं मारा।" पर उसने अपने साथी की बात न मानी। दोनों में लड़ाई होने लगी। थोड़ी देर लड़भिड़ कर दोनों फिर सो रहे। अब दर्ज़ी ने अपने झोले से एक दूसरा पत्थर निकाला और उन राक्षसों की ओर फिर फेंका। अब की जाकर वह दूसरे के लगा। यह झट उठ बैठा और इसके लिये अपने साथी पर संदेह कर उससे लड़ने लगा। अब क्या था, दोनों एक दूसरे के जानी दुश्मन होगए। राक्षसों की लड़ाई। दोनों में खूब घमासान युद्ध हुआ। यहाँ तक कि दोनों वहीं पर मरकर ढेर होगए। दर्ज़ी चुपके खड़ा हुआ ये सारी बातें देखता रहा। उसे किसी ने नहीं देखा। दोनों राक्षसों के मरते ही उसने ज़ोर का हल्ला मचाया। सब आदमी दौड़ पड़े। दोनों राक्षसों के सर काट लिए और उन्हें लेकर बादशाह के पास आए। यह देख बादशाह बड़े विस्मित हुए। इन राक्षसों को अब तक हज़ारों आदमियों ने मिलकर भी नहीं मार पाया था। और लोग भी इस दर्ज़ी की बहादुरी पर दाँत तले उँगली दबाते थे। बादशाह ने कहा—"बेशक, तुम बड़े बहादुर आदमी हो। अच्छा, एक काम और है। पास ही एक दूसरे जंगल में एक बड़ा भयंकर बड़ैला (सूअर) रहता है। उसके मारे उधर लोगों का रास्ता बंद है। अगर तुम उसे पकड़ लाओ, तो बड़ा अच्छा हो।" मियाँ गज़मार खाँ इसके लिये भी राज़ी हो गए। एक तो आधा राज्य, दूसरे शाहज़ादी के साथ ब्याह। जान भी माँगी जाती, तो नाहीं न थी। ब्याह की उमंग ही ऐसी होती है।

झट तैयारी हुई। पहिले की भाँति सौ वीर सैनिक साथ किए गए। जाकर सब लोग जंगल के पास पहुँचे। पहिले ही की भाँति उसने उन सैनिकों को बाहर छोड़ा और आप जंगल के भीतर घुसा। जंगल के भीतर प्राचीन समय का बना हुआ एक मंदिर था। यह जाकर उसी मंदिर के पास खड़ा हो गया। मंदिर में दरवाज़े के सामने ही दूसरी ओर एक छोटी-सी खिड़की थी। दरवाज़े के पास जाकर वह खड़ा हुआ और बड़े ज़ोर से उस बड़ैले को ललकारा। आदमी की आवाज़ सुनते ही बड़ैला खीसे निकाल कर बड़े वेग के साथ मियाँ गज़मार खाँ की ओर झपटा। बड़ैले को आते देख वह झट मंदिर के भीतर घुस गया। बड़ैला भी पीछे से आकर मंदिर में पिल पड़ा। परंतु बड़ैले के मंदिर में पहुँचने के पहिले ही वह उस छोटी सी खिड़की से बाहर निकल गया और बाहर आकर चटपट दरवाज़ा बाहर से बंद कर लिया। बड़ैले का लम्बा-चौड़ा शरीर खिड़की से निकल न सका। वह उसी के अंदर बंद हो गया। इसी बीच में दर्ज़ी ने हल्ला मचाया। सब आदमी दौड़ पड़े। और उस बड़ैले को बाँध लिया। बड़ैले को लेकर सब लोग बादशाह के पास आए। बादशाह बड़े खुश हुए। पर अभी बादशाह को संतोष न हुआ। अभी उनका एक और कंटक रह गया था। राज्य के अंदर एक तीसरे जंगल में एक बड़ा भीमकाय और मारू गैंडा रहता था। उसके मारे पास-पड़ोस के

लोगों की नाक में दम था। बादशाह ने कहा—"एक काम और रह गया है। पास ही एक जंगल में एक गैंडा रहता है। लोग उसके मारे बड़े तंग आ गए हैं। क्या तुम उसे ज़िंदा पकड़ कर ला सकते हो?" बादशाह का ख़याल था कि अब की बार यह जीवित नहीं लौट सकता, क्योंकि यह गैंडा उन राक्षसों और उस बड़ैले से ज़्यादा ख़ूँख़ार था। सैकड़ों योद्धाओं को यमलोक पहुँचा चुका था।

मियाँ गज़मार ख़ाँ इसके लिये भी तैयार होगए। अपने भावी जीवन के संबंध में उसके मन में जो विचार-तरंगें उठती थीं उनके लिये वह अपने जीवन को भी तृणवत् समझता था। अब की बार साथ में दो सौ हथियार बंद सैनिक भेजे गए। सब लोग दलबल सहित जंगल के पास पहुँचे। अब की बार भी वह आदमियों को जंगल के बाहर ही छोड़ गया और एक मोटा रस्सा और एक तलवार लेकर अंदर घुसा। अब की वहाँ पर कोई मंदिर या मसजिद भी नहीं थी जहाँ जाकर शरण लेता। जाकर चुपके से एक मोटे पेड़ की आड़ में खड़ा होगया और गैंडे को ललकारा। आवाज़ के ही ऊपर गैंडा तीर के समान तेज़ी से चला। मारे क्रोध के उसकी आँखें लाल होगई थीं। सीधा दौड़ता हुआ पेड़ से टकरा गया। बड़ी तेज़ी से दौड़ा आ रहा था सींग पेड़ के तने में घुस गया। बचा वहीं स्टैंड-ऐट-ईज़ होगए। दौड़कर झट दर्ज़ी मियाँ गज़मार ख़ाँ ने रस्से का फंदा डाल उसे पेड़ से बाँध दिया और बड़े ज़ोर से हल्ला मचाया। सब लोग दौड़ पड़े। उसका सींग बाहर निकाला और पेड़ से खोल कर उसे बादशाह के पास लाए। गैंडे को देखकर बादशाह बड़े प्रसन्न हुए। तीनों बार की परीक्षा में मियाँ गज़मार ख़ाँ उत्तीर्ण हुए। अब कोई बहाना न था। धूम-धाम के साथ शाहज़ादी का ब्याह उसके साथ होगया। बादशाह ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपना आधा राज्य भी उसे बाँट दिया।

अब तो मियाँ ख़लीफ़ा गज़मार ख़ाँ बादशाह के दामाद और आधे राज्य के मालिक थे। आनंद से दिन कटने लगे। अंधे की लात कुबड़े के काम आई। विरोधियों की कुढ़न उसके लिये रामबाण होगई। परंतु अभी एक परीक्षा उसे और देनी थी। एक दिन जब कि वह सो रहा था उसने एक स्वप्न देखा। उसका अधिकांश जीवन दर्ज़ीगीरी करते बीता था। वही सब बातें अब तक दिमाग़ में भरी थीं। सोते में ही एकदम बड़बड़ाने लगा—"कपड़ा बहुत कम है। इतने में कोट और पैजामा दोनों कैसे होंगे। भाई मुझसे तो न बनेंगे।" अब तो सारी क़लई खुल गई। गद्दह के ऊपर से कृत्रिम शेर की खाल उतर गई। शाहज़ादी पास ही बैठी थी। उसने सारी बातें सुन लीं। वह समझ गई यह तो कोई क़ौम का दर्ज़ी मालूम होता है। मेरे साथ धोखा हुआ। वह उसी समय से उसकी जान की दुश्मन होगई। उसके मरवा डालने की बंदिशें बाँधने लगी। विरोधी तो अब भी दाँत पिटाए बैठे थे। उनके दिल में वह काँटे की तरह चुभता था। ख़बर पाते ही उसकी जान लेने पर उतारू होगए।

जहाँ सौ शत्रु होते हैं, वहाँ एक आध मित्र भी निकल आते हैं। इतने विरोधियों में उसके दो एक मित्र भी थे। उन्हीं में से एक ने आकर यह ख़बर मियाँ गज़मार ख़ाँ को दी। उसने इस अवसर पर फिर अपनी स्वाभाविक बुद्धि और चालाकी से काम लिया। एक दिन फिर जब वह अपने कमरे में लेटा हुआ था उसने सोने का बहाना करके आँखें मूँद लीं और थोड़ी देर के बाद आँखें मूँदे

ही मूँद एकदम बकने लगा—"ऐं ! ये लोग मुझे क्या समझते हैं। मैंने एक बार में सात ख़ून किये। बड़े विकराल दानवों को मारा, बँड़ेल को फाँसा, गैंडे को ज़िंदा पकड़ लाया। ऐं ! ये लोग मुझे मारना चाहते हैं। इनको मैं क्या चीज़ समझता हूँ।" हेह ! ज्योंही उसकी ये बातें दूर बैठी हुई शाहज़ादी ने सुनी, वह सहम गई। अब तो उसने समझा कि कोई है बहादुर आदमी। मेरा ख़याल ग़लत था। इसी बीच संयोगवश जो आदमी उसके मारने के लिये आए थे, वे भी पास ही दरवाज़े के पास छिपे हुए खड़े थे। ज्योंही उनके कान में ये बातें पड़ीं, वे दबे पाँव चुपके से पीछे ही लौट गए। उनकी हिम्मत तक न हुई कि उसके सामने जायँ। मियाँ ख़लीफ़ा गज़मार ख़ाँ की संकटा दशा उतर गई। विपत्ति के सारे बादल छूट गए। अब वह सब प्रकार से निर्भय हो गया और आनंद के साथ आमोद-प्रमोद-मय जीवन बिताने लगा। प्रतिद्वंद्वी कुढ़ते ही रह गए।

माधवप्रसाद मिश्र

मृत्युकाल का महत्त्व

"All's well that ends well."

विना शास्त्रदृष्टि के मनुष्य अंधा है। हमारी इंद्रियाँ बहुत प्रबल हैं। शास्त्रदृष्टि से अपने कर्तव्य अकर्तव्य का विचार न करने से बड़ी हानि है। प्रकृति ईश्वरीय माया है। हमारे शरीर का यही उपादान है। यह भी बड़ी प्रबला है। इसलिये अपने शरीर को भी अपने वश में रखने के लिये शास्त्रदृष्टि से अपने विचार को हमेशा निर्मल तथा शुद्ध रखने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा न करने से ये इंद्रियाँ और यह प्रकृति दोनों मिलकर, गाड़ी को ज़बरदस्त घोड़े-जैसे जिधर-तिधर खींचते हुए गड्ढे में गिराते हैं, वैसे ही मनुष्य को अधोगति के मार्ग में ले जाती है।

साधारण मनुष्य तथा शास्त्रदृष्टियुक्त मनुष्य में यह मार्के का भेद है कि साधारण मनुष्य प्रिय-अप्रिय के जाल में फँसा रहता है, परंतु शास्त्रदृष्टि से मनुष्य सिद्धान्त-शास्त्रों के अनुशीलन से बुद्धि को पवित्रकर विचारपूर्वक आत्मकल्याण के विषय से प्रवृत्त होता है। यह मुझे अच्छा लगता है अथवा बुरा लगता है। ऐसा विचार, और इससे मेरा कल्याण होगा, मेरा श्रेयःसाधन होगा अथवा अश्रेयःसाधन होगा ऐसा विचार, दोनों एक नहीं हैं। दोनों में ज़मीन आसमान का फ़र्क़ है। केवल इंद्रियपिपासु मूर्ख लोग इंद्रियवृत्ति चरितार्थता के लिये प्रिय-अप्रिय का अनुसरण करते हैं, परंतु परमार्थ को चाहनेवाले प्रिय-अप्रिय के जाल में न बद्ध होकर आत्मकल्याण के निमित्त श्रेयः अर्थात् कल्याण का संग्रह करते हैं।

जो मनुष्य मर रहा है उसके प्रति आधुनिक समय में जो बर्ताव किया जाता है वह बहुत ही बुरा है और शास्त्रदृष्टि से तथा ज्ञानदृष्टि से मृतक के लिये अमङ्गलकर होने के कारण सर्वथा हेय है अर्थात् त्याग करने-योग्य है। सिद्धान्तशास्त्रज्ञान के अभाव के कारण और बुद्धि की भ्रष्टता के कारण ही हम ऐसा बर्ताव करते हैं। मरते हुए मनुष्य के लिये जीव का शरीर से विच्छेद होने का समय इतने महत्त्व का है कि इसके विषय में जो कुछ कहा जाय सब थोड़ा ही है। विचारशील ज्ञानी मनुष्य के लिये सारा जीवन एक प्रकार का तप अथवा यज्ञ है और मृत्यु का समय इस तप की अथवा यज्ञ की फल-प्राप्ति का समय है। इस समय का दुरुपयोग होने से सारी ज़िन्दगी की तपस्या की फलप्राप्ति में विघ्न पड़ जाता है, और सारी तपस्या नष्ट-सी हो जाती है।

हमारे सिद्धान्त-शास्त्रों में इस विषय में जो उपदेश है वह किसी धर्म-विशेष के लिये नहीं। वह उपदेश व्यापक होने के कारण सार्वजनीन है। यह जैसे ब्रह्मवादी शैव, शाक्त, वैष्णवगणों के प्रति निर्विशेषरूप से लागू है, धर्मांतर के अनुयायियों के प्रति वैसे ही तुल्यरूप से लागू है, चाहे वे मुसलमान हों, क्रिस्तान हों अथवा अन्य धर्म को माननेवाले हों। यह उपदेश हमारे प्राचीन धर्म-शास्त्रों की प्रशस्तता और हमारे पूर्वज

आर्यों की तत्त्वदृष्टि की गंभीरता और विचार की असंकीर्णता का परिचायक है। ऐसे उच्च कोटि के विचारों के रहते हुए भी हममें से हज़ारों और लाखों की तादाद में अन्य धर्म ग्रहण कर चुके हैं, और अब भी कुछ कुछ कर ही रहे हैं। इसका दोष उन लोगों के ऊपर नहीं है, जो इस प्रकार से अन्य धर्म ग्रहण करते हैं और न उन्हीं लोगों पर है, जो इनको अपनाते हैं। क्योंकि जो धर्मान्तर ग्रहण करता है वह शास्त्रज्ञान-रहित अंधविशेष है। इसका सारा दोष उनके ऊपर है, जो देश के और समाज के संरक्षक हैं। यदि पुत्र-कन्या अशिक्षित मूर्ख रह जावें, तो उसके लिये उनके माता-पिता साढ़े सोलह आना दोषी हैं। उसी प्रकार से एक धर्म को छोड़कर यदि कोई धर्मान्तर ग्रहण कर ले, तो उसके लिये उस धर्म के संरक्षक जवाबदेह हैं। क्योंकि उन्होंने अपने मतानुयायियों में अपने धर्म के तत्त्वों के ज्ञानप्रचार का प्रबंध नहीं किया और न उनमें से गिरे हुओं की शारीरिक, मानसिक अथवा आत्मिक क्षुधा-निवृत्ति का प्रयत्न ही किया। यदि सत्य का अपलाप न किया जाय, तो कहना पड़ता है कि वे धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने आहार बिना मरते हुओं को आहार देकर और अनाश्रितों को आश्रय देकर अपनाया है। परंतु हमने जो इन दुखियों के लिये कुछ भी नहीं किया और इस प्रकार से अपने ही अंगों को काटकर दूसरों के अंग में जोड़ने का अवसर दिया, इस अपनी कर्तव्य-भ्रष्टता को विचारकर हमें आत्मग्लानि से सिर झुकाना चाहिए और अपने दोषों को दूसरों के सिर पर मढ़ने का प्रयत्न छोड़ना चाहिए। "अजहुँ चेत अचेत।"

शरीर आत्मा के सुख-दुःख भोग करने का यंत्र है। व्याधि के कारण से हो, बुढ़ापे के कारण से हो अथवा इसी प्रकार के अन्य किसी कारण से हो, जिस समय यह शरीर दुर्बल, शक्तिहीन हो जाता है, और जिस समय यह दुर्बलता और शक्तिहीनता सीमा को पहुँच जाती है उस समय जीव शरीर को बेकार, काम के लायक़ नहीं समझकर छोड़ देता है और भोग करने-योग्य शरीरांतर ग्रहण करता है। इसी भाव को गीता में कहा है कि "वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि,तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही" (गी० २. २२.) अर्थात् मनुष्य जैसे पुराने कपड़ों को छोड़कर नए कपड़ों को धारण करता है, जीव भी उसी प्रकार से एक शरीर जीर्ण हो जाने पर उसे छोड़कर नया शरीर ग्रहण करता है। उस समय जीव का जितना पसारा बहिर्मुख है वह सब अंतर्मुख होने लगती है। इंद्रियाँ अपने विषयों को छोड़कर अपने सूक्ष्म रूप से प्राणवायु में जाकर प्रविष्ट हो जाती हैं। प्राण इंद्रियों के सूक्ष्म तत्त्व को लेता हुआ हृदय में प्रवेश करता है (बृ० ४. ४. १.)। हृदय ही में पुरुष अर्थात् जीव निवास करता है (बृ० ४. २. ३.)। तब हृदय का अग्रभाग प्रदीप्त होता है और उसी रोशनी की सहायता से जीव अपना मार्ग देखता हुआ शरीर से मुखादि किसी अंग होकर निकलता है। उसके पीछे प्राण निकलता है और प्राण के साथ-साथ सब इंद्रियाँ, शुभ अशुभ कर्म, अर्जित विद्या और दान ये सब सूक्ष्म रूप से निकलते हैं (बृ० ४. ४. २.)। इसी को गीता में संक्षेप रूप से कहा गया है "शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्" (गी० १५. ८)। अर्थात् इनको (जीव) मन और इंद्रियों को) लेता हुआ जन्म ग्रहण करता है और जब देह त्यागकर जाता है तब इनको (मन और इंद्रियों को) वैसे ही लेते जाता है जैसे वायु पुष्पादिकों से गंध को ले जाता अर्थात् उनके सूक्ष्म तत्त्व को लेता जाता है। "पूर्वजन्मार्जिता विद्या पूर्वजन्मार्जितं धनं... अग्रे अग्रे धावति" (कवि की यह अत्युक्ति है, वास्तव में पश्चात्-पश्चात् धावति—अर्थात् ये सब जीव के पीछे-पीछे आते हैं)। गीता के उपर्युक्त श्लोक के साथ इस श्लोक को जोड़ देने से बृहदारण्यक का इस विषय में वक्तव्य स्पष्ट हो जाता है।

जीव जिस समय शरीर से निकलकर उपर्युक्त प्रकार से जाने लगता है उस समय उसका जो विचार होता है उसी के अनुसार उस जीव की आगामी जन्म में गति होती है। जीव के इस भावी जन्म के कल्याण को ध्यान में रखते हुए ही हमारे मंत्रद्रष्टाओं ने बार-बार मृत्युकालीन विचार का माहात्म्य वर्णन किया है। जैसे अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् (गी० ८. ५.), यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् (गी० ८. ६.) स्थित्वास्यां अन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमिच्छति (गी०२.७२.), यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति (कठ० ५. ६),

एतद्वै परमं तप. यद्व्याहितः तपः तप्यते (बृ० अ० ५. खं. ११. म० १), जन्म-जन्म मुनि यतन कराहीं, अंत राम कहि आवत नाहीं (तुल० रामा०)।

अब इसमें विचार करने की बात है कि किसी मरते हुए मनुष्य के चारों तरफ़ इकट्ठा होकर छाती और सिर पीट-पीटकर लोग रोते-चिल्लाते हैं, ऐसा करना उनके योग्य है अथवा नहीं। और उस मनुष्य के ऊपर इसका असर ही क्या होता है। यह पारमार्थिक सिद्धांत है कि जीव ब्रह्म का अंश है जैसे—ममैवांशो जीवभूतो जीवलोके सनातनः (गी० १५. ७), जीवो ब्रह्मैव नापरः (श्रीशंकरः) ईश्वर जीवहिं नहिं कछु भेदा (तुल०)। सो जीव स्वभावतः शुद्ध बुद्ध है और काँच अथवा निर्मल जलवत् रूप-रंग रहित है। शुद्ध काँच के सामने जिस वस्तु को रखा जाता है, उसमें उसी का प्रतिबिम्ब पड़ता है। शुद्ध जल को जिस पात्र में रखा जाता है वह तदाकार होता है। जीव के विषय में भी ठीक यही बात है। जिस वृत्ति को जीव के सामने रखा जाता है जीव उसी चित्तवृत्ति का आकार ग्रहण करता है। इसी को पातंजल योगशास्त्र में वृत्तिसारूप्यं ऐसा कहा गया है। और इसी परमार्थ-तत्त्व को हमारे सिद्धान्तकारों ने निम्नलिखित प्रकार से वर्णन किया है। जैसे श्रद्धामयोऽयं पुरुषः (गी० १७.३.) काममयोऽयं पुरुषः (बृ० ४. ४. ५.), क्रतुमयोऽयं पुरुषः (छा० ३. १४. १.) मनोमयोऽयं पुरुषः (बृ० ५. ६.)

जीव मन की निगरानी में इंद्रियों द्वारा विषयभोग करता है—आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः (कठ० ३. ४) अर्थात् मन और इंद्रियों से युक्त जो आत्मा है वही भोक्ता है ऐसा कहा जाता है। ये ही इंद्रियाँ बाहरी विषयों को जीव के लिये मन के निकट भेजती हैं। जब कोई भी विषय इंद्रियगोचर होता है तो मन के द्वारा वह जीव के निकट पहुँच जाता है। जब तक शरीर में शक्ति रहती है तब तक मन इन्द्रियों के विषयों में से अच्छे बुरे का कुछ छाँट छट भी करता है। परंतु जब शरीर शक्तिहीन होने लगता है, तब मन की यह शक्ति भी कम होने लगती है। नतीजा यह होता है कि अच्छा बुरा कैसा ही क्यों न हो इंद्रियाँ अपने विषयों को मन के द्वारा आत्मा के निकट पहुँचाया करती हैं। अब जिस मनुष्य ने अपनी सारी ज़िन्दगी को परिवारवर्ग के कल्याण से, उनके भरण पोषण में लगाया है, यदि उसकी ऐसी शक्तिहीन दशा में उसका सारा परिवार चारों तरफ़ एकत्र होकर छाती और सिर पीट-पीटकर रोने और चिल्लाने लगा तब उस बेचारे के दुःख की कोई सीमा है? ऐसी हालत में वह परिवार की सान्त्वना के लिये कुछ कर नहीं सकता, बोल तक नहीं सकता, परिवार के साथ सहानुभूति दिखाने का कोई भी उपाय उसके निकट मौजूद नहीं। इस असह्य वेदना को सह न सकने के कारण वह केवल आँसू गिराकर परिवारवर्ग की सान्त्वना करता है। परंतु इस घटना का असर उस पुरुष के ऊपर क्या हुआ? यह भी सबके विचार करने की बात है। सारा जीवन अपने प्राण को भी तुच्छ करके परिवार की सेवा का बदला परिवार ने यही दिया कि उस पुरुष का भावी जीवन दुःखमय हो; क्योंकि शरीर से निकलते समय जीव दुःख ही का दृश्य साथ लेता गया। इसी को निष्ठुर दया (cruel merey) कहते हैं। जड़भरत ने सारा जीवन वनवास इसलिये किया कि आत्म-चिन्तन में किसी प्रकार का विघ्न न हो, आत्मरति में कोई भी बाधा न पहुँचे। जिस जड़भरत को स्त्री पुत्र आदि का प्रेममय बन्धन संसार बन्धन डालने में समर्थ नहीं हुआ, उसी जड़भरत को एक असहाय हरिण शिशु का स्नेह हरिण का जन्म देने में समर्थ हुआ। कैसी विचित्र बात है! क्योंकि मरते समय वे सोचते गये कि इस हरिण शिशु को मैं असहाय अवस्था में छोड़े जा रहा हूँ और इस निर्जन वनस्थली में दूसरा कोई भी मनुष्य नहीं जिसके ऊपर इसके भरण-पोषण का भार सौंप जाऊँ। इस प्रकार से हरिणशिशु के चिंतन में देहान्त हुआ और यावज्जीवन आत्ममनन के फल में बाधा पहुँची। उन्हें हरिण-जन्म ग्रहण करना पड़ा।

इतना ही नहीं। कितने भी निष्काम कर्म आपने किए हों, कितने ही योग जप तप किए हों, यदि देह देही के विच्छेद समय आपका ध्यान आपके इष्टवस्तु पर नहीं रहा, मन सच्चिदानन्द को चिन्तन करते-करते नहीं निकला, और अन्य विषय पर गया कि फिर भी आपको जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। और आपके सारे निष्काम कर्म सकाम हो जायँगे जिन्हें भोगना अवश्य पड़ेगा।

दूसरी ओर भी दृष्टि डालिए। कितने भी दुष्कर्म करनेवाला क्यों न हो यदि शरीर शरीरी के विच्छेद-समय में किसी मनुष्य की बुद्धि में सात्त्विकता आ जाय,

विचार पवित्र हो जाय तो उसे उत्तम गति मिलेगी, जैसे अजामिल को मिली थी। सारा जीवन पाप कर्म करने के पश्चात् मरने के समय परमार्थ का भाव आ सकता है अथवा नहीं इसमें संदेह करना योग्य है; परन्तु पूर्व जन्म के संस्कार से यदि किसी प्रकार से परमार्थ का भाव आ जाय तो उसकी सद्गति के विषय में सन्देह करना अयोग्य है, क्योंकि यह ध्रुव सत्य है। इसका कारण यह है कि जीव स्वभावतः शुद्ध बुद्ध मुक्त है, और ज्यों ही इसका शुद्धस्वरूप ध्यान में आता है त्यों ही इसकी सुकृति दुष्कृति का जो आवरण पड़ा है वह स्वयं फट जाता है, सारी सुकृति दुष्कृतियाँ नष्ट हो जाती हैं। सब पापपुण्य रुई के ढेर में अग्निसंयोग के सदृश नष्ट हो जाते हैं। इसी विषय को लक्ष्य करके गीता में कहा गया है "यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्। तदोत्तमविदां लोकान् अमलान् प्रतिपद्यते (गी० १४.१४.) अर्थात सत्त्वगुण के उत्कर्ष काल में प्राणी मर जावे तो उत्तमतत्त्व जाननेवालों के निर्मल लोक उसे प्राप्त होते हैं।

इसलिये हमारा कर्तव्य होना चाहिए कि जब कोई भी मनुष्य मृत्युशय्यागत हो, तो सांसारिकता को उस स्थान से सर्वथा बहिष्कार कर देना चाहिए। ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे उस मनुष्य के अन्दर उत्तमोत्तम भाव आवें। ऐसे विषयों की चर्चा करें, उस स्थान को ऐसा पवित्र बनावें, भगवद्गुणगान सुनावें, धार्मिक दृश्य दिखावें, जिससे उसके अन्दर से दुर्भावनाएँ जहाँ तक हो सके शीघ्र दूर हो जायँ और ईश्वर चिन्तन करते-करते वह उत्क्रमण करे। यदि परिवार सेवा का बदला हम कुछ भी दे सकते हैं, तो यही है। ऐसा नहीं कि परिवार सेवा के पुरस्कार के बदले उनका तिरस्कार किया जाय (जैसा आजकल सर्वत्र होता है), और उनकी अधोगति का मार्ग प्रशस्त किया जाय। जीव निकल जाने के बाद आप चाहे अपना सिर फोड़ लें अथवा वक्षःस्थल विदीर्ण कर लें, परन्तु उनको ऐसा दृश्य दिखाना उनकी सद्गति के पथ में बाधक होना है।

बलदेवसिंह

कार्पेंटर साहब और तुलसीदास

(पौष की संख्या से आगे)

भक्ति—इसके बाद रेवरेंड साहब रामायण से अवतरण देकर भक्ति के विषय में गुसाईंजी का मत बतलाते हुए लिखते हैं कि भक्ति से निम्न-लिखित लाभ हैं—

(१) वह परमात्मा के जानने का एक साधन है।

(२) भक्ति दुःख-दर्दों को हलका कर सहन-शक्ति उत्पन्न करती है।

(३) भक्ति में छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का कुछ भेद नहीं है और जाति-पाँति से उसमें कुछ बाधा नहीं पड़ती।

(४) भक्त राम का परम प्रिय होता है।

(५) उससे पुनर्जन्म का बंधन छूट जाता है।

भक्ति के विषय में आपका कथन है कि बौद्ध-ग्रंथों में "भक्ति" शब्द पाया जाता है; पर भगवद्गीता के पूर्व इसका प्रभाव पड़ चुका था। आप समझते हैं कि गीता बौद्ध-धर्म के बाद बनी। किंतु लोकमान्य तिलक महाराज ने अकाट्य प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि "गीता ...... पंथ के जन्म से पहले यानी सन् ई० से ३०० वर्ष पहिले ही अस्तित्व में थी" (गीता रहस्य पृ० ५७०) पूज्यपाद लोकमान्य ने यह भी सिद्ध किया है कि बौद्धधर्म के महायान पंथ की उत्पत्ति गीता ही के कारण हुई है।

(६) भक्त लोग मोक्ष की इच्छा न कर नित्यत्व चाहते हैं।

(७) भक्ति ज्ञान का आधार है।

माया—अगला अध्याय "माया" के विषय में है आपने बतलाया है कि तुलसीदास ने वेदांत मत के अनुसार ही माया का प्रतिपादन किया है और इसलिये इसे असत्य मानते हैं; पर रामानुज इसे स्वीकार नहीं करते। आपके मत से तुलसीदास ने माया का निम्न-लिखित रूपों में वर्णन किया है—

(१) राम और माया का स्वामी व सेवकिनी का संबंध है।

(२) सारी सृष्टि माया के कारण होती है।

(३) राम माया का उपयोग करते हैं।

(४) राम माया से स्वतंत्र हैं। कभी-कभी जो राम माया के चंगुल में दिखते हैं वह मनुष्य-चरित्र है न कि असलियत।

(५) माया भ्रम है और अस्थायी है।

(६) देख पड़नेवाले भेद-भाव में यथार्थता नहीं है।

(७) माया का भ्रम, मोह आदि कई भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है।

आपकी समझ में, यद्यपि तुलसीदास भिन्नता को मायामय और फूट मानते हैं, परंतु रामानंद के इस सिद्धांत पर दृढ़ हैं कि जीव राम की भक्ति के लिये उनसे अलग रहकर भक्ति करना चाहता है।

पाप-पुण्य की कल्पना

पाप और पुण्य पर तुलसीदास के विचारों का दिग्दर्शन कराते हुए आप लिखते हैं कि—

His reference to dogmatic sins are few and this is only natural in one of liberal अर्थात् "उन्होंने सांप्रदायिक पापों का बहुत कम उल्लेख किया है और यह बात उनके समान उदार स्वभाव-वाले के लिये स्वाभाविक है।"

राम को गुसाईंजी ने सब पापों का मुक्तकर्ता माना है। आप कहते हैं—"यह नहीं बतलाया गया कि यह किस प्रकार हो सकता है।" एक क्रिश्चियन के लिये यह तत्त्व समझना कोई कठिन नहीं है। जिस प्रकार ईसा-मसीह पापियों के मुक्तिदाता माने गए हैं, उसी प्रकार श्रीराम भी शरणागत पापी तक को अपनी कृपा देते हैं। गुसाईंजी का यह कहना कि रामकथा के श्रवण से पाप नष्ट हो जाते हैं, आपके ख़याल शरीफ़ में "नीच-विचार" (degraded thought) मालूम पड़ता है। हम साहब के इस नीच विचार को निकालने में असमर्थ हैं।

फिर कहा गया है कि— "Just as in social matters Tulsidass has no contribution to make but assumes the conditions of caste divisions as the true and normal one, so in reference to sin he does not go beyond the ordinary Hindu conception" अर्थात्, "जिस प्रकार तुलसीदास ने सामाजिक विषयों पर कुछ न कहकर जाति-भेद को सच और स्वाभाविक मान लिया है उसी प्रकार पुण्य-पाप के विषय में भी वे साधारण हिंदू-विचारों से ऊपर नहीं उठ सके।"

"यह साधारण हिंदू-विचार" कौन-सा है सो सुनिए। रावण को पूर्व जन्म के शाप के कारण राक्षस होना पड़ा। इत्यादि उदाहरणों से आप समझते हैं कि तुलसीदास ने केवल पूर्व जन्म ही के कारण पापों का अस्तित्व माना है। आपकी राय है कि हिंदू स्वभाव पाप-पुण्य का प्रश्न हल करने की अपेक्षा यही अच्छा समझता है कि यह मान लिया जाय कि पाप कोई चीज़ ही नहीं है। आपकी समझ की बलिहारी है। पहले तो आपका यह कहना बिलकुल ग़लत है कि तुलसीदास ने सामाजिक विषयों पर कुछ नहीं कहा। सामाजिक विषयों पर तुलसीदास ने जो कुछ कहा है, वह किसी दूसरे समय दिखाया जायगा। उसके लिये यह स्थान नहीं है। अस्तु।

तुलसी-वर्णित पाप-पुण्य के सिद्धांत को भी आप बिलकुल नहीं समझ पाए। आपकी यह समझ भी भ्रम-पूर्ण है कि हिंदू लोग पाप का अस्तित्व ही नहीं मानते। यदि पाप-पुण्य का प्रश्न हिंदू-धर्म से निकाल दिया जाय तो उसका असली तत्त्व ही निकल जायगा।

× × ×

उपसंहार.

पौराणिक कथाएँ—पुस्तक के उपसंहार में आप फिर अपना संहारक विष उगलते हैं। आपने पौराणिक कथाओं पर अपने विचार इसलिये नहीं प्रकट किए कि वे आपकी राय में "ऐसी बातें हैं कि जिनको वर्त्तमान शिक्षा की तीव्र गति बहाये लिए जा रही है और उत्तरोत्तर बढ़ते हुए ज्ञान के सामने जिनका नाश अवश्यं-भावी है।" परंतु हम देखते हैं कि आधुनिक ज्ञान-वृद्धि और विज्ञान के प्रकाश में हमारी पौराणिक बातों का मूल्य और भी अधिक बढ़ गया है, और उत्तरोत्तर बढ़ता जायगा *।

आगे रेवेरेण्ड सा० कहते हैं कि—"उनके (तुलसी-दास के) प्रतिपादित सिद्धान्त चाहे कितने ही उच्च क्यों न हों, परंतु साधारण जनता की दृष्टि में धर्म के वे विचार मुख्य नहीं। उन पर तो आश्चर्यजनक कथाओं और मोक्ष की आशाओं का ही प्रभाव पड़ता है।"

परंतु यह बात प्रत्येक धर्म की साधारण जनता के लिये उतनी ही सच है जितनी कि हिंदू के लिये। क्रिश्चियन धर्म के विषय में पादरी साहब ख़ुद स्वीकार करते हैं।

"Christian truth and ideals find their expression in the ordinary Christian only in a lamentable degree."

अर्थात् "साधारण क्रिश्चियन में क्रिश्चियन धर्म के तत्त्व और आदर्शों का बहुत ही कम प्रचार है, यह दुःख की बात है।

आपका मत है कि जिस प्रकार ब्रह्म सर्वोच्च है, उसी प्रकार उनका चरित्र भी अनुपम है और वे केवल भक्ति से

* इसके लिये "Puranas in the light of modern Science" पढ़िए।— लेखक

प्राप्त किए जा सकते हैं। ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द इन तीन रूपों से पादरी साहब को क्रिश्चियन "पवित्र त्रिमूर्त्ति" (Holy trinity) से समता दीख पड़ती है ; पर हमें इनमें बिलकुल साम्य नहीं मालूम पड़ता। अवतार-तत्त्व को आप स्वीकार करते हैं और उसे "जीव व ईश्वर के बीच पुल के समान" समझते हैं।

रामायण और बाइबिल

आपको इस बात का हर्ष है कि रामायण और बाइबिल के बहुत-से सिद्धान्त एक-से मिलते हैं। इसका कारण यह है कि जिस वैदिक धर्म से गुसाईंजी ने अपने सिद्धान्त लिए हैं उसी से उत्पन्न बौद्ध धर्म के आधार पर क्रिश्चियन धर्म की नींव डाली गई है।

बाइबिल का भक्ति-मार्ग पर प्रभाव

भक्ति-मार्ग का पुनरुत्थान—आप ईसाई धर्म को प्रभाव या धर्म समझते हैं—"The revival and the reinvigorating of the idea, together with the more definite conception of the personal deity...may well have been influenced by Christian thought in India"

"बहुत संभव है कि भक्ति के पुनरुत्थान और उसके साथ-साथ सगुण ईश्वर के स्पष्टतर ज्ञान पर भारत में क्रिश्चियन विचारों का प्रभाव पड़ा हो।"

ये बातें "संभावना" पर निर्भर नहीं रहा करतीं। कृपया, बिना प्रमाण के ऐसी बातों की संभावना न कर लिया कीजिए। लो० तिलक ने सिद्ध किया है कि गीता के बहुत से सिद्धांत ईसाइयों के नई बाइबिल में भी देखे जाते हैं। एक बौद्ध ग्रंथ में यह स्पष्ट लिखा है कि ईसा भारत में आया था और वहाँ उसे बौद्ध-धर्म का ज्ञान प्राप्त हुआ (गी० र० ५९३) इस प्रकार बौद्ध-धर्म का प्रभाव बाइबिल पर पड़ना लोकमान्य ने प्रबल-प्रबल प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है। (गी० र० पृ० ५८५—५९४)

बाइबिल की गीता और रामायण सरीखे भक्ति प्रधान ग्रंथों से समता देखकर क्रिश्चियनों को यह भ्रम हो जाना स्वाभाविक ही है कि उसका प्रभाव हिंदू भक्ति मार्ग पर पड़ा। यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि ईसा के पहले ही भक्ति-मार्ग का ख़ासा प्रचार भारत में हो चुका था। और उसका कभी लोप भी नहीं हुआ, जिससे कि उसके पुनरुत्थान के लिये बाइबिल की सहायता की ज़रूरत पड़ती।

हिंदूभक्ति और सेंटपाल की भक्ति (faith) में आपको समता दिखती है। ग़नीमत इतनी है कि आपने यह नहीं समझ लिया कि भारत की भक्ति क्रिश्चियन धर्म से चुराई गई है। हम इसके लिये आपके बड़े कृतज्ञ हैं कि आप इस विषय में पक्षपात छोड़ यह मानते हैं कि—

"It was known in India before the Christian era" अर्थात्—"भारत में वह (भक्ति) क्रिश्चियन सन् के पूर्व ही विदित थी।" इतना स्वीकार करके भी आगे आप जो कुछ कहते हैं उससे ज्ञात होता है कि आपने फिर भी अपनी पक्षपात पूर्ण दृष्टि को साफ़ नहीं कर पायाः—

"We must yet suppose that its rapid recovery after a long period of quiscence and the intensity with which it appealed to the people at large was due...... also to the effects of Christianity in India." अर्थात्—"तब भी, हमें यह अनुमान करना ही चाहिए कि उसका (भक्ति-पंथ का) बहुत काल के बाद पुनरुत्थान होने तथा उसके इतनी तेज़ी से जनसाधारण पर प्रभाव डालने का एक कारण भारत पर क्रिश्चियन धर्म का प्रभाव भी है।"

बड़ा अच्छा तर्क है। "अनुमान करना ही चाहिए" इसका कुछ प्रमाण भी है कि वैसे ही कुछ भी अनुमान करना चाहिए। आपका प्रमाण भी ज़रा ध्यान से सुन लीजिए। आप कहते हैं कि रामानुज का जन्म और शिक्षण सेंट थामी नामक स्थान में हुआ था—जो कि ईसाइयों का उस समय प्रधान स्थान था। इसलिये उन पर अवश्य ही क्रिश्चियनों का प्रभाव पड़ा होगा। अगर ऐसा ही कहना है, तो यह क्यों न मान लें कि रामानुज ही का क्रिश्चियनों पर प्रभाव पड़ा होगा।

फिर आप दोनों धर्मों की कुछ समानताएँ बतलाते हैं "हिंदू महाप्रसाद" क्रिश्चियन Eucharist से मिलता है। कृष्ण का ब्राह्मण के चरण धोना और ईसा के एक शिष्य का विश्वास के कारण समुद्र पर चलना इन सब बातों से यह बात संभव मालूम होती है कि भक्ति के सिद्धांत पर ख़ीष्ट धर्म का प्रभाव पड़ा था।

आप लिखते हैं कि इस धर्म-साम्य के दो कारण हो सकने हैं—

(१) वह समान सिद्धांत स्वतंत्र रीति से दोनों धर्मों में उत्पन्न हुए हों—अथवा (२) इन तत्वों को ईसा या उनके शिष्यों ने बौद्ध-धर्म से लिया हो ।

पहली बात को काटकर भगवान् तिलक ने अनेक अकाट्य ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया है कि ईसा के जन्म के २, ३ सौ वर्ष पूर्व बौद्धयति यहूदियों के देश में आते जाते रहे हैं और उन्हीं के सिद्धांत संन्यास प्रधान इसी धर्म तथा उसके बाद भक्ति प्रधान ईसाई धर्म ने लिये हैं ।

श्रीरामचंद्र और महात्मा ईसा

आप महात्मा क्राइस्ट को "ईश्वर और मनुष्यों के बीच में एक-मात्र दुभाषिया" (the only mediator between God and men) समझते हैं । महात्मा क्राइस्ट को हम संसार की एक महान् आत्मा मानते हैं और हमारी उनमें पूर्ण श्रद्धा है । पर हम यह भी विश्वास करते हैं कि सब धर्मों में सत्यता है और अपने अपने धर्म पर दृढ़ रहकर सभी को मुक्ति मिल सकती है किसी ख़ास धर्म ने ईश्वर का ठेका नहीं ले लिया है । सत्य सब धर्मों में भिन्न भिन्न रूपों से फैला हुआ है—जिस प्रकार भगवान के एक अवतार या विभूति का आदर कर दूसरे की निंदा करनी ठीक नहीं उसी प्रकार केवल ईसा को मुक्तिदाता समझ दूसरे धार्मिक आचार्यों या अवतारों का तिरस्कार करना सर्व धर्ममय परमेश्वर का अपमान करना है ।

आप क्राइस्ट के सामने रामावतार को तुच्छ समझते हैं । श्रीराम के विषय में आपकी राय है कि—

"......its transitory nature the Union of Ram having no permanent effect on its devotee's character which not only gives a sense of unreality to it but also deprives it of the essential value as an incarnation reducing it to a manifestation only "

अर्थात—"यह अवतार क्षणिक है । क्योंकि राम के योग से भक्त के चरित्र पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता । इससे यह अवतार अस्वाभाविक सा जान पड़ता है तथा ईश्वरीय अवतार का जो असली महत्व है वह इससे निकल जाता है और यह एक मामूली विभूति-मात्र रह जाता है ।"

सांप्रदायिक कट्टरता और धर्मांधता के कारण हिन्दू अवतार तत्व को बिलकुल ही न समझ सकने ही से पादरी साहब इस प्रकार के विचार बिना सोचे विचारे या समझने के कारण प्रकट कर डालते हैं इसके विरुद्ध क्राइस्ट की श्रेष्ठता बतलाते हुए आपका कथन है:—

"His union with men is unending and the high priesthood in which he ministers for us is unchangeable. The incarnation is a present force and not merely an historical fact."

अर्थात् "मनुष्य जाति के साथ उनका संबंध ऐसा है जो कि कभी न मिटेगा । हमारे लिये वे जिस तरह से पुरोहिती (सिफ़ारिश) करते हैं वह अपरिवर्तनशील है । यह अवतार एक सदा वर्त्तमान रहनेवाली शक्ति है भूत-काल की एक ऐतिहासिक घटना मात्र नहीं है ।"

यह ग़नीमत है कि पादरी साहब ने हमारे अवतारों को ऐतिहासिक मान लिया—कपोल कल्पना कहकर नहीं उड़ा दिया । आप यह नहीं जानते कि आज भी लाखों करोड़ों के जीवन पर श्रीराम का चरित्र जितना प्रभाव रखता है उतना ईसा का चरित्र योरप पर नहीं रखता । भक्त लोग अपने इष्ट का नित्यत्व मानते हैं और हज़ारों श्रद्धालुओं के लिये वे सदैव हर जगह वर्त्तमान हैं । हिन्दू धर्म को किसी सिफ़ारिश करनेवाले "पुरोहित" की ज़रूरत नहीं है भक्ति तथा विशुद्ध आचरण मोक्ष प्राप्त करने के लिये पर्याप्त है । आपके आसमानी बाप (heavenly father की तरह वे हमारे राम सदा हृदय में बसते हैं—लाखों कोसों दूर आकाश में नहीं बसते । उनके पास बिना किसी सिफ़ारिश के साधारण से साधारण मनुष्य यहाँ तक कि पतित से पतित पापी भी पहुँच सकता है । क्राइस्ट और राम की तुलना करते हुए कार्पेंटर सा० फ़रमाते हैं—

"Rama, it is claimed, wrought salvation, he destroyed a bitter enemy of righteousness, Christ has dealt with the root principle of sin."

अर्थात् "यह कहा जाता है कि राम ने मोक्ष प्राप्त

कराया—उन्होंने धर्म के कट्टर शत्रु का नाश किया परंतु क्राइस्ट ने पाप की मूल को ही काट डाला।"

बिना धर्म के शत्रुओं का नाश किए धर्म स्थापित नहीं हो सकता। रामायण के पाठकों को यह अच्छी तरह ज्ञात है कि राम ने किस प्रकार दुष्टसंहारक और धर्म-संस्थापक कार्य साथ ही साथ किए हैं। उन्होंने धर्म के बाहरी शत्रुओं को नाश करने के साथ ही साथ मानव हृदय में निहित अंतः शत्रुओं का भी संहार कर पृथ्वी तथा हृदयों पर राम नाम स्थापित किया।

पुस्तक के अंत में आप कहते हैं—"इस अध्ययन से यह उद्देश्य है कि विचारवान् पुरुष, रामानंदियों के द्वारा अधिकृत ईश्वरीय ज्ञान को चाव से देखें और सहानुभूति के साथ उन्हें पूर्णतर ज्ञान प्राप्त करने का मार्ग बतलावें और वह ज्ञान है उस अनन्त ईश्वर तथा उसके भेजे हुए ईसामसीह को जानना।"

हमें शोक है कि रामानंदियों को आप बिलकुल नहीं समझ सके और न उनके ज्ञान की थाह ही पा सके। आप उनके ज्ञान से अपने हृदय के अंधकार को तभी दूर कर सकेंगे जब आप अपना पक्षपात छोड़कर शुद्ध हृदय से धर्म का अध्ययन करेंगे। उन लोगों को "पूर्णतर प्रकाश" तक पहुँचाने का प्रयत्न करना इस कहावत के समान होगा।

"औरहिं उपदेशत फिरत आप अँधेरे माहिं।"

जिस पक्षपात से यह पुस्तक लिखी गई है उसे पाठकों ने अच्छी तरह देख लिया होगा। हमें दुःख है कि इस धार्मिक एकता और विश्वधर्म के युग में इतना अधिक अंध पक्षपात किया जाता है। आज तो वह समय आ गया है जब हम भिन्न भिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन कर सबके अन्तर्निहित उस सत्यरूप एक परमात्मा को पहचानकर आपस के भेद भाव दूर कर दें। धर्मों में विरोध होने का कारण इसी प्रकार के पक्षपातपूर्ण लोग ही हैं जिनकी हिंदू धर्म में भी कमी नहीं है।

हम ईश्वर से यही प्रार्थना करते हैं कि हमें वह सब धर्मों में अपना ही प्रकाश देखने की दिव्य दृष्टि प्रदान करें तभी संसार का कल्याण होगा।

ब्योहार राजेन्द्रसिंह

राग देशी खम्माच

अब तो प्रगट भई जग जानी ;
वा मोहन सों प्रीति निरंतर क्यों नर हेगी छानी ।
कहा करों सुंदर मूरति इन नयनन माँझ समानी ;
निकसत नहीं बहुत पचिहारी, रोम-रोम उरझानी ।
अब कैसे बिखरो जात है मिलै दूध ज्यों पानी ;
सूरदास प्रभु अंतरयामी सबकी मन की जानी ।

विलंबित-त्रिताला

स्थायी

ग म रग प,म	म रग रन म	नस — र ग	गमप ध प-म गम
अ ब तोऽ प्र,ऽ	ग टऽ ऽभ ई	ऽऽ ऽ ज ग	जाऽऽ ऽ नीऽऽ ऽग

अंतरा

प न सं,संन संरं	स नध (म) गग	ग गंग ग रग	गमपध नसनध मंप -मं
वा मो ह,नसों ऽऽ	प्री तिनि रं तर	क्यों नर है गोऽ	छाऽऽऽ ऽऽऽऽ नीऽ ऽऽ
अ ब तोऽ प्र,ऽ	ग टऽ ऽभ ई	ऽऽ ऽ ज ग	जाऽऽ ऽ नीऽऽ ऽऽऽ
पप -प ध न	संसं सं संसं संस	नन नन न धन	नरंन संनध प —
कहा -क रों सुं	दर मू रत इन	नय नन मां झस	माऽऽ ऽनीऽ ऽ ऽ
पन नन न,नसं रंसं	नध पप (म) ग	ग गग म पप	गमप धनध पमग रग
निक सत न,हींऽ ऽब	हुन पच हा री	रो- म रा ऽम, उर	झाऽऽ ऽऽऽ मीऽऽ ऽऽऽ

बाक़ी अंतरा भी ऊपर के अंतरे के मुताबिक़ बजाइए।

राजाराम भार्गव, लखनऊ

विज्ञान में सूक्ष्म चेतनता (Sensitivity in Science)

कहावत प्रचलित है कि एक समय बादशाह अकबर के पास एक निर्धन ब्राह्मण द्रव्य के लिये याचना करने गया—बादशाह ने उससे कहा कि यदि वह माघ की अर्द्ध रात्रि में किसी तालाब में जाकर खड़ा हो और सबेरे तक खड़ा होकर फिर हमारे पास आवे तो मैं उसे कुछ द्रव्य दूँ—ब्राह्मण, बेचारा सबेरे तक ठंढे पानी में खड़ा रहा और फिर बादशाह अकबर के पास याचनार्थ गया—बादशाह ने उसे कुछ भी न दिया और यह कहकर विदा किया कि "तुमने अपनी प्रतिज्ञा का प्रतिपालन नहीं किया, तुमने हमारे महल पर जलते हुए चिराग़ से कुछ गरमी ले ली और पूरा पूरा जाड़ा नहीं सहा।" बीरबल ने अपनी चालाकी द्वारा यह बादशाह को बतला दिया कि ब्राह्मण ने आपके चिराग़ की ज़्यादा गरमी नहीं ली और ब्राह्मण को कुछ रुपया दिला दिया—पर बादशाह का प्रथम कथन यह नहीं था, उसका मंतव्य यह नहीं था जो कि बीरबल ने दर्शाया—बादशाह ने कहा था कि तुमने थोड़ी सी गरमी ले ली है—यदि एक विज्ञानवेत्ता होता तो वह कहता कि 'बादशाहे आज़म' "इस ब्राह्मण ने आपके महल पर जलते हुए चिराग़ से गरमी ज़रूर ली है और अगर आपका हुक्म हो तो मैं नापकर दिखला दूँ।" चिराग़ अगर एक मील भी दूर होता तो हमारे वैज्ञानिक महाशय वहाँ से आई हुई गरमी मापने में सफल होते, यही नहीं उस चंद्र से आई हुई गरमी को, जिसे कि सब मनुष्य शीतलता का आगार कहते हैं, माप कर, बिरहीजनों की उसे कई गुना बढ़ाकर दग्ध होनेवाली वार्त्ता का समर्थन करते, यहाँ तक कि उस तारक से, जिस पर से, हमारी पृथ्वी पर आने में प्रकाश को ८० वर्ष लगते हैं, आई हुई उष्णता का माप करने में भी समर्थ होते हैं।

ऐसा सूक्ष्म चैतन्य यंत्र स्वयं ही सूक्ष्म नहीं है—और न वह सिद्धांत ही बहुत टेढ़ा मेढ़ा है जिस पर इस यंत्र का निर्माण निर्भर है—विद्युत् और अग्नि एक ही कर्म के दो स्वरूप हैं जिस प्रकार कि एक काला मनुष्य और एक गोरा मनुष्य। दोनों ही परम पिता परमेश्वर के समान अंश हैं—विद्युत, उष्णता (अग्नि) में और उष्णता विद्युत् में परिवर्तित हो सकती है, यदि किन्हीं दो भिन्न धातुओं के दो टुकड़े, (जो कि एक स्थान पर जुड़े हों) उनके दूसरे सिरों से ताँबे के तार द्वारा एक विद्युत् मापक यंत्र (galvanometer) में जोड़ दिये जायँ और फिर उन दोनों टुकड़ों के जोड़ पर उष्णता पहुँचाई जाय तो विद्युत् मापक यंत्र अपनी

सुई की चाल द्वारा (Deflection of the galvarometer needle) यह बतलायेगा कि उसमें विद्युत् प्रवाह हो रहा है—और विद्युत् के प्रवाह का जोड़ की गरमी से एक ऐसा घनिष्ठ संबंध होगा जो कि सहज ही परीक्षा द्वारा मालूम किया जा सकता है, इसी सिद्धांत पर उपर्युक्त यंत्र का निर्माण हुआ है—इसमें सबसे बड़ी बात का ध्यान यह होना चाहिए कि थोड़ी सी गरमी से ही बहुत विद्युत् का प्रवाह हो—इसके लिये दो धातुएँ सबसे उपयुक्त हैं, वह बिस्मथ (Bismuth एक लोहे जैसी धातु) और सुरमा की धातु (antimony जो कि लोहे जैसी होती है और बाज़ार के सुरमे से बन सकती है) है। उपर्युक्त यंत्र उष्माता चैतन्य जोड़ और विद्युत् मापक यंत्र का सम्मिश्रण है और इस सबको हल्का करने का अतिशय यत्न किया गया है, जिससे कि थोड़ा ही विद्युत् प्रवाह यंत्र में अत्यधिक चाल का आविर्भाव करे। विद्युत् मापक यंत्र कुछ नहीं होता केवल एक ताँबे के तार का फंदा copper coil चुंबक शक्ति के बीच में रहता है और उसमें विद्युत् के प्रवाह होने से वह एक ओर या दूसरी ओर घूमता है। काला किया हुआ ताँबा बाहर से आई हुई गरमी को खींच लेता है और उस जोड़ का ताप बढ़ा देता है। ताप बढ़ने से उन दोनों धातुओं से लगे हुए ताँबे के फंदे में विद्युत् प्रवाह होता है, और फंदा घूम जाता है, उसका घूमना उस दर्पण द्वारा जान लिया जाता है, इतना सीधा यंत्र, इतना सूक्ष्म चैतन्य हो कितने आश्चर्य की बात है।

पृथ्वी की सहनशीलता एक कहावत हो गई है—हम लोगों का सब बोझ बेचारी पृथ्वी ही सहन करने की क्षमता रखती है। हम लोगों का पाप छोड़ दीजिए (क्योंकि कभी कभी पाप के बढ़ जाने से पृथ्वी के भी रसातल में चले जाने की बात हमारे पूर्वजों ने कही है)। हमारी मिलें, हमारे महल, हमारी रेल गाड़ियाँ, सड़क कूटने के इंजन, हमारी बैलगाड़ियाँ, हमारे सामान, हमारे शरीर (मुख्यतः किसी हमारे कुंभकर्णी साथी का) और 'माधुरी' के पैकेट यह सब हमारी माता की छाती पर बैठकर क्या-क्या अत्याचार कर रहे हैं, इसका अंदाज़ा करना कठिन नहीं; बल्कि असंभव है—यह तो ध्यान में आ ही जायगा कि इन सबका पृथ्वी पर बोझ बहुत ही बड़ा होगा।

वैज्ञानिक असंभव को भी संभव करने में सक्षम हैं परन्तु इतनी बड़ी चीज़ का जान लेना बड़ी बात नहीं है। एक अन्धा मनुष्य भी पीपल के पुराने पेड़ को टटोलकर कह सकता है कि यह एक बहुत बड़ी वस्तु है, फिर यदि वैज्ञानिक उसको बता दे तो उसमें वैज्ञानिक की शूरता कहाँ। परन्तु विज्ञान के अन्तर्गत इससे कहीं सूक्ष्म बातें हैं और वैज्ञानिक उनका माप कर सकता है। हम बाइसिकिल की गद्दी पर बैठते हैं तो उस पर क्या भार पड़ता है और उसका क्या प्रभाव पड़ता है। वह कितनी दब जाती है, हम रस्सी से बाँधकर घड़ा उठाते हैं। घड़े का रस्सी पर क्या प्रभाव पड़ा, रस्सी कितनी बढ़ गई। बटोही अपने डण्डे पर पुटुकिया लटका कर कन्धे पर धर कर चलता है। पुटुकिया का डण्डे पर क्या प्रभाव पड़ा, वह कितना झुक गया, यह सब विज्ञान के जिज्ञास्य विषय हैं। वैज्ञानिक लोग तुरंत ही बता सकते हैं कि किस पर कितना और कैसा प्रभाव पड़ा। रस्सी का बढ़ाव और डण्डे का झुकाव, गद्दी के दबाव के सम्मुख बहुत ही छोटी बातें हैं। गद्दी का दबाव अँगुली द्वारा नापा जा सकता है। रस्सी का खिंचाव एक बहुत ही सूक्ष्म अंकवाली पटरी से ज्ञात हो सकता है और डण्डे का झुकाव एक सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा जाना जा सकता है। अस्तु; यह सब सामान्यतः सीधे उपायों द्वारा जाने जा सकते हैं। पर इससे भी छोटी चीज़ें हैं, इतनी छोटी कि साधारणतया ध्यान में नहीं आतीं हैं, जिन्हें भी वैज्ञानिक नाप सकता है, हमने एक तार के खंभे पर हाथ रख दिया उसका कुछ न कुछ प्रभाव खंभे पर अवश्य होगा। वह उस स्थान पर तनिक सा दब जायगा। सम्पादक महाशय ने [illegible]नी मासिक वृत्ति, तीन सेर चाँदी नहीं, परन्तु नोट, को अपनी जेब में रक्खा, वह उन नोटों के बोझ से ज़रा और भी दबकर छोटे हो गये। हमने अपने मित्र के कंधे पर हाथ रक्खा वह ज़रा सा दब गया, यह सब औपन्यासिक नहीं है; परन्तु सत्य, गंभीर और आश्चर्यजनक सत्य हैं, परन्तु इन सब परिवर्तनों को तीव्र-से-तीव्र दृष्टि नहीं देख सकती, महीन-से-महीन चिह्नोंवाली पटरी नहीं नाप सकती,

तथा अतिशय शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक यन्त्रों को भी तनिक आभास नहीं मिलता। फिर भी वैज्ञानिक इनको माप कर बता सकता है। और उसका मापक यंत्र बहुत ही सीधा है और उसका सिद्धांत भी बहुत सीधा है।

इसके समझने के लिये हमको परोक्ष वस्तु तत्त्वांतर-गत प्रकाश opties in theoritical physics में पदार्पण करना पड़ेगा। यह तो सबको ही ज्ञात होगा कि प्रकाश की रश्मि वायु में और जहाँ वायु भी न हो अर्थात् शून्य में भी चलने में समर्थ है। इसलिये प्रकाश के चलने के लिये सर्वत्र वर्तमान व्योम (ether) की आवश्यकता और इसकी चाल का सारा भेद उसी व्योम की "दशा में परिवर्तन" progressive waves है। प्रत्येक प्रकाशमान् वस्तु व्योम में बढ़ती हुई लहरें wave length पैदा करती हैं और एक लहर की लंबाई change in its condition अति सूक्ष्म परिमाण है, नील प्रकाश के लहर की लम्बाई केवल $\frac{1}{52000}$ सेंटीमीटर (२½ सेंटीमीटर = १ इंच) है, और यदि दो लहरें जिनकी कलाओं में (phases) तनिक ही फ़र्क़ हो जैसे आधी लहर की लम्बाई, व पूरी लहर की लंबाई अथवा ततोऽधिक लहरों की लम्बाई (half wave length, one wavelength or more than one wave lengths) तो उन दोनों के संघर्षण से पूर्ण प्रकाश नहीं होगा, वरन् प्रकाशित तथा प्रकाशहीन पट्टियाँ (illuminated and dark bands) जिन्हें संघर्षण पट्टियाँ (enterface bands) कहते हैं बनेंगी, (इन सब बातों में विशेष ज्ञान पैदा करने के लिये पाठक कोई भी परोक्ष वस्तु तत्त्व की पुस्तक देखें)। यह दशा तभी होती है जब कि दोनों लहरों के केन्द्र प्रकाश के बीच की दूरी अति क्षुद्र हो उपर्युक्त कार्य के लिये जो यन्त्र होता है उसे संघर्षण मापक Interfrometer कहते हैं। माइकेल्सन का संघर्षण मापक सबसे उत्तम होता है।

शीशे की पट्टी १ पर आकर प्रकाश के दो भाग होते हैं, एक तो दर्पण १ की ओर जाता है और वहाँ से ठीक लौटकर फिर उसी पट्टी में होकर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में चला जाता है। दूसरा भाग पट्टी १ व २ में होकर सीधा दर्पण २ में जाकर वहाँ से लौटकर और पट्टी १ से घूमकर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में जाता है। वहाँ दोनों लहरों का संघर्षण होता है, और उपर्युक्त पट्टियाँ देख पड़ती हैं, सूक्ष्मदर्शक यन्त्र का दृष्टि तार Cross wise बीचवाली पट्टी पर कर दिया जाता है। अब यदि कोई भी दर्पण १ अर्द्ध लहर की लम्बाई half wave length से खिसकाया जाय तो दृष्टि तार पर बीचवाली पट्टी के स्थान पर उसके बग़लवाली पट्टी बैठक जमावेगी। यदि वही दर्पण "क" अर्द्ध लम्बाई से खिसकाया जाय तो दृष्टि तार पर बीच की पट्टी के स्थान पर "क" वीं पट्टी अड्डा जमावेगी, इसी सिद्धान्त पर ऊपर का यन्त्र बना है। किसी दर्पण को हम जहाँ कुछ दबाव होना है बाँध देते हैं और दबाव होने पर उसका परिमाण नाप लेते हैं। नील प्रकाश लेकर हम $\frac{1}{50000}$ सेंटीमीटर तक के दबाव को नाप सकते हैं, सूक्ष्म चैतन्यता का यह क्या ही निराला नमूना है।

ऐसे-ऐसे दो ही नहीं, वरन् सैकड़ों नमूने विज्ञान में भरे पड़े हैं। पीपल के वृक्ष में सुई चुभोने से जो उसे पीड़ा हुई उसे नापकर एक पत्ता तोड़ने पर उत्पन्न हुई पीड़ा से मिलान किया जा सकता है। समस्त पदार्थ के आदि स्वरूप कणों के (aloms) लाख-लाख कोटि-कोटि भग्नांश करने पर जो अति सूक्ष्म विद्युतागर (electrons) उत्पन्न होते हैं जो कि स्वप्न में भी दृष्टिगोचर नहीं हो सकते हैं और जिनका अस्तित्व लगभग काल्पनिक हो जाता है, उनमें से प्रत्येक की गुरुता मालूम की जा सकती है—हद हो गई सूक्ष्मता की—सीमा का उल्लंघन हो गया। परन्तु बहादुर वैज्ञानिक अब भी ताल ठोंककर कहता है कि इससे भी सूक्ष्म कार्य करने की उसमें क्षमता है।

हृषीकेश त्रिवेदी

१. तमाकू का व्यवसाय

इस समय संसार के प्रायः समस्त देशों में किसी-न-किसी रूप में तमाकू का व्यवहार एवं उपयोग हो रहा है। धूम्रपान स्वास्थ्य के लिये हानिकर होने पर भी अधिकांश शिक्षित लोग इस व्यसन में फँसे हुए हैं। सभ्यता एवं शिक्षा की डींग मारनेवाले यूरोपीय देश तो इस व्यसन में इतने फँसे हुए हैं कि इससे उद्धार पाना उनके लिये सर्वथा असंभव ही है। वर्तमान वर्ष के प्रथम दश मास में अकेले इँगलैंड में ३४,०००,००० पाउंड वज़न के तमाकू की खपत हुई है। गत वर्ष इसकी अपेक्षा १६,०००,००० पाउंड कम और सन् १९२५ ईसवी में १९२७ की अपेक्षा २५,०००,००० पाउंड कम तमाकू की खपत हुई। तमाकू की इस उत्तरोत्तर वृद्धि का कारण है Preference duty प्रेफरेन्स शुल्क में ह्रास। रोडेसिया, न्यूज़ीलैंड तथा कनाडा में तमाकू की खेती खूब ज़ोरों में बढ़ चली है। भारत भी इसमें पीछा नहीं है। यहाँ भी तमाकू की खेती दिन-दिन अधिक परिमाण में होने लगी है।

भारतवर्ष में मुख्यतः मद्रास, बंगाल, बिहार, ब्रह्मा एवं बंबई प्रभृति प्रांतों में तमाकू की खेती होती है। समग्र देश में प्रायः दश लाख एकड़ भूमि में तमाकू की खेती होती है। यद्यपि देश के अधिकांश ज़िलों में तमाकू की खेती होती है; किंतु अब तक किसी भी स्थान में कोई उपयुक्त केंद्र स्थापित नहीं हो सका है।

भूमि की उर्वरा शक्ति के अनुसार ही तमाकू का पैदावार अल्पाधिक परिमाण में होता है। इसके अनुसार प्रति एकड़ भूमि में १६० पाउंड से लेकर ६०० पाउंड तक पैदा होते देखा गया है। कहीं-कहीं ज़मीन बहुत अच्छी होने पर प्रति एकड़ ८०० से लेकर ३२०० पाउंड पर्यंत पैदा होते देखा गया है।

गत पाँच वर्षों से इस देश में विदेशी तमाकू की आमदनी बहुत बढ़ गई है। इस वृद्धि का कारण है भारत के कारखानों में अधिक परिमाण में बीड़ी तथा सिगरेट का बनना और देश में उनका अधिकाधिक व्यवहार किया जाना। गत १९२२-२३ साल में दश लाख पाउंड से अधिक वज़न के तमाकू की पत्तियाँ विदेश से यहाँ आईं। १९२३-२४ साल में ४५ लाख पाउंड तथा १९२४-२५ साल में ७० लाख पाउंड की आमदनी हुई। १९२५-२६ साल में इस आमदनी में कुछ कमी होकर सिर्फ़ ५० लाख पाउंड की आमदनी हुई। १९२६-२७ साल में इस आमदनी में गत वर्ष की अपेक्षा कुछ वृद्धि हुई है। ऊपर दी गयी तालिका के साथ इन्हीं वर्षों में विदेशी सिगरेट की आमदनी की तुलना करने से जान पड़ता है कि विदेशी सिगरेट की आमदनी में भी बहुत कुछ कमी हो रही है। १९२२-२३ साल में ४० लाख पाउंड, १९२३-२४ में

३५ लाख पाउंड, १९२४-२५ में २० लाख पाउंड की आमदनी हुई। १९२५-२६ साल में यह आमदनी कुछ बढ़कर ३५ लाख पाउंड तथा १९२६-२७ साल में ४० लाख पाउंड की हुई है।

इस प्रकार एक ओर तो विदेशी तमाकू की पत्तियों की आमदनी में क्रमशः वृद्धि हो रही है और दूसरी ओर इसके साथ-साथ विदेशी सिगरेट की आमदनी में क्रमशः ह्रास हो रहा है। इससे पता चलता है कि भारत में बीड़ी और सिगरेट के कारख़ाने बढ़ रहे हैं और इस व्यवसाय में उन्नति हो रही है। विदेशी सिगरेटों की अपेक्षा देशी सिगरेटों का प्रचार बढ़ रहा है। किंतु इस संबंध में यह बात भी अवश्य शोचनीय है कि यद्यपि देशी सिगरेटों के अधिकाधिक प्रचार से हम विदेशी व्यवसाय पर जयलाभ करने में समर्थ हो रहे हैं। किंतु देश में धूम्रपान करनेवालों की संख्या जो निरंतर बढ़ रही है वह स्वास्थ्य की दृष्टि से कम भयावह नहीं है। एक बात और है। भारत में विदेशी तमाकू की पत्तियों की आमदनी तो होती है किंतु इसके साथ-ही-साथ इस देश से भी तमाकू की पत्तियाँ प्रतिवर्ष प्रचुर परिमाण में इँगलैंड, इस्टेटसिटलमेंट, अदन, हांगकांग, नेदरलैंड तथा जर्मनी आदि देशों में चालान होती हैं। सन् १९२२-२३ साल में २१५ लाख पाउंड तथा १९२४-२५ साल में ४३० लाख पाउंड से ऊपर तमाकू की पत्तियाँ इस देश से विदेशों को भेजी गईं। १९२५-२६ साल में इस रफ़्तनी में कुछ कमी होकर ३७० लाख पाउंड तथा १९२६-२७ में २९० लाख पाउंड की रफ़्तनी हुई है। यह संतोष की बात है कि अन्यान्य व्यवसायों की तुलना में तमाकू का व्यवसाय हमारे देश में विदेशी प्रतियोगिता के मुक़ाबिला में उन्नति कर रहा है।

जगन्नाथप्रसाद मिश्र बी० एल्

× × ×

२. भारत में पशु-पालन

अति प्राचीन काल से भारतवर्ष में गाय, भैंस, घोड़ा आदि पाले जाते रहे हैं। भारतवर्ष के सबसे प्राचीन ग्रंथों में पालतू जानवरों के नाम पाये जाते हैं। उस ज़माने में चरागाहों की कमी न थी। जंगल की अधिकता के कारण पशु-पालन में किसी प्रकार का व्यत्यय नहीं आता था और यही कारण है कि गाय आदि की विपुलता थी। गोकुल के दधि-मंथन-घोष का वर्णन पढ़कर अधिकांश व्यक्ति उसे कवि की कल्पना ही बतलाते हैं। अस्तु।

वर्त्तमान काल में, भारतवर्ष में, जनसंख्या के मान से, पशुओं की न्यूनता नहीं है। मध्यभारत, राज-स्थान, दक्षिण भारत, उत्तर भारत आदि के पहाड़ी प्रदेशों में आज भी पशु-पालन का व्यवसाय जारी है। किन्तु भारतीयों की नासमझी और अंध विश्वास के कारण गाय, भैंस, बैल, घोड़े आदि की नस्लें बहुत ही ख़राब हो गई हैं। नन्दिनी-जैसी कामधेनु और वायु-वेग से चलनेवाले घोड़े आज भारत के लिये दुर्लभ हो गए हैं। अब प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य है कि पशु-पालन, विशेषकर, गो-पालन की ओर ध्यान देकर देश की साम्पत्तिक अवस्था के सुधार का प्रयत्न करे।

लेखक मध्य भारतीय है। उसे मध्य भारत के देहातों में बरसों रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। देहातों में पाले जानेवाले पशुओं की हालत देखकर कलेजा मुँह को आता है। काश्तकार, ज़िमींदार आदि गाय, भैंस आदि पालते तो हैं, किन्तु बड़ी निर्दयता के साथ! हमने कुछ पटेलों और ज़िमींदारों को २००-३०० मवेशी रखते देखा है। दूध देनेवाली भैंसों की तो कुछ हिफ़ाज़त की भी जाती है, मगर दूध न देनेवाली गाय-भैंसों को तो जंगल से चरकर आने पर रात के वक़्त घास तक नहीं दी जाती है। यह अवस्था उन प्रान्तों की है, जहाँ काफ़ी घास होती है। इसी से पाठक अनुमान कर सकते हैं, जिन प्रान्तों में घास की कमी रहती है, वहाँ इन प्राणियों पर कैसी बीतती होगी।

बेचारी गायों पर तो किसी को दया ही नहीं आती है। फ़रवरी-मार्च से ही गायें दुबली हो जाती हैं और मई-जून में तो वे इतनी कमज़ोर हो जाती हैं कि ज़रा सी ठोकर लगते ही गिर पड़ती हैं। बरसात के प्रारंभ में भूख से तड़फड़ाकर, प्रतिवर्ष हज़ारों गायें अकाल ही काल के गाल में चली जाती हैं।

जब दूसरे देशों से भारत की तुलना करते हैं, तो हमें महान् दुःख होता है। गाय को माता मानकर पूज्य दृष्टि से देखनेवाले भारतवासी उन्हें घुलाघुलाकर मार कर महापुण्य के भागी बनते हैं और यवन और म्लेच्छ कहे जानेवाले पश्चिमी लोग गायों की तन-मन-धन से

सेवा कर पाप कमाते हैं !!! गोपाल कृष्ण के भक्त हिंदुओं की गो-सेवा का ढोंग देखकर विदेशी हँसते हैं। सनातन धर्म-महामंडल सनातनियों के इस तांडवनृत्य का किस श्रुति-स्मृति से विहित मानेगा !!

संसार में, भारत के सिवा, शायद ही कोई देश हो, जहाँ ऐसे निरुपयोगी और कमज़ोर पशु पाले जाते हों! दूसरे देश ऐसी गायों भैंसों और घोड़े खच्चरों को उसी वक़्त गोली मार देंगे।

साम्पत्तिक दृष्टि से भी मौजूदा नस्ल की गायों का पालन हानिकारक है। क्योंकि इनके पालन-पोषण में जितना श्रम और द्रव्य-व्यय होता है, उसका दसवाँ हिस्सा भी इनसे हमें प्राप्त नहीं हो सकता है। देश के धन को अनुत्पादक कार्यों में व्यय करना, सम्पत्ति का अपव्यय करना है। सम्पत्ति-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार उत्पादक कार्यों में ही द्रव्य लगाया जाना चाहिए। हमें उतने ही पशु पालने चाहिएँ जितनों को हम काफ़ी ख़ुराक दे सकें और अच्छी हिफ़ाज़त से रख सकें। कमज़ोर, और कम दूध देनेवाली सौ-दोसौ गायें न रखकर ज़्यादा दूध देनेवाली उत्तम नस्ल की चार पाँच गायें रखी जावें तो कितना लाभ हो! मिहनत और पैसा बचेगा और साथ ही कुछ न कुछ आर्थिक प्राप्ति भी होगी।

किसी ज़माने में नागौरी और मालवी बैलों की ख़ूब क़द्र थी और आज भी असली मालवी बैलों की अच्छी क़ीमत आती है। किंतु अब उत्तम मालवी नस्ल के बैलों का मिलना दुर्लभ होता जा रहा है। यही हाल गिर बैलों, मुड़िया भैंसों और काठियावाड़ी घोड़ों का है। हमारी बेपरवाही के कारण वर्णसंकर जाति पैदा हो गई है।

भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है। भारत की वर्तमान अवस्था को देखते हुए, कह सकते हैं कि बैलों के बिना हमारा काम ही नहीं चल सकेगा। एंजिन से चलनेवाले हल और पानी खींचनेवाले पंपों का प्रचार बढ़ तो रहा है, किंतु देहातों में उनका पहुँचना वर्तमान अवस्था को देखते हुए असंभव-सा जान पड़ता है। ग़रीब देहातियों का बैलों पर ही सब दारोमदार है। इसलिए सस्ते और मज़बूत बैलों का होना अनिवार्य है। पशु-पालन और नस्ल को क़ायम रखने की ओर पर्याप्त ध्यान न देने के कारण भारतीय बैल कमज़ोर हो गए हैं।

भैंसों का भी यही हाल है। हमारी मूर्खता के कारण गायें कम दूध देने लगीं, जिससे दूध के लिये भैंसें पाली जाने लगीं। आजकल इनका दूध भी घट गया है। भारत में मुड़िया, सूरती और जाफ़राबादी नस्ल की भैंसें प्रसिद्ध हैं। ये दूध भी ज़्यादा देती हैं और घी का परता भी ज़्यादा बैठता है। किंतु वर्णसंकरता ने इनको भी नहीं छोड़ा है।

भारत के दो ही चार प्रांतों में भेड़ें पाली जाती हैं। पंजाब में यदि इस ओर ध्यान दिया जाय, तो बहुत कुछ लाभ हो सकता है। इससे देश में ऊन के व्यवसाय की तरक़्क़ी होगी। और गोश्त और खाल से भी काफ़ी आमदनी होगी।

भारत के कुछ देशी नरेशों ने पशु-चिकित्सा-विभाग की देखरेख में घोड़ों की नस्ल सुधारने के लिये 'साँड़' रक्खे हैं। किंतु आज तक की हालत को देखते हुए कहना पड़ता है कि इससे देश को, प्रत्यक्ष में, विशेष लाभ नहीं पहुँचा है। कृषि-प्रधान भारत के लिये बैल अनिवार्य हैं। बैलों के बिना भारतीय किसानों का काम एकदम रुक जायगा। अतएव बैलों की नस्ल सुधारने की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए, यह काम इस ढंग से किया जाना चाहिए कि जिससे गायों का दूध बढ़े और बैल ताक़तवर और अच्छे हों।

क़ानून बनाकर देहातों में पाए जानेवाले ख़राब नस्ल के सभी साँड़ बधिया बना दिए जायँ और पटेल या ज़िमींदार की ज़िम्मेदारी पर और उनकी देखरेख में, सरकारी फ़ार्मों में तैयार किए हुए उत्तम ढंग के साँड़ रक्खे जायँ। इन साँड़ों की ख़ुराक आदि के सरफ़े का भार सारे गाँव पर डाल दिया जाय और साँड़ों से हद से ज़्यादा काम लेना क़ानूनन् गुनाह ठहरा दिया जाय। इस प्रकार का प्रबंध हो जाने से बहुत जल्दी इच्छित कार्य संपन्न हो सकता है।

पं० गंगाप्रसादजी अग्निहोत्री गोरक्षा, गोपालन आदि विषयों पर बहुत कुछ लिख चुके हैं और लिख रहे हैं। और यही कारण है कि हमने सूत्ररूप से ही अपने विचार पाठकों के सामने रक्खे हैं।

× × ×

३. मुर्रा भैंस

इस नस्ल की भैंस को मुड़िया भी कहते हैं। इनके सींग मेंढे के सींगों की तरह गोल चक्करदार होते हैं।

मुर्हिया भैंस का आदि निवासस्थान पंजाब है। किंतु संयुक्तप्रांत, सिंध, आदि अन्य प्रांतों में भी ये पाई जाती हैं। गणना करने पर पता चला है कि भारत में प्रतिशत २० मुर्हिया भैंसें हैं। मुर्हिया भैंस सबसे अधिक दूध देती है और यह भारत के सभी प्रान्तों के जलवायु में पाली जा सकती है। जलवायु का इस नस्ल की भैंस के दूध पर बिलकुल ही असर नहीं पड़ता है।

सूरती भैंस भी ज़्यादा दूध देती है, किन्तु दूसरे प्रान्तों की आबहवा इसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं है। इसलिए दूसरे प्रान्तों में ले जाने पर धीरे धीरे इसका दूध घट जाता है।

कड़बी आदि पर इस जाति की भैंस अच्छी तरह से पाली जा सकती है। प्रयोगों से मालूम हुआ है कि एक बार जनने पर औसतन क़रीब २७५ दिन तक दूध देती है और इस अवधि में औसतन २००० सेर तक दूध होता है। यह प्रयोग साधारण प्रति की क़रीब ३००० भैंसों पर किया गया था। उत्तम प्रति की मुर्रा भैंस ५००० सेर तक दूध देती है। साधारण तौर से एक भैंस क़रीब १४ मास तक दूध देती है। उत्तर भारत की एक मिलिटिरी डेरी में ६५३ भैंसों के दूध का हिसाब रक्खा गया था। तो औसतन प्रति भैंस क़रीब १६५० सेर दूध का परता बैठा था।

भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों में इस नस्ल की भैंसें फैला दी जानी चाहिएँ।

× × ×

५. कपास की कलम लगाना

भारतवर्ष कृषि-विज्ञान से कोसों दूर है। वनस्पति-विज्ञान-संबंधी जानकारी भी भारत के इने-गिने लोगों को ही है। वनस्पति-शास्त्र का अध्ययन करके विश्व-विद्यालयों से डिग्री प्राप्त करने से ही मनुष्य विज्ञान की इस शाखा का पारदर्शी नहीं हो सकता। इस प्रकार उपार्जित ज्ञान के बल पर नवीन बातों को ढूँढ़ निकालनेवाला व्यक्ति ही उस शास्त्र का वेत्ता माना जा सकता है।

भारतीय एम्-एस्-सी, बी० एस्-सी हज़ारों की संख्या में दर-दर ठोकरें खा रहे हैं। अन्वेषण का कार्य करना उनकी शक्ति से बाहर है। और उधर पश्चिमी देशों में नित नई बातों का पता लगाया जा रहा है।

वर्तमान काल में कपास की खेती का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। कपास की नस्ल सुधारने के लिये प्रयत्न करनेवाले व्यक्ति के हाथ बँधे से रहते हैं, क्योंकि बीज से पौधा तैयार करके काम करने में बहुत ज़्यादा वक़्त लगता है। अतएव अब यह प्रयत्न किया जा रहा है कि कलम द्वारा पौधा तैयार किया जाय।

प्रयोगों से पता चला है कि कपास के पौधे पर चश्मा बिठाया जा सकता है और पेबंद और कलम से भी कपास का पौधा तैयार किया जा सकता है। सन् १९०९ में हवाई में मि० स्मिथ ने ख़राब नस्ल के कपास के पौधे पर उत्तम नस्ल के पौधे का चश्मा बिठाया था। मि० हेराल्ड ने सेंट विनसेंटने सन् १९१७ में कई पौधे चश्मा बिठाकर तैयार किए थे। भेंट कलम (graft by approach) से भी कपास के पौधे तैयार किए जा सकते हैं।

शंकरराव जोशी
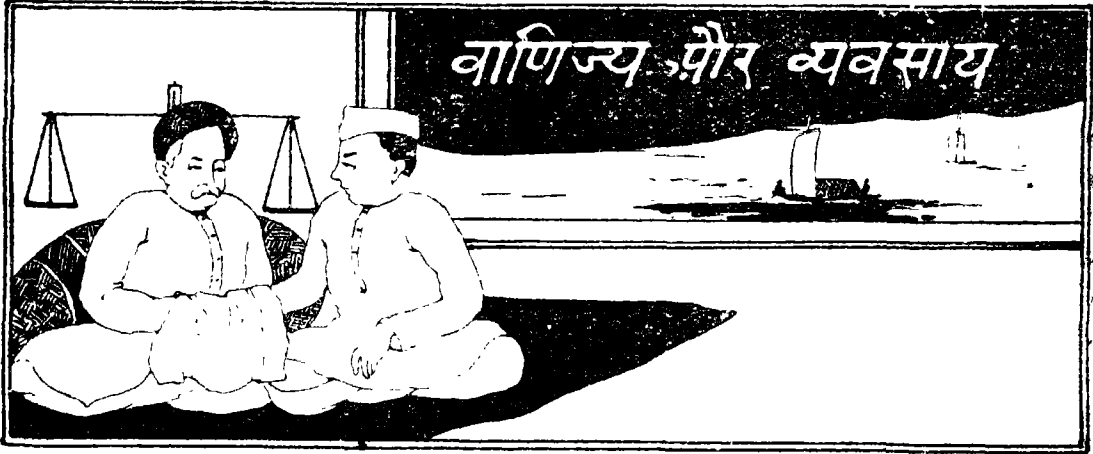
१. भारत में ऊन का व्यापार

रतवर्ष में ऊन और रेशम का व्यापार बहुत प्राचीन काल से होता आता है। भारत के ऊनी और रेशमी वस्त्र संसार भर के देशों में बिकते रहे हैं। जिन ग्रंथों के आधार पर हमें यह ज्ञात होता है कि भारत का व्यापारिक संबंध न केवल एशिया, वरन् योरप के समस्त देशों के साथ था, उन्हीं ग्रंथों से हमें यह भी पता लगता है कि बाहर के देशों में भारत से क्या-क्या वस्तु जाती थी। ऊनी और रेशमी वस्त्रों का उन ग्रंथों में नाम पाया जाता है। पूर्व-ब्रिटिश काल में भी, मुसलमानी शासन-काल के समय, पोर्चगीज़ और यूनान के साथ भारत का व्यापारिक संबंध था। किंतु आजकल मशीनरी के युग में भारत के मूल व्यापार की कुछ क़दर नहीं रह गई। मशीन के माल के सामने हाथ के बने माल में नफ़ा नहीं होता, इस कारण और अन्य कई कारणों से भारत की प्रायः सभी कारीगरी मिट्टी में मिल गई है। ऊन और रेशम का भी यही हाल है। इस लेख में ऊन और रेशम के संबंध में क्रमशः सरकारी रिपोर्टों के आधार पर कुछ लिखा जायगा। पहले ऊन का वर्णन करते हैं।

ऊन दो प्रकार की होती है। कड़ी और मुलायम। भारत में जिन भेड़ों से ऊन मिलती है, उनके बाल और स्थानों की अपेक्षा कड़े होते हैं। किंतु यहाँ दोनों प्रकार की ऊन पाई जाती है। तुर्किस्तान, अँगोरा और फ़ारस की भेड़ों की ऊन अधिक मुलायम होती है, ऐसी ऊन भारत में बहुत कम मिलती है। अतएव बाहर के उपर्युक्त देशों से भी भारत में ऊन बहुत आया करती है। *बाहर से जो ऊन भारत में आती है वह सब यहीं* ख़र्च नहीं हो जाती। वह बाहर के देशों को भी जाती है। फ़ारस से जल और थल के मार्गों द्वारा ऊन भारत में आती है। करांची बंदरगाह इसके लिये मुख्य स्थान है। इसके अतिरिक्त अफ़ग़ानिस्तान, मध्य एशिया, तिब्बत और नेपाल की तराइयों की ऊन भी भारत ही में आकर इकट्ठी होती है। इसी कारण भारत एशिया में ऊन का प्रसिद्ध केन्द्र सा हो गया है, क्योंकि अधिकांश स्थानों की ऊन यहीं आकर खलास होती है। भारत में भी, पंजाब-प्रांत ऊन के समस्त स्थानों के नज़दीक पड़ता है। और वहाँ स्वयं अधिक ऊन होती है। इस हेतु वही मुख्य बाज़ार है। क्वेटा, शिकारपुर, अमृतसर और मुलतान ऊन के प्रसिद्ध बाज़ार हैं। यहीं लाकर ऊन बेची जाती है और फिर कराँची बंदर द्वारा बाहर भेजी जाती है।

सन् १९२५ और २६ में ४३ लाख रुपए की ऊन का आयात हुआ। यह आई हुई ऊन कच्ची थी। इसी वर्ष भारत में पड़ोस के ऊन के देशों से २९२ लाख की

अच्छी ऊन आई। इसी साल ३८० लाख रुपए की ऊन भारत से बनकर विदेशों को भेजी गई। ७८ लाख रुपए की बनी हुई ऊन बाहर भेजी गई। बनी ऊन से तात्पर्य ऊन के बने हुए वस्त्रों से है।

भारत की एक भेड़ केवल दो पौंड ऊन देती है। वर्ष भर का औसत जब लगाया जाता है, तब पता लगता है कि १ वर्ष में भारत में ६० मिलियन पौंड ऊन पैदा होती है। हिंदुस्थान की ऊन गलीचों और कंबलों के बनाने में अधिक ख़र्च होती है। क्योंकि आधी से अधिक भारतीय भेड़ें ऐसे बालवाली होती हैं। जिनकी ऊन अच्छी ऊन की श्रेणी में नहीं रक्खी जा सकती। ऐसी भेड़ों को लोग मांस के निमित्त ही पालते हैं।

जब तक भारत में ऊन की मिलें नहीं थीं, तब तक यहाँ उसका कारबार भी इतना विस्तृत नहीं था, जितना अब है। ऊन के कपड़े यहाँ बहुत अच्छे बनते थे, परंतु मिल की कारीगरी के सामने हाथ के बने माल का पत्ता न पड़ता था। मिल का माल वैसे भी साफ़-सुथरा और देखने में सुंदर चिकना होता है। इसी कारण मिल के कारबार में पर्याप्त उन्नति हुई। यद्यपि पंजाब में ऊन के दुशाले और हाथ की बनी हुई अन्य ऊनी वस्तुएँ मिल के बने वस्त्र से कहीं अधिक मज़बूत और अच्छी होती हैं; परंतु उनकी क़ीमत अधिक होती है। इस कारण भी मिल के सस्ते माल का प्रचार हुआ और हाथ की कारीगरी को धक्का पहुँचा।

१६०२ ई० में, ब्रिटिश भारत में ऊन के केवल तीन मिल थे। इन तीनों मिलों में ३८,४०,०००) रु० की पूँजी लगी हुई थी। २३,८०० तकुए तथा ६२४ करघे काम में लाए जाते थे। २,४४६ मज़ूर इस काम से जीविका निर्वाह करते थे। इस वर्ष २१,४८,००० पौंड का कपड़ा तैयार हुआ था। सन् १६१७ में ऊन के दो मिल और खुले। इस वर्ष के मिलों में २,४६,४०,१०,०००) की सम्पत्ति लगी थी। ३६,६०८ तकुए और १,१४४ करघे काम में लाए जाते थे। एक में ६७,४४,२६४ पौंड का विविध भाँति का माल तैयार हुआ था।

इसके अतिरिक्त मैसूर राज्य में भी एक ऊन की मिल ६०,००,०००) की लागत से खोली गई थी। यह मिल सन् १६०३ में खुली थी। प्रथम वर्ष इसमें १४३ तकुए और ४५ करघे चलते थे। २६७ मज़ूर इस काम से जीविका कमाते थे। १६०७ में एक मिल यहाँ और खुली। इन समस्त मिलों में से केवल इसमें विविध भाँति का माल बनता था। बाक़ी में केवल कंबल ही बनते थे।

१६१४ ई० के महासमर में इन मिलों ने ब्रिटिश सरकार की बड़ी सेवा की थी। सैनिकों के लिये कोट, सर्जे, पट्टियाँ, गज़ी, फ्लैमल आदि सब माल इन्हीं मिलों से बनकर जाता था।

अब तो मिलों में तब से अधिक उन्नति हुई है। हर एक जगह सब तरह का बाना तैयार होता है। किंतु कंबल और गलीचे विशेषकर पंजाब और युक्तप्रांत में ही बनाए जाते हैं। ऊनी गलीचे जेलों में तैयार होते हैं।

जब मिलें नहीं थीं, तब अमृतसर में पश्मीने का कारबार अच्छा चलता था। अब इस माल की क़दर घटती जाती है। बाज़ार में इसका चलन कम रह गया है। पश्मीने का माल तिब्बत की ऊन से बनता है।

पाठकों ने देखा होगा कि ऊन का सबसे अधिक कारबार पंजाब-प्रांत ही में होता है। इसका कारण यही है कि ऊन प्राप्त होने के सभी प्रदेश पंजाब के नज़दीक ही हैं। स्वयं पंजाब में भी ऊन बहुतायत से पाई जाती है। इसी कारण पंजाब को हम ऊनी प्रांत कहें, तो अत्युक्ति न होगी।

संप्रति लाल-इमली और धारीवाल ऊन की दो प्रसिद्ध मिलें भारत में ऊँचे दर्जे की समझी जाती हैं। इन मिलों का बना हुआ माल बाज़ार में अधिक खपता है। विदेशों से भी ऊनी माल यहाँ आकर बिकता है, और वह भारतीय मिलों से सस्ता भी होता है। देशी मिलों के माल की अपेक्षा विदेशी मिलों का बुनाव अच्छा होता है। इस मामले में देशी मिलों को बाहर से सीखकर बहुत कुछ तरक़्क़ी करना है।

मदनलाल चतुर्वेदी

× × ×

२. नारियल द्वारा प्रस्तुत मक्खन

साधारणतः दूध ही द्वारा मक्खन प्रस्तुत होता है; इसे हम लोग प्राणिज-मक्खन कह सकते हैं। किंतु नारियल द्वारा एक प्रकार का उद्भिज मक्खन प्राप्त होता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि पूर्व देशों में ही नारियल बहुत होता है। भारतवर्ष के दक्षिण प्रदेशों में समुद्र के किनारे यह बहुत उपजता है। इसका पेड़ कदली वृक्ष की तरह मनुष्य के बहुत काम की चीज़ है। इसीलिये इसको "पूर्व का कंपनी-काग़ज़" कहते हैं। हम लोगों के देश में नारियल द्वारा अनेक प्रकार की मिठाइयाँ तैयार की जाती हैं। दक्षिण प्रदेशों में इसके तेल की काफ़ी खपत है। इन दिनों घी की इतनी महँगी रहने के कारण यदि नारियल से मक्खन निकाला जाय, तो सर्वसाधारण को विशेष लाभ होने की संभावना है। पाश्चात्य देशों के मनुष्यों ने विज्ञान की सहायता से नारियल से एक प्रकार का आहार योग्य तेल पदार्थ का आविष्कार किया है। उत्कृष्ट न होने पर भी वह स्वाभाविक दूध द्वारा प्रस्तुत मक्खन से किसी अंश में निम्न नहीं होता। परीक्षा करने पर यह पता लगा है कि वह पवित्रता, खाद्यगुण तथा अन्य अंशों में भी गाय के दूध द्वारा प्रस्तुत मक्खन के ही सदृश होता है। पाश्चात्य देशों में इसकी काफ़ी बिक्री है। मार्गरिन प्रभृति अन्यान्य अपकृष्ट मक्खनों के बदले यह व्यवहृत किया जाता है।

नारियल द्वारा मक्खन प्रस्तुत करने की प्रणाली को सर्वप्रथम फ़्रांसियों ही ने आविष्कार किया था। विश्वस्तसूत्र से जाना जाता है कि मार्शेल शहर के किसी व्यवसाय ने नारियल का मक्खन सर्वप्रथम तैयार करके यूरोप की पण्यशालाओं में विक्रय किया था। समय के प्रभाव के कारण उस कंपनी की अनेक शाखाएँ इन दिनों विद्यमान हैं, उन सब कारख़ानों में प्रतिवर्ष ३६,५०० टन मक्खन तैयार होता है। मार्शेल शहर आज तक इस व्यवसाय का केन्द्र-स्थान है। केवल इसी स्थान में प्रतिवर्ष ७२,००० टन नारियल का मक्खन तैयार होता है। और इसकी बिक्री भी यथेष्ट है, कारण यूरोप का प्रत्येक व्यक्ति प्रतिवर्ष १२ पाउण्ड तथा इँगलैण्ड-निवासी प्रतिवर्ष ५ पाउण्ड नारियल का मक्खन व्यवहृत करते हैं। इससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि इस व्यवसाय की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है।

फ़्रांस एवं जर्मनी में नारियल द्वारा मक्खन प्रस्तुत करने के व्यय में यथासाध्य कमी की जा रही है; प्रस्तुत प्रणाली को भी दोष-शून्य बनाया जा रहा है। भारत तथा अन्यान्य पूर्वी देशों से नारियल का निर्यात होता है।

नारियल में सैकड़े ६० भाग तैलयुक्त पदार्थ रहता है; अब तक नारियल के मक्खन के प्रचार में उसकी कटुगंध बड़ी बाधक होती थी, किन्तु अब यह बाधा भी दूर कर दी गई है। नारियल से पहले उसका तेल निकाल लिया जाता है। उसके बाद उसमें उष्ण वाष्प प्रविष्ट किया जाता है और तब मैगनेशिया (Magnesia) द्वारा उसे neutralise करते हैं। अंत में इस पदार्थ को गर्म पानी से धोते हैं तथा पुनराय तरल पदार्थ के रूप में परिणत कर देते हैं। और भी अनेक प्रणालियों द्वारा नारियल के मक्खन को भैंस के घी के समान स्वच्छ किया जा सकता है। स्वच्छ करने के बाद इसकी पहचान सहज में नहीं हो सकती।

जर्मनी अंतर्गत बोहेमिया प्रदेश में नारियल का मक्खन प्रधानतः भारतीय नारियलों ही से प्रस्तुत किया जाता है। प्रस्तुत करने की प्रणाली यों है—सर्वप्रथम नारियल के फल को दबाकर उससे साधारण रीति द्वारा तेल निकाल लेते हैं। इस कच्चे तेल में साबुन प्रस्तुत करने योग्य एक स्नेहपदार्थ रहता है, किंतु उसकी गंध मनोरम नहीं होती। इस तेल को बड़े-बड़े बर्तनों में रख देते हैं उसको भली भाँति शुद्ध करने के लिये प्रथमतः उसमें चूर्ण की हुई खली मिलाते हैं। यह खली स्नेह-पदार्थ को सोखकर नीचे गिर जाती है। द्वितीयतः उपर्युक्त तेल को (४-५ फ़िल्टरों की सहायता से) एक-दूसरे बर्तन में पम्प करके ले जाते हैं। उस समय इस तेल को भाफ़ द्वारा २०० डिग्री पर गर्म करके एक अन्य बर्तन में प्रविष्ट कराते हैं। यह क्रिया तब तक जारी रहती है, जब तक कि यह पानी-सदृश स्वच्छ तथा खौलना नहीं आरम्भ करता, उसके बाद इस तेल को तौलकर किसी ठंडे स्थान में जमने के लिये रख छोड़ते हैं। जमे हुए तेल को पैक कर बाज़ार में चालान कर दिया जाता है। बचा हुआ कुछ अंश साबुन बनाने के काम आता है तथा कुछ पशुओं की खाद्य सामग्री हो जाती है।

इँगलैंड में नारियल द्वारा मक्खन प्रस्तुत करने की प्रणाली अत्यंत मनोरम तथा वैज्ञानिक है। कल-कार-

कामों में भी अधिक व्यय होता है। इस देश में नारियल के तेल में दूध मिलाकर एक प्रकार का उत्कृष्ट मक्खन तैयार किया जाता है। इस कार्य के लिये एक बड़ा-सा मथन-यंत्र व्यवहृत किया जाता है। मथित दूध पम्प करके एक दो तले घर के ऊपरी हिस्से में ले जाया जाता है और वहाँ पर उसे लवणाक्त जल की धारा के ऊपर रखकर तथा अन्य प्रकार से ठंडा करते हैं। उसके बाद उसे यथारीति दही के समान खट्टा किया जाता है, और तभी उससे मक्खन निकालने में सुविधा होती है।

अन्य स्थानों में पूर्व अंचलों से आए हुए नारियलों के टुकड़े बना देते हैं। इन टुकड़ों को उपर्युक्त कारखानों के नीचेवाले हिस्से में बड़े-बड़े कड़ाहों में गरम किया जाता है। उस समय उन्हें अच्छी तरह चलाते रहने की आवश्यकता रहती है। उसके बाद ऊपर तल के दूध के साथ इस नारियल के तेल को मिश्रित किया जाता है। दूध और तेल के परिमाण पर ही मक्खन की उत्कृष्टता निर्भर करती है। इस प्रणाली से किसी समय वह पदार्थ हाथ से नहीं छुआ जाता।

मिश्रित तेल और दूध उस समय तक तरल अवस्था में रहते हैं। उस समय उसे बड़ी-बड़ी तश्तरियों में रखकर उसी में ठंडा करके जमाया जाता है। जब आइसक्रीम की तरह जमने लगता है, तब उसे भली भाँति मिलाते हैं, और थोड़े परिमाण में नमक डालकर ठीक मक्खन के सदृश बना देते हैं।

नारियल से मक्खन प्रस्तुत करने की प्रणाली प्रायः इसी तरह की होती है, किंतु इसका विशद विवरण व्यवसायियों के निकट गुप्त है। सर्वसाधारण नहीं जान सकते, तो भी उद्यम और अध्यवसाय के साथ काम करने से उचित फल मिल सकता है।

नारियल में जो तेल पदार्थ रहता है, उसका रंग साधारणतः सफ़ेद होता है; किंतु मक्खन के रूप में परिणत करने के समय उसमें रंग चित्रित किया जाता है, और कुछ नरम रखने के लिये कभी-कभी लोग उसमें तिल का तेल भी मिला देते हैं। उस समय स्वाभाविक मक्खन में कोई प्रभेद नहीं दीख पड़ता। नारियल द्वारा मक्खन बहुत दिनों तक अच्छी अवस्था में रहता है। यहाँ तक कि ग्रीष्मकाल में भी सहज ही ख़राब नहीं होता।

वैज्ञानिक और चिकित्सकों का मत है कि नारियल द्वारा प्रस्तुत मक्खन व्यवहृत करने में कोई दोष नहीं है। नारियल का मक्खन विशुद्ध तथा सम्पूर्ण रूप से जीवाणु-विहीन रहता है। यह सहज ही पच जाता है तथा शरीर को पुष्ट करता है।

उमेशप्रसादसिंह बख़्शी

१. रवि बाबू की एक कविता

सोनार तरी

गगने गरजे मेघ, घन बरषा।
कूले एक बस आछि, नाहिं भरसा।
राशि राशि भारा भारा धान काटा ह'ल सारा,
भरा नदी क्षुर धारा खर-परशा।
काटिते काटिते धान एल बरषा।

एक खानि छोट खेत, आमि एकेला,
चारि दिके बांका, जल करिछे खेला।
पर पारे देखिआंका, तरु छाया मसी माखा।
ग्राम खानि मेघे-ढाका प्रभात बेला।
ए पारेते छोट क्षेत आमि एकेला।

गान गेये तरी बेये के आसे पारे।
देखे येन मने हय चिनि उहारे।
भरा-पाल च'ले जाय, कोनोदिके नाहिं चाय।
ढेउ गुलि निरुपाय, भाङ्गे दु'धारे,
देखे येन मने हय, चिनि उहारे।

ओगो तुमि कोथा जाओ कोन् विदेशे!
बारेक भिड़ाओ तरी कूलेते एसे।
येओ येथा येते चाओ यारे खुसि तारे दाओ।
शुधू तुमि निये याओ, क्षणिक हेसे।
आमार सोनार धान कूलेते एसे।

यत चाओ तत लओ तरणी' परे।
आर आछे? आर नाइ, दियेछि भ'रे।
एत काल नदी कूले याहा ल'ये छिनू भुले।
सकलि दिलाम तुले थरे बिथरे,
एखन आमारे लह करुणा क'रे।

ठाइं नाइ, ठाइं नाइ! छोट से तरी।
आमारि सोनार धाने गियेछे भरि'!
श्रावण गगन घिरे, घनमेघ घुरे फिरे,
शून्य नदीर तीरे रहिनु पड़ि;
याहा छिलो निये गेल सोनार तरी!*

उपक्रम

रवि बाबू के भक्त उक्त "सोनार तरी" शीर्षक कविता को उनकी सब रचनाओं से बढ़कर मानते हैं। कितनी ही सभाओं में इसकी काफ़ी चर्चा हुई है। एक समालोचक ने इसे पढ़कर लिखा है, "रवीन्द्र बाबू की सोने की कलम अक्षय हो।" अस्तु, अब यह देखना चाहिए कि इसमें क्या सौन्दर्य है और इस कविता से हमें क्या

*बँगला में 'ण' का उच्चारण 'न', 'य' का 'ज', 'व' का 'ब', 'उ' का प्रायः 'ऊ', 'ओ' का 'उ', के सदृश होना है। ह्रस्व वर्णों का उच्चारण 'ओ' प्रधान होता है। जैसे—'क' को 'को' कहते हैं।

भाव मिलता है। यह कहना अनावश्यक है कि कविता रहस्यवाद की है।

भावार्थ में अनौचित्य

कविता का मूल रूप ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। आलोचना करने के पहले उसका भावार्थ पाठकों को बता देना आवश्यक है। वह यह है—"एक किसान सावन महीने में बहुत से धान काट कर बेआसरे या निरवलंब होकर नदी के किनारे बैठा है। बाद उसने देखा कि एक मल्लाह, जिसे वह शायद जानता है, पाल उड़ा कर नौका लिये जा रहा है। किसान ने उसे बुला कर धान दे दिया और बाद खुद भी बैठना चाहा। लेकिन मल्लाह ने उसे बिठाना स्वीकार न किया और नाव लेकर चला गया। किसान शून्य नदी के तट पर पड़ा रह गया।"

कविता का यह भावार्थ बिलकुल अस्वाभाविक है। कोई किसान मनों धान काट कर, उनसे वह क्या करेगा यह सोच न सकने के कारण, नदी के किनारे निरवलंब होकर बैठा नहीं रहता। वे धान वह घर ले जाता है। कोई किसान धान काट कर और उन्हें घर न ले जाकर स्त्री-पुत्रों को वंचित कर एक 'येन मने हय चिनि' (*अर्थात् याद आता है शायद उसे जानता हूँ*) मल्लाह के साथ भाग जाना न चाहेगा। किसान के बेआसरे होने का कोई कारण भी कविता में ढूँढ़े नहीं मिलता। उलटे मनों धान काटकर तो उसे प्रसन्न होना चाहिए था। अच्छा, तब समझना चाहिये कि यह रूपक है। लेकिन कवि ने अपने विशाल आइडिया (Idea) को प्रकट या व्यक्त करने के लिये जिस उपमा को चुना है वह मूलतः अस्वाभाविक है, हाँ यह माना जा सकता है कि या तो किसान पागल है अथवा कवि। किन्तु इस तरह का अदृष्ट पूर्व किसान-चरित्र कविता में उपमास्वरूप नहीं लिया जा सकता। संसार में साधारणतः प्रकृति या वस्तु का जो रूप देखा जाता है वही उपमास्वरूप व्यवहृत होता है। अगर कोई कवि कहे कि "उस आजानु बाहु, दाढ़ी मूछवाली रमणी ने गंभीर स्वर से अपने कोयल-कंठ, कुंचित दीर्घ केश, कुसुम-कोमल स्वामी से कहा, "चन्द्रबदन, क्यों मान किये बैठे हो?" और रूपकस्वरूप इसमें तो हास्य रस के अतिरिक्त अन्य रस या भाव की कल्पना भी मन में न आवेगी। यद्यपि संसार में आजानु बाहु, मूँछ और गंभीर स्वरवाली स्त्रियाँ देखी गई हैं और कोयल-कंठ और कुंचित केश पुरुष भी देखे गये हैं। असंभव कुछ भी नहीं है। फिर भी जब किसी प्राकृतिक विषय की उपमा दी जाती है तो उसका जात्यर्थ लेना पड़ता है। आकाश के जैसा नीला यही कहा जाता है, आकाश की तरह धूसर कोई नहीं कहता; यद्यपि आकाश कभी कभी धूसर भी होता है।

आध्यात्मिक तत्त्व

उपमा की स्वाभाविकता तो पाठकों ने देख ली, इस का आध्यात्मिक अर्थ क्या है अब यह भी देखना चाहिए। मैंने आध्यात्मिक अर्थ की जानकारी के लिये रवि बाबू के भक्तों के पास तक दौड़ धूप की, लेकिन उन लोगों ने 'आह-वाह' करके टाल दिया। अलबत्ते एक भक्त ने कुछ कुछ बताया भी था, उनका आशय इस प्रकार है, "कवि ने अपने जीवन भर के संचित अर्थ को अपने जीवन देवता (Idea) के चरणों में समर्पण कर दिया, बाद अपने लिये कुछ माँगा। जीवन-देवता ने उनकी संचित धन-राशि अर्थात् परिश्रम का फल तो ले लिया, लेकिन पुरस्कार नहीं दिया। अर्थात् प्रत्येक को अपने कर्म को देवता के चरणों पर समर्पण करने का अधिकार है परंतु पुरस्कार पाने का कोई हक़ नहीं है।"

व्याख्या आध्यात्मिक है, इसमें संदेह नहीं। यह तत्त्व भगवद्गीता का है। परंतु कविता से क्या यही अर्थ निकलता है?

जो मेरे देवता हैं, वे सदैव मेरे हृदय में विद्यमान हैं। वे कविता के मल्लाह की तरह किसी विदेश से आकर कहीं चले नहीं जाते। जो इस तरह आकर चले जाते हैं, जिनके विषय में "येन मने हयचिनि" का भाव रहता है उन्हें कोई सर्वस्व समर्पण नहीं करता। फिर "विदेशे" "कोन दिके नाहि चाय" "गान गाय" "छोट से तरी" इन सबका आध्यात्मिक अर्थ क्या है? भाष्यकार कहेंगे ये सब उपसर्ग हैं, कुछ हर बात का आध्यात्मिक अर्थ थोड़े ही होता है। खूब! एक पंक्ति में तो कवि आराध्य देवता को अपना सर्वस्व बिना किसी शर्त के समर्पण करना चाहता है और दूसरी ही पंक्ति में कहता है "आमा के लह करुणा करे।" क्या यह उचित है? भक्त लोग कहेंगे यह तो कवि का विचारान्तर अर्थात् Aftertho-

ught है। मतलब यह कि जब कवि ने देखा कि ये सर्वस्व लिये चले जाते हैं, तब उन्हें उसका मोह हुआ और इसीलिये उन्होंने साथ जाने की इच्छा प्रकट की। मेरा वक्तव्य यह है जब कवि के लिये इतनी स्वार्थ चिंता सम्भव है तब धान देने के पहले उसका इतना आग्रह करना असम्भव है। इसके अतिरिक्त स्वेच्छा से सर्वस्व देने के बाद अन्त में कवि का हताश भाव (जो कविता की अंतिम पंक्तियों में है) असंभव है। और 'आमा के लह' का अर्थ क्या सचमुच 'मुझे कुछ दो है?'

१२ पंक्तियों की नन्हीं सी कविता और उसी में मूल-भाव परस्पर इतना विरुद्ध है। फिर कैसे समझा जाय कि कविता का भाव वही है। इसके अतिरिक्त कर्मी को फलाफल के संबंध में माँगने जाँचने का कोई अधिकार नहीं है। उचित भी नहीं है, लेकिन किसान ऐसा कर रहा है। कर्मी यदि फलाफल की माँग न करे तो भी कौन यह अस्वीकार करेगा कि प्रत्येक कर्म का फल कर्मी के अयाचित भाव से भी मिलता है। जीवन में कोई विचार, कोई कार्य ऐसा नहीं है जो चरित्र गठन न करता हो और जिससे मनुष्य जीवन की कुछ क्षति-वृद्धि न हो। परंतु इस कविता में देखा जाता है कि देवता ने कवि के उसके कर्म का कोई फल नहीं दिया हालाँकि उसने स्वयं माँगा। कितना बड़ा असामंजस्य है! गीता-वाद के विरुद्ध है।

यों तो आध्यात्मिक अर्थ निकालने बैठे तो 'पाखी सब करे रव' से भी निकाला जा सकेगा। कालिदास के ब्याह में दुष्ट पण्डितों ने मूर्ख ब्राह्मण की अंगभंगी से द्वैतवाद, पंचभूतों की समष्टि इत्यादि अनेक गूढ़ार्थ निकाले थे। वर्डस्-वर्थ विलायत के प्रसिद्ध क्लिष्ट कविता करनेवालों में माने जाते हैं। उनकी "Ode on the Immortality of the soul" नामक कविता बहुत दुर्बोध है परंतु इस लंबी कविता में परस्पर विरुद्ध भाव नहीं है और थोड़ी सी चेष्टा करने पर इसका तात्पर्य समझ में आ जाता है। आश्चर्य है विदेशी कवि की विदेशी भाषा में लिखी कविता समझ में आ जाती है परंतु मातृभाषा में लिखी अपने भाई की कविता चेष्टा करने पर भी समझ में नहीं आती। सच बात तो यह है कि इसमें न तो बृहत् आइडिया है और न यह दुर्बोध्य वा अबोध्य ही है। बल्कि यह अर्थ-शून्य और स्व-विरोधी है।

नेचर निरीक्षण में भूल

भावार्थ और आध्यात्मिक अर्थ के बाद विषय-वर्णन के औचित्य पर आइए। किसान ने धान काटा है वर्षा ऋतु के सावन के महीने में। पर सच बात तो यह है कि वर्षा काल में धान काटे नहीं रोपे जाते हैं। धान तीन तरह के होते हैं (१) हैमन्तिक यही किसान की मुख्य पैदावार है। इसकी कटाई हेमन्त ऋतु के अगहन महीने में होती है। (२) आशु, (ये अक्सर अपने खाने के लिये किसान उपजाते हैं) कटाई होती है शरत् काल के भाद्र मास में। (३) बोरो (उड़ीसे में ही अधिक होते हैं) कटाई होती है ग्रीष्म ऋतु के वैशाख महीने में। लेकिन इसके वर्णन में कवि ने ऐसी कल्पना की है मानो जान-बूझकर प्रकृति की बगल से निकल गये हैं, अन्यथा अँधेरे ईंट फेंकने पर भी किसी न किसी में अवश्य लगता। रवि बाबू के एक भक्त ने इसकी ऐसी मनोरम व्याख्या की है कि जिसके उद्धृत करने का लालच मैं नहीं रोक सकता। उन्होंने कहा, "यदि यह आशु धान्य हो और सावन की ३२ वीं तारीख़ को काटा गया हो तो दूसरे ही दिन भाद्र होगा।" (बंगाल में सौर मास होते हैं और एक महीने में संक्रान्ति के हिसाब से ३२ तारीख़ें तक होती हैं, अनु०) परन्तु वे यह भी तो कह सकते थे कि यदि किसान पागल हो रहा हो और उसने कच्ची ही फ़सल काटनी शुरू की हो तो? काश, अगर रवि बाबू को मालूम होता उनके बचाने के निमित्त उनके दो एक भक्तों को कितनी मुसीबत उठानी पड़ती है। ख़ैर! ज़रा यह तो बताइए कि सावन महीने में "एल बरषा" कैसे? बंगाल में तो आषाढ़ में ही वर्षा ऋतु आ जाती है। उस पर भी मज़े की बात यह है कि 'एक खानि छोट खेत' (अर्थात् एक छोटे से खेत से) में "राशि राशि भारा भारा धान" तात्पर्य यह कि सैकड़ों मन धान उपजे हैं। वाहरे, ज़मीन ख़ूब उपजाऊ होगी। इससे भी बढ़कर आनन्द आता है जब देखते हैं कि खेत के "चारि दिके बांका जल करिछे खेला।" चारों तरफ़ जल लहरें मार रहा है। अर्थात् खेत क्या है द्वीप है। अगली पंक्ति में लिखा है मल्लाह "तरी बेये" नौका खेता आ रहा है। उसी के आगे "भारापाल" देख पड़ता। ऐसी अवस्था में अर्थात् 'भारापाल' में कोई नौका नहीं चलाता है। एक पंक्ति में है "नौका आसे पारे" अर्थात्

नाव पार आ रही है। दूसरी ही पंक्ति में देखते हैं जाती है "कौन विदेशे" अर्थात् कहीं विदेश की तरफ़ जा रही है। निश्चय ही मल्लाह ने तुरत नाव फिरा ली होगी। उस पार के तरु छाया की अँधेरे से भरे और मेघों से ढके गाँव के चित्र को रवि बाबू के भक्तों ने बहुत पसंद किया है। लेकिन दुःख की बात है कि मेघों से ढके गाँव में तरु-छाया नहीं होती, कम से कम इस पार से तो उसके दर्शन दुर्लभ हैं। छाया के लिये धूप की ज़रूरत होती है। इसके बाद "श्रावण गगन घिरे घन मेघ घूरे फिरे" वाह, वाह, क्या ही सुन्दर शब्द विन्यास है! लेकिन भई, बात यह है कि सावन गगन के घन मेघ श्रेणी बाँध कर इधर उधर दौड़ते हैं, लट्टू की तरह नहीं घूमते। रवि बाबू के अनन्य भक्त कहेंगे कितना अच्छा मालूम होता है मानों तबले पर किसी ने ठपाक दी हो, भले ही वह आवाज़ बेताल हो। लेकिन बात असल में यह है कि मधुर शब्द विन्यास से ही वर्णन उत्तम नहीं होता यदि कोई लिखे कि "मधुर आषाढ़ मासे आहा कि मलय वाय, सुनील जलधि जल, कमल फूटेछे ताय।" अर्थात् *मधुर आषाढ़ महीने में क्या ही सुन्दर मलय* समीर चल रहा है, और सागर के सुनील जल में कमल *खिले हुए हैं तो इसके बाद "मरि हाय" के* अलावे मुँह से सहसा कुछ नहीं निकलेगा।

इसके अतिरिक्त इस कविता की "खर परशा" "कौन दिके नाहिं चाय" "थरे विथरे" इत्यादि शब्दावली बिल्कुल निरर्थक हैं। जान पड़ता है रवि बाबू ने इस कविता को लिखते समय क़लम झुका दी थी। न सुर है न ताल, तो भी रवि बाबू के भक्त उसे पढ़कर मुग्ध हैं। क्यों? इसलिये कि शेली की कविता समझ में नहीं आती, यह भी नहीं आती। इस पर भी स्वयं रवीन्द्र बाबू ने इसे लिखा है। भला कहीं ऐसा भी हो सकता है कि इसका कुछ अर्थ ही न हो।

उपसंहार

कविता पहेली नहीं है। उत्तम छन्दोबद्ध वर्णन भी कविता नहीं है। जिस कविता के पढ़ने से हृदय आलोड़ित हो, उत्साह, आनन्द, कारुण्य आदि से हृदय भर जाय, जो प्रकृति वा मानव हृदय का सुचित्र है, जिससे आत्मा का प्रसार होता है और जो वहिर्जगत् की ओर उसकी सहानुभूति आकृष्ट करता है, वह काव्य है। यदि कविता दुर्बोध हो तो उसका यह महान् उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। स्वयं रवि बाबू ने सैकड़ों उत्तम रचनाएँ की हैं जो बरबस हृदय को अपनी ओर खींच लेती हैं, खेद की बात है यह कविता वैसी नहीं बल्कि बिलकुल अधम श्रेणी की है।

आज से २० वर्ष हुए बंगाल के सुप्रसिद्ध नाट्यकार स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय उर्फ़ डी० एल० राय ने प्रवासी में "काव्येर अभिव्यक्ति" शीर्षक अपने लेख में इस कविता की आलोचना की थी। मामूली हेर-फेर के साथ वही यहाँ लिखी गई है। बात बहुत पुरानी है लेकिन इससे दो लाभ होंगे एक तो डी० एल० राय महोदय की प्रखर समालोचन-शक्ति का और दूसरे बँगला की समालोचना का नमूना हिंदी पाठकों को मिलेगा। यद्यपि स्वर्गीय राय और रवीन्द्र बाबू में किसी कारण बड़ा वैमनस्य हो गया था और इसलिये द्वेष-मूलक समालोचनाएँ भी दोनों तरफ़ से हुई थीं; संभव है किसी को इसमें भी द्वेष की गंध आये। परन्तु हम ऐसा नहीं समझते और न यही कहते हैं कि हम लेखक के विचारों से सहमत हैं, परन्तु इतना अवश्य कहेंगे कि समालोचना बड़ी ज़बर्दस्त है। ऐसी समालोचना लिखना अलौकिक प्रतिभाशालियों का ही काम है। हिन्दी समालोचकों *की तरह केवल व्याकरण की अशुद्धियाँ ही* नहीं बताई गईं बल्कि अर्थ, वर्णन और शब्दयोजना पर सर्यौक्तिक विचार किया गया है। पाठक महाशय इससे यह निष्कर्ष न निकालें कि रवीन्द्र-द्वेष से हमने गड़े मुर्दे उखाड़े हैं। सच बात तो यह है कि हमें रवीन्द्र बाबू और डी० एल० राय दोनों ही प्यारे हैं। उनकी रचनाओं में हमें अभूतपूर्व आनंद मिलता है।

साहित्य-समालोचक
(हिंदी)

× × ×

२. बोध-विकास

वह बाल-बोध था मेरा
निराकार, निर्लेप-भाव में भान हुआ जब तेरा।
पहले एक अजन्मा जाना
फिर बहुरूपों में पहँचाना
वे अवतार चरित नव माना:—
चित्त हुआ चिर चेरा।
निर्गुण तू तो निखिल गुणों का निकला बास-बसेरा!

× × ×

तेरी मधुर मूर्ति, मृदु ममता,
रखती नहीं कहीं निज समता,
करुण कटाक्षों की वह क्षमता,
फिरा जिधर भव फेरा।
अरे, डाल रक्खा विराट ने सूक्ष्म, तुझी में डेरा!
डरता था मैं तुझसे स्वामी,
किंतु सखा था तू सहगामी,
मैं भी हूँ अब क्रीड़ा कामी:—
मिटने लगा अँधेरा।
दूर समझता था मैं तुझको, तू समीप हँस हेरा!

× × ×

अब भी एक प्रश्न था कोऽहं?
कहूँ-कहूँ जब तक—दासोऽहं
तन्मयता कह उठी कि सोऽहं!
बस हो गया सवेरा।
दिनमणि के ऊपर उसकी ही किरणों का है घेरा।
मैथिलीशरण गुप्त
(सरस्वती हिंदी)

× × ×

३. गोस्वामी राधाचरणजी के कुछ संस्मरण

"महाराज, क्या यह सच है कि आपके पूज्य पिताजी भूलकर भी कभी उर्दू या अँगरेज़ी का शब्द नहीं बोलते थे?" मैंने बड़ी उत्सुकता से पूछा।

"हाँ, यह सच है। उन्होंने बंदूक़ को 'लौह-नलिका', बारूद को 'श्यामचूर्ण' और तोड़ा को 'अग्निशलाका' नाम दे रखा था। आजीवन विशुद्ध व्रज-भाषा ही बोलते रहे। धन्य उनकी व्रज-भाषा-भक्ति!"

"फिर आपने उर्दू और अँगरेज़ी का ज्ञान कैसे प्राप्त किया होगा?"

"क्या कहूँ, भैया, एक ओर उर्दू-अँगरेज़ी सीखने की प्रबल इच्छा और दूसरी ओर पिताजी का भय! उन दिनों मथुराप्रसाद की 'प्राइमर' पढ़ाई जाती थी। यहाँ, वृंदावन में, पुस्तकों की कोई दूकान थी नहीं और गोस्वामी-कुल के बालकों का स्कूल में जाना पाप था। चोरी से मैंने प्राइमर की एक प्रति, वी० पी० द्वारा, मँगा ली। और बिना किसी गुरु की सहायता के छिप-छिपकर उसे पढ़ने लगा। सो अँगरेज़ी-भाषा का श्रीगणेश मैंने, एक चोर के रूप में किया था। पीछे इन बातों में कुछ स्वतंत्रता प्राप्त कर ली थी।"

इसे कहते हैं सच्ची लगन।

"क्यों महाराज, बाबू हरिश्चंद्र के यहाँ आप, सुना है, चोरी से जाते-आते थे? भारतेंदुजी तो वल्लभकुलावलंबी वैष्णव थे न? तब आपके पिताजी आपको उनसे मिलने-जुलने में क्यों रोक-टोक किया करते थे?"

"भारतेंदुजी वैष्णव अवश्य थे, पर उनके सामाजिक विचार भी तो उदार थे। पिताजी के विचार से वे किरिस्तान हो गए थे। रोक-टोक की क्या कहते हो, बड़ी कड़ी निगाह मेरे ऊपर रक्खी जाती थी। काशी में पिताजी प्रायः और राधारमणी वैष्णवों के यहाँ महीनों निवास किया करते थे। साथ में मुझे भी रहना पड़ता था। भारतेंदुजी से मिलना-जुलना बंद कर दिया गया था। चिट्ठी-पत्री द्वारा कभी-कभी मेरा और बाबू साहब का मिलना-जुलना हो जाता था। एक दिन मन में आया कि कुछ भी हो आज तो बाबू साहब से मिलकर ही रहेंगे। अपने आने की सूचना दिन में ही भेज दी। पिताजी के सो जाने पर रात को एक बजे एक दरबान को घूस देकर मिला लिया, और एक जासूस के रूप में, खिड़की के राह घर से निकल भागा। उधर सहृदय हरिश्चंद्रजी प्रतीक्षा कर रहे थे। हम दोनों बड़े प्रेम से मिले और लगभग डेढ़ घंटे तक साहित्य और समाज पर जी खोलकर बातें करते रहे।"

"उस रात की दो-एक बात तो याद होंगी ही?" मैंने बीच में टोक कर पूछा।

"हाँ, सुनो, एक बात याद है। बाबू साहब ने कहा कि ब्राह्म-समाज ने आर्य-संस्कृति पर आक्रमण अवश्य किया है। पर हमारे लुप्तप्राय प्राचीन साहित्य का प्रकाश भी उसने हमें दिया है। उसके प्रवर्तक राजा राममोहन-राय निःसंदेह एक असाधारण पुरुष थे। हमें ब्राह्म-समाज से घृणा न करनी चाहिए। इसी प्रकार आर्य-समाज के द्वारा भी बहुत कुछ सामाजिक सुधार होने की हमें आशा है। आर्य समाज ही अप्रत्यक्ष-रीति से सनातन-धर्म की रक्षा करेगा।"

"तब तो भारतेंदुजी के बड़े उदार विचार थे।"

"फिर भी वे एक अनन्य वैष्णव थे। बड़े ऊँचे भावुक और कृष्ण-भक्त थे। यह कहते हुए गोस्वामीजी की आँखें डबडबा आईं।"

"हरीजी यह तो आपने सुना ही होगा कि एक समय

में पूरे तौर से ब्राह्म-समाज की ओर झुक गया था, भारतेंदुजी ने ही मद्-विषयक व्यंग्य-पूर्ण पत्र छपा-छपाकर मेरे ब्राह्म-समाज-संबंधी अंध-विश्वासों में परिवर्तन कराया था। हरिश्चंद्र हरिश्चंद्र ही थे। उनके स्थान की पूर्ति करनेवाला मुझे तो अब तक कोई दिखाई नहीं दिया।"

गोस्वामीजी महाराज के शब्दों में यह मधुर-मिलन एक 'प्रेमाभिसार' था।

"बड़ी कृपा हो, महाराज, यदि अब के माघ-मेले पर आप प्रयाग पधारने का कष्ट स्वीकार कर लें।"

"हरीजी! प्रयाग ले जाकर क्या करोगे? वहाँ अब मेरा कौन बैठा है।" यह कहते हुए गोस्वामीजी की आँखों में जल भर आया। फिर सनातन-रीत्यनुसार सुपारी का तोड़ा मुँह में डालते हुए बोले—

"वहाँ भट्टजी की याद आते ही मेरी छाती फट जायगी। मुझे अपने ऊपर बालकृष्ण भट्टजी के स्नेह का बड़ा गर्व था। भट्टजी की वह विनोदमयी सौम्य-मूर्ति आज भी मेरी आँखों में झूल रही है। भट्टजी मूर्तिमान् साहित्य थे। नाश हो इस स्वार्थी संसार का। बने फिरते हैं बड़े-बड़े साहित्य-सेवी। भट्टजी की तो किसी ने कभी क़द्र तक नहीं की। उनके 'हिंदी-प्रदीप' की, भैया मैं आज भी भक्ति-भाव से पूजा किया करता हूँ।"

"गोस्वामीजी महाराज! आप व्रज के महात्माओं की बानियों को प्रकाशित कराने का कोई यथेष्ट उद्योग क्यों नहीं करते-कराते? सहस्रों ग्रंथ यों ही पड़े दीमक-खाद्य हो रहे हैं।"

"इन ग्रंथों के प्रकाशित कराने की किसे पड़ी है। हमारे देश के श्रीमंत क्यों इस व्यर्थ के काम में अपना धन फेंकने चले!"

"नागरी-प्रचारिणी-सभा अथवा हिंदी-साहित्य-सम्मेलन आपके प्रस्ताव को क्या शिरोधार्य न करेगा?"

"राम का नाम लो। इन्हें तो अभी आपस के लड़ाई-झगड़े से ही फ़ुरसत नहीं है। व्रज-साहित्य का समुचित प्रकाशन इनके द्वारा होना संभव नहीं देख पड़ता। और फिर इस नीरस युग में व्रज-साहित्य के समझनेवाले ही कितने मिलेंगे? अजी छोड़ो इस चर्चा को। इस साहित्य के धनी तो एक हमारे व्रजवल्लभ कृष्णचंद्र ही हैं। वही इस धूल में मिले हुए धन की रक्षा करेंगे।" यह कहते-कहते पूज्य गोस्वामीजी गद्गद् हो गए। (शेष फिर कभी)

विशाल भारत
(हिंदी)

× × ×

४. राघो भरारि का अटक से शनिवारवाड़ा में भेजा हुआ पत्र

(हिन्दूपदपादशाही की मर्यादा अटक के पार ले जानेवाले हिन्दुओं के सुप्रसिद्ध सेनानी श्रीमान् रघुनाथ-रावजी पेशवा ने निम्नलिखित पत्र श्रीमान् नाना साहब पेशवा के नाम भेजा था। उस समय के मराठों के बाहुओं में किस प्रकार का दुर्दान्त सामर्थ्य था और किस प्रकार की विश्वव्यापि महत्त्वाकांक्षा हृदय में हिलोरे ले रही थी, इसे आज के कूपमण्डूकी वृत्ति के उन्हीं के वंशज भली प्रकार जानकर देख लें! सं० हि० अ०)

ता० ४—५—१७५८ को श्रीमान् रघुनाथरावजी पेशवा लिखते हैं—"लाहौर, मुलतान, काश्मीर इत्यादि अटक के इधर के सूबाओं का बन्दोबस्त कर अमल बैठाए, उसे, कुछ हुआ, कुछ हो उसे भी शीघ्र ही करता हूँ। तयमूर सुलतान और जहानख़ान का पीछा कर फ़ौज लूट ली। थोड़े से गिरते पड़ते अटक के पार पिशावर में वे पहुँचे। अबदाली ईरान पर चढ़ गया, उसकी फ़ौज ईरान के पातशाह ने लूट ली। अबदाली कंदहार में आया, ईरान की फ़ौज भी पीछा करते हुए आई है। ज़बरदस्त ख़ान और मुकरबरख़ान इस प्रांत के सरदार और ज़मीनदार अबदाली की ज़बरदस्ती से उसके अनुकूल थे, वे भी (अबदाली के विरुद्ध) बदलकर उपद्रव करते हैं। वर्तमान में दोस्त होकर, सेवा कर दिखायँगे, अबदाली को छकायँगे, इस प्रकार की उनकी अर्ज़ियाँ आई हैं। अबदाली की धीरता छूट रही है। सारांश, उसका ज़ोर उधर से होता है यह नहीं। उधर से ईरान के शाह ने ज़ेरदस्त किया है, इधर से ज़ोर पहुँचाकर सरकारी अमल अटक के पार तक किया जायगा। उसका भतीजा और दौलत का वारिस स्वामी के पास देश में आया है, उसे स्वामी ने हमारे पास भेजा था। उसे अटक के इधर बैठने के लिये थोड़ी सी जगह देकर अटक के पार काबुल पिशावर का सूबा देंगे। अबदाली की फ़ौज पर अब्दुल समदख़ान सर हिन्द में था, वह सरकार के पड़ाव में है, वह और इस प्रांत की फ़ौज, ईरानी,

मोगल देकर मशारनिल्हा की रवानगी कर ये इधर की पैरवी करेंगे, स्वामी के पुण्य-प्रताप से अब्दाली को ज़ोर पहुँचाकर तंग करेंगे, भली प्रकार सर्वनाश कर अटक के पार अमल बैठायँगे। लाहौर प्रांत में रेण को अनाजी और रायाजी सखदेव को नियुक्त किया। गोपालराव गणेश का भी पैगाम है, वे भी रहेंगे। ईरान के पातशाह के स्वदस्तूर के काग़ज़ भी हमें और मल्हारराव को आये थे, लिखा था कि शीघ्र कंदहार आइए, और इसका सर्वनाश कर अटक की हद्द बनाइए। परंतु हम तो स्वामी के भेजे हुए अब्दुलरहीमख़ान को काबुल का सूबा देंगे। फ़ौज इत्यादि थोड़ा बहुत साहित्य भी कर देंगे। काबुल व कंधार ये अटक पार के सूबे हिंदुस्थान की तरफ़ अकबर से आलमगीर तक थे, उन्हें हम विलायत में क्यों दें? इसलिये अभी यहीं सूबा देते हैं। उसे भी (ईरान के शहा को) इन सूबों की दरकार न होगी। वह ईरान का अमल करेगा। हम कंधार तक अमल बैठा कर, अभी उसे मीठा जवाब ही भेजनेवाले हैं। जम्बू, काश्मीर वग़ैरह तमाम वकील आये हैं। अटक के इधर की मामलात थोड़ा बहुत कर रहा हूँ। अभी उस पार की न होगी, प्रयत्न तो होगा ही। वर्तमान झंझट में संभवनीय सभी करूँगा। आगे की चढ़ाई के लिये जो कोई मातबर सरदार आयेगा वही बंदोबस्त करेगा। मुलुख दो चार करोड़ की वसूली का है। परंतु ज़मीनदार मवात बड़े बड़े हैं, हम नाममात्र के लिये खण्डनी करते हैं। जहाँ २५ लाख का मुलुख है वहाँ एक दो लाख ही मिलना मुश्किल है। फ़िल हाल स्वामी की आज्ञानुसार पीछे वापस जाने का डौल किया है। इसलिये जो होता है वही करता हूँ, अंत नहीं लगाता। अभी आदिनाबेग को ही सारा अख़्तियार दिया है। उसे ही कमी-बेशी से लाहौर मुलतान दिया है। इस वर्ष सब शिबंदी में ही जायगा। शिबंदी के बाद ही कठिनाई होगी। दो तीन वर्षों के बाद कुछ सुबीता होगा। स्वामी को निवेदन है।

हिंदी श्रद्धानंद
(हिंदी)

नायक-भेद

प्रिय संपादकजी,

असमय कष्ट दिया है। क्षमा करेंगे। वस्तुतः संपादक का कार्य ही ऐसा है कि सदा परहित-चिंता में अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। मेरे हृदय में तो संपादकों के लिये बड़ी भक्ति है। फिर आप जैसे संपादक तो जो स्वार्थ-त्याग की सजीव मूर्ति हैं—प्रेम के भी अधिकारी हैं। मेरा अटल विश्वास है कि संपादक ही विचार-जगत् की सृष्टि, स्थिति और विनाश के हेतु हैं। यदि कवि काव्य-जगत् का ब्रह्मा है, तो संपादक विचार-जगत् का ब्रह्मा, विष्णु और महेश। संपादक एक दृष्टि से इंद्र भी कहे जा सकते हैं। क्योंकि इनकी कृपा-वृष्टि से जैसे सुविचार अंकुरित, कुसुमित और फलित होता वैसे ही कुविचार भी वज्र-प्रहार से आहत और भस्मीभूत होता है। कविवर तुलसीदास ने संपादक के ही सहस्र नेत्रों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। संपादक के अग्र-लेखों का भंडार कभी रिक्त नहीं होता। अतएव संपादकजी साक्षात् लक्ष्मी हैं। संपादक की शक्ति (पत्रों के द्वारा) दसों दिशाओं में फैली रहती है। अतएव वह दश-प्रहरण-धारिणी दुर्गा के रूप में आराध्य हैं। विद्या के विचार से तो संपादक सरस्वती के षोडश कलावतार ही हैं। फिर संपादक का पत्र सरस्वती की वीणा से किसी प्रकार कम नहीं जिसमें अनेक सुरों का सामञ्जस्य है। इस वीणा के लिये असंख्य मनुष्य मृग व्याकुल पाए जाते हैं। संपादक की तुलना हिंदुओं की पवित्र कामधेनु से हो सकती है। जिसके प्रत्येक अंग में एक-एक देवता स्थित हैं, और जो निरीह निर्दोष होने पर भी हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य का कारण कही जाती है।

संपादकमात्र के प्रति ऐसे उच्च भावों ने मुझे आपकी शरण आने को विवश किया है। आशा है कि मेरे विचारों के गुण-दोषों पर ध्यान रख सत्परामर्श प्रदान करेंगे।

संस्कृत और हिंदी-साहित्य के अवलोकन से ऐसा जान पड़ता है कि "नायिका-भेद" साहित्य का एक मुख्य अंग है। हिंदी-साहित्य का तो "नायिका-भेद" ही मुख्यतम और विशेष परिपुष्ट अंग है। जहाँ संस्कृत-साहित्य की धारा अलंकार, रीति और ध्वनि की ओर प्रबल वेग से बह रही है, वहाँ हिंदी-साहित्य का स्रोत अलंकार एवं "नायिका-भेद" तक ही सीमाबद्ध हो स्थिर हो गया है। हिंदी का कवि नायिका की संज्ञा और लक्षण तो विवश होकर लिखता है—इसीसे हिंदी कवियों के लिखे हुए लक्षण प्रायः अतिव्याप्त्यादि दोषों से भरे होते हैं—पर उदाहरण लिखने में उनकी प्रतिभा नाच उठती है, हृदय भावोद्रेक से परिपूर्ण हो उठता है और लेखनी मस्त हो झूमने लगती है। इस भाव-प्रवणता में कवि शृंगार-रस के आलंबन का एक भाग नायिका-भेद में ही प्रमत्त हो जाता है और नायक-भेद की ओर उसका विशेष ध्यान नहीं जाता। फिर उस ओर ध्यान जाय कैसे? नायिका तो शत सहस्र गोपियाँ और नायक एक कृष्ण। भेद का क्षेत्र ही कहाँ है?

फल यह हुआ कि हिंदी के कवियों ने "नायिका-भेद" को जितना परिपुष्ट किया है, उतना नायक-भेद को नहीं।

तो क्या हिंदी-साहित्य को सर्वांग सुंदर बनाने के लिये "नायक-भेद" को पुष्ट करना आधुनिक साहित्य-सेवियों का कर्तव्य नहीं ?

समय पाकर संसार की गति बदलती है। भावों में क्रांति होती है। विचार-शैली परिवर्तित होकर नया रूप धारण करती है। काव्य की प्रणाली, विषय और आदर्श में बड़ा भेद आ जाता है। एक समय वह था जब केवल स्त्री जाति सौंदर्य और प्रेम का अधिकार रखती थी, स्त्री जाति ही रस का उद्गम स्थान थी। वही प्रेम का निर्मल निर्झर, वही माधुर्य की मंद मंदाकिनी और वही विलास का सरस वसंत थी। स्त्री-जाति की लीला से ही काव्य की रंगभूमि सुशोभित थी। पुरुष तो रस-मुग्ध दर्शक गुंजार करनेवाले भ्रमर थे। नायिका के एक-एक अंग की प्रशंसा कर ही धन्य होते थे। एक-एक मधुर मुस्कयान में सर्वस्व-त्याग के लिये उद्यत रहते थे। कुछ लोगों का तो ऐसा विश्वास था कि जैसे पुरुष कटु-कठोर वृत्ति के अधिकारी हैं वैसे ही स्त्रियाँ मधुर-कोमल वृत्ति की प्रतिमूर्ति हैं।

पर अब वह समय नहीं रहा। अब साम्यवाद का साम्राज्य है। स्वतंत्रता का बोलबाला है। स्त्री-जाति स्वतंत्र है। अब वह पुरुषवृत्ति धारण कर सकती है। उसी प्रकार पुरुष भी स्वतंत्र है। स्त्री पुरुष के साम्य की घोषणा सर्वत्र सुनाई देती है।

इतना ही नहीं। स्त्री पुरुष की प्रकृति एवं प्रवृत्ति में भी परिवर्तन हुआ है। अब ऐसा कोई नहीं कह सकता कि प्रेम और शृंगार का अधिकार स्त्री-जाति को ही है, पुरुष जाति को नहीं। लीला और विलास स्त्री जाति को ही शोभा देते पुरुष जाति को नहीं, हाव भाव, कला कटाक्ष, स्त्री जाति के ही हिस्से में है, पुरुष-जाति के नहीं। इसके विपरीत विदग्ध हृदय का अनुभव है कि मधुर कोमल वृत्तियाँ पुरुष जाति में भी सुलभ हैं। ऐसे पुरुष-रत्न कम होने पर भी अलभ्य नहीं हैं जिनका सौंदर्य वासंती वायु के झोंके से हिलता हुआ सद्यः प्रस्फुटित उद्यान-पुष्प सा मनोहर है तथा सांध्य समीर के सेवन करनेवाले अनेक "रस के चाखनहारे" को मुग्ध करनेवाला है। ऐसे युवकों की कमी नहीं जिनकी कटाक्ष-लीला अनायास ही प्रलय उपस्थित न करती हो। जिनके हाव-भाव से रंभा, उर्वशी परास्त न होती हों। ऐसे पुरुष भी अनेक मिलेंगे जो अपने कटिदेश की क्षीणता पर गौरव करते हैं। ऐसे युवकों का तो पूरा साम्राज्य है जिनके नेत्रों में सारी मादकता मूर्च्छित होकर पड़ी है। शृंगार-मंडन में तो पुरुष-जाति ने महिलाओं में पूरी बाज़ी मार ली है।

ऐसी दशा में क्या "नायिका-भेद" को ही प्रधानता देना अन्याय नहीं है। तात्पर्य यह कि अब वह समय आ गया है जब "नायक-भेद" को भी वही विस्तृत और सुसंगठित रूप दिया जाय जो कभी "नायिका-भेद" को दिया गया था। रूप, गुण, कर्म और (साहित्यिक) जाति के अनुसार निर्दोष लक्षण बनाये जायँ। उदाहरण के लिये उर्दू-साहित्य से लाभ उठाया जा सकता है। उर्दू-साहित्य का यह अंग परिपुष्ट है। इस प्रकार उर्दू और हिन्दी-साहित्यों का मेल भी बढ़ेगा और उससे हिन्दू मुस्लिम ऐक्य की दीवार मज़बूत होगी। साहित्यिक आधार पर जो ऐक्य स्थापित होगा वह चिरकाल तक बना रहेगा।

संपादकजी ! समाज की इस विशेष अवस्था का निरीक्षण कर और उपर्युक्त विचारों के कारण मुझे उत्साह हुआ कि "नायक-भेद" पर एक ग्रंथ लिख डालूँ। परन्तु कई समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। सच पूछिए, तो इसीलिये आपको कष्ट दिया है।

प्रधान समस्या यह है कि "नायक-भेद" के इस अपूर्व ग्रन्थ में नपुंसकों को स्थान मिलेगा या नहीं ? और यदि मिलेगा तो कौन सा ? मैं सोचता हूँ कि इस "नायक-भेद" का विचार ही क्यों उठा ? इसलिये कि पुरुष-जाति क्रमशः स्त्रीत्व की ओर अग्रसर हो रही है। सम्भव है यह उचित और अनिवार्य भी है। क्योंकि ईश्वर की भक्ति और प्रेम में पगा हुआ भक्त ऐश्वर्य की ओर अग्रसर होता और अन्त में सादृश्य लाभ करता है। ब्रह्मोपासक अन्त में ब्रह्म ही हो जाता है। तो फिर जिस पुरुष-जाति ने अनादि काल से ही स्त्री-जाति की उपासना और प्रेम में अपने को निमग्न कर दिया वह यदि स्त्रीत्व की ओर अग्रसर हो, अथवा स्त्रीत्व ही लाभ कर ले। तो आश्चर्य क्या ? फिर नपुंसकों की गति क्या है ? वह क्या स्त्रीत्व की ओर अग्रसर नहीं हो रहे हैं ?

मैं तो कहता हूँ कि यदि आजकल के युवक ("नायिका-भेद" में भी युवतियों को ही स्थान है। गलितयौवना

वस्तुतः काव्य का विषय नहीं है। अतएव मेरे वयो-वृद्ध मित्रगण मुझे क्षमा करेंगे) मेरे ग्रन्थ में स्थान पा सकते हैं तो नपुंसकों को भी स्थान पाने का पूरा अधिकार है।

पुराने कवियों ने भी "नपुंसक" पर कुछ कविताएँ की हैं। "पूर्ण" कवि ने शायद लिखा है कि—

"......................................

....

पीनसवारो प्रवीण मिले तो ,
कहाँ लों सुगन्धी सुगन्ध लगावे ;
ओ पै नपुंसक नाह मिले तो ,
कहाँ लो सुनारी सिंगार बनावे ।"

"वेणी" कवि ने भी इस विषय पर लेखनी उठाई है। अस्तु, आप इस समस्या को हल कर दें, तो मैं बड़ा उपकार मानूँगा। कृपा कर आप इसका भी अनुसन्धान करेंगे कि हिन्दी और उर्दू के किन कवियों ने "नपुंसक" पर कविता की है। आपकी विद्वत्ता पर मुझे पूरा भरोसा है।

इस सम्बंध में एक बात और निवेदन करना है। वह यह कि कदाचित् मैंने आप ही से सुना था कि कविवर "रत्नाकरजी" भी "नायक-भेद" पर कुछ लिखना चाहते हैं। मैं समझता हूँ कि उनका आधार इतना व्यापक और नवीन नहीं होगा। फिर भी यदि मेरे कुछ विचार उनके विचारों से टकरा जायँ तो उस समय मेरी ही मौलिकता मानी जानी चाहिए। क्योंकि इस विषय पर ग्रन्थ लिखने का मेरा विचार कई साल से है जो मेरे कई मित्र जानते हैं। यदि प्रकाशन का विचार किया जाय तो मंगला-प्रसाद-पारितोषिक का अधिकारी भी मैं ही समझा जाऊँगा। क्योंकि आपकी गवाही मेरे पक्ष में होगी।

बस, इस बार एक ही समस्या आपके सामने रखता हूँ और धन्यवाद देकर बिदा होता हूँ।

आपका सेवक

"ग्रंथकार"

१. देश की दशा

देश की दशा अच्छी नहीं है। राजा और प्रजा के बीच का मनमुटाव अभी ज्यों का त्यों मौजूद है। साइमन कमीशन के विरुद्ध आंदोलन ज़ोर पकड़ता जाता है। पंजाब सहयोग का दुर्ग है। उक्त प्रांत की व्यवस्थापिका परिषद् में एक कमेटी बनाई गई है जो साइमन कमीशन के सामने गवाह उपस्थित करेगी। परिषद् के कई प्रतिष्ठित सदस्यों ने जिनमें मंत्री भी शामिल हैं इस कमेटी से इस्तीफ़ा दे दिया है। पंजाब के मुसलमानों में भी दो मत हो गए हैं। एक मत के लोग कमीशन के बहिष्कार के पक्ष में हैं। हिंदू-मुसलमानों का वैमनस्य कम होता हुआ नहीं दिखलाई पड़ रहा है। दो एक छोटे मोटे दंगे भी इस बीच में हो गए हैं। सिंध के संबंध में जबलपुर में हिंदू महासभा ने जो प्रस्ताव पास किया है उससे मुसलमान नेताओं में बड़ी बेचैनी फैल गई है। यहाँ तक कि बड़ी व्यवस्थापिका परिषद् के उपाध्यक्ष मोहम्मद याकूब ने एकमात्र इसी कारण से बंबई के सर्वदल-सम्मेलन में भाग लेने से इनकार कर दिया है। इधर मुसलमानों का धर्मोत्सव बकरीद भी निकट है। देश-भक्त लोग मना रहे हैं कि वह निर्विघ्न समाप्त हो। बंबई के मिल-मालिकों और मज़दूरों में घोर विद्रोह उत्पन्न हो गया है। इसके फलस्वरूप डेढ़ लाख के लगभग मज़दूरों ने हड़ताल बोल दी है। दोनों पक्ष अपनी बात पर दृढ़ हैं। हड़ताल का प्रभाव बंबई के बाहर स्थित मिलों पर भी पड़ा है और और भी कई स्थानों पर हड़ताल के समाचार मिले हैं। जबलपुर की हिंदू महासभा से हिंदू जाति का चाहे जितना हित हुआ हो पर यह स्पष्ट दीखता है कि हिंदू सभा के नेताओं में भी दलबंदी हो रही है। लाला लाजपतराय महासभा के अधिवेशन में उपस्थित न थे। हिंदू जाति के सर्वश्रेष्ठ नेता श्रीमान् पं० मदनमोहन मालवीय ने सर्वदल सम्मेलन के निर्णय के अनुसार सिंध प्रांत के पृथक्करण का समर्थन किया तो उनका घोर विरोध किया गया और केवल चार सज्जनों ने उनका साथ दिया। उनके विरोध का कोई प्रभाव न पड़ा। हमें भय है कि हिंदू-सभा-आंदोलन भी दलबंदी के फेर में पड़कर अनिष्ट की ओर जा रहा है। ईश्वर उसकी रक्षा करे। साइमन कमीशन के बहिष्कार के व्याज से देश के भिन्न-भिन्न नेताओं में जो मतैक्य बढ़ रहा था उसमें कुछ रुकावट उत्पन्न हो गई है। इधर कई प्रांतीय कानफ़्रेंसें हुई हैं। उनमें पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त करने के प्रस्ताव पास किए गए हैं तथैव सत्याग्रह में पूर्ण विश्वास प्रकट किया गया है। महाराष्ट्र में होनेवाली प्रांतीय कानफ़्रेंस में पूर्ण स्वातंत्र्य का प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुआ है। इससे कुछ लिबरल तथा अब्राह्मण

असंतुष्ट हैं। वे कहते हैं पूर्ण स्वातंत्र्य ध्येय रखनेवाले एवं सत्याग्रह का अवलंबन लेनेवाले राजनैतिक दल के साथ हम सहयोग न कर सकेंगे। मिस्टर डालवी एवं श्रीजयकर ने कुछ अपने विचार इसी रूप में प्रकट किए हैं। उधर बारदोली में सत्याग्रह-संग्राम बड़े ज़ोरों से छिड़ गया है। लगान न देने के कारण कुरकी और ज़ब्ती का काम सरकार की ओर से दृढ़तापूर्वक हो रहा है। सरकार इस मामले में शायद दबना नहीं चाहती है। बड़ी सरगर्मी से सरकारी आज्ञा का पालन कराने का उद्योग किया जा रहा है। उधर प्रजापक्ष भी उतनी ही दृढ़ता के साथ कर न देने के लिये तुला बैठा है। कुरकी एवं ज़ब्ती से वह अभी तक ज़रा भी विचलित नहीं हुआ है। सारा काम शांतिपूर्वक हो रहा है। कहीं पर उपद्रव या बलप्रयोग का लांछन अब तक सत्याग्रहियों पर नहीं लगा है। श्रीविट्ठल भाई पटेल इस आंदोलन के सूत्रधार हैं। महात्मा गांधी आंदोलन के पृष्ठपोषक हैं। जान पड़ता है दोनों पक्ष अंतिम निर्णय के लिये सन्नद्ध हैं। संक्षेप में देश की दशा यही है। असंतोष, अशांति और अविश्वास से देश का समग्र वायुमंडल दूषित हो रहा है। ईश्वर देश की रक्षा करे। तथास्तु।

× × ×

२. काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा

इस समय हिंदी से संबंध रखनेवाली जितनी जीवित संस्थाएँ हैं उनमें से काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा हिंदी का जितना हित हुआ है उतना और किसी संस्था से नहीं हुआ है। इस सभा ने 'स्वल्पारंभः क्षेमकरः' इस उपदेश वाक्य को प्रत्यक्ष सत्य कर दिखलाया है। सभा की लोकप्रियता इस बात का प्रमाण है कि प्रजा उससे संतुष्ट है और उसमें विश्वास रखती है उसी प्रकार से अनेक राजाओं महाराजाओं की पृष्ठपोषकता एवं सरकार द्वारा समुचित सहायता की प्राप्ति इस बात को प्रकट करती है नृपति-मंडल और सरकार भी उसकी उपयोगिता की क़ायल है। यह एक रजिस्टर्ड संस्था है और इसका काम नियमित रूप से होता है। १६ जुलाई १८९३ को इसका जन्म हुआ था। आगामी जुलाई मास में यह संस्था ३५ वर्ष की हो जायगी। इसके जन्मदाताओं के नाम हैं बाबू श्यामसुंदरदास, पं० रामनारायण मिश्र, एवं ठाकुर शिवकुमारसिंह। समय-समय पर इस सभा के सभापति-पद को रायबहादुर पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र, रायबहादुर बाबू प्रमदादास मित्र, महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी, रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, रायबहादुर पं० श्यामविहारी मिश्र एवं श्रीयुत पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने सुशोभित किया है। अब सभा की कुछ कार्यावली भी सुनिए। २० अप्रैल सन् १९०० तक इन प्रांतों में सरकारी अदालतों में दरख़्वास्त आदि नागराक्षरों में नहीं दी जा सकती थी। सभा के उद्योग से अब नागराक्षरों में भी अर्ज़ियाँ दी जा सकती हैं। सभा की ओर से पुरानी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का काम भी जारी है। इस काम के द्वारा सभा ने हज़ारों पुरानी पुस्तकों की रक्षा की है। हर्ष की बात है कि इस काम में सरकार भी सभा की सहायता करती है। सभा ने हिंदी के पुराने ग्रंथों का प्रकाशन भी किया है। ऐसे प्रकाशित ग्रंथों की संख्या ३२ है। कुछ के नाम इस प्रकार हैं— १ सुजान चरित्र, २ पृथ्वीराज रासो, ३ छत्रप्रकाश, ४ देव-ग्रंथावली भाग १, ५ वीरसिंहदेव-चरित। प्रकाशन कार्य में भी सरकार ने सभा की सहायता की है। सभा ने एक 'वैज्ञानिक कोश' प्रकाशित किया है। इसमें अँगरेज़ी के वैज्ञानिक शब्दों के पर्याय दिए हैं। यह एक उत्कृष्ट कोश है और उन अनुवादकों के बड़े काम का है जो अँगरेज़ी के वैज्ञानिक ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद करना चाहते हैं। हिंदी में कोई अच्छा कोश न था। इस अभाव को पूरा करने को सभा ने सन् १९०८ से 'हिंदी शब्दसागर' नामक एक कोश का प्रकाशन प्रारंभ किया। अब तक इसके ३८ भाग निकल चुके हैं जिनमें ८५००० शब्द हैं। इसमें अब तक १७००० का व्यय हुआ है। सरकार एवं राजा महाराजाओं ने इसके प्रकाशन में सभा की भारी सहायता की है। सभा इसके कई बहुमूल्य परिशिष्ट भी निकालना चाहती है। मनोरंजन पुस्तकमाला, मुंशी देवीप्रसाद इतिहास ग्रंथमाला, सूर्यकुमारी पुस्तकमाला एवं बालाबख्शजी चारण ग्रंथमाला नाम की कई मालाएँ भी निकलती हैं। इन मालाओं में भी ६४ ग्रंथ निकल चुके हैं। सभा ने 'हिंदी व्याकरण' भी प्रकाशित किया है। कुछ महत्त्व-पूर्ण और भी पुस्तकें हैं जो सभा की ओर से प्रकाशित हुई हैं। सन् १८९६ से सभा की ओर से एक पत्रिका भी निकलती है। इस समय यह त्रैमासिक है और इसके संपादक रायबहादुर पंडित गौरीशंकर

हीराचंदजी ओझा हैं। सभा की ओर से कई पदक और पुरस्कार भी दिए जाते हैं। इस संस्था का पुस्तकालय भी विशाल है, इसमें दस हज़ार से ऊपर पुस्तकें हैं। सभा का निज का भवन भी है। अब तक सभा की आय प्रायः पौने पाँच लाख के लगभग हुई है और उसने इतना ही रुपया ख़र्च भी किया है। सभाभवन बढ़ाने के लिये सभा को एक लाख चौंसठ हज़ार रुपए की ज़रूरत है, जिसमें से बहत्तर हज़ार के लगभग एकत्रित किया जा चुका है। प्रयाग की सरस्वती पत्रिका और साहित्य-सम्मेलन का जन्म और पोषण बहुत कुछ सभा की बदौलत हुआ है। ऊपर हमने सभा का जो संक्षिप्त कार्य कलाप दिया है, वह ऐसा है कि उसको पूरा करने-वाली कोई भी संस्था गर्व कर सकती है। हम चाहते हैं कि प्रत्येक हिंदी-प्रेमी सभा की सहायता करे जिससे वह हिंदी की सेवा करने में विशेष रूप से समर्थ हो सके। रायसाहब बाबू श्यामसुंदरदास, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के प्राण हैं। सभा के लिये जिस अदम्य उत्साह और अथक परिश्रम से वे काम करते हैं, वह बहुतों के लिये अनुकरणीय है। हम सभा की हृदय से उन्नति चाहते हैं। अंत में हम इस संस्था के अभ्युदय के उपलक्ष्य में इसके सर्वस्व *रायसाहब बाबू श्यामसुंदरदास* को बधाई देते हैं। ईश्वर उनको चिरायु करे; जिससे मातृभाषा की सेवा करने को उन्हें और भी अवसर मिले। तथास्तु।

× × ×

३. कवि का स्वर्गवास

सीतापुर—दासापुर बलदेवनगर निवासी स्वर्गीय श्री द्विजबलदेव कवि के कनिष्ठ पुत्र श्रीपद्मधर अवस्थी 'पद्म' कवि का अकस्मात विसूचिका से काशी में स्वर्गवास हो गया। पद्मधरजी बड़े ही हँसमुख, मिलनसार और प्रतिभासम्पन्न, आशुकवि थे। उनका छंद पढ़ने का ढंग बहुत सुंदर था। कवि-सम्मेलनों में उनकी उप-स्थिति से ख़ासी चहल-पहल रहती थी। सभा-समाज में सम्मिलित होने और वहाँ कविता पढ़ने का उनको चाव था। उनकी अवस्था अभी २६ वर्ष की थी। उनकी मृत्यु का समाचार सुनकर हमें महान् शोक हुआ। पद्मधरजी ६ वर्ष का एक पुत्र छोड़ गये हैं। उनकी धर्म-पत्नी गर्भवती हैं। उनके कई भाई भी हैं। वे भी कवि हैं। दुखी परिवार के साथ समवेदना प्रकट करते हुए, हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि मृत आत्मा की सद्गति हो। पद्मधरजी का एक छंद जो कि उनके जीवनकाल में ही माधुरी में छपने को कंपोज़ हो चुका था, यहाँ पर दिया जाता है—

(स्व० पं० पद्मधर अवस्थी)

'सुरसरि धारा की'

कमलेश चरण कमल मकरंद राशि,
भागीरथजी ने याकी प्राप्ति तप द्वारा की;
विधि के कमंडल में शीश पै गिरीशजी के,
शोभी सदा सुरश्रेणी आरती उतारा की।
धाई वसुधा पै देती पापिन को गति आई,
जम की जमाति खड़ी चकित निहारा की;
अगम अपार तऊ पार पारावारहू को,
महिमा अपार महा सुरसरि धारा की।

पद्मधर अवस्थी 'पद्म'

× × ×

४. संपादिका का स्वर्गवास

'स्त्री-दर्पण' पत्रिका की सम्पादिका श्रीमती राजकिशोरी जी मेहरोत्रा का स्वर्गवास बहुत थोड़ी अवस्था में हो गया।

श्रीमती जिस लगन से साहित्य-सेवा का कार्य करती थीं वह सब प्रकार से प्रशंसनीय था। 'स्त्री-दर्पण' की सेवा में

(श्रीमती राजकिशोरी मेहरोत्रा)

तो आप तन्मय ही थीं। श्रीमतीजी राजकिशोरीजी विदुषी, सच्चरित्रा और स्वदेशभक्त-कुल बाला थीं। उनकी असामयिक मृत्यु से हिंदी-साहित्य की क्षति हुई है। दुःखी परिवार से हमारी हार्दिक सहानुभूति है।

× × ×

२. भूतपूर्व नाभा-नरेश

भूतपूर्व नाभा-नरेश महाराज रिपुदमनसिंह, अब श्रीगुरुचरणसिंह, मद्रास प्रेसिडेन्सी के कोदाई केनल नामक स्थान में नज़रबंद कर दिये गये हैं। वहाँ वे प्रियजनों और स्वजनों से अलग साधारण क़ैदी की भाँति जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सरकारी वक्तव्य में कहा गया है कि महाराजा साहब 'अराजक आन्दोलन' में भाग लेते थे, इसलिये उनकी 'महाराजा' उपाधि छीन ली गई और इस उपाधि के कारण उन्हें जो विशेष अधिकार प्राप्त थे, उनसे भी वे वंचित किये गये। साथ ही नाभा के ख़ज़ाने से उन्हें जो २५०००) मासिक मिलते थे, वे भी घटाकर १००००) कर दिये गये। इस घटना से सभी श्रेणियों के देशभक्त भारतवासी, विशेषतः सिख विशेष क्षुब्ध हुए हैं और सरकार के प्रति उनका असन्तोष तीव्रतम हो गया है। यह ठीक है कि पिछले कुछ वर्षों से ब्रिटिश गवर्नमेण्ट और महाराजा साहब में किसी प्रकार का सद्भाव नहीं था। फिर भी इस समय सरकार ने उनके प्रति जो परुष और रहस्यमय व्यवहार किया है, वह सर्वथा निन्दनीय और अक्षम्य है। सरकार यदि चाहती तो महाराजा साहब-जैसे विशिष्ट पुरुष से इस अवसर पर भी सभ्य बर्त्ताव कर सकती थी।

सरकार ने यह तो कहा कि वे 'अराजक' आन्दोलनों में भाग लेते थे, पर उसने यह नहीं बतलाया कि वे 'अराजक' कार्य थे कौन और उनमें महाराजा साहब के सम्मिलित होने या प्रोत्साहन देने का सरकार के पास क्या प्रमाण है? यदि उसके पास प्रमाण थे, या हैं तो इलाहाबाद स्टेशन पर आधी रात को उन्हें गिरफ़्तार करने की क्या आवश्यकता थी और क्यों नहीं उन्हीं प्रमाणों के आधार पर उन पर मुकदमा चलाया गया? वे प्रमाण शश-शृंग क्यों बनगये? बिना प्रमाण बतलाये और विचार किये महाराजा साहब को अपराधी मानकर दंड देने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा होता कि निष्पक्ष पुरुषों की एक कमेटी बनाकर सरकार अपने प्रमाण विचार के लिये उपस्थित करती, महाराजा साहब को भी सफ़ाई देने का अवसर दिया जाता, और फिर कुछ निश्चय किया जाता। परंतु हम जानते हैं कि सबसे बड़ा 'अराजक कार्य', जो सरकार की आँखों में काँटा बनकर खटकता है—'देश-भक्ति' है। और भूतपूर्व नाभा-नरेश को इसी अराजक कार्य—इसी देश-भक्ति के अपराध में कठोर दंड दिया गया है, यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं है। इसी भाँति बंगाल के सैकड़ों देश-भक्त युवकों को बिना अपराध बतलाए, सरकार गिरफ़्तार कर चुकी है। यह घटना भी उसी भाँति की है। इसलिये यदि लोग यह समझें कि भारतीय नेताओं से अधिक मेल-जोल और देश-भक्त होने के कारण ही महाराज दंडित हुए, तो उसे अमूलक कौन कह सकता है? यह भी विचारने की बात है कि 'महाराजा' उपाधि छीनने का सरकार को क्या अधिकार है। क्योंकि वह तो उनकी पुश्तैनी चीज़ है, सरकार की दी हुई नहीं। महाराजा

साहब को जो मासिकवृत्ति मिलती थी, वह सरकार से नहीं, बल्कि नाभा के कोष से मिलती थी। नाभा-प्रजा की अनुमति के बिना उन्हें कैसे बंद किया गया, यह भी एक प्रश्न है। असेंबली में सरदार गुलाबसिंह एम० एल० ए० ने इस घटना के संबंध में जो प्रस्ताव उपस्थित करना चाहा था, अध्यक्ष ने यदि उसे अस्वीकृत न कर दिया होता, तो उपर्युक्त बातों पर अच्छा प्रकाश पड़ता। युवराज टीका साहब अभी अल्पवयस्क हैं। पर अकाली सिखों का रोष शांत करने के लिये सरकार उन्हें गद्दी पर बिठाने और महारानी साहिबा को उनका संरक्षक बनाने का विचार कर रही है। बड़े लाट के एजंट इसी संबंध में महारानी से मिले थे। उन्होंने महाराज से सलाह करके इसका उत्तर देना चाहा था, पर उन्हें इसकी आज्ञा ही नहीं मिली। अस्तु, किसी का रोब बढ़े या घटे, परंतु एक निर्दोष पुरुष को अकारण दंड क्यों दिया गया, यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहेगा। हम महाराजा साहब के प्रति अपनी आंतरिक सहानुभूति प्रकट करते हैं और आशा करते हैं कि ऐसे निर्मम प्रहारों से भी वे बिंदु-मात्र अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित नहीं होंगे।

× × ×

६. हिंदू महासभा

चार वर्णों को माननेवाली हिंदू जाति इस समय नाना शाखाओं में, अनेक जातियों और उपजातियों में, विभक्त है। विचार-स्वातंत्र्य के आधार पर भिन्न-भिन्न धर्म-संप्रदायों और उपासना-पद्धतियों की भी हिंदुओं में विशेष वृद्धि हुई है। प्रत्येक उपजाति का मनुष्य दूसरी उपजातिवाले से अपने को भिन्न समझता है। प्रत्येक मत का अनुयायी दूसरे मतावलंबी की अपेक्षा अपने को अधिक बुद्धिमान् और धार्मिक मानता है। दूसरे को हीन और नीच मानने की भावना भी कम नहीं है। इस प्रकार इन शाखा-प्रशाखाओं और मत-मतांतरों के अनुयायियों में सतत संघर्ष होता रहता है। इन जातियों और मतों के माननेवाले सामूहिक रूप से हिन्दू जाति के साथ, हिन्दू कहलाते हुए भी किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं रखते। पारस्परिक सहानुभूति के अभाव में हिंदू जाति का न जाने कितना अनिष्ट हुआ। हम इधर के दो चार वर्षों की बात नहीं कहते, परंतु पहले यही अवस्था थी। वैष्णव, वैष्णव के नाम पर शैव, शैव के नाम पर और उपजातियों के लोग अपनी अपनी उपजातियों के नाम पर ही कुछ करने के लिये तैयार होते थे। 'हिंदू' के नाम पर ही कुछ करने के लिये कोई तैयार नहीं होता था। इस दशा में हिन्दू सभा ने थोड़ा बहुत कार्य किया और इस अवस्था में यत्किञ्चित् सुधार हुआ; यह संतोष की बात है। पर हिंदुओं के इस आत्मचैतन्य का बहुत कुछ श्रेय हिंदू-मुसलिम दंगों को है। जिनके कारण हिंदुओं में हिंदू के नाम पर पारस्परिक सहानुभूति का भाव उदय हुआ और वे संगठन की आवश्यकता अनुभव करने लगे। छिन्न-भिन्न और विशृंखलित हिंदुओं को हिंदू महासभा ने बड़ा सहारा दिया और अधिकांश हिंदुओं की दृष्टि में अपनी उपयोगिता सिद्ध की। पर हिंदू महासभा के लिये इतना ही यथेष्ट नहीं है। हिंदू-संगठन का कार्य अभी पूरा नहीं हुआ है और शहरों के बाहर बहुत ही थोड़े स्थानों में उसका संदेश पहुँच सका है। अब भी शुद्ध हुओं को और अछूतोद्धार की समस्या हल नहीं हुई। अब भी विधवाओं की दशा ज्यों की त्यों है। अब भी हिंदू जाति का अंतरंग द्वंद्व शांत नहीं हुआ। आज भी ब्राह्मण-अब्राह्मण, ब्राह्मण-कायस्थ, कायस्थ-भूमिहार आदि संघर्ष प्रबल वेग से चल रहे हैं। जाति की विपन्नावस्था की ओर अभी तक हिंदुओं का बहुत ही कम ध्यान गया है। इसलिए हिंदू महासभा को अपना अधिक विस्तार करना चाहिए। अपने को अधिक लोकप्रिय बनाना चाहिए। गाँव-गाँव में प्रचारक भेजकर अपना संदेश पहुँचाना चाहिए। हिंदू जाति के कल्याण के लिये शुद्धि, अछूतोद्धार और विधवाओं के प्रश्न पर अधिक विचार और तदनुसार कार्य होना चाहिए। जिन दोषों और परंपरागत रूढ़ियों से जाति का भविष्य बिगड़ता प्रतीत हो रहा है, उनके विध्वंस और सुधार का भी उचित उपाय होना चाहिए। हिंदू महासभा की आवश्यकता और सार्थकता इसी में है।

आत्मसंशोधन, आत्मसुधार और अपनी चिरंतन सभ्यता की रक्षा के लिये तथा सर्वोपरि स्वराज्य-प्राप्ति के लिये हिंदू-संगठन की प्रबल आवश्यकता है। दूसरी जातियाँ संप्रदाय से मोर्चाबंदी करने के लिये नहीं। महासभा में हिंदू-मुसलमानों का चिरस्थायी मेल कैसे हो, इस पर भी गंभीर विचार होना चाहिए। अब

सांप्रदायिकता नहीं, बल्कि राष्ट्रीयता ही वांछनीय है। ऐसी दशा में यह बड़े खेद की बात है कि जबलपुर में होनेवाली हिंदू-महासभा ने दूरदर्शिता का परिचय नहीं दिया। कई प्रश्नों पर उसने साम्प्रदायिकता की दृष्टि से ही विचार करना ठीक समझा, यहाँ तक कि सिंध प्रांत के पृथक्करण के मामले में उसने अपने सबसे बड़े और यशस्वी नेता महामति पं० मदनमोहन मालवीय की सम्मति की भी परवा न की। कितने दुःख की बात है कि अपने सर्वश्रेष्ठ नेता की इस प्रकार उपेक्षा की जाय। हिंदुओं की सबसे बड़ी कमज़ोरी एकता का अभाव है। देखते हैं हिंदू महासभा में भी यही कमज़ोरी तेज़ी से काम कर रही है। महासभावालों को सतर्क हो जाना चाहिए, नहीं तो दलबंदी के दलदल में फँसकर अब तक का किया-धरा सब मिट्टी हो जायगा।

× ×

७. स्व० पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी

माधुरी की वर्ष ४, खंड २, संख्या ४ (पूर्ण संख्या ४६) में पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी का जीवनचरित प्रकाशित किया गया था। उस समय किसी ने यह भूल कर भी न सोचा होगा कि ठीक दो वर्ष के अनंतर उनकी मृत्यु का दुःखद संवाद माधुरी के पाठकों को सुनना पड़ेगा। किंतु काल की गति बड़ी प्रबल है। प्रकृति का विधान बड़ा ज़बर्दस्त है। जिन द्विवेदीजी के संबंध में हम अन्य बड़ी बड़ी कल्पनाएँ किया करते थे वे सब ज्यों की त्यों रह गईं। समय आ गया और वे बिना किसी की प्रतीक्षा किए, बिना किसी को कुछ बतलाए, बिना कोई नवीन योजना सुझाए, हिंदी-संसार के लिये केवल भूतकालीन कार्य-कलाप छोड़कर चल दिए। उनके जीवन की घटनाएँ, उनकी साहित्य-सेवा का दृष्टांत, उनकी लेखनशैली की समालोचना, उनका अध्ययन एवं ज्ञान गंभीर तथा शिक्षक और सामाजिक जीवन का विचार-विनिमय—बस, केवल इतना ही और रह गया, जिसके आधार पर कुछ लिखा-पढ़ा अथवा कहा-सुना जा सकता है। अब केवल अतीत की स्मृतिमात्र शेष है। और कुछ नहीं। यही स्मृति हमारी समझ में मनुष्य-जीवन का तत्त्व है—अविनश्वर है। शेष सब नश्वर है। इस नश्वर जगत् में और है क्या? जीवन की ज्वाला निरंतर जलती रहती है, मनुष्य उसमें हाथ सेंकता है, और हाथ सेंकता हुआ सदैव के लिए अंतर्धान हो जाता है। आकाश के तारे टूटकर आकाश ही में विलीन हो जाते हैं और हम उस ओर चकित होकर देखते रह जाते हैं। उसके पश्चात् एक अस्पष्ट धुँधली सी ज्योतिरेखा की स्मृति। काश! यह न होती, तो मनुष्य मनुष्य को भूल तो जाता—मनुष्यत्व की निर्मम वेदना से वह परे तो रहता। यह सब भी कुछ नहीं, भौतिक संसार की अनियंत्रित वेदना का अंकुश-

स्व० पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी

मात्र है, जो हमें और आपको किसी मृत प्राणी का स्मरण करने के लिये प्रेरित करता है। मनुष्यमात्र अपने परिचितों के बिछोह का एक मीठा दर्द अनुभव करता है। हमें ऐसा जान पड़ता है, जैसे हमारे बीच की कोई वस्तु खो गई है। हम उसे ढूँढ़ते हैं, उसके रूप की कल्पना करते हैं, उसकी आकृति का चित्र देखते हैं; उसकी जीवनचर्या का अनुशीलन करते और उसके कीर्ति-कलाप का प्रकटन करते हैं, वासनागत विचारों के स्पर्श करने का प्रयत्न करते हैं। किसलिये ? इसीलिये कि हमने उसके संबंध में, अपने व्यवहार-बर्ताव में, जो त्रुटियाँ की हों उस पर विचार करें—एक बार सोचें और सोचकर उसे अपने हृदय में, समाज में, उचित स्थान दें। सोचें—वह कौन था, क्या था, कहाँ था, कब था और कैसा और क्यों था ? मनुष्य-जीवन को इतनी ही प्रश्नोत्तरी है, इसी के द्वारा प्राण भी अतीत गंभीर समाधि में विलीन कर दिया जाता है, और इसी के द्वारा भविष्य की क्रांति में वह ज़िंदा रहता है। कितनी विचित्रता है।

द्विवेदीजी ने ६४ वर्ष की अवस्था में अपने भौतिक शरीर का—संबंध का—त्याग किया। किंतु जिस संसार का एक-एक क्षण परिवर्तनशील है, उसी में ६४ वर्ष व्यतीत करनेवाला मनुष्य कितने आघात-प्रत्याघातों का सामान कर चुका होगा, यह केवल अनुमान किया जा सकता है। क्षण-क्षण का परिवर्तन और वह भी देश-काल और पात्र का। जब हम यह देखते हैं कि केवल एक वर्ष की अवस्था में पिता के प्रेम से वंचित, माता के आश्रय में पोषित, नाना की छत्रच्छाया में लालित और अपने बाहुबल से अधीत बालक कालांतर में रायसाहब पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी बी० ए० साहित्या-लंकार के नाम से परिचित होकर संसार का त्याग करता है, तब हमें इन क्षणिक परिवर्तनों आघात-प्रत्या-घातों और क्रांतियों का कुछ अनुभव होता है और हम अपनी उपर्युक्त प्रश्नोत्तरी के समाधान के लिये उत्सुक हो जाते हैं।

द्विवेदीजी कान्यकुब्ज कुलोद्भव बैसवाड़े के आदि निवासियों के वंशज थे। डौंडियाखेरे में आपके पूर्वज रहा करते थे। वहाँ से वे लोग फ़तहपुर ज़िले में और फिर वहाँ से जबलपुर पहुँचे। मध्यप्रांत ही आपके जीवन का कार्यक्षेत्र बना। उनके जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्य हिंदी-साहित्य, समाज और शिक्षा-विभाग की सेवाएँ हैं, जिन पर प्रकाश डाला जा चुका है। द्विवेदीजी की मृत्यु से मध्यप्रांतीय शिक्षा-विभाग का एक रत्न और शिक्षा-शास्त्र का एक विद्वान् उठ गया, इसमें कोई संदेह नहीं। मृत्यु के पूर्व भी आप उसी उमंग, लगन और उत्साह के साथ 'अपने' हित-कारिणी हाईस्कूल का काम और हिंदी माता की सेवा करते थे, जैसे कि कोई अपने घर के कामों में दिलचस्पी लेता है। उनके चरित्र का यह महत्त्वपूर्ण दृष्टांत है, जो दूसरों के लिये अनुकरणीय है। पढ़ने-लिखने का शौक़ तो इतना ज़बर्दस्त था कि रात-रात भर एकांत में अध्ययन किया करते थे। इस चिंताशील व्यक्ति को देखने से जान पड़ता था कि समय का अभाव उन्हें निरंतर रहता रहा है। और इस वृद्धावस्था में भी वह किस प्रकार इतना परिश्रम करते रहे। बुढ़ापे में जवानी की उमंगें उनमें थीं। किंतु उनके जीवन की कार्यावली को न लिखकर हम केवल उनकी हिंदी-सेवाओं पर ही प्रकाश डालेंगे।

द्विवेदीजी ने वर्षों 'शुभचिंतक' और 'हितकारिणी' का संपादन किया। 'कान्यकुब्ज-नायक' नामक जातीय पत्र का अवैतनिक संपादन किया। भारत इतिहास ; सदाचार-दर्पण, साधारण ज्ञान आदि कई उल्लेखनीय पुस्तकें उन्होंने लिखीं। इनका बहुत प्रचार है और ये पुस्तकें आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं। किंतु हमें खेद इस बात का है कि एक बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ बिना लिखे हुए अथवा अधूरा ही छोड़कर वह चल बसे। हमें विश्वस्त सूत्र से पता लगा है कि द्विवेदीजी अँगरेज़ी और हिंदी दोनों भाषाओं में एक पुस्तक लिखने का विचार कर रहे थे। पुस्तक का विषय उसके नाम से अनुमान किया जा सकता है। पुस्तक का नाम था—'Persons I have met' अर्थात् 'मेरे परिचित व्यक्ति'। यह एक मनोवैज्ञानिक पुस्तक होती और जिनको उनके मध्यप्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के जबलपरीय अधिवेशन के स्वागत-समिति के अध्यक्ष-पद से दिए हुए भाषण का कुछ भी स्मरण हो, वे सहज ही यह कल्पना कर सकते हैं कि वह कैसी और कितनी उपयोगी होती। यदि यह अधूरी पुस्तक मिल सके, तो हमारी इच्छा है कि द्विवेदीजी के प्रेमी भी उसे हिंदी संसार के सामने लाने का अवश्य

प्रयत्न करें। द्विवेदीजी की सेवाओं की यह अंतिम भेंट होगी। श्रवण-शक्ति से वंचित होकर भी प्रायः साहित्य-क्षेत्र में वह कितना ऊँचा देखते थे, इसका प्रमाण हिंदी-संसार को मिल जायगा।

हमें खेद इस बात का है कि साहित्यिकों की चिंता अन्य साहित्यिकों को नहीं रहा करती। द्विवेदीजी के संबंध में यों तो उनकी रचनाएँ और उनका निर्मित 'हितकारिणी हाईस्कूल' उनका सच्चा स्मारक है, फिर भी हमें यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई है कि मध्य-प्रांतीय हिंदी-प्रेमी उनके स्मारक की आयोजना कर रहे हैं। यह बड़े हर्ष की बात है। भावी संतान के लिये यह मार्ग प्रदर्शन उपयुक्त ही है, किंतु हमारी प्रार्थना है कि पं० माधवराव सप्रे के स्मारक की तरह कहीं यह भी 'विचाराधीन' न रह जाय। हम उनके स्मारक का सहर्ष अनुमोदन करते हैं। समस्त हिंदी-प्रेमी विशेषतः हमारे मध्यप्रांतीय हिंदी भक्त और द्विवेदीजी के अगणित शिष्य इस ओर ध्यान देने की कृपा करें।

ईश्वर से हमारी प्रार्थना है कि वह उनकी आत्मा को शांति दे और दुःखी कुटुंबियों को धैर्य। द्विवेदीजी का पूरा परिचय प्राप्त करने के लिये पाठकों को माधुरी की उल्लिखित संख्या देखनी चाहिए।

× × ×

८. उर्दू-साहित्य का इतिहास

उर्दू-साहित्य के इतिहास पर उर्दू में कई उत्तम ग्रंथ विद्यमान हैं—आबेहयात, गुलेराना, सैरुलमुसन्नफ़ीन आदि, लेकिन अंग्रेज़ी में अभी तक कोई अच्छी किताब न थी। इस कमी को मि० राम बाबू सकसेना एम० ए०, एल-एल० बी० ने History of Urdu Literature की रचना करके पूरा कर दिया है। और इतिहासों में केवल कवियों ही का उल्लेख किया गया है। मि० सकसेना ने गद्य लेखकों को भी सम्मिलित कर दिया है। आलोचनाओं की निष्पक्षता, विषयक्रम, भाषा-सौष्ठव, ऐतिहासिक निरीक्षण आदि सभी अंगों में यह पुस्तक अपना जवाब नहीं रखती। ड्रामा, उपन्यास, निबंध साहित्य के मुख्य अंगों में है। मि० सकसेना ने इन विषयों का अत्यन्त मार्मिक विवेचन किया है। अब तक यह विचार सर्वमान्य था कि उर्दू ब्रजभाषा से निकली है। मि० सकसेना का कथन है कि उर्दू की जननी ब्रजभाषा नहीं, दिल्ली प्रांत की ग्रामीण भाषा है। संभव है कुछ लोगों को इसके मानने में आपत्ति हो, पर इसमें तो कोई संदेह नहीं है कि उर्दू और दिल्ली प्रान्त की ग्रामीण भाषा में जितना सादृश्य है उतना ब्रजभाषा में नहीं है। हमारे मुसलमान भाइयों को शिकायत है कि हिन्दू लेखकगण उर्दू से उदासीन ही नहीं, उससे द्वेष रखते हैं। मि० सकसेना की कीर्ति ने सिद्ध कर दिया है कि यह लांछन सर्वथा निस्सार है। इस पुस्तक का उर्दू-अनुवाद भी नवलकिशोर प्रेस से बड़े सज-धज के साथ प्रकाशित हो रहा है। क्या ऐसा कोई हिन्दी का भक्त नहीं है जो हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखे। हम किसी अगले अंक में इस पुस्तक की सविस्तार समालोचना करेंगे। यहाँ हम केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि यह पुस्तक लिखकर लेखक ने उर्दू-साहित्य का मुख उज्ज्वल किया है।

× × ×

९. शिशुसदन, बनारस की अपील

मि० रामकृष्ण वान्दू तथा उनकी धर्मपत्नी द्वारा प्रेषित—काशी में स्थापित 'शिशुसदन' की सहायतार्थ हमें एक अपील प्राप्त हुई है। उपर्युक्त दम्पति ने सन्तानाभाव से मर्माहत हो आरंभ में कुछ ऐसे ही सन्तान के पालन-पोषण का बीड़ा उठाया जो व्यभिचार द्वारा उत्पन्न होकर नदियों में प्रवाह कर दिये जाते, अथवा इधर-उधर फेंक दिये जाते हैं। दम्पति को इस कार्य में सफलता होने पर, साथ ही शिशुओं के भरण-पोषण-भार स्वयं वहन न कर सकने पर 'शिशुसदन' नामक संस्था खोलने के लिये बाध्य होना पड़ा। हर्ष का विषय है कि धनी एवं पढ़े-लिखे श्रीमानों का ध्यान इधर आकर्षित हुआ है और वे तन-मन-धन से इस संस्था की सेवा कर रहे हैं। दानशील सज्जनों में हिज़ हाईनेस दि महाराजा साहब, भावनगर—हुज़ूर प्राइवेट डिपार्टमेंट के सुपरिन्टेन्डेन्ट का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जिन्होंने हिज़ हाईनेस सर प्रभाशंकर पट्टानी के आज्ञानुसार ५००) रु० का चेक संस्था की स्थापना की सूचना प्राप्त होते ही भेजने की कृपा की। पाश्चात्य देश में इस प्रकार की कई प्रसिद्ध संस्थाएँ हैं जिनका भरण-पोषण सरकार द्वारा होता है। ऐसी दशा में यदि इस संबंध में लोकल गवर्नमेंट से सहायता के लिये प्रार्थना की जाय, तो विशेष लाभ की संभावना है।

हम अपने पाठकों से भी आशा करते हैं कि वे वान्टू-दम्पति के इस महत्कार्य से सहानुभूति प्रकट करते हुए, अपनी उदारता एवं दानशीलता का परिचय देंगे। सर्व-साधारण से हमारा अनुरोध है कि वे ऐसे सन्तान प्राप्त होने की सूचना संस्थापक को देवें तथा उन्हें 'शिशुसदन' में भिजवाने का ख़याल रक्खें।

---

१. दिवसावसान

महामाया-रूपी रात्रि की गोद में संसाररूपी दिवस का लीन होना इस चित्र में बड़ी सुंदरता से दिखाया गया है। जगत् की असारता और नश्वरता का बड़ा ही सुंदर तथा भावपूर्ण चित्रण किया गया है। इस चित्र के चित्रकार श्रीरघुवंशजी हैं। इस नवीन प्रकार की चित्रकला में भाव-चित्रण की ओर विशेष ध्यान रक्खा जाता है।

२. मंदिर-गामिनी

यह चित्र श्रीबहादुरसिंहजी सिंघी कलकत्ता की कृपा से प्राप्त हुआ है। इसमें इष्टदेव को पूजने के लिये सुमुखी अपनी सहचरीसहित मंदिर की ओर जारही है। ईश्वराराधना के वेषभूषा में उसका प्राकृतिक सौंदर्य और भी खिल उठा। हृदय में उमंग और दर्शन की लालसा है। चारों ओर की प्राकृतिक सौंदर्य छटा मन को लुभा रही है। युवती की खुद्मस्ती देखकर रास्ते की मोरनी एकटक उसकी ओर देखने लगी। किसी कवि ने क्या खूब कहा है—

मज़ा है जोशे-जवानी में पारसाई का,
वो नाखुदा है जो किश्ती बचाए तूफ़ाँ से।

३. श्रीबैजूबावरे और श्रीगोपालनायक

श्रीबैजूबावरे बड़े प्रसिद्ध गायनाचार्य थे। श्रीगोपालनायक उनके शिष्य थे। एक बार राजपूताने के किसी महाराज के यहाँ, जहाँ कि श्रीगोपालनायक पहले ही से मौजूद थे, श्रीबैजूबावरे भी पहुँच गए। गुरु ने अपने शिष्य को पहचान लिया। परंतु शिष्य ने उनकी इस बात से एकदम ग़ैर जानकारी प्रकट की, और कहा कि हिरनों के गले में मोतियों की माला डाल दी जावे। मैं जब तक गाता रहूँगा, ये हिरन खड़े रहेंगे। और गाना बंद होने पर चले जावेंगे। यदि श्रीबैजूबावरे में शक्ति हो, तो उन्हें अपनी विद्या-बल द्वारा फिर वापस बुला लें। ऐसा ही किया गया। गाना बंद होने पर हिरन चले गए। किंतु श्रीबैजूबावरे ने उन्हें गान द्वारा फिर वापस बुला लिया। महाराज उनकी इस शक्ति पर मुग्ध हो रहे हैं। गोपालनायक चिंता-निमग्न पास ही बैठा है। हिरन मुग्ध हैं। इन्हीं भावों का हमारे सुयोग्य चित्रकार श्रीरामनाथ गोस्वामी ने बड़े सुंदर ढंग से चित्रण किया है।

४. अश्वमेध का घोड़ा

इस चित्र के चित्रकार श्रीकाशिनाथ-गणेश खातू हैं। रामाश्वमेध में इस कथा का पूरा वर्णन है। श्रीरामचंद्रजी द्वारा यज्ञ का घोड़ा एक पट्टपत्र लिखकर छोड़ दिया गया था। चित्रकूट-वन में पहुँचने पर मातेश्वरी सीताजी के वीर-पुत्र लव ने इसे पकड़ लिया। इसके पश्चात् इन दोनों भाई लव और कुश से घोर युद्ध हुआ था। और बड़े-बड़े वीर पराजित हुए थे।

वर्ष ६
खंड २

आषाढ़, ३०४ तुलसी-संवत् (१९८५ वि०)
जुलाई, सन् १९२८ ई०

संख्या ६
पूर्ण संख्या ७२

स्व-जीवनी

(अभिलाषा, अस्वास्थ्य, आशंका, अनाशा)

तीन सौ से तनि युक्त तुलसी सु-वत्सर के ,
श्रावण औ पौष-अंक "माधुरी" के लीजिए ;
चारयुत बीस और तीनयुत आठ सौ के ,
पृष्ठों पर प्रीतियुत अल्प दृष्टि दीजिए ।
मुद्रित वहाँ पर है "स्व-जीवनी" शीर्षक की ,
रचना रसीली उसे अध्ययन कीजिए ;
पद्यमय-गद्यता का गद्यमय-पद्यता का ,
मद्यता से मिलित सु-मिष्ट मधु पीजिए ।

(२)

किंतु रचना है उक्त निपट अधूरी अभी ,
निश्चय नहीं है कभी पूरी वह होवेगी ;
साहित्यिक सुंदर विशाल वन-नंदन में ,
मंजुल रसाल वन, सिंजित सँजोवेगी ।
श्रीधर के सरस स्वगीत से स्वरों को सींच ,
शारदा की वीणा बीच सुरस समोवेगी ;
अथवा स्व-भाल लिखी विधि की विडम्बना को ,
सह सब काल ही अधूरी रह रोवेगी ।

श्रीपद्मकोट
दिसम्बर 1,1927

श्रीधर पाठक

समर्थ गुरु रामदास

महाराज विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में, जब कि भारतवर्ष में मुग़ल-राज्य अपनी उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच चुका था ; और उस समय के राज्य करनेवाले यवनों से भारतवर्ष की प्रजा बहुत पीड़ित हो रही थी, दक्षिण प्रांत में कुछ साधु पुरुष उत्पन्न हुए, उनमें समर्थ गुरु रामदास एक बहुत ही श्रेष्ठ दरजे के साधु हो गए हैं। उस समय की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक दुर्दशा देखकर उनका हृदय दया से द्रवीभूत हुआ। और छत्रपति शिवाजी महाराज का मिलाप हो जाने से देशोद्धार का कार्य इनके द्वारा ऐसा उत्तम हुआ कि जिसका साक्ष्य इतिहास दे रहा है। इन्हीं दोनों सत्पुरुषों का प्रयत्न था कि जिसके कारण से औरंगज़ेब के समान प्रबल धर्मविद्वेषी को दबना पड़ा ; और हिंदूधर्म तथा हिंदूराज्य का झंडा फिर एक बार अटक से कटक तक फहराया। ऐसे साधु पुरुष के विषय में कुछ जानने की जिज्ञासा किस देशभक्त को न होगी ? अतएव पाठकों को आज हम इन्हीं साधु महानुभाव का कुछ संक्षिप्त परिचय देना चाहते हैं ; और आशा करते हैं कि हमारे पाठकगण इस संक्षिप्त परिचय से कुछ विशेष लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे।

जन्म और बालपन

श्रीसमर्थ रामदास स्वामी का जन्म रामनवमी के दिन, दोपहर के समय, अर्थात् ठीक रामजन्म के समय, संवत् १६६९ में हुआ। इनके पिता सूर्याजी पंत एक बहुत बड़े भगवद्भक्त और सात्विक ब्राह्मण थे। माता राणूबाई भी बहुत ही साध्वी और पतिव्रता थीं। ऐसे धार्मिक दंपति से श्रीरामदास के समान साधु पुरुष का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। महाराष्ट्र के लोगों का तो ऐसा विश्वास है कि रामदासजी हनुमान्‌जी का अवतार थे। इस बात के प्रमाण में वे लोग भविष्यपुराण का निम्न श्लोक कहा करते हैं—

> कृते तु मारुताख्यश्च त्रेतायां पवनात्मजः ।
> द्वापरे भीमसंज्ञश्च रामदासः कलौ युगे ।

अर्थात् "सतयुग में मारुत, त्रेता में पवनसुत, द्वापर में भीम और कलियुग में रामदास नाम से हनुमान्‌जी का अवतार होगा।" और श्रीरामदासजी के बाल्यचरित्र की जो कहानियाँ उनके चरित्रग्रंथों में लिखी हुई हैं, उनसे भी यही प्रकट होता है कि हनुमान्‌जी के गुण इनमें बहुत से प्रकट हुए थे। बालपन में वे सदैव प्रसन्नचित्त और हास्यवदन रहते थे। शरीर सुदृढ़ और तेजस्वी था। चपलता रोम-रोम में भरी हुई थी। स्वभाव बड़ा नटखट और उपद्रवी था। बानर की तरह इधर-उधर कूदते फिरना और मुँह बनाकर लड़कों को चिढ़ाना इनका खेल था। इनका बालपन का नाम नारायण था। नारायण जब सात वर्ष के हुए, तब इनके पिता का देहांत हो गया। लड़कपन में अपने ग्राम के भैयाजू के यहाँ ये पढ़ने को बैठाले गए थे। दो ही चार वर्ष के अंदर इन्होंने भैयाजी के यहाँ की पढ़ाई समाप्त कर दी ; और फिर खेल-कूद में लग गए। गाँव के लड़कों का गिरोह बाँधकर ये अपने ग्राम के पास गोदावरी नदी के किनारे खेलने को चले जाते ; और वहाँ वृक्षों पर चढ़कर भाँति-भाँति के फल तोड़कर खाया करते थे ; और फलों की गुठलियाँ फेंक-फेंककर नीचे अपने साथियों को मार दिया करते थे। कभी-कभी वृक्ष पर से नदी में कूद पड़ा करते थे। इसी प्रकार कूदने से एक बार इनके सिर में चोट भी लग गई थी, जिससे इनके सिर में एक गुलमा पड़ गया था, जो जीवन-पर्यंत बना रहा। अस्तु। इसी प्रकार की इनकी बालचेष्टाओं को देखकर लोगों की यह धारणा और भी दृढ़ हो गई कि ये हनुमान्‌जी का अवतार थे।

विरक्ति

प्रायः दस ही वर्ष की अवस्था से इनमें श्रीरामचंद्रजी की भक्ति और संसार से विरक्ति के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। इनकी सारी चंचलता न जाने कहाँ चली गई ; और ये ग्राम के बाहर एक हनुमान् मंदिर में जाकर ध्यान-मग्न रहने लगे। कहते हैं कि हनुमान्‌जी ने इनको दर्शन देकर यह आदेश दिया कि "सारी पृथ्वी में यवन छाए हुए हैं। अनीति का राज्य है। दुष्ट लोग अधिकारमद से मतवाले होकर साधुओं को सता रहे हैं। तीर्थों और देवमंदिरों को भ्रष्ट कर रहे हैं। इसलिये तुम "श्रीराम जयराम जय जय राम" इस त्रयोदशाक्षरी

मंत्र का जप करके सामर्थ्य प्राप्त करो; और फिर वैराग्य-वृत्ति से कृष्णा नदी के तट पर रहकर लोगों में धर्म और नीति का प्रचार करके उनका उद्धार करो।"

बालक नारायण ने जब हनुमान्-दर्शन का समाचार अपनी माता राणूबाई और अपने जेठे भाई श्रेष्ठजी से बतलाया, तब उनको बड़ा आनंद हुआ; परंतु दिन-दिन बढ़ती हुई इनकी विरक्ति देखकर इनकी माता को चिंता होने लगी कि कहीं लड़का हाथ से निकल न जाय; और इसलिये उन्होंने शीघ्र ही इनको विवाह-बंधन में डालने का प्रयत्न प्रारंभ किया। विवाह की बात निकलने पर नारायणजी बहुत चिढ़ते; और नाना प्रकार से विरक्ति व्यक्त करते थे। एक बार विवाह की चर्चा छिड़ने पर ये जंगल में भाग गए। तब उनके बड़े भाई श्रेष्ठजी उनको वहाँ से ढूँढ़कर पकड़ लाए। उनकी यह चाल देखकर माता राणूबाई को बड़ी चिंता हुई। अवसर पाकर एक दिन माता राणूबाई अपने पुत्र नारायण को एकांत स्थान में ले गईं; और अपनी शपथ दिखाकर उनसे यह प्रतिज्ञा करा ली कि "विवाह में "अंतरपट" पकड़ने तक मैं किसी प्रकार की आपत्ति न करूँगा।" माता ने समझ लिया कि लड़का विवाह करने को तैयार हो गया।

उत्तम कन्या देखकर विवाह निश्चित हो गया। उस समय नारायण, अर्थात् भावी रामदास स्वामी की अवस्था सिर्फ़ बारह वर्ष की थी। विवाह के दिन नारायण आनंदपूर्वक दूलहा बनकर बारात के साथ गए। सीमंत-पूजन, पुण्याहवाचन, इत्यादि सब विवाह की विधि की गई। इसके बाद "अंतरपट" पकड़ने का अवसर आया। ब्राह्मणों ने मंगलाष्टक पढ़ना प्रारंभ किया। फिर सब ब्राह्मण एक साथ ही, नियमानुसार, "सावधान" शब्द बोले। बालक नारायण, जिसमें पहले ही से संसार-विषयक विरक्ति भरी हुई थी, अपने मन में सोचने लगा कि बस, यही मौक़ा है—माता के सम्मुख की हुई प्रतिज्ञा भी पूर्ण हो चुकी—अब हमको सचमुच ही सावधान हो जाना चाहिए। यह सोचकर वे तुरंत ही विवाह-मंडप से क्षंपत हुए! कई लोग उनके पीछे दौड़े; पर वे वायुवेग से भगते हुए एक घने जंगल में घुस गए; और फिर किसी के हाथ में नहीं आए। इस प्रकार पुत्र के भाग जाने पर माता को बड़ा दुःख हुआ; परंतु समर्थ रामदास के बड़े भाई श्रेष्ठ ने माता को समझा-बुझाकर शांत किया। श्रेष्ठजी भी बड़े भक्त और गृहस्थ साधु थे। उनको अपने छोटे भाई नारायण का अभिप्राय पहले ही मालूम हो चुका था। अस्तु। ब्राह्मणों ने शास्त्राधार दिखलाकर लड़की का दूसरा विवाह करा दिया।

तप और तीर्थाटन

नारायणजी विवाह-मंडप से भागकर पहले तो अपने ग्राम के जंगल में ही कई दिन तक छिपे रहे। इसके बाद वे नासिक पंचवटी को चले आए। वहाँ गोदावरी नदी के किनारे टाकली नामक स्थान में रहकर घोर तप करने लगे। उस समय उनकी दिनचर्या इस प्रकार थी—

प्रातःकाल उठकर गोदावरी स्नान करने जाते; और वहाँ दोपहर तक कटिपर्यन्त जल में खड़े होकर जप करते थे। दोपहर के बाद पंचवटी में मधुकरी-भिक्षा माँगने को जाते; और श्रीरामचन्द्रजी का नैवेद्य लगाकर भोजन करते थे। इसके बाद कुछ समय तक भजन तथा ग्रंथावलोकन करते; और फिर सायंकाल होते ही जप और ध्यान में निमग्न हो जाते थे। उनका सब समय मंत्र, पुरश्चरण, भजन, इत्यादि ईश्वराराधन के कार्यों में व्यतीत होता था। वे किसी से बात भी न करते थे; और न किसी के घर जाते थे। पानी में खड़े रहने के कारण, कमर के नीचे सब देह गलकर सफ़ेद हो गई थी। पैरों और घुटनों की खाल और मांस मछलियाँ नोच-नोचकर खा जाया करती थीं। समर्थ रामदास स्वामी का मन उस समय जप और ध्यान में इतना निमग्न हो जाता था कि मछलियों इत्यादि के नोचने पर वे कुछ भी कष्ट का अनुभव नहीं करते थे।

इसी प्रकार श्रीसमर्थ ने बारह वर्ष तक बड़ी दृढ़ता के साथ तप किया। कहते हैं कि इस बीच में श्रीरामचंद्रजी ने कई बार उनको दर्शन देकर तप से निवृत्त होकर लोकोद्धार करने का आदेश दिया; पर समर्थ ने मन में निश्चय कर लिया था कि जब तक पूर्ण रूप से मन को जीत नहीं लेंगे, तप करना नहीं छोड़ेंगे। अंत में बारह वर्ष बाद जब उन्होंने देख लिया कि अब हमारा मन पूर्णतया हमारे वश हो गया—इंद्रियों की सारी चंचलता नष्ट हो गई, तब वे तप से परावृत्त हुए। बारह वर्ष की अन्-

से लेकर २४ वर्ष की अवस्था तक उन्होंने तीव्र साधना करके सामर्थ्य प्राप्त किया।

इसके बाद वे सारे भारतवर्ष में भ्रमण करके तीर्थाटन करने को निकले। क्योंकि जिस प्रकार तीव्र तपस्या करके मनोजय प्राप्त करने की आवश्यकता है, उसी प्रकार लोकोद्धार करने अथवा प्रजा में धर्मस्थापना करने के लिये तीर्थयात्रा और देशाटन करके स्वदेश-स्थिति और धार्मिक दशा जानने की ज़रूरत है।

श्रीसमर्थ रामदास स्वामी ने सारे भारतवर्ष का प्रवास पैदल ही किया। उत्तर में गंगोत्री से लेकर दक्षिण में रामेश्वर तक और पूर्व में जगन्नाथजी से लेकर पश्चिम में द्वारका तक उन्होंने यात्रा की। पंजाब की ओर जाकर वे काश्मीर में अमरनाथ तक गए। बड़े-बड़े दुर्गम पर्वतों, घाटियों और नदी-नालों को पार करने में उस समय उनको कैसी-कैसी कठिनाइयाँ पड़ी होंगी, उनकी कल्पना भी आजकल रेल से प्रवास करनेवाले हम लोग नहीं कर सकते। फिर उनके पास उस समय एक फूटी कौड़ी भी नहीं थी। उदरनिर्वाह के लिये उन्होंने भिक्षा-वृत्ति स्वीकार की थी। स्मरण रखना चाहिए कि भिक्षा-वृत्ति स्वीकार करने में उदरनिर्वाह करना ही एकमात्र उनका उद्देश्य नहीं था। किंतु भिक्षा की महिमा गाते हुए उन्होंने अपने दासबोध में भिक्षा का मुख्य हेतु बतलाया है। उन्होंने लिखा है—

> भिक्षा ह्मणजे निर्भय स्थिती।
> भिक्षेनें प्रगटे महन्ती।
> स्वतंत्रता ईश्वर प्राप्ती।
> भिक्षा गुणें।

अर्थात् भिक्षा एक बहुत ही निर्भय स्थिति है। भिक्षा से ही निःस्पृहता प्रकट होती है; और स्वतंत्रता तथा ईश्वर की प्राप्ति भी भिक्षा से ही होती है। सच है, भिक्षा माँगने का उद्देश्य यदि केवल पेट पालना ही न हो; किंतु यदि उसका यह उद्देश्य हो कि उसके मिस से स्वदेश की दशा का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त किया जाय, तो इससे बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं है। क्योंकि रामदास ने अपने अनुभव से यह भी कहा है—

> कुग्रामें अथवा नगर।
> [illegible]वीं घरांचीं घरें।
> [illegible] लाहान थोरें।
> परांचून सोडावीं।

अर्थात् चाहे कोई कुग्राम हो; और चाहे कोई सुंदर नगर हो, भिक्षा के बहाने घर-घर छान डालना चाहिए। भिक्षा के ही मिस से, छोटे से लेकर बड़े तक, सबकी परीक्षा कर डालनी चाहिए कि कौन कैसा कहाँ पर रहता है, और उसका किस प्रकार हम अपने कार्य में उपयोग कर सकते हैं।

इस प्रकार बारह वर्ष तक पैदल प्रवास करके श्रीसमर्थ ने अनेक प्रकार के आधिभौतिक तापों का अनुभव प्राप्त किया, भिन्न-भिन्न जनस्वभावों की परीक्षा की; भाँति-भाँति के सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक आचार-व्यवहार देखे, भिन्न-भिन्न प्रांतों के राज्य-प्रबंध का अवलोकन किया, नाना प्रकार से संतसमागम करके अध्यात्म-ज्ञान का रहस्य जाना; और प्रकृति के अनेक चमत्कारिक तथा रमणीय दृश्यों का निरीक्षण किया। सारांश यह है कि स्वदेशसंबंधी सारी आवश्यक बातों का ज्ञान उन्होंने, देशपर्यटन और तीर्थ-यात्रा करके प्राप्त किया। इस संपूर्ण ज्ञान का परिपाक उनके ग्रंथों में हुआ है। उनकी कविता में स्थान-स्थान पर प्रकृति के मनोहर और अनूठे दृश्यों का प्रतिबिंब बड़ी ही उत्तमता के साथ अवतीर्ण हुआ है।

तीर्थ-यात्रा करने के बाद श्रीसमर्थ गोदावरी की प्रदक्षिणा करते हुए अपनी जन्मभूमि जांब नामक ग्राम के पास से आ निकले। अब उनकी अवस्था छत्तीस वर्ष की हो चुकी थी। चौबीस वर्ष के अनंतर अपनी जन्मभूमि के निकट आ निकलने पर स्वाभाविक ही उनको अपनी माता और बड़े भाई का स्मरण हो आया। इसलिये वे उनके दर्शन को गए। चौबीस वर्ष बाद अपने पुत्र नारायण से मिलकर उनकी माता को जो अपूर्व आनंद हुआ, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। कुछ दिन वहाँ रहने के बाद श्रीसमर्थ ने माताजी से फिर जाने की आज्ञा माँगी। उस समय माता ने कहा कि "नारायण, तू बार-बार भागता है, इससे मुझे बहुत दुःख होता है— क्या तुझे कोई भूत तो नहीं लगा है?" इसका उत्तर श्रीरामदासजी ने एक कविता बनाकर दिया है। उस कविता का भाव यह है—

"अरी माता, जो भूत वैकुंठ में था; फिर वहाँ से उतरकर अयोध्या के महलों में संचार करने लगा; जो

भूत कौशल्या के स्तनों में लगा था ; जिस भूत के चरण-स्पर्श से पत्थर की शिला स्त्री बन गई, वही सब महा-भूतों का प्राणभूत मुझमें संचार कर गया है ।" इस छोटी सी कविता में श्रीसमर्थ ने अपने उपास्य देव श्रीरामचंद्रजी का सारा चरित्र साररूप में बड़ी ही चमत्कार-पूर्ण भाषा में कह डाला है ।

समर्थ के बिदा होते समय उनकी माता ने जब बहुत दुःख प्रकट किया, तब उन्होंने अपनी माता को उसी अध्यात्मज्ञान का उपदेश किया कि जो भागवत में कपिलमुनि ने अपनी माता को किया है । उससे वृद्धा माता को कुछ संतोष हुआ ; और फिर समर्थ अपने बड़े भाई तथा माता की आज्ञा लेकर चल दिए ।

धर्मप्रचार और लोकोद्धार

घर से चलकर श्रीरामदास स्वामी गोदावरी की प्रद-क्षिणा पूर्ण करते हुए पंचवटी के पास फिर उसी स्थान पर आए, जहाँ उन्होंने तप किया था ; और श्रीरामचंद्र ने दर्शन देकर उन्हें लोकसेवा का आदेश दिया था। इस परिभ्रमण में उनको पूरे बारह वर्ष लगे । वे जहाँ-जहाँ गए, भगवद्भक्ति और समाजसेवा के भावों का प्रचार किया ; और अपनी सामर्थ्य को बढ़ाकर पूर्ण "समर्थ" बन गए । अब उन्होंने महाराष्ट्र में लोकोद्धार का कार्य प्रारंभ किया । जगह-जगह हनुमान् और श्रीरामचंद्र के मठ स्थापित किए ; और लोगों में रामायण तथा महाभारत के आधार पर कथा-कीर्तन तथा उपदेश के द्वारा धर्म और नीति का प्रचार करना शुरू किया । ध्यान में रखने की बात है कि समर्थ रामदास स्वामी इस प्रकार लोकोद्धार करते हुए भी आप स्वयं सबसे अलिप्त रहते थे । जहाँ कहीं मठ और व्यायामशालाएँ खोलते, वहीं किसी अपने शिष्य को वहाँ का महंत बना देते ; और आप स्वयं दुर्गम स्थानों में—पर्वतों की गुफाओं में—रहकर ईश्वर-भजन और ध्यान में मग्न रहते थे । अपनी इसी कार्यशैली का उन्होंने अपने दासबोध में जगह-जगह उल्लेख किया है । एक जगह आप कहते हैं—

ठाईं ठाईं भजन लावीं ।
आपण तेथून चुकावी ।
मत्सरमतांची गोवी ।
लागोंच नेदी ।

अर्थात् कार्यकर्ता मुख्य महंत का कर्त्तव्य यह है कि जगह-जगह भ्रमण करके लोगों को उपासना और लोक-सेवा के कार्य में लगा देवे ; और आप स्वयं वहाँ से चल देवे—किसी पाखंड में लिप्त न होवे । एक जगह आपने अपने विषय में यों उल्लेख किया है—

दास डोंगरीं राहा तो ।
यात्रा देवाची पाहा तो ।
देवभक्तां सवें जातो ।
ध्यान रूपें ।

अर्थात् दास (रामदास स्वामी) पर्वतों की गुफाओं में रहता है ; और वहीं से बैठे-बैठे, बस्ती में निकला हुआ, श्रीरामचंद्रजी का जुलूस देखा करता है—यही नहीं, बल्कि ध्यानरूप से उस जलूस में सम्मिलित होकर भक्तों के साथ चलता भी है ।

श्रीरामदास स्वामी ने अपने महंत तो जगह-जगह स्थापित किए ही थे, इसके सिवाय उस समय के अन्य साधु-महात्माओं से मिलकर भी उनमें एक विशेष प्रकार का संगठन उत्पन्न कर दिया था । सब संतों का वे स्वयं बहुत आदर करते थे ; और अन्य सब संत उनको "समर्थ" कहकर सम्बोधन करते थे । जयराम स्वामी, रंगनाथ स्वामी, केशव स्वामी, आनंदमूर्ति स्वामी और रामदास स्वामी, इन पाँच महात्माओं का एक गुट्ट था । इस गुट्ट को "दास पंचायतन" कहते थे । महाराष्ट्र के प्रसिद्ध साधु तुकाराम भी उसी समय महाराष्ट्र में भगवद्भक्ति का प्रचार कर रहे थे । विक्रम की सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र के साधु-संतों ने समाज में जो जागृति उत्पन्न की, उसी का प्रभाव था कि उस प्रांत में यवनों का प्रभाव नहीं जम सका ; और शिवाजी महाराज को स्वराज्य-स्थापना में बहुत सुविधा हुई ।

समर्थ और शिवाजी

जब श्रीसमर्थ रामदास स्वामी ने अपने तेजस्वी उप-देशों के द्वारा महाराष्ट्रसमाज का संगठन करके उसमें जागृति उत्पन्न करना प्रारंभ किया, तब उनकी कीर्ति शिवाजी महाराज के कानों तक पहुँची । इस समय शिवाजी महाराज के उत्कर्ष का प्रारंभिक काल था । उन्होंने दो-एक क़िले जीते थे ; और धीरे-धीरे राज्य-संपादन में लगे हुए थे । संतसमागम में उनकी पहले ही से बहुत रुचि थी ; और राजकाज से अवसर निकालकर समय-समय पर वे साधुओं की सेवा में उपस्थित होकर

उनका उपदेश ग्रहण किया करते थे। उन्हीं दिनों में एक बार वे महासाधु तुकाराम के पास गए ; और उनसे मंत्र देने की प्रार्थना की। तुकारामजी ने कहा कि आप क्षत्रिय हैं ; मैं वैश्य हूँ। आपको मंत्र देने का मुझको अधिकार नहीं है। आप श्रीरामदास स्वामी की शरण में जाइए। यह सुनकर शिवाजी की समर्थ-विषयक जिज्ञासा और भी बढ़ गई ; और उन्होंने श्रीसमर्थ के पास जाकर उनके दर्शन का कई बार प्रयत्न किया ; पर समर्थ उन दिनों जंगल-पहाड़ों में भ्रमण किया करते थे, उनके रहने का कोई एक स्थान नियत नहीं था, अतएव शिवाजी को उनके दर्शन नहीं हो सके। परंतु कुछ दिन बाद शिवाजी के पास समर्थ रामदास का एक पत्र आया। उसका सारांश इस प्रकार है—

"इस समय तीर्थक्षेत्रों को यवनों ने भ्रष्ट कर दिया है। सारी पृथ्वी यवनों के अत्याचार से विकल है। धर्म का ह्रास हो रहा है, परंतु नारायण ने देवधर्म और गो-ब्राह्मण के प्रतिपालन की हृदय में प्रेरणा की है। तुम्हारे सभा-नायकों में पंडित, पौराणिक, कवीश्वर (यहाँ भूषण कवि की तरफ़ इशारा जान पड़ता है) याज्ञिक, वैदिक, चतुर राजनीतिज्ञ, तार्किक सभी लोग हैं ; और तुम्हारे ही कारण से इस समय धर्म की कुछ रक्षा भी हो रही है। तुमने कितने ही दुष्टों का संहार किया है, कितने ही तुम्हारे भय से भग्न हुए हैं ; और कितने ही तुम्हारे शरण हो चुके हैं। हम भी तुम्हारे देश में रहते हैं ; पर अभी तक तुमने हमारी कुछ भी ख़बर नहीं ली—शायद तुमको किसी संस्कारवश विस्मरण हो गया है। तुम धर्मात्मा हो, सब जानते हो, विशेष तुमसे क्या कहें, धर्म-स्थापना का कार्य सम्हालते रहो। बड़े-बड़े राजकीय कार्यों में लगे रहने के कारण तुम्हारा चित्त अवश्य ही व्यग्र होगा। हमने यह पत्र शायद बेमौक़े लिखा हो, तो क्षमा करना।"

यही उस कविता-बद्ध पत्र का सारांश है। इस पत्र को पढ़कर शिवाजी की समर्थ से मिलने की आकांक्षा और भी तीव्र हो गई ; तथा दूसरे ही दिन वे अपने कुछ मंत्रियों के साथ उनके दर्शन को गए। बहुत ढूँढ़-खोज करने के बाद रामदासजी पहाड़ों की तराई में एक बाग़ में मिले। उनको देखते ही शिवाजी महाराज ने उनके सामने श्रीफल रखकर उनको साष्टांग प्रणाम किया। स्वामीजी ने भी उनके मस्तक पर वरद-हस्त रखकर उनको श्रीफल, मुट्ठी भर मिट्टी, मुट्ठी भर घोड़े की लीद, और मुट्ठी भर कंकड़ प्रसाद में दिए। शिवाजी महाराज ने अपने को कृतकृत्य माना और श्रीसमर्थ से मंत्रदीक्षा देने तथा उपदेश देने की प्रार्थना की। श्रीसमर्थ ने त्रयोदशाक्षरी राममंत्र की दीक्षा दी ; और कुछ आध्यात्मिक उपदेश दिया (यह उपदेश "लघुबोध" नाम से उन्होंने पीछे से अपने दासबोध नामक ग्रंथ में सम्मिलित कर दिया है)। इसके बाद शिवाजी ने राजकाज छोड़कर, अन्य शिष्यों की भाँति, समर्थ की ही सेवा में रहने की इच्छा प्रदर्शित की। इस पर राजनीति और क्षात्रधर्म का उपदेश करके श्रीसमर्थ ने उनसे कहा, "तुम क्षत्रिय हो, राज्य-रक्षा, प्रजापालन और देव-ब्राह्मण की सेवा तुम्हारा धर्म है। तुम्हारे हाथ से अभी बहुत-सा कार्य होना है। संपूर्ण पृथ्वी म्लेच्छमय हो रही है। श्रीरामचंद्रजी की इच्छा है कि म्लेच्छों का दमन तुम्हारे हाथ से हो ; और धर्म की स्थापना हो। यही तुम्हारे लिये परमार्थ है। प्राचीन काल में जो राजा हो चुके हैं, उनकी कीर्ति पुराणों में तुम सुनते ही रहते हो। तुम्हारे पूर्वज कैसे धीर वीर गंभीर थे, सो भी तुम जानते हो। उनमें से सीसोदसिंह, पृथ्वीपालसिंह, लक्ष्मणसिंह, इत्यादि का प्रताप अपने ध्यान में लाओ ; और राजधर्म तथा क्षात्र-धर्म का पालन करो। यही तुम्हारे लिये उचित है।"

यह उपदेश सुनकर शिवाजी को परम समाधान हुआ। वे तीन दिन वहाँ रहे। इसके बाद समर्थ को साष्टांग नमस्कार करके वे प्रतापगढ़ क़िले को लौट आए। महल में आकर उन्होंने माता जिजाबाई को समर्थ का दिया हुआ प्रसाद दिखलाया। माताजी ने लीद, मिट्टी, कंकड़ और नारियल प्रसाद में देने का कारण पूछा। तब शिवाजी ने कहा कि "लीद घोड़ों की वृद्धि की दर्शक है, मिट्टी के रूप से पृथ्वी की प्राप्ति प्रदर्शित होती है ; और कंकड़ क़िलों की वृद्धि का चिह्न है। श्रीफल संपूर्ण सिद्धियों का प्रदर्शक प्रत्यक्ष है।"

संवत् १७०६ वि० में शिवाजी को समर्थ का दर्शन हुआ। उस समय शिवाजी की अवस्था बाइस वर्ष की थी। उस समय से प्रत्येक गुरुवार को शिवाजी समर्थ के दर्शनों को जाते ; और अपने प्रत्येक राजकाज में

उनकी अनुज्ञा लिया करते थे। परंतु श्रीसमर्थ के एक स्थान पर न रहने के कारण और स्वयं शिवाजी महाराज को अनेक राजकाज रहने के कारण, शिवाजी को समर्थ के निकट बार-बार आकर उनके दर्शन करने में बहुत कठिनाई पड़ती थी। अतएव कुछ समय बाद शिवाजी ने उनसे प्रार्थना की कि अब आप कृपा करके रायगढ़ अथवा प्रतापगढ़ (सितारा) में चलकर रहें, जिससे महाराज का दर्शन हमको सदैव अनायास होता रहे। समर्थ ने शिवाजी की प्रार्थना स्वीकार की ; और सितारे के पास परली नामक पर्वत पर जाकर रहने लगे। तब से इस स्थान का नाम सज्जनगढ़ पड़ गया। शिवाजी ने वहाँ एक मठ बनवा दिया ; और उत्सव इत्यादि के लिये कुछ जागीर लगा दी। समर्थ की जन्म-भूमि जांब नामक ग्राम में भी शिवाजी महाराज ने मठ के प्रबंध के लिये ३३ गाँव और प्रतिवर्ष के लिये १२१ खंडी गल्ला लगा दिया था। इस रियासत का कुछ भाग अब भी श्रीसमर्थ के बड़े भाई श्रेष्ठ के वंशजों में चला आता है। प्रत्येक वर्ष वहाँ कई उत्सव धूमधाम से मनाए जाते हैं।

श्रीरामदास स्वामी अपने अनेक मुख्य-मुख्य शिष्य और शिष्याओं के साथ रहकर वहीं से धर्म-प्रचार करने लगे।

शिवाजी के पिता राजा शहाजी तथा माता जिजाबाई भी शिवाजी के साथ एक-दो बार सज्जनगढ़ पर समर्थ के दर्शन को गई थीं। एक बार उनके भाई व्यंकोजी और सौतेली माता तुकाबाई भी समर्थ के दर्शन को तंजौर से आई थीं। राजा व्यंकोजी के निमंत्रण से समर्थ धर्म-प्रचार करते हुए तंजौर प्रांत तक गए थे ; और वहीं व्यंकोजी को मंत्रदीक्षा दी थी, तथा अपना मठ स्थापित करके दो महंत धर्म-प्रचार के लिये नियुक्त कर दिए थे।

चैत्र सुदी १५ : सं० १७३७ में छत्रपति शिवाजी महाराज का देहांत हुआ। इस शोक-समाचार को सुनकर समर्थ को अत्यंत दुःख हुआ। उसी दिन से उन्होंने अन्न छोड़ दिया और केवल दुग्धाहार करके शरीर-यात्रा चलाने लगे। इधर-उधर जाना भी उन्होंने छोड़ दिया ; और सिर्फ़ अपने मठ में ही रहकर भगवद्भजन में निमग्न रहने लगे। सम्भाजी के राज्याभिषेकोत्सव में श्रीरामदास स्वामी स्वयं नहीं गए थे ; किंतु अपने एक महंत को भेज दिया था। कुछ दिनों के बाद सम्भाजी के अत्याचारों का समाचार पाकर समर्थ ने उनको एक उपदेशप्रद पत्र लिखा ; पर सम्भाजी ऐसे कुसंग में फँस गए थे कि उन्होंने समर्थ के उपदेश से कोई लाभ नहीं उठाया।

समर्थ का निर्वाण

हम ऊपर कह चुके हैं कि शिवाजी के स्वर्गवास होने पर श्रीसमर्थ ने अन्न छोड़ दिया था ; और सिर्फ़ थोड़ा-सा दूध पीकर रह जाते थे। इससे उनका शरीर क्षीण होने लगा। उनके शिष्यों ने प्रार्थना की कि यदि सज्जनगढ़ की शीतवायु आपके अनुकूल न हो, तो चाफल के मठ में ले चलें ; परंतु श्रीसमर्थ ने कहा कि अब हम यहाँ से कहीं नहीं जायँगे। अंत में संवत् १७३८ की माघ कृष्णा अष्टमी का दिन आ पहुँचा। इस दिन प्रातःकाल से ही श्रीरामदास स्वामी ने अपनी सब शिष्य-शिष्याओं को एकत्र करके भजन (भक्तिपदगान) करने की आज्ञा दी। दिन भर भजन होता रहा। रात को भी भजन की खूब धूम मची रही। नवमी का दिन आया। उस दिन श्रीसमर्थ स्वयं पलँग से नीचे उतरकर बैठ गए। शिष्यों के बहुत आग्रह करने पर आपने कुछ मिश्री और दाख खाकर थोड़ा-सा निर्मल जल-पान किया। थोड़ी देर बाद शिष्यों ने पलँग पर बैठने की उनसे प्रार्थना की। समर्थ ने कहा कि मुझे पलँग पर उठाकर रखो। यह आज्ञा पाकर उद्धव स्वामी उन्हें उठाने लगे ; पर वे उनसे नहीं उठ सके। यह देखकर आकाबाई नामक समर्थ की एक शिष्या भी उद्धव स्वामी के साथ उनको उठाने लगीं ; फिर भी वे नहीं उठे। अंत में दस शिष्य मिलकर उनको उठाने लगे ; पर सब विफल हुए। इसके बाद समर्थ ने सबको अलग होने की आज्ञा दी। उनके हटने पर जब वे वायु-आकर्षण करने लगे, तब सब शिष्य फूट-फूटकर रोने लगे। समर्थ ने उन सबसे कहा, "क्या आज तक हमारे पास रहकर तुम सब रोना ही सीखे हो ?" शिष्यों ने कहा, "सगुण मूर्ति जाती है ; अब भजन किसके साथ करेंगे ; और बोलने की इच्छा होने पर किससे बोलेंगे ?" समर्थ ने अंतिम उत्तर दिया, "जो मेरे पीछे मुझसे बोलना चाहें, वे दासबोध आदि मेरे

ग्रंथ पढ़ें।" इसके बाद ग्यारह बार उन्होंने "हर-हर" शब्द का उच्चारण किया ; और अंत में 'राम' शब्द के उच्चारण करते ही, समर्थ के मुख से तेज निकलकर सामने की राममूर्ति में प्रविष्ट हो गया ! भजन-गान की ध्वनि उस समय और भी गंभीर हो गई। इस प्रकार ७३ वर्ष की अवस्था में महाराष्ट्र का यह विलक्षण भगवद्भक्त और राजनीति पटु साधु 'राम' में विलीन हो गया !

समर्थ के मठ और शिष्य

श्रीरामदास स्वामी ने संपूर्ण भारतवर्ष के मुख्य-मुख्य धर्मस्थानों में और महाराष्ट्र भर में अपने मठों की स्थापना की थी। इन मठों में हनुमान्जी अथवा रामचंद्रजी की मूर्तियाँ स्थापित करवाई थीं ; और प्रत्येक मठ में अपने महंत रख दिए थे। ये महंत लोग निःस्पृह और ब्रह्मचारी रहकर लोगों में, कथा-कीर्तन के द्वारा, नीति-धर्म का प्रचार करते थे। इनमें से कई महंत स्वयं रामदास स्वामी के समान ही प्रभावशाली थे। उनके अनेक शिष्य गुप्तरूप से भी देश में संचार करते हुए प्रचार किया करते थे। इससे ठीक-ठीक यह नहीं कहा जा सकता कि उनका शिष्य-समुदाय कितना था। उनका यह ख़ास उपदेश था कि—

उत्तम गुण तितु के घ्यावे।
घेऊन जनास शिकवावें ।
उदंड समुदाय करावे।
परी गुप्तरूपें।

अर्थात् जहाँ-जहाँ जो-जो उत्तम गुण मिल सकें, सब ग्रहण कर लेना चाहिए ; फिर उन्हीं गुणों को अन्य लोगों को सिखाना चाहिए—बहुत बड़ा समुदाय एकत्र करना चाहिए ; पर गुप्तरूप से ! सो गुप्तरूप से समर्थ के बनाए हुए कितने महंत कहाँ पर काम करते थे, इसका पता लगाना कठिन ही नहीं ; बल्कि असंभव है। हाँ, उनके स्थापित किए हुए कुछ मठों और महंतों का पता अवश्य लगा है, जिनमें से मुख्य-मुख्य का नाम नीचे दिया जाता है—

१ कल्याण स्वामी डोमगाँव के मठ में। २ दत्तात्रेय स्वामी शिरगाँव के मठ में । ३ वासुदेव स्वामी कन्हेरी के मठ में। ४ देवदास दादेगाँव के मठ में। ५ उद्धव स्वामी टाकली और इंदूरबोधन के मठों में। ६ दिवाकर स्वामी चाफल के मठ में। ७ अनंत मौनी कर्नाटक के मठ में। ८ विश्वनाथ पंडित को समर्थ ने उत्तर हिंदोस्तान में भेजा था। ९ बालकृष्ण बरार प्रांत में प्रचार करते थे। १० माधव, यादव और वेणीमाधव प्रयाग प्रांत में प्रचार करते थे। ११ जनार्दन सूरत में। १२ श्रीधर रामकोट में। १३ गोविंद गोवा प्रांत में। १४ शिवराम तैलंग प्रांत में । १५ शंकर श्रीरंगपट्टन में। १६ हरिश्चंद्र अंतर्वेदी में। १७ रामकृष्ण अयोध्या में । १८ हरिकृष्ण मथुरा में । १९ जयकृष्ण मायापुरी में। २० रामचंद्र काशी में। २१ भगवंत कांची में । २२ हरी द्वारका में। २३ दयालु बदरी-केदार में । २४ ब्रह्मदास ओंकारेश्वर में। २५ बल्लाल जगन्नाथजी में। २६ हनुमान् रामेश्वर में।

इससे पाठकों को मालूम हो जायगा कि समर्थ रामदास का कार्यक्षेत्र कितना विस्तीर्ण था। ये महंत पहले बहुत दिन तक श्रीसमर्थ के पास रहकर परमार्थ की शिक्षा ग्रहण करते थे। जब वे बिलकुल निर्भय और निःशंक हो जाते थे, तब स्वतंत्ररूप से किसी मठ में स्थापित कर दिए जाते थे। श्रीरामदास स्वामी का उपदेश है कि—

महंतें महंत करावे।
युक्ति बुद्धीनें भरावे।
जाणते करून विखरावे।
नाना देशीं।

अर्थात् महंत को चाहिए ; और भी बहुत से महंत तैयार करे—उनको युक्ति और बुद्धि से भरे—इस प्रकार उनको ज्ञाता बनाकर नाना देशों में प्रचारार्थ भेज दे। महंत में निम्नलिखित गुणों की आवश्यकता श्रीसमर्थ ने अपने ग्रंथों में बतलाई है—

१ परिभ्रमण, २ विवेक, ३ कष्टसहनशक्ति, ४ मृत्यु की निर्भयता, ५ यश की लालसा, ६ वैराग्य, ७ निःस्पृहता, ८ चातुर्य या विचक्षणता, ९ मृदु वचन, १० क्षमा, ११ शांति, १२ सहिष्णुता, १३ परोपकार बुद्धि, १४ उत्कट इच्छाशक्ति और १५ ब्रह्मचर्य।

पुरुष शिष्यों की तरह रामदास स्वामी की अनेक स्त्री शिष्याएँ भी थीं; जिनमें से कुछ के नाम नीचे दिए जाते हैं।

१ सीताबाई, २ चिमणाबाई, ३ अम्बिका, ४ द्वारकाबाई,

५ भवाबाई, ६ कृष्णाबाई, ७ वेणूबाई, ८ मनाबाई, ९ अन्नपूर्णाबाई, १० गंगाबाई, ११ गोदाबाई, १२ आकाबाई इत्यादि। इनमें से कई देवियाँ वेदांत में पूर्ण निष्णात थीं; और कई ने अनेक ग्रंथों की रचना की है। ये सब देवियाँ घरों-घरों में जाकर स्त्री-समाज में धर्म और नीति का प्रचार किया करती थीं।

समर्थ के ग्रंथ

श्रीसमर्थ रामदास स्वामी का ग्रंथ-समुदाय भी बहुत बड़ा है। महाराष्ट्र प्रांत के इतिहास संशोधक ज्यों-ज्यों प्राचीन ग्रंथों की खोज करते जाते हैं, त्यों-त्यों समर्थ अथवा उनके शिष्य-शिष्याओं के लिखे हुए नवीन-नवीन ग्रंथ मिलते जाते हैं। उनके जिन ग्रंथों का अभी तक पता लगा है, वे इस प्रकार हैं—

१ दासबोध, २ रामायण, ३ मन के श्लोक, ४ चौदा शतक, ५ जनस्वभाव गोसावी, ६ पंचसमासी, ७ जुनाट पुरुष, ८ मानसपूजा, ९ जुनादासबोध, १० पंचीकरणयोग, ११ चतुर्थ योगमान, १२ मानपंचक, १३ पंचमान, १४ रामगीता, १५ कृतनिर्वाह, १६ चतुःसमासी, १७ अक्षरपदसंग्रह, १८ सप्तसमासी, १९ रामकृष्णस्तव इत्यादि।

इनके सिवाय स्फुट रचना भी बहुत है। समर्थ के एक पट्ट शिष्य थे कल्याण स्वामी। ये समर्थ के साथ सदैव रहते थे। समर्थ चाहे जैसे दुर्गम पर्वतों और घाटियों में जावें, ये उनका साथ नहीं छोड़ते थे। समर्थ के सब ग्रंथ इन्हीं के हाथ के लिखे हुए हैं। समर्थ रामदास के हाथ में एक कुबड़ी सदैव रहती थी। इसी कुबड़ी के अंदर काग़ज़, क़लम, दवात, इत्यादि सब लेखन-सामग्री रहा करती थी। समर्थ जब कभी लहर में आते, किसी शांत, एकांत, रमणीक स्थान में बैठ जाते; और अपना उपदेश पद्यात्मक रूप में बोलने लगते; और कल्याण स्वामी उसको लिपिबद्ध करते जाते थे। इसी प्रकार से उनकी सब रचना हुई है।

समर्थ की रचना पद्यात्मक, परंतु उपदेशपूर्ण है, केवल मनोरंजन के लिये उन्होंने कोई पद्य नहीं लिखा है। उनके ग्रंथों ने, उनके ज़माने में ही लोगों के अंदर विचार-क्रांति फैला दी थी; और आजकल भी महाराष्ट्र में उनके ग्रंथों का बहुत बड़ा प्रभाव है। उनके "मन के श्लोक" तो प्रत्येक आबालवृद्ध, नरनारी की जिह्वा पर नाचते रहते हैं। रामदासी सम्प्रदाय के साधु अब भी प्रतिदिन यही श्लोक गाकर घर-घर मधुकरी माँगते हुए देखे जाते हैं।

इन श्लोकों की रचना समर्थ ने भुजंगप्रयात वृत्त में की है। कहते हैं कि समर्थ के समय में मुसलमान फ़क़ीर अपने "सवाल" गा-गाकर हिंदुओं की बस्तियों में भिक्षा माँगा करते; और अपने संसर्ग से हिंदू-समाज में भ्रष्टता फैलाते थे। उनका प्रभाव समाज से हटाने के लिये श्रीसमर्थ ने, उनके सवालों की चाल पर इन श्लोकों की रचना की थी; और अपने समुदाय के लोगों के द्वारा समाज में उनका प्रचार कराया था।

समर्थ की शिक्षा

रामदास स्वामी की शिक्षा का सार निम्न-लिखित पंक्तियों में आ गया है—

पहिलें तें हरिकथा निरूपण।
दुसरें तें राजकारण।
तिसरें तें सावधपण।
सर्वविषईं।

अर्थात् पहले परमात्मा की कथा का श्रवण, मनन और कीर्तन करके अपनी आध्यात्मिक शक्ति को बढ़ाना चाहिए, फिर राज्यस्थापना का कार्य अपने हाथ में लेना चाहिए; और सबके विषय में सावधान रहना चाहिए। इसी बात को बार-बार उन्होंने बतलाया है। एक जगह और भी कहा है—

हरिकथा निरूपण।
नेमस्तपणें राजकारण।
वर्तायाचें लक्षण।
तेंहि असावें।

अर्थात् हरिकथा निरूपण कभी मत छोड़ो। राजनैतिक कार्यों को नियमानुसार और सावधानी के साथ करो, साथ ही व्यवहारज्ञान भी अवश्य होना चाहिए।

समर्थ का विश्वास था कि जब तक परमात्मा की कृपा का आधार न होगा, मनुष्य का कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। उन्होंने कहा है कि—

सामर्थ्य आहे चळवळेचें।
जो जो करील तयाचें।
परंतु येथें भगवंताचें।
अधिष्ठान पाहिजे।

अर्थात् आंदोलनकारी लोगों में सामर्थ्य होती है; और

जो आंदोलन करेगा, उसे सफलता अवश्य प्राप्त होगी ; पर उसमें भगवान् का अधिष्ठान चाहिए ।

समर्थ रामदास स्वामी ने अपने ग्रंथों में गहरी से गहरी राजनैतिक शिक्षा दी है ; परंतु धर्म का आधार उन्होंने मुख्य बतलाया है । देखिए आप क्या कहते हैं—

राजकारण बहुत करावें ।
परंतु कलोंच न थावें ।
परपीडेवरी नसावें ।
अंतःकरण ।

अर्थात राजनीति के कार्य बहुत करने चाहिए ; किंतु उनको मालूम न होने देना चाहिए—गुप्त रखना चाहिए—साथ ही हृदय में परपीड़ा का भाव न रखना चाहिए । अर्थात् राजनीति में भी अहिंसाभाव रखना चाहिए । ऐसे ही उपदेशों का प्रभाव छत्रपति शिवाजी पर पड़ा था। शिवाजी की सफलता का मुख्य रहस्य यही है कि उन्होंने अपनी स्वराज्य-स्थापना में प्राण-हानि-व्यर्थ रक्तपात—कभी नहीं होने दिया—जहाँ तक हो सका, चातुर्य और युक्ति से ही काम लेकर शत्रुओं का दमन किया है ।

नीचे समर्थ रामदासजी का कुछ राजनैतिक उपदेश दिया जाता है, उससे उनकी राजनैतिक शिक्षा का पूरा-पूरा स्वरूप पाठकों के ध्यान में आ जायगा ।

तेथें कोणाचें चालेना ।
अणुमात्र अनुमानेना ।
कट घालोनि राजकारणा ।
लोका लावा ।

अर्थात ऐसी जगह जाकर रहे कि जहाँ किसी की कुछ भी न चल सके—जहाँ किसी का अणुमात्र भी अनुमान न चले : और वहीं से गुप्त षड्यंत्र करके लोगों को 'राजकारण में' लगावे ।

लोकीं लोक वाढ विले ।
तेणें असमाद भाले ।
भूमंडलीं सत्ता चाले ।
गुप्तरूपें ।

अर्थात् वहीं, गुप्त स्थान में रहकर, खूब समुदाय बढ़ावे, इससे असंख्य लोग बढ़ते जावेंगे ; और सारे भूमंडल में गुप्तरूप से उसकी सत्ता चलेगी ।

लोक बहुत शोधावे ।
त्यांचे अधिकार जाणावे ।
जाणा जाणों न धरावे ।
जवली दुरी ।

अर्थात् बहुत से लोगों को खोज-खोजकर रखना चाहिए—उनकी योग्यता परखनी चाहिए ; और फिर उनको पास, अथवा दूर (जो जिस योग्य हो) रखना चाहिए ।

अधिकार पाहोनि कार्य सांगणें ।
साक्षेप पाहोनि विश्वास धारणें ।
आपला मगज राखणें ।
काहीं तरी ।

अर्थात् उन लोगों की योग्यता देखकर वैसा ही उनको काम बतलाना चाहिए—और उनका उद्योग देखकर वैसा ही उनका विश्वास करना चाहिए । इसके सिवाय अपना निरीक्षण उन पर पूरा-पूरा रखना चाहिए ।

हें प्रचितीनें बोलिलें ।
आधीं केलें मग सांगितलें ।
मानेल तरी पाहिजे घेतलें ।
कोणी एके ।

अर्थात (श्रीसमर्थ रामदास स्वामी कहते हैं कि) यह जो कुछ हमने बतलाया ; सब हमारे अनुभव की बात है—पहले हमने किया है, तब बतलाया है । यदि किसी को पसंद आवे, अथवा उससे हो सके, तो इसको ग्रहण करे ।

इससे अधिक और स्पष्ट शिक्षा क्या हो सकती है ? इसी प्रकार का समर्थ का आध्यात्मिक उपदेश भी है । बल्कि अध्यात्म के विषय में आपने विशेष ज़ोर दिया है । आपकी सम्मति है कि साधारण सांसारिक बातों की अपेक्षा आध्यात्मिक शक्ति के अभ्यास की ओर मनुष्य को विशेष ध्यान देना चाहिए—आध्यात्मिकता के बिना मनुष्य व्यावहारिक कार्यों में भी सफल नहीं हो सकता । जब तक आत्मानात्म-विवेक मनुष्य को नहीं हो जायगा—देह की नश्वरता और आत्मा की अमरता का प्रत्यक्ष अनुभव जब तक मनुष्य को नहीं हो जायगा, तब तक उसमें निर्भयता अथवा कष्टसहिष्णुता की शक्ति भी नहीं आ सकेगी ।

समर्थ ने अपने उपदेश में लोकोद्धार के तीन उपाय बतलाए हैं। पहला नीतिस्थापना, दूसरा धर्मस्थापना और तीसरा राज्यस्थापना। आपके विचार से राज्यस्थापना भी इसी हेतु से होनी चाहिए कि जिससे स्वतंत्रतापूर्वक लोगों में धर्म का प्रचार किया जा सके; क्योंकि जब तक स्वराज्य नहीं हो जाता, तब तक धर्मप्रचार में भी, विधर्मी राज्य के कारण, अनेक बाधाएँ उपस्थित हुआ करती हैं।

अस्तु। विस्तार-भय से हम समर्थ की शिक्षा के और अधिक अवतरण नहीं दे सकते। उनकी शिक्षा का पूर्ण रहस्य जानने के लिये उनके ग्रंथों का ही अवलोकन करना चाहिए।

समर्थ के कवितासंबंधी विचार

श्रीसमर्थ अपने समय के साधु कवि थे। केवल कविता करना उनका लक्ष्य नहीं था; किंतु ग्रंथ-रचना उस समय गद्य में नहीं होती थी, पद्य में होती थी, इसी कारण उन्होंने पद्यात्मक रचना का अनुसरण किया है। उनका मुख्य उद्देश्य लोगों को सन्मार्ग में लगाना था; और इसी उद्देश्य को लेकर उन्होंने अपनी पद्य-रचना की है। इसीलिये हम उनको साधु कवि कहते हैं। उनकी कविता प्रसाद-गुण से पूर्ण है; और उसमें उपमा, अलंकार, दृष्टांत, इत्यादि कविता के रमणीय गुणों का भी पूरा-पूरा समावेश है। परंतु उन्होंने अपने ग्रंथों में उपर्युक्त गुणों की योजना, किसी काव्य-ग्रंथ की तरह, केवल रमणीयता अथवा चमत्कार उत्पन्न करने के लिये, नहीं की है—किंतु अपने उपदेश को अधिक प्रभावशाली बनाने के हेतु से ही उनका उपयोग किया है। उनके ग्रंथों में एक अद्भुत प्रकार की वक्तृत्वशक्ति पाई जाती है। विषय-निरूपण का प्रवाह ऐसा अप्रतिबद्ध है, शब्दों की योजना ऐसी समुचित है; और विचार-पद्धति ऐसी चित्ताकर्षक है कि पढ़नेवाले को यही भास होता है कि मानो कोई साक्षात् बृहस्पति या वाचस्पति व्याख्यान दे रहा है। निःसंदेह, जब वे अपने श्रोताओं के सामने कथा या कीर्तन करने के लिये उपस्थित होते होंगे, उस समय उनकी वक्तृत्व-शक्ति से श्रोता मंत्र-मुग्ध से हो जाते होंगे; और उनके आचरण में विलक्षण परिवर्तन उपस्थित होता होगा।

उपर्युक्त विवेचन से पाठकों को मालूम हो जायगा कि श्रीसमर्थ किस श्रेणी के कवि थे। आधुनिक कवियों की दृष्टि से भी उनके ग्रंथों में अनेक काव्य-गुण पाए जाते हैं। उनकी रामायण में वीर-रस का अच्छा परिपाक हुआ है। उनके पदों और अभंगों में करुणरस का अनुपम आविर्भाव हुआ है। दासबोध में 'निद्रा' का निरूपण करते समय हास्य और बीभत्सरस का भी उन्होंने अच्छा चित्र खींचा है। इसके सिवाय अन्य काव्य-चमत्कृतियाँ भी उनकी रचनाओं में पाई जाती हैं।

अब यह देखना चाहिए कि कविता के विषय में समर्थ के क्या विचार थे। समर्थ बालब्रह्मचारी साधु थे इसलिये शृंगार-रस से स्वाभाविक ही उनको घृणा थी। अतएव कथा-कीर्तन करते समय उन्होंने शृंगार-रस का निषेध किया है—

शृंगारादि नवरसिक।
त्यां मध्यें सांडावें एक।
स्त्रियादिकाचे कौतुक।
वर्णूंच नये॥ १॥
लावण्य स्त्रियांचें वर्णितां।
विकार बाधिजे तत्त्वता।
धारिष्टापासून श्रोता।
चळे तत्काल॥ २॥
म्हणोनि तें त्यागावें।
जे बाधक या स्वभावें।
घेतां अंतरीं ठसावें।
ध्यान स्त्रियांचें॥ ३॥

अर्थात् शृंगार इत्यादि नव रसों में से एक (शृंगार-रस) को छोड़ देना चाहिए। स्त्रियादिकों के कौतुक का वर्णन कदापि न करना चाहिए। क्योंकि स्त्रियों के लावण्य का वर्णन करने से स्वाभाविक ही मन में विकार उत्पन्न हो जाता है; और श्रोताओं का धैर्य विचलित हो जाता है। इसलिये इसको छोड़ देना चाहिए। यह रस स्वाभाविक ही बाधक है। इसका ग्रहण करने से स्त्रियों का ही ध्यान हृदय में भर जाता है।

समर्थ रामदास स्वामी ने समस्त कवियों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। एक ढीठ कवि, दूसरे पाठ कवि और तीसरे प्रासादिक कवि। ढीठ कवि वे हैं, जिनके अंदर कोई विशेष भाव नहीं है; और न कुछ अभ्यास

या अध्ययन ही है। सिर्फ़ कवि बनने की लालसा से, ढिठाई के साथ, तुक जोड़ते हैं। ऐसे कवियों को कविता में बड़ा प्रयास पड़ता है। उनकी कविता में स्वाभाविकता बिलकुल नहीं होती, कृत्रिमता होती है। ऐसी कविता से कोई लाभ नहीं। दूसरे पाठ कवि वे हैं, जिनके पास अपना विशेष विषय (मेटर) कुछ भी नहीं है। इधर-उधर जो कुछ पढ़ा अथवा सुना है, उसी के आधार पर तुकबंदी करते रहते हैं। ऐसे कवियों के भाव और भाषा की रचना अथवा शैली सब दूसरों की उच्छिष्ट होती है। अनूठापन कुछ भी नहीं होता। तीसरे कवि प्रासादिक हैं, जिन पर परमात्मा की और सरस्वती की प्रसन्नता है; और जो अपनी उपज से सुंदर, सरल और मनोरम रचना करते हैं। ऐसे ही भक्त कवियों को श्रीसमर्थ ने श्रेष्ठ माना है। इनके विषय में श्रीसमर्थ कहते हैं—

नाना ध्यानें नाना मूर्ती।
नाना प्रताप नाना कीर्ती।
तयापुढें नरस्तुती।
तृणतुल्य वाटे।
× × ×
त्याचे भक्तीचें कौतुक।
तया नांव प्रासादिक।
सहज बोलतां विवेक।
प्रगट होये।

अर्थात् प्रासादिक कवि परमात्मा और उसकी सृष्टि के नाना प्रकार के ध्यानों, नाना प्रकार की मूर्तियों, उनके नाना प्रकार के प्रताप और कीर्तियों का वर्णन करता है। पेट के लिये नरस्तुति नहीं करता है। किसी विशेष व्यक्ति को खुश करने के लिये कविता करना—चाटुकारी करना—वह तुच्छ समझता है। ऐसा कवि अपनी स्वाभाविक स्फूर्ति में आकर जो भक्ति-विषयक कविता करता है, वही प्रासादिक कविता है। वह जो कुछ कहता है, उसमें स्वाभाविक ही विवेक की बात रहती है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी यही कहा है—

भगति-हेतु बिधि-भवन बिहाई।
सुमिरत शारद आवति धाई।
कवि कोविद अस हृदय बिचारी।
गावहिं हरि जस कलिमलहारी।
कीन्हें प्राकृत-जन-गुन-गाना;
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।

अर्थात् भक्ति का वर्णन करने के लिये शारदा (वाणीरूप से) सुखमय विधि-भवन को छोड़कर कवियों के हृदय में दौड़ती हुई आती है। और यही समझकर कोविद कवि, कलिमल को हरण करनेवाला हरि-यश गाते हैं। अपने पेट के लिये, बलात् वाणी को कष्ट देकर, प्राकृत जनों का गुणगान करने से, गिरा (सरस्वती या वाणी) सिर धुनकर पछताती है।

कविता के बहुत से लक्षण श्रीसमर्थ ने दासबोध में दिए हैं। विस्तारभय से हम विशेष यहाँ नहीं लिख सकते। तथापि दो-एक अवतरण देना आवश्यक है। आप कहते हैं—

कवित्व शब्द सुमनमाला।
अर्थ परिमल आगला।
तेणें संत षट्पदकुळा।
आनंद होये।

अर्थात् सुंदर कविता मानों शब्द-सुमनों की एक माला है, जिसमें सुंदर अर्थ का परिमल भरा हुआ है। भक्तगण, जो भ्रमर हैं, उससे आनंद प्राप्त करते हैं।

ऐसी माला अंतःकरणीं।
गुंफून पूजा रामचरणीं।
ओंकारतंत अखंडपणीं।
खंडूं च न ये।

अर्थात् ऐसी ही सुंदर माला को हृदय में गूँथकर श्रीरामचंद्रजी के चरणों में अर्पण करते हुए उनकी पूजा करो। उस माला में ओंकार का तंतु अखंडरूप से व्याप्त रखो। इसका खंडन न होने पावे। अर्थात् ईश्वर-भक्ति को मत छोड़ो।

कैसा सुंदर रूपक है! कवित्व के अनेक लक्षण बतलाते हुए समर्थ ने कहा है—

जेणें सद्बुद्धी लागे।
जेणें पाषांड भंगे।
जेणें विवेक जागे।
या नाव कवित्व।

अर्थात् कविता वही है, जिससे लोगों में सद्बुद्धि उपजे, जिससे पाखंड का खंडन हो, जिससे विवेक जागृत हो।

कवियों की वंदना करते हुए श्रीसमर्थ ने कवियों का सच्चा स्वरूप क्या ही सुंदरता के साथ प्रकट किया है—

आतां वंदूं कवीश्वर।
शब्दसृष्टीचे ईश्वर।
नातरी हे परमेश्वर।
वेदावतारी॥ १॥
कीं हें सरस्वतीचें निजस्थान।
कीं हे नाना कलांचे जीवन।
नाना शब्दांचें भुवन।
येथार्थ होये॥ २॥
कीं हे पुरुषार्थाचें वैभव।
कीं हे जगदीश्वराचें महत्व।
नाना लाघवें सत्कीर्तीस्तव।
निर्माण कवी॥ ३॥

अर्थात् अब कवीश्वरों की वंदना करता हूं, जो शब्द-सृष्टि के ईश्वर हैं, अथवा जो वेदावतारी ईश्वर हैं। अथवा ये सरस्वती के निजस्थान हैं, या ये नाना कलाओं के जीवन हैं, अथवा शब्दों के यथार्थ भुवन हैं॥ १-२॥ अथवा ये पुरुषार्थ के वैभव हैं, अथवा जगदीश्वर के साक्षात् महत्त्व हैं, जो नाना प्रकार की सुंदरता और सत्कीर्ति का वर्णन करने के लिये निर्माण हुए हैं।

श्रीसमर्थ ने कवियों का इतना सुंदर वर्णन किया है, ऐसी-ऐसी अनूठी उत्प्रेक्षाएँ की हैं कि दासबोध का यह पूरा-पूरा अध्याय पढ़ने योग्य है। परंतु यहाँ पर कुछ और अवतरण दिए बिना हमारा जी नहीं मानता। देखिए कवियों का सामर्थ्य प्रकट करते हुए आप क्या कहते हैं—

कवि स्वधर्माचा आश्रयो।
कवि मनाचा मनोजयो।
कवि धार्मिकाचा विनयो।
विनय कर्ते॥ १॥
कवि वैराग्याचें संरक्षण।
कवि भक्तांचें भूषण।
नाना स्वधर्मरक्षण।
ते हे कवी॥ २॥

अर्थात् कवि स्वधर्म के आश्रय हैं, कवि मन के मनोजय हैं, कवि धार्मिक के विनय हैं, जो विनय के निर्माण-कर्त्ता हैं॥ १॥ कवि वैराग्य का संरक्षण हैं, कवि भक्तों के भूषण हैं; और कवि ही नाना प्रकार से स्वधर्मरक्षा करते हैं॥ २॥

इससे अधिक कवियों का और कौन सा सामर्थ्य हो सकता है? समर्थ आगे फिर कहते हैं—

कीं हे अमृताचे मेघ वोळले।
कीं हे नवरसाचे वोघ लोटले।
नाना सुखाचे उचंबळले।
सरोवर हे॥ १॥
कीं हे विवेकनिधीचीं भांडारें।
प्रकट जालीं मनुष्याकारें।
नाना वस्तूचेनि विचारें।
कों दाटलं हे॥ २॥

अर्थात् ये (कवि लोग) मानों अमृत के मेघ उमड़े हैं, अथवा ये नवरस के सोते उफना रहे हैं; अथवा नाना-प्रकार के सुखों के ये सरोवर उमड़ रहे हैं॥ १॥ अथवा विवेकरूपी द्रव्य के ये भांडार हैं, जो मनुष्याकार से प्रकट हुए हैं। नाना प्रकार की तथ्य बातों का विचार करने के लिये मानों ये ज्ञानभांडार खुल पड़े हैं॥ २॥

समर्थ के इस वर्णन से ज्ञात हो जायगा कि उन्होंने कवियों को कितना महत्त्व दिया है, कवियों के विषय में उनके कैसे उच्च विचार थे।

अब समर्थ के संबंध की एक-दो आख्यायिकाओं का उल्लेख करके हम इस बढ़ते हुए चरित्र-लेख को समाप्त करेंगे।

शिवाजी का राज्यार्पण

एक दिन श्रीरामदासजी भिक्षा माँगते हुए सितारे में शिवाजी के महल पर पहुँच गए; और "जय-जय श्रीरघुवीर समर्थ" की गर्जना करके भिक्षा के लिये पुकार की। समर्थ का ख़याल था कि आज शिवाजी महलों में नहीं हैं—कहीं बाहर गए हैं। पर संयोगवश शिवाजी मौजूद थे। उन्होंने जब समर्थ की आवाज़ पहचानी, तब उनका हृदय गद्गद हो गया, वे सोचने लगे कि ऐसे सत्पात्र सद्गुरु की झोली में आज क्या भिक्षा डाली जाय। कुछ सोचकर तुरंत ही उन्होंने एक काग़ज़ पर यह लिखा कि "श्रीसमर्थ के चरणों में सब राज्य अर्पण किया।" इस पत्र पर सिक्कामोहर करके वे बाहर निकले; और वह काग़ज़ का टुकड़ा समर्थ की झोली में डालकर साष्टांग प्रणाम किया। समर्थ ने पूछा, "क्यों शिवबा

यह कैसी भिक्षा डाली ? मुट्ठी भर चावल झोली में डाले होते, तो आज दोपहर का समय कटता ! आज क्या काग़ज़ का एक टुकड़ा ही समर्पित करके हमारा आतिथ्य करते हो ?" इतना कहकर जब उन्होंने वह काग़ज़ का टुकड़ा निकालकर पढ़ा, तब मालूम हुआ कि शिवाजी ने उनको अपना सब राज्य अर्पण कर दिया है। इस पर समर्थ ने शिवाजी से पूछा, "क्यों शिवबा, राज्य तो तुमने हमको दे दिया, अब तुम क्या करोगे ?" शिवाजी ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की "आपकी चरण-सेवा में रहकर जीवन बितावेंगे।" यह सुनकर समर्थ हँसे और इस आशय का उपदेश दिया कि "बाबा ! हम बैरागी हैं, राज्य लेकर क्या करेंगे ; राज्य करना तुम्हारा क्षत्रियों का ही काम है। यदि तुम्हारा बहुत आग्रह है, तो राज्य हमारा ही समझो ; और हमारी तरफ़ से तुम कार्यकर्त्ता बने रहो।" यह कहकर, शिवाजी के बहुत आग्रह करने पर, उन्होंने अपनी पादुकाएँ दे दीं ; और मराठा-राज्य का निशान (राष्ट्रीय झंडा) भगवे रंग का रखने के लिये आदेश दिया। मराठों का "भगवा झंडा" इतिहास प्रसिद्ध है।

शिष्य-गर्व-परिहार

एक बार शिवाजी महाराज एक क़िला बनवा रहे थे। क़िले में लगे हुए हज़ारों कर्मचारियों को देखकर स्वाभाविक ही उनके मन में यह गर्व आया कि देखो— हम कितने सामर्थ्यशाली हैं—इतने लोगों को अन्नदान करते हैं। इतने ही में अकस्मात् समर्थ वहाँ से आ पहुँचे। उन्हें देखकर शिवाजी महाराज ने दंडवत् प्रणाम किया ; और अकस्मात् पधारने का कारण पूछा। समर्थ ने कहा, "तू श्रीमान् है। हज़ारों मनुष्यों का पालनकर्त्ता है। इसलिये मैं तेरा कारख़ाना देखने आया हूँ।" शिवाजी ने कहा कि यह सब आप ही की कृपा का फल है। इस प्रकार वार्तालाप करते हुए समर्थ की दृष्टि सामने पड़े हुए एक पत्थर की ओर गई। उस पत्थर को देखकर समर्थ ने कहा कि एक बेलदार को बुलाकर इस पत्थर को अभी तुड़वा डालो। शिवाजी की आज्ञा पाकर एक बेलदार उस पत्थर को घन लेकर तोड़ने लगा। समर्थ ने कहा कि इस पत्थर में बहुत धक्का न लगने पावे। सहारे के साथ इसके दो टुकड़े करो। पत्थर के दो टुकड़े होते ही भीतर के पोले भाग से कुछ पानी और एक मेढकी निकल पड़ी ; यह चमत्कार देखकर सबको बड़ा अचंभा हुआ। समर्थ ने कहा, "देख शिवबा, तेरी योग्यता कैसी विचित्र है। तेरी लीला कैसी अगाध है ! देख, ऐसी आश्चर्यजनक बात किससे हो सकती है ?" शिवाजी ने कहा, "इसमें मेरा क्या है ?" समर्थ ने कहा, "नहीं, यह सब तेरी ही लीला है ! तेरे सिवाय सब जीवों का पालन कौन कर सकता है ?" शिवाजी मन ही मन समझकर बड़े लज्जित हुए ; और समर्थ के चरणों पर गिरकर क्षमा माँगी। समर्थ ने कहा, "मैं इस समय तुझको क्षमा करने के लिये ही यहाँ आया हूँ। परंतु इतना बतला देना आवश्यक है कि पालन करनेवाला कोई दूसरा है। तू उसका भंडारी है। तेरे हाथ से वह सबको दिलाता है। गर्व करना वृथा है।" शिवाजी महाराज ने समर्थ के चरणों पर मस्तक रखकर बार-बार क्षमा-प्रार्थना की।

इसी प्रकार की अनेक आख्यायिकाएँ श्रीसमर्थ रामदास स्वामी के चरित्र-ग्रंथों में लिखी हुई हैं। वामन पंडित, सदाशिवशास्त्री, इत्यादि कई संस्कृत के उद्भट विद्वानों को समर्थ ने अपने अलौकिक चमत्कारों से चमत्कृत करके उनका अभिमान छुड़ाया था। और अंत में वे लोग समर्थ के वश होकर उनके शिष्य हो गए थे। इन संस्कृत के विद्वानों को समर्थ ने अपना शिष्य बनाकर उनसे संस्कृत की जगह पर मराठी में काव्य-रचना कराई थी। इन उद्भट विद्वानों ने मराठी में जो काव्य-ग्रंथ लिखे हैं, उनका आज दिन मराठी-साहित्य में बड़ा आदर है।

लक्ष्मीधर वाजपेयी

टूटी आशाएँ

नीरव नीले नभ-मंडल से टूटे आशा तारे,
अंचल फैलाकर कह दौड़ा मैं यों आ रे, आ रे ;
पर रुक सके नहीं आकर भी वे झीनी चादर में,
उन्हें खोजता फिरा यहाँ इस दर में फिर उस दर में।
नवल प्रभाताकाश ज़ोर से हँसा देखकर मुझको,
पूछा कहाँ चला आया है कौन यहाँ पर तुझको :
लहरों का अविराम नृत्य थम गया मुझे ज्यों देखा,
कोई भी इन दुःख-रश्मियों का कर सका न लेखा।

इस विक्षुब्ध शोक-सागर में लहरें उठतीं जितनी,
पहरों उन पर बैठ किलोलें करता हूँ मैं उतनी;
अंतस्तल में वही पुरानी स्मृतियाँ चुभतीं आकर,
कुंठित होतीं आवर्तन मादकता से टकराकर।

पद्मकांत मालवीय

"एलियोनोरा" *

(गद्य-काव्य)

मेरा हृदय स्वजाति की कल्पना-सत्त्व एवं लालसा-ललक के अहंकार से पूर्ण था। मनुष्य मुझे पागल कहते थे। पर अहा! पागलपन भी क्या ही सुंदर स्वर्गीय वस्तु है! क्या पागलपन संसार का सर्वोच्च ज्ञान नहीं है? क्या मनुष्यमात्र के समस्त कार्य विचार-रोग से ग्रसित नहीं हैं? अह! अह!! पागलपन अद्भुत है, अनोखा है! जो मनुष्य दिवसकाल में भी सुंदर स्वप्न चित्रपटों का विलोकन करते हैं, उन्हें अलौकिक ही आनंद प्राप्त होता है। उन्हें निद्रावस्था में भी अनंत की दीप्यमान झलक दीख पड़ती है; उन्हें ज्ञात होता है मानों वे किसी गुप्त सफलता के सिंहासन पर आरूढ़ हों, वे इस संसाररूपी अनंत अगाध विस्तृत महासागर में दिशा-निरूपण-यंत्र-हीन ही प्रविष्ट होते हैं, एवं वीर धीर पुरुषों की भाँति संशयात्मक कार्य कर पुनः सफलता की मृदु मुस्कान करते बाहर आ खड़े होते हैं।

हाँ, तो मैं पागल हूँ। मैं स्वीकार करता हूँ, मैं पागल हूँ; पर मेरे मस्तिष्क की अद्भुत ही दशा है। मेरे मस्तिष्क का एक भाग ज्ञान एवं तर्क-ज्योति के प्रचंड प्रकाश से प्रज्वलित है; परन्तु दूसरा भाग संशय, भय, अधैर्य रूपी नीरव अन्धकार में लिप्त है। मेरी कथा भी इसी प्रकार ज्ञान-अज्ञान, दृढ़ता-अदृढ़ता के विपरीत भावों से पूर्ण है।

वायु के झोंकों से लहराती हुई लतिकाओं की भाँति अपने यौवन-काल में मैंने जिस पीयूष-मयी प्रेयसी के प्रेम-पाश में बँध अपना जीवन अर्पण कर दिया था, वह मेरी मौसी की इकलौती पुत्री थी। उसका नाम था "एलियोनोरा।" अहा! मुझे आज भी स्मरण है, जिस समय सूर्यदेव घन-समूह में आच्छन्न हो अपनी क्षीण किरणों को चहुँ दिशि विस्तृत करते, मैं और "एलियोनोरा" दोनों ही प्रेम-भाव से उस बहु-रंग-रंजित घाटी की हरी घासों पर वृक्षों की सघन छाया में बैठ किस प्रकार सानन्द-वार्तालाप करते। वहाँ किसी भी अनजान व्यक्ति के आने की सम्भावना न थी; क्योंकि वह मनोरम स्थल चहुँ दिशि सौंदर्य-पूर्ण पर्वतों से घिरा हुआ था; हमारे स्वर्गमय स्थल का एकमात्र मार्ग अलौकिक छटाधारी गुलाबी पुष्पों से आच्छन्न था। उस स्थान तक पहुँचने में अनेकों मृदु हास्य-क्रीड़ा-पूर्ण पुष्पों के कोमल शीतल हृदयस्थल को कुचलना पड़ता। किस निष्ठुर का हृदय इतना पाषाण था कि उन नव-विकसित सुरभित कुसुमों को इस प्रकार कठोर पैरों से मसल डाले? अतएव उस निर्जन स्थान में सारे संसार से विरक्त हम तीन ही प्राणी स्वराज्य करते... मैं, "एलियोनोरा", एवं उसकी माता।

उच्च पर्वत-शिखर से एक सर्पवत् धारा, पुष्पों के सुगन्धों से अपने बल को सुगन्धित करती, हमारी पर्ण-कुटीर के पास से ही प्रवाहित होती। वह निर्मल धारा समस्त सुन्दर वस्तुओं से भी उज्ज्वल थी; पर नहीं एलियोनोरा के नेत्रों से कम ही। हम प्रेमवश उस धारा को "शान्त सरिता" कहते। उसकी धारा में एक अद्भुत अलौकिक ही, शान्त स्थिर प्रवाह था। उस धारा का स्वच्छ निर्मल जल पत्थर के छोटे-छोटे चमकीले टुकड़ों पर से, नव-विवाहिता, गज-गामिनी युवती की भाँति बड़े ही शान्त भाव से प्रवाहित होता। उस स्थिर निःशब्द धारा के पारदर्शक वक्षःस्थल में पड़े चमकीले पत्थर अद्भुत दृश्य दिखलाते।

"शान्त सरिता" के चित्रपट-सम सुन्दर कूल पर हरी-हरी घासों एवं नील कुसुमों को निरख हृदय एक-बारगी मानों उनमें लिप्त हो जाता। चहुँ दिशि शून्यारण्य-स्वप्नों की भाँति लम्बे-लम्बे वृक्ष मानों स्वर्ग-देव के चरणस्पर्श की स्पर्धा से आकाश-मण्डल की ओर उठते जाते। तिंदुक वृक्षों के समान उनकी छाल पर्वत-हिम से भी अधिक चिकनी थी, पर प्रियतमा "एलियोनोरा" के कपोलों से कम, सारा स्थल, एक मनोरंजक चित्रपट था।

---

* अँगरेज़ी-साहित्य की सर्वोत्तम सात गल्पों में से एक।

हृदय पर प्रेम-सर्प के लोटने के पूर्व, मैं इसी सुंदर स्वर्ग में "एलियोनोरा" के सुंदर हस्तकमलों को अपने हाथों में ले, पंद्रह वर्ष तक विहरण करता रहा था।... आह! वह दिन "एलियोनोरा" के जीवन के पंद्रहवें एवं मेरे बीसवें वर्ष का अंतिम दिवस था। संध्या का शीतल स्नेह समीर मंद-मंद मुस्कान से बह रहा था। शांत-सरिता के सुंदर दुकूल पर सर्प-सम वृक्षों के नीचे हम और "एलियोनोरा" गाढ़ प्रेमालिंगन में बँधे हुए थे। सरिता के निर्मल जल में अपने प्रतिबिम्बित प्रतिबिम्ब पर ही दृष्टि गड़ी हुई थी। निस्तब्धता छा रही थी; दोनों के वक्षःस्थल (मानों मिलकर) धड़क रहे थे। अनंत समय से हृदय में दबा प्रेम-पुष्प आज सुशीतल अनुकूल समीर पा स्फुटित हो उठा। एकाएक सारे दृश्य में एक अद्भुत परिवर्त्तन छा गया। जो सूखे वृक्ष कभी भी पुष्पित पल्लवित नहीं हुए थे, आज अकस्मात उनमें हरियाली छा गई; उनमें सुंदर चमकीले उज्ज्वल पुष्प तारिकाओं की भाँति फट पड़े। समस्त घासों में गाढ़ी हरियाली छा गई; उज्ज्वल सुमनों में, न जाने कहाँ से, मानिक-रक्त रंग छा गया। 'शांत-सरिता' में मानो सुवर्ण रंग की मछलियाँ अभिनव कल्लोल करने लगीं, सहसा उनके वक्षःस्थल से सुरीली तान प्रारम्भ हो मधुर-भाषित गायन में परिणत हो गई। स्वर मुरली से भी मधुर था; पर "एलियोनोरा" की कोकिल-कलित वाणी से कम। सारे आकाश-मण्डल में, सूर्य-देव की अंतिम सुनहली किरणों से रंजित घन-मण्डल रंग-बिरंगी अद्भुत ही आभा छिटका रहे थे। सारा संसार ही प्रेम के मिश्रित रंगों से रंजित दीख पड़ा।

उस समय "एलियोनोरा" की शोभा...? आह! मानों स्वयं प्रणय-देवि अपने सर्व सुंदर वेष में आ पधारी हो!...पर उसके हृदय में आडंबर नहीं था; उसके हाव-भाव में संसार चातुर्य न था। वह पुष्पदेवि पुष्पों की ही भाँति सुंदर, स्वच्छ, पवित्र एवं अबोध थी। उसकी हृदय-सरिता में प्रेम-बाढ़ बढ़ आने पर भी, बाढ़ मानो उसी में लिप्त थी। उसका कोई शब्द भी उसकी प्रणय-विह्वलता को प्रकट नहीं करता था: वह शांत थी, सरल थी।

पर उसकी प्रेम-बाढ़ को हृदय-सेतु अधिक समय तक रोक न सका। एकाएक इस अनित्य जीवन की लीला में चिंता-बद्ध हो वह अधीर हो उठी। उसने स्वप्न में देखा था यमराज का हस्त उसके वक्षःस्थल पर है। आह! क्या उसने सौंदर्य की प्रवीणता केवल मृत्यु-धूल में मिश्रित कर देने ही के लिये पायी थी। उसका हृदय मृत्यु की यातनाओं का ध्यानकर एकबारगी ही काँप उठा। उसे अनायास ही शंका हो उठी कि मैं उस सुंदर पक्षी को उस मनोरम स्थल के सुवर्ण पिंजड़े में पाल, उसकी जीवन-पक्षी के उड़ जाने के पश्चात् अपना अगाध प्रेम, जो इस समय "एलियोनोरा" मात्र का था, किसी अन्य युवती को समर्पण कर दूँगा। उसी क्षण मैं अपनी प्रेम-मंदिर प्रेयसी के कमल-पदों पर गिर पड़ा; एवं ईश्वर को साक्षी दे इसकी पवित्र प्रतिज्ञा की कि जीवन-बद्ध मैं अपना प्रेम किसी अन्य पर न्योछावर नहीं करूँगा। कर्ण में इन शब्दों के प्रविष्ट होते ही उसका कुम्हलाया मुखड़ा खिल पड़ा; उसके मुख-मण्डल पर संतोष, हर्ष एवं गर्व की एक अद्भुत आभा झलक पड़ी। वह अब सुख-पूर्वक असार-संसार से अपनी भौतिक लीला समाप्त कर सकेगी।

कुछ दिनों ही पश्चात् "एलियोनोरा" ने एक दिन मेरे अधर-पल्लवों का मद-पूर्ण चुंबन करते हुए कहा—"स्वर्ग से भी कभी-कभी मैं तुम्हारे दर्शन कर जाया करूँगी। प्रियतम! देखना अपनी प्रतिज्ञा भंग न करना।" उसके ये अंतिम शब्द थे। मेरे प्रेम-बाहु-पाश में ही उसने अपने प्राण विसर्जन कर दिए। मैंने पागल हो उसे वक्षःस्थल से लिपटा लिया।...मेरे जीवन-नाट्य का प्रथम अङ्क वहीं समाप्त हो गया।

उस दिवस से सारी वस्तुएँ मेरे लिये सार-हीन हो गईं। अब भी मैं उसी सौंदर्य-मय हृदयग्राही स्थल में निवास करता था। अब भी शीतल वायु 'शांत-सरिता' के दुकूल के नीले पुष्पों की भीनी सुवास लिये मंद मुस्कान करते प्रवाहित होती। अब भी चंद्रदेव तारिकाओं के संग कल्लोल करते। पर मेरे लिये उस समस्त स्थल से एक बार पुनः आश्चर्यजनक परिवर्त्तन छा गया। सूखे वृक्षों के तारिकासमान पुष्प पुनः लोप हो गए; घासों की सुखद हरियाली न मालूम किस अनंत में मिल गई। रक्त, नील पुष्प पुनः श्वेतवर्ण हो उठे। "शांत सरिता" की कल्लोलमयी सुवर्ण मछलियाँ लोप हो गईं; उनके वक्षःस्थल से निकली हुई सुमधुर तान वायु में उड़ गई। सुवर्ण

घन-समूह विलीन हो गए ; मानों उस स्थल का समस्त माधुर्य अलोप हो गया ।

परंतु प्राण-प्रिया "एलियोनोरा" के सम्मुख जो प्रतिज्ञा की थी, वह विस्मरण न होती ; रह-रहकर मेरे कानों में गुंजार उठती । मुझे रह-रहकर यही प्रतीत होता प्राण-वल्लभा "एलियोनोरा" मृदु विहास करती मेरे सम्मुख खड़ी है । पूर्ण-विकसित चंद्र का तारिकाओं के साथ कल्लोल निरख-निरख हृदय में जब जब ईर्षा उत्पन्न होती एवं जब-जब चिंता होती "एलियोनोरा" क्या तेरे पीयूष-मय अधरपल्लवों का एक बार भी चुंबन न कर सकूँगा, तभी-तभी मुझे ज्ञात होता मेरी निद्रावस्था में किसी के सुकोमल शीतल अधरों ने मेरा चुंबन कर लिया ।

पर इन काल्पनिक स्वप्न-मय भावनाओं से मेरे द्रवित तृषित हृदय को सुख नहीं मिलता था । मैं "एलियोनोरा" के वास्तविक प्रेमालिंगन, अधर-चुंबन के लिये अधीर हो उठा । "एलियोनोरा" की स्मृति मुझे अधिक सताने लगी । दुःख दुःसह होता गया ; वह रम्य सूना निर्जन स्थान भयानक दीखने लगा ; मुझे ज्ञात हुआ मैं पागल हो जाऊँगा । अंत में मैंने उस निरस स्थान को त्याग दिया ।

मैं एक अद्भुत विशाल नगर में पहुँचा । वहाँ की चहल-पहल मेरे मस्तिष्क से प्यारी "एलियोनोरा" की स्मृति भी देने को पर्याप्त थी । सुंदर दृश्य, रमणीय स्थान, प्रेम-लिप्त चुंबन, युवतियों की अद्वितीय सुंदरता मेरे मस्तिष्क में हलचल मचाने लगे । पर मेरा क्षुभित हृदय इस समय तक दृढ़ था ; अभी तक मृग-नयनी एलियोनोरा के अनुराग से परिपूर्ण था ; अब भी मुझे निस्तब्ध निशा-काल में उसकी मनोरम छवि दीख पड़ती ।......पर आश्चर्य, महाआश्चर्य, एकाएक ये मेरी सारी भावनाएँ दूर हो गईं ; एकबारगी ही सारा संसार मुझे अंधकार-पूर्ण दीख पड़ा ; अकस्मात् ही मेरा हृदय अनायास एक ओर झुक पड़ा । सम्राट्-भवन की एक सौंदर्य-मयी युवती ने मेरा चित्त आकर्षित कर लिया । बलात् ही मेरा जीवन उस देवी के चरण-कमलों में न्योछावर हो गया । सहसा मुझे ज्ञात हुआ मेरा "एलियोनोरा" के प्रति प्रेम अति तुच्छ था । इस नवीन प्रेयसी के प्रेम के सम्मुख मुझे सारी वस्तुएँ ही तुच्छ एवं अंधकार-पूर्ण दीखने लगीं । अह ! इरमनगर्ड कितनी ही सुंदर थी, उसकी छटा कितनी ही अलौकिक थी ; अह ! अह !! उसकी आभा कितनी ही अद्वितीय थी । उसके नील-नेत्र-सागर में मानों मैं अनंत गोते लगाने लगा ।

मैंने इरमनगर्ड से अनंत वैवाहिक संबंध जोड़ लिया ; "एलियोनोरा" के शाप एवं दुःख की चिंता तक न की ; न फलस्वरूप एलियोनोरा ने शाप ही दिया । हाँ, एक बार, केवल एक बार, अह ! अह !! "केवल" एक बार, उसी चिर-परिचित सुमधुर सुरीली ध्वनि ने प्रेम से काँपते हुए आह-पूर्ण शब्दों में आशीर्वाद दिया—"परमेश्वर तुम्हें खुश रक्खे, तुम्हारे जीवन में शांति प्रदान करे ।" ... स्त्री-हृदय के वास्तविक प्रेम का अलौकिक दृश्य था । * †

बाँकेविहारीलाल भटनागर "कृष्ण"

प्रेम

प्रेम है कोई ऐसा आज ,
　　नहीं लखता जो कल की राह ;
प्रेम है कोई ऐसा मज़ा ,
　　सज़ा की जिसे नहीं परवाह ।
प्रेम है देना कोई चीज़ ,
　　छोड़ वापस पाने की आस ;
प्रेम है कारण के ही बिना ,
　　किसी का कर लेना विश्वास ।

श्रीनाथसिंह

---

* अँगरेज़ी-साहित्य के लब्ध-प्रसिद्ध अमर गल्प लेखक "पो" (Poe) की प्रसिद्ध कहानी "एलियोनोरा" (Elionora) का हिंदी छायानुवाद ।—लेखक

† लेखक की बिना आज्ञा के इस गल्प को कोई भी प्रकाशित नहीं करा सकता ।—लेखक

तुलनात्मक भाषा-शास्त्र

भाषा-शास्त्र वह शास्त्र है, जो मानवी भाषा की उत्पत्ति तथा विकास के संबंध में विचार करता है और बतलाता है कि भाषा और मानसिक भावों में क्या संबंध है। तुलनात्मक भाषा-शास्त्र विश्व की समस्त प्रचलित भाषाओं की समानता के आधार पर उनका वर्गीकरण करता है। हमारे भारतवर्ष में इन दोनों विषयों पर अत्यंत प्राचीन काल में पुस्तकें लिखी गई थीं। यास्काचार्य ने निरुक्त नामक भाषा-शास्त्र लिखा और वररुचि, हेमचंद्र, पराशर प्रभृति ने अपने ग्रंथों में तुलनात्मक शैली ग्रहण की। परंतु इन लोगों ने केवल भारतीय भाषाओं पर ही विचार किया है।

प्रायः सौ वर्षों से योरप में संस्कृत का संतोषजनक प्रचार आरंभ हुआ है। योरपवासियों को ऋग्वेद का ज्ञान मैक्समूलर महोदय की कृपा से ही हुआ। और तभी से योरप के फ्रैंकबोप, ग्रिम आदि कतिपय विद्वानों के ध्यान में आया कि संस्कृत तथा योरपीय भाषाओं में विचित्र समता विद्यमान है। बस, तभी से आधुनिक तुलनात्मक भाषा-शास्त्र पर पुस्तकें लिखी जाने लगीं। इस कार्य में जर्मन-विद्वानों ने अपने सुचारु अनुसंधान द्वारा अच्छा श्रेय प्राप्त किया है।

भाषा की उत्पत्ति के विषय में यह सोचना स्वाभाविक है कि परमात्मा ने ही रचकर हमें भाषा उसी भाँति दी है जैसे जल, वायु आदि। परंतु वस्तुतः ऐसा नहीं है। पशु-पक्षी शब्दों द्वारा अपने उद्गार प्रकट करते हैं, परंतु वह भाषा नहीं। भाषा-शास्त्र का मत है कि आरंभिक अवस्था में मनुष्यों की भाषा-संबंधी दशा पशु-पक्षियों की सी थी। वे भी अपने विचारों को उद्गारबोधक शब्दों में प्रकट करते होंगे। परंतु परमात्मा ने मनुष्य को उन्नति करने की बुद्धि प्रदान की है और विभिन्न उच्चारण करने की शक्ति दी है। ये दोनों ही पशु-पक्षियों में नहीं। इन्हीं दोनों के कारण मनुष्य भाषा-निर्माण में सफल हुआ है।

मनुष्यों ने कंठ से ओष्ठ पर्यंत अवयवों का उपयोग कर 'अ' से 'म' पर्यंत शब्दों का उच्चारण किया और इस प्रकार स्वर-व्यंजनों की रचना हुई। साथ ही भाषा का उद्देश्य साधने के लिये विवक्षित अर्थों के संकेत-स्वरूप कुछ और भी सरल उच्चारण निकाले। ये संकेत आरंभिक अवस्था में बहुत थोड़े थे, अतः उनका उच्चारण बार-बार होता रहा। भाषा-शास्त्र के मत में ये संकेत अस्, दा, भू, स्था आदि क्रियाएँ थीं। इसका प्रमाण यही है कि कृदंत, तद्धित, संज्ञा आदि को विचार कर देखें, तो उनके मूल में कोई न कोई क्रिया अवश्य अवशिष्ट रहती है, जिसके आगे हम शब्द को विभक्त नहीं कर सकते। परंतु केवल क्रियाओं से उद्देश्य-विधेय का कार्य नहीं चल सकता, अतः पुरुषवाचक सर्वनाम बने होंगे।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वभाविक है कि विचार प्रकट करने के अनेक साधन होते हुए भी मनुष्यों ने क्रियावाचक शब्दों का ही उपयोग क्यों किया? क्या वे चित्र-रचना से, हस्तादिकों के संकेत से अथवा गुण-वर्णन द्वारा अपना अभिप्राय नहीं प्रकट कर सकते थे? इसका उत्तर यही है कि उन लोगों को क्रियावाचक शब्दों का मार्ग अत्यंत सुगम प्रतीत हुआ। हाँ, आरंभिक अवस्था में इन साधनों का भी उपयोग करते होंगे। भाषा में गुण-वर्णन की अपेक्षा क्रिया द्वारा अर्थ सूचित करना अत्यंत सरल है। मान लीजिए कि हमने एक विलक्षण प्राणी देखा और उसके विषय में हमें किसी अन्य पुरुष को कुछ कहना पड़ा। हमारे पास उस प्राणी के सांगोपांग वर्णन की भाषा-सामग्री नहीं। उसका एकाध गुण वर्णन करने से काम भी नहीं चल सकता। ऐसी दशा में यदि हम उस प्राणी के शब्दों का अनुकरण करके अपने हृद्गत अर्थ को सूचित करें, तो सुननेवाला मनुष्य समझ लेगा कि हमारा विवक्षित अर्थ कोई प्राणी है और यदि उसने वैसे प्राणी को देखा होगा, तो हमारे कथन को पूर्णतः जान लेगा।

भाषा सांकेतिक है, अतः उद्गारों और विचारों में कोई नैसर्गिक संबंध नहीं। यदि ऐसा कोई संबंध होता, तो विश्व की सभी भाषाओं में इनकी समानता दिखलाई पड़ती, क्योंकि सभी मनुष्यों की वागिंद्रिय समान है और आरंभिक अवस्था में उनके विचार भी समान थे।

भाषा-विकास के साथ ही स्वतंत्र प्रकार से कुछ सांकेतिक नामों का प्रादुर्भाव हुआ होगा। हम क्रियापदों में कृदंत प्रत्यय लगाकर संज्ञाएँ बना लेते हैं। इन प्रत्ययों में से कुछ अत्यंत प्राचीन हैं और कुछ क्रियाओं के विकृत

स्वरूप हैं। अतः क्रियापदों से संज्ञाओं का बनना सिद्ध होता है। इसी प्रकार विशेषण भी बने, क्योंकि संज्ञा और विशेषण में कोई वास्तविक अंतर नहीं। एक ही शब्द संज्ञा और विशेषण दोनों हो सकता है; जैसे 'यह मूर्ख है' और 'यह मूर्ख मनुष्य है।' यद्यपि संज्ञा से विशेषण बनाने में तद्धित प्रत्ययों की आवश्यकता होती है, तो भी भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इन दोनों में कोई तात्विक भेद नहीं।

संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण में कारकसूचक प्रत्यय लगाकर अव्यय सिद्ध हुए हैं। क्रिया-विशेषणों में कर्म से लेकर अधिकरण पर्यंत के किसी कारक का अर्थ रहता है, उदाहरणार्थ यहाँ, वहाँ (अधिकरण)। जब क्रिया-विशेषण का संबंध संज्ञा से होता है, तो उसे हम शब्दयोगी अव्यय कहते हैं। उभयान्वयी अव्यय भी संज्ञा और सर्वनाम में कारकसूचक प्रत्यय लगाकर बनाए गए हैं। 'यत्र तत्र' 'यादृश तादृश', 'यदि नहिं' आदि अव्यय 'यद्' और 'तद्' सर्वनामों से सिद्ध हुए हैं। हिंदी के 'जहाँ वहाँ' 'जैसा वैसा' भी 'जो' 'वह' आदि सर्वनामों से बने हैं। 'अपर' सर्वनाम से 'और' बना है। मराठी का 'आणि' और गुजराती का 'अने' संस्कृत के 'अन्यत' सर्वनाम से बने हैं।

भाषा-शास्त्रज्ञों ने संसार की सभी भाषाओं का वर्गीकरण किया और प्रत्येक वर्ग को कुटुंब की संज्ञा दी है। उनमें से एक आर्यकुटुंब है जिसमें से योरप, एशिया और भारत की प्रचलित भाषाएँ निकली हैं। इस लेख में आर्यकुटुंब के संबंध में ही विवेचना की गई है।

आर्यकुटुम्ब की सभी भाषाओं में उत्तम, मध्यम और अन्यपुरुषवाचक सर्वनाम 'मि-सि-ति' के रूपांतर हैं। ये तीनों एकवचन में हैं, इन्हीं से बहुवचन बना लिया गया। मि-सि (अर्थात् मैं और तू) मिलकर मिसि प्रत्यय बहुवचन के अर्थ में बना। ऋग्वेद में 'मसि' इसी अर्थ में पाया जाता है। संस्कृत की प्रथमा विभक्ति का प्रत्यय 'स्' दर्शकवाचक सर्वनाम का रूप है। 'बालकः सः करोति' का ही 'बालकः करोति' बना। चतुर्थी का 'ए' प्रत्यय भी दर्शक सर्वनाम से बना। षष्ठी प्रत्यय 'स्य' में या (जाना) धातु का विकृतरूप प्रविष्ट है। वर्तमान से भूतकाल बनाने में दर्शक सर्वनाम की सहायता ली गई है। वर्तमान 'करोति' से 'अकरोत्' बनाने में 'अ' दर्शक सर्वनाम ही है। कोई कार्य उस काल में हुआ अर्थात् भूतकाल में हुआ। इसी भाँति द्वित्व करके परोक्षभूत के रूप व्यक्त किए। 'दा' (देना) धातु से 'ददौ' (दिया) बना। अन्य अर्थों को सूचित करने के लिये भी द्वित्व करने की युक्ति से काम लिया गया। क्रिया का बाहुल्य, पौनःपुन्य, इच्छा सूचित करने में द्वित्व करके धातुओं का अर्थ बदला गया। 'कृ' (करना) से 'कृकृ' बना, जिसका अर्थ है 'बार-बार करना', 'अधिक मात्रा में करना', 'करने की इच्छा प्रकट करना।' वर्तमान काल के 'मि-सि-ति' प्रत्ययों में 'स्य' का आगम होकर भविष्यकाल बन जाता है। गमिष्यामि, गमिष्यसि और गमिष्यति इसी प्रकार बने हैं। यह 'स्य' का आगम स्पष्टतया 'य' (जाना) धातु से संबद्ध है। हिंदी में भी भविष्यकाल के अर्थ में 'गा' प्रत्यय जाना धातु से ही बना है, अंगरेज़ी में भी 'I am going to do' भविष्यसूचक है।

प्राचीन भाषाओं में और आधुनिक भाषाओं में कुछ विभिन्नता है, जो ध्यानपूर्वक देखने से समझ में आ सकती है। प्राचीन भाषाओं से हमारा तात्पर्य संस्कृत, ग्रीक, लेटिन आदि भाषाएँ हैं। आधुनिक भाषाओं में आजकल बोली जानेवाली हिंदी, अँगरेज़ी, मराठी, गुजराती आदि का समावेश होता है। प्राचीन भाषाओं की रचना संयुक्तस्वरूपी (Synthetic) है और आधुनिक भाषाएँ वियुक्तस्वरूपी (analytic) हैं। उदाहरणार्थ, संस्कृत में कालभेद के रूप विविध प्रत्ययों से सिद्ध होते हैं; परंतु हिंदी, अँगरेज़ी, मराठी आदि भाषाओं में कई शब्दों की सहायता लेने पर कालभेद के रूप बनते हैं। संस्कृत में अकरोत्–अगमिष्यत्–जिज्ञासति बनते हैं। परंतु ये ही रूप हिंदी, मराठी, अगरेज़ी में कई शब्दों की योजना से बनेंगे, जैसे कर लिया, गया होता, जानना चाहता है (हिं०), गेला असता, जाणण्याची इच्छा करतो (म०) 'wishes to Know' 'Had gone' (अं०)। संस्कृत की रचना को संपूर्ण मिश्रणस्वरूपी (Amalgametic) भी कहते हैं; क्योंकि आरंभ में जो सप्रत्यय धातु थे, उनका स्वरूप अब बिलकुल बदल गया है।

भाषा-शास्त्रज्ञों ने संस्कृत, ग्रीक, लेटिन, झेंद आदि भाषाओं में समानता देखकर यह निश्चय किया कि इन सबों की जननी एक है, जिसे आर्यभाषा का नाम दिया

गया है। इस आर्यभाषा का पुराने से पुराना उपलब्ध स्वरूप वैदिक भाषा है। इसका यह अर्थ नहीं कि वैदिक-भाषा ही मूल आर्यभाषा थी। आर्यभाषाभाषी लोग कदाचित् मध्य एशिया के निवासी थे। ये लोग पारस्परिक कलह से, देशविजय-कामना से अथवा भोजन के अभाव से मध्य एशिया छोड़कर योरप, फ़ारस और भारतवर्ष में आए। उन लोगों के साथ ही आर्यभाषा ने भी इन देशों में प्रवेश किया। योरप में आर्यभाषा ने सात मुख्य रूप धारण किए, जो ग्रीक, लेटिन, ट्यूटोनिक, केल्टिक, स्क्रेवोनिक, आल्बेनियन और बाल्टिक भाषाएँ कहलाती हैं। फ़ारस में आर्यभाषा ने 'पहलवी' और 'ज़ंद' भाषाओं के रूप लिए। इसी प्रकार भारतवर्ष में आर्यभाषा ने वैदिक संस्कृत का रूप लिया। और इन्हीं भाषाओं से आधुनिक भाषाएँ निकली हैं।

यहाँ पर प्राचीन भाषाओं की समानता दिखलाने के लिये कुछ उदाहरण देना अनुचित न होगा :

अस् (होना) धातु के वर्त्तमानकाल में रूप

एकवचन				बहुवचन		
अस्मि	असि	अस्ति	(सं०)	स्मः	स्थ	सन्ति
एस्मि	एसि	एस्ति	(ग्रीक)	एस्मेन	एस्टे	एस्टिस
सम	एस	एस्त	(लेटिन)	समस	एस्टिस	संट
अह्मि	अहि	अस्ति	(ज़ंद)	ह्महि	स्त	हेन्ति

आज्ञा में यों रूप होते हैं—

अस्तु	(सं०)	एस्टो	(ग्री० और लें०)		
सन्तु	(सं०)	एस्टोसन	(ग्री०)	संटो	(लें०)

दा (देना) धातु का विधि—

दद्याम् दद्याः दद्यात् (सं०) डिडोइयेन् डिडोइयेस् डिडोइये (ग्री०)

इसी का भूतकाल लीजिए—

एकवचन				बहुवचन		
अददाम्	अददाः	अददात्	(सं०)	अदद्म	अदत्त	अददुः
एडिडोन	एडिडोस्	एडिडो	(ग्री०)	एडिडोमेन्	एडिडोटे	एडिडोसन्
डेडम्	डेडेस्	डेडेट्	(लें०)	डेडेमस्	डेडिटिस्	डेडेन्

वर्त्तमान में संस्कृत और ज़ंद का सादृश्य देखिए—

ददामि	ददासि	ददाति	(सं०)
दधामि	दधाहि	दधाइति	(ग्री०)

पितृशब्द के रूप सब विभक्तियों के केवल एकवचन में दिए जाते हैं—

(सं०)	पिता	पितरम्	पित्रा	पित्रे	पितुः	पितरि	पितः
(ग्री०)	पेटर्	पेटेरा	पेट्रि	पेट्रि	पेट्रि	पेट्रि	पेटर्
(लें०)	पेटर्	पेट्रम्	पेट्रे	पेट्रि	पेट्रिस्	पेट्रे	पेटर्

अस्मद् (मैं) शब्द के रूप देखिए—

(सं०)	मा	मह्यम्—मे	मम—मे	मयि	ये रूप क्रमशः द्वितीया, चतुर्थी,
(ग्री०)	मे	एमोइ—मोइ	एमु—मु	एमोइ—मोइ	षष्ठी और सप्तमी के एकवचन में हैं।
(लें०)	मे	मिहि	मे	मे	बहुवचनमें भी ऐसी ही समानता है।

युष्मद् (तुम) के कुछ रूप—

(सं०)	त्वाम्	तुभ्यम्—ते	तव—ते	त्वयि
(लें०)	टे	टिबि	ट्युइ	टे

इसी प्रकार संख्यावाचक शब्द, कृदन्त—तद्धित प्रत्यय, उपसर्ग आदि का इन भाषाओं में विलक्षण सादृश्य है, जिससे इनका समकौटुम्बिक होना सिद्ध होता है। संस्कृत के 'मि—सि—ति' प्रत्यय और अस्—भू—स्था धातुओं के रूप (सहायक क्रियापद के नाम से auxiliary verbs) प्रायः सब भाषाओं में समान हैं। देखिए—

(सं०)	अहम्	त्वम्	यूयम्	वयम्
(अं०)	आइ	दाउ	यू	उवि
(फ्रेंच)	जि	ट्यू	वु	नु
(जर्मन)	इक	डु	साइ	उवीर

'अस्' धातु से अँगरेज़ी के एम (am) आर्ट (art) और इज़ (is) बने हैं और 'वस्' से वास्ट (wast), वाज़ (was) और वेयर (were), का प्रादुर्भाव हुआ है। 'भू' का विकृत रूप 'to be' है। फ्रेंच भाषा की क्रिया 'स्टेयर' 'स्था' धातु से सिद्ध हुई है। अँगरेज़ी का वर्तमान कृदन्त 'ing' और फ्रेंच कृदन्त 'अंत' संस्कृत 'अन' प्रत्यय से मिलते जुलते हैं। द्वि और two, त्रि और three, six और षष्, अष्ट और eight पर ध्यान दीजिए। यही नहीं 'पुरः' और 'fore' (फ़ोर) 'हित' और 'टिथेमाइ' (ग्री०), 'देव' और 'डिओस्', 'स्वेद' और 'स्वेट' (अंग्र०), 'नूतन' और 'नोवम्', 'क्रतु' और 'क्रेटोस्', दिवे और 'डाइस्', वयम् और 'हेमस्' आदि अनेक शब्द समानता दिखलाने के लिये प्रमाण-स्वरूप हैं।

इसी प्रकार फ़ारसी और संस्कृत में भी समानता है। फ़ारसी का 'बुदन्' 'भू' धातु का विकृत रूप है। 'मि—सि—ति' फ़ारसी में 'अम्—इ—अद्' है और 'मस्—थ—अन्ति' 'इम्—इद्—अन्द' है। शब्दों की समानता तो आश्चर्य में डालती है। देखिए—

(सं०)	अहम्	वयम्	त्वम्	यूयम्
(फ़ा०)	मन्	मा-मायान	तु	शुमा

(सं०)	(फ़ा०)	(सं०)	(फ़ा०)	(सं०)	(फ़ा०)
पितृ	पादर	दुहितृ	दुख्तर	अश्व	अश्प
दा	दादन्	पच्	पख्तन्	स्था	इस्तादन्
कृ	कर्दन्	द्वि	दो	चक्र	चर्ख़
एक	यक	अप्	आब	उष्ट	शुतर
आप्	याफ़्तन्	युवान्	जवान इत्यादि।		

ऊपर कहा जा चुका है कि आर्य-भाषा भारतवर्ष में वैदिक संस्कृत बनी, वैदिक भाषा ने कालांतर में शुद्ध संस्कृत का रूप लिया। इसी संस्कृत से प्राकृत बनी और अनेक प्रांतों में भिन्न-भिन्न रूपों में फैली। प्राकृत के मुख्य भेद तीन हैं—(१) महाराष्ट्री, (२) शौरसेनी और (३) मागधी। ये तीनों भाषाएँ परस्पर इतनी समान हैं कि कुछ विशिष्ट नियमों के अनुसार परिवर्तन करने से एक से दूसरी भाषा बन जाती है। यों सभी प्राकृत भाषाएँ एक हैं और उनका पुराना रूप पाली बताया जाता है। पाली में संस्कृत के अपभ्रंश उतने अधिक नहीं, जितने प्राकृत में पाए जाते हैं। बौद्ध-साहित्य पाली में ही लिखा गया है और इसी से उसे स्थिरता प्राप्त हुई है। प्राकृत में भी काव्य, नाटक लिखे गए और जैन-साहित्य की भाषा भी प्राकृत है।

प्राकृत से भारतवर्ष की प्रचलित भाषाओं का जन्म हुआ है। समयानुसार प्राकृत में विकृति होने लगी और उसने अपभ्रंश का रूप लिया। अपभ्रंश का साहित्य बहुत कम उपलब्ध है। अपभ्रंश भाषा हमारी भाषाओं के पुराने स्वरूप से मिलती-जुलती है। इन उदाहरणों को देखिए—

सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं,
सामि सुभिच्चुवि परिहरइ संमाणेइ खलाइं;
वलि अब्भत्थणि महु-महणु लहुईहुआ सोइ,
जइ इच्छहु वड्डत्तणउ देहु म मग्गहु कोइ।

—अपभ्रंश

कृपणु कहै रे मीत मज्भु गरि नारि सतावै,
जात चालि धणु खरचि कहै जो मोह न भावै;
तिहि कारण दुब्बलौ रयण दिन भूख न लागै,
मीत मरणु आइयौ गुज्भु आखौ तू आगै।
ता कृपण कहै रे कृपण सुणि मीत न कर मन माहिं दुखु।
पोहरि पठाइ दे पापिणी ज्यो को दिण तूं होइ सुखु।

—पुरानी हिंदी

पहिलूं जइ मोलिउ दिवाण, माची वात सुणी सुरताणि;
अलावदीन बडे सुरताण, वणि देसि वरतावी आणि।

—पुरानी गुजराती

विचारी तूं अर्जुन। की कारुण्ये की जर्नादीन्। जे ध्याना-विण ध्याणि जे जें चित्तावीण चिंतिजे। जें जाणीवें वीण जाणिजे। परब्रह्मतें।

—पुरानी मराठी

प्रचलित भारतीय भाषाओं का प्राकृत से बनने का एक यही प्रबल प्रमाण है कि हमें प्रायः भाषाओं के समझने में उतनी अधिक कठिनाई नहीं होती, जितनी बोलने में होती है। भारत की भाषाएँ सब मिलाकर लगभग ढाई सौ हैं, परंतु उनमें से सात मुख्य हैं। उनके नाम हैं हिंदी, मराठी, गुजराती, बँगला, उड़िया, पंजाबी और सिंधी। इन सभी भाषाओं के शब्द, व्याकरण-रचना और सिंधी के अतिरिक्त सबों की लिपि इतनी समान है कि इन्हें भिन्न-भिन्न भाषा न कहकर एक भाषा की शाखाएँ कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। विभक्ति (कारक) के प्रत्ययों की समानता नीचे दिए हुए मनुष्य शब्द के रूपों में देखिए:—

	हिंदी	मराठी	गुजराती	बँगला	पंजाबी	
एक०	मनुष्य–ने,	मनुष्य,	मनुष्य,	मनुष्य,	मनुख्ख–ने,	कर्त्ता
बहु०	मनुष्यों ने,	मनुष्यें,	मनुष्यो,	मनुष्येरा,	मनुख्खांने,	
एक०	मनुष्य को,	मनुष्यास,	मनुष्यने,	मनुष्यके,	मनुख्खनूं,	कर्म
बहु०	मनुष्यों को,	मनुष्यांस,	मनुष्योने,	मनुष्यदिगके,	मनुख्खांनूं,	
एक०	मनुष्य से,	मनुष्यानें–शीं,	मनुष्ये,	मनुष्यद्वारा-कर्तृक,	मनुख्खनाल,	करण
बहु०	मनुष्यों से,	मनुष्यांनीं–शीं,	मनुष्योए,	मनुष्यदिगेरद्वारा-कर्तृक,	मनुख्खांनाल,	
एक०	मनुष्य के लिये,	मनुष्यास–ला,	मनुष्यने,	मनुष्यके,	मनुख्खनूं–लई,	संप्रदान
बहु०	मनुष्यों के लिये,	मनुष्यांस–ला–ना,	मनुष्योने,	मनुष्यदिगके,	मनुख्खांनूं–लई,	
एक०	मनुष्य से,	मनुष्याहून–तून,	मनुष्यथी,	मनुष्यहइते,	मनुख्खतों–थों,	अपादान
बहु०	मनुष्यों से,	मनुष्यांहून–तून,	मनुष्योथी,	मनुष्यदिगेर हइते,	मनुख्खांतों–थों,	
एक०	मनुष्य का-के-की,	मनुष्या चा–ची–चे,	मनुष्य नो–नी–नूं,	मनुष्येर,	मनुख्खदा–दी,	संबंध
बहु०	मनुष्यों का-के-की,	मनुष्यां चा–ची–चे,	मनुष्योनो–नी–नूं,	मनुष्यदिगेर,	मनुख्खांदा-दी,	
एक०	मनुष्य में–पै–पर,	मनुष्यांत,	मनुष्यमां,	मनुष्ये,	मनुख्खविच–पुर,	अधि०
बहु०	मनुष्यों में–पै–पर,	मनुष्यांत,	मनुष्योमां,	मनुष्यदिगे,	मनुख्खांविच–पुर,	
एक०	मनुष्य,	मनुष्या,	मनुष्य,	मनुष्य,	मनुख्ख,	संबोधन
बहु०	मनुष्यो,	मनुष्यांनो,	मनुष्यो,	मनुष्येरा,	मनुख्खो,	

इसी प्रकार सर्वनामों की समानता इन उदाहरणों से सिद्ध हो जायगी—

		हिंदी	मराठी	गुजराती	बँगला	पंजाबी
कर्त्ता	एक०	मैं, मैंने	मी	हूँ	आमी	मैं
	बहु०	हम, हमने	आम्ही	अमे-अमो	आमरा	असीं
कर्त्ता	एक०	तू, तूने	तूं	तुं	तुमि	तू
	बहु०	तुम, तुमने	तुम्हीं	तमे, तमो	तोमरा	तुसी
कर्त्ता	एक०	वह, उसने	तो	ते	तिनि	उह, उसने
	बहु०	वे, उन्होंने	ते	तेओ	ताहारा	उह, इन्होंने

हिंदी और मराठी में 'जो', गुजराती में 'जे', बँगला में 'जिनि' और पंजाबी में 'जो' संबंधवाचक सर्वनाम हैं। मराठी में 'हा', गुजराती में 'आ', हिंदी में 'यह', बँगला में 'इनि' और पंजाबी में 'इह' दर्शक सर्वनाम हैं। मराठी में 'कोण', गुजराती में 'कोण', हिंदी में 'कौन', बँगला में 'के' और पंजाबी में 'कौण' प्रश्नार्थक सर्वनाम हैं।

अब इन भाषाओं की क्रियाओं के रूप देखिए—

	हिंदी	मराठी	गुजराती	बँगला	पंजाबी
वर्तमान	मैं लिखता हूँ	मी लिहितों	हूँ लखूं छूं	आमि लिखितेछि	मैं लिखदा हाँ

	हिंदी	मराठी	गुजराती	बँगला	पंजाबी
भूत	तूने लिखा	तू लिहिलें	तें लख्यूं	तुमि लिखिले	तूं लिखिआ
भविष्य	वह लिखेगा	तो लिहील	ते लखशे	तिनि लिखिबेन	वह लिखेगा
आज्ञा	लिख	लिह	लख	लिख	लिख
आसन्नभूत	मैंने लिखा है,	मीं लिहिलें आहे,	में लख्यूं छे,	आमि लिखिया छि,	मैं लिखिआ है
पूर्णभूत	मैंने लिखा था,	मीं लिहिले होतें,	में लख्यूं हतुं,	आमि लिखिया छिलाम,	मैं लिखिआसी
हेतुहेतुमद्भूत	मैं लिखता,	मी लिहिलें असतें,	में लख्युं होतूं,	आमि लिखिताम्,	मैं लिखदा
सामान्यभूत	मैं लिखता था,	मी लिहीत होतों,	हूं लखतो हतो,	आमि लिखिते छिलाम,	मैं लिखदासी
कृदन्त	लिखना,	लिहिणें,	लखवुं,	लिखा,	लिखणा
वर्त्तमानकृदन्त	लिखना,	लिहीत,	लखतो,	लिखिते,	लिखदा
भूतकृदन्त	लिखा	लिहिलें	लख्युं,	लिखित,	लिखिआ
पूर्वकालिक	लिख करके,	लिहून,	लखीने,	लिखिया-लिखिले,	लिखके-कर
हेत्वर्थक	लिखने के लिये,	लिहायला,	लखवामाटे,	लिखिबारजन्यनिमित्त,	लिखण
प्रेरणार्थक	लिखवाना,	लिहविणें,	लखाविनुं,	लिखाइ	×
कर्मवाच्य	लिखा गया,	लिहिलें गेलें,	लखायुं,	लिखित हइलेन,	लिखिआगिआ

ऊपर दिए हुए उदाहरणों से पता चलता है कि भारत की सभी भाषाओं के कारक प्रत्यय संस्कृत के विभक्तिरूपों से प्राकृत द्वारा सिद्ध हुए हैं। उदाहरणार्थ, मराठी को ले लीजिए। मराठी में कर्म और सम्प्रदान प्रत्यय 'स-ला' हैं, जो संस्कृत के 'सम' और 'लग्' से बने हैं। करण के 'नें-शीं' प्रत्यय 'एन' और 'सम' से बने हैं। अपादान का 'हून' 'भू' धातु के प्राकृत रूप 'हु' के संबंधक कृदन्त 'होऊन' से बना है। 'अन्तः' से अधिकरण का 'आंत' व्युत्पन्न हुआ है। मी, तूं, तो, जो, कोण, आपण आदि सर्वनाम संस्कृत के अहम्, त्वम् तद्, यद्, किम्, आत्मन् आदि से प्राकृत द्वारा सिद्ध हुए हैं। क्रियापदों में देखिए। क्रिया की अपूर्णता दिखलाने के लिये संस्कृत वर्तमान कृदन्त के 'अत्' प्रत्यय से सिद्ध 'त' हिंदी और मराठी में प्रयुक्त होता है; जैसे वह जाता है, तो जात आहे। पूर्णता दिखलाने के लिये मराठी ने तो स्पष्टतया संस्कृत के भूतकृदन्त 'त' का रूपान्तर 'ल' ग्रहण किया है जैसे त्यानें केलें आहे, त्यानें केलें होतें इत्यादि। प्रेरणार्थक में संस्कृत णिजंत 'अय' के ही रूपान्तर प्रायः सर्वत्र मिलते हैं; जैसे कारयति (सं०) करावइ (प्रा०) करवाता है (हिं०) करवितो (म०) आदि। पूर्वकालिक क्रिया के अर्थ में संस्कृत का संबंध स्पष्ट है जैसे जा करके (गमनं कृत्वा)। मराठी का पूर्वकालिक प्रत्यय प्राकृत का है जैसे हसित्वा (सं०) हसेऊन, हसऊण (प्रा०) हांसून (म०) हसीने (गु०) इत्यादि। प्रायः सभी भाषाओं में इस प्रकार का संबंध ढूँढ़ा जा सकता है। इनकी तुलना के कुछ उदाहरण और लीजिए —

है (हिं० पं०), हुवइ, होइ (प्रा०) भवति, (सं०), हतो (गु०), होता (मरा०) ; था (हिं०), भूतः (सं०), हुओ (प्रा०),—ये संस्कृत के 'स्था' से बने हैं।

पंजाबी 'सी' संस्कृत के 'अस्' से सिद्ध हुआ है। सभी भाषाओं ने संयुक्तकाल के रूप बनाने में अस्, स्था और भू का उपयोग किया है। कृदन्त, कर्मवाच्य, प्रेरणार्थक आदि के रूपों की समानता ऊपर दिखलाई जा चुकी है। अतः निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भारत की सभी भाषाओं की जननी प्राकृत है, वे एक कुटुम्ब की हैं, और उनमें बहनों का-सा संबंध है। अब हम नीचे सातों भाषाओं के कुछ अवतरण देकर इस लेख को समाप्त करते हैं—

बँगला—प्रधान मन्त्री कहिलेन, "कि आश्चर्य! आपनि कि एइभावे प्रतिज्ञा रक्षा करेन? आपनि अंगीकार करिया छिलेन, विपक्षदिग के संहार करिबेन; किंतु एखन देखि कि ना आपनि सकल के मार्जना करिलेन; एमन कि ताहादेर मध्ये कतकगुलि के आलिंगनपर्यन्त करिलेन।" सम्राट उत्तर करिलेन, "विपक्ष दिग के संहार करिब, आमि एइ प्रकार प्रतिज्ञा करिया छिलाम। आमि त आमार कथा रक्षा करिया छि; कारण, तुमि

देखिते छ जे ताहारा आमार विपक्ष न हे आमि ताहा-दिग के बन्धूरूपे परिणत करिया छि।"

गुजराती—प्रधान मंत्री ए कह्युं, "केवुं आश्चर्य! आप शुं आवी रीते प्रतिज्ञा राखो छो? आपे अंगीकार करेल छे के प्रति पक्षिओनो संहार करीश। परन्तु अहीं जोइये छीए तो आपे सघळाओनो संहार न थी कर्यो। एटलुंज नहीं पण ते ओमांना केटलाक ने आपे आलिंगन पर्यंत करेल छे। सम्राट उत्तर आप्यो, "प्रतिपक्षिओनो संहार करीश, ए प्रमाणेज में प्रतिज्ञा करेली छे अने में तो मारी प्रतिज्ञा राखेली पण छे; कारण, तमे जुओ छो के ते ओ मारा प्रतिपक्षी न थी। मे तेओने बन्धुओना रूप मां पलटावी दीधेला छे।"

मराठी—प्रधान मन्त्री म्हणाला, "काय आश्चर्याची गोष्ट आहे! आपण आपली प्रतिज्ञा अशा रीती नें पाळतां काय? आपण स्वीकारिलें होतें कीं विद्रोही लोकांचा संहार करीन। परंतु ये थें पाहतों कीं आपण त्यांचा संहार केला नाहीं। एवढेंच नव्हेतर त्यांपैकीं कांहींना आलिंगन सुद्धा दिलें।" सम्राटा नें उत्तर दिलें, "प्रतिपक्ष्यांचा संहार करीन म्हणून मीं प्रतिज्ञा केली होती आणि ती मीं पाळली पण आहे। कारण, तुम्हीं पाहतां कीं ते माझे प्रतिपक्षी नाहात। मीं त्यांना बन्धु-रूपांत परिणत केलें आहे।"

ऊपर दिए हुए तीनों अवतरणों की हिंदी—प्रधान मंत्री ने कहा, "क्या आश्चर्य की बात है! आप क्या इसी रीति से प्रतिज्ञा रखते हैं? आपने अंगीकार किया है कि प्रतिपक्षियों का संहार करूँगा। परंतु यहाँ देखते हैं कि आपने सबों का संहार नहीं किया। प्रत्युत उनमें से कुछ का आपने आलिंगन तक किया है।" सम्राट् ने उत्तर दिया, "प्रतिपक्षियों का संहार करूँगा, इस प्रकार मैंने प्रतिज्ञा की है और मैंने तो अपनी प्रतिज्ञा रखी भी है। क्योंकि तुम देखते हो कि वे मेरे प्रतिपक्षी नहीं हैं। मैंने उन्हें बंधुरूप में परिणत कर दिया है।"

सिंधी—गिरनार कोट में राइ डिआचु नाले हिकिड़ो पातिशाहु हो। तहिंजे भेण फकीरखाँ वुर्यो साईं मूंखे पुटुड़े। फकीर हुनखे चिओ पुटु तोखे थीं दो पर राइ डिआच जो सिरुवढींदो। हुन चिओ उहो पुटु ई बनि पिओ जो मूंजे भाउजो सिरुवढे। पर फकीर जो चवणु थिओ सो टरे कीन। थोरे घणे डिहाडे माइअ पुटु जरायो।

अर्थात्, गिरनारकोट में डिआच नामक एक बादशाह था। उसकी बहिन ने फ़क़ीर से माँगा कि साईं मुझे पुत्र दे। फ़क़ीर ने उससे कहा—पुत्र तेरे होगा, पर राय डिआच का सिर काटेगा। उसने कहा वह लड़का वन में जाय जो मेरे भाई का सिर काटे। पर फ़क़ीर का वचन टल नहीं सकता। थोड़े ही दिनों में उस स्त्री ने पुत्र जना।

पंजाबी—तां फेर बाबे नानकजी कहिआ हे पंडतजी तूं सुण ब्राहमण खतरीदा धरम जनेऊ ते रहिंदा है। सुण पंडत जे जनेऊ पावे अर बुरे करम करे तां उह ब्राहमण खतरी रहिंदा है या चंडाल हुंदा है। जां इह गल्ल स्रीगुरु बाबेजी कही तां जितने लोक बैठे से सभ हैरान हो गए। तां कहिण लग्गे ए स्रीपरमेसुरजी अजां इह बालक है अते कैसी आं बातां कर दी है।

अर्थात्, तब फिर बाबा नानकजी ने कहा हे पंडित तू सुन। क्या ब्राह्मण क्षत्रियों का धर्म जनेऊ से रहता है? हे पंडित सुन जो जनेऊ ले और बुरे कर्म करे, तो वह ब्राह्मण क्षत्रिय रहता है या चांडाल होता है। जब इस प्रकार श्रीगुरु बाबाजी ने कहा तो जितने लोग बैठे थे सब हैरान हो गए। वे कहने लगे ए श्रीपरमेश्वरजी अभी यह बालक है और कैसी बातें करता है।

उड़िया—गोटि ए मशा एक षण्डशृङ्ग उपरे बसि अहंकार रे आपणाकु भारी बुझि षण्डकु कहिला आहे षण्ड आम्भ बासवारु जेबे तुम्भ कु भारी लागे तेबे कह आम्भे अन्य स्थानकु उडि जाउं। ए कथा शुणि वृष कहिला आरे मशा तु जे आम्भ उपरे बसि अछु ए कथार टेर मुद्धा पाइ नाहुं।

अर्थात्, कोई एक मसा एक साँड के सींग पर बैठा अहंकार से अपने को भारी समझकर साँड से कहने लगा, अरे साँड हमारे बैठने से जब तुमको भारी लगे, तब कह देना हम अन्य स्थान को उड़ जायँगे। यह कथा सुन साँड़ बोला अरे मसा तू जो हमारे ऊपर बैठा है इस बात का पता तक मैंने नहीं पाया।

इस विषय पर विचार करनेवालों को चाहिए कि वे डा० भांडारकर और मि० कच्छी की भाषा-शास्त्र-संबंधी पुस्तकें पढ़ें, जिनसे इस लेख में सहायता ली गई है।

गोविंदप्रसाद द्विवेदी

आध्यात्मिक शृंगार

(आँख-मिचौनी)

खेलत-खेलत जन्म गए बहु,
　　और कहाँ लौं तहाँ हिय मेलि हैं;
दृढ़ि हैं कोलौं तुम्हें बन बोथिन,
　　कोलौं प्रवास प्रयास सकेलि हैं।
फेली हती दुखदायक श्याम,
　　न और वियोग बिथा अब झेलि हैं;
नाथ ! सदा तुम साथ रहौ,
　　हम आँख-मिचौनी को खेल न खेलि हैं।

बलदेवप्रसाद मिश्र

आल्ह-खंड पर शंकाएँ

उत्तरीय भारतवर्ष में आल्ह-खंड का बहुत प्रचार है। बहुत दिनों तक आल्ह-खंड का मौखिक संस्करण ही अल्हैतों द्वारा होता रहा। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका परिणाम बहुत बुरा हुआ। इसमें रूपक-कथाओं की इतनी भरमार हो गई है कि उनसे ऐतिहासिक सत्य को अछूता बाहर निकाल लेना असंभव-सा प्रतीत होता है। भाग्यवश सर चार्ल्स इलीयट साहब का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। आल्ह-खंड के वीरात्मक छंदों ने आपके भावुक हृदय पर अपना अधिकार जमा लिया। परिणाम-स्वरूप आपने अल्हैतों को दूर-दूर से बुलवाकर हिंदी में उन छंदों को लिपिबद्ध करवाया। आप हिंदी नहीं जानते थे; अतः आपने विलियम वाटर फ़ील्ड (William Waterfield) से उन छंदों का हिंदी से अँगरेज़ी-पद्यात्मक रूपान्तर करवाया। आल्ह-खंड के संबंध की कुछ बातों को डॉक्टर ग्रियर्सन साहब ने बिहार * में एकत्र किया था और मि० विंसेंट स्मिथ † ने भी बुंदेलखंड में इसकी खोज की थी। डॉ० ग्रियर्सन साहब के संपादकत्व में ही ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय-प्रेस से The lay of Alha नामक पुस्तक सन् १९२३ ई० में प्रकाशित हुई है। हिंदी में आल्ह-खंड-संबंधी बहुत-सी पुस्तकें मिलती हैं। पर, दुर्भाग्य की बात है कि इन पुस्तकों के कथानक में इतना अंतर पड़ गया है, जिससे *सत्य-निर्धारण असंभव मालूम पड़ता है। वीरों की* वीरता के महत्त्व को दिखाने के बहाने रूपककारों ने जादूगरी से काम लिया है। इससे आल्हखंड का महत्त्व ऐतिहासिक दृष्टि से न्यून हो गया है। इतिहास में हमें एक भी ऐसी बात नहीं मिलनी चाहिए, जिस पर हमारा विश्वास न हो। पौराणिक ग्रंथों पर जब हम दलील करने लगते हैं, तो शास्त्र-निष्णात पंडितगण दलील को लचर कहकर हमारा मुख बरबस बंद कर देते हैं। हम भी परंपरा के प्रभाव से उसे केवल ईश्वरीय माया मानकर निःशंक हो जाते हैं। यदि इतिहास में भी इसी विचार-दृष्टि से काम लिया जाय तो पुराणों की तरह इतिहास का महत्त्व नहीं बढ़ सकता है। प्रत्येक बात पर तर्क-पूर्ण-दृष्टि से विचारकर ऐतिहासिक शंकाओं का समाधान करना उचित है। इतिहास-पठन के समय पाठक के हृदय पर ठीक-ठीक भाव प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। जहाँ कोई आश्चर्य-जनक बात मिलती है, उस पर *अनायास विश्वास नहीं होता है। जिस नायक की वीरता* में दैवीशक्ति का योग रहता है, उसकी वीरता में हमें मज़ा नहीं मिलता है। आल्ह-खंड में स्थान-स्थान पर ऐसी ही कई बातें मिलती हैं। इनसे वीरों की महत्ता में बट्टा लगता है। उन लोगों ने जितनी कुछ अपनी करामात दिखाई है, वही उनकी कीर्ति-ध्वजा को यशगगन में फहराने के लिये पर्याप्त है।

हम आल्ह-खंड पर एक गद्यात्मक पुस्तक लिख रहे हैं। हमने आल्हा-संबंधी बहुत-सी पुस्तकों को देखा है। सब पुस्तकों के कथानक में बड़ा अंतर है। उन पुस्तकों की सूची निम्नांकित है।

१. The lay of Alha (ऑक्सफ़ोर्ड-विश्वविद्यालय-प्रेस)

२. आल्ह-खंड (वंशीधर दुदानी, आगरा)

३. आल्ह-खंड (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ)

४. आल्ह-खंड (वेंकटेश्वर प्रेस बंबई)

५. आल्ह-खंड (पं० नारायणप्रसाद मिश्र)

* 'Indian Antiquary', vol. xiv, pp. 209, 255.

† 'Linguistic survey of India,' vol. ix, i, pp. 502 ff.

६. आल्हा-रहस्य (पं० रामनरेश त्रिपाठी)

७. परमालरासो (महोबाखंड, बाबू श्यामसुंदरदास)

'माधुरी' की १४वीं पूर्ण-संख्या में पं०महावीरप्रसादजी द्विवेदी की The lay of Alha पर एक आलोचना निकली थी। भारतवर्ष के कई पुस्तक-विक्रेताओं के यहाँ हमने इस पुस्तक की खोज की। पर हमारा श्रम सफलीभूत नहीं हुआ। पीछे द्विवेदीजी द्वारा मालूम होने पर बाबू श्यामसुंदरदासजी से हमने उक्त पुस्तक माँगी। उन्होंने कृपा-पूर्वक हमें वह पुस्तक देकर अनुगृहीत किया। इस पुस्तक से हमें बहुत सहायता मिली है। हमने आल्हा-संबंधी प्रायः बहुत पुस्तकों को पढ़ा है। हमारे हृदय में कथान्तर-संबंधी जो-जो शंकाएँ उत्पन्न हुई हैं, उन्हें हम विद्वान् पाठकों के सम्मुख रखकर उनसे उचित उत्तर की आशा रखते हैं।

समस्त आल्ह-खंड में कन्नौजाधिपति जयचंद को राठौर ही कहा गया है। जयचंद के गहरवार होने के भी बहुत प्रमाण उपलब्ध हो चुके हैं। एक प्रकार से इस विचार का अंत भी हो चुका है। हम भी जयचंद * को गहरवार ही मानते हैं।

आल्हा-ऊदल के पिता के संबंध में बहुत-से कथानक हैं। वे बनाफर कहलाते हैं। इस पर भी भिन्न-भिन्न मस्तिष्क के अलग-अलग परिशोध हैं। एक-एक कर हम उन्हें आपके सम्मुख लाते हैं। एक ग्रंथ में लिखा है कि सल्ल और वल्ल नामक दो भाई थे। परस्पर दोनों को अत्यधिक प्रेम था। दोनों ने दूसरे जन्म में पशु योनि में जन्म-ग्रहण किया। एक सिंह का शावक हुआ, और दूसरा गाय का बछड़ा। दोनों जंगल में ही आनंद-पूर्वक विचरते थे। अभाग्यवश, एक की मृत्यु हो गई। दूसरे ने भी वियोग-विह्वल होकर उसी स्थान पर अपने प्राण त्याग दिए। विहार करते हुए पार्वती के साथ शिवजी भी उसी स्थान पर आ पहुँचे। पार्वती के बहुत अनुरोध करने पर शिवजी ने अमृत छिड़ककर दोनों को मनुष्य बना लिया। दोनों के नाम दसराज और बच्छराज हुए। शिवजी ने दोनों को वरदान दिया कि तुम्हारे पुत्र बड़े शूर-वीर होंगे। तुम दोनों इसी वन में कंद-मूल खाकर रहो। एक दिन राजा परिमाल, यहाँ आवेंगे और तुम दोनों को अपने राज्य के अधिकारी बनावेंगे। संयोगवश एक दिन राजा परिमाल आ ही धमके। उसी समय मार्ग पर दो भैंसे आपस में लड़ रहे थे। परिमाल के किसी सैनिक का इतना साहस नहीं हुआ कि भैंसों को हटा दे। दैववशात् दसराज और बच्छराज इसी ओर से निकल पड़े। उन दोनों ने बात-की-बात में दोनों भैंसों को हटा दिया। परिमाल उन दोनों पर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने दोनों वीरों को अपने पास रख लिया। थोड़े दिनों के बाद वे दोनों बक्सर (बिहार) के रहिमत और टोडर के यहाँ बाण-विद्या सीखने के लिये चले गए। वहाँ से चारों साथ-ही-साथ परिमाल के यहाँ महोबा आए थे। राह में बनारस के राजा सैयद से ज़मीन के विषय में कुछ लड़ाई हुई थी। उसी का फ़ैसला परिमाल से वे कराना चाहते थे। दसराज और बच्छराज इसीलिये बनाफर कहलाते हैं कि वे दोनों वन से आए थे।

डॉक्टर ग्रियर्सन साहब ने अँगरेज़ी आल्हा-पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि बक्सर में दसराज, बच्छराज, रहमल और टोडर नामक चार भाई रहते थे। इन लोगों से बनारस के सैयद राजा के साथ ज़मीन के संबंध में लड़ाई थी। इसी का फ़ैसला कराने के लिये वे सब महोबा राजा परिमाल के पास पहुँचे थे। माड़ोवालों ने उसी समय महोबा पर चढ़ाई कर दी थी। इसी युद्ध में उन लोगों ने खूब वीरता दिखाई थी। प्रसन्न होकर राजा परिमाल ने दसराज और बच्छराज को अपने पास रख लिया। एक दिन दसराज और बच्छराज ने देखा कि एक गली में दो साँड़ आपस में लड़ रहे हैं। किसी की हिम्मत उस ओर जाने की नहीं होती थी, देखते ही दो ग्वालिन नवयुवतियों ने एक-एक साँड़ के सींग पकड़कर बल-पूर्वक अलग कर दिया। दोनों भाइयों ने ग्वालिन नवयुवतियों की वीरता पर मुग्ध होकर उनसे विवाह-संबंध कर लिया। इसी कारण वे बनाफर कहलाते हैं।

डॉक्टर ग्रियर्सन साहब ने जन-श्रुतियों के आधार

* हमें एक विश्वस्त सूत्र से पता चला है कि रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा जयचंद के सिर पर से इस कलंक को मिटाना चाहते हैं कि उसी ने भारतीय स्वतंत्रता का विनाश किया है। शायद 'वे राजपूताने का इतिहास' के कारण समयाभाव से इस विषय पर कुछ लिखते नहीं हैं।—लेखक

पर सशंक होकर उपर्युक्त बातें लिखी हैं। पुनः अँगरेज़ी पुस्तक की पाद-टिप्पणी में एक स्थान पर लिखा है—

The Banaphars are an old Rajput tribe, descendants of a Vanaspara who was a governor of Magadha under the emperor Kaniska at about the time of the beginning of the Christian era. † अर्थात् बनाफर एक पुरानी राजपूत-जाति के हैं। वे सम्राट् कनिष्क के अधीनस्थ मगध-शासक 'वंसपारा' के वंशज हैं, जो खृष्टाब्द के आरंभ-काल में राज्य करते थे।

आगे चलकर डॉ० ग्रियर्सन साहब ने पुनः एक स्थान पर बनाफर के संबंध में लिखा है—

So far as I have studied the poem it seems that the story that wives of the Banaphars were cowherds (Ahirins) by caste was spread by their enemy Mahil. Often in the poem whenever a marriage connexion with Mahoba is mooted, it is not only the caste of the Banaphars, but that of Paramal, the Chandel himself, that is condemned. Now it is a fact that the origin of the Chandels is suspect. They themselves claim to be descended from a Brahman woman who was espoused by the moon, but unkind sceptics deny this and suggest that they are of mixed origin, partly Gond and partly Rajput. ‡

अर्थात् जहाँ तक मैंने आल्ह-खंड का अध्ययन किया है, मुझे यही मालूम होता है कि बनाफर की पत्नियों की गोपालक जाति होने की कथा उनके शत्रु माहिल द्वारा ही फैलाई गई थी। बहुधा देखने में आता है कि जब कभी महोबावालों के ब्याह की बातचीत चलती थी, तो उसमें बनाफरों का नहीं, बल्कि राजा परिमाल का वंश, जो स्वयं चंदेल था, नीच समझा जाता था। अब यह निश्चित है कि चंदेलों की ही उत्पत्ति शंका करने योग्य है। वे स्वयं अपने को एक ब्राह्मणी से उत्पन्न हुआ समझते हैं, जिसका विवाह चंद्रदेव से हुआ था। लेकिन व्यर्थ शंका करनेवाले इस बात को स्वीकृत नहीं करते और चंदेलों की उत्पत्ति गोंड़ तथा राजपूत के मिश्रित रक्त से निश्चित करते हैं।

बनाफर के विषय में हम इतना कहकर दूसरी शंका उपस्थित करते हैं। दसराज और बच्छराज खृष्टाब्द की बारहवीं शताब्दि में वर्त्तमान थे। आल्हा का जन्म विक्रम सं० ११६० के ज्येष्ठ शुक्ल की दशमी तिथि को हुआ था और ऊदल का जन्म संवत् ११६५ के ज्येष्ठ शुक्ल की दशमी तिथि के मध्याह्न में हुआ था। इसके लगभग दस-पंद्रह वर्ष पहले ही कहा जाता है कि वे सब बनारस के राजा सैयद मीरा ताल्हन से ज़मीन के विषय में लड़ाई कर न्याय के लिये महोबा पहुँचे। हमें यहाँ एक शंका होती है। बारहवीं शताब्दि में काशी का कोई मुसलमान राजा नहीं था। उस समय भारतवर्ष में मुसलमानों की संख्या बहुत ही कम थी। जो इने-गिने मुसलमान थे भी, वे पंजाब की सीमा तक ही थे। ऐसे समय में काशी में एक साधारण मुसलमान न होकर, एक राजा का होना बहुत खटकता है। विलियम वाटर फ़ील्ड साहब ने अँगरेज़ी-पद्य में लिखा है—

Far out in the east in Baksar dwelt
The bold Banaphar crew;
There was Bacharaj tall, and Desraj withal,
And Rahmal and Toder too,
And Mira Talhan the Sayid;
In Benares then abode;
And by his banner nine stout sons
And eighteen grandsons rode.

इसी पद्य पर प्रकाश डालते हुए पाद-टिप्पणी में डॉक्टर ग्रियर्सन साहब ने लिखा है कि चौदहवीं शताब्दि में, तैमूर के आक्रमण के पहले भारतवर्ष में मुसलमानों का नाम-निशान तक नहीं था। इस बात में सत्य की कितनी मात्रा है, यह हम नहीं कह सकते। एक स्थान पर वाटर फ़ील्ड साहब ने पुनः कहा है—

The Pathans of Shahabad were there,
Hight Ranga and Banga bold.

यह बात भी उस समय से पंद्रह-बीस वर्ष के अंतर्गत की है। रंगा और बंगा माड़ागढ़ के राजा जम्बे के सैनिक

† See, 'The Journal of the Behar and Orissa Research Society.' Vol. vi. (1920) p. 150

‡ See, Hamirpur Gazetteer (1909), pp. 126 ff.

थे। विद्वान् पाठकों को इसका भार देकर हम पुनः आगे बढ़ते हैं।

अँगरेज़ी पुस्तक के अवतरण उद्धृत करने से हमारा मतलब इतना ही है कि उक्त पुस्तक बहुत सोच-विचार कर संपादित की गई है। पर क्षेपकों की इतनी भरमार है कि सत्य की थाह ही नहीं मिलती है। हिंदी के आल्ह-खंडों में भी ये ही बातें हैं। हाँ, हमारी शंका ध्यान-पूर्वक सुनिए। संस्कृत का एक श्लोक है—

यां हर्म्यपृष्ठे किल क्रीडयन्तीं विलोक्य तां भूप कदाचिदिन्द्रः।
देवोऽपि दिव्यस्वरवासिनीभिः सुसेवितः कामवशं प्रणीतः॥

राजा परिमाल की रानी मल्हना देवी राजभवन के ऊपर सखियों के साथ विहार कर रही थीं। देवराज इंद्र की दृष्टि मल्हना देवी पर पड़ी। इंद्र मल्हना देवी की मोहिनी मूर्त्ति देखकर स्वर्ग की सुंदरियों को भी छोड़ उसके पास आ पहुँचे। इस कारण राजा परिमाल को इंद्र महाराज से भी मित्रता हो गई। देवराज इंद्र का श्यामकर्ण घोड़ा परिमाल की अश्वशाला में बँधा हुआ था। सात दिनों तक देवराज इंद्र महोबे में ही रह गए। श्यामकर्ण के संयोग से परिमाल की घोड़ियों के गर्भ रह गए। देवराज इंद्र सदा मल्हना देवी की ताक में रहे, पर सफलता नहीं मिली। एक दिन वेष का परिवर्त्तन कर इंद्र मल्हना के पास गए, पर मल्हना को शंका हुई। इंद्र महाराज पकड़े गए। मल्हना देवी ने उन्हें बहुत लज्जित कर छोड़ दिया। महोबे से जाते समय इंद्र महाराज ने परिमाल को व्रज-कमान, पपीहा घोड़ा, पचशावद हाथी और एक पीली चादर दी। श्यामकर्ण के संयोग से घोड़ियों के बच्चे अलग ही हुए। ये ही घोड़े उड़ा करते थे। पपीहा घोड़ा, पचशावद हाथी आदि की बातें आल्ह-खंड में स्थान-स्थान पर मिलती हैं। इन सब बातों पर हमें रत्ती भर भी विश्वास नहीं होता है। पाठक कृपया परिमाल की प्रेतात्मा से यह पूछें कि क्या ये बातें सत्य हैं।

ऐसे ही व्यर्थ के गपोड़ों से पुस्तक भर दी गई है। ऐतिहासिक सत्य की आग क्षेपक की राख से प्रच्छन्न कर दी गई है। किसी स्थान-विशेष पर ऐसी बातें रहतीं, तो वह अंश छोड़ा जा सकता था। पर यह बात नहीं है। पुस्तक की नस-नस में ये ही आश्चर्य-जनक बातें हैं।

धाँधू के जन्म-ग्रहण के संबंध में भी दो बातें हैं। परंतु दोनों बातें बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। एक पुस्तक में लिखा है कि धाँधू का जन्म संवत् ११६३ के चैत्र शुक्ल की चतुर्दशी को राजा दसराज की उपपत्नी के गर्भ से हुआ। दूसरी पुस्तक में लिखा है कि धाँधू आल्हा-ऊदल का सहोदर भाई था। इसकी माता भी देवल देवी ही थी। गंडांत-लग्न में जन्म-ग्रहण करने के कारण पिता ने पुत्र का मुख नहीं देखा। एक दासी उसी नव-जात बालक को लेकर थोड़े दिनों के बाद गंगा-स्नान करने के लिये गई। महाराज पृथ्वीराज चौहान भी वहाँ पहुँचे हुए थे। उनसे पंडितों ने बालक की बड़ी प्रशंसा की। इसलिये उन्होंने उस बालक को चुरवा लिया। पीछे धाँधू का नाम चंडपुंडीर रक्खा गया।

अब कृपया अँगरेज़ी पुस्तक की बात भी सुन लीजिए। धाँधू पृथ्वीराज के भाई खंडेराव का पुत्र था। यह पृथ्वीराज का बड़ा शूरवीर सरदार था। बस, अब अक्ल से विचारकर ऐतिहासिक सत्य को निर्धारित कीजिए।

आल्हा-ऊदल की माता देवल देवी के विषय में भी तीन झमेले हैं। एक का कहना है कि देवल देवी महोबे की अहीरिन थी। दूसरे का कथन है कि वह ग्वालियर-नरेश दलपत की कन्या थी। तीसरे का तर्क है कि वह तो परिमाल की रानी मल्हना देवी की सहोदरा थी। हाँ, एक बात हम कहना भूल ही गए। यह एक स्थान में दो तलवार की बात है। उसी अँगरेज़ी पुस्तक का एक अवतरण उद्धृत कर हम एक मुसलमान को काशी का राजा बता चुके हैं। अब एक राजा की बात और सुनिए। जयचंद महाराज की ओर से ऊदल गाजरों से बारह वर्षों का कर चुकाने गए थे। लीजिए, इसे अँगरेज़ी में ही पढ़िए—Similarly he takes prisoner and plunders Chinta Thakur of Bansi, Suraj of Gorakhpur, Puran of Patna and Hansman of Kashi (Benares.) यहाँ आपको यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि डॉक्टर ग्रियर्सन साहब ने केवल काशी के हंसमन का पकड़ा जाना ही लिखा है। राजा होने की तो कोई बात ही नहीं है। इसी बात को डॉक्टर साहब ने चरितों की अनुक्रमणिका में लिखा है—

"Hansman, Raja of Kashi (Benares). (taken prisoner by Udan)"

अब तो मालूम हो गया न ? हंसमन भी राजा ही थे और जयचंद महाराज को बारह वर्षों से कर नहीं देते थे। अब हम एक पिछली बात को यहाँ खींच कर लाते हैं। बक्सर, काशी और महोबा आदि महाराज जयचंद के ही आधीन थे। कहा जाता है कि परिमाल जयचंद के राज्य के अफ़सर थे। चारों भाई दसराज और काशी-नरेश सैयद लड़-झगड़कर न्याय कराने के लिये कन्नौज आ रहे थे। जब वे सब महोबा आ पहुँचे, तो यहाँ के लोगों से उन लोगों ने पूछा कि कन्नौज जाने का रास्ता किस ओर है। महोबावालों ने उनका उद्देश्य जानकर कहा कि आप व्यर्थ कन्नौज क्यों जाते हैं। जयचंद महाराज परिमाल को बहुत मानते हैं। यहीं क्यों न आप न्याय करा लें। सुनिए, पाठक इनकी बात। जब उन लोगों को कन्नौज ही जाना था, तो द्रविड़-प्राणायाम की तरह इतना चक्कर काटकर महोबा की ओर निकल पड़ने की क्या आवश्यकता थी ? काशी से कन्नौज का रास्ता बिलकुल ही दूसरी ओर से गया है। महोबा आकर परिमाल का न्याय सुनने की कौन-सी धुन इन लोगों पर सवार थी ?

पहले महोबा का राज्य माहिल के आधीन था। पर पीछे वहाँ के राजा परिमाल हो गए। इसीलिये वह महोबा का शत्रु हो गया। यह हम मान लेते हैं कि वह परिमाल का कट्टर शत्रु हो गया। पर, उसे आल्हा-ऊदल से कैसी शत्रुता थी ? जन्म-भर वह इन्हीं दोनों भाइयों की बुराई करने में रहा। शत्रुता परिमाल के साथ, और हाथ धोकर पड़े आल्हा-ऊदल के पीछे। इतना ही नहीं, बल्कि हर वक़्त माहिल दोनों भाइयों की चुग़ल-खोरी करता रहा और सब कोई उसकी बात मानते ही गए। आल्हा-ऊदल को मृत्यु के विकराल विवर में गिराने का एक भी अवसर उसने अपने हाथ से जाने नहीं दिया। पर, दोनों भाइयों की चालाकी से कभी-कभी माहिल को लज्जित होना पड़ता था। शुरू से आख़िर तक परिमाल ने देखा कि माहिल इन दोनों भाइयों के पीछे बुरी तरह पड़ गया है। इसके कई उदाहरण भी उन्हें मिले थे। स्वयं उन्हें भी इसी कारण कितनी तकलीफ़ें सहनी पड़ी थीं। आल्हा-ऊदल को परिमाल अपनी औरस सन्तान की तरह प्यार करते थे। इन्हीं लाड़ले आल्हा-ऊदल को माहिल ने परिमाल से शिकायत कर महोबा से भगा दिया हो, यह बात हमारी समझ में अच्छी तरह पैठती नहीं है। माहिल की पहुँच पृथ्वीराज, जयचंद, माड़ौ-नरेश और नरवरगढ़-नरेश आदि तक के पास थी। तारीफ़ तो यह है कि माहिल की बात पर सभी विश्वास करते थे। एक-एक बार मुँहकी खाकर भी लोगों ने माहिल की बात मानी है। माहिल का इतना प्रभावशाली व्यक्तित्व भी नहीं था कि लोग संकोचवश भी उसकी बातें मान लेते। ऐसी दशा में, पिशुन माहिल से जगह-जगह ठोकरें खिलाकर आल्हा-ऊदल को बाल-बाल बचा लेना औपन्यासिक सिद्धहस्तता है। ऐतिहासिक महत्त्व यहाँ न्यून हो जाता है। यदि हम इस बात को सत्य भी मान लें, तो हमें यह बरबस मानना पड़ेगा कि माहिल की बात पर विश्वास करनेवाले ही मूर्ख थे।

एक जादूगरनी ने ऊदल को सुग्गा बनाकर छिपा लिया था। आल्हा की स्त्री सोनवा भी जादू जानती थी। वह भी वेष बदलकर ऊदल की खोज में निकली। पीछे उसने पता लगा ही लिया। युद्ध करने बाद बेचारे ऊदल महोबा आए। फिर एक स्थान पर लिखा है कि जब आल्हा-ऊदल ने माड़ौगढ़ पर चढ़ाई की थी, तब दसराज-बच्छराज की बारह वर्ष पहले मरी हुई खोपड़ियाँ बोलने लगीं। पाठक, शायद आप उनकी बातें सुनने के लिये उत्कंठित होंगे। सुनिए, बरगद के पेड़ पर से खोपड़ियाँ बोलती हैं—

हम तो जानी अपने मन में, लरिका जब्र हुइहैं हुशियार ;
गया हमारी ता दिन करिहैं, जा दिन लीहैं बदलो आय।
आस टूट गई अब तो हमरी, लरिका जोगी भए हमार ;
घर-घर टुकड़ा माँगत डोलें, क्षत्री वंश लजायो आय।

इस समय आल्हा-ऊदल योगी के वेष में माड़ौगढ़ को देख रहे थे। उनके पिता की खोपड़ी ने उन्हें गया ले जाकर पिंड देने के लिये कहा और योगी-वेष को उतारकर जम्बे राजा से बदला लेने के लिये अपनी उत्कंठा प्रकट की।

अँगरेज़ी-पुस्तक में भी दसराज की खोपड़ी बोली है। सुनिए—

'My sons would I thought, have the Gaya
rites wrought,
And on Maro would vengeance vow,
But such claims are nought in a jogi's thought,
What hope from Mahoba now' ?

श्रद्धेय लाला भगवानदीनजी के 'वीर-पंचरत्न' में भी दसराज की खोपड़ी बोली है। हमने एक दिन उनसे पूछा—क्या ऐतिहासिक दृष्टि से खोपड़ी का बोलना सत्य है?

उन्होंने कहा—इसका कुछ भी ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। हमने तो आल्ह-खंड कथा-भाग के आधार पर ही उसे लिखा था।

और सुनिए। देवल देवी की मृत्यु के विषय में और कहीं कोई बात नहीं लिखी है। अचानक ही वेला सती-अध्याय के युद्ध में ऊदलजी रोने लगते हैं—

"When shall we meet again'

Ne'er will I see again my mother Debi."

ख़ैर, देवल देवी की मृत्यु कभी चुपचाप हो गई होगी। लेकिन यह जान लीजिए कि आल्हा महाराज अभी तक ज़िंदे ही हैं। वैद्यनाथधाम के समीप झारखंड वन में वास करते हैं। उपर्युक्त युद्ध में ही सब के-सब मर गए थे। आल्हा, इंदल और सोनवा आदि दो-चार स्त्रियाँ अब तक जीवित थीं। सोनवा ने सुना कि बहुत से मनुष्य इस युद्ध में मर गए हैं। वह आल्हा का जीवित रहना नहीं जानती थी। अतः वह दौड़ी हुई युद्धस्थल पर पहुँची। शवों को देखते-देखते इंदल पर उसकी दृष्टि पड़ी। उसने इंदल से पूछा—"क्या तुमने आल्हा और ऊदल को देखा है?" आल्हा समीप ही था। उसने उसकी बात सुन ली। वह बड़ा क्रुद्ध होकर बोला—एँ! स्त्री होकर पति का नाम लेगी। उस पर भी क्षत्रिय की पत्नी होकर? हमारा क्षत्रियत्व कहाँ रहा?

यह कहकर वह इंदल के साथ हाथी पर चढ़कर वन की ओर जाने लगा। सोनवा ने हाथी की पूँछ पकड़ कर आल्हा को रोकना चाहा। आल्हा ने म्यान से तलवार निकालकर हाथी की पूँछ ही काट डाली। पीछे सोनवा ने अन्य स्त्रियों के साथ अपने शरीर को भस्म कर लिया।

एक साधारण कारण से आल्हा के क्षत्रियत्व के नाश होने की बात बड़ी आश्चर्य-जनक है। उस पर भी तुर्रा यह है कि आल्हा अब तक जंगल में जीवित ही हैं। हमारे पास और भी बहुत-सी शंकाएँ हैं। लेख बढ़ जाने के डर से हमने उन्हें नहीं लिखा। विद्वान् पाठकों से हमारी प्रार्थना है कि वे इन शंकाओं पर विचार करें। इतिहास-निर्माण के उत्तरदायित्व को समझते हुए अपने विमल विचार से हमें अनुगृहीत करें।

लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु'

मेरा परिचय

(१)

लगन लगे जनों के आकुल नयन हूँ मैं,
पावस के बिछुरे सँयोगियों के मन हूँ;
जाल में फँसा हुआ सभीत मृगशावक हूँ,
झंझानिल-झोंकों का झकोरा हुआ वन हूँ।
पींजरे का बाज डूबते हुए के प्राण हूँ मैं,
फणि मणिहीन दैन्य-दलित निधन हूँ;
होकर ठिकाना भी कहीं न है ठिकाना मेरा,
रहते हुए भी तन के बना अतन हूँ।

(२)

आँख रखते हुए भी देखता न भूल कभी,
मानता न मन की भी ऐसा मनमाना हूँ;
चाहता मुझे जो उससे मैं भागता हूँ दूर,
किंतु कहता है बुधवृंद कि मैं दाना हूँ।
'कैशलेन्द्र' आप ही में लीन रहता हूँ सदा,
अपना किसी का हूँ न किसी का बिराना हूँ;
ज्ञान का पढ़ाता पाठ विबुध-जनों को भी मैं,
ढंग है अनोखा मेरा अजब दिवाना हूँ।

कौशलेन्द्र राठौर

पाप का फल

रात के आठ बज चुके हैं। कालेज होस्टल के एक कमरे में थर्ड इयर के दो विद्यार्थी अध्ययन कर रहे हैं। कमरा दो बिजली के लैम्पों से प्रकाशपूर्ण हो रहा है। कमरे में एक ओर एक पलँग बिछा है—जिस पर बिस्तर फैला हुआ है, दूसरी ओर एक मेज़ लगी हुई है—जिस पर एक बिजली का टेबुल-लैम्प रक्खा है और कुछ पुस्तकें तथा लिखने की सामग्री रक्खी है। टेबुल के सामने दो कुर्सियों पर वे दोनों नवयुवक बैठे हैं। कमरे के पूर्व की ओर कमरे का मुख्य द्वार है और पश्चिम की ओर दो खिड़कियाँ हैं—जिनमें काँचमंडित कपाट लगे हुए हैं। पलँग के नीचे दो ट्रंकों की झलक भी दिखाई पड़ रही है।

दोनों नवयुवकों में से एक की उम्र १९ वर्ष के लगभग है और दूसरे की २३ वर्ष के लगभग। दोनों व्यक्ति हृष्ट-पुष्ट तथा देखने में साधारणतया सुंदर हैं। दोनों के सम्मुख एक-एक पुस्तक खुली रक्खी है। दोनों के हाथों में एक-एक पेंसिल है जिससे वे पुस्तक में यत्र-तत्र चिह्न बना रहे हैं। कुछ देर तक दोनों इसी प्रकार मौन रूप से अपना-अपना कार्य करते रहे। हठात् उनमें से एक ने जो उम्र में दूसरे से ४ वर्ष छोटा था, सिर ऊपर उठाकर कहा—भई चंद्रशेखर—यह पाप क्या चीज़ है?

कुछ आश्चर्य से प्रश्नकर्ता की ओर देखकर चंद्रशेखर ने कहा—पाप क्या चीज़ है? वाह भई निरंजन—तुम्हें आज तक यही ज्ञात न हुआ कि पाप क्या चीज़ है?

निरंजन—हाँ हाँ, क्या हुआ—इसमें इतना आश्चर्य करने की कौन सी बात है। आप ही बताइए पाप किसे कहते हैं।

चंद्रशेखर—यह तो बड़ी साधारण बात है—बुरे काम करना पाप है।

निरंजन—केवल इतना कह देने से ही काम नहीं चलता, जब आप यह कहते हैं कि बुरे काम करना ही पाप है, तो यह प्रश्न उठता है कि बुरे काम कौन से हैं? यदि आप कहें कि झूठ बोलना बुरा है, इसलिये झूठ बोलना पाप है तो उस पर मैं यह कहता हूँ कि ऐसे अवसर भी आए हैं और आते रहते हैं जब कि झूठ बोलना बुरा नहीं, वरन् अच्छा समझा जाता है—उस दशा में वह पाप नहीं कहा जा सकता।

चंद्रशेखर—झूठ बोलना तो किसी दशा में भी पुण्य नहीं समझा जाता।

निरंजन—मैं यह नहीं कहता कि पुण्य समझा जाता है। मैं केवल इतना कहता हूँ कि पाप नहीं समझा जाता। जैसे कोई व्यक्ति एक अपराध करता है—परंतु उसके लिये उसके हृदय में सच्चा पश्चात्ताप है। सच्चा अनुताप है। साथ ही उसकी परिस्थिति ऐसी है कि यदि उसे उस अपराध के लिये दंड दिया जाता है, तो उसका सर्वनाश हुआ जाता है—उसके बाल-बच्चे घोर संकट तथा विपत्ति में पड़ जाते हैं। उस समय यदि कोई व्यक्ति झूठ बोलकर उसे दण्ड से बचा लेता है—तो क्या बचानेवाला पाप करता है।

चंद्रशेखर—निःसंदेह पाप करता है; क्योंकि जब उसे दण्ड न दिया जावेगा, तो उसका साहस बढ़ जायगा और वह पुनः वही अथवा उसी तरह का अन्य अपराध करेगा।

निरंजन—हाँ ठीक है—परंतु यदि वह पुनः अपराध न करे; क्योंकि यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि उसके हृदय में सच्चा पश्चात्ताप है, तब—?

चंद्रशेखर—कुछ क्षणों तक सोचकर बोले—ऐसी दशा में भी झूठ बोलना पाप ही है।

निरंजन—बस, यहीं पर मेरा तुमसे मतभेद है। तुम कर्म को पाप मानते हो; परंतु मैं कर्म को पाप नहीं मानता, मैं उसके फल को पाप मानता हूँ। जब तक किसी कर्म का फल स्वयं अपने लिये तथा दूसरों के लिये किसी प्रकार से भी हानिकारक न हो, तब तक वह पाप नहीं है।

चंद्रशेखर—यदि इसे ठीक मान लिया जाय तो पाप कोई चीज़ ही नहीं रह जाता।

निरंजन—क्यों, रह क्यों नहीं जाता?

चंद्रशेखर—कैसे रह जाता है? यदि कोई कार्य हानिकारक हो, तब तो वह पाप, अन्यथा पाप नहीं। ऐसी दशा में आप किसी भी कार्य को पहले से ही पाप नहीं कह सकते।

निरंजन—नहीं बहुत-से काम ऐसे हैं जिन्हें पहले से ही पाप कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ चोरी, व्यभिचार, जुआ इत्यादि। इनसे प्रत्येक दशा में हानि पहुँचती है।

चंद्रशेखर—ऊँह होगा भी। यह विषय हमारे तुम्हारे मस्तिष्क की वस्तु नहीं है। यह फ़िलासफ़रों का काम है।

निरंजन—फ़िलासफ़र भी मनुष्य ही होते हैं।

चंद्रशेखर—हमारे तुम्हारे से नहीं।

निरंजन—संसार पाप चाहे जिसे माने; परंतु मैंने तो अपने लिये पाप की परिभाषा यही बना ली है कि जिससे स्वयं हमें या दूसरों को किसी भी प्रकार की हानि पहुँचे वह पाप है।

चंद्रशेखर—किसी भी प्रकार से तुम्हारा क्या तात्पर्य है?

निरंजन—शरीरसंबंधी, आत्मासंबंधी, धनसंबंधी इत्यादि।

चंद्रशेखर—यद्यपि, मैं तर्क से तुम्हारी इस परिभाषा को नहीं काट सकता, तथापि मेरी आत्मा कहती है कि तुम्हारी परिभाषा सदोष है। यह बात किसी दिन स्वयं तुम पर प्रकट हो जायगी।

निरंजन—मुझे तो ऐसी आशा नहीं, यदि ऐसा हुआ तो मैं अपनी भूल मान लूँगा।

इसके पश्चात ये दोनों पुनः अध्ययन में लग गए। नौ बजे के लगभग चंद्रशेखर ने पुस्तक बंद करके कहा—अच्छा मैं तो अब जाता हूँ—नींद लगी है।

निरंजन—अच्छी बात है जाओ।

चंद्रशेखर—पुस्तक लेकर अपने "रूम" में चले गए। उनके चले जाने पर निरंजन ने अपने कमरे का द्वार बंद कर लिया और रोशनी बुझा दी। रोशनी बुझाकर वह खिड़की के पास आए और शीशे पर आँख लगाकर बाहर की ओर देखने लगे। होस्टल के पूर्व की ओर एक १५ फ़ीट चौड़ी सड़क थी और उसके पश्चात् मकानों की क़तार थी, जिनमें गृहस्थ रहते थे। निरंजन की खिड़की के सामने जो मकान था उसके दो मंज़िले के कमरे का द्वार निरंजन की खिड़की के ठीक सामने था। इस समय उस कमरे में रोशनी हो रही थी। निरंजन ने देखा कि कमरे में एक नवयुवती अकेली निश्चिंत भाव से लेटी है। उसके हाथ में एक पुस्तक है जिसे वह बड़े ध्यान से पढ़ रही है। पढ़ते-पढ़ते युवती ने करवट ली, तो उसका सुंदर गौर वक्षःस्थल खुल गया। निरंजनलाल ने इस दृश्य को बड़े चाव से देखा। निरंजनलाल इसी प्रकार खड़े युवती के रूपामृत को पान करते रहे। अंत में जब युवती अपने कमरे की रोशनी बुझाकर सोने के लिये लेटी, तब निरंजन भी अपने बिस्तर पर आ लेटे।

(२)

निरंजनलाल इसी प्रकार, जब उन्हें सुअवसर मिलता, तब सामनेवाले घर की स्त्रियों को घूरा करते थे। उन्हें इसका एक व्यसन-सा हो गया था। जिस दिन वह यह कृत्य नहीं कर पाते थे, उस दिन उन्हें ऐसा भासित होता था कि उनका वह दिन व्यर्थ गया।

इतवार का दिन था और दोपहर का समय। निरंजन-लाल अपने कमरे में अकेले बैठे हुए एक उपन्यास पढ़ रहे थे। बीच में वह कभी-कभी उठकर खिड़की से बाहर की ओर झाँकते थे, परंतु सामनेवाले मकान के कमरे को जन-शून्य पाकर बड़े नैराश्यपूर्ण भाव से पुनः अपने स्थान पर आ बैठते और पुस्तक पढ़ने लगते। इसी प्रकार दो-तीन बार के उठने-बैठने पर अंत में उन्हें सफलता मिली। सामनेवाले कमरे में एक स्त्री आकर पलँग पर लेट गई। निरंजनलाल ने पुस्तक एक ओर रख दी, और खिड़की के पास खड़े होकर स्त्री को देखने लगे। उनके कमरे का मुख्य द्वार केवल भिड़का हुआ था। यह बात निरंजन भूल गए थे। उनका नियम था कि जब वह यह कृत्य करते थे, तो द्वार की चिटख़नी बंद कर देते थे। वह खड़े देख रहे थे कि कमरे का द्वार धीरे-धीरे खुला और चंद्रशेखर ने झाँककर भीतर देखा। निरंजन को खिड़की के पास खड़े बाहर की ओर झाँकते हुए देखकर वह निःशब्द पैरों से भीतर आए। निरंजनलाल अपनी धुन में इतने मग्न थे कि उन्हें चंद्रशेखर के आने की ज़रा भी आहट न मिली। चंद्रशेखर पंजों के बल धीरे-धीरे चलकर उनके पीछे आकर खड़े हो गए और जिस ओर निरंजनलाल देख रहे थे उसी ओर देखने लगे। उस ओर देखते ही उन्होंने जो कुछ देखा उससे उनका चित्त बिगड़ गया। उन्होंने देखा कि सामने कमरे में एक सुंदर युवती अर्द्धनग्नावस्था में पलँग पर पड़ी है और निरंजनलाल

संत-समागम

[बा० बहादुरसिंहजी सिंघी, कलकत्ता की चित्रशाला से]

नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ

उसकी ओर निर्निमेष दृष्टि से देख रहे हैं। चंद्रशेखर "छिः!" कहकर दो पग पीछे हट गए। निरंजनलाल चौंक पड़े, उन्होंने घूमकर देखा और चंद्रशेखर को सामने खड़ा देखकर अप्रतिभ हो गए। लज्जापूर्ण मृदु-मुस्कान के साथ उन्होंने कहा—अरे! तुम कहाँ से टपक पड़े।

चंद्रशेखर ने कहा—मैं इधर से निकला। मैंने सोचा देखूँ तुम सो तो नहीं रहे हो—इसलिये मैंने धीरे से कपाट खोला, तो तुम्हें खिड़की के पास खड़े किसी वस्तु को बड़े ध्यान से देखते पाया। मुझे उत्सुकता हुई कि तुम क्या देख रहे हो। मैं दबे पैरों तुम्हारे पीछे आकर खड़ा हो गया।

निरंजनलाल उसी प्रकार झेंपते हुए बोले—तो तुमने क्या देखा?

चंद्रशेखर—मैंने वह देखा जो किसी भले आदमी को न देखना चाहिए—जिसका देखना पाप है।

निरंजनलाल हँसते हुए अपने पलँग पर बैठ गए और बोले—तुम बेवकूफ़ हो।

चंद्रशेखर—पराई बहू-बेटियों को इस प्रकार नंगे-खुले देखना पाप नहीं तो क्या पुण्य है।

निरंजनलाल—यदि पुण्य नहीं तो पाप भी नहीं है।

चंद्रशेखर—जब ऐसी बातें भी पाप नहीं हैं तो मेरी समझ में नहीं आता कि फिर संसार में पाप है क्या?

निरंजन—पाप वह है जिससे अपने को या किसी दूसरे को हानि पहुँचे।

चंद्रशेखर—घृणा से मुँह बनाकर बोले—रहने दो अपना यह पोच सिद्धांत—बड़े फ़िलासफ़र की दुम बने हो। पराई बहू-बेटियों को घूरते हो और उस पर यह बेहयाई कि अपने कार्य पर शर्माते भी नहीं!

निरंजन—देखो भाई, यदि तुम्हें बुरा-भला कहना है तो शौक़ से कह लो और यदि कुछ समझ और बुद्धि से काम लेना है तो मेरी बात पर ग़ौर करो। संसार में सुंदर वस्तुएँ देखने के लिये ही होती हैं। नेत्र ईश्वर ने सुंदर पदार्थ देखने को ही दिए हैं। यदि मनुष्य को सुंदर पुष्प, सुंदर लताएँ, सुंदर सरोवर, सुंदर पर्वत तथा अन्य सुंदर दृश्य देखने का अधिकार प्राप्त है, तो उसे एक सुंदर स्त्री देखने का भी अधिकार प्राप्त है।

चंद्रशेखर—यदि तुम इसे सचमुच ही अपना अधिकार समझते हो तो लुक-छिपकर क्यों देखते हो? खिड़की खोलकर सामने खड़े होकर देखो—तब ज़रा देखने का मज़ा भी मिले।

निरंजन—उस दशा में तो देखना पाप हो जायगा।

चंद्रशेखर—इस दशा में पाप नहीं है?

निरंजन—नहीं! इसका कारण यह है कि यदि सामने खड़ा होकर देखूँ तो उससे संभव है वह स्त्री बुरा माने और उसका हृदय दुखे—यदि ऐसा हुआ, तो वह पाप की श्रेणी में सम्मिलित हो जायगा। मैं इस प्रकार देखता हूँ कि मेरे नेत्रों को, मेरी आत्मा को सुख मिलता है और उस स्त्री को कोई हानि नहीं पहुँचती—ऐसी दशा में यह पाप नहीं कहा जा सकता।

यह तर्क सुनकर चंद्रशेखर हँस पड़े और बोले—तुम्हारा भी विचित्र सिद्धांत है, मैंने तो ऐसा आदमी ही नहीं देखा।

निरंजन—आप कमसिन हैं अभी आपने देखा क्या है। ज़रा मस्तिष्क से काम लो—केवल पुरानी लकीर पीटने से काम नहीं चलता। मैं लकीर का फ़क़ीर नहीं हूँ।

चंद्रशेखर—अच्छा, मैं कमसिन हूँ? ईश्वर झूठ न बुलाए, मैं आपसे तीन-चार वर्ष बड़ा ही हूँ। रही मस्तिष्क से काम लेने की बात—सो पराई बहू-बेटियों को घूरने के कुकर्म को तर्क से सुकर्म प्रमाणित करना अभी मेरे मस्तिष्क ने नहीं सीखा है—यह आपको ही मुबारक रहे। और न मैं यह मानता हूँ कि जब तक किसी काम को करते ही अपने या किसी दूसरे के ऊपर वज्रपात न हो, तब तक वह पाप नहीं है। बहुत से कार्य ऐसे हैं जिनका फल बहुत देर में मिलता है, पर मिलता है अवश्य!

निरंजनलाल—अच्छा, महात्माजी, क्या आप बता सकते हैं कि मुझे इस पाप का क्या फल मिलेगा?

चंद्रशेखर—जो फल मिलेगा वह तुम्हें समय पर ज्ञात हो जायगा।

निरंजनलाल—परंतु मिलेगा अवश्य—क्यों?

चंद्रशेखर—हाँ, यदि तुम अपनी यह कुटेव न छोड़ोगे, तो अवश्य मिलेगा।

निरंजनलाल—अच्छी बात है—मुझे भी देखना है कि तुम्हारी भविष्यवाणी कहाँ तक ठीक उतरती है।

चंद्रशेखर—इस फेर में न पड़ो। अच्छा हो यदि तुम अपना यह दुष्ट स्वभाव छोड़ दो।

निरंजनलाल ने व्यंग्यपूर्वक कहा—हाँ, छोड़ दूँगा—ज़रा आपकी भविष्यवाणी का परिणाम देख लूँ।

चंद्रशेखर कुढ़कर बोले—ख़ैर, तुम्हारी इच्छा यही है तो ऐसा ही सही।

यह कहकर चंद्रशेखर वहाँ से चले गए।

(३)

निरंजनलाल के इस स्वभाव की चर्चा क्रमशः अन्य विद्यार्थियों में भी फैल गई। कुछ ने इस पर कुछ ध्यान नहीं दिया, कुछ ने इसे केवल मज़ाक़ समझा; परंतु कुछ मनचले ऐसे भी थे जिन्होंने स्वयं इसकी जाँच करने की चेष्टा की। दो एक विद्यार्थी इस ताक में रहने लगे कि उन्हें भी ऐसे दृश्य देखने का सौभाग्य प्राप्त हो। उन्हें जब अवसर मिलता, तब निरंजनलाल के कमरे में घुस जाते और सीधे खिड़की के पास पहुँचकर वहाँ खड़े हो जाते और बाहर की ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगते। परंतु निरंजनलाल को अभी इसकी कुछ ख़बर नहीं थी। क्योंकि उनकी उपस्थिति में किसी का इतना साहस न होता कि यह हरकत करे। जब ऐसा अवसर होता कि निरंजनलाल कमरा खुला छोड़कर भोजन करने अथवा नित्यक्रिया से निवृत्त होने के लिये जाते, तभी कोई न कोई विद्यार्थी उस सुअवसर से लाभ उठाता। मनोहरसिंह नामक एक विद्यार्थी इस बात के लिये विशेष लालायित रहता था।

एक दिन जब कि कमरा सूना पाकर मनोहरसिंह खिड़की के पास खड़ा झाँक रहा था। उसी समय हठात् निरंजनलाल पहुँच गए। उन्होंने मनोहरसिंह को खिड़की से झाँकते देखकर समझ लिया कि इसे भी शौक़ लगा। उन्होंने किंचित् कर्कशस्वर से पूछा—वहाँ खड़े क्या झाँकते हो जी?

मनोहरसिंह—कुछ नहीं, ऐसे ही ज़रा सड़क की बहार देख रहा था।

निरंजनलाल—सड़क की बहार देखनी हो तो अपने कमरे से जाकर देखो।

मनोहरसिंह—तो इतना बिगड़ते क्यों हो—यहाँ खड़ा हो गया तो कौन पाप किया?

निरंजन०—मैं ऐसी बातें पसंद नहीं करता—समझे? सामने एक भले आदमी रहते हैं, उनकी दृष्टि पड़ गई तो वह बुरा मानेंगे।

मनोहरसिंह—खिड़की के कपाट तो बंद हैं—उनकी दृष्टि कैसे पड़ेगी?

निरंजन०—पड़ सकना सम्भव है।

मनोहरसिंह—हाँ भाई, तुम घंटों खड़े होकर घूरो—तब दृष्टि नहीं पड़ती, मेरे खड़े होने से दृष्टि पड़ जावेगी—मानता हूँ उस्ताद!

निरंजनलाल ने क्रुद्ध होकर कहा—बस, ज़बान सँभाल कर बात करो नहीं अच्छा न होगा। घूरना कि मानी दारद?

मनोहरसिंह किंचित मुस्कराकर बोला—यह गीदड़-भपकी किसी और को दिखाओ—तुम्हारी सब कला मुझे मालूम है।

निरंजन०—क्या मालूम है? मैं कोई चोर-बदमाश तो हूँ नहीं—आपको मालूम क्या है?

मनोहरसिंह—अच्छा-अच्छा, बहुत जामे के बाहर मत हो—मैंने कुछ मोती नहीं तोड़ लिए, केवल एक नज़र भर देख लिया है। तुम्हारी चीज़ तुम्हें मुबारक रहे। मगर उस्ताद यह तनहाख़ोरी अच्छी नहीं।

निरंजन०—तुम बड़े बदमाश आदमी हो जी—जो मुँह में आता है बके जाते हो। मेरा कमरा है मैं यहाँ जो चाहूँगा करूँगा—तुम्हारे बाप का इजारा है?

मनोहरसिंह ने गंभीर होकर कहा—यह बात बेजा है, बाप-वाप को मत घसीटो—नहीं अच्छा न होगा।

निरंजन—अच्छा क्या न होगा, तुम कर क्या लोगे?

मनोहरसिंह—इस भरोसे न रहना, सारी शेख़ी भुला दूँगा।

यह सुनते ही निरंजनलाल उछलकर मनोहरसिंह के सामने जा खड़े हुए और आस्तीन समेटते हुए बोले—क्या कहते हो—शेख़ी भुला दोगे। इन दोनों की चीत्कार सुनकर अन्य विद्यार्थी जमा हो गए और सब पूछने लगे—क्या है, क्यों लड़े मरते हो?

मनोहरसिंह ने देखा कि अब यहाँ ठहरना ठीक नहीं, अतएव उसने कहा—अच्छा देखा जायगा, बताऊँगा।

यह कहकर वह निरंजन के सामने से टल गया। उसके चले जाने के पश्चात् विद्यार्थियों ने निरंजनलाल से बहुत पूछा कि क्या बात थी; पर निरंजन ने कुछ नहीं बताया।

इस घटना के पश्चात् पंद्रह-बीस दिन व्यतीत हो गए। निरंजनलाल और चंद्रशेखर की मित्रता पूर्ववत् बनी हुई है। यद्यपि चंद्रशेखर जानते हैं कि निरंजनलाल ने अपना दुष्ट स्वभाव छोड़ा नहीं; परंतु इस पर अब वह कुछ नहीं कहते। इधर निरंजनलाल की यह दशा है कि वह चंद्रशेखर को चिढ़ाने के लिये कभी-कभी उनके सामने ही घूराघारी आरंभ करते हैं। यह देखकर चंद्रशेखर वहाँ से टल जाते हैं।

एक दिन इतवार को दोपहर के समय निरंजनलाल भोजन करने गए। उन्होंने अपने कमरे के द्वार को केवल ओढ़का दिया। उनके जाते ही मनोहरसिंह टहलते हुए उनके कमरे के पास आए और इधर-उधर देखकर धीरे से कमरे के अंदर घुस गए। कमरे के भीतर जाकर वह सीधे खिड़की के पास पहुँचे। पहले तो वह कुछ क्षणों तक खड़े देखते रहे। इसके उपरांत उन्होंने धीरे से खिड़की के कपाट खोले और कमीज़ की जेब से एक कंकड़ निकाला। वह कंकड़ उन्होंने सामनेवाले कमरे में फेंककर पुनः कपाट बंद कर लिए और जल्दी से कमरे से निकल आए। कमरे के कपाट पूर्ववत् ओढ़काकर वह चुपचाप अपने कमरे की ओर चले गए।

उनके जाने के दो-तीन मिनिट पश्चात् ही निरंजनलाल भोजन करके लौटे और अपने कमरे में आकर कपड़े पहनने लगे। वह कमीज़ पहनकर पान खाने के लिये बाहर आ ही रहे थे कि उसी समय उनके पिछवाड़े कुछ कोलाहल सुनाई पड़ा। उन्होंने खिड़की खोलकर बाहर की ओर झाँका। उन्होंने देखा कि सामनेवाले मकान के बाबू खड़े कुछ बकझक रहे हैं। उनको झाँकते देखकर बाबू ने कर्कश स्वर में कहा—क्यों जनाब, यह आपकी कौन सी हरकत है?

निरंजन का कलेजा धक से हुआ। उन्होंने सोचा—कहीं मेरा झाँकना-ताकना इन्हें तो नहीं मालूम हो गया।

उन्हें कुछ घबराया हुआ तथा निरुत्तर सा पाकर वह बाबू अधिकतर उत्तेजित होकर बोले—आप भले आदमियों के घरों में ढेले फेंकते हैं क्यों? मालूम होता है आपके कोई बहन-बेटी नहीं है।

निरंजनलाल बोले—मैंने तो ढेला-वेला कुछ नहीं फेंका।

वह बाबू साहब एक कंकड़ दिखाकर बोले—यह ढेला आपके कमरे से आया है। अभी-अभी आपने फेंका है।

निरंजनलाल कुछ कर्कश स्वर में बोले—मैंने नहीं फेंका, आप ख़ामख़ाह एक भले आदमी पर तोहमत लगाते हैं।

बाबू साहब—तुम भले आदमी हो? तुम अव्वल दर्जे के बदमाश हो। एक तो कुसूर किया ऊपर से टर्राते हो। याद रखना इस बार तो मैं तरह देता हूँ आयंदा कभी ऐसी हरकत की तो बहुत बुरी तरह पेश आऊँगा।

यह कहकर बाबू साहब बकते-झकते चले गए। इधर निरंजनलाल हतबुद्धि से होकर खड़े रहे। इधर यह गुल-गपाड़ा सुनकर अन्य विद्यार्थी भी इनके कमरे में जमा हो गए थे। उनमें से जो निरंजनलाल के स्वभाव को जानते थे, उनमें से एक ने कहा—वाह उस्ताद मानता हूँ, घूराघारी करते-करते ढेलेबाज़ी भी करने लगे।

निरंजनलाल—मैं तो अभी भोजन करके आया हूँ, मुझे तो पता तक नहीं कि किसने ढेला फेंका।

पहले तो विद्यार्थियों ने इनकी बात पर विश्वास नहीं किया; पर जब इन्होंने बहुत क़समें-वसमें खाईं, तब सब लोग वहाँ से हटे। निरंजन की निर्दोषता पर उन्हें विश्वास हुआ या नहीं—इस पर किसी ने अपना मत प्रकट नहीं किया।

(४)

उपर्युक्त घटना के पश्चात् दस दिन बीत गए। मनोहरसिंह ने देखा कि उसके ढेला फेंकने का जो परिणाम होना चाहिए था, वह नहीं हुआ। अतएव वह पुनः सुअवसर की ताक में रहने लगा। एक दिन वह निरंजनलाल से पहले ही भोजन करके अपने कमरे में आ गया और इस टोह में रहा कि निरंजनलाल कब भोजन करने जाते हैं। कालेज जाने के पूर्व साढ़े नौ बजे के लगभग निरंजनलाल भोजन करने गए। उनके उधर जाते ही मनोहरसिंह पुनः उनके कमरे में घुस गया और वही कांड करके तुरंत अपने कमरे में आया, झटपट पुस्तकें उठाईं और कालेज की ओर चल दिया। इधर कुछ ही मिनिटों पश्चात् निरंजनलाल अपने कमरे में आए और कालेज जाने के लिये कपड़े पहनने लगे। वह कपड़े पहनकर तैयार ही हुए थे कि वही बाबू साहब, जिनसे उस दिन कहा-सुनी हुई थी, एक अन्य व्यक्ति के साथ उनके कमरे के द्वार पर आकर खड़े हो गए और कर्कश स्वर में बोले—क्यों जनाब, आप अपनी बदमाशी से बाज़

नहीं आते—अच्छी बात है, आज मैं आपको प्रिंसिपल के पास लिए चलता हूँ। आप विद्यार्थी न होते, तो मैं आपको इसी जगह खोदकर गाड़ देता।

निरंजनलाल पहले तो अवाक् हो गए; परंतु फिर सँभलकर बोले—आप कुछ घास तो नहीं खा गए हैं? व्यर्थ एक भले आदमी पर दोषारोपण करते हैं। उस दिन मैं चुप हो रहा कि ग़लती हो गई होगी—किसी ने फेंका होगा, परंतु मेरा कमरा सामने है, इसलिये मेरे ऊपर संदेह होना स्वाभाविक है। उसका नतीजा यह हुआ कि आपने मुझी को ताक लिया। वाह! यह अच्छा स्वाँग निकाला।

बाबू साहब क्रोध को पीने की चेष्टा करते हुए बोले—देखिए अभी आटे-दाल का भाव मालूम हो जायगा। पहले तो आपको मैं आपके अफ़सर के पास लिए चलता हूँ। उसके बाद जो कुछ होगा देखा जायगा।

निरंजनलाल पुस्तकें उठाकर बोले—चलिए, अफ़सर मेरा क्या कर लेंगे? जब कर नहीं तो डर काहे का।

बाबू साहब निरंजनलाल को साथ लेकर प्रिंसिपल के बँगले की ओर चले। इनके पीछे-पीछे अन्य विद्यार्थियों की भीड़ भी चली।

प्रिंसिपल का बँगला कालेज की सीमा के अंदर ही था, अतएव पाँच मिनिट में ही सब लोग बँगले पर पहुँच गए।

बाबू साहब प्रिंसिपल से सब वृत्तांत कहकर बोले—एक दिन पहले भी इन्होंने यही हरकत की थी और इसी कारण मुझसे इनसे कुछ कहा-सुनी भी हुई थी। आप अन्य विद्यार्थियों से पूछ लीजिए कि ऐसा हुआ था या नहीं।

प्रिंसिपल साहब ने दो-चार विद्यार्थियों से पूछा। उन्होंने कहा—हाँ, कहा-सुनी तो अवश्य हुई थी?

मनोहरसिंह भी पहुँच गया था, उसने आगे बढ़कर कहा—साहब, यह बहुधा इनके घर की स्त्रियों को घूरा करते थे। मैंने इन्हें कई बार ऐसा करते देखा। इसके लिये यह हॉस्टल में काफ़ी बदनाम हो चुके हैं। सब विद्यार्थी इनकी इस बुरी आदत को जानते हैं।

प्रिंसिपल साहब ने अन्य विद्यार्थियों से पूछा। यद्यपि वे नहीं चाहते थे कि निरंजनलाल के विरुद्ध उन्हें कुछ कहना पड़े; परंतु जब बात यहाँ तक पहुँच गई तो उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि—"हाँ निरंजनलाल इस संबंध में हॉस्टल में बदनाम तो हैं। एक-दो बार इन्हें चंद्रशेखर ने मना भी किया था।"

प्रिंसिपल—चंद्रशेखर कहाँ है—उसे बुलाओ। चंद्रशेखर की तलाश हुई; पर उनका पता ही न लगा। वह निरंजन के विरुद्ध गवाही देना नहीं चाहते थे, इस कारण टल गए थे। अंत में प्रिंसिपल ने कहा—अच्छा, इतना काफ़ी है—चंद्रशेखर की गवाही की आवश्यकता नहीं।

यह कहकर उन्होंने बाबू साहब से कहा—आप तशरीफ़ ले जायँ, मैं इसे काफ़ी सज़ा दूँगा।

बाबू साहब—कृपा करके आप इन्हें उस कमरे से अवश्य हटा दीजिएगा।

प्रिंसिपल—केवल कमरे से ही नहीं, मैं कालेज और हॉस्टल दोनों से हटा दूँगा।

प्रिंसिपल साहब ने ऐसा ही किया—निरंजनलाल को अपने कालेज से सदैव के लिये निकाल बाहर किया।

× × ×

एक वर्ष पश्चात् चंद्रशेखर एक कार्यवश उसी नगर में गए, जिस नगर में कि निरंजनलाल रहते थे और निरंजनलाल के मकान पर पहुँचकर उनसे उन्होंने भेंट की।

चंद्रशेखर ने पूछा—कहो आजकल क्या करते हो?

निरंजनलाल—यहाँ एक बंक में नौकरी करता हूँ—अस्सी रुपए मासिक पाता हूँ। क्या सोचता था और क्या हो गया। सोचता था बी० ए० पास करके वकालत की डिग्री प्राप्त करूँगा—परंतु भाग्य में तो यह बदा था।

चंद्रशेखर—क्या वास्तव में तुमने ढेले नहीं फेंके थे?

निरंजनलाल—ईश्वर को साक्षी करके कहता हूँ कि मैंने ढेला फेंकना कैसा कभी खिड़की खोलकर देखा भी नहीं—मैं तो इसे घोर पाप समझता था। ढेले, जहाँ तक मैं समझता हूँ मनोहरसिंह ने फेंके थे। उससे मुझसे एक दिन झगड़ा हुआ था और उसने कहा था कि समझूँगा। हज़ार दर्जे तो यह उसी का काम है। उसी ने सबसे पहले स्वयं प्रिंसिपल से मेरी झाँका-ताकी करने की बात भी कही थी।

चंद्रशेखर—मैं जानता था कि कदाचित् मुझसे

भी पूछा जाय, इसीलिये मैं लापता हो गया था, क्योंकि न तो मैं झूठ बोलना चाहता था और न तुम्हारे विरुद्ध कुछ कहना चाहता था।

निरंजनलाल—हाँ, भाई तुमने तो मित्रता का हक़ अदा किया।

चंद्रशेखर—मैं मना करता रहा; पर तुम अपने तर्क के आगे न माने—अब तो तुम्हारी समझ में आया कि वह पाप था।

निरंजनलाल—हाँ, निःसंदेह पाप था, पाप न होता, तो ऐसा परिणाम क्यों होता? उसी की बदौलत मेरी और मनोहरसिंह की शत्रुता हुई और उसने यह कांड कर डाला।

चंद्रशेखर—तुम आजकल बहुत दुबले हो रहे हो, मुख पीला पड़ गया है और आँखें गड्ढे में चली गई हैं—क्या बात है? निरंजनलाल ने सिर झुकाकर कहा—क्या बताऊँ सब उसी पाप का फल है।

चंद्रशेखर—इसका क्या तात्पर्य?

निरंजनलाल—क्या कहूँ कहते शर्म लगती है।

चंद्रशेखर—मुझसे तो कहना ही पड़ेगा।

निरंजनलाल—उसी झाँका-ताकी में ऐसे अवसर भी आ जाते थे, जब कामोद्दीपन होता था—उसे शांत करने का कोई उपाय न था, इसलिये प्रमेह हो गया—वही अब तक पीछा पकड़े है। चिकित्सा हो रही है—अभी तक तो कोई लाभ हुआ नहीं।

चंद्रशेखर—बड़े दुःख की बात है—जिसे तुम समझते कि उससे किसी की हानि नहीं पहुँचती, उससे तुम्हीं को कितनी हानि पहुँची।

निरंजनलाल—बुरे काम का फल मिलता अवश्य है—चाहे शीघ्र मिले चाहे देर में। इसमें ज़रा भी मिथ्यावाद नहीं है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक

साहित्य-सुधा

राजति अचल चारु चंचला चपल कैधौं,
कैधौं अति मन-हर मूर्ति चामीकर की;
कैधौं रूरे-रतन-प्रदीप की सिखा हो सुचि,
भ्राजति विशेष ज्योति जाते पर ढर की।
कैधौं प्रभा-पूरित बिसाल मंजु महताब,
लसति 'बिसारद' जू लोक त्यों अपर की;
जगर-मगर आलि! कीन्हे कुंज-कोनु-कोनु,
सोहति सु कैधौं राधा-रानी रूप-बर की।
प्रात, अरबिंदन की सुठि नव-माल सुचि,
रुचि भरी भूरि उर अवरेखियतु हैं;
सोहिनी सरस अति चमक दमकवारी,
धोसु मधि कनक-सलाका लेखियतु हैं।
चंद्रकला साँझ, अरु रैनि में 'बिसारद' जू,
रतन-प्रदीप की सिखा बिसेखियतु हैं;
एरी ब्रषभानु की दुलारी रूपवारी तोहिं,
औरे औरे समै भाँति औरे देखियतु हैं।
वेदन को सारु चारु तत्त्व त्यों पुरानन को,
संतन को सरबसु भल ही पतीजिए;
तोख देनवारो दोख दुख को दरनहारो,
मोख को 'बिसारद' सहारो ततबीजिए।
पागि-पागि नित षटरस-रस रागि रागि,
रसना! समै न अनमोल वादि कीजिए;
छिनु-छिनु, घरी-घरी, साँझ भोर, रैनि-दिन,
मानि कही मेरी नाम हरि को सुलीजिए।

बलदेवप्रसाद टंडन

पंतजी और पल्लव

(समालोचना)

(४)

पहले एक जगह मैंने लिखा है, मौलिकता का विवेचन आगे चलकर करूँगा। यहाँ थोड़ी देर के लिये पंतजी की कविताओं की समालोचना स्थगित करता हूँ। पंतजी ने दूसरी-दूसरी जगहों से जो अच्छे-अच्छे भाव लिए हैं, यह कहा जा चुका है कि इस तरह के भावापहरण के अपराध में बड़े से बड़े प्रायः सभी कवि दोषी हैं। जब कोई समालोचक ऐसे अपराध के कारण की जाँच करता है, तब उसे उस कारण

के मूल में एक प्रकार की कविता के ही दर्शन होते हैं। वह देखता है, जिन भावों को ग्रहण करने के लिये वह कवि पर दोषारोप कर रहा था, वे भाव कवि की हृदय-भूमि में बीज-रूप से आप ही जम गए थे। उत्तमोत्तम भावों के ग्रहण करने की शक्ति रस-ग्राही कवि-हृदय में ही हुआ करती है। जिन भावों को वह प्यार करता है, वे चाहे दूसरे के ही भाव हों, उसकी सहृदयता से धुलकर नवीन युग की नवीन रश्मि से चमकते हुए फिर वे उसी के होकर निकलते हैं। चोरी का अपराध लगाना जितना सीधा है, चोरी करना उतना सीधा नहीं। इस सत्य को कोई जब चाहे आज़मा सकता है। उदाहरण-स्वरूप, हिंदी के किसी प्रसिद्ध लेखक को किसी प्रसिद्ध कवि की कुछ पंक्तियाँ हज़म कर जाने के लिये दे दीजिए। मैं कहता हूँ, उन्हें सफलता हर्गिज़ न होगी। वे किसी तरह उन पंक्तियों को क्रै भले ही कर डालें, पर अपनी तरफ़ से वे एक भी स्वस्थ पंक्ति न लिख सकेंगे। यहीं कवि-हृदय की मौलिकता का आभास मिलता है। 'चीरा तो यक क़तरए ख़ून निकला' को चरितार्थ करनेवाले आजकल के छायावाद अंधकार में बेलगाम घोड़ा छोड़कर गोल तक पहले पहुँचने के इच्छुक पाँचवें सवार कवियों की श्रेणी से अलग, पंतजी साहित्य के एक अलंकृत उज्ज्वल आसन पर स्थित हैं। उनकी सहृदयता के स्पर्श से उनके शब्दों में एक सजीव जीवन आ गया है जो साहित्य का ही जीवन है, जो किसी तरह भी नहीं मर सकता। उनकी आत्मा और साहित्य की आत्मा एक हो गई है। शब्दों को जिस सहृदय दृष्टि से उन्होंने देखा है, अपनी रुचि के अनुसार उनमें जो परिवर्तन किए हैं वही उनकी मौलिकता है। जब मैं पढ़ता हूँ—

"जननि श्याम की वंशी से ही,
कर दे मेरे सरस वचन ;
जैसा-जैसा मुझको छेड़ें ,
बोलूँ अधिक मधुर मोहन ।
जो अकर्ण अहि को भी सहसा ,
कर दे मंत्र-मुग्ध नत-फन ,
रोम-रोम के छिद्रों से माँ ,
फूटे तेरा राग गहन ।"

तब इन पंक्तियों में एक साफ़ आइने की तरह मुझे पंतजी का हृदय दिखलाई पड़ता है। कहने का ढंग भी कितना मार्जित, कितना अच्छा! विना कानवाले सर्प—साहित्यिक को नवीन युग का कवि मुग्ध करना चाहता है, इसलिये कहता है, मेरे शब्दों को, माँ, तू वंशी की सुरीली तान की तरह मधुर कर जो विना कानवाले साँप को सहसा मंत्र-मुग्ध और अवनत-फन कर दें। अपने लिये भी कहा है, वे मुझे वंशी की तरह जितना ही छेड़ें, मैं और मधुर बोलूँ। निःसंदेह, हृदय के एसेंस के विना, केवल हाथ की सफ़ाई दिखानेवाला कवि इतने सुंदर ढंग से नहीं कह सकता, और यही पंतजी की मौलिकता है। एक ही अर्थ को अनेक वाक्यों में, तरह-तरह के शब्दों में प्रकट करने की जो शक्ति कवि के लिये आवश्यक है, वह भी पंतजी में है। वे कुशाग्रबुद्धि और नाज़ुक-अंदाज़ कवि हैं। उनकी इस पंक्ति से—

'उर के दिव्य नयन, दो कान'

जान पड़ता है, हृदय की पहचान उन्हें हो गई है। उन्हें साहित्यिक स्वतंत्रता प्राप्त रहनी चाहिए। यदि कोई इससे इनकार करेंगे, तो इस तरह वे साहित्य-महारथी स्वयं ही अपनी प्रतिष्ठा घटाएँगे। पंतजी की सहृदयता उन्हें उनका अधिकार दिलाएगी। पंतजी के मंडन में मैं बातों ही बातों बहुत बहस कर चुका हूँ जिसे मेरे मित्र जिनसे मुकाबला आन पड़ा है, अच्छी तरह जानते हैं। प्रायः अधिकांश लोगों ने 'प्रभात' को स्त्रीलिंग मानने के संबंध में प्रश्न किया। मैं सबसे यही कहता गया कि भई, उसके पीछे एक 'श्री' अपनी तरफ़ से जोड़ लो अगर तुम्हें यह खटकता है। कविता ख़ुद स्त्री-लिंग है। उसकी स्त्री-सुकुमारता में आकर्षण विशेष रहता है। पाठक प्रायः खिंच जाते हैं। भाव को रूप देने के वक़्त कवि जिस रूप से प्रभावित रहता है, प्रायः वही रूप वह भावों को देता रहता है। कोमलता लाने के लिये स्त्री-रूप की कल्पना से बढ़कर और कौन सी कल्पना होगी? भावों के अलावा पंतजी ने अपने को भी स्त्री-रूप में कल्पित कर लिया है। यह भी उनकी मौलिकता ही है। हिंदी के निष्ठुर शब्दों को इसीलिये वे इतना सरस कर सके हैं। इसके अतिरिक्त उनकी मौलिकता के साथ नवीन युग की प्रतिभा भी सम्मिलित है।

भाषा की प्रथम अवस्था के कारण इतने कोमल होकर भी 'पल्लव' में कहीं-कहीं जो परिवर्तन पंतजी ने किए हैं, उन्हें देखकर यह अनुमान दृढ़ हो जाता

है कि अब तक शब्दों के कोमल रूपों पर उनकी दृष्टि स्थिर नहीं बैठ सकी। क्योंकि अपने ही गढ़े हुए स्वरूप को, दुबारा पल्लव में छपने के समय उन्होंने बिगाड़ दिया है। एक उदाहरण पेश करता हूँ। सरस्वती में छपने के समय उनकी 'स्वप्न'-कविता में एक जगह था—

"नयन-नीलिमा के लघु नभ में,
यह किस सुखमा का संसार;
विरल इंद्र-धनुषी-बादल-सा,
बदल रहा है रूप अपार?"

पल्लव में छपा है—

"नयनों के लघु-नील-व्योम में,
अलि किस सुखमा का संसार;
विरल इंद्र-धनुषी-बादल-सा,
बदल रहा निज रूप-अपार?"—

"नयन-नीलिमा के लघु नभ में" जितना अच्छा है, "नयनों के लघु-नील-व्योम में" उतना अच्छा नहीं, यद्यपि दोनों के अर्थ में फ़र्क़ कोई नहीं। 'सरस्वती' मेरे पास नहीं है, बाद का जो परिवर्तन है, वह पहले ही-सा रक्खा गया है या परिवर्तन के रूप में, मैं ठीक तौर से न कह सकूँगा। "है" के प्रति जैसी उदासीनता 'पल्लव' के प्रवेश में पंतजी ने प्रकट की है, जान पड़ता है, उसे निकालने के लिये 'पल्लव' में छपने के समय उन्होंने उस जगह "निज" बैठा दिया है। "यह" की जगह "अलि" शब्द आया है। इनसे विशेष कुछ बना-बिगड़ा नहीं। बहुत बारीक विचार करने पर प्रथम पद्य में सर-सता ज़्यादा मिलती है, क्योंकि उसमें एक स्वाभाविक विकास है। इस तरह के और भी बहुत से परिवर्तन पंतजी ने किए हैं, जो प्रायः बिगड़ ही गए हैं। उनके 'आँसू' में पहले यह था—

'वर्ण वर्ण है उर की कम्पन,
शब्द-शब्द है सुधि की दंशन,"

फिर 'पल्लव' में छपा—

'वर्ण-वर्ण है उर का कम्पन,
शब्द-शब्द है सुधि का दंशन,"

पहले 'कम्पन' और 'दंशन' स्त्री-लिंग में थे, फिर पुंलिंग में हो गए। मुमकिन है, परिवर्तन के समय पंतजी में पुरुषत्व का जोश बढ़ गया हो, वे अपनी स्त्री-सुकुमारता भूल गए हों। मुझे तो पहला ही रूप अच्छा लगा है। इन उद्धरणों से जान पड़ता है कि अभी वे एक निश्चित सिद्धांत पर नहीं पहुँचे। अथवा अभी उन्हें कभी यह अच्छा और कभी वह अच्छा लगता है। मौलिकता के प्रश्न पर बारीक छान-बीन होने पर, निश्चय है, ब्रह्म ही हर सृष्टि के मूल में दृष्टिगोचर होगा; तथापि विकाश के विचार से, पंतजी का विकाश हिंदी-साहित्य में बड़ा ही मधुर और बड़ा ही उज्ज्वल हुआ है। जब मैं पढ़ता हूँ—

"कामनाओं के विविध प्रहार
छेड़ जगती के उर के तार,
जगाते जीवन की झंकार
स्फूर्ति करते संचार;
चूम सुख-दुख के पुलिन अपार
छलकती ज्ञानामृत की धार!"—

ब्रह्मवाद की एक उत्कृष्ट कविता मेरी नज़र से गुज़र जाती है और मैं इसके कवि को उसी वक्त हृदय का सब कुछ दे डालता हूँ। 'पल्लव' में छपी हुई पंतजी की प्रायः सभी कविताओं में जीवन है, परंतु उनमें "परिवर्तन" मुझे ज़्यादा पसंद है। मेरे विचार से 'परिवर्तन' किसी भी बड़े कवि की कृति से निःसंकोच मैत्री कर सकता है।

ये बातें मैं तब कहता हूँ जब पंतजी की ही तरफ़ से उनकी समालोचना करता हूँ। जब मैं अपने विचार भी उनकी कृति में लड़ाता हूँ तब उसकी प्रायः प्रत्येक पंक्ति में मुझे कुछ-न-कुछ अनार्यता मिल जाती है। इसका असर मुझ पर नहीं पड़ता। जहाँ तक अच्छी चीज़ मिलती है, वहाँ तक 'गुण-दोष-मय' विश्व के दोषों से बचना ही श्रेयस्कर है। एक बार पंतजी ने मुझे लिखा था, आप केवल मेरी तारीफ़ ही किया करते हैं, मेरे दोषों का मुझे परिचय नहीं कराते। उस समय कुछ साधारण दोषों का उल्लेख कर मैंने उन्हें लिखा था, आपकी कविता से मुझे आनंद मिलता है, अतएव आनंद को छोड़ निरानंद के विषय को चुनना प्रकृति के खिलाफ़ हो जाता है—प्रकृति कभी आनंद छोड़ना नहीं चाहती। जिन लोगों को पंतजी की कविता पसंद नहीं आई, जो लोग कई साल तक 'निराला' को गालियाँ देने में ही अपने पत्र की सफलता समझते रहे हैं उनका बहुत बड़ा दोष नहीं, क्योंकि उनकी आत्मा ने उन्हें जैसी सलाह दी, उन्होंने किया। अस्तु,

यहाँ मैं केवल यही दिखलाना चाहता हूँ कि किस तरह हरएक कृति में विकार रहता है—चाहे वह कालिदास की हो या श्रीहर्ष की, रवींद्रनाथ की हो या ईट्स् की अथवा पंतजी की हो या 'निराला' जी की, अवश्य कबीर की या तुलसी की नहीं,—वाल्मीकि की या व्यास की नहीं, जिन्होंने आत्म-दर्शन के पश्चात् शुद्ध और प्रबुद्ध होकर 'एकमेवाद्वितीयम्' की आज्ञा मानकर रचनाएँ की हैं। मानवीय सुंदर कृति में विकार-प्रदर्शन का उदाहरण रवींद्रनाथ और कालिदास से न देकर पंतजी को ही उद्धृत करना उचित है। उसी 'परिवर्तन' में एक जगह है—

"सकल रोओं से हाथ पसार,
लूटता इधर लोभ गृह-द्वार।"

ज़रा साहित्यिक निगाह से देखिए, 'लोभ' के साथ 'लूटने' की क्रिया कितनी असंगत है। 'लोभ' बेचारे में लूटने की शक्ति कहाँ?—वह तो हड़पता है, जटता है, ठगता है, धोखा देता है, ऐंठता है, पर लूटता नहीं, और अगर लूटता है तो वह 'लोभ' भी नहीं 'लोभ' की ललचीली निगाह में लूटने का विप्लव, वह शक्ति कहाँ? फिर "हाथ पसार" कर लूटा नहीं जाता, भीख ज़रूर माँगी जाती है। यदि कोई कहे, 'लूटने' का अर्थ 'जटना' या 'ऐंठना' भी होता है व्यंग्य में, जैसे लुट गए या ठगा गए, उनसे यह एतराज़ है कि इस तरह तमाम कविता का बीसवीं सदीवाला जोश ग़ायब हो जाता है—तमाम कविता जैसे बिना मेरुमूल के शिथिल हो गई हो। व्यंग्यार्थ के लेने से फिर वह भी व्यंग्य चित्र की ही तरह दीखने लगती है। इस तरह की व्यंजना हिंदुस्तानी दिमाग़ के बेचारे वृद्ध साहित्यिक क्यों समझने लगे? उनके सनातन-धर्मी गले की मँजी हुई परिचित रागिनी में ये लड़ियाँ आती ही नहीं—बेचारे करें क्या?

यह कहा जा चुका है, यदि पंतजी की मौलिकता एक शब्द में कही जाय तो वह मधुरता है। हिंदी में मौलिकता का बहुत बड़ा रूप उनके अंदर से नहीं प्रकट हुआ, कारण छानबीन में मौलिकता का बहुत बड़ा हिस्सा—प्रायः सर्वांश—दूसरों के ही हक़ में चला जाता है; परंतु फिर भी जो कुछ भी उनके लिये रह जाता है, निहायत सुंदर, बिलकुल उन्हीं का है। पहले मेरा विचार था कि 'पल्लव' के 'प्रवेश' के चुने हुए कुल विषयों पर लिखूँगा। इस तरह क़रीब-क़रीब ३० विषय मैंने चुने थे। परंतु प्रायः आठ ही विषयों में लेख ने इतना बड़ा आकार ग्रहण कर लिया है। अब कुल विषयों पर लिखकर अकारण श्रम करने से जी ऊब रहा है। इस समालोचना में जहाँ-जहाँ मुझे पंतजी का विरोध करना पड़ा है, उस-उस स्थल के अप्रिय सत्य के लिये मुझे हार्दिक दुःख है। मैं जानता हूँ, एक मार्जित सुहृद् पर मैंने तलवार चलाई है। समालोचना लिखने से पहले मेरे बिलकुल दूसरे विचार थे। दोष-दर्शन के लिये कभी किसी को प्रयत्न नहीं करना पड़ता, कृति के सामने आते ही गुण और दोष भी सामने आ जाते हैं। पहले एक बार और पंतजी के संबंध में मैंने 'मतवाला' में लिखा था, उस समय भी उनके दोषों के रूप मेरे सामने आ चुके थे, परंतु मैंने उनका उल्लेख नहीं किया। पं० बालकृष्णजी शर्मा 'नवीन' को अवश्य स्मरण होगा, जब 'भावों की भिड़ंत' में 'भावुक' महाशय ने मेरी चोरियाँ दिखलाई थीं, उसके बाद जब 'नवीन' जी से मेरी मुलाक़ात हुई, पंतजी के संबंध में मैंने उनसे क्या कहा था। यह साहित्य है, यहाँ कमज़ोरियों का बहुत स्पष्ट उल्लेख मेरे विचार से अनुचित है, उसी तरह कहीं कुछ भलाई करके इनाम की प्रार्थना भी हास्यास्पद है। अतएव, बहुत-सी बातों को मुझे दबा रखना पड़ा। यहाँ इतना ही कहना चाहता हूँ कि 'पल्लव' में मेरी कविता पर कुछ लिखने से पहले उचित था कि पंतजी मेरी भी सलाह ले लेते, जब कि वे मेरे मित्र थे और इस सलाह से उनके व्यक्तित्व को किसी तरह नीचा देखना पड़ता, यह तो मैं अब तक भी सोचकर नहीं समझ सका। व्यावहारिक संसार में यद्यपि १००० में ९९९ इस तरह के दृष्टांत मिलते हैं कि लोग और सब तरह की कमज़ोरियाँ स्वीकार करने के लिये तैयार हैं, परंतु बुद्धि की स्पर्द्धा में कोई भी अपने को घटकर नहीं समझता, चाहे वह महामूर्ख ही क्यों न हो, तथापि, पंतजी जैसे मार्जित मनुष्य से मित्रता का एक निहायत साधारण व्यवहार पूरा न होगा, मुझे पहले यह आशा न थी। उन्हें कमज़ोर सिद्ध करने के अपराध में मैं उनसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ, यद्यपि यह अपराध कवियों के लिये साधारण अपराध है। उनके अपराध की गुरुता को मैं सिर्फ़

इसलिये नहीं सहन कर सका कि प्रतिभा के युद्ध में उन्होंने बेक़सूर 'निराला' को मारा और अपने संबंध में सब कुछ पी गए। यह सब मुझे निहायत असंयत कुन्याय के रूप में दिखलाई पड़ा। मैं अपनी कविताओं के संबंध में काफ़ी इज़हार दे चुका हूँ। इधर पंतजी ने लिखा था, उनके कुछ मित्र मेरी भी समालोचना करना चाहते हैं। अच्छा हो यदि इस कार्य का भार पंतजी स्वयं उठाने का कष्ट स्वीकार करें। तीरों को तूण में रखकर अकारण बोझ लिए हुए फिरने से तूण को ख़ाली कर देना अच्छा होगा। इस विचार से मैं अपने संबंध में चुप रहना ही उचित समझता हूँ।

'परिवर्तन' को छोड़कर पंतजी की अन्यान्य कविताएँ जो 'पल्लव' में आई हैं, जितनी मधुर हैं, उतनी ओजस्विनी नहीं। जान पड़ता है, बाल-रचनाएँ हैं। पंखड़ियों के खोलने की चेष्टा की गई है। हिंदी की मधुरता के साथ इस समय विशेष ओज की भी ज़रूरत है। विश्व-साहित्य के कवि-समाज पर उसी तरह के कवि का प्रभाव पड़ सकता है जो भावना के द्वारा मन को आकर्षक रीति से उन्नत से उन्नत विचार कला के मार्ग द्वारा दे सके।

सुमन-हास में, तुहिन-अश्रु में
मौन-मुकुल, अलि-गुंजन में ;
इंद्र-धनुष में, जलद-पंख में
अस्फुट बुद्‌बुद क्रंदन में।
खद्योतों के मलिन-दीप में
शिशु की स्मिति, तुतलेपन में ;
एक भावना, एक रागिनी
एक प्रकाश मिला मन में।

इन पंक्तियों जिस एक ही भावना, रागिनी तथा प्रकाश को कवि अनेक स्थलों की मधुरता में व्यंजित करना चाहता है, वह प्रकाश उन स्थलों के सौंदर्य के बोझ से जैसे दबा जा रहा हो। जिस एक प्रकाश को कवि अन्य वस्तुओं तथा विषयों पर व्यंजित कर देना चाहता है, लड़ियों में उस प्रकाश की अपेक्षा सजावट में शक्ति ज़्यादा आ गई है, पाठक सजावट में इतना झुक जाता है कि फिर प्रकाश देखने के लिये वह उठ नहीं सकता। साफ़ जान पड़ता है कि कवि स्वयं जितना 'अस्फुट-बुद्‌बुद-क्रंदन' में लीन है, उतना 'प्रकाश' में नहीं, इसीलिये पाठक भी उधर ही झुकते हैं। यहाँ प्रधानता उस 'एक प्रकाश' की है, खद्योतों के मलिन 'दीप' की नहीं—अतएव व्यंजना उसी की ज़बरदस्त चाहिए थी।

"छोड़ द्रुमों की मृदु-छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया ;
बाले! तेरे बाल-जाल से कैसे उलझा दूँ लोचन ?
भूल अभी से इस जग को।"

वही हालत इन पंक्तियों की भी है। कवि 'बाला' के 'बाल-जाल' से छूटकर 'द्रुमों की मृदु-छाया' में तथा 'प्रकृति की माया' में जीवित रहना चाहता है। यहाँ भी कला से विपरीत रति कराई गई है, जो निहायत अस्वाभाविक हो गई है। अगर 'बाला' के 'बाल-जाल' से छूटने का निश्चय है तो छूटकर जहाँ ठहरिए, उसे दिखलाइए कि वह स्वभावतः 'बाला' के 'बाल-जाल' से ज़्यादा आकर्षक है। अगर छूटे तो 'द्रुमों की मृदु-छाया' में क्या करने गए? प्रकृति से—माया जोड़ने की क्या आवश्यकता थी?—प्रकृति में ही रहे तो उत्कृष्ट को छोड़कर निकृष्ट को क्यों ग्रहण किया?—प्रकृति में 'बाला' से मधुर और क्या होगा?—'बाला' को छोड़कर प्रकृति से परे जाते तो ज़रूर आकर्षक बन जाता। यहाँ कला का पतन हुआ है—उसके स्वाभाविक विकास की प्रतिकूलता का दोष आ गया है। यदि कोई कहे कि इस तरह एक विशाल प्रकृति में बाला के बाल-जाल को छोड़कर, कवि अपने को मिला देना चाहता है तो उत्तर यह है कि उस तरह उस प्रकृति को बाला के बाल-जाल से स्वभावतः मधुर होना चाहिए। जहाँ बाला के बाल-जाल मिलते हों, वहाँ मनुष्य के स्वभाव को द्रुमों की शीतल छाया कब पसंद होगी? इस कविता के अन्यान्य पद्य भी इसी तरह कला को पतन की ओर झुका ले जाते हैं। कवि को हमेशा ध्यान रखना पड़ता है कि कला के विकास का मार्ग क्या है। कला के साथ कभी मनमानी किसी की नहीं चल सकती। कला ही कवि की प्रेयसी और अभीष्ट देवी है। उसे कवि जिस दृष्टि से देखेगा, साहित्य में वही छाप पड़ेगी। उससे छेड़छाड़ तभी तक अच्छी लगती है जब तक उसका भी उस छेड़छाड़ से मनोविनोद होता है। यदि उससे ज़बरदस्ती की गई, तो साहित्य में उस बलात्कार की ही छाप पड़ेगी। उस जगह साफ़ जान पड़ेगा कि यह कविता के रूप में एक अस्वाभाविक और विकृत चेष्टा है।

परंतु जहाँ पंतजी लिखते हैं—

"कभी उड़ते-पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार ।
बढ़ाकर लहरों से लघु हाथ
बुलाते हैं मुझको उस पार ।"

यहाँ कला का विकास हद दर्जे को पहुँच गया है। पहले जिन बातों पर एतराज़ था, यहाँ वही बातें विकसित-स्वरूप धारण करती हैं। उड़ते पत्तों को देखकर सुकुमार या प्रियतम की याद आना निहायत स्वाभाविक, निहायत आकर्षक और अत्यंत सरस है, इतना सरस कि जैसे प्रियतम ही मिल गए हों। फिर लहरों के छोटे-छोटे हाथों के इशारे जब वही प्रियतम अपनी नवोढ़ा प्रेयसी को उस पार बुलाते हैं, तब उनकी प्रेयसी के साथ कविता भी असीम में विलीन हो जाती है। प्रियतम की याद आने के बाद लहरों को देखकर प्रिय का ही हाथ बढ़ाकर बुलाने का इशारा समझना बड़ा ही मधुर हुआ है—फिर बुलाना भी उस पार। यह अभिव्यक्ति सौंदर्य के साथ असीम की ओर हुई है, अतएव निर्दोष और सहृदय-संवेद्य है।

"दिवस का इनमें रजत-प्रसार,
उषा का स्वर्ण-सुहाग ;
निशा का तुहिन-अश्रु-शृंगार,
साँझ का निःस्वन राग ;
नवोढ़ा की लज्जा सुकुमार,
तरुण तुम सुंदरता की आग ।"

पल्लव के प्रति कवि की ये उक्तियाँ कला के प्राणों से मिलकर एक हो गई हैं। परंतु दिवस, उषा, निशा और साँझ का क्रम ठीक न रहने से कारीगरी का आभास मिलता है, जो स्वाभाविक वर्णन का बाधक हो जाता है। कला भी कारीगरी ही है, परंतु स्वाभाविक। यहाँ असीम के संबंध की कोई बात नहीं। केवल कला ही अपना सौंदर्य प्रदर्शन करती है।

पंतजी "है" को कविता से निकाल देने के लिये कहते हैं। कहते हैं, इसे माया-मृग समझकर कविता को सीता के पास न आने देना चाहिए। परंतु सब जगह यह बात नहीं। करुणा के स्थल पर "है" ही एक हृदय तक धँसकर उसे कमज़ोर करता और करुणा को उभाड़ता है—जैसे—

"कहाँ है उत्कंठा का पार !!
इसी वेदना में विलीन हो अब मेरा संसार !
तुम्हें, जो चाहो, है अधिकार !
टूट जा यहीं, यह हृदय-हार !!!
× × ×
कौन जान सका किसी के हृदय को ?
सच नहीं होता सदा अनुमान है !
कौन भेद सका, अगम आकाश को ?
कौन समझ सका उदधि का गान है ?
है सभी तो ओर दुर्बलता यही,
समझता कोई नहीं—क्या सार है !
निरपराधों के लिये भी तो अहा,
हो गया संसार कारागार है !"

पंतजी की एक कविता 'विश्ववेणु' शीर्षक है उसी में एक जगह है—

"हर सुदूर से अस्फुट-तान
आकुल कर पथिकों के कान ;
विश्ववेणु की-सी झंकार
हम जग के सुख-दुखमय गान ।
पहुँचाती अनल के द्वार ।"

जिस कविता का शीर्षक 'विश्ववेणु' है, वहाँ पाठक पहले ही से यह अनुमान कर लेता है कि कवि अब विश्ववेणु ही पर कुछ लिखेगा। फिर जब कविता में 'हम' का प्रयोग आता है, तब 'हम' को कवि के विश्ववेणु का ही सर्वनाम निश्चय किया जाता है। 'विश्ववेणु' का खुलासा अर्थ है संसार की मधुरता जो उसके ज़र्रे-ज़र्रे में व्याप्त है। उद्धृत पद्य में, "विश्ववेणु की-सी झंकार (हैं हम)" यानी हम (विश्ववेणु) विश्ववेणु की-सी झंकार हैं—इस तरह का दोष आ जाता है। शीर्षक विश्ववेणु देकर उपमा में फिर विश्ववेणु का लाना ठीक नहीं हुआ।

माधुर्य में पंतजी की 'अनंग', 'स्वप्न', 'वीचि-विलास', 'छाया' और 'मौन-निमंत्रण' आदि कविताएँ हैं, जो अच्छी हैं। कहीं-कहीं इनमें भी चमत्कार हद दर्जे को पहुँच गया है।

"गाओ, गाओ, विहग-बालिके !
तरुवर से मृदु-मंगल-गान ,

मैं छाया में बैठ तुम्हारे
कोमल स्वर में कर लूँ स्नान;
हाँ सखि, आओ, बाँह खोल, हम
लगकर गले जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अंतर्द्धान !"

× × ×

देख वसुधा का यौवन-भार
गूँज उठता है जब मधुमास,
विधुर-उर के-से मृदु-उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास;
न जाने सौरभ के मिस कौन
सँदेशा मुझे भेजता मौन !
क्षुब्ध-जल-शिखरों को जब वात
सिंधु में मथकर फेनाकार;
बुलबुलों का व्याकुल-संसार
बना बिथुरा देती अज्ञात।
उठा तब लहरों से कर कौन;
न जाने, मुझे बुलाता मौन !

× × ×

अलि ! क्या कहती है प्राची से
फिर उज्ज्वल होगा आकाश;
पर, मेरे तमपूर्ण-हृदय में
कौन भरेगा प्रकृत-प्रकाश।

इन पंक्तियों में सौंदर्य के सहस्र दल को अपनी प्रतिभा के सूर्य से पंतजी ने पूर्ण प्रस्फुटित कर दिया है। मैंने सुना है, लोगों की दृष्टि से पंतजी गिर गए हैं। मैं जानता हूँ, यह उठने-गिरने का इंद्रजाल क्षणिक है। जो लोग केवल गिराने में दूसरों की सहायता के लिये उत्कट रहते हैं, वे इस युग के मनुष्य नहीं। दुःख है, हिंदी-साहित्य में ऐसे रत्न के भी जौहरी नहीं। पत्रों के संपादकों और वृद्ध साहित्यिकों की हास्यक्रूर वक्र दृष्टि से ईश्वर साहित्य की रक्षा करे। ये लोग तीन पुश्त तक दाँव चुकाने की हिंसा को धारण कर सकते हैं।

परिवर्तन के बाद मेरी दृष्टि में 'उच्छ्वास' और 'आँसू' का स्थान है। 'पल्लव' में यद्यपि यह नहीं, फिर भी पंतजी की 'प्रथम रश्मि' भी मुझे बहुत पसंद आई। उसमें अकारण विशेषणों का लदाव नहीं और प्रकाशन बड़ा ही ज़बरदस्त है।

"कभी तो अब तक पावन प्रेम
नहीं कहलाया पापाचार,
हुई मुझको ही मदिरा आज,
हाय ! क्या गंगा-जल की धार !!
हृदय ! रो, अपने दुःख का भार !
हृदय ! रो, उनको है अधिकार !
हृदय ! रो, यह जड़-स्वेच्छाचार,
शिशिर का-सा समीर-संचार !!

× × ×

तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगा-स्नान;
तुम्हारी वाणी में कल्याणि,
त्रिवेणी की लहरों का गान !"

इन पंक्तियों में कितनी स्वाभाविकता है ! जान पड़ता है ये हृदय के शब्द हैं। इसीलिये इतने सहज और इतनी तीक्ष्ण चोट करनेवाले हैं। "वाणी में, त्रिवेणी की लहरों का गान" वर्तमान हिंदी के हृदय का गान है। "संग में पावन गंगा-स्नान" से जान पड़ता है दो ज्योतिर्मयी मूर्तियों—दो किरणों का मिलाप हो रहा है। 'जड़-स्वेच्छाचार' के उदाहरण में 'शिशिर का समीर-संचार' भी लाजवाब है।

'बादल' कविता में है—

जलाशयों में कमल-दलों सा
हमें खिलाता जब दिनकर,
पर बालक-सा वायु सकल दल
बिखरा देता चुन सत्वर।
लघु लहरों के चल-पलनों में
हमें झुलाता जब सागर,
वहीं चील्ह-सा झपट, बाँह गह
हमको ले जाता ऊपर।

× × ×

फिर परियों के बच्चों से हम
सुभग-सीप के पंख पसार,
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में
पकड़ इंदु के कर सुकुमार।
अनिल-विलोड़ित गगन-सिंधु में
प्रलय-बाढ़ से चारों ओर,
उमड़ उमड़ हम लहराते हैं
बरसा उपल, तिमिर, घनघोर।

बुद्बुद-द्युति तारक-दल-तरलित
तम के यमुना-जल में श्याम ;
हम विशाल-जम्बाल-जाल से
बहते हैं अमूल अविराम ।
× × ×
व्योम-विपिन में जब बसंत-सा
खिलता नव-पल्लवित प्रभात ;
बहते हम तब अनिल-स्रोत में
गिर तमाल-तम के-से पात ।
उदयाचल से बाल-हंस फिर
उड़ता अंबर में अवदात ;
फैल स्वर्ण-पंखों से हम भी
करते द्रुत मारुत से बात ।''

इन पंक्तियों में पंतजी की सौंदर्य-पर्यवेक्षणकला की कितनी सूक्ष्मता प्रकट हुई है । पंतजी में सबसे ज़बरदस्त कौशल जो है, वह शेली की तरह अपने विषय को अनेक उपमाओं से सँवारकर मधुर-से-मधुर और कोमल-से-कोमल कर देना । भावना की प्रबल जागृति तो नहीं, परंतु सौंदर्य के मनोहर रूप जगह-जगह पंक्ति-पंक्ति में मिलते हैं । रूपक और अलंकार बाँधना तो उनके बाएँ हाथ का खेल है । सफलता जैसे स्वयं उनकी उपासना से प्रसन्न हो रही हो ।*

सूर्यकांत त्रिपाठी

अग्निस्थिता सीता

(१)

या तो रक्त-पुष्पित-पराग-पुंज-मध्य कोई ,
उत्थित उमंग मृग-शावकी अभीता है ;
या तो शुभ्र आभा-संपुटित-पुट-पावक में ,
शंभु-भाल नेत्र-पुत्रिका हो अविनीता है ।
लाल चूनरी को पैन्ह काम-कन्यका सी या तो ,
गाती हुई गौरव-गुमान-ज्ञान-गीता है ;
या तो फिर राम के निदेश से प्रविष्ट ,
इष्ट-देव को मनाती अग्नि आसन पै सीता है ।

(२)

किम्वा हेम-रत्न-युक्त-सुख के सिंहासन पै ,
शोभित प्रकाशमान मंजु इंदरानी है ;
किम्वा राग-रंग-मध्य देकर अलाप आज ,
रागिनी विराजी भैरवी हो सुखदानी है ।
किम्वा सती-सुखद-सिंदूर के समूह पर ,
शोक-लेखनी से लिखी करुण कहानी है ;
किम्वा नाथ-सम्मुख पवित्रता-प्रदर्शन को ,
अग्नि-राशि-राजी रामचंद्रजी की रानी है ।

(३)

या कि बाल-दीधिति से रंजित-अलक्ष-नीर ,
निरझर पर पयोदेवता विराजी है ;
या कि प्रात-भानु से प्रकाशित सरोवर पै ,
सुरुख सुरंग पुंडरीक-छवि छाजी है ।
या कि पुंडरीक ही में राग-रेणु-राशि राजी ,
रेणु-राशि ही में कमला सी या कि राजी है ;
सिद्ध-कन्यका सी या कि गैरिक गिरींद्र पर ,
या कि अनलासन पै सीता भोरि आजी है ।

(४)

या कि अब्जिनी हो कोकनद के सुकोष-मध्य ,
स्वागत के सुख से सप्रेम दृष्टि आती है ;
बैठी हुई विशद जपा की रक्त-राजि पर ,
या कि सर्वमंगला भवानी भूरि भाती है ।
या कि सान्ध्य-समय-सुशोभित हिमाद्रि पर ,
ओषधि के वृंद मध्य रोहिणी लखाती है ;
या कि राघवेंद्र-अनुशासन से शासित हो ,
सीता अग्नि-आसन पै आसित दिखाती है ।

(५)

अथवा अशोक-ओक-मध्य-अनुराग-भरी ,
सुंदर सुरंग-वन-देवता समाई है ;
अथवा पलाश-मालिका की कुसुमावलि में ,
विशद वसंत-इंदिरा सी सरसाई है ।
अथवा सिंदूर-पूर-भाल में गणेशजी के ,
रागवती चारु चंद्र-रेखा छवि छाई है ;
सिद्धि तप-तेज पर, कीरति प्रताप पर ,
अथवा अनल पर सीता सुखदाई है ।

''अनूप''

---

* इस लेख में अंग्रेज़ी शब्द 'योरोपीय'-अर्थ में आया है ।—लेखक

समाचारपत्र

(तुलनात्मक विवेचन)

मेरिका, इँगलैंड आदि देशों में पत्रकार-कला की काफ़ी उन्नति है। इसके कई कारण हैं। पहले तो वहाँ इस कला का प्रचार बहुत दिनों से चला आता है। उतने दिन के उद्योग का कुछ फल होना ही चाहिए। दूसरे उन देशों की स्वतंत्रता, उनकी उद्योगशीलता, मशीनों आदि की तरक़्क़ी तथा अन्य सुविधाओं के कारण इस कला की उन्नति में बहुत सहायता प्राप्त हुई। वहाँ की पत्रकार-कला दिन-बदिन उन्नति करती जा रही है। प्रत्येक विषय के अलग-अलग समाचारपत्र हैं। प्रत्येक समाचारपत्र के लाखों ग्राहक हैं और प्रत्येक समाचारपत्र की लाखों रुपए रोज़ाना की आमदनी और लाखों के ही ख़र्च हैं। वहाँ के पत्रों के कारख़ाने इतने-इतने बड़े हैं कि भारतवर्ष के बड़े से बड़े पुतलीघर उनकी बराबरी मुश्किल से कर पाएँगे। जहाँ उनके कारख़ाने होते हैं, वहाँ उपनिवेश से बस जाते हैं। हज़ारों नौकर रहते हैं, नौकरों की सभाएँ, खेल-कूद की टीमें, नाच-गाने की पार्टियाँ, आदि सभी सुविधाओं का प्रबंध कारख़ानों में होता है। अधिकांश बड़े-बड़े पत्र केवल छापाख़ाने और प्रकाशन-संपादन के विभाग ही खोलकर नहीं रह जाते। उनके काग़ज़ बनाने के कारख़ाने भी अपने निजी होते हैं। उसके लिये वे लकड़ी के जंगल के जंगल ख़रीद लेते हैं और उन्हीं से अपने लिये काग़ज़ तैयार करते हैं। अपनी आवश्यकता की किसी चीज़ के लिये वे दूसरे के मोहताज नहीं होते। जिन-जिन वस्तुओं की एक समाचारपत्र को आवश्यकता होती है, वे सब वे अपने पास सदा तैयार रखते हैं। यहाँ तक कि समाचारों के आने-जाने के लिये अपने तार, अपने बेतार के तार, अपने जहाज़, अपने हवाई जहाज़, अपनी मोटरें, बाइसिकलें आदि तक वे अलग रखते हैं, जिससे आवश्यकता पड़ने पर जल्दी से जल्दी समाचार मँगाए और भेजे जा सकें। वहाँ समाचारपत्रों को ग्राहक-संख्या के लिये रोना नहीं पड़ता। साधारण पत्रों के भी लाखों ग्राहक होते हैं। एक बार इँगलैंड के कुछ समाचारपत्रों की ग्राहक-संख्या पढ़ने को मिली थी। उसके अनुसार उस समय दैनिकों में डेलीमिरा की संख्या १० लाख से अधिक, सचित्र डेलीस्केच तथा डेलीग्राफ़िक की संख्या लगभग १० लाख और साप्ताहिकों में सचित्र संडे पिक्टोरियल की ग्राहक-संख्या २३,६३,००० और न्यूज़ ऑफ़ दी वर्ल्ड की ३० लाख से भी अधिक थी। यह स्मरण रखना चाहिए कि टाइम्स और डेलीमेल जैसे सबसे अधिक लोकप्रिय पत्रों की ग्राहक-संख्या का इसमें उल्लेख नहीं है। यह अनुमान किया जा सकता है कि जब मध्यम श्रेणी के समाचारपत्रों की ग्राहक-संख्या का यह हाल है, तब उच्चकोटि के पत्रों की ग्राहक-संख्या कितनी अधिक होगी। अस्तु। ग्राहक-संख्या की अधिकता का अंदाज़ा एक बात से और भी लगाया जा सकता है। वह यह कि एक-एक पत्र को इतना अधिक काग़ज़ छापना पड़ता है कि यदि वह एकहरा करके बिछा दिया जाय तो ५०-५०, ६०-६०, मील तक ज़मीन ढँक जाय! ग्राहक-संख्या-संबंधी इन अंकों से पता चलेगा कि भारतवर्षीय और विशेषकर हिंदीपत्रों की ग्राहक-संख्या और विदेशों की ग्राहक-संख्या में कितना आश्चर्यकारक अंतर है। वहाँ साधारण से साधारण पत्र की ग्राहक-संख्या भी तीन-चार लाख से कम नहीं होती। जहाँ पर यह हालत है कि एक मेहतर तक रास्ता साफ़ करता जाता और समाचारपत्र पढ़ता जाता है, वहाँ यदि पत्रों की ग्राहक-संख्या इस प्रकार की हो, तो आश्चर्य की बात ही क्या है? अस्तु। बढ़ती हुई ग्राहक-संख्या ने इस बात की भी आवश्यकता उत्पन्न कर दी कि छापने की मशीनें भी अच्छी हों। अब वहाँ ऐसी-ऐसी मशीनें बन गई हैं जो एक घंटे में १५-१५ हज़ार अख़बार छाप सकती हैं। छापे की मशीनों के अलावा अन्य प्रकार की मशीनें भी तैयार की गई हैं। मशीनरी की इस उन्नति ने काम को अधिक सुविधाजनक बना दिया है। जिस काम को देखिए, मशीन से होता है। लीनो टाइप की मशीनें जिनमें रोज़ टाइप बनता और गलता है, अच्छे से अच्छे अक्षर मुहय्या करती हैं। टाइप के अच्छे और ताज़े होने के कारण पत्रों की छपाई सुंदर और अच्छी होती है। दूसरी मशीनें बनी हैं जिनके द्वारा एक ओर पत्र छपता जाता है और दूसरी ओर वह अपने आप

'फोल्ड' होता जाता है, बँधता जाता है, उस पर पते और टिकट चिपकते जाते हैं और वह 'डिस्पैच' होता जाता है।

वहाँ के कर्मचारियों को वेतन भी इतना अधिक मिलता है कि जिससे उनको आर्थिक संकट नहीं रहता है। अच्छे-अच्छे पत्रों के प्रधान संपादकों की तनख़्वाहें तो इतनी बड़ी होती हैं कि वहाँ के बड़े से बड़े शासनारूढ़ अधिकारी की तनख़्वाहें भी उनकी समता नहीं कर पातीं। भत्ता आदि देने में भी काफ़ी उदारता से काम लिया जाता है। अभी थोड़े दिन पहले तक तो यह हालत थी कि रिपोर्टरों को सफ़र ख़र्च के अतिरिक्त इसलिये भी भत्ता दिया जाता था कि किसी ख़ास भोज या उत्सव आदि में शामिल होने के लिये वे अपने वास्ते अच्छी पोशाक बनवा सकें। इन तमाम बातों का परिणाम यह हुआ कि लोग इस कार्य की ओर अधिक आकृष्ट हुए। इससे वहाँ के पत्र-संचालकों को अच्छे अच्छे कर्मचारी भी प्राप्त होने लगे। वहाँ योग्य और शिक्षित व्यक्ति ही इस काम के लिये नियुक्त किए जाते हैं। हमारे यहाँ की भाँति अच्छे शिक्षितों और नवसिखियों की ही भरती नहीं होती। वहाँ पर पूर्ण दक्षता और काफ़ी अनुभव प्राप्त किए बिना कोई व्यक्ति संपादक नहीं बन सकता। सारांश यह कि प्रत्येक दिशा में वहाँ काफ़ी उन्नति हो रही है। इस उन्नति का एक अवश्यंभावी परिणाम यह हुआ है कि इस संबंध में भी व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता का प्रवेश हो गया है। इस प्रतिद्वंद्विता में सफलता प्राप्त करने के लिये वहाँ के पत्र-संचालकों को लागत से भी कम दामों पर पत्र बेचने पड़ते हैं। इसलिये लाखों की ग्राहक-संख्या के होते हुए भी वे उस समय तक आमदनी नहीं कर सकते, जब तक उन्हें काफ़ी विज्ञापन न मिलें। लंदन के मज़दूरदल के डेली हेरल्ड नामक एकमात्र पत्र की यही दशा है। उसके ग्राहक लगभग ४ लाख हैं। किंतु पूँजीपतियों का विरोधी होने के कारण उसे विज्ञापन कम मिलते हैं। इसलिये उसे घाटा ही रहता है। और बार-बार सहायता के लिये अपील करनी पड़ती है।

वहाँ के पत्रों और हमारे यहाँ के पत्रों में एक यह अंतर भी है कि वहाँ के पत्रों के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वे संपादक का नाम दें। किंतु हमारे यहाँ नाम देना क़ानूनन् लाज़िमी है। नाम का असर पड़ता ही है। इसलिये यदि कोई आदमी शिक्षित, कार्य-कुशल, अनुभवी और सम्पादन-कला-निष्णात भी हो तो भी वह उस मनुष्य के मुक़ाबले में जो इतना अधिक योग्य न होते हुए भी ख्याति पा चुका है, अपने पत्र को जमाने में बड़ी कठिनता का अनुभव करेगा। अतः जिस संपादक को अपना पत्र जमाना होता है उसे सार्वजनिक आंदोलनों में भी काम करना पड़ता है और इस प्रकार उसका ध्यान और उसकी शक्तियाँ दो भिन्न-भिन्न दिशाओं में बँट जाती हैं और संपादन-कार्य में आवश्यक ध्यान, समय और शक्तियाँ न लगा सकने के कारण वह उस दिशा में उन्नति नहीं कर पाता।

यों तो पाश्चात्य देशों में पत्रकार-कला की प्रायः सर्वत्र उन्नति हुई है। किंतु इस कला की सबसे अधिक उन्नति अमेरिका में हुई है। वहाँ पर प्रायः प्रत्येक विषय के अलग-अलग समाचारपत्र प्रकाशित होते हैं और यदि एक ही पत्र में अनेक विषयों का समावेश किया जाता है तो अलग अलग विषय के लिये अलग-अलग संपादक नियुक्त होते हैं। वहाँ पर पत्रकार-कला की शिक्षा के लिये १०७ से अधिक कालेज और विश्वविद्यालय हैं। इनमें से २८ विश्वविद्यालय और १७ कालेज सरकार द्वारा संचालित होते हैं। शेष म्युनिसिपल बोर्डों और स्थानीय संस्थाओं द्वारा चलते हैं। अमेरिका में जितने समाचारपत्र निकलते हैं, उतने संसार के किसी भी देश में नहीं निकलते। यद्यपि वहाँ की आबादी साढ़े ग्यारह करोड़ से कुछ ही अधिक है, तथापि वहाँ २०,६८१ समाचारपत्र प्रकाशित होते हैं। जब कि भारतवर्ष में जहाँ की आबादी लगभग ३२ करोड़ है, केवल ३,४४६ समाचारपत्र ही प्रकाशित होते हैं। अमेरिका के प्रायः प्रत्येक समाचारपत्र के पास अपनी निजी समाचार-समिति होती है। इन समितियों में फिर परस्पर समाचार विनिमय और क्रय-विक्रय भी होता है। अमेरिका के समाचारपत्रों की एक ख़ास बात यह है कि उनमें सनसनी फैलानेवाले समाचारों और गल्पों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। महत्त्व तो इसको प्रायः सर्वत्र ही दिया जाता है, किंतु वहाँ इतना अधिक महत्त्व दिया जाता है कि सनसनीमय बनाने के लिये झूठी बातें तक जोड़ गाँठ दी जाती हैं। दूसरे पाश्चात्य देशों में यह बात नहीं है। वहाँ इन समाचारों को महत्त्व तो अवश्य दिया

जाता है, किंतु इसके लिये झूठी बातें गढ़ी नहीं जातीं। जर्मनी के समाचारपत्र तो इतना बढ़े हुए हैं कि इन बातों को अधिक महत्त्व भी नहीं देते। वहाँ के समाचार-पत्र वैज्ञानिक बातों को अधिक महत्त्व देते हैं। इँगलैंड के समाचारपत्र व्यावहारिकता और रोज़मर्रा की घटनाओं को अधिक श्रेय देते हैं।

योरप के पत्रों में इँगलैंड के टाइम्स और डेलीमेल ने जितना नाम कमाया है, उतना दूसरे पत्र को नसीब नहीं हुआ। टाइम्स की ख्याति का कारण यह है कि उसने अन्य बातों के साथ-साथ सर्वसाधारण की शिकायतों को प्रकाशित करने और उनको रफ़ा करने के लिये काफ़ी आंदोलन किया और अब भी करता जा रहा है। डेलीमेल की प्रतिष्ठा का कारण उसके संचालक की आश्चर्यकारक पत्र-प्रकाशन-संबंधी स्कीमें हैं। लार्ड नार्थक्लिफ इँगलैंड के बहुत बड़े समाचारपत्र-संचालक हो चुके हैं। वे अपने देश में ही नहीं, समस्त संसार में इस गुण के लिये ख्याति पा चुके हैं। यही महापुरुष डेलीमेल के जन्मदाता थे। जिस समय डेलीमेल का जन्म हुआ था, पत्रकार-कला काफ़ी उन्नति कर चुकी थी—और प्रतिद्वंद्विता इतनी बढ़ गई थी कि उस समय पत्र निकालकर चला ले जाना कोई आसान काम न था। लार्ड नार्थक्लिफ ने इसी वातावरण में पत्र निकालना तय किया। तमाम आयोजन करके लार्ड नार्थक्लिफ ने सन् १८९६ ई० के फ़रवरी महीने की १५ वीं तारीख़ को डेलीमेल का पहिला अंक छपवाया। तब से ढाई महीने तक रोज़ाना बराबर छपता रहा, किंतु लार्ड नार्थक्लिफ ने उसे दफ़्तर से बाहर नहीं निकलने दिया। इस बीच में उन्होंने दूसरे पत्रों से अपने पत्र का मुक़ाबला करके और लगातार काम करके अपने कर्मचारिमंडल को अभ्यास का मौक़ा देकर पूरी तैयारी कर ली। इस प्रकार जब सब तरह तैयारी हो गई, तब पूरे ढाई महीने बाद ४ मई १८९६ को डेलीमेल का प्रथम अंक प्रकाशित होकर बाहर आया। पहले ही दिन उस पत्र की ३,९७,२१५ प्रतियाँ बिकीं। पहले ही अंक से इस पत्र की धाक जम गई और इस समय तो इसकी ग्राहक-संख्या बीस लाख से भी अधिक है। लंदन, पेरिस और मानचेस्टर में इसके तीन कार्यालय हैं। तीनों स्थानों में इसके तीन संस्करण निकलते हैं। इसमें साल में ६०,००० पौंड स्याही ख़र्च होती है। इसके अपने निजी तार पेरिस से लंदन तक लगे हुए हैं। बेतार के तार भी हैं। इसके अलावा हवाई जहाज़, जल-जहाज़, मोटर आदि न जाने कितने अन्य साधक हैं, जिनके द्वारा शीघ्रातिशीघ्र समाचार इसके पास पहुँचते रहते हैं। इसका केवल मोटर-विभाग छः लाख का है। अपने ग्राहकों के लिये इसने यह कह रखा है—"डेलीमेल के ग्राहक हो जाइए। अगर कोई ग्राहक किसी आकस्मिक दुर्घटना के कारण मरेगा तो उसके घर की सहायता के लिये हम दस-पाँच हज़ार रुपए दे देंगे।" यह केवल कहा ही नहीं जाता। ऐसा प्रत्यक्षतः होता भी है। इसके अलावा अच्छे-अच्छे तैराकों, अच्छे-अच्छे खेल-तमाशा करनेवालों के लिये भी इसकी ओर से इनाम दिया जाता है। इन बातों ने इसकी ख्याति और भी बढ़ा दी। लोकप्रिय होने के कारण इसमें विज्ञापन भी ख़ूब मिलता है। अभी कुछ दिन हुए इसके विज्ञापन से संबंध रखनेवाली एक तालिका प्रकाशित हुई थी। इसके अनुसार सन् १९२७ की २८ फ़रवरी को डेलीमेल की विज्ञापनी आय १०९७३ पौंड, ३ मार्च को ११,३८९ पौंड, ७ मार्च को १३,४१३ पौंड और ९ मई को ११,८०६ पौंड हुई थी। इस हिसाब से पता चलेगा कि डेढ़-डेढ़ और दो-दो लाख रुपए रोज़ की आमदनी केवल विज्ञापन से होती है। टाइम्स पत्र का समाचार भी कुछ कम नहीं है। कहते हैं जहाँ उसका कारख़ाना है वहाँ पूरा मोहल्ला सा बस गया है। हज़ारों नौकर रहते हैं। उनके खेलने-कूदने नाचने-गाने के लिये समुचित प्रबंध रहता है और अनेक काग़ज़, स्याही आदि के कारख़ानों की काफ़ी चहल-पहल रहती है। टाइम्स के प्रधान संपादक का वेतन इँगलैंड के प्रधान सचिव के वेतन के बराबर है।

पौर्वात्य देशों में जापान की पत्रकार-कला सबसे अधिक उन्नत है। वहाँ पर समाचारपत्रों की दो कंपनियाँ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। एक का नाम है ओशाका मैनीची और दूसरी का ओशाका असाही। इन दोनों कंपनियों के समाचारपत्रों की ग्राहक-संख्या बीस-बीस लाख के लगभग है। दोनों कंपनियों के बड़े-बड़े विशाल भवन बने हैं। और दोनों में हज़ारों आदमी काम करते हैं। मैनीची कंपनी में कर्मचारियों की संख्या २४६५ बताई जाती है, जिनमें से ४०५ कर्मचारी केवल संपादकीय

विभाग में काम करते हैं। असाही की कर्मचारि-संख्या भी इतनी ही बड़ी है। इन दोनों कंपनियों में पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता भी खूब चला करती है। दोनों इस बात का प्रयत्न करती हैं कि एक दूसरे से पहले समाचार प्रकाशित करें और एक दूसरे से अधिक प्रामाणिक और विस्तृत समाचार निकाले। गत भूडोल के समय इन कंपनियों ने तत्संबंधी समाचार प्राप्त करने के लिये लाखों येन (जापानी सिक्के) ख़र्च किए थे। भूडोल पीड़ित स्थानों के समाचार प्राप्त करने के लिये इन्होंने अपने हवाई जहाज़ मुक़र्रर किए थे। इसके अतिरिक्त इस विचार से कि कहीं ऐसा न हो जाय कि हवाई जहाज़ कहीं रास्ते में बिगड़ जाय और समाचार आने में देरी हो या वे आ ही न सकें। हवाई जहाज़ों के साथ समाचार लाने के लिये सिखाए हुए कबूतर भी भेजे जाते थे। भूतपूर्व जापान सम्राट् की मृत्यु के समय दोनों कंपनियाँ सम्राट् के भवन के पास ही अपने-अपने कार्यालय स्थापित करके घंटे-घंटे के समाचार प्राप्त करती थीं। सम्राट् की मृत्यु का समाचार प्रकाशित करने में इन कंपनियों ने इतनी शीघ्रता की कि मृत्यु के १२ मिनट बाद ही समाचारपत्रों में वह समाचार प्रकाशित होकर जनता के सामने आ गया था। इन कंपनियों के कार्य ऐसे ही अद्भुत हैं। इन कंपनियों के पत्रों के अलावा भी जापान में अनेक समाचारपत्र प्रकाशित होते हैं। जन-संख्या के विचार से तो वहाँ के समाचारपत्रों की संख्या आश्चर्य पैदा करनेवाली है। जन-संख्या वहाँ की लगभग ६ करोड़ है। इस जन-संख्या में वहाँ से दैनिक, साप्ताहिक, मासिक आदि कुल मिलाकर ४५१२ पत्र प्रकाशित होते हैं। रूस की पत्रकार-कला की काफ़ी उन्नति है। किंतु वहाँ काग़ज़ की कमी रहती है। इस कारण से वहाँ समाचारपत्रों का आकार उतना बड़ा नहीं होता जितना पाश्चात्य देशों के समाचारपत्रों का। इसके साथ-साथ काग़ज़ की कमी का एक परिणाम यह भी हुआ है कि रूस के समाचारपत्रों में केवल वे ही समाचार और लेख स्थान पाते हैं जो बहुत आवश्यक होते हैं। पाश्चात्य देशों के समाचारपत्रों का आकार तो इतना बड़ा होता है कि बहुत से लोग समाचारपत्रों के इसलिये ग्राहक हो जाते हैं कि उन्हें जितने रुपए ख़र्च करने पड़ते हैं, साल में उतने के रद्दी काग़ज़ मिल जाते हैं और समाचार आदि जो पढ़ने को मिल जाते हैं वे घाते में।

इस देश की दशा सबसे निराली है। जैसे अन्य बातों में वैसे ही समाचारपत्रों के मामले में भी यह देश दूसरे देशों से बहुत पिछड़ा हुआ है। अँगरेज़ी पत्रों की हालत तो कुछ अच्छी भी है, किंतु देशी-भाषाओं के समाचारपत्रों की ओर विशेषकर हिंदी के समाचारपत्रों की हालत बड़ी ही विचित्र है। मेरी धारणा है कि समाचारपत्रों के संबंध में (मासिकपत्रों को छोड़कर) भारतवर्ष की अन्य प्रांतीय भाषाएँ हिंदी से आगे बढ़ी हुई हैं। हिंदी के दैनिक पत्रों और अँगरेज़ी तथा कुछ अन्य एतद्देशीय भाषा के पत्रों की तुलना करना ही व्यर्थ है। हिंदी में एक 'स्वतंत्र' को छोड़कर जहाँ तक मुझे पता है, कोई भी ऐसा दैनिक नहीं है जो समाचार-समितियों का सदस्य हो और वहाँ से समाचार प्राप्त करता हो। अधिकांश में होता यह है कि हिंदी के समाचारपत्र, चाहे वे दैनिक हों चाहे साप्ताहिक अँगरेज़ी तथा कभी-कभी अन्य भाषाओं के पत्रों का उल्था मात्र छापकर अपने कालम भर देते हैं। कुछ इने-गिने पत्रों को छोड़कर अन्यत्र मौलिक समाचार बहुत कम होते हैं। उसके विपरीत अँगरेज़ी तथा अन्य भाषा के अधिकांश समाचारपत्र समाचार-समितियों से लाभ उठाते हैं। और ताज़े-से-ताज़े समाचार देने की कोशिश करते हैं। यह मान लेने में किसी को एतराज़ नहीं हो सकता कि हिंदी-भाषी जनता की हालत ऐसी है कि उसमें अधिक ख़र्च करके पत्र का चला ले जाना कठिन है। तथापि यह भी सत्य है कि यह असंभव नहीं है। दूसरी दिशाओं में यदि आवश्यक परिश्रम किया जाय तो इस प्रकार ख़र्च करके पत्र चल सकता है, और चल सकता है काफ़ी प्रतिष्ठा के साथ। हमारे यहाँ विभिन्न विषयों के अलग-अलग समाचारपत्रों की बहुत कम उपलब्धि है। इनमें संख्या-वृद्धि की आवश्यकता है। एक ही पत्र में अनेक विषयों का समावेश करने की सूरत में भी हमारे यहाँ एक बड़ी व्यापक त्रुटि है। वह यह कि एक ही संपादक भिन्न-भिन्न विषयों के संपादन के लिये रहता है। यह बात खटकने की है। या तो अलग-अलग विषय के अलग-अलग पत्र निकाल-कर उनके लिये उस विषय के ज्ञाता संपादक नियुक्त

नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, से निकलनेवाली

'साहित्य-सुमन-माला' के

उद्देश्य और विशेषताएँ

हिंदी-संसार में इधर ग्रंथमालाओं की बाढ़ सी आ गई है, कोई अनुवादित उपन्यासों को ही निकाल रहा है, तो कोई इधर-उधर की अनाप-शनाप पुस्तकों को ही प्रकाशित कर हिंदी-साहित्य का सेवक बन रहा है। पर वास्तविक मौलिक साहित्य पर अभी तक बहुत कम प्रकाशकों ने ध्यान दिया है। पुस्तकों की मौलिकता के साथ-साथ विषय की गंभीरता पर किसी भी प्रकाशक ने बिलकुल ध्यान नहीं दिया है। सभी व्यवसाय और समय पर ध्यान रखकर पुस्तक-मालाएँ निकाल रहे हैं। पर अभी तक एक भी ऐसी ग्रंथ-माला प्रकाशित नहीं हुई, जिसमें सभी प्रकार की पुस्तकें प्रकाशित हुई हों। हमने अँगरेज़ी-साहित्य की Home Library Series के ढंग पर यह ग्रंथ-माला प्रकाशित करने का विचार किया है, जिससे छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष सभी हर समय लाभ उठा सकें। इस माला में निम्नलिखित विशेषताएँ होंगी—

(१) हिंदी-भाषा के सिद्ध-हस्त और धुरंधर विद्वानों की मौलिक और उत्कृष्ट पुस्तकें ही प्रकाशित होंगी।

(२) अँगरेज़ी आदि अन्य भाषाओं की उत्तमोत्तम पुस्तकों के ढंग पर हिंदी-भाषा में भी अच्छे-अच्छे मौलिक ग्रंथ लिखवाकर प्रकाशित किए जावेंगे।

(३) काव्य, साहित्य, इतिहास, कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय, विज्ञान, हास्य और विनोदात्मक आदि सभी विषयों पर ग्रंथ विशेष रूप से प्रकाशित किए जावेंगे।

(४) बालकोपयोगी और स्त्रियोपयोगी पुस्तकों को भी इस ग्रंथ-माला में स्थान मिलेगा।

(५) गृह से संबंध रखनेवाली सभी कलाओं पर भी विशेष रूप से ग्रंथ लिखवाकर प्रकाशित करने का आयोजन किया जायगा।

(६) काग़ज़, छपाई और सुंदरता पर भी ध्यान दिया जायगा।

स्थायी ग्राहकों के नियम

(१) स्थायी ग्राहक-सूची में नाम लिखानेवाले सज्जनों को प्रवेश-शुल्क के ॥) पेशगी भेजने पड़ेंगे।

(२) स्थायी ग्राहकों को माला में प्रकाशित सभी ग्रंथ पौने मूल्य पर दिए जावेंगे। प्रत्येक ग्राहक ग्रंथ-माला की प्रकाशित पुस्तकों की प्रतियाँ अपनी इच्छानुसार एक से अधिक हर समय मँगा सकते हैं।

(३) नवीन पुस्तकों के प्रकाशित होने पर सूचना दी जायगी। १५ दिन तक पत्रोत्तर का आसरा देखकर वी० पी० लेना स्वीकार समझकर पुस्तकें वी० पी० से भेज दी जावेंगी। पुस्तकें यथा-साध्य ४-५ एक साथ भेजी जायँगी, जिससे ग्राहकों को डाक-ख़र्च की बचत होगी।

(४) नवीन पुस्तकों में ग्राहकों को सभी पुस्तकें लेना आवश्यक नहीं है। यह उनकी इच्छा पर निर्भर है। परंतु वर्ष भर में कम-से-कम ५) की पुस्तकें लेना प्रत्येक ग्राहक को आवश्यक है।

(५) जिस ग्राहक के यहाँ से दो बार वी० पी० वापस लौट आवेगी उसका नाम स्थायी ग्राहक-सूची से पृथक् कर दिया जायगा।

(६) स्थायी ग्राहकों को नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित हिंदी और उर्दू पुस्तकें (रीडरों को छोड़कर) पौने मूल्य पर दी जावेंगी।

नोटः—हमारी प्रकाशित पुस्तकों का सूचीपत्र प्रार्थना-पत्र प्राप्त होने पर मुफ्त भेजा जाता है।

आदेश-पत्र

सेवा में—

व्यवस्थापक, बुकडिपो, नवलकिशोर प्रेस,

लखनऊ.

प्रिय व्यवस्थापकजी,

आपकी प्रकाशित होनेवाली ग्रंथ-माला के उद्देश और विशेषताएँ, स्थायी ग्राहकों के नियम और आपकी प्रार्थना पढ़ ली। आपकी ग्रंथ-माला का स्थायी ग्राहक बनना चाहता हूँ। कृपया मेरा नाम स्थायी ग्राहक-सूची में लिख लीजिए। प्रवेश-शुल्क के ॥) मनीआर्डर से भेजता हूँ / वी० पी० में ओड़ लीजिए और नवीन पुस्तकें जो भी इस ग्रंथ-माला में प्रकाशित हों, उसकी सूचना नियमानुसार भेजते रहिए।

योग्य सेवा लिखिएगा

भवदीय

[हस्ताक्षर कीजिए]

मेरा पता

(नोट:—नाम और पता साफ़-साफ़ अक्षरों में लिखने की कृपा कीजिए)

करना चाहिए या यदि एक ही पत्र में विचित्र विषयों के समावेश की आवश्यकता हो तो उसके लिये प्रत्येक विषय के अलग-अलग संपादक नियुक्त करना चाहिए। इतना करने पर भी हिंदी के पत्र अँगरेज़ीपत्रों के समकक्ष हो जायँगे; यह निश्चित नहीं है। क्योंकि अँगरेज़ीपत्रों को जो सुविधाएँ प्राप्त हैं, वे हिंदीपत्रों को नहीं। अँगरेज़ीभाषा राजभाषा है। वह हम पर राज़ी-बेराज़ी ठूँसी जाती है। हमारी शिक्षा-दीक्षा में उसका आवरण मढ़ा जाता है। तार आदि समाचार प्राप्त करने के प्रधान साधन अँगरेज़ी भाषा में ही मिलते हैं। इन कारणों से अँगरेज़ी के पत्रों को सुविधा और तदितर भाषाओं के पत्रों को असुविधा होती है। अँगरेज़ी में ही उच्च शिक्षा का प्रबंध होने के कारण उस भाषा में अच्छे-अच्छे लेख प्राप्त हो जाते हैं; उसी भाषा में तार लिखे जाने के कारण ज्यों ही तार प्राप्त हुए, त्यों ही आवश्यक संपादन कर उनको छपने के लिये प्रेस में दे देने में आसानी होती है। किंतु हिंदी के लिये यह बात नहीं है। उच्च शिक्षा प्राप्त वे सज्जन जिनकी मातृभाषा हिंदी है; हिंदी में लिखना अपनी शान के ख़िलाफ़ समझते हैं। यह बात कुछ दिन पहले तो बहुत ही अधिक थी—किंतु असहयोग की लहर के बाद इस दिशा में भी कुछ सुधार हुआ है और लोग हिंदी में लिखने की ओर आकृष्ट हुए हैं; किंतु अब भी एक अड़चन आती ही है। वह यह कि शिक्षा का माध्यम हिंदी न होने के कारण शिक्षित-जन समुदाय अकसर हिंदी में अपने भाव व्यक्त करने में अपने को असमर्थ पाकर इच्छा रखते हुए भी हिंदी में लिखने की हिम्मत नहीं करता। इससे हिंदी-पत्रों को अपने विद्वान् शिक्षितों के अच्छे-अच्छे लेख कम प्राप्त होते हैं। एक कठिनाई हिंदी पत्रों को और भी पड़ती है। वह यह कि तार आने पर ज्यों-के-त्यों हो वे छापने को नहीं दिए जा सकते। पहले तारों का अनुवाद करना पड़ता है, तब कहीं वे छापने के लायक़ तैयार होते हैं। इन कठिनाइयों के कारण हिंदी-पत्रों को समाचार-संकलन में अधिक समय लगता है, और असुविधा भी होती है।

भिन्न-भिन्न भाषाओं के समाचारपत्रों की साधारण तुलना के बाद एक ही भाषा के विभिन्न प्रकार के समाचारपत्रों की तुलना की बात आती है। उक्त विभिन्नता से यहाँ पर मेरा मतलब विषय-संबंधी विभिन्नता से नहीं। मेरा मतलब उनके समयानुसार प्रकाशन-संबंधी विभिन्नता से है। इस श्रेणी में दैनिक, द्विदैनिक, अर्ध साप्ताहिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, द्विमासिक, त्रैमासिक, षाण्मासिक या अर्ध वार्षिक, वार्षिक आदि अनेक पत्र आते हैं। किंतु इनमें दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक और वार्षिक ही गणनीय होते हैं। शेष इन्हीं में से किसी एक की तरह के होते हैं। पत्रों की ये श्रेणियाँ इतनी परिचित हो गई हैं कि इस संबंध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। समाचारपत्रों के साधारण पाठक इन पत्रों का अंतर अच्छी तरह समझते हैं। दैनिक पत्र देश की सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण विभूति होते हैं। श्रीयुक्त श्रीप्रकाशजी ने एक बार अपने एक लेख में लिखा था कि दैनिक पत्रों का प्रभाव देश के शासन पर सब से अधिक पड़ता है। दैनिक ही ऐसे पत्र हैं जिनमें सबसे अधिक समाचार, सबसे अधिक टिप्पणियाँ, लेख आदि छप सकती हैं। इन तमाम बातों का शासन पर तो प्रभाव पड़ता ही है, सामाजिक, साहित्यिक, धार्मिक आदि जीवन की अन्यान्य दिशाओं पर भी उनका काफ़ी प्रभाव पड़ता है। दैनिक पत्रों से मासिक, साप्ताहिक आदि सब पत्रों का काम निकल सकता है, क्योंकि उनमें इतना स्थान रहता है कि किसी भी विषय पर बड़े-बड़े विद्वत्ता-पूर्ण लेख दिए जा सकते हैं। अँगरेज़ी, बँगला, गुजराती आदि भाषाओं के अनेक पत्र ऐसा करते भी हैं। किंतु दुःख है कि हिंदी में दैनिक पत्रों के इस आवश्यकीय उपयोग की ओर सिवा 'आज' के और कोई समाचारपत्र ध्यान नहीं देता। दैनिक के बाद साप्ताहिकों का नंबर आता है। साप्ताहिक पत्र का मुख्य कर्तव्य यह है कि वह देश और विदेश की ख़ास-ख़ास घटनाओं का आलोचनात्मक विवरण प्रकाशित करे। आदर्श साप्ताहिक पत्र में समाचारों को उतना स्थान नहीं मिलता जितना आलोचनात्मक टिप्पणियों को। किंतु हिंदी के लिये यह बात अभी लागू नहीं होती। कारण यह है कि हिंदी-भाषी जनता दैनिक समाचार पत्रों से उतना लाभ नहीं उठाती या उठा पाती जितना उसे उठाना चाहिए। देहातों में तो जिनकी संख्या शहरों की अपेक्षा कहीं अधिक है, दैनिक पत्रों की बहुत ही कम पहुँच होती है। कुछ तो डाक आदि के त्रुटि-पूर्ण प्रबंध

के कारण और कुछ अन्य कारणों से दैनिक पत्र देहातवालों के लिये अधिक उपयोगी भी नहीं हो पाते । वे अधिकांश में साप्ताहिक पत्रों पर ही अवलम्बित रहते हैं। इसलिये हिंदी के साप्ताहिक पत्रों में विचार और समाचार दोनों का काफ़ी सम्मिश्रण रहना ही आवश्यक होता है। मासिक पत्रों का समाचारों से पुनः कोई संबंध ही नहीं होता, इनमें सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक आदि विषयों से संबंध रखनेवाले पुरातन और नए शास्त्रियों के मंतव्यों पर विचारात्मक लेख प्रकाशित होते हैं। इस ओर इनमें गल्पों और उपन्यासों के निकालने की प्रथा भी चल पड़ी है। यह बात हिंदीतर एतद्देशीय भाषाओं के मासिक पत्रों में तो इतनी अधिक है कि उनके आधे से अधिक पृष्ठ केवल गल्पों और उपन्यासों से भरे होते हैं। गल्पें और उपन्यास इस दृष्टि से कि वे मनोरंजन-पूर्वक-ज्ञान-वर्धन करने और आंदोलन विशेष की ओर प्रवृत्त करने के सबसे अच्छे साधन होते हैं, बहुत अच्छे हैं। मानव-स्वभाव कुछ ऐसा है कि वह कथा-कहानियों से अधिक प्रेम रखता है, इसलिये गल्पें और उपन्यास पढ़े भी ख़ूब जाते हैं और इस प्रकार मासिक पत्रों को अपनी रोचकता और उपयोगिता बढ़ाने में इनसे बड़ी सहायता मिलती है। किंतु मेरी समझ में मासिक पत्रों में इनका प्रकाशन उतने ही अंश में उचित है, जितने अंश में वह हिंदी के मासिकपत्रों में होता है। इनकी भरमार ठीक नहीं, क्योंकि इससे अन्य विषयों के लेखों के लिये स्थान की कमी हो जाती है और विषय बिना पूर्ण विचार किए हुए ही पड़े रह सकते हैं। यह बात उन मासिक पत्रों के लिये लागू नहीं होती, जो केवल गल्पों और उपन्यासों के प्रकाशन के निमित्त ही निकाले जाते हैं। अब रही त्रैमासिक, और वार्षिक पत्रों की बात। ये पत्र क़रीब-क़रीब एक ही श्रेणी के होते हैं। और ये किसी ख़ास विषय के विशेषज्ञों के लिये ही होते हैं। इन पत्रों में विषय-विशेष के बहुत गवेषणा-पूर्ण विचारवान् लेख ही स्थान पाते हैं और उनसे उस विषय के विशेषज्ञों का ही मनोरंजन होता है। ये पत्र एक प्रकार की पुस्तकें होते हैं। इनमें प्रकाशित लेख और लेख-मालाएँ कभी-कभी पुस्तकाकार अलग से प्रकाशित भी कर दी जाती हैं। हिंदी में नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका के अतिरिक्त इस श्रेणी के और प्रतिष्ठित पत्र इस समय नहीं हैं। यह पत्र भी त्रैमासिक पत्र ही है। षाण्मासिक और वार्षिक पत्र तो हिंदी में इस समय हैं ही नहीं।* किंतु पत्र-प्रकाशन की अभिरुचि यदि वृद्धि करती गई, जो निश्चय करती जायगी, तो शीघ्र ही इन पत्रों के प्रकाशन का भी समय आ जायगा। अस्तु।

विष्णुदत्त शुक्ल

कुरुक्षेत्र

(महाकाव्य)

[क्रमागत]

मुक्ति

(१)

धृतराष्ट्र तो आप गए छले-से;

बोले सभा बीच रुँधे गले से—

सूखे सुमन अंतर-वाटिका के;

उपहार थे जो निशि नाटिका के।

(२)

सब ओर फैले अवशेष कंटक;

दुख पा रहे दीन-दरिद्र-दर्शक।

कैसी हवा मूर्छित डोलती है?

मानो नरक का गृह खोलती है!

(३)

ऐसा घिरा है तम साँवला-सा;

मेरा हृदय दुर्बल बावला-सा;

आकाश का आँगन खोजता है;

लगता नहीं भूतल का पता है!

(४)

मैं हूँ मृतक या कि सजीव हूँ मैं;

घबरा रहा आज अतीव हूँ मैं।

आपत्ति में जीवन लय हुआ है;

किस पाप का भाग्य उदय हुआ है।"

(५)

अपराध के पिंड बने अभागी;

सब कह गए भीष्म-कथा सभा की।

सुनकर जिसे अंध हुए सशंकित;

यह क्या हुआ हाय! कलंक-चर्चित?

(६)

हा दैव ! तूने कुल-गर्व-माला ;
क्षण-मात्र में तोड़-मरोड़ डाला ।
आता समय है जब आपदा का ;
हम खींचते हैं पथ-भ्रष्ट ख़ाका ।

(७)

दुष्पाप की आग जली भयानक ;
कैसा गिरा वज्र अरे ! अचानक ।
सुनकर महानीच कुपूत करनी ;
मैं जल रहा, अग्नि-समान अवनी ।"

(८)

दृग की गरम अश्रु-लड़ी सुखाकर ;
गुरु द्रोण ने मस्तक को झुकाकर ।
'हा' कर कहा—भूप अनर्थ भारी ;
सूखी कलित कौरव-कुंज-क्यारी ।

(९)

मैंने सुना देव ! सतीत्व-क्रंदन ;
अंगार से आग हुए विलोचन ।
कुछ सोच मैंने वह रक्त-ज्वाला ;
हृद्-कुंड में फ़ौरन फूँक डाला ।

(१०)

क्यों ? क्या सुनोगे, यह भी बताऊँ ?
'प्रतिशोध-संकल्प' कहाँ छिपाऊँ ?
कुल-नाश का पूर्ण सुबूत ही है ।
कुल-चंद्र का राहु कुपूत ही है ।

(११)

जो वह चला आज ज़हर, हलाहल ;
पी लो उसे संचित कर सभी बल ।
भूपाल ! अब चक्र वहीं चलाओ ;
हो शांति जिसमें, सुख आप पाओ ।

(१२)

चौंके, चकित-से धृतराष्ट्र क्षण में ;
होती विजय है न अशांति-रण में ।
क्यों भूल-से ठोकर खा गिरूँगा ?
मैं शांति का मंत्र अभी पढ़ूँगा ।

(१३)

झट प्राण की पीर सभी भुलाकर ;
फिर द्रौपदी को गृह में बुलाकर ।
बोले नृपति—देवि ! क्षमा करो तुम ;
अपराध दुख-दानवता हरो तुम ।

(१४)

तुम अन्नपूर्णा प्रिय भारती हो ;
भगवान की सुंदर आरती हो ।
तुम हो सती, नित्य सुहागिनी हो ।
अभिमानिनी औ' अनुरागिनी हो ।

(१५)

नरपशु-कुटिल-गौरव खर्विणी हे !
मानस-मुकुट की मणि, गर्विणी हे !
जो दंड दोगी सब झेल लूँगा ;
चिंता-चिता में न कभी जलूँगा ।

(१६)

तुम लोचनों में करुणाश्रु भरके ;
मुझ अंध की ओर निहार करके ।
चाण्डाल सुत को अब भूल जाओ ;
आनंद-वन में फिर फूल जाओ ।'

(१७)

मैं शोक नद में तिर, डूबता हूँ ;
कुछ सोचता हूँ फिर ऊबता हूँ ।
वरदान लो, गौरव को वरो तुम ;
अपकीर्ति फैले न वही करो तुम ।

(१८)

कहते हुए अंध हुए दुखारी ;
अवलोक नृप का यह दुःख भारी ।
प्रतिशोध की भूल प्रचंड-तृष्णा ;
कहने लगी भक्ति समेत कृष्णा—

(१९)

स्वातंत्र्य-शिव-मंदिर के पुजारी !
हे प्रिय पिता, प्रेम-लता तुम्हारी—
है लहलहाती, फिर फैलती है ;
प्यारी प्रकृति भी प्रतिभावती है ।

(२०)

मत क्लेश की आग अधिक जलाओ ;
कर धैर्य धारण सुख शांति पाओ ।
अनुराग के सुंदर फूल झर-झर—
हैं झर चुके धूलि भरे बदन पर ।

(२१)

हम पर अगर आप प्रसन्न हैं तो ;
हृद्देश के संकट भिन्न हैं तो ।
वरदान केवल यह माँगती हूँ ;
'स्वातंत्रता ही बस, चाहती हूँ ।

(२२)

परतंत्रता पाप-पिशाचिनी है ;
फुँफकारती दुर्बल नागिनी है ।
कब जायगा इंगित-मात्र से गिर ;
परतंत्रता का अभिशाप-मंदिर ?

(२३)

वह जाति है धन्य सदैव जग में ;
पाती बिछे फूल स्वतंत्र-पग में ।
जो घूमती नित्य स्वराज्य-वन में ;
दासत्व के बंधन काट छन में ।

(२४)

मैं कौन हूँ और खड़ी यहाँ क्यों ?
कहती हुई विह्वल द्रौपदी यों ।
दासत्व का देख स्वरूप भ्रामक ;
रोने लगी खेद भरी अचानक ।

(२५)

जिसको सहन कर न सके, विनय से—
बोले नृपति प्रेम-भरे हृदय से ।
हे बंदिनी ! आज न सुप्त हूँ मैं ;
करता तुम्हें बंधनमुक्त हूँ मैं ।

(२६)

पाण्डव महाम्लान उदास-से हैं ;
सब सौंपना, हार चुके जिसे हैं ।
गाओ विजय गीत प्रसन्न, गाओ !
फूलो फलो सौख्य सदैव पाओ ।

(२७)

गृहलक्ष्मियाँ तो सुकुमारियाँ हैं ;
आनंद भीनी फुलवारियाँ हैं ।
जग चाहता आत्म-प्रसून फूले ;
तो नारि का मान कभी न भूले ।

(२८)

तुम हो दया-देवि त्रिलोकधन्या ;
सम्राट की सुंदरि सिद्धिकन्या ।
मैं [illegible] हूँ अंतर नाटिका में ;
हूँ झूलता गौरव-वाटिका में ।

(२९)

सौभाग्य का सूर्य उदय हुआ है ;
बस, आज ही जीव अभय हुआ है ।
इस अंध का अंध-स्वरूप टाला ;
फैला हृदय-मंदिर में उजाला ।

(३०)

माँगो प्रवीणे ! 'वर' और माँगो ;
चिंता तथा मानस-क्लेश त्यागो ।
प्रणवीर ही तो प्रण पालते हैं ;
करते वही, जो कह डालते हैं ।

(३१)

कृष्णा हँसी, थी ध्वनि सत्य-सुंदर ;
झरने लगे फूल नवीन झर-झर ।
जिनकी सुरभि में जग-भृंग पागल ;
हो मत्त, था झूम रहा मचल, चल ।

(३२)

अनुराग की मूर्ति सुहाग पूर्णा ;
कर जोड़ बोली यह बात कृष्णा—
"इच्छा न कोई अब तात ! मुझको ;
सम्पूर्ण, कुछ भी न अपूर्ण मुझको ।"

(३३)

फिर पाण्डवों को गृह में बुलाके ;
कहने लगे अंध हृदय रुला के—
"हे पुत्र ! डूबी कुल-लाज तरणी ;
भूलो सभी, नीच कुपूत करनी ।

(३४)

तुम वंश के दिव्य सु-मन हमारे ;
अंधे दृगों के रवि-चंद्र तारे ।
त्रैलोक्य में खींच प्रसन्न रेखा ;
तुम दो उड़ा गौरव की पताका ।

(३५)

तम-तोम चित्रांकित जो गुफा है ;
रवि का कहो तो अपराध क्या है ?
हित की कभी मूर्ख न मानते हैं ;
बर्छे जहर के नित तानते हैं ।

(३६)

कर दो क्षमा पाप सभी हमारे ;
तुम उच्च-कुल-पूत सबल, दुलारे ।
जाती फटी लाज-अवनि हमारी ;
हम हैं समाते, यह दुःख भारी ।

(३७)

जो हो चुका पुत्र ! अनर्थ भारी—
हम सुन चुके, मौन व्यथा तुम्हारी !
अंतिम यही शब्द, पवित्र-धारा—
कल्याण हो पुत्र ! सदा तुम्हारा ।"

(३८)

यह शब्द थे मानस के मर्म ही ;
कुल पाण्डवों के क्षणमात्र में ही ।
आए छलक लोचन मध्य आँसू ;
जा गिर पड़े गोल-कपोल पर चू ।

(३९)

चाहे सभी को तुम मार डालो ;
भगवान ! पर बंधन में न डालो ।
करने लगे भीम बड़ी प्रशंसा ;
अवलोक निज बंधन मुक्ति सहसा ।

(४०)

पाया सभी ने सुख पूर्ण मन को ;
सब राज्य कर प्राप्त, गए भवन को ।
उल्लास था उत्सव था हृदय में ;
था शंख बजता जय में-विजय में ।

(४१)

सुनकर जिसे अंध हुए सुखी अति ;
पर, थी खलों की यह दुष्ट सम्मति ।
'भीषण भुजंगी-दल दुष्ट छूटा ;
शठिया गए भूप, विचार टूटा ।'

"गुलाब"

प्रतिभा और उसका विकास

मानव-जाति को जीवन के दैनिक चक्र के केंद्र से विच्युत कर देनेवाली, उसे अपने इशारों में नचानेवाली यह निखिल विश्वव्यापिनी प्रतिभा किस जादूगर की माया है ? इसे न कोई पहचान सकता है, न कोई पकड़ पाता है ; पर इसकी माया का प्रकोप क्षण-क्षण में अपना वैचित्र्य दिखलाता जाता है । सृष्टि के मूल में इसका निवास है। और महाप्रलय में भी इसी की रुद्रशक्ति काम करती है। इसी की प्रेरणा से महाकाश में अनंत तारकाओं की प्रलयाग्नि उन्मत्त भैरव हास्य ध्वंजित कर रही है। और इसी के मोहन-मंत्र से असंख्य ग्रहों में समुद्र-पर्वत, वन-जंगल, सरिता-सरोवर, लता-पुष्प, पशु-पक्षी, चर, अचर की सुख-दुःखमय अनंत चैतन्य-लीला चल रही है। आलोक-अंधकार, जीवन-मृत्यु, सृष्टि-प्रलय, सब उसी की ज्वालमयी में स्फुटित हुए हैं ।

इस सृष्टि-धारिणी तथा निखिल-संहारिणी प्रतिभा की प्रखरता जब अज्ञात रूप से मानव नामधारी एक ऐसे अद्भुत जीव को धर दबाती है, जो सांसारिक चक्र के घृणित जीवन के दलदल में बुरी तरह फँसा हुआ रहता है, तो बड़ा मज़ा देखने में आता है । एक तरफ़ वह उस दलदल के कीचड़ के साथ क्रीड़ा करने में ही आनंद पाता है, दूसरी तरफ़ महाकाश में असंख्य जगत का विस्तार देखकर उसमें मुक्ति पाने के लिये छटपटाता है, और शून्य में उड़ान भरने के लिये लालायित होकर वंगकवि की तरह कहना चाहता है—

श्येन सम अकस्मात् छिन्न करे ' ऊर्द्ध्वे ल' ये जाओ
पंक कुंड ह'ते ,
महान् मृत्युर साथे मुखोमुखी करे ' दाओ मोरे
वज्रेर आलोते ।

—"मुझे अकस्मात् श्येन की तरह छिन्न करके इस पंक-कुंड से ऊपर ले चलो, और वज्र की आभा में महा-मृत्यु के साथ मेरा मिलन करा दो ।"

यह प्रतिभा का उद्गार है या पागलपन का प्रलाप ?

क्या है पंक-कुंड, क्या है वज्र का प्रकाश और क्या है महान् मृत्यु ! संसार के चक्र में मनुष्य खाता है, पीता है, सोता है, हँसता है, बोलता है, रोता है, माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-कन्या तथा अपनी प्रियतमा के स्नेह-पाश में बँधकर गृहस्थी के धंधों में जकड़ा हुआ प्रतिदिन के सुख-दुःखों को लेकर ही व्यस्त रहता है। बहुत हुआ तो सभा-समितियों में व्याख्यान देकर अथवा समाचारपत्रों में लेख छपवाकर थोड़ा-बहुत 'देशोद्धार' कर लेता है। उसके इस नियम-बद्ध कर्म-चक्र के बीच में यह महान् मृत्यु का आह्वान, यह वज्र का आँखों को चौंधियानेवाला विध्वंसात्मक प्रकाश कहाँ से आ पड़ा ! प्रतिदिन के सांसारिक सुख-दुःखों से आच्छन्न, सभा-समितियों के लिये कोरे काग़ज़ी प्रस्तावों की रचना में तल्लीन 'कर्मवीरों' को इस प्रकार की खामख़याली से कोई सरोकार नहीं रहता। पर जब कोई प्रतिभाशाली कवि अपनी उद्भट भावना की अदम्य तीव्रता से इस प्रकार की पगली माया की झिलमिली झलक संसारी व्यक्तियों की आँखों में झलका देता है, तो क्षणकाल के लिये वे अपना दैनिक चक्र भूलकर स्तंभित होकर ताकते रह जाते हैं। इस पागलपन में क्या विशेषता है क्या अपूर्वता है, यह बात कोई नहीं समझ पाता ; पर उसे देखकर कुछ काल के लिये सबके हृदय में संभ्रम का भाव उदित हो जाता है। पर कैसा ही संभ्रम जागरित क्यों न करे, प्रतिभा फिर भी पगली ही है। यही नहीं ; वह समस्त विश्व को भी नियम के बंधन से मुक्त करके, मूल केंद्र से भ्रष्ट करके पागल बनाने की चेष्टा में रहती है। संसार के तथा हमारे देश के सौभाग्य से हमारे राजनीतिक तथा सामाजिक नेतागण अत्यंत बुद्धिमान् हैं, और उनका अपने मस्तिष्क तथा हृदय के ऊपर इतना काफ़ी अधिकार रहता है कि वे प्रतिभा के बहकाने से उसके पीछे पागल नहीं होना चाहते। इसमें संदेह नहीं कि प्रतिभा बड़ी भयंकर तथा नाशकारी मायाविनी है। जहाँ तक बन पड़े इससे बचने में ही भलाई है। पर जब यह सिर में सवार हो जाती और व्यक्ति-विशेष के जन्म से जन्मांतर को व्यापित होकर उसका पीछा करती जाती है, तब स्वयं ब्रह्मा की भी शक्ति नहीं रहती कि वह उसकी तीव्रता तथा वेग को रोक सके।

बहुत लोगों का ख़्याल है कि प्रतिभा को रूपक की भाषा में पागलपन कहा जाता है, और वह वास्तव में पागलपन नहीं है। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। प्रतिभा रूपक के स्वरूप में नहीं, वास्तव में पागलपन का ही एक विशेष रूप है। पाश्चात्य देशों में मनस्तत्त्व की विश्लेषक परीक्षाओं द्वारा यह सिद्ध किया जा रहा है कि Genius (प्रतिभा) और Insanity (उन्माद-रोग) में कोई विशेष भिन्नता नहीं। उनका कहना है कि उन्माद-रोग के सम्यक् विकास से ही प्रतिभा स्फुरित होती है। शेक्सपियर ये सब बातें डाक्टरी विश्लेषणों के पहले ही आत्मानुभव से कह गया है। वह कहता गया है—

The poet, the lover and the lunatic
Are of imagination all compact.

"कवि, प्रेमिक तथा पागल की मानसिक स्थिति समान रहती है।" हैमलेट की प्रतिभापूर्ण कल्पना कितनी प्रबल थी ! यही कारण है कि जगह-जगह पर उसके उद्‌गार पागलपन से भरे पड़े हैं। पर वह पागलपन कितना उन्नत है ! किस सुगंभीर रहस्यमय आकाश में उसकी उड़ान है। पर उन्नत होने पर भी वह है पागलपन ही। प्रतिभाशाली वीर योद्धा Othello कितना पागल था ! इस पागलपन के कारण ही उसने सुंदरी देसदेमोना (Desdemona) का प्रेम जीता था, और इसी की तीव्रता के कारण उसने उसकी पैशाचिक हत्या कर डाली ! Cleopetra के भुजापाश से मोहीभूत हो जानेवाले वीर Antony को भी उसकी प्रबल प्रतिभा ने पागल किया था।

पर शेक्सपियर के सब प्रतिभाशाली चरित्रों में से हैमलेट की प्रतिभा सबसे अधिक उद्दाम है। इसलिये उसके स्वभाव में हम आरंभ से ही केंद्रापसारी (centrifugal) प्रवृत्ति की प्रधानता पाते हैं। पिता की पैशाचिक हत्या होने के पश्चात् जब माता और चाचा के बीच अनुचित संबंध स्थापित हो जाता है, तो इस प्रतिभाशाली राजकुमार के अतिवेदनशील (sensitive) हृदय तथा मस्तिष्क में इसका ऐसा ज़हरीला असर पड़ता है कि मानव-जाति की सहृदयता तथा चारित्रिक महत्ता से उसका विश्वास उठ जाता है और वह दुःखित, मोहीभूत तथा संशयाच्छन्न होकर प्रतिक्षण आ कपट मन

अपनी मृत्यु की कामना करता है। स्वभाव की यह उद्दाम प्रवृत्ति पागलपन नहीं तो क्या है! उसकी माता उसके चाचा के प्रति अनुरक्त थी, और यह अनीति देखकर उसके हृदय में चोट पहुँची थी, तो उसे बिना किसी द्विधा के चाचा की हत्या कर डालनी चाहिए थी। पर पिता की प्रेतात्मा के उसकाने पर भी वह अर्जुन की तरह संशय के आवर्त्त में चक्कर खाने लगा और कर्तव्य-विमूढ़ होकर अपनी मृत्यु चाहने लगा! यह अत्यंत सुकुमार "क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं" भी प्रतिभा (अथवा पागलपन) की प्रबलता का ही लक्षण है।

संशय, संशय, संशय! प्रतिभाशाली व्यक्ति प्रतिक्षण संशय के मोह से आच्छन्न रहता है। Talent (योग्यता) तथा Genius (प्रतिभा) में प्रधान भेद यहीं पर है। Talented (योग्यता-संपन्न) व्यक्ति बिना किसी द्विविधा या संशय के जीवन-संग्राम में आगे बढ़ता जाता है, और विजय भी प्राप्त कर लेता है। छोटी-छोटी सफलताओं से वह गर्व तथा प्रसन्नता से फूला नहीं समाता और आगे को उत्साहित होता जाता है। 'देशोद्धार' के नाम पर जब उसे वाहवाही लूटने की इच्छा होती है, तो अन्य कोई उपाय न देखकर वह राजनीतिक क्षेत्र में कूदता है। (क्योंकि मौखिक वाद-विवाद में ही सच्ची देशभक्ति हो सकती है, और ऐसी देशभक्ति की चरमावस्था ही कैवल्य अथवा मोक्ष है, यह परम सत्य आजकल के महापुरुषों ने निर्विवाद मान लिया है। इस सत्य को समझने में हमारे नेतागण गांधीजी के भी कान काट गए हैं—गांधीजी मौखिक वाद-विवाद से हृदय के 'कलचर' को अधिक महत्त्व देते हैं) राजनीतिक क्षेत्र में कूदने पर जब वह शहर अथवा ज़िला कांग्रेस कमेटी में भर्ती होकर दो-चार मित्रों के प्रशंसात्मक चाटुपाद्य सुनता है, तो उसका हौसला बढ़ जाता है, और वह प्रांतीय कौंसिलों की उम्मेदवारी के लिये canvassing करवाता है। इस canvassing में वह देश की ख़ातिर कितना त्याग सहन करता है। उसका वर्णन नहीं हो सकता। इसके बाद विधाता के वरदान से जब वह कौंसिल में प्रवेश कर लेता है, तो दो-चार ज़बर्दस्त व्याख्यान झाड़कर, लंबे-लंबे प्रस्ताव पेश करके, श्रोतावर्ग तथा संपादक-वर्ग की धन्यवादपूर्ण प्रशंसा प्राप्त कर लेता और अपने को कृतार्थ समझता है। मसीहा जब शूली में चढ़ने के तीसरे दिन मृत्यु के ऊपर विजय प्राप्त करके, सगौरव मस्तक उच्च करके उठे थे, और परमपिता के साथ मिलित हो गए थे, तो उस समय उन्हें जो ब्रह्मानंद प्राप्त हुआ होगा, वह इस द्विधा—संशयहीन, कौंसिलर के सफलताजन्य हर्ष के सामने नाचीज़ है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि हमारे सफल राजनीतिक नेता महाशय संशय-प्रूफ़ हैं। उन्हें भी संशय होता है; पर वह संशय उनके हृदय में कोई विशेष कटिका उत्पन्न करके उनकी चित्त-स्थिति को विहत नहीं करता। उन्हें इस संबंध में संशय होता है कि स्वराज्य पार्टी में भर्ती होना उचित है, या इंडिपेंडेंट पार्टी में? सरकार ने जो हमारा अपमान किया है और एक विशेष प्रस्ताव पास होने नहीं दिया, उसके प्रतीकार-स्वरूप 'वॉक आउट' करना उचित है या नहीं? (जैसे इस एक विशेष प्रस्ताव के अतिरिक्त अन्य सब महत्त्वपूर्ण प्रस्तावों में से लोग अपनी वाग्मिता से सरकार को हराकर उसे लज्जित कर चुके हों!) कमीशन बायकाट के प्रस्ताव के समर्थन से जनता प्रसन्न होगी या उसके विरोध से? इत्यादि ऐसे ही संशय कभी-कभी उन्हें तंग करते हैं। पर इनसे उन्हें विशेष असुविधा नहीं होती।

पर प्रतिभाशाली व्यक्ति के हृदय में प्रतिक्षण कितनी ही भयंकर संशयात्मक भावनाएँ कैसा भैरव, प्रलयांतक हाहाकार मचाती रहती हैं! उसके भीतर कल-कल्लोल-मय, उत्ताल-तरंग-माला-समाकुल सागर का कैसा भीषण आर्त्तनाद जारी रहता है! कड़कड़ाते हुए बादलों की कैसी विकट, तुमुल वज्रध्वनि भयंकर हुंकार के साथ उसे किस तरह प्रतिपल आतंकित करती रहती है! किस राजनीतिक दल की जीत हुई और कौन हारा; कौन राष्ट्र शक्तिशाली बनता जाता है, और कौन अधोगति को प्राप्त हो रहा है, इन सब प्रश्नों के संबंध में वह उदासीन रहता है। उसके हृदय में तो यही भावना भ्रम उत्पन्न करती रहती है कि राष्ट्रों के उत्थान-पतन, विग्रह-संधि, अन्नवृद्धि तथा अन्नकष्ट के उत्पात से प्रपीड़ित इस समस्त पृथ्वी के ही जीवन में कुछ सत्त्व है या नहीं। यह सब चक्र निखिल रुद्र के एक हलके फूत्कार में तुच्छ धूलि-कण अथवा जल-बुद्बुद की तरह उड़कर शून्य में लय हो जानेवाला तो नहीं है! महाकाश में निखिल जगत् का अमित प्रसार देखकर उसका भ्रम

अधिकाधिक बढ़ता जाता है। वह देखता है कि ऊपर ऐसे-ऐसे नक्षत्रों का भी अस्तित्व है, जहाँ से इस पृथ्वी में रोशनी पहुँचने में ही हज़ारों वर्ष बीत जाते हैं। ऐसे-ऐसे महासूर्य वर्तमान हैं कि जिनकी तुलना में हमारा सूर्य तुच्छ अग्निकण के बराबर है। ऐसे-ऐसे असंख्य ग्रह वर्तमान हैं कि जिसमें अवश्य ही इस पृथ्वी के जीवों से अत्यंत बुद्धिमान् जीव वास कर रहे हैं। महा जगतों के इस अनंत लीला-क्षेत्र के सम्मुख यदि हमारा सारा सौर-चक्र ही किसी कारण से विलीन हो जाय, तो तुच्छ उल्कापात की तरह वह मालूम हो न होगा। फिर इस सौर-चक्र में हमारी पृथ्वी, और उसमें एक तुच्छ राष्ट्र, और उसमें भी मानव नामधारी कीटाणु कीट तुच्छ जीव की क्या गिनती है! अदृश्य कीटाणु की तरह रुद्र की आँखों के निमेषपात से कब और कैसे उसका संहार हो रहा है, महाविश्व इस बात का कुछ ध्यान में ही नहीं लाता! इन सब कारणों से प्रतिभाशाली व्यक्ति का सारा दर्प चूर-चूर हो जाता है और वह भयंकर पाप और भीषण पुण्य के आंदोलन से धक्के खाता हुआ अत्यंत दुःख के साथ सृष्टि के अज्ञेय रहस्य के प्रति निविड़ संशय के साथ ताकता रहता है। कौंसिलर तथा पार्लियामेंट के मेंबर की तरह वह तुच्छ सांसारिक सफलता से नहीं इतराता। वह सोचता है कि यह सब ज्ञान का ढकोसला कितना तुच्छ है! मनुष्य कितने भ्रम में पड़ा है! जीवन के प्रत्येक पग में वह महामृत्यु के गहन अंधकारमय, विकट रहस्यमय गह्वर की ओर किसी महाकराल तथा अज्ञात चुंबक शक्ति के आकर्षण से धक्के खाता हुआ आगे को बढ़ता जाता है। पर फिर भी अपने क्षणिक जीवन की तुच्छ सफलताओं के कारण फूला नहीं समाता! प्रकृति के भीतरी रहस्य से वह अणुमात्र भी परिचित नहीं है, पर फिर भी वह किस प्रकार अकड़कर चलता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति ऐसी ही भावनाओं में निमग्न रहता है। महाकवि ग्येटे की तरह वह कहता है—

> I'm like the worm, that wiggles through
> the dust,
> Which, as in dust it lives and dust consumes,
> The passing foot annihilates and entombs.

"मैं उस कीट की तरह हूँ, जो धूलि में लोटपोट हुआ रहता है, और जो धूलि में जीवन बिताकर धूलि ही भक्षण करता हुआ किसी अज्ञात पद द्वारा कुचला जाकर धूलि में ही बेमालूम गाड़ दिया जाता है!" मानव-जीवन के अतल रहस्य से परिचित प्रतिभा की कैसी मर्मभेदी सूक्ष्मदृष्टि का परिचय इस पद्य से मिलता है। मानव-जीवन की हीनता से सुविज्ञ कवि के आत्मानुभव की कैसी करुण वेदना इसमें स्फुरित हुई है! इस प्रतिभाशाली कवि की आँखों में अनंत की समग्रता का रहस्य बीच-बीच में झलकता रहा है, इसीलिये उसकी अनुभूति इतनी प्रबल है। महाजीवन और महामृत्यु के निखिल चक्र की लीला देखकर वह चकरा गया है, इस कारण क्षुद्र-क्षुद्र आदर्शों तथा महत्त्वाकांक्षाओं का कुछ असर उसके हृदय में नहीं पड़ता। उसके लिये To be or not to be (जीने अथवा मरने) का प्रश्न ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

कुछ भी हो, संशय का भाव प्रतिभा का एक स्वरूप है। पर यह उसका Negative aspect (नास्ति स्वरूप) मात्र है। Positive aspect में वह समस्त संशय तथा बाधाओं की अवहेलना करके अनंत की समग्रता (The whole) अथवा उपनिषद् की भाषा में 'भूमा' के लिये ही पागल होती है। इस रूप में वह एक झलक में अपना कर्त्तव्य निर्धारित कर लेती है। अर्जुन की तरह संशय के आवर्त में चक्कर न खाकर कृष्ण की तरह निर्दयता तथा निर्विचार के साथ द्विधाहीन होकर असंख्य पुरुषों की हत्या का आदेश दे देती है। Napoleon की तरह अमानुषिक तथा निरर्थक हत्याकांड में तत्पर हो जाती है। मसीहा की तरह गंभीर वाणी में कहती है—

> "Think not that I am come to send peace on earth; I came not to send peace, but a sword.
>
> "For I am come to set a man at variance against his father, and the daughter against her mother, and the daughter-in-law against her mother-in-law."

वह Nietzsche की तरह प्रलाप बकती है—

> "Let us have not contentedness, but more power, not peace but warfare, not virtue but efficiency.

"The weak must perish! That is the first principle of charity. And we must help them to do so.

"Man should be educated for war, and woman for the procreation of the warrior.

"War and courage have done more great things than love to the neighbour."

नीट्शे की ये सब उक्तियाँ पैशाचिक भाव में प्रणोदित होने पर भी प्रतिभा द्वारा ही प्रसूत हुई हैं।

कुछ भी हो, प्रतिभा के विकास की आरंभावस्था अत्यंत असम, दुःखमूलक तथा भयंकर होती है। असंख्य जन्म-जन्मांतरों के संस्कारों में इसका विकास होता जाता है। कहना नहीं होगा कि प्रतिभाशाली पुरुष का हृदय अत्यंत वेदनशील (hypersensitive) होता है। इस कारण उसमें पुण्य तथा पुनीत भावनाओं का विकास जिस परिमाण में होता है, पापमूलक वासनाएँ भी उसमें उसी परिमाण में तरंगित होती रहती हैं। जितना प्रकाश रहता है, उतनी ही छाया भी। विकास की प्रथमावस्था में प्रतिभाशाली व्यक्ति अंधकार तथा पाप में बेतरह घबराता है, और आलोक तथा पुण्य के लिये निरतिशय व्याकुल होकर छटपटाता रहता है। पर अंधकार उसका पीछा छोड़ना नहीं चाहता। वह साथ लगे ही रहता है। यह होने पर भी प्रकाश की वृद्धि स्थगित नहीं हो जाती। वह भी उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। पर इन दोनों के संघर्षण से जो भयंकर घटिका उसके हृदय में उत्पन्न होती है, उससे उसका सारा जीवन दुःख के अतल सागर को पार करने में ही बीत जाता है। इतिहास में जितने प्रतिभा-संपन्न पुरुषों के जीवन-चक्र का वर्णन हमें मिलता है, उनमें से शायद ही कोई ऐसा होगा जिसका जीवन सुख तथा शांति के साथ बीता हो। सबको Evil (पाप अथवा दुःख) की भावना ने बुरी तरह सताया है। यह भावना उन लोगों की नस-नस में व्याप्त रही है। भेद इतना ही है कि कोई उसे अनेक परिमाण में जीत गया है, कोई अंत तक परास्त रहा है। महात्मा बुद्ध को इस भावना का कितना horror (भीति) था, इसका परिचय उनकी प्रत्येक उक्ति से मिलता है। राम और भरत का समस्त जीवन इसी भावना की भीति से दुःखमय रहा। युधिष्ठिर तो पाप के रस में इतनी बुरी तरह से डूबे थे कि उन्हें छुटकारा मिलना ही कठिन हो गया था। धर्मराज होने पर भी उन्हें जुआ खेलने में मज़ा आता था, और अपनी स्त्री को हार देने तक उन्हें चैन नहीं मिला। इसके यह माने नहीं हैं कि वह पाप को अच्छा समझते थे। पाप की भीति उनके हृदय में सब भाइयों से अधिक परिमाण में वर्तमान थी। पर प्रतिभाशाली होने के कारण उनकी अनुभूति इतना प्रबल थी कि पापाचार से वह चेष्टा करने पर भी मुक्त नहीं हो सकते थे। महाभारत में जिन अनेकानेक प्रतिभाशाली स्त्री-पुरुषों का वर्णन है, उनके नृशंस पापाचार की कथा सुनकर कानों में शीशा भरने को जी करता है। पर प्रतिभा के सम्यक् विकास के लिये पाप की अनुभूति अत्यावश्यक तथा अपरिहार्य है।

आधुनिक युग के प्रतिभाशाली पुरुषों के चरित्रों की आलोचना से भी यही बात नज़र में आती है। रूसो ने जो जगत्-विख्यात confessions (स्वीकारोक्तियाँ) लिखे हैं, उन्हें पढ़ने पर इस सहृदय मनीषी के प्रति-क्षणकाल के लिये एक उत्कट घृणा का भाव हृदय में उत्पन्न हो जाता है। पर पीछे धीरे-धीरे विचार करने पर यही सोचकर मन को समझाना पड़ता है कि प्रतिभा के विकास के लिये नीचतम वृत्तियों की अभिव्यक्ति अनिवार्य है। मानव-हृदय की यातनाओं के प्रति प्रगाढ़ समवेदना प्रकट करनेवाले सहृदय शेक्सपियर के निष्कपट हृदय में भी पाप का विष कितने उत्कट रूप में मथित हुआ होता, इसका अनुभव उसके Hamlet, Othello, Macbeath तथा अन्यान्य ट्रेजेडियों के पढ़ने से ज्ञात होता है। अपने Sonnets में उसने इन भावनाओं को स्वीकार किया है। इन भावनाओं से वह मृत्यु-पर्यंत इतना विताड़ित रहा कि उसके अनुभव से आत्मा काँप उठती है। To be or not to be के प्रश्न का भूत हैमलेट की तरह उसके ऊपर भी सवार हुआ था। ग्येटे ने अपनी युवावस्था में ऐसी हाय-तोबा मचाई कि Werther नामक कथात्मक गद्य-काव्य लिखकर सारी दुनिया को literal sense (वास्तविक कर्म) में सिर पर उठा लिया। मानव-जीवन की असफलता तथा मानव-चरित्र की अजेय दुर्बलताओं को करुण भाषा में व्यक्त करनेवाले इस गद्य-काव्य को परम पराक्रमशाली नैपोलियन ने सात बार पढ़ा था। चीन देश में भी

इसकी दुःखात्मक प्रेम-गाथा तत्काल प्रचलित हो गई। Faust में भी गेटे ने मानव-जीवन तथा मानव-चरित्र की हीनता की चिरंतन कहानी लिखी है। उसका आत्म-चरित्र पढ़ने से मालूम होता है कि उसने अपने जीवन में कितनी दुर्बलताओं का सामना किया। यह नहीं कहा जा सकता कि वह बिलकुल शक्तिहीन तथा दुर्बल था। उसके भीतर ऐसी प्रचंड शक्ति तथा ऐसी भीषण अग्नि वर्तमान थी, जिसे देखकर सारा संसार स्तंभित रह गया है। पर फ़ाउस्ट के कथनानुसार प्रतिभाशाली पुरुषों की दो आत्माएँ होती हैं। एक उसे पार्थिव भोग के लिये लालायित करती है, दूसरी इंद्रियातीत जगत में उन्मुक्त होकर उड़ान करने के लिये व्याकुल करती है। दोनों का ज़ोर बराबर रहता है। टॉलस्टाय की दुर्गति का भी कारण यही था। हमारे देश में महात्मा गांधी का प्रचंड आत्मिक बल देखकर कौन चकित नहीं हुआ है! पर उनकी प्रतिभा ने अन्य प्रतिभाशाली व्यक्तियों की तरह उन्हें भी बहुत सताया है। उन्हें भी अपने जीवन से Faust की 'द्वितीय आत्मा' की पार्थिव विलास-प्रियता तथा दुर्बलता से कठिन संग्राम करना पड़ा है। अपने आत्मचरित में उन्होंने यह बात स्वीकार की है।

हमारे यहाँ कालिदास तथा रवींद्रनाथ दो ऐसे अद्भुत कवि उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने अपनी प्रकृतिगत दुर्बलता का विष नीलकंठ महादेव की तरह निर्विकार भाव से पान किया है। इसका फल यह हुआ है कि वह विष भी अमृत के रूप में हमारे सामने उपस्थित है। अब उसे सभी निर्भय पान कर सकते हैं। विष इन कवियों की आत्माओं में ही रह गया है; पर जगत के सम्मुख जो उसका उद्गार उन्होंने रक्खा है, वह निर्विष है। पाश्चात्य कवियों की तरह उस विष में जर्जरित होकर उन्होंने विद्रोह की अग्नि नहीं भड़काई है। उन्होंने अपनी कविता की पार्थिव वासना के ऊपर तपोवन की स्निग्ध शांति छिड़क डाली है। यह शांति कितनी करुण तथा मंगलप्रद है!

A man of genivs is born, not made. यह उक्ति हमें सर्वदा स्मरण रखनी होगी। संसार तथा समाज के बाह्य संस्कारों का प्रभाव प्रतिभाशाली पुरुष पर कभी नहीं पड़ सकता। वह अनेक जन्म-जन्मांतरों के संस्कार अपने साथ लाता है। Darwin का विख्यात सिद्धांत हमें यह बतलाता है कि कोई शक्ति अथवा कोई पदार्थ प्रारंभ में ही पूर्ण होकर सृष्ट नहीं होता। निम्नतम अवस्था में उसका विकास होता चला जाता है। आरंभ में केवल Ether ही सर्वत्र व्याप्त था। ईथर से नीहारिका अभिव्यक्त हुई। नीहारिका से अनंत सूर्यों तथा ग्रहों की सृष्टि हुई। ग्रहों के क्रमिक विकास से जल, वायु तथा वनस्पतियों का उद्भव हुआ। वनस्पति से जीव-जगत आविर्भूत हुआ। जीव-जगत में अदृश्यतम कीटाणुओं से लेकर बड़े-बड़े विकटाकार जंतु प्रकट हुए। जीवन-संग्राम तुमुल वेग से चलता रहा। अनेकानेक जंतु परास्त हुए, अनेक टिके रहे। धीरे-धीरे सुदीर्घकाल के पश्चात् धरातल में मानव-जाति का आभास लक्षित होने लगा। असभ्यतम अवस्था से लेकर वर्तमान सभ्य अवस्था में पहुँचने तक लाखों वर्ष लग गए हैं। बाह्य जगत की सभ्यता के विकास से विशेष आश्चर्य नहीं होता। पर आत्मिक जगत में मानसिक वृत्तियों का कैसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म विकास अभी तक चलता जाता है और अनंतकाल तक चलता जायगा। यही देखकर अधिक आश्चर्य होता है। वे ही व्यक्ति प्रतिभा-शाली होकर अवतीर्ण होते हैं, जिनकी आत्माओं के भीतर अनादिकाल से ईथर से भी सूक्ष्मावस्था से नाना भले-बुरे संस्कार सुदृढ़ रूप से जमते आए हैं। इस कारण उसकी अनुभूति हम इतनी तीव्र पाते हैं। जिस व्यक्ति को हम इस समय प्रतिभाशाली पुरुष के रूप में देख रहे हैं, एक समय वह ईथर के रूप में समस्त आकाश में व्याप्त था। इसके बाद नाना भौतिक तथा जैविक अवस्थाओं के फेर में पड़कर वह अनंत संस्कारों को अपनी आत्मा में मिलित करता गया। केवल प्रतिभाशाली पुरुष ही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति का यही हाल रहा होगा। पर प्रतिभाशाली व्यक्ति की आत्मा में किसी अज्ञात अलौकिक प्रेरणा से वे संस्कार बद्धमूल हो गए और साधारण पुरुष उन संस्कारों के प्रति प्रत्येक जीवन में अवज्ञा प्रकट करता गया। विकास के अनंत चक्र में तथा कथित 'अच्छे' संस्कार भी वर्तमान रहते हैं और 'बुरे' भी। (तथा कथित इसलिये कहा गया है कि उस एकमेवाद्वितीयम् परम तत्त्व के लिये न कोई संस्कार अच्छा है, न बुरा। उसके लिये पाप और पुण्य में कोई भेद नहीं है; क्योंकि पाप भी उसी का अंश है और पुण्य भी। यह सब भेदभाव

जीव की मायाच्छन्न बुद्धि का विकारमात्र है।) प्रतिभाशाली व्यक्ति की sensitive (वेदनशील) प्रकृति में दोनों प्रकार के संस्कार समान-भाव से प्रतिबिंबित होते हैं। इस कारण हम देखते हैं कि उसके भीतर 'दो आत्माएँ' वर्तमान रहती हैं। वह उन दोनों को एक रूप में मिलित करने के लिये व्याकुल रहता है। उसके इस उद्देश्य की साधना में उसे पाप तथा पुण्य ये दोनों परस्पर विरोधी शक्तियाँ सहायता देती हैं। पाप और दुःख के रस में वह इतना शराबोर रहता है, इसीलिये मार्मिक यातनाओं से पीड़ित मानव-समाज की वैयक्तिक आत्मा का रहस्य समझने में समर्थ होता है।

प्रतिभाशाली व्यक्ति की प्रकृति में जो इतनी तीक्ष्णता तथा विद्रोहिता पाई जाती है, उसका कारण भी यही है कि अनंत जन्म तथा अनंत मृत्यु की अनेकानेक परस्पर विरोधी शक्तियों का तांडव-नृत्य प्रतिक्षण उसके हृदय में चला करता है। उनके कारण वह प्रायः बाह्य ज्ञान-शून्य हो जाता है और लौकिकता तथा शिष्टाचार को ताक़ में रखकर पागलों के साथ उन्मत्त होकर जीवन बिताना चाहता है। महात्मा गांधी ने जो लँगोट धारण करके संसार को चकित कर रक्खा है, वह इसी पागलपन की महत्ता का फल है। उनके गुरु टॉलस्टॉय का भी प्रायः यही हाल था। रवींद्रनाथ ने अपनी अनेक कविताओं में कोरे पागलपन की उन्मत्तता के लिये अपनी अदम्य इच्छा प्रकट की है। एक कविता में वह लिखते हैं—

निमेष तरे इच्छा करे
विकट उल्लासे
सकल टूटे' जाइते छुटे'
जीवन उच्छ्वासे।
शून्य व्योम अपरिमाण
मद्य-सम करिते पान,
मुक्त करि' रुद्ध प्राण
ऊर्द्ध नीलाकाशे!
थाकिते नारि क्षुद्रकोणे
आम्रवन—छाए,
सुप्त ह'ये, लुप्त ह'ये
गुप्त गृहवासे।

—"क्षणभर के लिये मेरे मन में यह इच्छा उत्पन्न होती है कि विकट उल्लास के साथ समस्त बंधनों को तोड़कर जीवन उच्छ्वास में धावित हो जाऊँ। शून्य तथा अपरिमाण गगन को मद्य के समान पान करके रुद्ध प्राण को ऊपर नीलाकाश में मुक्त कर डालूँ! आम्रवन की छाया के पास गुप्त गृहवास में सुरक्षित रहकर गुप्त तथा लुप्त होकर मैं नहीं रहना चाहता!"

इसी कविता में दूसरे स्थान में उन्होंने हाथ में काग़ज़ लेकर आराम चौकी में बैठकर उच्चस्वर से 'पॉलीटिकल' तर्क करनेवाले तथा खिड़की से होकर भीतर आनेवाली मंद-मंद हवा के झकोरों का आनंद लूटते हुए पान की डिबिया पास में रखकर संगीत-साधना में निमग्न रहनेवाले व्यक्तियों के conventional (लौकिक) जीवन को धिक्कार कर लिखा है "इससे तो यह अच्छा था कि मैं अरब देश में बद्दू (Bedouin) होकर जन्म ग्रहण करता! घोड़ा बेतहाशा दौड़ा चला जा रहा है, बालू के उड़ने में आकाश ढक गया है, जीवनस्रोत भी इसी तरह आकाश में बहा चला जाता है, और हृदयतल में भयंकर अग्नि प्रज्वलित हो रही है—इस प्रकार मैं रात-दिन जीवनयापन करता चला जाता! हाथ में मेरे बर्छी रहती और प्राणों में अनंत आशा वर्तमान रहती, सदा मरु-प्रदेश की आँधी की तरह बाधाहीन होकर निरुद्देश्य रहता!" पागलपन और किसे कहते हैं! इस पागल कवि की यह कैसी उदास आशा है! टॉलस्टॉय भी अंतिम जीवन तक इसी प्रकार Jipsy लोगों के साथ भ्रमण करने की लालसा प्रकट किया करते थे। इसी दुराशा की पूर्ति की चेष्टा में उनकी मृत्यु हुई थी।

इन सब बातों से यही पता चलता है कि प्रतिभा की दौड़ कहाँ तक पहुँचती है और उसकी शक्ति कितनी उन्मत्त होती है! सुख-दुःख, पाप-पुण्य, आलोक-अंधकार आदि समस्त द्वंद्वात्मक भावों में प्रतिभाशाली व्यक्ति अवश्य पीड़ित रहता है; पर फिर भी वह अपने प्रचंड बल से उन्हें एक साथ आगे को ठेलता चला जाता है और जन्म से जन्मांतर को गेटे की तरह प्रत्येक जीवन के अंत के समय "Light—more light" कहता हुआ अनंत के साथ मिलित होने की आशा में पागलों की तरह यात्रा करता हुआ चला जाता है।

सृष्टि—परिचालिनी तथा निखिल-संहारिणी प्रतिभा महारानी को संभ्रम-पूर्वक मस्तक नवाकर यह अधम लेखक बिदा होता है।

इलाचंद्र जोशी

प्राचीन भारत का राज्याभिषेक

रतवर्ष की प्राचीन सभ्यता शासन-पद्धति आदि के संबंध में अनेक लेखकों ने बहुत कुछ भ्रम फैलाया है और उनका कहना है कि प्राचीन भारत की शासन-प्रणाली अच्छी न थी, यहाँ के शासक-राजा-निरंकुश थे, वे मन-माना करते थे और उन पर कोई प्रतिबंध नहीं था। इस लेख में केवल प्राचीन भारत के राज्याभिषेकमात्र का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि उपर्युक्त धारणा कहाँ तक निराधार, तर्करहित और व्यर्थ है तथा प्राचीन भारत के राजे कितने नियंत्रित, योग्य और प्रजा-रंजक होते थे।

वैदिक काल

वैदिक काल में प्रजा की एक संगठित संस्था होती थी, जिसे 'समिति' कहते थे। इसमें शासन-विभाग के मुख्य अंगों के मुख्याधिकारी साधारण प्रजा के प्रतिनिधि, व्यवसायियों के प्रतिनिधि, ब्राह्मण, रथकर्त्ता आदि होते थे। इन लोगों की संगठित संस्था—'समिति'—द्वारा राजा का निर्वाचन होता और इन्हीं व्यक्तियों द्वारा राजा का राज्याभिषेक भी होता था। ये लोग राजा को पलाश (एक प्रकार की लकड़ी) की बनी हुई 'मणि' नाम की एक वस्तु भेंट करते थे। इसका यह उद्देश्य था कि वे लोग चाहते हैं कि वह व्यक्ति-राजा-राज्य-कार्य संपादन करे और इसमें वे उसकी सहायता एवं सहयोग करेंगे। समिति के ये लोग ही राजा के कर्त्ताधर्त्ता होते थे और (संभवतः) इसी कारण इन्हें 'राजकर्त्तृ' कहा गया है। राज्याभिषेक के समय कहा जाता था कि आप प्रसन्नतापूर्वक हम लोगों (राजकर्त्तृ) के बीच आवें, दृढ़ बनें और इस पद से कभी न डिगें। इंद्र और पर्वत आदि के समान आप अचल रहें, आपका कभी पतन न हो तथा सारे राष्ट्र की बागडोर थामे रहें। ज़रा भी दुर्बलता दिखाए बग़ैर आप दुश्मनों पर विजय प्राप्त करें और उनका नाश करें आदि आदि[1]।

इनमें जो पुरोहित होता था, वह इस प्रकार कहता था हे राजन्! तू अविचलित होकर सिंहासन पर विराजमान हो और अपने आपको ऐसा बना कि सारी प्रजा तुझे पसंद करे तथा कोई ऐसा अवसर न आए कि तेरा राष्ट्र तेरे हाथ से निकल जाय[2]। हे सौम्य गुणवाले राजन्, तू सब प्रजा पर शासन कर और सब प्रजा तुम पर शासन करे। हे मातृभूमि तुझे नमस्कार है। हे राजन्, तू हमारी मातृभूमि का नियंता और धारण करनेवाला हो। तुझको हम कृषि को प्रफुल्लित करने के लिये, समस्त देशवासियों के कल्याण और उनकी संपत्ति की रक्षा के लिये राजा बनाते हैं[4]। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि देश की

१. इहैवैधिमापच्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलत्।
इन्द्रे हैव ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमुधारय ॥ २ ॥
इन्द्रएतमदीधरं ध्रुवं ध्रुवेण हविषा।
तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥
ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ॥ ४ ॥
ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥ ५ ॥
ध्रुवोऽच्युतः प्रमृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥ ६ ॥
(अथर्ववेद ६, ८७-८८)

२. आत्वा हार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठा विचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्।
(ऋग्वेद म० १०, १७३ सू०, म० १)

३. सोमराजन्विश्वास्त्वम्प्रजाउपावरोह।
विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहन्तु ॥ (यजु० ६, २१)

४. नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै इयन्ते राड्यन्तासियमनो ध्रुवोऽसिधरुणः। कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।
(यजुर्वेद ९)

वार्त्र हत्याय शवसे
इन्द्र त्वा वर्त्तयामसि ॥ (यजुर्वेद)

कृषि, धन, आनंद आदि की वृद्धि, देश का भरण-पोषण तथा शत्रुओं से देश की रक्षा का भार जो कोई अपने ऊपर लेने के योग्य होता था, उसी को सारी प्रजा मिलकर राजा बनाती थी। राजा भी यह समझता था कि राष्ट्र उसकी निजी वस्तु नहीं, बल्कि प्रजा का है; और इस प्रकार वह राज्याभिषेक के समय प्रजा से बड़े विनम्र शब्दों में राज्य माँगता था 'सूर्य के समान देदीप्यमान सज्जनो! राष्ट्र का देना आपके अधिकार की बात है, आप उसे मुझे दीजिए। आप सब मनुष्यों को आनंद देनेवाले, गो आदि पशुओं की रक्षा करनेवाले, बलशाली, सर्वजीव रक्षक और राष्ट्र के स्वयं स्वामी हैं, आप मुझे राष्ट्र दें। आप वीर हैं, आप सबके प्रति माधुर्य दिखलानेवाले हैं; आप सब मिलकर यह बड़ा राष्ट्र मुझे दीजिए और शत्रुओं से निर्भय हो अपने बल को बढ़ाते हुए, राष्ट्र में निवास कीजिए[1]।'

इसके उपरांत राजा इस प्रकार कहता था। 'ऐ मेरे चारों ओर बैठे हुए महानुभाव—दक्ष रथकार, चतुर जौहरी, राजकर्तृगण, राजे और ग्रामणी! आप लोग मेरी सहायता करें[2]। इस प्रकार इन सभी श्रेणी के लोगों की संयुक्त समिति द्वारा राजा को राज्याधिकार प्राप्त होता था। उपर्युक्त क्रिया के बाद राज्यसिंहासन पर बाघंबर बिछाया जाता और उस पर बैठने के बाद राजा का अभिसिंचन होता था। सिंहासन चाहे कितने ही अमूल्य वस्त्रों और बहुमूल्य रत्नों से क्यों न सुसज्जित हो, परंतु उसके ऊपर बाघंबर का बिछाया जाना आवश्यक होता था। उस समय कहते थे 'हे राजन्, हम आपको यह राष्ट्र देना मान चुके हैं, आप इसे स्वीकार कीजिए। व्याघ्र के समान इस सिंहासन पर विराजमान हूजिए और सारी दिशाओं का विजय कीजिए, जिससे प्रजा आपको राष्ट्रपति बनने के लिये पसंद करे[1]। इसका तात्पर्य यह था कि शेर पशुओं का राजा है, सबसे बलिष्ठ है और इस प्रकार उस बाघंबर पर बैठना, राजा को उसी प्रकार बलवान् बनकर, प्रजा की उन्नति और शत्रुओं से रक्षा करना है। उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल में राजा एक प्रजा की ओर से नियुक्त किया हुआ व्यक्ति होता था, जो प्रजा की उन्नति और रक्षा करता था। उसे अपने एक-एक कर्त्तव्य-पालन का बहुत ख़याल रहता था।

ब्राह्मण-काल

वैदिक काल के अनंतर ब्राह्मण-काल में प्रजा की बढ़ती हुई जागरूकता के साथ ही राज्याभिषेक भी अधिक विकासमय, विधिमय और विशेषतामय हो गया। इस समय राज्याभिषेक के पूर्व कई प्रकार के यज्ञ करने की प्रथा शुरू हुई और नई-नई विधियों की भी रचना हुई। वैदिक काल के समान ही इस समय भी यह अलिखित पर निश्चित नियम (विधान) था कि राज्याभिषेक के बिना कोई राजा विहित नहीं माना जा सकता था। राज्याभिषेक के इस नियम को न केवल प्राचीन हिंदू राजतंत्र के राजाओं और प्रजाओं ने ही माना और इतनी प्रधानता दी, बल्कि बाद के हिंदू राजाओं के समय में भी इसकी काफ़ी प्रधानता रही।

श्रुति और ब्राह्मणों में राजा के संबंध में तीन प्रधान यज्ञों का उल्लेख है। ये तीन यज्ञ राजसूय, वाजपेय और सर्वमेध हैं। शतपथ ब्राह्मण में वाजपेय को और तैत्तिरीय में राजसूययज्ञ को श्रेष्ठ बतलाया गया है। राजसूय यज्ञ केवल राजा ही कर सकता था, बल्कि शतपथ ब्राह्मण में तो यहाँ तक लिखा है कि राजा जब तक राजसूय यज्ञ नहीं कर ले, तब तक वह राजा हो ही नहीं सकता—'राज्ञ एव राजसूयम्। राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति'[2]। वाजपेय यज्ञ राजा और उसके पुरोहित

१ सूर्य्य त्वचसस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रंमे दत्त।
मान्दास्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा।
व्रजक्षितस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रंमे दत्त।
वाशास्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त।
शविष्ठस्थ ,, ,, ,, ,,
शक्करीस्थ ,, ,, ,, ,,
जनभृतस्थ ,, ,, ,, ,,
विश्वभृतस्थ ,, ,, ,, ,,
मधुमतीर्मधुमतीभिः पच्यन्ताम्महिक्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना अनाधृष्टाः सीदत महौजसोमहिक्षत्रं क्षत्रियायदधतीः॥
(यजु० १०।४)

२. स राजा राज्यमनुमन्यताम
इदं विशश्चवा सर्वा वाञ्छन्तु (अथर्व ४, २, ८)

१. व्याघ्रो अधिवैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु॥

२. शतपथ ५, ११, १२।

दोनों ही करते थे और राजा के राजसूय के मुक़ाबिले में पुरोहित को भी बार्हस्पत्य यज्ञ अलग करना पड़ता था। राजपुरोहित होने के लिये वाजपेय यज्ञ करना आवश्यक था। शुरू में वाजपेय यज्ञ का ध्येय और रूप दूसरा था, पर बाद को वह राजनीति प्रधान हो गया। सर्वमेध एक विशेष यज्ञ था, जो सम्राट् वा चक्रवर्ती राजे ही करते थे और जिनका अभिषेक पहले हो गया होता था। राज्याभिषेक के संबंध में राजसूय यज्ञ ही होता था। इन यज्ञों का ब्राह्मण ग्रंथों में बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है और उससे उस समय की राजनीति की एक बारीकी मालूम होती है। राजसूय-यज्ञ में तीन कृत्य—आरंभिक यज्ञ, अभिषेक और अभिषेक के बाद की अन्य विधियाँ—प्रधान थे। इनमें अभिषेक की ही सर्वोपरि प्रधानता थी और साधारण अवस्था में भी उसकी विधियों की पूर्ति आवश्यक मानी जाती थी। अभिषेक के पूर्व वह व्यक्ति (राजा) सभी नागरिकों के समान एक नागरिकमात्र रहता था, और अभिषेक के बाद ही वह 'राजा' होता और तब (अपने ही द्वारा नियुक्त) उस व्यक्ति की सभी प्रजा आदर करती थी।

राज्याभिषेक के आरंभिक कृत्यों 'राजा' होनेवाले व्यक्ति को ११ निश्चित व्यक्तियों, जो रत्नी (रत्न के अधिकारी) कहलाते थे, ११ 'रत्न हवि' प्रदान करना पड़ता था। यह 'रत्न हवि' देने के लिये राजा को प्रत्येक 'रत्नी' के घर पर जाना पड़ता था। एक दिन एक ही व्यक्ति को रत्न-हवि प्रदान किया जाता था। इन रत्न-हवियों को पानेवाले निम्न-लिखित व्यक्ति होते थे[1] —

(१) सेनानी (फ़ौज का प्रधान सेनापति)

(२) पुरोहित—तैत्तिरीय में पुरोहित की जगह 'ब्राह्मण' लिखा है।

(३) राजा—जो स्वयं क्षत्र वा शासन का प्रतिनिधिस्वरूप होता था।

(४) महिषी—रानी का भी उस हद तक राजकाज में हाथ रहता था, जिस हद तक वह राजा के साथ ख़ास-ख़ास राजकीय मौक़ों पर सिंहासनासीन होती थी। हिंदूधर्मशास्त्रों में स्त्री को अर्द्धाङ्गिनी कहा गया है और इस प्रकार यह सिद्धांत प्राचीन काल से चला आता है कि पत्नी को साथ लिये बिना यज्ञ नहीं किया जा सकता; क्योंकि पुरुष के आध्यात्मिक शरीर का आधा अंग तो उसकी भार्या ही है। इसी सिद्धांत के अनुसार स्त्री अपने पति के साथ यज्ञों में शामिल होती थी। और ब्राह्मण-काल में रानी को हवि ख़ासकर इसीलिये प्रदान किया जाता था कि राजकाज में उसका भी कुछ हाथ रहता था। रामायण[1] और महाभारत में भी राजा और रानी के संयुक्त अभिषेक का वर्णन पाया जाता है। अश्वमेध यज्ञ में शूद्र की स्त्री भी भाग लेती थी[2]।

(५) सूत—यह शासन के मंत्रियों में एक होता था और ऐतिहासिक काग़ज़ातों की देखभाल एवं संरक्षण करता था। ऐसा मालूम होता है कि आगे चलकर इसका कार्य और पद छोटा हो गया; क्योंकि मौर्य-काल में इसकी गिनती मामूली आफ़िसरों में ('पौरानिक' नाम से) हुई है[3]। बृहदारण्यक उपनिषद् (४।४.३७.) से ज्ञात होता है कि प्रत्येक प्रान्तीय राजधानी में सूत रहता था। ह्वेनसंग ने सूत को एक इतिहास लिखनेवाला बतलाया है, जैसा कि उसने हर्ष-वर्धन के यहाँ देखा। उसका कहना है कि सूत का काम अच्छी और बुरी सभी प्रकार की घटनाओं का लिखना था और इसका समर्थन खारवेल के शिलालेख से भी होता है।

(६) ग्रामणी (नगर अथवा ग्राम का मुखिया सरपंच)

---

१. शतपथ ब्राह्मण ५, ३, १
तैत्तिरीय ब्राह्मण १, ७, ३
तैत्तिरीयसंहिता १, ८, ६

मूलग्रंथ में 'एकादश रत्नानि' आता है, पर हविप्रदान १२ स्थानों पर करना पड़ता था। इन १२ में राजा को स्वयं अपने घर पर भी हवि-प्राप्ति की क्रिया करनी पड़ती थी और हवि लेनी पड़ती थी। अस्तु, उसकी गिनती रत्नियों में नहीं होती होगी और इसी कारण संभवतः ११ रत्नियों ही का ज़िक्र आता है। साथ ही कृष्ण यजुर्वेद में राजा के घर पर की हविप्रदान का वर्णन नहीं पाया जाता। ऐसा भी हो सकता है कि अंतिम दोनों रत्नियों (गोविकर्त्ता और पालागल) को एक साथ हविप्रदान किया जाता हो। —लेखक

१. बालकाण्ड १४, ३५
२. शतपथ ब्राह्मण १३, ५, २, ८
३. अर्थशास्त्र ५, ३—११

(७) क्षत्री (कंचुकी)

(८) संगृहिता (कोषाध्यक्ष), पर कहीं-कहीं सारथी को भी संगृहीता कहा गया है और कौटिल्य अर्थशास्त्र में इसकी जगह 'सन्निधातृ' शब्द आया है।

(९) भाग दुघ—(कर वसूल करनेवाला) कौटिल्य अर्थशास्त्र में इसका नाम 'समाहर्तृ' आया है।

(१०) अक्षवाप—(हिसाब रखनेवाला) किसी-किसी ग्रंथकार ने इसे जुए आदि खेलों से प्राप्त होनेवाली आय संग्रहकर्ताओं का अध्यक्ष बतलाया है, पर यह ठीक नहीं मालूम होता। अर्थशास्त्र में भी समाहर्ता के बाद जो नाम आता है, वह 'अक्षपटल' है, जो 'अक्षवाप' शब्द से बहुत मिलता जुलता है और अर्थशास्त्र में अक्षपटल हिसाब रखनेवाले ही (Accountant-General) को कहा गया है। साथ ही अर्थशास्त्र में 'अक्षशाला' शब्द आया है, जिसका सम्बंध सोने, चाँदी तथा टकसाल से था, न कि किसी प्रकार के खेल वा जुए की आय से; और इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है अक्षवाप का जुए आदि खेलों की आय से कोई संबंध नहीं था।

(११) गोविकर्त्ता—(वनाध्यक्ष) मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि राजा के बड़े-बड़े आफ़िसरों में से ही वह भी एक होता था। साथ ही जंगल में रहनेवाले हानिकारक वनैले पशुओं के शिकारियों का अध्यक्ष भी वही होता था।

(१२) पालागल—(दूत) यह शूद्र वर्ण का होता था। यजुर्वेद के मैत्रायणीसंहिता में इसकी जगह 'तक्ष' और 'रथकार' शब्द आए हैं[१]।

उपर्युक्त विवरण से पता चलेगा कि ये रत्नी राज्य के उच्च पदाधिकारी और ग्रामों वा नगरों के मुखिया होते थे। इनके चुनाव में कुल और वर्ण का भी ध्यान रखा जाता था। पुरोहित प्रायः यजुः श्रेणी के ब्राह्मण ही होते थे। राजा प्रायः क्षत्रिय होता था और ग्रामणी वा नगराध्यक्ष वैश्य होता था। तक्षों तथा रथकारों के विषय में वेदों में उनकी धातुनिरीक्षण-निपुणता तथा रथ बनाने की कुशलता की प्रशंसा की गई है, जो बोध करता है कि वे इस समुदाय के प्रतिनिधि होते थे। इनके सिवा सेनानी, क्षत्री, संगृहीता आदि बड़े-बड़े राज्य कर्मचारी होते थे जो वैदिक काल और रामायणकाल में 'राजकर्तारः' कहलाते थे।

इस हविप्रदान का यह उद्देश्य होता था कि वे लोग उस व्यक्ति के राजा बनने की स्वीकृति देते हैं और उनकी सम्मति है कि वे उसके कार्य में मदद करेंगे तथा विश्वासपात्र अनुयायी होंगे[१]।

समाज का ज्यों-ज्यों विकास होता गया, जनता का एकत्र होना कठिन हो गया और इस कठिनता को दूर करने के लिये प्रतिनिधित्व प्रणाली का प्रचलित होना प्राकृत था। प्राचीन भारत के शासन-विधान की यह तारीफ़ की बात है कि शूद्र को भी उस समय समाज के आवश्यक अंगों में एक मुख्य अंग समझा जाता था। राजनीतिक दृष्टि से उसे भी वही स्थान प्राप्त था, जो अन्य वर्णवालों को। साधारण तौर पर यह एक आश्चर्यजनक बात समझी जा सकती है कि एक अधीनस्थ—विजित—शूद्र की पूजा—सत्कार—वह व्यक्ति करता था, जो उसका राजा होकर उस पर शासन करता था। पर यह आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि किसी भी श्रेष्ठ शासन-प्रणाली में उस देश वा समाज के सभी समुदायों के प्रतिनिधियों का रहना आवश्यक है और इसके लिये भारत को गौरव है कि प्राचीन भारत में ऐसी ही शासनपद्धति थी।

राज्याभिषेक में जो भी विधियाँ होती थीं, उन सबों का कुछ-न-कुछ विशेष उद्देश्य होता था। उन विधियों द्वारा राजा के अत्यंत बली होने, अटल और दृढ़चित्त बनने, कर्तव्य-परायण, न्यायी, प्रजावत्सल, सत्यनिष्ठ आदि गुणों से विभूषित होने का आदेश दिया जाता और इनसे अभिभूत होने के लिये राजा देवताओं आदि से प्रार्थना करता था। चूँकि अभिषेक के बाद राजा, महीपति होता था, इसलिये पृथ्वी से भी उसे एक प्रकार से अनुमति लेनी पड़ती थी। इस संबंध में

१. अन्तिम दो रत्नियों का ज़िक्र तैत्तिरीय विधान में नहीं पाया जाता। —लेखक

१. ग्रामण्यो गृहान् परेत्य मारुतं सप्तकपालं पुरोडाशं निर्वपति विशो वै मरुतो वैश्यो वै ग्रामणीस्तस्मात् मारुतो भवत्येतद्वाऽ अस्यैकम्, रत्नं यद् ग्रामणीस्तस्माऽ एवैतेन सूयते तम् स्वं मनपकमिणं कुरुते।

(शतपथ ब्रा० ५। ३, १, ६)

शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है कि राजा किस प्रकार पृथ्वी से प्रार्थना करता और पृथ्वी स्वीकृति देती थी। इसी प्रकार ज्ञान-प्राप्ति के लिये राजा सोम तथा रुद्र को हवि प्रदान करता एवं उनसे इसके लिये प्रार्थना करता था[2] यज्ञ में विभिन्न देवताओं की पूजा होती थी, जिसका उद्देश्य यह था कि विभिन्न देवताओं के विविध गुणों से राजा सम्पन्न होवे, जिससे प्रजापालन में वह पूर्णरूपेण समर्थ हो सके। जैसे अग्नि का धर्म के लिये, सोम को वन-रक्षा के लिये, सविता को बल के लिये, इंद्र को शासन-शक्ति के लिये, रुद्र को पशु-रक्षा की शक्ति के लिये, बृहस्पति को वक्तृत्व-शक्ति के लिये, मित्र को सत्याचरण की शक्ति के लिये और वरुण को क़ानूनरक्षा (न्यायपरायणता) की शक्ति के लिये पूजना पड़ता था। प्रार्थना के बाद यह समझा जाता था कि सभी देवताओं ने राजा को उपर्युक्त अभीष्ट शक्तियाँ प्रदान कीं और इस प्रकार वह व्यक्ति राजा हुआ[3]।

अभिसिंचन के लिये सभी नदियों और समुद्रों तथा राज्यांतर्गत सभी वापी एवं तालाबों के जल लाए जाते थे। सर्वोपरांत एक छोटे-से-छोटे कूप का जल उन जलों में मिलाया जाता था, जिसका मतलब यह होता था कि जिस प्रकार उस कूप का जल गंभीर है, उसी प्रकार प्रजा भी गंभीर तथा राजा के प्रति विश्वासपात्र होवे। और अन्य सभी जलाशयों से जल लाने का यह उद्देश्य बतलाया जाता था कि जल स्वयं शासित है और इस कारण वह भी उस व्यक्ति को राजत्व प्रदान करे। इसका एक उद्देश्य यह भी बतलाया जाता था कि राजा एक ही समुदाय वा प्रांत की ओर से नहीं, बल्कि समस्त देश की ओर से वह सिंहासन पर बिठलाया जा रहा है। देवता लोग जातीय शासन के लिये विविध गुणों—शक्तियों—को तो प्रदान कर सकते थे, पर भूमि का राजत्व प्रदान करना उनकी शक्ति के बाहर था। यह अधिकार

१. अथानुमत्याऽष्टा कपालेन पुरोडाशेन प्रचरतीयं वा अनुमतिः स यस्तत् कर्म शक्नोति कर्तुम् यच्चिकीर्षतीय छं हास्मैतदनुमन्यते तदिमामेवैतत प्रीणात्यनयानुमत्यानुमतः सूयां इति। (शतपथ ब्रा० ५ । २, ३, ४)

२. शतपथ ब्रा० ५ । ३, २

३. शतपथ ५।३,३,६

तो पृथ्वी और भूमि पर निरंतर बहनेवाले जलों को ही प्राप्त था और इसी कारण राजा के अभिषेक के लिये सब जलाशयों का जल संयुक्त रूप से मिलाया जाता था यानी सभी जलाशय अपनी संयुक्त शक्ति से राजा का अभिषेक करते थे।

अभिषेक के लिये राजा मित्र-वरुण के यज्ञस्थल के सामने एक बाघंबर पर बैठता था और वहीं अभिषेक होता था। अभिषेक दो बार होता था। प्रथम बार साम्राज्य के विभिन्न अधिकारियों द्वारा तथा द्वितीय बार पुरोहित द्वारा। पहले का उद्देश्य राजनीतिक और दूसरे का धार्मिक था। पलाश की लकड़ी से बने पात्र से ब्राह्मण, वट की लकड़ी के पात्र से राजन्य (क्षत्रिय) और पीपल की लकड़ी के पात्र से वैश्य अभिषेक करता था[1]। इस अभिषेक के बाद राजा रमणीय रेशमी वस्त्रों से सुशोभित होता तथा पुरोहित राजा को एक धनुष एवं तीन बाण देते हुए प्रजा की रक्षा का उपदेश देता था। फिर राजा उसी बाघंबर के ऊपर खड़ा होता और अध्वर्यु 'आवित' मंत्रों द्वारा यह घोषणा करता था कि जनता, अग्नि, इंद्र, वरुण, मित्र, आकाश, पृथ्वी, पूषण और अदिति को यह सूचित किया जाता है कि यह व्यक्ति राजा हुआ[2]। पर, शतपथ ब्राह्मण का कहना है कि 'आवित' मंत्र उपर्युक्त देवताओं की स्वीकृति के लिये प्रार्थना के रूप में कहे जाते थे और देवताओं की स्वीकृति मिल जाने पर वह व्यक्ति 'राजा' घोषित किया जाता था[3]।

'आवित'-घोषणा के उपरांत राजा सौगंध (प्रतिज्ञा) लेता था। ऐतरेय ब्राह्मण में यह स्पष्ट लिखा है कि राजा

१. पालाश भवति तेन ब्रह्मणोऽभिषिञ्चति।
नैयग्रोधपादं भवति तेन मित्र्या राजन्योऽभिषिञ्चति ॥
आश्वत्थ भवति तेन वैश्योऽभिषिञ्चति ॥
(शतपथ ब्राह्मण ५।३, ५, ११, १४)।

२. आविर्मर्या आवित्तो अग्निर्गृहपतिरावित्त इन्द्रो वृद्धश्रवा आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतावावित्तः पूषा विश्ववेदा आवित्ते द्यावा पृथिवी विश्वशम्भुवावावित्तादितिरुरुशर्मा ॥
(वाजसनेयीसंहिता १० । ६)

३. 'तैरनुमतः सूयते' (शतपथ ब्राह्मण ५ । ३, ५, ३१—३७)

को शपथ दिलवाकर अभिषेक करना चाहिए[1]। राजा इस प्रकार शपथ लेता था—"जिस क्षण मैं पैदा हुआ और जिस क्षण मरूँ उसके मध्य भाग के मेरे सभी पुण्य, आयु, लोक (यश), पुत्र आदि नष्ट हो जायँ, यदि मैं प्रजा से विद्रोह करूँ"[2]। शपथ लेने की प्रथा वैदिक काल में भी थी और पता चलता है कि पुरोहित राजा को जल दिखलाता और राजा उसे देखता हुआ प्रतिज्ञा करता कि मैं राष्ट्र को श्रीसम्पन्न बनाऊँगा, इसीलिये यह जल देखता हूँ,[3] अर्थात् जल को साक्षी रखकर समस्त प्रजा के सामने वह प्रतिज्ञा करता कि राष्ट्र को श्रीसम्पन्न बनाएगा। राजा अपने भाषण में इसी प्रकार की और भी प्रतिज्ञा करता, अपने कर्तव्य और ज़िम्मेदारी की गहनता को बतलाकर प्रजा की मदद की प्रार्थना करता आदि-आदि। वह यह भी कहता कि 'हे प्रजागण ! मैं आपके विचारों और आपकी सभा को स्वीकार करता हूँ'[4]। अर्थात् प्रजावर्ग की जो राजसभा है, वह जो विचार और निश्चय करेगी, उसको सदा ही स्वीकार करने की मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। शपथ की उपर्युक्त क्रिया को देखने से उसके अंदर के निहित तत्त्व मालूम हो जाते हैं और पता चलता है कि राजा और प्रजा के परस्पर समझौता का यह कितना श्रेष्ठ एवं सराहनीय सिद्धांत था। इसमें दैवीशक्ति का कहीं उल्लेख भी नहीं पाया जाता और वह सर्वथा मानवी भावों से ही अभिभूत है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि राजा को यह स्पष्ट बतला दिया जाता था कि प्रजा से भिन्न रहकर उसकी कोई सत्ता नहीं है और जो प्रजा की इच्छा है, वही उसकी इच्छा है, उसी में उसका और राज्य का कल्याण है। इसके साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने लायक़ है कि यह शपथ-विधान कुछ कम महत्त्व नहीं रखता था अथवा कोई व्यक्ति बिना शपथ लिये ही सिंहासनारूढ़ नहीं हो सकता था। अतएव ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है कि शपथ सब प्रकार के राजाओं को लेनी पड़ती थी, चाहे उस व्यक्ति का अभिषेक साम्राज्य, भौराज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, महाराज्य, आधिपत्य वा सार्वभौम राज्य—किसी के लिये भी क्यों न हो रहा हो[1]।

शपथ घोषणा के बाद राजा बाघंबर से आच्छादित आसंदी (राज्यसिंहासन) पर आरूढ़ होता, महाभारत (शांतिपर्व) से ज्ञात होता है कि साधारण इस्तेमाल में चाहे हाथी दाँत वा विविध-विधि के जवाहरों से जड़ित सोने के भी सिंहासन क्यों न आते हों; पर राज्याभिषेक के समय के लिये जो सिंहासन (आसंदी) होता था, उसका लकड़ी का ही होना आवश्यक था, सिंहासनारोहण के बाद राज्य के चार स्तंभों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों से कहा जाता था कि आप राजा के रक्षक हैं और एक बहुमूल्य ख़ज़ाने की नाईं उसकी रक्षा करें। महाभारत से हिंदू राजनीति की यह विशेषता स्पष्ट प्रकट होती है[2]।

सब दिशाओं को भी संबोधित किया जाता था, जिसका उद्देश्य यह था कि अभिषेक सार्वत्रिक और सर्वप्रिय है। इसी समय पुरोहित सौ अथवा नव छिद्रवाले एक सुवर्ण थाल द्वारा राजा के सिर पर जलाभिसिंचन करते हुए निम्नलिखित मंत्र पढ़ता था[3]—

> सोमस्य त्वा द्युम्ने नाभिषिञ्चाम्यग्नेर्भ्राजसा
> सूर्यस्य वर्चसा इन्द्रस्येन्द्रियेण।

१. अस्मिन्राष्ट्रे श्रियमावे शयाम्यतो देवीः प्रतिपश्याम्यापः॥ (ऐतरेय ब्रा० ४० । ३)

२. [एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वा अभिषिञ्चेत् स ब्रूयात् सह श्रद्धया] यां च रात्रीमजायेऽहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि ते द्रुह्येयमिति॥ (ऐतरेय ब्राह्मण ८ । १५)

३. अत्रैव वोऽपि नह्यामि उभे आर्त्नी इवज्यया॥ (ऋग्वेद १० । १६६)

४. आवाश्चित्तमाहो व्रतमावोऽहं समितिं ददे। (ऋग्वेद १० । १६६)

१. स य इच्छेद् एवं वित्क्षत्रियमयं..................साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं समंतपर्यायी स्यात्सार्वभौमः सार्वायुष......... महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिञ्चेत्॥ (ऐतरेय ब्राह्मण ८ । १५)

२. राजा राष्ट्रं यथापत्सु द्रव्यौघैः परिरक्षति।
राष्ट्रेण राजा व्यसने परिरक्ष्यस्तथा भवेत्॥ ३२॥ (महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय १३)

३. वाजसनेयीसंहिता (शुक्ल यजुर्वेद) ६ । ४० और १० । १७, १८

क्षत्राणां क्षत्रपतिरेध्यतिदिधून् पाहि ॥
इमं देवा असपत्न ँ्ँ सुवध्वम् महते क्षत्राय
महते ज्येष्ठाय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय ॥
इममुष्य पुत्र ममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी
राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणाना ँ्ँ राजा ॥

भावार्थ यह है कि सोम, सूर्य, इंद्र, अग्नि आदि देवताओं की कृपा और प्रताप से आप एक महाप्रतापी और श्रेष्ठ राजा हों, आप प्रजा की रक्षा करें और इस राष्ट्र के शत्रु-शून्य सम्राट् हों[1]। सर्वोपरांत राजा को प्रभुत्व (Sovereignty) की विभूतियों से विभूषित करनेवाला निम्नलिखित मंत्र पढ़ा जाता था।

इयं ते राट्.....................यन्तासि यमनोध्रुवोऽसिधरुणः।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ॥

अर्थात् अब तुम राजा हुए और अब राजा होकर कृषि, पशु तथा प्रजा की रक्षा एवं उन्नति करो तथा प्रजा को प्रसन्न रखो। इस 'इयं ते राट्' का महत्त्व ध्यान देने लायक़ है। पाठक पढ़ें, सोचें और देखें कि प्राचीन हिंदू राजत्व काल में राष्ट्र राजा को एक धरोहर—'ट्रस्ट'—की नाईं सुपुर्द किया जाता था, उसकी उन्नति, कल्याण और रक्षा के लिये राजा प्रजा के प्रति ज़िम्मेदार था; वह (राजा) राष्ट्र को अपना खिलौना, अपनी विलासस्थली या अपने सुख-शौक़ का साधनमात्र नहीं समझता था, बल्कि वह उसे प्रजा की एक बहुमूल्य वस्तु समझकर, उसके अधिरक्षक की नाईं उसकी भलाई और रक्षा करता था।

अभिषेक के बाद राजा एक, चार घोड़े के रथ पर सवार हो नगर-भ्रमण करता था। ऐसा मालूम होता है कि अभिषेक के समय के इस नगर-भ्रमण के द्वारा ही जुलूस की प्रथा की शुरूआत होती है, जिसने रामायण और महाभारतकाल में तथा उसके आगे बड़ा विस्तृत रूप धारण कर लिया। नगर-भ्रमण से लौटने के उपरांत राजा की पीठ पर एक दंड से स्पर्श करते थे[2]। इस दंड-स्पर्श का यह अर्थ था—तुम (राजा) क़ानून से ऊपर नहीं हो अर्थात् क़ानून की अवहेलना तुम नहीं कर सकते और अगर ऐसा करोगे अथवा अन्य कोई अपराध करोगे, तो तुम्हें भी दंड दिया जायगा—इस क्रिया के बाद रत्नियों द्वारा राजा का सत्कार एवं पूजा होती और राजा पृथ्वी की पूजा करते हुए प्रार्थना करता कि 'ऐ मातृभूमि, मेरी हानि न करना, मैं भी तुम्हें कोई नुक़सान नहीं पहुँचाऊँगा।' इसके बाद पुरोहित प्रभुत्व के चिह्नस्वरूप राजा को तलवार प्रदान करता तथा राजा उसे अपने आसपास के लोगों को दिखाते हुए सहायता की प्रार्थना करता था। ऐसा वर्णन भी मिलता है कि अभिषेक के उपरांत राजा रत्नियों के साथ जूआ खेलता था, जिसका उद्देश्य यह था कि जिस प्रकार जूआ अकेले नहीं खेला जा सकता, उसी प्रकार शासन भी अकेले नहीं हो सकता और आप लोगों (प्रजा) की सहायता नितांत वांछनीय है। इससे अच्छी तरह बोध होता है कि राजा राजकर्मचारी एवं प्रजावर्ग का कितना अधिक सहयोग चाहता था, उसके ऊपर कैसा प्रतिबंध था तथा किस प्रकार बार-बार वह स्वेच्छाचारिता, निरंकुशता या अत्याचार आदि से बचे रहने के लिये अनेक विधियों से सचेत कर दिया जाता था।

राज्याभिषेक के सम्बंध में ऐतरेय ब्राह्मण के एक श्लोक से ऐसा भी बोध होता है कि एक समुदाय के लोग इस विचार के माननेवाले भी थे कि राज्याभिषेक एक से अधिक पुश्त के लिये हो सकता है और इसके अनुसार अगर एक राजा का अभिषेक केवल उसी के जीवनकाल के लिये हो तो 'व्याहृति' का केवल 'भूः' का उच्चारण किया जाता, अगर दो पुश्त के लिये होता तो 'भूर्भुवः' का उच्चारण होता और अगर तीन पुश्त के लिये होता तो 'भूर्भुव स्वः' का उच्चारण किया जाता था[1]; पर ब्राह्मणकाल में राज्याभिषेक साधारण तौर पर एक ही पुश्त के लिये होता था।

यहाँ पर यह लिख देना भी असंगत न होगा कि इस समय राज्य-च्युति की प्रथा भी थी। शुक्ल यजुर्वेद की

१. शतपथ ब्राह्मण ५ । २, ? । २५

२. अथैनं पृष्ठतस्तूष्णीमेव दण्डैर्घ्नन्ति । त दण्डैर्घ्नन्तो दण्डवधमतिनयन्ति तस्माद्राजा दण्ड्यो यदेनं दण्डवधमतिनयन्ति ॥ (शतपथ ब्रा० ५ । ४, ७)

१. भूरिति य इच्छेदिममेव प्रत्यन्नमद्यादित्यथ य इच्छेद् द्विपुरुषं, भूर्भुव इत्यथ य इच्छेत्त्रिपुरुषं वाऽप्रतिमं वा भूर्भुवः स्वरिति ॥ (ऐतरेय ब्रा० ८ । ७)

१९ वीं और २१ वीं पुस्तक में तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में राज्य-च्युत राजा के लिये 'सौत्रामनी' यज्ञ करने का आदेश किया गया है[1] । राज्य-च्युति की प्रथा न केवल इसी समय प्रचलित थी, बल्कि वैदिककाल में भी इस का रिवाज पाया जाता है एवं बाद के समय में भी यह प्रथा प्रचलित रही ।

ब्राह्मणकाल के बाद का राज्याभिषेक

समय की गति के परिवर्तन के साथ ही ब्राह्मणकाल के बाद के राज्याभिषेक-विधान में भी थोड़ा-बहुत परिवर्तन रामायणकाल के संबंध में ज्ञात होता है कि रामचंद्र के राज्याभिषेक के समय जानपद, पौर, वणिकसंघ आदि की स्वीकृति लेनी पड़ी थी[2] रामचंद्र को युवराज बनाने की इच्छा से राजा दशरथ ने अनेक नरपालों, ब्राह्मणों और राज्य एवं नगर के मुख्य निवासियों को बुलाकर दरबार किया और उनसे रामचंद्र को युवराज बनाने की अनुमति माँगी । इस पर उपस्थित लोगों ने परस्पर सलाह कर निश्चय किया कि रामचंद्र योग्य हैं, वे शासनसूत्र को अच्छी तरह सँभाल सकते हैं और सब प्रकार प्रजापालन एवं परोपकार कर सकते हैं, अस्तु, उनका राज्याभिषेक किया जाय । हम लोग चाहते हैं कि रामचंद्र की महाराज पर सवारी निकाली जाये ।

अभिषेक में विभिन्न श्रेणी के लोगों के भाग लेने के सम्बंध में रामायण में इस प्रकार का वर्णन आता है कि नदियों और समुद्रों से लाए हुए जल से ब्राह्मण, क्षत्रिय, मंत्री, कुमारी तथा वणिकसंघ ने राजा का अभिषेक किया । कुमारी (कन्या) द्वारा अभिषेक की बात रामायणकाल की एक नई बात (प्रथा) है, क्योंकि वैदिक, ब्राह्मण, महाभारत या अन्य किसी भी समय में कन्या द्वारा राजा के अभिषेक किए जाने का वर्णन नहीं पाया जाता । रामायणकाल में विभिन्न वर्णों के व्यक्तियों के राज्याभिषेक में भाग लेने की बात इस प्रकार भी पुष्ट होती है कि रामचंद्र को लौटाने के लिये भरतजी जब वन में गए थे, तो वहाँ रुदन करते हुए उन्होंने रामचंद्र से कहा था कि मैं कदापि सिंहासन स्वीकार नहीं करूँगा, आप अयोध्या को लौट चलिए, वहाँ पर राज्यसिंहासन पर बिठाकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—द्विज—आपका अभिषेक करेंगे और यदि आप वहाँ नहीं लौटते हैं, तो सब प्रजा, वशिष्ठ और बड़-बड़े मन्त्रज्ञ ऋषियों के साथ यहीं आपका राज्याभिषेक करेगी[2] । इस अभिषेक के समय पुरोहित इस प्रकार कहता था कि प्रजापति ने जिस पवित्र जल से सोम, वरुण, इंद्र, मनु को राजा बनाया—अभिषेक किया—था, राष्ट्र को बढ़ानेवाली और राष्ट्र को अमर रखनेवाली उसी जलधारा से, तुझे राष्ट्रोचित बल के लिये, सम्पत्ति के लिये, यश के लिये और धान्य आदि की समृद्धि के लिये मैं तुम्हें अभिषिक्त करता हूँ ; तू महाराजाधिराज हो[3] । अभिषेक के

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । ४, २

२. उदतिष्ठत रामस्य समग्रमभिषेचनम् ।
पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः ॥
(वाल्मीकि रामायण २ । १४ । ५४)

३. ब्राह्मणा जनमुख्याश्च पौरजानपदैः सह ।
समेत्यमन्त्रयित्वा तु समतां गतबुद्धयः ॥
ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ।
अनेकवर्षसाहस्रो वृद्धस्त्वमसि पार्थिव ॥
स रामं युवराजानमभिषिञ्चस्व पार्थिवम् ।
इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम् ॥
गजेन महता यान्तं रामं छत्रावृताननम् ॥
(वा० रामायण)

१. ऋत्विग्भिर्ब्राह्मणैः पूर्वं कन्याभिर्मन्त्रिभिस्तथा ।
योधैश्चैवाभ्यषिञ्चंस्ते संप्रहृष्टैः सनैगमैः ॥
(रामायण युद्धकाण्ड, १२८, ६२)

२. अभिषेक्ष्यन्ति काकुत्स्थं अयोध्यायां द्विजातयः ॥
इहैव त्वाभिषिञ्चन्तु सर्वाः प्रकृतयः सह ।
ऋत्विजः सवसिष्ठाश्च मन्त्रविन्मन्त्रकोविदाः ॥
(वा० रामायण)

३. इमा आपः शिवतमा इमा राष्ट्रस्य भेषजीः ।
इमा राष्ट्रस्य वर्द्धिन्य इमा राष्ट्रभृतोऽमृताः ॥
याभिरिन्द्रमभ्यषिञ्चत् प्रजापतिः सोमं राजानं वरुणं यमं मनुं ताभिरद्भिरभिषिञ्चामि त्वामहं राज्ञां त्वमधिराजो भवेऽह बलाय, श्रियै, यशसेऽन्नाद्याय महान्तं त्वामहीनां सम्राजं चर्षणीनां देवी जनित्र्यजीजनत् भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥
(वा० रामायण)

अनंतर जिस ठाट से राजा की सवारी हाथी पर निकलती थी, रामायण में उसका भी बड़ा मनोरंजक वर्णन है। लिखा है कि शहर अच्छी तरह सजाया जाता था, जगह-जगह अगर जलाकर सुगंधि फैलाई जाती थी, ध्वजा, पताकाएँ और बंदनवारें लटकाई जाती थीं और झरोखों से स्त्रियाँ भी सम्राट् पर पुष्पों की वर्षा करती थीं[1]। ऐसा भी वर्णन मिलता है कि अभिषेक के बाद नगर और ग्राम के प्रधान-प्रधान व्यक्तियों से राजा का परिचय कराया जाता था। जुलूस के संबंध में ब्रह्मपुराण में ज़िक्र आता है कि राजा हाथी पर सवार हो राजधानी में घूमता और राजप्रासाद में पहुँचकर पौर (नगर) के सभी प्रधान पुरुषों का समुचित सत्कार करता था (प्रदक्षिणी-कृत्य पुरं प्रविश्य च पुरं गृहम् । समस्तान पौरमुख्यांश्च कृत्वा पूजां विसर्जयेत् ।) महाभारतकाल के संबंध में ज्ञात होता है कि युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के समय ब्राह्मण, भूमिपति, वैश्य और माननीय शूद्रों को भी निमंत्रण दिया गया था[2]। महाभारत में यह भी लिखा है कि धौम्य और श्रीकृष्ण के नेतृत्व में प्रजा के सभी प्रतिनिधियों ने युधिष्ठिर का अभिषेक किया। नीलकंठ के 'नीतिमयूख' में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अमात्यों द्वारा राज्याभिषेक का वर्णन उल्लिखित है[3]। इसी भाँति अग्निपुराण द्वारा भी ज्ञात होता है कि राज्याभिषेक में चारों वर्णों के अमात्य भाग लेते थे; ब्राह्मण सुवर्ण घट से घृत द्वारा, क्षत्रिय रजत घट से दूध द्वारा, वैश्य ताम्र घट से दधि द्वारा और शूद्र मिट्टी के घड़े से जल द्वारा राजा का अभिषेक करता था[1]। तात्पर्य यह है कि प्राचीन भारत के हिंदू शासनकाल में प्रजा के प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति-प्रतिनिधि को शासन-कार्य में भाग लेने का पूरा अधिकार प्राप्त था, ऊँच-नीच का कोई भेदभाव न था और शासन-संचालन-संबंधी कार्यों में जिस प्रकार ब्राह्मण-क्षत्रिय भाग लेता था, उसी प्रकार वैश्य और शूद्र भी भाग लेते थे; कोई फ़र्क़, कोई बिलगाव—कुछ भी न था।

ब्राह्मणकाल की शपथ-विधि के समान ही महाभारत-काल में भी श्रुति (प्रतिज्ञा) का वर्णन मिलता है। जिस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में श्रद्धा के साथ राजा को शपथ लेने की बात कही गई है, उसी प्रकार महाभारत में भी राजा के लिये मनसा-वाचा-कर्मणा प्रतिज्ञा करने का उल्लेख है। लिखा है कि—"मैं राष्ट्र को ईश्वरस्वरूप मानते हुए उसकी उन्नति में लगा रहूँगा; धर्मशास्त्र तथा निर्धारित नियमों के अनुसार और जो दंडनीति के विरुद्ध नहीं है, उसके अनुसार शासन-कार्य करूँगा एवं कभी भी स्वेच्छाचारी नहीं बनूँगा—

प्रतिज्ञाश्चाभिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा ।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत् ॥ ११५ ॥
यश्चात्र धर्मो नीत्युक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः ।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥ ११६ ॥

शान्तिपर्व अध्याय ५८

राजा की इस प्रतिज्ञा के बाद जनता 'एवमस्तु' कहती थी, अर्थात् वह समर्थन करती थी कि ऐसा ही हो; तुम्हारी प्रतिज्ञा पूर्णरूपेण पूरी हो।

यहाँ पर यह विचारने की बात है कि राजा की उपर्युक्त प्रतिज्ञा का कितना महत्त्व था? वह प्रतिज्ञा करता था कि मैं सारे भौम-पदार्थ को ब्रह्मस्वरूप मानकर पालन करूँगा तथा दंड-विधान, धर्मशास्त्र और प्रचलित प्रथाओं के प्रतिकूल आचरण नहीं करूँगा। इस उक्ति

१. हर्म्यवातायनस्थाभिर्भूषिताभिः समन्ततः ।
कीर्यमाणः सुपुष्पौघैर्ययौ स्त्रीभिररिन्दमः ॥
(वाल्मीकि रामायण)

२. आमन्त्रयध्वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान्भूमिपानथ ।
विशश्च मान्यान् शूद्रांश्च सर्वानानयतेति च ॥
(महा० सभापर्व, अ० ३३ । ४१, ४२)

३. ततो भद्रासनगतं......... शूद्रामात्योऽभिषेचयेत् ॥
(नीतिमयूख)

१. अभिषिञ्चेदमात्यानां चतुष्टयमथो घटैः ।
पूर्वतो हेमकुम्भेन घृतपूर्णेन ब्राह्मणः ॥ १८ ॥
रूप्यकुम्भेन याम्ये च क्षीरपूर्णेन क्षत्रियः ।
दध्ना च ताम्रकुम्भेन वैश्यः पश्चिमगेन च ॥ १९ ॥
मृन्मयेन जलेनोदक् शूद्रामात्योऽभिषेचयेत् ।
ततोऽभिषेकं नृपतेर्बह्वृच प्रवरो द्विजः ॥ २० ॥
(अग्निपुराण अध्याय २१८)

में कितनी सचाई, कितना सम्मान और कितनी ज़िम्मेदारी के भय का भाव भरा हुआ है? वह अपना उत्तरदायित्व समझता था और सच्चे हृदय से उसकी पूर्ति का प्रयत्न करता था और साधारणतः यही पाया जाता है कि निरंकुशता वा स्वेच्छाचारिता का भाव बहुत कम राजाओं के हृदय में जागृत होता था कि अभिषेक के समय राजा जो शपथ वा प्रतिज्ञा लेता था, वह केवल एक रसमअदाईमात्र न थी, बल्कि राजा को सदा इस बात की चिंता रहती थी कि वह कर्तव्य-विमुख होकर कहीं प्रतिज्ञा भंग न कर दे। प्रतिज्ञा भंग करनेवाला राजा 'असत्यप्रतिज्ञ' तथा 'असत्यसंध' के नाम से बदनाम तो किया ही जाता, साथ ही ऐसे शासकों के हाथ से शासन की बागडोर छीन ली जाती थी। महाभारत (अनुशासनपर्व) में तो यहाँ तक लिखा है कि जो राजा अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण न करे, उसे पागल कुत्ते की नाईं मार डालना चाहिए और उसका सर्वनाश कर डालना चाहिए। प्रजा को सतानेवाले राजा की राज्य-च्युति का उल्लेख करते हुए मनु ने लिखा है कि जिस प्रकार शरीर को कष्ट देने से प्राण निकलने लगते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र को पीड़ित करनेवाले राजा के प्राण बाहर निकलने लगते हैं[1]। शुक्राचार्य ने फ़रमाया है कि पुरोहित का फ़र्ज़ है कि वह प्रजा की सम्मति के अनुसार राष्ट्र-विनाशक राजा को सिंहासन से उतार दे और किसी दूसरे राजकुल में उत्पन्न गुणयुक्त पुरुष को राज्यसिंहासन पर बिठावे[2]। इस संबंध में अग्नि-पुराण का कथन है कि जो राजा राष्ट्र को दुःखित करता है, वह न केवल राज्य से, बल्कि प्राणों से अलग कर दिया जाता है[3]। महर्षि वेदव्यास ने महाभारत में एक दूसरी जगह इसके निस्बत इस प्रकार लिखा है कि टूटे हुए नौका को जिस प्रकार समुद्र में छोड़ दिया जाता है, उसी प्रकार प्रजा की रक्षा नहीं करनेवाले राजा को हटाकर दूसरा राजा बनाना चाहिए[1]। ऐसे कई राजाओं के मिसाल पाए जाते हैं, जो प्रतिज्ञाभंग करने के कारण, शासनकार्य ठीक से न करने के कारण अथवा प्रजा पर अत्याचार करने के कारण राज्य-च्युत किए गए। राजा वेण, सुदास, यवन, सुमुख, निमि[2], गालव, नहुष, जनमेजय, बृहद्रथ आदि राजाओं के संबंध में इतिहास साक्षी है कि ये लोग उपर्युक्त किसी-न-किसी कारण से राज्य-च्युत किए गए थे। साधारणतः सभी राजे 'सत्य-प्रतिज्ञ' और 'सत्यसंध' होते थे और कइयों ने तो इस संबंध में बड़े गौरव के साथ इसका उल्लेख भी किया है कि वे सत्यप्रतिज्ञ बने रहे—प्रतिज्ञा भंग नहीं की। रुद्र-दमन ने अपने एक लेख में लिखा है कि वह एक 'सत्यप्रतिज्ञ' राजा था[3] तथा नियम के विरुद्ध कभी भी उसने प्रजा से कर नहीं वसूल किया।

उपर्युक्त विवरण से पाठकों को पता लगेगा कि राजा अपनी ज़िम्मेदारियों को पूरा करने के लिये कितना बाध्य था और साथ ही अपने कर्तव्य-पालन एवं उत्तरदायित्व से विमुख होने पर उसे कितनी कड़ी सज़ा—मृत्यु और सर्वस्व-नाश तक—मिलती थी।

जिस व्यक्ति का राज्याभिषेक होता था, साधारणतः उसकी अवस्था २४ वर्ष से कम नहीं होती थी। खारवेल के एक लेख में लिखा है कि हिंदू-राज्य के ज़माने में राज्याभिषेक २४ वें वर्ष के पूर्व कदापि नहीं होता था। जैन-ग्रंथों से ज्ञात होता है कि विक्रम २५ वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा था। उपनिषद्काल में भी यही उम्र प्रचलित थी, क्योंकि उस समय २४ वर्ष तक साधारण तौर पर शिक्षाकाल माना जाता था। बृहस्पति-सूत्र से इसका समर्थन होता है[4]। इनके सिवा अन्य

१. मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः॥ मनु० ७।१११-११२

२. गुणनीतिबलद्वेषी कुलभूतोऽप्यधार्मिकः।
नृपो यदि भवेत्तं तु त्यजेद्राष्ट्रविनाशकम्॥
तत्पदे तस्य कुलजं गुणयुक्तं पुरोहितः।
प्रकृत्यनुमतिं कृत्वा स्थापयेद्राजगुप्तये॥ २।२६६॥ शुक्र०

३. राष्ट्रकर्षी भ्रश्यते राज्यार्थाच्चैव जीवितात्॥ २२५।३१॥
(अग्निपुराण)

१. षडेतान्पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे। अरक्षितारं राजानं
.... ॥ ५७। ४५ शान्तिपर्व

२. वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः।
सुदासो यवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च॥ ७। ४१। मनु०

३. Epigraphia Indica VIII, S. 43, 44.

४. पञ्चविंशतिवर्षं यावत् क्रीडा विद्या व्यसनात् कुर्यात् ८२
अत उत्तरमर्थार्जनम्॥ १० (बृहस्पतिसूत्र)

ऐतिहासिक प्रमाणों से भी ज्ञात होता है कि २४ वर्ष के पूर्व किसी भी शासक का राज्याभिषेक नहीं होता था। सम्राट् अशोक के संबंध में (खारवेल के लेखानुसार) पता चलता है कि जब तक वह २४ वर्ष की अवस्था का नहीं हो गया, तब तक (अर्थात् ४ वर्ष तक) यों ही बिना अभिषिक्त हुए शासन करता रहा। हिंदू शास्त्रकारों ने तब तक के समय को शासन-काल नहीं माना है, जब तक कि शासन करनेवाले व्यक्ति का (अगर कभी संयोगवश ऐसा होता तो) राज्याभिषेक नहीं हो जाता था। वशिष्ठ धर्मसूत्र में लिखा है कि राजा की मृत्यु से लेकर नए राजा के अभिषेक के समय तक ऋण पर सूद नहीं लिया जा सकता[1] अर्थात् राजवर्ष ही क़ानूनी वर्ष माना जाता था। कौटिल्य अर्थशास्त्र से भी इसकी पुष्टि होती है[2]।

रामायण और महाभारत-काल के अभिषेक में जिस प्रकार वैदिक एवं ब्राह्मण एवं ब्राह्मण काल के राज्याभिषेक की अपेक्षा कुछ अंतर पड़ गया था, उसी प्रकार बाद की अभिषेक-क्रियाओं में भी थोड़ा-बहुत परिवर्तन होता गया। पर राज्याभिषेक एकाएक लोप नहीं हुआ। हिंदू राजत्व काल के अंत तक उसकी महत्ता और प्रधानता के ऐतिहासिक प्रमाण पाए जाते हैं और मौर्य, शुंग, कण्व तथा गुप्त राजाओं के समय में भी राज्याभिषेक का होना पाया जाता है। यह दूसरी बात है कि प्राचीन काल की जैसी प्रधानता बाद को नहीं रही थी। हिंदू राजतंत्र के इस वैध संस्कार के महत्त्व का अंदाज़ा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि सत्रहवीं सदी तक में छत्रपति महाराज शिवाजी ने अपना राज्याभिषेक बड़े उत्साह, शौक़ और सजधज के साथ किया था, हालाँकि वह इसके लिये न तो बाध्य ही थे और न इसके बिना वह शासक होने के ही अधिकार से च्युत किए जा सकते थे। पर नहीं ; हिंदू राज्यतंत्र की महत्ता और विशेषता को वह अच्छी तरह समझते थे और इसी उद्देश्य से न केवल उन्होंने अपना राज्याभिषेक ही किया, बल्कि शुक्रनीति के अनुसार उन्होंने अपना शासनकार्य चलाने के लिये आठ मंत्रियों का 'अष्टप्रधान' मंडल भी बना रखा था।

१. राजा तु मृतभावेन द्रव्यवृद्धिं विनाशयेत्।
पुनाराजाभिषेकेण द्रव्यमूलं च वर्धते ॥ (वसिष्ठ २।४९)

२. राजवर्षमासः पक्षो दिवसश्च.........इतिकालः।
(अर्थ० २ । ६ । २४)

उपसंहार

प्राचीन भारत के राज्याभिषेक का क्या महत्त्व था, उससे राज्यशासन का कितना संबंध था, धार्मिक प्रधानता की अपेक्षा उसकी राजनीतिक महत्ता कितनी अधिक थी और प्रजा एवं राजा के परस्पर संबंध का वह कैसा महत्त्वपूर्ण गाँठ था, इन सब बातों का स्पष्ट और युक्ति-युक्त पता इस छोटे से लेख से लग जायगा। इससे यह भी मालूम होगा कि प्राचीन हिंदू-राज्यतंत्र को बदनाम करनेवाले और हिंदू-राजाओं को निरंकुश और स्वेच्छाचारी कहनेवालों की उक्तियाँ न केवल निराधार और खोखली हैं, बल्कि सर्वथा असत्य और तत्त्वहीन हैं। राजा का रत्नियों के यहाँ जाकर उनकी पूजा और सत्कार करना ; उसका प्रजा के प्रतिनिधियों, मंत्रियों आदि से राज-काज में सहयोग के लिये आरज़ू करना, प्रजा-रक्षण, प्रजापालन, प्रजा की उन्नति एवं कर्तव्यपरायण बने रहने की प्रतिज्ञा करना—; शपथ लेना, मंत्रियों, प्रतिनिधियों, पुरोहितों आदि द्वारा बार-बार राजा को प्रजा की उन्नति, रक्षा आदि में लगे रहने की चेतावनी दी जाती ; दंड से राजा की पीठ स्पर्श कर उसे भी दंडित किए जाने की बात बताना—आदि-आदि क्रियाओं और विधियों के विवरण से यह अच्छी तरह प्रकट हो जाता है कि राजा प्रजा द्वारा नियुक्त उसका एक सेवकमात्र था, जो प्रजा की रक्षा, उन्नति और श्रेयस के लिये नियुक्त होता था और उससे विमुख होते ही चट राजत्व से च्युत कर दिया जाता था। उसके लिये भी वही नियम और क़ानून थे जो कि एक निर्धन व्यक्ति के लिये ; और किसी भी अपराध के लिये राजा को भी समुचित सज़ा भुगतनी पड़ती थी। ऐसी शासन-प्रणाली और उसके ऐसे शासकों को स्वेच्छाचारी अथवा निरंकुश बतलाना कहाँ तक उचित है, यह निश्चय करने का काम मैं अपने विवेकशील पाठकों के ही ऊपर छोड़ता हूँ। मैं तो यही कहूँगा कि प्राचीन भारत में हिंदू-राज्य राजा के लिये एक धरोहर था, जो उसे रक्षा और उन्नति के लिये सुपुर्द किया जाता था और राज्याभिषेक के वैध संस्कार द्वारा सबों के सामने इस बात की घोषणा की जाती थी कि देखो, हम लोग इस बहुमूल्य वस्तु—राज्य—धरोहर—को तुम्हारे सुपुर्द करते हैं, इसकी रक्षा करना तुम्हारा कर्तव्य है—धर्म है ;

और अगर इससे विमुख हुए, तो उसके लिये तुम्हें समुचित सज़ा दी जायगी। राजा भी उस गुरु कार्य की गहनता को भली भाँति महसूस करते हुए भरी सभा में प्रजा की आज्ञा को शिरोधार्य कर, मुक्तकंठ से सबों के सामने उसकी घोषणा करता था। इस प्रकार की सर्वथा नियंत्रित शासन-प्रणाली को भला कौन सर्वोत्कृष्ट और आदर्श न कहेगा ? इस लेख से प्राचीन भारत की श्रेष्ठता, सभ्यता और विकास की भी एक झलक पाठकों को मिल सकेगी।

देवव्रत शास्त्री

लोचन

कंज खिलता न कभी भूल के सरोवर में ,
चोट लगती कि नीर नीचे डूब मरता ;
खंजन न उड़ता कभी भी बन बीच दौड़ ,
पख काट डालता समुद्र मध्य गिरता।
मीन होके मुदित न तिरती जलाशयों में ,
वंशी में फँसाती ज्यों ही बढ़ती बिकलता ;
लोचन न होते तो न नभ आते सूर्यचंद्र ,
बनती पाताल पृथ्वी विश्व ही पलटता।

सोहनलाल द्विवेदी

पूने की सामाजिक विशेषता

ब्राह्मणों का शहर

भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों का कोई भी मनुष्य जब पूना शहर का नाम सुनता है तब उसे वह पेशवों के शहर के नाम से पहचानता है। 'पूना' कहते ही पूने का ब्राह्मण यानी चित्पावन ब्राह्मण उसके नेत्रों के सामने खड़ा हो जाता है। इसका कारण यह है कि पूना पहले चित्पावन ब्राह्मणों का शहर था और अब भी है। बालाजी विश्वनाथ से चलकर आगे सौ वर्ष तक इस शहर में चित्पावन ब्राह्मण ही मराठी साम्राज्य का राज्य-तंत्र चलाते थे, और हिंदुस्थान के अन्य राज्यों के ही कारोबार सुभीते के अनुसार करते थे। पेशवों का अमल नष्ट हुए अब तक सौ वर्ष हो चुके हैं। फिर भी पेशवों के बाद पूने के चित्पावनों ने यानी कोंकणस्थ ब्राह्मणों ने मराठी मुल्क पर राजनैतिक दृष्टि से अपना अधिकार जारी रखा है। इसमें कोई संदेह नहीं। यद्यपि वर्तमान शासन-प्रणाली अँगरेज़ों की है। तो भी अँगरेज़ी राज्य में, अँगरेज़ों की रीति से ही राजनैतिक आंदोलन कर राजनैतिक अधिकार लोगों को प्राप्त कराने के आंदोलन का महाराष्ट्र प्रांत का अग्रेसरत्व पूने के चित्पावनों ने अपने हाथ ही में रखा है। भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों में अँगरेज़ लोग शीघ्रता से अधिकार जमा रहे थे। किंतु जब तक पेशवों का राज्य क़ायम था तब तक वे हिंदुस्थान में स्थिरता से राज्य कर सकेंगे इसका उन्हें भी अँदेशा था। इसीलिये उन्होंने अँगरेज़ी शिक्षा और अँगरेज़ी संस्कृति का फैलाव इधर नहीं शुरू किया। इसीसे स्पष्ट है कि वे पेशवों के संबंध में क्या अनुमान करते थे। अब भी वे चित्पावन ब्राह्मणों में विश्वास रखते हैं, ऐसा नहीं कह सकते, और सच पूछा जाय तो वस्तुस्थिति भी यही है। पेशवों के राज्य का स्वातंत्र्य-रवि अस्त हो जाने के बाद अँगरेज़ों से साहसपूर्ण मार्गों से लड़नेवाले नाना साहब पेशवा, वासुदेव बलवंत फड़के, चाफ़ेकर बंधु, नाशिक के जैकसन साहब का खून करनेवाला कान्हेरे, नाशिक के षड्यंत्र के सूत्रधार बैरिस्टर सावरकर, कर्वे आदि सभी सज्जन चित्पावन ही हैं। साहसी कर्म त्याज्य या असंभव था, इसलिये उसे छोड़कर वैध (नियमानुकूल ? Constitutional) मार्ग से राजनैतिक आंदोलन करनेवालों में स्व० महादेव गोविन्द रानाडे, स्व० बाल गंगाधर तिलक, आनरेबुल गोखले, ये अग्रगण्य नाम चित्पावनों के ही हैं। शिक्षा, ग्रंथकर्तृत्व, समाचार-पत्रों का संपादन, आदि बुद्धि-प्रधान व्यवसायों में भी चित्पावन ही प्रमुख हैं। इतना ही नहीं ; बल्कि सामाजिक बातों में क्रांतिकारी मतों का फैलाव करनेवाले स्व० प्रो० आगरकर, प्रो० भाटे, डॉ० केतकर आदि सज्जन भी चित्पावन ही हैं। गत २०, २५ वर्षों में पूना शहर में राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, बौद्धिक आदि कई प्रकार के स्थित्यंतर बड़े प्रमाण में हुए, और उन सबका

नेतृत्व चित्पावनों के ही हाथ में था। अर्थात् पूना चित्पावनों का शहर है यह सिद्धांत अभी तक क़ायम है। इन लोगों में कुछ विशिष्ट गुण रहने के कारण इस प्रकार की परिस्थिति आगे भी चलती रहेगी ऐसा कह सकते हैं। कम से कम ये गुण जब तक अन्य किसी जाति में पैदा नहीं होते, और जब तक वे चित्पावनों से नष्ट नहीं होते तब तक तो यह स्थिति अवश्य ही रहेगी। बुद्धिमत्ता, दृढ़ता, स्वार्थत्याग, अपना उद्देश न छोड़कर परिस्थिति के अनुसार आचरण करने की कुशलता और तैयारी, और स्वाभिमान ये गुण जब तक उनमें रहेंगे तब तक ये लोग मराठी समाज का नेतृत्व क़ायम रक्खेंगे। ये गुण निःसंदेह अच्छे हैं, और इन्हीं गुणों पर पेशवों ने राज्य प्राप्त किया था और चलाया भी था। पर इन गुणों के साथ ही साथ ईर्षा, अहंकार, द्वेष, दुष्टता और झगड़ने की आदत आदि दुर्गुण कोंकणस्थ ब्राह्मणों में चिरस्थायी हैं। इसी से ये अपना राज्य खो बैठे हैं। सद्‌गुणों और दुर्गुणों के इस प्रकार के संयोग से कोंकणस्थ ब्राह्मणों के शत्रु भी कोंकणस्थ ही हैं, यह सिद्धांत पक्का हो चुका है। अन्य जातियों में कोंकणस्थों के ये दुर्गुण नहीं हैं। अपना कोई मनुष्य दुर्भाग्य से अगर संकटों में फँस गया हो, तो उसे सहायता पहुँचाना मनुष्य का कर्तव्य है। अपने पराक्रम से अपना कोई मनुष्य बड़ा हुआ तो आनंद मनाना भी मनुष्य का स्वाभाविक कर्तव्य है। ऐसे लोग संसार में हैं, हिंदू-समाज में हैं, कोंकणस्थों में भी थोड़े हैं, पर साधारण नियमों के अनुसार वे कोंकणस्थों में नहीं हैं। अपवाद तो सभी जगह पर रहेंगे। किंतु उन्हें छोड़ देना चाहिए। अपने में बढ़ते देख उसे नीचे खींचना, किसी ने बड़प्पन प्राप्त कर लिया हो तो उसे तुच्छ मानना, कोई संकट में फँसा हो तो उस पर पाद-प्रहार कर उसे और भी संकट में डालना आदि कोंकणस्थों के आचरण के—विशेषकर पूने में रहनेवाले या रहे हुए कोंकणस्थों के वर्ताव के—नियम हैं। ऐसे समय पर कोंकणस्थ ब्राह्मण अपने सगे भाई की भी पहचान नहीं रखेगा, फिर दूरस्थ रिश्तेदारों या मित्रों की तो कौन कहे? उनका और भी एक दुर्गुण कृतघ्नता है। पर वह अखिल हिंदूसमाज में समान रहने से अकेले कोंकणस्थों के ही मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता। तथापि हिंदूसमाज के अन्य लोगों की अपेक्षा कोंकणस्थ ब्राह्मण बुद्धि के तेज़ होते हैं इसलिये कृतघ्नता भी बड़ी कुशलता से करते हैं। अन्य लोग खुल्लमखुल्ला कृतघ्न होते हैं। अस्तु।

संसार में बुद्धि-सामर्थ्य, शरीर-सामर्थ्य की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। इसी नियम के अनुसार पूना ब्राह्मणों का शहर है यह ऊपर लिखा गया है। यद्यपि पूना शहर में सब जातियों के लोग हैं किंतु पूने के ब्राह्मणों के ही हाथ में सब जातियों का नेतृत्व रहने के कारण वह ब्राह्मणों का शहर कहा जाता है। इससे यह अर्थ ध्वनित नहीं होता कि पूने में अन्य जातियों का कुछ महत्त्व नहीं है। सब जातियाँ अपना-अपना विशेष महत्त्व रखकर ही पूने में रहती हैं। परंतु नेतृत्व के लिये जो स्वार्थ-त्याग करना पड़ता है, वह अन्य जातियों में नहीं है। इससे उनको नेतृत्व का सम्मान प्राप्त नहीं हो सकता। यथेष्ट धन प्राप्त करने की योग्यता रखते हुए भी थोड़े में ही आजन्म कष्ट सहनेवाले पूने की शिक्षा संस्थाओं के सदस्य और समाचार-पत्रादि उद्योगों में लगे हुए लोग ही नेतृत्व ले सकते हैं और चला सकते हैं। अर्थात् ये काम करनेवाले अन्य जातियों के लोग भी नेता होते हैं, और वास्तव में ऐसे भी कुछ सज्जन पूने में हैं। उपर्युक्त गुण पूने के बाहर अल्पांश में रहने से अखिल मराठी प्रांत का नेतृत्व पूने को ही प्राप्त हो चुका है।

बुद्धि-बल में जैसे ब्राह्मणों की जाति है वैसे ही शरीर-बल में मराठों की जाति प्रसिद्ध है। पूने में ब्राह्मणों के बाद यही जाति महत्त्व की है। ब्राह्मणों की बुद्धि और मराठों की शक्ति इनके आधार पर पेशवों के ज़माने में मराठी साम्राज्य का विस्तार हुआ था। पर इस जाति में भी झगड़ालू स्वभाव बहुत बड़े परिमाण में है और उसी की बदौलत इनकी शक्ति का नाश हुआ है। मराठे असली क्षत्रिय हैं जो कौरव पांडवों के और यादवों के स्वजातीय और वंशधर हैं। जिस प्रकार कौरव और पांडव या यादव आपस में लड़े, और जिस प्रकार उनके लड़ने में सबका निपात हो गया उसी प्रकार की स्थिति गत शताब्दि या डेढ़ शताब्दि में मराठों की भी हुई थी। आज भी वह अवस्था दिखाई देती है। ब्राह्मण और मराठों के झगड़ालू स्वभाव में इतना ही फ़र्क़ है कि मराठे ब्राह्मणों के समान अति द्वेषी नहीं होते। शराबख़ोरी और उड़ाऊपन ये ही

मराठों की उन्नतावस्था में बाधा डाल रहे हैं। सिपाहगीरी की चाह इस जाति का आनुवंशिक गुण है। १९१४ से १९१८ तक के योरपियन महासमर में भी मराठों का यह गुण क़ायम था यह सरकारी रिपोर्टों में लिखा हुआ है। किंतु आजकल क्षत्रियत्व छोड़ अपने जाति के कुछ लोगों को ब्राह्मण बनना चाहिए, यह इच्छा कुछ मराठों में पैदा हुई है!

पूना मुख्यतः ब्राह्मणों का शहर है, यह ऊपर बता चुके हैं। पूना सौ वर्ष तक पेशवों की राजधानी रहा, यही इसका मुख्य कारण है। पर इससे भी अधिक महत्त्व का कारण यह है कि पेशवों का राज्य अँगरेज़ों ने छीन लिया था। राज्य नष्ट हो जाने से ब्राह्मणों का विशेषकर कोंकणस्थ ब्राह्मणों का आधार टूट गया और कुछ वर्ष तक वे किं कर्तव्यविमूढ़ बन गए। पर थोड़े दिनों के बाद ही उनके गुण फिर प्रज्वलित हो जाने से उन्होंने फिर से मराठीसमाज पर आधिपत्य जमा लिया। पेशवों का राज्य सम्मिलित कर लेना अँगरेज़ों की दृष्टि से बड़ी भूल होगई, अर्थात् ब्राह्मणों की दृष्टि से बड़े लाभ की घटना हुई। सन् १८१८ में बाजीराव पेशवा के अधीन हो जाने के बाद यदि उसे पूने वापस लाकर उसका शेष राज्य सम्मिलित किया जाता, और पूना ज़िले की एक रियासत उसके तथा उसके वंशधरों के हाँथ में दे दी जाती तो अभी तक पूने के ब्राह्मण अँगरेज़ों के राज्य में राजनैतिक आंदोलन में अग्रसर न हो पाते। पूने का सब महत्त्व नष्ट हो जाता और साधारणतः पूने के ब्राह्मणों पर सरकार की कड़ी नज़र होने की कुछ आवश्यकता ही न होती। फिर पूने में ब्राह्मणों के राज्य में "यन्तु न देवा वर्षन्तु पर्जन्याः" आदि मंत्र कहकर मिष्टान्नों पर हाथ मारने में, और पेशवों के बाड़े में राजसिंहासन पर सजधज कर बैठ हुए कठपुतली का दरबारी ठाट बाट देखने में ही ब्राह्मणों का कर्त्तृत्व समाप्त हो जाता! अर्थात् ऐसी परिस्थिति में ब्राह्मणों का राजनैतिक, सामाजिक तथा बौद्धिक अधःपात हो जाता। सारांश यह है कि बाजीराव को पेंशन देकर ब्रह्मावर्त भेज देने से अँगरेज़ों का हम पर बड़ा ही अनुग्रह हुआ इसमें कोई संदेह नहीं।

पूना शालाओं, कालेजों, समाचारपत्रों, छापाख़ानों और सभा-समितियों आदि का शहर है। जनसंख्या की दृष्टि से पूने के समान शालाएँ, समाचारपत्र और प्रेस इत्यादि महाराष्ट्र के अन्य किसी शहर में दिखाई न देंगे। ये धंधे पूने में बड़े ज़ोर-शोर से चलते हैं। अर्थात् पूने में अन्य ग्रामों से आनेवाले विद्यार्थियों की संख्या भी अधिक होती है। पूने के छापाख़ानों में बहुत सी किताबें छापी जाती हैं, और समाचारपत्र सारे महाराष्ट्र में भेजे जाते हैं। इन कारणों से अन्य ठिकानों से भी पूने में धन आता है, और भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये अन्य स्थानों के लोग भी पूने में वारंवार आया-जाया करते हैं। पूने की जनसंख्या सवा लाख से अधिक है। परंतु उस प्रभाव से पूने में वारंवार आने जानेवाले लोगों की संख्या (बड़े तीर्थक्षेत्र छोड़ दिये जायँ तो) अन्य सब शहरों की इतनी ही संख्या की दृष्टि से बहुत ज़्यादा है। केवल लोकमान्य तिलक जैसा एक ही महापुरुष पूने में हज़ारों लोगों को आकर्षित कर ले आता था। पूने में रहनेवाले लोगों को देशपर्यटन का श्रेय अनायास ही मिल जाता है। ख़ास पूने में अनेक बुद्धिमान् लोग, उनके भिन्न-भिन्न प्रकार के कारोबार, प्रति दिन भिन्न-भिन्न ठिकानों से आनेवाले भिन्न-भिन्न प्रकार के लोग और इन सबके सहवास का अनुभव करने के समय की भी अनुकूलता है। ऐसी अवस्था में पूने के लोग ख़ूब व्यवहार-चतुर निकलें तो इसमें आश्चर्य ही क्या? बंबई में धन कमाने के लिये जितने कष्ट उठाने पड़ते हैं उतने पूने में नहीं पड़ते, और बंबई में पैसे की जितनी ज़रूरत पड़ती है उतनी यहाँ नहीं पड़ती। अतएव पूने के लोगों को फ़ुरसत अधिक मिलती है जिससे उनको बैठे ठाले के उद्योग सूझते हैं। फलतः पूने के मनुष्य को व्यवहार-चातुर्य प्राप्त होता है, इसलिए जिन्हें व्यवहार-चतुर बनना हो उनको चाहिए कि वे पूने में एक साल अवश्य रहें और उस समय में पूने का अच्छी तरह से निरीक्षण करें।

लोगों का रहन-सहन

पूना शहर का जिसने सिर्फ़ नाम ही सुना है किंतु अपनी आँखों से उसे नहीं देखा ऐसा मनुष्य अगर पूना शहर में चला जाय तो उसका बाहरी स्वरूप देखकर उसे निराशा हो जाती है। शहर के बदले वह उसे ग्राम ही समझने लग जाता है। किंतु २-४ दिनों में पूने के लोगों से बातचीत हो जाने के बाद उसकी समझ बदल

जाती है। गत २०, २५ वर्षों में पूने में बहुत कुछ परिवर्तन हो चुके हैं। मोटरों की पों-पों शुरू हो गई है, और सन् १९२० में कुछ सड़कों पर बिजली भी लगाई गई है। किंतु सड़कें चौड़ी करने का म्युनिसिपैलिटी का कार्य द्रव्याभाव से स्थगित किया गया है। अपने मकान स्वच्छ तथा सुंदर रखने की ओर जनता की प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। नए मकान भी बेढब बनाए जाते हैं। इसका एकमात्र कारण यही देख पड़ता है कि लोग मज़बूत मकान बनवाने में तथा उन्हें साफ़ रखने में धन का अपव्यय समझते हैं। संभव है, लोग ऐसा भी समझते हों कि उनके मकानों से अन्य लोगों को यह न मालूम हो कि वे मालदार हैं। अनेक कारणों से पूने के मकानवालों को किरायेदार बहुत मिलते हैं, इससे वे समझने लगे हैं कि किरायेदारों की जगहें साफ़ करवाना या रखवाना उनका कर्तव्य नहीं है। और जहाँ सड़ी जगह के भी किरायेदार मिल जाते हैं वहाँ वे लोग ऐसा क्यों न समझें? किंतु इससे मकानवालों तथा किरायेवालों के रहन-सहन का अच्छा पता लग जाता है। बंबई में पूने से ज़्यादा भीड़ है, पर वहाँ के मकान पूने के मकानों की अपेक्षा कहीं अधिक मज़बूत और स्वच्छ बनवाये जाते हैं। पूने के मकानवाले किसी तरह से किराया वसूल करना ही सिर्फ़ जानते हैं!

रास्ता चलते समय अगर पूनावालों का ड्रेस देखा जाय तो वह प्रायः साफ़-सुथरा, शान और शौकतदार तथा रोबदार दिखाई देता है। किसी की पोशाक सादी किंतु स्वच्छ तो किसी की गंदी भी नज़र आती है। किंतु साधारणतया इन २०,२५ वर्षों में पूनावालों का ध्यान पोशाक की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होता जा रहा है। पूने के पढ़े-लिखे तथा भद्र समाज के मनुष्यों की पोशाक साधारणतया इस प्रकार रहती है—एक धोती, अंग में एक कुरता या शर्ट, और उस पर कोट, कोट पर एक अँगोछा, सिर पर साफ़ा या पगड़ी, और पाँव में जूता। लोकमान्य तिलक तथा आनरेबुल गोखले ये दोनों भी अँगोछा लेते थे, जिससे उनके मित्र तथा अनुयायियों को भी उसकी ज़रूरत पड़ती थी। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पता चलेगा कि इन दो व्यक्तियों के अँगोछा लेने की चाल को उनके मित्रों तथा अनुयायियों ने स्वीकार किया था। पाठकों को इन दो प्रसिद्ध व्यक्तियों के अँगोछा लेने का ढंग तो उनके फ़ोटो पर से अच्छी तरह से मालूम ही है। स्वर्गीय अण्णा साहब पटवर्धन, श्रीनरसिंह चिंतामण केलकर, खाडिलकर, धोंडोपंत विद्वांस, कृष्ण शास्त्री कवडे, दत्तोपंत आपटे, प्रो० शिवराम महादेव परांजपे आदि सज्जन तिलक महाराज के अनुसार अँगोछा लेते थे या लेते हैं। स्व० गोखलेजी का अनुकरण रँगलर परांजपे, प्रो० भाटे, स्व० प्रो० पटवर्धन आदि सज्जन करते थे या करते हैं। मनुष्य प्राणी अनुकरणप्रिय है इसका यह छोटा-सा उदाहरण है। अँगोछा लेने का एक विशिष्ट ढंग स्व० सीताराम केशव दामलेजी का था। मराठी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार स्व० हरिनारायण आपटे तो अँगोछा बिलकुल ही नहीं लेते थे। अब अँगोछा लेना बंद हो जायगा, और सिर में साफ़ा या पगड़ी के बदले टोपियों का प्रचार होता जायगा ऐसा प्रतीत होता है। पोशाक के ये तरीक़े विशेषकर पढ़े-लिखे तथा भद्र-समाज के लोगों के हैं, और वे कुछ थोड़े फेर से प्रायः सभी जातियों में प्रचलित होने लगे हैं। मराठे सिर्फ़ उत्सव के अवसरों पर मराठेशाही पगड़ी, अँगरखा तथा अँगोछा लेते हैं। पर अन्य समय तो ये लोग भी कोट और टोपी आदि के विद्यार्थी फ़ैशन में रहते हैं। पूने में के गुजराती लोगों ने भी यही दक्षिणी पोशाक स्वीकार की है। आजकल सिर पर बाल रखने की चाल चल पड़ी है। और कुछ वर्षों में तो यही ढंग पूरी तौर से प्रचार में आ जायगा इसमें संदेह नहीं। स्व० अण्णा साहब पटवर्धन दाढ़ी नहीं बनवाते थे, बल्कि दाढ़ी सहित सब बाल बढ़ाते थे। इस प्रथा के भी कुछ सज्जन अनुयायी हैं। यद्यपि कुछ लोग बूट पहनना अच्छा समझते हैं किंतु "पुणेरी जूता" तो धोती के समान ही क़ायम रहेगा। पढ़े-लिखे लोगों में चश्मों का प्रचार दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का तथा बारीक टाइपों की किताबें दीर्घ रात्रि तक पढ़ने का यह फल है। स्व० लोकमान्य तिलकजी की दृष्टि ठीक नहीं थी, इस पर भी वे चश्मे का व्यवहार नहीं करते थे।

स्त्रियों की पोशाक के संबंध में भी यहाँ कुछ लिखना अप्रासंगिक न होगा। भद्र-समाज की स्त्रियों में सुहागिनी तथा विधवा दो भेद होते हैं इस बात से पाठकगण भली भाँति परिचित होंगे। सुहागिनी स्त्रियों की पुरानी

पोशाक—यानी देह में चोली और पहनने को सोलह हाथ लंबाई की साड़ी—तो वैसी ही चली आ रही है। किंतु शीतऋतु में चोली पर से "पोलका" (सलूका या ज़नानी बंडी) पहनने का रिवाज इस समय जारी हो चुका है। बीच-बीच में साड़ियों के बदले "पातल" (हलकी साड़ियाँ या ज़नानी धोतियाँ) दिखाई देती हैं। किंतु उनकी प्रथा अधिक समय तक नहीं चलेगी। सिर पर से अंचल लेने की प्रथा पहले की सुहागिनी स्त्रियों में थी। किंतु आजकल तो कंधे पर से अंचल लेने की प्रथा क़ायम हो चुकी है। पाठशालाओं में जानेवाली लड़कियाँ जूता पहनती हैं। किंतु वे बड़ी हो जाने पर प्रायः इस प्रथा को छोड़ देती हैं। विधवाओं के केशवपन की बुरी प्रथा कुछ अंशों में कम हो चुकी है। फिर भी वह बहुत वर्षों तक चलेगी, यह दुःख से कहना पड़ता है। सुधारकों तथा सनातनियों में भी यह प्रथा चल रही है। जब तक विधवाओं का केशवपन नहीं होता तब तक उनके पति को स्वर्ग नहीं प्राप्त होता यह विचित्र समझ ही इस प्रथा का मूल कारण है। जो स्त्री केशवपन कर लाल साड़ी परिधान नहीं करती उस स्त्री के हाथ का पानी न पीनेवाले लोग—पुरोहित, गृहस्थ तथा सुहागिनी स्त्रियाँ—पूने में अभी तक बहुत हैं। स्त्री के विधवा हो जाने के बाद उसके सब गहने छीने जाते हैं, और वह सिर्फ़ दो टुकड़ों की अधिकारिणी बन जाती है। पूने सरीखे उन्नतिशील नगर का ऐसी सादी बात पर अभी तक ध्यान नहीं पहुँचा यह बड़े आश्चर्य की बात है।

पढ़े-लिखे तथा भद्र लोगों के अतिरिक्त अन्य जातियों में स्त्रीशिक्षा का प्रचार नहीं हुआ और वह होगा यह भी नहीं जान पड़ता। सिर पर से अंचल लेने की तथा चोली हाथ की कोहनी तक रखने की प्रथाएँ इन स्त्रियों में अभी तक चली आ रही हैं यह विशेषता है। विधवाओं के केशवपन की बुरी प्रथा अन्य जाति की स्त्रियों में नहीं है।

लोगों का आचार

उक्त वर्णन से पूने में पुरुषों तथा स्त्रियों की पोशाक में नख़रेबाज़ी बढ़ रही है, इस बात का पता पाठकों को लग ही चुका है। पोशाक के साथ ही साथ अन्य बातों में भी दिखाऊ धनिकता की चाह बढ़ रही है, यह अत्यंत खेदजनक है। किसी आदमी की पोशाक से अगर कोई उसकी आमदनी की कल्पना करे तो उसमें निःसंदेह भूल हो जायगी। योरपियन महासमर के प्रारंभ से सरकार ने कितने ही "एम० एफ़० (मेट्रीक फ़ेल) ग्रेजुएटों" को काम में लगाया था। इस प्रकार इन लोगों के हाथ में बहुत पैसा दिखाई देने लगा। फलस्वरूप वे लोग बूट, स्टाकिंग, कोट, पैंट, नेकटाई, कॉलर आदि में तथा नाटक, सिनेमा, होटलों में खूब पैसा खर्च करने लगे। किंतु कुछ दिनों के बाद महँगाई के दिन आ पहुँचे। पैसा कम हुआ, लेकिन पहले की आदतें तो वैसी ही बनी रहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि किसी के पास बहुत धन इकट्ठा हुआ और किसी को दो बार भोजन मिलना भी कठिन हो गया। इन सब घटनाओं का एक ही स्पष्ट फल आज दिखाई देने लगा है—मनुष्यों का स्वभाव तीव्र और बेपरवाह बन रहा है। अपने पास पैसा रहा तो अपनी रईसी लोगों को दिखाना, किंतु किसी को सहायता बिलकुल न पहुँचाना इस प्रकार की प्रवृत्ति लोगों में क़ायम हो गई है। साथ ही साथ "घर में नहीं खाने को और बीबी चली भुनाने को" इस कहावत के अनुसार घर में कुछ भी क्यों न रहे लेकिन रास्ते से चलते समय लोगों से अपने को बड़ा धनवान समझना चाहिए, या एक आध दिन लोगों को भोजन के लिये निमंत्रित कर उनको अपनी झूठी बड़ाई दिखानी चाहिए, या विवाहादि अवसरों पर ऋण लेकर भी बेंड, आतशबाज़ी आदि आडंबर करना चाहिए, ऐसी बुरी प्रथाएँ लोगों में शुरू हो गई। एक तो यों ही महाराष्ट्र समाज बेमुरव्वत है, फिर इन सब कारणों से अगर वह समाज दिन प्रतिदिन बेमुरव्वत हो रहा हो, तो उसमें आश्चर्य ही क्या ?

हम पहले ही बता चुके हैं कि सिनेमा, होटल आदि की धूमधाम इन २०, २५ वर्षों में बहुत हो गई है। बीड़ी या सिगरेट पीने का व्यसन तो पहले से ही जारी है। फ़र्क़ इतना ही है कि रास्ते से चलते समय मुँह से फ़कफ़क धुआँ छोड़ने का बंबईवाला तरीक़ा पूने में अभी तक शुरू नहीं हुआ। आगे कुछ वर्षों में वह भी शुरू हो जायगा। रास्ते से बीड़ी पीते हुए चलना असभ्यता का लक्षण है यह बहुतेरे लोग अब भी मानते हैं। पूने में विद्यार्थियों की संख्या बहुत होने से यहाँ साइकिलों

का भी खूब प्रचार है। साइकिल चलानेवाले लोग रास्ते में दुर्घटनाएँ भी (accidents) बहुत करते हैं। पुलीस के रहते हुए भी रात्रि में बिना लैंप से साइकिल चलानेवाले लोग नज़र आते हैं।

अब कुछ खाने-पीने का भी हाल सुनिए। सुबह तथा संध्या को चाय पीने की प्रथा भी पूने में कुछ दिनों से जारी हो चुकी है। रोज़ का भोजन तो पहलेवाला ही है। किंतु लोगों की निर्बलता से तथा अनियमता से उसका परिमाण कम हो रहा है। पूने में शाक-भाजी बहुत मिलती है। यहाँ चावल के साथ ही साथ बाजरे की रोटी का भी काफ़ी प्रचार है। अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोग बाजरे के बजाय गेहूँ खाते हैं। खाने-पीने पर ही आरोग्य निर्भर है यह सिद्धांत सब लोग जानते हैं, पर पालते हैं बहुत ही थोड़े। इधर दफ़्तर में जाने की जल्दी तो उधर किसी सूरत से दो चार कौर पेट में ठूँसने की शीघ्रता, ऐसी अवस्था में पूनेवाले लोग बड़े मज़े में दिन काट रहे हैं। इसी से पूने में बाल-मृत्यु की संख्या बहुत बढ़ गई है। किंतु कोई भी इस बात का ख़याल नहीं करता। घर के आधे पके अनाज के सिवा होटलों में बनी हुई चीज़ें खाने की आदत दिन प्रतिदिन बढ़ रही है। आरोग्यशास्त्र की दृष्टि से यह कितना अनिष्टकारक है इसका तनिक भी ख़याल नहीं किया जाता।

ब्राह्मणों का आचार

गत २०, २५ वर्षों में ब्राह्मणों में संध्या वंदनादि का आचार नष्ट होता जा रहा है। आगे कुछ वर्षों में तो गृहस्थ ब्राह्मणों में संध्या जाननेवाला आदमी मिलना दुर्लभ सा हो जाएगा। लोगों को संध्या करना न आवे तो न सही किंतु उपनयन तो अवश्य ही चाहिए। यह दिखाऊ धर्माचरण सब बातों में बढ़ रहा है। कथा-संकीर्तनों की ओर पुरुषों की प्रवृत्ति कम हो रही है, किंतु स्त्रियों में वह बढ़ रही है। भूत-पिशाच, मंत्र-तंत्र, फलित ज्योतिष, प्रश्न, शकुन-अपशकुन, आदि पर तो दोनों का विश्वास बढ़ रहा है। अँगरेज़ी शिक्षा से ये प्रवृत्तियाँ पहले नष्ट हो जाती थीं, यह सच है, पर अब गंगा उलटी बहने लगी है! संतोष-वृत्ति नहीं, नियमित आचरण नहीं, झूठे समारोहों के शौक़ के कारण पास पैसा नहीं, और विशेषकर परिश्रम करने की इच्छा नहीं—इन सब कारणों से अपनी तक़दीर पर दोषारोपण करने की, तथा अपनी क़िस्मत देखने की प्रवृत्ति लोगों में बढ़ गई है। साथ ही स्त्रियों के अज्ञान से तो पुरोहित, ज्योतिषी, मांत्रिक, पीर, ताबूत आदि की ज़रूरत पूने में खूब बढ़ गई है। मुसलमानों के पीरों को मन्नत माननेवाले ब्राह्मण यहाँ दिखाई देते हैं। पुरोहितों का धंधा तो पूने में खूब ज़ोर शोर से चलता है। यहाँवाला पुरोहित तो दस पाँच साल में ही काफ़ी जायदाद पा सकता है। ये ब्राह्मण अल्प व्यय कर पैसा इकट्ठा करते हैं, तो उनके कई यजमान ऐसे हैं कि वे अपनी कमाई का धन फ़िज़ूल ख़र्च में उड़ा देते हैं। पुरोहितों को इतने अल्प श्रमों से पैसा मिलने लगा इसका यह परिणाम हुआ कि पुरोहितवर्ग के स्वभाव तथा आचरण में—विशेषकर उनकी स्त्रियों के स्वभाव और आचरण में—शनैः शनैः क्षुद्रता बढ़ने लगी है। परनिंदा करने में पुरोहितों की स्त्रियाँ और कुछ कम परिमाण में पुरोहित भी अपना फ़ुरसत का समय बिताते हैं।

ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य जातियों के आचारों में कुछ फ़र्क़ नहीं हुआ। पर जिन जातियों में मदिरापान की प्रथा है उनमें वह बढ़ गई है यह दुःख की बात है।

लोगों का स्वभाव

यहाँ के लोगों के स्वभाव का वर्णन 'तेजस्वी' (spirited) और 'तीव्र' इन दो शब्दों में किया जा सकता है। पूने के ब्राह्मणों में ही नहीं बल्कि सभी जातियों में तेजस्विता का गुण विशेषतया पाया जाता है। पूना शहर की उन्नति पेशवों ने की थी, और पूने में पेशवों की यानी कोंकणस्थों की ही जाति सबसे महत्त्व की है। अर्थात कोंकणस्थों ने पूने के अन्य लोगों पर अपने स्वभाव का प्रभाव डालकर सबको तेजस्वी बनाया है यह कहने में कोई हर्ज नहीं। तेजस्विता का विशिष्ट गुण पूने के कोंकणस्थों के समान ख़ास कोंकण के कोंकणस्थों में बीजरूप में पाया जाता है। कोंकणस्थ ब्राह्मण जब अपने कंगाल कोंकण से निकलकर पूने में आते हैं तब उनकी दरिद्रता नष्ट हो जाती है। अर्थात् दरिद्रावस्था से जिस तेजस्विता की प्रभा कोंकण में नहीं फैल सकती वह तेजस्विता यहाँ की सुखोपजीविका से प्रकाशमान हो जाती है। इसी तेजस्विता के निपट उपयोग को या अनुचित उपयोग को

तीव्रता कहते हैं । और ये दोनों गुण भी कोंकणस्थों में पूर्णतया मौजूद हैं । कोंकणस्थों की संगति से अन्य जातियों में भी इस गुण का प्रादुर्भाव (manifest) हुआ है । कुछ अंशों में ये गुण मराठा जाति में भी देख पड़ते हैं । किंतु यह तो राजपूत वंशोत्पत्ति का प्रभाव है । लड़ाकू जाति में अगर ये गुण पाये गये तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं किंतु ब्राह्मणों में तो वह विशेषता है ।

इन गुणों के साथ ही साथ पूने में अहंकार, ईर्षा और द्वेष इनका भी वास है । यहाँ के लोग थोड़े ही धन से मदांध हो जाते हैं । इसका फल यह होता है कि उनमें घमंड, ईर्षा तथा द्वेष की वृद्धि होती है । इन्हीं दुर्गुणों से पूनावालों के नाम की योग्यता घट गई है । तिस पर भी इस बात की कोई परवाह ही नहीं करता । पहले इन दुर्गुणों का प्राबल्य नहीं था । किंतु आजकल अँगरेज़ों की अमलदारी में तो वे बहुत कुछ बढ़ गये हैं ।

इनके सिवा पूनेवाले उपद्रवी भी होते हैं । किसी पराए ठिकानवाले या किसी अपरिचित आदमी का स्थान कहाँ है या अमुक सज्जन कहाँ रहते हैं ऐसे प्रश्नों का सरल उत्तर देना एक सामाजिक कर्तव्य है । परंतु अपने उपद्रवी स्वभाव के कारण पूने में इस कर्तव्य का ठीक तौर से पालन नहीं किया जाता । कोई कहेगा, मुझे मालूम नहीं । कोई कहेगा, मुझे समय नहीं । कोई मालूम होते हुए भी पता न देगा, तो कोई सज्जन उसे निराले ही स्थान का रास्ता बता देंगे ! सज्जन माने जानेवाले लोगों के ये तरीक़े हैं तो नीच और थर्ड क्लास लोगों के उपद्रवों का वर्णन करना कठिन ही है । सभ्य लोगों के नटखटपन के दो चार उदाहरण देना यहाँ अनुचित न होगा । पहला उदाहरण—पूने में सन् १९०८ और १९०९ में "वंदेमातरम्" नामक एक समाचारपत्र निकलता था । सन् १९०९ में जब इस पत्र का प्रकाशित होना बंद हो गया तब थोड़े दिनों के बाद एक बरार प्रांत-निवासी सज्जन उक्त पत्र के संपादक से मिलने आए थे । इन सज्जन को संपादक का घर मालूम न था । फिर भी वे पूछते-पूछते उनके मकान के पास आ पहुँचे । पास ही रास्ते पर खड़े हुए एक भलेमानस से उन्होंने संपादक का मकान पूछा । तब वे जेंटिलमैन कहने लगे कि उक्त संपादक छापाखाना, समाचार-पत्र आदि बंद कर विलायत चले गए ! दूसरा उदाहरण—सन् १९१५ की बात है । तब पूने के "सुधारक" पत्र के संपादक तथा प्रकाशक रामचंद्र विष्णु फड़तरे के देहांत की ख़बर किसी सज्जन ने नागपुर के "महाराष्ट्र" पत्र को भेजी थी, और वह ख़बर उसमें प्रकाशित भी हो चुकी थी ! तीसरा उदाहरण—१९०५, १९०६ में हिंदोस्तान में और विशेषकर बंगाल में "वंदेमातरम्" शब्द का उच्चारण सरकारी अफ़सरों को बड़ा ही नापसंद था । १९०६ के फ़ाग में पूने के कुछ सज्जनों ने एकत्र मिलकर एक ही रात्रि में दो-चार पेठों के प्रायः प्रत्येक घर की दीवारों पर "वंदेमातरम्" शब्द डामर से लिख मारा था ! आम सभाओं में या 'वसंत-व्याख्यान-माला' की सभाओं में किसी अप्रिय-वक्ता का व्याख्यान बंद कराकर उसे बिठला देने का उपद्रव शुरू करने का श्रेय पूनावालों को ही है । यह उपद्रव महाराष्ट्र में प्रायः कहीं भी दिखाई नहीं देता । सूरत की सुप्रसिद्ध कांग्रेस में जब डा० रासबिहारी घोष व्याख्यान देने खड़े हुए थे तब उन पर जूता फेंकनेवाला गुंडा पूने का ही था यह बात भी हम भूल नहीं सकते । अस्तु ।

पूना शहर बड़ा प्रसिद्ध है । पूने में बड़े-बड़े विद्वान् हैं, पूने में कई नेता हैं, ये सब बातें सच हैं । पर इसका अर्थ यह नहीं कि सम्पूर्ण पूना शहर देशभक्ति या विद्वत्ता से भरा हुआ है । बल्कि उसमें दिखावट का अंश ही ज़्यादा है । पूने की परिस्थिति, देशभक्ति तथा राजनैतिक आंदोलनों के अनुकूल रहने के कारण यहाँ से देशभक्ति का प्रकाश अखिल महाराष्ट्र में फैलता है । किंतु इस देशभक्ति-रूप अग्नि को ईंधन अन्य स्थानों से पहुँचाया जाता है । लोकमान्य तिलक, आनरेबुल गोखले, रँगलर परांजपे, प्रो० शिवराम महादेव परांजपे आदि प्रसिद्ध नेतागण पूने के असली निवासी नहीं हैं । वे अन्य स्थानों से आकर पूने में रहने लगे । स्व० विष्णु शास्त्री चिपलूणकर पूने के निवासी कहे जा सकते हैं । किंतु उनके शुरू किए हुए कार्यों का बोझा स्व० तिलकजी, आगरकर, आपटे जैसे बाहरवालों ने ही सँभाला है । लोकमान्य तिलकजी ने अनेक बार अपने व्याख्यानों में कहा था कि मेरी सब आशाएँ नवयुवकों पर ही हैं । परंतु दुःख की बात है कि २०,२५ वर्षों के दीर्घकाल में भी उनको सहायता पहुँचाने के लिये पूने के युवक काफ़ी संख्या में नहीं दौड़े । सार्वजनिक कार्य स्वार्थत्याग-

पूर्वक तथा उत्कंठा से करनेवालों में पूने के सिर्फ़ दो सज्जन दिखाई देते हैं—एक स्व० जनार्दन विनायक ओक और दूसरे श्री० कृष्णशास्त्री कवडे। जिन्होंने लो० तिलकजी का या आनरेबुल गोखलेजी का कार्य ज़ोर से चलाया है ऐसे सज्जनों में बाहरवालों की ही संख्या अधिक है। श्री० नरसिंह चिंतामण केलकर, खाडिलकर, स्व० दत्तोपंत लिमये, ज० स० करंदीकर, वामनराव जोशी, दामोदर विश्वनाथ गोखले, वामनराव पटवर्धन, नारायण मल्हार जोशी, डा० देव, पांडुरंग महादेव बापट, डा० नरहर रामचंद्र उर्फ़ बाबा साहब परांजपे, स्व० रावबहादुर ग० त्र्यं० जोशी आदि सज्जन अन्य स्थानों से आकर पूने में रहे हैं। लो० तिलकजी के संबंध में या उनके आंदोलन के संबंध में अन्य स्थानों में जितना आदर और जितना अभिमान है उतना ख़ास पूने में नहीं है। इसका कारण उत्कंठा का अभाव, या "अतिपरिचयादवज्ञा" भी हो सकता है। सन् १८९७ में लो० तिलकजी के श्री० नरसिंह चिंतामण केलकर को सतारा को पत्र भेजने के साथ ही वे पूने में आकर दाख़िल हुए, और उन्होंने अपने फुटकर मत-भेद सँभालकर तिलकजी का कार्य बड़ी दृढ़ता और तत्परता से चलाया। इस घटना के पूर्व तिलकजी ने पूनावालों की परीक्षा नहीं की थी यह बात नहीं। पर उनमें से कोई आगे नहीं बढ़ सका। पूने में कई व्याख्यान होते हैं। किंतु व्याख्यान देनेवालों तथा सुननेवालों में उत्कंठा तो उतनी ही रहती है। कुछ नवयुवक विद्यार्थियों ने—विशेषकर अन्य स्थानों से पूने में शिक्षा प्राप्त करने को आए हुए विद्यार्थियों ने—ऐसे व्याख्यानों तथा लेखों से ही अपने पाँव पर पत्थर गिरा लिया है। व्याख्यान और लेख ये सिर्फ़ दिखावट के लिये ही रहते हैं यह पूनावालों का व्यावहारिक ज्ञान अगर उनमें रहता तो उनकी जीवनी कुछ निराली ही हो जाती।

मराठी भाषा

पूने में मराठी भाषा को आदर्शस्वरूप प्राप्त हुआ है इसमें कोई संदेह नहीं। मराठी प्रांत गोवाँ से ग्वालियर तक और बरोदा से हैदराबाद तक फैला हुआ है। तिस पर भी पूना शहर ने मराठी भाषा को सुंदरस्वरूप दिया है। इसी शहर से आज ४७ वर्षों से प्रत्येक मंगल को शुद्ध तथा आदर्श भाषा में लिखा हुआ "केसरी" पत्र लोकमान्य की तपश्चर्या से बृहन्महाराष्ट्र के कोने-कोने में जाता है। इससे मराठी भाषा के स्थैर्य तथा शुद्धता को ख़ूब सहायता पहुँची है, और पहुँच रही है।

पूने के सुशिक्षित लोग शुद्ध भाषा लिखते हैं और बोलते हैं। किंतु अशिक्षित तथा हलके दर्जे के लोगों की भाषा अशुद्ध होती है। पूने सरीखे शहर में सुशिक्षितों तथा अशिक्षितों की बोली एक-सी होनी चाहिए थी। परंतु नीचे दर्जे के लोग अपने-अपने मकानों में या रास्ते में झगड़ने के समय गालियाँ बकते हैं यह उद्वेगजनक है।

अँगरेज़ी भाषा

पूने में अँगरेज़ी पाठशालाएँ तथा कालेज कई हैं। फलस्वरूप अँगरेज़ी शिक्षा का भी प्रचार यहाँ बहुत हुआ है। तथापि अन्य प्रांतों के लोग जैसे अपनी मातृ-भाषा के समान अँगरेज़ी भाषा सफ़ाई से बोलते हैं वैसे पूने के लोगों को—और सामान्यतः महाराष्ट्रियों को—बोलना या लिखना नहीं आता। कलकत्ता, मदरास जैसे नगरों में बंगाली या मदरासी लोग अँगरेज़ी दैनिक पत्र अच्छी तरह से चलाते हैं। वास्तव में यही बात पूने में होनी चाहिए थी। परंतु महाराष्ट्रियों का अँगरेज़ी भाषा की ओर ध्यान नहीं है। इसी से कांग्रेस में या कौंसिलों में, या आम सभाओं में जब पूनावालों को अँगरेज़ी में बोलने का प्रसंग आता है तब उनकी यह न्यूनता प्रत्यक्षता से दृष्टिगोचर होती है। सुनते हैं कि स्व० महादेव गोविंद रानडे अँगरेज़ी अच्छी बोलते थे। अनंतर महाराष्ट्रीय समाज में स्व० आनरेबल गोखलेजी ने इस बात में ख़ूब ख्याति पाई थी। आजकल बंबई के बैरिस्टर जयकर भी अच्छा बोलते हैं। पर इनके अतिरिक्त अन्य किसी भी नेता को अँगरेज़ी में अच्छी तौर से व्याख्यान देना नहीं आता। सभी बातों में adaptability का गुण हमारे ब्राह्मणसमाज में देख पड़ता है। पर अँगरेज़ी भाषा के संबंध में इतना अभाव क्यों है यह गूढ़ ही है। बंगालियों ने बँगला के साथ अँगरेज़ी को भी अपनाया है। किंतु महाराष्ट्रियों में इसका अभाव बहुत खटकता है।

धंधे और व्यवहार

प्रत्येक बड़े शहर के अनुसार पूने में भी सब प्रकार के

धंधे चलते हैं। किंतु पूने की विशेषता बताना हो तो यहाँ चार धंधे बड़े अच्छे चलते हैं। वे धंधे हैं डाक्टरी, वैद्यकी, पुरोहिती और होटलों या फलाहार की दूकानों का धंधा। अंतिम धंधा सभी स्थानों में अच्छा चलता है। डाक्टरी तथा वैद्यकी के धंधों में आजकल बहुत किफ़ायत होने लगी है। पूने में पुरोहिती अच्छी तरह से चलती है यह पहले ही बता चुके हैं। तथापि वे लोग डाक्टर या वैद्यों का नंबर किसी हालत में नहीं छीन सकते। पूने में वकीलों का धंधा ठीक तौर से नहीं चलता। उसका कारण आधिक्य ही है।

कुछ फुटकर बातें

(१) पूना स्वदेशी तथा बहिष्कार (Boycott) के आंदोलनों का महाराष्ट्र का केंद्र माना जाता है। स्वदेशी मिलों में बने हुए कपड़े का यहाँ ख़ासा प्रचार है इतना ही स्वदेशी का अर्थ है। स्वदेशी शक्कर के व्रत के संबंध में पूने के लोग बड़े दृढ़ होंगे यह समझना बिलकुल ग़लत है। स्वदेशी चीनी खाने की प्रतिज्ञा किए हुए लोग भी विदेशी चीनी का इस्तेमाल करने लगे हैं।

(२) "हुंडा" (कन्यादान या दहेज की ठहरावनी) नहीं लेना चाहिए यह जो कहते हैं वे लोग भी विवाह के समय उसे वसूल करा लेते हैं। सुधारक कहानेवाले लेते हैं, न कहानेवाले भी लेते हैं। अगर प्रत्यक्ष 'हुंडा' नहीं लिया गया एक-आध ऐसे उदाहरण देख पड़े तो वहाँ वह अप्रत्यक्ष रीति से वसूल किया गया होगा यह समझने में कोई हानि न होगी।

(३) देखी हुई कोई चीज़ माँगने की पूने में प्रायः चाल ही है। अपने को जिस चीज़ की ज़रूरत है वह चीज़ किसके मकान में है इस बात का पूनावालों को पूरा ध्यान रहता है, और ज़रूरत पड़ने पर वे वह चीज़ बेधड़क माँग लेते हैं। पीछे से उस चीज़ का अच्छी तरह से वापस आना एक कठिन समस्या है। मोड़ तोड़कर या अन्य किसी प्रकार का नुक़सान पहुँचाकर वह चीज़ लौटा दी जाती है। बिना माँगे वह चीज़ वापस आना तो असम्भव है।

(४) किताबें पढ़ने का शौक़ बहुतेरों को है। किंतु किताबें ख़रीदने की आदत उनमें नहीं है। पढ़ने के लिये किसी से पुस्तक माँग लेने में कोई नाचिता नहीं जान पड़ती। किंतु माँगी हुई किताबें प्रायः खो जाती हैं। किताब के मालिक ने अगर किताब वापस करने को कहा तो वह लापता हो गई इत्यादि कहने में भी लोग नहीं शरमाते। लाइब्रेरी की किताबें घर ले जाकर उसके चित्र या पृष्ठ फाड़ने की भी प्रवृत्ति देख पड़ती है। धनिक लोग ग़रीबों से किताबें माँग लेते हैं किंतु ग़रीब अगर उनसे पाँच रुपये माँगें तो वे लोग एक छदाम भी नहीं देते। अगर दिये भी तो उस पर सूद लगाते हैं।

पूने की स्त्रियाँ

पूने के पुरुषों के सम्बंध में अभी तक बहुत कुछ लिखा गया है! अब यहाँ की स्त्रियों का भी थोड़ा वर्णन करना आवश्यक है। सुधारकों के पहले के परिश्रमों से गत २०, २५ वर्षों में पूने में स्त्रीशिक्षा का प्रचार अधिक हुआ है। साधारणतः ब्राह्मण की कन्या विवाह होने तक पाठशाला में जाती है। किंतु इस शिक्षा का कुछ भी असर उसके भावी जीवन में नहीं दिखाई देता। थोड़ा बहुत लिखना-पढ़ना जानना ही शिक्षा का अर्थ समझा जाता है। स्त्री-समाज जितना श्रद्धावान् और जितना भोला पहले था उतना अब भी है। बल्कि अब ज़्यादा मूर्ख है। आजकल घरेलू काम करने की प्रवृत्ति स्त्रियों में दिन प्रतिदिन घट रही है। फलस्वरूप उन्हें फ़ुरसत अधिक मिलती है जिसको वे दुनिया के सारे बेकार कारोबारों की उधेड़-बुन में बिता देती हैं। विधवाओं को यह फ़िज़ूल कारोबार अधिक सूझता है। ख़बरों का प्रचार करने के काम में तो स्त्रियाँ बेतार के तार को भी मात करती हैं। किंतु जब तक पुरुषों के स्वभाव में सुधार नहीं होते तब तक स्त्रियों पर दोषारोपण क्यों किया जाय?

पूने के बालक और विद्यार्थी

पूने के छोटे-छोटे बालकों को बड़े आदमियों का सहवास अधिक मिलता है। इन बड़े आदमियों में से कोई बुद्धिमत्ता में, कोई चालाकी में, कोई व्यवहार-चातुर्य में, कोई बेवकूफ़ी में, कोई धोखेबाज़ी में, कोई दुष्टपन में, तो कोई नीचता में निपुण होते हैं। ऐसे कई प्रकार के लोग बालकों के देखने में या परिचय में आते हैं जिससे वे छोटी उमर में ही बड़प्पन की बातें समझने लगते हैं। किंतु अच्छी की अपेक्षा बुरी बातें ही उनके दिलों पर प्रभाव डालती हैं। फलस्वरूप बालकों में बड़े आदमियों

के संबंध में उचित आदर नहीं रहता, और वे उच्छृंखल एवं दुर्व्यसनी बनते हैं। छोटे बालक राष्ट्र के आधारस्तंभ होते हैं। उनकी चाल ठीक रखने के लिये उनके संरक्षकों तथा अखिल समाज को उनकी ओर ध्यान देना चाहिए। जब तक राष्ट्र शीलसंपन्न, सदाचार-संपन्न और निःस्वार्थ नहीं होता तबतक राजनैतिक आंदोलन करना व्यर्थ है।

इस लेख में पूने की सामाजिक विशेषता का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। आशा है, वह पाठकों को मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद मालूम होगा। आगे के लेखों में पूने के आंदोलनों, समाचारपत्रों, मासिक पत्रिकाओं और छापा-ख़ानों, प्रसिद्ध व्यक्तियों और प्रसिद्ध संस्थाओं आदि का वर्णन किया जायगा।

आनंदराव जोशी

प्रवत्स्यत्पतिका

आयो रितुराज रतिपति को समाज साजि,
राधिका निरखि भई आतुर निवास में ;
सासु के सिधाई त्यौं हीं सुनि पपिहा की तान,
पीय को गमन सुन्यो आजु ही विलास में।
'हरि' कहै नैनन ते धाये कढ़ि नीर सोत,
भाफ़ ह्वै उड़न लागे गरम उसास में।
ऐसी करतूति कछु भई घरी द्वैक ही में,
छाये बिन रितु घन उमड़ि अकास में।

हरिहरशरण मिश्र "श्री हरि"

व्रज-व्यथा

कहै का गोपाल व्रजमंडल के हाल चाल,
आपदा बड़ी है आज नंद के घराने में ;
नीकी नहीं जफा वफादार गोपी ग्वालन पै,
भला क्या नफा है तुम्हें उन्हें तरसाने में।
रंभती हैं गैया परी कलपत मैया,
छाती फाटत कन्हैया व्रजदसा दरसाने में ;
सूना परा गोकुल सुखाना हरा वृन्दावन,
गाज-सी परी है व्रजराज बरसाने में।

शिवदुलारे त्रिपाठी 'नूतन'

सान्निध्य

छाया में देख रहा था तेरी छवि का मैं सपना ;
अब पता नहीं पाता हूँ जीवन में जगकर अपना।
विस्मरण हुआ जाता है तेरी स्मृति के अंचल में ;
यह एकाकार हुआ है किस प्रणय सिंधु के तल में।

श्रीमुकुंदीलाल गुप्त

अनबन

नाथ ! कर जोर दोऊ विनती विनीति करौं,
आँसुन की धार सौं पखारति हौं चरनन ;
नैनन निमूँद नित ध्यान धरती ही रहौं,
आठों जाम बाट में बिछाये रहौं पलकन।
आँखियन चूमैं पग, धारौं पुतरिन माँहि—
तेरो रूप, बार-बार वारौं तन, मन, धन ;
अब तो रुखाई छाँड़ो, यह निठुराई छाँड़ो,
हाड़े की, निहोरे करौं, छाँड़ो यह अनबन।

सुधाकर दीक्षित 'सुधा'

जीवित कपाल-क्रिया

पिता—मूँछ मुड़ा मेरे जियत, साजि साहबी साज ;
संग लिए गृहिणी फिरे, आती तुझे न लाज ।
पुत्र—नंगा फिरता बेशरम, पड़ी न तुझ पर गाज ;
करूँ कपाल-क्रिया जियत, इस 'स्टिक' से आज ।

प्रेषक—पं० रामनारायण शर्मा (छतरपुर)

कवि - चर्चा

१. कविवर महाराजा प्रबलसिंह

स्वर्गीय भोजपुराधीश महाराजा प्रबलसिंह साहब बहादुर, वैकुण्ठ-वासी भोजपुराधीश श्री १०८ महाराजाधिराज सर राधाप्रसाद-सिंह जू के० सी० आई० ई० के पूर्वज थे। आपके पिता का नाम श्रीयुत महाराजा अमरसिंह था। महाराजा प्रबलसिंह के हृदय-सागर में हिंदी-प्रेम की अटूट धार सदा प्रवाहित रहती थी। आप यद्यपि कुछ विशेष विद्वान् न थे, लेकिन तो भी आप हिंदी-प्रेमियों की संगत से अच्छी कविता करने लग गए थे। आपकी कविता से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आप हिंदी के एक अच्छे विद्वान् अवश्य होंगे। लेकिन नहीं, केवल कवियों तथा विद्वानों के बीच में रहने से आप कवि बन गए थे। आप हिंदी-कवियों का उच्च कोटि का आदर-सम्मान भी करते थे। आपके समय, में दरबार में, कविवर दिनेशजू एक बड़े ही अच्छे कवि थे। जिन पर महाराजा जू प्रसन्न हो अपना सब कुछ न्यौछावर करने पर प्रस्तुत रहते थे। सचमुच, कविवर दिनेश की कविता बड़ी ही भड़कदार है। उन्होंने अपनी चुलबुलाती हुई लेखनी का परिचय बड़ी ही सुंदरता के साथ दिया है। आपने एक पुस्तक भी लिखी है, जिसका नाम "रसिक संजीवर्नी" है। ख़ैर, महाराजाजू ने भी एक "बारह-मासा" नामक पुस्तक लिखी थी, जो कवित्त, सवैये तथा दण्डक में लिखी गई है। लेकिन अभाग्यवश कविवर दिनेश की पुस्तक, और महाराज जू की भी पुस्तक उस समय अप्रकाशित ही रह गई। तत्पश्चात्, कोई २२६ वर्ष के बाद इसके फटे पुराने पन्नों को खोज ढूँढ़कर आनरेबुल राय जयप्रकाशलाल साहब बहादुर सी० आई० ई० दीवान राज रियासत डुमराँव ने भोजपुराधीश १०८ श्रीमान् महाराजाधिराज सर राधाप्रसादसिंह बहादुर के० सी० आई० ई० की आज्ञानुसार दोनों उपर्युक्त पुस्तकों को प्रकाशित कराकर बिना मूल्य वितरण कराया। दोनों पुस्तकें एक में छपी हैं। लेकिन अभाग्यवश महाराजा जू की सारी रचनाएँ नहीं मिली हैं; अतः मुझे जो कुछ मिल सकी हैं, उन्हीं में से कुछ पाठकों के सम्मुख उद्धृत किए देता हूँ।

(१)

पूस-वर्णन

(सवैया)

खोया सुधा भरि चंदकला यह पूस की राति नै नींद हरी है,
आवत मानहु लीलि गई सु बड़ी अति हो। न जरी न मरी है;
जाति न क्यों हूँ रही ठहराय सो कौन विचार विचार खरी है,
जानति हौं 'प्रबलेश' बिना जिय लीबे को री यह आनि अरी है।

(२)

माघ-वर्णन

(सवैया)

माघ नहीं है निदाघ प्रचंड ये चंद नहीं तन भानु दहै री,
राति नहीं दिन बाढ्यो अपार सो सीरे समीरन लूवै बहै री;

फूले री बारिज हैं सर में भ्रम भूले कमोदिनि ताहि कहै री,
जाड़ो नहीं यह आतप है 'प्रबलेश' बिना दुख कैसे सहै री।

(३)

ज्येष्ठ-वर्णन

(कवित्त)

आयो जेठ अति ही प्रचंड तपै मारतंड,
अनल कलित बहै अनिल लागै तई;
आवाँ सो भयो जगत, तावा सों तपित भूमि,
लागति है सोम की मयूष विष सी दई।
चंदन चढ़ाय घसि घनसार लायें तन,
जलत बिछाये ताप अधिक भई नई;
यामें आनि मिले री अचानक 'प्रबल' प्रभु,
लीनो भरि अंक सब तपन बिदा भई।

(४)

श्रावण-वर्णन

(दण्डक)

आयो सखि सावन सु कीन्हों पिय आवन हो,
हरी भूमि देखे मेरो प्राण तरजतु है।
झूमि झुके भार मतवारे से लगत और,
दिसिन है "प्रबल" री घन गरजतु है।
बढ़ी बेली पौन के झकोरें लरटाति द्रुम,
झींगुर सालूर निशि आन तरजतु है;
जानि के अकेली बोल बोलि के पपीहा मोहि,
महा दुख देत कोऊ नाहिं बरजतु है।

(५)

भाद्र-वर्णन

(दण्डक)

भादों घन 'प्रबल' कठोर गरजत, और,
मोरन के शोर सुने कल न परति है।
तैसई खद्योत री उदोत है बुझाई जात,
सीरे पौन लागें बिरहागिनि बरति है।
आवत न नेरे नींद बोलत पपीहन के,
दादुर कठिन केधों तिनतें डरति है।
जाने कहाँ मीच प्राण लीबे को उपाय ये तो,
जेतो यह दमक सों दामिनी करति है।

(६)

आश्विन-वर्णन

(कवित्त)

क्वार री कुमुद सर फूले बन कास पेखि,
निपट उदास मन रहत अधीर सों।
विमल आकास त्यों कुमुदिनी प्रकास भयो,
फैली चाँदनी है मनो बोरी छिति छीर सों।
आये कोक सोक भरे बोलत निरास निसि,
सुन मेरी आली हों न जाहों ऐसी पीर सों;
ऐसो समय पाय मार करिहै सो मार मार,
फूलन के धनु धरे फूलन के तीर सों।

त्रिभुवननाथ "नाथ"
(कल्याणपुर)

× × ×

२. "मदनाष्टक"

खानखाना मिर्ज़ा अब्दुर्रहीम की अप्रकाशित कविताओं में उनकी "मदनाष्टक" भी है *। इनकी कविताओं के जितने संग्रह उपलब्ध हैं उनमें "मदनाष्टक" का अंशमात्र पाया जाता है। हमारे स्वर्गीय पिताजी की लिखी इसकी एक पुरानी प्रति हमारे पास थी जिसके कुछ पद हमने कंठस्थ कर लिए थे। दुर्भाग्यवश वह खो गई है। इसके पद हमें इतने अच्छे लगे कि पूरी कविता की खोज में लग गए। सौभाग्य से हमारे आत्मीय बाबू जनार्दनलालदास को पूरी कविता याद थी। हमारी उत्कण्ठा देख उन्होंने उसे लिख भेजने की कृपा की। किंतु इसमें बहुत सी अशुद्धियाँ थीं। हमने यथा-

* एक मित्र सूचित करते हैं कि एक-दो वर्ष पूर्व "नागरी-प्रचारिणी पत्रिका" के किसी अंक में "मदनाष्टक" की एक पूरी प्रति छपी थी। अगर बात सच भी हो तो भी हम अपनी प्रति को "माधुरी" में छपाना उपयुक्त समझते हैं। क्योंकि एक तो हमारी प्रति स्वतंत्र जरिए से प्राप्त हुई है, अतएव इसके "ना०प्र०पत्रिका" की प्रति के पाठ में अंतर हो सकता है; दूसरे, साधारण पाठकों को "ना०प्र०प०" के अवलोकन का मौका कम मिलता है, जिससे इस काव्य का उतना प्रचार होना संभव नहीं, जितना होना चाहिए। "माधुरी" की पहुँच साधारण लोगों में भी है, अतएव इसके द्वारा यह अभाव दूर हो जायगा।

साध्य उनका संशोधन कर दिया है। जहाँ-तहाँ संशोधन से अर्थांतर की आशंका हुई वहाँ हमने संशोधन करना उचित नहीं समझा।

जब तक तुलनात्मक आलोचना की सामग्री उपलब्ध न हो तब तक मूल-संबंधी टीका-टिप्पणी विशेष लाभदायक नहीं होती। इसलिये हमने इस तरह की टिप्पणी देना उचित नहीं समझा। इस समय दो एक आवश्यक बातों का ज़िक्र कर देना ही काफ़ी होगा।

अष्टक शब्द से जैसा मालूम होता है "मदनाष्टक" में केवल आठ ही पद होने चाहिए। पर हमारे पास जो प्रति है उसमें आठ पद के सिवा एक पद और है; सब मिलाकर नौ पद हैं। इसमें कवि ने अंत में गंगा की प्रार्थना की है। हो सकता है कि यह उनके किसी दूसरे काव्य का अंश हो। जो कुछ हो छंद एक ही है और इसके भी रचयिता रहीम ही मालूम होते हैं; क्योंकि कवि अपने को यवन बताते हैं।

"मदनाष्टक" की रचना किसी ख़ास भाषा में न होने के कारण व्याकरण के नियमों का पालन सर्वथा नहीं हो सका है, जिससे कहीं-कहीं ठीक अर्थ का पता लगाना कठिन सा जान पड़ता है। पर प्रसंग की ओर दृष्टि रखकर अर्थ करने से वह कठिनाई दूर भी हो जाती है।

"मदनाष्टक" की कविता मालिनी छंद में की गई है। इसके प्रायः सभी लक्षण मौजूद हैं। कहीं-कहीं गण का ठीक समावेश नहीं हुआ है; नहीं तो कविता एक तरह से निर्दोष कही जा सकती थी। उच्चारण के दोष से हो या श्रुति-दोष से हो हमारे पास जो प्रति है उसमें एकाध जगह कुछ पद न्यून या अधिक हैं, जिससे मात्रा में कमी-बेशी हो गई है। जहाँ तक संभव था हमने यथोचित संशोधन कर दिया है और उसे फ़ुटनोट में जता दिया है। पर कहीं-कहीं यह त्रुटि रह गई है।

यहाँ हम "मदनाष्टक" के काव्य-गुणों की आलोचना करना नहीं चाहते। पर इतना कह देना अनावश्यक नहीं होगा कि रहीम की अन्य कविताएँ जिन गुणों के लिये सर्वमान्य हैं वे सब इसमें भी मौजूद हैं। रहीम के श्रेष्ठत्व की कुंजी उनकी उदारता एवं सहृदयता है। मुसलमान होते हुए भी हिंदू के कोमल भावों को जिस ख़ूबी से रहीम ने झलकाया है वैसा बहुत से हिंदू कवियों से भी न हो सका। रहीम का काम शब्दों का तिलिस्म दिखाना नहीं था, वरन् व्यथित हृदय को शांति प्रदान करना। फिर भी "मदनाष्टक" के पदों में लालित्य, भाव में विलक्षणता तथा भाषा में बहार है। कवि ने अपने अभिप्राय-सिद्धि के लिये किसी भी भाषा के शब्द को अनुपयुक्त नहीं समझा है। भाव में मस्त होकर—संस्कृत, फ़ारसी, अरबी, हिंदी—सभी भाषाओं के उद्यान से सुमन-संचय कर अपनी प्रेम-सूत्र में गूँथकर सहृदय पाठकों को अपने मनोहर माला का उपहार किया है। पाठक आनंद उठाएँ।

इसके संशोधन में हमें मदनपुर (पुर्णियाँ) टोल के पंडित चंद्रकिशोर झा काव्यतीर्थ एवं अररिया इँगलिश हाई स्कूल के पंडित भुजंगी झा काव्यतीर्थ से विशेष सहायता मिली है; अतएव उनके हम आभारी हैं। अंत में हम बाबू जनार्दनलालदास के प्रति अपनी चिर-कृतज्ञता प्रकट करते हुए "मदनाष्टक" को उद्धृत करते हैं—

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था,
चपल चखनवाला चाँदनी में खड़ा था;
कटि तट बिच मेला पीत सेला नवेला,
अलिबन अलबेला यार मेरा अकेला ॥ १ ॥
अति ज़बर जंगी है पाँव मे दार जर्दे,
बिलसत मन मेरो क्यों नहीं यार पाऊँ;
दरद बसनवाला गुल चमन देखता था,
झुकि-झुकि मतवाला गावता रेखता था ॥ २ ॥
कठिन कुटिलकारी देखि दिलदार ज़ुल्फ़ें,
अतिहि कुढ़ित मिहरी अपने दिल की क़ुल्फ़ें;[1]
मकर-मधुर हेरो मान-मस्ती न रालें,
बिलसत मन मेरो सुंदरे श्याम आँखें ॥ ३ ॥
श्रुति-गढ़ चपला सी कुंडलें झूमते थे,
नयन कवि तमासे मस्त यों घूमते थे;[2]
शरद शशि निशीथे चाँद की रोशनाई,
सघन बन निकुंजे कान्ह बंशी बजाई ॥ ४ ॥
सुपति पति समीपे साँइयाँ छाड़ि भागी,
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी;
यदुकुल-नृप-सिंहो जा दिना ते सिधारा,
बहति नयन नीरं जैसे ही गंग धारा ॥ ५ ॥

१. मूल पाठ "अति खुढ़ित मिहरी अपना दिल की क़ुल्फ़ें।"
२. मूल पाठ "मस्तों घूमते थे।"

इति बदति च राधा जीवना क्या हमारा,
असह बहु बिपत्ति दे बिधाता ने मारा;
लिखति मम कपाले रावणा केर[1] द्वारा,
बिधि[2] लिखिय न सक्यो काहु नाही सँमारा ॥ ६ ॥
नकन जुगुत जाना देखत बुढ़ा बलाना,
बहुत[3] दिवस बाढ़ी हाथ हू नोच दाढ़ी;
[4]चि रुचि हि बिकल्पं जो हुआ दुःख भागी,
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी ॥ ७ ॥

१. मूलपाठ "के"। २. मूलपाठ "लिखे न"। ३. मूलपाठ "बहुत दिवस की बाढ़ी"। ४. मूलपाठ "रुचि रुचि बिकल्पम्।"

शशिनि-कुलकलंकं कंटकं पद्मनालं,
उदधि-जलमपेयं पंडितो निर्धनत्वं;
स्तनपतितियुवत्याः शुक्लता केश पासा,
सुजनजन वियोगी निर्विवेकी विधाता ॥ ८ ॥
सुरधुनि मुनि कन्ये तारयेः पुण्यवन्तं,
स तरति निजपुण्यैः तत्र किं ते महत्त्वं;
यदिह यवनजाति पापिनं मां पुनीषे,
तदिह तव महत्त्वं तन्महत्त्वं महत्त्वम् ॥ ९ ॥

श्यामसुन्दर मल्लिक

---

१. काव्य

"सनातनधर्मविजयम्"—लेखक कविवर श्रीमद्-खिलानंद शर्मा। प्रयाग के "हिंदी" यंत्रालय में मुद्रित। रायल आठपेजी साइज़। पृ० ४२+५४१=५८३; मूल्य ५) ; कागज, छपाई, सफ़ाई सब ठीक।

इसमें श्रीविष्णुभगवान्, श्रीजगद्गुरु स्वामीशंकराचार्य तथा श्रीगौराङ्ग प्रभृति चार सनातनधर्मरक्षकों के एवम् बम्बई के श्रीगोकुलनाथजी, अवध के चाँदपुराधिप, बलरामपुर-नरेश और ग्रंथकार के चित्र दिए गए हैं।

४२ पृ० तक समर्पण, ग्रंथावतरण, काव्यभेदादि वर्णन, महाकाव्य लक्षण, महाकाव्य प्रयोजन अनेक बातें संस्कृत में, तदनंतर विषयानुक्रमणिका और पुस्तक मुद्रणार्थ-भ्रमण-वृत्तांत हिंदी में है।

तब "श्रीसनातनधर्मविजयम्" महाकाव्य आरंभ हुआ है। इसकी रचना श्लोकबद्ध २५ सर्गों में तथा २५ भिन्न-भिन्न वृत्तियों में की गई है। हिंदी में श्लोकों के अर्थ भी हैं।

दो सर्गों में मङ्गलाचरण, धर्मचर्चा, धर्माधर्मलक्षण और उनके फल, धर्म की व्यापकता, सनातनता और सर्वोपकारता, गुण-भेद से उपासना-भेद, भगवान् के अवतारों का हेतु एवम् मनुष्य-कर्तव्य-वर्णन के अनंतर तीसरे में धृति, क्षमादि की व्याख्या हुई है।

चौथे में भारत-गौरव, भारतीय महापुरुषगण, भारतीय धार्मिक भाव, भारत के अधःपतन का कारण, अतीत और आधुनिक भारत में अंतर और उसके उद्धारार्थ धर्मरक्षा में प्रवृत्ति का वर्णन है।

पाँचवें में अपने में शिथिलता अनुभव कर भगवान् के निकट धर्म के निज वृत्तांत तथा वर्त्तमानावस्था निवेदन करने पर भगवान् उसे दिग्विजय का आदेश करते हैं।

छठे में कलि भारत में आकर अधर्म से राय जमाता है और उसकी सभा में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मृत्यु तथा अहङ्कार उपस्थित हो, अपना-अपना गुण-बल-वर्णन करते हैं और अधर्म से सम्मानित हो, अपने योग्य काम करने की आज्ञा पाते हैं।

सातवें सर्ग में महात्मा बुद्ध, चार्वाक, बृहस्पति तथा दयानंदजी को पापावतार बताकर उनके सिद्धांतों और नास्तिकवादों का वर्णन हुआ है।

आठवें में पुनः अधर्म की सभा होती है जिसमें काम, क्रोधादि महारथियों को विवेकादि किस-किस प्रतिद्वंद्वियों से युद्ध में भिड़ना होगा, ये बातें समझाई-बुझाई जाती हैं, तब युद्धप्रस्थान होता है और अपशकुन होने लगते हैं। उधर युद्ध-घोषणा लेकर कामदेव धर्मदेव के पास जाता है।

नवें सर्ग में धर्माचार्यों का आविर्भाव, ब्रह्मादि का पृथ्वी पर अवतार एवम् कुमारिल भट्ट, श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुज, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य और गौराङ्ग महाप्रभु के सिद्धांत धर्मप्रचार और कार्यों का विवरण है।

आगे १८वें सर्ग तक धर्मपरिषद् में शम, दम, प्रभृति आकर अपना बल विक्रम कथन करते हैं। धर्म प्रत्येक को उसके समकक्ष योद्धा कामादि के साथ युद्ध के लिये तैयार रहने को आदेश करता है। धर्म के युद्धार्थ प्रस्थान के समय विविध शुभ शकुन होने लगते हैं। अधर्म के पत्र का उत्तर देकर काम विदा किया जाता है।

धर्म अपने ब्रह्मर्षि देश से ससैन चलकर प्रयाग में ठहरते और काशी होते विहार प्रांत के पाटलिपुत्रनगर (पटना) में पहुँचकर पूर्व दिशा के अध्यक्ष इंद्र को अपना सेनापति बनाता है।

इस यात्रा के वर्णन में ग्रंथकार ने प्रयाग, काशी, हरिहरक्षेत्र, गया और वैद्यनाथ का कुछ माहात्म्य भी वर्णन किया है।

विहार में पहले महात्मा बुद्धदेव के कतिपय अनुयायी और फिर स्वयं बुद्धदेव एक पंडित से पराजित होकर राज-पाट और देश छोड़ भारत से निकल भागे हैं।

यहाँ ग्रंथकार ने श्रीबुद्धवधू से उसी प्रकार विलाप कराया है जैसे गोस्वामी तुलसीदास ने रावण के वध पर मंदोदरी से। पर इसमें कोरी कविताई का रंग चढ़ाया गया है। ऐतिहासिक सत्यता से यह कथन संबंध नहीं रखता।

इसके बाद इसी प्रदेश में धर्म ने अपने एक पंडित के द्वारा चार्वाक पर भी विजय प्राप्त की है। फिर बंगाल जाने पर वहाँ के सब लोगों ने धर्म का स्वागत किया है। किसी ने विरोध नहीं किया।

पुनः दक्षिणस्थ मद्रप्रदेश जाकर और यम को अपना सेनाध्यक्ष बनाकर बृहस्पति पर एवं पंजाब में वरुण की अध्यक्षता में धर्म ने दयानंदजी पर फ़तह पाई है।

फिर उत्तर में धर्म के विवेकादि और अधर्म के कामादि महारथियों में तुमुल युद्ध हुआ है। वहाँ कुबेर धर्म के सेनाध्यक्ष थे। अंत में अधर्म पराजित हुआ है और कुबेर ने विपक्षियों को बंदी बनाया है।

तब धर्म के राज्याभिषेक का और उनके राज्य में सुखानंद तथा धार्मिक शासन का वर्णन है।

१९ वें और २० वें सर्गों में सभा में स्थित धर्मदेव गो-महिमा सविस्तार वर्णन कर राजा-प्रजा, मनुष्यमात्र को गोरक्षा का आदेश करते हैं; धार्मिक तथा सामाजिक विचारों में शास्त्राज्ञापालन कल्याणकारक बताते हैं; निकृष्ट जातियों से व्यवहार-वर्जित रहने का उपदेश देते हैं; यवनों की शुद्धि को धर्ममर्यादा-विघातक विधवा-विवाह को अशास्त्रीय, विधवा होने का कारण, उनका कर्तव्य, पुनर्विवाह के उद्योगियों को उनका जन्म-जन्मांतर का शत्रु, अछूत और अंत्यज-उद्धारकों को स्वार्थसाधक बताते हैं और कहते हैं कि सच्चे उद्धारकों को धन द्वारा उनके कामों में सहानुभूति दिखलानी चाहिए। आत्म-रक्षा का प्रधान उपाय अपना पराक्रम है, दुर्बलों का आधिक्य नहीं। मंदिरों के पवित्रता पर आक्रमण उचित नहीं। द्विजों को जो फल मूर्तिदर्शन से होता है, वही फल शूद्रादि को मंदिरद्वार पर खड़े होकर शिखरदर्शन से होता है।

यदि यही बात है तब तो विशेष-विशेष अवसरों पर मंदिरों में प्रवेश का कष्ट, दुर्दशा और "धक्काधुक्की" स्मरण कर हम बाहर ही दर्शन करने का सबको परामर्श देंगे।

संस्कृत अध्ययन, मानसिककष्टनाशक भगवन्नामस्मरण और आयुर्वेदिक चिकित्सा लाभदायक कहे गए हैं और विदेशी चिकित्सकगण जीवित यमकिंकर, क्योंकि उन्हें नाड़ीज्ञान भी नहीं होता।

फिर वर्णव्यवस्था, समानजातीय विवाह, विवाह-वयोविचार, बालवृद्धविवाहनिषेध; कन्याविक्रय तथा भक्ष्याभक्ष्य का वर्णन और निर्णय हुआ है।

२१ वें सर्ग में पुरुष तथा स्त्री की दिनचर्याएँ वर्णित हैं एवं प्रोषितपतिका, रजोवती सधवा और विधवा के कर्तव्य बताए गए हैं।

आज के समय इन दिनचर्याओं के अनुसार कहाँ तक काम किया जा सकता है और पतियों के साथ प्रति-द्वंद्विता पर कटिबद्ध नारीमंडली उक्त कर्तव्यों के पालन में कहाँ तक अनुराग प्रदर्शन करेगी सो नहीं कह सकते।

२२ वें सर्ग में भविष्यकथन तथा कलिव्यवहार एवं कल्किअवतार की बातें कही गई हैं।

२३ वें में सर्वत्र सनातनधर्मसभा, विद्यालय, देवालय तथा ब्रह्मचर्याश्रम के स्थापन का और पराजित विपक्षियों के दंडविधान का उल्लेख है।

२४ वें में स्वर्गगत तथा वर्तमान यशोविशिष्ट धर्म-प्रचारकों की नामावली दी गई है, जिसमें दो-चार नर-पतियों और वैश्यों को छोड़कर सब ब्राह्मण देवताओं के

नाम देखे जाते हैं। वर्तमान धर्मप्रचारकों में दो पुत्रों के साथ पं० दीनदयालजी के और श्रीमालवीयजी के भी नाम आए हैं।

२५ वें में ग्रंथकर्ता का वंशवृत्तांत वर्णित है।

खंडन-मंडन और शास्त्रार्थ के नीरस विषय को नूतन ढंग से लिखकर लेखक ने उसे सरस और रोचक बना दिया है, इसमें संदेह नहीं। विपक्षियों की बातें उनके ग्रंथों तथा सिद्धांतों से उद्धृत की गई हैं और उनके खंडन में वेदशास्त्रों के प्रमाणों, युक्तियों और बुद्धिबल से काम लिया गया है। उक्तियों में नूतन और पुरातन का सम्मिश्रण है और वे सर्वथा निर्बल नहीं हैं, ज़ोरदार भी हैं। स्वामी दयानंदजी के कथनों का कुछ विशेष खंडन किया गया है। बोध होता है कि लेखक को उनकी रचनाएँ देखने का अधिक अवकाश मिला है।

लेखक ने जहाँ-तहाँ कविता का भी रंग जमाया है और उसमें शृंगार की भी छटा दरसाई है।

पुनरुक्तियों ने पुस्तक की कुछ कलेवर-वृद्धि कर दी है। एवं अनेक स्थानों में अपशब्दों के प्रयोग ने ऐसे ग्रंथ के गौरव में बट्टा ला दिया है। उसके बिना भी लेखक की कार्यसिद्धि यथेष्ट हो सकती थी। यह आवश्यक नहीं कि यदि कोई व्यक्ति हमें कुवाच्य कहे, तो हम भी वही रीति अवलंबन करें।

संस्कृत की विद्वत्ता ने लिङ्ग-विचार में कहीं-कहीं गड़बड़ मचा दिया है और वाक्य भी कहीं-कहीं बेमुहावरे हो गए हैं। यथा—"ईश्वर ने पहले ही से धर्मशिक्षा का विभाग ब्राह्मणों को सौंपा हुआ है।" परंतु ऐसी त्रुटियाँ बहुत कम हैं और इतनी बड़ी पुस्तक के लिये नहीं के बराबर हैं।

सनातनधर्म का कोई पक्षी या विपक्षी चाहे लेखक के कथनों से सहमत न हो, पर दोनों को इस ग्रंथ के अवलोकन से लाभ ही होगा। पुस्तक अच्छी बनी है और निश्चय पठनीय है। बातें स्पष्ट और सप्रमाण कही गई हैं। इसके पाठ से लोगों को धर्मविषयक बहुत कुछ जानकारी हो सकती है। और शास्त्रार्थ-युद्धानुरागियों के लिये यह एक शस्त्रागार सा है।

शिवनंदनसहाय

× × ×

२. स्वास्थ्य और वैद्यक

आरोग्यमंदिर—संकलनकर्ता श्रीप्रवासीलाल वर्मा, प्रकाशक श्रीहनुमानप्रसाद शर्मा वैद्यशास्त्री, अध्यक्ष 'महाशक्ति साहित्य-मंदिर' बुलानाला, बनारस सिटी। पृष्ठ-संख्या ४२०। मूल्य २)। प्रकाशक से प्राप्य।

संकलनकर्ता महोदय ने १५ वर्षों में इस पुस्तक में प्राप्त निबंधों का संग्रह भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं से किया है। सभी लेख वैद्यक विषय के हैं और बहुतेरे उक्त विषय के मर्मज्ञों द्वारा लिखे गये हैं। सब मिलाकर ८४ विषयों का समावेश इस ग्रंथ में है। यह अपने ढंग का निराला संग्रह है। पुस्तक के पढ़ने से बहुत सी नई बातों का पता चलता है। संग्रह सराहनीय है। उदाहरणार्थ समालोच्य पुस्तक से एक अवतरण नीचे दिया जाता है—"हास्ययुक्त मुखमंडल किसे प्रसन्न नहीं कर देता? प्रत्येक मनुष्य, ईर्ष्यालु तथा मुरझाये हुए मुखमंडल के बदले, आनंदी तथा हास्ययुक्त मुखमंडल को देखना पसंद करता है। जो मनुष्य हृष्टपुष्ट और स्वस्थ देख पड़ते हैं, वे सदा प्रसन्न रहनेवाले और हँसमुख हैं। रोगी और हर समय चिंता-मग्न रहनेवाले, ईश्वर की मूल्यवान् भेंट-हास्य और आनंदी स्वभाव से दूर रहते हैं। हँसते रहने से अनेक लाभ होते हैं। एक प्रख्यात जर्मन डाक्टर कहते हैं हँसने से शरीर का रक्त उष्ण रहता है। हँसने से हमारी नाड़ी नियमित रूप में चलती है। हँसने से हमारे जबड़े मज़बूत होते हैं और हँसने से शरीर में बल और साहस बढ़ते हैं। हँसना जीवनी शक्ति की वृद्धि करता है। प्रसन्नता और आनंदी स्वभाव, चेतना शक्ति बढ़ाते हैं। हँसना स्वभाव, शरीर और आत्मा को दृढ़ रखता है। हँसना जीवन के लिये आवश्यक है। स्वास्थ्य और सुख का आधार ही हँसना है। हँसना एक प्रकार की शक्ति बढ़ाने का इलाज है। एक डाक्टर तो यहाँ तक कहते हैं कि हँसना भोजन से भी अधिक उपयोगी है।"

× × ×

३. इतिहास

मारवाड़-राज्य का इतिहास—लेखक श्रीजगदीशसिंह गहलोत एम० आर० ए० एस (लंदन)। प्रकाशक हिंदी-साहित्य-मंदिर, जोधपुर। पृष्ठ-संख्या ५८२। मूल्य २॥) कागज़ और छपाई उत्कृष्ट। १३५ चित्रों से सुशोभित। प्रकाशक से प्राप्य।

इस ग्रंथ के लेखक श्रीजगदीशसिंहजी गहलोत से 'माधुरी' के पाठक भली भाँति परिचित हैं। आपने राजपूताने के इतिहास का विशेष रूप से अध्ययन किया है यह बात समालोच्य पुस्तक के पढ़ने से भली भाँति प्रकट होती है। इस पुस्तक की भूमिका प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रायबहादुर बाबू हीरालालजी ने लिखी है। प्रस्तुत पुस्तक इतिहास भी है और साथ ही साथ चरित्र-वर्णन और भूगोल भी है। कोरा इतिहास न होने के कारण इसकी मनोरंजकता बहुत बढ़ गई है। इस पुस्तक में राजपूताने की सभ्यता, रहन-सहन एवं साहित्य का भी वर्णन आ गया है। हमारी राय में यह बड़ा ही उपादेय ग्रंथ है। ऐसे उत्तम ग्रंथों के प्रकाशन से स्थायी साहित्य का सब प्रकार से भला होता है। इधर हिंदी में इतिहास के कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ निकले हैं। 'मारवाड़ राज्य का इतिहास' भी उनमें से एक है। यह ग्रंथ लोक-प्रिय भी है यह बात इसी से प्रमाणित होती है कि थोड़े ही समय में इसके दो संस्करण निकल गए हैं। इस ग्रंथ में मुख्यतया रियासत जोधपुर का विशद वर्णन है; पर गौण रूप से भारतवर्ष में स्थित सभी मारवाड़ी रियासतों का वर्णन कर दिया गया है। यदि राजपूताने की अन्य रियासतों के भी इसी प्रकार के इतिहास निकल जायँ तो देश, जाति एवं मातृभाषा का बड़ा कल्याण हो। तथास्तु।

× × ×

४. रति-विज्ञान

काम तथा रतिशास्त्र—(हिंदी प्रथम भाग) लेखक, वैद्यभूषण पं० ठाकुरदत्त शर्मा। प्रकाशक देशोपकारक पुस्तकालय, अमृतधाराभवन, लाहौर। मूल्य ३) रु० सजिल्द।

अमृतधारा के आविष्कर्ता पंडित ठाकुरदत्तजी शर्मा एक अनुभवी और योग्य पुरुष हैं। उन्हें आयुर्वेद, डाक्टरी तथा हकीमी का भी काफ़ी अनुभव है। इसमें कोई संदेह नहीं कि 'काम तथा रतिशास्त्र' पुस्तक बहुत छान-बीन और परिश्रम के साथ लिखी गई है। प्राचीन अर्वाचीन तथा सभी प्रकार की अमूल्य सम्मतियों एवं विवेचनाओं का संग्रह किया गया है। स्वयं अनुभवी वैद्य होने के कारण पंडितजी ने पुस्तक को सामयिक और उपयोगी बनाने में सफलता प्राप्त की है। साथ ही भाषा को अश्लीलता के दोष से बचाने का भी पूरा प्रयत्न किया गया है। सब बातें प्रामाणिक आधारों पर ही स्थिर हैं। रंगीन तसवीरें दे देने से पुस्तक की शोभा बढ़ गई है, परंतु दुःख का विषय है कि इस हिंदी-संस्करण की जैसी शुद्ध और सुंदर छपाई होनी चाहिए वैसी नहीं हुई। चित्रों की छपाई भी मामूली है। भाषा में भी बहुत-सी अशुद्धियाँ रह गई हैं, कहीं-कहीं मुहाविरे भी ठीक नहीं। आशा है, अगले संस्करण में शर्माजी इन त्रुटियों को अवश्य ही ठीक कर देंगे और अन्य भाग भी शीघ्र प्रकाशित करने का प्रयत्न करेंगे। पुस्तक विवाहित गृहस्थों के लिये बड़े काम की चीज़ है। जो सज्जन मँगाना चाहें वे उपर्युक्त पते से मँगा लें। हिंदी-उर्दू दोनों भाषाओं में मौजूद है।

× × ×

५. फुटकर

धर्म—लेखक, पं० गंगाधर ब्रह्मचारी माईसेड़ा। साइज़ क्राउन सोलहपेजी। पृष्ठ-संख्या ७२ ; मूल्य १) रु०।

इस पुस्तक का प्रस्तुत अँगरेज़ी अनुवाद श्री०राधाकृष्ण शंकरलाल गुप्त बी० ए०, एल्-एल्० बी० प्लीडर खंडवा ने किया है। इस पुस्तक में धर्म के वास्तविक अर्थ, धर्मज्ञान, पाप-पुण्य, सत्यधर्म और मानव-जीवन के कर्त्तव्यों का विवेचन बड़ी ही सरल भाषा और उदाहरणों द्वारा समझाया गया है। इस पुस्तक के पढ़ने से बहुत सी गुत्थियों को सुलझाने में सहायता मिलती है। पुस्तक पढ़ने योग्य है और उपर्युक्त प्लीडर महाशय के पते से प्राप्त हो सकती है। हमें इस पुस्तक का १) मूल्य बहुत अधिक जान पड़ा।

× × ×

उर्दू कवियों की नीति-कविताएँ—संग्रहकर्त्ता, श्रीशिवनाथसिंह शांडिल्य। प्रकाशक ज्ञानप्रकाश मंदिर पो० माछरा ज़ि० मेरठ। मूल्य।=) आ०। छपाई-सफाई साधारण।

हिंदी की इस छोटी सी पुस्तिका में पुराने उर्दू कवियों की धर्मनीति और समाजसंबंधी थोड़ी सी शेरों का संग्रह किया गया है। संग्रह साधारण है। पर उसमें हैं प्रायः सब शिक्षाप्रद। पुस्तक पढ़ने योग्य है। पुस्तक से कुछ लाइनें पाठकों के लिये नीचे दी जाती हैं—

(१) पंडित को भी सलाम है और मौलवी को भी,
मज़हब न चाहिए, मुझे ईमान चाहिए।
(अकबर)

(२) इससे है गरीबों को तसल्ली कि अजलने—
मुफ़लिस को जो मारा तो न जरदार भी छोड़ा।
(ज़फ़र)

(३) बस इतना फ़र्क़ है इन्सान में और उसकी तुरबत में,
वो है एक ढेर मिट्टी का ये है तसवीर मिट्टी की।
(मंजर)

(४) कहे एक जब सुन ले इन्सान दो,
कि हक़ ने जुबाँ एक दी, कान दो।
(ज़ौक़)

(५) आँखें भी हाय अपनी नज़अ में बदल गईं,
सच है कि बेकसी में कोई आश्ना नहीं।
(अमीर मीनाई)

(६) ख्वाहिश को अहमक़ों ने परस्तिश दिया करार,
क्या पूजता हूँ उस बुते-बेदादगर को मैं।
(ग़ालिब)

(७) ख़याले हूर दिल में और तोबा लब पै ऐ ज़ाहिद,
अजी ! बस देख ली, जैसी तुम्हारी पारसाई है।
(अफ़सर)

उपर्युक्त पुस्तक प्रकाशक से प्राप्त हो सकती है।

—रामसेवक त्रिपाठी

× × ×

६. औषधियाँ

१. **सुधासिंधु**—प्रेषक, श्री० खेतपालजी शर्मा मालिक सुखसंचारक कंपनी मथुरा। मूल्य फ़ी शीशी ॥) । इस औषधि का भारतवर्ष में काफ़ी प्रचार है और कफ़, खाँसी, हैज़ा, बदहज़मी के लिये तो अक्सीर है। प्रत्येक गृहस्थ को समय कुसमय के लिये एक शीशी अपने घर में सदा रखनी चाहिए। बदहज़मी और हैज़ा में मैंने इसे बहुत गुणकारी पाया।

× × ×

२. **वनौषधि-चूर्ण**—प्रेषक—वनौषधि डिपो फ़ार्मेसी कनखल (हरद्वार)। मूल्य ५) सेर। उपर्युक्त डिपो ने परीक्षार्थ एक शीशी हमारे यहाँ भी भेजा है। चूर्ण खाने में अत्यंत स्वादिष्ठ और पेट के मर्ज़ों के लिये लाभकारी है। इसमें नौसादर वग़ैरह हानिकर वस्तुओं का संमिश्रण नहीं मालूम होता। जो सज्जन चाहें उपर्युक्त पते से मँगा सकते हैं।

नोट—उपर्युक्त वस्तुओं के प्रेषकों को धन्यवाद।

रामसेवक त्रिपाठी

१. योरप की स्त्रियाँ

य: भारतवर्ष की स्त्रियाँ योरप की स्त्रियों को विलासप्रिय और अकर्मण्य समझती हैं। मैं भी अपनी बहनों की तरह योरप जाने से पहले यही विचार रखती थी। परंतु वहाँ जाने से उनके गुण या अवगुण जो कुछ मेरे सामने आए, वे मैं आपके सम्मुख रखना चाहती हूँ।

मैंने भारतवर्ष के एक छोटे से गाँव में जन्म पाया है। शिक्षा भी मातृभाषा में ही पाई है। योरप जाने से कुछ पहले ही मैंने अँगरेज़ी का अभ्यास शुरू किया था। जर्मनी में मुझे कुछ जर्मन-भाषा का भी अभ्यास हो गया। परंतु इँगलैंड में अँगरेज़ी का कुछ अभ्यास होने पर भी अब तक मुझे अँगरेज़ी का बिलकुल साधारण ज्ञान है। मैं अब भी भारत की अशिक्षित स्त्रियों के समान हूँ।

मेरा अभिप्राय केवल यही कहने का है कि पाठक-पाठिकाएँ मुझे फ़ैशन की हवा लगी जानकर मेरे विचारों से न डरें; बल्कि भारत की सभ्यता पर श्रद्धा रखनेवाली, धर्म पर विश्वास रखनेवाली समझकर मेरे विचारों को पढ़ें। अन्य बहनों में और मुझमें केवल इतना भेद है कि मुझे योरप जाने का अवसर मिला। जो कुछ मैंने वहाँ की स्त्रियों में देखा, उसे आपके विचार के लिये कुछ ही शब्दों में कह डालती हूँ।

गुण

योरप की स्त्रियों का सबसे मुख्य गुण ये हैं कि वे सब शिक्षित हैं। ग़रीब से ग़रीब स्त्रियाँ, घरों की दासियाँ, फूल बेचनेवाली, किसी को भी देखो—अवकाश के समय अख़बार या कोई पुस्तक हाथ में होगी। इसी का परिणाम है कि सबकी सब न केवल अपने देश की अवस्था और संसार भर की अवस्था, उन्नति और ज्ञान-विज्ञान से परिचित हैं; बल्कि देश-भक्ति से पूर्ण और अपनी जाति की बुराई-भलाई समझनेवाली हैं। उनकी तुलना भारत की सोई हुई स्त्री-जाति से पाठक-पाठिकाएँ स्वयं कर सकते हैं।

परंतु ये सब बातें तो दूर रहीं, शिक्षा के न होने से भारत की स्त्रियाँ अपनी आत्म-रक्षा भी नहीं कर सकतीं। पुरुष की मूर्ति से उन्हें भय और लज्जा है। दुष्टों के फेर में उनका पड़ जाना कुछ कठिन नहीं। परंतु योरप की स्त्रियों से तो पुरुष डरते हैं। उनमें साहस है, धैर्य है, विचारशक्ति है और शिक्षा है। सीता महारानी से रावण क्यों डरता था? अपनी लंका में क़ैद करने पर भी उसे यह साहस नहीं था कि सीता को छू भी सके। यह

धैर्य और साहस शिक्षा का ही प्रभाव था। उसी भारत की स्त्रियाँ आज दुष्ट पुरुषों के सामने आँख तक उठा नहीं सकतीं।

शिक्षा के ही प्रभाव से योरप की स्त्रियों के व्यवहार और वाणी में मधुरता और नम्रता है। सभ्य जातियों का सबसे बड़ा यही गुण होना चाहिए। योरप में छोटे-बड़े, ग़रीब-अमीर, सब एक दूसरे से विनय और मधुरता से व्यवहार करते हैं। साधारण से साधारण नौकरों के साथ भी आदर से पेश आते हैं। छोटे-छोटे कामों के लिये भी उनको धन्यवाद दिया जाता है। व्यापार में, दूकानों में और ऑफ़िस आदि में योरप की स्त्रियाँ अपनी वाणी की मधुरता से कितना काम करती हैं: यह योरप में जाकर ही पता लग सकता है। मैं तो कहूँगी कि उन्हीं के प्रताप से वहाँ सब प्रकार के कार्य चलते हैं।

मेरे विचार में प्रत्येक देश की स्त्रियाँ मधुर वाणी की मोहिनी शक्ति से देश के बड़े-बड़े काम कर सकती हैं।

शिक्षा के इन विविध गुणों के अतिरिक्त योरप की स्त्रियों का बड़ा गुण अपने स्वास्थ्य की रक्षा है। सबकी सब स्वास्थ्य के नियमों को भली प्रकार जानती हैं। व्यायाम और परिश्रमी जीवन (active life) उनके स्वास्थ्य, सौंदर्य और दीर्घायु के रहस्य हैं। मेरे देखने में कोई स्त्री ऐसी नहीं आई, जो प्रतिदिन व्यायाम न करती हो और अपने सौंदर्य का ध्यान न रखती हो। उनका जीवन भी फुर्ती से भरा हुआ है। वे हमारी तरह घरों में सड़-सड़कर जीवन गला नहीं देतीं। शुद्ध वायु की उन्हें क़दर है। सैर करना और किसी न किसी काम में लगे रहना उनके स्वाभाविक गुण हैं।

सब अपने घरों की सफ़ाई को बड़े शौक़ से करती हैं। मैंने अमीर से अमीर स्त्रियों को भी घर का काम अपने हाथों करते देखा है। जितना काम मैंने योरप की स्त्रियों को करते देखा है, उतना काम हमारे देश की बड़ी काम करनेवाली स्त्रियाँ भी नहीं कर सकतीं। मैं तो समझती हूँ योरप में स्त्रियाँ पुरुषों से भी अधिक काम करती हैं।

कुछ विलासिनी स्त्रियों की बात जाने दीजिए। परंतु अपने स्वास्थ्य का तो उन्हें भी ख़याल पूरा-पूरा रहता है।

जीवन को ख़ुशी से पूर्ण बनाए रखना भी उनका बड़ा भारी गुण है। व्यर्थ चिंताओं में पड़ना, दुनियादारी और मोह-जंजाल में फँसकर अपने जीवन का सत्यानाश करना वे नहीं जानतीं। भारत की दशा देखिए। किसी स्त्री को भी पूर्णरूप से प्रसन्न और शान्ति-पूर्ण न पाएँगे। किसी को बिरादरी में मान-अपमान की फ़िक्र, किसी को सास-ससुर का डर, किसी को सन्तान की चिंता, किसी को किसी की मृत्यु का शोक, इत्यादि। व्यर्थ चिंताओं में पड़कर अपने और अपनी सन्तान के स्वास्थ्य का सत्यानाश कर देती हैं। जीवन को शान्ति से और ख़ुशी से निबाहने का प्रयत्न और उसके उपाय कोई नहीं ढूँढ़ती। हमारी बहनें यह बहुत कम सोचती हैं कि और कुछ नहीं तो सैर ही किया करें, या हिल-मिलकर हँसी-ख़ुशी की ही बातें किया करें। इकट्ठी बैठें भी तो अपनी-अपनी दुःख की कहानी या दूसरों को बुरा-भला कहना। न कोई पुस्तक पढ़ती हैं, न किसी मन बहलाव के स्थान में जाना पसंद करतीं, और न प्रसन्न मन और अच्छे विचारों से चिंताओं को दूर करती हैं। योरप की स्त्रियाँ साहस से, धैर्य से और सोच-विचार से बड़ी से बड़ी विपत्ति को भी हँसकर काट लेती हैं। बर्लिन में मैं अपने पति के साथ जिस होटल में रहती थी, उसमें एक ८० बरस की बुढ़िया नौकरानी का काम करती थी। ४० मार्क मासिक वेतन पाती थी। महायुद्ध से पहले किसी संपत्तिशाली की स्त्री थी। उसका एकमात्र युवा पुत्र भी लड़ाई में ही मारा गया था। केवल एक लड़की ४० साल की और उसकी दो युवती लड़कियाँ थीं। वह उन्हीं के पास रहती थी, परंतु अपनी जीविका का प्रबंध स्वयं करती थी। उस मुसीबत की मारी बुढ़िया का भी यह हाल था कि दिन भर बच्चों की तरह हँसती रहती थी। यद्यपि पिछली बातें पूछने पर उसकी आँखों में आँसू आ जाते थे, परंतु चिंता को वह अपने समीप न आने देती थी। अपनी भाषा में कहा करती थी कि जो भाग्य में था सो तो हो गया, अब चिंता करके अपना जीवन दुःखमय क्यों बनाऊँ और अपने स्वास्थ्य को ख़राब करूँ। वह काम भी इतना करती थी कि आजकल की युवती लड़कियाँ नहीं कर सकती हैं। प्रातः ७ बजे से लेकर रात के ९ बजे तक एक मिनट भर के लिये भी आराम न करती थी। उसका चेहरा सेब की तरह लाल रहता था।

भारतवर्ष तो ज्ञान-वैराग्य का भंडार था। चिंता करना तो अज्ञानियों का, मोह में फँसे हुए लोगों का

काम है। परंतु आज भारतवर्ष में मृत्यु का शोक मनाने जैसी बुरी प्रथा और कहीं नहीं। कई प्रदेशों में तो एक मृत्यु का शोक तीन-तीन साल रहता है। साधारण एक साल है। हमारे देश में शोक की प्रथा यह है—गंदे कपड़े पहनना, निकृष्ट भोजन करना, हँसी-खुशी में शामिल न होना, इत्यादि। नगरों में रहनेवाली बहुत सी स्त्रियों की तो सारी आयु शोक में ही व्यतीत हो जाती है। एक शोक हटा, दूसरा पड़ गया। दूसरा हटा, तीसरा पड़ गया।

योरप की स्त्रियों का एक और बड़ा महत्त्वपूर्ण गुण सुनिए। वह यह कि प्रायः योरप की सब निर्धन और मध्य श्रेणी (middle class) की स्त्रियाँ अपनी जीविका का प्रबंध स्वयं करती हैं। कोई किसी संबंधी पर निर्भर रहकर अपमान सहना और खाली बैठना नहीं चाहती। यहाँ तक कि लड़कियाँ भी युवती होकर माता-पिता के घर रहती हुई भी अपने लिये स्वयं काम करती हैं। बड़ी भारी बात तो यह है कि कोई भी पति के सिवाय किसी के आश्रित रहना नहीं चाहती। ग़रीब पति की स्त्रियाँ भी स्वयं काम करती हैं।

भारत की असंख्य स्त्रियाँ और विधवाएँ समीप के या दूर के संबंधियों के आश्रित रहकर अपमान सहतीं और आयु भर दुःख भोगती हैं। काम करने के लिये पुरुषार्थ नहीं है। पुरुषार्थ है तो काम करने में अपमान होता है। इस व्यर्थ अपमान और मिथ्या मान के भाव को दूर करने से हमारी स्त्री-जाति की बड़ी भलाई हो सकती है।

संक्षेप से योरप की स्त्रियों के जो गुण मेरी समझ में आए, वे आपके सम्मुख रख दिए हैं। उनके अवगुणों का वर्णन करने से पहले इतना कह देती हूँ कि आजकल भारतवर्ष में बहुत सी स्त्रियाँ योरपियन स्त्रियों की नक़ल करने का शौक़ रखती हैं। उनमें से अधिकतर प्रायः केवल नीचे लिखे कुछ अवगुणों की ही नक़ल करती हैं। गुणों का ग्रहण तो कोई निराली ही करती है। भारत की स्त्रियाँ उनके अवगुणों को छोड़कर गुणों को पकड़ें, तो हमारा शीघ्र ही उद्धार होजाय।

अवगुण

उनकी बुरी बातें जो मुझे खटकीं, उनमें से सबसे बुरी तो धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य आदि भावों का अभाव है। यदि किसी काम को धर्म या कर्त्तव्य, अथवा पाप कहो, तो उसे मूर्खता समझती हैं। इन भावों से तो उन्हें इतनी घृणा है कि इन विचारों को वे पागलपन समझती हैं। जो मन में आया, वही करती हैं। जो अपने विचार से ठीक समझें, या जो उन्हें रुचिकर हो, आनंददायक हो, उसे अवश्य करेंगी। कुछ ही ऐसी गिनती की स्त्रियाँ होंगी जिन्हें धर्म-अधर्म का विचार हो। मैं तो समझती हूँ, केवल इसी दोष से उनमें बाक़ी दोष भी आ गए हैं।

विवाह-संबंध को तो वे एक खेल सा या व्यापार सा समझती हैं। युवा अवस्था में विवाह से पहले और कुछ काल पीछे तक भी मैं मानती हूँ कि उनमें बहुधा अद्भुत प्रेम होता है। परंतु तब भी उस संबंध की पवित्रता पर श्रद्धा या कर्त्तव्य का भाव उनसे कोसों दूर रहता है। विवाह-प्रेम के वशीभूत होकर, या मनोरंजन का सामान समझकर, अथवा अपनी जीविका का एक साधन समझकर करती हैं।

विवाह के कुछ समय बीत जाने पर पति-पत्नी में अनबन शुरू हो जाती है। पत्नी का पति में जो नशा था—उसके उतर जाने पर पत्नी अन्य मनोरंजन के साधनों को ढूँढ़ना चाहती है। पति को क्रोध आता है। इस पर अपने-अपने अधिकारों की चर्चा शुरू हो जाती है। बहुधा छोटी-छोटी बातों पर तलाक़ तक की नौबत आ जाती है।

विवाहित हो, या अविवाहित, कुमारी हो अथवा पति से युक्त, सब अवस्थाओं में वे बहुत से पुरुषों से मनोरंजन या प्रेम करना बुरा नहीं समझती हैं।

मैं केवल अधिकांश (majority) की बात कहती हूँ। कुछ तो इतनी सच्चरित्र और पतिपरायण हैं कि भारत में भी उनकी तुलना किसी-किसी से हो सकेगी। शेष कुछ इतनी पतित भी हैं कि उनका वर्णन ही मेरी लेखनी से बाहर है। वे ही योरप की स्त्रियों को दुराचार का धब्बा लगाती हैं। मैं तो योरप की स्त्रियों पर वैसा ही समझती हूँ जैसे कि अधिकांश के विषय में मैं ऊपर कह आई हूँ। कुछ बुरी और कुछ भली सब देशों में होती हैं।

स्त्री-पुरुषों का मेल-जोल और एक दूसरे से पाप-रहित भाव से हँसना-खेलना उनकी सभ्यता का दोष कहा जा सकता है। इसे दुराचार कहना भूल है।

दृष्टांत भी सुनिए। बर्लिन में हमारे पास ही के कमरे में एक युवती स्त्री रहा करती थी। अपने पति को उसने छोड़ रक्खा था और एक अन्य पुरुष से उसकी मित्रता थी। वह नित्य उसके पास आया करता था। शायद उन दोनों की कुछ काल बाद विवाह करने की सलाह होगी।

एक दिन होटल के टेलीफ़ोन में किसी स्त्री ने उस स्त्री को बुलाया। वह स्त्री पूछना चाहती थी "कि क्या अमुक पुरुष (जो कि उस होटलवाली स्त्री का मित्र था) इस समय तुम्हारे पास है ?" इस स्त्री ने पूछा कि "बोलनेवाली कौन है ?" उत्तर मिला कि "उस पुरुष की पत्नी।" बस इतना कहना था कि यह स्त्री टेलीफ़ोन को वहीं पटककर आगबबूला होकर अपने कमरे में उस पुरुष के आने की प्रतीक्षा करने लगी। उसे यह मालूम नहीं था कि वह पुरुष विवाहित है।

समय पर जब वह उसके पास आया, तो उसने उसे इतनी गालियाँ सुनाईं कि होटल के निवासी अपने-अपने कमरों में बैठे दाँतों तले जीभ दबाने लगे। इसके बाद लोक-लाज को तिलांजलि दे, उस स्त्री ने धक्के देकर, पैरों से ठुकराकर उस पुरुष को अपने कमरे से बाहर कर दिया। साथ ही उसका एक सूटकेस वहाँ पड़ा था वह भी बाहर फेंक दिया। वह बेचारा धक्के खाकर कमरे से बाहर मुँह के बल गिर पड़ा था। उठकर अपना सा मुँह लेकर चलता बना। दर्शक हँसते-हँसते लोट गए।

आश्चर्य की बात तो यह हुई कि फिर मौक़ा पाकर, जब वह स्त्री घर नहीं थी, वह पुरुष अपना सूटकेस उसके कमरे में रख गया। ईश्वर जाने क्या हुआ। अगले दिन से फिर वह नियमपूर्वक आने लगा। पता यह लगा कि उस पुरुष ने यह प्रतिज्ञा कर ली कि वह अपनी पत्नी को तलाक़ दे देगा। तभी उसे फिर मिलने की आज्ञा मिल गई। उस पुरुष ने उस स्त्री से कहा कि—अपनी पत्नी को तलाक़ देने का मेरा पहले से ही विचार था। इसीलिये उसने पहले यह न बताया था। अब पाठक-पाठिकाएँ सोच लें कि यही जोड़ा विवाहित हो जाने के बाद क्या रंग लाएगा।

एक और सुंदर युवती अपने पति को छोड़कर उसी होटल में रहती थी। वह थी तो साध्वी स्त्री, परंतु नित्य नए पुरुष के साथ थिएटर, सिनेमा, नाच-घर, इत्यादि जाती थी। उसने केवल इसीलिये पति को छोड़ रक्खा था कि उसका पति उसे अन्य पुरुषों के साथ मिलने से रोकता था।

अधिक दृष्टांत न देती हुई इतना कह देती हूँ कि ये बातें उनकी सभ्यता के अनुसार बुरी नहीं मानी जातीं और न ये बुरे भावों से प्रायः की जाती हैं। फ़ैशनेबुल श्रेणियों में यह भी फ़ैशन है कि पति, अन्य स्त्रियों के साथ नाचे, बैठे और स्त्री अन्य पुरुषों के साथ मनोरंजन करे। पति स्त्री का सदा इकट्ठा रहना पुराने ढंग का (old-fashioned) माना जाता है। किसी सोसाइटी में पुरुष पुरुषों ही के साथ बातें करें और स्त्रियाँ स्त्रियों ही के साथ बातें करें, तो इसे बड़ी असभ्यता और भद्दापन समझा जाता है।

केवल एक बात रह गई—उनकी शृंगारप्रियता और अधिक शौक़ीनी और फ़ैशन पर मर मिटना। ग़रीबों को और कुछ मध्य श्रेणी की स्त्रियों को छोड़कर सब फ़ैशन की ग़ुलाम हैं। पति की आय-व्यय की कुछ परवाह न करके अपनी पोशाक इत्यादि में व्यर्थ व्यय करके पुरुषों को बहुत कष्ट देती हैं। फ़ैशन भी दिन में कई-कई रंग बदलता है। आज किसी वस्तु का फ़ैशन है, तो वह चीज़ आज ही ख़रीद ली। कल और नया फ़ैशन हो गया, उसे फेंक दो और नई लो।

सम्पत्तिशाली होते हुए भी वहाँ का फ़ैशन पुरुषों को बहुत कष्ट देता है। इसलिये यदि भारत की स्त्रियाँ भी उनके फ़ैशन की नक़ल करें, तो क्या हो, यह आप सोच लीजिए। योरपियन स्त्रियों की नक़ल करनेवाली बहुत सी भारत-रमणियाँ केवल इन अवगुणों की ही नक़ल करती हैं। यह कहाँ तक सच है इसे पाठक-पाठिकाएँ स्वयं समझ लें। मेरी तो यही प्रार्थना है कि हमें उनके गुणों का ग्रहण करना चाहिए।

सुभद्रा देवी

× × ×

२. महिला हितोपदेश

(१)

जिस भूषण बिनु सारे भूषण,
दूषण हैं, हे बहिनो !
नारी-जीवन का भूषण जो,
सोई भूषण पहिनो।

(२)

जिस दिन पहिनोगी महिलाओ,
उर में ये मणिमाला;
बन जाओगी विश्व-वंदिता,
पति-उर विजयीवाला।

(३)

सीता शकुंतला सावित्री,
दमयंती सी देवी।
बनना तुम निज प्राणनाथ की,
पद-पंकज की सेवी।

(४)

मृदु भाषण निश्छल सेवा से,
पति-उर जीती रहना;
पीती रहना पति-प्रेमामृत,
अघ से रीती रहना।

(५)

सासु श्वसुर गुरुजन की सेवा,
मानरहित हो करना;
विनयी बनकर सखी भाव से,
चित बहिनों का हरना।

(६)

बन विलासिनी निद्रा आलस,
वश हो समय न खोना;
सदन कार्य में निपुण कला,
कौशल में कुशली होना।

(७)

हो निरक्षरा जन्म मूर्खता-
तम में नहीं बिताना;
शिक्षा सुधा निरंतर पीकर,
जीवन उच्च बनाना।

(८)

बन सुशिक्षिता संतति को भी,
शिक्षा सुधा पिलाना;
वीर बनाकर जीवन-रण में,
उनको विजय दिलाना।

(९)

बनना और बिगड़ना संतति,
का तुम पर निर्भ ;

सोचो, माँ का उत्तरदायीपन,
कितना तुम पर है?

(१०)

रही अशिक्षित, प्यारी संतति
भी तब मूर्ख रहेगी;
ऐसी कौन अभागी माँ जो,
सुत-हित नहीं चहेगी?

(११)

विद्यावती बनोगी, जोड़ो
सरस्वती से नाता;
वीर प्रसविनी तुम्हें देख हो,
गर्वित भारत माता।

(१२)

रत्न प्रसूता तुमसे भारत,
रत्नागार बनेगा;
स्वर्गोपम होगा तुमसे ही
पल में पतन हनेगा।

१३)

महा अमित अपमान, अविद्या-
तम में तुमने रहकर;
अब तो तरो अविद्यातम से,
गृहिणी गौरव गहकर।

(१४)

प्रतिभा-पूर्ण प्रभा फिर अपनी,
दामिनि सी दमका दो;
भारत के सौभाग्य सूर्य को,
तुम जग में चमका दो।

(१५

वीर जननियो प्रकटाओ फिर,
अर्जुन से वीरों को;
दुखद दास्यता की तोड़ें जो,
पल में ज़ंजीरों को।

(१६)

भाग्य विधात्री तुमको अपना,
भारत लेख रहा है;
और तुम्हारी उत्सुकता से,
भारत देख रहा है।

शोभाराम धेनुसेवक

१. शिशु

(१)

मैं धूलि भरा सुंदर हीरा कहलाता :
मीठी बातों से सुधा-धार बरसाता।
जब ठुमुक-ठुमुक मैं चलता हूँ आँगन में :
सब कृष्ण कन्हैया मुझे समझते मन में।
मैं सबकी गोदी में हूँ आदर पाता :
मैं धूलि भरा सुंदर हीरा कहलाता।

(२)

मैं परमहंस हूँ दुनिया में अलबेला ;
हैं बड़े-बड़े राजा महराजा चेला।
मुझको खाने-पीने की कुछ न फिकर है :
सुख-दुःख आदि से मेरा मन बाहर है।
मैं सदा साथ शिशुओं के करता खेला :
मैं परमहंस हूँ दुनिया में अलबेला।

(३)

मैं हूँ गुलाब का फूल अनोखा आला ;
मेरे हँसने से छा जाता उजियाला।
मेरी सुंदरता पर सब जग मोहित है :
मेरी सुंदरता से सब जग शोभित है।
मेरा सौरभ है सबसे मधुर निराला ;
मैं हूँ गुलाब का फूल अनोखा आला।

(४)

मैं शहंशाह हूँ दुनिया भर चाकर है :
मैं निर्भय हूँ मेरा ही सबको डर है।
मैं सब पर अपना बेढब हुकम चलाता :
मैं सबसे अपनी सारी टहल कराता।
मेरे शासन से सब जग सुखी सुघर है :
मैं शहंशाह हूँ दुनिया भर चाकर है।

सोहनलाल द्विवेदी

× × ×

२. परिश्रम और धूर्तता के फल

किसी गाँव में एक परिश्रमी किसान रहता था। उसके दो लड़के थे। एक का नाम बैजू तथा दूसरे का रामू था। बैजू की उम्र सात साल तथा रामू की चार साल की थी। किसान यद्यपि विशेष धन-सम्पन्न नहीं था, पर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—वह बहुत उद्यमी था। इसी कारण, जितनी खेती वह किए हुए था, उसी की उपज में वह अपना तथा स्त्री और बच्चों का भली भाँति पालन कर लेता था। वह रोज तड़के ही खेत में चला जाता और दिन भर वहाँ बड़ी लगन से काम पर जुटा रहता था। कभी-कभी तो वह रात में भी ईंधन जलाकर, बड़ी देर तक खेत में काम

पावस-प्रमोद
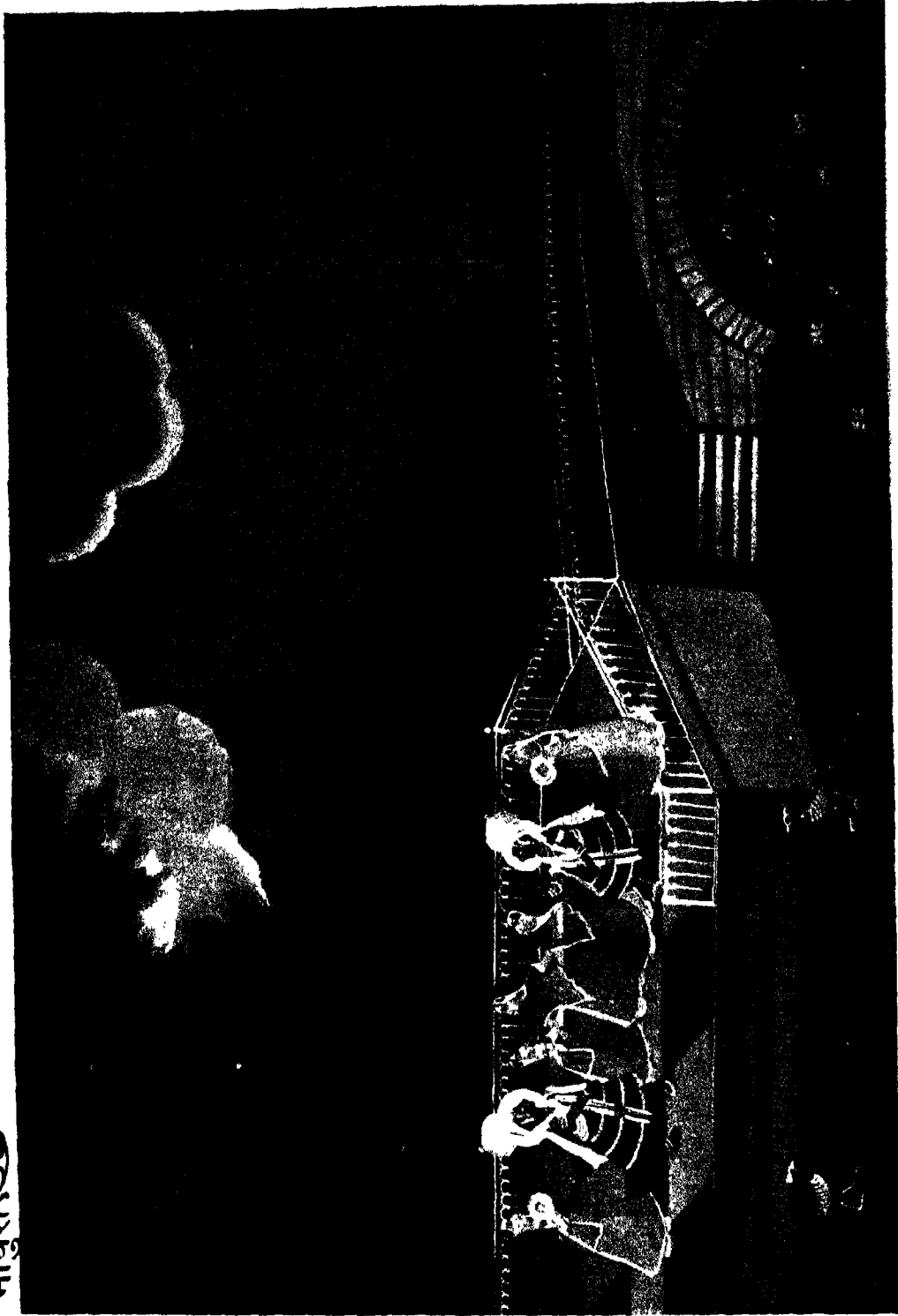
(श्री० विष्णुनारायणजी भार्गव की चित्रशाला से)

किया करता था। वह खाना सुबह घर पर कभी नहीं खाता था। कारण, इतने सबेरे जिस समय कि वह खेत पर चला जाता था, खाना बन सकना असंभव था। यद्यपि, उसकी स्त्री भी उसी की तरह बड़ी उद्यम-शील थी। किंतु, उसके उठने के पहले ही किसान खेत पर पहुँच जाता था।

स्त्री बेचारी, दिन-भर घर का काम-काज करती, खाना बनाकर बच्चों को खिलाती और स्वयं खाने के पहले खेत पर किसान को खाना पहुँचाती थी। वह, किसान के भोजन करने के पहले आप कभी नहीं खाती थी। जब किसान खाना खाकर फिर अपने कार्य में लग जाता, तब उसकी स्त्री खेत से घर लौटती, खाना खाती और फिर गृह-कार्य में तन्मय हो जाती थी। चाहे गर्मी हो, या सर्दी ; यही उसका नित्य नियम था। जब कभी किसान उससे बगैर खाना खाए खेत पर भोजन न लाने अथवा बच्चों के हाथ भिजवाने को कहता, तो वह बेचारी हाथ जोड़कर यही उत्तर देती कि—"बच्चे अभी छोटे हैं, मैं स्वयं घर पर रहकर उनको खेत में भेजूँ, यह मुझसे नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, जब तक अपने सामने आपको भोजन न करा लूँ, तबतक मैं नहीं खा सकती।"

सचमुच, वह बड़ी सच्चरित्रा तथा पति-भक्ता थी।

ज्येष्ठ का महीना था और दोपहर का समय। कड़ी धूप पड़ रही थी। मारे गर्मी के, प्राणी-मात्र व्याकुल हो-होकर मूर्च्छा खा रहे थे। सबकी यही इच्छा होती थी कि कब सूर्य भगवान् अस्ताचल को पधारें। ऐसे समय में यदि कोई परिश्रमी मनुष्य प्रतीत होता था, तो हमारा पूर्व परिचित वही किसान। वह बेचारा ऐसे समय भी खेत में बराबर काम करने की धुन में मस्त था।

ईश्वर की कृपा तथा उसके असीम परिश्रम से इस साल फ़सल बहुत अच्छी हुई। यों तो, अपने परिवार के खर्च के अलावा वह हर साल सौ, दो सौ रुपए का अनाज बेच लेता था। पर, इस साल अपना खर्च चलाकर पूरे पाँच सौ रुपए का अधिक अनाज बिका। बस क्या था, किसान की खुशी का ठिकाना न रहा। अब बच्चे भी कुछ सयाने हो चले थे और इधर कुछ द्रव्य भी संचित हो गया था। इच्छा हुई कि "लड़कों को पढ़ने के लिये स्कूल में भर्ती करा दूँ।" किंतु, खेद का विषय यह था कि गाँव में तथा आसपास कोई भी स्कूल नहीं था। साथ ही, स्त्री की इच्छा भी अपने प्यारे पुत्रों को अपनी निगाह से बाहर भेजकर शिक्षा दिलाने की नहीं थी। वह चाहती थी कि—"हमारे बच्चे भी हमारी ही भाँति काश्तकारी का काम सीखकर स्वतंत्र जीवन व्यतीत करें और हमारे पास ही रहें।"

अच्छा, अब लड़कों का हाल सुनिए—

अब बैजू की उम्र बारह तथा रामू की नौ साल की थी। बैजू स्वभाव का बड़ा अच्छा, सीधा-सादा और होनहार लड़का था। उसके माँ-बाप जो कुछ काम उसे देते, तुरंत आज्ञा-पालन करता। किसान के पूछने पर, उसने स्कूल में भर्ती होने की विशेष इच्छा प्रकट की। जिससे कि किसान बहुत ही खुश हुआ। पर, जिस प्रकार किसान सब तरह से सुखी था उसी प्रकार एक दुःख भी उसे बहुत बेचैन किए हुए था। वह यह कि छोटे लड़के रामू का स्वभाव बैजू के बिलकुल विरुद्ध था। वह बड़ा ही धूर्त था और अपने माँ-बाप की ज़रा भी पर्वा न करता था। रात-दिन, इधर-उधर खेल-कूद में ही व्यस्त रहता था। पढ़ने-लिखने के नाम से तो वह कोसों दूर भागता और अपने पिता से कहता—

"क्या तुमने भी स्कूल में ही पढ़ा है ? तुम तो एक हर्फ़ भी नहीं जानते। मैं तुम्हारी ही तरह खेती करूँगा।" बेचारा किसान बहुत डाँटता-डपटता, पर सब निष्फल।

आख़िर किसान ने बैजू की पढ़ने-लिखने की ओर विशेष रुचि देखकर, और स्त्री को समझा-बुझाकर उसे शहर के एक स्कूल में (जो कि गाँव से दस कोस की दूरी पर था) भर्ती करा दिया। और वहीं बोर्डिंगहाउस में उसके रहने का प्रबंध भी कर दिया।

बैजू बड़ी मेहनत से पढ़ाई में मन लगाता और अच्छी उन्नति करता जाता था। उसका बाप उससे ख़ूब खुश रहता और उसकी हरएक इच्छा की पूर्ति करना अपना परम कर्तव्य समझता था। वह हर महीने के अंत में बराबर लड़के के लिये होस्टल् में अपने कंधे पर लादकर जिन्स पहुँचाता और जो कुछ बाज़ार की चीज़ की उसे (बैजू को) ज़रूरत होती ख़रीदे जाता था। यदि, कभी वह किसी ख़ास कारण-वश खेत पर न पहुँच सकता, तो केवल उसी दिन, जिस दिन कि वह लड़के को सामान पहुँचाने जाता था। अन्य किसी दिन भी नागा न करता था।

कई साल बीत गए, किसान का कारोबार अब ख़ूब बढ़ गया था और दिन-दिन बढ़ता जाता था। गाँव में अब वह एक प्रतिष्ठित व्यक्ति समझा जाता था। सब लोग हर काम में उसकी सलाह लेते और उसे अपना मुखिया मानते थे।

इसी बीच में किसान ने बहुत-सी नई ज़मीन भी मोल ले ली थी, और एक जोड़ी बैल भी और ख़रीद लिये थे।

इधर, रामू की वही ख़राब दशा थी। स्वभाव में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ था। हठात् एक दिन उसने अपनी माँ से कहा—"मैं कल से खेत में हल चलाना सीखूँगा। मुझे पिताजी से बैलों की वह नई जोड़ी दिलवा दो, जो कि उन्होंने अभी ख़रीदी है।"

लड़का कैसा ही बदचलन हो, पर माँ का हृदय उसके प्रति कठोर हो यह बहुत कम देखा जाता है। वह अपने लड़के की वह बात (जो कि उसने अपने उचित कर्तव्य को कही थी) सुनकर बहुत खुश हुई। दूसरे ही दिन किसान से बोली—"यह बैलों की जोड़ी रामू को सौंपकर उसे अपने साथ खेत में हल चलाना सिखाओ। आख़िर, तुम्हारे बाद इस काम को सँभालनेवाला कौन है ?"

किसान यह सुनकर बड़े दुःख से कहने लगा कि, "केवल तुम्हारी और मेरी ही लालसा से तो यह हो नहीं सकता कि रामू मेरे पीछे खेती का काम चलाने लायक़ बन सके !"

स्त्री ने तुरंत उत्तर दिया—"रामू ही ख़ुद मुझसे खेती करने को कहता था।"

बस, किसान के विस्मय तथा हर्ष का ठिकाना न रहा। वह रामू की धूर्तता से भलीभाँति परिचित था। आज एकाएक स्त्री के मुँह से रामू की कही हुई बात जिसकी कि वह कभी आशा नहीं रखता था, सुनकर उसका आश्चर्य-चकित हो जाना ठीक भी था। अस्तु, किसान दिल में यह सोचकर ख़ूब खुश हुआ कि "बैजू अब थोड़े दिनों में स्कूल की पढ़ाई ख़तम करके आनेवाला ही है, इधर रामू को भी खेती का सब काम अच्छी तरह सिखलाकर दोनों लड़कों को गृह-भार सौंपकर सुख की नींद सोऊँगा।" पर, उधर ईश्वर को कुछ और ही मंज़ूर था।

उपर्युक्त घटना के साल-भर बाद बैजू स्कूल की

पढ़ाई पूरी करके घर आया। माँ-बाप तथा गाँव के सब लोग उसे बड़े प्रेम और आदर की दृष्टि से देखने लगे। यों तो, सुशीलता के कारण सब लोग बचपन से ही उसे बहुत चाहते और प्यार करते थे। किंतु, अब उसकी योग्यता, मातृ-पितृ-भक्ति तथा गाँव में परस्पर सबके प्रति उसका अपूर्व स्नेह देखकर ग्राम-वासियों को जितना हर्ष हुआ वह सर्वथा सराहनीय था। यहाँ तक कि आसपास के बड़े-बड़े आदमी जो कि पहले कभी बेचारे किसान से मुँह तक न बोलते थे वही लोग अब, किसान की लड़के के विवाह करने की प्रबल इच्छा देखकर उसके लड़के (बैजू) के साथ अपनी बहिन-बेटी का विवाह करने की इच्छा प्रकट कर उसके साथ संबंध करने को बड़े लालायित थे।

यद्यपि बैजू की इच्छा अभी विवाह करने की ज़रा भी नहीं थी, किंतु फिर भी उसे अपने माँ-बाप की वह बात जिसकी कि पूर्ति करने की वे लोग विशेष इच्छा रखते थे, टालनी उचित न जान पड़ी।

आख़िर बैजू के घर आने के तीन ही महीने बाद किसान ने उसका विवाह अपने ही समान प्रतिष्ठित कुल के एक अच्छे घराने में, तथा बैजू के ही अनुरूप एक सुचतुर तथा रूपवती कन्या के साथ बड़ी धूम-धाम से कर दिया।

सब कुछ होते हुए भी बैजू में एक और बात विशेष प्रशंसनीय थी। वह यह कि यद्यपि उक्त गाँव में जहाँ कि उसके सिवा और कोई भी व्यक्ति उसके समान शिक्षित न था दूसरे जहाँ सब लोग उसी को आदर की दृष्टि से देखते थे तिस पर भी उसे अपनी योग्यता पर तनिक भी अभिमान नहीं था। एक तो, स्वभाव से ही वह अभिमान को जानता तक न था, पर शिक्षित होने के कारण अब वह पहले से भी ज़्यादा नम्र तथा नेक-चलन हो गया था। क्यों न हो, वृक्ष जितना ही ज़्यादा फलता है उतना ही नीचे को झुक जाता है। यह बात स्वयंसिद्ध है।

बालको! अब शायद तुम रामूँ का हाल सुनने को ज़्यादा उत्सुक होगे। अच्छा, सुनो।

अब रामूँ गाँव-भर के धूर्त तथा दुष्ट लड़कों का सरदार है। वह घर-भर के लोगों में किसी का भी ज़रा भर कहना नहीं मानता और न किसी का डर ही रखता है। यद्यपि उसके माँ-बाप तथा ख़ासकर बड़ा भाई बैजू उसकी इस स्थिति से परम दुःखी है और उसे (रामूँ को) बराबर समझाने-बुझाने तथा क़ाबू में लाने की कोशिश करता रहता है। पर वह मूर्ख अपने बड़े भाई बैजू के उन अमूल्य उपदेशों का अपने दिल में ज़रा भी असर नहीं होने देता। जिसका फल यह हुआ कि अब घर के सब लोगों ने उससे बोलना तक छोड़ दिया। जो कुछ उसके जी में आता वही करता।

धूर्तता तथा खिलवाड़ की गरज़ से वह अक्सर अपने बैलों को लेकर खेत में चला जाता और वहाँ बेचारे निरपराध पशुओं को मारता-पीटता तथा झूठ-मूठ हाहाकार मचाता हुआ लोगों को हैरान करता था।

रामूँ नदी में नहाना बहुत ही पसंद करता था। यद्यपि, वह तैरना बिलकुल नहीं जानता था, पर धूर्त तथा निडर होने के कारण अकेले पानी में कूद पड़ने में वह ज़रा भी भय न खाता था। और पानी में कूदकर, लोगों को परेशान करने की गरज़ से झूठ-मूठ 'डूबा-डूबा' का हल्ला मचा-मचाकर तमाशा किया करता था। इसी प्रकार कई मर्तबे तो वह खेतों में काम करते हुए परिश्रमी लोगों को नदी में

नहाता हुआ धोखा दे-देकर हैरान भी कर चुका था। ऐसा करना तो उसके लिये बाएँ हाथ का खेल व बहुत ही साधारण बात थी। आखिर इसी धूर्तता तथा झूठ बोलने के कारण ही तो एक दिन उसे अपने प्राण तक खोने पड़े!

बैजू के ब्याह के तीन साल बाद बेचारा किसान अकस्मात् इस संसार से चल बसा। मरते-दम उसे, बैजू को सर्वथा अपनी इच्छानुकूल योग्य, सयाना तथा गृह-कार्य में अपने से भी ज़्यादा उन्नतशील देखकर परम हर्ष था। अगर, उसे कोई चिंता थी तो केवल यही कि रामूँ के विषय में उसकी शुभ-धारणा केवल कोरी-कल्पना मात्र सिद्ध हुई। उसे रामूँ की धूर्तता देखकर पहिले ही से यह शंका थी। अस्तु, फिर भी, मरते दम बैजू को उपदेश देते वक़्त वह, यह कहना कभी नहीं भूला कि "रामूँ का ब्याह जहाँ तक हो सके जल्दी कर देना। शायद, ब्याह करने के बाद ही उसे कुछ फ़िक्र हो।"

पिता की मृत्यु से सुपुत्र बैजू बड़ा दुःखी था। किंतु फिर भी वह बड़ा ही साहसी तथा प्रयत्नशील था। उसने पिता की स्मृति में गाँव में एक छोटा-सा किंतु सुंदर मंदिर भी बनवा दिया। और बड़े ही परिश्रम से पैतृक सम्पत्ति का खासा इंतज़ाम तथा खेती करने लगा। पढ़ा-लिखा तो वह था ही, इस कारण बड़े ही सुंदर ढंग से खेती वग़ैरह करता और उसमें दिन-दूनी रात-चौगुनी तरक़्क़ी हासिल करता जाता और स्वतंत्र तथा सुखमय जीवन बिताता था।

वह अपने छोटे भाई रामूँ के साथ पिता की मौजूदगी के समय से अब कहीं अधिक प्रेम रखने लगा था, और बराबर शुभ शिक्षा द्वारा उसकी बुरी आदतों को दूर करने का प्रयत्न करता जाता था। लेकिन, "मूर्खस्य हृदयं शून्यम्" के अनुसार वह अपने प्रयत्न में कभी सफल न हो सका। बैजू अपने पिता के कहे हुए अंतिम वाक्य ("रामूँ का ब्याह जहाँ तक हो सके जल्दी कर देना") को बिलकुल नहीं भूला था, यहाँ तक कि उसकी पूर्ति करने में बहुत कोशिश करता जाता था। किंतु, इस विषय में कहीं से भी उसे आशाजनक उत्तर न मिला। जहाँ कहीं भी वह रामूँ के ब्याह की चर्चा करने जाता वहीं से महा निराश होकर लौटता था।

ठीक ही है, रामूँ का ब्याह कहीं ठहरे भी कैसे? एक तो वह महामूर्ख और दूसरे अव्वल नम्बर का धूर्त था। तब भला ऐसे महामूर्ख के साथ अपनी लड़की का विवाह कर कौन मनुष्य आजन्म पापी कहलाता!

सदा की भाँति एक दिन रामूँ नदी में नहा रहा था। आसपास बहुत-से लोग खेतों में काम कर रहे थे। रामूँ नदी में अकेला नहाता हुआ शोर मचाने की धुन में लगा हुआ था। घड़ी-घड़ी में पानी से निकल-निकल कर इधर-उधर दौड़ता और फिर पानी में कूद पड़ता था। जिसका परिणाम यह हुआ कि उसी दौड़-धूप की धुन में उसका पैर फिसल पड़ा और वह ज़ोर से पछाड़ खाता हुआ नदी के बीचोंबीच गहरे जल में चला गया। अब तो, उसके प्राणों पर बीतने लगी। आत्मरक्षा का और कोई उपाय न देख, लगा ज़ोर-ज़ोर से गला फाड़-फाड़कर चिल्लाने। पर वहाँ उसकी सुनता कौन? आसपास के लोगों में से ऐसा तो कोई था नहीं, जो कि इसी प्रकार कई दफ़े पहले उसके झूठ-मूठ पानी में धोखा दे-देकर बुलाने से ठगा न गया हो। अस्तु, सब लोगों ने यही समझ-कर कि "सदा की भाँति आज भी झूठ-मूठ चिल्ला-

कर ठगता होगा" उसकी बात का जरा भी विश्वास न किया।

विश्वास करें भी कैसे ? वह तो सच बोलना जानता ही न था। साथ ही जैसा कि पहले कहा भी जा चुका है कि वह (रामूँ), लोगों को उसी नदी में उसी विषय पर कई दफ़े ठग भी चुका था। तब भला, उसके इस मर्तबे की "हाय ! हाय !! डूबा-डूबा बचाओ ! बचाओ !!" की ध्वनि पर विश्वास कर जाना महज बेवकूफ़ी थी। अस्तु, किसी ने भी उसके चिल्लाने पर ध्यान नहीं दिया। यहाँ तक कि सब लोग उसकी कातर ध्वनि साफ़-साफ़ सुनते हुए भी खेतों में अपनी-अपनी जगह से टस से मस तक नहीं हुए।

परिणाम यह हुआ कि देर तक चिल्लाने की वजह से अब रामूँ की जबान भी बैठ चुकी थी जिसके कि फल-स्वरूप मुँह से बोल तक नहीं निकलता था। बेचारा रामूँ हाथ-पैर छटपटाता हुआ आशा लगाए इधर-उधर खेतों की तरफ़ सहायता की दृष्टि से बड़ी तीक्ष्ण निगाह डाल रहा था कि कोई-न-कोई बचाने अवश्य आ ही रहा होगा: किंतु उसकी उक्त आशा केवल निराशामात्र सिद्ध हुई, और कोई भी मनुष्य वहाँ पर न आया। आखिर वह नौबत आ ही गई कि नाक, कान तथा मुँह में पानी भर गया।

अब तो बेचारा रामूँ जीवन से निराश हो गया और अंत समय जानकर अपने किए हुए दुष्कर्मों के प्रायश्चित्तस्वरूप यह सोचता तथा अपने को धिक्कारता हुआ जल-रूपी मृत्यु की गोद में सदा के लिये सो गया कि "हाय ! हाय !! झूठ बोलने ही के कारण आज मेरी जीवन-यात्रा इस दुर्दशा के साथ समाप्त हुई।"

बालको ! उक्त कहानी से तुम भली भाँति जान गए होगे कि परिश्रमी, सहनशील, अपने माँ-बाप एवं बड़ों का आज्ञाकारी तथा सबके प्रति प्रेमभाव रखनेवाला और पढ़ने-लिखने की विशेष इच्छा रख-कर उसमें खूब जी लगा कर मेहनत करनेवाला लड़का किस प्रकार अपने माँ-बाप तथा सबका प्यारा एवं आदर-पात्र बनकर सुखमय जीवन बिता सकता है। और इसी के विपरीत स्वभाव रखने-वाला किस प्रकार दुःख उठाता हुआ आखिर में किस दुर्दशा के साथ अपना अमूल्य जीवन तक सदा के लिये खो बैठता है। इसलिये तुम्हें चाहिए कि सुखमय जीवन बितानेवाले उपर्युक्त गुणों में से हरएक को अपना पक्का साथी बनाओ। ताकि, तुम भी सुखमय जीवन बिता सको। धूर्तता, चोरी तथा झूठ बोलना इत्यादि बुरी आदतों को अपने पास भलकर भी कभी फटकने तक न दो। इनसे बड़े-बड़े भयानक दुष्परिणाम हो जाते हैं और आजन्म घोर दुःख उठाने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ रामूँ की उक्त कहानी तुम्हारे सामने है।

तारादत्त उप्रेती
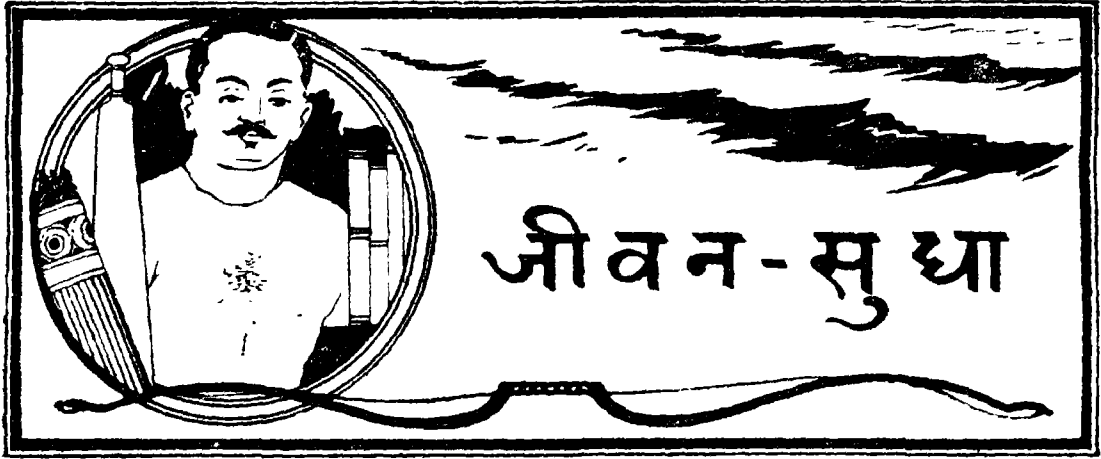
ब्रह्मचर्य और गेहूँ

आर्यसमाज तथा सनातनधर्म के माननीय नेताओं ने भारतवर्ष तथा अपने प्रिय धर्म को उस शिखर पर ले जाने के लिये जिस शिखर से इनका पतन हुआ है—अर्थात् रामायण तथा महाभारतकाल के ब्रह्मचारियों तथा गृहस्थों का आदर्श सम्मुख रखते हुए—आधुनिक शिक्षाक्रम दोषपूर्ण होने से (जो कि राज्य द्वारा भारतीयों को राज्य का अनुगामी (गुलाम) बनाने तथा उनको इसी पतित अवस्था में पड़ा रहने के लिये जिससे कि उनका मस्तिष्क स्वतंत्रता का स्वप्न भी न देखने पायें) तथा उससे ब्रह्मचर्यव्रत का यथेष्ट पालन न देख गुरुकुल, ऋषिकुल, ब्रह्मचारी-आश्रम आदि अनेक संस्थाएँ लाखों रुपया के सद्व्यय से लगभग ३० वर्ष से चलाईं, जो कि सौभाग्य की बात है।

आशा यह थी कि जंगलों में ब्रह्मचारियों का स्वास्थ्य ठीक रहेगा तथा वे राजकीय शिक्षा से मुक्त होने से अपने अनुकूल शिक्षाक्रम से शिक्षित किए जायँगे। फलस्वरूप वशिष्ठादि ऋषि हनुमान् व भीष्म जैसे विद्वान् व बलवान् बना सकेंगे; किंतु यह सब मनोरथ पूर्ण न हुए। जो स्नातक (ग्रेजुएट) इन संस्थाओं से निकले, उनमें मरहठा व सिक्ख काल के योधाओं व राजनीतिज्ञों जैसा एक भी बली व पण्डित देखने में नहीं आया और न कलयुगी भीम श्रीयुत राममूर्ति जैसा पराक्रमी देखने को मिला। गुरुकुल, ऋषिकुल आदि के ग्रेजुएट (स्नातक) यूनिवर्सिटी से संबंधित कॉलेजों के ग्रेजुएटों जैसे बली तथा मेधावी पाए गए हैं। इससे अधिक कोई विशेषता उनमें देखने में नहीं आई और न आ ही सकती है, जब तक कि उनका ब्रह्मचर्यव्रत पालन न होगा।

इसमें किसी नेता का दोष नहीं, यह समस्त भारत को रुग्ण करनेवाले कामवर्द्धक अन्नों के आधुनिक नेता गेहूँ के सेवन का ही फल है।

क्योंकि महर्षि पतञ्जलि (चरक में) गेहूँ के गुण लिखते हैं—

सन्धानकृद्वातहरो गोधूमः स्वादुशीतलः,
जीवनो बृंहणो वृष्यः स्निग्धः स्थैर्यप्रदोगुरुः।

सूत्र अ० २७

गेहूँ बृंहण और वृष्य हैं। वीर्य की वृद्धि चाहनेवालों को ही खाने चाहिए। ऋषियों ने गेहूँ को अन्नों का सरताज न मान यव (जौ) को ही श्रेष्ठता दी है तथा पवित्र कहा है। क्योंकि यव कामोद्दीपक नहीं होते। चरक में लिखा है—

रूक्षः शीतोऽगुरुस्वादु र्बहुवातशकृद्यवः,
स्थैर्यकृत्तकषायस्तु बल्यः श्लेष्मविकारनुत्।

निघण्टु में लिखा है—

यवः कषायो मधुरः शीतलो लेखनो मृदुः,
व्रणेषु तिलवत्पथ्यो रूक्षो मेधाग्निवर्धनः।
कटुपाकोऽनभिष्यन्दी स्वर्यो बलकरोगुरुः,
बहुवातमलोवर्णस्थैर्यकारी च पिच्छिलः।
कण्ठत्वगामयश्लेष्मापित्तमेदःप्रणाशनः,
पीनसश्वासकासोरुस्तम्भलोहिततृट्प्रणुत्।

अर्थ—जौ कषाय, मधुर रस, शीतल, लेखन, रूक्ष, मेधा और अग्निवर्द्धक, कटुविपाक, अनभिष्यन्दी, स्वर-प्रसादक,बलवान्, लघु, वायु और मल के अतिशयवर्द्धक, वर्णप्रसादक, शरीर को स्थिर करनेवाले, पिच्छिल तथा कंठरोग, चर्मरोग, कफ, पित्त, मेद (चर्बी) पीनस, श्वास, कास, ऊरुस्तंभ, खून की ख़राबी और तृष्णानाशक होते हैं।

प्राचीन काल की बात जाने दीजिए। मरहठा व सिक्ख काल में जौ तथा चनों को ही खाया जाता था। संपन्न (धनी) लोग जिनकी कई शादियाँ होती थीं, वे ही गेहूँ खाते थे। आज से २०-२५ वर्ष पूर्व (पंजाब में) नवयुवक तथा नवयुवती कन्याएँ एकत्र खेला करते थे, उनमें कभी कुचेष्टा नहीं देखी गई, आज आप १०-१२ वर्ष के बच्चों को मैथुन करते पायेंगे। १० वर्ष की अनेक कन्याएँ गर्भवती सुनी गई हैं।

स्कूलों व पाठशालाओं में तो कोई दिन ख़ाली नहीं जाता, जब कि १-२ शिकायतें कर्ण-गोचर न हों। हथरस से तो कोई ही भाग्यवान् विद्यार्थी बचता है।

प्रायः सब विद्यार्थियों तथा दूसरे नवयुवकों को प्रमेह व मधुमेह हो रहा है। इस अवस्था में आप उनको पुष्टि-कर अन्न खिलाकर कैसे पुष्ट कर सकते हैं, जब कि एक मार्ग से पुष्टिकर अन्न प्रवेश कर दूसरे मार्ग से रूपांतर में हस्तमैथुन, बालमैथुन व स्वप्नदोष से खाया पीया निकल जाता है। ब्रह्मचारियों तथा ब्रह्मचर्यव्रत पालन करने-वाले सद्गृहस्थों को विना आवश्यकता के गेहूँ खाना या दूध पीना अत्यंत हानिकर होता है, क्योंकि शुक्र की अधिकता ही से कामचेष्टा उत्पन्न होती है।

आजकल वैद्य व डाक्टर दवाइयाँ देते थकते तथा रोगी रुपया ख़र्च कर और पथ्य करते-करते तंग आ जाते हैं ; पर यह रोग शांत ही नहीं होने पाते। कारण प्रत्यक्ष है—जितना शुक्र ओषधियाँ शुष्क (खुश्क) करती हैं। उससे अधिक मात्रा में प्रतिदिन दूध, दही, अण्डे, बादाम, हलवा आदि न खाने पर भी गेहुओं ही से शुक्र उत्पन्न होता तथा धारा प्रवाह चलता है।

जब तक शुक्र की विशेष वृद्धि न रुके, तब तक इन रोगों में यथेष्ट लाभ नहीं हो सकता ; क्योंकि शास्त्रकारों ने इस रोग में रूक्ष तथा हलके अन्न जौ व चने आदि पदार्थ खाने की आज्ञा दी है।

हमने सैकड़ों विद्यार्थियों का इलाज किया। उनसे नाविल (उपन्यास) पढ़ने छुड़ाए, उपयोगी परहेज़ जो कि वैद्यक यूनानी तथा डाक्टरी चिकित्साएँ बतलाती हैं करवाए, पर सब व्यर्थ हुए।

जितना शुक्र मनुष्य को आवश्यक है उतना जौ व चने खाने से अवश्य प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त चनों से दाँत दृढ़ होते हैं मरणपर्यंत किसी डेंटिस्ट डाक्टर के पास जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जौ खाते हुए किसी कब्ज़कशा गोली खाने की आवश्यकता न होगी, क्योंकि जौ स्वयं कब्ज़कशा है। कब्ज़ न होने से आप सैकड़ों रोगों से मुक्त होंगे।

यहाँ पर मैं गेहूँ के गुण बताने के लिये एक दृष्टांत देता हूँ जिससे आप बाइबिल में वर्णित अलंकारकार का भाव भी समझ जायँगे जिसको आज तक किसी-किसी ने ही समझा होगा।

ईसाई तथा मुसलमानों के बुज़ुर्ग बाबा आदम व माई हव्वा आरंभ में वस्त्रों के विना नंगे ही रहते थे। दोनों को अपने में स्त्री-पुरुष का ज्ञान नहीं था। ख़ुदा ने उनको अदन के बाग़ में जाने से मना किया था, किंतु शैतान ने आकर दोनों को बहकाया और बाग़ में ले जाकर गेहूँ जो कि उन दोनों ने कभी देखे सुने न थे खिला दिया। इनको खाने पर दोनों को अपने स्त्री-पुरुष होने का ज्ञान हुआ और अपने को नग्न समझ परस्पर लज्जित हुए, पत्र आदि बाँधकर अपने अंगों को छिपाया। मेरा विचार है गेहूँ के आटे में जौ व चनों का आटा मिलाकर क्रमशः गेहूँ हमें छोड़ देने चाहिए। जो स्वयं ऐसा न कर सकें उन्हें अपनी सन्तान को इनसे अवश्य बचाना चाहिए। गृहस्थों को गेहूँ खाने से इतनी हानि नहीं पहुँचती, किंतु गुरुकुल व ऋषिकुलों में अवश्य इनका इस्तेमाल बंद होना चाहिए, क्योंकि सर्वसाधारण इनसे विशेष लाभ होता न देख उनके विरुद्ध प्रचार करने अथवा दान देने से संकोच करते हैं।

यह तो सब जानते ही हैं कि एक बार ब्रह्मचर्य व्रत भंग होने से फिर यदि रोज़ाना शुक्रक्षय न हो तो ८-१०वें दिन एक बार स्वप्नदोष अवश्य होता है। ऐसे आश्रमों में रहनेवाले अध्यापकादि जो कि सपत्नीक न हों, उनके भोजन पर विशेष दृष्टि रखनी चाहिए। वे कामोद्दीपक अन्न न खाने पावें। प्रायः सब ऐसे पवित्र स्थानों में बाल-

मैथुनादि दोषों से दूषित अध्यापकादि पकड़े तथा निकाले जाते हैं।

ऋषि कहते हैं कि प्रमेही के घाव, चोट आदि जल्द आराम नहीं होते। देखा भी गया है कि साधारण चोट से घाव होने पर वह देर में ठीक होते हैं। कुछ वर्ष पहले भारतीय योद्धा नित्य लड़ते, जख़्मी होते तथा फिर दूसरे दिन अपनी ड्यूटी पर खड़े हो जाते थे। उनके घाव जल्द ही ठीक हो जाते थे। कारण यह कि उनको प्रमेहादि पाप-रोग होने नहीं पाते थे। यदि आज की सी हालत होती तो कोई भी युद्धों में हिस्सा न लेता जैसा कि मामूली घाव से महीना भर खाट पर पड़ा रहना साधारण बात है। गेहूँ की ही कृपा है कि विवाहित नवयुवकों में कामाग्नि अधिक होने से तपेदिक़ अधिक होता है।

अगर ब्रह्मचारियों का वीर्य रुका रहेगा, तो उनको खीर, दूध, बादाम आदि की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। शरीर सर्वांगपूर्ण होगा, उन्हें तेल आदि मलने न पड़ेंगे, क्योंकि ब्रह्मचारियों को तेल मलना वर्जित है। प्रमेही जब तक तेल न मले, उसे शांति नहीं मिलती।

आजकल उपर्युक्त आश्रमों में (गुरुकुल आदि) कामियों के खाने योग्य अन्न ब्रह्मचारियों को खिलाया जाता है, जो कि १२-१४ वर्ष की अपक्वावस्था में उत्तेजना उत्पन्न करता है जिसका फल यह है कि हथरस व स्वप्न-दोषादि भयंकर रोगों द्वारा खाया पीया निकल जाता है।

ब्रह्मचर्य-व्रत भंग होने से सर्वसाधारण को विदित है कि १ स्मरणशक्ति का ह्रास होता है, २ शरीर की वृद्धि रुक जाती है, ३ शरीर का तेज जाता रहता है, ४ शरीर से सहनशक्ति चली जाती है, ५ मन में धैर्य नहीं रहता, ६ उत्साह भंग हो जाता है इत्यादि।

जब उपर्युक्त गुण ही न हों, तो ऋषियों के ग्रंथों को कंठाग्र कर मनन व अनुकरण करना तो दूर रहा साधारण ग्रंथ भी स्मरण नहीं रहते। फिर हमें उनसे यह आशा रखना कि भीम, भीष्म, शिवाजी, गुरुगोविंदसिंह, बंदाबहादुर-जैसे वीर, कपिल, कणाद, पतञ्जलि-जैसे फिलासफ़र होंगे, असंभव नहीं तो क्या है। अतः गेहूँ न खिलाकर जौ और चनों का ही प्रचुर प्रयोग होना चाहिए।

आज भारत में बच्चों की पैदायश बहुत हो रही है और दुःख से कहना पड़ता है कि वह कीड़ों की भाँति मर भी रहे हैं। प्रतिवर्ष गृहस्थों को एक बच्चा प्राप्त हो जाता है, क्योंकि वीर्य-आधिक्य से कामचेष्टा अधिक होती है और गर्भ भी ज़रूर ठहर जाते हैं। किंतु पहला बच्चा अभी दूध पीता ही है कि माता को फिर गर्भ हो जाता है। दूध पीनेवाला बच्चा गर्भिणी माँ का दूध पीकर अजीर्ण, अतिसार, ज्वर, कासादि से पीड़ित हो प्राण छोड़ता और भीतर का बच्चा अपनी ख़ुराक छिन जाने से पुष्ट न होकर चिरजीवी नहीं होता। दोनों ही माता-पिता के दुःख के कारण होते हैं।

धनी लोग माता का दूध छुड़ाकर धाय आदि द्वारा दोनों बच्चों की रक्षा भले ही कर लें, किंतु जनसाधारण सन्तान उत्पन्न होती व मरती देख अपने भाग्य को कोसते *तथा स्त्रियों में "अठरा" आदि रोग होने का संदेह करते* हैं। मनु महाराज ने भी कहा है कि जैसा अन्न खाया जाता है वैसे विचार बनते हैं। इसीलिये ब्राह्मणों को कई प्रकार की जातियों का अन्न खाने से रोका गया है, क्योंकि प्रायः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के अन्न भिन्न-भिन्न गुण (सत्व, रज, तम) पैदा करनेवाले होते हैं। लोकोक्ति भी है जैसा अन्न वैसा मन।

आज किसी भी गृहस्थ को शुक्रवर्धक औषध खाने की आवश्यकता नहीं। जिनकी शादी को दो वर्ष हो गए हों उनके सन्तान न हुई हो, तो समझ लेना चाहिए कि दोनों पति-पत्नियों किसी एक ने छोटेपन में व्यभिचार या अज्ञान से अपनी इंद्रियों को शिथिल कर लिया है। ऐसे १०० रोगियों में से मुश्किल से ५ भाग्यवान् रोगी होंगे जिनकी इंद्रियाँ दुर्बलता की चरम सीमा तक न पहुँची हों। कुछ चिकित्सा पर यथेष्ट फल प्राप्त करते हैं। बाक़ी ९५ चाहे धन्वंतरि-सम वैद्य, लायक़ से लायक़ डाक्टर पर लाखों व्यय करें, कुछ भी लाभ नहीं प्राप्त कर सकते।

सादा अन्न खाने से ब्रह्मचर्य स्थिर रहेगा तथा जो कुछ उन्हें पढ़ाया जायगा, उस पर आधिपत्य कर देश के भाग्य में परिवर्तन करनेवाले बालब्रह्मचारी तथा गृहस्थ हो जायँगे। इसी बात को लक्ष्य कर यह छोटा-सा लेख लिखा गया है। इस पर चलकर स्वयं स्वास्थ्यलाभ कीजिए तथा दूसरों को प्रेरित कर पुण्यलाभ भी।

कर्मचंद वैद्य
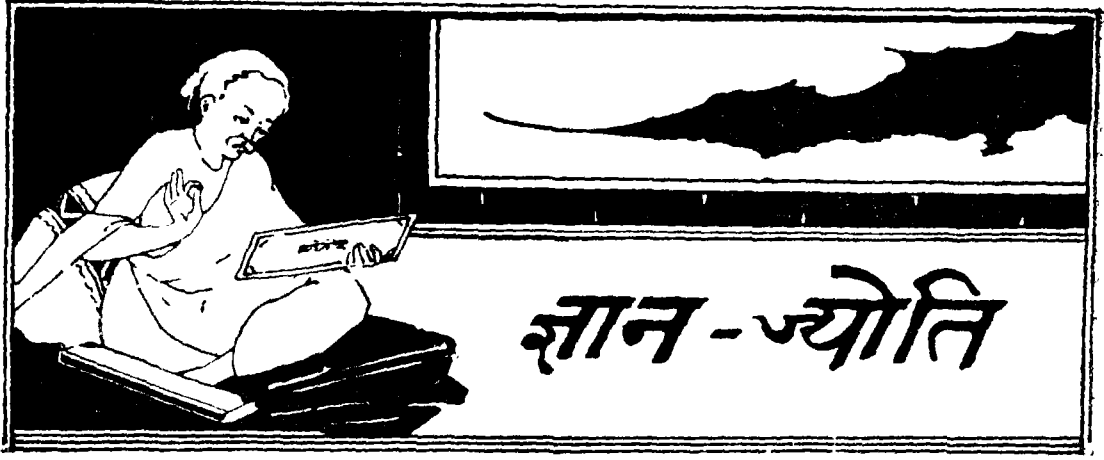
आर्यों की वर्ण-व्यवस्था

(शेषांश)

जन्म से वर्ण-व्यवस्था

भारतीय वर्ण-व्यवस्था माननेवालों में दो दल अब हो गए हैं। एक तो इसे गुण-कर्म से मानते हैं और दूसरे जन्म से। यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो वर्ण-व्यवस्था जन्म और गुण-कर्म दोनों से है। यह बात हमारे पुनर्जन्मवाद से भी सिद्ध होती है।

कोई प्राणी कुछ ही काल में पूर्ण ब्राह्मण या पूर्ण क्षत्रिय नहीं बन सकता। उसके लिये समय की आवश्यकता होती है। संस्कार जमते-जमते जम पाते हैं। मन की भावनाओं को सुदृढ़ होने में एक दीर्घ काल आवश्यक है। मान लीजिए, एक प्राणी की प्रवृत्ति क्षात्र-धर्म की ओर है। उसकी उस तरफ़ की भावनाएँ धीरे-धीरे पक्की होंगी। जब ये भावनाएँ पक्की हो जायँगी, तब उसकी उन भावनाओं या गुण-कर्म के अनुसार उसका जन्म अनुकूल स्थिति के किसी क्षत्रिय-गृह में होगा, जहाँ उसकी उन मानसिक भावनाओं का पूर्ण विकास होगा। तब वह पूर्ण क्षत्रिय होगा। यही बात अन्य तीन वर्णों के विषय में है। पुनर्जन्म-सिद्धांत में यह बात सिद्ध है कि जन्म जीवों के गुण-कर्म और मानसिक भावनाओं के अनुसार होता है। यही कारण है कि आज तक, भारत में, ब्राह्मण-गृहों में ही वैसे और उतने मेधावी स्वार्थ-त्यागी हुए हैं; क्षत्रिय-वंश में ही वे वे धनुर्धर प्रकाण्ड पराक्रमी अवतीर्ण हुए हैं; आज तक वैश्य कुल में ही व्यापार-विशारदों का प्रादुर्भाव हो रहा है; और शूद्र वर्ण के पावन वंश में ही शिल्प-कला की उन्नति करनेवाले हुए हैं। चारों वर्णों में वंश-क्रमानुगत ये बातें अब भी अनन्य साधारण विद्यमान हैं। इसका कारण क्या है? यही न? कि पूर्व जन्मों के गुण-कर्म या मानसिक भावनाओं के अनुसार उन-उन जीवों का जन्म ही उन-उन अनुकूल कुलों में होता है, जहाँ वे अपनी सुपरिपक्व भावनाएँ कार्य-रूप में परिणत कर सकें। कभी-कभी इस सिद्धांत का प्रतिवाद भी देखने में आता है; पर उसके विशेष कारण भी होते हैं। प्राचीन इतिहास में विश्वामित्र और परशुराम आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। किंतु इस अपवाद से सामान्य सिद्धांत का बाध नहीं हो सकता।

जगत की सृष्टि त्रिगुणात्मक है। प्रत्येक प्राणी में सात्विक, राजस और तामस मनोवृत्तियाँ सहज होती हैं। हाँ, उनमें न्यूनाधिक्य, अवश्य होता है। ब्राह्मण सात्विक प्रवृत्ति का वर्ण है; पर उसमें भी राजस और तामस मनोवृत्तियाँ अवश्य न्यूनाधिक परिमाण में रहेंगी। किंतु जिधर आधिक्य होता है, उसी के नाम से लोक में व्यपदेश होता है। इसलिये सात्विक प्रवृत्तियों की अधिकतावश उसे ब्राह्मण कहा जायगा। यही बात अन्य वर्णों के विषय में है। सबमें सब प्रकार की मनो-

वृत्तियाँ रहती ही हैं । कारणवश जिधर आधिक्य होने लगा और वे मनोवृत्तियाँ धीरे-धीरे सुदृढ़ हो गईं, तब फिर उसका अगला जन्म ही ऐसे वंश में होगा, जहाँ उन मनोवृत्तियों को पूर्ण अनुकूलता मिले—जो वंश वैसी मनोवृत्तियों का और तदनुकूल साधन-संपत्ति तथा आचरणों का केंद्र हो । जिसकी भावना जिधर होती है, उसका अगला जन्म उसी के अनुसार ही होता है । उसके पिछले जन्म के गुण-कर्मों के अनुसार ही अगला जन्म मिलता है ।

यदि कोई जन्म का शूद्र है और उसमें क्षात्र-धर्म की प्रवृत्तियों की ओर अधिक झुकाव है, तो वह इधर ही खिंचता आवेगा । धीरे-धीरे उसकी भावनाएँ सुपरिपक्व होंगी ; और तब उसका अगला जन्म शुद्ध क्षत्रिय के घर होगा । जहाँ उसे जन्म से ही अपनी भावनाओं के अनुकूल सब साधन मिलेंगे । तब वह पक्का क्षत्रिय होगा । पिछले समय में जो वीरता की खान क्षत्रिय हुए हैं, उनमें यही वर्ण-व्यवस्था कारण थी ।

लोगों का कहना है कि यदि किसी का जन्म वैश्य कुल में हुआ है; पर उसकी प्रवृत्ति क्षात्र-धर्म की ओर अधिक है, तो फिर हम क्यों उसे वैश्य-प्रवृत्तियों में ज़बरदस्ती अटकाए रहें ? क्यों न उसे क्षात्र-धर्म का पालन करने दें ? हम कहते हैं, अवश्य ऐसा होना चाहिए । वर्ण-व्यवस्था ने न तो कभी इसमें रुकावट डाली है और न डालती है । परशुराम ब्राह्मण होकर भी क्षात्र-धर्म की ओर प्रवृत्त थे और जनक क्षत्रिय होकर भी शुद्ध सात्त्विक ब्राह्मणत्व में निमग्न थे । ये अपवाद-स्वरूप हैं; यह बात हम पहले कह चुके हैं । अब भी वर्ण-व्यवस्था किसी को वैसे बंधन में जकड़ कर नहीं रखती । जिसकी मनोवृत्तियाँ जिस ओर पूर्ण वेग से झुक पड़ीं, वे फिर सहसा रुक नहीं सकतीं ; और यदि रुक गईं, तो फिर उनका उधर झुकाव पक्का न था ।

वर्ण-व्यवस्था में मनोवृत्तियों का नियम भी नहीं किया गया है । लिखा है, चारों वर्ण अपने-अपने काम करें । यह ठीक ही है । यदि ऐसा नियम न हो, तो अव्यवस्था हो जायगी । जब किसी प्राणी का जन्म अपने गुण-कर्म और संस्कारों के अनुसार वैश्य-वंश में हुआ, तो उसे वैश्य-वृत्ति और धर्म का ही अनुसरण करना चाहिए; क्योंकि वह उधर ही सफल हो सकेगा । कारण, उसकी मनोवृत्तियाँ उधर सुदृढ़ हैं, जिनके अनुसार उसका जन्म इस वंश में हुआ है । यदि कारणवश उसका मन क्षण भर के लिये क्षात्र-धर्म की ओर चला गया, तो उस उतावली करके चट उधर प्रवृत्त न हो जाना चाहिए । सोचना चाहिए कि यह क्षणिक वेग तो नहीं है, जो किसी कारण से उत्पन्न हो गया हो । ऐसा सोचकर मन को रोकना चाहिए । हमारा मतलब यही है कि प्रधान रूप से अपने धर्म को न छोड़े । भले ही, अपनी और-और प्रवृत्तियों के अनुसार कुछ इधर-उधर भी रहे । मान लीजिए, सेठजी के घर डाका आ धमके । अब सेठजी की मनोवृत्ति स्वभावतः उत्तेजित होकर राजस हो जायगी । उसमें तामस का भी सम्मिश्रण होगा और उसके अनुसार सेठजी के मन में क्षात्र-धर्म जागृत हो उठेगा । सेठजी की इच्छा होगी कि इन दुष्टों को मार भगाऊँ । ऐसे अवसर पर सेठजी को अपने हाथों में बंदूक़ लेकर दनादन दाग कर उन दुष्टों को मार भगाना चाहिए । सेठजी की यह क्षणिक मनोवृत्ति थी । सबमें सब प्रकार की—त्रिविध—मनोवृत्तियाँ रहती ही हैं । वे समय-समय पर अपना काम करती हैं । केवल एक गुण से या एक प्रकार की मनोवृत्ति से संसार का कुछ काम ही नहीं चल सकता और न कोई अपने धर्म की रक्षा ही कर सकता है । समय-समय पर सब प्रकार की भावनाएँ प्रादुर्भूत होती हैं और उनके अनुसार काम होता है । पर, व्यपदेश उन भावनाओं से ही होगा, जिनकी अधिकता होगी । सेठजी ने बहादुरी से बंदूक़ चलाकर दुष्टों को मार भगाया, इससे वे क्षत्रिय न बन जायँगे । वे तो लक्ष्मी के लाल वैश्य ही रहेंगे । कारण, उनकी वह भावना और कार्य क्षणिक थे, जो कारण-वश प्रकट हुए थे । उनकी वह भावना और कार्य स्थायी न थे ।

सबको अपनी-अपनी मनोवृत्तियों का नियमन करके वर्णाश्रमधर्म का पालन करना चाहिए । मन की वृत्तियों को रोका भी जा सकता है, और बदला भी जा सकता है । यदि किसी का जन्म क्षत्रिय-वंश में हुआ है ; पर वह क्षात्र-धर्म से विमुख है, तो उसे उसकी ओर झुकने का प्रयत्न करना चाहिए । वह उसका धर्म है । अपने धर्म का पालन न करने से दंड मिलता है । उसे अपना मन क़ाबू में करना चाहिए । इसके लिये अभ्यास अपेक्षित है । बार-बार मन उधर लगाओ—लग जायगा । मन

को निग्रह करने की दवा 'अभ्यास' ही भगवान् ने बतलाई है। यदि वह क्षत्रिय ऐसा अभ्यास न कर मन को क्षात्र-धर्म में प्रवृत्त न करेगा, तो दंड का भागी होगा।

इसे यों समझिए। एक सिपाही सेना में भर्ती हुआ। वह शत्रु की सेना से लड़ने भेजा गया। वहाँ उसके छक्के-पंजे छूट गए या झूठी दया आ गई और वह भाग खड़ा हुआ, तो उस सिपाही को पकड़कर दंड दिया जायगा। वह क्यों पहले सेना में भर्ती हुआ था। यदि हुआ, तो फिर क्यों नहीं अपने मन को क़ाबू में रखकर रण-भूमि में, प्राण हथेली पर रखे, डटा रहा। यही बात वर्ण-धर्म में है। जब कि किसी जीव ने शम-दम आदि में अपना मन लगाया, तब उसकी भावनाओं के अनुसार उसका जन्म ब्राह्मण के घर हुआ। अब वह केवल धन के पीछे पड़कर व्यापार-धंधे में ही लगा रहे और परमार्थ भुला दे, तो दंडनीय है। उसे अपना मन वश में करना चाहिए। पहले तो जिसकी भावनाएँ सुदृढ़ हैं, उसका मन दूसरी ओर जा ही नहीं सकता। भावनाओं की प्रबलता ही ऐसी है। अगर कारणवश उसका झुकाव दूसरी ओर होकर अपने धर्म से औदासीन्य होगा भी, तो थोड़ी देर में समझ-बूझकर या समझाने-बुझाने से ठिकाने आ जायगा। अर्जुन की प्रवृत्ति को श्रीकृष्ण ने ठीक ही कर दिया था। हाँ, यदि अन्य प्रवृत्तियों में अत्यधिक बल होगा, तब उनका रुकना कठिन है। ऐसे अपवाद कभी-कभी और कहीं-कहीं ही देखने में आते हैं। पर आजकल प्रवृत्तियों की संकरताओं की बहुत अधिकता है। इस वर्ण-संकरता का कारण शुद्ध रज और वीर्य से एक वर्ण की दंपति से सन्तानोत्पत्ति की कमी ही है। वर्ण-व्यवस्था के लिये स्त्री-पुरुषों में सदाचार की बड़ी ज़रूरत है। "स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।" वर्ण-व्यवस्था के पक्षपातियों को सदाचार का प्रचार पहले करना चाहिए।

इस जन्म तथा गुण-कर्म से वर्ण-व्यवस्था है। हमारे शास्त्रों में ऐसा ही प्रतिपादन है। यदि ऐसा न माना जाय, तो पुनर्जन्मवाद को बड़ा धक्का लगेगा; क्योंकि उसकी नींव इसी पर है। गुण-कर्मों के अनुसार ही पुनर्जन्म होता है। वह यों ही अटकलपच्चू नहीं हो जाता। हाँ, यदि रज-वीर्य में ही कुछ रद्दोबदल हो जाय, तब तो बात ही और है। ऐसे जन्मों में भी गुण-कर्म ही कारण हैं।

उपसंहार

यहाँ तक संक्षेप में वर्ण-व्यवस्था की कुछ बातों पर विचार हुआ। ऐसी-ऐसी और बहुत-सी बातें हैं, जिनके देने के लिये यहाँ अब गुंजाइश नहीं है। हमें उनकी वैसी ज़रूरत भी नहीं है। प्रधान-प्रधान बातें ये ही हैं।

हमारी वर्ण-व्यवस्था बड़ी सुंदर मनोविज्ञान के आधार पर है। दुनिया में कहीं भी ऐसी व्यवस्था नहीं है। इसमें जो दुर्गुण कालवश आ गए हैं, उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए, जिनमें छूआछूत का पचड़ा प्रधान है। इन दुर्गुणों को दूर कर फिर शुद्ध वर्ण-व्यवस्था का प्रचार आवश्यक है। चिलुओं के डर से कथरी ही जला डालना बुद्धिमानी नहीं है। इसमें नुक़सान है। लोग बेवकूफ़ बनाएँगे। चिलुओं को दूर करके कथरी साफ़ कर लो और उससे काम लो।

लोगों का ख़याल है कि वर्तमान वर्ण-व्यवस्था से संगठन में रुकावट आती है। यह अज्ञान है। जब वर्ण-व्यवस्था शुद्धरूप में प्रचलित थी, बड़ा अच्छा संगठन था। जब से वर्ण-संकरता बढ़ने लगी, इसमें विच्छेद होने लगा? वर्ण-व्यवस्था से तो संगठन में भारी मदद मिलती है। संगठन करने के लिये ही तो विभाग किए जाते हैं—यह सेना-विभाग है: यह शिक्षा-विभाग है और यह व्यापार विभाग है। शिल्प-विभाग का काम अलग ही चल रहा है। यह सब मिलकर क्या हुआ? ब्रिटिश साम्राज्य। देखिए—देश, प्रांत, ज़िला और तहसीलें आदि क्या हैं? साम्राज्यका विभाग यह विभाग, क्यों किया जाता है? संगठन के लिये। अन्यथा इतने बड़े देश का संगठन कैसे हो? तहसीलें ज़िलों में, ज़िले प्रांतों में और प्रांत देश में जुड़े हुए हैं। सब एक हैं। ऐसे ही संगठन होता है।

हमारी विशाल हिंदू जाति के संगठन के लिये वर्ण-विभाग बड़े काम का है। शूद्र भाई अपना प्रबल संगठन कर अपने पैरों पर खड़े हों। वैश्य भाई अपनी सभा-समितियों द्वारा अपना संगठन करके कुरीतियों को दूर करें। क्षत्रिय वीर अपनी सभा के बल पर अपने में एकता और वीरता का संपादन कर संघ-बद्ध हों और ब्राह्मण अपने समाज का संगठन कर विद्याबुद्धि बढ़ाएँ। इनके सब भेद उपभेद इनमें ही सम्मिलित हों। सम्भवतः वे अपना-अपना पृथक् संगठन करके भी इनसे जुड़े रहें। फिर ये सब हिंदू महासभा से, नियमितरूपेण, जुड़े रहें। प्रत्येक वर्ण की

सभा को हिंदू-महासभा से सम्बद्ध होना चाहिए और उसकी आज्ञा शिरोधार्य करनी चाहिए। वह सबकी है और सबके ऊपर है । इसी प्रकार सनातन-धर्म, आर्य-समाज और जैन तथा सिख, आदि धार्मिक सभाओं को भी हिंदू-महासभा से सम्बद्ध होना चाहिए। हिंदू महासभा इन सबका उचित अनुशासन करे। महासभा में इन सब वर्णों और मतांतरों की सभाओं के प्रतिनिधि उचित संख्या में रहें। कैसा सुंदर संगठन होगा। हम सब एक हिंदू जाति के हैं और हम सबकी एक सभा—हिंदू-महासभा है। सबका एक देश और एक विश्वास है। सब बराबर हैं। कोई बड़ा या कोई छोटा नहीं है। जो बड़े काम करे, सो बड़ा और जो छोटे काम करे, वह छोटा । वर्णों को जो काम दिए गए हैं, सब महत्त्व के हैं और एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। सब मिले-जुले हैं। इन कामों में कोई छोटा-बड़ा नहीं । सब सुंदर हैं । मनुष्य चोरी-जारी आदि कुत्सित काम करने से ही छोटा होता है। अन्यथा नहीं।

हमारे देश के अधिकांश लोगों को योरप की हवा लगी है। वे सब बातों में इस देश को योरप के रूप में ही देखना चाहते हैं। उनकी आँखों में वर्ण-व्यवस्था भी अखरती है। वे इसके तोड़ने के लिये भूरि-भूरि उद्योग भी कर रहे हैं। 'जात-पाँत तोड़क-मंडल' तक क़ायम हो चुके हैं। ये लोग केवल वर्ण विभाग ही नहीं, किंतु 'जात-पाँत' मात्र तोड़ना चाहते हैं। वर्ण-व्यवस्था के बाद हिंदुत्व पर इनकी नज़र है। हिंदू भी तो एक जाति है। इसे भी तोड़ा जाय। न तो दुनिया में कोई हिंदू रहे और न कोई धर्म; क्योंकि संसार के संगठन में इनसे रुकावट पैदा होती है। इस प्रकार इनकी आँखों में समस्त आर्य-व्यवस्था ही चुभती रहती है । हम इसके लिये इससे अधिक और इस समय कर ही क्या सकते हैं कि जग-न्नियन्ता जगदीश्वर से प्रार्थना करें कि भगवन्! हमारे इन बंधुओं को ऐसी बुद्धि दीजिए, जिससे ये अपने देश और धर्म की प्राचीन अवस्था-व्यवस्था के समझने में समर्थ हों। इनका मन इधर झुके । अपने प्राचीन भारत की वह आभा फिर लाने के लिये उतना प्रयत्न करें, जितना उसके विध्वंस करने में करते हैं।

किशोरीदास वाजपेयी

---

१. पृथ्वी का आकार

ह बात विवादग्रस्त है कि पृथ्वी का आकार कैसा है ? इस देश के पढ़े-लिखे लोग पृथ्वी को भले ही गोल—नारंगी-सी, जिसका ऊपरी और निचला हिस्सा कुछ धँसा हुआ और बीच का हिस्सा कुछ उभरा हुआ—मानें, किंतु अधिकांश लोग उसे ऐसा नहीं ानते। यह चाहे उनकी शिक्षा का दोष हो या पुरानी र्कीर को पीटते रहने के कारण हो। इधर पाश्चात्य ्शवाले भी अपना मत बदलने लगे हैं। कुछ वैज्ञानिक ब पृथ्वी को नारंगी-सी नहीं मानते। मैं यहाँ, थोड़े ा, पुराने समय से इस समय तक भिन्न-भिन्न लोग ृथ्वी को जैसा समझते आए हैं, उसका ज़िक्र करूँगा। िछे आजकल के वैज्ञानिकों का मत पाठकों के सामने ग्ँूगा। आशा है, इससे उनका मनोरंजन होगा।

आदि-काल के लोगों का विश्वास था कि पृथ्वी चौरस : और इसकी गहराई अनंत (Flatland of Infi- ìife depth) है। इसी पर सूर्य, आकाश, तारे आदि भी स्थित हैं। किंतु जब से लोग नावों पर बैठकर मुद्र के किनारों की सैर करने लगे, तब से उनका मत दला और वे इसे एक अज्ञात-विस्तार के समुद्र में तैरता हुआ मानने लगे—देखो चित्र नं० १। इसके बाद,

१. तैरती हुई पृथ्वी

इस विश्वास पर पहुँचने में लोगों को अधिक दिन नहीं लगा कि पृथ्वी एक वृत्त है और उससे बड़ी बड़ी मोटी

२. जड़ोंवाली पृथ्वी

जड़ें निकलकर उसे समुद्र में एक स्थान पर जकड़ी हुई हैं; (चित्र नं० २) इसलिये वह उस स्थान से दूसरे स्थान को नहीं जातीं।

कुछ पुराने लोगों का विचार था कि पृथ्वी बारह मोटे-मोटे खंभों पर स्थित है; (चित्र नं० ३) किंतु ये खंभे किस आधार पर खड़े हैं ? धार्मिक लोगों का कहना था कि यज्ञ, हवन, बलिदान आदि धार्मिक कृत्यों ही से ये खंभे खड़े हैं; इनके बिना वे एक क्षण भी नहीं ठहर सकते।

३. खंभों पर स्थित पृथ्वी

ईसा के पाँच सौ वर्ष पूर्व एक ग्रीक, ऐनेक्सिमैंडर, ने यह परिणाम निकाला था कि पृथ्वी नल-सदृश (Cylinder) है; (चित्र नं० ४)। जिसका व्यास

४. नल सदृश पृथ्वी

उसकी ऊँचाई का तिगुना है। यह आकाश-गुंबे के केंद्र में तैरता है। इसका सिर्फ़ ऊपर का हिस्सा आबाद था, जिसका उत्तरी भाग योरप और दक्षिणी भाग आफ़्रिका और एशिया था।

इसके कुछ ही दिन बाद प्लेटो ने प्रतिपादित किया कि पृथ्वी छः पहल है: (चित्र नं० ५) उनका कहना था कि ऐसे ही आकार की पृथ्वी मनुष्य के वास-स्थान के उपयुक्त है।
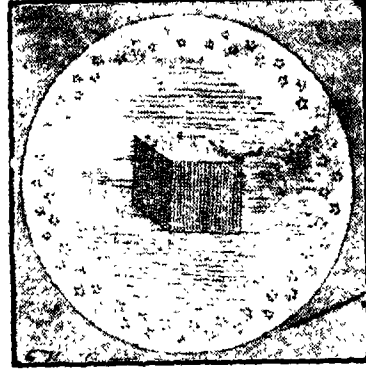
५. छः पहल की पृथ्वी

पाश्चात्य देशवालों के बहुत पहले से प्राच्य देशवाले पृथ्वी को गोलाकार मानते हैं; किंतु उनका विश्वास था कि पृथ्वी के उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों पर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं (चि० नं० ६)। इनमें उत्तरी ध्रुव के पहाड़ों
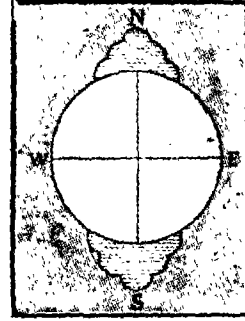
६- ध्रुवों पर ऊँचे पहाड़वाली पृथ्वी

पर देवता रहते हैं और दक्षिणी ध्रुव के पहाड़ों पर दैत्य। इसी संबंध में कुछ लोगों का ऐसा भी विश्वास था कि उत्तरी ध्रुव के पहाड़ पृथ्वी और स्वर्ग को मिलाने का काम करते थे (चित्र नं० ७) इसके अतिरिक्त वे ही अक्षरेखा का भी काम करते थे और इन्हीं के चारों ओर आकाशीय नक्षत्र घूमा करते हैं। प्राचीन हिंदुओं की धारणा थी कि पृथ्वी हाथियों की पीठ पर अवस्थित है। शायद वे पृथ्वी को गोल छिलके के सदृश मानते थे। यह छिलका चार हाथियों की पीठों पर उलटकर रक्खा हुआ है और हाथी एक कछुए की पीठ पर खड़े हैं।
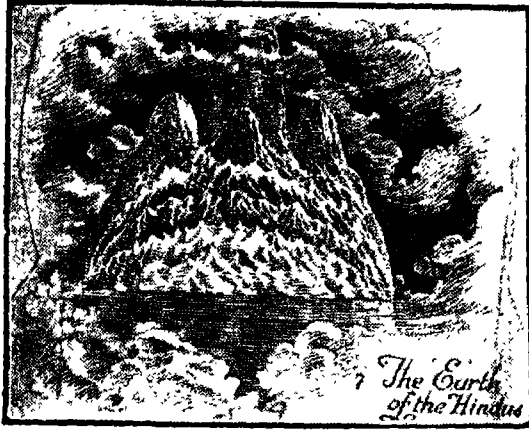
७. हिंदुओं की पृथ्वी

(चित्र नं० ८)। चारों हाथी, चार वायुओं के प्रति-स्वरूप हैं और विशालकाय कच्छपशक्ति, धैर्य, संतोष और मुक्ति का अवतार माना जाता है।
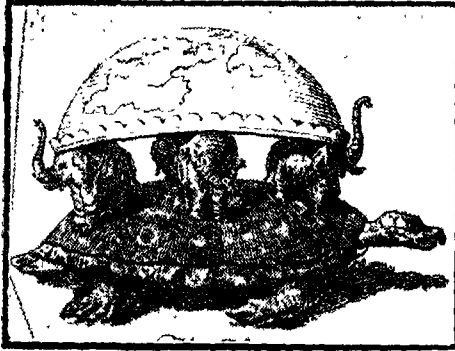
८. हाथियों पर पृथ्वी

पृथ्वी के आकार की एक और पुरानी धारणा है, उसे अंडे के आकार का मानना (चित्र नं० ९)। अरब का भौगोलिक एड्रिसी, जो ११वीं शताब्दी में था, इस अंडे अर्थात् पृथ्वी को आधा पानी में डूबा हुआ मानता था। जो हिस्सा पानी में डूबा हुआ था उसके विषय में लोग कुछ नहीं जानते थे। आठवीं शताब्दी का वेनरेबुल बीड़ी, जिसका मत एड्रिसी के मत से मिलता-जुलता था, पृथ्वी के आकार के विषय में यों लिखता है—"पृथ्वी एक मौलिक पदार्थ है जो दुनिया के बीच में उसी प्रकार है जिस प्रकार अंडे के बीच में उसका पीला हिस्सा। इसके चारों ओर समुद्र हैं जैसे
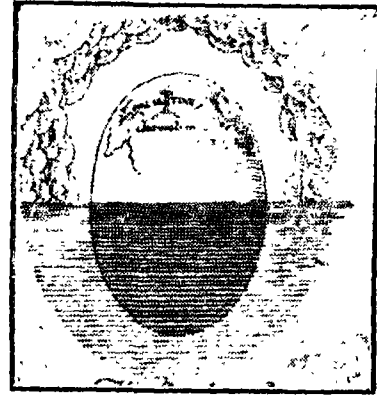
९. अंडाकार पृथ्वी

कि अंडे के पीले हिस्से के चारों ओर उजला भाग रहता है। अंडे के इस उजले हिस्से के ऊपर झिल्ली होती है, उसी प्रकार पृथ्वी के चारों ओर हवा है। जैसे सबके ऊपर छिलका होता है, उसी प्रकार वायु के ऊपर अग्नि है। पृथ्वी का वह हिस्सा जो जलते हुए सूर्य के ठीक सामने है, वहाँ लोग नहीं रहते। इसके दोनों किनारे इतने ठंडे हैं कि वहाँ मनुष्य निवास नहीं कर सकते। किंतु जो हिस्से नातिशीतोष्ण हैं, वहाँ मनुष्य रहते हैं। समुद्र, जिसमें पृथ्वी तैरती है, उसे दो हिस्सों में बाँटती है। ऊपरी हिस्से में हम लोग रहते हैं, किंतु हम लोग नीचेवाले हिस्से में नहीं जा सकते और न नीचे के हिस्से में रहनेवाले मनुष्य ही हमारे पास आ सकते हैं।"

दूसरी शताब्दी में, टोलेमी (Ptolemy) ने पृथ्वी को ख़रबूज़े या विलायती बैंगन के आकार का माना था (चित्र नं० १०)। ध्रुव बड़े समथल-भूमि के बीच के हिस्से हैं। इस सिद्धांत को अपना आदर्श मान-
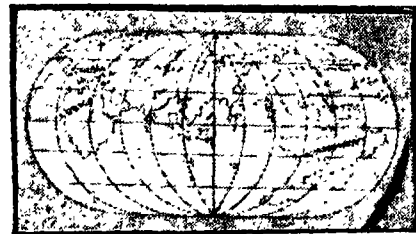
१०. ख़रबूज़े के आकार की पृथ्वी

कर १५२० ई० में पेपिपनस ने इसे पान के आकार का बतलाया। मध्य-युग के लोगों का विश्वास था कि

पृथ्वी ईश्वर का हृदय है (चित्र नं० ११)। कोलंबस का नाम सभी लोग जानते होंगे। इसने पृथ्वी को
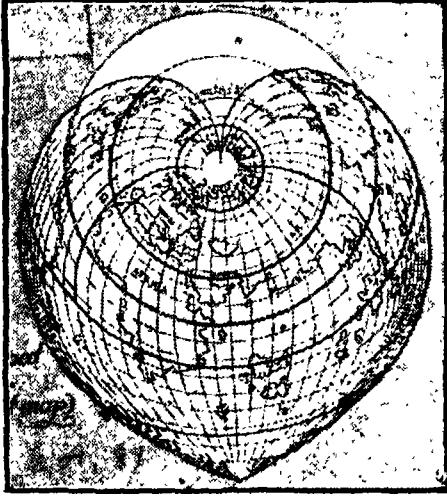
११. ताम्बूलाकार पृथ्वी

शंखाकार (Pear-Shaped) माना था (चित्र नं० १२)। पुरानी दुनिया जिसमें कोलंबस रहता था, गोलाकार था ; किंतु नई दुनिया में, जिसका उसने पता लगाया
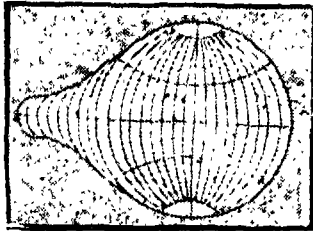
१२. शंखाकार पृथ्वी

था, विषुवत्-रेखा के पास ऊँचे पहाड़ थे। ये पहाड़ उत्तर से खसककर पश्चिम की ओर चले आए थे। पृथ्वी को उसने प्रायः नासपाती के आकार का माना था। डांटे की पृथ्वी को भी पहाड़ थे (चित्र नं० १३)। ये पहाड़ विषुवत्-रेखा से ३० डिग्री नीचे थे और उनके ठीक विपरीत दिशा में जेरुसलेम शहर था। ये दोनों पृथ्वी को ठीक-ठीक "बैलेंस" किए हुए थे।

अब और हाल के सिद्धांतों को लीजिए। १८१८ ई० में कैप्टेन जान क्लेम्ससिम्स ने पृथ्वी को कई गोलक
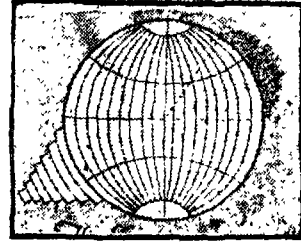
१३. नासपाती के आकार की पृथ्वी

(Spheres) बतलाया जिसके एक ही केंद्र हैं। (चित्र नं० १४)। १८२२ और १८२४ ई० में उसने यूनाइटेड स्टेट्स के कांग्रेस से दो ऐसे बर्तनों को देने के लिये प्रार्थना की जिनमें बैठकर वह पृथ्वी के अंदर जा सके। सिंस के सिद्धांतानुसार पृथ्वी और सभी तारे कई गोलकों के समूह हैं। ये गोलक बहुत कुछ ठोस पदार्थ हैं और इन सबों के केंद्र एक ही स्थान पर हैं। पृथ्वी कम-से-कम पाँच गोलकों से बनी हुई है। इन गोलकों के ऊपरी और निचले हिस्सों में मनुष्य रहते हैं। उत्तरी ध्रुव के पास का छिद्र व्यास में ४,००० मील और दक्षिणी ध्रुव का छिद्र व्यास में ६,००० मील होगा।

१४. कई गोलकों की पृथ्वी

१९१३ ई० में मार्शल गार्डनर ने "पृथ्वी के गर्भ की यात्रा" शीर्षक लेख में पृथ्वी का आकारसंबंधी अपना सिद्धांत प्रतिपादित किया था। उसका कहना है कि पृथ्वी एक खोखला पदार्थ है, जो ध्रुवों के पास खुला हुआ है और इसका छिलका ८०० मील मोटा है और इसके

भीतर भी एक सूर्य है (चित्र नं० १५)। ध्रुवों के पास जो छिद्र हैं उनका व्यास १,४०० मील है।
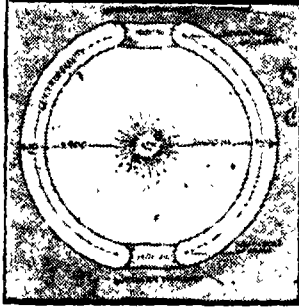
१५. खोखली पृथ्वी

(Astronomey to day) में थियोफाइल मोरे (Moreux)ने लिखा है कि पृथ्वी एक त्रिभुजाकार मीनार है (चित्र नं० १६)। इस सिद्धांत ने ज्योतिष के जितनी बातों का संतोषजनक उत्तर दिया है उतना और किसी सिद्धांत ने नहीं दिया है। यदि असली बात पूछी जाय तो आजकल का कोई भी वैज्ञानिक पृथ्वी को

१६. त्रिभुजाकार पृथ्वी

गोलाकार (Sphere) नहीं मानता। त्रिभुजाकार मीनारवाले सिद्धांत को सबसे पहले Lowthiangreen ने १८७५ में उठाया था। मोरे ने पुनः उसी का पक्ष लेकर संसार में हलचल मचा दिया है। अभी हाल में कैप्टेन जार्ज लिटिलहेल्स, यूनाइटेड स्टेट्स के एक इंजिनीयर जापान को गए हैं। वे चाहते हैं कि अन्य देशों की सहायता से वे पृथ्वी के ३/४ भाग—समुद्र—का नक़शा खींचे। जापान को रवाना होते समय इन्होंने कहा था कि पृथ्वी का दोनों भाग चौरस—छिला हुआ—है। और इसका बीच का भाग ख़रबूज़े का ऐसा उभरा हुआ है। यह एक अनिश्चित अक्ष पर घूमती रहती है।

निकेल और इस्पात के मिश्रण से एक धातु-मिश्रण बना है जिसे इनवार (Inwar) कहते हैं। यह पदार्थ किसी भी ताप-क्रम पर लोच नहीं होता। इसके द्वारा पृथ्वी के सतह का पहले से ठीक माप हुआ है और यह नतीजा निकला है कि कोई भी अक्षांश-*विषुवत् रेखा भी—वृत्त नहीं है।* इसलिये अब पृथ्वी को लोग न तो गोल (Sphere) समझते हैं और न अंडाकार (Sphervid)। वे इसे एक Gevid कहते हैं। Gevid क्या है? पृथिव्याकार पदार्थ और पृथ्व्याकार पदार्थ क्या है—एक Gevid। अभी तक किसी ने इसकी परिभाषा नहीं बतलाई है, इसलिये पृथ्वी का आकार अब तक अनिश्चित है।

× × ×

२. वैज्ञानिक आविष्कार

कुछ लोगों का कहना है कि विज्ञान की प्रगति आजकल इतनी तीव्र हो गई है कि उसका साथ देना मनुष्यों के लिये असंभव हो रहा है। कुछ आविष्कार तो एकदम बेफ़ायदे होते हैं। एक मनुष्य का कहना है कि यदि दस वर्ष तक वैज्ञानिकों को छुट्टी दे दी जाय तो मानव-समाज की भलाई है। इन दस वर्षों में किसी प्रकार का वैज्ञानिक आविष्कार या खोज न हो। एक दूसरा विज्ञान इस विषय पर अफ़सोस ज़ाहिर करता है कि आजकल के प्रधान-प्रधान आविष्कार का कोई उपयोग ही नहीं हो रहा है। उनका कहना है कि यद्यपि 'टेलिविजन' का आविष्कार हो चुका है, साधारण लोग यह नहीं जानते कि उसे किस प्रकार उपयोग में लावें। यद्यपि समुद्र के आरपार फ़ोटो आदि तार द्वारा भेजना संभव है, किंतु कितने फ़ोटो इस प्रकार भेजे जा रहे हैं? वैसे ही वायुयानों के विषय में भी आप कहते हैं कि जब तक रेल रहेगी, तब तक लोग वायुयानों को बहुत कम काम में लावेंगे। इस प्रकार की बहुत-सी बातें प्रतिदिन सभ्रांत मनुष्यों के मुँह से भी सुनाई पड़ती हैं। अब हमें इसकी सचाई पर विचार करना है।

पहलेपहल जब टेलीफ़ोन का आविष्कार हुआ था, तब लोग इसे लड़कों का खिलवाड़ कहकर हँसी उड़ाया करते थे। कोई इसका मूल्य नहीं समझता था, किंतु आज यह प्रत्येक घर का एक आवश्यकीय पदार्थ समझा जाने लगा है। इसकी जड़ मज़बूत बनाने में दस वर्ष लगे। यही बात टेलीग्राफ़ और फोनोग्राफ़ की भी थी। 'रेडियो' का सिक्का दस वर्ष में जमा और जब से रेडियो टेलिफ़ोन का आविष्कार हुआ, तभी से इसकी ख्याति चारों ओर फैली। रेडियो के प्रथम आविष्कार के बीस वर्ष बाद ऐसा हुआ। कोई भी ऐसा आविष्कार नहीं है, जो अपने आरंभ-काल में खिलवाड़, अव्यावहारिक या बेफ़ायदा न बतलाया जाता हो। कोई भी व्याव-हारिक आविष्कार एक कमी को दूर करता है। मानव-समाज को फ़ायदेमंद होता है, और किसी एक व्यक्ति के धन कमाने का साधन बनता है।

औसत दर्जे के मनुष्य सांसारिक उन्नति के बाधक होते हैं। वे छोटे-से-छोटे परिवर्तन का भी विरोध करते हैं। उन्हें किसी पदार्थ के फ़ायदे और गुणों को समझने में बहुत समय लगता है। मनुष्य में भी पशु-प्रकृति पाई जाती है; इसलिये उन्हें नए रास्ते पर चलाने में कठिनाई होती है। यही कारण है कि उपयोगी-से-उपयोगी पदार्थों का आविष्कार भी विरोध-रहित नहीं होता। हाँ, इसलिये यह न समझ लेना चाहिए कि इस समय वैज्ञानिकों की प्रयोगशालाओं से जितनी चीज़ें निकलती हैं वे सभी काम की होती हैं और सबका स्वागत किया जाय।

× × ×

३. आइनों का उपयोग

आइनों का उपयोग चेहरा देखने के लिये होता है, किंतु लोग यह नहीं जानते कि किस प्रकार का आइना व्यवहार करना चाहिए। वे तो यही समझते हैं कि आइना जितना ही बड़ा होगा चेहरा उतना ही बड़ा दिखलाई देगा। स्त्रियों के प्रसाधन-कार्य में आइना बड़ा सहायक होता है। सच पूछिए तो उनका काम बिना आइने के एक क्षण भी नहीं चल सकता। वे आइनों को इधर-उधर, दाहिने-बाएँ घुमा-घुमाकर अपना सारा चेहरा देखती हैं। इस विषय में भी वैज्ञानिकों को कुछ कहना है। अपना पूरा चेहरा आइने में देखने के लिये स्त्रियाँ अपने चेहरे की लंबाई और चौड़ाई को नाप लें और इसके आधे माप का आइना मँगा लें। ऐसे आइना में उनका पूरा चेहरा साफ़-साफ़ दिखेगा। इसमें विशे-षता यह है कि आइने में उसकी लंबाई-चौड़ाई दूने से अधिक देखना असंभव है। यदि आइना चार इंच लंबा है तो आप आठ इंच से अधिक नहीं देख सकते। अवश्य, यह मामूली आइने जिसके काँच चौरस होते हैं, उन्हीं के विषय में लागू है। यदि आइना छः इंच का है, तो आपके चेहरे के अतिरिक्त शरीर का और हिस्सा भी नज़र आवेगा। इसलिये अपने चेहरे के माप के आधे माप का ही आइना व्यवहार करना चाहिए।

× × ×

४. शराब पीने की पहचान

शराब पी लेने के बाद, अपनी स्त्रियों की झिड़कियों से बचने के लिये विलायत के पुरुष सिगार आदि पीकर शराब की गंध को सर्वथा दूर कर देते हैं। इसलिये उनके मुँह से शराब की बदबू तो नहीं निकलती, किंतु पैसों का नुक़सान होता है। स्त्रियाँ भी एक चालाक ठहरीं। वे एक बोतल में गंधक का तेजाब और पोटा-शियम डाइक्रोमेट मिलाकर रख लेती हैं। पति के बाहर से लौट आने पर वे उनसे इसी बोतल में फूँकने को

१७. शराब पीने की परीक्षा

कहती हैं। यदि बोतल से 'क्लोरोफ़ार्म' की बू निकलती है तो स्त्रियाँ समझ लेती हैं कि उनके पति ने शराब पी है।

× × ×

५. गजब का 'कैमरा'

सेनेकटैड़ी के बिजली की प्रयोगशाला में फ़ोटो लेने का एक ऐसा 'कैमरा' बना है, जो एक सेकेंड के लाखवें भाग में जो घटनाएँ होती हैं, उसका फ़ोटो ले लेता है। इस 'कैमरे' का उपयोग आकाश की बिजली का फ़ोटो लेने में होता है। इन फ़ोटों से कई प्रकार की वैज्ञानिक खोज होने की संभावना है। कैमेरे का चित्र नीचे दिया जाता है।

१८. गजब का कैमरा

× × ×

६. बड़ों के लिये पलना

बच्चों को पलने पर सुलाकर झुलाने से उन्हें नींद आ जाती है। एक अँगरेज़ वैज्ञानिक, सर ऐलफ्रेड यारो के अनुरोध पर नैशनेल फ़िजिकेल लायबोरेटरी ने, इसी सिद्धांत पर एक चारपाई बनाई है। चारपाई बिजली के मोटर से हिलाई जाती है; प्रति मिनट अस्सी बार चारपाई हिलती है। कहा जाता है कि इस चारपाई पर सोने से अनिद्रा-रोग दूर हो जाता है।

१९. बिचित्र पलना

× × ×

७. विद्युत् और कृषि

विद्युत् का व्यवहार संसार के सभी कामों में हो रहा है। अब उसका प्रयोग कृषि-क्षेत्र में भी भिन्न-भिन्न प्रकार से होने लगा है। स्विट्ज़रलैंड के कृषि-विभाग ने बिजली द्वारा खेती करने का एक नया तरीक़ा निकाला है। निकोलिन नामक धातु-मिश्रण (यह मिश्रण निकेल और लोहे को मिलाकर बनाया जाता है) के तार खेतों में बिछा दिए जाते हैं और उनसे बिजली की धारा प्रवाहित की जाती है। निकोलिन विद्युत्-रोधक पदार्थ
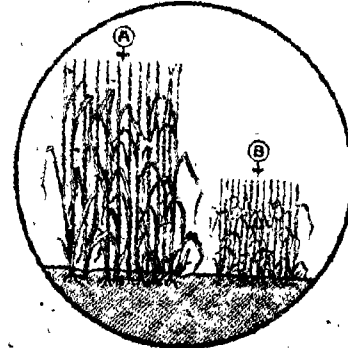
२०. विद्युत् और कृषि

है, इसलिये विद्युत् उससे आसानी से नहीं प्रवाहित होती और फल यह होता है कि तार और उसके आस-पास की ज़मीन गरम होने लगती है। इससे ज़मीन के दुष्ट कीटाणु, घास, आदि नष्ट हो जाते हैं। इससे फ़सल की पैदावार बढ़ जाती है। ऐसा भी देखा गया है कि इस प्रकार की ज़मीन में अंकुर उपजने में साधारण ज़मीन से केवल $\frac{1}{6}$ ही समय लगता है। साधारण ज़मीन से इस प्रकार की ज़मीन में फ़सल एक महीना पहले ही पककर तैयार हो जाती है।

श्रीरमेशप्रसाद

सोंठ

संसार में भारतवर्ष, वेस्ट इंडीज और पश्चिमीय अफ़्रीका सोंठ की पैदावार के मुख्य स्थान हैं। यहीं से सब देशों के लिये सोंठ का निर्यात होता है। आज-कल सबसे अच्छी सोंठ जेमैका में पैदा होती है। समस्त पैदावार की दृष्टि से भारतवर्ष की सोंठ कुछ हल्की होती है; किंतु कालीकट की सोंठ का मूल्य जेमैका के बराबर होता है। साइरालियोन की सोंठ बहुत हल्के दर्जे की होती है, पर ग्रेट ब्रिटेन में इसी सोंठ की खपत है। अब कुछ दिनों से ग्रेट ब्रिटेन में अच्छी सोंठ की माँग बढ़ रही है। इसलिये जो देश इस व्यवसाय में उन्नति करना चाहते हैं उन्हें अपने देश में अच्छी सोंठ की पैदावार बढ़ानी चाहिए। भारतवर्ष के व्यापारियों के लिये यह अच्छा अवसर है कि वे अच्छी सोंठ की नई माँग से लाभ उठावें। यह लाभ उठाने के लिये भारतवर्ष में अच्छी सोंठ की पैदावार बड़ी शीघ्रता से बढ़ना चाहिए। वर्तमान नए वैज्ञानिक उपायों के प्रयोग से इसकी पैदावार बढ़ सकती है।

सोंठ—या अदरक का पौदा सीधा लगता है। वह दो फ़ीट तक ऊँचा होता है। धड़ के बीच-बीच में डालियाँ लगती हैं। इसके तने ज़मीन के अंदर तक फैलते हैं। अदरक ज़मीन के अंदर पैदा होती है। इसकी अच्छी पैदावार के लिये उपयुक्त वर्षा और उगने के समय अधिक गर्मी होनी चाहिए। जिस ज़मीन में अधिक वर्षा होती है, वहाँ इसकी पैदावार अच्छी होती है।

इसका पौदा सीधा लगता है। वह दो फ़ीट तक ऊँचा होता है, और इसके धड़ के बीच-बीच में डालियाँ लगती हैं।

जेमैका की अदरकवाली ज़मीन में वर्ष भर में ८८ इंच की वर्षा होती है। किंतु भारतवर्ष के दक्षिण पश्चिम के प्रांतों में १०० इंच से भी अधिक वर्षा होती है। बीज बोने और खेत ठीक करने के समय सूखा मौसम होना अच्छा है, जिससे कि ज़मीन दुरुस्त करने में कोई कठिनाई न पड़े। पर यह कोई आवश्यक नहीं है। इसकी पैदावार के लिये अधिक गर्मी होनी चाहिए। पर इससे यह न समझ लेना चाहिए कि इसकी उपज उन्हीं प्रांतों में होगी, जहाँ अधिक से अधिक गर्मी पड़ती हो। जिस स्थान में अधिक से अधिक ताप और सूर्य का प्रकाश पड़ता है, वहाँ इसकी पैदावार बढ़ने में कोई भी कठिनाई नहीं है। कारण, शीतकाल आने के पूर्व ही अदरक खोद ली जाती है। इसकी पैदावार के लिये अच्छी उपजाऊ ज़मीन होनी चाहिए। जल भरी हुई या कँकरीली ज़मीन में अदरक नहीं पैदा होती है। साग पैदा होनेवाली ज़मीन में अदरक बोई जा सकती है। खेतों की क्यारियों में कहीं पानी न रुकने पावे; क्योंकि

पानी के इकट्ठा होने से पौदों के सड़ने की आशंका रहती है। जेमैका में अदरक बालूवाली चिकनी मिट्टी में पैदा होती है। भारतवर्ष में काली मिट्टी की ज़मीन में जो अदरक पैदा होती है, वह बालूवाली मिट्टी से हल्की होती है। ज़मीन में बालू का अंश तीस प्रति सैकड़ा से अधिक न होना चाहिए। पर मिट्टी भी बीस प्रति सैकड़ा से अधिक न हो। जेमैका में पैदावार बढ़ाने के लिये ज़मीन में अच्छी खाद देते हैं। चिकनी मिट्टी के मिश्रण में दस-दस सैकड़े के अनुपात से फासफरस, अमोनिया और सोडा मिलाने से बहुत अच्छी खाद तैयार होती है। यह खाद एक एकड़ ज़मीन में एक टन के बराबर होती है। जेमैका की जिस ज़मीन में अदरक नहीं पैदा होती थी, वहाँ भी इसके खाद के डालने से पैदावार हुई है। भारतवर्ष में लोग खली और गोबर की खाद देते हैं। उगने के समय अंडी की खली देने और पत्तियाँ रखने से ज़मीन अच्छी हो जाती है। भारतवर्ष में अदरक १० से १२ फ़ीट लम्बी और ३ से ४ फ़ीट चौड़ी ज़मीन की क्यारियाँ बना कर बोते हैं। इस प्रकार क्यारियाँ बनाकर वृक्षों की पत्तियाँ या हरी घास वग़ैरह से ज़मीन को ढँक देते हैं, जिससे कि वह नर्म बनी रहे। वर्षा के उपरांत खेतों को दुरुस्त करते हैं। बोने के पहले फिर ज़मीन को अच्छी तरह से जोत लेना चाहिए। जेमैका में एक हज़ार से पंद्रह सौ पौंड तक सोंठ एक एकड़ ज़मीन से निकलती है। पर अच्छी अवस्था में दो हज़ार पौंड तक निकलती है। भारतवर्ष के प्रांतों की पैदावार अत्यंत भिन्न है। बंगाल में एक एकड़ ज़मीन में १००० से १५०० पौंड तक पैदा होने का औसत है। किंतु पंजाब में २१०० पौंड और ट्रावनकोर में २००० से २५०० पौंड तक की पैदावार है। बंबई प्रांत के सूरत आदि ज़िलों में, जहाँ खेती अभी प्रयोग के रूप में आरंभ की गई है, वहाँ की पैदावार ८००० पौंड प्रति एकड़ है। प्रायः चार हज़ार टन अदरक से एक टन सोंठ तैयार होती है। इससे अदरक की पैदावार का अनुमान लगाया जा सकता है।

अदरक के पौदों में कीड़े लगते हैं और उनमें बीमारी पैदा हो जाती है। फलवाले वृक्षों के कीड़ों से पौदों को बचाना चाहिए। पर रंगपुर (बंगाल) में तो मक्खियाँ शाखाओं को बहुत हानि पहुँचाती हैं। दक्षिण भारत में कई प्रकार की मक्खियाँ पौदे नष्ट कर देती हैं। इसके अतिरिक्त पौदों में बीमारी फैलने पर उनकी पत्तियाँ पीली पड़ जाती हैं। धीरे-धीरे धड़ का रंग भी बदलता है, और वे कुछ समय उपरांत नष्ट हो जाते हैं। भारतवर्ष में इस रोग की पहचान श्रीयुत बटलर महाशय ने पहले-पहल सूरत में की थी। बीमारी फैलने पर रोगी पौदों को हटाकर जला देना चाहिए और उस ज़मीन में चूना या सलफ़ेट ऑफ़ आयरन डालना उपयोगी है। अभी कुछ समय से अदरक के पौदों में एक नई बीमारी पैदा होने लगी है। यह बीमारी गोदावरी ज़िले से आरंभ हुई है। वर्षा में यह फैलती है। यह पत्तियों को पीला कर जड़ को कमज़ोर कर देती है। पर शीतकाल के आ जाने से बीमारी जाती रहती है। इस बीमारी से पौदों को बचाने के लिये बोरडेक्स का मिश्रण व्यवहार में लाना चाहिए।

सोंठ का सब मसालों से अधिक उपयोग होता है। चटनी, अचार और मुरब्बे आदि में सोंठ पड़ती है। इसकी शराब भी बनती है। औषधि के लिये तो इसकी सबसे अधिक खपत है। इसका तेल भी तैयार होता है। कई सुगंधित तेलों में इसका अर्क़ मिलाया जाता है। इसके तेल को लोग पीते भी हैं। यूनाइटेड किंगडम में अच्छी सोंठ की माँग शराब आदि के लिये अत्यंत बढ़ रही है। विदेशी दवाइयाँ भी इससे तैयार होती हैं। पर ये सब वस्तुएँ अच्छी सोंठ से बढ़िया तैयार होती हैं, इसलिये विदेश में साइरालियोन की हल्दी सोंठ के स्थान पर जेमैका और भारतवर्ष में सोंठ की माँग निःसंदेह बढ़ेगी।

जेमैका, भारतवर्ष और साइरालियोन से युद्ध के पूर्व और आजकल इँगलैंड में सोंठ का आयात इस प्रकार है—

सन्	हंडर	पौंड
१६१२	६५५२६	१३१६४५
१६१३	३६२७५	७२८१२
१६२१	२३५६७	७३६६४
१६२२	३८८५५	१२८६८५
१६२३	३००५४	१३१२५२
१६२४	४६८७७	२१०१६६
१६२५	५०३७०	१८६७५३

इन अंकों से यह प्रकट होता है कि इँगलैंड में सोंठ की माँग किस तेज़ी से बढ़ रही है। इस संबंध में इँगलैंड के ख़ास-ख़ास व्यापारियों की यह राय है कि अच्छी सोंठ की माँग लंदन के बाज़ार में सदैव बनी रहती है। निश्चय ही विदेश में बढ़िया सोंठ बहुत बिक सकती है। हमारे इस कथन की पुष्टि नीचे के विवरण से हो सकती है—

देश	वज़न (हंडर)	दाम (पौंड)
सायरालियोन	१७२९१	६१४८३
भारतवर्ष	१६२८८	६९४९१
वेस्ट इंडीज	७२६३	५३३८७
अन्य देश	५७३९	२४४९७
कुल	४६८७७	२१०१९९

इसके अतिरिक्त अमेरिका में इन सभी देशों से इस प्रकार सोंठ का आयात हुआ है—

	हंडर	डालर
१९१२—१३	६९२५१	३९९२७०
१९२२	५२९५५	६०४६५९
१९२५	३८०८३	६०९५४२

सोंठ के उत्पादन में अन्य देशों की अपेक्षा जेमैका ने अच्छी उन्नति की है। यहाँ इसकी खेती बग़ीचे के रूप में होती है। यहाँ से भिन्न-भिन्न देशों में सोंठ का निर्यात इस प्रकार होता है—

सन्	इँगलैंड	अमेरिका	आस्ट्रेलिया	कनाडा	कुल निर्यात	कुल मूल्य
१९१२	१३२१२	९३००	२५५	१९८९	२५२१४	४८०३८
१९१३	९८४७	८७००		२०८४	२०६३८	३६३७४
१९२१	२५७७	६९३२	७२	१९००	१२३६१	६३३५०
१९२२	५५३२	६५५२	३७३	४८२	१३१६२	९०१६१
१९२३	५९९३	८१७१	१४१४	१०६४	१७११८४	११२६०१
१९२४	७१३२	५७२२	६१२	१७९१	१५४५७	९३६६९
१९२५					२१२९७	६८६८४

भारतवर्ष में कालीकट, कोचीन, सूरत, थाना, रंगपुर और कुमाऊँ आदि जगहों में अधिक सोंठ पैदा होता है। भारतवर्ष में ही सोंठ का बहुत अधिक खपत है, किंतु निर्यात भी अधिक है। पिछले कई वर्षों से व्यापारियों की उदासीनता के कारण निर्यात व्यवसाय घट गया है। भारतवर्ष के निर्यात का ब्योरा इस प्रकार है—

सन्	वज़न	मूल्य (पौंड में)
१९१२-१३	८८८४५	१५८४२५
१९१३-१४	८२२७३	१२२६६१
१९२१-२२	७४४६३	१९६११०६
१९२२-२३	५१९४६	०७७९८५१
१९२३-२४	४५७६५	२०३४४२५
१९२४-२५	३६७७८	२७४६२४२
१९२५-२६	३२५६६	१७५०९९८

सोंठ का अधिक भाग बंबई और मद्रास के बंदरगाहों से निर्यात होता है। बंबई की सोंठ हल्की होती है, और उसकी खपत अदन आदि स्थानों में ही ज़्यादातर होती है। मद्रास की सोंठ का निर्यात इँगलैंड और अमेरिका के लिये होता है। इसका अधिक भाग सीलोन भी जाता है।

१९२४–२५ में भारतवर्ष के कुल निर्यात में बंबई का हिस्सा २३६३६ हंडर और मद्रास का ११६९६ हंडर था, जिसमें से ६३७५ हंडर इँगलैंड, २१३२ हंडर अमेरिका और १०५१ हंडर माल सीलोन गया था।

सायरालियोन के पैदावार की इँगलैंड में ही अधिक खपत होती है। कनाडा अब उसका नया ग्राहक बना है। निम्नलिखित विवरण से यहाँ के तीन वर्षों का निर्यात प्रकट होता है—

	१९२३		१९२४		१९२५	
देश	हंडर	पौंड	हंडर	पौंड	हंडर	पौंड
इँगलैंड	३४१६	६५५२	१३६४१	३६५२४	२४९२०	६२२००
अमेरिका	२४३८४	३९५९४	२४८३९	६६३८७	२१४११	५१६७०
फ्रांस					२२२९	४७४५

इसके अतिरिक्त मलाया, सालोन, फिजी, क्वीन्सलैंड, सेंटलूसिया, बारबेडोस, माटसेटट और डोमिनिका आदि देशों में भी केवल स्थानीय खपत इतनी भी अदरक नहीं पैदा होती है। ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर जापान में भी सोंठ पैदा होती है और न्यूयार्क के बाज़ार में उसका भाव निकलता है। आश्चर्य तो इस बात का है कि जिस भारतवर्ष में अच्छी-सी-अच्छी चाहे जितनी सोंठ पैदा हो सकती है, उस देश में उल्टे जापान से माल आता है। जापान की सोंठ के अमेरिका और भारतवर्ष दो ही प्रधान ग्राहक हैं।

१९१७ और १९१८ में जापान की सोंठ का निर्यात ६३७८००० पौंड और ७८८३००० पौंड का हुआ था। १९२० से जापान की व्यवसाय-तालिका में सोंठ के व्यवसाय के अंक सम्मिलित प्रकाशित होते हैं। आजकल जापान का निर्यात बहुत घट गया है। १९२४ में केवल ३४४६५ पौंड का निर्यात हुआ था। भारतवर्ष में जापान की सोंठ का आयात अब तक इस प्रकार हुआ है—

सन्	पौंड
१९१७—१८	२२८६३६८
१९२१—२२	४५४२२
१९२२—२३	९४५३९२
१९२३—२४	१३४०७५२
१९२४—२५	८१८९४४

नीचे के विवरण में लंदन के बाज़ार में सोंठ के मूल्य की घटा-बढ़ी प्रकट होती है—

स्थान	श्रेणी		मूल्य की घटा-बढ़ी—(प्रति हंडर में) १९२४ शि०—पें०	१९२५ शि०—पें	१९२६ शि०—पें०
जेमका	अच्छी से एकदम बढ़िया	ऊँचा	१७०—१८५	१५०—१८०	१३५—१४५
		नीचा	१७०—१८०	१३५—१४५	८५— ९५
	साधारण से मध्यम तक	ऊँचा	१४५—१७०	१३५—१४५	१२५—१३०
		नीचा	१४०—१६०	१२०—१३०	६०— ७५
कालीकट	मध्यम से बढ़िया तक	ऊँचा	१३५—१४५	१४५—१५०	१४५—१५०
		नीचा	१२०—१२५	१३५—१४५	१४५—१५०
	साधारण से मध्यम तक	ऊँचा	१२०—१३०	१३०—१४०	१३०—१४०
		नीचा	१००—११५	१२०—१३०	१२०—१३५
कोचीन	हल्की से बढ़िया तक	ऊँचा	८५—९५	९५—१०५	९५—१०२ शि० ६ पें०
		नीचा	८०—९०	९५—१०२	६०—८५
	साधारण से मध्यम तक	ऊँचा	९०	९०	७५
		नीचा	७०—७५	७५	५०
जापान		ऊँचा	१००	१००	८०
		नीचा	९०	८२ शि० ६ पें०	५५
अफ़रीका		ऊँचा	९०	८५-८७ शि० ६ पें०	५२ शि० ६ पें०
		नीचा	८२ शि० ६ पें०	५८	३२ शि० ६ पें०

इन अंकों से यह प्रकट होता है कि अन्य देशों की सोंठ का मूल्य घटने पर भी कालीकट की, सोंठ के अब भी अच्छे दाम मिलते हैं। भारतवर्ष के व्यापारियों को विलायती अढ़तिए, और दलालों के भरोसे पर न रहकर विदेशी बाज़ारों से सीधा संबंध स्थापित कर व्यवसाय करना चाहिए, उन्हें विदेशी बाज़ारों की हर समय पूरी ख़बर रहनी चाहिए। जिन कारणों से भारतीय माल की खपत न होती हो, उन्हें भी दूर किया जाय। कोई कारण नहीं है कि जब लंदन में अच्छी सोंठ की माँग बढ़ रही हो, तब भी भारतीय व्यापारी दूसरों के भरोसे पर बैठे रहें। सायरालियोन के आगे भारतवर्ष के मालकी लंदन में अच्छी खपत होगी। फिर इम्पीरियल प्रिफ़रेंस के नीति जारी होने से भी भारतीय माल की माँग होगी। इस संबंध में भारतीय व्यापारियों का यह कर्तव्य है कि वे सीधे निर्यात कर अच्छे समय में अपना माल बेंचे। यदि वे इस नफ़े में से किसानों को अधिक दाम देंगे, तो निश्चय ही अच्छी पैदावार बढ़ने में देर नहीं लगेगी। व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता के इस अवसर पर यदि भारतीय व्यापारियों ने उपेक्षा की तो जिस प्रकार चीन में हमारा सूत का व्यापार नष्ट हो गया, उसी प्रकार यह भी नष्ट हो जायगा। कारण, लंदन की अच्छी सोंठ की माँग के कारण अन्य देश अवश्य ही अच्छी सोंठ की पैदावर बढ़ावेंगे।

जी० एम० पथिक

देहात में दूध का व्यवसाय *

रतवर्ष के अधिकांश प्रांतों के किसान साल में पाँच छः महीने बेकार रहते हैं। देश के उन प्रांतों में, जहाँ रबी की फ़सलें होती ही नहीं हैं, क़रीब-क़रीब सभी किसान ख़रीफ़ की फ़सलें आ जाने पर बेकार बैठे रहते हैं। उत्पादक धंधों के अभाव में ये लोग इन फ़ुरसत के दिनों में कमाई नहीं कर सकते हैं। इसलिये यह ज़रूरी है कि देहातों में कुछ ऐसे व्यवसाय चलाए जायँ जिनके कारण ये लोग फ़ुरसत के दिनों में काम धंधा करके दो पैसे कमा सकें, जिससे उनके ग़रीबी के संसार को कुछ सहायता मिले। बंगाल में गृह-शिल्प का प्रचार हो रहा है। महात्मा गांधी खादी का प्रचार कर रहे हैं। दूध का व्यवसाय भी एक ऐसा धंधा है, जिसे काश्तकार लोग भले प्रकार करके दो पैसे कमा सकते हैं। कई प्रांतों में बैलों का व्यापार होता है। किंतु यदि दूध का व्यवसाय भी चला दिया जाय, तो ग़रीब किसानों को बहुत कुछ लाभ हो सकता है।

भारत में दूध का बहुत अधिक मूल्य माना जाता है। भारतीयों के भोजन में दूध का एक विशेष स्थान है।

* इंडियन साइंस कांगरेस में पढ़े हुए एक अँगरेज़ी लेख के आधार पर।—लेखक

परंतु परिताप का विषय है कि दूध के व्यवसाय की ओर आज तक हम लोगों ने दृष्टिपात ही नहीं किया है। यदि यह व्यवसाय सुसंगठित रूप से दृढ़ नींव पर स्थापित कर चलाया जाय, तो किसानों की आय में वृद्धि हो सकती है, और साथ ही कई लोगों की उपजीविका भी चल सकती है।

संसार के सभी देशों में, जहाँ दूध के व्यवसाय (dairyng) ने अत्यधिक उन्नति की है, हरएक किसान गायों के भरण-पोषण की ओर बहुत ज़्यादा ध्यान देता है। उन देशों में गोपालन और उनकी नस्ल सुधारने का प्रयत्न किया जा रहा है। उन देशों में देहातों के मक्खन के कारख़ाने दूध बेचने और दूध से बननेवाले दूसरे पदार्थों के तैयार करके बेचने का कार्य सफलतापूर्वक कर रहे हैं।

देहातों में दूध के कारख़ानों का जारी होना नितांत आवश्यक है। क्योंकि दूध एक ऐसा पदार्थ है, जो दुहने के तीन-चार घंटे बाद ही ख़राब हो जाता है। इसलिये बड़े-बड़े शहरों में स्थापित कारख़ानों में इतने थोड़े समय में पहुँचाना संभव नहीं है। इसके अलावा पैकिंग आदि में भी बहुत ज़्यादा ख़र्च बैठता है। दूध में प्रतिशत ८५ जल रहता है। ऐसे जलमय पदार्थों को शहरों में पहुँचाने का ख़र्च, दूध में पाए जानेवाले केसीन, मक्खन आदि की क़ीमत से बहुत ज़्यादा हो जाता है।

देहातों में बहुत से किसान ऐसे हैं, जो अपनी आव-

श्यकता पूर्ण करने के बाद बहुत थोड़ा दूध बचा सकते हैं। हरएक किसान के लिये थोड़े से दूध से मक्खन, केसीन आदि बनाकर मुनाफ़े पर बेचना मुमकिन नहीं। और न हरएक किसान को विशेषज्ञों की सलाह और अनुभव से फ़ायदा उठाने का मौक़ा ही मिल सकता है। यदि पाँच-पाँच सात-सात मील के घेरे में बसे हुए गाँवों से दूध इकट्ठा करके कारख़ाने में माल तैयार किया जाय, तो दोनों को ही—किसानों और कारख़ानेवालों को—लाभ हो सकता है।

डेनमार्क, हालैंड, आयर्लैंड, न्यूज़ीलैंड, अमेरिका और केनाडा के देहातों में दूध के कारख़ानों ने बहुत कुछ उन्नति की है और इससे उन देशों के किसानों को भी अच्छा लाभ पहुँचा है। भारत के देहातों में भी ये कारख़ाने सफलतापूर्वक चलाए जा सकते हैं। इन कारख़ानों के जारी हो जाने से किसानों की साम्पत्तिक अवस्था में सुधार होगा। इतना ही नहीं, वरन् साथ ही बेकारी का सवाल भी आप ही आप हल हो जायगा। इससे ज़मीन की उर्वराशक्ति को बढ़ाने में भी सहायता मिलेगी। और ढोरों की नस्ल भी सुधर जायगी।

बेढंगी कृषि-पद्धति के कारण ज़मीन की ताक़त घटती जा रही है। इसका कारण है, खाद की कमी। दूध के कारख़ानों के शुरू हो जाने से देहातों में खाद की उतनी कमी नहीं रहेगी।

दूध से बननेवाले पदार्थों के तैयार करने के कारख़ानों के जारी हो जाने से लोगों को अच्छी गाएँ पालने के लाभ मालूम हो जायँगे, जिससे आप ही आप उनकी प्रवृत्ति गायों-भैंसों की नस्ल सुधारने की ओर हो जायगी। परिणाम यह होगा कि इने-गिने वर्षों में ही अच्छे पशु मिलने लग जायँगे। और देश में दूध-दही की नदियाँ बहने लगेंगी।

भारत में दुधारू पशु देहातों में ही पाले जाते हैं। अतएव यहाँ की परिस्थिति डेयरिंग के पूर्णतया अनुकूल है। किसी केंद्रस्थ ग्राम में कारख़ाना खोलने से अच्छी सफलता प्राप्त हो सकती है। पश्चिमी देशों में कारख़ाने तक दूध पहुँचाने में बहुत ज़्यादा ख़र्च लगता है। भारत में यह ख़र्च बहुत ही कम बैठता है। यदि किसी बड़े गाँव में मुख्य कारख़ाना खोला जावे और उसकी शाखाएँ भिन्न ग्राम-समूह के मध्य में जारी कर दी जावें, तो माल लाने का ख़र्च भी बहुत कुछ कम हो सकता है।

भारतवर्ष के लिये डेनमार्क का अनुकरण करना विशेष लाभदायक होगा। ये कारख़ाने सरकारी तत्त्व पर सफलतापूर्वक चलाए जा सकते हैं। यदि रेलवे लाइन नज़दीक हो, तो तापक्रम घटाकर दूध को शहरों में भेजने का व्यवसाय उत्तमतापूर्वक किया जा सकता है। चीज़ (cheese) मक्खन, घी आदि बनाने के कारख़ाने देहातों में भले प्रकार चल सकते हैं। यदि संभव हो तो इन कारख़ानों में केसीन भी बनाया जा सकता है। आजकल भारतवर्ष में प्रतिवर्ष हज़ारों मन जमा हुआ दूध (condensed milk) विदेशों से आता है। इसके कारख़ाने भी सफलतापूर्वक चल सकते हैं। ये कारख़ाने अलग-अलग भी जारी किए जा सकते हैं और यदि मुमकिन हो, तो एक बड़ा कारख़ाना इन सभी पदार्थों के, या इनमें से कुछ पदार्थों के तैयार करने का काम हाथ में ले सकता है।

भारत में घी, मावा आदि बनाया तो जाता है मगर इन पदार्थों के तैयार करने की रीति बेढंगी है और छाछ या मलाई निकाल लेने पर बचे हुए दूध का (Skim milk) बिलकुल ही उपयोग नहीं किया जाता है। ये पदार्थ फेंक दिए जाते हैं। इन पदार्थों का उपयोग किया जाने लगे, तो कारख़ाने के लाभ में कुछ वृद्धि अवश्य ही हो सकती है।

ऊपर के विवेचन पर से यह बात साबित हो जाती है कि किसानों की साम्पत्तिक अवस्था के सुधार के लिये देहातों में इन कारख़ानों का जारी किया जाना फ़ायदेमंद है। वर्तमान काल में हमारे लिखे-पढ़े युवक नौकरी के लिये मारे-मारे फिरते हैं। यदि देहातों में ये कारख़ाने जारी हो जायँ, तो मैनेजर, कारकुन, मिस्त्री, मज़दूर, आदि भिन्न-भिन्न रूपों में योग्यतानुसार नौकरियाँ मिल सकेंगी ; और हमारे युवकों के लिये एक नया दरवाज़ा खुल जायगा।

यदि देश के नेता इस ओर ध्यान दें एवं गोरक्षक संस्थाएँ इस काम को हाथ में लें, तो देश का बहुत कुछ भला हो सकता। आशा है, हमारे सुशिक्षित देश-बांधव इस पर योग्य विचार करेंगे।

शंकरराव जोशी
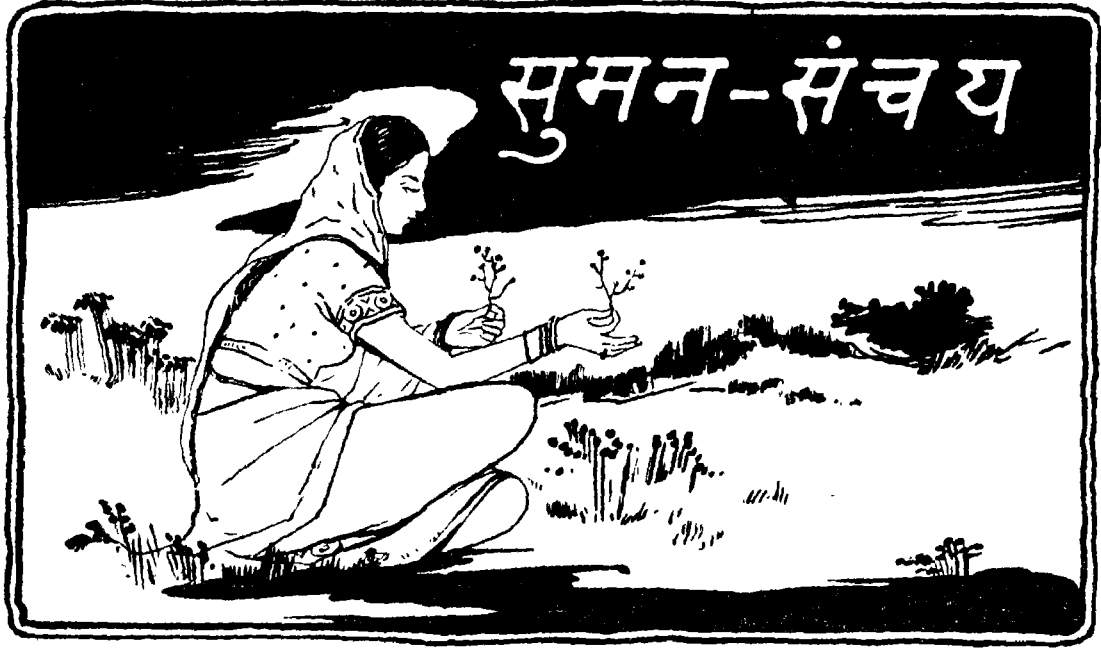
१. गोस्वामी तुलसीदासजी

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के मंत्री, हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान् राय साहब बाबू श्यामसुंदर-दासजी ने गो० तुलसीदासजी के जीवन-चरित्र पर एक लेख बाबा बेनीमाधवदासजी के "मूल गोसाईं-चरित्र" के आधार पर लिखकर नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित कराया है और उस पर कुछ प्रसिद्ध हिंदी-साहित्य-सेवियों की सम्मतियाँ भी उसी पत्रिका के दूसरे अंक में प्रकाशित की हैं।

मूल गोसाईं-चरित में दिए हुए संवत्, तिथि और वारों का मिलान करके उक्त ग्रंथ के विषय में बाबू साहब ने तथा अन्य महाशयों ने अपने-अपने विचार प्रकट किए हैं।

मूल गोसाईं-चरित में वर्णित कुछ घटनाओं पर हम भी अपने विचार उपस्थित करते हैं। संभव है उस ग्रंथ की आलोचना करने में विद्वानों को इन विचारों से कुछ सहायता मिले—

(१) मूल गोसाईं-चरित में लिखा है—

सोरह से सोरह लगे कामद गिरि ढिगबास।
शुभ एकांत प्रदेश महँ आये सूर सुदास॥
पठये गोकुलनाथ जी कृष्णरंग में बोरि।
दृग फेरत चित चातुरी लीन्ह गोसाईं छोरि॥

....

....

दिन सात रहे सतसंग पगे, पद कंज गहे जब जान लगे।
गहि बाँह गोसाईं प्रबोध किये, पुनि गोकुलनाथ को पत्र दिये॥

बाबू श्यामसुंदरदासजी ने डॉक्टर ग्रियर्सन तथा मिश्र-बंधुओं के दिए हुए संवतों के आधार पर सूरदासजी का गोस्वामीजी से संवत् १६१६ में मिलना ठीक मान लिया है। परंतु ऐसा मालूम होता है कि बाबू साहब ने यह विचार नहीं किया कि सूरदासजी का गोकुलनाथजी का पत्र लेकर आना जो लिखा है वह संभव है या नहीं।

गो०गोकुलनाथजी गोस्वामी बिट्ठलनाथजी के चतुर्थ पुत्र थे। गोकुलनाथजी का जन्म संवत् १६०८ में मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी को हुआ था और उनका गोलोक पधारना (देहावसान) माघ कृष्ण ६ संवत् १६६७ को हुआ था—संवत् १६१६ में गोकुलनाथजी की आयु केवल ८ वर्ष की थी। गोकुलनाथजी के पिता गोस्वामी बिट्ठलनाथजी स्वयं गद्दी पर विद्यमान थे। गोकुलनाथजी के तीन भ्राता

भी मौजूद थे। सूरदासजी रहते भी बिट्ठलनाथजी के पास थे। फिर उनका पत्र न लेकर एक आठ वर्ष के बालक का पत्र लेकर सूरदासजी का आना संभव प्रतीत नहीं होता। बाबा बेनीमाधवदास ने इस संबंध में गो० गोकुलनाथजी का नाम लिखने में कदाचित् भूल की है।

(२) नंददासजी और तुलसीदासजी की भेंट के विषय में जिस रीति से वर्णन मूल गोसाईं-चरित में किया गया है, वह भी विचारणीय है। यद्यपि इस भेंट का कोई संवत् गोसाईं-चरित में नहीं दिया है, परंतु जिस क्रम से वर्णन किया गया है उससे पाया जाता है कि बाबा बेनीमाधवदास के कथनानुसार यह भेंट संवत् १६४९ के पश्चात् हुई होगी, क्योंकि गो० तुलसीदासजी संवत् १६४९ में पिहानी के सुकुल से मिले थे। उसके बाद खैराबाद, मिसिरिख होकर रामपुर पहुँचे, वहाँ से चलकर वृंदावन आए और वृंदावन में नंददासजी से मिले थे। इसलिये यह भेंट संवत् १६४९ के बाद ही गोसाईं-चरित के अनुसार होना मानना पड़ता है।

परंतु २५२ वैष्णवों की वार्ता से पाया जाता है कि नंददासजी का वैकुंठवास संवत् १६४९ से बहुत पूर्व हो चुका था। वार्ता में लिखा है कि तानसेन से नंददासजी का एक पद सुनकर अकबर ने नंददासजी से मिलने की इच्छा प्रकट की और उनको बीरबल द्वारा श्रीगोबर्धन से बुलवाया। नंददासजी का देह वहीं छूटा था। जब यह समाचार विट्ठलनाथजी को विदित हुआ, तो उन्होंने नंददासजी की बड़ी सराहना की थी। इससे स्पष्ट विदित होता है कि नंददासजी की मृत्यु गो० बिट्ठलनाथजी और बीरबल दोनों से पहले हुई थी। गो० बिट्ठलनाथजी का गोलोकवास संवत् १६४२ में और बीरबल का स्वर्गवास संवत् १६४० के आसपास हुआ था। नंददासजी का देहावसान इससे भी पहले हुआ था। फिर गोसाईं-चरित में संवत् १६४९ के पश्चात् नंददासजी और तुलसीदासजी की भेंट होना लिखा गया है, वह ठीक नहीं मालूम होता है।

गोसाईं-चरित में यद्यपि नंददासजी और तुलसीदासजी की भेंट का संवत् ठीक नहीं दिया है। परंतु इन दोनों के संबंध के विवादग्रस्त प्रश्न को गोसाईं-चरित ने निश्चित कर दिया है। २५२ वैष्णवों की वार्ता के आधार पर कुछ लोग नंददासजी को तुलसीदासजी का भाई मानते थे। वार्ता में नंददासजी को सनाढ्य ब्राह्मण लिखा है। (१) इसलिये बैजनाथजी ने इनको गुरु-भाई माना। (२) मिश्रबंधुओं ने यह लिखा कि वार्ता में नंददासजी को केवल ब्राह्मण लिखा है। सनाढ्य नहीं लिखा और किसी ने तुलसीदास का भाई लिखा है। (३) बाबू श्यामसुंदरदासजी ने कुछ और ही लिखा है। वे कहते हैं "२५२ वैष्णवों की वार्ता के आधार पर यह बात चल पड़ी है कि रासपंचाध्यायीवाले नंददास तुलसीदासजी के भाई थे। बैजनाथदासजी ने गुरुभाई लिखा है। पर नंददासजी गोकुलस्थ गो० बिट्ठलनाथजी के शिष्य थे। गोस्वामी तुलसीदासजी के गुरु रामभक्त थे। अतः ये दोनों बातें बे सिर पैर की हैं। जिनका उल्लेख २५२ वैष्णवों की वार्ता में है: वे दूसरे तुलसीदास सनाढ्य ब्राह्मण थे।"

वार्ता के देखने से उसमें किसी दूसरे सनाढ्य तुलसीदास का वर्णन नहीं पाया जाता : किंतु गोस्वामीजी का ही वर्णन पाया जाता है। हम वार्ता में से कुछ अवतरण देते हैं। पाठक देखेंगे कि यह वर्णन गोस्वामीजी के अतिरिक्त किसी दूसरे तुलसीदास का नहीं है। (अ) "सो वे नंददास पूर्व में रहते सो वे दोय भाई हते। सो बड़े भाई तुलसीदास हते और छोटे भाई नंददास हते। सो वे नंददास पढ़े बहुत हते और तुलसीदास तो रामानंदजी को सेवक हतो सो तब नंददास हू को रामानंदजी को सेवक करायौ।"

(आ) "सो तब कितनेक दिन में वह संग (वैष्णवों का समूह) काशी में आय पहुँच्यौ तब नंददास के बड़े भाई तुलसीदास हते सो तिनने सुनी जो यह संग श्रीमथुराजी को आयो है। तब तुलसीदास ने वा संग में आयके पूछ्यौ जो उहाँ श्रीमथुराजी में श्रीगोकुल में नंददास नाम करिकै एक ब्राह्मण यहाँ सो गयो है सो पहिले उहाँ सुन्यो हतो सो काहू ने देख्यौ होय तो कहो। तब एक वैष्णव ने तुलसीदास सों कही जो एक सनोढिया ब्राह्मण है सो ताको नाम नंददास है सो वह पढ़्यौ बहुत है सो वह नंददास तो श्रीगुसाईंजी को सेवक भयौ है।"

(इ) "और एक समय नंददास को बड़ो भाई तुलसीदास व्रज में आयो तो पाछे श्रीमथुराजी में तुलसीदास

आये सो तब आयके पूछी जो यहाँ श्रीगुसाईंजी को सेवक नंददास कहाँ रहत है...तब तुलसीदास ने नंददास के पास आयके कह्यो जो नंददास तू ऐसो कठोर क्यों भयो है......तेरो मन होय तो अजुध्या में रहियो तेरो मन होय तो प्रयाग में रहियो चित्रकूट में रहियो।"

पाठक देखेंगे यह समस्त वर्णन किसी दूसरे तुलसीदास का नहीं हो सकता। गोस्वामी तुलसीदासजी के वर्णन से ही मिलता है। (१) मथुरा गोकुल से पूर्व में रहना, (२) रामानंदजी का सेवक होना, (३) काशी में रहना, (४) अयोध्या, चित्रकूट में रहने का आग्रह करना ये सब बातें सिद्ध करती हैं कि वार्ता में गोस्वामीजी का ही उल्लेख है। किसी दूसरे तुलसीदास की कल्पना करना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। वार्ता में "कनौजिया" के स्थान पर "सनोढिया" शब्द भूल से लिख गया मालूम होता है। प्रसंग को देखते हुए "कनौजिया" ही होना चाहिए था। बाबा बेनीमाधवदास ने भी स्पष्ट कनौजिया ही लिखा है।

नंददास कनौजिया प्रेम मढ़े, जिन शेष सनातन तीर पढ़े।
शिक्षा गुरुबंधु भये तेहि ते, अति प्रेम सों आय मिले यहि ते॥

(३) केशवदासजी के प्रेतयोनि से छुड़ाने का जो समय गोसाईं-चरित में लिखा है कि दिल्ली से बादशाह का खवाश गोस्वामीजी को बुलाने आया था। दिल्ली जाने के समय केशवदास को गोसाईंजी ने प्रेतयोनि से छुड़ाया था।

पुनि साहि खवास पठायउ जू, मुनिराजहिं दिल्ली बुलायउ जू॥
उद्धरे केशवदास, प्रेत देह धरि मुनिहि।
उधरे तिनहिं प्रयाग, चढ़ि बिमान स्वर्गहि गये॥

दिल्ली से लौटकर काशी आने के कुछ समय बाद संवत् १६६९ की वैशाखी पूर्णिमा को गोस्वामीजी के मित्र टोडर की मृत्यु हुई थी। अतः केशवदास को संवत् १६६९ के पूर्व ही गोस्वामीजी ने प्रेतयोनि से छुड़ाया होगा। परंतु संवत १६६९ तक केशवदासजी का जीवित रहना निश्चित है। इस संवत् में उन्होंने जहाँगीरजसचंद्रिका निर्माण की थी—

सोरह से उनहत्तरा, माधव मास बिचार।
जहाँगीर जसचंद्र की, करी चंद्रिका चारु॥

गोसाईं-चरित में संवत् १६६९ से पूर्व केशवदास को प्रेतयोनि से छुड़ाने की जो बात लिखी है वह उपर्युक्त कारण से ठीक नहीं पाई जाती।

(४) संवत् १६७० के अंत में जहाँगीर का गोस्वामीजी से मिलने आना लिखा है; वह भी जाँच से ठीक नहीं ठहरता है। संवत् १६७० के बहुत पहले से गोस्वामीजी का अखंडवास काशी में ही था। इसलिये यदि जहाँगीर गोस्वामीजी से मिलने आया होगा, तो काशी में ही आया होगा।

परंतु जहाँगीरनामे के देखने से पाया जाता है कि संवत् १६६९ चैत्र बदी ११ से आश्विन सुदी २ संवत् १६७० तक तो जहाँगीर आगरे ही में रहा था। इस मिती को अजमेर के लिये रवाना हुआ और अगहन सुदी ७ को वहाँ पहुँचा था—पाँच दिन कम ३ वर्ष अजमेर में रहकर कार्त्तिक सुदी ३ संवत् १६७३ को दक्षिण की ओर रवाना हुआ था—संवत् १६७० या उसके ३ वर्ष बाद तक जहाँगीर आगरा, प्रयाग, काशी की ओर रहा ही नहीं था कि गोस्वामीजी के काशी में अखंडवास करते हुए उनसे मिलने आता। गोसाईं-चरित में संवत् १६७० के अंत में उसका गोसाईं से मिलने आना जो लिखा है वह मानने योग्य नहीं है।

कहा जाता है कि गोस्वामीजी के एक शिष्य रघुवरदासजी भी थे। उन्होंने भी गोस्वामीजी का एक बहुत बड़ा जीवन-चरित्र 'तुलसी-चरित' के नाम से लिखा था। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा संपादित और प्रकाशित "तुलसी-ग्रंथावली" के तीसरे खंड के देखने से विदित होता है कि रघुवरदासजी के ग्रंथ को इस योग्य अवश्य समझा गया कि उक्त ग्रंथ का वर्णन करते हुए तुलसी-ग्रंथावली के सुयोग्य संपादक ने लिखा है—"हमारे विचार में तो आता है कि महात्मा रघुवरदासजी ने "तुलसी-चरित" में गोस्वामीजी की जो कुल-परंपरा लिखी है, वह मानने योग्य है।"

यह कुल-परंपरा बाबा बेनीमाधवदास के गोसाईं-चरित में दी हुई कुल-परंपरा से बिलकुल ही नहीं मिलती। बेनीमाधवदासजी दोनों ही गोस्वामीजी के शिष्य बतलाए जाते हैं। दोनों ही ने उनके जीवन-चरित लिखे हैं। दोनों के वर्णन में बहुत अंतर है। नहीं कहा जा सकता दोनों में से कौन सही है। यदि काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा अथवा हिंदी-साहित्य-सम्मेलन

के उद्योग से रघुवरदासजी का "तुलसी-चरित" भी मिल जाय और प्रकाशित हो जाय तो दोनों चरितों की जाँच होकर कुछ निश्चय हो सकता है।

बाबा बेनीमाधवदास के मूल गोसाईं-चरित के छप जाने से एक बड़ा लाभ हुआ है। बेचारे गोस्वामी तुलसीदासजी पर एक बड़ा भारी कलंक लगाया जा रहा था। उस कलंक से अब गोस्वामीजी बच जायँगे।

कवितावली और विनयपत्रिका के कुछ पद लेकर अनेक तर्क-कुतर्क द्वारा गोस्वामीजी के कुल, जन्म इत्यादि के विषय में तरह-तरह के विचार प्रकट किए जा रहे थे। इन कुतर्कों की पराकाष्ठा हुई पंडित खड्गजीत मिश्र बी० ए०, एल-एल० बी० के "कवितावली" शीर्षक लेख में जो एप्रिल सन् १९२५ की 'सरस्वती' में छपा था। लेख बड़ी विद्वत्ता के साथ लिखा गया था। गोस्वामीजी के जन्म, माता-पिता, कुल, जाति, विवाह आदि अनेक विषयों पर उसमें विचार किए गए हैं। कुल, जाति के विषय में लिखते हुए मिश्रजी ने कमाल कर दिया है। गोस्वामीजी ने 'कवितावली' में लिखा है—

जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि,
भयो परिताप पाप जननी जनक को।

इन शब्दों में से मिश्रजीने यह विचित्र तात्पर्य निकाला कि गोस्वामीजी के "माता, पिता को, जो मंगनकुल के थे, बधावा बजते सुन अर्थात् पुत्रोत्पत्ति की खबर पाकर पाप का परिताप हुआ। उन्होंने बालक को जन्मते ही छोड़ दिया। इससे यही नतीजा निकलता है कि तुलसीदास किसी "पाप" कर्म की संतान थे और पाप भी ऐसा घोर जिससे उनके माता-पिता को उन्हें छोड़ना पड़ा और जिसे स्पष्ट लिखने में तुलसीदास स्वयं समर्थ न हुए।"

अब मूल गोसाईं-चरित से मालूम हो गया कि गोस्वामीजी के जन्मते ही माता-पिता द्वारा त्यागे जाने का कारण किसी घोर पाप-कर्म की सन्तान होना नहीं था, वरन् गोस्वामीजी का दाँतों-सहित उत्पन्न होना या जन्मते ही रामनाम बोलना था। बालक का दाँत-सहित उत्पन्न होना, या जन्मते ही बोलना असाधारण बात है—आज से तीन सौ वर्ष पूर्व इन असाधारण बातों से लोगों ने गोस्वामीजी को राक्षस का अवतार समझकर त्याग दिया था तो क्या आश्चर्य की बात है। मिश्रजी भली भाँति जानते हैं कि इस समय के बहुत पश्चात् भी योरप के सभ्य देशों में सैकड़ों वृद्ध स्त्रियाँ एकांत में रहने और बिल्ली पालने के कारण डाकिनी (witches) समझकर जीवित जला दी गई थीं। दो-चार शब्दों के आधार पर ही वकीलों की तरह तर्क-कुतर्क करके नतीजा निकालने के दुष्परिणाम का अच्छा उदाहरण मिश्रजी का उपर्युक्त लेख है। हम आशा करते हैं कि गोसाईं-चरित पढ़ने के बाद मिश्रजी गोस्वामीजी पर कलंक लगाने के पाप का प्रायश्चित्त अपनी भूल स्वीकार करके अवश्य करेंगे और गोस्वामीजी के लाखों भक्तों के हृदय को जो दुःख उन्होंने अपने लेख से पहुँचाया है, उसको वे दूर करेंगे।

काशी-नागरी-प्रचारिणी पत्रिका
(हिंदी)

× × ×

२. प्रज्ञाचक्षु पंडित धनराज शास्त्री

बहुत दिन हुए पंडित धनराज शास्त्री के विषय में सरस्वती-पत्रिका में एक बड़ा प्रकाण्ड विवाद उपस्थित हुआ था। उन्हीं दिनों उनके लिखाए हुए "प्रणववाद" नामक वृहत् ग्रंथ के तीन खंडों के अँगरेज़ी अनुवाद लंदन की थियोसफ़िकल सोसाइटी द्वारा प्रकाशित हुए थे। इनके अनुवादक प्रसिद्ध दार्शनिक एवं विद्वान् बाबू भगवानदास थे, जिन्हें स्वयं शास्त्रीजी की मौलिकता में कुछ संदेह था और अब भी है। उस विवाद का फल यह हुआ कि शास्त्रीजी ने अज्ञातवास-सा ले लिया। इधर गत वर्ष से समाचारपत्रों में इनके विषय में फिर कुछ चर्चा चली है जिसमें बाबू भगवानदास ने भी भाग लिया है। इस चर्चा-संबंधी प्रथम लेख मैंने ही 'लीडर' में लिखा था और उसके पश्चात् मेरे पास अनेक पत्र आए। कोई तो पंडितजी से कंठस्थ ग्रंथों की सूची माँगता था, कोई उन्हें लिखना चाहता था और किसी को उनसे पढ़ने की इच्छा थी। तदनंतर अनेक उत्तर-प्रत्युत्तर प्रकाशित होते रहे और प्रांतीय कौंसिल में इस संबंध में प्रश्न भी किए गए। यद्यपि प्रांतीय सरकार ने कुछ भी न किया तथापि शास्त्रीजी के एकाध ग्रंथों की प्रतिलिपि कराई गई और कराई भी जा रही है। इन सब ग्रंथों की एक लंबी सूची छपी भी है और रायबहादुर सरजूप्रसाद, बी० ए०, एल्-एल्० बी०, स्पेशल मजिस्ट्रेट, बस्ती से मिल

भी सकती है। शास्त्रीजी का कहना है कि ये सभी ग्रंथ उन्हें कंठस्थ हैं और प्राचीन ऋषियों की रचनाएँ हैं। देखने से ज्ञात होगा कि इनमें वैद्यक, ज्योतिष, व्याकरण, चित्रकला, दर्शन आदि अनेकानेक विषयों की पुस्तकें हैं जिनकी संख्या कई दर्जन है। सबसे छोटी पुस्तक ४००० श्लोक की है और दो-चार तो एक-एक लाख श्लोकों से ऊपर की भी हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें संस्कृत-साहित्य की रामायण, महाभारत आदि सभी कृतियाँ कंठस्थ हैं।

पंडितजी की अवस्था इस समय ५० वर्ष से ऊपर है और आप अधिकतर अपने गाँव में ही रहते हैं। बस्ती प्रांत की ख़लीलाबाद तहसील के ये रहनेवाले हैं और वहीं इनकी कुछ ज़मींदारी भी है। छोटे-मोटे ज़मींदारी के झंझट लगे रहने से इनका जीवन उतना सुखमय नहीं है जितना विद्वानों के लिये आवश्यक है। आप दो ही वर्ष की आयु में अंधे हो गए और बड़े होने पर इनके पितामह ने जो स्वयं संस्कृत के अच्छे पंडित थे, इन्हें अपने एक विद्वान् संन्यासी मित्र के पास कर दिया। मरते समय वे इन्हें संन्यासीजी को सौंप कर कह गए थे कि यह लड़का बड़ा ही होनहार है और आप इसको शिक्षा का यथोचित प्रबंध कीजिएगा। १८ वर्ष की अवस्था में ही आपने शास्त्री परीक्षा पास कर ली। इसके लिये डॉक्टर थीबो ने इन्हें विशेषरूप से लिखनेवाले दिलवाए थे जो प्रश्नपत्रों के उत्तर इनसे पूछ-पूछकर लिखते थे। तदनंतर ये उन्हीं संन्यासी के साथ-साथ पहाड़ों में गए और आपका कहना है कि वहीं ये सब ग्रंथ इन्हें महात्माओं से प्राप्त हुए।

पहले-पहल बाराबंकी के प्रसिद्ध वकील स्व० पंडित परमेश्वरीदयाल ने इन्हें जनसाधारण के सम्मुख उपस्थित किया। आज तक पंडितजी इनके बहुत आभारी हैं और कहते हैं कि "इन्होंने ही तो मुझे आदमी बनाया।" जब इटावे के प्रसिद्ध वेद-वेत्ता पं० भीमसेन शर्मा जीवित थे तो वहाँ शास्त्रीजी के कई ग्रंथ लिखे गए थे। एक बड़ा ग्रंथ छतरपुर दरबार में भी लिखवाया गया था। पर दोनों स्थानों से पता लगाने पर इस समय उन ग्रंथों का कुछ भी विवरण नहीं मिलता। छतरपुर में तो राय-बहादुर पं० शुकदेवविहारी मिश्रजी दीवान को मैंने विशेष आग्रहपूर्वक लिखा था, पर उनसे भी इन पुस्तकों का कुछ पता न लग सका। शास्त्रीजी घंटों व्याख्यान भी दे सकते हैं और मैंने इन्हें धाराबाहिक रूप से बोलते सुना भी है। थोड़े ही दिन हुए आप गीता की विवेचना कर रहे थे, उस समय तो एक-एक पंक्ति पर घंटों विद्वत्ता-पूर्ण गोष्ठी होती रहती थी। सच बात तो यह है कि शायद ही कोई विषय हो जिस पर कोई इनसे दो-चार घंटे वाद-विवाद न कर सकता हो। इनकी विद्वत्ता सच-मुच इतनी अगाध है कि कभी-कभी तो यह विश्वास होने लगता है कि हो न हो जो ग्रंथ इन्हें कंठस्थ हैं सब ये स्वयं बनाते और बोलते जाते हैं। यही संदेह डॉ० गंगानाथ झा तथा बाबू भगवानदास को भी हुआ था जब ये दोनों विद्वान् शास्त्रीजी के "प्रणववाद" की कापी कर रहे थे। एक ही समय ये कई लेखकों को भिन्न-भिन्न प्रकरण लिखा सकते हैं और इस प्रकार एक घंटे में ६० श्लोक के हिसाब से इनका यह ग्रंथ लिखा गया था। बात यह हुई कि अकस्मात् बाबू भगवानदास को

कविवर "गोपाल" जी पं० धनराज प्रज्ञाचक्षु लेखक

संदेह हुआ और बीच-बीच में वे पंडितजी को टोकने लगे और स्थान स्थान पर उनसे दुहराने को कहने लगे। पंडितजी समझे कि मेरी परीक्षा ले रहे हैं। वे स्वयं कहते हैं कि मैं भी नवयुवक ही था, झुँझला गया और वास्तव में अंट-संट बनाकर जोड़ने और उल्टा-सीधा सुनाने लगा। फिर क्या था, विद्वानों की लड़ाई थी, तभी से दोनों जनों में वही पुराने भाव वर्तमान हैं।

पर मैं तो यह कहता हूँ कि यदि वस्तुतः शास्त्रीजी के कंठस्थ ग्रंथों में कुछ तत्त्व है तो हमें उनका आदर करना चाहिए, चाहे वे प्राचीन आर्षग्रंथ हों अथवा मानवीय कृतियाँ। यदि वे स्वयं शास्त्रीजी की ही रचनाएँ क्यों न हों, तो भी हमें उनकी मौलिकता और विद्वत्ता से लाभ उठाना चाहिए। और फिर वे तो बेचारे स्वयं उनके लिये कुछ प्रतिष्ठा नहीं चाहते और न कुछ आर्थिक लाभ ही उठाना उनका उद्देश्य है। हिंदी और संस्कृत के विद्वानों तथा प्रकाशकों का ध्यान इस पर जाना चाहिए। शास्त्रीजी बूढ़े हो चले हैं और यदि यथाशीघ्र इन पुस्तकों का उद्धार न किया गया, तो साहित्यिक महारथियों को पछताना ही पड़ेगा। प्रकाशन का काम तो आगे-पीछे होता रहेगा, पर पहले दो-चार विद्वान् लेखकों द्वारा उन्हें लिखवा डालना ही एक बड़ा काम है। वैद्यक की एक पुस्तक हम लोगों ने कापी कराके बस्ती के सिविल सर्जन डॉक्टर पी० सी० राय को दिखाई, तो उन्होंने उसकी बड़ी प्रशंसा की। उसमें निदान तथा चिकित्सा के नए-नए विधान हैं और कितने ही ऐसे रोगों की ओषधियाँ हैं जो आजकल असाध्य माने जाते हैं। और सभों की मानसिक अथवा यौगिक (Spiritual) चिकित्सा भी दी गई है। ग्रंथों की कुल संख्या लगभग १०० के है और उनमें एक तो वायु-यानों की रचना पर है। यदि इस बड़े साहित्य-भंडार की रक्षा हो जाय तो भारतवर्ष की प्राचीन कीर्ति की रक्षा होगी और आधुनिक वैज्ञानिक संसार को हम यह दिखा सकेंगे कि हमारे देश ने विज्ञानक्षेत्र में भी आज से कुछ कम उन्नति नहीं की थी।

प्रज्ञाचक्षुजी काव्य की भी बड़ी अच्छी मीमांसा करते हैं और रामायण का एक अद्भुत संस्करण इन्हें कंठस्थ है, जिसके विषय में हम फिर कभी लिखेंगे। आप भक्ति-मार्ग के उपासक हैं और हिंदी के अच्छे कवि भी हैं। आज आपके केवल दो छंद सुनाकर यह लेख समाप्त करता हूँ। फिर कभी पाठकों को इनकी कविता का विस्तृत विवरण दिया जायगा। देखिए, अंबिका देवी के नेत्रों की प्रशंसा में एक छंद है—

हेरत त्रिदेव रहैं नित करुना की कोर,
　　तारक त्रिलोचन के भाग के सितारे हैं;
व्यथित बिहालन के मोचन जगत-जाल,
　　करत निहाल सब जग उजियारे हैं।
हरत त्रिताप-दाप तीरथ प्रयाग सम,
　　त्रिगुन अतीत सित स्याम रतनारे हैं;
'धनराज' बिपति कदंब के हरनहार,
　　जन अवलंब अंब लोचन तिहारे हैं।

दूसरे छंद में नायिका के भाषण-माधुर्य की पराकाष्ठा वर्णन की गई है। ज़रा ध्यान से सुनिए। एक सखी दूसरी से कह रही है—

नृप मान मंदिर महान की गली मैं अली,
　　भिरत भीर भली रोज हुसियारों की;
'कवि धनराज' जोग कौतुक बिलोकिबे को,
　　कैसी मंजु मोद मढ़ी अवली जुआरों की।
हरि हरि मैना पढ़ो बोलो घनस्याम नाम,
　　राधिका पढ़ाती जबै देत कहि चारों की;
कौन नायिका के बैन कौन सारिका के कहु,
　　बीर बूभिबे पै बाजी लागत हजारों की।

देखिए, कितना अच्छा जुआ रोज़ होता है और तब भी शायद होशियार लोग 'बूझ' नहीं पाते।

श्रीरामाज्ञाद्विवेदी "समीर"

×　　×　　×

३. अभिनय और नृत्य

अन्य अनेक प्राचीन देशों की भाँति भारतवर्ष में भी प्राचीन काल से अभिनय प्रचलित है। उत्कृष्ट नाटकों और उत्कृष्ट नाटकाभिनयों द्वारा भारत-निवासियों का भी खूब उपकार हुआ है। यात्रा (यह रास-लीला से मिलता-जुलता तमाशा है) एक प्रकार का अभिनय है। अन्य भाँति के भी अभिनय हैं। इस तरह भाँति-भाँति के अभिनयों द्वारा भारतीय निरक्षर लोग भी काव्य, संगीत, धर्म, धर्म-नीति, दर्शन और पुराणादि में निहित इतिहास का आस्वादन कर सकते थे और रामायण और महाभारत ने बहुत अंशों में अभिनय की सहायता से

ही भारतीय समाज और मनुष्य का निर्माण और विकास किया है। नाटक अनेक देशों के साहित्य की श्रेष्ठ वस्तु हैं। उनसे मानव-समाज उन्नत और उपकृत हुआ है। अतएव नाटक और अभिनय का परिहार उचित नहीं है। अवश्य ही बहुतेरे बुरे नाटक भी हैं और अभिनेता तथा अभिनेत्रियों में कितने ही दुश्चरित्र भी देखे गए हैं। इसीलिये क्रिश्चियन संसार में और अन्यत्र नाटकों और नाट्याभिनय को वर्जनीय करने की बड़ी प्रबल चेष्टा हुई थी। किंतु वह सफल नहीं हुई। नाटकों और नाट्याभिनयों में आनंद देने और उपकार करने की शक्ति है और उस आनंद और उपकार को मानव-प्रकृति ने अज्ञातरूप में चाहा है, इसलिये नाटक और नाट्याभिनय की रक्षा हुई है। समाज की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लोग स्वयं जैसे हैं और जो कुछ करते हैं, उसी के द्वारा परिचित होते हैं। भले या बुरे माने जाते हैं; किंतु अभिनेता और अभिनेत्रियाँ जो कुछ नहीं हैं, उस रूप में परिचित होते हैं। महाराणा प्रताप और झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई अपने-अपने वीरत्व के लिये सम्मानित हैं; किंतु नाटकों में जो प्रताप और लक्ष्मीबाई बनते हैं, उनमें किसी प्रकार का वीरत्व नहीं भी रह सकता है। प्रतीत होता है कि दूसरों के गुणों के आलोक से प्रभा-मंडित होने के कारण ही सच्चरित्र अभिनेता और अभिनेत्रियों ने अन्य कृती व्यक्तियों की भाँति सम्मान नहीं पाया।

नाट्याभिनय जब मूलतः दुर्नीति-जनक नहीं है, तब सच्चरित्र नर-नारियों द्वारा उसका अनुष्ठान भी अनुचित प्रतीत नहीं होता; किंतु ऐसे नाटकों का अभिनय करना उचित नहीं है जो कुरुचि-पूर्ण हैं और दुर्नीति के पोषक हैं। यह भी सहज बोध्य है कि सच्चरित्र नर-नारियों का दुश्चरित्र किसी पेशेवर अभिनेता या अभिनेत्री की सहायता या सहयोगिता से नाट्याभिनय करना वाञ्छनीय नहीं है।

अनेक विषयों में सुधार और विनाश दो मार्ग हैं। संसार में रहने पर बहुत से पाप होने की संभावना है। संन्यास का व्यवहार इसका एक कारण है। धर्म-निष्ठ गृहस्थ होने की व्यवस्था दूसरा मार्ग है। इनमें कौन-सा मार्ग उत्तम या सहज है। यह विचार अप्रासंगिक होगा। नाटकों और अभिनयों के संबंध में भी दो प्रकार की व्यवस्था हो सकती है। कितने ही धर्म-संप्रदायों के लोग दोनों के विरोधी हैं। उन्होंने दोनों का विनाश या चिरपातित्य चाहा है; किंतु सफल नहीं हुए। दूसरे लोग हैं जो दोनों वस्तुओं का—नाटकों और नाट्याभिनयों का सुनीति-संगत व्यवहार, संस्कार और रक्षण चाहते हैं। शेषोक्त दल का मत युक्ति-संगत जान पड़ता है, यद्यपि उनके मतानुसार कार्य होना बहुत कठिन है।

अभिनय और नृत्य मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति का परिणाम है। किसी की शिक्षा के बिना भी बालक नाचते हैं, ताल-ताल पर हाथ-पैर संचालित करते हैं और तरह-तरह की अंग-भंगी भी करते हैं। इस प्रकार वे अपना आनंद और हर्ष प्रकट करते हैं। अभिनय भी वे स्वभावतः करते हैं। अर्थात् वे जो नहीं हैं, वह होने और तदनुरूप कार्य और बातें करने की कोशिश करते हैं। अभिनय और नृत्य स्वाभाविक हैं, इसलिये उसके साथ दुर्नीति का संयोग नहीं माना जा सकता। हाँ, यह मानने में आपत्ति नहीं की जा सकती कि अभिनय और नृत्य के भले और बुरे दोनों रूप हैं और प्रकार-भेद से उसके सुफल और कुफल दोनों हो सकते हैं। हम यह नहीं कहते कि बच्चे जो कुछ करते हैं बड़ों को भी वही करना उचित है। हमारा वक्तव्य केवल इतना ही है कि बालक स्वभावतः अभिनय करते हैं, इसलिये उसमें दुर्नीति का योग नहीं है। फिर भी प्राप्तवयस्क मनुष्य जो नृत्य करते हैं, उसमें भलाई-बुराई दोनों हैं। नृत्यमात्र दुर्नीति का परिपोषक विवेचित नहीं होता। इसका एक प्रमाण यह भी है कि चैतन्यदेव के अनुकरण पर वैष्णव-समाज के और नगर-कीर्तन आदि के अवसर पर ब्राह्म-समाज के पुरुष जो नृत्य करते हैं, सामाजिक पवित्रता-रक्षण में विशेष यत्नशील व्यक्ति भी उसे दुर्नीति का परिपोषक नहीं समझते। प्राचीन काल में धर्म के साथ नृत्य का योग अनेक देशों में था और अब भी अनेक देशों में है। महेश्वर का एक नाम नटराज है, और जन्म, मृत्यु, सृष्टि और प्रलयादि विश्वव्यापार उनका नृत्य कहकर प्रसिद्ध होता है।

पुरुषों के जो कार्य करने से दोष नहीं होता, स्त्रियों के वही करने पर दोष होता है। पुरुषों की असुविधा और अनिष्ट न होने देने के विचार से ही तरह-तरह की सामाजिक विधि-व्यवस्थाओं का निर्माण हुआ है। स्त्रियों के घर से बाहर होने पर या उनका मुख यदि कोई देख ले

तो दुर्नीति बढ़ सकती है; यही सोचकर कठिन अवरोध प्रथा की व्यवस्था हुई है। महिलाएँ यदि समाज की विधात्री होतीं, तो पुरुषों के अवरोध और अवगुंठन की व्यवस्था होती। कारण, सामाजिक अपवित्रता के लिये पुरुष भी (कम करके कहने पर भी) स्त्रियों के बराबर ही दोषी हैं। कुछ देखने या सुनने से कुभाव पुरुषों के मन में भी आ सकता है और स्त्रियों के मन में भी। नारियों के राह-घाट में निकलने पर पुरुषों की यदि मानसिक और अन्य प्रकार की क्षति हो, तो पुरुष दृष्टिगोचर होने पर नारियों का भी उसी प्रकार अनिष्ट हो सकता है। नारियों का नृत्य देखने से जैसे पुरुषों का अनिष्ट हो सकता है, वैसे ही पुरुषों का नृत्य और नाना भाँति का मल्लयुद्ध देखकर स्त्रियों का भी अमंगल हो सकता है। इसलिये नर-नारियों की दोनो आँखें फोड़ देना तर्क-शास्त्र अनुमोदित सुव्यवस्था विवेचित हो सकता है; किंतु तर्कशास्त्र का इस प्रकार का परम भक्त कोई नहीं है।

कुछ समय पहले तक हमारे देश में भद्र महिलाओं और बालिकाओं के लिये गीत-वाद्य निषिद्ध था। किंतु वह अब प्राचीनपंथी हिंदूसमाज में भी चलने लगा है। इतना होने पर भी अब भी बहुतेरे ऐसे हैं, जो नारी-कंठ से निःसृत भक्ति-भावपूर्ण धर्म-संगीत या देश-भक्तिपूर्ण जातीय संगीत सुनकर संगीत के भाव में निमग्न या आप्लुत नहीं होना चाहते और नहीं होते। बल्कि अन्य निकृष्ट भाव या उद्देश लेकर संगीत सुनने जाते हैं। यह उनके आचरण, मुख के भाव और हास्य से ही समझा जा सकता है। किंतु यह विचारकर कि ऐसे नीच पुरुष संसार में हैं, धर्म-मंदिरों और सार्वजनिक सभाओं में रमणियों का उत्कृष्ट गीत गाना अवाञ्छनीय नहीं समझा जायगा।

संगीत की ही भाँति नृत्य के द्वारा भी मनुष्य का धर्म-भाव, भक्ति-भाव, निर्मल आनंद और शोक इत्यादि व्यक्त हो सकता है। बालिकाओं और महिलाओं द्वारा यदि वह अनुष्ठित हो, तो हम उसे दोषपूर्ण नहीं मानते। समाज में यदि दुर्नीति का प्रवेश हुआ हो, तो उसके उच्छेद साधन के लिये और दुर्नीति प्रवेश के निवारण के लिये साहित्य और ललित कला प्रभृति को निर्वासित करके भी कभी-कभी उस उद्देश के पूर्ण करने की इच्छा हो सकती है। किंतु उस उपाय से उद्देश सिद्ध नहीं होता। वीरत्व के पूर्ण विकास के निमित्त स्पार्टा ने कठोर साधना की थी, लेकिन वीर उत्पादन में भी वह एथेंस की अपेक्षा अधिक कृतित्व नहीं दिखा सका। उधर एथेंस केवल उत्कृष्ट काव्य, स्थापत्य और भास्कर्य का ही निदर्शन नहीं छोड़ गया है, बल्कि धर्म-नीति और दर्शन के क्षेत्र में भी वहाँ के लोगों ने जो कुछ किया है, उसके लिये ईसाई-धर्म और सम्पूर्ण मानव-समाज उनका ऋणी है। स्पार्टा के पास संसार को दिखाने योग्य ऐसी कोई वस्तु नहीं है।

मानव-प्रकृति के सर्वांगीण विकास और उसकी पुष्टि के उपाय के बिना किसी देश, जाति या समाज में अनेक श्रेष्ठ पुरुषों का उद्भव नहीं होता।

(प्रवासी के वैशाख के अंक में 'अभिनय ओ नृत्य' नामक विचारपूर्ण संपादकीय टिप्पणी निकली है। इसमें ललित कला के संरक्षण के लिये ज़ोर दिया गया है। उसी टिप्पणी के आधार पर अपने ढंग से यह लघु लेख लिखा गया है। कुछ लोग भारतीय हिंदूसमाज को सदाचारी बनाने और उसमें वीरत्व का विकास देखने के लिये इतने उत्सुक हैं कि अभिनय, नृत्य और चित्रकला आदि ललित कलाओं और शृंगार-रस को समूल नाश कर देना चाहते हैं। आशा है, उक्त लेख की ओर ऐसे लेखकों का ध्यान आकृष्ट होगा।)

प्रवासी (बँगला)

१. विनोद

मुझे आज पौष की 'माधुरी' पढ़ने को मिली। उसमें श्रीमानूजी की लिखी हुई, 'सुभाषित और विनोद' शीर्षक स्तम्भ के नीचे, 'सेतुवा' वाली बात भी दिख ही गई। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि उक्त श्रीमानूजी ऐसी असंगत बात क्यों लिख रहे हैं? अरे भाई! नदियों में भी कहीं सत्तू घुलवाया जाता है? *और ऐसे अगाध जल में उसका पता ही कहाँ चल* सकता है? वह तो "कबहुँ कि काँजी शीकरन्हि, क्षीर सिंधु बिनसाय" वाली बात हुई। श्रीमानूजी शायद भूलते होंगे, उस दिन मैं भी तो उनके साथ था। उन्हीं की नाईं मैंने भी इस विषय पर सम्यक् विचार किया था। अपने उपजाऊ भेजे को घंटों चक्कर खिलाया था। तब कहीं यह निष्कर्ष निकल पाया। "कथा-वाचक पोपजी भी झूठे और महाशयजी भी बिलकुल ही झूठे।" गोसाईंजी की राजापुरवाली पोथी में चाहे जो लिखा हो, लिखा रहने दो, हमको अपनी बुद्धि के चश्मे से भी कुछ काम लेना चाहिए। वेदांतवादी महाराजा जनक इतने अदूरदर्शी नहीं थे जो लाखों-करोड़ों मन सेतुवा (सतुआ) यों ही नदियों में बहा देते। देखिए, उन दिनों भारत में भोजन-भट्ट ब्राह्मणों की अधिकता थी। भारत की दशा भी तब समृद्ध थी। धन-धान्य से परिपूर्ण था। पंडितजी खूब खाते और सुमरनी फेरा करते थे। सात-सात आठ-आठ सेर खा लेना तो उनके लिये नहीं के बराबर था। एक छोटे से ग्राम में अभी १५-२० वर्ष पूर्व एक विप्रजी थे जो पूरा सात सेर प्रसाद पाते थे। पर पाते थे बाहर ही, घर पर नहीं। एक बार लोगों ने उनकी हँसी उड़ाने के लिये शक्कर की जगह पाँच सेर नमक लाकर रख दिया। आप लक्ष्मीनारायन कह लगे फाँकने। यद्यपि पहली ही फंकी में उन्हें मालूम हो गया था कि लोगों ने उन्हें धोखा दिया है, तथापि वह ऐसे दृढ़प्रतिज्ञ थे कि अपनी भोजन-भट्टता की लाज रखने के लिये सहर्ष मृत्यु से लड़ गए। वास्तव में वह जीवन-मरण का प्रश्न था और कोई भी पाँच सेर नमक खाकर जीवित नहीं रह सकता था। किंतु वाह रे...... महाराज! आपने असंभव को भी संभव कर दिखाया। चार-छः दिन बीमार रह, रक्त के क़ै दस्त करते-करते आप अच्छे हो गए। भगवान् की भुजाओं में भारी शक्ति है, वह सब कुछ कर और करा सकते हैं!

भगवान् का दिया हुआ जोश भी आपमें पूरा था। अल्होई आल्हा सुना रहा था। आप रियासती 'कामदार' की हैसियत से पास ही चौकी पर बैठे सुन रहे थे। बांदोगढ़ की मार ने आपको उत्तेजित कर ही तो दिया। आपने आव देखा न ताव, हाथ की तलवार से उसके दो टुकड़े कर दिए। फिर भूखे ही निकल भागे, और शायद एक भटा खाकर उसी दिन जबलपुर पहुँच गए। इसको कहते हैं कर्त्तव्य-निष्ठा, अस्तु, जनकजी थे दूरदर्शी झट समझ गए कि महाराजा दशरथजी के साथ पेटू भोजनभट्ट आएँगे ही। अतः पहले ही से उनके लिये

मीठा-मीठा सत्तू बनवा लिया जाय। कहिए कैसी रही। अब आप मेरे बिना बताए ही उस चौपाई को निम्न-लिखित शुद्ध रूप दे देंगे।

आवत जानि अवध कर पेटुवा।
नचियन जनक बनायउ सेतुवा ॥

यह हुआ जनक महाराज की दूरदर्शिता और दीन-पोषकता का दृष्टांत। अब दूसरा सुनिए। हाँ, पहले यह तो बतलाइए अनेक अर्थ करने से प्रसंगांतर तो न हो जायगा, आप लोगों को अरुचि का अजीर्ण तो न हो जायगा। पर भाई बुरा मानना हो तो भले ही मान जाओ। अच्छे-अच्छे विद्वान् पंडित लोगों को रिझाने के लिये एक-एक चौपाई के सैकड़ों अर्थ करते हैं। मैं केवल एक और करूँगा। एक और एक दो हुए। इतने से अर्थ का अनर्थ नहीं हो सकता। देखिए, भूषण कवि को आदर देने के लिये महाराजा छत्रसाल कहार बनकर पालकी में लग गए थे। वाह-वाह पराकाष्ठा हो गई। क्या ही अपूर्व गुणग्राहकता थी! महाराजा जनक भी गुणियों का आदर करते थे। करना ही चाहिए। अभी थोड़े ही दिन हुए कि पन्ना के महाराजा अमानसिंहजी नटों का खूब सत्कार करते थे। उनके उस गुण के बदले सैकड़ों गाँव लगा दिए जो कि अभी तक चले जा रहे हैं, तभी तो नट अभी तक उनके नाम के गीत गा रहे हैं।

"कहाँ गए मेरे राजा अमान पन्ना सूना पड़ा इत्यादि।" महाराजा दशरथजी के साथ भी ऐसे ही सैकड़ों गुणी (नट) आए थे, जैसा निम्नस्थ चौपाई से प्रकट है—

तुरँग नचावहिं कुँवर वर, थंकनि मृदंग निसान।
नागर नट चितवहिं चकित, डिगहिं न ताल विधान ॥

तब—क्षमा करेंगे। बेचारे जनकजी को भी उनका आदर करना पड़ा—उन्हें शीश पर लेना पड़ा—और तब—चौपाई को ऐसा शुद्ध रूप प्राप्त हुआ—

आवत जानि अवध कर नटिया।
सर पर जनक बंधायउ लटिया ॥

कहिए, कैसा शुद्ध सत्य एवं सार्थक रूप है। भई विवाह-शादी का मौक़ा ठहरा। तुलसीदासजी महाराज को भी शायद दिल्लगी सूझ आई हो, तो क्या आश्चर्य है। बस, राम-राम।

आत्माराम देवकर

२. चुटकुले

किसी बनिए के यहाँ एक लड़का नौकर था, जिसके उसने दो नाम रख लिए थे—एक लिब्बा और दूसरा तिब्बा। जब कोई उसके यहाँ माल बेचने को आता तो वह लड़के को पुकारकर कहता, "अबे लिब्बा, ज़रा तराज़ू-बाट तो ले आ", तो लड़का सवा सेर का एक सेर ले आता। और जब कोई माल ख़रीदने को आता तो बनिया लड़के को यह कहकर बुलाता, "अरे तिब्बा ज़रा तराज़ू-बाट तो ले आ", तब लड़का तीन पाव का एक सेर उठा लाता। कोई चालाक लड़के की इस बात को ताड़ गया और बनिए से कहा, "वाह साहजी आपका नौकर तो धूर्त खूब है।"

× × ×

एक दिन रासधारियों की मंडली को चोरों ने घेर लिया। जब वे उन्हें लूटने लगे, तो मंडली के मालिक ने कहा कि तुमने कभी रास भी देखा है, यदि न देखा हो तो देख लो। चोरों ने विचार किया कि यह तो हमारे क़ब्ज़े में फँस ही गए हैं, अब कहाँ जा सकते हैं, मुफ़्त में रास देखने में आवे तो क्यों न देखें। चोरों के सरदार ने उनसे कोई अच्छी लीला दिखाने के लिये कहा, जिस लड़के को रासधारियों ने कन्हैयाजी बनाया उसे सब गहने और अच्छे-अच्छे कपड़े पहना दिए। कन्हैयाजी जब नाचते-नाचते बहुत दूर निकल गए, तो उन्होंने आवाज़ लगाई "लालाजी कहो तो चलता बनूँ।" रासधारियों के मालिक ने चिल्लाकर कहा "बलिहारी इन चरणों की।" कन्हैयाजी नाचते हुए नौ-दो ग्यारह हो गए। चोरों ने जब यह चालाकी समझी तो बहुत पछताए।

× × ×

किसी हंस की एक मेढक से मित्रता हो गई थी, एक दिन किसी बहेलिए ने हंस को जाल में फाँसा। मेढक ने बहेलिए से कहा, तूने मेरे मित्र को क्यों पकड़ा? उसने उत्तर दिया कि मैं इसे राजा की भेंट करूँगा जिससे मुझे पुरस्कार मिलेगा। मेढक ने कहा, तू इसे छोड़ दे, मैं तुझे ऐसा धन दूँगा कि तेरे राजा के पास भी न होगा। यह कहकर उसने समुद्र में गोता मारा और एक बहुमूल्य लाल (रत्न) निकालकर उसको दिया। बहेलिए ने हंस को छोड़ दिया। रत्न लेकर वह अपने घर गया और उसे अपनी स्त्री को दिया। लाल लेकर

बहेलिए की स्त्री ने कहा, जब तक तुम इसकी जोड़ी नहीं ला दोगे, तब तक मैं मुँह में पानी तलक नहीं डालूँगी। बहेलिए ने जाकर पुनः हंस को फाँसा और मेढक से कहा, उसकी जोड़ी का दूसरा लाल दो तो मैं छोड़ूँ। मेढक ने कहा इसमें असंख्य रत्न हैं। उससे बुरे भी और अच्छे भी। तू वह रत्न ले आ, तो मैं उसकी जोड़ी मिलाकर निकाल लाऊँ। उसने मेढक को वह रत्न ला दिया। मेढक ने हंस से कहा, इसकी नीयत ख़राब है, यह तुम्हें फिर पकड़ेगा, इसलिये तू यहाँ से चला जा। इसके बाद उसने बहेलिए से कहा, तुझे न एक रत्न लेना है न मुझे दो देने हैं। यह कहकर मेढक लाल को मुँह में लेकर जल में चला गया।

गुप्तेश्वरप्रसाद श्रीवास्तव

---

१. देश की दशा

श की दशा में कोई उल्लेख योग्य परिवर्तन नहीं दिखलाई पड़ रहा है। ईद के अवसर पर दंगों का जो भय किया जाता था, वह यथार्थ निकला। कई स्थानों पर मारकाट हुई। बहुतेरे हिंदुओं के प्राण गए। मारकाट हिंदू-मुसलमानों में नहीं हुई, वरन् हिंदू लोग सरकारी गोलियों के निशाने बने। प्रायः सर्वत्र आक्रमणकारी हिंदू ही बतलाए जाते हैं। आक्रमण करने का दोषारोपण उन्हीं पर है एवं मारे भी वही गए हैं। इस प्रकार ईद के अवसर पर हिंदुओं की पूरी हानि हुई है। हिंदू-मुसलिम एकता को एक और गहरी ठेस लगी है। साइमन कमीशन को सहयोग प्राप्त करने का एक और अवसर मिल गया है। राष्ट्रीयता पर शनिदेव की दृष्टि पूर्ण बल के साथ पड़ी है। बंबई में जो सर्वदल-सम्मेलन हो रहा था, वह समाप्त हो गया। उसमें कोई उल्लेख योग्य बात नहीं हुई, उसने केवल 'नेहरू कमेटी' की योजना कर दी। यह कमेटी पं० मोतीलाल नेहरू के सभापतित्व में शासन-विधान बनावेगी। इसकी बैठकें प्रयाग में हो रही हैं। इस कमेटी की उपयोगिता के विषय में लोगों में मतभेद है। कुछ लोग तो इसे सर्वथा आवश्यक बतलाते हैं, पर अन्य लोग न केवल इसे निरर्थक ही मानते हैं, वरन् उनकी राय में इससे अनिष्ट की भी संभावना है। इतना स्पष्ट है कि इस कमेटी के विषय में देश में विशेष उत्साह नहीं है। इससे अधिक उत्साह तो पं० जवाहरलाल नेहरू के स्वातंत्र्य-संबंधी प्रस्ताव पर है। बंबई की मिलों की हड़ताल अब भी चल रही है, पर लक्षणों से जान पड़ता है कि मज़दूर लोग थक गए हैं और आर्थिक कष्ट से विवश होकर अंत में बिना किसी शर्त के उन्हें काम पर वापस जाना पड़ेगा। मिलों के मालिक अपनी बात पर अड़े हैं, मज़दूरों के सामने वे किसी बात में दबने और रियायत करने के लिये तैयार नहीं दिखलाई पड़ते हैं। यदि हड़ताल असफल हुई, तो मज़दूर-संघटन की बड़ी किरकिरी हो जायगी। पूँजी-पतियों और मज़दूरों के मनोमालिन्य से भी देश की राजनैतिक प्रगति अवरुद्ध हो रही है। भारत की ताता कंपनी संसारविश्रुत है। साइमन कमीशन के एक सदस्य हार्टशार्न महोदय ने इसी कंपनी के मालिकों पर यह दोषारोपण किया है कि वे लोग अपने नौकरों के प्रति जैसा कुव्यवहार करते हैं वैसा संसार में और कोई नहीं करता। ताता कंपनी के मालिकों ने ऐसे कथन को आपत्तिजनक बतलाकर श्रीहार्टशार्न पर दावा दायर कर दिया है। इस मुक़द्दमे के कारण देश और विदेश में सर्वत्र बड़ी सनसनी फैल गई है। बारदोली का सत्याग्रह बराबर ज़ोर पकड़ रहा है। उक्त ताल्लुके के करदाता लोग पुरुषोचित वीरता के साथ सरकारी ज़ुल्म का सामना कर रहे हैं। न तो वे उत्तेजित हो रहे हैं और न धैर्यच्युत, पर दृढ़ता एवं नम्रता के साथ पूर्ण शांति का

अवलंबन लिए हुए वे कर न देने का आंदोलन चला रहे हैं। देश में सर्वत्र इस आंदोलन के प्रति सहानुभूति के भाव बढ़ रहे हैं। इस समय सारे देश की आँखें बारदोली पर हैं। लेजिस्लेटिव असेम्बली के प्रेसिडेंट श्रीपटेल ने इस आंदोलन के साथ पूरी सहानुभूति प्रकट की है और एक सहस्र मुद्रा मासिक देने का वचन दिया है। इस संबंध में उन्होंने महात्मा गांधी को जो पत्र लिखा है वह तेजस्विता-पूर्ण है। श्रीपटेल के इस कार्य से ऐंग्लो-इंडियन पत्र बहुत असंतुष्ट हैं। इधर साइमन कमीशन के साथ पूर्ण सहयोग करने के लिये एक 'कंट्री लीग' क़ायम हुई है। इसके प्रमुख महाराजा दरभंगा हैं। इसमें राजभक्त धनी-मानी पुरुषों का प्राधान्य है। 'लीग' साइमन कमीशन के साथ पूर्ण सहयोग करेगी। राष्ट्र-वादी लोग लीग की घोर निंदा कर रहे हैं। संयुक्त प्रांत की व्यवस्थापिका सभा में साइमन कमीशन के विरुद्ध प्रस्ताव पास हुआ था। इस प्रस्ताव पर उक्त प्रांत के दो मंत्रियों ने—आनरेब्ल राय राजेश्वरबली एवं आनरेब्ल कुमार राजेन्द्रसिंह—पक्ष अथवा विपक्ष में मत नहीं दिया था। वे निरपेक्ष रहे थे। सरकार को यह बात असह्य हुई। उसे यह बात पसंद नहीं पड़ी कि मंत्री लोग सरकार के पक्ष में वोट न दें। फल यह हुआ कि सरकार एवं इन मंत्रियों की नहीं पटी और मंत्रियों ने अपने पदों से इस्तीफ़ा दे दिया। इन इस्तीफ़ों के कारण संयुक्त प्रदेश में बड़ी सनसनी फैली है। देश की वर्तमान अवस्था की मोटी-मोटी यही बातें हैं। इन सबका सारांश यही है कि देश पूर्णरूप से संक्षुब्ध है और उसमें असंतोष के भाव पूर्णरूप से बढ़ रहे हैं। ईश्वर हमारा कल्याण करे। तथास्तु।

× × ×

२. महाकवि भूषण का समय

हिंदी-साहित्य-संसार चिरकाल से यह बात मानता आया है कि महाकवि भूषण शिवाजी के दरबारी कवि थे। हिंदी के एक लेखक महोदय ने इस मत के विरुद्ध अपनी लेखनी उठाई थी। उनका कहना था कि भूषण कवि शिवाजी के समकालीन न होकर साहूजी के आश्रित कवि थे। इस संबंध में कुछ काल तक बहुत लिखा-पढ़ी होती रही थी। पर उक्त लेखक महोदय अंत तक अपनी दलीलों पर डटे रहे और यही कहते गए कि भूषणजी शिवाजी के आश्रित कवि न थे। उधर हिंदी-संसार व्यापक रूप से यही मानता रहा कि भूषण कवि शिवाजी के समकालीन थे। जिन लेखक महोदय ने यह विवाद उठाया था कि भूषण कवि शिवाजी के समकालीन नहीं थे, उन्होंने हाल में प्रयाग से प्रकाशित 'मनोरमा' पत्रिका में 'त्रिपाठीजी की भूषण-ग्रंथावली' नाम की एक आलोचना लिखनी प्रारंभ की है। आलोचना अभी अपूर्ण है। मई मास की 'मनोरमा' में यह आलोचना पृष्ठ १८३ पर छपी है। उक्त आलोचना का कुछ अंश हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं—

"पाठकों की जानकारी के लिये यह बतला देना उचित प्रतीत होता है, कि देव कवि का जन्म उसी वर्ष में हुआ था जब कि महाकवि भूषण ने अपना शिवराजभूषण ग्रंथ समाप्त किया था। यही नहीं जिस समय भूषण महाराज उक्त

(वीर वीरवर से जहाँ उपजे कवि अरु भूप।
देव विहारीश्वर जहाँ विश्वेश्वर तद्रूप॥)

दोहा बना रहे थे, महाकवि देव का उस समय गर्भ में भी आगमन नहीं हुआ था।" उपर्युक्त उद्धृत अंश के पढ़ने से जान पड़ता है उक्त अंश का लेखक देव कवि का जन्म-संवत् और शिवराजभूषण में का निर्माण-संवत् एक ही काल में मानता है। संभव है उक्त निष्कर्ष निकालने में हम भूल करते हों, पर उस इबारत को पढ़कर हम उसका यही अर्थ निकाल सके। देव का जन्म-संवत् १७३० में हुआ था और उसी वर्ष 'शिवराजभूषण' समाप्त हुआ था सो अभिप्राय यह सिद्ध होता है कि उक्त लेखक महोदय भूषण रचित शिवराजभूषण का निर्माण संवत् १७३० में मानते हैं, जब शिवाजी जीवित थे। सो वही लेखक महोदय जो शिवाजी और भूषण को समकालीन मानने से इनकार करते थे अब 'शिवराजभूषण' को शिवाजी की मृत्यु के कई साल पहले का बना स्वीकार करते हैं। इस विचार-वैषम्य के तीन कारण हो सकते हैं। (१) ऊपर जो अवतरण 'मनोरमा' में छपा है वह प्रेस के भूतों की कृपा से अशुद्ध छपा है, (२) हम उसका अर्थ समझने में असमर्थ रहे हैं, (३) लेखक पहले भूषण और शिवाजी को समकालीन नहीं मानता था: पर अब मानने लगा है। आशा है, स्वयं लेखक महोदय या

अन्य कोई सज्जन इस समस्या को सुलझावेंगे। भूषण और शिवाजी की समकालीनता प्रायः एकस्वर से हिंदी-संसार मानता है केवल उपर्युक्त आलोचना के लेखक और संभव है दो-चार सज्जन और भी हों जो इसे न मानते हों। क्या ही अच्छा हो कि हिंदी-संसार में इस मामले को लेकर ऐकमत्य हो जाय?

× × ×

३. चीन और जापान

कई साल से चीन में निरंतर गृह-युद्ध चल रहा है। इस गृह-युद्ध के कारण चीन के जन-धन और मान का बराबर ह्रास होता गया। स्थायी सरकार के अभाव में देश में उन्नति-पथ पर चलने की क्षमता नहीं रही। अराजकता और असंतोष के कारण देश बड़े वेग से अवनति के गर्त में गिर पड़ा। इस गृह-कलह से लाभ उठाने को विदेशी राष्ट्र बहुत ललचाए। उन्होंने भाँति-भाँति के बहाने निकालकर चीन में अपना प्रभाव फैलाने का उद्योग किया। इस प्रयत्न में ये राष्ट्र पूर्णतया सफल होने, पर स्वय इनमें भीतरी स्पर्द्धा और द्वेष के भाव मौजूद हैं। एक दूसरे की उन्नति नहीं देख सकता है। इसी कारण से चीन को ये राष्ट्र उतनी क्षति न पहुँचा सके जितनी इनके सामर्थ्य में थी। चीन के गृह-कलह में एक ओर तो राष्ट्रीयता का पुजारी दल है। यह दल चीन को स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में देखना चाहता है। इसका प्रभाव चीन के दक्षिण प्रांतों में अधिक है। राष्ट्रीय दल के विरोध में जो दल हैं उनके कई विभाग हैं। इनके संचालक बड़े-बड़े लड़ाकू सेनापति हैं। ये सेनापति एकमात्र स्वार्थभाव से प्रेरित होकर अपना दबदबा बनाए रखना चाहते हैं। कहते हैं विदेशी राष्ट्र, विशेष करके इँगलैंड और जापान इन्हीं के पृष्ठपोषक हैं। बोलशेविक दल का कुछ प्रभाव राष्ट्रीय दल पर बतलाया जाता था; पर अब वह संभवतः दूर हो गया है। चीन के राष्ट्रीय दल की उन्नति सबसे अधिक जापान को खटकती है। चीन के प्रति जापान का व्यवहार नीचता-पूर्ण है। जापान ने जिस प्रकार से चीन की कोरिया हथिया ली है और वहाँ के निवासियों पर वह जैसा क्रूर शासन कर रहा है वह जापान के गौरव पर कलंक-कालिमा पोतनेवाला है। मंचूरिया में भी उसने जो खेल खेले हैं वे प्रशंसनीय नहीं कहे जा सकते। हाल ही में उसने राष्ट्रीय दल के साथ जान-बूझकर मुठभेड़ की थी। जापान चाहता था कि राष्ट्रीय दल उत्तेजित होकर हमसे उलझ पड़े और हम इस भविष्य में खिलनेवाली कली को अभी से ही मसल दें जिसमें स्वार्थी लड़ाकू सेनापतियों का प्रभाव क़ायम रहे और उन्हें मिलाकर हम चीन में बराबर मनमानी कर सकें। उसने चीन को उत्तेजित किया। राष्ट्र का अपमान किया। राष्ट्रीय दल के सैनिकों पर अकारण अथवा अपर्याप्त कारण से आक्रमण किया, पर राष्ट्रीय दल ने बड़ी बुद्धिमानी का परिचय दिया। वह अपमान के कड़वे घूँट को पी गया, पर जापान से उलझा नहीं। उसका ध्येय पेकिंग था। उसकी इच्छा पूर्ण हुई। इस समय पेकिंग पर राष्ट्रीय दल का अधिकार है। राजधानी के हाथ में आ जाने से राष्ट्रीय दल की साख संसार में बढ़ गई है। वह पहले अपने देश में अबाध राष्ट्रीय शासन स्थापित करने के फेर में है। उसका यह उद्देश्य सर्वथा स्तुत्य है। यदि चीन जैसे विशाल राज्य में राष्ट्रीयता की संपूर्ण विजय हो जायगी, यदि चीन भी वैसी ही शक्ति संपादित कर लेगा जैसी जापान और टर्की ने प्राप्त की है तो आगे की शताब्दी में एशिया का बोलबाला होगा। योरप को एशिया के सामने मस्तक झुकाना पड़ेगा। योरप के बहुत से राष्ट्र इस समय जिस पद पर आसीन हैं उससे उन्हें नीचे खिसकना पड़ेगा। एशिया में भी जापान अपनी आज की मर्यादा बनाए न रख सकेगा। चीन में राष्ट्रीयता की विजय होने से भारत का पूर्ण कल्याण होगा। रूस पर जापान की विजय होने से भारत में राष्ट्रीयता का जो बीज उगा था, वह चीन में राष्ट्रीय शासन होने से खूब पल्लवित होगा। ईश्वर वह दिन शीघ्र लावे। जिस समय जापान को रूस पर विजय मिली थी उस समय एशिया ने उससे बड़ी-बड़ी आशाएँ की थीं, पर अब तो स्पष्ट देखते हैं कि जापान योरपीय राष्ट्रों के समान ही केवल स्वार्थभाव से प्रेरित होकर और अपने साम्राज्यवाद के प्रसार में संलग्न होकर ही जो कुछ करना चाहता है करता है। अपनी स्वार्थसिद्धि के सामने वह एशिया के कल्याण की अणुमात्र भी परवा नहीं करता है। ऐसे राष्ट्र से भारत का कुछ भी कल्याण नहीं हो सकता है। अपने कपड़े के व्यवसाय द्वारा वह इस समय भी देशी

मिलों को कुचल रहा है। संभवतः वह समय शीघ्र आवेगा जब भारत को जापानी माल का विशेष रूप से बायकाट करना पड़ेगा।

× × ×

४. गोविंद-भवन

कलकत्ते में 'गोविंद-भवन' नामक एक संस्था है। यह एक प्रकार से भगवद्भजन का स्थान है। यहाँ पर हीरालाल नाम के एक व्यक्ति रहते थे। ये उक्त सत्संग के छोटे महंत के समान थे। लोगों की उन पर बड़ी श्रद्धा थी। उनका ज्ञान निस्सीम समझा जाता था। कुछ लोग तो यहाँ तक मान बैठे थे कि हीरालालजी को ईश्वर का दर्शन हो गया है। हीरालालजी मारवाड़ी वैश्य हैं। *'गोविंद-भवन' संस्था भी मारवाड़ियों की ही* है। इस संस्था की बड़ी प्रशंसा थी। उसके गीत दूर-दूर तक गाए जाते थे। एकाएक न जाने कैसे कुछ लोगों को हीरालाल के चरित्र पर संदेह हुआ। लोग चुपके-चुपके उनके चरित्र पर निगाह डालने लगे। परिणाम यह हुआ कि इस समय हीरालाल के विरुद्ध कलकत्ते के दैनिक पत्रों में वे बातें निकल रही हैं जिनका लिखना भी हम पसंद नहीं करते हैं। जिस पुरुष की बाबत यह कहा जाता था कि वह सज्जन, सच्चरित्र और ईश्वरदर्शी है उसी को अब लोग स्पष्ट शब्दों में धूर्त, दुराचारी एवं व्यभिचारी बतलाते हैं। 'गोविंद-भवन' की इस दुर्दशा का समाचार पढ़कर हम सुखी नहीं हैं। हीरालाल के असदाचार का समाचार दुःख की बात है। इस संबंध में हमें दो बातें कहनी हैं एक तो यह कि अब समय आ गया है कि मंदिर के महंतों और धर्माचार्यों के आचरण का भी नियंत्रण किया जाय। यह न मान लिया जाय कि ईश्वर के उपासक होने के कारण वे साधारण मनुष्यों में पाई जानेवाली कमज़ोरियों के परे हैं। उन सब अवसरों के मार्ग रोक दिए जायँ या उनका सम्यक् निरीक्षण किया जाय जिनके खुले रहने से कमज़ोरियों के विकास की संभावना है। इस प्रकार का नियंत्रण धर्म पर आघात न समझा जाय। यदि हम ऐसा कर सकें तो हम समझेंगे कि हीरालाल के चारित्रिक पतन में भी एक उज्ज्वल रेखा है। दूसरी बात यह है कि वैश्य होते हुए भी महंती-पद पर आसीन होकर हीरालाल अपने चरित्र को संयतशील न बना सके। उन पर वही इलज़ाम लगाए गए हैं जो बहुतेरे ब्राह्मण धर्माचार्यों पर लगाए जाते हैं। इससे स्पष्ट है इन संस्थाओं की परिस्थिति ही कुछ ऐसी है कि इन कमज़ोरियों के विकास में सहायता मिलती है; फिर महंती की गद्दी पर चाहे वैश्य हो या शूद्र या ब्राह्मण। ऐसी दशा में या तो हमें इन संस्थाओं को ही बंद कर देना चाहिए अथवा उनमें पाई जानेवाली परिस्थिति में आमूल परिवर्त्तन कर देना चाहिए।

× × ×

५. आयुर्वेद का विरोध

इस देश में ऐलोपैथी चिकित्सा-प्रणाली का प्रसार ज़ोरों के साथ बढ़ रहा है। जैसे-जैसे इस प्रणाली का प्रचार हो रहा है वैसे ही वैसे आयुर्वेद-सम्मत चिकित्सा का ह्रास हो रहा है। बहुत से पढ़े-लिखे भारतवासी ऐलोपैथी चिकित्सा-प्रणाली के परम भक्त हैं। इनमें से कुछ ऐसे भी हैं जो आयुर्वेद-चिकित्सा-प्रणाली के घोर शत्रु हैं। आयुर्वेद-चिकित्सा-प्रणाली को राजाश्रय नहीं प्राप्त है। इस कारण उसकी दशा और भी क्षीण है। इधर प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं के उद्योग से सरकार ने आयुर्वेद-चिकित्सा-प्रणाली को अत्यंत स्वल्प सहायता देने का आयोजन किया है। पर हमारे प्रांतों में डाक्टर रणजीतसिंह एवं शेख़ हबीबुल्ला साहब को यह बात असह्य है। वे चाहते हैं कि सरकार वैद्यों की रत्ती भर भी सहायता न करे। ख़ैर, यह उनकी इच्छा है, वे जैसा चाहें वैसा करें। पर हम उनकी इस मनोवृत्ति के घोर विरोधी हैं। हम तो सरकार द्वारा प्राप्त इस स्वल्प सहायता को अपर्याप्त समझते हैं। हम तो चाहते हैं कि सरकार तुरंत ही इस सहायता को कई गुना बढ़ा दे। इतना ही नहीं, हम तो यह भी चाहते हैं कि ऐलोपैथी-चिकित्सा-प्रणालीवाले स्वयं आयुर्वेद के ग्रंथों को पढ़ें, दवाओं का विश्लेषण करें और जो वस्तुएँ उपयोगी पाई जायँ उनको काम में लावें। ऐलोपैथी-वाले इस बात का दम भरते हैं कि हमारी प्रणाली विज्ञान-सम्मत है। हम इस बात को मानते हैं। फिर विज्ञान के नाते ही वे वैद्यक की वैज्ञानिकता की कसौटी पर अच्छी तरह क्यों नहीं कसते हैं। क्या उनका यह कर्त्तव्य नहीं है कि वे आयुर्वेद में खोज का काम करें?

× × ×

६. मोटेरामजी शास्त्री

मुंशी प्रेमचंदजी के उपन्यासों और कहानियों में एक पात्र मोटेराम शास्त्री नाम के हैं। हँसी-मज़ाक़ का आश्रय लेकर ही इस पात्र की सृष्टि हुई है। Pick wick papers पढ़कर ही मुंशीजी ने इस पात्र की कल्पना की है। जैसे Sir Roger De cavalery पात्र की सृष्टि करके Addission ने अँगरेज़ी के उपन्यास-जगत् में हास्यधारा बहाई है, वैसे ही हिंदी में प्रेमचंदजी के मोटेराम शास्त्री लोगों को हँसाते हैं। इस पात्र की सृष्टि पहलेपहल सन् १९१२ में मुंशीजी के लिखे एक उर्दू उपन्यास में हुई। फिर ये धीरे-धीरे हिंदी-साहित्य में भी पहुँचे। इन्हीं महाराज की बदौलत 'माधुरी' पर मानहानि का दावा तक दायर हुआ। ये बड़े हज़रत हैं। हिंदी में मनुष्य का 'परम धर्म' नाम की कहानी में इनका पहलेपहल १९२० में दर्शन हुआ, फिर 'सत्याग्रह' कहानी में १९२३ में ये साक्षात् रूप से 'माधुरी' में पधारे और बड़े रँग लाए। आपने १९२६ में 'सरस्वती' पत्रिका पर भी कृपा की और 'निमंत्रण' कहानी में अपने दिव्य दर्शन दिए। १९२७ में प्रेम-प्रतिमा नाम की एक पुस्तक निकली, इसमें गुरुमंत्र नाम की एक कहानी है। इसमें भी मोटेरामजी की बाँकी झाँकी है। फिर चाँद कार्यालय से निर्मला पुस्तक निकली। इसमें भी मोटेरामजी शास्त्री की व्यवहार-कुशलता का दर्शन मिला। आपके लखनऊ पधारने का शुभ संवाद पहलेपहल इसी ग्रंथ में है। लखनऊ आपके मन भाया इसलिये साक्षात् 'मोटेराम शास्त्री' के नाम से आप लखनऊ पहुँचे और यहाँ धड़ल्ले से वैद्यक करने लगे। माधुरी के द्वारा आपकी सुख्याति लखनऊ में खूब हुई। हाल ही में 'साहित्य-समालोचक' में आपके जीवन-चित्र का एक पटल और भी दिखलाई पड़ा है। आपकी सुकीर्ति की कथाएँ अब बहुत व्यापक हो गई हैं, इसलिये संभव है शीघ्र ही किसी विशालकाय पुस्तक में आपके दिव्य चरित्र का वर्णन विस्तार के साथ पढ़ने को मिले। मोटेरामजी आदर्श-दंभी, पेटू, धूर्त एवं अपने आतंक और यशोविस्तार के इच्छुक दिखलाई पड़ते हैं। आप व्याख्याता भी हैं, लीडर भी बनना चाहते हैं और धर्माचार्य एवं साहित्यवेत्ता भी हैं। इधर पिछले दिनों में वैद्यक का भी आपने अभ्यास किया है। अपनी स्त्री सोना से आपकी प्रायः गप लड़ा करती है। 'मनुष्य का परम धर्म' में जब हमने आपको पहलेपहल देखा तो जाना कि आप खूब न्योता खानेवाले, संगीत-प्रेमी, व्याख्याता, अव्वल नंबर के धूर्त एवं ज़बर्दस्त पेटू हैं। फिर 'सत्याग्रह' में आपके पेटू-स्वभाव का तो पता चला ही; पर आपके लीडरपन का भी हाल मालूम हुआ। 'निमंत्रण' में आपकी धूर्तता और पेटूपन तथा न्योता खाने का पूरा हाल है। इस कहानी में तो 'सरस्वती' वालों ने आपका चित्र भी छाप दिया है। 'गुरुमंत्र' में आप फिर इसी रूप में पाए जाते हैं। 'निर्मला' में आप ब्याह कराने के काम में उस्ताद जँचते हैं। 'साहित्य-समालोचक' में 'नैराश्य' कहानी में आपके साहित्य-प्रेम एवं वैद्यक करने की इच्छा का आभास मिलता है। प्रायः सर्वत्र आप अपने प्रयत्नों में असफल रहते हैं। असफलता आपकी विशेषता है। लखनऊ में आपकी वैद्यक-वृत्ति का जो चित्रण 'मोटेरामजी शास्त्री' नाम से विगत पौष की माधुरी में छपा था, वह बहुत रँग लाया। लखनऊ के कई वैद्यों को धोखा हुआ कि मोटेराम हमी हैं। हमारे परिचित वैद्य श्री० गयाप्रसादजी शास्त्री 'श्री हरि' तो एक दिन हँसी-मज़ाक़ में कहने लगे देखिए इस कहानी की बहुत सी बातें मुझ पर चरितार्थ होती हैं। मैंने हरिद्वार में अध्यापकी की है। मैं साहित्याचार्य होने के कारण अलंकार-शास्त्र भी जानता हूँ और अभी हाल ही में मैंने अपनी वैद्यक भी लखनऊ में प्रारंभ की है। पर जब उनको यह बात बतलाई गई कि अध्यापकी तो स्थानीय वयोवृद्ध वैद्य क्षमापतिजी एवं पं० रामनारायणजी ने भी की है एवं अलंकार-शास्त्र के ज्ञाता और उस विषय पर लेख लिखनेवाले पं० राधेनारायण वाजपेयी प्रजावैद्य भी हैं, तो वे हँसने लगे। इन सद्वैद्यों ने आयुर्वेद-महत्त्व प्रतिपादक लेख भी लिखे हैं। ख़ैर, यहाँ तक तो विनोद की बात रही; पर वास्तविक खेद है कि पं० शालग्रामजी शास्त्री सचमुच कहानी को अपने ऊपर समझ बैठे और जाकर अदालत का द्वार खटखटाया। ख़ैर, अब तो उनको भी विश्वास हो गया है कि हम मोटेराम नहीं हैं। इधर स्थानीय साप्ताहिक पत्र 'ग़रीब' ने मोटेराम की तलाश में अपने गुप्तचर छोड़े हैं। शायद वह उनका विशेष पता लगा सके। मुंशी प्रेमचंदजी मोटेराम पर बारीक निगाह रखते हैं। जैसे ही उनका कोई नूतन चरित्र देखने को मिलता

है, वैसे ही उसे चित्रित कर देते हैं। 'मोटेरामजी शास्त्री' का जीवन-चरित्र बराबर स्थूलकाय और मनोरंजक होता जाता है।

× × ×

७. साहित्य-सुमन-माला

पाठकों को यह जानकर बड़ी प्रसन्नता होगी कि शीघ्र ही नवलकिशोर-प्रेस से 'साहित्य-सुमन-माला' नाम की एक पुस्तक-माला प्रकाशित की जायगी। इस पुस्तक-माला का संपादन श्रीप्रेमचंदजी करेंगे। इसमें जितने ग्रंथ निकाले जायँगे वह उच्च कोटि के होंगे। हिंदी के प्राय: सभी नामी और प्रसिद्ध लेखकों के ग्रंथ इस माला में प्रकाशित किए जायँगे। पुस्तकों की छपाई-सफ़ाई पर विशेष ध्यान दिया जायगा। वर्तमान समय में हिंदी-संसार को कैसे साहित्य की आवश्यकता है इस पर ध्यान देकर ग्रंथों का प्रकाशन किया जायगा। माला में साहित्य के सभी अंगों को पुष्ट करनेवाले ग्रंथ गूथे जायँगे। जहाँ नूतन साहित्य के निर्माण का उद्योग किया जायगा वहीं हिंदी के पुराने साहित्य के उद्धार और संरक्षण का भी उद्योग किया जायगा। नवलकिशोर-प्रेस ने हिंदी-साहित्य की जो सेवा की है वह किसी से छिपी नहीं है; पर इधर उसने नवीन ढंग का साहित्य कुछ कम प्रकाशित किया था। हर्ष की बात है कि इस 'साहित्य-सुमन-माला' के प्रकाशन द्वारा वह 'अप-टु-डेट' साहित्य भी हिंदी-साहित्य-संसार के सामने विशद रूप से उपस्थित कर सकेगा। आशा है, साहित्य-प्रेमी पाठक, ग्राहक, लेखक, कवि एवं पुरानी पुस्तकों के प्रकाशित करानेवाले सज्जन सभी कृपापूर्वक माला के संपादक महोदय की सहायता करेंगे। माला का विज्ञापन 'माधुरी' की इसी संख्या में अन्यत्र छपा है, उसे पाठकगण देख लें और प्रवेश-शुल्क देकर स्थायी ग्राहकों में नाम लिखा लें।

× × ×

८. माधुरी-पदक

कविता एवं समालोचना पर जिन दो पदकों के देने की व्यवस्था माधुरी में की गई थी उनके देने का समय अब आ गया है और हम निर्णायकों के पास कृषक-जीवन से संबंध रखनेवाली कविताएँ एवं समालोचनाएँ भेजने जा रहे थे, पर इसी बीच में कई लेखकों एवं समालोचकों ने हमको लिखा है कि पदक-निर्णय का समय बढ़ा देना चाहिए, क्योंकि पदकों के देने की सूचना वर्षारंभ में न निकलकर वर्ष के बीच में निकली है। जिस मास की माधुरी में सूचना निकली है उस मास तक तो समय अवश्य बढ़ा देना चाहिए। उन्होंने हमें यह भी सूचित किया है कि कृषकों के जीवन से संबंध रखनेवाली कविताएँ एवं लंबी समालोचनाएँ भी अभी माधुरी में कम निकली हैं। उनका यह कथन हमें यथार्थ जँचता है। ऐसी दशा में हम समय बढ़ाए देते हैं। आशा है, इस बीच में माधुरी के इन पदकों को प्राप्त करने के लिये हमारे सुकवि और समालोचक विशेष रूप से ध्यान देंगे। विशेषांक में कृषक-जीवन से संबंध रखनेवाली कविताएँ हम कुछ अधिक परिमाण में प्रकाशित करना चाहते हैं। इसी प्रकार से समालोचनाएँ भी हम अधिक छापना चाहते हैं। आशा है, हमारे सुकवि और समालोचक हमारी सहायता करेंगे। एक बात और है जो सुकवि और समालोचक प्रतियोगिता में न पड़ना चाहते हों और फिर भी समालोचनाएँ लिखना चाहते हों और 'कृषक-जीवन' पर कविता लिखना चाहते हों, तो वे हमें वैसी सूचना दें। हम उनकी रचनाओं को प्रतियोगिता में नहीं रक्खेंगे।

× × ×

९. सुधा-तृप्ति

माधुरी पर मानहानि का जो मुक़दमा चला था उसके संबंध में स्थानीया सहयोगिनी सुधा में एक टिप्पणी निकली है। सुधा-संपादकों का कहना है कि हमने अपने नोट में प्रच्छन्न रूप से उन पर दावा दायर करवाने का लांछन लगाया है। वे इसका प्रतिवाद करते हैं। हमने अपने नोट को फिर से पढ़ लिया है। हमने प्रच्छन्न या प्रकट रूप से कहीं भी यह नहीं लिखा है कि सुधा-संपादकों ने दावा दायर करवाया। हमारा कहना तो केवल इतना है कि 'मोटेराम शास्त्री' कहानी पर सबसे पहले शास्त्रीजी का ध्यान तब गया जब बीमारी की हालत में उनके कुछ मित्रों ने इस ओर उनका ध्यान आकर्षित किया। उन मित्रों को हम अब भी नहीं जानते हैं पर हमारा अनुमान है कि अपना पक्ष समर्थन करने के लिये शास्त्रीजी ने जो गवाह तलब किए हैं उन्हीं में वह मित्र भी होंगे। इन मित्रों की बाबत भी हमने यह नहीं लिखा है कि उन्होंने दावा दायर करवाया, वरन् यह

लिखा है कि उन्होंने शास्त्रीजी की यह बात सुझाई कि कहानी आप पर लिखी गई है। ऐसी दशा में सुधा-संपादकों का इस आशय का प्रतिवाद कुछ मूल्य नहीं रखता है कि हमने माधुरी पर दावा नहीं दायर कराया। जो बात हमने लिखी ही नहीं उसका प्रतिवाद कैसा। अपनेआप एक प्रेत की कल्पना करके उससे लड़ना उचित नहीं है। अगर सुधा-संपादकों को प्रतिवाद करना है तो उनका प्रतिवाद दावा दायर कराने या न कराने के संबंध में न होकर इस आशय का होना चाहिए। शास्त्रीजी जब बीमार थे तो हम लोग उनके मकान पर नहीं गए और अगर गए भी तो 'मोटेराम शास्त्री' कहानी का ज़िक्र उनसे नहीं हुआ और यदि ज़िक्र हुआ भी तो हमने उनसे यह नहीं कहा कि कहानी आप ही पर लिखी गई है तथा इससे आपकी ज़िल्लत हुई है। यदि सुधा-संपादक हमारे नोट को फिर से पढ़ेंगे तो उन्हें स्पष्ट मालूम होगा कि हमारा कथन केवल इतना है कि शास्त्रीजी का ध्यान कहानी की ओर सबसे पहले उनके मित्रों की प्रेरणा से आकर्षित हुआ। हमें सुधा-संपादकों के संबंध में जब कभी जो कोई भी बात लिखनी होगी तो वह हम स्पष्ट शब्दों में लिखेंगे, प्रच्छन्न रूप में नहीं। हाँ, सुधा-संपादकों के नोट से हमें एक नई बात मालूम हुई जिसका अबतक हमें पता न था कि वे सुलह कराने का उद्योग कर रहे थे और एतदर्थ शास्त्रीजी के पास देहरादून तक गए थे। कम से कम हम लोगों से तो उन्होंने सुलह का नाम नहीं लिया था और प्रोप्राइटर 'माधुरी' से भी हमें मालूम हुआ है कि उनसे भी ऐसी कोई बात नहीं हुई थी। हाँ, 'माधुरी' के दफ़्तर में मुक़दमा हो जाने के बाद स्वयं श्रीदुलारेलालजी ने यह कहा था कि यदि मेरी गवाही होती तो मैं यही कहता कि कहानी शास्त्रीजी पर ही लिखी गई है। यह बात भी ध्यान में रखने की है कि गवाहों की जो सूची हमने दी है उसमें और नाम भी हैं, पर प्रतिवाद केवल सुधा-संपादकों की ओर से हो रहा है। इस संबंध में हमें सुधा-संपादकों से और कुछ नहीं कहना है न अपने प्रथम नोट में प्रकट किए गए भावों में किसी प्रकार का परिवर्तन ही करना है। उसमें जो बातें हमने लिखी हैं, वही हम अब भी कहते हैं।

जब तक माधुरी का संपादन हमारे हाथ में है, तब तक उक्त पत्रिका में अगर हमारे अनजान में ऐसी कोई बात छप जायगी जिससे किसी का दिल दुखे तो हमें अवश्य उसका खेद होगा। हम जान-बूझकर किसी का दिल नहीं दुखाना चाहते हैं। पं० शालग्राम शास्त्रीजी 'मोटेराम शास्त्री' कहानी अपने ऊपर समझ बैठे। उनके चित्त को चोट लगी। उन्होंने हम पर दावा दायर किया। प्रारंभ में ही हमने अदालत को सूचित कर दिया कि कहानी शास्त्रीजी पर नहीं लिखी गई है। हमारे इस कथन-मात्र (यह कथन शपथपूर्वक भी न था) पर शास्त्रीजी ने संतोष प्रकट किया और मुक़दमा उठाने पर तैयार हो गए, तब हमने भी शिष्टाचार की रक्षा के लिये अभियोग को सर्वथा अस्वीकार करते हुए तथा शास्त्रीजी की भ्रांत धारणा को भी ठीक न मानते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि यदि उक्त कहानी के प्रकाशन से हमारे अनजान में शास्त्रीजी के चित्त को चोट लगी है, तो उसका हमें खेद है। यदि वादी हमारी नेकनीयती पर संदेह नहीं करता है, हमारे कथनमात्र से संतोष प्रकट करता है तो शिष्टाचार और मर्यादा हमें विवश करते हैं कि हम नेकनीयती से किए गए अपने उस काम के लिये भी दुःख प्रदर्शित करें जिससे अनजान में दूसरे के दिल को चोट लगी है। इस प्रकार का खेद प्रकाश शिष्टाचार और मर्यादा का समर्थक है। जो लोग क़ानून जानते हैं, वे इसके रहस्य को भी समझते हैं। ऐसा आचरण दोनों पक्षों के सम्मान की रक्षा करनेवाला है।

× × ×

१०. संयुक्तप्रांत के गवर्नर का देहांत

बड़े शोक की बात है कि विगत रविवार ता० १७ जून को नैनीताल में संयुक्त प्रदेश आगरा व अवध के गवर्नर हिज़ एक्सलेंसी सर अलेक्ज़ेंडर मुडीमैन का हृदय की गति बंद हो जाने के कारण देहांत हो गया। इन प्रांतों का शासन-भार लिये अभी गवर्नर महोदय को बहुत समय नहीं हुआ था कि इसी बीच में आपका देहावसान हो गया। लोगों से मिलने-जुलने में सर अलेक्ज़ेंडर बड़ी उदार प्रकृति का परिचय देते थे। आप बड़े योग्य पुरुष थे और थोड़े ही समय में आपने उन्नति भी यथेष्ट कर ली थी। इस समय आपकी अवस्था केवल ५४ वर्ष की थी। दुखी परिवार के साथ हमारी सहानुभूति है और मृतात्मा की सद्गति के लिये हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं।

१. मुराद की अंतिम मुराद

दिल्लीश्वर शाहजहाँ के कनिष्ठ पुत्र शाहज़ादा मुराद बड़ी ही रँगीली तबीयत के आदमी थे। इन्हें ऐशो-आराम बहुत पसंद था। स्त्री और मदिरा पर इनकी प्रगाढ़ भक्ति थी। दारा के साथ औरंगज़ेब की जो फ़ैसले की लड़ाई हुई थी उसमें शाहज़ादा मुराद औरंगज़ेब के सहायक थे। लड़ाई में विजय प्राप्त होने के बाद शाहज़ादा मुराद ने बड़ा जश्न मनाया। रात में नृत्य एवं संगीत का विशेषरूप से आयोजन किया गया। मद्य का भी पूर्ण प्रबंध था। इस चित्र में उसी दृश्य का चित्रण है। यह किसी पुराने चित्रकार की चित्रकला का कौशल दिखलाता है। यही अंतिम रात थी जिसमें मुराद स्वतंत्र था। इसके बाद औरंगज़ेब ने उसे क़ैद कर लिया था। यह चित्र हमें बहादुरसिंहजी सिंघी की कृपा से प्राप्त हुआ है।

२. संत-समागम

यह चित्र भी पुरानी चित्रकला का एक नमूना है। प्रथम चित्र के प्रेषक सिंघीजी की कृपा से ही हमें यह चित्र भी मिला है। चित्र में किन्हीं साधु महात्मा क दिव्य दर्शन है। अपनी कुटी के द्वार पर संतगण ध्यान-मग्न बैठे हैं। भावुक-भक्त उनकी ओर टकटकी लगा हैं। बड़ा ही पवित्र दृश्य है।

३. पावस-प्रमोद

इस चित्र की व्याख्या करना व्यर्थ है। प्राकृति दृश्य स्वयं चित्त को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है हरियाली और बिजली की चमक का दृश्य प मनोहर है।

४. सत्यवती और शांतनु

इस चित्र के चित्रकार डी० बनर्जी हैं। इसमें मह भारत में प्राप्त शांतनु और सत्यवती के परिणय व प्रारंभिक रूप बड़ा मनोरम है। राजा केवट की क से किस प्रकार प्रेम-भिक्षा माँग रहा है तथा सत्यव किस प्रकार से लजाकर सकुचाई खड़ी है, यह दृश्य सुंदर है।